॥ श्रीहरिः ॥

1982

भक्तिसुधा

गीताप्रेस गोरखपुर
GITA PRESS, GORAKHPUR

स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज

धर्म सम्राट् स्वामी करपात्रीजी महाराज

1982

॥ श्रीहरिः ॥

भक्तिसुधा

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

प्रणेता—स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज

गीताप्रेस, गोरखपुर

1982 Bhaktisudha

निवेदन

भारतीय संस्कृति पुनर्जन्म एवं कर्म-सिद्धान्तपर आधारित है। संसारमें सर्वत्र सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, दरिद्रता-सम्पन्नता आदि वैभिन्न्य स्पष्ट रूपसे दिखायी पड़ता है, पर यह भिन्नता क्यों है? इसपर विचार करना आवश्यक है। इतना ही नहीं पशु-पक्षी, कीट-पतंग तथा तिर्यक् आदि चौरासी लाख योनियोंमें भटकता हुआ जीव भगवत्कृपासे मानव-शरीर प्राप्त करता है। इस योनिमें उसे कर्म करनेकी सामर्थ्य, विवेक और बुद्धि भी भगवत्प्रदत्त है, परंतु इस विवेक-बुद्धि और सामर्थ्यका वह कितना सदुपयोग करता है—यह तो जीवपर ही निर्भर है। मनुष्य-जीवन पाकर भी मनमाना स्वेच्छाचारितापूर्वक भोग-विलासमें ही जीवन बिता दिया और धर्मशास्त्ररूपी भगवद्-आज्ञानुसार जीवनचर्या नहीं चलायी तो पुनः कूकर-शूकर, कीट-पतंग, पशु-पक्षी और तिर्यक् योनियोंमें दुःखरूप जीवन व्यतीत करना पड़ेगा। इसीलिये सावधानीपूर्वक शास्त्रोंका स्वाध्याय, मनन और उनके अनुसार अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये।

मानव-जीवनका एकमात्र लक्ष्य है—अपना कल्याण करना अर्थात् जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त होना अथवा भगवत्प्राप्ति करना। ये तीनों बातें एक ही हैं। जीवनमें समग्र सफलता एवं शान्तिका समन्वय केवल आध्यात्मिक विचारों एवं चिन्तनसे ही सम्भव हो सकता है। जीवनमें सफलता एवं समृद्धि तथा मनकी शान्ति प्राप्त होती रहे और हमारा जीवन पूर्णतः सार्थक बने, इसके लिये हमें समुचित मार्गदर्शनकी आवश्यकता होती है। ऐसा मार्गदर्शन सच्चे सन्त-महात्मा या सात्त्विक महापुरुषद्वारा प्रणीत आध्यात्मिक साहित्यसे ही प्राप्त हो सकता है। हमारे आध्यात्मिक वाङ्मयमें वेद, उपनिषद्, पुराण, गीता, रामायणसहित ऐसे अनेक ग्रन्थ हैं, जो हमें आध्यात्मिक सन्देश प्रदान करते हैं; परंतु आजका मानव कभी-कभी इन सद्ग्रन्थोंका वास्तविक अर्थ एवं रहस्य न समझनेके कारण दिग्भ्रमित भी हो जाता है।

प्रस्तुत पुस्तक 'भक्तिसुधा' के प्रणेता अनन्तश्री स्वामी करपात्रीजी महाराज (१९०७—१९८१ ई०) हैं। इस पुस्तकमें श्रीस्वामीजीने धार्मिक-तत्त्व और रहस्योंका विशद विवेचन किया है। मूर्तिपूजा, इष्टदेवकी उपासना आदिमें अनेक भ्रान्तियाँ एवं जिज्ञासाएँ उत्पन्न होती हैं; उनका जबतक पूर्ण समाधान नहीं होता, तबतक उन कार्योंके प्रति पूर्ण दृढ़ता नहीं आती है। अतः इस पुस्तकमें गायत्री-तत्त्व, विष्णु-तत्त्व, शिव-तत्त्व, भगवती-तत्त्व आदि नामोंसे उन-उन देवताओंकी उपासनाका पूरा रहस्योद्घाटन किया गया है, जिससे उपासकके मनमें पूर्ण निष्ठा और श्रद्धा उत्पन्न होना स्वाभाविक है। प्रस्तुत पुस्तकमें धर्म-सम्बन्धी नानाप्रकारके प्रश्नोंका समाधान प्राप्त होगा, अपने इष्टदेवकी उपासनामें दृढ़ता आयेगी, वेदोक्त धर्मके प्रति पूर्ण आस्था होगी एवं भगवान्‌में अनन्य भक्ति होगी। इस तरह मनुष्य अपना कल्याण-साधन एवं सुख-शान्ति प्राप्त करनेमें सफल हो सकेगा।

'करपात्री स्वामी' एक युगपुरुष थे। इतिहास साक्षी है कि भारतकी इस पवित्र भूमिने समय-समयपर ऐसे सन्त-महात्माओं और आचार्योंको जन्म दिया, जिनके जीवनसे भारतीय संस्कृति तथा सनातन-धर्मको प्रकाश तो मिला ही साथ ही सुरक्षा भी मिली। आदिशंकराचार्य, रामानुजाचार्य, रामानन्दाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य तथा वल्लभाचार्य आदिका अवतरण इस देशको इसी रूपमें प्राप्त हुआ। इसी कड़ीमें आदिशंकराचार्यकी परम्परामें अनन्तश्री स्वामी करपात्रीजी महाराज भी अवतरित हुए, जिनमें अलौकिक प्रतिभा थी और तपस्या एवं साधनाका अमित तेज था। कलिके इस प्रथम चरणमें जीवनपर्यन्त वर्णाश्रम-व्यवस्था और धर्मकी रक्षाके लिये वे संघर्षरत तो रहे ही, साथ ही उन्होंने जगत्को वेदशास्त्र और धर्मके सूक्ष्म तत्त्वोंसे अवगत भी कराया।

'भक्तिसुधा' का उद्देश्य आस्तिक जनताकी भावनाको दृढ़ करना एवं इस साहित्यके द्वारा सनातन-धर्मके प्रति फैली हुई भ्रान्तियोंको दूर करना है। अनेक प्रकारके वादोंके प्रसारसे जनताकी भावना उत्तरोत्तर शिथिल होती जा रही है। पाखण्डवादियोंद्वारा अपनी स्वार्थ-सिद्धिके लिये अनेक भ्रान्त मत फैलाये जा रहे हैं। उन पाखण्डवादोंको रोकनेके लिये जनतामें सत्साहित्यद्वारा वैदिक धर्मके गूढ़ तत्त्वोंका प्रकाशन करना ही एकमात्र उपाय है। इस पुस्तकमें श्रीस्वामीजी महाराजने सनातन-धर्मके प्रधान अंग देवोपासनाके रहस्योंका विशद विवेचन किया है। भगवत्प्राप्तिके सरल तथा सुन्दर मार्गका उपदेश दिया है। धर्मके मर्मका विवेचन करते हुए वे उन गूढ़ तत्त्वोंको प्रकाशमें लाये हैं, जिनसे पाखण्डवादका स्वतः ही खण्डन हो जाता है।

प्रस्तुत 'भक्तिसुधा' चार भागोंमें विभक्त है, पहला भाग श्रीकृष्णलीलादर्शन है, जिसमें श्रीकृष्णजन्म, श्रीकृष्णकी बालक्रीडा, वेणुरव, वेणुगीत, चीरहरण, रासलीला-रहस्य एवं श्रीरासपंचाध्यायी आदिका विशद विवेचन एवं रहस्योद्घाटन हुआ है। द्वितीय खण्डमें देवोपासनातत्त्वके अन्तर्गत पंचदेवोंका तात्त्विक विवेचन गायत्री तत्त्व, शक्तिका स्वरूप, शक्तिपीठ-रहस्य, श्रीरामजन्म-रहस्य, भगवदवतारका प्रयोजन, बुद्धावतारका प्रयोजन, निर्गुण-निराकारसे सगुण-साकार आदिका तात्त्विक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। तृतीय खण्डमें भक्तितत्त्वके अन्तर्गत भगवत्प्राप्ति, नामरूपकी उपयोगिता, इष्टदेवकी उपासना, मानसी आराधना, सगुणोपासनामें सरलता, विभीषण-शरणागति, प्रेमतत्त्व, भगवत्कथामृत, करुणालहरी, गजेन्द्रमुक्ति, संकल्पबल, ज्ञान और भक्ति एवं भक्तिरसामृतास्वादन आदि विषयोंपर मार्मिक विवेचन किया गया है। चतुर्थ खण्ड ज्ञानतत्त्वदर्शनके अन्तर्गत वेदान्तरससार एवं सर्वसिद्धान्तसमन्वयप्रकारकी मीमांसा की गयी है।

इस प्रकार यह ग्रन्थ पूर्ण होता है, आशा है आस्तिक जनता इस भक्तिसुधाका पान करके अपना कल्याण-साधन करनेमें समर्थ हो सकेगी।

—राधेश्याम खेमका

विषय-सूची

प्रथम खण्ड—श्रीकृष्णलीला-दर्शन

द्वितीय खण्ड—देवोपासनातत्त्व

तृतीय खण्ड—भक्तितत्त्व

चतुर्थ खण्ड—ज्ञानतत्त्वदर्शन

पूर्णपरात्पर भगवान् श्रीकृष्ण

शिखिमुकुटविशेषं नीलपद्माङ्गदेशं
विधुमुखकृतकेशं कौस्तुभापीतवेशम्।
मधुररवकलेशं शं भजे भ्रातृशेषं
व्रजजनवनितेशं माधवं राधिकेशम्॥

भक्तिसुधा

प्रथम खण्ड—श्रीकृष्णलीला-दर्शन

श्रीकृष्ण-जन्म

श्रीनन्दराय और देवी नन्दरानीजीका परिचय

'श्रीगोपालचम्पू' में श्रीकृष्ण-जन्मका बड़ा सुन्दर वर्णन मिलता है। श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दके बाल्य-सुखके उपभोक्ता श्रीमन्नन्दराय कौन थे? 'गोप' शब्दसे भी उनका व्यवहार होता है। '**सच्छूद्रौ गोपनापितौ**' इत्यादि वचनोंके आधारपर कुछ लोग उन्हें शूद्र समझ सकते हैं। वैसे तो भगवान्‌का जहाँ ही प्राकट्य हो, वही कुल धन्य है, फिर कोई भी क्यों न हो! परंतु 'श्रीगोपालचम्पू' के रचयिताने तो उन्हें क्षत्रियसे वैश्यकन्यामें उत्पन्न, अतएव वैश्य माना है। वृष्णिवंशमें भूषणस्वरूप देवमीढ़ मथुरापुरीमें निवास करते थे। उनकी दो स्त्रियाँ थीं, एक वैश्यकन्या और दूसरी क्षत्रियकन्या। क्षत्रियकन्यासे शूर हुए, जिनके वसुदेवादि हुए और वैश्यकन्यासे पर्जन्य हुए। अनुलोम संकरोंका वही वर्ण होता है, जो माताका होता है। इसी कारण पर्जन्यने वैश्यताको ही स्वीकार किया और गोपालनमें ही विशेष रूपसे प्रवृत्त हुए, जो कि वैश्य-जातिका प्रधान कर्म है, इसीलिये वे गोप भी कहे गये—

'**वृष्णिवंशावतंसः श्रीदेवमीढ़नामा परमगुण-धामा मथुरामध्यासयामास। तस्य भार्याद्वयमासीत्। प्रथमा द्वितीयवर्णा द्वितीया तृतीयवर्णा। तयोश्च क्रमेण शूरः पर्जन्य इति पुत्रद्वयं बभूव। शूरस्य वसुदेवादयः समुदयन्ति स्म। श्रीमान् पर्जन्यस्तु 'मातृवर्णवद्वर्णसङ्कर' इति न्यायेन वैश्यतामेवाविश्य गवामेवैश्यं वश्यं चकार।**'

पर्जन्य बड़े धर्मात्मा और ब्रह्म-हरिपूजनपरायण थे। उनका मातृवंश वैश्य सर्वत्र विस्तीर्ण और प्रशंसनीय था, उनमें भी वैश्यविशेष आभीर वंश था। वैश्यकी पुत्रीमें ब्राह्मणसे उत्पन्न पुत्र 'अम्बष्ठ' होता है और अम्बष्ठ-कन्यामें ब्राह्मणसे उत्पन्न 'आभीर' होता है। यह आभीर वैश्य ही होता है। ऐसे ही वैश्यकुलकी कन्यामें देवमीढ़ क्षत्रियसे उत्पन्न पर्जन्य वैश्य थे। ये ही गोपवंशरूपसे कृष्णलीलामें प्रख्यात हैं, अतएव इससे शूद्र गोप पृथक् हैं। यह तो वैश्य ही गोपालन कर्मसे गोप कहे गये। ब्रह्माने भी आभीरापरपर्याय गोप-कन्याको पत्नीत्वेन स्वीकार करके उसके साथ यज्ञ किया था। अतएव 'भागवत' में भी गर्गजीसे नन्दजीने कहा था कि इन दोनों पुत्रोंका द्विजातिसंस्कार करो—'**कुरु द्विजातिसंस्कारम्॥**' (श्रीमद्भा० १०।८।१०) कृष्णने भी '**कृषिवाणिज्य-गोरक्षा कुसीदं तुर्यमुच्यते। वार्ता चतुर्विधा तत्र वयं गोवृत्तयोऽनिशम्॥**' (श्रीमद्भा० १०।२४।२१) इत्यादिसे अपनेको गोवृत्त वैश्य कहा है।

पर्जन्यके उपनन्द, अभिनन्द, नन्द, सन्नन्द और नन्दन—ये पाँच पुत्र हुए। उनमें भी श्रीमन्नन्दराय सबके ही प्रेमास्पद थे। किसी सुमुख नामक प्रमुख गोपने श्रीमन्नन्दरायको परम धन्या, सुननेवालों,

देखनेवालों, भक्तिवालोंको यश देनेवाली यशोदा नाम्नी कन्याको प्रदान किया। पर्जन्यने मध्यम पुत्र नन्दको ही सर्वसम्मतिसे राज्य दिया और सम्पूर्ण भाई मन्त्री आदिका कार्य करते थे। पाँचों भाइयोंमें कोई सन्तति न थी। पुत्रेष्टि यज्ञादि किये गये, अनेक प्रकारकी भगवदाराधना होती रही। एक दिन श्रीमन्नन्दरायने नन्दरानीसे कहा—'मानिनि! मैं तुम्हारे अंकमें दुग्धोद्गारी पयोधरपर क्रीड़ा करनेवाला श्यामवर्णका चंचल, चारु, दीर्घ नेत्रोंवाला बालक स्पष्ट रूपसे देख रहा हूँ। क्या यह स्वप्न है या जागर? सहधर्मिणि! ठीक कहो, क्या तुम्हें भी वैसा ही प्रतीत होता है?

श्यामश्चञ्चलचारुदीर्घनयनो बालस्तवाङ्कस्थले
दुग्धोद्गारि पयोधरे स्फुटमसौ क्रीडन् मयालोक्यते।
(गोपालचम्पू)

नन्दरानीने कहा—'देव! मेरे भी मनमें ऐसी ही बात आ रही है।' इसके अनन्तर दोनोंने ही अपनी मनोरथपूर्तिके लिये द्वादशी-व्रत प्रारम्भ किया। वर्ष पूर्ण होनेपर समान कालमें ही दोनोंके सामने देवदेवका प्राकट्य हुआ और कहा कि 'अहो! तुम व्रतसे क्यों खिन्न हो रहे हो? जो अतसीकुसुमके समान सुषमा-सम्पन्न सुकुमार तुम दोनोंके अनुभवमें आता है, वह तुम्हारे संकल्पका ही फल है।' ऐसा कहकर देव अन्तर्हित हुए। यथासमय दिव्य कालमें, जिस समय जाति (जूही)-के साथ माधवी, केतकीके साथ केतक, अम्बुजोंके साथ कुमुद फूले थे, दिशाएँ प्रसन्न थीं, उसी समय सर्वाश्चर्यनिधि श्रीकृष्णका जन्म हुआ। ललित स्मितसे नील कमलोंके सम्राट्के समान बालकका मुख था। वस्तुतः वह स्वरूप ऐसा विचित्र था कि औरोंकी तो कौन कहे, वह अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डनायक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् भगवान्को ही आश्चर्यसिन्धु या विस्मयमें डालनेवाला था—

यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोग-
मायाबलं दर्शयता गृहीतम्।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः
परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्॥
(श्रीमद्भा० ३।२।१२)

भूषणोंको भी विभूषित करनेवाले अंगोंको मणिमय प्रांगणमें प्रतिबिम्बित देखकर कृष्ण स्वयं मुग्ध होकर उससे मिलनेके लिये उत्सुक हो उठते थे—

रत्नस्थले जानुचरः कुमारः
सङ्क्रान्तमात्मीयमुखारविन्दम्।
आदातुकामस्तदलाभखेदा-
न्निरीक्ष्य धात्रीवदनं रुरोद॥

कुछ महानुभावोंका कहना है, श्रीभगवान्का सम्बन्ध केवल प्रेम-निबन्धन ही है। तभी कहा है—**'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः'** (श्रीमद्भा० ११।१४।२१) अर्थात् भगवान् केवल भक्तिसे ही ग्राह्य होते हैं। जो जिस भावसे प्रभुको भजते हैं, प्रभु भी उन्हें वैसे ही प्राप्त होते हैं, अतः श्रीमन्नन्दराय एवं नन्दरानीके भावानुसार प्रभु वात्सल्य-प्रेमानुकूल उनकी पुत्रताको प्राप्त हुए। श्रीवसुदेवजीको भी वात्सल्य-रस प्राप्त था, परंतु सूतिका-गृहमें ही भगवान्के ऐश्वर्यपूर्ण रूपको देखनेसे उनमें वात्सल्य-रसका उतना तारल्य नहीं रह गया था, किंतु श्रीमन्नन्दरायमें सर्वदा समुद्बुद्ध अतएव सर्वदा ही शुद्ध वात्सल्य-रस रह गया था। वसुदेव और देवकीने भगवान्को मनसे ही पुत्रत्वेन धारण किया था, यह बात अग्रिम वचनोंसे ज्ञात होती है। **'आविवेशांशभागेन मन आनकदुन्दुभेः॥'** (श्रीमद्भा० १०।२।१६) अर्थात् अंशभागसे भगवान् आनकदुन्दुभिके मनमें प्रविष्ट हुए। **'दधार सर्वात्मकमात्मभूतं काष्ठा यथानन्दकरं मनस्तः॥'** (श्रीमद्भा० १०।२।१८) अर्थात् जैसे पूर्वा दिक् आनन्दकर चन्द्रमाको धारण करती है, वैसे ही देवकीने मनसे ही सर्वान्तरात्मा कृष्णको धारण किया। जैसे वसुदेव-देवकीने मनसे ही कृष्णको धारण किया था, वैसे ही श्रीव्रजराज और व्रजरानीने भी पुत्रत्वेन उन्हें धारण किया था;

इसीलिये कहा जाता है कि माघ शुक्ल प्रतिपद्की सर्व-सुखसम्पन्न रजनीमें श्रीव्रजराजकी सेवा करती हुई यशोदाने तन्द्रामें स्वप्नके समान कुछ चमत्कार देखा। जिस कुमारको पहले देखा था, वही किसी सर्वावरणकारिणी दिव्य कुमारीसे अपनेको आवृत करके व्रजराजके हृदयसे निकलकर उनके हृदयमें प्रविष्ट हुए। बालक हृदयमें विराजमान हुआ और कन्या उदरमें और उसी समयसे नन्दरानीमें गर्भ-लक्षण दिखलायी देने लगे। व्रजरानीमें प्रस्फुरित होनेसे ही कृष्णका लोकमें भी वैसे ही स्फुरण हुआ, जैसे स्फटिक-घटीमें रहनेवाला दीपक भीतर-बाहर सर्वत्र प्रकाश करता है—

व्रजराज्ञ्यां स्फुरितात्मा कृष्णः स्फुरति स्म लोकेऽपि।
दीपः स्फटिकघटी भागन्तर्बहिरपि विभाति तत्तुल्यः॥

यद्यपि नन्दरानी रसना-रसके जीतनेवाले धैर्यसे युक्त और गाम्भीर्यादि गुणोंमें अत्यन्त प्रवीण थीं, फिर भी कृष्णावेशसे तुलसी-संस्कृत घृत और सितायुक्त स्वच्छ परमान्नरूप दोहदकी उन्हें इच्छा होने लगी। उधर योगमायाने देवकीके साप्तमासिक गर्भको आकर्षित करके रोहिणीमें रख दिया। फिर रोहिणीने श्रावणसे पहले श्रवण नक्षत्रमें गौर सुन्दर कुमारको उत्पन्न किया। जैसे पौर्णमासी पूर्ण चन्द्रको प्रकट करती है, सिंहवधू विक्रमी शावकको उत्पन्न करती है, वैसे ही रोहिणीने बलरामको प्रकट किया। उस बालकके अंगकी कान्ति सूर्यकी कान्तिको लज्जित करती थी, मुखकान्ति चन्द्रमाकी कान्तिको लजानेवाली थी। महाप्रभावशाली वह बालक अन्य समयमें अत्यन्त जड़-सा ही दिखायी देता था, परंतु कृष्णको गर्भमें धारण करनेवाली नन्दरानी जब उसको अपनी गोदमें लेती थी, तभी बालकको विश्रान्ति और प्रसन्नता होती थी। अनन्तर परम शुभ कालमें कृष्णका प्रादुर्भाव हुआ। ललितस्मित नीलकमलके समान मुख, सूक्ष्म भ्रमरसे चित्रित कैरव-कोशके समान नेत्र, मधुर श्यामल तिल-प्रसूनके समान नासिका, सिन्दूर-गिरि-समुद्भूत जवाकुसुम और बिम्बाफलके सदृश ओष्ठ और अधर थे। अंजनभूमि-समुद्भूत श्याम लता-पत्रके समान कान, नवपल्लवयुक्त नव तमाल-शाखाके समान दोनों ही श्रीहस्त, कोमल मृणालतन्तुसदृश रोमोंकी दक्षिणावर्तराजिसे लांछित दक्षिण वक्षःस्थल और सुवर्णवर्ण रोमोंकी वामावर्तराजिसे लांछित वाम वक्षःस्थल विद्युत्से आश्लिष्ट श्यामल मेघ-खण्डके समान सुशोभित होता था। वे बालकृष्ण अपने मुखसे महापद्मको, नयनोंसे पद्मको, नासिकासे मकरको, स्मितसे कुन्दको, कण्ठसे शंखको, चरणपृष्ठोंसे कच्छपको और दीप्तिसे इन्द्रनीलको जीतनेवाले थे।

इनका आविर्भाव स्नेहमयी स्फूर्ति-परम्पराके वशीकारसे ही होता है, अन्यथा नहीं। पुत्र-रूपसे आविर्भावमें पितृभावमय स्नेह ही बीज है। जहाँ भी कहीं पुत्रभावसे उनका प्रादुर्भाव होता है, वहाँ तत्सम्बन्धमय स्नेहकी स्फूर्ति ही मुख्य कारण है। व्रजराज आदिमें शुद्ध समुद्बुद्ध वात्सल्य भाव था। श्रीदेवकी-वसुदेवके हृदयमें वही चतुर्भुजरूपसे थे, अतएव बाहर भी वैसे ही प्रकट हुए। श्रीव्रजराज-व्रजरानीके हृदयमें द्विभुज ही स्वरूप था, अतएव बाहर भी उन्हें द्विभुज स्वरूपका ही उपलम्भ हुआ। जिस समय देवकीको कंसके भयसे आविर्भूत चतुर्भुजरूपको आच्छादन करके द्विभुज रूप देखनेकी इच्छा हुई, उस समय श्रीयशोदाके यहाँ प्रकट द्विभुज स्वरूप ही वहाँ प्रकट होकर चतुर्भुज स्वरूपको अपनेमें लीन करके आविर्भूत हुआ। साकाररूप माताके गर्भमें स्थित रहकर भी निराकारतया योगमाया ऊर्ध्व गतिसे द्विभुज कृष्णको देवकीके पास वैसे ही लायी, जैसे गन्धवाह नीलकमल-दलको लाये, वैसे ही सबसे अलक्षित होकर एवं माताको भी मोहित करके आयी और गर्भस्थ आकारसे माताको प्रसूतिका भ्रम पैदा करके अपने-आपको बाहर प्रकट करके शय्यापर स्थित रही। उसीने संकर्षणको हटाकर रोहिणीमें प्रवेश कराया था। **'अथाहमंशभागेन'**

(श्रीमद्भा० १०।२।९) का यही आशय है कि आकारभेद चतुर्भुज स्वरूपके साथ द्विभुज कृष्णका अवतार होगा और वह आकारभेद द्विभुजाकार नन्दनन्दनमें मिल जायगा। अनन्तर वसुदेवजी योगमायाके प्रभावसे सबके प्रसुप्त हो जानेपर उस बालकको लेकर श्रीनन्दरायके भवनमें पहुँचे और नन्दरानीकी शय्यापर उस बालकको पधराकर वहाँसे कन्याको उठा लाये। ईश्वरता-प्रत्यायक चतुर्भुजरूपसे और उपदेशसे भगवान्ने वसुदेवके यहाँ उत्पन्न होना तो व्यक्त कर दिया, परंतु पुत्रता-सन्देह उत्पन्न किया, अतएव उन्हें अनेकों बार उनकी पुत्रतामें सन्देह होता था। श्रीमन्नन्दरानी और नन्दके यहाँ तो द्विभुजरूपसे और वचनादि शक्तिको व्यक्त करनेसे नि:सन्देह पुत्रताको व्यक्त किया। आनकदुन्दुभि (वसुदेव)-को इन बातोंका कुछ भी अनुसन्धान नहीं हुआ। फिर भी श्रीनन्दकी कन्याको ले जाकर उसे खो दिया, उसके बदलेमें कोई प्रतिदान नहीं दिया। ऐसी स्थितिमें वे छोड़े हुए कृष्णमें अपनापन कैसे मान सकते थे? आगमादिकोंमें भी नन्दनन्दन, नन्दात्मज आदि स्पष्ट पद आते हैं।

नन्दरानीके पुत्रदर्शनका उल्लास

फिर मायाके उपरत होनेपर नन्दरानीने जागकर प्रत्यक्ष नीलोत्पल-दल-श्याम पुत्रको देखा—

ददृशे च प्रबुद्धा सा यशोदा जातमात्मजम्।
नीलोत्पलदलश्यामं ततोऽत्यर्थं मुदं ययौ॥

बालकका दिव्यातिदिव्य इन्द्रनीलमणिके समान वपु और चन्द्रको जीतनेवाला परम मनोहर मुख था। लोकातीत कमल-दलके सदृश नेत्र और कल्पतरु-नव-पल्लव दलोंके सदृश हाथ थे। हस्त-पादादिको कुछ चलाते हुए वह अपने मृदु, मधुर क्रन्दनसे विश्वको मोहित करता था। 'क्या यह श्यामल प्रकाशोंका साम्राज्य या रूपरत्नाकरोंकी निधि है, लावण्यभागियोंका भाग्य—किंवा तत्तत् अंगावलियोंका विलसित सिद्धान्त है' जबतक नन्दरानी यह विचार कर ही रही थीं, तबतक 'ओमोम्' इस तरह रोदन-व्याजसे बालकने उसकी विकल्पपरम्पराको स्वीकार किया। प्रजात पुत्रको देखकर नन्दरानी सखियोंको भी न बुला सकीं, फिर और चेष्टित होना तो दूर रहा। प्रेमाश्रुओंसे आँखें मिच गयीं, कण्ठ गद्गद हो उठा, वपु स्तब्ध हो उठा, लालनकी लालसासे आत्मा व्यग्र हो उठा। जब माया चली गयी, तब लोगोंका मोह गया। पुरुषोत्तमके प्राकट्यमें व्यवहित नरनारियोंके भी मन वैसे ही विकसित हो उठे, जैसे चन्द्रोदय होते ही व्यवहित कुमुदिनियोंके भी सुमन खिल उठते हैं। वह बालक केवल नन्दरानीकी शय्यापर ही नहीं, अपितु स्निग्धाओंके स्वच्छ चित्तोंमें भी प्रतिबिम्बके समान प्रस्फुरित हुआ, अत: वे शीघ्र ही रोहिणी आदिके संग आकर बालकको वैसे देखने लगीं, जैसे समुदित होते ही चन्द्रको चकोरगण देखते हैं। यशोदा यद्यपि प्रेममें स्तब्ध थीं तथापि स्मेर नेत्रोंसे बालकको देख रही थीं। व्रजपुर-पुरन्ध्रीगण कल्पना करती हैं—क्या यह नवीन इन्दीवर महान् इन्द्रनील है किंवा वैदूर्य है? अहो! यह जो बालकका स्वरूप है, वह मानो मृगमद-सौरभ और तमाल-दलसे बना हुआ है, अद्भुत लावण्यसे अभ्यक्त है, निज देहके तेजसे उद्वर्तित है, निज मुखनिर्गत कान्तिसुधासे स्नात है, सौन्दर्यसे अनुलिप्त है, त्रैलोक्य-लक्ष्मीसे समलंकृत है। चूर्णीभूत तमके समान इसके केश और चन्द्रबिम्बके समान इसका मुख है। मानो सबका मन खींचनेके लिये ही उसने मुट्ठी बाँध रखी है। यमुना-तरंगके समान चरण-कमलको चलाते हुए उस बालकको देखकर सब बहुत ही प्रसन्न हुईं और कहने लगीं—'अहो! इसे सिरपर रखें, नयनमें रखें या हृदय-मध्यमें रखें।' बार-बार उस बालकको देखकर भी नहीं तृप्त होतीं। फिर धैर्यसे किसी तरह उन्होंने स्नानादि कृत्य सम्पादित किया। श्रीमन्नन्दादि गोपोंको कृष्ण-जन्मका समाचार जब प्राप्त हुआ, तब परमानन्दमें सब विभोर हो गये। क्या भारतको वह शुभ दिन देखनेका सौभाग्य पुन: प्राप्त होगा?

श्रीकृष्णकी बालक्रीडा

वेदान्तवेद्य, परात्पर, पूर्णतम भगवान् अपने परम प्रिय धर्मके संस्थापन तथा गो, विप्र, साधुजनोंकी रक्षाके लिये अपनी दिव्य लीलाशक्तिद्वारा अद्भुत सौन्दर्य, माधुर्य, सौगन्ध्य, सौरस्य, सौस्वर्य सुधाजलनिधि मंगलमय विग्रह धारण करके प्रकट होते हैं। भक्तोंको अभय देनेवाले विश्वान्तरात्मा भगवान्का प्रादुर्भाव प्राकृत जीवोंकी तरह नहीं होता, अपितु भौतिक धातुसम्बन्ध बिना ही मनमें उनका प्राकट्य होता है। व्यापक विरज ब्रह्मका धारण सिवा निर्मल अग्र्य मनके और किसी तरह बन ही नहीं सकता। अनन्त, अखण्ड ब्रह्मतेजको ग्रहण तथा धारण करनेसे प्राणीमें तेज, प्रागल्भ्य आदि दिव्य शक्तियाँ स्फुरित होती हैं। अतएव अचिन्त्य भगवान् श्रीवसुदेवजीके मनमें ही प्रविष्ट हुए और मनसे ही देवकीने वसुदेवजीसे श्रीकृष्णको धारण किया—

'आविवेशांशभागेन मन आनकदुन्दुभेः॥'
'काष्ठा यथानन्दकरं मनस्तः॥'

(श्रीमद्भा० १०। २। १६, १८)

जन्मोत्सवका उल्लास

सकललोकनायक पुरुषोत्तमका आगमन जानकर समस्त प्रकृति अपने प्रियतम, जीवनधन प्रभुके स्वागतके लिये उतावली हो उठी। परमशोभन समय प्रकट हुआ और शान्त-दिव्य नक्षत्र तथा ग्रह-तारक आ जुटे। समस्त दिशा-विदिशाएँ प्रभु-सम्मिलनकी सम्भावनासे प्रसन्न हो उठीं। निर्मल उडुगणोंसे युक्त गगनके आनन्दकी सीमा न रही। पुर, ग्राम, व्रजसहित माधवी श्रीभूदेवीने सर्वमांगल्यसम्पन्नरूप धारण किया। सरोवर, सरिताओंका जल शीतल, निर्मल तथा सुहावना होकर कमल-कमलिनियोंकी दिव्यश्रीसे सुशोभित हो उठा। भ्रमरवृन्द, मयूर, हंस, सारस, कारण्डव, कोकिल, शुक, तित्तिर, पारावत और अनेक दिव्यवर्ण विहंगमोंके सुमधुर निनादसे उन सरित्-सरोवर तथा वनराजियोंके पुष्पस्तबक पल्लवादि सन्नादित होने लगे और पुष्पगन्धयुक्त सुखद, सुस्पर्श, सुन्दर, शीतल समीर बहने लगा। इतना ही नहीं, दुष्ट दानवोंके अत्याचारसे प्रशान्त अग्नि श्रीभगवान्का आगमन जानकर फिरसे देदीप्यमान हो उठे और आततायियोंके उत्पीड़नसे मुरझाये हुए सत्पुरुषोंके सुमनोरूप सुमनस पुनः प्रफुल्लित हो गये, देवलोकमें भी देवता दुन्दुभि बजाने लगे और ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र आदि पुष्पोंकी वृष्टि करने लगे। सिद्ध, चारण आदि पवित्र मन्त्रोंसे ब्रह्माण्डनायक प्रभुका स्तवन करने लगे। किन्नर, गन्धर्वगण जगत्पावन गुणोंका गान करने लगे और विद्याधर अप्सराओंके साथ प्रभु-प्रेममें निर्भर होकर नृत्य करने लगे।

ऐसे सुयोगमें देवरूपिणी देवकीमें आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र ऐसे प्रकट हुए, जैसे प्राची दिक्में पूर्णचन्द्र। पूर्णिमाको छोड़कर अन्य तिथियोंमें ठीक पूर्वा दिक्का सम्बन्ध न होनेसे चन्द्रमामें पूर्णता नहीं होती। यही कारण है कि श्रीकृष्णचन्द्रके पूर्ण प्रकाशके लिये देवकीदेवीको प्राची दिक् बतलाया गया है—

'देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः।
आविरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः॥'

(श्रीमद्भा० १०। ३। ८) श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीने भी आनन्दवर्द्धन श्रीरामचन्द्रके पूर्णतम रूपमें प्रकट होनेके लिये श्रीकौसल्यामाताको प्राची बतलाया है—**'बंदउँ कौसल्या दिसि प्राची।'** (रा०च०मा० १। १६। ४) परंतु यहाँ एक बात और है। अलौकिक अद्भुत आनन्द-सुधासिन्धु-समुद्भूत श्रीकृष्णचन्द्र जैसे सकलंक लौकिक चन्द्रसे विलक्षण हैं, वैसे ही निर्मल-विशुद्ध-सत्त्वमयी देवकीरूपा प्राची भी प्राकृत प्राचीसे विलक्षण हैं। फिर जैसे सूर्यकान्तमणिपर ही सूर्यका पूर्णरूपेण प्राकट्य होता है, वैसे वेदान्तमहावाक्यजन्य ब्रह्माकाराकारित परमसत्त्वमयी मानसी वृत्तिपर ही पूर्णतम पुरुषोत्तमका प्राकट्य होता है। अतः यहाँपर वही परम सत्त्वसमूहाधिष्ठात्री महाशक्ति देवरूपिणी श्रीदेवकी हैं और उनमें पूर्णतम तत्त्वका ही आनन्दघन श्रीकृष्णचन्द्ररूपमें प्राकट्य हुआ है।

बालरूपकी झाँकी

जन्म होनेपर श्रीवसुदेवजीने एक ऐसे अद्भुत

बालकको देखा, जिसके कमलदलके समान लोचन हैं और जो अपनी चार भुजाओंमें शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये हुए है। उसका शरीर नव-नील-नीरदके समान परम सुभग-सौन्दर्य-सम्पन्न है और उसपर श्रीवत्स-चिह्नयुक्त कौस्तुभमणि तथा पीताम्बर विराज रहा है। परम-तेजोमय किरीट तथा कुण्डलकी दिव्य दीप्तिसे उसके सहस्रों कुन्तल (स्निग्ध सुचिक्कण-दीप्ति श्यामल अलकावली) आलिंगित हैं, उनमें किरीटकी दीप्तिसे ऊर्ध्व और कुण्डलोंकी दीप्तिसे निम्नभागकी अलकावली वैडूर्यमणिकी तरह नाना-छवियुक्त हो रही है। ऐसे तेजोमयी कांची आदिसे अत्यन्त शोभायुक्त बालकको विस्मयसे प्रफुल्ल नेत्रोंद्वारा देखकर श्रीवसुदेवजीने परब्रह्म परमात्माको ही अपने पुत्ररूपमें समझा और उसके जन्मोत्सवमें मनसे ही ब्राह्मणोंके लिये दस सहस्र गौओंका संकल्प कर डाला। फिर उस बालकको अपने दिव्य ब्राह्म-तेजसे सूतिका-भवनको प्रभासित करते हुए, अपने श्रीअंगकी सुभगता, श्यामलता और मधुर दिव्य दीप्तिसे नीलमणि तथा नीलेन्दीवरकोशकी सहज सुभगता और श्यामलता तथा अपरिगणित सूर्य-चन्द्रके सुमधुर दिव्य प्रकाशको लजानेवाला साक्षात् परम पुरुष परमात्मा जानकर वे विनम्र और कृतांजलि तथा प्रभावित होनेके कारण निर्भय होकर स्तुति करने लगे।

स्तुति-निवेदन

'हे नाथ! मैंने आपकी मंगलमयी कृपासे ही आपको जाना। आप प्रकृतिपार सर्व-बुद्धि-साक्षी निर्मल-बोध तथा आनन्दरूप साक्षात् परम पुरुष हैं। आप ही पहले अपनी प्रकृतिसे त्रिगुणात्मक प्रपंचका निर्माणकर पश्चात् उसमें अप्रविष्ट होकर भी (क्योंकि सर्वप्रकाशक सर्वाधिष्ठान, व्यापक असंग तत्त्वका प्रवेश नहीं बन सकता) प्रविष्टके समान प्रतीत होते हैं। जैसे महदादि अविकृत भाव विकृत भूतोंके साथ मिलकर विराट्का निर्माण करते हैं और उनमें अनुगतसे प्रतीत होते हुए भी वास्तवमें अप्रविष्ट ही हैं, हे नाथ! वैसे ही आप सर्वप्रकाशक, सर्वाधिष्ठान, सर्वकारण हैं। आपका विवर्त्तभूत जगत् आपमें ही है और आप स्वरूपसे असंग होते हुए भी तत्तत्प्रपंचोंकी सत्ता और स्फूर्तिरूपसे उनमें प्रविष्ट-से प्रतीत होते हैं। यहाँ तात्पर्य यह है कि कार्यसे प्रथम ही कारण सिद्ध होता है। किं बहुना कारणका ही कार्यरूपमें प्रादुर्भाव होता है। कारणसे भिन्न कार्य कुछ होता ही नहीं, फिर कार्यमें कारणका प्रवेश या परस्पर आधाराधेय भाव कैसे हो सकता है, पर तब भी कुण्डलमें सुवर्ण, पटमें तन्तु—ऐसा व्यवहार होता है। इसलिये अनिर्वचनीय कार्य और कार्यमें कारणका अनिर्वचनीय प्रवेश प्रतीत होता ही है।

हे नाथ! आप रूपज्ञानादि साधनोंसे अनुमित इन्द्रियों तथा तद्ग्राह्य रूपादि विषयोंके साथ सत्ता और स्फूर्तिरूपसे विराजमान रहते हुए भी इन्द्रियादिसे अग्राह्य ही रहते हैं। जैसे चक्षुसे रूप-ग्रहणकालमें रूपके साथ विद्यमान भी रस नहीं गृहीत होता; क्योंकि इसके ग्रहणमें चक्षुकी शक्ति नहीं है, वैसे ही विषय तथा इन्द्रियादिमें विद्यमान रहते हुए भी आप इन्द्रियादिसे उपलब्ध नहीं होते; क्योंकि इन्द्रियोंमें सर्वाधिष्ठानभूत आपका प्रकाश करनेका सामर्थ्य नहीं है। परिच्छिन्न पक्षी आदिका नीडमें प्रवेश होता है, आप अपरिच्छिन्न हैं, अतः आपका बाह्य-आभ्यन्तर भाव ही नहीं बन सकता। आप सर्वस्वरूप तथा सर्वात्मा एवं परमार्थवस्तु हैं, आपका प्रवेश कैसे और कहाँ हो सकता है? यदि कोई कहे कि दृश्य-प्रपंचमें आपका प्रवेश हो सकता है सो ठीक नहीं; क्योंकि निर्विकार सच्चिदानन्द भगवान्से भिन्न दृश्य-प्रपंचमें जो सत्यत्व बुद्धि करता है, वह अविवेकी है (हेयादि दृश्य-अनुवाद वाचारम्भणको छोड़कर किसी तरहसे भी विचारसह नहीं है, किंतु तत्त्वकोटिसे अत्यन्त बहिर्भूत अविचारितरमणीय ही है)।

हे नाथ! यद्यपि आप निरीह, निर्गुण तथा निर्विकार हैं तथापि तत्त्वज्ञगण सकल प्रपंचकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय आपसे ही कहते हैं। आपके मायायुक्त और मायातीतरूपमें ये दोनों बातें विरुद्ध नहीं हैं। अर्थात् आपके मायायुक्तरूपसे अनन्त ब्रह्माण्डके सृष्ट्यादि होते हैं और मायातीतरूपसे आप निरीह निर्गुण भी हैं। वस्तुतः आपके आश्रित रहनेवाली मायाके समस्त

विलास आपमें औपचारिक दृष्टिसे व्यपदिष्ट होते हैं। त्रिलोकी-पालनके लिये आप ही सत्त्वका अवलम्बन करके शुक्लरूपको धारण करते हैं और उत्पादन तथा संहारके लिये रक्त और कृष्णरूप धारण करते हैं।

हे विभो! आप इस लोककी रक्षाके लिये ही मेरे गृहमें अवतीर्ण हुए हैं और आप असुर-यूथपोंकी सुसज्जित बड़ी-से-बड़ी सेनाओंका वध करके भू-भारका अपनयन करेंगे; परंतु आपके अग्रजोंका वध करनेवाला यह कंस तो अभी ही आपका जन्म-श्रवण करते ही शस्त्र लेकर आयेगा।

इस तरह श्रीवसुदेवजीकी स्तुति समाप्त होनेपर देवकी भी महापुरुष-लक्षण-सम्पन्न पुत्रको देखकर तथा कंससे भयभीत होकर स्तुति करने लगी—'जिस अव्यक्त, आद्य, निर्विकार, निर्गुण ब्रह्मज्योतिको वेद निर्विशेष, निरीह तथा सत्तामात्र बतलाते हैं, वह समस्त कार्य-कारण, अध्यात्मके प्रकाशक, व्यापक विशुद्ध ब्रह्म आप ही हैं। कालचक्रके वेगमें समस्त प्रपंचका विलयन हो जानेपर भी एक आप ही अवशिष्ट रहते हैं। हे प्रकृति-प्रवर्तक प्रभो! यह कालचक्र भी केवल आपकी ही लीला है। अत: नाथ! मैं आपके प्रपन्न हूँ।

हे नाथ! मरणधर्मा प्राणी मृत्यु-व्यालसे भीत होकर पलायन करता हुआ समस्त लोकोंमें गया, परंतु कहीं निर्भय न हुआ, पर जब कभी वह आपकी कृपासे आपके श्रीचरणोंको प्राप्त करता है, तभी स्वस्थ होकर सुखकी नींद सोता है, फिर तो मृत्यु उससे बहुत दूर रहती है। हे नाथ! आप हम सबकी इस कंससे रक्षा करें और साथ ही यह भी प्रार्थना है कि यह ध्यानास्पद स्वरूप सर्वसाधारणको दृष्टिगोचर न हो और कंस मुझमें हुए आपके जन्मकी बात न जाने।'

इस तरह नाना प्रकारसे वसुदेव और देवकीका स्तवन श्रवणकर उनके पूर्वजन्मकी तपस्या तथा वर-प्राप्तिकी बात बताकर एवं अपनेको नन्दके घर पहुँचानेका संकेत करके माता-पिताके देखते-देखते ही अपनी दिव्य योगमायाके प्रभावसे श्रीकृष्ण शिशु रूपमें व्यक्त हो गये। भगवान्‌के संकेतसे ज्यों ही श्रीवसुदेवजीने अपने शिशुको नन्दके घर पहुँचानेका मन किया, त्यों ही श्रीवसुदेवजीके चरणोंके बन्धन शिथिल हो गये और पहरेदार सो गये। वज्रमय कपाट भी खुल गये। जिस समय श्रीवसुदेवजी बालकरूप परमपुरुषको लेकर चले, नागराज श्रीशेष अपने सहस्र फणोंसे छाया करते हुए साथ चले और श्रीयमुनाजी गाध हो गयीं। इस तरह श्रीयोगमायाकी सहायतासे श्रीवसुदेवजीने श्रीमन्नन्दरायके मंगलमय भवनमें, जिसका द्वार खुला था, पहुँचकर प्रसुप्त श्रीव्रजेन्द्रगेहिनीकी शय्यापर अपने सर्वस्व पुत्ररत्न किंवा अन्तरात्माको ही लिटा दिया और कन्यारूपमें श्रीयशोदाजीसे उत्पन्न योगमायाको लेकर वे अपने स्थानको लौट आये। श्रीवसुदेवके चले जाने तथा योगमायाका प्रभाव मिट जानेपर सब लोग प्रबुद्ध हो गये—

ददृशे च प्रबुद्धा सा यशोदा जातमात्मजम्।
नीलोत्पलदलश्यामं ततोऽत्यर्थं मुदं ययौ॥

यशोदाजीको बालरूपके दर्शन

श्रीव्रजेन्द्रगेहिनीने प्रबुद्ध होकर नीलोत्पलदल-श्याम मनोहर पुत्रको देखा और वे अत्यन्त हर्षको प्राप्त हुईं। इस समयकी बालकृष्णकी शोभा या छविका कहना ही क्या है! भगवान् दिव्यातिदिव्य महेन्द्र नीलमणि तथा अति दिव्य नीलकमल, किंवा नील नीरधर या मयूरपिच्छचन्द्रकसे कोटिगुणित सुन्दर, श्यामल, कोमल, गम्भीर एवं दीप्तिमान् हैं और अपने अमृतमय मुखचन्द्रकी दिव्य छविसे अनन्त कोटि चन्द्रमाओंको लजानेवाले हैं। लोकातीत कमलदल-सरीखे मनोहर नयन हैं और कल्पतरुके सुकोमल नवल दलकी मृदुता एवं मनोहरताको प्रहसन करनेवाले अंघ्रि-पल्लव हैं। श्रीव्रजेन्द्रगेहिनी यशुमति अपने मधुरतम ललन श्रीकृष्णको देखकर कल्पना करती हैं, क्या यह श्यामल महोमय परमतत्त्व श्याममय प्रकाश-पुंजोंका साम्राज्य है, किंवा रूपरत्नाकरोंकी दिव्यनिधि है, किंवा लावण्यामृतमाणिक्यका परम सौभाग्य है, किंवा तत्तत् अंगावलियोंका सुशोभित सिद्धान्त है।

यशोदानन्दन श्रीश्यामसुन्दरके सुमधुर स्वरूपका अनुभव करके भगवद्भक्त कवीन्द्रगण भी कल्पना करते हैं कि श्रीव्रजेन्द्रगेहिनी यशोदाके अंकमें विराजमान

श्रीकृष्ण मानो अद्भुत कुवलय अर्थात् रात्रिविकासी पंकज हैं। वह पंकज भी जलीय सरोवरके साधारण पंक या क्षीरसरोवरके नवनीतमय पंकसे जायमान नहीं है, किंतु पूर्णानुरागरससार सरोवरके सारमय पंकसे उत्पन्न होनेवाला पंकज है। यह ऐसा अलौकिक कुवलय है कि आजतक भृंगोंने इसका आघ्राण एवं मकरन्द-पान नहीं किया। अर्थात् भक्तोंने अबतक श्रीमन्नारायणके ही रूपमाधुर्यका आस्वादन किया, पर इन यशोदोत्संग-लालित श्रीकृष्णका माधुर्यामृत पान नहीं किया और अनिलोंने अभीतक इस पंकजका सौगन्ध्य भी नहीं हरण किया। अभिप्राय यह है कि कवीश्वरोंने अबतक नारायणके यशका ही वर्णन किया है, अत: यह उनके लिये भी अपूर्व ही है और यह नीरमें उत्पन्न होनेवाला भी नहीं अर्थात् प्रपंचमें श्रीकृष्णका प्रादुर्भाव ही नहीं है। तरंगोंने भी इस पंकजको आहत नहीं किया है अर्थात् मायामय गुणोंके तरंगोंसे यह असंस्पृष्ट है और आजतक किसीने कहीं भी इस अद्भुत कमलको देखा भी नहीं है या वैकुण्ठवासियोंने भी इस तत्त्वका दर्शन नहीं किया है अथवा श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दके श्रीअंगका ऐसा अद्भुत नित्य नवनवायमान माधुर्य है कि भक्तगण अनादि कालसे उसका आस्वादन करते हुए भी उसको प्रतिक्षण अभिनव एवं अपूर्व ही समझते हैं, वैसे रसिकजन भी सदा ही श्रीकृष्णके सुमधुर यशका वर्णन करते हैं, पर तब भी उन्हें प्रतिक्षण उसमें अपूर्वताका ही भान होता है—

अनाघ्रातं भृङ्गैरनपहृतसौगन्ध्यमनिलै-
रनुत्पन्नं नीरेष्वनुपहतमूर्मीकणभरैः।
अदृष्टं केनापि क्वचन च चिदानन्दसरसो
यशोदायाः क्रोडे कुवलयमिवौजस्तदभवत्॥

(आनन्दवृन्दावनचम्पू)

व्रजांगनाओंको माधुर्यरूप बालप्रभुका दर्शन

श्रीनन्दरानी मृदु मधुर विश्व-मोहन शिशु-रुदनको सुनकर प्रेमानन्दमें चित्रलिखित-सी रह गयीं। योगमायाका प्रभाव मिट जानेपर शिशु-रुदनसे आकर्षित होकर स्निग्ध व्रजयुवतीजन समीप आयीं। जैसे चन्द्रमाका अभ्युदय होते ही व्यवधानयुक्त भी (साक्षात् चन्द्रिका-सम्बन्ध न होनेपर भी) कुमुदिनी प्रफुल्लित होती है, वैसे ही श्रीकृष्णचन्द्रके अभ्युदयमात्रसे परमानन्दवती स्निग्धाओंके सुमनस (शोभन मन) प्रफुल्लित हो उठे। श्रीकृष्ण केवल श्रीयशोदाकी शय्यापर ही नहीं, अपितु व्यवधान होनेपर भी स्निग्धोंके स्वच्छ चित्तपर भी प्रतिबिम्बकी तरह स्फुरित हुए। नवनील नीरधरके समागममें चातकीके समान प्रहृष्ट होकर व्रजांगनाएँ शीघ्र ही समीप आकर रोहिणी आदिके साथ बालकको देखने लगीं।

जैसे अभ्युदित होते हुए पूर्ण चन्द्रमाको उत्कण्ठित होकर चकोरीगण देखती हैं, वैसे ही व्रजांगनागण श्रीकृष्णको सतृष्ण निर्निमेष नयनोंसे देखती हुई सोचती हैं कि क्या यह अद्भुत अलौकिक नीलकमलमय माल्य है, किंवा अलौकिक इन्द्रनीलमणि है अथवा विचित्रच्छविका सुमधुर वैदूर्य है। अहो! यह बालक अनुपमेय और अज्ञेय है। इस बालकके तनु और सर्वेन्द्रियोंकी रचना नयनोंकी निर्द्वन्द्वताका विस्तार करती है। अहो! मानो इस बालकके श्रीअंग मृगमद-सौरभ तथा तमाल-दलसारसे अभ्यंजित हैं, मानो निखिल-ब्रह्माण्डव्यापी लावण्यामृतसारसे ही इस बालकके श्रीअंगमें उबटन हुआ है और निजांगतेजसे ही यह नहलाया गया है। मानो निज-मुखचन्द्रसे विनि:सृत कान्ति-सुधासे ही इसका अनुलेपन हुआ है एवं मंगलमय लक्ष्मीसे ही इस बालकका अंग भूषित किया गया है। अथवा इस बालकके सुन्दर अंगोंमें मानो अति सुगन्धित स्नेह (तेल या प्रेम)-से अभ्यंग हुआ है और सौरभ्य (विश्वव्यापी सौगन्ध्यामृतसार)-से उबटन हुआ है, माधुर्यामृतसारसे स्नान कराया गया है और लावण्यसारसे मार्जन किया गया है। सौन्दर्यसारसर्वस्वसे अनुलेपन और त्रैलोक्य-लक्ष्मीसे ही इसका शृंगार हुआ है।

अभ्यंग—स्नान-मार्जन आदिसे लोकमें यत्किंचित् स्निग्धता-मधुरता-लावण्यादिका सम्पादन होता है, यहाँ तो स्नेह-माधुर्य-लावण्य-सौन्दर्यादि सुधासार-

सर्वस्वसे ही अभ्यंग आदि हुआ है। यह बालक मानो अभिनव नीलमणीन्द्रका अंकुर है अथवा श्यामल तमालका सुभग मृदुल पल्लव है अथवा मानो नवाम्भोदका अति स्निग्ध कन्दल है या त्रैलोक्य-लक्ष्मीका अत्यन्त उत्कृष्ट और सुरभित कस्तूरिका-तिलक है किंवा सौभाग्यसम्पत्तिका अति चिक्कण एवं सर्वाकर्षण-सम्पन्न सिद्धांजन है। क्या यह बालक सुरभित श्यामल मृगमद कर्दम है या श्यामामृत-महोदधिके मन्थनसे समुद्भूत अति स्निग्ध और मधुर नवनीतपिण्ड है अथवा मृगमद-रससे श्यामलीकृत शुद्ध दुग्धफेनखण्ड या सौन्दर्य-माधुर्य सुधाजलनिधिका रत्न है किंवा सुछवि युवतीका ललित लोचन है।

श्रीनन्दरानीद्वारा पयःपान कराना

पहले तो श्रीनन्दरानी बालकके दिव्यांगमें अपना प्रतिबिम्ब देखकर 'यह कौन है' ऐसी शंकासे व्याकुल हो उठीं और सोचने लगीं कि 'क्या प्रसवके समय मेरा रूप धरकर यह कोई योगिनी आ गयी है।' पश्चात् नृसिंह मन्त्र जपती हुई, उससे 'दूर हो' ऐसा कहती हैं। तत्पश्चात् दीर्घश्वासके सम्बन्धद्वारा निजप्रतिबिम्ब मिटनेपर श्रीव्रजरानीने उस अद्भुत बालकको देखा, जिसका अंग मृगमदसार-पंकके समान अत्यन्त सुकोमल है, जिसका मुखचन्द्र चूर्णित घनान्धतमकी तरह स्निग्ध श्यामल अलकावलीसे शोभित है और जो मानो सबके मनको आकर्षित करनेके लिये ही दोनों हाथोंकी मुट्ठी बाँधे हुए कालिन्दी-तरंगकी तरह चरणको चला रहा है। स्वयं परम कोमलांगी होती हुई भी अंकमें लेनेसे भयभीत होती हैं कि कहीं मेरे कठोर अंगसे बालकका सुकुमार शरीर पीड़ित न हो, अपने पयोधरके अग्रको उसके अधरपुटमें रखकर वे पयःपान कराने लगीं। फिर व्रजपुरन्ध्रियोंके शिक्षानुसार श्रीकृष्णको गोदमें लेकर मूर्त अमृत-रसकी तरह स्तन-रस पिलाने लगीं। स्नेहके आवेगसे दुग्ध अधिक प्रसुप्त होकर मृदुल बिम्बाधरके प्रान्तसे कपोलतलको आप्लावित करने लगा, तब श्रीव्रजरानी सादर सस्नेह सुकोमलतर आँचलसे उसको पोंछने लगीं।

श्रीव्रजरानीकी समस्त सखियाँ बालकको देखकर प्रमुदित होती हैं और विचार करती हैं—'अहो! इस शिशुको सिरपर धारण करें किंवा नयनोंमें धारण करें किंवा हृदय या हृदयके मध्यमें इसे बिठला लें।' फिर देखती हुई कल्पना करती हैं, मानो देदीप्यमान नीलमणिसे इस बालकके सर्वांगका निर्माण हुआ है। कुरुविन्द (अरुण कान्तिवाले मणि)-से बिम्बाधर एवं पद्मरागसे श्रीचरण और हस्त तथा पक्व दाड़िम-बीजके समान शिखरमणिसे नखोंका निर्माण हुआ है, अतः क्या यह मणिमय बालक है? पुनः बालकके श्रीअंगकी कोमलताका अनुभव करके कठिन मणि-मयत्वकी कल्पनाको अनुचित समझकर दूसरी कल्पना करती हैं, मानो नीलेन्दीवरसे बालकके सकल अवयवोंका, बन्धूकसे बिम्बाधर ओष्ठका, जवाकुसुमसे पाणिपादका और प्रान्तरत्न मल्ली-कोरकसे नखसमूहका निर्माण हुआ है, अतः क्या यह कुसुममय बालक है? फिर सोचती हैं कि क्या वस्तुतः अनन्तकोटिब्रह्माण्डान्तर्गत सौन्दर्य-माधुर्य-बिन्दुका उद्गमस्थान और अचिन्त्य अनन्त सौन्दर्य-माधुर्य-सुधासिन्धु-सार-सर्वस्व किंवा सकेलि सुषमा और शोभासारको ही लेकर किसी अद्भुत अलौकिक जगन्मोहन कामने ही अपने सु-करकमलसे इस बालकका निर्माण किया है!

श्रीव्रजेश्वरीका बालकृष्णके मनोरम अंगोंको देखकर मुग्ध होना

श्रीव्रजेश्वरी अपने ललन श्रीबालकृष्णको स्नेहस्नुत पयोधर पिलाती हुई दक्षिण वक्षःस्थलमें मृणालतन्तुके समान स्वच्छ सुभग सुस्निग्ध दक्षिणावर्त रोमराजिस्वरूप श्रीवत्सचिह्नको देखकर स्तनरस-कणोंके निपात-विन्यासको समझकर मृदुल अंचलसे पोंछती हैं, परंतु पोंछनेपर भी जब वह न मिटा, तब यह कोई 'महापुरुष-लक्षण है' ऐसा चिन्तन करने लगीं। पुनः वक्षःस्थलके वामभागमें स्वर्णसरीखे वामावर्त रोमराजीरूप लक्ष्मीचिह्नको देखकर कल्पना करती हैं, क्या यह सुकोमल नवल तमाल-पल्लवपर बैठी हुई अतिसूक्ष्म पीतवर्णकी कोई विहंगी है या अति सुन्दर स्निग्ध

नीलाम्बुदके अंकुरपर शोभायमान सुन्दर विद्युत्कलिका है या किसी दिव्य कसौटीपर रंजित कनक-रेखा है। अरुण-कमलके सदृश मुख, श्रीहस्त और चरणसहित दीप्यमान श्यामल सर्वांगको देखकर समझती हैं कि यह चार-पाँच अरुण कमलकोशसे संयुक्त सुन्दर यमुना-तरंग हैं।

अमृतमय मुखचन्द्र और सुन्दर अलकावलियोंको देखकर श्रीनन्दरानी कल्पना करती हैं कि यह क्या सौन्दर्य-माधुर्यमय मादक मधुका अधिक पान कर लेनेसे उन्मदान्ध अतएव भ्रमणमें असमर्थ निश्चल मधुकरसमूह है, किंवा स्निग्ध-श्यामल गाढ़ान्धकारके अकुर-समूह ही अलक-समूहरूपमें भासमान हो रहे हैं! नयनोंको देखकर उनमें मुकुलित नीलोत्पलकी कल्पना और सुन्दर युगल कपोलोंमें दिव्य नीलमणिमय जलके विशाल बुद्बुदकी कल्पना करती हैं और अति-सुभग युगल श्रवणको देखकर उनमें श्यामल महो (तेजो)-मयी लतिकाके अभिनवोन्मिषित युगल पल्लवकी कल्पना करती हैं। तिमिर-द्रुमके अंकुरके समान नासाशिखर, यमुनाके बुद्बुदके समान दोनों नासापुट, द्विदल जवाकोरकके समान अधर, ओष्ठ परिपक्व तथा छोटे-छोटे यमल (सहजात या युग्म) जम्बूफलके समान चिबुक (ठोढ़ी)-को निरीक्षणकर नयनोंके फलको पाकर व्रजरानीने आनन्द-जलधिमें अपनी आत्माको अवगाहन कराया।

बालदर्शनसे श्रीनन्दरायजी आनन्दमूर्च्छित हो गये

इतनेमें ही श्रीमन्नन्दरायके समीप जाकर व्रजपुरपुरन्ध्रियोंने पुत्रजन्मका मंगल-सन्देश सुनाया। ग्रीष्मसे सूखे हुए सरोवरको अमृत-धाराओंसे सरस करते हुए अद्भुत मधुर घन-गर्जनकी तरह पुत्रजन्म-श्रवण करते ही श्रीमन्नन्दराय जैसे हर्षवर्षामें स्नानकर, अमृत-महार्णवमें प्रविष्ट होकर, आनन्द-मन्दाकिनीसे आलिंगित होकर बालकके अवलोकनके लिये उत्कण्ठित हो उठे। यद्यपि आनन्द-मूर्च्छाके समय सूतिका-भवनमें प्रवेश असम्भव था तथापि स्वयं उपस्थित मूर्तिमान् ब्रह्मानन्द चमत्कारने ही श्रीव्रजराजके श्रीहस्तको पकड़कर सूतिका-भवनमें पहुँचाया। फिर भी स्खलन सम्भव था, अतः समुचित सुकृतसमूह चातुर्य ही आकर्षण करता हुआ सूतिका-भवनकी ओर ले चला। इतना ही नहीं, आनन्द-मूर्च्छाके पश्चात् उत्पन्न होनेवाली उत्कण्ठाने अपने दोनों हस्तोंसे पृष्ठकी ओर प्रेरित किया। इस तरह इन सबकी सहायतासे सूतिका-भवनमें पहुँचकर यशोदोत्संगलालित श्रीकृष्णको देखकर वे विचार करने लगे कि क्या यह अखण्ड सान्द्रानन्दका बीज है, किंवा जगन्मंगल मंगलोदयका अंकुर है अथवा सिद्धांजनलताका पल्लव है या चिरतर-समय-समुत्पन्न सुकृतकल्पमहीरुहा-रामका कुसुम है अथवा समस्त उपनिषद् कल्पलता-श्रेणीका सुन्दर फल है, किंवा श्रीव्रजेश्वरीकी श्रीअंगरूपा अपराजितालताका ही कुसुम है। इस तरह अभिनव बालकको देखकर श्रीनन्दराय मानो सर्वमनोरथ-सम्पत्तिसे सिद्ध हो गये, आनन्द साक्षात्कार चमत्कारसे विक्षिप्त हो गये या लिखित चित्रकी तरह जड़ीकृत हो गये।

भगवान्का जातकर्म-संस्कारोत्सव

इस प्रकार प्रथम आनन्द-मूर्च्छामें प्रसुप्त होनेके बाद श्रीकृष्ण-दर्शन-सुखका अनुभव करानेके लिये चेतनादेवीने ही इन्हें प्रतिबोधित किया। उज्जृम्भमाण विपुल आनन्दसे पुलकावली और आनन्दवाष्पकणनिकर-निपात आदिसे लक्षित किसी अलौकिक दशाको प्राप्त होकर सनन्द, उपनन्द, सन्नन्द आदि तथा विप्रगणसहित पुरोधससे जातकर्मादि संस्कार कराकर अपार सम्पत्ति रत्न-मणि-भूषण-वसन-गोधनादिका उन्होंने दान दिया। श्रीमन्नन्दरायके दान-कालमें चिन्तामणि, कल्पतरु, कामधेनुओंके समुदाय शक्तिहीनसे हो गये, रत्नाकरोंमें नाना मत्स्यादिमात्र ही शेष रह गये, किं बहुना त्रैलोक्य-लक्ष्मीके भी पास लीला-कमल ही अवशिष्ट रहा। श्रीव्रजराजकुमार श्रीकृष्णका जन्म हुआ, यह मंगलमय ध्वनि मुखोंमुख, मार्गोमार्ग, कानोंकान सर्वत्र फैल गयी और सब सोचने लगे कि श्रीयशोदा अद्भुत कल्पलता है, जिसमें भगवत्प्रकाश-रूप दिव्य फल प्रकट

हुआ। मूर्तिमती वात्सल्य-रसाधिष्ठात्री महालक्ष्मीके समान तथा चलती-फिरती तेजोमयी मंजरीके समान अपने कुलको यश देनेवाली श्रीयशोदा धन्य है।

इस तरह अपने मधुर चरित्रोंसे अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्र आत्मारामोंको भक्तियोगमें लगाने (प्रवृत्त करने)-के लिये और नर-लीला रसकी रचनासे अपने भक्तोंको आनन्दित करनेके लिये श्रीव्रजराजके भवनमें मूर्तानन्द श्रीकृष्णचन्द्र प्रकट हुए। मुक्त मुनियोंके अभिलषित परमानन्दसार-सर्वस्व श्रीकृष्ण-फलको श्रीदेवरूपिणी श्रीदेवकीने उत्पन्न किया, श्रीव्रजेन्द्रगेहिनीने उसका प्रकाशन तथा पालन किया और श्रीव्रजांगनाओं एवं तदीय चरणाम्बुजानुरागियोंने उस सुमधुर फलका सम्यक् सम्भोग किया—

मुक्तमुनीनां मृग्यं किमपि फलं देवकी फलति।
तत्पालयति यशोदा प्रकाममुपभुञ्जते गोप्यः॥

श्रीगर्गजीद्वारा भगवान्‌का नामकरण-संस्कार

यथासमय श्रीगर्गजी नामकरण-संस्कारके लिये पधारे। श्रीकृष्णकी अद्भुत सौन्दर्य-माधुर्य-सुधाका समास्वादन करके वे मन-ही-मन सोचते हैं कि अहो! यह यशोदोत्संग-लालित शिशु मृगमद-अनुलेपके समान मेरे अंगोंको तथा कर्पूरवर्तीके समान मेरे नेत्रोंको शीतल करता है और अगर-धूप-गन्धके समान घ्राणको तृप्त करता है। यह तो आनन्द-कन्दके समान मेरे हृदयमें प्रविष्ट हो रहा है—

कर्पूरवर्तिरिव लोचनमङ्गकानि
पङ्की यथा मृगमदस्य कृतेन्दुलेपः।
घ्राणं धिनोत्यगुरुधूप इवायमुच्चै-
रानन्दकन्द इव चेतसि च प्रविष्टः॥

इतना ही नहीं, यह तो अपने प्रेमसे भरे धैर्यको हिला देता है और शरीरमें कम्प तथा रोमांच उत्पन्न करता है। हन्त! मैं तो इस बालकका नामकरण करनेको आया था, परंतु इसने तो मेरे ही नामको विलोपित कर दिया—

धैर्यं धुनोति बत कम्पयते शरीरं
रोमाञ्चयत्यतिविलोपयते मतिञ्च।
हन्तास्य नामकरणाय समागतोऽह-
मालोपितं पुनरनेन ममैव नाम॥

यदि मैं इसके सुन्दर चरण-कमलोंको अपने हृदयमें धर लूँगा तो लोग मुझे उन्मत्त कहेंगे और यदि मैं ऐसा नहीं करता तो वह उत्कट औत्कण्ठ्य ही मेरे धैर्यबन्धनको तोड़ देगा—

पादौ दधामि यदि मां हृदये जनोऽय-
मुन्मत्तमेव बत वक्ष्यति चेत्करोमि।
तच्चातिचापलमहो न करोमि वा चे-
दौत्कण्ठ्यमेव हि लविष्यति धैर्यबन्धम्॥

परंतु चाहे कुछ भी हो, आज जन्म सफल हो गया, नयन सफल हो गये; विद्या, तपस्या, कुल भी सफल हुए और यदुवंशकी भगवती आचार्यता भी सफल हो गयी।

जन्माद्य साधु सफलं सफले च नेत्रे
विद्या तपः कुलमहो सफलं समस्तम्।
आचार्यता भगवती हि यदोः कुलस्य
मामद्य हन्त नितरामकरोत्कृतार्थम्॥

इस तरह प्रेमसे श्रीमुनिराज आनन्दसिन्धुमें निमग्न हुए-से, पीयूषको पिये हुए-से, जागते हुए भी सोते-से, सुनते हुए भी बधिर-से और बोलते हुए भी मूकके समान रह गये।

श्रीबलभद्रजी और कृष्णाजीकी माधुर्यमयी शिशुलीला

व्रजदेवियोंसहित श्रीनन्दरानी और रोहिणी, श्रीबलराम और कृष्ण इन दोनों शिशुओंको चलना सिखलाती हैं। रोहिणी अपने ललन कृष्णचन्द्रका हस्तकमल पकड़कर चलाती हैं। हस्त छोड़नेपर श्रीबालकृष्ण दो-चार पग चलकर लड़खड़ाते हुए गिर पड़ते हैं और रोने लगते हैं, तब माता उठाकर चुम्बन करती है, फिर किंचित् दूर खड़े होकर कृष्ण माँका मुख विलोकन करते हैं। नेक दूर जानेपर गति मन्थर हो जाती है और समीप पहुँचनेपर किलकते हुए दौड़ने लगते हैं। धीरे-धीरे दोनों भाई तोतरे शब्दोंमें 'माँ माँ ता ता' वचनामृत-वितरण करने लगते हैं। अर्द्धोदित दन्तोंकी

श्रेणी और मधुर अक्षरोंकी चित्र-श्रेणीने माँको चित्र-सा कर दिया। शुकके समान बालभगवान् धात्रीजनोंसे बोलना सीखते हैं और तर्जनीसे प्रश्न करते हैं। शनैः-शनैः बलराम 'कृष्ण' और कृष्ण बलरामको 'आर्य' कहने लगते हैं। जब माता कहीं जानेसे मना करनेके लिये डराती हैं, तब दोनों वहाँ जानेके लिये कौतुकवशात् प्रवृत्त होते हैं। 'चंचल चल ना ना' माताके ऐसे वाक्यको सुनकर छद्मसे हँसते-हुए लौटकर दोनों माताको निवृत्त करते हैं और फिर उसी वाञ्छित कार्यमें लग जाते हैं—

नैव नैव चल चंचल रे रे वाक्यमेतदवकर्ण्य जनन्याः।
मायया स्म परिवृत्य हसित्वा तां निवर्त्य ललिते वरिवर्ति॥

अत्यन्त आसक्ता माता कभी हँसते, कभी रोते हुए दोनों शिशुओंको पकड़कर घरमें लाती हैं और उबटन-अभ्यंग, वेश-परिवर्तनादि शृंगार करके सुलाती हैं। कभी दोनों जानु तथा हस्तोंसे चलते हुए शुभ्र पाषाणमय स्थलमें अपने अंगका प्रतिबिम्ब देखकर बालक चकित होते हैं और उसे पकड़ने दौड़ते हैं, पर जब प्रतिबिम्ब मूर्ति भी उन्हें पकड़ना चाहती है, तब आप संकुचित होकर साशंक माँके अंकमें छिप जाते हैं। कभी स्फटिक तथा महेन्द्र नीलमणिके समान श्यामगौरदिव्य तेजवाले चन्द्रमा और नवनील नीरदांकुरकी तरह, पुण्डरीक-नीलोत्पलकी तरह, ज्योत्स्नाशकल और तिमिरसार-शकलके समान राम तथा कृष्ण दोनों व्रजकर्दममें आनन्दसे खेलते हैं। एक-दूसरेकी दिव्य-दीप्तिसे श्याम-गौर दोनों तेजोंका विनिमय होने लगता है। कभी दृप्त वृषभादिकोंके सामने निःशंक दौड़ते हैं, कभी व्यालोंको पकड़ना चाहते हैं तो कभी अग्निशिखापर आक्रमण करना चाहते हैं।

नवनीतचोरी-लीला

एक दिन अपने ही भवनमें श्रीश्यामघन नवनीत चुरा रहे थे। इतनेमें ही मणिमय स्तम्भके भीतर अपनी ही साँवली सलोनी मंगलमयी मूर्तिको देखकर उसीसे कहते हैं कि 'मेरी माँसे चोरी न बताना, बराबर हिस्सा भले ही बँटवा लो।' इन वचनोंको माता एकान्तमें चुपके सुन रही थी। कौतुकात् जननीके पास आ जानेपर कृष्ण अपने अंग-प्रतिबिम्बको दिखलाकर कहते हैं—'माँ, यह कौन है? लोभसे नवनीत चुरानेके लिये घरमें घुसा है। मेरे मना करनेपर भी नहीं मानता, डाँटनेपर यह भी बिगड़ने लगता है। माँ, तू तो जानती है कि मुझे माखन अच्छा नहीं लगता।' किसी दूसरे दिन माँको किसी और काममें व्यग्र देखकर फिर आप नवनीत चुराने पहुँच गये। माँ आकर देखती और पूछती है कि कृष्ण कहाँ है? यह सुनकर आप कहते हैं कि 'मैया, कंकणके पद्मराग-तेजसे मेरा हाथ जल रहा है, इसीलिये उसे नवनीतभाण्डमें छोड़कर शीतल कर रहा हूँ।' ऐसे मनोहर कर्णरम्य वचनोंको श्रवण करके माता कहती है—'आओ, वत्स! आओ, देखूँ तो तेरा हाथ कैसे तप रहा है?' कृष्ण हाथ फैलाते हैं। उसका चुम्बन करके माता कहती है—'सचमुच हाथ जल रहा है, यहाँसे पद्मरागको दूर करो।'

मैया, मैं तो चन्द्र-खिलौना लैहों

एक दिन पूर्ण-चन्द्रिकासे धौत अपने मणिमय प्रांगणमें व्रज-देवियोंके साथ गोष्ठी करती हुई व्रजरानी विराजमान थीं। वहाँ श्रीकृष्णने चन्द्रमाको देखा और पीछेसे आकर सिरसे खिसके हुए पटपर माताकी स्खलित वेणीको पकड़कर कहने लगे कि 'माँ, मैं इनको लूँगा।' बालकको गद्गद-कण्ठ देखकर माँ स्नेहार्द्रचित्त हो गयी और अपने पास बैठी हुई सखियोंपर दृष्टि डालकर कहने लगी कि 'तुम्हीं पूछो, यह क्या माँगता है?' विनय, प्रणय, स्नेहसहित वे पूछती हैं, 'बेटा, क्या क्षीर चाहते हो?' कृष्ण 'नहीं'। तब फिर क्या 'सुन्दर दधि?' 'नहीं।' 'फिर क्या कूर्चिका?' 'नहीं-नहीं'। 'तब क्या आमिक्षा?' 'अरे नहीं'। 'तब बेटा, क्या नवनीत लोगे?' 'उँहूँ।' 'तब फिर क्यों मचलते हो और माँको कुपित करते हो?' श्रीकृष्ण अँगुली उठाकर चन्द्रको दिखलाते हुए कहते हैं कि 'मैं तो वह नवनीत-खण्ड लूँगा।'

किं क्षीरं न किमुत्तमं दधि न ना किं कूर्चिका वा न ना-
मिक्षा किं न न किं तवेप्सितमहो हैयङ्गवीनं घनम्।
दास्यामो न विषीद वत्स नतरां कुप्यस्व मात्रे गृहो-
त्पन्नेनारुचिरित्युदङ्गुलिदलः शीतांशुमालोकयन्॥

व्रजदेवियाँ कहती हैं कि अरे बेटा, यह नवनीत

नहीं है, व्योमवीथी-तड़ागमें यह कलहंस है। कृष्ण—'तब तो फिर इसीके साथ खेलूँगा, देखो कहीं भाग न जाय' ऐसा कहकर भूमिपर चरणयुगलोंको नचाते हुए बड़ी उत्कण्ठासे व्रजदेवियोंके कण्ठमें लिपट जाते हैं और कहते हैं—'मेरे लिये इसे ला दो।' जब वे बाल्यावेशसे रोने लगते हैं, तब कुछ व्रजदेवियाँ कहती हैं—'बेटा! इन लोगोंने प्रतारण किया है। यह कलहंस नहीं, पीयूष-रश्मि चन्द्रमा है।' इसपर कृष्ण फिर कहते हैं—'मैं उसीको खेलनेके लिये माँग रहा हूँ।' बालकको जोरोंसे रोते देखकर माँ गोदमें उठा लेती है और कहती है—'लाल, यह न राजहंस है, न चन्द्रमा; वह नवनीत ही है, पर दैवात् उसमें विष मिल गया है, उसे कोई खाता नहीं है।' कृष्णने उत्सुक होकर पूछा—'माँ, विष क्या होता है? वह इसे कैसे लग गया?'

पूर्व आवेश छोड़कर रसान्तरको प्राप्त श्रीकृष्णकी कथा-श्रवणमें जिज्ञासा देखकर माता सोचती है कि चलो अच्छा ही हुआ। फिर आलिंगन करके मधुर स्वरमें कहती है—'बेटा, एक क्षीरसागर है।' झट कृष्ण पूछ बैठते हैं—'वह कौन है?' माता उत्तर देती है—'जैसे यह दूध दिखायी देता है, वैसे ही दूधका समुद्र है।' पर बालकृष्णको इस उत्तरसे सन्तोष कहाँ? वे फिर पूछते हैं—'माँ, कितनी गौओंके स्तनोंसे इतना दूध निकला कि समुद्र बन गया?' यशोदा उत्तर देती हैं—'वत्स, वह गो-दुग्ध नहीं है।' यह बात बालककी समझमें नहीं आती है। वह कहता है—'बस रहने दे माँ, झूठी बातें मत बना। भला बिना गौओंके भी कहीं दूध होता है?' इसपर हँसते हुए माँ कहती है—'बेटा, जिसने गौओंमें दूध रचा है, वही बिना उनके भी क्षीरसागर रच सकता है।' कृष्ण 'माँ, वह कौन है?' माता 'वह भगवान् हैं, जो सब संसारके कारण हैं।' कृष्ण 'माँ, फिर भगवान् कौन हैं?' माता 'वत्स, वे अजन्मा हैं।' इसपर कृष्ण चुप हो जाते हैं और यशोदा कथा आगे बढ़ाती है। 'बेटा, एक बार देवताओं और असुरोंके विवादमें असुरोंको मोहन करनेके लिये उन्हीं भगवान्ने क्षीरसागरका मन्थन किया था। वहाँ मन्दराचल मथानीका दण्ड और नागराज वासुकि रज्जु बने थे, जिसको एक ओरसे देवता और दूसरी ओरसे असुर खींचते थे।' इसपर कृष्ण बीचहीमें बोल उठे 'जैसे गोपांगनाएँ दधि मथती हैं।' 'हाँ' कहकर माता फिर कथा सुनाती है, 'क्षीरसागर मथनेपर उसमेंसे कालकूट नामका विष निकला।' कृष्ण 'दूधमें कहीं विष होता है? वह तो माँ सर्पमें होता है।' माता—'अरे, सुन तो बेटा, देवताओंकी प्रार्थनापर उस कालकूट विषका भगवान् शंकरने पान किया। उस समय विषके जो बिन्दु गिर पड़े थे, उन्हींको पीकर भुजंग विषधर बन गये। यह उसी भगवान्की शक्ति है, जिससे दुग्धमें भी विष हो गया। यह नवनीत-खण्ड (चन्द्र) भी उसी क्षीरसागरके मन्थनसे निकला था, इसीलिये इसमें विषका अंश है। तभी तो लोग इसमें कलंक मानते हैं। इसके लिये हठ न करके घरका नवनीत खा लो बेटा!' यह कथा समाप्त भी न होने पायी थी कि भगवान् कृष्ण 'हूँ' 'हूँ' करते सो गये।

नर्तन और वेणुवादन-लीला

कभी व्रजदेवियाँ कहती हैं, 'हे कुलेश लाल, रे मोहन, बलिहारी जाऊँ नेक थि, थि, नाचो तो।' यह सुनकर ताल एवं लयसे भगवान् नाचते हैं।

निर्मञ्छनं तव भजाम कुलेशलाल्य
बाल्यातिमोहन बलानुज नृत्य नृत्य।
इत्यङ्गनाभिरसकृत्थि थि थीत्थि थीति
क्लृप्तेन तालवलयेन हरिर्ननर्त॥

मुग्ध होकर जब व्रजांगनाएँ कहती हैं कि 'वाह, वाह, कितना सुन्दर नाच है', तब और नाचते हैं, परंतु जब वे सौष्ठव तथा स्खलनमें मुदित होकर हँसने लगती हैं, तब लज्जित होकर श्यामसुन्दर माँकी गोदमें भाग जाते हैं। कभी वे गोपियोंके कहनेपर माताके समीप वेणु बजाते हैं। '**निर्मञ्छनं तव नयामि मुखस्य तात वेणुं पुनर्ललन वादय वादयेति। ऊचुर्यदा स जननीजनकोपकण्ठे तं वादयन्नथ तदा सरसीकरोति।**' श्रीकृष्णभगवान्की बाल-लीलाएँ अनन्त हैं। उनका वर्णन कहाँतक किया जाय। यह सारा विश्वप्रपंच उनकी लीला ही तो है।

भगवान्‌का मंगलमय स्वरूप

भगवान् सर्वथा अनुपमेय

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके दिव्य मंगलमय विग्रहकी तापहारिणी अपारसौन्दर्यशालिनी कान्तिको चन्द्रमाकी उपमा दी जाती है, पर भगवान्‌का रूपसौन्दर्य अप्राकृत होनेसे प्राकृत चन्द्र उपमान वहाँ ठीक नहीं घटता। तथापि लोकमें सबसे अधिक पूर्णचन्द्र ही प्राणियोंके मनको हरण करनेवाला है। प्राकृत जनोंकी दृष्टिमें अन्य कोई अप्राकृत वस्तु नहीं आ सकती। इसलिये चन्द्रमाकी उपमा दी जाती है, पर एक चन्द्रमासे काम नहीं चलेगा। अनन्त कोटि चन्द्रोंकी कल्पना कीजिये और ऐसे अपार चन्द्रसागरका मन्थन करके जो सारातिसार तत्त्व निकले, उस तत्त्वको पुन: मथकर उससे जो सारातिसार तत्त्व निकले, इस प्रकार शतधा मन्थन करके जो सारातिसार चन्द्रतत्त्व निकले, उस चन्द्रका उपमान भगवान्‌में है। यह चन्द्रका उपमान भगवान्‌की उस तापहारिणी शीतल ज्योत्स्नामें है। उनके दुर्निरीक्ष्य तेजका वर्णन गीतामें हुआ ही है कि—

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भा: सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मन:॥

(गीता ११। १२)

अस्तु, भगवान्‌की शान्तिदायिनी शीतल ज्योत्स्ना सारातिसार तत्त्वरूप चन्द्रके समान है, पर चन्द्रमें कलंक है और चन्द्र क्षय-वृद्धिशील है। भगवान्‌की दिव्य ज्योत्स्ना अमृतमय सारातिसार चन्द्र-तत्त्वके समान है, वह निष्कलंक है, निर्विकार है, उससे भावुकोंको प्रतिक्षणवर्धमान प्रेम प्राप्त होता है। वह ऐसा अद्भुत सौन्दर्य है कि उस सौन्दर्य-सुधाका एक कण भी जो पान कर लेता है, उसकी पिपासा बढ़ती ही जाती है। जिसके नेत्र और मन भगवान्‌के एक रोमपर भी पड़े हों, वे उस एक ही रोमके सौन्दर्यपर इतने मुग्ध हो जाते हैं कि वहाँसे वे आगे बढ़ ही नहीं सकते। चंचला लक्ष्मी भी वहाँ आकर अचला हो जाती है, फिर औरोंकी बात ही क्या है?

भगवान्‌के दिव्यातिदिव्य सौन्दर्यमें प्राकृत उपमान केवल इतना ही प्रयोजन सिद्ध करते हैं कि इनके द्वारा भगवत्सौन्दर्यका ध्यान करते-करते मन विशुद्ध हो जाता है और मनमें जैसे-जैसे विशुद्धि आती है, वैसे-वैसे भगवान्‌का जैसा वास्तविक रूप है, वह अचिन्त्य अप्राकृत मंगलमय दिव्यरूप भक्तके सामने प्रकट होने लगता है।

भगवान्‌में केवल चन्द्रमाका ही उपमान नहीं, कारण भगवान् घनश्याम भी हैं, पर यह प्राकृत श्याम नहीं। उनकी श्यामतामें महेन्द्र नीलमणिकी उपमा दी जाती है, जिसमें दीप्तिमत्ता-विशिष्ट विलक्षण नीलिमा है। उस नीलिमामें ऐसी दीप्ति है कि वह अनन्त कोटि चन्द्रोंकी सम्मिलित दीप्तिमत्ताको तिरस्कृत करती है। इस दिव्य दीप्ति-सम्पन्न भगवन्मूर्तिरूप नीलकमलमें ऐसी सुकोमलता है कि अनन्त कोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत सुकोमलताकी मूर्ति श्रीलक्ष्मी भी उनके पाँवको स्पर्श करती हुई सकुचाती हैं कि हमारे हाथोंकी कठोरता इसके सुकोमल पाँवोंको कष्टदायक न हो। अनन्तकोटि कमलोंकी सारातिसार कोमलता इस कोमलताके पास भी नहीं आने पाती। ऐसे शीतल, ऐसे सुन्दर, ऐसे सुकोमल भगवान् इतने गम्भीर हैं कि नवीन नीरधरकी गम्भीरता अनन्तकोटिगुणित होकर भी उनका वास्तविक स्वरूप नहीं प्रकट कर सकती।

भगवान्‌का केवल मुख ही चन्द्रोपम है—ऐसा नहीं, सर्वांग ही चन्द्रोपम है। वर्ण स्वभावत: कृष्ण है, दीप्तिसे अकृष्ण है—नीलिमागर्भित दीप्तिमत्ता है। भगवदीय दिव्य मंगलमय विग्रह श्याम होते हुए भी अनन्तकोटि चन्द्रकी दीप्तिको तिरस्कृत करनेवाला है। महेन्द्रनीलमणि, नूतन नील नीरधर और नील सरोरुहकी जो उपमाएँ दी गयी हैं, उनसे बहुत-से विवक्षित अंश सूचित होते हैं। महेन्द्रनीलमणिसे दीप्तिमत्ता, चिक्कणता और दृढ़ता तथा नीलिमा

सूचित होती है; नूतन नीरधरसे नीलिमा, रस्यता, तापापनोदकता और गम्भीरता सूचित होती है और नीलसरोरुहसे नीलिमा, सुकोमलता, शीतलता और सौगन्ध्य सूचित होता है, पर ये महेन्द्रनीलमणि आदि सब प्राकृत हैं। इनसे यथार्थ-बोध नहीं होता, पर बोधके समीप पहुँचनेके लिये अन्य कोई उपाय नहीं है। प्राकृत तत्त्वोंसे ही अप्राकृतकी कल्पना कर लेनी है। इन सबसे अनन्तकोटिगुणित ये गुण भगवान्‌में हैं।

भगवान्‌को देखकर वृन्दावनवर्त्ती मयूरवृन्द घनश्यामको श्याम घन जानकर नृत्य करते हैं। भगवान् जो वंशी बजाते हैं, वह मयूरवृन्दोंके लिये मानो मन्द-मन्द मेघगर्जन ही है। पर मेघ दूर होते हैं और यह मेघश्याम बिलकुल समीप है। परिच्छिन्न होते हुए भी इस मेघकी गम्भीरता ऐसी है कि उनके किसी भी अंगपर किसीके नेत्र पड़ जायँ तो वहीं उनकी टकटकी बँध जाय। आगे बढ़कर उनके सब अंगोंको देखनेकी भला किसमें सामर्थ्य? व्रजांगनाएँ कहती हैं कि भगवान्‌के एक-एक रोमके सौन्दर्यको देखनेके लिये यदि हमारे एक-एक रोममें कोटि-कोटि नेत्र होते तो देख सकतीं और तब कह सकतीं कि यह परिच्छिन्न है या अपरिच्छिन्न।

भगवान्‌के मंगलमय दिव्य अंगोंकी शोभा

भगवान्‌के दिव्य मंगलमय विग्रहकी गम्भीरता अपार है। किसीमें उसे ग्रहण करनेकी सामर्थ्य नहीं। यह घनश्याम श्याम घनसे विलक्षण घनश्याम है। श्याम घनमें जो विद्युत् होती है, ऐसी अनन्तकोटि विद्युतोंकी सम्मिलित द्युतिको तिरस्कृत करनेवाली इनकी कौशेयाम्बरदीप्ति है। श्याम घन जीवन (जल)-दाता है तो मनमोहन भी जीवनदाता हैं। श्याम घन जल बरसाता है, परंतु घनश्याम प्रेमामृत—आनन्दामृतकी वर्षा करते हैं। व्रजांगनाओंको हृच्छयाग्निसे दह्यमान होनेके कारण श्यामघनकी आवश्यकता थी। वेणुनिनादसे प्रेम-बीज बोया गया, पुलकावलिरूपसे वह अंकुरित हुआ, पर वह हृच्छयाग्निसे जलने लगा, अश्रुधाराएँ बहकर उसका सिंचन करने लगीं, पर उस उष्ण जलधारासे हृदयको वह शान्ति कहाँसे मिलती? इसलिये उन्होंने जीवन-प्राप्तिके लिये इन नूतन नील जलधर श्याम घनकी शरण ली।

भगवदीय दिव्य मंगलमय विग्रहके सौन्दर्यादि गुणोंकी महिमा कैसे समझी जाय? दिव्यातिदिव्य प्राकृत पदार्थोंको असंख्यगुणोपेत करके अपना काम करते-करते चित्त शुद्ध होकर भगवदीय अनुकम्पासे वास्तविक स्वरूपका हृदयमें प्राकट्य होता है।

बालसूर्यकी सुकोमल किरणोंसे संस्पृष्ट अतसी-पुष्पकी श्यामता दूरसे दमदमाती हुई बड़ी ही मनोहर लगती है। इस मनोहर श्यामताकी शतकोटिगुणित कल्पना करो तो कुछ वैसी श्यामता भगवान्‌के दिव्य मंगलमय विग्रहकी है। सायंकालमें भी अतसी-पुष्पकी दीप्तियुक्त नीलिमा बड़ी मनोहर होती है। यह मनोहारिता शतकोटिगुणित होकर भगवान्‌की श्याम मनोहारिताकी कुछ कल्पना करा सकती है अथवा भ्रमरकी श्यामता लीजिये। भ्रमर दूरसे काला दीखता है, पर वह काला नहीं, उसमें बड़ी ही सुन्दर नीलिमा है। ऐसी मनोहर नीलिमा अन्य किसी प्राकृत पदार्थमें नहीं। व्रजांगनाओंने भगवान्‌की नीलिमाको मधुपकी नीलिमासे ही उपमित किया है और कहा है—हे मधुप, तुम भी मधुपतिकी तरह बड़े कपटी हो। भ्रमरके पीले पंख भी भगवान्‌के पीतपटका स्मरण दिलाते हैं और उसका मधुमय गुंजार भगवान्‌के मधुमय वेणुनिनादका या उनके मीठे-मीठे वचनामृतोंका स्मरण दिलाता है। जैसे भ्रमर जबतक रस है, तभीतक ही पुष्पोंसे स्नेह रखता है, नहीं तो भाग जाता है, वैसे ही भगवान् भी रसके ग्राहक हैं, रस नहीं तो भगवान्‌से भेंट कहाँ? अस्तु। भगवान्‌की श्यामता शतकोटिगुणित मधुपकी श्यामतासे तथा भगवान्‌की दीप्तिमत्ता चन्द्रसिन्धुके सारातिसार तत्त्वका मन्थन करके प्राप्त चन्द्रतत्त्वकी दीप्तिसे कथंचित् उपमित की जा सकती है। कल्पनासे इस प्रकार भगवदीय दिव्य मंगलमय विग्रहको पदाम्बुजसे मुखाम्बुजतक अथवा मुखाम्बुजसे पदाम्बुजतक देख जाइये।

मन:कल्पित अनन्ततेज:पुंजके भीतर अनुसन्धान कीजिये अथवा बालसूर्यमें मन और दृष्टिको स्थिर करके देखिये।

भगवान्का श्रीमुखचन्द्र चन्द्रवत् वर्तुलाकार दिव्य विकसित अति विलक्षण अरविन्द है, चन्द्रमाके समान दीप्तिमान् वर्तुलाकार मुखारविन्द समुचित तारतम्यके साथ नतोन्नत भावसहित है। इसकी मनोहारिता अत्यद्भुत है। चन्द्रवत् वर्तुलाकार विकसित सुकोमल मुखाम्बुज सारातिसार चन्द्रतत्त्वकी दीप्ति और शतकोटिगुणोपेत भ्रमरनीलिमासे युक्त अति विलक्षण है। यह सम्मिलित समस्त मुखाम्बुज है। यह मन्दहासोपेत दिव्य मुखाम्बुज ऐसा शोभित होता है मानो दिव्यातिदिव्य चन्द्रतत्त्व नीलकमलमें छिपना चाहता है—छिपता है और फिर-फिर प्रकट होता है। यह हास भगवान्के **'अनुग्रहाख्यहृत्स्थेन्दुसूचक-स्मितचन्द्रिक:'** अनुग्रह नामक हृदयस्थ चन्द्रकी चन्द्रिका है। अनुग्रहरूप चन्द्रकी ये तापहारिणी किरणें खिन्नातिखिन्न भावुकोंको समाश्वासन दिलाती हैं कि घबराओ मत, अनुग्रहाख्य चन्द्रका यहाँ निवास है। यह समाश्वासन—यह दिव्य आशा ही भावुकोंको उनकी थकावट और खिन्नताको दूर करके आगे बढ़ाती है। आशाबन्ध ही भक्ति-मार्गका मूल है। यह आशा—भगवत्सान्निध्यकी यह तृष्णा अद्भुत है, यह कैवल्यसे खरीदी जाती है। भगवान्का उदार हास **'शोकाश्रुसागरविशोषणमत्युदारम्'** शोकाश्रु-सागरोंको सोख लेनेवाला है। बहुल हास जब मुखारविन्दमें प्रादुर्भूत होता है, तब वह **'हारहास:'** हास हारके समान होता है—कुन्दकुड्मलके समान दशनपंक्ति दिव्यातिदिव्य महेन्द्रनीलके सदृश वक्ष:स्थलपर हारवत् प्रतिबिम्बित होती है। यह हारहास अरुणिमा-विशिष्ट है—स्वच्छातिस्वच्छ होता हुआ भी किंचित् अरुण है। यह अधरकी अरुणिमा दन्तपंक्तिमें प्रतिबिम्बित है—जैसे जवाकुसुमके सकाशसे स्फटिक लोहित हुआ हो। यह अरुणिमा-विशिष्ट कुन्दकुड्मलके समान दशनपंक्तियुक्त हास्य दिव्य हारके समान शोभित होता है।

कपोल और चिबुक अपने दिव्य सौन्दर्यसे मानो यही कह रहे हैं कि अनन्तकोटि ब्रह्माण्डके सारातिसार सौन्दर्यका परमोद्गम-स्थान यही है। यही अचिन्त्य सौन्दर्यसुधानिधि है, जिसका केवल एक कण अनन्तकोटि ब्रह्माण्डमें विस्तीर्ण है। बालसूर्यकी सुकोमल किरणोंसे संसृष्ट विकसित कमलका अग्रोर्ध्व-भाग जैसे स्वच्छतामय होता है, वैसे कपोल और चिबुकपर इस नील विकसित मुखाम्बुजकी दीप्तिमत्ता अन्य अंगोंकी अपेक्षा कुछ विशेष है।

नीलकमलके केशरका सान्निध्य छोड़कर जो नीलिमायुक्त अंश हैं, वे बालसूर्यकी सुकोमल किरणोंसे संसृष्ट होकर अधिक दीप्त होते हैं, वैसे ही भगवान्के कपोल और चिबुक विशिष्ट दीप्तिमत्ता-सम्पन्न हैं। विशाल मस्तकपर शोभायमान दिव्य किरीटकी जगमगाती हुई दिव्य कान्ति इन उन्नत अंगोंपर—उच्च स्थल पाकर—अधिक मात्रामें अवतीर्ण और विस्तीर्ण हो रही है तथा वह सौन्दर्य-सुधा उभय कपोलप्रान्तसे भी अधिक चिबुकपर आकर परम विकसित और मनोरम हुई है।

भगवान्के नेत्रोंकी अरुणिमा

अरुण कमलके समान प्रभुके दिव्य नेत्रोंके सम्बन्धमें ऐसा ध्यान है कि कपोलप्रान्त जैसे-जैसे नेत्रोंके सन्निहित हैं, वैसे-वैसे उनमें अधिकाधिक विशिष्ट दीप्तिमत्तायुक्त अरुणिमा है और कपोलाभिमुख नीचेकी ओर क्रमश: दीप्तिविशिष्ट नीलिमा है और अरुणिमाकी न्यूनता है। खास नेत्र अरुण हैं; यहाँ स्वच्छता और अरुणिमा मानो अरुणिमारूप रजसे भगवान् अपने भावुकोंके अभीष्टका सृजन और स्वच्छतारूप सत्त्वसे पालन करते हैं। नेत्रोंमें स्वच्छता और अरुणिमाका ऐसा तारतम्य है कि अनुकम्पा, राग आदि मानस विकृतियोंकी जहाँ अभिव्यक्ति है, वहाँ अरुणिमा अधिक होती है और जहाँ रागादिरहित प्रसन्नता है, वहाँ स्वच्छता अधिक होती है। कोपादि तापक भावोंसे अरुणिमाकी अधिक वृद्धि होती है।

कोई अरुणिमा अग्निसदृश है, व्रजांगनाओंके स्वच्छातिस्वच्छ नेत्रोंमें जो अरुणिमा है, वह हृच्छयाग्निकी अरुणिमा है। उसीकी शान्तिके लिये वे भगवान्‌के नीलपादाम्बुजकी नीलरजका अंजन लगाती हैं। भगवान्‌के नेत्रोंमें कमलकोशकी-सी अरुणिमा है और उनके विशाल नेत्र कर्णप्रान्तपर्यन्त दीर्घ हैं। इनकी कल्पना भावुक ही कर सकते हैं। भगवान्‌के नेत्रोंकी अरुणिमाके साथ कमलकोशगत अरुणिमाका सादृश्य देखकर 'गोपीगीत' में ऐसी कल्पना की गयी है कि भगवान् मानो इस अरुणिमारूप दिव्यातिदिव्य श्रीको दिव्यकमलोंके सम्राट्‌के अभेद्य दुर्गको भेदकर अति सुरक्षित अति गुप्त कोषसे चुरा लाये हैं—

शरदुदाशये साधुजातसत्
सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा।
सुरतनाथ तेऽशुल्कदासिका
वरद निघ्नतो नेह किं वधः॥

(श्रीमद्भा० १०।३१।२)

दिव्यातिदिव्य कमलसम्राट्‌को यह पूरी खबर थी कि ये चोरजारशिखामणि एक-एक अंग चोरी करनेवाले हैं। यह कहीं मेरी श्री न हर लें, जो सर्वोत्कृष्ट है। इस भयसे यह पंकजसम्राट् जलमें जाकर रहे। पर जलमें श्रीकृष्ण कहीं जलक्रीड़ा करने आ जायँ, इसलिये उन्होंने जलमें भी ग्रीष्मऋतुका परित्याग करके शरन्निवास ही ग्रहण किया और इस शरत्कालीन जलाशयमें भी अपने-आपको छिपानेके लिये अपने चारों ओर अनन्त कमल उत्पन्न करके उनका पहरा बैठा दिया। इन कमलसैनिकोंकी रक्षाके लिये प्रत्येकको शत-शत पत्र तथा नाल और नालोंमें काँटे देकर ऐसा जलदुर्ग निर्माण किया कि कहींसे कोई घुस न सके। फिर ऐसे अभेद्य दुर्गके बीच चारों ओरसे सुरक्षित स्थानमें आप जा विराजे। फिर भी श्रीको श्रीकृष्ण ले तो नहीं जायँगे, यह भय बना ही रहा। इसलिये उस श्रीको उस पंकजसम्राट्‌ने स्वयं चारों ओरसे सुरक्षित होकर भी अपने कोश-स्वरूप उदरमें छिपा रखा, जैसे कोई कृपण अपने धनको छिपा रखता है, पर भगवान् ऐसे चतुर चौर-चक्रवर्ती कि उनके नेत्रारविन्द वहाँसे भी उस कमल-कुलपतिकी परम दुर्लभ सम्पत्तिको चुरा ही ले आये। यह चोरी भगवान्‌की इतनी अद्भुत और भावुकोंके लिये इतनी मधुर है कि गोपियाँ बड़े प्रेमसे इसके गीत गाती फिरती हैं। तभी तो भावुकोंने कहा है—'**मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥**' अस्तु, पद्मगर्भारुणेक्षण भगवान्‌के इन '**पद्मगर्भारुण**' नेत्रोंमें स्वच्छता और अरुणिमाका अद्भुत पारस्परिक सम्मेलन है और नेत्रान्त:पाती जो तारक हैं, वे श्याम हैं। इस प्रकार नेत्रारविन्दमें त्रिवेणी संगम हुआ है। यही संगम कुछ विलक्षण रूपसे नेत्रोंकी पलकोंमें भी हुआ है; पलकें अत्यद्भुत दीप्तियुक्त नीलिमा ली हुई हैं और किंचित् अरुणिमाका भी इनमें योग हुआ है। ऐसे दिव्य विशाल नेत्र कर्णप्रान्ततक विस्तीर्ण हैं।

भगवान्‌की दिव्य नासिकाकी शोभा

दोनों नेत्रोंके मध्यसे नीचेकी ओर ऊर्ध्वोन्मुख उन्नत दिव्य नासिका कीरतुण्ड-सी शोभा पा रही है। जिसकी दीप्ति दिव्य गण्डस्थलकी-सी ही जगमगा रही है। नासिकामें एक वर-मौक्तिक भी सुशोभित है. नासिकाकी दीप्तियुक्त नीलिमा होठोंकी विलक्षण अरुणिमासे मिलकर अति विलक्षण मनोहारित्व व्यक्त कर रही है। कुन्दकुड्मलकी-सी दिव्य दशन-पंक्तिकी स्वच्छता अरुण अधरोंपर और अधरोंकी अरुणिमा दिव्य दशन-पंक्तिपर प्रतिबिम्ब होकर एक बड़े ही दिव्य आदान-प्रदानका भाव दिखा रही है। अधरोंसे बढ़कर शोभा और किसीकी नहीं। सकल-सुधानिधि भगवान्‌की यह दिव्य अधरसुधा है। व्रजांगनाओंका इसीपर सबसे अधिक प्रेम है।

यह पीतिमा दिव्य मकराकृत कुण्डलद्वयसे आकर यहाँ झलक रही है। ये कुण्डल अद्भुत दीप्ति-सम्पन्न हैं और यह दीप्ति पीतिमा लिये हुए है। गोस्वामी तुलसीदासजी 'रामगीतावली' में भगवान्‌के चंचल कुण्डलद्वयकी दीप्तिमत्ता, शोभा और चंचलताका वर्णन करते हैं कि ये दोनों कुण्डल शुक्र और गुरुसे चमक रहे हैं। इनकी चंचलता यह बतलाती है कि

ये भगवान्‌के मुखचन्द्र-रूप चन्द्रमाको मध्यस्थ करके कोई विलक्षण शास्त्रार्थ कर रहे कुण्डल अत्यधिक देदीप्यमान हैं और इनके सुवर्णशरीरमें दिव्यातिदिव्य नानाविध रत्न जड़े हुए हैं। ये मकराकृत हैं—मानो मकरध्वज (काम)-को लड़कर जीतनेके लिये ही कुण्डलोंने यह आकार धारण किया है।

भगवान्‌के मधुर मन्द हासयुक्त मुखारविन्दकी शोभा

भगवान्‌का मधुरमन्दहासोपेत कटाक्षयुक्त दिव्यातिदिव्य मुखारविन्द नेत्रवालोंका परम सौख्यमय विश्राम-स्थान है। नन्दनन्दन श्रीवृन्दावनचन्द्रका यह मुखारविन्द भगवान्‌के वदनारविन्दका सौन्दर्य-सौन्दर्याधिकरण, यहाँ एक-दूसरेसे भिन्न नहीं, पर यह सौन्दर्य-माधुर्यमय परम रस ही है। भगवान्‌का वक्ष:स्थल साक्षात् श्रीका निवास है, मुखारविन्द नेत्रवालोंके नेत्रोंका रससुधा-पानपात्र है, भुजाएँ लोकपालोंके बलका आश्रयस्थान और पदाम्बुज सारतत्त्वके गानेवालोंका परम राग है।

श्रियो निवासो यस्योर: पानपात्रं मुखं दृशाम्।
बाहवो लोकपालानां सारङ्गाणां पदाम्बुजम्॥

(श्रीमद्भा० १।११।२६)

भ्रुकुटी बंक है, नेत्रोंमें भी कुछ बंकपन है, वे तो मानो कामके धनुष ही हैं। दोनों भौंहोंमें नीलिमाकी कुछ विशेष चमचमाहट है। कन्दर्पका दर्पदमन करनेके लिये ही मानो यह धनुष सम्हाला है। कन्दर्प तो व्रजांगनाओंका ही सौन्दर्य देखकर सम्मोहित हो धनुष-बाण छोड़ अचेत गिरा था, अधोक्षज भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्दके मुखारविन्दतक उसकी पहुँच कहाँ? भगवान् अधोक्षजके जो भावुक हैं, उन्हींके समीप कन्दर्पका कोई चारा नहीं चलता। वहाँ चराचरके चलानेवाले चितचोरके सामने उसकी क्या चले—वहाँतक तो वह पहुँच भी नहीं सकता। रास्तेमें भावुकोंसे ही पछाड़ खाकर मूर्च्छित हो जाता है।

भगवान्‌के सुविस्तीर्ण ललाटमें कुंकुम-कस्तूरी-मिश्रित चन्दन-तिलककी दो रेखाएँ ऐसी शोभा पा रही हैं, जैसे विद्युत्‌की दो लकीरें अपनी चंचलताको त्यागकर ललाटमेघमें विराम कर रही हों।

भगवान्‌के दिव्य किरीटमें नील, रक्त, शुभ्र, हरित आदि विविध वर्णोंकी नानाविध दिव्यातिदिव्य मणियाँ जड़ी हुई हैं, जिनकी सुसम्मिलित वर्णोंकी दिव्य अतिरंजित आभा, उस किरीटपर अर्द्धचन्द्रवत् विस्तीर्ण दिव्य मौक्तिकमालाओंकी अद्भुत दीप्ति और दिव्य ललाटकी सुषमामयी नीलिमा—ये सब दिव्यातिदिव्य आभाएँ मिलकर एक अति विलक्षण शोभाको प्रस्फुटित कर रही हैं। भगवान्‌के मस्तक और कपोलोंपर स्निग्ध कुंचित नील अलकावली विलसित हो रही है। ये कृष्णकेश मानो दिव्यातिदिव्य चन्द्रके अमृतके लोभसे काले नागके बच्चे हैं। यदि यह मुखचन्द्र मुखारविन्द है तो ये नीलकेश नील भ्रमर हैं, जो यहाँ दिव्यातिदिव्य सौन्दर्यमय मकरन्दपानकी आशा लगाये मँडरा रहे हैं। ये दिव्य अलकें नित्यमुक्त सनकादि मुनिगण हैं, जो भगवान्‌के दिव्य सौन्दर्य-माधुर्यका यहाँ नित्य समास्वादन कर रहे हैं। किरीटके मुक्तामाल भी ऐसे ही मुक्त परमहंसोंकी परम पावन पंक्तियाँ हैं।

भगवान्‌के दिव्य मंगलमय विग्रहके सारे ही तत्त्व दिव्य हैं, कोई भी प्राकृत नहीं। कुण्डल सांख्य और योग हैं, वनमाल मायातत्त्व हैं, पीतपट छन्द है, किरीट पारमेष्ठ्यपद है, मुक्ताफल मुक्त हैं। मुक्त पुरुष ही अलकें बनकर भगवान्‌की इस लीलामें भगवदीय दिव्य अंग बने हैं। ये अलकें जो मुखपर आ-आकर लौटती और फिर आती हैं, ऐसी प्रतीत होती हैं, जैसे भ्रमर इस दिव्य मुखारविन्दके सौरभसे खिंचे चले आते हैं, पर पास आकर उसके दिव्यातिदिव्य तेजको न सहकर लौट जाते हैं, पर मुखारविन्दका ऐसा विलक्षण आकर्षण है कि फिर-फिरकर फिर खिंचे ही चले आते हैं। ये काले भ्रमर जब मकरन्दपानके लोभसे अरुण अधरोंके समीप आते हैं, तब उनकी श्यामता पीछे ही छूट जाती है और अधरोंकी अरुणिमाका रंग इनपर चढ़ जाता है। ये लाल-से हो जाते हैं और ये ही जब गण्डस्थलके समीप आते हैं तब नील हो जाते हैं। मन्दस्मित चन्द्रिकासे इनमें

गणेशपंचायतन

राजराजेश्वरी भगवती त्रिपुरसुन्दरीका चिद्विलास
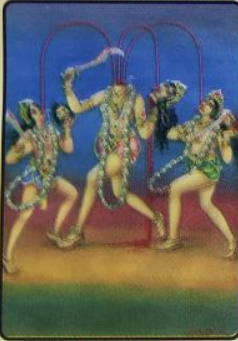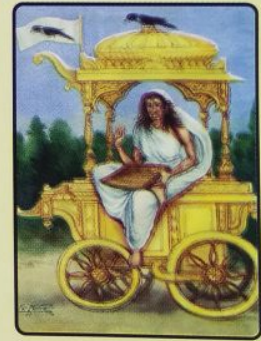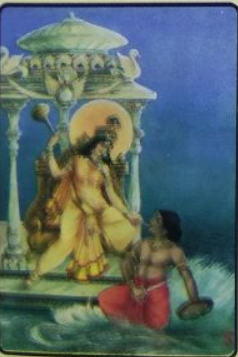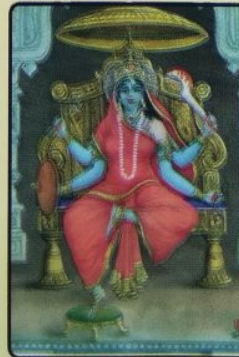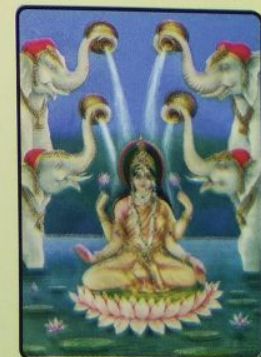
दशमहाविद्या

भगवान् हरिहर
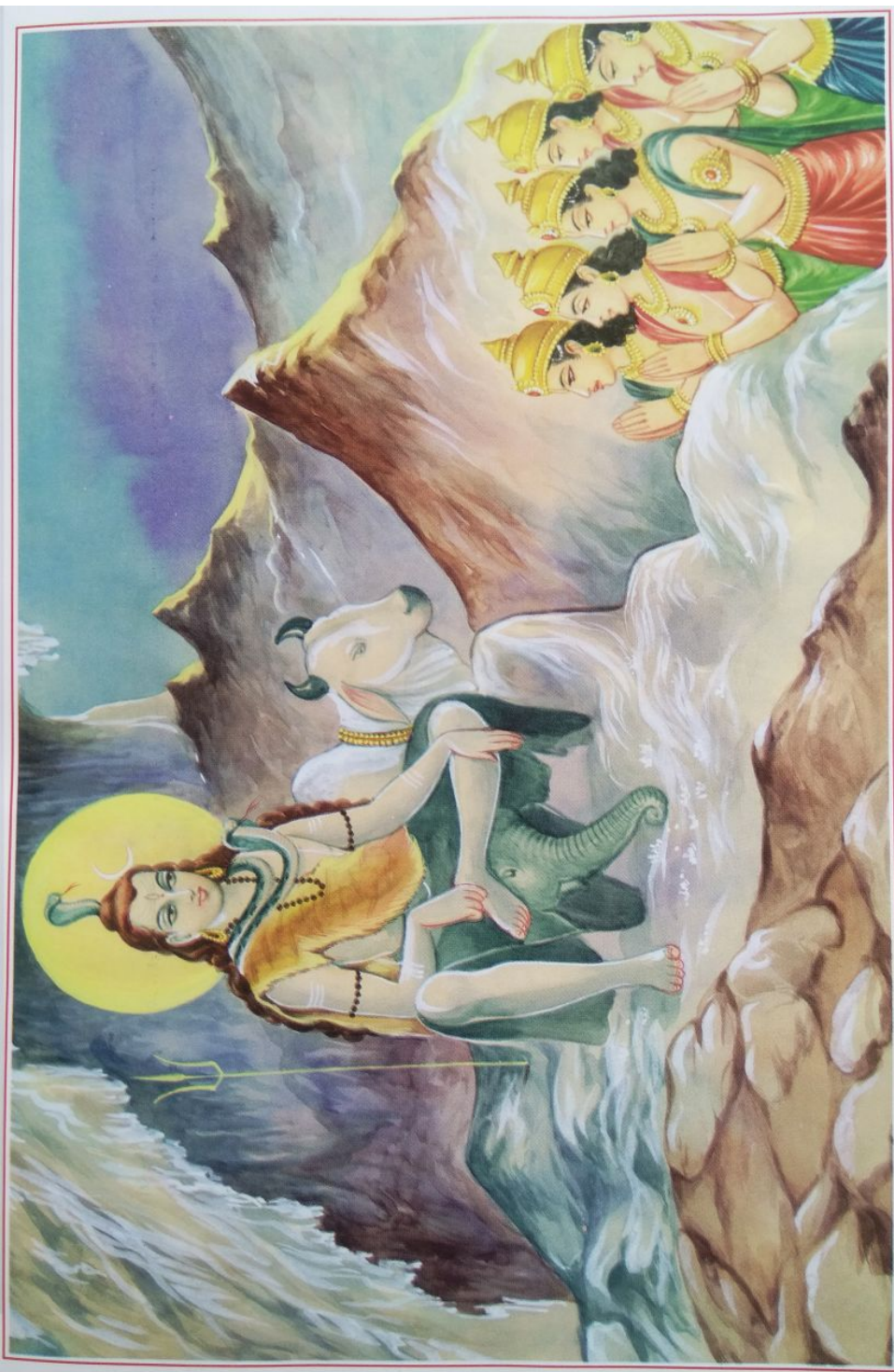
देवताओंद्वारा भगवान् सदाशिवकी स्तुति

वेणुधर भगवान् गोविन्द

ब्रह्मा, विष्णु, महेश
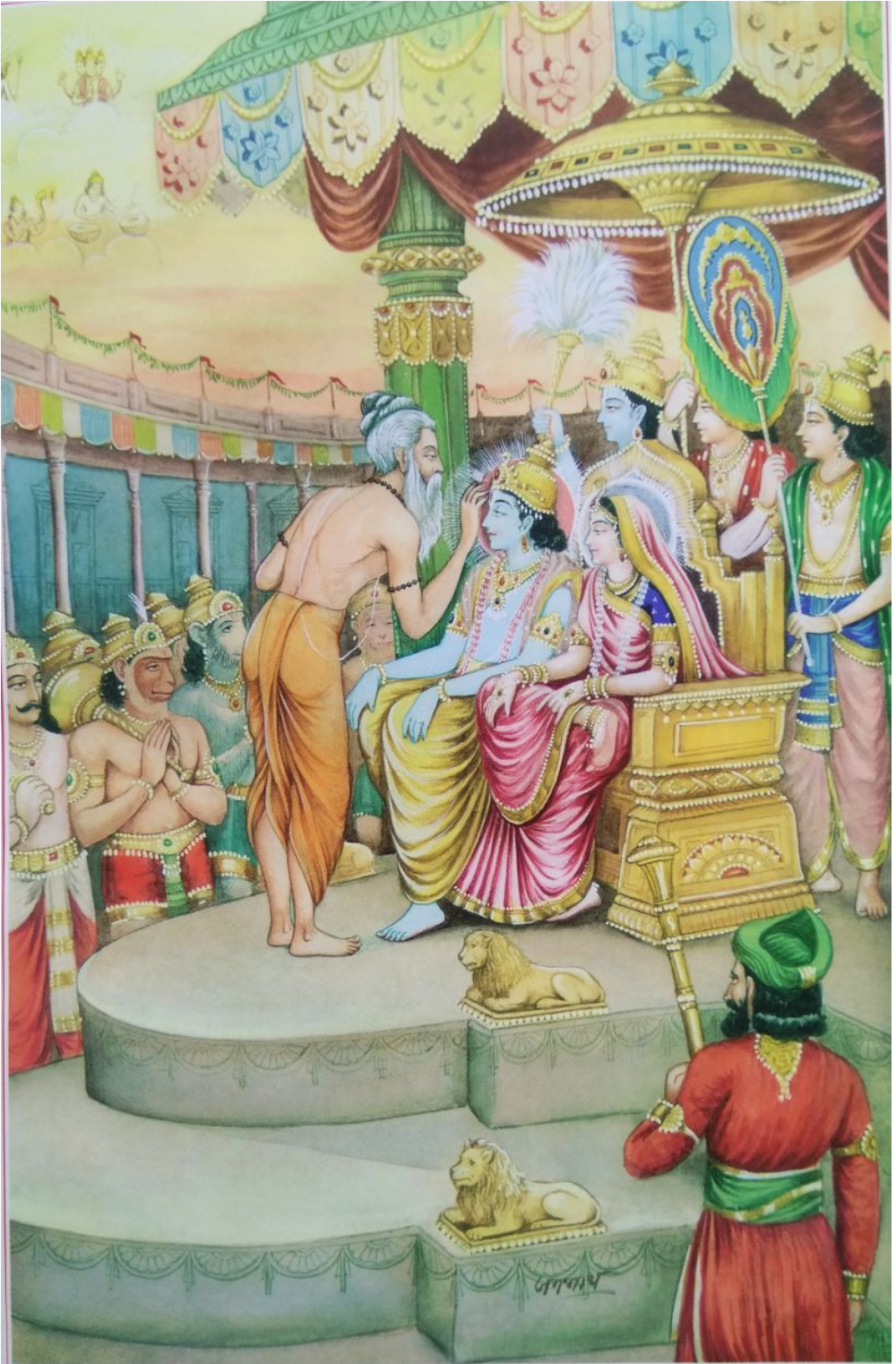
रामराज्याभिषेक

महारासलीला

स्वच्छता भी आ जाती है।

ऐसी यह विलक्षण मुखछवि है कि गोस्वामी तुलसीदासजीके शब्दोंमें कहें तो '**कहि न जात मुख बानी।**' अधरोंमें अरुणिमा, दिव्य नासिका और गण्डस्थलकी दिव्यातिदिव्य, दीप्तिविशिष्ट नीलिमा और नानाविध भूषणों और कुण्डलोंकी पीतारुण जगमग ज्योतिसे ये कुन्तल अति विलक्षण सुरंजित दीप्तिका प्रकाश करते हैं। ऐसे इन दिव्य नील अलकोंपर वृन्दारण्यधामकी गो-चारण-लीलामें उठी हुई गोधूलि आकर ऐसे जमी हुई है, जैसे नीलकमलका यह पराग हो। ऐसे इस परागक्षुरित अलिकुलमालासंकुलित मुखारविन्दपर स्वेदबिन्दु प्रसन्न तुषार-बिन्दुओंके समान या दिव्यातिदिव्य मोतियोंके समान सुशोभित हो रहे हैं।

ऐसे दिव्यातिदिव्य मुखारविन्दके भालदेशमें विद्युत्‌की लकीरों-सा जो दिव्य तिलक है, वह नीचेकी दोनों भौंहोंकी कमानोंसे छूटनेवाले जैसे दिव्य बाण हों। महालक्ष्मी जिस पद्ममें निवास करती हैं, उस मीनद्वययुक्त अलिकुल-समाश्रित दिव्य पद्मको तिरस्कृत करनेवाला यह दिव्यातिदिव्य मुखारविन्द है।

भगवान्‌के कर्ण अति देदीप्यमान नीलवर्णके हैं, जिनमें नीचे दिव्य कुण्डल लटक रहे हैं। भगवान्‌के स्कन्ध सिंहके समान विशाल हैं। सुन्दर दिव्य कण्ठ कम्बुरेखासे युक्त है और उसमें आत्मज्योति-स्वरूप कौस्तुभमणि ऐसी शोभा पा रही है, जैसे सारी शोभाओंका यहींसे उद्गम होता हो। कण्ठमें फिर दिव्य मौक्तिकमाल और नीलपीत रत्नहार पड़ा हुआ है, नानाविध रत्नजटित मुक्ताहार तथा वन्य पुष्पमालाएँ हैं। कोई कण्ठमें कण्ठकूपतक हैं, कोई वक्षःस्थलतक हैं, कोई उदर और कटिप्रान्ततक हैं और कोई पादाम्बुजतक हैं। बड़ी ही विलक्षण शोभाका यह बड़ा ही सुन्दर कौशलपूर्ण क्रम है। ये मौक्तिकमाल कण्ठसे पादाम्बुजतक इस दिव्य मंगलमय विग्रहपर ऐसे सोह रहे हैं, जैसे महेन्द्रनीलमणिपर्वतपर गंगाकी दिव्य निर्मल धारा हो अथवा ये मुक्तामाल ऐसे सुशोभित हैं, जैसे नील आकाशमें हंसोंकी पंक्तियाँ उड़ी जाती हों। नील आकाशमें उडुगणोंके समान भगवान्‌के वक्षःस्थलपर यह रत्न अत्यन्त शोभित होते हैं; मध्य-मध्यमें महामणियाँ अनेक चन्द्रमा तथा सूर्यके समान दीप्यमान होती हैं।

दिव्य दीप्त नीलवर्णपर ये नानाविध मौक्तिक, स्तबक, रत्न और वन्य पुष्प आदिके द्वारा विविध प्रकारके वर्ण परस्परसे सुरंजित हो रहे हैं। इन सबकी सम्मिलित शोभा अति विलक्षण है। इस दिव्यातिदिव्य शोभा और सौन्दर्यपर, इसके अति सुरम्य सौरभ और मधुरतम मकरन्दपर मँडराते हुए गुंजारव करनेवाले भ्रमर भगवान्‌के गुणगान करनेवाले नित्यमुक्त भक्त हैं।

दिव्य विग्रहके अनुलेपनकी शोभा

इस दिव्य मंगलमय विग्रहके सर्वांगमें कुंकुम-मिश्रित हरिचन्दनका ऐसा सुन्दर शुभ्र विलेपन है, जैसे महेन्द्र-नीलमणिपर्वतपर चन्द्रमाकी चन्द्रिका फैली हो और उस चन्द्रिकामें उज्ज्वल नीलिमा जगमगा रही हो। ऐसी इस उज्ज्वल नीलिमायुक्त चान्द्रमसी ज्योत्स्नासे सुशोभित स्वरूपसे दिव्यातिदिव्य अष्टविध सौगन्ध्यका प्रादुर्भाव हो रहा है। भगवान्‌के देवदुर्लभ दिव्यातिदिव्य वदनारविन्दका दिव्यातिदिव्य सौगन्ध्य परम भावुकोंको ही अनुभूत होता है। इस (१) भगवदीय दिव्य-वदनारविन्दके परम दुर्लभ सौगन्ध्यके साथ, (२) सर्वांगमें हरिचन्दनका जो विलेपन है, उसका सौगन्ध्य है, (३) उस हरिचन्दनमें जो कुंकुम मिली हुई है, उसका भी एक अति मनोहर सौगन्ध्य है, (४) पुष्पमालाओंके मध्यमें जो तुलसिका है, उसका शीतल मधुर दिव्य सौगन्ध्य कुछ और ही है, फिर (५) अनेकविध सौगन्ध्योपेत वन्यपुष्पस्तबकोंका सौगन्ध्य अपनी सत्ता अलग बता रहा है, (६) हरिचन्दनका सौगन्ध्य और कुंकुम-कस्तूरीका सौगन्ध्य दोनों मिलकर एक तीसरा ही अद्भुत सौगन्ध्य अनुभूत करा रहे हैं, (७) कुंकुममिश्रित हरिचन्दन और वन्य पुष्प दोनोंके सौगन्ध्य मिलकर भी एक विलक्षण सौगन्ध्य उत्पन्न कर रहे हैं और (८) भगवदीय, वदनारविन्दका सौगन्ध्य तथा इन सब पुष्पादि

सामग्रियोंका सौगन्ध्य—ये सब मिलकर एक अति विलक्षण, अति दिव्य, अति मनोहर सौगन्ध्य समुत्पन्न कर रहे हैं। ये भगवदीय दिव्य मंगलमय विग्रहके दिव्यातिदिव्य अष्टसौगन्ध्य हैं और ऐसे ही दिव्यातिदिव्य अष्टसौगन्ध्य भगवान्‌के वामपार्श्वमें विराजनेवाली श्रीवृषभानुनन्दिनीजीके भी मंगलमय विग्रहसे प्रादुर्भूत हो रहे हैं।

दोनोंके द्विविध अष्टसौगन्ध्य मिलकर एक अलौकिक सौगन्ध्य-माधुर्य-सुधाका वर्षण कर रहे हैं। दयितास्तनमण्डलवर्त्ति कुंकुमकस्तूरिका-मिश्रित हरिचन्दन-विलेपनके दिव्यातिदिव्य सौगन्ध्यकी कल्पना और अनुभव परम भावुकके सिवा कौन कर सकता है? फिर इनपर भगवान्‌के दिव्यातिदिव्य सौगन्ध्योपेत श्रीचरणोंका संयोग और उससे उत्पन्न होनेवाला दिव्यातिदिव्य सौगन्ध्य! परम मनोहर, अत्यन्त सुकोमल चरण! उन श्रीचरणोंको परम भक्त व्रजांगनाएँ अपने वक्ष:स्थलपर लेती हुई सकुचाती हैं और कहती हैं कि ये कठोर अंग श्रीभगवान्‌के सुकोमल चरणोंमें गड़ेंगे! इस दिव्यातिदिव्य भावकी कल्पना भी कोई पूर्ण कामजित् परम भावुक ही ठीक तरहसे कर सकता है और तब दयितास्तनमण्डलवर्त्ति कुंकुम-कस्तूरिका-मिश्रित हरिचन्दन-विलेपनके सौगन्ध्यके साथ श्रीभगवान्‌के श्रीचरण-सौगन्ध्यके दिव्यातिदिव्य संयोग-सौगन्ध्यके समास्वादनका अधिकारी हो सकता है। जिन्होंने व्रजमें विहार करते हुए कहीं तृणमें लगा हुआ कोई दिव्यातिदिव्य कुंकुम देखा और उसके परम दिव्य सौगन्ध्यसे निश्चय किया कि यह दयितास्तनमण्डलवर्त्ति परम पावन हरिचन्दन-विलेपन दिव्य सौगन्ध्यसे युक्त श्रीभगवान्‌के सुकोमल श्रीचरणोंका सौगन्ध्य है—यह कुंकुम श्रीवृषभानुनन्दिनीजीकी हृदयश्री और श्रीभगवान्‌के सुकोमल अरुणचरणपंकजश्रीके संयोगका परम सौभाग्यस्वरूप है, उस कुंकुमसे उन्होंने अपना सर्वांग विलेपन किया। कैसा अलौकिक प्रेम और भगवद्भावतादात्म्य है! भगवान्‌के इस अष्टविध दिव्यातिदिव्य सौगन्ध्यको तथा श्रीवृषभानुनन्दिनीके अष्टविध दिव्यातिदिव्य सौगन्ध्यको और दोनोंके संयोगजन्य दिव्यातिदिव्य सौगन्ध्यको परम भावुक उपासक ही जानते हैं। उपास्यके ये दिव्य सौगन्ध्य उपासकोंको भी प्राप्त होते हैं।

भगवान्‌की कामकलभशुण्डके समान सुडौल, गोल, सुन्दर चढ़ाव-उतारवाली दिव्य उज्ज्वलनील भुजाओंपर भी अन्य अंगोंके समान ही कुंकुम-कस्तूरी-मिश्रित शरच्चन्द्रमरीचिवत् दिव्य हरिचन्दनका लेप है। उसपर उज्ज्वल सुवर्णकंकणों और बाजूबन्दोंकी उज्ज्वल पीतिमा भी कुछ-कुछ प्रतिबिम्बित हो रही है। हाथके पंजोंके साथ ये हाथ ऐसे मालूम हो रहे हैं, जैसे दिव्यलोकके पंचशीर्ष नाग हों। ये पाँचों उँगलियाँ उन्हींके पंचशीर्ष-जैसे हैं और इन उँगलियोंमें जो नख हैं, वे पंचशीर्ष नागोंके शीर्षस्थ मणियोंके समान ही चमक रहे हैं।

करतलकी सुकोमल अरुणिमा अरुण कमलकी-सी ही विकसित हो रही है और करपृष्ठ सर्वांगके समान ही उज्ज्वल नील हैं और उनपर कुंकुम-कस्तूरी-मिश्रित दिव्य हरिचन्दनकी चाँदनी छिटक रही है। उँगलियोंकी सन्धिमें अरुणिमा और नीलिमाका तारतम्य है। पृष्ठभागसे संलग्न सन्धिका सूक्ष्म भाग अधिकतर उज्ज्वल नील और तल संलग्न सन्धिभाग अरुणिमा-विशिष्ट है। भगवान् अपने इन अरुण करतलोंमें अपना शंख लेकर जब बजाते हैं, तब यह धवलोदर शंख अरुणायमान होकर ऐसा प्रतीत होता है, जैसे इन दो अब्जखण्डोंके बीच कोई कलहंस कलनाद कर रहा हो।

श्रीभगवान्‌के दिव्य श्रीमुखाम्बुजमें कुंकुम-मिश्रित हरिचन्दनके द्वारा नाना भावपूर्ण नानाविध चित्र ललाट, कपोल, चिबुक और करोंपर भावुक लोग चित्रित करते हैं। उज्ज्वल नील मुखाम्बुज, उसपर मकरन्द-पानके लोभी मधुपोंकी नीलिमा, मकराकृत कुण्डलोंकी चंचल दीप्तिमत्ता और किरीटकी दिव्यातिदिव्य शोभा और इन्हीं विविध आभाओंके भीतर कुंकुम-कस्तूरी-मिश्रित दिव्य हरिचन्दनके परम मनोरम चित्र

मिलकर ऐसी शोभा उत्पन्न करते हैं, जिसका शब्दोंद्वारा वर्णन नहीं हो सकता। उसका समास्वादन तो भावुकोंको ही होता है। दिव्य सौन्दर्यसम्पन्न मुखाम्बुज तो मुखाम्बुज ही है, भगवान्‌के दिव्य करोंकी छटाको भी कोई लेशमात्र ही देख ले तो उसके दु:खगर्भ सारे सांसारिक सुख ही छूट जायँ।

इस प्रसंगमें श्रीराधावल्लभजीके मन्दिरमें एक वेश्यासक्त राजकुमारकी कथा प्रसिद्ध है। यह राजकुमार इतना वेश्यासक्त था कि उस वेश्याका एक क्षणके लिये भी विरह नहीं सह सकता था। वेश्या सामने न हो तो वह खा-पी नहीं सकता था और न कोई काम कर सकता था। उसकी वेश्यासक्ति छुड़ाकर उसे भगवद्भक्ति प्राप्त करा देनी चाहिये, ऐसी अनुकम्पा सम्प्रदायके आचार्यश्रीके हृदयमें हुई। उन्होंने राजकुमारको अपने यहाँ लिवा लानेका प्रबन्ध किया। बिना वेश्याके राजकुमार भगवान्‌के मन्दिरमें भी नहीं जा सकता था। इसलिये आचार्यश्रीने उसे वेश्याके साथ ही आनेकी अनुमति दी। वेश्याके साथ, वेश्याका ही मुँह निहारते हुए, राजकुमार पधारे और श्रीभगवान्‌के मन्दिरमें भी ऐसे बैठ गये कि उनके सामने तो वेश्या थी और वेश्याके पीछे श्रीभगवान्‌की दिव्य मंगलमय मूर्तिको राजकुमार नहीं देख सकते थे। आचार्यश्रीने वेश्याको राजकुमारके सामने ही रहने दिया, पर ऐसा उपाय किया कि वेश्याके पीछेसे भगवान्‌का करारविन्द इनकी दृष्टिमें आ जाय। यहाँ भक्तपरवश भगवान्‌ने आचार्यश्रीकी इच्छाके अनुसार अपने करारविन्दमें वह सौन्दर्य प्रकट कर दिया कि वह वेश्यासक्त क्षणमात्रमें भगवदासक्त हो गया। वेश्याको देखते-देखते ही वेश्याके पीछे चमकते हुए करारविन्दपर इसकी जो दृष्टि पड़ी तो सदाके लिये वहाँ गड़ ही गयी। करारविन्दके उस सौन्दर्यको देखते ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्डका मदन-सौन्दर्य अधोभूत हो गया। अधोक्षज भगवान्‌के करारविन्दकी दिव्य छटाने राजकुमारको सदाके लिये अपने वशमें कर लिया।

भगवान्‌का दिव्यातिदिव्य सौन्दर्य-माधुर्य

भगवान्‌का दिव्यातिदिव्य सौन्दर्य-माधुर्य ऐसा ही है कि एक क्षणके लिये भी उस सौन्दर्य-माधुर्यका लेशमात्र भी किसीपर प्रकट हो जाय तो फिर वहाँसे वह लौट नहीं सकता। इस सौन्दर्य-माधुर्यकी स्फूर्ति भगवान्‌की अनुकम्पासे विशुद्धातिविशुद्ध अन्त:करणमें ही होती है। भगवान्‌की अनुकम्पा जीवको दो प्रकारसे प्राप्त होती है, एक तो अपने साधनसे जैसे ध्रुवको प्राप्त हुई और दूसरे भगवान्‌की अपनी दयामयी इच्छासे जैसे राजा परीक्षित्‌को गर्भमें ही प्राप्त हुई। श्रीभगवान्‌के गलेमें अनेकविध दिव्य वन्यपुष्पोंके स्तबकादिसे युक्त दिव्य सौगन्ध्यमय मालाएँ हैं। उनपर फिर कोटि-कोटि विद्युतोंकी चंचल दीप्तिको तिरस्कृत करनेवाला सुवर्णोज्ज्वल चंचल पीतपट ऐसा उल्लसित हो रहा है, जैसे महेन्द्रनीलमणि पर्वतपर दिव्य विद्युत्-पुंज चमचमा रहा हो और उसमेंसे दिव्य मंगलमय विग्रहकी नीलिमा-दीप्ति भेदकर बाहर निकल रही हो।

उज्ज्वल-नीलिमा-सम्पन्न वक्ष:स्थलपर सुवर्णोज्ज्वल मंगलमय वामावर्त और दक्षिणावर्त रोमराजि दीख रही है। यहीं तो चपला चंचला श्रीमहालक्ष्मीका निवास है। भगवान्‌को भक्तोंने जो मालाएँ पहनायी हैं, वे लक्ष्मीजीको गड़ती हैं, पर भक्तोंपर आदर दिखानेके लिये भगवान् उन मालाओंको पहने ही रहते हैं और सपत्नीजन्य दु:ख लक्ष्मीजीके पीछे लगा ही रहता है। गलेसे लेकर पादाम्बुजतक लटकनेवाले पुष्पहारोंके मध्यमें जो तुलसिका है, उसका तो भगवान् इतना आदर करते हैं कि लक्ष्मीजीसे वह देखा नहीं जाता। पादाम्बुजमें अवश्य ही लक्ष्मीजी तुलसीके साथ रहनेमें सुखी हैं, परंतु वक्ष:स्थलपर नहीं; उसपर तो लक्ष्मीजी अकेली ही रहना चाहती हैं। वक्ष:स्थलके मध्यमें भगवान् भृगु-चरण धारण किये हैं और लक्ष्मीजीसे मानो यह कह रहे हैं कि महालक्ष्मी! यहाँ जो तेरी स्थिति है, वह ब्राह्मणके चरणसे ही है। यह हृदय 'हतांहस' होनेके कारण ही चंचला लक्ष्मी यहाँ

अचला है। भगवान्‌के वक्षःस्थलपर रहनेवाले ब्राह्मणचरण और महालक्ष्मी दोनों ही एक स्वरसे मानो यह कह रहे हैं कि जहाँ ब्राह्मणोंके चरणोंकी रज पड़ेगी, वहीं चंचला लक्ष्मी स्थिर हो जायगी। लक्ष्मी वहाँ नहीं ठहरती, जहाँ ज्ञान, विद्या, तप आदि नहीं हैं; क्योंकि ज्ञान, विद्या, तप, भूति आदि लक्ष्मीके ही रूप हैं। अर्थात् श्रीभगवान् मानो यह सूचित करते हैं कि जहाँ ब्राह्मण-चरण निवास करेंगे, वहीं श्रीनिवास होंगे और वहीं सकल प्रकारकी श्रीका निवास होगा।

भगवान्‌के दिव्यातिदिव्य कमलसे सुकोमल वक्षःस्थलमें ब्राह्मणके चरण कठोर नहीं प्रतीत हुए। उलटे भगवान्‌को यह क्लेश हुआ कि इस वक्षःस्थलकी कठोरतासे भृगुमहाराजके सुकोमल चरणोंमें कुछ चोट तो नहीं आयी। कारण, लक्ष्मीका जहाँ निवास होता है, वहाँ हृदयमें कठोरता आ जाती है। ब्राह्मण इस कठोरतापर पैर देकर भगवान्‌की स्तुति करते हैं, यही ब्राह्मणोंका ब्राह्मणत्व है। यह कठोरतारूप-अंहस भृगु-चरणोंसे धुला है और जहाँ कहीं यह अंहस है, वहाँ वह ब्राह्मणचरणोंसे ही धुल सकता है और महालक्ष्मीजीका जो दिव्यातिदिव्य सुकोमल भाव है, वह प्रकट हो सकता है।

इस दिव्य मंगलमय विग्रहरूपमें अचिन्त्यानन्त ब्रह्मानन्द-सुधासिन्धुस्वरूप परमतत्त्व भगवान् ही श्यामीभूत होकर प्रकट हुए हैं। इनके गलेमें वक्षःस्थलपर गुंजाहार पड़ा हुआ है। ये गुंजाएँ कोई प्राकृत गुंजाएँ नहीं हैं, ये सब परम तपस्वी महामुनि हैं, जिन्होंने इस पुण्यारण्य वृन्दावनधाममें भगवदीय लीलामें योग देनेके लिये गुंजारूप धारण किया है। यहाँ मयूरपिच्छादिको भी भगवान्‌ने अपना दिव्यातिदिव्य धाम दिया है। इस वृन्दावन लीलाधामकी विलक्षण महिमा है, जिसे देखकर ब्रह्मा भी यहाँ '**गुल्मलतौषधी**' बनकर निवास करनेकी इच्छा करते हैं।

वामावर्त और दक्षिणावर्त उभय रोमराजियोंके मध्यमें ये भृगुचरण हैं। इनपर वक्षःस्थलमें जो दिव्य मालाएँ पड़ी हैं, उनसे भगवदीय अष्टगन्धसौगन्ध्यसे अतिमत्त हुए भ्रमरोंकी मधुर झंकार निकल रही है। नाभिप्रदेशमें अति सुन्दर मनोहर तीन रेखाएँ (त्रिवलि) हैं और मध्यमें यह दिव्य मनोहर सरोवर श्यामसलिला कालिन्दीका अति विलक्षण आकर्षणवाला भँवर-सा सोह रहा है। इसीसे तो सारे ब्रह्माण्डका प्रादुर्भाव हुआ है।

भगवान्‌की भुजाएँ, भावुकोंकी कल्पनाके अनुसार दो भी हैं और चार भी। इनका गठन कैसा सुन्दर और कैसा गोल! और घुमाव, चढ़ाव तथा उतार भी अत्यन्त मनोहर! सर्वांगके समान इनपर भी कुंकुम-कस्तूरी-मिश्रित हरिचन्दनका शुभ्र लेप है। भुजाओंकी दीप्ति-विशिष्ट नीलिमा, हरिचन्दनकी शुभ्रता और करारविन्दके अन्तर्भागोंकी अरुणिमा—तीनों मिलकर नखमणि-ज्योतिके घाटपर कैसा दिव्य मनोहर गंगा-यमुना-सरस्वतीका संगम साध रहे हैं। इन दिव्य मनोहर भुजाओंमें शंख, चक्र, गदा, पद्म सुशोभित हैं। शंख जलतत्त्व है, कौमोदिकी गदा ओजतत्त्व है, सुदर्शन चक्र तेजस्तत्त्व अथवा यदि खड्ग देखें, तो नभस्तत्त्व है।

भगवान्‌के कटितटकी शोभा

भगवान्‌के दिव्य कटितटमें काँची (मेखला) है, जिसकी कई लड़ें हैं। कटितटसे गुल्फपर्यन्त पीताम्बर परिधान धारण किये हैं, जो अति सूक्ष्म और दिव्य है। उसमेंसे भगवान्‌की नीलकान्तिदीप्ति स्पष्ट ही उद्भासित हो रही है। पीतपटसे समाच्छन्न भगवदीय दीप्तिमत्ता और नीलिमासे युक्त वह नानाविध रत्नोंसे जटित मुक्तामध्य मेखला नितम्ब-बिम्बपर आकर अत्यधिक सुशोभित हो रही है। काँचीकी बड़ी मधुर झनझनाहट है। भगवान् यहाँ ज्ञानमुद्रावाले परम शान्त गम्भीर पुरुष नहीं हैं। यहाँ तो चंचल चपल त्रिभंगी छविवाले वंशीधर श्रीकृष्ण हैं, जिनकी चंचलता व्रजांगनाओंके अंचल पकड़नेमें भी नहीं चूकती। वाह री! वह कामजित् दिव्य चंचलता, जिसको सम्बोधनकर चंचलताको प्राप्त व्रजांगना परम रससिकोंके विनोदार्थ

ही मानो यह कहती है कि—'**मुञ्चाञ्चलं चञ्चल पश्य लोकं बालोऽसि नालोकयसे कलङ्कम्। भावं न जानासि विलासिनीनां गोपाल गोपाल-नपण्डितोऽसि॥**' भगवान्‌ने किसी व्रजांगनाका मानो अंचल पकड़ा। उसपर व्रजांगना ठिठककर कहती है कि 'अरे चंचल! मेरा अंचल क्यों पकड़ा है? छोड़, छोड़; लोग देखेंगे तो तुझे या मुझे क्या कहेंगे? लोकलाजका तुझे कुछ ध्यान नहीं, तू कैसा गँवार है?' इसपर भगवान्‌ने उस व्रजवनिताका अंचल छोड़ दिया और दूसरी ओर देखने लगे। तब व्रजांगना कहती है—'आखिर तू है वही गौएँ चरानेवाला चरवाहा! तू विलासिनियोंका भाव क्या समझे? '**गोपाल! गोपालनपण्डितोऽसि**'—गोपाल! तू गोपालनका ही पण्डित है।' अथवा '**गोपाल! गोपाल! न पण्डितोऽसि!**' अरे गोपाल! इधर तो देख! तू तो कुछ समझता ही नहीं।

इस दिव्य चांचल्यकी लीलासे मुग्ध होकर जो इस गोपालन-पण्डित गोपालबालके निष्कलंक दिव्य क्रीडनमें अनन्य होकर सम्मिलित हुए, वे ही संसारमें धन्य हुए। अन्योंके लिये तो यहाँ झाँकना भी निषेध है।

भगवान्‌के ऊरु कदलीस्तम्भ-से कहे जाते हैं। कदलीस्तम्भोंमें जो स्थूलता-सूक्ष्मताका तारतम्य तथा जो चिक्कणता होती है, वही यहाँ विवक्षित है। यहाँ भी वही दीप्तिविशिष्ट नीलिमा है, जो पीताम्बरकी मनोहर पीतिमाको भेदकर बाहर निकल रही है।

श्रीभगवान्‌के अतसिका-कुसुमके-से उज्ज्वल नील ऊरुद्वय श्रीगरुड़जीके स्कन्धोंपर अति शोभायमान हो रहे हैं। यह गरुड़जी साक्षात् ऋक्, साम, यजुः-स्वरूप शब्दब्रह्म हैं, जिनपर शब्दातीत अशेष विशेषातीत सच्चिदानन्दघन अक्षर परब्रह्म परमात्मा अधिष्ठित हैं—

'**त्रिवृद्वेदः सुपर्णाख्यो यज्ञं वहति पूरुषम्॥**'

(श्रीमद्भा० १२। ११। १९)

भगवान्‌के वाम स्कन्धके ऊपर दक्षिण स्कन्धके नीचे कटितटतक वर्तुलाकार त्रिवृत सुवर्णोज्ज्वल पीत यज्ञोपवीत सुशोभित है। यह ब्रह्मसूत्र एकाक्षर प्रणव है, जो अनन्तकोटि ब्रह्माण्डका मूलसूत्र है।

भगवान् जो केवल सविशेष नहीं, केवल निर्विशेष भी नहीं, प्रत्युत सविशेष-निर्विशेष दोनों मिले हुए पूर्ण परब्रह्म हैं, वही इस मंगलमय विग्रहरूपमें प्रकट हुए हैं। गरुड़, शेष तथा शंख-चक्रादि अंग जो इस लीलाविग्रहमें प्रकट हैं, वे भी उनके पूर्ण परब्रह्म स्वरूपमें अभिन्नरूपसे अन्तर्गत हैं। सांगोपांग परम भगवत्तत्त्व ही इस लीलामय विग्रहमें प्रादुर्भूत है। इस लीलामय विग्रहकी स्थिति अव्याकृतमें है। कुछ आचार्योंका ऐसा मत है कि यहाँ भी उनका निवास अक्षर ब्रह्ममें है। परब्रह्मके अक्षर रूप तीन हैं—(१) माया, (२) मायाविशिष्ट चैतन्य और (३) परात्पर पूर्णब्रह्म। अव्याकृत मायाविशिष्ट चैतन्य ही शेष भगवान् हैं, उन्हींमें श्रीभगवान्‌का निवास है—'**अव्याकृतमनन्ताख्यमासनं यदधिष्ठितः।**' (श्रीमद्भा० १२। ११। १३) तमोरजोलेशसे असंस्पृष्ट, महावाक्यजन्य ब्रह्माकारा वृत्तिरूपमें परिणत विशुद्ध सत्त्व ही कमल है—'**धर्मज्ञानादिभिर्युक्तं सत्त्वं पद्ममिहोच्यते॥**' (श्रीमद्भा० १२। ११। १३) ओजः तत्त्व गदा है, अपृतत्त्व शंख है, तेजस्तत्त्व सुदर्शन है और नभोनिभ कृपाण नभस्तत्त्व है।

भगवान्‌के जानुद्वय श्रीमहालक्ष्मीके अति सुकोमल अरुण कर-कमलोंसे लालित हैं। गुल्फोंमें अनेकविध आभूषण और रत्नजटित नूपुर हैं, जिनकी झंकारसे त्रिभुवन आह्लादित होता है। आत्मज्योतिविग्रह कौस्तुभमणिसुशोभित उज्ज्वल-नील कण्ठदेशसे गुल्फप्रदेशपर्यन्त नील पदारविन्द-पारदर्शी उज्ज्वल पीतपट उभय पार्श्वमें विद्युल्लताओं-सा चमक-दमक रहा है और उसका नानाविध रत्नोंसे जटित किनारा अपनी रंग-बिरंगी छटा उसमें मिलाकर एक अति विलक्षण शोभा उत्पन्न कर रहा है। उसे देख-देखकर भावुक अपने नयनोंकी आस पूरी करना चाहते हैं, पर भगवदीय दिव्य-मंगलमय विग्रहकी यह सारी शोभा अनन्त और नित्य नवीन होनेसे सदा ही उस सौन्दर्य-सुधारस-पानकी प्यास अधिकाधिक बढ़ानेवाली है।

भगवान्‌के चरणारविन्दोंकी शोभा

श्रीभगवान्‌के चरणारविन्दमें कुंकुम-मिश्रित हरिचन्दनके नानाविध अति सुन्दर मनोहर चित्र अंकित हैं। पादांगुलियोंपर जो नख हैं, वे मानो दिव्यातिदिव्य मोती हैं या इन्हें दिव्यातिदिव्य नखमणि कह सकते हैं। इनकी चन्द्रमा-सी ज्योत्स्नाके किंचित् दर्शनमात्रसे सारे ताप शान्त हो जाते हैं। त्रिविध तापोंको तत्क्षण हरनेवाली इस नखमणिचन्द्रिकाकी शोभा श्रीमधुसूदनजी वर्णन करते हैं—'**पदनखनिविष्टमूर्तिकः एकादशतामिवावहन्निष्ठाम्। यं समुपासते गिरिशः वन्दे तं नन्दमन्दिरे कञ्चित्॥**' भगवान् शंकर मानो आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रका अर्चन कर रहे हैं और भगवान्‌के चरणोंमें नतमस्तक होकर नखमणिचन्द्रिका निहारते हुए उन दिव्य निर्मल नखमणियोंमें अपनी ही मूर्ति समायी हुई देख रहे हैं। कवि कल्पना करते हैं कि जिनके पदनखोंमें गिरीशकी मूर्ति समायी हुई है, मानो दस नखमणियोंमें दस रुद्र और एकादश स्वयं निहारनेवाले, इस प्रकार एकादश रुद्र हो रहे हैं, ऐसे गिरीश जिनकी उपासना करते हैं, उन नन्द-मन्दिरमें विराजनेवाले परमाद्भुतचमत्कारकारी अनिर्वाच्य 'कंचित्' को मैं प्रणाम करता हूँ।

यहाँ भगवान् श्रीशंकरको पदनखनिविष्टमूर्तिके रूपमें देखकर कोई यह न समझे कि भगवान् शंकर भगवान् श्रीकृष्णसे कुछ निम्न या भिन्न हैं। दोनों अभिन्नहृत् और एक-दूसरेके आत्मा हैं। श्रीशंकर कौन हैं और शंकरतत्त्व क्या है, यही प्रश्न श्रीकृष्णके सामने युधिष्ठिरने श्रीभीष्मजीसे किया था। उस समय भीष्मजीने यही उत्तर दिया कि शंकरतत्त्व अति गूढ़ है, मैं उसके कहनेमें असमर्थ हूँ, श्रीकृष्ण ही उस तत्त्वका प्रतिपादन कर सकते हैं। श्रीकृष्णने शिवतत्त्व बताया, पर यही कहकर कि यह तत्त्व अत्यन्त दुरवग्राह्य है और मैं जो कुछ कहूँगा, श्रीशंकरकी कृपासे ही कह सकूँगा। भगवान् रामचन्द्रका जब अवतार हुआ, तब यह कथा प्रसिद्ध है कि श्रीशंकरजी श्रीरामचन्द्रजीके यहाँ पौराणिक वेशमें गये थे और रामचन्द्रको पुराण सुनाते थे। एक बार रामभद्रके कहनेपर जब पौराणिक श्रीशंकर शिवतत्त्वका प्रतिपादन करने लगे, तब पौराणिक श्रीशंकरकी मूर्ति रामभद्ररूपमें और रामभद्रकी मूर्ति श्रीशंकरके रूपमें सबको दिखायी दी। श्रीविष्णु और श्रीशिव यथार्थमें परस्परात्मा हैं, यही बात समझनी चाहिये। इनके जो वर्ण हैं, वे भी इसी बातको सूचित करते हैं। श्रीशंकर तमोगुणके अधिष्ठाता हैं, पर उनका वर्ण काला नहीं, शुभ्र है और सत्त्वके अधिष्ठाता श्रीविष्णुका वर्ण शुभ्र नहीं, श्याम है। यह क्या बात है? यह ध्यानका प्रकर्ष है। श्रीशंकर श्रीविष्णुका ध्यान करते हैं, इस कारण उनका वर्ण शुभ्र है और श्रीविष्णु श्रीशंकरका ध्यान करते हैं, इस कारण उनका वर्ण श्याम है। यह एक-दूसरेके अभिन्नहृत् प्रेम-ध्यानका ही प्रकर्ष है।

श्रीशंकरभगवान्‌की शुभ्र दिव्य मूर्ति पदनखमणियोंमें जो झलक रही है, वह इन पद-नखोंकी दिव्यातिदिव्य स्वच्छताका द्योतन है। इन नखोंके पार्श्व और अग्रभागमें जो अरुणिमा है, उससे यह स्वच्छता किंचित् अरुण हो रही है। ऊपर चरणोंके पृष्ठभाग नीलिमा, पृष्ठ और नखोंकी सन्धिकी अरुणिमा और पद-नखोंकी स्वच्छता, इन तीनोंका यह त्रिवेणी-संगम परम भावुकोंके ही अवगाहन करनेका दुर्लभ स्थल है। यहाँकी यह शोभा इसके साथ वनमाला और तुलसिका तथा कुंकुम-कस्तूरी-मिश्रित हरिचन्दनादिसे युक्त दिव्य अष्टसौगन्ध्य परम भाग्यवानोंको ही प्राप्त होता है।

परम भावुकोंके परमाराध्य ये ही पादारविन्द हैं। मुनीन्द्रोंके मन-मधुप इन्हीं चरणाम्बुजोंका आश्रयण करते हैं। ये ही परमहंसास्वादित चरण हैं। इन्हीं चरणारविन्दगत तुलसी-सौगन्ध्यके वायुसे संसृष्ट होकर सनकादि मुनीन्द्रोंके हृदयमें प्रविष्ट होनेसे उनके भी तन-मन-प्राण क्षुब्ध हुए और भगवान्‌के चरणोंकी ओर उनको राग हुआ। इसी दिव्य क्षोभसे सात्त्विक अष्टभाव प्रादुर्भूत होते हैं। भगवान्‌के अन्य अंगोंने मुनीन्द्रोंको इतना नहीं मोहा, जितना कि चरणाम्बुजोंने। इन चरणोंकी दिव्य सौगन्ध्यमय शोभापर वे मानो

बिक गये और उन्होंने यही प्रार्थना की कि हमारा यह मन मत्तभृंगके समान आपके चरणारविन्दमें लालायित रहकर सदा यह दिव्य मकरन्द पान करता रहे।

भगवान्‌के चरणतल दिव्य कमलपर न्यस्त—सुशोभित हैं। विशुद्ध सत्त्व ही यह कमल है, विशुद्ध अन्त:करणपर ही तो भगवान्‌का प्रादुर्भाव होता है। सुकोमल कमलकी अति कोमल पंखुड़ियोंकी अनन्तकोटि गुणित सुकोमलता भी महालक्ष्मीके चरणाम्बुजोंकी सुकोमलताकी बराबरी नहीं कर सकती। महालक्ष्मीके कर-कमलोंकी सुकोमलता उससे भी सूक्ष्म है और उससे भी कहीं अधिक सूक्ष्म भगवान्‌के चरणोंकी सुकोमलता है, जिसकी किसी प्राकृत उपमानसे कल्पना नहीं हो सकती। हाँ, इन उपमानोंसे कल्पना करनेमें सहायता मिलेगी, यथार्थ बोध तो भगवत्कृपासे ही सम्भव है।

भगवान्‌के चरणचिह्नोंकी शोभा

श्रीभगवान्‌के चरणचिह्न अलौकिक श्रीशोभा और सौन्दर्य-स्वरूप हैं। जिस किसीने इन चरणचिह्नोंका सौन्दर्य देखा, उसीकी दृष्टि सदाके लिये उनमें स्थिर हो गयी। भगवान्‌के भक्त इन्हीं चरणचिह्नोंको देख-देखकर अपने कामादि दुर्भावोंको नष्ट करनेमें समर्थ होते हैं। ये चिह्न किसी आचार्यके मतसे १५, किसीके मतसे १६ और किसीके मतसे १९ हैं।

श्रीभगवान्‌के दक्षिण पादांगुष्ठमें एक दिव्य चक्र है। इस चक्रके ध्यानसे चिद्‌ग्रन्थिका छेदन होता है। अंगुष्ठके पर्वमें यवका ध्यान है, जो सुख-सम्पदाका देनेवाला है। अंगुष्ठ और तर्जनीके बीचमेंसे चरणके मध्यतक एक ऊर्ध्व रेखा है। अंगुष्ठके चक्रके अधोभागमें तीन चिह्न हैं—पर्वमें यव, मूलमें चक्र और नीचेकी ओर तापनिवारक छत्र है। मध्यमांगुलीके मूलमें कमल है। यह अति शोभन है। यहाँ ध्याताका मन-मधुप मुग्ध हो जाता है। इस कमलके नीचे ध्वज है, जिसके अनुसन्धानसे सब अनर्थोंका नाश होता है। कनिष्ठिकाके मूलमें वज्र है, जिसके ध्यानसे भक्तोंके पाप-पर्वत नष्ट हो जाते हैं। एड़ीके मध्यमें अंकुश है, जो भक्तचित्तके मत्तगयन्दको वशमें करनेवाला है।

श्रीभगवान्‌के दक्षिण पादका परिमाण लम्बाईमें १४ अंगुल है और चौड़ाईमें ६ अंगुल है। पदके मध्य भागमें ४ अंगुल स्थानमें कलश-चतुष्टय हैं और उनके अगल-बगल ४ जम्बूफल हैं। अधोभागमें द्वितीयाका चन्द्र अंकित है, जो भक्तोंके शुभका सूचक है। उससे भक्तके आह्लादकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। चन्द्रमाके नीचे गोपदी है, जो भवसागरको गोपदके समान कर देता है अर्थात् भगवत्समाश्रयण करनेवाले भवसागरको गोपदके समान बिना प्रयास ही पार कर जाते हैं।

श्रीभगवान्‌के वामपादांगुष्ठके मूलमें दिव्य शंख है। उसका ध्यान करनेसे पार्थिव जड़त्व दूर होता है और सब मल धुल जाते हैं तथा ऋक्, साम, यजुरादि शुद्धातिशुद्ध मानसी-वृत्तिरूपा समस्त विद्याएँ ऐसे स्वच्छ अन्त:करणमें प्रस्फुरित होती हैं, जैसे कि ध्रुवके कपोलमें शंखस्पर्श होते ही उसे समस्त विद्याएँ एक क्षणमें प्राप्त हो गयीं। वामचरणकी मध्यमांगुलीके मध्यमें अम्बरका अनुसन्धान है। अम्बर (आकाश) जैसे असंग है, वैसे ही इसके ध्यानसे ध्याताका चित्त भी विषय-रागसे विमुक्त और असंग होकर व्यापक परब्रह्माकाराकारित हो जाता है। वामपादारविन्दमें चार स्वस्तिक हैं, ये सकल शुभके सूचक हैं। स्वस्तिकोंके बीचमें अष्टकोण हैं। किसीके मतसे ये अष्ट-महासिद्धियोंके देनेवाले हैं और किसीके मतसे यह अष्ट लोकपाल हैं, जो यहाँ भक्तोंकी प्रतीक्षा किया करते हैं। वामपादकी कनिष्ठिकामें सूर्यतत्त्व अंकित है, जिसके अनुसन्धानसे अनेक प्रकारके ध्वान्त तिरोहित होते हैं। वामपादारविन्दमें ज्यारहित इन्द्र-धनुषका अनुसन्धान है। धनुषके पीछे चार कलश हैं। इनके बीचमें त्रिकोण है, जो त्रिलोकैश्वर्याधिकार सूचित करता है। त्रिलोकैश्वर्यकी प्राप्तिके लिये इस त्रिकोणका अनुसन्धान है, पर भगवद्भक्ति जिनमें पूर्ण होती है, वे भगवान्‌को छोड़ त्रैलोक्यके पीछे नहीं भटका करते। परम भक्त तो वही है, जिसकी भक्ति-गंगाकी धारा

अनवरत श्रीकृष्णचन्द्ररूप आनन्दसुधा-सिन्धुकी ओर ही प्रधावित होती है। भगवदीय कथासुधाका पान करते-करते कुछ कालमें भगवत्कथासे अनुराग होता है और यह अनुराग बढ़ते-बढ़ते प्रभु-चरणोंमें अनन्य हो जाता है। ऐसी अनन्य भक्ति जिसे प्राप्त हुई, वह लवनिमेषार्धके लिये भी त्रैलोक्यैश्वर्यके लिये भी प्रभु-चरणोंसे पृथक् नहीं होता। त्रिकोणसे दूसरा अभिप्राय त्रैगुण्य-विषय भी ले सकते हैं—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(गीता १४। २६)

अथवा यह कहिये कि ऋक्-साम-यजुः—इन तीनों वेदोंसे प्रतिपाद्य जो तत्त्व है, उसकी प्राप्तिका यह सूचक है—'**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।**' (गीता १५। १५) मनोवाक्काय तीनोंसे भगवान् ही वन्द्य हैं और तीनों अवस्थाओंमें भी वे ही एक आराध्य हैं। ऐसी अनेक प्रकारकी कल्पनाएँ इस विषयमें भावुक कर सकते हैं।

श्रीभगवान्‌के चरणचिह्न श्रीविष्णुपुराणमें १५ ही मिले। जीवगोस्वामी आदि आचार्योंने १९ निश्चित किये हैं। श्रीचरणोंके अंगुलादि परिमाण भी हैं। इन परिमाणोंको देखें तो १६ ही चिह्न रहते हैं।

श्रीभगवान्‌के रूप और वर्ण आदिकी भावनाके अनुसार ही कल्पना करनी चाहिये। सगुणरूपमें भगवान् स्वतन्त्र नहीं होते—भक्त-भावनाके अधीन होते हैं; क्योंकि भक्तकी भावना-सिद्धिके लिये ही उनका प्रादुर्भाव होता है। स्वयं ब्रह्माजीने भगवान्‌की स्तुति करते हुए कहा है कि—

यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय॥

(श्रीमद्भा० ३। ९। ११)

भगवान् भक्तोंके पराधीन हैं। स्वेच्छामय हैं अर्थात् स्वकीयोंकी इच्छाके अधीन हैं। '**तं यथायथोपासते तथैव भवति**' ऐसी श्रुति है और गीताका भी यह वचन प्रसिद्ध है कि—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११)

अनन्तकोटि ब्रह्माण्डके निदान भगवान् और भगवान्‌के निदान भक्त। इसलिये सर्वजगन्नियामक भक्त ही हुए। ये यदि श्रीभगवान्‌के पदचिह्नोंको जरा इधर-उधर कर दें तो ऐसा करनेमें वे स्वतन्त्र हैं। वे जो भी कल्पना करेंगे, वह सत्य है। वह कल्पना सत्य होती है, इसीसे तो भक्तोंकी कल्पनाके अनुसार भगवान् नित्य नये रूपमें प्रकट होते हैं। मनुष्यके मनका यह स्वभाव है कि वह नित्य नयी बात चाहता है। इसलिये भावुकोंको नित्य नूतन कल्पना करनी आवश्यक ही है। भगवान्‌के रूप ही नहीं, भगवान्‌के चरित्र भी भावुकोंको नित्य नवीन प्रतीत होते हैं—'**तस्यांघ्रियुगं नवं नवम्।**' श्रीभगवत्तत्त्व तो अनन्त है। जैसे-जैसे जिसका मन विशुद्ध होता जाता है, वैसे-वैसे नव-नव रूप-चमत्कृति देखनेको मिलती है। भगवान्‌के दिव्य मंगलमय विग्रहमें नित्य नवीन कल्पना करनेमें सच्चे भावुक स्वतन्त्र हैं। उन्हें भगवान्‌के भूषणवसनादिमें नित्य नयी-नयी कल्पना करनी ही चाहिये। सगुण उपासकोंके लिये यह आवश्यक है। जैसे भगवान्‌के पीतपटको कहीं विद्युत्‌का उपमान दिया गया है तो कहीं कदम्ब-किंजल्ककी-सी आभा बतायी गयी है और कहीं रविकिरणकी उपमा दी गयी है। इसी प्रकार नखमणि कहीं मुक्तापंक्ति है तो कहीं नीलिमा, अरुणिमा और स्वच्छताके दिव्य सम्मेलनका ध्यान है और कहीं उसमें अँगूठियोंकी दीप्तिमत्ता भी मिली हुई है और नखमणि-मण्डलकी ज्योत्स्ना ऊर्ध्वमें उच्छ्‌वसित हो रही है।

भगवान्‌के युगलस्वरूपके चिन्तनसे अन्तःकरणकी निर्मलता

भगवान्‌के शृंगारके सम्बन्धमें इसी प्रकार आठों यामकी अष्टविध कल्पनाएँ हैं। भगवान्‌का रूपसौन्दर्य-माधुर्य प्रतिक्षण नवीन होता रहता है, इसलिये कम-से-कम ८ पहरमें ८ बार तो नवीन कल्पना करनी ही

चाहिये। इसी प्रकार मुक्ता-माल, गुंजा, किरीट, मयूरपिच्छ आदिके विषयमें बड़ी-बड़ी कल्पनाएँ भक्तोंने की हैं। भगवान्‌का मयूरपिच्छ-विनिर्मित मुकुट बंक होता है, अर्थात् कहीं दक्षिण और कहीं वाम ओर झुका रहता है। यह दक्षिण-वाम ओरका बाँकपन श्रीकृष्ण और श्रीराधिकाजीका परस्पर स्वात्मार्पण सूचित करता है। दोनोंके आभूषण भी परस्पर स्वात्मार्पणका भाव लिये हुए रहते हैं। आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र और श्रीवृषभानु-नन्दिनीके परस्पर स्वात्मार्पण और मिलनके अनेक भाव हैं। श्रीवृषभानुनन्दिनीके बिना श्रीकृष्णचन्द्रका ध्यान पूर्ण नहीं, क्योंकि श्रीराधिकाजीका सौन्दर्य-माधुर्य ही श्रीकृष्णचन्द्रका दृग्विषय है। उसका वर्णन सनकादि मुनीन्द्र भी नहीं कर सके। वह वर्णनातीत है। श्रीराधिकाजीका गौर तेज श्रीकृष्णचन्द्रकी श्याम कान्तिमें और श्रीकृष्णकी श्याम कान्ति श्रीवृषभानु-नन्दिनीकी गौर कान्तिमें भावुकोंके देखनेकी वस्तु है।

अस्तु, इस प्रकार युगल मूर्तिका नानाविध भावोंसे अनुसन्धान करते-करते मल सर्वथा धुल जानेपर विशुद्ध अन्तःकरणमें भगवत्स्वरूपका प्राकट्य होता है।

'साक्षान्मन्मथमन्मथः'

भगवान् तथा कामदेवका संवाद

ब्रह्म-इन्द्रादि देव-शिरोमणियोंपर विजय प्राप्त कर लेनेसे कामदेवको अखर्व गर्व हुआ और उसे रुचि हुई कि अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक श्रीकृष्णचन्द्रपर विजय प्राप्त करूँ। ऐसा सोचकर भगवान्‌के पास जा उसने अपना मनोगत भाव प्रकट किया।

भगवान्‌ने कहा कि तुम मुझसे कैसे लड़ना चाहते हो, दुर्गके आश्रयणसे या मैदानमें। कामने कहा—'भगवन्! इन दोनों युद्धोंका स्वरूप क्या है?' भगवान् बोले कि दुर्गका युद्ध यह है कि मैं विरक्त होकर, एकान्त निर्जन वनमें समाधिस्थ हो जाऊँ और फिर तुम यदि अपनी माया और कलाओंसे मुझे मोहित और क्षुब्ध कर सको, तब तुम्हारी विजय है, और न क्षुब्ध कर सको तो मेरी विजय होगी।

मैदानका युद्ध दूसरे प्रकारका है। वह तब सम्भव है, जब श्रीमद्‌वृन्दावनधामके यमुनाका स्वच्छ सुकोमल पुलिन हो, अमृतमय पूर्ण चन्द्रमाकी दिव्य ज्योत्स्ना फैली हो, शीतल-मन्द-सुगन्ध पवनका संचार हो, विविध विहंगोंके कलरव एवं भ्रमरमण्डलियोंके गुंजारसे निनादित पुष्पित वनराजिकी लोकोत्तर सुहावनी छटा व्यक्त हो रही हो, हंस-सारसशोभित सरोवरकी अद्भुत सौन्दर्य-माधुर्य-सौगन्ध्य-सौरस्य-सम्पन्न, रतिके गर्वको दूर करनेवाली अपरिगणित व्रज-बालाओंके मध्यमें उनके मुखचन्द्रका चुम्बन करते हुए और उनके अवयवोंका आलिंगन करते हुए भी यदि मेरे मनमें विकार न हो तो मैं विजयी रहूँगा; और यदि मलयानिल तथा कान्ताओंके हाव-भाव और विलासोंसे मेरे मनमें क्षोभ हो जाय तो जीत तुम्हारी है।

कामदेव मन-ही-मन विचार करने लगे कि यदि इन्होंने दुर्गका आश्रयण किया तो फिर मेरी विजय नहीं होगी, क्योंकि जिस समय ये नरनारायण-रूपसे योगासनासीन होकर बदरिकाश्रममें तप कर रहे थे, उस समय इन्द्रको यह भ्रम हुआ कि ये मेरे ऐन्द्र पदके लिये तपस्या कर रहे हैं, तब मैं इन्द्रका भेजा हुआ वसन्त-ऋतु तथा अप्सराओंके साथ नरनारायणके आश्रममें गया। अप्सराओंके अशेष हावभाव, वसन्तकी सहायता और मेरे बाण सब निष्फल हुए, फिर भी इनमें क्रोधका संचार नहीं हुआ, पुनः इन्होंने हम सबोंका आतिथ्य किया। तब अप्सराओंने कहा था कि 'हे नाथ! जिस भाँति सद्योजात बालिका हाव-भाव कटाक्षोंसे अपने प्रपितामहको मोहित करना चाहे, उसी भाँति आपकी मायासे मोहित होकर, हम सब आपको मोहित करने चली हैं।'

भगवान्‌ने आश्वासन करके सबको विदा किया, सो किलेबन्दीके युद्धमें इन्हें कौन पायेगा? अत: कामने कहा—'भगवन्! आप मैदानमें ही मुझसे युद्ध कीजिये।' भगवान्‌ने कहा—'तथास्तु, मैं मैदानमें ही तुमसे युद्ध करूँगा।'

कामदेव भी 'बहुत अच्छा' कहकर चला तो गया, पर उसने जाकर श्रीव्रजांगनाओंके शरीररूप कांचन दुर्गका आश्रयण किया। इधर श्रीकृष्णचन्द्रने विचार किया कि द्वितीयासे चतुर्दशीतक चन्द्रमा अपूर्ण रहते हैं, अत: उनपर राहु भी आक्रमण नहीं करता, सो भगवान् शंकरकी कोपाग्निसे दग्धप्राय अपूर्ण कन्दर्पपर विजय प्राप्त कर लेनेमें कौन-सी महत्ता है? अत: कन्दर्पको पूर्ण करके ही उसको जीतना युक्त है।

बस, यह सोचकर श्रीकृष्णभगवान्‌ने मुरलीको, अपने अमृतमय मुखचन्द्रपर धारण करके उसे अधर-सुधासे पूरित किया और वेणुछिद्रोंद्वारा नि:सृत गीतपीयूषको श्रोत्रपुटोंद्वारा व्रजांगनाओंके हृदयमें पहुँचाकर दग्धप्राय कन्दर्पको पुनरुज्जीवित किया। श्रीकृष्णकी अधरसुधासे दग्धप्राय काम उत्तेजित हो उठा। वेणुवादन व्याजसे मानो फूत्कारद्वारा कामाग्निको उत्तेजित करके उसमें अधर-सुधा-सिंचनद्वारा मानो घृतकी आहुति दी।

इतनेपर भी व्रजेन्द्रनन्दनने यह सोचा कि यह कन्दर्प मनसे उत्पन्न होनेवाला है, इसीलिये मनसिज या मनोज कहलाता है। श्रीव्रजांगनाओंका मन मेरा भक्त है, अत: भगवद्भक्त पिताके सन्निधानसे कन्दर्पके प्रागल्भ्यमें प्रतिबन्ध हो सकता है। यही सोचकर भगवान्‌ने वेणुगीतपीयूषप्रवाहसे श्रीव्रजांगनाओंके मनको हरण कर लिया, यथा—'**व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीत-मानसाः**'।

इतरप्रवाह स्वसंसृष्ट वस्तुको गन्तव्य स्थानमें ले जाता है, परंतु वेणुगीतपीयूषप्रवाह तो स्वसंसृष्ट पदार्थोंको अपने उद्गम-स्थान श्रीकृष्णके सन्निधानमें पहुँचाता है अथवा श्रीकृष्णचन्द्रके मुखपंकजसे निर्गत वेणुपीयूष व्रजांगनाओंके अनावृत कर्णकुहरमें प्रविष्ट होकर उनके हृदयमें विद्यमान धैर्य-वैराग्य-विवेक-लज्जादि रत्नोंसे पूरित मंजूषाको हर ले गया, इसलिये काम अत्यन्त स्वच्छ हो गया और वेणुगीतपीयूषसे आप्यायित होकर अत्यन्त प्रगल्भ हो गया।

इधर वसन्तने भी सोचा कि मित्रका अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक विश्वपति भगवान्‌से संग्राम है, मुझे भी अपने मित्रकी सहायता करनी चाहिये। मेरे मित्र मनोज पुष्पधन्वा हैं, पुष्प ही इनके अस्त्र-शस्त्र हैं। विरहीजनोंके हृदय विदारण करनेके कारण ही मानो रक्तरंजित लाल किंशुक बरछीका काम करता है। कमल, कुन्द; कुड्मल, केतकी आदि ही भालाका कार्य करते हैं। ऐसे ही अन्यान्य पुष्प भी अस्त्र-शस्त्रका काम करते हैं। यह समझकर ही वसन्तने विविध प्रकारके कमल, कमलिनी, कुमुद, कुमुदिनी, केतकी, चम्पक, मालती आदि अनेक प्रकारके पुष्पोंको विकसित किया।

इस भाँति मित्रकी सहायतासे सम्पन्न, हृष्ट-पुष्ट हो तथा शस्त्रसे सुसज्जित होकर व्रजांगनाओंके श्रीअंगोंके ही दिव्य कांचनमय कामगामी दुर्गमें अधिष्ठित हुआ और श्रीमद्वृन्दारण्यधाममें श्रीकृष्णचन्द्रसे संग्राम करनेके लिये गया।

भगवान् उस दिव्य धाममें आयी हुई श्रीव्रजांगनाओंके मध्यमें निर्विकार भावसे धर्म-तत्त्वका उपदेश करने लगे। तब कन्दर्पने कहा कि इन व्रजसुन्दरियोंके संगमें अंग-संग एवं विविध प्रकारके रास-विलासोंमें यदि आपका मन क्षुब्ध और मोहित न हो, तभी आप विजयी हो सकते हैं।

श्रीकृष्णजीने 'तथास्तु' कहकर वैसा ही किया। श्रीव्रजांगनाओंके श्रीअंगरूप कामदुर्गपर आक्रमण करके ब्रह्मादि-जय-संरूढ़-दर्प कन्दर्पके दर्पका दलन कर दिया। इतना ही नहीं, अपने स्वरूपभूत ब्राह्मसंस्पर्शसे व्रजांगनाओंको आत्मसात् करके उन्हें सर्वथा निर्विकार कर दिया। परिरम्भण करके, अलक-उरु-नीवी-स्तनका स्पर्श करके, परिहास, नखपात, क्ष्वेलि,

अवलोक हाससे भी कन्दर्पको निगृहीत करके ही व्रजसुन्दरियोंको रमण कराया, यथा—

बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरु-
नीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः ।
क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणा-
मुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। ४६)

श्रीव्रजांगनाओंके साथ श्रीकृष्णजीके नानाविध हाव-भाव, कटाक्षों तथा कन्दर्प, वसन्त आदिके अस्त्र-शस्त्रप्रयोग सब व्यर्थ हो गये और आत्माराम श्रीकृष्ण ज्यों-के-त्यों निर्विकार रह गये।

अनन्त ब्रह्माण्डान्तर्गत कामबिन्दुका उद्गमस्थान, जो साक्षात् मन्मथ है, उसके भी मनको श्रीकृष्णचन्द्रने मथ डाला, इसलिये वे साक्षात् मन्मथमन्मथ कहलाते हैं। वस्तुतः प्रेममयी व्रजांगनाओंके स्मरणसे कामका दर्प दलित हो सकता था। भावुकोंका मत है कि श्रीकृष्णके नखमणिचन्द्रिकाकी एक रश्मिछटाके ही दर्शनसे साक्षात् मन्मथ मोहित हो गया। इतना ही नहीं, उसने उत्कट उत्कण्ठासे यह दृढ़ संकल्प कर डाला कि सहस्रों जन्मोंतक तीव्रातितीव्र तपस्याओंके द्वारा व्रजांगनाभावको प्राप्त करके प्रियतम प्राणधन श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दकी नखमणिचन्द्रिकाकी रश्मिछटाका सेवन करूँगा। इसलिये ही तो भगवान् साक्षात् मन्मथमन्मथ हुए।

ब्रह्मसाक्षात्कार तथा ब्राह्मसंस्पर्शसे कामादि विकारोंका आत्यन्तिक क्षय हो जाना स्वाभाविक ही है, फिर प्रेममयी व्रजांगनाओं और उनके प्रियतम प्राणधन भगवान्में कामका प्रभाव क्या पड़ सकता था? काम पराजित होकर ही प्रद्युम्नरूपसे श्रीकृष्णका पुत्र बना, अतएव श्रीकृष्ण और व्रजांगनाओंके रमणमें कामका उपयोग नहीं है, किंतु वहाँ तो प्रेमका ही उपयोग होता है और वही प्रेम कामपद व्यपदेश्य होता है, तभी तो भावुकोंने कहा है—**'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।'** गोपांगनाका प्रेम ही काम नामसे प्रसिद्ध हुआ। वस्तुतः कृष्णविषयक काम काम ही नहीं हो सकता। भगवान्ने कहा है कि मुझमें जिसकी बुद्धि प्रविष्ट हो चुकी है, उन लोगोंका काम काम नहीं है, जैसे भर्जित किंवा क्वथित बीज अंकुरित नहीं होता, वैसे ही श्रीकृष्णविषयक काम संसारका मूल नहीं होता, यथा—

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते॥

(श्रीमद्भा० १०। २२। २६)

नायिका-नायक परस्पर मिलनका मूलभूत स्नेहविशेष ही काम है। शृंगाररस सभी रसोंमें श्रेष्ठ और सबका अंगी है। उसे उज्ज्वल रस कहते हैं। किसी पदार्थकी तृष्णा प्राणीके हृदयको कण्टकके समान उद्वेजित करती है। तृष्णारूप कण्टकसे व्यथित अतएव चंचल मनपर व्यापक अखण्ड अनन्त ब्रह्मानन्दका प्राकट्य नहीं होता। यहीं अभिलषित पदार्थकी प्राप्तिसे, क्षणिक-तृष्णा वृत्तिकी निवृत्तिसे शान्त अन्तःकरणपर ब्रह्मात्मक सुखकी अभिव्यक्ति होती है।

नायक-नायिकाके परस्पर सम्मिलनकी तृष्णा सर्वातिशायिनी होती है, अतएव उस समय तृष्णासे व्यथित हृदयमें अशान्ति, चंचलता भी अधिक होती है, ऐसे अवसरमें परस्पर सम्मिलनसे तृष्णाकण्टकके निकलनेसे क्षणभरके लिये शान्त अन्तःकरणपर ब्रह्मानन्दके प्राकट्यकी भी विशेषता रहती है। इसीलिये और रसोंकी अपेक्षा शृंगाररसकी प्रधानता है।

तत्पश्चात् शिशुओंके समर्पणके ब्याजसे एवं दृष्टियोंसे प्रियतमका अंगसंग प्राप्त करके दुरन्त भावसे भरी हुई अन्तरात्मासे उन्होंने अपने प्राणनाथका परिरम्भण किया—

पत्न्यः पतिं प्रोष्य गृहानुपागतं
विलोक्य सञ्जातमनोमहोत्सवाः।
उत्तस्थुरारात् सहसासनाशयात्
साकं व्रतैर्व्रीडितलोचनाननाः ॥
तमात्मजैर्दृष्टिभिरन्तरात्मना
दुरन्तभावाः परिरेभिरे पतिम्।

निरुद्धमप्यास्रवदम्बु नेत्रयो-
र्विलज्जतीनां भृगुवर्य वैक्लवात्॥
(श्रीमद्भा० १। ११। ३१-३२)

जल और तरंगका सम्मिलन ही यथार्थमें अत्यन्त व्यवधानशून्य सम्मिलन है। हाँ, कुछ भावुकोंका कहना है कि सुकोमल कमलका मकरन्दमधु पान करनेवाला मधुप होता है, परंतु वास्तवमें यदि कमलको ही रसना और घ्राण हो, तभी व्यवधानशून्य उसके सौगन्ध्य और सौरस्यका अनुभव किया जा सकता है।

जीवात्मा और परमात्माका मिलन

जीवात्मा और परमात्माके मिलनका अनेक भावोंसे शास्त्रोंमें वर्णन किया गया है। यद्यपि शुद्ध प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न परमात्मा नित्यप्राप्त वस्तु है तथापि जब प्राप्तिका वर्णन किया जाता है, तब कहीं तो '**अत्र ब्रह्म समश्नुते**' ब्रह्मविद्‌का यहाँ ही ब्रह्म-सम्भोग करना कहा जाता है और कहीं '**सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तसुखमश्नुते**' बाह्य संस्पर्शसे अत्यन्त विरक्त, ज्ञानीका ब्रह्मसंस्पर्शजन्य लोकोत्तर सुखका भोग करना कहा जाता है। निर्विशेष चित्सुखस्वरूप ब्रह्मके संस्पर्शकी कल्पना अद्भुत है।

कहीं श्रुतियोंने इसे अन्य दृष्टान्तसे स्पष्ट किया है—'**तद् यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्।**' (बृहदारण्यक० ४। ३। २१) जैसे कान्त अपनी प्रियतमा भार्यासे परिरम्भण करके प्रेमानन्दके उद्रेकमें बाह्याभ्यन्तर प्रपंचको भूल जाता है, भेदमें व्यवधानकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती। अत: भेदयुक्त सम्मिलनसे रसिकोंको सन्तोष नहीं होता। पुत्र, देह, मन, अन्तरात्मासे जितनी अन्तरंगता, व्यवधानशून्यता उपलब्ध होती है, उतनी अधिक प्रीति व्यक्त होती है।

सर्वान्तर सर्वापेक्षया सन्निहित अन्तरात्मासे ही प्राणियोंको निरतिशय एवं निरुपाधिकपर प्रेम होता है, अत: भगवान्‌के साथ घनिष्ठ प्रेम तभी होता है, जब उनकी नितान्त अन्तरंगता व्यक्त हो। अत: अभेद बोध आवश्यक होता है, फिर भी अत्यन्त अभेदमें ब्रह्मसे स्पर्श या प्राज्ञात्माका परिष्वंग नहीं बनता, अत: काल्पनिक भेद और पारमार्थिक अभेद स्वीकार किया जाता है। घटाकाशका यथा महाकाशके साथ सम्मिलन है, तथैव जीवात्माका परमात्माके साथ सम्मिलन होता है, परंतु इससे भी सरस सुन्दर दृष्टान्त है, तरंग-जलका।

जैसे वीचीके भीतर, बाहर, मध्य या सर्वांगमें जल भरपूर रहता है, इसी तरह जीवात्मामें ब्रह्मात्माका सम्मिलन है। वीची और वारिके निर्जीव दृष्टान्तको सजीवरूपमें लाते हुए उसीको नायिका और नायकका रूपक दे दिया गया। सजीव दृष्टान्तोंमें नायिका-नायकसे बढ़कर कोई भी ऐसा दृष्टान्त नहीं है, जहाँ घनिष्ठ व्यवधानरहित सम्मिलन बनता हो, अतएव अन्तरंग पति-पत्नीका वही सम्बन्ध माना गया है, जो वारि-वीचिका है।

उक्त प्रकारसे यद्यपि भगवान् परमानन्दघन ही सब कुछ हैं और वे ही सर्वान्तरात्मा और सर्वद्रष्टा एवं सर्वविज्ञाता हैं, फिर विज्ञाताको किससे जानें—'**विज्ञातारमरे केन विजानीयात्**' तथापि निरुपाधिक निर्दृश्यरूपसे सदानन्दघन भगवान्‌का साक्षात्कार बिना उनकी कृपाके नहीं होता, तभी भगवती श्रुतिने भगवान्‌को जाननेके लिये श्रद्धा, भक्ति और ध्यान-योगको प्रधान कारण कहा है—'**श्रद्धाभक्तिध्यान-योगादवेहि**'। श्रीब्रह्माजीने भी यही कहा था कि 'हे नाथ! यद्यपि आपका सर्वावभासक दिव्यस्वरूप अत्यन्त स्पष्ट है तथापि आपके श्रीचरणकमलप्रसादसे अनुगृहीत प्राणी ही इसे जान सकता है, अन्यथा नाना प्रकारकी युक्तियोंसे सदा विवेचन करनेपर भी यह दुर्लभ ही है।'

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वय-
प्रसादलेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्त्वं भगवन् महिम्नो
न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्॥
(श्रीमद्भा० १०। १४। २९)

यद्यपि पूर्ण विरक्त एवं शान्त समाहित महापुरुष वेदान्तोंके श्रवण-मनन-निदिध्यासनसे परम तत्त्वका साक्षात्कार कर सकते हैं तथापि शीघ्रातिशीघ्र तत्त्व-साक्षात्कारके लिये किसी विशेष स्वरूपकी उपासना अत्यन्त आवश्यक है, कारण कि प्राणियोंके चित्तमें नाना प्रकारके शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध एवं अन्धकार, प्रकाश आदि दृश्योंका स्फुरण ही बना रहता है, निद्रा या विक्षेपसे शून्य अवस्था दुर्लभ है। दृश्यके स्फुरणनिरोध बिना, दृश्यातीत निर्दृश्य विशुद्ध तत्त्वका स्फुरण अत्यन्त असम्भव है। जगत् यद्यपि दुःखमय है तथापि मोहवश जगत्के चिन्तनमें मिठास प्रतीत होती है और प्रपंचातीत भगवान् परमानन्दमय एवं सर्वानर्थनिवर्तक हैं तथापि उनमें जीवका आकर्षण नहीं होता। जैसे ज्वराक्रान्त व्यक्तिको तिग्म आतपमें स्वाद किंवा सर्पदंशनके विषसे प्रभावित प्राणीको कड़ुवी नीममें मिठास प्रतीत होती है, वैसे ही मायामोहित प्राणियोंको विषम विषमय विषयोंमें ही स्वाद आता है। जैसे पित्तदोषसे दूषित रसनावाले प्राणीको मधुर मिश्रीमें तिक्तताका अनुभव होता है, वैसे ही अनादि दुर्वासनाओंसे दूषितान्तःकरण प्राणियोंको भगवान्में रूक्षता भासित होती है। तभी तो मन्त्रद्रष्टा भगवान्से इस बातकी भी प्रार्थना करते हैं कि हे देव! आप मेरा निराकरण न करें और आप ही मुझपर ऐसी कृपा करें कि आपका निराकरण (उपेक्षा या विस्मरण) न करूँ; क्योंकि मैं आपको न भूलूँ, यह मेरे वशकी बात नहीं है।

नाथ जीव तव मायाँ मोहा। सो निस्तरइ तुम्हारेहिं छोहा॥

(रा०च०मा० ४।३।२)

'माहं ब्रह्म निराकुर्याम्, मा मां ब्रह्म निराकरोत्॥'

इससे यह स्पष्ट है कि प्रभुकृपासे ही प्राणियोंकी प्रवृत्ति प्रभुकी ओर होती है। तभी महानुभावोंने कहा है—

सोऽहं तवाङ्घ्र्युपगतोऽस्म्यसतां दुरापं
तच्चाप्यहं भवदनुग्रह ईश मन्ये।
पुंसो भवेद् यर्हि संसरणापवर्ग-
स्त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया मतिः स्यात्॥

(श्रीमद्भा० १०।४०।२८)

हे कृपामय! असतोंको दुष्प्राप आपके श्रीचरण-पंकजकी शरणमें मैं आया हूँ, यह आपका ही अनुग्रह है; क्योंकि जब संसारकी निवृत्ति होनेको होती है, तभी हे अब्जनाभ! प्राणियोंकी सदुपासनाके द्वारा आपमें प्रीति होती है। ठीक ही है, प्रभुकी अनुकम्पा बिना प्रभुमें प्रीति नहीं, परंतु प्रभुमें प्रीति बिना भास्वती भगवती अनुकम्पादेवीका प्राकट्य भी कैसे हो! वास्तवमें बीज और अंकुरकी तरह श्रीअनुकम्पा और भगवती भक्तिमें इतरेतर निमित्तनैमित्तिकभाव ही युक्त है, अतएव श्रीजगद्धरभट्टने स्तुतिकुसुमांजलिमें कहा है—

नानुग्रहस्तव विना त्वयि भक्तियोगं
नानुग्रहं तव विना त्वयि भक्तियोगः।
बीजप्ररोहवदसावनयोर्न कस्य
भूत्यै परस्परनिमित्तनिमित्तिभावः॥

परम कृपामय भगवान् यह देखकर कि मायामोहित जीवोंकी प्रवृत्ति शब्दादि प्रपंचकी ओर ही अधिक प्रवृत्त होती है और बिना मेरा समाश्रयण किये, अनर्थ-निवृत्ति कथमपि सम्भव नहीं है, जैसे कोई परम कारुणिक चिकित्सक किसी अदीर्घदर्शी अबोध शिशुका कुपथ्यमें अभिनिवेश और महौषध एवं पथ्यमें विद्वेष देखकर महौषधिको ही परम मनोहर तदभिलषितरूपमें प्रकट करके प्रदान करता है, ठीक वैसे ही भगवान् अपने उसी वेदान्तवेद्य अखण्ड अनन्त परमानन्दघन निराकार निर्विकार लोचनातीत स्वरूपको अपनी अचिन्त्य दिव्य लीलाशक्तिके दिव्य प्रभावसे ऐसे सर्वमनोहर सुमधुर स्वरूपमें प्रकट करते हैं कि जिसके दर्शन-स्मरण-श्रवणसे ऐसा कौन सचेतन है, जो मोहित न हो जाय।

कहहु सखी अस को तनुधारी। जो न मोह यह रूप निहारी॥
श्रवनवंत अस को जग माहीं। जाहि न रघुपति चरित सोहाहीं॥

(रा०च०मा० १।२२१।१; ७।५३।५)

अक्षरनिष्ठ अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्र

ब्रह्ममहेन्द्रप्रभृति देवाधिदेवसे लेकर खग, मृग, वन, गिरि, सरित, सरोवर, वृक्ष-लताओंमें भी उस मधुर मनोरम मंगलमय स्वरूपदर्शन-स्पर्शसे आनन्दोद्रेकमें पुलकावली और आनन्दाश्रुओंका संचार होता है।

तभी व्रजांगनाओंने कहा है—

का स्त्र्यङ्ग ते कलपदायतमूर्च्छितेन
सम्मोहितार्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम्।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं
यद् गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्॥

(श्रीमद्भा० १०।२९।४०)

हे जीवनधन! वृन्दावनचन्द्र मनमोहन! आपके अमृतमय मुखचन्द्रसे निःसृत कलपदायत गीत-मूर्च्छनासे कौन स्त्री आर्यचरितसे चलायमान नहीं हो सकी, त्रैलोक्यसौभग जिस मंगलमय वपुका निरीक्षण करके गौ, द्विज, मृगद्रुमोंमें भी पुलकावलीका संचार होता है, जहाँ प्राणियोंका मन प्राकृत शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धकी ओर आकर्षित होता था, वहाँ अपनी दिव्यलीला शक्तिसे अशब्द, अस्पर्श, अरूप, वेदान्तवेद्य सदानन्दघन भगवान् ही निखिलरसामृतमूर्ति धारणकर अपने दिव्य ब्रह्मरसात्मक शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धोंसे हठात् प्राणियोंके मनको आकर्षित करते हैं। जो भगवान् भक्तोंके सर्वस्व एवं ज्ञानियोंके एकमात्र परमतत्त्व हैं, वे ही नास्तिक-से-नास्तिकके भी सब कुछ हैं, भेद इतना ही है कि वे अपने सर्वस्वमें निरतिशय प्रेम करते हुए भी उन्हें पहचानते नहीं। यद्यपि यह बात असम्भव-सी प्रतीत होती है, परंतु विवेचन करनेमें अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है। चाहे कैसा भी नास्तिक क्यों न हो, वह अपने अभाव (या मरने)-से घबड़ाता है। वह यही चाहता है कि मैं सदा रहूँ।

जब किसी साधारण-से-साधारणकी आत्मरक्षा और अस्तित्वके लिये व्यग्रता होती है, तब एक मनुष्य, चाहे नास्तिक ही क्यों न हो, क्या अपना अस्तित्व नहीं चाहता? क्या वह अपने अस्तित्वको मिटाना पसन्द करेगा? यदि नहीं तो फिर ब्रह्मा अस्तित्वका पूर्णानुरागी हुआ या नहीं? अब यह बात दूसरी है कि वह अपने-आप कौन है, जिसका अस्तित्व चाहता है। यदि सौभाग्यवश कभी इस ओर दृष्टि जायगी, बस तभी वह समझ लेगा कि विनश्वर देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार—ये सभी दृश्य हमारे हैं। हम इनसे पृथक् इनके द्रष्टा हैं और उसी निर्विकार स्वरूप स्वात्माका ही सदा अस्तित्व चाहते हैं। विवेचन करनेसे यह विदित हो जाता है, स्वप्रकाश दृक्का अस्तित्व तत् स्वरूप ही है, अतएव आत्मा स्वप्रकाश कहा जाता है। इसलिये जगत्को अनेकानेक वस्तुओंमें चाहे जितना भी संदेह, विपर्यय या अज्ञान हो, परंतु स्वात्मा है या नहीं या नहीं ही है, इस प्रकार आत्मविषयक संदेहादि किसीको नहीं है।

जीवनगत परमेश्वर, धर्म, कर्म सभीका अभाव साबित करनेवाले शून्यवादीको भी अनिच्छया स्वात्माका अस्तित्व मानना पड़ेगा; क्योंकि जो सबके अभावका सिद्ध करनेवाला है, अगर वह रह गया, तब तो स्वातिरिक्त ही सबका अभाव सिद्ध होगा। अपना अभाव नहीं हो सकता, सर्व निराकर्ता सर्व निषेधकी अवधि एवं साक्षिभूतके अस्वीकार करनेपर शून्य भी अप्रामाणिक होगा। अतः वही अत्यन्त अबाधित, सर्व-बाधका अधिष्ठान एवं साक्षिभूत, अस्तित्व या सत्ता भगवान्का रूप है, साथ ही बोध और प्रकाशके लिये प्राणीमात्रमें उत्सुकता दिखायी देती है, पशु-पक्षी भी स्पर्शसे, आघ्राणसे, किसी-न-किसी तरहसे ज्ञानके प्रेमी हैं। यह ज्ञानकी वांछा प्राणीमें उत्तरोत्तर बढ़ती दिखायी देती है कि हमें अब अमुक तत्त्वका ज्ञान हो, अब अमुकका ज्ञान हो।

इतिहास, भूगोल, खगोल, भूततत्त्व एवं अधिभूत, अध्यात्म, अधिदैव सभी तत्त्वोंको जाननेके लिये मन चाहता है, किं बहुना, सर्वज्ञता बिना ज्ञानसे संतोष नहीं होता। पूरी-पूरी सर्वज्ञता कहाँ हो सकती है, यह विवेचन करनेसे स्पष्ट हो जाता है कि सर्व (पदार्थ) जिस स्वप्रकाश अखण्ड विशुद्ध भान (बोध)-में कल्पित है, वही सर्वावभासक एवं सर्वज्ञ हो सकता है; क्योंकि प्रकाश या भान अत्यन्त असंग एवं

निरवयव और अनन्त है, दृश्यके साथ सिवाय आध्यात्मिक सम्बन्धके और संयोग, समवाय आदि सम्बन्ध नहीं हो सकता, अतः यदि सर्वज्ञ होनेकी वांछा है तो सर्वावभासक सर्वाधिष्ठान विशुद्ध अखण्ड बोध होनेकी क्या वांछा है? यह अखण्ड बोध ही सच्चिदानन्द भगवान्का चिद्रूप है। जैसे पूर्वोक्त अखण्ड अनन्त स्वप्रकाश सत्ता या अस्तित्व ही अपना तथा सबका निजी रूप है, वैसे ही यह अबाध्य अखण्ड बोध भी सबका अन्तरात्मा है।

आनन्दकी अभिलाषा

इसी तरह आस्तिक-नास्तिक ही नहीं, किंतु पशु-कीटपर्यन्त भी आनन्दके लिये व्यग्र हैं, प्राणिमात्रके देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार आदिकी जितनी चेष्टाएँ एवं हलचलें हैं, वे सभी आनन्दके लिये हैं। बिना किसी प्रयोजनके किसीकी भी प्रवृत्ति नहीं होती, किं बहुना उन्मत्त भी, चाहे भ्रान्ति या अज्ञानसे ही सही, आनन्दके लिये ही समस्त चेष्टाएँ करता है, समस्त वस्तुओंमें संदिहान एवं भ्रान्त होता हुआ भी प्राणी, जिसके लिये नाना चेष्टाएँ करता है, उसके विषयमें उसे संदेह या भ्रम अथवा अज्ञान हो, यह कैसे कहा जा सकता है।

इस तरह जिसके लिये समस्त चेष्टाएँ हो रही हैं, वह आनन्द अत्यन्त प्रसिद्ध है। संसारभरकी समस्त वस्तुओंमें प्रेम जिसके लिये हो और जो स्वयं निरतिशय एवं निरुपाधिक प्रेमका आस्पद हो, अर्थात् जो अन्यके लिये प्रिय न हो, वही आनन्द होता है। देखते ही हैं कि समस्त आनन्दके साधनोंमें प्रेम अस्थिर होता है। स्त्री-पुत्रादिमें प्रेम तभीतक है, जबतक वे अनुकूल हैं, प्रतिकूल होते ही वे द्वेष्य हो जाते हैं, परंतु सुख और आनन्द सदा ही प्रिय रहता है। कभी किसीको भी आनन्दसे द्वेष हो, यह नहीं कहा जा सकता। इस तरह नास्तिकसे-भी-नास्तिक, आनन्दको चाहता है, उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नशील होता है और उसके लिये लालायित होता है, परंतु उसमें पहचाननेकी ही कमी है; क्योंकि जिस आनन्द और सुखके लिये नास्तिक व्यग्र है, उसे पहचानता नहीं। वह तो सुख-साधन, स्त्री-पुत्रादि, शब्द-स्पर्श आदि सम्भोगमें ही सुखकी भ्रान्तिसे फँसकर उसमें ही सन्तुष्ट हो जाता है। विवेचन करनेसे विदित हो जाता है कि जिनमें कभी प्रेम, कभी द्वेष होता है, वह सुख नहीं है, सदा ही जिसमें निरतिशय एवं निरुपाधिक प्रेम होता है, वही सुख है। जागतिक सम्भोग-साधन-पदार्थ ऐसे हैं नहीं, अतः वे सुखरूप नहीं हैं, किंतु अभिलषित पदार्थकी प्राप्तिमें तृष्णा-प्रशमनके अनन्तर, जिस शान्त अन्तर्मुख मनपर सुखका आभास पड़ता है, उस आभास या प्रतिबिम्बका निदान या बिम्बभूत जो शुद्ध अन्तरात्मा है, वही आनन्द है; क्योंकि जो लक्षण आनन्दका है वही अन्तरात्माका है। जैसे सब कुछ आनन्दके लिये प्रिय है, आनन्द और किसीके लिये प्रिय नहीं होता, ठीक ऐसे ही समस्त वस्तु आत्माके लिये प्रिय होती है, आत्मा किसी दूसरेके लिये प्रिय नहीं होता; अतः अन्तरात्मा ही आनन्द है और निरतिशय निरुपाधि परप्रेमका आस्पद है, उसीका आभास अन्तर्मुख अन्तःकरणपर पड़नेसे अहं सुखी इत्यादि व्यवहार होता है। यही सुख किंवा अन्तरात्मा है। इसीके लिये समस्त कार्य-करण-संघातकी प्रवृत्ति होती है, यही सुख-दुःख-मोहात्मक संघातसे विलक्षण, सुख-दुःख-मोहातीत, असंहत, असंग, अद्वितीय तत्त्व ही—सच्चिदानन्दका आनन्दरूप है एवं प्राणीमात्र स्वतन्त्रता (बन्धनसे छूटना) चाहता है। एक चींटीको भी पकड़नेपर वह व्याकुलताके साथ हाथ-पैर चलाती है, शुक-सारिका आदि विहंगम सुवर्णके भी पंजरमें रहकर सुन्दर मधुर भक्ष्य-पेयको नहीं पसन्द करते, किंतु बन्धनमुक्त होकर स्वतन्त्रतासे वनमें खट्टे फलको भी खाकर जीवन बिताना अच्छा समझते हैं, इस तरह प्राणीमात्र बन्धनसे छूटने तथा स्वतन्त्रताके लिये लालायित हैं।

ऐसी स्थितिमें कौन नास्तिक बन्धनमुक्ति और स्वतन्त्रता न चाहेगा, परंतु स्वतन्त्रताका वास्तविक रूप विवेचन करनेसे स्पष्ट होगा कि यह भी

भगवान्का ही स्वरूप है; क्योंकि बिना असंग सच्चिदानन्द भगवान्को प्राप्त किये, बन्धनमुक्ति स्वतन्त्रताकी कल्पना अत्यन्त ही निरालम्बन है। जबतक स्थूल, सूक्ष्म तथा कारणदेहका सम्बन्ध विद्यमान है, तबतक स्वतन्त्रता कैसी? भले ही कोई माता, पिता, गुरुजनों तथा वेद-शास्त्रकी आज्ञाओंको न माने और उनसे अपनेको स्वतन्त्र मान ले, परंतु जन्म, जरा, व्याधि, दरिद्रता, विपत्ति, मृत्यु आदिके परतन्त्र तो प्राणिमात्रको होना ही पड़ता है; क्योंकि जबतक कुछ स्वतन्त्रताको त्यागकर शास्त्रों एवं गुरुजनोंके परतन्त्र होकर कर्म, उपासना तथा ज्ञानद्वारा, मल-विक्षेप-आवरणको शरीरत्रय बन्धन किंवा जीव भावसे मुक्त होकर, निजी निर्विकार स्वरूपको न प्राप्त कर लें, तबतक पूर्ण स्वातन्त्र्य मिल सकता नहीं।

विवेचनसे स्पष्ट होता है कि सर्वोपाधिविनिर्मुक्त असंग-अनन्त-स्वप्रकाश-प्रत्यगभिन्न सच्चिदानन्द भगवान्का ही स्वरूप है। ऐसे ही प्राणीमात्रको यह भी रुचि होती है कि सब कुछ हमारे अधीन हो और मैं स्वाधीन रहूँ, यहाँतक कि माता, पिता, गुरुजनोंके प्रति भी यही रुचि होती है कि ये सब हमारी प्रार्थना मान लिया करें और सब तरहसे मेरे अनुकूल रहें। यही स्थिति देवताओंके प्रति भी होती है। यह सभी भाव जीव भावके रहते नहीं हो सकते, समस्त कल्पित पदार्थ कल्पनाके अधिष्ठानभूत भगवान्के ही परतन्त्र हो सकते हैं, इस तरह परमार्थतः पूर्ण अस्तित्व, पूर्ण बोध, पूर्ण आनन्द, पूर्ण स्वातन्त्र्य एवं पूर्ण नियामकत्व भगवान्में ही होता है। जब आस्तिक-नास्तिक, सभी पूर्ण स्वातन्त्र्य, पूर्ण नियामकत्व, पूर्ण बोध, पूर्णानन्द, पूर्ण अबाध्यतया सत्ताके लिये व्यग्र तथा इनकी प्राप्तिके लिये जी-जानसे प्रयत्न करते हैं, तब कौन कह सकता है कि अज्ञानी किंवा नास्तिक जिसकी प्राप्तिके लिये व्यग्र हैं, वह तत्त्व भक्तों और ज्ञानियोंके ध्येय-ज्ञेय परमाराध्य परब्रह्म भगवान् नहीं हैं, क्योंकि प्राणीमात्र किंवा तत्त्वमात्रके अन्तरात्मा भगवान् ही हैं, फिर उनसे विमुख होकर निःसत्त्व, निःस्फूर्ति कौन होना चाहेगा? इसी आशयसे श्रीवाल्मीकिकी उक्ति है कि '**लोके नहि स विद्येत यो न राममनुव्रतः**' लोकमें ऐसा कोई हुआ नहीं, जो रामका अनुगामी न हो।

निजी सर्वस्वके बिना किसीको भी कैसी विश्रान्ति? अतएव तरंगकी जैसे समुद्रानुगामिता है, ठीक वैसे ही प्राणीमात्रकी भगवदनुगामिता है, भेद यही है कि ज्ञानी अपने प्रियतमको जानकर प्रेम करता है, दूसरे उसीके लिये व्यग्र होते हुए भी उसे जानते नहीं।

भागवतके द्वितीय स्कन्धमें भी विराट् आदि भगवान्के स्थूलरूपके ध्यानके अनन्तर, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक प्रभुकी मधुर मंगलमयी मूर्तिका ध्यान बतलाया गया है। ध्यानसे चित्तकी पूर्ण एकाग्रता होनेपर भगवान्के अनन्त अखण्ड स्वप्रकाश बोधस्वरूपका साक्षात्कार कहा गया है। उक्त स्वरूपमें दृढ़ निष्ठाके लिये भगवान्के मधुरस्वरूपके श्रीचरणोंका पुनः ध्यान और अनुरागसहित परिरम्भण कहा गया है—'**हृदोपगुह्यार्हपदं पदे पदे॥**' (श्रीमद्भा० २।२।१८) भगवान्के अचिन्त्य अनन्त मधुर मंगलमय स्वरूपमें प्रेम और भजन सर्व साधन तथा सर्व फलस्वरूप है। अतएव इसमें साधकों तथा सिद्धों दोनोंकी ही प्रवृत्ति होती है।

साधन सिद्धि राम पग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू॥

(रा०च०मा० २।२८९।८)

भक्तियोगके विधानके लिये भगवान्का अवतरण

प्रभुके श्रीचरणारविन्द सौगन्ध्यामृत सिन्धुके एक बिन्दुके भी समास्वादन करनेसे सनकादिक शुकादिक-जैसे ब्रह्मनिष्ठ महामुनीन्द्र भी मुग्ध हो जाते हैं।

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः ।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
सङ्क्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥

(श्रीमद्भा० ३।१५।४३)

अतएव श्रीजनकजी-जैसे विदेह तत्त्वनिष्ठोंकी

यह अनुभूतियाँ हैं—

इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥
सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥

(रा०च०मा० १।२१६।५, ३)

ठीक ही है, तभी तो यह कहा जाता है कि अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्रोंको ही भक्तियोग विधान करनेके लिये अदृश्य, अग्राह्य, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य भगवान् अद्भुत-सौन्दर्यमाधुर्यसुधाजलनिधि दिव्यमूर्ति धारण करते हैं, अन्यथा छोटे कार्योंके लिये प्रभुका अवतार ऐसा ही अनुचित होगा, जैसे मशक-निवारणार्थ भुशुण्डीका प्रयोग (मच्छर हटानेके लिये तोप चलाना) अनुचित होता है, परंतु समस्त नामरूपक्रियात्मकप्रपंचसे व्यावृतमनस्क अमलात्मा परमहंसोंको भजनानन्द प्रदान करनेके लिये प्रभुका दिव्य स्वरूप धारण परमावश्यक है।

अद्वैत ब्रह्मनिष्ठ परमहंसोंको भक्तियोग प्रदानकर उन्हें श्रीपरमहंस बनाना, यही प्रभुके प्राकट्यका मुख्य प्रयोजन है। जैसे मिश्रित क्षीर-नीरका हंस विवेचन करता है, वैसे सांख्य सिद्धान्तके अनुसार प्रकृति प्राकृत प्रपंचसे पृथक्, असंग अनन्त चेतन तत्त्वका विवेचन कर लेनेवाले हंस कहे जा सकते हैं, परंतु वेदान्त सिद्धान्तके अनुसार तो दृक्-दृश्य, आत्मा-अनात्मा, परात्पर पूर्णतम सर्वभासक भगवान् और प्रकृति प्राकृत प्रपंचका ऐसा सम्बन्ध है, जैसे दिव्य मणिमाला और उसमें कल्पित सर्पका, अर्थात् सत्य एवं अनृतका जैसे आध्यासिक सम्बन्ध है, वैसे ही दृश्य प्रकृति और उसके भासक एवं अधिष्ठानभूत भगवान्का आध्यासात्मिक सम्बन्ध है। अतः सत्यानृतके विवेचनसे जैसे सत्य ही अवशिष्ट रहता है, अनृतका सर्वथा अभाव हो जाता है, इसी तरह दृक्-दृश्यका भी विवेचन करनेपर अनृत स्वरूप दृश्य प्रकृतिका अभाव हो जाता है, केवल सर्वदृक् भगवान् ही अवशेष रहते हैं।

ऐसे वेदान्तसिद्धान्तानुसार सत्यानृतरूप क्षीर-नीरका विवेचन है, नीर-स्थानीय दृश्यको मिटाकर परमसत्य भगवान्में ही स्थित होनेवाले परमहंस कहे जा सकते हैं, परंतु **'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।'** (श्रीमद्भा० १।५।१२) **'सोह न राम पेम बिनु ग्यानू।'** (रा०च०मा० २।२७७।५) इत्यादि अभियुक्तोक्तियोंके अनुसार विदित होता है कि बिना भगवान्के मधुर मंगलमय स्वरूपमें पूर्णानुराग हुए उनका ज्ञान भी सुशोभित नहीं होता। अतः भक्तियोगसे ज्ञानको सुशोभित करके परमहंसोंको श्रीपरमहंस बना देना, बस यही मुख्य प्रयोजन प्रभुके मधुर मंगलमय स्वरूप धारण करनेका है; क्योंकि भजनीयके बिना भक्तियोग बन ही नहीं सकता। भगवत्तत्त्वसे भिन्न प्रपंच जिनकी दृष्टिमें है ही नहीं, उनका भजनीय सिवा भगवान्के और क्या हो सकता है? रहा भगवान्का अचिन्त्य अनन्त अव्यपदेश्य निराकार स्वरूप, सो उस स्वरूपमें तो वे परिनिष्ठित ही हैं, महावाक्यजन्य परब्रह्माकारावृत्तिके साथ ब्रह्मका सम्बन्ध जानकर मन-बुद्धि एवं सर्वेन्द्रियाँ तथा रोम-रोम भी प्रभुके साथ सम्बन्धके लिये लालायित हैं। इन्द्रियाँ स्वयम्भूसे पराङ्मुख रची जाकर अपनी हिंसा किया जाना इसीलिये समझती हैं कि उन्हें उनके प्रियतमसे बहिर्मुख कर दिया गया है—**'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूः।'** महर्षि आदिकवि भी यही कहते हैं कि जिसने स्नेहभरी दृष्टिसे श्रीरामचन्द्रको नहीं देखा और श्रीरामचन्द्रने अनुकम्पाभरी दृष्टिसे जिसे नहीं देखा, वह सर्वलोकमें निन्दित है और उसकी स्वात्मा भी उसकी विगर्हणा करती है—**'यश्च रामं न पश्येत्तु रामो यं नाभिपश्यति। निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माऽप्येनं विगर्हति॥'** जैसे कमलनयन पुरुषके वे अतिशोभन नयन व्यर्थ हैं, यदि कभी उनके रूपदर्शनमें उनका उपयोग न हुआ, वैसे ही ज्ञानीके भी प्रारब्धभोगपर्यन्त अनिवार्य रूपसे रहनेवाले देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार आदि व्यर्थ और नीरस ही रहे, यदि उन सबका सदुपयोग प्रभुके सौन्दर्य, माधुर्य, सौरस्यामृत आदिके समास्वादनमें न हुआ। इसीलिये श्रीव्रजांगनाओंने भी कहा है कि नेत्रवानोंके नेत्रादि करणग्रामोंकी

सार्थकता और इनका चरमफल यही है कि श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके अनुरागभरे कटाक्ष-पातसे युक्त, वेणुचुम्बित अमृतमय मुखचन्द्रके सौन्दर्य-माधुर्यामृतका निर्निमेषनयनोंसे पान किया जाय और घ्राणसे सौगन्ध्यामृतका, त्वक्से सुस्पर्शामृतका आस्वादन किया जाय, अन्यथा इन करणग्रामोंका होना बिलकुल व्यर्थ ही है। '**अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः।**' इस प्रकार अन्तरात्मा, अन्तःकरण, प्राण, इन्द्रिय, देह तथा रोम-रोमको अपने दिव्य रससे सरस और मंगलमय बनानेके लिये भगवान्‌का प्रादुर्भाव है।

यद्यपि सर्वोपाधिविनिर्मुक्त ब्रह्म निरतिशय परप्रेमास्पद और परमानन्दरूप है, उससे अधिक प्रेमास्पदता और परमानन्दरूपताकी कल्पना कहीं नहीं हो सकती तथापि जबतक प्रारब्धका अवशेष है, तबतक ज्ञानीको भी अन्तःकरणरूप उपाधिपर ही ब्रह्मका दर्शन होता है। अन्तःकरणसे ब्रह्मदर्शन वैसा ही समझना चाहिये, जैसे नेत्रसे सूर्यदर्शन, परंतु जैसे दूरवीक्षण यन्त्रकी सहायतासे नेत्रद्वारा सूर्यका अतिदिव्य एवं स्पष्ट रूप दिखायी देता है, वैसे ही दिव्य लीलाशक्तिसे परम मनोहर सगुणरूपमें, प्रकट तत्त्वमें, अन्तःकरणसे और विलक्षण चमत्कार अनुभूत होता है, परंतु प्रारब्धक्षय हो जानेपर, सर्वोपाधियोंके मिटनेपर, साक्षात् सूर्यरूप हो जानेपर, जो सूर्यका रूप आत्मरूप उपलब्ध होता है, वह तो सर्वथा ही अनुपमेय है। जैसे श्रीवृषभानुनन्दिनी दर्पणमें अपने मुखचन्द्रकी मधुरिमाका अनुभव करती हैं, अस्वच्छ दर्पण आदिकी अपेक्षा स्वच्छ आदर्शपर, किंवा श्रीकृष्णके वक्षस्थलपर, उन्हें अपने मुखचन्द्रकी मधुरिमा अधिक भासित होती है, परंतु उनके मुखचन्द्रका जो मुख्य माधुर्य है, वह तो उनके अन्तरात्माभूत प्रियतम श्रीकृष्णको ही विदित हो सकता है, किंचित् भी व्यवधान होनेपर रसास्वादमें कमी ही रहती है। अतएव भावुकोंका कहना है कि यदि मधुर रूपमें ही चक्षु हो, तब ही रूपमाधुर्यका और यदि पुष्पमें ही घ्राण हो, तब ठीक गन्ध माधुर्यका अनुभव हो सकता है।

यद्यपि वस्तु वही है तथापि अचिन्त्य दिव्यलीलाशक्तिके अद्भुत प्रभावसे ज्ञानियोंका भी मन प्रभुके इस मधुर स्वरूपमें बलात् आकर्षित हो जाता है। जैसे फल, वृक्ष, अंकुर, बीज यद्यपि भूमिके ही स्वरूपविशेष हैं तथापि फलमें भूमि, बीज, अंकुर, वृक्ष इन सभीकी अपेक्षा विलक्षण सौन्दर्य-माधुर्य-सौगन्ध्य-सौरस्य होता है एवं गुलाबके बीज या नालमें जैसे शाखा, उपशाखा, कण्टक, पत्र आदिके उत्पादन करनेकी शक्ति है, वैसे ही पुष्पके उत्पादन करनेकी शक्ति है, परंतु जैसे कण्टकादि-उत्पादिनी शक्तिकी अपेक्षा सौन्दर्य-माधुर्य-सौगन्ध्य-सम्पन्न पुष्प-उत्पादन करनेकी शक्ति विलक्षण होती है, उसी तरह भगवान्‌की महाशक्तिमें जैसे प्रपंचोत्पादिनी शक्ति है, वैसे ही उससे परम विलक्षण परात्पर पूर्णतम भगवान्‌की स्वरूपभूता, मधुर मनोहर मंगलमयी मूर्तिके प्रादुर्भाव करनेवाली शक्ति भी है।

उसी अचिन्त्य दिव्य लीलाशक्तिके योगसे निराकार भगवान् उसी तरह साकार होते हैं, जैसे शैत्यके योगसे निर्मल जल बर्फरूप अथवा संघर्षविशेषसे अव्यक्त अग्नि या विद्युत् दाहक और प्रकाशरूपमें व्यक्त होता है। निराकार ब्रह्मकी अपेक्षा भी भगवान्‌की मधुर मूर्तिमें वैसे ही चमत्कार भासित होता है, जैसे इक्षु (ईख)-दण्ड और चन्दन वृक्ष ही मधुर और सुगन्धित होते हैं, यदि कदाचित् इक्षुमें सुमधुर फल और चन्दन वृक्षमें अति सुन्दर और सुगन्धित पुष्प प्रकट हो, तब उनकी मधुरता और उनके सौगन्ध्यकी जितनी बड़ाई की जाय, उतनी ही कम है। इसी तरह अनन्त ब्रह्माण्डान्तर्गत आनन्दबिन्दु उद्गमस्थान, अचिन्त्य, अनन्त, परमानन्द घन ब्रह्म ही अद्भुत रसमय है, फिर उसके फलरूप मधुर मंगल स्वरूपमें कितना चमत्कार हो सकता है, यह सहृदय ही जान सकते हैं। इक्षुरससार शर्करा सिता आदिका सार जैसे कन्द होता है, वैसे ही औपनिषद् परब्रह्म रससार भगवान्‌का मधुर मनोहर सगुण स्वरूप है।

तभी किसीने श्रीकृष्णको देखकर कल्पना की

थी कि क्या यह श्रीव्रजांगनाओंका प्रेमरससारसमूह है अथवा सात्वतवृन्दका मूर्तिमान् सौभाग्य है, किंवा श्रुतियोंका गुप्तवित्त ब्रह्म ही श्यामल महोमयी मूर्तिको धारण करके प्रकट हुआ है—

पुञ्जीभूतं प्रेम गोपाङ्गनानां
मूर्तीभूतं भागधेयं यदूनाम्।
एकीभूतं गुप्तवित्तं श्रुतीनां
श्यामीभूतं ब्रह्म मे सन्निधत्ताम्॥

इस तरह—

शृणु सखि कौतुकमेकं नन्दनिकेताङ्गणे मया दृष्टम्।
गोधूलिधूसरिताङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः॥

परममिममुपदेशमाद्रियध्वं
निगमवनेषु नितान्तखेदखिन्नाः।
विचिनुत भवनेषु बल्लवीना-
मुपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम्॥

कुछ महानुभाव निगमाटवीके ब्रह्मतत्त्वान्वेषकोंके परिश्रमपर दयार्द्र होकर, उनके अन्वेष्टव्य ब्रह्मको श्रीयशोदाके उलूखलमें बँधा बतला रहे हैं तो कुछ श्रीमन्नन्दरायके प्रांगणमें धूलि-धूसरित वेदान्तसिद्धान्तके नृत्यका कौतुक बता रहे हैं, परमकौतुकी प्रभुमें यह कौतुक ही तो है। इतनेपर भी लोगोंके प्रश्न होते हैं कि निराकार भगवान् साकार कैसे हो सकता है? परंतु इस ओर उनका ध्यान नहीं जाता कि जब कौतुकी कृपालुकी लीलासे निराकार जीव साकार होता है (क्योंकि सर्व मतसे जीव निराकार तथा निरवयव है) और स्पर्शविहीन आकाश, स्पर्शयुक्त वायुके रूपमें अवतीर्ण होता है तथा रूपरहित वायु रूपवान् तेजके रूपमें और रसगन्धविहीन तेज और जलका क्रमेण रसयुक्त जल और गन्धवती पृथ्वी रूपमें प्रादुर्भाव होना सम्भव है, तब क्या वह निराकार होकर भी साकाररूपमें नहीं प्रकट हो सकते?

ज्ञानीके निर्वृत्तिक मनपर अविषयरूपसे प्रकट वही वेदान्तवेद्य सच्चिदानन्दघन भगवान् अनन्तकोटि-कन्दर्पके दर्पको दूर करनेवाले, दिव्य सौन्दर्य-माधुर्य सुधा-जलनिधि, मधुरातिमधुर स्वरूपसे प्रकट होकर अपने स्नेहद्वारा भावुकके द्रवीभूत अन्तःकरणको अपने रंगमें रँग देते हैं।

ठीक सौन्दर्यका आस्वादन हो सकता है, यह बात तो ठीक नहीं घटती है कि परमानन्दसारसर्वस्व श्रीकृष्ण ही अपनी मधुरिमा (माधुर्याधिष्ठात्री श्रीवृषभानुनन्दिनी)-का अनुभव करते हैं। ऐसे ही काल्पनिक भेदसे ज्ञानी अपने स्वरूपभूत भगवान्के मधुररूपका अनुभव करते हैं।

भावुकके द्रुत चित्तपर निखिलरसामृतमूर्ति भगवान्का प्राकट्य ही भक्ति पदका अर्थ होता है। आशय यह है कि अन्तःकरण लाक्षाके समान कठिन द्रव्य है, परंतु तापक अग्निके साथ सम्बन्ध होनेसे जैसे लाक्षा पिघलती है, वैसे ही स्नेह-रागादि तापक भावोंके साथ सम्बन्ध होनेसे अन्तःकरण भी पिघलता है। यही कारण है कि रागास्पद कामिनी तथा द्वेषास्पद सर्पादि पदार्थोंको ग्रहण करता हुआ चित्त पिघलकर अपनेमें उन पदार्थोंके स्वरूपोंको अंकित कर लेता है, इसीके लिये उनका विस्मरण न होकर पुनः-पुनः स्मरण होता है। उपेक्ष्य तृण आदिकी स्मृति इसलिये कम होती है कि उनमें राग, द्वेष या भय आदि नहीं हुए, अतः चित्तकी द्रुति वहाँ नहीं हुई।

भावुकोंका कहना है कि लाक्षा जबतक पिघली नहीं होती है, तबतक उसमें कोई रंग व्यापक और स्थिर नहीं होता। अतः तापक अग्निके सम्बन्धसे लाक्षा इतनी पिघलायी जाय कि सौ पर्तके तंजेबमें छाननेलायक हो जाय, तब गंगाजलके समान निर्मल और द्रुत उस लाक्षामें जो रंग छोड़ा जायगा, वह लाक्षाके अणु-अणुमें सर्वांगमें व्यापक तथा स्थिर हो सकेगा। फिर तो यदि लाक्षा चाहे कि मैं अपनेसे रंगको पृथक् कर दूँ, या रंग ही चाहे कि मैं पृथक् हो जाऊँ तो भी दोनों ही पृथक् होनेमें असमर्थ हैं। ठीक इसी तरह भगवद्विषयक राग आदि गंगाजलके समान निर्मल और द्रवीभूत चित्तमें परमानन्दघन भगवान्का प्राकट्य होनेपर पिघली हुई लाक्षामें रंगकी तरह सर्वांशमें व्यापक तथा स्थिररूपसे भगवान्की

स्थिति होती है। भावनाके प्रभावसे इसका अपरिच्छिन्न अनन्त आन्तर विस्तार अन्तःकरणप्राण तथा रोम-**रोममें फैल जाता है, तब** तो आन्तररूपसे तथा **बाह्यरूपसे सर्वथा ही** भगवान्‌का अनुभव होने **लगता है।**

अपने प्रियतम **भगवान्‌के** स्वरूपमें होनेवाले तीव्रराग और उनके विरह-व्यथामय तीव्र तापसे, भावुकके गुणरूप सर्वकोशोंका भस्मीभाव हो जाने **और भावनामय** भगवत्सम्मिलन सौख्यरससे मन, प्राण, इन्द्रिय, देह तथा रोम-रोमके आप्यायन होनेपर, **बाह्य-आभ्यन्तर सर्व रूपसे** भगवत्तत्त्वका अवगाहन होता है। इस तरह अनिमित्ता भागवती भक्ति गुणमय कोशोंको जला देती है, तभी निरुपाधिक एवं निरावरण होकर **भावुक** अपने भगवान्‌से मिल सकता है, भगवद्-विरहव्यथा तापमयी भक्तिसे जिसके अन्नमयादि पचंकोशोंके त्रिविध तनु नहीं तप्त हुए, वे परम तत्त्वामृतके समास्वादनके अधिकारी नहीं हो सकते। यही '**अतप्ततनुर्न तदामोऽश्नुते दिवं**' इस श्रुतिका आशय है। '**तपसा कृच्छ्रादिना भगवद्विरह-जन्यतीव्रतापेन भक्तिपरिणामभूतेन ज्ञानाग्निना वा न तप्ता तनुर्यस्य स दिवम्परमात्मतत्त्वामृतं नाश्नुते।**'

कृच्छ्रादि तपसे तथा भगवद्विरहजन्य तीव्र तापसे और भक्तिके परिणामभूत ज्ञानाग्निसे जिसके स्थूल-सूक्ष्म-कारण—ये तीनों तनु नहीं सन्तप्त हुए, वे परमतत्त्वका आस्वादन कैसे कर सकते हैं? इसलिये अनिमित्ता भागवती भक्तिको सिद्धिसे भी श्रेष्ठ कहा जाता है, जैसे भोजनको जठराग्नि पचा डालती है, वैसे ही अनिमित्ता भक्ति पंचकोशोंको जीर्ण कर देती है।

अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
जरयत्याशु या कोशं निर्गीर्णमनलो यथा॥

भक्तिका ज्ञानरूपमें परिणमन

भक्ति ही ज्ञानरूपमें परिणत होकर मूलाविद्याका भी विध्वंस करती है। भट्टोजिदीक्षित '**क्लृपि सम्पद्यमाने च**' इस वार्तिकके उदाहरणरूपमें कहते हैं—'**भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते, ज्ञानाकारेण परिणमते।**' श्रीमद्भागवतके माहात्म्यमें ज्ञान-वैराग्य श्रीभक्तिके ही पुत्र हैं, माता योग्य पुत्रकी उत्पत्तिसे ही सौभाग्यवती समझी जाती है और पुत्र माताकी भक्तिसे ही सौभाग्यवान् होता है, अतः जहाँ ज्ञान भक्तिका फल है, वहाँ भक्ति ज्ञान तथा ज्ञानियोंकी भी परम पूज्या एवं भजनीय देवता है। ज्ञान, भगवत्प्राप्ति, मुक्ति आदि यद्यपि भक्तिके फल हैं तथापि फलकी अपेक्षा साधनमें ही अधिक प्रीति युक्त होती है। यह देखते ही हैं कि यद्यपि धनका फलभोग धर्म और मोक्ष ही है तथापि लोभी धनके संग्रह और रक्षाके सामने भोग, धर्म, मोक्ष सभी पुरुषार्थोंकी तिलांजलि दे देते हैं; क्योंकि उनकी यही दृढ़ धारणा है कि यदि साधन रहेगा, तब स्पष्ट ही सब साध्य सहजमें ही सिद्ध हो सकेंगे। द्रवीभूत लाक्षामें एक हुए रंगकी तरह भक्तके प्रेमार्द्र हृदयमें एक हुए भगवान् यदि चाहें तो भी पृथक् नहीं हो सकते।

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा-
द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः
स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥

(श्रीमद्भा० ११।२।५५)

बरबस भी जिसके मंगलमय नामसे बड़ी-से-बड़ी पापराशि नष्ट हो जाती है, ऐसे परमस्वतन्त्र सर्व-शक्तिसम्पन्न भगवान् जिसके अन्तकरणमें स्नेहार्द्रता-रूप प्रणयपाशमें बँधकर निकल न सकें, वही प्रधान भागवत होते हैं। तभी तो किसी प्रेमीने रागसे पिघले हुए अपने अन्तःकरणमें उसी द्रवावस्थारूप प्रणयपाशसे प्रभुको बाँधकर उनकी सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, महाशक्तिको भी कुण्ठित करके निःशंक होकर कहा है, अच्छा यदि आप मेरे हृदयसे निकल सकें तो मैं आपके पौरुषको देखूँगा—

हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥

ऐसे ही अगर भक्त भगवान्‌को अपने हृदयसे

पृथक् करना चाहें तो भी नहीं कर सकता। इसीलिये तो व्रजांगना श्रीकृष्णसे अपना मन हटानेके लिये उनमें दोषानुसंधान करती हैं। हे सखि! असितों (कालों)-से सख्य नहीं करना चाहिये, परंतु क्या करें, श्यामसुन्दर श्रीव्रजेन्द्रनन्दनकी कथा और कथार्थ तो हमलोगोंके लिये दुस्त्यज ही है। एक सखी श्रीकृष्ण-प्रेममें मूर्च्छित अपनी प्रियतमा सखीके उपचारमें लगी हुई थी, इतनेमें ही कोई सखी आकर कुछ कृष्णकी चर्चा चलाने लगी, उपचारमें लगी हुई सखी वारण करती कहती है—

सन्त्यज सखि तदुदन्तं यदि
सुखलवमपि समीहसे सख्याः।
स्मारय किमपि तदितर-
द्विस्मारय हन्त मोहनं मनसः॥

हे सखि! यदि अपनी प्रिय सखीको विश्रान्ति लेने देना चाहती है तो यहाँ उन (श्रीव्रजराजकुमार)-की चर्चा न चला, अपितु किसी औरकी याद दिलाकर किसी तरह मनमोहनको भुला दे। महामुनीन्द्रगण जिन श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दमें मन लगानेके लिये बाह्य विषयोंमें दोषानुसंधानद्वारा मनको हटाते हैं, ये व्रजदेवियाँ अपने मनमोहन श्रीकृष्णसे मन हटाकर अन्य विषयोंमें लगाना चाहती हैं। योगीन्द्रगण अपने हृदयमें जिसके स्फूर्तिलेशके लिये लालायित हैं, उन्हीं सर्वप्राणि-परप्रेमास्पद जीवनधन प्रभुको वे हृदयसे निकालना चाहती हैं। ठीक ही है, पूर्णद्रवीभूत लाक्षा और उसमें स्थायीभावापन्न रंग इन दोनोंका इतना अद्भुत घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है कि दोनोंका ही परस्पर पृथक् होना असम्भव है। उसी तरह भगवद्भावनासे द्रवीभूत अन्तःकरणपर भगवान्‌की स्थायीभावापत्ति होनेसे फिर परस्परका पार्थक्य असम्भव हो जाता है। यद्यपि जीवका भगवान्‌के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध इससे भी बहुत अधिक घनिष्ठ है, जैसे तरंगोंकी समुद्रके बिना स्थिति ही नहीं है, ऐसे भगवान्‌के बिना जीवकी सत्ता ही नहीं है।

सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा॥

(रा०च०मा० ७।१११।६)

और यहाँ ही मुख्य प्रीति है तथापि स्वरूप-साक्षात्कारके पहले यह स्वाभाविक निरुपाधिक प्रीति असम्भव है। अतः स्वाभाविक प्रीति यह सभी उस द्रवावस्थारूप प्रणयनके यहाँ ही अन्तर्गत है।

श्रीवृन्दावनमें वर्षा और शरद्

श्रीमद्भागवतमें वर्णित वर्षा एवं शरद्-ऋतुकी शोभा

श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध, अध्याय २० में वर्षा तथा शरद्‌का बड़ा सुन्दर वर्णन मिलता है। श्रीमद्वृन्दारण्यधाममें भी प्राणियोंको उद्भूत करनेवाली वर्षा-ऋतु प्रकट हुई, गर्जन और दामिनीसे युक्त सान्द्र नीलाम्बुदके द्वारा नभोमण्डल आच्छन्न हो गया। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि ज्योतियाँ भी स्पष्ट नहीं दीख पड़तीं। यह स्थिति उस तरहकी है, जैसे निर्गुण ब्रह्मरूप जीव सत्त्व, रज, तम आदि गुणोंसे आच्छन्न हो जाता है और उसकी स्वरूपभूत ज्योति अनुभूत नहीं होती। किंवा निरभ्र ज्योतिर्मय आकाश गर्जन, विद्युत्, नीलाम्बुद आदिसे आच्छन्न और अस्पष्ट-ज्योति हो गया, जैसे निष्प्रपंच ज्योतिर्मय ब्रह्म सत्त्व, रज, तमके प्रपंचसे आवृत होकर अस्पष्ट ज्योति-सा हो जाता है। किंवा आकाश मेघादिसे आवृत होकर वैसे शोभित होने लगा, जैसे निर्गुण ब्रह्म सगुण साकार श्रीकृष्णरूपमें शोभित होता है। चिक्कण, सजल, जलद, नीलाम्बुदके समान श्रीकृष्णके अवयव व्यक्त हुए और विद्युत्‌के समान पीताम्बर तथा मन्दगर्जनके समान वेणुनाद। जैसे आकाशकी सूर्यादि ज्योतियाँ स्पष्ट नहीं दीखतीं, वैसे ही श्रीकृष्णका स्वप्रकाश, तेजोमय स्वरूप वस्त्र, भूषण एवं व्रजांगनाओंसे आवृत होनेके कारण स्पष्ट नहीं दिखलायी देता।

सूर्यने आठ महीने अपनी तिग्म रश्मियोंके द्वारा भूमिसे खींचे हुए जलको यथोचित समयपर छोड़ना (देना) आरम्भ किया, जैसे राजा प्रजासे कर लेकर यथासमय उसे पुनः प्रदान करता है। जैसे कृपालु लोग तप्त प्राणियोंको देखकर दयार्द्र हो उनके रक्षण, आप्यायनके लिये अपने जीवनतकका उत्सर्ग कर देते हैं, वैसे ही दामिनीयुक्त बड़े-बड़े मेघ अपने तड़िद्रूप नेत्रोंसे विश्वको तप्त देखकर वायुरूप दयासे कम्पित होकर विश्वका आप्यायन करनेके लिये जीवन (उदक) बरसने लगे।

ग्रीष्मसे तप्त और कृशा, दुर्बला पृथ्वी पर्जन्यकी वर्षासे पुष्ट हो उठी, जैसे कामनासे तपस्या करनेवाले तपस्वीका शरीर काम-प्राप्तिसे पुष्ट हो जाता है। सायंकालमें अन्धकारके कारण खद्योतों (जुगनुओं)-का प्रकाश होने लगा, परंतु चन्द्र, शुक्र आदि ग्रहोंका प्रकाश नहीं, जैसे कलियुगमें पापके कारण पाखण्डों (वेदविरुद्ध आगमों)-का विस्तार होता है, वेदोंका नहीं। बादलोंके निनादको सुनकर प्रथम प्रसुप्त मण्डूकोंने बोलना आरम्भ कर दिया, जैसे नित्य ध्यान, जपादि नियमके पश्चात् आचार्यके निनादको सुनकर शिष्य लोग वेदाध्ययन करने लगते हैं। क्षुद्र नदियाँ कभी बढ़नेपर उत्पथगामिनी होती हैं या शुष्क हो जाती हैं, सत्पथगामिनी नहीं होतीं, जैसे इन्द्रिय परतन्त्र या निरंकुश प्राणीकी देह, द्रव्य-सम्पत्तियाँ या तो उच्छृंखल अपात्रगामिनी होती हैं अथवा नष्ट हो जाती हैं। भूमि बालतृणोंसे हरित, इन्द्रगोपों (लालरंगके कीटविशेषों)-से रक्त और शिलीन्ध्रों (छत्राकों)-की छायासे पीत वर्णकी होकर ऐसी लगती है, जैसे राजाकी सेना-सम्पत्ति सुशोभित होती है। वृष्टिके लगातार होनेपर क्षेत्र सस्य-सम्पत्तिसे युक्त होकर 'सब कुछ देवाधीन है' ऐसा न जाननेवाले धनिक कृषकोंको सुख देते हैं, वृष्टि-विच्छेद होनेपर सूखते हुए अनुताप पहुँचाते हैं। नव जलके निषेवणसे जल-स्थलके सभी जीवोंने रुचिर रूप धारण कर लिया, जैसे परमधर्ममय, सुखमय श्रीहरिकी सेवासे सभी सद्यः परम रुचिर हो जाते हैं। सरिताओंसे संगत होकर वातसे उद्भूत तरंगोंद्वारा सिन्धु क्षुब्ध हो उठा, जैसे कामवासनासे युक्त अपक्व योगीका चित्त विषयोंके योगसे चंचल हो उठता है। वर्षाकी धाराओंसे हन्यमान होते हुए भी पर्वत, नदी विचलित नहीं होते, जैसे भगवद्भक्त भगवान्‌के ध्यानमें तल्लीन चित्तवाले होनेके कारण विविध व्यसनों (दुःखों)-से अभिभूत होनेपर भी चलायमान नहीं होते।

तृणोंसे आच्छन्न और असंस्कृत होनेसे मार्ग सन्दिग्ध हो उठे, जैसे ब्राह्मणोंद्वारा अभ्यास न किये जानेसे कलिकालके प्रभावसे श्रुतियाँ हत-सी हो जाती हैं। वर्षामें पथिकोंके गमनागमन बन्द हो जाने और तृणोंसे आच्छन्न होनेसे मार्गोंमें सन्देह होने लगता है, जैसे ब्राह्मणोंके पुनः-पुनः आवर्तन (अभ्यास) न करनेसे कुछ कालमें श्रुतियाँ विस्मृत हो जाती हैं। सर्व प्राणियोंको जीवनभूत जल प्रदान करनेवाले महोपकारक लोकबन्धु मेघोंमें विद्युतोंका सौन्दर्य स्थिर नहीं है, जैसे गुणवान् पुरुषोंमें भी कामिनी स्थिर प्रीति नहीं कर सकती। निर्गुण (रूपगुणसे रहित) इन्द्रधनुष गुणवान् (गर्जन शब्दरूप गुणसम्पन्न) आकाशमें शोभित होता है, जैसे गुणमिश्रणमय व्यक्त प्रपंचमें निर्गुण पुरुष शोभित होता है। अपनी ज्योत्स्ना (चन्द्रिका)-से ही प्रकाशित बादलोंद्वारा आच्छन्न होकर चन्द्रमा पार्थक्यसे स्पष्ट प्रतीत नहीं होता, जैसे आत्माकी ज्योतिसे ही भासित (प्रकाशित) **'अहं विद्वान्', 'अहं दाता', 'अहं शूरः'** इत्यादि अहं मतिसे आच्छन्न पुरुष सर्वपृथक् रूपसे स्पष्ट नहीं प्रकाशित होता—

न रराजोडुपश्छन्नः स्वज्योत्स्नाराजितैर्घनैः।
अहंमत्या भासितया स्वभासा पुरुषो यथा॥

(श्रीमद्भा० १०। २०। १९)

मेघके आगमोत्सवमें मयूर प्रसन्न हो उठे, जैसे गृहमें तप्त, विरक्तचित्त पुरुष अच्युत भक्तके आगमनमें प्रसन्न हो उठते हैं—

मेघागमोत्सवा हृष्टाः प्रत्यनन्दञ्छिखण्डिनः।
गृहेषु तप्ता निर्विण्णा यथाच्युतजनागमे॥

(श्रीमद्भा० १०। २०। २०)

वर्षामें वृक्ष पादोंसे जल पानकर नाना रूपवाले शाखा, पल्लव, पुष्प, फल आदिसे समन्वित हो उठे, जैसे पहले तपस्यासे दुर्बल तपस्वी कामोंके सेवनसे अनेक रूप देहवाले हो जाते हैं, पंककण्टकादियुक्त अशान्त सरोवरोंपर भी सारस, चक्रवाकादि टिके हुए हैं। जैसे अशान्त, उल्वण कर्मवाले गृहोंमें भी वैषयिक सुख-लेशकी आशासे कुटुम्बी लोग टिके रहते हैं। पर्जन्यकी वर्षामें जलौघोंसे सेतु छिन्न-भिन्न वैसे ही हो जाते हैं, जैसे कलियुगमें पाखण्डियोंके असद्वादोंसे वेदमार्ग, वर्णाश्रम-धर्म छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। वायुकी प्रेरणासे मेघ प्राणियोंके लिये अमृतमय जल देते हैं, जैसे ब्राह्मणोंकी प्रेरणासे राजा लोग अर्थियोंको अभीष्ट अर्थ प्रदान करते हैं।

पुनः शरद्के प्रभावसे कमलोंकी उत्पत्तिसे जल स्वच्छ, प्रकृतिस्थ हो गया, जैसे भ्रष्ट लोगोंका चित्त योगसेवासे पुनः स्वस्थ, शान्त हो जाता है। शरद्-ऋतुने आकाश, भूत, पृथ्वी और जलके बादल, शवलता (सांकर्य), पंक और मलिनताको हर लिया, जैसे कृष्णकी भक्ति चारों आश्रमियोंके अशुभोंको हर लेती है। मेघ अपने सर्वस्वभूत जलको छोड़कर शुभ्र तेजयुक्त होकर शोभित होते हैं, जैसे सर्वैषणाओंसे विनिर्मुक्त होकर मुक्तकिल्विष मुनि शान्त होते हैं—

सर्वस्वं जलदा हित्वा विरेजुः शुभ्रवर्चसः।
यथा त्यक्तैषणाः शान्ता मुनयो मुक्तकिल्बिषाः॥

(श्रीमद्भा० १०। २०। ३५)

पर्वत कहीं निर्मल जल दे रहे हैं, कहीं नहीं, जैसे—ज्ञानी लोग यथावसर ज्ञानामृत देते हैं अथवा नहीं देते—

गिरयो मुमुचुस्तोयं क्वचिन्न मुमुचुः शिवम्।
यथा ज्ञानामृतं काले ज्ञानिनो ददते न वा॥

(श्रीमद्भा० १०। २०। ३६)

गाध (छिछले) जलमें रहनेवाले मीनादि क्षीयमाण (सूखते हुए) जलको नहीं जानते, जैसे कुटुम्बी प्रतिदिन क्षीण होती हुई आयुको नहीं जानता। थोड़े जलके मीन शरद्के सूर्यतापसे तप्त होने लगे, जैसे दरिद्र, कृपण, अजितेन्द्रिय कुटुम्बी क्षुधादि (भूख आदि) प्रयुक्त तापोंसे तप्त होता है। स्थल शनैः-शनैः पंकको और वीरुध (वृक्षादि) अपक्वताको छोड़ने लगे, जैसे धीर पुरुष शरीरादि अनात्माओंमें शनैः-शनैः अहंता और ममताको छोड़ता है। शरद्के आगमनमें समुद्रका जल निश्चल हो गया, जैसे मनके उपरत हो जानेपर मुनि आगमोंके अभ्याससे उपरत होकर तूष्णी (चुप) हो जाता है।

कृषक लोगोंने दृढ़ सेतुओंद्वारा जलको खेतोंमें रोक लिया, जैसे इन्द्रियोंका निरोध करके मुनिलोग उनके द्वारा बहते ज्ञानको रोकते हैं। रात्रिमें उदित होकर चन्द्रमा भूतोंके अर्कतापोंको हर लेते हैं, जैसे बोध (ज्ञान) प्राणियोंके देहाभिमानको हर लेता है। किंवा जैसे मुकुन्द व्रजयोषितोंके तापोंको हर लेते हैं। शरद्के विमल तारकोंसे युक्त निर्मेघ आकाश शोभित होने लगा, जैसे शब्दब्रह्मके अर्थको प्रकाश करनेवाला सत्त्वयुक्त चित्त शोभित होता है। व्योम (आकाश)-में उडुगणोंके साथ चन्द्रमा अखण्ड मण्डल होकर शोभित होता है, जैसे वृष्णिचक्रों (यादवमण्डल)-से आवृत यदुपति कृष्ण शोभित होते हैं। समशीतोष्ण प्रसून-वन-मारुतका आश्लेष करके सब लोगोंने ताप छोड़ दिया, परंतु कृष्णहृतचेता व्रजांगनाएँ तप्त ही रहीं। गौ, खग, मृग, नारी शरद्के सम्बन्धसे पुष्पिणी होकर अपने वृषों (पतियों)-से अन्वीयमान हुईं, जैसे ईशकी सभी क्रियाएँ फलसे युक्त होती हैं। सूर्योत्थानमें कुमुदको छोड़कर सभी कमल खिल उठे, जैसे योग्य राजासे दस्युको छोड़कर सभी लोग निर्भय होते हैं। वणिक्, मुनि, नृप, स्नातक सभी वर्षासे रुके थे, शरद् आनेपर वे अपने-अपने अर्थोंको प्राप्त होते हैं, जैसे सिद्ध (मुक्तिको प्राप्त जीव) प्रलयकालके अनन्तर सृष्टिके समय अपने पूर्वार्जित कर्मानुसार शरीरोंको प्राप्त होते हैं—

वणिङ्मुनिनृपस्नाता निर्गम्यार्थान् प्रपेदिरे।
वर्षरुद्धा यथा सिद्धाः स्वपिण्डान् काल आगते॥

(श्रीमद्भा० १०। २०। ४९)

श्रीरामचरितमानसमें वर्षा एवं शरद्-ऋतुका वर्णन

इन्हीं भावोंको लेकर गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने रामायण किष्किन्धाकाण्डमें वर्षाके अन्त और शरद्के आगमनका वर्णन किया है—

दामिनि दमक रह न घन माहीं। खल कै प्रीति जथा थिर नाहीं॥
बरषहिं जलद भूमि निअराएँ। जथा नवहिं बुध बिद्या पाएँ॥
भूमि परत भा ढाबर पानी। जनु जीवहि माया लपटानी॥
हरित भूमि तृन संकुल समुझि परहिं नहिं पंथ।
जिमि पाखंड बाद तें गुप्त होहिं सदग्रंथ॥
दादुर धुनि चहुँ दिसा सुहाई। बेद पढ़हिं जनु बटु समुदाई॥
नव पल्लव भए बिटप अनेका। साधक मन जस मिलें बिबेका॥
अर्क जवास पात बिनु भयऊ। जस सुराज खल उद्यम गयऊ॥
ससि संपन्न सोह महि कैसी। उपकारी कै संपति जैसी।
ऊषर बरषइ तृन नहिं जामा। जिमि हरिजन हियँ उपज न कामा॥
जहँ तहँ रहे पथिक थकि नाना। जिमि इंद्रिय गन उपजें ग्याना।
कबहुँ दिवस महँ निबिड़ तम कबहुँक प्रगट पतंग।
बिनसइ उपजइ ग्यान जिमि पाइ कुसंग सुसंग॥
बरषा बिगत सरद रितु आई। लछिमन देखहु परम सुहाई॥
उदित अगस्ति पंथ जल सोषा। जिमि लोभहि सोषइ संतोषा॥
सरिता सर निर्मल जल सोहा। संत हृदय जस गत मद मोहा॥
रस रस सूख सरित सर पानी। ममता त्याग करहिं जिमि ग्यानी॥
बिनु घन निर्मल सोह अकासा। हरिजन इव परिहरि सब आसा॥
कहुँ कहुँ बृष्टि सारदी थोरी। कोउ एक पाव भगति जिमि मोरी॥
चले हरषि तजि नगर नृप तापस बनिक भिखारि।
जिमि हरिभगति पाइ श्रम तजहिं आश्रमी चारि॥

(रा०च०मा० ४। १४। २-३, ६ दो० १४; १५। १-३, ५, १०, १२ दो० १५ (ख); १६। १, ३—५, ९-१० दो० १६)

वेणुरव

वेणुवादन—भगवान्की मंगलमयी लीला

वेणुरवमें ही श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दका स्वरूप और उनकी मंगलमयी लीला है, अत: उसके वर्णनमें प्रभुका वर्णन है। पहले तो श्रीकृष्ण ही रसामृतमूर्ति हैं, उनमें भी साधनता और साध्यता दोनों हैं। श्रीहस्त, श्रीचरणारविन्दादि अन्यान्य अंगोंमें साध्यता है और साधनता भी, किंतु आनन्द केवल साध्य ही है, सब उसीके लिये है, पर वह किसीके लिये नहीं। यही तो ब्रह्मका भी लक्षण है, अत: दोनों एक ही हैं। शब्दादि सर्व-पदार्थ जैसे आनन्दके लिये हैं, वैसे ही आत्माके लिये हैं, '**आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।**' (बृहदारण्यक० २।४।५) जैसे आनन्द निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेमास्पद है, वैसे आत्मा भी निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेमास्पद है। जिसमें कभी प्रेम हो कभी नहीं, वह अपर प्रेमास्पद है। ऐसा जो नहीं, वह प्रेमास्पद है। औपाधिक अपर और स्वाभाविक पर है। औपाधिक उपाधिके अधीन होता है, स्वाभाविक उपाधिके अधीन नहीं होता, वह मिटता नहीं है। संसारके सब प्रेम औपाधिक हैं, जैसे स्त्री-पुत्रादि प्रेम। इतना ही नहीं, संसारमें देवतापर भी प्रेम तब होता है, जब वह अनुकूल होता है। मन्त्रोंमें भी कोई अरिमन्त्र, कोई मध्यम मन्त्र होते हैं। जिससे अनुकूल फल नहीं, वह अरिमन्त्र होता है। इसी विचारसे कहा है कि जब समान तत्त्व और समान साधक मिलें, तब मन्त्रसिद्धि ठीक होती है। अस्तु, सारांश यह कि जब देवता भी आत्मानुकूल हों, तब उनमें प्रेम होता है। देखा जाता है कि शैव वैष्णवसे और वैष्णव शैवसे द्वेष करते हैं। वास्तवमें पूर्णतम पुरुषोत्तम प्रभु एक ही है, पर व्यर्थ उनमें द्वेषास्पदता-रागास्पदताकी कल्पना करते हैं। रामभक्तोंको रामायणमें जो मिठास प्रतीत होती है, वह इतर ग्रन्थोंमें नहीं। वृन्दावनमें तो कृष्णमें भी भेद मानते हैं। एक बायें मुकुटवाले श्रीकृष्ण, दूसरे दायें मुकुटवाले श्रीकृष्ण। वास्तवमें बायें-दायेंमें भी कुछ रहस्य है, कुछ भाव अवश्य है। वेणुगीत प्रसंगमें बायें मुकुटवाले ही श्रीकृष्ण हैं। '**वामबाहुकृतवामकपोल:**' (श्रीमद्भा० १०। ३५। २) श्रीभगवान्की ललित मूर्तिमें मुकुट बायीं ओर ही झुकता है। कहते हैं, जहाँ वामांगमें

श्रीवृषभानुनन्दिनी विराजमान हैं, वहाँ श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण परमानन्दका वामांगकी ओर ही झुकाव है। इसीलिये उस परिस्थितिमें मुकुटका बायीं ओर झुकाव स्वाभाविक है। जहाँ श्रीकृष्ण और बलराम हैं, वहाँ दक्षिणमें। जहाँ नन्दबाबा दक्षिणमें और वाममें श्रीनन्दरानी, मध्यमें बलराम नन्दरायके पास, श्रीकृष्ण यशोदाके पास, उस समय मुकुटका दायें बलरामकी ओर झुकाव होता है। यही वास्तवमें रहस्य है।

अस्तु, विषय यह है कि आनन्द निरतिशय, निरुपाधिक, परप्रेमास्पद है और अन्य औपाधिक एवं सातिशय। आनन्द और आत्मा एक ही वस्तु है। आनन्दसे जैसे कभी शत्रुता नहीं होती, वैसे ही आत्मासे कभी शत्रुता नहीं होती। सर्वद्रोह हो सकता है, पर आत्मद्रोह नहीं होता। श्रीकृष्ण निखिलरसामृतमूर्ति आनन्दसारसर्वस्व हैं। वे साध्य-ही-साध्य हैं, साधन नहीं, अतः परप्रेमास्पद हैं। इनमें भी कुछ भावुक तारतम्य मानते हैं, कहते हैं कि उनमें भी अमृतमय मुखचन्द्रकी सुधा केवल साध्य ही है; किसीकी साधन नहीं, पर भावुक कहते हैं कि उसमें भी देवभोग्या अधरसुधा भगवद्भोग्या अधरसुधाका साधन है और वह भी सर्वाभोग्या अधरसुधाका साधन है। परस्पर भावापत्तिपूर्वक वह सर्वाभोग्या अधरसुधा केवल साध्यमात्र है, किसीका साधन नहीं है। वह रवसे अभिव्यक्त होती है, अतः प्राधान्यतः यहाँ रव-वर्णन किया गया है।

उसमें श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द और उनकी लीला भी निहित है। इसलिये 'भागवत' में श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

इति वेणुरवं राजन् सर्वभूतमनोहरम्।
श्रुत्वा व्रजस्त्रियः सर्वा वर्णयन्त्योऽभिरेभिरे॥

(श्रीमद्भा० १०।२१।६)

वेणुध्वनि-श्रवणका विलक्षण प्रभाव

इस वेणुरवमें अमृतत्वका उपलम्भ होता है, जिससे ब्रह्मा, शक्र, सनकादि भी मोहित होते हैं—
'शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः' 'कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः॥'

(श्रीमद्भा० १०।३५।१५)

इस रवका प्राधान्य इसीलिये है कि उससे पूर्णतम पुरुषोत्तम प्रभु प्रकट होते हैं। वैसे तो प्रभु सर्वत्र हैं ही, पर जब व्यंजक नहीं, तब क्या हो? इसलिये भावुक व्यक्ति भगवान्‌से भी अधिक व्यंजक नामको बड़ा मानते हैं। अरबोंकी सम्पत्ति घरमें भरी हो, पर यदि वह विदित नहीं तो उसका क्या उपयोग? घरवाला हल ही चलाता रहेगा। नाम या निधिका—खजानेका—बीजक है, पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम प्रभु निधि हैं और नाम उनका बीजक है। यही बात श्रीतुलसीदासजीने कही है—**'नाम निरूपन नाम जतन तें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें॥'** (रा०च०मा० १।२३।८) नामद्वारा प्रयत्न करनेपर प्रभु प्रकट होते हैं। अतः कहा है कि **'कहेउँ नामु बड़ ब्रह्म राम तें॥'** (रा०च०मा० १।२३।५), **'राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥'** (रा०च०मा० १।२४।३) नाम मूल-चिकित्सा है और राम पल्लव-चिकित्सा। **'राम भालु कपि कटकु बटोरा। सेतु हेतु श्रमु कीन्ह न थोरा॥ नामु लेत भवसिंधु सुखाहीं। करहु बिचारु सुजन मन माहीं॥'** (रा०च०मा० १।२५।३-४)

श्रीरामने भालु, बन्दरोंको लेकर प्राकृत शतयोजन समुद्र पार किया, किंतु नाम लेनेसे अपार भवसिन्धु सूख जाता है, अतः नाम सबसे बड़ा है। वेदान्त भी कहते हैं कि वाक्य-श्रवणसे तत्त्व-साक्षात्कार होता है। भक्त भी भगवत् साक्षात्कारका मूल श्रवण ही मानते हैं। निर्गुण साक्षात्कारमें भी श्रवणकी ही अपेक्षा है। व्रजांगनाओंको भी उद्‌बुद्ध उभयविध शृंगार रसात्मा श्रीकृष्णके लिये वेणुरव ही अपेक्षित है। इसलिये वे मूल वेणुरवको पकड़ती हैं कि उसीसे श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द व्यक्त होंगे। जैसे हृदयमें प्रथमसे ही विराजमान निर्गुण परब्रह्म तत्त्वका साक्षात्कार श्रवण, मनन, निदिध्यासनद्वारा महावाक्यसे ही होता है, वैसे ही सगुण, साकार सच्चिदानन्द परब्रह्मका भी साक्षात्कार उनके चरित्रों एवं गुणगणोंके श्रवणसे ही होता है। चरित्रश्रवणसे प्रथम चरित्रनायक भगवान्‌का मानस-रूप प्रकट होता है। उसी मानसी भगवदीय प्रतिमाका

ध्यान करते-करते ही माया-यवनिकाके, जिससे कि भगवान् आवृत होते हैं—अपसारणसे भगवान्का दिव्य रूप प्रकट होता है, इस तरह शब्दसे ही भगवान्का प्राकट्य होता है। फिर जब भगवान्के चरित्रों और भगवन्नामोंसे भगवान्का प्राकट्य होता है, तब साक्षात् भगवान्के मुखचन्द्रसे निर्गत वेणुगीत-पीयूषके पानसे भगवान्का प्राकट्य होना स्वाभाविक ही है। शब्द प्रकाशक और अर्थ प्रकाश्य होता है। अत: शब्द ब्रह्म रूपमें व्यक्त भगवदधरसुधासे भगवान्का प्राकट्य होना स्वाभाविक है। समस्त प्रवाह अपनेसे संसृष्ट पदार्थको गन्तव्य स्थलकी ओर ले जाते हैं, परन्तु वेणुध्वनिका विलक्षण प्रवाह अपनेमें संसृष्ट तत्त्वको अपने उद्गम-स्थान श्रीकृष्णकी ओर ही ले जाता है—

सर्वः प्रवाहः सर्वत्र स्वानुकूल्येन कर्षकः।
वेणुध्वनिप्रवाहस्तु प्रातिकूल्येन कर्षति॥

आश्चर्यसे सबका ही उधर आकर्षण होता है, फिर जब स्वयं माधव ही उसपर मोहित हो जाते हैं, तब फिर औरोंका तो कहना ही क्या है?

उस वेणुरवका ही वर्णन करती हुई व्रजांगनाएँ परस्पर अभिरमण करती हैं। इस रवद्वारा सदानन्दरूप भी हृदयमें व्यक्त होता है। कृष्ण पदका अर्थ ही सदानन्द है। कहा है—

कृषिर्भूवाचकः शब्दः णश्च निर्वृतिवाचकः।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥

'कृष्' धातुका अर्थ भू—सत्ता और 'ण' का अर्थ निर्वृति—आनन्द है। तथा च 'सत्ता आनन्द' यह कृष्ण पदका अर्थ है। इसका अर्थ कोई तमाल श्यामलत्विट् यशोदास्तनन्धय श्रीकृष्ण ही करते हैं, इसमें भी विरोध नहीं है। उसमें भी सत्ता और आनन्द दोनोंका ऐक्य है। स्वयंप्रकाश सत्तारूप आनन्द, आनन्दरूप सत्ता—दोनों एक ही बात है। सत्तारूपा श्रीवृषभानुनन्दिनी एवं आनन्दरूप श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द और श्रीवृषभानुनन्दिनी वैसे ही अभिन्न हैं, जैसे सत्ता और आनन्द। यदि आनन्दमें सत्ता न हो तो सत्ताके बिना आनन्द असत् हो जाय। फिर जो असत् है, वह आनन्द कैसे? वैसे ही आनन्दसे वियुक्त शुद्ध सत्ता भी नहीं है। जड़ोंकी सत्ता दूषित, सविशेष, सप्रपंच है, किंतु शुद्ध सत्ता निरुपद्रव, निर्विशेष आनन्दरूप ही है। अन्य सब सत्ताएँ विनश्वर हैं। वैषयिक आनन्द विनश्वर ही है, अत: वह सदानन्द कहाँ? यहाँ आनन्द और सत्ता—ये दोनों परस्पर विशेषण हैं। वह आनन्द अबाध्य है, जगदानन्द बाध्य। इसलिये श्रीकृष्णका स्वरूप वास्तविक सद्रूप एवं आनन्दरूप है। जो अत्यन्त अबाध्य, नित्य, स्वप्रकाश है, उसके साथ जब सत् लगा, तब उसमें सांसारिकसे विलक्षणता, नित्यता आयी। यदि सत्में आनन्द न लगाते तो प्रापंचिक सत्ता आती, अत: सत् और आनन्द दोनोंको लगाया। सत् और आनन्द कभी परस्पर वियुक्त नहीं होते, इसीलिये श्रीवृषभानुनन्दिनी और श्रीकृष्ण परस्पर अन्तरात्मा हैं। एक तो यह कि जैसे जलमें तरंग, वैसे परम रसामृतमूर्ति श्रीकृष्णमें व्रजांगनाएँ हैं। जैसे चन्द्रमासे चन्द्रिकाका, जैसे भानुसे प्रभाका, वैसे ही उनका श्रीकृष्णसे अविघटित स्वाभाविक सम्बन्ध है। किंतु इससे भी अन्तरंग यह सम्बन्ध है, जैसे जहाँ अमृत वहाँ मधुरिमा, वैसे ही जहाँ परमरसामृतमूर्ति श्रीकृष्ण, वहाँ उनकी माधुर्याधिष्ठात्री वृषभानुनन्दिनी। यदि अमृतसे मधुरिमाको अलग किया तो फिर अमृतत्व ही क्या? वेदान्ती गुण-गुणीका तादात्म्य मानते हैं, इसलिये सत्ता आनन्दरूप वृषभानुनन्दिनी और श्रीकृष्ण दोनों एक ही हैं। एक ही सदानन्दरूप भगवान् गौर तेज-श्याम तेजरूपमें—राधा-माधव उभय स्वरूपमें प्रकट हुए हैं।

इसी दृष्टिसे कहते हैं कि श्रीकृष्णका आन्तर स्वरूप श्रीवृषभानुनन्दिनी तथा बाह्य स्वरूप पुमान् है तथा वृषभानुनन्दिनीका आन्तर स्वरूप पुमान् और बाह्य वृषभानुनन्दिनी है।

हितहरिवंश-सम्प्रदायमें कहते हैं कि जैसे गौर-श्याम शीशियोंमें श्याम-गौर रस भरा हो, वैसे ये दोनों हैं। दोनों शीशियाँ भी एक ही जातिकी हैं। गौर शीशी श्याम हृदयकी वस्तु है और श्याम शीशी गौर हृदयकी वस्तु है। गौरमें श्यामरस एवं श्याममें गौररस भरा है। इस तरह श्रीकृष्ण और श्रीवृषभानुनन्दिनी परस्पर

हृदयकी वस्तु हैं, दोनोंमें परम अन्तरंगता है, इसीलिये कहा है कि 'उभय उभय भावात्मा' हैं। इस प्रकार वह परम तत्त्व भरपूर होकर वेणुरवद्वारा व्यक्त होता है।

परमानन्द आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रके अधरसे संश्लिष्ट वंशीके भी सौभाग्यको देखकर स्वयं श्रीवृषभानुनन्दिनी कहती हैं कि 'हे सखि! हम वंश-जन्मकी याचना करती हैं, कुलवधू होना नहीं चाहतीं, क्योंकि वंश-जन्ममें श्रीकृष्ण स्वयं ही आसक्तिसे सदा मिले, परंतु कुलवधू होनेमें तो उनका मिलना दुर्लभ हो जायगा'—

याचेऽहं वंशदेहं न तु कुलजवधूदेहमाद्ये हि कृष्णः।
तृष्णाभावेन सज्जन् बहुरुचिविहरन् दुर्लभः स्यात्परत्र॥

फिर भला ऐसी वेणुके रवको सुनकर किसका परम कल्याण न होगा?

किरातिनियोंका स्मररोग

पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जराग-
श्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन।
तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन
लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम्॥

(श्रीमद्भा० १०।२१।१७)

'श्रीमद्भागवत' के 'वेणुगीत' में प्रसंग आया है कि एक बार वृन्दावनधामवासिनी किरातिनियोंने वहाँके हरित घासांकुर, दूर्वा, गुल्म आदिमें संलग्न कुंकुमका दर्शन किया। वह कुंकुम श्रीभगवच्चरणाम्बुज-स्पर्शसे उनमें लगा था। उसके दर्शन, स्पर्श और सौगन्ध्यसे किरातिनियोंके मनमें स्मररूप रोगका उदय हुआ। स्मरका अर्थ काम अथवा उत्कण्ठापूर्वक स्मरण है। भावुकोंके मतानुसार बाह्य रमणमें कामकी अपेक्षा है और आन्तर रमणमें तापकी। यह दूसरी बात है कि भगवद्विषयक काम आधिदैविक दिव्य काम है। जैसे सुवर्णकी मुद्रिकामें दिव्यरत्नके संयोगके लिये लाक्षा अपेक्षित होती है, वैसे ही व्रजांगनाओंको श्रीकृष्ण-सम्बन्धार्थ काम अपेक्षित था और वह यह भूषण था, दूषण नहीं; क्योंकि अन्यत्र काम निन्द्य है, पर भगवच्चरणविषयक होनेसे वही भूषण है। वैसे किसी विरक्तके लिये जागतिक वैषयिक इच्छा या तृष्णाका होना निन्द्य है, परमार्थमें इन सबका न होना ही उत्तम माना गया है—'**तृष्णाक्षयः स्वर्गपदं किमस्ति।**' तृष्णाका नाश हो जाना सुखका मूल है। परंतु कहींपर यही सन्तोष दूषण भी है। किसीको भगवच्चरित्र-श्रवण, तद्दर्शन आदिमें सन्तोष हो जाय, तो क्या यह दूषण न माना जायगा? यहाँ तो जितना ही अधिक असन्तोष, लोभ, चंचलता आदि हो, उतना ही अच्छा है। किसीने कहा है—

कृष्णभावरसभाविता मतिः
क्रीयतां यदि कुतोऽपि लभ्यते।
तत्र मूल्यमपि लौल्यमेकलं
जन्मकोटिसुकृतैर्नु लभ्यते॥

कल्प-कल्पान्तरोंके, जन्म-जन्मान्तरोंके पुण्यपरिपाकसे श्रीकृष्णविषयक अनुराग होता है। पर वह सीमित न रह जाय, तभी उसका महत्त्व या पूर्णता है। श्रीश्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दनकी कोटि-कोटि कन्दर्प-दलन-पटीयसी मनोहारिणी छवि निहारनेके लिये सब प्रपंच भूल जाय, व्याकुलता बढ़ती जाय, मन तड़फड़ाने लगे, अस्वास्थ्य हो जाय, धैर्य छूट जाय, तभी उसका महत्त्व है, तभी सफलता है। यदि कहीं यह संतोष हो कि धीरे-धीरे करते चलो, धैर्य रखो तो फिर अनुचित है। यहाँ तो जितनी अधिक व्याकुलता, व्यग्रता, बेचैनी बढ़ेगी, उतना ही अधिक अनुरागमें उत्कृष्टता आयेगी। अधिकाधिक व्याकुलता होना ही उस मतिका मूल्य है। पुत्र, धन, दारा, गेह, नेहके न मिलनेसे अधैर्य तो सभीको होता है और होना स्वाभाविक है, परंतु भगवदर्थ अधैर्य, व्याकुलता, अस्वास्थ्य होना बहुत ऊँची बात है। अतः जो लोकमें दूषण है, वही यहाँ भूषण है।

भगवत्सम्बन्धसे तृष्णा, काम आदि भी भूषण बन जाते हैं

भगवत्-सम्बन्धसे तृष्णा, काम, लोभ सब भूषण हैं। भगवच्चरणसरोरुह-सम्मिलनके लिये भावुकका मनोमिलिन्द तड़फड़ाये, उसके लोकोत्तर माधुर्य परागमें लाम्पट्य दिखलाये तो यह उसका महाभूषण है। जिस वृत्तिविशेषसे कामिनी-सम्मिलनके लिये कामुक उत्कण्ठित या व्याकुल हो उठता है, वही स्मर है। ऐसे ही जिस वृत्तिविशेषसे व्रजदेवियोंको श्रीकृष्ण परमात्माके सम्मिलनके लिये उत्कट उत्कण्ठा और व्याकुलता है, वही स्मर या लोकोत्तर प्रणय है, पर बात यह है कि किसी भी वस्तुका महत्त्व उसके स्वरूप, विषय और आश्रयके महत्त्वसे होता है। श्रीकृष्णका चौर्य आश्रयसे उत्तम हो सकता है, परंतु स्वरूपसे वह निन्द्य है। आश्रयकी सरसतासे आश्रितमें सरसता, उत्तमता आ सकती है। क्षारसागरकी लहरी या तरंग क्षार होगी और क्षीरसागरकी लहरें क्षीरमयी मधुर होंगी। ऐसे ही भगवदाश्रित वस्तु तदात्मक होगी। यहाँके चौर्यका महत्त्व आश्रयकी महत्तासे है, अतएव भक्तोंके द्वारा यह खूब गाया गया। साधारण पुरुषोंका चौर्य गाया नहीं जाता, प्रत्युत किसीका चौर्य ज्ञात होनेसे उसके साथ सर्वविध सम्बन्ध त्याग हो जाता है। चोरीके साथ झूठ भी लगा था, बिना उसके चोरीका काम ही नहीं चल सकता। एक बार बालकृष्णने मिट्टी खायी। शिशु सखाओंने व्रजेन्द्रगेहिनी यशोदासे शिकायत कर दी—'मैया! आज लालाने मिट्टी खायी है।' बाललीलोत्सवमुग्ध, परम भाग्यवती यशोदाने कृत्रिम कोपसे श्रीश्यामसुन्दर नन्दनन्दनके सुकोमल छोटे-छोटे दोनों हाथोंको अपने एक हाथमें पकड़ लिया और दूसरे हाथमें छड़ी लेकर बोलीं—'क्यों लाला, तूने आज मिट्टी खायी?' भगवान् डर गये, सोचा 'अब मार पड़ेगी, इसलिये झूठ बोल दो।' कहने लगे—'माँ! मैंने मिट्टी नहीं खायी'—'**नाहं भक्षितवानम्ब**'। (श्रीमद्भा० १०।८।३५) यशोदाने घुड़ककर कहा—'तुम्हारे ये सखा लोग जो कह रहे हैं?' तब तो कहने लगे—'**सर्वे मिथ्याभिशंसिनः**' (श्रीमद्भा० १०।८।३५) 'ये सब झूठ बोल रहे हैं।' भगवान्ने यशोदाको विश्वास दिलाने और अपनी सफाई पेश करनेके लिये कहा—'यदि तुझे विश्वास नहीं तो इन सबके सामने मेरा मुख देख ले' '**समक्षं पश्य मे मुखम्॥**' (श्रीमद्भा० १०।८।३५) भगवान्ने सोचा था कि ऐसा कह देनेसे अम्बाको विश्वास हो जायगा और वह मुँह खुलवाकर न देखेगी, परंतु नन्दरानी भी पूरी थी। उसने कहा—'अगर ऐसी बात है तो मुख खोल दे'—'**तर्हि व्यादेहि।**' (श्रीमद्भा० १०।८।३६) अब तो भगवान् फँस गये। अगत्या व्याधसे डरे पक्षीकी तरह मुख खोल दिया—'**व्यादत्ताव्याहतैश्वर्यः।**' (श्रीमद्भा० १०।८।३६) मुखके खुलते ही उसमें सागर, भूधर, वन, पर्वत दीख पड़े। यशुमति डरी, उसके हाथसे छड़ी गिर गयी, वह बेहोश हो गयी। कुछ टीकाकार भगवदुक्तियोंको सत्य ही सिद्ध करते रहनेके कारण '**नाहं भक्षितवान्**' की व्याख्या करते हैं—'**नाहं किञ्चिद् बाह्यं भक्षितवान् किंतु सर्वं मदन्तस्थमेव**' अर्थात् मैंने कोई बाहरकी वस्तु नहीं खायी, सब मेरे उदरमें ही है, परंतु श्रीजीव गोस्वामी आदिका कहना है कि भगवान् झूठ बोले ही और बोलना ही चाहिये था। बात यह है कि भगवान्की दो प्रधान शक्तियाँ हैं—एक माधुर्याधिष्ठात्री महाशक्ति और दूसरी ऐश्वर्याधिष्ठात्री महाशक्ति। उस समय व्रजमें माधुर्याधिष्ठात्री महाशक्तिका साम्राज्य था, भगवान् श्रीमन्नन्दरानी यशोदाके उत्संगमें लालित हो रहे थे। ऐश्वर्याधिष्ठात्री महाशक्ति उस समय रुद्धप्रवेशा थी। वह प्रभुकी सेवाका अवसर ढूँढ़ रही थी। जब उसने देखा कि हाथमें छड़ी लिये यशोदा अब मेरे प्रभुको, प्राणधनको मारे बिना न रहेगी, तब अपने कौशलसे उन्हें बचानेका प्रयत्न किया, यशोदाको श्रीमुखमें अनन्त ब्रह्माण्ड दीख पड़े। भावुकोंकी तो यहाँतक भावना है कि प्रभुने यशोदासे अपने बचनेके लिये सिर्फ कहभर दिया था कि '**समक्षं पश्य मे मुखम्**', वास्तवमें वे अपना मुख खोलकर दिखाना

नहीं चाहते थे, क्योंकि मिट्टी तो आखिर खायी ही थी, तब खुल कैसे गया? तो मातृकोपरविरश्मिद्वारा उनका मुखकमल स्वयं ही विकसित हो गया।

तात्पर्य यह है कि लीलारसपोषित ऐसा झूठ दोष नहीं गिना जाता, किंतु गुण ही गिना जाता है। इसी भावकी 'भागवत' में कुन्तीकी स्तुति है—

गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम तावद्
या ते दशाश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षम्।

(श्रीमद्भा० १।८।३१)

हे व्रजेन्दनन्दन, श्यामसुन्दर! जब आपकी अघटितघटनापटीयसी मायासे मुग्ध हुई यशोदा रस्सी लेकर बाँधने लगी, उस समय '**वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य**' (श्रीमद्भा० १।८।३१) मुख नीचा किया, आँखें डबडबा आयीं, अंजनमिश्रित अश्रु कपोलपर लुढ़क आये, मानो नीलकमलके कोशपर ओसके कण या मुक्ताबिन्दु शोभा पा रहे हैं। '**सा मां विमोहयति भीरपि यद्बिभेति॥**' (श्रीमद्भा० १।८।३१) जिससे काल भी भयभीत होता है, उसका यशोदासे डरना मुझे मुग्ध कर रहा है।

यह सब कुछ अप्राकृत तत्त्वमें प्राकृतवत् प्रतीति है, अलौकिकताका भाव है। '**नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।**' (श्रीमद्भा० १०।२९।१४) उस अचिन्त्य, अनन्त्य, अग्राह्य, अलक्षण, अव्यपदेश्य तत्त्वका सगुण-साकार विग्रहरूपमें इसीलिये प्राकट्य है कि किसी भी भावसे लोगोंकी उसमें प्रीति हो और उनका कल्याण हो। सहज भाव रागानुगा प्रीति है। रागतः प्राप्तमें विधि नहीं होती, वह तो अत्यन्त अप्राप्तमें होती है। कान्ताको अपने कान्तमें स्वाभाविक राग होता है, देवतामें विधिप्राप्त राग है. सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् प्रभु इसी आशयसे सहज भावसे उपास्य बननेके लिये प्राकृत होते हैं।

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

(रा०च०मा० ७।१३० (ख))

कामीको जो कामिनीमें राग होता है, लोभीको जो धनमें राग होता है, वही राग प्रभुके प्रति सहज होना चाहिये। माताका जो अनुराग अपने बालकके प्रति होता है, चाहे वह काला-कलूटा दिव्य-भव्य कैसा भी हो—वैसा ही सहज भाव प्रभुके प्रति होना चाहिये। श्रीव्रजेन्द्रगेहिनीका यही स्वाभाविक वात्सल्यभाव मनमोहन श्यामसुन्दरके प्रति था।

तभी तो उनका मृद्भक्षण-लीलापर छड़ी लेकर मारनेका माधुर्यभाव है। इस माधुर्य-भाव-प्रसंगमें बालविहारी प्रभुके असत्य भाषणको प्रकारान्तरसे सत्य बताना, माधुर्यपोषकोंकी दृष्टिमें लीपापोती करना है। हाँ तो प्रकृतमें यह झूठ और इसी तरह चौर्य भी श्रीकृष्णके आश्रय-माहात्म्यसे माहात्म्यवान् हैं। जैसे क्षीरसमुद्र या मधुर समुद्रकी लहरीतरंग मधुर, वैसे ही आनन्दसुधासिन्धु प्रभुकी समस्त लीलाएँ मधुर हैं—**'मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥'**

व्रजांगनाओंका 'काम' विषयके माहात्म्यसे पवित्र है। यहाँ देखना यह है कि उनका काम किसमें था? वह था उसी पूर्ण ब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीश्यामसुन्दरमें। शुद्ध विवेचनसे तो '**रसो वै सः**' के अनुसार वही—परब्रह्म श्रीकृष्ण ही रसस्वरूप है। उन्हींके विकृत रूप नवरस हैं। जैसे सत्ता एक ही है '**सदेव सोम्येदमग्र आसीत्**' किंतु शुभ, अशुभ सब कुछ उसीका परिणाम है। वही 'सत्' पुण्यरूपसे विवर्तित होकर उपादेय और पापरूपसे विवर्त होकर अनुपादेय हो जाता है। वही सत् अशेष विशेषातीत होकर शुद्ध सत् है। 'श्रृंगार' भी उसी रसका विवर्त है। आलम्बन या आश्रयकी पवित्रता अथवा अपवित्रतासे उसमें पवित्रता या अपवित्रताका आरोप होता है, स्वतः रस निर्विशेष है। जहाँ प्राकृत कामिनी-कामुक उस रसके आश्रय होंगे, वहाँ वह दोष होगा, अतएव उनका श्रृंगार दोष वह है। सहस्रों दिवसके ब्रह्मविषयक मनन-चिन्तनसे भी इतनी भावना नहीं बनती, जितनी अनेक जन्मोंके मलिन संस्कारोंके कारण क्षणिक कान्तादर्शन, स्मरण, चिन्तनसे बनती है। अनेक स्थापित किये गये प्रतिकूल

भाव लुप्त हो जाते हैं, पर यह बात उसी अवस्थामें है, जहाँ अवलम्बन या आश्रय दोषयुक्त है। व्रजांगनाओंको 'स्मर' है सही, पर किसमें? '**नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप**' (श्रीमद्भा० १०।२९।१४) में, मनुष्योंका कल्याण करनेके लिये साकाररूपमें प्रकट हुए ब्रह्ममें। उसमें किसी भी तरह जीवोंकी प्रवृत्ति होनेसे उनका कल्याण-ही-कल्याण है। चाहे प्रेमसे, भक्तिसे और चाहे काम, क्रोध, भय, स्नेह आदिसे भी भगवच्चिन्तन होनेसे कल्याण होता है—

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥

(श्रीमद्भा० १०।२९।१५)

कंसको भयसे, शिशुपालको द्वेषसे, गोपियोंको स्नेहसे पूर्णतम पुरुषोत्तम परब्रह्म कल्याण-गुण-गण-निलय, कल्याणदायकके प्रति एकान्त दृढ़निष्ठा हुई। कहा जा सकता है कि वेन भी तो द्वेषी था, उसको भगवद्विषयक एकान्त दृढ़ निष्ठा क्यों नहीं हुई—और शिशुपालको क्यों हुई, जिसने गिनकर भगवान् श्रीकृष्णको सौ गालियाँ दीं? सबके देखते-देखते उसमेंसे एक ज्योति निकलकर श्रीकृष्णके मुखमें लीन हो गयी। कारण स्पष्ट है कि शिशुपालको भगवान्‌के अस्तित्वमें दृढ़ निश्चय था और वेन ईश्वरको मानता ही न था, वह तो अपनेको ही सर्वेश्वर प्रख्यात करता था। कहा है कि प्राणी भय या कामसे जितनी अधिक तन्मयताको प्राप्त होता है, उतना अन्य किसी प्रकारसे नहीं होता है—'**यथा कामाद् भयाद्वाऽपि मर्त्यस्तन्मयतामियात्।**' शिशुपाल और कंसका भी यही हाल था—बैठते, सोते, चलते, खाते, घूमते हुए उन्हें कृष्ण-ही-कृष्ण दिखलायी पड़ते थे, सारा जगत् उनके लिये कृष्णमय था—

आसीनः संविशंस्तिष्ठन् भुञ्जानः पर्यटन् महीम्।
चिन्तयानो हृषीकेशमपश्यत् तन्मयं जगत्॥

(श्रीमद्भा० १०।२।२४)

भृंगीकीटन्यायसे जीवमें तल्लीनता होनी चाहिये। दृढ़ अभिनिवेशवश जहाँ नहीं, वहाँ भी उसकी प्रतीति हो। सिद्धान्त भी तो यही है '**अस्तीत्येवोपलब्धव्यम्**', परंतु वेनको यह निश्चय नहीं था। प्रसंगमें गोपांगनाओंका काम शिशुपालके द्वेषसे कहीं बढ़कर था। इनकी निष्ठा बहुत ऊँची थी। इस प्रकार इनका काम विषय या आलम्बनकी महिमासे महामहिम हुआ। अतः किसी वस्तुका माहात्म्य विषयकी महत्तासे महत्त्ववान् होता है।

इस प्रसंगमें एक बड़ी सुन्दर सूक्ति है—

प्रथयति नवनीतचोरतां ते
व्रजयुवतीजनजारतां जनो यो।
वितरसि निजभावमीश तस्मै
स्वकृतधियो परिगोपनाय नूनम्॥

अर्थात् हे प्रभो! जो आपकी माखनचोरी और गोपियोंके साथ जारभावका प्रख्यापन करता है, आपको '**चोरजारशिखामणि**' नामसे बदनाम करता है, उसे आप निजभाव—अपना रूप दे देते हैं, अपनेमें मिला लेते हैं, मुक्त कर देते हैं। यह इसलिये नहीं कि आप उसपर दया करते हैं, अपितु इसलिये कि यह अलग रहकर हमारी निन्दा करता फिरेगा और जब अपनेमें मिला लिया तो वह भी अपने ही जैसा हो गया, फिर निन्दा किसकी करेगा? यह भक्त कविकी अपने प्रसाधनपर मीठी व्यंग्य छार है। भाव यह है कि उस विशुद्ध पूर्णतम तत्त्वके चोर एवं जाररूपमें किये गये चिन्तनसे भी पूर्ण पद प्राप्त होता है। भगवान्‌को व्रजयुवतीजनका जार बताया, परंतु वह जार यह लौकिक जार नहीं जो '**जरयति आत्मविज्ञानं निःश्रेयसम्**' से ख्यात होता है। गोपियोंका जार तो अलौकिक है। वह तो '**जरयति अविद्या तत्कार्यात्मकं प्रपञ्चं यः स जारः**' है। '**जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा॥**' (श्रीमद्भा० ३।२५।३३)-की तरह अथवा '**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन!**' की तरह यह तो प्राणमय, अन्नमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमयादि पंच कोषोंको जलानेवाला जार है। उत्तप्त वियोगाग्निसे समस्त

पाप-तापोंको दग्ध कर देनेवाला जार है। यहाँ **'नातप्ततनुर्न तदामोऽश्नुते दिवम्'** की बात ही नहीं रह जाती, जो फिर परिपक्व हो। पर यह तभी है, जब निर्निमित्त भावसे भक्ति हो। कहा है—**'अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।'** (श्रीमद्भा० ३।२५।३३) चिन्तामणिमें दीपक-बुद्धिसे प्रवृत्त होनेपर भी जैसे मिलेगी चिन्तामणि ही, वैसे ही नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, पूर्णतम पुरुषोत्तममें जार-बुद्धिसे प्रवृत्त होनेपर भी मिलेगा वही तत्त्व, जो अखण्ड, अनन्त, अचिन्त्य, अव्यक्त, कूटस्थ, साक्षि-भास्य है। गोपियोंको उनकी एकान्त दृढ़ निष्ठासे वही मिला। इस तरह गोपियोंका काम विषयकी महत्तासे महत्त्ववान् हुआ है।

श्रीकृष्ण-वियोग-ताप-शान्त्यर्थ कुंकुम-लिप्त श्रीव्रजदेवियोंके वक्षोजोंसे श्रीकृष्णके पादपद्मोंमें संलग्न जो कुंकुम था, वही उनके गोचारणार्थ वनमें आनेसे तृणोंमें लगा। उसके दर्शन करनेसे पुलिन्दियोंको—शबर रमणियोंको कामरूप रोग उत्पन्न हुआ अथवा **'स्मरो वा व आशाया भूयान्'** से स्मरका अर्थ जब उत्कट उत्कण्ठा लिया गया, तब यह अर्थ हुआ कि उस कुंकुमके दर्शनसे उन किरातिनियोंको साक्षात् श्रीकृष्णकी दिव्य सौन्दर्य-माधुर्य-सौगन्ध्योपेत लावण्यामृतमूर्तिके दर्शनकी तीव्र अभिलाषा हुई। उसके पूर्ण न होनेसे हृदयमें श्रीकृष्ण-वियोग-तापका वेगवान् उदय हुआ। उसे मिटानेके लिये तृणोंमें संलग्न उसी कुंकुमको उन सबोंने अपने मुख और वक्षःस्थलमें लगाया—**'लिम्पन्त्य आननकुचेषु'**।' (श्रीमद्भा० १०।२१।१७) परंतु इससे भी उनकी व्याकुलता, व्यग्रता मिटी नहीं, प्रत्युत जब और भी बढ़ती गयी, तब उन्हें संशय हुआ कि कहीं यह कुंकुम ही तो हमारी आधि—मानसी व्यथाका कारण नहीं है? तुरंत उन्हें यही निश्चय भी हो गया और उसे उन्होंने **'आधिं मत्वा जहुः'** अर्थात् मानसी व्यथाका कारण समझकर त्याग दिया। इसपर श्रीकृष्ण-प्रणय-प्रमत्त गोपियाँ कहती हैं—हमारे अंगमें लिप्त कुंकुम श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दरके सुकोमल श्रीचरणोंमें लगा था। उसे देखनेमात्रसे ही इन पुलिन्दियोंको रोग उत्पन्न हुआ, असह्य मानसी व्यथा हुई, अतः इन्होंने उसे त्याग दिया। हाँ सखि! हम इतनी बड़ी हतभागा हैं कि जिनके अंग-संलग्न वस्तुके देखनेसे भी लोगोंमें रोग उत्पन्न होता है।

अथवा **'तद्दर्शनस्मररुजः'** का यह अर्थ है कि उन भिल्लपुरन्ध्रियोंने श्रीकृष्ण-चरणसंसक्त उस कुंकुमका दर्शन किया, अवघ्राण किया और स्पर्श किया। इससे उन सबोंने अपनी सब मनोव्यथाओंका त्याग किया—अर्थात् वे भगवद्भावापन्न हो गयीं। बात यह हुई कि उस विलक्षण आकर्षक कुंकुमके दर्शन आदिसे ही उन किरात-कामिनियोंको श्रीकृष्णदर्शनविषयक उत्कट उत्कण्ठा हुई और श्रीकृष्ण-दर्शन न होनेसे उन्हें तीव्रातितीव्र ताप हुआ। उत्कट उत्कण्ठासे जब तीव्र ताप होगा, तभी श्रीकृष्ण परब्रह्मका दर्शन हो सकेगा, नहीं तो कल्प-कल्पान्तरोंसे, युग-युगान्तरोंसे जीव भगवद्विमुख है, पर उसे कहाँ तीव्र वियोग ताप होता है? अतः उत्कट उत्कण्ठाकी ही प्रथम अपेक्षा है। उसका भी मूल वहीं कुंकुम है। वह कुंकुम साधारण कुंकुम नहीं, अपितु प्रथम वह श्रीवृषभानुनन्दिनीके उरोजमें संलग्न था, फिर वहींसे श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दरके श्रीचरणोंमें संपृक्त हुआ। उसीके दर्शनसे पुलिन्दियोंको श्रीकृष्ण-दर्शनकी उत्कट उत्कण्ठा हुई और उसके पूर्ण न होनेके कारण उत्पन्न हुए तीव्रातितीव्र तापसे उनके हृदयमें इतना अधिक दुःखका आविर्भाव हुआ कि अनेक कल्पोंके दुःख उसमें समा गये और दग्ध हो गये। इनके साथ ही कुंकुम-परम्परासे पूर्णतम पुरुषोत्तमके श्रीचरणसम्पर्कसे इतना अधिक अनन्तानन्तगुणित आनन्द प्राप्त हुआ कि उससे वे पूर्ण हो गयीं, कृतकृत्य हो गयीं। श्रीमद्वल्लभाचार्य कहते हैं—उस कुंकुमके दर्शनसे, उसके विलिम्पनसे इन भिल्लिनियोंमें श्रीराधा-स्वरूपका अथवा श्रीलक्ष्मी-स्वरूपका प्रवेश हुआ। यह एक विलक्षण तत्त्व है; व्यापक वस्तु है। श्यामसमुद्रमें

श्रीराधा माधुर्याधिष्ठात्री महाशक्ति है। तब तत्त्वज्ञानी भी आत्माराम होते हैं, तब पूर्णतम पुरुषोत्तमका रमण बाह्य वस्तुमें कैसे हो सकता है? उनका तो अपनेमें ही रमण बनता है। श्रीजानकीरमण, श्रीराधारमण, गिरा और अर्थकी तरह, जल और वीचिकी तरह अभिन्न हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—**'गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न। बंदउँ सीता राम पद'''॥'** (रा०च०मा० १।१८)। महाकवि कालिदासने भी श्रीपार्वतीरमणको वाणी और अर्थकी तरह अभिन्न बतलाया है—**'वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये। जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥'** (रघुवंश १।१)

श्रीजानकी, श्रीराधा, श्रीपार्वती आदि उस अखण्ड, अनन्त, अचिन्त्य, अव्यक्त, आनन्दसागर परब्रह्मकी तरंग आदिकी तरह निजी अभिन्न वस्तु हैं। इससे भी अन्तरंग भाव जल और उसके माधुर्यके अभेदका है। यों उस परम तत्त्वका अपनेमें ही रमण सम्भव है। इन किरातिनियोंमें कुंकुम-सम्बन्धसे श्रीराधा-रूपका उदय हुआ। उससे उनमें वही अन्तरंगता आयी और उस दिव्य तत्त्वके रमणका अनुभव उन्हें हुआ। अतः उन्होंने **'आधिं जुहुः'** मानसी व्यथाको त्यागा और पूर्ण हो गयीं। जैसे प्रभु श्रीराधाको मिले, वैसे ही किरातिनियोंको भी मिले, क्योंकि **'ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्'** (गीता १३।१७)-के अनुसार वह पूर्णतम तत्त्व सर्वत्र ही अव्याहत-रूपसे वर्तमान है। अतः दीन-हीन दशामें भी हताश होनेकी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है उत्कट उत्कण्ठासे प्रभु-स्मरण और प्रभुके साथ सम्बन्ध स्थापित करनेकी। फिर तो किरातिनियोंकी ही तरह सभी पूर्ण हो सकते हैं।

वेणुगीत

श्रीवेणुगीतमें श्रीगोपांगनाओंकी आसक्तिका वर्णन है, पीछेके प्रकरणमें श्रीवृन्दावनधामकी वर्षा और शरद्-ऋतुओंका वर्णन हो चुका है। वहाँ कहा गया है कि वनसे आनेवाली परम सौगन्ध्य-सौरस्यसम्पन्न अनेकविध पुष्पोंके समशीतोष्ण वायुका आलिंगन करके श्रीवृन्दावन एवं व्रजके समस्त जनोंने तो तिग्मरश्मिजन्य ताप भुला दिया, किंतु गोपांगनाओंका अपने निरतिशय निरुपाधिक परमप्रेमास्पद प्रियतम श्रीकृष्णवियोगसे जन्य ताप शान्त नहीं हुआ—

आश्लिष्य समशीतोष्णं प्रसूनवनमारुतम्।
जनास्तापं जहुर्गोप्यो न कृष्णहृतचेतसः॥

(श्रीमद्भा० १०।२०।४५)

राजा परीक्षित्से श्रीशुकदेवजीने कहा कि वर्षाकालके व्यतीत होनेपर जब शरद्-ऋतुका आगमन हुआ, तब श्रीवृन्दावनधामके सरित-सरोवर आदि जलाशयोंके जल स्वच्छ तथा निर्मल हो गये। नाना प्रकारके कमल-कमलिनी, कुमुद-कुमुदिनीके समुदायोंकी मनोहर सुरम्य सुगन्धिसे सुगन्धित मन्द शीतल समीरसे श्रीवृन्दारण्यधाम परम-रमणीय हो गया। उसी समय परमानन्दरसामृतमूर्ति भगवान् श्रीकृष्णने गौओं तथा गोपवृन्दोंके साथ श्रीवृन्दावनधाममें प्रवेश किया।

इत्थं शरत्स्वच्छजलं पद्माकरसुगन्धिना।
न्यविशद् वायुना वातं सगोगोपालकोऽच्युतः॥

(श्रीमद्भा० १०।२१।१)

कुछ आचार्योंके मतानुसार इस अध्यायमें श्रीगोपांगनाओंका आसक्तिनिरोध वर्णित है। निरोध तीन प्रकारका होता है—(१) प्रेमनिरोध, (२) आसक्तिनिरोध और (३) व्यसननिरोध। पहले राग होनेसे कुछ काल-पर्यन्त प्रियतमसे अन्यका विस्मरण होता है, यही 'प्रेमनिरोध' या 'रागनिरोध' है। ऐश्वर्य-माधुर्यव्यंजक विभिन्न लीलाओंसे प्रेमनिरोधका वर्णन है। प्रियतमका अधिकाधिक स्मरण होनेसे उसमें आसक्ति होकर अन्यका विस्मरण होता है, वही 'आसक्तिनिरोध' कहा गया है। यहाँ गोपांगनाओंके

आसक्तिनिरोधका वर्णन है। आगे चलकर उस आसक्तिके अधिकाधिक गाढ़ होनेसे उसका छूटना असम्भव हो जाता है। अत: वह व्यसनरूप हो जाता है। इसीलिये वह 'व्यसननिरोध' कहा जाता है। इसका वर्णन रासपंचाध्यायी, युगलगीतमें है। सर्वविस्मरणपूर्वक निरतिशय निरुपाधिक परमप्रेमास्पद प्रियतम श्रीकृष्ण स्वरूपमें श्रीव्रजांगनाओंकी तन्मयता ही 'आसक्तिनिरोध' है। जितनी अधिक तन्मयता, उतना ही अधिक विश्वविस्मरण होता है।

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतय:।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रय:॥

(श्रीमद्भा० २।१०।१)

इस दशविध पुराणलक्षणान्तर्गत निरोधका लक्षण, अपनी समस्त शक्तियोंके सहित अखण्ड, अनन्त आत्मस्वरूप भगवान्‌का शयन कहा गया है— '**निरोधोऽस्यानुशयनमात्मन: सह शक्तिभि:।**' (श्रीमद्भा० २।१०।६) इस मतमें महाप्रलय ही निरोध है। सृष्टिकालमें शक्तियाँ कार्यरूपमें परिणत होती हैं और प्रलयकालमें समस्त कार्य स्वकारणभूत शक्तियोंमें लीन हो जाता है और भगवान् स्वस्वरूपभूत उन शक्तियोंको साथमें लेकर उसे अपने स्वरूपमें लीन करके शयन करते हैं। जैसे अंकुर, नाल, स्कन्ध, शाखा, उपशाखा, पत्र, पुष्प, फल, सौगन्ध्य, सौरस्यादिके उत्पादनानुकूल समस्त शक्तियाँ बीजमें निहित होती हैं, वैसे ही परब्रह्म अखिल ब्रह्माण्डोत्पादिनी शक्तियोंको साथ लेकर प्रलयावस्थामें शयन करते हैं। यहाँ ब्रह्मका शयन वास्तविक न होकर सुप्तशक्तियोंके कारण औपचारिक है; क्योंकि 'भागवत' में ही अन्यत्र ब्रह्मको '**सुप्तशक्तिरसुप्तदृक्**' (श्रीमद्भा० ३।५।२४) कहा गया है। '**सुप्ता: शक्तयो यत्र असौ सुप्तशक्ति:**' इस तरह प्रलयावस्थामें शक्तियाँ विद्यमान होती हुई भी कार्यकरणक्षम नहीं रहतीं। ब्रह्म तो अखण्ड, अनन्त, स्वप्रकाशबोधस्वरूप होनेसे 'असुप्तदृक्' है। उपनिषदोंने भी कहा है कि 'द्रष्टा-सर्वभासककी दृष्टिका स्वरूपभूत अखण्डभानका लोप कभी नहीं होता। हाँ, भगवान् भी महाप्रलयकालमें प्रपंचोत्पादनादि व्यापारसे विवर्जित होनेसे शयन-से सोते हुए-से प्रतीत होते हैं। उस अखण्ड अनन्तबोधका—ज्ञानका भी अस्त-उदय नहीं होता, वह सदा ही एकरस बना रहता है'—'**नास्तमेति न चोदेति।**'

घटादिकी उत्पत्तिके पूर्व कुलालको उनका ज्ञान रहता है, फिर तदनुसार वह घटादिको उत्पन्न करता है। '**आसीज्ज्ञानमथो ह्यर्थ एकमेवाविकल्पितम्।**' (श्रीमद्भा० ११।२४।२) अर्थात् प्रलयावस्थामें शुद्ध ज्ञान और प्रकृति-प्रपंचरूप अर्थ दोनों मिले हुए ही थे। यहाँ ज्ञान पदसे घटादि ज्ञान नहीं, अपितु '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' यह ज्ञान लिया गया है। इस तरह समस्त दार्शनिक सिद्धान्तानुसार अपनी समस्त शक्तियोंके साथ आत्माका सो जाना ही निरोध है, परंतु कुछके मतानुसार अखिल विश्वका विस्मरणपूर्वक भगवान्‌में मनकी तन्मयता ही निरोध है।

भगवान्‌के श्रीचरणोंमें अनुराग होना लोकोत्तर सौभाग्य है

पहले प्रेमास्पदके अद्भुत गुण, उसकी अद्भुत अचिन्त्य महिमा एवं ऐश्वर्यके ज्ञान तथा सौरस्य, सौगन्ध्य आदिके अनुभवसे उसमें राग होता है। विष्णुसहस्रनाम, गीता आदिमें अनुराग होनेके लिये पहले उनके माहात्म्य-पाठका विधान है। अत: यहाँ भी पहले अध्यायोंमें पूतना-वध, गोवर्द्धनोद्धारण आदिसे भगवान् श्रीकृष्णमें राग-प्रेम उत्पन्न होनेके लिये उनका महत्त्व बतलाया गया है। यहाँ आसक्तिनिरोधका वर्णन है और व्यसननिरोध रासलीलाके बाद युगलगीतमें वर्णन किया गया है। राग, आसक्ति एवं व्यसन वैसे तो निन्द्य एवं त्याज्य ही हैं, किंतु कहीं-कहीं आलम्बनकी महत्तासे इनका महत्त्व बढ़ जाता है। लौकिक स्त्री, पुत्र, धनादिमें राग एवं आसक्ति पतनका मूल है, किंतु यही राग और आसक्ति यदि भगवान्‌के श्रीचरणोंमें हो जाय तो क्या कहना है, ऐसा तो किसी महानुभावको ही लोकोत्तर सौभाग्य हो सकता है।

यही बात व्यसनके सम्बन्धमें भी है, माता, पिता, गुरुजन, शास्त्र और स्वयं अपने-आपद्वारा सहस्रधा प्रयत्न करनेपर भी जो छुड़ाये न छूटे, वही व्यसन कहा जाता है। वही व्यसन यदि सांसारिक पदार्थोंका हो तो वह पतनका मूल है, उसका तो नाश ही इष्ट है, परंतु भगवत्प्रेम-व्यसन तो बड़ी कठिनाईसे सम्पादन किया जाता है। ऐसा व्यसन सनकादि, शुकादि, काकभुशुण्डि आदिमें ही देखनेमें आता है—**'आसा बसन ब्यसन यह तिन्हहीं। रघुपति चरित होइ तहँ सुनहीं॥'** (रा०च०मा० ७। ३२। ६)

श्रीहनुमान्‌जीका भी ऐसा ही व्यसन है कि जहाँ-जहाँ श्रीमद्राघवेन्द्र भगवान् रामचन्द्रके मंगलमय परमपवित्र चरित्रोंका कीर्तन होता है, वहाँ-वहाँ मस्तकपर अपने अंजलिबद्ध हस्तको रखे हुए आनन्दाश्रुसे पूर्णलोचन होकर खड़े रहते हैं—

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम्।
वाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं मारुतिं नमत राक्षसान्तकम्॥

प्राकृतजनोंको कोई बात समझानी हो तो लौकिक दृष्टान्त रखना पड़ता है। इसीलिये श्रीरघुनाथजीके प्रति अपने प्रेमको दिखलानेके लिये श्रीगोस्वामी तुलसी-दासजीने कहा है—

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

(रा०च०मा० ७। १३० (ख))

लाम्पट्य अत्यन्त निन्द्य है, परंतु मनोमिलिन्द यदि भगवच्चरणाम्बुजमकरन्दमधुका लम्पट हो तो यह कितने सौभाग्यकी बात हो? साधारण दृष्टिसे राग, आसक्ति एवं व्यसन अत्यन्त निन्द्य हैं, किंतु सर्वात्मा, सर्वाधिष्ठान, अचिन्त्यानन्त आनन्द-सुधाजलनिधि श्रीकृष्णमें प्रेम-निरोधादिका होना उनके बिना क्षणभर भी रह न सकना कितना दुर्लभ है? आज तो संसारकी यह स्थिति है कि विषयचिन्तन, स्त्री-पुत्र-धनादिके चिन्तनके बिना रहना कठिन हो रहा है, किंतु इस चिन्तनको वहाँसे हटाकर यदि भगवच्चरण-पंकजका चिन्तन न किया तो '**पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्**' के चक्रसे निकलना कठिन होगा।

भगवान्‌का वृन्दावन-आगमन

श्रीगोपांगनाओंके आसक्तिनिरोधको दिखलानेके लिये श्रीशुकदेवजीने कहा कि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र गो, गोवत्स, गोपाल, बलराम आदिके साथ श्रीवृन्दारण्यधाममें पधारे—

इत्थं शरत्स्वच्छजलं पद्माकरसुगन्धिना।
न्यविशद् वायुना वातं सगोगोपालकोऽच्युतः॥

(श्रीमद्भा० १०। २१। १)

जल-क्रीड़ाके लिये स्वच्छ सुगन्धित जलका होना आवश्यक है। इसलिये श्रीवृन्दावनने भगवान्‌की क्रीड़ाके लिये आनन्द-सामग्रीको प्रस्तुत कर दिया। शरद्-ऋतुके सम्बन्धसे श्रीयमुना, राधाकुण्ड आदि सरित्-सरोवरोंके जल अत्यन्त स्वच्छ-निर्मल हो गये और एक पद्मकी कौन कहे, पद्मके आकर विकसित हुए। कुमुद-कुमुदिनी, कमल-कमलिनीके अनन्त समुदायके मादक मोहक दिव्य सौगन्ध्यसे मिश्रित समीरद्वारा समस्त वृन्दारण्यधाम आविष्ट हो गया—गमक उठा। पद्मका सौगन्ध्य बड़ा अलौकिक होता है। उसके आभोग, पत्र, पराग, मधु आदिमें भी विलक्षण सौगन्ध्य, सौन्दर्य, सौरस्य होता है। चम्पक, केतकी आदिमें भी आभोग, पराग, मधु, सौगन्ध्य आदि होते हैं, किंतु पद्मका मधुर, मन्द, मादक सौगन्ध्य कुछ और ही वस्तु है। भ्रमरको वह अन्यापेक्षया विशेष प्रिय है। इसीलिये कवियोंने पद्मकी ही शोभाका विशेषरूपसे वर्णन किया है। अतः ऐसे दिव्य सौगन्ध्यसम्पन्न पद्मोंके सुगन्धसे मिश्रित वायुसे व्याप्त वृन्दारण्यमें श्रीकृष्ण पधारे।

वृन्दावनधामके तरु, लता, तृण, पल्लव, फल, पुष्प, सरित्, सरोवर, भूमि आदि सभीमें भगवान् श्रीकृष्णका अन्तरंग निवेश हुआ, एतावता वृन्दारण्यधाम श्रीकृष्णमय हो गया; क्योंकि श्लोकमें **'न्यविशत्'** पदका प्रयोग हुआ है, जिसमें 'नि' का अर्थ नितरां—अत्यन्त है। बात ठीक भी है, क्योंकि अप्राकृत

भगवान्‌की लीला प्राकृत पदार्थोंसे नहीं हो सकती है, इसलिये निखिल रसामृतमूर्ति श्रीकृष्णने वृन्दावन-स्थित सकल तत्त्वोंमें अन्तरंगतया निविष्ट होकर उन्हें रसमय, अप्राकृत बना लिया। अब श्रीकृष्णकी उनसे क्रीड़ा ठीक-ठीक तरहसे हो सकेगी।

श्रीवल्लभाचार्यके मतमें श्रीकृष्णका यह वृन्दावनधाममें निवेश सरित्-सरोवर वनतरुमें स्थित आधिदैविकी शक्तिके साथ रमण है। भगवत्-सम्मिलनके लिये केवल व्रजांगनाएँ ही नहीं, परा-अपरा प्रकृति सब लालायित हैं। वृन्दावनधामके तरु, लता, गुल्म, सरसी आदि सभी भगवत्-सम्मिलनके लिये लालायित हैं। अतः भगवान्‌ने निवेश एवं वेणुकूजनरूप उद्बोधनसे वनदेवताओंको निजागमन सूचित किया, जिससे वे परमात्मरतिके लिये सजग हो जायँ। लौकिक कामिनीका रमण प्राकृत होता है, किंतु यहाँ श्रीकृष्णका श्रीवनदेवियों आदिके साथ अप्राकृत आन्तर रमण है। उसी रमणके लिये वेणुकूजनद्वारा वनदेवताओंका उद्बोधन किया गया—

कुसुमितवनराजिशुष्मिभृङ्ग-
द्विजकुलघुष्टसरःसरिन्महीध्रम्।
मधुपतिरवगाह्य चारयन् गाः
सहपशुपालबलश्चुकूज वेणुम्॥

(श्रीमद्भा० १०। २१। २)

श्रीवृन्दारण्यकी शोभा

श्रीवृन्दारण्यकी शोभाका वर्णन क्या किया जाय? फूले हुए वनोंकी पंक्तियोंसे सुशोभित मत्तभ्रमरावलीके मधुर गुंजार एवं पक्षिगणोंके मनोहर कलरवसे वृन्दावनधामके सरोवर, सरिता, वृक्ष, लता, पर्वतादि परम शोभित और निनादित हो रहे हैं। कहीं कांचनमयी भूमिमें मरकतमणिमयी श्यामल दूर्वाएँ सुशोभित हैं, कहीं मरकतमणिमयी भूमिपर कांचनमयी दूर्वाएँ शोभायमान हैं। कहीं पद्मरागमणिमय वृक्षोंपर स्फटिक मणिमयी दिव्य लताएँ विकसित हैं तो कहीं स्फटिक मणिमय स्वच्छ तरुपर पद्मरागमणिमयी सुन्दर लताएँ विराजमान हैं। कहीं महेन्द्रनीलमणिमयी भूमिपर कांचनमयी दिव्य दूर्वाएँ सुशोभित हो रही हैं तो कहीं कांचनमयी देदीप्यमान भूमिपर महेन्द्रनीलमणिमयी दूर्वाएँ विस्तृत हैं। यह प्राकृत कथाका वर्णन नहीं है। आजका मत तो कहता है कि जो दीखता नहीं, वह है ही नहीं। आज श्रीवृन्दावनकी वह लोकोत्तर शोभा दृष्टिगोचर नहीं होती, अपितु सर्वत्र रूक्षता एवं कण्टकाकीर्ण वृक्ष ही दिखलायी पड़ते हैं। वैसे ही काशीकी भी दिव्य अलौकिक शोभाका वर्णन पुराणोंसे जाना जाता है, किंतु लोगोंको यहाँ भी ईंट, चूना, पत्थर ही दिखलायी देते हैं।

कहा जाता है कि आधुनिक वैज्ञानिकोंने समस्त भूमण्डलका पता लगा लिया है, उन्हें सुमेरु, सप्तद्वीप, क्षीरसिन्धु आदि मिले होते तो अवश्य दिखलायी पड़ते, परंतु कहना पड़ेगा कि कुछ ऐसी भी स्थिति है कि जो हो और दिखलायी न पड़े। प्रत्येक वस्तुके दर्शनमें कुछ सुख अथवा कुछ दुःख होता है। अतः मानना पड़ेगा कि वस्तु दिखलायी पड़नेमें पाप-पुण्य-रूप अदृष्टकी भी हेतुता है। क्यों किसी वस्तुको देखनेपर दुःख और घृणा होती है? कोई भी कार्य बिना कारणके नहीं होता। सुख-दुःखको देखकर उनके कारण पुण्य-पापका अनुमान करना चाहिये। अतः यह मानना पड़ता है कि वस्तुदर्शनमें अदृष्टहेतु होनेसे शास्त्रोक्त कुछ वस्तुओंका हमें दर्शन नहीं प्राप्त होता। इसमें हेतु हमारे वैसे अदृष्टका अभाव है, न कि उन वस्तुओंका अभाव।

अदृश्य वस्तुकी सत्ताका दृष्टान्त

'महाभारत' में एक कथा है कि अलकनन्दामें बहकर आये हुए किसी एक दिव्य सौगन्ध्य, सौन्दर्यसम्पन्न पुष्पको देखकर द्रौपदीने उसकी जोड़ीका दूसरा पुष्प लानेके लिये भीमसेनसे आग्रह किया। भीमसेनने अलकनन्दाके तटसे जाते-जाते बहुत दूरतक जानेपर मार्गमें एक वृद्ध बानरको देखा, जो अपनी पूँछसे मार्गको रोके हुए सोया था। भीमने उससे अपनी पूँछ हटा लेनेके लिये कहा। बानरने उत्तर दिया कि 'मैं अत्यन्त वृद्ध होनेके कारण उसे हटा सकनेमें

असमर्थ हूँ, तुम हटा लो।' भीमने पहले हाथकी दो अंगुलियोंसे उसकी पूँछ हटाना चाहा, परंतु जब न हटा सके, तब एक हाथसे जोर लगाया। अन्तत: दोनों हाथोंकी पूर्ण शक्तिसे प्रयत्न करनेपर भी जब पूँछ अपने स्थानसे तिलमात्र भी न हटी, अपितु मूर्च्छित हो गये, तब थोड़ी देरमें सावधानी आनेपर आश्चर्यचकित होकर उन्होंने वानरसे कहा—'मैंने सुना है कि मेरे भाई कोई हनुमान् नामक हैं, जो अत्यन्त बलवान् हैं, उन्होंने त्रेतामें लंका-विजयमें रामचन्द्रकी बहुत सहायता की थी। क्या आप वही हनुमान् तो नहीं हैं?'

यह श्रवणकर वानरने कहा 'हाँ, मैं वही हूँ।' तब भीमसेनने उनको प्रणामकर कहा कि मैं आपका वह दिव्य स्वरूप देखना चाहता हूँ, जिसको धारणकर आपने राक्षसोंका संहार किया था। हनुमान्ने कहा—'उस रूपको देखनेकी तुम्हारी सामर्थ्य नहीं है। अत: उसको देखनेका आग्रह मत करो।' परंतु भीमने जब अपना आग्रह न छोड़ा, तब भीमके हठको देखकर हनुमान्ने अपना वह कनक भूधराकार परमतेजोमय दिव्यरूप धारण करना आरम्भ किया। अभी पूर्णरूप देख भी न पाये थे कि उसके प्रचण्ड तेजसे भीमकी आँखें झँप गयीं, मूर्च्छित हो गये। हनुमान्ने अपना रूप संवृत्तकर भीमको सावधान किया और कहा कि 'अब तुम यहाँसे ही पीछे लौट जाओ, आगेकी दिव्य सुवर्ण रत्नमयी भूमि आदि देखनेयोग्य तुम्हारी सामर्थ्य एवं योग्यता नहीं है।' ऐसे ही द्वित, त्रित नामक महर्षियोंको घोर तपस्याके बाद भी श्वेतद्वीपमें कुछ नहीं दिखायी दिया। बहुत तपस्याके बाद एक व्यक्तिका दर्शन हुआ। उसने कहा—'इस जन्ममें तुम्हें यहाँ और कुछ न दिखायी देगा, रामावतारमें तुम भगवान्का दर्शन कर सकोगे।'

तात्पर्य यह कि प्रत्येक वस्तुके दर्शनमें योग्यताकी अपेक्षा होती है। वह योग्यता धर्माधर्मकृत ही है। इसलिये यह कहना भी संगत नहीं है कि भगवान् दिखलायी नहीं देते, अत: हैं ही नहीं; क्योंकि आजके मनुष्योंकी वैसी योग्यता न होनेसे—पुण्यकी कमीसे उनका दर्शन नहीं होता। अस्तु, श्रीमद्वृन्दावन-धामकी अलौकिक दिव्यशोभाका तो फिर कहना ही क्या है? अरविन्द, मालती, चम्पक, मल्लिका आदि अनेकविध विकसित पुष्पोंके सौगन्ध्यसे मत्त भृंग और हंस, कारण्डव, चक्रवाक, पारावत, शुक, मयूर आदि विहंगमोंके आनन्दोद्रेकमें—प्रेमोन्मादमें होनेवाले कलरवके झंकारसे जिसके वनराजि, सरोवर, सरित्, सरसी, निर्झर, पर्वत आदि प्रतिध्वनित—निनादित हो रहे हैं, ऐसे श्रीमद्वृन्दारण्यधाममें भगवान् श्रीकृष्ण, बलराम गोपालोंके साथ गौओंको चराते हुए पधारे—**'मधुपतिरवगाह्य चारयन् गाः।'** (श्रीमद्भा० १०।२१।२) यहाँ श्रीकृष्णके लिये मधुपति पदका प्रयोग किया गया है। मधु अर्थात् वसन्तके पति—अधिपति ही मधुपति हैं। इसका आशय यह हुआ कि वनमें मधुका—वसन्तका संचार होनेसे ही शोभा बढ़ जाती है, फिर साक्षात् मधुपति—वसन्ताधिपति—का प्रवेश होनेपर तो कहना ही क्या? इन सबसे यहाँ लीलाभूमि आदिकी महिमा कही गयी। रंगमंचकी सजावटके बिना जैसे वहाँ नाट्यलीला सम्पन्न नहीं हो सकती, वैसे ही यहाँ श्रीकृष्णकी अद्भुत मंगलमयी लीलाके लिये श्रीवृन्दावनकी सजावट अपेक्षित है। इसीलिये इस प्रसंगके पहले श्रीबलरामकी स्तुतिके व्याजसे श्रीवृन्दावनभूमि आदिकी स्तुति की गयी है।

श्रीकृष्णने श्रीबलरामसे कहा—ये सब मुनिगण, देवगण हैं, जो वृक्ष, लता, तृण, गुल्म आदिके रूपसे आपके पादस्पर्शके लिये लालायित हैं अथवा आपके चरणोंसे स्पृष्ट भूमिका स्पर्श करके, वन्दन करनेके लिये फल-पुष्पोंसहित झुककर मानो उसका आलिंगन करते हैं अथवा महापुरुषके स्वागतार्थ मानो वृन्दावन स्वयं उनका आतिथ्य करता है। मन्द, सुगन्धित, शीतल वायुके बहनेसे मानो व्यजन कर रहा है, अनेकविध कुमुद-कुमुदिनियोंसे युक्त, उनके मधुर मकरन्दगन्धसे सुगन्धित उद्वेलित सरिताओंसे मानो पाद्य-अर्घ्य दे रहा है।

वृन्दावनमें भगवान्‌का आतिथ्य

भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर मनोहर वंशीध्वनिका श्रवणकर व्रजकी कामधेनुरूपा गौओंसे क्षीर अपने-आप प्रस्रवित होने लगता है। आनन्दविभोर होनेसे देहभान भूलकर वे गौएँ अविरत बहनेवाली क्षीरधाराको रोकनेमें असमर्थ होती हैं। स्तन्यपानके लिये प्रवृत्त हुए बछड़े भी उस आनन्दसिन्धुमें मग्न होनेके कारण उस क्षीरको पान करना भूल जाते हैं। अतः सतत प्रवाहित होनेवाले क्षीरसे समस्त वृन्दावन भरपूर हो जाता है, उसमें कतिपय अम्लफलोंके योगसे वह क्षीर जमकर दधि हो जाता है। उसमें कथंचित् प्रबल वायुसे आलोड़ित होनेपर हैयंगवीन—मक्खनका भी प्रादुर्भाव हो जाता है एवं उसमें वृक्षोंसे बहनेवाली मधुधाराओंका मिश्रण होनेसे एक विलक्षण मधुपर्क सम्पन्न हो जाता है। वृन्दावन उससे भगवान्‌का अर्हण करता है। मधुधारा, पत्र, पुष्प, पल्लव, फल आदि सामग्रियोंसे नैवेद्य आदि अर्पण करता है। इस तरह समष्टि-व्यष्टिरूपसे वृन्दावन एवं उसके समस्त तत्त्व भगवान्‌का आतिथ्य करते हैं—

अहो अमी देववरामरार्चितं
पादाम्बुजं ते सुमनःफलार्हणम्।
नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मन-
स्तमोऽपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम्॥
एतेऽलिनस्तव यशोऽखिललोकतीर्थं
गायन्त आदिपुरुषानुपदं भजन्ते।
प्रायो अमी मुनिगणा भवदीयमुख्या
गूढं वनेऽपि न जहत्यनघात्मदैवम्॥

(श्रीमद्भा० १०।१५।५-६)

यहाँ सन्देह किया जा सकता है कि ये जड़वृक्षादि आतिथ्य कैसे कर सकते हैं? इसलिये कहा गया कि ये वृक्षादि जड़ नहीं, अपितु भगवान्‌के परमप्रिय भक्तगण, योगीन्द्र, मुनीन्द्र एवं देवगण हैं। दूसरोंकी जड़ता मिटानेके लिये उन्होंने जड़रूप धारण किया है। इनके दर्शन, श्रवण, स्पर्श करनेसे लोगोंकी जड़ता मिट जाती है—'**अन्येषां तमोऽपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम्।**' अथवा 'तम' का दुःख भी अर्थ होता है, अतः दुःखनिवृत्तिके लिये उन्होंने तरुजन्म ग्रहण किया। आशय यह है कि भगवान्‌के विप्रयोगजन्य अपने तीव्रतापको भगवत्सम्मिलनसे मिटानेके लिये, तरु, लता, गुल्म आदि बनकर श्रीवृन्दावनमें अवतीर्ण हुए कि भगवान् जब गोचारणके लिये यहाँ पधारेंगे, तब उनके स्पर्शसे अपना सन्ताप मिटायेंगे। वे तरु अपनी अपेक्षा भ्रमर एवं विहंगमोंको अधिक सौभाग्यशाली मानते हैं; क्योंकि वे स्वयं स्थानस्वरूपमें होनेके कारण एक ही स्थानपर स्थिर रहते हैं, भगवान् श्रीकृष्ण जब कृपाकर स्वयं वृन्दावनधाममें पधारें, तब उनका सम्मिलन प्राप्त हो, पर ये भ्रमर, विहंगम तो उनके प्रियतम प्राणधन श्रीकृष्ण जहाँ विराजमान होते हैं, वहाँ जाकर उनका दर्शन प्राप्तकर अपना सन्ताप मिटाते हैं। वृन्दावनस्थ सभी तत्त्व भगवान् श्रीकृष्णकी आराधनामें अपना सौभाग्य मानते हैं। जिसके पास जो है, उसीसे वह प्रभुकी आराधना करने लगता है, इस प्रकार गम्भीर गुंजारसे मानो भगवान्‌का यशोगान करते हैं, मयूर नृत्यकर प्रभुको प्रसन्न करना चाहते हैं, हरिण-हरिणी अपने विशाल विस्तृत नेत्रोंसे दर्शन करते हैं, कोकिला प्रेमोन्मादमें अपनी मधुरसूक्तियोंसे प्रभुका स्तवन करती है।

कोई यह न समझे कि इन्द्र, लक्ष्मी, कुबेर आदि दिव्यातिदिव्य सामग्रियोंसे पूजा करनेपर भी जिसको प्रसन्न नहीं कर पाते, उस अखिल ब्रह्माण्डनायक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् भगवान्‌की आराधना मैं साधारण पुरुष कैसे करूँ? क्योंकि भगवान् तो भावप्रिय हैं, वे भावपूर्वक की हुई सबकी सेवा स्वीकार करते हैं। भावविहीन अनन्त पूजा-सामग्रियोंसे उन्हें प्रसन्न नहीं किया जा सकता। भावयुक्त प्रेमसहित अर्पण की हुई साधारण-से-साधारण वस्तुसे, एक तुलसीदल और चुल्लूभर जल चढ़ा देनेसे वे भक्तवत्सल भक्तोंके हाथ बिक जाते हैं—

तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुल्लुकेन च।
विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः॥

यहाँ तो श्रीमद्‌वृन्दारण्यधामके तरु, लता, गुल्म, तृणादि सभी योगीन्द्र मुनीन्द्रगण भगवान्‌के परमभक्त होनेसे भगवदीयोंमें मुख्य हैं—'**प्रायो अमी मुनिगणा भवदीयमुख्याः**' अतः भगवान् उनकी की हुई सपर्याको अवश्य स्वीकार करते हैं। जब कोई राजा गुप्तवेषमें प्रयाण करता है. तब उसके नौकर-चाकर भी गुप्तवेषमें उसका अनुसरण करते हैं, वैसे ही यहाँ अनन्त ब्रह्माण्डनायक, अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अचिन्त्य, अनन्त, अप्रमेय, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, निर्गुण, निराकार, कूटस्थ, एकरस, सच्चिदानन्दघन, परब्रह्म ही जब अपने उस स्वरूपको छिपाकर अचिन्त्यानन्त अद्भुत सौगन्ध्य, सौरस्य, सौन्दर्य, माधुर्य, लावण्यादि सम्पन्न, परमानन्द-सुधासागर-सारसर्वस्व होकर श्रीमद्‌व्रजेन्द्रगेहिनी श्रीमन्नन्दरानीके परममंगलमय अंकमें अवतीर्ण हुए, तब उनके परमान्तरंग भक्तगण भी श्रीमद्‌वृन्दारण्यधाममें तरु, लता, तृण, सरित् आदिके रूपमें प्रादुर्भूत हुए हैं। अतः वे सब भगवदीय हैं, प्रभुने उनकी अर्पण की हुई साधारण पूज्य सामग्रीको बड़े प्रेमसे स्वीकार किया।

पृथुने भगवान्‌से कहा था कि 'भगवन्! आपके मंगलमय जिस चरणारविन्दकी सेवा मैं करता हूँ, लक्ष्मी भी उसीका समाश्रयण करती हैं। ऐसी स्थितिमें लक्ष्मीके साथ कहीं हमारा झगड़ा न हो जाय? ऐसा होनेपर नाथ! आप किसका पक्ष लेंगे? मुझे विश्वास है कि आप तो आप्तकाम, पूर्णकाम, आत्माराम, निष्काम हैं, इसलिये, लक्ष्मीका पक्ष न लेकर मेरा ही साथ देंगे'—

अप्यावयोरेकपतिस्पृधोः कलि-
र्न स्यात्कृतत्वच्चरणैकतानयोः॥
जगज्जनन्यां जगदीश वैशसं
स्यादेव यत्कर्मणि नः समीहितम्।

(श्रीमद्भा० ४।२०।२७-२८)

भगवान्‌ने पृथुका साथ दिया। लक्ष्मीका निवास भगवान्‌के विशाल वक्षःस्थलपर है; भक्तोंकी अर्पित पुष्पमालाको भगवान् अपने श्रीकण्ठमें धारण करते हैं। भक्तोंकी दी हुई मालाका त्याग कैसे करें, इसलिये पुष्पोंके कुम्हला जानेपर भी प्रभु अपने वक्षःस्थलपरसे उस मालाका परित्याग नहीं करते। उस मालाके भारसे लक्ष्मी दब जाती हैं, यह सब कष्ट सहन न हो तो लक्ष्मी भले ही छोड़कर चली जायँ, पर भगवान् भक्तकी मालाकी उपेक्षा कैसे कर सकते हैं? बेचारी लक्ष्मी सब सह लेती हैं। सूखी मालाको अपने ऊपर पड़ी देखकर लक्ष्मीको अनुचित प्रतीत होता होगा, पर इससे क्या? परम चंचला लक्ष्मी भगवान्‌के चरणपंकजको प्राप्तकर पूर्ण निश्चला बन गयी हैं। सपत्नीके साथ भी उन्हें रहना स्वीकार है, पर प्रभुके श्रीचरणको छोड़कर वे नहीं जा सकतीं। ऐसा ही अद्भुत महत्त्व भगवान्‌के श्रीचरणोंका है। तुलसी भगवान्‌के श्रीचरणपंकजमें विराजमान है। लक्ष्मीको यद्यपि भगवान्‌के श्रीवक्षःस्थलपर सम्माननीय निवास प्राप्त है तो भी तुलसीरूप सपत्नीसे एवं भृत्यगणोंसे सेवित भगवान्‌के श्रीमत्पदाम्बुजमकरन्दको ही वे प्राप्त करना चाहती हैं—'**श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम्। यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयासः।**' (श्रीमद्भा० १०।२९।३७)

अस्तु, ऐसे परमसुन्दर श्रीमद्‌वृन्दारण्यधाममें क्रीड़ा करनेके लिये श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण पधारे। क्रीड़ा दो प्रकारकी होती है—जल-क्रीड़ा और स्थल-क्रीड़ा। वृन्दावनकी शोभा इस समय दोनों प्रकारकी क्रीड़ाओंके लिये उपयुक्त है। स्वच्छ जलसे परिपूर्ण सरसी, सरित्, सरोवरोंसे सज्ज होनेके कारण जल-क्रीड़ामें एवं पद्माकर सुगन्धि वायुसे व्याप्त होनेसे स्थल-क्रीड़ामें उपयुक्त है—'**इत्थं शरत्स्वच्छजलं पद्माकरसुगन्धिना। न्यविशद् वायुना वातम्।**' (श्रीमद्भा० १०।२१।१) एतावता उभयविध क्रीड़ाकी सामग्रीसे सज्जता कही गयी, पर जबतक जिस तत्त्वका भगवत्सम्बन्ध नहीं, तबतक वह नीरस है, अशोभन है, अमंगल है। हिरण्मय ब्रह्माण्डके उत्पन्न होनेपर वह अचेतन था। उसमें प्रविष्ट होकर वह्नि,

वायु, आदित्य आदि देवताओंने उसे उठानेका अपने सामर्थ्यभर बहुत प्रयत्न किया तो भी उस विराट्का उत्थान नहीं हुआ—'**नोदतिष्ठत्तदा विराट्।**' (श्रीमद्भा० ३।२६।६३) अन्तमें जब भगवान्ने उसमें प्रवेश किया, तब वह उठ सका—

चित्तेन हृदयं चैत्यः क्षेत्रज्ञः प्राविशद्यदा।
विराट् तदैव पुरुषः सलिलादुदतिष्ठत॥

(श्रीमद्भा० ३।२६।७०)

भगवान्के प्रवेशसे वृन्दावनधाम रसमय हो गया

भगवान्के बिना कहीं भी शान्ति नहीं, शोभा नहीं। इसीलिये वृन्दावनके तरु, लता आदि समस्त भगवान्का अपनेसे समागम होनेपर अपनी कृतार्थता मानते हैं। जब सर्वत्र भगवत्प्रवेश हो, तब इनमें रसात्मकता आये। इसीलिये श्रीमद्वृन्दावनमें भगवान् श्रीकृष्णका प्रवेश हुआ। सच्चिदानन्दरूप भगवान् सर्वान्तरात्मा होनेसे सर्वव्यापक हैं, इसलिये यद्यपि वृन्दावनके समस्त तत्त्वोंमें सदंश एवं चिदंश अभिव्यक्त था और आनन्दांश अव्यक्त था, निखिल रसामृतमूर्ति अभिव्यक्त परमानन्द सुधासिन्धु भगवान् श्रीकृष्णके प्रवेशसे सच्चिदंश गौण होकर आनन्दांश पूर्णतया अभिव्यक्त हो गया और समस्त वृन्दावनधाम रसात्मक हो गया। अतएव यहाँ भगवान्का वृन्दावनमें आत्यन्तिक प्रवेश कहा गया है—'**न्यविशद् वायुना वातम्।**' (श्रीमद्भा० १०।२१।१) (**न्यविशत्-नितराम्, अविशत्**)।

कुसुमित वनराजिसे उन्मत्त भृंग एवं विहंगमोंके निनादसे उद्बुद्ध हुई वनदेवताएँ, वनदेवियाँ श्रीकृष्ण-सम्मिलनके लिये सजग हो उठीं। तब मधुपतिरूपसे श्रीकृष्णका वृन्दावनमें निवेश हुआ। यहाँ 'मधु' चैत्रमासको भी कहते हैं और उसका पति वसन्त हुआ। अतः हरे, पीले, लाल पत्र-पुष्पोंसे सुसज्जित वसन्तके समान अनेकविध वर्णविशिष्ट पत्र-पुष्पादिसे सुशोभित सुन्दर वनमाला धारण किये हुए भगवान् श्रीकृष्ण वृन्दावनधाममें पधारे अथवा 'मधु' शब्दसे वसन्तका भी बोध होता है, अतः तदधिपति वसन्तमें भी अपूर्व शोभाका संचार करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण अपने लोकोत्तर अद्भुत सौरस्य, सौगन्ध्यादिसे वनस्थोंको आह्लादित करते हुए पधारे अथवा सरस शृंगाराधिपति ही मधुपति हैं, अतः निखिलरसामृतमूर्ति होनेपर भी विशेषतया शृंगाररसामृतमूर्ति श्रीकृष्णने श्रीमद्वृन्दारण्य-धाममें प्रवेश किया। रसमें रसान्तरका संचार होनेसे उसका महत्त्व अधिक हो जाता है और यदि शृंगाररसमें शृंगारका प्रवेश हो तो उसके महत्त्वका क्या कहना? ऐसे ही शृंगाररसामृतमूर्ति श्रीकृष्णके निवेशसे समस्त वृन्दावन आह्लादित हो उठा। वनमें निविष्ट होकर श्रीकृष्णने वेणु-कूजन किया। यहाँ '**चुकूज**' का प्रयोग है अर्थात् '**कूजयामास**'। आशय यह है कि श्रीकृष्णके मुखसंस्पर्शमात्रसे वेणु स्वयं गान करने लगा।'''' जड़ वेणु भी शृंगाररसस्वरूप श्रीकृष्णकी अधरसुधाकी विशेषतासे गाने लगा—चेतनका कार्य करने लगा।

कहा जा चुका है कि भगवान् श्रीकृष्ण सम्प्रयोगात्मक-विप्रयोगात्मक उद्बुद्ध उभयविध शृंगार-रसात्मा हैं। शृंगार रसके दो भेद हैं—(१) सम्प्रयोग (संयोग)-रूप और (२) विप्रयोग (वियोग)-रूप। श्रीकृष्णकी मूर्ति प्राकृत पुरुषोंके समान अस्थि, चर्म, मांसमय नहीं है, अपितु उभयविध शृंगाररसमय है और वे उभय रस भी उद्बुद्ध हैं, उद्वेलित हैं, पूर्णरूपेण अभिव्यक्त हैं। वैसे तो जिस समय संयोगात्मक शृंगार अनुभूयमान होता है, उस समय वियोगात्मक शृंगारका अनुभव नहीं होता और वैसे ही विप्रयोगात्मक शृंगाररसानुभवकालमें सम्प्रयोगात्मक शृंगाररसका अनुभव नहीं होता, परंतु भगवान् श्रीकृष्णमें यही विशेषता है कि यहाँ उभयविध शृंगाररसका एक कालावच्छेदेन पूर्णप्राकट्य है और दोनोंका अनुभव भी एक ही कालमें हो रहा है। वनदेवियोंको सम्प्रयोगात्मक श्रीकृष्ण और व्रजदेवियोंको विप्रयोगात्मक श्रीकृष्ण अभिव्यक्त हैं। श्रीकृष्णका दिव्य स्वरूप वनमें है, उससे वनदेवियों-आधिदैविकी शक्तियोंका रमण सम्पन्न

है। यद्यपि गोपांगनाएँ उस समय व्रजमें हैं और गोपालोंके साथ श्रीकृष्ण उनसे दूर हैं तथापि उन्हींके यह उद्बुद्ध सम्प्रयोग शृंगाररसात्मा श्रीकृष्ण अनुभूयमान हैं। सर्वविध क्रियाशक्तिका संचार गोपालोंमें एवं ज्ञानशक्तिका संचार बलभद्रमें है।

यह सब स्थिति व्रजदेवियोंको पूर्णतया ज्ञात है। यह आसक्तिकी महिमा है, आसक्तिके प्राखर्यसे दूरस्थ श्रीकृष्णकी सब लीलाएँ व्रजस्थ श्रीगोपांगनाओंको प्रत्यक्ष अनुभूयमान हो रही हैं। विद्या जैसे पंचपर्वा है, वैसे अविद्या भी पंचपर्वा है। अविद्यामें अन्तिम आसक्ति और विद्यामें अन्तिम भक्ति है। इन दोनोंका स्वरूप प्रायः एक ही है। गोपांगनाओंकी श्रीकृष्णविषयिणी आसक्ति अत्यन्त उत्कट थी, उन्होंने समस्त सांसारिक सुख एवं तत्सामग्रियोंको तुच्छ समझ लिया था, श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन मनमोहन श्रीकृष्ण ही उनके ज्ञेय, ध्येय, परमाराध्यसर्वस्व थे। दूर रहनेपर श्रीव्रजांगनाओंको उनके समस्त रहन-सहन, गति, विलासादिका साक्षात् अनुभव होता है। इसलिये गोपांगनाएँ महायोगीन्द्रकी गतिपर अवस्थित थीं। उन्हें आसक्तिवशात् विप्रयोगकालमें ही भगवान्‌का मानस-सम्मिलन प्राप्त होनेसे संप्रयोगात्मक शृंगारका अनुभव हुआ।

उस उद्बुद्ध सम्प्रयोगात्मक-विप्रयोगात्मक उभयविध शृंगाररसात्मक प्रियतम प्राणधन भगवान् श्रीकृष्णस्वरूप वेणुगीतका श्रवणकर व्रजदेवियोंको स्मरोदय हुआ—'**तद् व्रजस्त्रिय आश्रुत्य वेणुगीतं स्मरोदयम्।**' (श्रीमद्भा० १०। २१। ३) उत्कण्ठापूर्वक स्मरण ही 'स्मर' है। '**स्मरोवाव आशाया भूयान्**' इस श्रुतिके अनुसार स्मरका तात्पर्य यहाँ काममें नहीं है। अर्थात् वेणुगीतका श्रवणकर गोपांगनाओंको उस वेणुगीतके उद्गमस्थल श्रीकृष्णका अत्यन्त उत्कट उत्कण्ठापूर्वक स्मरण हुआ। ज्यों ही श्रीव्रजांगनाओंके निरावरण कर्णकुहरोंद्वारा वेणुगीत उनके अन्तःकरणमें प्रविष्ट हुआ, त्यों ही श्रीकृष्णस्वरूपके स्मरणकी धारा बह चली। कुछ व्रजांगनाओंके मनमें वस्तुतः कामका भी उदय हुआ।

अथवा स्मरोदयका अर्थ '**स्मरेण स्मरणेन उदयो यस्य**' ऐसा किया। अर्थात् श्रीकृष्ण जब श्रीमद्वृन्दावनमें पधारे, तब यहाँके पद्मामोदित वायुके संस्पर्श एवं भृंगविहंगमोंके कलरवका श्रवणकर उससे उन्हें व्रजदेवियोंका स्मरण हुआ और उसी स्मर—भावविशेषरूप उद्दीपन विभावसे वेणुगीतका उदय हुआ। भगवान् तो वेणुवादनविनोदपरायण हैं, वे रोज ही वेणु बजाते हैं, किंतु आजके वेणुगीतमें कुछ वैशिष्ट्य है।

अथवा '**तासामेव स्मरेण स्मरणेन उदयो यस्य, तं स्मरोदयम्**' अर्थात् विचित्र कोकिला आदिके मधुर शब्दके श्रवणसे वृषभानुनन्दिनी श्रीराधाका स्मरण होनेसे वेणुगीतका उदय हुआ।

भगवत्सम्मिलनके लिये उत्कण्ठाके उत्कर्षकी आवश्यकता

साधारण भक्त भगवान्‌से मिलनेका उपाय सोचा करता है और उत्कण्ठापूर्वक उनका स्मरण करता रहता है। जब उत्कण्ठा अत्यन्त बढ़ जाती है, तब यही उत्कण्ठा भगवान्‌में चली जाती है और पहले जैसे भक्त भगवान्‌से मिलनेके उपाय सोचा करता था, वैसे ही अब भगवान् भक्तसे मिलनेके उपाय सोचते हैं। कामुक जैसे कामिनीके सम्मिलनके लिये उत्कण्ठित होकर अनेक उपाय सोचता है, वैसे ही भगवान् भी अपनी भक्तिरूपा आह्लादिनीशक्ति परमान्तरंगा माधुर्याधिष्ठात्री महाशक्तिरूपा श्रीमद्वृषभानुनन्दिनी आदिके सम्मिलनके लिये उत्कण्ठित रहते हैं और सोचते हैं कि उनसे मिलनेका कोई उपाय निकालना चाहिये। जैसे कामुक कामिनीको वशमें करनेके लिये किसी मोहनमन्त्रका प्रयोग करें, वैसे ही श्रीकृष्ण श्रीराधा, ललिता, विशाखा आदि परमान्तरंगा ······माधुर्याधिष्ठात्री एवं तदंशभूता व्रजांगनाओंको वशमें करनेके लिये मोहनमन्त्र ढूँढ़ने लगे। फिर उन्होंने वंशीकी आराधना प्रारम्भ की।

वेणु-कूजनका प्रभाव

यहाँ एक बात बड़े महत्त्वकी है, व्रजांगनाओंने

पहले श्रीकृष्ण-प्राप्तिके लिये जैसे कात्यायन्यर्चन-व्रतका अनुष्ठान किया था, वैसे ही भगवान्‌ने वंशी-आराधन किया, वंशी साक्षात् भगवान् रुद्र हैं—'**रुद्रस्तु भगवान् वंशः।**' बिना भगवान् शिवकी आराधना किये क्या अभीष्ट फल कभी प्राप्त हो सकता है?—'**इच्छित फल बिनु सिव अवराधें। लहिअ न कोटि जोग जप साधें॥**' (रा०च०मा० १।७०।८) इसलिये श्रीकृष्णने श्रीमद्व्रजांगनाओंकी प्राप्तिके लिये वंशीरूप भगवान् रुद्रका आराधन आरम्भ किया। आराधनाका प्रकार भी विचित्र था। अपने सुमधुर कोमल अधरपल्लवपर वंशीको शयन कराते हैं, अपने अनेक दिव्य रसमणिजटित मुकुटका उसपर छत्र करते हैं, परम देदीप्यमान सुवर्ण मणिमय कुण्डलोंसे आरती उतारते हैं, सुमधुर अधरसुधाका भोग लगाते हैं और अपने कोमल अंगुलिदलोंसे उसका पादसंवाहन करते हैं—पैर दबाते हैं। इस प्रकार आराधन करते-करते श्रीकृष्णको यह जाननेकी इच्छा हुई कि अभी इष्टदेव प्रसन्न हुए या नहीं। इसके लिये वंशीकी परीक्षा चली। एक दिन उसकी ध्वनिसे यमुनाकी गति रुक गयी। वंशीके उस दिव्य प्रभावको देखकर विश्वास बढ़ा, श्रद्धा बढ़ी, इससे पूजा भी बढ़ी, आराधना और तन्मयतासे चलने लगी। एक दिन वृन्दावनके पाषाण वंशीकी ध्वनिको श्रवणकर द्रवीभूत हो गये, पशु-पक्षी, देवताओंके विमान आदिकी गति रुक गयी, सब स्तब्ध हो गये। इस प्रकारसे जब पूर्ण रीतिसे वंशीकी परीक्षा हो गयी, तब श्रीकृष्णने आज गोपांगनाओंके लिये उसे बजाया—'**तद् व्रजस्त्रिय आश्रुत्य वेणुगीतं स्मरोदयम्।**' (श्रीमद्भा० १०।२१।३)

उस वेणुगीतको जैसे श्रीव्रजांगनाओंने सुना, वैसे ही औरोंने भी सुना, परंतु रसिकताके अभाववश औरोंपर उसका प्रभाव न हुआ। ठीक ही है, अरसिकोंसे रसका निवेदन निष्फल ही होता है—'**अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख।**' अतः समस्त व्रजवासियोंने उसे सुना, पर रसिकशिरोमणिका कुछ व्रजांगनाओंपर प्रभाव अधिक व्यक्त हुआ।

यहाँ **आश्रुत्य** पदका प्रयोग है, अतः **आ ईषत् श्रुत्वा** यह अर्थ हुआ। अर्थात् वेणुवादन दूर वृन्दावनमें हुआ और गोपांगनाएँ व्रजमें थीं। अतः उन्होंने दूर होनेके कारण स्पष्ट नहीं सुना, अपितु ईषत्—थोड़ा सुना। सुनते ही मूर्च्छित हो गयीं, कुछ देरके बाद उनकी मूर्च्छा भंग हुई। श्रीव्रजसीमन्तिनियोंने वेणुगीत सुना और दूसरोंने वेणुकूजन सुना। कूजनमें अर्थविहीन केवल ध्वनि होती है, परंतु गीत सार्थक—अर्थयुक्त होता है। इसीलिये जिन व्रजदेवियोंने गीत सुना, उनके अन्तःकरणमें गीतके अर्थ श्रीमद्व्रजेन्द्रकिशोर मनमोहन श्यामसुन्दरका सुन्दर स्वरूप अभिव्यक्त हुआ, किंतु अन्योंने कूजन सुना, अतः उनके मनमें उस मधुरमूर्तिका उदय नहीं हुआ। ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र आदिने भी वेणुकूजन सुना, सभी एक भावविशेषमें मुग्ध तो हुए। किसीकी समाधि भी भंग हुई, परंतु किसीको उसका तत्त्वरहस्य निश्चितरूपेण ज्ञात न हो सका—'**शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः।**' ....'**कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः॥**' (श्रीमद्भा० १०।३५।१५) चतुर्दश भुवनोंमें वंशीका रव हुआ। सभी मुग्ध हुए, जिनपर विशेष प्रभाव पड़ा, वे भावावेशमें प्रेमोन्मादमें मूर्च्छित हो गये। आज भी श्रीकृष्णकी नित्य लीलाएँ चल रही हैं, आज भी वंशीवादन हो रहा है। भगवान् जैसे श्रीव्रजांगनाओंको चाहते हैं, वैसे प्रत्येक प्राणीको चाहते हैं। प्रत्येकके लिये उनका वेणुगीत सदा गाया जा रहा है। उस गीतकी मनोहरता भी सर्वजनोंके लिये है—'**सर्वभूतमनोहरम्।**' (श्रीमद्भा० १०।२१।६)। परंतु महामोहावृतमनस्क होनेके कारण लोगोंकी प्रवृत्ति उधर नहीं होती।

'**काश्चित् परोक्षं कृष्णस्य स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन्॥**' (श्रीमद्भा० १०।२१।३) यहाँ '**काश्चित्**' पदसे यह भाव निकला कि कान्तभाववती व्रजांगनाओंको तो स्मरोदय हुआ, परंतु श्रीमन्नन्दगेहिनी श्रीयशोदा, श्रीरोहिणी आदि मान्याओंमें

उसी वेणुगीतके श्रवणसे वात्सल्यभावका उदय हुआ। अस्तु, कुछ व्रजांगनाएँ वेणुगीतकूजनको श्रवणकर मूर्च्छित हुईं, कुछ कालमें पुनः सावधानता आनेपर वेणुगीत सुना, उसका तत्त्व समझकर प्रेमोन्मादमें पुनः मूर्च्छित हो गयीं। भगवान्‌के अनुग्रहविशेषसे पुनः सावधान होकर अपनी सखियोंसे उस तत्त्वका वर्णन करनेमें प्रवृत्त हुईं।

तद् व्रजस्त्रिय आश्रुत्य वेणुगीतं स्मरोदयम्।
काश्चित् परोक्षं कृष्णस्य स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन्॥
तद् वर्णयितुमारब्धाः स्मरन्त्यः कृष्णचेष्टितम्।
नाशकन् स्मरवेगेन विक्षिप्तमनसो नृप॥

(श्रीमद्भा० १०। २१। ३-४)

जब भगवान् श्रीकृष्णने वेणुकूजन किया—वंशी बजायी—तब सभी श्रवणकर्ता उससे प्रभावित हुए। क्योंकि कूजन या ध्वनिका यह स्वभाव है कि श्रोतापर कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य करती है। विशेषतः इस वेणुकूजनके श्रवणसे सबमें भगवदीयताका भाव आविर्भूत हुआ। कूजन, नादकी यह महिमा है कि जिससे यह सम्बन्धित हो, उसे भगवान्‌का बना दे। यहाँ कूजन, रव और गति भिन्न-भिन्न हैं; क्योंकि यह भगवदधर-सुधासे संवलित हैं। भगवान्‌की अधरसुधाके सभी समान अधिकारी नहीं हैं, अतः स्वस्वाधिकारानुसार उसमें अधरसुधा-वितरणके लिये वेणुवादनमें भी कूजनादि भेद हैं। अधरसुधाके तीन भेद हैं—१. देवभोग्या, २. भगवद्भोग्या, ३. सर्वभोग्या। ये तीनों सुधाएँ श्रीकृष्णके एक ही अधरमें रहती हैं। परंतु इनका दान उन योग्य अधिकारियोंको ही होता है, सबको नहीं। यहाँ भावुकोंका भाव यह है—'**अधर एव लोभः**' इस उक्तिके अनुसार भगवान्‌का अधर ही साक्षात् मूर्तिमान् लोभ है। जैसे भगवान्‌का मन चन्द्रमा, सूर्य नेत्र आदि हैं, वैसे ही मूर्तिमान् लोभ अधर है। भाव यह है कि भगवान्‌ने अपने अधरसुधारूप कोषका अध्यक्ष लोभको बनाया। अध्यक्ष-भण्डारी कृपण होना चाहिये। वह जिसे जिस वस्तुका और जितनेका अधिकारी समझे, उसे उस वस्तुको उतना ही प्रदान करे। इसीलिये भगवान्‌ने स्वाधरसुधाका अध्यक्ष लोभको बनाया, जिससे वह एक ही अधरमें रहनेवाली तीन तरहकी सुधाको अधिकारानुसार प्रदान करे। अतः यहाँ यद्यपि वेणुकूजनको व्रजस्थ सभी प्राणियोंने सुना, परंतु उसके द्वारा वितरित होनेवाली अधरसुधाकी प्राप्ति श्रीवृषभानुनन्दिनी, ललिता, विशाखा आदि अधिकारिणी अन्तरंगभूता व्रजांगनाओंको ही हुई।

पहले कहा जा चुका है कि वेणुछिद्रद्वारा निर्गत भगवान् श्रीकृष्णकी अधरसुधाके सम्बन्धसे सब रसात्मक हो गये। यों देखें तो निखिल विश्व आनन्दरूप ही है; क्योंकि यह समस्त चराचर जगत् एक अखण्ड, अनन्त, निर्विकार आनन्दसे उत्पन्न हुआ, उसीमें स्थित है और उसीमें लीन होता है, अतः आनन्दस्वरूप ही है। जैसे घट, शराव, उदंचनादि पदार्थ मृत्तिकासे उत्पन्न होते हैं, उसीमें स्थित होते हैं और अन्तमें उसीमें लीन होते हैं, अतः मृत्तिकास्वरूप ही हैं।

तो भी विश्वकी आनन्दरूपता मायासे आवृत होने '**आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।**' (तैत्तिरीय० ३। ६) के कारण अभिव्यक्त नहीं है—'**नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।**' (गीता ७। २५) जैसे काष्ठोंमें अग्नि व्यापक होते हुए भी अव्यक्त है, दाहकत्व-प्रकाशकत्व रूपमें व्यक्त नहीं है, परंतु दाहकत्व-प्रकाशकत्वविशिष्ट साक्षात् व्यक्त अग्निसे उन काष्ठादिका सम्बन्ध होते ही उनमें भी अग्नि व्यक्त हो जाता है, वैसे ही समस्त विश्व आनन्दरूप-रसात्मक होते हुए भी उसकी रसात्मकता अभिव्यक्त नहीं है। जब शुकादि ऐसे महापुरुषोंका, जिनकी साक्षाद्भगवत्सम्बन्धसे रसात्मकता व्यक्त हो गयी है, अनुग्रह प्राप्त होता है, तब उसकी स्वाभाविकी रसात्मकता अभिव्यक्त हो जाती है। '**देवो भूत्वा देवं यजेत्।**' अर्थात् भक्त स्वयं भगवद्रूप होकर भगवान्‌का यजन करे, इस सिद्धान्तके अनुसार अचिन्त्य, अनन्त, परमानन्दमय निखिल रसामृतमूर्ति भगवान् श्रीकृष्णका अन्तरंग रमण उन्हींके साथ हो

सकता है, जिनकी भगवदीयता, रसात्मकता अभिव्यक्त हो चुकी हो। इसीलिये जिनकी भगवदीयता, रसरूपता पहले व्यक्त नहीं थी, उनकी वह रसस्वरूपता इस वेणुकूजनसे व्यक्त हुई। जहाँ वह पहलेसे ही व्यक्त थी, वहाँ स्मरका—स्मरणका उदय हुआ। नादसे उद्दीपन-विधया भी स्मृति हो सकती है। नादके श्रवणसे उसके उद्‌गमस्थलकी स्मृति होनी स्वाभाविक है।

संसारके समस्त प्रवाहोंका स्वभाव है कि वह अपनेमें निपतित वस्तुको अपने गन्तव्य स्थानमें ले जाता है। जैसे गंगाके प्रवाहमें पड़ा हुआ पुष्प गंगाके गन्तव्य स्थानकी ओर बह जाता है, परंतु वेणुनादप्रवाहका इससे विपरीत स्वभाव है। वह अपनेमें निपतित वस्तुको गन्तव्य स्थलकी ओर न ले जाकर अपने उद्‌गमस्थानकी ओर ले जाता है। अत: भगवान् श्रीकृष्णके मुखचन्द्रनिर्गत वेणुगीतके अखण्ड प्रवाहमें निपतित श्रीव्रजांगनाओंका मन उस प्रवाहके उद्‌गमस्थान श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णकी ओर बह चला और मनके पीछे उनका शरीर भी बह चला।

इस वेणुकूजनके प्रभावसे कुछ गोपांगनाओंको सचमुच ही स्मरका—कामका उदय हुआ; क्योंकि यह कूजननाद कामका मुख्य दूत है—'**मन्मथस्याग्रदूत:**।' यह नाद मोहनमन्त्र है, अत: इसे श्रवणकर श्रीव्रजगोपिकाएँ मूर्च्छित हुईं। यह मूर्च्छा संचारी भाव है। यहाँ तो मूर्च्छा क्या, अपस्मारतक रस है। संसारके रागमें तो सभी मूर्च्छित हैं, परंतु श्यामसुन्दर मनमोहन श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णके लोकोत्तर सुमधुर अद्भुत सौरस्य, सौगन्ध्य, सौन्दर्यसम्पन्न माधुर्यपर मोहित होकर मूर्च्छित होनेका विलक्षण सौभाग्य तो माधुर्याधिष्ठात्री परमान्तरंगा श्रीवृषभानुनन्दिनी आदि कतिपय व्रजसीमन्तिनियोंका ही है। अस्तु, उस परम मनोहर मोहनमन्त्र वेणुकूजनके श्रवणसे मूर्च्छित होनेपर श्रीकृष्णके अनुग्रहविशेषसे कुछको सावधानता प्राप्त हुई। तब सावधान होकर उन्होंने उस कूजनकी ओर अपने नेत्र और मनको लगाया। पहले वेणुकूजनका प्रयोजन उन्हें सावधानकर संकेत करना था। जब वे सावधान हो गयीं, तब श्रीकृष्णने वेणुद्वारा गीत गाया, जो स्पष्टार्थक था। यह गीत भगवदीय रसका निरूपक है अर्थात् भगवान्‌के लीलाविशिष्ट तात्कालिक स्वरूपका स्पष्ट निर्देश इस वेणुगीतसे हुआ। जिन गोपिकाओंने उसे सुना, उनके अन्त:करणमें भगवत्स्वरूप व्यक्त हुआ। उनके विविध हाव-भाव आदि व्यक्त हुए। इन सबसे वे फिर मूर्च्छित हुईं; क्योंकि इस समय गीतार्थद्वारा श्रीकृष्णके रसात्मक साक्षात् स्वरूपका उन्हें स्मरण हुआ। बारम्बार स्मरणके बाहुल्यसे कुछ गोपांगनाओंको तो अन्त:करणमें प्रियतम प्राणधन श्रीकृष्णका आलिंगन प्राप्त हुआ। फिर उनमेंसे ही किन्हींने अपनी सखियोंसे उसका वर्णन करना आरम्भ किया—

तद् वर्णयितुमारब्धा: स्मरन्त्य: कृष्णचेष्टितम्।
नाशकन् स्मरवेगेन विक्षिप्तमनसो नृप॥

(श्रीमद्भा० १०।२१।४)

उस वेणुगीतसे श्यामसुन्दर मनमोहन श्रीकृष्णका स्मरण हुआ, परंतु उसका वर्णन करनेमें स्मरवेगवश वे समर्थ न हो सकीं। मनसे एक बार एक ही कार्य हो सकता है, या तो वे अनुभव करें या स्मरण करें, परंतु अनुभव या स्मरणके साथ-साथ वर्णन नहीं हो सकता। शिव, काकभुशुण्डि, सनक, शुकदेव आदि सबकी यही स्थिति है। वे लोग या तो भगवान्‌के परम मंगलमय दिव्य सौन्दर्य-माधुर्यादिका अनुभव स्मरण करते हैं या वर्णन किया करते हैं। यह वर्णन भी बुद्धिपूर्वक नहीं, अपितु उद्‌गार है। भावना करते-करते रस जब अन्त:करण, प्राण, इन्द्रिय, रोम-रोममें भर जाता है, तब वह मुखमें आकर उच्छालित हो उठता है, वही उनका उद्‌गार है। वर्णनकालमें श्रीकृष्णचेष्टितका स्मरण हो जानेसे वर्णन ही नहीं हो सकता, किंतु भगवान् श्रीकृष्णको तो गोपिकाओंद्वारा वर्णन कराना अभीष्ट है; क्योंकि तभी वह सुधा भगवद्भोग्या बन सकेगी। भगवान्‌के अधरमें रहनेवाली सुधा भगवद्भोग्या कैसे हो? भगवान् स्वयं अपने-आप ही स्वाधरोष्ठस्थित सुधाका पान करें, यह तो विपरीत है। तब यह हो कैसे? हाँ, इसका एक ही

प्रकार है। जब भगवान्‌के अधरपल्लवोंसे सम्बन्धित वेणुमें भरपूर होकर उसके छिद्रोंसे निकलकर वह सुधा व्रजसीमन्तिनियोंके निरावरण कर्णकुहरोंद्वारा उनके अन्त:करणमें निविष्ट होकर, वहाँसे उनके अन्त:करण, प्राण, अन्तरात्मा, इन्द्रिय, रोम-रोममें भरपूर होकर मुखमें आकर उनके अधरपल्लवोंद्वारा वर्णित हो, तभी वह सुधा भगवद्भोग्या हो।

यहाँ कुछ लोग सन्देह करते हैं कि यह असंगत है; क्योंकि पहले श्लोकमें **'चुकूज वेणुम्'** से वेणुका कूजन कहा गया और दूसरे ही श्लोकमें **'आश्रुत्य वेणुगीतम्'** से वेणुगीत कहा गया, यह कैसे? कूजन तो अर्थसम्बन्धविहीन ध्वनिमात्र है, किंतु गीतका तो कुछ अर्थ होता है। ऐसी स्थितिमें पहले श्लोकमें जिसे कूजन कहा गया, दूसरे ही श्लोकमें उसकी ही गीतोक्ति असंगत है। एवंच जब स्मरवेगसे विक्षिप्त-मनस्क होनेके कारण वर्णन न कर सकी—**'तद् वर्णयितुमारब्धाः। नाशकन् स्मरवेगेन।'** तब बीचमें **'बर्हापीडं नटवरवपुः।'** (श्रीमद्भा० १०।२१।५) इत्यादि वर्णन और **'इति वेणुरवं श्रुत्वा'** यह सब कैसे? इसका समाधान यह है कि यहाँ पहले श्लोकमें श्रीकृष्णका श्रीवृन्दावन-प्रवेश वर्णित है, दूसरेमें उनके द्वारा वेणुकूजन। इस कूजनद्वारा अन्त:करणमें श्रीकृष्णस्वरूपका अनुभव करके ज्यों ही कोई व्रजांगना अपनी सखियोंसे अपने अनुभवका वर्णन करने लगीं, त्यों ही भावनाजन्य स्मरवेगसे मूर्च्छित हो गयीं। फिर सावधान होनेपर वर्णनका प्रयत्न करनेपर पुन: श्रीकृष्णका स्मरण हुआ, क्योंकि वर्णन करनेके लिये उस वर्णनीय तत्त्वका पहले स्मरण होना स्वाभाविक था, किंतु उसका स्मरण होनेसे पुन: मूर्च्छित हो गयीं।

इस तरह जब-जब वर्णन करनेका प्रयत्न करती हैं, तब-तब स्मरवेगके कारण मूर्च्छा आ जानेसे वर्णन करनेमें असमर्थ हैं, परंतु भगवान् श्रीकृष्णको तो उनसे वर्णन कराना इष्ट है; क्योंकि जब व्रजांगनाओंके द्वारा उसका वर्णन हो, तभी वह भगवान्‌की अधरसुधा भगवद्भोग्यारूपमें अभिव्यक्त हो। अत: भगवान्‌ने कृपाकर अपने उद्बुद्ध संप्रयोगात्मक-विप्रयोगात्मक उभयविध शृंगाररसात्मकस्वरूपको अधरसुधारूपसे स्वाधरपल्लवपर विराजमान वेणुमें भरकर उस वेणुके छिद्रोंद्वारा निर्गत गीतपीयूषरूपसे श्रीव्रजसीमन्तिनियोंके निरावरण कर्णकुहरद्वारा उनके निर्मल स्वच्छ अन्त:करण-पंकजमें प्रविष्ट होकर उनकी अन्तरात्मा, अन्त:करण, प्राण, इन्द्रिय, रोम-रोममें भरपूर होते हुए उनके अधरपल्लवतक परिपूर्ण हो गये, अब वह परिपूर्ण अधरसुधा उन श्रीव्रजांगनाओंके प्रयत्न निरपेक्ष ही अपने-आप उनके अधरपल्लवोंसे **'बर्हापीडं नटवरवपुः'** इस गीतरूपमें उच्छलित होकर अभिव्यक्त हो उठी। इसीलिये यह उस अनुभूत तत्त्वका उद्‌गार है, वर्णन नहीं। किसी अतिदिव्यपात्रमें कोई सुमधुर रस भरा हुआ हो और भरपूर होनेसे वायुके आघातसे वह रस उच्छलित होकर पात्रमेंसे निकल पड़ता है या स्वयं ही उस रसमें कोई अलौकिक उफान आनेसे वह रस स्वयं उद्वेलित होकर छलक पड़ता है। ऐसी ही अवस्था भावुकोंकी होती है। वे लोग किसी उद्दीपनादि सामग्रीको देखते ही अपने प्रियतमके स्मरणसे विह्वल होकर पुलकित हो उठते हैं, देहभान भूल जाते हैं, पुन:-पुन: स्मरणजन्य भावनाविशेषसे उनके मानस-पंकजमें विराजमान मूर्तिमान् वह दिव्यरस उनके रोम-रोममें भरपूर होकर स्वयं उनके मुखसे शब्द-ब्रह्मरूप कथासुधाद्वारा बरबस अभिव्यक्त हो उठता है।

श्रीहनुमान्‌जीको भी भीमके दर्शनद्वारा जैसे अपने ध्येय, ज्ञेय, परमाराध्य, श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्रकी स्मृति हुई, वैसे ही भावुकोंको किसी उद्दीपन-सामग्रीके दर्शनसे अपने प्रियतम प्राणधनका स्मरण होता है। जैसे चन्द्रदर्शनसे समुद्र उद्वेलित होता है, वैसे ही उत्ताल तरंगोंसे परम सुन्दर श्रीमुखचन्द्रको देखकर श्रीवृषभानुनन्दिनी श्रीराधिकाके अन्त:करणमें विराजमान अनुरागरससारसागर उद्वेलित होकर कथारूपमें व्यक्त हो उठता है। यही अवस्था श्रीकृष्णकी भी है—वृषभानुनन्दिनीके दिव्य सौन्दर्यमय श्रीमुखचन्द्रकी

मनोहर शोभाका अवलोकनकर उनके मानसपंकजमें विराजमान अनुरागरसामृतसिन्धु उद्वेलित—विक्षुब्ध हो उठता है। जैसे पूर्णिमा आदि अवसरोंपर ही सागरकी वैसी स्थिति होती है, वैसे ही प्रसंगविशेषोंपर ही यह बात होती है।

भक्तिका स्वरूप

भगवान्‌का सगुण, निर्गुण दोनों रूपोंका कर्णरन्ध्रसे ही हृदयमें प्रवेश होता है। भगवान्‌के मधुर मनोहर सौन्दर्यादि गुणगणोंके श्रवणसे निर्मल, विशुद्ध, गंगाजलके अखण्ड प्रवाहकी तरह द्रुत मानसवृत्तिप्रवाहका श्रीभगवान्‌की ओर चल पड़ना ही भक्ति है अथवा भगवान्‌के दिव्य गुणगणोंके श्रवणमात्रसे लाक्षाकी तरह अत्यन्त द्रुत स्वच्छ अन्त:करणमें भगवान्‌की परम मनोहर मंगलमयी मूर्तिका दृढ़ अंकित होना ही भक्ति है—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥

(श्रीमद्भा० ३।२९।११)

द्रुतस्य भगवद्धर्माधारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसोवृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते॥

इसका मूल कथा-श्रवण है। उधर (निर्गुणोपासनामें) शब्दब्रह्म (महावाक्यरूप) है। परमानन्दरसामृतमूर्ति भगवान् ही कथासुधारूपमें भावुकोंके निरावरण कर्णकुहरद्वारा निर्मल हृदय-पंकजमें प्रविष्ट होते हैं और भावनासे वृद्धिंगत होकर भक्तके मन, इन्द्रिय, प्राण, रोम-रोममें भरपूर होकर कथासुधारूपमें परिणत होते हैं। इसपर यदि कोई तर्क करे कि भावुकके हृदयमें व्यक्त भगवान्‌की मूर्ति भावनामयी कही जा सकती है, यह कैसे कहा जा सकता है कि भगवान् ही स्वयं भक्तहृदयमें अभिव्यक्त होते हैं? परंतु यह ठीक नहीं है।

क्योंकि—

ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद॥

(रा०च०मा० १।१९८)

-के अनुसार भगवान्‌को आना-जाना कहाँ है, वे तो सर्वव्यापक हैं, सर्वत्र हैं, केवल माया-जवनिकासे आवृत हैं, बस; उस माया-जवनिकाके अपसारणका ही विलम्ब है, वे अपनी दिव्य महिमासे जहाँ उसका अपसारण करते हैं, वहीं उनका प्राकट्य हो जाता है। उत्तराके गर्भमें परीक्षित्‌को जो भगवद्दर्शन हुआ, वहाँ भगवान्‌ने उत्तराके गर्भमें क्या कहीं बाहरसे प्रवेश किया था? वे तो सर्वप्रकाशक, सर्वव्यापक होनेसे वहाँ भी थे ही, केवल अपने परम मंगलमय दिव्य अनुग्रहसे माया-जवनिकाका अपसारण करके प्रकट हो गये। इन सब विवेचनोंसे स्पष्ट हो गया कि नि:सन्देहरूपसे परमार्थ तत्त्व ही शब्दब्रह्मके रूपमें भावुकोंके मुखद्वारा निकलता है और वही भावुकोंके कर्णरन्ध्रद्वारा हृदयमें आविर्भूत होता है। यह असाधारण कथासुधाकी चर्चा है।

इधर भगवान्‌ने सोचा कि स्मरवेगसे विक्षिप्त-मनस्क इन व्रजांगनाओंसे गीतार्थका वर्णन न बन सकेगा, अत: निखिलरसात्मक निज मूर्तिको निरावरण बनाकर वेणुगीतपीयूषरूपमें कर्णकुहरद्वारा गोपिकाओंके हृदय-पंकजमें पहुँचाएँ। यह गीत पूर्व कूजनादिकी अपेक्षासे अद्भुत है। भावुकोंने श्रीकृष्णको फलात्मक माना है, साधन नहीं। सुख फलात्मक होता है, अत: उसके ही स्त्री-पुत्रादि साधन हैं। जिसके लिये सब कुछ हो और जो स्वयं अन्य किसीके लिये न हो, वही फल होता है। स्त्री, पुत्र, धन-धान्यादि सब पदार्थोंकी अपेक्षा सुखके लिये है। यदि कहा जाय कि सुख किसलिये? तो कहना पड़ेगा कि सुख और किसीके लिये नहीं, सुख-सुखहीके लिये चाहिये। अत: स्त्री-पुत्रादि सब सुखके साधन हैं और सुख फलात्मक है। ऐसे ही भगवान् तो सुखके भी सुख होनेसे परम फलस्वरूप हैं; क्योंकि परम आनन्द-रसमूर्ति हैं। जैसे खाँडके खिलौनेके समस्त अवयव खाँडके ही होते हैं, वैसे ही निखिल रसामृतमूर्ति भगवान् श्रीकृष्णके हस्तारविन्द, पादारविन्द, मुखारविन्द सभी श्रीअंग परमानन्दमय ही हैं—'**आनन्दमात्रं**

करपादमुखोदरादिः।'

भगवान्का श्रीमुखचन्द्र पूर्णानुराग रससार-सागर-समुद्भूत है। कमल जैसे प्राकृत सरोवरसे उत्पन्न होता है, वैसे भगवान्का मंगलमय मनोहर श्रीवदनारविन्द पूर्णानुरागरससार-समुद्भूत है। प्राकृत जलके सरोवरमें पंक-मृण्मय होता है, उस पंकसे उत्पन्न होनेवाला पंकज कितना सौरस्य, सौगन्ध्य, सौन्दर्य, सुस्पर्श-सम्पन्न होता है? अब यदि क्षीरमय सरोवर हो तो उसमें पंक भी क्षीरसार नवनीतमय ही होगा और उससे समुत्पन्न पंकजका सौन्दर्य, सौगन्ध्य, सौरस्यादि भी अलौकिक ही होगा। यहाँ तो श्रीश्रीकृष्णमुख-पंकज पूर्णानुरागरससारसरोवर-समुद्भूत है। अतः उस सरोवरका पंक भी पूर्णानुरागरससारसर्वस्व ही होगा। उससे प्रादुर्भूत श्रीकृष्णमुखेन्दीवरकी शोभा, सौन्दर्य, माधुर्य, सौगन्ध्य, सौरस्य आदिका तो कहना ही क्या?

भगवान्का विग्रह फलात्मक है, साधन नहीं

अतः श्रीकृष्णका समस्त विग्रह फलात्मक है, साधन नहीं। विधिनिषेध साधनमें ही हुआ करते हैं, फलमें नहीं। अघासुरहनन आदिकी कहीं-कहीं श्रीकृष्णमें साधनता भी थी, परंतु ध्यानकालमें तो वे सुखमात्र स्वरूप होनेसे शुद्ध फलात्मा ही हैं। यदात्मक श्रीकृष्ण होंगे, तदात्मक ही उद्‌बुद्ध सम्प्रयोगात्मक-विप्रयोगात्मक उभयविध शृंगाररसस्वरूप भगवद्भोग्या अधरसुधा भी होनी चाहिये। अन्यान्य अंगोंमें साधनत्वका निवेश होनेपर भी अधरसुधामें तो केवल फलात्मकता ही है। लौकिक रस तो अनुभव करते-करते कुछ कालमें विरस हो जाते हैं, परंतु इस रसकी यह विशेषता है कि यह कभी विरस नहीं होता, अपितु जैसे-जैसे अधिकाधिक अनुभूत होता है, वैसे-वैसे वृद्धिंगत होता है। कामिनी सम्प्रयोगादिमें यह बात नहीं है, वहाँ तो कामिनी आदिमें विरसता आ जाती है, पर यहाँका रस तो कभी विरस होता ही नहीं—**'यह रस विरस होत नहिं कबहूँ।'**

हाँ तो यह रस गोपिकाओंकी अन्तरात्मा, अन्तःकरण, प्राण, इन्द्रिय, रोम-रोममें भरपूर होकर श्रीव्रजांगनाके अधरपल्लवद्वारा—

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद् वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः॥

(श्रीमद्भा० १०।२१।५)

-इत्यादि वेणुगीतपीयूषरूपमें उद्वेलित होकर अभिव्यक्त हो गया। **'बर्हापीडं'** यह साधारण श्लोक नहीं है, अपितु साक्षात् भगवद्भोग्या अधरसुधा ही है। पीछे कहा जा चुका है कि श्रीकृष्णके अधरमें रहनेवाली सुधा उन्हींके लिये सम्भोग्य कैसे हो सकती है? यह रसशास्त्रके विरुद्ध है। परंतु भगवान्को उस सुधाका सम्भोग इष्ट है, पर यह तभी हो सकता है कि जब यह भगवद्भोग्या अधरसुधा श्रीव्रजांगनाओंके अधरपल्लवोंमें अभिव्यक्त हो। तब ही संप्रयोगात्मक शृंगारमें भगवद्भोग्या अधरसुधा भगवान्को प्राप्त हो सकेगी। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दने उस सुधाको वेणुमें पूरितकर उसके छिद्रोंसे श्रीव्रजांगनाओंके कर्णकुहरद्वारा उनके हृदयमें प्रविष्ट किया। किंतु जब वह व्रजांगनाओंके द्वारा वर्णित होकर उनके अधरपल्लवपर विराजमान हो, तब उसमें भगवद्भोग्यता आये। गोपिकाएँ तो विह्वल होकर उसका वर्णन करनेमें असमर्थ हो रही थीं, किंतु श्रीकृष्णको तो वर्णन कराना अभीष्ट था। अतः उन्होंने अपनी कृपाविशेषसे श्रीव्रजांगना-हृदयस्थ उस सुधाको भावनाद्वारा अभिवृद्धकर उनके मुखद्वारा वर्णन-व्याजसे अभिव्यक्त किया अर्थात् वह भगवद्भोग्या अधरसुधा वेणुगीतरूपमें श्रीव्रजांगनाओंके मुखपंकजमें आयी। वह वर्णन उद्‌गार होनेसे प्रयत्ननिरपेक्ष एवं बुद्धिनिरपेक्ष है, अतः स्वाभाविक है। वही **'बर्हापीडं नटवरवपुः'** है, यही वेणुरव है—**'इति वेणुरवं राजन्'** (श्रीमद्भा० १०।२१।६) अर्थात् जो भगवद्भोग्या अधर-सुधा व्यक्त हुई, वह एतत् श्लोकात्मक है।

बाह्य रमण और आन्तर रमण

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि इस श्लोक और अर्थ दोनोंमें अभेद है। नाम-नामी, शब्द-अर्थमें अभेद होता है। प्रियतम प्राणधन निरतिशय निरुपाधिक परप्रेमास्पद भगवान् श्रीकृष्णका श्रीव्रजांगनाओंके साथ बाह्य और अन्तर दोनों रमण विवक्षित है। बाह्यरमण प्रिया-प्रियतमके बाह्य देहके संसर्गसे होता है, किंतु अन्तररमण तो बाह्य देहसंसर्गनिरपेक्ष प्राणोंका, मनका, अन्तरात्माका सर्वांगीण तादात्म्यसे ही बन सकता है, पर श्रीगोपिकाओंसे श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दका आन्तररमण तो तब हो, जब सचमुच ही श्रीकृष्ण उन गोपिकाओंके अन्तरमें विराजमान हों। भावनाओंके प्राखर्यसे भी भावितका साक्षात्कार होता है, पर है वहाँ भावनामय मूर्ति ही। उसके साथ होनेवाले सम्प्रयोगको तात्त्विक नहीं कहा जा सकता, अपितु वह भ्रमात्मक है; क्योंकि वहाँ अनुभव संवाद नहीं है। स्वरूपका वर्णन होनेसे एक दिव्य तेजोमय तत्त्व अभिव्यक्त होता है, वही मनोमयी मूर्ति है। उस मूर्तिमें भी रमण होता है, परंतु वह साक्षात् भी है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह भावनामूलक मनोमयी मूर्ति है। हाँ, भगवान्की मनोमयी मूर्तिकी भावना भी अनन्तमहिम है, इसमें कोई सन्देह नहीं। विधुरपरिभावितकामिनीके साक्षात्कार और भगवान्की मंगलमयी, भावनामयी, मनोमयीमूर्तिके सौन्दर्य, माधुर्य-समास्वादनमें बड़ा अन्तर है। पहला अनर्थका—पतनका मूल एवं द्वितीय परम कल्याणका मूल है।

मनोमयी प्रतिमाका वैशिष्ट्य

भगवान्की जैसे धातुमयी, पाषाणमयी, काष्ठमयी प्रतिमा होती है, वैसी ही मनोमयी प्रतिमा होती है। पाषाणादिमयी मूर्तिके अवलम्बसे जैसे शनैः-शनैः भगवदभिव्यक्ति होती है, वैसी ही मनोमयी मूर्तिके चिन्तनसे भगवत्साक्षात्कार होता है। विधुरपरिभावित-कामिनी-साक्षात्कार-स्थलमें कामिनी विद्यमान न होनेसे वह केवल भावना है, भ्रम है, किंतु भगवान् सर्वान्तरात्मा, सर्वव्यापक हैं, भावुकपरिभावित मनोमयी भगवन्मूर्तिकी भावनाके प्राखर्यसे होनेवाला भगवत्-साक्षात्कार तात्त्विक है; क्योंकि जहाँ भगवान्का भावनाभावित साक्षात्कार हो रहा है; वहाँ सर्वान्तरात्मा भगवान् स्वयं विराजमान हैं। इसीलिये अघासुर वध-प्रसंगमें कहा गया है कि श्रीशुकदेवजीने जब कहा कि द्विजमांसरुधिराशी महापापी अघासुरके मुखसे दिव्य ज्योति निकलकर भगवान् श्रीकृष्णके मुखमें प्रविष्ट हुई, तब यह सुनकर परीक्षित्को सन्देह हुआ कि 'यह क्या? बड़े-बड़े योगीन्द्र-मुनीन्द्रोंको भी जो गति परम दुर्लभ है, वह उस दुष्ट दानव अघासुरको कैसे प्राप्त हुई?'

इसपर श्रीशुकदेवने कहा कि जिस अखण्ड, अनन्त, स्वप्रकाश, परमानन्दमूर्ति भगवान्के श्रीअंगकी केवल मनोमयी भावनामयी मूर्ति एक बार भावुकके स्वच्छ, समाहित अन्तःकरण पंकजपर आविर्भूत होकर भागवती गति-सायुज्य मुक्ति प्रदान करती है, वही सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन, नित्य, स्वप्रकाश रूपसे माया एवं मायिक प्रपंचको तिरस्कृत करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं जिसके उदरमें प्रविष्ट हुए, उसकी मुक्तिमें क्या सन्देह है?

सकृद् यदङ्गप्रतिमान्तराहिता
मनोमयी भागवतीं ददौ गतिम्।
स एव नित्यात्मसुखानुभूत्यभि-
व्युदस्तमायोऽन्तर्गतो हि किं पुनः॥

(श्रीमद्भा० १०।१२।३९)

भक्तकी भावनाके अनुसार ही भगवान्का स्वरूपधारण

भावुकका रसिक मन भगवान्को बनाता है, भक्त जैसी-जैसी मूर्तिकी भावना करता है, भगवान्को वैसा-ही-वैसा स्वरूप धारण करना पड़ता है—**'यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय॥'** (श्रीमद्भा० ३।९।११) साधारण मनुष्योंकी कल्पना मनोराज्य है, परन्तु भावुककी कल्पना फलपर्यवसायिनी होती है। इसलिये भावनाका प्राखर्य होनेपर भक्तोपहृत वस्तु भगवान्में उपलब्ध हो सकती है। यहाँ तर्क हो सकता है कि प्रत्यक्ष,

अनुमान आदि तो प्रमाण हैं, किंतु भावना प्रमाणकोटिमें परिगणित नहीं है, अतः भावनाभावित मनोमयीमूर्तिका साक्षात्कार विधुरपरिभावित कामिनी-साक्षात्कारके समान भ्रमात्मक है। किंतु ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि पहले कह आये हैं कि विधुरपरिभावितकामिनी-साक्षात्कारस्थलमें वहाँ कामिनीके न होनेके कारण प्रमाणान्तरके साथ विसंवाद होनेसे वह साक्षात्कार भले ही भ्रम हो, परंतु निर्गुण परब्रह्म-साक्षात्कारस्थलमें तो उपनिषदादि प्रमाणान्तर संवाद है अर्थात् शब्दप्रमाणभूत उपनिषद् ब्रह्मका जैसा स्वरूप बतलाती हैं, वैसा ही यहाँ साक्षात्कार भी हो रहा है। अतः इसको भ्रम नहीं कहा जा सकता। भगवान् सर्वव्यापक हैं, किंतु माया-जवनिकासे समावृत होनेके कारण सबको प्रकाशित नहीं होते—'**नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।**' (गीता ७।२५) किंतु वही भगवान् भक्तकी भावनासे या स्वानुग्रहविशेषसे यहाँ उस माया-जवनिकाका अपसारण कर देते हैं, वहीं उनका प्राकट्य हो जाता है। अर्थात् भावनामयी मूर्ति ही प्राकृतत्वको छोड़कर अप्राकृतत्वको धारण कर लेती है। यह ध्यानकी महिमा है, ध्यानके बढ़नेसे अलौकिकत्व आता है। उत्तराके गर्भमें अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रसे परीक्षित्की रक्षा करनेके लिये क्या कहीं बाहरसे आकर प्रविष्ट हुए? प्रह्लादके रक्षार्थ खम्भेमें कहाँसे आये? सर्वव्यापक होनेसे वे वहाँ पहलेसे थे ही, केवल अनुग्रहसे भक्त-रक्षार्थ माया-जवनिकाको दूरकर वहाँ प्रकट हो गये। ऐसे ही निर्गुणब्रह्म-साक्षात्कार-स्थलमें भी तत्त्व सर्वव्यापक होनेसे श्रवण-मननसे ही माया-जवनिकाका अपसरण हो जानेपर उसकी उपलब्धि हो जाती है; क्योंकि ज्ञान, ज्ञेय एवं ज्ञानगम्य सबके हृदयमें स्थित है—'**ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥**' (गीता १३।१७) किंतु उस माया-जवनिकाका पुनः आवरण न हो जाय, इसलिये उस श्रुत, मत, साक्षात्कृत तत्त्वाकाराकारित विशुद्ध मानसीवृत्तिके निरन्तर आदरपूर्वक अखण्ड प्रवाहरूप निदिध्यासनकी अपेक्षा है। इस तरह निर्गुण-सगुण भगवान्का साक्षात्कार भ्रम नहीं, अपितु परमार्थ-भूत है।

अस्तु, प्रकृतमें उद्बुद्ध सम्प्रयोगात्मक-विप्रयोगात्मक उभयविध शृंगारस्वरूप निखिल रसामृतमूर्ति श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही '**बर्हापीडं**' आदि वेणुगीतरूपमें श्रीव्रजांगनाओंके मानसपंकजमें पधारे और भावनाविशेषद्वारा वृद्धिंगत होकर उन व्रजांगनाओंकी अन्तरात्मा, मन, प्राण, इन्द्रिय आदिमें भरपूर होकर उनको अप्राकृत बनाकर मधुर मनोहर मंगलमयमूर्तिमें अभिव्यक्त होकर उन्होंने श्रीव्रजांगनाओंके साथ आन्तररमण किया। यह आन्तररमण ही यथार्थ रमण है, यहाँ देहादिका व्यवधान नहीं है, बल्कि अन्तःकरणमें ही श्रीकृष्णका प्राकट्य होनेसे व्रजांगनाओंसे उनका व्यवधानरहित परम आन्तररमण सम्पन्न हुआ है। यहाँका वैलक्षण्य यह है कि एक कालमें ही सम्प्रयोग-विप्रयोग उभयात्मक शृंगाररसका अनुभव होता है और दोनों ही उद्बुद्ध-उद्वेलित हैं। इसी बातको दिखलानेके लिये 'वेणुरव' शब्दका प्रयोग हुआ है। 'र' अग्निबीज होनेसे उससे विप्रयोगात्मक उद्बुद्ध शृंगाररसका ग्रहण है और 'व' अमृतबीज होनेसे उससे सम्प्रयोगात्मक उद्बुद्ध शृंगाररस गृहीत हुआ है।

अमलात्मा महायोगीन्द्र भी भगवान्के लोकोत्तर माधुर्यसे मुग्ध हो जाते हैं

इस रसकी यही विशेषता है कि वह बड़े-बड़े निर्विकल्प समाधिसिद्ध निर्गुणब्रह्मस्वरूपनिष्ठ महायोगीन्द्र मुनीन्द्रोंको भी अपनी ओर बलात् आकर्षित कर लेता है। आत्मस्वरूपमें रमण करनेवाले, चिज्जड़ाध्यासरूप ग्रन्थिका छेदन करनेवाले शुकादि, सनकादि महामुनीन्द्रगण भी उस अखण्ड, अनन्त, असंग, कूटस्थ, स्वात्मस्वरूपमें स्थितिको छोड़कर उस अचिन्त्य, अनन्त, सुमधुर अखिलरसामृतमूर्ति श्रीकृष्णके परम मंगलमय, लोकोत्तर, अद्भुत, मनोहर सौन्दर्य, माधुर्यके समास्वादनमें आसक्त हो जाते हैं—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

(श्रीमद्भा० १।७।१०)

शौनकजीको इस बातपर बड़ा सन्देह हुआ कि 'उन शुकदेवजीने जो जन्मसे ही सजातीय, विजातीय, स्वगतभेदरहित, अखण्ड, अनन्त, स्वप्रकाश, निर्गुण परब्रह्ममें परिनिष्ठित थे, जिनकी अखण्ड स्थिति चाहे आकाश टूट पड़े, मेरु विशीर्ण हो जाय या समुद्र सूख जाय तो भी टस-से-मस नहीं होती थी, सांसारिक मायामोहके जालमें बँध जानेके भयसे जो द्वादश वर्षपर्यन्त माताके उदरसे बहिर्भूत न होकर वहीं निर्गुण, निराकार तत्त्वमें सर्वात्मना परिनिष्ठित रहे, जैसे-तैसे गर्भसे निकलते ही अरण्यकी ओर चल पड़े, तत्त्ववित् होनेके कारण स्त्री-पुरुष आदि भेद जिनकी दृष्टिमें आता ही न था, उन महायोगी श्रीशुकदेवने अष्टादशसहस्र श्लोकवाली भागवत महासंहिताको अपने पिता श्रीव्याससे कैसे अध्ययन किया?' इसपर सूतजीने कहा—

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद् वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः॥

(श्रीमद्भा० १०।२१।५)

श्रीव्यासजीने यह श्लोक अपने कतिपय शिष्योंको पढ़ाकर उन्हें श्रीशुकदेवके पास अरण्यमें भेजा। शिष्योंने अरण्यमें शुकदेवजीके पास जाकर बड़े मधुर स्वरमें उक्त श्लोकको पुनः-पुनः पढ़ा। उसे श्रवणकर और तद्वर्णित श्यामसुन्दर मदनमोहन भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर मनोहर मूर्तिका चिन्तनकर उनकी समाधि भग्न हो गयी। प्रेममें विभोर होकर नाचने लगे। शिष्योंने जाकर व्यासजीसे सब हाल सुनाया। व्यासजीने सोचा कि उस श्लोकका प्रभाव तो पुत्रपर हुआ, पर वह अबतक आया क्यों नहीं? दिव्य दृष्टिसे देखनेपर उन्होंने निश्चित किया कि उसे यह सन्देह हो गया कि 'ऐसे लोकोत्तर सौन्दर्य लावण्यसम्पन्न भगवान् मुझ-जैसे दीनपर कृपा कैसे करेंगे?' बस, व्यासजीने एक दूसरा श्लोक पढ़ाकर शिष्योंको पुनः शुकदेवजीके पास भेजा। शिष्योंने उस श्लोकको मधुर स्वरसे गाकर शुकदेवजीको सुनाया—

अहो बकी यं स्तनकालकूटं
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥

(श्रीमद्भा० ३।२।२३)

अर्थात् 'आश्चर्य है कि जिस लोकबालघ्नी दुष्ट राक्षसी पूतनाने प्रभुको मार डालनेकी इच्छासे कालकूट हलाहल विषसंपृक्त स्तन्यपान कराया, पर उसको भी जिसने माताको प्राप्त होनेयोग्य सद्गति प्रदान की, उस भगवान्‌से अधिक दयालु, कृपामय और दूसरा कौन होगा?' श्रीब्रह्माजीको भी इस बातकी बड़ी चिन्ता हुई थी कि भगवान् इन व्रजनिवासी गोपोंसे कैसे ऋणमुक्त होंगे? ब्रह्माने जब भगवान्‌से कहा कि 'हे देव! मुझे यह सोचकर बड़ा मोह हो रहा है कि आप इन ग्वालोंको क्या देकर उनके ऋणसे मुक्त होंगे? यदि कहें कि इसकी क्या चिन्ता है? उन्हें त्रैलोक्य-सुख देकर उऋण हो जाऊँगा, परंतु भगवन्! आप ही सर्वफलात्मा—अनन्त सौख्य-सिन्धु हैं। निखिल ब्रह्माण्डके समस्त प्राणी जिस आनन्दसुधा-सिन्धुके एक बिन्दुको प्राप्तकर आनन्दित हो रहे हैं—**'अस्य मात्रामुपजीवन्ति'** वही अनन्त, अखण्ड, महान् आनन्दसिन्धु मूर्तिमान् जिनके आँगनमें धूलि-धूसरित होकर विहरण कर रहा है, उन्हें आनन्दबिन्दुका लोभ क्या दिखलाया जाय? इसलिये उन्हें त्रैलोक्य सुख देकर भी आप उनके ऋणसे मुक्त नहीं हो सकेंगे। यदि कहें कि केवल इन व्रजवासियोंको ही नहीं, उनके समस्त कुलको मैं अपने-आपको देकर ऋणमुक्त हो जाऊँगा तो भगवन्! क्या जो व्यवहार आपको विषमिश्रित स्तन्यपान करानेवाली पूतनाके साथ, वही इन धाम, अर्थ, सुहृत्, प्रिय देह, पुत्र, प्राण एवं अन्तरात्मा आदि सब कुछ आपके श्रीचरणोंपर

न्यौछावर करनेवाले इन व्रजवासियोंके साथ भी उचित होगा? क्या '**टके सेर भाजी, टका सेर खाजा**' वाली बात होगी? पूतनाके कुल-कुटुम्बमें ही ऐसा कौन बचा है, जिसे आपने सद्गति न प्रदान की हो? तृणावर्त, अघासुरादि सभी पूतनाके कुटुम्बियोंको तो आपने आत्मसमर्पण किया है।

अस्तु, तात्पर्य यह निकला कि विषप्रदान करनेवाली पूतनाको भी जिन्होंने आत्मसमर्पण किया, योगीन्द्र-मुनीन्द्रोंको स्वप्नमें भी जिनका दर्शन दुर्लभ है, उन कमलदलसे भी शतकोटि गुणित अधिक कोमल अपने श्रीचरणोंसे उसके अंगपर क्रीड़ा की, जिसके प्रभावसे पूतनाका शव जब जलाया गया, तब उसमेंसे ऐसी दिव्य सुगन्धिका प्रसार हुआ, जो तीन योजनकी आसमन्तात् भूमिमें व्याप्त हो गया, उस कृपासिन्धु भगवान् श्रीकृष्णसे अधिक दयालु कौन होगा? इस श्लोकको श्रवण करते ही श्रीशुकदेवजी गद्गद हो गये और व्यासजीके पास जाकर उनसे समस्त 'भागवत' का अध्ययन किया।

भगवान्में सम्प्रयोगात्मक-विप्रयोगात्मक उभयविध शृंगारकी एक कालमें प्रतिष्ठा

ऐसे योगीन्द्रोंके भी निर्गुण ब्रह्मनिष्ठ, शान्त, समाहित अन्त:करणोंको अपने दिव्य सुमधुर मनोहर सौरम्य, सौगन्ध्य, सौन्दर्य आदि गुणगणोंसे आकर्षित करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण अपने ग्वालबालोंके साथ श्रीमद्वृन्दारण्यधाममें पधारे। कैसे पधारे? '**नटवरवपु: बिभ्रत्**' अर्थात् नटके समान और वरके समान शृंगार धारण करके पधारे। यहाँ 'नट' पदसे विप्रयोगात्मक एवं 'वर' पदसे सम्प्रयोगात्मक शृंगाररस अभिप्रेत है। नट चन्द्रमा, वायु आदि वास्तविक सामग्रियोंके अभावमें भी अपने अभिनयोंद्वारा रसका अभिव्यंजन करता है। प्रियतमके साथ सर्वांगीण संश्लेष विद्यमान होनेपर भी अकस्मात् वियोगजन्य तीव्र तापका अनुभव होता है। 'नट' पदसे उसी विप्रयोगात्मक शृंगाररसका ग्रहण किया है। भावुकोंके यहाँ सम्प्रयोगात्मक शृंगारकी अपेक्षा विप्रयोगात्मक शृंगारका अधिक सम्मान है, इसीलिये अभ्यर्हिततत्वात् नट पदका प्रयोग पहले किया। किसीने श्रीकृष्णसे कहा—'महाराज! ललिता, विशाखा आदि आपकी प्रियतमाएँ आपके वियोगसे अत्यन्त दु:खी हैं, आप एक बार व्रजमें जाकर उन्हें दर्शन क्यों नहीं दे आते?' श्रीकृष्णने उत्तर दिया कि 'अब उन्हें हमारी आवश्यकता ही नहीं रही; क्योंकि हम जब उनके पास रहते हैं, तब उन्हें हमारा केवल बाह्य रमण ही अनुभूत होता है, किंतु मेरे समीप न रहनेपर मानस संस्मरणकी विशेषतासे उन्हें हमारे सर्वांगीण आन्तर-रमणका अनुभव होता है—इस तरह जैसे सम्प्रयोगकालमें भी विप्रयोगका अनुभव होता है, वैसे ही विप्रयोग-अवस्थामें कभी-कभी सम्प्रयोगका आनन्द प्राप्त होता है।' इसी स्थितिका वर्णन इस श्लोकमें मिलता है—

प्रासादे सा दिशि दिशि च सा पृष्ठत: सा पुर: सा
पर्यङ्के सा पथि पथि च सा तद्वियोगातुरस्य।
हंहो चेत: प्रकृतिरपरा नास्ति मे कापि सा सा
सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवाद:॥

(सुभाषितरत्नभाण्डागार ६। ६५)

जब विप्रयोगात्मक शृंगार उद्वेलित होता है, तब सकल जगत् प्रभुमय हो जाता है, अत: 'नटवत्' कहा। सभ्योंको रसास्वादन करानेके लिये जैसे नट विचित्र स्वरूपको धारण करता है, वैसे ही श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णने श्रीव्रजांगनाओंके मनको आकर्षित करनेके लिये विचित्र वेश धारण किया है। एवंच 'वर' पदसे प्रत्यग्रभोक्ता दूल्हा लिया जाता है। विवाहार्थ जाते हुये वर जैसे सर्वापेक्षया अधिक सुन्दर वस्त्र, आभूषण आदि धारणकर अपनेको सुसज्जित करता है, वैसे ही श्रीकृष्ण भी सुन्दर वेश धारणकर श्रीमद्वृन्दारण्यधाममें पधारे। 'वर' पद सम्प्रयोगात्मक शृंगारका द्योतन करता है। इस तरह नटवरवपुसे उद्बुद्ध सम्प्रयोगात्मक, विप्रयोगात्मक उभयविध शृंगाररसात्मकता भगवान् श्रीकृष्णकी बतलायी गयी है।

बर्हापीडं नटवरवपु: कर्णयो: कर्णिकारं
बिभ्रद् वास: कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।

रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः॥

(श्रीमद्भा० १०।२१।५)

भगवान् परमानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र नटवरवपुको धारण किये, बर्हमय आपीड़को धारण किये, वैजयन्ती मालाको पहने, कानोंमें कर्णिकार पहने, गोपवृन्दके संग वेणुको अधरसुधासे पूरित करते हुए श्रीवृन्दारण्य-धाममें पधारे। अनन्त ब्रह्माण्डके प्राणियोंको आनन्दित करनेवाले, रसोंके उद्गम-स्थान, निखिलरसामृत-सिन्धुसारसे प्रभु श्रीकृष्णके अंगोंका निर्माण है। निखिलरसामृतमूर्ति होते हुए भी विशेषतः उद्बुद्ध उभयविध शृंगाररससे आपके श्रीअंगका निर्माण है। अन्यत्र सम्प्रयोगात्मक-विप्रयोगात्मक दोनों ही शृंगार एक-कालावच्छेदेन उद्बुद्ध एवं उद्वेलित नहीं होते। यहाँ परस्परविरुद्धधर्माश्रय '**अणोरणीयान् महतो महीयान्**' प्रभु श्यामसुन्दरमें तो दोनों ही प्रकारके शृंगाररस एककालावच्छेदेन व्यक्त होते हैं।

तुव मुखचन्द्र चकोरी मेरे नयना।
अरबरात निशदिन मिलिवे को,
मिलेइ रहत मानो कबहुँ मिले ना॥

अद्भुत प्रेमोन्मादमें श्रीकृष्ण और वृषभानुनन्दिनीको सम्प्रयोगमें भी विप्रयोग और विप्रयोगमें भी सम्प्रयोगकी स्फूर्ति होती है। अस्तु, इस तरह उद्वेलित सम्प्रयोगात्मक-विप्रयोगात्मक उभयविध शृंगाररससारसर्वस्वसे ही नटनागरके श्रीअंगका निर्माण हुआ है। अतः वे नटवरवपु हैं, अथवा '**नटवरवपुः—नटेभ्योऽपि वरं वपुः यस्य सः।**' नटोंसे भी वरशोभन, सुन्दर वपुको धारण किये हुए भगवान् पधारे। नट तो बहुत हैं, नाचनेवाले सब ही हैं, पर व्रजमोहन श्रीकृष्णचन्द्रका नटवरवपु कुछ लोकोत्तर ही है, भगवान् श्रीशंकर विश्वनाथका तांडवनृत्य प्रसिद्ध है, जिसको देखनेके लिये सम्पूर्ण इन्द्र, चन्द्र, वरुणादिक देवता, अप्सरा, सिद्ध, महर्षि, यक्ष, किन्नरादिक सब पधारते हैं। प्रदोषकालमें जब भगवान् नटराजराज भूतभावन विश्वनाथका तांडवनृत्य होता है, तब सब देव तो क्या, स्वयं श्रीकृष्णचन्द्र भी पधारते हैं, उनका ऐसा अद्भुत नृत्य है, इसीलिये वे नटराजराज हैं। उनके जैसा तांडवनृत्य किसीका नहीं, पर श्रीकृष्ण परमानन्द-कन्द मनमोहन व्रजेन्द्रनन्दनका तांडवनृत्य तो ऐसा विलक्षण है, जो कालियनागके फणोंपर हुआ। उसकी सामग्री भी विचित्र है, जब प्रभु कालिय ह्रदमें प्रविष्ट हुए, उसके उन्नत फणोंपर जब नृत्य करने लगे, तब देवता, अप्सरागण वाद्य बजाने लगे। इस नृत्यके लिये दूसरा उदाहरण ही नहीं है, इसलिये '**नटवरवपुः**' कहते हैं। नटसे, नटराजसे, नटराजराजसे भी शोभन वपुको भगवान्ने धारण किया। यह स्वरूप ऐसा है, जिसे देखकर चर-अचर, जड़-चेतन सब नाच उठे, इसलिये '**नटनं आनन्दोल्लासविकारं राति ददातीति नटवरं तद् वपुरिति नटवरवपुः**'—जो स्थावर-जंगम सबको आनन्दोल्लास प्रदान करे, वह नटवर है। इसकी विशेषता क्या कही जाय, औरोंकी तो बात ही क्या, वह स्वरूप स्वयं व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर मनमोहन भगवान्को ही नचा देता है। भगवान् नाचे ही—

यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोग-
मायाबलं दर्शयता गृहीतम्।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः
परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्॥

(श्रीमद्भा० ३।२।१२)

भावुक जन कहते हैं—भगवान् मानव-लीलाके उपयुक्त मायाबलको दिखाते हुए ऐसे स्वरूपको धारण करते हैं कि वह स्वरूप स्वयं उन्हें ही विस्मयमें डाल देनेवाला हो जाता है। अहो! वह सौन्दर्य, माधुर्य, सौरस्य अद्भुत है, वे भाग्यवान् हैं, जो ऐसे स्वरूप-रसका आस्वादन करते हैं। अपने अमृतमय मुखचन्द्रको देखनेका सौभाग्य तो स्वयं भगवान्को नहीं, वह तो वृषभानुनन्दिनीको, व्रजांगनाओंको, भक्तोंको ही है, भगवान् केवल मणिमय प्रांगणमें मणिस्तम्भोंमें आत्मप्रतिबिम्बोंको ही देखते हैं।

रत्नस्थले जानुचरः कुमारः सङ्क्रान्तमात्मीयमुखारविन्दम्।
आदातुकामस्तदलाभखेदान्निरीक्ष्य धात्रीवदनं रुरोद॥

नन्दरानीके मणिमय प्रांगणमें घुटनोंको टेकते हुए चलते-चलते आप अपने मुखचन्द्रके प्रतिबिम्बको देखकर मुग्ध हो गये, नाच उठे।

रूप रासि नृप अजिर बिहारी। नाचहिं निज प्रतिबिंब निहारी॥

(रा०च०मा० ७।७७।८)

अपने श्रीअंगके सौन्दर्यको देखकर, अपने मुखचन्द्रका प्रतिबिम्ब देखकर स्वयं चाहते हैं कि मैं इसे ले लूँ, क्योंकि प्यारी वस्तु बिना हृदयमें रखे दूरसे देखनेमें सन्तोष नहीं होता। वास्तवमें यह भावना भक्तोंकी होती है, पर वही भावना व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर मनमोहनको अपने श्रीअंगका प्रतिबिम्ब देखकर हुई और वे उसे लेना, पकड़ना चाहते हैं, किंतु वह पकड़नेमें आता नहीं, इसलिये खिन्न हो गये और व्रजरानी अम्बाका मुख देखकर रोने लगे, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक जिसे देखकर मुग्ध हो गये, तब उसे चराचर विश्व देखकर नाच उठे, इसमें आश्चर्य ही क्या? भगवान् अपनी सर्वज्ञता सर्वशक्तिमत्ता सब कुछ भूल गये, इस प्रकार स्वयं भगवान्‌को ही विस्मयमें डाल दिया, ऐसा वह स्वरूप है—'**भूषणानां भूषणानि अंगानि यस्य सः॥**'

भगवान्‌के अंगसंगसे ही भूषणोंकी शोभा

उनके एक-एक अंग भूषणोंको भूषित करनेवाले हैं, भगवान्‌के भूषण प्रभुके श्रीअंगको भूषित नहीं करते, प्रभुधारित किरीट, कौस्तुभ, कुण्डल, कटक, अंगद जो हैं, उनसे प्रभुका श्रीअंग सुशोभित हो; यह नहीं, किंतु प्रभुके सिरसे किरीट, कण्ठसे कौस्तुभ, कानोंके सम्बन्धसे कुण्डल, हाथोंसे कटक, बाहुसे अंगद आदि भूषण ही भूषित होते हैं। यही वास्तवमें ऊँचा सिद्धान्त है। यही कहा है—'**चलापि यच्छ्रीर्न जहाति कर्हिचित्॥**' (श्रीमद्भा० १।११।३३) लक्ष्मी, शोभा, श्री सर्वत्र चंचला कही जाती है। वस्तुमात्रमें शोभा रहती है, पर कबतक, जबतक '**जायते, अस्ति, वर्धते**' बस! यहींतक, जहाँ '**विपरिणमते**' आया कि शोभा घटी। वृक्षके अंकुर, पत्र, पुष्प, फलतक शोभा तथा बादमें घटना शुरू। इस रीतिसे जगत्‌के वस्तुमात्रमें शोभा चंचला-ही-चंचला है, किंतु अचला कहाँ है? केवल प्रभुके मंगलमय श्रीअंगमें। क्यों? वहाँपर उसके स्वभावानुसार '**जायते, अस्ति, वर्धते**' तक ही है, आगेके विकार नहीं। यों तो भगवान् षड्विकाररहित हैं, पर वह निर्गुण, निराकार सच्चिद्घन दृष्टिसे। भक्त भावुकोंकी दृष्टिमें तो वे सगुण, साकार, परमानन्द, निखिल-रसामृतमूर्ति हैं। तभी तो नन्दरानीसे जन्म '**जायते**', व्रजराज नन्दबाबाके मंगलमय गोदमें शैशव-कौमार-पौगण्ड-कैशोरादि अवस्थाओंके कारण '**वर्धते**' बस! आगे विपरिणामादि नहीं। शोभा चंचला होनेपर भी घटे कैसे? वहीं-की-वहीं पड़ी है।

'देवीभागवत' में गोलोकवर्णनके सम्बन्धमें बड़ी विचित्र गाथा है—गोलोकवासी श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दरूपके पास वृषभानुनन्दिनीका वास। यहाँ शोभा तथा प्रभा, क्षमा, शान्ति, दान्ति—ये सब गोपांगनाएँ हैं, ऐसा वर्णन है। वहाँ श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन भगवान्‌के साथ शोभा गोपांगना विहार करती थी। उस समय श्रीवृषभानुनन्दिनी पधारीं, उन्हें देखते ही लज्जा और भयसे शोभाने देह त्याग दिया और उसीमेंसे सब ब्रह्माण्डमें विद्वान्‌के मुख आदि वस्तुओंमें वह बँट गयी। ऐसी ही क्षमा, शान्ति, दान्ति इत्यादिकी कथा है। तात्पर्य यह कि वृषभानुनन्दिनीसे लज्जित शोभा, क्षमादि इतर वस्तुओंमें बँटी। आध्यात्मिकी, आधिभौतिकी, आधिदैविकी शक्तिरूपमें जो शोभादि भगवान्‌में रहा करती हैं, वे अपनी ही लालसासे रहती हैं, भगवान् उन्हें बुलाते नहीं। उद्धवसे प्रभु कहते हैं—'**निर्गुणं मां गुणाः सर्वे भजन्ति निरपेक्षकम्**'—सर्वगुण अपनी गुणत्वसिद्धिके लिये मुझे भजते हैं, मैं भी उनको स्वीकार कर लेता हूँ, अगर वह भक्तिपुरःसर होकर आयें तो। लक्ष्मीको भी भगवान्‌ने थोड़े ही चाहा, वही कहती है—'**सुमङ्गलः कश्च न काङ्क्षते हि माम्॥**' (श्रीमद्भा० ८।८।२२) समुद्रमन्थनसे जब लक्ष्मीजीका जन्म हुआ, तब उन्होंने स्वयंवरके लिये देव, दानव, दैत्य,

महर्षि सबको देखा, मगर मन तो उनका था 'सुमंगल' में। उनमें केवल दोष यही है कि '**काङ्क्षते हि माम्**॥' वे सोचती थीं—'जो मुझे चाहते हैं, वे मुझे पसन्द नहीं हैं। जिसे मैं चाहती हूँ, वह मुझे नहीं चाहते। वे भी क्यों चाहें, वे स्वप्रकाश सच्चिद्घन परमानन्दरूपमें ही स्थित हैं, तब भी उन्हींको वरा। इसपर श्रीभगवान्ने उसको अपने परमसुभग वक्ष:स्थलपर ही स्थान दिया। ऐसे ही सब गुण-गणोंका भी हाल है। भगवान् उन्हें नहीं चाहते, वे भगवान्को चाहते हैं। भगवती महालक्ष्मीको भगवान् श्रीशंकरमें भी गुण मिले, पर लक्ष्मी उनके वेशसे डर गयीं। संसारमें सामान्यत: जामाता (दामाद) कैसा ही हो, सासको अच्छा लगता है, पर पार्वती-विवाहमें हिमालयपत्नी मैना भी डर गयी थी। माता गौरी नहीं डरी। गौरीको जैसा शिवका साक्षात्कार था, वैसा महालक्ष्मीको नहीं था। उसे तो शुद्धत्वादिसर्वगुण ठीक जँचे, पर अमंगलत्वसे डर गयी।'

'महोक्षः खट्वाङ्गं परशुरजिनं भस्म फणिनः।'

लक्ष्मीके लिये शिवके मोहक स्वरूपका प्रादुर्भाव न होना, भावके अनुकूल ही था। सुमंगलमें तो चमक-दमक सब कुछ, पर वह तो चाहते ही नहीं। भावुक कहते हैं कौस्तुभादिने न जाने कितनी तपस्या की। इसलिये कि भगवान् हमें स्वीकार करें, तब भगवान्ने स्वीकार किया। कौस्तुभादिकी कितनी भाग्यमहिमा? गोपांगनाएँ कहती हैं—

सखि हों व्रजरज क्यों न भई।

व्रजरज होतीं तो उड़कर लगतीं भगवान्के श्रीअंगमें। उसमें कोई विघ्न नहीं हो सकता था। कौस्तुभ तो सदा वक्ष:स्थलपर विराजमान है। यहाँतक कि वृषभानुनन्दिनी भी कौस्तुभसे ईर्ष्या करती हैं। वे कहती हैं—सखि, यदि भगवान् किसीको भी न मिलते तो सन्ताप न होता, मगर माला तो सदा ही प्रभुके वक्ष:स्थलपर विहार करती है। कहो, माधुर्याधिष्ठात्री श्रीवृषभानुनन्दिनी जिससे ईर्ष्या करें, उसका कम सौभाग्य है? कुण्डलकी, जो नित्य भगवान्के कपोलोंका चुम्बन करता है, क्या कम महिमा है? इन्होंने कितनी तपस्या की होगी? '**गोपालचम्पू**' में कहा है—कुण्डलोंपर मकरीकी भावनाकर कहती है—'हे मकरि! तू हमारे श्यामसुन्दर मनमोहनके कपोलोंका चुम्बन करती है।' यह सब गोपांगनाओंकी ईर्ष्या। अस्तु, गुण अपने आश्रयमें आनन्द और महत्त्वकी अतिशयताका आधान करते हैं और अनर्थका निवारण करते हैं।

अनन्त आनन्दरूप श्रीकृष्णमें आनन्द और महत्त्व निरतिशय है, उसमें अतिशयताका आधान हो ही नहीं सकता एवं अनर्थोंका स्पर्श भी नहीं, फिर उनमें गुणोंकी जरूरत ही क्या? वैसे ही भूषणोंसे शोभा बढ़ानेकी जरूरत ही क्या? जहाँ स्वयं लक्ष्मी ही निवास करती है। भगवान्को किसीकी अपेक्षा नहीं, किंतु उन-उन वस्तुओंकी तपस्यापर प्रसन्न होकर भक्तिको देखकर उनको स्वीकार किया। रामजीकी जब बरात निकली, तब सब शकुन आप ही प्रकट हो गये। उन्होंने सोचा, अगर इस समय न गये तो फिर सफलता कब मिलेगी? एवं सब प्रकारके भूषणभूषित भगवान् अपने स्वरूपको देख विस्मयमें पड़ गये और नाच उठे।

सुनि अस ब्याहु सगुन सब नाचे। अब कीन्हे बिरंचि हम साँचे॥

(रा०च०मा० १।३०४।३)

नाचका मूल आनन्दोल्लास है, वह किससे? निज प्रतिबिम्ब-दर्शनसे। तात्पर्य, प्रभु-स्वरूप ही ऐसा है, जो चराचर विश्वको नचाये और भगवान्को भी नचाये, स्वगुण भी भुलाये, फिर जहाँ नटवरवपु हुए वहाँ क्या कहना है? नट सभ्योंको रसास्वादन करानेके लिये विचित्र प्रकारका वेश धारण करता है, यहाँ तो भगवान् अपनी ही रुचिसे स्वाभाविक ही वैसे हैं। नट सर्व सभ्योंको रसमें ओत-प्रोत करनेके लिये विशेष तैयारी करता है, यहाँ तो वह बात नहीं।

'नटेभ्योऽपि वरं वपुः यस्य सः।'

वर—दूल्हाकी तरह जो स्वभावसे ही सुन्दर हैं। लोकमें जहाँ लगन शुरू हुआ, वहाँ उबटन वगैरह लगाना शुरू हुआ। अधिक दहेजके लिये सौन्दर्य-वृद्धिका प्रयत्न करना, चमक-दमक शुरू और जब

विवाहका समय हो तो क्या पूछना? दूल्हा नटसे भी अपनेको सुन्दर बनाना चाहता है। देव सदाके लिये विचित्र वेश बनाये रखते हैं। नरका तो विचित्र वेश कादाचित्क है, सदाके वेशमें विचित्रता नहीं। विचित्रताके लिये वेशविशेषकी आगन्तुकता विवक्षित है। इसीलिये यह पाठ लिया गया है कि—

'नटवरवपुः', 'नटश्चासौ वरश्च नटवरः तस्येव वपुर्यस्य सः।'

नटका तात्पर्य द्विभुजत्वमें है। व्रजलीलाका सर्वस्व तो द्विभुजत्व ही है, इसलिये **'नटवरवपुः'**। यदि भगवान्‌का विचित्र वेश होता और द्विभुज न बना होता तो वह आनन्द न आता, व्रजवासियोंमें उनके लिये ऐसा ममत्व न होता। व्रजवासी कहते हैं—श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दमें अगर परमेश्वरता व्यक्त हो जाय तो भगवान् फीके हो जायँ। चतुर्भुजमें किसीको प्रीति न होती, वे लोग आश्चर्यमें पड़ते। भावुकोंके माधुर्यभावमें ईश्वरभावकी अभिव्यक्ति नहीं। परमेश्वरसे लोग डरते हैं, उनसे संकोच होता है, यहाँ तो मनमोहन श्यामसुन्दर प्राणेश्वर, हृदयेश्वर अपने हृदयकी वस्तु हैं, परमेश्वर नहीं। अप्राकृतत्व अलौकिकताकी अभिव्यक्ति स्वाभाविकतामें बाधक होती है। जिस भगवान्‌के भ्रुकुटिभंगपर सब नाचें, अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डनायक प्रभुके कोमल मंगलमय दोनों हाथोंको अपने एक हाथमें पकड़ नन्दरानी यशोदा—**'सा गृहीत्वा करे कृष्णमुपालभ्य हितैषिणी।'** (श्रीमद्भा० १०।८।३३) छड़ी दिखाकर कहती 'लाला मारूँ', अगर परमेश्वर समझती तो यह न होता, जब अपने मुखमें सम्पूर्ण विश्व दिखाकर परमेश्वरता व्यक्त की, तब छड़ी हाथसे गिर भी पड़ी, माधुर्यरस चला गया, अतः **'नटवरवपुः'** यानी द्विभुज। इसका अर्थ यह नहीं कि हम चतुर्भुजत्वका खण्डन करते हैं, मगर जैसी जिसकी भावना उसके लिये भगवान् भी वैसे ही हैं।

भगवान्‌द्वारा माधुर्यभावयुक्त विचित्र वेश धारण करना

'नटवरवपुः'—नटके समान और वरके समान वपु धारण किये कहा गया है। नटवरवपु देवताओंका सदा ही विचित्र वेश होता है। रस-विशेषास्वादनके लिये भगवान्‌के विचित्र वेशमें आगन्तुकता विवक्षित है। वैसे तो भगवान् सदा ही परमानन्दरसामृतमूर्ति हैं, मगर आज इच्छया परम मधुर वेश धारण किये हैं। यही कहा है—**'नटवरवपुः'**। नरवपु होनेसे ममता, निर्भर अनुराग अत्यन्त निःसंकोच भाव होता है, अन्यथा चतुर्भुजत्वमें ऐश्वर्याभिव्यक्ति होगी, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायकता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता पदे-पदे व्यक्त होगी, जिससे संकोच होनेके कारण भगवान्‌से प्रेममें स्वाभाविकता न आ सकेगी। प्रेममें स्वाभाविकताका होना ही उसका उत्कर्ष है। ईश्वरमें अनुरागका विधान किया जाता है, भगवान्‌में भक्तिकी विधि बतलायी जाती है। **'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ'** अत्यन्त अप्राप्तिमें ही विधि होती है, जैसे—**'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः।'** यहाँ अग्निहोत्रमें स्वाभाविक प्रीति नहीं, वैसे ही भगवान्‌में प्रीति स्वाभाविक नहीं, इसलिये विधि होती है, **'तस्माद् भारत सर्वात्मन् भगवान् हरिरीश्वरः। श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च'** इत्यादि, अभय कामनावाला प्राणी भगवान्‌में भक्ति करे। इस तरह विधि जहाँ है, तहाँ उसकी अप्राप्ति समझी जाती है एवं प्राणिस्वभाव ऐसा है कि जहाँ विधि तहाँ प्रेम कम। जैसा माता-पितामें पुत्रका प्रेम तबतक, जबतक स्त्री नहीं; स्त्रीमें प्रीति, माता-पितामें नहीं; माता-पिताकी प्रीतिमें पुण्य कहा है। **'मातृदेवो भव। पितृदेवो भव'** इत्यादि वाक्योंसे विधान किया है। इतना ही नहीं, मातृ-पितृ-प्रीति न रहनेपर हानि भी बतलायी गयी है, तात्पर्य, देवता-प्रीतिसे माता आदिमें प्रीति अधिक सम्भव है। मातृ-पितृ-प्रीतिसे देवता-प्रीति कठिन है, माता-जैसा प्रेम अगर भगवान्‌में हो तो क्या पूछना है, मगर न होनेसे ही भगवान्‌में प्रीतिका विधान किया गया। भगवान्‌की अपेक्षा मातृप्रीति स्वाभाविक है, आगे चलकर मातृप्रीतिसे भी स्त्रीप्रीति स्वाभाविक है। इसीलिये यहाँपर **'मातृदेवो भव'** इत्यादिसे मातृप्रीतिका विधान किया गया है।

आगे बढ़कर '**स्वदाररति**' की विधि बतलायी गयी है, इसलिये कि अपनी स्त्रीपर प्रीतिकी अपेक्षा उच्छृंखल मनोवृत्तिवालोंको कुलटामें, वेश्याओंमें प्रीति अधिक होती है, इसी स्वाभाविकतामें शास्त्रोंने लगाम लगायी। प्राणी स्वभावसे ही कामचार होता है। जो जल बहा जा रहा है, उसे रोकनेके लिये ही बाँध बाँधा जाता है। यही अर्थ श्रुति-सेतुका है। विधान-निषेध यह बन्ध है, वह प्राणीकी उच्छृंखलता, स्वाभाविकताको नियन्त्रित करनेके लिये है, किंतु जैसे बहते जलको रोकनेका प्रयत्न करो, तब वह तोड़ मारता है, वैसे ही स्वाभाविक प्रीतिको रोकनेसे वह अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है। संसारमें यह दोष होनेसे सर्वथा हेय है, परंतु जो संसारमें दोष, वही भगवान्‌में गुण है। अर्थात् भगवान्‌के सम्बन्धसे गुण भी दोष हो जाते हैं, जो भगवान् अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डनायक, सर्वान्तरात्मा, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् निरुपाधिक परप्रेमास्पद हैं, उनमें पुराण, शास्त्र, वेद कहते हैं कि अपनी मनोवृत्तियाँ सांसारिक तुच्छ वस्तुओंसे विमुख होकर भगवान्‌की ओर प्रवाहित हो उठें, इसीमें पूर्ण कृतकृत्यता है, लेकिन वह बड़ा कठिन है। कुछ बड़े-बड़े योगी अमलात्मा परमहंस मुनीन्द्र, यतीन्द्र, योगी समाधि आदिसे वैसा करनेमें समर्थ होते हैं। मगर यहाँ तो वैसी परिस्थिति नहीं है, यहाँ तो ऐसा हो जाय कि वही सच्चिद्घन पूर्णतम पुरुषोत्तम सर्वान्तरात्मा भगवान् स्वाभाविक परप्रेमास्पद हो जायँ। जैसे किसी कामिनीको प्रियतम श्रेष्ठतम प्राणेश्वरके उत्कट सम्मिलनकी उत्कण्ठा हो, वैसी स्वाभाविकी उत्कट उत्कण्ठा भगवान्‌में हो जाय। जो कोई रोकनेको उपस्थित हो उसे तोड़ मारे, वह स्थिति यहाँ आयी, श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन मनमोहन नटवरवपु हैं तो सामान्य जनोंको अलौकिकमें प्रीति नहीं, पर लौकिकमें प्रीति हो तो उससे नरक हो। प्रीतिमात्र तो विवक्षित है नहीं, उससे मतलब नहीं, नहीं तो सारा संसार किसी-न-किसीमें प्रीति होनेके कारण मुक्त हो जाय। नहीं, प्रीति हो अलौकिकमें। भगवान् हैं तो अलौकिक, किंतु बनेंगे नर, '**नटवरवपुः**', अति अद्भुत विचित्र वेशधारी, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायककी अलौकिकता कहीं प्रकट हो जाय तो काम बिगड़ जाय। इसलिये अलौकिकताको छिपाकर लौकिक स्वरूपमें प्रकट होना पड़ता है, जिससे लोगोंकी प्रीतिमें स्वाभाविकता हो। इसीलिये '**बबन्ध प्राकृतं यथा**' जैसे प्राकृतको बाँधते हैं, वैसे यशोदा अपने लालाको बाँध लेती है। '**प्राकृतं यथा**'—हैं तो अप्राकृत, पर बाँध लेती है प्राकृत-जैसे। कहा ही है—

ताहि अहीरकी छोहरियाँ, छछियाभरि छाछपै नाच नचावैं॥

(भजन-संग्रह ७३७)

यही अलौकिकमें लौकिकता व्यक्त है, कुन्ती माता कहती हैं—

गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम तावद्
या ते दशाश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षम्।
वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य
सा मां विमोहयति भीरपि यद्बिभेति॥

(श्रीमद्भा० १।८।३१)

हे नाथ! आपकी वह लीला व्यामोह-सिन्धुमें उन्मज्जन-निमज्जन कराती है—

तामात्तयष्टिं प्रसमीक्ष्य सत्वर-
स्ततोऽवरुह्यापससार भीतवत्।
गोप्यन्वधावन्न यमाप योगिनां
क्षमं प्रवेष्टुं तपसेरितं मनः॥

(श्रीमद्भा० १०।९।९)

नवनीत-भांडोंको फोड़कर उलूखलपर विराजमान श्यामसुन्दर नवनीतको अपने मुखमें छोड़ते, अपने ग्वालबालोंके मुखमें छोड़ते, रामावतारके साथी बन्दरोंके मुखमें देते हैं तथा लौट-लौटकर देखते हैं कि कहीं मैया तो नहीं आती। इतनेमें देखा तो मैया आयी, प्रांगणमें भागते लालाको देखकर अम्बा छड़ी लेकर दौड़ी, अम्बाको देख प्रभु भी भयभीत होकर उलूखलसे कूदकर भागे। यशोदामैया व्रजरानी भी पीछा करने लगी, किसका? '**न यमाप योगिनां क्षमं प्रवेष्टुं तपसेरितं मनः॥**' जिसको अमलात्मा परमहंस

यतीन्द्रोंका निर्मल चित्त पकड़नेमें समर्थ न हुआ, उसी पूर्णतम पुरुषोत्तम अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डनायक निखिल-रसामृतमूर्ति प्रभुको नन्दगेहिनी 'लाला आज तो तुझे बता दूँगी' कहकर पकड़ना चाहती है। किसी तरह प्रभु पकड़में आयें। यशोदा कहती—'लाला तू बड़ा लंगर हो गया है, मैं आज तेरा सब लंगरपन भुला दूँगी।' कुन्ती कहती—नाथ! इतना कहकर जब यशोदामैयाने रज्जु ली, तब तो आपकी विचित्र दशा हुई। आपके नील-कमल-कोशसमान कपोलपर अंजनमिश्रित अश्रुबिन्दु बड़े ही सुशोभित मालूम पड़े, सिर नीचा किया हुआ, आँखें डबडबायी हुईं; अंजनमिश्रित अश्रु कपोलोंपर ऐसे शोभित होते हैं, जैसे नीलकमलके कोशोंपर मोती विराजमान हों। क्या शोभा कही जाय! आप डर रहे हैं। भयभीत होकर अपने मुखारविन्दको नीचा किये रोते हैं, जिनके डरसे डर भी डरे, जो कालकाल महाकालेश्वर महामृत्युंजय—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥

(कठोपनिषद् १।२।२५)

—सकल प्रपंचको मृत्युरूप दाल-शाकके साथ मिलाकर जो खा जाय, वह व्रजगेहिनीकी छड़ीसे डरे। यह सब भाव जब अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायकता प्रकट होती, तब न रहता। एक जगह कहा है—**'मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम्॥'** (श्रीमद्भा० ५।६।१८) भगवान् भक्तोंको मुक्ति दे देते हैं, भक्ति जल्दी नहीं देते; क्योंकि भगवान्‌को भक्तिके भावबन्धनमें बँधकर परतन्त्र हो जाना पड़ता है, यहाँ स्वाभाविक प्रेम है। इसी कारण वृन्दारण्यमें ग्वालबालोंको, व्रजांगनाओंको विष्णु-शिव-तत्त्वात्मक परमात्मामें वैसी प्रीति न होती, वैसी उत्कण्ठा न होती, जैसी 'नटवरवपु' भगवान्‌में।

कहीं एक ऐसी कथा सुनी है—भगवान् जब व्रजसे मथुरामें गये, तब गोपांगना विरहिणी होकर विलाप करने लगीं। किसीने कहा—'मथुरा बहुत दूर थोड़ी है, तुम वहीं जाकर प्रभुसे मिल आओ'। व्रजांगनाओंने ऐसा विलाप किया कि उनके अश्रुसागरमें जग डूब जाय, लोगोंने बहुत कुछ कहा-सुना तो वहाँपर सब गयीं, भगवान्‌को द्वारपालके खबर देते ही प्रभुने कहा—'आने दो'। व्रजांगनाएँ भीतर गयीं और श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दका ऐश्वर्य देखा, देखते ही चट सबने घूँघट काढ़ा, कहने लगीं—'यह तो हमारे मनमोहन नहीं हैं; मुरलीमनोहर काली कमलीवाले नन्दलाल हमारे सर्वस्व हैं।' एक बारकी ऐसी कथा है कि कोई वासन्तिक रासोत्सव था। उसमें श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन भगवान् रासविलास कर रहे थे, इतनेमें भगवान् एक लताकी आड़में छिप गये, तब गोपांगनाएँ भगवान्‌को खोजतीं-पूछतीं डोल रही थीं। दैवात् वहाँ पहुँचीं, जहाँ भगवान् छिपे थे। इनको देखते ही प्रभुने चतुर्भुजरूप धारण किया, जब चतुर्भुजभगवान्‌को देखा तो भक्तिसे उनको केवल प्रणामकर कहा—'भगवन्! आप हमारे श्यामसुन्दर व्रजलालसे भेंट करा दो, उनसे हमें मिला दो।' भगवान्‌ने 'तथास्तु' कहा। वह चतुर्भुजसे बिलकुल न खिचीं, यही बात **'नटवरवपुः'** में है। द्विभुज मोहन मुरलीधरमें जो प्रीति है, वह अन्यत्र नहीं। चतुर्भुजत्वादि भगवान्‌का ऐश्वर्यभाव है। उसका प्रभाव माधुर्यभावके प्राकट्यमें नहीं। इतना ही क्यों, जैसा सूर्यके सामने चन्द्रमाका प्रकाश नहीं, वैसा ही माधुर्यभावके विकासमें, माधुर्यभावके प्राखर्यमें ऐश्वर्यभावका प्रकाश नहीं, श्रीवृषभानुनन्दिनीमें माधुर्यभावका पूर्ण प्रकाश है।

अस्तु, यहाँ जैसे कहा जा चुका है कि हो अलौकिक ही, पर प्रीति उसमें लौकिक दृष्टिसे हो, अलौकिकता उसकी छिपी हो, भगवान्‌ने व्रजमें तो बहुत ही साजात्य प्रकट किया। पहले नरत्वेन, पीछे गोपत्वेन, सगे-सम्बन्धीरूपसे। 'श्रीविष्णुपुराण' में कथा है—जब भगवान्‌ने गोवर्धनको उठाया, तब वह अद्भुत प्रभाव देखकर सब समझ गये कि यह गोप नहीं, गोपवेशधारी ईश्वर हैं। भगवान् समझे यह हमसे सन्देह करते हैं। बस, प्रभु रोने लगे, गोपालोंने देखा कन्हैया रो रहा है तो सब मनाने लगे कि 'क्यों

रोते हो लाला?' तब प्रभुने कहा 'इसलिये कि तुम हमें अपना नहीं समझते, अजनवी समझते हो।' प्रीतिमें अलौकिकता बिलकुल प्रकट न हो, सन्देह यत्किंचित् न हो।

एक समय जब भगवान्ने मिट्टी खायी, तब बलदाऊने अम्बासे आकर कहा कि कन्हैयाने मिट्टी खायी। सुनकर वह चली मारनेको और प्रभुको पकड़कर कहा—'लाला तूने मिट्टी क्यों खायी?' तो प्रभुने डरकर कहा—'**नाहं भक्षितवानम्ब**'—मैया मैंने मिट्टी नहीं खायी। यह ऐश्वर्य दिखलानेके लिये नहीं, किंतु प्राकृत शिशुके समान अम्बासे डरकर। तब अम्बा कहती है—'सब यही कहते हैं'। प्रभुने कहा—'सब झूठे हैं', मैया बोली—'बलराम भी तो कह रहे हैं।' भगवान्ने कहा—'आज ग्वालबालोंने दाऊको मिला लिया है, इसीलिये वह भी झूठ बोल गये, अगर विश्वास न हो तो मुँह देख ले।' भाव यह कि मुँह दिखानेको तैयार हो जानेसे अम्बा समझ लेगी कि मिट्टी नहीं खायी है, अगर मिट्टी खायी होती तो मुँह दिखानेके लिये तैयार न होता, एक झूठ छिपानेके लिये दुगुनी-तिगुनी झूठ बोलनी पड़ती है, पर अम्बा भी बड़ी जबर। उसने कहा—'मुँह खोल, देखूँ तो सही' सुनकर भगवान्ने मुँह खोल दिया। खोल क्या दिया, भावुक कहते हैं कि मातृकोपसूर्यरश्मिसे प्रभुमुखकमल खिल गया। जब खिला तो भीतर ब्रह्माण्ड! यह कैसा हुआ? इसका कारण यह कि भगवान्की ऐश्वर्याधिष्ठात्री महामाया प्रभुके पीछे-पीछे सेवाका अवसर ढूँढ़ती हुई घूम रही थी।

माया कहती—'भगवन्! लोग आपको बड़ा तंग करते हैं, यह मुझसे नहीं सहा जाता।' प्रभुने कहा—'तू चुपचाप रहकर तमाशा देख, कुछ करनेके फेरमें न पड़' तथापि उसे न मानती हुई, जब माँ मुँहमें मिट्टी देखने लगी तो ऐश्वर्याधिष्ठात्री महाशक्तिने सोचा कि अगर माँ मिट्टीको देख लेगी तो मेरे प्रभुको पीटेगी, यह मेरे होते ठीक नहीं। इसीलिये उस ऐश्वर्याधिष्ठात्री शक्तिने मुँहमें ब्रह्माण्ड दिखाया। मैयाके हाथकी छड़ी गिर गयी। भगवान्ने सोचा, मामला बिगड़ रहा है। झट '**व्यतनोद् वैष्णवीं मायाम्**', यशोदामैया आँख खोलकर देखते ही समझ गयी कि मेरे लालाको कुछ अलाय-बलाय है, तब उसके निवारणके लिये थू: थू: करने लगी। भगवान् मायाको कहते हैं—'ले, तूने मुझे बचाया क्या, थू थू करा दिया।' अस्तु, यह सब भाव नटवरवपुमें ही सम्भव है। कहा है—

'**मायाश्रितानां नरदारकेण साकं विजहुः कृतपुण्यपुञ्जाः॥**'

(श्रीमद्भा० १०।१२।११)

इस तरह आगे 'बिभ्रत्' है। क्यों? '**एवं नटवरस्येव वपुः नटवरवपुः तादृशं बिभ्रत्**।' पहले कहा गया कि भगवान् रसात्मा हैं तो भी रस अमूर्त होनेके कारण चल-फिर नहीं सकता, परम तत्त्व भी चलता-फिरता नहीं, उद्बुद्ध उभयविध सम्प्रयोग-विप्रयोग शृंगाररसात्मा एक अमूर्त पदार्थ है, रस वस्तु हृदयस्थ है, केवल अमूर्तरस वेणु न बजाता, न चलता, न फिरता, वह तो केवल वृषभानुनन्दिनीके हृदयमें है, इसीसे कहा—'**बिभ्रत्**'। अमूर्तरस यहाँ मूर्त बना, इसलिये कि भावुक उसे सर्वेन्द्रिय-ग्राह्यरूपसे ले सकें। अमूर्तरस तो मनोग्राह्यमात्र है, वेदान्तमें परम वस्तुका आस्वाद मनोग्राह्य ही कहा है—'**बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्**', (गीता ६।२१) '**स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते**' अतः कहा उसमें सर्वेन्द्रियग्राह्यता नहीं, भावुकोंको तो मनोग्राह्यतामात्रसे सन्तोष नहीं, किंतु सर्वेन्द्रियोंमें, अन्तरात्मामें, अन्तःकरणमें, प्राणमें, रोम-रोममें उसका अनुभव हो, इन्हीं भावुकोंकी इच्छापूर्तिके लिये '**बिभ्रत्**'। अमूर्त उद्बुद्ध उभयविध सम्प्रयोग-विप्रयोगात्मक शृंगाररसमूर्ति श्रीकृष्णचन्द्र-परमानन्दकन्दके रूपमें मूर्त होकर देखा जाय, जैसा रसका ही परिणाम शर्करादि, जैसे रसका ही निर्यास—गोंद, वैसे ही परमानन्दरसका निर्यास भगवान्, गोंद रसका ही घनीभाव होता है—आगे इसकी अभिव्यक्तिमें बड़ी ऊँचाई रखी है। यह मूर्त कैसे बना?

अनाघ्रातं भृङ्गैरनपहृतसौगन्ध्यमनिलैः
अनुत्पन्नं नीरेस्वनुपहतमूर्मीकणभरैः।

अदृष्टं केनापि क्वचन च चिदानन्दसरसो
यशोदायाः क्रोडे कुवलयमिवौजस्तदभवत्॥

'**नटवरवपुः बिभ्रत्**'—से कहा गया कि उद्बुद्ध उभयविध सम्प्रयोग-विप्रयोग शृंगाररस स्वयं अमूर्त होनेसे उसका गमनागमन न हो सकता—अतः '**बिभ्रत्**'। है तो अमूर्त ही, पर भक्तानुग्रहविशेषात् उसीने नटवरवपु धारण किया, अमूर्तरस मूर्तरूपमें प्रकट हुआ, भक्त कहते हैं, वेदान्तियोंका ब्रह्म केवल मनोग्राह्य, बुद्धिग्राह्य है, सर्वेन्द्रियग्राह्य नहीं, पर वे तो चाहते हैं निखिलरसामृतमूर्ति भगवान्‌को सर्वेन्द्रियग्राह्य बनाना, सर्व इन्द्रियाँ मन-बुद्धिसे ईर्ष्या करती हैं, उनको पूर्णतम पुरुषोत्तमका आस्वादन करते देख नेत्र, श्रोत्र, सर्व ही लालायित हो जाते हैं और क्या रोम-रोम अपने प्रियतम प्राणधनके संश्लेषके लिये उत्कण्ठित होता है, व्याकुल हो उठता है। भगवान्‌का सम्मिलन कौन न चाहेंगे? कहते हैं—'**पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्**'। (कठ० २।१।१) स्वयम्भूने इन्द्रियोंको बहिर्मुख रचा। '**व्यतृणत्**' में तृहु धातु हिंसार्थक है। स्वयम्भूने इन्द्रियोंको बनाया अर्थमें व्यरचयत् कहते हैं, हिंसितवान् क्यों? तो उसने उन्हें बहिर्मुख बनाकर मार डाला, उनको सर्व प्राणियोंके परमप्रेमास्पद भगवान्‌के रसास्वादसे वंचित किया। '**पिय बियोग सम दुखु जग नाहीं॥**', (रा०च०मा० २।६४।७) '**लोके नहि स विद्येत यो न राममनुव्रतः**' लोकमें ऐसा कोई नहीं है, जो प्राणेश्वरका वियोग सहन करे, जो इन्द्रियोंको बहिर्मुख न बनाया होता तो अन्तरात्माका आस्वादन करते। इसलिये स्पष्ट है कि सर्व इन्द्रियाँ भगवत्तत्त्वके अनुभव बिना, भगवद्दर्शन बिना, भगवान्‌के स्वरूपरसके आस्वादन बिना, भगवान्‌के मंगलमय श्रीअंगके संस्पर्श बिना, अपनेको अकृतार्थ हतभाग्य समझती हैं, वह अपना हिंसन समझती हैं, जैसे मति ब्रह्माकार होकर रसका आस्वादन करती है, वैसे हम भी करें। यह भाव आगे '**अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः**' (श्रीमद्भा० १०।२१।७) इत्यादिमें और स्पष्ट होगा। वाल्मीकिने लिखा है—

यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति।
निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हते॥

(वा०रा० २।१७।१४)

जिसने रामको स्नेहभरी दृष्टिसे नहीं देखा और जिसे रामने कृपादृष्टिसे नहीं देखा, वह सर्वलोकमें निन्दित है, उसकी अन्तरात्मा भी उसकी विगर्हा करती है। इसी प्रकार सर्व इन्द्रियोंकी निरर्थकता है कि जिनका भगवान्‌में उपयोग न हुआ हो, इसीलिये भक्तगण इतनेमें ही सन्तुष्ट नहीं कि वह उद्बुद्ध उभयविध सम्प्रयोग-विप्रयोगात्मक शृंगाररसात्मक शृंगाररसात्मा भगवान् केवल बुद्धिग्राह्य हो, वह तो उसका रोम-रोमसे, सर्वेन्द्रियोंसे संस्पर्श अवगाहन चाहते हैं—अतः उनके मनोवासनानुसार उद्बुद्ध उभयविध शृंगाररसात्मक तत्त्वने सर्वेन्द्रियग्राह्य होनेके लिये सर्व भावसे समास्वादन करा देनेके लिये नटवरवपु होकर वृन्दारण्यमें प्रवेश किया।

'**बिभ्रत्**'—'डुभृञ् धारणपोषणयोः'। इसके धारण-पोषण दोनों अर्थ हैं कि उद्बुद्ध उभयविध शृंगाररसात्मक भगवान् वेणुवादन करते हुए जो वृन्दारण्यमें पधारते हैं, वह कौन? तो श्रीवृषभानुनन्दिनीके हृदयकी वस्तु, भावुकोंके हृदयकी वस्तु, यानी भावुकोंका भाव ही श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दके रूपमें प्रकट हुआ, एवं च भगवान् भक्तमनोभावनामय हैं।

'**स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य**',

(श्रीमद्भा० १०।१४।२)

स्व-स्वीया तेषाम् इच्छा स्वेच्छा, तन्मयः न तु भूतमयः।

यह वपु भूतमय, मायामय, प्रकृतिमय नहीं, किंतु भावुकोंके प्रीतिमय, इच्छामय है, उद्बुद्ध उभयविध शृंगाररसात्मक स्वरूप कहा था तो श्रीवृषभानुनन्दिनीके अन्तःकरणमें, श्रीव्रजांगनाओंके अन्तःकरणमें। नायकविषयक शृंगार नायिकाके ही अन्तःकरणमें (हृदयमें) उद्बुद्ध होता है। यह अमूर्त रस श्रीवृषभानुनन्दिनीके हृदयकी वस्तु मूर्त होकर श्रीवृन्दारण्यधाममें कैसे? तो सर्वेन्द्रियग्राह्य होनेके

लिये। उद्‌बुद्ध उभयविध शृंगाररसात्मा यदि हृदयस्थ वस्तु फिर सर्वेन्द्रिय ग्राह्य नहीं, पर वही हृदयस्थ वस्तु वृन्दारण्यधामस्थ हुई। हृदयस्थ ही पहले कैसे? तो शुरूसे ही उसका धारण-पोषण श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दने ही किया, '**आशां भृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र**॥' (श्रीमद्भा० १०।२९।३३) व्रजांगना कहती है—'हे श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन, आपके सम्मिलनकी आशाको शुरूसे ही धारण किया, पोषण किया, उस आशा-कल्पलताका बीज व्रजांगनाओंके स्निग्ध हृदय-क्षेत्रमें आरोपण किया, रूखड़ पथरीले बालुकामय क्षेत्रमें यह आशा कल्पलता अंकुरित न होगी, अर्थात् भगवत्सम्मिलनकी आशा-कल्पलता हृदयमें बोयी जाय, वह अंकुरित हो, पुष्पित-फलित हो।' प्रत्याशित वस्तुका सम्मिलन ही उसकी सफलता—यह भगवत्कृपासे भावुक हृदयमें प्रकट होती है। व्रजांगनाओंके हृदयमें भगवत्सम्मिलनकी आशाको भी उन्होंने ही बोया, पोषण किया, यहाँ वह पुष्पित हो गयी, उसी फूलकी सुगन्धि वेणुगीतद्वारा निकलेगी। भाव यह कि श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रने ही श्रीवृषभानुनन्दिनीके, श्रीव्रजांगनाओंके हृदयमें स्वसम्मिलनकी उत्कण्ठाको, आशाको बोया और वही शृंगाररसका स्वरूप है। जब कभी वह आशाकल्पलतांकुर मुरझाने लगता है तो व्रजागंना अपने अश्रुबिन्दुसे उसे सींचना चाहती हैं, जबकि श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दके वियोगानलरूप वाडवाग्निसे वह दग्ध होने लगता है, तब वही श्रीकृष्णचरणारविन्द-परागरूप कज्जलको आँखोंमें लगाती हैं, श्रीकृष्णपादपंकजपरागसे यह अग्नि प्रशान्त होती है। इस शृंगाररसका धारण-पोषण श्रीकृष्णचन्द्रने ही किया, यहाँपर भी हृदयस्थ उद्‌बुद्ध उभयविध सम्प्रयोग-विप्रयोगात्मक शृंगाररसको मूर्त होनेके लिये धारण और पोषण किया।

भगवान्‌द्वारा मयूरपिच्छ-धारण

अब भूषणका वर्णन—बर्हापीड—बर्हमय आपीड, वैजयन्ती, कर्णिकार, पीताम्बर यह सब भूषण है, स्वरूप केवल 'नटवरवपु' यदि नटवत् वरवत् वपुका ऊपरवाला अर्थ करें तो शोभा और भूषण आ जाता है, नट ही विचित्र वेश-वसनसे अपनेको सजाता है अर्थात् वैसा अर्थ लेनेसे वैसे वपुका बोधन है, किंतु इसके अलावा नटपदसे वरपदसे विप्रयोग-सम्प्रयोगात्मक शृंगार कहा गया तो भगवान्‌का उद्‌बुद्ध उभयविध शृंगारात्मक रसस्वरूप आता है। भगवान्‌के तीन शृंगार हैं, '**भूषिता अप्यभूषयन्।**' श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द गोपाल बलरामके साथ जब भवनसे निकलते तो उसके पहले ही माता उबटन लगाकर अभ्यंग करनेके बाद नानाविध विचित्र दिव्य अलंकारोंसे भूषित करके गोचारणके लिये वृन्दारण्यमें भेजती, फिर वनमें आते तो ग्वालबाल वनकी सामग्रियोंसे भूषित, कर्णिकारसे आभूषित करते, गुंजाकी परमसुन्दर माला पहनाते, उद्‌बुद्ध उभयविध शृंगाररसका निर्यासरूप आनन्द-सुधासिन्धुका मन्थनकर यह अद्भुत सारतम तत्त्व विनिःसृत हुआ, इस प्रकार पूर्णानुराग-रससारसिन्धुसे प्रभुके सर्वांगका निर्माण हुआ, स्वरूपके प्रादुर्भाव होनेपर उबटन, अभ्यंग, अनुलेपन, स्नान वगैरह हुए। पहले उद्वर्तन हुआ। 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' में लिखा है कि '**उद्वर्त्तितमिव सौरभ्येण**' अन्योंको, सौरभ्यके लिये उबटन, यहाँ भगवान्‌के स्वरूपको तो सौरभ्यसे ही उबटन, अनन्तकोटिब्रह्माण्डान्तर्गत जो सौरभसारसर्वस्व वही आपके लिये उबटन '**अभ्यक्तमिव स्नेहेन**' अन्यत्र लोगोंमें स्नानसे मधुरिमा व्यक्त की जाती है, यहाँ तो भगवद्विषयक भावुकोंके स्नेहसे भगवान्‌के श्रीअंगका अभ्यंग हुआ। अनन्तब्रह्माण्डगत माधुर्य-बिन्दुके उद्गमस्थान माधुर्यसिन्धुके सारसे आपको स्नान कराया गया, श्रीकृष्णचन्द्रकी मंगलमयी मूर्तिका स्नान माधुर्यामृतसारसर्वस्वसे, '**मार्जितमिव लावण्येन**' मुक्ताफल मध्यकी चमकको लावण्य कहते हैं, उस लावण्यसारसर्वस्वसे ही मार्जन। अब अनुलेपन '**अनुलिप्तमिव सौन्दर्येण**' अन्यत्र अनुलेपनसे सौन्दर्य, यहाँ सौन्दर्यसारसर्वस्व ही अनुलेपन। '**भूषितमिव त्रैलोक्यलक्ष्म्या**' अनन्तकोटिब्रह्माण्डान्तर्गत लक्ष्मीसे

ही आप भूषित हैं, यह स्वाभाविक शृंगार है। नन्दरानीसे किया हुआ शृंगार, उसके बाद ग्वालबालों द्वारा वनमें किया हुआ शृंगार वही '**बर्हापीडम्**'।

'**बिभ्रत्**'—बर्हमय आपीडको धारण किये हुए, आपीड शिरोभूषण मयूरपिच्छसे निर्मित अद्भुत मुकुटको धारण किये हुए। नाचते हुए मयूरसे ही जो मयूरपिच्छ नि:सृत होता है, उसे बर्ह कहते हैं, उसीसे यह बना, मयूरको जब आनन्दोल्लास होता है, तब वह नृत्य करता है। घनगर्जनसे मेघश्यामकी अद्भुत घटाका निरीक्षण करते मन्द-मन्द गर्जनसे रसोल्लास रसोद्बोधनके साथ जब वह नृत्य करता है, तभी वह पिच्छ गिरता है, उसको धारणकर उद्बुद्ध उभयविध शृंगाररसको और उद्बोधित किया, यह उद्दीपन कोटिमें आ गया, उसको अपने भूषणमें धारणकर भगवान्ने रसोल्लास व्यक्त किया, यहाँ जितनी-जितनी उद्बुद्ध उभयविध शृंगाररसात्मामें रसकी अभिव्यक्ति होगी, उतनी ही भावुकोंमें रसोल्लास होगा। जब भक्त यह जानते हैं कि भगवान् मिलनेके लिये उत्कण्ठित हैं, तब तो उनकी उत्कण्ठाका पारावार नहीं रह जाता, इसीको और बढ़ानेके लिये भगवान्ने पिच्छ धारण किया। '**राधाप्रियमयूरस्य पत्रं राधेक्षणप्रभम्।**' जिस मयूरके चन्द्रकको भगवान्ने आभूषण बनाया, वह श्रीवृषभानुनन्दिनीके निकुंजका है, श्रीकृष्ण परमानन्दकन्दके श्रीअंगके समान उस मयूरके कण्ठकी श्यामलता थी, इसीलिये श्रीकृष्णचन्द्रका स्मारक होनेके कारण श्रीवृषभानुनन्दिनी उस मयूरको अपने पास रखती हैं और उसीका पिच्छ भगवान् धारण करते हैं। इस पिच्छका चन्द्रक श्रीवृषभानुनन्दिनीके नयनके समान है, इसलिये भगवान्ने वह भूषण शिरोधार्य किया, भक्तकी सम्बन्धित वस्तुको भगवान् अपना शिरोभूषण बनाते हैं अथवा यह कि श्रीराधाके शीर्षजूट जूड़ाके सदृश यह पिच्छ, अत: राधाके अलंकार जूटके सदृश होनेके कारण भगवान्ने इसे अपना भूषण बनाया। साथ ही अगले प्रसंगमें तीन भाव दिखाये हैं, अत्यन्त, सरस नूतन अरुणवर्णका आम्रपल्लव होनेसे उसको भी प्रभुने अपने भूषणमें धारण किया, उसकी अरुणिमासे राग दिखाया, यह उद्बुद्ध उभयविध शृंगाररसात्मक स्वरूप अंगी है और सब अंग हैं तो उससे इस स्वरूपमें रज:कृत एक रागजन्य विक्षेप सूचित किया और पिच्छकी जो श्यामलता है, उससे लिलक्षयिषित तमसे गाढ़ आसक्ति दिखायी, सरस अरुण पल्लवसे राग दिखाया। रसमें यह सब राग हो रहा है, वैसे तो रागमें रस है, यहाँ तो उद्बुद्ध उभयविध शृंगाररसात्मा श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दमें राग, आसक्ति व्यसन हो रहा है, तात्पर्य यह कि भक्त रसस्वरूप श्रीभगवान्में राग आसक्ति व्यसन प्राप्त करना चाहते हैं अर्थात् जहाँ उस तरहका राग-आसक्ति व्यसन भक्त करता है, वैसे ही आगे श्रीभगवान् भक्तमें राग-आसक्ति व्यसन करते हैं, जैसे श्रीवृषभानुनन्दिनीका, व्रजांगनाओंका श्रीकृष्ण-परमानन्दकन्द मनमोहन श्यामसुन्दरमें राग-आसक्ति व्यसन, वैसे ही श्रीभगवान्का श्रीवृषभानुनन्दिनीमें, व्रजांगनाओंमें राग-आसक्ति व्यसन। पहले भक्तका भगवान्में, फिर भगवान्का भक्तमें, जैसे बताया वृषभानुनन्दिनीके हृदयकी वस्तु श्रीकृष्णचन्द्र, वैसे ही श्रीश्यामसुन्दरके हृदयकी वस्तु वृषभानुनन्दिनी। कहा जा चुका है कि यह लौकिकवत् प्राकृतवत् व्यक्त हो, मगर है वह अलौकिक। रस-रसालम्बन-रसाश्रय तीन-तीन जातिके होते हैं, यहाँ एक ही है। परमरसामृतसिन्धुके ये तीन विकास हैं। श्रीकृष्णचन्द्र और वृषभानुनन्दिनी परस्परके हृदय हैं, जैसे श्रीकृष्णचन्द्रके स्वरूपसे श्रीवृषभानुनन्दिनीका हृदयगत उद्बुद्ध उभयविध शृंगाररस मूर्त हुआ, वैसे श्रीवृषभानुनन्दिनीके स्वरूपसे श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द-कन्दका हृदयगत उद्बुद्ध उभयविध शृंगाररस मूर्त हुआ, अत: दोनों उभयात्मक हैं, इस दृष्टिसे दोनों ओर इस स्वरूपमें रसाभिव्यक्ति हुई, जैसे वीर रसमें वीर रसका, करुण रसमें करुण रसका संचार, वैसे उभयविध शृंगाररसात्मामें रसाभिव्यक्ति, यही कहा—'**बर्हापीडं नटवरवपु:।**'

भगवान्‌द्वारा कानोंमें कर्णिकार-धारण

अब '**बिभ्रत्**' बर्हापीडसे अलग, '**कर्णयोः कर्णिकारं बिभ्रत्**' कानोंमें कनेलके फूलोंको धारण किये। '**कर्णयोः**' द्विवचन, '**कर्णिकारम्**' एकवचन, अतः उसमें भी द्वित्वकी कल्पना कोई करते हैं, अथवा कभी वाममें, कभी दक्षिणमें। एतावता रसवैदग्धी विशेष कहा। इसमें भावुक कहते हैं—भगवान्‌के दो कर्ण रसके उद्भावक हैं, कानोंमें रसानुभावक रसोद्बोधक पुष्प धारण करनेसे रसको उद्वेलित किया। किंवा द्विविध शृंगारके अनुभावक दोनों कर्ण। संप्रयोग कालमें हास-रास-विलासमिश्रित वचनोंसे उस रसकी पुष्टि विप्रयोगकालमें भी वेणुदूतद्वारा जब भक्तोंको भगवान् आहूत करते हैं, तब श्रोत्रोंका ही काम है, अथवा एकान्तमें भक्त जब भगवान्‌का चिन्तन करते हैं—'**तच्चिन्तनं तत्कथनम्**' उससे भावनापरिपाककी महिमासे इन श्रोत्रोंद्वारा ही दूरस्थ व्रजांगनाओंके आर्तिविलाप भगवान्‌को अनुभूत होते हैं, एवं च इसमें मुख्य जो कान उनको भूषित किया अर्थात् कभी सम्प्रयोग शृंगारका पोषण, कभी विप्रयोग शृंगारका पोषण भगवान्‌ने किया और लोग कहते हैं कर्णिकार अर्थात् कनेल नहीं, पीतवर्णका उत्पलाकार पुष्प, उसका स्वभाव है सूर्याभिमुख रहना, जिधर सूर्य जाय, उधर ही वह जाय, कर्णिकार पुष्पके इस स्वभावको जानकर उसको आपने धारण किया। भगवान् सूचित करते हैं कि हमारे प्रेमी जिधर मुँह करते हैं, वैसे मैं भी उन्हें अभिमुख होता हूँ, एतावता जिधर भक्तगण उधर ही उभयविध शृंगाररस उन्मुख, इसीलिये उनको धारणकर यही दिखलाया।

पीताम्बरधारणका रहस्य

'**बिभ्रद् वासः कनककपिशम्**'—भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द कनकवर्ण पीताम्बर धारण किये हुए पधारे। यह इसलिये कि रस आवृत रहे। उद्‌बुद्ध उभयविध शृंगाररस ही श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द हैं, वह रस अगर निरावरण हो जाय तो रसाभास हो जायगा, निरावरणरस रसाभास कहा जाता है, इसलिये उसे आवृत रखना चाहिये। यह रस उच्छलित रस है, उद्‌बोधित रस है, शृंगाररसस्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र भगवान्‌ने मयूरपिच्छमय मुकुटको धारणकर सूचित किया, रसोल्लासमें ही मयूरका चन्द्रक गिरता है, इसीलिये उसका धारण रसोल्लासका लक्षण है, ऐसा उद्‌बुद्ध उभयविध शृंगाररस यदि आवृत न हो तो रसाभास हो जाय, अतः '**कनककपिशं वासो बिभ्रत्**' रस आवृत रहनेसे ही रस है, वैसे भी उत्कण्ठाविशेष बढ़ानेके लिये रस आवृत ही रहना चाहिये। श्रीवृन्दारण्यधाममें श्रीबिहारीजीके मन्दिरमें बार-बार, क्षण-क्षणपर परदा होता है; क्योंकि ऐसेमें ही उत्कण्ठा बनी रहती है, निरावरण निर्विघ्न रसमें उत्कण्ठाकी कमी होती है, वास्तवमें रस तो आस्वादनसे घटता नहीं, फिर भी लौकिक रीतिसे अलौकिक रसका आस्वादन प्रभु दे रहे हैं। अति सुन्दरी परम रमणीया नायिका भी मुखचन्द्रपर घूँघट रखती है, अतः उद्‌बुद्ध उभयविध शृंगारात्मा भगवान्‌ने कनककपिश पीताम्बरसे अपनेको आवृत किया। अर्थात् भक्तोंको श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दके मिलनेमें जो रुकावट—आवरण है, वह माया है, माया ही निरावरणरूपसे प्रभुको देखने नहीं देती। वैसे ही गोपांगनाओंको निरावरण उद्‌बुद्ध उभयविध शृंगाररसात्मा श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दके दर्शनमें बाधक पीताम्बर है। श्रीवल्लभाचार्य भी पीताम्बरको माया ही मानते हैं। भगवान् भी कहते हैं—'**नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।**' (गीता ७। २५) इसीलिये सबको भगवत्तत्वका अनुभव नहीं होता, अगर हो तो वह केवल भगवत्कृपासे ही। केवल पीताम्बर वस्त्र नहीं, अपितु तप्तकांचनके सदृश सुवर्णवर्णाम्बर क्यों? सुवर्ण मोहक है, बड़े-बड़े ईमानदारोंका ईमान डुबानेवाला सुवर्ण ही होता है। अतः सुवर्णवर्ण पीताम्बर व्यामोहक कनकतुल्या माया। जो इस कनकके व्यामोहको उल्लंघन करे, वही उस आवरणसे आवृत ब्रह्मको देख सकता है। यदि कनकके आवरणमें फँसा तो रसात्मा ब्रह्मको क्या देखेगा!

वेधा द्वेधा भ्रमं चक्रे कान्तासु कनकेषु च।
तासु तेष्वप्यनासक्तः साक्षाद् भर्गो नराकृतिः॥

ऐसे आवरणसे अपने श्रीअंगको आवृतकर भगवान् श्रीवृन्दारण्यधाममें पधारे। अर्थात् जो भगवान्को देखना चाहते हैं, उनके सामने प्रथम मायाकी चमक-दमक आती है, अगर उसे उल्लंघन किया तो ठीक, केवल कनकके समान ही नहीं, अपितु अग्नितप्त सुवर्णसदृश देदीप्यमान चमकीले पीतवर्णवाले पीताम्बरसे अपने श्रीअंगको आवृत किया। पीताम्बरकी चमक कई तरहकी होती है, कोई कहते हैं सुवर्णवर्ण, कोई दिव्य-दीप्तिमान् विद्युत्के सदृश, कोई कदम्ब-किंजल्क-सदृश, कोई रविकरसदृश, यहाँ तो बिजलीसे भी शतगुणित सहस्रगुणित देदीप्यमान पीताम्बर है, वह प्रभुके श्रीअंगको विलक्षण शोभा देता है, जैसे इन्द्रनीलमणिके पर्वतपर दामिनी दमके, वैसे श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दके महेन्द्र-नीलमणिको लज्जित करनेवाले स्वरूपपर पीताम्बर दामिनीके समान दमक रहा है। अद्भुत शोभा दे रहा है, किंवा जिस रीतिसे सजल नीलाम्बुदपर—मेघश्यामपर दामिनी दमकती है, वैसे प्रभुके श्रीअंगपर पीताम्बर देदीप्यमान होता है, उसमें भी यह सजल नीलजलद जल देनेवाला है, श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द तो आनन्दरस—अनुरागरसवर्षी हैं, प्रेमानन्दमयरसवर्षी हैं, यह कोई अद्भुत सुधामय जलद है, अतएव अद्भुत दामिनीके दमकको लज्जित करनेवाले पीताम्बरसे आवृत है, श्यामल जलद जलमय ही होता है, यहाँ भी श्रीकृष्णचन्द्र उद्‌बुद्ध उभयविध शृंगाररसस्वरूप ही हैं, शृंगाररसके अधिष्ठात्री देवता विष्णु श्याम और शृंगाररस स्वरूपवर्णनमें उस रसका वर्ण भी श्याम ही कहा है एवं प्रकारसे पीताम्बर प्रभुके श्रीअंगपर अद्भुत छवि दे रहा है।

भावुक कहते हैं यह माया है, पर यह प्राकृत माया नहीं, अपितु यह एवंगुणविशिष्ट पीताम्बर श्रीवृषभानुनन्दिनी ही हैं, किं बहुना—श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दके श्रीअंगपर यावान् भूषण हैं, सब श्रीवृषभानुनन्दिनी ही हैं, इसी प्रकार श्रीवृषभानुनन्दिनीके श्रीअंगपर जो भूषण हैं, वह सब श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द ही हैं।

श्रवसोः कुवलयमक्ष्णोरञ्जनमुरसो महेन्द्रमणिदाम।
वृन्दावनतरुणीनां मण्डनमखिलं हरिर्जयति॥

वृषभानुनन्दिनीके तथा व्रजांगनाओंके कानोंमें जो कमलके फूल हैं, वे रात्रिविकासी स्थलोद्भव कमलविशेष कुवलय होते हैं, वह श्रीकृष्ण अर्थात् उनके श्रोत्रभूषण भगवान् श्रीकृष्ण। वे अपनी आँखोंमें जो अंजन लगाती हैं, वह क्या प्राकृत अंजन है? नहीं! वह श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन ही अंजन होकर उनके नयनोंमें विराजमान हैं, काष्ठपाषाणमय भूषण उनके नहीं।

ईदृशा पुरुषभूषणेन या भूषयन्ति हृदयं न सुभ्रुवः।
धिक् तदीयकुलशीलयौवनं धिक् तदीयगुणरूपसम्पदः॥

ऐसे पुरुषभूषणसे जो सुभ्रू अपने हृदयको नहीं भूषित करती; उनके कुल, शील, यौवन और गुणरूप सम्पत्तिको धिक्कार है। श्यामसुन्दर पुरुषभूषण, पूर्णतम पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्रसे जिन्होंने अपनेको भूषित नहीं किया, वह अपनेको कंकड़-पत्थरोंसे भूषित करे। श्रीकृष्णचन्द्रके पादपंकजपरागको ही अंजन-रूपसे लगाती हैं, उनके हृदयमें महेन्द्रनीलमणिकी माला भी श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द ही हैं, संसारकी अन्य युवती भले ही कंकड़-पत्थरोंसे अपनेको भूषित करें, पर वृन्दावनतरुणियोंका मण्डन तो एक श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द ही हैं। वैसे श्रीकृष्ण परमानन्दकन्द मनमोहन मदनमोहन श्यामसुन्दर भगवान् उनके हृदयमें हैं ही, पर बाहर भी वही, हृदयके बाहर-भीतर एक ही हो। श्रीव्रजांगनाओंके, श्रीवृषभानुनन्दिनीके अन्तरात्मा, अन्तःकरण, प्राण, इन्द्रियाँ, रोम-रोम सबमें, उपरिष्टात् अधस्तात् सर्वतः श्रीकृष्ण-ही-श्रीकृष्ण। श्रीवृषभानुनन्दिनीके श्रीअंगपर जो नील साड़ी, नील अद्भुत दिव्य निचोल, इन्द्रनील चूड़ी, हृदय विलिंपित मृगमद कस्तूरिका सब भगवान्-ही-भगवान्। सबका वर्णन कहाँतक किया जाय, अतः संक्षेपमें बताया कि '**मण्डनमखिलं हरिर्जयति**', '**ये**

यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' (गीता ४।११) ऐसे प्रभुके सिद्धान्त ही हैं। पूर्णतम पुरुषोत्तम श्यामसुन्दरको भी वृषभानुनन्दिनीके अतिरिक्त भूषण ही नहीं, जिन्हें भगवान् अपना भूषण बनायें। श्रीव्रजांगनाओंके तथा श्रीवृषभानुनन्दिनीके भूषण भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द तो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दके भी सब आभूषण श्रीवृषभानुनन्दिनी श्रीव्रजांगना ही हैं, श्रीप्रभुका अन्तरंगस्वरूप श्रीवृषभानुनन्दिनी तथा श्रीवृषभानुनन्दिनीके अन्तरंगस्वरूप श्रीभगवान्। तभी कहा—'**उभयोभयभावात्मा**' जैसे भक्तमनोभावनामय भगवान्, वैसे भगवन्मनोभावनामय भक्त। भक्तके हृदय भगवान्, भगवान्के हृदय भक्त, इसी दृष्टिसे पीताम्बरसे आवृत हैं। जैसे अद्भुत अनन्त परमानन्द सुधा-सिन्धुमें मधुरिमा होती है, उसी रीतिसे श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द निखिलरसामृतसिन्धुमें माधुर्याधिष्ठात्री श्रीवृषभानुनन्दिनी और उनकी अंशभूता श्रीव्रजांगना। श्रीकृष्ण परमानन्दकन्द एक तरुणतमाल हैं, श्रीवृषभानुनन्दिनी सुवर्णलता हैं, जैसे सुवर्णवर्णा लतासे परिवेष्टित तरुणतमाल सुशोभित हो, वैसे श्रीवृषभानुनन्दिनीसे परमानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र। दोनोंका अद्भुत अविघटित सुस्थिर सम्बन्ध है।

भगवान्के श्रीकण्ठमें वैजयन्ती-मालाकी शोभा

भगवान्के श्रीकण्ठमें वैजयन्ती। '**वै निश्चयेन जयन्ती जयशालिनी**', मानो कन्दर्पने जिस धनुषसे निखिल विश्वको विजय किया और उसने उसे छोड़ दिया, वही है यह वैजयन्ती माला। श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दके नखमणिमय चन्द्रिकाके दर्शनसे कन्दर्प मूर्च्छित हुआ, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक कन्दर्प-दर्पदलनपटु भगवान्के गलेकी यह पंचवर्णपुष्पग्रथित अम्लान पुष्पमाला अद्भुत सौगन्ध्यसे युक्त है। श्रीभगवान्के पास तीन शक्तियाँ हैं—उद्बोधक, आच्छादक, विक्षेपक। कानोंके कर्णिकार उद्बोधक, पीताम्बर आच्छादक है, ब्रह्मस्वरूपोपलब्धिमें वह विघ्न है, परंतु रसज्ञोंके लिये रस भी है और ततोऽप्यधिक विक्षेपक वैजयन्ती, व्रजांगना उद्विग्न हो जाती है। वह समझती है, हमारे श्यामसुन्दरके ये सब आवरण हैं, क्योंकि रसास्वादनपरायण रसिक निर्विघ्न निरुपद्रव निरावरण रसास्वादन चाहता है, क्या उनको पीताम्बरका व्यवधान, वैजयन्तीका व्यवधान सह्य होगा? जहाँ हार-कंचुकका भी व्यवधान असह्य वहाँ पीताम्बरका, वैजयन्तीका व्यवधान कैसे सह्य होगा? ऐसा है श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दका अद्भुत दिव्य स्वरूप। इन सबसे दुर्लभता सूचित है, दुर्लभतामें ही रस है। चकारात् वनमाला भी, श्रीकण्ठसे मधुर मनोहर पादारविन्दतक। इन सबसे श्रीअंग आवृत हैं, जैसे ज्योतिर्मय जलदावृत नभोमण्डल आच्छादित हो जाता, वैसे श्यामल, महोमय, आनन्दरसमय वपु अनेक आवरणोंसे आवृत हो अस्पष्ट ज्योति हो गया, उस पीताम्बरके मध्यमेंसे श्रीअंगकी देदीप्यमान श्यामलता चमकती है। जैसे विद्युत्से आवृत होनेपर भी इन्द्रनीलमणि पर्वतकी श्यामलता चमकती है, वैसे ही '**सो जानइ सपनेहुँ जेहिं देखा॥**' (रा०च०मा० १।१९९।१२) जिनको स्वप्नमें भी एक बिन्दुमात्र भी आस्वादन करनेको मिला, वे ही जान सकते हैं। आपके सर्व अलंकारोंकी झलक जिसके मनमें आयी, वह सदाके लिये बिक गया। श्यामलता कैसी? '**कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णम्**' (श्रीमद्भा० ११।५।३२) श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द-कन्दका वपु है तो अतसीपुष्प-सदृश, नीलाम्बुज, नील नीरधरके समान तब भी वह '**त्विषाकृष्णम्**' एक अद्भुत दीप्तिमें छिपा है। अतएव श्यामल महोमय कहा जाता है। तेज दो प्रकारके एक श्याम तेज, एक गौर तेज, श्याम तेज भगवान् श्रीकृष्णका, गौर तेज श्रीवृषभानुनन्दिनीका, तेजमें श्यामलता छिपी है, व्यक्त है केवल प्रकाश दीप्ति, अनन्तकोटि सूर्योंको लज्जित करनेवाली दीप्तिमें श्यामलता आवृत है, इसलिये वह विचित्र योग है, महेन्द्र नीलमणिकी तेजस्विता, सुशोभितता, अपूर्वता, सुचिक्कणता, पंकजकी कोमलता, तापापनोदकता, मनोहारिता—इनका भगवान्के श्रीअंगमें मधुर मिश्रण

है, भावुकका मन मधुकरके समान है, मधुकर जैसे अनेक पुष्पोंसे मधु लेता है, उसी तरह भावुक भगवान्‌की मूर्ति इन तत्त्वोंको लेकर बनाता है।

भगवान्‌की भूषणमयी शोभा

भगवान्‌के अद्भुत अलंकारसहित मूर्तिका वर्णन क्या किया जाय, कोटि सूर्योंके समान दिव्य रत्नोंसे जड़ित अद्भुत मोरपिच्छयुक्त मुकुट, देदीप्यमान कुण्डलोंकी झलक, सुगन्धित पुष्पोंकी माला, श्यामल कपोलपर सुन्दर कुण्डल। कपोलोंपर लटकती हुई श्यामल स्निग्ध सचिक्कण अद्भुत अलकावलीकी शोभा तो अवर्णनीय है, जैसे श्यामल नागोंके शिशु अमृतमय चन्द्रमाका रस लेनेके लिये गये हों, किंवा जैसे नीलकमलकोशपर भ्रमरवृन्द आकर रसास्वादनके लिये निश्चल निस्तब्ध विराजमान हों, अथवा सुन्दर टेढ़े-टेढ़े घुँघुराले अलकोंकी वह अलकावली! स्निग्ध सचिक्कण श्यामल अमृतमय नीलाम्बुजपर पराग-लोभसे बैठे मानो भ्रमरवृन्द ही हैं। फिर गुंजारव क्यों नहीं? कारण यह कि वह अद्भुत मादक मकरन्दपानकर उन्मत्त होकर चंचलतारहित होकर स्तब्ध हो गये, ऐसा मुखचन्द्र! अग्र हाथीके बच्चेके शुण्डसदृश गोल सुडौल सुचिक्कण दीप्तिमय योग्य चढ़ाव-उतारके श्रीभुज हैं, दिव्य कुंकुम-मिश्रित हरिचन्दनसे विलिंपित भुजा है। भगवान्‌के श्रीअंगपर कुंकुममिश्रित हरिचन्दन इस तरह सुशोभित होते हैं, जैसे चन्द्रमाकी चन्द्रिकासे व्याप्त इन्द्रनीलमणि। अंगद-कंकणादि, हस्तांगुलिदलोंमें मुद्रिका, नखोंमें अरुणिमा ऐसे श्रीहस्तोंसे वेणुको उठाकर अधरपर रखकर अधरसुधापूरित कर रहे हैं।

वेणुवादन

रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन्—वेणुके छिद्रोंको अधरसुधासे पूरित करते हुए भगवान् वृन्दारण्यधाममें पधारे, मानो श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दकी रुचि है वेणुच्छिद्रोंको अधरसुधासे पूरित करनेकी। नटनागर नटवरवपु श्रीकृष्णकी रुचि भी नटखट, इसलिये कि लोग हमारे वेणुमें दूषण बतलाते हैं। छिद्रोंको दूषण कहते ही हैं—'**छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति**' एक छिद्र कहीं हो तो अनर्थ होता है, यहाँ तो सात छिद्र हैं। इस सप्तछिद्रयुक्त वेणुको लोग निन्दित, कलंकित समझेंगे, इसलिये हम उसे अपनी सुमधुर अधरसुधासे पूरित कर दें। यानी परमानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रके श्रीहस्तारविन्दमें रहनेवाले, उनके अधरपर विराजमान वेणु सच्छिद्र रहे, यह ठीक नहीं, ऐसी भगवान्‌की रुचि है, इसीलिये '**रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन्**' (श्रीमद्भा० १०। २१। ५)—अधर-सुधाने सोचा अरे जड़ वेणु! मैं अपने अद्भुत प्रभावसे तुझे सप्राण बना दूँ! बस, इस अभिप्रायसे सुमधुर अधरसुधाने वेणुको सप्राण बनाना चाहा और वह अधर-सुधाके संस्पर्शसे सप्राण होकर सुमधुर गीतका विस्तार करने लगी। अब अधरसुधाने सोचा कि वेणु तो जड़-की-जड़ ही रह गयी। अधरसुधाके परंप्रवीण सम्बन्धसे वृक्षोंसे मधुधारा बहने लगी, सरोवरसरसी, कमल-कमलिनी, कुमुद-कुमुदिनी रोमांचित हो गये, यमुना रुकी, पाषाण द्रवरूप हो गया, मगर वेणु सूखी-की-सूखी ही रही। वेणु सच्छिद्र है, पोली है, रसशून्य है, हृदयशून्य है, इसीलिये इसपर अधरसुधारसका प्रभाव न पड़ा। इसका प्रभाव सहृदयपर ही पड़ता है, अहृदयपर नहीं। कहते हैं—मलयाचलपर चन्दन वृक्षके सम्पर्कसे सम्पूर्ण वृक्ष चन्दन हो जाते हैं, मगर बाँस, बाँस ही रह जाता है। औरोंमें हृदय है, और सब पोले, हृदयशून्य सच्छिद्र नहीं हैं, बाँस हृदयशून्य निःसार है। कहते हैं—ग्रन्थि रहना अच्छा नहीं। एक चिज्जड़ ग्रन्थि न जाने कबकी है। यह ग्रन्थि मिटना कठिन है। कहते हैं—अमुक बड़े गठीले चित्तके हैं। बाँसमें तो गाँठ-ही-गाँठ है। एक छिद्र हो तो सहस्त्रों अनर्थ उत्पन्न होते हैं, यहाँ तो सात छिद्र हैं, अतः उसपर प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिये अधरसुधाने यह सोचकर, वेणुछिद्रोंमें रस भरकर उसे सप्राण किया था, पर उस वेणुको छोड़कर वह व्रजांगनाओंके निरावरण कर्ण कुहरोंद्वारा वेणुगीतरूपमें उनके हृदयोंमें पहुँचा। यहीं उसने अपना सब विक्रम, सब माधुर्य व्यक्त किया। यहाँपर चक्रवर्तीने ऊपरके कुछ थोड़े

भाव कहे हैं। अथवा **'अधरा नीचीना (तुच्छा, अपकृष्टा) सुधा अपि यस्याः सकाशात् सा अधरसुधा,'** श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दकी अधरसुधामें ऐसी मधुरिमा है, जिससे सुधा भी अति तुच्छ मालूम हो। अर्थात् देवताओंके, चन्द्रमाके और धन्वन्तरिके अमृतको अपकृष्ट बनानेवाली, यह जो अधरसुधा है, उससे भगवान् वंशीको पूरित करने लगे।

वंशीमें सुमधुर अधरसुधा प्रविष्ट होती है, वह भी स्वयं अमूर्त है। छिद्रमें आकाश भरा है। अमूर्त पदार्थसे आकाश निश्छिद्र नहीं होता। अतः अमूर्त रससे वंशी निश्छिद्र न हुई। वास्तवमें वेणुको भगवान्ने अधरसुधा दी ही नहीं, केवल सम्पर्क होनेसे क्या होता है? प्रभुकृपासे वह जिसको मिले, उसपर ही प्रभाव होता है। उसी जलमें जोंक, उसीमें कमल, उसीमें मछली रहती है। अधिकारी, योग्य पात्र ही वस्तुको ग्रहण करता है, अर्थात् वेणुको वास्तवमें अधरसुधाका सम्प्रदान ही नहीं हुआ। वह केवल वेणुपात्रद्वारा व्रजांगनाओंको भेजी गयी। दर्वीसे रस चलाया जाय, परोसा जाय, परंतु दर्वीको रसास्वाद थोड़े ही आता है। वह तो रसोपभोगकी सामग्री है। वेणुपात्रद्वारा अधररस गोपांगनाओंको दिया गया, इसलिये कि गोपांगनाएँ सन्निहित नहीं थीं। वृन्दारण्यस्थ श्रीकृष्ण परमानन्दकन्दकी अधरसुधाका सम्भोग व्रजस्थिता व्रजांगनाओंको कैसे हो? अतः अधरसुधाको साधनभूत वेणुके छिद्रोंमें भरकर व्रजांगनाओंके हृदयमें पहुँचाया। वेणु दर्वीके समान होनेसे सूखी, सच्छिद्र ही रह गयी। यहाँ केवल श्रीप्रभुकी इच्छा ही कारण है, वेणु सबके लिये समान है। जैसे—स्वातिबिन्दु बाँसमें वंशलोचन, गोमें गोरोचन, शुक्तिमें मुक्ता, गजकर्णीमें गजमुक्ता होता है, वैसे ही अधरसुधा भिन्न-भिन्न पात्रोंमें पड़ती है, वेणु केवल उसको विभिन्न-विभिन्न पात्रोंमें पहुँचानेवाली हुई।

यहाँ कई पक्ष हैं। यों तो जब श्रीव्रजांगना वेणुपर प्रसन्न हों, तब प्रशंसा ही करती हैं, **'याचेऽहं वंशदेहम्'**। कहती थी—'सखि! हम तो वंशदेहकी याचना करती हैं। यदि विधाता हमारे ऊपर प्रसन्न हों तो हमें वंशदेह दें। गोपांगनादेहमें हमें कृतार्थता नहीं है। यदि वंशदेह होता तो सम्भव था कि कभी भगवान्के अधरपर सोती, अधरसुधाका आस्वादन करती, पर हम तो कुलांगना ठहरीं, हमें यह अवसर प्राप्त नहीं हो सकता।' जब गोपांगना वेणुसे ईर्ष्या करती, तब तो उसके दोष-ही-दोष कहती थी। अस्तु, यह आया कि षट्धर्मसहित रसरूप धर्मीको वेणुछिद्रोंद्वारा व्रजांगनाओंके हृदयमें पहुँचाना वेणुका कार्य था। **'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।'** इत्यादि भगवान्में छः धर्म हैं। अर्थात् सम्पूर्ण षट्भगसम्पन्न, अचिन्त्य, अखण्ड, अनन्त, रसधर्मी, पूर्णतम, पुरुषोत्तम भगवान् हैं। वेणुमें सप्तछिद्र हैं। अतः षट्छिद्रोंद्वारा एक-एक भगधर्म एवं सातवें छिद्रद्वारा षट्धर्मसहित भगवान् अधरसुधाद्वारा वंशीमें प्रवेशकर, तद्द्वारा श्रीव्रजांगनाओंके हृदयमें प्रवेश करते हैं, ऐसा भावुकोंने कहा है। तीन तरहकी अधरसुधाएँ हैं और उसके सम्भोगाधिकारी भी तीन हैं। जिन्हें निरोध सम्पन्न हुआ, वे ही सुधाके अधिकारी हैं। निरोध यानी सम्पूर्ण विश्वविस्मरणपूर्वक श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दमें मनका लय होना। वह भी तीन प्रकारका है—प्रेमनिरोध, आसक्तिनिरोध और व्यसननिरोध। प्रेमनिरोध-सम्पन्नको देवभोग्या, आसक्ति-निरोध-सम्पन्नको भगवद्भोग्या और व्यसननिरोध-सम्पन्नको सर्वाभोग्या कहा गया है। ये सिद्धान्त श्रीवल्लभाचार्यजीने बताये हैं। यह देव कौन हैं? श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धमें निरोध, एकादश-स्कन्धमें मुक्ति और द्वादशस्कन्धमें मुक्ति-आश्रय ब्रह्म है। निरोध-वर्णन होनेसे दशम ही मुख्य है, क्योंकि श्रीकृष्णचन्द्रमें मनोलय होना ही सब कुछ है। इनके मतमें मुक्ति बड़ी विलक्षण है। कहते हैं—पूर्णतम पुरुषोत्तम परमानन्दमें जो मुक्त हुए जीव जाकर मिल जाते हैं, ऐसा जो मुक्तत्व उसकी मुक्ति मुक्ति है। परमपुरुषार्थ तो श्रीकृष्णचन्द्रका लीलारसास्वादन है। जो मुक्त हो गये, वे क्या लीलारसास्वादन कर सकते

हैं? मुक्तोंका स्वरूपसे निष्कासन ही पुष्टिमार्गीय मुक्ति है।

भागवतके अनुसार '**मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः॥**' (श्रीमद्भा० २।१०।६) अर्थात् काल्पनिक, औपाधिक रूप छोड़कर पारमार्थिक भगवद्रूपमें लीन होना। पारमार्थिक रूप अखण्ड, अनन्त, नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, स्वप्रकाशात्मक है, यह अद्वैतियोंकी मुक्ति है। कोई कहते हैं—जीवका निजी रूप गोपांगनाभाव है। उसे छोड़कर जो सांसारिक स्त्रीत्व-पुंस्त्वमें आया, उसको छोड़कर पूर्वभावमें जाना ही मुक्ति है। दूसरे कहते हैं—जीव स्वभावसे ही श्रीभगवान्‌का नित्यदास है। जहाँ दूसरे भाव आये कि वह भाव बिगड़ा, उन्हें छोड़कर—श्रीभगवान् हमारे स्वामी, हम उनके दास, इस रूपकी प्राप्ति मुक्ति है। किंतु यहाँकी मुक्ति, जीवकी मुक्तित्वसे मुक्ति है अर्थात् जीवको मुक्ततासे छुट्टी मिले। एक कथा है कि एक बार श्रीदेवर्षि नारद प्रफुल्लित अद्भुत आमोदमय वृन्दारण्यमें पधारे। वहाँपर जब उन्होंने श्रीवृषभानुनन्दिनी तथा व्रजांगनाओंके दिव्य प्रेममय हास-रास-विलास-विलासित भावोंका अनुभव किया तो रोने लगे। नारदको रोते देख व्रजरमणियोंने पूछा कि ऐसे आनन्द-समुद्रमें अवगाहन करनेके समय रोते क्यों हो? नारदने कहा—हम रोते उनके लिये हैं, जो मुक्त हो गये हैं। जो बन्धनमें हैं, उनको तो सम्भव है कि यह रस मिल सके। उनको श्रीवृषभानुनन्दिनी तथा श्रीकृष्ण परमानन्दके ऐसे अद्भुत प्रेमरसमय शृंगारका दर्शन हो सकेगा, मगर मुक्तोंको तो बिलकुल ही असम्भव है। इसी भावनासे कहते हैं कि वेदान्तियोंकी मुक्ति पाषाणकल्प है, किंतु उसके निरूपणका यह अवसर नहीं।

आश्रय—ऊपर कहे हुए मुक्तोंको भगवल्लीलोपयोगी दिव्य देहादिकोंका प्रदान करना, पूर्णतम पुरुषोत्तमलीन जीवोंका निष्कासन करनेपर उन मुक्तिमुक्तोंको लीलापरिकरोपयोगी बनाना आश्रय है, इसीको प्रत्यापत्ति कहते हैं, इसके अनुसार वह जीव वृन्दावनमें गुल्म, लता, पाषाण, वृक्ष हुए। मुक्त, मुनीन्द्र, अमलात्मा, महात्मा, परमहंस ही आकर सर्वरूपमें प्रकट हो गये हैं, इन्हींकी भोग्या सुधा देवभोग्या है। '**द्योतनात्मकत्वात्, प्रकाशात्मकत्वात्, श्रीकृष्णस्वरूपत्वात् देवाः, किं वा दीव्यन्तीति देवाः।**' श्रीकृष्णचन्द्रसे क्रीड़ाके लिये जो आये, वे देव हैं। दिव् धातु तो बड़ा ही व्यापक अर्थ रखता है। '**दिवुक्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोद-मदस्वप्नकान्तिगतिषु**'। ये देव पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्रके साथ लीला-परिकर होनेके लिये प्रादुर्भूत हुए। इनको भी प्रेमनिरोध हुआ। ये श्रीप्रभुके प्रेममें संसार-विस्मरणपूर्वक मनसे उनमें लीन हो गये। एक स्थिति तो यह कि '**वृन्दावनं परित्यज्य पदमेकं न गच्छति**' तब तो ठीक ही है, पर जब भगवान् गये, तब तरु-गुल्म वगैरह शुष्क क्यों न हो गये? कारण यह कि बहिर्मुख नहीं, इनकी भावना यह है कि श्रीकृष्णचन्द्र कहीं गये ही नहीं। अगर वे प्रभुका वहाँ अभाव समझते तो मुरझाते, रोते, जल जाते, अतः प्रेमनिरोधसम्पन्न लता, तरु-गुल्म, खग-मृगोंमें देवभोग्या अधरसुधाका संचार हुआ। भगवान्‌के मुखचन्द्रसे निःसृत जिस वेणुनादामृतका वृक्ष-लता, खग-मृग, पशु आस्वादन करते हैं, वह देवभोग्या अधरसुधा है। यह सुधा है श्रोत्रपेया, मुखपेया नहीं, इस सुमधुर अधरसुधाका सम्भोग श्रोत्रोंद्वारा ही होता है।

रसस्वरूप श्रीकृष्णचन्द्रकी मंगलमयी लीला भी रसस्वरूप है

एक बात यहाँ समझनी चाहिये कि वास्तवमें रसस्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दकी मंगलमयी लीला भी रसस्वरूप ही है। उनके लीलापरिकर भी रसस्वरूप हैं और लीलाभूमि भी रसस्वरूप है। भगवान् तो वास्तवमें आत्मरति हैं। जब श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दके भक्त आत्मरति हैं, उनको रमण करनेके लिये स्त्री, पुत्र, धन इत्यादि अनात्मसामग्री अपेक्षित नहीं है, तब उनके ध्येय पूर्णतम, पुरुषोत्तम, भगवान् आत्माराम, आप्तकाम आत्मामें रमण करेंगे, इसमें संशय ही क्या? वह अपने-आपमें रमण करते

हैं—'**नहि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति**'। भगवान्‌की रति आत्मामें, श्रीवृषभानुनन्दिनीमें और श्रीव्रजांगनाओंमें है। सब उन्हींके रूप हैं। '**स भगवान् कस्मिन् प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नीति होवाच**।' अन्तिम सर्वाधार अपने-आपहीमें स्थित होता है। पृथिवीका आधार जल, जलका तेज, तेजका वायु, वायुका आकाश, उसका तन्मात्र, उसका अहंकार, उसका महत्तत्व, उसका अव्यक्त प्रकृति, उसका सत्त्व; अब उसका आधार क्या? वह तो स्वयं निराधार अपने-आपहीमें स्थित है। इसलिये श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द सर्वत्र आपहीमें व्यक्त हुए। इस दृष्टिसे आत्मरति बने, परंतु जब सब ही रसस्वरूप आत्मरति हैं तो किसी एकको दूसरी ओर आकर्षण, प्रेम, आसक्ति, व्यसन कैसे? क्योंकि जैसे श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द स्वरूपमें रमण करनेवाले हैं, वैसे ही वृषभानुनन्दिनी और व्रजांगना आदि भी हैं। अर्थात् परस्पराकर्षण नहीं होगा, यदि आकर्षण नहीं तो नानाविध विलास क्यों? एकमें अनेकत्व क्यों? '**एकोऽहं बहु स्याम्**' यह क्यों? इसका उत्तर केवल यही कि लीलारसास्वादनार्थ।

भगवान्‌के जन्म-कर्म बन्धनकारक नहीं हैं

अब प्रश्न यह होता है कि आत्माराम, आप्तकाम, पूर्णतम, पुरुषोत्तमको लीलारसास्वादन कैसे? बात ठीक है, पर यह तो आपत्ति सभी मतोंमें है। तब फिर किसलिये कहते हैं '**आप्तकामस्य का स्पृहा**' और कैसे फिर सब प्रपंच सम्भव है? अब पहला उत्तर यह—जो सर्वमतसिद्ध भी है कि आप्तकाम भगवान्‌को अपना प्रयोजन तो कुछ नहीं, पर अनादिबद्ध जीवोंके लिये प्रभु जगन्निर्माण करते हैं, एकमें अनेकता करते हैं। यदि कहो '**न रहे बाँस न बजे बाँसुरी**', यह बात निरर्थक है, अनादिकालसे एकमें अनेकता व्यक्त है, जीवभाव नया नहीं है। जैसे जबसे आकाश है, तबसे ही उसमें श्यामलता भ्रान्ति है, वैसे ही अनादि जीव हैं, अनादि प्रकृति है, किंतु अनादि रहनेपर भी सान्त हैं (यथा प्रागभाव)। अद्वैत मत यही है कि एक सच्चिदानन्द परमात्माको छोड़कर सभी सान्त हैं '**प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि**'। (गीता १३। १९) समझो कि लीलारसविशेषके लिये निखिल रसामृतसिन्धु, पूर्णतम, पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दने अपने-आपको ही सर्वस्वरूपमें विकसित किया, अतएव शुद्ध रसमय लीलामें प्राकृतता नहीं है। यदि यह कहो कि आकर्षण नहीं—तो लीला कैसे? तो प्रभु एक वैष्णवी मोहिनी मायासे सबोंके स्वरूपोंको आवृत—मोहित कर देते हैं। अतः निखिल रसामृतमूर्ति होते हुए भी वे अपने-आपको भूल जाते हैं। इसी तरह श्रीवृषभानुनन्दिनी, व्रजांगना इत्यादि भी अपनेको भूल जाते हैं। यदि स्वयं तृप्त हैं तो दूसरेकी स्पृहा कैसी? किंतु इस वैष्णवी मोहिनी मायासे यशोदामाता प्रभुके मुखारविन्दमें चराचर विश्वको देखती हुई भी, अपनेको भूल गयीं, वैसे ही यहाँ भी सब अपने स्वरूपको भूल गये। यदि कोई कहे कि रुचिसे अपनेको भुलाना कैसे? तो लोग जैसे भंग पीकर अपनेको अपनी रुचिसे मोहित करते हैं। यह क्यों? विस्मृतिके लिये। विस्मृतिमें भी स्वाद है, रस है, यदि वह स्वेच्छामूलक हो। अर्थात् जैसे प्राकृत मानव भंगादि मादक आसवोंद्वारा स्वरूपविस्मृतिपुरःसर लीलामें प्रवृत्त होता है, वैसे ही वैष्णवी मायासे भगवान् भी लीलामें प्रवृत्त होते हैं एवं यह स्पष्ट है कि इस मंगलमयी रसकी लीलासे, उसके मनन, निदिध्यासनसे प्राणियोंका परम कल्याण है। जन्म, कर्म तो सबके ही हैं और प्राणियोंके जन्म-कर्म बन्धनकारक भी होते हैं, मगर भगवान्‌के जन्म-कर्म बन्धन नहीं।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

(गीता ४। ९)

श्रीभगवान् और जीवके जन्म-कर्म क्या बराबर हैं? जीवके जन्म-कर्म सुनते-देखते कल्प-कल्पान्तर बीत गये, अब भगवान्‌के जन्म-कर्म सुनने चाहिये। उसीके द्वारा श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दकी प्राप्ति होगी। श्रीकृष्णके जन्म-कर्मके श्रवणसे प्राणियोंके

जन्म-कर्म छूटते हैं, प्राणियोंके जन्म-कर्म श्रवणसे जन्म-कर्मकी परम्परा बढ़ती है। अत: वह भगवान्‌की लीला ही थी, पर वह अप्राकृत थी। स्वाभाविक आसक्तिके लिये लौकिक रूपमें कही गयी है। संसारकी आकांक्षा, वांछा, आशा, तृष्णा और श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दके सम्मिलनकी आकांक्षा, वांछा, आशा, तृष्णा क्या बराबर हैं? नहीं, दोनोंमें आकाश-पातालका अन्तर है। वह आशा पिशाची है। यह आशा कल्पलता है। इसलिये यह निर्विवाद है कि पूर्णतम, पुरुषोत्तम, निखिलरसामृतमूर्ति, श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दने अपने-आपको सर्वरूपमें व्यक्त किया। फिर भी लीलारसकी आसक्तिके लिये यहाँ स्वरूपानन्दका विस्मरण अपेक्षित है। इस तरह भगवत्स्वरूप होते हुए भी इन देवोंका विस्मृतिके कारण सुधाकी ओर आकर्षण उत्पन्न है। उनके प्रेमनिरोधके अनुकूल यह देवभोग्या सुधा है। व्रजांगनाएँ, जो श्रीकृष्णचन्द्रके अमृतमय मुखचन्द्रकी अधरसुधाके भोगनेयोग्य हैं, परंतु व्रजस्थ हैं, वे कैसे भोगें? इसलिये वेणुछिद्रोंमें प्रवेश कराके गीतरूपसे निरावरण कर्णकुहरोंद्वारा उनके हृदयमें पहुँचाना है, जिसे वे अन्त:करण, अन्तरात्मा, प्राण, रोम-रोममें अनुभव करके आन्तररमण प्राप्त करेंगी। भगवद्भोग्या अधरसुधा इसलिये प्रयुक्त है, जिससे सर्वाभोग्या अधरसुधाके अनुभवकी योग्यता प्राप्त हो। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके अमृतमय मुखसे निर्गत जो वेणुगीतपीयूष है, उसको निरावरण कर्णकुहरोंद्वारा पानकर अन्त:करणमें उसे भावनासे परिवर्तित करती हुई व्रजांगना फिर उसीको उद्गाररूपमें वर्णन करती है। वही अधरसुधा व्रजांगनाओंके अधरपल्लवमें आती है, इसीसे अधरपल्लव पवित्र हो जाता है। अपवित्र मुखसे श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दके अधरपल्लवमें रहनेवाली सर्वभोग्या अधरसुधाका सम्भोग नहीं हो सकता। अत: जब वे वेणुगीतपीयूषका श्रोत्रसे आस्वादन करेंगी और भावनापरिवर्धन-उद्गार-वर्णनसे मुख पवित्र होगा, तभी वह सर्वाभोग्या अधरसुधाके लिये अधिकारसम्पन्न होंगी।

प्रथम भगवान्‌का भक्तमें रमण, अनन्तर भक्तका भगवान्‌में रमण

पहले भगवान् भक्तमें रमण करते हैं, तब भक्त भगवान्‌में रमण करनेके अधिकारी होते हैं। यदि श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दके मुखपंकजसे वेणुगीत-पीयूषद्वारा व्रजांगनाओंके मुखपंकजका अधरपल्लव शुद्ध हो लेगा, तब श्रीव्रजांगनाएँ भगवद्रमणयोग्य होंगी। सम्प्रयोगात्मक शृंगारमें श्रीकृष्ण भी व्रजांगनाओंके पवित्र अधरपल्लवमें अधरसुधाका सम्भोग करेंगे। इस तरह व्रजांगनाओंके अधरपल्लवमें स्थित सुधा भगवद्भोग्या सुधा है। व्रजांगनाओंके अधरपल्लवमें रहनेवाली सुधा भी श्रीकृष्णकी ही अधरसुधा है; क्योंकि भगवान्‌के अधरमें रहनेवाली भगवद्भोग्या अधरसुधा ही वेणुछिद्रोंमें प्रविष्ट होकर, गीतपीयूष-रूपमें व्यक्त होकर व्रजांगनाओंके श्रोत्र, अन्त:करण, अन्तरात्मामें भरपूर हो, अधरपल्लवमें वर्णनव्याजसे प्राप्त होकर सम्प्रयोगकालमें भगवद्भोग्या हुई थी। भगवान्‌के अधरमें रहकर वह भगवद्भोग्या नहीं हो सकती थी, इस प्रकार हो गयी।

'**श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च**' यहाँ भी श्रीका अर्थ श्रीवृषभानुनन्दिनी है। वैसे तो श्री शब्दका प्रयोग लक्ष्मीमें भी होता है, पर जहाँ श्री तथा लक्ष्मीका पृथक् पठन है, वहाँ श्रीका अर्थ लक्ष्मी क्यों किया जाय? 'लक्ष्मी' अर्थमें '**श्रयते हरिः या सा श्रीः, श्रयते सेवते (श्रिञ् सेवायाम्)**' ऐसे अर्थ हैं, किंतु यहाँ '**श्रीयते सर्वैर्गुणैर्या सा,**' ऐसा कर्ममें प्रत्यय। जो समस्त गुणगणोंसे, अद्भुत सौन्दर्य, सौरस्य, सौगन्ध्य इत्यादिसे सेवित हो, वह श्री। यह सेविका श्री नहीं, सेव्या श्री है अर्थात् सकल गुण-गण मूर्तिमान् होकर जिसकी सेवा करें, वह श्रीवृषभानुनन्दिनी श्री हैं। जितनी भी अनन्तकोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत सौरस्य, सौगन्ध्य, सौन्दर्य, मार्दव, माधुर्यादि गुणोंकी अधिष्ठात्री महालक्ष्मी महाशक्तियाँ हैं, वे मूर्तिमती होकर राधाकी सेवामें उपस्थित हैं। इसीलिये गोलोकधाममें मूर्तिमती शोभादि गोपांगनाएँ राधाजीकी सेवामें उपस्थित हैं। अब

वृषभानुनन्दिनीकी सुन्दरताकी कल्पना कौन करे? अनन्तकोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत सौन्दर्यबिन्दुका उद्‌गम-स्थान जो सौन्दर्यसिन्धु है, उसकी अधिष्ठात्री महालक्ष्मी श्रीवृषभानुनन्दिनीकी सेवामें रहती हैं। भगवान् श्यामसुन्दर, व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दकी तो माधुर्याधिष्ठात्री स्वयं वृषभानुनन्दिनी ही हैं। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत जो मार्दव है, उसकी अधिष्ठात्री देवी महालक्ष्मीके चरण इतने कोमल हैं कि कोमल-से-कोमल कमलकी पँखुड़ीके गड़नेका डर रहता है। इतनी मृदुलता जिसके चरणोंमें है, उस महालक्ष्मीके हस्तारविन्द कितने कोमल होंगे, कुछ ठिकाना नहीं। ऐसी जो महालक्ष्मी हैं, वे अपने सुकोमल श्रीहस्तोंसे वृषभानुनन्दिनीके श्रीचरणोंको स्पर्श करनेमें सकुचाती हैं कि कोमल चरणोंमें कहीं आघात न लग जाय। ऐसे ही क्षमाधिष्ठात्री, दयाधिष्ठात्री, शोभाधिष्ठात्री, करुणाधिष्ठात्री शक्तियाँ सर्वगुणगणोंसहित निरन्तर श्रीवृषभानुनन्दिनीका सेवन करती हैं।

कोई भावुक तो कहते हैं कि '**श्रीयते हरिणाऽपि या सा श्रीः।**' जैसे भक्त भगवान्‌को भजते हैं, वैसे ही भगवान् भक्तको। ठीक ही है, भगवान् स्वयं कहते हैं—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**'। (गीता ४।१०)

यदि श्रीवृषभानुनन्दिनी श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द-कन्दको भजती हैं तो वैसे ही भक्तभजनानुविधायी भगवान् भी वृषभानुनन्दिनीको कैसे न भजें? 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' में एक कथा है—

एक समय श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द अपने शुकको पढ़ाते थे, साथ-साथ श्रीराधाका ध्यान भी कर रहे थे। आखिर किसीका ध्यान तो करना ही चाहिये। भक्त भगवान्‌का ध्यान करते हैं तो भगवान् भक्तका करेंगे ही। उसी ध्यानानन्दमें महाराजके नयनोंसे अश्रु बह रहा था। श्रीअंगमें पुलकावली हो गयी थी। भारतकी कथा है कि भगवान् भीष्मजीका ध्यान कर रहे थे, उसी समय धर्मराज युधिष्ठिर पहुँचे और भगवान्‌को ध्यान करते देख चकित हो गये। सोचते हैं कि भगवान् किसका ध्यान करते हैं? इतनेमें भगवान्‌का ध्यान खुला, युधिष्ठिर पूछते हैं—'आप अभी किसका ध्यान करते थे, भगवन्!' भगवान्‌ने कहा—'इस समय भीष्म शरशय्यापर पड़े हुए हमारा ध्यान कर रहे थे। हमारा भी व्रत है कि '**ये यथा मां प्रपद्यन्ते**' इसलिये हम भी उन्हींके ध्यानमें तन्मनस्क रहे।' अस्तु, इन पूर्णतम पुरुषोत्तम प्रभुकी माधुर्याधिष्ठात्री देवता राधा हैं, उन्हींके ध्यानमें भगवान् रहे, उन्हींका जप भी करते रहे। वंशीमें भी वही बजाते थे '**ताहि श्याम वंशीमें गावत।**' शुकको भी पढ़ाते थे कि '**वत्स पठ धाराधरवपुः श्रीमन्नारायणोऽवतु।**' इस व्याजसे धाराधरवपुमें 'धाराधारा' कहनेसे राधाका नाम लेते थे। 'मरा मरा' कहनेसे वाल्मीकि भी राममें परिनिष्ठित हो गये। ऐसा उलटा क्यों? इसलिये कि अगर अम्बा नन्दरानीके सामने स्त्रीका नाम लें तो वह क्या समझेंगी? अतः प्रकट नहीं लेते। वैसे अम्बा व्रजगेहिनी नन्दरानी समझे कि हमारा लाला बड़ा भक्त है, स्नानकर भगवान्‌का नाम जपा करता है। तात्पर्य यह कि '**श्रीयते श्रीकृष्णेनाऽपि या सा श्रीः।**' वह श्री जहाँ नहीं, वहाँ श्रीकृष्णका रमण नहीं। वही श्रीराधा माधुर्याधिष्ठात्री शक्ति, माधुर्यसारसर्वस्व श्रीकृष्णचन्द्रके अमृतमय मुखचन्द्रमें अधरसुधाके रूपमें विराजमान हैं। इसलिये जब अधरसुधाको वंशीके छिद्रमें निक्षिप्तकर व्रजांगनाओंके हृदयमें पहुँचाया तो वही अधरसुधा व्रजांगनाओंके मुखपंकजमें आयी। वह स्वरूप उनके अन्तरात्मामें, अन्तःकरणमें, प्राणोंमें, रोम-रोममें आ गया। वही वृषभानुनन्दिनी हैं। अतः वहाँ श्रीका यानी वृषभानुनन्दिनीका संचार है और जहाँ उनका संचार है, वहीं श्रीकृष्ण परमानन्दका रमण होता है। पूर्णतम, पुरुषोत्तम भगवान् अपनी ही माधुर्याधिष्ठात्री शक्तिका आस्वादन करते हैं। फूलोंमें स्वयं अगर घ्राणशक्ति हो तो वे जैसा आघ्राण करेंगे, वैसे ही यह रमण है। यह आया कि भगवान् आत्मरति हैं। ठीक ही है, जिनका ध्यान करनेवाले अमलात्मा परमहंस मुनीन्द्र अपने

रमणके लिये किसीकी अपेक्षा नहीं करते, उनके ध्येय, आराध्यदेव श्रीप्रभु अनात्मरति कैसे होंगे? जहाँ-जहाँ इनका प्राकट्य नहीं, वहाँ श्रीकृष्णका रमण भी नहीं।

प्राणिमात्रके लिये अपेक्षित यही है कि वह ब्रह्म-संस्पर्श, ब्रह्मरस-सम्भोगका प्रयत्न करे। यही जीवनकी सफलता है। यहाँके षड्रस भोगते-भोगते कल्पकल्पान्तर बीत गये, अत: प्रत्येक उस ब्राह्मरस, स्पर्शके लिये लालायित हो, यही ठीक है। ***जिन्ह कर मन इन्ह सन नहिं राता। ते जन बंचित किए बिधाता॥*** (रा०च०मा० १।२०४।२)

भगवान्‌का आत्माभिरमण

जिसका मन इनके लिये उत्कण्ठित न होता हो, वह प्राणी नहीं। अस्तु, यह हो तब श्रीकृष्ण सबमें रमण करें। प्रथम ब्रह्म जीवमें रमण करे, फिर जीव ब्रह्ममें। व्रजांगनाओंमें कोई ऋषिरूपा थी, कोई अग्निरूपा, कोई साधनसिद्धा, कोई नित्यसिद्धा, कोई जनकपुरनिवासिनी। उन सबोंमें प्रथम श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दका रमण हो, फिर उनका श्रीकृष्णमें। यहाँपर दोनोंके रमणमें भेद है, पर प्रश्न यह है कि भगवान् भक्तमें रमण कैसे करें? वे तो आप्तकाम, आत्माराम हैं, परंतु श्रीवृषभानुनन्दिनी तो उनकी आत्मा ही हैं। क्या आनन्दसुधासिन्धुसे उसका माधुर्य पृथक् है? इसलिये श्रीकृष्णकी आत्मा ही वृषभानुनन्दिनी हैं। उनका रमण उन्हींमें है, फिर व्रजांगनामें कैसे रमण करें? इसका उत्तर यह है कि जहाँ श्रीकृष्णचन्द्रकी आत्माका संचार है, वहीं उनका रमण—इसीलिये व्रजांगनाओंमें पहले श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दने आत्माका संचार किया। श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दसिन्धुकी माधुर्यसारसर्वस्वभूता अधरसुधा वृषभानुनन्दिनी ही हैं। वेणुगीतद्वारा वे ही भगवद्भोग्या सुधाके रूपमें व्रजांगनाओंके श्रोत्रोंद्वारा उनके अन्त:करण, अन्तरात्मा, प्राण, इन्द्रियों एवं रोम-रोममें परिपूर्ण हो गयीं। अतएव व्रजांगना भी वृषभानुनन्दिनीरूप होकर कृष्णकी आत्मा ही होंगी, अब उनमें रमण भी श्रीकृष्णका आत्मामें ही रमण है। क्या उनमें आत्माका मुलम्मा हुआ? नहीं, उसके केवल संसर्गसे उनमें तन्मयता हो गयी। यदि माधुर्यसारसर्वस्व ऊपर-का-ऊपर ही रहता तो मुलम्मा कहा जाता। यहाँ तो भगवान्‌ने अपनी अधरसुधाको वेणुके द्वारा उनके हृदयमें भरकर भावनासे परिवर्धितकर सर्वत्र स्वरूपमें भरपूरकर तन्मय कर दिया। सूर्यका प्रतिबिम्ब जलपर पड़ता है, दर्पणपर पड़ता है, काष्ठपर नहीं, दीवारपर नहीं, पर दीवारको यदि जलसे तर कर दें तो दीवारपर भी प्रतिबिम्ब पड़ेगा। आत्माका प्रतिबिम्ब अन्त:करणपर पड़ता है, घटपर नहीं, पर चक्षुद्वारा जब अन्त:करण घटाकाराकारित हो, तब घटपर भी पड़ता है, जैसे जलमय दीवारपर सूर्य-प्रतिबिम्ब। इसी तरह जैसा सूर्य-प्रतिबिम्ब मुख्य रूपसे जलपर पड़ता है, दीवारपर जलसंसर्गसे ही पड़ता है, वैसे ही श्रीकृष्णका मुख्य रमण वृषभानुनन्दिनीमें और अन्यत्र वृषभानुनन्दिनीके संसर्गसे होता है। माधुर्यसारसर्वस्व अधरसुधाके संचारसे सर्वत्र संसर्ग होनेके कारण भगवान्‌का सर्वत्र रमण होता है, सिद्धान्त यह है कि एक पूर्णतम पुरुषोत्तम रसस्वरूप परम तत्त्व अपने-आप ही श्रीकृष्णरूपमें, वृषभानुनन्दिनीके रूपमें प्रकट है, वही व्रजांगनाओंके रूपमें लीलाभूमिके रूपमें भी प्रकट है, पर मोहिनी शक्तिसे सब आवृत रहा, किंतु जिसका जो रूप है, वह व्यक्त हो ही जाता है। व्यक्त अग्निवाले काष्ठके सम्बन्धसे जैसे अव्यक्त अग्निवाले काष्ठमें भी अग्निकी अभिव्यक्ति हो जाती है, उसी तरह व्यक्त आत्मस्वरूपवाली वस्तुके सम्बन्धसे अव्यक्त आत्मस्वरूपवाली वस्तुमें भी आत्माका प्राकट्य हो जाता है। वास्तवमें व्रजांगनाएँ भी रसस्वरूपा हैं; किंतु उनमें माधुर्यस्वरूप अव्यक्त था। उससे जब वृषभानुनन्दिनीके व्यक्त स्वरूपका सम्बन्ध हुआ, तब वह व्यक्त हो गया। श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दकी अधरसुधा व्यक्त माधुर्यसारसर्वस्व है। उसके सम्बन्धसे व्रजांगनामें भी वह व्यक्त हो गया। हम

तो कहते हैं कि जितना भी विश्व है, वह—'**आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।**' (तैत्तिरीय० ३।६) इस सिद्धान्तके अनुसार आनन्दस्वरूप ही है। यह तो जैसे किसीको अमृतसिन्धुमें क्षारसिन्धुकी भ्रान्ति हो, वैसे ही अचिन्त्य, अनन्त, परमानन्दसिन्धुमें भवसिन्धुकी भ्रान्ति होती है—'**आनँद-सिंधु-मध्य तव बासा। बिनु जाने कस मरसि पियासा॥**' (विनय-पत्रिका १३६।२)

'आनन्दसिन्धुके बरफकी तू पुतली है, तेरे भीतर-बाहर सर्वत्र आनन्द भरपूर है।' इस तरह सबका असली स्वरूप आनन्द ही है, पर वह अव्यक्त है, श्रुति कहती है—'**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी।**' (तैत्तिरीय० २।१)

वस्तुतः काष्ठ, अग्नि भी पृथक्-पृथक् वस्तु नहीं है। आत्मासे ही आकाश, उससे वायु, वायुसे तेज उत्पन्न हुआ। तेजसे ही जल, उससे पृथ्वी, उसीसे काष्ठादि। और यह सिद्धान्त है कि कारणसे भिन्न कार्य नहीं। फिर तो जैसे मिट्टीसे उत्पन्न घट मिट्टीसे पृथक् नहीं, वैसे ही तेजसे उत्पन्न जल तेजसे पृथक् नहीं, जलसे उत्पन्न पृथ्वी और उससे उत्पन्न काष्ठ भी अग्नि या तेजसे भिन्न नहीं। इस तरह काष्ठ, अग्निका भी वास्तविक भेद नहीं रहता। तथापि काष्ठ तेजका आवरक होता है। कार्यसे कारणस्वरूपका आवरण होता ही है एवं सर्व तत्त्वोंकी आनन्दस्वरूपता आवृत है, जहाँ माधुर्यसारसर्वस्व सुमधुर अधरसुधाके वेणुगीतपीयूषका आस्वादन प्राप्त होता है, वहाँ उस व्यक्त आनन्दस्वरूपसे आनन्द व्यक्त होता है, वहीं आत्मरति श्रीकृष्णका रमण भी होता है। यह लचर दलीलकी बात नहीं, शुद्ध भित्तिपर स्थित सिद्धान्त है। अगर कोई समझना चाहता है तो समझ ले। तात्पर्य यह कि श्रीकृष्णका रमण आत्मामें है, अनात्मामें नहीं।

भगवान्‌के गुणगणोंके श्रवणसे अन्तःकरणमें भगवान्‌का प्राकट्य

अभिव्यक्ति कई तरहसे होती है। जिन्हें वंशीगीत सुननेको नहीं मिला, उन जीवोंको '**प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम्**' (श्रीमद्भा० २।८।५)-के अनुसार भगवान्‌की मंगलमयी कथासुधाके श्रवणसे स्वाभाविक आनन्दरूपता व्यक्त होती है। सर्वत्र इसीलिये श्रवण ही मुख्य कहा है। '**मद्गुणश्रुतिमात्रेण**' (श्रीमद्भा० ३।२९।११), '**द्रुतस्य भगवद्धर्मात् धारावाहिकतां गता**', '**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः**' (बृहदारण्यक० २।४।५)। इत्यादिसे श्रवणका माहात्म्य स्पष्ट है। भगवान्‌के गुणगणोंके श्रवणसे अन्तःकरणमें भगवान्‌का प्राकट्य होता है। गुणचरित्र-श्रवणद्वारा भगवान्‌के स्नेहसे द्रवीभूत चित्तवृत्तिका भगवान्‌की ओर अखण्ड प्रवाह ही भक्ति है। श्रवणसे भगवान् अवश्य भक्तके हृदयमें व्यक्त होते हैं, परंतु श्रवण भी उसी तरहका हो। उच्चकोटिके परमहंस भावुक अपने हृदयमें भगवत्तत्त्वका अनुभव करते हुए 'भावना' से उसका परिवर्धन करते हैं। जैसे कहींका थोड़ा स्रोत बहुत जगहके झरनेसे बड़ा होता है, वैसे जो कोई भावुक पूर्णरूपसे श्रवण, मनन, निदिध्यासनोंसे भगवत्तत्त्वका हृदयमें साक्षात्कार, अवगाहन, चिन्तन किया करते हैं, वहाँ वही रस सर्वत्र अन्तःकरण, प्राण, रोम-रोममें भरपूर होता है। कहीं किसी तरहसे उसका उद्‌गार कथासुधारूपमें निकला, तब वह प्राकृत कथा नहीं, भगवत्तत्त्व ही उस रूपसे व्यक्त होता है। प्रसिद्ध है कि महर्षि वाल्मीकिका शोक ही श्लोक रूपमें व्यक्त हुआ—'**शोकः श्लोकत्वमागतः**'॥ (वा०रा० १।२।४०)

महर्षि अपने शिष्य भरद्वाजको लेकर तमसातीरपर आये। वहाँ क्रौंच-क्रौंची विहार कर रहे थे। इतनेमें किसी व्याधने क्रौंचको बाण मारा। वह मर गया और क्रौंची करुण-विलाप करने लगी। महर्षिका हृदय करुणारससागरसे भरपूर था। आश्रममें जानकीजी पधारी थीं, लोकापवादभयसे श्रीमद्रामजीने उन्हें

लक्ष्मणद्वारा त्याग दिया था। जब लक्ष्मणको रथपर विह्वल देखा तो जनकनन्दिनीने पूछा—लक्ष्मण! आपकी यह दशा किसलिये? इसपर लक्ष्मणने जो कहा, उसे सुनकर जनकनन्दिनी मूर्च्छित हो गयीं। उन्हें वहीं छोड़कर लक्ष्मण अयोध्या चले गये। वाल्मीकिने शिष्योंद्वारा सुनकर जनकनन्दिनीसे वृत्तान्त पूछा। अनन्तर उनका सान्त्वनकर ऋषिपत्नियोंके संरक्षणमें उन्हें रखा। वहाँ यथाकाल उनके दो पुत्र हुए। रामवियोगमें जनकनन्दिनीके क्रन्दनसे जो अद्भुत कारुण्यरससागर हृदयमें लहरा रहा था, वही क्रौंची-विलापसे उमड़ पड़ा।

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

(वा०रा० १।२।१५)

यह बुद्धिपूर्वक लिखा गया श्लोक नहीं, शोक ही श्लोक बन गया है।

कोई भी कोई बात समझके साथ कहे, वह उद्गार नहीं। रसमें उफान आ जाता है। वह उच्छलित हो उठता है। संकुचित दिव्यपात्रमें भरपूर रस वायुके हलचलसे या किसी अन्य कारणसे उच्छलित हो उठे, वह उद्गार है। इसीसे भावुक श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दके मंगलमय, परम पवित्र चरित्रका हृदयमें अवगाहन करते हैं, वहीं कहीं प्रश्नवशात् लीलासुधारससार परमानन्दरसामृतमूर्ति भगवान् जब निकलते हैं तो कथासुधारूपमें। यही व्यक्त अग्नि है। भावुकोंके मुखपंकजसे विनिःसृत श्रीकृष्ण-कथासुधा श्रोत्रोंद्वारा भक्तहृदयमें गयी तो वहाँ भी कृष्णस्वरूप व्यक्त हो उठता है। **'ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यम्'** (गीता १३।१७)-के अनुसार वैसे तो सब भगवान् हैं ही, पर अव्यक्त रहते हैं। जिसको वे व्यक्त हैं, उसके मुखपद्मसे कथासुधारूपमें जहाँ गये, वहाँपर भी व्यक्त हो जाते हैं। बस फिर जहाँ ही श्रीकृष्णकी आत्मा व्यक्त होती है, वहीं आत्माराम श्रीकृष्णका रमण होता है। श्रीकृष्णके रमणके पश्चात् भावुकोंका भी कृष्णमें रमण होता है। तात्पर्य यही कि आनन्दस्वरूप कृष्णसे सारा विश्व ही उत्पन्न है। अतः सभी कृष्णकी आत्मा हैं। किसी तरह भी जहाँ अव्यक्त आत्मा व्यक्त हुई, वहीं कृष्णका रमण होता है। विशेषतः व्रजांगनाओंको तो परम्परासे नहीं, साक्षात् श्रीकृष्णके ही मुखचन्द्रकी अधरसुधारूप श्रीकृष्णकी आत्मरूपा वृषभानुनन्दिनी श्रीवेणुगीतरूपमें प्राप्त हुईं, अतः उनकी अव्यक्त रसरूपता-आत्मरूपता सुतरां व्यक्त हो उठी। अतः सब व्रजांगनाएँ वृषभानुनन्दिनी-स्वरूपा हो गयीं और श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दके अधरमें रहनेवाली अधरसुधा व्रजांगनाओंके अधरमें आयी। उसका सम्भोग श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दने किया, अतः वह भगवद्भोग्या सुधा है। अब व्रजांगनाओंका रमण श्रीकृष्णमें होगा।

'छान्दोग्योपनिषद्' में कहा कि जीवात्मा नाना प्रकारके कर्मोंको करके चान्द्रमस लोकमें चन्द्रस्वरूप धारण करते हैं और वे चन्द्रभावापन्न होकर देवताओंके अन्न—भोग्य हो जाते हैं। तो कर्म क्या देवताओंके खानेकी सामग्री होनेके लिये किया जाता है? नहीं, यहाँ अन्नका अर्थ सम्भोगसाधन है। जैसे राजाओंकी सभाके सभ्य (सदस्य) राजाके मनबहलावके लिये होनेके कारण उनके उपकरण समझे जाते हैं, वैसे ही जीव भी इन्द्रसभाके सभ्य होकर उनकी आनन्द-सामग्री होंगे। यही उनकी भोग्यता है। इस रीतिसे समस्त जीवजगत् परमात्माका आराधनकर उनका यश-विस्तीर्ण करता है, इसलिये वह परमात्माका भोग्य है। भगवान् तो वास्तवमें आप्तकाम, आत्माराम हैं, फिर भी भक्तोंके लिये स्वरूप धारण करते हैं। भक्तोंके मनमें भी वैसी ही उत्कण्ठा रहती है। वे भगवान्‌के पीताम्बर, भगवान्‌के चन्दन, भगवान्‌के मस्तकपर विराजित मुकुट-किरीट, भगवान्‌के श्रीअंगपर शोभायमान गुंजा, श्रीकण्ठमें वैजयन्ती, वन्यस्तबक-पुष्पमयी माला होकर उनकी सेवा करना चाहते हैं। इन्द्रादिक निष्काम नहीं हैं। भगवान् निष्काम हैं। केवल लोगोंके लिये वे सकाम हो जाते हैं। इस तरह जीवोंका भगवद्भोगसाधन बनना जीवोंकी भोग्यता है।

इसी तरह भगवान् भी जीवके भोग्य हो जाते हैं, यह बात अलग है। यह समझो कि इन सब सामग्रीसे—भगवद्भोग्या अधरसुधाके संचारसे—भगवदात्मभूता माधुर्यसारसर्वस्व श्रीवृषभानुनन्दिनीका संचार होगा, तब श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दका रमण होगा। पहले जीवमें भगवान्‌का भोग्यत्व होकर उसमें भगवान्‌का रमण होता है, फिर भगवान् जीवके भोग्य होते हैं और उनमें जीवका रमण होता है। प्रथम श्रीकृष्णका व्रजांगनामें रमण, फिर व्रजांगनाका श्रीकृष्णमें रमण। भोग्य परतन्त्र होता है, भोक्ता स्वतन्त्र। व्रजांगनाओंमें—जीवोंमें पारतन्त्र्य, श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दमें स्वातन्त्र्य। स्वाधीन (कृष्णाधीन) जो जीव—व्रजांगनाएँ हैं, उनमें श्रीकृष्ण रमण करेंगे। जहाँ जीवात्मा—व्रजांगनाएँ भगवान्‌में रमण करते हैं, वहाँ जीवात्मा—व्रजांगनाएँ भोक्ता और भगवान् भोग्य, व्रजांगनामें स्वातन्त्र्य और श्रीकृष्णमें पारतन्त्र्य, यह उलटा होगा। मगर बात यह बहुत ऊँची है। यह दार्शनिक दृष्टि है।

भगवान् पूर्ण स्वतन्त्र भक्त पूर्ण परतन्त्र

यहाँ शृंगाररसका प्राधान्य है। सम्प्रयोग विप्रयोगात्मक शृंगाररसात्माकी यह लीला है। शृंगाररसमें यह स्थिति रहती है कि नायिका भोग्या होती है और नायक भोक्ता। इसको साधारणी स्थिति कहते हैं। असाधारणी स्थितिमें नायक नायिकाभावापन्न तथा नायिका नायकभावापन्न हो जाती हैं। लौकिक शृंगारमें तो सब आरोप-ही-आरोप हैं, तत्त्वतः कुछ नहीं। रसोद्रेकमें एक प्रकारका अभिमान हो जाता है। उस स्थितिमें विपरीत रति होती है, किंतु यहाँ केवल अभिमान ही नहीं, वस्तुतः नायक नायिकाभावापन्न तथा नायिका नायकभावापन्न हुई हैं। स्वातन्त्र्य ही पुंस्त्व है और पारतन्त्र्य ही स्त्रीत्व। पुमान् एक पूर्णतम पुरुषोत्तम ही हैं। निरंकुशता, पूर्ण स्वातन्त्र्य केवल उन्हींमें है। तद्व्यतिरिक्त जीवोंमें आधिपारतन्त्र्य, व्याधिपारतन्त्र्य, जरापारतन्त्र्य, मरणपारतन्त्र्य—अनेकविध पारतन्त्र्य—बन्धन हैं। जितने-जितने अंशमें पारतन्त्र्य मिटता गया, उतने अंशमें स्त्रीत्व भी मिटा। जितने-जितने अंशमें स्वातन्त्र्यका उदय हुआ, उतने-उतने अंशमें पुंस्त्वका भी उदय हुआ। अविद्या, कामकर्मादि जरादि, किसी प्रकारका भी पारतन्त्र्य जिनमें नहीं, ऐसे एकमात्र पुमान् श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द हैं। अतः अन्यत्र स्त्रीत्व-पारतन्त्र्य है। गोस्वामीजी भी यही कहते हैं—**'परबस जीव स्वबस भगवंता।'** (रा०च०मा० ७।७८।७) इस दृष्टिको लेकर भगवान् पूर्ण स्वतन्त्र, भक्त पूर्ण परतन्त्र। भक्त अपने अन्तः-करणको, अन्तरात्माको, प्राणोंको सर्वथा पूर्णतम, पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण परमात्माके अनुकूल, अनुगामी बना दे। उनकी रुचिसे पृथक् अपनी रुचि न रहे।

शरणागतिका स्वरूप

आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासः गोप्तृत्ववरणं तथा॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।

सब तरह अनुकूलताका संकल्प, प्रतिकूलताका त्याग करें। जहाँ वेद, शास्त्र, पुराणादिसे सुना कि यह प्रभुको नहीं रुचता, उसे तुरंत छोड़ दे। भगवान् अवश्य संरक्षण करेंगे—यह दृढ़ विश्वास, गोप्तारूपमें श्रीभगवान्‌का ही वरण, अपने-आपको श्रीभगवान्‌के श्रीचरणारविन्दोंमें समर्पण कर देना तथा अपनेमें दैन्याभिव्यक्ति, अपनेमें अपकर्षका चिन्तन—इस प्रकारकी शरणागतिसे जीव पूर्णरूपमें अपना पारतन्त्र्य व्यक्त कर देता है। ऐसी स्थितिमें भक्त भोग्य होता है और उसमें भोक्ता भगवान्‌का रमण होता है। यह स्थिति जहाँ पलटी वहाँ भगवान् भक्तपरतन्त्र हो जाते हैं।

भक्तमें स्वातन्त्र्य और भगवान्‌में पारतन्त्र्य

वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥
अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।

(श्रीमद्भा० ९।४।६६, ६८, ६३)

भगवान् कहते हैं कि भक्त मुझे अपने वशमें कर लेते हैं। परम भगवद्भक्त राजा अम्बरीषका दुर्वासाकी कृत्यासे रक्षण करनेके लिये जब दुर्वासापर चक्र छूटा तो दुर्वासा देवताओंकी शरणमें गये। सब देवताओंने

कहा कि हम भक्तविद्रोहीका रक्षण नहीं कर सकते। आगे ब्रह्मा, शिवका भी यही जवाब हुआ। आखिर दुर्वासा श्रीभगवान् महाविष्णुके पास गये। तब भगवान् कहते हैं कि आपका रक्षण करना तो ठीक ही है, पर क्या करूँ? मैं स्वतन्त्र नहीं। स्वतन्त्र अगर होता तो अवश्यमेव आपका रक्षण करता। मैं भक्तपरतन्त्र हूँ। कारण, मेरा व्रत है कि—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।**' (गीता ४।११)

हमारे भक्त इतने तन्मय हो जाते हैं कि वे मुझसे अतिरिक्त कुछ जानते ही नहीं। तब फिर मैं भी उनसे अतिरिक्त क्या जानूँ?' इसीको लेकर यह आया कि पहले भक्तमें अत्यन्त पारतन्त्र्य, भगवान्‌में स्वातन्त्र्य; पीछे '**ये यथा**' के अनुसार भक्तमें स्वातन्त्र्य और भगवान्‌में पारतन्त्र्य होता है।

'ताहि अहीरकी छोहरियाँ, छछियाभर छाछ पै नाच नचावैं॥'

बड़े-बड़े देवाधिदेव जिनका ध्यान करते हैं, '**भीरपि यद्बिभेति**', उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दके दोनों श्रीहस्त अपने एक हाथमें पकड़कर नन्दरानी एक हाथसे छड़ी दिखायें और भगवान् भी उस छड़ीसे डरें, यही पारतन्त्र्य है। इससे स्पष्ट है कि पहले भगवान्‌में स्वातन्त्र्य, फिर भक्तमें स्वातन्त्र्य; पहले भगवत्सम्मिलनके लिये भक्त लालायित, फिर भक्तसम्मिलनके लिये भगवान् लालायित। परमभक्त मधुसूदन सरस्वतीने वृन्दावनमें जाकर भगवत्साक्षात्कारके लिये 'गोपालसहस्रनाम' के चार पुरश्चरण किये, पर उनको साक्षात्कार न हुआ, फिर काशीमें आये और यहाँपर श्रीकालभैरवका अनुष्ठान किया। उस अनुष्ठानपर श्रीभैरव प्रसन्न हुए। कहा—वर माँगो। इसपर मधुसूदन सरस्वतीने कृष्णसाक्षात्कार ही माँगा। भैरव कहते हैं कि वृन्दावन जाओ और वहाँ 'गोपालसहस्रनाम' का पुरश्चरण करो। मधुसूदन कहते हैं कि मैंने तो वहाँपर चार पुरश्चरण किये, पर साक्षात्कार नहीं हुआ। इसपर श्रीकालभैरवने पापोंके चार पहाड़ दिखलाये और कहा कि उन पुरश्चरणोंसे ये नष्ट हुए, अबकी बार साक्षात्कार होगा। मधुसूदन सरस्वती पुनः वृन्दावन गये, 'गोपालसहस्रनाम' का अनुष्ठान किया और तब भगवान्‌का प्राकट्य हुआ। जब श्रीश्यामसुन्दर सामने आकर खड़े हुए तो मधुसूदन सरस्वतीने चट अपना मुँह फेर लिया। जिधर-जिधर श्यामसुन्दर जाकर खड़े हों, उधर-उधरसे मधुसूदन अपना मुँह फेर लें। आखिर श्रीकृष्णचन्द्रने ही उन्हें मनाना शुरू किया। कहाँ यह स्थिति कि वह श्रीकृष्णके लिये लालायित और कहाँ यह कि अब श्रीकृष्ण ही उन्हें मनाते हैं। महास्वातन्त्र्यके पूर्व पारतन्त्र्य अपेक्षित है। अगर स्वतन्त्रता चाहते हो तो उसका कुछ त्याग भी करो। हम वेद, शास्त्र, माता, पिता, धर्म-कर्मोंसे भी स्वतन्त्रता चाहते हैं, पर यह स्वतन्त्रता तो परतन्त्रताके घोर गर्तमें गिरानेवाली है। बालक माता, पिता, अध्यापकोंके परतन्त्र न हों तो वे उच्छृंखल होंगे। फिर जन्म-जन्मके लिये घोर अनर्थमय कंटकाकीर्ण गर्तमें पड़ेंगे। कोई भी राष्ट्र स्वतन्त्रतारक्षाके लिये सैनिक-संगठन करना चाहे तो वह सेनापतिके अत्यन्त परतन्त्र हो। अगर सेना उसकी आज्ञाका उल्लंघन करे तो विजय, स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती। अतः परम सिद्धान्त यह है कि अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक भक्तके परतन्त्र होते हैं। जिनके भ्रुकुटिविलाससे सबको नचानेवाली माया जिनके सामने नाचे, वे स्वयं नाचते हैं—'**तद्वशो दारुयन्त्रवत्।**' (श्रीमद्भा० १०।११।७) परमानन्दमूर्ति श्रीकृष्ण कठपुतलीके समान व्रजांगनाओंके परतन्त्र हो गये।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

(गीता १८।६१)

सर्वभूतोंके हृदयमें स्थित होकर भगवान् काठकी पुतलीके समान सबको नचाते हैं और वे ही फिर प्रेम-परतन्त्र होकर भक्तोंके खिलौने बन जाते हैं। भक्तमें भगवद्भावापत्ति, भगवान्‌में भक्तभावापत्ति—इसीका नाम परस्परभावापन्नता है। यह रसोद्रेक, आनन्दोद्रेकमें होता है। अतएव श्रीकृष्णमें

व्रजांगनाभावापत्ति और व्रजांगनाओंमें श्रीकृष्णभावापत्ति कही गयी। वृषभानुनन्दिनी श्रीकृष्ण हो गयीं और श्रीकृष्ण वृषभानुनन्दिनी हो गये—यह भावनाकी महिमा है। औरोंकी भावना अभिनिवेश, अभिमान अदृढ़ और भगवान्का तथा वृषभानुनन्दिनीका अभिमान सुदृढ़ है। जब रसोद्रेकमें विपरीत रतिका संचार हुआ, वृषभानुनन्दिनीका श्रीकृष्णमें अभिमानपुरःसर प्रवेश हुआ, तब वृषभानुनन्दिनीमें भी श्रीकृष्णका अभिमान-पुरःसर प्रवेश हुआ। इसीलिये कहा जाता है कि—**'शिवस्य हृदयं विष्णुः विष्णोश्च हृदयं शिवः।'**

दोनों परस्पर अन्तरात्मा हैं। शिव संहारक और विष्णु पालक देवता हैं। संहारमें तमोगुणप्राधान्य और पालनमें सत्त्वगुणप्राधान्य होता है। सत्त्व स्वच्छ, शुभ्र प्रकाशात्मक तथा तम आवरणात्मक, काला है। अतः शंकरको कृष्ण होना चाहिये और विष्णुको शुक्ल, पर यहाँ तो सब उलटा ही है। क्यों? परस्पर सुदृढ़ उपास्योपासकभावसे परस्परका रंग परस्परमें आया। कारण—**'सेवक स्वामि सखा सिय पी के।'** (रा०च०मा० १।१५।४)

शिव भगवान्के सेवक भी, स्वामी भी, सखा भी, अतः स्वच्छ, सत्त्वमय विष्णुकी भावनाकी महिमासे शिव शुक्ल हो गये, भावनाकी ही महिमासे विष्णु श्यामल हो गये। ऐसे ही देखें तो संकीर्णताको अवकाश नहीं।

कहीं-कहीं तो ऐसा भी लिखा है कि श्रीशंकर ही श्रीवृषभानुनन्दिनी हैं; क्योंकि दोनों परस्पर अन्तरात्मा ही हैं न! जैसे रुद्ररूपा वंशी मानी गयी, वैसे ही कहीं श्रीकृष्णको कालका अवतार माना है। प्रकृतमें यह आया कि साधारण शृंगारमें भावना अभिमानमात्र है। यहाँ तो स्वरूपपरिवर्तन भी है। यहाँ वृन्दारण्य, श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द, वृषभानुनन्दिनी, व्रजांगनाएँ, एतत् समवेत मंगलमयी लीलाभूमि उस अचिन्त्य, अनन्त, अद्भुत, प्रेमानन्दरससिन्धुमें क्षण-क्षण आविर्भूत-तिरोभूत होते रहते हैं, उन्मज्जन-निमज्जन करते रहते हैं। उस स्थितिमें कभी श्रीकृष्ण वृषभानुनन्दिनीके रूपमें, कभी वृषभानुनन्दिनी श्रीकृष्णके रूपमें प्रकट होती हैं। यही कहा **'उभयोभयभावात्मा।'** आया यह कि साधारण नायकमें उत्कट रस ही व्यक्त नहीं हो सकता, पर निखिलरसामृतमूर्ति उद्बुद्ध उभयविध शृंगाररसात्मा श्रीकृष्ण तो रसस्वरूप ही हैं। इनके सम्पर्कसे इतना उत्कट, अद्भुत, अनन्तरस उद्भूत हो गया कि परस्पर भावापत्ति हो गयी। यह श्रीकृष्ण पूर्णतम, पुरुषोत्तम स्वयं भोक्ता ही हैं, भोग्य नहीं, व्रजांगना स्वयं स्त्री, भोग्या। अतएव उनके भोक्ता श्रीकृष्ण भोग्य नहीं हो सकते। उनके ही क्या, दूसरे पुरुषोंके भी भोग्य वे नहीं हो सकते। पुरुष पुरुषोंके भोग्य नहीं होते। पारतन्त्र्य लक्षण स्त्रीत्व ही सबमें हैं, अतः सब भोग्य ही हैं। तो क्या स्वयं श्रीकृष्ण ही अपना भोग करें? नहीं। यह इस रीतिके विरुद्ध है। अब अधरपल्लवकी सर्वाभोग्या सुधा किसकी भोग्या? देवभोग्या खग, मृग, पशु, तरु, लता, गुल्मादिकोंको, भगवद्भोग्या श्रोत्रद्वारा व्रजांगनाओंको, अब सर्वाभोग्याका भोक्ता कौन? यह तब भोग्य हो कि जब भगवान् भोग्य हों। यह कैसे हो? उनका भोक्ता तो कोई भी नहीं हो सकता। इसलिये कहा कि जब भगवद्भोग्या अधरसुधा व्रजांगनाओंमें सर्वत्र भरपूर हुई और व्रजांगनाओंमें श्रीकृष्णका रमण हुआ, उन्होंने उस भगवद्भोग्या अधरसुधाका संभोग किया, तब लोकोत्तररसोद्रेकसे व्रजांगनाओंमें श्रीकृष्णभावापत्ति और श्रीकृष्णमें व्रजांगनाभावापत्ति हुई। उस समय श्रीकृष्ण भोग्य हुए। इसलिये सर्वाभोग्या अधरसुधाका भोग व्रजांगनाओंको प्राप्त हुआ। सारांश यह कि साधारण स्थितिमें जो अधरसुधा किसीको भोग्य नहीं, वह सर्वाभोग्या है। जहाँ श्रीकृष्णने रमण किया, वहाँ विपरीत भावापत्ति हुई।

भक्तोंमें इसके अनेक उदाहरण हैं। 'विष्णुपुराण' में प्रह्लादका प्रसंग बड़ा ही सुन्दर वर्णित है। प्रह्लादके अंगमें शिला बाँधकर उसे समुद्रमें फेंक दिया गया। जितनी उसको अधिक यातना हुई, उतनी उसकी विष्णुप्रीति अधिक बढ़ी। यहाँ तो कुछ विघ्नबाधा हुई कि कहते हैं—भजन हमारे कुलमें सहता नहीं।

एकादशीको अगर कोई मरा तो कहते हैं कि एकादशी हड़ही है। कनक जैसे-जैसे दग्ध किया जाता है, वैसे-वैसे उसका मूल्य बढ़ता है, वह चमकता है, निखरता है। वैसे ही भक्त अधिकाधिक निखरता है। अतएव भक्तोंको कष्ट, विपत्तियाँ आती हैं, पर वे धैर्यपुर:सर आगे ही बढ़ते हैं। पहली स्थिति यह कि '**भूतानि विष्णु:**', सर्व विष्णुमय है। फिर '**अहं विष्णु:**' की भावनाका दाढर्च सम्पादित होता है। तब प्रह्लादका पैर जिस क्षण समुद्रमें पड़ता, आसमुद्र भूमण्डल डगमग करने लगता। यह भावना-महिमासे विष्णुभावापत्ति है। इसी तरह छान्दोग्यमें '**भूमैवाधस्तात्**' इत्यादिसे सर्वत्र सर्व दिशाओंमें भूमा पूर्णतम पुरुषोत्तमको बतलाकर '**अहमेव सर्वत:**' ऐसा बतलाया है। श्रीवल्लभाचार्य भी इसे मानते हैं, पर कहते हैं कि यह संचारी भाव है। कुछ देरके लिये प्रेमोन्मादमें आता है। रासपंचाध्यायीमें व्रजांगना कहती हैं—'**कृष्णोऽहं पश्यत गतिम्।**' (श्रीमद्भा० १०।३०।१९) सखि! मैं श्यामसुन्दर ही हूँ। उधर वृषभानुनन्दिनीकी स्थिति—'**मधुरिपुरहमिति भावनशीला।**' सखी कृष्णसे सन्देश कहती है कि आपकी प्रियतमा आपकी प्रतीक्षा करती-करती 'श्रीकृष्ण हम ही हैं', यह भावना करती है। प्रेम और ज्ञानका अन्तिम भाव एक ही है। श्रीकृष्णने—मक्खन चुरानेवाले लालाने '**दासोऽहम्**', '**दासोऽहम्**' का जप करनेवाले, भावना करनेवाले, भक्तोंका 'दा' चुरा लिया। बच गया '**सोऽहम्**', यह प्रेममार्गसे वेदान्तमार्ग अलग है। शृंगाररसमें नायक-नायिका परस्परभावापन्न होते हैं। वैसे ही श्रीकृष्ण और व्रजांगना वृषभानुनन्दिनीमें परस्पराभावापत्ति हो गयी। अत: जो किसीके भोग्य नहीं, उनके भोग्य हो जानेके कारण उस सर्वाभोग्या अधरसुधाकी प्राप्ति व्रजांगनाओंको हुई।

भगवद्धाम वृन्दावनकी अद्भुत शोभा

'**वृन्दारण्यं स्वपदरमणम्**' (श्रीमद्भा० १०।२१।५)—वृन्दारण्य कैसा? '**स्वपदरमणम्।**' '**स्वपदं वैकुण्ठधाम तस्मादपि रमणम्। किंवा स्वपदेन (स्वस्य पदमधिष्ठानं) रमणम्।**' वैकुण्ठ दो प्रकारके—१. भौमवैकुण्ठ, २. परमवैकुण्ठ। वृन्दारण्य भौमवैकुण्ठ है। वह परमवैकुण्ठसे भी रमण है। वैकुण्ठवासी यहाँ आये तो वह भी यहाँ आया। जहाँ भगवान् जाते हैं, वहाँ उनका धाम भी पधारता है। इसी अभिप्रायसे सुमित्रा लक्ष्मणलालसे कहती हैं—'**अयोध्यामटवीं विद्धि।**' गोस्वामीजी कहते हैं—

'**अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहँइँ दिवसु जहँ भानु प्रकासू॥**'

(रा०च०मा० २।७४।३)

इससे यह बात निकलती है कि जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहाँ वैकुण्ठ। भावुकोंका हृदय भी वैकुण्ठ है। श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दका वृन्दारण्य कहाँ? व्रजांगनाओंके हृदयमें। वहाँ जो प्रेमसुधातरंगिणी बही एवं यमुना, उनके उन्नत विशाल वक्षोज गोवर्धनादि पर्वत, रोमपंक्ति वन—इसी तरह सर्वभावोंका सम्पादन होता है। सजातीय-विजातीय-भेदरहित श्रीकृष्ण परब्रह्मका प्राकट्य कहाँ? महावाक्यजन्य परब्रह्मा-काराकारित मानसिक वृत्तिपर। जैसे सूर्यकान्तपर अग्निरूपमें सूर्यका प्राकट्य होता है, वैसे निर्वृत्तिक अन्त:करणकी जो परब्रह्माकाराकारित वृत्ति है, उसीपर ब्रह्मका प्राकट्य होता है। भक्तहृदय कैसा? अति निर्मल, स्निग्ध, पवित्र, भगवदाकाराकारितवृत्तिमान्। भूमिसे लेकर क्रमश: सर्वोपरि अव्यक्त और उसके ऊपर भगवान्। यही अव्यक्त शेष है। '**शिष्यते य: स शेष:**', कार्योंके कारणोंमें लय होनेके बाद कारण ही शेष रहता है। वह अव्यक्त मायावच्छिन्न चैतन्य महाकारण सहस्रफणायुक्त है। उसीपर श्रीमन्नारायण शयन करते हैं। वही महाकारणातीत, कार्यकारणातीत परब्रह्म है। भागवतमें कहा है—'**अव्याकृतमनन्ताख्यम्**' (१२।११।१३) वही प्रकृतिविशिष्ट चैतन्य अनन्त भगवदधिष्ठान आसन है। भगवदाकाराकारित, स्वच्छ, स्निग्ध मनोवृत्तिपर सगुण, साकार ब्रह्मका प्राकट्य है। जहाँ भगवान् हैं, वहाँ इसको जाना पड़ेगा, क्योंकि उसके बिना रामका प्राकट्य नहीं होगा। अतएव भक्तहृदय ही अवध और भक्तहृदय

ही वृन्दारण्य। उसके सब जगह प्रकट करनेमें कठिनाई है, मेहनत है। पर वह है व्यापक। जैसे नेत्र जिसे कहते हैं वह नेत्रगोलक और उसके भीतर अतीन्द्रिय इन्द्रिय है, वैसे वृन्दारण्य गोलक और उसमें मुख्य वृन्दारण्य। वहाँ लौकिकताका भान दोषवश होता है। भगवान् तो अपने-आपमें ही प्रतिष्ठित हैं। वह शेष केवल अव्यक्त जडांश नहीं, किंतु अव्यक्तांशपर चेतनांश होता है। वृन्दारण्यादि सर्व अद्‌भुत, अनन्त, परमानन्दसिन्धुमेंसे ही विकसित हैं। उसमें भी उसके भी ऊपर भगवत्स्वरूप वृन्दावन अलग है। वृन्दारण्य अव्यक्त रूप है। उसमें रसरूप वृन्दारण्य है और स्वस्वरूपभूत वृन्दारण्यमें ही भगवान्‌का रमण हुआ।

'स्वपदरमणं, स्वपदादपि रमणम्'—वैकुण्ठसे भी रमण। व्रजांगना कहती हैं—

'जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः
श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।'

(श्रीमद्भा० १०।३१।१)

हे श्यामसुन्दर, आपके मंगलमय जन्मसे व्रज अत्यन्त सुशोभित हो उठा। **'वैकुण्ठात् सर्वस्मादपि लोकात् अधिकं जयति।'** कैसे? लक्ष्मी वृन्दावनमें सदा सेवा करती है, वैकुण्ठमें सेव्या है। व्रजमें लक्ष्मी श्रीजीके चरणारविन्दरजके स्पर्शके लिये लालायित हैं। **'यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाचरत्तपः।'** (श्रीमद्भा० १०।१६।३६) यमुनाघाट बिल्ववनमें लक्ष्मी तपस्या करती है। इस प्रकार वह यहाँपर सेविका है। ऐसे **'स्वपद्भ्यां रमणम्।'** जहाँपर श्रीचरणारविन्द पाषाणोंपर अंकित हैं। पाषाणपर खड़े होकर किये वंशीनिनादसे वह कोमल हो जानेसे भगवत्पद वहाँपर अंकित हो उठा। ऐसे वृन्दारण्यमें भगवान् पधारे।

वृन्दारण्य स्वयं सुशोभित है ही, पर प्रभुके श्रीचरणारविन्दोंसे अंकित होनेके कारण वह अधिक सुशोभित हुआ। अथवा **'स्वपदं रमणं रतिजनकं यस्य तत्'** भगवान्‌के श्रीचरणारविन्दोंसे रमण, रति, आनन्द प्राप्त होता है जिसको, ऐसा वृन्दावन। अर्थात् प्रभुके श्रीचरणोंके स्पर्शमें वृन्दारण्यको अद्भुत, लोकोत्तर आनन्द प्राप्त होता है। भगवान्‌का चरण ही आनन्दमय मंगलमय है। इसलिये जिसको भी स्पर्श हो, उसीको आनन्द होगा ही, पर विशेषरूपसे जो सरस हैं, उनको अधिकाधिक आनन्द होता है। अतः वृन्दारण्यको अधिक आनन्द-रमण हुआ। वृन्दारण्य सरस है, आर्द्र है। तभी भगवान्‌के श्रीपद वहाँ अंकित होते हैं। यदि बहुत-सा श्रवण भी कर लिया, पर हृदय आर्द्र—सरस न हो तो प्रभुके पद अंकित नहीं हो सकते। कठोर लाक्षापर अंक सुस्थिर नहीं होता। अग्निके सम्बन्धसे लाख द्रुत होनेपर अंक (मुहर) वहाँ सुस्थिर होगा। इसी रीतिसे हृदय यदि आर्द्र है, तभी भगवान्‌के मंगलमय चरण अंकित होंगे। कठोर हृदयमें जब कभी प्रसंगवश अभिव्यक्त होनेपर भी सुस्थिर अंकित न हो सकेंगे। प्रसंगवश खल भी उत्तमोत्तम वार्तालाप प्रसंगमें रहते हैं, मगर वे उसमें स्थिर नहीं होते। वहाँ मालूम होनेवाला रस रसाभास है। अतएव हृदय द्रुत करनेका प्रयत्न करें तो प्रभुमें स्थायी रति हो। इसलिये वृन्दारण्य द्रुत होनेसे वहाँ श्रीचरण अंकित होते हैं और उसको रमण-आनन्द-रति प्राप्त होती है। यह तो वृन्दारण्यका अद्भुत भाग्य है कि वहाँ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दके निरावरण चरण हैं। यह भाग्य आजतक किसीको प्राप्त नहीं हुआ। द्वारकामें भगवान्‌का निवास था, वहाँ वे थे राजाधिराज। राजाधिराजके निरावरण चरणोंका स्पर्श भूमिको कैसे हो सकता है? तभी तो मथुराको भी मथुरानाथके चरणोंका स्पर्श नहीं। उसे यह सौभाग्य ही नहीं है। यह वृन्दारण्यको ही सौभाग्य है; क्योंकि यहाँपर गोचारणरूप स्वधर्मपालनार्थ प्रभु निरावरण चरण ही पधारे।

भगवान्‌के चरणस्पर्शसे वृन्दावनकी भूमि सौभाग्यशालिनी हो गयी

'आनन्दवृन्दावनचम्पू' में कथा है कि एक बार श्रीकृष्णचन्द्र गोचारणार्थ वन जानेको मचल पड़े। प्रभुने कहा—'मैया, मैं तो गोचारणके लिये जाऊँगा।

माता नन्दरानी यशोदा और बाबा नन्दराय तो अपने ललनको एक क्षणके लिये भी अपनेसे वियुक्त होने देना नहीं चाहते थे। फणीको जैसे मणिसे लोकोत्तर अनुराग होता है, वैसे नन्दराजको। हमारे ललन गोचारणके लिये जायँ, यह वियोग कैसे सहन हो? रात्रिमें जब व्रजगेहिनी अपने ललनको अंकमें लेकर सोती तो बीच-बीचमें जागती, बार-बार अपने ललनको स्पर्श करती। जैसे किसी महारंकको चिन्तामणि मिले और वह उसे बार-बार सम्हाले, वैसे ही व्रजेन्द्रगेहिनीका प्रभुमें अद्भुत अनुराग था, जिससे वह बार-बार चुम्बन करती, मस्तक सूँघती। वही श्रीकृष्ण गोवत्सचारणके लिये जानेको मचले। फिर तो यह श्यामसुन्दर नटखटकी मचल। मैया कहती—'न जाओ लाला!' लाला कहते—'नहीं मैया, मैं तो जाऊँगा। यह गोचारणरूप अपना स्वधर्म है। उसका पालन करना ही चाहिये।' आखिर जब श्यामसुन्दर न माने तो कहा—'अच्छा लाला, ठीक मुहूर्त मिले तो जाना। मैं गर्गमहाराजसे पूछूँगी।' भगवान्‌की इच्छा होनेपर क्या देर! उसी समय श्रीगर्गाचार्यजी आ गये। प्रभुको देख, पूछा—'आज क्यों लाला मचला हुआ है?' नन्दरानीने कहा—'महाराज! लाला कहता है, मैं गोचारणके लिये वृन्दावन जाऊँगा, सो आप मुहूर्त बताओ।' गर्गाचार्यने भी पत्रा देखकर बतलाया—'ठीक तो है। यह गोपाष्टमी बड़ा अच्छा दिन है। उसी दिन मुहूर्त करो।' गर्गाचार्यका वचन सुनकर श्रीकृष्णचन्द्र परम प्रसन्न हुए। गोपाष्टमी आयी। उस दिन विधि-विधानपूर्वक गोपूजन हुआ। अम्बाने श्रीकृष्णसे गौओंको साष्टांग प्रणाम कराया। प्रभु अपने अम्बा, बाबाको प्रणामकर वृन्दारण्य पधारने निकले। अब अम्बा बार-बार गोपालोंको समझाती, कहती कि 'देखो, हमारे लालाकी रक्षा करना; उसे अकेले कहीं न जाने देना।' श्रीकृष्णका श्रीहस्तारविन्द गोपालोंके हाथमें देती। इस तरह कहते-कहते मैया-बाबा साथ-साथ चलते हैं, यह देख श्यामसुन्दर कहते हैं—'मैया, जाऊँगा मैया।' बाबाने कहा—'लाला पादत्राण तो पहनो!' प्रभु कहते—'नहीं, गौ हमारी इष्टदेवी हैं। यदि निरावरण चरणसे ये जायेंगी तो हम कैसे पादत्राण धारण करें? पशुपालन ही हमारा इष्टदेवताराधन है।' आराधनमें यही प्रकार होता है। दिलीप भी जब नन्दिनीके साथ उसकी सेवा करने वनमें गये, तब इसी तरह-से गये।

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां
निषेदुषीमासनबन्धधीरः ।
जलाभिलाषी जलमाददानां
छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत्॥

(रघुवंश २।६)

श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दने तो धर्मसंस्थापनार्थ अवतार लिया है—'**यदा यदा हि धर्मस्य**' (गीता ४।७) ऐसा भगवान्‌का ही वचन है। स्वयं आचरणद्वारा धर्म स्थित होता है। इसीलिये गोचारणद्वारा स्वधर्म-स्थापन किया। भगवान् गौओंकी खूब सेवा करते हुए चलते हैं। इसीलिये निरावरण-चरण चले। अतएव वृन्दारण्यको साक्षात् चरणस्पर्श हुआ, इतरोंको परम्परया। अन्य किसी धामको भी कृष्णके निरावरण चरणोंका स्पर्श नहीं हुआ। इसीलिये जो अन्यत्र सेव्या श्रीलक्ष्मी, वह भी यहाँपर सेविका होकर रहती है एवं चरणसम्बद्ध वृन्दावनके सम्बन्धसे ही समस्त भूमिने अपनेको सौभाग्यशालिनी समझा। इसलिये कि प्रभु हमारेमें ही हैं, भूमि गर्वीली हो गयी।

व्रजांगनाओंने भूमिको देखकर पूछा कि 'हे धरित्री, तुमने कौन-सा तप किया कि श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दके निरावरण चरणोंका तुम्हें स्पर्श हुआ!'

किं ते तपः क्षिति कृतं बत केशवाङ्घ्रि-
स्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि ।
अप्यङ्घ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद् वा
आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन॥

हे सखि धरित्रि! कौन योग, कौन-सी आराधना तुमने की, जिससे तुम्हें श्यामसुन्दर केशवके श्रीचरणोंका स्पर्श हुआ? बताओ तो हम भी वही करें। यदि तुम्हारी तपस्या जान लें तो युग-युगमें वही करें कि

कल्पकल्पान्तरमें कभी-न-कभी वह चरण हमें प्राप्त हो। धरित्रीने पूछा—तुमने हमारे इस सौभाग्यकी कल्पना कैसे की? व्रजांगनाने कहा—श्रीश्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दनके श्रीचरणारविन्दके स्पर्शसे होनेवाला उत्सव हम देख रही हैं। आनन्दोद्रेकसे आह्लादमें रोमांच होता है। कार्यसे ही कारणका अनुमान किया जाता है। यह चरणस्पर्शका ही फल है कि तुम्हारे रोएँ खड़े हो रहे हैं। भूमिपर जो वृक्ष, लता, तरु, गुल्म, औषधियाँ, दूर्वाएँ हैं, वही रोमांच है। श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दके चरणसंस्पर्शसे ही ऐसा आनन्द हो सकता है। धरित्रीने कहा—यह रोमांचरूप लतादि क्या आजहीके हैं? नहीं, ये तो कितने ही दिनोंके हैं। व्रजांगनाओंने कहा—अबके नहीं; न सही। जब भगवान् वामनने अपने चरणोंसे तीनों लोकको नापा था, उस समय उन मंगलमय चरणारविन्दोंके स्पर्शसे यह रोमावली उद्‌गत हुई होगी। आखिर कारण क्या? कुछ भी कहो, उनके चरणस्पर्शके बिना यह रोमांच नहीं हो सकता। ऐसा आह्लाद अन्यत्र कहीं नहीं होता। धरित्रीने फिर कहा—नहीं, ये और पहलेके हैं। क्या वामनावतारके पहले वृक्ष-लतादि रोमांचित नहीं थे? व्रजांगनाओंने कहा—**'आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन॥'** (श्रीमद्भा० १०।३०।१०) सखि, तबके भले हो-न-हों, पर जब हमारे प्रियतम प्राणधनने वराहावतार लेकर रसातलसे तुम्हारा उद्धार करते समय परिरम्भण किया, उस समयसे यह रोमावली होगी। यह रोमोद्‌गम ब्राह्मरस-संस्पर्शसे ही हो सकता है। इसलिये अब नहीं तो वामनावतारमें, तब नहीं तो वाराहावतारमें ही सही। सखि धरित्रि! छिपाओ मत, बतलाओ, बतलाओ, हम भी तुम्हारी ही तरह तपस्या करें। इसी कारण वृन्दारण्यके संस्पर्शसे सब भूमि रोमांचित हो गयी। भूमि अपने सौभाग्यपर गर्वीली होकर इठलाती है। जैसे ***'बिंधि मुदित मन सुखु न समाई। श्रम बिनु बिपुल बड़ाई पाई॥'***, वही बात यहाँ भूमिके पक्षमें भी है।

विन्ध्याचलके एक देश चित्रकूटका श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्रने चरणसे स्पर्श किया। वहाँपर तपस्वीवेशसे भगवान्‌ने निवास किया। इतनेसे ही विन्ध्यने बड़ाई पायी। एक दिन देवर्षि नारद उसके यहाँ पधारे। कहा—तुम तो बहुत पुराने हो, लेकिन सब लोग मेरुको बड़ा समझते हैं। यह कुछ अटपट-सी बात मालूम होती है। विन्ध्यने सोचा—मेरुकी सूर्य प्रदक्षिणा करते हैं, इसीसे उसे लोग बड़ा समझते हैं तो वही बन्द कर दिया जाय। बस, विन्ध्य बढ़ने लगे। सूर्यभगवान्‌का मार्ग बन्द हो गया। सब धर्म, कर्म, उपासना, अग्निहोत्रानुष्ठान बन्द हो गये। सूर्योदय हो नहीं तो कुछ हो कैसे? तब सब देवता, ऋषि संत्रस्त होकर अगस्त्यऋषिकी प्रार्थना करने काशीमें आये। ऋषिकी प्रार्थनाकर उन्हींको भेजा। विन्ध्यपर्वत अगस्त्यका शिष्य था। उन्हें देखकर उसने खर्वरूप धारण किया, प्रणाम किया। अगस्त्य प्रसन्न होकर बोले—'जबतक मैं उधरसे नहीं लौटता, तबतक ऐसे ही पड़े रहो। अगस्त्य दक्षिण समुद्रपर चले गये और विन्ध्य जैसा-का-तैसा पड़ा रहा। फिर श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्रने जब चित्रकूटपर निवास किया, तब विन्ध्यने पुनः बिना श्रम उत्कर्ष पाया। उसके शत्रु भी उसकी महिमा गाने लगे। तात्पर्य यह कि भगवान्‌के मंगलमय श्रीचरणोंके स्पर्शसे वृन्दारण्य ही नहीं, समस्त भूमण्डल सौभाग्ययुक्त हुआ।'

किंवा '**स्वपदयोः रमणं रतिजनकं—स्वपद-रमणम्।**' भगवान्‌के मंगलमय श्रीचरणारविन्दोंको आनन्द देनेवाला। अर्थात् अतिरम्य भूमि, सुकोमल वालुका, श्यामल-श्वेत दूर्वाएँ एवं अद्भुत, अभिनव पत्र, पुष्प, पल्लवोंसे वृन्दारण्यभूमि सुशोभित है। जहाँ श्रीकृष्णके चरणारविन्द जायँ, वहाँ कठोरता न मालूम पड़े, अतः वृन्दारण्यने अपनेको सजा रखा। प्रभुचरणोंमें कहीं आघात न लगे। ऐसे वृन्दारण्यधाममें भगवान् पधारे। जहाँ-जहाँ प्रभुके श्रीचरणारविन्दका विन्यास होता है, वहाँ-वहाँ वृन्दारण्य अपने हृदयकमलको विकसित करता है। भगवान्‌के चरणारविन्द वृन्दारण्यके

हृदयपर ही विन्यस्त होते हैं। व्रजांगनाएँ इसका बड़ा संताप करती हैं कि प्रभुके चरण अत्यन्त सुकोमल हैं, उन्हें वृन्दारण्यके दूर्वा, कुश-कण्टक गड़ते होंगे। अलौकिक प्रतीति चाहिये ही। व्रजांगनाओंको यह बात सदा खटकती ही रहती है कि श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंमें कण्टकादि कहीं गड़ न जायँ—

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः॥

(श्रीमद्भा० १०।३१।१९)

हे श्यामसुन्दर, व्रजेन्द्रनन्दन, मनमोहन! आपके श्रीचरण सुजात, सद्योजात, सुकोमल कमलसे भी शतकोटिगुणित कोमल हैं। उनको अपने हृदयपर हम ताप-पापशान्त्यर्थ धारण करती हैं, पर संकुचित होती हैं कि चरण सुकोमल हैं, हमारे हृदय कठोर हैं, अत: कठोर हृदयके सम्पर्कसे चरणमें कहीं आघात न लगे। इसलिये भयभीत होकर कर्कश हृदयपर—वक्षोजपर मनमोहन श्रीकृष्णके चरणारविन्द धारण करती हैं, उसीसे आप अटवीका अटन करते हैं, वनमें विहरण करते हैं! क्या वहाँ वृन्दारण्यके जो दूर्वा, लता-गुल्म, तृण, अंकुर, कण्टक हैं, उनसे आपके सुकोमल चरण व्यथित नहीं होते? हा! क्या कहें, श्रीश्यामसुन्दरको इतना कष्ट और हम अभी भी जीवित हैं!

इसी भावसे उनकी निष्कामता प्रकट होती है। यहाँ स्वसुखसुखित्व नहीं, तत्सुखसुखित्व है। इससे श्यामसुन्दरके सुखमें सुखिनी होना कहा गया। पिता जब अपने बालकका मुख चुम्बन करने लगता है, तब बालकको उसकी दाढ़ी-मूँछें गड़ती हैं, बालकको वे अच्छी नहीं लगतीं, वह रोता है, पर पिता अपने रसमें बालकके रोनेकी परवाह नहीं करता। '**आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति**' यही सिद्धान्त है। पत्नी, पति, पुत्र इत्यादि उनके लिये प्यारे नहीं, अपने लिये प्यारे लगते हैं—'**न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।**' (बृहदारण्यक० २।४।५) पिता बालककी तरफ ध्यान नहीं रखता, चुम्बनकी बौछार लगा देता है। रागका होना स्वाभाविक था, व्रजांगनाएँ चरणोंका पूर्ण आलिंगन करतीं, किन्तु उनका हृदय डरता है कि प्रभुचरण कोमल-से-कोमल हैं और हमारा हृदयप्रदेश अतिकठोर है। यहाँपर चरणोंको पीड़ा होगी, यही ध्यान है। अपने सुखपर ध्यान नहीं। प्राप्त यही था कि चरणोंका गाढ़ आलिंगन करतीं, परंतु वे रागोद्रेकको दबा देती हैं। जो कुछ हो, उन्हें अपनी परवाह नहीं है। यह भाव कहीं साधारण कामिनीमें हो सकता है? इसलिये कहा है कि '**प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्**' गोपांगनाओंको काम नहीं था, किंतु उनका प्रेम ही काम शब्दसे प्रख्यात हुआ था। इस दृष्टिसे व्रजांगनाएँ कहती हैं कि श्रीचरणोंको कष्ट होते हुए देखकर भी क्या हम जीवित रह सकती हैं? हाँ! हमारे जीवनका कारण यह है कि ब्रह्माने शरीर-निर्माणकर हमें प्रदान किया, पर आयु आपके हाथ दी, नहीं तो अबतक कभीकी मर जातीं, किंतु आपके दर्शनकी लालसासे ये नेत्र मरने नहीं देते। '**भवानेव आयुर्यासां तासां भवदायुषाम्।**' यह व्रजांगनाओंकी भावना है। वास्तवमें वृन्दावन नीरस नहीं, क्योंकि '**स भगवान् कस्मिन् प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नि**' के अनुसार यह उनका स्वरूप ही है। वृन्दारण्यको मनमोहनके चरणकी कोमलता, चरणकी सरसताका ध्यान था। इसलिये वह चरणोंके नीचे अपना हृदयकमल विकसित करता था। वैसे तो उनके चरणस्पर्शसे महान् कठोरोंकी कठोरता भी दूर होती है। वज्र भी मक्खनके सदृश सुकोमल हो जाता है।

जिन्हहि निरखि मग साँपिनि बीछी। तजहिं बिषम बिषु तामस तीछी॥

(रा०च०मा० २।२६२।८)

सिंहिनीको भी पुत्रमें राग होता है, पर सर्पिणीको नहीं। इसीसे इसको निर्दय, पुत्रभक्षिका, पुत्रादिनी कहते हैं। डाइनको भी पुत्रमें राग होता है, पर इसको नहीं। परंतु ऐसी सर्पिणी एवं वृश्चिकी भी भगवान्के चरणोंका दर्शनकर अपने सहज तामस भाव तथा

तीक्ष्ण विषको छोड़ देते हैं, निर्विष, शान्त, सात्त्विक हो जाते हैं। फिर वृन्दारण्यके दूर्वा, लता, कण्टक कोमल हो जायँ, इसमें आश्चर्य ही क्या? वह तो वस्तु ही ऐसी है। '**वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः ॥**' (श्रीमद्भा० १०।२१।५)

वृन्दाके आख्यानका रहस्य

भगवान्‌के चरणोंको आनन्द देनेवाला, व्रजांगनाओंको 'घबड़ाओ मत! प्रभुके चरणोंको कष्ट नहीं होगा'—ऐसा आश्वासन देनेवाला जो वृन्दारण्य धाम, उसमें गोपवृन्दोंके संग गीतकीर्ति भगवान् पधारे। यह वृन्दाका अरण्य है। वृन्दा याने तुलसी। पहले जो वृन्दा जालन्धर दैत्यकी पत्नी थी, उसका अरण्य। तात्पर्य यह कि जो दैत्यभोग्या वृन्दा थी, वह अब भगवदीया—भगवान्‌की वस्तु हो गयी। यह वृन्दा—तुलसी लक्ष्मी, वृषभानुनन्दिनीकी तरह गोलोक-धाममें रहनेवाली भगवदीया दिव्य महाशक्ति थी, किंतु किसी प्रकारके दुर्दैवसे भगवान्‌की महाशक्ति भगवद्भोग्या होती हुई भी दैत्यभोग्या हो गयी और महारागिनी हुई। अरुचिपुर:सर जालन्धर दैत्यके प्रति रागिणी हो उठी। फिर पूर्णतम, पुरुषोत्तम, श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दने अपनी अनुकम्पा-विशेषसे दैत्यका वधकर वृन्दाको स्वीकार किया। कथा ऐसी है कि—जालन्धरसे श्रीशिवका संग्राम हो रहा था। उसकी पत्नी पतिव्रता वृन्दा थी। जबतक उसका पातिव्रत्य भंग न हो, तबतक जालन्धरका वध नहीं हो सकता था। इसलिये श्रीमहाविष्णुने जालन्धरका वेश धारण किया और वृन्दाके घरमें जाकर जब उसका पातिव्रत्य भंग किया, तब वह दैत्य मरा। यह ऊपरी भाव जरा टेढ़ा है। लोग कहेंगे कि श्रीमहाविष्णुने ऐसा कैसे किया? परंतु अन्तरंग भाव कुछ और है। धर्माधर्मके विचारमें उनका गौरव-लाघव देखा जाता है। जालन्धर स्वयं पातिव्रत्य नहीं मानता था, वेदोक्त मर्यादाको विघटित करता था। फिर जो सर्वधार्मिक मर्यादाओंका व्यापादक है, वह पातिव्रत्य क्या जानता? ऐसे सर्वधर्मनाशक जालन्धरका नाश करनेके लिये किंचित् धर्म-व्यत्यय भी करना हो तो वह सह्य है। एक सत्यसे दस हजार गो-ब्राह्मणोंका वध होता हो तो उससे क्या लाभ? वहाँ तो झूठ ही बोले। वहाँ सत्यभाषण मिथ्याधर्म है। यदि हमारे सत्यसे अपरिमित धर्मकी हानि होती हो तो उसकी महिमा नहीं है।

अर्जुनकी प्रतिज्ञा थी कि हमारे गाण्डीव धनुषकी जो निन्दा करेगा उसका सिर उतार लूँगा। एक बार प्रसंग ऐसा आया कि कर्णसे युद्धमें विह्वल हुए धर्मराजने ही गाण्डीवकी निन्दा कर दी। सुनकर अर्जुनने सोचा—मैं क्षत्रिय हूँ, मेरी प्रतिज्ञा सुदृढ़ है। युधिष्ठिरको मारनेके लिये अर्जुनने तलवार निकाल ली। भगवान् श्रीकृष्ण बीचमें पड़े और अर्जुनसे कहा—'अरे! तू धर्म जानता भी है? परमाराध्य ज्येष्ठ भ्राता धर्मराज क्या तेरे वध्य हैं? प्रतिज्ञापालनके लिये उनको '**युष्मत्**' शब्दसे सम्बोधित कर—यही बड़ोंका वध है।' अर्जुन समझ गया, उसने धर्मराजके लिये 'तुम', 'तुम' शब्दका कई बार प्रयोग किया। इतनेसे युधिष्ठिर उद्विग्न हो गये। यह देखकर अर्जुन कहने लगा—'अब मैं आत्महत्या करूँगा, मैंने धर्मराजके लिये '**त्वं**' पदका प्रयोग किया।' कृष्णने कहा—'पागल है, तू अपनी बड़ाई-आत्मश्लाघा कर, यही अपना वध है। फिर अपनी बड़ाई अर्जुनने खूब गायी। इस तरह भगवान्‌ने चातुर्यसे पाण्डवोंकी नैयाको पार लगाया। इसीलिये कहा है कि '**कैवर्तकः केशवः**'। अतः धर्माधर्मका गौरव-लाघव सोचना चाहिये। यदि सर्वधर्मका शत्रु जालन्धर अन्य उपायोंसे नहीं मरता, तब एक धर्मको विघटितकर अनन्त धर्मका संगठन करना नैतिक ही है।'

दूसरी दृष्टिसे देखें तो वास्तवमें वहाँ पातिव्रत्य भंग ही नहीं हुआ, क्योंकि विष्णु वृन्दाके परम पति थे। वस्तुतः पातिव्रत्य धर्मसे भी विष्णुसम्बन्धको ही तो प्राप्त करना है। सारांश यह निकला कि पहले वृन्दा भगवदीया ही थी, गोलोक-धाम-निवासिनी थी, दुर्दैववशात् जालन्धरभोग्या हो गयी थी। यह वृन्दा प्राणियोंकी बुद्धि है, वास्तवमें इसका सम्बन्ध मुख्य

साक्षीसे ही होना चाहिये। इसलिये बुद्धिका पूर्णतम पुरुषोत्तमाकाराकारित होना, यही स्वाभाविक सफलता है। दुर्दैव यह है कि वह जगदाकाराकारित हो रही है। जीवोंको बुद्धि मिली है भगवत्प्राप्तिके लिये, सांसारिक निर्णयोंके लिये नहीं। इसलिये इसकी परम सफलता इसीमें है कि भगवत्सम्बन्ध सुस्थिर हो, वहाँ भगवदभिव्यक्ति हो। यह प्रभुकी महान् कृपा है कि दैत्य-सम्बन्ध छुड़ाकर उस दैत्यभोग्या वृन्दाको भगवद्भोग्या बनायें। यही स्थिति संसारमें भी है। बुद्धियोंपर शैतानका अधिकार है या भगवान्का? साधारण बुद्धि शैतानभोग्या हो गयी है, तभी तो वह पाप, ताप, दम्भोंमें लगायी जाती है। उसका फल ही है नाना योनियोंमें भटकते रहना। वास्तवमें घट उत्पन्न होते ही आकाशसे परिपूरित हो जाता है; जल, दुग्ध या मृत्तिकासे पीछे परिपूरित होता है। इसी तरह बुद्धि उत्पन्न होते ही आकाशोपम परमात्मासे ही भरपूर हुई, इसमें प्रपंच जो भरा है वह आगन्तुक है। तथापि बुद्धि इस प्रपंचकी पतिव्रता हो गयी है। एक क्षणके लिये भी उसमेंसे प्रपंच नहीं निकलता। यही बुद्धिका दृश्यमें राग, प्रीति, पातिव्रत्य हठ हो गया। अब पूर्णतम, पुरुषोत्तम ही कृपा करें, हठात् यदि दैत्यसम्बन्ध छुड़ायें तभी कुछ हो, वह स्वयं तो निवृत्त होती नहीं। इसी बुद्धिके बलसे ही यह दैत्य संसारमें अनेक अनर्थ बढ़ा रहा है। कौन इस दैत्यका वध करे? सब देवाधिदेव परेशान हैं। जब प्रभु बलात् इस दैत्यके संसर्गको छुड़ायें, नकली पातिव्रत्य बिगाड़ें तभी कल्याण हो। असली पति भगवान् ही हैं; क्योंकि शुरूमें वह बुद्धि भगवदाकाराकारित होकर पीछे सर्वाकाराकारित होती है। यही कथा वहाँ हुई। गोलोकनिवासिनी वृन्दाको शाप हुआ। जालन्धर भी गोलोकनिवासी गोप था, वह दैत्य हुआ, उसकी यह पत्नी हुई। उसका यह सम्बन्ध आगन्तुक था, इसलिये रुद्रादिके लाचार होनेपर छलसे दैत्य सम्बन्ध छुड़ाकर स्वकीयाको स्वीकार किया गया। ऐसे ही इस बुद्धिका शैतानसे संसर्ग छुड़ाकर प्रभु अपना संसर्ग स्थापित करें, बुद्धिके सर्वाकारको छुड़ाकर उसमें अपना आकार स्थापित करें, तभी तो आनन्द होगा, स्वातन्त्र्य होगा।

उस वृन्दाका अरण्य ही वृन्दारण्य है। अथवा— '**वृन्दायाः वनं यौवनं वृन्दावनम्।**' वृन्दाका यह यौवन है अर्थात् यह वृन्दावन वृन्दाका देदीप्यमान स्वरूप ही है। वृन्दाकी स्थिति है, हर स्थितिमें श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंसे सुशोभित होना। जहाँ प्रभु शालग्राममें विराजमान हों, वहाँ वह तुलसीरूपमें सेवा करती है। जब प्रियतम, प्राणधन, पूर्णतम, पुरुषोत्तम-रूपमें प्रभुने व्रजमें अवतार लिया, तब वह यहाँ वृन्दावनमें प्रकट हुई। यहाँ जो यमुना है, वह वृन्दाके हृदयकी प्रेमानन्दरससरिता, जो तरु हैं वे रोमांच और भूमि ही देह है। इसलिये व्रजांगनाएँ ईर्ष्या करती हैं कि सखि! देखो, मनमोहन श्यामसुन्दर वृन्दारण्यमें पधारे हैं। यहाँ सब विपरीत-ही-विपरीत हो रहा है। हमारी अधरसुधाका वे कितना दुरुपयोग करते हैं। सखि! जड़, सच्छिद्र शुष्क बाँसके छिद्रोंमें उसे भरते हैं। हम चाहती हैं, हमारे हृदयमें उनके चरणारविन्द स्थापित हों, पर नहीं, वे वृन्दारण्यमें प्रथम पधारे। अथवा '**स्वपदरमणं स्वस्याः आत्मीयायाः वृषभानुनन्दिन्याः पदैः रमणम्।**' अर्थात् श्रीवृषभानु-नन्दिनीके मंगलमय चरणारविन्दोंसे सुशोभित वृन्दारण्यमें श्रीकृष्ण पधारे। रासलीलादिमें वृषभानुनन्दिनीका आगमन वहाँ होता है, इसलिये उनके चरणोंसे भूषित अरण्यमें पधारे। उद्दीपनविशेष सिद्ध हुआ। श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दकी अन्तरंग प्रेयसी श्रीवृषभानुनन्दिनीके चरणसे अंकित वृन्दारण्य देखकर प्रसन्नता हुई। इसलिये कहा गया '**प्राविशत्**' अर्थात् वृन्दारण्यमें प्रविष्ट हुए।

क्या करते हुए प्रवेश किया? '**रन्ध्रान् वेणोरधर-सुधया पूरयन्।**' (श्रीमद्भा० १०।२१।५) यहाँ '**वेणोः**' पुंस्त्व सूचित किया। वेणु पुमान् है अर्थात् पुमान् वेणुके छिद्रोंमें अधरसुधाको पूरित करते हुए भगवान् पधारे। दूसरी दृष्टि यह है कि वेणुछिद्रोंमें

अधरसुधाका सन्निवेशकर, भगवद्भोग्या अधरसुधाको व्रजांगनाओंमें और देवभोग्याको खगादिकोंमें पहुँचाना है। इसके लिये वेणु केवल पात्र ही है। अधर-सुधाका रस वेणुको नहीं मिलता, इसीका उपपादन है। जब भगवान्‌के अधरसुधासे पाषाण भी द्रवित हुए, तब वेणु क्यों न सुधरी? उसमें हरापन क्यों न आया? वह ज्यों-का-त्यों क्यों रहा? इसका कारण यही है कि वह केवल पात्रमात्र रही, उसको कुछ मिला नहीं। अन्य दृष्टिसे कहें तो वेणु बड़ी चतुर भगवान्‌की प्रिय सखी है। वह वेणुरूपमें अपने-आपको छिपाकर पुमान्‌रूपमें अभिव्यक्त होकर श्यामसुन्दरके अधरपर विराजित होकर उसकी मधुर सुधाका पान करती है। वह इसलिये वेणु बनी कि कोई उससे ईर्ष्या न करे, कोई न जाने कि यह श्यामसुन्दरका रसास्वादन करती है, नहीं तो कोई उसे चुरा लेगा। वृषभानुनन्दिनीने तो कई बार उसको चुराया भी था। अत: वह वंशी सग्रन्थि एवं शुष्क होकर रहती है; क्योंकि वह चतुरा है। ऊँची कोटिके रसिक अपने रसको प्रकट नहीं करते। रोयेंगे तो भी भीतर-ही-भीतर, बाहर नहीं। इस तरह वेणु बड़े धैर्यसे रसास्वादन करती हुई भी अपनेको शुष्क बनाये रखती है। सोचती है कि यदि मुझमें हरे-हरे पल्लव निकल आये तो श्यामसुन्दर हमें छोड़ देंगे। कहेंगे कि यह हमारे कामकी नहीं रही। जिस रसाभिव्यक्तिमें श्यामसुन्दर उसे छोड़ दें, वह रस किस कामका? माना कि यदि वेणु श्यामसुन्दरके अमृतमय मुखचन्द्रपर आसीन होकर अधरसुधारसास्वादनसे प्रफुल्लित हो गयी, तब तो वह बजेगी ही नहीं। अधर-पल्लवपर लिटाना, सुधाका स्वाद देना, यह सब तबतक ही, जबतक वह सरस न हो। इसलिये वह अपनेको सरस नहीं होने देती। जहाँ परम्परासे अधरसुधास्वादनसे पाषाण द्रुत हो गये, नदियाँ स्तब्ध एवं रोमांचित हो गयीं, वहाँ साक्षात् आस्वादन लेनेवाली वेणु सरस क्यों न हो? इस चातुर्यका पता गोपियोंको लग गया। इसीलिये व्रजांगनाएँ आगे कहती हैं—'**गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणुः।**' (श्रीमद्भा० १०।२१।९) सखि! इस वेणुने कौन पुण्य किया है?

कहीं ऐसा भी है—एक अवसरमें श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन जब श्रीराधाके गुणगानमें व्यग्र थे, उस समय भगवान्‌के मुखपंकजसे सरस्वती प्रकट हो गयी। जब उसने अनन्तकोटि कन्दर्पदर्पदलनपटीयान् स्वरूपको देखा, तब मुग्ध हो गयी और आलिंगन चाहा। श्रीकृष्णचन्द्रने कहा—'यदि मुझसे ऐसा परिरम्भण चाहती हो तो वृन्दारण्यमें वेणुरूपसे प्रकट हो।' जब वहाँ जाकर उसने घोर तप किया, बड़ी-बड़ी यातनाएँ सहन कीं, काटी गयी, छीली गयी, तपाकर सीधी की गयी, उसमें छिद्र किये गये, तब वह श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दके मुखचन्द्रपर विराजमान हुई। अब प्रभु उसको अपने अधरपर्यंकपर लिटाकर, मुकुटका छत्र धरकर, कुण्डलोंसे आरतीकर, अधरसुधाका भोग लगाकर, अपने कोमल अंगुलिदलोंसे उसका पादसंवाहन करते हैं। उसपर बड़े प्रसन्न हैं। इस प्रकार वेणुको सुधारससे पूरित करते हुए भगवान् श्रीवृन्दारण्यधाममें पधारे।

इति वेणुरवं राजन् सर्वभूतमनोहरम्।
श्रुत्वा व्रजस्त्रियः सर्वा वर्णयन्त्योऽभिरेभिरे॥

(श्रीमद्भा० १०।२१।६)

वेणुछिद्रोंमें प्रविष्ट होकर भगवान्‌की अधरसुधा ही '**बर्हापीडं**' इस श्लोकके रूपमें व्यक्त हुई। इसमें उद्‌बुद्ध उभयविध शृंगाररस है। जब कहा कि—'**नाशकन् स्मरवेगेन विक्षिप्तमनसो नृप॥**' (श्रीमद्भा० १०।२१।४) अर्थात् स्मरवेगसे विक्षिप्तमनस्क होनेसे व्रजांगनाएँ उसके वर्णनमें असमर्थ हुईं। जब '**नाशकन्**', वर्णन न कर सकीं, तब यह वर्णन कैसा? इसका समाधान यह है कि परम अन्तरंग वक्ता श्रीशुक प्राय: व्रजांगनाओंमें तन्मय होकर लीलाका वर्णन करते हैं। इसलिये जिस समय वे जिस लीलाका वर्णन करते थे, उस समय उस रसमें तन्मय हो जाते थे। इसलिये जब श्रीव्रजांगनाएँ श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दके मुखचन्द्रसे निर्गत वेणुरव—वेणुनादको श्रवण करतीं, तब उसके

वर्णनमें प्रयत्नशील होतीं। किंतु वेणुनाद महा-मोहनमन्त्र है, उससे वे मूर्च्छित हो जातीं। कथंचित् भगवत्कृपासे लब्धावस्थिति होकर पुनः वेणुगीत सुनती हैं। नाद तो नादमात्र है, गीतमें कुछ अर्थ होता है। अतः वेणुगीतार्थ श्रीकृष्ण व्रजांगनाओंके हृदयमें, अन्तःकरणमें, अन्तरात्मामें अभिव्यक्त होते हैं। फिर वे वर्णनकी चेष्टा करतीं और पुनः स्मरणसे मूर्च्छित होती हैं। पहले वेणुनादसे मूर्च्छित, फिर उसके उद्गमस्थान श्रीकृष्णचन्द्रके स्मरणसे मूर्च्छित, फिर गीतार्थानुभवसे मोहित होती हैं। अन्तमें जब वर्णन करना चाहतीं तो विक्षिप्तमनस्का होकर न कर सकतीं। उनकी इस अशक्तिको देखकर तन्मयावस्थाप्राप्त शुक ही स्वयं वर्णन करते हैं। इसमें हेतु यह कि यहाँ यह शुकवाक्य है। यदि गोपियोंका वर्णित होता तो '**गोप्य ऊचुः**', ऐसा लिखते। वैसा न होनेसे स्पष्ट है कि लीलारसभावापन्न होकर गोपांगनाभावापन्न श्रीशुक स्वयं कहते हैं—'**इति वेणुरवं राजन्**', दूसरा भाव यह है कि राजाको सम्बोधितकर शुकदेव कहते हैं कि व्रजांगनाओंके मनमें क्षोभ क्यों हुआ? श्रीकृष्ण परमानन्दकन्दका यादृश स्वरूप अभिव्यक्त होकर क्षोभकारक हुआ, वह है—'**बर्हापीडं**' इत्यादि। ऐसे उद्बुद्ध उभयविध शृंगाररसात्मक स्वरूपका हृदयमें अनुभव करनेसे उनका हृदय स्मरवेगसे क्षुब्ध हुआ। अतः कहा गया है—'**यादृशं स्वरूपं मनःक्षोभकरं जातं तादृशमाह—बर्हापीडमिति।**' इसीलिये भावुक कहते हैं कि श्रीशुक अन्तर्लीला-निविष्ट हैं, साक्षात् श्रीवृषभानुनन्दिनीके नित्यनिकुंजमें रहनेवाले हैं। उन्हींका यह अवतारविशेष है, जिनको श्रीवृषभानुनन्दिनी श्रीकृष्णका नाम पढ़ाती हैं और श्रीकृष्ण भी जिनको वृषभानुनन्दिनीका नाम पढ़ाते हैं। अतः ये लीलारसका प्रत्यक्ष आस्वादन करते हुए वर्णन करते थे। फिर भी उन्होंने अधिकारानुसार ही गुप्त शब्दोंमें वर्णन किया—'**इति वेणुरवम्।**' यहाँ 'र' से अग्निबीज विप्रयोगात्मक शृंगार और 'व' से अमृतबीज संयोगात्मक शृंगार विवक्षित है। वह '**सर्वभूतमनोहरम्**' है। श्रीजीवगोस्वामी कहते हैं कि यहाँ भूतपदसे चेतनाचेतन, स्थावर-जंगम सब लेना और मनोहर पदकी लक्षणा विकारकारी अर्थमें करनी चाहिये।

वेणुरव-श्रवणका प्रभाव

इस वेणुरवने सर्वप्राणिमात्र, चेतनाचेतनोंमें विकार उत्पन्न कर दिया। कहा है कि '**अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणाम्।**' (श्रीमद्भा० १०।२१।१९) जो गतिमान् थे, वे निश्चल हो गये, यमुनाका प्रवाह रुक गया, पर्वत-पाषाण द्रवित होकर बह चले। इसलिये यह मनोहर पद विकारकारीमें पर्यवसायी है। अतः स्थावर-जंगम सब क्षुब्ध हो उठे—'**श्रुत्वा व्रजस्त्रियः सर्वाः।**' (श्रीमद्भा० १०।२१।६) अन्य जगह क्षोभ तो हुआ ही, पर अधिक श्रीव्रजांगनाओंमें हुआ। वहाँ उसने अपना अत्यन्त पराक्रम व्यक्त किया। जहाँ चेतनाचेतनोंतक क्षोभ पहुँचा, फिर व्रजके लोगोंकी क्या कही जाय? एक तो सबके मनको हरनेवाला, फिर जो प्रेमका प्रधानस्थान, वहाँ उसके प्रभावका कहना ही क्या है? भक्ति वृद्धा होकर सर्वत्र घूमती हुई जहाँ आकर युवती हो गयी, जो भक्तिका परम दिव्य क्षेत्र है—चाहे ऊपरसे वह भले ही नीरस भूमि मालूम हो, पर अन्तरंग रूपसे अत्यन्त स्निग्ध और सरस है, उस व्रजके मनुष्य, उनमें भी स्त्रियाँ, जिनका हृदय अत्यन्त कोमल होता है और उनमें भी श्रीव्रजांगनाएँ, जिन्होंने उस मनोहर वेणुरवका श्रवण किया; उन कान्तभाववती और सख्यभाववती सौभाग्यवतियोंपर उसका विशेष प्रभाव पड़ा।

किनपर प्रभाव पड़ा? सबपर—'**सर्वाः।**' इस पदसे नित्या, साधनसिद्धा आदि पूर्णतम, पुरुषोत्तम, परमरसामृतमूर्ति श्रीकृष्ण नित्य हैं, उनकी माधुर्याधिष्ठात्री श्रीवृषभानुनन्दिनी नित्या तथा उसकी अंशभूता व्रजांगनाएँ भी '**नित्या**' हैं। सदा गोलोकधाममें परमानन्दकन्द भगवान् विराजते हैं। वहीं श्रीवृषभानुनन्दिनी और वहीं अन्तरंगा अंशभूता व्रजांगनाएँ भी विराजती हैं। साधनसिद्धामें दो भेद हैं—श्रुतिरूपा और ऋषिरूपा। यह कहा गया है कि '**अद्यापि यत्पदरजः**

श्रुतिमृग्यमेव।' अर्थात् आजतक श्रुतियाँ परमरसामृतमूर्ति भगवान्‌को ढूँढ़ रही हैं। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते इनको जब मूर्तिमान् प्रभु प्राप्त हुए और उनके अद्भुत गुणगणोंपर प्रसन्न हुए, तब उन्होंने ब्राह्मरसस्पर्शकी इच्छा प्रकट की। प्रभुने उनको व्रजमें आनेको कहा। वे ही साधनसिद्धा हैं। वे भी नित्या ही हैं; क्योंकि ब्रह्ममें ही श्रुतियोंका निरन्तर रमण होता है। निष्कर्ष यह है कि '**सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति**' (कठ० १।२।१५) समस्त वेद उस पूर्णतम पुरुषोत्तमका ही प्रतिपादन करते हैं।

इस सिद्धान्तानुसार सर्व श्रुतियोंका तात्पर्य परमेश्वरमें ही है, वहीं उनका रमण है। इन श्रुतियोंमें दो भेद हैं—एक अनूढ़ा, दूसरी ऊढ़ा। उसमें अनूढ़ा कन्या वे हैं, जिन्होंने श्रीकृष्णप्राप्तिके लिये कात्यायनी-पूजन किया। दूसरी हैं ऊढ़ा—उनमें भिन्न-भिन्न पतियोंकी ममतामात्र थी। वास्तवमें तो यही था कि जिस समय ब्रह्माने वत्सगोपालादिकोंका हरण किया था और प्रभु स्वयं ही एक वर्षतक सब कुछ बने थे; उस समय सब गोप-कुमारियोंके विवाह ऊपरी दृष्टिसे दूसरे गोपोंके साथ हुए, परंतु वस्तुतः सबके विवाह प्रभुसे ही हुए थे; क्योंकि श्रीकृष्ण ही उस समय सब गोपरूपमें विराजमान थे। इसलिये लोकदृष्ट्या वह अन्यविवाहिता होती हुई भी प्रभुकी ही स्वकीया थीं। उनमें परकीयात्वका केवल आरोपमात्र था। इसलिये कहा गया है—'**न जातु व्रजदेवीनां पतिभिः सह सङ्गमः**' व्रजांगनाएँ कभी भी प्राकृत पतियोंसे संगत नहीं हुई, अपितु प्रभु ही उनके सर्वस्व थे, यही बात '**श्रुतिरूपा**' में भी है।

कई श्रुतियाँ साक्षात् प्रभुमें तात्पर्य रखती हैं, जैसे '**प्रज्ञानं ब्रह्म**' इत्यादि। कई परम्परया अग्नि, यम और वरुण आदिकी स्तुतिद्वारा प्रभुके साथ सम्बन्ध रखती हैं। जिन श्रुतियोंका जो अर्थ होता है, उनके साथ उनका सम्बन्ध है, यही प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव सम्बन्ध भी कहा जाता है। रामायणमें कहा है—'**गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न। बंदउँ सीता राम पद**…॥' (रा०च०मा० १।१८) कहा जाता है कि वाणी और अर्थका भेद वास्तवमें भेद नहीं है। गिरा और अर्थका सम्बन्ध पति-पत्नी सम्बन्ध है। अर्थ पति और गिरा पत्नी है।

'**कदाचनस्तरीरसि**' यह श्रुति इन्द्रस्ताविका होनेसे इन्द्रपत्नी है। जिसका जो प्रतिपाद्य है, वही उसका पति है। वैसे ही जिनका साक्षात् परमात्मा ही अर्थ है, अन्य अर्थ नहीं, उनके साक्षात् पति परमात्मा ही हैं। जिनका आपाततः अर्थ अन्य है, परंतु महातात्पर्य ब्रह्ममें है—अवान्तर तात्पर्य इन्द्रादिमें और महातात्पर्य ब्रह्मप्रकाशनमें है, ऐसी भी श्रुतियाँ हैं। इसलिये एक श्रुति ऐसी है, जिसका मुख्य पति परमात्मा ही है। जैसे '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' इत्यादि। यही प्रभुकी स्वकीया हैं और जो इन्द्रादिका प्रतिपादन करती हुई प्रभुमें पर्यवसित होती हैं, उनके अवान्तर पति इन्द्रादि और मुख्य पति प्रभु ब्रह्म हैं। ऐसी परिस्थितिमें कहा कि '**कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम्॥**' (श्रीमद्भा० १०।८७।१५) अर्थात् कोई कहीं भी पैर रखे, आखिर वह पृथ्वीपर ही है। इस प्रकार सब तत्त्व परम्परासे ब्रह्महीमें हैं। कटक, मुकुट, कुण्डलादि क्या सुवर्ण नहीं हैं? समुद्रकी लाखों तरंगें समुद्रहीसे हैं, परमात्मासे बने इन्द्रादि सब परमात्मा ही हैं।

मीमांसक जातिमें शक्ति मानते हैं, वह '**त्व**' प्रत्ययवेद्या है। जैसे घटत्व अर्थात् घटका भाव, घटरूपमें परिणत मृत्तिका एवं मृत्तिकात्वका अर्थ जल, जलत्वका तेज, तेजत्वका वायु, वायुत्वका आकाश, आकाशका अहंतत्त्व, उसका महत्तत्त्व, उसका अव्यक्त और उसका सत्तत्त्वमें पर्यवसान होता है। इसलिये सबका अर्थ वही है। '**सा सत्ता सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः**'। अतः जितनी जातियाँ हैं, सबका पर्यवसान ब्रह्ममें ही है।

सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः।
तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतद्वस्तु रूप्यताम्॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।५७)

अर्थात् सब वस्तुओंका भावार्थ—स्वकारणमें

पर्यवसित होता है, उसका भी सत्तामें और वही सत्ता शुद्ध याथात्म्य ब्रह्म है, फिर श्रुतियोंका अर्थ ब्रह्ममें पर्यवसित हो—इसमें क्या आश्चर्य? आखिर शब्द कहेंगे किसको? प्रपंचको, वह तो परब्रह्म ही है। अत: जो कुछ भी करे सबका पर्यवसान सत्तामें ही होता है और वही परब्रह्म है। फिर भी उनका अवान्तर अर्थ, वह और वह, विभिन्न पदार्थ ही हैं। घटका साक्षात् अर्थ कंबुग्रीवादिमान व्यक्ति है। किंतु जब गम्भीरतासे विचार करें, तब उसका अर्थ ब्रह्म ही होता है। असली रूप वही है, नकली रूप अलग-अलग हैं। इसलिये व्रजांगनाओंके नकली ममताके आस्पद विभिन्न गोप थे, परन्तु उनसे व्रजांगनाओंका संगम नहीं हुआ था।

जब व्रजांगनाएँ श्रीकृष्ण परमानन्दकन्दके साथ रासलीला कर रही थीं, तब व्रजमें ब्राह्मी रात्रि प्रकट हुई। उस रासलीलाकी दिव्य शोभाको देखकर चन्द्र मध्याकाशमें स्थगित हो गया—'**विस्मित: शशाङ्क:**'। छ: मासकी रात्रि थी, घरमें सब गोपोंको अपनी-अपनी दाराएँ अपने-अपने पास मिलीं—'**मन्यमाना: स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकस:॥**' (श्रीमद्भा० १०।३३।३८) एतावता यह सिद्ध हुआ कि ये व्रजांगनाएँ श्रीकृष्णकी स्वकीया थीं।

जब श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दके संग विहार करती थीं, तब भी उनका मायामय स्वरूप सब गोपोंके पास था। इसीलिये कहा—'**न जातु**'। तो बात यही आयी—'**व्रजदेवीनां पतिभि: सह संगम:**' कि जिन श्रुतियोंका अवान्तर तात्पर्य इन्द्रादिकोंमें है, वे परकीया और जिनका साक्षात् प्रभुमें है, वे स्वकीया हैं। इनमें भी तटस्था, प्रौढ़ा, मुग्धा इत्यादि बहुत भेद हैं। कोई निषेधमुखेन, कोई विधिमुखेन प्रभुमें पर्यवसित होती हैं। इस तरह अवान्तर अर्थ भी तबतक आदरणीय है, जबतक महातात्पर्यका ज्ञान नहीं होता। लोकमें भी गौण पति एवं मुख्य पति होते हैं। राजादि गौण पति और असली पति पूर्णतम पुरुषोत्तम परमात्मा हैं। जबतक उनकी प्राप्ति नहीं हुई, तबतक अवान्तर पतिका अनुसरण अपेक्षित ही है।

जल ब्रह्म और तरंग जीव हैं।—'**सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा॥**' (रा०च०मा० ७।१११।६) जैसे वारिमें वीचि, वैसे पूर्णतम पुरुषोत्तममें जीवभाव है। इनमें एक तरंगका दूसरे तरंगोंके साथ सम्बन्ध गौण है। जलके साथ मुख्य, सुस्थिर, स्थायी सम्बन्ध है। परंतु अन्तर्मुखता न होनेके कारण अपने असली सम्बन्धपर दृष्टि नहीं जाती। यदि तरंग जलका अपलाप करे तो स्वयं कैसे रहेगा? वैसे ही जीव ब्रह्मका खण्डन करेगा तो स्वयं रहेगा कैसे? वास्तवमें वह ब्रह्म ही है, परंतु अन्तर्मुख न होनेके कारण ब्रह्मको नहीं देखता—'**आनँद-सिंधु-मध्य तव बासा। बिनु जाने कस मरसि पियासा॥**' (विनय-पत्रिका १३६।२) असलीको भूलकर नकलीको देखता है।

हम जीव नकली सम्बन्धी दारादिकोंसे सम्बन्ध जोड़ेंगे, पर असली सम्बन्धी ब्रह्मसे नहीं। सब कुछ करेंगे नकलीके लिये, पर एक तरंगका दूसरी तरंगसे सम्बन्ध कितने दिन? एक-न-एक दिन वियोग होगा ही। जीवका जीवसे सम्बन्ध आगन्तुक है। अतएव क्षणभंगुर है। इसीलिये सबके परमपति श्रीपूर्णतम पुरुषोत्तम ही सबके मुख्य पति हैं। रास-प्रसंगमें जब प्रभुने व्रजांगनाओंसे लौट जानेके लिये कहा, तब उन्होंने कृष्णसे एक कहानी कही और पूछा—'एक साध्वी स्त्री थी। एक बार जब उसके पति विदेश गये, तब वह पतिदेवकी मूर्ति बनाकर पूजा करती थी। एक दिन ऐसा अवसर आया कि वह मूर्तिकी पूजा कर रही थी, इतनेमें पतिदेव आ गये और स्त्रीसे कहा—किवाड़ा खोलो।' अब प्रश्न है कि वह किवाड़ा खोले या मूर्तिकी ही पूजा करती बैठे? प्रभुने कहा—'असली पतिका स्वागत करना चाहिये।' व्रजांगनाओंने कहा—हमारा भी उत्तर हो गया।

तात्पर्य यह है कि शालग्रामका विष्णुबुद्धिसे पूजन, वैसे ही प्राकृत पतियोंका परमपति-बुद्धिसे पूजन

करना चाहिये। इसीलिये कन्यादानमें कहते हैं—

'विष्णुरूपाय वराय लक्ष्मीरूपां कन्यां सम्प्रददे।' अत: जगत्‌की सब हलचलें पूर्णतम पुरुषोत्तमकी ओर हैं। जबतक वह प्राप्त नहीं होता, तबतक गति बनी ही रहेगी। इसलिये सब श्रुतियोंका महातात्पर्य ब्रह्महीमें निर्धारित है। इस तरह स्वकीया, परकीया, मुग्धा, प्रौढ़ा, कान्तभाववती, सख्यभाववती, श्रुतिरूपा और मुनिरूपा—सब व्रजांगनाएँ वेणुरवका श्रवणकर उसका वर्णन करती हुई, आनन्दोन्मादमें तन्मयतावशात् एक दूसरीको ही श्रीकृष्ण समझकर परिरम्भण करने लगीं। प्रेमोन्मादमें श्रीकृष्ण ही उन्हें सर्वत्र दीखने लगे अथवा यों कहिये कि वर्णन करती हुईं स्वबुद्ध्यारूढ़ प्रभुकी मंगलमय मूर्तिका परिरम्भण करने लगीं।

वेणुरवमें भगवान्‌का स्वरूप तथा उनकी लीला प्रतिष्ठित है

वेणुरवमें ही श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दका स्वरूप और उनकी मंगलमयी लीला है। अत: उसके वर्णनमें प्रभुका वर्णन है। पहले तो श्रीकृष्ण ही रसामृतमूर्ति हैं। उनमें भी साधनता और साध्यता दोनों हैं। श्रीहस्त और श्रीचरणारविन्दादि अन्यान्य अंगोंमें साध्यता है और साधनता भी, किंतु आनन्द केवल साध्य ही है, सब उसीके लिये है, पर वह किसीके लिये नहीं। यही ब्रह्मका लक्षण है। अत: दोनों एक ही हैं। शब्दादि सब पदार्थ आनन्दके लिये हैं, वैसे ही आत्माके लिये भी हैं—**'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।'** (बृहदारण्यक० २।४।५) जैसे आनन्द निरतिशय, निरुपाधिक और परप्रेमास्पद है, वैसे आत्मा भी निरतिशय, निरुपाधिक, परप्रेमास्पद है।

जिसमें कभी प्रेम हो और कभी नहीं, वह अपरप्रेमास्पद है। जो ऐसा नहीं, वह परप्रेमास्पद है। औपाधिक 'अपर' और स्वाभाविक 'पर' है। औपाधिक उपाधिके अधीन होता है और स्वाभाविक उपाधिके अधीन नहीं होता। वह मिटता नहीं। संसारके सब प्रेम औपाधिक हैं, जैसे स्त्री-पुत्रादि प्रेम। इतना ही क्यों, संसारमें देवतापर भी जब वह अनुकूल होता है, तभी प्रेम होता है। मन्त्रोंमें भी कोई अरिमन्त्र, कोई मध्यम मन्त्र है। जिससे अनुकूल फल नहीं होता, वह अरिमन्त्र है। इसी विचारसे कहा है कि जब समान तत्त्व और समान साधक मिलें, तब मन्त्रसिद्धि ठीक होती है। आजकल तो यह सब विचार ही नहीं है। शास्त्र कहते हैं—पहले ठीक विचार कर लो, फिर मन्त्र लेना।

अस्तु, सारांश यह कि जब देवता भी आत्मानुकूल हों, तब उनमें प्रेम होता है। देखा जाता है कि शैव विष्णुद्वेष और वैष्णव शिवद्वेष करते हैं। वास्तवमें पूर्णतम पुरुषोत्तम प्रभु एक ही हैं, पर व्यर्थ उनमें द्वेषास्पदता, रागास्पदताकी कल्पना करते हैं। रामभक्तोंको रामायणमें जो मिठास प्रतीत होता है, वह इतर ग्रन्थोंमें नहीं।

वृन्दावनमें तो कृष्णमें भी भेद मानते हैं, एक बायें मुकुटवाले श्रीकृष्ण, दूसरे दायें मुकुटवाले श्रीकृष्ण। वास्तवमें बाये-दायेंमें भी कुछ रहस्य, कुछ भाव अवश्य है। वेणुगीतप्रसंगमें बायें मुकुटवाले ही श्रीकृष्ण हैं। **'वामबाहुकृतवामकपोल:'** (श्रीमद्भा० १०।३५।२) श्रीभगवान्‌की ललित मूर्तिमें मुकुट बायीं ओर ही झुकता है। कहते हैं जहाँ वामांगमें श्रीवृषभानुनन्दिनी विराजमान हैं, वहाँ श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण परमानन्दका वामांगमें ही झुकाव है। जैसे उनका झुकाव, वैसे उनके भूषणोंका भी झुकाव है। इसलिये उस परिस्थितिमें मुकुटका बायीं ओर झुकाव स्वाभाविक है। जहाँपर श्रीकृष्ण और बलराम, वहाँपर दक्षिणमें और जहाँ नन्दबाबा दक्षिणमें और वाममें श्रीनन्दरानी, मध्यमें बलराम नन्दरायके पास, श्रीकृष्ण यशोदाके पास, उस समय मुकुटका दायें बलरामकी ओर झुकाव होता है। यही वास्तवमें रहस्य है। यह झगड़ा आखिर जब कचहरीमें गया तो जजने कहा—मुकुटको सीधा रखो।

अस्तु, मूल विषय यह था कि आनन्द निरतिशय, निरुपम, परप्रेमास्पद है और अन्य

औपाधिक सातिशय हैं। आनन्द और आत्मा एक ही बात। आनन्दसे जैसे कभी शत्रुता नहीं होती वैसे ही आत्मासे भी कभी शत्रुता नहीं होती। सर्वद्रोह हो सकता है, पर आत्मद्रोह नहीं होता। श्रीकृष्ण निखिलरसामृतमूर्ति, आनन्दसारसर्वस्व हैं। वे साध्य-ही-साध्य हैं, साधन नहीं, अत: परप्रेमास्पद हैं। इनमें भी कुछ भावुक तारतम्य करते हैं और कहते हैं कि उनमें भी केवल अमृतमय मुखचन्द्रकी सुधा ही साध्य है, वह किसीकी साधन नहीं। पर भावुक कहते हैं कि उसमें भी देवभोग्या अधरसुधा, भगवद्भोग्या अधरसुधाका साधन और वह भी सर्वाभोग्या अधरसुधाका साधन है। परस्पर भावापत्तिपूर्वक वह सर्वाभोग्या अधरसुधाका साध्यमात्र है, वह किसीका साधन नहीं है। वह रससे अभिव्यक्त होती है। अत: प्राधान्यात् यहाँ रववर्णन किया गया है। उसमें श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द और उनकी नित्य लीला भी निहित है, इसलिये **'इति वेणुरवं राजन्।'** (श्रीमद्भा० १०। २१। ६)

इस वेणुरवमें अमृतत्वका उपालम्भ होता है, जिससे ब्रह्मा, शुक, सनकादि भी मोहित होते हैं—

'शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः····
कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः॥'

(श्रीमद्भा० १०। ३५। १५)

इस रवका प्राधान्य इसीलिये है कि उससे पूर्णतम पुरुषोत्तम प्रभु प्रकट होते हैं। वैसे तो प्रभु सर्वत्र हैं ही; पर जब व्यंजक नहीं तब क्या? इसलिये भावुक व्यंग्य भगवान्से भी अधिक व्यंजक नामको बड़ा मानते हैं। अरबोंकी सम्पत्ति घरमें भरी हो, पर वह विदित नहीं तो उसका क्या उपयोग? घरवाला हल ही चलाता रहेगा। 'नाम' यह खजानेका बीजक है। पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम प्रभु 'निधि' हैं और 'नाम' उसका बीजक है। यही कहा है—

नाम निरूपन नाम जतन तें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें॥

(रा०च०मा० १। २३। ८)

इस नामबीजकद्वारा प्रयत्न करनेपर प्रभु प्रकट होते हैं कहा है कि—**'कहउँ नामु बड़ राम तें'**, (रा०च०मा० १। २३) **'राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥'** (रा०च०मा० १। २४। ३) नाम मूल-चिकित्सा है और राम पल्लव-चिकित्सा।

राम भालु कपि कटकु बटोरा। सेतु हेतु श्रमु कीन्ह न थोरा॥
नामु लेत भवसिंधु सुखाहीं। करहु बिचारु सुजन मन माहीं॥

(रा०च०मा० १। २५। ३-४)

श्रीरामने भालु-बन्दरोंको लेकर प्राकृत शतयोजन समुद्र पार किया, किंतु नाम लेनेसे अपार भवसिन्धु ही सूख जाता है। अत: नाम सबसे बड़ा है। वेदान्त कहते हैं कि वाक्य-श्रवणसे तत्त्वसाक्षात्कार होता है। भक्त भी भगवत्साक्षात्कारका मूल श्रवण ही मानते हैं। निर्गुण-साक्षात्कारको भी श्रवणकी ही अपेक्षा है। व्रजांगनाओंको भी उद्बुद्ध उभयविधि शृंगाररसात्मा श्रीकृष्णके लिये वेणुरव ही अपेक्षित है। इसलिये वह मूल वेणुरवको पकड़ती हैं कि उसी रवसे श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द व्यक्त होंगे।

जैसे हृदयमें प्रथममें ही विराजमान निर्गुण परब्रह्म तत्त्वका श्रवण-मनन-निदिध्यासनद्वारा महावाक्यसे ही साक्षात्कार होता है, उसी तरह सगुण-साकार सच्चिदानन्द परब्रह्मका भी साक्षात्कार उन चरित्रों एवं गुणगणोंके श्रवणसे होता है। चरित्रश्रवणसे प्रथम चरित्रनायक भगवान्का मानसरूप प्रकट होता है, उसी मानसी भगवदीय प्रतिमाका ध्यान करते-करते ही माया-जवनिकाके अपसारणसे, जिससे कि भगवान् आवृत होते हैं, उस भगवान्का दिव्य रूप प्रकट होता है। इस तरह शब्दसे ही भगवान्का प्राकट्य होता है, फिर जहाँ भगवच्चरित्रों और भगवन्नामोंसे भगवान्का प्राकट्य होता है, तब साक्षात् भगवान्के मुखचन्द्रसे निर्गत वेणुगीतपीयूषके पानसे भगवान्का प्राकट्य होना स्वाभाविक है। शब्द प्रकाशक और अर्थ प्रकाश्य होता है। शब्दब्रह्मरूपमें व्यक्त भगवदधरसुधासे भगवान्का प्राकट्य होना स्वाभाविक है।

वृषभानुनन्दिनी और श्रीकृष्ण परस्पर अन्तरात्मा हैं

उस वेणुरवका ही वर्णन करती हुई व्रजांगनाएँ परस्पर अभिरमण करती हैं। इस रवद्वारा सदानन्दरूप ही हृदयमें व्यक्त होता है। कृष्ण पदका अर्थ ही सदानन्द है। कहा है—'**कृषिर्भूवाचकः शब्दः णश्च निर्वृतिवाचकः।**' कृष् धातुका अर्थ भू—सत्ता और 'ण' का अर्थ निवृति—आनन्द है। तथा च '**सत्ता—आनन्द**' यह कृष्ण पदका अर्थ है। '**तमालश्यामलत्विट् यशोदास्तनन्धय**' इसका अर्थ कोई श्रीकृष्ण ही कहते हैं, इसमें भी विरोध नहीं है। उसमें भी सत्ता और आनन्द दोनोंका ऐक्य है। स्वयंप्रकाश सत्तारूप आनन्द, आनन्दरूप सत्ता दोनों एक ही बात है। सत्तारूपा श्रीवृषभानुनन्दिनी एवं आनन्दरूप श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द और श्रीवृषभानुनन्दिनी वैसे ही अभिन्न हैं, जैसे सत्ता और आनन्द। यदि आनन्द सत्ता न हो तो सत्ता बिना आनन्द असत् हो जाय। फिर जो असत् है, वह आनन्द कैसे? वैसे ही आनन्दसे वियुक्त शुद्ध सत्ता नहीं है। जड़ोंकी सत्ता दूषित, सविशेष सप्रपंच है, किंतु शुद्ध सत्ता निरुपद्रव, निर्विशेष आनन्दरूप ही है और सब विनश्वर सत्ता है। यों तो वैषयिक आनन्द भी विनश्वर है, अतः सदानन्द कहाँ? आनन्द, सत्ता दोनों परस्पर विशेषण हैं। वह आनन्द अबाध्य है, जगदानन्द बाध्य, इसीलिये वह श्रीकृष्णका स्वरूप वास्तविक सद्रूप एवं आनन्दरूप है, जो अत्यन्त अबाध्य नित्य स्वप्रकाश है। उसके साथ जब सत् लगा, तब सांसारिकसे विलक्षणता, नित्यता आयी एवं सत्में आनन्द न लगाते तो प्रापंचिक सत्ता आती। अतः सत् और आनन्द दोनोंको लगाया। यह सत् और आनन्द परस्पर वियुक्त कभी नहीं होते, इसलिये वृषभानुनन्दिनी और श्रीकृष्ण परस्पर अन्तरात्मा हैं। एक तो यह कि जैसे जलमें तरंग, वैसे परमरसामृतमूर्ति श्रीकृष्णमें व्रजांगना, जैसे चन्द्रमामें चन्द्रिका, जैसे भानुसे प्रभाका, वैसा उनका अविघटित स्वाभाविक सम्बन्ध है, किंतु इससे भी अन्तरंग यह सम्बन्ध है, जैसे अमृतमें मधुरिमा एवं जहाँ परमरसामृतमूर्ति श्रीकृष्ण, वहाँ उनकी माधुर्याधिष्ठात्री वृषभानुनन्दिनी। अमृतसे मधुरिमाको अलग किया, फिर अमृतत्व ही क्या? वेदान्ती गुण-गुणीका तादात्म्य मानते हैं। इसलिये सत्ता-आनन्दरूप वृषभानुनन्दिनी और श्रीकृष्ण दोनों एक ही हैं। एक ही सदानन्दरूप भगवान् गौरतेज-श्यामतेजरूपमें—राधा-माधव उभय रूपमें प्रकट हुए। इसी दृष्टिसे कहते हैं कि श्रीकृष्णका आन्तरस्वरूप वृषभानुनन्दिनी तथा बाह्यस्वरूप पुमान् है तथा वृषभानुनन्दिनीका आन्तरस्वरूप पुमान् और बाह्यस्वरूप वृषभानुनन्दिनी है। हितहरिवंश-सम्प्रदायमें कहा है कि गौरश्याम शीशियोंमें श्यामगौर रस भरा हो, वैसे ये दोनों हैं। दोनों शीशी भी एक जातिकी ही हैं। गौर शीशी श्यामहृदयकी वस्तु है और श्याम शीशी गौर-हृदयकी वस्तु है। गौरमें श्यामरस एवं श्याममें गौररस भरा है। इस तरह परस्पर श्रीकृष्ण और वृषभानुनन्दिनी परस्पर हृदयकी वस्तु हैं, दोनोंमें परम अन्तरंगता है। इसलिये कहा है कि '**उभयोभयभावात्मा**' हैं। इस प्रकार वह परमतत्त्व भरपूर होकर वेणुरवद्वारा व्यक्त होता है। इसलिये उसका वर्णन करती हुई व्रजांगनाएँ श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दका परिरम्भण करती हुई अनुरागकी महिमासे परस्परका परिरम्भण करने लगीं अथवा श्रीकृष्ण-साक्षात्कारसे रमण करने लगीं।

इन्द्रियवानोंकी यही लालसा कि प्रभु इन्द्रियग्राह्य होकर प्राप्त हों

गोप्य ऊचुः—

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः
सख्यः पशूननु विवेशयतोर्वयस्यैः।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणु जुष्टं
यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम्॥

(श्रीमद्भा० १०। २१। ७)

श्रीधराचार्यके मतमें '**गोप्य ऊचुः**' नहीं है, इसलिये '**अनुवर्णनेनाहुः-अक्षण्वतामिति**' ऐसा

उन्होंने लिखा है। '**गोप्यः**' का अर्थ सनातन गोस्वामी '**गोपयन्ति श्यामसुन्दरमिति गोप्यः**' करते हैं। व्रजांगनाएँ अपने श्यामसुन्दरको छिपाती हैं, इसलिये कि कोई उन्हें जान न जाय।

व्रजांगनाएँ कहती हैं—हे सखियो! नेत्रवानोंका, नेत्रधारियोंका यही फल है। क्या? जल्दी नहीं कहते बना, प्रेमभारसे विवश हो गयीं, अतः सहसा हृद्गत तत्त्व निर्देष्टुं अशक्य हो गया। वह निकलता ही नहीं, सखि! क्या? वह इस समय उनका हृदय ही जानता है। यहाँ '**अक्षण्वतां**' से '**सर्वेन्द्रियवतां**' यह अर्थ करना चाहिये। इन्द्रियवानोंका और उनकी इन्द्रियोंका यही फल है। '**आवृत्तचक्षुः**' माने केवल आँखोंको मींचकर ही दर्शन न होगा, अपितु चक्षूपलक्षित सर्वेन्द्रियोंका निग्रह आवश्यक है। यहाँ भी व्रजांगनाएँ कहती हैं—हे सखि! सर्वेन्द्रियवानोंका यही फल है, केवल चक्षुष्मानोंका नहीं। क्या? तब कहते हैं कि वे जो परमरसामृतमूर्ति व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द हैं, उनके मंगलमय अंगोंके सौरस्यादिका आस्वादन करना। नहीं तो फिर निर्गुण, निराकार परब्रह्म तो इन्द्रियानुपभोग्य है। '**यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह।**' (तैत्तिरीय० २। ४) इन्द्रियाँ तो विफल हुईं न? बुद्धिग्राह्य होनेपर भी क्या हुआ? महावाक्यजन्य तदाकाराकारित अन्तःकरणवृत्तिसे स्पर्श किया, निर्वृत्तिक अन्तःकरणको भी स्पर्श न मिलेगा। फिर भी मान लो कि उसको मिला, पर इन्द्रियोंको तो नहीं मिला। ठीक स्पर्श जीवात्माको—सर्वोपाधिविनिर्मुक्तको मिलेगा। इसीलिये कहती है कि सखि! इन्द्रियवानोंके इन्द्रिय होनेकी सफलता मनमोहन श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दके अमृतमय मुखचन्द्रका इन नयनोंसे दर्शन, भुजाओंसे परिरम्भण, घ्राणोंसे उनके सौरभका अवघ्राण, रसनासे प्रियतम प्रधानके अमृतमय मुखचन्द्रकी सुमधुर अधरसुधा-पान करनेको मिले। सर्वेन्द्रियद्वारा सम्भोगयोग्य सबके परम प्रेमास्पद केवल बुद्धिग्राह्य हों, यह सह्य नहीं, किंतु सर्व रोम-रोम भी उतावले हो उठेंगे। भले ही कैवल्यकी कोई स्थिति हो, जहाँ इन्द्रियोंका रोना-धोना कुछ नहीं, परंतु यदि वह स्थिति न हो तो पूर्ण आस्वादन सभीको हो; क्योंकि कोई भी तत्त्व भगवद् विप्रयोगमें हो, उस सत्तारूपसे भी वियुक्त होना, असत्, स्फूर्तिविहीन, निस्फूर्ति, नीरस हो जाना कौन चाहेगा? कौन अपनेको स्फूर्तिविहीन, नीरस, सत्ताविहीन होना चाहेगा? कहा है—'**लोके नहि स विद्येत यो न राममनुव्रतः**' परमप्रेमीका लक्षण यही है कि जो प्रियतमके वियोगमें रह न सके। '**त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्।**' (श्रीमद्भा० १०। ३१। १५) एक लव, निमेषमें भी युग, कल्प, महाकल्प हों। '**गोपीनां परमानन्द आसीद् गोविन्द-दर्शने। क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत्॥**' (श्रीमद्भा० १०। १९। १६) व्रजांगनाओंको श्याम-सुन्दरके दर्शनमें महाकल्प भी क्षणके समान और वियोगमें क्षण भी कल्पके समान बीतता था, यही तीव्रताप है।

इतना ही नहीं, बल्कि वियोगमें रह ही न सके? यही उत्कट प्रेम है। जलसे वियुक्त कहीं तरंग रह सकेगी? यह शुद्ध प्रेमका लक्षण है कि प्रियके वियोगमें न रह सके। सत्से वियुक्त होनेसे असत् हो जाता है। श्रीकृष्ण परमानन्द रसस्वरूपके वियोगमें नीरसता, निस्फूर्तिता हो जाती है। इस प्रकार जब सभी श्रीकृष्ण परमानन्दकन्दके अनन्य प्रेमी हैं, तब इन्द्रियोंको ईर्ष्या होती है कि जो श्रीकृष्ण प्रभु प्रकट हैं, हाय! हम उनसे वंचित हैं। वे रोती हैं—'**पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः**' (कठ० २। १। १)। जो ध्यानमें श्रीकृष्णका अनुभव करते हैं, उनके नेत्रादि इन्द्रियाँ तड़फड़ाती रहती हैं, लालायित रहती हैं, अतः एक कहती है—'**अक्षण्वतां फलमिदम्**'। दूसरी कहती है—'**न परं विदामः परं किञ्चित्**' तो यह कुछ है ही नहीं।

परंतु '**वयं तु न विदामः**' हम तो नहीं जानतीं। हमें खण्डन-मण्डनसे क्या मतलब? किसीके लिये भले ही परमात्मा हों, पर हमारे तो श्यामसुन्दर हैं। भावुक कहते हैं—श्यामसुन्दर चाहे जैसे हों, प्रियतम

प्राणधन हमसे द्वेष करते हों या करुणा करते हों, पर हमारे ज्ञेय, ध्येय सब कुछ वे ही हैं। यह शर्त नहीं कि यदि वह प्रेम करें, तभी हम उनसे प्रेम करें। यह तो व्यापार हुआ। सौन्दर्यकी शर्त भी नहीं, वह व्यभिचारिणी भक्ति होगी। अटल भक्तिके माने यही है कि चाहे जो जैसा हो, अपनी वस्तुओंमें निरतिशय प्रीति होती है। वही ठीक है। अत: वह खण्डन-मण्डन नहीं करतीं। वह तो कहती है कि '**अन्ये अन्यज्जानन्तु नाम वयं तु न विदामः**' अर्थात् मोक्षादि अन्य फलोंको भले ही कोई जानते हों, परंतु हम नहीं जानतीं। मान लिया कैवल्य हुआ, किंतु वह सर्वेन्द्रियग्राह्य नहीं है। इसलिये इन्द्रियवानोंकी लालसा यही है कि वह श्रीकृष्ण प्रभु सर्वेन्द्रियग्राह्य होकर प्राप्त हों।

व्रजांगनाएँ कहती हैं—सखि! '**वयं उपनिषद्रूपाः**' हम उपनिषद्रूपा हैं। यदि हम न जानेंगी तो दूसरा कौन जानेगा? फल तो श्रुति ही कहती है। फिर वेदविहीन नये फलको कोई जानते हों तो जानें। अर्थात् वेदप्रामाण्यवाले सारभूत फल-निर्णयमें उपनिषदोंको ही प्रमाण मानते हैं, इसलिये यह फल है, दूसरा नहीं।

इससे भी ऊँची बात यह है कि ब्रह्मदेव कहते हैं—'**एषां तु भाग्यमहिमा**' इन व्रजागंनाओंके—घोष-निवासियोंके अनन्त अद्भुत भाग्यकी महिमा, हम उसे क्या गायें? हम तो अपनेको कृतार्थ समझते हैं। हम कौन? ग्यारह इन्द्रियोंके अधिष्ठात्री देवता। जो व्रजांगनाजन आपके उद्बुद्ध उभयविध शृंगाररसात्मक परमरसामृतमूर्ति आपके आनन्दका साक्षात्कार करते हैं, उनकी महिमा तो अलौकिक है। हम इन्द्रियोंकी अधिष्ठात्री देवता अपनेको अत्यन्त भाग्यवान् समझते हैं। यह क्यों? इसलिये कि जब व्रजांगना अपने हृषीक-चषकोंसे आपके श्रीअंगोंके सौन्दर्यामृतसुधाका पान करती हैं, तब उनकी अधिष्ठात्री देवता होनेसे हमारा परम्परासे हृषीक-चषकोंसे सम्बन्ध होता है, व्रजांगनाएँ अपने हृषीक-चषक इन्द्रियपानपात्रोंसे श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दके सौन्दर्यमाधुर्य-सौगन्ध्यामृतका पान करती हैं। इसलिये मुख्य पात्र व्रजांगनाएँ हैं। पानका साधन इन्द्रियपानपात्र है। जैसे नेत्रपानपात्रद्वारा आपके अमृतमय मुखचन्द्रके सौन्दर्यामृतका, घ्राणपानपात्रद्वारा सौगन्ध्यामृतका, श्रोत्रपानपात्रद्वारा वेणुगीत तथा अमृत वचनोंका, रसपानपात्रद्वारा अमृतमय मुखचन्द्रकी सुमधुर अधरसुधाका पान करना। यहाँ व्रजांगनाएँ पानकर्त्री हैं। इन्द्रियरूप पानपात्रका सम्बन्ध रससे कहा है—'**दर्वी पाकरसं यथा।**' यहाँ ब्रह्मा कहते हैं कि हम तो चषक भी नहीं हैं। इन्द्रिय भी करण हैं, जब उनको भी रससम्भोग नहीं, तब उन इन्द्रियोंके अधिष्ठाता हम देवताओंको वह रससम्भोग कहाँ?

व्रजांगनाएँ श्रोत्रद्वारा श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दके वचनसुधाका पान करती हैं, उसमें ये इन्द्रियाँ दोना हैं। पानपात्रको क्या स्वाद आयेगा? कटोरा क्या स्वाद ले? तथापि उस रसको छूनेवाला एक चषक भी अपनेको कृतकृत्य मानता है और हम तो परम्परया भी अपनेको कृतार्थ मानते हैं। फिर इन्द्रियाँ और उनसे भी अधिक व्रजांगनाएँ कितनी भाग्यवती हैं। हम इतना ही अपना भाग्य समझते हैं कि हम जिन इन्द्रियोंके देवता हैं, उनके द्वारा व्रजांगनाएँ प्रभुके सौन्दर्य-सौगन्ध्यादिका पान करती हैं, इसलिये '**एषां तु भाग्यमहिमाच्युत तावदास्ताम्।**' (श्रीमद्भा० १०। १४। ३३) जहाँ ब्रह्मादि देव ऐसा परम्परया कहते हैं, वहाँ व्रजांगनाएँ क्यों न कहें कि '**अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः सख्यः**'। सखि! हमारा-तुम्हारा संवाद है। सम्मति है कि नहीं? कहती हैं '**इदं**' यानी उस समय जो स्वरूप प्रस्फुरित होता था, जिसका '**बर्हापीडं नटवरवपुः**' से वर्णन किया गया है, वही वृन्दावनविहारी यहाँ '**इदं**' से कहे गये हैं।

व्रजमें व्रजांगनाओंको श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द-कन्दका दर्शन होता ही है, फिर वे अत्यन्त आर्त क्यों? तो कहती हैं कि यद्यपि व्रजस्थ श्रीकृष्णका दर्शन तो करती ही हैं, तथापि अन्यान्य स्वरूपोंमें। इस समयका विशेष दर्शन है। '**इदं इति बुद्धिस्थत्वादिदमानिर्देशः**' अर्थात् द्वारकावासी,

मथुरावासी, व्रजवासी सब भले ही एक हों, परंतु मनमोहनका यह '**नटवरवपु**' है। इन व्रजेशसुत नन्दरायसुवन श्रीकृष्ण और बलरामको गौओंको वृन्दावनमें निवेश कराते हुए जिसने देखा, उसीकी इन्द्रियोंकी सफलता है। बलराम यद्यपि व्रजेशसुत नहीं तथापि '**पालितपुत्रत्वात्**' यह आरोप है। कोई-कोई वसुदेवको भी व्रजेश कहते हैं, पर वह खींचा-तानी है। नन्दरायके पुत्र ललन—कृष्ण और वसुदेवके बलराम, मगर व्रज यही समझता था कि दोनों व्रजेशनन्दन ही हैं। इसलिये '**व्रजेशसुतयोः**' यहाँ द्विवचन कहा गया है। '**वक्त्रम्**' यह एकवचन एकवद् भावसे हो सकता है, पर इसमें सरसता नहीं है। व्रजांगनाओंके मनमें तो मनमोहन श्रीकृष्णका ही अमृतमय मुखचन्द्र था। तब फिर '**व्रजेशसुतयोः**' क्यों? इसलिये कहते हैं—'**अनुवेणुजुष्टम्**'। यह श्रीबलरामके मुखका व्यावर्तन है। व्रजेशसुत बलराम और श्रीकृष्ण, दोनोंमें जो वेणुजुष्ट है, उसके सौन्दर्य-माधुर्य-सुधाका पान किया।

इनके मनमें सिवा श्रीकृष्णके दूसरी बात ही नहीं है अथवा—जबतक उनको होश-हवास था, तबतक अपनेको सँभाला। कोई कुछ कहेंगे कि कुछ गड़बड़ी है क्या? '**गुप्त प्रेम सखि सदा दुरैये**' इसलिये कहा—'हम तो दोनोंकी बात कर रही हैं अर्थात् सँभालकर द्विवचन दिया। 'व्रजेश' इसलिये कहा कि हम व्रजमें बसती हैं तो उनके लड़केकी प्रशंसा करनी ही चाहिये। यहाँतक तो ठीक, पर आगे सँभाले सँभल न सकीं। प्रभुका मुखचन्द्र सन्मुख आया, वह तो व्रजांगनाओंके हृदयके पूर्णानुराग-रससार-सरोवरसे निकलनेवाला ही है। जैसे तूफानसे सागर उद्वेलित हो उठता है, उसी प्रकार व्रजांगनाओंको हुआ और वे अपने भावोंको सँभाल न सकीं।

यहाँ वल्लभाचार्य कहते हैं—जिन्हें भगवान्ने आधिदैविक देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि इत्यादि प्रदान किया है, उनके लिये यही परम फल है कि कृष्णचन्द्रके सौन्दर्यादिका आस्वादन करें। जैसे कोई कमलनेत्र पुरुष सदा अन्धकारहीमें स्थित रहे तो उसके नेत्रोंका होना ही निरर्थक है, वैसे ही भगवान्ने कृपाकर आधिदैविक देहादिको प्रदान किया है, उनसे यदि प्रभुकी सुधाका आस्वादन न किया तो वे विफल हैं। हाँ, यह हो सकता है कि किंचित् काल अन्धकारमें स्थिति हो, पर सर्वदा हो तो नेत्रोंका होना-न-होना बराबर ही हो जायगा। इस स्थितिको वल्लभाचार्य '**सर्वात्मभाव**' कहते हैं अर्थात् देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकारादि विस्मरणपूर्वक सर्वत्र श्यामसुन्दरका ही दर्शन होना। इस अवस्थामें निजी अस्तित्व पृथक् नहीं रहता, इसलिये स्वपार्थक्येन श्रीकृष्ण प्रभुका भी भान नहीं होता। इसीलिये उनके सुधास्वादनका भी भान नहीं रहता, किंतु इसे कदाचित्क, यानी संचारी भाव कहते हैं।

यह भाव (सर्वात्मभाव) विशेषकर विप्रयोगमें मानते हैं। इसीको आन्तररमण भी कहते हैं अर्थात् बाह्यसंप्रयोग न होनेपर भी आन्तरसंप्रयोग होता ही है। इसकी भी बड़ी महिमा गायी गयी है। कहते हैं—'**संगमविरहविकल्पे वरमिह विरहो न संगमस्तस्य**'। संगम और विरह, इनमें प्रियतमका विरह ही अच्छा है; क्योंकि संगममें प्रियतम एक ही हैं, विरहमें निखिल विश्व ही प्रियतम हो जाता है। जिधर दृष्टि जाय, उधर प्रियतम-ही-प्रियतम दिखलायी पड़ते हैं। फिर भी इस भावको सार्वदिक् मानें तो गड़बड़ हो जाय, इसलिये ही कमलनेत्र पुरुषकी उपमा दी। प्रभुके अधरसुधाका आस्वादन यही परम फल है।

ध्यान लगानेकी रीति

ध्यानाभ्यासी लोग अन्तमें सर्वविस्मरण चाहते हैं। 'विष्णुपुराण', 'भागवतादि' में जहाँ ध्यान कहा है, वहाँ सांग, सपरिवार, सर्वभूषणादिसहितका ध्यान है, किंतु मन तो महाचंचल बेताल है। उसका एक जगह होना ही कठिन है, अतः मन प्रभुके भूषणोंका ही चिन्तन करे। मन अनेक विषयोंमें क्यों न स्थित हो, पर वह अनेकता प्रभुके स्वरूपमें ही हो। वहाँसे उसको अलग न जाने देना। बस, ध्यानकी यही सीमा

है। चंचल बन्दरको पद्मासनपर बैठकर निर्विकल्प समाधि कैसे लगे? तो उसके लिये यह उपाय करो—पहले एक बगीचेसे यह बाहर न जाय। फिर एक ही वृक्षपर, फिर एक ही शाखापर बैठा रहेगा। मन बन्दरसे भी अधिक चंचल है। क्षणमें स्वर्गसे नरकतक दौड़ लगाता है। इसको पहले आलम्बन दो। भक्तगाथा, श्रीकृष्णकी लीला आलम्बन है। फिर मूर्तिमें ही रहे। इस प्रकार विषय-संचार सीमित किया जाय। जितना अधिकाधिक विषयचिन्तन, उतनी ही चंचलता अधिकाधिक। जितनी श्रीकृष्णचिन्तनमें संलग्नता, उतनी स्थिरता अधिक।—'**मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते**॥' (श्रीमद्भा० ११।१४।२७) मक्षिकाकी सन्तान दुर्गन्धित वस्तुपर बैठती है, चन्दनपर नहीं। भावुक कहते हैं कि प्रथम श्रीकृष्णके सर्वांगका भूषणसहित ध्यान, फिर श्रीअंगोंका, फिर केवल मन्दहासयुक्त मुखचन्द्रका ही ध्यान करना चाहिये—'**तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा**।' (गीता ६।१२) यदि सुस्मित मुखचन्द्रमें मन एकाग्र हुआ तो फिर कुछ चिन्तन न करे। अन्तमें मुखचन्द्रका चिन्तन होते-होते और अलौकिक सौन्दर्य, माधुर्य सुधास्वादनमें मन स्तब्ध हो जाता है, विभोर-विह्वल हो जाता है, वाग्-गद्गदा होती है, चित्त द्रवता है, सर्वेन्द्रियोंको निश्चेष्टता प्राप्त हो जाती है। 'प्रेम भरा मन' श्रीभरत-राम-संमिलनके अवसरपर भरतके प्रेमरूपीरसमें सराबोर हो गया, मन निज गतिसे रहित हो गया। उस समय न किसीने कुछ कहा, न पूछा, कहा—'**मन बुधि चित अहमिति बिसराई**॥' (रा०च०मा० २।२४१।२) इससे बढ़कर निर्विकल्प समाधि कहाँ? चारों अन्तःकरण निश्चल हो गये। इस प्रेमामृतसिन्धुमें जब प्रेमीका उन्मज्जन-निमज्जन होता है, तब फिर सर्व विस्मरण हो जाता है। कहा है—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥

(कठ० २।३।१०)

इसीलिये 'भागवत' तृतीयस्कन्धमें कपिल-देवहूति-संवादमें परब्रह्मका उपदेशकर सगुण साकारका ध्यान बतलाया है। पहले श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दके सर्व आभूषणोंका चिन्तन करे। कहा है—'**तच्चापि चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते**॥' (श्रीमद्भा० ३।२८।३४) एवं भगवान्‌के स्वरूपमें उस मनको आसक्तकर सर्व विश्वसे हटा ले। अन्तमें प्रेमोन्मादमें ऐसा होता है कि दूसरोंका ध्यान दूर रहा, ध्येयस्वरूप भी छूट जाता है। किंतु प्रेमी यह नहीं चाहते कि हमारे मनको भगवान् भूल जायँ, क्योंकि वह मुमुक्षुके लिये है। भक्त मुमुक्षु नहीं होता, वह ब्रह्मलोकान्त विरक्त होकर प्रभुके मुखचन्द्रका दर्शन ही चाहता है। कहा है—

न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥

(श्रीमद्भा० ११।२०।३४)

सर्वात्मभाववाले भक्तको चाहे श्रीकृष्णके मुखचन्द्रके दर्शनमें क्षणिक सर्वविस्मृतिपुरःसर सर्वत्र प्रभुका ही भान हो जाय, पर सर्वदाके लिये यह इष्ट नहीं मानते। वह चाहते हैं कि सावधानीसे प्रभुकी सेवा करें। इसी भावको लेकर कहा है—'**अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः**।' यहाँ यद्यपि '**चन्द्र**' पद नहीं दिया तथापि आगेके '**पीतम्**' से ज्ञात होता है कि '**चन्द्रमुख**' यदि चन्द्र न हो तो पेय कैसे हो? '**पिबत भागवतं रसमालयम्**' (श्रीमद्भा० १।१।३) यहाँ निगमकल्पतरुसे विगलित रसमय फल पीनेके लिये कहा है। कहते हैं फल तो चोष्य होता है, पेय नहीं। उसमें बकला, गुठली होती है, अतः कहा '**रसम्**' अर्थात् '**रसवत्**' ('**गुणवचनान्मतुप्**')। आम्रफल रसवान् होता है, उसमें भी कुछ त्याज्य होता ही है। यहाँ रसात्मकता कही, इसीलिये कि यहाँ कुछ छोड़नेकी चीज है ही नहीं। इसी अर्थसे यहाँ '**पीओ**' कहा है। जिन्होंने श्रीकृष्णचन्द्रके वक्त्रका पान किया। इससे मुखचन्द्रका ग्रहण होता है। चकोरी जैसे अमृतमय चन्द्रमाकी चन्द्रिकाका पान करती है, वैसे ही व्रजांगनाएँ श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र

परमानन्दकन्दके अमृतमय मुखचन्द्रके सौरस्य-सौगन्ध्यादिसमन्वित सुमधुर अधरसुधा-चन्द्रिकाका पान करती हैं। इसलिये यह प्राकृत वक्त्र नहीं, पूर्णानुरागरससारसागराविर्भूत चन्द्रमा है। इसीलिये वह निपान करनेयोग्य है। ऐसा जिन्होंने पान किया; उन्हींके नेत्रोंका साफल्य है।

अथवा यह कि सखि! जिन्होंने नेत्रोंद्वारा अनुरागपुरःसर श्रीकृष्णचन्द्र व्रजेन्द्रनन्दनके मुखचन्द्रका दर्शन किया, वे परम सौभाग्यशाली हैं। उनमें भी वे जिन्होंने सर्वाभोग्या अधरसुधाका पान किया। यह एक प्रेमार्तिजन्य व्याकुलता है, अतृप्ति है। उसके कारण जो अपनी सर्वस्व निजी, नित्यप्राप्त वस्तु है, उसमें भी दुर्लभताकी प्रतीति होती है। कहती है—सखि! मनमोहनके मुखचन्द्रका दर्शन करनेवाले कई तरहके हैं। भगवान्‌के अन्यान्य अवतारोंके मुखचन्द्रका दर्शन करनेवाले, द्वारकास्थ, मथुरास्थ, व्रजस्थ-मुखचन्द्रके दर्शन करनेवाले हम तो इस समयका, जबकि वे अपने सखाओंद्वारा वनमें निवेशन करनेवाले हैं, तब उनका दर्शन करती हैं। जिन्होंने **'जुष्टं'** प्रीति-अनुराग-स्नेहपुरःसर **'पौनःपुन्येन अभ्यसन'** किया, उनका साफल्य है। फिर जिन्होंने सर्वभोग्या अधरसुधाका पान किया, उनका क्या पूछना?

व्रजांगनाओंका उपालम्भनयुक्त मनोभाव

'पशूनन'—व्रजांगनाएँ गौओंको जब अपने दर्शनमें विघ्न समझतीं, तब उन्हें पशु कहने लगती हैं। कहती हैं, उनका दर्शन हमें परम दुर्लभ है। जहाँ क्षण भी कल्पकोटिशत, वहाँ सम्पूर्ण दिवस कैसा बीतता होगा? निर्निमेष नयनोंसे श्रीकृष्णचन्द्रके आगमनकी प्रतीक्षा करती रहती हैं। जब श्रीकृष्ण पधारते हैं, तब धूलि उड़ती देख पानी भरनेके व्याजसे झरोखोंमेंसे धूलिमें ही टकटकी लगाती हैं कि श्रीकृष्ण आते हैं। कहीं विलम्ब होता तो ब्रह्मा, रुद्रको कोसतीं कि जब श्यामसुन्दर आते हैं, तब ऋष्यादि उन्हें वन्दन करते हैं। अतः उन्हें आनेमें देर लग जाती है—**'वन्द्यमानचरणः पथि वृद्धैः।'** (श्रीमद्भा० १०।३५।२२) यदि ब्रह्मादि वन्दन करते हैं, तब व्रजांगनाओंको बड़ा खलता है कि देखो सखि! पहले तो उनके आनेमें देर और फिर ये अमर बीचमें आये। इसी समय जब प्रभु सखाओं और गौओंकी ओटमें हो जाते हैं, तब गौओंको 'पशु' कहती हैं। जो हृदय न पहिचाने, वह पशु है। सखि! इनको हमारे हृदयका क्या पता? हमें विप्रयोगमें कितना कष्ट होता है! यदि इनको हमारी पीड़ा मालूम होती तो ये आड़ न हो जातीं। इसलिये गौको पशु कहा। इन्हींके लिये हमारा नित्य विप्रयोग होता है। ज्ञानदृष्टिसे पशु हैं ब्रह्मनिष्ठ—**'सर्वानविशेषेण पश्यतीति पशुः'**। ये सब अमर ब्रह्मनिष्ठ गोरूपमें श्रीकृष्णका दर्शन करने आये हैं। साथ-साथ विधाताको भी कोसती हैं कि **'जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम्॥'** (श्रीमद्भा० १०।३१।१५) जब सायंकालको श्रीकृष्ण आते हैं और हमारे नैन दर्शनमें संलग्न होते हैं, तब पलकें पड़ती हैं। यह बड़ा विघ्न है। इन पलकोंको बनानेवाला जड़ था। यदि रसिक होता तो पलकें न बनाता। यह उसने बड़ी गलती की है।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं—व्रजांगनाएँ परस्पर कहती हैं—सखियो! आपलोग विधाताके दिये हुए नेत्र, श्रोत्र, त्वक्, मन, बुद्धि आदिको विफल कर रही हो। इसलिये धैर्य-लज्जाको जलांजलि देकर श्रीवृन्दावनमें श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दके अमृतमय मुखचन्द्रका दर्शन करके नेत्रादिको सफल करो—**'यैर्दृष्टं स्पृष्टं निपीतं तेषामेव इन्द्रियसाफल्यम्।'** यदि इन श्रोत्रोंसे श्यामसुन्दरके वचनामृतका पान नहीं किया तो बधिर होना ही अच्छा। यदि इन नयनोंसे मनमोहनका विलोकन नहीं होता तो विलोचन न होना ही ठीक है। तभी तो जिन भावुकोंको स्वप्नमें भी इस रसका आस्वादन हुआ, उन्हें अन्य दर्शनादि सुहाते नहीं। कहा है—***'लखी जिन लाल की मुसकान, तिनहीं बिसरी सुध-बुध सबही।'*** सुनते हैं कि एक बार सूरदासजी दर्शनके लिये वृन्दावनमें पहुँचे। वहाँ प्रभुको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते कुएँमें गिर पड़े। इतनेमें जिसको

ढूँढ़ते थे, वही आया—श्यामसुन्दर मनमोहन पधारे। अपनी विशाल भुजाओंसे उन्हें बाहर निकाला। भगवान्‌की मंगलमय भुजाओंका अमृतमय सुस्पर्श प्राप्त होते ही विदित हो गया कि यह प्राकृत वस्तु नहीं, ब्राह्मस्पर्श है। अहा! हा सूरदासजीका शरीर रोमांचित हो उठा। सूर आनन्दोद्रेकमें डूब गये। इतनेमें भगवान् कहते हैं—'अब हम जाते हैं।' सूरने कहा—'कैसे जाओगे?' और पकड़ लिया। भगवान्‌ने हाथ छुड़ा लिया। सूर कहते हैं—'अच्छा, '**हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम्। हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥**'' हे श्यामसुन्दर! हाथ छुड़ाकर भाग रहे हो! नाथ मैं जीव हूँ, आप अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डनायक हो। इसलिये आश्चर्य नहीं। हम तब जानें, जब आप हृदयसे निकलें!'

'**प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः**' जैसे द्रवीभूत लाक्षामें जो रंग पड़े, वह स्थायी हो जाता है, निकाले निकलता नहीं। रंग चाहे कितनी ही कोशिश करे कि मैं लाहसे निकल जाऊँ या लाह चाहे जितनी कोशिश करे कि मैं रंगको निकाल दूँ तो नहीं निकाल सकते। दोनों लाचार हैं। एवं भक्तके चित्तमेंसे भगवान् निकलना चाहें या भक्त भगवान्‌को निकालना चाहे तो हो नहीं सकता। ऐसी विलक्षण परतन्त्रता दोनोंमें हो जाती है। सारांश, प्रभु ऐसे भक्त-परतन्त्र हैं। वे सूरके पास लौट आये। सूरने कहा—'प्रभो! अपने मुखचन्द्रका दर्शन तो दीजिये'। सूरदासको प्रभुके श्रीअंगका संस्पर्श तो मिला ही था। भगवान्‌ने दर्शन दिये, सूरदास कृतार्थ हो गये। जब प्रभु विदा होने लगे, तब सूरदास कहते हैं—'नाथ! अब नेत्रोंको ले जाइये! जिन नेत्रोंसे आपका दर्शन हुआ, उनसे क्या अब यह तुच्छ जगत् देखा जायगा?'

'**अनुरक्तकटाक्षमोक्षम्**'—कहा कि लज्जासे कैसे देख सकोगी? पहले तो श्रीकृष्णका दर्शन ही दुर्लभ, फिर जड़ विधाताकृत पलकें, फिर लज्जा, तब दर्शन इनमेंसे हो कैसे? तब कहा—'सखि! उनका मुखचन्द्र ऐसा है कि '**अनुरक्तकटाक्षमोक्षम्**।' चलो तो, जैसे ही उनके मुखचन्द्रका दर्शन करोगी, वे अपने भ्रुकुटीकामकोदण्डको तानकर, शरसंधानकर, कटाक्षोंकी वर्षाकर हृदय, बुद्धि, मनका हरणकर शुद्ध भावोंकी स्थापना करेंगे। लज्जादिको जलांजलि देनी होगी। जैसे सानुराग कटाक्षोंका मोक्ष होता है, वैसे ही श्रीकृष्णके अमृतमय मुखचन्द्रको देखोगी। शुद्ध रसास्वादन होगा।'

कोई इस श्लोकका भाव ऐसा कहते हैं—किसी व्रजांगनाने श्रीकृष्ण मनमोहनका वृन्दारण्यमें जाते समय दर्शन किया था और जबतक धूलि दीख रही थी, तबतक निर्निमेष अतृप्त एकटक दृष्टिसे निहार रही थी, पर जब धूलि भी गयी तो चित्रलिखित-सी बैठी हुई श्रीकृष्ण परमानन्दकन्दकी अलौकिक झाँकी देखती रही। उस समय वेणुगीत सुना। एकदम स्मृति आयी। आँखें झिलमिलायीं तो दूसरी कहती है—सखि! नेत्र क्यों नहीं खोलती? कहा—'**अक्षण्वतां फलमिदम्**'—सखि! श्यामसुन्दरका दर्शन ही परम फल था। वह इस समय दीख नहीं रहा है, फिर किसलिये नेत्र खोलें? अथवा आँख मीचे हुए श्रीकृष्ण-ध्यानमें निमग्न व्रजांगनाको देखकर दूसरी पूछती—'ऐसा क्यों?' कहा—'सखि! यह तो जो विशेष विह्वलता, दुर्दशा, मूर्च्छा, दीनता है—यह नेत्रवालोंका फल है। यदि नेत्र न होते, प्रभुके मनमोहनके मुखचन्द्रका दर्शन न होता तो यह दुर्दशा न होती।' कहा—'सखि! क्या फल है? आपने अनुभव किया?' 'नहीं!' '**वयं सुविदाम एव**'—हमने तो दूरसे अनुभव किया। जिन्होंने सम्यक् पान किया, वही जाने सखि!

आसक्तिकी महिमासे गोपांगनाओंको श्रीकृष्ण-बलरामके मनोहरभाव-युक्त दर्शनकी अनुभूति

चूतप्रवालबर्हस्तबकोत्पलाब्ज-
मालानुपृक्तपरिधानविचित्रवेषौ ।
मध्ये विरेजतुरलं पशुपालगोष्ठ्यां
रङ्गे यथा नटवरौ क्व च गायमानौ॥

(श्रीमद्भा० १०।२१।८)

'हे सखि! वृन्दावनमें श्रीकृष्ण कैसे हैं?' (इन व्रजांगनाओंको आसक्तिकी महिमासे वहीं घरपर बैठे-बैठे श्रीकृष्णका दर्शन हो रहा है) सुकोमल नवीन हरे-हरे, लाल-लाल आम्रपल्लव श्रीकृष्ण और बलरामके अंगोंके भूषण हैं। मुकुट, कुण्डल, हार, अंगद, कंकण, कांची, नूपुर इत्यादि रत्नमय भूषण हैं ही, किंतु इनके अतिरिक्त यह वेश सुकोमल, देदीप्यमान, अरुण, सरस आम्रपल्लवको धारण किया है और मयूरपिच्छसे बनी हुई कलिकाएँ धारण की हैं, उन कलिकाओंका मण्डलमय मुकुट विशाल भालपर विराजमान है। यह प्राकृतिक शृंगार है। मोरमुकुटके संनिधानमें ही सजावटके साथ बर्हमय अर्थात् मयूरपिच्छके बने हुए गुच्छे हैं। उत्पल तथा अब्ज अर्थात् रात्रिविकासी तथा दिवसविकासी दो प्रकारके कमलोंकी माला शोभती है। ऊपरसे दामिनीद्युतिविनिन्दक अद्भुत पीताम्बरसे श्रीअंग आवृत है। यही परिधान अर्थात् नीलाम्बर-पीताम्बरसे विचित्र मनोरम वेशवाले वे श्रीकृष्ण-बलराम दोनों वृन्दावनके पशुपालगोष्ठीमें नटवर वेश धारण किये विराजमान हैं। कदाचित् गायन और नृत्य भी करते हैं। यहाँ इसी श्लोकके आगे वेणुचर्चा है। इससे यह कहना है कि वह उद्‌बुद्ध उभयविध शृंगाररसात्मक श्रीकृष्ण नटवर वेश धारण किये हुए गोपाल वेशमें रसका अभिनय करते हुए विराजमान हैं। ऐसे सरस उद्‌बुद्ध उभयविध शृंगाररसात्मा श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दके दर्शनका यही अवसर है। चूतप्रवालबर्हस्तबकोत्पलाब्जादि धारणसे रसात्मक स्वरूप विचित्र हो गया अर्थात् परमानन्द रसामृतमूर्ति पूर्णतम पुरुषोत्तममें विचित्रता आ गयी। स्वयं रसात्मामें यह तीन-चार बातें—१. आम्रपल्लव, २. बर्हस्तबक, ३. उत्पलाब्जमाला और ४. पीताम्बर विशेष हैं। स्थायीभाव, व्यभिचारिभाव, अनुभाव—ये तीन भाव होते हैं। चूतप्रवालसे उद्‌बुद्ध उभयविध शृंगाररसात्मक स्वरूपमें शृंगाररसका स्थायीभाव प्रदर्शित किया। सरस सुकोमल अरुण आम्रपल्लवसे सरसता, अरुणिमा, राग सूचित है, कोमलता सूचित है। लौकिक दृष्टिसे व्रजांगनाओंके हृदयमें यह रूप व्यक्त करना है। उनके हृदयमें यदि निर्विशेष स्वरूप व्यक्त हो तो उनके सर्वेन्द्रियोंके साफल्यकी आशा नहीं है। '**बर्हस्तबक**' से व्यभिचारीभाव दिखलाया। एक रस धर्मी होता है और एक रस होता है धर्म। प्रभुका मंगलमय श्रीअंग रसधर्मी है। उसमें सरस आम्रपल्लव-धारणसे रस स्थापित किया एवं रसात्मा श्रीकृष्णमें रसका संचार हुआ। भावुक रसके लोभी होते हैं, यह तो ठीक है, पर यहाँ तो रस भी इसका लोभी हो रहा है। संचारीभाव (व्यभिचारीभाव) बर्हस्तबकसे कैसे? तो इसका भाव यह है कि मयूरमें रसाक्रान्ति कदाचित्क है। नील नीरदके दर्शनसे जब उसमें रसोल्लास होता है, तब वह नृत्य करता है और उसी समय उसके पिच्छ गिरते हैं। ऐसा मयूरपिच्छ धारणकर संचारीभाव दिखलाया। रसको उत्पन्नकर ये भाव अस्तंगत हो जाते हैं, सदा नहीं रहते। विभाव दो तरहके होते हैं—आलम्बनविभाव और उद्दीपनविभाव। रसका आलम्बन (विषय) आलम्बनविभाव है। व्रजांगनाओंके लिये रसालम्बन श्रीकृष्ण हैं अर्थात् वही आलम्बनविभाव हैं। जिन-जिन भावोंसे प्रियतममें भाव अधिक हो, वह वेणु, मलयानिल, चन्द्रादि उद्दीपनविभाव हैं। ये तीनों (आलम्बन-उद्दीपनविभाव और अनुभाव) रसानुभव करानेवाले होते हैं। इनमें उत्पलाब्जमालासे अनुभाव दिखाया गया है। उद्‌बुद्ध उभयविध शृंगाररसात्मा श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दमें समस्त रसानुभवकी सामग्री है। व्रजांगनाएँ निर्विशेष समझकर उद्विग्न हो जायँ, इसलिये विचित्र सरस होकर श्रीकृष्णका प्राकट्य हुआ है अथवा आम्रपल्लवसे रजोगुण सूचित किया। उसकी सरसतासे सानुरागता तथा अरुणिमासे राग। सत्त्वगुण स्वच्छ होता है, तमोगुण श्यामल तथा रजोगुण लाल। यद्यपि निर्गुण, निराकार, परमात्मामें सत्त्व, रज, तम—ये तीनों गुण नहीं हैं, वे प्राकृतमें होते हैं। किंतु यहाँपर ध्यान रखना चाहिये कि रागमात्र-सूचनके लिये रजोगुण-सूचन है। अप्राकृत अलौकिकमें भी सत्त्व, रज, तम हैं। तभी

श्रीवल्लभाचार्य व्रजांगनाओंमें सात्विकी, राजसी, तामसी ऐसे तीन भेद करते हैं। उन प्रत्येकमें भी त्रिविध हैं और एक निर्गुण। इस प्रकार दस तरहकी व्रजांगना बतलाते हैं। '**गोपीगीत**' में सबकी उक्तियाँ अलग-अलग दिखलायी हैं। '**रासपञ्चाध्यायी**' को उन्होंने तामस प्रकरण कहा है। तात्पर्य यह है कि प्राकृत विषय दूषणसे दूषित है। जहाँ लीला है, वहाँ अवष्टम्भात्मक तम, चांचल्यात्मक रज और प्रकाशात्मक सत्त्वकी अपेक्षा है ही। वह लीला चाहे प्राकृत हो या अप्राकृत। किंतु यहाँ लीला है अप्राकृत, अलौकिक। अत: इसमें भी तीनों दिखलाया है। सरस आम्रपल्लव धारणकर अरुणिमा, राग, प्रेम सूचित किया है। यह उद्बुद्ध उभयविध शृंगाररसात्मा श्रीकृष्ण व्रजांगना वृषभानुनन्दिनीके प्रति सराग हैं, यह सूचित किया जाता है; क्योंकि वे उदासीन हैं, ऐसा किसीको विभ्रम न हो। यदि उनमें राग न हो तो निराशा हो जाय। उदासीन हों तो वृषभानुनन्दिनी, व्रजांगनाएँ प्रभुको अपना रसालम्बन कैसे बनायें? रसालम्बन नीराग, नीरस, हृदयशून्य थोड़े ही होता है। इसीलिये उदासीनता, निराकारताका संगोपन करनेके लिये आम्रपल्लव धारणकर सरसता तथा सापेक्ष्य सूचित किया है। इस लीलामें निरपेक्षता छिपायी जाती है, सापेक्षता प्रकट की जाती है। नहीं तो क्षीरसागर जिसकी राजधानी है, वह क्षीरकी चोरी कैसे करे? इसलिये सब गुण ऐश्वर्यमायादि छिपाये जाते हैं।

बर्हस्तबक-धारणसे तमोगुण सूचित किया है। वह अवष्टम्भात्मक है। अवष्टम्भका अर्थ है रुकावट। इससे आसक्ति सूचित होती है। आसक्ति तमोगुणका कार्य है। जैसे कोई दुराग्रही दुरभिनिवेशवशात् विषयसेवनसे हटाये नहीं हटता। यह आसक्तिका स्वरूप है। तत्सूचक श्यामल मयूर-पिच्छके गुच्छाओंसे निर्मित मुकुट धारणकर वृषभानुनन्दिनी-विषयिणी आसक्ति व्यक्त की। कहा कि 'मैं उदासीन नीरस नहीं, मैं तो नित्य निकुंजेश्वरी वृषभानुनन्दिनीस्वरूपासक्त श्रीकृष्ण हूँ।' ऊँची दृष्टिसे यह भगवान्‌की भक्तिमें आसक्ति है। भक्त कहते हैं—'प्रभु जब उदासीन, स्तब्ध हैं, तब हमारी रक्षाका ध्यान कैसे रखेंगे!' यह आसक्तिभाव विशेषकर वृषभानुनन्दिनीमें ही बनता है। वे वृषभानुनन्दिनीके आसक्तिका—अनुकम्पाका पात्र ही बनना चाहते हैं। कहते हैं कि वृषभानुनन्दिनीके वसनपवनसे श्रीकृष्णचन्द्र अपनेको कृतार्थ मानते हैं। उत्पलाब्जमाला (रात्रिविकासी-दिवसविकासी कमल-माला)-धारणसे सत्त्व सूचन करते हैं। पहलेसे रागका, दूसरेसे गाढ़ासक्तिका तथा तीसरेसे व्यसनका सूचन है अर्थात् वृषभानुनन्दिनीके मुखचन्द्रके दर्शन-चिन्तनका—भक्तानुसन्धानका व्यसन सूचित करनेके लिये उत्पल तथा सौरभसे स्थिर वासना विवक्षित है। ऐसा उद्बुद्ध उभयविध शृंगाररसात्मा श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द एवं वृषभानुनन्दिनी-विषयक राग-आसक्ति-व्यसनयुक्त तत्त्व व्यक्त हुआ। यही भक्तोंके कामका है। नीरस, निर्विकार नहीं। यह रसधर्मी श्रीकृष्णका स्वरूप व्यक्त है अथवा इससे रसरूप सौगन्ध्य व्यक्त है। सरस आम्रपल्लवसे सरसता, बर्हस्तबकसे रूप और उत्पलाब्जमालासे सौगन्ध्य सूचित है। यदि '**रसे रसानङ्गीकरात्**' इस मतके अनुसार ब्रह्म नीरूपादि हो तो भावुकोंके किस कामका? रूप-रसादियुक्त होनेसे सर्वाभोग्या अधरसुधाकी लालसावाली व्रजांगनाओंकी, रूपभोगियोंकी और सौगन्ध्यभोगियोंकी भी उसमें प्रवृत्ति होगी, यह दिखलाना है। ऐसा यह रसात्मक रूप सर्वथा छिपानेकी चीज है, इसलिये पीताम्बरसे वह ढका हुआ है अर्थात् कपटचातुर्यसे राग, आसक्ति, व्यसन छिपाना है। यहाँपर भाववृक्षका राग बीज, आसक्ति कलिका तथा व्यसन फूल कहा है अर्थात् श्यामसुन्दरकी सुमधुर अधरसुधापानसे व्रजांगनाओंके सस्नेह सरस हृदयमें श्रीकृष्ण प्रभुने वंशीद्वारा भावबीज बोया। बीज भी किन्हीं देशोंमें बाँससे बोया जाता है। इसलिये वह बाँसके वंशीसे ही बोया। बोते ही वह अंकुरित हुआ, उसमें आसक्तिरूपी कली लगी। कलीमें भी रूप, रस, सौरभ रहते हैं, पर छिपे रहते

हैं, इसके बाद जब व्यसन हुआ, तब वह फूल उठा। जब पुष्प विकसित हुआ, तब रूप, रस और सौरभ व्यक्त हुए। इस प्रकार व्यसनावस्था (संसारका व्यसन नहीं, वह तो घोर नरकका मूल है) ही भावुक जीवनको सुखमय बना देती है। बिना दर्शन, परिरम्भण, अधरामृतपानके न रहा जाय—यह राग, आसक्ति, व्यसन है। यह महाभाग्यकी बात है।

कोई बर्ह अलग लेते हैं और स्तबक अलग लेते हैं। बर्ह यानी मयूरपिच्छ तथा स्तबक यानी फूलोंके गुच्छे। उत्पलाब्जमालासे यह दिखलाया कि विकसित उत्पलमें ही पूर्ण रूपसे रस, रूप, सौरभ होते हैं। रस, रूप, सौरभ कलिकामें भी होते हैं, पर वह अविकसित हो तो कैसे मालूम पड़ें। इसलिये उत्पल-अब्ज दोनों लिया। कारण यह है कि रात्रिविकासी दिवसमें अविकसित रहता है और दिवसविकासी रात्रिमें अविकसित रहता है। यदि एक ही प्रकार हो तो नैरन्तर्येण उनकी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती है।

एक कानमें कर्णिकार, दूसरेमें उत्पल और दक्षिण हस्तमें अब्ज (नीला कमल) है अर्थात् पहला स्वरूप जो '**बर्हापीडं नटवरवपुः**' द्वारा वर्णित किया था। उसी स्वरूपका इसमें वर्णन है। और भी कुछ-कुछ सामग्री है, इतना ही भेद है। श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं—यहाँ तीनोंसे रज, तम, सत्त्व बोधित है अर्थात् आम्रपल्लवसे रज, मयूरपिच्छसे तम और उत्पलाब्जमालासे सत्त्वका सूचन है। इसलिये इनके ही विशेष आकारसे आविर्भूत नव रसोंका सूचन भी है एवं उद्‌बुद्ध उभयविध शृंगाररसात्म श्रीकृष्णचन्द्र नवरस सम्मिलित हैं, अतएव तत्कृत वैचित्र्य भी है। यही बात '**विचित्रवेषौ**' से दिखलायी।

कह सकते हैं कि तब तो यहाँ विरोध प्रतीत होता है। वहाँ कहा था कि केवल रस ही नाट्यमें व्यक्त होता है। संप्रयोगमें रसधर्मसहित रसधर्मी व्यक्त होता है। '**नटवरवपुः**' में यही कहा है। '**नट**' से विप्रयोगात्मक शृंगार और '**वर**' (दूल्हा)-से सम्प्रयोगात्मक शृंगार कहा था तो नटवत् जहाँ केवल रस है, रसधर्मी नहीं; क्योंकि जहाँ सामग्रीसहित रस प्रकट है, वहीं धर्मसहित रस धर्मी है। यहाँ सामग्रीरहित नटकी तरह अभिनयद्वारा सब आरोपित-ही-आरोपित होते हैं, सामग्री बिना रसकी जहाँ व्यंजना होती है, वहाँ केवल रस होता है, परंतु जहाँ वर (दूल्हा) प्रत्यग्र भोक्ता है, वहाँ तो सर्वनायक-नायिका स्पष्ट है, सामग्री भी प्रत्यक्ष है। अतः वहाँ धर्मसहित धर्मोंका प्राकट्य है। अब यहाँ आम्रपल्लवसे स्थायीभाव, मयूरपिच्छसे व्यभिचारीभाव और उत्पलाब्जमालासे अनुभाव दिखलाया। उनमें राग, आसक्ति, व्यसन कहा। उन्हें भाववृक्षका अंकुर, कलिका, फूल बतलाया। उसमें रूप, रस, सौरभका विकास कहा। व्यसनद्वारा निरन्तर भोग कहा, जिसमें श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दका पूर्णरूपेण आस्वादन बतलाया। जब उत्पलाब्ज विकसित है, तभी उसका रूप, रस और सौरभ स्थिर है। फिर श्रीकृष्ण सम्भोगका व्यसन हुआ। '**अहोरात्रं वासना स्यात्**' यहाँ व्यसनकी निरन्तरता है और वही व्यसन भी है। जो छूट जाय वह व्यसन नहीं, जिसके बिना रहा न जाय, वही तो व्यसन है। वेद-शास्त्रादिके प्रयत्न करनेपर भी जो न छूटे, वह व्यसन है। उसीके आच्छादनके लिये, उसीको छिपानेके लिये परिधान बतलाया। तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण परमानन्द रागवान्, आसक्तिमान और व्यसनवान् होकर व्यक्त हैं एवं वे रसधर्मी हुए। अब विप्रयोग न रहा, सम्प्रयोग हुआ। यही संदेह है, इसपर कहते हैं कि यह भी अभिनय ही है। यद्यपि एक दृष्टि ऐसी है कि वहाँ वनसुन्दरी आधिदैविकी शक्तियोंको पूर्णतम पुरुषोत्तम श्रीकृष्णका सम्प्रयोग रस ही प्राप्त है, वहाँ प्रभुके प्रत्यक्ष रमण करनेसे, पर व्रजांगनाओंके लिये विप्रयोग ही है। सामग्री होते हुए भी नट अभिनयद्वारा सामग्री व्यक्त करता है। वैसे सम्प्रयोग न होनेपर भी आरोपादिद्वारा उसका प्राकट्य है। अभिनय कहीं शब्दोंद्वारा, कहीं कायिक व्यापारद्वारा और कहीं विभिन्न सामग्री-धारणद्वारा होता है। यहाँ प्रभुका सरस-शृंगारात्मक स्वरूप व्रजांगनाओंमें व्यक्तकर उन्हें

आन्तर रमण कराना है। बाह्य रमणमें जितनी सामग्री होती है, उतनी ही आन्तर रमणमें भी अपेक्षित है। अन्तर केवल यह है कि बाह्य सम्बन्ध नहीं होता, इस समय गोपालगोष्ठीके नटवर वेशका व्रजांगनाएँ आसक्तिवशात् अनुभव कर रही हैं। यहाँ सभा गोपालोंकी है, पर यह अभिनय उन्हीके लिये नहीं, व्रजांगनाओंके लिये भी है। एवं विशेषणविशिष्ट स्वरूपका अमृतमय, मुख-चन्द्रनिर्गत वेणुगीतद्वारा व्रजांगनाएँ अनुभव कर रही हैं। तात्पर्य यह है कि विप्रयोगात्मक ही शृंगार व्रजांगनाओंके लिये है। और जगह और नटोंद्वारा जो भावना सामाजिकोंद्वारा होती है, वह अभिनिवेशमात्र है, मनोराज्यमात्र है, किंतु यहाँपर तो इनकी भावना फलपर्यवसायिनी है। भावुकोंकी भावना मनोराज्य नहीं होती। वह जैसी भावना करते हैं, वैसी वस्तु हो जाती है। कहा है कि **'यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय॥'** (श्रीमद्भा० ३।९।११) अर्थात् भावुकोंकी जैसी भावना होती है, वैसा ही प्रभु स्वरूप बनाते हैं। इस दृष्टिसे इस अभिनयद्वारा भी श्रीव्रजस्थिता व्रजांगनाओंमें जो भाव व्यक्त होंगे, वे सच्चे ही होंगे। यहाँ यद्यपि केवल **'वर'** ही कह सकते थे, पर विप्रयोग मर्यादा-रक्षणार्थ **'नट'** भी कहा। अभिनयसामग्रीसहित आधिदैविक शक्तियोंमें सम्प्रयोग और व्रजांगनाओंमें विप्रयोग उत्पन्न करते हुए प्रभु नटकी तरह नटवर वंशसे सभी भावोंको व्यक्त करते हैं। इसका अनुभव करती हुई व्रजांगना कहती है—सखि! विधाताके दिये हुए लोचनोंको अर्थात् अंग-प्रत्यंगको सफल करो। इतने सुन्दर दर्शन व्रजमें न होंगे। पशुओं, गोपालोंकी भीड़में मनमोहन व्रजेन्द्रनन्दन जब व्रजसे वृन्दावनमें जाते हैं, तब दर्शन निर्विघ्न नहीं होता। पशु, लज्जा, पलकें, गोपालवधू इनका व्यवधान हो जाता है। सखि! निकुंजमें छिपकर श्यामसुन्दरका दर्शन करेंगे। यहाँ वैसा संवाद, नृत्य, गायन नहीं हो सकता—**'अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः।'**

यहाँ व्रजेशसुत इसलिये कहा कि यदि श्वश्रू, ननन्दा कान दें तो दें, हम क्या अनुचित कहती हैं? जड़, चेतन, पशु जब सब ही व्रजराजकुमारके अमृतमय मुखचन्द्रके दर्शनाभिलाषुक हैं, वे प्राणिमात्रके परप्रेमास्पद हैं, तब कुछ चिन्ता नहीं। सखि! चलो **'गायमानौ गायेन मानः सत्कारः ययोः तौ'** नटका लोग सम्मान करते हैं, पर सर्वस्व नहीं देते। यहाँ प्रभुके लोकोत्तर गायनमें गोपाल सर्वस्व न्यौछावर कर देते हैं। **'गायेन मानः अहङ्कारः ययोः'** प्रभु कहते हैं—आओ, तुममें है कोई ऐसा गायन करनेवाला। इस प्रकार अभिनय तीन प्रकारका दिखलाया—१. परमसात्त्विक, २. नृत्यद्वारा तामस और ३. गायनद्वारा राजस। ऐसे श्रीकृष्ण-बलराम **'मध्ये विरेजतुः'**।

गोपांगनाओंद्वारा वेणु आदिके प्रति ईर्ष्याभाव

गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणु-
र्दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम्।
भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं ह्रदिन्यो
हृष्यत्त्वचोऽश्रु मुमुचुस्तरवो यथार्याः॥

(श्रीमद्भा० १०।२१।९)

व्रजांगनाएँ कहती हैं—सखि! इन गोपालोंकी सौभाग्य-महिमा कौन कहे, वे परम अन्तरंग हैं। सखि! वे तो श्यामसुन्दरके सखा गोपालगण श्यामसुन्दरके मुखचन्द्रका दर्शन करते हैं, परिरम्भण भी करते हैं और खेल खेलते हैं। उनकी महिमा अचिन्त्य है। वह सौभाग्य हमें कहाँ? वैसी स्वतन्त्रता हमें कहाँ? पर सखि! देखो, यह जो नीरस दारुमय वेणु है, इसका सौभाग्य तो देखो! सनातन गोस्वामी कहते हैं कि यहाँ महाभावकी स्फूर्ति है। उससे व्रजांगनाओंको श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दकी मंगलमयी मूर्तिके सर्वभोग्या अधरसुधामें, अत्यन्त आसक्तिवशात् स्फुरितभावसे अलौकिक उन्माद प्रकट हुआ। अतः सेर्ष्य मिथ्या कल्पना करती हुई बोलती हैं, पर यह महाभाव भक्तिरसमें ऊँची कोटिका है, अधिरूढ़ मादन-मोदनाख्य अवान्तर भाव हैं। आसक्तिविशेषसे व्रजांगनाओंके अन्तरात्मामें महाभावकी स्फूर्ति हुई।

अत: मिथ्या कल्पना उस रसमय भक्तिरसामृत-सिन्धुकी लहरी है। यहाँ मूर्च्छामरण-अपस्मार रस है। संसारके लिये जो विपत्ति है, वही यहाँकी सम्पत्ति है। प्रियतम प्राणधन श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दके विप्रयोगजन्य तीव्र तापमें व्रजांगनाओंकी मूर्च्छा यहाँ रस-रूप है। संसारकी तृष्णा तृष्णा है, आशा दुराशा पिशाची है। भगवान्‌के चरणारविन्दकी आशा कल्पलता है। यहाँकी ईर्ष्या मिथ्याकल्पना रसमयी है। इसलिये वेणुको शुष्क काष्ठ कहना रस है। सनातन गोस्वामी कहते हैं—वंशीमें शुष्कता, नीरसता, सच्छिद्रता, सग्रन्थिताके आरोपमें भगवान्‌को रस आता है, वेणु भी प्रसन्न होती है। व्रजांगना कहती है—सखि! यदि श्यामसुन्दर मनमोहन किसीसे न मिलते तो कोई संताप न होता, पर अपने संगी गोपालबालकोंको प्रभु निर्भरपरिरम्भण करते हैं, इसलिये ईर्ष्या होती है। सखि! यह कुण्डलस्थ मकरी नि:शंक होकर श्रीकृष्णचन्द्रके मुखचन्द्रका चुम्बन करती है, माला श्यामसुन्दरके वक्ष:स्थलपर बिहरती है, इन जड़ वस्तुओंको—अनधिकारी जड़ोंको—परमरसामृतमूर्ति श्रीकृष्णचन्द्रका संस्पर्शादि सब कुछ प्राप्त है, हम हतभागिनियोंको नहीं। अस्तु, गोपालोंका कथंचित् सोढव्य है। यह वंशी जड़, देखो! शुष्क, काष्ठ, नि:सार, पोला, सच्छिद्र, सग्रन्थि, नीरस, वेणु, वंशी इसने कौन पुण्य किया, कौन तप-जप-ध्यान किया, जिससे इसको यह अलौकिक परम सौभाग्य प्राप्त हुआ। सखि! यदि यह विदित हो तो हम भी वही तपस्या करके बाँसकी वंशी बनें। गोपांगना-जन्ममें कृतार्थता—सफलता नहीं प्राप्त है। सखि! यह साधन दुरूह है; क्योंकि अपने तो उपनिषद्रूपा हैं—वेदऋचा हैं। जितना भी पुण्यकर्म जप-तप है, सब वेदोंसे ही प्रकाशित होता है तो सखि! इसने कौन-सा अद्भुत कर्म किया, जो हमें भी दुर्ज्ञेय है, जिसका अनुष्ठानकर इसने यह सौभाग्य प्राप्त किया। **'दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम्।'**

'वेणु:' ऐसा पुंस्त्वका निर्देशकर यह सूचित किया कि पूर्णतम पुरुषोत्तमरूपमें प्रकट भगवान्‌का सम्भोग गोपांगना-भावापन्न ही करेंगे। यह तो पुमान् है, यह भगवान्‌का सम्भोग कैसे करे? यह अनधिकारी है। फिर शुष्क भी है। सरस होता तो बात दूसरी रही। 'वंशी' कहते तो अधिकार सूचित होता। इसीलिये जानबूझकर वैसा नहीं कहा। तो यह वेणु हमारे श्यामसुन्दरके हस्तारविन्दमें निरन्तर विराजमान है, कभी उदरमें, कभी मुखचन्द्रमें, कभी वक्ष:स्थलपर विराजता है। अस्तु, अब तो **'सुधामपि भुङ्क्ते'** सर्वत्र रहनेकी, इतनी धृष्टता तो की, पर यह धृष्टता तो देखो। दामोदरमनमोहनके अधरसुधाका सम्भोग करने लगा। अबतक यही धृष्टता थी कि प्रभुका आलिंगन-संस्पर्शादि करता रहा। यह पर्याप्त था, पर अब आगे बढ़ा। सखि! **'अयं वेणु: युष्माकं दामोदराधरसुधाम्'** आपलोगोंकी व्रजांगनाओंकी निधि परमधनभूता दामोदरके अमृतमय मुखचन्द्रको इसने स्वयं यानी आपकी सम्मति बिना पान किया। हमारे श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र हैं, उनके श्रीअंगका स्पर्श किया। हमारे मनमोहनकी सुधाको हमारी आज्ञा बिना भोगने लगा। नेक पूछा भी नहीं। **'गोपिकानाम्—तदेकाशयैव गोपिकानाम् (गुपू रक्षणे)'** यह अमृतमय मुखचन्द्रकी अधरसुधा हम गोपिकाओंकी है। एक मनमोहन श्यामसुन्दरके सुमधुर अधरसुधाके सम्भोगके लिये ही हमने अपने देह-प्राणोंका रक्षण कर रखा है, केवल इस आशासे कि कभी वह अधरसुधा भोगनेको मिलेगी, नहीं तो यह कभी चले गये होते। सखि! वह जीवनाधार, प्राणाधार सर्वस्व है। यह ममता कि प्रभु हमारे हैं। मनमोहन श्यामसुन्दर हमारे ही हैं। सखि! हमसे कुछ पूछताछ न किया। **'दामोदराधरसुधाम्'** कहा, क्या मनमोहनका ठेका तुमलोगोंने ले रखा है? यह तो पूर्णतम पुरुषोत्तम निखिल विश्वके हैं। हमारे ही प्रणयपाशसे बँधे हैं। हमारी व्रजेन्द्रगेहिनीने उनको प्रणयपाशसे बाँध रखा था। यदि हमारे न होते तो कैसे बाँधे जाते? यदि सबके होते तो और भी बाँधते। क्या किसीने बाँधा?

ललनको जब नन्दरानी बाँधने लगीं तो रज्जु दो अंगुल कम हुई। गोकुलभरकी रस्सियाँ लगीं, पर बछड़ोंकी नहीं! यह व्रजेन्द्रगेहिनी अपने ललनके सुकोमल अंगको कठोर रज्जुसे कैसे बाँधे? रेशमोंकी सुकोमल डोरियाँ थीं, जिसमें लालाको कष्ट न हो। वात्सल्यरससागर जिसके हृदयमें उमड़ रहा है, वह करुणामयी पुत्रवत्सला अम्बा कैसे कठोर रज्जु ले? दो अंगुलकी कमी हुई। भावुक कहते हैं कि परमात्मा बँधते, पर बिलकुल बँध जायँ तो गजब हो जाय, जब सब रज्जु कम पड़ी, तब वृषभानुनन्दिनी आयीं, कहा—'हमारे वेणीका पाश है, लो'। जब उन्होंने अपनी वेणीका बन्धन दिया, तब प्रभुने कहा—इसके बन्धनमें तो हैं ही। भगवान् माधुर्याधिष्ठात्रीके प्रणयपाशमें हैं ही। 'दाम-रस्सी थी उदरमें जिसके' अर्थात् वृषभानुनन्दिनीके, हमारी स्वामिनीके उस वेणीबन्धनसे श्रीकृष्ण बँधे थे। हमारे थे तभी न बँधे! इसलिये उनकी सुमधुर अधरसुधा हमारी है। ऐसी प्राणाधारभूता सुधाको यह वेणु भोगने लगी। अबतक क्षमा किया, अब नहीं रहा जाता। **'हे गोप्यः!'** आपलोग क्यों गोपी हुईं, गोपी-जन्ममें जन्मकी सार्थकता नहीं है, वेणुजन्ममें है, अतः चलो वेणु बननेका प्रयास करो। कहा—सखि! आप यों ही दोषारोपण उसमें करती हो। दामोदरका मुखचन्द्र तो ज्यों-का-त्यों ही सरस है। यदि वह सम्भोग करता तो वह शुष्क हो जाता! कहा—रस-ही-रस तो रहा है, सुधा तो सब उसने भोग ली। **'अवशिष्टं रसो रसमात्रं यथा स्यात्तथा।'**

अथवा कहा—सखि! शुष्क बाँसका वेणु कितना भोगेगा, भोग लेने दो। हमारे श्रीकृष्णचन्द्रकी अधरसुधा अपरिमित है, अनन्त है। **'अवशिष्टो रसो रागो यस्मिन् तत्।'**

इतना ही नहीं कि यह हमारे श्यामसुन्दरकी अधरसुधाका सम्भोगकर तृप्त हो गयी, पर नहीं, अभी इसका राग मिटा नहीं। कितने दिनसे अधरसुधाको भोगती है, पर वही लालसा बनी ही है। इसलिये वह सदाके लिये सौत बन गयी। ऐसे भक्तोंकी भावना यह है कि हमारे भगवद्रसका सब ही आस्वादन करें। भक्त यदि सौतियाडाह करें तो दूसरेको भक्त बनायें कैसे? यदि उनमें मूलतः कमी होती तो सोचते कि उसमें कमी होगी। वास्तवमें सांसारिक रस कम होनेवाला है, पर यह परमानन्दरसामृतस्वरूप सच्चिद्घन परब्रह्म अपार है, कितना ही सम्भोग करो चुकेगा थोड़े ही! कितने ही परमहंसोंने रस लिया, पर चुका नहीं। इसलिये वह भोक्ता दूसरे भोक्तासे ईर्ष्या नहीं करता। जिनका भोग्य ससीम हो, वह दूसरोंका उपस्थान नहीं चाहते हैं। यह तो अगाध है, इसलिये कहते हैं आओ, बल्कि वंचितोंको देखकर घबड़ाते हैं। कहा है—**'जाकर मन'** जिन्होंने इन परम रसामृतमूर्तिका स्वाद न लिया, उनके नाम वह आँसू गिराते हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभु इसीलिये रोते थे कि ये लोग श्रीकृष्णरससे वंचित हैं। कुछ लोग कहते हैं—श्रीगौरांगको उन्मादका रोग था। था तो मगर दूसरे ढंगका। भावुक कहते हैं, ऐसा उन्माद हमें हो जाय। जहाँकी वस्तुस्थिति ऐसी है कि ईर्ष्यापूर्वक मिथ्या कल्पना है। यह प्रेमका विचित्र एक भाव है—अतृप्ति है—तृष्णा है। भक्तोंको यदि सन्तोष हो कि आज वही पूजा करें तो भक्त कैसे? वे जानते हैं कि हम अगर भोग न लगाये तो प्रभु भूखे रहेंगे। यह भावना हो गयी कि प्रभु तृप्त हैं तो भाव बिगड़ गया। यह सहृदय-हृदयवेद्य है। इस अपरिमित अगाध रसमें भी भावका—हमारी सर्वस्वभूता अधरसुधाका सम्भोग यह वेणु करता है। न जाने यह कितने दिनतक हमारेमें हिस्सा बँटायेगा। अथवा—**'अवशिष्टं वशिष्टं (वष्टिभागुरिरल्लोपः) न वशिष्टः रसमात्रं यस्मिन्।'** इस वेणुने अधरसुधाका इतना सम्भोग किया कि रस भी नहीं रह गया। निरवशेष सम्भोग किया। अथवा—क्या प्रमाण कि शुष्क बाँसका वेणु ज्यों-का-त्यों पड़ा हुआ दामोदरके सुमधुर अधरसुधाका भोग करता है? कुछ भी सरस होता तो भोगता। इसलिये तुम व्यर्थ बहक रही हो। कहा—नहीं, देखो! इसका अवशिष्ट रस ह्रदिनीमें है। देखो, यह सच्छिद्र है तो एक ओरसे

सम्भोग करता है, दूसरी तरफसे निकलता है। इसलिये यह दामोदरके अधरसुधाको निर्लज्ज होकर पान करता जाता है। यह अतृप्तिपुरःसर धैर्य छोड़कर पीता ही जाता है। वही वेणुनादरूपमें निकलता है। यह वेणुगीत सुमधुर अधरसुधा वेणुनादरूपमें प्रकट होकर नदियोंको मिला। देखो, उस वेणुरव—वेणुगीत पीयूषरूपमें प्रकट दामोदरके अधरकी अधरसुधाका पानकर सरसियोंको रोमांच हो रहा है। यही कहा '**हृष्यत्त्वचः**' जिसके उच्छिष्ट रसको पानकर सरसियोंमें कमल-कमलिनी विकसित होते हैं—रोमांच हो रहे हैं। बड़े आनन्दोद्रेकमें रोमांच होते हैं तो क्या इसका उच्छिष्ट पान करनेवाली—ह्रदिनी पान करती है तो यह नहीं करता होगा? कैसे कहती हो '**बहन**'! '**तरवोऽश्रु मुमुचुः**'—सखि! तरुओंमें भी उसी नादसे मधुधाराएँ टपकने लगीं। श्रीकृष्णचन्द्र जब मुखचन्द्रपर वेणु धारणकर गीत विस्तार करने लगते हैं, तब लताओंमें, वृक्षोंमें मधुधारा टपकने लगती है। उसीपर व्रजांगनाओंकी कल्पना है कि मानो वृक्ष आनन्दाश्रु मोचन कर रहे हैं। शोकाश्रु गरम होते हैं। आनन्दाश्रु ठण्डे होते हैं। टोह करके पहिचानना चाहिये। जैसे आर्यजन परमरसामृतसिन्धुमें अवगाहनकर आनन्दाश्रु छोड़ते हैं, वैसे ही अथवा यह कि वेणुने जरूर दामोदरके अधरसुधाका भोग किया है; क्योंकि ये जो सरसी-सरिताएँ कमलसंयुक्त हो रही हैं, वह यह आनन्द है कि हमारे जलसे ही यह बाँसका वेणु सौभाग्यशाली है, जो—'**गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणुः।**' (श्रीमद्भा० १०।२१।९)

व्रजसीमन्तिनी कहती है—हे सखि, इस वेणुने कौन-सा पुण्यकर्म किया, जो यह दामोदरके अधरसुधाका पान करने लगी। अभीतक तो हृदयमें, करारविन्दमें रहती रही, पर अब तो अधरसुधाका सम्भोग कर रही है। यहाँपर 'दामोदर' से राधादामोदरका द्वन्द्व विवक्षित है तो दामोदरसे याने द्वन्द्वमें एकका नाम लेनेसे अन्य सम्बन्धका भी बोध होता है, अर्थात् इस वेणुने रासेश्वरी नित्यनिकुंजेश्वरी जो वृषभानुनन्दिनी है, उसके जो प्रियतम प्राणधन श्रीदामोदर हैं, उनके सुमधुर अधरसुधाको भी पान करना आरम्भ किया। जबकि हमारी स्वामिनी रासेश्वरी नित्यनिकुंजेश्वरी वृषभानु-नन्दिनीके प्रियतम प्राणधन मनमोहन श्यामसुन्दरके अमृतमय मुखचन्द्रकी अधरसुधा हमारी ही है। उसपर वेणुका अधिकार नहीं तो भी यह सम्भोग करती है। हमलोगोंकी सम्पत्ति प्राणाधारसर्वस्वको, यह स्वयं स्वातन्त्र्येण—यथेष्ट—यह नहीं कि थोड़ा, बिना पूछे-ताछे भोग रही है।

दूसरी गोपिका पूछती है—सखि! यह कैसे जाना कि यह अधरसुधाका भोग कर रही है? यह तो नीरस काष्ठ है, अधरसुधाका पान तो चेतनका धर्म है, अचेतनका नहीं और चेतनमें भी सबका नहीं, केवल गोपांगनाभावापन्नोंका ही। इसलिये पुंस्त्वेनापि भोगायोग्यता दिखलायी। यह वेणु तो पुमान् तत्रापि अचेतन काष्ठमय नीरस है, यानी अगर चेतन हो, तत्रापि गोपांगनाभावापन्न हो, सरस हो, रसाक्रान्त हो, तब दामोदरके अधरसुधाके सम्भोगकी योग्यता प्राप्त होती। तब कैसे कल्पना करती हो कि इस वेणुने अधरसुधाका पान किया? तो कहा—मातृतुल्या सरसियोंको रोमांच हो रहा है। रोमांच हर्षोद्रेकमें होता है तो यह सरसियोंका रोमांच निर्हेतुक कैसे हो सकता है? इनके हर्षका मूल्य यही कि इन्हींके जलसे यह वेणु पालित-पोषित है। उसका यह लोकोत्तर सौभाग्य देखकर, जैसे माता अपने पाले-पोसे बच्चेको साम्राज्याधिरूढ़ देखकर पुलकावलीयुत होती है, वैसे ही यह सरिता सोचती है कि हमारे ही जलसे पालित वेणु आज श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दके मुखचन्द्रपर विराजमान होकर अधरसुधाका पान कर रही है। तो इस रोमांचसे ही पता चलता है कि वेणु अधरसुधाका भोग लेती है। कुलवृद्धतुल्य तरुओं तथा लताओंसे बहती हुई मधुधारा हर्षके आँसू हैं। यह समझ रहे हैं कि हमारे वंशमें उत्पन्न बाँसका वेणु इतना सौभाग्यशाली हुआ कि अधरसुधाका पान कर रहा है। अथवा यह कि सरसियोंको अधरसुधाका सम्भोग प्राप्त नहीं है,

किंतु यह दूसरेके सम्भोगसे ही आनन्दित है। निनादरूपमें परिणत दामोदरके अधरसुधारसको अपने उच्छिष्टरूपमें सरसियोंको और वृक्षोंको वेणुने दिया। वह महामोहन नादरूपमें प्रकट रस सभीने लिया। वेणूच्छिष्ट रससम्भोगसे सरसियोंको होनेवाला रोमांच व्याजसे आनन्द है तो वेणुको कितना आनन्द होता होगा! इसलिये हम भी गोपीजन्म त्यागकर वेणुजन्म लें।

अथवा यह वेणु कितना निर्दय है कि हमारी वृषभानुनन्दिनीके दामोदरके अधरसुधाको स्वयं भोगता है और अपने कुटुम्बियोंको भी बाँटता है। देखो न! नदियाँ रोमांचित हो उठी हैं, वृक्षोंमें आनन्दाश्रु आये हैं।

अथवा यह दुरुपयोग करता है। दूसरेकी सम्पत्तिको—सर्वस्वको लेता है तो ले, पर ऐसी दुर्लभ वस्तु सुमधुर अधरसुधारस उसको यह अतृप्तिसे इतना पान करता है कि छिद्रोंसे वह रस निकलकर सरसियोंको भी आप्लावित करता है अर्थात् इन अनधिकारियोंको प्रदान करता है। जो रस वृषभानुनन्दिनीको तथा हमको दुर्लभ है, उसे इन जड़ और पाषाणोंको देना कितना निर्दयताका काम है। अथवा सखि! दामोदरके अवशिष्ट अधरसुधारसको इन सरसियोंने पान किया जलविहारके अवसरमें। पर वह रस नहीं था, द्रवमात्र और वह भी उच्छिष्ट है। सुधाका पान तो वेणुने ही कर लिया, उसके उच्छिष्टको पान करके भी इनको इतना आनन्द हुआ और उस सरसी तटके तरुओंने सरसीका जल पान किया, इस परम्परासे उनको वेणूच्छिष्ट प्राप्त है। अथवा तरुओंको उसकी प्राप्ति न होनेसे वे रोने लगे, देखो! हमारे सजातीय बाँसका वेणु पान करता है। सरसियोंको भी थोड़ा मिला। हम हतभाग्योंको कभी भी नहीं मिला। कहा—तरुओंको तो सम्भावना ही नहीं, फिर वह अप्राप्तिमें क्यों रोते हैं? भृत्योंको साम्राज्याप्राप्तिमें दु:ख होता है? तो यह रंकभृत्योपम वृक्ष है। कहा—'**यथार्याः**'—जैसे आर्यलोग। यद्यपि दामोदरके अधरसुधारस-सम्भोगकी प्राप्ति उन्हें नहीं तथापि शोक करते हैं। साधारण स्थितिमें गोपांगनाभावप्राप्ति बिना सुमधुर अधरसुधारसकी प्राप्ति नहीं, फिर भी श्रवणसे श्रोता लोग अश्रुमोचन करते हैं। वैसे ही यह परोपकारक छाया, फल, फूल, काष्ठसे सेवा करनेवाले वृक्ष, शोकमें अश्रुमोचन करते हैं तो मालूम होता है कि वेणु परमपुण्यवान् है।

अच्छा सखि! फिर क्या बात है, भोग लेने दो! तो कहते हैं, वह अवशिष्ट रस '**गोपिकानां अवशिष्टरसम्**' जिस रसका यह वेणु दुरुपयोग कर रहा है, वह गोपांगनाओंका अवशिष्ट ही रह रहा है। यानी गोपियोंने एक दामोदरके अधरसुधाकी आशासे ही इतर सर्वरसोंको त्याग दिया तो जिसपर रहकर हमलोगोंने सर्व त्याग कर दिया, उसका स्वयं पान कर रहा है।

यहाँ रसका अर्थ राग-प्रीति है, 'व्रजांगनाओंके राग-रस-प्रीतिका विषय यही है। नीरसमें जो रस-राग है, वह '**परं दृष्ट्वा निवर्तते**' पूर्णतम पुरुषोत्तमके मुखचन्द्रका दर्शन करके वह निकल जाता है। उसको भूल जाते हैं। '**इतररागविस्मारणं नृणाम्।**' (श्रीमद्भा० १०।३१।१४) मनमोहन श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द-कन्दका अधरामृत संसारके इतर रागोंको भुलानेवाला है। बिना एक रस पाये दूसरा भूले कैसे? इसलिये यह मनमोहनके अधरसुधामें रस जिनको हुआ, उनको रसमें रस आया, इतर रस उनके लिये तुच्छ हैं। अगर ऐसा हो कि वेणुने भी तुम्हारी तरह व्रत धारण किया हो अर्थात् इस रसकी आशासे और रसोंकी आशा त्याग दी हो। यह और दूसरा कुछ नहीं करती। पानी वगैरह कुछ नहीं लेती। इसलिये शुष्क तपस्विनी बनी है। तो तुमने जैसे अधरसुधाको प्राणाधार बनाया, वैसे उसने भी प्राणाधार बनाया। कितनी वह तपस्विनी है! उसकी ईर्ष्या क्यों? कहा—ईर्ष्या नहीं करती तो भी यह अधरसुधारस इसीका नहीं है। हमारा भी तो है। '**गोपिकानामपि**'। इसमें हमारा भी हिस्सा है। यदि यह बात है तो फिर बाँटकर लेना चाहिये, पर यह हमारे भी हिस्सेको बिना बाँटे मनमानी अधरसुधाका

भोग कर रही है। यही दोष है।

कहा—यह वेणु नहीं, वेन राजा है, उसका लक्षण इसमें पूरा-पूरा मिलता है। वेन क्या कहता था—'**न दातव्यम्**' इत्यादि। 'हे प्रजाओ! तुम जप-तप मत करो, केवल मेरा श्रवणादि करो, मैं ही सब कुछ हूँ।' यह वेन भी हम सबको यही सिखाता है—कुछ मत करो, केवल मेरा ध्यान धरो। सचमुच हमारा सब काम इसके श्रवणमात्रसे छूट जाता है। सब कर्म-धर्म छूट गया। आश्चर्य यही कि उस वेनने क्या कुशल कर्म किया कि उसे यह सौभाग्य मिला? उस वेनसे इसमें यह विशेषता है कि वह एक मुखसे स्वसिद्धान्तका प्रचार करता था, यह सात मुखसे करता है। सचमुच एक बार जिसने इस मोहनमन्त्रको सुना, उसका सब छूट गया। '**शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः**…… **कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः**॥' (श्रीमद्भा० १०। ३५। १५)

सनकादि महामुनीन्द्रगण आश्चर्यमें चकित हैं कि यह वेणु क्या कह रहा है? कहा सखि! वह तो वेन रहा, यह तो वेणु है। कहा—यह णत्व उत्वकी ओढ़नी ओढ़कर आया है। अगर वैसे आता तो कोई सुनता नहीं, क्योंकि वह नास्तिकप्रख्यात था। तो सखि! इस वेनने कौन-सा पुण्य किया कि वह समर्थ हो गया और थकता भी नहीं, इसलिये निरन्तर अधरसुधाका पान करता है। खैर, जो कुछ करता तो करता ही है, श्यामसुन्दरके अधरसुधाका सम्भोग कर रहा है, '**अहो धन्या वयम्**।' यदि किसीका पालित शिशु सम्राट् हो तो उसे कितना आनन्द होता है तो सरसी नदी यह सोचती कि जगद्वन्द्य पूर्णतम पुरुषोत्तमके मुखचन्द्रकी सुमधुर अधरसुधाका सम्भोग करता जिसके लिये व्रजांगनाएँ ललचा रही हैं, हमारे जलसे यह परिपुष्ट है। उसीके आनन्दसे कमल-कमलिनी व्याजसे रोमांच आये हैं। व्रजांगना कहती है—सखि! वेणुको अपने जलसे पालन करनेवाली सरिता अपनेको धन्य समझती है। तो अनुमान करो कि यह हमारे प्राणाधारका अवश्य सम्भोग करता है। अगर उनपर विश्वास न हो तो वृक्षोंको देखो; उनमें मधुधारा टपकती है। वृक्ष सोचते हैं कि बाँस भी तो हमारी ही जातिका है। हमारी जातिमें ऐसा सौभाग्यशाली वेणु हुआ, जो सुमधुर अधरसुधाका सम्भोग करता है। जैसे वंशमें सत्पुरुष हो तो इक्कीस पीढ़ी तरनेकी आशा होती है। इसलिये भगवद्भक्तोंको देखकर उनके पितर प्रसन्न होकर आनन्दाश्रुकी वर्षा करते हैं, वैसे ही वृक्ष मधुधारा टपकाते हैं। अबतक सखि! क्षमा किया, अब वह वेणु '**गोप्यः**' चुराना चाहिये। जिसको मनमोहन ढूँढ़ते फिरें। दुरुपयोग कर रहा है, इसलिये '**गोप्यः**' चुरा लेना चाहिये।

इसपर श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं—वास्तवमें यह वेणु दामोदरके अधरसुधाका पान करता है कि नहीं, यह विचारणीय है। कहती हैं—सखि! मुखसंस्पर्शसे यही विदित होता है कि हमारे प्रियतमके अधरसुधाका यह पान करता है, जैसे हमें, वैसे ही इसे। क्या कारण है कि हमें अधरसुधा प्राप्त हो, इसे नहीं? यदि पान किया है तो यह सोचो कि यह इसने पाया कैसे? तो मर्यादामार्गसे नहीं सही, पर अनुग्रहमार्गसे पुष्टिमार्गसे पाया है। अर्थात् स्वयं प्रभुने ही इस वेणुको अधरसुधा दे दिया। तो ठीक है, यदि अनुग्रहसे देना चाहते थे, तब तो इसे गोपांगनादेहकी प्राप्ति होती, उसके द्वारा यह भोग करता, पर यह पुमान् सच्छिद्र नीरस सग्रन्थि है। अनुग्रहसे भी प्राप्त हो, परं च उसके लिये योग्यता-सम्पादन तो आवश्यक है। इसलिये प्रतीत होता है कि यह केवल स्पर्शमात्र करता है, सम्भोग नहीं। वास्तवमें श्रीकृष्णचन्द्रकी भगवद्भोग्या सुमधुर अधरसुधा श्रीव्रजवनिताओंको देनेके लिये वेणुमें निक्षिप्त किया अर्थात् वेणु दर्वीसमान है। दर्वीसे रस दूसरेको दिया जाता है, वह स्वयं रसग्राही नहीं होती। व्रजांगनाओंको दिवसमें अधरसुधा कैसे प्राप्त हो, इसलिये यह काम रचा और व्रजांगनाओंको अनुग्रहविशेषसे हृदयमें प्रविष्ट किया। जैसे सम्प्रयोगमें सम्भोग होता ही है, पर विप्रयोगमें भी भोग होता है। इसलिये वेणुको सुधा-सम्भोगका अधिकार नहीं, यह केवल पात्र ही मात्र है। तो यदि सम्भोग नहीं तो कौन-सा ऐसा कर्म

इसने किया कि आनन्दरससिन्धुके रसका लाभ इसे नहीं होता। तात्पर्य, अधरसुधाके असम्भवमें '**किम्**' आक्षेपार्थ और सम्भवमें प्रश्नार्थक है।

अच्छा सखि! यह देखना कि आखिर श्रीव्रजांगनाओंको जो सुमधुर अधरसुधा प्रदान की जायगी, वह वेणुद्वारा की जायगी। वेणुका छिद्र ही वेणुका मुख है, उसीके द्वारा मिलेगी, कहा ही है—'**रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन्**।' (श्रीमद्भा० १०। २१। ५)

इसलिये व्रजांगनाओंके लिये भी जो सुधासम्प्रयुक्त है, वह पहले-पहले वेणुछिद्रोंमें ही प्रविष्ट होगी, क्या कारण है कि वह सम्भोग न करे? अपने मुखमें आये रसका पान वह कैसे न करे? कहा—यदि अनुग्रह-मार्गसे मनमोहन श्यामसुन्दरने स्वयं ही उसे प्रदान किया तो फिर तुम जलती क्यों हो? कहती हैं, नहीं। यह '**स्वयं**' सम्भोग कर रहा है, मनमोहनने इसे नहीं दिया। हमारे लिये ही उसके छिद्रोंमें भरपूर किया है। जैसे अन्यके लिये सम्प्रदान किये हुए रसको अन्य—पहुँचानेवाला सम्भोग करे, वैसे ही इस वेणुने किया और वह भी लुका-छिपाकर नहीं, फूँक करके।

वृन्दावनका सौभाग्य

वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिं
यद् देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि।
गोविन्दवेणुमनु मत्तमयूरनृत्यं
प्रेक्ष्याद्रिसान्वपरतान्यसमस्तसत्त्वम्॥

(श्रीमद्भा० १०। २१। १०)

श्रीव्रजांगनाएँ आपसमें कहती हैं—हे सखि! यह वृन्दावन भूमण्डलकी कीर्तिका विस्तार कर रहा है। सखि! देवकीसुत भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दके मंगलमय श्रीचरणारविन्दकी शोभाको इसने पाया, यानी स्वयं श्रीवृन्दारण्यधामकी शोभा महिमा मनोवचनातीत है; क्योंकि वृन्दारण्यधाम भगवत्स्वरूप है। जैसे भगवान्‌की महिमा अचिन्त्य अनन्त अद्भुत है, वैसे वृन्दारण्यकी महिमा भी अचिन्त्य अनन्त अद्भुत है; इसलिये उसकी महिमा क्या बढ़ेगी, अपितु उससे भूमण्डलकी शोभा विस्तृत हुई। '**वृन्दावन**' का अर्थ—'**वृन्दस्य गुणसमूहस्य, गुणिसमूहस्य अवनं यस्मात् तत्**।'

रसिकवृन्द और गुणवृन्दका अवन—संत्राण—रक्षण जिससे है अर्थात् रसिकजनोंके एकमात्र जीवनका आलम्बन श्रीवृन्दारण्यधाम है। इसपर भावुकोंकी बड़ी ऊँची-ऊँची भावनाएँ होती हैं, कहते हैं—'**मिलन्तु**' अगर वृन्दावनके बाहर कोटि-कोटि चिन्तामणि मिले, इतना ही क्या, स्वयं श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर मनमोहन वृन्दारण्यकी सीमाके बाहर खड़े होकर बुलायें तो मत जाओ। कहते हैं—'**विपिनराज सीमाके बाहर हरिहूँ को न निहार**।'

यह कहा जा चुका है कि वस्तु तो वहाँ अचिन्त्य अनन्त परमानन्दरसामृतमूर्ति भगवान् हैं, उनमें कमी-वेशी नहीं है, वे पूर्ण ही हैं, पर स्थानभेदसे अलग-अलग महिमान्वित होता है—बाँसमें वंशलोचन, गोकर्णमें गोरोचन, गजकर्णमें गजमुक्ता, सीपीमें मुक्ता इत्यादि; मूलमें कोई फेर नहीं, वैसे श्रीकृष्ण निखिलरसामृतमूर्ति उद्बुद्ध उभयविध शृंगार रसात्मा ही हैं, पर वृन्दारण्यधाम वह सीपी है, जहाँ श्रीकृष्णपरमानन्दकन्द अधिक शोभा-समन्वित होते हैं। अन्यत्र द्वारकाधीशमें ऐश्वर्यका, मथुरानाथमें बलादिका प्राकट्य है, पर श्रीवृन्दारण्यधीश श्रीकृष्णमें माधुर्यका प्राकट्य है, ऐश्वर्यादि तिरोहित है। इसलिये जहाँ जितना माधुर्यभावका अधिक प्राकट्य है, वहीं भावुकोंकी सरसता है। अत: वही व्याख्या '**व्रजाङ्गनावृन्दस्य जीवनं वृन्दावनम्**' है। नहीं तो प्रभुके वियोगमें संतप्त व्रजांगनाएँ व्रजमें पड़ी तड़पती थीं, मनमोहनके वियोगमें व्याकुल हो रही थीं, मथुरानाथके दर्शनके लिये मथुरा न जातीं? न ही, उनका श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दरमें प्रेम है, वह मथुरानाथ, गोलोकनाथादिको नहीं चाहती थीं, केवल व्रजनाथको चाहती थीं। इस तरह व्रजांगनावृन्दका अवन—संत्राण अथवा समस्त गुणवृन्दका भवन जहाँ है, वह वृन्दावन है। गोपांगनाएँ कहती हैं—'**जयति**

तेऽधिकं जन्मना व्रजः' (श्रीमद्भा० १०। ३१। १) आपके जन्मसे व्रज बहुत अधिक विजयी होता है, वैकुण्ठादि लोकोंसे भी; क्योंकि वहाँ, वैकुण्ठनाथ भगवान्‌की प्राणेश्वरी होनेके कारण लक्ष्मी सेव्या—आराध्या हैं, वही इस व्रजमें सेविका ('**श्रयते**') हैं तो वृन्दावनमें समस्त गुणोंका अवन—संत्राण ठीक ही है। इसलिये सर्वमानमोदनादि गम्भीर शक्तिके जो उत्कृष्टतर भाव हैं, वे 'उज्ज्वलनीलमणि' इत्यादि ग्रन्थोंमें वर्णित हैं। सब भाव सामस्त्येन कहीं उपलब्ध नहीं होते, इस वृन्दावनमें ही सबका संत्राण होता है।

यहाँ ही प्रेमकी सब अवस्थाएँ विराजमान हैं। साधारण रूपमें प्रेमका अणुपरिमाण सर्वत्र है। चराचरमें कोई ऐसा तत्त्व नहीं; जहाँ प्रेमकी मात्रा न हो। उस प्रेमका सदुपयोग-दुरुपयोग होना—यह दूसरी बात है। कोई माता-पितामें, कोई भगवान्‌में प्रेम करते हैं, कोई दुराचारमें, पर है सर्वत्र। बिना रागके एक परमाणु भी दूसरे परमाणुसे मिलते नहीं। वह सम्बन्ध रसमूलक है, अतः यह सर्वत्र भरपूर है। जैसे ब्रह्मसे सर्वप्रपंच उत्पन्न है, इसलिये सर्वत्र ब्रह्मभाव भरपूर है, वैसे ही आनन्दरूप ब्रह्मसे ही जगत् उत्पन्न होनेसे वह आनन्द प्रेम सर्वत्र भरपूर है और होना भी चाहिये। सबका निजी स्वरूप भगवान् ही है, उसको पाना अत्यन्त आवश्यक है। जैसे अम्बा शिशुको इतनी सामग्री देती है कि वह सीधा अपने पास पहुँचे, वैसे यह जीवजगत् भगवान्‌से बिछुड़ा है, उसको फिर अपने पास आनेकी जो भगवान्‌ने सामग्री दी है, वह है प्रेम; अतः वह सबमें है। प्रेम तो अन्यत्र है ही, उसे सब सांसारिक पदार्थोंसे हटाकर भगवान्‌के श्रीचरणारविन्दोंमें लगा दो। अब मध्यम परिणाम प्रेम—जो नारदादिके पास कभी घटता-बढ़ता है। विशेष दर्शन होनेमें उद्रेक होता है, उसकी कमीसे कमती होती है। यह परिमाण प्रेम व्रजांगनाओंमें और परममहत्परिमाण श्रीवृषभानुनन्दिनीमें है। इन सब अवस्थाओंका संत्राण यहाँ होनेसे यह '**वृन्दावन**' है। जैसे काशी त्रिलोकसे न्यारी है, वैसे वृन्दावन भूसे अलग है। मुक्ति चाहो तो काशी, प्रेम चाहो तो वृन्दावन; कहा है—'**काशी वृन्दावनं विना**' इसमें सांसारिकता प्रतीत होती है, पर वास्तवमें नहीं है। यहाँके सूर्यादि सब अलौकिक हैं। वैसे वृन्दावनमें प्राकृतता प्रतीत होती है। पर वह है, अप्राकृत। जैसे श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द प्राकृत दिखायी देते हैं, पर हैं अप्राकृत, यही तो माधुर्यकी महिमा है। वृन्दावनमें करीली भूमि मालूम होती है, पर है असाधारण प्रेममय, जिसका पता भावुकोंको ही चलता है। इसीलिये कहते हैं—'**एतेनाऽभौमत्वमपि ध्वनितम्।**' कुछ ऐसा मानते हैं कि जैसे विन्ध्याचलके एक अंश चित्रकूटपर श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्र पधारे तो विन्ध्यकी महिमा बढ़ी '**बिनु श्रम बिपुल बड़ाई पाई**' वैसे अहोभाग्य भूमण्डलका कि जिसके एकदेश—वृन्दारण्यधाममें श्रीव्रजेन्द्रनन्दनने निवास किया, इसीलिये '**धन्यं भूमण्डलम्**' '**वृन्दावनं सखि**'।

'सखि! यह देवकीसुत है' लेकिन वसुदेवसुत नहीं, स्त्री-सम्बन्ध-सूचनके लिये यह कहा। भाव यह कि प्रभु हम स्त्रियोंके ऊपर कृपा करेंगे। वृन्दावनद्वारा भूमण्डलको प्रभुके श्रीचरणारविन्दोंके स्पर्शका सौभाग्य प्राप्त हुआ। यह भाग्य वैकुण्ठको नहीं; क्योंकि वहाँ प्रभु निरावरणचरण नहीं हैं, अपितु गरुड़पर—सिंहासनपर हैं, पादत्राणयुक्त होते हैं। यह भाग्य मथुराको नहीं, द्वारकाको भी नहीं। वहाँ कभी अश्वोंपर, रथोंपर, सिंहासनपर और पादत्राणयुक्त ही होते हैं। यहाँ तो गोचारणके व्याजसे गौओंके पीछे-पीछे निरावरणचरण ही घूमते हैं। अतः साक्षात् भूको स्पर्श मिला '**यद् देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि।**' (श्रीमद्भा० १०। २१। १०) श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द-कन्दके श्रीचरणोंमें ध्वज-वज्र-अंकुशादि चिह्न हैं। इस विषयमें १५-१७-१८-१९ चिह्न माननेवाले बहुत मत हैं। एक-एक चिह्नकी अद्भुत महिमा है। कमलचिह्नके ध्यानसे भावुकका अतिचंचल मनमधुप भगवान्‌के कमल-मकरन्दपानमें आसक्त होकर निश्चल होता है। अंबुजध्यानसे त्रिविधतापतप्त मन क्षणमें

शान्त हो जाय। अंकुशध्यानसे मत्त मनोगज अतिशीघ्र वश होता है। वज्रध्यानसे कठिन अनन्तपाप-पर्वतोंका विदारण होता है। यवध्यानसे धनधान्यविहीन कभी नहीं होता। ऐसे हर एक ध्यानके अलग-अलग प्रयोजन बतलाये हैं। वह सब चिह्न व्रजभूमिमें अंकित होते हैं, क्योंकि व्रजभूमि है आर्द्रकोमल सरस भक्तिभूमि, शुष्कनीरस भूमिमें प्रभुके पादपंकजचिह्न कैसे पड़ें? वृन्दादेवी भक्तिमती हैं, अतएव आर्द्र हैं। व्रजांगनाएँ ईर्ष्या प्रकट करती हैं—देखो सखि! देवता ऐसे हैं जो भूमिको नहीं छूते, यही उनका लक्षण है। श्रीअगस्त्याश्रममें जब रामचन्द्र, लक्ष्मण, जानकी आये, वहाँ एक रथ देखा, जिसको तेजस्वीगण उठाये थे। तब लक्ष्मणके पूछनेपर रामचन्द्रने इन्द्रका आगमन बतलाया। हनुमान्जीने सीताको भूमिपर देखकर पूछा—देवता नहीं हो तो कौन हो? देवोंके चरण भूको नहीं छूते तो देवेन्द्रके चरण तो दुर्लभ ही हैं, फिर पूर्णतम पुरुषोत्तमके चरणस्पर्श तो अति दुर्लभ—'**पुरुष एवेदं सर्वं**' विराडात्मा पुरुषका आधिभौतिक पाद ही मही है, आध्यात्मिक पाद अतीन्द्रिय है और आधिदैविक पाद आनन्दरूप है। तात्पर्य—जहाँ पुरुष-चरणस्पर्श दुर्लभ, वहाँ पुरुषोत्तम चरणस्पर्श हुआ। अहोभाग्य है! हमलोग कैसी हतभागिनी हैं। यह वृन्दावन दैत्योंकी भूमि, वृन्दा—दैत्यपत्नीकी भूमि है, पर भाग्य तो देखो। वास्तवमें जैसी वृन्दावनकी भूमि है, वैसा हमारा हृदय भी है; वह कठोर है, यह भी कठोर है; वहाँ गोवर्धनाद्रि यहाँ वक्षोज, वहाँ गंगा यहाँ अनुराग-गंगा, वहाँ वनराजि यहाँ रोमराजि, वहाँपर तो प्रभुने पादस्थापन किया, हमारे हृदयपर नहीं। वह कितनी सौभाग्यशालिनी है! इसलिये कहते हैं '**देवकीसुत**।' यदि कहीं यशोदानन्दन होते तो कुछ-न-कुछ सम्बन्ध जोड़ते, हमसे आप प्रेम रखते, हमारी आशा पूर्ण करते। हे महाराज! हम जानती हैं '**न खलु गोपिकानन्दनो भवान्**' (श्रीमद्भा० १०।३१।४)। ऐसी कठोरता न होती। देवकीका हमारा क्या सम्बन्ध! वह क्षत्रियाणी, उसका हृदय कठोर, उसके हृदयसे आपका जन्म होनेसे वही कठोरता आपके हृदयमें उतरी है। यदि गोपिकानन्दन होते तो जैसा उनका हृदय भोलाभाला होता है, वैसा आपका भी हृदय भोलाभाला ही होता।

भगवान् वृन्दावनभूमिपर पादन्यास करते हैं, हमारे हृदयपर नहीं, यही ताप है, ईर्ष्या है। इस रहस्यको समझनेवाला बिरला ही है। इसलिये कहा—'**हे सखि**' (एकवचन) अन्यत्र '**हे सख्यः**' (बहुवचन)-का प्रयोग करते हैं। कुछ लोग कहते हैं—यह ईर्ष्या नहीं हो सकती; क्योंकि गोपी निर्गुणा है। सात्त्विकी-राजसी-तामसीमें यह सम्भव है। एक पक्ष ऐसा है कि है तो यह निर्गुणा, पर इस रसकी स्थिति ऐसी है कि निर्गुणामें भी रसका संचार होता है अथवा दैन्यद्वारा सर्वथा निर्गुणत्वका ही सूचन है। देखो सखि! हमसे अधिक सौभाग्यशालिनी यह भूमि है। हमें गोपांगना-जन्ममें जो प्राप्त नहीं, वह इस भूमिको प्राप्त है। उनका भाव यह है कि जैसे श्यामसुन्दरके चरणसम्पर्कसे वृन्दारण्यकी शोभा है, वैसे ही प्रभुके चरणसम्पर्कसे हमारे हृदयकी शोभा है। जहाँ पादपंकज नहीं है, वहाँ शोभा भी नहीं है। कुछ भावुक कहते हैं कि—'**गोप्यः किमाचरदयम्**' इससे प्रथम वेणु-महिमा वर्णन किया, जिससे उसके सर्वातिशायिनी होनेसे वृषभानुनन्दिनी दुःखित हुई। इसलिये उन्हींको सम्बोधित करती हुई कहती है। अतः एकवचनका प्रयोग हुआ। यह वृन्दावन भूमण्डलकी विचित्र कीर्तिका विस्तार करता है, इसमें अपना और वृषभानुनन्दिनीका उत्कर्ष बोधित किया। वृन्दारण्यधाम तो केवल भूमिकी कीर्तिका ही विस्तार कर रहा है। स्वयं उसका आनन्द नहीं जानता, रसका अभिज्ञ नहीं है, अतएव भाग्यशाली नहीं है। केवल परोपकार-ही-परोपकार करता है। इसलिये इनका भाव यह है कि अस्मदादि स्वयं श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दरके अद्भुत अनुराग-रसका आस्वादन करती हैं। वृन्दावन व्रजभूमिमें परस्पर उपकार्योपकारक भाव है। इस वृन्दावनसे व्रजभूमिकी महिमा विस्तृत होती है, व्रजभूमिसे वृन्दावनको लक्ष्मी प्राप्त होती है।

'यस्माद् व्रजभुवः सकाशाद् देवकीसुतपदाम्बुजाभ्यां लब्धा लक्ष्म्यो येन' प्रभुके मंगलमय श्रीचरणारविन्दकी शोभाको उस भूमिद्वारा वृन्दावनने प्राप्त किया। भूमि जब आर्द्र—अनुरागवती होती है, तब इसपर भगवान्‌के मंगलमय श्रीचरणचिह्न अंकित होते हैं, इसीलिये वृन्दावनने भी भूमिकी कीर्तिको बढ़ाया। इस तरह परस्पर उपकार्योपकारक भाव है। देवकीसुत क्यों कहा? इसपर वल्लभाचार्य कहते हैं—यह कहनेवाली गोपांगना श्रीनन्दगेहिनीके गेहमें ही रहनेवाली पालित-पोषित कन्या है। ऐसी स्थितिमें श्रीनन्दनन्दन यशोदानन्दन श्रीकृष्ण कहनेमें वह नन्दपालित कन्या सम्बन्धमें अनौचित्य देखती है। इसीलिये कहा 'देवकीसुत'। अथवा सुना था गर्गाचार्यके मुखसे **'प्रागयं वसुदेवस्य'** इत्यादि, उसे स्मरणकर कहा। अथवा नन्दरानीका ही दूसरा नाम देवकी था—**'द्वे नाम्नी नन्दभार्यायाः यशोदा देवकीति च।'** फिर भी विचार यह कि **'देवकीसुतपदा अम्बुजैरिव लब्धा लक्ष्मीर्येन'** देवकीसुतके दिव्य चरणसे वृन्दावनने ऐसी शोभा पायी, जैसे कमल शोभा पाते हैं। अर्थात् फुल्ल पंकजकी तरह वृन्दावनकी अद्भुत शोभा क्षण-क्षण विकसित होती थी। कहा, सखि! इसमें क्या आश्चर्य? श्यामसुन्दरके मंगलमय श्रीचरणारविन्द जैसे व्यापी वैकुण्ठमें विराजते हैं, वैसे ही वृन्दारण्यधाममें हैं तो क्या आश्चर्य? व्यापी वैकुण्ठमें रहनेवाला वृन्दारण्यधाम भूमण्डलमें विराजता है। वास्तवमें वह नेत्रगोलक है, जिसे लोग नेत्र कहते हैं, नेत्रेन्द्रिय इस गोलकके भीतर है; ऐसे ही वृन्दावनधाम है। अतीन्द्रिय वृन्दावनधाम जिस भूमिमें रहता है, उसे भी वृन्दावन कहा जाता है। एवं सर्वोपलब्ध वृन्दावनधाम नेत्रगोलकके समान है अर्थात् भावुक उपासनागम्य अतीन्द्रिय वृन्दावन धाम है। यही उसकी अद्भुत महिमा है। तब इस भूमिपर वह प्रकट कैसे है? तो भक्तिसे क्या नहीं होता? जहाँ भक्ति है, वहीं प्रभुके श्रीचरणारविन्द प्रकट होते हैं। ठीक ही है, जहाँ पादपंकज है, वहीं शोभा है, महिमा है। इसकी प्रतिष्ठा इसीसे है। कहते हैं, यहाँ तो श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दके चरण ही भक्तिरूप हैं, भक्तिमार्गमें चरणकी ही प्रधानता है। इसलिये वृन्दावनमें चरण प्रतिष्ठितकर भक्तिकी स्थापना की। चरणको अम्बुजकी उपमा देते हैं। अम्बुज कोमल, शीतल एवं तापापनोदक है, वैसी ही भक्ति भी है और उसका वृन्दामें स्थापन है। अतः विशेष भक्ति स्त्रियोंमें ही दिखलायी। इसीलिये श्रीवृषभानुनन्दिनीमें भक्तिकी पराकाष्ठा है एवं यहाँके प्रसंगमें हरिणी, गौ, मयूरी, पुलिन्दी इनका ही वर्णन है। उनका हृदय अधिक कोमल है। कोमलहृदय भगवद्वियोगजन्य तीव्र तापसे जल्दी द्रुत होता है। स्वभावसे ही कठिन पदार्थ तापसे द्रुत नहीं होता। इसलिये उनके हृदयमें भगवत्सम्बन्ध स्थापित हो तो हृदय द्रुत हो जाय। ऐसा होते ही वहाँ श्रीप्रभुके पादपंकजकी स्थापना होती है। इस प्रकार वृन्दारण्यधाममें चरण अंकित हो गये और चिह्न स्थायीभावापन्न हो गये।

यह भावुकोंको मान्य ही है कि जहाँ-जहाँ भगवान्‌के श्रीचरणपंकज हैं, वहाँ-वहाँ श्रीवृन्दारण्यधाम है। व्यापी वैकुण्ठधाममें ही श्रीभगवान्‌का प्राकट्य होता है। इसलिये कहा—**'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः स्वमहिम्नीति होवाच'।** श्रीभगवान् अपने-आपमें ही प्रतिष्ठित हैं। सर्वाधार और अपने-आप आधार एवं आधाराधेय, दोनों एकात्मक हैं अथवा यों कहिये कि अव्यक्तके उपरिष्ठात् सत्तत्त्वकी स्थिति है एवं यह आया कि इस प्रकार वृन्दावनने लक्ष्मी पायी तथा भक्ति और ज्ञान भी पाया—**'गोविन्दवेणुमनु मत्तमयूरनृत्यम्,** (श्रीमद्भा० १०।२१।१०) **गोविन्द गवां इन्द्रः।'** प्रभुने इन्द्रका मानमर्दन किया, इन्द्रने कुपित होकर मूसलाधार वृष्टिद्वारा गोकुलको बहा देनेकी, मिटा देनेकी आज्ञा दी, पर प्रभुने सात दिनतक गोवर्धन धारणकर गोकुलका संत्राण किया। यह इन्द्रको पता लगा, वह सुरभीके पीछे-पीछे प्रार्थना करने आये। भाव यह कि गोकुलके, गौओंके रक्षणके

लिये प्रभुका अवतार है। इसलिये इनपर कृपा है। आकर सुरभीने कहा—हम सब अपने ईश्वर इन्द्ररूपसे आपका अभिषेक करना चाहती हैं। प्रभुने प्रार्थना स्वीकार की, सुरभीने दुग्धसे अभिषेक किया, तबसे गोविन्द नाम प्रख्यात हुआ।

वेणुनादसे आकृष्ट मयूरोंका नर्तन

गोपालचूड़ामणि भगवान् वन्यवेश धारण किये हुए, गोपाल-गोवत्स आदिसे परिवेष्ठित जैसे वनमें पधारते हैं, वैसे उनके मंगलमय अमृतमय मुखचन्द्रके दर्शनसे मयूर-मयूरी लोग प्रसन्न हो जाते हैं और जानते हैं कि कोई अद्भुत दामिनीसे विद्युल्लताके समान पीताम्बरसे परिवेष्ठित नवनील नीरद मन्द-मन्द गर्जनतुल्य वेणुनिनाद करता हुआ अभिव्यक्त हुआ है। उनको देखते ही मयूर नाचने लगते हैं। उस पीताम्बरके अद्भुत दमक-चमक आनन्दोल्लासमें विभोर होकर नाचते हैं। एक मयूर नहीं '**मयूराः**' यह भक्तिकी सूचना। इन मयूरोंकी तरह भक्त भी प्रफुल्ल होकर नाचने लगते हैं, मानो वृन्दारण्य धाम भी नाचने लगा। उस स्थितिमें कपोत, हंस, कारण्डवादि दूसरे जन्तु सब-के-सब ऊँचे गोवर्धन सानुपर बैठकर उस नृत्यको देख, मनमोहन श्यामसुन्दरके मंगलमय श्रीअंगको देखकर और वेणुका मधुर-मधुर नाद श्रवणकर जहाँ-के-तहाँ चित्रलिखितसे रह जाते हैं।

वल्लभाचार्यजी कहते हैं—इससे ज्ञान सूचित है और सब ज्ञानी मयूर भक्त हैं। सो पशु-पक्षी तथा सर्पादि तामस हैं और ज्ञान तो सात्त्विक है। तो इसीलिये वह सब गोवर्धनके उच्च शिखरपर निर्भय होकर बैठे हैं—'**ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था**' (गीता १४।१८)। तात्पर्य यह कि श्रीवृन्दारण्यधामने ज्ञान, भक्ति सबको प्राप्त कर लिया, इसीलिये वह धन्य है सखि! '**वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिम्**' (श्रीमद्भा० १०।२१।१०)। कुछ भावुक कहते हैं—'**गोविन्दस्य वेणुरेव मनुः मोहनमन्त्रः**' गोपालचूड़ामणि श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दका वेणुनाद ही मोहनमन्त्र है। उसीसे मत्त होकर मयूरोंने नृत्य आरम्भ किया। उसको देखकर अन्य सब स्तब्ध होकर तल्लीन हो गये। वह कहता है—सब छोड़ो, केवल प्रभुके श्रीचरणारविन्दोंमें मन लगाओ। इसीलिये कहा—संसारके सब प्रवाह दूसरी तरफ खींचते हैं, वेणुध्वनिप्रवाह प्रभुकी ओर खींचता है। '**अद्रिसान्वपरतान्यसमस्तसत्त्वम्**' (श्रीमद्भा० १०।२१।१०) '**अद्रिसानुषु अपरतानि सर्वाभ्यः क्रियाभ्य उपरतानि अत्र समस्तसत्त्वानि।**'

ऐसा वृन्दारण्यधाम है। कुछ लोग कहते हैं—मयूरपिच्छधारी प्रभुको देखकर जैसे अन्य समस्त प्राणी स्तब्ध हो गये, वैसे मयूर क्यों नहीं हुए? उसे नृत्य कैसे सूझा? तो कहते हैं—मयूरोंको श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द दामिनीपरिवेष्टित मन्द गर्जन करते हुए नवनीलनीरद स्वरूपमें ही प्रकट हुए। जैसे '**मल्लानामशनि**' के वर्णनके अनुसार हर एकको अलग-अलग प्रभु दीखे, वैसे ही यहाँ भी मयूरोंके लिये मेघस्वरूपमें प्रकट होनेसे उनको नाचना ही सूझा एवं कोकिलाओंको सरस वसन्तस्वरूपकी प्रभुमें स्फूर्ति हुई अथवा ये मयूरपिच्छधारी श्रीकृष्ण मयूर-प्रिय हैं, उनको देखकर मयूरने नाचना आरम्भ किया और प्रार्थना की कि आप बजाओ और हम नाचें। कैसा सुन्दर दृश्य है। मनमोहन श्यामसुन्दर वेणुनाद करते हैं और मयूर नृत्य करते हैं। यही कहा—'वेणुमनु'। वेणुमें गायन भी और वादन भी, तदनुकूल नृत्य हो रहा है और सब खग-मृगादि सभ्यवृन्द द्रष्टा-श्रोता स्तब्ध हैं। अब जिस प्रकार बजानेवाले वादकने अगर ठीक बजाया तो उसपर प्रसन्न होकर इनाम दिया जाता है, वैसे ही मयूरने श्रीभगवान्के वादनपर प्रसन्न होकर पिच्छ दिया और प्रभुने भी बड़े आदरके साथ उसको अपने मस्तकपर धारण किया। अथवा पहले तो मयूरने दामिनीपरिवेष्टित नवनीलनीरद मानकर नृत्य आरम्भ किया। उसके नृत्यको देखकर भगवान्ने वेणु-वादन आरम्भ किया तो पीछे भेद खुल गया। नवनीलनीरदमें गम्भीरता, श्यामलता, तापा-

पनोदकता, मनोहारिता इत्यादि जो गुण हैं, वे तो सब प्रभुमें हैं ही; पर आखिर वह नीरद यह अमृतद, वह जलद, यहाँ प्रेमानन्दकी वर्षा। प्राकृत दामिनीसे अनन्तकोटिगुणित दीप्तिसम्पन्न पीताम्बर और वेणुवादनकी अद्भुत मनोहारिता इत्यादि। प्राकृत नीरदोंसे जब उसे विशेष अतिशयिताका अनुभव होता, तब मयूर भी स्तब्ध हो जाते हैं। इस पक्षमें पहले **'मयूरेभ्यः अन्यानि'** ऐसा अर्थ किया। अब **'अवरतानि अन्यसमस्ततत्त्वानि' 'अवरते अन्ये रजस्तमसी अवरत'** उपरत है अन्य रज, तम जिसमें। वह समस्त सत्त्व जिसमें रज और तमकी **सामस्त्येन निवृत्ति** है, ऐसा पूर्णरूपेण विकसित सत्त्व जहाँ है, ऐसा श्रीवृन्दारण्यधाम 'वृन्दावन'। **'वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिम्।'** (श्रीमद्भा० १०। २१। १०)

कहते हैं, गोपालचूड़ामणि श्रीकृष्णचन्द्र—परमानन्दकन्दके वेणुनादके अनन्तर जो मत्त मयूरोंका नृत्य, उससे प्रेक्ष्य जो अद्रिसानु उसपर सर्वप्राणि स्तब्ध हो गये। अर्थात् **'प्रेक्षामर्हन्तीति ते प्रेक्ष्याः।'** गोवर्धनके शिखर तो यों ही मनोहर थे, फिर प्रभुके सान्निध्यको प्राप्त होकर बड़े सुहावने बने थे। उनकी शोभा लोकोत्तर बढ़ी थी अथवा उस अवसरविशेषमें प्रेक्ष्य हुए जब इन्द्रकी पूजा रोककर गोवर्धनकी पूजा करायी और सब भोग **'शैलोऽस्मि'** (श्रीमद्भा० १०। २४। ३५) कहते हुए स्वयं लिया। इसलिये कहा—

गोविन्दवेणुमनु मत्तमयूरनृत्यं
प्रेक्ष्याद्रिसान्वपरतान्यसमस्तसत्त्वम्॥

(श्रीमद्भा० १०। २१। १०)

चीरहरण

नूतनजलधररुचये गोपवधूटीदुकूलचौराय।
तस्मै कृष्णाय नमः संसारमहीरुहस्य बीजाय॥

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दकी लीलाएँ अद्भुत एवं अलौकिक हैं। भावुकोंको तो परमानन्द रसात्मिका लीलाएँ आत्मरूप ही बना लेती हैं, परंतु अविवेकी कुतार्किकोंको वे व्यामोहमें भी छोड़ देती हैं—

राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे॥

(रा०च०मा० २। १२७। ७)

जड़ ही क्यों? भगवान्‌की दुर्गम-सुगम मंगलमयी सगुण लीलाएँ मुनियोंको भी कभी-कभी मोहित कर देती हैं। तभी तो महानुभावोंने कहा है—

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥

(रा०च०मा० ७। ७३ (ख))

नवनीत-चौर्य, चीरहरण, रासरस—ये सब लीलाएँ ऐसी हैं कि जिनपर अनेक शंकाएँ की जाती हैं। प्राणियोंके कल्याणार्थ महानुभाव समाधान भी किया ही करते हैं, फिर भी बिना कुछ श्रद्धा-विश्वास किये, केवल शुष्कतर्कोंसे समाधान मिलना कठिन है।

भगवान् और भगवान्‌की लीलासम्बन्धिनी मति तर्कसे नहीं प्राप्त होती—**'नैषा तर्केण मतिरापनेया'** (कठ० १। २। ९)। आस्तिकताके साथ विचार करनेसे विदित होता है कि जिन लीलाओंके वक्ता अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्र भगवान् श्रीशुक हैं, जिन्हें स्वस्वरूपभूत परमानन्दरसामृतसमास्वादनके सिवा दृश्यमात्र अत्यन्त असत्कल्प हो चुका है और श्रोता राजर्षि परीक्षित् हैं, साम्राज्य-सिंहासन त्यागकर गंगातटपर निर्जल व्रत धारण किये, कुशासनपर बैठे हुए आत्मकल्याणके लिये व्यग्र हैं, जिनके जीवनकी अवधि कुल सात ही दिनकी है, जिस समाजमें ब्रह्मर्षि, राजर्षि, देवर्षि विराजमान हैं, वहाँ किसी भी ग्राम्यकथाका संचार कैसे हो सकता है?

अस्तु, आज हम भी चीरहरण-लीलापर विचार करेंगे। श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धके बाईसवें अध्यायमें चीरहरणका प्रसंग आता है। उसके पहले अध्यायमें

गोपांगनाओंकी भगवत्क्रीड़ामें परम आसक्ति कही गयी है। अब नन्दव्रजकुमारिकाओंकी आसक्तिका निरूपण किया जाता है। कुमारिकाएँ श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द भगवान्‌को वररूपमें प्राप्त करनेके लिये दुर्गम-संगमनी भगवती कात्यायनीकी अर्चनामें लगी हैं। स्मरण रहे कि इनमें परमानन्दरसामृतमूर्ति भगवान्‌की माधुर्याधिष्ठात्री महाशक्ति श्रीवृषभानुनन्दिनी और उनकी अंशभूता ललिता, विशाखा प्रभृति एवं अन्याय नित्य सिद्ध व्रजकुमारिकाएँ भी सम्मिलित हैं।

उनकी साधना रसविशेषके पोषणमें एवं लीलाविशेषके विकासार्थ ही है, परंतु साधन-सिद्धाओंकी साधना तो ठीक श्रीकृष्णप्राप्तियोग्यतासिद्ध्यर्थ है। युवती व्रजांगनाएँ इन कुमारिकाओंसे भिन्न हैं। उनमें भी अनन्यपूर्विका, अन्यपूर्विका आदि भेद हैं। इन कुमारिकाओंमें भी आगे चलकर अन्यपूर्विका-अनन्य-पूर्विकाका भेद तो है, परंतु वस्तुतः श्रीकृष्णसम्बन्धी सभी व्रजयुवतीजन अनन्यपूर्विका ही थीं। रसविशेषके विकासके लिये उनमें अन्यपूर्विकात्वकी कल्पना थी।

महानुभावोंने इनका भेद इस तरह कहा है—पहले नित्य सिद्धा और सिद्धा दो भेद हैं। नित्य सिद्धा श्रीकृष्णके साथ ही अवतीर्ण होती है और बहुत उपासनाओं तथा मनोरथोंद्वारा श्रीकृष्णप्रसादसे सिद्ध होनेवाली सिद्धा कही जाती हैं। नित्य सिद्धाओंमें भी ऊढ़ा (विवाहिता), अनूढ़ा (कन्या) ये दो भेद हैं। ऊढ़ा भी अपने पतिकी सम्बन्धिनी कभी नहीं होतीं, किंतु वे केवल पतिकी ममतामात्रकी भाजन हैं—'**न जातु व्रजदेवीनां पतिभिः सह सङ्गमः।**'

व्रजदेवियोंका कभी अपने पतियोंसे समागम नहीं हुआ। भगवान्‌की अचिन्त्य शक्ति योगमायासे उनके पतियोंको मायामयी अन्य ही सेवामें उपस्थित मिलती हैं। अतएव रासक्रीड़ावसरमें जबकि व्रजांगनाएँ श्रीमद्वृन्दारण्यधाममें थीं, तब भी सभी गोपोंने अपनी-अपनी दाराओंको अपने पास ही पाया था। '**मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः॥**' (श्रीमद्भा० १०।३३।३८) अनूढ़ा कन्या ही थीं। श्रीकृष्णके इच्छानुसार नित्य सिद्धाओंमें भी ऊढ़ा (विवाहिता) हुईं, उसका परम प्रयोजन दुर्लभताकी प्रतीति होना ही था।

शास्त्रोंका मत है कि नायिका-नायकमें परस्पर सम्मिलनकी जितनी दुर्लभता हो, उतनी ही अधिक रसाभिव्यक्ति होती है। जहाँ माता-पिता, गुरुजनों एवं शास्त्रोंका अत्यन्त निषेध हो, जहाँ अत्यन्त दुर्लभता हो, वहीं उत्कट प्रीति होती है। जैसे प्रवहणशील जल रोकनेसे अधिक वेगवान् होता है, वैसे ही स्वाभाविक राग एवं प्रेमके आस्पदमें स्वाभाविकी प्रवृत्ति होती है। उधर रुकावट एवं विघ्न-बाधाओंसे मनोवेग अधिक बढ़ता है, दुर्लभतासे उत्कण्ठा भी अधिक बढ़ जाती है। इसीलिये परकीया रति श्रेष्ठ समझी जाती है—'**यत्र निषेधविशेषः या च मिथो दुर्लभता तत्रैवासह्यते चेतः।**'

फिर भी परकीया रति घोर नरकका मूल है, अतः शास्त्रोंने उसकी घोर निन्दा की है, परंतु सर्वान्तरात्मा सर्वेश्वर सर्वपति भगवान्‌के सम्बन्धसे समस्त दूषण भी भूषण ही हो जाते हैं। इसीलिये यहींपर परकीया रतिका वास्तविक सदुपयोग होता है।

जैसे यहाँ महाकामिनी तन्मय होकर दुर्लभजार उपपतिका चिन्तन करती है, वैसे यदि किसी जीवात्माका मन पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान्‌का चिन्तन करे तो उसका अहोभाग्य है। जैसे कोई महाकामुक अति दुर्लभ अपनी प्रेयसी कामिनीके सम्मिलनकी लालसामें व्यग्र हो, परमानन्दरसात्मक भगवान् जिन व्रजांगनाओंके चिन्तनमें ऐसे व्यग्र हों, उन व्रजांगनाओंके महा-महा भाग्योंका कौन वर्णन करे? अतएव महानुभावोंने कहा है—'**नेष्टा यदङ्गिनि रसे कविभिः परोढ़ा तद्गोकुलाम्बुजदृशां कुलमन्तरेण।**' अर्थात् जो कवियोंने शृंगाररसमें परोढ़ा (परकीया) कामिनीको अनभिमत माना है, वह तो गोकुल-कुलांगनाओंको छोड़कर माना है अर्थात् यहाँकी नायिका और नायक दोनों ही अलौकिक हैं। ऐसे ही स्वरूपसिद्धा भी कन्या होकर, कात्यायनी भगवतीकी अर्चनाद्वारा

श्रीकृष्ण-लीलाके लिये साधक भावको प्राप्त हुई थीं।

श्रुतियाँ ही व्रजकुमारियाँ बनीं

इनके अतिरिक्त श्रुतियोंकी अधिष्ठात्री महाशक्तियोंने जब परमतत्त्वका अन्वेषण करते-करते महा-महा तपस्याके पश्चात् श्रीकृष्णका दर्शन पाया, तब उन्होंने उनके साथ रमण (तादात्म्येन सम्मिलन)-की इच्छा प्रकट की। श्रीकृष्णने कहा कि 'तुम मेरी आराधनाद्वारा व्रजकुमारिका बनो, तब वहाँ तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा।' इस तरह कृष्णका वर प्राप्त करके वे भी नन्दव्रजकुमारिका हुई हैं। उनमें आगे चलकर साक्षात् परब्रह्मपर्यवसायिनी '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' इत्यादि श्रुतियाँ अनन्यपूर्विका या स्वकीया हुई हैं, एवं कर्मकाण्ड या अन्यान्य देवतातत्त्व पर्यवसायिनी श्रुतियाँ परकीया हुई हैं, जैसे '**सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति।**' (कठ० १।२।१५) '**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः॥**' (गीता १५।१५) इत्यादि श्रुति-स्मृतिके अनुसार समस्त वेदोंका महातात्पर्य परब्रह्ममें ही है। वैसे ही यहाँ भी श्रुतिरूपा गोपांगनाओंका, अन्य सम्बन्ध केवल काल्पनिक है, मुख्य सम्बन्ध तो उनका भगवान्‌से ही है।

उनमें भी श्रुतिरूपा गोपांगना वाच्य-वाचकके अभेदरूपसे ब्रह्मरूपा ही हैं, ओंकार मूलवाचक है, उसका वाच्य परब्रह्म है। समस्त वाङ्मय ओंकारका विकार है और सारा प्रपंच ब्रह्मका कार्य है। अत: ओंकारका विकारभूत समस्त वाङ्मय ब्रह्मके कार्यभूत सम्पूर्ण प्रपंचका वाचक है। वाच्य और वाचकका अभेद हुआ करता है, इसीलिये समस्त वाङ्मय भी वस्तुत: ब्रह्मरूप ही है।

इसके सिवा श्रुतियोंके अवान्तर तात्पर्य अन्य-अन्य होनेपर भी उनका प्रधान तात्पर्य तो ब्रह्ममें ही है। शब्दसे दो बातोंका बोध हुआ करता है—जाति और व्यक्ति। त्वतलादिप्रत्ययवेद्य जाति भावरूप ही होती है। '**तस्य भावस्त्वतलौ**' इस पाणिनिसूत्रके अनुसार घटकी भावरूप जाति ही घटत्व है, वह वस्तुत: एक भावविशेषमें स्थित मृत्तिका ही है। इस प्रकार घटका वाचक 'घट' शब्द भी मूलत: उसके कारण मृत्तिकाका ही बोधन करता है। इसी प्रकार जितने शब्द हैं, वे सब अपने अभिधेय विभिन्न पदार्थोंके मूल कारण परब्रह्मके ही वाचक हैं। अत: अवान्तर श्रुतियोंका भी मुख्य तात्पर्य तो परब्रह्ममें ही है। विचार किया जाय तो वस्तुत: वाच्य-वाचकका भेद भी नहीं है। ये दोनों एक ही चेतनके विवर्त हैं। अभिधेयप्रपंचजननानुकूल शक्त्यवच्छिन्न चेतनका विवर्त अभिधेय है और अभिधानात्मकप्रपञ्च जननानुकूल-शक्त्यवच्छिन्न चेतनका विवर्त अभिधान है। जिस प्रकार एक ही परब्रह्ममें अभिधान-अभिधेयरूप अनन्त तरंगें प्रादुर्भूत हो गयी हैं, किंतु '**तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वनानियमात्**' इस न्यायके अनुसार तरंगाभिन्न समुद्रके साथ तरंगोंका अभेद होनेके कारण उनका आपसमें भी अभेद है।

यह बात तो तरंगसे तरंगान्तरके अभेदकी रही, किंतु मूल दृष्टिसे तो अभिधानात्मक तरंग जिस समुद्रमें है, लक्षणावृत्तिसे वह उस समुद्रका ही बोधन करती है, हाँ, अभिधेयात्मक तरंगान्तरको वह अभिधावृत्तिसे बोधित करती है; क्योंकि किसीकी भी शक्ति अपने शक्यमें ही सफल हुआ करती है, अपने कारणमें नहीं होती। दाहकत्व, प्रकाशकत्व आदि शक्तियोंवाला अग्नि अपने दाह्य काष्ठादिको ही दग्ध कर सकता है, अपने स्वरूपभूत अग्निका दहन नहीं कर सकता। मूल रूपसे तो तरंगें समुद्रसे भिन्न नहीं हैं, यह दूसरी बात है कि '**अकारो वै सर्वा भाक्**' इस श्रुतिके अनुसार सम्पूर्ण वाङ्मय-प्रपंचका अकारमें, अकारका उकारमें और उकारका मकारमें तथा उसके पश्चात् सम्पूर्ण प्रपंचका तुरीयमें लय होता है।

तात्पर्य यह है कि अभिधानात्मिका श्रुतियाँ अनन्त चैतन्यानन्दसुधासिन्धुकी तरंगोंके समान हैं और वे उसकी अभिधेयरूप अन्य तरंगोंके साथ वृद्धिको प्राप्त होकर प्रकाशित होती हैं; क्योंकि अभिधेय अर्थ उनके शक्य हैं। श्रुतियाँ अपने उद्‌गमस्थलभूत परमतत्त्वका तो लक्षणासे ही बोध

कराती हैं। यद्यपि किसी दृष्टिसे 'घट' का वाच्य घटाकारमें परिणत मृत्तिका भी हो सकती है तथापि लोकमें 'घट' पदका वाच्य घट व्यक्ति ही समझा जाता है। इस प्रकार अभिधानात्मक ब्रह्म तरंगका वाच्य अभिधेयात्मक ब्रह्म तरंग तो है, परंतु लक्षणासे ही है। फिर मीमांसकोंने तो जातिमें ही शक्ति मानी है। जाति घटत्वादिको कहते हैं, जिसे घटभाव भी कहा जा सकता है, घट कार्य है, कार्यका भाव कारणसे व्यतिरिक्त नहीं हुआ करता। समस्त कार्योंका भाव कारणमें ही पर्यवसित होता है, अतः समस्त शब्दोंकी वाच्यताका पर्यवसान-कारण परम्परा-क्रमसे सन्मात्रमें ही होता है। इसलिये सारे शब्दोंका वाच्य परमात्मा ही है। इस प्रकार वाच्य-वाचकका अभेद है और समस्त श्रुतियाँ तत्पदार्थसे अभिन्न ही हैं।

श्रुतियोंके दो भेद

श्रुतियाँ दो प्रकारकी हैं, अन्यपरा और अनन्यपरा। अनन्यपरा श्रुतियाँ वे हैं, जो साक्षात् रूपसे परब्रह्ममें पर्यवसित होती हैं, जैसे—'**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।**' (तैत्तिरीय० २।१) तथा अन्यपरा श्रुतियाँ वे हैं, जिनका साक्षात् तात्पर्य तो अन्य देवतादिमें है, किंतु परम्परासे उनका महातात्पर्य परब्रह्ममें ही होता है। जैसे—'**इन्द्रोयातोऽवसि तस्य राजा**' इत्यादि। इन्हें ही ऊढ़ा और अनूढ़ा अथवा अनन्यपूर्विका भी कह सकते हैं अर्थात् एक वे गोपियाँ, जो केवल कृष्णपरायण हैं और दूसरी वे जो श्रीकृष्णके अतिरिक्त अन्य पुरुषोंके साथ विवाही गयी हैं। इनके ये दो भेद भी प्रतीतिमात्रके लिये हैं, वास्तविक नहीं। वरुणादि देवताओंमें श्रुतियोंका तात्पर्य तभीतक जान पड़ता है, जबतक '**सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति**' (कठ० १।२।१५) इस वाक्यके अनुसार उनका महातात्पर्य एकमात्र परब्रह्ममें ही नहीं जान पड़ता है। वास्तवमें तो जिस प्रकार तरंग समुद्रसे भिन्न नहीं है और घटादि मृत्तिकासे भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार उपक्रम, उपसंहारादि षड्विध लिंगसे समस्त श्रुतियोंका तात्पर्य ब्रह्ममें ही है, किंतु फिर भी लीलाविशेषके विकासार्थ वस्तुतः अनन्यपरा श्रुतियोंमें भी अन्यपरात्वकी प्रतीति होती है।

यहाँ सन्देह होता है कि श्रीराधिकाप्रभृति व्रजांगनाएँ परमात्मा समझी जाती हैं। इतना ही नहीं, बल्कि श्रीव्रजांगनाओंको ही श्रीकृष्ण-प्रेयसी कहा गया है—'**यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाऽऽचरत्तपः।**' (श्रीमद्भा० १०।१६।३६)

जिन श्रीकृष्णके पाद-पंकज-रजकी कामनासे श्रीललना तपस्या करती हैं—

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ..............॥

(श्रीमद्भा० १०।४७।६०)

जो प्रसाद श्रीव्रजसीमन्तिनियोंको प्राप्त हुआ है, वह लक्ष्मीको भी नहीं मिल सकता, फिर देवांगनाओंकी तो बात ही क्या? श्रीदामोदरकी अधरसुधा गोपिकाओंकी ही है। '**दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम्**' इत्यादि वचनोंसे यही विदित होता है कि श्रीव्रजांगनाएँ अन्योंसे असंस्पृष्ट भगवान्‌की ही शुद्ध प्रेयसी थीं, फिर '**यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते॥**' (श्रीमद्भा० १०।१४।३५) जिनका धाम, अर्थ, सुहृत्, प्राण, अन्तरात्मा सब कुछ श्रीकृष्णहीके लिये था, वे श्रीकृष्णसे भिन्नको पतिरूपसे स्वीकार कैसे कर सकती थीं? वह रुक्मिणीकी तरह यह दृढ़ प्रतिज्ञा कर सकती थीं कि—'**जह्यामसून् व्रतकृशाञ्छत-जन्मभिः स्यात्॥**' (श्रीमद्भा० १०।५२।४३)

अर्थात् 'हे नाथ! व्रतसे कृश प्राणोंको मैं छोड़ दूँगी', फिर उनका अन्य सम्बन्ध कैसे सम्भव है? परंतु यहाँ यह समाधान समझना चाहिये कि श्रुतार्थापत्ति प्रमाणद्वारा अर्थात् श्रुत तत्तत् प्रमाण-वचनोंके अर्थका उपपादन करनेके लिये यह मानना चाहिये कि भगवान्‌की दिव्य लीलाशक्तिसे ही सबको वैसी प्रतीतिमात्र हुई है। श्रीकृष्णसम्मिलनकी आशासे ही ऐसी प्रतीति होनेपर भी व्रजांगनाओंने जीवनकी रक्षा की। उनका अन्य पुरुषोंके साथ सम्बन्ध नहीं हुआ, किंतु उन्हींके समान मायामयी अन्य अंगनाओंसे ही

उन पतियोंका सम्बन्ध होता था। श्रीकृष्णप्रेयसी व्रजांगना सदा ही असंस्पृष्ट रही थीं। जैसा कि कहा गया है—

नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः॥

(श्रीमद्भा० १०।३३।३८)

यह भी उनकी उत्कण्ठा बढ़ानेके लिये एक लीला थी। जैसे निर्धन प्राणी धन पाकर बड़ा प्रसन्न होता है, उसके नष्ट होनेपर उसकी चिन्तामें इतना तल्लीन होता है कि अन्य समस्त प्रपंचको भूल ही जाता है, वैसे ही इसमें वैचित्र्यसम्पादनार्थ ही व्यूढ़ा और कुमारीभेद थे।

दण्डकारण्यनिवासी मुनिगण भी गोपकुमारियोंके रूपमें प्रकट हुए

उनके सिवा दण्डकारण्यनिवासी मुनिगण भी गोपकुमारीके रूपमें प्रकट हैं। वे भी भगवान् रामचन्द्रको देखकर मोहित हो गये थे। अहो! खरदूषण-जैसे मांसरुधिराशी क्रूरकर्मा हिंस्र राक्षस भी जिनकी सरसता, मनोहरतापर मुग्ध हो जाते हैं और कहते हैं—'**जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा। बध लायक नहिं पुरुष अनूपा॥**' (रा०च०मा० ३।१९।५), वीतराग अरण्यवासी मुनिगण उनपर मुग्ध हो जायँ तो क्या आश्चर्य? यहाँ तो रामचन्द्र मर्यादापुरुषोत्तम थे, उन्होंने यही वरदान दिया कि लीलापुरुषोत्तमरूपसे आपलोग व्रजकुमारिका होकर मिलें। वे भी व्रजकुमारिका बनकर कात्यायनीकी अर्चनामें लगे। इसी तरह कुछ देवांगनाएँ भी भगवत्कृपासे सिद्धि प्राप्तकर भगवान्‌को प्राप्त हुई थीं। ऐसे ही कोई भौमवैकुण्ठमें रहनेवाली भौमी थीं, कोई अभौम वैकुण्ठकी अभौमी थीं। युग-युगान्तरों, कल्प-कल्पान्तरोंसे, यह सब पूर्णतम पुरुषोत्तम सर्वप्राणियोंके पर-प्रेमास्पद श्रीकृष्णके सम्मिलनके लिये व्यग्र हो घोर तपस्या कर रही थीं, अब उन्हें व्रजवास, व्रजकुमारिका-जन्म प्राप्त हो गया है। उन्हें यद्यपि श्रीकृष्णदर्शन होता है, परंतु अभी इन्हें श्रीकृष्ण अति दुर्लभ प्रतीत होते हैं। दुर्लभ वस्तु प्राप्त करनेके लिये भगवतीका आश्रयण करना ही चाहिये। पूर्णतम पुरुषोत्तम परब्रह्म श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिये तो ब्रह्मविद्यारूपा कात्यायनीका अवलम्बन युक्त ही है—

मोक्षार्थिभिर्मुनिभिरस्तसमस्तदोषै-
र्विद्यासि सा भगवती परमा हि देवि॥

(श्रीदुर्गासप्तशती ४।९)

गोपकुमारिकाओंद्वारा उत्तम वरकी प्राप्तिके लिये देवी कात्यायनीका आराधन

अस्तु, समस्त दोष-मोक्षार्थी मुनि अम्बाको श्रीविद्यारूपसे सेवते हैं। इसलिये श्रीमन्नन्दव्रजकुमारिका कृष्णप्राप्तिके लिये कात्यायनीके शरण गयीं। लौकिकी दृष्टिसे भी यह अत्यन्त पवित्र भाव है। कुलीन कुमारिकाएँ सुन्दर वरप्राप्तिके लिये श्रीदेवीकी आराधना करती हैं। श्रीकृष्णका लोकोत्तर सौन्दर्य-माधुर्यादि गुणगण भुवनविख्यात था। ऐसे सुन्दर सर्वगुणसम्पन्न सत्कुलोत्पन्न श्रीकृष्णके प्रति कुमारिकाओंको अपने वरणके लिये स्पृहा होना स्वाभाविक है। अतः उस मनोरथपूर्तिके लिये उनका कात्यायनी अर्चन-व्रत ठीक ही था। जैसे दुर्लभ पदार्थकी प्राप्तिके लिये लोकमें देवताका आराधन किया जाता है, वैसे ही दुर्लभ श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिये नन्दव्रजकुमारिकाएँ भी कात्यायनीके आराधनमें लगीं। भिन्न-भिन्न फलोंके लिये श्रीकृष्णकी आराधनामें कृष्ण-प्रेम गौण रहता है, फल-प्रेम मुख्य होता है। श्रीकृष्णके ही लिये श्रीकृष्णकी आराधनामें श्रीकृष्ण ही फल होते हैं और वे ही साधन भी होते हैं, परंतु श्रीकृष्णप्राप्त्यर्थ कात्यायनीकी आराधनामें श्रीकृष्ण फल ही हैं, उनमें साधनताका निवेश नहीं है। केवल शुद्ध फल श्रीकृष्णके लिये श्रीकुमारिकाओंका कात्यायनी-व्रत अद्भुत कृष्णप्रेमका साधन है।

वे अरुणोदयके समय ही कालिन्दीके निर्मल जलमें स्नान करके जलके समीपमें ही देवीकी सिकता (बालुका)-मयी मूर्ति बनाकर पूजा करती थीं। यौवन-संचारके पहले ही श्रीकृष्ण-प्रेममें मोहित होकर वे उन्हें पति चाहने लगी थीं। महानुभावोंने

कहा है कि व्रजकुमारिकाओंके अंगोंमें अनंगका संचार तो अवस्थाक्रमसे ही हुआ, परंतु सांग श्रीश्यामसुन्दर तो बहुत पहले ही उनके अंग ही क्या, अन्तरात्मा, अन्तःकरण, प्राण, इन्द्रियों एवं रोम-रोममें प्रविष्ट हो गये थे। वे सुगन्धित पुष्पों, बलियों, धूप, दीप एवं प्रवाल, फल, तण्डुल आदि नाना प्रकारके उच्चावच उपहारोंसे श्रीकात्यायनीका पूजन करती थीं। कभी-कभी प्रेममें पूजाका क्रम विस्मृत हो जाता था। श्रीकात्यायनीकी प्रार्थना करती हुई कहती थीं— 'हे कात्यायनी! आप कात्यायनमुनिवंशप्रकाशक होनेसे परम धर्मदात्री हो। हे महायोगिनी! आप अघटितघटना-पटीयसी हो, अतः हमारे लिये दुर्घट श्रीकृष्ण वर-सम्मिलन भी आपकी कृपासे संगत होगा। हे अम्ब! आप ही अधीश्वरी सर्वोत्कृष्ट स्वामिनी हो। आपको छोड़कर हम सब किसकी शरण जायँ। हे देवि! श्रीमन्नन्दगोप राजकुमारको ही हमारा पति बनाओ। उनकी आराधनासे भी यह सिद्ध हो सकता है, किंतु उनके लिये उन्हींसे प्रार्थना करना रसानुकूल नहीं है। आपकी प्रसन्नताके लिये हम आपको नमस्कार करती हैं।'—

कात्यायनि महामाये महायोगिन्यधीश्वरि।
नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः।

(श्रीमद्भा० १०। २२। ४)

परम प्रेमोल्लासवश श्रीव्रजकुमारिकाएँ श्रीदेवीकी पूजामें प्रवृत्त हुई हैं, इसमें अनन्यताका व्याघात नहीं होता। भगवत्-प्रेम गन्धके सम्बन्धी गन्धवाह वायुको भी प्रेमी स्पर्श करते हैं। शुद्ध प्रेम ही परम पुरुषार्थ है, अन्यान्य देवतोपासना आदि तो साधनमात्र है। परम साध्यस्वरूप प्रेमके प्रसंगमें वह गौण हो जाता है। प्रेममें माधुर्यभावकी ही प्रधानता रहती है। वहाँ ऐश्वर्यकी स्फूर्ति नहीं होती। अनन्य भक्ति बिना ऐश्वर्यस्फूर्ति नहीं होती। माधुर्यानुभवकालमें ऐश्वर्यका अनुभव होनेपर आश्चर्य होता है। अहो! प्रेमसे ही व्रजांगनाओंने भगवान्‌को वशमें कर लिया, जिसे कि ब्रह्मा आदि न पा सके, परंतु अपनी स्वाभाविकी दृष्टिसे व्रजांगना केवल शुद्ध-माधुर्यका ही आदर करती थीं। यह कात्यायनी-अर्चन-व्रत शुद्ध मधुर प्रेमका ही विलास है। अतएव वे उनसे '**भगवान् पति दो**' ऐसा न कहकर नन्दगोपराजकुमार पति माँगती हैं।

ऋषिरूपा होनेके कारण उन्हें इस मन्त्रका प्रत्यक्ष हुआ। यहाँ कात्यायनी आधिदैविकी संहारिणी शक्ति हैं। अतः भगवान्‌की अप्राप्तिके हेतुभूत प्रतिबन्धको वे ही दूर कर सकती हैं। भगवत्प्राप्ति-प्रतिबन्धक दुरदृष्ट मिटानेका साधन तप भी है, परंतु वह तो ऋषिरूपा कुमारिकाओंमें पहलेसे ही सिद्ध है। अतः आधिदैविक प्रतिबन्धक मिटानेके लिये आधिदैविकी महाशक्ति कात्यायनी ही समर्थ हैं। कहा जा सकता है कि यदि आधिदैविक प्रतिबन्धक है, तब तो वह भगवान्‌की इच्छासे ही होगा, फिर इसकी निवृत्ति कैसे होगी? परंतु वह महाशक्ति महाभागा है। अल्पभागा होनेसे उन्हें भगवान्‌की आज्ञा न होती, श्रीयशोदाके यहाँ जन्म न होता। अतः महाभागा भगवती कात्यायनीकी प्रार्थनासे प्रभु अपनी इच्छाको भी भगवतीके इच्छानुगुण कर देंगे। हे देवि! आप प्रभुकी ज्येष्ठा भगिनी हैं। सब तरहसे आप हमारे मनोरथको पूरा कर सकती हैं। यदि आप यह कहें कि यह प्रतिबन्ध हमसे नहीं दूर हो सकता तो ठीक नहीं; क्योंकि आप महायोगिनी हैं। यदि आप देवकीके उदरसे बलरामको रोहिणीके उदरमें पहुँचा सकती हैं तो मेरे भगवत्प्राप्ति-प्रतिबन्धक आधिदैविक दुरदृष्टको क्यों नहीं मिटा सकतीं? यदि कहें कि यह आधिदैविकी प्रतिबन्धक शक्ति अत्यन्त बलवती है तो भी देवि! आप अधीश्वरी हैं। भगवान्‌की आप अन्तरंग शक्ति हैं। सर्वप्रकारसे आप व्रजराजकुमारको हमारा पति बना सकती हैं। यदि यह कहो कि भगवान् किसीके पति नहीं हो सकते तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि जब श्रीव्रजराजके कुमार हो गये तो हमारे पति बननेमें क्या आपत्ति है? फिर आप देवी हो, किसी अलौकिक रीतिसे भी आप यह कार्य कर सकती हो। हम इसके

बदलेमें आपका केवल नमन कर सकती हैं।

इस तरह नन्दव्रजकुमारिका श्रीकृष्णमें आसक्त-मन होकर भद्रकाली भगवतीकी अर्चना किया करती थीं। उषाकालमें ही उठकर अपने-अपने वर्गोंसे आहूत होकर अन्योऽन्याबद्धबाहु होकर उच्च स्वरसे श्रीकृष्णका ही गायन करती हुई प्रतिदिन कालिन्दी नहाने जाती थीं। थोड़े ही कालके आराधनसे उनका मन श्रीकृष्णमें आकर्षित हो गया। व्रतका फल यह भी है, परंतु अभी महाफल अवशिष्ट ही है। अस्तु, पूर्णमासीके दिन नित्य प्रतिके समान ही तीरपर आकर पूर्ववत् वस्त्रोंको खोलकर श्रीकृष्णके मंगलमय यशका गायन करती हुई प्रसन्नतासे जल-विहार करने लगीं। व्रतकी पूर्तिका दिन था, प्रसन्नतासे देहानुसन्धानशून्य होकर मानस, वाचिक, कायिक तन्मयतासे श्रीकृष्ण-यश गाती हुई विहार करने लगीं। कुछ भावुकोंका कहना है कि रास-क्रीड़ाके समान अन्योऽन्य-बाहुबद्ध होकर गोपांगनागण परिवेष्टित श्रीकृष्णका यश गाती हुई कालिन्दीमें विहार करने लगीं। कालिन्दीके अवगाहनसे सब प्रकारके दोष दूर होते हैं। '**कलिं द्यति खण्डयति इति कलिन्दः, तस्यापत्यं कन्या कालिन्दी**'। इस व्युत्पत्तिके अनुसार कलिन्दपर्वत ही कलिदोषको दूर करनेवाला है। उसकी कन्यामें भी वे ही सब गुण हैं। अतः कालिन्दी—श्रीयमुनाजीका सेवन करनेसे उन गोप-कुमारिकाओंका परस्पर कलह, भगवान्‌के साथ कलह और कलिकालके दोष दूर होंगे। पुनः अत्यन्त शुद्ध होनेपर श्रीकृष्णप्राप्तिकी योग्यता सम्पन्न होगी।

यमुनास्नानका माहात्म्य

भावुकोंका कहना है कि श्रीयमुनामें स्नान करते ही प्राणीको श्रीकृष्ण-सम्मिलनकी योग्यता हो जाती है। प्राकृत स्त्रीत्व-पुंस्त्वभाव वर्जित होकर शुद्ध गोपांगना-भावकी प्राप्ति ही रसोपासनाका मूल है। वेदान्तियोंके समान ही रसिकोंके यहाँ भी पहले '**त्वं**' पदार्थका शोधन अपेक्षित होता है। स्वरूपनिष्ठाके अनन्तर ही निखिल रसामृतमूर्ति श्रीकृष्णकी रसोपासनाका अधिकार प्राप्त होता है। यह सब भाव बहुकालके परिश्रमसे सिद्ध होता है, परंतु श्रीकालिन्दीके सेवनसे सहजहीमें यह भाव मिल जाता है। योगेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण व्रजांगनाओंके व्रतका अभिप्राय जानकर, उस कर्मकी सिद्धिके लिये ही अपने दाम, सुदाम, वसुदाम, किंकिणी, गन्ध-पुष्पकादि परम अन्तरंग सखाओंसे परिवृत होकर वहाँ गये। ये सखा श्रीकृष्णके साक्षात् अन्तःकरण ही हैं।

भगवांस्तदभिप्रेत्य कृष्णो योगेश्वरेश्वरः।
वयस्यैरावृतस्तत्र गतस्तत्कर्मसिद्धये॥

(श्रीमद्भा० १०। २२। ८)

यह लीला अलौकिक एवं अप्राकृत है, यही बात प्रदर्शित करनेके लिये इस श्लोकमें श्रीकृष्णके लिये भगवान् और योगेश्वरेश्वर इत्यादि विशेषण आये हैं अर्थात् भगवान् व्रजकुमारिकाओंकी शुद्धभावनासे की गयी आराधनासे सन्तुष्ट होकर उनकी कर्मसिद्धिके लिये पधारे हैं, गोपियोंके नग्न अंग देखनेके लिये नहीं। योगसिद्ध प्राणी भी प्रत्याहारद्वारा इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर लेता है, फिर योगेश्वर तो सर्वज्ञता, सत्य-संकल्पता आदिके स्वामी होते हैं, उनके मनमें ऐसी वासनाओंका जाग्रत् होना नितान्त असम्भव है। फिर महा-महायोगेश्वर, जिनके पादपंकजका सेवन करते हैं, वे योगेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण अजातयौवन उन कुमारिकाओंका नग्न अंग देखनेकी ही रुचिसे वहाँ गये, ऐसी दुर्भावना जिनके मनमें उठे, उनसे अधिक हतभाग्य कौन हो सकता है? नन्ददासजीने श्रीकृष्ण और व्रजांगनाओंके सम्बन्धको इसी रूपमें दिखलाया है। '**तरंगन वारि ज्यों**'। जैसे तरंगके प्रत्यंशमें वारि भरपूर है, वैसे ही व्रजांगनाओंके अन्तरात्मा—अन्तःकरण किं बहुना रोम-रोममें श्रीकृष्णरस भरपूर है। परमानन्दरसामृतसिन्धुकी तरंगस्थानीया व्रजांगनाओंकी अपेक्षा भी परमानन्द रसामृतसारसर्वस्व श्रीकृष्णकी माधुर्याधिष्ठात्री महालक्ष्मी अधिक अन्तरंग हैं। जैसे अमृत स्वयं अभेद-सम्बन्धसे अपनी मधुरिमाका अनुभव करे, उसी तरह

निखिल रसामृतमूर्ति श्रीकृष्ण अपनी माधुर्याधिष्ठात्री महालक्ष्मी श्रीवृषभानुनन्दिनीका अनुभव करते हैं।

नायिका-नायकके रूपकसे जीवात्मा-परमात्माके सम्मिलनका वर्णन किया जाता है। अत्यन्त अभिन्न सदा सम्मिलितस्वरूपमें भी वियोग एवं तज्जन्य व्याकुलता आदिकी प्रतीति होती है।

सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा॥

(रा०च०मा० ७। १११। ६)

कर्मयोग और भक्तियोगकी विलक्षणता

कुछ महानुभावोंका कहना है कि नन्द-व्रजकुमारिकाओंके कात्यायनी-अर्चन-व्रतमें चार दोष आ गये। भले ही वे भक्तिमार्गके गुण हों, परंतु कर्ममार्गमें तो दोष ही हैं। कालिन्दी-स्नानमें मौन और सवस्त्र होना आवश्यक था, परंतु ये वस्त्रनिक्षेपपूर्वक कृष्णयशगान करती हुई स्नानमें प्रवृत्त हुईं। अत: मौनका त्याग और वस्त्रका त्याग—ये दो दोष हुए और व्रत-नियममें रहकर क्रीड़ा और देहविस्मरण भी दोष ही हैं। कर्ममें किसी प्रकारकी व्यंगता न आये, सम्यक् रूपसे उसका अनुष्ठान हो, इसलिये ही कर्म फलनिरपेक्ष एवं असक्त होकर कर्मोंके अनुष्ठानका आदेश किया जाता है।

क्योंकि ऐसा होनेसे कर्तव्यबुद्ध्या तत्परतासे कर्मोंका ही अनुष्ठान किया जाता है, फलापेक्षया उसमें गौणता बुद्धि या असावधानी नहीं आने पाती। कर्मफलकी चिन्ता और आसक्तिसे साधकको कर्मानुष्ठानमें उचित सावधानी नहीं रह जाती। ऐसी स्थितिमें कर्मकी व्यंगता अवश्य हो जाती है। लीलावती, कलावतीको सत्यनारायण-व्रत-कथामें प्रीति एवं विश्वास था, परंतु जब उन्होंने पति और जामाताका आगमन सुना, तब लीलावती पति-सम्मिलनकी उत्सुकतावश पुत्रीको पूजामें लगाकर, स्वयं पूजा छोड़कर पतिसे मिलने चली गयी। पुत्री भी उसी उत्सुकताके कारण पूजा समाप्तकर, बिना प्रसाद-ग्रहण किये ही चली गयी। बस, व्रतमें व्यंगता आ गयी, अन्ततोगत्वा फिर विघ्न भी खड़ा हो गया।

इधर व्रजकुमारिकाओंको भी व्रत-फल, श्रीकृष्ण-प्राप्तिकी उत्सुकतासे व्रतके नियमोंका स्मरण नहीं रहा। जन्मजन्मान्तरों, कल्पकल्पान्तरोंकी श्रीकृष्ण-सम्मिलन-वाञ्छाका प्रवाह कैसे रोका जाय? श्रीकृष्ण-प्रेमोन्मादमें उन्हें कर्म और उसके नियम भूल गये। वे विभोर होकर वस्त्र और मौन—दोनोंको त्यागकर श्रीकृष्णका यशगान करने लगी थीं। प्रेमोन्मादमें ही जल-क्रीड़ा करती-करती देह, दैहिक समस्त प्रपंचको भूल गयी थीं। ये सब कर्ममार्गमें अवश्य दोष हैं, परंतु प्रेममार्गमें तो ये ही सब गुण हैं, प्रेमी तो उसी पूजाको सफल और सांग मानते हैं, जिसमें आराध्य-देवकी स्मृति एवं तन्मयतामें पूजा और उसकी सामग्री विस्मृत हो जाय। हाँ तो भक्ति-सिद्धान्तके गुणोंसे प्रसन्न होकर भगवान् कर्ममार्गके दोषोंसे उत्पन्न हुई व्यंगताको दूर करनेके लिये प्रकट हुए। याज्ञिक लोग उनकी स्मृति और नामोक्तिसे ही कर्मच्छिद्र दूर किया करते हैं—

यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु।
न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम्॥

श्रीकृष्ण उनके हितकारी परमानन्दरस स्वरूप हैं और योगेश्वरेश्वर हैं। अत: अन्त:स्थित सब प्रकारके दोषोंके निकालनेमें समर्थ हैं। योगेश्वर लोग योगबलसे अन्त:प्रविष्ट होकर दोषको दूर करते हैं, फिर योगेश्वरेश्वरकी तो बात ही क्या है?

कुछ महानुभावोंने '**योगेश्वरेश्वर**' इस शब्दमेंसे यह अभिप्राय निकाला है कि भगवान् योगेश्वरोंके भी ईश्वर हैं, अतएव उन अपरिगणित व्रजकुमारिकाओंमें प्रत्येकका मनोरथ पूर्ण कर सके और व्रजकुमारिकाओंके नेत्रोंके सामने रखे हुए सभी वस्त्रोंके चुरानेमें समर्थ हुए। प्राणत्यागसे भी अधिक दुष्कर जिनका लज्जात्याग था, उन कुल-कुमारियोंको जलसे निकालकर निरावरण-रूपसे नमन करानेका सामर्थ्य भी उन्हींमें था, फिर निर्जन प्रदेशमें उनके निरावरण सर्वांगका दर्शन करनेपर भी, अत्यन्त स्वाधीन परम सुन्दरियोंका सम्भोग आदि न करना भी योगेश्वरेश्वर श्रीभगवान्‌का ही कार्य है।

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसश्श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥

(श्रीविष्णुपुराण ६।५।७४)

समग्र ऐश्वर्य, सम्पूर्ण धर्म, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री एवं सम्पूर्ण ज्ञान, वैराग्य जिनमें विद्यमान हों, उन्हें भगवान् कहा जाता है। भिन्न-भिन्न साधकोंमें भगवान्की कृपासे भगवान्का ही कुछ (असमग्र या असम्पूर्ण) ऐश्वर्य एवं धर्म प्राप्त होता है। यही स्थिति ज्ञान-वैराग्यकी भी है। साधारण धर्मात्मा पुरुष भी नग्न कुमारीको या परस्त्रीको देखनेके लिये उत्सुक नहीं होते। सम्पूर्ण रूपसे धर्म जिसमें विराजमान है, उनको ऐसी उत्सुकता क्यों होगी? कोई भी वैराग्यवान् एवं ज्ञानवान् मायामय विषयोंके प्रलोभनमें नहीं फँसता, फिर सम्पूर्ण वैराग्य, ज्ञानसम्पन्न भगवान् व्रजकुमारिकाओंके सुन्दर निरावरण अंगमात्र देखनेके लिये ऐसा कैसे कर सकते थे?

भगवान्का व्रजकुमारिकाओंके साथ परिहास

अतएव भावुकोंका कहना है कि यह उन व्रजकुमारिकाओंकी विशेषता है। भगवान्ने अपने अद्भुत माधुर्यादि लोकोत्तर चमत्कारसे समग्र ज्ञान-वैराग्यवान् सनकादि, शुकादि मुनीन्द्रोंके मनको खींच लिया है। अतएव अत्यन्त निःस्पृह, निष्काम होनेपर भी भगवान्में उन सबका आकर्षण हुआ, परंतु ये व्रजांगनाएँ भगवान्से भी अधिक गुणवती हैं, अतः अपने लोकोत्तर प्रेमसे समस्त ज्ञान-वैराग्यवान्के मनको भी खींच लिया। इसीलिये कहा है कि समस्त जीव तो भगवान्के साथ रमण करनेके लिये सदा लालायित रहते ही हैं; किंतु अहोभाग्य उन लोगोंका है, जिनके साथ रमण करनेके लिये भगवान् उत्सुक हैं। यह केवल विशुद्ध प्रेमकी ही महिमा है कि उनके कर्म सिद्ध करनेके लिये वयस्योंसे समावृत भगवान् पधारे। बड़ी शीघ्रतासे उनके वस्त्रोंको लेकर कदम्बपर चढ़ गये और हँसते हुए बालकोंके साथ उनसे इस तरह परिहास करने लगे—क्यों शीतल जलमें कम्पित हो रही हो? निकलकर शुष्क वस्त्र धारण करो अथवा हे व्रज-बालिकाओ! इस कदम्बकी शाखामें इतने वस्त्रोंको किसने लाकर बाँधा है? क्या आप सब जानती हैं? मैं तो गौ चराते हुए दूरसे यह देखकर कि मेरे कदम्बमें आज विचित्र वस्त्रोंके ही फल-फूल लगे हैं, अभी इसपर चढ़ा हूँ। यदि आपलोग यह कहें कि ये हमारे वस्त्र हैं तो यह तो सम्भव नहीं। तुम्हारे वस्त्र इतने ऊँचे कैसे चढ़ सकते थे? यदि कहो कि तुम्हींने चुराकर इतने ऊँचे रख दिया है तो ठीक है। क्या यह भी कहनेका साहस करोगी? क्या नन्दरायका पुत्र मैं चोर हूँ? क्या तुमलोग मथुरास्थ कंसके पास जाना चाहती हो? यदि कहो कि वस्त्र ही देखो-पहचानो, यह पुरुषके वस्त्र हैं या स्त्रीके हैं? परंतु क्या इस संसारमें तुम्हीं स्त्री हो और कोई स्त्री नहीं है? यदि कहो कि यह ठीक है, परंतु इस निर्जन वनमें हम व्रजबालाओंको छोड़कर और कौन स्त्री आ सकती है? अये! रहःसंचारिणी व्रजबालाओ! क्या आप ही लोग रहस्य क्रीड़ा करती हैं? यदि कहो कि हमलोग यहाँ खेलने नहीं आतीं, अपितु कदम्बदेवता श्रीदुर्गाकी पूजा करने आती हैं तो भी क्या तुम्हीं दुर्गाकी पूजा करती हो? अये मुग्धाओ! यहाँ तो प्रत्येक अर्धरात्रमें वैमानिकी देवियाँ आकर दुर्गाकी पूजा करती हैं। यदि कहो कि ठीक है, परंतु वे वस्त्र छोड़कर क्यों जातीं? परंतु बालाओ, तुम इस तत्त्वको नहीं जानतीं। आज पुनः पूजाके लिये वे वस्त्र छोड़ गयी हैं।

व्रजबालाएँ कहती हैं—हे कृष्ण! आप ही इस रहस्यको नहीं जानते, ये वस्त्र हमारे ही हैं।' श्रीकृष्णने कहा—व्रजबालाओ! यदि सचमुच ये तुम्हारे ही वस्त्र हों तो आओ, अपना-अपना वस्त्र पहचानकर विश्वासके लिये शपथ करके ले लो। चाहे सब लोग साथ ही आओ, चाहे दो-तीन मिलकर अथवा एक-एक ही आओ। मिलकर आनेमें भीड़में कोई लोभवती अधिक वस्त्र भी ले सकती है। यदि न आओगी तो वस्त्र नहीं मिलेंगे। यदि समझती हो कि मैं कपटी हूँ, मुझपर विश्वास नहीं है तो मैं

शपथपूर्वक सत्य कहता हूँ, आपलोग व्रतोंसे कर्षित (दुर्बल) हैं। मैं परिहास नहीं करता हूँ, आप तपस्विनियोंपर दया, भक्ति एवं धर्मका भी भय है, यदि मुझे मिथ्यावादी समझकर अविश्वास करती हो तो भी ठीक नहीं, क्योंकि मैंने कभी भी इस जन्ममें इतनी अवस्थातक झूठ जाना ही नहीं। इस बातको यह सब बालक जानते हैं। यदि कहो कि दूरसे ही इस जलमें वस्त्रोंको फेंक दो या बालकोंद्वारा भेज दो, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि ये वस्त्र तुम्हारे हैं या अन्यके, यह नहीं जाने जाते। धार्मिक लोग दूसरोंकी वस्तुओंको नखाग्रसे भी नहीं छूते। अतः तुम्हीं लोग आकर अपने-अपने वस्त्रोंको पहचानकर ले लो। हम दूसरोंकी वस्तुको न लेते हैं, न देते हैं, न छूते हैं। यदि यह समझती हो कि हम लोग कुलकुमारी हैं, तुम्हारे पास आनेमें डरती हैं तो पहले तुममेंसे कोई एक साधारण बाला आये, फिर देख लेना यदि उसके साथ कोई विडम्बना हो तो न आना। अथवा तुम सब मिलकर आओगी तब तो कोई डर ही नहीं है। अये सुमध्यमाओ! तुम्हें आनेमें क्यों संकोच होता है? व्रजांगनाओ! आपलोग जो कहती हैं कि हम राजासे जाकर कहेंगी तो यह सब निरर्थक है; क्योंकि अभी तो आपलोग नग्न हैं, ऐसी अवस्थामें न कंसके पास जा सकती हो, न श्रीनन्दरायके पास ही जा सकती हो। दूसरा कोई तुम्हारे पास है भी नहीं, तब आपलोग राजाके पास कैसे जा सकेंगी? यदि आपलोग अपनेको मेरी दासी कहती हैं और हमारी आज्ञा मानती हैं तो यहाँ आकर अपना वस्त्र लो।

प्रेममयी कुमारिकाओंद्वारा अपने वस्त्रोंकी याचना

भगवान्‌के ऐसे परिहास-वचनोंको सुनकर कृष्णाकृष्टचेता होकर शीतल जलमें आकण्ठमग्ना होकर प्रेमार्तिपुरःसर '**हे अंग**' ऐसा सम्बोधन करती हुई बोलीं—

मानयं भोः कृथास्त्वां तु नन्दगोपसुतं प्रियम्।
जानीमोऽङ्ग व्रजश्लाघ्यं देहि वासांसि वेपिताः॥

(श्रीमद्भा० १०। २२। १४)

ऐसा अन्याय मत करो, हम तो आपको व्रजशिरोमणि, प्रियतम, श्रीनन्दरायका पुत्र समझती हैं, हम काँप रही हैं, वस्त्र दे दो।

ऐसा कहकर सब प्रेमसागरमें निमग्न हो गयीं। प्रियतमके प्रेमालापमें मनोलोप हो गया, बाह्य दृष्टिसे परस्पर एक-दूसरीको देखती हुई कहती हैं—'अयि कमलेक्षणे! श्यामसुन्दर तुम्हें बुलाते हैं।' दूसरी कहती हैं—'अयि सुधामुखी! तुम्हीं जाओ, इन्हें सुधा पान करा दो।' इस तरह परस्पर परिहास करती रहीं, निकलीं नहीं। श्रीकृष्णके रसमय रहस्य वचनोंको सुनकर कुमारिकाएँ रसाविष्ट हो गयीं। उसी स्थितिमें उन्हें आन्तर दृष्टिसे ही श्रीकृष्ण-सम्बन्ध प्राप्त हुआ। बाह्य ज्ञान होनेपर, लज्जित होकर, प्रत्यक्षके समान श्रीकृष्ण-सम्बन्ध मानकर, संवादार्थ अन्योऽन्यका वीक्षण करने लगीं। अन्योऽन्यका ज्ञान न होनेसे कौतुकमय रसका आस्वादन करती हुई हँसने लगीं, और कहने लगीं—'अये सखि! जब प्रियतम श्रीकृष्णके बिना रह सकना असम्भव ही है, तब फिर मनमोहनकी ही रुचिका पालन करो। लज्जाको जलांजलि दो', बस हाथोंसे अंगोंका आच्छादन करके निकलीं।

प्रीतिकी यही विशेषता है कि प्रियतमके सम्बन्धसे तीव्रातितीव्र दुःख भी परमानन्दमय होकर प्रतीत हो। वेश्याको नहीं, किंतु एक साध्वी सती पतिव्रताके लिये सर्वाधिक कष्ट लज्जात्यागमें ही होता है। प्राणोंका परित्याग उनके लिये सरल है, परंतु लज्जात्याग अतिदुष्कर है, किंतु श्रीकृष्णप्रेममें श्रीकृष्ण-सम्बन्धसे उसको भी वे सहन कर सकीं। महानुभावोंने इस सम्बन्धमें भी उनका महत्त्व गाया है।

दुस्त्यज्य त्यागके कारण व्रजांगनाओंकी दिव्य महिमा

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। ६१)

श्रीउद्धवजीका कहना है—'अहो! इन श्रीव्रजांगनाओंके पाद-पंकज-रज-सेवन करनेवाले वृन्दावनके गुल्म, लता, औषधियोंमें कुछ मैं भी हो जाऊँ; **क्योंकि इन्होंने दुस्त्यज स्वजन एवं आर्यपथको छोड़कर श्रुतिविमृग्य मुकुन्दपदवीका सेवन किया।'** यहाँ साफ विदित होता है कि स्वैरिणी वेश्याओंके समान इनके लिये लज्जा या आर्यधर्मका त्याग सुगम नहीं था; किंतु जैसे दुर्व्यसनीको दुर्व्यसन दुस्त्यज होता है, माता, पिता, गुरुजनों एवं शास्त्रोंके उपदेश और अपने चाहनेपर भी नहीं छूटता, वैसे ही सुदृढ़ व्रजांगनाओंकी आर्य-धर्मनिष्ठा थी। स्वैरिणियोंको आर्यधर्मसे सम्बन्ध ही नहीं होता, तब वह उन्हें दुस्त्यज क्यों होगा? परंतु यहाँ तो आर्यधर्म अत्यन्त दुस्त्यज था। तभी उसको त्यागकर श्रीकृष्णके भजनेका लोकोत्तर माहात्म्य है। आर्यपथको सुरक्षित रखकर श्रीकृष्णको भजनेवालोंसे भी इनका माहात्म्य अधिक है। अतएव यद्यपि स्वकर्मसे भगवान्‌का आराधन करना प्रथम कोटि है—

'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥'

(गीता १८।४६)

तथापि उससे भी ऊँची एक कोटि और है, जहाँ सर्वकर्म-संन्यास करके एकमात्र भगवत्परायण हुआ जाता है—

'नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्न्यासेनाधिगच्छति॥'

(गीता १८।४९)

आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान्।
धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान् मां भजेत स सत्तमः॥

(श्रीमद्भा० ११।११।३२)

यहाँ ध्यान देनेकी बात है कि दुस्त्यज त्यागके कारण ही श्रीव्रजांगनाओंकी दिव्य महिमा है। विशेषता यह है कि किसीको दुराचार, दुर्विचार एवं तद्भावनाजन्य दुर्व्यसन दुस्त्यज होता है, परंतु यहाँ तो आर्यपथ ही दुस्त्यज है। आर्यपथपर चलकर उच्छृंखल पथका त्याग किया जाता है, यह धर्मनिष्ठाकी अद्भुत महिमा है कि आर्यपथ दुस्त्यज हो जाय। वेश्याओंके लिये क्या आर्यमार्ग दुस्त्यज है? जिसने जिसका संस्पर्शतक न किया, वह उसके लिये दुस्त्यज कैसे हो सकता है? इसीलिये वेदोंने पहले पहल श्रौतस्मार्त-कर्मानुष्ठान-रूप आर्यमार्गके आश्रयणद्वारा उच्छृंखल पथरूप स्वाभाविक कामकर्मज्ञानके त्यागका आदेश किया है। जैसे किसी दुराचारीको दुराचारका दुर्व्यसन हो जाता है, फिर माता-पिता, गुरुजनों एवं शास्त्रोंके शतशः निषेधसे भी उन दुर्व्यसनोंसे निवृत्ति कठिन हो जाती है। जो प्राणी माता-पिता, गुरुजनोंके आदेशानुसार वेदादि सच्छास्त्रोक्त धर्मोंका सेवन करने लगता है, फिर शनैः-शनैः उसके उच्छृंखलता-सम्बन्धी समस्त संस्कार छूट जाते हैं और सद्धर्मोंके संस्कार सुस्थिर हो जाते हैं। यहाँतक कि फिर उसे सद्धर्मका ही सद्व्यसन हो जाता है और उसका भी छूटना कठिन हो जाता है। पहले-पहल जब पाशविक कर्मोंकी प्रधानता रहती है, तबतक सत्कर्मोंमें प्रवृत्ति दुष्कर होती है। अतएव कर्मोंका प्रशंसन करके उनका विधान किया जाता है, परंतु सत्कर्मानुष्ठानद्वारा दुष्कर्मोंका त्यागकर जब सत्कर्मनिष्ठाके संस्कार दृढ़ हो जाते हैं, तब नैष्कर्म्यप्राप्तिके लिये या निदिध्यासनादि तत्परता-सम्पादनके लिये उनका त्याग करना अभीष्ट है।

एतदर्थ उनका त्याग अभीष्ट होता है। त्यागके लिये ही कहीं-कहीं कर्मोंकी निन्दा भी की गयी होती है—**'प्लवा ह्येतेऽदृढा यज्ञरूपाः'**। यह एक सर्वसम्मत नियम है कि किसी पदार्थकी स्तुति उसके ग्रहणके लिये और निन्दा उसके त्यागके लिये की जाती है। उच्छृंखलता और पाशविकता स्वाभाविकी है। श्रौतस्मार्तशृंखलानिबद्ध चेष्टा दुर्लभ है। रागप्राप्त द्रव्य-क्रियादिकी निन्दाद्वारा निषेध करके स्वतः अप्राप्त धर्मका प्रशंसा-पुरस्सर विधान किया जाता है।

श्रीव्रजांगनाएँ पूर्ण स्वधर्मनिष्ठाद्वारा पाशविकी भावनाओंसे अत्यन्त असंस्पृष्ट रहीं। स्वधर्मनिष्ठा उनकी इतनी दृढ़ थी कि जैसे दुर्व्यसनीको दुर्व्यसन दुस्त्यज होता है, वैसे ही उनकी धर्मनिष्ठा आर्यधर्म दुस्त्यज था। जिस समय श्रीकृष्णने अपने अमृतमय

मुखचन्द्रपर वेणुको धारण करके उसे सुमधुर अधरसुधासे पूरितकर बजाया; उस समय व्रजांगनाएँ अपने जातिधर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म एवं कुलधर्ममें लगी थीं। कोई गोदोहन कर रही थीं, कोई पति-शुश्रूषामें लगी थीं तो कोई शिशुओंको पय:पान करा रही थीं। व्रजांगनाओंने अपनी रुचिसे कर्मोंका त्याग नहीं किया, किंतु श्रीकृष्णमुखचन्द्र-निर्गत वेणुगीतपीयूषके सम्पर्कसे श्रीव्रजांगनाओंके हृदयस्थ प्रेममहार्णवके उद्वेलित हो जानेपर वे अपनेको सम्भाल न सकीं। जैसे गंगाके तीव्र प्रवाहमें पड़कर शतधा बचनेका प्रयत्न करनेपर भी प्राणीको बहना ही पड़ता है, वैसे ही वेणुगीत-समुद्बुद्ध प्रेमप्रवाहमें व्रजांगनाएँ बह चलीं। शतधा बचनेका प्रयत्न करनेपर भी वे श्रीमद्वृन्दारण्यधामवर्ती व्रजचन्द्र श्रीकृष्णके पास पहुँच गयीं। जैसे ग्रहगृहीत प्राणी अपने वशमें नहीं होता, वैसे ही श्रीकृष्ण-ग्रहगृहीतात्मा होकर वे अस्वतन्त्र हो गयीं—

निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं
व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।

(श्रीमद्भा० १०। २९। ४)

इससे विदित होता है कि व्रजांगनाओंकी आर्यधर्मनिष्ठा कितनी अविचल थी। पाशविकी चेष्टा उनको वशमें तो क्या, स्पर्शतक नहीं कर सकती थी, किंतु लोकोत्तर श्रीकृष्णप्रेमने ही उन्हें स्वजन और आर्यधर्मत्यागद्वारा संन्यासके लिये बाध्य किया। जैसे कोई कर्मनिष्ठ कर्मोंके महाफलभूत भगवत्-साक्षात्कारके लिये ही सर्वकर्मोंका संन्यास करता है, वैसे ही सर्व धर्मोंके महाफल श्रीकृष्णप्रेमके लिये ही व्रजांगनाओंने सर्वधर्मोंका संन्यास किया।

कोई त्याग पतनका मूल और कोई परम कल्याणका मूल होता है। किसी व्यभिचारी (जीव)-के लिये स्त्रीका आर्यधर्म त्याग करना महापाप है, परंतु परमात्मा श्रीकृष्णके लिये आर्यधर्मका भी संन्यास युक्त ही है। साध्यप्राप्ति होनेपर साधनका संन्यास स्वाभाविक ही है। काम, क्रोध और लोभ आदिसे अपने कर्मोंका संन्यास पाप है, परंतु सर्वचेष्टा-विवर्जित निर्विकल्पसमाधिद्वारा ब्रह्मसाक्षात्कारके लिये सर्वकर्मोंका संन्यास युक्त ही है। विवेकियोंने कर्मोंको ही कर्मसंन्यासद्वारा नैष्कर्म्यका मूल बतलाया है।

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः॥

(श्रीमद्भा० ११। ३। ४६)

धर्म, राष्ट्र एवं शरणागतकी रक्षाके लिये प्राणोंका त्याग बड़े महत्त्वका है, किंतु कंचन-कामिनीके लिये चोरी-व्यभिचारादिद्वारा प्राणत्यागका महत्त्व नहीं है, अपितु महापापका मूल है। ठीक ऐसे ही सर्वकर्म-समर्हणीय भगवान्‌के लिये सर्वकर्मोंका त्याग संन्यास शब्दसे आदरणीय होता है। अन्य लौकिक पदार्थोंके लिये आर्यधर्मका त्याग महापाप है।

दुस्त्यज दुर्व्यसन एवं पाशविकी चेष्टाओंको दूर करनेके लिये दुस्त्यज धर्मनिष्ठाकी अपेक्षा होती है और फिर उस दुस्त्यज धर्मनिष्ठाके त्यागके लिये दुस्त्यज ब्रह्मनिष्ठा या भगवदनुरागकी अपेक्षा होती है। श्रीव्रजांगनाओंका श्रीकृष्णप्रेम दुस्त्यज था। सर्वत्यागका मूल यही था, परंतु इसके त्यागका कोई भी और कहीं भी साधन ही नहीं था। जैसे योगी-मुनि विषयोंसे मनको हटाकर श्रीकृष्णमें लगाना चाहते हैं, वैसे ही व्रजांगनाएँ श्रीकृष्णसे मन हटाना चाहती हैं। जैसे ग्रह-गृहीतात्मा ग्रहसे अपनेको मुक्त करना चाहता है, वैसे ही कृष्णग्रहगृहीतात्मा व्रजांगनाएँ श्रीकृष्णसे अपने-आपको मुक्त करना चाहती हैं। जैसे मुमुक्षु विषयोंमें दोषानुसन्धान करते हैं, वैसे ही वे श्रीकृष्णमें दोषानुसन्धान करती हैं।

दोषानुसन्धान करनेपर भी गोपांगनाएँ मनमोहन श्रीकृष्णको भूल नहीं पातीं

मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा
स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्।
बलिमपि बलिमत्त्वावेष्टयद् ध्वाङ्क्षवद् य-
स्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। १७)

हे सखि! श्रीकृष्ण अन्यान्य जन्मोंके भी कपटी

ही हैं, इन्होंने सीताके प्रेमार्थ रामावतारमें व्याधकी तरह छिपकर कपीन्द्र बालीको मारा। कामानुरागिणी शूर्पणखाका नाक-कान काटकर विरूप कर दिया। वामनावतारमें राजा बलिकी पूजा ग्रहणकर उन्हें बाँधकर पाताल भेज दिया। जैसे काक जिस पत्रावली (पत्तल)-में खाता है, उसीमें छिद्र कर देता है, सखि! इनकी भी वही स्थिति है। सखि! जैसे श्यामल पीतपंख मधुरभाषी बिम्बोष्ठ भ्रमर सरस पुष्पोंके परागोंका रसास्वादन करके फिर उसे त्याग देता है, वैसे ही पीतपटधारी बिम्बाधरोष्ठ मधुरालापी श्यामसुन्दरने भी यावत्प्रयोजन प्रेम करके हमलोगोंको त्याग दिया है। हे सखि! असितों (कालों)-का संग कदापि नहीं करना चाहिये। लो, हम भी महेन्द्रमणिकी मालाओं, चूड़ियों, मृगमद एवं नीलाम्बरका त्याग करेंगी। केशोंकी भी श्यामलता मिटानेके लिये उनपर धूलि धारण करेंगी, परंतु सखि! इतना दोषानुसन्धान करनेपर भी मनमोहन श्रीकृष्णकी वह मधुर मूर्ति एक क्षणके लिये भूलती नहीं। उनकी लीलाएँ, हास-विलास और क्रीड़ाएँ विस्मृत नहीं होतीं।

एक बार एक गोपांगना, श्रीकृष्णप्रेममें मूर्च्छित थी। एक सखी इत्र, गुलाब-जल और व्यजनसे उपचार कर रही थी कि इतनेहीमें एक तीसरी सखी आकर कुछ श्रीकृष्णलीलाका गायन करने लगी। श्रीकृष्ण नाम सुनते ही प्रथमने कहा—

संत्यज सखि तदुदन्तं यदि सुखलवमपि समीहसे सख्याः।
स्मारय किमपि तदितरद् विस्मारय हन्त मोहनं मनसः॥

'हे सखि! यदि इसको तू थोड़ी-सी भी शान्ति लेने देना चाहती है तो श्रीकृष्णका उदन्त (कथा) मत चला। किसी दूसरी वस्तुका स्मरण करा। सखि! उस मनमोहन श्यामसुन्दरको किसी तरह भुला दे।' अहो! योगीन्द्रगण बाह्य विषयोंसे मनको प्रत्यावर्तित करके जिन श्रीकृष्णमें लगाना चाहते हैं, यह बाला उन्हीं श्रीकृष्णसे मन हटाकर विषयोंमें लगाना चाहती है। योगीन्द्रगण एक क्षणके लिये अपने मनमें जिसकी स्फूर्ति चाहते हैं, यह मुग्धा उन्हीं श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दको अपने मनसे निकालना चाहती है।

प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन्मनो धित्सति।
बालाऽसौ विषयेषु धित्सति मनः प्रत्याहरन्ती ततः॥
यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदयं योगी समुत्कण्ठते।
मुग्धेयं किल पश्य तस्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षति॥

जो ब्रह्मनिष्ठा औरोंको दुष्प्राप्य है, वही इनके लिये दुस्त्याज्य है। अन्यान्य दुस्त्यजोंका भी त्याग हो सकता है, परंतु यह अन्तिम दुस्त्यज है। श्रीभगवान्से अधिक माधुर्य कहाँ सम्भव है कि जिससे उसका त्याग सम्भव होगा? जैसे लोकैषणा, पुत्रैषणा और वित्तैषणा-विनिर्मुक्त ब्रह्मनिष्ठ सर्वकर्मसंन्यासीका कर्मत्याग भूषण है, दूषण नहीं है, वैसे ही श्रीकृष्ण-प्रेमोन्मादमें लोक-वेदातीत श्रीव्रजांगनाओंका लज्जा एवं आर्यधर्मत्याग भूषण ही है, दूषण नहीं है। जैसे मुख्य पतिकी प्राप्तिमें पतिकी प्रतिमाके पूजनका त्याग, किंवा मुख्य विष्णुकी प्राप्तिमें विष्णु-प्रतिमाका पूजनत्याग दोष नहीं है, वैसे ही परमाराध्य परम पति भगवान् श्रीकृष्णकी प्राप्तिमें व्रजांगनाओंका आर्यधर्मत्याग भूषण ही है।

कर्म और उपासनाओंसे मलविक्षेपकी निवृत्ति-द्वारा ज्ञानसे ब्रह्मका स्फुरण होता है। ब्रह्मस्फुरण होनेपर फिर सर्वचेष्टाओंसे विवर्जित होकर ब्रह्मनिष्ठा ही सम्पादन करनी होती है। उस समय कर्म और उपासना किसी प्रकारका भी प्रयत्न उस निष्ठामें प्रतिबन्धक होनेसे त्याज्य ही है। इसीलिये कहा है—

'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥'

(गीता ६। २५)

भगवान्के अनुभव और सेवनमें जिसका जबतक उपयोग है, वह तबतक ही ग्राह्य है। जब वही भगवदनुभवका प्रतिबन्धक हो, तब तो वह निःसंकोच रूपसे त्याज्य है। भगवत्प्राप्त्यर्थ या धर्म और राष्ट्र आदिके रक्षार्थ प्राणत्याग 'त्याग' है और पर स्त्री, पर धनके लिये प्राणत्याग भी 'त्याग' है, परंतु एककी पुण्यरूपता तथा दूसरेकी पापरूपता स्पष्ट ही है, यथा—

तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥

×

अंजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौं॥

×

जासों होय सनेह राम-पद, एतो मतो हमारो॥

(विनय-पत्रिका १७४)

सो सुखु करमु धरमु जरि जाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ॥
जोगु कुजोगु ग्यानु अग्यानू। जहँ नहिं राम पेम परधानू॥

(रा०च०मा० २।२९१।१-२)

सारांश यही कि पति-शुश्रूषा, पतिव्रत और लज्जा आदि सभी आर्यधर्मोंका परम फल यही है कि समस्त प्राणियोंके निरतिशय, निरुपाधिक, परमप्रेमास्पद सर्वाराध्य और सर्वपति भगवान् श्रीकृष्णकी प्राप्ति हो। जबतक जो इसके अनुकूल है, तबतक ही वह आदरणीय है, परंतु जब वही उस चरमध्येयकी प्राप्तिमें प्रतिबन्धक होने लगा, तब तो उसका त्याग ही श्रेष्ठ है—

'बलि गुरु तज्यो कंत ब्रज-बनितन्हि, भये मुद-मंगलकारी॥'

(विनय-पत्रिका १७४)

सर्वव्यवधानशून्य निरावरण हुए बिना जीवकी कृतकृत्यता नहीं होती

अत: श्रीनन्दव्रजकुमारिकाएँ भी श्रीकृष्णप्रेमके विपरीत लज्जा त्यागकर श्रीकृष्णके सामने निकल आयीं। उन्होंने परस्पर विचार किया कि 'हे सखि! श्रीकृष्ण-सम्मिलनकी आशा ऐसी दुश्छेद्य है कि मरणजन्य पीड़ासे भी शतगुणित अधिक लज्जात्यागके कष्टको सहकर भी प्राण-वियोग नहीं होने देती। सखि! प्रियतम हठीले हैं। ये अपने हठको नहीं छोड़ेंगे। इतनेहीमें यदि कोई आ जायगा तो हम सब और बिडम्बनाम्बुधिमें निमग्न हो जायँगी। अत: प्रियतमके हठको रखो, लज्जाको तिलांजलि दो, सखि आँख मूँदकर सर्वत: प्राप्त गाढ़ान्धकारसे ही अपने अंगोंको छिपाकर श्रीकृष्णके सामने चलो।' यह विचारकर वे अंगोंको हाथोंसे ढँककर श्रीकृष्णके सम्मुख आयीं। श्रीकृष्ण भी उनकी दृढ़ भक्ति, दिव्यत्यागको देखकर उनके शुद्ध भावसे प्रसन्न हो उठे और सोचा कि अहो! इन्होंने दुष्कर त्याग किया और-तो-और कुलांगनाजनोंके स्वभावसिद्ध दुस्त्यज लज्जाको भी इन्होंने तृणके समान त्याग दिया। अच्छा, अब इनकी एक परीक्षा और लेनी चाहिये। यदि ये उसमें उत्तीर्ण हो गयीं, तब तो उनके वस्त्र ही नहीं, वस्त्रोंके साथ अपने-आपको भी समर्पित करना होगा। बस, यह ठानकर श्रीकृष्ण बोले—

'स्कन्धे निधाय वासांसि प्रीतः प्रोवाच सस्मितम्॥'

(श्रीमद्भा० १०।२२।१८) उनके वस्त्रोंको अपने स्कन्धपर धारण करके (उनके अधोवस्त्रोंको अपने उत्तमांगपर धारण करके भक्तवश्यता दिखलायी) बोले—'आपलोगोंने जो विवस्त्र होकर जलमें स्नान किया, इससे देवताका अपमान हुआ, आपलोगोंका व्रत खण्डित हो जायगा। हन्त! आपलोगोंने कितना कष्ट करके व्रत किया, फिर भी यदि वह भंग हो जाय तो कितनी विडम्बनाकी बात है। अस्तु, अब आपलोग उस अपराधकी शान्तिके लिये सिरपर अंजलि बाँधकर प्रणाम करके अपना अधोवस्त्र लें।'

श्रीकृष्णकी ऐसी उक्ति सुनकर सरल स्वभावकी व्रजबालाओंने नग्न-स्नानसे व्रतभंग मानकर उसकी पूर्तिकी कामनासे श्रीकृष्णको प्रणाम किया। समस्त कर्मोंकी व्यंगताको दूर करनेवाले श्रीकृष्ण हैं।

यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु।
न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम्॥

जिसके स्मरण तथा नामोच्चारणसे तप और यज्ञक्रियादिकी न्यूनता मिटकर उनकी पूर्ति हो जाती है, उन अच्युत भगवान्‌की वन्दना अवश्य ही कर्मोंकी व्यंगताको मिटा देती है। यहाँ भी स्पष्ट है कि शुद्धभावसे किये गये श्रीकृष्ण-प्राप्त्यर्थ व्रतकी व्यंगतावारणार्थ ही व्रजांगनाओंने श्रीकृष्णकी आज्ञा मानी। महा-महात्यागकर और कठोरातिकठोर कष्ट सहन करके भी व्रजकुमारिकाएँ अपने व्रतकी सांगता चाहती हैं।

जब श्रीकृष्णने अंजलि-बन्धनके लिये कहा तो व्रजांगनाओंने नीचे ही अंजलि-बन्धन किया। श्रीकृष्णने कहा कि मूर्धापर अंजलि बन्धन ही प्रणाम है। जब उन्होंने एक हाथसे आच्छादनीय अंगको आच्छादित करके एक हाथद्वारा सिरसे प्रणाम किया, तब भी श्रीकृष्णने कहा—एक हाथका प्रणाम भी अशास्त्रीय है। फिर उन्होंने निश्चल एवं निष्कपट भावसे श्रीकृष्णको सर्वान्तरात्मा और सर्वेश्वर समझकर व्रतपूर्त्यर्थ प्रणाम किया।

वस्तुतः जीव भगवान्‌के सन्मुख निरावरण एवं निष्कपट होनेमें अनेक तरहसे आनाकानी करता है, परंतु जब भगवान् जिसपर अनुकम्पा करते हैं, तब किसी-न-किसी तरह उसे अपने सामने कर ही लेते हैं। यह प्रभुकी विचित्र लीला है, बड़े-बड़े मुनीन्द्रगण इसलिये लालायित रहते हैं कि प्रभु मुझे अपने सन्मुख करें, उनमें मेरा मन आसक्त हो, परंतु जिसपर प्रभुकी कृपा होती है, उसकी चाहे इच्छा न हो तो भी उसके शतधा आनाकानी करनेपर भी भगवान् उसको खींच लेते हैं। तभी प्रेमी लोगोंने कृष्णावेशको ग्रहावेश कहा है। बलिने भी कहा है कि 'नाथ! आप हम सबके परोक्ष गुरु हैं, हमलोगोंकी इच्छा न होनेपर भी बलात् सन्मुख कर लेते हैं; क्योंकि बिना सर्वव्यवधानशून्य निरावरण हुए जीवकी कृतकृत्यता नहीं होती।'

परमानन्दरसामृतसिन्धु भगवान्‌की तरंगस्थानीया उनकी चिदानन्दमयी शक्तियाँ ही जीव हैं। वही भगवान्‌की अन्तरंगा एवं परा प्रकृति या शक्ति पदसे कही जाती हैं। '**प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।**', '**जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥**' (गीता ७।५) जब तरंगके भीतर-बाहर-मध्यमें या अंश-अंशमें जल भरपूर रहता है, तब महासमुद्रमें तरंगका क्या व्यवधान (परदा)? वैसे ही जब चिदानन्दमयी जीव-शक्तियोंके अन्तर-बाह्य सर्वत्र परमानन्दरसामृतमूर्ति श्रीभगवान् व्याप्त हैं, तब उन भगवान्‌से जीवका क्या छिपाव? विश्वके स्थूल, सूक्ष्म और कारण त्रिविध शरीरोंकी समस्त हलचलोंका जो कारण एवं भासक साक्षी है, उससे क्या छिप सकता है? प्राणियोंके मन, बुद्धि और अहंकारकी सभी सद्भावनाओं और दुर्भावनाओंका जो साक्षी है, पिपीलिकाओंकी भी समस्त मनोवृत्तियोंका जो सर्वथा ज्ञाता है, उससे क्या छिपाव? फिर भी अनादि अनिर्वचनीय मोहिनी शक्तिके प्रभावसे मोहित वे शक्तियाँ भगवान्‌से अपने अंगोंको आवृत रखना चाहती हैं और उनसे लज्जा करती हैं। वे ही व्रजांगना हैं और सर्वान्तरात्मा सर्वसाक्षी ही श्रीकृष्ण हैं।

'चैतन्याभासोपेतबुद्धिवृत्तियाँ' भी व्रजांगना कही जा सकती हैं। उनके प्रकाश साक्षी श्रीकृष्ण हैं। यद्यपि साक्षीकी अन्तरंगता न समझनेसे उनसे छिपनेकी चेष्टा होती है। साभास मनोमयी वृत्तिरूपा श्रुतियाँ भी व्रजांगना हैं, उनका तात्पर्य या हृदय जिस परम तत्त्वमें निहित है, उन परमानन्दरसामृतमूर्ति भगवान्‌से उनका क्या अन्तर? जैसे जलमें शीतलता, अमृतमें मधुरता वैसे ही श्रीकृष्णचन्द्रमें श्रीवृषभानुनन्दिनी राधिका हैं। परमानन्दरसामृतमूर्ति श्रीकृष्णचन्द्रकी माधुर्याधिष्ठात्री महालक्ष्मी ही श्रीराधा हैं।

वेदान्तियोंने गुण-गुणीका तादात्म्य माना है। अतएव गन्धात्मिका ही पृथ्वी है। कर्पूर और उसकी गन्धका तादात्म्य स्पष्ट ही है। इस दृष्टिसे अमृत और उसके माधुर्यका परमानन्दरसामृतसिन्धु और उसकी माधुर्याधिष्ठात्री महाशक्तिका अभेद ही है। तभी भावुकोंने श्रीकृष्णहृदयवर्ती महाभावस्वरूपा श्रीराधाको और उनके हृदयवर्ती मूर्तिमान् शृंगारस्वरूप श्रीकृष्णको माना है। अतएव महाभावपरिवेष्टित मूर्तिमान् शृंगार-रसके ही रूपमें भावुकजन राधाकृष्णका दर्शन करते हैं। श्रीकृष्णांगवर्ती पीताम्बर एवं विविध भूषण श्रीराधा और व्रजदेवियाँ ही हैं (श्रीराधाके अंगमें कस्तूरिका, महेन्द्र नीलमणि, हार एवं नीलाम्बररूपमें श्रीकृष्ण ही हैं)।

श्रवसोः कुवलयमक्ष्णोरञ्जनमुरसो महेन्द्रमणिदाम।
वृन्दावनतरुणीनां मण्डनमखिलं हरिर्जयति॥

वृन्दावनतरुणी व्रजदेवियोंके कानोंमें कुवलय

(कमलविशेष), नेत्रोंमें अंजन, उर (हृदय)-में महेन्द्र नीलमणिकी माला, किं बहुना समस्त मण्डन (भूषणालंकार) श्रीकृष्ण ही हैं। इस तरह विचार करनेपर सभी प्राणियोंके निरतिशय निरुपाधिक परप्रेमके आस्पद प्रत्यक्चैतन्याभिन्न भगवान्‌से छिपावकी बात ही नहीं बनती। मोटी दृष्टिसे देखें तो भी चाहे कितनी भी असूर्यम्पश्या साध्वी सती पतिव्रता क्यों न हो, परंतु क्या वह अपने अंगोंको वायुसे असंस्पृष्ट रख सकती है? जलसे क्या उसके गुह्यातिगुह्यका स्पर्श नहीं होता? तेज, वायु किंवा आकाशसे कौन स्त्री अपने अंगोंको अदृष्ट एवं असंस्पृष्ट रख सकती है? तस्मात् यही कहना होगा कि स्वपतिसे भिन्न अन्य पुरुषसे ही आवरण किया जाता है।

जब यह स्थिति है, तब तो फिर आकाशका भी कारण अहंतत्त्व, उसका भी कारण महत्तत्त्व, महत्तत्त्वका कारण अव्यक्त तत्त्व और उसका भी कारण या अधिष्ठान सत्तत्त्व सबसे अन्तरंग है। फिर सर्वान्तरंग सर्वान्तरात्मा उस स्वप्रकाश सर्वभासक सत्तत्त्वसे व्यवहित, अदृष्ट कौन वस्तु हो सकती है? विश्वमें कोई भी अणु या परमाणु ऐसा नहीं, जो सत्ता और स्फूर्तिसे अनालिंगित हो, फिर व्रजांगना या कोई साध्वी स्त्री या कोई चिदानन्दमयी जीव शक्ति, किं बहुना कोई भी तत्त्व स्वप्रकाश सदानन्दघन श्रीकृष्णसे अनालिंगित असंयुक्त कैसे हो सकता है?

जब कोई जल, तेज, वायु और आकाशसे भी अपने-आपको अस्पृष्ट नहीं रख सकता, तब वह उन सबके परम कारण अधिष्ठान या प्रकाशकसे कैसे अपनेको असंस्पृष्ट रख सकता है? भोक्ताके साथ भोग्यका तादात्म्य ही भोग है। '**सविता गोभी रसं भुङ्क्ते**' सूर्य अपनी रश्मियोंसे रसका सम्भोग करते हैं। यहाँ भी रश्मिद्वारा रसकी सूर्यके साथ अभेदापत्ति ही भोग है। भोक्ता भोग्यका अपने साथ तादात्म्य कर लेता है। अनुकूल-प्रतिकूल विषयोंके एवं तज्जन्य सुख-दु:खोंके साक्षात्कारको ही भोग कहा जाता है। साक्षात्कार जड़ मन, बुद्धि और अहंकार आदिसे असम्भव है। अत: स्वप्रकाश चेतनसे ही समस्त विषयोंका साक्षात्कार या भोग सम्पन्न होता है। अतएव बौद्ध बोधसे भिन्न एक पौरुषेय बोध माननेकी अपेक्षा पड़ती है। जैसे जपाकुसुमादिद्वारा लोहित स्फटिकपर प्रतिबिम्बित पुरुषमें भी उसी लौहित्यका भान होता है, उसी तरह श्रोत्रादि इन्द्रियप्रत्युपस्थापित शब्द-स्पर्शादि विषयोंके आकारसे आकारित-वृत्तिमदन्त:करणके आरोपित सम्बन्धसे चिदात्मामें भी विषयाकारता बन जाती है। जैसे जपाकुसुमोपाधिसे लोहित स्फटिक स्वप्रतिबिम्बित पुरुषमें भी अपने लौहित्य आकारका समर्पण कर देता है, वैसे ही इन्द्रियोंद्वारा विषयाकाराकारित वृत्तिमदन्त:करण भी स्वप्रतिबिम्बित चैतन्यमें अपनी विषयाकारताका समर्पण करता है।

बस, इस तरह असंगमें परस्परया विषय-सम्बन्ध, प्रकाशकता या भोक्तृता बनती है। सभी विषयोंका मुख्य भोक्तृत्व चिदात्मामें ही बनता है तथा सभी कान्तास्पर्शादि सुखका भी मुख्यभोक्ता अन्तरात्मा श्रीकृष्ण ही हैं। इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि तथा समष्टि मनका अभिमानी चन्द्रमा—सभी भोगोंके साधन हैं। इतनेपर भी सर्वदर्शन, सर्वस्पर्शमें साधक बनकर भी वे व्यष्टि-अभिमानशून्य होनेसे अप्रत्यवायी हैं। उसी तरह समष्टिके अन्तरात्मा भगवान् श्रीकृष्ण सर्वभोक्ता होनेपर भी अप्रत्यवायी ही हैं। जैसे सब मनोंका अभिमानी होनेसे चन्द्रके स्पर्शसे किसी भी साध्वीका पतिव्रत नहीं बिगड़ता, वैसे ही सर्वान्तरात्मा श्रीकृष्णका संस्पर्श किसीके भी पतिव्रतका व्यापादक नहीं है—

गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक्॥

(श्रीमद्भा० १०।३३।३६)

जो गोपियों और उनके पतियों एवं सभीका अन्तरात्मा है, वह सर्वाध्यक्ष सर्वथा निर्लेप एवं निर्दोष ही रहता है।

भोक्तासे भोग्यके अत्यन्त अव्यवधानको भोग

कहा गया है। चिदात्मा भोक्ताका विषयोंके साथ इन्द्रिय, मन और बुद्धिके द्वारा अव्यवधान होता है। भगवान्‌की चिदानन्दमयी जीवशक्तियोंका उनके साथ स्वाभाविक आत्यन्तिक अव्यवधान है। भ्रमर पुष्प-परागका रसास्वादन करता है, परंतु यह सम्बन्ध या अव्यवधान कृत्रिम है। हाँ, यदि पुष्पमें ही अपने सौगन्ध्य या परागरसास्वादनकी शक्ति हो, तब ही पूर्ण भोग या रसास्वादन बन सकता है, परंतु यहाँ तो परमानन्दरसामृतमूर्ति भगवान् श्रीकृष्ण ही अपने माधुर्य (माधुर्याधिष्ठात्री श्रीवृषभानुकिशोरी)-का आस्वादन करते हैं।

सभी जीव भगवान्‌के परतन्त्र होते हैं

श्रीराधाकी अंशभूत या चिदानन्दमयी जीव-शक्तियोंका तादात्म्येन सम्मिलन, सम्भोग आदि सम्पन्न होता है। जैसे महासमुद्रमें तरंगें होती हैं, वैसे ही भगवान्‌में जीवोंका भाव है। अतएव जैसे एक तरंगका सम्बन्ध दूसरे तरंगसे होता है, उसी तरह एक जीवका सम्बन्ध दूसरे जीवोंसे होता है। यह सम्बन्ध आगन्तुक और स्थायी होता है, परंतु तरंगका महासमुद्रके साथ सम्बन्ध स्वाभाविक होता है, (जबतक तरंग है, तबतक उसके साथ समुद्रका सम्बन्ध भी अनिवार्य है) वैसे ही जीवका भगवान्‌के साथ सम्बन्ध ही अकृत्रिम एवं स्वाभाविक है। इसीलिये भावुकोंका कहना है कि किसी भी स्त्रीके मुख्य पति भगवान् ही हैं। कोई भी जीव हो, उसके साथ जीवका सम्बन्ध अस्थायी ही है। सभी तरंग जैसे समुद्रके परतन्त्र होते हैं, वैसे ही सभी जीव भगवान्‌के परतन्त्र होते हैं।

भगवान् ही सबके मुख्य पति हैं

इस तरह पारतन्त्र्यरूप स्त्रीत्व सभी जीवोंमें है। जीवभाव मिटकर परमात्मभावप्राप्तिमें ही पूर्ण स्वातन्त्र्य एवं पुंस्त्व प्राप्त होता है तथा किसी भी स्त्रीका अखण्ड सौभाग्य एवं पातिव्रत्य तभी रह सकता है, जब वह अनन्त अखण्ड भगवान्‌को ही अपना पति बनाये। जीवोंका कर्मानुसार सम्बन्ध-विच्छेद होता ही है। अत: अखण्ड सम्बन्ध न रहनेसे सौभाग्य एवं पातिव्रत्य अखण्ड नहीं रह सकता। अतएव अनन्त, अखण्ड, नित्य, सहज-सम्बन्धी भगवान् ही सबके मुख्य पति हैं, उन्हींसे सम्बन्ध जोड़ना मुख्य है। दूसरे पति तो उसी मुख्य पतिकी प्रतिमा हैं, मुख्य परम पतिकी प्राप्तिमें प्रतिमाकी गौणता होना स्वाभाविक है। जैसे शालग्रामप्रतिमापूजन मुख्य-विष्णुप्राप्तिका साधन है, उसी तरह लौकिक पतिका पूजन मुख्य पति भगवान्‌की प्राप्तिका साधन है। तभी कन्यादानका संकल्प इस भावसे होता है कि '**विष्णुरूपाय वराय लक्ष्मीरूपामिमां कन्यामहं सम्प्रददे।**' इसीलिये बड़ी श्रद्धासे साधनका आदर करना ही चाहिये। अज्ञानियोंकी दृष्टिसे व्यभिचारिणी, किंतु परम पतिव्रता व्रजांगनाओंकी मुख्य परम पति भगवान्‌में अद्‌भुत निष्ठा देखकर ही अरुन्धतीप्रभृति सतीवृन्द उनके लिये श्रद्धासे सिर झुका देती हैं। '**श्रद्धारज्यदरुन्धतीमुखसतीवृन्देन वन्द्यो हि ता:।**' किसी समय रासक्रीड़ा करते-करते श्रीकृष्ण लीलाविशेषार्थ किसी निकुंजमें छिप गये। जब अन्वेषण करती हुई व्रजांगनाएँ वहाँ पहुँचीं तो छिपनेके ही भावसे श्रीकृष्णने श्रीमन्नारायणका रूप धारण कर लिया, परंतु श्रीमन्नारायणके अद्भुत ऐश्वर्य-सौन्दर्य और माधुर्यपूर्ण रूपपर व्रजांगनाओंका आकर्षण नहीं हुआ। वे श्रद्धा-भक्तिसे भगवान्‌को प्रणामकर कहने लगीं—'हे भगवन्! आप कृपाकर हमारे मनमोहन श्यामसुन्दर श्रीव्रजेन्द्रनन्दनसे हमको मिला दो।' कोई जीव चाहे कितना ही पतिव्रतधर्मसम्पन्न हो, किंतु ईश्वरीय ऐश्वर्य-माधुर्यमें उसका आकर्षण होना स्वाभाविक है, परंतु व्रजांगनाओंकी अद्भुत, अखण्ड, अनन्य निष्ठा सचमुच अरुन्धतीप्रभृति सतियोंके भी मनको चकित कर देती है। अस्तु, इस तरह अवनत व्रजांगनाओंको देखकर परम करुण भगवान्‌ने उनके शुद्ध भावसे प्रसन्न होकर उन्हें वस्त्र दे दिये। वस्त्रके साथ अद्भुत ब्राह्म संस्पर्श प्रदान किया या अपने-आपको ही समर्पण कर दिया। अहो! उनका कितना दृढ़ प्रलम्भ किया गया, उन्हें लज्जाविहीन किया गया, उन्हें क्रीड़नक (खिलौना)-सा बनाया

गया, उनका वस्त्र अपहरण किया गया, फिर भी उन्होंने श्रीकृष्णमें दोषबुद्धि नहीं की; किंतु वे प्रियतम मनमोहनके संगसे परम प्रसन्न हुईं। अपने वस्त्रोंको पहनकर प्रेष्ठ-संगमके लिये सज्जित होकर श्रीकृष्णाकर्षितचित्त होनेके कारण अचल और चित्रलिखित-सी रह गयीं।

राग, तृष्णा, मोह आदि निन्द्यभाव भी भगवत्सम्बन्धसे अतिमूल्यवान् हो जाते हैं

प्रथम तो व्रजांगनाओंसे त्यक्त होकर लज्जा श्रीकृष्णकी शरण गयी, अन्तमें श्रीकृष्णका बल पाकर, फिर वह नेत्रोंके ही मार्गसे श्रीव्रजांगनाओंमें आयी। कोई भी पदार्थ अहंता और ममतापूर्वक ही सेवन करनेसे बन्धक होता है, भगवान्‌में समर्पित कर देनेसे फिर वही भगवान्‌का प्रसाद होकर निर्गुण हो जाता है—**'मत्प्रसादान्ते निर्गुणम्'**। यहाँतक कि यद्यपि राग, तृष्णा, मोह आदि राजस-तामस भाव अत्यन्त त्याज्य एवं निन्द्य होते हैं, परंतु भगवान्‌के सम्बन्धसे उनका भी सर्वाधिक मूल्य हो जाता है—

तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ३६)

रागादि तभीतक स्वरूप-सुखअपहारी होनेसे चोर हैं, गृह तभीतक कारागार है, मोह तभीतक सम्बन्धक है, जबतक प्राणी भगवान्‌का भक्त नहीं होता। श्रीकृष्णानुरागीको तो राग भी होगा तो श्रीकृष्णमें ही, मोह होगा तो श्रीकृष्णमें ही, भक्तका गृह भी भगवदालय होनेसे निर्गुण ही है।

विषयसे ही वैराग्य है, जैसे वैराग्यसे वैराग्य इष्ट नहीं है, वैसे ही ज्ञान-वैराग्यके भी फलभूत भगवान्‌से भी वैराग्य इष्ट नहीं है। इसीलिये सनकादि, शुकादि-जैसे अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्रगण सहस्रों ज्ञान-वैराग्योंका समर्पण करके भगवान्‌के श्रीचरणोंमें राग या तृष्णाकी प्रार्थना करते हैं—

कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नः स्ता-
च्चेतोऽलिवद्यदि नु ते पदयो रमेत।
वाचश्च नस्तुलसिवद्यदि तेऽङ्घ्रिशोभाः
पूर्येत ते गुणगणैर्यदि कर्णरन्ध्रः॥

(श्रीमद्भा० ३। १५। ४९)

श्रीसनकादिका कहना है कि 'हे नाथ! यदि आपके श्रीचरणोंमें अलि (भौंरे)-के समान मन आसक्त हो और आपके गुणगणोंसे यदि कर्णरन्ध्र निरन्तर पूरित होता रहे, तब तो भले ही अपने कर्मोंके अनुसार नरकोंमें जन्म हो तो भी कोई चिन्ता नहीं।' अतः भगवान्‌के सम्बन्धसे तृष्णा और रागका भी अद्भुत महत्त्व हो जाता है। भगवान्‌में मोह, भगवान्‌में राग, उनके सम्मिलनकी तृष्णा किसी परम सौभाग्यशालीको ही प्राप्त हो सकती है।

किसी भावुकने कहा है—

कृष्णभावरसभाविता मतिः
क्रीयतां यदि कुतोऽपि लभ्यते।
तत्र मूल्यमपि लौल्यमेकलं
जन्मकोटिसुकृतैर्नु लभ्यते॥

श्रीकृष्णप्रेमरसभक्तिभावित मति दुर्लभ है। यदि वह मिल सके तो उसे खरीदना ही जीवनका साफल्य है, परंतु उसका मूल्य भी केवल लौल्य (व्याकुलता) है। वह भी करोड़ों जन्मोंके संकल्पोंसे किसी सौभाग्यशालीको प्राप्त होता है। प्राणीको भगवान्‌की प्राप्तिमें अविद्या, लज्जा और अहंकार आदि ही व्यवधान हैं। अपनेको भगवान्‌से भिन्न समझकर उनसे अपनेको छिपाने और आवृत रखनेका प्रयास किया जाता है। वस्त्ररूप अविद्याके छिन जानेपर व्रजांगनाएँ अहंकार और लज्जासे अपनेको छिपाना चाहती थीं, परंतु सर्वव्यापक, सर्वप्रकाशक, सर्वसाक्षी, सर्वान्तरात्मा भगवान्‌ने यह भी अनुचित समझा और सर्वथा निरावरण, निश्छल होनेका अनुरोध किया। भगवान्‌के संकल्पसे व्रजांगनाओंने वैसा ही किया।

अत्यन्त निरावरण होकर शुद्धभावसे दोनों हाथोंसे मूर्धांजलिबन्धनपुरःसर प्रणाम किया। भगवान्‌ने शुद्धभावसे प्रसन्न होकर अपना प्रसाद करके लज्जा आदि सभी आवरणोंको लौटा दिया, परंतु अब वे सब भगवत्प्रसाद

हो गये।

जीवके लिये मोहिनी अविद्या भी भगवत्प्रसाद होकर वैष्णवी माया हो जाती है। भगवल्लीलामें उपयोगी भेदका समर्थक होनेसे भक्तोंमें भगवान् वैष्णवी मायाका संचार करते हैं। जब श्रीनन्दरानीको अपने ललन श्रीकृष्णके मुखमें निखिल विश्व देखकर यह बोध हुआ कि 'अरे! ये तो पूर्ण परब्रह्म परमात्मा हैं, मैं तो मोहमें इन्हें पुत्र मान रही हूँ', बस, वहीं भगवान्ने देखा कि यह ऐश्वर्य-ज्ञान तो लीलामें बाधक होगा।

वात्सल्यभावका माधुर्य विलक्षण है। ऐश्वर्यका बोध रहनेसे प्रत्येक प्रवृत्तिमें भय और संकोच रहेगा। नि:संकोच, निर्भर, ममत्वपुर:सर वात्सल्य रसमें ऐश्वर्य बाधक ही होगा। अतएव **'व्यतनोद्वैष्णवीं मायां पुत्रस्नेहमयीं विभुः।'** उस पुत्रस्नेहमयी वैष्णवी मायाका विस्तार किया, जिससे शुद्ध वात्सल्यरसकी वृद्धि हो।

पहले तो भगवान् भजनेवालोंको भक्ति दे देते हैं, मुक्ति नहीं देते हैं; क्योंकि मुक्तिमें तो भक्त भगवत्स्वरूप हो जाता है, परंतु भक्तिमें तो भगवान्को अपने वशमें कर लेता है। भक्तिकी ही महिमासे भगवान् यशोदाकी छड़ीसे एवं उलूखल-बन्धनसे भयभीत होकर रोते हैं। 'माँ मैंने मिट्टी नहीं खायी' ऐसा झूठ भी बोलते हैं—

'अस्त्वेवमङ्ग भगवान् भजतां मुकुन्दो
मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम्।'

तथापि जब भगवान् भक्ति दे देते हैं, तब फिर अपनी लीलामें बाधा नहीं डालना चाहते। ऐश्वर्य-बोध होनेपर वैष्णवी मायासे पुन: उसे छिपाकर लीला-सुखका आस्वादन करते और कराते हैं।

गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम तावद्
या ते दशाश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षम्।
वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य
सा मां विमोहयति भीरपि यद्बिभेति॥

(श्रीमद्भा० १।८।३१)

माधुर्याधिष्ठात्री महाशक्तिकी यही तो महिमा है कि यहाँ ऐश्वर्य छिप जाता है, यहाँ स्वतन्त्र भगवान् भी भक्त-परतन्त्र होते हैं। परम निर्भय कालके भी कालरूप भगवान् भी भयभीत होते हैं। अनन्त जीवोंको मुक्ति देनेवाले भगवान् भी प्रणयपाशमें बँध जाते हैं, यहाँ पूज्यता और समाधि अनादरणीय होती है, सेतुधारक ही यहाँ भिन्न सेतु हो जाता है।

वस्तुत: प्रकृति, प्राकृत प्रपंचके विधि-निषेधोंका प्रपंचातीत रसमय भगवान्में न होना स्वाभाविक ही है, फिर भी जिन्हें स्वाभाविक काम, कर्म, ज्ञानरूप मृत्युसे तरना है, उनके लिये तो भगवान्का मर्यादामय, सेतुधारक स्वरूप ही अपेक्षित है। जैसे भगवदवतारभूत नर-नारायण एवं ऋषभदेवके चरित्र ब्रह्मचारियों, गृहस्थोंके अनुकरणीय हैं, वैसे ही संसारतितीर्षुके लिये श्रीकृष्णचरित्र भी अनुकरणीय है। यह तो केवल चिन्तनसे पापनाशक है।

अद्वैतसे सुन्दर द्वैत

इसीलिये भावुकगण तत्त्वबोधके अनन्तर भी भक्तिके लिये द्वैत प्रतीतिको स्वीकार करते हैं। अत: पूर्ण निरावरण होकर रसमय आवरण भगवान् और भक्त दोनोंको अभीष्ट होता है—

द्वैतं मोहाय बोधात्प्राक् जाते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥

निरावरणरूपसे प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परब्रह्मके साक्षात्कारके पहले द्वैत केवल मोहके ही लिये है, परंतु भक्तिके लिये भावित द्वैत तो अद्वैतसे भी सुन्दर है।

पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे।
तादृशी यदि भक्तिः स्यात् सा तु मुक्तिशताधिका॥

पारमार्थिक अद्वैत और भजनके लिये द्वैत, बस इस तरहकी जो भक्ति है, वह तो सैकड़ों मुक्तियोंसे श्रेष्ठ है।

इस तरह प्रेमतत्त्वज्ञ भगवान्के साथ आत्माका अभेद जानकर भी आहार्य भेदभावसे भगवान्को भजता है—

प्रियतमहृदये वा खेलतु प्रेमरीत्या
पदयुगपरिचर्यां प्रेयसी वा विधत्ताम्।
विहरतु विदितार्थो निर्विकल्पे समाधौ
ननु भजनविधौ वा तुल्यमेतद्द्वयं स्यात्॥

प्रियतमा चाहे प्रेमोद्रेकमें अपने प्रियतमके वक्ष:स्थलपर क्रीड़ा करे, चाहे सावधानीसे प्रियतमके पाद-पद्मकी सपर्या (सेवा) करे, उसके लिये सभी ठीक है। वैसे ही तत्त्वनिष्ठ चाहे अभेदभावसे समाधिमें निरत रहे, चाहे भेदभावसे भजनभावमें निरत रहे, उसके लिये दोनों ही शोभा देते हैं। फिर भी रसिकोंका कहना है—

विश्वेश्वरोऽपि सुधिया गलितेऽपि भेदे
भावेन भक्तिसहितेन समर्चनीयः।
प्राणेश्वरश्चतुरया मिलितेऽपि चित्ते
चैलाञ्चलव्यवहितेन निरीक्षणीयः॥

भगवान्‌के साथ भक्तका भेदभाव मिट जानेपर भी सुधीजनोंको भेदभावसे ही व्यवहारमें भगवान्‌की सपर्या करनी चाहिये। अपने प्रियतम प्राणेश्वरके साथ किसी तरहका छिपाव या भेदभाव न रहनेपर भी प्रेयसी प्रियतमको घूँघटपटके ओटसे तिरछे नैनोंसे ही देखती है।

बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी॥
(रा०च०मा० २। ११७। ६)

कितना सुन्दर भाव है। श्रीजानकीजी ग्रामबधूटियोंके पूछनेपर अपने देवर लखनलालका वर्णन करके, अपने प्राणेश्वरका संकेत कितने मधुर मनोहर सुन्दर ढंगसे करती हैं। बस, वह कविके अक्षरोंसे ही व्यक्त होता है।

हाँ तो आवरण, लज्जा, अहंकार—सब कुछ लेकर उसे अपनेसे सम्बन्धित करके श्रीकृष्णने फिर व्रजांगनाओंको दे दिया। यह आवरण, लज्जा और अहंकार बड़ा सरस होता है। यह निरहंकारता आदिका फल होता है। भगवान्‌का दिया हुआ भगवान्-सम्बन्धी मोह, भगवान्‌की दी हुई सभी वस्तु सरस और मंगलमयी हैं। आवरण, लज्जा, अहंकारके बिना शृंगाररसकी मिठास ही मिट जाती है। यहाँ नायिका जितने ही आवरण, लज्जा और अहंकारसे युक्त होती है, जितनी ही उसमें दुर्लभता व्यक्त होती है, उतनी ही अधिकाधिक रसकी अभिव्यक्ति होती है। नायिकाकी शोभा ही लज्जा, मान और आवरणमें है, फिर श्रीकृष्णकी प्रेयसी श्रीव्रजांगनाओंमें वह सब होना ही था।

श्रीवृषभानुनन्दिनीका उद्‌गार सुनिये—

दुरापजनवर्तिनी रतिरपत्रपाभूयसी।
वपुः परवशं जनुः परमिदं कुलीनान्वये॥
गुरूक्तिविषवर्षणैर्मतिरतीव दौःस्थ्यं गता।
न जीवति तथापि किं परम दुर्भरोऽयं जनः॥

अहो ! दुराप (दुर्लभ) जनमें रति और लज्जाका प्राबल्य, परवश शरीर, कुलीन वंशमें जन्म, तत्रापि गुरुजनोंकी विषमयी उक्तियोंसे मति और विकल होती जाती है। अहो! फिर भी क्या यह परम दुर्भर प्राणी नहीं जीता? परंतु ये सभी भाव श्रीकृष्ण-रतिके वर्धक हैं। मानिनी नायिकाओंका दर्प और मान भी रस है। श्रीवृषभानुकिशोरीकी मानलीला प्रसिद्ध ही है। इस तरह जो पहले भगवत्सम्मिलनमें प्रतिबन्धक एवं व्यवधान थे, वे ही अब रसस्वरूप एवं रसके वर्धक हो गये। निखिलरसामृतमूर्ति कृष्णांग-संस्पृष्टवस्त्र रसात्मक हो गये। उनको धारण करनेसे व्रजांगनाओंको श्रीकृष्णांगसंस्पर्शका सुख मिला और उनके अंग-अंग, रोम-रोम, इन्द्रिय, प्राण, अन्त:करण, अन्तरात्मा—सर्वत्र कृष्णरसका संचार हुआ। श्रीव्रजबालाएँ रसमयी हो गयीं।

श्रीकृष्ण-संस्पृष्ट वस्त्रोंको धारणकर व्रजांगनाएँ रसाक्रान्त हो उठीं

अप्राकृत रसस्वरूप श्रीकृष्णके सौन्दर्य, माधुर्य, सौरस्य, सौगन्ध्य आदि गुणोंका अनुभव प्राकृत अंगों, इन्द्रियों एवं अन्त:करणोंसे नहीं हो सकता। अप्राकृत रसरूप श्रीकृष्णका अनुभव करनेके लिये रसात्मक शरीरेन्द्रियादिकी अपेक्षा होती है। साथ ही रसात्मक श्रीकृष्णका रमण भी रसात्मकमें ही हो सकता है।

श्रीकृष्ण आत्मरति हैं, अतः जबतक व्रजांगना रसात्मक श्रीकृष्णमय न हो जायँ, तबतक वे श्रीकृष्णरमणार्ह नहीं हो सकतीं, श्रीकृष्णांगसंस्पृष्ट वस्त्रोंके संसर्गसे व्रजांगनाओंके प्राकृतभावकी निवृत्ति एवं श्रीकृष्णभावकी प्राप्ति होती है। जैसे अभिव्यक्त अग्निके सम्बन्धसे अनभिव्यक्त अग्निवाले काष्ठमें भी अग्निकी व्यक्ति हो जाती है। अग्नि सर्वत्र व्यापक है, केवल प्राकट्यकी ही विशेषता होती है, उसी भाँति '**रसो वै सः**', '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' इत्यादि श्रुतिवचनोंके आधारपर यह प्रसिद्ध है कि रसात्मक ब्रह्मस्वरूप ही सब कुछ है। केवल अनाद्यनिर्वाच्याविद्यामय नामरूपोंद्वारा वह तत्त्व आवृत रहता है। निरावरण रसात्मक ब्रह्म श्रीकृष्णके सम्बन्धसे सभी वस्तुएँ निरावरण रसात्मक श्रीकृष्णमय हो जाती हैं। बस, इस तरह श्रीकृष्णके स्पर्शसे व्रजांगनाओंके वस्त्र निरावरणस्वरूप हो गये, फिर उनके धारणसे व्रजांगनाओंमें भी रसात्मकता आ गयी।

लोकमें भी प्रियसंस्पृष्ट पुष्पमाला, वस्त्र आदिको प्रेमी बड़े अनुरागसे हृदय एवं नयनोंमें लगाते हैं। श्रीकृष्ण-संस्पृष्ट वस्त्रको धारणकर व्रजांगनाएँ रसाक्रान्त हो उठीं। श्रीकृष्णबल पाकर लज्जा नेत्रोंद्वारा पुनः उनमें प्रविष्ट हुई। श्रीकृष्णने वस्त्र और अपने-आपको तो दे दिया, परंतु उनके मनको चुरा लिया। अतः प्रेष्ठ-संगमके लिये लालायित होकर वे व्रज न जा सकीं। परमानन्द रसात्मक श्रीकृष्णके सम्मिलन, संस्पर्श, सम्भोग तादात्म्यापत्तिके लिये जो न लालायित हो, उसका जीवन सचमुच व्यर्थ है। अस्तु, श्रीकृष्णने उन व्रजकुमारिकाओंके संकल्पको जान लिया कि इन्होंने मेरे ही पादस्पर्शकी कामनासे यह व्रत धारण किया है, फिर तो श्रीकृष्ण भक्त-परतन्त्र होकर गोपीकी प्रेम-रज्जुसे बँधकर दामोदर हो गये। प्रेम-पाशगृहीत होकर बोले—साध्वियो! आपलोगोंके संकल्पको मैंने जान लिया और मैंने उसका अनुमोदन किया, वह सफल होनेयोग्य है। मुझमें जिनके मन और बुद्धि निविष्ट हैं, उनकी कामनाएँ कामना न होकर केवल रसरूप ही होती हैं। जैसे भर्जित एवं क्वथित धानसे अंकुरकी उत्पत्ति नहीं होती, वैसे ही मद्विषयक काम संसारका हेतु नहीं बनता। हाँ! जैसे भर्जित वा क्वथित बीज विशिष्ट स्वादयुक्त होनेसे आस्वादनीय होता है, वैसे ही मद्विषयक काम रसात्मक होनेसे रसिकोंके लिये आस्वादनीय होता है। अस्तु, अब आपलोग व्रज जायँ। जिस उद्देश्यसे आपलोगोंने आर्याकी अर्चना की है, वह इन रात्रियोंमें सफल होगी।

'**मयेमा रंस्यथ क्षपाः।**' यद्यपि कहा जाता है कि उसी क्षण श्रीव्रजांगनाओंका मनोरथ पूर्ण करना चाहिये था, परंतु गम्भीरतासे विचार करें तो विदित होगा कि पूर्वकथनानुसार आत्मरति भगवान्‌का रमण आत्मामें ही होता है। अतः व्रजांगनाओंमें जबतक पूर्ण रसात्मकता न होगी, तबतक उनमें रमण असम्भव है।

भगवत्सम्मिलनकी उत्कट उत्कण्ठा ही भक्ति है

जबसे प्राणी भगवान्‌का अर्चन-स्मरण आरम्भ करता है, तभीसे प्राणीका प्राकृतभाव नष्ट होने लगता है और भगवत्स्वरूपभूत अप्राकृत रसात्मकता आ जाती है। व्रजकुमारिकाएँ युगोंसे श्रीकृष्णप्राप्तिके लिये तप, जप, ध्यान कर रही थीं। बहुत अंशोंमें उनका प्राकृतत्व नष्ट हो चुका था, अप्राकृत रसरूपता भी उनमें बहुत अंशोंमें आ गयी थी। तथापि अभी वह सब अपूर्ण ही था। भगवत्सम्मिलनकी उत्कट उत्कण्ठा और ध्यानमय सम्मिलन-परिरम्भणादिजन्य रसके आस्वादनसे रसमय देहेन्द्रिय, मन और बुद्धिकी पुष्टि होती है। वियोगजन्य दुःखके तीव्र तापसे देहेन्द्रिय, मन और बुद्धि आदिका दाह होता है, परंतु उत्कण्ठा और वियोग भी उस वस्तुमें नहीं होता, जिसका मिलना ही असम्भव है।

अति सुलभ पदार्थमें भी उत्कण्ठा नहीं होती और अति दुर्लभमें भी असम्भव बुद्धिसे प्रीतिकी कमी होती है। जिन्हें साम्राज्य आदिका मिलना असम्भव

प्रतीत होता है, उनकी उधर उत्कण्ठा या प्रयत्न कुछ नहीं होता।

एक दीन-हीन भिक्षुकीको सम्राट्का सम्मिलन असम्भव है, अतः उसे उसकी उत्कण्ठा भी नहीं होती। जीव भी अपनेको कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी और महापापी समझकर तथा भगवान्को अनन्त-ब्रह्माण्डनायक समझकर उनसे अपना मिलना असम्भव समझे तो न उसे सम्मिलनकी उत्कण्ठा होती है और न वह उत्कट प्रयत्न ही करता है। इसीलिये भगवत्सम्मिलनसे वंचित रहता है।

भगवत्सम्मिलनकी उत्कट उत्कण्ठा ही भक्ति है। भक्ति हुई कि भगवान्का सम्मिलन हुआ। इसीलिये भगवती श्रुति भगवान्की चिदानन्द रसमयी जीव शक्तियोंको भगवत्सम्मिलनकी सुलभता दिखलाती है—'**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।**' (श्वेताश्वतर० ४।६) तुम दोनों सुपर्ण हो, तुम दोनोंका स्वाभाविक सख्य है, तुम दोनों सदा सम्बन्धित और एक ही स्थानमें रहते हो। तुम भगवान्के हो, भगवान् तुम्हारे हैं। भगवान् तुम्हारे सम्मिलनकी प्रतीक्षामें हैं। तुम श्रद्धा-भक्तिसे एक बार भगवान्के मंगलमय नामका उच्चारण करो, समस्त पाप-तापसे मुक्त होकर भगवत्प्राप्तिके योग्य हो जाओगे।

इस तरह चिदानन्दमयी जीव-शक्तियोंको प्रभुमिलनकी सम्भावना, उत्कण्ठा, उत्सुकता होती है। जब कभी सुलभ समझकर असावधानी होने लगती है, तब '**दूरात्सुदूरे**' कहकर उसकी दुर्लभता भी बतायी जाती है। जप, तप और देवाराधनादिद्वारा जीवशक्तिको शुद्ध जिज्ञासा तथा प्रेप्सा होती है। श्रीव्रजांगनाओंको भी कात्यायनीसमर्चनद्वारा वर प्राप्त करके भगवत्सम्मिलनकी सम्भावना और उत्कट उत्कण्ठा हुई, परंतु फिर भी अभी उत्सुकता और उत्कण्ठाकी अपेक्षा है। इसीलिये भगवान् अभी कुछ अवधिका निर्देश कर रहे हैं। परम बुभुक्षुके सन्मुख जिस समय मधुर मनोहर पक्वान्न उपस्थित हो और उसके सम्मिलनकी सम्भावना हो गयी हो तो फिर उत्सुकताका ठिकाना नहीं रहता।

व्रजांगनाओंको श्रीकृष्णांगसंस्पृष्ट-वस्त्रद्वारा श्रीकृष्णांग-संस्पर्शका रसास्वाद होनेसे अधिकाधिक आकर्षण हुआ। किसी भी रसका जबतक अनुभव न हो, तबतक उधर आकर्षण नहीं होता। यही स्थिति ब्रह्मरसकी है। श्रीनारदजीको भी जब एक क्षणके लिये भगवत्स्वरूपके माधुर्यका अनुभव हुआ, तब उन्हें एक विचित्र लालसा हुई।

ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्जितचेतसा।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः॥

(श्रीमद्भा० १।६।१७)

फिर अनेकशः प्रार्थना करनेपर भी भगवान्ने यही कहा कि—'**सकृद् यद् दर्शितं रूपमेतत्कामाय तेऽनघ।**' (श्रीमद्भा० १।६।२३) एक बार तुम्हें स्वरूप-माधुर्यका अनुभव कराया। यह केवल उत्कट कामनाके लिये। उत्कट कामनासे ही प्राणी समस्त पाप-तापोंको नष्ट कर देता है।

इसीलिये भावुकोंने कहा है—

न वै जनो जातु कथंचनाव्रजे-
न्मुकुन्दसेव्यन्यवदङ्ग संसृतिम्।
स्मरन्मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं पुन-
र्विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो यतः॥

(श्रीमद्भा० १।५।१९)

मुकुन्दसेवी औरोंके समान कभी संसृतिमें नहीं पड़ता, किंतु वह मुकुन्दके श्रीचरणका उपगूहन (आलिंगन) करता हुआ, उसके सुस्पर्श सौगन्ध्यामृत रसका आस्वादन करता हुआ उसे कभी छोड़ना नहीं चाहता। अस्तु, श्रीव्रजांगनाओंको श्रीकृष्णके श्रीअंग एवं अमृतमय मुखचन्द्रिकाका दर्शन हुआ। उनके वचनामृत, हास-परिहासका आस्वादन हुआ एवं वस्त्रद्वारा परम्परया श्रीकृष्णांगका संस्पर्श भी हुआ, अतः सर्वात्मना श्रीकृष्णकी ओर उनका आकर्षण हुआ और वरप्राप्तिसे श्रीकृष्णका पूर्ण संस्पर्श हो सकेगा, यह भी सम्भव हो गया।

अब उनकी उत्सुकता और उत्कण्ठा उन्हें क्षण-क्षणको युगके या कल्पके समान प्रतीत कराने लगी। अब एक-एक क्षणका विलम्ब उनके लिये असह्य हो गया। एक-एक क्षणके वियोगजन्य तीव्र तापसे उनके अविद्या, काम, कर्म, हृदय-ग्रन्थि, किं बहुना गुणमय पाँचों कोश जलने लगे और क्षणिक सम्मिलनकल्पनाजन्य लोकोत्तर सुखसे रसमय स्वरूप परिपुष्ट होने लगा। जब यह कार्य पूर्ण हो जायगा, तब रासके लिये वेणुगीतपीयूषसे उनका आकर्षण करके उनके साथ विलासादि रमण होगा। कुछ ऐसी भी व्रजांगनाएँ थीं कि जिनके प्राकृत पंचकोशों और रसात्मक स्वरूपका दाह तबतक भी नहीं हुआ था। जब कृष्णका वेणुनाद सुनकर वे श्रीमद्वृन्दारण्यधामकी ओर चलीं, तब उनके पिता, भ्राता और पति आदिने उन्हें रोककर उन्हें गृहमें बन्द कर दिया। जब वे किसी तरह निकल न सकीं तो वहाँ ही नेत्र मींचकर श्रीकृष्णका ध्यान करने लगीं।

दु:सहप्रेष्ठविरहजन्य तीव्र तापको देखकर समस्त अशुभ कर्म कम्पित हो गये और अच्युतके ध्यानप्राप्त आश्लेषजन्य आनन्दको देखकर समस्त पुण्य भी संकुचित होकर दुर्बल हो गये। अर्थात् उन्होंने यह सोचा था कि समस्त पाप मिलकर भी किसीको इतना कष्ट नहीं पहुँचा सकते, जितना इन व्रजांगनाओंको श्रीकृष्णवियोगके एक क्षणमें ताप हुआ है और सभी पुण्य मिलकर कोटि कल्पोंमें भी इतना आनन्द नहीं दे सकते, जितना उन्हें श्रीकृष्णके ध्यानप्राप्तपरिरम्भणके एक क्षणमें हो सकता है।

बस, तीव्र तापसे गुणमय त्रिविध शरीर या पंचकोशको जलाकर वे ध्यानप्राप्त आश्लेषरस दिव्यस्वरूपसम्पन्न होकर श्रीकृष्णको प्राप्त हुईं। इसीलिये निर्गुणा भागवती भक्तिको सिद्धिसे भी श्रेष्ठ और सर्वकोशदाहिका कहा गया है।

अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा॥

(श्रीमद्भा० ३। २५। ३३)

अनिमित्ता भागवती भक्ति सिद्धिसे भी श्रेष्ठ होती है। जैसे भुक्त अन्नको जठराग्नि पचा डालती है, उसी तरह वह पंचकोशोंको जला डालती है। **'अतप्ततनुर्नतदासोऽश्नुते दिवम्।'**

इसी वियोगजन्य तीव्र तापसे जिसके स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों तनु (देह) नहीं तप्त हुए, वह अमृतमय कृष्णरसका अनुभव नहीं पा सकता।

अत: उत्कण्ठा और तापवृद्धिके लिये तो यह एक वर्षकी अवधि दी गयी है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण कामुक नहीं थे, कोई भी कामुक दुर्लभ परम सुन्दरी नग्न कामिनियोंको स्वाधीन पाकर क्षणभर भी धैर्य नहीं धारण कर सकता, फिर एक वर्षकी अवधि वह कब रख सकता है। यह तो योगेश्वर श्रीकृष्णका ही काम है कि जलक्रीड़ापरायण नग्न व्रजसुन्दरियोंको स्वाधीन एवं परमानुरागिणी, प्रेष्ठासंगमसज्जिता बनाकर स्वयं परम निर्विकार ही रहकर स्पर्शके लिये एक वर्षकी अवधि नियत करते हैं।

इससे केवल ब्राह्मसंस्पर्शकी अभिलाषिणी व्रजकुमारिकाओंकी कामनापूर्तिमात्र भगवान्‌ने की है—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'

(गीता ४। ११)

उनकी योग्यताके परिपाकार्थ ही **'मयेमा रंस्यथ क्षपाः'** वरदान है।

'इमाः क्षपाः' इस पद प्रयोगसे मालूम पड़ता है कि वे रात्रियाँ प्रत्यक्ष हैं। भगवान् अंगुल्या निर्देश करते हुए कहते हैं कि इन रात्रियोंमें आपलोग मेरे संग रमण करना। यद्यपि भविष्यकी रात्रियोंका प्रत्यक्ष होना असम्भव है तथापि मालूम होता है कि जैसे राजाकी दानरुचि समझकर राजाका अमात्य देय वस्तुको उसी क्षण उपस्थापित कर देता है, उसी तरह श्रीकृष्णकी दानरुचि जानकर ही योग-मायाने उन रात्रियोंकी अभिमानिनी शक्तियोंको उपस्थित कर दिया। उन्हींकी ओर अंगुल्या निर्देश

करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि आपलोग इन रात्रियोंमें रमण करना।

अनन्त, अखण्ड और ब्राह्मरसका सम्भोग परिच्छिन्न रात्रियोंमें नहीं हो सकता। अत: एक ही प्रहर-चतुष्टयवती रात्रिमें अनन्त कोटि दिव्य ब्राह्मी रात्रियोंका निवेश करके यह रासलीला श्रीकृष्ण-रमण-सम्पन्न होती है। विलक्षण व्रजांगनाओंकी श्रीकृष्ण-रसदात्री वह रात्रि परम रसमयी है। रासपंचाध्यायीके प्रारम्भमें ही इनका स्मरण किया गया है—

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥

(श्रीमद्भा० १०।२९।१)

श्रीकृष्ण, उनकी लीलाएँ, लीलाओंका काल और धाम सब भगवत्स्वरूप ही होते हैं। इसीलिये—**'इमाः, ताः'** आदि पदोंसे उनकी विलक्षणता, तत्पदार्थता आदि जानी जाती है।

बस, इस तरह श्रीकृष्णसे वर पाकर भगवान्के आज्ञानुसार व्रजांगनाएँ भगवान्के चरणाम्भोजका चिन्तन करती हुई बड़ी कृच्छ्रता (कष्ट)-के साथ व्रज गयीं।

तास्तथावनता दृष्ट्वा भगवान् देवकीसुतः।
वासांसि ताभ्यः प्रायच्छत् करुणस्तेन तोषितः॥
दृढं प्रलब्धास्त्रपया च हापिताः
प्रस्तोभिताः क्रीडनवच्च कारिताः।
वस्त्राणि चैवापहृतान्यथाप्यमुं
ता नाभ्यसूयन् प्रियसङ्गनिर्वृताः॥
परिधाय स्ववासांसि प्रेष्ठसङ्गमसज्जिताः।
गृहीतचित्ता नो चेलुस्तस्मिँल्लज्जायितेक्षणाः॥
तासां विज्ञाय भगवान् स्वपादस्पर्शकाम्यया।
धृतव्रतानां संकल्पमाह दामोदरोऽबलाः॥
संकल्पो विदितः साध्व्यो भवतीनां मदर्चनम्।
मयानुमोदितः सोऽसौ सत्यो भवितुमर्हति॥
न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते॥
याताबला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः।
यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरुरार्यार्चनं सतीः॥

श्रीशुक उवाच

इत्यादिष्टा भगवता लब्धकामाः कुमारिकाः।
ध्यायन्त्यस्तत्पदाम्भोजं कृच्छ्रान्निर्विविशुर्व्रजम्॥

(श्रीमद्भा० १०।२२।२१—२८)

श्रीकृष्णलीला कृष्णके लिये ही है, किसी दूसरेके लिये नहीं

अतएव जैसे सर्वभुक् अग्निके समान कोई सर्वभक्षी नहीं हो सकता, रुद्रके समान कालकूटभोजी नहीं हो सकता, कृष्णके समान गोवर्धन नहीं उठा सकता, वैसे ही चीरहरण और रासलीलाका भी आचरण कोई नहीं कर सकता। यदि मूढ़तासे कोई करेगा तो अवश्य ही उसका सर्वनाश हो जायगा। शास्त्रविरुद्ध श्रेष्ठोंके आचरणोंका अनुकरण कदापि नहीं करना चाहिये। अतएव श्रुतिने कहा है—**'यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि।'** (तैत्तिरीय० १।११) वही कार्य किसीके लिये अदोषावह होता है, किसीके लिये शास्त्रविरुद्ध एवं सावद्य होता है। ऋषभदेवके लिये अवधूतचर्या ठीक ही है, परंतु औरोंके लिये वही अनुचित है। वैसे ही कृष्ण-लीला कृष्णके ही लिये है, दूसरोंके लिये नहीं। दूसरे तो यही शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं कि ओह! श्रीकृष्ण ऐसी परम सुन्दरी स्वाधीन नग्न व्रजबालाओंके दर्शनसे निर्विकार एवं अक्षुब्धमनस्क रहे, ऐसे ही दृढ़ ब्रह्मचर्य और मनकी स्थिरता और एकाग्रता बनानी चाहिये।

व्रजभूमि

व्रजभूमिका अद्भुत वैभव

श्रीव्रजराजकिशोरके प्रेममें विभोर भावुकोंका सर्वस्व श्रीव्रजतत्त्व अपार, महामहिम, वैभवशाली तथा प्रकृति-प्राकृतप्रपंचातीत है। साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द वृन्दावनचन्द्रके ध्वज-वज्रांकुशादियुक्त, परमपावन, योगीन्द्र-मुनीन्द्र-ब्रह्मरुद्रेन्द्रादिवन्द्य पादारविन्दसे अंकित व्रजतत्त्वके सम्बन्धसे भूमिने अपनेको परम सौभाग्यशालिनी समझा है। अहो! जिसके कृपा-कटाक्षकी प्रतीक्षा ब्रह्मेन्द्रादि देवाधिदेव भी करते रहते हैं, वह वैकुण्ठाधिष्ठात्री सर्वसेव्या महालक्ष्मी ही जहाँ सेविका बनकर रहनेके लिये लालायित है, उस सर्वोच्च-विराजमान व्रजभूमिके अद्भुत वैभवका कौन वर्णन कर सकता है?

परमाराध्यचरण श्रीव्रजदेवियोंने वृन्दावन-नवयुवराज नन्दनन्दनके प्रादुर्भावसे व्रजकी सर्वाधिक विजय बतलायी है—

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः
श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।

(श्रीमद्भा० १०।३१।१)

लोक और वेदसे अतीत दिव्यप्रेमवती व्रजयुवतीजन वहाँ प्राणपणसे अपने प्राणनाथ प्रियतम परमप्रेमास्पदके अन्वेषणमें प्रेमोन्मादसे उन्मत्त होकर इधर-उधर डोल रही हैं। लोक तथा वेदमें यह प्रसिद्ध ही है कि '**आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति**' (बृहदारण्यक० २।४।५) अर्थात् संसारभरकी समस्त वस्तुएँ स्वात्म-सम्बन्धसे ही प्रेमास्पद होती हैं। स्वदेह, स्वपुत्र, स्वकलत्र एवं गेह-ग्राम-नगर-राष्ट्र, यहाँतक कि इष्ट देवता भी स्वात्म-सम्बन्धी ही प्रिय होते हैं। परमात्माके स्वरूपान्तरोंमें भी वैसा प्रेम नहीं होता, जैसा स्वात्म-सम्बन्धी इष्टदेवमें होता है। जब शर्करादि मधुर पदार्थोंके सम्बन्धसे अमधुर चूर्णादि भी मधुर प्रतीत होते हैं, तब शर्करादि स्वयं निरतिशय माधुर्यसे सम्पन्न हों—यह बात जैसे निर्विवाद सिद्ध है, वैसे ही जिस स्वात्मतत्त्वके सम्बन्धसे अनात्मा भी प्रेमास्पद होता है, वह स्वात्मतत्त्व स्वयं निरतिशय निरुपाधिक प्रेमका आस्पद है—यह बात भी निर्विवाद सिद्ध है; परंतु ये व्रजसीमन्तिनियाँ तो अपने जीवनधन अशेषशेखर नट-नागरके लिये ही अपने स्वात्मासे भी प्रेम करती हैं।

उनका भाव है कि 'हे दयित! हे चपल! आपके सुखके लिये ही हम इन प्राणोंको धारण करती हैं। हृदयेश्वर! यदि यह देह, प्राण, आत्मादि आपके उपयोगमें न आयें तो ये किस कामके? हमलोग तो आपके लिये ही इन सौन्दर्य-माधुर्य-सौगन्ध्य-सौकुमार्य आदि गुणोंकी रक्षा करती हैं। हे प्राणवल्लभ! नन्दलाल! समस्त सौख्यजात तथा तच्छेषी आत्मा—ये सभी आपके लोकोत्तर मनोहर मन्दहास-माधुर्य-सुधासिन्धुपर न्योछावर हैं। किंवा, पादारविन्दगत नखमणि-ज्योत्स्नापर राई-नोनके समान वारनेयोग्य हैं।'

धन्य है वह मंगलमय व्रजधाम, जो ऐसी व्रजराजकुमार-प्रेयसी व्रजदेवियोंके पादपद्मसे समलंकृत है; जहाँ नयनाभिराम घनश्याम मनमोहनकी मोहिनी मुरलिकाकी मधुर ध्वनिसे त्रिलोकीके चराचर चकित हो रहे हैं; जहाँ श्रीकृष्णचन्द्र-मुख-पंकज-निर्गत वेणुगीत-पीयूषसे पाषाण द्रवीभूत होकर बह चले तथा प्रेमार्त होकर कलिन्द-नन्दिनी महेन्द्र-नीलमणिके सदृश घनीभूत हो गयी; जहाँ गौएँ छविधाम घनश्यामके परम कमनीय माधुर्यका अनिमीलित नयन-पुटोंसे अधैर्यके साथ पान कर रही हैं और श्रोत्रपुटोंसे वेणुगीत-पीयूषका आस्वादन कर रही हैं; जहाँ प्रेमविभोर वत्सवृन्द सुतवत्सला जननीके प्रेमप्रसृत स्तन्यामृत-पानके लिये प्रवृत्त हुए; परंतु वंशी-निनाद-मन्त्रसे मुग्ध हो गये और उनके मुखसे दुग्ध बाहर गिरने लगा, अन्दर ले जानेकी क्रियाको वे भूल गये; जहाँके मृग-विहंग भी विविध प्रकारके उपचारोंसे प्रियतमकी प्रसन्नताके लिये व्यग्र हैं।

जिस परम-पावन धाममें तरु-लता-गुल्मादि भी वेणुछिद्र-निर्गत शब्द-ब्रह्मरूपमें परिणत भगवदीय अधर-सुधाका पानकर कुड्मल-पुष्प-स्तबकादिरूप रोमांचोद्गम छद्मसे तथा मधुधारारूप हर्षाश्रुविमोकसे अपने दुरन्त भावका व्यक्तीकरण कर रहे हैं; जिस धाममें प्रेमातिशयसे प्रभु-पादपद्मांकित व्रजभूमिगत ब्रह्मादिवन्द्यरजके स्पर्शके लिये आज भी समस्त तरु-लताएँ विनम्र हो रही हैं अथवा मनमोहनके दिये हुए निर्भर प्रेमके भारसे ही विनम्र हो रही हैं; जिस व्रजकी प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक परमाणु बलपूर्वक जीवन-धनकी स्मृति उत्पन्नकर प्रियतमके सम्मिलनकी उत्कण्ठाको उत्तेजित करते हैं, जिस व्रजमें निवास करनेवाले सौभाग्यशाली महापुरुष-धौरेयोंके ऋणी अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डनायकको भी होना पड़ा, उस व्रजका महत्त्व किन शब्दोंमें, किस लेखनीद्वारा व्यक्त किया जाय?

सत्यलोकपति ब्रह्माने कहा कि 'हे नाथ! आप इन लोकोत्तरसौभाग्यशाली व्रजवासियोंको क्या देकर उनसे उऋण होंगे?' इस बातको सोचता हुआ मेरा मन निश्चय करनेमें असमर्थ हो व्यामोहको प्राप्त होता है।

प्रभुने कहा—'ब्रह्मन्! मैं अनन्तकोटि-ब्रह्माण्ड-नायक हूँ। मेरे पास दिव्यातिदिव्य अनन्त वस्तुएँ हैं, जिन्हें देकर मैं इनके ऋणसे उन्मुक्त हो सकता हूँ। फिर तुम्हें ऐसा व्यामोह क्यों?'

इसपर ब्रह्माने कहा—'प्रभो! इन अनन्तानन्त दिव्य वस्तुओंके प्रदानसे आप इन घोष-निवासियोंसे उऋण नहीं हो सकते; क्योंकि अनन्तकोटिब्रह्माण्डान्तर्गत सब दिव्यातिदिव्य तत्त्व तो केवल सुखके अभिव्यंजक होनेसे ही उपादेय हो सकते हैं, पर उन अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डगत व्यक्त सौख्य-बिन्दुके परम उद्गम-स्थल अचिन्त्यानन्त-सौख्यसिन्धु आप ही हैं। फिर भला जिनके प्रांगणमें साक्षात् अनन्त परमानन्दसुधासिन्धु ही कन्दर्पकामित परम कमनीय कान्तिमय मूर्तिमान् धूलि-धूसरित होकर विहरण करे और रसिकेन्द्रवर्ग नन्दप्रांगणमें जिस अप्रमेय सबाह्याभ्यन्तर तत्त्वको उलूखल-निबद्ध दारुयन्त्रवत् व्रजसीमन्तिनी-वर्ग-विधेय बतलाते हैं, उन्हें तुषार-बिन्दु-स्थानीय सौख्याभिव्यंजक वस्तुके प्रदानसे आप कैसे प्रसन्न कर सकते हैं? जैसे कृतसंज्ञक चतुरंक द्यूतके विजित होनेपर त्र्यंक-द्व्यंक-एकांक द्यूत भी उसके अन्तर्भूत हो जाते हैं, किंवा सर्वतः संप्लुतोदकस्थानीय महासमुद्रको प्राप्त कर लेनेपर वापी-कूप-तड़ागादिगत जलकी अपेक्षा नहीं रह जाती, वैसे ही सौख्य-सुधानिधि सर्वफलात्मास्वरूप प्रभुके स्वायत्त होनेपर फल्गु फलोंकी अपेक्षा कौन विवेकी कर सकता है? अतः हे गोपालचूड़ामणे! आप व्रजनिवासी वर्गके ऋणसे कैसे उन्मुक्त हो सकते हैं?'

चतुर-चूड़ामणि व्रजवन-नवयुवराज बोले—'ब्रह्मन्! तब तो मैं स्वात्मसमर्पणद्वारा इनके ऋणसे उऋण हो जाऊँगा। जब मैं ही सर्वफलात्मा हूँ तो मैं इनको स्वात्म-समर्पणसे भी प्रसन्न कर सकता हूँ।'

ब्रह्माजीने कहा—'नाथ! वह स्वात्म-समर्पण तो आपने सर्वफल-समर्हणीय श्रीचरणोंकी जिघांसासे विषलिप्त-स्तन्यपान करानेवाली द्वेषवती उस पूतनाके लिये भी किया है। आप यदि यह कहें कि कुल-कुटुम्बसमेत व्रजवासियोंको स्वात्म-समर्पणकर उऋण हो सकूँगा तो भी ठीक नहीं; क्योंकि पूतनाका भी कोई कुलकुटुम्ब आपकी प्राप्तिसे वंचित नहीं रहा। भला, जब आपका स्वात्म-समर्पण इतना सस्ता है कि बालघ्नी पूतनाको भी आपने स्वात्म प्रदान कर दिया, तब जो धरा-धन-धाम-सुहृत्-प्रिय तनय तथा आत्माको भी आपके पादारविन्द-माधुर्यपर न्योछावर करनेवाले व्रजवासी जन हैं, उनसे आप स्वात्म-समर्पणमात्रसे कैसे उऋण हो सकते हैं? यद्यपि कहा जा सकता है कि बड़े-बड़े योगियोंको भी दुर्लभ स्वात्म-समर्पण उनके लिये पर्याप्त है, परंतु विज्ञजनोंकी दृष्टिमें व्रजधाम-निवासियोंकी पदवी योगीन्द्र-मुनीन्द्रोंको भी दुर्लभ है; क्योंकि यम-नियम-प्राणायाम-प्रत्याहारादि-द्वारा बाह्य-विषयोंसे मनको संयतकर योगीन्द्र अनुक्षण जिस तत्त्वके अनुसन्धानका प्रयत्न करते हैं, उसी तत्त्वमें इन व्रजनिवासियोंकी स्वारसिकी

प्रीति है। राग यद्यपि प्राणियोंके नि:सीम स्वात्मसौख्यका अपहरण करनेवाला होनेके कारण शत्रुवत् परिहार्य है; परंतु परम सौभाग्यशाली इन घोषनिवासियोंका राग तो प्रियतम—परम प्रेमास्पद आपके मंगलमय स्वरूपमें ही है। मोह भी प्राणियोंकी स्वाभाविकी स्वतन्त्रताका अपहरण करनेवाला होनेसे साक्षात् शृंखलारूप है; परंतु इनका तो मोह भी आपमें ही है। अत: इनके तो रागमोहादि दूषण भी भूषणरूप हैं। कारण भगवत्तत्त्व-व्यतिरिक्त प्रापंचिक पदार्थविषयक ही रागादि त्याज्य हैं। भगवद्विषयक रागादिकी प्रेप्सा तो प्रत्येक प्रेक्षावान्को ही होती है। कथंचित् वैराग्यसे भी विराग हो सकता है, पर प्रेममय भगवान्से नहीं। तात्पर्य यह कि सर्वविषयक राग-त्यागसे यद्विषयक रागकी उत्कट प्रेप्सा सम्पादन की जाती है, तद्विषयक उत्कट राग-सम्पन्न इन घोषनिवासियोंके माहात्म्यकी एक कलाकी भी बराबरी कौन कर सकता है?'

एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव रातेति न-
श्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन्मुह्यति।
सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता
यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते ॥
तावद् रागादय: स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जना:॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।३५-३६)

प्रभो! अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक स्वयं आप जिनके ऋणी हैं, उन घोषनिवासियोंकी महिमाका कौन वर्णन करे। सत्यलोकाधिपति जगत्पितामह श्रीब्रह्माजी भी व्रजके रज:स्पर्शलाभार्थ व्रजवृन्दाटवीके तृण-गुल्मादिके रूपमें जन्म लेनेके सौभाग्यकी अभिलाषा रखते हैं। उनको आशा है कि यहाँके तृण-गुल्मादि होनेसे भी व्रजवासियोंके चरण-रजका अभिषेक उन्हें प्राप्त होगा। उस व्रजके अन्तर्गत भगवान्की अनेक लीला-भूमियाँ हैं, जो साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्रविषयिणी प्रीतिका उद्दीपन करनेवाली हैं। यमुना-पुलिन, गोवर्धनाद्रि, गह्वरवन, कदम्बखण्डियाँ, नन्दग्राम, बरसाना, चरणाद्रि आदि ऐसे-ऐसे मनोहर स्थान हैं, जहाँके परमाणु-परमाणुमें श्रीकृष्ण-प्रीतिका संचार करनेकी अद्भुत शक्ति देखी जाती है। वज्र-सदृश कठोर चित्त भी वहाँ हठात् द्रवीभूत हो जाता है।

श्रीवृन्दावन-धाम तो व्रजभूमिका सर्वस्व है। श्रीव्रजभक्तोंकी पद-पंकज-रजके संस्पर्श-लोभसे, **'नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यून:'** (श्रीमद्भा० ३।४।३१)-के अनुसार, साक्षात् श्रीकृष्णसे भी अन्यून महाभागवत उद्धव भी वृन्दावन-धामके तृण-गुल्मादि होनेकी स्पृहा प्रकट करते हैं—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।

(श्रीमद्भा० १०।४७।६१)

श्रीमत्प्रबोधानन्दसरस्वतीप्रभृति महानुभाव तो वृन्दावनधामबहिर्भूत अनन्त चिन्तामणियोंकी ही नहीं वरं च श्रीहरिकी भी उपेक्षा करनेकी सलाह देते हैं—

मिलन्तु चिन्तामणिकोटिकोटय:
स्वयं हरिर्द्वारमुपैतु सत्वर:।

'विपिन-राज सीमाके बाहर हरिहूँको न निहारौं'

आदि।

वेदान्तवेद्य परिपूर्ण सच्चिदानन्दघन परब्रह्म निरतिशय होनेके कारण, तारतम्यविहीन होनेपर भी वृन्दावनधाममें जैसा मधुर अनुभूयमान होता है, वैसा और स्थलोंमें नहीं। अतएव भावुकोंने—

'व्रजे वने निकुञ्जे च श्रैष्ठ्यमत्रोत्तरोत्तरम्।'

-के अनुसार द्वारकास्थ, मथुरास्थ श्रीकृष्ण-व्यतिरिक्त श्रीकृष्णमें भी व्रजस्थ-वृन्दावनस्थ-निकुंजस्थ भेदसे तारतम्य स्वीकृत किया है।

अभिप्राय यह है कि जैसे एक ही प्रकारका स्वातिबिन्दु स्थलवैचित्र्यसे विचित्र परिणामवाला होता है, शुक्तिकामें पड़कर मोतीके रूपसे, बाँसमें वंशलोचनरूपसे, गोकर्णमें गोरोचनरूपसे तथा गजकर्णमें गजमुक्तारूपसे परिणत होता है, वैसे ही वेदान्तवेद्य तत्त्व एकरूप होता हुआ भी अभिव्यंजक स्थलकी स्वच्छताके तारतम्यसे तथा अभिव्यक्ति-तारतम्य होनेसे तारतम्योपेत होता है।

जैसे सूर्यतत्त्वकी अभिव्यक्ति काष्ठ-कुड्य आदि अस्वच्छ पदार्थोंपर वैसी नहीं होती, जैसी निर्मल जल, काँच आदिपर होती है, वैसे ही राजस-तामस स्थलोंमें ब्रह्मतत्त्वकी अभिव्यक्ति वैसी नहीं हो सकती, जैसी निर्मल विशुद्ध स्थलोंमें।

यह निर्मलता जैसे पार्थिव-प्रपंचमें स्पष्ट अनुभूयमान है, वैसे ही त्रिगुणात्मक प्रपंचमें गुण-विमर्द-वैचित्र्यसे क्वचित् प्रत्यक्षानुमानद्वारा, क्वचित् आगम तथा श्रुतार्थापत्तिद्वारा तारतम्योपेत होकर ज्ञात होती है। इसीलिये किसी स्थलमें जानेसे वहाँ अकस्मात् चित्तप्रसाद और किसी स्थलमें चित्तक्षोभ आदि चिह्नोंद्वारा भी स्थल-वैचित्र्यकी अनुभूति होती है। व्रजवन-निकुंजोंमें क्रमश: एकको अपेक्षा दूसरेमें वैचित्र्य है। अतएव वहाँ पूर्ण-पूर्णतर-पूर्णतमरूपसे एक ही श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दका प्राकट्य होता है।

तीर्थोंकी यह विशेषता प्रत्यक्ष है कि जिस तीर्थमें जितनी अद्भुत सात्त्विकता एवं शक्ति है, वहाँ उतनी ही सरलतासे प्रभुकी विशेषताकी अनुभूति होती है। परंतु जैसे कामिनीका रूप कामुकोंपर ही प्रभावकारी होता है और सर्प-व्याघ्रादि-दर्शनसे अधिक उद्वेग भीरुको ही होता है, वैसे ही सात्त्विक तथा भगवत्परायणको तीर्थगत विलक्षण शक्तियाँ प्रभावान्वित करती हैं, यद्यपि वैसे कुछ-न-कुछ प्रभाव तो सभी तरहके पुरुषोंपर होता है तथापि वह व्यक्त नहीं होता; परंतु श्रुतार्थापत्तिद्वारा तीर्थोंमें शक्ति-वैलक्षण्य अवश्य ज्ञात है।

भावुकोंने व्रजतत्त्वको हिततम वेदवेद्य प्रेमतत्त्वका स्वरूप अर्थात् शरीर ही माना है। प्रेमतत्त्वके व्रजधाम-स्वरूप देहमें श्रीव्रजनवयुवतिजन इन्द्रियरूपिणी हैं। मन:स्वरूप रसिकेन्द्रवर्गमूर्धन्यमणि श्रीव्रजराजकिशोर हैं तथा प्राणरूपा-प्रज्ञाके स्थानमें श्रीव्रजनवयुवति-कदम्ब-मुकुटमणि कीर्तिकुमारी श्रीराधा हैं। यहाँ—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्य: परं मन:।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धे: परतस्तु स:॥

(गीता ३। ४२)

—इस वचनके अनुसार जैसे देह इन्द्रियोंके, इन्द्रियाँ मनके और मन प्राणरूपा प्रज्ञाके परतन्त्र होता है (यहाँपर '**यो वै प्राण: सा प्रज्ञा**' (कौषीतकि-ब्राह्मणोपनिषद् ३। ४) इस श्रुति-वाक्यके अनुसार क्रिया-शक्ति-प्रधान प्राण और ज्ञानशक्ति-प्रधान प्रज्ञाका ऐक्य विवक्षित है) एवं पूर्व-पूर्वका उत्तरोत्तरमें ही सम्मिलन होनेसे तद्रूपता ही होती है, उसी तरह व्रज श्रीकृष्णप्रेयसी व्रजांगनाओंसे विभूषित तथा उन्हींके अधीन है। व्रजवनिताजनका जीवन श्रीव्रजेन्द्रकुमार हैं तथा श्रीकृष्ण-हृदयकी अधीश्वरी प्राणाधिका राधिका हैं और वह केवल प्रेमसुधा-जलनिधिमें ही पर्यवसित होती हैं।

प्रेममय व्रज प्रेमोद्रेकमें व्रजांगनारूप ही हो जाता है और व्रजांगनाएँ '**असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिका**' (श्रीमद्भा० १०। ३०। ३), '**कृष्णोऽहं पश्यत गतिम्**' (श्रीमद्भा० १०। ३०। १९) इत्यादि वचनोंके अनुसार श्रीकृष्ण-भावरस-भरिता होकर नन्दनन्दनस्वरूपा हो जाती हैं। रसिकशिरोमणि श्रीकृष्ण प्रेमोन्मादमें निजप्रेयसी श्रीवृषभानुनन्दिनी-स्वरूप हो जाते हैं तथा श्रीराधिका प्रेमस्वरूपमें ही साक्षात् अपने प्रियतमके साथ निमग्न होती हैं।

इस प्रकार साक्षात् वेदान्तवेद्य परम-रसात्मक-सुधाजलनिधिके ही दिव्य-विकास-प्रेममय तत्त्व उसीमें पर्यवसित होते हैं। इसी तरह अनाद्यनन्त रससागरमें रसमय प्रिया-प्रियतम और उनके परिकरकी रसमयी लीलाका धाम अप्राकृत श्रीव्रज भी रसमय ही है।

यद्यपि व्रजमें माधुर्य-शक्तिका प्राधान्य है तथापि क्वचित् ऐश्वर्य-शक्तिका भी विकास होता ही है; क्योंकि माधुर्य-शक्तिका ही अधिक आदर होनेपर भी ऐश्वर्य-शक्ति मूर्तिमती होकर प्रभुकी सेवा करनेके सुअवसरकी प्रतीक्षा करती रहती है। प्रभु भी उसका अत्यन्त तिरस्कार नहीं करते हैं। इसीसे मृद्भक्षण आदि लीलाओंमें मुखान्तर्गत ब्रह्माण्ड-प्रदर्शन आदि ऐश्वर्य-शक्तिके कार्य देखे जाते हैं। अत: विशुद्ध माधुर्य-भावका प्राकट्य श्रीवृन्दावनधाममें ही माना जाता है।

भावुकोंका कहना है कि अनन्तकोटिब्रह्माण्डान्तर्गत सौख्यबिन्दुओंका परम उद्गम-स्थान जो अनन्त सौख्य-सुधा-सिन्धु है, उसका मन्थन करनेपर सारसे भी सारभूत नवनीत-स्थानीय जो तत्त्व हो, उसका भी पुन: सहस्रधा-कोटिधा मन्थन करनेपर जो परम दिव्य-तत्त्व नि:सृत हो, वही वृन्दावनधामका स्वरूप है। कारणरूप जो अक्षर-ब्रह्म है, वही व्यापी वैकुण्ठ वृन्दावन है।

कार्य-कारणातीत वेदान्तके परम-तात्पर्यके विषयीभूत परमतत्त्व श्रीकृष्णके प्राकट्यका स्थल कारणात्मा अक्षर ही है। **'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥'** (ऋग्वेद १०।९०।३), **'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥'** (गीता १०।४२) इत्यादि श्रुति-स्मृतिके अनुसार मायाविशिष्ट कारणब्रह्म एकपाद है। उसके ऊपर त्रिपाद्विभूति अमृत है।

जो महानुभाव वेदान्त-वेद्य, कार्य-कारणातीत परमतत्त्वको ही वृन्दावन मानते हैं, उनके सिद्धान्तमें वहाँका निवासी कृष्ण-तत्त्व अवैदिक ही होगा। इतना ही कहना पर्याप्त है; क्योंकि एकहीमें आश्रयाश्रयित्व असम्भव है।

'अव्याकृतमनन्ताख्यमासनं यदधिष्ठित:।' (श्रीमद्भा० १२।११।१३) इस उक्तिके अनुसार भी अनन्तसंज्ञक अव्याकृत ही भगवान्का आसन है। उन्हींका नाम शेष भी है। **'शिष्यते अवशिष्यते इति शेष:'** अर्थात् जो अवशिष्ट रहे, वही शेष कहा जाता है। कार्यके प्रलयानन्तर कारण ही शेष रहता है। उसका कोई कारणान्तर नहीं है, जिसमें उसका प्रलय हो। कारण सप्रपंच है। निष्प्रपंच ब्रह्मका वही निवासस्थल है। **'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्'** (गीता १४।२७) इस भगवदुक्तिके अनुसार सगुण कारण-ब्रह्मकी, एकपादस्थानीयकी प्रतिष्ठा **'त्रिपादूर्ध्व उदैत्'** (ऋग्वेद १०।९०।४) ऊर्ध्व अर्थात् कार्य-कारणानन्तर्भूत ब्रह्म परमात्मा ही है।

किन्हीं महानुभावोंके सिद्धान्तमें यह प्रकट वृन्दावन ही अक्षर ब्रह्मव्यापी वैकुण्ठ है; परंतु उसका वह स्वरूप अभावितान्त:करण पुरुषको उपलब्ध नहीं होता है। अद्वैतसिद्धान्तमें समस्त प्रपंच ही ब्रह्मस्वरूप है, परंतु शास्त्राचार्योपदेशजन्य संस्कारोंसे संस्कृतान्त:-करण पुरुष-धौरेयको ही वह उपलब्ध होता है। इसीलिये अद्वैतसिद्धान्त-परिनिष्ठित प्रबोधानन्दसरस्वती तदनुसार ही श्रीवृन्दावनको सच्चिदानन्दमय बतलाते हुए लिखते हैं—

यत्र प्रविष्ट: सकलोऽपि जन्तु:
आनन्दसच्चिद्घनतामुपैति ।

'जिस वृन्दावन-धाममें प्रविष्ट होते ही कीट-पतंगादि भी आनन्दसच्चिद्घनस्वरूप हो जाते हैं'; परंतु तादृशी प्रतीति तबतक नहीं होती, जबतक प्राकृत-संसर्गका बिलकुल अभाव नहीं होता।

यद्यपि जीव स्वभावसे ही **'चेतन अमल सहज सुखरासी'** (रा०च०मा० ७।११७।२) है; परंतु आविद्यिक अनात्मसंसर्गसे अनेकानेक अनर्थ-परिप्लुत प्रतिभासित होते हैं। अविद्याका विद्याद्वारा अपनयन होनेपर उनका स्वाभाविक स्वरूप व्यक्त होता है। अतएव कुछ लोग कहते हैं कि भगवान्की अभिव्यक्तिका स्थल ही वृन्दावन है।

भगवदाकारसे आकारित वृत्तिपर भगवत्तत्त्वका प्राकट्य होता है, उसे भी वृन्दावन कहते हैं। इस तरह साभास अव्याकृत एवं साभास चरमावृत्तिको भी वृन्दावन कहते हैं। इसीलिये जो महानुभाव वृन्दावनके उपासक होते हुए भी प्रसिद्ध वृन्दावनमें प्रारब्धवश नहीं रह पाते, वे भी व्यापी वैकुण्ठ, कारण-तत्त्व-स्वरूप ब्रह्मके व्यापक होनेसे तत्स्वरूप वृन्दावनका प्राकट्य शक्ति-बलसे कहीं भी रहकर सम्पादन करते हैं।

नित्य-निकुंजकी श्रीवृन्दावनसे भी अधिक रसमयता

भावुकोंकी दृष्टिमें नित्य-निकुंज श्रीवृन्दावनसे भी अन्तरंग समझा जाता है। नित्य-निकुंजमें वृषभानुनन्दिनी-स्वरूप महाभाव-परिवेष्टित शृंगार-स्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द नित्य ही रसाक्रान्त

रहते हैं। यहाँ प्रिया-प्रियतमका सार्वदिक् सर्वांगीण सम्प्रयोगका भान भी सर्वदा ही रहता है। जैसे कि सन्निपातज्वरसे आक्रान्त पुरुष जिस समय शीतल मधुर जलका पान करता है; ठीक उसी समयमें पूर्ण तीव्र पिपासाका भी अनुभव करता है, वैसे ही नित्य निकुंज-धाममें जिस समय प्रिया-प्रियतम पारस्परिक परिरम्भणजन्य रसमें निमग्न होते हैं, उसी कालमें तीव्रातितीव्र वियोग-जन्य तापका भी अनुभव करते हैं।

सारस-पत्नी लक्ष्मणा केवल सम्प्रयोगजन्य रसका ही अनुभव करती है और चक्रवाकी विप्रयोगजन्य तीव्र-तापके अनन्तर सहृदय-हृदय-वेद्य सम्प्रयोगजन्य अनुपम रसका आस्वादन करती है; परंतु वह भी विप्रयोग-कालमें सम्प्रयोगजन्य रसास्वादनसे वंचित रहती है; किंतु नित्य-निकुंजमें श्रीनिकुंजेश्वरीको अपने प्रियतम परमप्रेमास्पद श्रीव्रजराजकिशोरके साथ सारस-पत्नी लक्ष्मणाकी अपेक्षा शतकोटि-गुणित दिव्य सम्प्रयोग-जन्य रसकी अनुभूति होती है और साथ ही चक्रवाकीकी अपेक्षा शतकोटि-गुणित अधिक विप्रयोगजन्य तीव्र तापके अनुभवके अनन्तर पुनः दिव्य रसकी भी अनुभूति होती है। ऐसे ही विषयमें भावुकोंने कहा है—

मिलेइ रहैं मानों कबहुँ मिले ना।

—जैसे भावुकोंके भावना-राज्यवाले शून्य निकुंजमें ही प्रियतम संकेतित समयमें पधारते हैं, किसी अन्यके सान्निध्यमें नहीं, वैसे ही वेदान्तियोंके यहाँ भी भगवान्‌से व्यतिरिक्त जो सब दृश्यपदार्थ हैं, उनके संसर्गसे शून्य निर्वृत्तिक और निर्मल अन्तःकरणमें ही 'तत्पदार्थ' का प्राकट्य होता है।

जैसे सर्व-व्यापारोंसे रहित होकर पूर्ण प्रतीक्षा ही प्रियतमके संगमका असाधारण हेतु है, वैसे ही वेदान्तियोंके यहाँ भी पूर्ण प्रतीक्षा अर्थात् कायिकी, मानसी आदि सर्व चेष्टाओंके निरोध होनेपर ही **'त्वं पदार्थ'** को **'तत्पदार्थ'** का संगम प्राप्त होता है। सर्व दृश्य-संसर्गशून्य निर्वृत्तिक निर्मल अन्तःकरणरूप निकुंजमें पूर्ण प्रतीक्षापरायण व्रजांगना-भावापन्न **'त्वं पदार्थ'** श्रीकृष्णस्वरूप **'तत्पदार्थ'** के साथ यथेष्ट तादात्म्य सम्बन्ध प्राप्त करता है। यही संक्षेपमें व्रजधामतत्त्व तथा उसका रहस्य है।

श्रीरासलीलारहस्य

श्रीरासपंचाध्यायीके वक्ता व्यास-पुत्र महाज्ञानी श्रीशुकदेवजी और श्रोता गर्भज्ञानी श्रीपरीक्षित्‌जीका माहात्म्य

इस अपार संसार-समुद्रमें जिन लोगोंके मन निरन्तर गोते लगा रहे हैं, उन्हें सब प्रकारके दुःखोंसे मुक्तकर अपने परमानन्दमय स्वरूपकी प्राप्ति करानेके लिये अहैतुककरुणामय दीनवत्सल श्रीभगवान् ही स्वयं धर्मावबोधक वेदरूपमें अवतीर्ण होते हैं। जिस समय कालक्रमसे सर्वसाधारणके लिये वेदका तात्पर्य दुर्बोध हो जाता है, उस समय श्रीहरि ही पुराणादिरूपमें आविर्भूत होते हैं। पुराणोंका मुख्य प्रयोजन वेदार्थका निरूपण करना ही है। किंतु यह सब रहते हुए भी परस्पर मतभेद रहनेके कारण वेदार्थ-सम्बन्धी विरोधका निराकरण भगवान्‌की उपासनाके द्वारा शुद्ध हुए अन्तःकरणसे ही हो सकता है। जिन लोगोंकी विवेकदृष्टि पारस्परिक विवादके कारण नष्ट हो गयी है, उन्हें वेदार्थका बोध कराकर परम कल्याणकी प्राप्ति करनेके लिये ही श्रीमद्भागवतका प्रादुर्भाव हुआ है, जैसा कि कहा है—

कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह॥
कलौ नष्टदृशामेष पुराणार्कोऽधुनोदितः।

(श्रीमद्भा० १।३।४३-४४)

अर्थात् धर्म एवं ज्ञानादिके सहित भगवान्‌के स्वधाम सिधारनेपर जिन मनुष्योंकी दृष्टि कलियुगके कारण नष्ट हो गयी है, उनके लिये इस समय इस पुराणरूप सूर्यका उदय हुआ है। वस्तुतः यह ग्रन्थ

वेदार्थ-विरोधकी निवृत्तिमें सूर्यके ही समान है।

अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां सर्वोपनिषदामपि।
गायत्रीभाष्यभूतोऽसौ ग्रन्थोऽष्टादशसंज्ञितः॥

अर्थात् यह श्रीमद्भागवतपुराण ब्रह्मसूत्र और समस्त उपनिषदोंका तात्पर्य है तथा यह अष्टादशसंज्ञक ग्रन्थ गायत्रीका भाष्यस्वरूप है।

प्राचीन आर्षग्रन्थोंमें श्रीमद्भागवत एक अत्यन्त देदीप्यमान उज्ज्वल ग्रन्थरत्न है। इसके दशम और एकादश स्कन्धोंमें परमानन्दघन लीलापुरुषोत्तम भगवान् कृष्णचन्द्रकी दिव्यातिदिव्य लीलाओंका वर्णन है। लीलाविहारी श्रीश्यामसुन्दर सर्वथा रसमय हैं। उनकी कोटि-कोटि कन्दर्प-कमनीय मनोहर मूर्ति भावुक भक्तोंके लिये जैसी मनोमोहिनी है, वैसी ही उनकी लीलाएँ भी हैं। यों तो भगवान्‌की सभी लीलाएँ लोकोत्तर आनन्दातिरेकका संचार करनेवाली हैं तथापि उनकी व्रजलीलाएँ तो महाभाग भक्तों एवं कविपुंगवोंका सर्वस्व ही हैं। उनमें भी, जिसका आविर्भाव एकमात्र रसाभिव्यक्तिके लिये ही हुआ था, वह महारास तो मानो सर्वथा माधुर्यका ही विलास था। प्रभुकी रासक्रीड़ा जैसी मधुर है, वैसी ही रहस्यमयी भी है। उसके भीतर जो गुह्यातिगुह्य रहस्य निहित है, वह आपाततः दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। वह इतना गूढ़ है कि उसमें जितना प्रवेश किया जाता है, उतना ही अधिकाधिक दुरवगाह्य प्रतीत होता है। हम यथामति उसका विचार करनेका प्रयत्न करते हैं।

इस रासलीलाका वर्णन श्रीमद्भागवत दशम स्कन्धके अध्याय उनतीससे तैंतीसतक है। ये पाँच अध्याय 'रासपंचाध्यायी' के नामसे सुप्रसिद्ध हैं। ये श्रीमद्भागवतरूप कलेवरके मानो पाँच प्राण हैं अथवा यदि इन्हें श्रीमद्भागवतका हृदय कहा जाय तो भी अयुक्त न होगा।

रासपंचाध्यायीके आरम्भमें '**श्रीबादरायणिरुवाच**' ऐसा पाठ है। इस पाठका भी एक विशेष अभिप्राय है। यहाँ '**बादरायणिः**' शब्दसे वक्ताका महत्त्व द्योतितकर उसके द्वारा प्रतिपादन किये जानेवाले विषयकी महत्ता प्रदर्शित की गयी है। लौकिक नीतियोंके विषयमें तो प्रायः इस बातपर ध्यान नहीं दिया जाता कि उनका वक्ता कौन है; वहाँ केवल उस उक्तिकी महत्ताका ही विचार किया जाता है।

'**ननु वक्तृविशेषनिःस्पृहा गुणगृह्या वचने विपश्चितः।**'

किंतु धार्मिक अंशोंमें यह नियम नहीं है। वहाँ तो वक्ताकी योग्यताका विचार सबसे पहले किया जाता है। जिस प्रकार गायत्री मन्त्र है, उसका अर्थ किसी भी भाषामें कितने ही सुन्दर ढंगसे कर दिया जाय तथापि जापककी उसमें श्रद्धा नहीं हो सकती और न मूल गायत्रीके जपसे होनेवाला महान् फल ही उससे प्राप्त हो सकता है। अतः धर्मके विषयमें मनुष्यको 'वक्तृविशेष-सस्पृह' होनेकी आवश्यकता है। यहाँ वक्ताके कथनकी अपेक्षा उसके व्यक्तित्वका प्रामाण्य ही अधिक अपेक्षित है।

यदि देखा जाय तो लौकिक विषयोंमें भी यही नियम अधिक काम कर रहा है। हमें एक साधारण पुरुषकी ऊँची-से-ऊँची बात उतनी मूल्यवान् नहीं जान पड़ती, जितनी कि किसी गण्यमान्य व्यक्तिकी साधारण-सी बात जान पड़ती है। जिस पुरुषके प्रति हमारी श्रद्धा है, उसकी बहुत मामूली बातपर भी हम बहुत ध्यान देते हैं। इससे निश्चय होता है कि लौकिक विषयोंमें यद्यपि प्रायः 'वक्तृविशेषनिःस्पृहता' होती है; वहाँ बालकसे भी शुभ ज्ञान ग्रहण करने चाहिये—यही नीति काम करती है तथापि सर्वांशमें नहीं। कभी-कभी वक्ताकी आप्तताका मूल्य वहाँ भी बढ़ जाता है।

यही बात वेदके विषयमें है। वेद बहुत युक्ति-युक्त अर्थको कहता है, इसीलिये वह माननीय हो—ऐसी बात नहीं है; बल्कि बात तो ऐसी है कि वेदका कथन होनेके कारण ही वेदार्थ माननीय है। चोर अच्छी बात कहे, तब भी उसमें आस्था नहीं हो सकती।

अब हम प्रकृत विषयपर आते हैं। रासपंचाध्यायीके वक्ता श्रीबादरायणि हैं।

'बदराणां समूहो बादरं नरनारायणाश्रमोऽयन-माश्रयो यस्य स बादरायणः तस्यापत्यं बादरायणिः।'

'बदर' बेरको कहते हैं, यहाँ उससे नरनारायणाश्रम उपलक्षित है। वही जिनका अयन-आश्रय-निवास-स्थान अर्थात् तपोभूमि है, वे भगवान् व्यासजी ही बादरायण हैं। उन्हींके पुत्र श्रीबादरायणि हैं। यहाँ भगवान् शुकदेवजीको जो 'बादरायणि' कहा गया है। उसका तात्पर्य यही है कि उनका महत्त्व अपने व्यक्तित्वके कारण ही नहीं है, बल्कि पिता और पिताकी निवासभूमिसे भी उनकी पवित्रता द्योतित होती है अर्थात् भगवान् श्रीशुकदेवजी स्वयं ही पवित्र हों, ऐसी बात नहीं है, उन्हें तो उनके पिताने परम-पवित्र बदरिकाश्रममें तप करके उस तपके फलस्वरूप ही प्राप्त किया था। बदरिकाश्रम ज्ञानभूमि है; अतः वहाँ जो तप होगा, वह भी अत्यन्त विलक्षण ही होगा। उसके फलस्वरूप श्रीभगवान् या भगवान्के परमान्तरंग निकुंजमन्दिरस्थ लीलाशुक ही श्रीशुकदेवरूपमें प्रादुर्भूत हुए हैं।

भगवान् व्यासजीमें भी केवल तपसे ही तेज आया हो—ऐसी बात नहीं है, वे तो वेदार्थका निरूपण करनेके लिये अवतीर्ण हुए साक्षात् श्रीनारायण ही थे—**'केशवं बादरायणम्'**। यों तो वे स्वयं ही नारायण हैं; तिसपर भी उन्होंने बदरिकाश्रममें विविध प्रकारका तप किया है। उन्हींसे जिसका जन्म हुआ है, वे श्रीशुकदेवजी ही इस तत्त्वके वक्ता हैं।

इससे सिद्ध होता है कि उनका कथन भी कोई साधारण बात नहीं है। महापुरुष कोई ग्राम्य-कथा नहीं कहा करते। उनके सामने तो ग्राम्य-कथाओंका विघात हो जाया करता है, किसी दूसरेको भी ऐसी बात कहनेका साहस नहीं होता, फिर वे स्वयं तो ऐसी बात कहेंगे ही क्यों? वे अवश्य किसी दिव्यातिदिव्य रहस्यका ही उद्घाटन करेंगे। यह तो रही वक्ताकी बात; उनके सिवा श्रोता भी कैसे हैं? महाराज परीक्षित्! **'गर्भे दृष्टमनुध्यायन् परीक्षेत नरेष्विह॥'** (श्रीमद्भा० १।१२।३०) अर्थात् जिन्होंने जन्म लेते ही इधर-उधर देखकर लोगोंमें यह परीक्षा करनी चाही थी कि जिस मनोमोहिनी मूर्तिको मैंने गर्भमें देखा था, वह यहाँ कहाँ है, जो गर्भमें ही भगवान्का दर्शन कर चुके थे। ध्रुवादिने साधनद्वारा योगमायाका निराकरण करके भगवत्तत्त्वका साक्षात्कार किया था, किंतु इन्हें तो भगवान्की अनुकम्पासे ही उनका दर्शन हो गया था। उनके वंशका महत्त्व भी सुस्पष्ट ही है। इस प्रकार जैसे भगवान् बादरायणि मातृमान्, पितृमान् और आचार्यवान् हैं, वैसे ही पार्थ-पौत्र महाराज परीक्षित् भी हैं।

वे यद्यपि स्वभावसे ही तत्त्वज्ञ, शास्त्रज्ञ, ऐहिक, आमुष्मिक विषयोंसे विरक्त एवं सर्वान्तरतम प्रत्यगात्माका साक्षात्कार करनेके इच्छुक थे तथापि राजा होनेके कारण किसी शृंगाररसप्रधान कथाके श्रवणमें उनकी अभिरुचि होनी सम्भव थी। किंतु इस समय तो उन्हें अनिवार्य विप्र-शाप हो चुका था; इसलिये सात दिनमें उनकी मृत्यु निश्चित हो जानेके कारण वे परम उपरत हो गये थे। यदि साधारण मनुष्यको भी अपनी मृत्युका निश्चय हो जाय तो वह किसी ग्राम्य-कथाके श्रवणमें प्रवृत्त नहीं हो सकता; फिर महाभागवत महाराज परीक्षित्-जैसे सर्वसाधनसम्पन्न पुरुषोंकी प्रवृत्ति तो उसमें हो ही कैसे सकती है?

वस्तुतः श्रीमद्भागवत कोई साधारण ग्रन्थ नहीं है। श्रीशुकदेवजीका तो मिलना ही बहुत दुर्लभ था; फिर जिस ग्रन्थका वे वर्णन करें, उसका महत्त्व क्या कुछ साधारण हो सकता है? जिस समय शौनकादि महर्षियोंने यह सुना कि इस ग्रन्थका वर्णन श्रीशुकदेवजीने किया है तो वे आश्चर्यचकित हो गये और बोले—

तस्य पुत्रो महायोगी समदृङ्निर्विकल्पकः।
एकान्तमतिरुन्निद्रो गूढो मूढ इवेयते॥

(श्रीमद्भा० १।४।४)

'वे व्यासनन्दन तो महायोगी, समदर्शी, विकल्पशून्य, एकान्तमति और अविद्यारूप निद्रासे जगे हुए थे। वे तो प्रच्छन्नभावसे मूढ़वत् विचरते रहते

थे। वे किस प्रकार इस बृहत् आख्यानका श्रवण करानेमें प्रवृत्त हो गये?'

उनकी महिमाको द्योतित करनेवाला एक अन्य श्लोक भी है—

यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं
द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदु-
स्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि॥

(श्रीमद्भा० १।२।२)

अर्थात् जिन्होंने उपनयनसंस्कारके लिये विधिवत् गुरूपसदन नहीं किया और जैसे-तैसे पिताके उपनयन-संस्कार कर देनेपर भी जो उपनयन-सम्बन्धी क्रियाकलापसे उपरत थे, उन शुकदेवजीको जाते देखकर उनके विरहसे आतुर होकर जिस समय 'हे पुत्र! हे पुत्र!', इस प्रकार पुकारते हुए श्रीव्यासजी उनके पीछे गये तो प्रत्येक वृक्षमेंसे जो 'पुत्र' शब्दकी प्रतिध्वनि आ रही थी, वह ऐसी जान पड़ती थी, मानो वृक्ष भी तन्मयभावसे 'पुत्र-पुत्र' चिल्ला रहे हैं। भगवान् शुकदेवजी परम तत्त्वज्ञ और महायोगी होनेके कारण सर्वभूतहृदय हैं।

'सर्वभूतानां हृत् अयते विजानाति।'

जो सम्पूर्ण भूतोंके हृत् और उसके विचारोंको जानते हैं अथवा **'स सर्वभूतानां हृत् अयते नियमयति'** जो समस्त प्राणियोंके हृत्का अयन—नियमन करते हैं, इन व्युत्पत्तियोंके अनुसार श्रीशुकदेवजी सर्वभूतहृदय हैं। उनके सिवा अन्य तत्त्वज्ञ भी यद्यपि अपने पारमार्थिक स्वरूपसे सर्वान्तरात्मा ही हैं तथापि दूसरेके चित्तके नियन्त्रणादिकी शक्ति बिना योगके नहीं हो सकती; इसीसे **'हृत् अयते नियमयति'** यह दूसरी व्युत्पत्ति उनके महायोगित्वका परिचय देती है। उससे उनका परमतत्त्व और महायोगी होना सिद्ध होता है। इस प्रकार सबके हृदय होनेके कारण वे वृक्षोंके भी अन्तरात्मा हैं। अतः उस समय वृक्षोंसे 'पुत्र' शब्दकी जो प्रतिध्वनि हो रही थी, उससे जान पड़ता था कि वह वृक्षोंके द्वारा मानो स्वयं ही श्रीव्यासजीको 'पुत्र' कहकर सम्बोधन कर रहे थे। ऐसा करके वे उन्हें उपदेश कर रहे थे कि 'पिताजी! आप जो हमें पुत्र-पुत्र कहकर पुकार रहे हैं, यह आपका व्यामोह ही है। हमारा-आपका जो पिता-पुत्र-सम्बन्ध है, वह तात्त्विक नहीं है। कभी हम आपके पुत्र होते हैं तो कभी आप भी हमारे पुत्र हो जाते हैं; अतः आपको इस मायिक सम्बन्धके मोहमें न फँसना चाहिये।'

उस समय एक दूसरी घटना भी हुई। उससे भी उनकी निर्विकार समदृष्टिका पता चलता है। उस घटनाका वर्णन इस श्लोकद्वारा किया गया है—

दृष्ट्वानुयान्तमृषिमात्मजमप्यनग्नं
देव्यो ह्रिया परिदधुर्न सुतस्य चित्रम्।
तद्वीक्ष्य पृच्छति मुनौ जगदुस्तवास्ति
स्त्रीपुम्भिदा न तु सुतस्य विविक्तदृष्टेः॥

(श्रीमद्भा० १।४।५)

श्रीशुकदेवजीके पीछे-पीछे भगवान् व्यास जा रहे थे। मार्गमें एक जलाशयपर कुछ देवांगनाएँ स्नान कर रही थीं। श्रीव्यासजी यद्यपि वस्त्र धारण किये हुए थे तथापि उन्हें देखकर उन अप्सराओंने लज्जावश अपने वस्त्र धारण कर लिये; किंतु बाल-योगी दिगम्बर-वेश शुकदेवजीको देखकर ऐसा नहीं किया। भगवान् शुकदेवजी परम सुन्दर थे। वे श्यामवर्ण होनेके कारण साक्षात् आनन्दकन्द भगवान् कृष्णचन्द्रके समान मनोमोहक थे। उनकी मनोहर मूर्तिको देखकर कुल-कामिनियोंके अन्तःकरणोंमें भी क्षोभ हो जाता था तथा बहुत-से बालक उनके पीछे लगे रहते थे। ऐसे होनेपर भी उन्हें देखकर देवांगनाओंने वस्त्र धारण नहीं किये, किंतु वृद्ध और विकलेन्द्रिय व्यासजीको देखकर बड़ी फुर्तीसे वस्त्र पहन लिये। यह देखकर जब व्यासजीने उनसे इसका कारण पूछा तो वे कहने लगीं—'महाराज! आपको तो स्त्री-पुरुषका भेद है, किंतु आपके पवित्र-दृष्टि पुत्रको ऐसा कोई भेद नहीं है। इसका आत्मभाव शुद्ध परब्रह्ममें सुस्थिर है, दृश्यपर तो इसकी दृष्टि ही नहीं

है। हमलोग अप्सराएँ हैं। हमसे लोगोंकी मनोवृत्ति छिपी नहीं रह सकती। महर्षियोंकी तपस्या भंग करनेके लिये ही हमारी नियुक्ति की जाती है। अतः **'ताँत बाजी और राग बूझा'**, हम महर्षियोंको देखते ही उनके हृदयको परख लेती हैं।'

वस्तुतः दृश्य-संसर्ग ही दृष्टिके मालिन्यका हेतु है। जहाँ वह दृश्य-संसर्गसे निवृत्त हुई कि उसका मालिन्य भी निर्मूल हो गया। ऐसी स्थिति प्राप्त होते ही परब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है। यही स्थिति श्रीशुकदेवजीकी थी।

भला जो गोदोहन-वेलासे अधिक कहीं खड़े नहीं होते थे, उन श्रीशुकदेवजीने किस प्रकार श्रीमद्भागवत सुनायी? ऐसी शंका होनेपर श्रीसूतजीने कहा—यह महाराज परीक्षित्‌का सौभाग्य ही था।

स गोदोहनवेलां वै गृहेषु गृहमेधिनाम्।
अवेक्षते महाभागस्तीर्थीकुर्वंस्तदाश्रमम्॥

यहाँ एक दूसरी शंका भी हो सकती है। महाभारतके कथनानुसार श्रीशुकदेवजी अपने तपके प्रभावसे ब्रह्मभावापन्न हो गये थे। उन्हें बाह्य प्रपंचका अनुसन्धान भी नहीं रहा था। फिर इस महासंहिताके स्वाध्यायमें उनकी किस प्रकार प्रवृत्ति हुई?

इसका उत्तर श्रीसूतजी महाराजने इस प्रकार दिया है—

हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः।
अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः॥

(श्रीमद्भा० १।७।११)

सूतजी कहते हैं—ठीक है, यद्यपि श्रीशुकदेवजी ऐसे ही निर्विशेष परब्रह्ममें परिनिष्ठित थे, शास्त्र, शिष्य आदि सम्बन्धोंमें उनकी प्रवृत्ति होनी सर्वथा असम्भव थी तथापि उन्हें एक व्यसन था। उससे आकृष्ट होकर ही उन्होंने इस महान् आख्यानका अध्ययन किया था। व्याससूनु भगवान् शुकदेवजीकी बुद्धि श्रीहरिके गुणोंसे आक्षिप्त थी, वह हरिगुणगानकी मनोमोहिनी माधुरीमें फँसी हुई थी। **'हरते इति हरिः'** जो बड़े-बड़े योगीन्द्र-मुनीन्द्रोंके मनको भी हर लेते हैं, उन दिव्य मगंलमूर्ति भगवान्‌का नाम ही 'श्रीहरि' है। भगवान्‌के परम दिव्य नाम, गुण, चरित्र एवं स्वरूप ऐसे ही मधुर हैं। उन्हींके गुणोंने श्रीशुकदेवजीके शुद्धब्रह्माकारवृत्तिसम्पन्न मनको भी हठात् अपनी ओर आकर्षित कर लिया था। इसीसे उन्होंने इस बृहत् संहिताका स्वाध्याय किया था।

अहा! उन श्रीव्यासनन्दनकी हरिभक्तिप्रवणताका कहाँतक वर्णन किया जाय? यद्यपि निरन्तर आत्मसुखमें विश्रान्त रहनेके कारण उनकी मनोवृत्ति किसी दूसरी ओर नहीं जाती थी; उनके हृदयसे द्वैतप्रपंचका सर्वथा तिरोभाव हो गया था; तथापि परमानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रकी ललित लीलाओंने उन्हें अपनी ओर आकृष्ट कर ही लिया। इसीसे उन्होंने भगवल्लीलाके निगूढ़तम रहस्यभूत इस महाग्रन्थका आविर्भाव किया।

स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावो-
ऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम्।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं
तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि॥

(श्रीमद्भा० १२।१२।६८)

'स्वसुखनिभृतचेताः' स्वानन्दसे ही पूर्ण है चित्त जिनका, यद्यपि प्राणियोंका चित्त विषयोंसे पूर्ण देखा जाता है तथापि स्वभावतः वह आत्मानन्दसे ही पूर्ण है। जिस प्रकार घटकी आकाशद्वारा स्वाभाविक पूर्णता जलादिद्वारा होनेवाली अस्वाभाविक पूर्णतासे निवृत्त-सी हो जाती है, उसी प्रकार चित्तकी स्वाभाविक ब्रह्माकाराकारिता उसकी अस्वाभाविक विषयाकाराकारितासे निवृत्त हुई-सी जान पड़ती है। किंतु श्रीशुकदेवजीका चित्त तो विषयव्यामोहसे निवृत्त होकर आत्मानन्दमें ही विश्रान्त हो गया था। इसीसे उन्हें **'स्वसुखनिभृतचेताः'** कहा है। इस प्रकार **'तद्व्युदस्तान्यभावः'** आत्मानन्दमें विश्रान्त होनेके कारण अन्य पदार्थोंसे जिनकी सत्यत्वबुद्धि निवृत्त हो गयी है, ऐसे जिन शुकदेवजीने **'अजितरुचिरलीलाकृष्टसारः'** जिनकी ब्रह्माकारवृत्तिकी निश्चलता भगवान् अजितकी रुचिर लीलासे अपहृत हो गयी है;

ऐसे होकर कृपावश इस तत्त्वप्रदर्शक पुराणका विस्तार किया, उन निखिलपापापहारी श्रीव्यासनन्दनको मैं प्रणाम करता हूँ।

यद्यपि ऐसे महानुभावोंकी प्रवृत्ति ग्रन्थाध्ययनमें नहीं हुआ करती तथापि भगवल्लीलाओंसे आकृष्टचित्त होनेके कारण ही उन्होंने इस महासंहिताका अध्ययन किया था।

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान्॥

(श्रीमद्भा० २।१।९)

इस सम्बन्धमें एक इतिहास भी प्रसिद्ध है। एक बार श्रीशुकदेवजी संसारसे उपरत होकर वनमें चले गये और वहाँ ध्यानाभ्यासमें तत्पर होकर समाधिस्थ हो गये। उनकी बुद्धिवृत्ति निखिल दृश्यप्रपंचका निरासकर अशेष-विशेष-शून्य शुद्ध बुद्ध मुक्त परब्रह्ममें लीन हो गयी और उन्हें बाह्य जगत्का कुछ भी भान न रहा। इसी समय भगवान् व्यासदेवके कुछ शिष्यगण उधर आ निकले। उन्होंने उन बालयोगीन्द्रको देखकर कुतूहलवश श्रीव्यासजीसे जाकर कहा कि भगवन्! हमने वनमें एक परम सुन्दर बालकको देखा है। वह बहुत दिनोंसे पाषाण-प्रतिमाके समान निश्चल भावसे एक ही आसनसे बैठा हुआ है। उसे बाह्य जगत्का कुछ भी भान होता नहीं जान पड़ता।

तब भगवान् व्यासदेवने सारी परिस्थिति समझकर उन्हें एक श्लोक कण्ठ कराया और कहा कि तुम उस बालयोगीके पास जाकर इसे सुमधुर ध्वनिसे गाया करो। तदनन्तर शिष्यगण वनमें जाकर इस श्लोकका गान करने लगे—

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद् वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः॥

(श्रीमद्भा० १०।२१।५)

शिष्योंके निरन्तर गान करनेसे भगवान् शुकदेवजीके अन्तःकरणमें इस श्लोकके अर्थकी स्फूर्ति हुई। यह नियम है कि जितना ही चित्त शुद्ध होगा, उतना ही शीघ्रतर उसमें भगवत्तत्त्वका अनुभव होगा। इसीसे किन्हीं-किन्हीं उत्तम अधिकारियोंको, जिनकी उपासना पूर्ण हो चुकी होती है, महावाक्यका श्रवण करते ही स्वरूप-साक्षात्कार हो जाता है।

उस श्लोकार्थकी स्फूर्ति होनेपर भगवद्विग्रहकी अनुपम रूपमाधुरीने उनके चित्तको क्षुभित कर दिया। उनकी समाधि खुल गयी और उन्होंने श्रीश्यामसुन्दरकी स्वरूपमाधुरीका वर्णन करनेवाले इस श्लोकको कई बार उन बालकोंसे कहलाया और कितनी ही बार आनन्दविभोर होकर स्वयं भी कहा। शिष्योंने भगवान् व्यासदेवके पास उन्हें यह सारा वृत्तान्त सुनाया। श्रीव्यासजी सोचने लगे कि इसे सुनकर भी वह आया क्यों नहीं! जब उन्होंने ध्यानस्थ होकर इसके कारणका अन्वेषण किया, तब उन्हें मालूम हुआ कि उसे यह सन्देह है कि जिसका सौन्दर्य-माधुर्य ऐसा विलक्षण है, वह मेरे-जैसे अकिंचन पुरुषसे स्नेह क्यों करेगा? तब व्यासजीने इस शंकाकी निवृत्ति करनेके लिये भगवान्की दयालुताको प्रकट करनेवाला यह श्लोक उन बालकोंको पढ़ाया और पूर्ववत् उन्हें श्रीशुकदेवजीके पास जाकर इसे गानेका आदेश किया—

अहो बकी यं स्तनकालकूटं
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥

(श्रीमद्भा० ३।२।२३)

इस श्लोकको सुनकर श्रीशुकदेवजीको आश्वासन हुआ और उन्होंने बालकोंसे पूछा कि तुमने यह श्लोक कहाँसे याद किया है? बालकोंने कहा— 'हमारे गुरुदेव श्रीव्यासभगवान्ने एक अष्टादश सहस्र श्लोकोंकी महासंहिता रची है। ये श्लोक उसीके हैं।'

यह सुनकर वे भगवान् व्यासदेवके पास आये और उनसे उस महाग्रन्थका अध्ययन किया। अध्ययन करनेमें एक दूसरा हेतु और भी था। **'नित्यं विष्णुजन-**

प्रियः' (श्रीमद्भा० १।७।११) भगवान् शुकदेवजीको सर्वदा विष्णुभक्तोंका संग प्रिय था। श्रीमद्भागवत वैष्णवोंका परमधन है। अतः इसके कारण उन्हें सदा ही वैष्णवोंका सहवास प्राप्त होता रहेगा, इस लोभसे भी उन्होंने उसका अध्ययन किया।

इससे शौनकजीके प्रश्नका उत्तर हो जाता है। वे हरिगुणाक्षिप्तमति थे, इसीलिये आत्माराम होनेपर भी उन्होंने इस महासंहिताका अध्ययन किया। वस्तुतः भगवान्के गुणगण ही ऐसे हैं—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

(श्रीमद्भा० १।७।१०)

यहाँ '**निर्ग्रन्थाः**' इस पदके दो अभिप्राय हैं— (१) '**निर्गता ग्रन्थयो येभ्यस्ते**' अर्थात् ब्रह्ममें परिनिष्ठित होनेके कारण जो आत्मानात्मसम्बन्धी ग्रन्थियोंसे मुक्त हो गये हों, वे निर्ग्रन्थ हैं। अथवा (२) '**निर्गता ग्रन्था येभ्यस्ते**' परब्रह्ममें परिनिष्ठित होनेके कारण जिनका ग्रन्थावलोकन छूट गया हो। वास्तवमें योगकी सिद्धि तो होती ही उस समय है, जिस समय कि शास्त्रोक्त विविध वादोंसे विचलित हुई बुद्धि उन सब विवादोंसे ऊपर उठकर निश्चल भावसे एक तत्त्वमें स्थित हो जाय।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥

(गीता २।५३)

जिस समय बुद्धि मोहातीत हो जाती है, उस समय वह श्रोतव्य और श्रुतसे उपरत हो जाती है; फिर तो एकमात्र ब्रह्मवीथिमें ही उसका विचरण हुआ करता है।

श्रीभगवान् कहते हैं—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥

(गीता २।५२)

श्रीविद्यारण्यस्वामी तो ऐसी अवस्थामें शास्त्र-संन्यासकी व्यवस्था भी करते हैं—

शास्त्राण्यधीत्य मेधावी अभ्यस्य च पुनः पुनः।
परमं ब्रह्म विज्ञाय उल्कावत्तान्यथोत्सृजेत्॥

भगवती श्रुति भी कहती है—

'**तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ**…।'

(मु० उ० २।२।५)

यहाँ यह विरोध प्रतीत होता है कि जब श्रुति-स्मृति और आचार्य सभीका यह मत है कि स्वरूप-साक्षात्कार होनेके पश्चात् शास्त्राभ्यासमें प्रवृत्ति नहीं होती और होनी भी नहीं चाहिये तो श्रीशुकदेवजीकी इस महाग्रन्थके अध्ययनमें कैसे प्रवृत्ति हुई? इसका एकमात्र हेतु, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, यही था कि वे हरिगुणाक्षिप्तमति थे। वे यद्यपि स्वयं उसमें प्रवृत्त नहीं हुए थे तथापि भगवान्के गुणोंकी मधुरिमाने उन्हें स्वयं उस ओर खींच लिया था।

वेदान्तसिद्धान्तमें भी यह युक्तियुक्त ही है। इस विषयमें आचार्योंका ऐसा मत है कि जिस समय ब्रह्मज्ञान होता है, उस समय आवरण नष्ट हो जाता है, किंतु प्रारब्धभोगोपयोगी विक्षेप तो बना ही रहता है। ब्रह्मज्ञानसे केवल मूलाविद्याका नाश होता है, लेशाविद्या तब भी रह जाती है। उसकी निवृत्ति प्रारब्धक्षय होनेपर होती है। इसीसे श्रीनारद, सनकादि, शुकदेव और वसिष्ठादि परमसिद्ध ब्रह्मनिष्ठ महात्माओंकी लोकमें भी नाना प्रकारकी चेष्टाएँ देखी जाती हैं। जिस प्रकार परम ब्रह्मनिष्ठ होनेपर भी श्रीनारदजीको हरिनाम-संकीर्तन और सनकादिको हरिगुणगानका व्यसन था, उसी प्रकार श्रीशुकदेवजीको भी हरिकथामृतके पानका व्यसन था। जिस प्रकार स्वरूपानुभव हो जानेपर भी प्रारब्धभोगके लिये इन्द्रियोंकी विषयोंमें प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार हरिगुणगानमें भी प्रीति हो ही सकती है। वस्तुतः भगवान्में आत्माराम-चित्ताकर्षकत्व एक गुण है। उसीसे आकृष्ट होकर भगवान् शुकदेवजीने इस शास्त्रका अध्ययन किया था।

इससे सिद्ध हुआ कि ऐसे पूर्ण परब्रह्ममें परिनिष्ठित महामुनि शुकदेवजीकी इस कारणसे इस

भागवत-शास्त्रके अध्ययनमें प्रवृत्ति हुई तथा इसके वर्णनमें इसलिये भी प्रवृत्ति हुई कि जिससे विष्णुजन स्वयं ही आकर उन्हें मिल जाया करें। इस भागवत-शास्त्रमें भगवान्‌का दिव्यातिदिव्य रहस्य निहित है; अतः जिस प्रकार वशीकरणमन्त्रसे लोगोंको अपने अधीन कर लिया जाता है, उसी प्रकार इस परम मन्त्रके कारण भक्तजन स्वयं ही आकृष्ट हो जाते हैं। इसके सिवा भगवान्‌के गुण, चरित्र और स्वरूपकी माधुरी स्वयं भी ऐसी मोहिनी है कि बड़े-बड़े सिद्ध-मुनीन्द्र भी उनके कीर्तनमें प्रवृत्त हो जाया करते हैं। भाष्यकार भगवान् शंकराचार्यने नृसिंहतापिन्युपनिषद्‌के भाष्यमें कहा है—

'मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा तं भजन्ते।'

अर्थात् मुक्तजन भी लीलासे देह धारणकर भगवान्‌का गुणगान किया करते हैं। यही बात सनकादिके विषयमें भी कही जा सकती है।

भक्तोंके लिये तो एकमात्र श्रीहरिश्रवण ही परमावलम्ब है

जिस समय महाराज परीक्षित् गंगातटपर आकर बैठे, उस समय बहुतसे ऋषि, मुनि, सिद्ध एवं योगीन्द्रगण उनके पास आये। उन सबसे उन्होंने यही प्रश्न किया कि 'भगवन्! मैं मरणासन्न हूँ; अतः मुमूर्षु पुरुषके लिये जो एकमात्र कर्तव्य हो, वह मुझे बतलाइये।' इस विषयमें उस मुनीन्द्र-मण्डलीमें विचार हो रहा था; भिन्न-भिन्न महानुभाव अपने भिन्न-भिन्न मत प्रकट कर रहे थे; अभी कुछ निश्चय नहीं हो पाया था कि इतनेमें ही शुकदेवजी आ गये। उनसे भी यही प्रश्न हुआ। राजाने पूछा—'भगवन्! अब मेरी मृत्युमें केवल सात दिन शेष हैं; अतः कोई ऐसा कृत्य बतलाइये, जिसके करनेसे मैं धीरोंकी प्राप्तव्य गतिको प्राप्त कर सकूँ।'

तब श्रीशुकदेवजी बोले—'राजन्! अन्य अनात्मज्ञ लोगोंके लिये तो सहस्रों साधन हैं, परंतु भक्तोंके लिये तो एकमात्र श्रीहरिश्रवण ही परमावलम्ब है।' इसके तीन भेद हैं—श्रीहरिका स्वरूपश्रवण, गुणश्रवण और नामश्रवण। इसी प्रकार श्रीहरि-कीर्तन भी तीन प्रकारका है—स्वरूपकीर्तन, गुणकीर्तन और नामकीर्तन। उपनिषदादिसे भगवान्‌का स्वरूपकीर्तन होता है, इतिहास-पुराणादिसे रूप-गुण-कीर्तन होता है और विष्णुसहस्रनामादिसे नामकीर्तन होता है। कर्मकाण्ड भी भगवान्‌का ही स्वरूप है—

'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।'

(यजु० ३१।१६)

कर्म ही क्या, यह सारा प्रपंच एकमात्र भगवान् ही तो है; भूत, भविष्यत्, वर्तमान जो कुछ है, भगवान्‌से भिन्न नहीं है—

'पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।'

(यजु० ३१।२)

श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण सबके आदि, अन्त और मध्यमें श्रीहरिका ही कीर्तन किया गया है—

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदौ मध्ये तथा चान्ते हरिः सर्वत्र गीयते॥

श्रीमद्भागवतमें दस प्रकारसे भगवान्‌का कीर्तन किया गया है

इस प्रकार श्रीशुकदेवजीने भगवच्छ्रवण ही उस समय मुख्य कर्तव्य बतलाया और इसीके लिये श्रीमद्भागवत श्रवण कराया। श्रीमद्भागवतमें दस प्रकारसे भगवान्‌का कीर्तन किया गया है—

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः॥

(श्रीमद्भा० २।१०।१)

सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय। इनमें भी दशमकी विशुद्धिके लिये ही शेष नौका कीर्तन किया गया है—

'दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्।'

(श्रीमद्भा० २।१०।२)

इसका तात्पर्य यही है कि दशम स्कन्धमें जो दशम तत्त्वका निरूपण किया गया है, उसकी विशुद्धिके लिये ही उससे पूर्ववर्ती नौ स्कन्ध हैं।

वह दशम तत्त्व आश्रय है। श्रीमद्भागवतमें आश्रयका लक्षण इस प्रकार किया गया है—

आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते।
स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते॥

(श्रीमद्भा० २।१०।७)

यहाँ 'आभास' और 'निरोध' इन दो शब्दोंसे ही उपर्युक्त नौ तत्त्वोंका निरूपण किया है। अतः 'निरोध' शब्दसे यहाँ मुक्ति अभिप्रेत है। आभास अध्यारोपको कहते हैं और निरोध अपवादको। इन अध्यारोप और अपवादके द्वारा ही उसके अधिष्ठानभूत निष्प्रपंच ब्रह्मतत्त्वका वर्णन किया जाता है—

'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते।'

अध्यारोपके द्वारा ब्रह्मको निखिल प्रपंचका चरम कारण मानकर उससे सृष्टिका क्रम बतलाया जाता है और अपवादके द्वारा दृश्यमात्रका अनात्मत्व-प्रतिपादन करते हुए साक्षी चेतनका शोधन किया जाता है। इसी क्रमसे शुद्ध परब्रह्म लक्षित हो सकता है। जीवको स्वभावतः तो शुद्धतत्त्वका बोध है नहीं; अतः इस दृश्यप्रपंचके कारणके अन्वेषणपूर्वक ही उसका बोध कराया जाता है। इसीसे मातृपितृशतादपि हितैषिणी भगवती श्रुतिने भी यही कहा है—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।
तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत।

(छान्दोग्य० ६।२।१, ३)

इत्यादि।

इस प्रकार ब्रह्मको प्रपंचका कारण प्रतिपादन करनेमें श्रुतिका केवल यही तात्पर्य है कि जिसमें लोग परमाणु, प्रकृति आदि जड़ वस्तुओंको इसका कारण न मान लें।

इसमें यह शंका हो सकती है कि दृश्य तो असत्, जड़ एवं दुःखस्वरूप है; उसका कारण सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म कैसे हो सकता है? कार्यमें सर्वदा कारणके गुणोंकी अनुवृत्ति हुआ करती है। कारण और कार्यकी विजातीयता प्रायः देखनेमें नहीं आती। इसका समाधान यह है कि यद्यपि मुख्यतया तो यही नियम देखा जाता है, परंतु कहीं-कहीं इसमें विषमता भी होती देखी गयी है। देखो, जड़ गोबरसे बिच्छू आदि चेतन जीव उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार चेतन ब्रह्मसे जड़ प्रपंचकी उत्पत्ति भी हो ही सकती है।

इस प्रकार यद्यपि आरम्भमें तो ब्रह्मसे जगत्‌की उत्पत्तिका ही प्रतिपादन किया जाता है तथापि अन्ततः सिद्धान्त तो यही है कि प्रपंचकी उत्पत्ति ही नहीं हुई। इसलिये यह जो कुछ प्रतीत होता है, बिना हुआ ही दिखायी देता है। इसीसे यह अनिर्वचनीय है। अतः आभास और निरोध—आरोप और अपवाद अर्थात् बन्ध और मोक्ष अज्ञानजनित ही हैं—

अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ
द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतज्ञभावात्।
अजस्रचित्यात्मनि केवले परे
विचार्यमाणे तरणाविवाहनी॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।२६)

श्रुति कहती है—

'न प्रेत्य संज्ञास्तीत्य…विनाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा॥'

(बृहदारण्यक० ४।५।१३-१४)

यहाँ **'प्रेत्य'** का अर्थ है 'मरना'। जिस समय तत्त्वज्ञ देहेन्द्रियाद्याकारमें परिणत भूतोंसे उत्थान करता है, उस समय वह मानो मर जाता है। फिर उसका कोई नाम-रूप नहीं रहता। जैसे नमकका डला समुद्रका जल ही है। वह वायु आदिके संयोगसे लवणखण्डके रूपमें परिणत हो गया है। उसे यदि समुद्रमें डाल दिया जाय तो वह फिर उपाधिके संसर्गसे शून्य होकर समुद्ररूप ही हो जायगा। उसी प्रकार अन्नमयादि कोशोंमें परिणत जो उपाधि है, उससे सम्बन्ध छूट जानेपर आत्मा अपने शुद्ध स्वरूपमें स्थित हो जाता है।

मोक्ष क्या है? श्रीमद्भागवत (२।१०।६)-में कहा गया है—

'मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः॥'

अर्थात् आत्मा जो देहेन्द्रियादिरूप उपाधिके

तादात्म्याध्यासकर्तृत्वसे भोक्तृत्वादि अनेकानर्थयुक्त-सा प्रतीत होता है, उसका सब प्रकारके सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदोंको छोड़कर अपने शुद्धस्वरूपमें स्थित होना ही मुक्ति है। वैष्णवाचार्य कहते हैं कि जीव ब्रह्मका नित्य दास है; अत: भगवद्विप्रयोगको छोड़कर उसका भगवत्सान्निध्यमें स्थित होना ही मुक्ति है तथा जो मधुर भाववाले हैं, वे ऐसा मानते हैं कि जीव जो प्राकृत स्त्री-पुरुषादि भावोंको प्राप्त हो गया है, उसका इनसे छूटकर गोपीभावमें स्थित होना ही मुक्ति है।

जीव सत्य भी है और मिथ्या भी। ऐसा होनेपर ही उसमें बन्ध और मोक्षकी भी सिद्धि हो सकती है। जीव स्वरूपसे तो नित्य है, किंतु अन्त:करणादि विशेषणविशिष्ट होनेके कारण अनित्य भी है, जिस प्रकार आकाश आकाशरूपसे तो नित्य है, किंतु घटरूप विशेषणके नाशवान् होनेके कारण अनित्य भी है, क्योंकि विशेषणके अभावसे भी विशिष्टका अभाव माना जाता है। विशिष्ट वस्तुका अभाव तीन प्रकारसे माना गया है—(१) विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव; (२) विशेष्यभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव और (३) उभयाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव; अर्थात् विशेषण, विशेष्य और उन दोनोंके अभावके कारण होनेवाला अभाव; जिस प्रकार दण्डी पुरुषका अभाव दण्डाभाव, पुरुषाभाव अथवा इन दोनोंका ही अभाव होनेपर भी माना जाता है; जिस तरह घटाकाशका परिच्छिन्नत्व घटरूप उपाधिके ही कारण है, उसी प्रकार उपाधिसंसर्गके कारण ही पूर्ण परब्रह्ममें जीवभाव है। भगवान् भाष्यकार कहते हैं—

'एकमपि सन्तमात्मानमनेकमिव अकर्तारं सन्तं कर्तारमिव अभोक्तारं सन्तं भोक्तारमिव मन्यन्ते इत्येव जीवस्य जीवत्वम्।'

अत: उपाधिके मिथ्यात्वके कारण जीवत्व भी मिथ्या है और उपाधिके असम्बन्धसे वह सत्य भी है। यह अवच्छेदवादकी प्रक्रिया है।

इस प्रकार आभास और निरोध दोनों ही मिथ्या हैं तथा ये दोनों जिसमें अधिष्ठित होनेसे सिद्ध होते हैं, वह परब्रह्म ही आश्रय नामक दसवाँ तत्त्व है। इसका दशम स्कन्धमें निरूपण किया गया है— **'दशमे दशमो हरि:'**। पहले नौ स्कन्ध इसीकी परिशुद्धिके लिये हैं। दशम स्कन्धके आदि, अन्त और मध्यमें बहुत-सी ऐश्वर्यपूर्ण घटनाओंका वर्णन किया गया है। जिस प्रकार एक सुधासिन्धुमें नाना प्रकारकी तरंगोंका प्रादुर्भाव होता है, उसी प्रकार दशम स्कन्धमें जितनी लीलाओंका प्रादुर्भाव हुआ है, वे सब भगवान्‌की नित्य लीलाकी ही अभिव्यक्तिमात्र हैं। अत: भगवल्लीला-सम्बन्धी जितना विषय है, वह सब भगवद्रूप ही है।

भागवतमें दशमस्कन्ध सार है और उसका भी सारातिसार है रासपंचाध्यायी

आचार्योंका ऐसा मत है कि सम्पूर्ण भागवतमें दशम स्कन्ध सार है, उसका भी सारातिसार रासपंचाध्यायी है। सम्पूर्ण शास्त्र भगवान्‌के वाङ्मय-विग्रह हैं; भिन्न-भिन्न शास्त्र उस वाङ्मय भगवद्विग्रहके ही स्वरूप हैं। उनमें श्रीमद्भागवत भगवान्‌का सविशेष-निर्विशेष सम्मिलित स्वरूप है। उनमें सर्ग-विसर्गादि दसों तत्त्वोंका सांगोपांग वर्णन है, किंतु दशम स्कन्धमें केवल आश्रय नामक दशम तत्त्वका ही वर्णन है। अत: दशम स्कन्ध मानो आश्रय नामक दशम तत्त्वका ही वाङ्मय-विग्रह है तथा उसमें जो रासपंचाध्यायी है, वह उसका प्राण है। इस रासपंचाध्यायीके अनेक प्रकार अर्थ किये जाते हैं। आचार्यगण जो एक ही वाक्यकी अनेक प्रकार व्याख्या किया करते हैं, उसमें उनका यही तात्पर्य होता है कि किसी-न-किसी प्रकार जीवोंका भगवान्‌में प्रेम हो। देवर्षि नारदको संक्षेपमें श्रीमद्भागवतका उपदेश करके उनसे भी ब्रह्माजीने यही कहा था—

यथा हरौ भगवति नृणां भक्तिर्भविष्यति।
सर्वात्मन्यखिलाधारे इति सङ्कल्प्य वर्णय॥

(श्रीमद्भा० २।७।५२)

श्रीमद्भागवतमें यद्यपि शुद्ध निर्विशेष सच्चिदानन्द-घनतत्त्व ही वर्णित है तथापि यह आग्रह भी उचित

नहीं है कि उसमें द्वैतका वर्णन है ही नहीं और न निर्गुणवादियोंका यह कथन ही उचित है कि उसमें सगुणवाद नहीं है। वास्तवमें भागवतमें प्रेम-विघातक वेदान्त नहीं है। इसमें तो भक्ति, विरक्ति और भगवत्प्रबोध तीनोंका ही वर्णन है।

रासपंचाध्यायी श्रीमद्भागवतका प्राण है

पहले कहा जा चुका है कि रासपंचाध्यायी श्रीमद्भागवतका प्राण है। इसमें सर्वान्तरतम वस्तुका प्रतिपादन किया गया है। याज्ञिकोंके यहाँ इसका बड़ा अच्छा क्रम है। वेदीके सबसे निकट यूप होता है। पात्र उसकी अपेक्षा भी अन्तरतम है। देवताओंका अन्तरंग हविष्य है और पात्र उसकी अपेक्षा बहिरंग हैं तथा अध्वर्यु उनकी अपेक्षा भी बहिरंग हैं। इसलिये यदि ऋत्विक्‌गण कोई पात्र लाते हैं तो स्वयं यूपके बाहर होकर निकलते हैं, किंतु पात्रको यूप और वेदीके बीचमें होकर निकालते हैं।

यद्यपि यह दशम स्कन्ध समग्र ही आश्रयरूप है तथापि लीलाविशेषके लिये इसमें भी अन्तरंग-बहिरंगकी कल्पना की गयी है। जिनका भगवान्‌से जितना ही अधिक संसर्ग है, वे उतने ही अधिक अन्तरंग हैं। इसका वर्णन 'उज्ज्वलनीलमणि' नामक ग्रन्थमें बहुत स्पष्टतया किया गया है। मथुरावासियोंकी अपेक्षा गोकुलनिवासी अधिक अन्तरंग हैं, उनसे भी श्रीदामादि नित्यसखा अन्तरंग हैं, उनकी अपेक्षा गोपांगनाएँ अन्तरंग हैं, गोपांगनाओंमें ललिता-विशाखा आदि प्रधान यूथेश्वरियाँ अधिक अन्तरंग हैं और उन सभीकी अपेक्षा श्रीवृषभानुनन्दिनी अन्तरतम हैं; इस क्रमसे रासलीलामें सर्वान्तरतम व्रजांगनाओंका ही प्रसंग है, यह सर्वान्तरतम लीला है।

इससे पूर्व भगवान्‌ने गोपोंको अपना स्वरूप-साक्षात्कार कराया था। यद्यपि कालियदमन, गोवर्धन-धारण, अघासुरादिके वध तथा अन्य अनेकों अतिमानुष-लीलाओंके कारण गोपगण यह समझ चुके थे कि कृष्ण कोई साधारण पुरुष नहीं हैं। फिर वरुणलोकमें उनका ऐश्वर्य देखकर तो गोपोंको यह निश्चय हो ही गया था कि ये साक्षात् भगवान् हैं तथापि अन्तमें भगवान्‌ने अपने योगबलसे उन्हें अपने निर्विशेष स्वरूपका साक्षात्कार कराया और फिर वैकुण्ठलोकमें ले जाकर अपने सगुण स्वरूपका भी दर्शन कराया। इस प्रकार उन्होंने गोपोंको रासदर्शनका अधिकारी बनाया। यह अधिकार बिना स्वरूप-साक्षात्कारके प्राप्त नहीं होता। व्रजमें इसे छठी भावना कहते हैं—'**छठी भावना रास की।**' पहली पाँच भावनाओंको क्रमशः पार कर लेनेपर ही रासदर्शनका अधिकार प्राप्त होता है। पाँचवीं भावनामें देह-सुधि भूल जाती है—'**पाँचे भूले देह-सुधि**' अर्थात् इस भावनामें ब्रह्मस्थिति हो ही जाती है। ऐसी स्थिति हुए बिना पुरुष रासदर्शनका अधिकारी नहीं होता।

श्रीमद्भागवतमें जहाँ गोपोंको वैकुण्ठधाममें ले जाकर अपने सगुण-स्वरूपका साक्षात्कार करानेकी बात आती है, वहाँ उनके प्रत्यावर्तनके विषयमें कोई उल्लेख नहीं है। इससे कुछ लोगोंका ऐसा मत है कि यह भगवान्‌के नित्यधामकी नित्यलीलाका ही वर्णन है। इस लोकमें यह लीला हुई ही नहीं थी। यदि ऐसी बात हो तब तो भगवान्‌की इस लोकोत्तर लीलाके विषयमें कोई आपत्ति हो ही नहीं सकती; क्योंकि इस लोकमें न होनेके कारण इसमें इस लोकके नियमोंकी रक्षा करना आवश्यक नहीं हो सकता, किंतु यदि भगवान्‌ने इस लोकमें ही यह लीला की हो तब भी उनके—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गीता ३। २१)

—इस कथनसे जो विरोध प्रतीत होता है, वह ठीक नहीं; क्योंकि भगवान्‌के विषयमें ऐसा नियम नहीं है कि वे लोकमर्यादाका अतिक्रमण करते ही न हों। जब उनके अनन्य भक्त और तत्त्वनिष्ठ मुनिजन भी मर्यादातिलंघन करते देखे गये हैं तो साक्षात् भगवान्‌के विषयमें तो कहना ही क्या है। उनके

पादपद्ममकरन्दका सेवन करनेवाले मुनिजनोंकी गतिविधि भी सर्वसाधारणके लिये सुबोध नहीं हुआ करती।

यत्पादपद्ममकरन्दजुषां मुनीनां
वर्त्मास्फुटं नृपशुभिर्ननु दुर्विभाव्यम्।

वस्तुस्थिति तो ऐसी है कि आत्मतत्त्व सभी प्रकारके शुभाशुभ कर्मोंसे शून्य है। जब कि उस आत्मतत्त्वको जाननेवाले महापुरुषोंकी अविलुप्त महिमा भी कर्मोंसे न्यूनाधिक नहीं होती तो श्रीकृष्णरूपमें अवतीर्ण साक्षात् परमात्मतत्त्वका किसी भी शुभाशुभ कर्मसे किस प्रकार संश्लेष हो सकता है? कूटस्थ स्वयंप्रकाश परब्रह्ममें अध्यस्त देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि उपाधियोंके व्यापारयुक्त होनेसे ही उस निर्व्यापार आत्मतत्त्वमें व्यापारवत्ताकी कल्पना होती है। इस प्रकारके कल्पित गुणों या दोषोंसे अधिष्ठानमें कोई गुण या दोष नहीं हो सकता। '**न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्**', '**घनैरुपेतैर्विगतै रवेः किम्**' इत्यादि श्रुति-स्मृति भी परमात्माको सब प्रकारके कर्मोंसे असंस्पृष्ट बतलाती है। अतः प्रकृति और प्राकृत सब प्रकारके प्रपंचसे अतीत परमात्मा सब प्रकारकी शृंखलाओंसे शून्य है।

वस्तुस्थिति ऐसी होनेपर भी अनादि एवं अनिर्वचनीय अविद्याजनित मायामय शोकमोहादि सन्तापोंसे सन्तप्त प्रत्येक प्राणीको दुःख-निवृत्ति और सुख-प्राप्तिके लिये अनेक उपायोंका अन्वेषण करना ही पड़ता है; इसीसे मायामय देहादिके चेष्टारूप कर्मोंमें उनके शुभाशुभ भेदसे विधि या निषेध किया जाता है। जिस प्रकार विषकी निवृत्ति विषसे ही की जाती है, उसी प्रकार मायामयी उच्छृंखल प्रवृत्तियोंके निराकरणके लिये वैदिक और स्मार्त शृंखलाओंको स्वीकार किया जाता है। अभिप्राय यह है कि प्रपंच हेतुभूत अनादि अज्ञानकी निवृत्ति परमात्मतत्त्वके ज्ञानके बिना नहीं हो सकती। परमात्माके ज्ञानके लिये मनःसमाधानकी आवश्यकता है; क्योंकि उस परमतत्त्वका अपरोक्ष साक्षात्कार निर्वृत्तिक चित्तद्वारा ही हो सकता है और मनोनिरोधके लिये देह तथा इन्द्रियादिकी चेष्टाओंका निरोध होना चाहिये। इनका निरोध सहसा नहीं हो सकता। पहले उनकी प्रवृत्तिको नियमित करना होगा और उन्हें नियमित करनेके लिये ही विधि-निषेधात्मक वैदिक-स्मार्त कर्मोंका विधान किया गया है। इसीसे कहा है—

'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥'

(ईशावास्यो० ११)

इस प्रकार हम देखते हैं कि विधि-निषेधकी अपेक्षा अज्ञानियोंको ही है; किंतु जो जन्म-मरणरूप संसारसे अतीत, मृत्युंजय तत्त्वदर्शी हैं, उन्हें इस प्रकारकी शृंखला अपेक्षित नहीं है; फिर जो उन मुक्तात्माओंके भी गन्तव्य हैं, उन श्रीभगवान्‌के लिये तो ऐसी कोई शृंखला हो ही कैसे सकती है? भगवान्‌में तो दो विरुद्ध धर्मोंका आश्रयत्व देखा ही जाता है। वे '**अणोरणीयान्**' भी हैं और '**महतो महीयान्**' भी। भगवान्‌में ही नहीं, यह बात तो कारणमात्रमें रहा करती है। देखो, एक ही पृथिवीतत्त्वमें दुर्गन्ध और सुगन्ध दोनों ही रहते हैं। अतः भगवान् एक ही साथ दोनों प्रकारके आचरण दिखलायेंगे। वे योगारूढ़ोंके लिये समस्त वैदिक और स्मार्त शृंखलाओंका उच्छेद करके एकमात्र भगवान्‌में ही स्वारसिकी प्रीतिका उपदेश करेंगे तथा आरुरुक्षुओंके लिये अपने वर्णाश्रमधर्मका यथावत् पालन करनेकी आवश्यकता प्रदर्शित करेंगे।

श्रीभगवान्‌के अवतारका प्रधान प्रयोजन— अमलात्मा परमहंसोंके लिये भक्ति-योगका विधान करना

जो भगवच्चरणानुरागी हैं, वे भी अपने वर्णाश्रमधर्मका तिरस्कार नहीं किया करते। हाँ, यह अवश्य है कि उनकी मुख्य लगन भगवत्प्रेमके लिये ही होती है। उनकी यह भावना रहती है—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

वे यह भी चाहते हैं कि उनकी लौकिक-वैदिक प्रवृत्ति यथावत् बनी रहे तथापि भगवत्प्रेमका अतिरेक

होनेपर उसमें विशृंखलता हो ही जाती है। यही बात आत्माराम तत्त्वज्ञोंके विषयमें भी समझनी चाहिये। भगवान्‌के दिव्य मंगलमय रूपमें प्रादुर्भूत होनेके जो मुख्य उद्देश्य हों, सबसे पहले उन्हींका निश्चय करना उचित भी है; इसलिये अब हमें यह विचार करना है कि भगवान्‌के अवतारका प्रधान प्रयोजन क्या है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

(गीता ४।८)

परंतु यह बात ऐसी है, जैसे मच्छरको मारनेके लिये तोप लगायी जाय। भला जो भगवान् सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् हैं, जिनके संकल्पमात्रसे सम्पूर्ण प्रपंच बन गया है तथा जिनके विषयमें यह कहा जाता है—

'निःश्वसितमस्य वेदा वीक्षितमेतस्य पञ्च-भूतानि स्मितमेतस्य चराचरम्, अस्य च सुप्तं महाप्रलयः।'

उन्हें क्या इस तुच्छ कार्यके लिये अवतार लेनेकी आवश्यकता है? अतः इसका तो कोई ऐसा कारण होना चाहिये, जहाँ भगवान्‌की सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता कुण्ठित हो जाती हो और जिसके लिये उन्हें दिव्य-मंगल-विग्रह धारण करना अनिवार्य हो जाता हो।

इसका उत्तर महारानी कुन्तीके इन शब्दोंसे मिलता है—

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः॥

(श्रीमद्भा० १।८।२०)

कुन्ती कहती हैं—'भगवन्! जो अमलात्मा परमहंस मुनि हैं, उनको भक्तियोगका विधान करनेके लिये आपका अवतार होता है; हम स्त्रियाँ इस रहस्यको कैसे समझ सकती हैं।'

अब हम इस हेतुकी महत्ताका विचार करते हैं। यहाँ भगवान्‌के अवतारका प्रयोजन अमलात्मा मुनियोंके लिये भक्तियोगका विधान करना बतलाया गया है। जैसे कर्मका स्वरूप द्रव्य और देवता है, उसी प्रकार भक्तिका स्वरूप भजनीय है। भजनीयके बिना भक्ति नहीं हो सकती। प्रेमलक्षणा भक्तिका आलम्बन कोई अत्यन्त चित्ताकर्षक और परम अभिलषित तत्त्व ही हो सकता है। जो महामुनीश्वर प्रकृति-प्राकृत प्रपंचातीत परमतत्त्वमें परिनिष्ठित हैं, उनके मनका आकर्षक भगवान्‌के सिवा प्राकृत पदार्थोंमें तो कोई नहीं हो सकता। अतः इस बातकी आवश्यकता होती है कि उनके परमाराध्य भगवान् ही अचिन्त्य एवं अनन्त सौन्दर्य-माधुर्यमयी मंगलमूर्तिमें अवतीर्ण होकर उन्हें भजनीय रूपसे अपना स्वरूप समर्पणकर भक्तियोगका सम्पादन करें; क्योंकि जो कार्य पूर्ण परब्रह्म परमात्माके अवतीर्ण हुए बिना सम्पन्न न हो सकता हो, जिसके सम्पादनमें उनकी सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञता कुण्ठित हो जाय, उसीके लिये उनका अवतीर्ण होना सार्थक हो सकता है।

वस्तुतः उन महात्माओंके लिये भजनीय स्वरूप समर्पण करनेमें भगवान्‌की सर्वज्ञता एवं सर्वशक्तिमत्ता कुण्ठित हो जाती है; क्योंकि ये शक्तियाँ शुद्ध परब्रह्मसे व्यतिरिक्त नहीं हैं, ये उन्हींके अन्तर्गत हैं। अतः जो लोग शुद्ध परब्रह्ममें ही निष्ठा रखनेवाले हैं, उनपर इनका प्रभाव नहीं पड़ सकता। यदि हम वेदान्त-सिद्धान्तके अनुसार स्पष्टतया कहें तो यों समझना चाहिये कि यह सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता प्रकृति और प्राकृत अंशको लेकर ही है। ये मायाविशिष्ट ब्रह्मके गुण हैं। इसीसे तत्त्वज्ञपर इनका प्रभाव नहीं होता; क्योंकि वह गुणातीत होता है, इसलिये गुण उसे अपनी स्थितिसे विचलित नहीं कर सकते—**'गुणैर्यो न विचाल्यते।'** (गीता १४।२३)

किंतु फिर भी कहा जा सकता है कि तत्त्वज्ञका प्रारब्ध तो शेष रह ही जाता है। इसीसे प्रारब्धभोगके निर्वाहक पदार्थ उसके भी मन और इन्द्रियादिको अपनी ओर खींच लेते हैं। जिस प्रकार प्रारब्धभोगके लिये उसकी विषयोंमें प्रवृत्ति होती है, उसी तरह विलक्षण कोई रूपमाधुरी उसे अपनी ओर खींच ले

सकती है। तत्त्वज्ञको भी क्षुधातुर होनेपर अन्नभक्षणमें प्रवृत्त होना ही पड़ता है तथा तृषित होनेपर उसे जलकी इच्छा भी होती ही है; क्योंकि '**पश्वादिभिश्चाविशेषात्**' इस भाष्यके अनुसार भोजनाच्छादनादिमें तो पशु आदिसे उनकी समानता ही है। फिर भगवान्‌के अवतरणकी क्या आवश्यकता है और उनकी सर्वशक्तिमत्तादि क्यों कुण्ठित होगी? इसका निराकरण करनेके लिये उपर्युक्त श्लोकमें '**अमलात्मनां परमहंसानां मुनीनाम्**' ऐसा कहा गया है। जिस प्रकार हंस परस्पर मिले हुए दूध और पानीको अलग-अलग कर देता है, उसी तरह जो आत्मा-अनात्मा, दृक्-दृश्य अथवा पुरुष-प्रकृतिका विवेक कर सकता है, वह हंस कहलाता है। यह योग्यता सांख्यवादियोंमें भी देखी जाती है। इसलिये वे भी 'हंस' कहे जा सकते हैं। वे क्षीर-नीर-विवेकके समान दृक्-दृश्य अथवा आत्मा-अनात्माका विवेक कर सकते हैं; किंतु उनकी दृष्टिमें वे दोनों ही तत्त्व सत्य रहते हैं। वेदान्तियोंकी दृष्टिमें दृश्यकी सत्ता नहीं रहती, इसलिये उन्हें परमहंस कहा जाता है। इस प्रकार जिसकी दृष्टिमें सम्पूर्ण दृश्यका बाध होकर केवल शुद्ध चेतन ही अवशिष्ट रह गया है, उसे परमहंस कहते हैं। ऐसी स्थितिमें भी विचार दृष्टिसे तो दृश्यका अत्यन्ताभाव निश्चित हो जाता है, किंतु उसकी प्रतीति तो बनी ही रहती है। कहा है—

आरूढयोगोऽपि निपात्यतेऽधः
सङ्गेन योगी किमुताल्पसिद्धिः।
तावन्न योगगतिभिर्यतिरप्रमत्तो
यावद्गदाग्रजकथासु रतिं न कुर्यात्॥

इससे सिद्ध होता है कि तत्त्वज्ञको भी कभी-कभी भगवान्‌की विश्वविमोहिनी मायाके अधीन हो जाना पड़ता है। श्रीदुर्गासप्तशती (१।५५-५६)-में कहा है—

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा॥
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति।

श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

जो ग्यानिन्ह कर चित अपहरई। बरिआईं बिमोह मन करई॥
(रा०च०मा० ७।५९।५)

अत: सिद्ध हुआ कि प्रारब्धवश तत्त्वज्ञका भी पतन हो जाता है। मनुजीने भी कहा है—'**ज्ञानं क्षरति**' अर्थात् ज्ञान बह जाता है। इसीलिये ऐसा कहा जाता है कि तत्त्वज्ञ होनेपर भी सदा सावधान रहना चाहिये। अत: यहाँ '**अमलात्मनाम्**' ऐसा पद और दिया है। अर्थात् जो मलविक्षेप यानी रजोलेश-तमोलेशसे निर्मुक्त हैं, जिन महानुभावोंके चित्तोंको खींचनेवाली कोई भी लौकिक सत्ता नहीं है और जो सदा ही दृश्यातीत शुद्ध चेतनमें ही परिनिष्ठित रहते हैं, उनका आकर्षण किसी लौकिक पदार्थसे नहीं हो सकता। अत: उन्हें अपनी परमानन्दमयी अहैतुकी भक्ति प्रदान करनेके लिये उनके परमाराध्य और एकमात्र ध्येय-ज्ञेय शुद्ध परब्रह्म ही अपनी लीला-शक्तिसे सगुण विग्रह धारण करते हैं।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि उन्हें भक्ति प्रदान करनेकी ऐसी आवश्यकता ही क्या है? इसका उत्तर यही है कि भगवान् ऐसा करके उन्हें परमहंससे श्रीपरमहंस बनाते हैं। तत्त्वज्ञ लोग यद्यपि सजातीय, विजातीय एवं स्वगतभेद-शून्य शुद्ध परब्रह्मका अनुभव करते हैं, परंतु प्रारब्धशेषपर्यन्त निरुपाधिक नहीं होते। यद्यपि उन्होंने देहेन्द्रियादिका मिथ्यात्व निश्चय कर लिया है तथापि व्यवहारकालमें इनकी सत्ता बनी ही रहती है। समाधिकालमें भी निर्वृत्तिक मनरूप उपाधि रहती ही है। इसीसे वाचस्पतिमिश्रने कहा है कि निरुपाधिक ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं होता। संक्षेप-शारीरककार भी अविद्याका आश्रय शुद्ध चेतनको ही मानते हैं। उनका कथन है—

'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।'

अर्थात् अज्ञानका आश्रय और विषय अखण्ड शुद्ध चेतन ही है, किंतु जिस समय शुद्ध चेतन अज्ञानका आश्रय और विषय होता है, उस समय वह अज्ञानोपहित तो होना ही चाहिये। अत: इसका तात्पर्य यही है कि अज्ञान अज्ञानातिरिक्त उपाधिशून्य

ब्रह्मको ही विषय करता है। जिस प्रकार संसारका आदि मूलाज्ञान है, उसी प्रकार उसका अन्त भी चरमावृत्ति है। वस्तुतः मूलाज्ञान और चरमावृत्तिमें कोई अन्तर नहीं है। चरमावृत्ति परब्रह्मको विषय करती है—इसका तात्पर्य यही है कि वह चरमावृत्तिसे व्यतिरिक्त उपाधिहीन ब्रह्मको विषय करती है; क्योंकि चरमावृत्ति तो वहाँ मौजूद ही है। निरुपाधिक ब्रह्मका अनुभव तो प्रारब्धक्षयके अनन्तर उपाधिका नाश होनेपर ही होता है।

किंतु जिस समय वे ही शुद्ध परब्रह्म अपनी अचिन्त्य लीला-शक्तिसे कोटिकामकमनीय महामनोहर श्रीकृष्ण-मूर्तिमें प्रादुर्भूत होंगे, उस समय उस तत्त्वज्ञको भी उनका वह दिव्य-दर्शन निर्विशेष ब्रह्मदर्शनकी अपेक्षा अधिक आनन्दप्रद प्रतीत होगा। जिस प्रकार सूर्यको दूरवीक्षण यन्त्रद्वारा देखनेपर उसमें जो विचित्रता प्रतीत होती है, वह केवल नेत्रोंसे देखनेपर प्रतीत नहीं होती, उसी प्रकार लीलाशक्त्युपहित सगुण ब्रह्मदर्शनमें जो आनन्दानुभव होता है, वह अशेष-विशेषशून्य शुद्ध परब्रह्मके साक्षात्कारमें भी नहीं होता। इसीसे श्रीरामचन्द्रका दर्शन होनेपर तत्त्वज्ञशिरोमणि महाराज जनकने कहा था—

इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥
सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥

(रा०च०मा० १।२१६।५,३)

महाराज जनकके इस बरबस ब्रह्मसुखत्याग और रामदर्शनानुरागमें क्या कारण था? केवल यही कि अबतक वे शुद्ध परब्रह्मरूप सूर्यको अपने नेत्रोंसे ही देखते थे, किंतु इस समय वे उसके लीलाशक्तिरूप दूरवीक्षणोपहित स्वरूपका दर्शन कर रहे थे। केवल नेत्रसे दीखनेवाले आदित्यकी अपेक्षा दूरवीक्षणोपहित आदित्यदर्शनमें विशेषता है ही।

यहाँ एक बात और स्मरण रखनी चाहिये। आदित्यका वास्तविक स्वरूप कितना वैचित्र्यमय है—यह बात हमारे अनुमानमें भी नहीं आ सकती। इसका अनुभव तो आदित्यकी पूर्ण सन्निधि प्राप्त होनेपर ही हो सकता है। इस समय हमें उसका जो कुछ रूप दिखायी देता है, वह किसी-न-किसी उपाधिसे संश्लिष्ट ही होता है। जिस प्रकार दूरवीक्षण यन्त्र उसका उपाधि है, उसी प्रकार मेघ भी है, किंतु मेघ उसके स्वरूपका आवरक है, जिसके कारण हमें सूर्यकी स्फुट प्रतीति नहीं हो सकती। इसी प्रकार इधर ब्रह्मदर्शनमें भी जहाँ भगवान्‌की लीलाशक्ति भगवद्दर्शनमें पटुता प्रदान करनेवाली है, वहाँ मल, विक्षेप और आवरण उसके प्रतिबन्धक हैं। इसीलिये अज्ञजन वस्तुतः ब्रह्मदर्शन करते हुए भी उसे अदृष्ट ही समझते हैं। किंतु भगवान्‌के स्वरूपकी स्फुट और यथावत् अनुभूति तो सम्पूर्ण उपाधियोंसे मुक्त होकर उनके साथ तादात्म्य होनेपर ही होगी।

भगवान्‌के सगुण दिव्य मंगलविग्रहमें विशेष आकर्षण है

उपर्युक्त कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मदर्शी तत्त्वज्ञगण जिस निर्विशेष शुद्ध ब्रह्मका साक्षात्कार करते हैं, उसकी अपेक्षा भगवान्‌का सगुण दिव्य-मंगलविग्रह अधिक आकर्षक क्यों है? इस विषयमें भावुकोंका ऐसा कथन है कि जिस प्रकार पार्थिवत्वमें समानता होनेपर भी पाषाणादिकी अपेक्षा हीरा अधिक मूल्यवान् होता है तथा कपासकी अपेक्षा उससे बना हुआ वस्त्र बहुमूल्य होता है, उसी प्रकार शुद्ध परब्रह्मकी अपेक्षा उसीसे विकसित भगवान्‌की दिव्य-मंगलमयी मूर्ति कहीं अधिक माधुर्य-सम्पन्न होती है। इक्षुदण्ड स्वभावसे ही मधुर है, किंतु यदि उसमें कोई फल लग जाय तो उसकी मधुरिमाका क्या कहना है? मलयाचलोत्पन्न चन्दनके वृक्षमें यदि कोई पुष्प आ जाय तो वह कैसा सौरभसम्पन्न होगा? इसी प्रकार भगवान्‌की सगुण मूर्तिके सम्बन्धमें समझना चाहिये।

यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि भगवान्‌के निर्गुण निर्विशेष स्वरूपमें वह परमानन्द है ही नहीं, जो कि उनकी सगुण मूर्तिमें है। कारण, इक्षुदण्डकी मधुरिमा, पाषाणादिका मूल्य और चन्दनादिकी सुगन्धि—

ये सब सातिशय हैं। इनमें न्यूनाधिकता हो सकती है, परंतु भगवान्‌में जो सौन्दर्य, माधुर्य एवं आनन्दादि हैं, वे निरतिशय हैं। इसलिये चाहे भगवान्‌की सगुण मूर्ति हो चाहे निर्गुण, इनमें कोई तारतम्य नहीं हो सकता; क्योंकि जो तत्त्व निरतिशय बृहत् और निरतिशय आनन्दमय है, उसीको तो निर्गुण ब्रह्म कहते हैं। जहाँ बृहत्ता अथवा आनन्दका तारतम्य है, वह तो ब्रह्म ही नहीं हो सकता। जहाँ यह तारतम्य समाप्त हो जाता है, उस अपार संवित्सुखसारहीको तो परब्रह्म कहते हैं। जो तत्त्व देशकालवस्तुकृत् परिच्छेदसे रहित है, वही अनन्त ब्रह्म है; **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।'** तथापि यहाँ जो विलक्षणता बतलायी गयी है, वह भगवदभिव्यक्तिके तारतम्यको लेकर भावुक भक्तोंके हृदयकी भावना हो सकती है। तात्पर्य यह है कि तत्त्वज्ञके अन्त:करणपर अभिव्यक्त परब्रह्मके माधुर्यादिकी अपेक्षा स्वयं उन्हींकी परमाह्लादिनी लीलाशक्तिपर अभिव्यक्त भगवत्स्वरूपके सौन्दर्य-माधुर्यादि अत्यन्त विलक्षण हो सकते हैं, किंतु वास्तवमें तो सगुणोपासकके लिये जैसा सगुण स्वरूप परमानन्दमय है, वैसा ही निर्गुणोपासकके लिये भगवान्‌का निर्गुण-निर्विशेष स्वरूप भी है।

जो लोग निर्विशेष परब्रह्मका अपरोक्ष साक्षात्कार कर चुके हैं, उन्हें कैवल्य तो ज्ञानसे ही प्राप्त होता है; किंतु वे जीवन्मुक्तिकालमें भी भगवान्‌की अचिन्त्य लीलामयी शक्तिके योगसे दिव्य मंगलमय विग्रहमें आविर्भूत हुए परमात्मा श्रीकृष्णचन्द्रकी सौन्दर्य-माधुर्य-सुधाका समास्वादन किया करते हैं। अचिन्त्यानन्द सुधासिन्धु श्रीभगवान्‌के जिस माधुर्यका समास्वादन केवल वृत्ति-शून्य अन्त:करणसे नहीं किया जा सकता, उसे भी तत्त्वज्ञ भावुकगण भगवान्‌की दिव्य लीलाशक्तिकी सहायतासे अनुभव कर लेते हैं। ऊपर यह कहा जा चुका है कि केवल नेत्रोंसे सूर्यकी वैसी दीप्तिमत्ता अनुभव नहीं होती, जैसी कि स्वच्छ काँच आदिकी सहायतासे होती है। उपाधि-विशुद्धिके तारतम्यसे माधुर्य-विशेषके प्राकट्यका भी तारतम्य रहता है। यद्यपि प्राण और इन्द्रियादिकी अपेक्षा तो शुद्ध निर्वृत्तिक अन्त:करणकी स्वच्छता विशेष है तथापि भगवान्‌की जो लीलाशक्ति उनके अशेष विशेषातीत परमानन्दात्मक शुद्ध स्वरूपको ही अचिन्त्य एवं अनन्त आनन्दमय सौन्दर्य-सुधानिधि, परम दिव्य श्रीकृष्णविग्रहमें अभिव्यक्त कर देती है, वह उस निर्वृत्तिक अन्त:करणकी अपेक्षा भी अनन्तगुण स्वच्छ है; क्योंकि उसमें रजोगुण या तमोगुणका थोड़ा-सा भी संस्पर्श नहीं है। अन्त:करण चाहे कितना भी स्वच्छ हो, परंतु वह रजोगुण-तमोगुणसे सर्वथा शून्य नहीं हो सकता; क्योंकि वह तम:प्रधाना प्रकृतिके परिणामभूत पंचभूतोंका ही कार्य है और कार्यमें कारणांशकी अनुवृत्ति अनिवार्य है।

अत: सिद्ध हुआ कि तत्त्वज्ञगण केवल निर्वृत्तिक अन्त:करणसे वैसी मधुरताका अनुभव नहीं कर सकते, जैसी कि लीलाशक्तिके योगसे आविर्भूत हुए भगवान्‌के सगुण स्वरूपका साक्षात्कार करनेपर होती है। इसीसे अमलात्मा तत्त्वज्ञ मुनियोंको उनका भजनीय स्वरूप समर्पणकर भक्तियोगके द्वारा उन्हें अपने सौन्दर्य-माधुर्यका समास्वादन करानेके लिये ही परब्रह्म परमात्मा अवतीर्ण होते हैं। उन्हें यदि सगुण साकार ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाय तो भी देहपातके अनन्तर वे कैवल्यपद ही प्राप्त करेंगे। किंतु सगुणोपासक अपने इष्टदेवका नित्यधाम प्राप्त करेंगे; इसीसे भक्ति-रसायनादि ग्रन्थोंमें तत्त्वज्ञको सगुण-दर्शनसे केवल दृष्ट-फल माना है और उपासकको दृष्ट और अदृष्ट दोनों।

अत: ऊपर जो बतलाया है, इससे यही निश्चय होता है कि भगवान्‌के अवतारका प्रधान प्रयोजन अमलात्मा परमहंसोंके लिये भक्तियोगका विधान करना है। इसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिये वे अपनी लीलाशक्तिसे दिव्य मंगलमय देह धारण करते हैं। यह लीलाशक्ति भगवान्‌की परम अन्तरंगा है। जिस प्रकार वृक्षके बीजमें उसके शाखा, पल्लव, पुष्प और फल आदि सभी अंगोंको उत्पन्न करनेकी अनेक शक्तियाँ

रहती हैं, उसी प्रकार महाशक्तिमें ही विश्वविकासकी समस्त शक्तियाँ निहित हैं अर्थात् वह भगवदीय महामायाशक्ति अनन्त शक्तियोंका पुंज है। उसमें जिस प्रकार अनन्तकोटिब्रह्माण्ड और उसके अन्तर्वर्ती विचित्र भोग्य, भोक्ता और उनके नियामक आदि प्रपंचको उत्पन्न करनेकी अनन्त शक्तियाँ हैं, उसी प्रकार उन अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंके अधीश्वर श्रीभगवान्‌के दिव्य मंगलमय विग्रहमें आविर्भूत होनेके अनुकूल भी एक परम विशुद्धा अन्तरंगा शक्ति है और वह भगवान्‌की अनिर्वचनीया आत्मयोगभूता महाशक्तिके अन्तर्गत होनेके कारण अनिर्वचनीयतामें अन्य प्रपंचोत्पादनानुकूल शक्तियोंके समान होनेपर भी उनकी अपेक्षा कहीं अधिक स्वच्छ और दिव्य है।

इसे दृष्टान्तद्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है—जैसे किसी अत्यन्त दिव्य पुष्पके बीजमें अंकुर, स्कन्ध, पत्र और कण्टकादि उत्पन्न करनेकी भी शक्तियाँ रहती हैं तथापि उन सबकी अपेक्षा उसमें जो महामनोहर सुरभित सुमन उत्पन्न करनेकी शक्ति है, वह उन सबकी अपेक्षा उत्कृष्टतर है। यदि एक ही बीजमें अनेकों अतीन्द्रिय शक्तियाँ न होतीं तो उसमें पत्र, पुष्प, कण्टक और शाखा आदि परस्पर अत्यन्त विलक्षण वस्तुएँ उत्पन्न नहीं हो सकतीं। अत: जिस प्रकार कण्टकादि उत्पन्न करनेवाली शक्तियोंकी अपेक्षा सुकोमल एवं सुगन्धित पुष्प उत्पन्न करनेवाली शक्ति अत्यन्त उत्कृष्ट और विशुद्ध होती है, उसी प्रकार प्रपंचोत्पादिनी शक्तियोंकी अपेक्षा भगवान्‌की दिव्य मंगलमयी मूर्तिका स्फुरण करनेवाली शक्ति परम विलक्षण होनी ही चाहिये। उसीके द्वारा भगवान् अचिन्त्य सौन्दर्य-माधुर्य-सुधामयी मंगलमूर्ति धारण करते हैं, इसीसे प्रपंचातीत प्रत्यगभिन्न परमात्मतत्त्वमें निष्ठा रखनेवाले महामुनीन्द्रोंके मन भी अनायास ही उस भगवन्मूर्तिकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं।

इसी विलक्षणशक्तिका निर्देश पराशक्ति एवं अन्तरंगा शक्ति आदि शब्दोंसे भी किया है। वह शक्ति भी भगवत्स्वरूपमें अप्रविष्ट रहती हुई ही उसके प्राकट्यका निमित्त होती है। जिस प्रकार उपाधिविरहित, अतएव दाहकत्वप्रकाशकत्वरहित अग्निके दाहकत्व-प्रकाशकत्व-विशिष्ट दीप-शिखादिरूपकी अभिव्यक्तिमें तेल और बत्ती आदि केवल निमित्तमात्र ही हैं, मुख्य अग्नि तो दीपशिखा ही है अथवा जैसे तरंगविरहित नीरनिधिके तरंगयुक्त होनेमें वायु केवल निमित्तमात्र ही है, वास्तवमें तो तरंगयुक्त समुद्र विलक्षणरूपमें प्रतीत होनेपर भी सर्वथा वही है, जो कि निस्तरंगावस्थामें था, ठीक उसी प्रकार विशुद्ध लीलाशक्तिरूप निमित्तसे शुद्ध परब्रह्म ही अनन्त कल्याणगुणगणविशिष्ट सगुण विग्रहमें अभिव्यक्त होते हैं; किंतु वस्तुत: उनका वह विग्रह मूर्तिमान् शुद्ध परमानन्द ही है। उसमें उस दिव्य शक्तिका भी निवेश नहीं है, वह तो तटस्थ रूपसे ही उसकी निमित्त होती है। इसीसे भगवान्‌की सगुणमूर्तिके विषयमें '**आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि**', '**आनन्दैकरसमूर्तय:**' इत्यादि उक्तियाँ हैं। इसीसे उसकी मधुरिमा बड़े-बड़े सिद्ध-मुनीश्वरोंके भी मनोंको मोहित कर देती है। जिस समय बालयोगी सनकादि वैकुण्ठ-धाममें भगवान्‌की सन्निधिमें पहुँचे, उस समय प्रभुके पादारविन्द-मकरन्दके आघ्राणमात्रसे उनका प्रशान्त चित्त क्षुभित हो गया—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायु:।
अन्तर्गत: स्वविवरेण चकार तेषां
सङ्क्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वो:॥

(श्रीमद्भा० ३। १५। ४३)

इसीसे बहुत-से सहृदय महानुभाव निर्विशेष परब्रह्मका साक्षात्कार हो जानेपर भी प्रभुके प्रेम-पथके पथिक होते हैं। श्रीगोसाईंजी उन्हें '**सयाने सन्त**' कहते हैं—

अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने॥

(रा०च०मा० ७। ११९। ७)

वे भगवान्‌से भगवत्सेवाके सिवा और कुछ नहीं चाहते; यहाँतक कि मुक्ति और अपुनर्जन्मको भी अस्वीकार कर देते हैं—

न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥

(श्रीमद्भा० ११। २०। ३४)

वस्तुत: भोग-मोक्षादिकी वासना रहते हुए तो भगवद्भक्तिकी प्राप्ति ही नहीं हो सकती।

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावद् भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

अत: जिनका चित्त केवल भगवान्‌के सौन्दर्य-सुधा-समास्वादनके लिये ही लालायित हो रहा है, उन्हें केवल संकल्पमात्रसे भगवान् सन्तुष्ट नहीं कर सकते; क्योंकि वे तो मोक्षका भी तिरस्कार कर देते हैं—

'दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जना:॥'

(श्रीमद्भा० ३। २९। १३)

भला, जब उनका सन्तोष कैवल्य भी नहीं कर सकता तो भगवान् क्या करें? उन्हें स्वयं आविर्भूत होना ही पड़ता है। यहाँ गोपांगनाओंको भी भगवद्दर्शनके विना **'त्रुटिर्युगायते'** एक-एक पल युगके समान हो रहा था। उन्हें सन्तुष्ट करनेमें भगवान्‌का निर्विशेष रूप असमर्थ था। इसलिये ऐसी अवस्थामें भगवान्‌को मूर्तिमान् होकर अवतीर्ण होना ही पड़ा; क्योंकि उनकी तृप्ति तथा जीवन बिना इसके नहीं हो सकते। भगवान्‌के अवतीर्ण हुए बिना वे कार्य नहीं हो सकते थे। इसीसे प्रभुका प्रादुर्भाव हुआ।

अब, साथ ही यह भी सोचना चाहिये कि—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

(गीता ४। ८)

—यह श्लोक भी ठीक ही है। यहाँ 'साधु' शब्दसे गोपांगना-जैसे साधु ही समझने चाहिये, जिनका परित्राण भगवान्‌के दर्शनोंके बिना हो ही नहीं सकता था तथा दुष्कृती भी साधारण नहीं, बल्कि भगवान्‌के अन्तरंग जय-विजय-जैसे दुष्कृती समझने चाहिये, जिनका दुष्कृत भगवान्‌की लीलाविशेषके विकासके ही लिये था; अन्य दुष्कृतियोंको तो उनका दुष्कर्म ही नष्ट कर देगा। इसके सिवा धर्म-संस्थापनसे भी भक्तियोगरूप धर्मकी ही स्थापना समझनी चाहिये, जो कि ऐसे भजनीयके बिना नहीं हो सकती।

इस श्लोकको व्याख्या करते हुए भगवान् भाष्यकारादिने भगवान्‌के अवतारका प्रयोजन सर्वसाधारणके कल्याणोपयुक्त धर्मकी स्थापना ही बतलाया है। इस प्रकार यद्यपि उनके प्रादुर्भावका प्रधान प्रयोजन अमलात्माओंके भक्तियोगका विधान करना ही है तथापि अवान्तर प्रयोजन सन्मार्गस्थ साधुओंकी रक्षा और वैदिक-स्मार्तादि कर्मोंकी स्थापना भी हो सकता है। आगेके कथनानुसार भगवान्‌में लोक-शिक्षादि भी देखे ही जाते हैं। भगवान् तो सर्वनियन्ता हैं, इसलिये उनका प्रादुर्भाव योगारुरुक्षुओंके लिये भी था और योगारूढ़ोंके लिये भी। योगारुरुक्षुओंको वैदिक-स्मार्त कर्मोंमें प्रवृत्त करना था और योगारूढ़ोंको सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक केवल भगवन्निष्ठामें नियुक्त करना था। अत: भगवान्‌की यह उक्ति उचित ही है—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रित:।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्या: पार्थ सर्वश:॥

(गीता ३। २२-२३)

भगवान् विधिनिषेधातीत हैं

वस्तुत: भगवान् तो विधि-निषेधातीत हैं। वे केवल लोकशिक्षाके लिये ही शास्त्रीय शृंखलाका अवलम्बन करते हैं; क्योंकि शास्त्रादि लोगोंको मर्यादापालनमें वैसा परिनिष्ठित नहीं कर सकते, जैसा कि उस मर्यादाका पालन करनेवाले महापुरुष कर सकते हैं। अत: शास्त्रके अर्थज्ञानके साथ शास्त्रार्थके अनुष्ठानमें परिनिष्ठित व्यक्तियोंके सहवासकी भी बहुत आवश्यकता है। अत: लोगोंको वैदिक-स्मार्त कर्मोंमें प्रवृत्त करनेके लिये ही भगवान् स्वयं भी उनका यथाविधि अनुष्ठान किया करते थे—

अथाप्लुतोऽम्भस्यमले यथाविधि
क्रियाकलापं परिधाय वाससी।

चकार सन्ध्योपगमादि सत्तमो
हुतानलो ब्रह्म जजाप वाग्यतः॥

(श्रीमद्भा० १०।७०।६)

इस प्रकारके लोकसंग्रहके लिये ही इन सारी वैदिक एवं स्मार्त मर्यादाओंका पालन किया करते थे। जो बन्दर बहुत चंचल होता है, उसे संयत करनेके लिये बहुत लम्बी शृंखला बाँधी जाती है। फिर वह जैसे-जैसे शान्त होता जाता है, वैसे-वैसे ही उसकी शृंखला छोटी कर दी जाती है। यहाँतक कि अन्तमें उसे खुला छोड़ देनेपर भी वह चुपचाप बैठा रहेगा। इसी प्रकार अत्यन्त चंचल चित्तके निरोधके लिये विधि-निषेधरूप लम्बी शृंखलाकी आवश्यकता है। कारण, शास्त्रीय शृंखलाशून्य पुरुषके देहेन्द्रियादिकी चेष्टाओंका भी नियमन अशक्य है, फिर उनके मनकी चेष्टाओंका निरोध कैसे हो सकता है? इसीसे मनको सर्वथा निश्चेष्ट करनेके लिये पहले देहादिकी शास्त्रीय शृंखलानिबद्ध चेष्टा सम्पादित करनी चाहिये, परंतु पीछे जैसे-जैसे उसकी उच्छृंखलता कम होती जाती है, वैसे-वैसे ही उसकी शृंखला भी छोटी होती जाती है। वह पहले तो काम्य कर्मद्वारा स्वाभाविक काम और कर्मका निराकरण करता है, फिर पारलौकिक महत्फलवाले कर्मोंसे क्षुद्रफलदायक काम्य कर्मोंको त्यागता है। तत्पश्चात् निष्काम कर्मद्वारा सभी काम्य कर्मोंको छोड़ देता है और फिर ध्यान-समाधि आदिसे सब प्रकारकी चेष्टाओंका निरोधकर ठीक-ठीक नैष्कर्म्यको प्राप्त होता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर सूक्ष्मतम-साधनका अभ्यास करते-करते अन्तमें समाधिस्थ होता है। उस समय कोई आलम्बन न होनेपर भी उसका मन सर्वथा निश्चेष्ट रहता है और फिर उसे किसी प्रकारकी शृंखलाकी अपेक्षा ही नहीं रहती।

इसका तात्पर्य यह है कि जो लोग आरुरुक्षु हैं, जो संसारसागरसे पार नहीं हुए हैं, उनके उपदेशार्थ तो भगवान् लौकिक-वैदिक मर्यादाओंका पालन करते हैं। इसलिये जिन्हें संसाररूप स्वाभाविक मृत्युको पार करना है, उन्हें तो मर्यादापालनरूप महौषधका सेवन करना चाहिये। उनके लिये तो भगवान् भी मर्यादापालन करते हैं; किंतु जो योगारूढ़ हैं, उनके लिये ऐसी कोई विधि नहीं है; उन्हें एकमात्र भगवन्निष्ठामें ही स्थिर करनेके लिये भगवान् मर्यादाका उल्लंघन कर देते हैं; क्योंकि वे स्वयं तो समस्त विरुद्ध धर्मोंके आश्रय ही हैं। उनके लिये मर्यादापालन और मर्यादातिलंघन दोनों ही समान हैं।

जो अमलात्मा परमहंस योगारूढ़ हैं, उनके लिये तो मर्यादापालनकी अपेक्षा भगवान्का मर्यादातिलंघन ही अधिक श्रेयस्कर है; क्योंकि उन्हें तो भगवत्तत्त्वमें स्वारसिकी प्रीति ही अभिलषित है और वह तभी हो सकती है, जब किसी प्रकारकी शृंखला न रहे। जहाँ कोई शृंखला होती है अर्थात् जहाँ विधिका बन्धन होता है, वहाँ स्वारसिक प्रेम नहीं होता। लोकमें यह देखा जाता है कि वैषयिक सुखके अभिव्यंजक स्त्री-पुत्रादिमें मनुष्योंका जैसा स्वाभाविक राग होता है, वैसा श्रौतस्मार्तादि कर्मोंमें नहीं होता। यही नहीं, जिन्होंने मनोनिरोधपूर्वक अपनी बुद्धिको शुद्ध परब्रह्ममें स्थापित कर दिया है, देखा जाता है कि विषय उन्हें भी आकर्षित कर लेते हैं। दृष्ट दुःख उन्हें भी बना ही रहता है। वस्तुतः सुखी तो वे ही हैं, जो नारायण-परायण हैं। ऐसे नारायण-परायण महानुभाव विरले ही होते हैं। करोड़ोंमें कोई एक-आध ही भाग्यशाली होता है।

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥

(श्रीमद्भा० ६।१४।५)

तथापि सुखी वे ही हैं, जो नारायण-परायण हैं। वे नारायण कौन हैं?

'नारो जीवसमूहस्तस्य अयनं प्रवृत्तिर्यस्मात् स नारायणः।'

नार जीव-समूहको कहते हैं, उसकी जिससे प्रवृत्ति होती है, वह नारायण है; अथवा—

'नारो जीवसमूहः अयनं यस्य असौ नारायणः।'

नार यानी जीव-समूह है आश्रयस्थान जिसका

अर्थात् जो अन्तर्यामीरूपसे समस्त जीवोंमें बसा हुआ है, वह नारायण है।

'नारं जीवसमूहमयते साक्षित्वेन विजानातीति नारायणः।'

अर्थात् प्रमात्रादि समस्त प्रपंचके साक्षीको नारायण कहते हैं।

इस प्रकार शुद्ध परमात्मा ही नारायण है। वही जिसका परायण—आश्रय है अर्थात् जिसके एकमात्र ध्येय श्रीनारायण ही हैं, वह नारायण-परायण कहलाता है। उसे विषय अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकते; क्योंकि उसकी तो एकमात्र श्रीनारायणमें ही स्वारसिकी प्रीति होती है। अतः भगवान्‌के अवतारका मुख्य प्रयोजन यही है कि जो अमलात्मा मुनि हैं, उनकी श्रीनारायणमें स्वारसिकी प्रीति हो।

वस्तुतः ब्रह्मतत्त्वके चिन्तनमें तत्त्वज्ञोंकी भी ऐसी स्वारसिकी प्रवृत्ति नहीं होती, जैसी विषयी पुरुषोंकी विषयोंमें होती है। इस स्वारसिकी प्रवृत्तिके तारतम्यसे ही तत्त्वज्ञोंकी भूमिकाका तारतम्य होता है। चतुर्थ, पंचम, षष्ठ और सप्तम भूमिकावाले तत्त्वज्ञोंमें केवल बाह्य विषयोंसे उपरत रहते हुए तत्त्वोन्मुख रहनेमें ही तारतम्य है। ज्ञान तो सबमें समान ही है। जितनी ही प्रयत्न-शून्य स्वारसिकी भगवदुन्मुखता है, उतनी ही उत्कृष्ट भूमिका होती है। जिनकी मनोवृत्ति, कामुककी कामिनी-विषयक लालसाके समान ब्रह्मके प्रति अत्यन्त स्वारसिकी होती है, वे ही नारायण-परायण हैं। वे उसकी अपेक्षा भिन्न भूमिकावाले जीवन्मुक्तोंसे उत्कृष्टतम हैं।

निर्विशेष परब्रह्ममें हमारी जो प्रवृत्ति होती है—वह तो शास्त्रविधिके कारण है, किंतु मनोरमा नारीमें चित्त स्वयं ही आकर्षित हो जाता है। हमें शास्त्रविधिके कारण परब्रह्ममें तो बलपूर्वक चित्तको लगाना पड़ता है और निषेधके भयसे परस्त्रीकी ओरसे उसे बलपूर्वक हटाना पड़ता है। विधि कहाँ होती है?—**'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ'**—जो वस्तु स्वतः सर्वथा प्राप्त न हो, उसके लिये विधि होती है। अग्निहोत्र स्वतः प्राप्त नहीं है; इसीसे वेदभगवान् **'अग्निहोत्रं जुहुयात्'** ऐसा विधान करते हैं। इसी प्रकार आत्मदर्शनके लिये भी विधि की गयी है—**'आत्मा वा रे द्रष्टव्यः'**। अतः आत्मदर्शनमें स्वारसिकी प्रीति नहीं है और जहाँ स्वारसिकी प्रीति नहीं होती, वहाँ निरतिशय प्रेम भी नहीं हुआ करता।*

यद्यपि वेदान्तियोंने आत्मदर्शनमें विधि नहीं मानी; क्योंकि विधि पुरुषाधीन क्रियामें ही हुआ करती है, जिसके कि करने-न-करनेमें पुरुषकी स्वतन्त्रता होती है, जिस प्रकार अमुक पुरुष घोड़ेपर चढ़कर जाता है, पैदल जाता है अथवा नहीं जाता। किंतु वस्तु या प्रमाणाधीन ज्ञानमें विधि नहीं हुआ करती; क्योंकि वह तो विधिकी अपेक्षा न रखकर केवल प्रमाणके अधीन है। यदि प्रमाणको अपने प्रमेयके प्रकाशनमें किसी विधिकी अपेक्षा मानी जाय तो विधिको भी अपने अर्थका बोध करानेके लिये दूसरी विधिकी आवश्यकता होगी। अतः आत्मदर्शन तो प्रमाणसे ही होता है, उसके लिये विधिकी आवश्यकता नहीं है तथापि तत्त्वदर्शनके लिये प्रमाणके व्यापारकी अपेक्षा तो है ही और वह प्रमाण-व्यापार पुरुषाधीन है; इसीलिये केवल उसीकी विधि मानी गयी है। अतएव भगवान् भाष्यकारने बहिर्मुखतादिका व्यावर्तन करनेवाले द्रष्टव्य आदि वचनोंको **'विधिच्छाय'** (विधिकी छायामात्र) कहा है।

* यहाँ यह शंका हो सकती है कि आत्मा तो परप्रेमका ही आस्पद बतलाया गया है और इस कथनसे वह ऐसा सिद्ध नहीं होता, परंतु बात ऐसी नहीं है। यहाँ केवल आत्मदर्शनमें ही स्वारसिकी प्रीतिका अभाव बतलाया गया है, आत्मामें नहीं। वस्तुतः अज्ञानी पुरुषोंकी भी जो शब्दादि विषयोंमें स्वारसिकी प्रवृत्ति होती है, वह अज्ञानवश आत्मारूपसे माने हुए देहेन्द्रियादिकी तुष्टिके ही लिये होती है। वे अपने परामार्थस्वरूपसे अनभिज्ञ होते हैं, इसलिये देहेन्द्रियादि मिथ्यात्माके ही परितोषका प्रयत्न करते हैं, परंतु वस्तुतः उस समय वैसा करके भी वे अपने सत्यात्माकी ही प्रीतिका सम्पादन करते हैं; क्योंकि देहेन्द्रियादि मिथ्यात्माकी प्रसन्नताका साक्षी तो शुद्ध चेतन ही है। शास्त्र तो केवल इतना ही करता है कि उन्हें सत्यात्माका ज्ञान करा देता है; इसीसे फिर वे मिथ्यात्माकी प्रसन्नताके लिये उद्विग्न नहीं होते।

वास्तवमें यही कारण है कि प्राणियोंकी मनोवृत्ति शब्द-स्पर्शादिमें समासक्त है, वह शुद्ध परब्रह्मकी ओर जाती ही नहीं। अतः भगवान् उनकी स्वारसिकी प्रवृत्ति-सम्पादनके लिये ही शब्द-स्पर्श-रसादिविरहित होनेपर भी उनके मन और इन्द्रियोंको आकर्षण करनेके लिये दिव्य रूप, दिव्य गन्ध और दिव्य स्पर्शवान् होकर अभिव्यक्त होते हैं; क्योंकि परमपुरुषार्थ तो यही है। जबतक भगवान्‌के प्रति जीवकी स्वारसिकी प्रवृत्ति नहीं होती, तबतक तो वह अकृतार्थ ही है। जिस प्रकार रसनाके पित्तादि दोषसे दूषित हो जानेपर जब किसी बालकको मधुरातिमधुर पदार्थ भी जो उसकी रोग-निवृत्तिके भी हेतु होते हैं, अरुचिकर प्रतीत होने लगते हैं तो उसकी माता उन्हें उसी वस्तुमें मिलाकर देती है, जो कि उसे रुचिकर होती है। उसी प्रकार जो परब्रह्म परमात्मा मधुरातिमधुर है, जिससे बढ़कर और कोई मधुर नहीं है, उसमें जीवोंको मोह-वश प्रेम नहीं होता; बल्कि विषके समान कटु विषयोंमें आसक्ति हो जाती है। अतः अपने तत्त्वज्ञ भक्तोंको प्रेमानन्द प्रदान करनेके लिये ही वे अशब्द एवं रूपरसादिविरहित होनेपर भी महामनोहर दिव्यमंगलमयी मूर्ति धारणकर अवतीर्ण होते हैं। हाँ, इतना अन्तर अवश्य रहता है कि प्राकृत रूपरसादि वस्तुतः विषरूप ही हैं; किंतु भगवदीय रूपादि स्वरूपसे भी निरतिशय माधुर्यसम्पन्न परमानन्द ही हैं। अतः उनके प्रति अमलात्मा मुनिजन एवं अन्य साधारण प्राणियोंकी भी समान रूपसे स्वारसिकी प्रीति हो जाती है।

देवताओंके प्रति स्वाभाविक प्रेम नहीं होता; क्योंकि वे अदृष्ट होते हैं। इसीलिये उनमें प्रेम करनेके लिये शास्त्रको विधान करना पड़ा है। गुरु दृष्ट हैं, इसलिये देवताओंकी अपेक्षा उनके प्रति अनुराग होना अधिक सुगम है, परंतु उनमें आत्मीयताका अभाव है, इसीसे स्वारसिक प्रेम उनमें भी नहीं होता। इसी प्रकार पिता, माता और पत्नीमें उत्तरोत्तर आत्मीयताकी अधिकता होनेके कारण प्रेमकी भी अधिकता होती है; तथापि स्वारसिकी प्रीति उनके प्रति भी नहीं होती; इसीसे उनके प्रति प्रेम करनेके लिये भी विधि है। यहाँतक कि विधिनियन्त्रित सर्वापेक्षया अधिक कामुककी कामिनी-विषयिणी प्रीति भी शृंखलाशून्य परकीया कामिनीमें होनेवाली प्रीतिसे न्यून ही है। यह बात प्रायः देखी जाती है कि जहाँ-जहाँ विधि है, वहाँ-वहाँ स्वारसिकी प्रीतिकी न्यूनता होती है।

इस दृष्टिसे यदि भगवान्‌की प्रवृत्ति वैदिक अथवा स्मार्त शृंखलाओंसे नियन्त्रित हो तो वह स्वारसिकी प्रीतिको बढ़ानेवाली नहीं होगी और ऐसा न होनेपर उनके अवतारका मुख्य प्रयोजन ही सिद्ध न हो सकेगा। यह ठीक है कि वे मर्यादापालन करते हुए आरुरुक्षुओंको तो मार्गप्रदर्शन कर देंगे, परंतु अमलात्मा परमहंसोंको अपने निरपेक्ष अनन्य प्रेमका पथ न दिखला सकेंगे।

व्यवहारमें देखा जाता है कि कितने ही स्थलोंमें चांचल्य ही रसकी अभिव्यक्ति करनेवाला है। जैसे बालककी तो चंचलता ही माता-पिताकी प्रसन्नताको बढ़ानेवाली है। यदि वह समाहित मुनियोंके समान शान्तभावसे बैठा रहे तो यह माता-पिताके मोदमें बाधक ही होगा। अतः जो रसज्ञ हैं, उनसे यह बात छिपी नहीं है कि बहुत स्थानोंमें तो अचांचल्य रसका विघातक ही है।

इसलिये यदि भगवान्‌की चेष्टाएँ वैदिक-स्मार्त शृंखलाओंसे बँधी हुई होंगी तो वे अमलात्मा परमहंसोंका परप्रेमसे छादन न कर सकेंगी। उन महात्माओंको मर्यादापालनका आदर्श अपेक्षित ही नहीं है; क्योंकि ऐसा तो वे पहले ही कर चुके होते हैं। उन्हें तो भगवान्‌में विशुद्ध प्रेम ही अपेक्षित है, किंतु जहाँ भगवान् अपने ऐश्वर्ययोगसे सम्पन्न होंगे, वहाँ उसका आविर्भाव होना प्रायः असम्भव है। जिस प्रकार शिशुका अद्भुत चांचल्य माता-पिताके हृदयको आकर्षित कर लेता है, प्रियतमाके मर्यादातीत रसमय हाव-भाव-कटाक्षादि प्रियतमका मोद बढ़ाते हैं, उसी प्रकार यदि भगवान् परमदिव्य मंगलमय विग्रह धारणकर

रसमयी उच्छृंखल चेष्टाएँ करें तो उन्हींसे उनके प्रति उनकी स्वारसिकी प्रीति होनी सम्भव है। इस दृष्टिसे विचार करें तो यही निश्चय होता है कि भगवान्‌का शास्त्रातिलंघन दूषण नहीं; प्रत्युत भूषण है।

बहुत-से भाव ऐसे होते हैं, जो ऊपरसे तो अन्य प्रकारके जान पड़ते हैं; किंतु भीतरसे उनका और ही रहस्य होता है। यह बात स्पष्ट ही है कि भगवान् प्राकृत नहीं हैं। वे शुद्ध परब्रह्म ही उस रूपसे आविर्भूत हुए हैं तथा ये मुनिजन भी पंचकोशातीत होनेके कारण प्राकृत-प्रपंचसे परे हैं।

इस प्रकार घटाकाश और महाकाशके समान स्वरूपसे उनका सम्मिलन है ही। उनका ऐक्य सभीको अभिमत है, किंतु इस समय वह तत्पदार्थ परमात्मा ही दिव्य मंगलमय भगवद्विग्रह-रूपसे आविर्भूत हुए हैं और उसी प्रकार त्वं-पदार्थ अमलात्मा परमहंसोंके रूपमें स्थित है। ऐसी स्थितिमें जैसे अव्यक्त रूपसे उनका तादात्म्य है, उसी प्रकार यदि व्यक्त रूपसे भी तादात्म्य हो तो क्या अभिज्ञोंकी दृष्टिमें वह प्राकृत सम्भोग होगा? स्वरूपसे तो उनका नित्य सम्भोग है ही। '**सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति॥**' (तैत्तिरीय० २।१।१), '**अत्र ब्रह्म समश्नुते**' इत्यादि वाक्योंसे यह बात कही गयी है।

यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण '**तत्**' पदार्थ हैं और गोपांगनाएँ '**त्वं**' पदार्थ हैं। यदि इन दोनोंका परस्पर संश्लेष हो तो क्या वह कामक्रीड़ा कही जायगी? स्थूल दृष्टिसे तो अवश्य यह कामक्रीड़ा-सी मालूम होती है, परंतु अन्तरंग दृष्टिसे तो यह जीव और ब्रह्मका अद्भुत संयोग ही है।

श्रीमद्भागवतमें यह कई स्थानोंमें देखा जाता है कि गोपांगनाएँ श्रीकृष्णचन्द्रके वियोगमें संतप्त रहती थीं और हर समय उनके दर्शनोंके लिये लालायित रहती थीं और इसी प्रकार भगवान् भी व्रजसुन्दरियोंकी विरह-व्यथासे व्याकुल रहते थे। उन दोनोंको ही पारस्परिक संयोग बहुत अभीष्ट था। प्रेमका यह स्वभाव है कि प्रेमी परस्पर गाढालिंगनके लिये उत्सुक रहा करते हैं। माता अपने सुकुमार शिशुको हृदयसे लगानेमें कितना सुख अनुभव करती है। जो जितना अधिक प्रेमास्पद होता है, उसका व्यवधान उतना ही अधिक असह्य होता है, यहाँ ऐसा भी कहा जाता है कि जिस समय व्रजांगनाएँ भगवान्‌का आलिंगन करती थीं, उस समय उन्हें अपने हार, आभूषण और कंचुकीका व्यवधान तो असह्य था ही, प्रत्युत प्रेमातिरेकके कारण जो रोमांच होता था, वह भी अत्यन्त अप्रिय जान पड़ता था। अतः सिद्धान्त यही है कि प्रेमका पर्यवसान अभेदमें ही होता है, भेदमें नहीं होता।

बात क्या है? भगवान् गोपांगनाओंके आत्मा हैं; आत्माका व्यवधान भला कैसे सह्य हो? द्वारकामें जो भगवान्‌की पट्टमहिषी थीं, उनके विषयमें कहा जाता है कि जिस समय भगवान् दीर्घकालीन प्रवासके पश्चात् हस्तिनापुरसे आये, उस समय उन्हें देखकर वे तुरंत आसन और शय्यासे उठीं। किसलिये?—देशकृत व्यवधानको दूर करनेके लिये, किंतु उस समय उन्हें यह विचार हुआ कि हम तो अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय—इन पाँच कंचुकोंको पहनकर अपने प्रेमास्पदसे मिल रही हैं। अतः हमारा यह सम्मिलन समुचित आनन्दवर्धक नहीं हो सकता। इसलिये वे उन सब कंचुकोंको उतारकर सच्चिदानन्द रूपसे भगवान्‌को मिलीं।

यहाँ गोपांगनाएँ और भगवान्—दोनों ही सच्चिदानन्द-स्वरूप थे। अतः उनकी लीला प्राकृत है ही नहीं। इसलिये इसमें मर्यादातिलंघनका प्रश्न ही नहीं हो सकता। यह तो वह स्थिति है, जिसकी प्राप्तिके लिये सारी मर्यादाओंका पालन किया जाता है।

अतः जिस समय भगवान्‌का प्रादुर्भाव हुआ, उस समय उन्होंने यही विचार किया कि पहले अवतारके प्रधान प्रयोजनकी ही पूर्ति करनी चाहिये। इसीसे पहले उन्होंने अमर्यादित दिव्य लीलाएँ कीं

और पीछे मर्यादित लोक-संग्रहमयी। लोकमें भी यह प्राय: देखा जाता है कि उपनयन-संस्कारसे पूर्व उच्छृंखल प्रवृत्ति रहती है और उसके पीछे मर्यादानुसार आचरण किया जाता है। यही बात भगवान्‌के विषयमें भी देखी जाती है। इस प्रकार प्रधान प्रयोजनकी पूर्तिके लिये स्वीकार की हुई भगवान्‌की उच्छृंखलतामें भी एक प्रकारकी सुशृंखलता ही है; इस मर्यादातिलंघनमें भी एक प्रकारका मर्यादापालन ही है।

वेद जो कहता है कि '**जायमानो वै ब्राह्मणः त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते**'—उत्पन्न होते ही ब्राह्मण तीन ऋणोंसे ऋणवान् हो जाता है—सो इन तीनों ऋणोंमें स्वाध्यायद्वारा ऋषि-ऋणकी निवृत्ति होती है, प्रजोत्पादनसे पितृ-ऋणका अपाकरण होता है और यज्ञ-यागादिसे देव-ऋणका शोधन होता है। यहाँ यदि 'जायमान' शब्दका अर्थ 'जन्म लेते ही' किया जाय तो बालक प्रत्यवायी सिद्ध होगा; क्योंकि उपनयन होनेसे पूर्व वह इनमेंसे न तो कोई क्रिया करनेमें समर्थ ही है और न इनका अधिकारी ही। इसलिये इसका अर्थ '**गृहस्थः सम्पद्यमानः**'—गृहस्थावस्थाको प्राप्त होनेपर ऐसा करना चाहिये। अतएव भगवान्‌ने संस्कारादिसे पहले अमलात्मा परमहंसोंके प्रेम-रसाभिवर्धनके लिये उच्छृंखल लीलाओंका ही प्रदर्शन किया तथा संस्कारादिके पश्चात् मर्यादित लीलाओंका प्रदर्शन किया।

इस प्रकार यद्यपि इस मर्यादातिक्रमणमें भी मर्यादाकी रक्षा ही है तथापि भगवान् तो समस्त विरुद्ध धर्मोंके आश्रय हैं। इसलिये वे एक कालमें भी दोनों प्रकारके कार्य कर सकते हैं। जिस प्रकार सर्वाधिष्ठान होनेके कारण आत्मा एक ही समयमें एक (अपवाद) दृष्टिसे अकर्ता-अभोक्ता है, किंतु दूसरी (अध्यारोप) दृष्टिसे सर्वकर्ता और सर्वभोक्ता भी है, उसी प्रकार भगवान्‌में एक ही साथ दो विरुद्ध धर्म रहा करते हैं। निर्व्यापार रहते हुए व्यापार करना और व्यापार करते हुए भी निर्व्यापार रहना—ये यद्यपि परस्पर-विरुद्ध धर्म हैं तथापि तत्त्वज्ञ महापुरुषोंकी तो यही दृष्टि है—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥

(गीता ४। १८)

यहाँ '**पश्येत्**'—देखे यह भी क्रिया ही है। ध्यानयोगी जो सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी गतिको रोककर निश्चल भावसे अपने निर्विशेष स्वरूपका साक्षात्कार करता है, वह भी तो एक प्रकारकी क्रिया ही है। जो भगवान् अपने भावुक भक्तोंके लिये रसस्वरूप हैं, जिनका '**रसो वै सः। रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।**' (तैत्तिरीय० २। ७)—इस श्रुतिद्वारा प्रतिपादन किया गया है, वे ही अज्ञानियोंके लिये भयके स्थान हैं, '**तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य**' जो आत्मज्ञोंके लिये परम सन्निकृष्ट हैं, वे ही अज्ञोंके लिये दूरसे भी दूर हैं। अत: भगवान्‌में तो स्वभावसे ही सम्पूर्ण विरुद्ध धर्म रहते हैं, इसलिये यदि एक कालमें ही वे विरुद्ध प्रकारके आचरण करें तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है।

यही नहीं, जिस प्रकार भगवान्‌के अवतार मर्यादा-पालनके लिये अपेक्षित होते हैं, उसी प्रकार कर्म-संन्यासके लिये भी उनकी अपेक्षा हुआ करती है। भगवान् रामका अवतार मर्यादापालनके लिये था और ऋषभदेवजीका सर्वकर्म-संन्यासके लिये। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि एक ही भगवान्‌ने दो प्रकारकी चेष्टाएँ क्यों कीं? इस विषयमें यही कथन है कि वे भिन्न-भिन्न चेष्टाएँ भिन्न-भिन्न अधिकारियोंके लिये थीं। जो मर्यादापालनका अधिकारी है, उसके आदर्श श्रीरामचन्द्र हैं और जो सर्वकर्म-संन्यासके अधिकारी हैं, उसके पथप्रदर्शक भगवान् ऋषभदेव हैं।

सर्वकर्म-संन्यासी तत्त्वज्ञ महानुभावोंकी भी दो प्रकारकी चर्या देखनेमें आती है। उनमें अधिकांश तो ऐसे हैं, जो कामिनी-कांचनादि भोग्यपदार्थोंका स्वरूपसे त्याग कर देते हैं और सर्वदा अलक्षित गतिसे

एकान्त-सेवन किया करते हैं, उनमें साधकोंके आदर्श तो बदरिकाश्रमनिवासी भगवान् नर-नारायण हैं और सिद्धोंके भगवान् ऋषभदेव। वे लोग स्वप्नमें भी स्त्री आदि भोग्य विषयोंका संग नहीं करते। उनका नियम होता है—

'सङ्गं न कुर्यात्प्रमदासु जातु
योगस्य पारं परमारुरुक्षुः।'

(श्रीमद्भा० ३।३१।३९)

किंतु कोई-कोई महानुभाव ऐसी विलक्षण धारणावाले होते हैं कि अनेकविध भोग्य सामग्रियोंके सान्निध्यमें रहकर भी वे उनसे अक्षुण्ण रहते हैं।

ऐसे सिद्धकोटिके महानुभावोंके लिये ही भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाएँ हैं, किंतु वे लीलाएँ अनुकरणीय नहीं हैं, उनके द्वारा तो इस कोटिके महापुरुषोंकी उच्चतम स्थितिका केवल दिग्दर्शनमात्र होता है।

यद्यपि साधकोंके लिये स्त्रियोंका चिन्तनमात्र भी महान् अनर्थका हेतु होता है तथापि भगवान्ने तो कामजयके लिये ही यह अद्भुत लीला की थी।

टीकाकार श्रीश्रीधरस्वामी लिखते हैं—

ब्रह्मादिजयसंरूढदर्पकन्दर्पदर्पहा ।
जयति श्रीपतिर्गोपीरासमण्डलमण्डनः॥

अर्थात् ब्रह्मादि लोकपालोंको जीत लेनेके कारण जो अत्यन्त अभिमानी हो गया था, उस कामदेवके दर्पको दलित करनेवाले गोपियोंके रासमण्डलके भूषणस्वरूप श्रीलक्ष्मीपतिकी जय हो।

वस्तुतः रासक्रीड़ामें प्रवृत्त होकर भगवान्ने मर्यादाका उल्लंघन नहीं किया, बल्कि उन्होंने तत्त्वज्ञोंकी निष्ठाकी दृढ़ता ही प्रदर्शित की है। अहो! जो साक्षात् शृंगाररसकी अभिवृद्धि करनेवाले हैं, उन अनेकविध दिव्य हाव-भाव कटाक्षोंका सम्प्रयोग होनेपर भी उनका चित्त तनिक भी विचलित नहीं हुआ। भगवान्की इस स्थितिका श्रीशुकदेवदजीने भिन्न-भिन्न शब्दोंमें कई जगह वर्णन किया है, जैसे—**'साक्षान्मन्मथमन्मथः'** (श्रीमद्भा० १०।३२।२), **'आत्मन्यवरुद्धसौरतः'**, **'आत्मारामोऽप्यरीरमत्'** (श्रीमद्भा० १०।२९।४२) इत्यादि।

भगवान्की रासक्रीड़ा कामजयके लिये

भगवान् सर्वेश्वर हैं; उनकी यह लीला कामजयके लिये ही हुई थी। कामने ब्रह्मादिको जीत लिया था। इससे उसका अभिमान बहुत बढ़ गया था और अब उसने उन सबके स्वामी भगवान् श्रीकृष्णसे भी युद्ध करनेका निश्चय किया। भगवान्ने उसका यह निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। कन्दर्पने भी श्रीकृष्णके अद्भुत प्रभावको जानकर विजयकी लालसासे श्रीव्रजांगनाओंके अंगरूप कांचनमय कामग दुर्गका आश्रयण किया और वहाँ प्रधान-प्रधान अवयवोंको अपना खास निवासस्थान चुना और अपने मित्र वसन्तकी सहायतासे नाना प्रकारके कुसुमोंका ही धनुष-बाण तथा अस्त्र-शस्त्र लेकर स्वाधीन व्रजांगनाओंके कांचनमय अंगरूप कामग दुर्गमें स्थित होकर युद्धकी पूर्ण तैयारी कर ली। इतनेपर भी श्रीकृष्णने उसे दुर्बल ही देखा। यह नियम है कि बड़े-बड़े योद्धा दुर्बल शत्रुसे युद्ध करना उचित नहीं समझा करते। इसलिये युद्ध करनेसे पूर्व वे उसे सबल कर देते हैं। अपूर्ण चन्द्रपर राहु भी आक्रमण नहीं करता। जब एक राक्षसकी भी ऐसी नीति है तो सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ही ऐसा कैसे कर सकते थे? अतः भगवान्ने पहले तो श्रीमहादेवजीके कोपानलसे दग्ध हुए कन्दर्पको पुष्ट किया। वह गोपांगनाओंके हृदयमें स्थित था। उसे वेणुनादद्वारा अपनी दिव्य अधर-सुधाका पान कराकर भगवान्ने सबल कर दिया। परंतु गोपांगनाओंके हृदयमें तो मन भी रहता है और वह भगवान् श्रीकृष्णका परम भक्त है तथा कामदेव मनोज होनेके कारण उसका पुत्र है। अतः अपने पिताके विरुद्ध वह कोई चेष्टा कैसे कर सकता था और वृद्ध पिताके सामने उससे कोई धृष्टता भी कैसे बन सकती थी? इसलिये उसे निःसंकोच करनेके लिये भगवान्ने वेणुनादद्वारा उस मनको अपने पास बुला दिया। अब कामदेव स्वतन्त्र हो गया। गोपांगनाओंके अंग-प्रत्यंगोंने उसके अस्त्र-शस्त्र होकर भी सहायता की तथा चन्द्रमा, वसन्त, यमुनापुलिन, निकुंज और मलय-मारुत भी उसके सहकारी हो

गये। इस प्रकार पहले सर्वसाधन-सम्पन्न करके फिर उसे परास्त करनेके लिये ही भगवान्‌ने यह ललित लीला की; इसीसे यहाँ उन्हें '**साक्षान्मन्मथमन्मथः**' कहा गया है।

सृष्टिमात्रका प्रयोजक काम ही है। सृष्टिके आरम्भमें जैसा भाव रहता है, उत्तरकालीन प्रपंच भी उसीका अनुसरण किया करता है। जैसे सृष्टिके आरम्भमें उत्पन्न हुए हिरण्यगर्भको एकाकी रहनेपर रमण नहीं हुआ, वैसे ही अब भी अकेले रहनेपर लोगोंको भय और अरमण हुआ करता है। सर्गारम्भमें परमेश्वर कामप्रयुक्त (संकल्पद्वारा प्रेरित) प्रकृतिसे संयुक्त होकर प्रपंचकी रचना करते हैं; इसीलिये लौकिक पुरुष भी कामप्रयुक्ता प्रकृतिरूपा पत्नीसे संयोग करके प्रजाकी रचना करते हैं। श्रुति भी कहती है—'**सोऽकामयत एकोऽहं बहु स्याम्**'—भगवान्‌ने इच्छा की कि मैं अकेला हूँ, अनेक हो जाऊँ।

वह भगवदिच्छा ही आदि-काम है। जिस प्रकार एक सत्तत्त्व ही सुख-दुःखादि शुभाशुभ-विशेषणविशिष्ट होकर हेय और उपादेय होता है, उसी प्रकार लौकिक और अलौकिक आलम्बनके कारण काम भी हेय और उपादेय हो जाता है। शुभाशुभविशेषणशून्य सत्तत्त्व तो निर्विशेष ब्रह्म ही है; वह न हेय है, न उपादेय। यह कहनेकी भी आवश्यकता नहीं कि विशेषण भी विशेष्यसे अभिन्न ही होता है। जिस प्रकार मृत्तिकाका परिणाम अतएव उससे अविभिन्न घट मृत्तिकाके विशेषणरूपमें व्यपदिष्ट होता है तथा जैसे घटाकाशका अवच्छेदक और उसका विशेषणभूत घट भी आकाशसे अभिन्न ही है; क्योंकि वायु, तेज और जलादिके क्रमसे आकाश ही घटरूप हो जाता है और कार्य तथा कारणमें अभिन्नता होती है—यह प्रसिद्ध ही है, उसी प्रकार शुभाशुभ विशेषण भी सत्तत्त्वसे अभिन्न ही हैं तथापि व्यवहारमें उसके विशेषण होनेसे उसके भेदक भी हैं।

इस प्रकार प्रपंचोत्पादनके लिये प्रकृतिके संसर्गमें प्रवृत्त करनेवाली इच्छा या रस ही काम है। यही साक्षात् काम (साक्षान्मन्मथ) है। इस कामका एक बिन्दु ही अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंमें व्याप्त है। यह साक्षात्काम रसात्मक ब्रह्मका ही औपाधिक या विकृत रूप है। यह कारणब्रह्मके मायावृत्तिरूप मनमें क्षोभ उत्पन्न करता है, फिर जिस प्रकार पुरुष कामक्षुब्ध होकर प्रजोत्पादनके लिये स्त्रीसे संसर्गकर उसमें गर्भाधान करता है, उसी प्रकार इससे क्षुब्ध हुआ कारणब्रह्म प्रकृतिरूप अपनी योनिसे संसृष्ट होकर उसमें गर्भाधान कर देता है। जिस प्रकार स्त्रीका गर्भाशय पुरुषका वीर्य प्राप्त होनेपर ही प्रजोत्पादनमें समर्थ होता है, उसी प्रकार पुरुषके चैतन्य-प्रतिबिम्बरूप वीर्यके प्राप्त होनेपर ही अर्थात् पुरुषके सान्निध्यसे प्राप्त हुए चैतन्य-सामर्थ्यसे ही प्रकृति महदादि प्रजाओंको उत्पन्न कर सकती है। जिनका हृदय पाशविक संस्कारोंसे दूषित है, उन नरपशुओंको जिस चर्मखण्डमें योनिबुद्धि है, वह वस्तुतः योनि नहीं कही जा सकती। योनितत्त्व तो अतीन्द्रिय है। जिस प्रकार इन्द्रियगोलकसे इन्द्रिय-तत्त्व सर्वथा भिन्न और अतीन्द्रिय है, उसी प्रकार योनितत्त्व भी योनिगोलकसे सर्वथा भिन्न है। जो योनितत्त्वका उद्गमस्थल जागतिक सृष्टिका मूल कारण है, वही मूलयोनितत्त्व है और उसीको 'प्रकृति' भी कहते हैं। पुरुषका अंशभूत चैतन्य-प्रतिबिम्ब ही वीर्य है। अतः यह नियम है कि प्रकृति और पुरुषका संसर्ग होनेपर ही सृष्टि हुआ करती है। अस्तु।

इस प्रकार प्राथमिक काम साक्षान्मन्मथ है। वह विकृत रस-स्वरूप है। उस विकृत रसका याथात्म्य या अधिष्ठान अविकृत रसात्मक परब्रह्म ही है। विकृत रसमें जो मन्मथत्व या मोहकत्व है, वह अपने अधिष्ठानसे ही आता है। अतः उसका अधिष्ठान-भूत परब्रह्म ही 'साक्षान्मन्मथमन्मथ' है। जिस प्रकार भगवान्‌को चक्षुका चक्षु, श्रोत्रका श्रोत्र और मनका मन कहा जाता है, उसी प्रकार वे कामके काम अर्थात् मन्मथमन्मथ हैं। वे अव्यक्त मन्मथमन्मथ ही इस समय अत्यन्त मधुमयी मनोहर माधवमूर्तिमें विराजमान

हैं। इसलिये वे 'साक्षान्मन्मथमन्मथ' हैं।

भगवान् जो चक्षुके चक्षु, श्रोत्रके श्रोत्र, मनके मन और प्राणके प्राण कहे गये हैं, उसका क्या रहस्य है? श्रोत्र किसे कहते हैं? जो इन्द्रिय शब्द-प्रकाशनमें समर्थ है, उसका नाम 'श्रोत्र' है। भगवान् उसे शब्द-प्रकाशनका सामर्थ्य प्रदान करते हैं, इसलिये वे श्रोत्रके श्रोत्र हैं। इसी प्रकार वे चक्षुके चक्षु, मनके मन और प्राणके प्राण भी हैं तथा वे ही साक्षात् मन्मथमन्मथ हैं। मन्मथ कामको कहते हैं। नायक-नायिकाके पारस्परिक स्नेहविशेषका नाम 'काम' है। वह एक प्रकारका रस है और भगवान् भी रसस्वरूप हैं; '**रसो वै सः**'। (तैत्तिरीय० २।७) भगवान् सम्पूर्ण रसोंके अधिष्ठान हैं; वे निर्विशेष रसस्वरूप हैं तथा संसारमें जितने रस हैं, वे उन रसमयके ही विशेष विकास हैं।

सिद्धान्त-दृष्टिसे देखा जाय तो शुद्ध सत् अशेषविशेष-निर्मुक्त परब्रह्म ही है। इसी प्रकार शुद्ध चित् भी वही है। सत् और चित्में भी कोई भेद नहीं है। जिसकी सत्ता होगी, उसका भान भी अवश्य होगा और जिसका भान होगा, उसकी सत्ता भी अवश्य होगी। अतः जो सत् है, वही चित् है और जो चित् है, वही सत् है। जिस प्रकार सच्चित् सम्पूर्ण प्रपंचका कारण है, उसी प्रकार आनन्द भी है। '**आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।**' (तैत्तिरीय० ३।६) जिस प्रकार सर्वविशेषणनिर्मुक्त सत् ब्रह्म है, उसी प्रकार निर्विशेष आनन्द भी शुद्ध परब्रह्म ही है। वह हेयोपादेयसे रहित है; पुण्य या अपुण्य विशेषणसे युक्त होनेपर ही वह हेयोपादेय होता है। जो आनन्द किसी उत्तम वस्तुको आलम्बन मानकर अभिव्यक्त होता है, उसे प्रेम कहते हैं और जो बन्धनकारी निःकृष्ट पदार्थोंके आलम्बनसे होता है, उसे काम या मोह कहा जाता है। भगवान् विष्णु, शिव एवं गुरुदेव आदि उत्तम आलम्बन हैं। भगवान् तो स्वयं ही रसस्वरूप हैं; उनमें तन्मय हुआ चित्त भी पूर्णतया रसमय हो जाता है। श्रीमधुसूदन स्वामी कहते हैं—

भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि।
मनोगतस्तदाकारो रसतामेति पुष्कलाम्॥

प्रेमीके द्रुत चित्तपर अभिव्यक्त जो प्रेमास्पदावच्छिन्न चैतन्य है, वही प्रेम कहलाता है। स्नेहादि एक अग्नि है। जिस प्रकार अग्निका ताप पहुँचनेपर जतु (लाक्षा) पिघल जाता है, उसी प्रकार स्नेहादिरूप अग्निसे भी प्रेमीका अन्तःकरण द्रवीभूत हो जाता है। विष्णु आदि आलम्बन सात्त्विक हैं; इसलिये जिस समय तदवच्छिन्न चैतन्यकी द्रुत चित्तपर अभिव्यक्ति होती है, तब उसे 'प्रेम' कहा जाता है और जब नायिकावच्छिन्न चैतन्यकी अभिव्यक्ति होती है तो उसे 'काम' कहते हैं। प्रेम सुख और पुण्य-स्वरूप है तथा काम दुःख और अपुण्यस्वरूप है। इस प्रकार यदि मूलमें देखें तो सत्का ही रूपान्तर सुख और पुण्य है तथा उसीका रूपान्तर दुःख और अपुण्य है एवं इन सब प्रकारके विशेषणोंसे शून्य जो सत् है, वही परब्रह्म है। ठीक इसी प्रकार जो सर्वविशेषणशून्य रस है, वह भी ब्रह्म ही है, वही 'साक्षान्मन्मथमन्मथ' हैं और वही श्रीकृष्ण हैं। इसीसे कामको वासुदेवका अंश कहा है—'**कामस्तु वासुदेवांशः**'।

यह तो हुआ आध्यात्मिक विवेचन। आधिदैविक दृष्टिसे देखें तो भी भगवान्का रूपमाधुर्य ऐसा मोहक था कि जो काम संसारके प्रत्येक प्राणीको मोहित करनेमें समर्थ है, वही जिस समय अपने दल-बल-सहित भगवान्की परम सुन्दर दिव्य मंगलमयी मूर्तिके सामने आया तो उनका लावण्य देखकर मानो धूलिमें मिल गया। इसीसे उन्हें '**साक्षान्मन्मथमन्मथः**' कहा गया है। वस्तुतः श्रीकृष्णचन्द्रके पादारविन्दकी नखमणि-चन्द्रिकाकी एक रश्मिके माधुर्यका अनुभव करके कन्दर्पका दर्प प्रशान्त हो गया और उसे ऐसी दृढ़ भावना हुई कि मैं लक्षों जन्म कठिन तपस्या करके श्रीव्रजांगनाभावको प्राप्तकर श्रीकृष्णके पादारविन्दकी नखमणिचन्द्रिकाका यथेष्ट सेवन करूँगा,

फिर साक्षात् श्रीकृष्ण-रसमें निमग्न व्रजांगनाओंके सन्निधानमें कामका क्या प्रभाव रह सकता था? यह भी एक आदर्श है। जिस प्रकार साधकोंके लिये चित्रलिखित स्त्रीको भी न देखना आदर्श है, उसी प्रकार जो बहुत उच्चकोटिके सिद्ध महात्मा हैं, उनके लिये मानो यह चेतावनी है कि भाई, तुम अभिमान मत करना; जबतक तुम ऐसी परिस्थितिमें भी अविचलित न रह सको, तबतक अपनेको सिद्ध मत मान बैठना। अहो! जिनके नखमणिकी ज्योत्स्नासे भी अनन्तकोटि कन्दर्पोंका दर्प दलित हो जाता था, उन परम सुन्दरी व्रजसुन्दरियोंको भी जिन्होंने रमाया, उन श्रीहरिके दिव्यातिदिव्य योगका माहात्म्य कहाँतक कहा जा सकता है?

साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि कामुकोंके लिये तो नर-नारायणका आदर्श भी अनुपयुक्त है। उन्हें तो मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामके ही चरणचिह्नोंका अनुसरण करना चाहिये। श्रीनर-नारायणका आदर्श साधकोंके लिये है; उन्हें ऋषभदेवजीके आदर्शका अनुकरण नहीं करना चाहिये; क्योंकि सर्वकर्मसंन्यासका अधिकार सबको नहीं है। उनका आचरण तो परमोत्कृष्ट तत्त्वज्ञोंके लिये ही है। इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके दिव्यातिदिव्य आचरणोंका तो यदि कोई मनसे भी अनुकरण करेगा तो पतित हो जायगा, '**नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः।**' (श्रीमद्भा० १०।३३।३१); क्योंकि वे तो निरतिशय ऐश्वर्यवान् साक्षात् भगवान्‌की ही अलौकिक लीलाएँ हैं। कोई भी जीव इस स्थितिपर नहीं पहुँच सकता। भला, भगवान्‌के सिवा ऐसा कौन है, जिसने सम्पूर्ण जगत्‌को मोहित करनेवाले कामदेवका मानमर्दन किया हो। मदनमोहन तो एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। करना तो दूर, हर किसीको तो इसे सुनना भी नहीं चाहिये; क्योंकि '**छठी भावना रासकी**', इसे सुनने-देखनेका अधिकार तो देहाध्याससे ऊपर उठे बिना प्राप्त ही नहीं होता।

भगवान्‌ने जो कहा है कि—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गीता ३।२१)

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि श्रेष्ठ पुरुषोंके सभी आचरणोंका अनुकरण करना चाहिये; बल्कि जो अपनी योग्यताके अनुसार हो, उसीका आचरण करना उचित है। भगवान् शंकर हलाहल विषका पान कर गये थे, इसलिये क्या सभीको विष-पान करना चाहिये? तैत्तिरीयोपनिषद् (१।११)-में आचार्य अपने शिष्योंसे कहते हैं—

'**यान्यस्माकꣳ सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि।**'

यह बहुत सम्भव है कि कोई चरित्र महापुरुषोंके लिये उचित हो, किंतु साधारण पुरुषोंके लिये उचित न हो। संन्यासीलोग सन्ध्योपासन नहीं करते, इसलिये क्या गृहस्थोंको भी उसे छोड़ देना चाहिये? फिर यहाँ तो अलौकिक लीलाकारी भगवान्‌की बात है, जिसका अनुकरण करना तो दूर रहा, समझना भी महा कठिन है।

इस प्रकार भगवान्‌की यह रासलीला उच्चकोटिके योगारूढ़ोंके लिये ही एक उच्च आदर्श है। इसके श्रवणमात्रसे पुण्य होता है। सो कैसे?—उत्तरमीमांसामें ब्रह्मकी उपासना कई प्रकारसे बतलायी गयी है। वहाँ कहा है—'**सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्॥**' (ब्रह्मसूत्र ३।३)

इस सूत्रपर ऐसा विचार हुआ है कि ब्रह्म तो एक ही है, फिर किस प्रकारकी उपासनाको किस उपासनामें समन्वित करना चाहिये? वहाँ बतलाया गया है कि यद्यपि उपास्य ब्रह्म तो एक ही है तथापि गुणगणके भेदसे उसमें भेद हो जाता है और उपासनाका फल तत्तद्गुणविशिष्ट उपास्यके अनुरूप ही मिलता है। जैसे यदि हमारा उपास्य सत्यकामादि-गुणविशिष्ट ब्रह्म होगा तो वह हमें सत्यकामादिरूप फल देगा और यदि वामनीत्वादिगुण-गणविशिष्ट ब्रह्म होगा तो उसमें हमें वामनीत्वादि फल प्राप्त होगा।

अब यह प्रश्न होता है कि एक ही ब्रह्मकी अनेकविध उपासना क्यों बतलायी गयी है? इसका उत्तर यही है कि यह उपास्यका भेद उपासककी योग्यता और कामनाके अनुसार है। यहाँ रासलीलामें उपास्य कामविजयी है, इसलिये इसके द्वारा कामविजयरूप फल प्राप्त होगा। इसीसे यहाँ कहा गया है कि—

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥

(श्रीमद्भा० १०।३३।४०)

अर्थात् जो पुरुष श्रद्धासम्पन्न होकर व्रजबालाओंके साथ की हुई भगवान् विष्णुकी इस क्रीड़ाका श्रवण या कीर्तन करेगा, वह परम धीर भगवान्में पराभक्ति प्राप्त करके शीघ्र ही मानसिक रोगरूप कामसे मुक्त हो जायगा।

किंतु यहाँ यह सन्देह हो सकता है कि कामलीलावर्णन या श्रवण करनेसे कामविजय कैसे होगी? इसका उत्तर यह है कि यह कामलीला नहीं, बल्कि कामविजयलीला है। इसके श्रवण और कीर्तनद्वारा कामविजयी भगवान् ध्येय होंगे; इसलिये उपासकका चित्त कामविजयी हो जायगा।

भगवान् पतंजलि कहते हैं—'**वीतरागविषयं वा चित्तम्॥**' (योगदर्शन १।३६) अर्थात् विरक्त पुरुषोंके विरक्त चित्तका चिन्तन करनेवाला चित्त भी स्थिरता प्राप्त करता है। इसका क्या तात्पर्य है? यही कि विरक्त पुरुषोंका ध्यान करनेवाले पुरुषोंका चित्त भी क्रमशः उनकी आकृति और भावका आलम्बन करता हुआ विरक्त हो जाता है। इसी प्रकार भगवान्की मायाका वर्णन करनेसे उद्धार होना बतलाया गया है; जैसे—

मायां वर्णयतोऽमुष्य ईश्वरस्यानुमोदतः।
शृण्वतः श्रद्धया नित्यं माययात्मा न मुह्यति॥

(श्रीमद्भा० २।७।५३)

इसका कारण यही है कि यहाँ मायाका वर्णन स्वतन्त्र रूपसे नहीं है, अपितु मायाके नियन्तारूपसे ईश्वरका ही वर्णन है। अतः मायाधीश भगवान्का चिन्तन होते रहनेसे हम भी मायासे मोहित न होंगे। इसी प्रकार यद्यपि कामवर्णनसे कामकी वृद्धि ही हुआ करती है तथापि यहाँ काम-वर्णनके व्याजसे काम-विजयी भगवान्का ही वर्णन होनेके कारण काम-विजयरूप फल ही प्राप्त होगा।

रासलीलाके श्रवण और कीर्तनके अधिकारीकी योग्यता

किंतु इस लीलाके श्रवण और कीर्तनके अधिकारी सभी लोग नहीं हो सकते। उनमें कुछ विलक्षणता होनी चाहिये। उनमें भी वर्णन करनेवाला तो बहुत ही विलक्षण होना चाहिये; क्योंकि भगवान्की जो दिव्यातिदिव्य लीलाएँ हैं, उनके श्रवण-मननसे अधिकारियोंपर प्रभाव पड़ता ही है। जिस प्रकार वीररसपूर्ण काव्य पढ़नेपर चित्तमें वीरताका संचार होता है तथा करुणरसप्रधान ग्रन्थका अनुशीलन करनेपर चित्त करुणार्द्र हो जाता है, उसी प्रकार इस शृंगाररसप्रधान लीलाके श्रवण या कीर्तनसे चित्तमें शृंगाररसका उद्रेक होना भी स्वाभाविक ही है। हम देखते हैं कि यह जानते हुए भी कि भगवान् श्रीराम साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं, उनपर किसी प्रकारकी सम्पत्ति या विपत्तिका कोई अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ सकता। जिस समय उनके वनगमन आदि वर्णन सुनते हैं तो हठात् नेत्रोंमें जल आ ही जाता है। अतः भगवान्की इस मधुरातिमधुर लीलाके श्रवण-कीर्तनके मुख्य अधिकारी तो वे ही हैं, जो संसारकी समस्त वासनाओंको जीतकर मनोनिरोधपूर्वक परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार कर चुके हैं।

किंतु यहाँ जो ऐसा कहा है कि '**हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः**' इससे यह भी सिद्ध होता है कि कामरूप हृद्रोगके रोगी भी इसका श्रवण कर सकते हैं। परंतु वे कम-से-कम उस हृद्रोगसे मुक्त होनेके पूर्ण इच्छुक तो होने ही चाहिये, विषयी होनेपर तो

उनका उद्धार हो नहीं सकेगा। उन्हें भी इसे ऐसे वक्तासे श्रवण करना चाहिये, जो पूर्ण तत्त्वनिष्ठ हो तथा जो श्रोताके कामभावकी निवृत्ति करनेमें सर्वथा समर्थ हो। तब तो अवश्य इसके द्वारा भगवान्‌के प्रति स्थायी रतिका आविर्भाव होगा और उस भगवद्रतिके कारण कामका कदापि प्रभाव न होगा।

पहले यह कहा जा चुका है कि इस प्रकरणके आरम्भमें जो '**श्रीबादरायणिरुवाच**' है, उसका क्या रहस्य है। किंतु किसी-किसी प्रतिमें इसके स्थानपर '**श्रीशुक उवाच**' भी है। भगवान् शुकको तत्त्वज्ञता सुप्रसिद्ध है और इधर श्रोता भी सर्वसाधनसम्पन्न कुरुकुल-भूषण महाराज परीक्षित् हैं। यदि ऐसे श्रोता-वक्ता हों तो अवश्य इसका महान् फल हो सकता है।

'**शुक उवाच**' इस वाक्यका एक और भी तात्पर्य हो सकता है। प्राय: शुकतुण्डसे सम्बन्धित होनेपर फलमें और भी अधिक मधुरता आ जाती है। इसीसे कहा है—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं
शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं
मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥

(श्रीमद्भा० १।१।३)

जिस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषद्रूप गौओंका अमृतमय दुग्ध होनेसे ही परम आदरणीय है, उसी प्रकार यह भागवतपुराण भी वेदमूलक होनेके कारण ही प्रमाण है। यह साक्षात् कल्पवृक्षका फल है और वह कल्पवृक्ष भी प्राकृत नहीं, बल्कि स्वयं शब्द-ब्रह्मरूप वेद है और यह उससे तोड़ा हुआ भी नहीं है, इसलिये इसके विषयमें कच्चे या अम्ल होनेकी भी आशंका नहीं की जा सकती। यह तो स्वयं पककर गिरा हुआ है। इसलिये इसमें अत्यन्त मधुरता और सुगन्ध आ गयी है। इसपर भी शुकके मुखका संयोग हो जानेसे तो यह और भी अधिक सरस हो गया है। इसीसे कहा है—'**पिबत**', इसे पिओ। यद्यपि फल खाया जाता है; परंतु इसे तो पीनेके लिये कहा है। इसका तात्पर्य यही है कि अन्य फलोंके समान इसमें गुठली या छिलका आदि कोई हेय अंश नहीं है; क्योंकि यह तो एकमात्र सुमधुर रसस्वरूप ही है। इसलिये इसका पान ही करना चाहिये। कबतक पान करें? '**आलयम्**' अर्थात् मोक्ष पाकर भी।

जीवनमुक्त महामुनि जेऊ। हरि गुन सुनहिं निरंतर तेऊ॥

(रा०च०मा० ७।५३।२)

इस प्रकार जब शुकतुण्डच्युत श्रीमद्भागवत ही पेय है तो उसके सारातिसारभूत 'रासपंचाध्यायी' के विषयमें तो कहना ही क्या है? यही '**शुक उवाच**' का गूढ़ रहस्य है।

इसके सिवा व्रजमें हमने एक और बात भी सुनी थी। वहाँके लोग कहा करते हैं—'महाराज, **महलकी बात माहिलिहि जाने**' अर्थात् महलके भीतर क्या-क्या होता है? इस रहस्यको तो महलके भीतर रहनेवाले ही जान सकते हैं; बाहर जो घास खोदनेवाला है, उसे अन्त:पुरकी बातोंका क्या पता लग सकता है? यह रासक्रीड़ा भगवान्‌की परम अन्तरंग लीला है। इसका मर्म तो वे ही जान सकते हैं, जो श्रीराधारानी और नन्दनन्दनके अत्यन्त कृपापात्र हैं; अन्य निष्ठावाले इसका रहस्य नहीं समझ सकते। इसका वक्ता भी वही हो सकता है, जो परम अन्तरंग हो। अत: यह देखना चाहिये कि इसका वक्ता कौन है? कोई कितना ही आत्मनिष्ठ हो, किंतु यदि वह इस रससे अनभिज्ञ हो तो कम-से-कम रसिकोंकी प्रवृत्ति तो उसके वाक्य-श्रवणमें हो नहीं सकती। अत: यह देखना चाहिये कि इसके वक्ताका रसमें प्रवेश है या नहीं। इसपर वे कहते हैं—'**श्रीशुक उवाच**' यहाँ जो शुक हैं, वे श्रीवृषभानुनन्दिनीके क्रीड़ाशुक हैं। जिस समय श्रीनन्दनन्दन उनके पाससे चले जाते थे, उस समय श्रीरासेश्वरीजी इन्हें पढ़ाया करती थीं—'**कृष्ण कहु, कृष्ण कहु, राधा मति कहु रे**'। वे अपने अमृतमय अधरपटसे इनकी चंचुको

चुम्बनकर इन्हें भगवल्लीलाओंका पाठ पढ़ाया करती थीं। भावुकोंका ऐसा कथन है कि भगवान् श्रीकृष्णकी कृपाका पात्र वही होता है, जिसपर श्रीवृषभानुसुताकी कृपा होती है; उनकी कृपा ललितादि प्रधान यूथेश्वरियोंके कृपापात्रोंपर हुआ करती है और ललितादिकी कृपा अपनी नित्यसहचरियोंके कृपापात्र आचार्योंके कृपाभाजनोंपर होती है। फिर जिनका चंचु स्वयं श्रीवृषभानुनन्दिनीकी अधर-सुधासे चुम्बित होता था, उन श्रीशुकके मुखारविन्दसे निःसृत इस लीलाके माधुर्यका तो कहना ही क्या है। अहो! जिनके अधरामृतका संयोग होनेके कारण उनका किया हुआ वेणुनाद सम्पूर्ण चराचर जीवोंको मन्त्रमुग्ध कर देता था, वे रसराजशिरोमणि श्रीमाधव भी जिसके लिये लालायित रहते थे, उस श्रीवृषभानुनन्दिनीकी अधरसुधाकी माधुरीका वर्णन कौन कर सकता है? फिर उन श्रीवृषभानुनन्दिनीकी अधरसुधासे पोषित परमहंस-शिरोमणि श्रीशुकदेवजीसे अधिक रसिक और कौन होगा?

श्रीवृषभानुनन्दिनीके कलवाक् नामक शुककी कथा

आनन्दवृन्दावनचम्पूमें एक बड़ी सुन्दर कथा है कि श्रीवृषभानुनन्दिनीके सन्निधानमें एक कलवाक् नामक शुक रहता था। श्रीरासेश्वरीजी मणिपंजरसे उस शुकको निकालकर अपने श्रीहस्तारविन्दपर बिठलाकर उसे दाड़िमी-बीज खिलाती थीं। एक दिन शुकको दाड़िमी-बीज खिला रही थीं कि दुष्प्राप्य श्रीकृष्णचन्द्रमें उत्कट प्रीति, भूयसी लज्जा, गुरूक्ति-विषवर्षणोंसे मतिकी विकलता, अपने वपुकी परवशता और कुलीनवंशमें जन्म आदि सोचते-सोचते श्रीश्रीरासेश्वरीके मुखारविन्दसे यह श्लोक निकल पड़ा—

दुरापजनवर्त्तिनी रतिरपत्रपा भूयसी
गुरूक्तिविषवर्षणैर्मतिरतीव दौःस्थ्यं गता।
वपुः परवशं जनुः परमिदं कुलीनान्वये
न जीवति तथापि किं परमदुर्मरोऽयं जनः॥

शुकने इस श्लोकको धारण कर लिया और श्रीवृषभानुदुलारीके श्रीहस्तकमलसे उड़कर जहाँ श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण खेल रहे थे, वहीं एक वृक्षकी शाखापर बैठकर '**दुरापजनवर्त्तिनी रतिः**' इसी श्लोकको पढ़ा। श्रीकृष्णने शुकके मुखसे विनिःसृत श्लोकको श्रवणकर आश्चर्यसे यह किसी 'महानुरागवती' का शुक है, यह जानकर बड़े मधुर शब्दोंमें शुकसे अपने समीप आनेका अनुरोध किया। शुक शाखापरसे उड़कर श्रीकृष्णके श्रीहस्तकमलपर बैठ गया। श्रीश्यामसुन्दरने पुनः श्लोक पढ़नेको कहा, शुकने फिर उसी श्लोकको सुनाया। अपनी प्रेयसी श्रीवृषभानुदुलारीके प्रिय शुकद्वारा उनकी विरह-व्यथासे समन्वित भावमय श्लोकको धारण करके श्रीकृष्ण बड़े प्रसन्न हुए और शुकको धन्यवाद देने लगे। शुकने कहा—श्रीव्रजराजकुमार गाढ़ानुरागके भारसे निर्भरभंगुरा, बड़े स्नेहसे 'श्रीकृष्ण' 'श्रीकृष्ण' इस मधुमय नामको पढ़ाती हुई अपनी स्वामिनीके कराम्बुरुहसे मैं तो चंचलतावश च्युत हो गया हूँ, मुझ अधन्यको आप कैसे धन्य कहते हैं?

गाढानुरागभरनिर्भरभङ्गुरायाः
कृष्णेति नाम मधुरं मृदु पाठयन्त्याः।
धिङ्मामधन्यमतिचञ्चलजातिदोषा-
त्तस्याः कराम्बुरुहकोरकतश्च्युतोऽस्मि॥

इतनेमें ही श्रीकृष्णका सखा कुसुमासव आ गया। वह भी शुककी वाग्मितापर मुग्ध हुआ। इसी समय वृषभानुनन्दिनीकी सहचरी मधुरिका शुकको ढूँढ़ती हुई वहाँ आयी और कुसुमासवके पूछनेपर कहने लगी कि अपनी स्वामिनीका क्रीड़ाशुक ढूँढ़नेके लिये मैं आयी हूँ। कुसुमासवने झगड़ते हुए कहा कि यह शुक तो हमारे सखा श्रीव्रजराजकुमारका ही है, तुम्हारी स्वामिनीका यह तब समझा जायगा, जब तुम्हारे हाथपर आ जाय। मधुरिकाने हँसते हुए कहा कि कुसुमासव, तुम्हारे सखाके श्रीहस्तकमलके संस्पर्श-सुखका अनुभव करके शुष्क वंशकी वंशी भी संगत्याग नहीं करती, फिर यह चेतन पक्षी श्यामसुन्दरके

श्रीहस्तारविन्दके स्पर्श-सुखको कैसे त्याग सकता है? इसी समय श्रीव्रजेन्द्रगेहिनीने आकर कहा—ललन, भोजनको देर हो रही है; क्यों नहीं आते? कुसुमासव कहने लगा—अम्बा! देखो, यह मधुरिका व्यर्थ ही झगड़ती है। हमारे सखाके शुकको अपनी स्वामिनीका बतलाती है। मधुरिकाने नन्दरानीको अभिवादन किया। यशोदाने स्नेहसे मधुरिकाका स्पर्श करते हुए कहा—क्यों बेटी, क्या है? मधुरिकाने कहा—देवि, कोई बात नहीं। यह शुक मेरी स्वामिनी वृषभानुकुमारीका है। इसके बिना वे व्याकुल हैं। मैं तो यही कह रही थी। श्रीव्रजेश्वरीने कहा—बेटी, तुम जाओ। कुमारके खेलने जानेपर मैं भेज दूँगी। यह सुनकर मधुरिका प्रणामकर चली गयी। श्रीकृष्ण और कुसुमासव दोनोंने ही प्रसन्न होकर शुकको दाड़िमी-बीज आदि दिव्य पदार्थ खिलाये और फिर कुछ भोजनकर खेलने चले गये। इधर श्रीयशुमतिने अपनी दूतीसे शुकको भेजवा दिया। शुकने अपनी स्वामिनीसे उनके प्रियतमका सब समाचार सुनाया था।

अतः यहाँ जो 'श्रीशुक' कहा गया है, उसका तात्पर्य '**श्रियः शुकः**' श्रीजीका शुक समझना चाहिये। ये वे श्रीजी हैं, जिनके दिव्यातिदिव्य स्वरूपपर मुग्ध होकर सौन्दर्य-माधुर्य आदि गुणगण सर्वदा उनकी सेवामें उपस्थित रहते हैं। '**श्रीयते सर्वैर्गुणैरिति श्रीः**' अतः ये शुकदेवजी भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीराधिकाजीके अत्यन्त स्नेह-भाजन और परम अन्तरंग हैं।

हमने ऐसा सुना है कि श्रीराधिकाजी तो उन्हें श्रीकृष्णनामका ही पाठ पढ़ाती थीं, किंतु जब वे चली जातीं तो श्रीश्यामसुन्दर प्रेमपूर्वक अपने मधुमय अधर-रसामृतसे पोषितकर उन्हें '**राधाकृष्ण राधाकृष्ण**' ऐसा युगल नामका पाठ पढ़ाया करते थे। उस समय यदि राधिकाजी आ जातीं तो उन्हें बड़ा संकोच होता और वह फिर यही कहतीं—'**कृष्ण कहु, कृष्ण कहु, राधा मति कहु रे**'। इससे जान पड़ता है कि वे दोनोंहीके कृपापात्र थे।

'श्री' शब्दका अर्थ भगवान् भी है। '**श्रीयते सर्वैर्गुणैर्या सा श्रीः**' अर्थात् जो सम्पूर्ण गुणोंद्वारा आश्रित हैं, वे श्री हैं। अतः वे जैसे श्रीराधिकाजीके लीलाशुक हैं, वैसे ही भगवान्के भी हैं। इसलिये वे इस रहस्यसे खूब अभिज्ञ हैं और उसका वर्णन करनेमें भी पटु हैं; क्योंकि शुककी बोली स्वभावतः ही मधुर होती है। इसीसे किसी प्रतिमें '**श्रीबादरायणिरुवाच**' है और किसीमें '**श्रीशुक उवाच**' है।

जब श्रीशुकदेवजी इस कथाका वर्णन करने लगे तो उन्होंने सोचा कि यह तत्त्व तो परम दुरवगाह्य है; क्योंकि यह भगवत्स्वरूप है, परंतु यह है परम श्रेयस्कर और श्रेयमें बहुत विघ्न हुआ करते हैं, '**श्रेयांसि बहुविघ्नानि**'। तिसपर भी यह तो परम श्रेय है, इसलिये इसमें और भी अधिक विघ्नोंकी सम्भावना है। अतः इसके आरम्भमें कोई ऐसा मंगल करना चाहिये, जो सब प्रकारके विघ्नोंकी निवृत्ति करनेवाला हो। भगवान् मंगलोंके भी मंगल और देवोंके भी देव हैं—

'मङ्गलं मङ्गलानां च दैवतानां च दैवतम्।'

उनके द्वारा मंगलको भी मंगलत्व प्राप्त होता है तथा सारे संसारका मंगल उस मंगलसिन्धुका एक बिन्दु है। मंगलमें देवताका अनुस्मरण किया जाता है, परंतु वे तो देवताओंके भी देवताका स्मरण करते हैं। इसीसे वे मंगलोंका भी मंगल करते हुए इस प्रकार आरम्भ करते हैं—

'भगवान्' शब्दकी व्याख्या

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥

(श्रीमद्भा० १०।२९।१)

यद्यपि 'भगवान्' शब्दका अर्थ आगे किया जाता है तथापि यह श्रवणमात्रसे मंगलकारक है, इसलिये यहाँ मंगलके लिये भी है। जैसे दूसरे प्रयोजनके लिये लाया हुआ भी जलपूर्ण घट अपने दर्शनमात्रसे यात्रीके लिये मंगलप्रद होता है, उसी प्रकार जिसमें नित्य-ऐश्वर्यका योग हो उसे 'भगवान्' कहते हैं। ऐश्वर्य छः हैं—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसश्श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥

(श्रीविष्णुपुराण ६।५।७४)

अर्थात् समग्र ऐश्वर्य, समग्र धर्म, समग्र यश, समग्र श्री, समग्र ज्ञान और समग्र वैराग्य—इन छः गुणोंका नाम 'भग' है। ये छः जिसमें हों, वही भगवान् है। ये सब-के-सब जीवमें तो अल्प मात्रामें हुआ करते हैं, किंतु भगवान्‌में निरतिशय होते हैं। यहाँ 'भगवान्' शब्दमें जो 'मतुप्' प्रत्यय है, वह नित्ययोग या अतिशायनमें है।* तात्पर्य यह है कि भगवान्‌में जो भग है, वह आगन्तुक नहीं है, बल्कि उनका नित्ययोग है और वह निरतिशय है।

अच्छा, यदि भगवान्‌में नित्य निरतिशय ऐश्वर्य हो भी तो तुम्हें क्या लाभ? इसपर हमें यही कहना है कि यह हमारे ही काम तो आयेगा और इसका प्रयोजन ही क्या हो सकता है? वस्तुतः भगवान्‌को तो इसकी कोई अपेक्षा है नहीं; क्योंकि वे तो आप्तकाम हैं। ऐश्वर्यका काम क्या होता है? यही न कि वह अपने आश्रयमें महत्त्वातिशय या सौख्यातिशयका आधान करे। जितने गुण हैं उनकी सफलता तभी होती है, जब वे अपने आश्रयमें सौख्यातिशय-महत्त्वातिशयका आधान करें; अतः भगवान्‌का ऐश्वर्य भी यदि उनमें इस प्रकारके किसी अतिशयका आधान नहीं करते तो वे भले ही अप्राकृत हों, व्यर्थ हैं। ये गुणगण शेष हैं और भगवान् उनके शेषी हैं तथा शेष शेषीके लिये हुआ ही करता है।

अतः अब यह देखना है कि जिसमें ये गुण हैं, वह निरतिशय है या सातिशय? यदि सातिशय है, तब तो ऐश्वर्यादि गुण उसमें कुछ अतिशयताका आधान कर सकते हैं और यदि निरतिशय ज्ञान और आनन्द ही भगवान्‌का स्वरूप है तो किसी अतिशयताका आधान करनेमें असमर्थ होनेके कारण इन गुणोंका कोई प्रयोजन ही नहीं हो सकता। वेदान्तप्रक्रियाके अनुसार महत्त्वातिशयका भी आधान ब्रह्ममें नहीं हो सकता; क्योंकि ब्रह्म शब्दकी व्युत्पत्ति है '**बृहत्त्वाद्ब्रह्म**'—बड़ा होनेके कारण वह ब्रह्म है। बृहत्, अनल्प, भूमा ये सब एक ही अर्थके वाचक हैं। जहाँ कोई संकोचक प्रमाण होता है, वहाँ तो अनल्पत्व सातिशय होता है। जैसे '**सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्याः**' इस वाक्यके अनुसार समस्त ब्राह्मणोंको भोजन कराना सम्भव न होनेके कारण 'सर्व' शब्दका संकोच करके केवल समस्त निमन्त्रित ब्राह्मणोंको भोजन कराना ही समझा जाता है। यहाँ कोई प्रमाण नहीं है, जिससे ब्रह्मका अनल्पत्व सातिशय निश्चय किया जाय। अतः संकोचकप्रमाणका अभाव होनेके कारण यहाँ वही अर्थ करना चाहिये कि जो निरतिशय बृहत् है अर्थात् जिससे बड़ा और कोई नहीं है, वह भूमा ब्रह्म है। जो देश, काल या वस्तुसे परिच्छिन्न हो अर्थात् अन्योन्याभावादि चार प्रकारके अभावोंमेंसे किसीका प्रतियोगी हो, वह अपरिच्छिन्न (निरतिशय) अनल्प नहीं हो सकता। अतः सब प्रकारके परिच्छेदसे रहित सच्चिदानन्द तत्त्व ही ब्रह्म है। ऐसा अपरिच्छिन्न तत्त्व सब प्रकारके बाधका अधिष्ठान होनेके कारण अबाध्य सत् है। यदि वह अबाध्य जड़ हो तो उसके भानके लिये किसी दूसरी वस्तुकी अपेक्षा होगी और ऐसा होनेपर द्वैत होनेके कारण वस्तुपरिच्छेद अनिवार्य होगा। इसके सिवा अभिज्ञोंकी दृष्टिमें जड़ वस्तु निरतिशय बृहत् हो भी नहीं सकती। अतः ब्रह्म सत् और स्वयंप्रकाश है अर्थात् वह अपनेसे भिन्न किसी प्रकाशान्तरकी अपेक्षासे रहित निरपेक्ष प्रकाशस्वरूप है। इस प्रकार अपनेसे भिन्न द्वैतादि उपद्रव-शून्य होनेके कारण वह निरुपद्रुत परमानन्दस्वरूप है और अनन्त भी है। इससे भी ब्रह्मकी निरतिशयता सिद्ध होती है। श्रीमद्भागवतमें ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—ये एक ही तत्त्वके नाम बतलाये हैं। '**ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥**' (श्रीमद्भा० १।२।११) श्रीश्रीधर स्वामीका भी यही मत है, किंतु कुछ लोगोंका इससे मतभेद है। श्रीजीव

* भूमिनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने। सम्बन्धेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥

गोस्वामीने तत्त्वसन्दर्भका आरम्भ इसी श्लोकसे किया है। उन्होंने ब्रह्मसे परमात्माको और परमात्मासे भगवान्‌को उत्कृष्ट माना है। उनका अभिप्राय कविवर माघके इस श्लोकसे स्फुट होता है—

चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा
ततः शरीरीति विभाविताकृतिम्।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति
क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः॥

अर्थात् दूरसे नारदजी आ रहे थे। पहले तो समझा कि कोई तेजःपुंज आ रहा है; फिर आकृतिका भान होनेपर मालूम हुआ कि कोई शरीरी है। उसके पश्चात् अवयव-विभागकी प्रतीति होनेपर जाना कि कोई पुरुष है और फिर क्रमशः निश्चय हुआ कि नारदजी हैं। अतः श्रीजीव गोस्वामी कहते हैं कि जबतक ब्रह्म दूर रहता है, तबतक लोग उसे निर्गुण निर्विशेष समझते हैं। फिर उसका विशेष अनुभव होनेपर उसे परमात्मरूपसे जाना जाता है; किंतु जो उसकी नित्यसन्निधिमें रहते हैं, उन्हें वह अचिन्त्यानन्त-कल्याणगुणगणोपेत जान पड़ता है। इस प्रकार अनुभवके उत्कर्षके साथ उत्तरोत्तर ब्रह्मके निर्विशेष, सविशेष और साकार स्वरूपका साक्षात्कार होता है।

यहाँ अपने सिद्धान्तका पोषण करनेके लिये उन्होंने यह भी कहा है कि ये ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् क्रमशः ज्ञानी, योगी और भक्तोंकी अपेक्षासे हैं तथा इनमें उत्तरोत्तर उत्कृष्ट है, परंतु इससे पूर्व तत्त्वका लक्षण करते हुए यह कहा गया है कि '**तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।**' अर्थात् जो सजातीय-विजातीय स्वगतभेदशून्य अद्वय ज्ञान है, वही तत्त्व है। अतः यह बतलाना चाहिये कि लोग जो विशेषता दिखलाते हैं, वह तत्त्वमें है या केवल नामोंमें ही। यदि तत्त्वमें कोई भेद न हो तो नामान्तर होनेसे ही उसके लक्षणमें क्या अन्तर आ सकता है? जिस प्रकार यदि घटका यह लक्षण कर दिया कि '**कम्बुग्रीवादिमान् घटः**' तो 'कलश' कहनेसे भी उसमें क्या अन्तर आ सकता है? अतः यदि तत्त्वका लक्षण '**तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्**' ऐसा है तो नामके भेदसे उसमें क्या भेद हो सकता है?

कोई लोग 'अद्वय' शब्दका अर्थ उपमारहित करते हैं। अतः उनके मतमें उपमारहित ज्ञान ही अद्वय है, किंतु 'अद्वय' शब्दका ऐसा अर्थ करना किसी प्रकार ठीक नहीं है। अद्वयका अर्थ तो देशकाल-वस्तुपरिच्छेदशून्य ही है '**नेह नानास्ति किञ्चन**', (कठ० २।१।११) '**नात्र काचन भिदास्ति**' इन वचनोंमें 'नाना' और 'भिदा' के साथ 'किंचन' और 'काचन' शब्दका प्रयोग सर्व प्रकारके नानात्व और भेदका निषेध करता है।

अब यदि युक्तिसे विचार किया जाय तो भगवान्‌को अचिन्त्यानन्तकल्याणगुणगणसम्पन्न माननेपर उन गुणोंके कारण उनके शेषीमें कोई उपकार होना भी अवश्य मानना पड़ेगा। यदि आप शेषीको सातिशय मानते हैं, तब तो सिद्धान्तविरुद्ध होगा—ब्रह्मका सातिशयत्व तो किसी भी आस्तिकको मान्य नहीं हो सकता। आप जो कहते हैं कि उत्तरोत्तर सान्निध्यके बढ़नेपर भगवान्‌के उत्तरोत्तर विशेष रूपोंका अनुभव होता है, उन विशेषताओंका यही तात्पर्य है; न कि वे अपने आश्रयमें किसी अतिशयका आधान करें, किंतु यदि परब्रह्म स्वरूपसे ही निरतिशय है तो सान्निध्यसे उसमें क्या अन्तर पड़ेगा? यदि सान्निध्यको केवल उसकी विशेषताओंकी अभिव्यक्तिका कारण मानोगे तो यह बतलाओ कि तुम्हारा वह सान्निध्य क्रियाकृत है या ज्ञानकृत। यदि क्रियाकृत है तो ब्रह्ममें परिच्छिन्नता आ जायगी और यदि ज्ञानकृत है तो मायावादका प्रसंग उपस्थित हो जायगा, जो आपको अभीष्ट नहीं है।

ब्रह्म निरतिशय बृहत् है। बृहत्ताकी कल्पना करते-करते जहाँ तुम शान्त हो जाओ वह ब्रह्म है और सान्निध्यके द्वारा तुम जिस अतिशयताका आधान करना चाहते हो, उसे तो हम सर्वदेशी मानते हैं। यदि कहो कि जिस प्रकार '**सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्याः**'—समस्त ब्रह्मणोंको भोजन कराना चाहिये इत्यादि वाक्योंमें समस्त पदसे केवल निमन्त्रित ब्राह्मण ही

ग्रहण किये जाते हैं, उसी प्रकार यहाँ भी कुछ संकोच कर लिया जायगा तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि वहाँ संसारके सम्पूर्ण ब्राह्मणोंको भोजन कराना अभिप्रेत ही नहीं है; अतः संकोच तो केवल वहीं किया जाता है, जहाँ कोई संकोचक प्रमाण होता है। जो वस्तु देशपरिच्छिन्न, कालपरिच्छिन्न अथवा वस्तुपरिच्छिन्न होती है, उसीमें संकोच किया जाना सम्भव है। निरतिशय वस्तुमें कोई परिच्छेद नहीं होता, इसलिये उसमें संकोच भी नहीं किया जा सकता—

'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्'''।' (छान्दोग्य० ७।२४।१)

अतः ये 'भग' निरतिशय भगवान्‌में किसी सौख्यातिशय या महत्त्वातिशयका आधान नहीं कर सकते। भगवान्‌में किसी प्रकारके अनर्थकी सम्भावना नहीं, अतः अनर्थ-निवृत्तिमें भी गुणोंका उपयोग नहीं हो सकता। भगवान्‌ने यह ऐश्वर्य भक्तोंके लिये ही धारण किया है। उनकी यह काम-विजयलीला भी भक्तोंके ही लिये थी। इसलिये भगवान् जो अचिन्त्यानन्त-कल्याणगुणगण धारण करते हैं, वे उपासकोंके लिये ही हैं, जिससे कि उनकी उपासनाद्वारा वे उन गुणोंको प्राप्त कर सकें।

हमने यह विचार इसीलिये किया है कि जो लोग भगवान्‌को निरतिशय बृहत् आनन्दस्वरूप नहीं मानते, उनके मतमें वह ब्रह्म भी नहीं हो सकता; क्योंकि ब्रह्म, भूमा इन शब्दोंका एक ही अर्थ है। इनका तात्पर्य एक ही वस्तुमें है। अतः भूमा कौन है? **'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति'** न कोई और देखता है, न सुनता है और न जानता है, जहाँ कोई अन्य है, वह तो अल्प ही है—**'यदल्पं तन्मर्त्यम्।'** (छान्दोग्य० ७।२४।१)। इसलिये जहाँ भूमा है, वहाँ द्वैत नहीं; क्योंकि द्वैत तो वस्तुकृत परिच्छेदमें ही हो सकता है। इस प्रकार जहाँ द्वैतका अभाव है, वहीं अद्वैत है, इसीसे कहा है—

यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत् तत्''' केन कं विजानीयाद्० (बृहदारण्यक० ४।५।१५) इत्यादि।

अब यदि आप ब्रह्मको अनल्प मानते हैं तो गुणगण कैसे? और यदि गुणगण हैं तो गुणगण और उनके आश्रयका तथा गुणोंका स्वगत भेद है या नहीं? यदि उनमें भेद है तो ब्रह्म परिच्छिन्न सिद्ध होगा और इससे उसका ब्रह्मत्व ही बाधित हो जायगा।

यदि कहो कि हम ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्‌में भेद मानते हैं; हमारे मतमें भगवान् परम अन्तरंग सात्वतोंके प्राप्य हैं; परमात्मा योगियोंके प्राप्तव्य हैं तथा ब्रह्म अत्यन्त बहिरंग ज्ञानियोंका ध्येय है। इसीसे भगवान्‌ने भी योगीको ज्ञानियोंसे भी बड़ा माना है—**'ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।'** (गीता ६।४६) और भक्तोंको समस्त योगियोंसे उत्कृष्ट माना है।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६।४७)

तो ऐसा माननेसे भी उनकी अल्पता सिद्ध होती है; क्योंकि तीन होनेके कारण उनमें वस्तुकृत परिच्छेद तो है ही। इसलिये ऐसा मानना उचित नहीं।

हम यह तो पहले कह ही चुके हैं कि लक्ष्यका भेद लक्षण-भेदसे होता है, नामसे नहीं होता। जैसा कम्बुग्रीवादि पृथुबुध्नोदरत्वादि लक्षण एक होनेसे घट, कलश—इन नामोंका भेद होते हुए भी वस्तुका भेद नहीं होता, ठीक वैसे ही जब लक्षणमें भेद नहीं है तो ब्रह्म या भगवान् आदि नामोंके भेदसे लक्ष्यका भेद कैसे होगा? यहाँ तत्त्वका लक्षण **'तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्'** ऐसा किया है। इसलिये उसमें किसी भी प्रकारका भेद नहीं हो सकता। अतः आश्रय, जो कि तत्त्व है, अनन्त है, निरतिशय है और अद्वय है; गुणगण उसमें किसी प्रकारके अतिशयका आधान नहीं कर सकते। वे तो अपनी सिद्धिके लिये ही

भगवान्‌का आश्रय लिये हुए हैं। भगवान् कहते हैं—

'मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकम्।'

(श्रीमद्भा० ११। १३। ४०)

इस प्रकार गुणोंने यद्यपि अपनी सिद्धिके लिये ही भगवान्‌का आश्रय लिया है और भगवान्‌ने भी उनपर कृपा करके उन्हें स्वीकार कर लिया है तथापि इसका कोई अन्तरंग प्रयोजन भी होना ही चाहिये। वह प्रयोजन यही है कि लोग उन अचिन्त्यगुण-गणविशिष्ट भगवान्‌की आराधना करेंगे और उन्हें उन गुणोंकी प्राप्ति होगी।

इसीसे श्रीशुकदेवजीने इस लीलाके विघ्नोंकी निवृत्तिके लिये 'भगवान्' शब्दसे मंगलोंका भी मंगल किया है। इसके सिवा उन्होंने यह भी सोचा होगा कि यह लीला अत्यन्त दुरवगाह्य है, हम इसका अवगाहन करनेमें समर्थ नहीं हैं; परंतु भगवान्‌का स्मरण करनेसे हम इस दुरवगाह्यका भी अवगाहन कर सकेंगे। भगवत्स्मरणसे हमें भगवदैश्वर्यकी प्राप्ति होगी और उससे हमें इसके वर्णनका सामर्थ्य प्राप्त होगा तथा लोकमें यह भी देखा जाता है कि वक्ताकी रुक्षताके कारण एक अत्यन्त मधुर-प्रसंग भी रूखा जान पड़ता है और वक्ताके माधुर्यसे ही किसी रूखी बातमें भी सरसता आ जाती है। इसीसे कहा है— **'कवीनां रसवद्वचः'।**

हम पहले कह चुके हैं कि भगवान् शुकदेवजीको स्वयं श्रीवृषभानुदुलारी और भगवान् श्यामसुन्दरने अपनी अधर-सुधाका पान कराकर पढ़ाया था। उस युगलमूर्तिके अधरामृतपानसे उनकी वाणीमें कितना माधुर्य आ गया था, इसका कौन वर्णन कर सकता है? फिर भी प्रसंगको दुरवगाह्य समझकर उन्होंने भगवान्‌का स्मरण किया।

इस प्रकार 'भगवान्' शब्दसे यह तो मंगल और वक्ताका तात्पर्य-सूचन हुआ, परंतु 'भगवान्' शब्दका यह अर्थ तो ऐसा है, जैसे किसी अन्य कार्यके लिये लाये हुए जलके घड़ेको देखकर उसे शुभ शकुनका सूचक मानकर देखनेवालेको आनन्द होता है। इसका मुख्य प्रयोजन तो दूसरा ही है।

रासपंचाध्यायीके प्रथम श्लोककी व्याख्या

अब हम रासपंचाध्यायीके प्रथम श्लोककी व्याख्या आरम्भ करते हैं—

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। १)

अर्थात् उन रात्रियोंमें शरत्कालीन मल्लिकाको विकसित हुई देखकर भगवान्‌ने भी योगमायाका आश्रय लेकर रमण करनेके लिये मन किया।

विचार करनेपर मालूम होता है कि इस श्लोकका तात्पर्य विरोधद्योतनमें है। रमण करनेकी इच्छा तो अनाप्तकामोंको हुआ करती है, किंतु जब भगवान्‌के चरणारविन्दमकरन्दका रसास्वादन करनेवाले तत्त्वज्ञ भी आत्माराम हुआ करते हैं अर्थात् वे भी रमणके लिये आत्मातिरिक्त साधनकी अपेक्षा नहीं करते तो भगवान्‌को रमण करनेकी इच्छा होना तो किसी प्रकार सम्भव ही नहीं है। यदि भगवान्‌ने रमण करनेकी इच्छा की तो अवश्य यह बहुत विरुद्ध बात है। रमणकर्ताकी भगवत्ता और भगवान्‌का रमण करना—दोनों ही सर्वथा अनुपपन्न हैं।

यदि कहो कि स्वरूपसे तो सभी जीव आप्तकाम हैं—वेदान्त-सिद्धान्तानुसार तो जितना भोक्तृ-भोग्य-वर्ग है, वह सब ब्रह्म ही है; परंतु जीव तो रमण करनेकी इच्छा करता ही है। परमात्मासे विमुख होनेके कारण इसका ऐश्वर्य तिरोहित हो रहा है, भगवदुन्मुख होनेपर उसका ऐश्वर्य अभिव्यक्त हो जाता है। ब्रह्मादि भी तो वस्तुतः जीव ही हैं। अतः यदि भगवान्‌ने भी रमणकी इच्छा की तो क्या आश्चर्य है? तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि उनमें 'भग' है। उनमें समग्र ऐश्वर्य है, समग्र ज्ञान है, समग्र वैराग्य है, और समग्र श्री है। जिनमें ऐश्वर्य एवं ज्ञानादिकी कमी होती है, उन्हींमें वासना होनी सम्भव है, किंतु जिसमें इनकी पूर्णता है, उसमें किसी प्रकारकी वासनाका प्रादुर्भूत होना सम्भव नहीं मालूम

होता। इसके सिवा 'भगवान्' का एक दूसरा लक्षण भी है—

उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥

(श्रीविष्णुपुराण ६।५।७८)

अर्थात् जो समस्त प्राणियोंके उत्पत्ति, नाश, आना, जाना तथा ज्ञान और अज्ञानको जानता है, उसे 'भगवान्' कहना चाहिये।

अतः जीव और भगवान्में तो बड़ा अन्तर है। इसीसे ऐसा माना गया है कि जीव ब्रह्म तो हो जाता है; परंतु भगवान्* नहीं हो सकता; क्योंकि स्वरूपतः निर्विशेष ब्रह्मसे तो उसका अभेद है ही, किंतु निरतिशय ऐश्वर्य तो केवल ईश्वरमें ही है, यह उसमें नहीं हो सकता। संसारमें दो ईश्वर नहीं हो सकते। अतः भगवान्ने रमण करनेकी इच्छा क्यों की, यह प्रश्न तो खड़ा ही रहता है।

देखो, एक ही पदार्थके लिये पंकज, जलज, अरविन्द एवं कमल आदि कई शब्दोंका प्रयोग होता है। उसके ये नाम गुण-विशेषोंकी अपेक्षासे हैं। जैसे तापापनोदकरूपसे उसे 'जलज' कहेंगे तथा उद्भवस्थानसे वैलक्षण्य प्रदर्शित करना होगा तो पंकज कहेंगे। इसी प्रकार अन्य शब्दोंके प्रयोगके विषयमें समझो। यही बात भ्रमर, मधुप, मधुकर, अलि एवं षट्पद आदि शब्दोंके विषयमें भी कही जा सकती है। ये भी यद्यपि एक ही व्यक्तिके वाचक हैं तथापि 'भ्रमर' शब्दसे उसकी अस्थिरताका द्योतन होता है और 'मधुप' शब्दसे मिष्टप्रियताका। इसी तरह यद्यपि भगवान् ब्रह्म एवं परमात्मा स्वरूपतः तो एक ही हैं; परंतु इन शब्दोंसे उसके विशेष-विशेष पक्षोंका द्योतन होता है। यहाँ 'भगवान्' शब्द अवश्य रमणके साथ विरोध-प्रदर्शनके लिये ही है।

'भगवानपि रन्तुं मनश्चक्रे'—भगवान्ने भी रमण करनेके लिये मन किया—यह बात उनके औत्सुक्यातिशयका द्योतन करती है अर्थात् भगवान्को रमण करनेकी ऐसी उत्सुकता हुई कि उन्होंने मन बना डाला; वस्तुतः तो वे '**अप्राणो ह्यमना शुभ्रः**' ही थे।

किंतु रमण तो बिना मनके हो ही नहीं सकता। भगवान्का रमण क्या था? यही न कि अपने सौन्दर्य-माधुर्यको गोपांगनाओंकी इन्द्रियोंसे उपभोग कराना और गोपांगनाओंके सौन्दर्य-माधुर्यातिशयको अपनी इन्द्रियोंसे भोगना, परंतु यदि भगवान् सजातीय, विजातीय एवं स्वगतभेदसे रहित हों तो यह भोग कैसे बन सकता है? उसका मुख्य साधन तो मन है। इसीसे गोपांगनाओंके सौन्दर्य-माधुर्यादि गुणोंका समास्वादन करनेके लिये भगवान्ने मन बनाया।

यदि कहो कि उन्होंने भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये ही मन बनाया था तो यह ठीक नहीं; क्योंकि यहाँ '**चक्रे**' इस क्रियामें आत्मनेपद है। आत्मनेपद वहीं हुआ करता है, जहाँ क्रियाका फल अपने लिये होता है। जहाँ क्रिया-फल दूसरेके लिये होता है, वहाँ परस्मैपद हुआ करता है। इसलिये यदि भगवान्का यह कर्म भक्तोंके लिये होता तो यहाँ '**चक्रे**' के स्थानमें '**चकार**' होता।

परंतु भगवान्को रमणकी उत्सुकता होना तो सर्वथा असम्भव है; क्योंकि 'भगवान्' तो कहते ही उसे हैं, जिसमें ऐश्वर्य, ज्ञान एवं वैराग्यादिकी निरतिशयता हो। इस प्रकार जिसमें नित्य और निरतिशय ऐश्वर्यादि हैं और जो अपने नित्यस्वरूपमें सर्वथा तृप्त है, उसे ऐसी रमणेच्छा होना तो अनुपपन्न ही है। इस अनुपपत्तिको सूचित करनेके लिये ही यहाँ '**अपि**' शब्द दिया है अर्थात् यद्यपि ऐसा करना था तो अयुक्त ही, परंतु ऐसा हो ही गया। इसका अनौचित्य हम भी स्वीकार करते हैं। यह गोपांगनाओंके सौभाग्यातिशयकी ही महिमा है।

यदि कहो कि इसका हेतु क्या है तो हमारा यही कथन है कि हेतु कुछ भी नहीं है। यह देखा ही जाता है कि आत्माराम मुनिजन भी भगवान्की माधुरीपर आकर्षित हो जाया करते हैं। वास्तवमें तो उन्हें भी

* यहाँ 'भगवान्' शब्द परम ऐश्वर्यशाली परमेश्वरका बोधक है।

कोई कर्तव्य नहीं हुआ करता।

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।
न चास्ति किञ्चित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥

(श्रीजाबालदर्शनोपनिषद् १।२३)

तथापि वे भगवच्चर्चामें लगे ही रहते हैं। उन्हें स्वयं भी इस बातका पता नहीं लगता कि हमारा चित्त उसमें क्यों आसक्त है। बहुत हुआ तो कह देंगे—'**इत्थम्भूतगुणो हरिः**' (श्रीमद्भा० १।७।१०)—भाई, भगवान् हैं ही ऐसे गुणवाले, किंतु युक्तियुक्त विचारसे तो यही सिद्ध होता है कि आत्मारामको किसी भी गुणसे आकर्षित नहीं होना चाहिये। यदि कहो कि वे इसलिये भजन-ध्यानमें लगे रहते होंगे, जिससे कोई ग्रन्थि न रह जाय तो ऐसा कहना भी उचित नहीं; क्योंकि वे निर्ग्रन्थ होते हैं—'**निर्ग्रन्था अपि।**' यद्यपि लोकमें ऐसा देखा जाता है कि बिना प्रयोजनके कोई भी प्रवृत्ति नहीं होती तथापि इनका कोई प्रयोजन भी नहीं होता। वस्तुतः भगवान्में यह गुण ही है। जिस प्रकार लोहेको आकर्षित करना अयस्कान्तमणिका स्वभाव है, उसी प्रकार भगवान् भी आत्मारामोंके चित्तोंको अपनी ओर खींच लिया करते हैं। अयस्कान्तमणि यद्यपि सभी प्रकारके लोहेको खींच लेती है तथापि जो लोहा जितना निर्दोष होता है, उतना शीघ्र आकृष्ट होता है। इसी प्रकार भगवान् भी तत्त्ववेत्ताओंके निर्मल चित्तोंको अधिक आकर्षित करते हैं। यह भगवान्के सौन्दर्य-माधुर्यका महत्त्वातिशय है।

इसी प्रकार यद्यपि भगवान् आप्तकाम हैं, पूर्ण हैं, निरतिशय हैं तथापि यह गोपांगनाओंका प्रेमातिशय ही था कि जिसने भगवान्को भी आकर्षित कर लिया, इससे भगवान्के माधुर्य एवं सौन्दर्यातिशयकी अपेक्षा भी व्रजांगनाओंके प्रेमातिशयकी उत्कृष्टता सिद्ध होती है। सनकादि और शुकादि भी आत्मरत थे और भगवान् भी आत्मरत हैं; परंतु भगवान्की आत्मरतिमें और उनकी आत्मरतिमें अन्तर है; क्योंकि समग्र ज्ञान, समग्र वैराग्य और समग्र ऐश्वर्य तो एकमात्र भगवान्में ही है और किसीमें नहीं है तथापि भगवान्ने तो अपने सौन्दर्यातिशयसे असमग्र ज्ञान-वैराग्यपूर्ण सनकादिको ही मोहित किया, परंतु गोपांगनाओंने अपने प्रेमातिशयसे समग्रज्ञान-वैराग्य-सम्पन्न भगवान्को भी मोहित कर लिया। इसीसे यहाँ '**अपि**' शब्दका प्रयोग किया गया है।

'**चक्रे**' में आत्मनेपद और '**अपि**' तथा '**भगवान्**' पदका स्वारस्य प्रदर्शित करनेके लिये ही '**ताः रात्रीः वीक्ष्य**' ऐसा कहा गया है। '**तत्**' पद प्रायः प्रसिद्ध अर्थका द्योतक हुआ करता है। यहाँ '**ताः**' ऐसा विशेषण देनेसे मालूम होता है कि वे रात्रियाँ कोई विलक्षण ही थीं। ये वे रात्रियाँ थीं, जिन्हें गोपांगनाओंने '**मयेमा रंस्यथ क्षपाः**' (श्रीमद्भा० १०।२२।२७)—इस वरदानसे प्राप्त किया था, जिन्हें उन्होंने व्रताचरणद्वारा कात्यायनीदेवीको प्रसन्न करके और फिर उनकी कृपासे श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रसन्नता प्राप्त करके उनसे वरदानरूपमें प्राप्त किया था। इस प्रकार भगवान् और कात्यायनीदेवी, इन दोनोंकी प्रसन्नतासे प्राप्त हुई वे रात्रियाँ अवश्य कुछ विलक्षण ही होनी चाहिये थीं।

जैसे श्रीकृष्ण-सम्मिलनके लिये व्रजांगनाओंको श्रीकात्यायनीका अर्चन करना पड़ा था, वैसे ही श्रीकृष्णको भी अपनी प्रेयसियोंके मिलनेके लिये महारुद्ररूपा वंशीका आराधन युक्त ही था। श्रीकृष्ण, उस रुद्ररूपा वंशीको अपने अमृतमय मुखचन्द्रमें अधर-पल्लवपर लिटा, अधरसुधाका भोग लगाकर सुकोमल अंगुलिदलोंसे उसका पादसंवाहन करते हैं। सुन्दर मुकुटका छत्र और कुण्डलोंकी आभासे उसकी आरती करके श्रीकृष्ण रुद्ररूपा वंशीका सांगोपांग आराधन करते हैं।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि भगवान्की यह लीला कामवश नहीं थी; क्योंकि यदि भगवान् कामुक होते तो इतने दिन पीछेकी रात्रियोंका निर्देश क्यों करते? कामुकोंका तो एक क्षण युगके समान बीता करता है, वे तो दैवकृत कालव्यवधानको भी सहन करनेमें असमर्थ होते हैं, फिर स्वयं अपनी इच्छासे ही एक वर्षकी अवधि बढ़ाना तो उनके लिये सम्भव ही

होता। इसके सिवा 'भगवान्' का एक दूसरा लक्षण भी है—

उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥

(श्रीविष्णुपुराण ६।५।७८)

अर्थात् जो समस्त प्राणियोंके उत्पत्ति, नाश, आना, जाना तथा ज्ञान और अज्ञानको जानता है, उसे 'भगवान्' कहना चाहिये।

अत: जीव और भगवान्में तो बड़ा अन्तर है। इसीसे ऐसा माना गया है कि जीव ब्रह्म तो हो जाता है; परंतु भगवान्* नहीं हो सकता; क्योंकि स्वरूपत: निर्विशेष ब्रह्मसे तो उसका अभेद है ही, किंतु निरतिशय ऐश्वर्य तो केवल ईश्वरमें ही है, यह उसमें नहीं हो सकता। संसारमें दो ईश्वर नहीं हो सकते। अत: भगवान्ने रमण करनेकी इच्छा क्यों की, यह प्रश्न तो खड़ा ही रहता है।

देखो, एक ही पदार्थके लिये पंकज, जलज, अरविन्द एवं कमल आदि कई शब्दोंका प्रयोग होता है। उसके ये नाम गुण-विशेषोंकी अपेक्षासे हैं। जैसे तापापनोदकरूपसे उसे 'जलज' कहेंगे तथा उद्भवस्थानसे वैलक्षण्य प्रदर्शित करना होगा तो पंकज कहेंगे। इसी प्रकार अन्य शब्दोंके प्रयोगके विषयमें समझो। यही बात भ्रमर, मधुप, मधुकर, अलि एवं षट्पद आदि शब्दोंके विषयमें भी कही जा सकती है। ये भी यद्यपि एक ही व्यक्तिके वाचक हैं तथापि 'भ्रमर' शब्दसे उसकी अस्थिरताका द्योतन होता है और 'मधुप' शब्दसे मिष्टप्रियताका। इसी तरह यद्यपि भगवान् ब्रह्म एवं परमात्मा स्वरूपत: तो एक ही हैं; परंतु इन शब्दोंसे उसके विशेष-विशेष पक्षोंका द्योतन होता है। यहाँ 'भगवान्' शब्द अवश्य रमणके साथ विरोध-प्रदर्शनके लिये ही है।

'**भगवानपि रन्तुं मनश्चक्रे**'—भगवान्ने भी रमण करनेके लिये मन किया—यह बात उनके औत्सुक्यातिशयका द्योतन करती है अर्थात् भगवान्को रमण करनेकी ऐसी उत्सुकता हुई कि उन्होंने मन बना डाला; वस्तुत: तो वे '**अप्राणो ह्यमना शुभ्रः**' ही थे।

किंतु रमण तो बिना मनके हो ही नहीं सकता। भगवान्का रमण क्या था? यही न कि अपने सौन्दर्य-माधुर्यको गोपांगनाओंकी इन्द्रियोंसे उपभोग कराना और गोपांगनाओंके सौन्दर्य-माधुर्यातिशयको अपनी इन्द्रियोंसे भोगना, परंतु यदि भगवान् सजातीय, विजातीय एवं स्वगतभेदसे रहित हों तो यह भोग कैसे बन सकता है? उसका मुख्य साधन तो मन है। इसीसे गोपांगनाओंके सौन्दर्य-माधुर्यादि गुणोंका समास्वादन करनेके लिये भगवान्ने मन बनाया।

यदि कहो कि उन्होंने भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये ही मन बनाया था तो यह ठीक नहीं; क्योंकि यहाँ '**चक्रे**' इस क्रियामें आत्मनेपद है। आत्मनेपद वहीं हुआ करता है, जहाँ क्रियाका फल अपने लिये होता है। जहाँ क्रिया-फल दूसरेके लिये होता है, वहाँ परस्मैपद हुआ करता है। इसलिये यदि भगवान्का यह कर्म भक्तोंके लिये होता तो यहाँ '**चक्रे**' के स्थानमें '**चकार**' होता।

परंतु भगवान्को रमणकी उत्सुकता होना तो सर्वथा असम्भव है; क्योंकि 'भगवान्' तो कहते ही उसे हैं, जिसमें ऐश्वर्य, ज्ञान एवं वैराग्यादिकी निरतिशयता हो। इस प्रकार जिसमें नित्य और निरतिशय ऐश्वर्यादि हैं और जो अपने नित्यस्वरूपमें सर्वथा तृप्त है, उसे ऐसी रमणेच्छा होना तो अनुपपन्न ही है। इस अनुपपत्तिको सूचित करनेके लिये ही यहाँ '**अपि**' शब्द दिया है अर्थात् यद्यपि ऐसा करना था तो अयुक्त ही, परंतु ऐसा हो ही गया। इसका अनौचित्य हम भी स्वीकार करते हैं। यह गोपांगनाओंके सौभाग्यातिशयकी ही महिमा है।

यदि कहो कि इसका हेतु क्या है तो हमारा यही कथन है कि हेतु कुछ भी नहीं है। यह देखा ही जाता है कि आत्माराम मुनिजन भी भगवान्की माधुरीपर आकर्षित हो जाया करते हैं। वास्तवमें तो उन्हें भी

* यहाँ 'भगवान्' शब्द परम ऐश्वर्यशाली परमेश्वरका बोधक है।

कोई कर्तव्य नहीं हुआ करता।

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।
न चास्ति किञ्चित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥

(श्रीजाबालदर्शनोपनिषद् १। २३)

तथापि वे भगवच्चर्चामें लगे ही रहते हैं। उन्हें स्वयं भी इस बातका पता नहीं लगता कि हमारा चित्त उसमें क्यों आसक्त है। बहुत हुआ तो कह देंगे—'**इत्थम्भूतगुणो हरिः**' (श्रीमद्भा० १। ७। १०)—भाई, भगवान् हैं ही ऐसे गुणवाले, किंतु युक्तियुक्त विचारसे तो यही सिद्ध होता है कि आत्मारामको किसी भी गुणसे आकर्षित नहीं होना चाहिये। यदि कहो कि वे इसलिये भजन-ध्यानमें लगे रहते होंगे, जिससे कोई ग्रन्थि न रह जाय तो ऐसा कहना भी उचित नहीं; क्योंकि वे निर्ग्रन्थ होते हैं—'**निर्ग्रन्था अपि।**' यद्यपि लोकमें ऐसा देखा जाता है कि बिना प्रयोजनके कोई भी प्रवृत्ति नहीं होती तथापि इनका कोई प्रयोजन भी नहीं होता। वस्तुतः भगवान्‌में यह गुण ही है। जिस प्रकार लोहेको आकर्षित करना अयस्कान्तमणिका स्वभाव है, उसी प्रकार भगवान् भी आत्मारामोंके चित्तोंको अपनी ओर खींच लिया करते हैं। अयस्कान्तमणि यद्यपि सभी प्रकारके लोहेको खींच लेती है तथापि जो लोहा जितना निर्दोष होता है, उतना शीघ्र आकृष्ट होता है। इसी प्रकार भगवान् भी तत्त्ववेत्ताओंके निर्मल चित्तोंको अधिक आकर्षित करते हैं। यह भगवान्‌के सौन्दर्य-माधुर्यका महत्त्वातिशय है।

इसी प्रकार यद्यपि भगवान् आप्तकाम हैं, पूर्ण हैं, निरतिशय हैं तथापि यह गोपांगनाओंका प्रेमातिशय ही था कि जिसने भगवान्‌को भी आकर्षित कर लिया, इससे भगवान्‌के माधुर्य एवं सौन्दर्यातिशयकी अपेक्षा भी व्रजांगनाओंके प्रेमातिशयकी उत्कृष्टता सिद्ध होती है। सनकादि और शुकादि भी आत्मरत थे और भगवान् भी आत्मरत हैं; परंतु भगवान्‌की आत्मरतिमें और उनकी आत्मरतिमें अन्तर है; क्योंकि समग्र ज्ञान, समग्र वैराग्य और समग्र ऐश्वर्य तो एकमात्र भगवान्‌में ही है और किसीमें नहीं है तथापि भगवान्‌ने तो अपने सौन्दर्यातिशयसे असमग्र ज्ञान-वैराग्यपूर्ण सनकादिको ही मोहित किया, परंतु गोपांगनाओंने अपने प्रेमातिशयसे समग्रज्ञान-वैराग्य-सम्पन्न भगवान्‌को भी मोहित कर लिया। इसीसे यहाँ '**अपि**' शब्दका प्रयोग किया गया है।

'**चक्रे**' में आत्मनेपद और '**अपि**' तथा '**भगवान्**' पदका स्वारस्य प्रदर्शित करनेके लिये ही '**ताः रात्रीः वीक्ष्य**' ऐसा कहा गया है। '**तत्**' पद प्रायः प्रसिद्ध अर्थका द्योतक हुआ करता है। यहाँ '**ताः**' ऐसा विशेषण देनेसे मालूम होता है कि वे रात्रियाँ कोई विलक्षण ही थीं। ये वे रात्रियाँ थीं, जिन्हें गोपांगनाओंने '**मयेमा रंस्यथ क्षपाः**' (श्रीमद्भा० १०। २२। २७)—इस वरदानसे प्राप्त किया था, जिन्हें उन्होंने व्रताचरणद्वारा कात्यायनीदेवीको प्रसन्न करके और फिर उनकी कृपासे श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रसन्नता प्राप्त करके उनसे वरदानरूपमें प्राप्त किया था। इस प्रकार भगवान् और कात्यायनीदेवी, इन दोनोंकी प्रसन्नतासे प्राप्त हुई वे रात्रियाँ अवश्य कुछ विलक्षण ही होनी चाहिये थीं।

जैसे श्रीकृष्ण-सम्मिलनके लिये व्रजांगनाओंको श्रीकात्यायनीका अर्चन करना पड़ा था, वैसे ही श्रीकृष्णको भी अपनी प्रेयसियोंके मिलनेके लिये महारुद्ररूपा वंशीका आराधन युक्त ही था। श्रीकृष्ण, उस रुद्ररूपा वंशीको अपने अमृतमय मुखचन्द्रमें अधर-पल्लवपर लिटा, अधरसुधाका भोग लगाकर सुकोमल अंगुलिदलोंसे उसका पादसंवाहन करते हैं। सुन्दर मुकुटका छत्र और कुण्डलोंकी आभासे उसकी आरती करके श्रीकृष्ण रुद्ररूपा वंशीका सांगोपांग आराधन करते हैं।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि भगवान्‌की यह लीला कामवश नहीं थी; क्योंकि यदि भगवान् कामुक होते तो इतने दिन पीछेकी रात्रियोंका निर्देश क्यों करते? कामुकोंका तो एक क्षण युगके समान बीता करता है, वे तो दैवकृत कालव्यवधानको भी सहन करनेमें असमर्थ होते हैं, फिर स्वयं अपनी इच्छासे ही एक वर्षकी अवधि बढ़ाना तो उनके लिये सम्भव ही

कैसे होता?

किंतु भगवान्‌ने ऐसा किया क्यों? इसका उत्तर यही है कि उनका यह अवधिनिर्देश व्रजांगनाओंकी निष्ठाके परिपाकके लिये था। अभीतक तो उन्हें भगवान्‌की प्राप्ति ही बहुत दुर्लभ जान पड़ती थी; क्योंकि यदि वे भगवान्‌को सुलभ समझतीं तो कात्यायनी-पूजन और व्रतादि तपस्याका कष्ट सहन क्यों करतीं? तपस्या तो सर्वदा दुर्लभ वस्तुके लिये ही की जाती है और जो वस्तु दुर्लभ होती है, उसके प्रति विशेष प्रेम नहीं हुआ करता। देखो, साधारण मनुष्योंको मोक्ष और साम्राज्यादिकी प्राप्तिके लिये भी इतनी इच्छा नहीं होती, जितनी दस-बीस रुपये और स्त्री-रमणादि प्राकृत भोगोंकी हुआ करती है; क्योंकि वे तो उन्हें अपने सामर्थ्यसे बाहर जान पड़ती हैं। जिस वस्तुके मिलनेकी सम्भावना नहीं होती, उसके लिये उत्कट इच्छा भी नहीं हुआ करती। अत: जबतक उन्हें भगवान् दुर्लभ प्रतीत होते थे, तबतक उनके प्रति उनका उत्कट प्रेम नहीं था और भगवत्प्राप्तिका साधन एकमात्र उत्कट प्रेम ही है। अब, जब भगवान्‌ने प्रकट होकर उन्हें वरदान दिया तो उनको भगवद्दर्शनकी योग्यता तो प्राप्त हो गयी थी, परंतु रमणकी योग्यता नहीं थी। रमणकी योग्यता तो तभी होगी जब भगवान्‌को सुलभ समझकर उनके प्रति उत्कट प्रेम हो। अत: भगवान्‌ने उन्हें वही साधन दिया, जिससे कि वे उन्हें सुलभ समझने लगें। भगवान्‌के वर देनेसे उन्हें भगवान्‌की सुलभता अनुभव होने लगी और उन्हें विश्वास हो गया कि अब तो भगवान् अवश्य रमण करेंगे। जब किसी इष्ट वस्तुकी प्राप्तिकी सम्भावना हो जाती है तो उसकी प्रतीक्षा असह्य हो जाया करती है। अत: भगवान्‌के इस वरदानसे उनका प्रेम इतना उत्कट हो गया जितना कि अबतक कभी न हुआ था। इसीलिये भगवान्‌ने एक वर्षका व्यवधान रखा था।

इसका एक और भी कारण है। यह सिद्धान्त है कि प्राकृत गुणमय शरीरके साथ रमण करनेकी योग्यता नहीं रखता। इसके लिये अप्राकृत रसमय शरीर होना चाहिये, किंतु इसकी प्राप्ति कैसे होती है? उसका प्रकार यह है—जिस दिनसे प्राणी करुणासिन्धु श्रीभगवान्‌की कृपाका अनुसन्धान करता है, उसी दिनसे उसका अप्राकृत रसमय शरीर बनना आरम्भ हो जाता है। इसे स्पष्टतया समझनेके लिये एक बातपर ध्यान देना चाहिये। लोकमें यह देखा जाता है कि ग्राह्य-ग्राहक भावोंमें साजात्य रहा करता है। तैजस नेत्रसे तैजस रूपका ज्ञान होता है तथा आकाशीय श्रोत्रसे ही आकाशीय शब्दका ज्ञान होता है। मन पाँचों भूतोंके सात्त्विक अंशका कार्य है, इसीलिये उससे पाँचों भूतोंके गुणोंका ग्रहण हो सकता है। इसी प्रकार यहाँ भी देखना चाहिये। भगवान् प्राकृत हैं या अप्राकृत? वे तो सत्यज्ञानानन्तानन्दमूर्ति ही हैं।

सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः ।
अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम् ॥

(श्रीमद्भा० १०।१३।५४)

उनके महान् माहात्म्यको समझनेमें तो वेदान्तविद् भी असमर्थ हैं। उनमें प्राकृत भावका लेश भी नहीं है। दीपकलिका क्या है? वह शुद्ध अग्निमात्र ही तो है। जिस प्रकार बत्ती और तैलको निमित्त बनाकर अग्नि ही दाहकत्व-प्रकाशकत्व विशिष्टरूपमें परिणत हुआ करता है, उसी प्रकार परमान्तरंग अचिन्त्य-दिव्यातिदिव्य लीलाशक्तिको ही निमित्त बनाकर वह शुद्ध परमानन्दघन परब्रह्म ही भगवान् कृष्णरूपमें प्रकट होता है।

जिस समय भगवान् ऊखलमें बँध गये थे, उस समय ऐसा कहा गया है—'**बबन्ध प्राकृतं यथा**'॥ (श्रीमद्भा० १०।९।१४) यहाँ '**प्राकृतं यथा**' इस उक्तिका क्या तात्पर्य है? इसका यही रहस्य है कि भगवान् प्राकृत-भिन्न हैं। गीता (४।९)-में भगवान्‌ने कहा है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

इस प्रकार जब स्वयं भगवान् ही कह रहे हैं

कि जो पुरुष मेरे दिव्य जन्म-कर्मको जानता है, वह पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं होता; तो भगवान्‌की अप्राकृतताके विषयमें किसी सन्देहका अवकाश ही कहाँ है? वामनपुराणका वचन है—

सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य परात्मनः।
हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित्॥

इसी प्रकारकी और भी बहुत-सी उक्तियोंसे सिद्ध होता है कि भगवान्‌का दिव्य मंगल-विग्रह अप्राकृत ही है। जो लोग युक्तिवादसे उसे अनित्य या भौतिक सिद्ध करनेका प्रयत्न करते हैं, उन्हींसे श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं—'**ये तु भगवतो विग्रहं लक्ष्यीकृत्य युक्तिशरानादित्सवस्ते घोरे नरके निपतिष्यन्ति अलं तैः सहालापेन।**' अर्थात् जो लोग भगवान्‌की दिव्य मंगलमयी मूर्तिको लक्ष्य करके युक्तिरूप बाणोंको ग्रहण करना चाहते हैं, वे घोर नरकमें गिरेंगे, उनके साथ बात करनेकी भी आवश्यकता नहीं है।

ऐसा क्यों है? जिस प्रकार '**परदारान्नाभिगच्छेत्**' इत्यादि निषेध वाक्योंका अतिलंघन करनेसे जीव नरकगामी होता है, उसी प्रकार भगवदीय रहस्यके विषयमें कुछ भी वाद-विवाद करनेवाले पुरुषको अवश्य उसका दुष्परिणाम भोगना पड़ता है; क्योंकि भगवान्‌की गति अचिन्त्य है और अचिन्त्य विषयोंके सम्बन्धमें तर्क करना सर्वथा निन्दनीय है—'**अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।**' अतः भगवद्विग्रहके अप्राकृतत्वके विषयमें किसी प्रकारकी शंका नहीं करनी चाहिये। उसमें उसका अनित्यत्व सिद्ध करनेवाले सावयवत्वादि हेतुओंका अभाव है; क्योंकि वह प्राकृतत्व आदि दोषोंसे रहित है।

इस क्रमसे देखें तो भगवान् अप्राकृत होनेके कारण नित्य हैं। यदि कहो कि भगवद्विग्रहको अप्राकृत और नित्य माननेपर तो अद्वैतवाद भी सिद्ध न हो सकेगा तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि प्रकृतिकी सत्ता वेदान्तसिद्धान्तके अनुसार नहीं, बल्कि सांख्यमतसम्मत है। वेदान्तियोंने तो '**ईक्षतेर्नाशब्दम्**' इत्यादि सूत्रोंसे उसका खण्डन किया है।

यहाँ सांख्यवादी यह आपत्ति करता है कि '**सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानम्**' इस उक्तिके अनुसार जब कि चेतनको सत्त्वगुणके संसर्गसे ही ज्ञान होता है तो सत्त्वगुणवाली प्रकृतिको भी ज्ञान हो ही सकता है; अतः '**ईक्षतेर्नाशब्दम्**' इस सूत्रके अनुसार भी वही जगत्‌का उपादान कारण होना चाहिये। यदि कहो कि सत्त्वकी अपेक्षासे रहित चेतनमें ही ज्ञान (ईक्षण) होता है तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि यह प्रश्न होता है कि चेतनमें नित्य ज्ञान है या अनित्य? यदि नित्य कहें, तब तो पुरुषकी स्वतन्त्रताका व्याघात होगा। कारण, नित्यवस्तुका कर्ताके अधीन होना असम्भव है और तुम्हारे कथनानुसार ज्ञान चेतन कर्ताके अधीन होना चाहिये; इसके विपरीत यदि उसमें अनित्य ज्ञान माना जाय तो वह सहेतुक ही होना चाहिये। ऐसी अवस्थामें हेतुके सम्बन्धमें भी ऐसा विकल्प होगा कि वह नित्य है या अनित्य। यदि हेतु नित्य है तो उससे नित्य ज्ञान होना चाहिये और यदि अनित्य है तो उसका भी कोई अन्य हेतु होना चाहिये, इससे अनवस्था दोष उपस्थित होगा।

इन सब आपत्तियोंका वेदान्ती इस प्रकार उत्तर देते हैं—प्रकृतिमें ज्ञान (ईक्षण) नहीं हो सकता; क्योंकि उसमें जिस प्रकार ज्ञानका हेतु सत्त्वगुण है, उसी प्रकार उसका निरोध करनेवाला तमोगुण भी है। अतः केवल चेतनमें ही ईक्षण हो सकता है; क्योंकि वह ज्ञानस्वरूप है। इस प्रकार यद्यपि उसमें नित्यज्ञान ही सिद्ध होता है तथापि आगन्तुक विषयके संसर्गसे उसका आगन्तुक होना भी सम्भव है ही। जैसे नित्य प्रकाशस्वरूप सूर्यमें आगन्तुक प्रकाश्यके संसर्गसे सूर्य प्रकाशित करता है, इस प्रकार आगन्तुक प्रकाशनका व्यपदेश होता है। यहाँ जो प्रकाश्य है, वह अनादि और अनिर्वाच्य तत्त्व है। सांख्यवादीकी गुणमयी प्रकृति भी उसीके अन्तर्गत है, परंतु भगवच्छक्ति परम दिव्य और शुद्ध है तथा मूलप्रकृति त्रिगुणमयी एवं जड़ है। देखो, एक वृक्षके बीजमें कितनी शक्तियाँ रहती हैं।

उसमें अति कठोर कण्टकजननकी भी शक्ति है और अत्यन्त मनोज्ञ सौन्दर्य-माधुर्यमय पुष्प उत्पन्न करनेकी भी। इन दोनों प्रकारकी शक्तियोंमें कोई विलक्षणता है या नहीं? जिस प्रकार इन दोनों शक्तियोंमें महान् अन्तर है, उसी प्रकार सुख-दुःख-मोहात्मक जगत्की उत्पत्ति करनेवाली गुणमयी शक्ति और अति अलौकिक दिव्य मंगलविग्रहको व्यक्त करनेवाली लीलाशक्तिमें भी बहुत बड़ा अन्तर है। यदि उनमें अन्तर नहीं था तो जिन सनकादिको प्रपंचकी कारणभूता कोई भी शक्ति मोहित नहीं कर सकती थी, उन्हें भगवान्के चरण-कमलोंसे लगी हुई तुलसीकी दिव्य गन्धने क्यों मोहित कर दिया? अतः सिद्ध यह हुआ कि दिव्य भगवद्विग्रहको प्रकट करनेवाली लीलाशक्ति परा है और जगदुत्पादिनी गुणमयी शक्ति अपरा है।

इससे अद्वैतवादमें भी कोई भेद नहीं आता। जिस प्रकार जलमें तरंगें रहती हैं और उनका जलसे अभेद रहता है, उसी प्रकार ब्रह्ममें भी पराशक्ति अभिन्नरूपसे रहती है। यह बात शुद्धाद्वैतियोंको भी अभिमत है। जब उनसे पूछते हैं कि भला, शुद्ध ब्रह्मसे जगत्की उत्पत्ति कैसे हुई तो वे कहते हैं कि भगवान्में एक अघटितघटनापटीयान् आत्मयोग है, उसीसे प्रपंचकी उत्पत्ति होती है। इस बातको सिद्ध करनेके लिये वे श्रीयशोदाजीके इस वाक्यका प्रमाण देते हैं। जिस समय माताको यह दिखानेके लिये कि मैंने मिट्टी नहीं खायी, भगवान्ने अपना मुँह खोलकर दिखलाया तो उसमें नन्दरानीको सारा ब्रह्माण्ड दिखायी दिया। यह देखकर वे बड़ी आश्चर्यचकित हुईं और सोचने लगीं कि यह क्या भेद है। क्या मुझे ही कोई भ्रम हो गया है, अथवा कोई राक्षसोंका उपद्रव है? ऐसी कोई बात तो है नहीं; अतः मालूम होता है कि यह मेरे इस बालकका ही कोई विलक्षण आत्मयोग है। उस जगह उन्होंने कहा है—

'अथो अमुष्यैव ममार्भकस्य
यः कश्चनौत्पत्तिक आत्मयोगः॥'

(श्रीमद्भा० १०।८।४०)

यहाँ जो '**यः कश्चन**' पद है, वह उस आत्मयोगकी अनिर्वचनीयता द्योतित करनेके लिये है।

ठीक यही बात अद्वैतवादी भी मानते हैं। यहाँ '**यः कश्चन**' कहनेका क्या तात्पर्य है? हम पूछते हैं कि यह आत्मयोग भगवान्से भिन्न है या अभिन्न? यदि भिन्न है, तब तो अद्वैत न रहा और यदि अभिन्न है तो भगवान्की तरह यह कूटस्थ होगा और कूटस्थ होनेपर प्रपंचोत्पादनमें समर्थ नहीं होगा। इसलिये इसे न भिन्न कह सकते हैं और न अभिन्न ही। अतः वह भगवान्से अव्यतिरिक्त होनेपर भी भगवान्के दिव्यातिदिव्य विग्रहके प्रादुर्भावका कारण है। इसलिये इस विषयमें कोई विशेष मतभेद नहीं है।

इससे सिद्ध हुआ कि भगवान्ने जो उसी समय रमण करनेकी अनुमति न देकर एक वर्षका व्यवधान किया, उसका यही तात्पर्य था कि वे एक साल मेरी प्रतीक्षामें रहकर रसमय विग्रह प्राप्त करें। भगवान्के सौन्दर्य-माधुर्यादि अप्राकृत हैं; अतः प्राकृत इन्द्रियाँ उन्हें ग्रहण नहीं कर सकतीं। उन्हें ग्रहण करनेके लिये तो अप्राकृत देह और इन्द्रियोंकी आवश्यकता है।

किंतु उस अप्राकृत रसमय शरीरकी क्रमशः अभिवृद्धि होती है। प्राणी जितनी ही मात्रामें भगवदनु-सन्धानमें तत्पर होता है, उतनी ही उसके रसमय शरीरकी पुष्टि होती जाती है और प्राकृत शरीरका क्षय होता जाता है। जिस समय वह पूर्णतया भगवन्निष्ठ हो जाता है, उस समय उसे पूर्णतः रसमय शरीरकी प्राप्ति हो जाती है और भौतिक शरीर नष्ट हो जाता है। कात्यायनी-पूजनसे गोपांगनाओंके रसमय शरीरका आरम्भ तो हुआ, किंतु उसकी ठीक पूर्णता नहीं हुई थी। इसीलिये भगवान्ने ऐसा नियम किया। जिस समय इष्ट वस्तु सुलभ मालूम होने लगती है, उसी समय उसकी प्राप्तिकी उत्सुकता बढ़ती है। कात्यायनी-पूजनके समय गोपांगनाओंको भगवान् सुलभ नहीं जान पड़ते थे; इसीसे उनके प्रति उनका उत्कट प्रेम भी नहीं था।

यह नियम है कि पहले जिस वस्तुका संयोग

होता है, उसीके वियोगमें दु:ख हुआ करता है। बिना संयोगके तो प्रेम ही नहीं होता, फिर उसके अभावमें दु:ख ही क्या होगा? मनुष्यका जितना जिसके प्रति अधिक प्रेम होगा, उतना ही उसके वियोगमें दु:ख होगा—

यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान्मनसः प्रियान्।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः॥

(श्रीविष्णुपुराण १। १७। ६६)

अत: जब गोपांगनाओंको श्रीभगवान्‌के श्रीअंगसे संस्पृष्ट वस्त्रद्वारा भगवान्‌का संयोग हो गया तो उसीने वियोग होनेपर उनके हृदयमें विरहाग्नि प्रज्वलित कर दी। वे जब कभी भगवान्‌की झाँकी करती थीं तो उनके हृदयमें परमानन्दकी बाढ़ आ जाती थी और उनके आँखोंसे ओझल होते ही विरहानल धधक उठता था।

गोपीनां परमानन्द आसीद् गोविन्ददर्शने।
क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत्॥

(श्रीमद्भा० १०। १९। १६)

जिस प्रकार सुवर्णादिके शोधनके लिये अग्निसंयोगकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार गोपांगनाओंका रसमय शरीर भी तभी पुष्ट होगा, जब वह भगवद्विरहाग्निमें सन्तप्त हो लेगा। इसीसे जबसे भगवान्‌ने यह वर दिया कि **'मयेमा रंस्यथ क्षपाः'** (श्रीमद्भा० १०। २२। २७) तबसे उनके प्रति उनका जो प्रेमातिशय हुआ, उसके कारण उनकी वियोगाग्निसे उनका रसमय शरीर पुष्ट होने लगा तथा उनका जो प्राकृत शरीर था, वह उस वियोगकृत सन्तापसे दग्ध हो गया। इस प्रकार एक वर्षमें वे पूर्णतया परिपक्व हो गयीं।

किंतु सभी गोपांगनाएँ एक-सी अधिकारिणी नहीं थीं। उनमें जो भगवान्‌की आह्लादिनी शक्तिरूपा श्रीवृषभानुनन्दिनी और उनकी सहचरी ललिता-विशाखा आदि हैं, वे तो नित्य-सिद्धा हैं। वे तो भगवान्‌की नित्य सहचरी हैं। जिस प्रकार अमृतमय समुद्रमें माधुर्य होता है, उसी प्रकार भगवान्‌के साथ उनका अभेद ही है। यह बात श्रुतिरूपा मुनिचरी और देवकन्या आदि अन्य गोपांगनाओंके विषयमें समझनी चाहिये, जो कि साधनसिद्धा थीं। वे ही इस प्रकार भगवद्विप्रयोगरूप अग्निसे रसमय शरीरका सम्पादन करती थीं। नित्यसिद्धा तो केवल लोक-संग्रहके लिये ही ऐसा करती थीं। उन्हें स्वयं इसकी कोई अपेक्षा नहीं थी। उनमें भी कोई-कोई गोपांगनाएँ ऐसी थीं, जो सालभरमें सिद्धा नहीं हुईं; उन्हींके विषयमें ऐसा कहा गया है—

अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः॥
दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। ९-१०)

जिस समय भगवान्‌ने अपनी मधुमय वेणुका वादन किया, उस समय उस वेणुनादरूप उद्दीपन-विभावद्वारा जब रससिन्धु भगवान् कृष्ण उन व्रजांगनाओंके अन्त:करणोंमें प्रस्फुरित हुए तो उनका मनोमल सर्वथा नष्ट हो गया और उन्हें भगवान्‌के वियोगमें एक-एक पल असह्य हो गया, किंतु उस समय उनके पतियोंने उन्हें घरमें बन्द कर दिया था। इससे उनके हृदयमें जो सन्ताप हुआ, उसे देखकर संसारके सारे अशुभ काँप उठे; उन सबने मिलकर भी किसीको उतना कष्ट पहुँचानेमें अपनेको असमर्थ पाया। किंतु साथ ही उन्होंने जो ध्यानयोगद्वारा भगवान्‌का एक क्षणके लिये आश्लेष किया, उससे उनके हृदयमें जो परमानन्दका उद्रेक हुआ, उसे देखकर भी अनन्त ब्रह्माण्डान्तर्गत प्राणियोंके समस्त पुण्यार्जित सुख क्षीण हो गये। उन्होंने किसीको इतना सुख पहुँचानेमें अपनेको असमर्थ पाया। इस प्रकार जिन गोपांगनाओंके अप्राकृत रसमय शरीरकी पुष्टि अभी नहीं हुई थी, वह अब हो गयी। भगवान्‌के विप्रयोगजनित सन्तापसे उनका गुणमय शरीर दग्ध हो गया, इसीसे कहा है—**'जहुर्गुणमयं देहम्'**। (श्रीमद्भा० १०। २९। ११)

इससे सिद्ध हुआ कि गुणमय शरीरका त्याग किये बिना भगवदाश्लेष प्राप्त नहीं हो सकता। यही वेदान्तका भी सिद्धान्त है। वहाँ भी गुणमय शरीरमें अनासक्त होनेपर ही ब्रह्मसंस्पर्शकी प्राप्ति होती है और उसीसे परमानन्दका अनुभव होता है। श्रीमद्भगवद्गीता (५।२१)-का वचन है—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥

पुरुषका ब्रह्म-संस्पर्श प्राप्त करना क्या है? जिस समय श्रवण, मनन और निदिध्यासनके द्वारा जीव अन्नमयादि कोशोंसे मुक्त होकर स्वरूपस्थ होता है, उसी समय उसे ब्रह्मके साथ अपनी अभिन्नताका अनुभव होता है। इसीलिये महावाक्यके तात्पर्यार्थमें '**तत्**' और '**त्वम्**' पदका लक्ष्यार्थ लिया जाता है, वाच्यार्थ नहीं लिया जाता। यदि अवच्छेदवादकी दृष्टिसे देखें तो उपाधिपरिच्छिन्न चेतन ही जीव है और उपाधिनिर्मुक्त ब्रह्म है तथा उपाधिके रहते हुए उनकी एकताका अनुभव नहीं हो सकता। प्रतिबिम्बवादमें भी जलमें प्रतिबिम्बित आकाशके समान बुद्धिरूप उपाधिमें प्रतिबिम्बित चेतन ही जीव है। उसका महाकाशरूप ब्रह्मसे जलरूप उपाधिके कारण ही भेद है और उपाधिकी निवृत्ति होते ही दोनोंकी एकता हो जाती है। इस प्रकार उपाधिकृत परिच्छिन्नता आदि दोषोंका आरोप करनेसे ही एक अनन्त पूर्ण तत्त्व दोषवान्-सा प्रतीत होता है। इसीसे कहा है—

एकमपि सन्तमनेकमिव मन्यते।

अत: जबतक जीव गुणमय शरीरसे संसक्त है, तबतक वह ब्रह्म-संस्पर्शका अधिकारी कभी नहीं हो सकता। जिसने उपाधिका बाध करके त्वंपदार्थका शोधन कर लिया है, वही तत्पदार्थसे अपना अभेद अनुभव करनेमें समर्थ हो सकता है। इसी प्रकार यहाँ गोपांगनाओंको भी अपने प्राकृत शरीरका अपनोदनकर शुद्ध रसमय शरीर प्राप्त करनेके लिये भगवान्ने एक वर्षका व्यवधान रखा।

उस समय भगवान्ने जो कहा था कि '**मयेमा रंस्यथ क्षपा:**' (श्रीमद्भा० १०।२२।२७) अर्थात् तुम इन्हीं रात्रियोंमें मेरे साथ रमण करोगी—इसमें भी एक संदेह होता है। वह यह कि चीरहरण-लीला तो दिनके समय हुई थी और '**इमा:**' (इन) शब्द प्रस्तुत अर्थका द्योतक है; फिर भगवान्ने '**इमा: क्षपा:**' इन रात्रियोंमें ऐसा निर्देश कैसे किया? यदि कहो कि वे रात्रियाँ भगवान्की बुद्धिमें स्थित थीं, इसलिये यह उक्ति अयुक्त नहीं है तो ठीक है, परंतु गोपियोंको तो इनका प्रत्यक्ष नहीं था। इससे मालूम होता है कि गोपियोंको वर देनेकी इच्छा करनेपर भगवान्की सत्यसंकल्पता शक्तिसे प्रेरित योगमायाने इन रात्रियोंको भगवान्के सामने उपस्थित कर दिया था। जैसे यदि कोई सम्राट् किसीको कोई वस्तु देना चाहता है तो उसका भाव समझनेवाले सेवकगण उस वस्तुको लाकर सामने उपस्थित कर देते हैं।

इसके सिवा एक शंका यह भी होती है कि रासलीला तो केवल एक रात्रिमें ही हुई थी, फिर यह तथा चीरहरण-लीलाके अनन्तर वर-प्रदान करते समय भी बहुवचन '**इमा:**'-का प्रयोग क्यों किया गया?

उत्तर—भगवान् अनन्त-गुणमय हैं, उनके अचिन्त्य और अनन्त गुणोंका आस्वादन अल्प कालमें नहीं हो सकता। व्रजांगनाओंने भी किसी क्षुद्र फलके लिये कात्यायनी-पूजन आदि कठोर तपस्याका अनुष्ठान नहीं किया था। अत: यदि उन्हें थोड़े समयके लिये ही भगवत्सुखास्वादनका अवसर प्राप्त होता तो यह उनकी तपस्याका पूरा फल हुआ न समझा जाता। भगवान्के स्वरूप-रसास्वादनके विषयमें ही श्रीवृषभानुनन्दिनीका कथन था कि अरी सखियो! भगवान्के समग्र सौन्दर्य-माधुर्य-रसास्वादनकी बात तो दूर है, यदि हमें उसके एक कणका भी आस्वादन करना हो तो हमारे प्रत्येक रोममें कोटि-कोटि नेत्र होनेपर भी हम उसका सम्यक् आस्वादन करनेमें असमर्थ हैं। जिस समय ये नेत्र भगवान्के एक अंगके

दर्शनमें लग जायँगे, उस समय इनका सामर्थ्य नहीं कि वहाँसे आगे बढ़ सकें।

इस विषयमें ऐसी ही बात अन्यत्र कही गयी है। जिस समय भगवान् रामचन्द्रका विवाहोत्सव हुआ, उस समय उस अपूर्व शोभाको निहारनेके लिये ब्रह्मा, शिव, षडानन एवं इन्द्रादि सभी देवगण वहाँ उपस्थित हो गये। भगवान्का वरवेश देखकर वे अपनेको अत्यन्त बड़भागी मानने लगे। उस रूप-माधुरीका पान करनेके लिये उन्हें अपने नेत्र पर्याप्त न जान पड़े; उस समय जिसके जितने अधिक नेत्र थे, उसने अपनेको उतना ही अधिक भाग्यशाली समझा। ब्रह्मादि सभी देवताओंकी अपेक्षा अधिक नेत्र होनेके कारण देवराज इन्द्रको सबसे अधिक आनन्द हुआ और उन्होंने गौतमऋषिके शापको, जिसके कारण उन्हें सहस्र भग प्राप्त हुए थे और जो बादमें मुनिके प्रसन्न होनेपर सहस्र नेत्र हो गये थे, अपने लिये परम हितकर माना। उनकी मनोवृत्तिको व्यक्त करते हुए श्रीगोसाईंजी महाराजने कहा है—

रामहि चितव सुरेस सुजाना। गौतम श्रापु परम हित माना॥

(रा०च०मा० १।३१७।६)

यह बात तो इन्द्रादि देवताओंकी है, परंतु गोपांगनाएँ तो प्रेममार्गकी आचार्या हैं, उनमें भी श्रीराधिकाजी तो साक्षात् भगवान्की आह्लादिनीशक्ति हैं, उनके प्रेमकी तुलना देवताओंके साथ क्या की जा सकती है? इसीसे इन्द्रादि तो भगवान्की रूपमाधुरीका अधिक-से-अधिक सहस्र नेत्रोंसे ही पान करके तृप्त हो गये, किंतु श्रीवृषभानुनन्दिनी तो कहती हैं कि हमारे प्रत्येक रोमकूपमें कोटि-कोटि नेत्र हों, तब भी हम श्रीश्यामसुन्दरके सौन्दर्यके एक कणका भी यथेष्ट रसास्वादन नहीं कर सकतीं। भला, प्रेममें कभी तृप्ति होती है?

यह नियम है कि वस्तु चाहे एक ही हो; किंतु उसका जो जितना अधिक रसज्ञ होगा, उसे वह उतनी ही अधिक सरस प्रतीत होगी। अरसिकोंको रसमय पदार्थ भी उतना सरस प्रतीत नहीं होता। देखो, ब्रह्म सर्वत्र ही है तथापि उसके परमानन्दकी सबको समान अनुभूति नहीं होती। उसकी स्फुट प्रतीति तो भावुक भक्तगण तथा आत्माराम मुनिजनको ही होती है।

एक चित्रकारने एक चित्र तैयार किया और उसे वह किसी राजाके यहाँ ले गया, परंतु राजाने उसका कोई विशेष रहस्य नहीं समझा; केवल उदासीन भावसे उसका १०,००० रुपये मूल्य देनेको कहा, किंतु चित्रकारने इस मूल्यमें चित्र देना स्वीकार न किया। जिस समय वह उसे लौटाकर ले जा रहा था, बीचमें उसे एक राजसेवक मिला। उसने आग्रहपूर्वक वह चित्र दिखानेको कहा। जब चित्रकारने उसे खोलकर दिखलाया तो वह राजसेवक उसका हस्तकौशल देखकर दंग रह गया, किंतु उसके पास उस चित्रको मोल लेनेयोग्य द्रव्य नहीं था। उस समय वह केवल एक धोती बाँधे हुए था। उसने उसमेंसे लँगोटीभर फाड़कर वह धोती उस चित्रकारको दे दी। चित्रकारने भी उस धोतीके बदलेमें ही वह चित्र उसे दे दिया।

धीरे-धीरे यह समाचार राजाके कानोंतक पहुँचा। राजाने उसे बुलाकर पूछा कि तुमने जो चित्र हमें १०,००० रुपयेमें भी नहीं दिया, वही हमारे एक साधारण सेवकको केवल उसकी धोती लेकर ही कैसे दे दिया? तब चित्रकारने कहा—राजन्! आपने उसका महत्त्व नहीं समझा था; इसलिये आप जो कुछ देते थे, वह भी इसका पर्याप्त मूल्य नहीं था; किंतु आपके सेवकने उसका महत्त्व जाना और जो कुछ अधिक-से-अधिक वह दे सकता था, वही दे भी दिया। इसलिये मैंने आपके १०,००० रुपयेकी अपेक्षा भी उसकी धोतीका अधिक मूल्य समझा था।

एक दिन हमने भी एक चित्र देखा था। उसमें बिलकुल एक ही रूपकी दो स्त्रियाँ बनायी गयी थीं। उन दोनोंके आकार-प्रकार एवं वेश-भूषामें कोई भी अन्तर नहीं था। दोनों ही आमने-सामने शोकमुद्रामें बैठी थीं। उस चित्रको देखकर समझमें नहीं आता था कि इसका क्या रहस्य है। बहुत विचार करनेपर मालूम हुआ कि इसका प्रसंग इस प्रकार है—एक

दिन श्रीवृषभानुनन्दिनी अपने मणिमय प्रांगणमें बैठी थीं; उस समय उन्हें अपना ही प्रतिबिम्ब दिखायी दिया। उसे कोई अन्य नायिका समझकर उन्हें बड़ा खेद हुआ और उसका रूप-लावण्य देखकर वे सोचने लगीं कि यदि श्रीश्यामसुन्दरने इस नायिकाको देख लिया तो वे हमसे क्यों प्रीति करेंगे। वस्तुत: यह बात जो कही जाती है, ठीक ही है कि श्रीभगवान् और वृषभानुदुलारी परस्पर एक-दूसरेके सौन्दर्यातिशयका तो समास्वादन कर सकते हैं, परंतु वे अपने-अपने सौन्दर्यका भोग करनेमें असमर्थ हैं। '**विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः**' (श्रीमद्भा० ३। २। १२) उनका सौन्दर्य स्वयं उन्हींको विस्मयमें डाल देनेवाला है। यही भाव उस चित्रमें व्यक्त किया गया था, किंतु जिस प्रकार इस रहस्यको समझनेसे पूर्व हमें वह चित्र विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं जान पड़ता था, उसी प्रकार उस राजाको भी उस चित्रकारके लाये हुए चित्रमें कोई विशेषता नहीं जान पड़ी।

तात्पर्य यह है कि वस्तु तो एक ही होती है; किंतु जो रसज्ञ हैं, उन्हें उसकी विशेष रसानुभूति होती है; अरसिकोंको तो आपातदृष्टिसे उसका कोई विशेष महत्त्व दिखायी नहीं देता। इसी प्रकार गोपांगनाएँ भगवान्के सौन्दर्य-माधुर्यातिशयकी सबसे बड़ी रसज्ञा थीं; इसलिये उससे दीर्घकालमें भी उनकी तृप्ति नहीं हो सकती थी। वे कात्यायनी-पूजन और विविधविध व्रताचरणरूप तपस्या करके योगारूढ़ हुई थीं। उससे यदि उन्हें एक रात्रिके लिये ही भगवत्सान्निध्यकी प्राप्ति होती तो वह उन्हें किसी प्रकार सन्तुष्ट न कर सकता। उन्हें जो महान् फल प्राप्त होनेवाला था, वह तो पूर्ण ब्रह्मसंस्पर्श था और ब्रह्मसंस्पर्श ही पूर्ण योगारोहण है, किंतु यदि यह अल्पकालके लिये होता तो उससे कैसे तृप्ति हो सकती थी? अत: उन्हें उनकी तपस्याका पूर्ण फल प्रदान करनेके लिये भगवान्की योगमायाने एक ही रात्रिमें अनन्तकोटि ब्राह्म रात्रियोंका समावेश किया था। इसीसे '**इमाः क्षपाः**' और '**ता रात्रीः**' इन बहुवचनोंका प्रयोग किया गया है। वेदान्तका यह सिद्धान्त है कि अल्पकालमें अनन्त कालका और अल्प देशमें अनन्त देशका समावेश किया जा सकता है। स्वप्नमें हम देखते ही हैं कि एक क्षणमें ही वर्षोंके प्रसंगका अनुभव हो जाता है। योगवासिष्ठमें पाषाणोपाख्यानमें एक शिलाके भीतर ही ब्रह्माण्डका प्रदर्शन कराया गया है तथा राजा लवणके उपाख्यानमें भी दो-ढाई घड़ीके भीतर ही वर्षोंके प्रसंगका अनुभव कराया गया है। इसी प्रकार यहाँ भी प्रहरचतुष्टयवती एक ही रात्रिमें अनन्तकोटि ब्राह्म रात्रियोंका समावेश किया गया है, जिससे उनकी चिरकालीन भगवत्सम्भोग-लालसाकी पूर्णतया पूर्ति हो।

भगवान्के आलिंगनका कितना महत्त्व है? इसका वर्णन हम कहाँतक कर सकते हैं। हनुमान्‌जीकी अद्भुत सेवाओंसे सन्तुष्ट होकर भगवान्ने कहा था—

एकैकस्योपकारस्य प्राणान् दास्यामि ते कपे।
शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्॥

(वा०रा० ७। ४०। २३)

अर्थात् हे कपे! मैं तुम्हारे एक-एक उपकारके बदले अपने प्राणोंका समर्पण कर सकता हूँ; फिर भी वे बचे ही रहेंगे और उनके लिये हमें ऋणी रहना पड़ेगा। उन्हीं हनुमान्‌जीको उन्होंने अपना अद्भुत आश्लेष प्रदान करते हुए कहा था—

एष सर्वस्वभूतस्तु परिष्वङ्गो हनूमतः।
मया कालमिमं प्राप्य दत्तस्तस्य महात्मनः॥

(वा०रा० ६। १। १३)

भक्तोंका सर्वस्वभूत यह भगवदाश्लेष वस्तुत: अत्यन्त दुर्लभ है। यह तो ब्रह्मा एवं सनकादिको भी प्राप्त होना कठिन है। इसीको ब्रह्मसंस्पर्श भी कहते हैं।

किंतु यदि यह ब्रह्मसंस्पर्श बाह्यस्पर्शोंके समान क्षणिक ही हुआ तो इसमें विशेषता ही क्या हुई! भगवत्सम्मिलन कभी अस्थायी नहीं हुआ करता; भगवान्की प्राप्ति हो जानेपर तो फिर पुनरावृत्ति ही नहीं होती '**मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥**'

(गीता ८। १६) इसी दृष्टिसे भगवान्‌ने एक रात्रिमें ही अनन्त ब्राह्म रात्रियोंका समावेश करके उन्हें अगणित रात्रियोंका अनुभव कराया।

'रात्रीः' शब्दका अर्थ निशा तो है ही, किंतु इसके सिवा इसका दूसरा तात्पर्य भी हो सकता है। **'रा दाने'** इस कोशके अनुसार **'रा'** धातुका अर्थ **'देना'** है, उसमें **'तृन्'** प्रत्यय जोड़नेपर **'रात्री'** शब्द सिद्ध होता है, जिसका अर्थ **'देनेवाली'** है। अर्थात् गोपांगनाओंको अभीष्ट भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका सौन्दर्य-समास्वादन, उसे देनेवाली रात्रियाँ। **'रात्रीः'** शब्दके पहले जो **'ताः'** विशेषण है, वह उन रात्रियोंकी विलक्षणता द्योतित करता है। **'ताः रात्रीः'** अर्थात् जिनके चरणोंका आश्रय लेनेवाले योगीन्द्र-मुनीन्द्रोंको भी अपने अभीष्ट तत्त्वकी प्राप्ति होती है, उन्हीं गोपांगनाओंकी अभिलाषाओंको पूर्ण करनेवाली होनेके कारण वे रात्रियाँ विलक्षण थीं।

ये दानशीला रात्रियाँ इसलिये अत्यन्त विलक्षण हैं; क्योंकि **पात्र** और **देय** के महत्त्वसे दानका महत्त्व होता है। श्रीव्रजांगना-जैसे सर्ववन्द्य पात्रोंके लिये निखिल रसामृतमूर्ति श्रीकृष्णतत्त्वको प्रदान करनेवाली हैं और श्रीकृष्ण-जैसे परमपावन पात्रके लिये उन श्रीवृषभानु-नन्दिनीको प्रदान किया, जिनके लिये श्रीकृष्ण उत्सुक और लालायित थे। अन्न, वस्त्र, रत्न, भूमि आदि समस्त दानोंसे ब्रह्मदान सर्वोत्कृष्ट है, समस्त पात्रोंमें ब्रह्मवित् ही सर्वश्रेष्ठ पात्र है। इसके सिवा जो अधिकारी भी हो और जिसके लिये लालायित हो, उसके लिये उस वस्तुका दान बहुत प्रशस्त होता है। यहाँ व्रजांगना सर्वोत्कृष्ट पात्र हैं और श्रीकृष्ण-रसके लिये उत्कण्ठित हैं। अतः उन्हें श्रीकृष्ण-जैसे दिव्य-रसका प्रदान करनेवाली वे रात्रियाँ धन्य हैं। उनसे भी उत्कृष्ट पात्र सर्वाराध्य श्रीकृष्ण हैं और वे श्रीरासेश्वरी-सम्मिलनके लिये लालायित भी हैं। अतः उनके लिये भी यह दान महत्त्वका है।

'ताः' का तात्पर्य **'तदात्मिकाः'** अर्थात् भगवद्रूपा भी हो सकता है; क्योंकि भगवान्‌का रमण और रमणसामग्री जो कुछ भी होगा, अप्राकृत ही होगा; प्राकृत पदार्थोंसे उनका रमण होना असम्भव है। जैसे वृन्दावन भगवद्रूप है, वैसे ही वहाँकी रात्रियाँ भी भगवद्रूपा हैं।

वे रात्रियाँ कैसी हैं? **'शरदोत्फुल्लमल्लिकाः'** (श्रीमद्भा० १०। २९। १)—**शरदायामपि उत्फुल्लानि मल्लिकोपलक्षितानि अशेषपुष्पाणि यासु ताः।**

अर्थात् शरत्कालमें मल्लिकासे उपलक्षित समस्त पुष्प खिले हुए हैं, वे रात्रियाँ। नियम तो ऐसा है कि कई तरहके पुष्प दिनमें खिलते हैं, कई रात्रिमें तथा कई ग्रीष्ममें खिलते हैं और कई शरद्-ऋतुमें। किंतु उस शरद्-ऋतुकी रात्रिमें सभी पुष्प अपने नियमोंको छोड़कर खिल गये थे। इसी प्रकार चित्रकूटपर भगवान् रामके निवास करते समय वहाँके फलोंने अपनी ऋतुओंका नियम छोड़ दिया था। श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

सब तरु फरे राम हित लागी। रितु अरु कुरितु काल गति त्यागी॥

(रा०च०मा० ६। ५। ५)

उसी प्रकार इस समय मानो सभी पुष्पोंने यही सोचा था कि हमारी शोभा और सुगन्धकी सार्थकता इसीमें है कि हम श्रीभगवान्‌की प्रसन्नता-सम्पादन करनेमें समर्थ हो सकें। जहाँ सारी प्रकृति अपनी प्रजाओंके साथ प्रभुकी सेवामें उपस्थित होना चाहती है, वहाँ ये पुष्पादि उद्दीपन विभाव भी प्रभुकी प्रसन्नता-सम्पादन करनेको उत्सुक हो रहे हैं। अतः मानो अपनी सार्थकताके लिये ही वे भावोद्दीपनमें सहायक हो रहे हैं।

ऐसी रात्रियोंको देखकर भगवान्‌ने रमण करनेको मन किया अर्थात् उचित काल और उद्दीपन-सामग्री देखकर ही भगवान्‌ने अपनी प्रियतमाओंके साथ रमण करनेके लिये उनका स्मरण किया। यहाँ **'वीक्ष्य'** शब्दसे साभिलाष दर्शन अभिप्रेत है; क्योंकि ये सब सामग्रियाँ भावोद्दीपन करनेवाली थीं। अतः इसका यह तात्पर्य भी हो सकता है—**'शरदोत्फुल्लमल्लिका रात्रीः ताश्च वीक्ष्य।'** अर्थात् शरदोत्फुल्लमल्लिका रात्रियोंको और उन्हींके द्वारा प्रियतमा गोपांगनाओंको

देखकर (उन्होंने रमण करनेको मन किया)।

'**ताः**' अर्थात् '**स्वस्वरूपभूता व्रजाङ्गनाः।**' इनके दो भेद हैं—एक तो वे जो नित्यसिद्धा हैं और दूसरी वे जो भृङ्गीकीट-न्यायसे भगवद्रूपा हो गयी थीं। जिस प्रकार कीट भृंगीसे व्यतिरिक्त होनेपर भी भावनातिशयके कारण भृंगीरूप हो जाता है, उसी प्रकार ये गोपांगनाएँ स्वरूपतः भगवान्से भिन्न होनेपर भी अनुरागातिशयके कारण भगवद्रूपा हो गयी थीं। वे कहाँ थीं? '**मनःसमुपस्थितः मनसो गोचरीभूताः**' अर्थात् वे भगवान्की मानसिक दृष्टिके सामने थीं! उन्हें दयार्द्र दृष्टिसे देखकर भगवान्ने रमणकी इच्छा की।

इसके सिवा '**ताः**' शब्द बहुवचनान्त होनेके कारण '**तत्**' पदसे निर्दिष्ट होनेयोग्य अनन्त पदार्थोंका वाचक हो सकता है। हम '**ताश्च ताश्च ताश्च ताः**' इस प्रकार '**ताः**' पदसे कही जानेवाली तीन प्रकारकी गोपांगनाओंका विचार करते हैं। इनमें पहले '**ताः**' से श्रुतिरूपा मुनिचरी और अन्य समस्त साधनसिद्धा गोपांगनाएँ कही गयी हैं।

उनमें भी जो श्रुतिरूपा गोपांगनाएँ वाच्य-वाचकके अभेद रूपसे ब्रह्मरूपा ही हैं, वे दूसरे '**ताः**' से ग्रहण की जाती हैं। **ॐकार** मूलवाचक है, उसका वाच्य परब्रह्म है। समस्त वाङ्मय ॐकारका विकार है और सारा प्रपंच ब्रह्मका कार्य है। अतः ॐकारका विकारभूत समस्त वाङ्मय ब्रह्मके कार्यभूत सम्पूर्ण प्रपंचका वाचक है। वाच्य और वाचकका अभेद हुआ करता है; इसलिये समस्त वाङ्मय भी वस्तुतः ब्रह्मरूप ही है।

इसके सिवा श्रुतियोंके अवान्तर तात्पर्य अन्य होनेपर भी उनका प्रधान तात्पर्य तो ब्रह्ममें ही है। शब्दसे दो बातोंका बोध हुआ करता है—जाति और व्यक्ति। त्वतलादि प्रत्ययवेद्य जाति भावरूप ही होती है। '**तस्य भावस्त्वतलौ**' इस पाणिनिसूत्रके अनुसार घटकी भावरूप जाति ही घटत्व है, वह वस्तुतः एक भाव-विशेषमें स्थित मृत्तिका ही है। इस प्रकार घटका वाचक 'घट' शब्द भी मूलतः उसके कारण मृत्तिकाका ही बोधन करता है। इसी प्रकार जितने शब्द हैं, वे सब अपने अभिधेय विभिन्न पदार्थोंके मूल कारण परब्रह्मके ही वाचक हैं। अतः अवान्तर श्रुतियोंका भी मुख्य तात्पर्य तो परब्रह्ममें ही है। विचार किया जाय तो वस्तुतः वाच्य-वाचकका भेद भी नहीं है। ये दोनों भी एक ही चेतनके विवर्त्त हैं। अभिधेय-प्रपंचजननानुकूल शक्त्यवच्छिन्न चेतनका विवर्त्त अभिधेय है और अभिधानात्मक-प्रपंचजननानुकूल शक्त्यवच्छिन्न चेतनका विवर्त्त अभिधान है। जिस प्रकार एक ही समुद्रमें अनन्त तरंगें प्रादुर्भूत हो जाती हैं, उसी प्रकार एक ही परब्रह्ममें अभिधान-अभिधेयरूप अनन्त तरंगें प्रादुर्भूत हो गयी हैं। किंतु '**तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वनियमात्**' इस न्यायके अनुसार तरंगाभिन्न समुद्रके साथ तरंगोंका अभेद होनेके कारण उनका आपसमें भी अभेद है।

यह बात तो तरंगसे तरंगान्तरके अभेदकी रही, किंतु मूल दृष्टिसे तो अभिधानात्मक तरंग जिस समुद्रमें है, लक्षणा-वृत्तिसे वह उस समुद्रका ही बोधन करती है; हाँ, तरंगान्तरको वह अभिधावृत्तिसे बोधित करती है; क्योंकि किसीकी भी शक्ति अपने शक्यमें ही सफल हुआ करती है, अपने कारणमें नहीं होती। दाहकत्व, प्रकाशकत्व आदि शक्तियोंवाला अग्नि अपने दाह्य काष्ठादिको ही दग्ध कर सकता है, अपने स्वरूपभूत अग्निका दहन नहीं कर सकता। किंतु मूल रूपसे तो तरंगें समुद्रसे भिन्न नहीं हैं। यद्यपि यह दूसरी बात है कि '**अकारो वै सर्वा वाक्**' इस श्रुतिके अनुसार सम्पूर्ण वाङ्मय-प्रपंचका अकारमें और अकारका उकारमें और उकारका मकारमें तथा उसके पश्चात् सम्पूर्ण प्रपंचका तुरीयमें लय होता है।

तात्पर्य यही है कि अभिधानात्मिकता श्रुतियाँ अनन्त चैतन्यानन्दसुधासिन्धुकी तरंगोंके समान हैं और वे अभिधेयरूप उसकी अन्य तरंगोंके साथ वृद्धिको प्राप्त होकर प्रकाशित होती हैं; क्योंकि

अभिधेय अर्थ उनके शक्य हैं। श्रुतियाँ अपने उद्‌गमस्थलभूत परमतत्त्वका तो लक्षणसे ही बोध कराती हैं। यद्यपि किसी दृष्टिसे 'घट' शब्दका वाच्य घटाकारमें परिणत मृत्तिका भी हो सकता है तथापि लोकमें 'घट' पदका वाच्य घट व्यक्ति ही समझा जाता है। इसी प्रकार अभिधानात्मक ब्रह्मतरंगका वाच्य अभिधेयात्मक ब्रह्मतरंग हैं; परंतु है लक्षणसे।

फिर मीमांसकोंने तो जातिमें ही शक्ति मानी है; जाति घटत्वादिको कहते हैं, जिसे घटभाव भी कहा जा सकता है। घट कार्य है; कार्यका भाव कारणसे व्यतिरिक्त नहीं हुआ करता, समस्त कार्योंका भाव कारणमें ही पर्यवसित होता है। अत: समस्त शब्दोंकी वाच्यताका पर्यवसान कारणपरम्परा-क्रमसे सन्मात्रमें ही होता है। इसलिये सारे शब्दोंका वाच्य परमात्मा ही है। इस प्रकार वाच्य-वाचकका अभेद है और समस्त श्रुतियाँ तत्पदार्थसे अभिन्न ही हैं। अत: यहाँ **'ता:'** शब्दसे सभी श्रुतियाँ ग्रहण की जाती हैं।

श्रुतियाँ दो प्रकारकी हैं—अन्यपरा और अनन्यपरा। अनन्यपरा श्रुतियाँ वे हैं, जो साक्षात् रूपसे परब्रह्ममें पर्यवसित होती हैं—जैसे **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** (तैत्तिरीय० २।१) तथा अन्यपरा श्रुतियाँ वे हैं, जिनका साक्षात् तात्पर्य तो देवतादिमें है, किंतु परम्परासे उनका महातात्पर्य परब्रह्ममें ही होता है। जैसे **'इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा'** इत्यादि। उन्हें ही ऊढा और अनूढा अथवा अन्यपूर्विका और अनन्यपूर्विका भी कह सकते हैं। अर्थात् एक तो वे गोपियाँ, जो केवल कृष्णपरायण हैं और दूसरी वे जो श्रीकृष्णके अतिरिक्त अन्य पुरुषोंके साथ विवाही गयी हैं। इनके ये दो भेद भी प्रतीतिमात्रके लिये हैं, वास्तविक नहीं। वरुणादि देवताओंमें श्रुतियोंका तात्पर्य तभीतक जान पड़ता है, जबतक **'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति'** (कठ० १।२।१५)—इस वाक्यके अनुसार उनका महातात्पर्य एकमात्र परब्रह्ममें ही नहीं जान पड़ता। वास्तवमें तो जिस प्रकार तरंगें समुद्रसे भिन्न नहीं हैं और घटादि मृत्तिकासे भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार उपक्रम-उपसंहारादि षड्विध लिंगसे समस्त श्रुतियोंका तात्पर्य ब्रह्ममें ही है।

किंतु फिर भी लीलाविशेषके विकासार्थ वस्तुत: अनन्यपरा श्रुतियोंमें भी अन्यपरात्वकी प्रतीति होती है; अन्यथा यदि भगवान्‌को झगड़ा मचाकर आनन्द लेना न होता तो ऐसे अस्पष्ट शब्दोंमें अपने स्वरूपका वर्णन क्यों करते? सीधे-सीधे अपना तात्पर्य व्यक्त कर देते। इससे मालूम होता है कि यह सब भगवान्‌की लीला ही थी। इसीसे कोई उन्हें निर्गुण मानते हैं, कोई सगुण मानते हैं, कोई निर्गुण-सगुण उभयरूप मानते हैं और कोई नहीं भी मानते तथापि इन विविध मन्तव्योंमेंसे किसीसे भी भगवान् क्षुब्ध नहीं होते। इसीसे कहा है—

यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै
विवादसंवादभुवो भवन्ति।
कुर्वन्ति चैषां मुहुरात्ममोहं
तस्मै नमोऽनन्तगुणाय भूम्ने॥

(श्रीमद्भा० ६।४।३१)

अर्थात् जिन भगवान्‌की अनन्त शक्तियाँ समस्त वादियोंकी बुद्धियोंकी आश्रय होती हैं—क्योंकि सम्पूर्ण विरुद्ध भावोंके आस्पद भगवान् ही तो हैं—उन्हें भावुक लोग नमस्कार करते हैं। इस प्रकार भगवान् स्वरूपसे भी अनेक रूपोंमें आविर्भूत होते हैं और अनेक शब्दरूपसे भी प्रकट होते हैं।

यह सब भगवान्‌की लीला ही है। **'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्॥'** (ब्रह्मसूत्र २।१।३३) एकका अनेकत्व, निष्प्रपंचका प्रपंचरूपत्व उनका खेल ही है, परंतु यह खेल निरर्थक नहीं है। प्रत्येक लीला, करनेवालेके तो विनोदार्थ ही होती है; अत: यह भगवल्लीला भी भगवान्‌के तो विनोदार्थ ही है, परंतु अन्य जीवोंके लिये यह उनके कल्याणका साधन है। वे अनेकविध शब्दोंसे अपने ही विभिन्न रूपोंका बोध कराते हैं। सब जीवोंका एक-सा अधिकार नहीं है। कोई सकाम कर्मके अधिकारी हैं, कोई निष्काम कर्म करनेयोग्य हैं, किन्हींको भगवान्‌के सगुणरूपकी ही

उपासना करनी चाहिये, कोई निर्गुणोपासनामें प्रवृत्त हो सकते हैं और कोई अभेदचिन्तनके अधिकारी हैं। अपने-अपने अधिकारानुसार ये सब भगवान्का ही भजन करनेवाले हैं। सब लोगोंकी गति निष्प्रपंच ब्रह्ममें ही नहीं हो सकती। अत: भगवत्साक्षात्कारके लिये क्रमश: इन सभी सोपानोंका अतिक्रमण करना होता है। यद्यपि यह बात अपने अधीन ही है कि हम कर्म न करें, परंतु ऐसे कितने आदमी हैं, जो बिना कर्म किये रह सकते हों? यही बात मनके विषयमें भी है। यद्यपि सभी चाहते हैं कि मन निस्पन्द हो जाय और उसकी निस्पन्दता है भी अपने ही अधीन तथापि इसमें सफलता पानेवाले कितने लोग हैं? अत: सब जीवोंके यथायोग्य साधनकी व्यवस्था करनेके लिये ही भगवान् प्रपंचाकारमें परिणत हो जाते हैं। यही उनकी प्राप्तिका क्रम है। इस क्रमसे बढ़ते-बढ़ते जबतक जीव निष्प्रपंच ब्रह्ममें परिनिष्ठित नहीं होता, तबतक उसे कृतार्थता नहीं हो सकती।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि भगवान्ने प्रपंचकी रचना की ही क्यों? इसपर हमें यही कहना है कि आरोप होनेपर ही उसके अधिष्ठानका अनुसन्धान किया जाता है। अधिष्ठान है, इसलिये आरोपकी कल्पना नहीं की जाती, जैसे कि कहा है—

'सत्यारोपे निमित्तानुसरणं न तु निमित्तमस्तीत्यारोपः।'

जिस प्रकार यदि मृत्तिका है तो यह नहीं कह सकते कि घट बनना ही चाहिये; हाँ, घड़ेको देखकर उसकी कारणभूता मृत्तिकाका अनुमान अवश्य किया जाता है। कार्य तो कारणका व्यभिचारी हो सकता है, किंतु कारण कार्यका व्यभिचारी नहीं होता। अत: हम प्रपंचरूप कार्यकी अपेक्षासे उसके कारणभूत परब्रह्मका निश्चय करते हैं; परब्रह्मके प्रपंच-निर्माणके प्रयोजनका अनुमान नहीं कर सकते। इसी प्रश्नके उत्तरमें यह विचार भी आ जाता है कि कार्यमें कारणके सर्वांशकी अनुवृत्ति नहीं हुआ करती। जिस प्रकार मालामें सर्पका अध्यास होनेपर जो **'अयं सर्पः'** ऐसा बोध होता है, उस समय उसमें मालाके आकार एवं इदमंशका तो अनुवेध होता है, किंतु बहुमूल्यत्वका अनुवेध नहीं होता। इसके सिवा इसका दूसरा न्याय यह भी हो सकता है—

विषयस्य तु रूपेण समारोप्यं न रूपवत्।
समारोप्यस्य रूपेण विषयो रूपवान् भवेत्॥

अर्थात् विषय (अधिष्ठान)-के रूपसे ही अध्यस्त पदार्थ रूपित होता है, किंतु उसके सभी गुणोंकी उसमें अनुवृत्ति नहीं होती। इसी प्रकार सम्पूर्ण प्रपंचका महाकारण जो परब्रह्म है, वह सच्चिदानन्द-स्वरूप है। उसके सत् और चिदंशकी तो समस्त पदार्थोंमें अनुवृत्ति होती देखी गयी है; परंतु आनन्दांशका सर्वत्र अनुवेध नहीं होता।

इस प्रकार क्योंकि लीलाविशेषके लिये भगवान् ही प्रपंचरूपसे स्थित हुए हैं, भिन्न श्रुतियाँ भी उन्हींके विभिन्न रूपोंका प्रतिपादन करती हैं। कई श्रुतियाँ भगवान्के निर्विशेषरूपका प्रतिपादन करनेवाली हैं— **'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्'** (कठ० १। ३। १५) और कई उनके सविशेषरूपका प्रतिपादन करती हैं, जैसे—

'अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ
दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः।'
(मुण्ड० २। १। ४)

—इत्यादि। और कोई अन्नमयरूपसे उन्हींका प्रतिपादन करती हैं—जैसे **'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्।'** (तैत्तिरीय० ३। २) इसी प्रकार और भी सब श्रुतियाँ भिन्न-भिन्न रूपसे एक ब्रह्मका ही प्रतिपादन करती हैं।

परंतु एक ही वस्तुमें—एक ही सत्तामें अनेक विकल्पोंका होना सम्भव नहीं है। क्रियामें तो विकल्प होना बहुत सम्भव है, जैसे हम घोड़ेपर चढ़कर जा भी सकते हैं और नहीं भी जा सकते; परंतु वस्तुमें ऐसा भेद नहीं हो सकता। अत: एक ही ब्रह्म सगुण भी है और निर्गुण भी, यह सत्ताभेदसे तो माना जा सकता है; परंतु एक सत्तामें ऐसा होना सम्भव नहीं है; जिस प्रकार एक ही मृत्तिका उपाधिभेदसे तो घट,

शराब और कूँडा आदि भेदवती प्रतीत होती है; परंतु निरुपाधिक रूपसे उसमें कोई भेद नहीं है। अतः श्रुतियोंका परम तात्पर्य भले ही एक ही वस्तुमें हो, किंतु उनका अवान्तर तात्पर्य तो अन्यमें ही हो सकता है। इन अवान्तर तात्पर्योंको लेकर ही सारे वाद-विवाद होते हैं, परंतु इससे भी कोई हानि नहीं है; क्योंकि उन विभिन्न अर्थोंका भी महातात्पर्य तो एकमात्र भगवान्‌में ही है। अतः जो लोग अत्यन्त अश्रद्धालु हैं, उनका ईश्वरखण्डन भी अच्छा ही है; क्योंकि उस अवस्थामें भी वे खण्डनात्मक रूपसे भगवान्‌का ही चिन्तन करेंगे। भगवान् तो ऐसे कृपालु हैं कि '**भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ।**' (रा०च०मा० १।२८।१) किसी प्रकार उनका चिन्तन किया जाय, वे कृपा ही करते हैं। इसीलिये शिशुपाल और कंसादिको भी अन्तमें भगवद्धामकी ही प्राप्ति हुई बतलायी गयी है। किंतु वेनकी अधोगति हुई, क्योंकि उसका भगवान्‌के प्रति वैर भी नहीं था। उसकी तो उपेक्षादृष्टि थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शास्त्रमें सभी प्रकारके अधिकारियोंके उद्धारका साधन विद्यमान है। यहाँतक कि श्रुतिमें नास्तिकवादका मूल भी मिलता है; यथा—

'**असदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत।**'

(छान्दोग्य० ६।२।१)

कहीं-कहीं '**असत्**' शब्दका अर्थ '**अव्यवहार्य**' भी है। जैसे—कहते हैं कि मिट्टीमें घट नहीं है; क्योंकि यद्यपि उसमें कारणरूपसे घट है तथापि अव्यवहार्य होनेके कारण उसे असत् कहा जाता है। किंतु यहाँ तो '**असत्**' का तात्पर्य शून्यमें ही है; क्योंकि आगे—'**कथमसतः सज्जायेत।**' (छान्दोग्य० ६।२।२) ऐसा कहकर उसका खण्डन कर दिया गया है।

अतः जिस प्रकार भगवान् ही अनेक रूपसे प्रकट होते हैं, उसी प्रकार यहाँ भी अनन्यपूर्विका व्रजांगनाओंमें ही लीलाविशेषके विकासार्थ अन्यपूर्विकात्वकी प्रतीति होती थी। भगवान् तो पूर्ण ब्रह्म परमात्मा हैं। उनके साथ प्राकृत प्राणियोंका संसर्ग कैसे हो सकता था? अतः ये सब व्रजांगनाएँ स्वरूपतः तो सच्चिदानन्दरूपा ही थीं। पहले यह भी बतलाया जा चुका है कि अभिधानरूपा श्रुतियाँ और अभिधेयरूप देवता ये सभी वस्तुतः एक ही हैं, परंतु मूलतः अभिन्न होनेपर भी साधकोंके कल्याणार्थ भगवान्‌को शब्दका आविर्भाव करना ही पड़ता है; अन्यथा महाप्रलयमें भी भगवान्‌ने जीवोंको मुक्त क्यों नहीं कर दिया? इसका कारण यही था कि वहाँ कल्याणकारिणी सामग्रीका अभाव था। अतः परम दयालु और करुणामय होनेपर भी भगवान् कल्याणका क्रम रखते हैं। यदि उन पापी, पुण्यात्मा सभीका अक्रमसे उद्धार कर दिया करते तो बात ही बिगड़ जाती। अतः प्रपंचके मूलभूत अनादि अज्ञानकी निवृत्तिके लिये उन्होंने सभी प्रकारके वाक्योंका आविर्भाव किया है। श्रुतिरूप अभिधान और उनका लक्ष्य ब्रह्म, ये ऐसे ही हैं, जैसे तरंग और समुद्र। यह तरंग और समुद्ररूप भेद इसीलिये है कि इसके बिना उनका ऐक्यबोध नहीं हो सकता। यदि भेद न हो तो लक्षण कैसे बने? जीव अपने अनादि अज्ञानका निवारण तभी कर सकता है, जब वह परब्रह्मके साथ उसके कार्यभूत सम्पूर्ण प्रपंचका अभेद अनुभव करे और उस भेदका निवारण महावाक्यरूपसे उत्पन्न होनेवाले बोधके द्वारा ही हो सकता है। किंतु सब लोग आरम्भमें ही उस अभेदका अनुभव नहीं कर सकते। अतः उस योग्यताकी प्राप्तिके लिये अन्यपरा श्रुतियोंद्वारा अन्यान्य पदार्थोंका निरूपण किया गया है। वास्तवमें तो समस्त श्रुतियाँ और उनके प्रतिपाद्य भी अनन्य ही हैं।

यहाँ व्रजांगनाओंमें अनन्यपरा श्रुतियाँ ही अनूढा हैं और अन्यपरा ही ऊढा हैं। परंतु जिस समय '**सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति**' (कठ० १।२।१५) इस सिद्धान्तका निश्चय हो जायगा, उस समय यही निश्चय होगा कि वस्तुतः ब्रह्मपरामें ही लीलावश

अब्रह्मपरात्वकी प्रतीति हुआ करती है। अतः गोपियोंका दूसरे गोपोंके साथ विवाहा जाना भी केवल विभ्रम ही है। वस्तुतः उनके परमपति तो एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही थे। उनका अन्यपूर्विकात्व तभीतक अनिवार्य रहेगा, जबतक भगवान् श्रीकृष्णकी सर्वात्मकता सुनिश्चित नहीं होगी।

परंतु इस बातका निश्चय भी शास्त्राधारपर ही हो सकेगा; अन्यथा साधारण पुरुषोंको तो अविचारवश रासक्रीड़ामें व्यभिचारकी ही गन्ध आयेगी। परंतु श्रीमद्भागवतमें तो कहा है कि जिन गोपोंकी स्त्रियाँ रासक्रीड़ामें सम्मिलित हुई थीं, उन्होंने भी उन्हें अपने पास ही देखा—'**मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः॥**' (श्रीमद्भा० १०। ३३। ३८) यदि कहा जाय कि यह उनकी भ्रान्ति थी तो हम कहते हैं कि गोपोंको उनके पत्नीत्वकी ही भ्रान्ति क्यों न मानी जाय। यह प्रसंग तो श्रीमद्भागवतमें आता ही है कि एक वर्षके लिये सर्वथा भगवान् ही गोपाल और वत्सरूप हो गये थे। सम्भव है, ये व्रजांगनाओंके पति गोपरूप गोविन्द ही हों।

रासलीलाका प्रयोजन

अतः सिद्ध हुआ कि यह अनन्यपूर्विका व्रजांगनाओंमें ही अन्यपूर्विकात्वकी प्रतीति थी, जिस प्रकार कि अनन्यपरा श्रुतियोंमें ही अन्यपरात्वकी प्रतीति होती है। यहाँ जिस तरह प्रपंच-रचनामें दो हेतु बतलाये गये हैं—एक तो भगवान्‌की लीला और दूसरा जीवोंको कल्याणके साधन प्राप्त कराना, उसी प्रकार इस रासलीलाके भी दो ही प्रयोजन थे। प्रथम तो भगवान्‌की यह लीला प्रेमरसके विकासके लिये थी। यहाँ एक ही तत्त्व भगवान् श्रीकृष्ण और गोपीरूपसे आविर्भूत हुआ है। यह प्रेमलीला थी, इसलिये यहाँ उसे नायक और नायिकारूपमें परिणत होनेकी आवश्यकता थी; क्योंकि प्रेमका मुख्य आलम्बन नायकके लिये नायिका है और नायिकाके लिये नायक। साहित्यशास्त्रमें शृंगाररस सबसे उत्कृष्ट माना गया है। वस्तुतः उसके द्वारा परमानन्दकी जैसी स्फुट स्फूर्ति होती है, वैसी और किसी रससे नहीं होती। शृंगार अथवा प्रेमरस स्वतः निर्विशेष है। जिस समय उसका आलम्बन भगवान् होते हैं तो वह परम पवित्र प्रेम माना जाता है और जिस समय उसका आलम्बन अस्थि-मांसमय नायक या नायिका होते हैं तो अत्यन्त अधोगतिमूलक काम कहते हैं। किंतु यहाँ नायक-नायिकारूपमें भी शुद्ध सच्चिदानन्दघन ही हैं। अतः रसवृद्धिके साथ यहाँ निकृष्ट आलम्बनजनित मलिनताकी तनिक भी सम्भावना नहीं है।

इन नायिकाओंमें जो अनन्यपूर्विका थीं, उन्हें स्वकीया कहा गया है और जो अन्यपूर्विका थीं, उन्हें परकीया। स्वकीया नायिकाको नायकका सहवास सुलभ होता है, किंतु परकीयामें स्नेहकी अधिकता रहती है। कई प्रकारकी लौकिक-वैदिक अड़चनोंके कारण वह स्वतन्त्रतापूर्वक अपने प्रियतमसे नहीं मिल सकती, इसलिये उस व्यवधानके समय उसके हृदयमें जो विरहाग्नि सुलगती रहती है, उससे उसके प्रेमकी निरन्तर अभिवृद्धि होती रहती है। इसीलिये कुछ महानुभावोंने स्वकीया नायिकाओंमें भी परकीया-भाव माना है; अर्थात् स्वकीया होनेपर भी उसका प्रेम परकीया नायिकाओंका-सा था। वस्तुतः तो सभी व्रजांगनाएँ स्वकीया ही थीं; क्योंकि उनके परमपति भगवान् श्रीकृष्ण ही थे; परंतु उनमेंसे कई अन्य पुरुषोंके साथ विवाहिता थीं और कई अविवाहिता। अतः स्वकीया-परकीया या ऊढा और अनूढा कहना उचित है। इस प्रकार प्रेमोत्कर्षके लिये ही भगवान्‌ने यह विलक्षण लीला की थी।

इस लीलाका दूसरा प्रयोजन जीवोंका कल्याण है। यहाँ जो अनन्यपूर्विका नायिका हैं, उनका जो भगवान्‌के प्रति अतिशय अनुराग है, उससे होनेवाली लीला आगे चलकर लोगोंको ध्येय होगी। यह बात पहले कही जा चुकी है कि इस प्रकारकी काम-विजय-लीलाका चिन्तन करनेसे लोगोंको कामजयरूप फल प्राप्त होगा। इसके सिवा यह भी देखना है कि इस प्रकारके उपासकोंका ध्येय क्या होगा? भगवान्

श्रीकृष्ण या गोपियाँ? सो कोई नहीं, बल्कि उन दोनोंका जिस प्रेमपाशसे बन्धन है, वह प्रेमशृंखला ही उनकी ध्येय होगी; क्योंकि उसके अधीन तो वे दोनों ही हैं। जिस प्रकार यदि किसी ऊँट या बैलको पकड़ना होता है तो उसकी नकेल या नाथ ही पकड़ते हैं, उसी प्रकार इस प्रेम-बन्धनको पकड़नेसे श्रीकृष्ण और गोपियाँ दोनों ही स्वाधीन हो जायँगे। इसके सिवा इस लीलासे सर्वसाधारणको यह भी उपदेश मिलेगा कि इस प्रकारके नायक-नायिकाओंमें जैसा उत्कट स्नेह होता है, वैसा ही उन्हें भी अपने इष्टदेवोंके प्रति रखना चाहिये।

इन व्रजांगनाओंमें जो अन्यपूर्विका हैं, उनसे यह उपदेश भी मिलता है कि जिस प्रकार वे लौकिक-वैदिक शृंखलाओंका विच्छेद करके भगवत्परायण रहती थीं, उसी प्रकार साधकोंको भी सारे व्यवधानोंको छोड़कर अपने ध्येयमें संलग्न होना चाहिये। साधारण पुरुषोंको इससे भगवान्‌की उदारता और करुणाका भी ज्ञान होता है। प्राणियोंमें सदा ही कोई-न-कोई त्रुटि तो रहा ही करती है। उस समय अपनी हीनताको देखकर अनाश्वास हो जाना स्वाभाविक ही है। जहाँ ऐसा नियम है कि प्राणी वैदिक एवं स्मार्त उपासना करके ही भगवान्‌को प्राप्त करनेकी योग्यता पा सकता है, वहाँ जो सर्वसाधनहीन स्थूलदर्शी लोग हैं, उन्हें ऐसी आशा होना कि भगवान् हमपर भी उन गोपांगनाओंके समान कृपा करेंगे, बहुत बड़ा आश्वासन है।

आगे चलकर कहा है कि वे गोपियाँ जारभावसे भगवान्‌को प्राप्त हुईं—'**जारबुद्ध्यापि सङ्गताः।**' (श्रीमद्भा० १०।२९।११) अहो! जो गोपांगनाएँ वैदिक और स्मार्त-शृंखलाओंका उल्लंघन करके भगवत्परायण हुईं और जिन भगवान्‌का सर्वथा शुद्ध-भावसे आश्रय लेना चाहिये था, उनका ऐसे दूषित भावसे आश्रय लिया, उन गोपांगनाओंका भी भगवान्‌ने कल्याण कर दिया। यह ऐसी ही बात हुई जैसे पूतनाने विषलिप्त स्तनपान कराकर भी परमपद प्राप्त किया। जिन भगवान्‌का सर्वस्व समर्पण करके अर्चन करना चाहिये था, उन्हें विषपान कराना महान् अपराध था तो भी विषयके माहात्म्यसे उसने सद्‌गति प्राप्त की। उसी प्रकार यद्यपि कामबुद्धिसे भगवान्‌का आश्रय लेना अत्यन्त अनुचित है; क्योंकि यह सोपाधिक प्रेम है—कामवासनाकी पूर्तितक ही रहनेवाला है—और भगवान्‌को सर्वभूतान्तरात्मा होनेके कारण निरुपाधिक प्रेमसे ही अभ्यर्चित होना चाहिये तथापि उनका परम हित ही हुआ। इसके सिवा इसमें एक दोष यह भी हो सकता था कि जो भगवान् उनके वास्तविक परमपति थे, उनमें तो उन्होंने जारबुद्धि की और जो अस्वाभाविक प्राकृत पति थे, उनमें पतिबुद्धि की। जिस प्रकार तरंगोंका मुख्य पति तो समुद्र ही है, तरंगान्तरोंसे तो उनका आगन्तुक-सम्बन्ध है, उसी प्रकार जीवका स्वाभाविक-सम्बन्ध तो अपने आश्रयभूत परब्रह्मसे ही है, अन्य जीवोंसे तो केवल आगन्तुक-सम्बन्ध है, इसलिये वह अनित्य भी है, अतः सर्वान्तर्यामी भगवान्‌का जारबुद्धिसे आश्रय लिया गया—यह भी एक बड़ा दोष था। ये सारे अनौचित्य '**अपि**' शब्दसे सूचित होते हैं। किंतु ये सब दोष होनेपर भी भगवान्‌से सम्बन्धित होनेके कारण गुण हो गये। यह आलम्बनका ही माहात्म्य था। उस जारबुद्धिसे यह गुण हो गया कि जिस प्रकार जारके प्रति परकीया नायिकाका स्वकीयाकी अपेक्षा अधिक प्रेम होता है, वैसे ही उन्हें भी भगवान्‌के प्रति अतिशय प्रेम हुआ। अतः इससे उपासकोंको बड़ा आश्वासन मिलता है। इससे बहुत त्रुटिपूर्ण होनेपर भी उन्हें भगवत्कृपाकी आशा बनी रहती है और प्रेममार्गमें आशा बहुत बड़ा अवलम्बन है; क्योंकि जीव, आशा होनेपर ही प्रपन्न हो सकता है। इस प्रकार भगवान्‌ने अन्यपूर्विका और अनन्यपूर्विका दोनोंकी प्रवृत्ति अपनी ओर ही दिखलाकर प्रेममार्गको सबके लिये सुलभ कर दिया है। यह द्वितीय '**ताः**' का तात्पर्य हुआ।

अब तृतीय '**ताः**' का अर्थ करते हैं। इस '**ताः**' का अर्थ है '**तदात्मिकाः**' अर्थात् भगवत्स्वरूपा।

पहले '**ताः**' से तो वे गोपांगनाएँ विवक्षित थीं, जिनका भगवान्‌के साथ भृंगीकीट-न्यायसे साधनद्वारा अभेद हुआ था। दूसरे '**ताः**' से वे गोपांगनाएँ कही गयीं जो समुद्र और तरंगके समान मूलतः अभिन्न थीं। यह समुद्र अचिन्त्यानन्द-सुधा-सिन्धु है। इससे एक तो तरंगोंका अभेद और दूसरा जैसे उसकी सुधासे सुधागत माधुर्यका अभेद। यह बहुत बड़ा अन्तर है। इस प्रकारकी स्वरूपभूता व्रजांगनाएँ ही तीसरे '**ताः**' से कही गयी हैं।

जिस प्रकार जलमें मधुरता, शीतलता आदि कई गुण हैं, उसी प्रकार भगवान्‌में भी कई शक्तियाँ हैं। भगवान्‌की परमान्तरंगा आह्लादिनी-शक्तिरूपा श्रीवृषभानुनन्दिनी और उन्हींकी अवान्तर विकासरूपा ललिता-विशाखा आदि तीसरे '**ताः**' से अभिप्रेत हैं। उन श्रीवृषभानुनन्दिनीकी पदनख-चन्द्रिकाकी जो विभिन्न दीप्तियाँ हैं, उन्हींके अन्तर्गत ये ललिता-विशाखा आदि हैं। भगवान्‌की सर्वान्तरतम दिव्यातिदिव्य शक्ति तो श्रीराधिका ही हैं, उन्हींकी अंशभूता उनकी प्रधान सहचरी हैं। यद्यपि उनमें तारतम्य है तथापि वे हैं सब-की-सब परमान्तरंगा ही।

यहाँ जो '**अपि**' शब्द आया है, उसका अर्थ 'च', 'और' समझना चाहिये अर्थात् शरदोत्फुल्ल-मल्लिका रात्रियोंको और उन त्रिविध गोपांगनाओंको देखकर भगवान्‌ने रमण करनेको मन किया। किंतु उन्होंने मन किया कैसे? इसपर कहते हैं कि स्वप्रकाश पूर्ण परब्रह्म भगवान्‌ने आप्तकाम होकर भी योगमायाका आश्रय लेकर मन बनाया। योगमायाका आश्रय लेनेसे क्या अभिप्राय है? '**योगाय स्वेन सह तासां संश्लेषाय या माया कृपा तामुपाश्रित्य**' अर्थात् योग यानी अपने साथ संश्लेष करनेके लिये जो माया—कृपा, उसका आश्रय लेकर। यहाँ '**माया**' शब्दका अर्थ कृपा है, '**माया कृपायां दम्भे च**'। अतः कृपापरतन्त्र भगवान्‌ने स्वप्रकाश पूर्ण परब्रह्म होकर भी केवल कृपावश मन किया।

दूसरी बात यह भी हो सकती है कि—

'**युज्यते—सदा संश्लिष्यत इति योगा, महालक्ष्मीः परमान्तरङ्गशक्तिभूता श्रीवृषभानुनन्दिनी, तस्या माया कृपा योगमाया, तामुपाश्रित्य।**'

अर्थात् जो युक्त यानी सदा संश्लिष्ट रहती हैं, वे परमान्तरंग-शक्तिभूता श्रीवृषभानुनन्दिनी ही योगा हैं, उनकी माया—कृपा ही योगमाया है, उसका आश्रय लेकर रमणकी इच्छा की। तात्पर्य यह है कि अपनी कृपाके अधीन होकर नहीं, बल्कि जो श्रीवृषभानुसुताकी कृपापात्रभूता तथा उनके चरणकमल-मकरन्दका आस्वादन करनेवाली व्रजांगनाएँ हैं, उनकी प्रसन्नता-सम्पादन करनेके लिये ही भगवान्‌ने रमणकी इच्छा की; क्योंकि ऐसा करनेसे ही वे अपनी परमान्तरंगा आह्लादिनी-शक्ति श्रीराधिकाजीको प्रसन्न कर सकते थे। जो मधुरभावके उपासक हैं, उनकी यह पद्धति है कि वे पहले अपने आचार्योंका आश्रय लेते हैं, फिर उनकेद्वारा गोपांगनाओंकी प्रसन्नताका लाभ करते हैं, उनकी प्रसन्नतासे उन्हें प्रधान-प्रधान यूथेश्वरियोंका प्रसाद प्राप्त होता है और तत्पश्चात् श्रीहरिकी चिरसंगिनी श्रीराधिकाजीकी कृपा होती है। इस प्रकार श्रीप्रियाजीके कृपापात्र होनेपर ही भगवान्‌का अनुग्रह होता है। इसमें यह भी भेद है कि शुद्ध परब्रह्मका पदार्थोंके साथ सम्बन्ध नहीं होता—'**असङ्गो न हि सज्जते**'। अतः यह मानना पड़ता है कि वृत्त्युपहित चेतन ही पदार्थोंका प्रकाशक होता है। यदि शुद्ध चेतन ही पदार्थोंको प्रकाशित करनेमें समर्थ होता तो उसकी सत्ता तो सर्वत्र है; परंतु घटकुड्यादिमें पदार्थोंको प्रकाशित करनेका सामर्थ्य नहीं है। इसके सिवा चेतनकी सत्तामात्रसे ही पदार्थोंकी प्रतीति भी नहीं होती; क्योंकि चेतनका संश्लेष तो सन्निकृष्ट-असन्निकृष्ट सभी वस्तुओंके साथ है। परंतु प्रकाश केवल उन्हीं वस्तुओंका होता है, जिनके साथ प्रमाणजन्य-वृत्त्यभिव्यक्त चेतनका संसर्ग होता है। उसी प्रकार यद्यपि भगवान् श्रीकृष्णका सम्बन्ध सभी व्रजांगनाओंसे है तथापि जिस प्रकार स्वप्रकाश चेतन अन्तःकरणादिवृत्त्युपहित होकर ही वस्तुओंके प्रकाशका

हेतु होता है, वैसे ही भगवान् भी अपनी परमान्तरंगा आह्लादिनी-शक्ति श्रीराधिकाजीके कृपापात्रोंपर ही अनुग्रह करते हैं। जिस प्रकार मंगलमय सुधासिन्धुमें जो मधुरिमा है, वह उसका स्वरूप ही है, उसी प्रकार परमानन्दसिन्धु भगवान्‌की जो आह्लादिनी-शक्ति है, वह भगवान्‌से अभिन्न ही है।

जिस प्रकार घटादिका प्रकाश अन्त:करण-वृत्त्युपहित चेतनसे ही होता है, किंतु अन्त:करणके प्रकाशके लिये किसी अन्य अन्त:करणकी आवश्यकता नहीं होती तथा अन्त:करणादि तो स्वतन्त्रतासे चेतनके प्रतिबिम्बको ग्रहण कर सकते हैं, किंतु घटादि अन्त:करणवृत्त्युपहित होनेपर ही उसका प्रतिबिम्ब ग्रहण कर सकते हैं, उसी प्रकार यहाँ जो वृषभानुनन्दिनी हैं, वे तो परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णके साथ निरपेक्षभावसे असाधारण रमणरूप सम्बन्धका भोग कर सकती हैं, किंतु अन्य गोपांगनाएँ ऐसा नहीं कर सकतीं। अत: उनमें भी भगवान्‌का सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये श्रीवृषभानुदुलारीका सम्बन्धसम्पादन करना पड़ता है। अत: पहले वे इनसे तन्मय हो लेती हैं, उसके पश्चात् भगवान्‌से सम्बन्ध प्राप्त करती हैं। इसीलिये योगमायाका आश्रय लिया।

अथवा '**योगाय सम्बन्धाय या माया वञ्चना तामुपाश्रितोऽपि ताः वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे**'—योग जो असाधारण सम्बन्ध उसके लिये भी माया यानी वंचनाका आश्रय लेकर उन्होंने रमणके लिये मन किया। भगवान् रमणके लिये भी मायाका आश्रय लिया करते हैं। इसीसे जब ऋषि-पत्नियाँ गयी थीं, उस समय भी उन्होंने मायाका ही आश्रय लिया था, और उन्हें भी पातिव्रतका ही उपदेश किया था। किंतु भगवान् श्रीकृष्ण तो परब्रह्म हैं। उनका सम्बन्ध भला किसको अभीष्ट न होगा? उनका संसर्ग ही तो परम कल्याण है। उसमें लौकिक भावोंका आरोप करना अर्थात् पारमार्थिक तत्त्वमें अपारमार्थिक भावोंका निवेश करना माया ही है। अत: '**योगे सम्बन्धे या माया वञ्चना सा योगमाया**' ऐसा तात्पर्य समझना चाहिये। अथवा '**अयोगमाया**' ऐसा पद मानें तो '**अयोगाय असम्बन्धाय या माया वञ्चना सा अयोगमाया**' अयोग यानी असम्बन्धके लिये जो माया—वंचना, उसीका नाम अयोगमाया है अर्थात् अपने साथ सम्बन्ध न होने देनेके लिये जो माया है, उसका उन्होंने आश्रय लिया।

'**ताः वीक्ष्य**' वे जो पूर्वोक्त प्रकारकी गोपांगनाएँ थीं, जो इस प्रकार स्वस्वरूपानुसन्धानमें तत्पर थीं, उन्हें दयार्द्र-दृष्टिसे देखकर वंचनाको भूलकर उन्होंने रमण करनेके लिये मन किया। अथवा—

'**युज्यते इति योगा सदासंश्लिष्टरूपा या वृषभानुनन्दिनी तस्यां या माया कृपा तामाश्रित्य रन्तुं मनश्चक्रे।**'

अपनी स्वस्वरूपभूता जो वृषभानुनन्दिनी उनकी प्रसन्नताके लिये रमण करनेको मन किया अर्थात् उन्हें जो रासाभिलाषा हुई, उसकी पूर्तिके लिये उन व्रजांगनाओंको देखकर रमण करनेकी इच्छा की।

अथवा '**न गच्छतीति अगा अगा चासौ मा इति अगमा, अगमायां उपाश्रितः यः स भगवान् रन्तुं मनश्चक्रे**' अर्थात् जो अचला (नित्यसंगिनी) लक्ष्मीरूपा वृषभानुनन्दिनी हैं, उनमें अनुरक्त जो भगवान् उन्होंने रमण करनेकी इच्छा की; क्योंकि यह रासलीला श्रीराधिकाजीकी ही प्रसन्नताके लिये है। भावुकोंका ऐसा मत है कि भगवान्‌के जितने कृत्य हैं, वे श्रीवृषभानुनन्दिनीकी प्रसन्नताके लिये हैं और श्रीवृषभानुसुताके जितने कृत्य हैं, वे श्रीहरिकी तुष्टिके लिये हैं। यहाँ जो अन्यान्य गोपांगनाएँ हैं, वे सब श्रीराधिकाजीकी ही अंशांशभूता हैं।

यहाँ जो '**अपि**' है, उसका तात्पर्य यह भी मालूम होता है कि व्रजदेवियोंको तो पहलेहीसे भगवान्‌के साथ रमणकी इच्छा थी। इस समय मानो परीक्षित्‌के चित्तमें इस बातका सन्ताप था कि अहो! व्रजांगनाओंने कात्यायनी-अर्चनादि कठोर तपस्या करके भगवान्‌को प्रसन्न किया और भगवान्‌ने भी प्रसन्न होकर उन्हें अभीष्ट वर दिया; किंतु अब, जब

कि प्रेमातिशयके कारण भगवत्-सम्भोगकी प्रतीक्षामें गोपांगनाओंको एक-एक पल युगके समान हो रहा था, भगवान् क्यों उपेक्षा कर रहे थे? इस समय भगवान्की उदासीनता देखकर मानो महाराज परीक्षित् मन-ही-मन उनकी निन्दा कर रहे थे, इतनेहीमें श्रीशुकदेवजी कहने लगे—'**भगवानपि ता रात्रीः**' (श्रीमद्भा० १०।२९।१)अर्थात् व्रजांगनाएँ तो पहलेसे ही अभिलाषा रखती थीं; परंतु आज भगवान्ने भी उनके साथ तादात्म्यापत्तिरूप रमणकी इच्छा की।

इससे यह भी सूचित होता है कि भगवान्की इच्छा भक्तोंकी भावनाका अनुसरण किया करती है। कहा भी है—

यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय॥

× × × ×

स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।
(श्रीमद्भा० ३।९।११; १०।१४।२)

भावुक लोग अपनी-अपनी भावनामयी बुद्धिसे अरूप, अनाम, अप्रमेय परब्रह्मका जिस-जिस रूपसे ध्यान करते हैं, वैसा ही रूप भगवान्को धारण करना पड़ता है। इसीसे यद्यपि अभीतक भगवान्को रमणकी इच्छा नहीं थी तथापि गोपांगनाओंकी भावनाके अधीन होनेसे उनमें भी रमणेच्छाका प्रादुर्भाव हो गया।

किंतु इन व्रजांगनाओंका भाव तो '**तत्सुखसुखित्व**' है। इन्हें अपने सुखकी कुछ भी इच्छा नहीं है। संसारमें तो अपने सुखकी कामनासे ही सबसे प्रीति की जाती है—'**आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति**'। (बृहदारण्यक० २।४।५) तथापि गोपांगनाओंका प्रेम तो लोक तथा वेदसे अतीत ही है। अतः उन्हें अपने लिये भगवान्में प्रेम नहीं था, बल्कि वे तो भगवान्के लिये ही प्राण धारण करती थीं। उनका तो यही लक्ष्य था कि हे मनमोहन! ये प्राण और देह आपके काम आते हैं, इसीसे हम इन्हें धारण करती हैं, नहीं तो हमें इनकी क्या आवश्यकता है? भगवान्का वियोग होनेपर भी उन्होंने इसीलिये अपने शरीरादिको रख छोड़ा था कि वे भगवत्सेवाके साधन थे। उनका कहना था कि श्रीकृष्णसे वियुक्त होकर भी जो हम जीवित हैं, इसका मुख्य कारण यही है कि हमारे प्राण हमारे अधीन नहीं हैं। विधाताने शरीर तो हमें दिया है; किंतु प्राण श्रीकृष्णके अधीन कर दिये हैं। उनका कथन था—'**भवदायुषां नः**' अर्थात् आप ही हमारी आयु हैं। अतः उनका जीवन भगवान्के सुखके लिये ही था। हाँ, उन्हें सुख पहुँचानेमें उनको भी सुख मिलता ही था। जो पुरुष भगवान्को सुगन्धित माला और पुष्प समर्पण करता है, उसे भी सान्निध्यवश उनका सुवास मिलता ही है। किंतु यह सुखानुभव आनुषंगिक है, उसमें अपना सुख अभिमत नहीं होता।

इस प्रकार जैसे गोपांगनाएँ भगवान्के ही सुखमें सुख माननेवाली हैं, वैसे ही भगवान् भी उन्हींको सुख पहुँचानेके लिये सारी लीलाएँ करते हैं। यह तो उनका पारस्परिक भाव है। किंतु इसका पर्यवसान कहाँ होता है? इस सम्बन्धमें कह सकते हैं कि वह लोककल्याणके ही लिये है।

परंतु यदि वे दोनों ही निरपेक्ष हैं, दोनोंको ही आप्तकाम होनेके कारण सुखकी अपेक्षा नहीं है तो फिर यह लीला किसे सुख पहुँचानेके लिये है? ठीक है, सिद्धान्त भी यही है कि भगवान् श्रीकृष्ण और गोपांगनाओंके रूपमें एक ही परमानन्द-सुधासिन्धु प्रस्फुटित हुआ है तो दोनों ही आप्तकाम हैं। इससे लीलाका कोई प्रयोजन ही नहीं रहता और लीला हुई ही थी, यहाँ यह भी प्रश्न हो सकता है कि यह विभाग ही क्यों हुआ? वस्तुतः यदि विचार किया जाय तो इसका प्रयोजन कुछ भी नहीं है, '**लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्**' (ब्रह्मसूत्र २।१।३३) यह विभाग केवल आत्मसुखके ही लिये है।

किंतु यह विभाग चाहे लोककल्याणके लिये हो और चाहे '**एकाकी न रेमे**'—अकेला रममाण नहीं

होता, इसलिये '**एकोऽहं बहु स्याम्**' इस प्रकारके संकल्पपूर्वक हो तथापि जबतक लीला, लीलानायक और दर्शकोंको लीलामें आसक्ति न हो, तबतक तो लीला व्यर्थ ही है। माना कि यह त्रिविध विभाग एकमें ही हुआ है तथापि यह वह स्वस्वरूपमें ही परितृप्त है तो लीलाका कोई प्रयोजन ही सिद्ध नहीं होता।

अत: यहाँ स्वस्वरूपभूत परमानन्दका आवरण अपेक्षित है। किंतु उसका आवरण करनेमें कौन समर्थ है? माया आवरण कर सकती है; परंतु भगवान्का आवरण करनेमें वह भी समर्थ नहीं है। अत: भगवान्के आश्रित रहनेवाली उनकी परमान्तरंगा मोहिनी शक्ति, जो कि अनिर्वचनीयतामें अन्य समस्त शक्तियोंके समान ही होनेपर भी शुद्धतामें उनसे उत्कृष्ट है, भगवान्के शुद्ध स्वरूपका आच्छादन करती है और उसीसे स्वरूपभूत परमानन्दका आवरण हो जानेपर यह लीला और लीलापात्रोंकी कल्पना हो जाती है। जिस प्रकार स्वेच्छासे भाँग पीकर अपनेको मोहित किया जाता है, उसी प्रकार भगवान्का यह व्यामोहन भी स्वेच्छासे होता है। यदि इस प्रकार अपने स्वरूपभूत परमानन्दका आवरण न होता तो अपनेसे भिन्न रमणसामग्रीकी अपेक्षा क्यों होती? अत: पहले आवरण हुआ, उससे अतृप्ति हुई और फिर लीला हुई। इसीसे उनकी चेष्टाएँ एक-दूसरेकी परितृप्ति करनेवाली हुईं। इसमें अन्योन्याश्रयदोष भी नहीं है, रमणकी भी व्यवस्था ठीक हो जाती है और '**अपि**' शब्दका तात्पर्य भी बन जाता है।

इस श्लोकका एक अर्थ यह भी हो सकता है—'**भगवानपि रन्तुं मनश्चक्रे**'—भगवान्ने रमण करनेकी इच्छा की। किसलिये? '**ता: वीक्ष्य**'—अज्ञानिजनरूपा जो प्रजा है, उसे देखकर उसका कल्याण करनेके लिये। वह प्रजा कैसी है—'**रात्री:**'—रात्रिके समान अज्ञानरूप तमसे व्याप्त। ये सब प्रजाएँ अनादि हैं; अत: भगवान्का रमण उनके कल्याणके ही लिये है। इसके सिवा वह प्रजा '**शरदोत्फुल्लमल्लिका:**' (श्रीमद्भा० १०।२९।१) भी है—

शरदायां जाड्यमय्यां व्यवहारभूमौ
उत्फुल्लमल्लिकास्विव सुखबुद्धय:॥

अर्थात् सुखदु:खमोहात्मिका जो जाड्यमयी व्यवहारभूमि, जो कि उत्फुल्लमल्लिकाके समान आपात-रमणीय है, उसमें सुखबुद्धि करनेवाली। तात्पर्य यह है कि दु:खमयी व्यवहार-भूमिमें सुखबुद्धि करनेवाली प्रजाको स्नेहार्द्र-दृष्टिसे देखकर रमणकी इच्छा की; क्योंकि अज्ञानी प्रजाकी सुखदु:खमोहातीत परब्रह्ममें स्थिति होना अशक्य है। अत: जो प्राकृत लीलाएँ उनकी अभिरुचिके अनुकूल हैं, उनके कल्याणके लिये भगवान्ने उन्हींके समान रमण करनेकी इच्छा की। इसलिये—

'**अयोगमायामुपाश्रित:**'—'**अयोगेषु चित्त-निरोधादिनि:श्रेयससाधनशून्येषु या माया कृपा तामुपाश्रित्य**'।

अर्थात् योग—चित्तवृत्तिनिरोधादि नि:श्रेयसके साधनोंसे शून्य जो प्रजा, उसपर जो कृपा, वही माया है। उसका आश्रय लेकर रमण करनेका विचार किया; क्योंकि जो शुद्ध परब्रह्म अशेषविशेषशून्य है, उसका साक्षात्कार तो निरोधादिद्वारा ही किया जा सकता है।

'**अयोगेषु सर्वथा अयोग्येषु या माया कृपा तामुपाश्रित्य**'—जो प्राणी अत्यन्त निकृष्ट कोटिके हैं, उनके ऊपर जो कृपा, उसका आश्रय लेकर रमण करनेका विचार किया। भगवान् पतितपावन हैं, इसीसे भावुक भक्त अपनेको सर्वसाधनशून्य देखकर भी भगवत्कृपाके भरोसे निश्चिन्त रहते हैं।

'मैं पतित तुम पतित-पावन दोउ बानक बने॥'

(विनय-पत्रिका १६०)

अत: यह भगवान्की लीला मानो अत्यन्त अयोग्य पुरुषोंके ऊपर कृपा करनेके ही लिये है; क्योंकि भगवान्के जो वात्सल्य, माधुर्य एवं औदार्य आदि गुण हैं, उनकी सफलता तो बिना पतितोंके हो ही नहीं सकती। वस्तुत: उदारता और दीनवत्सलता ये सब तो इन्हीं अंशोंको लेकर होते हैं कि स्वयं परमोत्कृष्ट होकर भी अत्यन्त निम्नकोटिके पुरुषोंके

साथ मिलकर उनके साथ पूर्ण आत्मीयताका बर्ताव करें। किंतु निर्विशेष परब्रह्म या गोलोकवासी भगवान्के साथ ऐसे पतितोंका सहवास कैसे हो सकता है? वहाँ उन निकृष्टातिनिकृष्ट पुरुषोंके आत्मीय होकर भगवान् कैसे विहार कर सकते थे?

अथवा—

'अयोगेषु स्वस्मिन्नयुज्यमानेषु या माया कृपा तामुपाश्रितः।'

जिनकी मनोवृत्ति स्वप्नमें भी भगवान्की ओर नहीं जाती, ऐसे अपनेमें अयुक्त पुरुषोंके प्रति जो माया—कृपा उसका आश्रय लेकर भगवान्ने रमण करनेकी इच्छा की; क्योंकि यह लीला अत्यन्त साधन-शून्योंको भी अपनी ओर आकर्षित करनेवाली है। अतः भगवान्ने बहिर्मुख पुरुषोंको अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये ही यह लीला की थी। निर्विशेष भगवान्में तो प्राकृत पुरुषोंकी वृत्ति पहुँचनी अत्यन्त कठिन है; इसीसे भगवान्ने यह लोकमनोभिरामा लीला की थी, जिससे विषयी और पशुप्राय जीवोंका चित्त भी भगवान्की ओर लग जाय। अहो! भगवान्का यह खेल कैसा मनोमोहक था!

'अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणाम्।'

(श्रीमद्भा० १०।२१।१९)

उसे देखकर जो गतिमान् थे, उनमें निस्पन्दता आ जाती थी और वृक्षोंकी रोमावली खड़ी हो जाती थी। अर्थात् चेतन पदार्थोंमें जड़ता आ जाती थी और जड़ोंमें चेतनकी क्रिया होने लगती थी। अतः भगवान्ने बहिर्मुख पुरुषोंको अपनी ओर आकृष्ट करनेके लिये ही अति अद्भुत मनोरम लीला की थी।

ऐसा कहा जाता है कि प्राणियोंके पतनका जो प्रधान हेतु है, वह भगवद्विमुखता ही है तथा भगवदुन्मुखता ही सर्वानन्दका साधन है।

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या-
दीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं
भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा॥

(श्रीमद्भा० ११।२।३७)

अर्थात् जो पुरुष भगवान्से विमुख है, जो नामरूपक्रियात्मक प्रपंचमें ही आसक्त है, उसे ही भगवान्की मायासे मोहित होनेके कारण भगवद्विस्मृति हुआ करती है। स्वरूपविस्मृतिके पश्चात् विभ्रम होता है, जो असंग आत्मामें संगका, अकर्तामें कर्तृत्वका और एकमें अनेकत्वकी भ्रान्ति करा देता है। उस विभ्रमसे द्वैतबुद्धि होती है, द्वैतबुद्धिसे ही भय होता है। अतः बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि अनन्य बुद्धिसे उस पूर्ण परब्रह्म परमात्माका ही भजन करे। इससे माया इस प्रकार भाग जाती है, जैसे क्रुद्ध तपोधनोंके सामनेसे वेश्या।

मायासे ही स्वरूपकी विस्मृति हुआ करती है और भगवदुन्मुख होनेपर वह भाग जाती है, तब स्वरूपसाक्षात्कार हो ही जाता है और फिर विभ्रमका उच्छेद हो जानेके कारण निर्भयताकी प्राप्ति हो जाती है। अतः भगवान्ने अज्ञानीरूपा प्रजाका उद्धार करनेके लिये ही यह मार्ग निकाला था; क्योंकि भगवान्की माया बड़ी प्रबल है, उससे वे ही बच सकते हैं, जो एकमात्र भगवान्का ही आश्रय लेते हैं।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(गीता ७।१४)

अतः भगवान्ने सर्वसाधनशून्य पामर प्राणियोंपर कृपा करनेके लिये ही यह लीला की थी, जिससे कि किसी भी प्रकार उनका चित्त भगवान्में लगे।

अथवा '**ताः**' शब्दसे मुमुक्षुरूपा प्रजा समझनी चाहिये। उसपर कृपा करनेके लिये भगवान्ने रमणकी इच्छा की। वह मुमुक्षुरूपा प्रजा कैसी है? '**रात्रीः**'—'**रा दाने**' इस स्मृतिके अनुसार दान करनेवाली अर्थात् दानोपलक्षित यज्ञादि कर्म करनेवाली। जैसा कि कहा—'**तमेतं ब्राह्मणा यज्ञेन दानेन तपसा ब्रह्म विविदिषन्ति।**' अथवा '**भगवति स्वरूपेण सह सर्वसमर्पयित्री**' जो भगवान्में अपने स्वरूपके सहित सर्वस्व समर्पण करनेवाली है तथा जो '**शरदोत्फुल्लमल्लिका**' है।

'शरादिवत् घ्नन्ति अवखण्डयन्ति उत्फुल्ल-मल्लिकाद्युपलक्षितानि संसारसुखानि यासां ताः।'

अर्थात् उत्फुल्लमल्लिकाओंके समान जो स्त्री-पुत्रादिरूप सांसारिक सुख हैं, वे शरादि अस्त्र-शस्त्रके समान जिनका खण्डन करती हैं, उन मुमुक्षुरूपा प्रजाओंको देखकर। इससे उन मुमुक्षुओंकी पूर्ण योग्यता दिखायी गयी है; क्योंकि पूर्ण मुमुक्षु तभी होता है, जब कि उत्कृष्ट-से-उत्कृष्ट सांसारिक सुख भी उसे दुःखरूप दिखायी देने लगे। वास्तवमें तो मुमुक्षुता होती ही उस समय है, जब संसार भयानक दिखायी देने लगे। उसे सांसारिक सुख शरादिके समान छेदन करनेवाले दिखलायी देते हैं, वही मुमुक्षु हो सकता है। ऐसी प्रजाओंको देखकर—

'योगमायामुपाश्रितः योगाय स्वेन सहासम्बन्धविच्छेदाय।'

अपने साथ उनके असम्बन्धका छेदन करनेके लिये अर्थात् अपने साथ उनकी अभिन्नता स्थापित करनेके लिये भगवान्‌ने रमणकी इच्छा की; क्योंकि यहाँ केवल व्रजदेवियोंके साथ ही क्रीड़ा नहीं करनी थी, बल्कि श्रुतियोंका आवाहन करके उनका भी अपनेमें तात्पर्य दृढ़ करना था।

भगवान्‌की यह लीला ओषधिरूपा होगी। जिस प्रकार अज्ञानी पुरुषोंके लिये यह श्रोत्रमनोभिरामा है, वैसे ही मुमुक्षुओंके लिये यह भवौषधिरूपा है। अतः—

'ताः मुमुक्षुरूपाः प्रजाः वीक्ष्य, ताश्च श्रुतीः आहूय, ताभिः सह रन्तुं मनश्चक्रे'—

उस मुमुक्षुरूपा प्रजाको देखकर और उन श्रुतियोंका भी आह्वानकर उनके साथ रमण करनेकी इच्छा की अर्थात् मुमुक्षुओंको संसारसे निर्विण्ण देखकर भगवान्‌ने रमण करनेकी इच्छा की। मुमुक्षु लोग संसारसे निर्विण्ण क्यों हैं? इसका हेतु यह है—वे विशुद्धान्तःकरण हैं, इसलिये विवेकसम्पन्न हैं और विवेकीके लिये सब कुछ दुःखरूप ही है—**'दुःखमेव सर्वं विवेकिनाम्'**—उनके लिये संसारके सारे सुख भाले और बर्छियोंके समान हो जाते हैं। उनके उद्धारका उपाय क्या है? यही कि श्रुतियोंका परम तात्पर्य एकमात्र परब्रह्ममें ही निश्चित हो। किंतु पहले यह होता नहीं, अतः भगवान्‌ने उनका आह्वानकर अपनेमें उनका तात्पर्य दृढ़ किया। यहाँ जिस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने व्रजांगनाओंका आवाहन किया था, उसी प्रकार व्यासरूपसे उन्होंने ब्रह्मसूत्ररूप वेणुनादद्वारा समस्त श्रुतियोंका आवाहन करके उनका परम तात्पर्य परब्रह्ममें निश्चित किया है।

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।

(रा०च०मा० १।१८)

यहाँ **'अरथ'** तो पूर्ण परब्रह्म परमात्मा है और **'शब्द'** ये श्रुतियाँ हैं। अतः श्रुतियाँ तरंग हैं और ब्रह्म समुद्र है। इसी प्रकार गोपांगनाएँ तरंग हैं और भगवान् श्रीकृष्ण समुद्र हैं। इनका परस्पर तादात्म्य-सम्बन्ध है। उन श्रुतियोंका आवाहनकर अर्थात् अपनेमें उनका तात्पर्य निश्चयकर भगवान्‌ने रमण करनेकी इच्छा की।

यहाँ भावुकोंकी दृष्टिसे एक और ही अर्थ होता है—

'योगमायामुपाश्रितः'—यः 'अगमायाम् उपाश्रितः'—'न गच्छतीति अगा, अगा चासौ मा अगमा'।

अर्थात् नित्यश्लिष्टा वृषभानुनन्दिनी। वह कौन है?—**'यामुपाश्रितः भगवानपि रन्तुं मनश्चक्रे'**, अर्थात् जिसका आश्रय लेकर भगवान्‌ने भी रमण करनेकी इच्छा की। क्यों इच्छा की? शरदोत्फुल्ल-मल्लिका रात्रियोंको देखकर।

अथवा यों समझो—

'योगमायामुपाश्रितः भगवानपि रन्तुं मनश्चक्रे—योगाय अघटितघटनाय या माया इति योगमाया तामुपाश्रितः।'

अर्थात् जो माया अघटितघटनापटीयसी है, उसका आश्रय लेकर भगवान्‌ने रमण करनेकी इच्छा की। यहाँ भगवान्‌को अपना ऐश्वर्य छिपाना था; क्योंकि यह मधुर लीला है, अतः इसमें ऐश्वर्यभाव

रसका विघातक है। इसमें प्राकृतांश ही अधिक उपयुक्त है। इसीसे भगवान्‌की जिन लीलाओंमें प्राकृतांश विशेष है उन्हींका महत्त्व भी अधिक है; क्योंकि प्राकृत व्यापारोंमें व्यासक्त प्राणियोंको आकर्षित करनेमें प्राकृतभाव अधिक उपयोगी है।

अत: **'योगमायामुपाश्रित:—योगमायां उप सामीप्येन आश्रित:, न तु साक्षात्'**—सामीप्यवश योगमायाका आश्रय लेकर, साक्षात्‌रूपसे नहीं। जिस प्रकार स्वाभाविक होनेके कारण सूर्यभगवान् अपनी किरणोंका आश्रय लेते हैं। उन्हें किरणें धारण नहीं करनी पड़तीं, बल्कि जहाँ वे रहते हैं, वहाँ उनकी किरणें भी रहती ही हैं, इसी प्रकार भगवान्‌की योगमाया भी उनके साथ रहती ही है। अत: अघटनघटनमें समर्थ जो योगमाया, उसका सर्वथा समाश्रयण न करके भगवान्‌ने प्राकृतवत् लीलाएँ कीं, जिससे प्राकृत प्राणियोंका विशेष आकर्षण हो सके।

इससे सिद्ध हुआ कि भगवान्‌की योगमाया सर्वदा उनके साथ रहती है, इसलिये हठात् अपना काम कर देती है। जब मिट्टी खानेके उपरान्त भगवान्‌ने श्रीयशोदाजीसे मुख देखनेको कहा तो उन्होंने यह नहीं समझा कि मैया सचमुच मेरा मुख देखेगी। वे यही समझते थे कि ऐसा कहनेसे मुझे निर्दोष समझकर वह छोड़ देगी। परंतु जब उसने कहा—'दिखला' तो उनका मुख फैल गया।[१] भगवान्‌ने मुख फैलाया नहीं, बल्कि जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंसे कमल खिल जाता है, उसी प्रकार माताके कोपरूप सूर्यका ताप पाकर भगवान्‌का मुखकमल खुल गया। उस समय योगमायाने देखा कि मुखमें मिट्टी देखकर माता हमारे प्रभुको मारेगी; इसीसे उसने उनके मुखमें सारा ब्रह्माण्ड दिखा दिया। इसी प्रकार इस लीलामें भी योगमाया कई ऐश्वर्यभाव दिखायेगी।

अथवा भगवान्‌ने उन रात्रियोंको देखकर **'योगमायामुपाश्रित:—योगाय संश्लेषाय माय: शब्दो यस्यां तां योगमायां वंशीम्'**—व्रजांगनाओंके योग-संश्लेषके लिये माय[२] (शब्द) जिसमें रहते हैं, उस वंशीका नाम योगमाया है; उसका आश्रय करके भगवान्‌ने व्रजांगनाओंको बुलाकर रमणकी इच्छा की। यह उचित भी है; क्योंकि जिस प्रकार गिरिराजका आश्रय लेकर भगवान्‌ने इन्द्रके दर्पका दमन किया था, उसी प्रकार कन्दर्पदर्प-दमन इसके द्वारा होगा। वंशी क्या है? यह महारुद्र है और कामदेवके दर्पका दमन महारुद्र ही कर सकते हैं।

दूसरी बात यह है कि अपने संसर्गद्वारा स्वस्वरूप बना लेनेपर ही किसीके साथ रमण हो सकता है। वस्तुत: भगवद्व्यतिरिक्त तो कोई पदार्थ है नहीं। भगवद्रूपमें ही भिन्नताकी प्रतीति हुआ करती है और भगवत्सम्बन्धसे ही उसकी निवृत्ति होकर भगवद्रूपताकी प्रतीति होती है। वह सम्बन्ध क्या है? व्यवधानकी निवृत्ति। व्यवधानकी निवृत्ति होते ही भगवान्‌से अभेद हो सकता है। अत: भगवान्‌ने वंशीध्वनिद्वारा अपनी अधरसुधाका संचार करके समस्त वृन्दारण्य और तद्वर्ती गुल्म, लता एवं गोपांगनादिको स्वस्वरूप बना दिया। इसीसे **'योगाय भगवत्संश्लेषाय माय: शब्दो यस्यां तां वंशीं उपाश्रित:'**—योग अर्थात् भगवत्संश्लेषके लिये जिसमें माय अर्थात् शब्द है, उस वंशीका आश्रय लेकर भगवान्‌ने रमणकी इच्छा की। मानो उस वंशीकी उपासना करके ही भगवान् व्रजांगनाओंके मनोंको आकर्षित करनेमें समर्थ हुए।

'अपि' शब्दका आशय यही है कि यद्यपि था तो अनुचित तथापि भगवान्‌के सम्बन्धमात्रसे उचित ही हो गया; क्योंकि साधारणतया सभी कन्याओंका प्राथमिक सम्बन्ध गन्धर्व आदिके साथ होता है। चन्द्रमा तो वैसे सभीके मनके अधिष्ठाता हैं। मनकी आवश्यकता सभी सम्भोगोंमें है और मनको सर्वत्र ही अपने अधिष्ठातृदेव चन्द्रमाकी अपेक्षा है। अत: चन्द्रमा सर्वभोक्ता हैं। परंतु व्यष्टि अभिमान ही पुण्य-पापका मूल है, चन्द्रमा सभीके मनके अधिष्ठाता हैं,

१-यहाँ अकर्मक 'व्यादत्त' क्रियाका प्रयोग किया गया है। (श्रीमद्भा० १०।८।३६)

२-मीयते वक्ता अनेन इति माय: शब्द:।

अत: उनमें व्यष्टि अभिमान नहीं है। इसी कारण उन्हें पुण्य-पापका संसर्ग नहीं है। जैसे चन्द्रमा सबके मनका अधिष्ठाता है, वैसे ही भगवान् सभीके अन्तरात्मा हैं। जैसे सभी सम्भोगोंमें मनकी अपेक्षा है, उससे भी अधिक सभी सम्भोगोंमें अन्तरात्माकी अपेक्षा है; क्योंकि अनुकूल-प्रतिकूल शब्दस्पर्शादि विषय तथा सुख-दु:खादिका साक्षात्कार अन्तरात्माके ही अधीन है। शब्दादि विषयोंके आकारसे आकारित वृत्तिमान् अन्त:करण, आत्मचैतन्य-ज्योतिसे देदीप्यमान होकर ही शब्दादि-विषयका प्रकाशन करता है। भगवान् श्रीकृष्ण समस्त प्राणियोंके अन्तरात्मा हैं, यह बात भी श्रीमद्भागवतके निम्नलिखित वचनोंसे स्पष्ट है—

गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक्॥
कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥

(श्रीमद्भा० १०।३३।३६; १०।१४।५५)

जबकि प्राणिमात्रके लिये जल, तेज तथा वायुका सर्वांगीण स्पर्श अनिवार्य है, तब ऐसी कौन-सी पतिव्रता है, जिसके सर्वांगका स्पर्श वायु, आकाश आदिसे न होता हो? फिर भगवान् श्रीकृष्ण तो आकाश और अहंतत्त्व, महत्तत्त्व तथा अव्यक्ततत्त्व इन सभीके अधिष्ठान और इन सभीसे आन्तर हैं। इस बातका भी वहीं उल्लेख है, जहाँ श्रीकृष्णकी चीरहरण और रासक्रीड़ाप्रभृति लीलाओंका वर्णन है।

सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः।
तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतद् वस्तु रूप्यताम्॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।५७)

समस्त वस्तुओंका याथात्म्य उनके कारणमें ही पर्यवसित है। उस कारणका भी पर्यवसान जहाँ है, वही कार्यकारणातीत सर्वाधिष्ठान परमतत्त्व श्रीकृष्ण हैं। फिर उनसे भिन्न कौन-सा तत्त्व है, जिसका निरूपण किया जाय? अत: सर्वान्तरात्मा श्रीकृष्णके साथ भेद ही क्या हो सकता है? अत: उनके सन्निधानमें निष्कपट और निरावरण होनेसे ही जीवका परम कल्याण होता है।

भगवत्साक्षात्कारके लिये भगवल्लीलाओंका श्रवण-कीर्तन अनिवार्य है

भगवान्‌की अचिन्त्य महाशक्तिरूपा योगमाया श्री, भू और लीलारूपा है। इनमेंसे प्रधानतया लीलाशक्तिका आश्रय लेकर भगवान्‌ने रमणकी इच्छा की। पहले जहाँ मुमुक्षुरूपा प्रजाका उल्लेख किया है, वहाँ **'योगमायामुपाश्रितः'** इस पदका तात्पर्य इस प्रकार समझना चाहिये—**'योगाय स्वस्मिन् योजनाय या माया कृपा'** अर्थात् योग—अपनेमें जोड़नेके लिये जो माया (कृपा); अथवा **'योगाय स्वलीलासुखे योजनाय या माया कृपा'**—योग अर्थात् अपने लीलासुखमें युक्त करनेके लिये जो कृपा अथवा **'यः भगवान् अगमायामुपाश्रितः'**—जो भगवान् अगमामें उपाश्रित हैं, उन्होंने रमणकी इच्छा की। अगमा क्या है? **'न गच्छति चलति इति अगः कूटस्थं ब्रह्म, तस्य या प्रमा'** अर्थात् जो गमन नहीं करता, उस कूटस्थ ब्रह्मका नाम अग है, उसकी प्रमा यानी अपरोक्ष साक्षात्कार ही अगमा है; **'तस्यां' 'अगमायां तत्सम्पादने मुमुक्षुभिरुपाश्रितः यः सः'**—उस अगमामें अर्थात् उसका सम्पादन करनेमें जो मुमुक्षुओंद्वारा आश्रय किया जाता है, उस परब्रह्मने मुमुक्षुओंपर अनुग्रह करनेके लिये ही रमण करनेको मन किया; क्योंकि सच्चिदानन्दरूप श्रीहरिका अपरोक्ष साक्षात्कार उनकी लीला-कथाओंके अनुशीलनसे ही होता है।

पानेन ते देव कथासुधायाः
प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये।
वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं
यथाञ्जसान्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यम्॥
तथापरे चात्मसमाधियोग-
बलेन जित्वा प्रकृतिं बलिष्ठाम्।
त्वामेव धीराः पुरुषं विशन्ति
तेषां श्रमः स्यान्न तु सेवया ते॥

(श्रीमद्भा० ३।५।४५-४६)

भाव यह है कि हे देव! कोई तो आपके

कथामृत-पानसे बढ़ी हुई भक्तिके कारण विशुद्धान्त:करण होकर, वैराग्य ही जिसका सार है. ऐसा बोध प्राप्त करके आपके निर्द्वन्द्व धामको प्राप्त होते हैं और कोई आत्मसंयमके द्वारा समाधि-लाभकर उससे प्रबल प्रकृतिको जीतकर परमपुरुष आपको ही प्राप्त होते हैं। किंतु उन्हें श्रम होता है और आपकी सेवामें कोई कष्ट नहीं होता।

इससे सिद्ध होता है कि भगवान्‌ने यह लीला मुमुक्षुओंके कल्याणके ही लिये की थी, जिससे वे उस लीला-कथाका पान करते हुए भगवान्‌को प्राप्त कर सकें।

और यदि '**अयोगमायामुपाश्रितः**' ऐसा पद समझा जाय तो '**न युज्यते उपाधिसङ्गं न प्राप्नोति इति अयोगः तस्य या प्रमा तस्यामुपाश्रितः**' अर्थात् जो उपाधिसंसर्गको प्राप्त नहीं होता, उसकी प्रमा अर्थात् अपरोक्षानुभवके लिये जो मुमुक्षुओंद्वारा आश्रित है। अथवा '**योगः उपाध्यध्यासः तस्य अभावः अपवादः अयोगः**'—उपाधिजनित अध्यासके अभावका ही नाम अयोग है, उसकी जो प्रमा है, उसका नाम अयोगमा है, उस अयोगमाके लिये भगवान् मुमुक्षुओंद्वारा उपाश्रित हैं, उन्होंने रमणकी इच्छा की; क्योंकि यह नियम है कि उपाधिजनित अध्यासका निराकरण सूक्ष्मातिसूक्ष्म परब्रह्मके ज्ञानसे ही होता है। यह ज्ञान कब होता है? इस विषयमें भगवान् स्वयं कहते हैं—

यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ
मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः ।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं
चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम् ॥

(श्रीमद्भा० ११।१४।२६)

अर्थात् मेरी पवित्र गाथाओंके श्रवण और कीर्तनद्वारा जैसे-जैसे यह अन्तरात्मा स्वच्छ होता जाता है, वैसे-वैसे ही साधक सूक्ष्म-वस्तुका साक्षात्कार करता जाता है, जिस प्रकार कि अंजनयुक्त नेत्र।

अत: उपाध्यध्यासकी निवृत्तिका एकमात्र साधन भगवल्लीलाओंका अभ्यास ही है। श्रीमद्भागवत (१०।२।३५)-में कहा है—

सत्त्वं न चेद्धातरिदं निजं भवेद्
विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनम् ।
गुणप्रकाशैरनुमीयते भवान्
प्रकाशते यस्य च येन वा गुणः ॥

हे भगवन्! यदि आप यह लीलामय विग्रह धारण न करें तो अज्ञानका भेदन करनेवाले विज्ञानकी सफाई ही हो जाय। यदि कोई कहे कि हम अनुमान कर लेंगे; क्योंकि चक्षु, श्रोत्र एवं त्वचा आदि इन्द्रियोंद्वारा जो विषयोंका ग्रहण हुआ करता है, वह आत्मतत्त्वके अस्तित्वका द्योतक है। जिस प्रकार शीतलता और उष्णतासे रहित लोहपिण्डमें दाहकत्व एवं प्रकाशकत्व देखकर वहाँ दाहकत्व-प्रकाशकत्व समर्पण करनेवाले नित्य-दाहकत्व-प्रकाशकत्व-गुणविशिष्ट अग्निका अनुमान होता है, उसी प्रकार इन्द्रियोंके विषयप्रकाशनसामर्थ्यसे चिन्मय आत्माका अनुमान होता है। साथ ही जिस प्रकार यह देखा जाता है कि लोहपिण्डादिमें जो दाहकत्व-प्रकाशकत्व है, वह सातिशय है और अग्निमें निरतिशय, उसी प्रकार यह भी अनुमान किया जा सकता है कि इन्द्रियादिका प्रकाशक आत्मा निरतिशय-ज्ञानमय है। परंतु यह केवल अनुमान ही तो है, इसे साक्षात्कार नहीं कह सकते। अत: यदि साक्षात्कार करना है तो भगवान्‌की लीला आदिका श्रवण करना चाहिये। इससे प्रेमकी अभिवृद्धि होगी। प्रेमसे चित्तमें शिथिलता आयेगी, इससे वह निर्वृत्तिक होगा और निर्वृत्तिक चित्तपर ही परब्रह्मका प्रकाश होगा। अत: भगवत्साक्षात्कारके लिये भगवल्लीलाओंका श्रवण-कीर्तन अनिवार्य ही है। इसीसे भगवान्‌ने रमण करनेकी इच्छा की।

नेत्रोंके साफल्यका रहस्य

अब '**ताः रात्रीः वीक्ष्य**' इसपर कुछ और विचार करते हैं। '**रात्रीः परमरससमर्पयित्रीः**' अर्थात् परमानन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्ण और गोपांगनाओंको

परमरस समर्पण करनेवाली उन रात्रियोंको देखकर। यहाँ '**ताः**' शब्द विलक्षणताका द्योतक है। उनमें मुख्य विलक्षणता तो यही थी कि जिन भगवान् श्रीकृष्णके विप्रयोगमें गोपांगनाओंको एक-एक पल युगोंके समान बीतता था, उन्हींने इन रात्रियोंको अपने सहवास-सौभाग्यके लिये नियुक्त किया था। व्रजांगनाएँ संसारमें सबसे बड़ा सौभाग्य क्या समझती थीं? वे कहती हैं—

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः
सख्यः पशूननु विवेशयतोर्वयस्यैः।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणु जुष्टं
यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम्॥

(श्रीमद्भा० १०।२१।७)

यहाँ व्रजांगनाओंने संसारभरमें सबसे बड़ा फल यही बताया है कि जिन्हें विधाताने नेत्र दिये हैं, वे अपने समवयस्क बालकोंके साथ पशुओंको गोष्ठमें प्रवेश कराते हुए दोनों नन्दकुमारोंके अनुरक्त-कटाक्षमोक्षमण्डित वंशी-विभूषित मुखारविन्दका पान करें। इसके सिवा यदि कोई और भी फल हो सकता हो तो हम उसे जानतीं नहीं। स्मरण रहे, ये श्रुतियाँ हैं—साक्षात् श्रुतिदेवियाँ हैं, यदि ये ही नहीं जानतीं तो और कौन जानेगा?

इस श्लोकमें '**व्रजेशसुतयोः**' यह तो द्विवचन है, किंतु '**वक्त्रम्**' एकवचन है। इसका क्या रहस्य है? इसका तात्पर्य यह है कि गोपांगनाओंका अभिमत तो केवल भगवान् श्रीकृष्णका ही मुखचन्द्र है; परंतु परकीया थीं न, इसलिये अपना भाव छिपानेके लिये द्विवचन दिया। किंतु जबतक वे प्रेमातिशयसे विभोर न हुईं, तबतक तो भावगोपन कर लिया, पर प्रेमातिरेक होनेपर वे अपनेको न सम्हाल सकीं और उनके मुखसे '**वक्त्रम्**'...... '**अनुवेणु जुष्टम्**' निकल ही गया।

उस वेणुजुष्ट मुखका विशेषण '**अनुरक्तकटाक्ष-मोक्षम्**' दिया है। यह उसकी मधुरता और लावण्य सूचित करनेके लिये है अर्थात् जिन भगवान् श्रीकृष्णके मुखचन्द्रपर अनुरागिणी गोपांगनाओंके कटाक्षबाण छूटते थे; अथवा जिस मुखमें अनुरागिणी व्रजांगनाओंके लिये कटाक्षमोक्ष होता था। अतः भगवान्‌का रसस्वरूप मुख ही व्रजबालाओंका ध्येय है, उन्हें भगवत्सम्बन्ध ही परम अभिलषित था। इसीके लिये वे दूसरोंसे ईर्ष्या भी करती थीं। एक जगह वे कहती हैं—

धन्याः स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एता
या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम्।
आकर्ण्य वेणुरणितं सहकृष्णसाराः
पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः॥

(श्रीमद्भा० १०।२१।११)

उन्हें इस समय यह भी ध्यान नहीं था कि ये हरिणियाँ चेतन हैं या अचेतन और इन्हें वस्तुतः भगवान्‌के प्रति अनुराग है या नहीं। इसीसे वे कहती हैं कि इन हरिणियोंका जो प्रेमरसप्लुत नेत्रोंसे निरीक्षण है, उसके द्वारा वे मानो भगवान्‌की पूजा ही करती हैं। यही नहीं, वे वहाँकी भीलनियोंके सौभाग्यकी भी सराहना करती हैं—

पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जराग-
श्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन।
तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन
लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम्॥

(श्रीमद्भा० १०।२१।१७)

वृन्दारण्यके जो तृण-गुल्म-लतादि हैं, उनसे भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंका संयोग होनेके कारण उनमें जो भगवान्‌के पादपद्मोंमें लगा हुआ प्रियतमाओंका कुचकुंकुम लग गया है, उसके सौगन्ध्यसे विमुग्ध होकर कामज्वरसे सन्तप्त हुई भीलनियाँ उस कुंकुमको अपने हृदय और मुखमें लगाकर उस तापको शान्त करती हैं। वे बड़ी भाग्यशीला हैं।

उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णके साथ अनुरागिणी व्रजांगनाओंका संयोग करानेवाली इन रात्रियोंकी विलक्षणताका वर्णन कौन कर सकता है? जबसे भगवान्‌ने कहा था कि '**मयेमा रंस्यथ क्षपाः**' (श्रीमद्भा० १०।२२।२७) तभीसे गोपांगनाओंकी दृष्टि इन्हीं रात्रियोंपर लगी रहती थी। इन रात्रियोंका

सर्वत्र '**ताः इमाः**' आदि सर्वनामोंसे ही वर्णन किया गया है। एक बार भगवान्‌ने भी उद्धवजीसे कहा था—

तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता
मयैव वृन्दावनगोचरेण।
क्षणार्धवत्ताः पुनरङ्ग तासां
हीना मया कल्पसमा बभूवुः॥

(श्रीमद्भा० ११। १२। ११)

हे उद्धव! उन व्रजांगनाओंने अपने परम प्रियतम मेरे साथ वे अनन्तकोटि ब्राह्मी रात्रियाँ आधे क्षणके समान बिता दी थीं। जिस प्रकार समाधिस्थ योगियोंको अत्यन्त दीर्घ काल भी कुछ मालूम नहीं होता, उसी प्रकार मेरे साथ उन्हें वे रात्रियाँ कुछ भी न जान पड़ीं। किंतु अब मेरे बिना वे ही रात्रियाँ उनके लिये कल्पके समान हो जाती थीं।

यहाँ '**मया**' शब्दमें भी विलक्षणता है। इससे अस्मत्प्रत्ययगोचर शुद्ध परब्रह्म भी ग्रहण किया जा सकता है। उसके साथ योग होनेपर भी समय कुछ मालूम नहीं होता। अतः इससे पूर्ण योगीन्द्र भी ग्रहण किये जा सकते हैं। परंतु यहाँ अस्मत्प्रत्ययगोचर शुद्ध ब्रह्म अभिप्रेत नहीं है, बल्कि वृन्दावनगोचर परमानन्द-कन्द श्रीकृष्णचन्द्र ही अभिप्रेत हैं। फैली हुई वस्तु यदि इकट्ठी हो जाय तो उसमें कुछ विलक्षणता हो ही जाती है। अतः जो व्यापक पूर्णतत्त्व श्यामसुन्दररूपमें वृन्दारण्यमें गोचर हुआ, उसमें विलक्षणता होनी ही चाहिये।

अथवा '**वृन्दावने गाः चारयतीति वृन्दावन-गोचरः**'—वृन्दावनमें गौएँ चरानेके कारण भगवान् वृन्दावन-गोचर हैं। जो परब्रह्म निर्विशेष है, वही यदि वृन्दावनमें गौ चरानेवाला हो जाय तो उसके प्रति प्रेमातिशय होना ही चाहिये; क्योंकि निर्विशेष ब्रह्म स्वारसिकी प्रीतिका विषय नहीं हो सकता। उसका विषय तो यह वृन्दावनस्थ कृष्ण ही हो सकता है। स्वारसिकी प्रीति प्रायः सजातीयोंमें ही होती है। भगवान् श्रीकृष्ण प्रथम तो मनुष्यरूपमें अभिव्यक्त हुए; फिर गोप होनेके कारण उनके सजातीय ही थे। इसलिये ऐश्वर्यादिशून्य होनेके कारण उनके प्रति गोपोंका निःसंकोच भाव रहता था। इसीसे गोपालरूपसे प्रकट हुए भगवान्‌के प्रति उन गोपालिकाओंकी निःशंक प्रीति हुई।

अथवा '**वृन्दावने वृन्दावनवर्तिनां गाः इन्द्रियाणि चारयति स्वस्मिन् प्रवर्तयति इति वृन्दावनगोचरः**'—

वे वृन्दावनवर्ती गोप, बालक, गोपांगना, वत्स, पशु, पक्षी और सरीसृप सभीकी इन्द्रियोंको अपने प्रति प्रवृत्त करते हैं, इसलिये वृन्दावनगोचर हैं। अहो! जो भगवान् ब्रह्मादिकी भी इन्द्रियोंके अगोचर हैं, जो बड़े-बड़े योगीन्द्र-मुनीन्द्रोंकी इन्द्रियोंके भी विषय नहीं होते, वे ही अपनी असीम कृपासे वृन्दावनवर्ती जीवोंकी समस्त इन्द्रियोंके विषय हो रहे हैं। इसीसे कहा है—

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या
दास्यं गतानां परदैवतेन।
मायाश्रितानां नरदारकेण
साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। ११)

उन परम पुण्यवान् व्रजवासियोंने उन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके साथ क्रीड़ाएँ कीं, जो सत्पुरुषोंके लिये साक्षात् ब्रह्मानन्दमूर्ति, भावुक भक्तोंके परम इष्टदेव और मायामोहित पुरुषोंके लिये नरबालक थे। भावुकोंका तो ऐसा कथन है कि जो ब्रह्म औपनिषदोंके लिये केवल वृत्तिव्याप्य है, बड़े-बड़े भक्तोंकी भी केवल भावनाका ही विषय है और जो अज्ञानियोंके लिये एक बालकमात्र है, वही जिन्हें खेलनेको मिल गया, उन व्रजवासियोंके सौभाग्यकी क्या महिमा कही जाय?

'ग्राम्यैः समं ग्राम्यवदीशचेष्टितः॥'

(श्रीमद्भा० १०। १५। १९)

उन गँवार ग्वालबालोंके साथ वे ग्रामीणोंकी-सी ही चेष्टाएँ किया करते थे। यह उनके प्रेमातिशयका ही फल था।

यदि कहो कि ऐसा हो ही नहीं सकता; क्योंकि **'न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य'** (कठ० २।३।९), **'यन्मनसा न मनुते'** (केन० १।१।५) इत्यादि वचनोंके अनुसार ब्रह्म तो समस्त इन्द्रियोंका अविषय है। वह वृन्दावनवासियोंकी इन्द्रियोंका विषय कैसे हो सकता है? तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि **'यन्मनसा न मनुते'** इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार वह समस्त इन्द्रियोंका अविषय होनेपर भी **'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या'** (कठ० १।३।१२)—इस श्रुतिके अनुसार सूक्ष्म बुद्धिका विषय तो है ही। इसी प्रकार वह प्रेमदृष्टिका भी विषय हो ही सकता है। जिस प्रकार **'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या'** इस श्रुतिको देखकर आप यह कल्पना करते हैं कि वह संस्कृत बुद्धिका ही विषय होता है, असंस्कृत बुद्धिका विषय नहीं होता, उसी प्रकार हम भी यह कह सकते हैं कि वह प्रेमदृष्टिका विषय है; क्योंकि इस सम्बन्धमें ये वाक्य प्रमाण हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥

(गीता ११।५४)

'नित्याव्यक्तोऽपि भगवानीक्ष्यते निजभक्तितः॥'

यदि कहो कि नहीं, मनसे ब्रह्म नहीं देखा जा सकता। **'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या'** इस वाक्यका अर्थ केवल इतना ही है कि महावाक्यके श्रवणसे ब्रह्मका आवरण निवृत्त होता है; फिर तो स्वयंप्रकाश ब्रह्मका स्वतः ही स्फुरण हो जायगा तो हम भी यही कह देंगे कि ब्रह्म स्वयंप्रकाश है, प्रेमदृष्टिसे केवल उसका आवरण निवृत्त हो जाता है। अब यदि तुम्हारा ऐसा विचार हो कि इन्द्रियगोचरत्वरूप हेतुके कारण ब्रह्म मिथ्या है तो ऐसा सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि इन्द्रियोंकी अविषयता तो परमाणुओंमें भी है तथापि वे मिथ्या नहीं माने गये हैं। अतः इन्द्रियगोचरतारूप हेतु मिथ्यात्वका साधक नहीं है।

इससे सिद्ध हुआ कि श्रीकृष्णके सहवासके कारण ही व्रजांगनाओंने अनन्तकोटि ब्राह्मी रात्रियाँ क्षणार्धके समान बिता दी थीं और अब उनके बिना ही उन्हें साधारण रात्रियाँ भी कल्पके समान हो रही हैं। अतः जिन रात्रियोंने उन्हें इतना सुख पहुँचाया वे अवश्य विलक्षण ही थीं।

इसका एक दूसरा तात्पर्य भी हो सकता है। महाराज परीक्षित्‌को एक बड़ा सन्देह था। उनके मनमें इस बातका बड़ा उद्वेग था कि भगवान् तो बड़े ही भक्तवत्सल हैं, उन्होंने सदा ही भक्तोंके ऊपर बड़ा अनुग्रह प्रदर्शित किया है; नन्द, उपनन्द आदि वृद्ध गोपोंको तो उन्होंने अपनी दिव्यातिदिव्य लीलाएँ दिखाकर परमानन्द प्रदान किया तथा उन्हें ब्रह्महृद और महावैकुण्ठका भी दर्शन कराया; परंतु जो गोपांगनाएँ अनेक जन्मोंसे उनकी मधुरभावसे उपासना कर रही थीं, जिनमें अन्यपरा श्रुतियाँ, ऋषिचरी और देवकन्या आदि साधनसिद्धा व्रजांगनाएँ सम्मिलित हैं, यहाँतक कि उनमेंसे अनेकोंने तो भगवत्संस्पर्शकी कामनासे ललिता, विशाखा आदि यूथेश्वरियोंकी ही उपासना की थी—उन सबकी ओरसे न जाने भगवान् क्यों उदासीन थे? उनकी मनोकामना भी तो पूर्ण होनी ही चाहिये थी। भगवान् तो आप्तकाम हैं, फिर गोपांगनाओंकी मनोकामना कैसे पूर्ण हो? गोपांगनाओंकी तो यह अभिलाषा बहुत समयसे थी, किंतु जबतक भगवान्‌को रमणाभिलाष न हो, तबतक उसकी पूर्ति कैसे हो सकती है? परीक्षित्‌को यह सन्देह हो ही रहा था कि श्रीशुकदेवजी बोल उठे—

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥

(श्रीमद्भा० १०।२९।१)

तात्पर्य यह है कि **'भगवानपि उपाश्रितः उपासितः मायां वीक्ष्य ता रात्रीश्चक्रे'**—उनके द्वारा इस जन्म और पूर्वजन्मोंमें उपासित हुए भगवान्‌ने भी मायाकी ओर देखकर वे विलक्षण रात्रियाँ बनायीं।

व्रजांगनाओंके विविध भेद

इन मुनिरूपा और श्रुतिरूपा व्रजांगनाओंके भी कई भेद हैं। श्रुतिरूपा व्रजांगनाओंमें जो अनन्यपरा हैं,

उनमें भी मानिनी और मुग्धा—ये दो भेद हैं। जो श्रुतियाँ निषेधमुखसे परब्रह्मका प्रतिपादन करती हैं, वे मानिनी हैं; जैसे '**नेति नेति**', '**अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्**' (कठ० १।३।१५) इत्यादि। भावुकोंने इसके बड़े विलक्षण तात्पर्य व्यक्त किये हैं। जिस प्रकार मानिनी नायिका ऊपरसे अनभिलाष दिखलाते हुए भी भीतरसे सर्वथा नायकका ही अनुकरण करती है, उसी प्रकार ये निषेधमुख श्रुतियाँ भी 'न-न' करके ही अपने परम ध्येय परब्रह्मका प्रतिपादन करती हैं। 'नेति-नेति' वचनामृत बोलती तथा मुग्धा साक्षात् रूपसे परब्रह्मका निरूपण करती हैं; जैसे '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**', (तैत्तिरीय० २।१) '**यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म**' इत्यादि।

इसके सिवा जो अन्यपरा श्रुतियाँ, मुनिचरी और देवकन्यारूपा व्रजांगनाएँ हैं, उनमें कोई तो सख्यभाववाली हैं और कोई कान्तभाववाली हैं। इनमें सख्यभाववती परिपक्वा हैं और कान्तभाववती अपरिपक्वा हैं। सख्यभाववालियोंका नित्य निकुंज-लीलामें भी प्रवेश है; क्योंकि उनका व्रत तत्सुखसुखित्व है तथा जो कान्तभाववती हैं, वे भी ललितादिकी उपासना करके सख्यभाववती हो जाती हैं; जैसा कि कहा है—

मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽबला:।
ब्रह्म मां परमं प्रापु: सङ्गाच्छतसहस्रश:॥

(श्रीमद्भा० ११।१२।१३)

अर्थात् जो मेरेमें जारभाव रखनेवालीं और मेरे स्वरूपको नहीं जानती थीं, वे भी यूथेश्वरी आदिके संगसे मुझ परब्रह्मको प्राप्त हो गयीं।

इसका यह भी तात्पर्य है कि जो पहले कान्तभाववाली थीं, वे पीछे सख्यभाववाली हो गयीं। तब इसी श्लोकका दूसरे प्रकारसे अर्थ किया जायगा। '**मम इमा: मत्का:**'—जो मेरी ममताकी आस्पद हैं; मैं स्वयं बड़े-बड़े योगीन्द्रोंकी ममताका आस्पद हूँ, और उनमें मेरी भी ममता है और अबला हैं; '**बलं आत्मनिष्ठादाढर्यं तच्छून्या:**' अर्थात् आत्मनिष्ठाकी परिपक्वतासे रहित हैं; और मेरी प्राप्ति आत्मनिष्ठोंको ही होती है; क्योंकि श्रुति कहती है—'**नायमात्मा बलहीनेन लभ्य:**'। (मुण्डक० ३।२।४) इसीसे यह भी कहा है—'**पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्**' अर्थात् उपक्रमोपसंहारादि षड्विध लिंगसे श्रुतियोंका परम तात्पर्य ब्रह्ममें निश्चितकर फिर बाल्यसे—बालभावसे यानी संशय-विपर्ययरहित होकर स्थित हो। इस प्रकार जो मदीया होनेपर भी मेरेमें पूर्णतया परिनिष्ठिता नहीं है अथवा मेरे प्रति पूर्ण आत्मीयताका भाव नहीं रखतीं और कैसी हैं? '**अस्वरूपविद:**' अर्थात् मैं शुद्ध-बुद्ध-परब्रह्म हूँ, ऐसा नहीं जानतीं अथवा जिन्हें मेरी परम प्रेमास्पदताका ज्ञान नहीं है; क्योंकि भगवान्‌के साथ प्रेम-सम्बन्ध हो जानेपर तो भक्त उनपर अपना अधिकार समझने लगता है; तब तो भक्तवर बिल्वमंगलकी तरह वह भी कहने लगता है—

हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥

फिर तो विवश हो जानेके कारण उसके हृदयसे हरि कभी हटते ही नहीं।

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा-
द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाश:।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्म:
स भवति भागवतप्रधान उक्त:॥

(श्रीमद्भा० ११।२।५५)

जिस प्रकार पिघली हुई लाखमें यदि हल्दी मिला दी जाय तो फिर उन दोनोंका पार्थक्य नहीं हो सकता, उसी प्रकार भक्तके द्रवीभूत मनसे जब भगवान्‌के स्वरूपका तादात्म्य हो जाता है तो उनका कभी विप्रयोग नहीं होता। फिर भक्तहृदय भगवान्‌को नहीं भूल सकता और भगवान् भक्तके हृदयको नहीं छोड़ सकते। उन गोपांगनाओंका भाव इतना प्रौढ़ नहीं हुआ था; इसीसे वे अबला और अस्वरूपविद् थीं; किंतु उन्होंने भी '**ब्रह्म मां परमं प्रापु:**'—मुझ परब्रह्मको प्राप्त कर लिया। कौन ब्रह्म? '**परमम्**'—'**परा उत्कृष्टतमा अभिमता मा श्रीराधा यस्य तम्।**'

अर्थात् जिसको पराशक्ति मा*—श्रीराधिकाजी ही अभिमत हैं, उस परम ब्रह्मको प्राप्त कर लिया। यह अर्थ सख्यभाववती गोपांगनाओंके लिये अनुकूल ही है; क्योंकि श्रीवृषभानुसुता स्वाधीनभर्तृका होनेके कारण मुख्य नायिका हैं; अत: वे ही भगवान्की परम प्रेयसी हैं। शेष सब सखियाँ कान्तभावशून्य सख्यभाववाली हैं; इसलिये वे उन सबकी भी सेव्य हैं।

वह परब्रह्म कैसा है? '**मा रमणम्—मायां रमणं यस्य**' अर्थात् जिसका ब्रह्माकारप्रमा अथवा श्रीवृषभानुनन्दिनीमें रमण है और कैसा है-'**जारम्**' अर्थात् जो जारबुद्धिसे वेद्यमात्र है, वस्तुत: जार नहीं; क्योंकि परमात्मा है। अथवा '**जरयति कामवासनाम् इति जारम्**' कामवासनाको जीर्ण कर देता है; इसलिये ब्रह्म जार है। ऐसे मुझ परब्रह्मको '**ता: शतसहस्रश: सङ्गात्प्रापु:**'—उन सैकड़ों-हजारों गोपांगनाओंने (ललितादिके) संगसे प्राप्त कर लिया अर्थात् पहले वे कान्तभाववाली थीं, किंतु इनके सहवाससे सख्यभाववाली हो गयीं।

रासकी रात्रियोंकी विलक्षणता

'**ता:**' शब्द विलक्षणताका द्योतक है—यह बात ऊपर कही जा चुकी है। उन रात्रियोंकी विलक्षणताका यद्यपि पहले भी वर्णन किया जा चुका है तथापि यहाँ हम फिर उनकी कुछ विलक्षणताओंका विचार करते हैं। उनमें एक तो यह बहुत बड़ी विलक्षणता थी कि अनन्तकोटि ब्राह्मरात्रियोंका एक ही समयमें निर्माण हुआ और वे सब-की-सब पूर्णचन्द्रसम्पन्ना थीं। यद्यपि दक्षप्रजापतिके शापके कारण चन्द्रमाकी पूर्णता स्थायी नहीं है तथापि यहाँ भगवान्ने जो रात्रियाँ बनायीं, वे सभी पूर्णचन्द्रसमलंकृता थीं। साथ ही एक विशेषता और भी थी। अन्य रात्रियोंमें चन्द्रमा पूर्व दिशामें उदित होकर जब मध्याकाशमें पहुँच जाता है तो फिर वह जैसे-जैसे पश्चिमकी ओर जाता है, वैसे-वैसे ही उसकी ज्योति क्षीण होने लगती है; परंतु इन रात्रियोंमें चन्द्रमाकी गति केवल मध्याकाशपर्यन्त ही थी। इसके सिवा एक विचित्रता यह भी थी कि रात्रियोंका अनुभव केवल व्रजांगनाओंको ही हुआ था और सबके लिये तो वह एक प्राकृत रात्रि ही थी। यदि सबको ऐसा ही अनुभव होता तो इतने समयतक पुत्रप्राणा यशोदा और स्नेहमूर्ति नन्दबाबा किस प्रकार अपने लाड़ले लालका पार्थक्य सहन कर सकते? यह नियम है कि जब किसी दरिद्रको कोई महामूल्य रत्न मिल जाता है तो वह पल-पलमें उसकी सँभाल करता रहता है। इसी प्रकार माता यशोदा और नन्दबाबा भी अचिन्त्यानन्दघन परमानन्दमूर्ति भगवान् कृष्णको पुत्ररूपसे पाकर पल-पलमें उनका मुखचन्द्र निहारनेको लालायित रहते थे और रात्रिमें भी कई बार उठकर अपने लालकी देख-रेख करते थे। अत: उस रात्रिमें ही वे इतनी देर कैसे सोते रह सकते थे? परंतु वे जब उठे तभी उन्होंने श्रीकृष्णको अपने पास ही देखा। इस प्रकार ये रात्रियाँ बड़ी ही विचित्र थीं। इन्हीं रात्रियोंमें अनन्तकोटि व्रजांगनाओंकी चिरकालीन कामना पूर्ण हुई थी।

इस सम्बन्धमें एक और भी विचार है। किन्हीं-किन्हींका मत है कि उस रात्रिमें शरद्, वसन्त और ग्रीष्म—इन तीनों ऋतुओंकी १८० रात्रियोंका अनुभव हुआ था और उनमें तीनों ही ऋतुओंकी रमणोपयोगी सामग्रियाँ विद्यमान थीं। रात्रियोंका नाम दोषा है। उनमें सदा ही कुछ-न-कुछ दोष रहते ही हैं, इससे रात्रिमें बहुत-से भय भी रहते हैं, किंतु भगवान्ने उन सब दोषोंकी निवृत्तिके लिये ये निर्दोष रात्रियाँ बनायीं। उनमें उपर्युक्त तीनों ऋतुओंकी रात्रियोंके समस्त गुण तो थे; किंतु दोष कोई न था। कोई ऐसा भी कहते हैं कि तीन ही क्या, उनमें तो सभी ऋतुओंकी रात्रियोंका निवेश किया गया था; क्योंकि वहाँ सभी ऋतुओंमें सेवन करनेयोग्य भोग्य-सामग्री देखी जाती है।

इसके सिवा '**उत्फुल्लमल्लिका:**' इस विशेषणका भी यही तात्पर्य है कि उन रात्रियोंमें मल्लिकोपलक्षित सभी पुष्प खिले हुए थे। बहुत-से

* मीयते सेव्यते प्राप्यते ज्ञायते योगीन्द्रमुनीन्द्रैर्वेदैश्च या सा मा।

पुष्प ऐसे हैं, जो रात्रिमें नहीं खिलते, परंतु वहाँ कुन्द और कुमुद साथ-साथ खिले हुए थे। जैसे—

'रेमे तत्तरलानन्दकुमुदामोदवायुना॥'

(श्रीमद्भा० १०।२९।४५)

और—

'कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः॥'

(श्रीमद्भा० १०।३०।११)

इससे सिद्ध क्या होता है? सो बतलाते हैं— वसन्त-ऋतु कामदेवका मित्र है। वह अभीतक अपने मित्रके वियोगमें सन्तप्त था। आज उसने सोचा कि जो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अपनी सौन्दर्य-सुधासे आत्माराम मुनियोंके भी मनोंको मोहित करनेवाले हैं, आज वे ही श्रीवृषभानुनन्दिनी और उनकी सहचरियोंके सौन्दर्यकणसे मोहित हो रहे हैं—**'तद्वशो दारुयन्त्रवत्।'** अतः सम्भव है, आज परमानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र और व्रजसुन्दरियोंके सम्प्रयोगमें हमारे परम मित्र मनोजका उद्भव हो जाय। अतः इनके स्वागतके लिये हमें भी खूब तैयारी करनी चाहिये। इसीसे मानो मनोजमित्र ऋतुराजने सारे पुष्पोंको एक साथ विकसित कर दिया है। यद्यपि शरद्-ऋतुमें पुष्पोंका विकास रुक जाता है तथापि पुष्पविकासके विरोधी जाड्यमय शरद्-ऋतुमें भी मल्लिकादि उपलक्षित समस्त पुष्प खिल गये अर्थात् उस जाड्यमय समयमें भी पुष्पोंका विकास ही नहीं हुआ, प्रत्युत वे अत्यन्त विकसित हो उठे। किन्हीं-किन्हींका कथन है कि मल्लिकापुष्प शरद्-ऋतुमें फुल्लित होते हैं, वसन्तमें उन्मुख होते हैं और ग्रीष्ममें उत्फुल्ल हो जाते हैं; अतः यहाँ उत्फुल्लमल्लिका कहकर विरोधाभास द्योतित किया है। इससे सूचित होता है कि यहाँ शरद्में वसन्त-ऋतुका निवेश किया था।

साथ ही वसन्तने यह भी सोचा कि भगवान् श्रीकृष्ण हमारे मित्र कामदेवको परास्त करनेका आयोजन कर रहे हैं। वह उनका प्रभाव जानता ही था। उसे यह मालूम था ही कि इन्होंने इन्द्र और ब्रह्माका भी मान-मर्दन कर दिया है। यही दशा कुबेर और वरुणकी भी हुई थी। अब ये सबपर विजय प्राप्त करके हमारे मित्रको भी जीतना चाहते हैं; परंतु वे भी किसीसे कम नहीं हैं। वे भी ब्रह्मादि-विजय-संरूढदर्प हैं। अतः वसन्तने सोचा कि यह बड़ा विकट युद्ध होगा। इसलिये हमें मित्रवर मनोजकी सहायता करनी चाहिये; क्योंकि—

धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपद काल परिखिअहिं चारी॥

(रा०च०मा० ३।५।७)

अच्छा तो, हमें क्या करना चाहिये? वीरोंके लिये सबसे बड़ी सहायता यही है कि उनके पास अस्त्र-शस्त्रोंकी कमी न रहे। हमारे मित्र पुष्पधन्वा हैं और उनके शस्त्र भी पुष्प ही हैं। अतः उनकी सहायताके लिये मुझे समस्त वृन्दारण्यको विविध प्रकारके सुन्दर और सुवासित सुमनोंसे सुसज्जित कर देना चाहिये। इसीसे उसने यथायोग्य कालकी अपेक्षा न करके सब प्रकारके पुष्पोंको विकसित कर दिया है। कामोद्रेकके आलम्बन-विभाव नायकके लिये नायिका और नायिकाके लिये नायक हैं तथा पुष्प, चन्द्रज्योत्स्ना, मलयानिल आदि उसके उद्दीपन-विभाव हैं। पुष्प तो साक्षात् कन्दर्पके बाण ही हैं। उनमें कुन्दकुड्मल तो शूलका काम करता है, जो उद्दीपन-विभाव नायक-नायिकाके संयोगमें रसवृद्धि करनेवाले हैं, वे ही उनका वियोग होनेपर अत्यन्त दुःखद हो जाते हैं। उस अवस्थामें कुन्दकुसुम शूल हो जाते हैं, केवल (केवड़ा) भालेका काम करता है और किंशुक (पलाशपुष्प) मानो अर्धचन्द्र बाण हो जाता है। किंशुकपुष्प रक्तवर्ण होता है, सो मानो वह विरहियोंका वक्षस्थल विदीर्ण करके उनके रक्तसे रंजित हो रहा है। इसी प्रकार अन्य पुष्पोंमें भी विभिन्न शस्त्रास्त्रकी कल्पना कर लेनी चाहिये। भगवान्की रची हुई ये रात्रियाँ प्राकृत नहीं थीं। अप्राकृत भगवान्के साथ अप्राकृत गोपांगनाओंकी यह अप्राकृत लीला अप्राकृत रात्रियोंमें ही होनी चाहिये थी। अतः भगवान्ने उन अप्राकृत रात्रियोंका निर्माण किया।

इस प्रकार भगवान्ने रात्रियाँ तो बना लीं; परंतु

उनको अपना मन तो है नहीं, '**अप्राणो ह्यमना शुभ्रः।**' इसलिये उन्होंने '**मनश्चक्रे**' मन भी बनाया। तात्पर्य यह है कि अभीतक तो यही समझा जाता था कि भगवान् देह-देही-विभागसे रहित हैं; वे केवल भक्तानुग्रहके लिये ही शरीरादिमान्से प्रतीत होते थे। परंतु यह लीला इस तरह नहीं होगी। यहाँ तो उन्हें व्यासक्तचित्त होना पड़ेगा। यदि अमना भगवान् रमण करेंगे तो व्रजांगनाओंकी कामना पूर्ण न होगी। इसीसे उन्होंने मन भी बनाया।

परंतु बनाया कैसे? '**योगमायां वीक्ष्य**'—योगमायाकी ओर देखकर। इसमें उन्हें कोई कठिनता नहीं हुई; उन्होंने योगमायाकी ओर केवल देख दिया। उस निरीक्षणसे सब बात अपने-आप बन गयी। वह योगमाया क्या है? '**योगाय रमणाय अथवा अघटित-घटनाय या माया कृपा**' अर्थात् रमण अथवा अघटित घटनाके लिये जो माया यानी कृपा है, वही योगमाया है। यह ठीक ही है; क्योंकि अमनाका मनोनिर्माण और दोषा रात्रियोंको निर्दोष बनाना अघटितघटना ही तो है।

ऊपर जो विवेचन किया गया है, उसके अनुसार '**शरदोत्फुल्लमल्लिकाः**' इस पदकी व्युत्पत्ति एक अन्य प्रकारसे भी हो सकती है।

यथा—

'शरान् ददातीति शरदः वसन्तः तेन उत्फुल्लानि मल्लिकोपलक्षितानि सर्वाणि पुष्पाणि यासु ताः।'

अर्थात् जो कामदेवको शर प्रदान करता है, वह वसन्त ही शरद् है, उसने जिन रात्रियोंमें मल्लिकासे उपलक्षित समस्त पुष्पोंको विकसित कर दिया है, वे रात्रियाँ ही 'शरदोत्फुल्लमल्लिका' हैं।

शरद्-ऋतु विशेषतया जड़ताकी सूचक होती है। अतः इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि इस लीलाके प्रभावसे जाड्यमय—मलविक्षेपादिसमाक्रान्त मनमें भी मल्लिकाके समान प्रेमत्वका विकास हो जाता है तथा भगवत्स्वरूप और भगवल्लीलाओंका अनुशीलन ही प्रधानतया प्रेमतत्त्वके आविर्भावमें हेतु है। प्रेमके आविर्भावमें जड़ाजड़का विचार भी नहीं है। इसीसे यहाँ दिखलाया है कि वृन्दावनमें जितने भी तृण-लता एवं वृक्षादि हैं, वे अचेतन नहीं, बल्कि चेतन ही हैं; यदि वे जड़ अर्थात् स्वभावपरतन्त्र होते तो शरद्-ऋतुमें असमय ही मल्लिकाओंका विकास कैसे होता? इन्हें अवसरका ज्ञान है और ये अपने स्वभावका भी विचार रखते हैं, इसीसे भगवल्लीलाका सुअवसर देखकर असमयमें भी वे पुष्पादि-सम्पन्न हो गये। इससे सिद्ध होता है कि व्रजके तरुवर एवं लताएँ भी चेतन ही हैं। इसीसे भगवान्ने बलभद्रजीका गुणकीर्तन करते हुए उनसे निवेदन किया था—'**प्रायो अमी मुनिगणा भवदीयमुख्या**' (श्रीमद्भा० १०।१५।६)—ये तरुवर सम्भवतः आपके प्रधान भक्त मुनिजन ही हैं। ये अपने आत्मभूत आपको किसी भी दशामें छोड़ना नहीं चाहते। अतः जिस प्रकार आप मनुष्याकार होकर गूढ़रूपसे लीला कर रहे हैं, उसी प्रकार ये भी वृक्षादिरूप होकर आपकी सेवामें उपस्थित हो गये हैं। ये अपनी पुष्पादि-सम्पन्न शाखारूप शिखाओंसे आपके पदतलसंस्पृष्ट पृथिवी-तलका स्पर्श करना चाहते हैं।

इसके सिवा एक अन्य प्रसंगमें यह भी कहा है कि ये वृक्ष मानो वेदद्रुम हैं, इनकी जो शाखाएँ हैं, वे मानो माध्यन्दिनी आदि वेदकी शाखाएँ हैं, पल्लव मानो उपनिषदें हैं और उनपर जो पक्षी हैं, वे मानो आत्माराम मुनिगण हैं—

'आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिरप्रवालान्
शृण्वन्त्यमीलितदृशो विगतान्यवाचः॥'

(श्रीमद्भा० १०।२१।१४)

'जो मनोहर-शोभारूप वृक्षकी भुजाओंपर आरूढ़ होकर अन्य किसी प्रकारका शब्द न करते हुए खुले नेत्रोंसे वंशीध्वनि श्रवण करते रहते हैं।' यहाँ '**अमीलितदृशः**' यह पद विशेष रहस्यपूर्ण है। यद्यपि कानोंसे मुरलीध्वनि सुनते समय नेत्रोंका व्यापार रुक जाता है; क्योंकि जिस समय मन एक इन्द्रियके विषयका आस्वादन करनेमें तत्पर है, उस समय वह

दूसरे इन्द्रियके विषयको किस प्रकार ग्रहण करेगा? किंतु आपके रूप-लावण्यका तो विलक्षण माधुर्य है; वह उनके नेत्रोंको बन्द ही नहीं होने देता। अत: मालूम होता है कि ये पक्षिगण अवश्य कोई भगवत्कथानुरागी मुनिजन ही हैं।

तात्पर्य यह है कि जहाँ भगवत्प्रकाश होता है, वहाँ सभी प्रकारके दोषोंका निराकरण होकर समस्त गुणोंका समावेश हो जाता है।

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुरा:।

(श्रीमद्भा० ५।१८।१२)

अर्थात् जहाँ श्रीहरिकी अनुरक्ति रहती है, वहाँ समस्त गुणोंके सहित सम्पूर्ण देव निवास करते हैं और वहाँ समस्त दोषोंका अभाव हो जाता है।

जो पुण्यात्मा लोग श्रीपुरुषोत्तमभगवान्‌के प्रति भक्तिभाव रखनेवाले हैं, उनमें न क्रोध रहता है, न मत्सरता रहती है और न लोभ या अशुभ मति ही रहती है—'**न क्रोधो न च मात्सर्यं न लोभो नाशुभा मति:।**' अत: यदि भगवल्लीलाके लिये रची हुई उन दिव्य रात्रियोंमें समस्त गुणोंका विकास हुआ तो आश्चर्य ही क्या है?

इसीसे यहाँ एक दूसरा अर्थ भी किया जाता है—

'य: अगमायामुपाश्रित:'—न गच्छन्तीति अगा: तत्रत्या: वृक्षा: तेषां या स्वविषयिणी मा मति: प्रेमवती बुद्धि: मा अगमा तस्याम् उपाश्रित: तन्निमित्तमेव भगवान् ता आहूय रन्तुं मनश्चक्रे।

अर्थात् जो विचलित नहीं होते, वे वहाँके वृक्ष ही '**अग**' हैं, उनकी जो अपने प्रति प्रेमवती बुद्धि है, वही '**मा**' है, उस अगमाका आश्रयकर अर्थात् उसीके लिये भगवान्‌ने उन गोपांगनाओंको बुलाकर रमण करनेकी इच्छा की।

इसका सीधा-सादा यह भी तात्पर्य हो सकता है कि भगवान्‌ने योगमायाका आश्रय लेकर उनके लौकिक-बन्धनोंका विच्छेद करनेके लिये उन्हें बुलाकर उनके साथ रमण करनेकी इच्छा की। भगवान्‌ने देखा कि ये गोपांगनाएँ जन्म-जन्मान्तरसे मेरी उपासना करनेके कारण मेरे साथ रमण करनेयोग्य हो गयी हैं, ये लोककृत लज्जादि-बन्धनके योग्य नहीं हैं, किंतु दूसरी ओर उन्होंने यह भी देखा कि वे लौकिक बन्धनोंसे बँधी हुई हैं। इस प्रकार उनका दोनों ओर खिंचाव है। तथापि वे हैं कैसी? '**रात्री:**' अर्थात् अपनेको और अपने सर्वस्वको मेरे ही पादपद्मोंमें समर्पण करनेवाली हैं। इनके धन, रूप और जीवन सब मेरे ही लिये हैं। इनकी दृष्टिमें मेरे बिना जीवनका कोई मूल्य नहीं है। उन्हें इस प्रकार उभयत: पाशरज्जुमें बँधा हुआ देखकर भगवान्‌ने अयोगाय—उनके लोक-कुल-लज्जादिरूप बन्धनके विच्छेदके लिये माया—कृपाका आश्रय लेकर उनके साथ रमणकी इच्छा की। इसीसे उन्होंने वेणुनादके द्वारा उनके लोक एवं कुल आदिके बन्धनोंको विच्छिन्न करके उन्हें प्रेमाकुल कर दिया।

अथवा—

'अयस्कान्तमणिं प्रति अयोवद् अच्छति स्वभक्तान् प्रति या सा अयोगा; अयोगा चासौ माया—कृपा अयोगामाया'—

जो अपने भक्तोंके प्रति इस प्रकार आकर्षित हो, जैसे लोहा चुम्बककी ओर, उसका नाम अयोगा है, ऐसी जो अयोगा माया—कृपा है, उसे ही अयोगमाया समझना चाहिये; क्योंकि भगवान्‌की कृपा भक्तोंके प्रति उसी प्रकार आकर्षित हो जाती है, जैसे चुम्बकके प्रति लोहा। यद्यपि भगवान्‌की कृपा सर्वदा सर्वत्र है तथापि उसका आकर्षण करनेमें भक्तजन ही समर्थ हैं। अत: भगवान् भी उसी कृपाके अधीन होकर उनके साथ रमण करनेको उद्यत हो गये; क्योंकि भगवान्‌की जो ऐश्वर्यशक्ति और मायाशक्ति हैं, वे भी अपनी नियन्त्री इस कृपाशक्तिके ही अधीन हैं।

अथवा परमानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रका जो दिव्य मंगलमय वपु है, वह अयस्कान्तमणिके समान है,

उसके प्रति जो '**अय:**'—लोहेके समान आकर्षित होती हैं, वे व्रजवनिताएँ ही अयोगा हैं। तात्पर्य यह है कि गोपांगनाएँ भगवान्‌के पास अपनी इच्छासे नहीं गयीं, बल्कि भगवत्सौन्दर्यरूप अयस्कान्तने उन्हें अपनी ओर आकर्षित कर लिया। अत: उनपर कृपा करके भगवान्‌ने वे रात्रियाँ बनायीं। अथवा—

'स्वेन सह युज्यन्ते ये ते योगा: गोपदारा:; तेषां या माया—कृपा तामुपाश्रित: योगमाया-मुपाश्रित:।'

अर्थात् जो अपनेसे युक्त होनेवाली हैं, वे गोपवधूटी ही 'योगा' हैं। उनके प्रति जो माया है, उसीका नाम योगमाया है। उसका आश्रय लेकर उन्होंने रमण करनेकी इच्छा की। इस प्रकार अयोग और योग—दोनों ही पदोंसे गोपांगनाएँ अभिप्रेत हैं। अत:—

'योगानामयोगानाञ्च या मा स्वविषयिणी प्रीतिमती* मा प्रमा स्निग्धा मानसी वृत्ति: सा योगमा।'

अर्थात् योग और अयोग, इन दोनोंकी ही जो अपने प्रति प्रेममयी मनोवृत्ति है, वह योगमाया है।

भक्ति और ज्ञान ये दोनों अन्त:करणके ही परिणाम हैं। परमप्रेमास्पद भगवान्‌का जो अत्यन्त उत्सुकतापूर्वक चिन्तन है, वही भक्ति है। इसी प्रकार प्रमा भी अन्त:करणकी ही वृत्ति है, परंतु जो मानसिक द्रवताकी अपेक्षासे रहित अन्त:करणकी प्रमेयाकाराकारित वृत्ति है, उसका नाम प्रमा है और जो प्रमाण अथवा संस्कारजनित द्रवताकी अपेक्षावाली प्रेमास्पदाकारा वृत्ति है, उसे भक्ति कहते हैं। वेदान्तमें जिन भक्ति और ज्ञानका विचार किया गया है उनके स्वरूप, साधन और फल श्रीमधुसूदन स्वामीने भिन्न-भिन्न बतलाये हैं। वे कहते हैं कि अन्त:करणकी जो सविशेष भगवदाकाराकारित स्निग्धा वृत्ति है, वह भक्ति है और जो अन्त:करणद्रवतानपेक्ष महावाक्यजनित निर्विशेष ब्रह्माकाराकारित वृत्ति है, उसे ज्ञान कहते हैं।

भक्तोंके तीन भेद

उनके कथनानुसार भक्तिके तीन भेद हैं—प्राकृता, मध्यमा और उत्तमा। उनमें प्राकृत भक्त वह है जो केवल भगवान्‌की प्रतिमाओंमें ही श्रद्धा रखता है और उन्हींकी पूजा करता है, भगवान्‌के भक्तों तथा अन्य पुरुषोंमें श्रद्धा नहीं रखता; यथा—

अर्चायामेव हरये पूजां य: श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्त: प्राकृत: स्मृत:॥

(श्रीमद्भा० ११। २। ४७)

जो ईश्वरमें प्रेम करता है, भगवान्‌के आश्रित रहनेवालोंके प्रति मित्रताका भाव रखता है, मूर्खोंपर कृपा करता है और भगवद्द्वेषियोंकी उपेक्षा करता है, वह मध्यम है—

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा य: करोति स मध्यम:॥

(श्रीमद्भा० ११। २। ४६)

उत्तम भक्त उसे कहते हैं, जो सम्पूर्ण प्राणियोंमें अपना भगवद्भाव देखता है और समस्त प्राणियोंको अपने आत्मारूप भगवान्‌में देखता है, जैसा कि कहा है—

सर्वभूतेषु य: पश्येद् भगवद्भावमात्मन:।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तम:॥

(श्रीमद्भा० ११। २। ४५)

ऊपरके श्लोकका तात्पर्य यह है—'**आत्मन: स्वस्य त्वंपदार्थस्य भगवद्भावं तत्पदार्थत्वं सर्वभूतेषु पश्येत्**' अर्थात् (जिस प्रकार उपाधिका बाध करने पर घटाकाशकी महाकाशरूपसे व्यापकता है, उसी प्रकार) जो समस्त प्राणियोंमें तत्पदार्थरूपसे त्वंपदार्थकी व्यापकता देखता है एवं भगवदभिन्न आत्मामें समस्त भूतोंको कल्पित रूपसे देखता है, अथवा '**आत्मनोऽन्तर्यामिणो भगवद्भावमैश्वर्यवत्त्वं नियन्तृत्वं सर्वत्र भावयति तथा भगवति परमैश्वर्यवत्यात्मनि आत्मनियम्यत्वेनाधेयत्वेन च भूतानि पश्येत्**' अर्थात् जो सर्वत्र आत्मा यानी अन्तर्यामीका भगवद्भाव—

* प्रीतिर्द्रुति: प्रणयो द्रवावस्था इति मधुसूदनस्वाम्युक्ते:।

ऐश्वर्यवत्त्व अर्थात् नियन्तृत्व देखता है और भगवान्—परम ऐश्वर्यवान् परमात्मामें उसके नियम्य और आधेयरूपसे समस्त भूतोंको देखता है, वही श्रेष्ठ भगवद्भक्त है।

इनमें जो उत्तमा भक्ति है, वह भी तीन प्रकारकी है। जहाँ भगवदाकाराकारित अन्तःकरणसे समस्त विद्यमान जगत्का भगवद्रूपसे ग्रहण किया जाय, वह प्रथम कोटिकी उत्तमा-भक्ति है। ऊपर जो उत्तमा-भक्तिका लक्षण बतलाया है, वह प्रथम कोटिकी ही है। दूसरी कोटिकी उत्तमा-भक्ति वह है, जहाँ भगवदाकाराकारित द्रुत अन्तःकरणसे प्रपंचमिथ्यात्व-निश्चयपूर्वक सबकी भगवद्रूपताका निश्चय किया जाय; जैसे कि कहा है—

तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं
स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्।
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते
मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।२२)

और जहाँ प्रपंचके मिथ्यात्व और सत्यत्व दोनों ही भावोंसे रहित द्रुतचित्तसे केवल भगवान्का ही ग्रहण हो, वह तीसरी कोटिकी उत्तमा भक्ति है; जैसे—

ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्जितचेतसा।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः॥
प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः।
आनन्दसम्प्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने॥

(श्रीमद्भा० १।६।१७-१८)

इस प्रकार द्रुतचित्तकी भगवदाकारा मानसी वृत्तिको 'मा' कहते हैं; अयोगोंकी जो मा—प्रीति अर्थात् मति है, वही 'अयोगमा' है, उस अयोगमामें उपाश्रित हुए अर्थात् व्रजांगनाओंकी ऐसी प्रीतिमती बुद्धिसे आकर्षित हुए भगवान्ने रमण करनेकी इच्छा की अर्थात् अपने प्रति जो ऐसी प्रीतिमती बुद्धि है, उसके परतन्त्र हुए भगवान् उन गोपांगनाओंका आवाहनकर उनके साथ रमण करनेकी इच्छा की; क्योंकि भगवान् प्रेम-मधु-मधुकर हैं और जो प्रेम-मधु-आकर सुमनसोंके सुमनस हैं, उनके प्रति भगवान्का आकर्षण होना उचित ही है। उधर जिनका चित्त समस्त सुमनाओंके सुमनस श्रीभगवान्के प्रति आकर्षित होता है, वे सुमना कहे जाते हैं। श्रीभगवान्के प्रति आकर्षित होना ही उनका सुमनस्त्व है। अतः शोभन स्वभाववालोंका सिद्धान्त यही है कि भगवान्से प्रीति करें। वही वाक् सुन्दर है, जिसे भगवान्का गुणगान होता है, वे ही कर्णपुट धन्य हैं, जिनसे भगवत्कथाओंका श्रवण होता है और वे ही चरण धन्य हैं, जिनसे भगवद्धामोंमें गमन होता है। इसीसे अर्जुनसे भी भगवान्ने यही कहा है—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

(गीता १२।८; १८।६५)

यह बात तो अमना भगवान्के विषयमें है। ये व्रजांगनाएँ तो सुमनसोंकी शिरोमणि हैं। अतः उनका जो मन है, वह तो प्रेमका आकर है ही। उनके प्रेमकणसे ही समस्त संसार प्रेममय हो रहा है। अतः इनके प्रेममधु-आकर मनका प्रेम-मधु-मधुप भगवान् समाश्रयण करेंगे ही। इसीसे भगवान्ने गोपांगनाओंका आह्वानकर उनके साथ रमण करनेकी इच्छा की।

अथवा '**योगमायामुपाश्रितः**'—इस पदका यह तात्पर्य समझो—'**अन्यत्र चञ्चलापि भगवत्यचञ्चला या मा सा अगमा तस्यामुपाश्रितो यः**' अर्थात् अन्यत्र चंचला होनेपर भी जो भगवान्के प्रति अचंचला है, उस मा—लक्ष्मीको अगमा कहते हैं। उस अगमामें जो भगवान् उपाश्रित हैं, उन्होंने रमणकी इच्छा की। यह बात गोपांगनाओंके प्रेमसौष्ठवकी द्योतक है। इसीके पोषणमें यह भी अर्थ किया जाता है—'**अगमा दुरवगममाहात्म्या या मा वृषभानुनन्दिनी तस्यामुपाश्रितः**'—जिन श्रीवृषभानुनन्दिनीका माहात्म्य अत्यन्त दुर्बोध है, उनमें आश्रित जो भगवान् उन्होंने

रमणकी इच्छा की। इसका तात्पर्य यह है कि लक्ष्मीजीका माहात्म्य तो सुज्ञेय है, किंतु श्रीवृषभानुनन्दिनीकी महिमा अत्यन्त दुर्बोध है; क्योंकि जिन श्रीभगवान्‌के कृपाकटाक्षकी अपेक्षा समस्त देवगण रखते हैं, वे ही इनके कृपाकटाक्षकी बाट निहारा करते हैं। वे वृषभानुनन्दिनी कैसी हैं? **'न गच्छतीति अगा, अगा अचला सदैकरूपा मा अङ्गशोभा सौन्दर्यलक्ष्मीः यस्याः सा'**—अर्थात् जिनके अंगकी शोभा सर्वथा अक्षुण्ण है, उन्हीं श्रीराधिकाजीके अद्भुत सौन्दर्य-माधुर्यसे मोहित हुए श्रीभगवान्‌ने उन्हें बुलाकर उनके साथ रमण करनेकी इच्छा की।

यहाँतक अज्ञ और मुमुक्षुओंकी दृष्टिसे अर्थ किये गये; अब मुक्तोंकी दृष्टिसे व्याख्या करते हैं—

'ताः ज्ञानीरूपाः प्रजा वीक्ष्य ता आहूय ताभिः सह रन्तुं मनश्चक्रे'—

उन ज्ञानीरूपा प्रजाओंको देखकर उनका आह्वानकर उनके साथ रमण करनेकी इच्छा की। वे ज्ञानीरूपा प्रजाएँ कैसी हैं?—**'ताः'**—तदात्मिका अर्थात् भगवद्रूपा हैं, क्योंकि ऐसा कहा भी है—**'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'**, (गीता ७। १८) **'एकभक्तिर्विशिष्यते'** (गीता ७। १७) इत्यादि और कैसी हैं?—**'रात्रीः'** अर्थात् भगवान्‌में अशेष-विशेष-समर्पण करनेवाली हैं। यहाँ पूर्ण स्वात्मसमर्पण है; क्योंकि अन्य-निष्ठाओंमें अपना पृथक् अस्तित्व रह ही जाता है अथवा **'रात्रीः'** पदका यह भी तात्पर्य हो सकता है कि वह आत्मस्वरूपा होनेके कारण रात्रियोंके समान हैं; क्योंकि ये आत्मस्वरूपा हैं और व्यवहारका अविषय होनेके कारण अज्ञानियोंके लिये आत्मा रात्रिरूप ही है अथवा यह भी तात्पर्य हो सकता है कि जितना व्यावहारिक प्रपंच है, वह जिसकी दृष्टिमें रात्रिरूप अर्थात् असत् है, वह ज्ञानीरूपा प्रजा रात्रि है अथवा जिस प्रकार रात्रि अस्पष्टप्रकाशवाली होती है, उसी प्रकार यह ज्ञानीरूपा प्रजा भी अस्पष्टप्रकाशा अर्थात् अव्यक्त गति है; जैसा कि कहा भी है—

'अव्यक्तलिङ्गा अव्यक्ताचाराः'

यन्न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम्।
न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित् स ब्राह्मणः॥

(नारदपरिव्राजकोपनिषद् ४। ३४)

पुनः यह ज्ञानीरूपा प्रजा कैसी है?

'शरद्यपि जाड्यमये अविद्यालेशावशेषयुक्तेऽपि अन्तःकरणे उत्फुल्लानि मल्लिकोपलक्षितशान्तिदान्त्याद्यशेषपुष्पाणि यासां हृदि इति शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।'

अर्थात् शरद्‌में यानी जिनके अविद्यालेशावशेषयुक्त अन्तःकरणमें भी शान्ति, दान्ति आदि मल्लिकोपलक्षित समस्त पुण्य विकसित हो रहे हैं।

अथवा—

'विवेकविचाररूपैः शरैरर्दिताः खण्डिताः इति शारदाः उत्फुल्लमल्लिकाः उत्फुल्लमल्लिकाद्युपलक्षितानि संसारसुखानि यासु।'

अर्थात् विवेक-विचाररूप शरोंसे खण्डित उत्फुल्लमल्लिकादि उपलक्षित संसारसुख हैं जिनमें, वे रात्रियाँ 'शरदोत्फुल्लमल्लिका' हैं।

अथवा—

'शरदा निमित्तेन शान्त्यावहेन उत्फुल्लमल्लिकाभासानि संसारसुखानि यासु।'

अर्थात् शान्ति आदिके कारण जिनके लिये संसारसुख केवल पुष्परूप यानी देखनेमात्रके लिये रह गये, ऐसी प्रजाओंको देखकर भगवान्‌ने योगमायाका आश्रय ले, उन प्रजाओंका आवाहनकर उनके अन्तःकरणमें रमण करनेका विचार किया; क्योंकि ज्ञानीरूपा प्रजाका रमण अपने आत्मभूत भगवान्‌के ही साथ होता है। ज्ञानी लोग आत्मरति ही हुआ करते हैं। इसीसे ज्ञानीको लक्ष्य करके कहा है—**'एकभक्तिर्विशिष्यते'**, क्योंकि उसकी भक्ति, रति, मति एकमात्र भगवान्‌में ही होती है।

भगवान्‌की रासलीला मुमुक्षुओंके लिये

कोई ऐसा भी कहते हैं कि भगवान्‌की यह लीला मुमुक्षुओंके ही लिये है। इस लीलाके व्याजसे भगवान्‌ने निवृत्तिपक्षका ही पोषण किया है। भगवान्‌ने

इस लीलाद्वारा यह प्रदर्शित किया है कि जिनके एक रोमके सौन्दर्यकणसे भी अनन्तकोटि कन्दर्पोंका दर्प दलित हो जाता है, उन्हीं श्रीहरिके साथ सुरम्य यमुनाकूलमें अनन्तकोटि ब्राह्मरात्रियोंपर्यन्त रमण करके भी व्रजबालाएँ सन्तुष्ट नहीं हुईं तो साधारण सांसारिक लोग इन बाह्यविषयोंसे किस प्रकार सन्तुष्ट हो सकते हैं? इस लीलाद्वारा भगवान्‌ने अपनेमें अनुरक्तोंकी अनुरक्ति और संसारसे विरक्तोंकी विरक्ति दोनों ही पुष्ट की है। इसी प्रकार भगवान् श्रीरामने भी सीताहरणके पश्चात् शोकाकुल होकर विषयासक्त पुरुषोंकी दुर्दशाका प्रदर्शन किया था—***'कामिन्ह कै दीनता देखाई।'*** (रा०च०मा० ३। ३९। २) भगवान् श्रीराम स्वयं तो अच्युत हैं, उन्हें कोई भी परिस्थिति कैसे विचलित कर सकती है? और अपनी आह्लादिनी-शक्ति श्रीजनकनन्दिनीजीसे उनका वियोग होना भी कब सम्भव है? परंतु इस नरनाट्यसे कामियोंकी दीनता दिखलाकर उन्होंने विरक्तोंके वैराग्यको ही सुदृढ़ किया है। वस्तुतः कामोपभोगसे कामकी कभी तृप्ति नहीं हो सकती; बल्कि जैसे-जैसे भोग्य-सामग्री प्राप्त होती जाती है, वैसे-वैसे ही घृताहुतिसे अग्निके समान वह और भी प्रज्वलित होता जाता है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

(श्रीमद्भा० ९। १९। १४)

अतः जो ऐन्द्रियिक सुख हैं, वे दुःखके ही हेतु और आद्यन्तवान् हैं, इसलिये बुद्धिमान् लोग उनमें सुख नहीं समझते। वे उनसे दूर ही रहते हैं। श्रीभगवान् कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

इन विषयोंसे सुख कभी नहीं मिल सकता। जिस प्रकार कडुए नीम या तुँबेसे मधु और बालूसे तैल निकलना असम्भव है, उसी प्रकार वैषयिक भोगोंसे शान्तिकी आशा रखना दुराशामात्र है। गोपांगनाओंने भगवान्‌के साथ अनन्तकोटि रात्रियोंमें रमण किया; किंतु आखिर उन रात्रियोंका भी अन्त तो हुआ ही। सुखमें समय बीतते देरी नहीं लगती, जो पुरुष समाधिस्थ हो जाते हैं, उन्हें सैकड़ों वर्ष एक क्षणके समान मालूम होते हैं। इसी प्रकार गोपांगनाओंको भी इतना दीर्घकालीन रमण इतना सुखप्रद नहीं हुआ, जितना दुःखदायी उसका वियोग हुआ। इस बातको दिखानेके लिये ही परम कृपालु श्रीभगवान्‌ने मुमुक्षुरूपा प्रजाओंको देखा।

कैसी प्रजा? **'ताः'**—आश्चर्यरूपा; क्योंकि आत्मजिज्ञासा आश्चर्यरूपा ही होती है-**'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्।'** (गीता २। २९) अतः वे मुमुक्षुरूपा प्रजा विलक्षण ही हैं और कैसी हैं? **'रात्रीः'** यानी ठीक रात्रिके अन्धकारके समान आत्मस्वरूपका आच्छादन करनेवाले अज्ञानरूप अन्धकारसे व्याप्त हैं। यदि कहो कि नहीं, वे तो विवेकसम्पन्ना हैं तो यहाँ भी **'रात्रीः'** पदसे **'रा दाने'** इस धात्वर्थके अनुसार दानादिपरा, यह अर्थ समझना चाहिये और कैसी हैं?—

'शरदोत्फुल्लमल्लिकाः'—शरदा भगवदुपासनात्मकेन निष्कामकर्मणा उच्चैः फुल्लानि विकसितानि अन्तःकरणात्मकानि कमलकुड्मलानि यासाम्।

अर्थात् शरद्-ऋतुमें जैसे कमल विकसित होते हैं, उसी प्रकार निष्काम कर्मयोगके द्वारा जिनके अन्तःकरणरूप कमलकोश अत्यन्त विकसित हो रहे हैं।

मनका विकास ही मनका प्रसाद है और मनका प्रसाद होनेपर ही भगवत्स्वरूपप्राप्ति होती है—

आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

(गीता २। ६४-६५)

कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः।
कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते॥

ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः॥

—ऐसी जो मुमुक्षुरूपा प्रजा है, उसे देखकर अथवा यह भी तात्पर्य हो सकता है कि निष्काम कर्मरूप भगवदाराधन करनेसे—क्योंकि निष्काम कर्म ही सबसे पहला भगवदाराधन है—जिसमें शान्ति-दान्तिरूप पुष्प विकसित हो रहे हैं। ये पुष्प मुमुक्षुओंको अत्यन्त अपेक्षित भी हैं; जैसा कि कहा है—

'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा-त्मन्येवात्मानं पश्यति।' (जाबालोपनिषद् खण्ड ९)

इस प्रकार निष्काम-कर्मद्वारा साधनचतुष्टयसम्पन्न हुई प्रजाओंको देखकर उनके हृदयोंमें श्रुतियोंका आह्वानकर उनके साथ रमण करनेकी इच्छा की; क्योंकि जो पुरुष भगवदाराधनद्वारा शुद्धान्तःकरण नहीं है, उनके अन्तःकरणमें श्रुतियोंका ब्रह्मपरत्व निश्चित नहीं होता। अशुद्ध अन्तःकरणमें ऐसा होना असम्भव है। अतः उन मुमुक्षुओंके अन्तःकरणोंमें उनका परम तात्पर्य निश्चयकर उनके साथ रमण करनेका विचार किया।

अथवा—

'योगमायामुपाश्रितः'—यः अगामायां स्वस्माद-गच्छत्सु गोपदारेषु या माया कृपा तां उपाश्रितः।

अर्थात् अपने पाससे न जानेवाली गोपांगनाओंके प्रति (माया) कृपाका आश्रय लेकर। अथवा—

'अगा अचला मा मतिः यस्याः सा अगमा तस्यामुपाश्रितः।'

अर्थात् जिनका चित्त भगवान् श्रीकृष्णसे कभी नहीं हटता था, जिनके मन, देह और इन्द्रियवर्ग भगवान्‌से तनिक भी बिछुड़ना नहीं चाहते थे, उन गोपांगनाओंमें उपाश्रित हो भगवान्‌ने रमणकी इच्छा की।

जब भगवान्‌का वेणुनाद सुनकर समस्त व्रजवनिताएँ भगवान्‌के पास दौड़ आयीं और भगवान्‌ने उन्हें पातिव्रतका उपदेश देते हुए घर लौट जानेको कहा तो वे कहने लगीं—

चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु
यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्
यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा॥

(श्रीमद्भा० १०।२९।३४)

उन्होंने कहा—जो चित्त गृहकृत्योंमें लग सकता था, उसे तो आपने हर लिया। रहे हाथ, सो वे भी उसी समय घरके धन्धोंमें प्रवृत्त होते हैं, जब चित्त इनका साथ दे और तभी चरण भी चल सकते हैं। किंतु अब, जब कि आपने वेणुनादद्वारा हमारा चित्त हर लिया है, हमारा मन उनमें कैसे लग सकता है? अब तो आपसे विमुख होकर ये चरण आपके चरणोंको छोड़कर एक पग भी नहीं चल सकते। अतः हम किस प्रकार व्रजको जायँ और करें तो क्या करें?

इससे सिद्ध हुआ कि व्रजांगनाओंके मन, बुद्धि, इन्द्रिय और देह—ये सब भगवत्परतन्त्र हैं।

'अयोगमायामुपाश्रितः'—इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है—

'अयोगाय मायाः* शब्दो यस्यां सा अयोगमाया तामुपाश्रितः।'

अर्थात् लौकिक-वैदिक व्यवहारमें उपयोगी जितने पुत्र, पति आदि हैं, उनके अयोग अथवा लौकिक, वैदिक व्यवहारोंके अयोग—असम्बन्धके लिये जिसमें शब्द है, उस मुरलीका आश्रय लेकर भगवान्‌ने रमणकी इच्छा की। व्रजांगनाएँ लौकिक-वैदिक कर्मोंमें परिनिष्ठित थीं। उनका लौकिक-वैदिक-कर्मोंसे विच्छेद करानेके लिये अथवा उन्हें भगवद्व्यतिरिक्त सम्बन्धोंसे छुड़ानेके लिये इस मुरलिकाका शब्द अत्यन्त समर्थ है; क्योंकि इसीसे आकर्षित होकर वे सारे सम्बन्धों और कृत्योंको तिलांजलि देकर भगवान्‌की सन्निधिमें आती हैं।

अथवा—

'योगमायामुपाश्रितः—योगाय भगवता सम्बन्धाय माया कृपा यस्याः कात्यायन्यास्तां

* 'माङ्माने शब्दे च'।

कात्यायनीमुपाश्रितः भगवान् रन्तुं मनश्चक्रे।'

अर्थात् योग (भगवान्के साथ सम्बन्ध) करानेके लिये जिसकी माया—कृपा है, उस कात्यायनीदेवीका आश्रय लेकर भगवान्ने रमण करनेकी इच्छा की।

अथवा—

'योगाय सम्बन्धाय मां मतिम् आययति प्रापयति या सा योगमाया कात्यायनी तामुपाश्रितः।'

—योग अर्थात् सम्बन्धके लिये जो **मां**—मतिको प्राप्त कराती है, वह कात्यायनीदेवी ही योगमाया है, उसका आश्रय लेकर भगवान्ने रमणकी इच्छा की; क्योंकि कात्यायनीदेवीके अर्चनद्वारा ही ऐसा अदृष्ट हुआ था कि जिससे गोपांगनाओंको भगवान्की प्राप्ति हुई।

अथवा—

'योगाय व्रजाङ्गनाभिः सह सम्बन्धाय भगवतः श्रीकृष्णस्य मां मतिम् आययति या सा वृषभानुनन्दिनी योगमाया तामुपाश्रितः।'

—व्रजांगनाओंके साथ सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये भगवान्की बुद्धिको प्रवृत्त करनेवाली जो श्रीवृषभानुनन्दिनी हैं, वे ही योगमाया हैं, उनका आश्रयकर उन्होंने रमण करनेकी इच्छा की। लोकमें तो सापत्न्य-भाववश ईर्ष्या रहा करती है; परंतु इधर श्रीवृषभानुनन्दिनी परम करुणामयी हैं; उनमें सापत्न्यभाव नहीं है। उनके कारण उनकी लीला-भूमिके जीव-जन्तुओंका भी पारस्परिक विरोध निवृत्त हो जाता है। इसीसे वहाँ समस्त ऋतुओंका एकत्र समावेश होता है। तो फिर स्वयं उन वृषभानुदुलारीमें ही विरोध कैसे रह सकता है? वे तो यही चाहती हैं कि सारा संसार मेरे ही समान भगवान्के अतिविशुद्ध सौन्दर्यसुधारसका पान करे। यह बात सर्वथा निश्चित ही है कि जबतक जीव भगवान्से तादात्म्य प्राप्त नहीं करता, तबतक वह परम पदका अधिकारी नहीं हो सकता और न उसका दुःख ही निवृत्त हो सकता है। इसीसे यह भी देखा जाता है कि जो लोग आध्यात्मिक मार्गका अनुसरण करते हुए परब्रह्म परमात्माकी ओर अग्रसर हो रहे हैं, उनकी भी अन्य लोकोंके प्रति ऐसी भावना नहीं रहती कि वे हमारी ओर न आयें। महर्लोकवासियोंके विषयमें भी यही कहा है कि वे सर्वसुखसम्पन्न होनेपर भी केवल इसीलिये दुःखी रहते हैं कि उनकी अपेक्षा निम्नतर लोकोंमें रहनेवाले जीव उस अति विलक्षण भगवत्सुखका समास्वाद नहीं कर सकते। उन अज्ञानियोंके प्रति करुणा होनेके कारण ही उनके हृदयमें खेद होता है—**'यच्चित्ततोऽदः कृपयानिदंविदाम्।'** (श्रीमद्भा० २।२।२७) अतः भक्तिमार्ग या ज्ञानमार्गमें प्रवृत्त होनेवाले जितने लोग हैं, वे यही चाहते हैं कि अन्य पुरुष भी उन्हींके मार्गका अनुसरण करें। इसीसे उनमें सम्प्रदायवृद्धिकी भावना देखी जाती है।

इस प्रकार जब सामान्य साधकोंमें भी अपने साथ ही भगवान्की ओर सब लोगोंको जानेकी प्रवृत्ति देखी जाती है तो साक्षात् प्रेमरूपा श्रीवृषभानुनन्दिनीकी सहृदयता एवं लोकहितैषिताके विषयमें तो कहा ही क्या जा सकता है? उनमें किसी प्रकारकी ईर्ष्या कैसे रह सकती है? वस्तुतः ईर्ष्या तो वहीं रहा करती है, जहाँ स्वामी परिच्छिन्न और अल्पसुख प्रदान करनेवाला होता है। किंतु यहाँ श्रीराधिकारमण तो अपरिच्छिन्न-अनन्त-सुखमय और सर्वशक्तिसम्पन्न हैं। इसलिये उन्हें किसी प्रकारकी ईर्ष्या क्यों होने लगी? अतः अपना आश्रय लेनेपर वे उन गोपांगनाओंके साथ रमण करनेके लिये भगवान्की मतिको प्रेरित कर देती हैं।

अथवा—

'योगाय भगवता श्रीकृष्णेन सह सम्बन्धाय, मां सर्वेषां मुक्तमुमुक्षुविषयिणां मतिम् आययति प्रापयति इति योगमाया तामुपाश्रितः।'

—जो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके साथ तादात्म्य प्राप्त करानेके लिये मुक्त, मुमुक्षु और विषयी लोगोंकी मतिका सम्पादन करती हैं, वे श्रीवृषभानुनन्दिनी योगमाया हैं, उनमें उपाश्रित श्रीभगवान्ने रमणकी इच्छा की। श्रीवृषभानुसुताकी कृपासे ही मनुष्योंकी

भगवान्‌के प्रति प्रवृत्ति होती है; अन्यथा उनका चित्त अनेक प्रकारके ऐहिक-आमुष्मिक भोगोंमें ही आसक्त रहता है। किंतु यदि वे विचारपूर्वक देखें तो भगवत्प्राप्ति ही उनका परम स्वार्थ है—***'स्वारथ साँच जीव कहुँ एहा। मन क्रम बचन राम पद नेहा॥'*** (रा०च०मा० ७।९६।१) शास्त्रोंमें जैसे स्वार्थकी निन्दा की गयी है, वैसे ही उसकी महत्ता भी कम नहीं बतलायी गयी, जैसा कि कहा है—

'स्वकार्यं साधयेद्धीमान् कार्यध्वंसो हि मूर्खता।'

अर्थात् बुद्धिमान् पुरुषको अपना काम बना लेना चाहिये, कामको बिगाड़ देना ही मूर्खता है। कृतार्थताकी सभीने प्रशंसा की है; किंतु इसका तात्पर्य क्या है? कृतार्थताका अर्थ है काम पूरा कर लेना। यह काम दूसरोंका नहीं है; क्योंकि दूसरोंके कामोंकी तो कभी पूर्ति नहीं हो सकती। अतः सिद्धान्त यही है कि स्वकार्यसिद्धि ही कृतार्थता है। स्वप्नमें स्वप्नद्रष्टा अत्यन्त प्रयत्न करके भी कितने स्वप्न-पुरुषोंका कल्याण कर सकेगा? उन सबके कल्याणका एकमात्र साधन तो यही है कि वह स्वयं जग जाय। इसी प्रकार संसारका परम कल्याण भी अपने ही कल्याणमें है। यदि लोकदृष्टिसे देखें तो भी जबतक तुम स्वयं कृतकृत्य नहीं हो, तबतक तुम्हारी बात कौन सुनेगा? इस दृष्टिसे स्वार्थसाधन ही परम कर्तव्य है।

परंतु स्वार्थकी निन्दा भी कम नहीं की गयी। स्वार्थसे बढ़कर कोई बुराई नहीं मानी गयी। अतः समझना चाहिये कि यहाँ 'स्व' शब्दके अर्थमें भेद है। जो पुरुष शरीरको ही 'स्व' समझता है, वह क्षुद्र है। यह 'स्व' जितना ही विस्तृत होगा, उतना ही स्वार्थ परमार्थरूप हो जायगा। जो पुरुष 'स्व' शब्दका अर्थ शरीर समझेगा, उसका सिद्धान्त '**ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्**' हो जायगा। जो सारे संसारको अपना आत्मा मानेगा, उसकी दृष्टिमें लोककल्याण ही आत्मकल्याण होगा और जो स्वयं प्रकाशपूर्ण परब्रह्ममें आत्मबुद्धि करेगा, वह उस कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिशून्य शुद्ध परब्रह्ममें जो कर्तृत्वादिका आरोप हो रहा है, उसकी निवृत्ति करेगा। इससे उसके यज्ञादि सारे कर्म ही आत्मार्थ होंगे। इस प्रकार देखते हैं कि वास्तविक स्वार्थ तो बहुत ही ऊँचा है। देह, इन्द्रिय, चित्त और चिदाभासको सुख पहुँचानेके लिये जितनी चेष्टाएँ की जाती हैं, वे वस्तुतः स्वार्थ नहीं हैं; क्योंकि ये देहादि तो आत्मा नहीं हैं, बल्कि अनात्मा हैं। यदि कहो कि आत्मा न सही आत्मीय तो हैं ही; अतः आत्मीय होनेके कारण भी उनके उद्देश्यसे जो कर्म किया जायगा, वह स्वार्थ ही कहा जायगा—सो ऐसी बात भी नहीं है; क्योंकि उनमें आत्मीयताकी प्रतीति भी भ्रमके ही कारण है। आत्मा तो असंग है; इसलिये उसका किसीके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता—'**असङ्गो न हि सज्जते**'। अतः 'स्व' शब्दवाच्य आत्माके लिये जो चेष्टा है, वह तो परम कल्याणमयी ही है; क्योंकि सबके आत्मा तो भगवान् कृष्ण ही हैं; वे केवल मायासे ही देहवान् प्रतीत होते हैं—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।५५)

इससे सिद्ध हुआ कि भगवान् सर्वात्मा हैं, अतः यथार्थ स्वार्थ भगवत्प्राप्ति ही है। यहाँ '**अखिलात्मनाम्**' पदसे सविशेषात्मा समझने चाहिये; क्योंकि सविशेषात्माओंका ही आत्मा निर्विशेष आत्मा है, जैसे कि घटाकाशादिका अधिष्ठान महाकाश है।

अतः भक्त, मुमुक्षु और मुक्तोंको भी भगवद्विषयिणी सुमति प्रदान करनेवाली श्रीराधिकाजी ही हैं। भावुक भक्तजन तो उस ऐकान्तिकी भगवन्निष्ठाके सामने कैवल्य और अपुनरावर्तनरूप मोक्षपदको भी कुछ नहीं समझते; इसीसे भगवान् कहते हैं—

न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥

(श्रीमद्भा० ११।२०।३४)

किंतु भगवान्‌के मुख्य भक्त जो ज्ञानी लोग हैं, उन्हें किस सुमतिकी अपेक्षा है? वे तो आप्तकाम

हुआ करते हैं। यह ठीक है; परंतु भगवद्विषयिणी भक्तिरूपा स्निग्धमति उन्हें भी अभिलषित होती है। देखो, सनकादिकी भी क्या अभिलाषा थी?

कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नः स्ता-
च्चेतोऽलिवद्यदि नु ते पदयो रमेत।
वाचश्च नस्तुलसिवद्यदि तेऽङ्घ्रिशोभाः
पूर्येत ते गुणगणैर्यदि कर्णरन्ध्रः॥

(श्रीमद्भा० ३।१५।४९)

वे कहते हैं—भगवन्! यदि हमारा चित्त भ्रमरके समान आपके चरणकमलोंमें निरत रहे, यदि हमारी वाणी तुलसीके समान आपकी पादकान्तिका आश्रय ले और यदि हमारे कर्णकुहर आपके गुणगणसे पूरित रहें तो हमें भले ही अपने पापपुंजोंके कारण नरकोंमें भी जाना पड़े—इसकी हमें कोई चिन्ता नहीं है। इस प्रकार श्रीराधिकाजी जैसे भक्तोंको भगवन्निष्ठा और मुक्तोंको भगवद्रति प्रदान करती हैं, वैसे ही वे अन्य (विषयी और मुमुक्षु) लोगोंको भी प्रमा—भगवत्-साक्षात्काररूपा मति प्राप्त कराती हैं अर्थात् मुमुक्षु और विषयी पुरुषोंकी भगवान्‌के प्रति इष्ट-बुद्धि कराती हैं, इसलिये वे योगमाया हैं। उन योगमायारूपा श्रीराधिकाजीका आश्रय लेकर भगवान्‌ने रमण करनेकी इच्छा की।

अथवा—

'योगाय मां मतिं आययति प्रापयति या सा स्वाङ्गकान्तिर्योगमाया तामुपाश्रितः।'

अर्थात् जो संयोगके लिये मति प्रदान करती है, वह—अपने अंगकी कान्ति ही योगमाया है, उसका आश्रय लेकर, अथवा—

'योगाय व्रजाङ्गनाभिः सह उद्दीपनविधया संयोगाय मां मतिं आययति प्रापयति या सा शरद्वनशोभा तामुपाश्रितः।'

अर्थात् जो उद्दीपन-विभाव होनेके कारण व्रजांगनाओंके साथ संयोग करनेकी मति प्रदान करती है, वह शरद्-ऋतु या वनकी शोभा ही योगमाया है। उसका आश्रय लेकर भगवान्‌ने रमणकी इच्छा की।

अथवा—

'श्रीकृष्णस्य योगे सम्प्रयोग एव मा शोभा यस्याः सा वृषभानुनन्दिनी योगमा तस्यामुपाश्रितः।'

अर्थात् श्रीकृष्णचन्द्रके सम्प्रयोगमें ही जिनकी शोभा है, वे श्रीवृषभानुसुता ही योगमा हैं, उनमें उपाश्रित हुए भगवान्‌ने रमणकी इच्छा की; क्योंकि—

प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चंद्रिका चंदु तजि जाई॥

(रा०च०मा० २।९७।६)

जैसे भानु बिना प्रभाकी, चन्द्रमा बिना चन्द्रिकाकी और सरोवर बिना कमलिनीकी शोभा नहीं है, वैसे ही परमानन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णके बिना श्रीराधिकाजीकी शोभा नहीं है। इसीसे जिस समय उन्हें भगवान्‌का सम्प्रयोग प्राप्त था, उस समय उनकी कैसी शोभा थी? किंतु जब श्रीश्यामसुन्दरका वियोग हुआ तो सारा वृन्दारण्य ही श्रीहीन हो गया; उस समय रसिकशिरोमणिभूता श्रीवृषभानुसुताकी जो दशा थी, उसका तो वर्णन ही कैसे किया जा सकता है?

उसके साथ ही यह भी समझना चाहिये कि—

'यस्या योगे सम्प्रयोग एव श्रीकृष्णस्य मा शोभा सा श्रीवृषभानुसुता योगमा तस्यामुपाश्रितः'—

जिनके संयोगमें ही श्रीकृष्णचन्द्रकी शोभा है, वे वृषभानुनन्दिनी ही योगमा हैं अर्थात् जैसे श्रीकृष्णचन्द्रसे विप्रयुक्ता श्रीराधिकाजीकी शोभा नहीं है, वैसे ही श्रीराधिकाजीके बिना श्यामसुन्दरकी शोभा नहीं है। जिस प्रकार प्रभाशून्य सूर्य, चन्द्रिकाहीन चन्द्र और मधुरिमारहित अमृत फीके हैं, उसी प्रकार अपनी आह्लादिनी-शक्तिरूपा श्रीकीर्तिसुताके बिना श्रीनन्दनन्दनकी शोभा नहीं है। यदि ऐसी बात न होती तो जिनके कृपाकटाक्षके लिये ब्रह्मा और रुद्रादि देवगण भी लालायित रहते हैं, वे श्रीलक्ष्मीजी भी जिनके विशाल वक्षःस्थलमें अविचल रूपसे निवास करती हुई उनके तुलसीगन्धयुक्त पदपद्मपरागकी कामना करती है[1], वे ही भगवान्

१. श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम्।
यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयासस्तद्वद् वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः॥ (श्रीमद्भा० १०।२९।३७)

श्रीकृष्णचन्द्र लक्ष्मीकी उपेक्षा करके वेणु-निनादद्वारा समस्त गोपांगनाओंके सहित उन्हें बुलानेका प्रयास क्यों करते? इससे सिद्ध होता है कि उन श्रीराधिकाजीका सौन्दर्य विलक्षण ही था। समस्त व्रजांगनाएँ भी श्रीराधिकारूपा होकर ही भगवान्‌को प्राप्त करती हैं। इसीसे लोकमें भगवान्‌को रुक्मिणी-रमण या सत्यभामा-वल्लभ न कहकर श्रीराधा-रमण या गोपीवल्लभ ही कहते हैं। इससे निश्चय होता है कि भगवान्‌की यथार्थ शोभा श्रीराधिकाजीसे ही है।

अथवा—'**योगाय व्रजाङ्गनानां रासादिसुख-प्रापणाय या माया वयुनात्मिका[1] सङ्कल्पशक्ति-स्तामुपाश्रितः**'।

अर्थात् गोपांगनाओंको रसादि-सुख प्राप्त करानेके लिये जो माया-ज्ञानात्मक संकल्प उसे आश्रयकर भगवान्‌ने रमण करनेकी इच्छा की। तात्पर्य यह है कि वहाँ किसी अन्य बाह्यसाधनकी अपेक्षासे रहित भगवान्‌की सत्यसंकल्पता ही समस्त लीलोपयुक्त सामग्रीका सम्पादन करनेवाली थी।

अथवा—**योगाय व्रजाङ्गनानां मनोरथपूर्तये या माया दम्भः[2] तामुपाश्रितः**।

अर्थात् जो पूर्ण परब्रह्म परमवैराग्यवान्, परम-ज्ञानवान्, परमऐश्वर्यवान् और परमधर्मवान् हैं, उनका मुरलिकाद्वारा गोपांगनाओंको बुलाना वास्तविक नहीं था; बल्कि व्रजांगनाओंकी कामनापूर्तिके लिये उन्होंने बनावटी रमणेच्छा प्रकट करते हुए ही यह सब लीला की थी। ऐसा माननेपर ही आप्तकामकी रमणाभिलाषा, निष्क्रियका क्रियाकलाप और निःसंगकी कामुकता उत्पन्न हो सकती है।

और यदि '**अयोगमायामुपाश्रितः**' ऐसा पदच्छेद किया जाय तो इस प्रकार अर्थ समझना चाहिये—'**अकारो वासुदेवस्तेन सह योगाय मा मतिः शोभा वा यस्याः सा अयोगमा तस्यामुपाश्रितः**'

अर्थात् अकार वासुदेवका वाचक है, उन श्रीवासुदेवके साथ योग करानेके लिये मति अथवा अंगशोभा है जिनकी, वे श्रीराधिकाजी योगमा हैं, उनमें उपाश्रित श्रीभगवान्‌ने रमणकी इच्छा की।

अथवा—'**अन्यासां अयोगाय, स्वस्यैव च योगाय मा सौन्दर्यलक्ष्मीर्यस्याः सा योगमा**'।

जिनकी मा—सौन्दर्यलक्ष्मी, भगवान्‌का दूसरोंके साथ विप्रयोग और अपने साथ संयोग करानेवाली हैं, वे श्रीराधिकाजी योगमा हैं; क्योंकि श्रीवृषभानुनन्दिनीका जो अपूर्व सौन्दर्य है, वह भगवान्‌के चित्तको सब ओरसे हटाकर उन्हींमें जोड़ देता है।

अथवा—'**अन्यासामपि व्रजाङ्गनानां सर्वेषां वा प्राणिनां योगाय भगवता श्रीकृष्णेन सह सम्बन्धाय मा सौन्दर्यं यस्याः सा योगमा**'।

अर्थात् जिनका सौन्दर्य भगवान्‌के साथ अन्य गोपांगनाओंका तथा समस्त प्राणियोंका सम्बन्ध करानेवाला है, वे श्रीराधिकाजी योगमा हैं; क्योंकि श्रीवृषभानुनन्दिनी भगवान् श्रीकृष्णके साथ सबका संयोग कराती हैं।

अथवा—'**योगाय सर्वेषां श्रीकृष्णसम्प्रयोग-योग्यतासम्पादनाय मा शोभा कारुण्यं कृपा यस्याः सा योगमा तस्यामुपाश्रितः**'।

अर्थात् जिनकी मा—करुणा या कृपा भगवान् श्रीकृष्णके साथ संयोग करानेकी योग्यता प्रदान करानेवाली है, वे श्रीराधिकाजी योगमा हैं; उनमें उपाश्रित श्रीभगवान्‌ने रमणकी इच्छा की।

इसके सिवा किन्हीं आचार्योंका मत है कि भगवान्‌ने यह रासलीला स्वजनोंका ब्रह्मानन्दसे उद्धार करके उनमें भजनानन्द स्थापित करनेके लिये की थी। अतः उन्होंने सबसे पहले रमणके लिये उन व्रजांगनाओंकी इच्छा की। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार किसी एक मधुरातिमधुर पदार्थको अनेक रूपमें विभक्त करके उसका समास्वादन है, उसी प्रकार परमानन्दसिन्धु श्रीभगवान् भी अनेक रूपमें

१. मायां तु वयुनं ज्ञानम्। २. माया कृपायां दम्भे च।

विभक्त होकर अपने स्वरूपभूत आनन्दका स्वयं ही आस्वादन करते हैं। इसीसे भगवान् अपनी स्वरूपभूता व्रजांगनाओंमें रमणेच्छा उत्पन्न करके भी पहले स्वयं कुछ कालतक **'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः'** इत्यादि श्रुतिके अनुसार सर्वसंकल्पशून्य और निःस्पृह ही रहे। किंतु अब उन्होंने भी रमणकी इच्छा की। परंतु यह रमण कैसा है? यहाँ एक ही परमतत्त्वको अनेकों नायकों और नायिकाओंके रूपमें प्रकटकर अपने ही स्वरूपभूत आनन्दका रसास्वादन करना है। वास्तवमें **'भज सेवायाम्'** या **'रमु क्रीडायाम्'** के अनुसार एक प्रकार असाधारण भावसे तादात्म्यापत्ति अथवा जो स्वरूपभूत आनन्द है, उसको अपने अनन्य भक्तोंमें स्थापित करना ही यह भजनानन्दरूप रमण है। इससे आपातदृष्टिसे यह जान पड़ता है कि यदि उस कूटस्थ परमानन्द तत्त्वका अन्यत्र संक्रमण किया गया तो अपने स्वरूपसे च्युत होनेके कारण उसे अच्युत नहीं कहा जा सकता। इस आशंकाका निराकरण करनेके लिये ही कहा है—**'भगवानपि'** अर्थात् जो अप्रच्युत स्वभाव भगवान् अपने अचिन्त्यानन्त ऐश्वर्यके माहात्म्यसे अपने स्वरूपभूत परमानन्दका अन्यत्र संचार करके भी सदा अच्युत ही रहते हैं, उन्होंने रमण करनेकी इच्छा की। जिस प्रकार चिन्तामणि, कल्पतरु एवं कामधेनु आदि अपने समीपस्थ लोगोंको उनके संकल्पित पदार्थ देकर भी स्वयं अक्षुण्ण ही रहते हैं, उसी प्रकार भक्तोंको प्रेम प्रदान करनेपर भी भगवत्स्वरूपमें कोई च्युति नहीं होती।

किंतु यहाँ पुनः सन्देह होता है कि इस प्रकार स्वरूपानन्दका अन्यत्र संक्रमण होनेसे भगवत्स्वरूप भले ही अविकारी रहे तथापि वह स्वरूपानन्द तो अपने स्थानका त्याग करनेके कारण विकारी हो ही जायगा। वह कूटस्थ या अविकारी नहीं रह सकता। इसीसे कहा है—**'योगमायामुपाश्रितः'**। भगवान्‌की योगमाया एक ऐसी शक्ति है, जो उस पदार्थको अन्यत्र ले जानेपर भी विकृत नहीं होने देती। इसीसे भगवान् अपने कूटस्थ परमानन्दको अन्यत्र दूसरोंमें संक्रमित करके भी स्वयं अविकृत ही रहते हैं और उनके उस आनन्दमें भी कोई विकार नहीं होता है।

इसीसे यह देखा जाता है कि यद्यपि भगवान्‌ने अपने कई भक्तोंको स्वात्मसमर्पण किया है तो भी उनमें कोई च्युति नहीं हुई; वे ज्यों-के-त्यों अविकारी ही बने हुए हैं। श्रीब्रह्माजी कहते हैं—

एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव रातेति न-
श्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन् मुह्यति।
सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता
यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते ॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।३५)

अर्थात् हे देव! आप इन घोष-निवासियोंको क्या देंगे? आप विश्वफलात्मा हैं; आपसे बढ़कर और दूसरी क्या वस्तु हो सकती है, जिसे देकर आप उनसे उऋण होंगे? प्राणी विविध प्रकारके ऐहिक-आमुष्मिक सुखको ही परम पुरुषार्थ समझता है, किंतु जिनके आँगनमें उस सुखका परमोद्गम स्थान साक्षात् परब्रह्म मूर्तिमान् होकर धूलिधूसरित हुआ खेल रहा है, उनके लिये वे क्षुद्र सौख्यकण कैसे फलरूप हो सकते हैं? जिन्हें जो वस्तु अप्राप्त होती है, वही उन्हें फलरूपसे स्वीकृत हुआ करती है। अतः जिन्हें आप आत्मीय-रूपसे अहर्निश प्राप्त हैं, उन्हें सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् होकर भी आप क्या दे सकते हैं? इसलिये इनके तो आपको ऋणी ही रहना पड़ेगा। इस विषयमें कुछ निश्चय न होनेके कारण मेरा चित्त मोहित हो रहा है। यदि कहें कि मैं अपनेको ही समर्पण कर दूँगा तो इसमें भी कोई महत्त्वकी बात न होगी; क्योंकि जो पूतना दम्भसे माताके समान आचरण दिखलाती हुई आपका अनिष्ट करनेके लिये स्तनोंमें विष लगाकर आयी थी, उसे भी उसके कुलसहित आपने अपने स्वरूपको ही प्राप्त करा दिया था; फिर जिनके धन, धाम, स्वजन, प्रिय, आत्मा, प्राण और चित्त आपहीपर निछावर हैं, उन व्रजवासियोंको

आप क्या देंगे? उनके तो आप ऋणी ही रहेंगे। अहो! जिन व्रजबालकोंका उच्च स्वरसे किया हुआ हरिगुण-गान तीनों लोकोंको पवित्र कर देता है, उनके चरणकमलोंकी वन्दना हम बारम्बार करते हैं। इस लोकमें वे बड़े ही भाग्यशाली हैं, जिन्होंने इस गोकुलमें किसी वनवीथिकाके पास तृण-गुल्मादिरूपसे जन्म लिया है; क्योंकि उन्हें उन कृष्णप्राणा गोप-वधूटियोंके पद-पद्मपरागसे अभिषिक्त होनेका सुअवसर प्राप्त होता है।* इससे यहाँ यही कहना है कि भगवान् अनेकोंको स्वात्मसमर्पण करके भी पूर्णरूपसे ही अवशिष्ट रहते हैं। अतः भगवान्‌की यह योगमाया शक्ति ही है, जिससे वे सदा सब कुछ करते हुए भी अक्षुण्ण ही रहते हैं।

उन्होंने रमणकी इच्छा कैसे की? इसपर कहते हैं—**'ताः कात्यायन्यर्चनव्रतसन्तुष्टेन भगवता वरत्वेन प्रदत्ताः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः रात्रीः वीक्ष्य।'**

अर्थात् कात्यायनी-पूजन एवं व्रतादिसे सन्तुष्ट हुए श्रीभगवान्‌ने जिन्हें वररूपसे दिया था, उन शरदोत्फुल्लमल्लिका रात्रियोंको देखकर भगवान्‌ने रमणकी इच्छा की। उन रात्रियोंको ग्रहणकर और उनमें आधिदैविकी रात्रियोंका निवेशकर भगवान्‌ने रमणकी इच्छा की। ऐसा करके उन्होंने उन रात्रियोंको पूर्ण बना दिया; क्योंकि आधिदैविकी रात्रियाँ भगवद्रूपा हैं। इस प्रकार उन सबको पूर्णिमारूप बनाकर और ऋतुको भी शरद्-ऋतुमें ही परिणत कर दिया अर्थात् समस्त रात्रियोंमें ऋतु-परिवर्तनका क्रम न रखकर केवल एक ही ऋतु रखा और उनमें मल्लिकादि समस्त पुष्प विकसित कर दिये। इस प्रकार उन रात्रियोंको समस्त उद्दीपन-सामग्रियोंसे सम्पन्नकर मुरली-ध्वनिद्वारा गोपांगनाओंका आह्वानकर उनके साथ रमण करनेकी इच्छा की।

यदि विचार किया जाय तो स्वरूपतः अशेष-विशेष-शून्य पूर्ण परब्रह्म एवं अचिन्त्यानन्द निखिल-गुणगणास्पद श्रीभगवान् ये एक ही हैं; क्योंकि सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य एक स्वप्रकाशतत्त्व ही 'भगवत्' शब्दका लक्ष्य है। जैसा कि कहा है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

(श्रीमद्भा० १।२।११)

अर्थात् जो अद्वय ज्ञानस्वरूप तत्त्व है; तत्त्वज्ञ लोग उसीको तत्त्व समझते हैं। वह 'ब्रह्म', 'परमात्मा' या 'भगवान्' ऐसा कहा जाता है। अतः अद्वितीय परब्रह्म ही भगवान् है। जिस प्रकार **'गच्छतीति गौः'** इस व्युत्पत्तिसे **'गमेर्डोः'** आदि सूत्रोंके अनुसार सिद्ध हुआ 'गो' शब्द केवल गमन करनेवालेका ही वाचक नहीं होता; क्योंकि गमन करनेवाले तो सभी पशु हैं, बल्कि गल-कम्बलादियुक्त 'गो' का ही वाचक होता है, उसी प्रकार यह अद्वय पदार्थ ही भगवत्-पदवाच्य है। किंतु इसका यौगिक अर्थ लेनेपर तो भगोपलक्षित अचिन्त्यानन्तगुणगणास्पद परमेश्वर ही 'भगवत्' शब्दका अर्थ है। इससे यही सिद्ध हुआ कि परमार्थतः जो एक अद्वयतत्त्व सर्वभेदरहित और स्वप्रकाश है, वही अपनी अचिन्त्य एवं अनिर्वचनीय लीलाशक्तिसे निखिल ब्रह्माण्डका अधीश्वर भी है। उस भगवान्‌ने ही रमणकी इच्छा की।

यहाँ दोनों प्रकारसे विरोध प्रतीत होता है। यदि उसके निर्विशेषरूपपर विचार करते हैं तो **'असङ्गो न हि सज्यते'** (बृहदारण्यक० ३।९।२६) इस श्रुतिके अनुसार उसका रमण होना असम्भव है। जो स्वप्रकाश, असंग और अद्वय है—वह किसको देखकर, किसलिये, किसके साथ, कैसे रमण करेगा? और यदि भगवान्‌के सविशेषस्वरूपपर ध्यान देते हैं तो वे भी सब प्रकारके ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यसे पूर्ण तथा अचिन्त्यानन्दरूप अपने ऐश्वर्यमें सन्तुष्ट रहनेके कारण आप्तकाम एवं पूर्णकाम हैं। उन्हें किसीको देखकर रमणकी इच्छा कैसे हो सकती है? जो अनाप्तकाम होता है, वही

* 'वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः। यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥' (श्रीमद्भा० १०।४७।६३)
'तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।' (श्रीमद्भा० १०।१४।३४)

अपनेसे भिन्न किसी पदार्थको देखकर उसकी आसक्तिवश रमणकी इच्छा कर सकता है।

इसीसे '**योगमायामुपाश्रितः**' ऐसा कहा है। योगमाया अर्थात् अघटित घटनाके लिये जो माया है—उस योगमायाका सन्निधिमात्रसे आश्रय लेकर भगवान्ने रमणकी इच्छा की। तात्पर्य है कि इस योगमायाके प्रभावसे ही उस स्वप्रकाश, असंग एवं अद्वय ब्रह्मकी अपनेसे भिन्न प्रतीत होनेवाली गोपांगनाओंके साथ रमण करनेमें प्रवृत्ति हो गयी। यही उस मायाकी अघटितघटनशक्ति है। यह वही माया है, जिसके विषयमें श्रुति कहती है—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।

(श्वेताश्वतर० १। ३)

अर्थात् अपने गुणोंसे आच्छादित जिस भगवच्छक्तिका ऋषियोंने ध्यानयोगसे साक्षात्कार किया था, महर्षियोंद्वारा साक्षात्कृत तथा कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंकी कारणभूता उस अचिन्त्यानन्त मायाशक्तिसे ही भगवान्का अपनेसे भिन्न किसीको देखना, अपनेसे भिन्नकी इच्छा करना और अपनेसे भिन्नके साथ रमण करना सम्भव है? तात्पर्य यह है कि यद्यपि भगवान् स्वयंप्रकाश, कूटस्थ और अद्वय होनेके कारण अपनेसे भिन्न किसी औरको नहीं देख सकते तथापि अपनी इस लीला-शक्तिसे उन्होंने अपनेसे भिन्न रूपसे प्रादुर्भूत जो अपनी ही स्वरूपभूता व्रजांगनाएँ हैं, उन्हें देखकर रमण करनेकी इच्छा की। यह जितना भी अघटनघटन है, उसके सम्पादनमें भगवान्की माया समर्थ है। इसीसे इन समस्त विरोधोंका निराकरण हो जाता है।

इसी प्रकार सगुणपक्षमें भी समझना चाहिये। वहाँ भी भगवान् आप्तकाम, पूर्णकाम, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् एवं सम्पूर्ण वैराग्य और ऐश्वर्यसम्पन्न होनेपर भी इस योगमाया अर्थात् योग-सम्प्रयोगके लिये जो माया—कृपा है, उसका आश्रय लेकर ही वररूपसे दी हुई उन रात्रियोंको देखकर भक्तानुग्रह-परवश हुए उन गोपांगनाओंके साथ रमण करनेकी इच्छाको स्वीकार करते हैं। अतः यहाँ भी उनकी रमणेच्छामें योगमाया ही प्रधान कारण है।

रासपंचाध्यायीके दूसरे श्लोककी व्याख्या

इस प्रकार जिस समय भगवान्ने उन शरदोत्फुल्ल-मल्लिका रात्रियोंको और गोपांगनाओंको देखकर रमणकी इच्छा की—

तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखं
प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः।
स चर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन्
प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। २)

अन्वय—'तदा चर्षणीनां शुचो मृजन् दीर्घदर्शनः प्रियः प्रियाया इव करैर्धृतेन अरुणेन प्राच्याः ककुभः मुखं विलिम्पन् उडुराजः उदगात्।'

भावार्थ—उसी समय लोगोंके शोकका मार्जन करता हुआ तथा जिस प्रकार दीर्घकालमें मिलनेवाला प्रियतम अपनी प्रियतमाके शोककी निवृत्ति करता है, उसी प्रकार अपने शीतल करों (किरणों या हाथों)-में धारण की हुई उदयकालीन लालिमासे पूर्व दिशाके मुखका लेपन करता हुआ चन्द्रमा उदित हुआ।

'**तदा**' अर्थात् जिस क्षणमें भगवान्को रमणकी इच्छा हुई, उसी समय चन्द्रमा उदित हुआ; क्योंकि सेवककी यह रीति है कि जिस समय स्वामीकी इच्छा हो, उसी समय सेवामें उपस्थित हो जाय। ये उडुराज क्यों उदित हुए? क्योंकि ये उद्दीपन विभाव हैं अर्थात् भगवान्की जो रमणेच्छा है, उसे और भी उद्दीप्त करनेके लिये ही इनका प्राकट्य हुआ है। '**उडुराज**' शब्दका अर्थ है '**उडूनां तारकाणां राजा**' अर्थात् तारोंका राजा। इससे उस समय चन्द्रदेवका सपरिवार उदित होना ध्वनित होता है। उनके अभ्युदयसे ही चर्षणी—जो समस्त प्राणी उनके शरत्कालीन सूर्यसे प्राप्त हुए तापसे तप्त थे, उनकी मनोग्लानि शान्त हो गयी। श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

सरदातप निसि ससि अपहरई। संत दरस जिमि पातक टरई॥

(रा०च०मा० ४। १७। ६)

वे उदित किस प्रकार हुए?—'**प्राच्याः ककुभः मुखं करैर्धृतेन अरुणेन विलिम्पन्**' अर्थात् अपनी शीतल और सुकोमल किरणोंमें धारण किये हुए अरुण रागसे पूर्व दिशाके मुखको लेपित करते हुए। मानो इस प्रकार नायक-नायिकाकी रीतिको प्रदर्शित करते हुए चन्द्रदेव यहाँ शृंगाररसके उद्दीपन बने हुए हैं। यद्यपि चन्द्रमाका सम्बन्ध सभी दिशाओंसे है तथापि उनमें पूर्वादिक् ही प्रधान है। अतः पूर्व दिशाके साथ संश्लिष्ट होकर अपनी किरणोंमें धारण किये हुए अरुणसे उसका मुखलेपन करता हुआ और स्वयं भी अनुरक्त होता हुआ वह उदित हुआ अर्थात् प्राची दिशासे संश्लिष्ट होनेपर चन्द्रमाने उसे भी अनुरक्त किया और वह स्वयं भी अनुरंजित हुआ। इससे पूर्वादिक्संसर्गसे उसका अनुराग होना स्वयं सिद्ध है, जैसे नायिकाके प्राप्त होते ही नायक अनुरक्त हो जाता है।

इसका भी विशेषण है '**दीर्घदर्शनः**' यह '**उडुराजः**' और '**प्रियः**' दोनोंहीका विशेषण हो सकता है। '**दीर्घं बह्वीनां रात्रीणामन्ते दर्शनं यस्य स दीर्घदर्शनः**' अर्थात् जिसका दर्शन बहुत-सी रात्रियोंके पश्चात् हुआ हो, उसे दीर्घदर्शन कहते हैं। पूर्व दिशाके साथ चन्द्रमाका ठीक-ठीक सम्बन्ध पूर्णिमाको ही होता है, इसलिये चन्द्रमा दीर्घदर्शन है। इधर दृष्टान्त पक्षमें यह प्रियका भी विशेषण है अर्थात् जिसका दर्शन बहुत कालके पश्चात् हुआ है—ऐसा कोई प्रियतम जिस प्रकार '**शन्तमैः करैः**' अपने सुखावह कर-व्यापारोंसे प्रियतमाका शोक निवृत्त करता है, उसी प्रकार चन्द्रमा अपनी किरणोंसे पूर्व दिशाके मुखको रागरंजित करता हुआ उदित हुआ। इस प्रकार कर-व्यापारोंसे भी शृंगाररसका उद्दीपन ही सूचित होता है।

इसे प्रकृत प्रसंगमें दूसरी तरह भी लगाते हैं—

'**यथा उडुराजः चर्षणीनां शुचो मृजन् शन्तमैः करैः करधृतेन अरुणेन च प्राच्या ककुभः मुखं विलिम्पन् उदगात्तथा दीर्घदर्शनः प्रियः श्रीकृष्णः प्रियायाः श्रीवृषभानुनन्दिन्याः मुखं शन्तमैः करैः करधृतेन अरुणेन कुङ्कुमेन च विलिम्पन् चर्षणीनां गोपीजनानां शुचः शोकाश्रूणि मृजन् उदगात्।**'

अर्थात् जिस प्रकार चन्द्रमा मनुष्योंका शोकापनोदन करता हुआ तथा अपनी शीतल किरणोंसे उनमें धारण की हुई उदयकालीन लालिमासे पूर्व दिशाका मुख लेपन करता हुआ उदित हुआ, उसी प्रकार बहुत कालके बाद दिखायी देनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण अपनी प्रियतमा श्रीवृषभानुसुताके मुखारविन्दको अपने करकमलोंमें धारण किये हुए कुंकुमसे लेपनकर गोपीजनोंके शोकाश्रुओंका मार्जन करते हुए प्रकट हुए।

यहाँ '**चर गतिभक्षणयोः**' इस धातुपाठके अनुसार '**चर्षणीनाम्**' इस पदका अर्थ गति और भक्षणपरायण है। 'गति' शब्दसे कर्म और 'भक्षण' शब्दसे कर्मफल समझना चाहिये। अतः इससे वे मनुष्य* विवक्षित हैं, जो केवल कर्म और कर्मफलमें ही आसक्त हैं। इन संसारी लोगोंके सर्वविध तापका निराकरण करता हुआ उडुराज—चन्द्रमा उदित हुआ; क्योंकि वह उदित होकर उद्दीपन-विभाव-रूपसे परमानन्दघन श्रीकृष्णचन्द्रके चित्तमें रमणकी इच्छा उत्पन्न करेगा, जो कि श्रीकृष्ण-प्रेमियोंको बहुत कालसे अभिलषित है। अतः भगवान्की प्रेयसी व्रजांगनाओंके शोकका मार्जन होनेसे सारे संसारका शोक मार्जित हो जायगा; क्योंकि यह नियम है कि जिस क्रियासे भगवद्भक्तोंका शोक निवृत्त होता है, उससे सारे संसारका ही शोक निवृत्त हो जाता है और जिससे भगवद्भक्त सन्तप्त होते हैं, उससे सभीको

* 'चर्षणी' शब्द मनुष्य अर्थमें रूढ़ है। यह बात निम्नलिखित श्लोकसे सिद्ध होती है—

अर्यम्णो मातृका पत्नी तयोश्चर्षणयः सुताः। यत्र वै मानुषी जातिर्ब्रह्मणा चोपकल्पिता॥ (श्रीमद्भा० ६। ६। ४२)

अर्यमाकी पत्नी मातृका नामवाली थी। उसके 'चर्षणी' संज्ञक पुत्र हुए। उन चर्षणियोंमें ही ब्रह्माजीने मानुषी जातिकी कल्पना की।

सन्ताप होता है। देखो, जिस समय ध्रुवजीने भगवत्तादात्म्यको प्राप्त होकर श्वासनिरोध किया था, उस समय सारे संसारका ही श्वास निरुद्ध हो गया था। ऐसा क्यों हुआ? क्योंकि भगवान् सर्वात्मा हैं; अत: यदि भगवद्भक्त सन्तप्त होता है तो सारा संसार ही सन्तप्त हो उठता है।

ये गोपांगनाएँ तो भगवान्की अत्यन्त अन्तरंग हैं। ये भगवद्विप्रयोगके कारण चिरकालसे सन्तप्त थीं। अब उस विरहव्यथाका अन्त होनेवाला था। इसीसे भगवान्को रमणकी इच्छा हुई।

अत: इसका यह भी अर्थ हो सकता है—**'चर्षणीनां व्रजाङ्गनाजनानां शोकापनोदनेन चर्षणीनां गतिभक्षणपराणां कर्म तत्फलभोग-परिनिष्ठानां जगतामेव शुचो मृजन् उदगात्।'**

अर्थात् चर्षणी यानी व्रजांगनाओंकी शोकनिवृत्ति करके चर्षणी-कर्म और कर्म-फल-भोगमें लगे हुए संसारी लोगोंका शोक निवृत्त करते हुए चन्द्रदेव प्रकट हुए। इसीसे उन्हें उडुराज अर्थात् नक्षत्रमण्डलका राजा कहा है। वे परम सौभाग्यशाली और अत्यन्त पुण्यात्मा हैं; क्योंकि उनके कारण गोपांगनाओंकी शोकनिवृत्ति होनेसे सारे संसारका ही सन्ताप शान्त हो जाता है। अत: ये उडुराज **'उडुषु राजत इति उडुराज:'** हैं अर्थात् नक्षत्रोंमें अत्यन्त शोभायमान हैं।

इधर जिस प्रकार जीवोंकी शोकनिवृत्ति करनेके कारण यह उडुराज पुण्यात्मा है, उसी प्रकार मानो श्रीकृष्णचन्द्र भी उडुराज ही हैं; क्योंकि उन्होंने भी चर्षणी यानी व्रजांगनाओंका शोकापनोदन करके सारे संसारका ही शोक निवृत्त किया है। अत: 'उडुराज' शब्दसे उनका भी अन्वादेश होता है। जैसे इस ओर ताराओंमें अत्यन्त देदीप्यमान चन्द्रमा है, उसी प्रकार उधर गोपांगनाओंमें नायक-रूपसे अत्यन्त देदीप्यमान भगवान् श्रीकृष्ण हैं। इसीसे आचार्योंने यह भी कल्पना की है कि जिस समय भगवान्ने 'अमना' और 'अप्राण' होकर भी योगमायाका आश्रय लेकर गोपांगनाओंके साथ रमण करनेका संकल्प किया, उस समय उनमें मन तो था नहीं। मनका अधिष्ठाता चन्द्रमा है। जिस प्रकार सूर्य आदि अधिष्ठातादेवताओंसे अधिष्ठित हुए बिना नेत्रादिमें रूपादिके प्रकाशनका सामर्थ्य नहीं होता, उसी प्रकार मन भी चन्द्रमासे अधिष्ठित हुए बिना संकल्पमें समर्थ नहीं हो सकता था। किंतु यहाँ भगवान्के तो मन ही नहीं था; अत: वे मनके बिना रमण कैसे करते? यद्यपि अपने दिव्य ऐश्वर्यसे वे बिना मनके भी रमण कर सकते थे तथापि लोकमर्यादाका अतिलंघन न करके भगवान्ने नवीन अप्राकृत मनका निर्माण किया; क्योंकि वस्तुकी सरसता अथवा नीरसताका आस्वादन तो मनसे ही होता है। भगवान्का मन अप्राकृत था, इसलिये उसका अधिष्ठाता चन्द्रमा भी अप्राकृत ही होना चाहिये था। जिस प्रकार चन्द्रमा ताराओंके सहित शोभायमान होता है, उसी प्रकार व्रजांगनाओंके मन उडुस्थानीय हैं और भगवान्का मन उन उडुओंका अधिनायक चन्द्रमा है। अत: जिस प्रकार नक्षत्रोंसे चन्द्रमाकी शोभा है, उसी प्रकार गोपांगनाओंके मनोंसे भगवान्के मनकी शोभा है।

यहाँ यह शंका होती है कि इस अप्राकृत चन्द्रमाकी वस्तुत: आवश्यकता क्या थी? यदि भगवान्के रचे हुए नवीन अप्राकृत मनका नियमन करनेके लिये इसकी आवश्यकता मानी जाय तो ठीक नहीं; क्योंकि भगवान् तो सर्वशक्तिमान् हैं, वे स्वयं ही उस मनको कार्यसम्पादनकी योग्यता प्रदान कर सकते थे। यदि कहें कि व्रजांगनाओंके मनोंके अधिष्ठाता जो प्राकृत चन्द्रमा हैं, वे नक्षत्रोंके रूपमें उदित हैं, उनकी रक्षा करनेके लिये ही भगवान्के अप्राकृत मनके अधिष्ठाता अप्राकृत चन्द्रमाका उदय हुआ है तो ऐसा मानना भी ठीक नहीं; क्योंकि उनका नियमन भी भगवान् स्वयं ही कर सकते थे। यदि उद्दीपनके लिये इसका उदय माना जाय तो भगवान्को इसके लिये भी किसी साधनकी अपेक्षा नहीं है और यदि अन्धकारकी निवृत्तिके लिये इसका उदय मानें तो यह काम भी प्राकृत चन्द्रमासे ही निष्पन्न हो सकता था;

अतः इसके उदयका प्रधान प्रयोजन क्या था, यह प्रश्न बना ही रहता है।

इस श्लोकमें इसका प्रयोजन **'चर्षणीनां शुचः मृजन्'** बतलाया है। इसकी व्याख्या श्रीवल्लभाचार्यजी इस प्रकार करते हैं—**'चर्षणयः परिभ्रमणशक्तयः तासां शुचः मृजन्'** अर्थात् परिभ्रमण-शक्तियाँ ही चर्षणी हैं, उनका शोक निवृत्त करनेके लिये इस अप्राकृत चन्द्रका उदय हुआ। ये परिभ्रमण-शक्तियाँ आनन्दकी खोजमें सारे संसारमें भ्रमण करती रहीं; परंतु आनन्दसे इनका कहीं भी संयोग न हुआ। इन्होंने समस्त जीवोंमें जा-जाकर देखा; परंतु इन्हें कहीं भी परमानन्दकी प्राप्ति नहीं हुई। जो जीव मुक्त होनेपर परमानन्दमें स्थित होते हैं, उनसे इन शक्तियोंका सम्बन्ध नहीं रहता। इसलिये इन्हें कहीं भी परमानन्दकी प्राप्ति न हुई। अतः **'चर्षणीनां शुचः मृजन्'** इसका अर्थ है परिभ्रमण-शक्ति-युक्त जीवोंके शोकका मार्जन करता हुआ अर्थात् अभिप्राय यह है कि जीव ब्रह्मानन्दका रसास्वादन तो समस्त प्राकृत सम्बन्धोंसे रहित होकर ही कर सकता था, इनसे युक्त रहते हुए उसमें परमानन्दरसास्वादनका सामर्थ्य था ही नहीं। इस अभावकी पूर्ति करनेके लिये ही पूर्ण परब्रह्म परमात्मा दिव्यमंगलमय विग्रहमें आविर्भूत हुए। उनके साथ उनके अप्राकृत रमणके लिये अप्राकृत सामग्री और वैसे ही आलम्बन तथा उद्दीपन विभावोंका भी आविर्भाव हुआ। इस अप्राकृत लीलामें अप्राकृत उद्दीपन ही होना चाहिये था; क्योंकि अप्राकृत उद्दीपनके बिना अप्राकृत गोपांगनाओंको अप्राकृत परमानन्दका समास्वादन प्राप्त होना असम्भव था। अतः इस अप्राकृत चन्द्रके उदयका प्रधान हेतु तो अप्राकृत आनन्दका उद्रेक ही है। अन्धकारकी निवृत्ति आदि तो इसके आनुषंगिक प्रयोजन हैं।

इस वृन्दारण्याकाशमें ही उडुराज परमानन्दकन्द श्रीवृन्दावनचन्द्रका अभ्युदय होता है। इसके अभ्युदयसे ही **'चर्षणीनाम्'**—गोपांगनाओंका शोकमार्जन एवं **'प्राच्याः'**—पूज्यतमा श्रीवृषभानुनन्दिनीका मुख-विलिम्पन होता है। चर्षणी एक ओषधि भी है। जिस प्रकार चन्द्रकी अमृतमयी शीतल किरणोंसे उनकी शरत्कालीन सूर्य-ताप-जनित ग्लानिका निराकरण होता है, उसी प्रकार ओषधिके समान परम सुकोमलस्वभाव व्रजांगनाओंका विरहजनित सन्ताप भगवान्‌के कर-व्यापारोंसे निवृत्त हो जाता है।

अतः इसे इस प्रकार भी लगा सकते हैं—**'चर्षणीनां शन्तमैः करैः शुचो मृजन्'** तथा **'अरुणेन प्राच्या मुखं विलिम्पन्।'** अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णरूप उडुराज अपने अत्यन्त सौख्यावह कल्याणमय कर-व्यापारोंसे चर्षणी यानी सुकुमारी गोपांगनाओंका शोक—विरहजनित ताप शान्त करते हुए तथा अरुण यानी कुंकुमसे श्रीराधिकाजीका मुखलेपन करते हुए उदित हुए। यहाँ **'दीर्घदर्शनः'** यह **'प्रियः'** का विशेषण है। इसका अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है—**'दीर्घे कमलपत्रवदायते दर्शने* नेत्रे यस्य'** अर्थात् जिसके नेत्र कमलपत्रके समान विशाल हैं। इससे प्रियतमकी प्रेमातिशयता और निर्निमेषता द्योतित होती है; अर्थात् वह प्रियतमके दर्शनमें इतना आसक्त है कि उसका निमेषोन्मेष भी नहीं होता।

यदि आध्यात्मिक पक्षमें देखें तो इसका तात्पर्य इस प्रकार होगा—

'यदा यस्मिन्नेव काले भगवान् जनानां हृदयारण्ये रन्तुं मनश्चक्रे तदैव उडुराजः मोहनैशतमोव्याप्तान्तःकरणारण्याकाशे किञ्चित्प्रकाशनशीलशमदमादिरूपेषु यः आह्लादप्रकाशात्मिकया भक्तिप्रभया राजते स भजनानन्दचन्द्रः उदगात्।'

अर्थात् जिस समय भगवान्‌ने भक्तोंके हृदयरूप वनमें विहार करनेकी इच्छा की, उसी समय उडुराज—जो मोहरूप घोर अन्धकारसे व्याप्त अन्तःकरणरूप आकाशमें कुछ-कुछ प्रकाशित होनेवाले शमदमादिरूप उडुओं (नक्षत्रों)-में आह्लाद एवं प्रकाशात्मिका भक्तिरूप प्रभासे सुशोभित है, वह भजनानन्दरूप चन्द्र उदित

* 'दृश्यते ईक्ष्यते अनेन इति दर्शनं लोचनम्।'

हुआ। इससे सिद्ध होता है कि जिस समय भगवान् अपने भक्तके हृदयमें रमण करनेकी इच्छा करते हैं, तभी यह भजनानन्दचन्द्र उदित हो जाता है। वह क्या करता हुआ उदित हुआ?—'**चर्षणीनां गतिभक्षणशीलानां कर्मतत्फलव्यासक्तमनसां जनानां शुचः आर्तीः स्वात्मभूतपरप्रेमास्पदभगवद्विप्रयोगवेदनाः ताः मृजन्।**'

अर्थात् यह चर्षणी यानी कर्म और कर्मफलभोगमें आसक्त-चित्त पुरुषोंके शोक—अपने आत्मभूत परप्रेमास्पद भगवान्‌के वियोगसे होनेवाली वेदनाका मार्जन करता हुआ उदित हुआ अथवा कर्म और कर्म-फल-भोगजनित श्रान्ति ही आर्ति है या जितनी भी वेदनाएँ सम्भव हैं, वे सभी आर्ति हैं, उन सभीका मार्जन करते हुए भगवान् उदित हुए। यहाँ '**शुचः**' में बहुवचन है; इसलिये यह शोकोपलक्षित समस्त संसारका भी उपलक्षण है। किसके द्वारा शोकमार्जन करता हुआ उदित हुआ?—'**शन्तमैः करैः—स्वयं शन्तमाः परमसुखरूपाः अन्येषु कराः कं सुखं रान्ति समर्पयन्तीति कराः तैः भगवदीयगुणगणगानतानवितानादिभिः।**'

शन्तम करोंसे अर्थात् जो स्वयं परम सुखरूप हैं और दूसरोंको सुख प्रदान करनेवाले हैं; उन भगवद्-गुणगानादिसे भक्तोंका शोक निवृत्त करता हुआ उदित हुआ। इस प्रकार यह भजनानन्दरूप चन्द्रका उदय समस्त शोकोंकी निवृत्ति करनेवाला है; क्योंकि जिस समय जीव भगवद्भजनमें प्रवृत्त होता है, उसी समय उसके सारे पाप-ताप नष्ट हो जाते हैं।

मन करि बिषय अनल बन जरई। होइ सुखी जौं एहिं सर परई॥

(रा०च०मा० १। ३५। ८)

यह मनरूप मत्तगजेन्द्र संसारानलमें जल रहा है; जिस समय यह भगवद्भजनमें लगता है, उसी समय मानो शीतल गंगाजलमें अवगाहन करने लगता है।

अब यह विचार करना चाहिये कि ये जो भजनानन्दचन्द्र, भक्तिरूपा प्रभा और गुणगानवितानादि-रूप शन्तम कर हैं, इनमें भेद क्या है? क्योंकि बिना भेदके कोई व्यवहार नहीं हो सकता। वस्तुतः भगवद्भक्तिरूपा प्रभा और भगवदीय गुणगणगानतानादि भजनानन्दचन्द्रके अन्तर्गत ही हैं। इनका भेद '**राहोः शिरः**' के समान केवल व्यवहारके लिये है। यद्यपि राहुका सिर राहुसे कोई पृथक् पदार्थ हो ऐसी बात नहीं है तथापि लोकमें इसका इस प्रकार सम्बन्ध-ग्रहणपूर्वक व्यवहार अवश्य होता है। जैसे 'देवदत्त हाथोंसे वृक्ष काटता है' इस वाक्यमें 'देवदत्त' कर्ता है और 'हाथ' करण हैं। इसलिये इन दोनोंमें भेद होना चाहिये। परंतु वस्तुतः देवदत्त क्या है? वह हाथ, पाँव, सिर आदिका संघात ही तो है। वह अवयवी है और हाथ-पाँव आदि उसके अवयव हैं। नैयायिकोंके मतानुसार अवयव कारण होता है और अवयवी उसका कार्य होता है। लोकमें कार्य अपने कारणके द्वारा ही सारे व्यापार किया करता है। इसलिये अवयवीमें मुख्यताका व्यपदेश होता है और अवयवमें गौणताका। इसी प्रकार भक्तिरूपा प्रभा और भगवद्‌गुणगानरूप किरणें अवयव हैं तथा भजनानन्दचन्द्र अवयवी है। अतः भजनानन्द कार्य है और भक्ति तथा भगवद्‌गुणगानादि उसके कारण हैं। यह भजनानन्दचन्द्र हृदयारण्यको सुशोभित भी करता है; क्योंकि जहाँ चन्द्रालोकका विस्तार नहीं होता, वह स्थल रमणके योग्य भी नहीं होता। इसी प्रकार जिस हृदयमें भजनानन्दचन्द्रकी भक्तिरूपा प्रभाका विस्तार नहीं हुआ है, वह भगवान्‌का रमण-स्थल होनेयोग्य भी नहीं है तथा वह भजनानन्दचन्द्र और क्या करते हुए उदित हुआ?—'**प्राच्याः—प्राचि भवा प्राची तस्याः बुद्धेः मुखं सत्त्वात्मकं प्रधानं भागं अरुणेन कुङ्कुमेनेव रागेण विलिम्पन्।**'

अर्थात् वह प्राची यानी अपनेसे पूर्व उत्पन्न हुई बुद्धिके सत्त्वमय प्रधान भागको, अरुण कुंकुमद्वारा मुखलेपनके समान अनुरक्त करता हुआ उदित हुआ। यही भजनानन्दचन्द्रका कार्य है। जिस प्रकार अग्निसे पिघले हुए लाखमें रंग भर देनेपर वह उसी रंगका हो जाता है, उसी प्रकार यह बुद्धिके सत्त्वात्मक भागको

द्रवीभूत करके उसमें भगवत्स्वरूपरूपी रंग भर देता है। इससे वह बुद्धिसत्त्व भगवन्मय हो जाता है और फिर किसी समय उसे भगवान्‌की विस्मृति नहीं होती।

तथा वह भजनानन्दचन्द्र है कैसा?—'**ककुभः—कं सुखं तद्रूपतया कुषु कुत्सितेष्वपि भाति शोभत इति ककुभः।**'

'क' सुखको कहते हैं। वह सुखरूपसे कुत्सितोंमें भी भासमान है, इसलिये 'ककुभ' है। उस भजनानन्द-चन्द्रका आलोक पड़नेपर तो चाण्डाल भी कृतकृत्य हो सकता है, यथा—

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥

(श्रीमद्भा० ३। ३३। ७)

अर्थात् हे प्रभो! जिसकी जिह्वापर आपका नाम विराजमान है, वह श्वपच भी इन (भक्तिहीन द्विजों)-की अपेक्षा श्रेष्ठ है। जो आपका नामोच्चारण करते हैं, उन महानुभावोंने तो सब प्रकारके तप, होम, स्नान और वेदपाठ कर लिये। यही नहीं, आपके नामोंका श्रवण या कीर्तन करनेसे तथा कभी आपको प्रणाम या स्मरण कर लेनेसे चाण्डाल भी शीघ्र ही सवन-कर्मका अधिकारी हो सकता है; फिर हे भगवन्! जिन्हें साक्षात् आपका दर्शन हुआ हो उनके विषयमें तो कहना ही क्या है?

यन्नामधेयश्रवणानुकीर्तनाद्
यत्प्रह्वणाद्यत्स्मरणादपि क्वचित्।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते
कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात्॥

(श्रीमद्भा० ३। ३३। ६)

सवनकर्मका अधिकार केवल द्विजोंको ही है। अतः इस श्लोकमें जो '**सद्यः**' शब्द है, उसका 'तत्काल' अर्थ करके कोई-कोई ऐसा कहने लगते हैं कि भगवत्स्मरणके प्रभावसे चाण्डाल भी उसी जन्ममें सवनाधिकारी यानी द्विज हो सकता है। परंतु ऐसी बात नहीं है। '**सद्यः**' का अर्थ शीघ्र है और शीघ्रता सापेक्ष हुआ करती है। शास्त्रसिद्धान्त तो ऐसा है कि पशु एवं तिर्यक् योनियोंको भोग चुकनेपर जब जीवको मनुष्य-शरीर प्राप्त होता है तो सबसे पहले उसे पुल्कसयोनि मिलती है। उससे उत्तरोत्तर कई जन्मोंमें स्वधर्म-पालन करते-करते वह वैश्य होता है; और तभी उसे द्विजोचित कृत्योंका अधिकार प्राप्त होता है। अतः यहाँ '**सद्यः**' शब्दसे यही तात्पर्य है कि यदि चाण्डाल स्वधर्मनिष्ठ रहकर भगवच्चिन्तन करेगा तो उसे एक-दो जन्मके पश्चात् ही द्विजत्वकी प्राप्ति हो जायगी; अनेकों जन्मोंमें नहीं भटकना पड़ेगा। यह क्रम स्वधर्मनिष्ठोंके ही लिये है। स्वधर्मका आचरण न करनेपर तो शूद्रको भी पुनः चाण्डाल-योनि प्राप्त होती है। जैसे कहा है—

कपिलाक्षीरपानेन ब्राह्मणीगमनेन च।
वेदाक्षरविचारेण शूद्रश्चाण्डालतामियात्॥

अर्थात् कपिला गौका दूध पीनेसे, ब्राह्मणीके साथ मैथुन करनेसे और वेदाक्षरका विचार करनेसे शूद्र चाण्डालत्वको प्राप्त हो जाता है और यदि शूद्र स्वधर्ममें ही तत्पर रहे तो उसी जन्ममें देहपातके अनन्तर स्वर्ग भी प्राप्त कर सकता है।

'**स्वधर्मे संस्थितः सम्यक् शूद्रोऽपि स्वर्गमश्नुते।**'

अतः स्वधर्मका अतिक्रमण कभी न करना चाहिये।

यदि कहो कि तत्क्षण ही क्यों न माना जाय? तो ऐसा हो नहीं सकता; क्योंकि जाति नित्य है, वह नामस्मरणमात्रसे परिवर्तित नहीं हो सकती। यदि नामस्मरणमात्रसे जाति-परिवर्तन हो सकता तो गर्दभीको भी नाम सुनाकर कामधेनु बनाया जा सकता था। परंतु ऐसा नहीं होता। जाति जन्मसे होती है, अतः उसका परिवर्तन जन्मान्तरमें ही हो सकता है। जिस प्रकार गौ एवं गर्दभादि योनियाँ हैं, उसी प्रकार ब्राह्मण और चाण्डालादि भी योनियाँ हैं। श्रुति कहती है—'**ब्राह्मणयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा।**'

तात्पर्य यह है कि चाहे जाति-परिवर्तन हो या

न हो, परंतु नामस्मरणसे चाण्डाल भी परम पवित्र अवश्य हो सकता है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उसकी अस्पृश्यता निवृत्त हो जाती है। अपवित्रता दो प्रकारकी है; जातिनिमित्तक और कर्मनिमित्तक। कर्मनिमित्तक पातित्य पुण्य-कर्मसे निवृत्त हो सकता है; किंतु जातिनिमित्तक पातित्य कर्मसे निवृत्त नहीं हो सकता। चाण्डालका पातित्य जातिनिमित्तक है। अत: चाण्डाल शरीर रहते हुए उसकी अव्यवहार्यताका प्रयोजक पातित्य निवृत्त नहीं हो सकता। किंतु भगवत्स्मरणसे वह कर्मजनित पातित्यसे मुक्त होकर शुद्धान्त:करण हो जाता है और उसके द्वारा वह भगवत्प्राप्ति भी कर सकता है; उसका कुल पवित्र हो जाता है और उसे परलोकमें वह गति प्राप्त होती है, जो भक्तिहीन ब्राह्मणके लिये भी दुर्लभ है। इसीसे भगवान्‌ने भी कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(गीता ९। ३२)

अत: सिद्ध हुआ कि वह भजनानन्दचन्द्र कुत्सितोंको भी सुख प्रदान करता है, इसलिये ककुभ है।

'**प्रियः**' भी उस भजनानन्दचन्द्रका ही विशेषण है। वह भजनानन्दचन्द्र मानो विषयी, मुमुक्षु और मुक्त सभी प्राणियोंके परम प्रेमका आस्पद है। वह लोकमनोऽभिराम होनेके कारण विषयी पुरुषोंको और भवौषध होनेके कारण मुमुक्षुओंको प्रिय है तथा जीवन्मुक्तोंको भी वह अत्यन्त प्रिय है; क्योंकि इसीके कारण उन्हें भगवत्सान्निध्यरूप परमोत्कृष्ट वैभव प्राप्त हुआ है। इसीसे श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने॥

(रा०च०मा० ७। ११९। ७)

अत: बहुतसे अद्वैतनिष्ठ तत्त्वज्ञजन भी कल्पित भेदको स्वीकारकर निश्छलभावसे अति तत्परतापूर्वक भगवान्‌की भक्ति किया करते हैं, जैसा कि कहा है—

यत्सुभक्तैरतिशयप्रीत्या कैतववर्जनात्॥
स्वभावस्य स्वरसतो ज्ञात्वापि स्वाद्वयं पदम्।
विभेदभावमाहृत्य सेव्यतेऽत्यन्ततत्परैः॥

अर्थात् पूर्ण अद्वैतपद सुभक्तोंद्वारा फलाभिसन्धिरूप कैतव (कपट)-से रहित होकर उपासित होता है; क्योंकि जो लोग लौकिक या पारलौकिक अभिलाषाओंसे पूर्ण होंगे, उनकी उपासना कैतवशून्य नहीं हो सकती। हाँ, जो मुक्त हो गया है उसे अवश्य किसी वस्तुकी आकांक्षा नहीं रहती; अत: वही निष्कपट उपासना भी कर सकता है।

इससे निश्चय हुआ कि सुभक्त जो ज्ञानी लोग हैं, उनके द्वारा वह अद्वयतत्त्व अत्यन्त प्रीतिपूर्वक उपासित होता है। जिन लोगोंने समस्त प्रपंचका मिथ्यात्व निश्चय कर लिया है, वे ही किसी पदार्थमें आसक्ति और प्राप्तव्य-बुद्धि न होनेके कारण अद्वयभावसे उसकी अकैतव उपासना कर सकते हैं, परंतु यहाँ शंका होती है कि यदि उन जीवन्मुक्तोंको कोई प्रयोजन ही नहीं होता तो वे भजनमें प्रवृत्त ही क्यों होंगे? इस सम्बन्धमें हमारा कथन है कि जीवन्मुक्त महात्माओंपर शास्त्रका शासन नहीं होता; क्योंकि वे कृतकृत्य हो जाते हैं, जैसा कि कहा है—

गुणातीतः स्थितप्रज्ञो विष्णुभक्तश्च कथ्यते।
एतस्य कृतकृत्यत्वाच्छास्त्रमस्मान्निवर्तते॥

अर्थात् प्रथम कोटिमें साधक यथाविधि वैदिक और स्मार्त कर्मोंका अनुष्ठान करके उपासनाद्वारा चित्तके दोषोंको निवृत्त करता है; फिर श्रवण, मनन और निदिध्यासनद्वारा भगवान्‌का साक्षात्कार करनेपर वह गुणातीत, जीवन्मुक्त या स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। इसी क्रमसे कर्म और उपासनामें पूर्वमीमांसा, श्रवणमें उत्तरमीमांसा, मननमें न्याय और वैशेषिक तथा निदिध्यासनमें सांख्य और योगदर्शनका कार्य समाप्त हो जाता है। इस प्रकार कृतकृत्य हो जानेके कारण फिर अपना कोई प्रयोजन न रहनेके कारण शास्त्र यद्यपि उस महापुरुषसे निवृत्त हो जाता है तथापि अपने पूर्वाभ्यासके कारण उससे कर्म और उपासना स्वभावत: होते रहते हैं। श्रीमधुसूदन स्वामी कहते

हैं—'**अद्वेष्टृत्वादिवत्तेषां स्वाभावो भजनं हरेः।**'

अर्थात् जिस प्रकार उनमें स्वभावसे ही अद्वेष्टृत्वादि गुण रहते हैं, उसी प्रकार भगवान्‌का भजन करना भी उनका स्वभाव ही है।

यहाँ एक शंका यह भी होती है कि भक्ति तो भेदमें होती है और तत्त्वज्ञोंकी अभेददृष्टि रहा करती है, फिर वे भक्तिभावमें कैसे प्रवृत्त हो सकते हैं? इसपर वे कहते हैं—'**विभेदभावमाहृत्य**' अर्थात् वे भेदभावका अध्याहार करके भगवान्‌का भजन करते हैं। इस प्रकारका काल्पनिक भेद सब प्रकार मंगलमय ही है। इसीसे कहा है—

द्वैतं मोहाय बोधात्प्राक् प्राप्ते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥
अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं भजनहेतवे।
तादृशी यदि भक्तिश्चेत्सा तु मुक्तिशताधिका॥

अर्थात् द्वैत तभीतक मोहजनक होता है, जबतक ज्ञान नहीं होता; जिस समय विचारद्वारा बोधकी प्राप्ति हो जाती है, उस समय तो भक्तिके लिये कल्पना किया हुआ द्वैत अद्वैतकी भी अपेक्षा सुन्दर है। यदि पारमार्थिक अद्वैतबुद्धि रहते हुए भजनके लिये द्वैतबुद्धि रखी जाय तो ऐसी भक्ति तो सैकड़ों मुक्तियोंसे भी बढ़कर है। भाष्यकार भगवान् श्रीशंकराचार्यजीकी भक्ति भी ऐसी ही थी; इसीसे वे कहते हैं—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥

अर्थात् हे नाथ! यद्यपि आपका और मेरा भेद नहीं है तथापि मैं आपका ही हूँ, आप मेरे नहीं हैं; क्योंकि तरंग ही समुद्रका होता है, समुद्र तरंगका कभी नहीं होता।

इसी विषयमें किसी भावुकका कथन है—

प्रियतमहृदये वा खेलतु प्रेमरीत्या
पदयुगपरिचर्यां प्रेयसी वा विधत्ताम्।
विहरतु विदितार्थो निर्विकल्पे समाधौ
ननु भजनविधौ वा तुल्यमेतद्द्वयं स्यात्॥

अर्थात् प्रियतमा चाहे तो प्रणयविधिसे प्रियतमके वक्षःस्थलपर विहार करे और चाहे उसके चरणयुगलकी परिचर्यामें लगी रहे—बात एक ही है। इसी प्रकार जिसे परमार्थबोध प्राप्त हो गया है, वह चाहे तो निर्विकल्प समाधिमें स्थित रहे और चाहे भगवान्‌के भजन-पूजनमें लगा रहे—कोई भेद नहीं है। जो लोग विचारशून्य हैं, उन्हींकी दृष्टिमें भगवान्‌का आत्मत्वेन साक्षात्कार उनका अपमान है। यदि विचार करके देखा जाय तो इस प्रकारका अभेद तो प्रेमातिशयकी रीति ही है। प्रेमका अतिरेक होनेपर तो भेदभावकी तिलांजलि हो ही जाती है। जो अरसिक हैं, उत्कृष्ट प्रेमातिशयके रहस्यको जाननेवाले नहीं हैं, उनकी दृष्टिमें प्रियतमाका प्रियतमके वक्षःस्थलमें विहार करना अयुक्त हो सकता है; किंतु रसिकजन तो जानते हैं कि प्रेमातिरेकमें ऐसा ही हुआ करता है। अतः अभेदरूपसे स्वरूप-साक्षात्कार हो जानेपर भी काल्पनिक भेद स्वीकार करके निष्कपट भावसे भक्ति हो ही सकती है। तत्त्वज्ञोंके यहाँ ऐसी ही भक्ति स्वीकार है। इस प्रकार यह भजनानन्दचन्द्र विषयी, मुमुक्षु और मुक्त सभीके लिये प्रिय है।

इसके सिवा और भी वह भजनानन्दचन्द्र कैसा है?—'**दीर्घदर्शनः—दीर्घं अनपबाध्यं दर्शनं यस्य**' अर्थात् जिसका दर्शन-ज्ञान किसीसे बाधित नहीं होता। जो ज्ञान भ्रमात्मक होता है, वह तो ज्ञानान्तरसे बाधित हो जाता है; किंतु यह भजनानन्दचन्द्र ज्ञानान्तरसे बाधित होनेवाला नहीं है, यह ज्ञानान्तराबाध्य भजनानन्दचन्द्र चर्षणियोंके शोकका मार्जन करता तथा प्राग्भवा तमोव्याप्ता बुद्धिके सत्त्वात्मक प्रधान भागको अनुरागात्मक कुंकुमसे लेपन करता हुआ उदित हुआ, जिस प्रकार कोई चिरप्रोषित प्रियतम प्रवाससे लौटकर अपनी प्रियतमाके शोकाश्रुओंका मार्जन करते हुए करधृत कुंकुमसे उसके मुखका लेपन करता है।

अथवा यों समझिये कि जिस समय भगवान्‌ने रमण करनेकी इच्छा की, उसी समय प्राची—नित्यप्रिया श्रीवृषभानुनन्दिनीका मुख विलेपन करते

हुए उडुराज (श्रीकृष्णचन्द्र) उस विहारस्थलमें उदित हो गये। यहाँ 'उडुराज' शब्दमें उपमालंकार है अर्थात् श्रीकृष्णरूप चन्द्र जो कि चन्द्रमाके समान हैं, वे प्रियतमा श्रीराधिकाजीका मुखविलिम्पन करते हुए उस विहारस्थलमें इसी प्रकार प्रकट हुए, जैसे चन्द्रमा प्राची दिशाको अनुरंजित करते हुए उदित होते हैं। उडुराज जिस प्रकार प्राची दिशाके मुख यानी प्रधान भागको करों (किरणों)-से अनुरंजित करते हैं, उसी प्रकार यहाँ क्रीड़ाभूमिमें श्रीकृष्णचन्द्र करकमलोंमें ली हुई होलिका-रोलिका (होलीके गुलाल)-से श्रीराधिकाजीका मुखमण्डल अनुरंजित करते हैं। जिस प्रकार उदयकालीन चन्द्रमा उदयरागसे प्राची दिशा और समस्त आकाशको अरुण कर देता है, ठीक उसी प्रकार भगवान् कृष्णने प्रकट होकर अपने शन्तम-कर अर्थात् मंगलमय कर-व्यापारोंसे समस्त व्रजांगनाओंके मुखमण्डलको अरुण कर दिया। यहाँ '**शन्तमैः करैः**' यह भगवान्के समस्त मंगलमय अंगोंका उपलक्षण है। वे अंग मंगलमय हैं और मंगलकारक भी हैं; क्योंकि भगवान् 'आनन्दमात्रकरपाद-मुखोदरादि' तथा—

नमो विज्ञानरूपाय परमानन्दमूर्तये।
सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकारिणे॥

—आदि वाक्योंके अनुसार शुद्ध सन्मात्र, चिन्मात्र और आनन्दमात्र तत्त्व हैं तथा '**एष ह्येवानन्दयति**' इस श्रुतिके अनुसार वे ही सब प्राणियोंको आनन्दित भी करते हैं, अतः वे आनन्दप्रद भी हैं। उन्होंने नित्यप्रिया श्रीवृषभानुनन्दिनीके समान अन्य व्रजांगनाओंके मुखमण्डलको भी सुखमय और सुखावह कर-व्यापारोंसे अरुण किया तथा उनके कर्णरन्ध्रोंको वेणुरागसे और हृदयाकाशोंको प्रेमरागसे रंजित कर दिया। इस प्रकार वे उदित हुए। यहाँ '**करैः**' में जो बहुवचन है, वह स्वरूपोंकी बहुलताके अभिप्रायसे भी हो सकता है; क्योंकि यहाँ रासलीलामें भगवान्को अनेक रूपसे आविर्भूत होना है। अतः भगवान्के अनेक रूपोंकी अपेक्षासे बहुवचनका प्रयोग उचित ही है।

व्रजांगनाओंको जो भगवान्के साथ विहारावसर प्राप्त न होनेका शोक था, उसे भी अपने शन्तम-कर यानी सुखप्रद लीलामय विहारविशेषोंसे ही निवृत्त करते हुए भगवान् प्रकट हुए। यहाँ '**वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा**' इस सूत्रके अनुसार '**मृजन्**' में भविष्यार्थमें वर्तमानका प्रयोग हुआ है अर्थात् भगवान् अपने साथ विहार करनेका सुअवसर न मिलनेके कारण जो गोपांगनाओंको शोक था, उसकी निवृत्ति करेंगे, इसीलिये उदित हुए हैं। यहाँ—

रलयोर्डलयोश्चैव सषयोर्बवयोस्तथा।
वदन्त्येषां च सावर्ण्यमलङ्कारविदो जनाः॥*

इस वचनके अनुसार '**उडुराजः**' की जगह '**उरुराजः**' भी समझा जाता है अर्थात् जिस समय भगवान् वृन्दारण्यमें पधारे, उस समय श्रीयशोदा और नन्दबाबाको विकलता होनेकी सम्भावना हुई; क्योंकि जिस प्रकार फणि मणिको नहीं छोड़ सकता, उसी प्रकार वे भगवान्से विलग नहीं रह सकते थे। अतः भगवान् अनेक रूपसे प्रकट हुए अर्थात् वृन्दारण्यमें प्रकट होनेपर भी वे एक रूपसे श्रीयशोदाजीके शयनागारमें ही रहे। इसीसे उन्हें '**उरुधा—बहुधा राजते यः स उरुराजः**' इस व्युत्पत्तिके अनुसार उरुराज—अनेक रूपसे सुशोभित होनेवाले कहा है।

यहाँ '**प्रियः**' यह उडुराजका विशेषण है। जिस प्रकार रसिक और भक्त पुरुष दोनोंको ही चन्द्रमा प्रिय है, उसी प्रकार भगवान् भी सबके परम-प्रेमास्पद हैं। चन्द्रमामें रसिकोंका प्रेम तो शृंगाररसका उद्दीपन विभाव होनेके कारण है; किंतु साथ ही वह भक्तोंको भी अत्यन्त प्रिय है; क्योंकि उसके मध्यमें जो श्यामता है, वह उन्हें हृदयाकाशमें स्थित ध्यानाभिव्यक्त भगवत्स्वरूपका स्मरण दिलाती है तथा उसके दर्शनमात्रसे भी अपने प्रियतमके प्रति प्रेमियोंके अनुरागकी वृद्धि होती है। देखो, चन्द्रमा अत्यन्त दूर देशमें है तो भी वह समुद्रकी अभिवृद्धिका हेतु होता है। जान पड़ता

* अर्थात् अलंकाररहस्यज्ञ महानुभाव र और ल, ड और ल, स और ष तथा ब और व इनकी सवर्णता बतलाते हैं।

है कि मानो समुद्र अपनी उत्ताल तरंगोंद्वारा चन्द्रमासे मिलना चाहता है। इससे यह सूचित होता है कि प्रिय वस्तु चाहे कितनी ही दूर रहे; किंतु प्रेमीको उसके प्रति अनुरागकी वृद्धि होती है। इसीसे जब-जब पूर्णचन्द्रका उदय होता है, तभी-तभी समुद्र अत्यन्त उत्सुकतासे उससे मिलनेके लिये उत्ताल तरंगोंसे उछलने लगता है। यह सब देखकर प्रेमियोंकी ऐसी भावना हो जाती है कि जिस प्रकार यह समुद्र अपने प्रियतमतक पहुँचनेके प्रयत्नमें बारम्बार असफल होते रहनेपर भी हताश नहीं होता, उसी प्रकार हमें भी अपने प्रियतमसे निराश या निरपेक्ष नहीं होना चाहिये। इस प्रकार प्रेमियोंको प्रेमरीति सिखानेवाला, भगवान् कृष्णमें रमणेच्छा उत्पन्न करानेवाला तथा समस्त जीवोंको आनन्दित करनेवाला होनेके कारण चन्द्रमा सब प्रकारसे प्रेमास्पद ही है। इसी प्रकार सर्वान्तरात्मा श्रीभगवान् भी सभीके परम-प्रेमास्पद हैं; क्योंकि कोई पुरुष कैसा ही नास्तिक या देहाभिमानी क्यों न हो, उसे भी अपनी आत्मामें ही निरतिशय प्रेम होता है।

यह चन्द्रमा कैसा है? '**दीर्घदर्शनः—दीर्घकालान्तरे अनेकरात्र्यवसाने दर्शनं यस्य स दीर्घदर्शनः**' अर्थात् जिसका दर्शन बहुत-सी रात्रियोंके पीछे होता है; क्योंकि पूर्णचन्द्र एक मासके अनन्तर ही उदित होता है। यदि इसे भगवान्का विशेषण माना जाय तो इस प्रकार अर्थ होगा—'**दीर्घमबाध्यं दर्शनं यस्य स दीर्घदर्शनः**' अर्थात् जिनका दर्शन दीर्घ यानी अबाध्य है; क्योंकि '**न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्**' इस सूत्रके अनुसार सर्वसाक्षी भगवान्की दर्शनशक्तिका लोप कभी नहीं होता। भगवान् कृष्ण प्रत्यगात्मा होनेके कारण ही '**प्रियः**'—परप्रेमास्पद हैं तथा सर्वान्तरतम प्रत्यगात्मा होनेके कारण ही सर्वद्रष्टा हैं। जो सर्वद्रष्टा है, वह किसीका दृश्य नहीं हो सकता; क्योंकि वह जिसका दृश्य होगा, उसका द्रष्टा नहीं हो सकता और ऐसा होनेपर उसका सर्वद्रष्टृत्व बाधित हो जायगा। अतः सर्वद्रष्टा श्रीभगवान्की दर्शनशक्तिका किसी समय लोप नहीं होता।

दर्शन दो प्रकारका है—**बौद्धदर्शन** और **पौरुषेय-दर्शन**। भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंद्वारा अन्तःकरणका उन इन्द्रियोंके विषयोंसे संश्लिष्ट होकर तदाकार हो जाना बौद्धदर्शन है। यह बुद्धिका परिणाम है। यहाँ बुद्धि ही इन्द्रियोंद्वारा विषयोंको व्याप्तकर उनके आकारमें परिणत हो जाती है।

इसीको कहीं-कहीं पौरुषेयदर्शन भी कहा है। बुद्धिमें जो पुरुषत्वका आरोप होता है, उसीके कारण बुद्धिनिष्ठ दर्शन पुरुषनिष्ठ-सा जान पड़ता है। तात्पर्य यह है कि बुद्धिमें जो विवेक-ज्ञान और शब्दादि-ज्ञान है, इनका अपनेमें आरोप करके यह पुरुष '**अहं विवेकवान्**' और '**अहं शब्दज्ञानवान्**' प्रतीत होता है। वस्तुतः तो यह आरोप भी बुद्धिमें ही है। पुरुषसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

यहाँ यह सन्देह होता है कि यदि यह आरोप बुद्धिनिष्ठ है तो इसकी पुरुषनिष्ठता प्रतीत नहीं होनी चाहिये, बुद्धिनिष्ठता ही अनुभूत होनी चाहिये। किंतु बुद्धि प्रकृतिका विकार होनेके कारण जड़ है, अतः यह आरोप अनुभवका विषय (दृश्य) ही होना चाहिये, अनुभवरूप नहीं होना चाहिये। परंतु ऐसी बात तो है नहीं; इसलिये इसे बुद्धिनिष्ठ ही क्यों माना जाय?

इसका उत्तर यह है कि यह बुद्धिनिष्ठ आरोप बुद्धिमें पुरुषत्वकी भ्रान्ति करानेके कारण बुद्धिनिष्ठ होनेपर भी पुरुषनिष्ठ-सा जान पड़ता है; इसीसे वस्तुतः वह आरोप अनुभवका विषय होनेपर भी अनुभवरूप-सा प्रतीत होता है।

इस प्रकार सिद्धान्ततः यही निश्चय हुआ कि बौद्ध बोध ही पौरुषेय बोध-सा प्रतीत होता है। पौरुषेय बोध बुद्धिबोधसे भिन्न नहीं है। इसीसे कहा है—'**एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्**'। यहाँ तत्तदाकारवृत्ति ही 'ख्याति' कही गयी है। व्युत्थान-अवस्थामें पुरुष ख्यात्याकार हो जाता है—'**वृत्ति-सारूप्यमितरत्र**'। वृत्तियाँ शान्त, घोर और मूढभेदसे

तीन प्रकारकी हैं, अतः व्युत्थानावस्थामें पुरुष भी शान्त, घोर और मूढरूप हो जाता है।

यह कथन लोकव्यवहारोपयुक्त दर्शनकी दृष्टिसे है। वास्तवमें तो इस **बौद्धबोधसे** व्यतिरिक्त पुरुषका स्वभावभूत चैतन्य ही पौरुषेयदर्शन है। यदि बौद्धबोधको ही पुरुषका स्वभाव माना जाय तो यह प्रश्न होता है कि समाधि-अवस्थामें समस्त चित्तवृत्तियोंका निरोध हो जानेपर पुरुषका क्या स्वभाव रहता है? तात्पर्य यह है कि यदि उसका स्वभाव बौद्धबोध ही है तो उस अवस्थामें समस्त बुद्धिवृत्तियोंका निरोध हो जानेके कारण वह स्वभावशून्य होकर कैसे रहेगा? कारण, ऐसा कोई समय नहीं है, जबकि पुरुष शब्दादि वृत्तियोंमेंसे किसीके साथ तादात्म्यापन्न न हो। समस्त वृत्तियाँ पाँच विभागोंमें विभक्त की गयी हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति; इनमेंसे किसी-न-किसीके साथ पुरुषका सारूप्य रहता ही है। जिस प्रकार अग्नि दाहकत्व-प्रकाशकत्वशून्य नहीं रहता, उसी प्रकार पुरुष शान्त, घोर या मूढवृत्तियोंसे शून्य कभी नहीं रहता। अतः ये उसके स्वभाव ही हैं। यदि कहें कि समाधिकालमें वृत्तियोंका निरोध हो जानेपर भी वह उस निर्वृत्तिक अन्तःकरणका ही भोक्ता रहता है तो ठीक नहीं; क्योंकि निर्वृत्तिक अन्तःकरण भोगोपयोगी नहीं है; क्योंकि भोग और सत्त्व-पुरुषान्यताख्यातिरूप पुरुषार्थ-सम्पादन करनेवाली अन्तःकरणरूपमें परिणत हुई ही प्रकृति पुरुषकी भोग्य हो सकती है। निर्वृत्तिक चित्तमें तो ये दोनों ही बातें नहीं हैं। अतः समाधि-अवस्थामें पुरुषका कोई स्वभाव ही नहीं रहता। कोई भी भावरूप पदार्थ अपने स्वभावको छोड़कर नहीं रह सकता। पुरुष भावरूप है, अतः समाधि-अवस्थामें भी उसका सद्भाव रहनेके कारण क्या हो सकता है?

इसपर सिद्धान्ती कहता है—'**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्**' अर्थात् समस्त वृत्तियोंका निरोध हो जानेपर द्रष्टाकी अपने स्वरूपमें स्थिति हो जाती है। तात्पर्य यह है कि भावके दो रूप हैं—औपाधिक और अनौपाधिक। बौद्धबोध पुरुषका औपाधिक रूप है, अतः समाधिमें उसका अभाव हो जानेपर भी पुरुषका निरुपाधिक अर्थात् स्वाभाविक स्वरूप तो रहता ही है। यही मुख्य पौरुषेय-बोध है। यह पुरुषका स्वाभाविक चैतन्य ही वास्तविक दर्शन है। दृष्टि दो हैं—नित्या और अनित्या। ख्याति अनित्या दृष्टि है, यह उदयास्तमयशालिनी है। इसकी साक्षीभूता जो नित्या दृष्टि है, उसीके विषयमें श्रुति कहती है—

'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते।'

(बृहदारण्यक० ४।३।२३)

अर्थात् द्रष्टाकी दृष्टिका लोप कभी नहीं होता। यही दीर्घा दृष्टि है और यही मुख्य भी है। इसीसे भगवान्‌को अविलुप्तदृक् कहा है। यह दृष्टि समस्त अनित्य दृष्टियोंकी दृष्टि (साक्षिणी) है; अर्थात् अनित्य दृष्टियोंकी दृष्टि और उनका द्रष्टा एक ही बात है। यहाँ '**द्रष्टुः दृष्टिः**' यह कथन ऐसा ही है, जैसे '**राहोः शिरः**' अर्थात् जिस प्रकार सिर राहुसे तनिक भी भिन्न नहीं है, उसी प्रकार यह दृष्टि भी द्रष्टासे भिन्न नहीं है, अतः '**द्रष्टुः**' इस पदमें जो षष्ठी है, वह समानाधिकरण्यमें है; अर्थात् जो दृष्टि द्रष्टासे अभिन्न है, वही द्रष्टाकी दृष्टि है और यदि व्यधिकरण—षष्ठी मानकर अर्थ किया जाय तो इसके दो तात्पर्य होंगे—द्रष्टुजन्या दृष्टि या द्रष्टृ-प्रकाशिका अर्थात् द्रष्टृविषयिणी दृष्टि। इनमें पहली द्रष्टाके आश्रित है और दूसरी द्रष्टाका आश्रय है तथा पहली अनित्या है और दूसरी नित्या। इससे सिद्ध हुआ कि घटादि-दर्शनका आश्रय तो द्रष्टा है तथा उस द्रष्टाका जो दर्शन है, जिस दर्शनका विषय वह द्रष्टा है, वही शुद्ध आत्मा है। वह दृष्टि क्या है? वह द्रष्टाकी स्वरूपभूता है। यहाँ 'द्रष्टा' शब्दसे काल्पनिक द्रष्टा अभिप्रेत है। उस (काल्पनिक द्रष्टा)-का आश्रय ही उसका पारमार्थिक स्वरूप है, जैसे रज्जुमें अध्यस्त सर्पका रज्जु। वह दृष्टि कौन-सी है? इसका परिचय श्रुति इस प्रकार देती है—'**सा द्रष्टुर्दृष्टिर्यया स्वप्ने पश्यति**' इत्यादि।

इस प्रकार जिसके द्वारा स्वाप्निक पदार्थोंकी प्रतीति होती है, वह दृष्टि आत्मस्वरूपा ही है। यहाँ शंका होती है कि उसके भी तो उत्पत्ति और नाश देखे जाते हैं; अत: वह भी अनित्या ही है। इसपर हमारा कथन यह है कि ऐसा मानना उचित नहीं; क्योंकि उस समय चक्षु आदि इन्द्रियाँ तो अज्ञानमें लीन हो जाती हैं और अन्त:करण विषयरूप हो जाता है। जाग्रदवस्थाके हेतुभूत अविद्या, काम और कर्मोंका क्षय तथा स्वप्नावस्थाके हेतुभूत अविद्या, काम और कर्मोंका उदय होनेपर, जाग्रदवस्थामें अपने-अपने अधिष्ठातृदेवतासे अनुगृहीत भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंद्वारा उत्पन्न हुए भिन्न-भिन्न ज्ञानोंके संस्कारोंसे संस्कृत हुआ अन्त:करण ही स्वाप्निक पदार्थोंके रूपमें परिणत हो जाता है, जिस प्रकार सिनेमामें अनेक प्रकारके चित्रोंसे चित्रित पट ही विशेष प्रकारके प्रकाश, गति और काँचसे संयुक्त होकर नाना प्रकारकी गतियाँ करता प्रतीत होता है।

किंतु उस समय (स्वप्नमें) इन सबका दर्शन किसके द्वारा होता है? यदि कहो कि जिस प्रकार अनिर्वचनीय रूपादि उत्पन्न हुए हैं, उसी प्रकार अनिर्वचनीय दृष्टि भी उत्पन्न हो जाती है तो यह हो नहीं सकता; क्योंकि प्रातिभासिक अनिर्वचनीय पदार्थ सदा ज्ञातसत्ताक ही होते हैं। उनका सर्वदा अपरोक्ष-ज्ञान हुआ करता है। किंतु इन्द्रियाँ अज्ञानसत्ताक भी होती हैं; क्योंकि वे स्वयं अज्ञात रहकर भी वस्तुका प्रकाशन करनेमें समर्थ हैं। अत: अज्ञातसत्ताक होनेके कारण उसका आरोप नहीं हो सकता; अत: स्वाप्निक रूपकी दृष्टि शुद्ध आत्मा ही है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि यदि स्वाप्निक रूपकी दृष्टि शुद्ध आत्मा ही है तो उसमें दृष्टि, श्रुति, विज्ञाति आदि भेद नहीं हो सकते; क्योंकि वह तो निर्विशेष अर्थात् सामान्यरूप है। उसमें यह नामरूपात्मक भेद कैसे हो गया? इसका उत्तर यह है कि इन अनिर्वचनीय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धका अनिर्वचनीय सम्बन्ध स्वप्रकाश आत्मामें अनिर्वचनीय श्रुति, अनिर्वचनीय मति एवं अनिर्वचनीय विज्ञाति आदि उत्पन्न कर देता है, जिस प्रकार एकरस प्रकाश भी नील-पीत, हरित काँचोंके साथ संश्लिष्ट होनेपर तत्तद्रूपवान् प्रतीत होता है। किन्हीं-किन्हीं लैम्पोंमें देखा जाता है कि उसके भिन्न-भिन्न पार्श्वोंमें भिन्न-भिन्न वर्णके काँच लगे रहते हैं। उनके कारण उसकी दीपशिखा एकरूप होनेपर भी भिन्न-भिन्न ओरसे विभिन्न वर्णकी दिखलायी पड़ती है। इसी प्रकार एक ही शुद्ध ब्रह्म विविध उपाधियोंके कारण विविध रूपोंमें प्रतीत होता है। यहाँ दृष्टान्तमें दीपशिखाके सन्निहित होनेवाले नील, पीत, हरित काँच समान-सत्तावाले हैं अर्थात् उन सभीकी व्यावहारिक सत्ता है; इसलिये उसका वैवर्ण्य पारमार्थिक भी कहा जा सकता है। परंतु आत्मासे संश्लिष्टसे शब्दादि तो अतात्त्विक हैं; अत: अतात्त्विक शब्दादिके सम्बन्धसे होनेवाला तात्त्विक-आत्माका भेद भी अतात्त्विक ही है।

यहाँ एक बात यह समझ लेनी चाहिये कि चक्षुरादिजन्य रूपाद्याकाराकारितवृत्तिरूप जो दृष्टि आदि हैं, उनके संस्कारोंसे संस्कृत अन्त:करण ही शब्दादिरूपसे परिणत होता है। अत: दर्शन-श्रवण आदिके संस्कारोंसे संस्कृत जो अन्त:करण है, उसके सम्बन्धसे ही शुद्ध चैतन्यमें दृष्टि-श्रुति आदि अनेक भेद प्रतीत होते हैं; जिस प्रकार सुषुप्तिमें यद्यपि अहंकार नहीं रहता तथापि जागनेपर यही अनुभव होता है कि 'मैं सुखपूर्वक सोया'। इस प्रकारकी स्मृतिसे उस समय भी अहंकारकी सत्ता सिद्ध होती है। परंतु वस्तुत: उस समय अहंकार नहीं रहता; क्योंकि उस अवस्थामें इच्छा, द्वेष, प्रयत्नादि अहंकारके धर्म नहीं देखे जाते और धर्मके बिना धर्मीकी स्थिति सम्भावित नहीं है; तथापि अहंकार न रहनेपर भी अहं संस्कार-संस्कृत अज्ञान तो रहता ही है; इसीसे जागृतिमें उसका परामर्श होता है।

रासपञ्चाध्यायीके दूसरे श्लोककी एक अन्य व्याख्या

अब हम इस श्लोकके तात्पर्यका एक अन्य

प्रकारसे विचार करते हैं—'**उडुराजः, उडुषु उडुसदृशर्तुषु राजत इति उडुराजः—वसन्तः। यदैव भगवान् रन्तुं मनश्चक्रे तदैव उडुराजो—वसन्त उदगात्।**'

अर्थात् जो उडुस्थानीय अन्य ऋतुओंमें शोभायमान है, वह वसन्त ही उडुराज है। जिस समय भगवान्ने रमण करनेकी इच्छा की, उसी समय वह वसन्तरूप उडुराज उदित हो गया। वह वसन्त-ऋतु कैसा है? '**दीर्घदर्शनः—दीर्घकाले दर्शनं यस्य।**' अर्थात् वर्तमान जो शरद्-ऋतु है, उसकी अपेक्षा जिसका दर्शन दीर्घकालमें होना सम्भव है। ऐसा वसन्त-ऋतु भी कालका अतिक्रमण करके उदित हुआ।

उसीका विशेषण है '**ककुभः—के स्वर्गे कौ पृथिव्यां भातीति ककुभः**' अर्थात् जो क—स्वर्ग और कु—पृथिवीमें भासित होता है। इससे वसन्तोपलक्षित होलिकामें होनेवाले उत्सवादि भी सूचित होते हैं। 'प्रिय' भी उसीका विशेषण है; क्योंकि सबके प्रेमका आस्पद होनेके कारण वह सबका प्रिय भी है। वह वसन्तरूप ककुभ और प्रिय उडुराज उदित हुआ। क्या करता हुआ उदित हुआ?

'**प्रियसङ्गमाभावजनितविषादान् मृजन् शन्तमैः करैश्च स्वोद्दीपनविभावजनितेन अरुणेन प्रियसङ्गमसम्भावनाजनितेनानुरागेण प्राच्या नित्यप्रियायाः श्रीवृषभानुनन्दिन्या इव चर्षणीनां श्रीकृष्णेन सह रन्तुं गमनशीलानामन्यासां व्रजाङ्गनानां विरहाग्निना पीतं मुखं विलिम्पन्**'।

अर्थात् वह प्रियसंगमाभावके कारण उत्पन्न हुए विषादको अपनी शान्त किरणोंसे (अथवा सुखस्वरूप एवं सुखप्रद किरणोंसे) निवृत्त करते हुए तथा अपने उद्दीपनविभावरूप चन्द्रमासे उत्पन्न हुए अरुण यानी प्रियतमके समागमकी सम्भावनासे प्रकट हुए अनुरागद्वारा प्राची—नित्यप्रिया श्रीवृषभानुसुताके समान, अन्य सब चर्षणीगण भगवान् श्रीकृष्णके साथ रमण करनेके लिये अभिसरण करनेवाली समस्त गोपांगनाओंके विरहाग्निजनित पीड़ासे पीले पड़े हुए मुखोंका लेपन करते हुए उदित हुए। यहाँ '**प्राच्या मुखम् अरुणेन विलिम्पन्**' इसका अर्थ यह भी हो सकता है—

'**प्राच्याः नित्यप्रियायाः व्रजभुवः मुखं मुख्यं भागं श्रीवृन्दारण्यम् अरुणेन किंशुकादिपुष्पविकासेन विलिम्पन्।**'

अर्थात् नित्यप्रिया व्रजभूमिके मुख (मुख्य भाग) श्रीवृन्दारण्यको अरुण-किंशुकादि रक्तपुष्पोंके विकासद्वारा रंजित करते हुए उदित हुए। उस समय वसन्तके उदयसे यों तो सभी जीव और भूमियोंकी ग्लानि निवृत्त हो गयी थी; किंतु उसने प्रधानतया वृन्दारण्यको तो किंशुककुसुमादिकी अरुणिमासे और भी अनुरंजित कर दिया था।

इस प्रकार जब समस्त जड़वर्ग भगवान्की लीलामें उपयुक्त होनेके लिये उद्यत हुआ तो विराट् भगवान्का मनरूप चन्द्रमा भी उस रमणलीलामें उद्दीपनरूपसे सहायक होकर उदित हुआ; क्योंकि विराट् तो भगवान्का परम भक्त है। उस चन्द्रमामें जो उदयकालीन लालिमा है, वह उसका भगवद्विषयक अनुराग है तथा उसमें जो श्यामता है, वह मानो ध्यानाभिव्यक्त भगवत्स्वरूप है। उस चन्द्रमाकी जो अरुण कान्ति है, वह मानो भगवल्लीलाकी सम्भावनासे प्रादुर्भूत हुए मानसिक उल्लासके कारण जो उसकी मन्द मुसकान है, उसीके कारण विकसित हुई दन्तावलीकी अधर-कान्तिमिश्रित आभा है तथा उस चन्द्रमाका जो निखिलव्योमव्यापी अमृतमय शीतल प्रकाश है, वह भगवद्दर्शनके अनन्तर विराट् भगवान्का उदार हास है। विराट्के ईषत्-हासमें उसकी देदीप्यमान दन्तपंक्तिकी आभा ओष्ठोंकी अरुणिमासे अरुण होकर प्रकट होती है; किंतु उसके उदार हासमें ओष्ठोंके दूर हो जानेसे उन ओष्ठोंकी अरुणिमाका सम्बन्ध बहुत कम रह जाता है, इसलिये उस समय उस दन्तपंक्तिकी दीप्ति बहुत स्फुट होती है। नक्षत्रमण्डल ही विराट् भगवान्की दन्तावली है। उस उल्लासके कारण जो

हर्षोत्कर्षसे उद्गत रोमावली है, वे ही ये वृक्ष हैं। इस प्रकार भगवल्लीला-दर्शनके लिये उल्लसित होकर विराट् भगवान्‌का मनरूप चन्द्रमा प्रकट हुआ। उस चन्द्रमाका विशेषण है—

'ककुभः—के स्वर्गे मण्डलरूपेण कौ पृथिव्यां प्रकाशरूपेण च भातीति ककुभः।'

अर्थात् जो मण्डलरूपसे आकाशमें और प्रकाशरूपसे पृथिवीमें प्रकाशित होता है, वह चन्द्रमा ककुभ है।

वह क्या करता हुआ उदित हुआ?

'शन्तमैः करैश्चर्षणीनां श्रीकृष्णरसास्वादनाय वृन्दारण्यं प्रति अभिसरणशीलानां व्रजाङ्गनाजनानां शुचः तम आदिरूपान् प्रतिबन्धान् मृजन् उद्दीपन-विधया वा लोककुलमर्यादारूपान् प्रतिबन्धान् मृजन् उदगात्।'

अर्थात् वह अपनी सुखस्वरूप एवं सुखप्रद किरणोंसे, श्रीकृष्णरसास्वादनके लिये वृन्दारण्यकी ओर जानेवाली व्रजांगनाओंके शोक अर्थात् अन्धकारादि-रूप प्रतिबन्धोंका अथवा उद्दीपनरूपसे उनके लोक एवं कुलमर्यादारूप प्रतिबन्धोंका निराकरण करता हुआ उदित हुआ। इसके सिवा अपनी नित्यप्रिया श्रीवृषभानुदुलारीके समान अन्य गोपांगनाओंके भी विरहतापसन्तप्त पीले मुखोंको प्रियतमके संगमकी सम्भावनासे होनेवाले अनुरागरूप उदयकालीन अरुणिमासे अनुरंजित करता हुआ उदित हुआ। भगवान्‌की परमाह्लादिनी शक्तिरूपा श्रीराधिकाजी तो नित्य ही भगवत्-संश्लिष्टा हैं, अतः उन्हें यह वियोगजनित ताप नहीं है और इसीसे उनके मुखमें पीतता भी नहीं है, प्रत्युत नित्य ही दीप्तियुक्त अरुणिमा है। किंतु अन्य व्रजांगनाओंको यह सौभाग्य उपासनाके पश्चात् प्राप्त होता है। अतः उपासनाकी परिपक्वतासे पूर्व, जब कि पूर्वरागका भी प्रादुर्भाव नहीं होता, वे भगवद्विरहसे व्यथित रहती हैं और उनका समस्त अंग पीला पड़ जाता है। इस समय इस चन्द्रमाने उदित होकर प्रियतमके समागमका सन्देश सुनाकर उस पीतिमाको अरुणिमामें परिणत कर दिया।

परम प्रेमास्पद परमानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रसे तादात्म्य-प्राप्तिके लिये भला कौन उत्सुक न होगा? परंतु अधिकांश उपासक तो उपासनाका परिपाक होनेके अनन्तर ही उन्हें प्राप्त कर पाते हैं। किंतु श्रीराधिकाजीका भगवान्‌के साथ शाश्वत सम्प्रयोग है। जिस प्रकार सुधासमुद्रमें मधुरिमा नित्य-निरन्तर और सर्वत्र है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णमें उनकी आह्लादिनी शक्ति श्रीवृषभानुनन्दिनी हैं। अतः श्रीकृष्ण और राधिकाजीका नित्य संयोग है। उनके सिवा और किसीको यह सौभाग्य प्राप्त नहीं है। यद्यपि तत्त्वतः तो भगवान् सद्घन, चिद्घन और आनन्दघन ही हैं। अतः उनमें अन्य वस्तुके संयोगका अवकाश तभी हो सकता है, जब वह भगवद्रूप हो। विजातीय वस्तुका उसके साथ कभी योग नहीं हो सकता और वस्तुतः विजातीय कोई वस्तु है भी नहीं। विचारवानोंने तो जीवको भगवत्स्वरूप ही कहा है। श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥

(रा०च०मा० ७।११७।२)

जीवमें जो सुखित्व-दुःखित्वादि प्रतीत होते हैं, वे यदि स्वाभाविक होते तो उसमें भगवत्सम्प्रयोगकी योग्यता ही नहीं हो सकती थी। अतः उसके ये धर्म आरोपित हैं। आरोपकी निवृत्ति होते ही जीवका भी भगवान्‌से तादात्म्य हो जाता है। इसी प्रकार श्रीवृषभानुसुता तो भगवान्‌से नित्यसंश्लिष्टा हैं; किंतु इतर व्रजबालाओंका उनसे कल्पित भेद है। उस भेदकी निवृत्ति होते ही उनका भी भगवान्‌से अभेद हो जायगा।

मायामोहित जीव प्रायः भगवान्‌की ओर प्रवृत्त नहीं होता; इसीसे वह बाह्य प्रपंचमें आसक्त रहता है। जिस समय किसी महान् पूर्वपुण्यके प्रभावसे उसकी प्रवृत्ति भगवान्‌की ओर होती है, उस समय वह बाह्य

प्रपंचसे विरत हो जाता है और धीरे-धीरे उसे भगवत्तत्त्व ही परप्रेमास्पद प्रतीत होने लगता है। फिर उसे भगवान्‌का एक क्षणका वियोग भी असह्य हो जाता है। इस प्रकारके विरहानलसे सन्तप्त होकर उसका अन्त:करण सर्वथा शुद्ध हो जाता है और जिन दोषोंके कारण वह अपने प्रियतमकी उपेक्षाका भाजन बना हुआ था, वे सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं। इस विरहावस्थामें उसका मुख पीला पड़ जाता है। भक्तशिरोमणि श्रीभरतजीकी इसी अवस्थाका वर्णन करते हुए श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्त्रवत नयन जलजात॥

(रा०च०मा० ७।१ (ख))

इस प्रकार प्रियतमके विप्रयोगमें प्रियतमके प्रेमास्पदत्वकी अनुभूति हो जाती है। जबतक प्रेमास्पद प्रेमास्पदरूपसे अनुभूत नहीं होता, तभीतक प्रमाद रहता है। उसमें प्रेमास्पदत्वकी अनुभूति होनेपर तो उसके बिना एक पलके लिये भी चैन नहीं पड़ता। फिर तो उसकी वियोगाग्निमें झुलसकर शरीर दुर्बल हो जाता है तथा मुख पीला पड़ जाता है।

इसी प्रकार गोपांगनाओंके मुख भी भगवद्विप्रयोगमें पीले पड़ गये थे। अत: आज जो चन्द्रमा उदित हुए हैं, वे एक विलक्षण चन्द्र हैं। आज इनके उदयसे उद्दीपनविधया जो भगवान्‌के संगमकी सम्भावनासे एक उत्साहविशेष होगा, उससे उनकी वह पीतिमा अरुणिमामें परिणत हो जायगी।

जब कुछ प्रतीक्षाके बाद विलम्बसे प्रेमीका दर्शन होता है, तब कुछ विलक्षण ही रस आता है। अतएव उडुराजको दीर्घदर्शन कहा है, दीर्घकालमें दर्शन हुआ है जिसका, उसे वह दीर्घदर्शन है। इधर श्रीकृष्णका भी बहुत प्रतीक्षाके बाद विलम्बमें ही दर्शन होता है, अत: वे भी दीर्घदर्शन ही हैं अथवा अनुरागजन्य विह्वलतासे दीर्घकालतक प्रियामुखका दर्शन करनेवाले श्रीकृष्ण दीर्घदर्शन हैं अथवा दीर्घ अर्थात् नित्य है दर्शनस्वरूपभूता दृष्टि जिसकी वे श्रीकृष्ण दीर्घदर्शन हैं। यहाँ समझ लेना चाहिये कि दृष्टि दो प्रकारकी है—एक अन्त:करणवृत्तिरूपा अनित्य दृष्टि श्रुति आदि और दूसरी आत्मस्वरूपभूता नित्य दृष्टि। उसी नित्य दृष्टिको ही स्वप्नकी दृष्टि, श्रुति, मति, विज्ञाति कहा जाता है—

'सा द्रष्टुर्दृष्टिर्यया स्वप्ने पश्यति।'

यहाँ यह सन्देह होता है कि यदि स्वप्नकी दृष्टि, श्रुति, मति एवं विज्ञाति आदि तो आत्मस्वरूपा होनेके कारण नित्य हैं; नित्य होनेसे उनका नाश नहीं हो सकता और नाश न होनेसे संस्कार नहीं बन सकता; क्योंकि संस्कार ज्ञानादिका नाश होनेपर ही उत्पन्न होता है, जिस प्रकार घटज्ञानका नाश होनेपर ही घटसंस्कारकी उत्पत्ति होती है। इसीसे ज्ञानकालमें स्मृति नहीं हुआ करती। अत: यदि स्वप्नकी दृष्टि, श्रुति आदि नित्य हैं तो उनकी स्मृति नहीं होनी चाहिये। परंतु स्मृति होती ही है। इसका क्या समाधान होगा?

इसका उत्तर यह है कि स्वप्नके समय दृष्टि, श्रुति आदि तो आत्मस्वरूप ही हैं तथापि उनके विषयोंका नाश तो होता ही है। उनके नाशसे ही संस्कार बनता है। इसीसे उनके ज्ञानका भी नाश कहा जा सकता है। यहाँ विलक्षणता यही है कि नित्य होनेपर भी उसका नाश कहा जा सकता है। इसमें कारण यही है कि विशेष्यके नित्य बने रहनेपर भी विशेषणके नाशवान् होनेके कारण विशिष्टके नाशका व्यवहार होता है; जैसे आकाशके बने रहनेपर भी घटरूप विशेषणका नाश होनेपर घटाकाशका नाश कहा जाता है। विशिष्ट पदार्थका अभाव तीन प्रकार माना जाता है—विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव, विशेष्याभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव तथा उभयाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव; जैसे कोई दण्डधारी पुरुष है, उसके दण्डित्वका अभाव तीन प्रकारसे हो सकता है—(१) दण्डरूप विशेषणका अभाव होनेपर, (२) पुरुषरूप

विशेष्यका अभाव होनेपर अथवा (३) दण्ड और पुरुष दोनोंहीका अभाव होनेपर। इसी प्रकार यहाँ विशेष्यस्थानीय आत्मचैतन्य तो बना हुआ है, केवल शब्दादि विशेषणोंके नाशसे ही दृष्टि, श्रुति, मति आदि विशिष्ट ज्ञानोंका नाश कहा जाता है; क्योंकि केवल आत्मचैतन्य ही दृष्टि, श्रुति आदि नहीं है; अपितु अनिर्वचनीय-रूपादिसे सम्बन्धित चैतन्य ही दृष्टि-श्रुति आदि है। अत: केवल चैतन्यके बने रहनेपर भी रूपादिविशेषके नाशमात्रसे रूपादिविशिष्ट चैतन्यका नाश कहा जा सकता है। इस प्रकार दृष्टि, श्रुति आदिका नाश हो जानेसे उनके संस्कार और स्मृति दोनों ही बन सकते हैं।

इसीसे कई आचार्योंने सुखकी स्मृति भी सुखका नाश होनेपर ही मानी है; क्योंकि घटादि-वृत्तियोंके समान वे सुखकी वृत्तिको सुखसे पृथक् नहीं मानते। वे कहते हैं कि वृत्ति तो आवरणकी निवृत्तिके लिये है। जो वस्तु अज्ञातसत्ताक होती है, उसीका आवरण हटानेके लिये वृत्ति होती है। सुख-दु:खादि तो अज्ञातसत्ताक हुआ ही नहीं करते। यदि कहो कि वृत्ति चैतन्यसे सम्बन्ध करानेके लिये है; क्योंकि भिन्न-भिन्न आचार्योंके मतानुसार वृत्ति दो प्रकारकी है—आवरणाभिभवात्मिका और चैतन्य-सम्बन्धार्था। सिद्धान्त यह है कि घटादिका प्रकाश घटाद्यवच्छिन्न चैतन्यसे ही होता है; किंतु जबतक वह आवृत रहता है, तबतक उसका प्रकाश नहीं होता; क्योंकि ज्ञान अनावृत चैतन्यसे ही होता है। अत: वृत्तिका काम यही है कि आवरणकी निवृत्तिकर अनावृत चैतन्यसे सम्बन्धित घटादिका ज्ञान कराये। दूसरे आचार्य वृत्तिको चैतन्य-सम्बन्धार्था मानते हैं। वे कहते हैं कि सबका परमकारण होनेसे ब्रह्मका घटादिसे सम्बन्ध तो है ही, अत: घटादिका ज्ञान होना ही चाहिये; परंतु ऐसा होता नहीं। अत: एक विलक्षण सम्बन्ध माननेकी आवश्यकता है। उसे अभिव्यंग्य-अभिव्यंजक सम्बन्ध कहते हैं। चैतन्यका वस्तुपर अभिव्यंजक कैसे होता है? जैसे दर्पणादिमें सूर्यादिका प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी प्रकार जिस पदार्थमें चैतन्यका प्रतिबिम्ब पड़ता है—उसीका प्रकाश हुआ करता है।

लोकमें यह देखा जाता है कि दर्पणादि स्वच्छ वस्तुएँ ही प्रतिबिम्बको ग्रहण करनेवाली हुआ करती हैं, घटादि अस्वच्छ वस्तुओंमें उसका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, उसी प्रकार चेतनका प्रतिबिम्ब भी अन्त:करणमें ही पड़ता है, कुड्यादि अस्वच्छ वस्तुओंमें नहीं पड़ता। किंतु जिस प्रकार स्वच्छ जलादिका योग होनेपर अस्वच्छ कुड्यादिमें प्रतिबिम्ब-ग्रहणकी योग्यता आ जाती है, उसी प्रकार स्वच्छ अन्त:करणका योग होनेपर घटादि भी चेतनका प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेमें समर्थ हो जाते हैं। अन्त:करणकी घटाद्याकाराकारिता वृत्ति चैतन्यके साथ घटादिका सम्बन्ध करानेके लिये ही होती है। जिस समय अन्त:करणकी वृत्ति घटाद्याकारा होती है, उस समय अन्त:करणवृत्तिसंश्लिष्ट घट चैतन्यका प्रतिबिम्ब ग्रहण कर लेता है; इसीसे घटकी स्फूर्ति होती है।

इसी प्रकार कोई-कोई आचार्य अन्त:करणकी वृत्तिका प्रधान प्रयोजन जीव-चैतन्यके साथ विषयावच्छिन्न चैतन्यका ऐक्य कराना मानते हैं। उनका मत ऐसा है कि जो वस्तु जिस चैतन्यमें अध्यस्त होती है, वही उसका प्रकाशक होता है; अत: घटाद्यवच्छिन्न चैतन्यको अपनेमें अध्यस्त घटादिका ज्ञान हो सकता है। तथापि प्रमाता जो जीव है, उसे उसका ज्ञान किस प्रकार हो? अत: इन्द्रियमार्गसे विषयतक गयी हुई अन्त:करणकी वृत्ति उस विषयावच्छिन्न चेतनके साथ जीवचेतनका अभेद कर देती है। उस समय वह विषयावच्छिन्न चेतनमें अध्यस्त विषय अन्त:करणावच्छिन्न चेतन यानी जीवचेतनमें अध्यस्त कहा जा सकता है। अत: इस प्रकार अन्त:करणावच्छिन्न चेतनके साथ विषयका आध्यासिक सम्बन्ध होनेसे उसके द्वारा उस विषयका स्फुरण हो जाता है।

इससे यही सिद्ध हुआ कि वृत्तियोंकी आवश्यकता चाहे आवरणाभिभवके लिये मानें चाहे जीवके साथ विषयका सम्बन्ध करानेके लिये मानें और चाहे अन्त:करणावच्छिन्न चेतन और विषयावच्छिन्न चेतनके अभेदके लिये मानें, सुखके प्रकाशके लिये वृत्तियोंकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि सुख तो अन्त:करणके समान स्वच्छ ही है। घटादि तो अस्वच्छ थे, इसलिये उन्हें चैतन्य सम्बन्धके लिये वृत्तिकी आवश्यकता थी। किंतु सुख तो स्वत: स्वच्छ है; इसलिये जीवचैतन्यके साथ उसके सम्बन्धके लिये वृत्तिकी आवश्यकता नहीं है। यहाँ अन्त:करणावच्छिन्न चेतनके साथ सुखावच्छिन्न चेतनके अभेद-सम्पादनके लिये भी वृत्तिकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि सुखका आश्रय तो अन्त:करण ही है, अत: वहाँ आवरणभंगके लिये वृत्तिकी अपेक्षा नहीं है; क्योंकि आवरण वहाँ होता है, जहाँ पदार्थकी सत्ता ज्ञात नहीं होती। सुख अज्ञातसत्ताक है ही नहीं। इसलिये आवरण न होनेके कारण आवरणाभिभवात्मिका वृत्तिकी भी आवश्यकता नहीं है। इसीसे सुखको केवल साक्षीभास्य मानते हैं। यदि ऐसा न मानेंगे तो वृत्तिके प्रकाशके लिये भी वृत्ति माननी पड़ेगी। यदि वृत्तिके प्रकाशके लिये वृत्ति नहीं मानते तो सुखके प्रकाशके लिये ही क्यों मानते हो?

यहाँ किन्हीं-किन्हींका ऐसा मत है कि सुखका स्मरण होता है, इसलिये सुखाकाराकारिता वृत्ति माननी चाहिये; क्योंकि उसका नाश होनेपर ही सुखका संस्कार होगा और संस्कारसे ही स्मृति होगी। किंतु विशेष विचार करनेपर इसकी आवश्यकता प्रतीत न होगी। सुखज्ञान क्या है? साक्षीका जो सुखके साथ सम्बन्ध है, वही सुखज्ञान है। सुखका नाश होनेसे साक्षीगत सुखसंश्लिष्टत्वका नाश हो जायगा। इस प्रकार सुखके नाशसे ही उसका संस्कार बन जायगा और उसीसे स्मृति भी बन जायगी। अत: सुखज्ञानके लिये वृत्तिकी आवश्यकता नहीं है।

नैयायिकोंके मतमें सुख और सुखज्ञानका कारण आत्ममन:संयोग है, किंतु सुखकी उत्पत्ति भी आत्ममन:संयोगसे ही होती है। अत: एक आत्ममन:-संयोग तो सुखकी उत्पत्तिके लिये मानना होगा और दूसरा सुखज्ञानके लिये। ये दोनों एक समय हो नहीं सकते। इसलिये जिस समय सुखज्ञानका हेतुभूत आत्ममन:संयोग होगा, उस समय सुखका हेतुभूत आत्ममन:संयोग नष्ट हो जायगा और उसका नाश हो जानेसे सुख भी नहीं रहेगा; क्योंकि असमवायि कारणका नाश होनेपर कार्यका भी नाश हो जाता है, जैसे तन्तुसंयोगका नाश होनेपर पटका भी नाश हो जाता है। इस प्रकार सुखके रहते हुए तो सुखज्ञान न हो सकेगा और सुखज्ञानके समय सुख न रहेगा। यद्यपि यहाँ नैयायिकोंका कथन है कि असमवायि कारणका नाश होनेपर उसके कार्यभूत द्रव्यका ही नाश होता है, गुणका नाश नहीं होता और सुख गुण है; इसलिये इसका भी नाश नहीं हो सकता तथापि इस संकोचमें कोई कारण नहीं दीख पड़ता।

यहाँ हमें इतना ही विचार करना है कि जिस प्रकार जाग्रत्में सुखज्ञान आत्मस्वरूप है, उसी प्रकार स्वप्नमें शब्दादिज्ञानरूप जो दृष्टि, श्रुति एवं मति आदि हैं, वे भी आत्मस्वरूप दर्शन ही हैं। अत: यह दर्शन ही आत्मदर्शन है। अत: '**दीर्घं पौरुषेयं चैतन्यात्मकं अबाध्यं दर्शनं यस्य असौ दीर्घदर्शन:**' अर्थात् जिसका दीर्घ यानी पौरुषेय चैतन्यात्मक अबाध्य दर्शन है, उसे दीर्घदर्शन कहते हैं। ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण दीर्घदर्शन हैं। उनका चैतन्यात्मक दर्शन अलुप्त है। अत: जिन-जिन गोपांगनाओंके अन्त:करणमें जितने प्रीति आदि भाव थे, उन सभीके अलुप्तदृक् साक्षी श्रीभगवान् उनकी अभिरुचिकी पूर्तिके लिये विहार-स्थलमें प्रकट हुए।

अथवा '**दीर्घं सर्वविषयं दर्शनं यस्य असौ**

दीर्घदर्शनः' अर्थात् जिसका दर्शन (दृष्टि) दीर्घ—सर्ववस्तुविषयक है, उसे दीर्घदर्शन कहते हैं। '**यः सर्वज्ञः सर्ववित्**' इत्यादि श्रुतिके अनुसार भगवान् दीर्घदर्शन हैं। अतः सामान्य और विशेष रूपसे वात्सल्य-माधुर्यादि अनेकविध भावोंवाली व्रजांगनाओंको देखकर केवल माधुर्यभाववती व्रजांगनाओंकी अभिलाषा-पूर्तिके लिये भगवान् प्रकट हुए।

इसपर यदि कोई कहे कि इस प्रकार अलुप्तदृक् अथवा सर्वज्ञ सर्ववित् रूपसे भी सभीके अभिप्रायको जाननेवाले श्रीहरि सभीकी अभिलाषापूर्तिके लिये प्रादुर्भूत क्यों नहीं हुए? तो इसका कारण यह है कि भगवान्‌का यह दर्शन दीर्घ—बहुमूल्य है। उनका जो केवल चैतन्यात्मक सामान्य दर्शन है, वह तो सभी भावोंका भासक और अधिष्ठान होनेके कारण किसीका साधक या बाधक नहीं है। किंतु यहाँका यह दर्शन अमूल्य है। यह कृपाशक्तिसे उपहित है। अतः यहाँ केवल दृष्टि ही नहीं, कृपाका आधिक्य है। अतः यह बहुमूल्य है। इसीसे कहा है—

यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति।
निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हते॥

(वा०रा० २। १७। १४)

अर्थात् जो रामको नहीं देखता और जिसे राम नहीं देखते—वह समस्त लोकोंमें निन्दनीय है तथा उसका आत्मा भी उसका तिरस्कार करता है। राम प्राकृत राजकुमार नहीं हैं, बल्कि वे सबके अन्तरात्मा हैं। अतः आत्मस्वरूप श्रीरामका दर्शन न करनेवाले आत्मघाती हैं ही। यदि राम आत्मस्वरूप न होते तो उनका दर्शन न करनेमें इतनी विगर्हा नहीं थी; क्योंकि इतना निन्दनीय तो आत्माका ही अदर्शन है, जैसा कि श्रुति कहती है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

(ईशावास्य० ३)

अर्थात् जो कोई (ऐसे) आत्मघाती* लोग हैं, वे उन असुर्य नामक (अनात्मज्ञोंके आत्मभूत देहात्मक) लोकोंको जाते हैं, जो अदर्शनात्मक अन्धकारसे आवृत हैं।

इस दृष्टिसे श्रीरामभद्र समस्त प्राणियोंके अन्तरात्मा हैं। अतः जिसने उन्हें नहीं देखा और जिसे उन्होंने नहीं देखा, वह निन्दनीय है ही। इसलिये इस निन्दासे छूटनेके लिये उन अपने स्वरूपभूत श्रीरघुनाथजीका साक्षात्कार करना ही चाहिये। किंतु यदि राम आत्मस्वरूप हैं तो सर्वावभासक होनेके कारण सर्वदृक् हैं ही। उनका न देखना बन ही नहीं सकता। फिर जब ऐसा नियम है कि—

'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥'

(कठ० २। २। १५)

तो घटादि विषयोंके भानसे पूर्व भी श्रीरामका भान होना अनिवार्य है ही; क्योंकि जैसे प्रतिबिम्बका ग्रहण दर्पण-ग्रहणके अनन्तर ही होता है, उसी प्रकार चितिरूप दर्पणके ग्रहणके अनन्तर ही चैत्यरूप प्रतिबिम्बका ग्रहण होता है। अतः ऐसा कोई पुरुष नहीं है, जो घटादिको देखे और चैतन्यात्मक श्रीरामभद्रको न देखे।

तो फिर यह दर्शन कैसा है? यहाँ रामभद्रका दर्शन उनके कृपाकोणसे देखना है तथा विशुद्ध भगवदाकाराकारित मनोवृत्तिपर अभिव्यक्त भगवत्स्व-रूपका साक्षात्कार करना जीवका भगवद्दर्शन है। इसी प्रकार यहाँ भगवान्‌का जो अनुग्रहोपेत दर्शन है, वही व्रजांगनाओंकी अभिलाषापूर्तिका हेतु होनेके कारण दीर्घदर्शन है। यद्यपि भगवान्‌का अनुग्रह भी समस्त जीवोंपर समान ही है तथापि उसकी

* जो आत्मतत्त्व नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव है, उसको कर्तृत्वभोक्तृत्वादि अनर्थोंसे संयुक्त मानना उसका अपमान करना है और '**सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते**' इस भगवदुक्तिके अनुसार यह अपमान उस आत्मदेवकी मृत्यु ही है, अतः अनात्मक आत्मघाती ही है।

विशेष अभिव्यक्ति तो भक्तकी भावनापर ही अवलम्बित है। श्रुति कहती है—

'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूः स्वाम्॥'

(कठ० १।२।२३)

अर्थात् यह आत्मा जिसको चाहता है, उसीके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, उसीके प्रति यह अपने स्वरूपकी अभिव्यक्ति करता है। श्रीभगवान् कहते हैं—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'

अर्थात् जो लोग जिस प्रकार मुझे प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार मैं भी उनकी कामना पूर्ण करता हूँ।

यहाँ यह सन्देह हो सकता है कि पृथिवीमें नरदारकरूपसे प्रकट हुए श्रीकृष्णचन्द्रमें अलुप्तदृक्त्वादि कैसे हो सकते हैं? इसका उत्तर देते हैं—

'ककुभः—कं सुखं तद्रूपतयैव कौ पृथिव्यामपि भातीति ककुभः।'

अर्थात् 'क' सुखको कहते हैं, भगवान् 'कु' अर्थात् पृथिवीमें भी सुखरूपसे भासमान हैं, इसलिये ककुभ हैं। तात्पर्य यह है कि परमानन्दसिन्धु श्रीभगवान् पृथिवीपर अवतीर्ण होकर भी परमानन्दरूपसे ही अभिव्यक्त हैं अर्थात् जो अलुप्तदृक् विशुद्ध परमानन्दघन तत्त्व हैं, वही पृथिवीमें श्रीनन्दनन्दनरूपसे सुशोभित है; अतः इस रूपमें भी उसका अलुप्तदृक्त्व अक्षुण्ण ही है। अथवा—

कं सुखं तद्रूपा कुः पृथिवी भाति यस्मात् असौ ककुभः।

अर्थात् 'क' सुखको कहते हैं, अतः जिनके कारण 'कु'—पृथिवी भी सुखस्वरूपा जान पड़ती है, वे भगवान् ककुभ हैं। तात्पर्य यह है कि भगवान्के अलुप्तदृक्त्व और परमानन्दसिन्धुत्वमें तो सन्देह ही क्या है, उसकी सन्निधिसे तो 'कु' शब्दवाच्या पृथिवी भी आनन्दरूपा होकर भास रही है। जिस समय रासलीलासे भगवान् अन्तर्हित हो गये, उस समय श्रीकृष्ण-सौन्दर्यसमास्वादनसे प्रमत्त हुईं गोपांगनाएँ वृक्षादिसे उनका पता पूछती हुई अन्तमें पृथिवीसे कहती हैं—

किं ते कृतं क्षिति तपो बत केशवाङ्घ्रि-
स्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि ।
अप्यङ्घ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद् वा
आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन॥

(श्रीमद्भा० १०।३०।१०)

अर्थात् 'अरी पृथिवी! तूने ऐसा क्या तप किया है कि जिसके कारण तू श्रीकृष्णचन्द्रके स्पर्शजनित आह्लादसे हुए रोमांचोंसे सुशोभित है? अथवा श्रीउरुक्रमभगवान्के पादविक्षेपजनित चरणस्पर्शसे या श्रीवराहभगवान्के आलिंगनसे तुझे यह रोमांच हुआ है?'

यहाँ सन्देह हो सकता है कि पृथिवी तो जड़ है, उससे ऐसा प्रश्न करना किस प्रकार सार्थक होगा? तो इस सम्बन्धमें मेघदूतके यक्षका दृष्टान्त स्मरण रखना चाहिये। वह भी तो मेघद्वारा अपनी प्रियतमाके पास अपना सन्देश भेज रहा था। बात यह है कि जो विरही होते हैं, उन्हें चेतनाचेतनका विवेक नहीं रहता। प्रियाकी वियोगव्यथासे पीड़ित भगवान् राम भी मानो विरहियोंकी दशाका दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं—'हे चन्द्र! तुम पहले श्रीजानकीजीका स्पर्शकर उनके अंग-संगसे शीतल हुई किरणोंद्वारा फिर हमारा स्पर्श करो।' इसी प्रकार यहाँ भी पृथिवीसे प्रश्न हो सकता है। विरहिणी व्रजांगनाओंकी दृष्टिमें तो पृथिवी भगवत्सम्बन्धिनी होनेके कारण चेतन ही है।

अतः वे पृथिवीसे पूछती हैं—'हे क्षिति! तुमने ऐसा कौन-सा तप किया है? यदि कहो कि हम तो जड़ हैं, हमारेमें तुम्हें तपका क्या चिह्न दिखायी देता है? तो हमें तो मालूम होता है कि तुमने अवश्य ही कोई बड़ा तप किया है। इसीसे तो तुम्हें भगवान्के चरणस्पर्शका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इससे तुम्हारा आनन्दोद्रेक स्पष्ट प्रकट होता है; क्योंकि बिना आनन्दोद्रेकके रोमांच नहीं होता। अतः परमानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रके चरण-स्पर्शजनित उल्लाससे ही तुम

रोमांचित हो रही हो।' यहाँ पृथिवीकी ओरसे यह कहा जा सकता था कि पृथ्वीका यह तरुलतारूप रोमांच तो अनादिकालसे है, इसे तुम श्रीकृष्णचन्द्रके चरणस्पर्शसे हुआ कैसे मानती हो? इसपर कहती हैं—'यह तो निश्चय है कि इस प्रकारकी रोमोद्‌गति भगवच्चरणोंके स्पर्शसे ही हो सकती है; चाहे यह श्रीकृष्णचन्द्रके चरणस्पर्शसे हुई हो अथवा भगवान् उरुक्रमके पादविक्षेपके समय उनके पदस्पर्शसे हुई हो या जिस समय भगवान्‌ने वाराह-अवतार लेकर तुम्हारा आलिंगन किया था, उस समय उस आलिंगनजनित आनन्दोद्रेकसे यह रोमांच हुआ हो। तुम्हें भगवच्चरणोंका स्पर्श अवश्य हुआ है और तुम हमारे प्राणाधार श्रीनन्दनन्दनका पता भी अवश्य जानती हो; अत: हमपर दयादृष्टि करके हमें उनका पता बतला दो।'

पृथिवीका इस प्रकारका सौभाग्य तो परम्परासे है अर्थात् यह सौभाग्य पृथिवीके समस्त देशको प्राप्त नहीं है, बल्कि उसके एक देशको ही है। किंतु जिस प्रकार भगवान् रामके चित्रकूटपर निवास करनेसे ***'बिंधि मुदित मन सुखु न समाई। श्रम बिनु बिपुल बड़ाई पाई॥'*** सारा विन्ध्याचल ही सौभाग्यशाली समझा गया, उसी प्रकार यहाँ भी यद्यपि केवल व्रजभूमिको ही भगवान्‌के चरणस्पर्शका सौभाग्य प्राप्त था; क्योंकि अन्यत्र रथादि या पादत्राणादिका व्यवधान अवश्य रहता था तथापि उसीके कारण सारी पृथिवीकी सौभाग्यश्रीकी सराहना की गयी। व्रजको तो यह सौभाग्य प्राप्त था ही। इसीसे कहा है—

'जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः
श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।'

(श्रीमद्भा० १०।३१।१)

अर्थात् आपके प्रादुर्भूत होनेसे व्रज बहुत ही धन्य-धन्य हो रहा है; क्योंकि यहाँ निरन्तर ही लक्ष्मीजीका निवास रहने लगा है। वैकुण्ठकी अधिष्ठात्री महालक्ष्मी वैकुण्ठलोककी सेव्या हैं; किंतु यहाँ तो वे **'श्रयते'**—**'सेवते'** अर्थात् सेवा करती हैं—सेविका हैं। यही नहीं—'**वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः॥**' (श्रीमद्भा० १०।२१।५) कहकर तो स्पष्ट ही वृन्दारण्यकी शोभामें भगवच्चरणोंका ही कारणत्व निर्देश किया गया। अत: सिद्ध हुआ कि जिसके कारण अर्थात् जिनका चरणस्पर्श पाकर **'कु'**—पृथिवी भी परमानन्दमयी हो रही है, वे श्रीभगवान् ही ककुभ हैं।

अथवा **'कः ब्रह्मापि कुत्सितो भाति यस्मात् असौ ककुभः'** अर्थात् जिनकी अपेक्षा ब्रह्मा भी कुत्सित ही प्रतीत होता है, वे भगवान् ही ककुभ हैं। ऐसी स्थितिमें उनकी सर्वज्ञता और अलुप्तदृक्तामें तो सन्देह ही क्या है?

ऐसे अचिन्त्यानन्दैश्वर्यशाली श्रीभगवान् व्रजांगनाओंके रमणके लिये वृन्दारण्यमें कैसे आये? इसपर कहते हैं—**'के ब्रह्मणि कौ कुत्सिते अस्मदादावपि समान एव भातीति ककुभः'** अर्थात् वे भगवान् ब्रह्मा और हम-जैसे कुत्सितोंमें भी समान रूपसे ही विराजमान हैं, इसलिये ककुभ कहे जाते हैं; क्योंकि भगवान्‌की दृष्टिमें उत्कृष्ट-अपकृष्टका भेद नहीं है। भला जबकि भगवान्‌के स्वरूपका अपरोक्ष साक्षात्कार करनेवाले मुनियोंकी भी ऐसी स्थिति होती है कि **'साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥'** (गीता ६।९) तो फिर स्वयं भगवान्‌में विषमदृष्टि क्यों होने लगी?

भगवान् तो समस्वरूप हैं—**'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'** (गीता ५।१९) वे केवल वरणमात्रसे ही भेददृष्टिवालेसे जान पड़ते हैं। जिसने परप्रेमास्पदरूपसे उनका वरण किया है, उसीको—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'** (गीता ४।११) इस नियमके अनुसार वे आत्मीयरूपसे स्वीकार करते हैं। श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू॥
तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥

(रा०च०मा० २।२१९।३,५)

तात्पर्य यह है कि भगवान्‌के सम-विषम व्यवहारमें भक्तका हृदय ही हेतु है। परम करुणामय

श्रीभगवान्‌की परमभास्वती अचिन्त्य कृपा अपार है। किंतु जिसने उसका प्राकट्य कर लिया है, उसे ही उसकी उपलब्धि होती है। इसका उपाय यही है कि उस परम प्रेमास्पद तत्त्वको स्वकीय रूपसे वरण करे, उसकी प्रार्थना करे और उसे आत्मसमर्पण करे। बस, इसीसे वह भगवत्कृपा प्रकट हो जायगी। इस प्रकार परमकरुण और कृपालु श्रीहरि हम-जैसे कुत्सितोंकी मनोरथपूर्तिके लिये भी सब प्रकार कृपा करते हैं।

दूसरे श्लोककी एक अन्य प्रकारकी व्याख्या

अब एक दूसरी दृष्टिसे इस श्लोकके अर्थका विचार करते हैं। प्रथम श्लोककी व्याख्यामें एक स्थानपर कहा गया था—शरदोत्फुल्लमल्लिकाके समान आपातरमणीय सुखोंमें ही आसक्त '**ता रात्रीः**' अज्ञानरूप अन्धकारसे व्याप्त उस प्राकृत प्रजाको देखकर भगवान्‌ने रमण करनेकी इच्छा की। जिस समय भगवान्‌ने अज्ञानियोंके हृदयारण्यमें रमण करनेकी इच्छा की, उस समय उसे रमणार्ह बनानेके लिये उनके हृदयाकाशमें वैदिक श्रौत-स्मार्तधर्मरूप चन्द्रमाका उदय हुआ; क्योंकि जबतक वर्णाश्रमधर्मका आचरण करके मन शुद्ध नहीं होगा, तबतक वह भगवत्-क्रीड़ाका क्षेत्र बननेयोग्य नहीं हो सकता। हृदयकी शुद्धिका प्रधान हेतु वैदिक श्रौत-स्मार्तकर्मोंका आचरण ही है। जैसे चन्द्रोदयसे वृन्दारण्य भगवत्क्रीड़ाके योग्य होता है, उसी प्रकार वैदिक श्रौत-स्मार्त कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे मनुष्यका हृदय भगवान्‌की विहारभूमि बन सकता है।

इसमें '**उडुराजः**' का अर्थ एक तो चन्द्रमा ही ठीक है, दूसरे '**रलयोः डलयोश्चैव**' इत्यादि नियमके अनुसार पहले 'ड' और 'ल' का सावर्ण्य होनेसे '**उलुराजः**' और फिर 'ल' और 'र' का सावर्ण्य होनेने '**उरुराजः**' माना जाय तो '**उरुधा राजत इति उरुराजः**' ऐसा विग्रह करके यह अर्थ करेंगे कि यजमान, ऋत्विक्, द्रव्य एवं देवतारूपसे अनेक प्रकार सुशोभित होनेवाला यज्ञ ही उरुराज है। धर्मके स्वरूप ये ही हैं। पहले हम कह चुके हैं कि अवयवी अवयवोंसे अभिन्न होता है। अतः धर्मके अंग होनेके कारण ये यजमानादि धर्मरूप ही हैं। '**अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।**' (मुण्डक० १।२।७) इस वाक्यके अनुसार कर्म अनेकविध साधनसाध्य ही हैं। इनमें द्रव्य और देवता तो कर्मके आन्तरिक साधन हैं और ऋत्विक्-यजमानादि उसके सम्पादक होनेके कारण बहिरंग हैं। इस प्रकार यह वैदिक श्रौत-स्मार्तकर्म ही चन्द्र है। वह जिस हृदयमें उदित होता है, उसे ही शुद्ध करके भगवान्‌की क्रीड़ाभूमि बना देता है।

वह उडुराज कैसा है? '**ककुभः—के स्वर्गे कौ पृथिव्यां भातीति ककुभः**' अर्थात् यह धर्म स्वर्ग और पृथिवीमें समानरूपसे भासता है। यह सारा प्रपंच धर्मका ही कार्य है, यदि धर्म न हो तो यह सब उच्छिन्न हो जाय। धर्मके बिना न यह लोक है और न परलोक ही। '**नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥**' (गीता ४।३१) अतः धर्म ही देवताओंका रक्षक है और धर्म ही मनुष्योंका। इसीसे भगवान्‌ने कहा है—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

(गीता ३।११)

अर्थात् 'इस वैदिक श्रौत-स्मार्तकर्मसे तुम देवताओंको सन्तुष्ट करो और देवता तुम्हारा पालन करें। इस प्रकार परस्पर परितुष्ट करते हुए ही तुम परम श्रेय अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर सकोगे।' इस प्रकार साधारण स्वर्गादि ही नहीं, मोक्ष-प्राप्तिमें भी यह वर्णाश्रमधर्म ही मुख्य हेतु है; क्योंकि बिना वर्णाश्रमधर्मका यथावत् आचरण किये चित्तशुद्धि नहीं हो सकती, बिना चित्तशुद्धिके जिज्ञासा नहीं होगी, बिना जिज्ञासाके ज्ञान नहीं होगा और ज्ञानके बिना मोक्ष नहीं हो सकता।

इसीसे यह भी बतलाया है कि '**यतोऽभ्युदयनिः-श्रेयससिद्धिः स धर्मः**' अर्थात् जिससे अभ्युदय

(लौकिक उन्नति) और निःश्रेयस (पारलौकिक परमोन्नति)-की सिद्धि होती है, वही धर्म है तथा **'ध्रियेते अभ्युदयनिःश्रेयसौ अनेनेति धर्मः'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार भी धर्म ही अभ्युदय और निःश्रेयसका धारण करनेवाला है। वस्तुतः वैदिक श्रौत-स्मार्तकर्म ही सम्पूर्ण प्रपंचको धारण करनेवाला है; इसीसे कहा है—**'धारणाद्धर्ममित्याहुः'** अर्थात् धारण करनेके कारण ही इसे धर्म कहते हैं। अतः शास्त्रानुमोदित वर्णाश्रमधर्मका यथावत् आचरण करनेसे ही मनुष्य सब प्रकारकी सिद्धि प्राप्त कर सकता है और यही भगवत्पूजनका मुख्य प्रकार है—**'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥'** (गीता १८।४६) इसीके द्वारा मनुष्य अन्तःकरणशुद्धिरूपा, भगवद्भक्तिरूपा और भगवज्ज्ञानलक्षणा सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है।

अतः जिसके हृदयमें भगवान् रमण करना चाहते हैं, उसके हृदयमें पहले इस वर्णाश्रम-धर्मरूप चन्द्रका ही उदय होता है। इस उडुराजके **'प्रियः'** और **'दीर्घदर्शनः'**—ये दोनों विशेषण हैं। वह उडुराज कैसा है? **'प्रियः'**—सबका प्रिय; क्योंकि सभी प्राणी सुख चाहते हैं और सुखका साधन धर्म है। जो लोग ऐहिक अथवा आमुष्मिक सुख चाहते हैं, उन्हें धर्मका आश्रय लेना चाहिये; क्योंकि उसकी प्राप्तिका साधन धर्म ही है। इसीसे बुद्धिमान् सुखकी परवाह न करके धर्मानुष्ठानपर ही जोर देते हैं; क्योंकि वे जानते हैं कि साधन होनेपर साध्यकी प्राप्ति हो ही जायगी। अतः जहाँ धर्म होगा, वहाँ सुख उपस्थित हो जायगा। श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

तिमि सुख संपति बिनहिं बोलाएँ। धरमसील पहिं जाहिं सुभाएँ॥

(रा०च०मा० १।२९४।३)

अर्थात् जहाँ धर्म है, वहाँ सब प्रकारके सुख और वैभवको आज नहीं तो कल अवश्य जाना पड़ेगा। यही नहीं, भगवान्‌को भी धर्म ही प्रिय है, इसीसे वे स्वयं कहते हैं—**'धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥'** (गीता ४।८)

अर्थात् मैं युग-युगमें धर्मकी सम्यक् प्रकारसे स्थापना करनेके लिये जन्म ग्रहण करता हूँ। यद्यपि सर्वशक्तिमान् होनेके कारण वे बिना अवतीर्ण हुए भी धर्मकी स्थापना कर सकते थे तथापि अपनी इस परम प्रेमास्पद वस्तुकी रक्षाके लिये उनसे अवतीर्ण हुए बिना नहीं रहा जाता; वस्तुतः प्रेमावेश ऐसा ही होता है। इस विषयमें एक आख्यायिका भी प्रसिद्ध है।

प्रेमी भक्तकी रक्षाके लिये भगवान् स्वयं ही अवतीर्ण होते हैं—एक दृष्टान्त

कहते हैं—एक बार किसी सम्राट्‌ने किसी बुद्धिमान्‌से कहा कि 'यदि भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं तो धर्म और भक्तोंकी रक्षाके लिये अवतार क्यों लेते हैं; इस कार्यको वे अपने संकल्पमात्रसे ही क्यों नहीं कर डालते अथवा उनके बहुत-से सेवक भी हैं, उन्हींसे इसे पूरा क्यों नहीं करा देते?' इसपर उस बुद्धिमान्‌ने उत्तर देनेके लिये एक मासका अवकाश माँगा। सम्राट्‌का एक अति सुन्दर पुत्र था, उसके प्रति सम्राट्‌का अत्यन्त स्नेह था। बुद्धिमान्‌ने ठीक उसीके आकारकी एक मोमकी मूर्ति बनवायी और एक दिन, जिस समय सम्राट् अपने बहुत-से सेवक और साथियोंके सामने महलके तालाबमें स्नान कर रहे थे, उस समय उस पण्डितने उस मोमके पुतलेको दुलार करते हुए तालाबकी ओर ले जाकर उसे जलमें गिरा दिया। अपने लाड़ले लालको तालाबमें गिरा जान सम्राट् उसकी प्राणरक्षाके लिये तुरंत तालाबमें कूद पड़े और वहाँ अपने पुत्रकी आकृतिका एक पुतलामात्र देखकर पण्डितसे इस अशिष्टताका कारण पूछा। पण्डितने कहा—'महाराज! यह आपके प्रश्नका उत्तर है; जिस प्रकार आपने बहुत-से दरबारी और दास-दासियोंके रहते हुए भी राजकुमारके मोहवश आपके ध्यानमें इस कामके लिये किसीको आज्ञा देनेकी बात नहीं आयी, उसी प्रकार भगवान् भी अपने अत्यन्त प्रिय भक्त या धर्मको संकटमें पड़ा देखकर स्वयं अवतीर्ण हुए बिना नहीं रह सकते।'

इस प्रकार यह धर्मचन्द्र प्रिय है। इसके सिवा यही भगवत्प्राप्तिका भी असाधारण हेतु है; क्योंकि

यह वर्णाश्रम-धर्म ही भगवान्‌की आराधनाका प्रधान साधन है, इसके सिवा किसी और साधनसे उनकी प्रसन्नता नहीं हो सकती—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारकः॥

(श्रीविष्णुपुराण ३।८।९)

तथा भगवद्भक्ति ही तत्त्वज्ञानका प्रधान हेतु है; अतः परम्परासे ज्ञानका साधन भी यह धर्मचन्द्र ही है। यह बात सर्वथा सुनिश्चित है कि निर्गुण परमात्माकी प्राप्ति मन, बुद्धि, प्राण और इन्द्रियोंकी निश्चलता होनेपर ही हो सकती है। इसीसे भगवती श्रुति कहती है—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥

(कठ० २।३।१०)

अर्थात् 'जिस समय मनके सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ स्थिर हो जाती हैं तथा बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती, उसी अवस्थाको परमगति कहते हैं।' किंतु आरम्भमें यह इन्द्रियादिकी निश्चेष्टता अत्यन्त दुःसाध्य है। अतः पहले वैदिक श्रौत-स्मार्त कर्मोंका अनुष्ठान करके अपने देह और इन्द्रियादिकी उच्छृंखल चेष्टाओंको सुसंयत करना चाहिये, तभी उनका निरोध करना भी सम्भव होगा।

इसके सिवा और भी यह चन्द्र कैसा है? '**दीर्घदर्शनः—दीर्घेण कालेन फलात्मना दर्शनं यस्य इति दीर्घदर्शनः**'। अर्थात् जिसका दीर्घकाल पश्चात् फलरूपसे दर्शन होता है; क्योंकि कर्मफल होनेमें भी कुछ देरी अवश्य होती है; अथवा कीट-पतंगादि अनेक योनियोंके पश्चात् जब जीवको मनुष्ययोनि प्राप्त होती है और उनमें भी जब उसका जन्म ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—इन तीन वर्णोंके अन्तर्गत होता है, तब उसे इस धर्मचन्द्रका दर्शन होता है; क्योंकि उसी समय उसे वैदिक श्रौत-स्मार्तधर्मोंका आचरण करनेका अधिकार प्राप्त होता है। इसलिये भी वह दीर्घदर्शन है।

अथवा '**दीर्घमनपबाध्यं दर्शनं यस्य स दीर्घदर्शनः**' अर्थात् जिसका दर्शन दीर्घ—अबाध्य है ऐसा यह धर्मचन्द्र है; क्योंकि धर्मका ज्ञान वेदोंसे होता है और उनका प्रामाण्य किसीसे बाधित नहीं है।

वह धर्मचन्द्र किस प्रकार प्रकट हुआ? '**स उडुराजः चर्षणीनामधिकारिजनानां शुचः तत्तद-भिलषिताप्राप्तिजन्या आर्तीः शन्तमैः सुखमयैः करैः सुखप्रदैश्च स्वर्गादिफलैर्मृजन् दूरीकुर्वन्नुदगात्**' अर्थात् वह चन्द्रमा अधिकारी पुरुषोंकी अपने अभिलषित पदार्थोंकी अप्राप्तिके कारण होनेवाली दीनताको स्वर्गादि सुखमय और सुखप्रद फलोंद्वारा निवृत्त करता हुआ प्रकट हुआ। साथ ही स्वाभाविक कामकर्मरूप आर्ति भी आर्तिकी जननी होनेके कारण आर्ति ही है। उसका मार्जन करता हुआ भी प्रकट हुआ। इस पक्षमें यह समझना चाहिये कि जो सुखरूप और सुखप्रद शास्त्रीय काम-कर्मादि हैं, उनसे स्वाभाविक काम-कर्मादिकी निवृत्ति होती है।

और क्या करता हुआ प्रकट हुआ?

'**यथा प्रियः श्रीकृष्णः प्रियायाः श्रीवृषभानु-नन्दिन्याः मुखमरुणेन विलिम्पन्नुदगात् एवमेवाय-मपि प्रियो दीर्घदर्शनञ्च उडुराजोऽरुणेन कर्मजन्येन सुखेन तद्रागेण वा प्राच्याः प्राचीनाया बुद्धेः मुखं सत्त्वात्मकं भागं विलिम्पन् तद्गतदुःखं दूरीकुर्वन्नु-दगात्।**'

जिस प्रकार प्रियतम भगवान् कृष्ण अपनी प्रियतमा श्रीवृषभानुनन्दिनीके मुखको अपने करधृत कुंकुमसे अनुरंजित करते प्रकट हुए थे, उसी प्रकार यह प्रिय और दीर्घदर्शन चन्द्र भी अरुण-कर्मजनित सुख अथवा उसके रागसे प्राची—प्राग्भवा बुद्धिके सत्त्वात्मक भागको लेपित करते हुए अर्थात् उसके दुःखको दूर करते हुए प्रकट हुए अथवा यों समझो कि '**प्राच्याः अविवेकदशायाः मुखं जाड्यं स्वजनितेन नित्यानित्यविवेकेन तिरस्कुर्वन्नुदगात्**' अर्थात् बुद्धिकी जो अविवेकदशा है, उसके मुख

यानी जड़ताको अपनेसे उत्पन्न हुए नित्यानित्यविवेकसे तिरस्कृत करता हुआ प्रकट हुआ; क्योंकि वैदिक श्रौत-स्मार्तकर्मोंका अनुष्ठान करनेसे चित्त शुद्ध होता है। इससे नित्यानित्यवस्तु विवेक होता है और विवेकसे बुद्धिकी जड़ता निवृत्त होती है।

प्रथम श्लोकमें जहाँ '**ताः**' पदसे मुमुक्षुरूपा प्रजा ग्रहण की गयी है, वहाँ इस श्लोकका तात्पर्य इस प्रकार लगाना चाहिये कि जिस समय भगवान्‌ने मुमुक्षुरूपा प्रजाओंके हृदयारण्यमें श्रुतिरूपा व्रजांगनाओंका आवाहनकर उनके साथ रमण करनेका विचार किया, उसी समय उस हृदयारण्यको अतिशय सुशोभित करनेके लिये '**उडुराजः विवेकचन्द्रः उदगात्**'— उडुराज यानी विवेकरूप चन्द्रमा उदित हुआ। उस विवेकरूप चन्द्रको उडुराज क्यों कहा है? इसपर कहते हैं—**उडुस्थानीयासु किञ्चित्प्रकाशनशीला-स्वन्तःकरणवृत्तिषु शमदमादिरूपासु वा राजते अतिशयेन दीप्यते इति उडुराजः**'—क्योंकि वह उडुस्थानीया मन्द प्रकाशमयी अथवा शमदमादिरूपा अन्तःकरणकी वृत्तियोंमें राजमान—अतिशय देदीप्यमान है, इसलिये उडुराज है। यह विवेकचन्द्र उन सबकी अपेक्षा अधिक शोभाशाली है; क्योंकि यह सर्ववृत्तिवेद्य परमतत्त्वका अवद्योतक है अथवा यों समझो कि जिसके अन्तर्गत समस्त वृत्तिवेद्य वस्त्वन्तर है, यह विवेकचन्द्र उसका ज्ञान कराता है; अथवा समस्त वृत्तियाँ, उनके विषय तथा आश्रय अर्थात् प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण—इन सबका अवभासक जो परमतत्त्व है—उसका इस विवेकचन्द्रसे ही बोध होता है, इसलिये यह उडुराज है अथवा शान्तिदान्तिरूपा जो चित्तवृत्तियाँ हैं वे उडुस्थानीया हैं, उनकी शोभा इस विवेकचन्द्रके पूर्णतया उदित होनेपर ही होती है, बिना विवेकके उनमें भी पूर्णता नहीं आती, इसलिये यह उडुराज है।

अथवा '**रलयोः डलयोश्चैव**' इत्यादि नियमके अनुसार '**उरुधा राजते शोभते इति उरुराजः**'— जो अनेक प्रकारसे सुशोभित होता है, वह उरुराज ही उडुराज है। विवेकके चार भेद हैं—साध्यालम्बन, साधनालम्बन, ऐक्यालम्बन और निर्विकल्पालम्बन। इस प्रकार अनेकों तरहसे सुशोभित होनेके कारण वह उरुराज है। '**त्वं**' पदार्थके यथार्थ स्वरूपका साक्षात्कार करना साधनालम्बन विवेक है। पंचभूत-विवेकपूर्वक 'तत्' पदार्थके वास्तविक स्वरूपका साक्षात् रूपसे अनुभव करना साध्यालम्बन विवेक है। 'तत्' और 'त्वं' पदार्थोंका ऐक्य निश्चय करना ऐक्यालम्बन विवेक है तथा त्वं पदार्थकी उपाधि देहादि तथा तत् पदार्थकी उपाधि स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण प्रपंचादि—इन दोनों प्रकारके विकल्पोंको सबके अधिष्ठानभूत स्वप्रकाश परब्रह्ममें लीन करके जो निर्विकल्प वस्तुका ज्ञान होता है, वह निर्विकल्पालम्बन विवेक है।

यहाँ कोई कह सकता है कि विवेक तो दो मिश्रित वस्तुओंके पार्थक्यकरणका नाम है; किंतु यहाँ निर्विकल्पावस्थामें तो समस्त प्रपंचका अस्तित्व ही नहीं रहता। ऐसी अवस्थामें किससे किसका विवेक किया जायगा? इस विषयमें ऐसा समझना चाहिये कि सम्मिश्रण सर्वदा सत्य पदार्थोंका ही नहीं हुआ करता, सत्य और मिथ्या पदार्थोंका भी हो सकता है। यदि सत्य पदार्थोंका ही सम्मिश्रण होता तो वे विवेकके पश्चात् भी बने ही रहते; किंतु जहाँ सत्य और असत्य पदार्थोंका मेल है, वहाँ तो विवेकके अनन्तर असत्यका निवृत्त हो जाना ही भूषण है। इस प्रकार निर्विकल्पालम्बन विवेक भी सम्भव है ही।

अथवा '**उरुतया विस्तीर्णतया राजते शोभते इति उरुराजः**' क्योंकि पूर्णरूपसे राजमान तत्त्व-विवेक ही है। जो अन्तःकरण विवेकरहित है, वह पूर्णतया अनर्थशून्य नहीं हो सकता। सभी प्रकारके अनर्थोंकी निवृत्ति विवेक होनेपर ही तो की जाती है; जैसा कि कहा है—

सर्पान् कुशाग्राणि तथोदकानि
ज्ञात्वा मनुष्याः परिवर्जयन्ति।

अज्ञानतस्तत्र पतन्ति चान्ये
ज्ञाने फलं पश्य यथा विशिष्टम्॥

अर्थात् ज्ञानमें किस प्रकार विशेष फल है, वह इसीसे समझ लो कि लोग सर्प, कुशा और जलाशय आदिका ज्ञान होनेपर ही उनसे बचते हैं, उनका पता न होनेपर तो वे उनके शिकार हो ही जाते हैं।

इसी प्रकार विवेकसे ही मनुष्यकी प्रवृत्ति भगवत्तत्त्वमें होती है। यदि विवेक न हो तो कौन प्रेमास्पद है और कौन त्याज्य है—इसका ज्ञान ही कैसे हो? अतः जो हृदयारण्य विवेकचन्द्रकी शीतल और सुकोमल किरणोंसे अनुरंजित नहीं हुआ, उसमें भगवान्का प्राकट्य होना असम्भव है। इसलिये भगवत्साक्षात्कारके लिये अन्तःकरणमें विवेकरूप चन्द्रका प्रादुर्भाव अवश्य होना चाहिये।

जो लोग इस विवेकचन्द्रको भगवद्भक्तिका बाधक समझते हैं, उनके विषयमें क्या कहा जाय? उनके सिद्धान्तानुसार यदि द्वैतस्थिति ही परमकल्याणका हेतु है तो वह तो कीट-पतंग सभीको प्राप्त ही है। अतः वे सभी परमकल्याणके भागी होने चाहिये। वस्तुतः प्रेमका कारण तो अपने परप्रेमास्पदत्वका ज्ञान ही है। यदि हमारी दृष्टिमें अपने प्रेमास्पदसे भिन्न अन्य पदार्थोंकी भी सत्ता रहेगी तो हमारा प्रेम उनमें भी बँटा रहेगा और यदि वे सब-के-सब अपने प्रेमास्पदमें ही लीन हो जायेंगे तो हमारा सारा प्रेम सिमटकर एकमात्र उस अपने आराध्यदेवमें ही पुंजीभूत हो जायगा। प्रेमका नाश तो होगा नहीं; क्योंकि वह आत्मस्वरूप है। अतः निर्विकल्पालम्बनविवेकसम्पन्न हुए बिना तो ठीक-ठीक भगवत्प्रेम हो ही नहीं सकता।

एक बात ध्यान देनेकी और भी है। निरतिशय प्रेम सदा 'त्वं' पदार्थके लिये ही हुआ करता है; अपने आराध्यदेवमें भी जो प्रेम होता है, वह आत्मीय होनेके ही नाते होता है। इसीसे भगवती श्रुति कहती है—

'न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति।'

(बृहदारण्यक० ४।५।६)

अर्थात् हे मैत्रेयी! देवता लोग देवताओंके लिये प्रिय नहीं होते; बल्कि अपने ही लिये प्रिय होते हैं। जो उपासक अपनेको भगवान्से भिन्न समझते हैं, वे किसलिये उनमें प्रेम करते हैं? इसीलिये न कि ऐसा करनेसे हमारा कल्याण होगा अथवा ऐसा करनेमें ही हमें आनन्द आता है; अतः उनका वह भगवत्प्रेम भी आत्मतुष्टिके ही लिये होता है। जिन महानुभावोंका ऐसा कथन है कि हमारा सिद्धान्त तो तत्सुखित्व अर्थात् भगवान्के सुखमें सुखी रहना है; वे भी इसीलिये तो भगवत्सुखमें सुखी हैं, न कि उन्हें उसीमें सुख मिलता है।

इस प्रकार यदि यह नियम है कि आत्माके लिये ही सब कुछ प्रिय होता है तो जो उपासक अपनेसे भिन्न मानकर किसी उपास्यकी उपासना करता है, वह भी वास्तवमें तो अपने सुखके लिये ही ऐसा करता है। इस प्रकार उसका उपास्य उसके सुखका शेषभूत हो जाता है, किंतु परप्रेमास्पद तो शेषी ही हुआ करता है, शेष नहीं होता। वह तो शेषीका शेष होनेके कारण आपेक्षिक प्रेमका ही आस्पद होता है। आत्यन्तिक प्रेमका आस्पद तो शेषी ही होता है।

अतः हम जिस किसी भी तत्त्वको अपनेसे भिन्न मानेंगे, वह हमारे परप्रेमका आस्पद नहीं होगा। बल्कि जिसे हम अपनेसे भिन्न मानेंगे, वह हमें अपना शत्रु समझकर अपने परम स्वार्थसे च्युत कर देगा; क्योंकि अपनेसे भिन्न कोई भी पदार्थ माननेपर द्वैत हो जाता है और थोड़ेसे भी द्वैतको श्रुति भयका कारण बतलाती है—**'उदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति।'** (तैत्तिरीय० २।७) यदि कोई सभीको अपनेसे भिन्न समझता है तो सभी उसका तिरस्कार करने लगते हैं; जैसा कि श्रुति कहती है—**'सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद।'** (बृहदारण्यक० २।४।६)

इसपर कोई-कोई महानुभाव कहा करते हैं कि अनुकूलोंमें भेद रहनेपर भी भय नहीं होता, किंतु अनुकूलता सदा बनी ही रहेगी, इसमें भी तो कोई प्रमाण नहीं है। आज अनुकूलता है तो कल

प्रतिकूलता हो सकती है, अत: अभय अभेदमें ही है। इसीसे कहा है—'**यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति।**' (तैत्तिरीय० २।७) अर्थात् जो कोई इस अदृश्य, अरूप, अनिर्वाच्य और अनिकेत ब्रह्ममें अभय स्थिति प्राप्त कर लेता है, वह अभय पदको प्राप्त हो जाता है।

यदि हम प्राकृत क्षुद्र पदार्थोंको अपने आत्मा या आत्मीयोंसे भिन्न समझते हैं तो वह हमें स्वार्थसे भ्रष्ट कर देता है, तब यदि हम पूर्णपरब्रह्म परमात्माको अपने सर्वान्तरतम परप्रेमास्पद प्रत्यगात्मासे भिन्न मानेंगे तो वह हमें हमारे परम स्वार्थसे पतित क्यों न कर देगा? इसीसे विवेकी वेद, शास्त्र, धर्म, ईश्वर इन सभीको अपना परप्रेमास्पद बनानेके लिये अपनेसे अभिन्न समझता है। वह एक अणुको भी अपने आत्मासे भिन्न नहीं समझता। इसलिये यह नास्तिकता नहीं परम आस्तिकता है। विवेकसे भगवत्तत्त्वके परातत्त्वज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है। विवेकी भगवान्‌को कोई बाह्य वस्तु नहीं समझता, उसकी दृष्टिमें तो जिस अपने आत्माके लिये सारी वस्तुएँ प्रिय होती हैं, उसीका वास्तविक स्वरूप भगवान् हो जाते हैं। इसलिये उसका तो भगवान्‌के प्रति निरुपाधिक और निरतिशय प्रेम हो जाता है।

इस प्रकार यह विवेकरूप चन्द्र भक्तितत्त्वका बाधक नहीं, परम साधक है। उस उडुराजका विशेषण है—'**ककुभः—कं ब्रह्मात्मकं कुं कुत्सितं प्रकृतिप्राकृतात्मकं जगत् भासयतीति ककुभः**' अर्थात् क—ब्रह्मस्वरूप सुख और कु—प्रकृति एवं प्राकृत पदार्थोंसे होनेवाला कुत्सित जगत्—इन दोनोंको ही भासित करनेवाला होनेसे यह ककुभ है। जिस समय जगत् और परमानन्दमय परब्रह्मका विवेक होता है, उस समय जागतिक सुख सर्वथा नि:सार प्रतीत होने लगता है। ब्रह्मानन्द तो निरतिशय और त्रिकालाबाधित है, किंतु प्राकृत सुख सातिशय और अनित्य है; अतः ब्रह्मानन्दकी बाढ़में उस प्राकृत सुखका तो विलीन हो जाना ही परम मंगल है।

अथवा '**के ब्रह्मणि कुषु कुत्सितेष्वपि भाति दीप्यते इति ककुभः**' अर्थात् यह आत्मानात्मविवेक अथवा विवेकचतुष्टय चाहे ब्रह्म हो और चाहे कुत्सित—निम्नकोटिके प्राणियोंमें हो, दोनोंकी ही शोभा बढ़ाता है। वस्तुतः न्यूनता तो वहीं है, जहाँ इसका अभाव है।

'**प्रियः**'—यह भी '**उडुराजः**' का ही विशेषण है; क्योंकि यह विवेकचन्द्र परप्रेमास्पद श्रीभगवान्‌की प्राप्ति करानेवाला होनेके कारण सभीको प्रिय है तथा समस्त अनर्थोंकी निवृत्ति करनेवाला होनेसे भी प्रिय है।

इसीका विशेषण '**दीर्घदर्शनः**' भी है। '**दीर्घमनपबाध्यं दर्शनं यस्य अपौरुषेयत्वेन समस्तपुंदोषशङ्काकलङ्करहित्येनाप्रमाण्यशङ्काशून्यवेदजनितत्वाद् असौ दीर्घदर्शनः**' अर्थात् अपौरुषेय होनेके कारण जो पुरुषोचित दोषोंके शंकारूप कलंकसे रहित है, अत: जिसके अप्रामाण्यकी कोई आशंका नहीं है, उस वेदसे उत्पन्न होनेके कारण जिसका दर्शन—ज्ञान दीर्घ यानी अबाध्य है, वह विवेकचन्द्र दीर्घदर्शन है; क्योंकि विवेक वेदसे होता है और वेद अपौरुषेय होनेके कारण सब प्रकारके पुरुषोचित दोषोंके शंकारूप कलंकसे रहित है अथवा इसका दर्शन दीर्घकालमें—अनेकों जन्मोंके पश्चात् होता है—इसलिये यह दीर्घदर्शन है; जैसा कि श्रीभगवान्‌ने भी कहा है—

'**बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।**'

(गीता ७।१९)

विवेककी महिमा

ऐसा जो विवेकचन्द्र है, वह 'चर्षणी'—अधिकारी पुरुषोंके '**शुचः**'—शोकोपलक्षित विविध दुःखोंको विचाररूप अपनी कल्याणमयी और सुखप्रद किरणोंसे मार्जन करता हुआ उदित हुआ; क्योंकि मनकी उच्छृंखल वृत्तियोंका शमन करनेके लिये लाखों उपाय एक ओर और विवेक एक ओर है। उन मानसिक सन्तापोंकी शान्तिके लिये जो अन्य साधन

हैं, उनमेंसे बहुतोंका तो अनुष्ठान ही असम्भव है तथा बिना विवेकके उनसे पूर्ण शान्ति भी नहीं होती, किंतु यथार्थ विवेक तो एक क्षणमें ही सभी विक्षेपोंको शान्त कर देता है। हमारे चित्तमें हर समय ऐसे विचारोंका तुमुल युद्ध छिड़ा रहता है कि अमुक कार्य ठीक नहीं हुआ, अमुक पुरुषका व्यवहार उचित नहीं था, हमें अमुक समयतक अमुक कार्य अवश्य कर लेना चाहिये, हमें अमुक झंझट लगा ही हुआ है इत्यादि। यह विक्षेप किसी भी प्रकारकी बाह्य सुविधाओंसे निवृत्त नहीं हो सकता; किंतु जिस समय ठीक-ठीक विवेक होता है, उस समय इसका ढूँढ़नेपर भी पता नहीं लगता।

आयुर्वेदमें भी कई जगह शारीरिक रोगोंके हेतु मानसिक रोग ही माने गये हैं। उन मानसिक रोगोंकी चिकित्सा तो ओषधि आदिसे हो ही नहीं सकती। कई स्थलोंमें तो कारणकी चिकित्सा करनेसे ही कार्यकी भी चिकित्सा हो जाती है; किंतु जहाँ कार्य बहुत उग्र हो जाता है, वहाँ पहले ओषधिप्रयोगद्वारा कार्यको निर्बल करके पीछे कारणकी चिकित्सा करते हैं। किंतु यहाँ आध्यात्मिक राज्यमें तो यदि शोक, मोह एवं ईर्ष्या आदि रोगोंकी चिकित्सा हो जाय तो बाह्य व्याधियोंका आश्रयभूत शरीर ही प्राप्त न हो। अतः पूर्ण स्वास्थ्य तो उन मूलभूत रोगोंकी चिकित्सा होनेसे ही प्राप्त हो सकता है। इसीसे पूर्वकालमें जब शत्रुओंसे पराजित होनेपर किसी राजाका राज्य छिन जाता था तो वह महर्षियोंकी ही शरण लेता था और वे उसे यही उपदेश करते थे—

यत्किञ्चिन्मन्यसेऽस्तीति सर्वं नास्तीति विद्धि तत्।
एवं न व्यथते प्राज्ञः कृच्छ्रामप्यापदं गतः॥

अर्थात् तुम जिस वस्तुको ऐसा मानते हो कि वह है, उसे यही समझो कि वह है ही नहीं। ऐसा निश्चय रहनेसे बुद्धिमान् पुरुष कड़ी-से-कड़ी आपत्ति प्राप्त होनेपर भी व्यथित नहीं होता। वस्तुतः आत्मासे भिन्न जितना भी प्रतीयमान जगत् है, उसमें अस्तित्व-बुद्धिपूर्वक जो भले-बुरेपनका निश्चय करना है, वही सारे दुःखोंका मूल है। यह प्रपंच तो अनन्त है। इसमें किसी भी समय अनुकूलता-प्रतिकूलताका अभाव हो जाय, यह सर्वथा असम्भव है। अतः जबतक इसमें सत्यत्वबुद्धि रहेगी, तबतक हृदयके तापोंकी शान्ति हो ही नहीं सकती। वस्तुतः अभिनिवेशपूर्वक निरर्थक एक ही वस्तुका बारम्बार अनुसन्धान करना ही पूरा रोग है। किंतु जिस समय विवेकचन्द्रका उदय होता है, उस समय सारी अनुकूलता-प्रतिकूलता बालूकी भीतके समान ढह जाती है।

वह विवेकचन्द्र क्या करता हुआ उदित हुआ ?— **'अरुणेन ब्रह्मात्मना विषयेण प्राच्याः प्राचीनायाः धियः मुखं सत्त्वात्मकं भागं विलिम्पन्'** अर्थात् अरुण यानी ब्रह्मरूप विषयसे प्राग्भवा बुद्धिके सत्त्वात्मक भागको विलेपित करता उदित हुआ। तात्पर्य यह है कि जिस समय विवेकरूप चन्द्रका प्रादुर्भाव होता है, उस समय बुद्धि पूर्ण परब्रह्मरूप रंगसे रँग जाती है। यह नियम है कि बुद्धि अपने विषयसे अनुरंजित हुआ करती है। विवेक होनेपर एकमात्र शुद्ध परब्रह्मकी ही सत्ता रह जाती है; इसलिये उस समय बुद्धि ब्रह्मरागसे ही अनुरंजित हो जाती है। प्रेम यानी रागका आस्पद होनेके कारण भी परमात्मा अरुण कहा जाता है अथवा यों समझो कि **'प्राच्याः अविवेकदशापन्नायाः बुद्धेः मुखं जाड्यात्मकं दुःखात्मकं वा भागम् अरुणेन ब्रह्मसाक्षात्कारजन्येन सुखेन विलिम्पन् तिरोहितं कुर्वन् उदगात्'**—प्राची यानी अविवेक दशाको प्राप्त हुई बुद्धिके मुख—जाड्यात्मक या दुःखात्मक भागको अरुण यानी ब्रह्मसाक्षात्कारजनित सुखसे विलेपित—तिरोहित करता हुआ उदित हुआ।

किस प्रकार उदित हुआ, सो बतलाते हैं— **'यथा प्रियः श्रीकृष्णः प्रियायाः श्रीवृषभानुनन्दिन्या मुखम् अरुणेन कुङ्कुमेन विलिम्पन् उदगात्।'** अर्थात् जिस प्रकार प्रिय श्रीकृष्णचन्द्र अपनी प्रियतमा श्रीवृषभानुनन्दिनीके मुखको अरुण कुंकुमसे विलेपित करते हुए उदित हुए थे, उसी प्रकार यह विवेकचन्द्र उदित हुआ।

इसके सिवा प्रथम श्लोककी व्याख्या करते हुए जहाँ '**ताः**' शब्दसे ज्ञानीरूपा प्रजा ग्रहण की गयी है, वहाँपर यह समझना चाहिये कि जिस समय भगवान् श्रीकृष्णने ज्ञानियोंके विवेकी अन्त:करणरूप अरण्यमें रमण करनेकी इच्छा की '**तदैव**'—उसी समय '**उडुराजः**' परमात्मारूप चन्द्रका उनके विवेकी अन्त:करणरूप वृन्दारण्यमें श्रुतिरूपा व्रजांगनाओंके साथ रमण करनेके लिये उदय हुआ। यहाँ '**उडुराजः**' शब्दका तात्पर्य ऐसा समझना चाहिये—'**उडुस्थानीयेषु परिमितज्ञानक्रियादिशक्तिशीलेषु जीवेषु राजते इति उडुराजः**' अर्थात् परमात्मारूप चन्द्र उडुस्थानीय परिमित ज्ञानक्रियादिशील जीवोंमें राजमान हैं, इसलिये उडुराज हैं। जीवोंकी उपाधि मलिन है, इसीसे उनकी ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति अभिभूत रहती है। उनकी शक्ति परिच्छिन्न है। अत: उन्हें विषयके साथ इन्द्रियोंका सन्निकर्ष होनेपर ही कुछ ज्ञान होता है। प्रमाण-निरपेक्ष ज्ञान नहीं होता; क्योंकि सारे प्रमाण आवरणके अभिभावक हैं। किंतु परमात्माकी ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति अपरिच्छिन्न हैं, उनकी उपाधिभूता लीलाशक्ति भी परम विशुद्धा है। अत: वह अपने आश्रय परमात्माका आवरण नहीं करती; इसलिये परमात्माकी स्वाभाविकी ज्ञानशक्ति और क्रिया-शक्ति अपनी उपाधिसे अनभिभूता होनेके कारण किसी प्रकारके प्रमाणकी अपेक्षा नहीं रखती। इस प्रकार प्रमाणानपेक्ष ज्ञान क्रियावान् होनेके कारण ही परमात्मा अन्य जीवोंकी अपेक्षा अधिक राजमान (शोभाशाली) है और इसीसे जीवरूप उडुओंकी अपेक्षासे उसे उडुराज कहा है।

अथवा यों समझो कि घटाकाशस्थानीय जीव उडुके समान हैं और महाकाशरूप परमात्मा नियन्तृत्वेन जीवोंमें विराजमान है। यह नियन्तृत्व ऐसा है कि जैसे घटाकाश महाकाशके अधीन है, उसी प्रकार अन्त:करणावच्छिन्न चैतन्य परमेश्वरके अधीन है। इसीसे अभेद होते हुए भी नियमन बन जाता है अथवा जैसे प्रतिबिम्ब बिम्बाधीन हैं, उसी प्रकार जीव ईश्वरके अधीन हैं। इस प्रकार भी वह उडुराज है।

अथवा '**रलयोः डलयोश्चैव**' आदि नियमके अनुसार '**उडुराजः**' के स्थानमें '**उरुराजः**' मानें तो यों समझना चाहिये—'**उरुधा जीवेशादिरूपेण बहुधा राजत इति 'उरुराजः**' अर्थात् जीव-ईश्वरादिरूपसे अनेक प्रकार राजमान है, इसलिये परमात्मा उरुराज है; जैसे कि कहा है—'**इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।**' (बृहदारण्यक० २।५।१९) अथवा सगुण-निर्गुणरूपसे अनेक प्रकार राजमान है, इसलिये उरुराज है; या जायमान और अजायमानरूपसे राजमान है, इसलिये उरुराज है; जैसा कि श्रुति कहती है—'**अजायमानो बहुधा विजायते**' (मुद्गलोपनिषद् २) अर्थात् अजन्मा होनेपर भी परमात्मा महदादिरूपसे अनेक प्रकार उत्पन्न हुआ है अथवा रासलीलामें वे अनेक रूपसे राजमान हुए थे, इसलिये उरुराज हैं। श्रुति भी कहती है—'**स एकधा भवति दशधा भवति शतधा सहस्त्रधा भवति**' इत्यादि। अथवा बहुतसे विभक्त पदार्थोंमें अविभक्तरूपसे अकेला ही विराजमान है, इसलिये परमात्मा उरुराज है। '**अविभक्तं विभक्तेषु**' अर्थात् विभक्त जो कार्यवर्ग उसमें परमात्मा अविभक्त यानी कारणरूपसे स्थित है; अथवा विभक्त जो साक्ष्यवर्ग उसमें वह अविभक्त यानी साक्षीरूपसे स्थित है; या ऐसा समझो कि विभक्त जो काल्पनिक प्रपंच उसमें वह अधिष्ठानरूपसे ओतप्रोत है। इन्हीं सब कारणोंसे परमात्मा उरुराज यानी उडुराज है। वह स्वप्रकाश पूर्ण परब्रह्म परमात्मा, जो सबका महाकारण और स्वरूपत: कार्यकारणातीत है, ज्ञानियोंके विवेकी अन्त:करणरूप अरण्यमें रमण करनेके लिये आविर्भूत हुआ।

यहाँ 'रमण' का अर्थ है 'तत्' पदार्थके साथ 'त्वं' पदार्थका ऐक्य हो जाना। जो अन्त:करण विवेकचन्द्रकी शीतल सुकोमल अमृतमय किरणोंसे सुशोभित है, उस अन्त:करणरूप वृन्दारण्यमें यह 'तत्' पदार्थरूप भगवान् 'त्वं' पदके अर्थभूत अनन्त जीवरूप व्रजांगनाओंके साथ रमण करनेको अर्थात्

अपने साथ उनका तादात्म्य स्थापित करनेको प्रकट होता है, क्योंकि असली रमण तो यही है कि नायक और नायिकाका देश, काल और वस्तुरूप व्यवधानसे रहित सम्मिलन हो। यही पारमार्थिक रमण है। लौकिक रमणमें तो कुछ-न-कुछ व्यवधान रहता ही है; क्योंकि जबतक द्वैत बना हुआ है, तबतक उसमें विभाग भी रहता ही है।

वे भगवान् रूप उडुराज सबके अभिलषित हैं, इसलिये '**प्रियः**' हैं; क्योंकि वे सभीके अन्तरात्मा हैं। आत्मा नामकी वस्तु किसीको भी अप्रिय नहीं होती। संसारमें सुख-प्राप्ति और दुःख-निवृत्तिके लिये जितनी चेष्टाएँ होती हैं, सब आत्मार्थ ही हैं। ऐसी स्थितिमें अपने परप्रेमास्पद भगवान्के साथ कौन रमण करना न चाहेगा?

इसके सिवा और भी वे कैसे हैं? '**दीर्घदर्शनः**'—'**अनाद्यविद्याबीजनिवृत्त्यनन्तरं दीर्घेण कालेन दर्शनं यस्य स दीर्घदर्शनः**' अर्थात् अनादि अविद्यारूप बीजभावकी निवृत्तिके पश्चात् जिनका बहुत देरमें दर्शन होता है, ऐसे ये भगवान् दीर्घदर्शन हैं। इस संसारमें नाना प्रकारके कर्मजालमें फँसे हुए जीवको प्रथम तो नर-देह ही दुर्लभ है; उसमें भी पुंस्त्व-प्राप्ति कठिन है तथा पुरुषोंमें भी विशुद्ध निष्काम भावसे स्वधर्माचरण करना दुर्लभ है एवं स्वधर्मपरायणोंमें भी कोई विरले ही विवेक-वैराग्यनिष्ठ होते हैं। यह भगवद्दर्शन अनेकों सोपानातिक्रमणोंके पश्चात् प्राप्त होनेवाला है। इसलिये यह निश्चय ही अत्यन्त दीर्घकालसाध्य है।

किंतु सबके अन्तरात्मा और परप्रेमास्पद होनेके कारण वे सबको सुलभ भी हैं। अतः '**के ब्रह्मणि कुषु कुत्सितेषु सम एव भातीति ककुभः**'—क अर्थात् ब्रह्मामें और कु—कुत्सित जीवोंमें समान रूपसे भासमान होनेके कारण ककुभ हैं। वे जिस प्रकार हमारे मन और अहंकारादि तथा उनके विकार, श्रद्धा, अश्रद्धा, धी, ह्री आदिके अवभासक हैं, उसी प्रकार ब्रह्मासे लेकर कीट-पतंगादिपर्यन्त सभी जीवोंके प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयके प्रकाश हैं। इस प्रकार सबको सुलभ होनेके कारण वे '**ककुभ**' हैं। अतः '**के स्वर्गे कौ पृथिव्यां सर्वत्रैव भातीति ककुभः**' अथवा '**कं स्वर्गः कुः पृथिवी भाति विभाति यस्मात् स ककुभः**' अर्थात् भगवान् स्वर्ग और पृथिवी सभी जगह भासमान हैं अथवा उन्हींसे स्वर्ग और पृथिवी भी भासमान हैं, इसलिये भी वे '**ककुभ**' हैं। अतः सब कुछ उन्हींसे भासित है—

'**तमेव भान्तमनुभाति सर्वं**
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥'

(श्वेताश्वतर० ६। १४)

इस प्रकार वे सभीको सुलभ हैं। इसीसे ज्ञानीरूप चर्षणियोंकी उपासनासे सन्तुष्ट होकर वे अपने साथ उनका तादात्म्य स्थापितकर उन्हें भगवदीय आनन्दका अनुभव कराना चाहते हैं। इसीलिये वे उनके विवेकी अन्तःकरणरूप आकाशमें उदित हुए।

क्या करते हुए उदित हुए?—'**करैः स्वांशविशेषैर्वैषयिकसुखैश्चर्षणीनामज्ञजनानामपि तत्सुखप्राप्तिनिमित्तान् शुचः शोकान् मृजन् दूरीकुर्वन् उदगात्**' अर्थात् वे अपनी किरणोंसे अपने अंशभूत वैषयिकसुखोंद्वारा चर्षणी यानी अज्ञजनोंके भी उस सुखकी अप्राप्तिसे होनेवाले शोकोंको निवृत्त करते हुए उदित हुए। वास्तवमें विचारना चाहिये कि वैषयिक सुख भी क्या हैं? वे अनन्त अविकारी परमानन्दमूर्ति परब्रह्मके कण ही तो हैं। वे उस परमानन्द-सिन्धुकी बूँदें ही तो हैं। किंतु लोग भ्रमवश भगवान्को छोड़कर तुच्छ वैषयिक सुखोंकी अभिलाषा करके व्यर्थ दुःख पाते हैं। श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥

(रा०च०मा० १। २३। ७)

इस प्रकार क्योंकि वैषयिक सुख परब्रह्म परमात्माके ही अंशभूत हैं, इसलिये वे उनके द्वारा उन अज्ञ पुरुषोंके जो कि अनन्त भगवत्स्वरूपानन्दसे अनभिज्ञ हैं, उन विषयोंकी अप्राप्तिके कारण होनेवाले शोकको

निवृत्त करते हुए प्रकट हुए और क्या करते हुए प्रकट हुए? '**प्राच्याः प्राचीनायाः निर्वृत्तिकायाः बुद्धेर्मुखं प्रधानं सत्त्वात्मकं भागम् अरुणेन स्वाभिव्यक्तिजनितेन सुखेन विलिम्पन् उदगात्**' अर्थात् वे प्राचीना यानी निवृत्तिकामिनी बुद्धिके मुख यानी प्रधान सात्त्विक भागको अपनी अभिव्यक्तिसे उत्पन्न हुए सुखके द्वारा विलेपित करते हुए उदित हुए। भगवत्सुखका बुद्धिपर ही लेप करना युक्तियुक्त भी है; क्योंकि वही उसे ग्रहण कर सकती है—'**स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते**' अर्थात् ब्रह्माभिव्यक्तिजनित जो सुख है, उसकी अभिव्यक्ति निश्चयात्मिका बुद्धिपर ही होती है।

वे परब्रह्मरूप उडुराज किस प्रकार उदित हुए, सो बतलाते हैं—'**यथा कश्चित् दीर्घदर्शनः दीर्घेण कालेन दर्शनं यस्य एवंभूतः प्रियः प्रियायाः विप्रोषितभर्तृकायाः शुचः विभागसम्भूतानि शोकाश्रूणि शन्तमैः करैः करव्यापारैः मृजन् करधृतेन अरुणेन कुङ्कुमेन मुखं विलिम्पन् च स्यात्तथा**' अर्थात् जिस प्रकार कोई दीर्घकालके अनन्तर आनेवाला प्रवासी पति अपनी वियोगसन्तप्ता प्रियतमाके शोकाश्रुओंको अपने सुशीतल कर-व्यापारोंसे पोंछता है तथा उसके मुखको अपने हाथमें लिये हुए कुंकुमसे लाल कर देता है, उसी प्रकार ये उडुराज उदित हुए।

अथवा यों समझो कि जिस समय भगवान्ने रमण करनेकी इच्छा की और गोपांगनाओंके सौन्दर्य-माधुर्य एवं तपका स्मरणकर उनको वृन्दारण्यमें आह्वान करनेका संकल्प किया, उसी समय उडुराज-प्रेमाम्बुराशिकी वृद्धि करनेवाला चन्द्रमा सस्यरूप चर्षणियोंके शोकसूर्यकी तीक्ष्णतर किरणोंसे उत्पन्न हुई म्लानताको अपनी सुशीतल किरणोंसे निवृत्त करता हुआ उदित हो गया।

इसके सिवा '**उडुराजः**' इस शब्दसे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र भी अभिप्रेत हो सकते हैं; क्योंकि यौवनकी अतिशयता[१] के कारण उडुओं—नक्षत्रोंके समान स्वच्छ हैं और रंजन यानी अनुरागजनक होनेके कारण राजा हैं अथवा यदि '**उरुराजः**' ही '**उडुराजः**' है—ऐसा मानें तो इस प्रकार अर्थ करना चाहिये—'**स्वकीयप्रेमातिशयेन उरुधा रञ्जयतीति उरुराजः**' अथवा '**उरून् महतस्तत्त्वदर्शिनोऽपि महामुनीन् रञ्जयति स्वानुरागयुक्तान् करोतीति उरुराजः**' अर्थात् अपनी प्रेमातिशयताके कारण अनेक प्रकारसे रंजन करते हैं अथवा जो महान् तत्त्वदर्शी भी हैं, उन महामुनियोंका भी अपने अनुराग-विशेषके द्वारा अनुरंजन करते हैं; इसलिये श्रीकृष्णचन्द्र उरुराज हैं। वे प्रिय अर्थात् धन, धाम और सुहृद्वर्गसे भी प्रियतर[२] यानी सबके सर्वस्वभूत और दीर्घदर्शन—जिनका दर्शन दीर्घ यानी अत्यन्त मूल्यवान् है, ऐसे श्रीकृष्णचन्द्र चर्षणी यानी गोपीजनोंके शोक—प्रियतमके विरहजनित सन्तापको निवृत्त करने तथा '**ककुभः**'[३] सौन्दर्यातिशयके कारण मन्दगामिनी प्राची पूजनीया प्रियतमा श्रीवृषभानुनन्दिनीके मानादिजनित आँसुओंको अपने कर-व्यापारोंसे निवृत्त करते एवं अरुण कुंकुमादिसे उनका मुख विलेपित करते विहारस्थलमें आविर्भूत हुए।

श्रीवृषभानुनन्दिनी भगवान्की नित्य सहचरी हैं। जिस प्रकार शक्तिके बिना शिव, मधुरिमाके बिना मिश्री और दाहिका शक्तिके बिना अग्नि नहीं रह सकते, उसी प्रकार श्रीराधिकाजीके बिना श्यामसुन्दर नहीं देखे जाते। वे उनकी स्वरूपभूता आह्लादिनीशक्ति हैं। उन्हींके कारण श्रीकृष्णचन्द्रकी सारी शोभा है; अतः उन्हें छोड़कर वे एक पल भी नहीं रह सकते। वे निरन्तर उनकी सन्निधिमें रहते हैं और एक-दूसरेसे तादात्म्यको प्राप्त हो परस्पर एक-दूसरेकी शोभा बढ़ाते हैं। माधुर्य भावसे उपासना करनेवाले बहुत-

१. यों तो भगवान्की अवस्था इस समय केवल ८-१० वर्षकी थी; किंतु रासक्रीड़ाके लिये वे इस समय अपनी योगमायासे युवावस्थासम्पन्न हो गये थे।

२. '**यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते॥**' (श्रीमद्भा० १०।१४।३५)
अर्थात् गोपांगनाओंके गृह, धन, सुहृद्, प्रिय, आत्मा (शरीर), पुत्र, प्राण और मन—ये सभी जिनके लिये थे।

३. 'कुम्भ मन्दायां गतौ' इस धातुसे 'ककुभः' शब्द सिद्ध होता है।

से भावुकोंके मतमें तो कृष्णकृपाकी प्राप्तिके लिये श्रीप्रियाजीकी उपासना ही कर्तव्य है। उनका मत है कि श्रीराधिकाजी स्वाधीनभर्तृका हैं, भगवान् उनके अधीन हैं, वे नित्य निकुंजमें निरन्तर श्रीप्रियाजीके सौन्दर्यसमास्वादनके लिये उन्हें अपने माधुर्यरसका नैवेद्य समर्पण करते हैं। इस प्रकार भगवान्से आराधित होनेके कारण ही वे 'श्रीराधा' कहलाती हैं। अत: उनका आह्वान करनेके लिये भगवान्को वेणुनाद करनेकी आवश्यकता नहीं थी। वे तो उनकी सन्निधिमें ही थीं और उनकी प्रसन्नताके लिये ही यह लीला भी की गयी थी।

ऐसी अवस्थामें यह प्रश्न होता है कि फिर भगवान्के वेणुनादका और क्या प्रयोजन था? यहाँ यही समझना चाहिये कि भगवान्ने अन्य यूथेश्वरी और साधनसिद्धा व्रजांगनाओंको बुलानेके लिये ही वंशीध्वनि की थी। वे चिरकालसे भगवत्संगके लिये उत्सुक थीं और तरह-तरहके व्रत-उपवास भी कर रही थीं, अत: उन्हें उनकी उपासनाका फल देनेके लिये ही भगवान्ने वंशीध्वनि की।

× × ×

इस तरह अखण्डमण्डल श्रीवृषभानुनन्दिनीके मुखके समान चन्द्रमाको तथा उसकी शीतल सुकोमल रश्मियोंसे रंजित मनोहर वनको देखकर श्रीव्रजांगनाओंका मन हरण करनेवाले वेणुगीत-पीयूषको प्रवाहित किया। उस प्रेमानन्द-समुद्रको बढ़ानेवाले गीतको सुनकर उनका मन मोहित होकर कृष्णकी ओर आकर्षित हो उठा, मानो कृष्णने हठात् उनके मनको हर लिया। बस फिर क्या था, जैसे नदियाँ समुद्रकी ओर दौड़ती हैं, वैसे ही समस्त व्रजांगनाएँ संभ्रमसे श्रीकृष्णकी ओर चल पड़ीं। मानो जब प्रेमानन्दमें मन बह चला, तब मनके परतन्त्र शरीर भी उसी वेगमें बह चला। यह गीत पीयूषप्रवाहक इतर प्रवाहोंकी तरह अपने संसर्गी पदार्थोंको गन्तव्यकी ओर न ले जाकर उद्गम-स्थान श्रीकृष्णकी ओर ही ले जाता है। किंवा जब श्रीकृष्णके वेणुगीतरूप चौरने व्रजांगनाओंके धैर्य, विवेक आदि रत्नोंसे भरपूर मनोमंजूषाको हर लिया तो वे व्याकुल होकर उसीके अन्वेषणके लिये दौड़ पड़ीं। कोई दोहन, कोई परिवेषण, कोई लेपन, मार्जन, अंजन, पति-शुश्रूषण छोड़कर उलटे-पलटे भूषण-वसन धारणकर श्रीकृष्णके पास चल पड़ीं। पति, पिता, भ्राता आदिके रोकनेपर भी वे न रुकीं। जब कुछ व्रजांगनाओंको उनके पति आदिने गृहके भीतर रोक लिया तो वे वहीं नेत्र मींचकर श्रीकृष्णका ध्यान करने लगीं। प्रियतमके दु:सह विरहजन्य तीव्र तापसे समस्त पाप कम्पित हो उठे और ध्यानप्राप्त प्रियतमके परिरम्भणजन्य अनन्त आनन्दसे पुण्य भी दुर्बल हो गये। इस तरह व्रजांगनाएँ सद्य: क्षीणबन्धन होकर गुणमय देहको त्याग जारबुद्धिसे भी उन्हीं भगवान्को प्राप्त हो गयीं।

भगवान्का गोपांगनाओंको उपदेश

समीपमें आयी हुई व्रजांगनाओंको देखकर भगवान् अपनी वचन-चातुरीसे मोहित करते हुए बोले—'हे महाभागाओ! आपका स्वागत है। हम आपलोगोंका क्या प्रिय करें? व्रजमें कुशल तो है? आपलोग अपने आगमनका कारण कहो। यह घोररूपा रजनी घोर व्याघ्रादि जन्तुओंसे निषेवित है। आपलोग व्रजमें जाओ। हे सुमध्यमाओ! यहाँ स्त्रियोंको नहीं ठहरना चाहिये। आपलोगोंके माता, पिता, भ्राता, पति आपलोगोंको घरमें न देखकर ढूँढ़ते होंगे। बन्धुओंको संकट न पहुँचाओ। बहुत हो चुका, अब आपलोग विलम्ब मत करो। व्रजको चली जाओ।'

आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने व्रजांगनाओंको यही आदेश दिया कि तुमलोग गोष्ठमें रहकर अपने पतियोंकी शुश्रूषा करो। हमारी प्राप्तिका यही उपाय है। यदि पातिव्रत्यमें तुम्हारी गति न हो तो '**शुश्रूषध्वं सती:**' पतिव्रताओंकी सेवा करो। इस व्याजसे भगवान्ने समस्त पुरुषोंको यही उपदेश किया है कि जिनकी गति परब्रह्मकी उपासनामें न हो, वे देवता और माता-पितादिरूप वैदिक और लौकिक ईश्वरोंकी उपासना करें। यदि वे पहले इन ईश्वरोंकी सेवा करेंगे तो

क्रमशः उन्हें परमेश्वरकी प्राप्ति हो जायगी। इससे सिद्ध हुआ कि जिन पुरुषोंके पाप-पुंजकी कर्म और उपासनाद्वारा निवृत्ति हो गयी है, वे ही भगवद्धाममें प्रवेश करनेके अधिकारी हो सकते हैं—

'नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते।'

इसके सिवा यह भी प्रसिद्ध ही है कि—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारकः॥

(श्रीविष्णुपुराण ३।८।९)

अतः यदि तुम वर्णाश्रम-धर्माचारके द्वारा इन लौकिक और वैदिक ईश्वरोंकी सेवा करोगे, तभी परमेश्वरकी प्राप्ति कर सकोगे। अनभिज्ञ पुरुषोंको ही मोहवश स्वधर्ममें अरुचि और परधर्ममें रुचि होती है। इसी प्रकार अर्जुनको भी जो परधर्ममें रुचि हुई थी, वह उसका मोह ही था। उसने जो क्षात्रधर्मका परित्यागकर ब्राह्मणधर्मका आश्रय लिया था और बन्धुवधसे विरत होकर कहा था कि **'गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।'** (गीता २।५) वह उसका भयंकर व्यामोह ही था।

जिस प्रकार रुग्णावस्थामें पित्तादिके दूषित हो जानेसे लोगोंको निम्बादि कटु पदार्थोंमें रुचि होने लगती है और दुग्धादिमें अरुचि हो जाती है, उसी प्रकार मोहके कारण ही स्वधर्ममें अरुचि हुआ करती है। अतः रुचि हो या न हो, उचित यही है कि स्वधर्मका आश्रय लिया जाय और परधर्मका परित्याग किया जाय।

इससे सिद्ध हुआ कि जिस प्रकार भगवान्ने व्रजांगनाओंसे कहा था कि मुझ परपुरुषका संग छोड़कर तुम अपने पतियोंकी सेवा करो, इसी प्रकार साधारण मनुष्योंको भी उनका यही आदेश है कि उन्हें स्वधर्मका ही आश्रय लेना चाहिये। जिस प्रकार छतपर जानेके लिये प्रत्येक सीढ़ीपर होकर जाना पड़ता है, उसी प्रकार परमात्मप्राप्तिमें भी क्रमिक साधनाका अवलम्बन करना होता है। जो लोग सोपानातिक्रम करके परमोच्च नैष्कर्म्यका आश्रय लेते हैं, उनका ऐसा पतन होता है कि फिर उत्थान होना दुर्लभ हो जाता है। इसीसे महापुरुष कर्मत्यागमें भय दिखलाया करते हैं। भगवान्ने भी इसी कारण कर्मानुष्ठानकी आवश्यकता प्रदर्शित करनेके लिये अर्जुनसे कहा था—

सन्न्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥

(गीता ५।२)

साधारण पुरुषोंके लिये तो यही क्रम है; हाँ, गुणातीतोंकी बात अलग है। गुणातीत तो कहते ही उसे हैं, जिसपर गुणोंका आक्रमण न हो। अतः अज्ञ पुरुषोंको उनका अनुकरण न करके स्वधर्मका ही आश्रय लेना चाहिये। यदि वे उसे छोड़कर नैष्कर्म्यपर आरूढ़ होना चाहेंगे तो सर्वथा पतित हो जायेंगे।

यह बात भी सुनिश्चित है कि प्रयत्न केवल साधनमें ही होता है, फलमें प्रयत्न नहीं होता। साधनके पर्यवसानमें फल तो स्वतः प्राप्त हो जाता है। यदि किसी काष्ठको काटना है तो कुठारका उद्यमन और निपातन किया जाता है। वहाँ प्रयत्नकी आवश्यकता कुठारके उद्यमन-निपातनमें ही होती है; उसके परिणाममें द्वैधीभाव तो स्वयं हो जाता है। इसी प्रकार आवश्यकता इसी बातकी है कि हम सबसे पहले कर्मद्वारा अपनी उच्छृंखल प्रवृत्तियोंका निरोध करके फिर सात्त्विक प्रवृत्तियोंद्वारा अपनी राजस, तामस प्रवृत्तियोंका निरोध करें। उसके पश्चात् जब हमारी सात्त्विक प्रवृत्तिका भी निरोध हो जायगा तो स्वस्वरूपकी उपलब्धि स्वतः ही हो जायगी। ज्यों ही मानस व्यापारकी शान्ति हुई कि **'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्॥'** (योगदर्शन १।३) इस सूत्रके अनुसार द्रष्टाकी अपने स्वरूपमें स्थिति हो जाती है।

वस्तुतः नैष्कर्म्य क्या है—इस बातको साधारण पुरुष समझ भी नहीं सकते, इसीलिये वे कर्मत्यागकी व्यर्थ चेष्टामें प्रवृत्त होते हैं। जिस प्रकार नौकारूढ़ व्यक्तिको भ्रमवश तटस्थ वृक्षादि चलते दिखायी देते हैं और अपनेमें स्थिरता प्रतीत होती है, उसी प्रकार

अज्ञानियोंको मोहवश अपने निष्क्रिय शुद्ध स्वरूपमें कर्मकी प्रतीति होती है। इसी बातको भगवान्ने इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥

(गीता ४।१८)

वास्तवमें अकर्म तो स्वरूपस्थिति है, वह कर्तव्य नहीं है। जो अकर्मको कर्तव्य समझकर देहेन्द्रियव्यापारकी निवृत्तिका प्रयत्न करते हैं, वे अकर्मके रहस्यसे सर्वथा अनभिज्ञ हैं। इस प्रकारका प्रयत्न भी तो एक व्यापार ही है; अतः वह निवृत्ति नहीं, उसे व्यापारशान्ति ही कहा जा सकता है। वस्तुतः **'संन्यासस्तु पूर्णब्रह्मणि सम्यक्न्यासः'** इस लक्षणके अनुसार पूर्ण ब्रह्ममें सर्वथा आत्मसमर्पण करनेका नाम ही संन्यास है। वह उपेय या साध्य है, उपाय या साधन नहीं है। इसीसे भगवान् गोपिकाओंको उपदेश करते हैं कि मैं तो उपेय हूँ, तुम मुझे प्राप्त करनेके लिये पतिशुश्रूषण-रूप उपायका अवलम्बन करो।

स्वधर्ममें निष्ठा होनेका उपाय

यदि मोह या दुर्दैववश तुम्हारी स्वधर्ममें निष्ठा नहीं है तो अहंकार छोड़ो और शास्त्रज्ञोंका सत्संग करो। इससे स्वधर्ममें तुम्हारी अभिरुचि होगी। इसी बातको लक्षित करनेके लिये भगवान्ने व्रजांगनाओंसे कहा है—**'शुश्रूषध्वं''' सतीः'** (श्रीमद्भा० १०।२९।२२) (सत्पुरुषोंकी सेवा करो), स्त्रियोंके लिये पतिव्रता ही सत्पुरुष हैं। जिस प्रकार स्त्रियोंके लिये भगवान्ने पतिव्रताओंका संग करनेकी आज्ञा दी है, उसी प्रकार पुरुषोंको शास्त्रज्ञ और निःस्पृह ब्राह्मणोंका सहवास करना चाहिये। मनु भगवान्ने भी ब्राह्मणोंसे ही उपदेश ग्रहण करनेकी आज्ञा दी है। वे कहते हैं—

अध्येतव्यमिदं शास्त्रं ब्राह्मणेन प्रयत्नतः।
शिष्येभ्यश्चोपदेष्टव्यं सम्यक् नान्येन केनचित्॥

जो लोग देखा-देखी दूसरोंको उपदेश करने लगते हैं, वे उनके पतनके ही कारण होते हैं। वास्तविक कल्याण तो शास्त्रज्ञ ब्राह्मणके ही उपदेशसे हो सकता है। जिस प्रकार कोई साधारण पुरुष किसी वैद्यराजके थोड़ेसे ओषधिप्रयोगोंको देखकर यदि स्वयं भी वैद्यराज होनेका दावा करके ओषधि देने लगे तो वह रोगियोंकी मृत्युका ही कारण होता है, उसी प्रकार अनधिकारी उपदेशक जनताके अमंगलके ही हेतु होते हैं। अज्ञजन केवल श्रवणके ही अधिकारी हैं। शास्त्रज्ञ ब्राह्मणोंसे श्रवण करके वे अपना कल्याण अवश्य कर सकते हैं; इसीसे भगवान्ने कहा है कि—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(गीता १३।२५)

अतः उन्हें आत्मकल्याणके लिये श्रवण तो अवश्य करना चाहिये, किंतु दूसरोंको उपदेश करनेका प्रयत्न न करना चाहिये।

इस प्रकार जिस तरह स्त्रियोंको पतिव्रताओंकी सेवा करनी आवश्यक है, उसी प्रकार पुरुषोंको ब्राह्मणोंकी शुश्रूषा करनी चाहिये। यदि उनकी सेवामें रहते-रहते जल्दी लाभ न भी हुआ तो ***'तबहिं होइ सब संसय भंगा। जब बहु काल करिअ सतसंगा॥'*** (रा०च०मा० ७।६१।४) कुछ दिन धैर्य रखकर उनकी सेवामें तत्पर रहो। अधिक मलकी निवृत्तिके लिये अधिक कालतक मार्जनकी आवश्यकता होती है। इसी तरह जन्म-जन्मान्तरके पापोंकी निवृत्तिमें कुछ समय लगना स्वाभाविक ही है। यदि उनके कथनमें रुचि नहीं होती तो भी कुछ काल तो अरुचिसे भी उन्हींकी आज्ञामें रहो। वैद्य रोगीके लिये हितकर समझकर जो ओषधि देता है, रोगीको किसी प्रकारका ननु-नच न करके उसीको सेवन करना चाहिये; उसे अपनी रुचिकी अपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

संसारमें सत्संग बहुत दुर्लभ है। साधुजन कहीं साइनबोर्ड लगाकर नहीं बैठते। उनकी प्राप्ति सौभाग्यसे ही होती है। श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता॥

(रा०च०मा०७।४५।६)

श्रीमद्भगवद्गीतामें आत्मकल्याणके लिये साधुसेवाकी आवश्यकता भगवान् कृष्णने इस प्रकार दिखलायी है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(गीता ४।३४)

किंतु सेवामें धैर्यकी बहुत आवश्यकता है; जल्दबाजीसे काम नहीं चलता। देखो इन्द्रने दीर्घ कालतक सेवा की, तभी उसका अन्तःकरण शुद्ध हुआ और वह आत्मतत्त्वकी उपलब्धिमें समर्थ हो सका।

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र कहते हैं—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

(गीता ४।८)

इस प्रकार भगवान्ने 'साधुओंका परित्राण' अपने अवतारका प्रधान प्रयोजन बतलाया है। अब यह प्रश्न होता है कि साधु किसे कहते हैं? भाष्यकार भगवान् शंकराचार्यने '**साधूनाम्**' इस पदका पर्याय '**सन्मार्गस्थानाम्**' लिखा है।

अपनी कुल-परम्पराका समादर आवश्यक है

किंतु '**सन्मार्ग**' क्या है? इसका निर्णय होना बहुत कठिन है। यदि कहा जाय कि शास्त्रानुमोदित मार्गका नाम सन्मार्ग है तो इसमें भी सन्देह होता है; क्योंकि यह निश्चय होना कठिन है कि सच्छास्त्र कौन है। लोग शंका करते हैं कि वेद ही सच्छास्त्र क्यों है, कुरान या बाइबिल आदिको ही प्रधान सच्छास्त्र क्यों न माना जाय? यद्यपि यह बात युक्तिसे भी सिद्ध की जा सकती है कि वेद ही सच्छास्त्र है तथापि यहाँ इसका प्रसंग नहीं है। इसलिये विशेष न कहकर थोड़ा-सा संकेत किया जाता है।

मान लीजिये आपको कहीं जाना है। अपने ध्रुवकी ओर जाते-जाते आगे चलनेपर आपको चार मार्ग मिले। उस समय चारों मार्गोंसे यात्री आ-जा रहे हैं। आप उनसे पूछते हैं कि अमुक स्थानको कौन मार्ग जाता है तो वे सभी अपने-अपने मार्गको वहाँ जानेवाला और अधिक सुविधाजनक बतलाते हैं। वे अपने-अपने मार्गकी प्रशंसा करते हैं—इतना ही नहीं अपितु अपनेसे भिन्न मार्गोंको विघ्नबहुल और त्याज्य भी बतलाते हैं। ऐसी अवस्थामें आप क्या करेंगे? हमारे विचारसे तो आप यही देखेंगे कि इनमें कोई हमारा परिचित (आप्तपुरुष) भी है। तब उनमें जो आपके ग्रामके आस-पासका होगा, औरोंकी अपेक्षा उसीका विश्वास करोगे। अतः विचारवानोंका यही कर्तव्य है कि आप्तवाक्यका अवलम्बन करें। यह साधारण धर्म कहा जाता है कि जो आचार-विचार अपनी कुलपरम्परासे चला आया हो, उसीका आश्रय लिया जाय। आप जिस देश, जाति, सम्प्रदाय या कुलमें उत्पन्न हुए हैं; उसमें जो पुरुष या शास्त्र अधिक आदरणीय माने गये हों, उन्हींके मार्गका अवलम्बन करें, क्योंकि पिता अपने पुत्रका अहित कभी नहीं चाह सकता। अतः पिता-पितामह-प्रपितामह-क्रमसे जो मार्ग चला आया हो, उसीका आश्रय लेना चाहिये।

धर्मके विषयमें यह व्यापक लक्षण है। यह जैसा हिन्दुओंके लिये है, वैसा ही ईसाई, मुसलमान, जैन, बौद्ध आदि अन्य मतावलम्बियोंके लिये भी है। उन्हें भी अपने-अपने आचार्य और धर्मग्रन्थोंका आश्रय लेना चाहिये। यदि आप आरम्भसे ही यह निश्चय करने लगेंगे कि कौन मार्ग श्रेष्ठ है तो इसका निर्णय कभी नहीं कर सकेंगे। यह तो बहुत लम्बा-चौड़ा क्रम है, इसका निर्णय तो कभी नहीं होगा। ऐसी अवस्थामें आप धर्ममार्गका अवलम्बन कैसे कर सकेंगे?

राजाको सारी शक्तियाँ प्राप्त होती हैं; वह चाहे जिसे उजाड़ सकता है और चाहे जिसे बसा सकता है; उसे कोई रोकनेवाला नहीं होता। फिर भी वह अपने ही बनाये हुए नियमोंका अनुसरण करता है। वस्तुतः बिना नियमके कोई भी व्यवस्था हो नहीं सकती। इस प्रकारकी नियम-शृंखलाका नाम ही तो धर्म है। लौकिक शृंखलासे बद्ध प्रवृत्तिका नाम लौकिक

व्यवहार है और वैदिक शृंखलासे बद्ध प्रवृत्तिका नाम धर्म है। किंतु नियम-निर्माणका कार्य अभिज्ञ पुरुष ही कर सकते हैं; अत: यहाँ फिर वही लक्षण लागू हो जाता है कि जो जिस धर्म, जिस जाति और जिस कुलमें उत्पन्न हुए हैं, उन्हें उसीमें उत्पन्न हुए आप्त पुरुषोंके मार्गका अवलम्बन करना चाहिये।

विद्यार्थीको यदि कोई अक्षर दिखलाकर कहा जाय कि यह 'क' है और इसपर वह कहने लगे कि इसे 'क' क्यों कहते हैं तो उसे इसका हेतु किसी प्रकार नहीं समझाया जा सकता और उसे कोरा ही रहना पड़ेगा। इसका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये तो पहले-पहल उसे आचार्यके कथनमें अन्ध-श्रद्धा ही करनी होगी। पीछे जब उसकी बुद्धि विकसित होगी और उसे व्याकरणशास्त्रके सूक्ष्म रहस्यका पता चलेगा तो उसे स्वयं ही सब बात मालूम हो जायगी। जब वैद्य रोगीको ओषधि देता है तो वह क्यों नहीं कहता कि मैं इसे क्यों सेवन करूँ। उस समय उसे वैद्यमें श्रद्धा करनी ही पड़ती है। श्रुतिने भी '**श्रद्धत्स्व तात श्रद्धत्स्व**' इस अजातशत्रुकी उक्तिद्वारा श्रद्धाका ही विशेष महत्त्व प्रतिपादन किया है।

अत: आस्तिकोंको यह तर्क करनेकी आवश्यकता नहीं है कि वेद अपौरुषेय क्यों हैं? जो आर्यावर्तमें उत्पन्न हुए हैं और आर्यधर्मावलम्बी हैं, उन्हें पहले-पहल ऐसा मानना ही चाहिये। पीछे जब समझनेकी योग्यता होगी, तब वे इस तथ्यको समझ भी सकेंगे। पहले योग्यता प्राप्त करो; '**श्लोकवार्तिक**', '**तन्त्रवार्तिक**' और '**पञ्चपादिकाविवरण**' आदि ग्रन्थोंको देखो; तब समझ सकोगे कि वेद अपौरुषेय क्यों हैं। उस समय तुम यह जान लोगे कि वेद ही सच्छास्त्र क्यों हैं और उनसे भिन्न किसी अन्य ग्रन्थको यह सम्मान क्यों प्राप्त नहीं है? उन्हींके अनुमोदित धर्मकी रक्षा करनेके लिये भगवान् कह रहे हैं—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

(गीता ४।८)

कर्तव्याकर्तव्यके निर्णयके लिये शास्त्रका ही प्रामाण्य है

अबतक जो कुछ कहा गया है, वह हमारी ही कल्पना हो—ऐसी बात नहीं है। भगवान्ने भी कर्तव्याकर्तव्यका विवेचन करनेके लिये शास्त्रकी ही शरण लेनेकी आज्ञा दी है। इसीसे वे कहते हैं— '**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ**।' (गीता १६।२४) वह शास्त्र क्या है? इसका भगवान् स्पष्टतया खुले शब्दोंमें उत्तर देते हैं कि '**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो**' (गीता १५।१५)। अत: वेद ही सच्छास्त्र है।

पूर्वमीमांसक '**शास्त्र**' शब्दका अर्थ वेद ही करते हैं। उत्तरमीमांसाका सूत्र है—'**शास्त्रयोनित्वात्**' (वेदान्तदर्शन १।१।३); इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य लोग कहते हैं '**शास्त्रम् ऋग्वेदादि**'। सांख्यादिमें तो 'शास्त्र' शब्दका उपचारसे प्रयोग होता है। जैसे 'वेदान्त' शब्दका मुख्य अर्थ उपनिषद् है; ब्रह्मसूत्रादिमें उसका औपचारक प्रयोग होता है, क्योंकि वे उन्हींका विचार करते हैं। '**शिष्यते हितमुपदिश्यतेऽनेन इति शास्त्रम्**' इस व्युत्पत्तिके अनुसार भी वेद ही शास्त्र हैं, क्योंकि निरपेक्ष हितका उपदेश उन्हींमें किया गया है। अन्य शास्त्रोंमें जो हितोपदेश हैं, उसे श्रुति-प्रामाण्यकी अपेक्षा है। वैदिक लोग दर्शन, स्मृति और गीताका भी स्वत:प्रामाण्य नहीं मानते; उनका प्रामाण्य वेदमूलक होनेके ही कारण है। मनुस्मृति इसीलिये प्रामाणिक है; क्योंकि वह वेदानुमोदित धर्मका प्रतिपादन करती है और श्रुति उसके लिये कहती है कि '**यद्वै मनुरवदत्तद्भेषजम्**'। श्रीमद्भगवद्गीता भी वेदानुसारिणी होनेके कारण ही प्रामाणिक है। यदि भगवदुक्ति होनेके कारण उसे स्वत:प्रमाण कहा जाय तो बौद्ध दर्शन भी प्रामाणिक माना जायगा। किंतु वेद-विरुद्ध होनेके कारण बौद्ध दर्शन भगवदवतार भगवान् बुद्धकी उक्ति होनेपर भी प्रामाणिक नहीं है।

प्रमाणोंका किसी अर्थमें सांकर्य होता है और

किसीमें व्यवस्था होती है। शब्द केवल श्रोत्रेन्द्रियसे ही ग्रहण किया जा सकता है, उसका ज्ञान किसी अन्य इन्द्रियसे नहीं हो सकता। अत: श्रोत्र शब्दग्रहणमें इन्द्रियान्तर-निरपेक्ष प्रमाण है। यहाँ प्रमाणकी व्यवस्था है। किंतु दूरस्थ जल नेत्रसे भी ग्रहण किया जा सकता है। ऐसे ही और भी कितने ही पदार्थ हैं, जो कई प्रमाणोंसे ज्ञात हो सकते हैं। उनमें प्रमाणोंका सांकर्य है।

वेद स्वत:प्रमाण हैं और गीतादिका प्रामाणिकत्व वेदमूलक होनेके कारण है—ऐसा कहकर हमने गीताका निरादर नहीं किया। जैसा हम पहले दिखा चुके हैं, हमारा यह कथन भगवदुक्तिके ही अनुसार है। अत: यह तो उसका सम्मान है। जो लोग ऐसा कुतर्क करते हैं कि गीताके वेदानुसारी होनेमें क्या प्रमाण है, उनकी यह चेष्टा साहसमात्र है। गीताके वेदानुसारित्वमें शंका करना बड़ी भारी धृष्टता है।

एक बात बहुत ध्यान देनेयोग्य है। लोग चमत्कारोंसे बहुत आकर्षित होते हैं। शास्त्रानुयायियोंपर जनताकी ऐसी श्रद्धा नहीं होती, जैसी कि चमत्कारोंपर होती है। किंतु ऐसा कोई नियम नहीं है कि सिद्धि वैदिकोंमें ही होती हो। जैन आदि अन्य मतावलम्बियोंमें भी सिद्धियाँ और तितिक्षा आदि गुण देखे जाते हैं। परंतु उनका अनुगमन नहीं करना चाहिये। वैदिक मतावलम्बी यदि इन गुणोंसे शून्य हो तो भी उसीका अनुसरण करना चाहिये। यदि अहिंसा और दया आदि भी हमारे शास्त्रोंकी विधिसे विपरीत हों तो वे पाप हैं और शास्त्रानुमोदित हिंसा भी धर्म है। अर्जुनको दया और करुणा ही तो हो रही थी; परंतु भगवान् कहते हैं—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥

(गीता २।२)

इस प्रकार भगवान्ने उस दया और करुणाको भी '**अनार्यजुष्ट**', '**अस्वर्ग्य**' और '**अकीर्तिकर**', '**कश्मल**' (पाप) कहकर त्याज्य बतलाया है।

अत: पहले लकीरके फकीर बनो। जो कुछ शास्त्र कहता है, उसे आँख मूँदकर ग्रहण करो। पहले कुछ योग्यता प्राप्त कर लो तब निर्णय करना। यदि तुम्हें कोई अनुमान करना है तो पहले प्रतिज्ञा, व्याप्ति एवं निगमन आदि पंचावयव वाक्य एवं देवाभास आदिका ज्ञान प्राप्त करो। जबतक तुम्हें सत् और असत् हेतुका विवेक न होगा, तबतक ठीक-ठीक अनुमान कैसे कर सकोगे?

हमें शान्ति, तितिक्षा और अहिंसा—ये कुछ भी अपेक्षित नहीं है, हमें केवल वैदिक विधिकी अपेक्षा है। जो ऐसा मानते हैं कि '**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।**' (गीता १६।२४) यह भगवद्वाक्य है और जो भगवद्वाक्यको अपना सर्वस्व माननेका दावा करते हैं, उन्हें तो यही कर्तव्य है, औरोंके लिये हमारा कुछ कहना नहीं है। आजकल लोगोंकी कुछ ऐसी प्रवृत्ति है कि जब वे दूसरोंके आचरणपर दृष्टि डालते हैं तो उन्हें निरी भूलें दिखायी देती हैं, किंतु अपनी भूल उन्हें कभी नहीं दीखती। श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

पर उपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे॥

(रा०च०मा० ६।७८।२)

अत: दूसरोंकी समीक्षामें न पड़कर हमें पहले अपनी ही ओर देखना चाहिये।

शास्त्रकी आज्ञा है कि '**स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्माच्च निवर्तनम्।**' (श्रीमद्भा० ३।२८।२) स्वधर्मका यथाशक्ति पालन करना चाहिये और विधर्मका त्याग, जो लोग यथाशक्ति स्वधर्मका पालन करते हैं, वे ही सत्पुरुष हैं। कुछ कर्म तो ऐसे हैं, जिनका न करना पाप है; जैसे सन्ध्या, अग्निहोत्र एवं बलिवैश्वदेव आदि। वे नित्यकर्म हैं। इसी प्रकार पार्वण श्राद्धादि नैमित्तिक कर्म भी अवश्यकर्तव्य हैं। उनका परित्याग करनेमें दोष माना गया है। आज थोड़े-से ब्राह्मण ही ऐसे दिखायी देते हैं, जो इन सब धर्मोंका यथायोग्य पालन करते हैं। परंतु उनके प्रति अन्य लोगोंकी विशेष आस्था नहीं देखी जाती; अत:

उनका उत्साह भी कितने दिन रह सकेगा? प्रवृत्तिके लिये आस्थाकी भी अत्यन्त आवश्यकता है। इसीलिये प्रत्येक ग्रन्थके पहले उसका माहात्म्य दिया जाता है और उस ग्रन्थके पाठके समय उसका पाठ भी अनिवार्य होता है। वह अर्थवाद अभिरुचिकी वृद्धिके लिये है। किंतु उस कर्मके कर्ताको उसमें अर्थवाद-दृष्टि नहीं करनी चाहिये। इसीसे नाममें अर्थवाद-बुद्धि करना भी एक नामापराध माना गया है। नामोच्चारण न करनेका दोष निवृत्त हो सकता है; परंतु नामापराधकी निवृत्ति नहीं हो सकती। अत: यदि वैदिक कर्मोंकी प्रवृत्ति करनी है तो उसका माहात्म्य भी सत्पुरुषोंमें प्रख्यात होना चाहिये। कर्मयोगकी आज भी बहुत महिमा है। परंतु इस समय इसके अनेक अर्थ हो रहे हैं। '**योग: कर्मसु कौशलम्**' (गीता २।५०)इस भगवदुक्तिका आश्रय लेकर महात्मा तिलकने तो कर्म करनेकी कुशलताको ही कर्मयोग कहा है। किंतु भगवान्‌का तो यही कथन है कि '**कर्म ब्रह्म**…**प्रतिष्ठितम्॥**' (गीता ३।१५)अर्थात् कर्म ब्रह्ममें स्थित है। यहाँ 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ करते हुए वे कहते हैं कि '**ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्**' (गीता ३।१५) अर्थात् ब्रह्म अक्षर परमात्मासे उत्पन्न हुआ है। अत: वेद ही ब्रह्म है और वेदोक्त कर्म ही कर्मयोग है।

आज भक्तशिरोमणि श्रीगोसाईंजी महाराजकी ***'नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू॥'*** (रा०च०मा० १।२७।७)—इस उक्तिका अवलम्बन करके सारे धर्म-कर्मोंको तिलांजलि देकर केवल हरिनाम-संकीर्तनमें लगनेकी ही प्रवृत्ति हो रही है। हम भगवन्नाम-संकीर्तनको हेय-दृष्टिसे नहीं देखते। वह तो परम मंगलमय है, परंतु गोसाईंजीके तात्पर्यको न समझकर उनकी उक्तिका आश्रय लेकर कर्तव्य कर्मकी अवहेलना करना कदापि क्षम्य नहीं हो सकता।

जबतक कर्मके करनेमें परम लाभ सुनिश्चित न होगा और उसके परित्यागमें परम हानिका निश्चय न होगा, तबतक उसमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। जिस प्रकार आत्मज्ञानके लिये श्रुति कहती है कि '**इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टि:।**' (केन० २।५) उसी प्रकार कर्मके अकरणमें भी प्रत्यवाय-प्राप्तिका पूर्ण निश्चय होना चाहिये। इसीसे अग्निहोत्रादि नित्यकर्मोंके लिये तो शास्त्रकी जबरदस्त आज्ञा है, किंतु सोमादि नित्य-कर्मोंके लिये यथाशक्ति पदका अध्याहार किया गया है। नित्यकर्मोंमें भी यथाशक्ति पदका अध्याहार हो सकता है; जैसे रोगके समय सन्ध्योपासन न कर सके तो केवल मानसिक संध्या ही कर ले अथवा केवल अर्घ्यदान कर ले। किंतु अधर्म तो कभी कर्तव्य नहीं हो सकता। अत: क्षत्रिय, वैश्यको ब्राह्मणके धर्मका आश्रय करना अथवा शूद्रको वेदाध्ययन करना कभी विहित नहीं हो सकता।

इसलिये यदि तुम परम कल्याण चाहते हो तो ऐसे ब्राह्मणोंका समाश्रयण करो, जो पापसे सर्वथा बचा हुआ हो और धर्मका यथाशक्ति पालन करता हो, वही सत्पुरुष है। उसकी सेवा करनेसे ही परमात्माकी प्राप्ति कर सकोगे। भगवान्‌ने '**शुश्रूषध्वं**… **सती:**' (श्रीमद्भा० १०।२९।२२) ऐसा कहकर सर्वसाधारणको यही उपदेश किया है।

पहले कह चुके हैं कि जीवमात्र परतन्त्र होनेके कारण केवल परब्रह्म परमात्मा ही पूर्ण पुरुष है। '**पतीन् शुश्रूषध्वम्**' इस कथनसे भी स्त्रीमात्रके परमपति सच्चिदानन्दघन परमपुरुष परमात्मा ही विवक्षित हैं। अत: जिस प्रकार स्त्रियोंको पतियोंका शुश्रूषण आवश्यक है, उसी प्रकार जीवमात्रको पूर्ण परब्रह्म परमेश्वरकी आराधना करना परम कर्तव्य है। इसमें किसी प्रकारकी शंका नहीं करनी चाहिये।

परंतु एक ही परमात्माकी आराधना विवक्षित होनेपर भी यहाँ '**पतीन्**' ऐसा बहुवचन क्यों है? यह कथन जीवभेदकी दृष्टिसे है। जिस प्रकार गगनस्थ सूर्य एक ही है तथापि जलपात्रोंके भेदसे उसके अनेकों प्रतिबिम्ब पड़ते हैं, उसी प्रकार एक ही सच्चिदानन्दघन परमात्मा विभिन्न अन्त:करणोंमें विभिन्न

रूपसे प्रतिफलित हो रहे हैं अथवा भावनाभेद या अवतारभेदके कारण यह बहुवचन हो सकता है; क्योंकि एक ही भगवान्—राम, कृष्ण, शिव आदि अनेकों रूपोंमें प्रकट हुए हैं। गोपांगनाओंके लिये तो यह प्रयोग आदरार्थ भी हो सकता है; क्योंकि उनके लिये तो एकमात्र भगवान् ही आराध्यदेव, रक्षक, पति और गुरु हैं तथा गुरुजन आदि आदरणीय व्यक्तियोंके लिये बहुवचनका प्रयोग किया जाता है। इसके सिवा इस प्रकरणमें रासलीलाके समय एक ही भगवान् अनेकरूप होनेवाले हैं। अत: भावी भेदके कारण भी कथन हो सकता है।

यदि तुम पतिशुश्रूषणकी रीति न जानती हो, तुम्हें इस बातका पता न हो कि पतिदेवको किस प्रकार अपने अनुकूल बनाया जाता है तो '**शुश्रूषध्वं**…**सती:**'—पतिव्रताओंकी सेवा करो। इससे तुम सेवाकी विधि जान जाओगी। जैसे श्रीसीताजीको श्रीअनसूयाजी और कौसल्याजी आदिने उपदेश किया था, उसी प्रकार जीव अपने परमपति सर्वेश्वर भगवान्को कैसे अपने अनुकूल करे, यदि यह जानना हो तो उसे वैसा आचरण जाननेके लिये सत्पुरुषोंकी सेवा करनी चाहिये। जो लोग भगवान्को प्रसन्न करना जानते हैं और जो शास्त्रानुमोदित मार्गसे चलते हैं, वे ही इस मार्गमें सत्पुरुष हैं। उनकी कृपासे भगवान्की प्राप्ति हो जानेपर फिर कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता। भगवान्के संकल्पसे ही बन्ध-मोक्षकी प्रवृत्ति है। जबतक भगवान्में अनुराग नहीं है, तबतक तुम कैसे ही विद्वान् या मेधावी हो, यों ही भटकते रह जाओगे। सारा शास्त्रज्ञान भी भगवद्भक्ति-विमुखोंके लिये केवल भारमात्र रह जाता है—

मद्भक्तिविमुखानां हि शास्त्रगर्तेषु मुह्यताम्।
न ज्ञानं न च मोक्षः स्यात् तेषां जन्मशतैरपि॥

शास्त्रानुमोदित आचरणके बिना शास्त्रज्ञान निष्फल है

यह बात भगवद्भक्ति-विमुख शास्त्रज्ञोंके लिये है। इससे हम शास्त्रकी अवहेलना नहीं करते। ऐसा शास्त्रज्ञ दूसरोंका कल्याण तो कर सकता है, किंतु स्वयं कोरा ही रह जाता है; जैसे दीपक औरोंको तो प्रकाशित करता है, किंतु उसके नीचे अँधेरा ही रहता है। इस विषयमें विद्वानोंकी भी ऐसी ही सम्मति है कि विद्वान् रागी होनेपर भी दूसरोंका कल्याण कर सकता है, किंतु शास्त्रानभिज्ञ पुरुष विरक्त रहनेपर भी दूसरोंको पथप्रदर्शन नहीं कर सकता। जिसके हाथमें दीपक है, वह स्वयं भले ही अँधेरेमें रहे, परंतु दूसरोंको तो प्रकाश प्रदान कर ही सकता है। इसी प्रकार एक विद्वान् भी जो सब प्रकारके अधिकारियोंके लिये तदनुकूल साधनोंका ज्ञान रखता है, यदि स्वयं आचरण न भी करे तो भी दूसरोंको तो ठीक-ठीक उपदेश कर ही सकता है। ऐसी गाथा भी है कि कहीं कथा होती थी। उसे सुन-सुनकर श्रोता तो कितने ही मुक्त हो गये, परंतु पण्डितजी कथा ही बाँचते रह गये; क्योंकि जबतक शास्त्रानुमोदित आचरण न होगा, तबतक केवल शास्त्रज्ञानसे कोई कल्याणका पात्र नहीं हो सकता। '**आचारहीनं न पुनन्ति वेदा:**' मरणकालमें सारे शास्त्र इसी प्रकार छोड़कर चले जाते हैं, जैसे पत्रहीन वृक्षको पक्षिगण। अत: आत्मकल्याणमें आचरणकी ही प्रधानता है। इसीसे कहा है—

पण्डिता बहवो राजन्बहुज्ञाः संशयच्छिदः।
सदसस्पतयोऽप्येके असन्तोषात् पतन्त्यधः॥

(श्रीमद्भा० ७। १५। २१)

अत: साधन-सम्पन्न प्राणी ही आत्मकल्याण कर सकता है। इसलिये जो शास्त्रज्ञ है, परंतु शास्त्रोक्त धर्मोंमें निष्ठा नहीं रखता, उसके लिये शास्त्र अकिंचित्कर हैं। वह दूसरेके लिये अवश्य आदरणीय है, परंतु उसे स्वयं अपनेपर जुगुप्सा ही करनी चाहिये। उसके प्रति श्रद्धा और सद्भाव रखनेसे दूसरोंका कल्याण अवश्य हो सकता है; भले ही वह स्वयं नरकगामी ही हो। कई पदार्थ ऐसे हैं, जो स्वत: स्वरूपत: पतित हैं, परंतु यदि उनकी विधिवत् सेवा-पूजा की जाय तो अपने उपासकका कल्याण कर सकते हैं। गौ स्वयं पशु है, परंतु अपने भक्तको

गोलोक ले जाती है। अश्वत्थ वृक्ष स्वयं स्थावर है, किंतु अपनी पूजा करनेवालेका कल्याण कर सकता है। इसी प्रकार ब्राह्मण यद्यपि शरीरदृष्टिसे अस्थिमांस एवं चर्मरूप ही है तो भी अपनेमें श्रद्धा रखनेवालेके लिये तो सब प्रकारके मंगलका ही कारण होता है।

ब्राह्मण यदि दुराचारी भी हो तो भी पूजनीय है। श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

पूजिअ बिप्र सील गुन हीना। सूद्र न गुन गन ग्यान प्रबीना॥

(रा०च०मा० ३। ३४। २)

ऐसी ही बात एक स्मृतिमें भी कही गयी है—

दुःशीलोऽपि द्विजः पूज्यः न तु शूद्रो जितेन्द्रियः।
कः परित्यज्य गां दुष्टां दुहेच्छीलवतीं खरीम्॥

भगवान् कृष्ण कहते हैं—

न ब्राह्मणान्मे दयितं रूपमेतच्चतुर्भुजम्।
सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो ह्यहम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ८६। ५४)

यह बात सुशिक्षित और सदाचारसम्पन्न ब्राह्मणोंके लिये ही कही गयी हो, ऐसी बात नहीं है। भगवान्‌का तो यह कथन है कि—

ब्राह्मणो जन्मना श्रेयान् सर्वेषां प्राणिनामिह।
तपसा विद्यया तुष्ट्या किमु मत्कलया युतः॥

(श्रीमद्भा० १०। ८६। ५३)

किंतु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि गुणहीन ब्राह्मण स्वयं भी कल्याणका पात्र हो सकता है। उसे स्वयं तो नरक ही भोगना पड़ेगा। उसकी अपेक्षा तो स्वधर्मनिष्ठ शूद्रकी ही सद्गति होनी अधिक सम्भव है। इसी भावको लक्ष्यमें रखकर श्रीमद्भागवत (७। ९। १०)-में कहा है—

'विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्द-विमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्। मन्ये''''॥'

इस प्रकार श्रीमद्भागवतमें कहीं तो गुणहीन ब्राह्मणको भी सर्वथा पूजनीय बतलाया गया है और कहीं भगवद्भक्तिहीन द्वादश-गुण-विशिष्ट ब्राह्मणकी अपेक्षा भगवच्चरणानुरागी श्वपचकी उत्कृष्टता दिखलायी गयी है। आजकल ब्राह्मण लोग तो प्रशंसापरक वाक्योंको लेकर अपनी पूजनीयताका दावा करते हैं और अब्राह्मण लोग निन्दापरक वाक्योंको लेकर उन्हें नीचा दिखानेका प्रयत्न करते हैं। परंतु बात बिलकुल उल्टी है। वस्तुतः ब्राह्मणोंको तो यह चाहिये कि अपने ब्राह्मणत्वका अभिमान छोड़कर निन्दापरक वाक्योंके अभिप्रायानुसार भगवद्भक्ति और शास्त्रानुमोदित आचरणको ग्रहण करें तथा अब्राह्मणोंको यह उचित है कि ब्राह्मणोंके गुणदोषकी ओर न देखकर ब्राह्मणमात्रमें श्रद्धा रखें; क्योंकि शास्त्रमें जहाँ आचारहीन ब्राह्मणकी निन्दा की गयी है, वह उनके कल्याणकी दृष्टिसे है और जहाँ उनकी प्रशंसा की गयी है, वह ब्राह्मणेतर वर्णोंकी ब्राह्मणमात्रके प्रति श्रद्धा परिपक्व करनेके लिये है।

संसारमें शास्त्रज्ञ होना सरल है, परंतु अपने परम प्रेमास्पद प्रभुको स्वानुकूल कर लेना परम दुर्लभ है। किंतु भूषण यही है। पत्नी बड़ी रूपवती हो और तरह-तरहके वस्त्रालंकारोंसे सुसज्जिता हो, परंतु यह उसका भूषण नहीं है। उसकी वास्तविक शोभा तो इसीमें है कि वह अपने प्राणाधार प्रियतमको अपने अनुकूल बना ले। इसी प्रकार शास्त्रज्ञोंका भूषण भी यही है कि वे परम प्रभु श्रीपरमात्माको अपने अनुकूल कर लें। जहाँ भगवान् रहते हैं, वहीं सारे गुण रहते हैं; अतः यदि भगवान् प्रसन्न हो गये तो मानो सर्वगुणसम्पन्नता प्राप्त हो गयी। इसीसे **'पतीन् शुश्रूषध्वम्'** ऐसा कहा है और इस पतिशुश्रूषाका प्रकार समझनेके लिये **'शुश्रूषध्वं सतीः'** यह कहा है।

यहाँ व्रजांगनाओंके लिये **'सतीः'** शब्दसे क्या विवक्षित होगा? उनके लिये जो भिन्न यूथेश्वरियाँ हैं, वे ही सती हैं। उनकी शुश्रूषा करनेसे ही वे अचिन्त्यानन्दसुधासिन्धु भगवान्‌के सौन्दर्य एवं माधुर्य रसका समास्वादन कर सकेंगी; क्योंकि वे यूथेश्वरियाँ भगवान्‌को स्वाधीन करना जानती हैं। भगवान्‌का यह उपदेश पहले भी है कि यहाँ जो आह्लादिनीशक्तिस्वरूपा श्रीरासेश्वरी हैं, उनके कृपाकटाक्षसे ही यूथेश्वरी व्रजबालाओंको भगवान्‌को स्वाधीन करनेका सामर्थ्य

प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार अन्य गोपांगनाओंको उन यूथेश्वरियोंकी सेवा करनेसे ही उसकी प्राप्ति हो सकती है। अतः उन्हें उन्हींका आश्रय लेना चाहिये।

किंतु इसके लिये व्रजमें जानेकी क्या आवश्यकता थी? इसका कारण बतलाते हैं—

'क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च तान् पाययत दुह्यत॥'

(श्रीमद्भा० १०।२९।२२)

यह ऐसी ही बात है जैसे **'मामनुस्मर युध्य च।'** (गीता ८।७) इधर अपनी प्राप्तिके लिये भगवान् उन्हें यूथेश्वरियोंकी सेवा करनेका आदेश देते हैं और उधर इसके साथ ही बालकोंको दुग्धपान कराने और गोदोहन करनेकी भी आज्ञा दे रहे हैं। इससे सर्वसाधारणके लिये भगवान्‌का यही मत प्रतीत होता है कि उन्हें निरन्तर भगवत्स्मरण करते हुए अपने लौकिक और वैदिक कर्तव्योंका भी यथावत् पालन करते रहना चाहिये। स्त्रियोंके लिये बालकोंको दुग्धपान कराना आदि गृहकृत्य धर्म ही है। जिस प्रकार क्षत्रियोंके लिये युद्ध और वैश्योंके लिये व्यापार कर्तव्य है, उसी प्रकार स्त्रियोंको सब प्रकारके गृहकृत्योंको सुचारु रूपसे सम्पन्न करते रहना चाहिये।

इधर **'क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च तान् पाययत दुह्यत'** इस वाक्यसे अन्य जीवरूप स्त्रियोंके लिये भगवान्‌का यह उपदेश है कि जब तुम मेरी ओर आने लगते हो तो ये अज्ञानी इन्द्रियाधिष्ठाता देवगण अपने पशुको अपने अधिकारसे बाहर जाता देखकर **'क्रन्दन्ति'**—चिल्लाने लगते हैं। ये विघ्न करनेमें समर्थ हैं, इसलिये उस साधकके मार्गमें तरह-तरहके विघ्न उपस्थित कर देते हैं। श्रीमद्भागवत (११।४।१०)-में कहा है—

'त्वां सेवतां सुरकृता बहवोऽन्तरायाः
स्वौको विलङ्घ्य परमं व्रजतां पदं ते।'

देवता लोग नहीं चाहते कि यह प्राणी उनके पंजेसे निकलकर भगवद्धाममें प्रवेश करे। श्रुति भगवती कहती है **'नैतद्देवानां प्रियं यदैतन्मनुष्या विद्युः'** अतः ऐसी परिस्थिति होनेपर ये बालक और वत्सरूप देवगण क्रन्दन करने लगते हैं। बाल अज्ञको कहते हैं। देवता लोग भोगप्रधान हैं, अभोक्ता आत्मतत्त्वमें उनकी गति नहीं है, इसलिये वे **'बाल'** हैं तथा ऐसी पाशविक प्रवृत्तिके कारण ही उन्हें **'वत्साः'** कहा गया है। देवताओंको **'असुर'** भी कहा गया है—**'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।'** (ईशावास्य० ३) **'असु'** शब्दका अर्थ प्राण है; **'असुषु रमन्त इति असुराः'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार देवताओंको असुर कहा गया है, क्योंकि उनकी प्रवृत्ति प्राणादि अनात्माके पोषणमें ही है।

जिस समय देवासुर-संग्राममें देवताओंको विजय प्राप्त हुई तो वे भगवान्‌को भूलकर अभिमानवश उसे अपना ही पुरुषार्थ समझने लगे। वे इस बातको भूल गये कि हमारे देह, इन्द्रिय एवं अन्तःकरण आदि सभी जड़ हैं। सर्वान्तर्यामी श्रीहरिकी प्रेरणाके बिना उनमें कुछ भी गति नहीं हो सकती।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

(गीता १८।६१)

इस प्रकार देवताओंको मोहवश असुरभावको प्राप्त होते देखकर भगवान्‌ने उनका मानमर्दन किया और तब उनकी आँखें खुलीं।

परंतु देवताओंका यह असुरत्व सापेक्ष है। जो लोग जगन्मोहिनी मायाके अधिकारको पार कर गये हैं, जिनका बुद्‌ध्यादिमें आत्मत्वाभिनिवेश सर्वथा गलित हो गया है और जिन्हें निखिल प्रपंच अपने स्वरूपभूत चिदाकाशमें प्रतीत होते हुए तलमालिन्यके समान सर्वथा असत् अनुभव होता है, उन तत्त्वनिष्ठ जीवन्मुक्तोंकी अपेक्षासे ही वे **'असुर'** हैं। अन्य मनुष्यों एवं असुरोंकी अपेक्षा तो वे **'सुर'** ही हैं।

वस्तुतः सारा विवाद व्यष्टि-अभिमानमें ही है। व्यष्टि-अभिमानके कारण ही जीव अपनेको पण्डित, बुद्धिमान्, ऐश्वर्यशाली, सुखी, दुःखी अथवा अशक्त समझता है। यदि इस परिच्छिन्नत्वाभिमानको छोड़कर समष्टिमें आत्मबुद्धि हो जाय तो फिर कोई विवाद

हमें सृष्टि-प्रतिपादक वाक्योंका सीधा-सादा अर्थ छोड़कर ब्रह्ममें ही तात्पर्य मानना पड़ेगा।

अत: हे श्रुतियो! तुम इधर परब्रह्मके प्रतिपादनका प्रयत्न क्यों करती हो? जाओ साध्यसाधनरूप प्रपंचका ही प्रतिपादन करो। इसमें विशेष आयास भी नहीं है। देखो, '**कदाचनस्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे**' यह श्रुति स्पष्टतया इन्द्रका ही प्रतिपादन करती है; इसी प्रकार कोई श्रुति पुरोडाशकी स्तुति करती है; जैसे—'**स्योनं ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि, तस्मिन् सीद अमृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेध सुमनस्यमानः।**'

श्रुतियोंका जो शब्दार्थ होता है, वह आपाततः ही प्रतीत हो जाता है—'**औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः**' इस वाक्यके अनुसार शब्द और अर्थका सम्बन्ध स्वाभाविक है। अत: जिन इन्द्र, वरुण, वायु आदि देवताओंका श्रुतियाँ आपाततः प्रतिपादन कर रही हैं, वे ही श्रुतियोंके पति हैं, उन्हींकी तुम सेवा करो; परपुरुषरूप निर्विशेष ब्रह्मका आश्रय मत लो।

यहाँ जो '**सतीः**' शब्दमें द्वितीया है, वह प्रथमाके अर्थमें है। इसका तात्पर्य यह है कि '**पतीन् शुश्रूषध्वं यस्माद्यूयं सत्यः**'—तुम पतियों (अपने प्रतिपाद्य देवताओं)-की सेवा करो; क्योंकि तुम सती हो और यदि '**सतीः**' शब्दको द्वितीयान्त ही माना जाय तो इस वाक्यका अर्थ होगा—'सतियोंकी सेवा करो'। सतियाँ वे श्रुतियाँ हैं, जो अपने प्रतिपाद्य देवताओंका ही प्रतिपादन करती हैं, परब्रह्मतक नहीं दौड़तीं। तुम उन्हींका अनुगमन करो; क्योंकि मीमांसकोंका जबरदस्त आग्रह है कि '**आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्**' अर्थात् 'वेद क्रियार्थ है, इसलिये जो वाक्य क्रियार्थ नहीं हैं, उनका कोई प्रयोजन नहीं है।'

मीमांसकोंका मत है कि विधि-निषेधरूपसे क्रियापरक होनेपर ही वाक्यकी सार्थकता है। विधि-वाक्य इष्टप्राप्तिका उपदेश करनेके कारण सार्थक है; जैसे—'**ज्वरितः सन् पथ्यमश्नीयात्**' (ज्वरग्रस्त होनेपर पथ्य भोजन करे), इसी प्रकार '**अग्निहोत्रं जुहुयात्**', '**स्वर्गकामो यजेत्**' आदि वाक्योंकी अर्थवत्ता है तथा निषेधवाक्य अनिष्ट-परिहारका उपाय उपदेश करनेके कारण सार्थक है, जैसे—'**सर्पाय अङ्गुलिं न दद्यात्**' (सर्पको अंगुली मत पकड़ाओ)। इसी प्रकार '**ब्राह्मणो न हन्तव्यः**' आदि वाक्य समझने चाहिये। परंतु 'यह राजा जाता है', 'पृथ्वी सात द्वीपोंवाली है' इत्यादि सिद्ध-वस्तु-प्रतिपादक वाक्य और '**वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता**' (वायु शीघ्रगामी देवता है) इत्यादि अर्थवाद किसी क्रियामें उपयोगी न होनेके कारण व्यर्थ हैं।

जो हितका उपदेश करे, वह शास्त्र है

अब यहाँ सन्देह किया जा सकता है कि अर्थवादको सार्थक न माननेपर तो उसका शास्त्रत्व ही सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि '**शिष्यते हितमुपदिश्यतेऽनेन इति शास्त्रम्**' इस लक्षणके अनुसार शास्त्र उसीको कहते हैं, जो हितका उपदेश करता है; जिस उक्तिका कोई प्रयोजन नहीं होता, उसे शास्त्र नहीं कहा जा सकता, वह तो उन्मत्तप्रलापवत् उपेक्षणीय ही होती है। वाचस्पतिमिश्रका कथन है—'**प्रतिपित्सितं त्वर्थं प्रतिपादयन् प्रतिपादयितावधेयवचनो भवति। अप्रतिपित्सितन्तु प्रतिपादयन्नायं लौकिको नापि पारीक्षक इत्युन्मत्तवदुपेक्ष्यः स्यात्।**' किंतु वस्तुतः अर्थवादका अशास्त्रत्व माना नहीं गया; क्योंकि '**स्वाध्यायोऽध्येतव्यः**' इस विधिसे स्वाध्यायपदवाच्य समस्त वेदराशिका [आचार्य-परस्परासे] अध्ययन करनेका विधान किया गया है। समस्त वेदराशिके अन्तर्गत तो अर्थवाद भी है ही और गुरुपरम्परापूर्वक वेदाध्ययनका '**घृतकुल्या पयःकुल्यादि**' की प्राप्तिरूप अदृष्ट फल भी बतलाया गया है। इसके सिवा श्रौतसूत्रकार कर्काचार्यजी भी कहते हैं कि '**वेदे मात्रामात्रस्याप्यानर्थक्यं न वक्तुं शक्यम्**' अर्थात् वेदमें एक मात्राकी व्यर्थता नहीं बतलायी जा सकती। अत: मीमांसकको अर्थवादकी सार्थकता अवश्य बतलानी चाहिये।

मीमांसक कह सकता है कि विधिके साथ एकवाक्यतापन्न होकर विधिविहित अर्थकी स्तुति करनेमें अर्थवादका उपयोग होता है; इसी तरह ये सार्थक हो सकते हैं। किंतु वेदाध्ययनसे घृतकुल्या, पयःकुल्या आदि अदृष्ट फलकी कल्पना करनेकी क्या आवश्यकता है? इससे तो वेदार्थज्ञानरूप दृष्ट फल ही प्राप्त हो जाता है और दृष्ट फलके रहते हुए अदृष्ट फलकी कल्पना करना व्यर्थ है।

इसपर शंका होती है कि यदि ऐसी बात है तो वेदार्थ-ज्ञान स्वतन्त्रतासे स्वयं वेदाध्ययन कर लेनेसे ही हो सकता है; उसके लिये '**स्वाध्यायोऽध्येतव्यः**' इस वाक्यसे आचार्यपरम्परापूर्वक अध्ययन करनेकी ही विधि क्यों की गयी है?

उत्तरमें कहा जा सकता है कि गुरुपरम्परापूर्वक अध्ययन करनेसे वेद संस्कृत होता है और संस्कृत वेद ही यज्ञ-यागादिमें उपयोगी है। इसलिये यह विधि सार्थक है। वेदाध्ययनसे वेदार्थ-ज्ञानकी निष्पत्ति तो अन्वय-व्यतिरेकसे स्वतः सिद्ध है। जिस प्रकार भोजन करनेवाले पुरुषको तृप्ति हो ही जाती है, उसी प्रकार जो कोई वेदाध्ययन करेगा, उसे वेदार्थज्ञान होगा ही। इसमें विधि की आवश्यकता नहीं है। विधिकी सार्थकता अप्राप्त विषयका प्रतिपादन करनेमें ही होती है। जिस प्रकार तण्डुलनिष्पत्ति नखविदलनसे भी हो सकती है और मुसलावहननसे भी। किंतु यागादिमें मुसलावहनन ही करना चाहिये; इसीलिये '**व्रीहीनवहन्ति**' यह विधि की गयी है। इसका फल अदृष्ट होता है। इसी प्रकार वेदार्थका ज्ञान गुरुसे अध्ययन करनेपर भी हो सकता है और व्युत्पन्नमति पुरुषोंको स्वयं अपने बुद्धिबलसे भी हो सकता है। इसीसे यह विधि की गयी है कि '**स्वाध्यायोऽध्येतव्यः**' अर्थात् गुरुपरम्परासे ही अध्ययन करना चाहिये। इसीसे वेदाध्ययन सार्थक होगा। वेदाध्ययनसे वेदार्थका ज्ञान होगा, तब वेदार्थका अनुष्ठान किया जायगा और उससे स्वर्गादिकी प्राप्ति होगी। इस प्रकार दृष्ट फलके साथ वह अदृष्ट फलका भी जनक होगा।

'**आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्**' इस सूत्रके अनुसार अर्थवादकी सार्थकता न होनेसे अर्थवाद उत्तप्त हो रहा है और इसी प्रकार विधि भी उत्तप्त है; क्योंकि स्वभावतः विधिमें लोगोंकी प्रवृत्ति नहीं होती। उसमें प्रवृत्ति होनेके लिये उसकी स्तुतिकी आवश्यकता है।

पहले यह पद्धति थी कि बड़े-बड़े राजा लोग सभाएँ कराया करते थे। उनमें शास्त्रार्थ होता था। वहाँ जो विद्वान् विजयी होता था, उसका बहुत आदर-सत्कार किया जाता था। उस सम्मानके प्रलोभनसे ही विद्वान् लोग न्याय, मीमांसा आदि शुष्क विषयोंका भी अध्ययन करते थे। इस प्रकार जिस कर्मकी महत्ता सत्पुरुषोंमें प्रसिद्ध होती है, उसीमें लोगोंकी प्रवृत्ति हुआ करती है। वैदिक एवं स्मार्त कर्मोंमें भी लोगोंकी तभी प्रवृत्ति हो सकती है, जब लोग उन कर्मोंको करनेवालोंका आदर करें। ऐसा तो कोई विरला ही विद्वान् होता है, जो आदर आदिकी अपेक्षा न रखकर कर्तव्य-बुद्धिसे ही शास्त्र-रक्षा करे। यह बात अवश्य है कि ऐसे महानुभावोंका भी सर्वथा अभाव नहीं है। इस समय यद्यपि अश्वमेध, राजसूय एवं अग्निष्टोम आदि यज्ञोंको कोई नहीं पूछता तो भी ऐसे भी ब्राह्मण हैं, जिन्होंने शुष्क इष्टियोंद्वारा अश्वमेधादि कृत्योंका अभ्यास किया है और आवश्यकता पड़नेपर वे उनका अनुष्ठान करा सकते हैं।

शास्त्र कह रहे हैं—'**अहरहः सन्ध्यामुपासीत**', '**अग्निहोत्रं जुहुयात्**', '**स्वाध्यायोऽध्येतव्यः**।' किंतु इन विधिवाक्योंसे प्रेरित होकर आज कितने आदमी उनका पालन करते हैं? किंतु जनतामें हरिनाम-संकीर्तनकी थोड़ी-सी महिमा प्रसिद्ध होनेके कारण उसका प्रचार दिनों-दिन बढ़ रहा है। इससे सिद्ध हुआ कि विधिमें प्रवृत्ति होनेके लिये उसकी स्तुतिकी आवश्यकता है। अतः इधर अर्थवाद अपनी सार्थकताके लिये और विधि अपनेमें प्रवृत्ति होनेके लिये उत्तप्त

थे, उन्होंने '**नष्टाश्वरथदग्धन्याय**'* से परस्पर एक-दूसरेकी कार्यसिद्धि की। अर्थवादने विधिकी स्तुति करके विधिमें रुचि उत्पन्न की और विधिने अर्थवादको अपने फलसे फलवान् बना दिया।

इसी प्रकार मन्त्रोंकी सार्थकताके विषयमें भी प्रश्न होनेपर उनका उपयोग द्रव्य और देवताओंके स्मारक होनेमें है, यह समाधान किया जाता है।

इस तरह विधि, निषेध, अर्थवाद और मन्त्र—इन सभीका प्रामाण्य क्रियापरत्वेन ही है। इसीसे भगवान् श्रुतिस्वरूपा व्रजांगनाओंसे कहते हैं कि अपने प्रामाण्यके लिये तुम अपने समुदायका ही अनुगमन करो। जिस प्रकार तुम्हारा समुदाय क्रियापरक है, उसी प्रकार तुम भी क्रियापरक हो जाओ, शुद्ध चैतन्यरूप सिद्ध वस्तुका प्रतिपादन मत करो।

यदि कहा जाय कि हमारा अप्रामाण्य हो जाने दो तो ऐसा कथन भी ठीक नहीं; क्योंकि तुम सती—अपौरुषेय होनेसे सर्वदोष-विवर्जित हो, तुम्हें मीमांसकोंका संग छोड़ना उचित नहीं है। कुछ '**द्यावाभूमी जनयन् देव एकः**' (यजु० १७। १९) इत्यादि श्रुतियाँ कह सकती हैं कि मीमांसक तो हमारे स्वार्थका ही अपलाप करते हैं, क्योंकि वे हमारे सर्वस्व परब्रह्मकी सत्ता ही स्वीकार नहीं करते, फिर हमीं उनकी अपेक्षा क्यों करें? परंतु यह विचार ठीक नहीं है। मीमांसक जो ईश्वरका खण्डन करते हैं, वे केवल वेदनिर्मातृत्वेन उसे स्वीकार नहीं करते; क्योंकि नैयायिकोंके मतानुसार अनुमानसिद्ध सर्वज्ञ ईश्वरकृत होनेके कारण वेदोंका प्रामाण्य है और इधर ईश्वरके सर्वज्ञत्वका ज्ञान भी वेदसे ही होता है। इस प्रकार वेद और ईश्वर इन दोनोंमें अन्योन्याश्रय दोषकी प्राप्ति होती है। इसके सिवा एक दोष यह भी है कि जिन युक्तियोंसे अनुमान करके नैयायिक वेदनिर्माता ईश्वरका सर्वज्ञत्व सिद्ध करते हैं, उन्हीं युक्तियोंसे बौद्ध, ईसाई और यवन लोग अपने धर्मग्रन्थोंके निर्माताओंको सर्वज्ञ सिद्ध कर सकते हैं। वेदान्त-दर्शनके मतमें भी ईश्वरकी सिद्धि अनुमानसे नहीं, बल्कि शास्त्रसे ही होती है; जैसा कि '**शास्त्रयोनित्वात्**' (वेदान्त-दर्शन १। १। ३), '**तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि**', (बृहदारण्यक० ३। ९। २६) एवं '**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः**' (गीता १५। १५) इत्यादि वाक्योंसे सिद्ध होता है।

वेदोंकी अपौरुषेयता

इसीसे शास्त्ररक्षकका आदर भगवान् भी करते हैं। वे कहते हैं—'**विप्रप्रसादाद्धरणीधरोऽहम्।**' अतः मीमांसक लोग वेदका प्रामाण्य ईश्वरकृत होनेके कारण नहीं मानते। बल्कि अपौरुषेय होनेके कारण मानते हैं। इसीसे उन्होंने जो ईश्वरका खण्डन किया है। वह इसीलिये है कि उन्हें ईश्वरनिर्मितत्वेन वेदका प्रामाण्य इष्ट नहीं है। वह स्वतःप्रमाण है।

उत्तरमीमांसा और पूर्वमीमांसाका यह सिद्धान्त है कि प्रमाण स्वतःप्रमाण हुआ करता है; उसका अप्रामाण्य परतः होता है। यदि प्रमाणका प्रामाण्य परतः माना जायगा तो जिस प्रमाणसे उसका प्रामाण्य सिद्ध किया जायगा, उसके प्रामाण्यकी सिद्धिके लिये किसी तीसरे प्रमाणकी अपेक्षा होगी और उनके प्रामाण्यके लिये चौथे प्रमाणकी आवश्यकता होगी। इस प्रकार अनवस्थाका प्रसंग उपस्थित हो जायगा। वेदातिरिक्त अन्य ग्रन्थोंका भी प्रामाण्य तो स्वतः सिद्ध है, किंतु पौरुषेय और सादि होनेके कारण उनका अप्रामाण्य परतः है। उनका पौरुषेयत्व और सादित्व तो उन्हींसे सिद्ध होता है। कोई भी पुरुष सर्वज्ञ नहीं हो सकता; अन्यथा अनेक सर्वज्ञ मानने पड़ेंगे। यदि अनेक सर्वज्ञ माने जायँ तो उनके कथनमें विरोध नहीं होना चाहिये। परंतु ऐसी बात है नहीं; जीवमात्रमें अल्पज्ञत्व, सातिशयत्व और करणापाटव आदि दोष रहते ही हैं। इसलिये उनके रचे हुए ग्रन्थ भी प्रामाणिक नहीं हो सकते।

* दो राजा वनमें गये हुए थे। उनमेंसे एकका घोड़ा मर गया और दूसरेका रथ नष्ट हो गया। वे आपसमें मिल गये। उनमेंसे एकने अपना रथ दिया और दूसरेने घोड़ा। इस प्रकार परस्पर मिलकर वे उस वनसे निकलकर सकुशल नगरमें पहुँच गये। इसे 'नष्टाश्वरथदग्धन्याय' कहते हैं।

जिस प्रकार अन्य ग्रन्थोंका पौरुषेयत्व प्रदर्शित किया जा सकता है, उस प्रकार वेदका पौरुषेयत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। यदि पूछा जाय कि इसमें प्रमाण क्या है? तो परोक्ष वस्तुके अभावमें तो प्रमाणाभाव ही पर्याप्त प्रमाण होता है। हम तो वेदके कर्ताका अभाव बतला रहे हैं, अत: उसके लिये किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है। कहा जा सकता है कि ऐसे भी कितने ही ग्रन्थ हैं कि जिनके कर्ताका ज्ञान नहीं है; तो क्या उन्हें भी अपौरुषेय ही मानना चाहिये? इसमें हमारा कथन यह है कि उन ग्रन्थोंकी सम्प्रदाय-परम्पराका विच्छेद देखा जाता है, इसलिये वे अपौरुषेय नहीं हो सकते। किंतु वेदोंकी सम्प्रदाय-परम्पराका विच्छेद नहीं हुआ; क्योंकि उसके विच्छेदमें कोई प्रमाण नहीं है।

यदि कहा जाय कि कहीं-कहीं वेदोंकी उत्पत्ति भी तो सुनी जाती है; जैसे—'**अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः**' (बृहदारण्यक० २।४।१०) इत्यादि वाक्योंसे ज्ञात होता है। यह कथन ठीक है, किंतु इसके साथ ही '**वाचा विरूप नित्यया**', '**अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा**' आदि वाक्योंसे उनका नित्यत्व भी प्रमाणित होता है। अत: इन दोनों प्रकारके वाक्योंकी एकवाक्यता होनी चाहिये। इनका अभिप्राय केवल यही है कि पूर्व कल्पकी आनुपूर्वीके समान इस कल्पके आरम्भमें भी भगवान् स्वयम्भूसे उसी आनुपूर्वीके अनुस्मरणपूर्वक वेदोंका आविर्भाव हुआ।

इसीसे भगवान् कहते हैं कि तुम अपने समुदायमें जाओ, क्योंकि मीमांसक भी परमब्रह्म परमात्माका खण्डन नहीं करते। वे केवल न्यायप्रतिपादित अनुमानसिद्ध सर्वज्ञ ईश्वरको स्वीकार नहीं करते, अपौरुषेय वेदप्रतिपादित सर्वज्ञ ईश्वरका खण्डन वे कभी नहीं करते। कर्मफल देनेवाला या कर्ममें देवतादिरूपसे ईश्वर उन्हें भी मान्य है ही, परंतु तुम स्वतन्त्र विधि निरपेक्ष अद्वैत ब्रह्ममें मत आसक्त हो।

अत: तुम साध्यसाधनमय प्रपंचका ही प्रतिपादन करो, निर्विशेष परब्रह्मका प्रतिपादन करनेका प्रयत्न मत करो। इसमें '**मा चिरम्**'—देरी भी नहीं होगी। इसलिये '**शुश्रूषध्वं पतीन्**'—अपने-अपने प्रतिपाद्य देवताओंका ही प्रतिपादन करो।

समस्त जीवोंके अधिष्ठान साक्षात् परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ही हैं

यह सुनकर मानो श्रुतियोंको यह सन्देह हुआ कि यदि हम अनन्त परब्रह्मका ही प्रतिपादन करेंगी तो अन्य देवता तो उसीमें आ जायँगे; क्योंकि वे भी तो ब्रह्मसे अभिन्न ही हैं। यह नियम है कि कार्यगत सत्ता कारणमें ही रहती है, अत: समस्त कार्यका पर्यवसान कारणमें ही होता है। जिस प्रकार मृत्तिकाका प्रतिपादनकर देनेपर घटादिका भी प्रतिपादन हो ही जाता है, उसी प्रकार सबके अधिष्ठानभूत परब्रह्मका प्रतिपादन करनेपर अवान्तर देवताओंका प्रतिपादन भी हो ही जाता है। वास्तवमें तो सत्तामात्र शुद्ध ब्रह्म ही सम्पूर्ण शब्दोंका वाच्य है; क्योंकि यह निखिल प्रपंच उसीसे तो उत्पन्न हुआ है—'**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः।**' (तैत्तिरीय० २।१) अत: यह ब्रह्मरूप ही है।

इसलिये यदि व्रजांगनाएँ अपने प्राकृत पतियोंको छोड़कर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके पास गयीं तो उनका पातिव्रत भंग नहीं हुआ, क्योंकि—

गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक्॥

(श्रीमद्भा० १०।३३।३६)

जिस प्रकार तरंग समुद्रसे भिन्न नहीं होती, इसलिये यदि एक तरंगके साथ दूसरी तरंगका सम्बन्ध है तो वस्तुत: वह सम्बन्ध समुद्रके ही साथ है; क्योंकि वही समस्त तरंगोंका अधिष्ठान है, इसी प्रकार समस्त जीवोंके अधिष्ठान साक्षात् परब्रह्म भगवान् कृष्णचन्द्र ही हैं। अत: श्रुतियोंको यह विचार हुआ कि यदि हम परब्रह्मका ही प्रतिपादन करेंगी तो भी हमारा पातिव्रत भंग नहीं होगा।

इसपर भगवान् कहते हैं—'सच है, मेरे साथ

सम्बन्ध करनेसे तुम्हारा पातिव्रत तो भंग नहीं होगा तथापि **'क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च'** (श्रीमद्भा० १०।२९।२२)—ये बालक और बछड़े तो रो रहे हैं। इसपर दया करनी चाहिये। ये अज्ञानी हैं, अपने अधिष्ठानभूत मुझ परब्रह्मको नहीं जानते, इसलिये बाल हैं तथा इनकी प्रवृत्ति अनात्म पदार्थोंमें है, इस पाशविक प्रवृत्तिके ही कारण ये वत्स हैं। तुम्हें चाहिये कि इनपर दया करके इन्हें इनके इष्ट पदार्थ सोमादिका प्रदान करो।'

यदि विचार किया जाय तो उपास्य-उपासनाका पर्यवसान तो प्रेमातिशयमें होता है। उसके लिये उपासना साधन है। 'भक्ति' शब्दके भी दो अर्थ हैं—**'भज्यते सेव्यते भगवदाकारमन्तःकरणं क्रियतेऽनया सा भक्तिः'** अर्थात् जिसके द्वारा भगवदाकार वृत्ति की जाय उसे भक्ति कहते हैं और दूसरा **'भजनं भक्तिः'** भगवदाकार वृत्ति ही भक्ति है। इस प्रकार भक्ति साध्य भी है और साधन भी। इस प्रकार 'उपासना' शब्दका भी तात्पर्य यह है—**'लक्ष्यमुपेत्य यद्दीर्घकालं नैरन्तर्येणादरपूर्वकमासनं तदुपासनम्'** अर्थात् अपने लक्ष्यतक पहुँचकर जो दीर्घ कालतक अव्यवहित रूपसे उसकी सन्निधिमें रहता है, उसका नाम उपासना है। इस तरह यदि हम अपने ध्येयका दीर्घकालतक सेवन करेंगे तो उसके प्रति हमारे हृदयमें राग उत्पन्न होगा।

'ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।'

(गीता २।६२)

भगवान्‌की इस उक्तिके अनुसार यदि हम विषय-चिन्तन करते-करते विषयासक्त हो जाते हैं तो दीर्घकालतक भगवच्चिन्तन करनेपर उनमें भी हमारा राग हो ही जाना चाहिये। प्रेम आरम्भमें ही नहीं होता; वह तो दीर्घकालतक सत्कारपूर्वक अपने प्रियतमका निरन्तर चिन्तन करते रहनेपर ही होता है। जिस समय भगवान्‌में हमारा प्रेम होगा, उस समय हमें उनकी प्राप्तिकी उत्कट अभिलाषा हो जायगी।

प्रेमकी अभिवृद्धि प्रेमास्पदमें ही होती है

एक बात और ध्यान देनेकी है, प्रेमकी अभिवृद्धि प्रेमास्पदमें ही हुआ करती है। जो प्रेम करनेयोग्य नहीं होता, उसका दीर्घकालतक चिन्तन किया जाय, तब भी उसमें प्रेम नहीं हो सकता। व्याघ्र और सर्पादिका जन्मभर चिन्तन करते रहो, उनमें प्रेम कभी नहीं होगा। उनमें तो द्वेषकी ही वृद्धि होगी, प्रेम तो प्रेमास्पदमें ही हो सकता है। चिन्तनसे केवल योग्यता मिलती है। प्रेमास्पदका चिन्तन करनेसे प्रेम बढ़ता है और द्वेषका चिन्तन करनेसे द्वेषकी वृद्धि होती है। विषय भी सुखके साधन हैं, इसलिये उनमें भी प्रेम हो जाया करता है। प्रेम दोमें ही होता है—सुखमें तथा सुखके साधनमें। सुखके साधनमें जो प्रेम होता है वह स्थायी नहीं होता, जबतक वह पदार्थ सुखप्रद रहता है, तभीतक उसमें प्रेम रहता है। देखो, जल तभीतक प्रिय लगता है, जबतक हमें तृषा रहती है। परंतु सुख तो सदा ही प्रेमास्पद है। अतः निरतिशय प्रेम सुखमें ही हो सकता। केवल सुखस्वरूप तो एकमात्र श्रीभगवान् ही हैं, इसलिये हमें उन्हींमें प्रेम करना चाहिये। प्रेमके इन दो भेदोंको शास्त्रमें सोपाधिक और निरुपाधिक प्रेम भी कहा है।

प्रेमके विषयमें यह नियम है कि अत्यन्त नीच परिस्थितिमें रहनेवाला पुरुष भी उसीको अधिकाधिक प्रेमास्पद समझता है, जो जितना उसका अधिक आन्तरिक होता है। जो देहात्मवादी हैं, जिन्हें विविध प्रकारके सौख्योपभोग ही इष्ट हैं, उनका प्रेम भी आधिकाधिक अन्तरंगमें ही होता है। देखिये, पुत्रादिकी अपेक्षा शरीर अधिक प्रिय है, शरीरकी अपेक्षा मन अधिक प्रिय है; इसीसे मन उद्विग्न होनेपर उसे शान्त करनेके लिये आत्मघाततक कर लेते हैं। मन भी जब चंचलताके कारण अशान्तिका हेतु दिखायी देने लगता है तो उसके भी नाशका प्रयत्न किया जाता है। यहाँतक कि अन्तमें अभ्यासी लोग बुद्धिका भी निरोध करते हैं। इससे ज्ञात होता है कि जो बुद्धिसे लेकर स्थूल प्रपंचपर्यन्त सम्पूर्ण दृश्यवर्गका प्रकाशक है, वह सर्वान्तरतम आत्मा ही निरुपाधिक परमप्रेमका आस्पद है। हमारा परमाराध्य प्रभु बहिरंग नहीं है। वेद-शास्त्र

उसे सबका अन्तरात्मा कहकर प्रतिपादन करते हैं, अतः जो लोग भगवान्‌को बहिरंग समझते हैं, वे वस्तुतः उपासनाका रहस्य नहीं जानते। वह तो सर्वान्तरतम है। संसारके सारे पदार्थोंका वियोग हो सकता है, किंतु भगवान्‌का वियोग कभी नहीं हो सकता; वह तो हमारा परम सखा है। श्रुति कहती है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

(मुण्डक० ३।१।१)

वैष्णव आचार्योंका मत है कि जिस समय जीव ब्रह्मलोकको जाता है—जिन्हें कि वे वैकुण्ठ, गोलोक, साकेत तथा नित्य वृन्दावन आदि नामोंसे पुकारते हैं—उस समय उसे लिंग शरीर छोड़ देना पड़ता है। ब्रह्मलोकको वे शबल ब्रह्मका धाम नहीं मानते। वे उसे शुद्ध चिदानन्दघन भगवान्‌का चिन्मय धाम मानते हैं। अतः वहाँ जो जीव जाते हैं, वे विरजा नदीमें स्नान करनेपर अपना लिंग शरीर त्याग देते हैं। इस प्रकार लिंग शरीरका तो हमसे वियोग हो जाता है, किंतु भगवान्‌का वियोग कभी नहीं होता।

अतः भगवान् हमारे नित्य सखा हैं। किंतु मैत्री सर्वदा समान और सजातीय व्यक्तियोंमें ही हुआ करती है। अतः जिस प्रकार भगवान् 'सच्चिदानन्द दिनेश' हैं, उसी प्रकार जीव भी ***'चेतन अमल सहज सुखरासी'*** (रा०च०मा० ७।११७।२) है। इसलिये जो उनके स्वभावमें भेद मानते हैं, वे ठीक-ठीक नहीं जानते। भगवान् तभी जीवके परमप्रेमास्पद हो सकते हैं, जब कि जीवको उनका नित्य सम्बन्धी माना जाय। अतः उपासनाका ठीक रहस्य वही जानता है, जिसे उपास्य और उपासकके अभेदका निश्चय है। अन्यथा—

'अन्योऽसावन्योऽहमस्मि न स वेद यथा पशुः।'

जो ऐसे अनभिज्ञ लोग हैं, वे ही सर्वमिथ्यात्व निश्चयको सुनकर '**क्रन्दति**'—रोते हैं। वे अनभिज्ञ कर्मठ कहे जाते हैं। जो भगवत्प्राप्तिके लिये भगवदर्थ कर्म करते हैं, वे परम विवेकी हैं। ऐसा कर्म करनेके लिये तो भगवान् स्वयं आज्ञा दे रहे हैं—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(गीता ११।५५; ९।२७)

कर्मजड़ तो वे हैं, जो ऐहिकामुष्मिक भोगोंको ही परमपुरुषार्थ मानकर उन्हींकी प्राप्तिके लिये सारे कर्म-धर्म करते हैं। उनके विषयमें भगवान् कहते हैं—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

(गीता २।४२; १६।२०)

वे लोग वेदके अर्थवादमें ही आसक्त रहते हैं। वे ही श्रुतियोंका ब्रह्मपरत्व सुनकर घबराते हैं। वे अभयमें भय देखते हैं। भगवान् गौड़पादाचार्य कहते हैं—

अस्पर्शयोगो नामैष दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः॥

(पंचदशी २।२९)

जो वस्तुतः भगवत्तत्त्वके रहस्यज्ञ हैं, वे तो यह सब देखकर उलटे प्रसन्न होते हैं। वे जानते हैं कि यदि वापी-कूपादि समुद्रमें एकीभावको प्राप्त हो जायँ तो उनकी अपेक्षा नहीं रहती। इसी प्रकार अचिन्त्यानन्द सुधासिन्धु श्रीभगवान् ही तो सारे सुखके अधिष्ठान हैं; यदि उनमें हमारे सारे क्षुद्र सुख समा जाते हैं तो आनन्द ही है।

जो लोग विषयासक्त हैं, जो '**यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्ये**' इस सिद्धान्तके माननेवाले हैं। वे ही '**नेह नानास्ति किञ्चन।**' (कठ० २।१।११) इस सिद्धान्तको सुनकर रोते हैं। उन्हींके लिये कहा है—

'क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च।'

(श्रीमद्भा० १०।२९।२२)

अतः तुम प्रपंचका सत्यत्व प्रतिपादन करके

उन्हें ही तृप्त करो और उनके लिये अभीष्ट फलरूप दुग्ध दुहो। यह उनके प्रति तुम्हारी करुणा होगी। यद्यपि परब्रह्मकी ही उपासना करनेसे तुम्हारा पातिव्रत भग्न नहीं होगा; क्योंकि—'**तमेतं**…**ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन**' (बृहदारण्यक० ४।४।२२)इस श्रुतिके अनुसार विचारवानोंके सारे जप-तपका परम लाभ ब्रह्मज्ञान ही है; तथापि दया तो करनी ही चाहिये। महानुभाव तो सर्वदा '**सर्वभूतहिते रताः**' (गीता ५।२५; १२।४) ही हुआ करते हैं; अतः तुम भी उन्हें अभीष्ट वस्तु देकर उनका आप्यायन करो।

परमात्मप्रभुका आश्रय लेनेसे प्रपंचकी सहज ही निवृत्ति हो जाती है

इस श्लोकका तात्पर्य यह भी हो सकता है कि समस्त प्राणियोंकी बुद्धियाँ ही व्रजांगनाएँ हैं और भगवान् कृष्ण उनके साक्षी हैं। अतः '**तद्यात गोष्ठं मा**' ऐसा पदच्छेद करके यह तात्पर्य समझना चाहिये कि अब तुम गोष्ठको मत जाओ अर्थात् साध्यसाधनात्मक प्रपंचका प्रतिपादन मत करो, बल्कि '**शुश्रूषध्वं पतीन्।**' यहाँ '**पतीन्**' इस पदमें बहुवचन गौरवार्थ है अर्थात् उपक्रम, उपसंहार, अपूर्वता आदि षड्विध लिंगोंसे मेरेमें ही अपना तात्पर्य निश्चय करो। '**त्रैगुण्यविषया वेदा**' (गीता २।४५) यह भगवान्‌का कथन अविवेकियोंकी ही दृष्टिसे है। विचारवानोंका तो यही कथन है कि '**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो**…।' (गीता १५।१५)अतः त्रिगुणमय संसारके साथ संसर्ग करना ही अमंगल है। परब्रह्म परमात्माका अनुस्मरण ही एकमात्र कल्याणका मूल है। अतः श्रुति प्रपंचपरक है—ऐसा प्रसिद्ध होनेसे तुम कलंकित हो जाओगी और यदि त्रिगुणातीत शुद्ध परब्रह्मका प्रतिपादन करोगी तो तुम भी गुणातीत हो जाओगी और इससे तुम्हें महत्ता प्राप्त होगी।

परंतु यह होगा कैसे? इसके लिये तुम '**शुश्रूषध्वं सतीः**' अर्थात् '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' (तैत्तिरीय० २।१) आदि जो श्रुतियाँ परब्रह्मका प्रतिपादन करती हैं, उन्हींके सिद्धान्तका अनुसरण करो।

यहाँ अपनेमें बुद्धियोंका निश्चय दृढ़ करना है; इसलिये मानो बुद्धियोंके प्रति भगवान् कहते हैं कि '**पतीन् शुश्रूषध्वम्**' यहाँ उपाधिभेदके कारण बुद्धियोंके अनेक पति उपपन्न हो सकते हैं। बुद्धि स्वभावसे ही नामरूपात्मक दृश्यकी ओर जाती है। इसीसे भगवान् कहते हैं—'**तद्यात मा चिरं गोष्ठम्**' अर्थात् अब तुम और अधिक काल दृश्यकी ओर मत जाओ। बल्कि दृश्यकी ओरसे निवृत्त होकर अपने अवभासक समस्त बुद्धियोंके साक्षी सर्वान्तर्यामी परब्रह्मका ही चिन्तन करो। परंतु ऐसा कोई-कोई ही कर पाता है; क्योंकि—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभू-
स्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
(कठ० २।१।१)

इसलिये—

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥
(कठ० २।१।१)

अहा! भगवान्‌का वह सौन्दर्यसुधासिन्धु कितना महान् है। भगवत्पाद भगवान् शंकराचार्य प्रबोधसुधाकरमें लिखते हैं—'अरी बुद्धि, तू तराजूके एक पलड़ेमें सारे संसारका सुख और दूसरेमें परमानन्दकन्द भगवान् कृष्णके सौन्दर्यसुधाका एक कण रख, तब तू देखेगी कि भगवान्‌का सौन्दर्यकण ही भारी है। अतः तू सांसारिक विषयोंको छोड़कर भगवान् कृष्णकी सौन्दर्यसुधाका पान किया कर।'

इसीसे भगवान् कहते हैं—'अरी बुद्धियो! अब तुम गोष्ठप्रपंचमें मत जाओ, वहाँ बहुत रह चुकीं। उस स्थानमें तो पशु रहा करते हैं; तुम तो अपने परम प्रियतम मुझ परब्रह्मका ही आश्रय लो।'

यदि कहो कि हम स्वतन्त्र नहीं हैं, हम कैसे आपकी ओर आयें! तो भगवान् कहते हैं—तुम अवश्य पराधीन हो, क्योंकि तुम करण हो और करण अपनी प्रवृत्तिके लिये कर्ताके अधीन हुआ करता है; अतः तुम प्रमाताको समझाओ। इसपर श्रुति कहती

हैं—हम तो उसे बहुत समझाती हैं; परंतु अब तो वह भी विवश है। जैसे दौड़नेवाला पुरुष यद्यपि पादसंचालनमें स्वतन्त्र होता है तथापि वेग बढ़ जानेपर वह भी उस वेगके अधीन हो जाता है; फिर उसकी गति उसके अधीन नहीं रहती। इसी प्रकार यद्यपि प्रमाता जीव स्वतन्त्र है तो भी बुद्धिसे विषय-चिन्तन करते रहनेके कारण अब उसे विवश होकर उसी प्रकारकी प्रवृत्तिमें प्रवृत्त होना पड़ता है।

श्रीदुर्गासप्तशतीमें सुरथ नामक राजा और समाधि नामक वैश्यका प्रसंग आता है। सुरथ शत्रुओंसे पराजित होकर भागा था। उसका राज्य शत्रुओंके हाथमें चला गया था। अब उसमें उसका कोई स्वत्व नहीं रहा था तो भी उसे अपने सम्बन्धियों और हाथी-घोड़ोंकी स्मृति सताती थी। इसी प्रकार समाधिको उसके पुत्रादिने घरसे निकाल दिया था तो भी उसे घर और घरवालोंकी ही स्मृति बनी रहती थी। उन्होंने एक मुनिवरके पास जाकर इस अनभिमत चिन्ताका कारण पूछा। तब मुनिने कहा—

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा॥
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति।

(श्रीदुर्गासप्तशती १।५५-५६)

अतः भगवान् कहते हैं—यदि तुम्हारी प्रवृत्ति नहीं होती तो '**शुश्रूषध्वं सतीः**' भगवती शक्तिका समाश्रयण करो; क्योंकि—

सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये।
सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी॥

(श्रीदुर्गासप्तशती १।५७)

क्योंकि वह सर्वात्मिका है—'**या देवी सर्वभूतेषु भ्रान्तिरूपेण संस्थिता।**' (श्रीदुर्गासप्तशती ५।७४) अपनेसे विमुख लोगोंके लिये वही भ्रान्तिरूपसे प्रकट होती है और अपने भक्तोंके लिये वही परम कल्याणी विद्यादेवी है।

यच्च किंचित्क्वचिद्वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके॥
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे तदा।

(श्रीदुर्गासप्तशती १।८२-८३)

अथवा 'सती' शब्दसे सात्त्विकी वृत्ति भी विवक्षित हो सकती है। अतः इसका तात्पर्य यह है कि पहले सात्त्विक वृत्तियाँ जाग्रत् करो। भगवान्‌का नाम जप करो, प्रभुका गुणगान करो और राजस-तामस वृत्तियोंका त्याग करो। ऐसा करते-करते बादमें परब्रह्म परमात्माकाराकारिता वृत्ति हो जायगी।

इस प्रकार बुद्धियोंको भगवान्‌का यही उद्देश्य है कि तुम गोष्ठ यानी साध्यसाधनात्मक संसारकी ओर मत जाओ, बल्कि '**पतीन्**'—सम्पूर्ण बुद्धियोंके साक्षी परब्रह्म परमात्माका ही आश्रय लो। बुद्धियाँ अपने चरम आश्रयभूत साक्षीका अवलम्बन न करके संसारमें प्रवृत्त होती हैं और फिर उसीमें फँस जाती हैं। अतः भगवान् उन्हें उपदेश करते हैं कि तुम संसारसे विरत होकर अधिष्ठान परमात्माकी ओर ही जाओ। वह आत्मा जाग्रदादि तीनों अवस्थाओंका साक्षी है, वह यह जानता है कि इस समय मेरी बुद्धि सात्त्विक है, इस समय राजस है और इस समय मोहग्रस्त है। इस प्रकार जो काम, संकल्प, विचिकित्सा, धी, ह्री आदि अन्तःकरणके धर्मोंको जानता है, जो जाग्रत् और स्वप्नमें प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेयरूप त्रिपुटीका अवभासक है और सुषुप्तिमें उनके अभावको प्रकाशित करता है, उस सर्वावभासक परमतत्त्वपर दृष्टि पहुँचनेपर यह निखिल प्रपंच सहजहीमें निवृत्त हो जाता है। किंतु यह है अत्यन्त दुर्लभ; इसीसे कहा है—

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥

(कठ० २।१।१)

'**धीर**' शब्दका अर्थ है—'**धियम् ईरयति प्रेरयति इति धीरः**' अर्थात् जो बुद्धि आदि कार्यकरण-संघातको अपने अधीन रखता है—स्वयं उसके अधीन नहीं होता। ऐसा कोई देहाभिमानी नहीं हो सकता। इसीलिये भगवान्‌ने कहा है—

'अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥'

(गीता १२।५)

इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार—सभीका अवभासक सर्वसाक्षी परमात्मा ही है

वह बुद्धिका प्रेरक नील-पीतादि किसी रूपवाला नहीं है। वह तो अत्यन्त सूक्ष्म है। देखो—इन नील-पीतादिका प्रकाशक पहले तो सूर्यका प्रकाश देखा जाता है। जिस प्रकार नील-पीतादि रूपवान् हैं, उसी प्रकार उन्हें प्रकाशित करनेवाले सूर्य एवं अग्नि आदिके आलोक भी रूपवान् हैं; परंतु अपने प्रकाश्य नील-पीतादिकी अपेक्षा उनमें बहुत सूक्ष्म है। उस सौर आलोकका प्रकाशन चाक्षुष-ज्योतिसे होता है; वह रूपरहित है। इस प्रकार रूपरहित तत्त्व रूपवान्को प्रकाशित कर रहा है। यह भी अनुभवमें आता है कि जो नेत्रज्योति निर्दोष होती है, वह आलोकको ठीक-ठीक प्रकाशित कर सकती है और जो सदोष होती है, वह उसका ठीक-ठीक प्रकाशन नहीं कर सकती। किंतु यह कौन जानता है कि नेत्र सदोष है या निर्दोष? इस बातको मन जानता है; चक्षुके पाटवापाटवका ज्ञाता मन है। मनमें भी रूप नहीं है। इसी प्रकार मनके चांचल्यादिको जाननेवाली बुद्धि है और बुद्धि अपना कार्य अहंकारपूर्वक करती है; जैसे कि यह कहा जाता है कि 'मैं' अपनी बुद्धिद्वारा मनका निरोध करूँगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि बुद्धि इस 'मैं' का कारण है। यह 'मैं' अत्यन्त सूक्ष्म है। यदि हम कुछ काल बुद्धि आदिसे रहित केवल 'मैं' का ही चिन्तन करें तो हमारे सामने 'मैं' और 'मैं' के साक्षीका भेद सुस्पष्ट हो जायगा। इस समय तो 'मैं' और चिदात्माका अन्योन्याध्यास हो रहा है। जिस प्रकार तपे हुए लोहपिण्डमें अग्निरहित लोहपिण्ड और लोहपिण्डरहित अग्निका भान नहीं हो सकता, उसी प्रकार इस समय हमें 'मैं' से रहित चेतन और चेतनरहित 'मैं' की प्रतीति नहीं हो सकती। सुषुप्तिमें 'मैं' का अभाव रहता है। उस समय चिदात्मा 'मैं' के अभावका प्रकाशक है। इस प्रकार वह स्पष्टतया 'मैं' के भाव और अभाव दोनोंहीका प्रकाशक प्रतीत हो रहा है। इसी क्रमसे हम उसे शब्द, स्पर्श, रस और गन्धके चरम अवभासकरूपसे भी निश्चय कर सकते हैं। अत: विषयोंकी अवभासक पंच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियोंका अवभासक मन है, मनकी प्रकाशिका बुद्धि है, बुद्धिका प्रेरक अहंकार है और इन मन, बुद्धि, अहंकार सभीका भासक चिदात्मा है।

व्यवहारमें देखते हैं कि गन्धाकाराकारितवृत्ति, रूपाकाराकारितवृत्ति, रसाकाराकारितवृत्ति, स्पर्शाकाराकारितवृत्ति और शब्दाकाराकारितवृत्ति—इन सबमें परस्पर भेद है। इसी प्रकार इनको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियोंमें भी भेद है। इनके भेद और अभेदका विवेक करो। इनमें जो भेद है, वही प्रपंच है और जो अभेद है, वही परमार्थ है। उत्पन्न तथा नष्ट होनेवाली गन्धवृत्ति, रसवृत्ति, स्पर्शवृत्ति आदि पृथक् हैं, परंतु उन वृत्तियोंकी उत्पत्ति, स्थिति, नाश तथा उनके स्वरूपोंका भासन करनेवाला अखण्ड बोध या निर्विकार भान सदा एकरस तथा एक ही है।

जिस प्रकार नील-पीत-रहित आदि रूपोंका अवभासक सौर आलोक एक ही है, किंतु उसके प्रकाश्य भिन्न हैं, उसी प्रकार दृश्य अनेक हैं और द्रष्टा एक ही है, किंतु नील-पीतादि दृश्योंको प्रकाशित करते समय उनका अवभासक सौर आलोक तद्रूप हो जाता है; उन नील-पीतादिकी सन्धिमें जो उसका निर्विशेष रूप रहता है, वही उसका शुद्ध स्वरूप है। इसी बातको पंचदशीकारने एक अन्य दृष्टान्तद्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया है—

खादित्यदीपिते कुड्ये दर्पणादित्यदीप्तिवत्।
कूटस्थभासितो देहो धीस्थजीवेन भास्यते॥

(पंचदशी ८।१)

एक स्थानपर कई दर्पण रखे हुए हैं। उनमें सूर्यकी किरणें पड़कर फिर समीपस्थ भित्तिपर प्रतिफलित हो रही हैं। वे दर्पणालोक और उनकी सन्धियाँ ये दोनों ही सौर आलोकसे प्रकाशित हैं; किंतु सन्धियाँ केवल सौरालोकसे प्रकाशित हैं और दर्पणालोक दर्पणमें पड़े हुए सौरालोकके आभाससे भी प्रकाशित हैं। इसी प्रकार विषयोंकी स्फूर्ति तो चेतन तथा

अन्तःकरणस्थ चिदाभास दोनोंके योगसे होती है, किंतु उन विषयोंकी सन्धि अर्थात् निर्विषय स्थिति केवल चेतनसे ही भासित होती है।

अतः आत्मसाक्षात्कार करनेके लिये पहले हमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्धादिकी वासनाओंसे वासित अन्तःकरणद्वारा विषयोंसे हटाकर इन्द्रियोंको स्वाधीन करना होगा। फिर बुद्धिसे मनका और अहंकारसे बुद्धिका संयम करना होगा। तत्पश्चात् अपने स्वरूपभूत साक्षीसे अहंकारको पृथक् निश्चय करनेपर हम अपने शुद्ध स्वरूपका बोध प्राप्त कर सकेंगे।

सबसे पहले सम्पूर्ण प्रतीयमान प्रपंचको पृथिवीमात्र चिन्तन करो; घट, पट, गृह, उद्यान आदि सभी वस्तुओंको केवल पृथिवीतत्त्व ही अनुभव करो। फिर इस पृथिवीतत्त्वका जलतत्त्वमें लय करो और सर्वत्र केवल जलतत्त्वको ही व्याप्त देखो। तत्पश्चात् जलको अग्नितत्त्वमें लीन करो तथा सब पदार्थोंको तेजोमय ही देखो। इसी प्रकार फिर उन्हें क्रमशः वायुरूप और आकाशरूप देखो। इस चिन्तनके बढ़नेके साथ क्रमशः गन्धादि विषयोंकी निवृत्ति होती जायगी। वृत्ति प्रायः तेजसे आगे नहीं बढ़ती। वायु और आकाश रूपरहित पदार्थ हैं, इसलिये उनपर दृष्टि जमना बहुत कठिन है। यदि मन वायुतत्त्वमें स्थित हो गया तो उसे अन्धकार और प्रकाशकी भी प्रतीति नहीं होगी; क्योंकि ये दोनों तो तेजके अन्तर्गत हैं। रूपकी निवृत्ति होनेपर तो सारा ही विक्षेप निवृत्त हो जाता है। अब केवल स्पर्श और शब्द रह जाते हैं, स्पर्शकी निवृत्ति होनेपर केवल शब्द ही शेष रहता है। इससे आगे बढ़कर शब्दको देखनेवाले मनमें ही स्थित हो जाओ। फिर तटस्थवृत्तिसे मनकी गतिको देखो और तत्पश्चात् उसे देखनेवालेको देखो। इस प्रकार बुद्धि तुम्हारा दृश्य हो जायगी। बुद्धिका द्रष्टा अहंकार है। इससे आगे अहंकार भी भास्य कोटिमें आ जाना चाहिये। तत्पश्चात् उसकी भी प्रतीति नहीं होगी और केवल सर्वावभासक चिदात्मा ही रह जायगा। इस प्रकार बुद्धि सबके अधिष्ठानभूत केवल आत्मामें ही स्थित हो जाती है; उस समय उसके भास्य शब्द-स्पर्शादि प्रपंचमेंसे कुछ भी प्रतीत नहीं होता।

अब हम प्रकृत विषयपर आते हैं। भगवान्‌का उपदेश है—'**शुश्रूषध्वं पतीन्**' अर्थात् जो सर्वावभासक चिदात्मा जाग्रत् और स्वप्न-अवस्थाओंमें प्रतीत होनेवाले द्वैतका तथा सुषुप्तिमें अनुभव हुए अज्ञानका साक्षी है, तुम उस परम पतिका ही आश्रय लो। अतः तुम नामरूपात्मक प्रपंचकी ओर मत जाओ, बल्कि उसके अवभासक सर्वसाक्षी परमात्माका चिन्तन करो। यदि कहो कि उसमें तो हमारी गति नहीं है, हम किस प्रकार ऐसा करें तो उसके लिये '**शुश्रूषध्वं सतीः**।' '**सती**' शब्दका अर्थ पहले ही कहा जा चुका है। तात्पर्य यह है कि इसके लिये तुम ब्रह्मविद्यारूपिणी भगवती महामायाकी उपासना करो। देखो, गोपियोंको भी श्रीकात्यायनीदेवीकी उपासना करनेसे ही परब्रह्मस्वरूप भगवान् कृष्णकी प्राप्ति हुई थी।

ऐसी ही एक गाथा उपनिषदोंमें आती है। जिस समय देवासुर-संग्राममें परब्रह्म परमात्माके प्रसादसे देवताओंको विजय प्राप्त हुई तो वे भगवान्‌को भूल गये और उस विजयको अपने ही पुरुषार्थका फल मानने लगे। उस समय परम दयालु भगवान् अपने मोहग्रस्त अनुचरोंका व्यामोह दूर करनेके लिये एक विचित्र रूपसे उनके सामने प्रकट हुए। भगवान्‌के उस विचित्र अनन्त प्रकाशमय विग्रहको देखकर देवताओंको बड़ा कुतूहल हुआ और उन्हें यह जाननेके लिये बड़ी उत्सुकता हुई कि यह यक्ष कौन है? यह बात जाननेके लिये सबसे पहले अग्निदेव गये। भगवान्‌ने उनसे पूछा—'तुम कौन हो?' अग्निने बड़े गर्वसे कहा—'मैं अग्नि हूँ, लोग मुझे जातवेदा कहते हैं।' भगवान्‌ने कहा—'तुम क्या कर सकते हो?' अग्निदेवने कहा—'संसारमें जितने पदार्थ हैं, मैं उन सभीको जला सकता हूँ।' तब यक्षभगवान्‌ने उनके आगे एक तृण रखकर कहा—'भला इसे तो जलाओ।' अग्निदेव

अपना सारा पुरुषार्थ लगाकर हार गये, किंतु वे उसे जलानेमें समर्थ न हुए और इस प्रकार मान-मर्दन हो जानेसे चुपचाप लौट आये। उनके पीछे वायुदेवता गये। किंतु उनकी भी वही गति हुई। वे भी एक क्षुद्र तृणमात्रको उड़ानेमें समर्थ न हुए।

इस प्रकार अग्नि और वायुके विफलमनोरथ होकर लौट आनेपर स्वयं देवराज इन्द्र उस यक्षका परिचय प्राप्त करनेके लिये चले। देवराजको देखते ही यक्षभगवान् अन्तर्धान हो गये। इससे इन्द्रको बड़ा परिताप हुआ। वे सोचने लगे—'अहो! मुझे सन्निधानसे उनके दर्शन और सम्भाषणका भी सौभाग्य प्राप्त न हो सका।' जिस समय जीवको भगवद्विरहके कारण परिताप होता है, उसी समय उसे भगवत्साक्षात्कारकी योग्यता प्राप्त होती है। वह क्षण बड़े सौभाग्यसे प्राप्त होता है, जिसमें प्राणी अपने प्रियतमकी विरह-वेदनासे तड़पने लगता है और उसका रोम-रोम भगवद्दर्शनके लिये उत्कण्ठित हो उठता है। देखिये, जिस समय भगवान्‌के साथ व्रजांगनाओंका संयोग था, उस समय उनकी उपासना उतनी प्रबल नहीं थी; किंतु जब उन्हें भगवान्‌का वियोग हुआ, तब उनकी लगन इतनी बढ़ी कि उस विरहाग्निने उन्हें केवल इसीलिये नहीं जलाया; क्योंकि उनके हृदयमें भगवान्‌की प्रेममयी मूर्ति विराजमान थी। उस आनन्द-सुधासिन्धुके कारण ही उनकी रक्षा हुई। इसी भावका वर्णन करते हुए श्रीवल्लभाचार्यजीने यह श्रुति कही है—

'को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद् यदेष
आकाश आनन्दो न स्यात्।'

(तैत्तिरीय० २।७)

अर्थात् यदि सहृदय प्रेमियोंके अन्तःकरणोंमें प्रेमानन्दरूप सुधा न होती तो अपने प्रियतमके वियोगमें उनमेंसे कौन चेष्टा करता और कौन प्राण धारण करता? वे तो तत्काल उस विरहानलमें भस्म हो जाते।

अतः यदि भगवान्‌के वियोगका सन्ताप न हुआ तो यह जीवन व्यर्थ है; भगवान् वाल्मीकि कहते हैं—

यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति।
निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हते॥

(वा०रा० २।१७।१४)

वस्तुतः यह भगवदर्थ सन्ताप ही परम तप है।

इस प्रकार जब इन्द्रने इस सन्ताप-रूप तपसे अपना मनोमल भस्म कर दिया तो उमादेवीका आविर्भाव हुआ। उसीने उन्हें भगवान्‌का परिचय दिया। अतः स्मरण रखना चाहिये कि यह महावाक्यजनित ब्रह्माकारवृत्तिरूपा उमा ही प्रकट होकर जीवको परब्रह्मके पास ले जाती हैं। अतः हे बुद्धियो! यदि तुम मुझ परब्रह्मके पास आना चाहती हो तो '**शुश्रूषध्वं सतीः**' भगवती शक्तिकी उपासना करो अथवा जैसा हम पहले कह चुके हैं, सात्त्विक वृत्तियाँ ही सतियाँ हैं, उन्हें उद्‌बुद्ध करो। उनके उद्‌बुद्ध होनेसे जब तुम्हारी राजस-तामस वृत्तियाँ नष्ट हो जायँगी, तभी तुम उन्हें प्राप्त कर सकोगी।

अब यदि श्रुतियाँ कहें कि महाराज ठीक है, परंतु यदि हम संसारको छोड़कर अपने परम प्रियतम परब्रह्मका ही अवलम्बन करें, प्रपंचका आश्रयण करना छोड़ दें तो उस अस्पर्शयोगको सुनकर जो बाल-वत्सस्थानीय अज्ञजन हैं, वे रोने लगेंगे; क्योंकि उनके लिये तो संसार ही सब कुछ है। वे तो पुत्र-कलत्र और धन-धामादिको ही अपना सर्वस्व समझते हैं। इसपर भगवान् कहते हैं—'**वत्सा बालाश्च क्रन्दन्ति मा**' अर्थात् ये वत्स और बालक भी क्रन्दन नहीं करेंगे। क्यों नहीं करेंगे? क्योंकि विवेकीके लिये संसार असत् होनेपर भी उन अविवेकियोंकी दृष्टिमें तो वह सत्य ही रहेगा। '**नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्**' देखो—स्वप्नप्रपंच तो उसीका निवृत्त होगा, जो जागेगा। जो जगा नहीं है, उसके लिये तो स्वप्नका सारा व्यापार सत्य ही होता है। इसी प्रकार यह दृश्य-प्रपंच भी उसीके लिये मिथ्या होगा जो अपने शुद्ध स्वरूपमें जागेगा, उसे तो इसकी निवृत्ति इष्ट ही है। इसके विपरीत अप्रबुद्धके लिये इसकी निवृत्ति होगी नहीं।' भगवान्‌ने कहा है—

यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थभृत्।
स एव प्रतिबुद्धस्य न वै मोहाय कल्पते॥

(श्रीमद्भा० ३।२७।२५; ११।२८।१४)

इसलिये बाल-वत्सस्थानीय अज्ञजन भी क्रन्दन नहीं करेंगे।

दूसरी बात यह है कि यदि वे रोयेंगे तो यह बतलाओ कि तत्त्वज्ञान होनेसे पहले रोयेंगे या पीछे? पीछे तो रो नहीं सकते; क्योंकि उस समय तो वे अचिन्त्यानन्द-महार्णव श्रीभगवान्‌में अभिन्नरूपसे स्थित हो जानेके कारण प्रपंचकी अपेक्षासे ही रहित हो जाते हैं। भला अमृतके समुद्रको पाकर क्षुद्र कूप-तड़ागादिके लिये कौन व्यग्र होता है? और पहले इसलिये नहीं रो सकते कि प्रपंचका मिथ्यात्व सुनकर भी उसपर उनकी निष्ठा नहीं होगी। देखो—यह मनुष्य-शरीर कितना घृणित है? इसके ऊपर यदि चर्म न होता तो इसपर मक्खियाँ भिनकतीं। इसमें क्षणभर भी रहनेकी इच्छा न होती। इस बातको समझनेके लिये विशेष विचारकी भी आवश्यकता नहीं है। इस शरीरमें अस्थि, मांस, रक्त आदि घृणित पदार्थ ही भरे हुए हैं। यह बात बहुत साधारण बुद्धिवाले पुरुषोंको भी सुगमतासे समझायी जा सकती है तो भी हमारे-जैसे अज्ञानियोंकी तो बात ही क्या है, बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी रम्भा-उर्वशी आदि अप्सराओंके उस अत्यन्त घृणित शरीरके ही लावण्यमें फँस गये थे। इस प्रकार सब कुछ जानकर भी उन्हें जो मोह हुआ, वह भगवती महामायाकी ही महिमा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(गीता ७।१४)

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा॥
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति।

(श्रीदुर्गासप्तशती १।५५-५६)

अतः भगवान् कहते हैं—यदि तुम संसारका मिथ्यात्व प्रतिपादन करोगी तो भी वे अज्ञजन नहीं रोयेंगे, क्योंकि उनकी तो उसमें गति ही नहीं होगी।

अब यह भी सन्देह हो सकता है कि यदि अज्ञानियोंको परोक्षरूपसे भी यह निश्चय हो जायगा कि ऐन्द्रपद आदि अब मिथ्या हैं तो भी वे यज्ञ-यागादिमें प्रवृत्त नहीं होंगे। वस्तुतः ऐसे अनधिकारियोंने ही अद्वैतवादको कलंकित कर रखा है। उन्हें भले ही ब्रह्मका अपरोक्ष साक्षात्कार न हुआ हो तथापि यह तो निश्चय हो ही जाता है कि कर्म नहीं, धर्म नहीं, लोक नहीं और वर्णाश्रमाचार भी नहीं। अतः वे धर्म-कर्मादिको तिलांजलि दे देते हैं। इन अनधिकारियोंके कारण ही अद्वैतवादको कलंकित होना पड़ा है।

ऊपरी दृष्टिसे देखा जाय तो अद्वैतवादी और नास्तिकोंमें कोई भेद दिखायी नहीं देगा। मुक्तावस्थामें दृश्यकी व्यर्थता तो नैयायिकोंके मतमें भी हो जाती है। यह ठीक है कि वे उसका मिथ्यात्व स्वीकार नहीं करते; तथापि मुक्त पुरुषको तो उसका विशेष ज्ञान निवृत्त हो जानेके कारण प्रपंचका भान नहीं होता। यही बात सांख्य मतके विषयमें कही जा सकती है। वस्तुतः संसारसे सम्बन्ध छूट जानेपर और प्रभुसे सम्बन्ध जुड़ जानेपर लोक-वेदकी विधि छूट ही जाती है। सब आचार्योंका ऐसा ही मत है।

यदा यमनुगृह्णाति भगवानात्मभावितः।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्॥

(श्रीमद्भा० ४।२९।४६)

और यही नास्तिकोंका भी लक्षण है। देखा जाय तो तत्त्वज्ञ और व्रात्य—इन दोनोंका बाह्य रूप एक ही होता है। देखिये, जिस प्रकार यवनादि शिखा-सूत्रादिसे रहित होते हैं, उसी प्रकार एक परमहंस भी होता है। यही नहीं, भगवान् शंकरको भी **'व्रात्य'** कहा गया है—**'व्रात्यानां पतये नमः'**। इस प्रकार देखा जाय तो एक तत्त्वज्ञका स्वरूप तो अवश्य व्रात्यके समान ही होता है; तथापि उनमें वस्तुतः बहुत अन्तर होता है। उनमेंसे एक तो साधनकोटिको पार कर गया है और दूसरेने उसमें प्रवेश भी नहीं किया। इस समय अवश्य दोनों ही साधनके संसर्गसे रहित हैं।

इस प्रकार यज्ञ-यागादिका अनुष्ठान न करनेपर

भी अद्वैतनिष्ठ महात्माको अवैदिक नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः वेदका प्रामाण्य माननेवाला तो वही है। वैदिक तो उसीको कहना चाहिये, जो वेदार्थको अबाधित रखे। वेद कहते हैं—**'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'** (पैंगलोपनिषद् १), **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** (तैत्तिरीय० २।१) इत्यादि। अतः जो ब्रह्मको सजातीय, विजातीय एवं स्वगतभेदसे रहित मानते हैं, वे तो ब्रह्मसे भिन्न वेदकी भी सत्ता नहीं मानते। वेदकी पृथक् सत्ता माननेपर तो वेदको सजातीयादि भेदसे रहित सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतः ऐसी अवस्थामें वेद अप्रामाणिक हो जाता है। इसलिये अपने प्रामाण्यके लिये वेद स्वतः ही अपना अभाव प्रतिपादन करते हैं—

'अत्र वेदा अवेदा ब्राह्मणा अब्राह्मणाः पुल्कसा अपुल्कसाः।'

कार्य जबतक अपने कारणसे भिन्न रहता है, तभीतक उसकी पृथक् उपलब्धि होती है। कारणसे अभिन्न होनेपर उसकी पृथक् प्रतीति नहीं होती। वेद भी ब्रह्मके कार्य हैं—**'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदः'** (बृहदारण्यक० २।४।१०) अतः वस्तुतः वे परब्रह्मसे व्यतिरिक्त नहीं हैं। घटादि तभीतक उपलब्ध होते हैं, जबतक वे अपने कारण मृत्तिकामें नहीं मिलते। उसमें मिल जानेपर उनकी पृथक् प्रतीति नहीं होती। अतः वेदको ब्रह्मसे व्यतिरिक्त न मानना उनका तिरस्कार नहीं है; यह तो उसका सम्मान ही है। जो पुरुष वेदको ब्रह्मसे भिन्न मानता है, उसपर तो वेद कुपित होते हैं और उसे स्वार्थसे भ्रष्ट कर देते हैं। श्रुति स्वयं कहती है—

वेदास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो वेदान् वेद'''
सर्वं तं परादाद् योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद॥

(बृहदारण्यक० ४।५।७)

क्योंकि ब्रह्मसे वियोग होना किसीको इष्ट नहीं है। तुम भी तो परब्रह्मसे वियुक्त होनेके कारण ही तड़प रहे हो। वेदोंको भी भगवान्का वियोग कैसे सह्य हो सकता है? फिर तुम उन्हें भगवान्से व्यतिरिक्त क्यों समझते हो? तुम यज्ञयागादि कर्मोंको भगवान्से भिन्न क्यों मानते हो? यदि तुम एक अणुको भी ब्रह्मसे पृथक् समझोगे तो वह अवश्य तुम्हारे लिये भय उपस्थित कर देगा। प्रेमी तो अपना भी पृथक् अस्तित्व नहीं रखना चाहता।

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।
कबिरा नगरी एकमें राजा दो न समाहिं॥

यदि हम अपनी पृथक् सत्ता रखेंगे तो ब्रह्ममें वस्तु-परिच्छेद आ जायगा तथा जिस देशमें हम रहेंगे, उसमें ब्रह्म नहीं रहेगा। इसलिये ब्रह्ममें देशपरिच्छेद भी हो जायगा। इसीसे भावुक पुरुष अपनी सत्ता प्रभुको ही समर्पित कर देते हैं; वे प्रभुसे पृथक् रहकर उनके पूर्णत्वको खण्डित करना नहीं चाहते। अतः पहले अपने धन-धान्यादि प्रभुको समर्पण करो, फिर देह समर्पित कर दो और तदनन्तर मन, बुद्धि और प्राण भी प्रभुको ही अर्पण कर दो। परिणाममें तुम भी उन्हींमें समर्पित हो जाओगे। भगवान् कहते हैं—

'निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥'

(गीता १२।८)

यदि घटाकाश अपनेको महाकाशसे पृथक् समझता है तो जिस देशमें वह अपनी सत्ता मानेगा, उस देशमें उसे महाकाशकी सत्ता अस्वीकार करनी पड़ेगी। इस प्रकार वह महाकाशकी पूर्णताको खण्डित कर देगा। इसीसे घटाकाश कहता है—'मैं अपनी सत्ता रखकर अपने प्रभुकी अपूर्णता नहीं करूँगा। मैं अपनेको भी उन्हें ही समर्पित कर दूँगा।'

आत्मसमर्पणरूप अद्वैतदर्शन ही सच्ची पूजा और उत्कृष्टतम भक्ति है

यही अद्वैतवादियोंका सिद्धान्त है। वे प्रभुको आत्मसमर्पण भी कर देते हैं। यही उनकी अद्भुत भक्ति है। वे अपने प्रियतमको अपने-आपको भी दे डालते हैं, क्योंकि आत्मा ही सबसे बढ़कर प्रिय है; इसीके लिये प्रत्येक वस्तु प्रिय हुआ करती है—

'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।'

(बृहदारण्यक० २।४।५)

अतः यदि तुम अपनेको परम प्रेमास्पदको

समर्पण न करके केवल स्त्री, धन और मन आदि ही प्रभुको अर्पण करते हो तो तुम सच्चे प्रेमी नहीं कहे जा सकते। अतः आत्मसमर्पणरूप अद्वैत दर्शन ही सच्ची पूजा है और यही उत्कृष्टतम भक्ति है।

हाँ, मूर्ख पुरुषोंके लिये यह सिद्धान्त अवश्य बहुत भयावह है। इस सिद्धान्तके ब्याजसे वे देहको भी ब्रह्म मान सकते हैं। परंतु वस्तुतः यह सिद्धान्त भक्तिका घातक नहीं है। यह तो उसकी चरमावस्था है। किन्हीं महानुभावोंने कहा है कि—'पहले उपासनाकी भावना करते-करते ऊपर-नीचे सर्वत्र ब्रह्म ही दिखायी देता है। अतः पहले '**ब्रह्मैवाधस्ताद्ब्रह्मैवोपरिष्टात्**' यह श्रुति ही चरितार्थ होती है। पीछे एक संचारी भावविशेषका अभ्युत्थान होनेपर ऐसा होता है कि जिससे वह अपनेको ही प्रियतमरूपसे देखने लगता है। उसी अवस्थाका प्रतिपादन '**अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टात्**' (छान्दोग्य० ७। २५। १) इस श्रुतिने किया है।'

श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीका कथन है—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(रा०च०मा० ४। ३)

'**श्रवन कथा, मुख नाम, हृदय हरि, ''''नयननि निरखि कृपा-समुद्र हरि''''।**' (विनय-पत्रिका २०५)

इस प्रकार निरन्तर सर्वत्र भगवद्दर्शन ही करना चाहिये। श्रीमद्भागवत (११। २। ३५)-में कहा है—

यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित्।
धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह॥

यही निर्भय मार्ग है। इस मार्गमें चलनेवाला कभी किसी अन्तरायसे आक्रान्त नहीं होता।

एष निष्कण्टकः पन्था यत्र सम्पूज्यते हरिः।
कुपथं तं विजानीयाद् गोविन्दरहितागमम्॥

इस प्रकार सबको ब्रह्ममय देखते हुए जबतक तुम अपने आत्माको भी ब्रह्मसे अभिन्न न देखोगे, तबतक तुम अपने प्रियतम परब्रह्मकी पूर्णताकी रक्षा नहीं कर सकोगे। अतः तुम अपनेको भी प्रभुमें ही समर्पित कर दो।

किंतु वह समर्पण किया कैसे जाय? उसका स्वरूप क्या है? क्या घड़ेमें बेर डालना बेरका समर्पण है? इसका नाम समर्पण नहीं है। समर्पणमें अपनी सत्ता पृथक् नहीं रहती, जिस प्रकार घटाकाशकी सत्ता महाकाशसे पृथक् नहीं है। जिस समय तरंग समुद्रमें लीन होती है, उस समय क्या समुद्रसे पृथक् उसकी उपलब्धि हो सकती है?

अतः भगवान्से पृथक् अपनी सत्ता न रखना ही उनका सम्मान है। यदि तुम उनसे अपना भेद रखते हो तो तुम उनका अनादर करते हो। भला, जिस पत्नीने अपने पतिको त्याग दिया हो, उसकी कीर्ति हो सकती है? इसी प्रकार यदि जीव अपनेको परब्रह्मसे पृथक् समझे तो उसके लिये इससे बढ़कर और क्या कलंक हो सकता है? ऐसा कलंक तो उसके लिये आत्मघातके समान है; क्योंकि—

'**सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥**'

(गीता २। ३४)

इसीलिये उपनिषद् पढ़नेवाले भगवान्से प्रार्थना करते हैं—'**माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्, अनिराकरणमस्तु**' (केनोपनिषद् शान्तिपाठ)। प्रभु दीर्घकालसे हमारा निराकरण करते आये हैं और हम प्रभुका निराकरण करते आये हैं। इसीसे हमें कीट-पतंगादि योनियोंमें भ्रमना पड़ा है। यह अनिराकरण तो प्रभुकी कृपासे ही होगा। वे ही हमें ऐसी बुद्धि प्रदान कर सकते हैं; क्योंकि ये चरण असत्पुरुषोंको अत्यन्त दुष्प्राप हैं। जिस समय पुरुषोंका संसरण समाप्त होनेको होता है, हे नाथ! तभी आपके श्रीचरणोंमें प्राणियोंको रति होती है। वस्तुतः मायामोहित जीव बरबस प्रभुको भूलकर प्रपंचमें फँसा हुआ है और प्रभुकी उपेक्षा करता है। अतएव ऋषि यही प्रार्थना करता है—हे दयामय! आप ही कृपा करें कि मैं आपका अनादर या उपेक्षा न करूँ। हे दयामय! मायामोहित होकर ही हमने आपका अनादर किया है। अपने अन्तरात्मा प्रियतम सर्वस्वका अपमान मोहसे ही हमने किया है, अतः आप मेरी उपेक्षा न

करें। इस प्रार्थनाके साथ-साथ आपहीसे यह भी प्रार्थना है कि मैं आपका अनादर न करूँ।

अक्रूरजी महाराज कहते हैं—

सोऽहं तवाङ्घ्र्युपगतोऽस्म्यसतां दुरापं
तच्चाप्यहं भवदनुग्रह ईश मन्ये।
पुंसो भवेद् यर्हि संसरणापवर्ग-
स्त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया मतिः स्यात्॥

(श्रीमद्भा० १०।४०।२८)

हे नाथ! आज मैं आपके चरणोंकी शरण आया हूँ, यह भी आपके अनुग्रहका फल है। जबतक प्रभु कृपा न करें, जबतक वे हाथ न लगायें, तबतक हमारी नैया किनारे नहीं लग सकती। श्रीगोसाईंजी महाराजका कथन है—

ग्यान-भगति साधन अनेक, सब सत्य, झूँठ कछु नाहीं।

(वि०प० ११६)

प्रभुकृपाकी प्रतीक्षा करते रहना चाहिये

अर्थात् ये सारे साधन हैं तथापि जबतक आपका करावलम्ब न हो, तबतक मेरे किये तो कुछ होना नहीं है। अत: ऐसी बुद्धि तो प्रभुकृपासाध्य है। हमें तो केवल प्रभुकृपाकी प्रतीक्षा करते रहना चाहिये। आखिर जाओगे कहाँ? दर-दर घूमते जन्म-जन्मान्तर बीत गये, कहीं कोई ठिकाना नहीं मिला। अब प्रभुके सिवा और आश्रय ही कहाँ है?

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।८)

भगवान्‌की कृपा कब होती है, इसका कोई निश्चित समय नहीं है। इसलिये हर समय सावधान रहो। ऐसा न हो, तुम्हारी असावधानीमें प्रभुकृपाकी घड़ी यों ही निकल जाय और तुम उससे वंचित ही रह जाओ। मान लो, भगवान् कोई परदानशीन स्वामी हैं और तुम उनके द्वारपर बैठे हो। वे हर समय तो परदेसे बाहर आते नहीं हैं, परंतु जिस समय वे आये उस समय तुम सो गये तो इसमें प्रभुका क्या दोष है? इसलिये तुम सदा सावधान रहो। प्रभु अतिथिका अनादर कभी नहीं करते। वे दीनवत्सल हैं; उन्हें दीन बहुत प्यारे हैं। इसीसे श्रीगोसाईंजी कहते हैं—

जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे।
काको नाम पतित-पावन जग, केहि अति दीन पियारे॥

(वि०प० १०१)

इसलिये हमें प्रभुको छोड़कर कहीं अन्यत्र नहीं जाना चाहिये। धनियोंके द्वारोंपर हम बहुत भटक लिये। अब उनका मुख मत देखो। वेदान्तदेशिकाचार्यजी कहते हैं—

दुरीश्वरद्वारबहिर्वितर्दिका
दुरासिकायै रचितोऽयमञ्जलिः।
यदञ्जनाभं निरपायमस्ति मे
धनञ्जयस्यन्दनभूषणं धनम्॥

दुरीश्वरोंके द्वारकी बहिर्वितर्दिकापर दुराशाको लेकर जो बैठना है, उसके लिये मैंने हाथ जोड़ दिया; क्योंकि हमारे पास तो धनंजयके रथका अति सुन्दर भूषण अंजनाभ श्रीकृष्ण ही अनपाय धन हैं। फिर हमें औरकी क्या आवश्यकता है? परंतु सो मत जाना; सदा सावधान रहकर प्रभुकी ओर टकटकी लगाये रहना। प्रभुका प्राकट्य बहुत जल्दी-जल्दी हुआ करता है। यहाँ अध्यात्म-प्रेमियोंको तनिक ध्यान देना चाहिये। देखिये, घटाकार वृत्तिकी निवृत्ति हुई और अभी पटाकार वृत्तिका उदय नहीं हुआ। इस सन्धिमें प्रभुकी झाँकी होती है। अज्ञान और उसके कार्य प्रभुके आवरक हैं। विषयको प्रकाशित करनेवाली वृत्तिका नाम प्रमाण है, विषयको प्रमेय कहते हैं और प्रमाणके आश्रयभूत चेतनका नाम प्रमाता है। इनमें एकके न रहनेपर तीनों ही नहीं रहते। किंतु इन तीनोंका और इन तीनोंके अभावका प्रकाशक आत्मा है। इसी भावको यह श्लोक व्यक्त करता है—

एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे।
त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः॥

(श्रीमद्भा० २।१०।९)

अतः जिस समय प्रमाता एक वृत्ति उत्पादन करके शान्त होता है, उसके पश्चात् दूसरी वृत्ति उत्पन्न करनेसे पूर्व वह विश्राम लेता है। उस विश्रान्तिके समय ही उसके शुद्ध स्वरूपकी उपलब्धि होती है। इसलिये प्रति पल सावधान रहो। निमेषोन्मेष करना भी भूल जाओ। सदा निर्निमेष दृष्टिसे प्रभुकी बाट निहारते रहो।

हमें प्रभुका निराकरण नहीं करना चाहिये और प्रभुसे प्रार्थना करनी चाहिये कि वे हमारा निराकरण न करें। इस प्रकार सारे लौकिक-वैदिक कर्मोंको प्रभुसे अभिन्न समझना ही प्रभुकी परमोत्कृष्ट भक्ति है। यह प्रभुका अनादर नहीं है।

ब्रह्मज्ञानके अधिकारीका निर्णय

किंतु दुराचारियोंने ब्रह्मज्ञानपर कलंक लगा दिया। जो बात सर्वोच्च कोटिकी थी, उसे वे श्रीगणेशमें ही करने लगे। जिसने भगवत्तत्त्वको प्राप्त कर लिया है, वह यदि वैदिक-स्मार्तकर्मोंको छोड़ता है तो ठीक ही है, किंतु जिसने अभी प्रभुकी ओर पदार्पण भी नहीं किया, वह यदि अपने कर्तव्य-कर्मोंको तिलांजलि देता है तो उसका कल्याण अनन्तकोटि जन्मोंमें भी नहीं होगा। जिसे सुधा-समुद्रकी प्राप्ति हो गयी है; वह यदि वापी, कूप, तड़ागादिकी अवहेलना करेगा तो प्यासा मर जायगा! अतः पहले अपनेको भगवान्‌में समर्पित करो; पहले सबको ब्रह्मरूप देखो, पीछे अपनेको ब्रह्मरूप देखना।

यह ठीक है कि अनभिज्ञ लोग ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार किये बिना ही लौकिक-वैदिक कर्मोंका मिथ्यात्व मान बैठेंगे। किंतु यह उनकी अनधिकार-चेष्टा ही होगी। जिन्होंने श्रौत-स्मार्तकर्मोंका अनुष्ठान नहीं किया; जिन्हें इहामुत्रफलयोगसे वैराग्य नहीं हुआ, जो सदसद्वस्तुका विवेक करनेमें असमर्थ हैं, जिनके पास शमदमादि साधनोंका भी अभाव है और जिन्हें विषयी जनोंकी भोगेच्छाके समान तीव्र मुमुक्षा नहीं है, वे तो ब्रह्मजिज्ञासाके अधिकारी ही नहीं हैं। ऐसे लोगोंको ब्रह्मज्ञानमें प्रवृत्त होनेके लिये तो भगवान् शंकराचार्यने निषेध किया है। श्रीगोसाईंजी महाराज भी कहते हैं—

'बादि बिरति बिनु ब्रह्मबिचारू॥'

(रा०च०मा० २।१७८।४)

ऐसे अनधिकारी लोग जब ब्रह्मविद्याकी ओर प्रवृत्त होते हैं, तब वे धर्म, कर्म और पाप-पुण्यादिका तो मिथ्यात्व निश्चय कर लेते हैं, किंतु भोगको सत्य ही मानते हैं। अतः निश्चय हुआ कि **'वत्सा बालाश्च क्रन्दन्ति'** यह कथन ठीक ही है। इसीका उत्तर भगवान् देते हैं कि वे नहीं रोयेंगे, क्योंकि इसमें वेद-शास्त्रादिका दोष नहीं है। शास्त्रमें तो सभी प्रकारके साधनोंका निरूपण है। उसमें यह नियम नहीं है कि प्रत्येक व्यक्तिके लिये वे सभी साधन कर्तव्य हैं; उनमें जिसके लिये जो साधन उपयुक्त हो, उसे उसीका आश्रय लेना चाहिये। औषधालयमें सभी प्रकारकी ओषधियाँ रहती हैं। इस बातका निर्णय तो वैद्य ही कर सकता है कि किस रोगीको कौन-सी ओषधि देनी चाहिये। यदि वैद्यकी शरण न लेकर रोगी स्वयं ही मनमानी ओषधि लेने लगे तो इसमें वैद्य या औषधालयका क्या दोष? यह तो उसीका अपराध है। इसी प्रकार शास्त्रोक्त कौन साधन किसके लिये उपयुक्त है, इसका निर्णय तो श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु ही कर सकते हैं। अतः आत्मकल्याणकी इच्छा रखनेवाले साधकोंको उन्हींकी शरण लेनी चाहिये।

कर्म और उपासनाका समुच्चय

शास्त्रमें तो जहाँ कर्मका प्रकरण है, वहाँ ज्ञानकी निन्दा की गयी है और जहाँ ज्ञानका प्रकरण है, वहाँ कर्म और उपासनाकी तुच्छता दिखलायी है। ईशावास्योपनिषद् (९)-कहती है—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाःरताः॥

अर्थात् जो केवल कर्ममें ही तत्पर रहते हैं, वे अदर्शनात्मक अज्ञानमें प्रवेश करते हैं और जो केवल उपासनामें ही लगे हुए हैं, वे तो उनसे भी अधिक अँधेरेमें जाते हैं। किंतु यहाँ जो कर्म और उपासनाकी

निन्दा की गयी है, वह कर्म या उपासनाके त्यागके लिये नहीं है, बल्कि उनके समुच्चयानुष्ठानका विधान करनेके लिये है। मीमांसकोंका मत है—

'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते अपितु विधेयं स्तोतुम्।'

यदि उपर्युक्त श्रुतिका अभिप्राय कर्म और उपासनाके त्यागमें ही होता तो श्रुत्यन्तरसे जो कर्म और उपासनाका विधान सुना जाता है, वह अप्रामाणिक हो जायगा और इस प्रकार श्रुतिविरोध भी होगा। इसीसे भगवान् शंकराचार्यजी कहते हैं—

'न शास्त्रविहितं किञ्चिदप्यकर्तव्यतामियात्।'

अत: इस निन्दाका अभिप्राय कर्म और उपासनाके त्यागमें नहीं, बल्कि उसके समुच्चयकी स्तुतिमें है।

इसलिये केवल कर्म या केवल उपासनामें प्रवृत्त न होकर उन दोनोंका साथ-साथ अनुष्ठान करना चाहिये। यदि कर्म और उपासनासे **'अन्धं तम:'** की ही प्राप्ति हुआ करती तो **'विद्यया देवलोक: कर्मणा पितृलोक:'** ऐसी विधि न होती। यद्यपि कहीं-कहीं त्यागके लिये भी निन्दा की जाती है; जैसे मिथ्या-भाषणादिकी। किंतु यहाँ ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि यहाँ इसकी विधि पायी जाती है। श्रुतिमें ऐसा बहुत देखा जाता है कि कहीं एक वस्तुका विधान और कहीं उसीका निषेध है। आपातत: इसमें बहुत विरोध मालूम होता है। विधि धर्मके लिये होती है और निषेध पापके लिये। एक ही कर्ममें पाप और पुण्य दोनों हो नहीं सकते। किंतु ऐसा देखा जाता है कि **'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत'** और **'मा हिंस्यात्सर्वभूतानि'** इत्यादि वाक्योंमेंसे एक हिंसाका विधान और दूसरा उसका निषेध करता है। इसका तात्पर्य यही समझना चाहिये कि यागोपयुक्त हिंसाका निषेध नहीं है और यागानुपयुक्त हिंसाका निषेध किया गया है।

अर्थवादका आपातत: प्रतीयमान अर्थ नहीं लिया जाता। पूर्वमीमांसक तो अर्थवादका स्वार्थमें तात्पर्य ही नहीं मानते। उत्तरमीमांसकोंका विचार दूसरा है। वे अर्थवादके तीन भेद मानते हैं—भूतवाद, गुणवाद और अनुवाद। जो मानान्तर सिद्ध अर्थका प्रतिपादन करता है, उसे अनुवाद कहते हैं; जैसे—**'अग्निर्हिमस्य भेषजम्।'** जो मानान्तरसे विरुद्ध अर्थका प्रतिपादन करता है, उसे गुणवाद कहा जाता है; जैसे **'आदित्यो यूप:'** और जो मानान्तरसे अविरुद्ध और मानान्तरसे असिद्ध अर्थका प्रतिपादन करता है, उसे भूतवाद कहते हैं; जैसे **'वज्रहस्त: पुरन्दर:।'** प्रस्तुत अर्थवाद गुणवाद है; क्योंकि वह श्रुत्यन्तरसे विहित कर्म और उपासनाकी निन्दा करता है अर्थात् मानान्तरसे विरुद्ध अर्थका प्रतिपादन करता है।

किंतु यहाँ जो कर्म और उपासनाके फलको अन्धंतम कहा है, वह सापेक्ष है। इस प्रसंगमें महाभारतकी एक कथाका स्मरण होता है। एक ब्राह्मण गायत्रीका जप किया करता था। उसकी प्रौढ़ जपनिष्ठासे प्रसन्न होकर गायत्रीदेवी उसके सम्मुख प्रकट हुईं। देवीने उस ब्राह्मणदेवताको वर दिया कि जापकको जिस नरककी प्राप्ति होती है, वह तुम्हें न मिले।

जापकको नरक मिलता है—यह बात बड़ी कुतूहलजनक मालूम होती है। परंतु इसका तात्पर्य दूसरा है। यहाँ ब्रह्मलोकको ही **'नरक'** कहा गया है; क्योंकि विशुद्ध ब्रह्मकी अपेक्षा ब्रह्मलोक निकृष्ट ही है। अत: उसे नरक कहा जाय तो अनुचित न होगा। इसी प्रकार यहाँ जो अदर्शनात्मक तम कहा है, वह मोक्षपदकी अपेक्षासे ही है। उपासनासे और भी अधिक **'अन्धं तम:'** की प्राप्ति बतलायी, इसका कारण यह है कि उपासना मानस कृत्य है; सर्वसाधारणके लिये यह भी सुगम नहीं है। भला, जिन लोगोंके हस्तपादादि देहावयव भी सुसंयत नहीं हैं, वे उस मानव-व्यापारको ठीक-ठीक कैसे निभा सकेंगे? कर्म करनेसे कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ सुसंयत होती हैं; क्योंकि कर्मकाण्डमें प्रत्येक चेष्टा नियमबद्ध है। खाना, पीना, सोना, बोलना सभी नियमित रूपसे ही करना पड़ता है। वैदिक कर्मोंका अनुष्ठान करते समय जिस कर्मके लिये जैसी विधि है, उससे तनिक भी इधर-उधर होनेपर प्रायश्चित्त करना पड़ता है।

इसलिये कर्मानुष्ठानसे इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति सर्वथा सुसंयत हो जाती है। इन्द्रियोंके संयत होनेपर उपासनामें प्रवृत्त होना सम्भव है। इसीसे उपासकको कर्ममें भी प्रवृत्त करनेके लिये यह श्रुति केवल उपासनामें भय प्रदर्शित करती है।

कर्मकाण्डीको जो '**अन्धं तमः**' की प्राप्ति बतलायी, वह इसलिये है कि उसे केवल कर्ममें ही न रह जाना चाहिये। यदि वह कर्मजड़ हो गया तो उपासनासाध्य उत्कृष्ट फलसे वंचित रह जायगा; अतः कर्मके साथ-साथ उसे उपासनाका भी अनुष्ठान करना चाहिये। फिर जिस समय कर्म और उपासनासे ऊपर उठे हुए जिज्ञासुको श्रुति तत्त्वज्ञानका उपदेश करती है, उस समय कर्मादिसे उसकी प्रवृत्ति हटानेके लिये वह कर्मकी निन्दा करती है। उस समय वह कहती है—'**प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा**' (मुण्डक० १।२।७) परंतु कर्मकाण्डका प्रतिपादन करते समय वह ऐसा कभी नहीं कह सकती।

अतः भगवान् कहते हैं—'हे श्रुतियो! यदि तुम मुझमें अपना तात्पर्य निश्चय करोगी और इससे अज्ञानी लोग क्रन्दन करेंगे तो इसमें तुम्हारा दोष नहीं होगा। इसके लिये तो वे ही उत्तरदायी होंगे। उन्हें चाहिये कि वे किसी विज्ञकी शरणमें जाकर श्रुत्यर्थका अनुशीलन करें।' वस्तुतः यह पद्धति है कि जो जिस निष्ठावाला हो, उसे उसी निष्ठावालोंका संग करना चाहिये। कर्मी कर्मीका, भक्त भक्तका और ज्ञानी ज्ञानियोंका संग करें। शास्त्रका तात्पर्य समझनेके लिये भी शास्त्रज्ञ गुरुकी शरणमें ही जाना चाहिये, शास्त्रका मर्म विज्ञ पुरुष ही खोल सकते हैं।

अतः भगवान् कहते हैं—'**तान् पाययत दुह्यत च न**'—तुम उन्हें पयपान मत कराओ और उनके लिये कर्मफल दुहनेकी चेष्टा भी मत करो। तुम तो मेरा ही प्रतिपादन करो; क्योंकि महातात्पर्यका प्रतिपादन होनेपर अवान्तर तात्पर्य तो उसीमें आ जाते हैं। यह नियम है कि किसी उत्कृष्ट धर्मका निर्वाह करनेमें निकृष्ट धर्मका अपवाद भी हो जाय तो कोई दोष नहीं होता। अतः '**पतीन् शुश्रूषध्वम्**'—अपने परमतात्पर्य परब्रह्मका ही प्रतिपादन करो।

एक पतिव्रता अपने पतिदेवकी चरणसेवा कर रही थी। पतिदेव सोये हुए थे। इसी समय उसका पुत्र अग्निकी ओर जाने लगा। उसके चित्तमें उसे उधर जानेसे रोकनेका विचार हुआ, परंतु ऐसा करनेके लिये उसे पतिसेवा छोड़नी पड़ती। इसलिये उसने पतिसेवाको ही अपना परम कर्तव्य समझकर बच्चेको बचानेका कोई प्रयत्न नहीं किया। इस उत्कृष्ट धर्मके प्रतापसे अग्निदेव शीतल हो गये और बालकका बाल भी बाँका नहीं हुआ। इसीसे भगवान् कहते हैं—हे श्रुतियो! जबतक तुम अपने परमतात्पर्यका विषय शुद्ध बुद्ध मुक्त परब्रह्मका प्रतिपादन करनेमें प्रवृत्त नहीं हुई थीं, तबतक तो कर्म और उपासनाका पोषण करके उन अज्ञ जनोंको पयपान करा सकती थीं, परंतु अब, जबकि तुम इस ओर आयी हो, तुम उनके लिये कर्मफलरूप दुग्धका दोहन करनेकी चेष्टा मत करो।

इधर बुद्धियोंकी दृष्टिसे देखें तो उन्हें भगवान् यही उपदेश देते हैं कि '**मा यात गोष्ठम्**'—घट-पटादि अनात्म विषयोंकी ओर मत जाओ; बल्कि '**शुश्रूषध्वं पतीन्**' अपने अवभासक और अधिष्ठानभूत परब्रह्मकी ओर देखो। इस प्रसंगमें '**क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च**' (श्रीमद्भा० १०।२९।२२)—इसका यह तात्पर्य है कि जबतक परब्रह्मकी अनुभूति नहीं होती, तबतक अन्तःकरण और इन्द्रियाँ घबराये रहते हैं। उनकी जो बाह्य-प्रवृत्ति है, वह उनके दुःखका ही कारण है। श्रुति कहती है—

'**पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः**'

(कठ० २।१।१)

यहाँ '**व्यतृणत्**' शब्दपर विशेष रूपसे विचार करना है। भगवान् भाष्यकारने '**व्यतृणत्**' का पर्याय '**हिंसितवान्**' लिखा है अर्थात् स्वयम्भू परमात्माने इन्द्रियोंको बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया है। बहिर्मुख होनेमें इन्द्रियोंकी हिंसा कैसे मानी गयी? इसमें यही कहना है कि अपने प्रियतमसे विमुख कर

देना हिंसा ही तो है। इन्द्रियाँ अपने परम प्रेमास्पद सर्वान्तरतम परमात्माका अनुभव नहीं कर रहीं, बल्कि नाम-रूपात्मक संसारमें ही भटक रही हैं, यही उनका वध है। अत: जबतक हमारी समस्त इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति परब्रह्म परमात्माकी ओर नहीं होती, तबतक वे अत्यन्त व्यग्र रहती हैं। यही उनका क्रन्दन है—

मन करि बिषय अनल बन जरई। होइ सुखी जौं एहिं सर परई॥

(रा०च०मा० १।३५।८)

प्राय: यह देखा जाता है कि विविधविध भोग-सामग्रीसे सम्पन्न महानुभाव भी अशान्तिके चंगुलमें फँसे रहते हैं। उनकी भोगतृष्णाको जैसे-जैसे भोजन मिलता जाता है, वैसे-वैसे ही वह और भी अधिक उत्तेजित होती जाती है। जिस प्रकार विषम विषाक्त अग्निके कटाहमें पड़ा हुआ कीट तड़पता है, उसी प्रकार सांसारिक भोगोंमें फँसे हुए जीव निरन्तर बेचैन रहते हैं। परंतु किया क्या जाय, यह उनका स्वभाव ही है; जैसे शूकरको विष्ठासे ही प्रेम होता है, उसी प्रकार इन इन्द्रियोंकी प्रीति विषयोंमें ही होती है। उस अपनी वासनाके कारण जीव दु:खमें ही सुखका अनुभव कर रहे हैं। जिस प्रकार दाद खुजलानेमें सुख मालूम होता है। उसी प्रकार विषयोंमें सुख जान पड़ता है। इस व्यामोहसे निकलो और परब्रह्म परमात्माकी ओर बढ़ो।

जिस समय तुम्हारी प्रवृत्ति नामरूपोपाधिनिर्मुक्त परब्रह्ममें ही होगी, उसी समय तुम्हें शान्ति प्राप्त होगी। फिर तो '**यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र परं पदम्**' (पैङ्गलोपनिषद् ४।२१) इस उक्तिके अनुसार सर्वत्र सुखका ही भान होगा। '**आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।**' (तैत्तिरीय० ३।६) इस श्रुतिके अनुसार यह नामरूपात्मक जगत् आनन्दात्मक परब्रह्मसे ही उत्पन्न हुआ है। इसलिये यह आनन्दमय ही है। जिस प्रकार स्वाभाविक सौगन्ध्योपहित चन्दनमें मृत्तिका एवं जलादिके योगसे अस्वाभाविक दुर्गन्धकी प्रतीति होती है अथवा पित्त बिगड़ जानेके कारण मिश्री कड़वी जान पड़ती है, उसी प्रकार अचिन्त्यानन्त सौख्यसुधासिन्धु ब्रह्ममें अज्ञानजनित उपाधिके कारण इस दु:खमय प्रपंचकी प्रतीति होती है। अधिष्ठान ब्रह्मका ज्ञान होनेपर उसकी निवृत्ति हो जाती है। अत: '**तान् पाययत दुह्यत**' इन इन्द्रियोंको पान कराओ और दुहो। क्या पान कराओ? परब्रह्मामृत; क्योंकि जब बुद्धि ब्रह्माकार रहने लगेगी तो विषय दु:खमय नहीं रहेंगे, वे भी ब्रह्ममय हो जायँगे। अत: इन्द्रियोंको उस परमानन्दसुधासिन्धुमें निमज्जित करनेके लिये दृश्यमात्रको परब्रह्म-रूपमें देखो।

ऊपर जो पतिव्रताकी गाथा कही है, उसमें यदि वह पतिव्रता लौकिक साधनोंसे अपने बालकको बचानेका प्रयत्न करती तो वह सदाके लिये उसकी रक्षा नहीं कर सकती थी। उसे सदाके लिये तो वह तभी सुरक्षित कर सकती थी, जब कि अग्नि शीतल हो जाय। इसके लिये तो पतिशुश्रूषण ही एकमात्र साधन था। उस परमधर्मका दृढ़तापूर्वक पालन करके ही उसने अग्निका स्वभाव बदल दिया।

सांख्य, नैयायिक और वैशेषिक आदि मतावलम्बियोंकी विवेकवती बुद्धि अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय और इन्द्रियवृत्तिरूप बालकोंको सर्वथा सुरक्षित नहीं करती। वह अपने बालकोंको अग्निसे बचा तो लेती है, परंतु अग्निके भयका सर्वथा नाश नहीं करती; क्योंकि प्रपंचका अत्यन्ताभाव तो उस मतमें है नहीं। यह काम तो अद्वैतनिष्ठ बुद्धि ही करती है। ऐसा कहकर हम अद्वैतवादका पक्ष नहीं करते; हमारा तो केवल यही मत है कि जिनके मतमें पूर्ण सच्चिदानन्दघन परब्रह्मसे भिन्न किसी दूसरी वस्तुकी सत्ता रहती है, उनके यहाँ तो दु:खका बीज रह ही जाता है।

इसी दृष्टिसे बुद्धियोंके प्रति भगवान्‌का यही कथन है कि '**शुश्रूषध्वं पतीन्**' तुम परब्रह्माकाराकारित वृत्तिमें परिणत होकर इन्हें ब्रह्मामृतका पान कराओ और इनकी तृष्णाको शान्त करो—इनका मनोरथ पूर्ण करो। वस्तुत: विषय-सेवनसे इन्हें सुख नहीं मिल सकता। भला मृगतृष्णाका जल पीनेसे किसीकी प्यास गयी है? उसमें जल है ही कहाँ? इसी प्रकार क्या

विषय-भोग-जन्य सुखोंसे इन्द्रिय और इन्द्रियवृत्तियोंको शान्ति मिल सकती है? नहीं, क्योंकि विषय और विषय-सुख तो हैं ही नहीं। अतः तुम सच्चिदानन्दघन परब्रह्मका ही अनुसन्धान करो। इससे यह नामरूपात्मक प्रपंच निवृत्त हो जायगा; फिर तो एकमात्र अचिन्त्यानन्दसौख्य-सुधा-सिन्धु परमात्मा ही रह जायगा और फिर ये उसीकी माधुरीका पान करेंगी।

वस्तुतः इन्द्रियोंसे विषयोंका स्फुरण नहीं होता, बल्कि विषयावच्छिन्न चेतनका ही होता है। सबका अधिष्ठानभूत चेतन ही सत्य वस्तु है। उसके सिवा अन्य वस्तुकी सत्ता ही कहाँ है? यहाँ यह सन्देह हो सकता है कि ब्रह्म इन्द्रियोंका विषय कैसे होगा, वह तो अशब्द, अस्पर्श और मन एवं इन्द्रिय आदिका अविषय है। इसमें कहना यह है कि वस्तुतः ब्रह्म ही सारी इन्द्रियोंका विषय हो सकता है। प्रमाणका प्रामाण्य अज्ञात वस्तुका ज्ञान करानेमें ही है। अज्ञानकी दो शक्तियाँ हैं—आवरण और विक्षेप। इनमें आवरणके भी दो भेद हैं—असत्त्वापादक और अभानापादक। ये असत्त्वापादक और अभानापादक आवरक किसी स्वतः सत्ता और स्फूर्तिवाली वस्तुका ही आवरण करेंगे। ऐसी वस्तु ब्रह्म ही है। अतः वही अज्ञानका विषय हो सकता है। इसीसे संक्षेपशारीरककारका कथन है—

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी
निर्विभागचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो
नाश्रयो भवति नापि गोचरः॥

मिथ्या वस्तुकी तो अज्ञात सत्ता-स्फूर्ति हुआ ही नहीं करती। इसलिये वह प्रमाणका विषय हो ही नहीं सकती। समस्त इन्द्रियोंका विषय एकमात्र परब्रह्म ही हो सकता है, अतः इन्हें उस ब्रह्मानन्द-सुधा-सिन्धुके अमृतका ही पान कराओ।

विषयचिन्तनसे दुःखकी प्राप्ति

मन एवं समस्त इन्द्रियाँ जबतक विषयचिन्तन करती रहेंगी, तबतक दुःख ही पायेंगी। इन्हें क्या करना चाहिये? केवल ब्रह्माभ्यास। ब्रह्माभ्यासका लक्षण इस प्रकार है—

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः॥

यह बात निश्चित है कि हम जैसा चिन्तन करेंगे, वैसे ही बन जायँगे। इसीसे श्रुति कहती है—

'यत्क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते
यत् कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते॥'

(बृहदारण्यक० ४।४।५)

जिनके श्रोत्र भगवत्कथाश्रवणमें संलग्न हैं, जिनके चरण भगवद्धामोंकी यात्रा करते हैं, जिनके हाथ निरन्तर भगवत्सेवामें ही लगे रहते हैं, जिनकी घ्राणेन्द्रिय प्रभुके पादपद्मसे संलग्न तुलसिकाका ही आघ्राण करती है तथा जिनके अंग भगवद्भक्तोंके सहवासका अद्भुत आनन्द लूटते हैं, उनके लिये यह संसार संसार ही नहीं रहता। देखिये—नारद, शुकदेव, व्यास एवं वसिष्ठादिके लिये भी तो यही संसार है। वे बारम्बार देह धारण करके यहाँ आते हैं। उनके लिये यह आनन्दस्वरूप है और हमारे लिये यही विषम विषाक्त अग्निपूर्ण कटाह हो रहा है। जिनकी बुद्धिने श्रीकृष्णचन्द्ररूप परमपतिकी शुश्रूषा की है, उनके लिये यह भगवद्रूप हो गया है। इसीसे वे प्रभुके लीलाविग्रहका आस्वादन करनेके लिये सब कुछ जानकर भी थोड़ा-सा भेद स्वीकार करते हैं। शुद्ध परब्रह्म आनन्दरूप है, किंतु उसका सगुण रूप आनन्दकन्द है—वह आनन्दका ही घनीभूत रूप है। जिस प्रकार इक्षुरस मिष्ट है, किंतु शर्करा और मिश्रीमें जो माधुरी है, वह कुछ और ही है, इसी प्रकार भगवान्‌के दिव्यमंगल विग्रहका सुख विचित्र ही है। उनके कर, चरण, नख, अधर, भूषण, आयुध सभी परम दिव्य हैं; उनके एक-एक अवयवपर कोटि-कोटि कामदेव निछावर किये जा सकते हैं। उनकी उस परमानन्दमयी मूर्तिका सुखास्वादन करनेके लिये ही वे नित्यमुक्त महर्षिगण इस लोकमें अवतरित होते हैं और स्वरूपतः सर्वथा अभिन्न होनेपर भी प्रभुका

आनन्द भोगनेके लिये भेद स्वीकार करते हैं; क्योंकि बिना भेदके भोग नहीं हो सकता। यही भगवल्लीलाका निगूढ़ रहस्य है।

ऊपर कहा जा चुका है कि बुद्धियोंके प्रति भगवान्‌का कथन है कि तुम संसारकी ओर मत जाओ, अपने परमपति परमात्माका ही अनुसन्धान करो। यहाँ '**क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च**' का तात्पर्य यह है कि जबतक तुमलोग परब्रह्म परमात्माका अनुसन्धान न करोगी, तबतक इन्द्रिय और इन्द्रियवृत्तिरूप बालक तथा बछड़े क्रन्दन करते रहेंगे; क्योंकि ब्रह्मानुसन्धान न करनेपर तो प्रपंचकी प्रतीति बनी ही रहेगी। वस्तुतः इस संसारकी सत्ता मनकी चंचलता रहनेतक ही है, उस चंचलताका निरोध होनेपर फिर प्रपंचकी प्रतीति नहीं होती।

'**मनसो ह्युन्मनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते॥**'

(पैङ्गलोपनिषद् ४।२०)

अतः प्रपंचकी प्रतीति और उसके कारण इन्द्रियोंके क्रन्दनका हेतु तुम्हीं हो। जिस प्रकार महासमुद्रमें वायुके योगसे कुछ हलचल होनेपर ही तरंगमालाका प्रादुर्भाव होता है, उसी प्रकार बुद्धिके स्फुरणसे ही चित्समुद्रमें कुछ हलचल होती है। इसीका नाम मन है। योगवासिष्ठमें कहा है—

स आत्मा सर्वगो राम नित्योदितवपुर्महान्।
यन्मनाक् मननीं शक्तिं धत्ते तन्मन उच्यते॥

अतः थोड़ी-सी मननी शक्तिको धारण करनेपर परब्रह्म ही मनरूपसे प्रादुर्भूत होता है।

किंतु मनकी वह मननी शक्ति क्या है? यदि हम इस बातका विचार करें कि तरंग क्या है तो यही निश्चय होगा कि वस्तुतः वह समुद्र ही है। वायुके कारण ही उसकी पृथक् प्रतीति होती है। इसी प्रकार मन भी मायाशक्तिके कारण ही अपने अधिष्ठानरूप परब्रह्मसे पृथक् प्रतीत होता है। अतः चित्तका जगत्-सम्बन्ध-स्फुरण ही मननी शक्ति है, वस्तुतः व्यावहारिक जगत्‌में स्फुरण ही चित्‌का चित्तत्त्व है, वही सृष्टिका बीज है, उसीको भगवान्‌का ईक्षण, संकल्प अथवा आदिसंवेदन कहकर भी पुकारा जाता है।

मन साक्षीभास्य माना जाता है। उसकी कभी अज्ञात सत्ता नहीं रहती। जिस प्रकार समुद्रके बिना तरंगकी सत्ता नहीं होती, उसी प्रकार शुद्ध चेतनसे भिन्न मन नहीं है। यदि मननी शक्तिका निरोध हो जाय तो चित्त चित् हो जाता है। वस्तुतः चित् तकाररहित चित्त ही है। योगवासिष्ठमें कहा है—

'**चित्तं चिद्विजानीयात्तकाररहितं यदा।**'

यह तकार ही चंचलता है। इस चंचलताके कारण ही नित्य-शुद्ध-बुद्ध निर्विकार ब्रह्ममें प्रपंचकी प्रतीति हुई है। इसकी निवृत्ति होनेपर तो मनका मनस्त्व ही नहीं रहता। फिर तो यह प्रपंच ब्रह्म ही हो जाता है; क्योंकि वास्तवमें तो अन्वय-व्यतिरेकसे ब्रह्म ही है—ब्रह्मकी सत्तासे ही इसकी सत्ता है, ब्रह्मको छोड़कर तो इसकी सत्ता ही नहीं है। माया या अज्ञान भी अधिष्ठानसे भिन्न नहीं है।

श्रीगोसाईं तुलसीदासजी कहते हैं—जिस प्रकार काष्ठमें अनेकों पुतलियाँ और कपासमें तरह-तरहके वस्त्र निहित हैं, उसी प्रकार चित्तमें ही सारा प्रपंच है। यदि चित्त स्वाधीन हो जाय तो भले ही संसारके सारे पदार्थ बने रहें, उनसे अपना क्या हानि-लाभ होता है?

चित्तमें ही सारा प्रपंच है—योगवासिष्ठका एक दृष्टान्त

इस विषयमें एक गाथा है—एक राजा अश्वमेध-यज्ञ कर रहा था। यज्ञीय अश्व छोड़ा गया, बहुत-से सैनिक अश्वकी रक्षा करने चले। उस अश्वको एक मुनिकुमारने पकड़ लिया और उस सारी सेनाको जीतकर वह उसे लेकर एक शिलामें घुस गया। यह अद्भुत व्यापार देखकर बचे-खुचे सैनिकोंको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने जाकर सारा हाल राजाको सुना दिया। राजाने उस अश्वको लानेके लिये कुछ आदमियोंके साथ अपने भाईको भेजा। वह राजकुमार जब उस स्थानपर पहुँचा तो एक शिलाके सिवा वहाँ और उसे कुछ भी न मिला। उसने सोचा कि यहाँ

अवश्य कुछ मुनिश्रेष्ठ होंगे; उन्हींसे इस लीलाका रहस्य खुल सकेगा। इधर-उधर खोजनेपर उसे एक महात्मा दिखायी दिये। महात्मा समाधिस्थ थे। राजकुमार तन-मनसे उनकी सेवा-शुश्रूषा करने लगा। परंतु उनका समाधिसे उत्थान न हुआ। कुछ काल पश्चात् उसकी सच्ची लगन देखकर वही मुनिकुमार प्रकट हुआ और उसे वह यज्ञीय घोड़ा दे दिया। राजकुमारने वह अश्व दूसरे मनुष्योंके साथ राजधानीको भेज दिया और स्वयं वहीं रह गया। तब मुनिकुमारने पूछा—'राजन्! तुम क्या चाहते हो?'

राजकुमारने कहा—'भगवन्! मेरी यही इच्छा है कि इन मुनिश्रेष्ठका समाधिसे व्युत्थान हो।' इसपर मुनिकुमारने कहा—'ऐसा होना तो बहुत कठिन है; क्योंकि इस समय ये स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरोंका अतिक्रमणकर केवल सत्तामात्र परब्रह्मके साथ एकीभावसे स्थित हैं। तथापि मैं प्रयत्न करता हूँ'—ऐसा कहकर मुनिकुमार समाधिस्थ हो गया। उसने तीनों शरीरोंसे सम्बन्ध छोड़कर सन्मात्रमें स्थित हो मुनिवरके सन्मात्र तत्त्वमें स्थित आत्माको उद्‌बुद्ध किया। इससे मुनिकी समाधि खुल गयी। मुनिवरने राजकुमार और समाधिस्थ मुनिकुमारको देखा तथा योगबलसे सारा रहस्य जानकर मुनिकुमारको उद्‌बुद्ध किया। फिर राजकुमारने मुनिवरसे प्रार्थना की—'भगवन्! आप मुझे अपना परिचय देकर कृतार्थ करें और ये मुनिकुमार हमारा अश्व लेकर किस प्रकार इस शिलामें घुस गये थे, यह सब रहस्य बतलानेकी कृपा करें।'

मुनिने कहा—'राजन्! पूर्वकालमें मैं एक राजा था। संसारसे निर्वेद होनेपर मैं अपना राज्य छोड़कर सपत्नीक यहाँ तपस्या करने चला आया। एक दिन जब कि मैं समाधिस्थ था, दैववश मेरी रानीकी वृत्ति कुछ चंचल हो गयी और उसने संकल्पसे ही मेरे साथ मैथुन किया। उससे वह गर्भवती हो गयी और यथासमय उससे यह पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्र-प्रसवके पश्चात् उसने तो शरीर छोड़ दिया, फिर मैंने ही इसका लालन-पालन किया। कुछ वयस्क होनेपर इसकी इच्छा राज्य भोगनेकी हुई। तब मैंने इसे योगाभ्यासमें लगाया, उसमें सिद्धि प्राप्त करनेपर इसने संकल्पसे ही इस शिलामें एक ब्रह्माण्ड रच लिया है। यह उस ब्रह्माण्डका ईश्वर है। तुम्हारे अश्वको भी यह वहीं ले गया था।'

यह सब वृत्तान्त सुनकर कुतूहलवश राजकुमारको उस मुनिकुमारके संकल्पित ब्रह्माण्डको देखनेकी इच्छा हुई। तब मुनिकुमारने कहा—'अच्छा, तुम मेरे साथ चलो।' किंतु जब राजकुमारने उसके साथ शिलामें प्रवेश करनेका प्रयत्न किया तो वह सफल न हुआ। तब मुनिकुमारने अपने योगबलसे उसे अपने साथ ले लिया। उस शिलामें प्रवेश करनेपर उसे इस ब्रह्माण्डकी अपेक्षा भी अधिक विस्तृत ब्रह्माण्ड दिखायी दिया। वहाँ उसने ऐसा ही आकाश देखा तथा वहाँके ब्रह्मलोक, इन्द्रलोक, वैकुण्ठ, पाताल और रसातलादिमें जाकर ब्रह्मा, विष्णु आदि सब देवताओंका भी दर्शन किया। उसने यह भी देखा कि वहाँ वह मुनिकुमार ही सबसे अधिक पूजनीय है; वहाँके देवगण भी उसे अपना ईश्वर समझते हैं। इस प्रकार केवल एक दिनमें ही उसने वह सारा ब्रह्माण्ड देख लिया। तब उसे फिर इस लोकमें आनेकी इच्छा हुई। उसके कहनेसे मुनिकुमार उसे बाहर ले आया; किंतु उसने देखा कि वहाँका सारा ही रंग-ढंग बदला हुआ है। जहाँ पर्वत था, वह विस्तृत समतल भूमि है, जहाँ नदी थी, वहाँ मरुभूमि दिखायी देती है और जहाँ वन था, वहाँ नगर बसे हुए हैं।

यह देखकर उसने मुनिकुमारसे इसका कारण पूछा। मुनिकुमारने कहा—'तुम्हें मेरे ब्रह्माण्डमें तो एक ही दिन व्यतीत हुआ जान पड़ा था; किंतु उतने ही समयमें यहाँ कई युग बीत गये हैं। इसलिये अब यहाँ सब कुछ बदल गया है। तुम्हारे कुलमें भी अब बहुत-सी पीढ़ियाँ बीत चुकी हैं; तुम्हारे सामने जितने मनुष्य थे, उनमें तो केवल तुम ही रह गये हो।' यह सुनकर राजाको बड़ा विस्मय और विषाद हुआ। फिर उसने मुनिकुमारसे इसका रहस्य पूछा।

मुनिकुमार बोला—'राजन्! वस्तुतः यह प्रपंच संकल्पमात्र है। साधारण लोगोंके संकल्प शुद्ध नहीं होते, उनमें कई संकल्पोंका सांकर्य रहता है; इसलिये वे सिद्ध भी नहीं होते। यदि हमारा संकल्प सिद्ध हो जाय और उसमें अन्य संकल्पोंका मेल न रहे तो हम उसे प्रत्यक्ष व्यावहारिक रूपमें देख सकते हैं। जिस संकल्पकी पूर्वकोटि और परकोटि ज्ञात होती है, वह तो कल्पना ही है, वह सिद्ध संकल्प नहीं है। यदि हमारा संकल्प ऐसा हो जाय कि उसकी पूर्वकोटिका [अर्थात् वह कब और किस प्रकार आरम्भ हुआ था—इस बातका] भान न रहे तो वह अवश्य प्रत्यक्ष हो जायगा। मेरा संकल्प सिद्ध हो गया है। उस संकल्प-शक्तिसे ही मैंने इस शिलामें ब्रह्माण्डकी भावना कर ली है। मेरा ब्रह्माण्ड इस ब्रह्माण्डकी अपेक्षा बृहत्तर है। जितने समयमें मैंने वहाँ एक दिनकी भावना की थी, उतने समयमें इस ब्रह्माण्डके ब्रह्माने कई युगोंकी भावना की। अतः वहाँ केवल एक दिन हुआ और यहाँ कई युग बीत गये। वस्तुतः सारा प्रपंच भगवान्‌का संकल्प ही है। जो शक्ति भगवान्‌में है, वही योगियोंमें भी हो जाती है। वे यदि घटको पट कहें तो उसे पट होना पड़ेगा। ब्रह्मादिका संकल्प भी ऐसा ही है। इसीसे उनके संकल्पित पदार्थ उन्हें भी प्रतीत होते हैं और हमें भी। अन्य पुरुषोंके संकल्प ऐसे नहीं होते, उन्हें अपने संकल्पोंकी पूर्वकोटि ज्ञात रहती है; अतः उनके संकल्पित पदार्थ केवल उन्हें ही प्रतीत होते हैं, दूसरोंको नहीं।'

इसीसे पहले कहा गया है—'**मनसो ह्युन्मनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते॥**' क्योंकि प्रपंचकी प्रतीति मनकी चंचलतामें ही होती है, उसकी स्थिरतामें नहीं। अतः भगवान् बुद्धियोंसे कहते हैं—'अरी बुद्धियो! जबतक तुम स्थिर होकर अपने परम प्रेमास्पद परब्रह्म परमात्माका सुखास्वादन न करोगी, तबतक तुम्हारा श्रम निवृत्त न होगा। श्रमकी निवृत्ति परमप्रेमास्पदके सुखास्वादनसे ही होती है; क्योंकि जिस समय प्राणी प्रेमविह्वल होता है, उस समय उसकी इन्द्रियाँ और मन शिथिल पड़ जाते हैं। जिस समय कोई प्रेमी दीर्घकालके प्रवासके अनन्तर अपनी प्रियतमासे मिलता है और उन दोनोंका परस्पर आलिंगन होता है, उस समय उन्हें बाहर-भीतरका कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। यह दशा प्राकृत प्रेमियोंकी है, फिर परमानन्द-सौख्य-सुधासिन्धु श्रीश्यामसुन्दरका संयोग होनेपर उनके दिव्य रूप, दिव्य स्पर्श एवं दिव्य गन्धका समास्वादन करनेपर जो विलक्षण स्थिति होती है, उसका तो कहना ही क्या है? श्रुति कहती है—उस समय तो न बाह्य जगत्‌का ज्ञान रहता है और न आन्तरका—'**नान्तरं किञ्चन वेद न बाह्यम्।**' उस समय उसका चित्त भी अपने अधिष्ठानभूत चिदात्मामें लीन हो जाता है—

'तच्चापि चित्तवडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते।'

लीलाके विकासके लिये नित्य अभिन्न श्रीवृषभानुदुलारी और रासेश्वर श्रीकृष्णका द्वैधीभाव

जिस समय जीवको अपने एकमात्र प्रियतम परमानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रका आश्लेष होता है, उस समय जो आनन्दातिरेक होता है, उसमें उसके मन और इन्द्रिय आदि ऐसे परिप्लुत हो जाते हैं कि उसे अपना भी भान नहीं रहता। उस स्थितिमें भक्त और भगवान्‌का सर्वथा अभेद हो जाता है। भगवान्‌की नित्यनिकुंज-लीलामें श्रीवृषभानुदुलारीके साथ उनका नित्य संयोग रहता है। वहाँ उनका कभी विप्रयोग नहीं होता, क्योंकि भगवान् कृष्ण अचिन्त्यानन्द-सुधासिन्धु हैं और श्रीरासेश्वरीजी उनकी मधुरिमा हैं। वस्तुतः वे एक ही तत्त्व हैं, केवल रसानुभूतिके लिये ही उनके दिव्यमंगल विग्रहोंका प्रादुर्भाव हुआ है। वे यद्यपि सर्वदा एकरूप हैं तथापि लीलाविशेषोपयुक्त रसाभिव्यक्तिके लिये उनका विप्रयोग आवश्यक है। अतः लीलाविशेषके विकासके लिये ही उनका द्वैधीभाव होता है। उस समय जितने भावोंकी अपेक्षा है, उन सभीका प्रादुर्भाव होता है। यह ठीक है कि उस नित्य लीलामें उनका कायिक और ऐन्द्रियक विप्रयोग कभी नहीं होता। उनके मन, प्राण, नेत्र तथा

प्रत्येक अंग-प्रत्यंग परस्पर संश्लिष्ट हैं। तथापि उस संश्लेषसे प्रेमातिशयके कारण उनमें जो विह्वलता आती है, उससे श्रीवृषभानुनन्दिनीका मन कृष्णसुखका अनुभव नहीं करता और श्रीकृष्णचन्द्रका विह्वल मन श्रीनिकुंजेश्वरीजीकी माधुर्यसुधाका आस्वादन करना भूल जाता है। यहाँ केवल इतना ही विप्रयोग होता है।

अब इधर अध्यात्ममें आइये। यह बुद्धिरूपा प्रमदा सुषुप्तिमें थोड़ा-सा उस ब्रह्मसुखका रसास्वादन करती है। इसीसे उस समय इसे आत्मविस्मृति हो जाती है। बस, जिस समय बुद्धि अपनेको भूली कि उसे प्रपंचका भान ही नहीं रहता। फिर तो बुद्धि बुद्धि नहीं रहती, मन मन नहीं रहता और प्राण प्राण नहीं रहते। वे सब केवल चिन्मात्र हो जाते हैं। इसीसे भगवान्‌ने कहा है कि 'हे बुद्धियो! जबतक तुम मुझमें ही स्थित न होगी, तबतक तुम्हारे बाल-बच्चेरूप ये इन्द्रियाँ और मन आदि रोते ही रहेंगे।'

परंतु करें क्या? बहुत कुछ विचार भी करते हैं, तब भी विषय हमें अपनी ओर आकर्षित कर ही लेते हैं। हम स्वयं उनकी ओर जानेका संकल्प नहीं करते तथापि जिस समय कोई असाधारण रूप हमारे सामने आता है, उस समय नेत्र उसकी ओर खिंच जाते हैं; जिस समय कोई सुमधुर शब्द सुनायी देता है, कान वहाँसे हटना नहीं चाहते; जब कोई दिव्य गन्ध मालूम होती है तो घ्राणेन्द्रिय उसमें फँस ही जाती है तथा जब कोई सुस्वादु पदार्थ सामने आता है तो रसनेन्द्रिय उसका रस लेने ही लगती है। ये सब हठात् हमें अपनी ओर खींच लेते हैं। यह सब उस महामायाका ही प्रभाव है।

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा॥
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति।

(श्रीदुर्गासप्तशती १।५५-५६)

यह देवी भगवती कौन है? विषय-रूपमें परिणत हुई प्रकृति ही वह महामाया है। उसके कारण बड़े-बड़े ज्ञानी, तपस्वी और जितेन्द्रिय भी अपनी-अपनी निष्ठासे विचलित हो जाते हैं। नारद, विश्वामित्र और ब्रह्मादिको भी उसने नहीं छोड़ा, फिर हम-जैसे साधारण पुरुषोंकी तो बात ही क्या है? अतः महापुरुषोंका यही उपदेश है कि कोई कैसा ही विवेकी हो, उसे सर्वदा विषयोंसे दूर ही रहना चाहिये; वहाँ उसे अपनी पण्डिताईका भरोसा नहीं करना चाहिये। भगवान् शंकराचार्य कहते हैं—

'आरूढयोगोऽपि निपात्यतेऽधः
सङ्गेन योगी किमुताल्पसिद्धिः।'

अतः विषयोंके रहते हुए ये बाल-बच्चे तो रोते ही रहेंगे। यदि तुम इनका रोना बन्द करना चाहती हो तो तुम अपने पतिदेव अचिन्त्यानन्द-सुधासिन्धु परब्रह्मका चिन्तन करो। उसमें निश्चल हो जानेपर विषयोंकी सत्ता ही नहीं रहेगी। इस प्रकार जब विषय ही न रहेंगे तो रोयेंगे किसके लिये?

इन्द्रियोंको विषय-सेवन मत कराओ

वास्तवमें तो इन्द्रियाँ और इन्द्रियवृत्तियाँ परब्रह्मकी ही ओर जाना चाहती हैं, विषयोंकी ओर जाना इन्हें अभीष्ट नहीं है। परंतु करें क्या, विषयरूप चुम्बक बलात् अपनी ओर खींच लेता है। इसीसे बृहदारण्यकोपनिषद्‌में इन्द्रियोंको ग्रह बतलाया है और विषयोंको अतिग्रह। इन्द्रियाँ और मन प्राणीको इसी प्रकार ग्रहण किये हुए हैं, जैसे ग्रह अर्थात् भूत। उन ग्रहोंसे गृहीत होकर यह जीव रोता-चिल्लाता है। इन ग्रहोंसे छूटनेके लिये उसे श्रीकृष्णरूप ग्रहकी शरण लेनी चाहिये। जिस समय यह कृष्ण-ग्रह-गृहीतात्मा हो जायगा, उस समय वे क्षुद्र ग्रह इसका कुछ भी न बिगाड़ सकेंगे। किंतु विषय अतिग्रह हैं। आत्मापर मनरूप ग्रह चढ़ा हुआ है, उसपर इन्द्रियरूप दस भूत सवार हैं और उनपर भी विषयरूप विकट भूत लगे हुए हैं। इन अतिग्रहोंसे गृहीत होनेपर भला इन्द्रियोंकी आत्माकी ओर कैसे प्रवृत्ति हो सकती है?

पहले हम कह चुके हैं कि स्वयम्भू भगवान्‌ने इन्द्रियोंकी बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया है। हिंसा किसे कहते हैं? अनभिमत कर्म करना पड़े—यही हिंसा है। इन्द्रियाँ विषयोंकी ओर जाना नहीं चाहतीं,

भगवान्ने इन्द्रियोंको बहिर्मुख कर दिया। इससे उन्हें बलात्कार उनकी ओर जाना पड़ा। यही उनकी हिंसा है। अतः भगवान् कहते हैं—'हे बुद्धियो! ये इन्द्रियरूप बालक विषयोंकी ओर जानेसे रो रहे हैं और परमानन्द-सुधाका पान नहीं कर पाते। इसमें कारण तुम्हीं हो, क्योंकि यदि तुम चंचलता छोड़ दो तो इन विषयोंकी सत्ता ही न रहे। उस समय ये इन्द्रियाँ जायँगी ही कहाँ? तब तो ये ब्रह्मानन्द-सुधाका ही पान करेंगी। अतः इन्हें शान्त और तृप्त करनेके लिये भी तुम मेरा ही चिन्तन करो।'

इन्द्रिय और इन्द्रियवृत्तियाँ बुद्धिकी ही अवस्था-विशेष हैं। इसलिये ये उसके बालक ही हैं। जिस प्रकार दर्पणके भीतर अनेक प्रकारके पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं, उसी प्रकार शुद्ध चैतन्य-रूप दर्पणमें समस्त प्रपंच प्रतिबिम्बित हैं। दर्पणमें जो आकाशकी प्रतीति होती है, वह वस्तुतः निरवकाशमें ही अवकाशकी प्रतीति है। दर्पणके अवयव इतने सघन हैं कि उनमें किसी पदार्थका प्रवेश होना सम्भव ही नहीं है। अतः उसमें जितने समुद्र, नदी, पर्वत एवं वन आदि प्रतीत होते हैं, वे सब असत् ही हैं। इसी प्रकार शुद्ध चैतन्यरूप दर्पणमें अनेकविध प्रपंच प्रतीत हो रहा है। परंतु वस्तुतः वह सब केवल स्वयं-प्रकाश शुद्ध चेतन ही है।

परंतु उनकी प्रतीति क्यों होती है? यहाँ दो बातें ध्यान देनेकी हैं—(१) जिस समय आप दर्पणके शुद्ध स्वरूपपर दृष्टि ले जायँगे, उस समय आपको उसमें प्रतिबिम्बित पदार्थ दिखायी नहीं देंगे और जिस समय आप प्रतिबिम्बित पदार्थ देखेंगे, उस समय दर्पणका शुद्ध स्वरूप नहीं देख सकेंगे। यही बात परब्रह्मके विषयमें भी है। परब्रह्मको ग्रहण करनेवाली वृत्ति प्रपंचको ग्रहण नहीं कर सकती और प्रपंचको ग्रहण करनेवाली वृत्ति परब्रह्मको ग्रहण नहीं कर सकती। (२) यह भी निश्चित बात है कि प्रतिबिम्बित पदार्थोंकी सत्ता दर्पणके ही अधीन है और वस्तुतः दर्पणको ग्रहण किये बिना हम प्रतिबिम्बितको ग्रहण भी नहीं कर सकते। यह कभी सम्भव नहीं है कि हम तरंगको तो देख लें और जलको न देखें तथा हमें सौरालोक या चन्द्रालोककी प्रतीति तो न हो, किंतु उनसे प्रकाश्य पदार्थोंकी प्रतीति हो जाय। इसी प्रकार हमें पहले ब्रह्मका ग्रहण होता है और पीछे प्रपंचका; क्योंकि सारे पदार्थ उसीके प्रकाशसे प्रकाशित हैं—

'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥'

(श्वेताश्वतर० ६।१४)

किंतु इस समय जो ब्रह्मका ग्रहण होता है, वह उसके शबल रूपका होता है। उसके शुद्ध स्वरूपका ग्रहण तो प्रपंचकी उपेक्षा करते-करते उसकी अप्रतीति होनेपर ही होगा; जिस प्रकार कि शुद्ध दर्पणका ग्रहण तभी हो सकता है जब कि प्रतिबिम्बका ग्रहण न किया जाय।

जिस समय बुद्धि प्रपंचको ग्रहण करती है, उस समय वह बहुत घबराती है; क्योंकि इसमें सिंह-व्याघ्रादि बड़े-बड़े भयानक पदार्थ भी हैं। लोकमें प्रतिबिम्बसे भय होना प्रसिद्ध है। माता बालकको अपनी परछाईं नहीं देखने देती, क्योंकि उसे भय है कि वह उसे वेताल समझकर डर जायगा। स्वकल्पित मिथ्या वेतालसे भी मृत्यु हो जाती है। इसी प्रकार यह प्रपंच चिद्रूप दर्पणमें प्रतिबिम्बित परछाईं है। अतः विवेकवती बुद्धिरूप माताको उचित है कि वह इन्द्रिय और इन्द्रियवृत्तिरूप अपने बालकोंको उनके कल्याणके लिये यह प्रपंचरूप परछाईं न देखने दे और केवल दर्पणस्थानीय ब्रह्मको ही देखे।

यहाँ यह शंका न करनी चाहिये कि प्रतिबिम्ब तो किसी बिम्बका हुआ करता है; अतः परब्रह्ममें जो प्रपंच प्रतिफलित होता है, उसका भी कोई बिम्ब होना चाहिये। दर्पणादि परिच्छिन्न पदार्थ हैं, इसलिये उनमें जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह बिम्बके ही कारण होता है; किंतु ब्रह्म तो अपरिच्छिन्न है, उससे पृथक् और स्थान ही कहाँ है, जहाँ उसमें प्रतिफलित होनेवाला बिम्ब रहेगा। बिम्बभूत जो कोई भी पदार्थ होगा, वह

देश, काल और वस्तुके अन्तर्गत ही होगा। किंतु देश, काल और वस्तु तो प्रतिबिम्बके ही अन्तर्गत हैं। यदि कहो कि अनुमानसे तो कोई-न-कोई बिम्ब मानना ही होगा; क्योंकि लोकमें बिना बिम्बका कोई प्रतिबिम्ब देखनेमें नहीं आता। किंतु अनुमान भी तो एक ज्ञान ही है; अतः यह भी ज्ञानस्वरूप ब्रह्मसे बाहर नहीं हो सकता, फिर उसमें ज्ञेय पदार्थ तो ब्रह्मके बाहर हो ही कैसे सकता है? अतः ब्रह्ममें जो प्रतिबिम्ब है, वह बिम्बरहित है। यह इस दर्पणकी विलक्षणता है। यही इसकी अनिर्वचनीया शक्तिरूपा माया है। यही माया सबको मोहित किये हुए है।

किंतु यह इसका स्वभाव अवश्य है कि यदि तुम इसमें प्रतिबिम्बित प्रपंचको देखना छोड़ दो तो तुम्हें शुद्ध ब्रह्मका साक्षात्कार हो जायगा और साक्षात्कार होते ही माया और उसका प्रपंच सदाके लिये मिट जायगा। इसीसे भगवान् बुद्धियोंसे कहते हैं—'**मा यात गोष्ठम्**'—तुम विषयोंकी ओर मत जाओ; बल्कि इन इन्द्रियोंके विषयरूप हाऊकी निवृत्तिके लिये तुम केवल शुद्ध परब्रह्मको ही देखो। तुम भास्यवर्गको मत देखो, केवल भानको ही देखो।

ऐसा करनेके लिये भगवान् क्यों कहते हैं? क्योंकि '**क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च**'—ये इन्द्रियाँ रो रही हैं। अतः न तो तुम्हीं प्रपंचको देखो और न इन्हींको दिखाओ अन्यथा इनकी मृत्यु हो जायगी। देखो—जिस समय तुम इस प्रपंचको देखती हो, उस समय तुम्हारे ये बालक भी उसे ही देखने लगते हैं। अतः तुम उसे मत देखो और '**तान् मा पाययत मा दुह्यत च**' अर्थात् इन इन्द्रियोंको विषय-सेवन मत कराओ और न इनके सामने विषयोंको ही आने दो; क्योंकि इन्हें विषयरूप पयःपान कराना तो विष ही पिलाना है। इन्हें वह प्रिय अवश्य है, परंतु उसके सेवनसे इनका अनिष्ट ही होगा। रोगी बालक कुपथ्य करना चाहा ही करता है, परंतु माता उसे करने थोड़े ही देती है। उनके सेवनसे इन्हें शान्ति या तृप्ति भी नहीं हो सकती। विषय-सेवनसे तो इनकी विषयाभिलाषा और भी बढ़ जायगी—

'**भोगमनुविवर्धत इन्द्रियाणां कौशलम्।**'

अतः इनके हितके लिये इन्हें विषय-सेवन मत करने दो। विषय-सेवन न करनेसे इन्द्रियोंकी भोग-वासना निर्बल पड़ जायगी। यह ठीक है कि इन्द्रियोंके निग्रहसे उनकी बाह्य प्रवृत्ति मन्द पड़ जाती है तथापि उनकी आन्तरिक शक्ति बढ़ जाती है। एक व्यक्ति कुछ काल मौन रहता है। इससे वागिन्द्रिय अवश्य मन्द पड़ जाती है। वह अधिक बोल नहीं सकता। परंतु वह जो कुछ कहता है, वही हो जाता है। यदि वह वटवृक्षको नीमका वृक्ष बतला दे तो उसे निम्बवृक्ष हो जाना पड़ता है। योगदर्शनमें मौनसे वाक्सिद्धि मानी गयी है। इसी प्रकार जो बालब्रह्मचारी है, वह एकाएक कामाहत नहीं होता। अत्यन्त रूपवती स्त्रियोंको देखकर भी उसका चित्त विचलित नहीं होता। एक बार महर्षि नारद तप कर रहे थे। उन्हें तपोभ्रष्ट करनेके लिये इन्द्रने कुछ अप्सराएँ भेजीं, परंतु उनके सारे हाव-भाव कटाक्ष उन्हें विचलित करनेमें समर्थ न हो सके। करते कैसे! इस समय श्रीनारदजीकी मनोवृत्ति तो एकमात्र भगवत्तत्त्वमें ही स्थित थी, उसे तो उनका भान भी नहीं हुआ। इस समय भगवान्‌की उनपर पूर्ण कृपा थी। भला जिनके ऊपर भगवान्‌की कृपा है, उनका कोई क्या बिगाड़ सकता है?

सीम कि चाँपि सकइ कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥

(रा०च०मा० १।१२६।८)

भगवान् कृष्णने भी उद्धवको यही उपदेश किया है कि हे उद्धव! ये इन्द्रियाँ मनुष्यको ठगनेवाली हैं। ये उसे असदभिनिवेशमें ग्रस्त कर देती हैं; अतः तुम इनसे विषयसेवन मत करो।

तस्मादुद्धव मा भुङ्क्ष्व विषयानसदिन्द्रियैः।
आत्माग्रहणनिर्भातं पश्य वैकल्पिकं भ्रमम्॥

(श्रीमद्भा० ११।२२।५६)

भगवान् शंकराचार्यजीने भी यही कहा है कि शम, दम, उपरति, तितिक्षा आदि साधनोंसे सम्पन्न होकर ही ब्रह्मविचार करना चाहिये। यदि इन्द्रियोंको

स्वाधीन न किया जायगा तो वेदान्त-चर्चा केवल तोतेकी कहानी ही होगी।* उससे तुम्हारा कल्याण नहीं हो सकता।

अत: यदि तुम वास्तवमें अपना कल्याण चाहते हो तो विषयोंको त्यागो। रसनाको रसास्वादनसे रोको, श्रोत्रोंसे शब्द-ग्रहण मत करो और घ्राणेन्द्रियसे गन्ध मत सूँघो। सारी इन्द्रियोंका निरोध कर दो।

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत्त्यज।
क्षमार्जवदयातोषसत्यं पीयूषवद्भज॥

आत्मलाभका यही उपाय है। इसीसे भगवान्‌ने कहा है—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥

(कठ०१।३।१३)

पहले अपनी इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिको शास्त्रीय करो। इससे उनकी उच्छृंखलता शान्त हो जायगी। फिर धीरे-धीरे अभ्यासद्वारा उनसे विषय ग्रहण करना छोड़ दो। श्रीमधुसूदन सरस्वतीने अपनी गीताकी टीकामें कहा है—यदि घरमें चोर घुस रहे हों तो सबसे पहले दरवाजा बन्द कर लेना चाहिये; पीछे कोई और उपाय करो। इसी प्रकार विषयोंपर विजय प्राप्त करनेके लिये पहले इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे निवृत्त करो। यदि अन्त:करणमें भोगवासना बनी हुई हो तो भी इन्द्रियोंसे अन्य विषयोंको तो ग्रहण मत करो। अब जो विषयरूप चोर तुम्हारे अन्त:करणरूप घरमें घुस आये हैं, उनकी परब्रह्मरूप राजाके यहाँ रिपोर्ट करो, वह अवश्य इनका प्रबन्ध कर देंगे। श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा॥
अति कठिन करहिं बरजोरा। मानहिं नहिं बिनय निहोरा॥

× × ×

कह तुलसिदास सुनु रामा। लूटहिं तसकर तव धामा॥
चिंता यह मोहिं अपारा। अपजस नहिं होइ तुम्हारा॥

(वि०प० १२५)

अत: भगवन्, आप उन्हें निकालिये, नहीं तो आपका अपयश अवश्य होगा; क्योंकि—

ममता तरुन तमी अँधिआरी। राग द्वेष उलूक सुखकारी॥
तब लगि बसति जीव मन माहीं। जब लगि प्रभु प्रताप रबि नाहीं॥

(रा०च०मा० ५।४७।३-४)

वास्तवमें जिस राजाके राज्यमें चोर प्रजाका धन अपहरण करते हैं, उस राजाके लिये वह कलंक ही है; क्योंकि प्रजा तो राजाका सर्वस्व है। '**प्रजायन्त इति प्रजा:**' इस व्युत्पत्तिके अनुसार '**प्रजा**' शब्दका अर्थ ही पुत्र है। अत: राजाका यह परम कर्तव्य है कि वह प्रजाके हितकी रक्षा करे।

प्रभुको एकमात्र आश्रय बना लेनेपर सारे विकार निवृत्त हो जाते हैं

इस प्रकार जिस समय यह जीव प्रभुको ही अपना एकमात्र आश्रय बना लेता है, उस समय उसके सारे विकार निवृत्त हो जाते हैं। जब वह स्वयंप्रकाश श्रीहरिके सम्मुख होता है, तब उसके हृदय-भवनका कल्मषरूप अन्धकार तत्काल निवृत्त हो जाता है।

अत: भगवान्‌का भी बुद्धियोंके प्रति यही कथन है कि तुम इन इन्द्रियवृत्तियोंको पय:पान मत कराओ। यह बात ठीक है कि इन्द्रियोंके व्यापारका सर्वथा निरोध नहीं किया जा सकता। शरीर-रक्षाके लिये भोजनादि भी करना ही होगा। अत: आवश्यकता इसी बातकी है कि अपनी प्रवृत्तियोंको शास्त्रीय करो। नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका अनुष्ठान करो। उन्हीं विषयोंको ग्रहण करो, जिनके बिना तुम्हारा निर्वाह न हो सके।

* एक बार एक व्यक्तिको यह देखकर बड़ी करुणा हुई कि बेचारे निरीह तोते व्यर्थ मनुष्योंके चंगुलमें फँसते हैं। इसलिये उसने सोचा कि इन्हें कोई ऐसा पाठ पढ़ा दिया जाय जिससे ये उसमें न फँसें। उसने एक तोतेको यह बात सिखला दी—'तोते! सावधान रहना। नलीके ऊपर मत बैठना और अगर बैठ जाओ तो उसे छोड़ देना। उसे तुम्हींने पकड़ रखा है, उसने तुम्हें नहीं पकड़ा।' उस तोतेसे सुनकर यह पाठ उस प्रान्तके सब तोतोंने सीख लिया। सब इसी प्रकार कहने लगे। परंतु उस व्यक्तिने देखा कि एक तोता नलीमें फँसा हुआ है और मुँहसे यही बात कह रहा है। यही दशा साधनहीन वेदान्तियोंकी होती है। वे मुखसे तो अपनेको शुद्ध-बुद्ध-मुक्त कहते रहते हैं; किंतु वस्तुत: रहते विषयोंमें आसक्त ही हैं। इस प्रकारके ज्ञानसे कोई लाभ नहीं हो सकता।

भगवान्‌के दिये हुए देह और इन्द्रियोंका सदुपयोग करो। भगवान्‌ने अपनी प्राप्तिके लिये ही ये देह और इन्द्रियाँ आदि दी हैं। अत: इनसे वही कार्य करो, जो भगवत्प्राप्तिमें सहायक हैं। इनकी सात्त्विकी प्रवृत्तिको प्रबल करो, राजसको निर्बल कर दो और तामस प्रवृत्ति बिलकुल मत होने दो।

देखो, जिस समय हनुमान्‌जी लंकाको गये थे, उस समय पहले उन्हें सुरसा मिली। उसे उन्होंने अपने पुरुषार्थसे प्रसन्नकर उसका आशीर्वाद प्राप्त किया। वह देवमाता थी, अत: सात्त्विकी प्रवृत्तिरूपा होनेके कारण उसे अपने अनुकूल कर लेना ही उचित था। उसके पश्चात् छायाग्राहिणी सिंहिका राक्षसी मिली, जो समुद्रमें ऊपर उड़नेवाले प्राणियोंकी छाया पकड़कर उन्हें गिरा लेती और फिर खा जाती थी। वह तामस प्रवृत्ति की थी। उसे उन्होंने मार डाला। फिर लंकामें पहुँचनेपर उन्हें लंकिनी मिली। उसने भी उनका मार्ग रोका; किंतु उसे उन्होंने एक मुक्केसे ही ठीक कर लिया। वह राजस प्रवृत्ति थी; उसे दमनसे शिथिल कर देना ही ठीक था। इसी प्रकार हमें सात्त्विक प्रवृत्तिको बढ़ाना चाहिये, राजस प्रवृत्तिको शिथिल कर देना चाहिये और तामसका सर्वथा नाश कर देना चाहिये। वे तो पापरूपा हैं।

अत: जो कर्म शास्त्रविहित हैं, उनका तो यथाशक्ति पालन करो। '**यथाशक्ति**' शब्दका प्रयोग विहित कर्मोंके लिये ही हो सकता है, पापकर्मोंमें '**यथाशक्ति**' शब्दकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। विहित कर्मोंमें भी जिनके न करनेसे प्रत्यवाय होता है, वे तो अवश्य करने चाहिये। अग्निष्टोमादि याग अत्यधिक अर्थसाध्य हैं; प्रत्येक व्यक्ति उनका अनुष्ठान करनेमें समर्थ नहीं है। इसलिये '**यथाशक्ति**' शब्दका प्रयोग उन्हींके लिये किया गया है। सन्ध्या, अग्निहोत्र एवं बलिवैश्वदेव आदि कर्मोंको, जिनमें न तो विशेष परिश्रम है और न व्यय ही, अवश्य करना ही चाहिये।

आजकल एक परिष्कृत सनातनधर्मका आविर्भाव हुआ है। उसके अनुयायी शास्त्रके किसी अंशको तो प्रामाणिक मानते हैं और किसीकी उपेक्षा कर देते हैं। परंतु इसे शास्त्रका प्रामाण्य स्वीकार करना नहीं कहा जा सकता। इसे तो स्वेच्छाचार ही कहा जायगा। तुम कहते हो गीता हमारा सर्वस्व है, किंतु गीता तो कहती है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

(गीता १६। २३)

अब देखना यह है कि शास्त्र क्या कहता है? तुम शूद्रोंको शास्त्राध्ययन कराना चाहते हो, परंतु शास्त्र तो इसकी आज्ञा नहीं देता। यही नहीं, वर्णाश्रम-धर्मका भी लोप करना चाहते हो। शूद्र और वैश्य ब्राह्मणोंका कर्म कर रहे हैं और ब्राह्मण वैश्य तथा शूद्रोंका। परंतु शास्त्र तो कहता है—

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥'

(गीता ३। ३५)

अपने वर्णधर्ममें तुम्हारी प्रवृत्ति नहीं होती, उसमें तुम्हें दोष दिखायी देता है। यह तुम्हारा व्यामोह ही है। अर्जुनको भी ऐसा ही व्यामोह हुआ था। इसीसे वह युद्धमें दोषदृष्टिकर भिक्षा माँगनेके लिये तैयार हो गया था। परंतु बाह्य दृष्टिसे ऐसा दोष किस कर्ममें नहीं रहता—

'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥'

(गीता १८। ४८)

भाई, समाजका कोई भी अंग व्यर्थ नहीं है। जैसे सिर आवश्यक है, वैसे ही चरण भी है। शरीरके किसी भी अंगमें पीड़ा हो, उसके कारण सारा शरीर ही अस्वस्थ रहा करता है। अत: हम किसी भी वर्णको नगण्य और हेय नहीं समझते। हमारे विचारसे तो सभीको परधर्मकी ओर प्रवृत्त न होकर अपने ही वर्णके लिये विहित कर्मोंका यथाशक्ति अनुष्ठान करना चाहिये।

इस प्रकार स्वधर्मानुष्ठान करते हुए नित्यप्रति कुछ कालके लिये अपनी इन्द्रियोंकी वृत्तियोंका

सर्वथा निरोध करनेका भी प्रयत्न करो। ऐसा करते-करते परब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर ही इन इन्द्रियोंका क्रन्दन बन्द होगा।

इन्द्रियोंको तुष्ट करनेकी चेष्टासे तृष्णा और भी अधिक बढ़ती है

इसके विपरीत यदि इन इन्द्रियरूप वत्स और बालकोंको विषयरूप पय:पान कराया जायगा तो ये और भी अधिक क्रन्दन करेंगे। तुम इन्हें जितना ही तृप्त करनेका प्रयत्न करोगे, ये उतने ही अधिक अतृप्त होते जायँगे। अत: इन्हें तृप्त करनेका प्रयत्न छोड़कर तुम अपने एकमात्र परम पति शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप परब्रह्मकी ही ओर देखो। इसमें कोई आयास भी नहीं है; विषयदर्शनमें तो आयास भी अधिक है और परिणाममें दु:ख भी है। परंतु ब्रह्मदर्शनमें तो कोई परिश्रम भी नहीं करना पड़ता और उसका परिणाम भी परम सुखमय है। परब्रह्म तो स्वयंप्रकाश है, उसे प्रकाशित करनेके लिये कोई व्यापार नहीं करना पड़ता; बल्कि उसके लिये तो व्यापारका त्याग ही कर्तव्य है। परंतु विचित्रता तो यही है कि हमसे व्यापार ही नहीं छोड़ा जाता। यदि मन, बुद्धि और इन्द्रियोंका व्यापार छूट जाय तो परब्रह्मकी उपलब्धि तत्काल हो सकती है।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहु: परमां गतिम्॥

(कठ० २।३।१०)

इसीसे भगवान् कहते हैं—'**गोष्ठं मा यात**'—जहाँ पशुप्राय जीव रहते हैं, उस प्रपंचकी ओर मत जाओ। ऐसा करनेसे ही उनका क्रन्दन शान्त होगा। यदि प्रतिबिम्बपर दृष्टि न ले जाकर केवल दर्पणपर ही दृष्टि जाय तो प्रतिबिम्बकी प्रतीति नहीं होगी। इसी प्रकार यदि तुम अपनी वृत्तिको अन्तर्मुख करके विषयोंतक नहीं ले जाओगी तो तुम्हें विषम विषाक्त संसारकी प्रतीति नहीं होगी।

यदि कहो कि ये इन्द्रियाँ हमारे बालक हैं, हमें इनपर दया करनी ही चाहिये। इन्हें विषय प्रिय हैं, इसलिये हमें इन्हें अभिलषित विषय प्राप्त कराने ही चाहिये—तो इसपर भगवान् कहते हैं—'**तान् मा दुह्यत**'—तुम इनके लिये अभिलषित पदार्थ प्रस्तुत मत करो। इन्हें विषयप्राप्ति नहीं होगी तो ये स्वयं ही क्रमश: शान्त हो जायँगी। इन्हें विषय देना तो मानो विष देना है।

यही बात प्रेमियोंकी आचार्यभूता व्रजांगनाओंसे भगवान् कहते हैं कि तुम व्रजमें मत जाओ। मैं ही निखिल ब्रह्माण्डका परमपति हूँ। अत: तुम मेरी ही सेवा करो। इस समय यदि तुम्हारे बाल-बच्चे क्रन्दन भी करते हों तो भी उन्हें तुम पय:पान मत कराओ और न बछड़ोंके लिये दोहन ही करो; क्योंकि वे तुम्हारे परमधर्मके विरोधी हैं। यदि भगवत्प्रेममें दया आदि धर्म विरोधी होते हों तो उनका त्याग ही करना चाहिये।

भगवान्‌की यह विचित्र वाचोभंगी सुनकर कुछ व्रजांगनाओंकी तो अभिरुचि सुस्थिर हुई और कुछको व्यामोह हुआ। भगवान्‌का यह वाग्विन्यास बड़ा ही विचित्र था। इससे भिन्न-भिन्न निष्ठावाले भिन्न-भिन्न अर्थ निकाल सकते थे। कर्मियोंके लिये इसमें कर्मानुष्ठानका आदेश था, जिज्ञासुओंके लिये कर्म-संन्यासकी विधि थी, उपासकोंके लिये कर्म-समुच्चयका विधान था, गोपियोंके लिये गोष्ठको लौट जानेका आदेश था और प्रकारान्तरसे न लौटनेके लिये भी अनुमति थी। वस्तुत: रासपंचाध्यायीरूप यह अमृतसिन्धु ऐसा गम्भीर है कि हम इसके एक बिन्दुका मर्म भी यथावत् नहीं समझ सकते। वेद भगवान्‌की सुषुप्तिके समय उनके अज्ञात रूपसे प्रकट हुए श्वासोच्छ्वास हैं—

'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेद:'

(बृहदारण्यक० २।४।१०)

किंतु उनका मर्म आकलन करनेमें भी बड़े-बड़े मनीषिजन घबराते हैं, फिर जिन वाक्योंका उच्चारण प्रभुने स्वयं लीला-विग्रह धारण करके किया, उनके

भावगाम्भीर्यका तो कहना ही क्या है; उसके तो जितने अर्थ किये जायँ, थोड़े ही हैं।

अब हम इस श्लोकका उपसंहारकर आगेके श्लोकपर विचार करते हैं। भगवान्‌ने कहा था कि हे व्रजांगनाओ! तुम जाओ। इसपर व्रजांगनाएँ सोचती हैं—ऐसी जल्दी क्या है, वनकी शोभा देखकर चली जायँगी। किंतु भगवान् कह रहे हैं—'**मा चिरम्**'—देरी मत करो; क्योंकि यह रात्रिकाल पतिशुश्रूषारूप परमधर्मका उपयुक्त समय है और धर्मानुष्ठानमें विलम्ब होना उचित नहीं है। इसलिये तुम जाओ और पतियोंकी तथा उनकी माता आदि सतियोंकी शुश्रूषा करो।

इस प्रकार भगवान्‌के निराकरण करनेपर व्रजांगनाएँ बहुत खिन्न हुईं। वे सन्तप्त होकर दीर्घ निःश्वास छोड़ती हुई कुछ सोच रही हैं—यह देखकर भगवान् कहते हैं—

अथवा मदभिस्नेहाद् भवत्यो यन्त्रिताशयाः।
आगता ह्युपपन्नं वः प्रीयन्ते मयि जन्तवः॥

(श्रीमद्भा० १०।२९।२३)

भगवान्‌की यह रीति है कि वे सीधे-सीधे किसीको उत्तर नहीं देते; न तो सहसा स्वीकार ही करते हैं और न अस्वीकार ही। संसारमें दो प्रकारके लोग ही सुखी होते हैं; या तो परम बोधवान् और या अत्यन्त मूढ़—

यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः।
तावुभौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः॥

(श्रीमद्भा० ३।७।१७)

इसलिये भगवन्मार्गमें लगे हुए प्राणी प्रायः व्याकुल ही दिखायी दिया करते हैं। वस्तुतः इस व्याकुलताकी आवश्यकता भी है। जिस समय भगवान्‌के सम्मिलनकी अभिलाषा क्षुधा-पिपासाके समान अत्यन्त बढ़ जाय, तभी प्राणीको समझना चाहिये कि हम ठीक मार्गपर चल रहे हैं, परंतु यह प्राणी दीर्घकालसे भगवान्‌से बिछुड़ा हुआ है। इसलिये इसे भगवत्-सम्मिलनकी उत्कट इच्छा होना अत्यन्त दुर्लभ है। जैसे अजीर्णके रोगीको भूख लगना अत्यन्त आनन्दका हेतु होता है, उसी प्रकार प्रपंचासक्त जीवको भगवत्प्राप्तिकी तृष्णा अत्यन्त सौभाग्यका फल है। इसीसे भगवान् शंकराचार्यने भगवत्प्राप्तिके साधनोंमें सबसे अन्तिम साधन मुमुक्षा बतलाया है। इस मुमुक्षाके पश्चात् ही जिज्ञासा होती है। यदि भगवान्‌के ज्ञानकी उत्कट इच्छा हो जाय तो फिर उनके मिलनेमें कुछ भी देरी न हो। सारे साधन इस जिज्ञासाके लिये ही हैं। भगवान्‌को जाननेकी यह उत्कट इच्छा भगवत्कृपासे ही होती है। यदि यह हमारे हाथकी चीज होती तो इस प्रकार प्रार्थना क्यों की जाती—'**माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्, अनिराकरणमस्तु**'। (केनोपनिषद् शान्तिपाठ) यदि हम भगवान्‌का निराकरण न करनेमें समर्थ होते तो इसके लिये प्रार्थना क्यों की जाती? परंतु नहीं, हम सब कुछ जानते हुए भी अनादिमायासे मोहित होकर उनका निराकरण करते हैं। हम जान-बूझकर भी अनन्तानर्थके निदानभूत संसारमें गिरते हैं। परंतु किया क्या जाय—

'केनापि देवेन हृदि स्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।'

इसीसे महानुभाव लोग नास्तिकोंकी भी निन्दा नहीं करते; क्योंकि वे जानते हैं कि यह बात उनके वशकी नहीं है। एक व्यक्ति अपने कल्याणकी कामनासे संसारसे विरक्त होता है, परंतु पीछे मायासे मोहित होकर वह पतित हो जाता है। इसमें उसका क्या दोष है; वह तो अपना कल्याण ही चाहता है। न्यायकुसुमांजलिकार श्रीउदयनाचार्यजी नास्तिकोंके लिये कल्याण-कामना करते हुए भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं—

इत्येवं श्रुतिनीतिसम्प्लवजलैर्भूयोभिराक्षालिते
येषां नास्पदमादधासि हृदये ते शैलसाराशयाः।
किंतु प्रस्तुतविप्रतीपविधयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः
काले कारुणिक त्वयैव कृपया ते भावनीया नराः॥

(पञ्चमस्तबक १८)

महानुभावोंको दूसरोंको दु:खमें देखकर खेद हुआ ही करता है। इसीसे उदयनाचार्यजीने जो नास्तिकमतका खण्डन किया है, वह उन्हें भगवत्सुखसे वंचित देखकर करुणावश ही किया है—द्वेषके कारण नहीं किया। देखो महर्लोकनिवासी जीवोंको किसी प्रकारका कष्ट नहीं होता; परंतु वे जो अपनेसे नीचेके लोगोंको परमात्मसुखसे वंचित देखते हैं, इससे तो उन्हें खेद होता ही है। वस्तुत: देखा जाय तो हमलोग भी नास्तिकप्राय ही हैं। यदि भगवान्‌की सत्तामें हमारा पूरा विश्वास होता तो हमें लुक-छिपकर पाप करनेका साहस कैसे होता? भगवान् तो अन्तर्यामी हैं, वे तो हमारी मानसिक क्रियाको भी जानते हैं। अत: ऐसी परिस्थितिमें हमारे मनकी भी दुष्प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? इस प्रकार यदि सच पूछा जाय तो हमसे तो नास्तिक ही अच्छे हैं। हम तो ऊपरसे आस्तिकताका दावा करते हुए वस्तुत: नास्तिक हैं, किंतु वे प्रत्यक्ष अपना दोष स्वीकार कर लेते हैं।

अत: सिद्ध हुआ कि भगवान्‌का निराकरण करना—यह मायामोहित जीवोंका स्वभाव ही है। श्रीमद्भागवतादिमें यह प्रसिद्ध ही है कि गर्भावस्थामें जीवको भगवान्‌का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। उस समय उसे अपने पूर्वजन्मोंकी भी स्मृति होती है और वह समझता है कि मैं भगवान्‌से विमुख रहनेके कारण ही अनन्त जन्मोंमें भटकता रहा हूँ। उस समय वह भगवान्‌की प्रार्थना करता है। पूर्वजन्मोंमें भी उसने इसी प्रकार सहस्रों बार प्रार्थना की थी; परंतु संसारमें पदार्पण करते ही उसे उसका कुछ भी ध्यान नहीं रहा। अत: यह देखकर कि मैं अनन्त बार प्रभुके प्रति अपनी प्रतिज्ञा भुला चुका हूँ, उसे बहुत संकोच भी होता है; तथापि प्रभुका स्वभाव समझकर वह फिर भी उनके सामने रोता ही है। यही दशा भगवान्‌से मिलनेके लिये वनको जाते समय भरतजीकी थी—

फेरति मनहुँ मातु कृत खोरी। चलत भगति बल धीरज धोरी॥
जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ। तब पथ परत उताइल पाऊ॥

(रा०च०मा० २। २३४। ५-६)

अहा! प्रभुका स्वभाव कैसा करुणामय है! उन्हें अपराधका तो स्मरण ही नहीं होता, किंतु थोड़े-से भी उपकारको वे बारम्बार स्मरण करते हैं—

रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥

(रा०च०मा० १। २९। ५)

अत: प्रभुका ऐसा स्वभाव समझकर ही जीव उस समय उनसे प्रार्थना करता है कि भगवन्! अब मैं अवश्य आपके चरणोंका समाश्रयण करूँगा। मैं आपको भूलकर बहुत भटक चुका हूँ, अब ऐसी भूल नहीं करूँगा।

परंतु गर्भसे बाहर आते ही वह फिर प्रभुको भूल जाता है। यदि थोड़ी-सी विद्या या वैभव मिल गया तो फिर तो सीधे-सीधे प्रभुका निराकरण करने लगता है। परंतु भगवान् तो उनका भी अमंगल नहीं चाहते। वे जानते हैं कि 'ये अज्ञ हैं; मेरी मायासे मोहित हो रहे हैं।' इसीसे यह प्रार्थना की जाती है कि 'मैं ब्रह्मका निराकरण न करूँ और ब्रह्म मेरा निराकरण न करे।' किंतु भगवान्‌का निराकरण न करना अपने हाथकी बात नहीं है। यह तो भगवत्कृपासाध्य ही है। वह भगवत्कृपा तभी हो सकती है; जब हम भगवान्‌की आज्ञाका पालन करें और शास्त्र ही भगवान्‌की आज्ञा है—

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्त उल्लंघ्य वर्तते।
आज्ञोच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः॥

सच्चा भगवत्प्रेमी वही है, जो शास्त्रका उल्लंघन नहीं करता

अत: सच्चा भगवत्प्रेमी वही है, जो शास्त्रका उल्लंघन नहीं करता। वैष्णवधर्मका लक्षण करते हुए कहा है—

'न चलति निजवर्णधर्मतो यः
सममतिरात्मसुहृद्विपक्षपक्षे।'

(श्रीविष्णुपुराण ३। ७। २०)

वस्तुतः भगवत्कृपा तो सर्वत्र समान रूपसे विद्यमान है। उसे केवल अभिव्यक्त करना है और वह अभिव्यक्ति भगवदाज्ञा-पालनसे ही हो सकती है। श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—'**अग्या सम न सुसाहिब सेवा।**' (रा०च०मा० २।३०१।४)

जिस समय भरतजी भगवान्‌को लौटानेके लिये चित्रकूटपर्वतपर गये, उस समय उनका विशेष आग्रह देखकर भगवान्‌ने कहा कि 'भरत, तुम जैसा कहो वैसा ही करूँ।' उस समय भरतजीने यही सोचा कि मुझे अपने सुख-दुःखका विचार न करके भगवान्‌की आज्ञाका ही प्राधान्य रखना चाहिये; क्योंकि सेवकका धर्म तो स्वामीकी आज्ञाका पालन करना ही है। इधर व्रजांगनाओंका व्रत भी तत्सुखसुखित्व ही था। वृन्दावनसे मथुरा कुछ दूर नहीं थी; परंतु भगवान्‌की इच्छा न देखकर उन्होंने मरणसे भी सहस्रगुण दुःखदायिनी वियोग-व्यथा तो सहन की, किंतु वे मथुरा नहीं गयीं। अतः सेवकका प्रधान कर्तव्य तो स्वामीकी आज्ञाका पालन करना ही है।

प्रभु-मिलनकी तीव्र उत्कण्ठा होना बड़े सौभाग्यकी बात है

जिस समय भगवान् देखते हैं कि मेरा भक्त मुझसे मिलनेके लिये अत्यन्त उत्सुक है, उस समय वे उसे अपनी माधुरीका थोड़ा-सा रसास्वादन करा देते हैं। ऐसा वे इसीलिये करते हैं, जिससे कि उस उपासककी भगवन्मिलनकी तृष्णा और भी अधिक तीव्रतर हो जाय। इसीसे भगवान्‌का भजन करनेवालोंको कभी-कभी कुछ विलक्षण आनन्दका अनुभव हुआ करता है; परंतु वह स्थिर नहीं रहता। वह भजनानन्द तो प्रभु-प्रेमकी आसक्तिके लिये है। जिस प्रकार किसी कामुक पुरुषको कामिनी-सौन्दर्यका थोड़ा-सा भी व्यसन हो जानेपर फिर उसे कितना ही समझाया जाय, वह उसे छोड़ नहीं सकता, उसी प्रकार जिसे भजनानन्दकी थोड़ी-सी भी चाट लग गयी है, उसे संसारका कोई भी सुख आकर्षित नहीं कर सकता।

देखो—जिस समय नारदजीने देखा कि मेरी माताका देहावसान हो गया तो वे यह समझकर कि मेरा भगवद्भजनका एकमात्र प्रतिबन्ध नष्ट हो गया, बहुत प्रसन्न हुए और तत्काल वनको चल दिये। वहाँ इन्द्रियोंका निरोधकर दीर्घकालतक भगवद्भजन करते रहे। इसी समय एक दिन भगवान्‌ने उन्हें अपनी मधुरिमाका यत्किंचित् रसास्वादन कराया।

परंतु वह आनन्द बहुत जल्दी तिरोहित हो गया। इससे नारदजी बड़े व्यग्र हुए। उन्होंने बहुत यत्न किया, परंतु पुनः उस रसका समास्वादन न कर सके। उन्होंने प्रभुसे बहुत अनुनय-विनय की, वे बहुत विह्वल हुए, परंतु प्रभुने फिर कृपा न की। वास्तवमें तो प्रभुकी यह कठोरता ही परम कृपा थी। भगवान्‌की सबसे बड़ी कृपा तो यही है कि जीव उनके लिये अत्यन्त तृषित हो जाय। यह तो परम सौभाग्य है। हमलोग स्त्री, धन आदिके लिये निरन्तर शोक-समुद्रमें डूबे रहते हैं, किंतु प्रभुके लिये हमारा अन्तःकरण कभी द्रवीभूत नहीं होता। न जाने वह समय कब आयेगा, जब प्रभुके विप्रयोगानलमें दग्ध होकर हमारा एक-एक पल एक-एक कल्पके समान व्यतीत होगा। भावुकोंकी स्थिति ऐसी ही विलक्षण हुआ करती है।

अतः भगवान्‌ने देखा कि नारदके प्रेमका अभी शैशवकाल है। अभी इसके पनपनेकी आवश्यकता है। जिस समय जतु (तरल लाख)-के समान इसका अन्तःकरण सर्वथा द्रवीभूत हो जायगा, उसी समय यह मेरा यथावत् प्रेम प्राप्त कर सकता है। इसलिये भगवान्‌ने यह कठोरता धारण की थी। उनकी यह कठोरता भी कोमलता थी। प्रभुने थोड़ा-सा रसास्वादन इसीलिये कराया था, जिससे उनकी तृषा खूब बढ़ जाय; क्योंकि बिना रस-परिचयके उसमें प्रवृत्ति नहीं होती।

इसी प्रकार जब भगवान् कृष्णने देखा कि मेरे उपेक्षाके वचन सुनकर गोपांगनाएँ कुछ उदास हो चली हैं, उन्हें आश्वासन देनेके लिये उन्होंने कहा—

अथवा मदभिस्नेहाद् भवत्यो यन्त्रिताशयाः।
आगता ह्युपपन्नं वः प्रीयन्ते मयि जन्तवः॥

(श्रीमद्भा० १०।२९।२३)

पहली उत्थानिकामें कहा जा चुका है कि जब प्राणी बहुत कालतक भगवच्चिन्तन करते रहनेपर भी भगवत्कृपासे वंचित रहता है तो उसकी लगनमें कुछ शिथिलता आ जाती है। हम रूप-रसादि शब्दोंका जितना ही अधिक सेवन करेंगे, उतनी ही उनके प्रति हमारी तृष्णा बढ़ती जायगी। शास्त्रालोचनकी भी ऐसी ही बात है। जिन्हें शास्त्रावलोकनका व्यसन हो जाता है, उनसे फिर उसके बिना रहा नहीं जाता। इसी प्रकार जो लोग निरन्तर भगवच्चरित्रोंका श्रवण-कीर्तन करते रहते हैं, उनका भी उसमें सुदृढ़ अनुराग हो जाता है। ऐसा अनुराग सनकादिमें था।

आसा बसन ब्यसन यह तिन्हहीं। रघुपति चरित होइ तहँ सुनहीं॥

(रा०च०मा० ७।३२।६)

किंतु यदि भगवद्भजन कुछ कालके लिये छूट जाता है तो उसका स्वारस्य भी कुण्ठित हो जाता है—उसका फिर नये सिरेसे अभ्यास करना होता है। इसीसे योगसूत्रकार महर्षि पतंजलिने कहा है—'**स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः॥**' (योगदर्शन १।१४) आप चाहे भगवच्चरित्रोंका श्रवण-मनन करें, चाहे कर्मनिष्ठाको दृढ़ करें, चाहे योगाभ्यासमें प्रवृत्त हों और चाहे वेदान्तश्रवण करें—सभीको दीर्घकालतक आदरपूर्वक सेवन करनेकी आवश्यकता है। यदि आपको खिचड़ी बनानी है तो उसके लिये जैसी और जितनी अग्निकी जितनी देरतक आवश्यकता है यदि उतनी अग्नि न देंगे अथवा बीच-बीचमें अग्निसंयोगको रोक देंगे तो खिचड़ी कभी बन ही न पायेगी। इसी प्रकार भगवद्भजनमें सफलता प्राप्त करनेके लिये भी दीर्घकालतक निरन्तर पर्याप्त अभ्यासकी अपेक्षा है। इसी तरह यदि दीर्घकालतक भगवच्चरणस्मरण और भगवत्स्वरूपानुध्यान करते रहोगे तो उसका व्यसन हो जायगा और यह व्यसन ही परम सौभाग्य है।

'पुंसो भवेद् यर्हि संसरणापवर्ग-
स्त्वय्यब्जनाभसदुपासनया मतिः स्यात्॥'

(श्रीमद्भा० १०।४०।२८)

परंतु यदि दीर्घकालतक प्रियतमके सम्मिलनकी चाह लगी रहे—प्रभुसे मिलनेकी उत्कण्ठा उत्तरोत्तर बढ़ती जाय तो यह बड़े ही सौभाग्यकी बात है। ऐसी प्रीति तो चातक और मीनमें ही देखी जाती है।

जग जस भाजन चातक मीना। नेम पेम निज निपुन नबीना॥

(रा०च०मा० २।२३४।३)

चातकका एक ही नियम है। वह स्वाति-बूँदको छोड़कर दूसरे जलकी ओर कभी दृष्टिपात भी नहीं करता। उसके अभावमें वह निर्मल-नीर-प्रपूरित सरोवरके तटपर भी पीऊ-पीऊ रटते-रटते मर जायगा, परंतु अन्य जल कदापि ग्रहण न करेगा। अपने एकमात्र प्रियतम पयोधरको छोड़कर वह किसीसे याचना नहीं करता। परंतु वह पयोधर उसे क्या देता है? खूब गर्ज-तर्जकर ओलोंकी वर्षा करता है और बिजली भी गिरा देता है।

जलदु जनम भरि सुरति बिसारउ। जाचत जलु पबि पाहन डारउ॥

(रा०च०मा० २।२०५।३)

परंतु उसकी तो एक ही टेक रहती है। क्या उसे जलकी कमी है? नहीं, परंतु यदि उसे अमृत भी दिया जाय तो भी वह अपना नियम भंग नहीं कर सकता।

चातकु रटनि घटें घटि जाई। बढ़ें प्रेमु सब भाँति भलाई॥

(रा०च०मा० २।२०५।४)

यही दशा मीनकी है। वह तो एक क्षणके लिये भी अपने प्राणाधार जलका वियोग सहन नहीं कर सकता। इसी विषयमें कविकी उत्प्रेक्षा है—

आपेदिरेऽम्बरपथं परितः पतङ्गा
भृङ्गा रसालमुकुलानि समाश्रयन्ति।
संकोचमञ्चति सरस्त्वयि दीनदीनो
मीनो नु हन्त कतमां गतिमभ्युपैतु॥

(सुभाषितरत्नभाण्डागार)

'अरे सर! इस समय तो तुममें बड़े दिव्यातिदिव्य पुष्प विद्यमान हैं। इसीसे तेरे बहुत-से साथी बने हुए

हैं। परंतु जब तू क्षीण हो जायगा, तुझमें खिले हुए कमल कुम्हला जायँगे; तब ये हंस तुझे छोड़कर गगनमण्डलमें विहार करने लगेंगे और ये भ्रमर, जो तेरे परम प्रेमी बने हुए हैं, वे भी तुझे छोड़कर रसाल-मुकुलका ही आश्रय लेंगे। परंतु बता, यह मीन कहाँ जायगा? इसे तेरे साथ ही—नहीं, नहीं, तुझसे भी पहले सूख जाना होगा।'

साधन-कार्यमें श्रद्धा (उत्साह)-की बड़ी आवश्यकता है

इस प्रकार प्रेमास्वादन करनेवालोंमें प्रधान तो चातक और मीन ही हैं। अन्य प्रेमियोंमें तो इस तरहका एकांगी प्रेम प्राय: देखा नहीं जाता। लोकमें यह कहावत प्रसिद्ध ही है कि 'एक हाथसे ताली नहीं बजती' वहाँ तो प्रेमके बदलेमें प्रेम किया जाता है। अत: दोनों ओरसे प्रेमकी अपेक्षा होती है। इसलिये जब प्राणी भगवान्के सम्मिलनकी आकांक्षासे कुछ कालतक भगवच्चिन्तनमें तत्पर रहता है और फिर भी भगवान्की ओरसे उसे कोई सहारा नहीं मिलता तो उसका धैर्य भग्न हो जाता है और उसकी श्रद्धा शिथिल पड़ जाती है। साधनमार्गमें श्रद्धाकी बड़ी आवश्यकता है। योगदर्शनमें श्रद्धाका अर्थ उत्साह किया है। वहाँ बतलाया है कि वह माताके समान योगीपर अनुग्रह करता है। बिना श्रद्धा या उत्साहके साधनमार्गमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अत: श्रद्धापूर्वक स्वाध्याय और अभ्यासमें तत्पर रहनेकी आवश्यकता है। भगवन्मार्गमें शीघ्रतर प्रगति होनेके लिये स्वाध्याय और योगाभ्यास दोनोंहीके क्रमिक अनुष्ठानकी अपेक्षा है।

स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमावसेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥

(श्रीविष्णुपुराण ६।६।२)

यदि तुम निरन्तर ध्यानपरायण होकर आरम्भसे ही चार घण्टेकी समाधि लगानेका प्रयत्न करोगे तो उसमें कभी सफल न हो सकोगे। पहले-पहले केवल पाँच मिनट ध्यानका अभ्यास करो; फिर पाँच मिनट स्वाध्याय करो। इस प्रकार ध्यान और स्वाध्यायका साथ-साथ अभ्यास करते हुए क्रमश: ध्यानकालमें वृद्धि करो। ध्यानके बढ़नेपर धीरे-धीरे स्वाध्यायमें कमी कर सकते हो। उससे पहले यदि स्वाध्याय छोड़कर केवल ध्यानमें ही लगोगे तो ध्यान तो होगा नहीं, केवल मनोराज्य या तन्द्रामें समयका अपव्यय होगा।

स्वाध्याय क्या है? अपने प्रियतमके स्वरूपका परिचायक अध्ययन ही स्वाध्याय कहलाता है। यदि तुम भगवान् कृष्णका साक्षात्कार करना चाहते हो तो श्रीसूरदासजीके उन पदोंका पाठ करो, जिनमें भगवान्के दिव्यातिदिव्य स्वरूपसौष्ठवका वर्णन किया गया है अथवा श्रीमद्भागवतसे भगवान्की दिव्य-मंगलमयी मूर्तिकी स्फूर्ति करनेवाले अंशोंका परिशीलन करो। उसके मननसे जब तुम्हारी मनोवृत्ति ध्येयाकार हो जाय तो जितने काल वह स्वरूप मानस नेत्रोंके सामने रह सके, उतने समयतक ध्यान करो। फिर जब ध्यानमें शिथिलता आये तो स्वाध्याय करो। इसी प्रकार निर्गुणोपासकोंको भी **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** (तैत्तिरीय० २।१) आदि वाक्योंका मनन करते हुए ही ध्यानाभ्यासमें प्रवृत्त होना चाहिये। इस तरह स्वाध्याय और ध्यानका क्रमिक अभ्यास करनेसे ही प्रभुके स्वरूपकी स्फूर्ति जल्दी हो सकती है।

जब बहुत काल अभ्यास करते रहनेपर भी भगवत्स्वरूपकी स्फूर्ति नहीं होती तो साधक बहुत निरुत्साह हो जाता है। उसका उत्साह बनाये रखनेके लिये ही स्वाध्यायकी आवश्यकता है। बहुत-से लोग भिन्न-भिन्न महात्माओंके पास जाकर साधनकी बात पूछा करते हैं। उन्हें कोई कुछ साधन बतलाता है और कोई कुछ दूसरा साधन बतला देता है। वे कुछ दिनतक साधनका अवलम्बन करते हैं और उसमें असफल होनेपर निरुत्साह हो जाते हैं। उनका हृदय विषादग्रस्त हो जाता है। किंतु विषादसे कोई लाभ नहीं होता। लाभ तो साधन-मार्गमें चलनेसे ही होगा। विषादसे शोक-मोहके

सिवा और कुछ हाथ नहीं लगता। इसलिये साधकको विषाद नहीं करना चाहिये। जिस समय तुम्हारा साधन पूरा होगा, उस समय साध्य अवश्य मिलेगा; उसके लिये उतावले क्यों होते हो?

तनिक हिरण्यकशिपुके तपकी ओर ध्यान दो। उसके शरीरको पिपीलिकाओंने छलनी कर दिया था, मांस सर्वथा सूखकर केवल अस्थि-चर्ममात्र रह गये थे; तो भी वह निरुत्साह नहीं हुआ। वह कहता है कि 'काल नित्य है और आत्मा नित्य है; अत: यदि शरीर नष्ट भी हो जाय तो कोई चिन्ता नहीं, हम तपस्यासे पीछे नहीं हटेंगे। यह है तपस्याका उत्साह।' देखो, वे लोग राक्षस थे, किंतु उनकी धारणा कैसी स्थिर थी। हमलोग दस दिन माला फेरते हैं और कोई आनन्दानुभव न होनेके कारण समय और मन्त्रको दोष देने लगते हैं। किंतु यह हमारी भूल है। हमें दृढ़तापूर्वक अपने साधनपर डटे रहना चाहिये।

एक वैश्य व्यापारको अपना सर्वस्व समझता है। व्यापार करनेमें वह अपनी सर्वस्व रक्षा मानता है और व्यापार न करनेमें सर्वस्वका नाश समझता है। इसीसे वह धन, स्त्री, गृह और देशकी भी उपेक्षा करके विदेशमें चला जाता है तथा अपने कारोबारके लिये दिन-रात एक कर देता है। लोग कहते हैं— 'महाराज! भजन करते हैं तो निद्रा बहुत सताती है।' किंतु तनिक स्टेशनमास्टर और खजांचियोंसे तो पूछो, उन्हें कितनी निद्रा आती है? वे जानते हैं कि थोड़ा-सा भी प्रमाद होनेसे हानि होनेकी सम्भावना है। वे दो-चार रुपयेकी हानिकी आशंकासे रातभर जागते रहते हैं। इसी प्रकार तुम्हें भी यदि भजनमें ढील होनेपर हानिकी आशंका होती तो आलस्य कैसे आ सकता था? जिसे तीव्र क्षुधा या तीव्र पिपासा होती है, उससे कब बैठा जाता है? इसी प्रकार यदि भगवत्तत्त्वके न जाननेमें अपनी हानि सुनिश्चित हो और उसके ज्ञानमें अपना परम लाभ निश्चित हो तो प्रमाद हो ही नहीं सकता। भगवती श्रुति कहती है—

'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।'
(केन० २।५)

याद रखें—यदि इस मनुष्यजन्ममें आप भगवान्‌का साक्षात्कार न कर सके तो **'महती विनष्टिः'**— सर्वस्वनाश हो जायगा; क्योंकि जब दो रुपयेकी हानिकी आशंकासे रातको नींद नहीं आती तो सर्वस्वनाशकी आशंका होनेपर कैसे आलस्य सतायेगा?

हमें जो काम करना है, उसकी आवश्यकताका अनुभव करना चाहिये। भगवद्भजनमें सर्वस्व लाभ है और उसकी उपेक्षामें सर्वनाश है—जबतक ऐसा सुदृढ़ निश्चय न होगा, भजनमें प्रगति कैसे होगी? सामान्य रूपसे यह बात सभीको निश्चित है कि एक दिन अवश्य मरना होगा। परंतु यह निश्चय रहते हुए भी साठ-साठ वर्षके बूढ़े भी दुराचार, दम्भ और पापसे निवृत्त नहीं होते। इसमें क्या हेतु है?—मोह। मोह ही उन्हें मृत्युकी घड़ीका विस्मरण करा देता है। एक तो इस प्रकारका मृत्युका सामान्यरूपेण निश्चय और दूसरा अपने पुत्र या बन्धुकी मृत्युको देखकर होनेवाला वैराग्य—क्या ये दोनों समान हैं? हमें भी अपनी मृत्युका निश्चय है; परंतु क्या हम उसकी ओरसे निश्चिन्त नहीं हैं? किंतु यदि हमें राजाज्ञा हो जाय कि आजसे पाँचवें दिन तुम्हें फाँसी दे दी जायगी तो फिर क्या पाँच दिनतक हमें नींद आ सकती है? अत: हमें ऐसा अभिमान न करना चाहिये कि हम परमार्थ-विषयको जानते ही हैं, हमें सत्पुरुष या सच्छास्त्रोंके संगकी क्या आवश्यकता है? यदि तुम ऐसा सोचोगे तो तुम्हारी प्रगति शिथिल पड़ जायगी। नहीं, इनका संग तो विवेक और वैराग्यको उद्दीपन करनेवाला है। इस उद्दीपनकी बहुत आवश्यकता है। हमें विचारशक्तिको निरन्तर जाग्रत् रखना चाहिये। इस प्रकार जब भजनकी आवश्यकता सुनिश्चित रहेगी तो भजनमें प्रमाद न होगा। यह कोई जादू-टोना या मन्त्र नहीं है, यह तो युक्ति और अनुभवसिद्ध बात है। उत्साह-भंग होनेसे

पुरुष निर्वीर्य हो जाता है; अत: उत्साहको स्थिर बनाये रखना चाहिये।

सुनते हैं ध्रुवजीको छः महीनेमें ही भगवान्‌का दर्शन हो गया था। जिस समय भगवान् उनके समक्ष प्रकट हुए, ध्रुवने कहा—'भगवन्! मैं तो सुनता था, आप बड़े दुराराध्य हैं, परंतु मुझपर आपने इतनी शीघ्र कृपा कर दी।' भगवान्‌ने कहा—'ध्रुव, तुम यह मत समझो कि हम छः मासमें ही मिल गये हैं; आओ देखो, हमारी प्राप्तिके लिये तुम्हारे कितने शरीर शुष्क हुए हैं।' ध्रुवजीने दिव्य-दृष्टिसे देखा कि उनके सहस्रों शरीर कन्दराओंमें सूखे हुए पड़े हैं। भगवान् बुद्धकी तो प्रतिज्ञा थी—

'इहासने शुष्यतु मे शरीरम्।'

भगवत्प्राप्तिका एकमात्र साधन—भगवत्सम्मिलनकी तीव्रतर अभिलाषा—एक दृष्टान्त

अत: असफलतासे हताश मत हो। साधनमें लगे रहो। देखो—वायुयान आदि लौकिक पदार्थोंके आविष्कारमें भी कितने समय, धन, जन-समुदायका क्षय हुआ है। भगवत्प्राप्ति तो उसकी अपेक्षा कहीं अधिक मूल्यवान् है। बस, लगे रहो, भगवान् अवश्य कृपा करेंगे।

तुमने टिट्टिभकी गाथा सुनी होगी। समुद्र उसके अण्डेको हर ले गया था। इससे कुपित होकर उसने समुद्रको सुखा डालनेका निश्चय किया। वह अपने पंजेमें बालू भरकर समुद्रमें डाल देता और चोंचसे एक बूँद पानी लेकर समुद्रसे बाहर डाल देता। उसने दृढ़ निश्चय कर लिया कि चाहे कितने ही जन्म बीत जायँ समुद्रको अवश्य सुखा डालना है। यह सब लीला देवर्षि नारदजीने भी देखी और टिट्टिभकी दुर्दशा देखकर उन्हें उसपर बड़ी दया आयी। उन्होंने यह सारा समाचार पक्षिराज गरुड़को सुनाया और उन्हें अपने सजातियोंकी सहायता करनेके लिये उत्तेजित किया। फिर क्या था? पक्षिराजके तो पर मारते ही समुद्रमें खलबली पड़ गयी; उसे तुरंत हार माननी पड़ी और टिट्टिभके अण्डे लाकर देने पड़े।

यह समुद्रकी पराजय टिट्टिभके अपने प्रयत्नसे नहीं हुई थी। उसमें तो गरुड़जीकी सहायता ही कारण थी। परंतु यदि टिट्टिभ ऐसा हठ न करता तो गरुड़जी क्यों आते? इसी प्रकार जो लोग दत्तचित्त होकर तन-मनसे लग जाते हैं, उन्हींपर भगवान्‌की कृपा होती है और उसीसे वे भगवत्प्राप्ति करनेमें समर्थ होते हैं। भगवत्प्राप्तिका एकमात्र साधन तो भगवत्सम्मिलनकी तीव्रतर तृषा ही है; उस छटपटाहटके बिना भगवत्कृपा अत्यन्त दुर्लभ है।

हठ वश शठ बहु साधन करहीं। भक्ति हीन भव सिन्धु न तरहीं॥

इस प्रकार दीर्घकालतक भगवान्‌के लिये सतृष्ण रहते-रहते भी जब साधकको प्रभुकी ओरसे कोई सहारा मिलता दिखायी नहीं देता तो वह श्रान्त हो जाता है, उसका हृदय कुछ अवसन्न हो उठता है। उस समय प्रभु उसपर अनुग्रह करते हैं। प्रभुके हृदयाकाशमें जो अनुग्रहरूप चन्द्र विराजमान है, प्रभुके मन्दहासके द्वारा उसकी शीतल किरणें साधकके सन्तप्त हृदयतक पहुँचकर उसे शान्त कर देती हैं। इस प्रकार प्रभुका अनुग्रह होनेपर साधकको कुछ आश्वासन प्राप्त होता है और वह चौगुने उत्साहसे साधनमें जुट जाता है। यही स्थिति यहाँ व्रजांगनाओंकी थी।

वे लौकिक-वैदिक सभी प्रकारकी शृंखलाओंको तोड़कर भगवान्‌की सन्निधिमें आयी थीं; किंतु यहाँ उनका इस प्रकार तिरस्कार हुआ। जिनके लिये उन्होंने सर्वस्व त्यागकर अनेकविध विघ्नोंका सामना किया था, वे ही ऐसे निष्ठुर भावसे उनकी उपेक्षा कर रहे हैं। ऐसी स्थितिमें उनके अनाश्वासका अवकाश है या नहीं?

परंतु प्रभु बड़े कृपालु हैं। उनका तात्पर्य उनके तिरस्कारमें तो था ही नहीं। वे तो **'स्थूणानिखननन्याय'** से अपने प्रति उनकी निष्ठाकी परीक्षा कर रहे थे; वे तो उनकी निष्ठाको और भी सुदृढ़ करना चाहते थे। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि व्रजांगनाओंके भावमें भी कोई न्यूनता रहनी सम्भव थी। वे तो

प्रेममार्गकी आचार्या हैं। मीन और चातकमें जो प्रेम उपलब्ध होता है, वह तो व्रजांगनाओंके प्रेमसुधासिन्धुका एक कणमात्र है। जीव और परब्रह्ममें जो प्रेमसम्बन्ध है, उस प्रेमका तो एक अंश भी मीन और चातकमें नहीं है। '**आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।**' (बृहदारण्यक० २।४।५) किंतु हाँ, वह प्रेम तिरोहित अवश्य है तथा व्रजांगनाओंका भगवान्‌के प्रति जो अनुराग है, वह तो तत्त्वज्ञ महानुभावोंके आत्मप्रेमकी अपेक्षा भी कहीं बढ़कर है। हम कह चुके हैं—

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥

(श्रीमद्भा० ६।१४।५)

यद्यपि तत्त्वज्ञ भी प्रपंचका मिथ्यात्व निश्चय करके सजातीय, विजातीय और स्वगत-भेदशून्य परब्रह्ममें ही स्थित होते हैं तथापि चतुर्थ, पंचम और षष्ठ भूमिकावाले ज्ञानियोंका आत्मप्रेम भी उतना प्रौढ़ नहीं होता, जैसा कामुकोंका अपनी प्रेयसीके प्रति होता है। इसीसे विद्यारण्य स्वामीने जीवन्मुक्तिविवेकमें तत्त्वज्ञानके पश्चात् भी मनोनाशकी आवश्यकता बतलायी है, क्योंकि आत्मज्ञान हो जानेपर भी प्रारब्धकी प्रबलता रहनेके कारण विक्षेप बना ही रहता है। इसीसे चित्त ब्रह्मानुसन्धानसे हटकर विषयोंकी ओर चला जाया करता है। ज्ञानी लोग प्रपंचचिन्तनमें अनर्थ समझकर ही उसे उस ओरसे हटाकर पुनः ब्रह्मानुसन्धानमें जोड़ते रहते हैं। ऐसा करते हुए भी उनका चित्त कई बार आत्मानुसन्धानसे हटकर अनात्मपदार्थोंकी ओर चला जाता है। आत्मानुसन्धानमें उसकी स्वारसिक प्रवृत्ति नहीं होती। इसीके लिये योगाभ्यास किया जाता है। निरन्तर योगाभ्यास करते-करते ब्रह्मतत्त्वमें उसकी स्वारसिक प्रवृत्ति हो जाती है। ऐसा नारायण-परायण महापुरुष सुदुर्लभ है।

व्रजांगनाओंकी ऐसी स्थिति स्वाभाविक थी। भगवान्‌के अनेक प्रकारसे तिरस्कार करनेपर भी उनकी मनोवृत्ति भगवान्‌से विचलित नहीं हो सकती थी। व्रजांगनाएँ तो परम सिद्ध थीं; उनके चरणकमल तो योगीश्वरोंके लिये भी वन्दनीय हैं। परंतु उन्हें लक्ष्य करके ही भगवान्‌ने सर्वसाधारणके कल्याणके लिये ऐसी कई बातें कही हैं, जिनकी वे पात्र नहीं थीं। हाँ, उनमें भी जो सुदृढ़ निष्ठावाली नहीं थीं, उनके लिये वे बातें उपयुक्त भी हो सकती हैं।

भगवान्‌द्वारा व्रजांगनाओंको आश्वासन

इस प्रकार कई बार भगवान्‌के उपेक्षा करनेपर सम्भव है व्रजांगनाओंको कुछ सन्ताप हुआ हो। अतः उन्हें अपनी अवहेलनासे कुछ खिन्न देखकर भगवान्‌ने उन्हें आश्वासन देनेके लिये कहा—

अथवा मदभिस्नेहाद् भवत्यो यन्त्रिताशयाः।
आगता ह्युपपन्नं वः प्रीयन्ते मयि जन्तवः॥

(श्रीमद्भा० १०।२९।२३)

'मैंने जो तुम्हारे विषयमें तरह-तरहके पक्षोंकी कल्पना कर रखी थी, वह व्यर्थ थी। मैं अब समझा; आप तो हमारे प्रेमसे आकृष्ट-चित्ता होकर ही हमसे मिलने आयी हैं।' व्रजांगनाएँ वस्तुतः प्रेमके प्रवाहमें बहकर ही आयी थीं; वे स्वयं अपनी इच्छासे वहाँ नहीं आयीं। भगवान्‌के मुखारविन्दसे वेणुनादके रूपमें निःसृत जो प्रेमतत्त्व था, उसीने उन्हें खींच लिया था। व्रजांगनाओंका अन्तःकरण तो स्वयं ही प्रेमामृतपूरित एक महासरोवरके समान था; किंतु वह अनेकविध प्रतिबन्धसे निबद्ध था। उसे लौकिक-वैदिक मर्यादारूप बहुत-से बाँधोंने मर्यादामें रोक रखा था, किंतु जब यहाँ श्यामघनने वेणुनादरूप गर्जन करते हुए दिव्यातिदिव्य रसका वर्षण किया तो उससे गोपांगनाओंके हृदयस्थ प्रेमसमुद्रका बाँध टूट गया। उसमें ऐसी बाढ़ आ गयी कि वह और अधिक काल मर्यादामें न रह सका। व्रजांगनाओंने अपनी मर्यादाकी यहाँतक रक्षा की थी कि शरीरकी सुध-बुध भूल जानेपर भी उन्होंने अपनी गोपजातिके लिये विहित लौकिक-वैदिक कृत्योंकी उपेक्षा नहीं की। वे दधिमन्थनादि गृहकृत्य करती ही रहीं। हाटमें गोरस बेचने जातीं, किंतु प्रेमविभोर होकर 'दही लो' कहनेके बदले 'श्याम लो' पुकारने लगतीं! इससे हमलोगोंके लिये उन्होंने यही उपदेश दिया है

कि हमें अपने शास्त्रोक्त स्वधर्मका पालन करते हुए ही भगवत्प्राप्तिका प्रयत्न करना चाहिये।

'दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद् दोहं हित्वा समुत्सुकाः।'

(श्रीमद्भा० १०। २९। ५)

यहाँ जो सार्वत्रिक 'शतृ' प्रत्यय है, वह हेतुताका द्योतक है। अतः इसका तात्पर्य यही है कि भगवान्के वेणुनिनादसे आकर्षित होनेमें गोपियोंको गोदोहनरूप स्वधर्मानुष्ठान ही हेतु था।

अतः हमारा यह बलपूर्वक कथन है कि आप किसी भी परिस्थितिमें रहें, अपने लौकिक-वैदिक कृत्योंका यथावत् पालन करते रहें।

गोपांगनाओंका प्रेम अत्यन्त प्रौढ़ था; किंतु वे उसे छिपाये रहती थीं। उनका सिद्धान्त था—

गुप्त प्रेम सखि सदा दुरैये। कुंजगलिन बिच अइये जइये॥

प्रेमी लोग प्रेमको सदा दुराते ही हैं। वह हठात् प्रकट हो जाय तो वशकी बात नहीं। अहा! श्रीवृषभानुनन्दिनीने तो अपने प्रेमको अन्तरतम सखियोंसे भी छिपाकर रखा था। वह उन्हें उनकी अचेतावस्थामें ही प्रकट होता था।

अब, जब भगवान्ने देखा कि इनकी पूर्ण योग्यता है। ये मेरा रसास्वादन करनेकी पात्र हैं तो उन श्यामघनने वेणु-निनादसे अमृत वर्षणकर उनके हृत्समुद्रमें इतना रस भर दिया कि वह उसमें समा न सका। अहा! जिनके चरणनखसे निकली हुई श्रीगंगाजी वडवाग्निद्वारा सोखे हुए समुद्रको भरनेमें समर्थ हैं, उन्हीं श्यामघनने जब वेणुनादद्वारा प्रेममय अधर-सुधारसका वर्षण किया तो उसका प्रवाह इतना बढ़ा कि उसमें व्रजांगनाएँ बह गयीं। यदि प्रबल प्रवाहमें पड़ी हुई नौकाको कोई नाविक रोकना चाहे तो वह रोक नहीं सकता। इसी प्रकार गोपांगनाओंको भी कोई रोक न सका।

इसीसे भगवान् कहते हैं—'गोपिकाओ! अब मैं समझा। तुम तो मेरे प्रेमसे विवश होकर ही यहाँ आयी हो।' **'यन्त्रिताशयाः—वशीकृतान्तःकरणाः'** अर्थात् जिनका अन्तःकरण किसीने अपने अधीन कर लिया हो। भगवान्के मधुमय वेणुनिनादरूप चौरने गोपांगनाओंके हृदय-भवनमें घुसकर उनके विवेकरूप धनको चुरा लिया था। इसीलिये उन्हें लौकिक-वैदिक मर्यादाका ज्ञान नहीं रहा। भगवान् कहते हैं—आपलोगोंने यद्यपि बड़ा प्रयत्न भी किया कि लोकमर्यादाका विच्छेद न हो; परंतु यह तो आपके वशकी बात नहीं रही थी। देखो, भ्रमर बहुत-से बन्धनोंको काट सकता है, कठोर काष्ठमें भी छिद्र कर देता है, परंतु पंकज-कोशको नहीं काट सकता। इस प्रकार आप भी प्रेमबन्धनको काटनेमें सर्वथा असमर्थ थीं।

किंतु, प्रियतम! जब आप जानते हैं कि ये व्रजांगनाएँ प्रेमपाशमें बँधकर ही आपके पास आयी हैं तो आप इनपर कृपा क्यों नहीं करते? इसपर भगवान् कहते हैं—**'मदभिस्नेहाद् भवत्यो यन्त्रिताशयाः'** (श्रीमद्भा १०। २९। २३)—आप मेरे अभिस्नेहसे विवशचित्त हैं। **'अभितः स्नेहः अभिस्नेहः प्रीतिविशेषः'** अर्थात् हे गोपांगनाओ! हम जानते हैं, आपलोग सहज स्नेहसे आयी हैं—किसी स्त्री-पुरुष-सम्बन्धिनी रतिके कारण नहीं आयीं। आपका प्रेम विशुद्ध है; उसमें कामका लेश नहीं है। मेरेमें तो केवल प्रेम है, कृति तो है नहीं। अतः वह तो हमारे दर्शनमात्रसे चरितार्थ हो गया। आपलोग यदि रमणाभिलाषासे आतीं तो अंग-संगकी आवश्यकता होती। आप यदि अंग-संगकी इच्छासे आतीं तो आपको ब्रह्मसंस्पर्श प्राप्त होता। आपका तो स्वाभाविक प्रेम है और मेरे प्रति प्रेम होना स्वाभाविक ही है; क्योंकि **'प्रीयन्ते मयि जन्तवः'** मेरे प्रति जीवमात्रका प्रेम है। यह तो मेरा स्वभाव ही है; अतः इसमें कोई विशेषता नहीं है। यहाँ **'भवत्यः'** शब्द पूजार्थक है। इसका तात्पर्य यह है कि आप तो प्रेमकी आचार्या और मुनिजनोंके लिये भी वन्दनीया हैं। मेरे प्रति तो स्वभावतः समस्त जीवोंका प्रेम है; फिर यदि आपका भी मेरेमें अनुराग हुआ तो इसमें विशेषता ही क्या है? इसलिये आपका प्रेम तो मेरे दर्शनमात्रसे ही

चरितार्थ हो गया।

'जन्तु' पदसे यहाँ देहमें तादात्म्याध्यासवाले पामर और अनभिज्ञ प्राणी अभिप्रेत हैं; क्योंकि आत्मा तो वस्तुतः जन्म-मरणरहित है। वह **'जन्तु'** शब्दका वाच्य नहीं हो सकता। जिस समय वह देहसे अपना तादात्म्य करता है, तभी **'जन्तु'** कहा जाता है। मेरे प्रति तो उन पामर प्राणियोंका भी प्रेम है; क्योंकि मैं सभीका आत्मा हूँ और आत्मा नामकी वस्तु सभीको प्रिय हुआ ही करती है। यद्यपि जीव देहादिमें ही आत्मभाव कर लेते हैं तो भी मैं तो उनका भी परम-प्रेमास्पद हूँ।

कहते हैं जिस समय रामभद्र वनको पधारे, उस समय अयोध्यामें जो स्त्रियाँ पुत्रहीना थीं, उन्हें भी जब प्रभुके वनगमनानन्तर पुत्र-प्राप्ति हुई तो प्रभुके वियोगके कारण उससे कुछ प्रसन्नता नहीं हुई; जिनके पति चिरकालसे विदेश गये हुए थे, उन्हें उनका आगमन होनेपर भी कोई सुख न हुआ। यहाँतक कि पशु-पक्षी और स्थावरोंकी भी दुर्दशा ही रही। नदियाँ सूख गयीं और वृक्ष एवं लताएँ पत्र-पुष्पहीन हो गये।

'अपि ते विषये म्लाना सपुष्पाङ्कुरकोरकाः।'

घोड़ोंकी दशा तो श्रीगोसाईंजी महाराजने लिखी ही है—

जो कह रामु लखनु बैदेही। हिंकरि हिंकरि हित हेरहिं तेही॥
जहँ असि दसा जड़न्ह कै बरनी। को कहि सकइ सचेतन करनी॥

(रा०च०मा० २।१४३।७; १।८५।३)

यदि भगवान् राम कोई अन्य व्यक्ति होते तो सबको ऐसी बेचैनी क्यों होती? यद्यपि आपात दृष्टिसे यह भी कहा जाता है कि उन सबको यह ज्ञान भी नहीं था कि वे हमारे अन्तरात्मा ही हैं तथापि वस्तुस्थिति तो ऐसी ही थी। हमारी तो ऐसी भी आस्था है कि जिन्होंने भगवान् रामभद्रका दर्शन या स्पर्श किया था, उन्हें उनका अपने अन्तरात्मास्वरूपसे अवश्य ज्ञान हो गया था; क्योंकि प्रभुकी यह प्रतिज्ञा है—

मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज स्वरूपा॥

(रा०च०मा० ३।३६।९)

अतः जिन्हें उनका सान्निध्य प्राप्त हुआ था, उन्हें तो उस परमतत्त्वका लाभ अवश्य हो गया था, जो योगीन्द्रोंको भी दुर्लभ है।

उन्हें जो स्वरूपानभिज्ञ कहा जाता है, वह लौकिकी दृष्टिको लेकर कहा जाता है। अन्यथा **'कस रे सठ हनुमान कपि'** (रा०च०मा० ६।२६) भला मरुत्नन्दन वीराग्रणी श्रीहनुमान्‌जी क्या बन्दर हैं? पक्षिराज जटायु क्या साधारण पक्षी हैं? भक्ताग्रगण्य काकभुशुण्डिजी क्या कोरे कौए ही हैं? केवल लौकिकी दृष्टिसे ही उन्हें पशु-पक्षी कहा जाता है।

अहा! जिन्हें प्रभुका सान्निध्य प्राप्त हुआ था, उन कोल-किरात और भीलोंको भी प्रभुका जो परम दुर्लभ प्रेम प्राप्त हुआ था, वह क्या हमें अनायास प्राप्त हो सकता है? प्रभु कैसे प्रेमसे उनकी बातें सुनते थे!—

बेद बचन मुनि मन अगम ते प्रभु करुना ऐन।
बचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालक बैन॥

(रा०च०मा० २।१३६)

इससे यह सिद्ध होता है कि प्रभुका स्वरूप-ज्ञान किसीको हुआ हो अथवा न हुआ हो, उनके दर्शनमात्रसे उनके प्रति प्रेमातिशयका होना तो स्वाभाविक ही था। देखो खर और दूषण कैसे क्रूर राक्षस थे? वे अपनी बहनके अपमानसे क्षुभित होकर बदला लेनेके लिये ही आये थे। तथापि जिस समय उन्होंने प्रभुका रूप-माधुर्य देखा तो कहने लगे—

जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा। बध लायक नहिं पुरुष अनूपा॥

(रा०च०मा० ३।१९।५)

भगवान् तो साक्षात् अपने आत्मा हैं, जिन अन्य पदार्थोंमें भी आत्मत्वका विभ्रम हो जाता है, उनके प्रति भी अपार प्रेम हो जाता है। देखो—शरीरमें आत्मत्वका केवल भ्रम ही तो है; किंतु उसके लिये मनुष्य संसारकी सारी वस्तुओंको निछावर कर देता है।

अत: भगवान् कहते हैं कि इस प्रकार जब अज्ञ जन्तुओंका भी मेरे प्रति स्वाभाविक अनुराग है तो हे गोपिकाओ! आप तो परम पूजनीया हैं। आपको मेरे प्रति प्रेम हुआ—इसमें तो कहना ही क्या है। आप जैसी प्रणयिनी, जो योगीन्द्रमुनीन्द्रवन्द्यपादारविन्दा हैं, यदि लौकिक-वैदिक बन्धनोंकी उपेक्षा करके हमारे प्रेमसे आकृष्ट होकर यहाँ पधारी हैं तो यह उचित ही है।

इसपर गोपिकाओंकी ओरसे यह प्रश्न हो सकता है कि महाराज! आपके प्रति तो सब प्रेम करते हैं, किंतु आप भी उनके लिये कुछ करते हैं या नहीं? इसका उत्तर यही है कि '**प्रीयन्ते प्रीतिमेव कुर्वन्ति न तु किञ्चिदपि मत्तोऽभिवाञ्छन्ति**'—जीव मेरे प्रति केवल प्रेम ही किया करते हैं, मुझसे कुछ चाहते नहीं हैं। मेरे सम्मुख होते ही उनकी सारी कामनाएँ निवृत्त हो जाती हैं। देखो—विभीषण राज्यकी कामनासे भगवान्के सम्मुख आये थे, परंतु प्रभुका दर्शन करनेपर तो यही कहने लगे—

उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥

(रा०च०मा० ५। ४९। ६)

यदि कहो कि अच्छा, भक्त तो आपसे कुछ नहीं चाहते, परंतु आपको तो अपनी ओरसे उनका कुछ उपकार करना ही चाहिये। इसपर प्रभु कहते हैं—'**प्रीयन्ते मयि स्वरूपमात्रे न तु प्रत्युपकारिणी**'—मुझ अपने स्वरूपमात्रमें उनका केवल प्रेम ही होता है, वे मुझमें प्रत्युपकारकी दृष्टिसे प्रीति नहीं करते, क्योंकि मुझमें तो केवल प्रेम ही है—कर्तव्य नहीं है। जिन्हें कोई कामना हो, उन्हें अन्य देवताओंकी शरण लेनी चाहिये।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।

× × ×

लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥

(गीता ७। २०, २२)

मुझमें तो उन्हींका अनुराग होता है, जिनका अन्त:करण समस्त कामनाओंसे निर्मुक्त होकर स्वच्छ हो गया है।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥

(गीता ७। २८)

किंतु ऐसी बात नहीं है कि भगवान् किसीकी कामनाएँ पूर्ण किया ही नहीं करते। यह तो उनकी नीति है। उन्होंने कामनापूर्तिका काम अन्य देवताओंको सौंप रखा है। जिस प्रकार सम्राट्के यहाँ भिन्न-भिन्न विभागोंके भिन्न-भिन्न अधिकारी होते हैं, उसी प्रकार भगवान्के यहाँ भी हैं। परंतु समय-समयपर भगवान् स्वयं भी अपने भक्तोंकी कामना पूर्ण करते ही आये हैं। जिस समय ग्राहगृहीत होनेपर गजराजने निर्विशेष रूपसे भगवान्की स्तुति की थी, उस समय और कोई देवता उसकी रक्षाके लिये उपस्थित नहीं हुआ। यद्यपि इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि सभी देवता उसकी रक्षा करनेमें समर्थ थे; परंतु उन्होंने तो यही सोचा कि हमारा नाम लेकर थोड़े ही पुकारता है, जो हम जायँ। उस समय केवल श्रीहरिने ही प्रकट होकर उसका संकट निवृत्त किया और साथ ही यह भी सिद्ध कर दिया कि जिस निर्विशेष परब्रह्मकी गजराजने स्तुति की थी, वह मैं ही हूँ। इसी प्रकार द्रौपदीकी लाज बचानेके समय भी प्रभुने ही वस्त्रावतार लिया था। अत: ऐसी बात भी नहीं है कि प्रभु कभी किसीकी कामनापूर्ति करते ही न हों। इसीलिये—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

(श्रीमद्भा० २। ३। १०)

—ऐसी उक्ति है। परंतु यहाँ तो व्रजांगनाओंके साथ उपहास हो रहा है।

इस प्रकार यद्यपि उन्होंने व्रजांगनाओंका समाश्वासन भी कर दिया तथापि बात वही रही कि गोष्ठको जाओ, देरी मत करो। यह नियम है कि जिस समय प्रियतम अपने प्रेमीका निराकरण करता हो, उस

समय यदि वह मुसकाने लगे तो उसके तिरस्कारका प्रभाव नहीं पड़ता। वह बात उपहासमें सम्मिलित हो जाती है। जिस प्रकार यदि कोई पुरुष वैराग्यका उपदेश कर रहा हो और स्वयं अच्छे ठाट-बाटमें हो तथा आकृतिसे भी रागी-सा जान पड़ता हो तो उसके कथनका कोई प्रभाव नहीं होता। अत: उपदेशके समय अनुकूल आचरण और मुद्राकी भी बहुत आवश्यकता है। इसीसे जब परमानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रने उनका स्वागत करके फिर मन्द मुसकानपूर्वक निराकरण करना आरम्भ किया तो वे समझ गयीं कि यह केवल इनका उपहास है।

व्रजांगनाओंकी उच्चतम स्थिति

अब मानिनी व्रजांगनाओंकी स्थिति भी समझ लेनी चाहिये। उनकी स्थिति बहुत ऊँची है। मानिनी गोपांगनाएँ वे हैं, जो प्रभुपर आत्मीयताका अधिकार रखती हैं; वे उन्हें अपने अधीन समझती हैं और उनसे जो चाहें करा सकती हैं। उन्हींके विषयमें यह कहा गया है कि वे भगवान्‌को कठपुतलीके समान नचाती थीं—

'**ताहि अहीरकी छोहरियाँ, छछियाभरि छाछपै नाच नचावैं॥**'

दूसरी अनभिज्ञा गोपियाँ हैं। साहित्य-दृष्टिसे वे मुग्धा नायिका हैं। वे प्रभुके अनुकूल रहकर उनका अनुग्रह प्राप्त करना चाहती हैं। वे प्रभुकी प्रार्थना करती हैं, किंतु जो मदीयत्वाभिमानवाली हैं, उनकी प्रार्थना स्वयं प्रभु करते हैं। देखो—जिस समय वृषभानुनन्दिनीजीने कहा कि महाराज, मैं तो थक गयी तो यहाँतक उनका कथन ठीक था; किंतु इसके आगे जो यह कहा कि '**नय मां यत्र ते मन:**'—आपकी जहाँ इच्छा हो, वहाँ मुझे ले चलिये—यह कथन उनके अनुरूप नहीं हुआ। इसीसे भगवान् अन्तर्धान हो गये। श्रीराधिकाजी मानिनी नायिका थीं; उनको नायकके आश्रित नहीं होना चाहिये था। उन्होंने जो आश्रयत्व-व्यंजक भाव प्रकट किया—यह उनके अनुरूप नहीं था। इससे रसभंग हो गया और रासलीलाका आविर्भाव रसवृद्धिके लिये ही हुआ था। इसीसे भगवान् अन्तर्धान हो गये।

गोपिकाओंने कहा था कि 'हे कृष्ण, हम आपका वेणुनिनाद सुनकर नहीं आयीं। हम तो शरच्चन्द्रकी दुग्धसदृश शुभ्र चन्द्रिकासे अत्यन्त शोभाप्राप्त इस कुसुमित वनावलीकी छटा निहारने आयी हैं। हमें यहाँ ठहरनेके लिये विशेष अवकाश ही नहीं है।' उस समय भगवान्‌को यही कहना पड़ा कि 'हे मानिनियो! यह ठीक है, आप हमारी वंशी-ध्वनि सुनकर हमारे दर्शनोंके लिये तो नहीं आयीं, परंतु अब यदि हमारे सौभाग्यसे आप यहाँ पधारी हैं तो कुछ काल ठहरिये।'

यही बात इस समय भगवान् कह भी रहे हैं—'मानिनियो! हम जानते हैं, आप ऊपरसे ही कह रही हैं कि हम वृन्दारण्यकी शोभा निहारनेके लिये आयी हैं तथापि भीतरसे तो हमारे प्रति आपका अवश्य अनुराग है। यदि कहो कि आप हम कुलांगनाओंके लिये ऐसे अननुरूप वचन क्यों कहते हैं, हम पर पुरुषमें कैसे अनुराग कर सकती हैं? तो ऐसी बात नहीं है, मेरा तो सौभाग्यातिशय ही ऐसा है कि जो रस-रीतिसे अनभिज्ञ शुष्कहृदय पशुप्राय जीव हैं, उनका भी मुझमें अनुराग हो जाता है, फिर आप तो रसिकशिरोमणिभूता हैं। अत: मेरे प्रति आपका अनुराग होना तो सर्वथा उचित ही है। कामिनियोंके हाव-भाव कटाक्षका रहस्य तो कामुकोंको ही ज्ञात हो सकता है। आपलोग रसाभिज्ञोंमें शिरोमणिभूता हैं; अत: जिस शृंगारमूर्ति मुझ आनन्दकन्दके प्रति स्वभावत: सब जीवोंका आकर्षण होता है, उसके प्रति आपको अनुराग होना ठीक ही है।'

अथवा '**अयन्त्रिताशया**' ऐसा पदच्छेद किया जाय तो यह भाव होगा कि गोपिकाओ! आप वास्तवमें पतिव्रताशिरोमणि ही हैं। मेरा रूप यद्यपि ऐसा है कि उसके प्रति सभीका आकर्षण हो जाता है तो भी आपका चित्त मेरी ओर आकर्षित नहीं हुआ—यह

आपके मनोबलकी ही महिमा है अथवा भगवान् गोपिकाओंसे प्रेमकी भिक्षा माँगते हैं। वे कहते हैं कि जिसमें पामर जीव भी प्रेमपाशसे बँध जाते हैं, उसे मेरे प्रति क्या आपका अब भी अनुग्रह नहीं होगा— अब तो मुझे अपना प्रेमदान देना ही चाहिये।

अथवा भगवान्‌की यह उक्ति अनधिकारिणी गोपांगनाओंकी निष्ठाको विचलित करनेके लिये और अन्तरंगाओंकी निष्ठाको सुदृढ़ करनेके लिये है; क्योंकि जिन्हें उनके प्रति ऐकान्तिक प्रेम नहीं है, उन्हें तो स्वधर्ममें ही परिनिष्ठित रहना चाहिये और जो एकमात्र उन्हींको अपना परमाराध्य मान चुकी हैं, उन्हें अब लौकिक-वैदिक बन्धनोंकी अपेक्षा नहीं है—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥

(गीता ६। ३)

इसी भावको लेकर भगवान् कहते हैं— 'गोपांगनाओ! मेरा ऐसा विचार था कि आप किसी अनुचित प्रेमके वशीभूत होकर तो इस असमयमें यहाँ नहीं आयीं? परंतु अब मुझे निश्चित हो गया कि आपका प्रेम विशुद्ध है। आप पतियोंको छोड़कर मुझमें प्रेम नहीं करतीं, परंतु पतिमें ही विष्णु-बुद्धि करके मुझ सर्वान्तरात्माकी आराधना करती हैं। इसीसे भगवान्‌ने '**अभिस्नेहात्**' कहा है; '**कामात्**' अथवा '**रमणाभिलाषात्**' ऐसा नहीं कहा। '**अभिस्नेह**' का अर्थ निरुपाधिक प्रेम है, कामादिक सोपाधिक प्रेम है। कामिनी नायिकाको नायकमें तभीतक प्रेम होता है, जबतक कामविकार रहता है। परंतु आपका प्रेम निरुपाधिक है, वह कभी विचलित होनेवाला नहीं है। उसमें अंग-संगादि किसी कामकी गन्ध भी नहीं है। अतः '**भवत्यः**' आप पूजनीया हैं। उद्धवादि भक्तजन भी आपका पूजन करना चाहते हैं—

'आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्याम्।'

(श्रीमद्भा० १०। ४७। ६१)

इसलिये अब आप जाओ, अपने पतिदेवोंका ही पूजन करो। उसीसे मेरा भी पूजन हो जायगा; क्योंकि मैं सर्वान्तरात्मा हूँ। यह गोपिकाओंके उपलक्षणसे संन्यासनिष्ठाके अनधिकारियोंको उपदेश है कि तुम अपने वर्णाश्रमधर्मका पालन करते हुए ही मुझ सर्वान्तरात्माकी आराधना करो।

इसी उक्तिसे वे अधिकारिणी गोपांगनाओंसे कह रहे हैं कि 'हे गोपियो! तुम्हें सारे बन्धनोंको काटकर अब मेरी ही आराधना करनी चाहिये; क्योंकि '**अभिस्नेहात्**' '**अभितः**'—सब ओरसे मुझमें ही स्नेह होनेके कारण आप यहाँ आयी हैं। इसलिये अब आपके लिये कोई और कर्तव्य नहीं है।'

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

(गीता ३। १७-१८)

यदि जीवका प्रेम सब ओरसे सिमटकर एक ओर ही लग जाय तो वह अपना लक्ष्य बहुत जल्द प्राप्त कर सकता है, परंतु इसका प्रेम तो छितराया हुआ है, वह स्त्री-पुत्र, धन-धरती आदि कितनी ही वस्तुओंमें बँटा हुआ है। इसीलिये उससे कोई सफलता नहीं होती। अतः आवश्यकता इस बातकी है कि उस प्रेमकी सारी धाराओंको रोककर केवल भगवान्‌में ही लगा दिया जाय, परंतु पहले-पहल ऐसा होना सम्भव नहीं है। अतः आरम्भमें ऐसा करना चाहिये कि अपनी इन्द्रियोंके व्यापारोंको भगवत्सम्बन्धी कर दिया जाय। श्रोत्रोंको अन्य शब्दोंसे हटाकर केवल भगवच्चरित्र-श्रवणमें लगाओ, जिह्वासे केवल भगवन्नाम जपो और भगवत्-प्रसादका रसास्वादन करो, नेत्रोंसे केवल भगवद्विग्रहके अनुपम सौन्दर्यका अवलोकन करो। इसी प्रकार सारे विषयोंको भगवन्मय कर दो। बस, एकमात्र भगवान् ही आपकी प्रीतिके विषय बन जायँ। श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

यह बिनती रघुबीर गुसाईं।

ते सब तुलसिदास प्रभु ही सों, होहिं सिमिटि इक ठाईं॥

गोपियोंकी स्थिति ऐसी ही भगवन्मयी थी। वे जो कुछ देखती थीं, जो कुछ सूँघती थीं, जो कुछ स्पर्श करती थीं, सब श्याममय था—'**जित देखूँ तित स्याममई है।**' उनका अन्तःकरणरूप सरोवर श्याम-रंगसे रँग गया था। अन्तःकरण जिस-जिस इन्द्रियरूप प्रणालीके द्वारा निकलकर जिस-जिस विषयको व्याप्त करके प्रकाशित करता था, वही श्याममय प्रतीत होता था। अतः भगवान् कहते हैं—'अयि मानिनियो! आपलोगोंका मेरे प्रति अभिस्नेह है। आपका चारों ओरका प्रेम पुंजीभूत होकर मुझमें ही लग गया है। अतः आप यन्त्रिताशया हैं, आपका चित्त विवश है। सो यह उपपन्न ही है। आप इसकी अनुपपत्तिकी आशंका न करें; क्योंकि जब अवान्तर धर्म सर्वात्मा श्रीहरिके स्मरणरूप परमधर्ममें बाधक होने लगते हैं तो वे त्याज्य हो ही जाते हैं।

यद्यपि मेरे प्रति प्रेम तो सभीका होता है तथापि सर्वकर्म-संन्यासमें उसीका अधिकार है, जो श्रौत और स्मार्त कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे शुद्धान्तःकरण होकर या तो निर्विशेष परब्रह्मका श्रवण, मनन और निदिध्यासनपूर्वक अपरोक्ष साक्षात्कार कर चुका हो या भगवान्के पदपद्मपरागका सुरसिक मधुकर होकर सांसारिक भोगवासनाओंसे ऊपर उठ गया हो। ऐसा महानुभाव बहुत दुर्लभ है; क्योंकि इन्द्रियोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति विषयोंकी ही ओर है; अतः आचार्य लोग साधनोंपर ही जोर दिया करते हैं। इधर भगवान् भी व्रजांगनाओंकी स्वरूपनिष्ठाको पुष्ट करते हुए उन्हें पतिशुश्रूषाका ही आदेश देकर सर्वसाधारणके लिये श्रौत-स्मार्त कर्मोंकी आवश्यकताका ही प्रतिपादन कर रहे हैं।

भगवान्का इस सारे कथनसे क्या-क्या तात्पर्य है, सो तो वे ही जानें। हमें तो जो कुछ उन्हींके कृपाकणसे प्राप्त हुआ है, उसीका निरूपण कर रहे हैं। हम पहले कह चुके हैं कि श्यामसुन्दर श्रीहरिके वामांगमें रासेश्वरी श्रीवृषभानुनन्दिनी विराजती हैं। वे उन्हींकी आह्लादिनी शक्ति हैं; स्वरूपतः भगवान्के साथ उनका अभेद है। आरम्भमें जो '**श्रीभगवानुवाच**' ऐसा कहा गया है, वहाँ '**श्री**' शब्द उन्हींका द्योतक है। यह **श्री** '**श्रयते हरिं या इति श्रीः**'—जो हरिका आश्रय ले वह श्री नहीं है, बल्कि '**श्रीयते इति श्रीः**'—जिसका आश्रय लिया जाता है, वह श्री है। अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डान्तर्गत सौन्दर्य-माधुर्य-सुधाकी अधिष्ठात्री जो महालक्ष्मी हैं, उनके द्वारा भी जिनके चरणकमल सेवित हैं, वे श्रीवृषभानुदुलारी ही श्री हैं। उनकी प्रसन्नताके लिये ही भगवान्ने यह लीला की थी। रासलीला एक नायिकासे नहीं होती, इसीलिये अन्य गोपांगनाओंका आवाहन किया गया था। अब यदि उन सबका आदर करते हैं तो सम्भव है श्रीराधिकाजी रुष्ट हो जायँ; क्योंकि वे मानिनी हैं न! अतः भगवान् उनका तिरस्कार करते हैं, जिसमें वे दयावश स्वयं ही कह दें कि श्यामसुन्दर! अब आप इनका निराकरण क्यों करते हैं, आ गयी हैं तो इनकी इच्छा भी पूर्ण कीजिये।

अथवा यह भी सम्भव है कि अन्य गोपियाँ तो आ गयी हों और राधिकाजी अभी न आयी हों। इसलिये भगवान् उनकी प्रतीक्षामें हों; क्योंकि इस लीलाकी अधिनायिका तो वे ही हैं। अतः वे अन्य गोपिकाओंको इसलिये सीधा-सीधा उत्तर नहीं देते, जिसमें राधिकाजीके आनेपर उनका मान रखनेके लिये यह कह सकें कि हमें आपकी प्रतीक्षा थी, इसीसे अभी कोई निश्चय नहीं हुआ।

इस गोपिकायूथमें कितनी ही व्रजांगनाएँ मानिनी हैं। इसीसे भगवान् ऐसे वचन कह रहे हैं, जिनके अनुकूल और प्रतिकूल दोनों अर्थ हो सकते हैं। मानिनी नायिकाका नायकपर आधिपत्य रहता है; इसलिये उसे ऐसे वाक्य बोलने पड़ते हैं, जिनका अर्थ बदलकर वह अपनेको उनके कोपका भाजन होनेसे बचा सके।

रासलीला परब्रह्मका नित्य लास्य है

यह रासलीला कोई उपहास या प्राकृत लीला नहीं है। यह तो शुद्ध परब्रह्मका नित्य लास्य है। रासका स्वरूप क्या है?—

'माधवं माधवं वान्तरे अङ्गना
अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधवः।'

एक-एक गोपीके अनन्तर भगवान् हैं और भगवान्की एक-एक मूर्तिके अनन्तर एक-एक व्रजांगना है। सांख्यवादियोंका कथन है—'**क्षणपरिणामिनो हि भावा ऋते चितिशक्तेः**'। वह चितिशक्ति ही भगवान् कृष्ण हैं। यह सम्पूर्ण प्रकृति चिद्रूप श्रीकृष्णके ही चारों ओर घूम रही है। आजकल वैज्ञानिकोंका भी मत है कि एक ग्रह दूसरे ग्रहके आश्रित होकर गति कर रहा है। इस प्रकार सारा ही ब्रह्माण्ड गतिशील है। यही प्रकृतिका नित्य नृत्य है। यदि आध्यात्मिक दृष्टिसे विचार करें तो हमारे शरीरमें भी भगवान्की यह नित्यलीला हो रही है। हमारा प्रत्येक अंग गतिशील है। हाथ, पाँव, जिह्वा, मन, प्राण सभी नृत्य कर रहे हैं। इन सबका आश्रय और आराध्य केवल शुद्ध चेतन ही है। यह सारा नृत्य उसीकी प्रसन्नताके लिये है और वही नित्य एकरस रहकर इन सबकी गति-विधिका निरीक्षण करता है। जबतक इनके बीचमें वह चैतन्यरूप कृष्ण अभिव्यक्त रहता है; तबतक तो यह रास रसमय है; किंतु उसका तिरोभाव होते ही यह विषमय हो जाता है। इसी प्रकार गोपांगनाएँ भी भगवान्के अन्तर्हित हो जानेपर व्याकुल हो गयी थीं। अतः इस संसाररूप रासक्रीड़ामें भी जिन महाभागोंको परमानन्दकन्द श्रीव्रजचन्द्रकी अनुभूति होती रहती है, उनके लिये तो यह आनन्दमय ही है।

अहो! यह संसार तो अब भी प्रभुका वृन्दारण्य ही है। यहाँ वही चन्द्र छिटक रहा है, वही यमुना है और वही मन्द-सुगन्ध सुशीतल समीर बह रहा है। तथापि आज श्रीकृष्णचन्द्रके ओझल हो जानेसे इन जीवरूप गोपांगनाओंके लिये यह दुःखमय ही हो रहा है। यदि वे दीखने लगें तो फिर यही परम आनन्दमय हो जाय।

जीवका परमपुरुषार्थ प्रभुकी प्राप्ति ही है

देखो—इस रास-रसकी प्राप्तिके लिये गोपांगनाओंने स्वधर्मानुष्ठान करते हुए श्रीकात्यायनीदेवीकी आराधना की थी। अतः हमें भी भगवत्संयोग-सुखकी प्राप्तिके लिये स्वधर्म-पालनमें ही तत्पर रहकर भगवान्की उपासना करनी चाहिये। जबतक जीव परब्रह्म श्रीकृष्णचन्द्रसे वियुक्त रहता है, तबतक उसे शान्ति नहीं मिलती। अतः जीवका परम पुरुषार्थ प्रभुकी प्राप्ति ही है। इसके लिये हमें भगवान्के किसी भी स्वरूपकी उपासना करनी चाहिये। भगवान् विष्णु, शिव, श्रीकृष्ण, रामभद्र, दुर्गा—ये सब भगवद्विग्रह ही हैं। साम्प्रदायिक पक्षपातके कारण इनमेंसे किसीके प्रति भी द्वेष-दृष्टि नहीं करनी चाहिये। अपने इष्टदेवका प्रेमपूर्वक पूजन करो। इसके लिये उनके स्वरूप और उपासना-विधिका ज्ञान प्राप्त करो तथा यह भी मालूम करो कि उनकी उपासनामें क्या-क्या प्रतिबन्ध हैं। प्रतिबन्ध कुपथ्य रूप हैं, उनसे बचनेकी बहुत आवश्यकता है। यदि कुपथ्य करते हुए चन्द्रोदय-जैसी ओषधिका भी सेवन किया जाय तो भी लाभ होना सम्भव नहीं है। इसलिये उपासनामार्गके प्रतिबन्धोंसे सर्वदा सतर्क रहो।

'स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्माच्च निवर्तनम्।'

(श्रीमद्भा० ३। २८। २)

—इस वाक्यके अनुसार सर्वदा स्वधर्मका तो यथाशक्ति पालन करो, किंतु विधर्मका तो सर्वथा त्याग कर दो। यदि साथ-साथ विधर्मरूप कुपथ्यका त्याग और स्वधर्मरूप पथ्यका सेवन न किया जायगा तो यथेष्ट लाभ होना कदापि सम्भव नहीं है। ऐसी अवस्थामें सारी ओषधि निष्फल हो जायगी। इस प्रकार यदि कोई पुरुष स्वधर्म-पालन और विधर्म-विसर्जनपूर्वक भगवान्की उपासना करता है तो उसे ब्रह्मसंस्पर्श अवश्य प्राप्त हो जाता है।

श्रीरासपंचाध्यायी

गोपियोंके गर्वापहरणके लिये भगवान् अन्तर्धान हो गये

अन्तर्हिते भगवति सहसैव व्रजाङ्गनाः।
अतप्यंस्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम्॥*

(श्रीमद्भा० १०।३०।१)

भगवान् भक्तपराधीन हैं। वे अपनी सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता आदिको भूलकर भक्तोंके पीछे घूमते हैं, परंतु गर्वसे उन्हें बड़ी शत्रुता है। वे अपने भक्तोंमें गर्व नहीं आने देना या नहीं रहने देना चाहते। जहाँ गर्व रहेगा, भगवान् वहाँ स्वयं न रहेंगे। भगवान्को अपने अत्यन्त अनुकूल पाकर गोपियोंको गर्व हो गया। उसे दूर करनेके लिये भगवान् अन्तर्हित हुए। गोपियोंको भगवान्के दर्शन और स्पर्शका जो बाह्य सुख मिल रहा था, वह नहीं रहा। भगवान् वहाँसे कहीं चले नहीं गये, अपितु गोपियोंके मन, बुद्धि, प्राण, अन्तःकरण आदिमें प्रविष्ट हुए। श्रीमद्वल्लभाचार्यजी कहते हैं—वे कैसे अन्तःप्रविष्ट हुए, उसका क्या प्रकार था—वह व्रजांगनाएँ जान न सकीं। वे क्यों नहीं जानती थीं; क्योंकि वे व्रजांगनाएँ थीं, अतः नहीं जानती थीं। अर्थात् जन्मसे, बाल्यकालसे ही वे भगवान्को बाह्य मूर्तिके ही रूपमें देखा करती थीं। अतः जब आज उन्हें नहीं देखा तो वे दुःखी हुईं।

व्रजवासियोंपर दया करके विषमताको मिटाकर भगवान् व्रजमें प्रकट हुए—

'तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता
मयैव वृन्दावनगोचरेण।'

(श्रीमद्भा० ११।१२।११)

जो अनन्त अचिन्त्य अलक्ष्य अव्यपदेश्य निर्विकार तत्त्व है—वह वृन्दावनमें गोपाल, गोचारक बना। जिसे अष्टांगयोगयुक्त योगी नहीं प्राप्त कर सकते, वह यहाँ प्रकटा। बात यह है कि अत्यन्त वैजात्यमें प्रीति नहीं होती। मनुष्य रूपहीन, स्पर्शहीन, रसहीन, गन्धहीन, अचिन्त्य अग्राह्यमें कैसे प्रीति करे? यद्यपि अचिन्त्य अग्राह्य निर्विकार श्रीभगवान्ने भक्तानुग्रहार्थ नृसिंह, वराह, कच्छपादि अवतार धारण किये, परंतु उनकी महामहिमा, महान् ऐश्वर्यको देखकर अपनेसे असमान होनेके कारण मानव-हृदय उनसे स्वच्छन्द अनुराग करनेमें और भी असमर्थ रहा। पहले तो अचिन्त्य, अग्राह्य आदि होनेसे ही प्रेम दुर्घट रहा, फिर कच्छपादिमें भी महामहिमा आदिके कारण वहाँ भी वह दुर्लभ ही रहा। अतः भक्तवत्सल भगवान् चतुर्भुज मानवरूपमें अवतीर्ण हुए। परंतु इस रूपमें भी चतुर्भुजरूप और ऐश्वर्यातिशयके कारण मनुष्यको कुछ संकोच ही रहा, वह पूरा-पूरा अपना हृदय उनके समक्ष न खोल सका। तब प्रभु ठीक-ठीक मानवाकार श्रीरामरूपमें अवतीर्ण हुए, परंतु यहाँ भगवान् मर्यादा-पुरुषोत्तम बन गये। अतः इस रूपमें भी मर्यादापूर्ण लोग अथवा साधारण जीव प्रीति करते डरते रहे। ऐश्वर्यमें भी संकोच बना ही है। इसलिये वह अचिन्त्यैश्वर्य जगदाधार भगवान् गोप और गोपियोंके साजात्य सम्बन्धको लेकर गोपालरूपमें अवतीर्ण हुए और सभीके निःसंकोच परप्रेमास्पद बन गये।

गोपबालाओंका अन्तर्द्वन्द्व

जब भगवान् कृष्ण मथुरामें आ गये, तब गोपबालाएँ अधिक वियोगसन्तप्त हुईं। किसीने कहा—'मथुरा क्या दूर है, नहीं रहा जाता तो जाओ, वहीं दर्शन कर आओ!' सब तो नहीं, पर कुछ व्रजांगनाएँ किसी समय मथुरा भी गयीं, परंतु वहाँ श्रीमथुरानाथका वैभव देखकर; उनके शौर्य, वीर्य, ओज, तेजको देखकर उन्होंने घूँघट निकाल लिया, कहने लगीं—ये हमारे प्रभु प्राणधन श्यामसुन्दर नहीं हैं। नखसे शिखतक रत्नजटित सौवर्णाभरणधारी सम्राट्, ये हमारे प्रभु नहीं हैं। हमारे तो वे मयूरपिच्छ, गुंजावतंस, पीताम्बर, लकुटीकम्बलधारी व्रजविहारी प्रभु हैं अर्थात् ऐश्वर्यमें उन्हें संकोच हुआ, वे तो अपने साजात्यमें प्रेम करती रहीं। अभिप्राय यह

* भगवान् सहसा अन्तर्धान हो गये। उन्हें न देखकर व्रजयुवतियोंकी वैसी ही दशा हो गयी, जैसे यूथपति गजराजके बिना हथिनियोंकी होती है।

कि साजात्यमें निःसंकोच प्रणय होता है, अतः भगवान् गोचारण करते प्रकटे।

जीव अल्पज्ञ है, अल्पशक्ति है, अकिंचन है और प्रभु सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् हैं। ऐसे महान् अन्तरमें जीवकी कैसे गति हो, वह उन्हें कैसे प्राप्त करे? एक दीन-हीन भिक्षुकी महाराजाधिराजसे, सम्राट्से, सम्मिलनकी सम्भावना भी कैसे कर सकती है? परंतु यों निराश होना ठीक नहीं, अपितु उत्कट आशा बनाये रखनी चाहिये, तब शीघ्र ही दर्शन मिलता है। यद्यपि आशा दोष है, त्याज्य कोटिमें है, परंतु प्रभुसम्मिलनकी आशा महापुण्योंका फल है। यह आशा कल्पलता है। इसे नेहके अनुरागके जलसे सींचना चाहिये। शनैः-शनैः इसमें नाल, स्कन्ध, शाखा, उपशाखा, पत्र, पुष्प और फल अवश्य लगेगा ही। इस भावका आना कि प्रभु दुर्लभ हैं, इसे स्वयं भगवान्ने दूर किया है—श्रुति कहती है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

(श्वेताश्वतर० ४।६)

तुम और तुम्हारे प्रभु एक हैं, दोनों सुपर्ण हैं, दोनोंका साजात्य सम्बन्ध है, तब मिलनेमें कुछ कठिनाई नहीं। कहा जा सकता है—कहीं-कहीं साजात्यमें—भाई-भाईमें भी प्रेम नहीं रहता, इसको दूर करनेके लिये—'**सखाया**' कहा। जब परस्पर सख्य-सौहार्द होगा, तब मिलनेमें कोई कठिनाई न रहेगी। हाँ, यदि सखा भी दूर देशमें हो तो अवश्य विघ्न हो सकता है; जैसे चन्द्र और समुद्र।

परंतु यहाँ तो यह बात भी नहीं है; क्योंकि—'**समानं वृक्षं परिषस्वजाते**' शरीररूप एक ही वृक्षपर दोनोंका निवास है, सादेश्य है। फिर भी '**असङ्गो नहि सज्जते**' से उस परतत्त्वको जब असंग बतलाया गया, तब उसमें प्रेम कैसे हो? इसका भी समाधान करते हुए श्रुतिने '**सयुजा**' विशेषण दिया अर्थात् जीव और ब्रह्म दोनोंका घनिष्ठ सम्बन्ध है, दोनों एक ही हैं। जैसे जल और तरंग, घट और मृत्तिका, उत्पल और नैल्य एक ही हैं, इनमेंसे एक दूसरेसे अलग नहीं हो सकते। चिदचित्, भेदाभेद आदि सभी वादोंमें यह बात माननी पड़ती है। ऐसी स्थितिमें निराश होनेकी बात ही नहीं रह जाती। भगवान् तो स्वयं इस विषमताको मिटानेका प्रयत्न करते हैं, वे गोपोंके साथ प्रेम करनेके लिये ही गोपाल बने हैं। यहाँ तो '**अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति**' का भेद भी ''''**वृन्दावनगोचराः** से मिट गया। यहाँ तो उस '**अनशिता**' अभोक्ताने गवाँरी ग्वालिनियोंके मक्खनकी चोरी की। निरंजनने श्रीयशोदासे अंजन लगवाया, वह अनंग (निरंग) सांग बन गया, उसने खूब व्रजदेवियोंसे उपाहृत छाकें छकीं। इसी समतामें क्रीडा होती है। तभी तो—'**उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः।**' (श्रीमद्भा० १०।१८।२४) चुटिया पकड़कर श्रीदामाने भगवान्से अपना दाँव लिया, उनकी पीठपर चढ़कर टिक-टिक करके उसने सवारी साधी। यदि श्रीदामा उनमें और अपनेमें जरा भी भेद पाता तो यह कहनेकी कैसे हिम्मत करता—

'न्यारि करो हरि आपन गैया, ना हम चाकर नन्द बाबाके ना तू मोर गुसैंया, '''कहा भयो दस गैया अधिकैंया'''''''

इस तरह भगवान् अपनी सर्वज्ञताको भूलें, हम अपनी अल्पज्ञताको भूलें और इस तरह समानता स्थापित हो। इस समानताके रूपमें भगवान् यहाँ पधारे हैं। इस रूपमें इनपर व्रजांगना न्योछावर हो रही हैं। वे उन प्रियतम प्राणधनको—बालमुकुन्दको बालभावसे देखती हैं, बाहुलतासे वेष्टित करती हैं और उनकी बलैया लेकर फूली नहीं समातीं। ऐसी स्थितिमें वे अन्तर्हितको क्या जानें। विशेषकर वे व्रजांगना हैं, व्रजकी अंगना हैं, भोली हैं, मुग्धा हैं, वे तो साक्षात् भगवान्को ही जानती हैं। अतः '**अतप्यंस्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम्॥**' (श्रीमद्भा० १०।३०।१) उन्हें न देखकर बड़ी सन्तप्त हुईं, जैसे हथिनियाँ हाथीको न देखकर

व्याकुल होती हैं। '**तमचक्षाणाः**' से यह भाव बतलाया कि ये विशुद्धानुरागवती हैं, कान्तभाववती नहीं। अतः दर्शन, स्पर्श ही मुख्य है, रमण मुख्य नहीं। अतएव '**करिण्य इव यूथपम्**' का उदाहरण है। करिणी स्पर्शकुशल होती हैं। एक सूक्तमें कुरंग, मातंग, पतंग, भृंग और मीनकी एक विषयकी कुशलता बतायी गयी है—'**कुरङ्गमातङ्गपतङ्गभृङ्ग-मीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च**' अतः दर्शन और स्पर्शकुशला सख्यभाववती अथवा विशुद्धानुरागवती व्रजांगना श्रीश्यामसुन्दरका दर्शन न पाकर अति सन्तप्त हुईं।

रासेश्वरके अन्तर्धान हो जानेपर व्रजांगनाओंकी मनोदशा

साधारणतया दो प्रकारकी गोपी हैं, एक सख्यभाववती, दूसरी कान्तभाववती। चन्द्रावलीप्रभृति कान्तभाववती हैं। इन्हें स्पर्शसुखकी अधिक आकांक्षा रहती है; सख्यभाववती केवल दर्शनसे तृप्त रहती हैं। यहाँ इन्हींके लिये '**तमचक्षाणाः**' पद है। गोपियाँ श्रीयुगल-सरकारके दर्शनके लिये लालायित रहती हैं। इनकी एकके दर्शनसे तृप्ति नहीं होती, वे दोनोंहीके दर्शन चाहा करती हैं। श्रीरासेश्वरी वृषभानुनन्दिनीके बिना आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रके मुखचन्द्रका दर्शन और श्रीश्यामसुन्दर मदनमोहनके बिना श्रीव्रजेश्वरी महारानीका दर्शन भी उन्हें तृप्त नहीं करता, सुख-आनन्द नहीं देता। वे तो युगल-सरकारका, श्रीराधाकृष्णका, श्यामाश्यामका युगल दर्शन चाहती हैं। फिर जहाँ दोनोंमेंसे एकका भी दर्शन नहीं अथवा दोनोंका ही दर्शन नहीं, वहाँ तो सन्तापका कुछ ठिकाना ही नहीं। अतः कहा—'**अतप्यंस्तमचक्षाणाः**' हाय, हम हतभाग्याओंको प्रिया-प्रियतममेंसे एकके भी दर्शन नहीं! अभी प्रियतमके दर्शन हो रहे थे, उन्हें भी विधाताने ओझल कर दिया!

शारदी पूर्णिमाके स्वच्छ, शुद्ध, निष्कलंक पूर्णचन्द्र श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शनके बिना यह चन्द्र प्रलयकालीन द्वादश आदित्योंके समान सन्ताप दे रहा है। यह आह्लादकर चन्द्र नहीं, अपितु प्रलयकालके महातापके द्वादश आदित्य एकत्र उदित हुए हैं। ये किंशुक-कुसुम और अरुण वस्त्र नहीं हैं, अपितु ये दावाग्निकी लपटें हैं। अपने प्रियतम प्राणधन मनमोहन श्यामसुन्दरको न देखकर उनके दर्शन-कालमें, संयोगके समयमें आह्लाद देनेवाली इन वस्तुओंमें अधिकाधिक तापकताकी गोपांगनाओंको प्रतीति हो रही है। कान्तभाववती तथा सख्यभाववती दोनोंकी ही यह सन्तप्त दशा है। यह ठीक ही है, प्राणीको प्राणके वियोगमें, अभीष्टके अभावमें दुःख होता ही है। फिर जो प्राणोंका भी प्राण है, मनका भी मन है, श्रोत्रका भी श्रोत्र है, चक्षुका भी चक्षु है, वाणीकी भी वाणी है, उसके विप्रयोगमें असह्य पीड़ाका होना स्वाभाविक है। श्रुति कहती है—'**प्राणस्य प्राणं**…' (बृहदारण्यक० ४।४।१८) महात्मा तुलसीदासजीने भी कहा है—

प्रान प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम।
तुम्ह तजि तात सोहात गृह जिन्हहि तिन्हहि बिधि बाम॥

(रा०च०मा० २।२९०)

श्रुतिका वचन भी है—'…**एतस्यैवानन्दस्य**… **मात्रामुपजीवन्ति॥**' (बृहदारण्यक० ४।३।३२) जगत्‌में जितने भी महान्-से-महान् आनन्द हैं, सुख हैं, वे सब इसी आनन्दके एक अंशमें—कणमें समा जाते हैं। वे सब इसीकी क्षुद्र विभूति हैं। चन्द्रमें आह्लादकता, नीरसमें सरसता, उस पूर्णतम पुरुषोत्तमसे ही है। इसके न होनेसे आह्लाद कहाँ? सरसता कहाँ? सौख्य कहाँ? फिर तो उरग-श्वासकी तरह सब विषमय—दुःखमय होगा। ऐसे उन प्रभु प्रियतम प्राणधनके विप्रयोगसे श्रीव्रजांगनाओंको इतना दारुण सन्ताप हुआ कि वह अकथनीय ही है। उन्हें उस समय समस्त आह्लादकर वस्तुएँ दुःखद प्रतीत हुईं। श्रीमद्वल्लभाचार्यजीके कथनानुसार यह ताप पहले ऊपर-ही-ऊपर रहा, फिर अन्तरमें प्रविष्ट होने लगा, परंतु अन्तःप्रविष्ट थे—लीलारससहित श्रीकृष्ण, वे कहीं अन्यत्र नहीं गये थे। वहींसे गोपिकाओंके अन्तरसे उनकी लीलाशक्ति प्रकट हुई। तब उस लीलाशक्तिकी प्रेरणासे रमापतिके गति-विभ्रम आदिसे आक्षिप्तचित्त होकर तथा तदात्मिका बनकर श्रीमती व्रजांगनाओंने उन्हींकी उन-उन चेष्टाओंको ग्रहण किया।

श्रीकृष्णमय गोपियाँ भगवान्‌की चेष्टाओंका अनुकरण करने लगीं

गत्यानुरागस्मितविभ्रमेक्षितै-
र्मनोरमालापविहारविभ्रमैः ।
आक्षिप्तचित्ताः प्रमदा रमापते-
स्तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः॥*

(श्रीमद्भा० १०।३०।२)

वियोग ऊँची चीज है, मूल्यवान् वस्तु है। किसीने कहा—'**सङ्गमविरहविकल्पे वरमिह विरहो न सङ्गमस्तस्याः। सङ्गे सैव तथैका त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे**' हमें तो वियोग चाहिये, संगम नहीं, पर यह बड़े दीर्घदर्शियोंकी बातें हैं। संयोगमें एक ही जगह प्रियतम होता है, पर वियोगमें तो सारा विश्व प्रियतममय हो जाता है। '**जित देखूँ तित स्याममई है।**' एक अवस्था इससे भी ऊँची है, उसमें संयोग और वियोग दोनोंमें कष्ट-ही-कष्ट है—

अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विच्छेदभीरुता।
नादृष्टेन न दृष्टेन भवता लभ्यते सुखम्॥

(काव्यप्रकाश ५।१२८)

हे प्राणधन! जबतक आपके दर्शन नहीं होते, तबतक तो दर्शनकी उत्कण्ठा लगी रहती है और दर्शन हो जानेपर अगले क्षणमें होनेवाले वियोगकी चिन्ता लग जाती है। क्या करें, किसी भी तरह चैन नहीं है, न दर्शनसे ही सुख मिलता है और न अदर्शनसे ही। संयोग-वियोग किसीमें शान्ति नहीं। सखि! अभी तो श्यामसुन्दर मदनमोहनका यह भुजाश्लेष मिला है, पर यह भुजलताबन्ध कबतक प्राप्त रहेगा, यह संश्लेषजन्य सुख कबतक रहेगा, कुछ ठिकाना नहीं। हाय! कहीं अभी विश्लेष न आ जाय! यों ऊँचे प्रेमियोंको दुःख-ही-दुःख बना रहता है।

यह एक विशिष्ट स्थिति है—प्रेमीको संयोगमें कुछ शान्ति रहती है। पर विप्रयोग दशामें उद्वेलित समुद्रकी तरह शृंगारकी स्थिति होती है। उस समय वह मर्यादा तोड़ देता है, प्रेमीके धैर्यका पुल टूट जाता है। कहा है—

प्रासादे सा दिशि दिशि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा
पर्यङ्के सा पथि पथि च सा तद्वियोगातुरस्य।
हंहो चेतः प्रकृतिरपरा नास्ति मे कापि सा सा
सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः॥

(सुभाषितरत्न० प्र० ६।६५)

····यह अद्वैतीका अद्वैत है। पर यहाँका अद्वैत और है, यहाँ तो आलम्बन ही सर्वत्र दीख पड़ रहा है। यही दशा श्रीलालजूकी है। वे वियोगमें अपनी प्राणेश्वरीको सर्वत्र देख रहे हैं। यों संयोग और वियोगमें वियोगका महत्त्व है, पर वियोगमें आनन्द कब आता है? हम सब अनादिकालकी वियोगिनी हैं, वियोगिनी इसलिये कि जीव स्वल्पज्ञ है, परतन्त्र है और पारतन्त्र्य ही स्त्रीत्व है। हाँ तो हम सब अनादिकालकी वियोगिनी हैं, पर क्या वह आस्वाद है? जन्म-जन्मान्तरसे, युग-युगान्तरसे शूकर, कूकर, कीट, पतंग बनते-बनते मर रहे हैं। उस परप्रेमास्पदका वियोग जन्म-जन्मान्तरसे हो रहा है, पर वियोगजन्य आनन्दका कभी स्वप्नमें भी स्वाद नहीं आता। इसका कारण यही कि उस तत्त्वका कभी साक्षात्कार नहीं, श्रवणतक नहीं '**श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः**' (कठ० १।२।७) तब कैसे आनन्द मिले? पहले सम्प्रयोग हो, वस्तुका थोड़ा परिचय मिले, रसका कुछ पता लगे, तब पुनः उसके लिये उत्कट उत्कण्ठा हो, तब कहीं उसके वियोगका आस्वाद हो।

देवर्षि नारदने जब प्रथमावस्थामें महात्माओंके प्रसादसे तत्त्वका थोड़ा पता पाया और जंगलमें जाकर परिश्रमपूर्वक जब अनुसन्धान करने लगे तो एक क्षणके लिये उन्हें हृदयमें कुछ चमत्कार मिला। देवर्षि नारदके शब्द हैं—

ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्जितचेतसा।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः॥

(श्रीमद्भा० १।६।१७)

फिर उन्होंने बहुत प्रयत्न किया, पर वह

* भगवान् श्रीकृष्णकी मदोन्मत्त गजराजकी-सी चाल, प्रेमभरी मुसकान, विलासभरी चितवन, मनोरम प्रेमालाप, भिन्न-भिन्न प्रकारकी लीलाओं तथा शृंगार-रसकी भाव-भंगियोंने उनके चित्तको चुरा लिया था। वे प्रेमकी मतवाली गोपियाँ श्रीकृष्णमय हो गयीं और फिर श्रीकृष्णकी विभिन्न चेष्टाओंका अनुकरण करने लगीं।

चमत्कार उन्हें नहीं मिला। वे बहुत ही दुःखी हुए, जैसे रंकको बड़ी कठिनतासे मिली निधि और फणिकी मणि खो जाये। फिर आकाशवाणी हुई—

हन्तास्मिञ्जन्मनि भवान्मा मां द्रष्टुमिहार्हति।
अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम्॥
सकृद् यद् दर्शितं रूपमेतत्कामाय तेऽनघ।
मत्कामः शनकैः साधुः सर्वान्मुञ्चति हृच्छयान्॥

(श्रीमद्भा० १।६।२२-२३)

आप इस जन्ममें मुझे नहीं प्राप्त कर सकते; क्योंकि वैराग्यके परिपक्व हुए बिना कुयोगियोंको मैं नहीं दीखता। जो एक बार रूप दिखाया है, वह आपकी कामना (इच्छा-वृद्धि)-के लिये है। फिर तो जरा-सा भी आस्वाद मिल जानेसे छोड़ा ही न जा सकेगा— '**विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो यतः।**' (श्रीमद्भा० १।५।१९) एक क्षणका भी आस्वाद हो जानेसे फिर '**चाट**' पड़ जाती है। पर जबतक कुछ भी अनुभव नहीं, किसी भी वस्तुमें कैसे प्रवृत्ति हो सकती है? इसलिये पहले संयोग हो, तब विप्रयोगका आनन्द मिले।

इसीलिये भगवान् कृष्णने श्रीव्रजांगनाओंमें पहले रससंचार किया।

बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरु-
नीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः ।
क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणा-
मुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार॥

(श्रीमद्भा० १०।२९।४६)

आज भागवतकी '**रासपञ्चाध्यायी**' शंकाओंका केन्द्र बनी हुई है। उसका यह श्लोक प्रधान और स्पष्ट शंकास्थान माना गया है। परंतु इसके पूर्वापरको जिन्होंने कभी सोचा नहीं, जो अत्यन्त बहिरंग हैं, उन्हें ही दोष दीख पड़ते हैं। अन्यथा थोड़ा भी विचार करनेसे प्रसंग शुद्ध प्रतीत होता है। हाँ तो श्रीकृष्ण कोटि-कोटि कन्दर्पके सौन्दर्यदर्पको अपनी नखमणिचन्द्रिकाके सौन्दर्यसिन्धुके एक बिन्दुकणसे निर्जित करनेवाले हैं। श्रीश्यामसुन्दर मुरलीमनोहरने श्रीव्रजांगनाजनको उनका वृद्धिंगत प्रणय देखकर स्वरसास्वाद कराना चाहा, पर वहाँ पहले प्रकृत काम हटे, तब अलौकिक रसकी स्थापना हो। बाहु, ऊरु, स्तन आदि प्राकृत लौकिक कामके स्थान हैं, कामदेव उनमें छिपकर बैठा हुआ है। श्रीगोपांगनाजनको कामदेवने अपना दुर्ग बनाया है और वह बाहु आदि स्थानोंमें बैठकर मानो श्रीकृष्णसे युद्ध करना चाह रहा है। भगवान् कृष्णने श्रीगोपांगनाओंके अंग-दुर्ग-देशोंसे कन्दर्पको निकालकर वहाँ स्वानन्दात्मक रसकी स्थापना की। यही '**बाहुप्रसार....**' का तात्पर्य है।

जब पहले स्वानन्दात्मक रसकी स्थापना हो गयी, तब भगवान् अन्तर्धान हो गये—छिप गये। अब श्रीव्रजांगना विप्रयोगके आनन्दका अनुभव करने लगीं।

बात यह है कि जीवको अनेक जन्मके कई प्रकारके पहले संस्कार पड़े हैं। उनके कारण वह अपने प्रभुके अनेक जन्मके विप्रयोगको जानता ही नहीं, यदि वह जान जाये तो विप्रयोगका उसे आनन्द मिले। दूसरे, आवश्यकता है परम तल्लीनताकी— प्रेममें विभोर हो उठनेकी, श्यामके रंगमें अपनेको रँग डालनेकी। जबतक यह स्थिति नहीं, तबतक आनन्द कैसा?

भक्त और भगवान्—दोनोंकी विवशता

लाक्षा (लाख) कठोर वस्तु है, पर अग्निके सम्बन्धको पाकर वह द्रुत कोमल हो जाता है। इसमें विशेषता यह है कि जितना अधिक अग्निका ताप होगा, उतना ही अधिक द्रवता आयेगी। लाखको खूब तपाया जाये, इतना तपाया जाये कि वह सौ परत (तह)-के तनजेबमें छाननेयोग्य हो जाये। फिर वह छान भी लिया जाय, कूड़ा-करकट उसमेंसे निकाल लिया जाय, गंगाजलकी तरह वह स्वच्छ विशुद्ध हो जाये। उसमें हरिद्रा, हिंगुल, हरा, पीला कोई भी रंग छोड़ा जाये; जो भी छोड़ा जायगा, वह सब उसके अणु-अणुमें, अंश-अंशमें व्याप्त हो जायगा। अब यह लाख चाहे कि इस रंगको मैं निकाल डालूँगा तो उसके द्वारा निकाल पाना असम्भव है और यदि रंग ही चाहे कि मैं इसमेंसे निकल जाऊँ तो यह भी असम्भव है। यह है दृष्टान्त। इसे दार्ष्टान्तमें समन्वित कीजिये। भक्तका या प्रेमीका अन्तःकरण लाक्षा है, उसे प्रियतम प्राणधन श्यामसुन्दरकी प्रणयाग्निसे तपाओ, खूब तपाओ।

काम, क्रोध, लोभ, मोह आदिके कूड़े-करकटको निकालकर फेंक दो। फिर उसमें 'श्याम' रंग छोड़ो, अब प्रेमीका अन्त:करण और प्रियतम एकमेक हो गया। प्रेमी चाहे कि अपने अन्त:करणसे मैं श्यामको हटा दूँ तो वह असमर्थ ही रहेगा। श्यामसुन्दर भी चाहें कि मैं यहाँसे निकल भागूँ तो उनके लिये भी यह न होगा, चाहे वे कितने भी छली-बली हों। एक भक्त—अन्धे भक्त (सूरदास) इसी कोटिके हो गये हैं। वे यहीं वृन्दावनकी कुंज गलियोंमें अपने प्रियतम प्राणधन श्यामसुन्दर मनमोहनको ढूँढ़ते एक कुएँमें गिर पड़े। वैसे तो भगवान् उन्हें नहीं मिल रहे थे। पर अब उनसे न रहा गया, तुरंत हाथ पकड़कर कुएँसे निकाल लिया। महाभाग्यवान् सूरदास कूपपात पीड़ाको भूल गये। वे उस कोमल कर-स्पर्शको पाकर कृतकृत्य हो गये। उन्होंने निश्चय किया कि इतना सुखकर, साधारण जनोंमें असुलभ, कोमल स्पर्श प्रियतम प्राणधनके बिना अन्यत्र उपलब्ध ही नहीं हो सकता। उस मंगलमय ब्रह्मसंस्पर्शसे वे रोमांचित हो उठे। उन्होंने उसे जोरसे पकड़ लिया। भक्तकी वांछा पूरी हुई, दिव्य दृष्टि मिली, दर्शन आदि मिले। भगवान् बलात् अपना हाथ छुड़ाकर जाने लगे तब सूरने कहा—

हस्तमुच्छिद्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम्।
हृदयाद् यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥

इसीका हिन्दीमें भी अनुवाद है—

हाथ छुड़ाए जात हो निबल जानिके मोहि।
हिरदे से जब जाहुगे मरद बदोंगो तोहि॥

नाथ! हाथ छुड़ाके जाते हो, जाओ, पर आपकी सर्वज्ञता सर्वशक्तिमताकी महत्ता तो तब है, जब आप इस दुर्बल अन्धेके हृदय-मन्दिरसे निकल भागो, आज मुझे यही देखना है। यह पिघली हुई लाखकी ललकार है, रंगके प्रति। भक्त अपने हृदयसे निकल जानेको चैलेंज देता है, पर प्रभु लाचार हैं, निकल नहीं सकते। यह प्रभुकी लाचारीका दृष्टान्त है। अब भक्तकी लाचारीका दृष्टान्त सुनिये। एक सखी मूर्च्छित पड़ी है, एक उसके पवन-संचार आदि उपायमें खड़ी है। दूसरी आकर मनमोहन श्यामसुन्दरका नाम लेने लगती है, उनकी कुछ करतूत बतलाना चाहती है, पर उपचारिका सखी अपने मुखपर तर्जनी रखकर संकेतसे उसे वैसा करनेको रोकती है—'**सन्त्यज सखि तदुदन्तं सुखलवमपि यदि समीहसे सख्या:, स्मारय किमपि तदितरत् विस्मारय हन्त मोहनं मनसः।**'

सखि! यदि अपनी सखीका तुम थोड़ा भी कल्याण चाहती हो तो उसकी बातको मत छेड़ो, उसके अतिरिक्त किसी अन्यका स्मरण कराओ। '**तदुदन्तम्**' और '**तदितरत्**' कहती है, नामतक नहीं लेना चाहती। तब सखि, क्या करें? फिर यह कैसे अच्छी होगी? उपाय यही है, सखि! किसी तरह इसके मनसे मोहनको भुला दो। इस दृश्यको एक महात्मा योगी देख रहे थे, उन्हें यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। वे कहते हैं—

प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयती यस्मिन्मनो धित्सति
बालासौ विषयेषु धित्सति मनः प्रत्याहरन्ती ततः।
यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते
मुग्धेयं किल पश्य तस्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षते॥

एक मुनि विषयोंसे चित्तको हटाकर क्षणभरके लिये; जिसमें लगाना चाहता है, यह बाला उससे चित्तको—आसक्त चित्तको निकालकर विषयोंमें लगाना चाहती है! कितना आश्चर्य है कि जिस तत्त्वकी हृदयमें तनिक-सी स्फूर्ति-चमत्कारके लिये अष्टांगयोगयुक्त योगी उत्कण्ठित रहता है—कभी मेरे मानसकुंजमें भगवान् पधारें, यह मुग्धा भोली गवाँरी ग्वालिन उसे अपने चित्तसे निकाल देनेके लिये व्याकुल है और भी एक सखी कहती है—

'इत उत देखे मति चौथ को चन्दा
तोय देखे ते कलङ्क मोय लग जायेगो।'

भगवदनुरक्त गोपियोंद्वारा भगवद्विस्मरणके लिये उनमें दोषानुसन्धान

इतना ही नहीं, वह श्यामसुन्दर चित्तसे निकल जाये, इसके लिये दोषानुसन्धान करती है। जिसके नामस्मरणमात्रसे दोष नामशेष हो जाते हैं, प्रेमोन्मादमें व्रजांगना उसमें दोष ढूँढ़ती है—

मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा
स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्।

बलिमपि बलिमत्त्वावेष्टयद् ध्वाङ्क्षवद् य-
स्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः ॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। १७)

सखि! ये तो सदाके छलिया हैं, देखो, रामावतारमें लुब्धधर्मा अथवा अलुब्धधर्मा होकर मृगयु—बहेलियाकी तरह निरपराध बालीको मारा; छिपकर—पेड़की ओट लेकर बालीका वध किया* और इनकी बहादुरी तो देखो सखि! स्त्रीपर इन्होंने हाथ हठाया, प्रेम करनेके लिये बेचारी शूर्पणखा इनकी उदारता सुनकर पहुँची थी, उसे यह वर दिया कि नाक-कान काटकर बेचारीको बिदा किया। क्या कहें सखि! स्त्रीजितोंको कुछ विचार थोड़े ही रहता है। वे जानकीके प्रणयोन्मादमें इतने प्रमत्त थे कि उन्हें धर्मशास्त्रतक नहीं स्मृत रहा, विरूप कर दिया एक सुन्दरी स्त्रीको। सखि! कोई एक अवतारकी बात हो तो कहें, इनके तो जन्म-जन्मकी ये ही करतूतें हैं—देखो, वामन-अवतारमें इन्होंने बलिको छला। 'बलि' को खाकर कौएकी तरह इन्होंने सर्वस्वसमर्पयिता बलिको, उसका सर्वस्व हरण करके भी उसे नागपाशमें बाँध लिया। सखि! यह क्या न्याय है? इसलिये कालोंसे, कुटिलोंसे सम्बन्ध जोड़ना, सख्यभाव करना अब हम छोड़ देंगी। पर क्या करें, उनका कथा रूप अर्थ हाय! छोड़ा ही नहीं जाता।

ये सब व्रजांगनाओंके प्रेम-समुद्रकी तरंगें हैं। कहीं कहती हैं—'**प्रीति की रीति रंगीलोइ जाने।**' और अपना सर्वस्व न्योछावर करती हैं और कहीं ऐसा दोषानुसन्धान करती हैं कि आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। एक और दोषानुसन्धान-प्रसंग है—एक विरहतप्ता व्रजबाला कहती है—'सखि, इन्होंने कभी किसीका भला नहीं किया। जन्मसे ही तो '**पूतना—सुपयः-पानम्**' बेचारी पूतनाको—स्त्रीको—समाप्त कर दिया। सखि! कालोंकी यही करतूतें हैं।'

'**काले सबहिं बुरे**......'। हम अब कालेसे बिलकुल अनुराग न करेंगी। जब उनमें ही प्रेम नहीं, तब हम क्यों उनसे प्रेम करें?' कभी-कभी तो कालेका इतना निषेध कि 'अब काले वस्त्र और आभूषणतक न पहनेंगी। कभी तो यह भाव, यह तरंग कि '***सखि हौं श्याम रंग रंगी***' सब चीज काली। नील निचोल, ओढ़नी, लहँगा, सब काले, यहाँतक कि हाथ आदिके गहने भी काले इन्द्रनीलमणिके। पर जब दोषानुसन्धानका प्रसंग उपस्थित हुआ, तब 'एक भी काली चीज पासमें न रखेंगी।' एक चतुर सखीने बीचमें मीठी चुटकी लेते हुए पूछा—'सखि! हमने माना इन काले वस्त्रालंकारोंको तुम अवश्य फेंक दोगी, पर यह तो बताओ, इन काले केशोंका क्या करोगी?' उत्तर मिला, और बड़ा भावगम्भीर उत्तर मिला—'........**धूलिर्धृता मस्तके**' सखि, इन केशोंमें मिट्टी पोत लेंगी।'

दोषानुसन्धानके प्रसंगमें जो श्लोक '**मृगयुरिव कपीन्द्रम्**' पहले कहा, उसीके आगे एक और वैसा ही श्लोक है—

यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्-
सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः।
सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना
बहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। १८)

अर्थात् सखि, उन श्यामसुन्दरके द्वारा अनुष्ठित, सुधा-बिन्दुके समान कानोंको अति मधुर लगनेवाली लीलाओंको जिन्होंने एक बार भी सुन लिया, उनके द्वन्द्व धर्म—सुख-दुःखादि—जो गृहस्थादिमें हुआ करते हैं, काँप गये अर्थात् इस हमारे आश्रित पुरुषने ऐसी चीज सुन ली, जो अब जंगलोंमें मारा-मारा फिरेगा। यह समझकर दुःखादि भी दुःखसे मानो कम्पित हो गये। यों कृष्णलीलाके श्रोता पुरुष घर-घाट कहींके नहीं रहे, अतएव विनष्ट हो गये। हाय! वे लोग विलखते स्त्री-पुत्रोंको, जिनका पालन धर्मतः न्याय है—लीला सुनते ही तुरन्त छोड़कर सचमुच जंगलोंमें भाग गये। ऐसे बहुत-से लीला-श्रोता दीन

* लुब्धधर्मा=व्याधके जैसे क्रूरता, निर्दयता आदि धर्मोंको क्षत्रिय होकर भी इन्होंने ग्रहण किया। भयावह परधर्मको लेकर पापतक किया। फिर व्याध तो मांस-भोजनकी इच्छासे हरिण आदिको मारता है, परंतु इन्होंने इसलिये बालिको नहीं मारा, वृथा ही मारा, अतः ये बड़े कठिन हैं—अलुब्धधर्मा हैं।

होकर अर्थात् कन्था, कौपीनके चिथड़ोंको लपेटे, पक्षियोंकी वृत्ति धारण किये, नारायण कहते यहाँ वृन्दावनमें भीख माँगते फिरते हैं। क्या सखि! तुम्हीं बताओ, ऐसोंसे प्रेम करें?

सारांश यह कि जब सतत भावना-परिपाकसे भावुकका चित्त लाक्षाकी तरह द्रुत हो जायगा, तब उसमें व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दरका प्राकट्य होगा और फिर वे वहाँसे जानेमें समर्थ न होंगे। यद्यपि भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, उनकी महिमा है—'**छूछी भरे, भरी ढरकावे, जब चाहे तब फेर भरावे।**' परंतु ऐसे भक्तोंके आगे उनकी सर्वशक्तिमत्ता कुण्ठित हो जाती है, वे उन्हें नचा सकते हैं। इस तरहके वियोगमें स्वाद है। यह अनुभवकी बात है। कहीं मार्गमें प्रिय मित्र मिला, उसका चित्र हृदयपटपर अंकित हो गया। मोहर तब उभड़ती है, जब लाक्षा गरम हो। स्नेहरूप अग्निसे द्रुत अन्तःकरणपर वस्तुका स्वरूप प्रकट होगा। कामी कामिनीके लिये व्याकुल रहता है, उसे अग्निके लिये तृणसे कोई सम्बन्ध नहीं, उसके हृदयमें वियोगाग्नि सदा धधकती रहती है। इस तरह दर्शन-स्पर्शनादिद्वारा हृदयलाक्षा पिघलती है, उसमें अपने इष्टतत्त्वके सम्पृक्त होनेपर वह फिर अचल हो जाता है। श्रीमद्भगवद्वपु मूत्र-पुरीष-भाण्डागार प्राकृत शरीर नहीं, वह अप्राकृत दिव्य रसमय है, अतएव पूर्वोक्त रीत्या 'बाहुप्रसारपरिरम्भ' आदिके अनुसार व्रजदेवियोंके तत्तदंगालंभनद्वारा मानो उसने व्रजदेवियोंको अप्राकृतरसानुभवक्षम देह दी। 'उज्ज्वलनीलमणि' का भी यही मत है—गन्धकको पारदसे घोटें तो कुछ कालके बाद गन्धक जैसे पारद (पारा)-रूप हो जाता है, वैसे ही पूर्णके सम्बन्धसे अपूर्ण वस्तु पूर्ण हो जाती है, प्राकृत वस्तु अप्राकृत बन जाती है। यही बात व्रजांगनाओंके पक्षमें है, भगवान्‌ने उनके अलकादिका स्पर्श करके इन्हें रसस्वरूप—स्व-स्वरूप बना दिया, प्राकृतसे अप्राकृतमें बदल दिया। इसपर भगवान्‌का अधिक आनुकूल्य पाकर गोपांगनाओंको दर्प हुआ। उसीको दूर करनेके लिये लीलानायक श्रीकृष्ण अन्तर्हित हो गये। छिप गये।

भगवान्‌के अन्तर्धान होनेका हेतु—गोपियोंपर कृपा करना

श्रीश्यामसुन्दर मदनमोहनके वियोगमें जब गोपांगनाएँ व्यथित हुईं, वह विप्रयोगाग्निताप शनैः-शनैः जब उनके अन्तःकरणमें प्रविष्ट हुआ, तब उनके तापको, दुःखको दूर करनेके लिये श्रीभगवान्‌की लीलाशक्ति प्रकट हुई। अन्तर्हित शब्दका अर्थ 'छिपना' और (**'अन्तःमनसि हितं—दया यस्य सः'**) जिसके हृदयमें दया हो वह व्यक्ति भी होता है। पीछे '**अन्तर्हिते भगवति**', '**अन्तर्हिते**' कह आये हैं। भगवान् गोपीजनवल्लभ हैं। गोपांगनाओंके प्रति बड़े कृपालु हैं। उनके हितके लिये ही वे अन्तर्हित हुए हैं, उन्हें सन्ताप पहुँचानेके लिये नहीं; क्योंकि वे निष्ठुर नहीं हैं। इसलिये '**तासां तत् सौभगमदं**⋯' (श्रीमद्भा० १०।२९।४८) आदि पहले कहा। श्रीव्रजांगनाओंको यह गर्व था कि 'श्रीश्यामसुन्दर हमारे परवश हैं—अधीन हैं; क्योंकि वे हमारी वेणी सुलझाते हैं, पादचित्तकी उन्नतिका नाम '**मान**' और उसकी गाढ़ता '**मद**' है। '**रासलीला**' परम रसमयी है। थोड़ा भी गर्व उसमें बाधक होगा। अतः श्रीश्यामसुन्दर प्रभु उसे दूर करके पूर्ण **विशुद्ध** रसास्वाद करनेके लिये और '**प्रसादाय**' (गोपियोंकी प्रसन्नताके लिये) स्ववश करनेके लिये अन्तर्हित हुए, छिपे। तथा मनमें हित है। अथवा '**अन्तः**' पंचम्यन्त अव्यय है। उसका अर्थ हुआ (**'हृदयात्'**) हृदयसे अर्थात् व्रजदेवियोंके हृदयसे विच्छेदहेतुक गर्वके निवारण करनेके लिये भगवान् परमोपकारक बने, अन्तर्हित हुए।

श्रीमद्वल्लभाचार्यजी कहते हैं—'**तासां तत् सौभगमदं वीक्ष्य मानञ्च**⋯' इसमें 'मद' का अर्थ पूर्णता है, जिसका आशय हुआ गोपांगनाओंको अपनी पूर्णताका, अपने सौभाग्यके उत्कर्षका अनुसन्धान हुआ। यदि ऐसा हो तो इसमें कोई आपत्ति नहीं; क्योंकि उनके-जैसी कृष्णग्रहगृहीतात्माओंको उन्हें अपने सौभाग्यके उत्कर्षका अनुसन्धान हो तो जिस अवस्थामें वे हैं, उसमें जाकर होना ही चाहिये। यह बहुत दुर्लभ है। फिर भगवान्‌की पूर्णकृपासे ही तो यह

हुआ है। ऐसी स्थितिमें इसका अपनोदन क्यों हो? इसपर वे कहते हैं—जो मान हुआ, वह असामयिक है, वह रस-विच्छेदक होगा। अत: उसे दूर करनेके लिये भगवान् अन्तर्हित हुए। फिर भी अन्तर्हित न होना चाहिये; क्योंकि मानवतीका मान मनाकर अपनोदन करना ही रसमर्यादा है। इसपर कहते हैं—मान आन्तर वस्तु है, बहिरंग नहीं। अत: उनका अपनोदन अन्तर्निहित होकर ही हो सकता है, अतएव भगवान् अन्तर्हित हुए। उन्होंने लीलाविशेषसे विशिष्ट होकर अन्तर्हितताके साथ मानापनोदन किया।

अथवा मान हुआ श्रीवृषभानुनन्दिनीको, वह भी सहसा। वे करुणामयी हैं। उनके प्रसाद-लेशसे श्रीश्यामसुन्दरका दर्शन सम्भव है। उनके बिना कृष्णतत्त्वका प्राकट्य ही नहीं। '**आत्मरति**' में आत्मा श्रीरासेश्वरी हैं। जैसे गुण और गुणीका तादात्म्य है, वैसे ही श्रीराधा-कृष्ण तत्त्वका तादात्म्य है। कर्पूरमेंसे सौगन्ध निकल जाय तो कर्पूर कुछ नहीं रह जाता। श्रीवृषभानुनन्दिनी जलमें माधुर्यस्थानीया हैं। श्रीश्यामसुन्दरतत्त्वमेंसे माधुर्य निकल जाय तो फिर वह कुछ है ही नहीं। श्रीनन्दनन्दनका आन्तररमण श्रीरासेश्वरीमें ही होता है। बाहरका रमण बहिरंगोंमें है। किसी भावुकके मतसे तो सौगन्धका पृथक् होना और उसके ग्राहक घ्राणका अलग होना, यह बड़ा व्यवधान है, असह्य है। पूरा आनन्द तो तब है, जब पुष्पमें ही घ्राण हो। यह यहीं सम्भव है। उनकी शक्ति उनमें और उनकी शक्ति उनमें रहती है।

अत: '**सर्वं वाक्यं सावधारणं भवति**'—जहाँ कहीं आत्माका संचार होगा, जहाँ श्रीरासेश्वरीके स्वरूपका संचार होगा, वहीं रमण होगा। श्रीललिता, विशाखा आदिमें रसोदय उनसे सम्बन्ध जुड़नेपर होगा। उनका अनुगमन इसकी तरह हुए बिना रसोदय या रमण नहीं होगा। श्रीरासेश्वरीकी कृपाके बिना श्रीकृष्णको भी रसास्वाद या रमण सम्भव नहीं, अत: दोनोंका तादात्म्य-ऐकात्म्य स्वीकृत हुआ है। फिर श्रीरासेश्वरी परम करुणामयी हैं, इसी बलपर वे कृतकृत्य हुए। जो सखियोंके प्रति यदा-कदा उनमें ईर्ष्यादि दीख पड़ती है, वह सब लीला रससंचारार्थ है। सूक्ष्म विचार करनेपर तो नित्य निकुंजमें मान आदिका प्रवेश ही नहीं। परंतु इन स्थूल मान आदिका ही वहाँ संचार नहीं, सूक्ष्म मान आदि तो रसपोषार्थ वहाँ भी है ही। वहाँ सर्वाधिक सम्प्रयोग है, कभी विप्रयोग होता ही नहीं। तथापि रसकी सब अवस्था प्रकट होती रहती है। नेत्रके उन्मीलन-निमीलनमात्रसे विप्रयोग आदि हो जाते हैं। अस्तु, इसी दृष्टिसे श्रीव्रजेश्वरी रासेश्वरीमें ईर्ष्याका संचार हुआ और मेरे प्रभु, मेरे ही प्राणधन अन्योंको भी ऐसा मान देते हैं, इस तरहका मान उत्पन्न हुआ तथा अन्योंमें गर्वका उदय हुआ। अत: '**प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत**'। अहो! प्रभुकी भक्तवश्यता? जो प्रभु केशव हैं, '**कश्च ईशश्च केशौ तावपि वशयतीति सः**' अर्थात् ब्रह्मा तथा रुद्रको भी जो वशमें रखनेवाले हैं, वे भगवान् गोपीगर्वापहारार्थ अन्तर्धान हुए, परंतु यह ऐश्वर्य श्रीरासेश्वरीका मान दूर करनेमें कैसे समर्थ होगा? वहाँके माधुर्य-साम्राज्यमें इसका प्रवेश भी कहाँ? इसलिये वहाँ तो भगवान् श्रीराधारानीकी '**वेणुगूँथन**' सेवा करके उनका मान मनायेंगे। इस पक्षमें '**केशव**' की व्युत्पत्ति होगी—'**केशान् वयते संस्करोतीति केशवः।**'

भगवान् अपनी योगमायासे ही अन्तर्हित हुए। श्रीव्रजदेवियोंके हृदयमें वे अकेले नहीं, किंतु अपनी लीलाके साथ अन्तर्निहित हुए। अत: लीलादेवी श्रीव्रजांगनाओंके व्रजांगना-मानसमें प्रविष्ट थीं, अत: वहींसे प्रकट होने लगीं। उसीको कहते हैं—

> **गत्यानुरागस्मितविभ्रमेक्षितै-**
> **र्मनोरमालापविहारविभ्रमैः।**
> **आक्षिप्तचित्ताः प्रमदा रमापते-**
> **स्तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः॥**
>
> (श्रीमद्भा० १०। ३०। २)

कायिकी, वाचिनिकी, मानसिकी तीन प्रकारकी लीलाएँ साधारणतया मानी गयी हैं। उनमें पहले कायिकी गतिका वर्णन करते हैं, श्रीव्रजांगना विहार करते समय गतिका अनुभव कर रही थीं। हंस, गज और सिंह-सी गति उनके मानसमें उदित हुई। जब उनके मनमें यह भावना हुई कि हमारे प्राणधन

श्रीकृष्ण सम्मिलनके लिये पधार रहे हैं, तब इन गतियोंका स्फुरण हुआ। '**गत्यानुराग**' में गति आ अनुराग ऐसा सन्धिविच्छेद करना चाहिये। '**आ अनुराग**' का आशय है 'प्रेमको सब ओरसे बटोरकर' वे प्रियतम श्रीकृष्णके स्मितादिका अनुभव करने लगीं। ऐसे एकान्त गाढ़ अनुरागसे श्रीगोपांगनाएँ श्यामसुन्दरके '**स्मित**' आदिका अनुध्यान या ग्रहण करने लगीं। स्मित मन्दहासका नाम है, यह चित्तलोभक है। यह अद्भुत विभ्रम है, माया है। जिससे गोपांगना न तो अत्यन्त बहिर्मुख ही रहें और न अत्यन्त अन्तर्मुख ही, क्योंकि बहिर्मुखतासे ताप और अत्यन्त अन्तर्मुखतासे साक्षात्कार होगा, जो अभी अभीष्ट नहीं। अतः मध्यमस्थितिमें रखा। गोपांगनाओंको यह सब नाच वही भगवल्लीलाशक्ति नचा रही है। अलसवलितादिस्वरूप गोपांगनाविषयक शृंगारोद्रेकसे मनकी अनवस्थितिका नाम विभ्रम है। यह श्रीकृष्णभाव है। इस प्रकारके अवलोकसे गोपियाँ कृष्णात्मक चेष्टासे गृहीत हुईं। इन सबसे लाखकी तरह द्रुत भाव भी हो रहा है। इसके अतिरिक्त श्रीकृष्णकी प्रत्येक चेष्टासे जो मनोरम आलाप अथवा रमण करनेवाले आलाप हैं, फिर तदनुगुण विहार और विभ्रमसे तदात्मक चेष्टा ग्रहण की। विभ्रमका अर्थ पहले कहा गया है। 'मनमोहन श्यामसुन्दर सिंह-गतिसे आकर सामने खड़े हो गये।' ऐसी व्रजांगनाओंकी भावनासे उनके मानसमें पूर्णानुरागका अभिव्यंजन, हासके स्वानुकूलता-विभ्रमसे विशिष्ट भ्रमण, कटाक्ष, नेत्रतारकोंका विशिष्ट घुमाव आदि हुआ। यह सब प्राकृतोंमें भी होता है, पर उससे यह लीला अधिक स्थिर महत्त्वकी है।

'**मनोरमालाप**'-पर विश्वनाथ चक्रवर्तीके ये भाव हैं—श्रीव्रजदेवियोंके उस समय ये मनोरम आलाप हुए—अयि पद्मिनि! (कमलिनि अर्थात् स्त्रीसे—नायिकासे—बात कर रही है, नायिकात्वका आरोप करके पूछ रही है) आपलोग स्थलपद्मिनी हैं, हम प्रेमपिपासार्त हैं, हम मधुपोंको मधुपान कराओ। एक गोपी कहती है—'हे पद्मिनि! अपने पति सूर्यको मधुपान देगी? पर सूर्यको पद्मिनी मधुपान नहीं कराती।' ऐसे मनोरमालापसे एक गोपी पराजित हो गयी। दूसरा अर्थ—दूसरी कहती है—तुम्हें महादर्प-सर्पने दष्ट किया है, हम गारुडिक हैं, हम तुम्हारे अंगका विघट्टन करेंगी। तब वह कहती है—हमें सर्पने नहीं काटा। इसपर गारुडिक बनी गोपी कहती है—तुम्हारी गद्‌गद वाणीसे तो यह स्पष्ट हो रहा है। ऐसे मनोरमालापसे आक्षिप्तचित्ता गोपांगनाओंने श्रीकृष्णकी गत्यादि उन-उन चेष्टाओंको ग्रहण किया।

इससे मनमें लौकिकता न आनी चाहिये। श्रीभगवान् परम निष्काम हैं। यहाँ भक्तपारवश्यात् प्राकृतताकी प्रतीति है। एक बार श्रीनन्दरानीको भाव हुआ कि 'ये तो ईश्वर हैं।' पर यह भाव प्राकृतलीलामें व्याघात है। ऐसा होनेपर श्रीयशोदा छड़ी कैसे दिखायें? अतः प्रभुने उस भावको हटाया। माधुर्यभावसे वह हट गया। यहाँ प्राकृत कान्तभावसे अप्राकृत ईश्वरभावको दबाया। श्रीभगवान्‌का वह सौन्दर्य, माधुर्य कान्तादि भावसे गोपांगनाओंकी एकतानताका विशेषकर पोषक हुआ। मनोरमालाप, विहार आदिसे उन्हें बन्धादि उपदेश हुआ। यह सब भाव व्रजदेवियोंके रोम-रोममें समाये हुए थे। वे किसी-न-किसी भावसे प्रतिक्षण कृष्णप्रविष्टचेता रहती थीं। '**वैधी**' में यह बात नहीं है, वहाँ तो संसारसे चित्त हटाकर प्रभुका ध्यान करनेपर भी वह (चित्त) वहाँ नहीं रहता। परंतु रागानुगा प्रीतिमें मन सहजहीमें प्रियतम प्राणधनके ध्यानमें लीन रहता है। श्रीश्यामसुन्दर मनमोहनका यह लोकोत्तर हास, विभ्रम, गति, सौन्दर्य प्रेमीको बलात् खींचे, हटानेपर भी न हटे, तभी सच्ची रागानुगा प्रीति है। लौकिक कामी-कामुकको भी यही स्थिति होती है। इसीलिये महात्मा श्रीतुलसीदासने चाहा कि जैसे कामीको नारी प्रिय होती है, वैसे ही मुझे भगवान् श्रीअयोध्यापति प्रिय हों—

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।

(रा०च०मा० ७। १३० ख)

इसीलिये सकलसुन्दरशेखर मयूरशेखर श्रीकृष्ण ऐसे भावसे व्यक्त हुए कि उन्हें देखकर किसका मन न चल जाय? ऐसे ही तात्पर्यकी श्रीव्रजांगनाजनकी

उक्ति है—

का स्त्र्यङ्ग ते कलपदायतमूर्च्छितेन
सम्मोहितार्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम्।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं
यद् गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। ४०)

अर्थात् नाथ! मधुर पदावलीके साथ उच्च स्वरसे गाये गये आपके स्वरालापोंको सुनकर तथा त्रिभुवनमोहन इस दिव्य रूपराशिको निहारकर दैवी, मानवी, आसुरी—त्रिलोकमें कौन वह स्त्री है, जो आर्यचरितसे चलित न हो जाय? जब कि पशु, पक्षी, हरिण और जड़ वृक्षोंतकमें रोमांच हो आता है? इस प्रकार यहाँ व्रजकी दिव्य देवियोंके प्रसंगमें केवल भावमात्र लौकिक है। वैसे तो वे प्रभु और उनकी लीला सदासे अलौकिक है। अतः व्रजांगनाओंके आकर्षणातिशय-द्योतनार्थ भी कहा—'**गत्यानुराग-स्मित**…।'

इसमें '**प्रमदा**' पद आया है। इसकी व्युत्पत्ति है—'**प्रकृष्टो मदो यासान्ताः प्रमदाः**।' मदमें मोहकता है। यह नारीवर्गमें स्वभावसिद्ध है। वह भी व्रजकी नारियोंमें, वह भी फिर अंगना '**प्रशस्तानि अङ्गानि यासान्ताः**' वह भी श्रीकृष्णमें, उनकी ही लीलासे आक्षिप्तचित्त प्रमदाएँ। यों प्रकर्षकी पराकाष्ठा हो गयी। इसपर भी यह और विशेषता कि इनका चित्त, देह, गेह, स्वजननेहसे हटकर श्रीकृष्ण परमात्मामें आकृष्ट हो गया, और चाहिये ही क्या? अनृत, मायामय संसारसे चित्त हटकर उनमें फँसे, यही तो होना चाहिये। बड़े-बड़े अष्टांगयोगयुक्त योगी इसीके लिये लालायित रहते हैं। सिद्ध महात्मा जप, तप, ध्यानसे इसी एक बातको निरन्तर चाहा करते हैं। पर धन्य है, उन व्रजांगनाओंको, जिन्होंने योगसे भी दुर्लभ तत्त्वको भोगसे प्राप्त किया। श्रीश्यामसुन्दर मनमोहनकी आभामें, सौन्दर्य झलकमें उनका चित्त ऐसा उलझा कि फिर उलझा ही रह गया। अतएव वे प्रमदा भी हैं अर्थात् इसी कारण प्रकृष्ट मद-हर्षवाली होनेसे वे प्रमदा हैं।

सचमुच इससे बढ़कर और हर्षका स्थान कौन होगा? औपनिषद् विज्ञान भी ऐसा है—'**प्रमोद उत्तरः पक्षः**' अर्थात् प्रिय, मोद, प्रमोद और आनन्द—ये आनन्दमय ब्रह्मके एक अंग हैं। ये सब योनियोंमें अनुभूत होते हैं। देवादिमें भी ये अनुभूत हैं। ये ही आनन्दसिन्धु शुद्ध ब्रह्मके चिह्न हैं। ये जहाँसे आते हैं, वहीं आनन्दसिन्धु हैं। तब आनन्दसिन्धु बलदेवबन्धुमें आक्षिप्तचित्त होकर गोपांगनाएँ प्रकृष्ट हर्ष या मोदवाली हों, इसमें कहना ही क्या? पूर्वोक्त श्रीवल्लभाचार्यजीके अभिप्रायानुसार जब लीला-शक्तिने 'ताप' को बाहर ही रोक दिया, तब वे सुतरां प्रमदा हो गयीं। यों उनका कथन भी ठीक हुआ।

एक दूसरा भाव—'**आक्षिप्तचित्ताः प्रमदा रमापतेः**' श्रीव्रजदेवियाँ स्वयं सुन्दरी हैं, वे किसी साधारण व्यक्तिके गत्यादिसे आक्षिप्तचेता न होंगी। अतः विशेष हेतु दिया—'**रमापतेः—लक्ष्मीपतेः गत्यादिभिराक्षिप्तचित्ताः**' अर्थात् व्रजांगनाजनके आकृष्ट होनेमें ललित गति, मधुर आलाप आदि किसके? तो '**रमापतेः**' लक्ष्मीपतिके। इससे आक्षिप्तचित्तताका समर्थन किया। जब श्रीरमाका भी मन आकृष्ट हो गया, जिसने गुण-दोषको तौलकर उन्हें पति बनाया है, तब मुग्ध ग्वालिनियोंका तो कहना ही क्या? समुद्र-मन्थनके समय श्रीरमादेवी प्रकट हुईं। उस समय वहाँ प्रायः सभी देव-ऋषि आदि उपस्थित थे और उन्हें चाहा भी सबने। परंतु श्रीरमाने स्वयंवर किया। उसने किसीमें कोई दोष तो किसीमें कोई त्रुटि पायी। एक निर्दोष मिले तो विष्णु-भगवान्, पर ये उसे चाहते ही नहीं—

क्वचिच्चिरायुर्न हि शीलमङ्गलं
क्वचित् तदप्यस्ति न वेद्यमायुषः।
यत्रोभयं कुत्र च सोऽप्यमङ्गलः
सुमङ्गलः कश्च न काङ्क्षते हि माम्॥

(श्रीमद्भा० ८। ८। २२)

अर्थात् इन देवादिमें कोई (मार्कण्डेयादि) दीर्घायु अवश्य हैं, पर स्त्रीजनको प्रसन्न करनेके उपयुक्त शील और मंगल इनमें नहीं। तथाच किसीमें (हिरण्यकशिपु आदिमें) यह विशेषता है तो उनकी आयुका कोई ठिकाना नहीं। किंच श्रीमहादेव आदिमें

ये दोनों बातें हैं, पर वे रूप और वेश आदिसे अमंगल बने हैं और कोई (विष्णु) उक्त दोनों बातोंके साथ सुमंगल भी हैं, पर वे मुझे चाहते ही नहीं। शंकर अनन्त, अखण्ड हैं, पर उनका वेश विलक्षण अमंगल है। विष्णुमें सब बातें हैं, पर वे मुझे चाहते ही नहीं। अच्छा, ये न चाहें, मैं तो इन्हें चाहती हूँ। यह निश्चय करके लक्ष्मीने श्रीविष्णुके गलेमें वरमाला पहना दी।

भगवान् भक्तपराधीन हैं

भगवान् भक्तपराधीन हैं। भक्त उन्हें जैसा नाच नचायें, नाचते हैं। भक्त भगवान्को वनमाला पहनाता है, वह सूख भी जाती है, पर भगवान् उसे उतारते नहीं, क्योंकि वह प्रिय भक्तकी पहनायी हुई है। यद्यपि भगवान्के अंग-संगसे कोई भी वस्तु म्लान नहीं होती तथापि यह भी एक भाव है। हाँ तो यों भगवान् अपने भक्तकी पहनायी मालाको उतारते नहीं। वह भगवान्की दक्षिणावर्त सुवर्णरोमराजिपर सूखी हो जानेसे कुरकुराती है। वक्ष:स्थलके दोनों ओर वह चुभती है, तब भी भगवान् उसे उतारते नहीं—

पर्युष्टया तव विभो वनमालयेयं
संस्पर्धिनी भगवती प्रतिपत्निवच्छ्रीः।
यः सुप्रणीतममुयार्हणमाददन्नो
भूयात् सदाङ्घ्रिरशुभाशयधूमकेतुः॥

(श्रीमद्भा० ११।६।१२)

अत: भगवान्ने निरपेक्ष होनेपर भी भक्तजन-वश्यतावश लक्ष्मीजीको स्वीकृत किया। इस प्रकार सर्वजगदधिष्ठात्री देवी लक्ष्मीने खूब परीक्षा करके भगवान्को वरा और उनके चरणोंमें ऐसी अनुरक्त हुईं कि अपनी स्वाभाविक चंचलताको छोड़कर सदाके लिये अचला हो गयीं—'**चलापि यच्छ्रीर्न जहाति कर्हिचित्**' (श्रीमद्भा० १।११।३३)। ऐसी लक्ष्मीको भी मुग्ध करनेवाले श्यामसुन्दरके गति-विभ्रम आदिसे व्रजदेवियाँ कैसे वश न हों?

भगवान्के प्रति गोपियोंके वशीकारमें एक दूसरा यह भी हेतु है कि सर्वसौन्दर्य-माधुर्य-सम्पदधिष्ठातृ महाशक्ति श्रीरमा हैं। उसके पति—अध्यक्ष—भगवान्, उससे भी अधिक अनन्तसौन्दर्य-माधुर्य-सुधाजलनिधि हैं, अत: उनकी ललित गति आदिसे गोपांगनाओंका मन आकृष्ट हो गया। यह एक और तरहकी 'रमापति' पदकी साभिप्रायता हुई। इसके अतिरिक्त 'रमा' श्रीरासेश्वरी राधाका ही नाम है—'**रमयति श्रीकृष्णं या, सा रमा**' इस व्युत्पत्तिसे श्रीकृष्णचन्द्र भगवान्को रमण करानेवाली तो राधा ही हैं। लक्ष्मी विष्णुको रमण कराती हैं। यह वैकुण्ठकी बात है, व्रजरसकी नहीं। '**रासपञ्चाध्यायी**' में श्रीकृष्णसे सम्बद्ध व्रजरसका वर्णन है। इस दृष्टिसे रमापति या राधापति अर्थात् श्रीराधाके प्राणधन श्रीकृष्णभगवान्की उन गति-विलासादिसे श्रीराधा, सखी आदि आक्षिप्तचेता हुईं। प्रेमप्रमत्त श्रीव्रजांगनाएँ भगवान्की इन लीला, गति, स्मित, विभ्रम, विहार आदिसे तदात्मिका हो गयीं। वे भूल गयीं कि हम कृष्णप्रणयप्रमत्त गोपांगना हैं, बल्कि उन्हें दृढ़ निश्चय हो गया कि हम कृष्ण ही हैं। फिर वे भी वैसी ही लीलाएँ करने लगीं। एक कहती है—सखि! देख, मैं कृष्ण हूँ, मेरी गति देख। यों तन्मयी होकर वे वही सब करने लगीं—'**तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः॥**' यद्यपि दासी स्वामीकी चेष्टाका अनुकरण करे, यह दोष है, ऐसा करना अनुचित है, परंतु व्रजांगनाओंका इसमें कोई दोष नहीं, क्योंकि वे प्रभु नटनागरकी इन लीलाओंसे आक्षिप्तचित्ता हैं। उन्हें पता ही नहीं कि वे कहाँ, कब, क्या कर रही हैं। जैसा-जैसा लीलाशक्ति कराती है, वैसा-वैसा वे करती हैं। भाव यह कि कहाँ तो इन व्रजदेवियोंकी यह स्थिति कि श्रीमुरलीमनोहर श्यामसुन्दरके पादारविन्दकी दिव्यनखमणिचन्द्रिकाकी एक छटाके दर्शन प्राप्त होनेसे अपनेको कृतकृत्य मानती हैं। ऐन्द्रपद, ब्राह्मपदतकके ऐश्वर्य-सुखोंको उसपर न्योछावर करती हैं और कहाँ यह स्थिति कि उन्हीं श्रीमदनमोहन भगवान्से पादसंवाहनतक करायें! यह उसी सौभगमदकी महिमाका प्रभाव था, जो कि श्रीव्रजदेवियोंको अपना दास्यभाव भूल गया और यह गर्व उत्पन्न हो आया कि वे श्रीघनश्याम हमपर मुग्ध हैं, हमारे हाथकी कठपुतली हैं, हम जो करायेंगी, सो करेंगे। यह सब उसी लीलासे उन भावोंने उन्हें वैसा करनेको प्रेरित किया।

लीलाविहारीकी लीलाओंने व्रजांगनाओंको स्ववश करके अपनी लीलाका सम्पादन कराया

कोई महानुभाव यह मानते हैं कि '**तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः**' से यह भाव व्यक्त होता है कि भगवान् श्रीलीलाविहारीकी उन-उन लीलाओंने ही श्रीव्रजांगनाओंको स्ववश करके उनके द्वारा अपना (लीलाका) सम्पादन कराया। भाव यह कि कहीं भावुक भावको ग्रहण करने चलता है तो कहीं भाव स्वयं भावुकको ग्रहण कर लेता है। गोपीजन '**कृष्णग्रहगृहीतात्मा**' हैं, विमुग्ध हैं, जैसे उनमें कोई प्रेतादि आविष्ट हो। यह इन्द्रियाँ, मन ग्रह हैं, जीवात्माको ग्रहकी तरह परेशान करते हैं। फिर ग्रह भी अतिग्रहसे गृहीत हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द अतिग्रह हैं। चक्षुरादि इन्द्रियाँ हमें सताती हैं और रूप आदि उन्हें सताते हैं। एक गृहपतिको रूपादि विषयोंसे अतृप्त बहुत-सी सपत्नियाँ जैसे नोचती हैं, सताती हैं—जीवात्माको रूपादि विषयसंसक्त इन्द्रियाँ वैसे ही सताती रहती हैं। श्रीनृसिंहभगवान्‌से प्रह्लादने यही कहा—

जिह्वैकतोऽच्युत विकर्षति मावितृप्ता
शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित्।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्ति-
र्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति॥

(श्रीमद्भा० ७।९।४०)

इस तरह जीवात्माको इन्द्रियाँ और उन्हें विषय खींचते हैं, जैसे चुम्बक लोहेको खींचे, परंतु जब यह कृष्णग्रहसे गृहीत होता है, तब ये सब कूच कर जाते हैं। यह ऊँचे लोगोंकी बात है। नहीं तो इधर हम चाहते हैं कि किसी तरह यह मन उस कृष्णग्रहके चक्करमें आ जाय, पर जरा भी नहीं फँसता। न वे ही फँसाते हैं और न यही फँसता है। उधर यह हाल कि नहीं चाहते कि यह उनमें फँसे, पर वह ग्रह जबर्दस्ती फँसाता है और ऐसा पकड़ता है कि फिर लाख प्रयत्न करनेपर भी छोड़ता ही नहीं। व्रजांगनाएँ उसी उच्च कोटिकी हैं। 'लीला' ने स्वयं इन्हें गृहीत किया। यह व्रजका महत्त्व है। व्रजकी साधारण स्त्री भी 'रमा' है, वृक्ष कल्पतरु है, जल अमृत है और श्रीव्रजांगनाएँ तो रमा-पूज्या हैं, क्योंकि उन्हें श्रीकृष्णने हठात् और स्वयं ग्रहण किया है, वे प्रमदा— प्रकृष्टमदा हैं; श्रीश्यामसुन्दर नटनागरकी सखी हैं। ऐसी स्थितिमें लीलाने स्वयं ही इन्हें ग्रहण किया। यह प्रभुकर्तृक अनुकम्पा है। अतः '**तास्ता विचेष्टा एव ता जगृहुः**' अर्थात् गोपांगनाओंने उन-उन विचेष्टाओंको ग्रहण नहीं किया, अपितु उन-उन चेष्टाओंने— लीलाओंने—स्वयं ही उन्हें ग्रहण किया।

मूल बात तो यह है कि वे तदात्मा पहले ही हो चुकीं। श्रीश्यामसुन्दरकी लीलामें आसक्तचेता पहले ही हो गयीं। अनुकरणमें तभी स्वाद आता है, जब अनुकर्ता तदनुसंपृक्त हो ले, भेद मिट जाय, अभेद हो जाये। इसके लिये पवित्र वातावरण हो, एकान्त-सेवन हो। विपद्संहारी, गर्वापहारी, रसिकविहारीका भृंगी-कीटन्यायद्वारा अनुसन्धान हो। उनके कोटि-कोटिकन्दर्पदर्पदलन-पटीयान लोकोत्तर लावण्यभरनिर्भर श्रीमुखारविन्दका अनुसन्धान हो और उनकी लीला, तत्परिकर आदिका अनुसन्धान हो, इन सबके समुचित स्वरूपमें होनेपर आवेश होता है, वही सच्चा है। उसी समय आनन्दघन घनश्याम अपने कमलनयनसे उसे निहारकर निहाल कर देते हैं। सदाके लिये अपना लेते हैं। यह बात '**रागानुगा**' भक्तिसे ही शीघ्र सिद्ध होती है। इसीलिये लौकिकता, कान्तभाव, औपपत्यतक श्रीरूपगोस्वामी आदि अंगीकृत करते हैं। जलकी मधुरतामें औपपत्य नहीं कहा जा सकता। तात्पर्य यह कि लौकिकताके भावकी अधिकतासे अधिकता होती है। उससे अत्यन्त उत्कण्ठा होती है। उत्कण्ठासे परमानुरागका उदय होता है। उसीसे तदात्मकता होगी। तभी 'लीला' स्वयं ग्रहण करनेको दौड़ पड़ेगी। तभी ज्ञात होगा कि कैसे रमापतिकी विचेष्टाओंसे गोपांगनाएँ परिगृहीत हुईं।

श्रीकृष्णकी ललित गति, स्मित, सानुराग ईक्षण, विविध मनोरमालाप और विहार, इनसे गोप-सीमन्तिनियोंका चित्त उनमें खिंच गया। वे आनन्दसिन्धुमें निमग्न हो गयीं। तन्मयता प्राप्त होनेपर उन-उन चेष्टाओंको करने लगीं। चेष्टानुकरणमें तन्मयताकी

आवश्यकता है। श्रीभगवान्‌की लीला रोम-रोममें जब स्थायीभावापन्न हो जाय, तब अनुकरण किया जाता है। भक्त भी अनुकरण कर सकता है अथवा लीला ही जब उन्हें स्वयं गृहीत कर ले, तब अनुकरण हो सकता है।

भगवान्‌के लीलानुकरणसे गोपियाँ अपनेको 'मैं श्रीकृष्ण ही हूँ'—ऐसा मानने लगीं

जैसे कहीं भक्त भगवान्‌को ग्रहण करता है तो कहीं भगवान् ही उसे ग्रहण करते हैं। यहाँ उन लीलाओंने गोपप्रमदाओंको गृहीत किया, इसका अधिक स्फुटीकरण इसमें है—

गतिस्मितप्रेक्षणभाषणादिषु
प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्तयः।
असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिका
न्यवेदिषुः कृष्णविहारविभ्रमाः॥*

(श्रीमद्भा० १०।३०।३)

गोपसुन्दरियाँ उस समय अपनी गतिसे हंस, सिंह और गजेन्द्रको भी लजाने लगीं, उनका मन्दहास कामको भी विस्मय उत्पन्न करने लगा। ऐसे ही प्रेक्षण, भाषण आदि हुए। उनके स्वरूपमें गोपललनाओंके मन आदि तल्लीन हो गये। ऐसा अद्भुत अनुरागोद्रेक अन्तःकरणकी कोमलताका द्योतक है। यहाँ अन्योन्यात्मकताका वर्णन है। पहले स्मित आदि स्थिर हुए, फिर वे लीला आदिके साथ गोपरामाओंमें प्रतिबिम्बित हुए और उनका इनमें प्रतिबिम्बन हुआ। गोपांगनाओंके मन, इन्द्रियोंमें गति, स्मित आदि आरूढ़मूर्ति हुए, फिर गति, स्मित आदिमें गोपांगनाचित्त आदि प्रतिरूढ़मूर्ति हुए, परस्पर ऐक्य हुआ। यों श्रीनन्दनन्दन वंशीधर प्रभुका स्वरूप और लीला व्रजदेवियोंके मन, बुद्धि, अन्तःकरण, रोम-रोममें प्रविष्ट हुई। मूर्ति—कार्यकारणसंघात—अन्तरात्मा प्राणोंमें प्रतिरूढ़ हुई। श्रीभगवान् और उनकी लीला श्रीव्रजदेवियोंमें और श्रीव्रजदेवियोंके मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि श्रीभगवान् और उनकी लीलामें प्रतिरूढ़ हुए। एक यह भी बात है कि उस समय वहाँ श्रीगोपियोंको भगवान्‌का प्रत्यक्ष दर्शन अथवा उनकी लीलाका ही प्रत्यक्ष दर्शन तो है नहीं, फिर श्रीकृष्णमूर्तिमें यह सब प्रतिरूढ़ कैसे हुआ? तब इसपर यह समझना चाहिये कि पहले श्रीकृष्ण और उनकी लीला आदि श्रीगोपरामाओंमें—उनके मन, बुद्धिमें प्रविष्ट या आरूढ़ हुए, फिर स्वान्तस्थ अथवा स्वान्तःप्रत्यक्ष श्रीकृष्ण तथा तल्लीलामें श्रीगोपांगनाएँ और तन्मनोबुद्ध्यादि प्रत्यारूढ़ हुए। तभी '**असावहं त्वित्यबलाः**' यह कथन संगत हुआ।

इस तरह जब अन्योन्यकी एकता हो गयी—श्रीश्यामसुन्दरकी व्रजांगनाओंसे और व्रजांगनाओंकी श्रीश्यामसुन्दरसे एकता हो गयी—अभेद हो गया, तब श्रीगोपबाला कहती हैं—'देखो सखि, हम ही कृष्ण हैं।' यह तन्मयता कैसे? तब कहा—'**अबलाः**' (नारी) बलहीन हैं। श्रीमोहन मुरलीमनोहरके विरहमें शक्तिहीन हो गयीं। धैर्य रखना बलका काम है। उसके बिना धैर्य कैसा? जरासे विप्रयोगमें भी आँख डबडबा आती है—आँसू आ जाते हैं। इतना अधैर्य यद्यपि गुण नहीं, पर यहाँका अधैर्य महागुण है। श्रीश्यामसुन्दरके वियोगमें जितनी ही व्याकुलता हो, तड़फड़ाहट हो, उतनी ही अधिक तन्मयता होती है। नारी धैर्यबलशून्य होनेसे शीघ्र व्याकुल होती है। इनका हृदय बहुत कोमल होता है। इसी कोमलताके कारण वे प्रेमकी अधिकारिणी हैं। फिर व्रजांगनाओंकी कोमलताका तो कुछ ठिकाना ही नहीं। इसी तन्मयता और कोमलताके कारण वे भेद नहीं जान सकीं। इनमें और श्रीकृष्णमें परस्पर प्रतिबिम्बसे अभेद हो गया, तब युक्त ही कहा गया—'**असावहं त्वित्यबलाः**'।

अथवा ऐसी दुर्लभ स्थिति—श्रीकृष्ण परब्रह्मके साथ तादात्म्यापत्तिकी प्राप्ति—निर्बलतासे कैसे होगी? यह तो बड़े बलका काम है। तब कहा—'**अबलाः—अः वासुदेवः बलं यासान्ताः**' अर्थात् भगवान् वासुदेव ही जिनका सबसे बड़ा बल हैं, वे व्रजांगनाएँ '**असावहम्**' इत्यादि कहने लगीं। वस्तुतः जगत्‌के

* अपने प्रियतम श्रीकृष्णकी चाल-ढाल, हास-विलास और चितवन-बोलन आदिमें श्रीकृष्णकी प्यारी गोपियाँ उनके समान ही बन गयीं; उनके शरीरमें भी वही गति-मति, वही भाव-भंगी उतर आयी। वे अपनेको सर्वथा भूलकर श्रीकृष्ण-स्वरूप हो गयीं और उन्हींके लीला-विलासका अनुकरण करती हुई 'मैं श्रीकृष्ण ही हूँ'—इस प्रकार कहने लगीं।

सब बल—धन, विद्या, सौन्दर्य आदिको छोड़कर श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द नन्दनन्दनको ही जिसने अपना सर्वोपरि बल बनाया, वही अभिन्न होता है। तभी तो उन अबला—व्रजबालामें अभेद हुआ। तभी उन्होंने कहा—'**असावहम्**', अथवा '**अः—वासुदेवः बलम्-प्राणा यासान्ताः**'। अर्थात् बलका भी मूल है प्राण, भगवान् वासुदेव ही जिनके प्राण हैं, वे व्रजांगनाएँ '**अबला**' हुईं। इस तरह श्रीकृष्णके अनुकूल और श्रीकृष्णके ही आधारपर कायिकी, वाचनिकी एवं मानसी समस्त चेष्टावाली व्रजदेवियाँ '**अबला**' ठहरीं। जिनके भगवान् वासुदेव ही मन, बुद्धि, अन्तरात्मा, रोम-रोमके सर्वस्व हैं, उन व्रजबालाओंको उनके बिना, प्राणस्थानीय उनके बिना, कैसी अन्य अवधानता? अतः सर्वत्र उनका अवलोकन करती कहती हैं—'**मैं कृष्ण हूँ**'।

यह स्थिति वेश-भूषा आदिसे भी अनुकरण करा देती है। रसके उद्रेकमें नायिका नायककी लीलाका अनुकरण करती है। यही स्थिति '**मधुरिपुरहमिति भावनशीला**' इस रसिकेन्द्रचूड़ामणि श्रीजयदेवके गीतमें पायी जाती है। एक बार श्रीराधा प्रतीक्षा कर रही थीं—बाट जोह रही थीं, अपने प्राणधन त्रिभुवनमोहन मुरलीमनोहरकी। उसी समय उन्हें एक विशिष्ट अवस्थामें '**मधुरिपुरहम्**' का अनुसन्धान हो आया। यह भावनाका फल है। वस्तुतः यहाँ तो इन व्रजमहिलाओंके बाहर-भीतर श्रीसाँवरिया गिरिधारी ही विराजमान हैं। अतः यहाँ तो यह व्यवहार स्वाभाविक है।

श्रीराधा और श्रीकृष्ण एक ही हैं, दो हैं ही नहीं। कल्पना करो—दो शीशी हैं, एक श्याम, एक गौर। श्याम शीशीमें गौर रस भरा है और गौर शीशीमें श्याम रस भरपूर है। श्रीराधा रसमयी गौर शीशी हैं, वह काँचकी नहीं, रसकी ही बनी है। वैजात्यकी यहाँ कल्पना ही नहीं। उसमें श्यामरस भरपूर है। ऐसे ही श्रीकृष्ण श्याम शीशी हैं। अतः उभय उभयभावात्मा, उभय उभयरसात्मा हैं। यहाँ कुछ व्रजांगनाएँ राधांशभूता हैं। अंश भी बहुत ही स्वल्प है। राजराजेश्वरी श्रीरासेश्वरी राधाके पादारविन्दकी नखमणिज्योत्स्नाकी छटाका एक स्वल्पभाग, तद्भूता व्रजांगना तद्रूप होनेके नाते अपनेको अभिन्न मानती हैं। इस प्रकार भावनासे भी अभेद होता है। वस्त्राभरणसे भी व्रजांगनाएँ अपनेको श्यामाभिन्न समझती हैं। उन्होंने जो नील निचोल पहना है, वक्षोजमें जो मृगमद लेपा है, वह सब श्याम ही है। भीतर-बाहर श्याम-ही-श्याम है। किसी भावस्निग्धका बड़ा ही सुन्दर सूक्त है—

श्रवसोः कुवलयमक्ष्णोरञ्जनमुरसो महेन्द्रमणिदाम।
वृन्दावनतरुणीनां मण्डनमखिलं हरिर्जयति॥

व्रजबालाओंने अपने कानोंमें नीलकमलके '**कर्णफूल**', नेत्रोंमें अंजन और हृदयमें नीलवर्णकी महेन्द्रमणिका हार पहना है। लोग समझेंगे, उन्होंने इन वस्तुओंसे अपना शृंगार किया है। पर बात ऐसी नहीं। उन्होंने इन श्यामवर्णकी वस्तुओंको धारण करके प्राणधन श्यामसुन्दरको ही धारण किया है। उनका तो अखिल मण्डन-समस्त शृंगार—एकमात्र '**श्रीहरि**' ही हैं। वे इन सोने-चाँदीके, कंकड़-पत्थरके भूषणोंको नहीं पहनतीं। अपने कानोंमें उन्होंने जिस श्यामसरोरुहको सजाया है, वह साधारण सरोरुह नहीं, अपितु पूर्णानुरागरससारसमुद्भूत है। कमलका नाम पंकज है, वह पंक—कीचड़से उत्पन्न होता है, पर जिस पंकजको उन्होंने धारण किया है, वह साधारण मिट्टीकी कीचमें नहीं उपजा, वह पूर्णानुरागदुग्धसरोवरकी कीचमें उपजा है। जब सरोवर दूधका, तब उसकी कीच नवनीत (मक्खन)-की होगी। जब भूपंकज लोकातिशायी सौन्दर्य-सौगन्ध्य-सम्पन्न होता है, तब पूर्णानुरागरससार-समुद्भूत सरसिजके सौरभ्यादिकी कीमत कौन आँके? ऐसे ही व्रजबालाओंने यह साधारण करिखा आँखोंमें नहीं लगाया, अपितु उस सौन्दर्यसुधाजलनिधि श्रीघनश्यामको ही सदाके लिये अपने नेत्र-निकुंजमें निवास दिया है। श्रीगुसाईंजीने भी ग्रामवधूटियोंकी उक्तिमें कहा है—

जौं मागा पाइअ बिधि पाहीं। ए रखिअहिं सखि आँखिन्ह माहीं॥

(रा०च०मा० २।१२१।५)

उन ग्रामवधूटियोंकी तो यह वासनामात्र थी कि यदि हमें ब्रह्मा वर देनेको प्रस्तुत हों तो हम यह वर माँगें कि इन भगवान् श्रीरामको अपने नेत्रोंमें पधराकर

रखें, पर इन व्रजवधूटियोंने तो यह साक्षात् ही कर दिखाया अथवा श्रीकृष्णपाद-पद्मपरागको ही इन्होंने अंजन बनाया।

इस प्रकार व्रजवनिताएँ अपनेको श्रीश्यामसुन्दरसे ही भूषित करती थीं। उनकी दृष्टिमें इसके अतिरिक्त किसी भी आभूषणको पहनना अत्यन्त ही हेय है। जैसा कि एक स्थलमें उनकी स्पष्ट उक्ति है—

ईदृशा पुरुषभूषणेन या
भूषयन्ति हृदयं न सुभ्रुवः।
धिक् तदीयकुलशीलयौवनं
धिक् तदीयगुणरूपसम्पदः॥

ऐसे सिद्धान्तवाली व्रजांगनाओंने बाहर-भीतर सर्वत्र श्रीश्यामसुन्दर प्राणधनको ही धारण किया। इस प्रकारका तादात्म्य श्रीगोपांगनाओंको हुआ। अन्यत्र तादात्म्य आरोपित होता है, परंतु यहाँ नहीं। अतः श्रीश्यामसुन्दर भगवान्‌की गति, स्मित, प्रेक्षण, भाषण आदि श्रीव्रजवनिताओंमें और व्रजवनिताओंके मन, बुद्धि आदि श्रीश्यामसुन्दर भगवान्‌में आरूढ़ हुए। भगवान् श्रीकृष्णके साथ यों अभिन्नभावसे उनकी रसमयी कायिकी-वाचनिकी-मानसी लीलासे, विहारसे उनमें जो विभ्रम उत्पन्न हुए, वे सब व्रजदेवियोंमें उत्पन्न हुए। श्रीनवलकिशोरकी सभी चेष्टा—गति, भाषण, दर्शन आदि—जो-जो थीं, सब इन व्रजांगनाजनमें प्रस्फुटित हुईं। इतना ही नहीं, बल्कि इतनी ऐक्यापत्ति हुई कि इन व्रजरमणियोंकी लीलासे श्रीराधाविहारीका विभ्रम हुआ—'**श्रीकृष्णविहारस्य विभ्रमो याभ्यः।**' अनुकरण पूरा उतरा, सर्वथा तन्मयता अथवा लीलाओंने गोपरामाओंको बलात् गृहीत किया। यों '**गतिस्मित**' इत्यादि संगत हुआ।

यहाँ एक भाव यह भी है—श्रीवल्लभाचार्यजीने अणुभाष्यमें कहा है—किसी भावुकके चिन्तनसे जो अभेद होता है, यह एक संचारीभाव है। इसमें तीन अवस्थाएँ होती हैं। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' का यह प्रसंग उदाहरण है—'**अहमेव पुरस्तात्**' इत्यादि अर्थात् पहले भावुकको जगत्‌की और अपनी भी विस्मृति हो जाती है। फिर केवल अपनी ही स्मृति रहती है—'**अहमेव पुरस्तात् दक्षिणतश्चोत्तरेण**' वह सम्पूर्ण विश्वमें अपना ही अस्तित्व देखता है। दूसरी स्थितिमें वह भगवान्‌को ही सर्वत्र देखता है—'**भूमैव पुरस्तात्, भूमैव**'। अन्तमें तीसरी स्थिति—'**अहमेव पुरस्तात्**' या '**आत्मैवोपरिष्टात्**' की होती है अर्थात् मैं ही अथवा आत्मा ही सर्वत्र भरपूर है, यह भावुक ज्ञानीको अन्तिम निश्चय होता है।

भगवान्‌ने कहा है—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥

(श्रीमद्भा० ३।२९।११)

मेरे गुणोंके श्रवण करनेसे—मेरी लीलासे भावुकके चित्तकी सर्वाधिष्ठान मुझमें गति होती है। जैसे गंगाका जल समुद्रमें जाता है, भावुकका चित्त वैसे मेरी ओर प्रवाहित होता है। भावुकके द्रुत चित्तकी यह स्थिति है। चित्तकी द्रुतता उसकी निर्मलतापर निर्भर है। '**भक्तिरसायन**' में कहा है—जलके प्रधान स्थान 'टंकी' आदिमें रंग छोड़नेसे वह जहाँ-जहाँ स्पष्ट होगा—अपनेमें रँग लेगा। जहाँ-जहाँ वह रंगीन जल निकलेगा—कल आदिके द्वारा—वहाँ वह जिस-जिसपर पड़ेगा—अपने रंगमें मिला लेगा। सभीका बाह्य और आभ्यन्तर दर्शन-ग्रहण अन्तःकरणसे ही होता है। वह यदि लाक्षाकी तरह या 'टंकी' के सदृश श्याम रंगमें रँगा है तो अब जो भी उससे गृहीत होगा चाहे वह आन्तर, बाह्य, पुरस्तात्, उपरिष्टात्, हरित, पीत कैसा भी हो—उस रंगमें रँगा जाकर ही गृहीत होगा। अतः श्रीश्यामसुन्दर भगवान्‌को अपने हृत्पुण्डरीकपर विराजित करके व्रजांगना सब कुछ श्याममय ही देखती हैं—'***जित देखो तित स्याममई है।***' व्रजांगना अपने मनमें विचारती हैं—'ये लोग बावरे हैं या हम ही बावरी हैं, इन लोगोंके नेत्रमें विकार हो गया है या हम ही किसी नेत्ररोगसे ग्रस्त हो गयी हैं! क्योंकि लोग हरे, पीले, लाल कई रंग बतलाते हैं, पर हमें तो सर्वत्र श्याम-ही-श्याम दीख पड़ रहा है।' इस स्थितिमें—'**भूमैवाधस्तात् भूमैवोपरिष्टात्**···' की प्रतीति होती है। जब भूमाका पार्थक्य नहीं प्रतीत होता, तब '**अहमेव पुरस्तादहमेवोपरिष्टादहमेव दक्षिणतश्चोत्तरेण**' की ही सर्वत्र

प्रतीति होती है। इसी प्रकार तदवस्थापन्न व्रजांगना 'जैसी श्यामकी सब लीला, वैसी ही हमारी सब लीला' ऐसा समझती हैं। इस रूपसे अपनेको श्यामाभिन्न समझकर कहती हैं—'मैं ही श्याम हूँ।'

जिनमें **कृष्ण-विहार-विभ्रमा ('कृष्णाय विहारेण विभ्रमो यासु')** की वस्तुस्थिति है, उनकी यह बात है, अन्योंकी नहीं। सभी तो श्रीराधांश-समुद्भूता नहीं। जो हैं, उनमें ऐसा विभ्रम हुआ। मूल श्लोकमें **'न्यवेदिषुः'** बहुवचन है। इसका यह अभिप्राय है कि सम्पूर्ण—अपरिगणित कोटि व्रजांगनाओंको विभ्रम हुआ। सबने अपनेको कृष्ण समझा। विशेषता यह थी कि सभी अपनेको कृष्ण समझती हैं, पर अन्योंको 'मैं कृष्ण हूँ' ऐसे भ्रमसे युक्त समझती हैं तथा च समझाती हैं—'सखि, हम तो तुम्हारे पास ही हैं, हमारे विप्रयोगसे तुम क्यों इतनी म्लान हो रही हो?' इसपर समझायी जानेवाली सखी समझानेवालीसे कहती है—'सखि, तुम तो सखी हो, कृष्ण नहीं।' तब वह उत्तरमें कहती है—'नहीं, तुम तो सखी हो, मैं तो कृष्ण हूँ।' यों वे एक-दूसरेको समझाती हैं और अपनेको सब श्रीकृष्ण समझती हैं तथा दूसरीको सब सखी जानती हैं। इस प्रकार वे व्रजांगना विभ्रमान्वित हुईं। यहाँ एक यह भी प्रश्न उठता है कि श्रीश्यामसुन्दर भगवान्‌के विहारसे इन्हें यह विभ्रम हुआ है, अथवा शृंगाररसाक्रान्ततावश अपने चित्तकी अनवस्थितिसे उन्हें यह भावना हुई कि—'हम कृष्ण हैं।' इसपर यही समझना चाहिये कि अधिकारानुसार पात्रोंमें भावनाकी उद्भूति होती है। इनमें किसीको श्रीकृष्ण-विहार-विभ्रमसे तो किसीको शृंगाराक्रान्ततासे विभ्रम हुआ। बाकी विभ्रम सबको हुआ—'मैं ही कृष्ण हूँ।'

'अन्तर्हिते भगवति सहसैव व्रजाङ्गनाः।
अतप्यंस्तमचक्षाणाः···· ॥'

गोपरामाओंका प्रेमोन्माद

भगवान् श्रीकृष्णके अन्तर्हित होनेपर गोपरामा बहुत विह्वल हुईं। उनका चित्त अपने प्राणधनकी गति, अद्भुत अनुराग, काममदभंजक स्मित, आकर्षक विभ्रम, मनोरमालापसे उनमें सर्वदाके लिये आकृष्ट हो गया। भगवान्‌ने अपने इन स्वाभाविक गति, स्मित आदिसे बलात् उनके चित्तको अपनेमें खींच लिया। प्राणवियोगमें मरण होता है। श्रीकृष्ण तो प्राणोंके भी प्राण हैं, फिर उनके वियोगमें व्रजसुन्दरियोंका जीवन कैसे रहा, यही अचरज है। उस समय उनके लिये परमाह्लादकर शारद पूर्णचन्द्र भी सूर्यके यद्वा प्रलयकालीन तीव्र सूर्योंके सदृश परम तापक हुआ। प्रलयकालमें नीचेसे संकर्षण-ज्वाला उठती है, ऊपरसे त्रयोदश प्रचण्ड चण्डांशु तपते हैं। शारद पूर्णचन्द्र शीतल, कोमल, मधुर, आह्लादकर होता है। परंतु यही वियोगियोंके लिये उक्त प्रलयकालीन संकर्षण-ज्वाला, त्रयोदशादित्यके सदृश परम सन्तापक होता है। व्रजवामाओंके लिये श्रीकृष्णचन्द्ररूप पूर्णचन्द्रके वियोगमें प्रलय-सा उपस्थित हो गया। निश्चय था कि शीघ्र ही उनके प्राणपखेरू उड़ जाते। इस सन्ताप-स्थितिको दूर करनेके लिये ही श्रीरमापतिने अपनी गति आदिसे उनके चित्तको अपनेमें आकृष्ट कर लिया; क्योंकि चित्त रहे तो देहानुसन्धान हो। भगवान्‌ने गोपरामाओंको सन्ताप-सूर्यसे बचानेके लिये ही अपने गत्यादिसे उनके चित्तको खींच लिया, अतएव **'आक्षिप्तचित्ताः प्रमदाः'** (श्रीमद्भा० १०।३०।२) कहा गया।

अथवा **'आक्षिप्तचित्ताः प्रमदाः'** का अर्थ है—अपने प्राणधन श्यामधनको ढूँढ़नेके लिये व्रजरामाओंने अपने मनको प्रोत्साहन देकर निकाल दिया कि 'हे मन! प्राणधन प्रियतमका पता नहीं और तुम यहाँ इस वियोगमें शान्तिसे बैठे हो, जाओ उनका पता लो।' यों तिरस्कारपूर्वक चित्तको निकाल दिया, फेंक दिया। इस तरह आक्षिप्तचित्तता बनी। जब चित्त ही नहीं, तब तापका अनुभव कैसा? व्रजबालाएँ श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दघनको प्राप्त करके 'प्रमदा' बनी हैं। उन्हें अपने इस प्रमदात्व—हर्षप्रकर्ष अथवा मद-प्रकर्षके कारण अपने इन्द्रियज्ञानतकका पता नहीं। वे प्रेमोन्मादमें, संयोगमें भी ऐसी वियोगकी भावना किया करती हैं। वैसे तो उन्हें रोम-रोममें श्रीकृष्णसंयोग प्राप्त है। अतः यह प्रेमोन्मादमें वियोग-भावना है। वे तो इस प्रकारसे प्रियमय ही हैं, केवल ***'बरफ-पूतरी सिन्धुविच रटत पियास पियास'*** की स्थिति है।

बरफकी पूतरीके भीतर, बाहर, मध्यमें जल-ही-जल है। वह स्वयं भी जल ही है। इसी प्रकार श्रीप्रिया-प्रियतमको परस्परमें सदा प्रेमकी **भूख** रहती है—'हाय! प्रेम नहीं मिला' और वे हैं स्वयं प्रियतमप्रेमके स्थान। सूर्यका प्रकाश अन्यत्र पर्वतादिमें कभी होने और कभी नहीं होनेसे व्यभिचरित है, पर सूर्यमें वह सदा रहता है। प्रेम और प्रेमीकी जाति अलग है, पर यहाँ तो दोनों एक ही हैं। पूतरी जलमें पड़ी है, पर प्यासी मरती है, मानो अनादिकालसे जल नहीं मिला। यही प्रिया-प्रियतमकी स्थिति है। यह अचिन्त्य, अनन्त, अखण्ड, अव्यक्त, प्रत्यक्चैतन्याभिन्न तत्त्वकी बनी पूतरी है। अनेक शब्दोंमें कह सकते हैं—प्रेमामृतसिन्धु, अचिन्त्यरसामृतसिन्धु, पूर्णानुराग-रससारसिन्धुसे दो पूतरी निकलीं—श्रीराधा, श्रीश्याम। अब इनके बाहर-भीतर सर्वत्र वही प्रेमामृत आदि तत्त्व है। वहाँ प्रेम स्थायी है, जैसे सूर्यमें प्रकाश नित्य है। प्रेमानन्दमहासूर्यमें कभी भी प्रेमका अभाव नहीं हो सकता। अपने स्वरूपके पूर्ण ज्ञानमें पूतरीको प्यास ही कैसी? पर प्रेमोन्मादकी स्थिति है—'मैं प्यासी हूँ।' पूतरीकी तरह प्रिया-प्रियतम दोनों उस प्रेमसिन्धुमें हैं। अनन्तानन्त-अनुराग होनेपर भी उसके लिये दोनों अधीर रहते हैं। 'इनके मिलनेके मूल्यका कण भी हमारे पास नहीं' यही भाव, यही प्यास दोनोंको सदा तड़फड़ाती रहती है। सूर्यसे प्रकाश कभी जाता ही नहीं। पूतरीसे जल कभी जाता नहीं। वैसे ही प्रेम जिनमें सदा, नित्य रहता है, उन श्रीश्यामाश्यामको सदा यही भावना रहती है कि कब प्रेमकण मिले। वे सदा प्रेमको चाहा करते हैं, उसके लिये विकल रहते हैं, पर उन्मादमें, अत्यन्त संयोगमें सर्वांगीण सम्प्रयोगके होने तथा रहनेपर भी उसकी प्राप्तिकी महती आकांक्षा बनी ही रहती है। उसके प्राप्त होनेपर प्रेमोन्मादमें उसे भूल जाते हैं। प्रेमोन्मादमूलक दो आकांक्षाएँ प्रणयीकी होती हैं—एक प्रियतमके सम्मिलनकी अभिलाषा और दूसरी संयोगमूलक अनुरागकी उत्कण्ठा। प्रेमीकी स्थिति कुछ विचित्र रही है, वह भजन करनेकी अपेक्षा प्रेम करना ही उत्तम समझता है। प्रयत्न नहीं करनेपर भी प्रेम प्राप्त करनेको तैयार रहता है। किसी भी तरह प्रियतम मिले, यही उसका ध्येय रहता है।

प्रेममें गुण-दोषकी परीक्षा या विवेकको स्थान नहीं है

प्रेममें गुण-दोषकी परीक्षाको या विवेकको स्थान नहीं है। कहा है—

महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुनधाम।
जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम॥

(रा०च०मा० १।८०)

श्रीअम्बा पार्वती श्रीशिवप्राप्तिके निमित्त तप कर रही थीं। उसी प्रसंगपर सप्तर्षि उनके पास गये। परीक्षाके निमित्त भगवान् शिवकी उनके सामने निन्दा की, पर श्रीपार्वती अटल निश्चय लेकर बैठी थी। वह कोई बालूकी भित्ति न थी, जो फूँकसे उड़ जाती। उन्होंने अन्तमें स्पष्ट कह दिया—'हमने माना कि महादेव अवगुण—दोषके घर हैं और विष्णु सब गुणोंके स्थान, पर जिसका मन जहाँ रम गया, उसे तो उसीसे काम है।' उसे गुण-दोष देखनेका समय ही कहाँ? ऐसे ही श्रीव्रजांगनाएँ श्रीकृष्णसे प्रेम करती हैं। उन्हें यह ज्ञान ही नहीं कि उनके प्रेमास्पद सुन्दर हैं या असुन्दर, गुणी हैं या निर्गुणी। वे इन सब बातोंको कुछ नहीं जानतीं, केवल प्रेम करना जानती हैं। किसी भक्तकी सूक्ति है—

असुन्दरः सुन्दरशेखरो वा
गुणैर्विहीनो गुणिनां वरो वा।
द्वेषी मयि स्यात् करुणाम्बुधिर्वा
कृष्णः स एवाद्य गतिर्ममास्तु॥

हमारे प्रियतम चाहे सुन्दरोंके सरताज हों, चाहे गुणगणसे विहीन हों, चाहे वे मनमोहन हमसे प्रेम करें, चाहे न करें, चाहे वे हमपर प्रसन्न हों, चाहे नाराज, पर हमारे तो वे ही प्राणधन हैं, सर्वस्व हैं।

जहाँ प्रेमियोंकी गणना चलेगी, वहाँ एक प्रेमी चातक भी गिना जायगा। प्रेमियोंके पारखी श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—'**जलदु जनम भरि सुरति बिसारउ। जाचत जलु पबि पाहन डारउ॥**' (रा०च०मा० २।२०५।३) प्रेमी स्वातिबिन्दु माँगता है और प्राणधन मेघ ओला-पत्थर बरसाता है, परंतु चातक

कभी उसकी इस निठुरताको मनमें भी नहीं लाता। मेघ कभी उसे वर्षभरमें भी याद नहीं करता, कभी ध्यानपर भी नहीं लाता। एक तरफ यह हाल है और दूसरी ओर प्रेमी एकाध वस्तु नहीं, अपितु अपना सर्वस्व वार डालनेको तैयार है। गंगाजल, यमुनाजल, साक्षात् सुधा भी चातकको नहीं चाहिये। उसको तो वही एक, केवल एक ही, स्वातिबिन्दु चाहिये।

प्रेमकी दृढ़ताका एक दृष्टान्त

गंगाके तटपर एक वृक्ष था। उसकी एक शाखा गंगामें लटक रही थी। चातक-पक्षिराज अपने प्राण-जीवनकी चिन्तामें उसी शाखापर बैठा था। इसी समय पीछेसे एक बहेलियाने तीर मारा। निशाना सच्चा बैठा, उसके प्राणपखेरू उड़ गये, वह हवाके झोंकेसे गंगामें गिर पड़ा। परंतु अन्तमें मरते समय भी उसका नियम नहीं टूटा, स्वभावसे ही उसने अपना मुँह बन्द कर लिया—कहीं मरनेपर भी गंगाजल मुँहमें न चला जाय, मेरे तो मुखमें बस वही स्वातिबिन्दु हो। कितना ही कोई अपना हो, निजी हो, पर उसके भी प्रतिकूल आचरणपर एक दिन कोप आ ही जाता है। किंतु चातकको नहीं आता। किसीने कहा—'चातक, अन्य उत्तम जल पियो, मैं अमृत आन दूँगा। क्यों स्वातिपर प्राण देते हो?' तो उसने कहा—'नहीं, मेरे लिये तो साक्षात् प्रेमद्रव भी तुच्छ है। मनुष्यकी तरह ढुलमुलपन्थी मैं नहीं हूँ। यहाँ तो यह अडिग-अडोल निश्चय है—स्वातिबिन्दु ही मिलेगा तो लेंगे, नहीं तो पत्थर, ओलाकी मारसे मर जायँगे।' इतना ही नहीं, उसके मुँहसे मरते समय अन्तिम शब्द निकले—'पुत्रो! मेरा श्राद्ध भी गंगाजल आदि जलोंसे नहीं करना।' वाह री दृढ़ता! अपने प्रत्यक्ष भी न लिया और भविष्यके लिये भी वंशजोंको शिक्षा दे गया। इतना ही नहीं, किंतु मेरे वंशज भी ऐसा ही करें—यह भी निश्चित कर गया। यह है प्रेमतत्त्व। इन प्रेमी व्यक्तियोंके अखण्ड प्रेमसे ही इनका इतना यश फैला है। इसी प्रेमतत्त्वके सम्बन्धसे साधारण वस्तुमें भी मिठास—उत्तमता आ जाती है। इसके बिना अमृत भी फीका है। बस, यदि यह प्रेम नहीं तो कुछ नहीं। यदि श्रीव्रजांगनाएँ व्रजेश्वर श्रीश्यामसुन्दरको पपीहाकी तरह स्वातिका जल न समझकर साधारण जलस्थानीय समझतीं और ऐसी स्थितिमें दूसरेके भजन-सेवन करनेमें प्रवृत्त हो जातीं तो आज उनके इस महान् सौभाग्यका कोई प्रसंग ही न आता। पर इसके विपरीत उनका तो मन्तव्य ही यह है कि हमारे प्राणधन प्रेमी चाहे जैसे भी हों, हम तो उनसे ही प्रेम करेंगी—'**असुन्दरः सुन्दरशेखरो वा**····' वे अपने प्रेमीके गुण, दोष, महत्त्वके विषयमें कोई शर्त ही नहीं रखतीं; बस, केवल प्रेम करती हैं। चातककी तरह अपमानित होनेपर भी अपने लक्ष्यसे नहीं गिरतीं। क्योंकि—'**चातकु रटनि घटें घटि जाई।**' (रा०च०मा० २। २०५। ४)-का उनका सिद्धान्त है। अजी! जिनपर जीवन वार डारा—सर्वस्व न्योछावर कर दिया, बदलेमें उनके प्रेम न करनेपर यदि उनसे वैराग्य हो जाय तो फिर कुछ स्वारस्य ही नहीं। स्वाद तो तभी; जब प्रेमीकी ओरसे शतधा-सहस्रधा अपमानित होनेपर भी चातकके जैसी रटन न घटे। प्रत्युत, उत्तरोत्तर रटन बढ़ती ही जाय, चाहे कितने ही तिरस्कार क्यों न हों। सुवर्णको जितना ही तपाया जायगा, जितना ही उसका निघर्षण-छेदन-ताप-ताड़न किया जायगा, उतना ही वह मूल्यवान् होगा।

हमारा प्रेम कांचनकी तरह खरा होना चाहिये। आज प्रेम कम, बल्कि नहींके बराबर है और उसका दिखावा, ढिंढोरा ही सबसे ज्यादा है, पर यह है अपनेको धोखा देना ही। एक भक्त कहता है—हम प्रेम तो करें, पर यदि वे न जानें, तब करें; अथवा उनकी ओरसे अधिक-से-अधिक उपेक्षा, तिरस्कार, डाट-फटकार मिले, तब करें। '**प्रेम कनक ही बात चढ़े**····' यह तो यहाँ शर्त ही नहीं थी कि वे प्रेम करें, वे सुन्दर हों, तब हम प्रेम करेंगे। यह है प्रेम चीज, यह जिसमें हो, वही धन्य है।

मिसरी जैसी मीठी लगती है, ब्रह्म अथवा ब्रह्मस्थानीय श्रीकिशोर नटनागर प्रभु वैसे मीठे नहीं लगते, कटु लगते हैं। खेल-तमाशोंमें, उपन्यास-नाटकोंमें, थियेटर-सिनेमामें मन लगता है। दोषवश जैसे मिसरीमें मिठास नहीं प्रतीत होती, वैसे ही मायावश सर्वान्तरतम प्रियतम प्रभुमें मिठास नहीं प्रतीत

होती, पर वास्तवमें मीठे वे ही हैं। वे प्रेमके योगसे ज्ञात होते हैं। प्रेमके बिना अचिन्त्य, अनन्त, अव्यक्त तत्त्व भी फीका लगता है, जो मधुरिमाका उद्‌गमस्थान है। प्रेमकी महिमासे सुतृप्त हुआ चातक अमृत भी नहीं चाहता। इसलिये श्रीव्रजांगना प्रेम चाहती है, आदर नहीं। प्रेम होनेसे ही परमानन्दकी प्राप्ति होती है। कंस आदिने भी प्रभु श्रीकृष्णका दर्शन किया, पर आनन्द—मिठास—उन्हें अनुभूत नहीं हुई, क्योंकि वहाँ प्रेम नहीं था। अत: ये गोपरामा प्रेमकी भिक्षा माँगती हैं।

जहाँ प्रेम मिला कि प्रेमोन्माद हुआ, वहाँ संयोगमें भी वियोगकी उच्च दशाका उदय हो जाता है। अत: रासेश्वरीकी, प्रेमकी और प्रिय सम्मिलनकी उत्कट इच्छा रहती है—प्रेम, प्रियतम दोनों मिलें। ऐसे ही श्रीश्यामसुन्दर भी दोनों चाहते हैं। जिस प्रेमसिन्धुकी ये दोनों—श्रीश्यामाश्याम पूतरी हैं, उसीसे प्रेम बना। इन दोनोंहीके भीतर प्रेम भी और प्रियतम भी हैं। इधर श्रीरासेश्वरीके स्वरूपमें प्रेम, प्रियतम विराजमान हैं, उधर श्रीरसिकविहारीमें भी ऐसे ही प्रेम, प्रियतम इसकी भिक्षा माँगते हैं। दोनों विराजमान हैं। फिर भी दोनों भीतर-बाहर एक हैं। बरफ-पूतरीकी तरह प्रेम, प्रियतम एक ही प्रेमसिन्धुसे निकले हैं, एकत्र ही स्थित हैं। फिर भी **'रटत पियास पियास'**—'हा प्राणजीवन! कब मिलोगे?' यह प्रेमोन्मादकी स्थिति है। असली वस्तु प्रेमोन्मादको उत्पन्न करके विप्रयोगमें संयोग भावनाका हो जाना है। परंतु इसके बिना संयोगमें वियोग प्रतीत न हो जाय, इसलिये श्रीभगवान्‌ने **'गत्यानुराग-स्मितविभ्रमेक्षितैः'** (श्रीमद्भा० १०। ३०। २)-से संत्राण करनेके लिये यह प्रेमोन्माद प्रदान किया।

एक और भी अर्थ है—भगवान्‌को गोपवामाओंके सन्त्राणकी परवाह क्यों करनी थी? जबकि वे आप्तकाम, आत्माराम हैं? उन्हें तो चातकके सामने जलदकी तरह ही डटे रहना चाहिये था।

आप्तकाम पूर्णकाम भी लीलास्वादनमें तत्पर रहते हैं

इसपर यह समझना कि—**'रमापतेः आक्षिप्त-चित्ताः'** अर्थात् रमापति मनमोहनके चित्तको भी अपनी गति आदिसे गोपियोंने आक्षिप्त कर लिया, हर लिया। गति या अनुराग, स्मित, विभ्रम, ईक्षित कटाक्षादि, मनोरम आलस्य, विलास आदिद्वारा श्रीकृष्णको गोपांगनाओंने अपने वशमें कर लिया। अत: उनकी पूर्णकामता भुला गयी। थे तो ये पूर्णकाम ही, पर जब गोपांगनाओंके अपांगोंसे मन खो बैठे, तब इधर इनपर ध्यान आया और तब प्रेमोन्मादकी स्थिति उत्पन्न की, वे तो थे नीरस, पूर्णकाम, उन्हें सकाम और सरस बनाया सखियोंने। ठीक है, माधुर्यके बिना मिसरीका मूल्य ही क्या? 'राधा बिन आधा कृष्ण?' एक विशेषता यह भी कि पूर्णकामके भक्त श्रीआत्माराम, पूर्णकाम, परम निष्काम होते हैं। परंतु लीलास्वादनमें तो ये बड़े तत्पर देखे जाते हैं। देखिये, श्रीगोस्वामीजी कह रहे हैं—**'आसा बसन ब्यसन यह तिन्हहीं। रघुपति चरित होइ तहँ सुनहीं॥'** (रा०च०मा० ७। ३२। ६) उन निष्कामोंमें सकामता ला देनेवाले वे श्रीहरि इस प्रकारके गुणवाले हैं, इसमें उन भक्तोंका कोई दोष नहीं। कहा है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥
× × ×
नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः॥
(श्रीमद्भा० १। ७। १०; २। १। ७)

अहैतुकी भक्ति चुम्बककी तरह बलात् उन्हें खींच लेती है। श्रीभगवान्‌में आत्मारामचित्ताकर्षकत्व भी एक गुण है। श्रीसनकादि, शुकादि 'निर्ग्रन्थ' थे, उनकी चित्-अचित्‌की ग्रन्थि—चिज्जडग्रन्थि खुल गयी थी। **'पलालमिव धान्यार्थी'** की तरह वे सारग्रहण कर चुके थे, सब मर्मज्ञ थे, शास्त्ररहस्य जानकर सब कुछ छोड़ बैठे थे, मोक्षतक नहीं चाहते थे, पर फिर भी उस बाँकेविहारी मनोहारीके लोकोत्तररूपलावण्यपर उनका चित्त बरबस लुभा जाता था। किसीकी बड़ी सुन्दर सूक्ति है—

क्लेशे क्रमात् पञ्चविधे क्षयङ्गते
यद्ब्रह्मसौख्यं स्वयमस्फुरत्परम्।
तद् व्यर्थयन् कः पुरतो नराकृतिः
श्यामोऽयमामोदभरः प्रकाशते॥

किन्हीं महापुरुषके पंचविध क्लेश—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश क्षीण हो चुके थे, शान्त होकर पंचकोशातीतमें उनका मन लग गया। तत्त्वसाक्षात्कार उन्हें हो चुका था, उन्हें कहीं श्यामसुन्दरके दर्शन हो गये। अब प्रयत्न करते हैं, पर समाधि ही नहीं लगती। किसीने कहा है कि '**जौ लों तोहि नन्दको कुमार नाहीं दीठि परौ, तौ लौ ध्यान धारणा समाधि तू करि ले।**' उसका दर्शन हो जानेके बाद चित्त खिंच जाता है, पर पवित्र अन्त:करणवालोंका ही वहाँ खिंचाव होता है। जैसे चुम्बक स्वच्छ लोहेको जल्दी खींच लेता है, वैसे ही वह श्यामसुन्दर महात्माओंके चित्तको जल्दी खींच लेता है। उन्हें ज्ञात ही नहीं होता कि वे श्यामसुन्दरसे क्यों इतना प्रेम करते हैं? यह श्रीभगवान्‌में विराजमान चित्ताकर्षकत्व गुणका माहात्म्य है। यह तो हुई योगीन्द्र-मुनीन्द्रोंकी बात, पर यहाँ इन गँवारी ग्वालिनियोंने तो इन योगीन्द्र-मुनीन्द्र मनोहारी श्रीभगवान्‌के भी मनको खींच लिया। उन्हें श्रीभगवान् होकर भी इन गोपरामाओंके साथ रमण करनेकी इच्छा हो गयी।

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥

(श्रीमद्भा० १०।२९।१)

यह तो मानना ही पड़ेगा कि सनकादि, शुकादि अन्य आत्मारामोंकी अपेक्षा श्रीभगवान्‌में अधिक आत्मारामत्व था, पर इन्हें कम आत्मारामत्ववाली अथवा जो आत्मारामत्वको जानतीं भी नहीं, उन गोपांगनाओंने इनके आत्मारामत्वको छीन लिया और इन्हें 'गोपीराम' या गोपीरमण बना दिया। निष्कामको सकाम बना दिया। पूर्णकामता आदि छिप गयी, मन गोपरामाओंमें खिंच गया। अब यह दशा हो रही है कि इनके पीछे-पीछे घूम रहे हैं। इस प्रकार '**आकृष्टचित्ता रमापतेः**' के अर्थमें षष्ठी है। अत: यह अर्थ भी होता है कि श्रीरमापतिने राजहंस, गजराज और सिंहकी गतिको लज्जित करनेवाली गति, अनुराग, हास, अलसवलितादि विभ्रम तथा मनोरमालापसे व्रजांगनाओंके चित्तको खींच लिया; क्योंकि उन्होंने सोचा कि 'यदि चित्त इनके पास रहेगा तो ये हमारे विप्रयोगजन्य तीव्रतापमें सन्तप्त होंगी।' व्रजांगनाओंको 'प्रमदा' कहा गया। '**प्रकृष्टो मदो यासाम्**' इस व्युत्पत्तिसे भाव यह कि दैहिक सब प्रपंच भूल गयीं, जिस मनके रहनेमें सन्ताप, वियोग होता है, उसे तो भगवान्‌ने पहले ही हर लिया। अब सुख-दु:ख ही किसे हो? फिर श्रीभगवान्‌ने गोपांगनाओंमें प्रमद—मादक मद उत्पन्न किया, जिससे वियोगतापमें भी उन्हें संयोग प्रतीत हुआ, इससे वह वियोगजन्य तीव्रताप उनके अन्तरमें प्रविष्ट न हो सका। इतनेपर भी यदि श्रीमनमोहनका विप्रयोग उन्हें बाधा पहुँचाये—तो ठीक नहीं। अत: '**तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः॥**' (श्रीमद्भा० १०।३०।२) तदात्मिकाका अर्थ है—'**स एव रक्षकत्वेन वर्तमानो हृदि यासान्ताः।**' अर्थात् वे ही श्यामसुन्दर रक्षक-रूपसे जिनके हृदयमें विराजमान हैं, वे व्रजांगना वियोगतापकी ओरसे निर्भीक बना दी गयीं, क्योंकि अपने प्रेमीकी उपेक्षा करके उसे छोड़ देना उचित नहीं! पर सौभाग्यमदके होनेपर उसे भी दूर करना अपेक्षित था।

गोपांगनाओंके हृदयमें रहकर भगवान्‌ने उनकी रक्षा की

'गोपांगनाओंके हृदयमें वर्तमान रहकर श्रीभगवान्‌ने उनकी रक्षा की'—इस बातको उपनिषद्-वचनसे श्रीमद्वल्लभाचार्यजीने भी पुष्ट किया है—'**को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।**' (तैत्तिरीय० २।७) अर्थात् कौन जीता, कौन चेष्टा करता, यदि भगवान् श्रीकृष्ण अन्तरमें विराजमान होकर उनका रक्षण न करते। इस तरह ये व्रजांगनाएँ कैसे जीतीं, कैसे श्रीश्यामसुन्दरको ढूँढ़तीं, यदि उनसे अन्तरमें त्राण न पातीं। '**तदात्मिकाः**' एक और भी अर्थ है। वह यह कि श्रीनन्दनन्दनमें ही गोपांगनाओंके प्राण, आत्मा सब कुछ हैं—'**तस्मिन्नेवात्मा, प्राणा या सान्तास्तदात्मिकाः**' उन व्रजदेवियोंका यही सबसे बड़ा भाव है। वे कहती हैं—

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः॥

(श्रीमद्भा० १०।३१।१९)

हे प्रिय! आपके चरण अत्यन्त सुकोमल हैं, उनमें कमलकी पांखुरीके भी गड़ जानेका भय रहता है। आपके उन चरणोंको हृदयके तापको दूर करनेके लिये हम अपने स्तनोंमें—हृदयमें धारण करती हैं, पर नाथ! हम डरती हैं—आपके कमलकोमल पादोंको कर्कश-कठोर स्तनोंमें कैसे धरें, कहीं वे उनमें गड़ न जायँ। हे प्राणजीवन! आप उन्हीं कोमल चरणोंसे कण्टकाकीर्ण अरण्योंमें घूमते हो, इससे हमें और भी व्यथा होती है। हमारे तो प्राणोंके भी प्राण, जीवन आप हो।

'आपको यों घूमते देखकर हमारी बुद्धि चकरा जाती है, हम क्या करें?' कितना ध्यान है, कितनी भावुकता है; क्या यह प्राकृत विषयलोलुप कामिनियोंको होगी? फिर आध्यात्मिकादि ताप भी तभी दूर होंगे, जब प्रभु श्रीहरिके चरण हृदयमें निहित होंगे। बात यह है कि लौकिक कामुक-कामिनी आदिमें स्वसुखसुखित्वका भाव होता है, वे सब अपने सुखके लिये प्रेम करते हैं। लोकमें पिता आदि अपने आनन्दके लिये बालकके कोमल कपोलका चुम्बन करते हैं, उसे उनकी दाढ़ी चुभती है, वह रोता है, पर इसकी परवाह किसे रहती है? वहाँ तो चुम्बनकी बौछार (परम्परा) लग जाती है। इसलिये कहा है—'""**आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति**""' (बृहदारण्यक० २।४।५) किंतु श्रीव्रजांगनाओंके विषयमें यह बात नहीं है, यहाँ तो तत्सुखसुखित्वका भाव है। यह श्लोक लज्जाका स्थान नहीं, जैसा कि अनभिज्ञ कह बैठते हैं। अपितु श्रीव्रजदेवियोंके विशुद्ध, गाढ़ प्रेमसे आक्षिप्त हृदयका दर्पण है, उच्च भावुकताका केन्द्र है। वे कहती हैं—क्या करें, आपके चरण हृदयोंमें धरे बिना ताप दूर नहीं होगा—यह सभी शास्त्रोंका सिद्धान्त है, पर डरती हैं हम, यह स्तन (हृदय) कठिन है, कहीं चुभ न जाय, पर आप इनसे वनमें घूमते हो, क्या इनमें तृण, गुल्म, पत्र आदि न गड़ते होंगे? अवश्य गड़ते होंगे। फिर भी हाय! हम जीवित हैं, परंतु हमारा कुछ वश नहीं चलता, क्योंकि हमारे प्राण विधाताने आपके हाथमें दे दिये हैं, नहीं तो ये कबके निकल गये होते। अतः '**तस्मिन्नेव आत्मा प्राणो यासान्ताः तदात्मिकाः**' यह ठीक कहा गया। जबतक श्रीश्यामसुन्दर प्राणेश्वर इनके अन्तरमें विराजमान हैं, तबतक ये मर सकतीं नहीं, तीव्र ताप सहकर भी जीवित रहेंगी, डोलती-फिरतीं काम-काज करती रहेंगी। इसीसे '**रमापतेरपि आक्षिप्तं चित्तं याभिस्ताः**' यह संगत है। जो श्यामसुन्दर परमसमाहितचेता योगीन्द्र मुनीन्द्रोंके चित्तको भी आकृष्ट कर लेते हैं, उनके चित्तको गोपवधूटियोंने आकृष्ट कर लिया। अतएव '**रमापतेरपि प्रकृष्टो मदो यासाम्**' यह भी भाव है अर्थात् जिनका मद रमापतिसे भी बढ़कर है। तभी तो अपनी 'गति' आदिसे आप्तकाम, पूर्णकामको भी खूब मतवाला बना दिया।

अथवा अपने चित्तपर आक्षेप करती हैं—'अरे चित्त! तू शरीरमें बैठा क्या करता है? जा, प्राणधनका अन्वेषण कर' इस तरह ('**आक्षिप्तं चित्तं याभिस्ताः**') चित्तको जिन्होंने बाहर निकाल दिया, वे गोपांगनाएँ श्रीश्यामसुन्दरको ढूँढ़ती हुईं उनकी लीलाका अनुकरण करती हैं। उसमें ऐसी विभोर, तल्लीन हो गयी हैं कि श्रीश्यामके गति, स्मित, प्रेक्षण, भाषण आदि सबका अनुकरण करती हैं। यद्यपि अनुकर्ता नट आदिको अनुकरणीय और अनुकर्तामें भेद बना रहता है, पर इनको तो यह भेद ज्ञात ही नहीं रह गया। इनके मन, बुद्धि आदि सभी सर्वथा श्यामसुन्दरके ही सदृश हो गये।

प्रेमोद्रेकमें व्यवधान सह्य नहीं होता

उस समय धर्मी (श्रीकृष्ण) और धर्म (जैसे अग्निकी उष्णता आदि, वैसे श्रीकृष्णके धर्म) दोनोंका आविर्भाव हुआ। फिर विहारविभ्रमका उदय हुआ। ('**विहारः—विगतो हारो यस्माद् एतादृशो विभ्रमः**') अर्थात् जिस विभ्रम या विलासमें हाररहित होना पड़ता है, उस विहारविभ्रमका उदय हुआ। जिस समय व्रजांगनाएँ अपने प्रियतमसे मिलने लगती हैं, उस समय वे देश, काल और वस्तुका व्यवधान भी नहीं रहने देना चाहतीं। प्रेमोद्रेकमें व्यवधान सह्य नहीं होता। हार, कंचुकी आदि निकाल देती हैं। आनन्दोद्रेकमें रोमांचतक—जो प्रियतमालिंगनसमुत्थ है—बाधक होता

है, फिर हारकी तो बात ही क्या? अत: '**विहार**' ('**विगतो हार:**') कहा। ऐसे विलासका वे अनुभव करने लगीं। द्वारकाकी श्रीकृष्णकी पटरानियोंका भी एक ऐसा ही प्रसंग है। एक बार श्रीकृष्ण इन्द्रप्रस्थके प्रवाससे आये तो उनकी महिषियाँ उनसे मिलनेके लिये—'**"उत्तस्थुरारात् सहसासनाशयात्**' (श्रीमद्भा० १।११।३१) आसनसे उठीं और आशयसे भी उठीं। देशव्यवधानको दूर करनेके लिये आसनसे उठीं। पर उन्हें इतनेसे सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने सोचा—क्या हम उन प्राणेश्वरसे पाँच-पाँच कोषके कंचुकको पहने हुए मिलें, जहाँ एक कंचुकमात्र भी बाधक होता है, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोषके कंचुकोंको पहनकर मिलनेमें स्वाद ही कुछ नहीं। इन प्राणधनसे तो निरावरण होकर सम्मिलनमें आनन्द है। अत: आशयसे उठकर मिलीं अर्थात् आशयोपलक्षित पंचकोषके आवरणको हटाकर श्रीकृष्ण परमात्मासे मिलीं। परंतु श्रीव्रजदेवियोंके यहाँ इन कोषोंकी चर्चा नहीं, वे तो नवघनश्याम मुरलीमनोहर मनमोहनकी निरन्तर चिन्तासे तदात्मिका—रसात्मिका हो रही हैं और श्रीवृषभानुनन्दिनी उस रसकी मधुरिमास्थानीया हैं। इस प्रसंगपर श्रीनन्ददासजीने कहा है—'***तरंगन वारि ज्यों।***' श्रीउद्धव भगवान् कृष्णके सन्देशको गोकुलमें व्रजबालाओंके निकट पहुँचाकर जब वापस आये, तब श्यामके विप्रयोगमें व्याकुल उन गोपदेवियोंका उन्होंने श्रीकृष्णके सामने दयनीय चित्र खींचा और कहा—वे आपके बिना मरी जा रही हैं और आप यहाँ मौज ले रहे हो। उत्तरमें श्रीभगवान्ने सहास स्वरमें कहा—उद्धव! व्रजमें इतने दिन रहकर उन व्रजांगनाओंसे क्या सीख आये हो? और तब उन्होंने दिखाया 'तरंग ज्यों।' श्रीगोपांगनाओंके रोम-रोममें, प्राण-प्राणमें श्यामसुन्दर विराजमान हैं। श्रीउद्धव यह देखकर और चकित रह गये। ऐसी स्थितिमें गोपियों और श्रीकृष्णमें छिपाव ही क्या है? लोग व्यर्थ शंका करते हैं—श्रीकृष्णने गोपांगनाओंको नग्न कराया, हाथ बँधाकर बुलाया, चीरहरण-लीला की। पर क्या वे नग्न होकर जलमें नहीं नहायी थीं? क्या वे कृष्ण परमात्मा जलसे भी बहिरंग हैं? वस्तु-स्थिति तो यह है कि—

सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थित:।
तस्यापि भगवान् कृष्ण: किमतद् वस्तु रूप्यताम्॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।५७)

सभी वस्तुओंका भावार्थ परिणामीमें स्थित होता है अर्थात् सभी वस्तुएँ अपने कारणरूपमें स्थित होती हैं। उस कारणके भी कारण भगवान् कृष्ण हैं। उनसे भिन्न और है ही क्या वस्तु, जिसका निरूपण किया जाय? अन्तमें सत्तत्त्व श्रीकृष्ण ही ठहरते हैं। इतना भीतरी श्रीकृष्णतत्त्व है। उसके समक्ष क्या कोई वस्त्रपरिधान करेगा, हाँ तो प्रकृतमें—जलमें तरंगकी तरह गोपांगना हैं। वे एक तरहसे जल ही हैं, परंतु जलगत मधुरिमाकी अपेक्षा तरंग बहिरंग हैं। मधुरिमा अन्तरंग है, वह श्रीराधा हैं।

अस्तु, इस प्रकार 'कृष्णविहार-विभ्रमा' व्रजांगनाएँ आपसमें एक-दूसरीसे कहती हैं—हे अबलाओ, तुम कहाँ श्यामसुन्दरको ढूँढ़ती-फिरती हो, वह अशेष विहार नागर कृष्ण तो हम ही हैं, लो हमें ग्रहण करो। इस प्रकार वे मनमोहनस्वरूप ही हो रही हैं। बाहर, भीतर, मध्यमें उनके श्याम-ही-श्याम भरपूर हैं। वही आत्मा, मन, बुद्धि, प्राण सब कुछ हो गये हैं। यों वे '**तदात्मिका:**' ('**स एव आत्मा प्राणादिर्यासान्ता:**') हो गयी हैं।

प्रकृत श्लोकके '**प्रिया: प्रियस्य प्रतिरूढमूर्तय:।**' अंशपर पहले कुछ कहा गया है। अब एक भाव और कहा जाता है—'**प्रिया: प्रियस्य प्रतिरूढमूर्तय:।**' विष्णुदैवतरसमें '**क्वचित् स्त्रिय: पुरुषायिता भवन्ति**' से विपरीत रतिका एक पक्ष है अर्थात् शृंगारोद्रेकमें नायक नायिका बन जाता है और नायिका नायक बन जाती है। यहाँ 'गति, स्मित…' आदि लीला में '**स्वयं स्त्रिय: सत्य: प्रतिरूढमूर्तय:**' हुए। श्रीव्रजांगना श्यामसुन्दर बन गयीं और व्रजचन्द्र श्रीकृष्णचन्द्र व्रजांगना बन गये। श्रीराधा श्याम हो गयीं और श्रीश्याम राधा हो गये। प्राकृत-लौकिक शृंगारमें वस्तुत: नायिका नायक नहीं होती और नायक नायिका नहीं होता। पर यहाँ तो प्रभु साक्षात् काम और सत्यसंकल्प हैं। एक-दूसरेका चिन्तन करते-

ही-करते श्रीरसिक विहारिणी बन जाते और वह रसिक बन जाती हैं। ये दोनों प्रेमामृतसिन्धुकी दो मूर्ति बनकर प्रकट होते हैं और उसीमें ये दोनों प्रिया-प्रियतम गोता लगाते रहते हैं। उसमें न जाने कौन कब बदल जाता है, कुछ पता नहीं रहता; क्योंकि उस प्रेमसुधासिन्धुके उन्मज्जन-निमज्जनमें यह उलट-फेर दिनमें करोड़ों बार होता है।

भक्तकी दृढ़ भावनासे भगवान् भक्तके अधीन हो जाते हैं

इस प्रसंगमें यह भी ज्ञातव्य है कि पहले श्रीभगवान्—भजनीयतत्त्व स्वतन्त्र और साधक परतन्त्र रहता है। भक्त भगवान्‌को हर तरह रिझानेका प्रयत्न करता है; स्तुति आदि करता फिरता है। वस्तुतः स्वातन्त्र्य ही पुंस्त्व और पारतन्त्र्य ही स्त्रीत्व है—(**'स्वातन्त्र्यमेव पुंस्त्वम्, पारतन्त्र्यमेव स्त्रीत्वम्'**)। इन दृष्टियोंसे यही निश्चय होता है कि जीव परवश—पराधीन और ईश स्ववश—स्वाधीन है। श्रीगोस्वामीजीने भी कहा है—***'परबस जीव स्वबस भगवंता।'*** (रा०च०मा० ७।७८।७) तरंग जलके परतन्त्र रहती हैं, जीव प्रभुके परतन्त्र रहता है। इस आशयसे ईशप्राप्तिके निमित्त सखीभावकी साधना होती है। पारतन्त्र्यसे ही पूर्णता-स्वाधीनता प्राप्त होती है। भक्तकी दृढ़ साधनासे फिर धीरे-धीरे श्रीभगवान् परतन्त्र—भक्तके अधीन होने लगते हैं और भक्त स्वतन्त्र, दुरूह वेदान्त और कोमल भक्तिरसमें समान भावसे वर्तमान। श्रीस्वामी मधुसूदन सरस्वतीने श्रीकृष्ण-तत्त्वके साक्षात्कारके लिये यहीं श्रीवृन्दावनमें चार बार श्रीगोपालसहस्रनामका पुरश्चरण किया, पर कुछ भी सिद्धि-सूत्र न मिलनेपर अन्तमें इन्होंने काशीमें श्रीकालभैरवका अनुष्ठान किया। उससे उन्हें पूर्वसंचित अपने पापोंका—प्रभुदर्शन-प्रतिबन्धका ज्ञान हुआ, हताशा भाव मिटा और श्रीकालभैरवके प्रोत्साहनसे फिर श्रीवृन्दावनमें आकर पाँचवीं बार श्रीगोपाल-सहस्रनामका पुरश्चरण उन्होंने आरम्भ किया। उसमें पूर्वपरिश्रमकी सब कसर निकल गयी। **'क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते।'** रूप, लावण्य, माधुर्य और सुन्दरताकी सीमा श्रीमुरलीमनोहर मनमोहन उनके समक्ष प्रकट हो गये। अब श्रीस्वामीजीको मानकी सूझी, श्रीश्यामसुन्दर उनके सामने जाते हैं और वे मुँह फिराते हैं। अब भक्त स्वतन्त्र, भगवान् परतन्त्र हैं। ऐसे ही अवसरके लिये श्रीभगवान्‌ने श्रीमुखसे कहा है—**'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।'** मैं भक्तोंके अधीन हूँ (श्रीमद्भा० ९।४।६३)।

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

(श्रीमद्भा० ९।४।६८)

साधुओंका—भक्तोंका हृदय मेरा विहार-स्थल है और मेरा हृदय साधुओंका निवासस्थान। मेरे सिवा वे और कुछ नहीं जानते। **'वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥'** (श्रीमद्भा० ९।४।६६)। जैसे साध्वीसती पतिव्रता स्त्री अपने सत्पतिको वशमें कर रखती है, वैसे ही स्वाधीनभर्तृकाकी तरह मुझे सद्भक्त वशमें कर लेता है। तभी तो उस पूर्णतमको हाथमें माखन रख-रखकर, ताली दे-देकर गोपियोंने नचाया। मानो वे उनकी काठकी पूतरी थे—**'तद्वशो दारुयन्त्रवत्'** (श्रीमद्भा० १०।११।७) इसके अनुसार श्रीकृष्णमें गोपांगनात्व हुआ। यों **'प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्तयः'** से विपरीत रतिभाव बना। श्रीकृष्ण गोपांगना हो गये और गोपांगनाएँ श्रीकृष्ण हो गयीं। इस प्रकार गोपांगनाएँ श्रीकृष्ण बनकर कहती हैं—**'असावहं त्विति'** (श्रीमद्भा० १०।३०।३) यह केवल भावना ही नहीं, वस्तुस्थिति ही ऐसी है। पहले तो प्रेमोद्रेकवश श्रीनन्दनन्दन उन व्रजांगनाओंके रोम-रोममें थे ही, दूसरे प्रतिरूढ़भावसे भी वे उनमें स्थित हुए एवं तीसरे मन, बुद्धि, चित्त, अहंकारमें विभ्रमादिसे भी वे प्रविष्ट हुए। इसके अतिरिक्त **'कृष्ण-विहारविभ्रमाः'** (श्रीमद्भा० १०।३०।३)-का यह भी समास होता है—**'कृष्णविहारस्य विभ्रमो यासु।'** कृष्णविहारका विभ्रम जिनमें हुआ। वे गोपियाँ **'मैं ही कृष्ण हूँ'**, ऐसा परस्पर कहने लगीं। अर्थात् इन गोपांगनाओंके विहारमें कृष्णलीलाका विभ्रम हो गया। अतएव यह लौकिक लीला थी। वस्तुतः

गोपांगनाओंके मनमें यह भाव ही नहीं था कि हम अनुकरण कर रही हैं, वे निष्कपट, निश्छल थीं। वे सच्चे ही प्रेम-समुद्रमें गोता लगाती रहती थीं। इस समुद्रकी तरंगें संयोगमें शान्त रहती हैं, पर वियोगमें खूब उठती हैं। कभी इसमें उन्माद, विभोरताका ज्वारभाटा आता है।

गोपियोंकी प्रेमसमाधि भग्न होनेपर वे श्यामसुन्दरको पुकारने लगीं

जब कभी उनकी यह प्रेम-समाधि भग्न होती, तल्लीनतामें कुछ कमी आती, वियोगका ज्ञान होता, तब वे पुकार उठतीं, 'हा! प्राणधन, श्यामसुन्दर, नटनागर, कहाँ हो' और ढूँढ़ने लगतीं—

गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता
विचिक्युरुन्मत्तकवद् वनाद् वनम्।
पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहि-
र्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन्॥*

(श्रीमद्भा० १०।३०।४)

श्रीगोपांगनाएँ अबतक बाह्यानुसन्धानसे शून्य थीं, उन्हें होश ही नहीं कि हमारा श्रीप्राणप्यारेसे इस समय असम्प्रयोग हो रहा है। बाह्यानुसन्धान होते ही 'हा श्याम! हा प्राण कहाँ हो!' इस चिन्तासन्तान-सन्तापसे सातिशय सन्तप्त हो उठती हैं और श्रीश्यामसुन्दर नन्ददुलारेको फिर प्राप्त करनेका प्रयत्न करती हैं—सखि, चलो ढूँढ़ें। कैसे ढूँढ़ें ? तो संहत-सम्मिलित होकर ढूँढ़ें। यहाँ व्रजदेवियोंके इस चरित्रसे उपदेश मिलता है कि कोई भी काम सम्मिलित होकर ही करना चाहिये, आपसकी फूटसे काम बिगड़ जाता है। इनकी तो यह नित्यलीला है। यह तो विप्रयोगका नटन हम लोगोंके लिये है। वैसे इनमें कभी ईर्ष्या भी होती थी। इनके पृथक्-पृथक् यूथ थे। इनकी ईर्ष्या स्पृहणीय है, वह भक्तिरसामृतसिन्धुकी लहरें हैं। पारा बहुत स्वच्छ-उज्ज्वल होता है। गन्धक उसके रूपमें हो जाता है, उसमें समा जाता है। चित्त जब स्वच्छ होता है, इष्ट—प्रेय तत्त्व उसमें प्रतिफलित होता है। उस समय चित्त आनन्दस्वरूप—रसस्वरूप होता है। अमृतकी सब तरंगें अमृत, रसकी सब तरंगें रस ही होती हैं। ईर्ष्यादि सब चित्तकी ही वृत्तियाँ अथवा विकार हैं। इस प्रकार श्यामप्रेमप्रमत्त बड़भागियोंकी ईर्ष्या भी प्रेम ही है। अस्तु, अब तो ढूँढ़ना है, अतः रागद्वेषहीन होकर ढूँढ़नेमें ही सुविधा रहेगी। यही उपदेश भी मिलता है। कुंज आदिकी बातोंका अर्थात् यह अमुक कुंजकी, अमुक भावकी है आदि बातोंका विचार कभी स्वस्थतामें होगा। इस समय दृष्टिकी अपेक्षा नहीं। अब तो ईर्ष्या-द्वेष सब दूर हो गया। केवल श्रीश्यामसुन्दरके अन्वेषणकी चिन्ता है। अब तो वे परस्पर कहती हैं—सखि! यह प्रेममूर्च्छित होगी तो अपने गुलाबजल छिड़ककर इसको होशमें लायेंगी। अतः '**संहताः**' कहा। '**गायन्त्य उच्चैः**' गाती हुई ढूँढ़ने चल रही हैं—यदि मनमोहन दूर भी होंगे तो सुन लेंगे। फिर हम तो उनके गुण गाती चलती हैं—जिन्हें सुनकर रह न सकेंगे, जहाँ भी होंगे, अवश्य और शीघ्र ही आकर दर्शन देंगे। इस बहाने हम अपनी आर्ति-पीड़ा भी सुना देंगी। वे हमारी पीड़ा सुनकर भी प्रसन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त उन्हें गान लगता भी बहुत अच्छा है। हम कहतीं—ललन! जरा पादसंवाहन करो, वेणी गूँथ दो, तब वे 'मुझे गान सुनाओ, गूँथ दूँगा' आदि कोरी गप्प मारने लगते, काम न करते। अतः हमारे उच्च स्वरसे गाये गये गीतोंको सुनकर अवश्य ही प्राणधन घनश्याम पधारेंगे। भगवान्ने स्वयं ही कहा—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

(आदिपुराण १९।३५)

अथवा गोपियाँ प्रेमार्तिमें विह्वलतासे बेहाल हैं। उन्मादसे गान निकल रहा है। व्रजांगनाओंको किसीने

* वे सब परस्पर मिलकर ऊँचे स्वरसे उन्हींके गुणोंका गान करने लगीं और मतवाली होकर एक वनसे दूसरे वनमें, एक झाड़ीसे दूसरी झाड़ीमें जा-जाकर श्रीकृष्णको ढूँढ़ने लगीं। परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण कहीं दूर थोड़े ही गये थे। वे तो समस्त जड-चेतन पदार्थोंमें तथा उनके बाहर भी आकाशके समान एकरस स्थित ही हैं। वे वहीं थे, उन्हींमें थे, परंतु उन्हें न देखकर गोपियाँ वनस्पतियोंसे—पेड़-पौधोंसे उनका पता पूछने लगीं।

समझाया—तुम क्यों उन्हींको गाती हो, जो त्यागकर चले गये। इसपर वे कहती हैं—'हाँ, हम तो उन्हींको गायेंगी, उन्हींको रिझायेंगी।' वे यह निश्चय लेकर बैठी हैं—'चाहे वे शतकोटि-अनन्तकोटि कष्ट दें, पर हम तो उन्हें ही, बाँकेबिहारीको ही गायेंगी। इनका यह 'अटल' नियम है। कितनी भी विपत्ति आनेपर, ये अन्यको न गायेंगी। वे त्रिभंग होनेपर भी ललित श्याम, चाहे कितने भी विपरीत आचरण करें, पर इनका प्रेम-प्राखर्य बढ़ता ही जायेगा। गायन उनका स्वभाव हो गया, अतः गाती ही हैं।

गोपाङ्गनाओंका प्रेमविह्वल हो वृक्षों-वनस्पतियोंसे श्यामसुन्दरके विषयमें पूछना तथा उत्तर न मिलनेपर दोषानुसन्धान करना

'विचिक्युरुन्मत्तकवद् वनाद् वनम्' उन्मत्तककी तरह, जहाँ-जहाँ सम्भावना है, ढूँढ़ती हैं। एकसे एकको, निरालस होकर, दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें वनोंको ढूँढ़ डालती हैं। विश्राम ही नहीं लेतीं। जबतक प्यारे मनमोहन न मिल जायें, चैन ही नहीं। इससे भी उपदेश है—'ढूँढ़ते ही रहो।' जबतक अभिलषित कार्य सिद्ध न हो ले, विश्राम ही कैसा? फिर वे पूछती हैं—वनस्पतियोंसे। उन्हें दृढ़ आशा है कि इनसे प्राणप्यारेका पता मिलेगा ही। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि—प्रेमी वृक्षोंतकसे पूछ सकता है; चेतनकी तो कथा ही क्या? अमुकसे पूछो, अमुकसे नहीं—यह तो उनके यहाँ विचार ही नहीं—अतएव साधारण्येन बहुवचन है—**'वनस्पतीन्'**। श्रीमद्वल्लभाचार्यजीका इसपर एक भाव है—वृन्दावनके वनस्पति वैष्णव हैं, **'मूढा अपि वैष्णवाः प्रष्टव्याः'**। अनुरागी चाहे विद्वान् न हों, पर वे प्रष्टव्य हैं। अतः वृक्षोंसे पूछती हैं अथवा व्रजांगनाओंको प्रेमोन्मादसे दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई, उन्हें वृक्षोंका वास्तविक स्वरूप ज्ञात हुआ। व्रजके वन, लता, तरु आदि अपने एक-एक कणसे श्रीश्यामसुन्दरके स्वरूपको प्रकट करते हैं*—अतएव भावुक व्रजधूलिको भालपर धरते हैं। एक भावुकका कहना है—

सन्त्ववतारा बहवः पुष्करनाभस्य सर्वतोभद्राः।
कृष्णादन्यः को वा लतास्वपि प्रेमदो भवति॥

अर्थात् भगवान् विष्णुके बहुत अवतार हुए और उत्तम-उत्तम हुए हों, परंतु श्रीकृष्णावतारके अतिरिक्त और कौन अवतार हुआ, जिसने लताओंमें भी, जड़ोंमें भी प्रेमका गाढ संचार किया हो?

'यत्पादपांसुर्बहुजन्मकृच्छ्रतो
धृतात्मभिर्योगिभिरप्यलभ्यः।'

(श्रीमद्भा० १०।१२।१२)

जिन श्रीभगवान्‌की पादधूलि बहुत जन्मोंमें भी योगीन्द्र-मुनीन्द्रोंतकको भी दुर्लभ है, उन प्रभुने अपने संचारसे व्रज-वृन्दावन-लता-तरुको अनन्त महत्त्व दिया है। श्रीवृन्दावनके वृक्षोंके प्रकाशकी एक किरण भी बिना प्रभुपादारविन्दकी अनुकम्पाके जन्म-जन्मान्तर, युगयुगान्तर और कल्पकल्पान्तरमें भी द्रष्टुमशक्य है। 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' में कहा है—श्रीवृन्दावनधामके एक-एक वृक्ष, इन्द्रनील, पद्मराग और हरितमणि आदिके सदृश चमत्कृत, देदीप्यमान हैं, इनकी शाखा, उपशाखा, पत्र, पुष्प, फल भी वैसे ही सचिक्कण, प्रकाशमान हैं। उनपर शुक, पिक, कपोत, तित्तिर, मयूर आदि अनेक विहंगम विराजमान हैं। उनके एक-एक पल्लवका प्रकाश सहस्रों सूर्योंको लज्जित करता है। किंतु इनका दर्शन अनन्तदुर्भावनातिमिराच्छन्न इन चर्मचक्षुओंसे नहीं हो सकता। यह तो श्रीमद्भगवत्कृपैकलभ्य दिव्यदृष्टिपर ही निर्भर है। श्रीव्रजांगनाओंको यह सौभाग्य प्राप्त था। वे उन तरुओंके वास्तविक स्वरूपको देख रही थीं। अतः उनसे अपने प्रियतम-प्राणधन-आनन्दकन्द-कृष्णचन्द्र परमानन्दको पूछती हैं।

---

* 'वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः। प्रणतभारविटपा मधुधाराः प्रेमहृष्टतनवः ससृजुः स्म॥' (श्रीधरीसम्मतो 'ववृषु' रितिपाठः) (श्रीमद्भा० १०।३५।९) [युगलगोपीगीत]।

भगवान् श्रीगोपाल जब वनमें गौ चराने जाते, तब कौतुकवश वेणु बजाकर चरती हुई गौओंको बुलाते। उस समय उनके वेणुरवको सुनकर वनके लता, तरु (स्त्री-पुरुष दोनों ही) भारसे झुकी शाखाओंसे प्रणत होते, पुष्प और फलकी बहुतायतसे प्रसन्नता सूचित करते, प्रेमसे रोमांचित होते। इन लक्षणोंसे अपनेमें मानो वे श्रीविष्णुको ही सूचित करते हुए मधुधारा बरसाने लगते। ये विष्णु साक्षात्कृतिके लक्षण हैं।

एक भाव और—प्रसिद्ध कवि श्रीकालिदासके खण्डकाव्य 'मेघदूत' में यक्षने मेघको दूत बनाकर अपनी प्रियाके पास भेजा है। जहाँ प्राकृत स्थलमें ऐसी स्थिति है कि चेतन-अचेतनका भेद मिट जाता है, तब इनकी तो बात ही निराली है। वे तो श्यामसुन्दरके लोकोत्तर अनुरागसागरमें सदा इतनी मग्न रहती हैं कि किसी भी तरहकी सुधबुध ही नहीं रहती। ऐसी स्थितिमें चेतन-अचेतनको भूलकर वे भी वृक्षोंसे प्रश्न करें तो कोई असंगति नहीं। व्रजांगना वृक्षोंसे पूछते समय पहले उनका गुणगान करती हैं, प्रार्थना करती हैं; फिर उनसे अपने प्रियतमका पता न पाकर उनमें दोष बताती हुई आगे चल देती हैं। वे सबसे पूछती जाती हैं—न जाने किससे पता लग जाये। अपनी कार्यसिद्धिके लिये मनुष्य सब कुछ करता है। पुत्रके लिये लोग नौ मन काँकर चालते हैं। कितने ही देवी-देवताओंको ध्याते-पूजते हैं। गरज सब कुछ करा देती है। गरजपर बड़े-बड़े नास्तिक साधुओंकी खुशामद करते हैं, उनसे सट्टा पूछते हैं। तब प्रियतम प्राणधनकी प्राप्तिके लिये क्या-क्या न किया जाये, किस-किससे न पूछा जाये? अत: व्रजांगना सबसे पूछती फिरती हैं, गाती फिरती हैं। यही उपदेश है—रागद्वेष छोड़कर तल्लीन होकर अभिलषित वस्तुका पता लो, अवश्य सफलता मिलेगी।

'गायन्त्युच्चैः' यों श्रीगोपांगनागण उच्च स्वरसे भगवान्‌को गाती हुई उनके अन्वेषणमें संलग्न हैं। इसमें गोपियोंका एक भाव यह भी है कि—'जैसे श्रीमुरलीमनोहरके श्रीविमुखसे विनि:सृत वेणुगीत-निनादको सुनते ही हम उनके सन्निधानमें अविलम्ब आ पहुँचीं, वैसे ही वे भी शीघ्र हमलोगोंके पास पधारें। अत: उच्चै: उनके गुणोंको गाती हुई ढूँढ़ती हैं। अपने गुणोंको—प्रशंसाको सुनकर शीघ्र आयेंगे, यह भी व्रजदेवियोंका तात्पर्य है। उपदेश तो है ही कि श्रीभगवान्‌की प्राप्तिका असाधारण कारण उनका गुणगान ही है, इन गोपदेवियोंके लिये उन्मत्तकवत् कहा गया है। उन्मत्तकमें 'कनु' प्रत्यय अधिकतामें है। इससे यह बतलाया गया कि—व्रजांगना मतवालोंकी तरह देह-गेहके नेह और सम्बन्धसे तथा वस्त्रानुसन्धान आदिसे शून्य हैं। उन्हें कुछ पता नहीं कि वे कहाँ क्या कर रही हैं अर्थात् अधिकाधिक उन्मादिनी गोपी उच्चस्वरसे प्राणधन घनश्यामको गाती हैं। यद्यपि इस समय श्रीभगवान् इन्हें त्यागकर दु:सह विप्रयोग दु:ख दे रहे हैं। श्रीव्रजदेवियोंके श्यामविरहजन्य तीव्रातितीव्र सन्तापको देखकर लोक निरालोक हो गये, दिशा-विदिशा सन्तप्त हो उठीं, पाषाण भी द्रुत हो चले, पर वे व्रजचन्द्र तनिक नहीं पिघले, बड़े निष्ठुर—महाकठोर बने हुए हैं। फिर भी व्रजांगना अपने कार्यसे विरत नहीं हैं—वे उच्च स्वरसे उन्हें ही गा रही हैं। वे चाहे रीझें, चाहे खीझें, वे तो उन्हें ही—एकमात्र उन्हें ही गायेंगी। वे तो निश्चय लेकर बैठी हैं—'**असुन्दरः सुन्दरशेखरो वा**.......' वे चाहे करुणारसार्णव हों चाहे द्वेषमहावाडवानल, ये तो भजेंगी उन्हें ही। गायेंगी उन्हें ही। अब क्या दूसरोंको गायेंगी?

'**उच्चैरमुमेव संहताः**', '**एव**' पद आया है। इसका भी विलक्षण स्वारस्य है। एक गोपी कहती है—'**सखि, जीवितं पणीकृतं मया**....' मैंने तो अब जीवनकी बाजी लगा दी है। वाह! कोई धनकी बाजी लगाता है, कोई जनकी बाजी लगाता है, कोई 'सट्टे' में सर्वस्व स्वाहा कर देता है, पर यह सब अपने जीवनकी रक्षाके लिये करते हैं। किंतु यहाँ तो जीवनकी भी कोई परवाह नहीं। ये जीवनका 'जुआ' खेलती हैं। अब इन्हें माता, पिता, पति, गुरुजन किसीका क्या डर! इससे अधिक कष्ट ही क्या होगा? इन्होंने तो दृढ़ निर्णय कर लिया—'**माधवो यदि विहन्ति हन्यताम्, बान्धवो यदि जहाति त्यज्यताम्। साधवो यदि हसन्ति हस्यताम्, माधवः स्वयमुरीकृतो मया।**'

यदि वे श्रीश्यामसुन्दर प्राणधन वियोगदु:ख देखकर तरसा-तरसाकर हमारा वध करते हैं तो बड़े शौकसे करें, हम इसके लिये तैयार हैं। यदि बान्धव-कुटुम्बी हमें छोड़ते हैं तो वे भी छोड़ दें और हमारी इस हालतपर साधुजन हँसते हैं तो भले ही हँसें, खूब हँसें, पर हमने तो उन माधव मुरली-मनोहरको सर्वस्व

समर्पणद्वारा स्वयं स्वीकृत कर लिया, स्वयं वर लिया। यह है व्रजांगनाओंका अडिग-अडोल निश्चय। इस स्थितिमें सब तो आनन्द ले रहे हैं, पर वे व्रजबालाएँ दु:सह विरह वेदनाको सहती प्राणप्यारेको ढूँढ़ रही हैं। यद्यपि वे यशोदानन्दन आनन्दकन्द और दु:खनिकन्दन हैं, पर इन्हें विरहवाडवाग्नियोंमें जलाते हैं, झुलसाते हैं तथापि ये तो उन्हें ही (एव) गाती हैं और उच्चस्वर से गाती हैं। इसका नाम है दृढ़ प्रेम।

इसके अतिरिक्त '**संहता:**' इकट्ठी होकर ढूँढ़ रही हैं। श्रीमनमोहनमें रसात्मिकता है, तब भी वे नीरसोंका-सा व्यवहार कर रहे हैं, नहीं मिल रहें हैं। परंतु व्रजांगना बड़े सौहार्दसे एक वनसे दूसरे वनको, एक कुंजसे दूसरे कुंजको अन्वेषण कर रही हैं। वे इस कार्यमें बहुत व्यस्त हैं। उनके केशपाश खुल गये हैं, बाल बिखर गये हैं, वस्त्र असंयत हो गये हैं। उनकी इस दशासे प्रतीत होता है, वे निरालस होकर अन्वेषण कर रही हैं और मानो विश्रामका तो नाम ही नहीं जानतीं। ये सब भाव भी 'उन्मत्तक' पदद्योत्य हैं। इस तरह व्रजदेवियाँ अपने प्राणधन श्यामसुन्दरको खोज रही हैं। कैसे हैं और कौन हैं, वे उनके प्राणजीवन, जिनका वे गवेषण कर रही हैं? तब कहा—'**आकाशावदनन्तरं बहिर्भूतेषु सन्तं पुरुषम्**' उनके अन्वेषणका विषय वह पुरुषोत्तम है, जो प्राणीमात्रमें, वस्तुमात्रमें आकाशकी तरह बाहर-भीतर सर्वत्र विराजमान है। वह तो आकाशसे भी अन्तरतम तत्त्व है। अहन्तत्त्व, अव्यक्ततत्त्व, महतत्त्वसे भी परेकी वस्तु है। जब उसीकी सत्तासे सत्तावान् आकाश भी सर्वत्र भरपूर है, तब क्या वह सर्वत्र भरपूर नहीं? अतएव कहा भी—

सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थित:।
तस्यापि भगवान् कृष्ण: किमतद् वस्तु रूप्यताम्॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।५७)

कारणमेव कार्याकारेण परिणमते॥

कारण ही कार्यके आकारमें परिणत होता है, मिट्टी ही घट बन जाती है और कार्यका पर्यवसान कारणमें होता है, घट फूटकर मिट्टी हो जाता है। श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हम किसका निर्णय करें, वह तो एक ही तत्त्व सर्वत्र भरपूर है। श्रीमद्वल्लभाचार्यजीने कहा—श्रीशुकाचार्यजी परमसर्वज्ञ थे, वे '**आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि**' तत्त्वको सर्वत्र प्रत्यक्ष अनुभूत करते थे। तभी कहा—'**...भूतेषु सन्तम्...।**' अस्तु। तात्पर्य यही कि कार्योंमें कारण सर्वत्र व्यापक रहता है। इस दृष्टिसे जब श्रीकृष्णतत्त्व व्यापक तत्त्व ठहरता है, तब वह मधुरमूर्ति देह-गेह सर्वत्र विराजमान है, अणु-अणु और परमाणु-परमाणुमें है। केवल कुछ आवरण है, जिससे वह सबको नहीं दिखायी देता। जैसा कि—'**मायाजवनिकाछन्न...**' और '**नाहं प्रकाश: सर्वस्य योगमायासमावृत:।**' (गीता ७।२५) आदिसे यत्र-तत्र बतलाया गया है। राजा परीक्षित्के नामकरण बीजनिर्देश-प्रसंगमें कहा है—'**...गर्भे दृष्टमनुध्यायन्...**' (श्रीमद्भा० १।१२।३०) अर्थात् गर्भमें देखे श्रीभगवान्को वही बाहर आनेपर ढूँढ़ने-सा लगा। तब क्या बहिर्देशसे उत्तराके गर्भमें परीक्षित्की रक्षाके निमित्त भगवान् गये थे? नहीं, वे पहलेहीसे वहाँ थे, वहीं रहते हैं, परंतु मायाके आवरणवश नहीं दीखते, उसके हटनेपर दीख पड़ने लगते हैं। मायाका अपसरण दो प्रकारसे होता है, एक भक्तके श्रमसे, दूसरा भगवत्कृपासे। दूसरे, इन मानवपुरियोंमें शयन करनेवाला ही पुरुष है, '**पुंसु शेते इति पुरुष:**' अर्थात् समष्टि-व्यष्टिशयी ही तत्त्व पुरुष है। यों उस प्राकृत पुरुषेतर पुरुषोत्तमको व्रजांगना वृक्षोंसे पूछती हैं। कह सकते हैं, इन दृष्टियोंसे तो गोपांगनाओंके समीप भी वह तत्त्व विराजमान है ही और इनको भी उस व्यापक श्यामतत्त्वकी स्फूर्ति होती ही है, तब ये ढूँढ़ किसे रही हैं? यह ठीक है। उक्त रूपसे गोपांगनाओंको उस तत्त्वकी स्फूर्ति है ही, परंतु वह प्रत्यक्षमें नहीं प्राप्त है। प्रत्यक्षमें जैसा भाव होता है, वह इन्हें नहीं प्राप्त है—अत: उसका अन्वेषण कर रही हैं। वैसे व्रजांगनाओंके नेत्रोंमें श्यामल महोमय दीप्ति प्रतिष्ठित है, इन्हें सब ओर श्यामरूप ही दीख पड़ रहा है। परंतु वे इतनेहीसे सन्तुष्ट नहीं, इन्हें तो शब्दस्पर्शादि भी वैसे ही चाहिये। श्रीश्यामसुन्दरके महोमय शरीरमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द—सब विषय लोकोत्तर हैं। व्रजांगना

चाहती हैं—जैसे हमारे नेत्रोंमें उन सर्वेश्वर प्राणाधिक प्रियका सर्वातिशायी रूप बसा है, वैसे ही उनके शब्दस्पर्शादि भी प्रत्यक्ष हों, नेत्रोंमें भी वही आभा हो, स्पर्श भी वही हो। पर अपने-आप जब ये प्रवृत्त होती हैं, तब इन्हें उन सबका अभाव प्रतीत होता है, वह अनुभव ही नहीं होता। तब आकाशवद् व्याप्त पुरुषोत्तमको वनस्पतियोंसे पूछती हैं, अचेतनोंसे पूछती हैं, यह उनकी विभोरता है।

यहाँ एक भाव यह भी है—दर्पीको ब्रह्म भी जड़ प्रतीत होता है, पर जो रसिकशिरोमणि हैं—जो इस सिद्धान्तके आदी हैं—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

—वे तो इन तरुओंको सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन समझते हैं और अपनेको जड़ समझते हैं। अतएव वे '**भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन् पप्रच्छुः**' व्यापक पुरुषोत्तमको वृक्षोंसे पूछती हैं। पूछो, पूछो। इस अन्वेषण-प्रसंगमें यों अन्तरंगदृष्टिसे तो महत्त्व है ही, पर बाह्यदृष्टिसे भी महत्त्व है—ब्रह्मलोक, वैकुण्ठलोक, भूमण्डलमें न ढूँढ़कर, व्रजमें—गाँवोंमें ढूँढ़ो। दर्पमें मत रहो—यह एक उपदेशसूक्त है—'**परमिममुपदेशमाद्रियध्वं निगमवनेषु नितान्तखेदखिन्नाः। विचिनुत भवनेषु वल्लवीनामुपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम्॥**' कोरे '**टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः**' (लघुसिद्धान्तकौमुदी ४।१।१५) के घोषणसे यदि थक गये हो तो इस उपदेशका सम्मान करो। निगमागमवेद्यको निगमाटवीमें ढूँढ़ते थक गये हो तो अब उन मुग्धा गोपियोंके घरमें, आँगनमें उसे ढूँढ़ो। वह उपनिषदर्थ श्रीबालमुकुन्द वहाँ ऊखलमें बँधा है। यदि अहंकारमें रह गये—'अजी, इन गँवार गोपोंसे क्या पूछेंगे और वह सर्वोपरि विराजमान तत्त्व इनके यहाँ गावोंमें कहाँसे आया, उसे तो महेन्द्रादि लोकमें प्राप्त कर सकेंगे'—तब तो बस गये, वह वहाँ भी न मिलेगा। अहंकारियोंकी दृष्टिसे ब्रह्म परे ही रहता है; क्योंकि उनकी दृष्टिमें अपने सामने ब्रह्मा भी कुछ नहीं। इधर रसिकोंके यहाँ दर्पका काम ही नहीं, यहाँ तृण भी महान् है। तात्पर्य यही कि जहाँ, जैसे भी उसके मिलनेकी सम्भावना हो, ढूँढ़ो। अतएव व्रजांगना वृक्षोंसे पूछती हैं—

दृष्टो वः कच्चिदश्वत्थ प्लक्ष न्यग्रोध नो मनः।
नन्दसूनुर्गतो हृत्वा प्रेमहासावलोकनैः॥*

(श्रीमद्भा० १०।३०।५)

अश्वत्थ, प्लक्ष, न्यग्रोध—तीनों सबसे बड़े ऊँचे वृक्ष हैं, दूरकी बात देख सकते हैं। दूरस्थ श्यामको ये जान लेंगे। अश्वत्थकी व्युत्पत्ति है—'**न श्वोऽपि स्थाता।**' अर्थात् कल भी—अगले क्षणमें नहीं रह सकनेवाला अनित्य यह विश्व है—ऐसा समझनेवाला ज्ञानी अश्वत्थ है। गोपांगना कहती हैं, ऐसी विश्वकी गतिको जानकर सदा परोपकारमें रत हे अश्वत्थ, हमें कृपाकर हमारे प्राणप्यारेको बताओ, क्या आपने कहीं उन्हें देखा है? **वः—युष्माभिः**। क्योंकि वे श्यामसुन्दर आपकी ममताके आस्पद हैं। साधारण वस्तुपर ध्यान नहीं दिया जाता, ध्यान रहता ही नहीं। पर जो अपना है, उसका पता रहता है, उसका भी आना-जाना बना रहता है। श्रीश्याम आपके परप्रेमके आस्पद हैं। आप विहारस्थलीके हैं, आप महाभाग्यवान् हैं, कृपाकर हमें उन श्यामका पता दीजिये। यह प्रशंसा हुई। ऐसे ही 'प्लक्ष' की स्तुति करती हैं—'**प्रकृष्टतया क्षीयते परोपकाराय यः स प्लक्षः, रलयोरभेदः**' अर्थात् जो सदा परोपकारके निमित्त ही क्षीण होता रहे, वह प्लक्ष है। 'प्लक्ष' को प्रक्ष मानकर यह अपेक्षितार्थक व्युत्पत्ति की गयी, ऐसे अवसरपर र-ल में भेद नहीं माना जाता। परोपकारके लिये अपनेको मिटा देनेमें सोत्साह हे प्लक्ष! तुम्हारा जीवन-मरण दोनों उपकारके लिये है—हमारा भी उपकार करो—जरा श्रीश्यामसुन्दरको बता दो। न्यग्रोध! याचकको जो दुत्कारना, वह हुई न्यक्कार, उसे रोकनेवाला—'**न्यक् रोधयतीति न्यग्रोधः।** हे न्यग्रोध! तुम बड़े उदार हो— कोई उन वंशीधरमें प्रेम माँगने आयेंगे तो उन्हें तुम न्यक्कार न करोगे। अतः हम तुमसे याचना करती हैं—श्रीश्यामसुन्दरका

* (गोपियोंने पहले बड़े-बड़े वृक्षोंसे जाकर पूछा—) हे पीपल, पाकर और बरगद! नन्दनन्दन श्यामसुन्दर अपनी प्रेमभरी मुसकान और चितवनसे हमारा मन चुराकर चले गये हैं। क्या तुमलोगोंने उन्हें देखा है?

पता दो, बड़ी कृपा होगी। वे 'नन्दसूनु' हमारा चित्त चुराकर ले गये हैं; हम उन्हें ढूँढ़ रही हैं, अत: हे अश्वत्थादि! तुमने कहीं देखा हो तो बता दो। गोपांगना इस समय श्रीकृष्णपर कुपित हैं, अत: बड़ोंके नामसे उनका नाम-निर्देश करती हैं—नन्दसूनु-नन्दरायके बेटा। हमारा कोई सम्बन्ध नहीं; क्योंकि हमारे यदि वे होते तो हमारे पास रहते। यदि कोई गोपांगनाओंसे पूछे कि यदि यह बात है, तब इतनी व्यग्रतासे तुम उन्हें ढूँढ़ क्यों रही हो? इसपर उनका उत्तर है—वे चोर हैं, हमारा मन चुरा ले गये हैं, चोरोंका पता बहुत जरूरी है। सखि, तुम्हारा मन तुम्हारे पास होगा, वे क्यों लेने आयेंगे और कैसे ले जायँगे तो—'**प्रेमहासावलोकनैः**' मन्दहास और कटाक्षपातोंसे हमारे हृदयमें प्रविष्ट होकर ले गये। कदाचित् वृक्ष कहें; देवियो! हम वृक्ष हैं—जड़ हैं, हम क्या जानें तुम्हारे चित्तचोरको। इसी प्रसंगमें '**कच्चित्**' का प्रयोग है। कच्चित् प्रश्नवाचक अव्यय है। इस अर्थमें यह पहले अभी-अभी चरितार्थ हो चुका। फिर अब वृक्षोंकी उक्तिमें इससे अचित् जड़ अर्थ प्रकाशित हुआ। व्रजांगना वृक्षोंको यही उत्तर देती हैं—तुम अज्ञोंको अचित् प्रतीत होते हो, परंतु हो चेतन, आपलोग अमलात्मा महामुनीन्द्र योगीन्द्र हैं, यहाँ श्रीश्यामसुन्दरका स्पर्श प्राप्त करनेके लिये तरु, लता रूपमें प्रकटे हैं। तरु, लता बननेकी बात तो श्रीउद्धवने भी कही—

'आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।'

(श्रीमद्भा० १०।४७।६१)

व्रजांगनाको जबतक अपने प्राणधनका पता मिलनेकी आशा रही, वृक्षोंकी खूब प्रशंसा की, पर जब देखा कि अब न बतायेंगे, आशा निराशामें बदल रही है; तब उन्हें उससे असूया होने लगी। गुणोंमें दोष दीख पड़ने लगे। एक कहती है—सखि, ये चेतन चाहे हों, पर ये कच्चित् हैं, इनका चेतन, कुत्सित चेतन है—'**कत्चित्—कुत्सितञ्च चेतनं येषाम्**…।' अच्छा, ये अब हमको ज्ञात हुआ, तुमलोग तीर्थवासी हो, बड़े कठोर हो, अत: बतलाते नहीं अथवा इस समय राजा कलिका साम्राज्य है। वह चोरपक्षपाती है। तुम भी वृक्षो! चोरशिखामणि माखनचोर श्यामसुन्दरके पक्षपाती हो। अतएव इनका नाम 'अश्वत्थ' है, स्थिरमति नहीं, आज कुछ तो कल कुछ कहता है। फिर 'चल-पत्र' भी यह है—स्वयम् अस्थिर है, जान-बूझकर भी धोखा दे सकता है। दूसरा यह इसका साक्षी प्लक्ष भी ऐसा ही है—'**प्रकृष्टतया क्षीयते इति प्लक्षः।**' यदि यह धर्मात्मा होता तो प्रकृष्ट (अधिक) क्षयी क्यों होता? और इस न्यग्रोधकी तो बात ही मत पूछो, इसने तो अपने यहाँ दूसरोंके लिये तिरस्कारका ही भण्डार भर रखा है—'**न्यक्कारमेव रोधयति।**'

एक दूसरी सखी कहती है—'नहीं सखि, देख, ये भी श्रीश्यामसुन्दरके वियोगतापसे स्तब्ध हैं, ये भी दु:खी हैं, विह्वल हैं। हमारी और इनकी एक-सी ही स्थिति है।' यह वृन्दावनके पशु, पक्षी, वृक्षोंमें जो हराभरापन आनन्द—एकरसताकी स्थिति है, यह श्रीश्यामसुन्दरके दर्शनसे ही है। तब श्रीश्यामके वियोगमें भी वे हरे-भरे ही क्यों दीखते हैं? तो यह बात दूसरी है, व्रजलीलामें ये सदा एकरस रहते हैं; क्योंकि श्रीभगवान् व्रजलीलामें श्रीवृन्दावनको छोड़कर एक पाद भी कहीं नहीं जाते—'**वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।**' व्यापी वैकुण्ठमें ही पुरुषोत्तम भगवान्‌का प्रादुर्भाव होगा। जैसे—

नेत्र, जो बाहरसे दीख रहे हैं, ये नेत्र नहीं हैं, अपितु ये नेत्रगोलक हैं। नेत्र अतीन्द्रिय इन्द्रिय है, वह इस गोलकके भीतर है। श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रीजगन्नाथपुरीमें रहते थे तो क्या उन्हें वहाँ श्रीश्यामसुन्दरका प्राकट्य नहीं था? था, पर वह अन्तरमें था। '**यो वेद निहितं गुहायां.... सह ब्रह्मणा विपश्चितेति॥**' (तैत्तिरीय० २।१) दो ब्रह्मकी कल्पना है—एक कार्यब्रह्म, एक कारणब्रह्म। सबके ऊपर-सबसे बड़ा कारणब्रह्म है। 'शेष' का भी यही अर्थ है—'**शिष्यते इति शेषः।**' लयप्रक्रियासे सबके लीन होनेपर क्या बचेगा? कारणब्रह्म, वही अव्याकृत तत्त्व है और वही शेष है; उसीपर श्रीभगवान् विष्णु विराजते हैं। अतएव कहा भी—

'यत्र प्रविष्टः सकलोऽपि जन्तुरानन्दसच्चिद्घनतामुपैति।' वह व्यापक तत्त्व है। जो महानुभाव श्रीवल्लभादि वृन्दावनसे प्रसंगवश बाहर रह गये, वे वस्तुतः बाहर नहीं रहे। वे श्रीवृन्दावनको छोड़कर बाहर कैसे रहते? इसी उक्त युक्तिसे, वे कभी वियुक्त नहीं रहे। उनके हृदयमें श्रीवृन्दावन, श्रीनित्यनिकुंजका सदा प्राकट्य है। परंतु सर्वसाधारणका सामर्थ्य ऐसा नहीं है। आजकल बहुत-से भावोंसे दर्शनशक्ति व्यापिका हो रही है। वैसे भी—

'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।'

(श्वेताश्वतर० ३।१९)

सर्वदर्शी, सर्वश्रोता वह सबमें है, परंतु प्रकट अपने स्थानमें—गोलोकमें ही होगा। **'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नि'''।'** यह विशेषरूपमें प्राकट्य है। वे लता, भूमि सब यहीं हैं, यह ठीक है, परंतु नेत्रदोषसे वे असली रूपमें नहीं दीखतीं। दोषसे—पित्तदोषसे मिसरी भी कड़वी लगती है। ऐसे ही दोषवश व्यापक होते हुए भी श्रीश्यामसुन्दरके दर्शन नहीं होते। यहाँ श्रीवृन्दावनमें जहाँ कांचनमयी भूमि है, वहाँ तरु नीलमणिके हैं, जहाँ पद्मरागमणिकी भूमि है, वहाँ तरु हरितमणि हैं······यों नील, पीत, हरितरूपमें सब लोकोत्तर वस्तु हैं। यत्र-तत्र तथा परिवेष्ठित तरु मानो श्रीराधाकृष्ण ही विहार करते प्रतीत हो रहे हैं। परंतु ये सब असली रूपमें दीखते नहीं, तब इसे नेत्रदोष ही कहना चाहिये। इसके लिये भगवदनुकम्पा प्राप्त हो, दिव्यदृष्टि मिले तो यह सब अद्भुतता दीख पड़ने लग जाय। अन्तरंग दृष्टिसे वे वृक्षादि यह सब कह रहे हैं, पर बहिरंग दृष्टिवश हमें कुछ ज्ञात नहीं होता। सखि, व्रजलीलाके अतिरिक्त श्रीश्यामसुन्दरके विप्रयोग तापमें ये तरु, लता झुलसते क्यों नहीं, इन्होंने एक बार ही नेत्र भरके उन त्रिभुवनसुन्दरका ऐसा दर्शन पाया है कि वह रूपमाधुरी इनकी चक्षुओंमें सदाके लिये बस गयी है, ओझल ही नहीं होती। इन्हें उस कमनीयताका स्थायीभाव प्राप्त हो गया है। ये उस रूपमाधुरीकी लोकोत्तरतापर—आश्चर्यकारितापर मुग्ध हो रहे हैं—स्तब्ध हो रहे हैं। सखि, तब हमें ये क्या जवाब दें, क्या बतायें?

इस प्रकार श्रीव्रजसीमन्तिनी अपने प्राणवल्लभ श्रीश्यामबिहारीको वृक्षोंसे पूछती, वनसे वनमें भटकती फिर रही हैं। कण्टकाकीर्ण गर्तोमें, अनुकूल-प्रतिकूल भूमिमें घूम रही हैं। उन्हें मार्ग-विमार्गका ज्ञान नहीं है। देहका अनुसन्धान नहीं है। प्रेमोन्मादमें ऊर्मिमाली समुद्रकी-सी इनकी स्थिति हो रही है। उसमें जैसे ज्वारभाटे आते हैं, इन्हें भी कभी कुछ स्मरण-अनुसन्धान हो आता है? कभी भी नहीं। परंतु श्रीभगवान्‌की योगमाया उनके साथ है; वह उनकी रक्षा कर रही है। उन्हें कष्टोंसे बचा रही है। उनकी सेवाके लिये वह तत्पर है। अन्तरंग दृष्टिसे भी—यह तो वृन्दावनधाम है, यहाँ कष्ट कैसा? किंतु प्रेमियोंकी कितनी दुरवस्था होती है—यह टीकाकार कल्पना करते हैं। यह इसलिये कि साधकोंको आश्वासन मिले, सहारा मिले। साधारणोंकी कौन कहे, ये व्रजदेवियाँ प्रेमपथिकोंकी परमाचार्या हैं। ये बतलातीं हैं—देखो, प्राणधनको ढूँढनेमें कितना क्लेश है, कहीं पाषाणों, वृक्षोंसे टकराते हैं। ऐसे ही भावुक भी अपनेको जीवन-मरणके संशयमें डाले बिना अभीष्ट तत्त्व नहीं प्राप्त कर सकता—

न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति।
संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति॥

बड़े-बड़े सम्राट्, स्वराट्-विराट् ऐसे ही ढूँढ़नेसे मिलेंगे! कोई भी काम प्राणोंकी बाजी लगनेसे ही सिद्ध होगा। यह भाव दिखलानेके लिये ही टीकाकार इतनी बातें कहते हैं। 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' में कहा है—जहाँ-जहाँ विषम स्थानोंमें व्रजांगना घूमती हैं, वहाँ-वहाँ उनके परमानुरागवश कठोर-तीक्ष्ण कण्टक भी कोमल-कुसुम हो जाते हैं, जैसे श्रीभगवद्दर्शनसे वज्रसे भी कठोर वस्तु कोमल हो जाती है। गोस्वामीजीने भी कहा—

जिन्हहि निरखि मग साँपिनि बीछी। तजहिं बिषम बिषु तामस तीछी॥

(रा०च०मा० २।२६२।८)

नागिनी पुत्रादिनी है—अपने बच्चोंको भी खा जाती है—**'पुत्रादिनी सर्पिणी'** इतनी क्रूर है, वह भी भगवद्भक्तोंके सामने अपने स्वाभाविक विषको त्याग

देती है। प्रकृतिके समस्त अंग भागवतकी सेवा करते हैं। '**तस मगु भयउ न राम कहँ जस भा भरतहि जात॥**' (रा०च०मा० २।२१६) पृथ्वी श्रीरामभद्रके चरणोंके नीचे अपने कोमल हृदयकमलको बिछाती थी, परंतु भरतके लिये वह इससे भी अधिक कोमल थी। अत: जहाँ वृन्दावन अपने अधीश्वरके लिये कोमल बनता है, वहाँ वह उनके प्रियके लिये कोमल क्यों न होगा? पहले तो वहाँ कण्टक, शर्करा, कंकड़ हैं ही नहीं, वहाँ तो इन्द्रनील, पद्मरागमणि आस्तीर्ण हैं। पर '......**तं सप्रपञ्चमधिरूढ**......।' '**गाँठी तो बाँधे नहीं माँगतहू सकुचायँ। तिनके पीछे हरि रहें कहुँ भूखे नहिं रहि जायँ॥**' यों प्रकृतिके अणु-अणु इन व्रजदेवियोंकी सेवाके लिये तत्पर हैं। स्वामीको प्रसन्न करनेके लिये पहले स्वामिनीको प्रसन्न करना चाहिये। श्रीकृष्णको प्रसन्न करनेके लिये उनकी अन्तरंगा इन व्रजदेवियोंका पहले प्रसाद प्राप्त करना चाहिये। प्रकृतमें उनका चरित्रगान और उनकी लगनका अनुकरण ही उनके प्रसादका हेतु है। अस्तु, इस तरह वे अपने मनमोहनको ढूँढ़ती फिर रही हैं।

अश्वत्थादिमें और भी कल्पना—अश्वत्थ विष्णु-दैवत्य, प्लक्ष ब्रह्मदैवत्य और न्यग्रोध शिवदैवत्य हैं। अत: मानो व्रजांगना अपने प्राणधनको ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वरसे पूछती हैं। वे कहती हैं—'आपलोग साधु हैं, आपसे हम अपने चोरको पूछ रही हैं। दूसरे, आपकी शाखा-प्रशाखा दसों दिशामें फैल रही हैं—उन हमारे चितचोरको कहीं अवश्य देखा होगा।' पिप्पल चलदल है, उसे चंचल देखकर व्रजांगनाने समझा—'यह हाथ हिला रहा है, कह रहा है—हमने तुम्हारे श्यामसुन्दरको नहीं देखा। ठीक है, इसे नेत्र नहीं हैं। चलो नेत्रवालेसे पूछें ('**प्रकृष्टे अक्षिणी यस्य असौ प्लक्षः**') इस प्लक्षके बड़ी-बड़ी आँखें हैं, यह नेत्रवाला है। इसके जो अरुण पल्लव हैं—वे नेत्र हैं। यह ब्रह्मदैवत्य भी है। अच्छा तो तुम्हीं बताओ प्लक्ष! तुमने कहीं हमारे प्राणको देखा? अरे यह क्या, यह तो कुछ बोलता ही नहीं, क्या इसने मौनव्रत लिया है? पर नहीं, इसे वागिन्द्रिय नहीं है, बेचारा कैसे बोले? सखि! आओ, इस न्यग्रोधसे पूछें, यह जिह्वावाला है, इसके दल जिह्वाके जैसे हैं। यों नये-नये क्रमोंसे बार-बार पूछती फिरती हैं। फिर कुछ जवाब न मिलनेसे दोषानुसन्धानकी सुध हो आती है। कहती हैं—'सखि, अब जाना, यह ऊँचा (दर्पिष्ठ) होनेसे क्षुद्र है, यह क्षुद्रफल भी है (पीपल जितना बड़ा है, फल उसके उतने ही छोटे हैं), चाहे कितना भी आराधन करें, इससे महाफल—श्याम नहीं मिलेंगे। यह अश्वत्थ है—अस्थायी है।' सहसा 'वट' पर दृष्टि चली जाती है। कहती हैं—'देखो, इसकी शाखा कितनी झुकी हैं, यह विनम्र है। ('**नितराम् अग्राणि अधोभूतानि यस्य असौ**') शिवदेवताक है; शिव परमवैष्णव हैं। अत: यह अवश्य बतायेगा।' परंतु उत्तरकी कोई आशा न देखनेपर कहती हैं—इसकी बड़ी-से-बड़ी भी उन्नति अवनति ही है। देखो, शाखा नीचे घुसती जा रही हैं—'**नितरामग्राणि अधोभूतान्यवनतिः यस्य असौ न्यग्रोधः।**' अश्वत्थ परोपकारी नहीं है, अत: '**दरिद्रा**' इसमें निवास करती है। बात यह है—दरिद्रा लक्ष्मीकी बड़ी बहन हैं। उसे कोई नहीं ब्याहता था। इसीलिये लक्ष्मीका विवाह भी रुका रहा; क्योंकि छोटे भाई-बहनका विवाह पहले हो जानेसे 'परिवित्ता'—'परिवित्ती' दोष होता है। अन्तत: बहुत कुछ समझाने-बुझानेपर अश्वत्थने दरिद्रासे विवाह किया। उसे प्रसन्न रखनेके लिये यह तय किया गया कि शनिवारके दिन श्रीनारायणसहित लक्ष्मी वहाँ आकर बसें। अतएव अन्य दिनोंमें अश्वत्थके स्पर्शका निषेध है। यह अश्वत्थ उपकारी नहीं, इसीका फल है, जो इसे दरिद्रा मिली है। श्रीमद्वल्लभाचार्यजीके कथनानुसार श्रीव्रजवनिताओंने प्लक्षमें यह दोष देखा—'प्लक्ष अपवित्र है, देवताओंने स्वर्गकी कामनासे पशुका आलम्बन किया, उसीसे यह उत्पन्न हुआ, अत: अपवित्र है। तभी तो प्राणजीवनका पता नहीं देता।' यह सब निराश होनेपर कहा जाता है, सान्त्वनाके समय ऐसा नहीं कहा जाता।

अथवा अपना मनोरथ सिद्ध न होनेपर भी वे व्रजदेवियाँ वृक्षोंसे असूया नहीं करतीं; क्योंकि वे प्रेममार्गकी आचार्या हैं। अत: कहती हैं—'**कच्चित्**'—

'**कुत्सितश्चेतनवर्गोऽपि यस्मात्।**' अर्थात् इस वृन्दावन वृक्षसमूहकी अपेक्षा चेतनवर्ग भी कुत्सित है, इन्द्रादि भी निकृष्ट हैं। ब्रह्मा, वह तो आशा लगाये बैठा है—'वह दिन कब उदित होगा, वह ऊँचा भाग्य कब जागेगा कि जब श्रीवृन्दाटवीमें मैं कुछ—लता-पत्र-पाद-धूलि बनूँगा और किसी बड़भागी व्रजवासीके चरणसे मेरा उद्धार होगा'—

तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।

(श्रीमद्भा० १०।१४।३४)

उद्धव भगवान्‌को बहुत प्रिय थे। भगवान् उन्हें अपनेसे जरा भी कम नहीं मानते थे, श्रीसंकर्षण-बलदेव और श्रीलक्ष्मी भी उद्धवसे अधिक प्रिय न थीं। उनके लिये ये भगवान्‌के शब्द हैं—'**नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनः**...... **न च सङ्कर्षणो न श्रीः**...... **यथा भवान्।**' वे महाभाग्यवान् उद्धव भी श्रीवृन्दावनके तृण, गुल्म बननेके लिये तपस्या करते रहे। यह भाग्य वृन्दावनके वृक्षोंको छोड़कर संसारमें और किसका होगा? यों 'कच्चित्' से व्रजांगना वृक्षोंकी प्रशंसा ही करती हैं और कहती हैं—आप परम चेतन हो, कृपा करो, बताओ—'**दृष्टो वः कच्चिदश्वत्थ**......' वृक्ष, मानो स्तुतिसे प्रसन्न हो गये। परस्पर प्रश्नोत्तर-परम्परा चलने लगी—किसको बतायें, व्रजबालाओ, तुम किसे पूछती हो? चौरको। क्या चुराया उसने? हमारा मन। चौर कौन है? नन्दसूनु। नहीं, वह तो विष्णु है—व्यापक है, नन्दरायने अनन्त तपस्यासे उसे प्राप्त किया है, वह चौर नहीं, आखिर उसने तुम्हारा क्या चुराया? अजी! नन्दसूनु व्यापक—विष्णु होंगे तुम्हारे घरमें, हमारे यहाँ तो वे पक्के चौर हैं, उन्होंने क्या नहीं चुराया, हमारे दहीको चुराया, नवनीतकी चोरी की और अब तो वे हमारे मनको भी चुराकर भाग गये हैं!'

मुग्धा गोपी, तुम क्या कहती हो? मन! यह तो तुम्हारे ही पास होगा और दूध, दही, माखनकी तो चोरी गिनी ही नहीं जाती। नहीं-नहीं, वे हमारा मन चुरा ले गये हैं, वे हमारे चितचोर हैं। दूध, दहीकी चोरीपर तो हमने कभी उन्हें ढूँढ़ा ही नहीं। अबकी बार उन्होंने हमारी बड़ी भारी चोरी की है—हमारी मनोमंजूषाका उन्होंने हरण किया है, उसमें धैर्य, लज्जा, विवेक, विज्ञान, धर्मनिष्ठा आदि रत्न भरे रखे हैं। उसे वे ले गये, अब कुछ रह ही नहीं गया। दही, माखन जानेसे हमारी कोई क्षति नहीं थी, हम विवेकादिसे रहित नहीं थीं, पर आज हम उनसे हीन होकर बाल-बिखेरे घूम रही हैं। हाय, हमारा सर्वस्व लुट गया। बताओ, बड़ा पुण्य होगा। सखियो, तुम क्या कह रही हो? उन्होंने तुम्हारा मन कैसे चुराया? क्योंकि वह तो अन्नमय, प्राणमयके भीतर रहता है, वहाँसे कोई भी उसे कैसे ले सकता है? यह मत कहिये, '**प्रेमहासावलोकनैः**' वे प्रेमसे हृदयमें प्रविष्ट हुए, मधुर हाससे उस मंजूषाको ग्रहण किया और तुरन्त उलटे पाँव लौट पड़े। प्रेमी हृदयमें घुस जाता है, वह हृदयकी बात जान जाता है। इस समय वे मोहन उदासीन, अग्राह्य, अलक्ष्य, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य बने हैं। पर पहले इतने अनुरागी बने कि हमारे पादसंवाहन करते, वेणी गूँथ देते, नाचते, गाते, जो हम कहतीं, सब करते। इसी प्रेमसे वे हृदयमें प्रविष्ट हुए। उन प्रेमीका हास याद आता है—मालूम होता है, वे अपने उस हृदयहारी हाससे हमें पकड़े हुए हैं। ऐसे ही विभोरताके अवसरपर अवलोकन-कटाक्षोंसे बस; मन लेकर झटसे चले गये। आप कृपाकर बता दो, हम सर्वशून्य होकर उन्हें ढूँढ़ रही हैं। आप बड़े हो, राजा हो, न्याय करो।

अथवा मनके तीन भाव हैं—तामस, राजस, सात्त्विक। प्रेम, हास और अवलोकन—इन तीनोंने मनोंको अपहृत किया। यहाँ अलौकिक सद्घन, चिद्घनमें तामस, राजस भाव कहाँसे आये? इसपर श्रीमद्वल्लभाचार्यजीका कहना है—यह यद्यपि लोकातीत है, परंतु यहाँ गोपी कोई तामसी, कोई राजसी आदि हैं। इनमें भी दस भेद हैं। इनमें तामसी तमसे ऊँची हैं। '**प्रेमपत्तन**' आदिमें भी यह वर्णन है। जो अन्यत्र प्रधान है, वह प्रेमपन्थमें अप्रधान है। वह भी वैधी भक्तिकी अपेक्षा रागानुगा प्रीतिमें और भी अप्रधान है। वैधी प्रीतिमें सत्य आदि धर्मका ही मन्त्रिमण्डल रहता है। रागानुगामें वह बदल जाता है, वहाँ व्यसन लग जाता है। परंतु यदि भावुकका मन श्रीकृष्णपादारविन्द-

मकरन्दका मधुप बन जाय, तब तो फिर महान् वैराग्यादि भी अग्निमें 'राई-नोन' की तरह वारकर फेंक दिये जायँ! श्रीसनकादि, शुकादि आशावसनदिगम्बर महान् विरक्त थे, पर उन्हें एक व्यसन था—जहाँ मंगलमय भगवान्का चरित्र होता; उसे वे अवश्य सुनते। अन्यत्र आशा दूषण है, कहा भी है—'**आशा पिशाची परिमर्दितानाम्**...' परंतु यहाँ वह भूषण है, यहाँ आशा, तृष्णा कल्पलता है। अन्य सब कुछ देकर भी इसे भावुक खरीदना चाहता है। तामस स्नेह है, वह एक गाढ़ आसक्ति है, दृढ़ अभिनिवेश है। प्रेमी इसे पाकर किसीकी नहीं सुनता। माता, पिता, वेद, शास्त्र, सज्जन, साधु उसे इस मार्गसे रोकते-रोकते परेशान हो जायँ, पर वह किसीको नहीं मानता। वह उसका प्रियव्यसन मूढ़ग्राह, औरोंकी तो क्या, साक्षात् सृष्टिकर्ता ब्रह्माकी भी बात कान नहीं करता। यह महाअग्निपुंज सूर्यदेव ठण्डा पड़ जाय, चन्द्र जल उठे, दुनिया उथल-पुथल हो जाय, परंतु यह वह प्रेम है, वह तामस स्नेह है, जो किंचिन्मात्र भी शिथिल न होगा। जैसे लौकिक कामिनीको कान्तमें अटूट अनुराग होता है, इन गोपांगनाओंको वैसे ही श्रीकृष्णमें था। वैधी प्रीतिमें इसका तिरस्कार है, परंतु रागानुगामें इसीका आदर है। इस प्रकारकी कृष्णकी तामसी मूर्तिका इन दो श्लोकोंमें वर्णन है—

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद् वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः॥

(श्रीमद्भा० १०।२१।५)

'**कर्णोत्पलालकविटङ्क०**' (श्रीमद्भा० १०।३३।१६)—'**श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्यबर्ह०**' (श्रीमद्भा० १०।२३।२२)।

इनमें शृंगाररससारसर्वस्व उद्वेलित उद्बुद्धरूपमें संयोग, वियोग दोनोंहीके साथ वर्णित हुआ है। यहाँ संयोग तो '**अणोरणीयान्**' है और वियोग ही '**महतो महीयान्**'। श्रीश्यामसुन्दर वनविहारीने मस्तकपर मुकुट धारण किया है, वह मोरपंखका बना है। उसके मयूरपिच्छमें जो श्यामता है, उससे आसक्ति—तामसता निर्दिष्ट हुई—परम आसक्ति बतलायी गयी। अरुण पल्लवके समान पीताम्बरसे सरस सुकोमलता कही गयी। आम्रपल्लवके निर्देशसे यह कहा गया कि उसे भी शृंगारस्वरूपसे धारण किया है और इससे रंजनशील रागकी सूचना है। व्रजांगनाओंका अनुराग सरल, सुकोमल है। मालाके सौगन्ध्यसे 'सत्त्व' गुण कहा गया। 'सत्त्व' का अभिप्राय है—प्रकाश, 'रज' का अभिप्राय है—हलचल—क्रिया और 'तम' का अभिप्राय है—रुकावट—आवरण। यही प्रकृतिमें भी है। जहाँ 'लीला' है, वहाँ भी एक अवरोध, हलचल और प्रकाश है। पहले श्रीश्यामसुन्दर—मुरलीमनोहरका प्रकाश, फिर उनके दर्शनके लिये चंचलता, इसके बाद उससे आसक्ति—गाढमूढ़ता सिद्ध ही है। यह जो प्रेम है, यह तामस है। प्रेमका स्वरूप, आसक्ति—उत्कट उत्कण्ठा है। व्रजांगना कहती हैं—हे वृक्षो, श्रीश्यामसुन्दरके अनुरागसे आवरण हो गया—हमारी बुद्धिपर परदा पड़ गया, हाससे चंचलता—खलबली हो उठी और अवलोकनसे सात्त्विक भाव। उसी समय ये चौरशेखर हमारे चित्तको चुरा ले गये। अब तुम समझो, यों चुरा ले गये। अब ये कहाँ गये? तुमने देखा हो तो जल्दी बतलाओ।

अच्छा व्रजवनिताओ, यह तो बताओ, तुमने उनमें विश्वास कैसे कर लिया? विश्वास न करनेका कोई कारण नहीं था, क्योंकि हम जिनके राजमें रहती हैं, वे उनके पुत्र हैं—'नन्दसूनु' हैं। हम क्या जानती थीं कि ये पालकके बालक ही हमारे घालक निकल पड़ेंगे। अथवा '**नन्दस्य—सर्वानन्दहेतोरयं सूनुः**' हम तो समझती थीं जगदानन्दकारक नन्दके ये सुपुत्र हैं। अतएव हमने उनपर विश्वास किया। हन्त कष्टम्! हम विश्वाससे ठगी गयीं। वृक्षो, तुम बताओ, तुमने उन्हें किसी तरफ जाते देखा है?

इस प्रकार व्रजांगना श्रीकृष्णके विरहमें विह्वल हुई उनका अन्वेषण कर रही हैं और संहत होकर गान करती हुई उन्हें खोजती हैं। फिर-फिर अनुसन्धान होनेसे प्लक्षादिसे पूछती हैं—हमारे चितचोरको बताओ। वह प्रेम, हास और अवलोकनसे हमारे मनको—धैर्य, लज्जा, विवेक, विज्ञानकी मंजूषाको हर ले गये हैं।

प्रेम, हास और अवलोकनसे यहाँ सात्त्विक, राजस और तामस भाव बतलाये। प्रथम वस्तुज्ञान अवलोकन, फिर तत्प्राप्तिके लिये व्याकुलता. इसके बाद स्नेहासक्ति, मूर्च्छा हुई। यह बात अन्यत्र भी कही गयी है— **'अदर्शने दर्शनमात्रकामा दृष्ट्वा परिष्वङ्ग'** अर्थात् जबतक प्राणप्रियका दर्शन नहीं मिला, तबतक तो दर्शनकी केवल उत्कट उत्कण्ठा रही। फिर इसके पूरा होते ही आलिंगनकी अभिलाषा जाग उठी। इसके बाद एक विचित्र आसक्ति, विभोरताने वशमें कर लिया। फलतः अब वह उनमें मिल जाना चाहती है और उन्हें अपनेमें मिला लेना चाहती है—दोनों एकमेव हो जाना चाहते हैं।

यद्यपि ये शृंगारके भाव हैं—रसीले भाव हैं। पर यह लौकिक शृंगारसे ऊँची वस्तु है। साथ ही इस विषयमें श्रीभरतादि नाट्याचार्योंकी सम्मति है कि ऐसे समस्त शृंगारके उदात्त भाव, भेद, प्राकृत नायक-नायिकादिमें समन्वित नहीं हो सकते, यदि हो सकते हैं तो केवल रसिकशेखर श्रीराधाकृष्णमें ही, उनके प्रेम-सुधासिन्धुके तो एक बिन्दुमें ही ये सब समा जायँगे। इन्हींके प्रसंगमें कहा गया है—**'आशास्महे विग्रहयोरभेदम्'** दोनों एक-दूसरेके साथ अभेद—ऐक्य चाहते हैं। परंतु ये सब भाव अन्तरंगा आह्लादिनी शक्ति और श्रीश्यामसुन्दरमें ही हैं। अस्तु, प्रकृतमें अभिप्राय यही है कि इस प्रकारसे दर्शन सात्त्विक है और उससे ज्ञान उत्पन्न होता है—**'सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम्'** इसके अनन्तर मिलनेकी उत्कण्ठा, फिर तज्जनित गाढ़ आसक्ति—अभिनिवेश होता है। ये सत्त्वादि तीनों प्राकृत सत्त्वादिसे भिन्न हैं। गोपांगना इस 'तामस' का—आवरक अन्धकारका बड़ा आदर करती हैं। उनका कहना है—'हमारे लिये तो कृष्णपक्षके तामस-विस्तारमें अभिसरणकी सुविधा रहती है, यह पक्ष बहुत उत्तम है।' उनके यहाँ रज-गोरज-धूलिका भी बहुत आदर है—'वह ऐसा व्याप्त हो कि हमें श्रीश्यामका छिपकर दर्शन करते कोई देखे ही नहीं।' उन्हें यों परम प्यारे साँवरेके दर्शनमें 'रज' और 'तम' दोनों ही अपेक्षित हैं, दूसरे, 'रज' को ये श्यामसुन्दरके आगमनकी सूचना समझती हैं; क्योंकि सायंकाल गोचारण करके आते हुए श्रीगोपालके आगमनकी सूचना दर्शनोत्कण्ठिता व्रजबालाओंको आगे उड़ती गोधूलिसे मिलती। वैसे भी 'रज' में (गुण और धूलि दोनोंमें) क्रिया—चंचलता होती है। प्रियदर्शनपक्षमें चंचलता-विह्वलताका बहुत महत्त्व है। एक भावुकने कहा—**'कृष्णभावरसभाविता मतिः क्रीयतां यदि कुतोऽपि लभ्यते'** भाई, प्रेमियो! **'कृष्णभावरस-भावितामति'** यदि खरीदी जा सके तो खरीद लो, चाहे वह किसी भी कीमतपर मिले। अच्छा, अगर ऐसा है तो हम खरीदेंगे, कहिये क्या दाम है? उसकी कीमत, बहुत ही सस्ती लेकिन बहुत ही महँगी भी—चंचलता एकमात्र मनकी चंचलता है। बस, प्राणप्रियके दर्शनके बिना न रह सकना, उससे व्यथित, अशान्त रहना, यही उस अमूल्य मतिका मूल्य है। यहाँ अशान्ति, बेचैनी जितनी ही बढ़े, उतनी ही अधिकाधिक मूल्यवती है—महार्घ है। यों भी 'रज' का महत्त्व है। हाँ तो अवलोकनादिसे सात्त्विक भावसे प्रकाश अर्थात् गोपांगनाओंको पहले दर्शन, फिर हासरूप राजसभावसे प्राप्तिके लिये विह्वलता, अन्तमें तामससे गाढासक्ति, मूर्च्छा हुई। इन्हीं काण्डोंसे वे मन खो बैठीं।

अथवा प्रेम जगन्मोहन महौषध है—बेहोश करनेकी दवा है। उन चोरशेखरके पास इसके भण्डार भरे पड़े हैं। उन्होंने यह मोहन महौषध देकर अपने दो साथियोंको भेजा। वे हैं—हास और अवलोकन—नेत्र। जब श्रीश्यामसुन्दर चौर हैं तो उनके हास, अवलोकन, नेत्र, हाथ, पाँव सब चौर हैं। चौरके साथी सब चौर, इनमें बाँके-बिहारीके बाँके नेत्र तो पक्के चोर हैं, उनके कोई बचा ही नहीं। एक बार सरसिजसम्राट्ने विचार किया कि ***'यह अलबेलो ब्रजसाँवरिया, सबनकूं ठगतो फिरे है, सबकी चोरी करै है, कहुँ मेरीउ शोभाकूं यह चुराय न ले ज्यायँ, मैं अपनो खूब पक्को बन्दोबस्त कर लऊँ।'*** यह निश्चयकर वह कमलाधिपति जलाशयमें उत्पन्न हुआ, वहीं बसा—'यहाँ कैसे आयेंगे श्याम? पर वे बड़े नटखटिया हैं, कहीं जलविहारके लिये ही आ निकले तो मेरी इस अद्भुत शोभाको अवश्य चुरा लेंगे, वे पक्के चोरजारशिखामणि हैं। मेरी सम्पत्ति यह

एकमात्र शोभा ही है। मुझे खूब सावधान रहना चाहिये।' जलविहार गर्मीमें होता है, शरद्में लोग शीतसे डरते हैं, सहसा जलमें नहीं प्रविष्ट होते। यह सोचकर वह सरोजराज शरदृतुमें और तत्रापि जलमें उत्पन्न हुआ, वहीं बसा। इतनेपर भी सन्तोष न हुआ, उसने अपनी रक्षाके लिये चारों ओर बहादुर कमलोंको पहरेदार खड़ा किया, कितनोंहीको अपने पास बसाया—यदि उन्हें चोरी करना ही इष्ट होगा तो इन्हींकी सम्पत्ति हरके अपनी आदत पूरी कर लेंगे, मुझतक नौबत न आयेगी, पर इसके बाद भी डरके मारे उसने शतपत्रोंको द्वारपाल बनाया। उनके भी चारों ओर काँटे लगाये, स्वयं सबके बीचमें रहा। अब रक्षाके बाह्य प्रयत्न-प्रबन्धसे वह निश्चिन्त हुआ। किंतु अब भी उसका भय गया नहीं। वह सोचता रहा—'उनकी चोरी बड़ी अद्भुत है, वे आँखसे काजल निकाल लेते हैं।' अत: अब अपनी शोभाकी रक्षाके लिये उसने आभ्यन्तर प्रयत्न किया—उस छवि-सम्पत्तिको अपने अन्तरतम कोषमें छिपाकर रखा। फिर भी सचमुच महान् आश्चर्य कि श्रीश्यामबिहारीके उन नेत्रारविन्दोंने—निरुपम नेत्रोंने सरसिजसम्राट्की श्रीको—सम्पत्तिको चुरा ही लिया और किसीने देखातक नहीं—'कब चुराया?' श्रीगोपीगीतके इस श्लोकमें यह बात कही गयी है—

शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा।

(श्रीमद्भा० १०।३१।२)

ऐसे चौर्यकुशल अपने साथी नेत्र—चौरोंको अवलोकनको श्रीश्यामसुन्दरने व्रजसीमन्तिनियोंकी चोरी करने भेजा—'जाओ, गोपियोंके मनोरत्नको—धैर्यलज्जादि रत्नोंको चुरा लाओ।' साथमें मोहन-औषध दिया, जिसके प्रयोगसे वे जागती भी सो जायँ। उन रूपशेखर श्यामके हास और अवलोकन ही इस कार्यके लिये पर्याप्त थे, इनमें प्रेम-सम्मोहन और मिल गया—अब कहना ही क्या था? हे महावृक्षो! इस प्रकार प्रेमहासावलोकनसे उन्होंने हमारा सब कुछ चुरा लिया, हम उन्हें पूछ रही हैं, बताओ, वे किस ओर गये हैं? गोपियो, तुम सचमुच भोली हो, पर अपने रत्नोंकी—सर्वस्वकी रक्षामें इतनी ग़फ़लत क्यों तुमने की? सज्जनो, यह तुम्हारा कहना ठीक है, पर हम तो यही विश्वास करती रहीं, ये श्रीनन्दसूनु हैं—आनन्ददायी हैं, हमें क्या ज्ञान था कि इनसे प्रेम करके ऐसे सन्ताप उठाना पड़ेगा। यों व्रजांगना अपने ही प्रश्नोत्तर करती पूछती-फिरती हैं। जबतक उन्हें उत्तरकी आशा रहती है, विविध भाँति पूछती हैं। निराश होनेपर उनमें दोषानुसन्धान करती हैं—सखि, इसने मौनव्रत लिया है। नहीं, यह गूँगा है। यह भी बात नहीं, इसे तो प्रियतमके दरस-परससे—गाढ़ प्रेमसे स्तब्धता हो गयी है। हाँ हाँ, यह कह सकते कि बीमारीमें आ गया है, हमारी सुनता ही नहीं। मेरी समझमें तो सखि, ये उनकी विभूति हैं, इन्हें श्रीश्यामका अधिक सहयोग प्राप्त हुआ है। ये उनके साथी होनेसे उनके पक्षपाती हैं, कभी पता न देंगे। यह सब कुछ नहीं, असल बात यह है कि ये सब महत्त्वाभिमानी हैं। सोचते हैं—'इन गँवारी ग्वालिनोंसे क्या बोलें।' यही समझकर ये हमारी उपेक्षा कर रहे हैं। अतएव इनमें कोई गुण नहीं। चलो अब आगे चलें, उस 'कुरबक' से पूछें*—

गोपांगनाओंका कुरबक-अशोक आदिसे श्यामसुन्दरके विषयमें पूछना

देखो सखि! इसमें सुमनस (पुष्प) भी लगे हैं। यह अच्छे मनवाला है, इससे पूछना चाहिये। इसके स्वरूपसे भी प्रतीत होता है, इसे श्रीश्यामसुन्दरके अवश्य दर्शन हुए हैं। तभी यह प्रसन्न हो रहा है। इसके अम्लान पुष्प विकसित हो रहे हैं। यह अपने सौरभसे मनको, दिग्दिगन्तको आमोदित कर रहा है। इसका अन्त:करण पवित्र है। दूसरे, फूलोंका फूलना, यह तो प्यारेके दर्शनके बिना सम्भव नहीं—हृदयका फूल उसके बिना खिलता नहीं। यह इसका आमोद भी तभी है, जब यह स्वयं दर्शनका आनन्द ले चुका

* कच्चित् कुरबकाशोकनागपुन्नागचम्पकाः। रामानुजो मानिनीनामितो दर्पहरस्मितः॥ (श्रीमद्भा० १०।३०।६)

कुरबक, अशोक, नागकेशर, पुन्नाग और चम्पा! बलरामजीके छोटे भाई, जिनकी मुसकानमात्रसे बड़ी-बड़ी मानिनियोंका मानमार्दन हो जाता है, इधर आये थे क्या?

है। सखि, इसका सहवास करेंगी, इससे प्रश्न करेंगी तो हमारा भी मन खिलेगा, हमें भी मंगलमय अंगकी प्राप्ति होगी। अहो, इसका तो नाम भी बड़ा अच्छा है—'**कौ पृथिव्यां यशसो रवो यस्य सः एव 'कुरवकः'** अखण्ड भूमण्डलमें इसका यश व्याप्त है। यह श्रीश्यामके ही समान है। इसके वे सखा हैं, अपने समान नाम-रूपवाले हैं। अतः इससे पूछो। इससे पता चलेगा। कुरबक! तुम बड़े अच्छे हो, तुमने कहीं श्यामसुन्दरको देखा हो तो बताओ, वे हमारा मन चुराके भाग आये हैं। कुरबककी ओरसे शंका करके कहती हैं—सखि, यह तो कह रहा है—व्रजांगनाओ, तुम्हारे ही दोषसे—गर्वसे श्याम चले गये हैं, अब तुम क्यों रोती हो? तो कहती हैं—श्यामसुन्दर तो '**दर्पहरस्मितः**' हैं। माना, हमारे ही दोषसे वे गये, पर वे अन्तर्हित क्यों हो गये? क्योंकि उनके तो स्मितमात्रसे ही हमारा दर्प दूर हो सकता था। अमृतसे लाभ होनेकी जगह विषका प्रयोग कौन करेगा?—

व्रजजनार्तिहन् वीर योषितां निजजनस्मयध्वंसनस्मित।

(श्रीमद्भा० १०।३१।६)

जिनकी मधुर मनोहर मुसकान अनन्त कन्दर्पके दर्पको दलित कर देती है, कामिनीके काम-मदका मर्दन कर देती है, वे—'**रामानुजो मानिनीनाम्**' (श्रीमद्भा० १०।३०।६) मानिनीके मानका मर्दन करनेके लिये इस अरण्यमें क्यों घूम रहे हैं? कहो कुरबक! अरे, हम इतना अनुनय कर रही हैं और यह बोलतातक नहीं? सखि (**'कुत्सितो रवो यस्य सः, अथवा कुत्सितात् रवात् कं सुखं यस्य स कुरवकः'**) जिसे दूसरोंके रोनेसे सुख मिले, यह तो वह है। हमारे रोनेसे यह प्रसन्न हो रहा है। देखो, फूल खिले हैं, सौरभ फैल रहा है। सचमें यह भी निष्ठुर श्रीश्यामकी तरह ही है, उन्हें भी हमारा रोना ही अच्छा लगता है।

गोपियो! योगीन्द्र-मुनीन्द्रवन्दितपादारविन्दसे तुम पादसंवाहन कराओ—यह क्या उचित है? इसी तुम्हारे दर्पको दूर करनेके लिये वे अन्तर्हित हो गये हैं। नहीं, यह काम तो 'स्मित' से ही चल जाता, पर वे तो हमारे रोनेसे खुश होते हैं, अतः अन्तर्हित हुए हैं। मृगयु (व्याध) हरिणियोंको वीणावादन करके मोहित कर लेता है। फिर उन्हें जालमें फँसाकर उनके रोनेसे प्रसन्न होता है। हम हरिणाक्षियोंको अपने कटाक्षशरसे विद्ध और वंशीरवसे मुग्ध करके अब रोती देखकर वे श्यामसुन्दर प्रसन्न हो रहे हैं। इस तरह वे भी कुत्सित रवसे प्रसन्न होनेवाले कुरवक ही हैं।

आगे अशोकसे पूछती हैं। पहले उसकी स्तुति करती हैं—सखि! यह बहुत सुन्दर वृक्ष है, इसके पास जानेसे ही शोक मिट जाता है—'**नास्ति शोको यस्य स अशोकः।**' वह है आत्मवित्, क्योंकि—'**तरति शोकमात्मवित्।**' आत्मा कौन है? श्रीकृष्ण, उनको जान लेनेसे सब शोक-मोह दूर हो जाते हैं—'**तत्र को मोहः कः शोकः**…।' अशोकके मिले बिना शोक मिटता नहीं। अशोकके संगसे अशोक हो जाता है। अतः हे अशोक! हम तुमसे पूछती हैं, बतलाओ, वे चितचोर मोहन कहाँ गये? जैसे चन्दन अपने पासके वृक्षोंको चन्दन बना देता है—सुगन्धित बना देता है, वैसे ही तुम्हारे पास आयी हमको श्यामका पता देकर अशोक बनाओ, बड़ी कृपा होगी। अरे! यह भी कुछ नहीं बोलता। बोले क्या, जिसे स्वयं दुःखका अनुभव नहीं, वह दूसरेकी पीड़ाको क्या जाने?—'**यथा कण्टकविद्धाङ्गो**……' (श्रीमद्भा० १०।१०।१४), ***'जाके पाँव न फटी बिवाई। सो क्या जाने पीर पराई॥'*** हमारे विरहकष्टको यह जानता ही नहीं, कैसे दूर करेगा। यह तो एक अशोक है, श्रीजानकीजी तो अशोकवाटिकामें टिकी थीं। वे बहुत भी एकका शोक दूर न कर सके। यह भी मोहनका ही साथी है। आगे चलो।

'**नागपुन्नागचम्पकाः**' (श्रीमद्भा० १०।३०।६) सखि, नागकेशरको देखो '**न अगः साधारणो वृक्षो यस्याः सा**……' यह पुमान् नाग है। ये दोनों गजेन्द्रगति श्रीमोहनकी गतिको जानते हैं। हे चम्पक! तुम्हारा वर्ण हमारे श्यामके शरीरपर विराजमान हैं, तुम उन्हींकी तरह चपल (**'चपि चापल्ये'**) भी हो। तुम्हीं लोग हमारे प्राणधनका परिचय दो। यहाँ व्रजांगनाओंमें—मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा, मानिनी बहुत भेद हैं। उनमेंसे मानवती व्रजांगना कहती हैं—

'**नागपुन्नागचम्पका:**।' 'तुम हमारे चोरको बताओ।' मानवती यह चाहती हैं कि श्रीनन्दनन्दनको यह पता न चले कि 'हम उन्हें ढूँढ़ रही हैं' '**…नेति नेति वचनामृत बोलत…**' ये स्वप्नमें भी यह प्रकट न होने देंगी कि हम उन छबीले श्यामपर मुग्ध होकर उन्हें ढूँढ़ रही हैं। इसलिये ये व्रजयुवतियाँ यों पूछ रही हैं—'**हे नागपुन्नागचम्पका:**' हमें उन श्यामसे कोई गर्ज नहीं, केवल वे हमारी चीज चुराकर ले गये, अत: '**सोऽस्याभिर्धर्तव्य:**' हम उन्हें पकड़ेंगी। कदाचित् 'पुन्नाग' कहे—'अरी व्रजांगनाओ, तुम अबला हो और वह बलवान् है, तुम उसे कैसे धरोगी? इसपर कहती हैं, आखिर वे हैं तो 'रामानुज' श्रीबलरामके छोटे भाई ही, क्योंकि—'**बलाधिक्याद् बलं विदु:**।' (श्रीमद्भा० १०।८।१२) वह तो हमसे कम बलवान् ही हैं।'

इसी सम्बन्धमें गोपांगना नागसे पूछती हैं—हे नाग, तुम साधारण अग (वृक्ष) नहीं हो। तुम श्यामसुन्दरके सदृश हो। उन नागसदृश भुजदण्डवाले श्यामको बतलाओ, तुमने कहीं उन्हें देखा है?

'अहो अमी देववरामरार्चितं

× × × ×

तमोऽपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम्॥'

(श्रीमद्भा० १०।१५।५)

श्रीभगवान्‌ने स्वयं श्रीमुखसे इन वृक्षोंकी स्तुति की है। ये साधारण वृक्ष नहीं हैं, ये योगीन्द्र-मुनीन्द्र-वन्दित वृक्ष हैं। ये सुमन और फलका उपहार लेकर अपने शाखारूप शिखाग्रभागसे भगवद्वन्दन करते हैं। ये इसलिये प्रणाम करते हैं कि 'तम मिटे'। परंतु यह बात जँचती नहीं; क्योंकि जब श्रीउद्धव, श्रीब्रह्मा-जैसे श्रीवृन्दावनके 'तरु, गुल्म' होना चाहते हैं, तब इनमें 'तम' कैसा? इससे तो इनकी महिमा सिद्ध होती है। यद्यपि यह ठीक है, परंतु इसमें वृक्षोंका भाव दूसरा है। वृक्ष सोचते हैं—'ये पक्षी, ग्वालबाल, गैया, जहाँ-जहाँ श्रीश्याम कन्हैया पधारते हैं, वहाँ-वहाँ पहुँच जाते हैं, परंतु हम तो ऐसा नहीं कर सकते। हमें तो श्रीश्यामसुन्दर स्वयं ही पधारकर आलिंगन, स्पर्श दें, तब हमारी इच्छा पूर्ण हो। अत: इस 'तम' को दूर करनेके लिये यह इनका यत्न है; क्योंकि ये बड़े हैं—दिव्य हैं—उदार हैं, नि:स्वार्थ भावसे परोपकार करना महानुभावोंका स्वभाव होता है। परंतु यह इनकी दिव्यता सर्वसाधारणको नहीं ज्ञात है, जैसे भगवान् श्रीकृष्णका ईश्वरत्व सब नहीं जान सके; वैसे ही इनका वास्तविक स्वरूप अप्रकट है। इनका दिव्य स्वरूप, श्रीयमुनाका मणि-हीरक-रचित तट और वहाँ दुग्धधाराप्रवाह यदि साधारण जनवेद्य हो जाय तो तुरन्त पहरा बैठ जाय, परंतु किन्हीं महानुभावोंको यह सब सदा साक्षात् रहता है। ऐसे ही एक महानुभावने एक अभिमानी सम्राट्‌को यहाँका एक पत्थरका टुकड़ा बतलाया, जो बहुत मूल्यवान् हीरकखण्ड था; सम्राट्‌का समस्त साम्राज्य भी उस टुकड़ेके बराबर नहीं निकला। हाँ तो इस दृष्टिसे '**तमोऽपहत्यै**' प्रकाश करनेके लिये, लोगोंको बोध देनेके लिये 'तरु जन्म' है। जिस समय अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक अप्रकट—गुप्त रहकर लीला करते हैं, उनके परिकर भी छिपकर लीलामें सम्मिलित होते हैं। व्रजांगना कहती हैं, हे तरुओ! उसी स्वरूपमें आप वृक्ष हो, आपने हमारे प्राणप्यारेको इधर कहीं जाते देखा हो तो कहो। हम आपका बड़ा अनुग्रह मानेंगी।

व्रजांगनाओंकी बहुत मिन्नत-आरजू करनेपर भी जब आशा पूर्ण न हुई, तब वही निन्दामें बदल गयी—'सखि! रूप और गुणकी बात तो दूर रही, पहले इसका नाम ही देखो कैसा डरावना है—'नाग—सर्प!' श्रीश्यामसुन्दरने भी प्रेमहालाहलसे हम सबको वियोगमें विमोहित किया और ये भी उसी प्रकार कष्ट दे रहे हैं। इसके अतिरिक्त यह पुन्नाग है, पुरुष जाति बड़ी कठोर होती है, वह हम अबलाओंके कष्ट नहीं जानती। चलो सखि, ये नहीं बतलायेंगे।' यों जब व्रजांगना निराश होती हैं, तब उनसे असूया करती हैं। भाव यह है कि जिससे श्रीश्यामसुन्दरका पता मिले, उसकी स्तुति है। जो श्रीकृष्णतत्त्वको नहीं बतला सकते, उनकी स्तुति ही क्या? एक मुग्धा अनभिज्ञा नायिकाने प्रश्न किया—'आखिर सखि! श्यामसुन्दर चले क्यों गये?' इसपर एकने उत्तर दिया—'इसलिये कि अकेले श्रीघनश्यामको

तुम अनेकोंने घेर लिया, इससे वे डरकर भाग गये।' दूसरी कहने लगी—'अरे नहीं, वे तो परम बलवान् हैं,—'**रामानुजो मानिनीनाम्**' श्रीबलरामके अनुज हैं, स्वयं भी बलवान् फिर भाईका भी बल, कहीं उनसे कह दें तो एक मुशल-प्रहारमें ही वारा-न्यारा हो जाय। इसलिये सखि, उन्हें हमसे कैसा डर? अत: यह बात नहीं, वस्तुत: वे हमारे मानापनोदनार्थ कहीं छिप गये हैं।'

यह रासलीला श्रीरासेश्वरीके मनको आमोदित करनेके लिये हुई। उनकी यह इच्छा हुई कि 'श्रीगोपीजनवल्लभ आकर समस्त गोपियोंके साथ कैसे विहार कर सकते हैं' यह देखें। वैसे ही श्रीवृषभानुनन्दिनीके एक-एक अंगसे अनेक-अनेक गोपांगनाओंका प्राकट्य हुआ है। अवान्तर प्रयोजन यह भी कि श्रुतिरूपा, मुनिरूपा गोपियोंको भी प्रसन्न किया जाय। उत्तम लीला तब बने, जब सब सख्यभावापन्न हों; परंतु यहाँ सबमें समान भाव हो गया—'हम भी श्यामसे वेणी गुँथायेंगी, हम भी पादसंवाहन करायेंगी' और होना चाहिये था यह भाव केवल एक श्रीराधाजूमें ही। श्रीश्यामसुन्दर तो अपनी अभिन्नात्मा एक श्रीवृषभानुललीके प्राकट्यपर ही रास कर सकते थे; उन्होंने एक उन्हें ही महत्त्व देकर उन्हें ही प्रसन्न करनेके लिये रास चाहा था, पर जब सबमें समान भाव आ गया, तब वे भाग गये। '**बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति॥**' (श्रीमद्भा० ७।९।४०) वाली बात वे कैसे सहते? परंतु इसका भी समाधान हुआ—अनन्तसमुद्रतरंग महासमुद्रके परतन्त्र हैं। इसी आशयसे श्रीभगवच्छंकरपादने भी कहा है—'**सत्यपि भेदापगमे, नाथ! तवाहम्, न मामकीनस्त्वम्। सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः।**' भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र पूर्णपुरुषोत्तम हैं, महानायक हैं; अनेक गोपियोंसे डरकर वे भाग नहीं सकते। गोपांगना अनेक रहें, अनन्त रहें, कोई बात नहीं; परंतु वहाँ जो मान, ईर्ष्या, असूया आदिकी सृष्टि हो गयी, यही ठीक नहीं हुआ। भगवान् वहाँ नहीं विराजते जहाँ ईर्ष्या आदि हों। यदि इन भावोंसे गोपांगनाएँ महाराससौख्यरसास्वादमें विघ्न हो गयीं तो ये इनके मान-दर्प आदि तो भगवान्के एक स्मितमात्रसे दूर हो जाते हैं। उन्हें श्रीशुकदेवजीके कविनिबद्ध वक्तृप्रौढोक्तिद्वारा '**दर्पहरस्मित**' कहा है।

ऐसी स्थितिमें भगवान् अन्तर्हित क्यों हुए? ये सब व्रजांगनाओंके उक्तिवैचित्र्य हैं। पहले एक नायिकाकी शिकायत थी, 'वे चोर हैं, मनोरत्नमंजूषाको चुरा ले गये।' अब मानवतियोंकी शिकायत है, 'वे दर्प-मान चुरा ले गये, हमारा सर्वस्व लूट ले गये, हाय! हम अब क्या करें? श्यामसुन्दरने अपने 'स्मित' से हमारा मान चुरा लिया, हमें निर्धन बना दिया। अत: हम अपना मान खोजने जा रही हैं। बतलाओ, हे पुन्नाग! बतलाओ, वे कहाँ गये?' 'अबला बालाओ! तुम उन्हें कैसे धरोगी?' इसपर कहती हैं—'**रामानुजो मानिनीनाम्**' श्रीबलरामसे हम जरा लज्जा करती हैं, वे तो उनके छोटे भाई हैं और छोटे होनेसे ही निर्बल। हम उन्हें बाहुलतासे वेष्टित और नयनशरसे विद्ध करके आँचलसे बाँधकर रखेंगी। फिर वे निर्बल हैं, तभी तो भाग गये। यों इस प्रसंगमें मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा आदि नायिकाभावापन्न गोपांगनाओंके भाव हैं।

लोकमें जब भावुक अपनेको अभीष्टपूर्ति-प्रसंगमें समर्थ नहीं पाता, तब वह आश्रय लेता है महान्का, देवका। उसमें स्त्रीहृदय-मातृहृदय कोमल होता है, परदु:खसे सत्वर द्रुत होता है। भावुकशेखर श्रीगोस्वामीजीने अपनी 'विनय-पत्रिका' के ४१वें पदमें 'श्रीरघुनाथजी मेरी सुध लें' इसके लिये श्रीजनकनन्दिनीजीसे प्रार्थना की है—***'कबहुँक अंब, अवसर पाइ। मेरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन-कथा चलाइ॥'*** वस्तुत: श्रीश्यामसुन्दर कृष्णतत्त्वका—निर्गुण निराकारका सम्मिलन अधिगति शक्तितत्त्वकी आराधना भी ब्रह्मविद्याद्वारा ही होती है। 'केनोपनिषद्' में एक कथा है—इन्द्र, वायु, यम, वरुणादि देवोंको गर्व हो गया। उसे दूर करनेके लिये तेज:पुंज रूपमें 'ब्रह्म' प्रकट हुआ। उसे देवता नहीं पहचान सके—'यह कौन है?' उसका पता लेने एक-एक देवता गये। अग्निदेव पहले उसकी परीक्षा लेने गये, पर जाज्वल्यमान उस तेजोराशिको देखकर बोलनेकी

हिम्मत न पड़ी। तब उस तेज:पुंज यक्षने कहा—तुम कौन हो, तुम्हारा क्या सामर्थ्य है? अग्निने उत्तर दिया—'मैं अग्नि हूँ। सबको क्षणभरमें जला सकता हूँ।' यक्षने उसके सामने एक तृणखण्ड रख दिया। कहा—'इसको जला दो।' बहुत जोर लगानेपर भी अग्नि उसे नहीं जला सका। लज्जित होकर लौट आया। इसी प्रकार क्रमसे वायु, वरुण सब गये, पर उस तिनकेको न वायु उड़ा सका, न जल गला सका, सब हतप्रभ होकर लौट आये। अन्तमें इन्द्र गये। इस अवसरपर वह तेज:पुंज अन्तर्हित हो गया। इन्द्रको इससे बड़ा पश्चात्ताप हुआ—'हा, मुझे तो उस तत्त्वके दर्शनतक न हुए।' फिर इन्द्रने ब्रह्मविद्याकी आराधनासे उसकी सहायतासे उस तत्त्वका ज्ञान प्राप्त किया। देवताओंका दर्प मिट गया। भगवान् श्रीरामके उपासक श्रीजानकीमाताकी स्नेहभरी अनुकम्पासे श्रीरामतत्त्वके साक्षात्कारमें सफलप्रयत्न होते हैं। भगवान्‌की अन्तरंग शक्ति उनकी अपेक्षा कोमल मानी जाती है। स्तुतिकुसुमांजलिकार श्रीजगद्धरभट्टने अपनी स्तुतिमें सरस्वतीसे कहा—मात: सरस्वती! आप व्याकुल, हताश न होओ, धैर्य धारण करो, अवश्य भगवान् शिव आपकी सुध लेंगे, आप गुणगान करती चलो। फिर, उस दरबारमें आपका पक्ष समर्थन करनेवाली, श्रीगंगा, चन्द्रकला और पार्वती उपस्थित हैं। वे प्रसंग पड़नेपर आपका पक्ष समर्थित करेंगी; क्योंकि स्त्री अपनी स्त्री जातिका अवश्य पक्षपात करती है। यदि भगवान् कठोर हैं तो वे उन्हें कोमल बना देंगी—

मात: सरस्वति बधान धृतिं त्वदीयां
विज्ञप्तिमार्तिविधुरां विभवे निवेद्य।
देवी शिवा शशिकला गगनापगा च
कुर्वन्त्यवश्यमबलाजनपक्षपातम् ॥

(स्तोत्र ११, श्लोक २४)

अगले श्लोकमें कहा—हे सरस्वति! यदि आप यह समझती हो कि 'चन्द्रलेखा' स्वभावसे ही कुटिल है—टेढ़ी है और गंगा नित्य तरंगिता—अनिश्चित बुद्धिवाली है, इनसे सहायताकी सम्भावना नहीं; तब भी कोई चिन्ता नहीं; क्योंकि भगवती जगदम्बा पार्वती तो वहाँ विराजमान हैं ही, वे शैलराजकी पुत्री हैं—सद्वंशकी सन्तान हैं, कुलीन हैं। अतएव दयार्द्रहृदया हैं, पराये दु:खसे अकारण ही उनका हृदय पिघल जाता है। वे अवश्य आपको मदद देंगी—

एषा निसर्गकुटिला यदि चन्द्रलेखा
स्वर्गापगा च यदि नित्यतरङ्गितेयम्।
देवी दयार्द्रहृदया तु नगेन्द्रकन्या
धन्या करिष्यति न ते निबिडामवज्ञाम्॥

(स्तोत्र ११, श्लोक २५)

सारांश यह कि काम न चलनेपर सबको अबलाओंकी शरण लेनी पड़ी है। यहाँ गोपीजनने भी यही निश्चय किया—ये वृक्ष-पुरुष हमारी पीड़ा नहीं जानते। चलो, इस तुलसीसे पूछें, ये परम अन्तरंगा हैं।

गोपांगनाओंका तुलसी आदिसे श्यामसुन्दरके विषयमें पूछना

कच्चित्तुलसि कल्याणि गोविन्दचरणप्रिये।
सह त्वालिकुलैर्बिभ्रद् दृष्टस्तेऽतिप्रियोऽच्युत: ॥*

(श्रीमद्भा० १०।३०।७)

हे तुलसि! आपकी तुलना जगत्‌में नहीं है। एक बार श्रीनारदजी कल्पवृक्षका पुष्प लाये, उसे श्रीकृष्णको समर्पित किया। उन्होंने श्रीरुक्मिणीको दे दिया। नारदजीको अवसर मिला, नारदविद्या करनेका। उन्होंने झट श्रीसत्यभामासे जाकर कहा—'आप कहती थीं, 'मैं भगवान्‌को अति प्रिय हूँ।' पर वह पुष्प तो उन्होंने आपको नहीं दिया।' नारदजीका मन्त्र चल गया। श्रीसत्यभामा मान करके बैठ गयीं। श्रीकृष्णको यह सब ज्ञात हुआ। वे श्रीसत्यभामाके पास गये। उनको समझाया—'हम तुम्हें कल्पवृक्ष ही ला देंगे' और ला भी दिया। घूमते-घामते श्रीनारद फिर वहाँ आ निकले। सत्यभामाने उन्हें अपना सौभाग्य बतलाया। उन्होंने दानके गीत गाकर कल्पवृक्षके सहित श्रीकृष्णको दान

* (अब उन्होंने स्त्रीजातिके पौधोंसे कहा—) 'बहन तुलसि! तुम्हारा हृदय तो बड़ा कोमल है, तुम तो सभी लोगोंका कल्याण चाहती हो। भगवान्‌के चरणोंमें तुम्हारा प्रेम तो है ही, वे भी तुमसे बहुत प्यार करते हैं। तभी तो भौंरोंके मँडराते रहनेपर भी वे तुम्हारी माला नहीं उतारते, सर्वदा पहने रहते हैं। क्या तुमने अपने परम प्रियतम श्यामसुन्दरको देखा है?'

कर देनेकी सलाह दी। इस दान लेनेके अधिकारीकी खोज होनेपर स्वयं नारद दानपात्र बने। श्रीसत्यभामाने श्रीकृष्णसे कहा—'नाथ, जन्मजन्मान्तरमें मैं आपकी ही दासी बनूँ, आप ही मुझे मिलें, एतदर्थ मैं आपको दान कर देना चाहती हूँ।' दान हो गया। अब श्रीकृष्णसे नारदजीने कहा—चलिये, आप मेरा कमण्डलु उठाइये। मुझे आप महादानमें मिले हैं। श्रीकृष्ण नारदके साथ चल पड़े। अब तो बड़ी आफत मची। श्रीसत्यभामाने स्वप्नमें भी यह नहीं विचारा था कि इस दानसे उन्हें श्रीकृष्णसे वियुक्त होना पड़ेगा। अन्ततोगत्वा श्रीनारद किसी तरह मनाये गये। श्रीकृष्णके बदलेमें उनके बराबर हीरे, माणिक्य, जवाहरात सब तराजूमें चढ़ाये गये, पर श्रीकृष्णका पलड़ा हिलातक नहीं। श्रीसत्यभामा परेशान थीं, किंकर्तव्यविमूढ़ थीं। उधर श्रीरुक्मिणीको इस काण्डका पता लगा, वे आयीं। उन्होंने एक प्रकार निकाला, कहा—बहन, यह सब हीरेकी हारें उतार दो, इनकी जगह एक तुलसीदल, केवल एक तुलसीदल रखो। ऐसा ही हुआ। श्रीकृष्णका पलड़ा ऊपर उठ गया। यह है तुलसीका महत्त्व। अतएव तुलसीदलपर श्रीकृष्ण अपनेको बेचते हैं, जिसकी इच्छा हो, खरीद ले—'**तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन च। विक्रीणीते स्वमात्मानं**.......' इन दृष्टियोंसे गोपांगनाओंने कहा—गोविन्दचरणप्रिये—हे तुलसि! आप परम सौभाग्यवती हो, कल्याणी हो। हम तो श्रीश्यामविप्रयोगसे अति तप्त हैं, पर आपका उनसे कभी विच्छेद होता ही नहीं। आपको श्रीगोविन्दके चरण अतिप्रिय हैं। वैसे वैजयन्तीमालाके साथ भगवान्‌के वक्ष:स्थलमें भी तुलसी विराजमान है, पर उसे उनके श्रीचरणोंसे ही अनुराग है। जैसे तुलसीको भगवान् प्रिय हैं, तुलसी भी भगवान्‌को वैसे ही प्रिय हैं। कहा है—'**तेऽतिप्रियोऽच्युतः**.....' इस अच्युतसे यह बतलाया गया है कि तुलसीका भगवत्पादारविन्दसे कभी विश्लेषण होता ही नहीं, उसका अविघटित सम्बन्ध है।

यहाँ '**गोविन्दचरणप्रिये।**' (श्रीमद्भा० १०।३०।७) इस पदमें 'चरण' से पूज्यता ली गयी है; क्योंकि आगे गोपियोंने कहा—श्रीतुलसीकी माला मोहनके वक्ष:स्थलपर विराजमान है, उसके मकरन्दरसामृतके लोभी भ्रमर भी उसे घेरे हैं। यदि चरण ही प्रिय होता तो '**सह त्वालिकुलैर्बिभ्रद् दृष्टस्तेऽतिप्रियोऽच्युतः॥**' (श्रीमद्भा० १०।३०।७) आदि कैसे कहा जाता? अस्तु। यहाँ व्रजांगना तुलसीका भाग्य सराह रही हैं—सखि तुलसि, देखो! एक हमारा भाग्य है और एक आपका। हमें वे श्यामविहारी दर्शन देनेसे भी जी लुका रहे हैं, हम कोई भार नहीं, हम चरणस्पर्शमात्र चाहती हैं। आप तो उनके विशाल वक्ष:स्थलपर विराजमान हो। हमें तो वह अति दुर्लभ है, रंककी साम्राज्य-कामना है। हमने सब कुछ छोड़ा; गुरुजनलज्जा आदि सबको तिलांजलि दी। तब जन्म-जन्मकी तपस्यासे वह प्राणाधार आज प्राप्त हुए थे, परंतु हम प्राप्त न कर सकीं। देखो सखि! तुलसि! हमारे साथ कोई उपद्रव नहीं और आपके साथ ये भौंरेके झुण्ड मँडरा रहे हैं, इतनेपर भी यह आपका ही सौभाग्य है, जो इन सबके साथ वे देवकीसुत आपको धारण किये रहते हैं। हम तो अलिकुल-मालासे व्याप्त नहीं हैं—अलिकुलसंकुल नहीं हैं, फिर भी दर्शनतक नहीं देते, छिपते फिरते हैं। आप अति प्रिय हो। प्रिय लक्ष्मी भी है। उनके वामवक्षपर वामावर्त सुवर्णरोमराजी भी लक्ष्मी ही है। '**हारहास उरसि स्थिरविद्युत्।**' (श्रीमद्भा० १०।३५।४) वह वहाँ लताकी तरह विराजमान है। परंतु सखि, आप उनसे भी बढ़कर हो, आप सर्वांगव्यापिनी हो—दोनों वक्ष:स्थलोंपर विराजती हो, वह भी भौंरोंके साथ। इससे लक्ष्मी अवश्य नाराज होती होंगी—'मेरी छातीपर सौत बिठा दी।' सो यहाँ तो साक्षात् ही तुम्हें धारण करके सौत बैठा दी। देवकृत भगवत्स्तुतिसे भी प्रसंग पुष्ट होता है—

पर्युष्टया तव विभो वनमालयेयं
संस्पर्धिनी भगवती प्रतिपत्निवच्छ्रीः।
यः सुप्रणीतममुयार्हणमाददन्नो
भूयात् सदाङ्घ्रिरशुभाशयधूमकेतुः॥

(श्रीमद्भा० ११।६।१२)

श्रीलक्ष्मीके लिये सापत्न्यभावके विषयवाली उस सूखी वनमालासे सम्पादित भक्तके पूजनको सुसम्पादित बहुत उत्तम माननेवाले हे प्रभो! आपका

चरणारविन्द हमारे पापोंको नष्ट करे। वनमाला वन्यपुष्पस्तवकोंकी बनी है, उसमें तुलसी मिश्रित है—

तुलसीकुन्दमन्दारपारिजातसरोरुहैः ।
पञ्चभिर्ग्रथिता माला वनमाला प्रकीर्तिता॥*

वह इस समय बासी हो चुकी, कुरकुराती है, चुभती भी है, परंतु वह भक्तकी पहनायी हुई है, उसे जबतक भक्त नहीं उतार दे, प्रभु नहीं उतारते। लक्ष्मी उससे प्रतिस्पर्द्धा करती है—'**संस्पर्धिनी भगवती प्रतिपत्निवच्छ्रीः।**' भगवान् लक्ष्मीकी नाराजगीकी परवाह न करके उसे धारण किये हैं। 'पर्युष्टया'—पर्युषितया (इडभावश्छान्दसः) 'वशकान्तौ' से बना है। यह तुलसीमाला सर्वांगमें कान्तिमती बनकर विराजती है। व्रजांगना कहती हैं—अतः तुम अतिप्रिया हो तुलसि! वैसे सर्वाधिकसौभाग्य श्रीरासेश्वरीजू आदिका ही है, पर इस समय अपने सौभाग्यको भूलकर साधारणके प्रेमको सिहाती है। पीछे भी कहा—'**पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जरागश्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन।**' (श्रीमद्भा० १०। २१। १७) सखि, हम तो अपूर्ण हैं, '**पुलिन्द्यः पूर्णाः**' दयितास्तनमण्डितकुंकुमसंलग्न पादसे प्राणधन दूर्वामें घूमे, इससे वह कुंकुम दूर्वामें लग गया, उसे सुन्दर पाकर पुलिन्दियोंने अपने शरीरमें लपेट लिया। वे कृतकृत्य हो गयीं। परंतु इससे उनके मनमें स्मरका (**'स्मरणं स्मरः'**) उद्रेक हुआ। पुनः उसी कुंकुमको लगाकर उन्होंने उसे दूर किया। अतः वे धन्य हैं। हम तो अनन्त कालसे उसका सेवन कर रही हैं, फिर भी कृतकृत्य न हुईं।' इस प्रकार ये सब गोपांगना अपनेको भूलकर प्रेमविभोर बनी ऐसा कह रही हैं।

इसपर एक प्रसंग और भी है—

'जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः
श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।'

(श्रीमद्भा० १०। ३१। १)

आपके जन्मसे व्रजका सौभाग्य खूब बढ़ा, वह सर्वदेशशिरोमणि माना गया। श्रीलक्ष्मी यहाँ श्रीश्यामरूपमें अवतीर्ण श्रीविष्णुदर्शनार्थ ही केवल नहीं आयीं, अपितु वे शाश्वत नित्य यहाँ रहती हैं। वे अपने पतिदेवके दर्शनकी लालसा अथवा व्रजवासियोंकी सेवाके निमित्त व्रजमें सदा रहती हैं। यहाँ '**श्रयते**' यह आत्मनेपद है। इसका अभिप्राय यह कि यहाँ श्रयणका फल कर्तृगामी, आत्मगामी है अर्थात् श्रीरमा अपनेको सौभाग्यशालिनी बनानेके लिये व्रजमें नित्य ही निवास करती हैं। वैकुण्ठमें श्रीनारायणके समीप तो वह '**श्रयते**' सेव्या है। यहाँ सेविका है। इन भावोंसे यह स्पष्ट है कि श्रीराधा तथा उनके लोमकूपोंसे उत्पन्न नित्यसिद्धा आदि सखी लक्ष्मीसे कहीं अधिक बढ़कर हैं, पर वे इस समय अपनेको भूलकर वैसा कह रही हैं। हाँ तो व्रजांगना तुलसीसे कहती हैं—आप लक्ष्मीसे भी बढ़कर हो, आपको श्यामसुन्दरने अपना समस्त वक्षःस्थल समर्पित कर दिया। '**गोविन्दचरणप्रिये**' पदमें चरणका अर्थ आचरण—चेष्टा या लीला है '**गोविन्दस्य चरणम्-आचरणम्, चेष्टा, लीला वा प्रिया यस्या सा तत्सम्बुद्धौ**' जिसका आशय यह हुआ कि हे तुलसि! आपको श्रीगोविन्दकी लीला अत्यन्त प्रिय है। आपको सापत्न्यभाव भी है। श्रीश्यामसुन्दरके कम्बुकण्ठमें विराजमान मुक्तावैजयन्ती आदि किसी (माला)-से आपको द्वेष भी नहीं है। आप कल्याणी हैं। आप श्यामप्रिया हैं। हमें बताओ, आपने उन्हें कहीं इधर देखा है?

हे तुलसि! आप स्वयं मंगलमयी हो, अपने आराधकको—भक्तको भी मांगल्य प्रदान करती हो। जो भक्त आपको श्रीकृष्णभगवान्‌के श्रीकण्ठमें, श्रीचरणमें समर्पित करते हैं, उन्हें आप उनसे मिला देती हो, आप कल्याणी हो। हमें भी बतलाओ, श्रीश्यामसुन्दर किस तरफ निकल गये हैं? हे सखि! आपको श्रीगोविन्दके चरण और आचरण, लीलादि भी अति प्रिय हैं। हम सबको भी वे श्रीगोकुलेन्द्र गोविन्दचरण तो अवश्य प्रिय हैं, परंतु यह उनका आचरण प्रिय नहीं है—जो हमें वियोगिनी बनाकर छिप गये हैं। सखि! आपको उनके वियोगका कभी अवसर ही नहीं आया। कारण कि आप सौभाग्यवश अनुकूल आचरणमें ही रहीं। जब आप वृन्दा थीं, तब भी अनुकूल आचरणमें रहीं। हम

* तुलसी, कुन्द, मन्दार, पारिजात तथा कमल—इन पाँच पुष्पोंसे गूँथी हुई माला वनमाला कहलाती है।

तो आर्यधर्मादिको त्यागकर उन्हें चाहती हैं, तब वे मिलते नहीं, पर आप नहीं चाहती थीं, तब भी जालन्धर-वेशसे उन्होंने आपको ग्रहण किया। अन्तमें वर भी दिया—'कभी विप्रयोग न होगा।' भोग लगनेके समय और सब हट जायँ, भोग-रागमें कमी हो जाये, पर आप नहीं हट सकतीं, आपकी कमी नहीं हो सकती। आपके बिना भोग ही नहीं लग सकता। देखो सखि तुलसि! आपको मकरन्दलोभी भ्रमरोंसे संकुलित होनेपर भी भ्रमरोंकी गुनगुनाहट और लक्ष्मीकी नाराजगीकी परवाह न करके भी उन्होंने धारण किया है। एतावता यह भी बतलाया कि 'आप बहुवल्लभा हैं—'**बहवो वल्लभा यस्याः**', तब भी वे आपको धारण किये हैं। पहले '**वृन्दा**' रूपमें जालन्धर तुम्हारा वल्लभ था। अब ये मधुलम्पट मिलिन्दवृन्द मकरन्दपानके लिये आपको घेरे हैं, फिर भी सखि, आपको श्रीश्यामसुन्दर धारण किये हैं। हम तो हे तुलसि! एक वल्लभा हैं, लोकधर्म, कुलधर्म—सब कुछ त्यागकर अपना सर्वस्व उनपर न्योछावर करके उन्हें, केवल उन्हें ही स्वीकार कर चुकी हैं, पर फिर भी वे हमें दर्शनतक नहीं देते। इससे तो उनका सब आचरण आपके अनुकूल पाया जाता है। अतः आप अच्युतकी परमप्रेयसी हो। अतएव वे आपसे सदा अच्युत (अविश्लिष्ट) रहते हैं। अतएव जाना जाता है, आपका बहुत शुद्ध और गाढ़ प्रेम है।'

अथवा '**गोविन्दचरणप्रिये**' श्रीगोविन्दका चरण ही प्रिय है जिन्हें, ऐसी आप हो। हे तुलसि! आपने प्रथमसे ही दैन्यभावका आश्रय लिया—श्रीश्यामसुन्दरके श्रीचरणको अंगीकृत किया—दास्यभावसे, दासी होकर, मानिनी या कान्ता बनकर नहीं। आपमें किसी भावका गर्व नहीं, औद्धत्य नहीं, अतएव '**तेऽतिप्रियोऽच्युतः।**' कभी उनसे आपका विश्लेष नहीं। हममें तो सखि तुलसि! 'मान' है और यह बड़ा दोष है। यह इसीका फल है, जो हमें आज असह्य विप्रयोग हो रहा है। आप गोविन्दचरणप्रिया हो। जिन्हें श्रीचरण प्रिय होते हैं, उन्हें कभी वियोग नहीं होता। यही विशेषता है। यही दास्यभावकी महिमा है। श्रीमद्वल्लभाचार्यजीका कथन है—श्रीचरणरजसे ही भक्त बनते हैं। अतः उनका श्रीभगवान्से विश्लेष नहीं होता। यह उस रजमें खास बात है। अतएव कहा भी है—

श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या
लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम्।
यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयास-
स्तद्वद् वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। ३७)

कृपा करके श्रीभगवान्ने लक्ष्मीको अपने वक्षःस्थलपर स्थान दिया। यह नायिकाका परम सौभाग्य है, पर लक्ष्मी डरती रही। वह जानती थी—श्रीचरणाम्बुजरजके बिना वियोग हो जाता है। अतः इतना ऊँचा स्थान पाकर भी उसने चरणरज ही चाहा, इसके लिये उसने तपस्या की—'**""यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाचरत्तपः""**।' (श्रीमद्भा० १०। १६। ३६) पहले भी श्रीलक्ष्मीका ऊँचा ही स्थान था, ब्रह्मादि-स्तम्बपर्यन्त उसके अपांगमोक्षकी—जरा-सा देख देनेभरकी कामना किया करते थे। इसपर भी उसे सन्तोष नहीं था। अपने कमलोंके कोमल भवनको छोड़कर श्रीभगवान्के पाद-पंकजरजको ही उसने उत्तम आश्रय समझा—

ब्रह्मादयो बहुतिथं यदपाङ्गमोक्ष-
कामास्तपः समचरन् भगवत्प्रपन्नाः।
सा श्रीः स्ववासमरविन्दवनं विहाय
यत्पादसौभगमलं भजतेऽनुरक्ता॥

इस प्रकार श्रीमन्नारायणके विशाल वक्षको—निःसपत्न स्थानको पाकर भी श्रीलक्ष्मी उनके सपत्न स्थान श्रीचरणोंको ही चाहती रहीं। श्रीभगवान्के चरणारविन्दकी महिमा ही ऐसी है। उनके चरणोंमें विराजमान वनमालाके गुच्छ आदिसे उत्थित, मकरन्दसे मिश्रित वायुका झोंका सनकादिके नासाविवरमें जाते ही उनके चित्त और तनु दोनोंमें क्षोभ उत्पन्न कर देता है। बरबस ब्रह्मचिन्तनसे उनका मन चंचल हो जाता है—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः ।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
सङ्क्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥

(श्रीमद्भा० ३। १५। ४३)

उसी महत्त्वको समझकर श्रीमहालक्ष्मी तुलसीके

साथ—सपत्नीके साथ भी श्रीभगवान्‌के चरणरजको ही चाहती हैं। अतएव तुलसी, दीर्घदर्शिनी तुलसी पहलेसे ही उस महामहिमपदाम्बुजको ग्रहण किये रहती है; क्योंकि लक्ष्मीको सदा यह भय रहता है कि कोई श्रीमद्भगवच्चरणरज-उपासक महातपस्वी मुझे अपने वशमें न कर ले। इसलिये श्रीमद्भगवद्विप्रयोगसे बचे रहनेके लिये वह निरन्तर उनके पादाम्बुजरजमें संलग्न रहती है। तुलसी इस बातको समझती है, अत: वह पहलेहीसे उन चरणोंमें लिपटी रहती है। तभी श्रीश्यामसुन्दर उसके लिये अच्युत हैं। इस प्रकार जो चरणप्रिया है, वही प्रियतमके वक्ष:स्थलपर स्थान पाती है।

इसी प्रसंगपर एक दूसरी दृष्टिसे व्रजांगनोक्ति है—सखि तुलसि! ये मधुव्रत जो गुंजारव कर रहे हैं, यह वस्तुत: आपका यशोगान कर रहे हैं। सखि! आपको तो क्या, आपके कारण आपके अनुरागी भौंरोंतकको भगवान् श्यामसुन्दर नहीं हटाते अथवा ये भ्रमर क्या हैं? ये उनकी मूर्तिमती अभिलाषा हैं; क्योंकि वे श्यामल हैं, अत: ये भी श्यामल हैं। हे तुलसि! आपने उन्हें ऐसा वशमें किया है कि वे अपने मनोरथोंको मूर्तिमान् बनाकर उनके द्वारा आपका यशोगान किया करते हैं और आपका मकरन्द पान किया करते हैं। आप धन्य-धन्य हो। सखि! हमें भी उनसे मिला दो—गोविन्दचरणप्रिये! हम तो श्रीमुखचन्द्रकी अधरसुधाकी पिपासु हुईं, मानिनी हुईं, अत: भटक रही हैं। सखि! आप चतुर हो। अथवा—

कच्चित्तुलसि कल्याणि गोविन्दचरणप्रिये।
सह त्वालिकुलैर्बिभ्रद् दृष्टस्तेऽतिप्रियोऽच्युतः॥

(श्रीमद्भा० १०।३०।७)

हे तुलसि! हमलोग तो ऐसी हतभागिनी हैं कि हमपर श्रीश्यामसुन्दर सदा 'अच्युत' रहते हैं—कभी भी कृपासे—प्रेमसे—द्रवीभूत नहीं होते। आप बड़ी सौभाग्यशालिनी हो। अनुकम्पा करके हमें बतलाओ, आपने उन प्राणजीवनको इधर कहीं देखा है? अथवा 'गोविन्दचरण' में 'चरण' पद आदरार्थक है, जैसे—गुरुचरण, पितृचरण; इसके अनुसार—परम आदरणीय गोविन्द गोकुलेन्द्र जिसे प्रिय हैं, वह तुलसी उनकी अतिप्रिया है। अत: कभी भी उनसे उसका वियोग नहीं है। अथवा—'**गोभिः श्रुतिभिः विन्द्यते—प्राप्यते यः स गोविन्दः**' अर्थात् जो वेदके द्वारा प्राप्त किया जा सके, वह हुआ गोविन्द, कहा भी है—'**वेदान्तवेद्यचरणेन मयैव गीतम्**' अर्थात् वेदशास्त्रके महातात्पर्यका विषय ही अत्यन्त प्रिय है जिसे, ऐसी हे तुलसि! आपने यहाँ कहीं उन मनमोहनको देखा हो, बताओ। आपको उनसे बड़ा प्रेम है। देखो, अभी-अभी उन्होंने अपनी वनमालामें आपको नोंचकर लगाया है। अभी इधर गये हों, बता दो। यहाँ जिससे वे पूछ रही हैं, वह तो तुलसीका क्षुप है और यह यहाँ लगा है। इससे इस समय श्रीकृष्णका कोई सम्बन्ध नहीं।

व्रजांगना भी इस बातको जान रही हैं, तब उनकी यह सब प्रश्न-परम्परा श्रीचरणधृत तुलसीसे होगी। परंतु वह तो उन्हें दीखती ही नहीं; तब प्रश्न वे किससे कर रही थीं? ऐसे संशयपर यह समाधान समझना चाहिये कि जंगलमें खड़ी तुलसीकी सजातीय श्रीचरणधृत तुलसीसे गोपांगनाओंने प्रश्न किया। श्रीकृष्ण इधरसे निकले तो उनके साथ वर्तमान तुलसी इस तुलसीसे मिलती गयी, इससे इस वनस्थ तुलसीको यह भी मालूम हो गया कि श्रीश्याम इधर पधारे हैं। अब वह गोपांगनाओंको उत्तर दे, न दे, यह बात दूसरी है। परंतु इन दृष्टियोंसे प्रष्टव्यता उसमें अवश्य है।

अब तुलसीसे मानिनी गोपांगना पूछती हैं—'हे सखि! उन अतिप्रिय श्यामको तुमने इधर कहीं देखा हो तो बतलाओ। हाँ, वे अतिप्रिय हैं, हमारे-जैसी परप्रेयसियोंका अतिक्रमण करके आ गये हैं। वे तुमपर मुग्ध हैं, विभोर हैं। ऐसे मुग्ध कि संसारकी समस्त वस्तुओंका, प्रिय वस्तुओंका अतिलंघन उन्होंने कर डाला और मधुर मधुपमूर्ति बनकर तुम्हारे पास चले आये। सखि! तुमने उनके चित्तको खूब आकृष्ट किया।' इस प्रकार यहाँ मानिनी उक्तिप्रसंगमें 'अतिप्रिय' पदमें एक ही समासको भिन्नार्थक करके दो चमत्कारिक अर्थोंकी सृष्टि है—'**अतिक्रान्ताः प्रियाः अस्मादृशोऽपि येन सः** तथा **अतिक्रान्तं प्रियं जगद्वस्तुमात्रं येन**

स:'। 'फिर सखि! तुम कल्याणी हो, तुम्हारी जो पूजा करते हैं, उनका तुम कल्याण करती हो। हम भी पूजा करती हैं, कहो, 'मनमोहन' किधर गये हैं?'

लौकिक दृष्टिसे भी उन सर्वमनोहर मोहनका मन हमपर कृपालु हो अथवा हमारा मन उनमें लग जाय यह चाहते ही हैं, बात एक ही है। परंतु स्थिति यह है कि चाहनेपर भी नहीं लगता। श्रीविष्णुके द्वारा जालन्धररूप लेकर वृन्दाका पातिव्रत भंग करनेकी शंका बहिर्भूतोंकी है। वैसे जालन्धर श्रीविष्णुका अंश था और वृन्दा श्रीराधाका अंश। केवल अपूर्ण स्वरूपमें आसक्त अपने भक्तको छलसे, बलसे जैसे बने भगवान् अपने पूर्णरूपमें ग्रहण करते हैं। सब सती चाहेंगी कि वृन्दाका महत्त्व प्राप्त हो, हमारे मनको भगवान् स्वीकार करें। वस्तुत: सब धर्मोंका तात्पर्य ही यह कि श्रीश्यामसुन्दर बलात् हमें चाहें। नहीं तो कौन चाहता है कलत्र, पुत्र, वित्तसे चित्त हटाना? स्त्री यदि जारमें मन ले जाय तो कभी उसका उद्धार नहीं। पतिप्रेम तो शालग्रामबुद्ध्या सेव्यमान परमपुरुषको प्राप्त करना है। परमपतिको प्राप्त करनेके लिये ही पतिकी पूजा है। इसी स्वधर्मबुद्ध्या क्रियमाण कर्मसे प्रभु प्रसन्न होकर स्वात्मसमर्पण करते हैं। तभी वे अमूर्त मनोरथोंको मूर्त मिलिन्द बनाकर वृन्दाके तुलसीके मकरन्दका पान करते हैं। इन दृष्टियोंसे तुलसि! तुम्हारा बहुत महत्त्व है, श्रीश्याम तुम्हारे वशमें हैं। अत: इधर आये हों तो बतलाओ, सखि! जरा हम भी उन चतुर चोरका दर्शन तो करें।

व्रजांगनाओंद्वारा तुलसीमें दोषानुसन्धान

जब व्रजांगनाओंने देखा, 'हम इतनी देरसे इसको मना रही हैं, मिन्नतें कर रही हैं, पर यह जरा भी नहीं पिघलती, देखतीतक नहीं।' तब वे निराश हो गयीं। उनमें असूया उत्पन्न हो गयी—वे अब तुलसीके उन्हीं गुणोंमें दोष देखने लगीं—'सखि! यह बड़ी गर्वीली है, इसे अपने श्यामके अतिप्रियत्वका बड़ा अभिमान है। क्यों नहीं, इसका नाम ही आखिर 'तुलसी' ठहरा—**'तुल्या: ('न अस्मान्') स्यति (खण्डयति) इति तुलसी।'** जिन श्यामसुन्दरमें यह रत है, हम भी उनमें अनुरक्त हैं। अत: हमें सौतें समझकर हमारा खण्डन कर रही है। सखि! यह तो दासी थी—चरणाधिकारिणी है, पर देखो उन साँवरे मोहनका अन्याय कि उन्होंने सेविकाको प्रेयसीका स्थान दिया है। अस्तु, दासीको प्रेयसी बनाया सो तो बनाया, पर यह भी नहीं सोचा कि 'यह नायकोंसे घिरी है।' इस रूपमें तो यह हमारे हृदयोंको टूक-टूक कर रही है। हाय, जिसपर हमारा अधिकार है, उसीको इसने अपने वशमें कर लिया। यह तुलसी कल्याणी अर्थात् भद्रा है। **'विचरति भद्रा त्रिभुवनमध्ये।'** नाममात्र ही भद्रा है, वस्तुत: है यह भी अभद्रा ही। भरणी, भद्रासे लोग बचते हैं। हाँ, सम्प्रयोगमें यह भद्रा कल्याणी अवश्य है।' कुछ व्रजांगना कहती हैं—'सखि! जाने दो; यह तो भगवदीया है। उनकी रुचिके बिना यह हमें उनका पता न देगी; क्योंकि यह अतिप्रिया है। अत: चलो, इसकी सौतोंसे पूछें—वे इससे दु:खी होंगी, अवश्य बता देंगी।'

(**'मालत्यदर्शि न: कच्चित्'**) यहाँ एक साथ मालती आदि कईके नाम हैं। वस्तुत: अनन्तनामवाली दास्यभाववती ये सखी हैं। 'प्रिय सखि! मालति! तुम जानती हो इधरसे कहीं श्यामसुन्दर निकले हैं, तुमने देखा है?' मालतीको प्रफुल्लित देखकर, उससे मकरन्द गिरता देखकर व्रजांगना कल्पना करती हैं और उससे कहती हैं—'सखि! मालति! तुम्हें श्रीश्यामके दर्शन अवश्य हुए हैं, तभी तो तुम्हारे विकसित सुमनोंसे सौमनस्य झलक रहा है। सखि! तुमने उन्हें देखा ही नहीं, अपितु उनका स्पर्श तो तुम्हें अवश्य प्राप्त हुआ है, तभी तो यह तुम्हें मुकुलित भावके बहाने रोमांच हो रहा है; क्योंकि श्रीश्यामके अंगसंगके बिना रोमांच हो नहीं सकता। अगर हो सकता है तो उनके स्पर्शसे ही। यह अन्वयव्यतिरेकसे ही दीख रहा है। इसके अतिरिक्त ये मकरन्दबिन्दु भी गिर रहे हैं। अरे, ये मकरन्दबिन्दु नहीं, ये तो स्पष्ट ही आनन्दाश्रु हैं। सखि! बस, अब हमसे मत छिपाओ, यह सब चमत्कार तो उन श्रीश्यामबिहारीके दर्शन आदिके बिना नहीं हो सकता।' इससे व्रजांगनाओंको श्रीकृष्णका स्मरण आ गया, वे बीचमें उन्हें ही उपालम्भ देने लगीं—

'का स्त्र्यङ्ग ते कलपदायतमूर्च्छितेन
सम्मोहितार्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम्।'

(श्रीमद्भा० १०।२९।४०)

'हे मोहन! आपके कलपदायतसे, मधुर संगीतलहरीसे, कौन देवी-दानवीतक, जड़-चेतनतक मोहित होकर आर्यधर्मसे विचलित न हो जायगी? सूर्यसे जैसे दिन, आपके रूपसे वैसे ही संसारमें सौभग सौन्दर्य है। आपके दर्शनके लिये गायें भी, पशु भी लालायित रहते हैं'—

गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीत-
पीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः पिबन्त्यः।
शावाः स्नुतस्तनपयः कवलाः स्म तस्थु-
र्गोविन्दमात्मनि दृशाश्रुकलाः स्पृशन्त्यः॥

(श्रीमद्भा० १०।२१।१३)

वे आपके मुखसे निकले वेणुगीतपीयूषका अपने कर्णरूप दोनों पानपात्रोंको सावधानीसे उठाकर पान करती हैं। वे अपने बाहुओंसे आपका सुस्पर्शसौख्य लेनेमें असमर्थ हैं; क्योंकि उनके बाहु इस योग्य नहीं। अतः सजल नेत्ररन्ध्रोंसे आपकी मधुर मूर्तिको हृदयमें पधराकर (**'हृदि स्पृशन्त्यः'**) उसका वे निर्विघ्न आलिंगन करती हैं और दूध पी रहे उनके बछड़े आपको देखकर वेणुनाद सुनकर चकित रह जाते हैं, स्तनोंसे बहते और मुखमें गये दूधको पीना भूल जाते हैं, अतएव वह बाहर यों ही झरने लगता है। हरिणियोंकी भी यही दशा है—

धन्याः स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एता
या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम्।
आकर्ण्य वेणुरणितं सहकृष्णसाराः
पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः॥

(श्रीमद्भा० १०।२१।११)

वे एक तो पहले ही मूढ़मति हैं, फिर नन्दयशोदानन्दन श्रीश्यामसुन्दरको विचित्र वेशधारी देखकर और उनके विचित्र वेणुनादको सुनकर अपने पतियोंके साथ और भी मूढ़मति हो जाती हैं, सुधबुध भूल जाती हैं। इसी विभोर दशामें वे प्रणयावलोकनसे, अपनी समस्त सम्पत्तिसे उनकी पूजा करती हैं, वे धन्य हैं। 'हाँ तो सखियो! इसमें जो ये रोमावली आदि हैं, यह सब उन्हीं श्रीश्यामके दर्शन और स्पर्शका फल है। वृक्षोंमें, लताओंमें रोमावली उनके स्पर्श बिना नहीं हो सकती। सखि मालति! हमें इन लक्षणोंसे पता लग गया, वे तुम्हारे पास होकर गये हैं। इतना ही नहीं, तुम दासीको तत्रापि पुष्पिणी (रजस्वला)-को स्पर्श करते हुए गये हैं। बतलाओ सखि! किस तरफ गये हैं?' यों परिहास भी करती हैं, पूछती भी हैं।

व्रजांगनाओंको श्रीकृष्णके वियोगमें धैर्य नहीं है। वे चाहती हैं—किसी प्रकारसे जल्दी पता मिले। अतएव एक साथ ही कईसे पूछ जाती हैं—**'मल्लिके जाति यूथिके।'** (श्रीमद्भा० १०।३०।८)। इससे उनका अधैर्य द्योतन होता है। एक-एकसे प्रश्न करना, उत्तर सुनना धैर्यका काम है। पर वे चाहती हैं—'कोई भी दयावती जल्दी बतला दे। लताओंकी ओरसे मानो प्रश्न है—'हे व्रजांगनाओ! हम तो जड़ हैं, प्रेमोन्मादमें तुम हमसे प्रश्न कर रही हो।' इसपर व्रजांगना कहती हैं—'तुम झूठ बोलती हो, रहस्यको छिपाती हो, परंतु तुम्हारा यह पुष्पविकास, यह मकरन्दस्राव, तुम्हारी मानसप्रफुल्लता और आनन्दाश्रुको स्फुट ही बतला रहा है। यह सब श्रीश्यामसुन्दर-सम्पर्कको बिना पाये नहीं हो सकता। यह चमत्कार उसीमें है। हमलोग, हे लताओ! यह सब अनुभव कर चुकी हैं। यह कल्पना अपने विषयमें मत करो कि हम जड़ हैं, तुमलोग जड़ नहीं, बड़ी चतुर हो। बतलाओ, श्रीश्यामविहारी किस ओर गये हैं?'

श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्दके ऐश्वर्य-माधुर्यपर एक दृष्टि डालनेसे सहज ही उनके सम्पर्कका महत्त्व ज्ञात हो जायगा। श्रीभगवान्‌के ऐश्वर्यकी तुलना अतुलनीय है। कहा है—

'स्वयं त्व०…किरीटकोट्येडितपादपीठः॥'

(श्रीमद्भा० ३।२।२१)

स्वयं अद्भुत ऐश्वर्यवान् हैं। वह भी ऐसे कि किसीके साथ समानता ही नहीं बनती—असाम्यातिशय है—**'न तत्समश्चाभ्यधिकः'** (श्वेताश्वतर० ६।८) उनके-जैसा तीनों लोकमें कोई नहीं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण जगत्‌के वे महान् अधिपति हैं और

हैं—**'स्वाराज्यलक्ष्म्याप्तसमस्तकामः।'** (श्रीमद्भा० ३। २।२१) (**'स्वेनैव राजते दीप्यते'**) किसी दूसरेके प्रकाशसे नहीं, अपने ही प्रकाशसे—स्वत:प्रकाशसे प्रकाशमान तथा उसीसे पूर्णकाम। जैसे समुद्र अपने ही जलसे पूर्ण है। इन्द्र, महेन्द्र देवाधिदेव आकर उन पूर्णतम प्रभुको नमस्कार करना चाहते हैं—उनके चरणोंमें अपना मस्तक रखना चाहते हैं, परंतु उन्होंने अपने मस्तकोंपर जो मुकुट-किरीट धारण किये हैं, वे बहुत कठोर हैं और श्रीप्रभुके चरण बहुत ही कोमल हैं। अत: उनमें गड़ जानेके डरसे रत्नमय पादपीठको (पाँव रखनेकी चौकीको) ही वे लोग प्रणाम करते हैं अथवा महत्त्वातिशयवश प्रभुके चरणोंतक अपने मस्तकको ले जानेकी हिम्मत नहीं होती, अत: पादपीठपर ही उसे छुआते हैं अथवा अपनी लघुता बतलानेके लिये पादपीठपर ही किरीटवेष्टित मस्तकको रखते हैं। किरीटोंके पादपीठपर रखे जानेसे खट-खट शब्द होता है, वह मानो किरीटकृत स्तुति है, अर्थात् श्रीभगवान्‌के पादस्पर्शको पाकर जड़ चौकीमें ऐसी चेतनता—विलक्षण चेतनता—आ गयी कि जिसके क्षणिक स्पर्शसे किरीट-जैसे जड़ पदार्थ भी बोलने लगे, वह बोलना भी सामान्य नहीं, अपितु स्तुतिके रूपमें, जहाँ गुणगणाढ्यताके साथ चातुर्यकी परम अपेक्षा है। यों इन्द्रलोक, रुद्रलोक, ब्रह्मलोक, वैकुण्ठलोकादिके देवाधिपति बड़े भय, आदर और हर्षसे स्तुति करते हैं तथा महामहामूल्यवान् उपहार लेकर उनके श्रीचरणोंमें समर्पित करते हैं। कहाँ तो यह उच्चदृष्टि, यह ऐश्वर्य और कहाँ हरिणियोंकी पूजा? जिन्होंने वेद, वेदान्त नहीं पढ़ा, षट्दर्शनका अभ्यास नहीं किया, उपास्यस्वरूप समझना जिनके लिये कठिन है, उन्होंने दर्शनसे—केवल दूरके दर्शनसे पूजा की और धन्यवादकी पात्र बन गयीं—

धन्याः स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एता
या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम्।
आकर्ण्य वेणुरणितं सहकृष्णसाराः
पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः॥*

(श्रीमद्भा० १०। २१। ११)

इसपर श्रीमद्वल्लभाचार्यजीका कथन है—वस्तुतः ऐश्वर्यकी सच्ची पराकाष्ठा तभी समझी जा सकती है, जब सभी वर्गके लोग धनी, गरीब, पण्डित, मूर्ख समान भावसे आराधना कर सकें। ये हरिणी केवल प्रेमसे अवलोकन करके ही पूजा कर सकती हैं। इनके पास और कुछ पूजा-सामग्री ही नहीं है और न ये उसे जुटा सकनेमें समर्थ हैं। श्रीभगवान्‌ने इनकी इसी पूजाको स्वीकार किया और इनका सत्कारात्मक प्रतिपूजन भी किया। पूज्यको कोई पुष्कल भेंट समर्पण करके पूजा करे, यह बात नहीं है। साधारण वस्तुसे भी उनकी पूजा हो सकती है, केवल भावकी गाढ़ता चाहिये। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

अण्वप्युपाहृतं भक्तैः प्रेम्णा भूर्येव मे भवेत्।
भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते॥

(श्रीमद्भा० १०। ८१। ३)

भगवान्‌की पूजामें भावका प्राधान्य है, प्रचुर उपचारोंका नहीं

अर्थात् अभक्तके द्वारा बहुत भेंट की गयी वस्तु मुझे सन्तुष्ट नहीं कर सकती, परंतु भक्तोंके द्वारा प्रेमसे, श्रद्धासे समर्पित की गयी थोड़ी-सी अणुभर भी वस्तु प्रेमसे, प्रेमकी महिमासे—मेरे लिये बहुत अधिक हो जाती है। श्रीसुदामाके तन्दुल श्रीश्यामसुन्दरके योग्य थोड़े ही थे, परंतु श्रीभगवान्‌ने उन्हें जबर्दस्ती छीन लिया। यद्यपि श्रीसुदामाके दुपट्टेके कोनेमें उनकी ब्राह्मणीने श्रीकृष्णके भेंटके लिये ही पड़ोसिनसे माँगकर उन मुट्ठीभर तन्दुलको बाँध दिया तथापि श्रीकृष्णका वह महाराज-भाव, वह ऐश्वर्य देखकर

* अरी सखी! जब प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण विचित्र वेष धारण करके बाँसुरी बजाते हैं, तब मूढ़ बुद्धिवाली ये हरिनियाँ भी वंशीकी तान सुनकर अपने पति कृष्णसार मृगोंके साथ नन्दनन्दनके पास चली आती हैं और अपनी प्रेमभरी बड़ी-बड़ी आँखोंसे उन्हें निरखने लगती हैं। निरखती क्या हैं, अपनी कमलके समान बड़ी-बड़ी आँखें श्रीकृष्णके चरणोंपर निछावर कर देती हैं और श्रीकृष्णकी प्रेमभरी चितवनके द्वारा किया हुआ अपना सत्कार स्वीकार करती हैं। वास्तवमें उनका जीवन धन्य है! (हम वृन्दावनकी गोपी होनेपर भी इस प्रकार उनपर अपनेको निछावर नहीं कर पातीं, हमारे घरवाले कुढ़ने लगते हैं। कितनी विडम्बना है!)

उनकी हिम्मत छूट गयी। वे उन तन्दुलोंको भेंट करनेमें समर्थ न हुए। पर भगवान् कब चूकनेवाले थे, वे तो उस स्वादके भूखे थे। श्रीरुक्मिणी, श्रीसत्यभामाके द्वारा निर्मित विविध व्यंजनोंमें उन्हें वह स्वाद नहीं मिला था। उन्होंने छीन-झपटकर वह तन्दुलोंकी मुट्ठी ली। बल्कि इसी छीना-झपटीमें बेचारे ब्राह्मणका दुपट्टा भी फट गया। श्रीमद्वल्लभाचार्यजीने इसका यों उपपादन किया है—

प्रेम्णा समर्पितं वस्तु हृदयेन समर्पितं भवति।
हृदयेन समर्पितञ्च तत् हृदयेनैव गृह्यते॥

प्रेमसे समर्पित वस्तु हृदयसे समर्पित होती है और हृदयसे समर्पित वस्तु हृदयसे गृहीत होती है। '**युगपज्ज्ञानानुपपत्तिर्मनसो लिङ्गम्।**' नैयायिक मनको, हृदयको ('**स्वान्तं हृन्मानसं मनः इत्यमरः**') अणु परिमाण-परिमित मानते हैं। अणुसे ग्रहण करनेपर मुष्टिमान तो बहुत है—एक तन्दुल भी पर्याप्त होगा। प्रेमरहित समर्पण बाह्य समर्पण है। उसे प्रभु महाविराट्के अपने बाह्यस्वरूपसे ग्रहण करते हैं। आकाशके पेटको कौन भरेगा? अतएव '**भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते**' कहा है। प्रेमसे समर्पित वस्तुके साथ सुस्वादुताकी भी कोई अभिसन्धि नहीं है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(श्रीमद्भा० १०।८१।४)

फल खानेकी वस्तु है, जल भी खा ले। पर क्या पत्र, पुष्प भी खाये जाते हैं? वे तो सूँघनेकी वस्तु हैं। किंतु भगवान् भक्तके सद्भावमें, गाढ़ भक्तिमें मुग्ध हो जाते हैं, खाने और सूँघनेकी बातको भूल जाते हैं। भावुककी समर्पित वस्तुएँ प्रेमरसपरिप्लुत होती हैं। वे सब एक मुरब्बा बन जाती हैं। ऐसी थोड़ी भी वस्तु बहुत हो जाती है, फीकी भी मीठी हो जाती है। उस समय भक्त भी विभोर हो जाता है, केलेकी फलीको छोड़कर छिलकेको निवेदित करने लगता है।

परंतु हरिणियोंके पास यह सब कहाँ? वे तो केवल प्रेमभरे नेत्रोंसे देखना जानती हैं। उनका सर्वस्व यही है। उन्होंने अपने वीक्षणसे ग्वाल-वेशधारी छैल-छबीले भगवान्का पूजन किया। उन रसिकचूड़ामणि भगवान्को हरिणीके नेत्र देखकर हरिणाक्षी-प्रेयसीका स्मरण हो आया। यही हरिणीकृत पूजन हो गया। प्रियतमका स्मरण करानेसे बढ़कर और क्या पूजन होगा? भगवान्ने उनके इस पूजनको अंगीकृत किया और प्रतिपूजनमें—बदलेमें उन्हें देख लिया। हरिणियोंका यह पूजन कर्मसे नहीं, ज्ञानसे था। देखना ज्ञान है। यही तो ऐश्वर्य है कि छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े अवस्थानुसार प्राप्त साधनोंसे सभी पूजा कर सकें।

भगवान्का सौन्दर्य-माधुर्य स्वयं भगवान्को भी विस्मयमें डाल देता है

भगवान्के माधुर्यकी भी यही स्थिति है। उनके माधुर्यपर देवांगना मुग्ध हो गयीं। जब देवर्षि, महर्षि, वीतराग, मुनीन्द्र-योगीन्द्र सब आपके लोकोत्तर लावण्यपर लट्टू हो गये, ज्ञान-ध्यान सब उड़ गया, तब सरस, सहृदय गोपीश्वरी आदिकी तो बात ही क्या? आपके माधुर्यमें इतना वैलक्षण्य है कि और तो मुग्ध हों सो हों ही, पर आप स्वयं भी उसे निहारकर मन्त्रमुग्ध हो गये—

यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोग-
मायाबलं दर्शयता गृहीतम्।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः
परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्॥

(श्रीमद्भा० ३।२।१२)

इसमें '**विस्मापनं स्वस्य च**' कहा है। इसका अभिप्राय यही है कि वह भगवद्बिम्ब स्वयं भगवान्को भी आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला था। लोकमें सौन्दर्य-सम्पादनकी सामग्री अलंकार हैं, गहने-कपड़े हैं। इनसे अंगोंकी शोभा बढ़ती है। परंतु श्रीभगवद्विग्रह तो—'**परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्**' है। प्रभुका मंगलमय स्वरूप, उसका एक-एक अंग भूषणोंको भी भूषित करनेवाला है, भूषणका भी भूषण है—('**भूषणभूतानि अंगानि यस्य तत्**') मोरमुकुट, बाँकी लकुट, कारी कामरी, गुंजामाला, वनमाला अथवा कौस्तुभमणि आदि श्रीअंगमें धृत होकर अपनी शोभा पाते हैं। कहा है—

वक्षोऽधिवासमृषभस्य महाविभूतेः
पुंसां मनोनयननिर्वृतिमादधानम्।

कण्ठं च कौस्तुभमणेरधिभूषणार्थं
कुर्यान्मनस्यखिललोकनमस्कृतस्य॥

(श्रीमद्भा० ३। २८। २६)

इन कौस्तुभादि मणियोंपर अनुकम्पा करके मानो इनकी तपस्यापर प्रसन्न होकर प्रभुने इनको अंगीकृत किया, नहीं तो श्रीप्रभुको अपने निमित्त इनकी कोई आवश्यकता नहीं है, वे निरपेक्ष हैं—

'मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकम्।'

(श्रीमद्भा० ११। १३। ४०)

भूषणोंका यद्वा गुणोंका आधान महत्त्वके लिये, मंगलके लिये अथवा अनर्थ-निवारणके लिये ही होता है। प्रभुको इनकी अपेक्षा ही नहीं है। श्रीरामावतारमें सब शकुन अपनेको सफलजन्मा बनानेके लिये उद्भूत हुए। प्रभुके मंगलमय कार्योंमें प्रवृत्त होना ही उनकी सफलता है। ऐसे ही श्रीअंगके संगसे भूषणोंकी महत्ता है, अन्यथा वे सब दूषण ही हैं। ऐसे अपने लोकातिशायी रमणीय रूपपर आप स्वयं ही ऐसें मुग्ध हुए कि किसीके मनाये न माने। उनकी सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता सब कुण्ठित हो गयी। एक बार श्रीनन्दरानीके मणिमय प्रांगणमें आप बालक्रीड़ा कर रहे थे। वह आपका श्रीबालमुकुन्द स्वरूप माधुर्यकी साक्षात्मूर्ति अति ही दिव्य थी। घुटनोंके बल चलते हुए उस दर्पणसे भी अधिक शतकोटि-गुणित सुन्दर-मणिमय प्रांगणमें आपको सहसा अपना प्रतिबिम्ब दीख पड़ा—**'अहो सौन्दर्यम्!'** बस, उस सुन्दरताकी सीमाके दृष्टिगत होते ही श्रीप्रभु उसका आलिंगन करनेके लिये—उसका ग्रहण करनेके लिये मचल पड़े। बड़ा जोर लगाया, पर जब हाथमें न आया, तब आप धात्रीका मुख देखकर रोने लगे। उस अपने प्रतिबिम्बका ग्रहण अपने सामर्थ्यसे बाहरकी बात समझकर धात्रीके द्वारा उसे लेना चाहा। भूल गये माखन-मिश्री खाना, उस रूपपर इतनी मुग्धता हुई—

रत्नस्थले जानुचरः कुमारः
सङ्क्रान्तमात्मीयमुखारविन्दम्।
आदातुकामस्तदलाभखेदान्
निरीक्ष्य धात्रीवदनं रुरोद॥

जब महानागरशिरोमणिको ही ऐसा मोह हो गया, तब औरकी तो बात ही क्या?

श्रीश्यामसुन्दर इस अपनी विस्मापक रूपराशिका आस्वादन लेनेके लिये श्रीराधा बनना चाहते हैं। ऐसे ही जब श्रीव्रजेश्वरी अपनेको देखतीं, तब उनके मनमें भी यही आता कि मैं श्रीश्यामसुन्दर बनूँ, तब इस रूपका आस्वादन मिले। सारांश यह है कि श्रीराधा तथा श्रीकृष्ण दोनोंको ही अपने अद्भुत स्वरूपमाधुर्यपर मुग्धता है, परंतु दोनों उसका उपयोग करनेमें असमर्थ हैं; क्योंकि उपभोग्य वस्तु जब उपभोक्तासे भिन्न हो, तभी उसका उपभोग हो सकता है। यदि उपभोग्य वस्तु उपभोक्तासे अभिन्न, उसका स्वरूपभूत हो, तब उसका उपभोग दुर्घट ही है। अतः श्रीश्यामसुन्दर श्रीराधा बनकर अपने अद्भुत रूपमाधुर्यका उपभोग चाहते या करते हैं और श्रीराधा श्रीश्याम बनकर अपनी रूपमाधुरीका पान किया करती हैं। इन्हीं दृष्टियोंसे **'विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः'** (श्रीमद्भा० ३। २। १२) कहा गया है।

एक भाव और भी इस प्रसंगमें है—जब कभी सर्वसीमन्तिनी श्रीवृषभानुनन्दिनीके अंगमें रसिकशेखर नन्दनन्दन, षोडशवार्षिक कैशोरस्वरूपको अलौकिक, तदेकस्थ—अन्यत्र दुर्लभ रूप लावण्यको देखते, तब अपने रूपसे भी अधिक मन्त्रमुग्ध हो जाते। उनकी रुचि होती—'मैं कब अनन्तानन्त कल्पोंकी तपस्या द्वारा श्रीप्राणेश्वरीका स्वरूप प्राप्त करके इस मधुर स्वरूपके संस्पर्शका अवसर प्राप्त कर सकूँगा। यद्यपि कहा जा सकता है कि जब श्रीश्याम, श्रीराधाके नारीके रूपमें आ जायेंगे, तब उन्हें उनके रूपपर मुग्धता ही कैसे रह जायगी; क्योंकि **'मोह न नारि नारि कें रूपा'** (रा०च०मा० ७। ११६। २)-का सिद्धान्त है तथापि जहाँ असाधारण बात होती है, वहाँ नारी भी उसके रूपपर मुग्ध हो ही जाती है।'

श्रीव्रजधाममें सभी भावकी उपासना चलती है, उसका यही रहस्य है। पीछे कहा गया है—**'पुंसां मनोनयननिर्वृतिमादधानम्।'** यह बड़े मार्केका वचन है। (**'पुंसामपि'**) पुरुषोंके भी तथापि उन पुरुषोंके, जो अनंगको भी लजानेवाले हैं—उनके मन और नयन दोनोंको उससे आनन्द, आह्लाद मिलता है। इसमें

लौकिक स्त्रीत्व, पुंस्त्व-भावना मिटकर अलौकिक भावना होती है। यहाँ तो श्रीश्यामसुन्दर मदनमोहनको भी, जो परम पुरुष हैं—पुरुषभावनिवृत्तिपूर्वक श्रीवृषभानुनन्दिनीभावनाकी प्रेप्सा होती है, अस्तु, इस प्रकार एक-दूसरेकी स्वरूपमाधुरीका पान करनेके लिये श्रीराधाकृष्ण दोनों ही परस्पर प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहते हैं।

ऐसी रूप-माधुरीमें सदा छके रहनेवाले श्रीश्यामसुन्दरके दर्शनमात्रसे मालती (लतानायिका) आदिमें आमोद, प्रसन्नता या सौगन्ध्य और तदतिरेकोत्थ (हर्षोत्थ) अश्रु (मकरन्दबिन्दु) प्रादुर्भूत होते हैं। इस रूपमें मालतीको भावित करके श्रीकृष्णान्वेषणकातरा व्रजबाला कहती हैं—'सखि! मालति! तुम यह मत कहो कि तुमने उन्हें देखा नहीं; क्योंकि यदि तुमने उन्हें देखा न होता तो यह तुम्हारा सुमन-विकास—कुसुम-विकास—कैसे होता? यह तो उस प्राणप्यारेकी ही विशेषता है, जो उनके दर्शनमात्रसे ही प्रसन्नता आती है। अत: बतलाओ सखि मालति! मल्लिके! तुमलोगोंने उन्हें इधर कहीं जाते देखा है?'

मालत्यदर्शि वः कच्चिन्मल्लिके जाति यूथिके।
प्रीतिं वो जनयन् यातः करस्पर्शेन माधवः॥

(श्रीमद्भा० १०।३०।८)

'मालत्यादि सखि! न केवल उनका दर्शन, अपितु स्पर्श भी आपलोगोंने प्राप्त किया है; क्योंकि वे रसिकेन्द्रचूड़ामणि हैं, वे अवश्य ही आपलोगोंके पल्लव, पुष्प आदि ग्रहण करते गये हैं, आपलोगोंके स्पर्श करते हुए इधरसे गये हैं।' 'माधव' का अर्थ वसन्त और सरस शृंगाररसस्वरूप श्रीश्यामसुन्दर भी है। माधवी, मल्लिका, जाति आदि 'माधव' के बिना 'पुष्पिणी' नहीं हो सकतीं। इस तरह गोपांगनाएँ श्लेषसे बोल रही हैं। इतना सब पूछनेपर भी जब मालत्यादि कुछ बोलतीं ही नहीं, तब व्रजांगना कहती हैं—'अरी सखियो! इतनी गर्वीली मत बनो, देखो, वे माधव (**'मायायाः शोभाया एव धवः, माधवः'**) हैं, शोभामात्रके पति हैं—प्यारे हैं। जबतक तुम पुष्पवती हो, तभीतक वे इधर आते हैं, फिर तो झाँकेंगे भी नहीं। देखो न, वे हमें कैसे छोड़कर चले गये। मालत्यादिको! बतलाओ, बड़ा पुण्य होगा और उससे अधिक कालतक तुम्हें श्रीश्यामका करस्पर्श-सुख मिलेगा। बतलाओ, किधर गये? हे मालति! यह तो सिद्ध ही है कि वे तुमसे मिलते अवश्य गये हैं; क्योंकि तुम उनकी प्राणाधिका राधिकाकी यद्वा लक्ष्मीकी 'लतिका' हो और इनकी सखी होनेके कारण अधिक शोभावाली भी हो, अत: आनन्दोद्रेकमें तुमसे मिलते हुए ही वे गये हैं—**'मायायाः लक्ष्म्याः अथवा राधायाः लतिकैव लती मालती' 'लत' परिवेष्टने।** अजी यह उस ललीकी लता है—सौतकी सखी है, इसलिये नहीं बतलायेगी। श्रीराधाका कभी उनसे वियोग नहीं, अत: यह मालती वियोग-दु:खानभिज्ञा होनेसे मानो हमारी उपेक्षा कर रही है। मल्लिका—मल्ल हैं अवयव जिनके, उन श्रीकृष्णको आनन्द देनेवाली यह है। यह अद्भुतता है इस वृन्दावन लताकी कि इसे देखकर श्रीश्यामसुन्दर इसके पास खड़े हो जाते हैं और अपनी प्रियाको इसकी सुन्दरता बतलाने लगते हैं—'देखो, कैसी है यह।' 'जाती' (**'जनयति आनन्दमिति जाती'**) श्रीमोहनमें प्रेम उत्पन्न करनेवाली है। 'यूथिका' यह स्वयं भी यूथके साथ रहती है और श्रीनन्दनन्दनको—व्रजांगनाओंके साथी श्रीनन्दनन्दनको यूथसहित देखती है। यों व्रजांगना उन लताओंकी स्तुति आदि करती हुईं उनसे अपने प्राणधनका पता पूछती हैं।'

इस प्रसंगमें 'मालती' आदिपर कुछ और भी भाव हैं। 'हे मालति! आप—मा—नित्यानपायिनी जो लक्ष्मी भगवान्‌के वक्षपर सदा निवास करती हैं—उनकी लता हो, अत: आपको हमारे प्राणवल्लभका अवश्य पता है, कृपाकर बतलाओ।' जब बहुत अनुनय-विनयसे पूछनेपर भी मालती कुछ नहीं बोलती, तब उन्मादवती व्रज-युवतियोंको उससे ईर्ष्या होती है। वे उससे कहती हैं—'आखिर मालति! तुम लक्ष्मीपक्षपातिनी हो, वह हमें सौत समझती है। ऐसी दशामें तुम हमारा प्रिय कैसे कर सकती हो?'

चन्द्रावलीपक्षकी गोपांगना भी इसीका समर्थन करती है। इस तरह व्रजांगनाओंमें प्रशंसा, असूया

आदि उदय हो रहा है। सहसा फिर मल्लिकापर दृष्टि पड़ी—'अहो, 'मल्लिके'—श्रीकृष्णको 'का'—सुख पहुँचानेवाली—यह लता है। इसके मकरन्द, कुसुम आदि उनको बहुत प्रिय हैं! देखो सखि! अनन्तकोटि ब्रह्माण्डाधिपतिको भी यह आनन्दित करनेवाली है, बड़ी सौभाग्यशालिनी है यह। अच्छा, सखि! मल्लिके! श्रीश्यामसुन्दरका पता बताकर हमें भी थोड़ा सुख दो।' थोड़ी देरके बाद जब उत्तरकी आशा समाप्त हो गयी, तब व्रजांगनाओंको सूझा—'सखियो! यह भी श्रीश्यामका पता न देगी; क्योंकि यह श्रीश्यामसुन्दरके उत्संगसे सुखिनी है और उनके इस भावकी सम्भवतः कल्पना कर रही है कि 'वे रसिकेन्द्र श्रीश्याम इनको किसी कारणवश विप्रयोगदुःख देनेके लिये अन्तर्धान हुए हैं, अतः उनकी कृपापात्र बनी रहनेके लिये मुझे भी उनका पता नहीं देना चाहती।' दूसरे, वे अपने श्रीहस्तसे इसका स्पर्श करते गये हैं, मानो इसे समझाते गये हैं कि गोपांगनाजनको मेरा पता मत देना।' यों उस मल्लिकाके प्रति अवहेलनासे देखतीं व्रजांगनाओंकी दृष्टि फिर उसी अवहेलनासे 'जाती' पर पड़ती है और वे प्रियप्राप्तिके लिये मिन्नतोंके स्थानपर उसकी निन्दा करती हैं। परंतु उनको यह कुछ पता नहीं है कि प्रेमोन्माद उनसे क्या-क्या करा रहा है। अस्तु, वे जातीसे कहती हैं—'तुम उन मोहनके लिये सुखजनन करनेवाली अवश्य हो। परंतु **'जो अभिभवे'** धातुसे तुम्हारी रचना हुई है। हमारे रोनेसे तुम्हें सुख मिलता है। खल सज्जनोंको दुःखी देखकर प्रसन्न होते हैं। सखियो! इसमें और कुछ तत्त्व नहीं, केवल सुमनोविकासमात्र ही रह गया है। हाँ, यह यूथिका एक अवश्य ऐसी है, जो हमें श्रीश्यामको बतला सकती है; क्योंकि यह यूथी—गोपांगनासहित श्रीनन्दनन्दन-को-'का'-आनन्द देती है। अच्छा, बहन यूथिके! अब तुम्हीं हमारा अवलम्ब हो। ये मालती, लक्ष्मी, राधा आदि केवल उन नवनागरको ही सुख देती हैं, परन्तु तुम केवल कृष्णपक्षपातिनी नहीं हो, हमारा भी पक्ष रखती हो। अतः श्रीश्यामका पता देकर हमें सुखिनी करो। हम उनके दर्शन बिना बहुत व्याकुल हैं।' थोड़ी प्रतीक्षा करके देखनेपर भी जब कुछ उत्तर नहीं मिला, यूथिका ज्यों-की-त्यों खड़ी ही रही, तब उन व्रजदेवियोंने समझा—'यह बतलाती तो अवश्य, परंतु वे नागरशिरोमणि 'करस्पर्श' से हमें बतलानेका निषेध करते गये हैं, तब बेचारी कैसे बतलाये? अथवा जब कृष्णके साथ हम होती हैं, तभी यह हमें आनन्दित करती है, उनके बिना यह हमारी ओर ताकतीतक नहीं।'

प्रेमोन्मादिनी गोपांगनाओंका आम्र, प्रियाल आदि वृक्षोंसे मनमोहन श्यामके विषयमें पूछना और उत्तर न मिलनेपर उनपर असूया भाव रखना

इस तरह इन लताओंका गुणस्तवन, असूया आदि करतीं, कृष्णान्वेषणतत्परा व्रजबालाओंकी दृष्टि आम्रादि बड़े वृक्षोंपर पड़ी। उन्होंने सोचा—'ये लता आदि क्षुद्र क्षुप हैं, केवल पुष्पवाले हैं, इनसे किसीको 'फल' न मिलेगा, चलो इन बड़े फली वृक्षोंसे अपना मनोरथ कहें'—

चूतप्रियालपनसासनकोविदार-
जम्ब्वर्कबिल्वबकुलाम्रकदम्बनीपाः।
येऽन्ये परार्थभवका यमुनोपकूलाः
शंसन्तु कृष्णपदवीं रहितात्मनां नः॥*

(श्रीमद्भा० १०।३०।९)

अहह, गोपांगनाओंके आगे प्रेमकी पराकाष्ठा हो गयी। श्रीकृष्णानुरागगंगाके महाप्रवाहसे उनके धैर्यका बाँध टूट गया, जड़-चेतनका भेद मिट गया। एक ही बात, एक ही धुनमें वे व्यग्र हैं—किसी भी तरह प्राणप्यारे, श्यामसाँवरेका दर्शन मिले। वृक्षोंसे पूछती हैं—'हे कालिन्दीकूलवासी, विशुद्ध, परोपकारी कोविदारादि वृक्षो! कृपाकर हमें श्रीकृष्णका मार्ग

* 'रसाल, प्रियाल, कटहल, पीतशाल, कचनार, जामुन, आक, बेल, मौलसिरी, आम, कदम्ब और नीम तथा अन्यान्य यमुनाके तटपर विराजमान सुखी तरुवरो! तुम्हारा जन्म-जीवन केवल परोपकारके लिये है। श्रीकृष्णके बिना हमारा जीवन सूना हो रहा है। हम बेहोश हो रही हैं। तुम हमें उन्हें पानेका मार्ग बता दो।'

बताओ, वे किस ओर पधारे हैं? हमें शीघ्र बताओ।' मानो वृक्षोंने उत्तर दिया—'व्रजांगनाओ! आप स्वयं ही उन्हें ढूँढ़ो, हमलोग तो जड़ हैं, असमर्थ हैं।' वे प्रेमप्रमत्त, उन्मादमें निमग्न व्रजबालाएँ स्वयं ही कल्पना कर लेती हैं, स्वयं ही सब उत्तर-प्रत्युत्तर कर लेती हैं। वृक्षोंकी बात सुनकर वे बोलीं—'हे परोपकारी, तीर्थवासी वृक्षो! हमारा धैर्य छूट गया है, अन्त:करण वशमें नहीं है। कृष्णान्वेषण अब हमारे सामर्थ्यके बाहरकी बात है। यह तो कृपा अब आप ही करो, उनको बतला दो। आपलोगोंका जन्म परोपकारके लिये है। देखो, कोई धनहीन, जनहीन, गेहहीन होते हैं, अन्यान्य बुद्ध्यादिसे हीन होते हैं, परंतु हम तो आत्महीन हैं। हमारी तो आत्मा ही नहीं रह गयी है। दीनोंका सन्त्राण सज्जनकृत्य है। दयापात्र कौन है? देहरहित, गेहरहित, इन्द्रियरहित, बलरहित, व्यंगांग, विकलांग नहीं, बल्कि हम हैं, जो अन्त:करणसे शून्य हैं, आत्मासे रहित हैं। वृक्षो! हमसे बढ़कर दूसरा दयापात्र और कोई न मिलेगा। हम तो आत्मरहित हैं, वे त्रिभंगललित घनश्याम हमारी आत्मा हैं, सर्वस्व हैं। हम दयनीयोंको बतलाओ, वे सर्वस्वहारी, मुरलीधारी किस ओर गये हैं?'

लोक-वेदमें प्रसिद्ध है कि संसारमें किसीसे भी प्रेम अपने ही लिये होता है—

न वा अरे पत्यु: कामाय पति: प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पति: प्रियो भवति।

× × ×

आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।

(बृहदारण्यक० २।४।५)

अत: जहाँ 'स्व' नहीं—आत्मा नहीं—वहाँ प्रेम भी नहीं। अतएव 'स्व' पुत्रादिमें, 'स्व' राज्यादिमें प्रेम होता है। अन्यथा पुत्रादि तो सभीको होता है। देवाराधन, यज्ञ, तप, सब 'स्व' कल्याणके लिये हैं। पत्नी, पुत्र अनुकूल होनेसे प्रिय हैं; नहीं तो शत्रु हैं अथवा कुछ भी नहीं। जो धनकामनासे, आर्ति-निवृत्तिके लिये, ज्ञानके निमित्त भगवान्‌को भजते हैं, वे अपने भक्त हैं, भगवान्‌के नहीं। परंतु उन व्रजवधूटियोंका तो सब कुछ श्रीश्यामके लिये है। उनके देह, गेह, बुद्धि, अन्तरात्मा यदि श्रीघनश्यामको सुख न पहुँचायें तो वे इन्हें न रखेंगी। ये तो सब केवल प्राणेश्वरके लिये हैं। जब ये उनके अंग अपने प्राणधनकी सेवामें नहीं आते, तब वे इन्हें आभूषणादि क्यों पहनायें? व्रजांगनाएँ श्रीकृष्णके बिना अपनेको आत्महीन समझती हैं। जलके बिना तरंगका स्वरूप ही नहीं रहता, मृत्तिकाके बिना घटका कोई रूप नहीं, वैसे गोपी कृष्णमय हैं। अत: श्रीकृष्णके अन्तर्हित होनेसे गोपांगनाएँ आत्मरहित हो गयीं। इसीलिये गोपीजन कहती हैं—'वृक्षो! हम आत्मरहित हैं, आत्माका—श्रीश्यामका पता हमें बतला दो। जो नित्योंमें नित्यत्व-संस्थापन करनेवाले हैं, वे मोहन हैं, वे हमारी आत्मा हैं—'**नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्**।' महाकाशके बिना जैसे घटाकाशका जीवन नहीं, वैसे श्रीश्यामसुन्दरके बिना हमारा भी जीवन नहीं।' आत्माके बिना कोई रह नहीं सकता, अत: पहले 'अन्तर्हित' कहा गया, किंतु इस समय व्रजांगनाएँ प्रेमोन्मादमें अपनेको आत्मरहित समझकर वृक्षोंसे पूछती हैं। इस तरह व्रजांगनाएँ अधीर हो रही हैं। इधर श्रीश्यामसुन्दर सोचते हैं—यद्यपि वे स्वयं अन्तर्हित हैं और उन व्रजांगनाओंके दर्पोपशमनके लिये ही अन्तर्हित हुए हैं तथापि उनके हृदयमें दया है, वे व्रजांगनाजनकी ऐसी विलक्षण प्रणयदशासे उदित क्लेशके दूरीकारका उपाय सोचते हैं, परंतु उनकी समझमें नहीं आता कि इनको कैसे सान्त्वना दें।

तरंगमें जलकी तरह अन्य व्रजांगनाजनकी स्थिति है और जलमें मधुरिमास्थानीया श्रीरासेश्वरी हैं। यह अत्यन्त अन्तरंगा हैं। इस प्रकार जलस्थानीय श्रीकृष्णमें मधुरिमास्थानीय अत्यन्त अन्तरंगताको प्राप्त करके भी श्रीवृषभानुदुलारीको, महारंकके लिये चिन्तामणिप्राप्तिकी तरह श्रीकृष्णप्राप्तिमें अतिदुर्लभताकी प्रतीति हो रही है। 'गोपालचम्पू' में पूर्णमासी पुरोहितानी और वृन्दादेवीकी प्रेरणासे जब यह स्थिति बना दी गयी है, तब गर्गाचार्य आये हैं। ये सब भाव उत्कण्ठाको उत्कट बनानेके लिये हैं, इसीलिये श्रीजीवगोस्वामीने परकीयात्वका पोषण किया है, परंतु चम्पूकारने स्वकीयात्व मानते हुए इन भावोंकी स्थापना की है।

वैसे व्रजमें कोई भी ऐसा नहीं, जो श्रीकृष्णको अपना प्रियतम न समझे, सभी उनका आनुरूप चाहते थे। गोपबालाओंके माता-पिता आदि सभी श्रीश्यामसुन्दरके साथ अपनी पुत्रियोंका विवाह करना चाहते थे। इसमें रसाक्रान्तिकी तरह, मूर्तिमान् शृंगारके प्रादुर्भावकी तरह, व्रजसीमन्तिनी तथा व्रजबालाओंका श्रीकृष्णसे मिलते रहनेपर भी सम्मिलनोत्कण्ठाका उदय हुआ रहता था।

एक समय गोपियोंके पिताओंने श्रीगर्गजीसे श्रीश्यामसुन्दरके साथ अपनी पुत्रियोंके विवाहके विषयमें पूछा—(यह प्रकट लीला है, श्रीशुकदेवजीने प्रकट-अप्रकट दोनों लीलाओंका वर्णन किया है)। उत्तरमें श्रीगर्गजीने कहा—'आपलोगोंका यह भाव बहुत उत्तम है, परंतु यदि आपकी कन्याओंका विवाह श्रीकृष्णके साथ हो गया तो आप सबका श्रीकृष्णके साथ वियोग हो जायगा, उनका दर्शन दुर्लभ हो जायगा।' तबसे सब सावधान हो गये और गोपियोंके लिये श्रीकृष्णदर्शनतकमें रुकावट उत्पन्न हो गयी। यह सब हुआ केवल श्रीकृष्णके वियोग-भयसे, किसी द्वेष-बुद्धिसे नहीं।

इस प्रसंगमें पूर्णमासीने वृन्दासे पूछा कि 'जब मन्त्रोंमें भी श्रीकृष्णका 'गोपीजनवल्लभ' नाम है, तब श्रीकृष्णके साथ गोपियोंके विवाह क्यों रोके गये? और दूसरी जगह क्यों हुए? इसपर वृन्दाने यही कहा कि 'ये सब दुःख स्वप्नमात्र हैं। वास्तवमें गोपांगनाओंका सम्बन्ध श्रीकृष्णको छोड़कर अन्यत्र हुआ ही नहीं। इसीलिये—'**मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः॥**' (श्रीमद्भा० १०। ३३। ३८) और '**न जातु व्रजदेवीनां पतिभिः सह संगमः।**' (उज्ज्वलनीलमणि ३१) आदि कहा गया है। यत्र-तत्र जो गोपांगनाओंकी पत्यन्तर-प्रतीति है, वह सब मायामय है। उन-उन व्रजदेवियोंका मायामय पतियोंके साथ ही संगम होता था।'

'उज्ज्वलनीलमणि' में कहा गया है कि रसशास्त्रमें प्रधान रसके पोषण-प्रसंगमें परोढाके परिग्रहमें कवियोंने जो रसाभास माना है, वह गोकुलांगना-समूहको छोड़कर है; क्योंकि इसमें दुर्लभता, प्रच्छन्नकामुकता आदिसे उत्कण्ठावृद्धि, अद्भुत प्रेमप्राखर्य आदि होते हैं। इस रूपमें यह सब (परकीयात्व आदिके पोषक भाव) प्रीतिवृद्धिके लिये होते हैं। जितनी-जितनी प्राप्तव्यके प्रति दुर्लभता बढ़ती जाती है, उतनी ही उसके प्रति गाढ़ानुरागता भी बढ़ती है। फिर वह साधारणविषयक न होकर सर्वेश्वरके प्रति है। श्रीराधाकी यह जो श्रीकृष्णविषयक दुर्लभता बतलायी गयी है, वह वैसे ही है, जैसे अमृत और उसकी मधुरिमाका कभी भी वियोग न होनेपर भी वियोग और विह्वलता बतलायी जाय। सारस तथा लक्ष्मणाका सर्वदा संयोग रहता है और चक्रवाक-चक्रवाकीका सर्वदा वियोग रहता है। यहाँ दोनोंका सामंजस्य है। अनन्तकोटिगुणित संयोग एवं वियोगका श्रीश्यामा-श्यामको एक कालमें सदा आस्वाद बना रहता है। श्रीजीवगोस्वामीने एक प्रसंगमें कहा है कि कुलांगनाके लिये सबसे बड़ा कष्ट—महाकष्ट लज्जात्याग है। परंतु यह बड़े-से-बड़ा दुःख भी श्रीश्यामसुन्दर नटनागरके सम्बन्धमें उतना ही महान् सौख्य हो जाता है, यह दुःख अनन्त, अलौकिक सुखविषयक है। यही प्रेमका प्राखर्य है। माता-पिता आदिके तीव्रातितीव्र निषेध जैसे-जैसे बढ़ते जाते हैं, प्रीति उतनी ही अधिक बढ़ती जाती है।

श्रीवृषभानुनन्दिनी इस प्रकार अपने प्रेमप्राखर्य और विविध निरोधोंका अनुभव कर रही हैं। वह सोचती हैं कि 'यदि मैं आज कोई पक्षी होती तो दर्शनार्थ उड़कर प्रेष्ठके समीप पहुँच जाती, पर करूँ क्या? '**वपुः परवशम्**' यह शरीर परवश है। इसी समय उन्हें पुलिन्दियों, हरिणियोंका स्मरण होता है। वे उनका भाग्य सराहती हैं—'अहो! वे भील-भामिनियाँ धन्य हैं, जिन्हें प्रियतमपादारविन्दसंलग्न कुंकुमका तो दर्शन मिला। इनसे भी अधिक धन्य वे हरिणांगनाएँ हैं, जो अपने पतियोंके साथ उन नन्दनन्दनका प्रेमावलोकसे पूजन करती हैं, दर्शन करती हैं। उनके पति '**कृष्णसार**' ('**कृष्ण एव सारो येषां ते**') हैं। हम गोपांगनाओंके पति '**अभिमान-सार**' हैं। वे हरिण अपनी हरिणियोंको साथ लेकर दर्शन करने आते हैं, सब जगह जाकर दर्शन करते हैं, अतः वे हरिणियाँ धन्य हैं—

धन्याः स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एता
या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम्।
आकर्ण्य वेणुरणितं सहकृष्णसाराः
पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः॥

(श्रीमद्भा० १०।२१।११)

परंतु '**वयं अधन्याः**'। कथंचित् दर्शनार्थ जायँ भी, पर यह जन्म जो एक कुलीन वंशमें हुआ है—'**जनुः परमिदं कुलीनान्वये।**' खानदानमें बट्टा लग जानेका भय है। अहह! कितनी विवशता है तथापि क्या यह मैं अबतक जी रही हूँ? हा! मुझे भला मौत कहाँ?—'**न जीवति तथापि किं परमदुर्मरोऽयं जनः ?**' मरना बड़ा कठिन है, मर जाऊँ तो अच्छा। मृत्युसे भी कहीं अधिक ये प्राणधनके वियोगके कष्ट तो न होंगे।

इस प्रकारके चिन्ता-सन्तापमें मग्न श्रीराधिकारानी किसी समय अपने लीलाशुकको अपने हस्तारविन्दके अंगुष्ठप्रान्तपर बिठाकर उसे दाडिमी बीज चुगाती हुई स्नेहसे उसके चंचुपुटका चुम्बन करती हुई पढ़ा रही थीं—'***कृष्ण कहु, कृष्ण कहु, राधा कहु मति रे।***' शुक बहुत विशेषज्ञ था, अपनी पालिकापर उसे प्रेम और दया थी, उसके वियोगदुःखको देखकर वह दुःखी था। वह तुरन्त पद्यसन्देश लेकर उड़ा और श्रीनन्दरायके प्रांगणमें जा पहुँचा, जहाँ श्रीश्यामसुन्दर क्रीडामें आसक्त थे। एक ऊँची-सी जगह निर्भीक भावसे बैठकर वह पद्य उसने उन्हें सुनाया। अपनी परमान्तरंगा आह्लादिनी प्रियाका वह भावगम्भीर पद्य सुनकर श्रीश्यामसुन्दर मुग्ध हो गये। बड़े आग्रह एवं अनुनयसे श्रीकृष्णने उस शुकको अपने पास बुलाया, अपने सुकोमल हस्तारविन्दपर उसे बिठलाकर कई बार उस पद्यको सुना और समीक्षा करने लगे—'यह किसी महानुरागवतीका पद्य है। इतनेहीमें वहाँ मधुरिका और कुसुमासव सखा भी आ गये। परस्पर प्रश्न हुए। मधुरिकाने कहा—'मैं इस शुकको ढूँढ़ने आयी हूँ।' कुसुमासव बीचमें ही बोल उठे—'सखि! यह तो हमारे श्रीश्यामसुन्दरका शुक है। यदि यह तुम्हारी प्रियाजूका है तो इसे अपने पास बुलाओ।' मधुरिकाने कहा—'सखे! क्या कोई भी इन श्रीलालजूके हाथसे छूटकर जा सकता है?' यह तो भला एक प्रेमी जीव है। इनके हाथमें आते ही जड़ चेतन हो जाते हैं और चेतन जड़ हो जाते हैं। इनके हाथमें आते ही जड़ वेणु सजीव हो जाती है। उनका यह रसमय प्रसंग चल ही रहा था कि इतनेमें ही श्रीयशोदाजी वहाँ आ गयीं और बोलीं—'सखि! लालाको अभी खेल लेने दे, फिर मैं इसे तुम्हारे ही घरतक पहुँचा दूँगी।'

इस तरह लोकापवादादि भयसे भीत श्रीश्यामाजू प्रच्छन्नकामुकता आदिके लोकोत्तर साधन शुकप्रेषणादिका रसवर्धनार्थ आश्रय लेती हैं, अस्तु, ऐसे विलक्षण गूढ़ संचारवती श्रीमती राधा तथा तत्प्रिय सखियोंको प्रसन्न करनेका भगवान्‌को कोई उपाय नहीं सूझता। अतः वे श्रीललिताजीसे पूछती हैं—

लोकापवाददलितां मम लम्भनेऽपि
एतां कथं कथमहो परिसान्त्वयामि॥

हृदयसे हृदयका कभी विप्रयोग नहीं होता, पर फिर भी भ्रमसे ऐसा होता ही है; क्योंकि श्रीमद्भागवतादिमें विप्रयुक्तोंकी अवस्थाका दिग्दर्शन हुआ है। अन्यत्र भी '**दावानलज्वालिवनी सहक्षाम**' आदिसे विप्रयुक्तोंकी लोकसिद्ध किसी भी सद्वस्तुमें वस्त्वन्तरकी प्रतीति होनेके उदाहरण मिलते हैं।

अस्तु, किसीको संयोगसे, किसीको वियोगसे सान्त्वना दी जाती है। परंतु इन्हें कैसे प्रसन्न करें, जो प्रत्येक दशामें दुःखका ही अनुभव करती हैं? सखी श्रीललिता कहती हैं—'महाराज! श्रीप्रियाजूको तो अंक (गोद)-में विराजमान करके ही प्रसन्न करो; क्योंकि वे आपके अन्यान्य गुणगणोंसे सिवा मूर्च्छित होनेके सुखी नहीं होतीं'—

न मूढधीरस्मि न वा दुराग्रहा
शरीरभोगेषु न चापि लालसा।
किन्तु व्रजाधीशसुतस्य ते गुणा
बलादपस्मारदशां नयन्ति माम्॥

गोप-सुन्दरियोंके भी ऐसे ही मिलते-जुलते भाव हैं। इसने उच्च गम्भीर भाववती, फिर आत्मरहित भी उन गोपबालाओंको प्रसन्न करनेका उनके अनुकूल होनेके सिवा भगवान्‌के पास कोई भी अन्य साधन नहीं है।

पूर्वोक्त '**चूतप्रियालपनसासन**' (श्रीमद्भा० १०। ३०। ९) इस पद्यमें आमके 'चूत' और 'आम्र' ये दो नाम आये हैं। इस द्विरुक्तिके टीकाकारोंने विभिन्न अर्थ किये हैं। अम्ल (खट्टे) रसवाले आमको 'चूत' और मधुर रसवाले आमको 'आम्र' कहते हैं। इस तरह रसभेदसे दो नाम, दो भेद हैं। अथवा '**करुणया च्यवते इति चूतः**' करुणासे जो दीनोंपर द्रुत हो, उसे '**चूत**' कहते हैं। अन्यत्रके आमोंमें चाहे यह बात न हो, पर श्रीवृन्दावनधामके आमोंमें तो यह विशेषता है ही। ये श्रीश्यामसुन्दरके यहाँ अन्तरंग हैं अथवा परिकरोंमें कोई हैं। मुनिजन भी यहाँकी वृक्षता चाहते हैं। श्रीव्रजांगनाएँ कहती हैं—'वैसे हे आम्रवृक्षो! आपलोग दुःखियोंका दुःख देखकर द्रुत होते हैं। दूसरोंमें दया नहीं, अतः वे द्रुत नहीं होते। हमसे बढ़कर दूसरा दुखिया और कौन होगा? हमपर दया करो। आमका भव—जन्म परोपकारके लिये हैं। फल, पुष्प, पत्र और काष्ठ आदि आपकी सभी वस्तुएँ केवल परोपकारके लिये हैं। आपका निवास साक्षात् प्रेमद्रववती श्रीयमुनाके तटपर है। श्रीयमुनाजलकी तरह ही मानसरोवर, कृष्णसरोवर आदि भी व्रजके तीर्थ अनुरागद्रव हैं। इन श्रीयमुनाजल आदिके दर्शन, स्पर्श, पान आदिसे दूसरोंको भी श्रीकृष्णविषयक ज्ञान देनेके कारण आपका नाम '**चिति संज्ञाने**' से **चेतति** '**अन्यांश्चेतयतीति वा चूतः**' हुआ है। इतनी ऊँची आपलोगोंकी योग्यता है। आप हम दुःखियोंको भी श्रीश्यामसुन्दरका पता देकर कृतार्थ करो।'

जब इतनी स्तुति करनेपर भी आम्रवृक्षोंने कुछ उत्तर नहीं दिया, तब गोपांगनाएँ बड़ी खिन्न हुईं। असूयासे अब उनके प्रति दोषोंका अनुसन्धान हुआ—(**'च्योतति, प्रच्युतयति इति चूतः'**) 'सखि! ये तो थे परोपकारी, पवित्र तीर्थवासी ही, परंतु अब स्वरूपसे प्रच्युत हो जानेके कारण निष्ठुर हो गये हैं। '**यमुनोपकूलाः**' ये यमुनाके किनारे रहते हैं। यमुना यमराजकी बहन हैं, यम सर्व दुःखदायी हैं। '**संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति**' उसी यमसम्पर्कसे ये अब निर्दय हो गये हैं। हमारे तीव्रतापसे इन्हें प्रसन्नता हो रही है।'

'प्रियाल' पीले सालवृक्षका नाम है (**'प्रियाः इति आलापो यस्य सः'**) सखीगण जिसे प्रिय हों, यह नामार्थ 'प्रियाल' का गोपांगनाओंने निकाला। 'सखि, वह हम सखियोंपर अवश्य अनुकम्पा करेगा, यह अवश्य हमारा हित सोचेगा। हित तो श्रीश्यामसुन्दरके मिलनमें है, सो यह उनका पता बतलायेगा। अजी! यह '**प्रियं लाति इति प्रियालः**' है, प्रिय श्रीकृष्णको देनेवाला है।'

'**प्रियं लाति**' अर्थात् जो प्रिय पदार्थको दे, वह 'प्रियाल' है। वृन्दावनका 'प्रियाल' श्रीकृष्णको देनेवाला है। 'वृन्दावनशतक' में वृन्दावनस्थ तरुओंकी बड़ी महिमा कही गयी है। कहा है—'यदि तुमसे और कुछ भजन-भावना नहीं बन सकती तो इन वृक्षोंका ही दर्शन करो, ये तुम्हें प्रियको देंगे, स्वयं प्रियका अन्वेषण करके तुम्हें समर्पित करेंगे।' इस अंशमें वृन्दावनके सभी वृक्ष 'प्रियाल' हैं, फिर साक्षात् प्रियालकी तो बात ही क्या? इसी आशासे गोपीजन प्रियालकी प्रशंसा करती हैं। अद्भुत प्रेमोन्मादमें उन्हें जड़ और चेतनका ज्ञान नहीं रह गया, उन्हें अभी यही भावना बनी है कि ये हमें अभी प्रियका पता देंगे। प्रेमीकी आशाका कुछ ठिकाना नहीं, वह जड़में भी चेतनकी कल्पना करता है। प्रेमकी प्रतिमूर्ति व्रजदेवियाँ श्यामसुन्दरके आभूषणोंकी, मालाकी प्रशंसा करती हैं। इतना ही नहीं, वे तो उस वायुकी भी स्तुति करनेको उद्यत हैं, यदि वह मोहन प्यारेकी ओरसे आ रहा हो। वे चन्द्रमासे कहती हैं—'हे हिमकर, अपनी किरणों (करों)-का हमसे स्पर्श न होने दो, परंतु यदि वे (आपकी किरणें) प्यारे श्यामसुन्दरका स्पर्श करके आयी हों तो उनसे हमें अवश्य स्पर्श करो, हम तुम्हारा उपकार मानेंगी।' इससे अधिक परम्परा-सम्बन्धकी महिमा क्या होगी?

परंतु ब्रह्मादि देवता इस परम्परामें और भी आगे बढ़े हैं। वे इसीमें कृतार्थ हैं कि अस्मदधिष्ठातृक तत्तदिन्द्रियोंसे व्रजवासी उस आनन्दसिन्धु ब्रह्मतत्त्वका दर्शन, स्पर्श, श्रवण आदि कर रहे हैं; क्योंकि देवतालोग देवत्वके कारण साक्षात् रूपसे उस ग्वारिये गोपालकी रसमाधुरीका आस्वाद लेनेमें सर्वथा असमर्थ

हैं, अतएव बेचारे नेत्रादिरूपसे परम्परासम्बन्ध स्थापित करते हैं। उनकी दृष्टिमें धन्य हैं वे व्रजवासी, जो अपने नेत्रादिसे साक्षात् श्रीश्यामसुन्दरके चरणामृत, सौगन्ध्याद्यमृतका पान करते हैं। नेत्रका अधिष्ठातृदेव सूर्य है। वह इतनेमें ही कृतकृत्य है कि किसी भी व्रजवासीने श्यामसुन्दरको मदधिष्ठातृक नेत्रसे देखा। नासिकाके देवता अश्विनीकुमार हैं। वे व्रजवासीके घ्राणसे अपना सम्बन्ध स्थापित करके आनन्दमग्न हैं। श्रोत्रों (कानों)-की अधिष्ठात्री दिग्देवता हैं। व्रजवासी श्रीनन्दनन्दनके वचन और वेणुगीतको सुनते हैं, इसीमें वह फूली नहीं समाती। वह सोचती है—धन्य हूँ मैं, जो मदधिष्ठातृक श्रोत्रोंसे व्रजवासी श्रीश्यामके वेणुगीतको सुनते हैं। चित्तके अधिष्ठाता ब्रह्मा हैं। इसी प्रकार विभिन्न इन्द्रियोंके विभिन्न अधिष्ठाता हैं। सब इसी प्रकार अपनेको कृतकृत्य मानते हैं। स्वयं ब्रह्माजीने भगवान्‌की स्तुति करते समय कहा है—हे अच्युत, इन व्रजवासियोंके भाग्यकी महिमाका कोई भी वर्णन नहीं कर सकता। जो कि हमलोग रुद्र, चन्द्र आदि इसलिये प्रशस्त भाग्यशाली हैं कि इनके इन्द्रियरूप पात्रोंसे आपके चरणकमल-मकरन्दका, जो अमृतके समान अतिमिष्ट और आसवके जैसा मदकारी है, बार-बार पान करते हैं। जब एक-एक इन्द्रियके अभिमानी हमलोग आपकी कीर्ति, सौन्दर्य, सौगन्ध्य आदि एक देशके सेवन करनेवाले भी कृतार्थ हैं, तब समस्त इन्द्रियोंसे सर्वसेवी इन व्रजवासियोंके भाग्यकी सराहना किन शब्दोंमें की जाय?

एषां तु भाग्यमहिमाच्युत तावदास्ता-
मेकादशैव हि वयं बत भूरिभागाः।
एतद्धृषीकचषकैरसकृत् पिबामः
शर्वादयोऽङ्घ्र्युदजमध्वमृतासवं ते॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।३३)

इन्द्रियादिके ये अधिष्ठाता हैं—अहंकारके शिव, बुद्धिके ब्रह्मा, मनके चन्द्रमा, श्रोत्रोंकी दिशाएँ, त्वक् (त्वचा)-के वायु, नेत्रोंके सूर्य, जिह्वाके वरुण, नासिकाके अश्विनीकुमार, वाणीके अग्नि, हस्तके इन्द्र, चरणके उपेन्द्र, पायुके मित्र, उपस्थके प्रजापति और चित्तके अधिष्ठाता स्वयं भगवान् माने गये हैं। पान-पात्रका नाम 'चषक' है। व्रजांगनादिका वह पात्र इन्द्रियाँ हैं, उसीसे वे श्रीश्यामसुन्दरके पादारविन्द-सौन्दर्यामृतका पान करती हैं। उस मादक सुधासवके पानसे व्रजांगनाजनको देह, गेह, लोकलाज सब एक बार ही विस्मृत हो गये। इसपर श्रीनन्दनन्दनकी उस मोहक मुसकानसे तो वह और भी अधिक पुष्ट हो गयीं। इसका पूरा आस्वादन तो व्रजदेवियोंको ही प्राप्त हुआ।

इसपर थोड़ा विचार करें—पात्रको रसका आस्वाद नहीं आता। दर्वीको, जिससे भक्ष्यवस्तु परोसी जाती है, वस्तुका स्वाद नहीं आता। इसी प्रकार इन्द्रियाँ पात्रमात्र हैं, उन्हें रसास्वाद नहीं हो सकता। परंतु यह लौकिक रसकी बात है, भगवद्विषयक रस अलौकिक, विलक्षण होता है, उसके तो सम्पर्कसे भी रसास्वादकी अनुभूति सिद्ध है। ऐसी स्थितिमें पात्र—दर्वी आदिको रसका आस्वाद असम्भव नहीं। इस प्रसंगमें व्रजदेवियोंकी वंशीके प्रति ऐसी भावना है कि श्रीश्यामसुन्दरसे शतशः सम्पृक्त होते रहनेपर भी उसे रसका आस्वाद नहीं मिला। उनकी इस विषयमें उपपत्ति इस प्रकार है—वंशीको वस्तुतः अधरामृत नहीं दिया गया। यदि ऐसा होता तो यह सूखी ही कैसे रह जाती? उस वेणुगीतपीयूषसे यमुना भी जमकर इन्द्रनीलमणिकी शिलाके समान हो गयी और पाषाण भी यमुना-प्रवाहकी तरह बह चले, पर बाँसकी वंशीमें एक पल्लवतक नहीं जमा, यह पोली, शुष्क, सग्रन्थि और सच्छिद्र ही रह गयी। जहाँ **'अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणाम्'** (श्रीमद्भा० १०।२१।१९)-के अनुसार स्थिर पदार्थ जंगम बन गये और जंगम स्थिर हो गये, सूखे हरे हो गये, वहाँ वंशीके पल्ले कुछ नहीं लगा। यह तो केवल विप्रयोगलीलामें वंशीछिद्रोंसे हमारे (व्रजदेवियोंके) कर्णकुहरोंमें प्रविष्ट होनेका, हमारी जीवनरक्षाका उपायमात्र किया गया है। इस सिद्धान्तसे वंशीकी तरह दर्वी सूखी ही है, रसासम्पृक्त ही है।

परंतु दूसरे कहते हैं—नहीं, आखिर सम्बन्ध तो हुआ न, किसी भी तरह सही। इसीसे कृतकृत्यता हो जाती है। अतः पात्र—**'चषक'**—भी परम्परासे कृतार्थ हुए। ऐसे पात्रका तो स्पर्श करनेवाले भी

कृतार्थ हो जाते हैं। ब्रह्मादि इतनेहीसे अपनेको धन्य मानते हैं। वंशीको श्यामसुन्दरकी अधरसुधाका सम्बन्ध होनेपर रसास्वाद भी अवश्य हुआ ही, अतएव गोपांगनाजनकी ही परस्पर उक्ति है—'**गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणुः**' (श्रीमद्भा० १०।२१।९) अर्थात् इस वेणुने कौन पुण्य किया है, जो श्रीश्यामसुन्दर इसको अपने हस्तारविन्दोंमें लेते, अधरपर पधराते, अपने सुकोमल अंगुलीदलसे इसका पादसंवाहन करते, अधरामृतका भोग लगाते और मुकुटका छत्र लगाकर कुण्डलोंसे इसकी आरती उतारते हैं, कैसी अनोखी पूजा करते हैं? यह तो जो ताल-तलाइयोंमें कुमुदिनीका विकास—प्रफुल्लता देख पड़ रही है, यह इन्हें वंश (बाँस)-के सौभाग्योदयपर हर्षातिरेकसे मानो रोमांच हुआ है। ये समझते हैं कि हमारे ही जलसे पालित, पुष्ट होकर वंशीकी यह इतनी उन्नति हुई है, वह श्रीमनमोहनके अधरपर शोभित हुई है। इस अवसरपर इनको कैसी प्रसन्नता हुई, जैसी पाल-पोसकर बड़े किये गये बालकको साम्राज्य मिलनेपर उसके माता-पिता, कुटुम्बियोंको होती है। वृक्षोंको भी अपने सजातीय वेणुके इस उत्कर्षपर बड़ी प्रसन्नता हुई। उनके नेत्रोंसे मधुधाराके व्याजसे आनन्दाश्रु बह चले—'**तरवोऽश्रु मुमुचुः।**' (श्रीमद्भा० १०।२१।९) अपने वंशमें किसीके भक्तप्रवर होनेसे जैसे कुलवृद्ध प्रसन्न होते हैं, अपनेको धन्य-धन्य मानते हैं, वैसे ही वेणुसजातीय वृक्ष अपनेको मानते हैं—अहो! हमारी वृक्षजातिमें भला एक तो ऐसा उत्पन्न हुआ, जो कूक-कूककर (निर्भीकता और आनन्दके साथ) श्यामसुन्दरके अधरामृतरसका पान कर रहा है। यदि वंशीको कुछ भी रसका आस्वाद न होता तो ऐसी बातें कैसे कही जा सकती थीं!

यहाँ तर्क हो सकता है कि यदि उस वंशीको रसास्वाद हुआ है तो यह अबतक सग्रन्थि कैसे? सच्छिद्र कैसे? छिद्रोंके रहनेपर तो अनर्थ ही होते हैं—'**छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति**' रसका आस्वाद आनेपर, तत्त्वकी स्फूर्ति होनेपर तो ग्रन्थि खुल जाती है, छिद्र (दोष) नहीं रह जाते—***जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥*** (रा०च०मा० ७।११७।४) परंतु चरणरजसे सब दोष दूर हो जाते हैं।

व्रजांगनाओंका प्रेमोन्माद

व्रजदेवियोंको वेणुके कर्मपर बहुत आश्चर्य है। वे सोचती हैं—'अहो, इसका वह कौन-सा कुशल कर्म है, जो मोहनाधरसुधाका पान करता है और सच्छिद्र रहकर भी उसे छिपाकर रखता है। किसीको पता ही नहीं लगता कि इसने अधरसुधा-रस पान किया है। स्थिर और जंगम अपनी प्रकृतिसे च्युत हो गये, सुध-बुध भूल गये, पर इसने तो अधरसुधाको खूब अघाकर पान करके भी ऐसा गुप्त रखा है, जैसे कृपणका धन। बड़ी चतुराई है, बड़ी धीरता है। हाँ, इसने सोचा है यदि मैं हरी-भरी हो गयी, हमारी सुस्वाद-मर्मज्ञता प्रकट हो गयी तो फिर बजनेलायक न रहूँगी, फेंक दी जाऊँगी। वह आनन्द किस कामका, जो फिर फेंक दी जाऊँ? गोपांगनाएँ सोचती हैं कि इस तरह मोहनके विप्रयोगभयसे वह वंशी अपने आनन्दको छिपाती है, परंतु हम तो बावरी, पागल हो जाती हैं।'

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि गोपांगनाएँ प्रेमको छिपा रखनेमें महत्त्व समझती हैं, पर वह अवांछनीय विक्षिप्तता बरबस प्रकट हो जाती है। 'वृन्दावनचम्पू' में गोपांगनाओंके प्रेमको साठीके धानकी उपमा दी गयी है। उनका सिद्धान्त है—'**गुप्त प्रेम सखि सदा दुरइये।**' प्रेममें 'टोना' लग जाता है। उसे अवश्य छिपाना चाहिये। फिर वह बहुत बेश-कीमत है, मूल्यवान् वस्तु सात तालेके भीतर धरी जाती है। जब 'चिन्तामणि' पत्थर-जैसी वस्तु भी छिपाकर रखी जाती है, तब प्रेमका तो उससे कहीं अधिक महत्त्व है। पर आज तो प्रेमका ढिंढोरा पीटा जाता है। श्रीश्यामसुन्दरकी अधरसुधाका पान करके अन्य जड़-चेतनोंकी तरह मुरलीको भी आनन्द आता है, पर वह चतुर है, विप्रयोग-भयसे, 'टोना' के भयसे उसे छिपाती है। इस प्रकार तात्पर्य यही कि व्रजेन्द्रनन्दन श्रीश्यामसुन्दरके दर्शनादि-समुत्थ यह रस ही ऐसा अलौकिक है कि इसकी परम्परामें भी आस्वाद है,

इसीलिये ब्रह्मादि देवगण व्रजवासियोंके हृषीकचषकमात्र भी बनकर अपनेको कृतार्थ समझते हैं—'**एतावतैव हि वयं बत भूरिभागाः।**'

विरहव्याकुल गोपांगनाओंका मन एक क्षणके लिये भी श्रीश्यामसुन्दर प्राणधनके चिन्तनसे मुक्त नहीं होता। वे कभी श्रीश्यामसुन्दर नवलबिहारीके अलौकिक रसका, उसकी परम्परामें भी अनुभूतिका तो कभी उनके अंगके संगी आभूषण आदिका चिन्तन, मनन, उनमें गुण-दोषका आरोप, अधिकार-अनधिकारकी चर्चा आदि करती हुईं प्राणप्यारेके अन्वेषणमें व्यग्र हैं। श्रीव्रजराजकिशोरकी मालाका स्मरणकर व्रजदेवियोंको भावना हुई—सखियो, देखो, हमसे अधिक सयानी तो वे सुमन (पुष्प), मुक्ता, हीरक आदिकी मालाएँ हैं, जो कभी उनका संग नहीं छोड़तीं। वे जड़ होकर भी कितनी विवेकसम्पन्न हैं और हम कामपरवश स्त्री अतएव मुग्धता या मूढ़तावश उनका साथ छोड़ बैठी हैं। हाय, कामपरवशात् स्त्री जगत्में मुक्ता, हीरक आदिसे भी—कंकड़-पत्थर आदिसे भी अधिक विचारशून्य है।

दूसरा भाव यह भी है कि जब सुमन, मुक्ता, हीरक आदि भी उन श्रीश्यामसुन्दरको नहीं छोड़ सकते, तब हम कामके वशमें पड़ी हुई स्त्रियाँ कैसे छोड़ दें? कैसे उन्हें भुला दें—

अहो सुमनसो मुक्ता वज्राण्यपि हरेरुरः।
न त्यजन्ति वयन्तत्र का वा स्मरवशः स्त्रियः॥

श्रीश्यामसुन्दरके कण्ठमें, वक्षःस्थलपर मुक्तामालाएँ हैं, मानो इन्द्रनीलमणिके शिखरपर गंगाकी दो धारा, किंवा नवनीलनीरदपर हंसोंकी पंक्ति, काली घटापर हंसोंकी दो पंक्तिके समान विराज रही हैं। मालामें विविध मणि, रत्न जड़े हैं, कोई सूर्यके सदृश देदीप्यमान, कोई चन्द्रके समान समुज्ज्वल और कोई नक्षत्रोंकी तरह प्रकाशमान है। ऐसी वनमाला, मुक्तामाला, वैजयन्तीमाला आदि अनेक मालाएँ श्रीप्रभुने धारण की हैं। गोपांगनाओंकी इसपर एक और ऊँची सूझ है। वे कहती हैं—ये सुमनस केवल सुमनस—पुष्प नहीं, किंतु शोभन-तत्त्वचिन्तनानुकूल मनवाले तत्त्वज्ञ ही सुमनस—पुष्पके रूपमें अनन्त तपस्या करके श्रीहरिके विशाल वक्षःस्थलपर विराजमान हुए हैं और ये मुक्त हुए मुक्त—वामदेव, वसिष्ठ, शुक, सनकादि हैं, जो मुक्त होकर—मोती बनकर हमारे प्यारेके अंगमें आ विराजते हैं। ये भी हमारे श्यामके उरको नहीं छोड़ना चाहते। ये क्यों रागी हो गये, जो विरक्त हैं? वहाँ तो हमें ही रहना चाहिये। सखि, हम तो स्त्री हैं, अशेषशेखरमें हमारा तो राग युक्त है, पर इन जड़ मुक्ता, वज्र आदिका वहाँ क्या काम? जब ये नहीं छोड़ते, तब हम स्त्रियाँ कैसे छोड़ें?

श्रीश्यामसुन्दरके कर्णाभरणादिके प्रति व्रजांगनाओंकी ईर्ष्या देखते ही बनती है। श्रीत्रिभुवनमोहनने कानोंमें मकराकृति कुण्डल पहने हैं, जब उनका सिर हिलता है, तब वे कुण्डल या उनकी आभा स्वच्छ, स्निग्ध कपोलोंसे टकराती है, उस समय मालूम होता है कि मीन भगवान्के कपोलोंका चुम्बन कर रहे हैं। इसे देखकर व्रजांगना रसोद्रेकमें विह्वल हो जाती हैं, उन्हें ईर्ष्या होती है, वे कह उठती हैं—'हा मीन, आज मधुर कपोलोंका, जो हमारे ही हैं, तुम चुम्बन कर रहे हो।' इसी सम्पर्कमें उन्हें अन्य श्यामांगसंगियोंके प्रति भी सापत्न्य उदय हो आता है। वे वंशीसे कहती हैं—हे मुरलिके! अधिकारिणी तो हम हैं और तुम इस अधरसुधाका लम्पटता, अकृपणतासे पान कर रही हो। हे माले! हमसे बिना ही पूछे—हमारी अनुमतिके बिना ही हमारे प्रियतमके श्रीअंगका निरन्तर परिरम्भण कर रही हो अथवा ठीक है, तुम सब जगज्जालसे परे—विधि-निषेधसे दूर हो गयी हो, तुम्हारी तपस्याके रूखे वृक्षमें आज फल लग गये हैं, सौभाग्यका उदय हुआ है। हम तो विधि-निषेधमें बँधी हैं, जंगलोंमें भटक रही हैं। इस तरह कृष्णप्रेममें प्रमत्त व्रजदेवियाँ अचेतनोंको चेतन ही जानकर उलाहना दे रही हैं। इसी प्रकार वृक्षोंके प्रति धारणा करती हैं और कहती हैं—जिन कदम्ब, आम्र, प्रियाल आदिका आश्रय लेकर श्यामसुन्दर विराजते हैं, वे अवश्य हमें उनसे मिलायेंगे और कहती हैं, हे प्रियके आलय प्रियाल! तुम हमें श्यामसे मिला दो, हम तुम्हारा बड़ा उपकार मानेंगी।

इस प्रकार गोपदेवियाँ श्रीकृष्ण परमात्माके

विप्रयोगमें सन्तप्त प्रेममुग्ध हुई उन्हें ढूँढ़ती, वृक्षोंसे पूछती फिरती हैं—

चूतप्रियालपनसासनकोविदार-
जम्ब्वर्कबिल्वबकुलाम्रकदम्बनीपाः ।
येऽन्ये परार्थभवका यमुनोपकूलाः
शंसन्तु कृष्णपदवीं रहितात्मनां नः॥

(श्रीमद्भा० १०।३०।९)

यह बात कही जा चुकी है कि व्रजांगनाओंको जबतक उत्तरकी आशा रहती है, तबतक खूब स्तुति, गुणगान करती हैं और उस आशाके निराशामें बदलते ही दोषोंका गान करने लगती हैं। पहले प्रियालकी बड़ी स्तुति हुई। जब देखा कि यह जरा भी नहीं पसीजता, तब कहने लगीं—'**प्रियं न लातीति प्रियालः (प्रिय-अ) नञ् (लः) प्रियप्राप्तौ प्रतिबन्धकः।**' जो प्रियका पता न दे, उसके सम्मिलनमें व्यवधान उपस्थित करे, वह पापी प्रायश्चित्ती प्रियाल है।

इस तरह प्रियालपर बहुत कुछ कहकर अब गोपांगनाओंकी दृष्टि '**पनस**' पर घूमी। कहने लगीं—'सखियो, आओ इस **पनस** (कटहल)-से पूछें, यह फली है, अतः विनम्र है, इसका फल महाफल होता है। यह हमारे परिश्रमके महाफल श्रीकृष्णको अवश्य बतलायेगा। देखो, इसका नाम कितना सुन्दर है—'पनस'। यह '**पन गतौ**' और '**शो तनूकरणे**' से निर्मित हुआ है। इसकी बड़ी सार्थक व्युत्पत्ति है—'**प्रेयसीः परित्यज्य पनतः गच्छतः श्रीश्यामस्य गतिं स्यति तनूकरोतीति पनसः।**'

यह अपनी दिव्य शक्तिसे मोहनकी गतिको क्षीण कर देता है, जिससे वे हमलोगोंको मिल जायँ और भी एक व्युत्पत्ति इस नामकी है '**पातीति पः, न स्यतीति नसः**' अर्थात् श्रीश्यामके दर्शन दिलाकर पालन करनेवाला यह है, सन्तापसे क्षीण करनेवाला नहीं।' इस प्रकार जब बहुत स्तुति आदि करनेपर भी कटहल हिलातक नहीं, तब उन्हें वह बड़ा ही दुष्ट दीख पड़ा और तुरंत उसके नामकी व्युत्पत्ति, उसके गुण निन्दामें बदल गये। कहने लगीं—'**पनं प्राप्तिं स्यति खण्डयतीति पनसः।**' प्रियकी प्राप्तिमें अवरोध पहुँचानेवाला यह कण्टकी वृक्ष है। बाहर तो उसमें काँटे हैं ही, यह अन्तरमें भी '**कण्टक**' रखता है।

पनसको छोड़कर आगे चलते ही व्रजांगनाओंके सामने **असन**—सालका वृक्ष आया। उस खूब प्रलम्ब, सुन्दर वृक्षको देखकर गोपांगनाओंको उससे पूछनेका मन हो आया। कहने लगीं—'यह असन हरिभक्त है, देखो, इसके नामके पहले अकार है, यह वासुदेवका वाचक है। '**अम्—वासुदेवं सनतीति असनः।**' यह भक्त है, साधु है, ***'साधु ते होइ न कारज हानी॥'*** (रा०च०मा० ५।६।४) इससे पूछो यह बतलायेगा।' वैसे भी श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्दकी प्राप्तिके लिये भागवत ही प्रष्टव्य होते हैं। '**आसयति—उपदेशयति सखिवर्गसमीपे हरिमिति असनः**' जो सखियोंके समीप प्यारे रासबिहारीको ला उपस्थित कर दे, वह यह '**असन**' है। इस 'साल' वृक्षमें दिव्य सामर्थ्य है। अन्यत्रके साल वृक्षोंमें यह अर्थ घटे चाहे न घटे, पर यहाँके वृक्ष वांछाकल्पतरु हैं, इनकी स्तुति करनेसे, इनका सिंचन करनेसे, इनकी छायामें बैठनेसे श्रीश्यामसुन्दर प्रभुकी प्राप्ति अवश्य होती है। कल्पवृक्ष हीरा-मोतीके कंकड़-पत्थर दे सकता है, मोक्ष या श्रीहरिको नहीं दे सकता। यदि मोक्षसे कैवल्य अभिप्रेत है तो उसे और उसके देनेवालेको व्रजदेवियाँ दूरसे ही नमस्कार करती हैं—'**नमः कैवल्यनाथाय**' (श्रीमद्भा० ८।३।११) मोक्षसे उनका अभिप्राय सामीप्यमुक्तिसे है। इस तरह व्रजांगनाओंने असनकी भी खूब स्तुति की, पर जब उसकी मौनमुद्रा कथमपि न खुली, तब उन्हें उसपर असूया उत्पन्न हो आयी और वह '**अस्यति दूरं क्षिपति, न किमपि सनति**' की व्युत्पत्तिका भाजन बन गया तथा श्रीवृषभानुदुलारी या नन्दसूनु किसीका भी भक्त नहीं रह गया।

आगे व्रजदेवियाँ '**कोविदार**' (कचनार)-के समीप पहुँचीं, वह उन्हें महादानीके स्वरूपमें दृष्टिगत हुआ। कहने लगीं—'**कोविदम्—रासपण्डितं श्रीश्यामसुन्दरं रातीति कोविदारः**' यह रासपण्डित, रसिकेन्द्रचूड़ामणि श्रीश्यामसुन्दरका दान करता है। 'हे कोविदार! तुम धन्य हो। कोई अन्नका, कोई प्राणका, कोई विद्याका और कोई भूमि आदिका दान करता है,

परंतु तुम इन सबको मात करते हो; क्योंकि तुम सर्वात्मा, सर्वान्तर्यामी प्राणेश्वरका दान करते हो, तुम महादानी हो।' रात्रि भी दानी है—('स्त्री-**राति, त्राति इति रात्री**') परंतु किसका दान, किसका पालन, यह भी तो विचारणीय है। देव और पात्रके महत्त्वसे दानकी महिमा है। दस रुपयेका दान और गायका दान समान नहीं है। माघमें दस रुपयेका दान और तिलका दान समान नहीं है। कंकड़-पत्थरका दान और सर्वात्माका दान समान नहीं है। फिर किसको देना, पात्रका भारी महत्त्व है। एक तो दानका द्रव्य पाकर उसका आटा लेकर मछली पकड़ेगा और दूसरा उससे श्रीसदाशिव विश्वनाथके मन्दिरमें, श्रीहरिमन्दिरमें दीपक जलायेगा। कितना अन्तर है—गृहीताके उपयोगका? इसीके अनुसार दाताको जो फलकी प्राप्ति होगी, उसमें भी महान् अन्तर है। वाइसरायका कुत्ता भी धनी है, जो सुख महाधनीको नहीं, वह उस कुत्तेको है। हीन देश, काल, पात्रके दानकी महिमासे वह उस दानके फलको कुत्ता बनकर भोग रहा है। ज्ञान या भगवद्विद्याके दान आदिका फल कुत्ता बनकर नहीं भोगा जाता। वह वैकुण्ठादिमें जाकर या मनुष्य, उत्तम ब्राह्मण आदि बनकर ही मिलेगा। अतएव ऐसे विद्यालय आदि खोलने चाहिये, जिनसे अपने माता-पिता आदिकी, अपनी सद्गति हो। 'व्रजांगनाओंके कात्यायनीव्रत, अर्चनसे प्रसन्न होकर भगवान् कृष्णने उन्हें रात्रियोंका दान दिया—'**मयेमा रंस्यथ क्षपाः**।' (श्रीमद्भा० १०।२२।२७) उन रात्रियोंमें रमणका भगवान्ने स्मरण भी किया है—

'तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता
मयैव वृन्दावनगोचरेण।'
(श्रीमद्भा० ११।१२।११)

'''ता रात्रीः'''' ' **रात्रीः**—दान देनेवाली—ये बड़ी दानी हैं। गोपियोंको दान दिया—'**इमाः क्षपाः**' उस समय मूर्तिमती रात्रि आयी। खजांची देय वस्तु सामने लाकर रखता है। योगमायाने रात्रियोंको सामने लाकर रखा। भगवान्ने कहा—'इन रात्रियोंमें मेरे साथ रमण करें।' योगमायासे अनन्त करोड़ ब्राह्मी रात्रियोंमें चार घड़ीकी रात्रि प्रविष्ट हुई। श्रीकृष्णके बालसखा मधुमंगलकी माता पूर्णमासी योगमाया ही थी, उसकी महिमासे एक रात्रिमें उन रात्रियोंका प्रवेश हुआ। दुःखमें एक-एक क्षण वर्षोंके बराबर बीतते हैं—

'क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत्॥'

(श्रीमद्भा० १०।१९।१६) और सुखमें वर्ष-के-वर्ष एक क्षणके समान बीतते हैं। वृन्दावनका प्रमाण बहुत प्रशस्त माना गया है, इतना प्रशस्त कि उसका मध्यभाग '**गोवर्द्धन**' है—'**मध्ये गोवर्द्धनं तत्र**।' परंतु व्रजांगनाओंकी कोटि-कोटि संख्या थी। इतनी अधिक उस विशाल वृन्दावनमें भी न आ सकीं। इनके अतिरिक्त कितनी ही श्रीराधाजीके रोम-रोमसे उत्पन्न हुई थीं और श्रुतिरूपा, मुनिरूपा अलग थीं, फिर इन सबके केलिधाम अलग तैयार थे। विहारके उपयुक्त कुंज आदि भी उसी प्रकार बने थे। यह सब पूर्ववर्णित रात्रियोंकी तरह यहाँ नित्य वृन्दावनधाम भी प्रकट हुआ था, जिसमें सब सविकास समा गये। हाँ, तो इन रात्रियोंका महादानीपना क्या हुआ? इन्होंने कौन महादान दिया? इन्होंने ब्रह्मविद्याका—पुरुषोत्तमविद्याका दान किया। '**जीवाभयप्रदानस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्**।' इतना ही नहीं, इन्होंने साक्षात् श्रीकृष्ण परमानन्दकन्दका ही दान किया। वह भी किनको? उन व्रजदेवियोंको, जिनके पादरजके लिये ब्रह्मादि तरसते हैं, जो प्रेमपथिकोंकी परम आचार्य हैं। वह दान वृथा नहीं है। '**वृथा वृष्टिः समुद्रेषु वृथा तृप्तेषु भोजनम्**' की तरह नहीं है। ये तो उस दानकी परम अधिकारिणी हैं, उसके लिये लालायित रहती हैं। उनके दर्शनमें पलक पड़नेको विघ्न मानती हैं, ब्रह्माको कोसती हैं—'सखि, जड है विधाता।' ऐसे पात्रोंको इन रात्रियोंने दान दिया श्रीश्यामसुन्दरका और इसीसे उनका रक्षण भी किया। अन्यथा उनका रक्षण होना ही दुःशक था। फिर यह दान पवित्र देश वृन्दावन और तदनुकूल कालमें हुआ। यह श्रीशुकदेवकृत वर्णन है। योगीन्द्रवन्द्यपादारविन्द गोपांगना कोविदारकी स्तुति करती हैं। देश, काल, पात्र, देशकी महत्ता बतलाती हैं, उन रात्रियोंने उद्बुद्ध उभयविध शृंगाररूप रसिकशेखरका दान किया, यमुनाके किनारे, साक्षात् प्रेमद्रवके पास और परमवियोगिनियोंको। भूखेको दान

देनेका बड़ा महत्त्व है। 'कोविदार'! ऐसा देश, काल, पात्र न मिलेगा। बतलाओ, हमारे प्राणधन श्यामसुन्दर कहाँ हैं? किस ओर गये हैं?' कोविदार एक तो वृक्ष, वैसे ही जड़ और उनकी प्रेमदशा, उनकी बातोंसे और भी वह स्तब्ध-सा हो गया, कुछ कहता ही नहीं। उसके इस व्यवहारसे गोपांगनाओंमें असूयाका उदय हो आया। वे कहने लगीं—'सखियो! यह '**कोविदेभ्यो न रातीति कोविदारः**' है। यह केवल '**कुं भूमिं विदारयतीति कोविदारः**' है। यह तो '**मातुः केवलमेव यौवनवनच्छेदे कुठारः**' है।'

'चलो, आगे उस जामुनसे पूछें, उसका वर्ण श्यामसरीखा है।' तारीफमें उसे '**जी जये**' से उणादि निष्पन्न करती हैं और असूयामें वही '**जी अभिभवे**' से बननेका अधिकारी हो जाता है।

आगे मार्गमें '**अर्क**' (आक) पड़ा, उससे भी व्रजांगनाओंने अपने प्राणप्रियका पता पूछा। व्रजांगनाओंसे किसीने कहा—'बड़े-बड़े महाफली वृक्षोंसे पूछकर अब इस क्षुद्रसे क्या पूछोगी?' तब कहने लगीं—'नहीं, यह गोपीश्वर (वृन्दावनस्थ महादेव)-का प्रेमी है, उनके मस्तकपर विराजता है, वे इसको पाकर भक्तोंके अभीष्ट पूर्ण कर देते हैं। यह अवश्य प्रष्टव्य है। दूसरे, चन्द्रावली (प्रतिनायिका) आदिसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं। यह सूर्यकी तरह हमारे प्रिय-विश्लेषजन्य दुःखरूप तमको दूर कर सकता है। यह '**ऋणादि प्रियं गमयति इति अर्कः**' है। हे अर्क! हे शिवप्रिय! हमें श्यामसे मिला दो।' जब वह भी नहीं बोलता, तब असूयासे कहती हैं—'यह बौड़मके पास रहनेसे बौड़म हो गया है, विषवृक्ष है, इसे किसीके सुख-दुःखका क्या पता? हम यह कुछ असूयासे नहीं कहतीं। देखो, इसके स्वामी जैसे अस्सी हजार वर्षकी अखण्ड समाधिमें बैठते हैं, वैसे ही यह भी समाधिमें बैठा है।' परंतु भोलेबाबाकी यहाँ (वृन्दावन)-की समाधि और है। कैलासकी समाधिमें वे अग्राह्य स्वात्मस्वरूपमें लीन होते हैं, यहाँकी समाधिमें वे श्रीश्यामसुन्दरकी पदनखमणि-चन्द्रिकामें विलीन होते हैं।' मधुसूदन सरस्वतीने कहा है—

पदनखनिविष्टमूर्तिक एकादशतामिवावहन्नित्यम्।
यं समुपासते गिरिशस्तं वन्दे नन्दमन्दिरे कञ्चित्॥

भक्तिकी दस अवस्थाओंमें शिव सन्तुष्ट न हुए, उन्होंने ग्यारहवीं निष्ठाको स्वीकार किया। वैसे '**शिवस्य हृदयं विष्णुः**' तो है ही। नन्दप्रांगणमें जाकर एक बार 'श्रीसदाशिवने श्रीश्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दनको प्रणाम किया। श्यामल, महोमयस्वरूप श्रीकृष्णकी नीलकमलके समान अँगुलियाँ हैं, उनपर दस नख मणिके जैसे हैं, जो अनन्त ब्रह्माण्डको जगमगा देते हैं—'**ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम्॥**' (श्रीमद्भा० ३। २८। २१) (**महताम्—सनकादिशुकादीनां हृदयान्धकारम् आहतं भवति। 'ज्योत्स्नाभिराहतमिव हृदयान्धकारम्।**' उससे सब अज्ञानान्धकार मिट जाता है। भगवान् शिव जब नन्दबाबाके प्रांगणमें आये और वहाँ क्रीड़ामग्न श्रीश्यामसुन्दरको प्रणाम करनेके लिये झुके, तब प्रभुके नखोंमें उनकी मूर्ति प्रतिबिम्बित हुई। जिस भगवत्प्रसादको श्रीः—जाया, संकर्षण—बन्धु और आत्मा स्वयं भी न ले सके, उसे श्रीसदाशिवने प्राप्त किया। कुन्द और इन्दुकी तरह स्वच्छ धवलिमा, मनोहर दीप्तिवाली देह और दुग्धधवल धाराके समान प्रवहणशील गंगाको सिरपर धारण किये तथा कोटि-कोटि कामोंको लजानेवाला श्रीशिवका मुख जिन नखोंमें प्रतिबिम्बित हुआ, वह पादारविन्द कितना स्वच्छ होगा? श्रीप्रभुके पादारविन्दके ऊपरका भाग श्यामल-महोमय-दीप्ति-सम्पन्न, नीचेका भाग सुकोमल लाल और उसपर स्वच्छ नख हैं, उनमें शिवका प्रतिबिम्ब चमत्कृत है।'

प्रभुका पादारविन्द कल्पवृक्ष आदि विविध चित्रोंसे अलंकृत था, केवल नखमें कोई चित्र नहीं था, श्रीसदाशिवके प्रतिबिम्बने उसे स्वकायचित्रसे अलंकृत कर दिया। श्रीशिव वहीं उपासनाकी अलौकिक समाधिमें लीन हो गये। तात्पर्य यह कि श्रीभोलेबाबाकी यहाँकी—व्रजकी समाधि तो यह है। गोपियाँ कहती हैं—'सखि! यह श्रीशिवका साथी अर्क भी, मालूम होता है, ऐसी ही किसी समाधिमें लीन है। चलो और किसीसे पूछेंगी।'

इस प्रकार प्रेमविह्वल गोपांगनाएँ प्रिय मोहनको

ढूँढ़ती हैं, वृक्षोंसे पूछती फिरती हैं, कोई भी उन्हें बतलाता नहीं, परंतु उनके उत्साहमें कमी, अश्रद्धा न आयी। अर्कको छोड़कर वे **बिल्व** के समीप पहुँचीं। रूप देखकर उन्हें उसका नाम याद आ गया। कहने लगीं—'इसका नाम बड़ा अच्छा है—**बिल्व**। '**विरुद्धं लुनातीति बिल्वः**' ये वृन्दावनके बिल्व ही श्यामप्राप्ति प्रतिबन्धका लवन—छेदन करते हैं। हे बिल्व! हमें एक बार प्यारे मनमोहनके दर्शन करा दो, हम तुम्हारा बड़ा उपकार मानेंगी। तुम हमारी सखी लक्ष्मीके वृक्ष हो, श्रीवृक्ष हो। लक्ष्मी हमारे श्यामसुन्दरकी प्रेयसी हैं। हमारा पक्षपात करो, श्रीश्याम-प्रतिबन्ध-संयोगको मिटाकर शीघ्र प्राणधनसे मिला दो।' इस तरह गोपांगनाओंने प्रार्थना की, थोड़ी देर खड़ी रहीं, परंतु बिल्वकी ओरसे भी उन्हें कोई आश्वासन न मिला। निराशाकी साँस छोड़कर वे बोलीं—'गोपीश्वरके सम्बन्धसे यह भी समाधिष्ठ प्रतीत हो रहा है, नहीं तो कुछ बोलता न?' कोई कहती है—'सखि, इसका तो नाम हमारे लिये उलटा पड़ गया, यह तो '**अस्मन्मनोरथान् विशेषेण लुनातीति बिल्वः**' हो गया। इससे अब आशा रखनी व्यर्थ है।'

'चलो, वह सामने **बकुल** दिख रहा है, उससे पूछेंगी। हे बकुल! आप शिव और विष्णु दोनोंके भक्त हैं और अपने भक्तिभावसे दोनोंको भूमिपर ले आनेवाले हैं—'**उश्च अश्च अनयोः समाहारो वः तौ कौ लाति (ला आदाने) आनयतीति वकुलः**' हे हरिहरपरायण! अपने प्रेमयोगसे हरिहरको यहाँ ले आनेवाले हे बकुल! हम तुम्हें नमन करती हैं, हमारे प्राणधन मोहन प्यारेको यहाँ ला दो, उनसे हमें भी मिला दो अथवा पता ही बतला दो, वे किधर गये हैं?' कुछ प्रतीक्षाके बाद कहती हैं—'सखियो! यह नहीं बतलायेगा; क्योंकि यह शिव और विष्णुका भक्त है, ये दोनों उन निष्ठुर श्यामसुन्दरके ही पक्षपाती हैं, उनका यह भक्त हमें कैसे बतलायेगा? यह तो महापक्षपाती है।' व्रजांगनाओंकी यह निन्दा, निन्दा नहीं, ये तो प्रेमकी बातें हैं—'व्रजकी गारी'। ऐसी असूया तो इन्हें श्रीकृष्णचन्द्र परमात्मासे भी होती है। ये तो उनके चरितसे भी असूया करती हैं। यह इनकी प्रेममयी असूया है। प्रसन्न रहती हैं, तब स्तुति करती हैं—

तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३१। ९)

कहती हैं—'ईर्ष्या देवताओंमें भी लगी रहती है, पर आपकी कथामें यह नहीं है। आपके गुणोंका गान सनकादि क्रान्तदर्शियोंने किया है। वे देवोंका गुणगान नहीं करते। देवता अमृतकलश लेकर श्रीशुकादिके समीप आये और उन्होंने बदलेमें अमृत देकर आपकी कथा चाही। आपके भक्त कथाप्रेमी श्रीशुकादिने उसका तिरस्कार कर दिया। कहाँ कथा और कहाँ अमृत? मणिका काँचसे कौन मनीषी परिवर्तन करेगा?—'**क्व सुधा क्व कथा लोके क्व काचः क्व मणिर्महान्।**' (श्रीमद्भागवत, माहात्म्य १। १६) आसन्नमृत्यु राजा परीक्षित्ने भी देवोंका इसपर उपहास किया। योगीन्द्र-मुनीन्द्र भी आपकी कथाकी स्तुति करते हैं। आपकी कथा; शोभा और लक्ष्मी दोनोंसे सम्पन्न है, लोकमें व्याप्त है। देवोंका अमृत एक जगह रखा है, महानाग उसकी रक्षा करते हैं। आपकी कथासुधाका दान होता है। इसके दाता महान् हो जाते हैं।' परंतु जब व्रजांगनाओंके प्रेमपाथोधिमें ईर्ष्याकी तरंग उठती है, तब वे उसकी भरपेट निन्दा भी करती हैं, कहती हैं—'आपकी कथा क्या है, मनुष्यकी साक्षात् मृत्यु है। कोई विरहिणी आपकी कथा सुनकर दुःख मोल लेती है, कथाके सुननेसे उनका विप्रयोगसन्निपात तीव्र हो जाता है। आपकी विस्मृतिमें वह सुखसे रहती है। उसको होशमें लानेकी दवा आपकी कथाका त्याग है।' यही कहा है—

सन्त्यज सखि तदुदन्तं यदि सुखलवमपि समीहसे सख्याः।
स्मारय किमपि तदितरद् विस्मारय हन्त मोहनं मनसः॥

अर्थात् उनकी कथा मत छेड़ो, यदि इस सखीको थोड़ा भी सुख-शान्ति देना चाहती हो। जैसे भी बने, इसके मनसे मोहनको भुलवा दो, उसकी कथा मत चलाओ। उसके आवेशमें इसकी व्रीडा विलुप्त हो जाती है, धैर्यका बाँध टूट जाता है—'**व्रीडां विलोपयति मुञ्चति धैर्यम्।**' बस, उस विरहिणीके लिये आपकी कथा ही मरण है, जलेमें नमक छिड़कना है। जैसे

तैलपूर्ण महाकटाह भट्टेपर चढ़ा हो, नीचे खूब आग धधक रही हो, तैल खूब परितप्त हो चुका हो और २-३ सेर महाविष भी मिला हो, उसमें पड़ा एक कीट कितना जीयेगा (**'तप्ते कटाहे यथा जीवनम्'**)। हम विरहिणी व्रजांगनाओंके जीवनके लिये आपकी कथा वही सुतप्त तैलपूर्ण कटाह-पातके जैसी है। फिर कथा सुननेसे एक गहरी वेदना, सन्ताप यह होता है कि जो हमारे अन्तःकरणमें बसा है, हमारे अंग-अंगसे सम्मिलित रहता है हाय, हम आज उसकी कथामात्र सुन रही हैं, क्या आज हमें उसका वियोग है, समालिंगन नहीं प्राप्त है ? उस अवसरपर उसकी कथा, केवल कथा, वही काम करती है, जो तप्ततैलपूर्ण महाकटाहमें जलकी बूँदें—**'तप्ते कटाहे जीवनम्—जलमिव।'** उस समय जैसे कटाहमें आग भभक उठती है, हमारे हृदयमें वैसे ही प्रिय-विरह-वैश्वानरकी महाज्वाला प्रदीप्त हो उठती है। यदि कोई पूछे कि इतनी दुःखद मरणप्रद यह कथा है तो इसको लोग क्यों गाते हैं ? इसपर कहती हैं—इसे गाते कौन हैं ? कवि न! कवि क्या नहीं कहते ?—**'कवयः किन्न जल्पन्ति।'** वे तो भैंसकी भी तारीफ करते हैं। फिर यह कथा **'श्रवणमात्रे मङ्गलम्'** है, किंतु **'परिणामे दुःखदम् अमङ्गलम्'** है। जिसने इस कथाको सुना, वह बाबा बनकर भीख माँगता है। 'राधेश्याम, नारायण, हरि' कहकर गली-गली टुकड़ा माँगता फिरता है। प्रश्न होगा—ऐसी चीजका दुनियामें विस्तार कैसे हो गया ? तो उत्तर यही है कि प्रमादी धनियोंने कष्ट देनेके लिये उसे दुनियामें फैला दिया है—**'श्रीमदाततम्।'** किंच जो उस कथाको गाते फिरते हैं, उनके लिये हम क्या कहें, वे तो सर्वस्वनाशक हैं। **'भुवि गृणन्ति ते, भूरिदा जनाः'** (**'भूरीणि घ्नन्ति दोऽवखण्डने'**) ***चित्रकेतु कर घरु उन घाला। कनककसिपु कर पुनि अस हाला॥'*** (रा०च०मा० १।७९।२) इन ऐसे लोगोंने राजा चित्रकेतुको लाखों रानियोंसे वियुक्त कराकर वन-वनमें भटकाया। प्रह्लादको गर्भमें ही ऐसा पढ़ाया कि बेचारेका वंश ही मिट गया। व्रजांगनाओंकी यह सब असूया प्रेमोन्मादकी विचित्र दशा है। उसी दशामें ग्रस्त उन्होंने बकुलकी भी निन्दा की—'सखि! जब हमारे रोने-धोनेसे वे निष्ठुर श्यामसुन्दर भी प्रसन्न होते हैं, तब इसकी तो बात ही क्या?'

अच्छा सखियो, देखो, वह सामने आम्र दिख रहा है, उसके पत्ते हिल रहे हैं, मालूम पड़ता है, वह अपनी पल्लवांगुलियोंसे हमें बुला रहा है, चलो, उससे पूछें। कितना सुन्दर नाम है—**'आम्रः अमयति श्रीकृष्णं अथवा अम्यते प्राप्यते सेव्यते अर्थाभिलाषुकैर्यः।'** आम काटनेवालेको पछताना पड़ता है, यह देववृक्ष है। यह वृन्दावनस्थ आम्र ही श्रीश्यामसुन्दरको मिलानेवाला है। यह 'रसाल' है, रसनिर्यास श्रीश्यामसुन्दरको समर्पण करता है (**'रसमालातीति रसालः'**)। हे रसाल! यदि रस न दो तो तुम फिर 'रसाल' ही कैसे? रस तो प्राणप्यारे नन्ददुलारे ही हैं—**'रसो वै सः'** वे ही हैं, अवश्य उन्हें बतलाओ। जब असूयापर उतरीं, तब कहती हैं—कुछ नहीं जी, यह रस-वस कुछ नहीं देता, यह तो रोग देता है—**'अमयति रोगं यच्छतीत्याम्रः।'** रातको इसके नीचे सोनेपर बीमारी निश्चित है। जाने दो सखि इसे।

'चलो अपने उस **'कदम्ब'** के पास चलें। जैसे श्रीरामका सिंहासन कल्पवृक्ष है, वैसे प्यारेका सिंहासन यह कदम्ब है। सप्तावरण, अष्ट प्रकृतिके भीतर जो वृन्दावन है, उसमें यह कदम्ब है। इसकी स्तुतिमें भगवान् व्यासने क्या अच्छा कहा है—**'कदम्बकिञ्जल्कपिशङ्गवाससम्।'** (श्रीमद्भा० २।२।९) इसका सौगन्ध्य, इसके फल सब लोकोत्तर हैं। आनन्दकन्द, वृन्दावनचन्द्र यशोदानन्दके भी मनोरथोंको यह पूर्ण करता है—**'कं प्रेमात्मकं सुखं ददातीति कदः।'** साधारण क्षुद्रानन्दको देनेवाले बहुत हैं। वे श्रीघनश्याम उदार हैं, घन पात्रका विचार नहीं करते। श्यामल घन भी जीवन—जलरूप-परमामृतका खूब वर्षण करते हैं। यह जल केवल जीवन है, पर श्रीश्याम तो साक्षात् जीवन हैं। यह घन-नवनीलनीरद-दामिनीसे आवेष्टित है और वे घनश्याम कनकलतावेष्टित—श्रीवृषभानुनन्दिनीसे आवेष्टित हैं।' यहाँ दामिनीस्थानीया श्रीवृषभानुनन्दिनी हैं। दामिनीको देखकर श्रीजीको ईर्ष्या होती है—

तडितः पुण्यशालिन्यो याः सदा घनजीविताः।
तेन सार्द्धं व्यदृश्यन्त न व्यदृश्यन्त कर्हिचित्॥

अर्थात् ये सौदामिनी धन्य हैं, जिनका घन ही जीवन है। ये सदा अपने प्रियके अंगमें ही दीखती हैं। घनके बिना इनका दर्शन ही नहीं होता। व्रजांगना भी इसकी प्रशंसा करती हैं—'सखि, तुमने कौन देश, तीर्थमें कितने दिन पवित्र तपस्या की है, जो श्याम-मेघके उरमें, जो श्रीहरिके वक्ष:स्थलके समान है, सदा रमण करती हो?—'**अयि तडित् त्वमसौ क्व नु किन्तपः यदिदमम्बुधरं हरिवक्षसस्तुलितम्।**' 'गोपालचम्पू' में एक भाव है—जब श्रीव्रजेन्द्रनन्दिनी मेघकी श्यामलताको देखतीं, तब उड़कर वहाँ पहुँचनेका यत्न करतीं। उन्हें प्रत्यक्ष ही भान होता कि यह मेरे प्राणप्यारेका उर:स्थल है, शीघ्र आलिंगन करूँ। चैतन्य महाप्रभुकी भी ऐसी ही स्थिति थी—वे भी जब मेघका दर्शन करते, तब समुद्रकी ओर दौड़ पड़ते। श्रीघनश्यामके आकर्षक सौन्दर्यकी स्तुति गौड़ब्रह्मानन्दीकारने अपनी वन्दनामें भी की है'—

नमो नवघनश्यामकामकामितदेहिने।
कमलाकामसौदामकणकामुकगेहिने ॥

अर्थात् जिनका देहसौन्दर्य कामदेवके भी द्वारा वांछित हुआ, दूसरोंको महावैभवप्रदाता होकर भी जिन्होंने लक्ष्मीकी इच्छा रखनेवाले सुदामा ब्राह्मणके कणोंको चाहा और ग्रहण किया, उन नवीन घनके समान श्यामको मैं नमस्कार करता हूँ। लोकमें प्राय: देखा जाता है—कामद्वारा लोगोंकी कामना होती है, परंतु यहाँ तो उन व्रजेन्द्रचन्द्रकी अपूर्व छविमाधुरीपर काम भी मुग्ध हो गया। वह उन प्रभुपादारविन्दकी नखमणिचन्द्रिकाकी छटाको दूरसे ही देखकर इतना व्यामुग्ध हुआ कि अपनी सब सुध-बुध भूल गया, मूर्च्छित होकर कहीं आप गिरा और कहीं धनुष; कुछ होश आनेपर उसने विचार किया, अब खूब उग्र तपस्या करके कामिनी बनकर इस नखमणिचन्द्रिकाका सेवन करूँ, तब जन्म सफल हो। वह पुंस्त्वको मिटाकर स्त्रीत्व-प्राप्तिके लिये तपस्याका निश्चय करता है—'**कामैरपि कामितो देहो यस्य।**' एक क्या, सैकड़ों और सहस्रों काम उस त्रिभंगललितके लावण्यपर न्यौछावर हो गये। अस्तु, प्राकृत मेघमें और इस मेघमें बहुत अन्तर है, वह पात्रापात्रका विवेक नहीं करता, यह लताओंको भी प्रेम-रस देता है—

सन्त्ववतारा बहवः पुष्करनाभस्य सर्वतोभद्राः।
कृष्णादन्यः को वा लतास्वपि प्रेमदो भवति?

उस महोमयी मूर्ति मेघने सबमें प्रेमरस बरसाया। रसालको तो परिपूर्ण ही किया। कदम्बकी तो बात ही क्या, उसे तो आत्मसमर्पण ही कर दिया। उसीके प्रेमानन्दकी वर्षा करनेवाले हुए '**कदा**' और उन्हें '**वातीति कदम्बः।**' यह वह कदम्ब है। जिसने इसका सेवन किया, श्रीराधावेष्टित कृष्णका—घनश्यामका ध्यान किया, उसे यह श्रीश्यामसुन्दरको दे देता है। 'अत: हे कदम्ब! हे सर्वानन्ददाता! हमें प्राणप्यारेको बतला दो'—'**शंसन्तु कृष्णपदवीं रहितात्मनां नः॥**' (श्रीमद्भा० १०।३०।९) 'कदम्ब' और 'नीप' एक ही वस्तु है, भेद इतना ही है कि नीप रज:प्रधान एवं बड़े पुष्पवाला होता है और कदम्बके पुष्प छोटे होते हैं। '**नयति—प्रापयति मोहनमिति नीपः।**' इसकी भी व्रजांगनाओंने खूब स्तुति की—'हे नीप! तुमपर मोहन बड़े मुग्ध रहते हैं, तुम्हारे बड़े-बड़े फूलोंकी माला उन्हें खूब पसन्द है। तुम्हारी सुगन्ध उनको खूब प्रिय है। तुम्हारी ठण्डी छायामें बैठकर वे वंशीकी मधुर ध्वनिसे वृन्दावनको गुंजार देते हैं। हे मोहनके प्रिय सखा, जरा अपने मित्रका पता देकर हमें भी सुखी करो।' सब तरह प्रयत्न करनेपर भी जब कदम्बकी ओरसे कोई आशा न मिली, तब निराश व्रजांगनाओंने उसकी निन्दापर कमर कसी। कहने लगीं—'यह कदम्ब है, कदम्बका अर्थ होता है—खोटी माँका बेटा—'**कुत्सिता अम्बा यस्य असौ कदम्बः।**' इसकी उत्पत्ति काकखातशेषसे होती है। 'नीप' भी ऐसा ही है—'**नयति दूरङ्गमयति श्रेयस इति।**'

व्रजदेवियोंने वृन्दावनके सब वृक्षोंका दरवाजा प्रियकी प्राप्तिके लिये खटखटाया, सबकी स्तुति की, प्रार्थना की, परंतु किसीसे भी उनको आश्वासन नहीं मिला। निराश होकर सभी वृक्षोंको उन्होंने परोपकारकी परीक्षामें 'फेल' कर दिया। '**परार्थभवकाः**' आदिका

स्तुतिपक्षमें पहले अर्थ किया जा चुका है, असूयार्थ भी प्रायः उन-उन स्थलोंमें निर्दिष्ट हुआ है। अब उनके विषयमें व्रजांगनाओंने आखिरी फैसला किया—**'ये परार्थाय भवकाः रुद्राः संहारकाः'** हैं। 'दूसरोंका नाश करनेके लिये, उनके अर्थका संहार करनेके लिये इन सब वृक्षोंका जन्म है। ये **'यमुनोपकूलाः'** तीर्थवासी पण्डे हैं, महाकठोर हैं। अच्छा, इनकी करनी ये जानें।' कहीं **'भविकम्'** पाठ है, जिसका अर्थ अभ्युदय है अर्थात् 'दूसरेका माल हड़पनेमें ही ये तीर्थ-पुरोहित अपना अभ्युदय समझते हैं।'

इस प्रसंगमें वृक्षादिसे पूछना, अपनी अनभिज्ञता प्रकट करना, यह मानिनी व्रजांगनाओंकी बात नहीं है। वृक्षोंसे प्रश्न मानिनियोंने भी किये हैं, पर उनमें भेद है। उनके प्रश्न इस तरहके हुए हैं—'वृक्षो! अपने सखा, उन चौरचक्रवर्तीको बतलाओ, वे हमारा 'मन' चुराकर ले भागे हैं, किस मार्गसे गये, जरा बतलाओ तो'—**'शंसन्तु कृष्णपदवीम्।'** यदि वृक्ष उपेक्षा करें कि 'जाने दो व्रजांगनाओ, साधारण वस्तुकी चोरीपर क्यों झगड़ा करती हो' तो कहती हैं—'नहीं, उन्होंने हमारी सबसे बड़ी चोरी की है, सर्वस्व लूट लिया है, हमें उन्होंने आत्मासे रहित कर दिया है। कोई देह, गेह, आभूषण आदिसे रहित होता है, हम तो आत्मासे रहित हैं—**'रहितात्मनाम्।'** आप सब सन्त हो, तीर्थवासी हो, कृपा करो, बतलाओ, हम उस चोरको धरेंगी। देखो, झूठ न बोलना। शपथ देती हैं—**'यमुनोपकूलाः'** यमुनाके किनारे आपलोग खड़े हो। दूसरा मार्ग मत बतला देना।' जब वृक्ष कुछ उत्तर नहीं देते, तब कहती हैं—'जाने दो, इनको ज्यादा न छेड़ो, ये प्रेमसमाधिमें मग्न हैं, अतः कैसे बतलायें?'

गोपांगनाओंद्वारा पृथ्वीसे श्यामसुन्दरके विषयमें पूछना

किं ते कृतं क्षिति तपो बत केशवाङ्घ्रि-
स्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि ।
अप्यङ्घ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद् वा
आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन॥*

(श्रीमद्भा० १०। ३०। १०)

व्रजदेवियाँ अपने प्राणधन श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दनको वृन्दावनधाममें सब जगह ढूँढ़ चुकीं, लता, तरु, सबसे पूछ चुकीं, पर कहीं पता न मिला। अन्तमें एक सखी कहती है—'आप सब यों ही पूछ रही हैं, पहले जिनसे आप पूछ रही हैं, वे उन्हें जानते भी हैं या नहीं, यह तो सोच लो। जो जानता है, वही न बतलायेगा? अतः उनसे पूछो, जो उन्हें जानें। वृथा ही इन बेचारे तीर्थवासियोंकी निन्दा क्यों करती हो?' दूसरी सखी कहती है—'अच्छा सखि, फिर तुम्हीं बतलाओ, किससे पूछें? कौन उन्हें जानता है?' इसपर पहली कहती है—'पूछना ही है तो इस भूमिसे पूछो, यह उन्हें अवश्य जानती है; क्योंकि वे कहींपर छिपे होंगे तो आखिर पृथ्वीपर ही।' यह सुनते ही सबकी दृष्टि पृथ्वीपर गयी और वे कहने लगीं—'ये दूर्वा, तरु, लता इसके रोमांच हैं और यह रोमांच श्रीश्यामसुन्दरके चरण-संस्पर्शसे ही हुआ है। यह बड़ी सौभाग्यशालिनी है।' पृथ्वीसे कहती हैं—'हे क्षिते ('क्षिति' यह प्रयोग छान्दस है)! तुमने कौन-सा तप किया है, जिससे यह संयोग तुम्हें प्राप्त हुआ? यद्यपि हमलोगोंको, गोप, यशोदा आदिको भी उनका संयोग प्राप्त होता है, किंतु वियोग भी होता है। परंतु तुम्हें तो कभी उनका वियोग होता ही नहीं। वे श्यामसुन्दर जहाँ भी जाते हैं, तुम्हें कभी नहीं छोड़ते। देवि! वह तप हमको भी बतलाओ, हम भी करें और इस तीव्र विरहतापसे सदाके लिये मुक्त हो जायँ।'

कदाचित् क्षिति कहे कि इसमें क्या प्रमाण कि मैंने तपस्या की और मुझे श्रीकेशवके चरणका अविच्छिन्न संस्पर्श मिला है? तो इसपर कहती हैं—'केशवके चरणका संस्पर्श बिना तपके नहीं मिलता, तुम्हें वह मिला है, इसका प्रमाण तुम्हारी यह

* 'भगवान्‌की प्रेयसी पृथ्वीदेवी! तुमने ऐसी कौन-सी तपस्या की है कि श्रीकृष्णके चरणकमलोंका स्पर्श प्राप्त करके तुम आनन्दसे भर रही हो और तृण-लता आदिके रूपमें अपना रोमांच प्रकट कर रही हो? तुम्हारा यह उल्लास-विलास श्रीकृष्णके चरणस्पर्शके कारण है अथवा वामनावतारमें विश्वरूप धारण करके उन्होंने तुम्हें जो नापा था, उसके कारण है? कहीं उनसे भी पहले वाराह-भगवान्‌के अंग-संगके कारण तो तुम्हारी यह दशा नहीं हो रही है?'

उत्पुलकिता तनु-रोमांच दे रहे हैं—'**केशवाङ्घ्रिस्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि**'। यहाँ केवल '**केशवाङ्घ्रि**' ही कहा, 'केशवांघ्रिपद्म' आदि नहीं कहा; क्योंकि पद्मगत सौन्दर्य, सौगन्ध्य, शीतलता, कोमलता आदिके बिना भी वह केशवचरण लोकोत्तर आनन्द देनेवाला, अनेक गुणगणसम्पन्न है। स्पर्शोत्सवोत्पुलकितांगरुहता ही इसमें प्रमाण है। फिर कहती है—'हे भूमि! आपकी जो यह रोमावली खड़ी है, वही वृक्ष, लता, अंकुर हैं। बिना आनन्दोद्रेकके रोमांच कैसा? यह अनुभवसिद्ध है। हम भी जब चरणस्पर्श करती हैं, तब रोमोत्सवोद्‍गम होता है।' मानो भूमिने कहा—'व्रजप्रमदाओ! ये वृक्ष, लता आदि तो श्रीकृष्णजन्मके पहलेसे हैं।' यह सोचकर व्रजांगनाओंने उत्तर दिया—'यदि हमारे श्यामसुन्दरके स्पर्शका फल इसे नहीं मानती तो उन्हींके अंशावतार वामनके पराक्रमका यह फल होगा। '**अप्यङ्घ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद् वा**' जब महाविराट् स्वरूपसे वामन भगवान्‌ने तुम्हें नापा, उस समयके स्पर्शका यह फल होगा। यदि इससे भी पहलेका इसे मानती हो तो फिर '**आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन**' भगवान् वराहने तुम्हारा उद्धार करते समय आलिंगन किया, उससे यह रोमांच उत्पन्न हुआ होगा और कोई प्रकार ही नहीं, यह अन्यथा सम्भव ही नहीं। यह रोमांच तो हमारे मनमोहनके ही किसी संस्पर्शसे सम्भव है। हास्य न समझो, सखि क्षिते! सच बतलाओ, तुमने कौन-सा तप किया है?'

और जगह भी लता आदि हैं, परंतु वृन्दारण्यकी लता, दूर्वा आदि अलौकिक हैं। जितने इस समय उपलब्ध लता आदि हैं, उनमें भी लोकोत्तरता है, पर दिव्य दृष्टि मिले तब वह दीख पड़े। गोपांगनाओंको वह दृष्टि प्राप्त थी। श्रीवृन्दावनधाममें ऐसे-ऐसे लताकुंज हैं, जो स्फटिक और सुवर्णके विशाल प्रासादोंका अनुकरण करते हैं। यहाँ किसी-किसी स्थानकी भूमि तो स्पष्ट ही स्फटिकवर्णकी दीख पड़ती है। उसमें नीलमणिके वृक्षोंकी शोभा देखते ही बनती है, मालूम होता है महाभावरूपा श्रीवृषभानुनन्दिनी-लताओंका श्रीश्याम-तमाल-तरुओंके साथ अनन्त सम्मिलन हो रहा है। यहाँके चन्द्र, सूर्यतक भिन्न हैं। अन्यत्रके और यहाँके चन्द्रसूर्यादिमें जो भेद नहीं मालूम होगा, वह परम सूक्ष्म अवबोधका विषय है। गोपालोंमें और श्यामसुन्दरमें सभी प्रकारकी बाह्य एकता थी, प्राकृत पुरुष-बालककी तरह यशोदाने उन्हें बाँधा था—'**बबन्ध प्राकृतं यथा।**' यदि सर्वज्ञता आदिकी प्रतीति हो जाय तो सभी खेल बिगड़ जायँ। श्रीश्यामसुन्दर वसुदेव-देवकीके यहाँ भी वैसे ही थे, जैसे नन्द-यशोदाके यहाँ। परंतु वसुदेवके यहाँ ऐश्वर्य था। उत्पन्न होते ही—'**तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणम्**....' (श्रीमद्भा० १०। ३। ९)-के रूपमें वसुदेव-देवकीको उनका दर्शन मिला था। इस ऐश्वर्य-दर्शनसे वात्सल्य रसमें जो तरलता थी, उसमें कठिनता आ गयी थी। शश्वदुद्भूत शुद्ध वात्सल्य यशोदा आदिके यहाँ था, ऐश्वर्य भी था, पर तिरोहित। अतएव प्राकृतताकी प्रतीति हुई। ऐसे ही यमुना, वृन्दावन, गोवर्द्धन, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रोंमें लौकिकता दीख पड़ती थी, पर वे सब दिव्य, अलौकिक थे। वैसे भी भगवान् केशवके चरणका स्पर्श किस भूमिको मिला—यह विचारणीय है। जब श्रीश्यामसुन्दर मथुराधीश और द्वारकाधीश हुए, तब पादुका, शय्या, सिंहासन और पट्टमहिषियोंके अंगोंको ही उनके साक्षात् स्पर्शका सौभाग्य प्राप्त होता था। मथुरा, द्वारका या अन्यत्रकी भूमिको कब साक्षात् चरण-स्पर्श मिला? यह एकच्छत्र सौभाग्य तो वृन्दावन-भूमिको ही प्राप्त था, यहाँ श्रीश्यामसुन्दर अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डनायक निरावरण चरणसे भूमिपर विहार करते थे। इस रजकी स्तुतिमें गोपांगनाओंने कहा है—

'धन्या अहो अमी आल्यो गोविन्दाङ्घ्र्यब्जरेणवः।'

(श्रीमद्भा० १०। ३०। २९)

पतिव्रताशिरोमणि अरुन्धती, योगीन्द्र-मुनीन्द्र जिस रजके लिये तरसते हैं, उसे व्रजांगनाएँ धन्य कहती हैं। जिस भूमिकी रजको ब्रह्मा, शिव, लक्ष्मी विप्रयोगरूप अघको दूर करनेके लिये सिरपर धारण करते हैं—

'यान् ब्रह्मेशो रमा देवी दधुर्मूर्ध्न्यघनुत्तये॥'

(श्रीमद्भा० १०। ३०। २९)

उसी भूमिको साक्षात् चरण-स्पर्श मिला है। भगवान्‌ने वहाँ क्यों पादत्राण धारण नहीं किया?

पुत्रवत्सला यशोदा अम्बाने गोचारणके लिये जाने ही क्यों दिया? वह तो जैसे फणी अपनी मणिको छिपाकर रखे, वैसे अपने लालको अंकमें छिपाकर रखती थी, रातमें भी जाग-जागकर मस्तक सूँघती थी, जैसे रंक अपनी निधिको बराबर टटोले। फिर उसने अपने कन्हैयाको कहीं जाने ही क्यों दिया? लक्ष्मी व्रजमें सेविका बनकर रहना चाहती थी। फिर वह लक्ष्मी रासेश्वरी विराजमान है, वह भी श्री है '**श्रीयते सर्वगुणैः।**' श्री ही हैं एक लक्ष्मी, एक श्रीराधा। पहली '**श्रयते हरिमिति श्रीः**' है और दूसरी '**श्रीयते हरिणा या सा श्रीः**' सुन्दरता, मृदुता, कोमलता आदि उनकी सेवाके लिये लालायित रहती हैं। 'देवीभागवत' में वर्णित शोभा, शान्ति, कान्ति आदि सब गोपांगनाओंके रूपमें श्रीराधाकी सेविकाएँ हैं। उन्हींकी सरसता आदि लोकमें कणमात्र है। अनन्तकोटिब्रह्माण्डान्तर्गत मृदुता, कोमलताकी मूर्तिमती महाशक्ति, जिसके चरणोंमें प्राकृत कमलकी पंखुड़ीके भी गड़ जानेका डर है, वे अपने परम कोमल करोंसे श्रीराधाके चरण-स्पर्श करनेमें सकुचाती हैं कि कहीं आघात न लग जाय। अतः '**श्रीयते सर्वैर्गुणैर्हरिणा च या सा श्रीः**' ठीक ही है। जब वृन्दावनमें निवास करें, तब धनकी कैसी कमी? सैकड़ों नौकर लगाकर गोचारण आदि कराया जा सकता है, फिर स्वयं श्यामसुन्दर भगवान्‌को वह क्यों करने दिया गया? परंतु ये तो गोपालकी लीला थी, बाललीला, वनलीला आदि उनके विनोद थे। श्रीमद्वल्लभाचार्यके सिद्धान्तानुसार जगत्‌के, प्रकृतिके सब तत्त्व उस प्राणप्यारेके आलिंगनके लिये उत्कट उत्कण्ठित हैं। इसके लिये वनकी देवी, वनकी शक्ति कोई दूर्वा, कोई लता, कोई पाषाण आदि बने हैं। यदि वनलीला न हो तो इनकी अभिलाषा कैसे पूर्ण हो? भगवान् वांछाकल्पतरु कैसे कहे जायँ?

किं ते कृतं क्षिति तपो बत केशवाङ्घ्रि-
स्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि ।
अप्यङ्घ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद् वा
आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन॥

(श्रीमद्भा० १०। ३०। १०)

पुत्रवत्सला अम्बा यशोदाने अपने लालको गोचारण, वनगमनकी कभी अनुमति नहीं दी। हठीले श्यामसुन्दरके हठ अथवा परिस्थितिसे विवश यशोदाने वैसा होने दिया। परंतु वनगमनकी बात सुनकर नन्दरानी न जाने कितनी बार मूर्च्छित हुई। 'दिनभर कैसे कटेगा' आदि चिन्ता उसके चित्तसे क्षणभरके लिये भी शान्त न होती थी। गोचारणके लिये वन जानेके समयकी गोपालकी मूर्तिको निहारकर गोप, गोपी सब चित्रलिखे-से खड़े रहते, वे सब उनका तबतक एकटक दर्शन करते रहते, जबतक वे अपने सखाओंके साथ ओझल न हो जाते। इसके बाद भी घण्टों उनके पीछे उड़ रही धूलिका दर्शन करते रहते और अन्तमें उनकी विविध चिन्ताओंमें ही बेसुध हो जाते। वन, पक्षी, मृग, जड़, चेतन सबकी यही स्थिति थी। तब नन्दरानीकी स्थिति कैसी होगी, यह वर्णनके बाहर है।

इसके साथ एक बात यह भी थी कि छोटे बछड़े श्रीश्याम और श्रीबलरामके साथ इतने मिल-जुल गये थे कि उनके बिना आँगनके बाहर पैर ही नहीं रखते थे। दोनों भैया उनकी पूँछ पकड़कर व्रजकर्दममें खेलते, वे उनको एकटक दृष्टिसे देखते, सूँघते और जिह्वासे चाटते थे। ऐसी स्थितिमें बड़े होकर भी श्रीकन्हैया और श्रीदाऊको छोड़कर डण्डाकी मार खाकर भी वे बाहर जानेका नाम न लेते। किसी समय तो वे स्वयं कृष्ण हो गये। आगे चलकर गायोंने भी बछड़ोंका ही अनुकरण किया, उन्होंने भी अपने प्रिय श्यामसुन्दरके बिना कहीं भी जाना-आना छोड़ दिया। अब तो एक समस्या उपस्थित हो गयी। इधर गोपालन निज धर्म था ही। जहाँ धर्मका सम्बन्ध आया, नन्द, यशोदा दोनों ही मूक हो गये। गर्गाचार्यकी प्रतीक्षा होने लगी। वन, लता, मृगादिके मनोरथ पूर्ण होनेका अवसर आ गया। स्मरण-समकाल ही गर्गजी पधारे और तुरंत दूसरे ही दिन गोपाष्टमीका ही मुहूर्त निकल आया, मानो प्रतीक्षामें ही बैठे थे। परंतु गोपियाँ बड़े कष्टमें पड़ गयीं। जिन्हें एक क्षण भी बिना देखे नहीं रह सकतीं, उनका अब दिनभरके लिये असह्य वियोग कैसे सहा जायगा? दूसरे, 'इतने मधुर, सुकोमल मनमोहन कण्टकाकीर्ण वनमें कैसे विचरेंगे'

इस बातकी चिन्ता तो सभीको और भी अधिक कष्ट दे रही थी, परंतु बड़े कष्टसे उन्होंने सब कुछ सहा।

गोपजनके कुतूहलमें भावी कष्ट कुछ विस्मृत हुआ। बड़े समारोहसे गोपूजन हुआ। गौ, वत्स वस्त्रालंकारादिसे सजाये गये; धूप, दीप, नैवेद्यके साथ उनकी परिक्रमा, दण्डवत् प्रणाम आदि हुआ। माता यशोदाने, गोपांगनाओंने श्रीश्यामसुन्दरको पादुका पहनकर वन जानेका प्रस्ताव रखा, परंतु उन्होंने अस्वीकार किया, कहा—यह धर्मविरुद्ध है, जब हमारे उपास्य देवता गौएँ बिना पादत्राणके विचरेंगी, तब हम भी वैसे ही रहेंगे। अतएव गोपदेवियोंको चिन्ता है—

चलसि यद् व्रजाच्चारयन् पशून्
नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम्।
शिलतृणाङ्कुरैः सीदतीति नः
कलिलतां मनः कान्त गच्छति॥*

(श्रीमद्भा० १०।३१।११)

और भी '**....तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित् कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः।**' (श्रीमद्भा० १०।३१।१९) यदि प्रभुके पादोंमें पादत्राण होते तो पद-पदपर काँटा आदि गड़नेकी गोपियोंको चिन्ता न होती। अतः यह सौभाग्य किसीको प्राप्त नहीं हुआ। यह तो श्रीवृन्दावनभूमिको ही प्राप्त हुआ, जिसने निरावरण केशव-चरणोंको प्राप्त किया। अतएव '**वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिम्**' (श्रीमद्भा० १०।२१।१०) कहा गया है।

भगवच्चरणारविन्दके विषयमें गोपांगनाओंकी कई अन्तरंग भावनाएँ हैं। उन्होंने अपने प्रेष्ठ श्रीश्यामसुन्दरको कई स्थानोंमें 'देवकीसुत' कहा है, यह उनकी ओरसे प्रणयकोपमें साभिप्राय उक्ति है अर्थात् देवकीके—क्षत्राणीके—कठोरहृदयके सुत हैं, उनके शरीरमें क्षत्रियाणीका कठोर खून है, अतएव इनके पाद कठोर हैं, विप्रयोगतापसन्तप्त कठिन हृदयमें हम उनको धारण करके तापशान्ति चाहती हैं। इसी प्रकार '**न खलु गोपिकानन्दनो भवान्**' (श्रीमद्भा० १०।३१।४) कहकर यह बतलाया कि 'आप कोमलहृदया गोपिका—यशोदाके सुत नहीं हैं, अन्यथा इतने कठोर न होते।' वृन्दावनधामके प्रसंगमें यह भी समझना चाहिये कि वृन्दावनधाम अलग और भूमि अलग है। नित्य वृन्दावनधामका जो व्यापी वैकुण्ठ है, यहाँ अवतार है। यह सब महत्त्व भूमिके एक देशको था, पर इतनेसे ही समस्त भूमिको बड़ा अभिमान था। परंतु किसीका भी अभिमान सदा स्थिर नहीं रहता। भगवान्‌को तो वह अच्छा ही नहीं लगता। फलतः पृथ्वी एक बार गौ बनी और त्रिपादक्षीण धर्म—वृषभ। पृथ्वी अपने ऊपर हो रहे अत्याचारोंसे दुःखी होकर भगवान्‌से करुण प्रार्थना कर रही थी, कलियुग दोनोंको डण्डा मारकर भगा रहा था। धर्म भूमिसे उस समय पूछ रहा था—'तुम इतनी दुःखी क्यों हो? रोती क्यों हो?' इसपर गोरूपधारिणी भूमिने कहा—'श्रीभगवान् पूर्णपुरुषोत्तम श्यामसुन्दरके साक्षात् चरणस्पर्शकी प्राप्तिसे कृतकृत्य होकर मैं महाभिमानमत्त हो गयी थी, उसीका यह फल भोग रही हूँ।' एक बार श्रीनारदने विन्ध्याचलसे पूछा—तुम बड़े हो या सुमेरु? मैं तो समझता हूँ कि सुमेरु बड़ा है। विन्ध्याचलसे सुमेरुकी स्तुति न सही गयी, वह खड़ा हो गया। अब तो भूमि और आकाश एक हो गया, आफत मच गयी। तब देवताओंने महामुनि अगस्त्यको उसके समीप भेजा, जो उसके गुरु थे। उन्हें देखते ही विन्ध्यने साष्टांग प्रणाम किया और उनकी आज्ञा मानकर वैसे ही रह गया। लोकोंने शान्तिकी साँस ली, पर उसके हृदयमें छोटेपनका सन्ताप बना ही रहा। परंतु जब भगवान् रामचन्द्र वनवासके प्रसंगसे उसके यहाँ पधारे, तब तो सुमेरु, हिमालय आदि सभी विन्ध्यकी स्तुति करने लगे। उस समय विन्ध्याचलने बिना परिश्रमके ही बड़ाई पायी—'**बिनु श्रम बिपुल बड़ाई पाई।**' ऐसे ही भगवत्पादार्पणसे चित्रकूटका

* हमारे प्यारे स्वामी! तुम्हारे चरण कमलसे भी सुकोमल और सुन्दर हैं। जब तुम गौओंको चरानेके लिये व्रजसे निकलते हो, तब यह सोचकर कि तुम्हारे वे युगल चरण कंकड़, तिनके और कुश-काँटे गड़ जानेसे कष्ट पाते होंगे, हमारा मन बेचैन हो जाता है। हमें बड़ा दुःख होता है।

महत्त्व माना गया और इस एक देशके महत्त्वसे समस्त भूमिका महत्त्व माना गया। इसी प्रकार '**वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिम्**' की बात है। अतः व्रजरजकी महिमा महान् है।

व्रजदेवियोंने अपने शरीरकी वृन्दावनसे तुलना की है। वृन्दावनमें श्रीयमुना बहती हैं। व्रजांगना कहती हैं—हमारे शरीरमें श्रीकृष्णप्रेमधारा निरन्तर प्रवाहित है। हमारा हृदय ही श्रीगोवर्द्धनपर्वत है और ये वृन्दावनकी लताएँ हमारी रोमराजि हैं। पर हाय, तब भी प्यारे श्यामसुन्दर वृन्दावनमें साक्षात् विहार करते हैं, उसे सदा अलंकृत करते हैं और हमें दर्शनतक नहीं देते। वृन्दावनमें स्थल-स्थलपर झरने झरते हैं, व्रजांगना उनकी समानता अपने प्रेमद्रव, मूर्च्छा, स्वेद आदि आठ सात्त्विक भावोंसे करती हैं। वृन्दावनमें लतादिकी अलौकिकता है, जो सर्वथा लोकोत्तर है। अतः अब व्रजदेवियाँ वृन्दावनकी भूमिसे ही पूछती हैं—

'**किं ते कृतं क्षिति तपो बत केशवाङ्घ्रि-**
स्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि ।'

'हे सखि भूमि! बतलाओ, छिपाओ नहीं—तुमने कौन-सी तपस्यासे यह लोकोत्तरता प्राप्त की है।' भूमि बोलती नहीं, तब अपने ही आप कल्पना करती हैं—मालूम होता है इसकी कोई उग्र तपस्या है, आत्मसन्तापन, पीड़न भी एक तप है। जब भगवान् श्रीवामनने महाविराट् रूपमें अपने चरणसे तुम्हारा स्पर्श किया, उस समय तुम दबी, तुम्हारा उत्पीड़न हुआ। यह एक तपस्या हुई। यह आनन्दोद्रेकका रोमांचोद्गम साधारण तपका फल नहीं, अपितु श्रीवामनभारसे है अथवा उतनेसे न होगा। श्रीवामनका स्पर्श ऐश्वर्यवाला है, यहाँ माधुर्य है, ऐश्वर्यमें माधुर्य सम्भव नहीं, वह तो तपसे ही सम्भव है, अतः श्रीवामनस्पर्शरूप तपसे यह मिला होगा अथवा वाराह भगवान्के द्वारा निपीडनरूप तपका फल होगा, जो श्रीश्यामसुन्दरके स्पर्शोत्सवसे तुम अति पुलकित हो रही हो।

किं ते कृतं क्षिति तपो बत केशवाङ्घ्रि-
स्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि ।
अप्यङ्घ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद् वा
आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन॥

(श्रीमद्भा० १०।३०।१०)

इस प्रकार व्रजांगनाएँ अपने प्राणाधिकप्रिय श्रीश्यामसुन्दरका अन्वेषण करती हुई वृक्षादिकोंसे कुछ उत्तर न पाकर भूमिसे पूछती हैं और विविध भावमय कल्पनाओंसे पुष्ट अनुमानद्वारा उसे श्रीकृष्ण-सम्पर्कवती जानकर उसके प्रति विमुग्ध हो जाती हैं और उनकी कल्पनाओंका प्रवाह बढ़ता ही जाता है। निवास और गत्यर्थक 'क्षि' धातुसे (**'क्षि निवास गत्योः'**) 'क्षिति' शब्द निष्पन्न हुआ है। उसका अर्थ है सर्वनिवास और गमनकी आधारभूता। संसारके सभी प्राणियोंकी स्थिति, गति भूमिके ही आधारपर है। व्रजांगनाएँ प्रार्थना करती हैं—'हे सर्वाधारभूते भूमि! तुम परोपकारिणी हो, बड़ी दयामयी हो, श्रीश्यामसुन्दरका पता बतलाकर हमपर दया दिखाओ। सखि! सच-सच बतलाओ, तुम्हारी किस तपस्याका यह फल है, जो श्रीश्यामचरण तुम्हें प्राप्त हुआ है? श्रीकेशवाङ्घ्रिस्पर्श तुम्हें मिला है? यह तो स्पष्ट है कि तुम्हें उन प्रभुका चरणस्पर्श अवश्य मिला है; क्योंकि उसके बिना तुम्हारा यह लता, झरनारूप अंगरुह, यह हर्षोद्रेक, यह लोकोत्तर उत्सव कभी सम्भव नहीं। अब जानना यह है कि यह तुम्हें भगवान्के किस स्वरूपसे प्राप्त हुआ? यदि महाविराट्का रूप धारण करते समय भगवान् वामनसे तो यह हम मान सकतीं नहीं; क्योंकि उनके द्वारा इतना उत्सव मिलना असम्भव है। यह तो हमारे श्रीश्यामसुन्दरके चरण-सम्मिलनका ही महाफल हो सकता है। आहोस्वित् रसातलसे तुम्हारा उद्धार करते समय भगवान् वाराहके परिरम्भणका यह फल है। परंतु जड़-चेतन सबमें रसका संचार कर देनेवाली यह विशेषता तो उन मुरलीमनोहरमें ही है। वामन या वाराहकी तो यह बात कहीं भी प्रसिद्ध नहीं। यह तो उन्हींकी महिमा है, जो अमृतमय निज मुखचन्द्रसे विनिर्गत वेणुगीत-पीयूषके पानसे स्थावर जंगम और जंगम स्थावर हो जाते हैं, वृक्ष भी हृष्यत्त्वक्—रोमांचवाले हो जाते हैं। यह तुम्हारा लोकोत्तर उत्पुलकोत्सव अवश्य उन्हींकी कृपाका प्रसाद है।

सखि! तुम भाग्यशालिनी हो, हम तो भाग्यविधुरा हैं। सखि, वसुधे! तुम ऐसी महाभाग्यवती हो कि ये श्यामसुन्दर कभी वामनरूपसे तो कभी वाराहरूपसे तुम्हारा आलिंगन करते हैं और साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्र यशोदा-नन्दन आनन्द-कन्दरूपसे भी सदा तुमसे संयुक्त रहते हैं। हमसे, गोपालसे, अपने प्रियसखाओंसे वे वियुक्त हो जाते हैं, पर तुमसे कभी वियुक्त नहीं होते। सचमुच तुम स्वाधीनभर्तृका हो। अनन्तानन्त महापुण्यवानोंको भगवद्ध्यान, भगवत्स्पर्श प्राप्त होता है, फिर साक्षात् सम्बन्ध हो जाय तो कहना ही क्या?'

अघासुरकी मुक्ति

लोग चकित रह गये, अघासुरकी मुक्ति देखकर। पहले उसके कन्दराकार मुखमें ग्वाल-बाल, वत्स प्रविष्ट हुए, फिर श्रीगोपाल स्वयं भी प्रविष्ट हो गये और उसके मुखका विदारणकर वत्सादिके सहित उससे बाहर निकल आये। अपनी दृष्टिसे सुधासिंचनकर वत्स-वत्सपोंको सजीव किया। उस समय उस असुरके मुखसे एक ज्योति निकली और उन त्रिभुवनमोहनके मुखमें समा गयी। इस घटनासे सब आश्चर्यचकित रह गये। जो प्रत्यक्ष सायुज्य देवोंको दुर्लभ है, वह इस हत्यारेको मिली। श्रीशुकदेव महामुनि कहते हैं—

सकृद् यदङ्गप्रतिमान्तराहिता
मनोमयी भागवतीं ददौ गतिम्।
स एव नित्यात्मसुखानुभूत्यभि-
व्युदस्तमायोऽन्तर्गतो हि किं पुनः॥

(श्रीमद्भा० १०।१२।३९)

एक बार भी अन्तःकरणमें विराजित प्रभुकी मनोमयी मूर्ति भावुकोंको भागवती गति देती है— आत्मसमर्पण कर देती है। उक्त अघासुरको तो फिर वह साक्षात् ही मिली, फिर उसको प्रभुप्राप्तिमें सन्देह ही क्या? बाहर मन्दिरादिमें प्रतिष्ठित दिव्य काष्ठादि-निर्मित भगवन्मूर्तिका दर्शन करके भक्तलोग वैसी ही मूर्ति अपने हृदयमें पधराकर रखते हैं। इसीके लिये काष्ठादिकी मूर्ति बनाकर पूजा-सेवाके विधान हैं। इस विषयमें श्रीवल्लभाचार्यजीका सिद्धान्त इस प्रकार है—

मानसी-आराधनाकी महिमा

कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता।
चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत् सिद्ध्यै तनुवित्तजा॥

तत्प्रवणता ही सेवा है, अपने प्रियतम, पूर्णतम पुरुषोत्तमकी ओर संसार छोड़कर मन ऐसा प्रवाहित हो, जैसा सावन-भादोंकी गंगा आदि नदियाँ समुद्रकी ओर प्रवाहित होती हैं। मनमें प्रभुस्वरूप प्रकट हो जाय। ध्यान करने बैठें, मन नहीं लगता, भजनके समय कामिनी, शिशु और भी अत्यन्त सुन्दर वस्तुओंका स्मरण हो आता है। परंतु, क्या कोई भी वस्तु उन त्रिभुवन-मोहन श्यामसे अधिक सुन्दर है? फिर क्या बात है, उनके देवदुर्लभ चरणारविन्दको छोड़कर वह अन्यत्र क्यों भटकता है? कारण स्पष्ट है, उसमें प्रभुकी मूर्ति अंकित नहीं हुई—मानसी मूर्ति नहीं बन पायी। '**स्वमूर्त्या लोकलावण्यनिर्मुक्त्या लोचनं नृणाम्।**' (श्रीमद्भा० ११।१।६) ('**लोकेभ्यो लावण्यस्य निर्मुक्तिर्यया सा**') प्रभुकी मंगलमयी मूर्तिके एक-एक रोममें अनन्त सौन्दर्यामृत—माधुर्यामृत-सिन्धु समाये हैं, सारे संसारमें उसका एक कण बँटा है। जब सब सौन्दर्य—विश्वमोहन कन्दर्प भी जिसकी नखमणिचन्द्रिकासे व्यामुग्ध हो जाता है, उसकी यदि मनोमयी मूर्ति बन जाय तो यह शिकायत न रह जाय कि मन नहीं लगता। प्रभुने देखा कि जीवोंके चित्त माधुर्यादिकी तरफ खिंचते हैं, पर वे नरक ले जानेवाले हैं—'**ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।**' (गीता ५।२२) आद्यन्तवन्त हैं, क्षणभंगुर हैं, बुध इनमें नहीं रमते। पर ये जो हमारे शब्द, रूपादि, माधुर्यादि हैं, इनको हम ऐसे रूपमें प्रकट करें कि सबका चित्त एक बार ही उधर आकृष्ट हो जाय। प्राणियोंके चित्तका परिचय अदृश्य, अग्राह्य, अलक्षण, अरूप, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, अशब्दसे नहीं हुआ, इसीलिये वह लौकिक शब्दादिके लिये मचलता है। यही सब विचारकर प्रभुने अपना ऐसा रूप बनाया कि सनकादि, शुकादि भी उसपर विमुग्ध हो गये। श्रीश्यामसुन्दर पूर्णतम पुरुषोत्तमका ही एक रामरूप है, जिसे देखकर दण्डकारण्यवासी तपस्वी मुग्ध हो गये। श्रीकृष्णका रूप तो जरा और ठाटका है, कहीं

मुकुट, कहीं लकुट, कहीं पीताम्बर, कहीं फेंटा, कहीं वंशी आदिसे वह खूब सजा है। पर श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्र तो बाबाजीकी तरह जटा, चीर आदि धारण किये थे, उनपर भी मुनियोंका चित्त खिंच गया। यद्यपि खरदूषणकी बहनका नाक-कान काटा, पर जब सामने आये, तब उनके भी मुखसे निकल पड़ा—

जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा। बध लायक नहिं पुरुष अनूपा॥

(रा०च०मा० ३।१९।५)

क्रूर, गोभक्षक भी उन्हें देखकर सहज ही विभोर हो गये। राह चलती स्त्रियोंने भी उन्हें देखकर उनके मार्गकी निर्बाधता—सर्प, वृश्चिक आदिसे राहित्य विधातासे माँगा। फिर श्रीश्यामसुन्दर मुरलीमनोहरके रूपमें जो शृंगाराक्रान्त परम कमनीय था, प्रकट होकर तो अपने साधकोंके मनकी सभी शिकायतोंको दूर कर दिया। लावण्य, सौरस्य, सौरस्य-सुधा-सिन्धुको छोड़कर भला कौन ऐसा है, जो अप्सरा आदिको चाहेगा? परंतु उस मूर्तिके मनोमयी होनेपर ही यह बात होती है, अतएव '**मानसी सा परा मता**।' यह सिद्ध कैसे हो, इसके लिये पहले एक ऊँचे अभिनिवेशसे तनुजा और वित्तजा सेवा होनी चाहिये। धातु आदिकी प्रभुप्रतिमा पधराकर अष्टयामकी सेवा, भावना, दिव्यातिदिव्य शृंगार, भोगरागसे उन्हें अपना सर्वस्व समझकर महावैभवसे खूब सेवा करनी चाहिये, तब वह मूर्ति मनमें आयेगी और एक बार आकर ही सदाके लिये कृतकृत्य कर देगी। अतएव कहा गया है—

'सकृद् यदङ्गप्रतिमान्तराहिता
मनोमयी भागवतीं ददौ गतिम्।'

(श्रीमद्भा० १०।१२।३९)

ध्रुव, प्रह्लाद आदिको इसी मानसी प्रतिमाने—मनोमयी मूर्तिने आत्मसमर्पण किया। फिर उस अघासुरकी क्या बात, जिसके मुखमें वह मूर्ति साक्षात् समा गयी! मुख्य बात यह है कि किसी भी स्वरूपसे, कैसे भी प्रभु-सम्बन्ध होना चाहिये।

व्रजांगनाएँ कहती हैं—'सखि धरित्रि! तुम्हें यह जो श्रीकृष्ण-स्पर्श मिला, वह जन्म-जन्मकी उग्र तपस्याओंका फल है। पहले वामनचरणके तीव्राघात तपसे पुण्य उत्पन्न हुआ, उससे वाराह-संस्पर्शपुण्य उत्पन्न हुआ। फिर इन दोनों पुण्योंसे श्रीश्यामसुन्दरके सार्वदिक् संस्पर्श-सौभाग्यका उदय हुआ। सखि! हमको भी उस तपस्याका क्रम बतलाओ, जिससे तुमने उत्तरोत्तर उन्नति की।'

व्रजांगनाओंने श्रीश्यामसुन्दरके चरणसंस्पर्शको अधिक महत्त्व दिया है। कोई कहे कि स्पर्श तो सब समान ही है—जैसे श्रीवामनभगवान्का या वाराह-भगवान्का, वैसे ही श्रीश्यामसुन्दरका, केशवभगवान्का, उसमें कोई भी अन्तर कैसा? परंतु ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह भेद तो भावुक ही समझ सकते हैं, दूसरोंके लिये यह अगम्य है। इसपर व्रजदेवियोंके बहुत ऊँचे भाव हैं। केशव उनकी दृष्टिमें साधारण केशव नहीं, अपितु ब्रह्मा, विष्णु और महेशको वशमें करनेवाला केशव—('**कः-ब्रह्मा, ईः-विष्णुः, शः-शिव, तान् वशयतीति केशवः**') है। भगवदवतारोंमें कोई अंशावतार, कोई कलावतार और कोई आवेशावतार होते हैं। परंतु पूर्ण, पूर्णतर और पूर्णतम अवतार पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द यशोदानन्दनका ही हुआ है। इसमें भी भक्तोंकी उच्च भावनाके अनुसार—'**व्रजे वने निकुञ्जे च श्रैष्ठ्यमत्रोत्तरोत्तरम्**' की व्यवस्था है। इसके अनुसार निकुंजस्थ श्रीश्यामसुन्दर मदनमोहन ही पूर्णतम अथवा श्रेष्ठतम हैं।

निकुंजस्थ माधुर्यनिधि श्यामसुन्दरकी श्रेष्ठता—एक रोचक दृष्टान्त

कदम्बखण्डीके नागाजी व्रजमें एक अतिप्रसिद्ध भावुक भक्त हो गये हैं। वे वहीं आनन्दमग्नावस्थामें घूमा करते थे। एक दिन उनकी जटा एक झाड़ीमें उलझ गयी। प्रयत्न किया, पर नहीं सुलझी, तब आपने निश्चय किया—'जिसने उलझायी है, अब वही आकर सुलझायेगा।' वहाँ गौओंको चराने आनेवाले ग्वालबालों तथा अन्यान्य लोगोंने बहुत प्रार्थना की—'बाबा, हम सुलझा दें।' पर आपने किसीकी न सुनी, अटल निश्चय किया—'बस, अब तो वही आयेगा, तभी सुलझेगी।' आप इसी प्रणयकोप अथवा भावावेशमें बहुत समयतक उसी तरह खड़े

रहे। नागाजीकी प्रतिज्ञासे श्रीश्यामसुन्दर अधीर हो उठे। वे आये और नागाजीकी जटा अपने कोमल करोंसे सुलझानेको ज्यों ही उद्यत हुए, नागाजीने रोक दिया। कहा—'पहले आप अपना परिचय दीजिये, आप कौनसे कृष्ण हैं—व्रजके, वनके या निकुंजके? हम तो निकुंजके उपासक हैं।' श्रीप्रभुने कहा—'बाबा, मैं वही हूँ, जाकी तुम उपासना करो हो।' नागाजीने कहा—'कैसे विश्वास हो? इसका प्रमाण कौन दे?' श्रीप्रभुने कहा—'जैसे तुमकूं विश्वास हो, सोई करो।' नागाजीने कहा—'यदि हमारी श्रीस्वामिनीजू आकर कहें कि हाँ, ये निकुंजके ही श्याम हैं, तब हम मानें।' इतनेमें श्रीव्रजेश्वरी वृषभानुनन्दिनी श्रीस्वामिनीजू भी पधारीं और उन्होंने नागाजीको विश्वास दिलाया कि ये ही नित्यनिकुंज-मन्दिरस्थ श्रीश्यामसुन्दर हैं, तब अनुमति मिलनेपर बड़ी उत्सुकतासे श्रीप्रभुने चार हाथ लगाकर नागाजीकी जटा सुलझायी।

कहनेका तात्पर्य यही कि इस प्रकार श्रीकृष्णके तीन भेद हुए। इनमें मथुरानाथ और द्वारकानाथके दो भेद और जोड़ देनेसे पाँच भेद हो जाते हैं। जैसे एक ही स्वातिबिन्दु स्थानभेदसे विभिन्न नामवाला होता है—सीपमें मोती, हाथीमें गजमुक्ता, गौमें गोरोचन आदि, वैसे ही श्यामसुन्दरके ये पाँच भेद हैं। रसिक भक्तोंके यहाँ जितनी माधुर्यकी अधिकता है, उतनी ही ऐश्वर्यकी कमी। व्रजनाथ, द्वारकानाथमें यही भेद है। उत्तरोत्तर ऐश्वर्यकी न्यूनता और माधुर्यकी अधिकतासे व्रजमें पूर्ण, वृन्दावनधाममें पूर्णतर और नित्य निकुंजमें पूर्णतम प्रभु माने गये हैं। अतएव अन्य अवतारोंके स्पर्शकी अपेक्षा श्रीश्यामसुन्दरके चरणका स्पर्श व्रजांगनाओंकी दृष्टिमें अधिक महत्त्व रखता है।

भगवान्‌की लोकोत्तर अलकावलीका माधुर्य

केशवका एक दूसरा अर्थ है—(**'प्रशस्ताः केशा यस्य सः'**) सुन्दर केशवाला। सचमुच श्रीश्यामसुन्दर केशवके समान किसीके भी केश नहीं हैं। गोपांगनाएँ उनके केशोंपर मुग्ध हैं—

वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्री-
गण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम्।
दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य
वक्षः श्रियैकरमणं च भवाम दास्यः॥

(श्रीमद्भा० १०।२९।३९)

कहती हैं—'श्यामसुन्दर! हम आपके इस लोकोत्तर सुन्दर अलकावलीसे आवृत मुखपर विमुग्ध हैं और अक्रीत, अशुल्कदासी हैं।' उन सौन्दर्यगर्वप्रमत्त गोपांगनाओंका गुमान गोविन्दके घुँघराले केशपाशको देखकर ही चूर-चूर हो गया, वे सदाके लिये नायिकात्व, स्वाधीनभर्तृकात्व छोड़कर दासी बन जानेको प्रस्तुत हो गयीं। कदाचित् भगवान् कहें कि 'गोपांगनाओ, आप ऐसा मत कहो, आप कुलांगना हो' तो कहती हैं—'श्यामसुन्दर, आपकी इस रूपराशिको देखकर हम भुला जाती हैं, ठगी-सी रह जाती हैं। ये आपकी बिखरी अलकें मनको खींच लेती हैं। ये आपकी अलकें कुटिल हैं, स्निग्ध हैं, स्वच्छ हैं और हमारा मन भी सत्त्वसम्पन्न होनेसे स्निग्ध, रजोगुणसम्पृक्त होनेसे कुटिल और तमसे जुष्ट होकर श्यामलताको धारण करता है। जैसे आपके केशोंमें घुँघरालापन है, वैसे ही हमारे मनमें कुटिलता है। इस प्रकार हमारा मन आपके केशोंको बन्धु समझकर उनके पास चला गया और वहाँ जाकर उनके जालमें फँस गया।' भगवान्‌के केशोंके विषयमें '**कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम्**' (श्रीमद्भा० १०।३१।१५)-में कुटिलता कही गयी है।

कोई तो इन सचिक्कण काले केशोंकी काले नागोंसे उत्प्रेक्षा करते हैं—मानो श्रीकृष्णचन्द्रके अद्भुत अमृतमय, निष्कलंक पूर्णमुखचन्द्रपर अमृतके लोभसे वे काले-काले नागशिशु फैले हैं। किसी भावुकके मतसे पूर्णानुरागरससारसरोवरसमुद्भूत नीलकमलपर ये मधुलम्पट आ विराजे प्रतीत होते हैं। श्रीधर स्वामीने भगवान्‌के केशावृत मुखको अलिकुलमालासंकुल परागपरिप्लुत नीलकमल माना है। फिर संशय होता है कि यह अलिकुल स्थिर क्यों है? तो उत्तर मिलता है—मकरन्दपानसे स्तब्ध है, विभोर होनेसे गुंजार नहीं करता। ऐसा है भगवान्‌का अलकावृत मुख। इस प्रकार उन केशवके माधुर्य-लावण्य-सौन्दर्य-सम्पन्न एक-एक अंगकी बड़ी विलक्षण शोभा है। उनका

चरणसंस्पर्श पृथ्वीको वामनादिके स्पर्श-जन्य पुण्यसे प्राप्त हुआ है। यह विशेषता इन्हीं श्रीकृष्णमें है। इन्हीं सब विशेषताओंके द्योतनार्थ पद्यमें '**बत**' पदका प्रयोग है।

अथवा 'केशव' पदसे श्रीवृषभानुनन्दिनीका भी संकेत है। (**'प्रशस्ताः केशा यस्याः सा'**)। एक श्रीव्रजेश्वर-व्रजेश्वरीकी परम अन्तरंग प्रेयसी परमप्रेष्ठ नित्यसखी होती है। वस्तुत: सखी वही होती है, जो सौरस्य, सौरम्य, सौन्दर्य, लावण्य आदिमें अपने समान ही परस्पर हृदयज्ञ हो; वेश, रूपसे समान हो। ऐसी सखियाँ कई प्रकारकी होती हैं। कुछ ऐसी होती हैं जो श्रीकृष्ण तथा श्रीराधा दोनोंसे प्रेम करती हैं, पर पक्षपात श्रीकृष्णका करती हैं। एक नायिकात्वापेक्षिणी कान्तभाववती होती है, परंतु नित्यसखीमें नायिकात्वान-पेक्षिणी होती हैं। '**भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते**' इस कोटिके भक्तोंकी तरह वह कभी अंग-संगकी इच्छा नहीं रखती। रूप-सौन्दर्य आदिमें वह साक्षात् श्रीरासेश्वरीके समान होनेपर भी श्रीकृष्णमें कान्तभाव नहीं रखती, केवल युगलदर्शनसे ही परितृप्त होती है। उसमें ऐसे भाव उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं। यह नित्यसखीकी बात है। इस प्रकारकी व्रजसखी आदि अनेक सखियाँ अलग-अलग हैं। ऐसी सखियोंको स्वयं सम्मिलनसे उतना आनन्द नहीं होता, जितना श्रीलाड़ली-लाल, गौर-श्यामके सम्मिलित दर्शन करनेसे होता है। इस कोटिकी सखियाँ श्रीराधाजीका दर्शन करके अनन्तकोटि चन्द्र, कन्दर्प और कमलको उनके श्रीअंगपर, उनके आह्लाद, सौन्दर्य और कोमलताके नामपर वार देती हैं। इसके अतिरिक्त श्रीराधाकृष्णके सम्मिलित दर्शनकी महिमा तो इससे भी परे है, उस आनन्दको स्वयं वे भी नहीं प्राप्त कर सकते। उसे तो यह परमान्तरंग और परमभाग्यवती सखियाँ ही प्राप्त कर सकती हैं। कभी-कभी लीलावश श्रीश्यामसुन्दर श्रीराधाजीसे कहते हैं—'आपके दर्शनका सौभाग्य तो मुझे ही प्राप्त है।' इसपर श्रीजी भी कहती हैं—'आपके दर्शनका सौभाग्य भी मुझे ही प्राप्त है।' फिर श्रीराधाजी कहती हैं—'गौरसौन्दर्यके दर्शनका सुख मुझे मिलता है, परंतु परस्परसम्मिलित सौन्दर्य-दर्शनके आनन्दका सौभाग्य तो इन सखियोंको ही समुपलब्ध है। उस सुखको तो ये ही लूटती हैं, ये बड़ी भाग्यवती हैं। इनका तो हमसे भी अधिक गौरव है।'

उस आनन्दका अनुभव करनेवाली ये सखियाँ व्रजांगनाएँ धरित्रीसे पूछती हैं—

'किं ते कृतं क्षिति तपो बत केशवाङ्घ्रि-
स्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि।'

(श्रीमद्भा० १०।३०।१०)

अर्थात् भूमिगत लतादिसे भूमिके रोमांच और भूमिगत निर्झरोंसे भूमिके आनन्दाश्रुओंकी कल्पना करनेवाली वे श्रीराधा-माधवके उस अनन्त रूपराशिका आस्वादन करनेवाली व्रजांगनाएँ उसी आनन्दकी कल्पना करके धरित्रीसे पूछती हैं—'क्या तुझे उस गौरश्याम-सम्मिलित दर्शन-स्पर्श रसमाधुरीका पान प्राप्त हुआ है, जिससे तू लता-निर्झर-रूपसे उत्पुलकित और साश्रु हो रही है? क्योंकि इतना सर्वातिशायी आनन्द तो उस गौरश्यामतेज:सम्मिलित युगलमूर्ति श्रीराधा-कृष्णके दर्शनसे ही सम्भव है।' हाँ तो 'केशव' पदसे यहाँ श्रीवृषभानुनन्दिनीका भी संकेत है—'**प्रशस्ताः केशा यस्याः सा वृषभानुजा।**' यहाँ प्रिया-प्रियतमका विहार वर्णन है। यह अभी नहीं बतलाया गया है कि भगवान् श्रीकृष्ण व्रजांगनाओंको छोड़कर उनके बीचसे जो अन्तर्हित हुए हैं, वह क्या अकेले ही अन्तर्हित हुए हैं अथवा श्रीवृषभानुनन्दिनीके साथ। इसपर भविष्यवृत्तिसे कल्पना की गयी है कि श्रीश्यामसुन्दर श्रीश्यामाजूके साथ ही अन्तर्हित हुए हैं और अब वहाँ वेणीगूँथनलीला चल रही है। रसिकेन्द्रचूडामणि श्रीमदनमोहनलालजू अपनी प्रियाके केश सँवारनेके लिये उनके पीछे विराजमान हुए हैं, उसी समय दोनोंके पादपंकज-परागके स्पर्शसे धरित्रीमें रोमांच हुआ है। '**केशवा च केशवश्च तस्याङ्घ्रिस्पर्शोत्सवोत्पुलकितेत्यादि**' इस प्रकार केवल एक श्रीश्यामके स्पर्शसे नहीं, अपितु दोनोंके चरण-संस्पर्शसे भूमिमें स्पर्शोत्सवोत्पुलकितता हुई है। इस तरह अपनी समकक्ष समझकर भूमिसे व्रजांगनाएँ

प्रश्न करती हैं—'सखि! किस पुण्यसे तुम्हें यह हमारे युगलसरकारका संस्पर्श मिला है?'

श्रीकृष्णानुरागरससारसागरकी विविध वीचियोंसे संस्पृष्टहृदया व्रजदेवियाँ जब अन्तर्हित प्राणप्रियके अन्वेषणमें निमग्न हैं, वृन्दावनकी प्रत्येक वस्तु उनके लिये प्रष्टव्य बनी हुई है, कल्पनाका कोश उनके सामने खुला पड़ा है, भगवती भूमिसे, उसके केशवांघ्रि-स्पर्शोत्सवकी प्रश्न-परम्परा अभी अपूर्ण ही थी कि सहसा उसी रमणीक रमणान्वेषण-स्थलमें उन्हें मन और लोचनको कौतुक प्रदान करनेवाली एक वस्तु दिख पड़ी। वह थी किसलय-कुसुमसज्जित वन-विहार-शय्या, जो अंजन और ताम्बूलके रागसे रंजित, उपभुक्त तथा अतिप्रमृष्ट थी। उसके सुखावह दर्शनसे श्रीरासेश्वरीकी अन्तरंगा, परमप्रेष्ठा या अन्य सखी भाववती व्रजांगनाओंने श्रीराधा-कृष्णके विहारका अनुमान किया। भूमिको आत्मभावग्राहिणी समझकर परम सौभाग्यशालिनी और अपनी ही तरह परम अन्तरंगा प्राणसखी आदि भी माना। साथ ही उन्हें यह भी निश्चय हुआ कि श्रीगौरश्याम उभय तेजोविशेषके दर्शनसे यह भूमि भी कृतार्थ हो चुकी है। यह महत्त्व बिना किसी महातपोजन्य अतिपुण्यके सम्भव नहीं। अतः पूछती हैं—

'किं ते कृतं क्षिति तपो बत केशवाङ्घ्रि-
स्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि ।'

(श्रीमद्भा० १०। ३०। १०)

मनोहर केशवाले श्रीश्यामसुन्दर अथवा प्रसाधनीयकेशा श्रीरासेश्वरी—दोनोंका दर्शन, संस्पर्श, हे भूमि! तुम्हें प्राप्त हुआ है, तुम धन्य-धन्य हो। व्रजांगनाओंकी कल्पना है कि श्रीरसिकशेखरके श्रीजीकी वेणीगूँथनके समय भूमिको पादस्पर्श होनेसे उत्पुलकितता हुई और जैसे अपनेको श्रीश्यामाश्यामके सम्मिलित दर्शनसे सीमोल्लंघी आनन्द मिलता है, वैसा ही भूमिके विषयमें भी उन्होंने समझा।

'अप्यङ्घ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद् वा' (श्रीमद्भा० १०। ३०। १०) आगे गोपांगनाएँ भूमिसे पूछती हैं कि 'क्या यह आनन्द अंघ्रिसम्भवमात्र है अथवा उरुक्रमके विक्रमसे है? उरुक्रमका अर्थ है—बहुत प्रकारके अथवा विशेष क्रमवाला। यहाँ 'केलि' अलंकार है। ये बहुत प्रकारके क्रम वेणीगूँथनके लिये पुष्पचयार्थ हैं। फूल चुननेके लिये श्रीराधामाधव दोनोंका अहमहमिकया विहरण हुआ। यदि उरुक्रम-विक्रम हुआ—**'क्रमु पादविक्षेपे, क्रमणं क्रमः।' ('उरुधा—बहुधा क्रम एव उरुक्रमः, स एव विक्रमो यस्य ययोर्वा तस्मात्')** क्या श्रीराधा-माधवके पुष्पचयार्थ विधि-गतिवाले विहारसे हे भूमि! यह तुम्हें आनन्दोद्रेक-रससंचार हुआ है अथवा फूल तोड़नेके लिये दोनों चले, उनमें होड़ लगी कि 'पहले मैं जाकर फूल तोड़ूँगा' तो दूसरेने कहा—'नहीं, पहले मैं।' पर फिर भी दोनोंसे पृथक् नहीं हुआ जाता, दोनों मिले चलते हैं। इससे श्रीराधा-माधवमें परस्पर संघर्ष हुआ, यह विशुद्ध आनन्दोद्रेकका जनक हुआ। हे भूमि! क्या उसीसे यह विशेष उत्पुलक तुझे हुआ है?' इसीको 'वराहवपुषा' से कहा है—**'वरेण आहवो रतिरणः। तत्पोषकः प्रागल्भ्यभावः तेन'** उक्त प्रागल्भ्य यही है कि पहलेहीका बाहुल्य, फिर प्रागल्भ्यमें प्रतिचुम्बन होनेसे चुम्बन, आलिंगन होनेसे आलिंगन और दन्तक्षत, नखक्षत आदिका होना। क्या इन्हें देखकर यह उत्पुलक हुआ? दूसरे, इसीसे नायकमें नायिकात्वका और नायिकामें नायकत्वका उद्रेक हुआ और इसी रूपमें वेणीगुँथन प्रस्तुत हुआ। सखि भूमि! क्या इस अद्भुतभावके अवलोकनद्वारा लतांकुरादिव्याजसे तुम्हें यह अतिस्निग्ध रोमोद्गम हुआ है? जरा हमें भी बतलाओ।' यह सखी जो पूछ रही है, विपक्षकी नहीं, अपितु प्रेष्ठसखीपक्षकी है। यह धरित्री इतनी सुन्दर सुस्निग्ध कैसे दीख पड़ रही है, इसपर व्रजदेवियोंका अनुमान है कि पहले तो श्रीश्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन ललितकिशोरके अंग-प्रत्यंगकी स्वाभाविक सुन्दरताके उद्गम-स्थल हैं, उनमें भी दिव्यातिदिव्य भूषणोंका यथास्थान विन्यास है, जिसमें छविकी—सौन्दर्यादिकी हिलोरें उठती हैं। फिर प्रिया-प्रियतम दोनोंके श्रीअंगोंमें सौन्दर्य, माधुर्य, लावण्यादिके समुद्रकी उत्ताल तरंगोंसे अमृतमय वर्षा हो रही है। इसीसे धरित्रीमें आज यह इतना लोकोत्तर सौन्दर्य है। 'हे

भूमि! सचमुच तुम बड़ी सुशोभित हो रही हो, बतलाओ किस पुण्यका यह फल है?' इस प्रकार व्रजांगनाएँ धरित्रीका बहुत अनुनय-विनय कर रही हैं, पर वह काष्ठमौन है, कुछ भी नहीं बोलती। इसपर व्रजांगनाएँ कल्पना करती हैं कि यह मधुर विहारका आस्वाद करके गर्वीली हो गयी है, हम वियोगिनियोंको प्राणप्यारेका पता न देगी अथवा प्रेम समाधिमें यह तल्लीन है, अत: बाह्यवृत्तिविहीन होनेसे हमारे प्रश्न नहीं सुनती, तब उत्तर ही कैसे दे?

दूसरे भाववाली व्रजांगनाएँ कहती हैं—'बात कुछ और है। हमारी समझमें तो यह लजा गयी है। इसको तीन-तीन पतियोंका सम्बन्ध है—वामन और वाराह। अत: लज्जाजड़ होनेसे यह कुछ बोलती नहीं। इसे विप्रयोगदु:खका परिज्ञान ही नहीं। नन्द-यशोदा, गोपालोंको श्रीश्यामसुन्दरका वियोग सम्भव है, पर यह तो विप्रयोगोत्पन्ना भाववती है। हमारे वियोगको यह नहीं जान सकती। अत: सखियो! चलो, किसी विरहिणीसे पूछें। जिसे काँटा गड़ा होता है, वही उसकी पीड़ा जानता है, वह रास्तेके काँटोंको बीनता रहता है।'

व्रजांगनाओंका वियोगिनी हरिणीसे श्यामसुन्दरके विषयमें पूछना

श्रीकृष्ण-प्रेयसी गोपांगनाओंने अपने प्रियतम प्राणधनके विषयमें वृक्ष, लता, भूमि, जो भी दृष्टिके सामने पड़ा, सबसे पूछा। भूमिसे प्रश्नोत्तर करनेके बाद ज्यों ही उन्होंने आगे कदम बढ़ाया, ऊपर दृष्टि उठायी कि सामने हरिणी दीख पड़ी। व्रजांगनाओंको आश्वासन-सा मिला। उनकी कल्पना, जो भूमिके अनुत्तरसे उठी थी, अब हरिणीके साथ समन्वित होने लगी। व्रजवधुओंने सोचा—यह अकेली है, उसका पति हरिण उसके साथ नहीं है; अत: यह सिद्ध है कि यह वियोगिनी है, प्रिय-वियोग-वेदनासे सुपरिचित है, अवश्य ही यह हम वियोगिनियोंकी बात सुनेगी और प्यारे श्यामसुन्दरका मार्ग बतायेगी। वे उससे पूछती हैं—

अप्येणपत्न्युपगत: प्रिययेह गात्रै-
स्तन्वन् दृशां सखि सुनिर्वृतिमच्युतो व:।
कान्ताङ्गसङ्गकुचकुङ्कुमरञ्जिताया:
कुन्दस्रज: कुलपतेरिह वाति गन्ध:॥*

(श्रीमद्भा० १०।३०।११)

'हे हरिणपतिव्रते! क्या तुमने हमारे प्राणधन श्रीश्यामसुन्दरको देखा है? क्या वे अपनी परमप्रेयसीके साथ इधर पधारे हैं?' अबतक गोपांगनाओंद्वारा यह नहीं सूचित हुआ कि श्रीकृष्णभगवान्‌के साथ और भी कोई है। अब यहाँ यह कहा गया कि **'प्रियया उपगत:'** 'अपनी प्रियाके साथ'—क्या उन श्रीकृष्णको हे हरिणि! तुमने यहाँ कहीं देखा है? यह प्रिया कौन है? वही वृषभानुनन्दिनी रासेश्वरी श्रीराधा। यहींसे श्रीराधाकी चर्चा चली। पूछती हैं—'क्या श्रीराधा-कृष्ण इधर पधारे हैं?' परंतु 'श्रीमद्भागवत' में यह नाम प्रत्यक्ष रूपसे कहीं भी नहीं लिया गया, ऐसा क्यों हुआ? इसपर श्रीजीवगोस्वामीका मत है कि श्रीशुकाचार्य परम भावुक भागवत थे, उन्होंने अपने भावको—अपनी आराध्याको—हृदयमें छिपाकर रखा, भाव छिपानेकी वस्तु है। प्रेमपन्थके पथिकोंकी आचार्या गोपिकाएँ हैं, उन्होंने यही बतलाया कि प्रेमको छिपाओ। साठी धान्य भीतर-ही-भीतर अव्यक्त रूपमें ही परिपक्व होता है। ऐसे ही इन भावुकोंका प्रेम-परिपाक है। प्रेमकी ऊँची दशा प्राप्त होनेपर भी गोपियोंने लोक-लज्जा, शास्त्रीय धर्मादिको नहीं त्यागा, योगीकी तरह अपने-आप ही वे छूट गये—**'न कर्माणि त्यजेद् योगी कर्मभिस्त्यज्यते ह्यसौ।'** इस तरह कर्मोंने ही इन्हें छोड़ा। यहाँतक कि घरका काम-काज करते-करते भूल जाती थीं। जब दही बेचने जातीं, 'दही लो' की जगह 'श्याम लो' कहती थीं, इन्हें अपनी देहतककी विस्मृति हो जाती थी। कोई गोपी गोदोहन, कोई पतिशुश्रूषण आदि जाति-धर्म, कुल-धर्म, वर्ण-धर्म आदि स्वधर्मके पालनमें लगी थीं। **'पाययन्त्य: शिशून् पय:'** आदि स्थलोंमें

* अरी सखी! हरिनियो! हमारे श्यामसुन्दरके अंग-संगसे सुषमा-सौन्दर्यकी धारा बहती रहती है, वे कहीं अपनी प्राणप्रियाके साथ तुम्हारे नयनोंको परमानन्दका दान करते हुए इधरसे ही तो नहीं गये हैं? देखो, देखो, यहाँ कुलपति श्रीकृष्णकी कुन्दकलीकी मालाकी मनोहर गन्ध आ रही है, जो उनकी परम प्रयेसीके अंग-संगसे लगे हुए कुच-कुंकुमसे अनुरंजित रहती है।

'शिशून्' का अर्थ भतीजे आदि समझना चाहिये, अन्यथा पुत्रवती कान्ताके अभिसारसे रसाभास होगा। हाँ तो इस प्रकार पहले ये गोपियाँ अपने-अपने वर्णादि धर्मोंमें व्यासक्त थीं, पीछे श्रीश्यामसुन्दरके वेणु-गीतपीयूषके प्रवाहमें बह चलीं—

निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं
व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः
स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। ४)

जैसे अयस्कान्त (चुम्बक) लौहका आकर्षण कर ले, वैसे ही अथवा उससे भी अधिक आकर्षणसे वे श्रीश्यामसुन्दरके दर्शनार्थ सब कुछ छोड़कर दौड़ पड़ीं, आकर्षणशील श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्दके द्वारा वे आकृष्ट हुईं, यह आकर्षणका महत्त्व है अथवा वेणुगीतपीयूष-प्रवाहमें उनका मन बह चला, जैसे भाद्रपदमासके गंगाप्रवाहमें नाव बह चले, मल्लाह रोकना भी चाहे पर रुके नहीं, वैसे ही वे वेणुगीतप्रवाहमें बह चलीं। उनके मनमें एक वेगवान् प्रेमका ही प्रभाव था, उसमें वर्णधर्मके सेतुबन्ध या बन्धन लगे थे, परंतु जब वेणुगीतपीयूषका महाप्रवाह कर्णकुहरोंद्वारा उनके अन्तरमें प्रविष्ट हुआ, तब उससे वे बाँध तोड़-फोड़ डाले गये, उसमें उनकी वह देहकी नाव बह चली, मन-मल्लाह उसे न रोक सका और किनारेके लोग 'रोको-रोको' की पुकार करते ही रह गये। हठात् यह कार्य हो गया।

अनंगका उक्त पद्यमें अंगी अर्थात् शृंगार अर्थ है, शृंगार अंगी रस है, बाकी आठ अंग रस। कविजन शुद्ध शृंगाररसमें परोढाको महत्त्व नहीं देते, परंतु यह कृष्ण-कथातिरिक्त स्थलकी बात है—

'नेष्टा यदङ्गिनि रसे कविभिः परोढा
तद् गोकुलाम्बुजदृशां कुलमन्तरेण।'

इस तरह अंगी रस बढ़ा और उसके वेगमें गोपीजनोंके देहकी नौका भी बह चली, मन या बुद्धिरूप मल्लाह भी उसीमें कूद पड़ा। गोपांगनाएँ अपने इस आचरणसे शिक्षा देती हैं कि 'अपनी बन पड़ते वर्णधर्म, आश्रमधर्म, कुलधर्म, जातिधर्म आदिको कदापि न छोड़ो, सन्ध्योपासनादि नित्यनैमित्तिक कर्मोंका बराबर सम्पादन करते रहो। हमें विश्वप्रपंचका स्मरण नहीं, पर फिर भी पतिशुश्रूषा आदिमें लगी हुई हैं।' आज तो ऐसा नहीं होता, पर यह ठीक नहीं। यदि वे त्रिलोकीपति पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीश्यामसुन्दर ही अपूर्व अनुग्रह-द्वारा अपने प्रेमपीयूष-प्रवाहमें बहा ले चलें तो बात अलग है, अन्यथा भगवत्प्रेमको हृदयमें सर्वथा गुप्त रखकर वैध कृत्योंमें निरन्तर लगे रहना चाहिये, विशिष्ट स्थिति उत्पन्न होनेपर वे स्वयं छूटेंगे।

'पाययन्त्यः' आदिमें **'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः'** इससे हेत्वर्थमें 'शतृ' प्रत्यय है। यहाँ पतिशुश्रूषण हेतु है। गोपांगनाओंका पतिशुश्रूषण उपलक्षण है। पतिशुश्रूषणरूप कारणने 'श्रीकृष्ण-प्रेम-प्रवाहमें बहने रूप कार्यको पुरतः स्थापित किया। **'यतः पतीन् शुश्रूषन्त्यः अतः श्रीकृष्णं परमात्मानं ययुः।'** क्योंकि वे गार्हस्थ्यधर्म, स्वजात्यादि-धर्मका पालन करती रहीं, अतः उनका फल देनेके लिये श्रीकृष्णचन्द्र परमात्माने उन्हें अपनी ओर खींचा। हम भी यदि ऐसा ही करें तो हमें भी बुलायेंगे। यदि चाहते हो कि भगवान् कृष्णका हमपर भी वैसा ही अनुग्रह हो तो वैसा ही करें, जैसा व्रजांगनाएँ करती थीं, स्वधर्ममें लगी थीं। **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥'** (गीता १८। ४६) स्व-स्वकर्म-सम्पादनसे ही ऊँची-से-ऊँची सिद्धि प्राप्त होती है। गोपांगनाएँ प्रेम मार्गकी आचार्य हैं।' आचार्यकी परिभाषा है—

आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन उच्यते॥

केवल ग्रन्थ घोटकर आचार्य नहीं बनना है, दूसरोंको उपदेश देनेमात्रके लिये आचार्य नहीं बनना है। इस प्रकार जो एक योगीकी स्थिति हो सकती है, वही उन व्रजदेवियोंकी हुई—

तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण हृदिकृत्य निमील्य च।
पुलकाङ्ग्युपगुह्यास्ते योगीवानन्दसम्प्लुता॥

बाहर बहुत विघ्न हैं, अतः एक गोपी उन परमप्रेष्ठको हृदयमें पधराकर, नेत्रद्वार बन्द करके, जिसमें वे भाग न जायँ, परिरम्भणसौख्यका अनुभव

करती है। उस लोकोत्तर आनन्दसे रोमांच हुआ, वह रोमांच नहीं, अपितु पहरेदार खड़े कर दिये गये हैं— श्यामसुन्दर कहीं—हृदयमन्दिरसे नेत्रादि द्वारों, रोम-रन्ध्रोंसे भाग न निकलें। फिर भी उसे विश्वास नहीं हुआ, श्रीश्यामसुन्दरकी अटपटी चालोंको वह खूब जानती थी, अतः उन्हें खूब छिपाकर आनन्दसिन्धुमें गोता लगा गयी। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—*'लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हे पलक कपाट सयानी॥'* (रा०च०मा० १। २३२। ७) यों गोपीजनकी उपमा योगीसे दी गयी। कर्मोंने उन्हें स्वयं छोड़ा, वे तो बराबर स्वकर्म-सम्पादनमें लगी रहीं।

गोपांगनाओंका सर्वातिशय माहात्म्य

एक बड़े मार्केकी बात है, गोपीजनकी इतनी महिमा क्यों है? उन्हें सबसे अधिक महत्त्व क्यों दिया जाता है? श्रीनारद, श्रीलक्ष्मी, श्रीरुक्मिणी आदिका कितना गौरव है, भगवान्‌की उनपर कितनी अनुकम्पा है, कितना प्रेम है, परंतु ब्रह्मा उनके विषयमें कुछ न कहकर इनका महत्त्व-प्रतिपादन करते हैं। ब्रह्मा व्रजके कीट-पतंग बननेमें अपना अहोभाग्य समझते हैं—

तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो
भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम्।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां
भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ३०)

इतना ही नहीं, ब्रह्मा व्रजमें, वृन्दाटवीमें कीट-पतंग, लता-पत्र कुछ भी बननेको तैयार हैं। उन व्रजवासियोंकी, जिनका जीवनसर्वस्व वे मुकुन्द हैं, जिनकी पाद-धूलिको श्रुतियाँ आजतक ढूँढ़ रही हैं, पाद-धूलिसे स्नान करनेमें वे अपनी महाभाग्यवता समझते हैं—

तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ३४)

ब्रह्माका भाव यह है कि यदि वहाँ उत्पन्न होंगे तो गोकुलवासियोंकी पाद-धूलिसे पवित्र हो जायँगे, पर उद्धव तो इनसे भी आगे बढ़ गये, वे तो उन गोपीजनोंकी पाद-धूलिको सेवन करनेके लिये वृन्दावनके तरु, गुल्म, लता, कुछ भी बनना चाहते हैं; क्योंकि उन व्रजदेवियोंने दुस्त्यज आर्यपथ और स्वजनोंको त्यागकर श्रीमुकुन्दकी पदवीका सेवन किया था—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। ६१)

उन प्रेमपथिकोंकी आचार्या व्रजदेवियोंकी पाद-धूलिके स्पर्शसे अपनी कृतकृत्यता मानते हैं और भी—

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १६)

जब भगवान् शान्त मुनियोंकी पदरेणुसे पवित्र होनेकी आकांक्षा रखते हैं, तब उनके ज्ञानी भक्त उद्धव व्रजबालाओंकी पाद-धूलिकी लता-गुल्म बनकर सेवन करनेकी आकांक्षा करें, यह कैसी बात? परंतु उद्धव उनके—**'या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा'** पर मन्त्रमुग्ध हैं। उन गोपबालाओंने लोक-परलोकको तिलांजलि देकर अपने प्रियतम प्राणधन श्रीश्यामसुन्दरपर समस्त विश्वको, विश्वके सौख्यको वार डाला; राई-नोन करके फेंक दिया। उनकी यह परमप्रीति उद्धवकी प्रमुग्धता और आश्चर्यका कारण है।

आज भी आर्यधर्मको कितनी ही स्त्रियाँ छोड़ रही हैं, स्वजनोंको भी छोड़ ही बैठी हैं, पर क्या मुकुन्द मिले? यहाँ व्रजांगनाओंके लिये आर्य-धर्म और स्वजनोंका त्याग 'दुस्त्यज' बतलाया है। परंतु आजकी स्त्रियोंके लिये तो जो कि शिक्षिता हैं, वह सुत्यज ही है। जिन्होंने आर्य-धर्मसे सम्बन्ध ही नहीं जोड़ा, वे छोड़ेंगे क्या? वैसे तो दुर्व्यसन दुस्त्यज होता है। जैसे किसीको परपुरुष प्रेम हो,

उसे माता-पिता सब मना करें, रोगादि, नरकादिकी भीति भी हो, कलंक भी लगे, पर वह छूटता नहीं। यह है दुस्त्यज दुर्व्यसन। इसी प्रकार कुलीनोंके लिये आर्य-धर्म दुस्त्यज होता है। व्रजांगनाओंके लिये यह आर्यधर्म दुस्त्यज था, ऐसी स्थितिमें क्या उन्हें दुर्व्यसनी कहा जा सकता है? यह तो काँटेसे काँटेको निकालनेकी तरह पाशविक उच्छृंखल चेष्टाओंको मिटाना था, शास्त्रीय धर्मके सद्व्यसनसे यह मिटाया जाता है। जिन्हें यह बात हो गयी, वे दुर्व्यसनकी ओर कैसे जायँ? अब तो वे श्रीकृष्ण परमात्माको ही भजेंगी। प्राकृत कुलटा ही आर्यधर्मको छोड़कर लोकके किसी हीन-दीन, मूत्र-पुरीष-भाण्डागारको ही भज सकती हैं। गोपांगनाओंको तो वह घरमें ही प्राप्त था, परंतु वे तो उस अपरको छोड़कर परपुरुष, पूर्णतम पुरुषोत्तम श्रीकृष्णको भजने लगीं। स्व-स्वपतियोंका सेवन उनके लिये शालग्राममें विष्णुबुद्ध्या था, यही कारण था कि उद्धव-जैसे भक्त इनकी चरण-धूलि चाहते थे। इनकी योगीजनदुरवाप परम सद्गति हुई। क्या आर्यधर्म-त्यागिनी कुलटाओंके लिये यह कदापि सम्भव हो सकता है? उनमें-इनमें महान् अन्तर है।

इस तरह सुदुस्त्यज आर्यपथ और स्वजनको त्यागकर गोपांगनाओंने मुकुन्द-पदवीका सेवन किया, उन्हें महान् कष्ट हुआ। वेदोक्त-शास्त्रोक्त, सद्धर्म, सत्कर्मको त्यागनेमें अनन्तानन्त सन्ताप सत्कुलीनको ही होगा, पर अन्तमें भगवत्सम्बन्धसे वह उतना ही सुखमय भी होता है। यही इन व्रजदेवियोंकी विशेषता और महिमा है। श्रीजीवगोस्वामी, श्रीरूपगोस्वामी-प्रभृति भावुकोंने उनके स्वकीयात्व, परकीयात्वपर यही विचार किया है कि वे यदि स्वकीया होतीं तो आर्य-धर्मके त्यागका प्रश्न ही नहीं आता। '**दुरापजनवर्त्तिनी रतिरपत्रपा भूयसी**'-की वहाँ भावना ही नहीं, प्रसंग ही नहीं। श्रीरुक्मिणी, सत्यभामा आदिको श्रीकृष्ण दुरवाप कब हुए? यह तो व्रजांगनाजन आदिकी ही दशा रही, रंकको निधिकी तरह उन्हें ही श्रीश्यामसुन्दर दुष्प्राप रहे और जँचे। पारावारविहीन लज्जा, गुरूक्तिविषवर्षण, श्रीश्यामसुन्दरके दर्शन भी लुक-छिपकर करना, सास-ससुरका प्रतिबन्ध, कलंक-कालिमाका भय, यह सब रुक्मिणी आदिको कहाँ? भगवत्प्राप्तिके निमित्त इन दुस्त्यजोंके त्यागका साहस तो व्रजदेवियोंको ही करना पड़ा—

माधवो यदि विहन्ति हन्यताम्
साधवो यदि हसन्ति हस्यताम्।
बान्धवो यदि जहाति त्यज्यताम्
माधवः स्वयमुरीकृतो मया॥

और भी—

जीवितं सखि पणीकृतं मया
किं गुरोश्च सुहृदश्च मे भयम्।

अतएव श्रीजीवगोस्वामीने कहा है कि उद्धव-जैसे इनकी सुदुस्त्यजताको ही हेतु देते हैं, अतएव इनके त्यागमें ही महिमा है। कुलटाके आर्यधर्म-त्यागमें कोई महिमा नहीं। इस अपने चरितसे गोपांगनाओंने स्पष्ट ही उपदेश दिया कि पहले धर्मको दुस्त्यज बनाओ, फिर श्रीश्यामसुन्दर मनमोहनविषयिणी उत्कट उत्कण्ठासे उसे त्यागो, नहीं-नहीं, वह स्वयं ही छूट जायगा। उस प्रेमको भी गुप्त रखनेका प्रयत्न करो। अतएव श्रीशुक भी उनके प्रणयको सुगुप्त रखनेका प्रयत्न करते हैं।

वे सोचते हैं—हमसे कर्मतत्त्व, उपासनातत्त्व आदिका ही प्रतिपादन करते हुए भी कुछ प्रेमपक्षपात व्यक्त हो गया, भक्तोंमें वह झलका, भगवदवतारोंमें, श्रीकृष्णमें, वह अधिक व्यक्त हो गया, वह केवल श्रीराधाके सम्बन्धमें ही व्यक्त होनेसे बचा है, अतः अब हम उसे सर्वथा छिपायेंगे। परंतु फिर भी '**ज्ञानखले यथा सरस्वती**' के भयसे उसे 'कदाचित्' आदि गुप्त रीतिसे व्यक्त करेंगे, सुस्पष्ट नहीं करेंगे। 'कदाचित्' का अर्थ है—क्षण-क्षणमें सौख्यवृद्धि। अतएव प्रस्तुत 'अप्येणपत्नि' पद्यमें 'प्रियया' मात्रसे श्रीराधा-कृष्णके सुगुप्त प्रणयका संकेत किया, स्पष्टतः नहीं। वेदोंमें १३ काण्डके 'शतपथ' में १६ हजार कण्डिकाद्वारा उपासना, ४ हजारद्वारा ज्ञान और शेष सबसे कर्मकाण्डका प्रतिपादन हुआ है। ४० अध्यायकी शुक्लयजुःसंहिताके ३९ अध्यायोंमें कर्मकाण्डका प्रतिपादन और केवल अन्तिम १ अध्यायमें ज्ञानका प्रतिपादन है, जो 'ईशावास्योपनिषद्' के नामसे

प्रसिद्ध है। तात्पर्य यह कि गूढ़तत्त्व थोड़ेमें छिपाकर कहा जाता है—'**परोक्षप्रिया ह वै देवाः।**' '**इदं सर्वं दृष्टवान्**' इस व्युत्पत्ति-सम्पन्न 'इन्द्र' को इन्द्र कहा, क्योंकि सब जान न लें।

परम धन राधानाम अधार।

जाहि पिया वंशी में गावत सुमिरत बारंबार।

तातें शुक प्रकट नहिं कीनो 'जानि सार को सार'।

श्रीशुकजीने द्वादशस्कन्धात्मक वाङ्मय भगवद्रूप भागवतमें दशम स्कन्धको हृदयरूप बतलाया है, उसमें रासपंचाध्यायी पंचप्राणात्मक है। इसमें भी उस तत्त्वको गुप्त करके केवल 'प्रिया' शब्दसे कहा। जहाँ नहीं ही रहा गया, वहाँ '**अनयाराधितो नूनम्**' से संश्लिष्ट करके कहा। अपने लोकोत्तर प्रेमसे श्रीकृष्ण परमात्माको जिसने वशीकृत किया है, वह स्वाधीनभर्तृका श्रीराधा हैं। वस्तुतस्तु '**तस्माज्ज्योतिरभूद् द्वेधा राधामाधवरूपकम्**' के गुप्त रहस्यको गुप्त रीतिसे यहाँ श्रीशुकने कहा है, जिसका स्वरूप वेदोंमें भी अत्यन्त गुप्त है।

इस प्रकार श्रीकृष्णान्वेषणकातरा व्रजांगनाओंने प्रियाके साथ श्रीश्यामसुन्दर भगवान्‌का हरिणीसे पता पूछा। धरित्रीके प्रति वे उदासीन हो गयीं, उसे उन्होंने महामदान्ध समझा। इसका कारण स्पष्ट ही था कि वह उनके प्रिय श्रीश्यामसुन्दरके अंकुश, कमल, ध्वजा, वज्रादि चिह्नोंसे अलंकृत चरण तथा श्रीप्रियाजीके चरण-संस्पर्शसे भी विचित्रितांगी हो रही थीं। यह उन्मदान्ध हमारी वेदनाको क्या जानेगी, यही सब सोचकर व्रजांगनाओंने उससे अधिक बात नहीं की। दूसरी बात यह कि उससे अधिक महत्त्व उन्हें हरिणीमें दीख पड़ा; क्योंकि वह अकेली वियोगिनी वियोग दुःखको जाननेवाली थी। इसीलिये उसकी प्रशंसा करती हैं—'एणपत्नी' ('**पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' यज्ञस्य फलभोक्त्रीत्यर्थः**) अर्थात् हे हरिणसति! तुम याज्ञिककी पत्नी हो। बड़े-बड़े याज्ञिक कर्मकलाप हरिणी और हरिणका रूप धरकर वृन्दावनमें रासेश्वरीके नित्यविहारका दर्शन करने आये हैं। अतः हे यज्ञसम्बन्धी पत्नि! तुम बड़ी पवित्र हो, हमें मनमोहन श्यामसुन्दरका पता बतलाओ। दूसरे, तुम्हारा यह सौभाग्य है कि श्रीकृष्णचन्द्र मुरलीमनोहर स्वयं तुम्हारे पास आये हैं और तीसरी विशेषता यह है कि तुम वृन्दावनकी हरिणी हो। इससे बढ़कर और क्या पुण्य होगा? फिर सखि, वे प्यारे नन्दलाल भी अकेले नहीं आये, किंतु अपनी प्रेयसीरत्नचूड़ामणि श्रीव्रजेश्वरीके साथ आये हैं। अतः तुमने प्रिया-प्रियतमका दर्शन अवश्य पाया है। विशेषकर उन यशोदानन्दनका तुमसे बड़ा अनुराग है; क्योंकि तुम्हारें नेत्र उनकी प्रियाजीके जैसे हैं और तुम्हारे इन नेत्रोंको देखकर श्रीश्यामसुन्दर विभोर हो जाते हैं। तुम भी उन श्रीकृष्णचन्द्र आनन्द-कन्दके मुख-सौन्दर्य-दर्शनकी प्रेमी हो, इन विशाल नेत्रोंसे उन घनश्यामके मुखमाधुर्यामृत, सौन्दर्यामृतका पान न हो तो ये व्यर्थ हैं। ये हरिणियाँ बड़ी भाग्यशालिनी हैं—

क्वणितवेणुरववञ्चितचित्ताः
कृष्णमन्वसत कृष्णगृहिण्यः।
गुणगणार्णमनुगत्य हरिण्यो
गोपिका इव विमुक्तगृहाशाः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३५। १९)

श्रीमुरलीमनोहरके मुखपर विराजमान वंशीके क्वणनसे जो श्रीप्रियाजीकी नूपुरध्वनिके सदृश है, इन हरिणांगनाओंका चित्त हरा गया। श्रीकृष्णके वेणुनिनादसे वे आकृष्ट और आसक्त हो गयीं। गुणोंके समुद्र उन श्यामसुन्दरके समीप पहुँच गयीं और कुटुम्बकी आशा छोड़कर, भोजनादिकी चिन्तासे मुक्त होकर या लोकव्यवहारको भुलाकर उन्होंने गोपांगनाओंका अनुसरण किया। कृष्णप्रेमप्रमत्त ये एणपत्नियाँ उत्कृष्ट कोटिकी हैं, ऐसा समझकर व्रजांगना उनसे पूछती हैं—'देवियो! क्या तुमने हमारे प्राणाधारको इधर कहीं देखा है?' हरिणी स्वभावतः कुछ आगे जा रही हैं, परंतु गोपांगना समझती हैं कि इन्होंने हमारी प्रार्थनाको सुन लिया और अभी श्रीश्यामसुन्दर जहाँ विराज रहे हैं, वहाँ पहुँचानेके लिये, वहाँका पता देनेके लिये ये आगे-आगे जा रही हैं। मानो ये कह रही हैं कि 'आओ, हम तुम्हें श्रीश्यामाश्यामका पता दें, पता क्या दें, तुम हमारे पीछे-पीछे चली आओ, हम तुम्हें उनसे मिला ही दें' और ये फिर-फिर ग्रीवा मोड़कर मानो

आश्वासन दे रही हैं। श्रीकृष्ण-प्राप्तिकी अनुगुण कल्पनामें बही जा रहीं गोपांगनाएँ हरिणीके पीछे हो लेती हैं और कहती जाती हैं—'ये बड़ी दयावती हैं, देखो, इनके बिना अन्य किसीने भी परिचय नहीं दिया।' थोड़ी दूर चलकर हरिणी गायब हो गयीं। अब वे आपसमें पूछती हैं कि 'वह कहाँ चली गयीं?' तब एक उत्तर देती है—'बस, प्रियतमाके साथ प्राणधन यहीं विराज रहे हैं। अत: सूचकत्वदोषसे मुक्त होनेके लिये वह हरिणी हमें यहाँ छोड़कर चली गयी।' इतनेहीमें एक वायुका झोंका आया, उसके लोकोत्तर सौगन्ध्यका प्रत्यक्ष अनुभव करके सब एक साथ कह उठीं—

'कान्ताङ्गसङ्गकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः
कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः॥'

(श्रीमद्भा० १०।३०।११)

अवश्य श्रीश्यामसुन्दर यहीं हैं, उनके बिना यहाँ यह गन्धवाह कहाँसे आयेगा? जो जिसका मर्मज्ञ है, वही उसे जानता है। एक तो श्रीश्यामसुन्दरके अंगका गन्ध, फिर वह हरिचन्दनमिश्रित, वह भी उभयमिलनसे उत्पन्न, उपरिष्टात् कुन्दमालाके सौगन्ध्यके साथ वह मिला, इधर पहले तो श्रीप्रियाजीके अंगकी सुगन्धि, वह भी '**मनोहरस्तबकादि विचित्रचित्ररचनान्वित-कुचलिप्तकुङ्कुमसम्पृक्त**', उसपर हरिचन्दनका विलेप, फिर दोनोंका सम्मिलन, कुन्दमालाका संघर्ष, इन सबके सम्मर्दसे विलक्षण अष्टगन्ध-सौगन्ध्य उत्पन्न हुआ। इसका अनुभव परमप्रेष्ठ सखीके घ्राणेन्द्रियको हो सकता है, जिसे इसका अभ्यास हो। इससे व्रजांगनाओंको परिचय मिल गया। उन्हें निश्चय हो गया कि यहीं कहीं श्रीप्रिया-प्रियतम हैं, बिना उनके यह सौगन्ध्य अन्यत्र हो नहीं सकता। प्रथम तो सौगन्ध्य ही अद्भुत, फिर उसका उत्पत्तिस्थान पूर्णतम पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्दका श्रीविग्रह, उसमें भी हरिचन्दनादिका विलेप, फिर अकेले गौर तेजके सौगन्ध्यमें वह आनन्द नहीं जो श्याम तेजसे सम्मिलितमें है। दोनोंके गन्धादि-सम्मिलनसे दोनोंका स्थायी भाव हो गया।

श्यामाश्यामके मनोहररूपकी बाँकी झाँकी

यही हाल रूपका भी है, पहले तो भेदकी कल्पना ही नहीं, बादमें वह गौर-श्याम तेज सम्मिलित ही रहता है। पीतिमामें भी श्यामताकी आभा है, प्रिया-प्रियतमके पृथक्-पृथक् दर्शनमें भी यह रहती है। जब कभी छद्मसे सखीवेश बनाकर श्यामसुन्दर व्रजेश्वरी प्रियतमाके दर्शनार्थ जाते हैं, तब कठिनाई पड़ती है—श्यामांगी कैसे बनें; क्योंकि पीतिमासे मिश्रित श्यामलता तो श्यामसखीमें बन ही नहीं सकती, अत: श्रीजीके दरबारमें जाते ही पहचाने जाते हैं—'इनमें तो हमारी ही पीतिमा है।' नील पराग अथवा कस्तूरीके विलेपन अथवा किसी अन्य रंगके द्वारा श्याम सखी बननेपर भी जब वह नटनागर श्रीजीके सम्मुख होते हैं, तब अनुरागोद्रेकके कारण सात्त्विक भावोदयके स्वेदसे वह बह जाता है और सारे छलकी कलई खुल जाती है। इस तरह गोपीजनवल्लभ प्रभुका रूप तो कृष्ण है, पर उसकी कान्ति अकृष्ण है—'**कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्**।' (श्रीमद्भा० ११।५।३२) उनके रूपमें चमकदार श्यामलता है, अनेक सूर्य-चन्द्रको तिरस्कृत कर देनेवाली दीप्तिमत्ता है, जैसे सुवर्णमणिमंजूषामें विराजमान श्यामल महोमय नीलमणि हो। श्रीवृषभानुनन्दिनी सुवर्णमंजूषास्थानीया हैं, उनके अंगसे परिवेष्टित श्रीनन्दनन्दन नीलमणिवत् प्रतीत होते हैं। बिहारीके इस प्रसिद्ध दोहेमें भी इसका संकेत मिलता है—

मेरी भव बाधा हरो, राधा नागरि सोय।
जा तनकी झाईं परे, श्याम हरित द्युति होय॥

यों गौरकी आभामें श्याम निमग्न हो जाते हैं। ऐसे ही श्यामकी आभामें गौर तेज मग्न हो जाता है। यह है श्रीश्यामाश्यामके मनोहर रूपकी बाँकी झाँकी। इसी प्रकार अधरसुधामें भी विशेषता है, दोनोंकी अधरसुधा दोनोंसे मिश्रित है। इसी तरह अंगसंगम भी अद्भुत है। यह कुन्दमाला भी विशिष्ट ही है, इसका एक-एक सुमन सफल महातपस्वी है, वे मूर्तिमान् उस व्यापक गौर-श्याम तेजके अंग-अंगमें, रोम-रोममें अपनी सत्ताको विलीन कर देना चाहते हैं। श्रीश्यामसुन्दर प्रियाजीकी सेवामें अपने शरीरको समर्पित कर देना चाहते हैं, वे चाहते हैं कि कस्तूरी बनकर प्रियाजीके अंग-विलेपके काम आऊँ, नीलकमल

बनकर कानोंका कुण्डल बनूँ। प्राकृत कस्तूरी, कमल आदिसे उन्हें ईर्ष्या होती है—ये वक्षोजमें विलिप्त, गण्डचुम्बी क्यों हो गये? श्रीजीके कंचुकी कमल कस्तूरी बननेको लालायित होते हैं, अधिक अन्तरंगता चाहते हैं, तदर्थ तप करनेका संकल्प करते हैं। इसी प्रकार श्रीजी भी श्रीश्यामसुन्दरके अंगभूषण बननेको लालायित रहती हैं। इस प्रसंगमें उनकी उक्ति है—ऐसे पुरुषभूषणके द्वारा जो सुन्दरियाँ अपने हृदयको भूषित नहीं करतीं, उनके कुल, शील, यौवन, गुण, रूप आदिको धिक्कार है—

ईदृशा पुरुषभूषणेन या
भूषयन्ति हृदयं न सुभ्रुवः।
धिक् तदीयकुलशीलयौवनं
धिक् तदीयगुणरूपसम्पदः॥

श्रीकृष्णको जिसने अपना सर्वस्व नहीं बनाया, वह सोचनीय है

जिसने श्रीकृष्ण परमात्माको अपना सर्वस्व नहीं बनाया, वह धिक्कृत ही है, वही सोचनीय है, वही शूकर, कूकर, कीट, पतंग आदि बनते हैं। जो भवाटवीमें भटकते-भटकते परेशान हैं, उन्हें अपने उद्धारके लिये श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्दको अपने हृदयका भूषण बनाना चाहिये। फिर ये तो प्रेष्ठ सखी हैं, इनका पूर्वराग भी श्रीश्यामसुन्दरमें नहीं हुआ। क्रम यह है कि पहले श्रीकृष्ण-प्रेम, फिर उसका आस्वादन और उसके बाद श्रीप्रियाजीका संग। परंतु इनको तो संयुक्त श्रीश्यामाश्यामविषयक अनुराग ही पहले हुआ, ऐसा उदाहरण लोकमें नही है। अपने रूप, वेश आदिसे सर्वथा श्रीजीके समान होनेपर भी इन्हें श्रीश्यामसुन्दरविषयक पूर्वानुरागतक नहीं हुआ, केवल सम्मिलित स्वरूपका दर्शन ही अभिप्रेत रहा, यह कितनी निःस्पृहता है। '**क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कामी न विद्यते।**' (श्रीवल्लभाचार्य) यह विशुद्ध प्रेम है। कामको तो बतलाया कि वह कोटिकामकमनीय किशोरमूर्ति श्रीवनमालीके दर्शनमात्रसे काममोहित हो मूर्च्छित हो गया और कान्ता बनकर उनकी सेवा करनेके लिये तपस्या करने चला गया। ये परमप्रेष्ठा सखी हैं, इन्हें केवल श्रीश्यामके दर्शनकी इच्छा ही नहीं होती, ये तो श्रीयुगलकिशोर श्यामश्यामाका ही अन्तरंग दर्शन करके, जिस युगलसम्मिलित सौन्दर्य-लावण्यसुधाका वे स्वयं भी अनुभव नहीं कर सकते, उसमें निरन्तर छकी रहती हैं। इनमें स्वसुखित्वकी गन्ध भी नहीं, ये केवल तत्सुखसुखित्व-भावनाकी प्रतीक हैं। श्रीश्यामाश्याममें भी परस्पर तत्सुखसुखित्वकी ही भावना है। जहाँ कहीं श्रीनन्दनन्दनकी विभोरता या विह्वलता दीख पड़ती है, वह श्रीजीके उद्देश्यसे उन्हें प्रसन्न करनेके लिये ही। इसी तरह श्रीजीकी भी समस्त क्रियाएँ इसी उद्देश्यसे होती हैं। परमप्रेष्ठ अन्तरंग ये सखी, जिन्हें कभी कामगन्ध नहीं, इन दोनोंके अद्भुत प्रेमानन्द-सुधासिन्धुमें सदा मग्न रहती हैं। लोकमें तो नायक-नायिका-सम्मिलनमें संयोजकोंको ही ईर्ष्या होती है, सम्भली आदि उसकी अधिकारिणी ही नहीं। किंतु यहाँ तो सर्वथा श्रीकिशोरीजीके समान होते हुए भी यह सखियाँ कभी श्रीश्यामसुन्दरके परिरम्भणकी इच्छातक नहीं करतीं। इस प्रकार प्रेमानन्दसुधासिन्धुके मध्यमें नित्य वृन्दावनधाम विराजमान है, उसमें कदम्ब कुसुमित हो रहे हैं, वहीं विशाल कमल विकसित हैं, उनपर प्रेष्ठा सखी स्थित है, वहीं नित्यनिकुंजमन्दिर शोभित है, उसमें श्रीलाडिली और लाल लीलामुग्ध हो विराजते हैं। ये जब कभी लीलावियोगके तीव्रतापमें विह्वलताका अनुभव करते हैं, तब वे सखियाँ सम्प्रयोगसुधाकी सृष्टि करके उन्हें तोष पहुँचाती हैं, उनकी लीलामें सहायक होती हैं। यह है हित विशुद्ध अनुराग।

'कौषीतकी उपनिषद्' का प्रसंग है—प्रतर्दन इन्द्रलोकमें इन्द्रसे युद्ध करके वर माँगता है—'**यन्मनुष्याय हिततमं तन्मे ब्रूहि।**' वह विशुद्धरसात्मक सर्वाधिष्ठान ही हित है, उसीका परिणाम वृन्दावन है, उसमें व्रजांगनाएँ हैं, उनके अंकमें पूर्णतम पुरुषोत्तम परब्रह्म आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र यशोदानन्दन विराजमान हैं, उनके अंकमें ब्रह्मविद्याधिष्ठात्री वृषभानुनन्दिनी श्रीजी स्थित हैं। दूसरी तरहसे हितमय देहात्मक वृन्दावन है, उसमें हितमय इन्द्रियाँ गोपी हैं, अन्तः श्रीकृष्ण और अन्तस्तम श्रीजी हैं। इनमें जब सावधानीकी स्थिति रहती है, तब सब अपने-अपने स्वरूपमें रहते

हैं, पर जहाँ वह शृंगारसुधासागर हितसमुद्र उमड़ा कि सब उसमें अन्तर्हित हो जाते हैं, अहर्निश डूबने-उतराने लगते हैं, जैसे बरफकी पूतरी कभी गलती है, कभी पानी और बरफ बनती है। विप्रयोगतापमें गलनेकी और शुद्ध शृंगारमें पूतरी-भावना है। इस प्रकार ऊँचे भावकी आराधिका ये व्रजांगनाएँ हैं, सम्मिलित रूप ही इनकी उपासना है, इन्हें ही उस सम्मिलित सौगन्ध्यका परिचय है, इन्होंने ही पूछा—

अप्येणपत्न्युपगतः प्रिययेह गात्रै-
स्तन्वन् दृशां सखि सुनिर्वृतिमच्युतो वः।
कान्ताङ्गसङ्गकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः
कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः॥

(श्रीमद्भा० १०।३०।११)

हरिणीके कुछ दूर जाकर अन्तर्हित होनेपर यह गन्ध आया है, ऐसा वे अनुभव कर रही हैं। वे सोच रही हैं—यह गन्ध अवश्य कान्तांगसंगकुचकुंकुमरंजित कुन्दमालाका ही है। वह प्रियाजीके वक्षोजलग्न कुंकुमसे रँग उठी है, भीज गयी है; उसके बिना यह विविध रूपसे सम्मिश्रित अष्टगन्ध अन्यका हो ही नहीं सकता। अतः यहीं कहीं प्राणप्यारे छिपे हैं अथवा हरिणी कहे कि 'मैं नहीं जानती तुम्हारे श्यामसुन्दर कहाँ हैं?' तो कहती हैं—'नहीं, तुम झूठ बोलती हो, श्यामसुन्दर यहीं हैं, इसका प्रमाण यह सौगन्ध्य दे रहा है। सखि हरिणी! मान न करो, बतलाओ, प्यारे मनमोहन कहाँ विराजे हैं?' ये प्रेष्ठ सखीके भाव हैं। दूसरे भावकी सखी कहती हैं—'वे श्रीश्यामसुन्दर मदनमोहन केवल वृषभानुनन्दिनीके पति नहीं, अपितु 'कुलपति' हैं, फिर देखो उनका अन्याय, वे अकेली वृषभानुनन्दिनीके साथ ही रमण कर रहे हैं।'

व्रजांगनाओंकी पुनः हरिणीपर दृष्टि जाती है। वे कहती हैं—'यह हरिणी नहीं, सर्वदुःखहारिणी हैं, श्रीकृष्ण-दर्शन कराकर सर्वदुःख दूर करनेवाली हैं।' वे उसे अपनी सखी मानती हैं, यह इसलिये कि समान ख्याति होनेसे सख्य होता है। व्रजांगना भी कृष्णपत्नी हैं और हरिणी भी (कृष्णसार)-पत्नी हैं, अतः कृष्णपत्नीत्वेन सख्य हुआ। दूसरे यह पुण्यवती है। **'कृष्णो मृगयतेऽनेनेति कृष्णमृगः।'** वही 'एण' कहलाता है। पत्नी कहनेसे **'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे'** से यज्ञसम्बन्ध सूचित हुआ—याज्ञिककी पत्नी। मानो दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्यादि श्रीकृष्णमिलनके लिये ही किया और उसे कृष्णार्पण कर दिया। इस तरह कृष्णको ढूँढ़नेवाले मृगकी—एणकी पत्नी यह हरिणी कृष्णको ही ढूँढ़नेवाली है, यह हमारी सखी है। फिर यह और हम दोनों हरिणाक्षी हैं। श्रीकृष्णमनोहारिणी हम हैं और दुःखहारिणी यह है। गोपांगनाओंके हरिणीके प्रति बड़े मार्मिक भाव हैं। वे कहती हैं—'हे सखि हरिणी! हमको एक शंका है कि कहीं तुम हमसे सापत्न्यभाव तो नहीं रखती हो? यह तो नहीं सोचती हो कि इन सौतोंको उनका परिचय कैसे दूँ, श्रीश्यामसुन्दरका तो मुझे अवश्य दर्शन मिला, पर इन सौतोंको कैसे बतलाऊँ?'

फिर कहती हैं—'पहले यह एणपत्नी अवश्य रही, पर अब तो कृष्णपत्नी ही हो गयी है; क्योंकि **'क्वणितवेणुरववञ्चितचित्ताः···· गोपिका इव विमुक्तगृहाशाः॥'** (श्रीमद्भा० १०।३५।१९) श्रीकृष्णकी मुरलीने गोपिकाओंकी तरह इनके भी घरबारकी आशा छुड़ा दी। ऐसा होनेसे मृगोंने इनके साथ द्वेष नहीं किया, प्रत्युत इनको साथ लेकर भगवान् कृष्णकी पूजा की—

'पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः॥'

(श्रीमद्भा० १०।२१।११)

गोपांगनाओंद्वारा हरिणियोंके सौभाग्यकी सराहना

इनके पति स्वयं 'कृष्णसार' हैं, वे भगवत्परायणा अपनी पत्नीसे द्वेष कैसे करेंगे? हरिणी पशुकोटिमें है, पशु मूढ़मति गिने जाते हैं। परंतु ये कृष्णप्रेमवती हरिणी मूढ़मति भी धन्य है, हम व्रजांगना विवेकवती भी अहरिणाक्षी हैं, अधन्य हैं। इनके पति कृष्णसार (कृष्णपरायण) हैं, इनको साथ लेकर श्रीकृष्णका दर्शन करने आते हैं। हमारे पति अभिमानसार हैं, अतः **'इमा धन्याः वयं विवेकवत्योऽधन्याः।'** प्रेमवती होनेके कारण जैसे व्रजांगना कृष्णपत्नी, वैसे ही हरिणी भी कृष्णपत्नी हैं—

'**धन्याः स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एता**
या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम्।'
(श्रीमद्भा० १०।२१।११)

इसमें '**अपि**' का '**हरिण्यः**' के साथ सम्बन्ध लगाया। मूढ़मति हैं, अतः धन्य हैं। मूढ़—मोहसे (श्रीकृष्ण-मोहसे) व्याप्त है मति जिनकी, ऐसी ये हैं। ये '**पुष्टिमार्गी**' हो गयीं। '**पोषणं मदनुग्रहः**' सभी इसे मानते हैं। कहीं अपने पुरुषार्थसे प्राणी कृतार्थ होता है और कहीं श्रीकृष्णचन्द्र पूर्णतम पुरुषोत्तम ही अपनी अनुकम्पासे उसे कृतार्थ करते हैं। उत्तराके गर्भमें परीक्षित्का अपना कोई पुरुषार्थ नहीं था, वहाँ मायाजवनिकाका अपसारण करके भगवान्ने अनुग्रह किया। तात्पर्य यह कि जो सर्वसाधनशून्य हो, उसे भगवान् अपने अनुग्रहसे साधनसम्पन्न करके अपना दर्शन देते हैं। हरिणीको अपने प्रभुकी पूजासामग्रीका परिज्ञान नहीं, कोई बोध नहीं, कोई सामग्री ही नहीं। ऐसी स्थितिमें उन्हें भगवान्ने अपनी अनुकम्पासे स्वरूपसाक्षात्कार कराया। अब उनका वही मूढ़मतित्व भूषण हो गया, विवेकशून्य न होकर अब वे कृष्णविषयक आसक्तिमती हो गयीं। मोह दो प्रकारका होता है—एक तो वह, जिसमें कुछ पता न रहे, दूसरा गाढ़ स्नेह, श्रीकृष्णके प्रति आसक्ति। श्रीकृष्णविषयक स्नेह ही तरल न होकर अत्यन्त गाढ़ मुद्रामें मोह होता है, अतः '**मूढमतयोऽपि धन्याः**' कहा गया। इसके प्रतिकूल विवेकवती भी अधन्य हैं।

विज्ञानकी यथार्थ सफलता श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द पूर्णतम पुरुषोत्तममें उक्त मोह ही सम्भव है और सब तो दो कौड़ीका है। स्वयं भगवान्ने इनका अपनेमें प्रेम प्रकट किया, आसक्तिभरे नेत्रोंसे प्रभुके दर्शन करें, यही इनकी पूजा है। पूजामें फूल चढ़ाये जाते हैं। हरिणियोंने अपने कमलदलसदृश नयनोंको जो प्रेमरसपूर्ण थे, श्रीश्यामसुन्दर मुरलीमनोहरके चरणोंमें चढ़ाया। उन्होंने इस पूजाके बदलेमें प्रतिपूजन भी प्राप्त किया, पूजाकी सफलता तभी है। प्रतिपूजन न मिले, पूजा ही स्वीकार हो जाय यह भी बहुत है। किसी भक्तने भगवान्के इस प्रतिपूजनपर उन्हें उलाहना भी दिया है—'प्यारे श्यामसुन्दर, वह तुम्हारी नीति समझमें नहीं आती, तुम व्रजकर्दममें विचरते हो, पर याज्ञिकोंके मण्डपमें एक बार भी नहीं पधारे। उनकी लम्बी स्तुतियोंका कोई उत्तर नहीं देते, पर व्रजमें बछड़ोंकी भी हुंकारका उत्तर देते हो, बड़े-बड़े महात्माओंके स्वामी बनना नहीं चाहते, पर इन पुंश्चली गोपियोंका दास बनना चाहते हो।' हरिणांगनाओंकी पूजाके फलमें भगवान्ने उनका प्रतिपूजन किया, अपने अनुकम्पापूर्ण नेत्रोंसे उनकी ओर देख दिया। बड़े-बड़े पुजारियोंको पूज्य-स्वरूप आदिका परिज्ञान रहता है, पर पूजामें मोह, आसक्ति, बछड़ोंकी-सी हुंकार एक बार भी नहीं होती। जैसे स्नेहसे पुजारी पूजा करेगा, प्रभु भी वैसे ही स्नेहसे प्रतिपूजन कर देंगे। हरिणांगनाओंको तो मंगलमयी स्वानुकम्पासे स्वविषयक मोह, सूझ आदि प्रभुने दी कि 'तुम अपने इन नेत्रोंसे हमारी पूजा करो' और फिर प्रतिपूजन भी किया। परंतु इस पूजाकी सफलता 'मूढमति' होनेसे ही हुई। पुजारी पूजा करते-करते पूजाकी सामग्रीको भूल जाय, सेव्यमें सेवककी आसक्ति हो जाय, यही मूढ़मतित्व है, यही सच्ची पूजा है और यही सहस्रों करोंसे स्वीकृत होती है। उन हरिणांगनाओंका ही यह सौभाग्य है कि भगवान्ने उनके समीप वेशपरिवर्तन किया, विचित्र वेश धारण किया—'**उपात्तविचित्रवेषम्।**' (श्रीमद्भा० १०।२१।११) विचित्र अर्थात् नायिकावेश धारण किया। मानो श्रीवृषभानुनन्दिनीके साथ वर्तमान होकर हरिणियोंके समक्ष श्रीश्यामसुन्दरने वेश बदला। इतना मूढ़मतित्व, इतनी आसक्ति भगवान्के प्रति हरिणांगनाओंको हुई। अतएव पहले मृगपत्नी, फिर कृष्णपत्नी होनेपर भी इनके पतियोंको श्रीकृष्णसे द्वेष नहीं हुआ। इस गहराईपर दृष्टि डालनेसे व्रजांगनाओंने अपनी शंकाका समाधान पा लिया कि इन्हें हमारे प्रति सापत्न्य, ईर्ष्या नहीं है, ये तो हमारी ही तरह अन्तरंग हैं। अतएव उन्हें 'सखी' सम्बोधन करनेमें कोई संकोच नहीं। नित्यकुंजमन्दिरमें प्रविष्ट सखी कहती है कि 'हे हरिणांगने! तुम हमारे बराबर हो; क्योंकि हमारी मति उनके सामने मूढ़ हो जाती है। इस तुल्यतासे तुममें हमारा सखित्व है, सापत्न्य नहीं।'

जो कान्तभाववती व्रजांगना हैं, उनका भी सापत्न्य नहीं; क्योंकि वैसा होनेपर कोई भी सौत पतिका पता किसीको न देगी। अत: ये भी 'सखी' कहकर परम प्रीति बतला रही हैं। यदि कोई कहे कि एकपत्नीत्वेन सापत्न्य तो होगा ही, तब कहा—वे भगवान् 'अच्युत' हैं। इसी आशयसे प्रकृत पद्य '**अप्येणपत्न्यु०**' (श्रीमद्भा० १०।३०।११)-में 'अच्युत' पद है। ईर्ष्या वहाँ होती है, जहाँ एक स्वामी और अनेक पत्नी हों अर्थात् स्वामी, सौन्दर्य, सौभाग्य आदिका परिच्छिन्न होना, प्रेमके चुक जानेका डर होना आदि ही ईर्ष्याका मूल है, यह प्राकृत नायकभावमें है, परंतु जहाँके सौगन्ध्य, सौन्दर्यादि अपरिच्छिन्न हैं, चुकनेवाले नहीं, संविदानन्दसुधानिधि हैं, वहाँ ईर्ष्या कैसी? ***'यह रस विरस होत नहीं कबहूँ।'*** जहाँ थाह ही नहीं, वहाँ ईर्ष्या भी नहीं। अतएव भक्त नहीं चाहते कि हमारे भगवान्‌को कोई न भजे। हाँ, ऐसा भी भाव कभी होता है। जैसे श्रीश्यामसुन्दरके पक्षकी सखी जब श्रीवृषभानुनन्दिनीके पास जाती है, तब उस पक्षकी सखियोंको यह शंका होती है कि 'कहीं यह हमारे प्यारे श्यामसुन्दरको न भजने लग जाय' और उसे वहाँसे हटानेका प्रयत्न करती है कि यदि सखि! तुम अपने धर्मकी रक्षा चाहती हो तो शीघ्र ही उनके सामीप्यका परिवर्जन करो। प्रेमकी '**अहेरिव कुटिला गति:**' है। यह केवल तात्कालिक भावविशेष है। वास्तवमें यह प्रेमरस समुद्र अथाह है, कभी चुकनेवाला नहीं, अतएव सभी भक्त सभीको बुलाते हैं। इस प्रकार सापत्न्यव्यावृत्त्यर्थ ही उक्त पदमें 'अच्युत' पद है।

अथवा व्रजांगनाओंका कहना है कि 'सापत्न्य बराबरीमें होता है, सो तुम तो सखि हरिणि! हमसे बहुत बड़ी हो, उन प्राणप्यारे नन्दनन्दनके साथ सब जगह जा सकती हो, दर्शन कर सकती हो। परंतु हम तो कुलांगना हैं, हमारे लिये सर्वत्र जाना मना है। सखि हरिणि! यह मत कहना कि हमने तुम्हारे प्यारे मनमोहनका दर्शन नहीं किया है; क्योंकि हम उन आँखोंको पहचानती हैं, जिन्होंने हमारे प्यारे मोहनका दर्शन किया है। सखि! बतलाओ, क्या प्यारे श्यामसुन्दर तुम्हारे दर्शन करने इधरसे निकले हैं?' यहाँ सम्भावना और प्रश्न दोनों हैं—'**दृशां सुनिर्वृतिं तन्वन् इह उपगत:।**' 'निर्वृति' परानन्दका नाम है, उसके साथ 'सु' भी जुड़ा है। नेत्रोंकी सुन्दरता, विशेष आह्लादकी सार्थकता तभी सम्भव है, जब उन्हें श्रीश्यामसुन्दर मदनमोहन देखनेको मिलें। अन्यथा उनकी सुघराई दो कौड़ीकी है। यह बहुत ऊँची बात है कि वे कमलदललोचन जगभयमोचन मोहन भी इन नेत्रोंको देखनेके लिये उत्सुक हों और दोनों, दोनोंके नेत्रोंको लुभायें। यह तो श्रीव्रजसुन्दरी-जैसोंके लिये ही सम्भव है, जो उन त्रैलोक्य-मनोमोहनके भी मनको मोह लेती है—हरण कर लेती है—'**आभीरवामनयनाहृत-मानसाय**'''।' यह गोपी-कृष्ण दोनोंकी शिकायत है। वे कहती हैं—'वे हमारे धैर्यादिको चुरा ले गये, मनोमंजूषिकाके भीतरसे। यह सब किया उन्होंने केवल नेत्रोंसे।' उधर आभीरवामनयनाओंने उनके मनको हर लिया, वह भी नेत्रोंसे ही। अतएव वे अमना हो गये। पहले भी वे 'अमना' ही थे। तभी तो '**रन्तुं मनश्चक्रे**' कहा गया है। गोपांगनाओंके सौन्दर्य, माधुर्य, लावण्यपर वे 'अमना' मुग्ध हो गये और उनके साथ रास करनेके लिये मन बनाया, पर वह भी फिर हृत हो गया।

अपने प्रियतमके दर्शनोंकी तीव्र उत्कण्ठा ही सच्ची प्रीति है

ये अन्तरंग भाव हैं। जैसे वेदान्ती 'त्वं' पदार्थका शोधन करते हैं, वैसे ही भावुक अपना शोधन करते हैं। दोनों भाव हैं। अपने इष्टपर स्वयं लुब्ध होना और अपनेपर उन्हें लुभाना। प्यारेके दर्शनोंकी प्रतीक्षामें चित्त सदा ललचा रहे। इसी प्रतीक्षाकी पुष्टिके लिये वृन्दावनके बाँके बिहारीजीके मन्दिरमें दर्शनके समय क्षण-क्षणमें परदा आता रहता है, जिससे दर्शनोंकी प्रतीक्षा, उत्कण्ठा बढ़ती ही रहती है। प्रियतमके दर्शनोंकी दिनभर चिन्ता, विह्वलता, नवीनता बनी रहे—यही सच्ची प्रीति है। बहिर्मुखोंके लिये यह कठिन है, परंतु भावुकोंके लिये यह सुगम बन जाता है। '**चलापि यच्छ्रीर्न जहाति कर्हिचित्॥**' (श्रीमद्भा० १।११।३३) समस्त सौन्दर्यका धाम साक्षात् लक्ष्मी भी लोभवश प्रतिक्षण नवनवायमान रमणीयताके

अपारसागर उन प्रभुके पादारविन्दको छोड़ती ही नहीं, क्योंकि क्षण-क्षणके बाद उसमें सुन्दरता आ रही है, लक्ष्मी विचारती ही रह जाती हैं कि 'अब अगले क्षण आनेवाली सुन्दरताका और आस्वाद ले लूँ, तब चलूँ।' आजतक अगली सुन्दरताके लिये उनका लोभ न कभी पूरा ही हुआ और न वे गयीं हीं। '**यद्यप्यसौ पार्श्वगतो रहोगतस्तथापि तस्याङ्घ्रियुगं नवं नवम्।**' (श्रीमद्भा० १।११।३३) एक-एक रोममें अनन्त नेत्र, नासिका आदिके होनेपर भी उस आनन्दकी समस्तताका अनुभव असम्भव ही है, वह बढ़ता ही जायगा। इस समयकी, इसके पहलेकी, इससे अगली और उससे भी अगले क्षणकी आनन्दानुभूति किंरूप है, इसका विवेक सर्वदा दुर्घट ही रहेगा। जिसका नाम ही चंचला (बिजली) है, वह भी यहाँ अचंचला (स्थिर) हो जाती है। यह है उस प्रभुके स्वरूपकी महिमा। इसके एक लेशका भी अनुभव होनेपर, 'भजन करनेमें मन नहीं लगता' की शिकायत कैसे रह जायगी? हाँ, तब उलटी शिकायत हो सकती है—'घरके काम-काजमें मन नहीं लगता।' परंतु यह शिकायत तो केवल गोपांगनाओंने ही की—

चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु
यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्
यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा॥

(श्रीमद्भा० १०।२९।३४)

उन्हें यह चिन्ता अवश्य हुई कि इस मनोमृगको मोहनके मधुर मोहपाशसे कैसे मुक्त करें? जबतक यह स्थिति न आये, तबतक उन पूर्णतम पुरुषोत्तम परब्रह्म श्रीकृष्णचन्द्रकी मोहन मधुर मूर्तिको हर तरह नवीन बनाये रखनेका प्रयत्न करते रहो। प्रभुकी सेवामें नया वेष, नये भूषण, नवीन भोज, झूलोंके अवसरपर सावन-भादोंकी नवीन-नवीन मनोहर घटाओंका चमत्कार आदि यथावसर होता रहे, जिससे नवीनता आती रहे, उत्सुकता बनी रहे, बढ़ती रहे। पहले बनावटी चमत्कारकी पूर्णता हो ले तो फिर तुरंत स्वाभाविक चमत्कार नयनोंको लुभा लेगा। इसलिये पहले प्रभुके नये-नये शृंगार, भोग, राग आदिसे चित्तकी तत्प्रवणता सम्पादित होती रहे। उसकी सिद्धिके लिये तनुजा, वित्तजा सेवा होती रहे—'**तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा।**'

कई सम्प्रदायोंमें विप्रयोग शृंगार भावना चलती है। असमयमें भी वे उसमें मग्न होते हैं। श्रीश्यामसुन्दरके मथुरागमन और गोपियोंकी व्रजमें विरहदशाके पदोंसे उसमें तल्लीन हो जाते हैं। तभी यह भाव पुष्ट होता है। यद्यपि वास्तवमें '**वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति**' का सिद्धान्त है तथापि विप्रयोगोत्पादनार्थ यह उचित है। इसीलिये सभी भावुक आचार्यों, श्रीजीवगोस्वामी, श्रीवल्लभाचार्य आदिने उन अंशोंपर व्याख्या लिखी है। जिस समय भगवान्‌का मन्दिर खुले, दर्शन हों, उस समय भगवत्सम्प्रयोगकी और मन्दिर बन्द होनेपर भगवद्विप्रयोगकी भावना प्रभुके स्मरण बनाये रखनेमें साधन है। मन्दिर बन्द होनेपर अपनेमें गोकुलस्थ गोपी और भगवान्‌में मथुरास्थ कृष्णकी भावना करनी चाहिये, समझना चाहिये कि श्रीश्यामसुन्दर मथुरा गये हैं, अभी दो-तीन क्षणमें ही पधारनेवाले हैं। उस भावकी भावना करके देखना चाहिये। कैसी स्थिति प्रकट होती है। इस प्रकार मन्दिरादिमें दर्शनके समय संयोग और पटमंगलके समय वियोगकी भावना आदिसे नवीन-नवीन भावोंकी उत्कण्ठा, प्रतीक्षा आदिका उदय होनेके भाव चित्तमें आने चाहिये। लोकमें नायकको नवीन-नवीन शृंगारवती नायिकाएँ ही वशमें कर सकती हैं, यही स्थिति नायककी है। परंतु यह भगवद्विषयक स्थिति बहुत ऊँची है। इस तरह हरिणी अपने नेत्रोंको सफल समझती हैं। पर सफलता तब, जब उनके नेत्र भी इन्हें देखें। ये हरिणीके भाव हैं। ये गोपांगनाएँ किसी साधारण हरिणीको अपनी सखी नहीं बना रहीं, अपितु वे श्रीमोहनमनोहारिणी, गोपीदुःखहारिणी हरिणी हैं। जैसे हरिणी श्यामसुन्दरको रागसे देखती हैं, वैसे ही वे भी देखते हैं, उनका मन, हृदय-रागका बड़ा ही लोभी है। श्रीश्यामसुन्दरके हरिणी-दर्शनमें दो भाव हैं, एक तो यह कि इसके नेत्र श्रीवृषभानुनन्दिनीके जैसे हैं। दूसरा यह कि यह सुरंगी है, अन्तरंगा है, अतः इसे वृषभानुनन्दिनीके जैसे रागसे देखते हैं। इस

तरह हरिणीके सामने व्रजदेवियोंका प्रणय-पाथोधि नाना भावोंमें उद्वेलित हो पड़ा और न जाने अभी कितना हो।

'.....तन्वन् दृशां सखि सुनिर्वृतिमच्युतो वः।'

(श्रीमद्भा० १०।३०।११)

इसपर बहुतसे भाव पीछे कहे गये। इसमें एक भाव यह भी अन्तर्हित है कि हरिणीको श्रीकृष्णका सन्दर्शन अवश्य हुआ है, वह इसका निषेध कर नहीं सकती। अवश्य ही भगवान् कृष्ण इस मार्गसे पधारे हैं और हरिणीको उन्होंने दर्शन दिया है; क्योंकि वस्तुतः कृष्णसारसतीके नेत्रोंमें व्रजांगनाओंको मनोहरता, अद्भुतता, मुग्धता, सुभगता, चपलता, तीक्ष्णता, श्यामता आदिका अनुभव हुआ है। ये सब गुण रसिकशेखर श्रीश्यामसुन्दरमें विराजते हैं। व्रजांगनाएँ यह कल्पना करती हैं कि प्राणप्यारे मोहनका दर्शन करते-करते हरिणीके इन नेत्रोंमें वे बस गये, उन्हींकी वह मादकता, मोहकता इनमें छायी हुई है। यद्यपि श्रीश्यामसुन्दरके नेत्रोंमें तीक्ष्णता नहीं है, परंतु विप्रयोगवश गोपांगनाओंको उसकी प्रतीति हो रही है। इस प्रकार श्रीकृष्णपरमात्मक सभी भाव हरिणीके नेत्रोंमें व्रजांगनाओंको स्पष्ट प्रतिफलित दीख पड़ रहे हैं, अतएव वे कहती हैं—'सखि हरिणी, तुम छिपानेकी चेष्टा न करो, अवश्य ही वे हमारे प्राणधन, परमानन्दमूर्ति श्रीश्यामसुन्दर तुम्हारे नेत्रोंमें आनन्द उड़ेलते हुए अवश्य इधरसे ही गये हैं; क्योंकि उनके दर्शनके बिना तुम्हारे इन नेत्रोंमें यह विशेषता आ नहीं सकती।' इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि श्रीकृष्ण 'रस' हैं, '**रसो वै सः**' (तैत्तिरीय० २।७) यह श्रुति ही इसमें प्रमाण है। इस प्रकार रसस्वरूप श्रीकृष्ण स्वरूपसे ही मधुर हैं। फिर अनुपानकी विशेषतासे उनकी रसात्मकता और भी चमत्कृत हो जाती है। लोकमें एक रस अनुपानभेदसे सेवनकर्ताको अनेक प्रकारसे लाभ पहुँचाता है, विभिन्न रोगोंकी निवृत्ति करता है। वैसे ही ये निखिलरसामृतमूर्ति, अनन्तकोटि-कन्दर्पदर्पदलनपटीयान् श्रीकृष्ण परमात्मा हैं। इनमें अनुपानभेदसे रसभेद है। माधुर्यरसकी अभिस्रुति जब वे कान्तासंयुक्त होते हैं, तब होती है। श्रीराधासंयोगसे वे माधुर्यरसके व्यंजक होते हैं। प्रस्तुत पद्यमें '**तन्वन् दृशां निर्वृतिम्**' (श्रीमद्भा० १०।३०।११) से ही आनन्द अर्थ स्फुट था, पर उसके साथ '**सु**' भी लगाया गया। यह विशेष तात्पर्यावद्योतक है। व्रजांगनाओंका कहना है कि 'श्रीश्यामसुन्दर इधर आये होंगे, पर यह माधुर्य तो जो तुम्हारे नेत्रोंमें है, श्रीप्रियाजीके संयोगका सूचक है। उनके श्रीअंगसे परिवेष्टित श्यामसुन्दरका स्वरूप सखि हरिणांगने! तुम्हारे नेत्रोंमें बसा है।' यही 'निर्वृति' के साथ 'सु' का वैशिष्ट्य है। यही बात '**गात्रैस्तन्वन् दृशां सखि सुनिर्वृतिमच्युतो वः।**' (श्रीमद्भा० १०।३०।११)-से भी ध्वनित हुई है। व्रजांगनाजनके विचारसे केवल श्रीश्यामसुन्दरके गात्रमात्रसे हरिणांगनाके नेत्रोंकी सुनिर्वृति नहीं हुई, अपितु श्रीराधासंयुक्त मोहनके दर्शनसे ही वह सम्भव हुई। फिर उस लोकोत्तर निर्वृतिमें गात्रमात्र ही सहायक नहीं, अपितु स्वेद, रोमांच, कम्प, परस्पर अनुरागोद्रेक आदिका उद्भव भी मुख्य है। मिलित युगलमूर्तिके दर्शनसे हरिणांगनाके भी गात्रोंमें स्वेद, कम्प, रोमांच, अनुरागोद्रेक आदि हुआ। अनुरागोद्रेक और वैसे ही तत्तदनुभावोंसे युक्त सरसता, सुनिर्वृति उसके नेत्रोंमें व्यक्त हुई। इस तरह हरिणांगनाके नेत्रोंके लिये सुनिर्वृतिका विस्तार अथवा प्रदान करते हुए श्रीश्यामसुन्दर इधरसे होते हुए गये हैं। तात्पर्य यह कि प्रथम तो रसका दर्शन, वह भी अनुपानसहित, रसाक्रान्त तथा रसानुभवसहित हुआ। रसोद्रेकसे रोमांच होता है, पर यहाँ मूर्तिमान् रसमें ही रोमांच, स्वेद, कम्प आदि हैं। ये सब गात्रगत बहुवचन और सुनिर्वृति आदि पदद्योत्य विशेषताएँ हैं।

श्यामसुन्दरके दर्शनमें ही नेत्रोंके होनेका साफल्य

हरिणांगनाके नेत्र और श्रीश्यामसुन्दरका रूप, इन दोनोंसे व्रजांगनाएँ खूब परिचित हैं। जितना वे जानती हैं, उतना कोई कह ही नहीं सकता। उन्हींकी कृपासे कुछ कणका पता लगता है। फिर विरहावस्था-प्रयुक्त वाक्योंका अर्थ तो वे ही जानती हैं। पहले इस व्याख्या-प्रसंगमें कहा गया है—'**अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः**' (श्रीमद्भा०

१०।२१।७)। इसे श्रीमद्वल्लभाचार्यने फलाध्याय ही माना है। व्रजदेवियोंकी दृष्टिमें श्रीमदनमोहन मुरलीधरका दर्शन ही नेत्रवानोंके नेत्रवान् होनेका फल है। कोई भले ही स्वर्ग, अपवर्ग, कल्पवृक्ष आदिके दर्शन या प्राप्तिको नेत्रवत्ता या जप, तपका फल माने। परंतु व्रजसुन्दरियाँ तो कहती हैं—'आँखवालोंका तो फल यही है। यदि इसके अतिरिक्त और कोई फल हो सकता है तो वह अन्धोंका ही होगा।' '**अक्षण्वतां फलमिदम्**' में '**इदम्**' कहा गया है, जिसका अर्थ 'सामने वर्तमान' है, पर श्रीश्याम वृन्दावनमें हैं और गोपांगना अपने भवनोंमें यह भावना कर रही हैं, तब श्रीकृष्ण उनके '**इदम्**' के विषय कैसे हुए? परंतु इसका पर्यवसान इसीमें है कि व्रजांगनाओंके तीव्र संवेग-संचालित भावना-परिपाकका यह फल है कि वह यशोदोत्संगलालित पूर्णतम पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण उनके समक्ष वहीं हैं, अत: '**इदम्**' कहा। '**अक्षण्वताम्**' यह पद देहधारियोंका उपलक्षण है, अत: व्रजांगनाओंके विचारसे प्राणिमात्रके नेत्रोंके लिये यदि कोई फल हो सकता है तो यही कि उन्हें श्रीश्यामसुन्दरके मुखारविन्दका दर्शन प्राप्त हो, अन्यथा नेत्र व्यर्थ हैं। श्रवण भी व्यर्थ हैं, यदि उन्हें उन श्रीभगवान्के वचनामृत और वेणुरवका पान करनेको न मिले। क्या यह घ्राण भी सार्थक कहा जा सकता है, जिसने एक बार भी भगवान्के चरणामृत-सौगन्ध्यका आस्वाद नहीं पाया? भगवत्-सेवा-विमुख बाहुओंको कौन बाहु कहेगा? वे सब व्यर्थ ही हैं, जिनसे भगवत्सम्बन्धका ज्ञान नहीं होता। व्रजांगनाओंका तो स्पष्ट कहना है कि 'और कोई जाने चाहे न जाने, पर हम तो श्रीनन्दनन्दनके दर्शनको ही नेत्रोंका परम फल मानती हैं। अलौकिक साध्य-साधन श्रुतिरूप है—'**धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः**' वही वेदमन्त्रोंकी अधिष्ठात्री श्रुतिरूप व्रजदेवियाँ यह कह रही हैं।'

यदि वह तत्त्व श्रुतिसे अविदित है तो भावुक कहता है—'**श्रवणयोरलम श्रवणिर्मम**··· **तमविलोकयतो नयने वृथा**···।' महर्षि वाल्मीकि भी कहते हैं—

यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति।
निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हते॥

(वा०रा० २।१७।१४)

आत्मा, बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ कोसती हैं—'हाय, किस दुष्टसे सम्बन्ध हुआ। किसके पल्ले पड़ीं, जो कभी भी एक बार भी उस दर्शनीयके दर्शन न मिले।' यह ठीक है पर—'**स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते।**' वह तो निर्वृत्तिक अन्त:करणसे उपलब्ध होता है। वह तत्त्व तो बुद्धिसे भी परे है, इन्द्रियोंकी वहाँ पहुँच ही कहाँ—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

(गीता ३।४२)

परंतु इन्द्रियाँ इससे सहमत नहीं, वे तो कहा करती हैं—'हाय, हमारा जन्म उस दर्शनीयके दर्शनसे सफल न हुआ, हम उससे वंचित रह गयीं, हमारा रोम-रोम उसके साक्षात्कारके लिये तड़पता है, हम व्याकुल हैं।' कोई भी ऐसा नहीं, जो उन्हें न चाहे। वनगमनके समय भगवान् रामके मार्गको साँप और बिच्छू-जैसे विषैले जन्तुओंने भी साफ कर दिया और उनके दर्शनसे अपनेको धन्य समझा। एक और भी उक्ति है—***'जिन्ह कर मन इन्ह सन नहिं राता। ते जन बंचित किए बिधाता॥'*** (रा०च०मा० १।२०४।२)

काँटे भी उनके लिये कोमल हो जाते हैं। प्रकृतिका प्रत्येक परमाणु उनसे मिलनके लिये उतावला हो उठता है। एक श्रुतिद्वारा इसका पूर्ण समर्थन प्राप्त है। वे अज्ञ हैं, जो यह कहते हैं कि 'जो श्रुतिमें नहीं, वह हमारे यहाँ है।' वस्तुत: जो श्रुतिमें नहीं, वह कहीं भी नहीं। महापुरुषों एवं महाभक्तोंने वेदप्रतिपाद्य वेदसारको ही अपनी 'वाणी' में कहा है—'**पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः**'····**आवृत्तचक्षुः**···· (कठ० २।१।१) ब्रह्माने इन्द्रियोंकी बाह्य वृत्ति बना दी, अत: वे बाहर ही देखती हैं, भीतर नहीं। यहाँ '**व्यतृणत्**' कहा, '**व्यरचयत्**' ही कह देते। ऐसा कहनेमें कुछ तात्पर्य है। '**व्यतृणत्**' हिंसार्थक '**तृदृ**' धातुका रूप है, जिसका अर्थ हुआ 'हिंसितवान्।'

भाव यह कि ब्रह्माने इन्द्रियोंको बहिर्मुख बनाकर उनको मार डाला। वे बिलबिलाती हैं, दु:खी हैं। *'पिय बियोग सम दुखु जग नाहीं॥'* (रा०च०मा० २।६४।७) मरण तो अच्छा, वियोगी तो इसे शौकसे चाहते हैं। ब्रह्माने इन्द्रियोंको शब्दादिकी ओर प्रवृत्त किया, यह ठीक नहीं किया; क्योंकि ऐसा करनेसे वे तत्त्वमात्रके सर्वाधिक अनुभवसे वंचित रह गयीं। इन्हें परमप्रज्ञासे जो आन्तर दर्शन करती हैं, ईर्ष्या है। परतत्त्वका महत्त्व समझनेपर ये रोती हैं कि हाय, हमें प्रपंचमें लगाया गया। ये इन सबको नहीं चाहतीं, ये तो पूर्णतम पुरुषोत्तम परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्दका परिरम्भण ही चाहती हैं। इस प्रकार चक्षु, श्रोत्र, घ्राणादि वास्तवमें उस सर्वान्तर्यामी सगुण स्वरूपके ही दिव्य रूप, दिव्य शब्द आदिको चाहते हैं, दुस्संस्कारवशात् शूकरकी विष्ठा प्रवृत्तिकी तरह उन्हें प्राकृत शब्दादिमें स्वाद मिलता है।

अतएव कहा गया है—

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्-
भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात्।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्
पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्॥

(श्रीमद्भा० १०।१।४)

सचमुच श्रीकृष्ण परमात्माके चरितसे कौन विमुख होगा? वह तत्त्व महामुनि, भक्त, मुमुक्षु, यहाँतक कि विषयीका भी सेव्य है। *'सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई।'* (रा०च०मा० ७।१५।५) *'बिषइन्ह कहँ पुनि हरि गुन ग्रामा। श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा॥'* (रा०च०मा० ७।५३।४) वह गुणानुवाद अच्छा नहीं लगता केवल पशुघ्नको, कसाईको, महापापीको। परंतु सदन कसाईको तो बड़ा अच्छा लगता था। अत: 'पशुघ्न' का अर्थ दूसरा है—**'अपगता शुक् यस्मात् सः, शोकमोह-शून्यस्तत्त्वज्ञानी, तं हन्तीति अपशुघ्नः'** अर्थात् महाब्रह्मनिष्ठवधजन्य पातकवालेको ही श्रीहरिगुणानुवाद अच्छा नहीं लगता। परंतु कितने ही ऐसे पापी भी श्रीहरिगुण-श्रवणमहिमासे मुग्ध और मुक्त हुए सुने गये हैं, अत: **'पशुघ्न'** का अर्थ पशु जिसपर रखकर मारे जायँ, वह काष्ठखण्ड अथवा पशु जिससे मारे जायँ वह दण्ड (**'पशवो हन्यते यत्र यद्वा अनेनेति पशुघ्नः शुष्ककाष्ठम्'**) है अर्थात् श्रीहरिकथासे कदाचित् जड काष्ठको ही विराग हो तो हो, पर इन्द्रियवान् ऐसा कोई नहीं हो सकता। अतएव गोस्वामीजीने कहा है—**'श्रवनवंत अस को जग माहीं।'** (रा०च०मा० ७।५३।५) ""यदि कोई है तो वह दु:संस्कारवश ही। बाकी सभी श्रीकृष्ण परमात्माको चाहते हैं। इन्द्रियाँ रोती हैं, कोसती हैं— **'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः'** वे ***'पिय बियोग सम दुखु जग नाहीं'*** समझती हैं।

यह जो प्रकृतिके पदार्थमात्रमें हलचल दिखायी पड़ रही है, वह और कुछ नहीं, केवल श्यामसुन्दरके मिलनकी उतावली है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रमण्डल, अणु-अणु जो अविश्रान्त गतिसे दौड़ रहे हैं, इनका वही एकमात्र उद्देश्य है। प्रकृतिका प्रत्येक परमाणु इसके लिये लालायित है। इसके प्राप्त होनेपर तो सबकी चंचलता विलीन हो जाती है। इसका एक उदाहरण लक्ष्मी है—**'चलापि यच्छ्रीर्न जहाति कर्हिचित्॥'** (श्रीमद्भा० १।११।३३) उस समय आनन्दमग्न सब कूटस्थकी तरह होंगे। जिस समय मधुप मकरन्दपानमें मग्न होता है, उस समय उसका गुंजारव समाप्त हो जाता है। अलिकुलमालासंकुल वनमालाधारी मुरलीमनोहरके दिव्य दर्शन होते ही सब आनन्दविभोर, शान्त हो जाते हैं। ये सब दु:ख उसके बिना हैं। हम **'रस'** को सावरण रखते हैं। श्रीमद्वल्लभाचार्यने **'बर्हापीडम्'** (श्रीमद्भा० १०।२१।५) (वेणुगीत) पद्यकी व्याख्यामें श्रीभगवान्‌को उद्बुद्ध उभयविधश्रृंगार बतलाया है और **'कनककपिशम्'** (श्रीमद्भा० १०।२१।५) से पीतवस्त्रको उस (रस)-का आवरण। अंगको उससे समाच्छन्न रखा है। यह इसलिये कि भावुक जैसा देखेंगे, वैसा ही वर्णन करेंगे, उफान उसीका आयेगा। झरनोंके सम्पर्कमें जलकी तरह भावोंमें रस बढ़ता है और फिर वह प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमयादि कोशोंमें परिपूर्ण होकर रोम-रोममें भरपूर होता है। जैसा अनुभव होगा, वैसा ही उद्गार

होगा, उसीमें 'रसाभास' भी होगा। भगवान्का पीताम्बर माया है, दिव्य माया है, उनके सत्त्वादि विभिन्न रूप जैसे ब्रह्मदर्शन (ज्ञान)-में माया प्रतिबन्ध है, वैसे ही यह '**कनककपिश**' वस्त्र है। मायाकी चकाचौंधमें ही जैसे दृष्टि रुक जाती है, वैसे ही भगवान्के देदीप्यमान पीतवस्त्रमें ही दृष्टि रह जाती है। इस प्रकार प्रभुविग्रहका साधारण वर्णन किया गया है।

प्रकृतमें जिसकी प्रेप्साके लिये तत्त्वमात्र उतावले हो रहे हैं, उसके लिये यदि गोपांगनाएँ सर्वस्व त्याग करके उतावली हो रही हैं, उस रसास्वादके लिये व्यग्र हैं तो इसमें उनका क्या दोष है? उनका कहना है कि जब ये हीरा, मोती (कंकड़-पत्थर), जड़ भी श्रीहरिके उर:स्थलको छोड़ना नहीं चाहते, तब '**का वा स्मरवशाः स्त्रियः?**' कामकिंकरी, अज्ञानमूर्ति हम स्त्रियाँ कैसे उन्हें भुला सकती हैं? हमारे मन, बुद्धि, अन्तःकरण, रोम-रोममें वे बसे हुए हैं, हम उन्हें कैसे छोड़ें?

श्रीमद्वल्लभाचार्यका कहना है कि सारे विधि-निषेध साधनमें होते हैं, फलमें नहीं, रसपानमें भेद नहीं। रसिकोंने समझा कि जो तत्त्व इन्द्रियादिसे अग्राह्य था, जो '**स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते**' से व्यपदिष्ट हुआ, इन्द्रियोंकी विकलता दूर करनेके लिये, उनकी वांछाकी पूर्तिके लिये उन्हीं वांछाकल्पद्रुम प्रभुने अपना दिव्य रूप प्रकट किया और मानो कहा—'बाहुओ! मिल लो, आँखो! देख लो।' जो प्रभुकी इस कृपाका लाभ नहीं उठाते, वे वस्तुतः इन इन्द्रियोंसे कोसे जाते हैं। इस प्रसंगमें महर्षि वाल्मीकिके ये शब्द विशेष अर्थवान् हैं—

यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति।
निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हते॥

(वा० रा० २।१७।१४)

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः
सख्यः पशूननु विवेशयतोर्वयस्यैः।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणु जुष्टं
यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम्॥

(श्रीमद्भा० १०।२१।७)

गोपियाँ कहती हैं—'सखियो! अपने सखाओंके साथ गायोंको खिरकमें भेजते हुए नन्दनन्दनके वेणुशोभित मुखका जिन्होंने सानुराग दर्शन किया है, उन्हीं नेत्रवानोंके नेत्र सफल हैं। इससे बढ़कर उनकी सफलता हम तो नहीं समझतीं।'

हाँ तो वे श्रुतिरूपा गोपांगनाएँ '**अक्षण्वतां फलमिदम्**' के '**इदम्**' को खूब जानती हैं। इसके अतिरिक्त नेत्रवालोंके लिये उनकी दृष्टिमें और कोई फल ही नहीं—'**न परं विदामः।**' जो वेदसम्मत नहीं, वह तो अवैदिक ही है। यहाँ गोपीरूपधरा श्रुतियाँ ही यह कह रही हैं—'अनुरक्तकटाक्षमोक्षपूर्वक जिन्होंने व्रजेशसुत श्रीबलराम तथा श्रीकृष्णके मुखका सातिशय दर्शन किया है, उन्हें ही नेत्रवत्ताका फल मिला है, क्योंकि नेत्रोंकी फलवत्ता इसीमें है।' इस प्रसंगमें व्रजांगनाएँ बड़ी चतुराईसे बात कर रही हैं। वे '**व्रजेशसुतयोः**' में द्विवचन भावगुप्तिके लिये देती हैं, जिससे बलराम और कृष्ण दोनोंका ग्रहण हो। परंतु सहसा '**वक्त्रम्**' एकवचन ही निकल जाता है; क्योंकि उनका तो अनुराग श्रीश्यामसुन्दरमें ही है। पर कहीं उनकी देवरानी, जेठानीके कानमें यह शब्द न पड़ जायँ, इसलिये द्विवचनसे छिपाती हैं। वे व्रजकी नारियोंकी प्रकृतिसे परिचित हैं, वे खूब जानती हैं कि ***'बलिहारि करो व्रजको बसिबो जहाँ पानीमें आग लगावें लुगाई।'*** श्रीश्यामसुन्दरके प्रेमको वे छिपाती हैं। कोई पूछे तो वे चट उत्तर दे दें कि 'हम तो व्रजपालके प्रति राजभक्ति प्रदर्शन कर रही हैं।' इन सब भावोंसे '**सुतयोः**' द्विवचन बोलती हैं। परंतु जबतक श्रीश्यामसुन्दरका मुखचन्द्र सामने नहीं; तभीतक यह बनावट छिपी है और भावमहासागर शान्त है। पूर्णचन्द्रके दर्शन होते ही सागरकी मर्यादा भंग हो जाती है। यह प्राकृत पूर्णचन्द्र जलसमुद्रके हृदयसे उदित हुआ है और वह अप्राकृत श्रीकृष्णचन्द्र इसी व्रजांगनाओं या श्रीवृषभानुनन्दिनीके हृदयमहाभावसमुद्रसे आविर्भूत होता है। महाभावसमुद्र जबतक शान्त रहा, तबतक सर्वविधगोपन, सर्वविधविवेचन, पर ज्यों ही श्रीश्याममुखचन्द्रका ध्यान आया कि बस भावसमुद्र उमड़ पड़ा—छिपानेकी सब चालें भूल गयीं, '**वक्त्रम्**'

एकवचन मुखसे निकल पड़ा। जबतक भावसमुद्रमें ज्वार-भाटा नहीं आया, तबतक लोक-वेद सबकी मर्यादा सुरक्षित रही, फिर नहीं। (**'व्रजेशसुतयोर्वक्त्रं यैर्निपीतम्', 'अक्षण्वतां फलमिदमेव'**) वे 'दर्शन' नहीं कहतीं, क्योंकि यह मोटी बात है, स्थूलदर्शिता है। यहाँ तो कहा **'निपीतम्'** जिसका सुधासमुद्रका भी समवगाहन करना है। इतने कुशल, सजीव नेत्रपुटोंके सामने सुवर्ण, हीरक आदिके पात्र तुच्छ हैं। ये इसी पूर्वानुभवसे हरिणीके प्रति **'तन्वन् दृशां सखि सुनिर्वृतिमच्युतो वः'** (श्रीमद्भा० १०।३०।११) कर रही हैं। **'अनुरक्तकटाक्षमोक्षम्'** में दो भाव हैं—यह मुखचन्द्र अनुरागियोंके कटाक्षमोक्षका स्थान है अथवा अनुरक्तोंकी ओर सानुराग कटाक्षमोक्षका स्थान है अथवा अनुरक्तोंकी ओर सानुराग कटाक्षमोक्षणकी क्रिया जिसमें हो रही है, वह है अथवा उस अवसरपर गोपांगनाएँ कहती हैं—'सखि! दर्शन करने कैसे जायँ, कुललज्जा मुखचन्द्रका दर्शन नहीं करने देती।' दूसरी कहती है—'चलो, किसी निकुंजमें छिपकर दर्शन करेंगी।' इसपर भी एक तीसरीका तर्क उठता है—'क्या वे मोहन अपने भृकुटिकोदण्ड तानकर तुम्हारी लज्जाको कहीं फेंक न देंगे?' यह तो एक मुखचन्द्रके दर्शनकी भावकल्पना हुई। यहाँ तो प्रिया-प्रियतम दोनों विराजमान हैं। इन्हें भी अकेले मुख-चन्द्रदर्शनमें बाधा है, अतः सम्मिलित दर्शन चाहती हैं। वहाँ भी **'व्रजेशसुतयोः'** कहा गया है। **'सुतयोः'** में सुता और सुत दो हैं, व्रजेश वृषभानु बाबा और व्रजेश नन्दबाबा, दोनोंके पुत्री और पुत्र श्रीराधा-कृष्णका दर्शन अभिप्रेत है। मुखत्वसे मुखमें एकवचन कहा गया है। व्रजांगनाओंके भावमहावायुने गौर-श्याम समुद्रको एक कर दिया और सम्मिलित दर्शन करके कृतार्थ हो गयीं। भाव यह कि जिन्होंने सम्मिलित दर्शन किया, वे ही कृतार्थ हुए, शेष तो मोरपंखकी तरह व्यर्थ ही रहे। व्रजांगना कहती हैं—'अतः हे एणपत्नि! तुम्हारे नेत्रोंसे, तुम्हारे नेत्रोंमें छलक रही इस सुनिर्वृतिसे यह निश्चित है कि तुम्हें युगलसरकारका अवश्य दर्शन हुआ है, हम इस वस्तुको खूब समझती हैं, तुम हमसे छिपा नहीं सकती। शीघ्र बताओ, वे श्रीश्यामाश्याम किस ओर गये हैं?'

इस प्रकार श्रीव्रजेन्द्रनन्दनको ढूँढ़ती हुई गोपांगनाएँ लताओंसे, वृक्षोंसे, भूमिसे पूछती फिरती हैं। हरिणांगनाको देखकर तो उनकी प्रश्नपरम्परा, उनकी जिज्ञासा, उनकी श्रीकृष्णविषयिणी स्मृति उद्वेल महानदीका अनुकरण करने लगी है। वे उसे सकलदुःखहारिणी हरिणी मान रही हैं। उन्हें विश्वास हो गया है कि इस हरिणीने हमारे प्राणधनको अवश्य देखा है। तभी तो इसके नेत्रोंमें यह श्याम छवि, यह श्यामलता, चंचलता आदि उपलब्ध हो रही हैं। गोपांगना-समूहमें मानिनी गोपियाँ परस्पर कहती हैं—'वे यशोदानन्दन सदा तो हमारा मान मनाते रहे, पर अब क्या हो गया जो हम सब पूछती फिरती हैं, आकुला हैं और वे मिलतेतक नहीं। पहले वे हमें ढूँढ़ा करते थे, हमारा मान मनाते थे, पर आज हमारी सुधितक नहीं लेते—हम कितनी बेहाल हैं। इसपर कोई कहती है—**'कयाचिद् धूर्तया नीतः'** अर्थात् 'कोई धूर्त सखी उन्हें बहकाकर ले गयी, अन्यथा वे ऐसे नहीं हैं।' इस समय उनकी घ्राणने कुन्दमालाके, जो कान्तांगसंगकुचकुंकुमरंजिता थी, सौगन्ध्यका अनुभव किया। वे कहने लगीं—अब तो वह बात स्पष्ट हो गयी, देखो, यह कुन्दमालाकी सुगन्ध आ रही है, यह केवल मालाकी ही सुगन्ध नहीं। किंतु उस धूर्ताके अंगमें लगे कुंकुमका भी इसमें समावेश है। 'सखियो! वे तो स्वयं हमें छोड़कर कहीं जानेवाले नहीं थे, अवश्य किसी धूर्ताने ही उन्हें फँसाया है।' दूसरी कहती है—'सखि! देखो, वे श्यामसुन्दर बड़े छलिया हैं, वास्तवमें वे किसीके नहीं। अपने सुन्दर शरीरको दिखाकर उन्होंने केवल तुम्हारे नेत्रोंकी सुनिर्वृति, सानन्दता सम्पादित की है। इससे वे तुम्हें आकांक्षा या मोहमें डाल गये। उनके त्रिलोकमनोहर दर्शनसे तुम्हारे नेत्र अवश्य सफल हुए, उनमें उनकी वह त्रिभंग-ललित छवि अवश्य बस गयी, पर मन नहीं भरा, हृदय तरसता रह गया। सुन्दर वस्तुके दर्शनमात्रसे तृप्ति नहीं होती। दर्शनाभावमें उसके लिये उत्कट उत्कण्ठा बनी रहती है। एक उग्र रुचि जागरित हो जाती है। कथंचित् दर्शनकी अभिलाषा पूरी होनेपर

वे कहीं हृदयमें बस गये तो फिर उन प्रियतम प्राणनाथ मुरलीमनोहर श्यामसुन्दरके स्पर्श, परिरम्भणादिकी लालसा सुस्थिर हो जाती है और मन होता है—'इन्हें अन्तरात्मामें, रोम-रोममें बसायें।' क्षणभरमें व्रजांगनाएँ हरिणीकी ओर झुककर कहती हैं—'सखि मृगांगने! वे तुम्हारे नेत्रोंमें अपनी छवि बसाकर चले गये होंगे; क्योंकि तुम्हारे नेत्रोंमें उनकी श्यामलता आदि स्फुट ही प्रतीत हो रही है। उनका यही काम है। हम उन्हें खूब जानती हैं। वे कुलपति हैं, व्रजांगनायूथके पति हैं। वे कुलपति होकर भी एक प्रेयसीके रसवश होकर हम सबको छोड़कर उसीके साथ हो लिये। यह कुंकुममिश्रित कुन्दमालाकी सुगन्ध ही इसका प्रमाण है।' इस समय व्रजांगनाओंके प्रेम-पयोधिमें ईर्ष्याकी लहर उठ आयी। वे कहने लगीं—'यह देखो अन्याय, '**किं सैवेका कान्ता न वयम्**' क्या वही एक उनकी कान्ता है, हम नहीं; जो हमें छोड़कर उसके साथ चले गये? जो उन्हें बहकाकर ले गयी वही प्रेयसी है, हम नहीं? तुम साक्षी हो हरिणी, देखो, यह कुलपतिका कैसा अन्याय है।' मानिनी व्रजांगनाओंकी ओरसे ये भाव हैं।'

इसके अतिरिक्त जो श्रीवृषभानुनन्दिनीकी शुद्ध प्रेष्ठतम सखी हैं, उनके वे ही भाव हैं कि हे कृष्णसार सती! तुम धन्य हो, तुमने युगलसरकारके दर्शन किये हैं, उनके सम्मिलित स्वरूपदर्शनसे तुम्हारे इन नेत्रोंकी सुनिर्वृति हुई है—परमानन्दकी प्राप्ति हुई है। तुम प्रेष्ठसखी हो, श्रीवृषभानुनन्दिनीकी अन्तरंगा हो। तुम्हारे नेत्रोंकी प्रसन्नतासे मालूम पड़ता है, अवश्य तुमने उन श्रीराधामाधवके यहाँ कहीं अभी दर्शन किये हैं। सखि! हम तुम्हारी बड़ी कृतज्ञ होंगी, हमको भी उनका पता दो। प्रकृति पद्यान्तर्गत 'कान्ता' पदकी व्युत्पत्ति की जाती है कि '**कस्य सुखस्य अन्तः सिद्धान्तो यस्यां सा**' अर्थात् जिसमें अनुरागात्मक या आनन्दात्मक सुखका अन्त है वह 'कान्ता' है। तात्पर्य यह कि व्रजेन्द्रनन्दिनी श्रीराधा ही सुख-सिद्धान्तरूपा हैं। सुख क्या है? तो यदि वादी-प्रतिवादीनिर्णीत सिद्धान्त ही सुख है, ब्रह्मानन्द सुख है अथवा स्वर्गादि सुख है, इसका अन्तिम सिद्धान्त श्रीवृषभानुनन्दिनी ही हैं, परमानन्दमें रहनेवाला माधुर्यसारसर्वस्व वही हैं अथवा '**कस्य सुखस्य अन्तःपर्यवसानम् यस्यां सा कान्ता**' अर्थात् सुखकी बढ़ते-बढ़ते अन्तिमावस्था पराकाष्ठा जहाँ हो, वह तत्त्व कान्ता है और वही श्रीराधातत्त्व है।

श्रीराधास्वामी मतवाले कहते हैं कि 'वैदिक, पौराणिक लोगोंको केवल १४ लोक मिले, पर हमारे स्वामी १८वें लोकमें विराजमान हैं।' कल्पना करनेमें क्या लगता है? एक राजाको कहानीका बड़ा शौक था, वह ऐसी कहानी सुनना चाहता था, जिसका अन्त न हो और इनाम भी उसे देना चाहता था, जो बे-अन्त कहानी कहे। बेचारे सब परेशान होकर चले जाते थे, आखिर कितनी लम्बी कहानी होती। एक ऐसा कहानीकार उसे मिल गया। उसने कहना शुरू किया—'एक बड़ा भारी जंगल था। उसमें एक बहुत बड़ा वृक्ष था, उसमें बड़े-बड़े असंख्य पत्र थे, एक-एक पत्रपर कई-कई पक्षी रहते थे, उनमेंसे एक उड़ा फुर्र, दूसरा उड़ा फुर्र। राजा जब पूछता—'फिर क्या हुआ?' तो कहानीकार कह देता 'फुर्र'। इस तरह और 'फुर्र' के चक्करमें बहुत समय निकल गया। राजाने खीझकर कहा—'आगे क्या हुआ?' कहानीकारने कहा—'हुजूर, सब पक्षी उड़ लें तब तो आगे कहानी चले।'

अतः हमारे दार्शनिक एक बातपर निर्णय करते हैं, वाचस्पतिकी मति भी सुखकी कल्पना करनेमें थक जाय, वह नित्य निरतिशय-सुखास्पदा नित्यनिकुंजेश्वरी श्रीराधा हैं। अतएव '**कस्य सुखस्य अन्तो यस्याम्**' यह संगत व्युत्पत्ति है। इन कान्ता श्रीव्रजेन्द्रनन्दिनीके मंगलमय श्रीअंगके संगसे श्रीश्यामसुन्दरकी कुन्दमाला रँग गयी। वह कुंकुम था—केसर थी—जिससे वह रँग गयी। यह कुंकुम क्या है? भावुक कहते हैं—श्रीवृषभानुनन्दिनीके हृदयमें निवास करनेवाला श्रीकृष्णविषयक जो महाभावरूप अनुराग है, वही उनके कनककली-सदृश मनोहर स्तनमण्डलमें भी है अर्थात् कुंकुम-अनुराग स्थानीय है। यहाँ बिना समझे लोग सूखा कुतर्क करते हैं। वस्तुतः श्रीकृष्णमें—

कृषिर्भूवाचकः शब्दः णश्च निर्वृतिवाचकः।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥

इसके द्वारा विनिर्दिष्ट परब्रह्मरूप श्रीकृष्णतत्त्वमें श्रीराधा और श्रीकृष्ण—दोनों आ जाते हैं। वह सत्ता, महासत्ता रूप है, जिसके बिना सब असत् है, उसी स्वप्रकाश सत्से सबकी सत्ता है, वही 'कृष्ण' हैं, इसमें णकार निर्वृति या आनन्दका द्योतक है तथा उनमें रहनेवाला आनन्द ही श्रीराधा हैं। आह्लादकी अन्तरात्मा आनन्द और आनन्दकी अन्तरात्मा आह्लाद दोनों एक तत्त्व हैं, भेद नहीं। इस प्रकार श्रीराधाकृष्ण उभय, उभयभावात्मा और उभय-उभय-रसात्मा हैं। यों कान्ताके हृदयहृदमें जो पूर्णानुराग-महाभाव है, वहीं सुवर्णसदृश स्तनमण्डल और बाह्य कुंकुमके रूपमें अभिव्यक्त होकर शोभा बढ़ाता है। महाभाव ही कुंकुम है, उससे कुन्दमाला रँग गयी है। विशुद्ध अनुरागसे माला रँगी गयी है। उसीका सौगन्ध्य व्रजमें फैला है। जिन्हें प्रभुकी अनुकम्पासे दिव्य घ्राण मिले, वे उसका अनुभव कर सकते हैं। पद्यमें **'वाति'** वर्तमान काल है। आज भी व्रजमें वही गन्ध विस्तीर्ण है, पर प्रभुकी कृपासे ही सूँघनेको मिलता है—

'कान्ताङ्गसङ्गकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः
कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः॥'

(श्रीमद्भा० १०।३०।११)

हरिणीके प्रति ईर्ष्याभाव

जो गोपांगनाएँ भगवान्के अन्तरंगस्वरूपसे परिचित हैं, वे विप्रयुक्ता नहीं हैं, पर जो अन्यान्य मध्या, मुग्धा, प्रगल्भा आदि हैं, उनका साथ देनेके लिये वे भी श्यामसुन्दरको ढूँढ़ती हैं। हरिणीसे इन सबने बहुत पूछा, कितने ही अन्तरंग रहस्य उसे बतलाये, पर वह न पसीजी, उसने उन्हें कुछ नहीं बतलाया। तब उससे उन्हें निराशा उत्पन्न हो गयी और उसीमें ईर्ष्या भी। उनमेंसे एक कहती है—'पहले तो यह कृष्णसारकी (कृष्ण ही है सार जिसका—'**कृष्णः सारो यस्य सः**') अर्थात् कृष्णभक्त हरिणकी पत्नी थी, फिर वह कृष्णपत्नी हो गयी। अब वह इससे सापत्न्यभाव रखती है। इसीलिये उनका पता नहीं बतलाती।' दूसरी कहती है—'सखि! यह बात नहीं है, उन मनमोहन श्यामसुन्दरने अपने भ्रुकुटीरूप कामकोदण्डको तानकर कटाक्षशरसे इसे विद्ध किया है। इसका हृदय उससे विह्वल हो गया है, केवल इसके नेत्रोंमें श्रीश्याम-छवि बसी है। अतः हृदयशून्या होनेसे यह बेचारी हमारे वचनोंको सुन नहीं रही है। चकितदृष्टि, विह्वलहृदया वह हमारे प्रश्नोंका क्या उत्तर देगी?' तीसरी कहती है—'अभी तो यह मनोहारिणी थी, पर अब सुखहारिणी है, इससे अपनी आशा पूर्ण न होगी। चलो, किसी औरसे पता लें।' इस प्रकार वे श्रीकृष्णविरहिणी व्रजदेवियाँ जड़, चेतन, पशु-पक्षी, लता, वृक्ष सभीसे अपने प्राणधन घनश्यामका पता पूछती फिरती हैं। इससे सूचित करती हैं कि प्रेमी किसीसे भी अपने प्रियतमको पूछ सकता है। उसे स्वभावसे ही यह आशा बनी रहती है कि कदाचित् इनमेंसे कोई बता ही दे। 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' में इस भावका खूब वर्णन किया है।

श्रीकृष्णान्वेषण करती गोपियोंको कहीं तमालका वृक्ष दीख पड़ा, उसके दर्शनसे उनकी श्रीकृष्णस्मृति नवीन हो गयी। उस श्यामल तमालको देखनेसे उन्हें तमालश्याम मंजुल मुरलीमनोहर स्मरण हो आया, वे उस तमालको अपने मोहनका सखा मानती हैं। अगाध प्रेमसे गद्‌गद होकर उससे कहती हैं—'सखे! मालूम पड़ता है कि हमारे हृदय और तुम्हारी कान्तिके चोर श्यामसुन्दरने अभी-अभी तुम्हारा आलिंगन किया है, तभी तो ये तुम्हारे कोमल पल्लव अपनी अरुणिमाके व्याजसे तुम्हारे अनुरक्त हृदयका पता दे रहे हैं। बताओ, तुमने उन्हें किधर जाते देखा है?' उसे अपने प्रश्नका उत्तर न देते देख व्रजांगनाएँ यह कहती हुई आगे बढ़ जाती हैं—'सखियो! इसकी वेदना तो श्रीश्यामसुन्दरके आलिंगनसे शान्त है, अतः यह दूसरेकी वेदनाको क्या जाने?'

आगे जाति (चमेली)-की लता मिल गयी। उससे कहती हैं—'तुम स्वभावसरला हो, तुम्हारे मुकुलपर श्रीश्यामसुन्दरने यह नखक्षत किया है, अतएव वह अरुण है।'

आगे वे आम्रके नवकोमल अरुण पल्लवको देखकर कहती हैं—'सहकार! अवश्य हमारे प्राणधनने अपने नखोंसे तुम्हारा लुंचन किया है, तभी तो दुग्धके

रूपमें ये तुम्हारे आनन्दाश्रु बह रहे हैं। उनका पता देकर जरा हमें भी अपने आनन्दमें सम्मिलित करो।'

गोपांगनाओंका मनमोहनके स्वरूपका वर्णन करके वृक्षोंसे प्रश्न करना

बाहुं प्रियांस उपधाय गृहीतपद्मो
रामानुजस्तुलसिकालिकुलैर्मदान्धैः।
अन्वीयमान इव वस्तरवः प्रणामं
किं वाभिनन्दति चरन् प्रणयावलोकैः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३०। १२)

व्रजांगनाओंका यहाँ बहुतोंसे प्रश्न है—'हे वृक्षो! क्या इस ओर मोहन पधारे हैं, तुमने उन्हें देखा है?' वे किस रूपमें इधर आये होंगे, इसपर कहती हैं—'अपना एक बाहु प्रियाके स्कन्धमें उपधान (तकिया)-के समान रखकर दूसरेमें कमलका पुष्प लिये इधर आये हैं अर्थात् वामांगमें श्रीवृषभानुनन्दिनी हैं, अतः वाम बाहुको उनके स्कन्धपर स्थापित किया है और दक्षिण हस्तमें नीलकमल ग्रहण कर रखा है। अपने कम्बुकण्ठमें उन्होंने तुलसीकी माला पहन रखी है। उसके मधुलोभसे मदान्ध भ्रमरवृन्द उन्हें घेरे हुए हैं। उनको हटानेके लिये ही उन्होंने हाथमें कमल ले रखा है अथवा तुलसीकी माला श्रीवृषभानुनन्दिनीने धारण कर रखी है, उसके पीछे भ्रमर दौड़े आ रहे हैं, उनको हटानेके लिये ही मानो श्रीनन्दनन्दनने कमल ग्रहण किया है। इस रूपमें वे इधर पधारे हैं। हे वृक्षो! क्या अपनी झुकी शाखाओंसे किये गये आपके प्रणामका अपने प्रेमावलोकनसे उन्होंने अभिनन्दन किया है?' व्रजांगनाएँ मानो देख रही हैं—वृक्ष अपने फूल, फल, पल्लवोंसे भूमिका स्पर्श कर रहे हैं—

अहो अमी देववरामरार्चितं
पादाम्बुजं ते सुमनःफलार्हणम्।
नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मन-
स्तमोऽपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। ५)

यह देखकर व्रजांगनाओंने कहा—'ये इसी अपने फूल-फलादिके उपहारको लेकर पल्लवों, उपशाखाओंसे श्रीकृष्ण परमात्माका अभिनन्दन कर रहे हैं, उनके पादरजको लेनेके लिये झुककर भूमिका स्पर्श कर रहे हैं।' व्रजांगनाएँ सोचती हैं—'ये प्रणाम कर रहे हैं। यदि प्रभुने इनका अभिनन्दन किया होता तो ये उठते, पर ये उठ नहीं रहे हैं, अपनी शाखाओंसे वैसे ही झुके हुए हैं, अतः मालूम होता है कि वे मुरलीमनोहर यहीं कहीं हैं। वे इनका जबतक अभिनन्दन नहीं करेंगे, तबतक ये ऐसे ही रहेंगे।' व्रजांगनाएँ कहती हैं—'परंतु हे तरुओ! क्या वे तुम्हारा अभिनन्दन कर रहे हैं? **'किं वाभिनन्दति'** बात यह है कि उन्हें तुम्हारे प्रणामके उत्तर देनेका—कृपा करनेका अवकाश ही नहीं; क्योंकि वे कान्ताके संगमें पड़े हैं, उनकी तुम-सरीखे साधुओंपर दृष्टि ही कहाँ? वे तो कुन्दमालाके गन्धमें रमे हैं।'

यदि वृक्ष कहें कि 'नहीं, इस ओर तो वे सदा आते हैं और हमारा अभिनन्दन करते हैं, फिर तुम ऐसा प्रश्न क्यों करती हो?' इसपर व्रजांगनाएँ कहती हैं—'तुम तो साधु हो, भोले हो और वे रामानुज हैं—(**'रामस्य वारुणीपानमत्तस्य अनुजः'**) वारुणीका पान करके मतवाले रहनेवाले बलरामके छोटे भाई हैं। उनके साथी भी मत्त ही हैं—वे हैं तुलसीके मकरन्दपानसे मत्त हुए भौंरे। जो मत्तोंके अनुज हैं और जिनके साथीतक मत्त हैं, वे तुम-जैसे साधुओंके प्रणामका उत्तर दें, यह असम्भव है। फिर वे सम्भोगशृंगारवशात्, शैथिल्यात् प्रियाके स्कन्धपर हाथ धरकर, मुख-से-मुख मिलाकर चलते हैं, इसमें विघ्न पहुँचानेवाले भ्रमरोंको नीलकमलसे हटाकर वे प्रियाकी सेवामें लगे हैं। वृक्षो! तुम्हारा उन्हें ध्यान भी कहाँ?' इसपर मानो वृक्षोंने कहा—'नहीं, नहीं, गोपांगनाओ! बात ऐसी नहीं है, तुम भ्रममें पड़ी हो, वे अपनी प्रियाको हमारी शोभा दिखानेके लिये ही इधर पधारे हैं।' वृक्षोंके इस अनुकूल तर्कपर वे कहती हैं—'तुम जड हो, उनकी बातको समझ नहीं सकते, उनके इधर आनेका कारण हमसे सुनो, वे तो मदान्ध तुलसिकालिकुल (तुलसीपर मँडरानेवाले भौंरोंके झुण्ड)-से उद्विग्न हुई श्रीप्रियाजीके सान्त्वनार्थ नीलकमलसे उन्हें उड़ाते हुए इधर आये हैं। उन्होंने यह सोचा है कि ये भौंरे इन वृक्षोंमें भटक जायँगे अथवा इनके फूलोंमें रम जायँगे और प्रियाजीको

न सतायेंगे, इसलिये इधर पधारे हैं। अस्तु, हे तरुवरो! जाने दो इस विवादको। इससे यह तो निर्विवाद सिद्ध हो गया कि आपने श्रीश्यामसुन्दरको यहाँ देखा है, वे प्रियाजीके साथ विहार करते इधर पधारे हैं तो हमपर इतनी कृपा करो, बतलाओ, अब वे कहाँ हैं?'

कुछ महानुभावोंका कहना है कि वे यह समझती हैं कि ये वृक्ष श्रीराधा-कृष्णसे लालित-पालित हैं। वे स्वयं अपने हाथसे इनका लालन करते हैं, इससे ये रोमांचवान् हैं और ये अन्तरंग भी हैं। गोपांगनाओंको इनसे श्रीश्यामा-श्यामके दर्शनोंकी सम्भावना है, अत: पूछती हैं—'क्या आपके प्रणामका अभिनन्दन करते हुए श्रीश्यामाश्याम इस ओरसे निकले हैं?'

श्रीव्रजदेवियोंने पहले एक-एक वृक्ष, लता, पशु, पक्षियोंसे श्रीश्यामसुन्दरकी स्थिति पूछी। अन्तमें उन्होंने समस्त तरुओंसे एक साथ पूछा। वे तरु सुमनफलभारसे विनम्र हो रहे थे, भूमिका स्पर्श कर रहे थे, उनकी शाखा-उपशाखाएँ झुकी हुई थीं। तरुओंकी उस मुद्रासे गोपांगनाओंने निश्चय किया कि वे श्रीनन्दनन्दनको उपहारसहित प्रणाम कर रहे हैं। साथ ही उनके मनमें इस कल्पनाने भी स्थान पाया कि श्रीमोहन यहीं हैं, कहीं गये नहीं; क्योंकि ये तरुवर प्रणामार्थ अभी झुके ही हुए हैं और श्रीप्रभुने अभी इनके प्रणामका उत्तर नहीं दिया, इनका अभी अभिनन्दन नहीं किया, अतएव ये झुके ही हैं। व्रजदेवियाँ इस स्थितिमें उनसे प्रश्न करती हैं—

बाहुं प्रियांस उपधाय गृहीतपद्मो
रामानुजस्तुलसिकालिकुलैर्मदान्धैः।
अन्वीयमान इह वस्तरवः प्रणामं
किं वाभिनन्दति चरन् प्रणयावलोकैः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३०। १२)

'हे तरुओ! वे श्रीबलरामके भैया, जिन्होंने एक हाथमें कमल धारण कर रखा है और दूसरा हाथ अपनी प्रियाके कन्धेपर रखा है तथा तुलसीकी सुगन्धिके लोभसे कितने ही मदान्ध भौंरे जिनका पीछा कर रहे हैं, क्या प्रेमपूर्वक तुम्हारी ओर देखकर उन्होंने तुम्हारे प्रणामका अभिनन्दन किया? क्या तुम्हारे फल-पुष्पके उपहारकी ओर दृष्टि भी डाली? हम तो समझती हैं नहीं, क्योंकि उन्हें अपनी प्रियाकी ललित गतिके अवलोकनसे ही अवकाश कहाँ?' (इसीके पोषणार्थ श्रीकृष्णका साक्षात् नाम न लेकर व्रजांगनाओंने '**रामानुजः**' नामसे यहाँ उनका संकेत किया है) 'तरुओ! वारुणीपान करके प्रमत्त रहनेवाले दाऊजीके ये छोटे भाई हैं, वे वारुणीपानसे मत्त हैं तो ये श्रीवृषभानुनन्दिनीकी रूप-लावण्यवारुणीका पान करके प्रमत्त हैं। तरुओ! इनके पीछे जो ये मतवाले भौंरे भागे आ रहे हैं, इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि इनके साथी भी इन्हींकी तरह प्रमत्त हैं। ऐसी दशामें तुम्हारे-जैसे साधुओंका अभिनन्दन करनेके लिये उन्हें अवकाश कहाँ? इसके अतिरिक्त वे अपनी प्राणेश्वरीके कन्धेपर अपना वाम बाहु स्थापितकर अर्थात् उसे ही उपधान बनाकर दक्षिण हस्तगत नील कमलसे उन भौंरोंको हटा रहे हैं, जो श्रीराधामुखाम्भोज-माधुर्यके महालोभसे चारों ओर मँडरा रहे हैं। इस प्रकार वे अपनी प्राणेश्वरीकी सेवामें तत्पर हैं। उन्हें तुम्हारे प्रणामको देखनेका अवकाश ही नहीं है।' जैसे 'एणपत्नी' के प्रति परमप्रेष्ठ सखीकी उक्ति थी, उसी तरह यह भी उक्ति है।

नित्यनिकुंजेश्वरी श्रीजीकी प्रेष्ठ सखियों और श्रुतिरूपा आदि सखियोंका भी इसमें ग्रहण है। ऐसी परिस्थितिमें वहाँ श्रीयुगलकिशोर ही अकेले नहीं हैं, किंतु ये सब दर्शन हुआ है। अतएव पूछती हैं—'हे तरुओ! तुम्हारे इस सोपहार प्रणामको, जो तुम इतनी देरसे कर रहे हो, क्या उन्होंने देखा और उसका अभिनन्दन किया? तरु यदि यह कहें कि 'सखियो! क्यों न वे हमारे प्रणामका अभिनन्दन करेंगे?' तो इसपर व्रजांगनाओंका कहना है कि 'इसीलिये कि वे अपनी श्रीप्राणेश्वरीकी सेवामें संलग्न हैं।'

यहाँ 'तुलसिका' पद वृन्दादेवीका बोधक है और 'आली' से उनकी सखियोंका ग्रहण है। इसके अतिरिक्त नित्यनिकुंजेश्वरी श्रीजीकी प्रेष्ठ सखियों और श्रुतिरूपा आदि सखियोंका भी इसमें ग्रहण है। ऐसी परिस्थितिमें वहाँ श्रीयुगलकिशोर ही अकेले नहीं

हैं, अपितु ये सब सखियाँ भी सेवामें उपस्थित हैं। फिर भी स्वयं श्रीलालजी ही श्रीजीकी भ्रमर-निवारणादि सेवामें रत हैं. ऐसा क्यों? इसका कारण यह है कि अलिकुलसहित वृन्दादेवी आदि श्रीप्रियाप्रियतमके प्रेमोन्मादमें स्वयं उन्मदान्ध हैं। जैसे प्रिया-प्रियतम परस्परके अपूर्व अनुरागरससिन्धुमें मग्न हैं, वैसे ही इनकी इस मधुर स्थितिके अवलोकनसे सखी-समूहसहित श्रीतुलसी आदि भी प्रिया-प्रियतमके अनुरागरससिन्धुमें निमग्न हैं। गोपांगनाएँ पूछती हैं—'तरुओ! क्या इसी अवसरपर आपलोगोंको भी उनके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हुआ है और उस प्रेममग्न अवस्थामें ही क्या आपलोग भी निस्तब्ध खड़े हैं?'

इस '**बाहुं प्रियांस**' पर कई महानुभावोंके कुछ और भी भाव हैं। उनके भावानुसार प्रिया-प्रियतमकी यह सुरतान्त स्थिति है। '**प्रियांसे**' यह सामीप्यमें सप्तमी है। श्रीलालजी अत्यन्त सुकुमारी श्रीप्राणेश्वरीके शैथिल्यको सँभालनेके लिये अपने बाहुसे उनके बाहु-अंसको सहारा देते हुए चल रहे हैं तथा श्रीजीके मुखाम्भोजमधुलोभी भ्रमरोंको, जो उनके समीप मँडरा रहे हैं, अपने दक्षिणहस्तगत नील कमलसे हटा रहे हैं।

'**रामानुजः**' में '**रामानुगः**' की अनुसारिणी व्युत्पत्ति करके एक भाव यह भी है कि '**रामा-मनुगच्छति रमयति या सा रामा श्रीवृषभानु-नन्दिनी।**' रामा अन्य गोपी भी हैं, पर श्रुतिमुनिरूपा आदि स्वयं श्रीमदनमोहनमें रमण करती हैं। अतएव '**आत्मारामोऽप्यरीरमत्**' कहा गया है। यहाँ प्रेरणामें '**णिच्**' प्रत्यय है। 'स्वयं रमण किया' यह इसका अर्थ नहीं, अपितु 'रमण कराया' यह अर्थ है। इसी तरह प्राणसखी, प्रेष्ठसखी, नित्यसखी आदि भी श्रीकृष्णमें तो रमण नहीं करतीं, पर युगलमूर्तिमें रमण करती हैं। इन सखियोंमें उत्तरोत्तर तत्सुख-सुखित्वका ही भाव होता है, इनकी रमणवस्तु केवल प्रिया-प्रियतमका मिलन है। परंतु श्रीकृष्ण परमात्माको रमण करानेवाली तो वही 'रामा' हैं। इन्हींके साथ रमण करनेकी उत्कण्ठामें उन '**अमनाः**' ने '**मनश्चक्रे**'—मनका निर्माण किया।

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। १)

श्रीरासपंचाध्यायीके इस प्रथम पद्यमें '**योगमाया**' का अर्थ 'श्रीवृषभानुनन्दिनी' है। '**योगाय इतरासां संयोगाय माया यस्याः सा योगमाया**' यह योगमाया पदका विग्रह है। इस प्रकार श्रीकृष्ण परमात्माका सम्बन्ध अन्योंको प्राप्त करानेकी जिनके मनमें इच्छा हुई, वह योगमाया श्रीवृषभानुनन्दिनी हैं। यह उन समस्त सखियोंकी युग-युगान्तरोंकी तपस्याका, आराधनाका फल था, जिससे सन्तुष्ट होकर योगमाया श्रीवृषभानुजाके 'उप'=सामीप्यमें 'आश्रित' होकर भगवान्ने 'मन' बनाया—'**रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः।**' यहाँ '**चक्रे**' इस क्रियामें आत्मनेपद है, जिसका फल आत्मगामी होता है। दूसरी ओर '**अरीरमत्**' में परस्मैपद है, जिसका फल परगामी होता है। इससे यही ध्वनित हुआ कि श्रीकृष्ण परमात्माको रमण करानेवाली श्रीरासेश्वरी राधा हैं और इसी अपने रमणके लिये भगवान्ने 'मन' बनाया तथा इन्हीं श्रीजीकी प्रेरणासे अन्योंको उनके आनन्दके लिये रमण कराया। श्रीकृष्ण परमात्माके प्रति जैसा-जैसा उत्कृष्ट भाव व्रजांगनाओंका देखा गया है, वैसा-ही-वैसा या उससे भी अधिक श्रीजीके प्रति भगवान्का है। जैसे व्रजांगनाओंको श्रीश्यामसुन्दरके वियोगमें एक-एक क्षण कल्पके समान प्रतीत होते थे, '**त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्**' वही श्रीवृषभानु-नन्दिनीके बिना श्रीव्रजेन्द्रनन्दनका भी हाल था। व्रजांगनाएँ जब श्रीनन्दनन्दनको निहारने लगतीं, तब उनकी पलकें बलात् गिर जातीं और वे '**उच्चै-र्निरीक्ष्यमाणानां पक्ष्मनिर्माता विधाता जडः**'—नेत्रोंपर पलकोंका निर्माण करनेवाले ब्रह्मा अज्ञ प्रतीत होते हैं, उन्हें इस रसका पता ही नहीं—इत्यादि रूपमें ब्रह्माजीको भरपेट कोसतीं।

अटति यद् भवानह्नि काननं त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ३१। १५)

श्रीश्यामसुन्दर भी सखियोंमें बैठकर सदा यही

उपालम्भ (शिकायत) करते। जब रसिकशेखर-चूड़ामणि व्रजेन्द्रनन्दन श्रीजीका दर्शन करने लगते, सौगन्ध्यके लिये लालायित होते, तब अलकावली आँखोंके सामने आ जाती या और कोई विघ्न उपस्थित हो जाता, उस समय अपनी प्रियतमाकी रूपमाधुरीके पान, सौरूप्य, सौरभ्य आदिके सुमधुर अनुभवकालमें ऐसे प्रतिरोध उन्हें बहुत खलते। सभी व्रजसखियाँ जैसी-जैसी भावना, लालसा श्रीराधाकृष्णके मिलित या पृथक् स्वरूपमें करतीं, वे सब श्रीनन्दनन्दनको श्रीवृषभानुजाके प्रति होतीं। अतएव सखियोंकी तरह सेवा करनेकी लालसासे वे अपनी प्रियतमाकी सेवामें निरत हैं, अपनेको रमण करानेवाली, रामाओंको रमण करानेवाली 'रामा' श्रीव्रजेन्द्रनन्दिनीको बाहुके सहारेसे सँभालते हुए वे उनके पीछे चल रहे हैं।

'**गृहीतपद्मः**' से यहाँ यह भाव ध्वनित होता है कि सुरतश्रमशिथिला श्रीव्रजेश्वरीके चन्द्रमाको लजानेवाले निष्कलंक मुखचन्द्रपर श्रीश्यामसुन्दर अपना हृदयकमल वारते हैं, निर्मांछन करते हैं—न्योछावर करते हैं, जैसे कोई प्राणोंकी, तन-मनकी बलिहारी करता हो। इसी भावको जतानेके लिये मानो श्रीश्यामसुन्दरके हाथमें कमल है।

भ्रमर 'तुलसिकालिकुलमदान्ध' क्यों हैं? स्पष्ट है कि श्रीयुगलकिशोरके अंग-अंगसे समुद्भूत परिमल ही इसका कारण है। इस पदमें '**आली**' और '**अली**'—**सखी** और **भ्रमर**—दोनोंका श्लेष है। तुलसिकाके भ्रमर पहले तो उसके सौरभमें मस्त थे, पर श्रीजीका आमोद पाकर अब वे उनके पीछे लग गये, तुलसीको छोड़ दिया। श्रीश्यामसुन्दरकी वनमालाका सौगन्ध्य पाकर भी वे उसे छोड़ आये। इस तरह वे 'अन्वीयमान' हैं—पीछेसे आये हैं और प्रिया-प्रियतमके पीछे-पीछे घूम रहे हैं। श्लेषसे ये भौंरे 'आलिकुल' ही हैं। बात यह है कि तुलसी जंगलमें है, भौंरे भी वहीं होने चाहिये। इससे यह स्पष्ट हुआ कि भौंरोंकी तरह सखियाँ श्रीयुगलसरकारके पीछे-पीछे घूम रही हैं।

परमप्रेष्ठ सखीके इसपर कुछ और भाव हैं, वह कहती है—'तरुओ! ये प्यारे श्यामसुन्दर एक अद्भुत घन हैं। भेद इतना ही है कि वे घन जलकी वर्षा करते हैं और ये प्यारे घनश्याम रसकी वर्षा करते हैं। वे श्यामघन दामिनीपरिवेष्टित होकर जलरूप जीवनकी वर्षाद्वारा तरु आदिको आप्यायित करते हैं और ये प्यारे घनश्याम अनन्तानन्त दीप्तिमती दामिनीको भी लज्जित करनेवाली प्रभासंवलितांगी श्रीप्रियतमाके श्रीअंगसे परिवेष्टित होकर अद्भुत, सरस शृंगारकी वर्षा करते हैं। अनेक सौरभमय पुष्पोंकी वनमाला ही उनका इन्द्रधनुष है। इन वस्तुओंसे युक्त पूर्णानुराग-रससारवर्षी प्यारे घनश्याम तुम्हारा आप्यायन करते हुए क्या इधर आये हैं? तरुओ! सच-सच बतलाओ, प्रणयावलोकनसे तुम्हारा अभिनन्दन करते हुए क्या वे इधर पधारे हैं?

सभी व्रजांगनाएँ इस प्रकार श्रीवृन्दावनचन्द्रको ढूँढ़नेमें व्यग्र हैं। इनमें जो कान्तभाववती हैं, वे पहलेसे ही कुछ ईर्ष्यासे प्रश्न करती हैं और अन्यान्योंमें ईर्ष्याका उदय तब हुआ जब उन्हें प्राणेश्वरीके सामीप्यका अनुमान पुष्ट हुआ, पर इनका भी जीवन श्रीयुगलसरकारके दर्शन ही है।

जब तरुओंसे पता नहीं मिला, तब व्रजांगनाओंने कुछ उड़ रहे और कुछ भूमिस्थ चकोरोंको देखकर कल्पना की कि श्रीश्यामाश्याम अवश्य यहीं होंगे; क्योंकि ये चकोर उनके पादांगुली-दलस्थ नखमणि-चन्द्रकी ज्योत्स्नाका पान करनेके लिये यहाँ मँडरा रहे हैं। चलो पूछें, परंतु जब उनसे भी पता नहीं मिला, तब वे वहीं उड़ रहे भ्रमरोंसे पूछने लगीं। उन्होंने सोचा कि वृन्दावनके विविध पुष्पोंमें व्यासक्त न होकर जो ये यहाँ अन्तरिक्षमें उड़ रहे हैं, उसके सन्तर्पक सौगन्ध्यको पाकर ये अन्य पुष्पोंको भूल गये हैं। उसी अष्टगन्धको हरनेके लिये यह गन्धवाह (वायु) भी चल रहा है, चलो इन्हींसे पूछें।

इसके बाद ही व्रजांगनाओंको कोकिल देख पड़ी। वे उसीसे अपने प्राणधनका पता पूछने लगीं। पूछते हुए उन्हें उसमें पुँस्कोकिलकी भावना हो आयी। फिर तो ये उसे खरी-खोटी सुनाने लगीं—'सखियो! पुरुष निष्करुण होते हैं। यह भी श्रीश्याम-सुन्दरहीकी तरह है। जैसे काले कृष्ण कामिनियोंको दुःख देते हैं, वैसे ही अपने कलकूजनसे यह भी दुःख

देता है। अपने वर्ण, व्यवहार सब तरहसे यह उनके समान है, उनका सखा है।' इतनेहीमें व्रजांगनाओंकी दृष्टि चकवीपर पड़ जाती है और वे बड़ी आशासे उसीसे पूछने लगती हैं—'सखि चक्रवाकि! तुम विरहव्यथाको जानती हो; क्योंकि तुम स्वयं विरहिणी होती हो, विरहवेदनाका तुम्हें परिचय है, सारसकी स्त्री लक्ष्मणाको नहीं। सखि! हम आतुर हैं, हमें प्यारे मोहनसे मिला दो।'

लताओंसे श्यामसुन्दरके विषयमें पूछना

इस प्रकार पक्षी, तरु, लता आदिसे पूछती हुई निराश होकर जब वे सामनेकी ओर देख रही थीं, तब सहसा उनकी दृष्टि एक लतापर गयी, जो एक मनोहर तरुका आलिंगन किये खड़ी थी। उसे देखकर गोपांगनाओंको उससे पूछनेका उत्साह हुआ, 'सखियो! इस लतासे पूछो'—

पृच्छतेमा लता बाहूनप्याश्लिष्टा वनस्पतेः।
नूनं तत्करजस्पृष्टा बिभ्रत्युत्पुलकान्यहो॥*

(श्रीमद्भा० १०।३०।१३)

'**वनस्पतेर्बाहुना आश्लिष्टा अपि तत्करजस्पृष्टा अहो उत्पुलकानि बिभ्रति**'। अहो, वनस्पतिके बाहुसे आलिंगित होकर भी श्रीश्यामसुन्दरके नखस्पर्शको प्राप्त करके यह अभी भी उत्पुलकित हो रही हैं, यह आश्चर्य ही है।' वृन्दावनमें ऐसी लताएँ बहुत हैं। इधर तो यह कि वृन्दावनधाम सच्चिदानन्दस्वरूप ही है, यहाँ जितने पशु, पक्षी, तरु, लता हैं, सब श्रीजीके श्रीअंगकी शोभावस्तु हैं, नित्यविहारकी ये वस्तुएँ रूपान्तरसे कही गयी हैं। वस्तुतः यहाँके सभी पदार्थ श्रीप्रिया-प्रियतमके विहारकी वस्तु हैं। यहाँका श्यामल तरुण तमाल श्रीश्यामसुन्दरका ही रूपान्तर है, उसके साथ आलिंगन करके स्थित जो सुवर्णवर्णा लता है, वह श्रीरासेश्वरीका ही रूपान्तर है। जैसे श्रीवृष-भानुजालिंगित श्रीव्रजेन्द्रनन्दन हैं, वैसे ही यह लतालिंगित तरुण तमाल है। ये ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो मूर्तिधारी शृंगार ही खड़ा हो। यहाँ महाभावरूपा श्रीरासेश्वरी ही सुवर्णवर्णा लता हैं। ये सब तरु-लता प्रिया-प्रियतमके ही भावका अवलोकन कराते हैं। 'द्रुमिल' वनमें तो तरु-लताओंका यह भाव अत्यन्त स्पष्ट है। इनके देखनेसे श्रीराधा-माधवका स्वरूप झलक जाता है।

श्रीराधा-माधव परस्परमें तो अत्यन्त अभिन्न होते हुए भी भिन्नसे प्रतीत होते हैं। जैसे प्रेमके सरोवरमें उत्पन्न हुए कमलके एक नालमें दो फूल लगें, उनमें एक श्याम और दूसरा गौर हो। यही भाव 'एक प्राण दो देह' आदि पदोंसे व्यक्त होता है। उनके अन्तःकरण, मन एक हैं, केवल देह दो हैं। उन दोमें भी सदा यही उत्कण्ठा रहती है कि ऐसे हम दोनों एक-दूसरेमें मिलकर एक हो जायँ। प्रेष्ठसखीके सामने श्रीव्रजेन्द्रनन्दनने कई बार अपनी इस लालसाको प्रकट किया है। अंजन, मृगमद, माला बनकर भी ऐक्य प्राप्तिकी लालसा उन्होंने प्रकट की है। यह उनकी साधना पूरी भी हुई है—'**दोऊ मिलि एकै भये श्रीराधावल्लभलाल**।' किसीने पंजाबमें एक मन्दिर बनवाकर उसमें अकेले श्रीकृष्णकी मूर्ति स्थापित की। प्रश्न उठा कि श्रीराधाकी मूर्ति क्यों नहीं स्थापित हुई? गौरतेजके बिना श्यामतेजकी उपासना, अर्चना करनेवाला तो पातकी माना गया है। परंतु प्राचीन मन्दिरोंमें जहाँ एक विग्रह है, वहाँ एकमें दूसरेका अन्तर्भाव है, वह दो मिलकर एक हैं। श्रीकृष्णकी कुछ स्वयम्भू मूर्तियोंके प्रति भी भावुकोंके ऐसे ही भाव हैं। प्राकृतमें भी माना गया है—'**आलिङ्गितायां पुनरायताक्ष्यामाशास्महे विग्रहयोरभेदम्**।' प्राकृतमें तो यह भावनामात्र है; क्योंकि वहाँ सत्यसंकल्पता नहीं। यहाँ तो ईश्वरका संकल्प है, भावनाके साथ वैसा होता जाता है। यहाँ निमेषमात्रके व्यवधानमें व्याकुलता होती है। यहाँ दोनोंको समान—एक ही जैसे—आलिंगनादिकी उत्कण्ठा होती है। यहाँकी भावना फलपर्यवसायिनी होती है।

देदीप्यमान सुवर्णवर्णा मंजूषा नीलमणिमंजूषामें प्रतिबिम्बित होनेसे जैसे एक विलक्षण चमक उत्पन्न हो अथवा गौरवर्णकी शीशीमें जैसे श्यामवर्णकी शीशीकी चमक पड़े और श्यामवर्णकी शीशीमें जैसे

* अरी सखी! इन लताओंसे पूछो। ये अपने पति वृक्षोंको भुजपाशमें बाँधकर आलिंगन किये हुए हैं, इससे क्या हुआ? इनके शरीरमें जो पुलक है, रोमांच है वह तो भगवान्‌के नखोंके स्पर्शसे ही है। अहो! इनका कैसा सौभाग्य है!

गौरवर्णकी चमक पड़े, उसी प्रकार श्रीश्यामसुन्दरमें गौरवर्णा श्रीराधाकी और श्रीराधामें श्यामवर्ण श्रीश्यामसुन्दरकी परस्पर श्यामता और गौरता प्रतिबिम्बित होती रहती है। यदि श्यामसुन्दरकी श्यामता देखनी हो तो वह उनमें नहीं, अपितु श्रीराधामें दीख पड़ेगी और वैसे ही सुवर्णवर्णा श्रीराधाकी गौरता उनमें नहीं, अपितु श्रीश्यामसुन्दरमें मिलेगी। इन भावोंको ऊँची भावनाके लोग ही परख सकते हैं। प्रसंगमें इतना ही कहना है कि ऐसे ही भावोंके अभिव्यंजनार्थ ये लतामिलित तरु हैं।

व्रजांगनाओंके सामने लतामिलिततरुद्योत्य ऐसे अनेक भाव उपस्थित हुए। उन्होंने देखा कि कई लताएँ तरुको आलिंगित किये हैं, उनमें कुछ विकसित कुसुम, कुड्मल लगे हैं। तब गोपांगनाओंको भी उनसे पूछनेका मन हो आया—'**पृच्छतेमा लताः।**' परंतु व्रजांगनाओंने क्या यह नहीं सोचा कि जब औरोंने नहीं बतलाया, तब ये रसपरिरम्भमग्ना हमें श्रीश्यामसुन्दरको कैसे बतायेंगी? यह बात सही है, उन्होंने यह अवश्य सोचा, पर यह भी उनके मनमें विचार आया कि यद्यपि ये लताएँ अपने प्राणनाथसे समाश्लिष्ट हैं तथापि श्रीश्यामसुन्दरके नखसे भी संस्पृष्ट हैं—'**नूनं तत्करजस्पृष्टाः**', जिसके फलस्वरूप पुलकावलिस्थानीयसे कुसुम अभी भी विकसित हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि यह इनकी कुसुम-पुलकावली अरुणिमा साम्प्रतिक वनस्पतिपरिरम्भोत्थ नहीं, अपितु पूर्वतन तत्करजस्पृष्टतासे ही है। इसके साथ ही प्रस्फुटित प्रसून व्याजसे उन्होंने अपने हर्षविकसित हृदयको ही धारण किया है। '**पृच्छतेमा**' पद्यमें '**अपि**' पद इसीलिये है। यह ऊँचा भाव है। कोई नायिका नायकके अंकमें विराजमान हो, बाहुपाशसे आबद्ध हो, उस समय भी श्रीश्यामसुन्दरके संस्मरणसे रोमांचित हो, यह प्रगाढ़ प्रेमकी ही महिमा कही जा सकती है अथवा पूर्णतम पुरुषोत्तम आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र व्रजेन्द्रनन्दनके ही लोकोत्तर सम्पर्कका यह फल हो सकता है। '**देव्यो विमानगतयः स्मरनुन्नसारा भ्रश्यत्प्रसूनकबरा मुमुहुर्विनीव्यः॥**' (श्रीमद्भा० १०। २१। १२) जब श्रीश्यामसुन्दर मदनमोहनकी वेणु बजी, इन्द्र, वरुण आदि सभी देवगण अपनी पत्नियोंके साथ विमानोंमें बैठकर वहाँ आये थे। उस समय इन्द्राणी, देवांगनाएँ अपने-अपने पतियोंके अंकमें विराजमान थीं, फिर भी—'**मुमुहुर्विनीव्यः॥**' मनोभाववेगसे उनकी मानसी गतिमें चंचलता आ गयी, सिरका केशपाश खुल गया, उसमें लगे फूल बिखर गये, नीवी शिथिल हो गयी। अपने-अपने कान्तोंसे वियुक्त-अवस्थामें श्रीश्यामसुन्दरके त्रैलोक्यमनोहर वेणुनिनादसे कदाचित् उनकी यह दशा सम्भव थी, पर कान्तांकमें विराजमान रहकर भी ऐसी विह्वलता, विकलता उन्हें हुई कि वे सब कुछ भूल गयीं। जो गति उनकी हुई, वही इन लताओंकी भी हुई है। फिर ये तो '**नूनं तत्करजस्पृष्टाः**' हैं, अतः गोपांगना सोचती हैं—इनसे अवश्य पूछना चाहिये '**पृच्छतेमा लताः।**'

व्रजवधूटियोंको यह निश्चय हो गया कि इन लताओंको अवश्य ही प्राणप्यारे श्रीवृन्दाविपिनविहारीका पता ज्ञात है तथा इनकी यह हर्षोत्फुल्लता है। इसी धारणाके अनुसार वहाँ उपस्थित प्रत्येक लतासे अपने प्राणधनको पूछती हैं, उनके प्रत्येक पुष्पसे और पत्रसे पूछती हैं, लतालिंगित वृक्षोंसे भी पूछती हैं। एक अन्य भावकी सखी तरुवरसे कहती है—'आपका जीवन सफल है, आप सफलतरु हैं, आप इस लोकोत्तर फल-फूल-भारको ग्रहण करके सम्पत्तिशाली होकर भी विनम्र हैं, आपके पल्लव, स्तबक भूमितललग्न हैं। आपसे बढ़कर सफलजन्मा जगत्में दूसरा कौन होगा! सर्वदा परोपकारमें रत हैं; तरुश्रेष्ठ! आप धन्य हैं। आपने हमारे मोहनको फल-फूलकी सम्पत्ति भेंटकर, झुककर प्रणाम किया, पर क्या उन्होंने आपके प्रणामका अभिनन्दन किया—'**किं वाऽभिनन्दति?**' यहाँ एक यह विकल्प है कि उन्हें तुम्हारी ओर आँख उठाकर देखनेका अवकाश ही नहीं, अतः उन्होंने तुम्हारा अभिनन्दन नहीं किया। दूसरा यह कि वे प्रणतवत्सल हैं, जो उनके प्रति विनम्र होता है, वे उसका अवश्य अभिनन्दन करते हैं, अतः अवश्य ही कोमल और सत्स्वभाववश उन्होंने तुम्हारा अभिनन्दन किया है। इसपर कदाचित् वृक्ष यह कहें कि 'सखि, तुम ऐसी बात कैसे कहती हो; क्योंकि तुमने अपना

तन, मन सर्वस्व उनपर वार दिया, फिर भी वे तुमसे अन्तर्हित हैं? तुम वन-वनमें भटक रही हो, बिलख रही हो, पर वे तुम्हें तनिक-सा आश्वासनतक नहीं देते। क्या यही उनकी कोमलता, सत्स्वभावता है?' इसके उत्तरमें व्रजांगना कहती हैं—'वह सब तो हमारे दोषोंका फल है, हम गर्वीली हुईं, हमने मान किया, इसीसे दु:ख पा रही हैं।'

श्रीकृष्णने अवश्य ही वृक्षोंका अभिनन्दन किया, इसकी पुष्टिमें एक भाव और है—श्रीश्यामसुन्दरने गलेमें तुलसीकी माला पहनी है, हाथमें नीलकमल लिया है। इससे वे यह व्यक्त करते हैं कि हम तो वन्य वस्तुओंसे—अचेतनोंसे भी अनुराग करते हैं, यदि कोई चेतन सावधान प्राणी हमसे अनुराग करेगा तो हम उससे अवश्य ही अनुराग करेंगे। **'गृहीतपद्मः'**, **'तुलसिकालिकुलैः'** आदि पद इसके द्योतक हैं। अत: प्रणत वृक्षोंका उन्होंने अवश्य ही अभिनन्दन किया। इस प्रसंगमें एक बात और भी है—श्रीश्यामसुन्दरके हस्तारविन्द, पादारविन्द प्राकृत अरविन्दोंको अपनी सुकोमलतासे लजानेवाले हैं, परंतु अपने हस्तकमलसे लज्जित भी नीलकमलको उन्होंने धारण किया है। एतावता श्रीप्रभुके यहाँ यह शर्त नहीं है कि गुणवान्‌को ही—अच्छी चीजको ही—वे ग्रहण करते हैं। नहीं, ये निर्गुण वस्तुको भी स्वीकार कर लेते हैं। कमल-ग्रहणसे यह भी सूचित हुआ। अत: अवश्य ही उन्होंने वृक्षोंका अभिनन्दन किया है। इस तरह अभिनन्दन पक्षका समर्थन करती हुई व्रजांगना कहती है—'तरुओ! इतना ही नहीं, प्राणप्यारे श्रीश्यामसुन्दरने तो तुम्हारे स्वरूपका भी अनुकरण किया है। तुम श्याम हो, वे भी श्याम हैं, तुम सुवर्ण-यूथिरूपा लतासे आवेष्टित हो, वे सुवर्णवर्णा लतारूप श्रीवृषभानुनन्दिनीसे वेष्टित हैं। यों वे अभिनव-लतावेष्टित तरुण तमाल ही हैं। वृक्षो! तुम उन्हें अत्यन्त प्रिय हो, तभी तो उन्होंने तुम्हारा अनुकरण किया। अतएव तुम्हारे प्रणामका उन्होंने अवश्य अभिनन्दन किया है।' **'बाहुं प्रियांस उपधाय'** (श्रीमद्भा० १०।३०।१२)-से भी यह स्पष्ट है कि उसी वाम बाहुको प्रियाके स्कन्धका उपधान बनाकर वे तुम्हारा ही अनुकरण कर रहे हैं। तुलसीकी माला भी इसीलिये धारण की है, यद्यपि उसपर मत्त मिलिन्द मँडरा रहे हैं, मार्गमें विघ्न-बाधा उपस्थित कर रहे हैं तथापि तुम्हारे प्रति अनुराग-प्रदर्शनार्थ उसे धारण कर रखा है। अत: अवश्य अभिनन्दन किया है। वृक्ष कदाचित् पूछ बैठें कि अरी व्रजांगनाओ, तुम क्यों कोरी कल्पनासे अभिनन्दनका समर्थन कर रही हो? यदि उन्होंने अभिनन्दन किया होता तो क्या तुम उसे न सुनतीं? इसपर व्रजांगनाका कहना है—'नहीं, क्योंकि वह शब्दोंसे नहीं किया गया। अपितु अनुरागभरे नयनोंसे ही किया गया, अत: समीपवर्ती ही उसे जान सके, हम नहीं।'

अब विकल्पके अभाव-पक्षपर दूसरी व्रजांगनाकी वकालत सुनिये। वह कहती है—'अवश्य ही वृक्षो, प्यारे श्यामसुन्दरने तुम्हारे प्रणामका अभिनन्दन नहीं किया, यदि किया होता तो तुम इतने खिन्न न होते, हमारे प्रश्नोंका उत्तर देते, पर तुम बोल ही नहीं रहे हो, इसीसे स्पष्ट है कि उन्होंने तुम्हारे प्रणामका उत्तर नहीं दिया। कारण स्पष्ट है, वे अपनी प्राणेश्वरीके कण्ठमें वामहस्तको विन्यस्त करके **'गृहीतपद्मः'** हैं। **'गृहीतपद्मः'** में मध्यमपद 'मुख' का लोप हो गया है, विग्रह वाक्यमें वह **'गृहीतमुखपद्मः'** ऐसा है, जिसका अर्थ है—दक्षिण हस्तकमलसे कपोल स्पर्श किये हैं। तात्पर्य यह कि ये प्रेममें, श्रीप्रियाकी सेवामें इतने तल्लीन हैं कि उन्हें पता ही नहीं कि उन्हें कोई प्रणाम कर रहा है। फिर ये **'रामानुजः'** हैं, हलमूसलधारीके भाई हैं, कठोर किसीका भी अभिनन्दन नहीं करते अथवा **'रामानुजः'** माने **'रामानुगः'** रामाके पीछे लगे हैं। वैसी स्थितिमें कौन तुम्हारा अभिनन्दन करेगा? हैं तो वे सर्वज्ञ-शिरोमणि, इसमें सन्देह नहीं, पर श्रीरासेश्वरीके अंगसंगसे प्रमत्त हैं—**'तद् यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्।'** (बृहदारण्यक० ४।३।२१) जैसे अति प्रेयसीके परिष्वंगसे प्रेमामृतसमुद्रमें निमग्न होकर प्राणी सब कुछ भूल जाता है, वैसे ही प्राणाधिका श्रीराधिकाके सम्पर्कमें रसिकशेखर श्रीश्यामसुन्दरकी स्थिति हो रही है। फिर उनको कोई

याद दिलानेवाला होता तो भी बात बन जाती, पर वहाँ तो सभी उन्मत्त हैं। 'तुलसिका' को ही लो, वह स्वयं '**अलिकुलैर्मदान्धैरन्वीयमाना**' है। तुलसी स्वयं ही सकलमाला-मानमर्दिनी होनेसे अतिप्रमत्त, फिर उसके अनुरागी भ्रमर तो और भी उन्मदान्ध। ऐसी स्थितिमें याद कौन दिलाये कि महाराज, ये वृक्ष आपको प्रणाम कर रहे हैं, इनका अभिनन्दन कीजिये। तुलसिका, भ्रमर, कमल, प्रियाजी और स्वयं सभी तो एक-से-एक बढ़कर हैं। वहाँ मतवालोंका जमघट है। अतः वृक्षोंके प्रणामका उन्होंने अभिनन्दन किया ही नहीं।'

व्रज-तरुणियोंने यह कैसे कल्पना की कि यों वे त्रिभुवन-मनोहर श्रीश्यामसुन्दर तुलसी आदिकी माला पहने हैं, कमल लिये हैं और प्रियाजीके साथ हैं? इसपर एक समाधान तो यह है कि व्रजदेवियोंको अन्तरंग-लीलाका सदा साक्षात्कार होता है। दूसरे, उन्होंने मार्गमें प्रिया-प्रियतमके चरणचिह्न पहचाने। उनमें श्रीश्यामसुन्दरके चरणमें ध्वज, अंकुश, वज्र आदिके चिह्न हैं, उनके वामांगमें श्रीप्रियाजीके चरणचिह्न भी हैं। इन्हींके आधारपर गोपांगनाओंकी कल्पना है। फिर श्रीप्रियाजीके अंसपर श्रीप्रियतमकी वामभुजा विराज रही है, यह कल्पना कैसे? तो श्रीप्रियाजीके चरण भूमिमें आधे गड़े हैं, ये भारसे ही गड़े हो सकते हैं। भ्रमरोंके अस्तित्वकी कल्पनाका मूल यह है कि श्रीप्रिया-प्रियतमकी गतिके समय उनके पादविन्यास आगे-पीछे हुए दीखे हैं। कहीं श्रीवृषभानुजाके पादारविन्द आगे दीख पड़े हैं तो कहीं पीछे। ऐसे ही श्रीनन्दनन्दनके, जिसका आशय यह है कि भ्रमरोंके सताये जानेके कारण श्रीजीके पादविन्यासमें यह अन्तर है। एक बात और भी। जहाँ-जहाँ युगल-सरकारके चरणचिह्न पड़े हैं, वहाँ-वहाँ मधुकर-मुख-निर्गत परागबिन्दु पड़े हैं। अतएव भ्रमरोंसे अन्वीयमानताकी कल्पना है। विशेष बात यह है कि व्रजांगनाएँ श्रीभगवान्‌के मुख, हस्त, पाद आदि प्रत्येक अंगके पृथक् सौगन्धसे सुपरिचित हैं। वे यह जानती हैं कि यह दक्षिण हस्तका सौरभ्य है और यह वाम हस्तका। ऐसे ही श्रीजीके भी अंगसौगन्ध्यका भेद उनकी कुशल नासिकासे छिपा नहीं। लोकमें भी कोमल-प्रकृतिके पुरुषोंको गन्धादिका ऐसा सूक्ष्म ज्ञान होता है। कहते हैं—लखनऊके एक नवाबका रामनगरमें स्वागत हुआ। उनकी कोमलता, विलासिता प्रसिद्ध थी। परीक्षाके लिये लोगोंने उनके चलनेके मार्गमें बिछी नयी खसमें एक जगह थोड़ी-सी पुरानी खस मिला दी, उन्हें इसका तुरंत पता लग गया। फिर भगवल्लीला तो अलौकिक है। वे '**अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्**' (कठ० १।३।१५) ही लोक-कल्याणार्थ अवतरित हुए हैं। उनके लीलापात्रोंमें उक्त विशेषताका होना स्वाभाविक है। हाँ तो उन व्रजांगनाओंको युगलसरकारके समस्त सौगन्ध्योंका अनुभव था। तभी तो यह हस्तका, यह कमलका और वह मिलित सौगन्ध्य है, ऐसी उनकी कल्पना हुई। इसी विशेषताके कारण उन्हें यहाँतक ज्ञान हुआ कि श्रीप्रियाजीके मुखारविन्दकी ओर आ रहे मिलिन्दोंको श्रीप्रियतमने अपने करस्थ कमलसे हटाया। श्रीवृषभानुजाके वाम गलेमें श्रीनन्दनन्दन हस्त न्यस्त किये हुए हैं, व्रजदेवियोंकी यह कल्पना इस बातका प्रमाण है कि वे पूर्णरूपसे मिलित तत्त्वकी उपासिका थीं। इसी प्रकार तुलसीके सौगन्ध्य तथा भ्रमरोन्नत तद्गन्धकी वे पारखी थीं। अतएव '**बाहुं प्रियांस उपधाय**' आदि व्रजदेवियोंकी कल्पना सकारण और सत्य थी। इसी बलपर गोपांगनाएँ कल्पना कर रही हैं कि इन वृक्षोंके प्रणामका अभिनन्दन हुआ या नहीं।

एक और भाव। गोपीजनके मनमें यह बात उठी कि ये वृक्ष अपने मनमें कदाचित् ऐसा सोच रहे होंगे कि 'हमें दिखानेके लिये ही वे प्रियाजीके साथ इधर आये हैं, पर उनके (गोपांगनाओंके) विचारानुसार बात ऐसी नहीं, ये तो यह निश्चय कर रही हैं कि वे लीलारसिक श्रीश्यामसुन्दर निज-निह्नुत (गोपन) लीलामें ऐसा कर रहे हैं, पर वे भ्रमर-झंकृतिसे डरे कि कहीं गोपांगनाओंको ज्ञात न हो जाय, वे कहीं सुन न लें, अतः उन्हें हटाते हैं। उनके हटानेके लिये ही उन्होंने नीलकमल धारण किया है, अतएव वे महा-अरण्यमें भी आये हैं कि गोपांगनाओंको मालूम न हो तथा ये भौंरे महा-अरण्यस्थ विविध दूसरे कुसुमोंमें आसक्त हो जायँ एवं हमारा अनुसरण छोड़

दें। भोले या जड़ वृक्ष उनकी इस चतुराईको क्या जानें, उसे तो हम समझती हैं। अतएव वे प्रियाके कन्धेपर हाथ रखकर इस ओर निकल आये, उन्हें किसीके प्रणाम और अभिनन्दनसे प्रयोजन ही क्या— '**बाहुं प्रियांस**… ?' यह एक और ढंगसे वृक्षोंके निरभिनन्दन पक्षका समर्थन हुआ।'

जब व्रज-बालाएँ अपनेमें दोष और श्रीश्याम-सुन्दरमें गुणानुसन्धान करती हैं, तब सोचती हैं कि श्रीश्यामसुन्दरने अवश्य वृक्षोंका अभिनन्दन किया होगा; क्योंकि वे बड़े सरल, उदार और कृपालु हैं। तभी तो यह उन्मदान्ध तुलसिकालिकुल भी उनका अनुसरण कर रहा है। तब तो हम मानवतियोंको भी क्यों न ऐसा करना चाहिये? परंतु दोष-दृष्टिके आते ही व्रजांगनाओंका विचार तुरंत बदल जाता है। वे सोचती हैं—तुलसीका क्या, वह तो मदान्धोंसे अन्वीयमान है, कोई इज्जतदार उसका कैसे अनुगमन कर सकता है?

यदि गोपांगनाओंसे कहें कि तुम इतनी विह्वल क्यों हो रही हो, इन भ्रमरोंके पीछे-पीछे चली जाओ, तुम्हें तुम्हारे प्राणाधार मिल जायँगे—तो गोपांगनाओंका इसपर उत्तर होगा—हम ऐसा कभी न करेंगी; क्योंकि ये भौंरे तो हमारी सौत तुलसीके पक्षपाती हैं, प्रमुख हैं, इनसे हमें कभी अपने कार्यमें सफलता न मिलेगी, भला मतवालोंका अनुसरण करके किसने श्रीश्यामसुन्दरको प्राप्त किया है?

गोपी जब तरुओंको स्तब्ध देखती हैं तो कहती हैं—'ये श्रीमनमोहनसे अभिनन्दित नहीं हुए, इसलिये अथवा पुरुष हैं—कठोर हैं, इसलिये हमें इनसे कोई आशा न रखनी चाहिये। अत: चलो, सखियो, इन लताओंसे पूछेंगी।'

विशेष भाव यह है कि यहाँ भी मधुर-विहारका वर्णन है। सुरतान्तश्रमशिथिल दोनों श्रीप्रिया-प्रियतम निकुंजान्तरकी ओर जा रहे हैं। गलबाँही किये श्रीयुगल-सरकार एक-दूसरेको निहारते हुए मन्दगतिसे पादन्यास कर रहे हैं। निर्मल-निष्कलंक अनन्तानन्त-तारापति-पाथोधि-निर्मन्थन-समुद्भूत श्रीश्यामसुन्दरके मुखचन्द्रको, जिसपर कोटि-कोटि चन्द्र न्योछावर हो रहे हैं और जो मकराकार कुण्डलोंसे देदीप्यमान हो रहा है, श्रीप्रियाजी अतृप्त नेत्रोंसे निहार रही हैं। यही दशा श्रीव्रजकिशोरकी है। फिर प्रथम मिलनमें सम्पन्न दन्तक्षत, नेत्रांजन आदिको मन्दस्मितपूर्वक देखते हुए नित्य निकुंजमें पधारते हैं। इस रहस्यको जाननेवाली वे लता श्रीलाड़िली-लालके इस मधुर मिलनका संकेत प्रेष्ठ सखीको दे रही हैं। वे लता अन्तश्चेतन, किंतु बाह्य जड़ हैं। श्रीयुगलमूर्तिके मुखमण्डल इतने प्रभापुंजपूर्ण हैं, ऐसे देदीप्यमान हैं कि बड़ों-बड़ोंके नेत्र वहाँ नहीं ठहर पाते। इन्हीं सबका संकेत लताओंने प्रेष्ठ सखीको किया। अतएव व्रजांगना आपसमें मन्त्रणा करती हैं—सखियो, इन लताओंसे पूछो—

पृच्छतेमा लता बाहूनप्याश्लिष्टा वनस्पतेः।
नूनं तत्करजस्पृष्टा बिभ्रत्युत्पुलकान्यहो॥

(श्रीमद्भा० १०। ३०। १३)

ये सुवर्ण-यूथिका लताएँ अपने मुकुलित पुष्पविकाससे श्रीराधा-कृष्णके मधुर मिलनका अनुभव और हमें संकेत कर रही हैं। इसीसे ये '**नूनं तत्करजस्पृष्टाः**' हैं और तभी इनमें मधुधारा आदि दीख पड़ रही हैं। केवल श्रीव्रजाधिपने ही नहीं, अपितु श्रीव्रजेश्वरीने भी, दोनोंहीने अपने वेश-विशेषकी रचनाके लिये इनसे पुष्प लिये हैं। तभी तो अपने पति तरुओंसे श्लिष्ट होकर भी ये विशेष पुलकित हैं। यह प्राकृत पतिके मिलनकी पुलकावली नहीं। यह मधुधारा, अश्रुधारा आदि तो उस परब्रह्म पूर्णतम-पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्दके संस्पर्शसे ही सम्भव है। उसी सम्मिलनका यह सुवर्ण-यूथिका लता हमें संकेत कर रही हैं, आओ सखियो, उन्हींसे पूछें।

श्रीव्रजदेवियाँ प्राणप्यारे श्यामसुन्दरको ढूँढ़तीं, विभिन्न तरुओंसे पूछतीं, अन्तमें कहती हैं—'इन लताओंसे पूछो, ये अपने पति वनस्पतियोंका आलिंगन किये रहनेपर भी पुलकित हो रही हैं। इनमें यह उत्पुलकितता प्रिय श्रीश्यामसुन्दरके दर्शनसे ही उत्पन्न है।' यह महानुभाव है। सर्वरसोपमर्दी श्रीकृष्ण हैं, नहीं तो रसान्तराविष्टमें रसान्तरावेश नहीं बनता। कोई भी प्राकृत कामिनी अपने कान्तके परिरम्भमें स्थित रहकर ही रसान्तरका अनुभव नहीं कर सकती। उस

समय उसमें रसान्तरका आवेश असम्भव है। यदि किसी दूसरे रसका आवेश हो सकता है तो केवल श्रीकृष्णरसका ही। यह दिव्यातिदिव्य विशुद्ध रस है। अतएव अन्यत्र कहा गया है—विभिन्न लोक-रसों (रागों)-में विरसता अति कठिनतासे होती है। उत्कृष्ट वैराग्य यदि कोई है तो यही श्रीकृष्णरस है। यह कोटिशः प्रयत्न करनेपर भी मिलता नहीं। संसारके राग शब्द, स्पर्श आदि ऐसे हैं, जो छूटते ही नहीं। परंतु उनके बीच यदि यह श्रीकृष्ण-राग समाविष्ट हो जाय तो सब छूट जाते हैं। गोस्वामीजीका वचन है—*'रमा बिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥'* (रा०च०मा० २।३२४।८) यह विश्वविलास, साम्राज्य आदि सब रमाविलास है, इसमें सच्ची विरसता-वैराग्य होना कठिन है। पर इसमें कहीं श्रीकृष्णरस समाविष्ट हो जाय तो वे समस्त लोकरस (राग) तुरंत फीके पड़ जायँ। यही सच्चा वैराग्य है।

श्रीरासपंचाध्यायीके पठन, श्रवण एवं मननका फल—हृद्रोग—कामका सर्वथा विनाश

रासपंचाध्यायीके श्रवण, पठन, मननका यही फल है कि जगरस विरस हो जायँ। यह परमहंसोंकी संहिता है। इसे अन्य श्रोता भी श्रद्धासे सुने तो उसे परमहंसोंकी ही तरह जगसे विराग हो जाय। इसके अन्तमें फलश्रुति है—

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥

(श्रीमद्भा० १०।३३।४०)

जो इस रासलीलाको श्रद्धासे सुनते हैं, पढ़ते हैं, कणभर भी यदि इसका रस उन्हें मिल गया तो उनका हृद्रोग—काम, जो सबसे अधिक पापी है, अवश्य मिट जायगा। भगवल्लीलानुसन्धानमें यही महाबाधक है, जरा-सा भी काम होनेसे यहाँ काम न चलेगा। सिंहिनीके दूधकी तरह बिगड़ जायगा। इस कामका नाश इसके सुननेसे होता है, पर श्रोताको धीर होना चाहिये। फिर तो कामबाधानिवृत्तिकी पराकाष्ठा हो जायगी। देखो, ये लताएँ अपने पतियोंके अंकमें हैं, फिर भी श्रीश्यामसुन्दरके नखस्पर्शसे इनका हृदयकमल खिल रहा है, आनन्दाश्रु रुक नहीं रहे हैं। इस दशामें भी यह प्रेम है। किसी योगीसे कोई सुन्दरी लिपटी हो, उस समय भी यदि वह श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द पूर्णतम पुरुषोत्तमकी लीलाका, उनके चन्द्रशत-तिरस्कारी मुखचन्द्रका ध्यान कर रहा है तो वह सुन्दरी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकती। जैसे बड़े-बड़े जापक हों परंतु कामिनी-दर्शन, ध्यानसे उनका चित्त विकल हो जायगा, किंतु श्रीश्याममूर्तिकी वह परम रमणीय आभा जब हृदयमन्दिरमें विराज जायगी, अनुभवमें आ जायगी तो वे कामिनीकी गोदमें रहकर भी निर्विकार ही रहेंगे। यही भाव लताओंके सम्बन्धमें है। वे चाहे पति—वनस्पतियोंसे लिपटी हैं, पर उनके मनमें तो वह श्रीमोहनमूर्ति बसी है। यही व्रजदेवियोंका आशय है, इसीलिये उनसे पूछती हैं—**'पृच्छतेमा लता।'** स्त्रीमें काम शतगुणित है, पर देखो, इन लताओंको कामोद्रेक नहीं। ये पति-अंकमें रहकर भी श्रीश्यामसुन्दरके नखस्पर्शसे उत्पन्न आनन्दका अनुभव कर रही हैं, यह इनका प्रफुल्ल भाव ही इसका पोषण कर रहा है। ये ऊँची कृष्णप्रणयिनी हैं। इनसे पूछो, ये बतायेंगी—**'पृच्छतेमा लता···।'**

श्रीश्यामरसका आस्वादन होते ही अन्य रस नीरस हो जाते हैं

इससे स्पष्ट है कि यह श्रीकृष्णरस सर्वरसोपमर्दी है। सब रस सड़ जाते हैं—नीरस हो जाते हैं, परंतु यह सदा नवनवायमान, उत्तरोत्तर वृद्ध्यभिमुख रहता है। तभी तो श्रीव्रजदेवियोंके लिये अथवा वैसे भावुक जनके लिये—जब वे श्रीश्यामरसका आस्वादन करने लगते हैं, उनके लिये समस्त विषय-रस नीरस हो जाते हैं। यही श्रीकृष्णरसोपासकोंकी कसौटी है। सूर्यके सामने चन्द्रादि फीके पड़ जाते हैं। अतएव उनका ऊपरका जीवन सर्वदा रूखा, बनावटी मण्डनसे दूर होता है। वे उन रूखे-सूखे टुकड़ोंसे भी उदरज्वाला शान्त कर देते हैं, जिन्हें शायद कुत्ते भी न खायें। ये फटे चिथड़ों, मृत्पात्रोंसे ही जीवन-निर्वाह

कर लेते हैं; क्योंकि सर्वरसोपमर्दी श्रीराधाकृष्णके दिव्य दर्शन, रसपानसे वे सर्वदा छके रहते हैं। ब्रह्मास्वादपरायण योगीन्द्र-मुनीन्द्रोंकी भी यही स्थिति होती है। वे लटे तन, फटे कपड़े रखते हुए भी परमैश्वर्यसम्पन्न सम्राट्दुर्लभ प्रसन्नतामें मग्न रहते हैं। श्रीराधाकृष्ण-तत्त्वकी ब्रह्मतामें यह भी एक प्रमाण है। जिसके कारण उनको वह ऊँची प्रसन्नता है, वह तत्त्व श्रीराधाकृष्ण ही है। ऐसे पुरुषोंको बाहरके दु:खोंकी, सुखोंकी कुछ परवाह ही नहीं होती। ये लता उसी स्थितिमें हैं, लौकिक पति—वनस्पतियोंके अंकमें रहकर भी उनको उसका कोई लौकिक सौख्य या उसके अभावमें दु:ख नहीं है, वे तो श्रीश्यामसुन्दरके करस्पर्शानन्द-समुद्रमें मग्न हैं। अत: उन्हींसे पूछती हैं—'**पृच्छतेमा लता**⋯।'

श्रीयुगलबिहारीकी प्रेष्ठसखीरूपा व्रजांगनाओंको तो उन लताओंका दर्शन करके ही आश्वासन और एक प्रसन्नता मिली। कारण, वे जानती हैं कि वे लता विशुद्ध सख्यभाववती हैं। यही समझकर उन्होंने उनसे प्रश्न भी किया। इन व्रजांगनाओंके मनमें लताओंकी उस स्थितिसे यह भाव उत्पन्न हुआ कि 'सुवर्णयूथिका लताएँ श्रीयुगलबिहारीकी लीलासे प्रेरित होकर उस भावको हमें इंगित करनेके लिये ही मानो तरुण तमालके साथ समालिंगित हुई हैं। अतएव '**तत्करजस्पृष्टा:**' ('**तयो: करजै: स्पृष्टा**') हैं। दोनोंने एक-दूसरेका शृंगार करनेके लिये अर्थात् श्रीवृषभानुकिशोरीने प्यारे श्रीश्यामसुन्दरके अपने-जैसे स्त्रीवेशकी रचनाके लिये और श्रीनन्दसूनुने श्रीगौरसुन्दरीके अपने जैसे पुरुष वेशकी रचनाके लिये लताओंसे सुमन-स्तवक और सुमनोंका चयन किया है। उन्हींके संस्पर्शसे इनमें यह पुलकभाव है।' इन सखियोंकी स्थिति बहुत ऊँची है, ये श्रीयुगलबिहारीकी उपासना सख्यभावसे करती हैं। जो सुख इन परमप्रेष्ठ सखियोंको प्राप्त है, उसके लिये श्रीबिहारीलाल भी लालायित रहते हैं। वे जानते हैं कि हम दोनोंके समुदित आह्लाद—आनन्दका यथावत् अनुभव इन्हींको होता है अर्थात् श्रीश्यामसुन्दरको केवल श्रीगौरसुन्दरीके और उन्हें केवल श्रीश्यामसुन्दरके प्रणय-सौख्यका अनुभव होता है, परंतु ये सखियाँ दोनोंके विभिन्न और समुदित लोकोत्तर स्नेहसौख्यको प्राप्त करती हैं।

लता पतिस्थानीय वनस्पतियोंसे समाश्लिष्ट रहकर भी श्रीश्यामसुन्दरके मुखदर्शनसे मुग्ध हैं, उनपर फूल बिखेरती हैं। लताओंकी कौन कहे, देवांगनाएँ जो सौन्दर्यकी सीमा गिनी जाती हैं, अपने परम विदग्ध पतिदेवोंके अंकमें विराजमान होकर भी गँवारे ग्वालबालोंसे शृंगारित श्रीनन्दनन्दनके मयूरचन्द्रिकाचित, वन्य कुसुमकल्पित कुण्डलाद्यलंकृत आननपर सकृद्दर्शनसे ही सदाके लिये बलिहार हो जाती हैं, उनकी नीवी शिथिल पड़ जाती हैं, अकस्मात् उत्पन्न रोमांचकी तीव्रतासे उनके केशपाश विशीर्ण हो जाते हैं और उनमें ग्रथित शत-शत कुसुमगुच्छ युगपत् विकीर्ण हो जाते हैं।

दूसरी ओर श्रीवृषभानुनन्दिनीका वह सौन्दर्य-माधुर्य है, जिसकी कमनीयता, लोकोत्तरतापर पूर्णतम पुरुषोत्तम परब्रह्म श्रीकृष्णभगवान्ने अपनेको न्योछावर कर दिया। साधारण व्रजरमणी लक्ष्मी हैं, गोपीजन लक्ष्मीतम हैं। अतिशयमें तमप् है। उनकी भी सिरमौर श्रीचन्द्रावली हैं, ये अनन्तानन्त गोपीयूथकी प्रभु हैं। श्रीश्यामसुन्दरका अभिसार दो ही स्थानपर होता था—या तो श्रीवृषभानुनन्दिनीके यहाँ या चन्द्रावलीके यहाँ। उन श्रीचन्द्रावलीके दिव्यप्रासादमें श्रीकृष्ण एक बार पधारे। रसरीतिके अनुसार परिरम्भबद्ध होकर वे श्रीचन्द्रावलीके अंकमें विराज रहे थे। पर श्रीवृषभानु-नन्दिनीका अनुस्मरण होते ही श्रीचन्द्रावलीके सौन्दर्य, लावण्य, प्रणयपाश उन्हें भूल गये, श्रीराधोद्देश्यक कम्प, हर्ष, रोमांचादि होने लगा और वे 'श्रीराधे श्रीराधे' बरबस कहने लग पड़े। यह इनकी वही स्थिति हुई जो देवांगनाओंकी अपने पतिदेवोंके अंकमें स्थित रहते भी श्रीकृष्णदर्शनसे हुई थी। वे श्रीचन्द्रावलीकी गोदमें श्रीराधाके लिये विह्वल हो गये; जो माधुर्यामृतसिन्धुकी लहर श्रीराधांकमें विराजमान होकर उठती थी, उसके लिये वे लालायित हो गये।

यस्या: कदापि वसनाञ्चलखेलनोत्थ-
धन्यातिधन्यपवनेन कृतार्थमानी।

योगीन्द्रदुर्गमगतिर्मधुसूदनोऽपि
तस्यै नमोऽस्तु वृषभानुभुवोदिशेऽपि॥

अर्थात् श्रीवृषभानुनन्दिनीके वसनांचल खेलसे समुत्पन्न, अतएव अपनेको परमधन्य समझनेवाला वायु भी जब कभी श्रीनन्दनन्दनके स्पर्शका विषय होता है तो वे उतनेमात्रसे भी अपनेको परम कृतार्थ मानते हैं, यह स्थिति उन मधुसूदनभगवान्‌की है, जिनकी प्राप्तिके लिये बड़े-बड़े योगीन्द्र-मुनीन्द्र तरसते रहते हैं। वह तो दिशा भी वन्दनीय है, जहाँ श्रीवृषभानुभूपतनयाका चरण-संचार होता है।

तात्पर्य यह है कि उन श्रीवृषभानुनन्दिनीके संग परम उमंगमें श्रीश्यामसुन्दर इधरसे निकले हैं, इन लताओंने उन्हें देखा है, श्रीराधाकृष्णका सम्मिलन इनके सामने हुआ है, इसीसे ये रोमांचित हो रही हैं, ये उनकी परम अन्तरंगा हैं, इन्हींसे पूछो—

पृच्छतेमा लता बाहूनप्याश्लिष्टा वनस्पतेः।
नूनं तत्करजस्पृष्टा बिभ्रत्युत्पुलकान्यहो॥
इत्युन्मत्तवचोगोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः।
लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः॥

(श्रीमद्भा० १०।३०।१३-१४)

यों पागलोंकी तरह गोपबालाएँ पूछती फिरती हैं—कारण्डव, भ्रमर, लता, तुलसी, वृक्षोंसे। यह प्रेमकी परिस्थिति है। जो वस्तुतः व्यग्र हैं, उन्हें किसीसे भी पूछनेमें संकोच नहीं। '**तस्यै नमोऽस्तु वृषभानुभुवोदिशेऽपि॥**' फिर उधरसे बयार (वायु) भी आये तो उसे प्रणाम क्यों नहीं? वह तो बरसानेका बयार है, बड़ा प्रिय है। यों उन्मत्त हैं, किसीसे भी बोलने लगती हैं, कुछ भी बोलने लगती हैं। '**उन्मत्तवचः**' का यह भी अर्थ है कि '**उत्कृष्टानाम्=योगीन्द्रमुनीन्द्राणामपि, मोहो यस्माद् वचसः**' अर्थात् जिन व्रजांगनाओंकी बात सुनकर बड़े-बड़े योगियोंको भी भ्रम, मोह उत्पन्न हो जाय, जिनके वचनोंसे वे गोपियाँ अथवा '**उत्कृष्टस्य पूर्णतमपुरुषोत्तमस्य श्रीकृष्णस्य सर्वज्ञस्यापि मोहो यस्माद् वचसः**' अर्थात् श्रीकृष्ण भी जिनकी, गम्भीर, ऊँचे भावकी वाणीको सुनकर विस्मित हो जाते हैं। अहो गोपियो! धन्य है तुम्हारा प्रेम-बन्धन, कितना ऊँचा है तुम्हारा भाव! रात्रिका समय, श्रीश्यामसुन्दरका मुरलीके द्वारा आह्वान! उस समयके आनन्दको पाकर उसे ही अब ये ढूँढ़ती फिरती हैं। इनके वचनोंका स्पष्ट अर्थ तो श्रीकृष्ण परमात्माको ही लगा है। इनके सामने उस सर्वज्ञकी सर्वज्ञता भुला गयी। '**गोप्यः गाः=वाचः भगवद्गुणगानेन पान्तीति गोप्यः**' अपने प्रिया-प्रियतम श्रीराधाकृष्णके गुणगानसे वाणीका पालन-रक्षण करनेवाली ये गोपियाँ हैं। इसके अतिरिक्त अन्य वाणी तो वन्ध्या है—'**....वन्ध्यां गिरं तां बिभृयान्न धीरः॥**' (श्रीमद्भा० ११।११।२०) व्रजांगनाओंने इसका पूर्ण पालन किया। वे श्रीश्यामसुन्दर प्राणधनके अन्वेषणमें व्यग्र हैं, उन्मत्त हैं।

गोपांगनाओंद्वारा श्यामसुन्दरकी मधुर लीलाओंका अनुकरण

गोपियोंने सबसे पूछा, पर किसीने भी उन्हें समुचित उत्तर नहीं दिया, उन्हें पागल जानकर उनकी ठिठोली की। हताश उन्होंने भगवल्लीलाका आश्रय लिया—'**लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः॥**'* वे '**....पूतनासुपयः पानम्....**' (श्रीमद्भा० १२।१२।२८) आदि लीलाओंका अनुकरण करने लगीं। व्रजांगना पहले ही सन्तप्त हैं, फिर भगवल्लीलानुकरणरूप घृतसंयोगसे वाडवाग्निके जैसा उनका विरहानल और भी अधिक उद्दीप्त हुआ होगा। वैसी परिस्थितिमें तो वे जीवित भी कैसे रह सकेंगी? इसलिये कहा है—'**तदात्मिकाः**' ('**स कृष्णः आत्मनि यासां ताः**') अर्थात् श्रीश्यामसुन्दरके वाचक 'कृष्ण' नामके 'क' में, जो सुशीतल अमृतवर्ण है, उनका चित्त आसक्त था, उसीने उनकी रक्षाकर भस्म हो जानेसे बचा लिया।

अथवा '**तदात्मिकाः**' पदसे लीलाका ही परिग्रह

* इत्युन्मत्तवचोगोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः। लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः॥
परीक्षित्! इस प्रकार मतवाली गोपियाँ प्रलाप करती हुई भगवान् श्रीकृष्णको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते कातर हो रही थीं। अब और भी गाढ़ आवेश हो जानेके कारण वे भगवन्मय होकर भगवान्‌की विभिन्न लीलाओंका अनुकरण करने लगीं। (श्रीमद्भा० १०।३०।१४)

है। भगवान्‌की लीलाशक्तिने जब देखा कि अब इन व्रजांगनाओंको इनका यह जीवन भार हो रहा है तो वह स्वयं ही इनकी रक्षाके लिये प्रकट हुए। वैसे श्रीश्यामसुन्दर कहीं बाहर नहीं चले गये थे, वे तो आन्तर-रमणके निमित्त व्रजांगनाओंके अन्तरमें प्रविष्ट हुए थे। जब उन्होंने देखा कि अब ये बाहर मुझे न देखकर अतिसन्तप्त हो रही हैं तो उनके आश्वासनके लिये अपनी लीलाओंको उन्होंने भेजा। 'आनन्द-वृन्दावनचम्पू' में इसपर एक गम्भीर भाव व्यक्त हुआ है। उसका आशय है कि जैसे दीपादिकी ज्योत्स्ना प्रकोष्ठके मध्यमें होनेपर वह बाहर नहीं दीखे, जैसे घनमें विद्युत् होती है, पर उसके मध्यमें होनेसे वह बाहर सदा नहीं दीखे, वैसे ही श्रीश्यामसुन्दरकी स्थिति यहाँ है। एक बात और भी कि यदि ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो कि विद्युत्‌की ज्योत्स्नासे प्रकाशमान गौरवर्ण घनमें श्याम घन छिप जाय, विद्युत्के प्रकाशातिशयसे उसके होनेपर भी वह न दीखे। यदि ऐसी स्थिति कदाचित् बन सके तो श्रीश्यामसुन्दरके अन्तर्हित भावका वर्णन हो सकता है। ऐसे स्थलोंमें 'अभूतोपमा' होती है, जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता (११।१२)-में है—

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥

ऐसा हो तब अन्तर्हितताकी उपमा बने।

कल्पना कीजिये—एक प्रेमानन्द परिपूर्णहित सरोवर है, उसमें सुवर्णवर्णा कमलिनी खिली है, उनमें मिलिन्द छिपा है। इनके मध्यमें एक कमलनाल है, जिसमें सुवर्णवर्णा कमलिनी और श्यामवर्ण कमल दोनों खिले हैं, जैसे अकस्मात् वे तरुण कमल-कमलिनी अन्य सुवर्णवर्णा कमलिनियोंसे हटकर भीतर छिप जायँ, ऐसे ही श्रीराधा-कृष्ण उस समय योगमायासे अन्तर्हित हुए हैं, गोपांगनाओंसे अलग नहीं हुए हैं। जैसे मनोहर अमृतवर्षी घन विद्युत्से अलग न हो, वैसे ही यहाँकी परिस्थिति है। उन व्रजदेवियोंके संवित्में, ज्ञानमें, चित्तमें श्रीकृष्णतत्त्व और श्रीकृष्णतत्त्वमें उनका चित्त, ज्ञान, संवित् सब ओत-प्रोत हैं, दोनों एकमेक हो रहे हैं। इस परिस्थितिमें लीलानुकरण आरम्भ हुआ है—

'लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः॥'

(श्रीमद्भा० १०।३०।१४)

पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते व्रजदेवियाँ बेहाल हो गयीं। तरु, लता, पशु, पक्षी—सभीसे उन्होंने पूछा, पर कहीं भी उनकी पृच्छा पूर्ण नहीं हुई, इससे और भी अधिक व्यग्र हो उठीं। उस समय उनका श्रीकृष्ण-प्रेमोन्माद, श्रीकृष्ण-विरह पूर्ण परिपाक-अवस्थाको प्राप्त हो चुका था। तब उनमें कुछ धैर्य रखनेवाली हितैषिणी व्रजांगनाओंने अपनी सखियोंके साथ अपनेको अति आतुर देखकर सोचा—अब कोई चित्त-सान्त्वनाका और उपाय होना चाहिये, नहीं तो प्रेमकी अन्तिम दशा आ जायगी, हम सबका जीवन ही न रह सकेगा। यह वियोगजन्य तीव्रतापसे अतिसन्तप्तता न जाने क्या करा दे। अतः प्राणधन श्रीश्यामसुन्दरकी मधुर लीलाओंका अनुकरण करना चाहिये। सम्भव है, उनके श्रवण, मनन और दर्शनसे हमलोगोंको कुछ शान्ति मिले अथवा भगवल्लीलाशक्ति ही उनकी विह्वलता देखकर अनुकम्पासे स्वयं प्रकट हुई; क्योंकि लीलाके साथ ही श्रीकृष्ण परमात्मा पहले उनमें अन्तर्हित थे। अतः अन्तर्निविष्ट श्रीकृष्ण परमात्माने ही व्रजदेवियोंकी सान्त्वनाके लिये लीलाओंका प्राकट्य किया अर्थात् गोपांगनाओंको अब स्वलीलामय बनाकर उन्होंने प्रकट किया। अतः उन्मत्तवचना गोपांगनाओंने अब भगवान्‌की उन-उन लीलाओंका अनुकरण आरम्भ किया—

इत्युन्मत्तवचोगोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः।
लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः॥

(श्रीमद्भा० १०।३०।१४)

गोपांगनाओंके इस **'उन्मत्तवचः'** विशेषणसे यह अभिप्राय नहीं है कि जैसे लोकमें पागलोंकी बात या क्रिया उपहास्य और उपेक्षणीय होती है, वैसे इनकी भी ये बातें अथवा प्रस्तुत भगवल्लीलानुकरण उपेक्षणीय हैं। प्रत्युत इनके इस उन्मत्तवचस्त्वपर कोटि-कोटि सावधानोंके वचन न्योछावर कर दिये जाते हैं। ऐसा उन्मत्तवचस्त्व किसी परमसुकृतीको ही मिल सकता है। अतः **'उन्मत्तवचः'** का अर्थ है—

'**उत्कृष्टानां सनकादिशुकादिमुनीनामपि मदः सञ्जायते यासां वचसा ता उन्मत्तवचः**' अर्थात् सनकादि-शुकादि परम वीतराग महामुनियोंको भी जिन व्रजदेवियोंकी बातें सुनकर, तन्मयता देखकर मद—आनन्दविभोरता होती है अथवा इन मुनियोंकी कौन कहे, इनसे भी उत्कृष्ट इनके भी उपास्य साक्षात् श्रीकृष्ण परमात्मा भी जिनके प्रेम-लपेटे अटपटे वचनोंको सुनकर मोदमग्न हो उठते हैं, उन उन्मत्तवचनाओंको धन्य है—'**उत्कृष्टस्य श्रीकृष्णस्य परमात्मनोऽपि उन्मादकरो वचो यासां ता उन्मत्तवचः।**' ऐसी हैं वे उन्मत्तवचना, कोई सामान्य नहीं। उन्होंने लीला आरम्भ की। प्रश्न हो सकता है कि जब वे भगवान्‌की लीलाके स्मरणसे ही इस दशाको पहुँची हैं—परम सन्तप्त हो रही हैं, तब उसीसे उन्हें सान्त्वना कैसे मिल सकती है? क्या लीलानुकरणरूप घृतसे समुद्दीप्त वह विरह-वाडवाग्नि अबकी बार उन्हें भस्म ही न कर देगा? हाँ, यह सम्भव है, परंतु वे तो '**तदात्मिकाः**' ('**तस्मिन् श्रीकृष्णे एवं आत्मा मनो यासां ताः**') हैं। उनका मन शैत्यसुधापाथोधिसदृश श्रीकृष्ण परमात्मामें समासक्त था, अतः भस्म नहीं हुईं, जीवित ही रहीं। बात ठीक भी है—'**को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद् यदेष**….।' (तैत्तिरीय० २।७) कौन उन पूर्णतम पुरुषोत्तम परब्रह्म श्रीकृष्णके बिना जीवित रहता, सत्तावान् होता, यदि उनमें वे विराजमान न होते। अतएव उनके अन्तर्हित होते ही '**अतप्यंस्तमचक्षाणाः**' (श्रीमद्भा० १०।३०।१) आदि गोपदेवियोंकी स्थिति बतलायी गयी है और अब उन्हींके लिये '**लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः**' कहा जा रहा है। भाव यह है कि श्रीकृष्ण ही उनमें विराजमान थे और उनकी लीलाने ही उन्हें लीलानुकरणमें प्रवृत्त किया। लीलानुकरण आरम्भ हुआ—

कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिबत् स्तनम्।
तोकायित्वा रुदत्यन्या पदाहञ्छकटायतीम्॥

(श्रीमद्भा० १०।३०।१५)

किसीने पूतनाके जैसा आचरण किया, कोई गोपी उसके स्तनपानार्थ श्रीबालमुकुन्द बन गयी। पूतनाभाव प्रकृत उज्ज्वल रसके विरुद्ध है, गोपीभावसे इसमें बहुत अन्तर है। पूतना श्रीकृष्ण-जिघांसा (मारनेकी इच्छा)-से आयी थी, उसने अपने स्तनोंमें कालकूटका लेप किया था, वही स्तन उसने यशोदोत्संगलालित श्रीबालमुकुन्दको पिलाया था। इससे भी अवश्य उसकी दिव्यगति हुई, धात्रीके जैसी गति उसने पायी—

अहो बकी यं स्तनकालकूटं
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥

(श्रीमद्भा० ३।२।२३)

परंतु इस पद्यमें '**जिघांसया**' से इस कार्यका अनौचित्य निर्दिष्ट हुआ है, ऐसे ही '**अपि**' से भी अर्थात् जो प्रभु समस्त निरुपाधिक कल्याण-गुणगणोंके आस्पद थे, जिनकी समस्त प्रकारसे अर्हणा उचित थी, जिनके मंगलमय श्रीविग्रहपर अपनेको न्योछावर कर देना चाहिये था, उन्हें विषपान कराया; उनके प्रति जिघांसा प्रकट की, धिक्-धिक्! यह दूसरी बात थी कि इस दुष्कृत्यसे भी पूतनाको धात्र्युचित उत्तमगतिका लाभ हुआ। यह तो श्रीकृष्ण परमात्माके सम्बन्धकी विशेषताका महत्त्व है। उत्तम आश्रय और विषय आदिकी महिमासे अनुचित भी उचित हो जाता है। चोरी बुरी, परंतु श्रीकृष्णकी माखन-चोरी इसका अपवाद है, वह भावुकजनमानसोल्लासिनी है। काम बुरा, पर विषय-महिमासे (कृष्णविषयक होनेसे) कान्तभाववती व्रजांगनाओंके लिये वह अत्युत्तम हो गया। अस्थि-मांसादियुक्त शरीरादि विषयकी अपवित्रतासे काम बुरा, बहुत बुरा, पर श्रीश्यामसुन्दर मदनमोहनके सम्बन्धसे वह भूषण बन जाता है। इसलिये जिघांसा बुरी—जो प्रभु पूजा, प्रेम, भक्ति करनेके योग्य हैं, उनके हननकी चेष्टा करना बुरा, पर उसके श्रीकृष्ण परमात्मविषयक होनेसे वह भी उत्तम हो गया—'….**सदगतिभवाय**….।' परंतु गोपांगनाओंमें यह पूतना-भावना नहीं थी, वे अत्यन्त शुद्ध भाववती थीं, तो उनमें यह पूतनाका भाव कैसे हो गया?

इसका समाधान यही कि यह लीलासाधनार्थ

अनुकरणमात्र था। दूसरे अपने प्रेमीको कष्ट पहुँचानेवाला सभीको बुरा लगता है। पूतनाने श्रीगोपीजनवल्लभ भगवान्‌को मृत्युकष्ट पहुँचानेकी चेष्टा की, अतः गोपियोंको वह सदा खटकती और अपकारकरूपमें सदा उन्हें उसका स्मरण रहता था—'हाय, पूतनाने प्यारे श्यामसुन्दरको विषपान कराया!' प्रेमाभिनिवेशमें अनिष्ट या अपकारककी चिन्ता बनी रहती है। किसीका टोना न लग जाय, इसलिये माता अपने लालके भालमें काजरका ढिठौना लगा देती है। किसीका कोई प्रेमी बाहर जाता है, तो उसे शंका होने लगती है—'किसीने लाठी तो नहीं मार दी, शेर तो नहीं खा गया, कहीं ठोकर तो नहीं लग गयी?' व्रजदेवियोंके सर्वस्व तो श्रीकृष्ण परमात्मा ही थे और श्रीकृष्णको व्रजांगनाओंकी दृष्टिमें पूतनासे सदा भय था। अतः अनिच्छयापि इन्हें पूतनाका स्मरण रहता था। किसी कीड़ेको भौंरा पकड़ लाता है, उसे अपनी गुंजार सुनाता है, वह संरम्भ भय योगसे भौंरा हो जाता है। गोपांगनाओंको अपनेसे भी अधिक प्रिय श्रीश्यामसुन्दर थे। इस नाते उसमेंसे एक '**पूतनायन्ती**' हो गयी। प्रेमीके विघातकका स्मरण और प्रेमातिशयवश प्रेमीके साथ ऐक्यभावापत्तिके कारण प्रेमीके भय-हेतुको अपना भय-हेतु मानकर भयरूपापत्ति आदि विवेक ही, '**पूतनायन्ती**' का कारण बन गया। '**कृष्णायन्ती**' होनेमें तो कुछ भी प्रयास नहीं, पर '**पूतनायन्ती**' होनेमें इतना चक्कर है।

अथवा कोई भी व्रजांगना पूतना नहीं बनी, किंतु श्रीकृष्णविरहसन्तप्त व्रजांगनाओंकी पदे-पदे दृष्ट्वा-दृष्ट्वा रक्षार्थविनियुक्त, सर्वोपद्रवदूरीकारार्थ भगवान्‌की योगमाया उनके पीछे-पीछे घूम रही थी, वही लीलासाद्गुण्यार्थ गोपीभावापन्न होकर पूतना बनी। कहा जा सकता है कि इतना प्रपंच करनेकी अपेक्षा पूतना-लीला ही न की जाती; तो यह ठीक नहीं; क्योंकि भगवदवतारोंमें यह क्रम है कि जब-जब श्रीकृष्णावतार हो, तब-तब '**पूतनासुपयःपानम्**' (श्रीमद्भा० १२।१२।२८) होना ही चाहिये, होता ही है। अतः यहाँ भी यह लीला की ही गयी अथवा एक भाव यह भी है कि वस्तुतः गोपांगनाओंमें ही एक पूतना बन गयी। असली पूतना जिघांसाके अशुद्ध भावको लेकर आयी थी और उदात्त अनुरागवती गोपांगनामें उसकी गन्धतक नहीं थी, वह अशुद्ध भावका अनुसन्धान किये बिना ही लीलानुकरण-साफल्यके लिये पूतना बनी। पीछे आ चुका है—

'गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता
विचिक्युरुन्मत्तकवद् वनाद् वनम्।'

(श्रीमद्भा० १०।३०।४)

व्रजांगनाएँ भगवान्‌को ही गाती हुई अर्थात् उनके चरित्रों, लीलाओंको गाती हुई उन्हें ढूँढ़ रही थीं। गाते-गाते व्रजलीलाका भी गान हुआ, उसमें पूतनाकी कथा भी आयी। वहाँ पूतनाके सौभाग्यकी महिमा उन्होंने गायी—'अहो हमारे प्राणधन व्रजेन्द्रनन्दनने कमलकी पाँखुरीसे भी अधिक सुकोमल, भक्तोंके मानसमन्दिरमें निवास करनेवाले, ब्रह्मादि देवोंसे वन्दित अपने पादोंको वक्षःस्थलपर निक्षेप करके स्तनपान किया, वह धन्य है'—

पद्भ्यां भक्तहृदिस्थाभ्यां वन्द्याभ्यां लोकवन्दितैः।
अङ्गं यस्याः समाक्रम्य भगवानपिबत् स्तनम्॥

(श्रीमद्भा० १०।६।३७)

ये गोपांगनाएँ विरहिणी हैं। ये सोचती हैं—'हमसे तो भाग्यशालिनी पूतना ही थी, जिसके उर-स्थलपर प्राणनाथ श्रीश्यामसुन्दरने विहार किया, कहीं पूतना बननेपर ही प्रभु हमारे उर-स्थलपर विहार करने पधारेंगे तो हम धन्य-धन्य हो जायँगी।' इसीलिये मानो वे पूतना भी बनीं। उन व्रजदेवियोंकी दृष्टिमें तो दूषण वही है, जो प्रियतम प्राणधन श्रीमोहनके सम्मिलनमें बाधक है और भूषण वही है, जो कैसे भी उनसे सम्मिलन करा देनेमें साधक है। चाहे वह तृष्णा आदि ही क्यों न हो। वे गुण भूषण किस कामके, जिनके कारण प्रभुके दर्शनोंसे वंचित रहना पड़े, वियोग-वह्निमें सदा जलते रहना पड़े। ***'अंजन कहा आँखि जेहि फूटै'''' '*** (विनय-पत्रिका १७४) वैराग्य बहुत उत्तम वस्तु है, पर वह कहीं श्रीकृष्ण परमात्माके प्रति हो जाय तो कौड़ी-कामका भी नहीं, वहाँ तो राग-अनुराग होना चाहिये, उनके प्रति विषयोंसे कभी पराङ्मुख न

होनेवाली अविवेकियोंकी जैसी गाढ़ प्रीति होनी चाहिये। वैराग्य गुण है, पर यहाँ दूषण है। यों 'पूतना' कोई अच्छी चीज नहीं, वह तो—'**पूतना लोकबालघ्नी राक्षसी रुधिराशना**…।' (श्रीमद्भा० १०।६।३५) है, कितनी ही दुष्टा है। सुतरां पूतनाभाव चाहकी चीज नहीं। चाहकी चीज तो उन व्रजदेवियोंकी श्रीकृष्णभावना है, जो उन्हें पूतनाभावमें भी दीख पड़ रही है। यदि पूतना बननेसे भी उर:स्थलमें श्रीश्यामसुन्दरका विहार प्राप्त होता है तो वे उसका भी स्वागत करती हैं—'लो, हम पूतना ही बनती हैं, प्राणप्यारे मिलें तो!'

अथवा व्रजांगनाएँ सोचती हैं—'क्या करें, कहाँ जायँ, इसकी अपेक्षा तो हमारे प्राण निकल जाते, वही अच्छा होता। हाय, इस उग्रतापमें भी हमारा मरण नहीं होता। क्यों ये हमारे प्राण अपने प्यारेकी प्रतीक्षामें नहीं निकल रहे हैं? संसारमें मनुष्यकी सर्वोपरि वस्तु प्राण है, पर प्राणधन श्रीश्यामसुन्दर तो इनके भी प्राण हैं—'**श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचꣳ स उ प्राणस्य प्राणः। चक्षुषश्चक्षुः**…।' (केन० १।२) हमें ऐसा लगता है कि ये उन्हीं प्राणोंके भी प्राण श्रीश्यामसुन्दरके मिलनकी व्याकुलतामें हमारी देहसे निकलना भूल गये हैं। फिर उनके बिना कोई रह ही कैसे सकता है'—

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ॥

(कठ० २।२।५)

'तो फिर आओ सखि! पूतना ही बनें, जिससे अपने आश्रित और प्रतीक्षापरायण इन प्राणोंकी ये स्वयं समाप्ति कर दें। सखियो! श्रीश्यामसुन्दरको स्त्रियोंसे प्रेम नहीं है। देखो, जनमते ही उन्होंने पूतनापर हाथ साफ किया। अपने पहले अवतारमें भी उन्होंने 'ताड़का' का नि:संकोच वध किया। फिर अब प्राणप्यारे श्रीमोहनके विप्रयोगमें जीवन रखना तो लोकनिन्दा है। अत: प्राणोंके भी प्राण श्रीश्यामसुन्दरके वियोगजन्य इस तीव्रतापमें प्राणोंका विसर्जन कर देना ही सर्वोत्तम है और इसका सुगम साधन पूतना बनना है। पूतना बनी कि श्रीबालमुकुन्द श्यामसुन्दरने हमारा काम तमाम किया।' यहाँ ऐश्वर्य और माधुर्यभाव साथ-साथ चल रहे हैं, इस जगह ऐश्वर्य माधुर्यसे दब गया है।

व्रजदेवियोंने सोचा कि 'सबसे अधिक आनन्दकी बात तो पूतना बननेमें यह है कि उर:स्थलपर श्रीव्रजेन्द्रनन्दनका विहार प्राप्त होगा और वह भी उन्हींका गान करते हुए; '**गायन्त्य उच्चैरमुमेव।**' तथा च सदाके लिये वियोग-दु:खसे मुक्त हो जायँगी एवं सद्गति तो मुफ्तमें ही मिलेगी। प्रसिद्ध है—विष देनेवाली पूतनाको भी भगवान्ने सद्गति प्रदान की।' सत्यलोकपति ब्रह्माजी, जिन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके भगवत्त्वकी परीक्षाके लिये वत्सापहरण किया और अन्तमें भगवान्की अतुल महिमाको देखकर मुग्ध रह गये तथा व्रजवासियोंके लोकोत्तर सौभाग्य और नि:स्वार्थ श्रीकृष्ण प्रेमको देखकर आश्चर्यचकित रह गये, उनको यह सन्देह हुआ कि जब अघासुर-बकासुर आदि समस्त कुलके साथ भगवान्ने पूतनाको आत्मपद-जैसा ऊँचा पद प्रदान किया, तब इन निरुपम-नि:स्वार्थ-स्नेही व्रजवासियोंको इनसे आनृण्य प्राप्त करनेके लिये वे क्या देंगे? विश्वका कोई और ऊँचा फल इन्हें देनेकी भगवान्ने यदि सोच रखी है तो उनसे निजसे बढ़कर विश्वमें कोई ऊँचा फल नहीं है। पूर्णतम पुरुषोत्तम परब्रह्म जिनके साथ नाचें, गायें, खायें, पीयें, विविध क्रीड़ा करें इससे बढ़कर जगत्में और दूसरा उत्तम फल हो ही क्या सकता है? जिन्होंने अपना तन, मन, धन, देह, नेह, गेह, पुत्र, कलत्र, मित्र सब कुछ भगवान्पर न्योछावर कर दिया और जिन्होंने वैर किया, दोनोंको समान फल कैसे दिया जा सकता है? अत: मेरी समझमें तो भगवान् सदा इनके ऋणी रहेंगे। भगवान् विश्वफलात्मा हैं, पूर्णानन्दसिन्धु हैं, उसके बिन्दुके समान इन्द्रादि लोक सौख्य हैं—'…**एतस्य मात्रामुपजीवन्ति।**' जब स्वयं आनन्दसिन्धु ही जिनके घरोंमें क्रीड़ाकी लहरें ले रहा है, तब वे बिन्दुसे कैसे तृप्त होंगे? सुतरां इन्द्रादि-पद देकर भी प्रभु इनसे अनृण नहीं हो सकते—

एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव रातेति न-
श्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन् मुह्यति।

सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता
यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते ॥*

(श्रीमद्भा० १०।१४।३५)

गोपियोंने समझा कि हम तो श्रीश्यामसुन्दरके दर्शनोंके लिये ही उत्कण्ठित हैं, सो पूतना बननेसे कभी तो सम्भव होगा ही। फिर विप्रयोग भी न होगा। अतः पूतना बनी—'**कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिबत् स्तनम्**।' (श्रीमद्भा० १०।३०।१५)

'**त्वामेव देवापिता**' आदिसे द्योत्य भगवत्सायुज्य आदिकी प्राप्तिपर अन्य लोगोंके कुछ और भी भाव हैं। जैसे कुछ भगवद्भक्त भगवच्चरणारविन्दमें, कुछ भगवन्मुखारविन्द आदिमें लीन होते हैं। यही भेद है। श्रीभगवान्‌का सर्वांग ही फल है। विधि-निषेध साधनमें होता है, फलमें नहीं। सुरापान न करना आदिसे समुत्पन्न फल और अग्निहोत्रादिसे समुत्पन्न स्वर्गादि फलमें कोई अन्तर नहीं। श्रीभगवान् तो भक्ति-उपासनाके फल हैं, उनके पादारविन्द, हस्तारविन्द आदि सब फल हैं। '**आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि**....' ही उनका स्वरूप है। इसको सभी मानते हैं। मिठाईके खिलौनेके हाथ-पाँव सब मिठाई ही होंगे। वैसे ही भगवान्‌का समग्र विग्रह आनन्दमयमात्र है—

सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः ।
अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम् ॥

(श्रीमद्भा० १०।१३।५४)

यह बात श्रीमद्भागवतसे भी सिद्ध है। भगवान् श्रीकृष्णने ब्रह्माजीको अपने जो स्वरूप बतलाये, वे सत्य, ज्ञान, अनन्त, आनन्दमात्र थे। बीचमें असत्य आदिके निवेशनिवारणार्थ 'मात्र' पद है। अतएव '**मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्**—' वेणु-रेणु, गौ-वत्स सब मधुर, निज देहसे लेकर उसके सम्पर्कपर्यन्त सब मधुर-ही-मधुर। यों भगवद्विग्रह फलस्वरूप ही है। कहीं उसकी कुछ साधनता भी है, जैसे—अघासुर-संहार, भक्ताह्वान आदि। ऐसे ही परिरम्भमें पादस्पर्शमें फलता है और चलनमें साधनता। विवेक यह कि लीलामें ही साधनता है, प्राकृत (स्वभाव या स्वरूप)-में नहीं। भगवान् श्रीकृष्णके मुखमें केवल फलात्मता ही है, ऐसे ही उनके दर्शनमें, अधरामृतमें, वंशी-निनादमें, चुम्बनमें सर्वत्र फलात्मता है। अतः '**सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता**' से आत्मदानरूप जो-जो लीनता हुई, वह हुई अवश्य भगवद्विग्रहमें ही, परंतु उनके पादारविन्दमें अथवा श्रीभगवन्मुखारविन्दमें फलात्मताके साथ क्वचित् साधनात्मता भी है, वहाँ देवभोग्या, सर्वभोग्या, भगवद्भोग्या सुधाका निवास है। देवभोग्या सुधा वंशी-छिद्रोंसे निर्गत होकर वृक्ष, लता, मयूरोंको प्राप्त होती है। ये वृक्षादि वृन्दावनके देवता हैं, प्राकृत देवता नहीं, किंतु भगवत्स्वरूपभूत भगवदंशभूत देव हैं। वृन्दावनकी लता-पता, पशु-पक्षी, जड़-जंगम आदि सब श्रीकृष्ण परमात्माके रमणकी सामग्री हैं और ये उनके रमणकी सामग्री तभी बन सकते हैं, जब इनमें उनका प्रवेश हो। श्रीश्यामसुन्दर मदनमोहनका रमण श्रीव्रजेन्द्रनन्दिनीके ही संगमें सम्भव है, सुधाकररूपमें विराजमान हैं, वे ही देवभोग्यारूपमें फैलती हैं, फलतः सब श्रीराधामय हो जाता है, वहीं उनका रमण होता है। अतएव वे श्रीराधारमण हैं। गोपांगनाओंमें उनका रमण नहीं, अपितु जहाँ श्रीराधा वहीं उनका रमण होता है। आत्मारामका रमण आत्माहीमें—अपनेहीमें होता है। यों देवभोग्या सुधामें भी साधनता आयी। जैसे प्रत्येक काष्ठखण्डमें अग्नि है, पर वह अव्यक्त है, व्यक्तका सम्बन्ध हो जानेपर वह (अग्नि) व्यक्त—प्रकट हो सकता है। ऐसे ही '**वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः**।' (श्रीमद्भा० १०।३५।९) अर्थात् वनके लता, तरु अपनेमें भगवान् विष्णुको मानो प्रकट करते हुए, पुष्प-फल भारसे समाच्छन्न थे। आशय यह कि व्यापक होनेसे भगवान् विष्णु तो उनमें पहले भी थे, पर प्रकट नहीं थे, अब प्रकट हो गये। फलतः प्रकट

* देवताओंके भी आराध्यदेव प्रभो! इन व्रजवासियोंको इनकी सेवाके बदलेमें आप क्या फल देंगे? सम्पूर्ण फलोंके फलस्वरूप! आपसे बढ़कर और कोई फल तो है ही नहीं, यह सोचकर मेरा चित्त मोहित हो रहा है। आप उन्हें अपना स्वरूप भी देकर उऋण नहीं हो सकते; क्योंकि आपके स्वरूपको तो उस पूतनाने भी अपने सम्बन्धियों—अघासुर, बकासुर आदिके साथ प्राप्त कर लिया, जिसका केवल वेष ही साध्वी स्त्रीका था, पर जो हृदयसे महान् क्रूर थी। फिर, जिन्होंने अपने घर, धन, स्वजन, प्रिय, शरीर, पुत्र, प्राण और मन—सब कुछ आपके ही चरणोंमें समर्पित कर दिया है, जिनका सब कुछ आपके ही लिये है, उन व्रजवासियोंको भी वही फल देकर आप कैसे उऋण हो सकते हैं?

स्वस्वरूपमें ही रमण होता है। अधर-सुधामें दोनों प्रकट हैं। जहाँ इसका सम्बन्ध है, वहीं श्रीराधाका प्राकट्य है। भगवद्भोग्या सुधा भी अधरसुधाका साधन बनती है। इस प्रकार पूतना आदि और व्रजांगनाओंके श्रीकृष्ण-सायुज्यमें भेद है। लीलाके अनन्त होनेसे यहाँ सर्वदा सायुज्य नहीं। प्रेमपीड़ावश गोपांगना पूतनाको बड़ी मानकर उसके भावसे पूतना बनना चाहती हैं। वे चाहती हैं—किसी भी प्रकार हमें भी प्राण-धन श्रीश्यामसुन्दर मदनमोहन राधाविहारीका सम्बन्ध मिल जाय। इसीलिये पूतना भी बननेको तैयार हैं—**'कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिबत् स्तनम्।'**

गोपांगनाएँ सोचती हैं—'अहो! पूतना धन्य है, जिसके उरःस्थलपर प्राणप्यारे श्रीश्यामसुन्दरने विहार किया, हाय, हम कहीं पूतना भी बनी होतीं तो हमारा भाग्योदय हो जाता।' इन भावोंमें मग्न व्रजांगनाएँ पूतना बनीं। अथवा गोपांगनाएँ सायुज्यप्राप्ति ही चाहती हैं। यद्यपि अन्तःकरणसे उन्हें यह इष्ट नहीं है तथापि वियोगकी असह्यतामें वे इसे ही अच्छा समझती हैं। सोचती हैं, चलो पूतना बननेसे प्राणधनका उरःस्थानपर विहार तो मिलेगा ही, जो हमें इष्ट है, फिर सायुज्य ही सही, रात-दिन विरहवह्निमें जलते रहनेसे वही क्या बुरा है। पहले सायुज्यमें भेद बतलाया गया है—अघासुर, बकासुर आदिको सायुज्य प्राप्त हुआ, वे भगवत्पादारविन्दमें लीन हुए और गोपांगनाएँ श्रीमुखमें। दैत्यवध, भक्तसंकेत आदिमें साधनता है और परिरम्भण आदिमें फलता है, परंतु मुखमें तो सदा ही फलरूपता है। हाँ, उसकी सुधामें भेद अवश्य है, जैसे देवभोग्या सुधा साधन होती है, लता-वृक्ष आदिमें भगवदुपयोग्यता-सम्पादनार्थ उसका प्रयोग किया जाता है। वेणुगीतपीयूषसे लतादिमें, परिकरोंमें भगवद्भोग्यता सम्पादित की जाती है; क्योंकि वहाँ श्रीवृषभानुनन्दिनीका संचार हुआ है।

मुख अग्नि माना गया है—**'मुखादग्निरजायत।'** कौन अग्नि प्राकृत नहीं? जब पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण प्राकृत नहीं, अपितु अचिन्त्य, अनन्त, अद्भुत रससुधासिन्धु हैं, तब उनकी मुखाग्नि भी प्राकृत नहीं, अपितु वह अप्राकृत विरहवैश्वानर है। यह अग्नि मुखमें ही क्यों? तो प्राधान्यात् मुखमें व्यपदेश है, वैसे तो वह सर्वावयव-अधिष्ठित है। विप्रलम्भ-सम्भोगात्मक उभयविध शृंगार भी उनमें है। भगवान् सकल-विरुद्धधर्माश्रय हैं, अतः उनमें दोनों ही शृंगार एक साथ हैं, वहाँ भी उद्बुद्ध और उद्वेलित रूपमें यहाँ उभयविधता भी श्रीभगवान्के सर्वांगहीमें है। **'मुखम्'** का अन्यत्र प्राधान्य अर्थ है। यहाँ भी **'मुखमिव मुखम्'** के रूपसे मुखकी प्रधानता है। उसमें प्रधानता विरहकी है। सर्वांगमें मुख प्रधान है, शृंगारमें विरहाग्नि प्रधान है। इस प्रकार दोनों प्राधान्य है। श्रीमद्वल्लभाचार्य 'विरहवैश्वानरावतार' माने गये है। वह विप्रलम्भशृंगार 'अग्नि' होनेपर भी 'रस' है और वह भी है सर्वोत्कृष्ट। इस प्रकार श्रीकृष्ण परमात्माके मुखमें लय होना मानो वियोगरसमें लय होना है। मुख विप्रयोग रस है, व्रजांगनाओंका उसीमें लय होना है। अतः यही विशेषता है, यह लय स्थायी नहीं। जैसे अपार समुद्रकी उसीकी वस्तुका उसीमें निमज्जन-उन्मज्जन हो। वस्तुतस्तु श्रीकृष्णके उभयविध उद्बुद्ध शृंगारमें पुनः-पुनः भावुकोंका आविर्भाव-तिरोधान भाव होता है। मुखमें भी सर्वातिशायी अधरसुधाका पान होता है।

अस्तु, देवभोग्या सुधा तो समझमें आयी, पर भगवद्भोग्या क्या? तो यही विलक्षणता है। केवल श्रीकृष्णभोग्या ही भगवद्भोग्या सुधा है। परंतु अपने ही रसका अपनेको पान कैसे हो? नायिकाधरका रसास्वाद होता है। यह रसरीतिके विरुद्ध है। इसके बहुत भेद हैं। लोभ ही अधर है (यह भगवद्विभूति है), वही अध्यक्ष है। मायाशक्तिसे लोभी कोषाध्यक्ष बना है। पात्रापात्रविचारपूर्वक दान ही अध्यक्षता है। अतः उसे अपनी अधरसुधाका अध्यक्ष वह देवभोग्या देवोंको देता है और गोपांगनाभोग्याको उनके हृदयोंमें वंशीद्वारा भेजता है। वेणु बहुत ऊँचे अधिकारवाली है, पर उसे कुछ नहीं मिला। **'दर्वी पाकरसं यथा'**—जैसे कलछुल दाल-साग आदिके खट्टे-मीठे स्वादको नहीं जानती, वैसी ही वंशीकी दशा है। चषक (पानपात्र)-को कुछ नहीं मिलता। श्रीश्यामसुन्दर भगवान्ने भगवद्भोग्या सुधाको गोपांगनाओंके अन्तरमें पहुँचानेके लिये वंशीको रखा है। वह दर्वीकी तरह

है, उसे कुछ स्वाद नहीं मिला। तभी तो वेणुगीतपीयूषके निनादसे जड़-चेतन सबको सुधास्वाद मिला, पत्थर बह चले, यमुना जम गयी, ठूँठोंमें पत्ते फूट निकले, पर वह सूखी-की-सूखी ही, सच्छिद्र ही, पल्लवविहीन ही रही; क्योंकि उसे कुछ मिला नहीं। वह देवोंको, गोपियोंको निर्देशानुसार दे आयी। परंतु उस वस्तुकी महिमा ऐसी है, जो उसके स्पर्शमात्रसे ही उसे बहुत कुछ मिल गया। ब्रह्मा, इन्द्र आदि देव, अधिदेव उन-उन इन्द्रियादिकी अधिष्ठानतासे ही अपनेको कृतकृत्य मानते हैं—'**एतद् हृषीकचषकैरसकृत् पिबामः। शर्वादयोऽङ्घ्र्युदजमध्वमृतासवन्ते**….।' ऐसा है वह वेणुपरिवेषित पीयूष। वेणुको वह पीयूष साक्षात् मिला ही, पर उसे पाकर वह औरोंकी तरह उन्मद नहीं हुई, क्योंकि उसने सोचा कि यदि मैं रूपान्तरको प्राप्त हो गयी, हरी-भरी हो गयी तो कहीं प्यारे श्रीश्यामसुन्दर मुझे छोड़ न दें। अतः बड़ी सावधानीसे वह उस रसको अपने अन्तरमें छिपाये रही। लोकमें ख्यात होनेसे नजर-टोना लग जाता है, वेणु इसे खूब जानती थी। अस्तु, भगवद्भोग्या सुधा जब गोपांगनाओंके मानसदेशमें पहुँची, तब उन्होंने उसका आस्वाद किया। इस रसकी यह विशेषता है कि वह जितना ही आस्वादित होगा, उतना ही अधिकाधिक बढ़ेगा। फिर उसकी यह भी विशेषता है कि यह जहाँ पहुँचता है, वहाँ पहलेसे भी विद्यमान होता है—'**ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥**' (गीता १३। १७) श्रीराधाकृष्ण और तद्विषयक रस पहले ही प्राणियोंमें है, पर व्यक्त नहीं, रसिकोंकी संगतिसे वह व्यक्त हो जाता है। यहाँ निरावरण कर्णकुहरोंसे यह भगवद्भोग्या सुधा गोपीमानस-पटलमें प्रविष्ट हुई। गुरु एक मन्त्र देता है, साधक रसिक एकान्तमें बैठकर उसका अनुसन्धान करके अपार रसका आस्वाद करता है। 'गोपालचम्पू' आदिका यों ही आविर्भाव हुआ। यह श्रीजीवगोस्वामीका ग्रन्थ है। वे उद्भट विद्वान् और भावुक थे। प्रसंगात् वे एक बार किसी जंगलकी गुफामें जा बैठे। वहाँ केवल आटा घोलकर पीते रहे, इससे उनका भौतिक शरीर दुर्बल हो गया, रसमय शरीर पुष्ट हो गया। वहाँ 'क्रमसन्दर्भ' आदि ग्रन्थ भी उन्होंने लिखे। इस प्रकार सबमें 'ज्ञान-ज्ञेय' अधिष्ठित हैं। यहाँ तो प्रत्यक्ष ही वेणुद्वारा गोपांगनाओंमें वह रस प्रसृत हुआ, वृद्धिको प्राप्त हुआ, अन्तःकरणादिमें भरपूर हुआ और वही वागिन्द्रियसे सम्पृक्त हुआ। उसका जब वर्णन करने लगीं, तब वही उनके अधरोंमें आ गया। वही भगवद्भोग्या सुधा सम्भोगसमयमें श्रीश्यामसुन्दरसम्भोग्या बन गयी। इस प्रकार परम्परया दान, वर्णन, भावनाद्वारा वह भगवद्भोग्या बनी। गोपांगनाओंने उसे—'**बर्हापीडं नटवरवपुः**….' के रूपमें गाया।

यह सुधा भी सर्वाभोग्या सुधाका साधन है। जब परमप्रेयसीका रसपान रसलम्पट श्रीश्यामसुन्दर करते हैं और प्रेयसीवर्गका भी; उस समय श्रीश्यामसुन्दर गोपांगनाभावापन्न और गोपांगनाएँ श्यामसुन्दरभावापन्न हो जाती हैं। यह सब 'सर्वाभोग्या' के लिये है। इस प्रकारसे संसारका सार उभयविध उद्बुद्ध शृंगारस्वरूप श्रीश्यामसुन्दर नटनागर, उनमें भी प्रधानतया उनका मुखसार, उसमें भी सुधा-रस उसका सार है। उसमें व्रजांगनाओंका लय, सायुज्य हुआ। यह वस्तु पूतना बेचारीको कहाँ मिले। वह तो बहुत स्थूल दृष्टिसे श्रीभगवत्सायुज्यको प्राप्त हुई। नहीं तो वैसे बड़ा अन्तर है। यहाँका सायुज्य भी और ही है। इस समय तो व्रजांगनाएँ विरहविह्वला हैं। इस समय वह उत्कर्ष उनकी दृष्टिमें कहाँ? वे तो दीना हैं इस समय। अतः कहती हैं—'आओ, पूतना ही बनें, यह विरहवेदना तो मिटे, सायुज्य मिलेगा, वही सही, किसी तरह दुःख तो दूर होगा।' इस प्रकार लीलानुकरणमें जब एक पूतना बन गयी, तब दूसरीको उसका स्तनपान करनेके लिये कृष्ण भी बनना चाहिये, सो दूसरी तुरंत '**कृष्णायन्ती**' बन गयी और 'पूतनायन्ती' के उरपर विहार करने लगी। '**पूतनायन्ती**' के अन्तरमें तो वह मंजुल मुरलीधर श्याममूर्ति थी ही, अब बाहर ऊपर भी वह '**कृष्णायन्ती**' के स्वरूपमें आ गयी। पहलीने गाढ़ परिरम्भ और चुम्बन करके कटाक्षसे कहा—'पूतनापर इतनी कृपा, वह मारने आयी, तब भी उसके उरःस्थलपर विहार किया और हम ढूँढ़-ढूँढ़कर मरी जा रही हैं, फिर भी बाततक नहीं पूछते!' यहाँ विहाररूप अनुकूल भाव सम्पन्न हुआ, परंतु

विरुद्ध भाव, जो प्राणत्यागरूप है, नहीं हुआ; क्योंकि यहाँ विशुद्ध भावना थी, अतः इसका फल तो हुआ, पर जिघांसा न होनेसे प्राणत्याग नहीं हुआ।

गोपियोंद्वारा शकटासुर-तृणावर्त-उद्धार आदि लीलाओंका अनुकरण

'तोकायित्वा रुदत्यन्या पदाहञ्छकटायतीम्॥'

(श्रीमद्भा० १०।३०।१५)

पूतनालीलाका अनुकरण समाप्त हुआ। अब दूसरी शकटासुर-लीलाका अनुकरण आरम्भ हुआ। '**तोकवत् आचरन्ती तोकायन्ती**'—एक मासके छोटे बच्चेके जैसा आचरण करनेवाली एक दूसरी गोपी बन गयी। इसमें उन्हें भगवान्‌की बाललीलाकी स्फूर्ति हुई। भगवान् बालकृष्ण जबतक मैयाको नहीं देखते, तबतक इधर-उधर क्रीड़ासक्त रहते हैं, परंतु ज्यों ही मैयाको देखा कि दूध पीनेके लिये पाँव पटक-पटककर रोने लगते, मचलने लगते हैं। वैसे ही यह गोपी बालचापल्यके अनुकरणको सफल बनाती है—पाँव पटकती है; मानो रूप-सरोवरमें समुद्भूत कमल विरह भवनसे विधूनित हो रहा हो। यहाँ उसका रूप ही सरोवर, पाद ही कमल और उनका प्रताड़न ही विधूनन है। विरुद्ध भावका गोपांगनाओंको स्पर्श भी नहीं करना है। यहाँ श्रीव्रजेन्द्रचन्द्र नन्दनन्दनकी अधरसुधाके पानकी ही इन्हें उत्कण्ठा है। जैसे श्रीश्यामसुन्दर यशोदाके पयःपानार्थ पादप्रताड़न करते हैं, वैसे सुधापानार्थ गोपांगनाओंका यह अनुकरण है। यों बालकके अनुकरणमें रोती हुई एक गोपीने शकटासुरका आचरण करनेवाली दूसरी गोपीको पाँवसे गिरा दिया—'**पदाहञ्छकटायतीम्॥**' वास्तविक परिस्थितिका स्मरण करके वियोगतप्त गोपांगना परस्पर कहती हैं—'हाय सखि, यदि हम शकटासुर भी बनी होतीं तो श्रीप्राणप्यारेका यह सुकोमल चरणतल तो मिला होता।' लीलानुकरणमें शकटकी तरह गोपी बनी, उसे श्रीकृष्णपादस्पर्शका सुख नहीं मिला। दूसरीने कहा—'सखि! तृणावर्त अच्छा था, हम लालसा करती हैं, कब प्यारे श्यामसुन्दर हमारे हार बनें। इन हीरक हारोंमें आनन्द नहीं, वह हार हमें नहीं, तृणासुरको मिला। प्यारे मोहन उसके गलेसे लिपटे और हार बन गये। सखि! इस जन्ममें तो वे हमारे हार बनेंगे नहीं, आओ तब राक्षस ही बनें, राक्षस ही सही, प्राणप्यारे तो मिलेंगे।' गोपांगनाओंका तुरंत भाव बदल जाता है और वे प्रार्थना करने लगती हैं—'प्यारे मनमोहन, हमारे हृदयहार बननेमें आपको लज्जा लगती है और उन क्रूर राक्षसोंके गलेसे लगे रहते हो, क्या हम इतनी बुरी हैं?'

गोपांगनाओंके समूहमें कोई एक गोपी बाललीलानुकरणार्थ श्रीकृष्णस्वरूप बनी। यह योगमायाका प्रभाव है, वह परमानुरागवती गोपीसे जो चाहती है, वही करा लेती है। रासलीलामण्डलीमें पहले (और प्रायः अब भी) लीलाके स्वरूपोंसे अनुकरणीयकी भावना करायी जाती रही, वैसा होनेसे लीलाओंमें वही लोकोत्तर आनन्दकी स्फूर्ति हो जाती रही। फिर यहाँ गोपांगनाओंको श्रीश्यामसुन्दरकी सफल अनुकृति करनेमें क्या विलम्ब? भावना परिपाक पहलेहीसे था, पाँवमें घुँघरू-पायल बँधे ही थे, वह अनुकरणरत हो गयी, स्वरूप विस्मृत हो गया, पाँव पटक-पटककर मचलने लगी।

पूर्णतम पुरुषोत्तम प्रभुकी अपरिलक्षित लीला है। यह तो गोपसीमन्तिनीका एक उदात्त भाव-चित्रांकन है, वैसे उनसे वे कब दूर हुए?

भगवान्‌को वशमें करनेका एकमात्र साधन—रागानुगा भक्ति

गोपालाङ्गणकर्दमेषु विहरन् विप्राध्वरे लज्जसे
ब्रूषे गोवृषहुङ्कृतैः स्तुतिशतैर्मौनं विधत्से सताम्।
दास्यं गोकुलपुंश्चलीषु कुरुषे स्वाम्यन्नदान्तात्मसु
ज्ञातं कृष्ण तवाङ्घ्रिपङ्कजयुगं प्रेमैकलभ्यं मुहुः॥

गोपालोंके कीचभरे घरोंके चौकमें—आँगनमें आप खूब मचल-मचलकर घूमते हो, पर ब्राह्मणोंके पवित्र यज्ञस्थलोंमें जाते हुए लजाते हो। गौ, वत्स, वृषभ, महोक्ष—जो पशु हैं, उनके हुंकारपर आप चट बोल उठते हो, पर सत्पुरुषोंकी सैकड़ों वैदिक स्तुतियोंका कोई उत्तर नहीं देते, जैसे सुनी ही नहीं। गोकुल गाँवकी पुंश्चली जो जारबुद्धिसे आपका सेवन करती रही, उसका दास बननेमें आपको तनिक-सा भी संकोच न हुआ, पर जो बेचारे व्रत, तप आदि प्रयत्नपूर्वक बाह्यकरण और अन्तःकरणको विषयोंसे सम्पृक्त नहीं होने देते, मनको दबाते हैं, वृत्तियोंको

रोकते हैं, शम, दम, उपरति, तितिक्षा आदि साधनोंमें अपने जीवनको मिटा देते हैं, आश्चर्य है कि आप उनके मालिक भी नहीं बनना चाहते, स्वामी बननेसे भी घृणा करते हो। आपके इन चरित्रोंको देखकर यही निश्चय करना पड़ता है कि आपकी पदप्राप्ति केवल प्रेमसाध्य है, एकमात्र रागानुगा भक्ति ही सर्वतोभावेन आपको वशमें कर सकती है।

वहाँ रुचि किस चीजकी थी, यह बात दूसरी है। गायने हुंकार किया, बछड़ेने बुलाया, हम्मारव करते ही चट बोल पड़े। उधर गोपांगनाओंके पुंश्चली भावपर भी रीझ गये। यहाँ सब बात उलटी। जितनी ऊँची चीज सब नीची कर दी गयी। महाराजाधिराजका वह स्वरूप इतने महत्त्वका नहीं हुआ, जितना पार्थसारथिका। सखा अर्जुनके घोड़ोंके सईस बने। महाभारत-युद्धमें अर्जुनके घोड़े जलके बिना क्लान्त हो गये, उनके लिये उन्होंने पाताल-गंगा निकाली। पार्थसारथिने रथसे घोड़ोंको खोलकर जल पिलाया, स्नान कराया, घोड़ोंकी लगाम अपने मुखमें पकड़ी, तोत्र (चाबुक)-को मुकुटमें खोंसा और चार हाथोंसे उनको धोया-पोंछा। उस समयकी उनकी झाँकी देखते ही बनती थी। राजा-महाराजा भी जिसको नहीं कर सकते, उसे प्रेमके बन्धनमें बँधकर उनके अधिराजराजने किया। परंतु यह भी गोपांगणकर्दम-क्रीड़ाके आगे तो फीका पड़ जाता है। तभी तो एक महात्माने कहा—'**परमिममुपदेशमाद्रियध्वं, निगमवनेषु नितान्तखेदखिन्नाः। विचिनुत भवनेषु वल्लवीनामुपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम्**॥' अर्थात् वेदशास्त्रोंके उपदेशारण्यमें—कर्मोपासना एवं ज्ञानकी भूलभुलैयामें भटक रहे और अभिलषितको न प्राप्त करके दुःखी हो रहे प्राणियो, हमारी नेक सलाह मानो, वह उपनिषदोंका सार अरण्योंमें या आरण्यकोंमें न मिलेगा, वह तो गँवारी ग्वालिनोंके घरोंमें माखन-चोरी करते हुए अथवा यशोदाके आँगनमें ऊखलसे बाँधा मिलेगा, वहाँ उसे ढूँढ़ो। यहाँ प्रेमकी रसमयी लीलाओंमें गुंजाओंके समक्ष कौस्तुभ-मणिका कोई सम्मान या महत्त्व नहीं। यहाँ लक्ष्मीपति और रुक्मिणीपतित्व भी पुंश्चलीपतित्व या गोपीजनवल्लभताके सामने मन्थर पड़ जाता है। 'उज्ज्वलनीलमणि' में समर्थन किया गया है कि अरुन्धती, अनसूया आदि बड़े-बड़े सतीवृन्द भी इन पुंश्चलियोंकी पादधूलिके लिये लालायित हैं—व्याकुल हैं; क्योंकि ये ही सती परम सती हैं, जिन्होंने अपर पुरुषका संग त्यागकर 'परपुरुष' का संग किया। अनन्त अखण्ड महामहिम श्रीकृष्ण ही परम पुरुष हैं, परमात्मा हैं, ब्रह्म हैं। वसिष्ठ, अत्रि आदि पुरुष हैं, जीव हैं, पातिव्रत्यधर्मपूर्वक इनकी सेवासे फलरूपमें परम पुरुषकी प्राप्ति होती है, ये साधन हैं, वे साध्य; अरुन्धती आदि सतियाँ अभी आराधना करती हैं, पीछे हैं और गोपांगनाओंने फल प्राप्त कर लिया, उन्हें 'परपुरुष' की प्राप्ति हो गयी, वे कृतकृत्य हो गयीं। अतएव मन, बुद्धि, रोम-रोममें प्रविष्ट श्रीकृष्णकी शकटायती आदि अनुकृति-लीलाद्वारा गोपांगना परानन्दमें विलीन हुईं।

दैत्यायित्वा जहारान्यामेका कृष्णार्भभावनाम्।
रिङ्गयामास काप्यङ्घ्री कर्षन्ती घोषनिःस्वनैः॥

(श्रीमद्भा० १०।३०।१६)

इसी लीलानुकरणमें एक गोपांगना श्रीश्यामसुन्दरकी भावनासे बालकृष्ण बन गयी। पाँवोंमें नूपुर पहन लिये, घुटनोंके बल चलने लगी। नूपुरके छोटे-छोटे घुँघुरूके घोषसे वह साशंक हो गयी। बालवत् किलकारी मारकर भाग उठी। अपनी ही पादस्थ नूपुर ध्वनिसे वह चकित हो गयी। नूपुरके रुचिर घोषसे स्तब्ध होकर वह पीछेकी ओर मुँह घुमाकर देखने लगी, यों भगवान् बालमुकुन्दके अनुकरणमें मग्न हो गयी। इसका अभिप्राय यह कि इस प्रकारकी तल्लीनतासे—तीव्रसंवेगवान् प्रेमसे निम्नकोटिके भी लोग उन पूर्ण पुरुषको प्राप्त कर सकते हैं। '**गोपालाङ्गणकर्दमेषु विहरन्**' आदिसे भी यही ध्वनित होता है। यहाँकी लीला ही अद्भुत है। राजाधिराजस्वरूपकी अपेक्षा पार्थसारथिका भाव ही दूसरा है और इसकी अपेक्षा भी गोपालांगणकर्दम-विहारीका स्वरूप और भी उच्च है। कहीं ज्ञानवैराग्योद्दीप्त शान्त रस ही उत्कृष्ट माना जाता है, शृंगार रस उसके सामने निकृष्ट है। कहीं दाम्पत्यप्रेममें शृंगार रस ही उत्कृष्ट हो जाता है। इसके विपरीत औपपत्यमें वह रसाभास हो जाता है, परंतु

कहींपर यही औपपत्यादि आलम्बनादिके उत्कृष्ट होनेसे उत्कृष्ट माना जाता है, जैसे यही गोपांगनाओंका श्रीकृष्णविषयक प्रणयौत्कण्ठ्य, जिसके फलस्वरूप अनसूया, अरुन्धती-जैसी भी उनकी पादधूलिके लिये लालायित रहती हैं। गोपांगना यद्यपि पुंश्चली गिनी गयीं, पर वे थीं श्रीकृष्णकी—परम पुरुषकी संगिनी या पुंश्चली, अतएव उनका यह उत्कर्ष है, तभी तो श्रीकृष्ण परमात्मा भी उनके दास्यकी प्रार्थना करते हैं। कोई कितनी भी साध्वी-पतिव्रता होगी, वह भी भगवान्‌के ऐश्वर्य-माधुर्यपूर्ण नारायणस्वरूपपर मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकती। अनसूया-जैसी भी भगवान् नारायणके स्वरूपपर आसक्त हो गयी—यह भूषण ही है, कोई दूषण नहीं। परंतु एक कथासे ज्ञात होता है कि कृष्णप्रणयिनी गोपांगना उसपर भी मुग्ध न हुई।

ऐश्वर्यभावसे भी अधिक माधुर्यभावकी महत्ता—लीलाका एक दृष्टान्त

एक बार श्रीश्यामसुन्दर गोपांगनाओंके साथ वासन्तिक रासोत्सव मना रहे थे। उसी समय सहसा धोखा देकर वे एक कुंजमें छिप गये। गोपांगना ढूँढ़ती हुई वहीं जा पहुँचीं; क्योंकि वे अपने सौगन्ध्य-माधुर्यादिपूरको न छिपा सके, उसके लोभी भौंरे, मयूर तथा हरिणांगनाओंका ताँता उधर ही बँध गया। श्रीश्यामसुन्दरने सोचा—'ये तो आयी, अब क्या करें, अपनी तो यह निह्नुति-लीला (गोपन-लीला) ही बिगड़ी।' दासीके समान पीछे-पीछे घूम रही ऐश्वर्यशक्तिकी सहायतासे वे झटपट चतुर्भुजधारी नारायण बन गये! अन्वेषणक्रम-प्राप्त उन नारायणका गोपांगनाओंने दर्शन किया, पर वह आकर्षण, वह औत्कण्ठ्य, वह आनन्द उन्हें नहीं प्राप्त हुआ, जो श्रीकृष्ण-सम्मिलनमें प्राप्त होता। परंतु फिर भी उन्होंने नम्रतासे प्रणाम किया। उन्हें वरदानोन्मुख देखकर वर माँगा—'श्रीश्यामसुन्दर हमें शीघ्र मिल जायँ।' क्या श्रीनारायणमें भूषण-वसन-सौन्दर्यकी कमी थी? पर उनके मनमें—हृदयमें विराजमान अद्भुत छवि श्रीश्यामसुन्दरकी मूर्तिके आगे वह सब कुछ नहीं जँचा। इस दृष्टान्तसे इनकी अटलता, अनन्यता तथा प्रणयातिशय व्यक्त होता है। अतएव अरुन्धती आदि सतियाँ इनकी पादपांसु चाहती हैं। इनके अतिरिक्त कौन ऐसी युवति होगी, जो साक्षान्नारायणके दर्शन करके उनपर मुग्ध न हो। यह तो गोपांगनाओंकी ही विशेषता थी कि जो श्रीमन्नारायणके भी साक्षात् दर्शन करके उनसे भी श्रीश्यामसुन्दर-सम्मिलनकी ही प्रार्थना की, यहाँ यह दिखाया गया कि जैसे महासम्राट्‌के समक्ष इतरोंका ऐश्वर्य अभिव्यक्त नहीं होता, जैसे सूर्यके सामने चन्द्रनक्षत्रादि फीके पड़ जाते हैं, दीखते ही नहीं, वैसे ही महामहामाधुर्यके सामने समस्त ऐश्वर्य अस्त हो जाते हैं, प्रकट ही नहीं होते।

श्रीराधिकाजीमें पूर्णतम माधुर्यका प्रकाश

प्रेमकी स्थिति प्राणिमात्रमें अणु-परिमाणमें, पार्षदादिमें मध्यम परिमाणमें और महत्परिमाणमें गोपांगनाओंमें थी। इसके अतिरिक्त श्रीराधिकाजीमें वही प्रेम परममहत्परिमाणपरिमित था। पूर्णतम माधुर्यका प्रकाश वहीं हुआ। वहींकी यह कथा प्रसिद्ध है कि उसी निकुंजमें जहाँ गोपांगनाओंके सामने श्रीकृष्ण नारायणरूपमें छिप गये, श्रीराधाजीके आते ही उनकी वह ऐश्वरी माया नहीं टिक सकी। उनका वह चतुर्भुजस्वरूप द्विभुज श्यामसुन्दरके रूपमें तुरंत प्रकट हो गया। अतः यहाँ जितना-जितना लोकदृष्टिमें अपकर्ष, उतना-ही-उतना प्रणय-पथमें उत्कर्ष सिद्ध होता है। इसी दृष्टिसे औपपत्यका भी उत्कर्ष है।

जैसे जल और तरंगमें अन्य सम्बन्धकी कल्पना नहीं—'**"तरङ्गन वारि ज्यों"**' वैसे ही बाहर-भीतर गोपांगनाओंमें श्रीकृष्णतत्त्व विराजमान है। जलका और तरंगका अखण्ड सम्बन्ध है। इनमें श्रीवृषभानुनन्दिनी राधारानी तो और भी अन्तरंग हैं, वे जलमें माधुर्यस्थानीया हैं। फिर वहाँ कैसा औपपत्य? अतः औत्कण्ठ्यवृद्ध्यर्थ इनकी कल्पना है। ऐसे ही '**गोपालाङ्गणकर्दमेषु विहरन्**' की कल्पना है। इन भगवल्लीलाओंकी अति साधारणतासे प्राणियोंको विश्वास, आशा बँधती है कि हम दीनोंको भी उस तत्त्वका स्वरूपदर्शन सम्भव है। तथा च इन्हीं दृष्टियोंसे '**पूतनायन्ती, कृष्णायन्ती**', '**दैत्यायित्वा**' आदि श्रीव्रजसुन्दरियोंकी सफल लीला-प्रकृति है।

द्वितीय खण्ड—देवोपासनातत्त्व

गणपति-तत्त्व

गणपति ब्रह्म ही हैं

सर्वजगन्नियन्ता पूर्ण परमतत्त्व ही गणपति-तत्त्व है; क्योंकि '**गणानां पतिः गणपतिः।**' 'गण' शब्द समूहका वाचक होता है—'**गणशब्दः समूहस्य वाचकः परिकीर्तितः।**' समूहोंका पालन करनेवाले परमात्माको गणपति कहते हैं। देवादिकोंके पतिको भी गणपति कहते हैं। अथवा '**महत्तत्त्वादितत्त्वगणानां पतिः गणपतिः।**' अथवा '**निर्गुणसगुणब्रह्मगणानां पतिः गणपतिः**', अथवा 'सर्वविध गणोंको सत्ता-स्फूर्ति देनेवाला जो परमात्मा है, वही गणपति है।' अभिप्राय यह कि '**आकाशस्तल्लिङ्गात्**' इस न्यायसे जिसमें ब्रह्मतत्त्वके जगदुत्पत्तिस्थितिलयत्व, जगन्नियन्तृत्व, सर्वपालकत्वादि गुण पाये जायँ, वही ब्रह्म होता है। जैसे आकाशका जगदुत्पत्तिस्थितिकारणलीलत्व '**आकाशादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते**' इस श्रुतिसे जाना जाता है, इसलिये वह भी आकाशपदवाच्य परमात्मा माना जाता है, वैसे ही '**ॐ नमस्ते गणपतये। त्वमेव प्रत्यक्षं तत्त्वमसि। त्वमेव केवलं कर्तासि। त्वमेव केवलं धर्तासि। त्वमेव केवलं हर्तासि। त्वमेव सर्वं खल्विदं ब्रह्मासि।**' इत्यादि 'श्रीगणपत्यथर्वशीर्ष' वचनसे गणपति ब्रह्म ही हैं।

अतीन्द्रिय, सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तुतत्त्वका निर्णय केवल शास्त्रके ही आधारपर किया जा सकता है। जैसे शब्दकी अवगति श्रोत्रसे ही होती है, वैसे ही पूर्ण परमतत्त्वकी अवगति भी शास्त्रसे ही होती है। इसलिये '**तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि**' '**शास्त्रयोनित्वात्**' इत्यादि श्रुतिसूत्र तथा अनेकविध युक्तियोंसे भी यही सिद्ध होता है कि सर्वजगत्कारण ब्रह्म शास्त्रैकसमधिगम्य है। यदि शास्त्रातिरिक्त अन्य प्रमाणोंसे वस्तुतत्त्वकी अवगति हो जाय तो शास्त्रके अनुवादकमात्र होनेसे उनका नैरर्थक्य-प्रसंग भी दुर्वार होगा, इसलिये गणपतितत्त्वकी अवगतिमें मुख्यतया शास्त्र ही प्रमाण है। शास्त्रानुसार यही जाना जाता है कि सर्वदृश्यजगत्का पति ही गणपति है; क्योंकि '**गण्यन्ते बुद्ध्यन्ते ते गणाः**' इस व्युत्पत्तिसे सर्वदृश्यमात्र ही गण है और उसका जो अधिष्ठान है, वही गणपति है। कल्पितकी स्थिति, प्रवृत्ति अधिष्ठानसे ही होती है, अतः कल्पितका पति अधिष्ठान ही युक्त है। यद्यपि कहा जा सकता है कि तब तो भिन्न-भिन्न पुराणोंमें शिव, विष्णु, सूर्य, शक्ति आदि सभी ब्रह्मरूपसे विवक्षित हैं। जब कि ब्रह्मतत्त्व एक ही है तो उसके नाना रूप भिन्न-भिन्न पुराणोंमें कैसे पाये जाते हैं? इसका उत्तर यही है कि एक ही परमतत्त्व भिन्न-भिन्न उपासकोंकी भिन्न-भिन्न अभिलषित सिद्धिके लिये अपनी अचिन्त्य लीला-शक्तिसे भिन्न-भिन्न गुणगणसम्पन्न एवं नामरूपवान् होकर अभिव्यक्त होता है। जैसे भामनीत्व, सर्वकामत्व, सर्वरसत्व, सत्यसंकल्पत्वादिगुण-विशिष्ट ब्रह्मतत्त्वकी उपासना करनेसे उपासकोंको उपास्यविशेषण गुण ही फलरूपमें प्राप्त होते हैं, ठीक वैसे ही प्राधान्येन विघ्नविनाशकत्वादिगुणगणविशिष्ट गणपति-रूपमें वही परमतत्त्व आविर्भूत होता है।

शास्त्रद्वारा ही गणपतिके ब्रह्मत्वका परिज्ञान

यदि कहा जाय कि फिर इसी तरहसे बाह्याभिमत भिन्न-भिन्न देव भी ब्रह्मतत्त्व ही होंगे तथा इतना ही क्यों, जबकि सारा ही प्रपंच ब्रह्मतत्त्व है, तब गणपति ही क्यों विशेषरूपसे ब्रह्म कहे जायँ? इसका उत्तर यही है कि यद्यपि अधिष्ठानरूपसे बाह्याभिमत देव तथा तत्तद्वस्तु सकल ब्रह्मरूप कहे जा सकते हैं तथापि तत्तद्गुणगणविशिष्टरूपसे ब्रह्मत्व तो केवल शास्त्रसे ही जाना जा सकता है; अर्थात् शास्त्र ही जिन-जिन नामरूपगुणयुक्त तत्त्वोंको ब्रह्म बतलाते हैं, वे ही ब्रह्म हो सकते हैं; क्योंकि यह कहा जा चुका है कि

अतीन्द्रिय वस्तुका ज्ञान करानेमें एकमात्र शास्त्र ही प्रमाण हो सकता है। शास्त्र मुख्यरूपसे वेद और वेदानुसारी स्मृतीतिहासपुराणादि ही हैं, यह बात आगे पूर्णरूपसे विवेचित की जायगी। शास्त्र गणपतिको पूर्ण परब्रह्म बतलाते हैं। पूर्वोक्त 'श्रीगणपत्यथर्वशीर्ष' श्रुतिमें गणपतिको '**त्वमेव प्रत्यक्षं तत्त्वमसि**'—ऐसा कहा गया है। उसका अभिप्राय यह है कि गणपतिके स्वरूपमें नर तथा गज—इन दोनोंका ही सामंजस्य पाया जाता है। यह मानो प्रत्यक्ष ही परस्परविरुद्धसे प्रतीयमान '**तत्पदार्थ**' तथा '**त्वं पदार्थ**' के अभेदको सूचित करता है; क्योंकि तत्पदार्थ सर्वजगत्कारण सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमात्मा होता है एवं त्वं पदार्थ अल्पज्ञ अल्पशक्तिमान् जीव होता है। उन दोनोंका ऐक्य यद्यपि आपात-विरुद्ध है तथापि लक्षणासे विरुद्धांश-द्वयका त्यागकर एकता सुसम्पन्न होती है। तद्वत् लोकमें यद्यपि नर और गजका ऐक्य असम्मत है तथापि लक्षणासे विरुद्धधर्माश्रय भगवान्में उसका सामंजस्य है अथवा जैसे तत्पद-लक्ष्यार्थ सर्वोपाधि-निष्कृष्ट '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' एवं लक्षणालक्षित ब्रह्म है, वैसे ही त्वं पदार्थ जगन्मय सोपाधिक ब्रह्म है। इन दोनोंका अखण्डैकरस, 'असि' पदार्थमें सामंजस्य है। इसी तरह नर और गजस्वरूपका सामंजस्य गणपतिस्वरूपमें है। 'त्वं'-पदार्थ नर-स्वरूप है तथा 'तत्'-पदार्थ गजस्वरूप है एवं अखण्डैकरस गणपतिरूप 'असि' पदार्थमें इन दोनोंका सामंजस्य है।

गणेशजीके विविध नामों तथा आयुधों आदिका स्वरूप

शास्त्रोंमें नरपदसे प्रणवात्मक सोपाधिक ब्रह्म कहा गया है—'**नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति विदुर्बुधाः**'। गजशब्दार्थका विवेचन शास्त्रोंमें ऐसा किया गया है—'**समाधिना योगिनो गच्छन्ति यत्र इति गः, यस्माद् बिम्बप्रतिबिम्बवत्तया प्रणवात्मकं जगज्जायते इति जः।**' समाधिसे योगी लोग जिस परमतत्त्वको प्राप्त करते हैं, वह 'ग' है और जैसे बिम्बसे प्रतिबिम्ब उत्पन्न होता है, वैसे ही कार्य-कारणस्वरूप प्रणवात्मक प्रपंच जिससे उत्पन्न होता है, उसे 'ज' कहते हैं। '**जन्माद्यस्य यतः**', '**यस्मादोङ्कार-सम्भूतिः यतो वेदो यतो जगत्**' इत्यादि वचन भी उसके पोषक हैं। सोपाधिक 'त्वं' पदार्थात्मक नर गणेशका पादादिकण्ठ-पर्यन्त देह है। यह सोपाधिक होनेसे निरुपाधिकापेक्षया निकृष्ट है, अतएव अधोभूताङ्ग है। निरुपाधिक सर्वोत्कृष्ट 'तत्' पदार्थमय गणेशजीका कण्ठादिमस्तकपर्यन्त गज-स्वरूप है; क्योंकि वह निरुपाधिक होनेसे सर्वोत्कृष्ट है। सम्पूर्ण पादादि-मस्तकपर्यन्त गणेशजीका देह 'असि' पदार्थ अखण्डैकरस है। यह गणेश एकदन्त है। 'एक' शब्द 'माया' का बोधक है और 'दन्त' शब्द 'मायिक' का बोधक है। मुद्गलपुराणमें कहा गया है—'**एकशब्दात्मिका माया तस्याः सर्वं समुद्भवम्। दन्तः सत्ताधरस्तत्र मायाचालक उच्यते॥**' अर्थात् गणेशजीमें माया और मायिकका योग होनेसे वे एकदन्त कहलाते हैं। गणेशजी वक्रतुण्ड भी हैं। '**वक्रं आत्मरूपं मुखं यस्य**'। वक्र टेढ़ेको कहते हैं, आत्मस्वरूप टेढ़ा है; क्योंकि सर्वजगत् मनोवचनोंका गोचर है, किंतु आत्मतत्त्व उनका (मन-वाणीका) अविषय है। तथा च '**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**' इत्यादि वचन हैं। और भी—

कण्ठाधो मायया युक्तं मस्तकं ब्रह्मवाचकम्।
वक्राख्यं तेन विघ्नेशस्तेनायं वक्रतुण्डकः॥

गणेशजी 'चतुर्भुज' भी हैं; क्योंकि देवता, नर, असुर और नाग—इन चारोंका स्थापन करनेवाले हैं; एवं चतुर्वर्ग, चतुर्वेदादिके भी स्थापक हैं। तथा च—

स्वर्गेषु देवताश्चायं पृथ्व्यां नरांस्तथाऽतले।
असुरान्नागमुख्यांश्च स्थापयिष्यति बालकः॥
तत्त्वानि चालयत्विप्रास्तस्मान्नाम्ना चतुर्भुजः।
चतुर्णां विविधानाञ्च स्थापकोऽयं प्रकीर्तितः॥

वे अपने चारों हाथोंमें पाश, अंकुश, वर और अभय भक्तानुग्रहार्थ धारण करते हैं। भक्तोंके मोहरूपी शत्रुको फँसानेके लिये 'पाश' तथा सर्वजगन्नियन्तृरूप ब्रह्म 'अंकुश' है। दुष्टोंका नाश करनेवाला ब्रह्म 'दन्त' और सर्वकामनाओंको पूर्ण करनेवाला ब्रह्म

'वर' है। भगवान् गणपतिका वाहन 'मूषक' है। 'मूषक' सर्वान्तर्यामी, सर्वप्राणियोंके हृदयरूप बिलमें रहनेवाला, सर्वजन्तुओंके भोगोंको भोगनेवाला ही है। वह चोर भी है; क्योंकि जन्तुओंके अज्ञात सर्वस्वको हरनेवाला है। उसको कोई जानता नहीं; क्योंकि मायासे गूढ़रूप अन्तर्यामी ही समस्त भोगोंको भोगता है। इसीलिये उसे '**भोक्तारं यज्ञतपसाम्**' कहा गया है। '**मुष् स्तेये**' इस धातुसे मूषक शब्द बनता है। जैसे मूषक प्राणियोंकी सर्वभोग्य वस्तुओंको चुराकर भी पुण्य-पापोंसे विवर्जित ही रहता है, वैसे ही मायागूढ़ सर्वान्तर्यामी भी सर्वभोग्यको भोगता हुआ पुण्य-पापोंसे विवर्जित है। वह सर्वान्तर्यामी गणपतिकी सेवाके लिये मूषकका रूप धारणकर वाहन बना—

मूषकं वाहनाख्यं च पश्यन्ति वाहनं परम्।
तेन मूषकवाहोऽयं वेदेषु कथितोऽभवत्॥
मुष् स्तेये तथा धातुः ज्ञातव्यः स्तेयब्रह्मधृक्।
नामरूपात्मकं सर्वं तत्रासद् ब्रह्म वर्तते॥
भोगेषु भोगभोक्ता च ब्रह्माकारेण वर्तते।
अहङ्कारयुतास्तं वै न जानन्ति विमोहिताः॥
ईश्वरः सर्वभोक्ता च चोरवत्तत्र संस्थितः।
स एव मूषकः प्रोक्तो मनुजानां प्रचालकः॥

भगवान् गणेश 'लम्बोदर' हैं; क्योंकि उनके उदरमें ही समस्त प्रपंच प्रतिष्ठित है और वे स्वयं किसीके उदरमें नहीं हैं। तथा च—'**तस्योदरात्समुत्पन्नं नाना विश्वं न संशयः।**' भगवान् 'शूर्पकर्ण' हैं; क्योंकि योगीन्द्र-मुखसे वर्ण्यमान तथा उत्तम जिज्ञासुओंसे श्रूयमाण, अतः हृद्गत होकर शूर्पके समान पाप-पुण्यरूप रजको दूर करके ब्रह्मप्राप्ति सम्पादित कर देते हैं—

रजोयुक्तं यथा धान्यं रजोहीनं करोति च।
शूर्पं सर्वनराणां वै योग्यं भोजनकाम्यया॥
तथा मायाविकारेण युतं ब्रह्म न लभ्यते।
त्यक्तोपासनकं तस्य शूर्पकर्णस्य सुन्दरि॥
शूर्पकर्णं समाश्रित्य त्यक्त्वा मलविकारकम्।
ब्रह्मैव नरजातिस्थो भवेत्तेन तथा स्मृतः॥

गणेशजी 'ज्येष्ठराज' हैं। सर्व-ज्येष्ठों (बड़ों)-के अधिपति या सर्व-ज्येष्ठ जो ब्रह्मादि हैं, उनके बीचमें वे विराजमान हैं। वे ही गणेशजी शिव-पार्वतीके तपसे प्रसन्न होकर पार्वती-पुत्रके रूपमें प्रादुर्भूत हुए हैं।

गणपति, श्रीकृष्ण, शिव आदि एक ही तत्त्व हैं

श्रीरामचन्द्र और श्रीकृष्णचन्द्र जैसे दशरथ एवं वसुदेवके पुत्ररूपमें प्रादुर्भूत होकर भी उनसे अपकृष्ट नहीं हैं, वैसे ही भगवान् गणेश शिव-पार्वतीसे उत्पन्न होकर भी उनसे अपकृष्ट नहीं हैं, अतएव उनकी शिव-विवाहमें विद्यमानता और पूज्यता होना कोई आश्चर्य नहीं है। 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' में लिखा है कि पार्वतीके तपसे गोलोक-निवासी पूर्ण परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण ही गणपतिरूपसे प्रादुर्भूत हुए हैं। अतः गणपति, श्रीकृष्ण, शिव आदि एक ही तत्त्व हैं। इसी गणपति-तत्त्वको सूचित करनेवाला ऋग्वेद (२।२३।१)-का यह मन्त्र है—

'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्। ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आ नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम्॥'

इससे मिलता-जुलता ही गणपति-स्तावक मन्त्र यजुर्वेद (२३।१९)-में भी है। '**गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामहे**' इत्यादि। ऋग्वेदके मन्त्रका सर्वथा गणपतिस्तुतिमें ही तात्पर्य है। यजुर्वेदगत मन्त्रका विनियोग यद्यपि अश्वस्तवनमें है तथापि केवल अश्वमें मन्त्रोक्त-गुण अनुपपन्न होनेसे अश्वमुखेन गणपतिकी ही स्तुति इस मन्त्रसे होती है। मन्त्रार्थ इस तरह है—'**हे वसो! वसति सर्वेषु भूतेषु व्यापकत्वादिति, तत्सम्बुद्धौ। गणानां महदादीनां, ब्रह्मादीनाम् अन्येषां वा समूहानाम्। गणरूपेण, साक्षिरूपेण, ज्ञेयाधिष्ठानरूपेण वा। 'गण' संख्याने इत्यस्माद् गण्यते बुद्ध्यते, योगिभिः साक्षात्क्रियते यः स गणस्तद्रूपेण वा पालकम्, एतादृशं त्वां आवाहयामहे। तथा प्रियाणां वल्लभानां, प्रियपतिं प्रियस्य पालकम्। तच्छेषतयैव सर्वस्य प्रेमास्पदत्वात्। 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवतीति' श्रुतेः। निधीनां सुखनिधीनां,**

सुखनिधेः पालकं त्वां हवामहे आवाहयामहे। मदन्तःकरणे प्रादुर्भूय स्वस्वरूपानन्दसमर्पणेन ममापि पतिर्भूयाः। पुनः हे देव! अहन्ते गर्भधम् अजायां प्रकृतौ चैतन्य-प्रतिबिम्बात्मकं गर्भं दधातीति गर्भधं बिम्बात्मकं चैतन्यम्, (तथा च—'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहमिति' भगवत्स्मरणात्) आ-आकृष्य योगबलेन, अजानि-स्वहृदि स्थाप्यानि, त्वं च मम हृदि अजासि-क्षिपसि स्वस्वरूपं स्थापयसि।' अधिकारी उपासक गणपतिकी प्रार्थना करता है—हे सर्वान्तर्यामिन्! देवादिसमूहोंके अधिष्ठान तथा साक्षीरूपसे, प्रियोंको प्रियरूपसे, लौकिक प्रेमास्पदोंको परमप्रेमास्पद-रूपसे, लौकिक सुखराशियोंको अलौकिक परमानन्दसे पालन करनेवाले अर्थात् अपने अंशसे सम्पादन करनेवाले आपका मैं पतिरूपसे आवाहन करता हूँ। आप मेरा भी स्वरूपानन्द-समर्पणद्वारा पालन करें। जगदुत्पादनार्थ प्रकृतिरूप योनिमें स्वकीय चैतन्यप्रतिबिम्बात्मकरूप गर्भको धारण करनेवाले बिम्बचैतन्यरूपको मैं अपने हृदयमें विशुद्धान्तःकरणसे धारण करूँ, एतदनुकूल अनुग्रह करें। ऐसी प्रार्थना है।

सर्वविघ्नोंके विनाशक गणेशकी आदिपूज्यता

इस तरह मन्त्र-प्रतिपाद्य गणपतितत्त्व सर्वविघ्नोंका विनाशक है। अतएव 'श्रीगणपत्यथर्वशीर्ष' के एक मन्त्रमें **'विघ्नविनाशिने शिवसुताय श्रीवरदमूर्तये नमो नमः'** ऐसा आया है। सायणाचार्यने इसका व्याख्यान करते हुए कहा है—**'समयकालात्मक-भयहारिणे, अमृतात्मकपदप्रदत्वात्'** अर्थात् गणेशजी कालात्मक भयको हरण करनेवाले हैं; क्योंकि वे अमृतात्मकपदप्रद हैं। 'स्कन्द' तथा 'मौद्गल पुराण' में विनायक-माहात्म्य-विषयक एक ऐसी गाथा है—किसी समय राजा अभिनन्दनने इन्द्रभागशून्य एक यज्ञ आरम्भ किया। यह जानकर इन्द्र कुपित हुआ। उसने कालको बुलाकर यज्ञ-भंगकी आज्ञा दी। कालपुरुष यज्ञको भंग करनेके लिये विघ्नासुररूपमें प्रादुर्भूत हुआ। जन्ममृत्युमय जगत् कालके अधीन है। काल तीनों लोकोंको भ्रमण कराता है। ब्रह्मज्ञानी पुरुष कालको जीतकर अमृतमय हो जाते हैं। ब्रह्मज्ञानका साधन वैदिक स्मार्त सत्कर्म है। **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥'** सत्कर्मसे विशुद्धान्तःकरण पुरुषको भगवत्तत्त्व-साक्षात्कार होता है और उससे ही कालकी पराजय होती है। यह जानकर काल उस सत्कर्मके नाशके लिये विघ्नरूप होकर प्रादुर्भूत हुआ। सत्कर्महीन जगत् सदा ही कालके अधीन रहता है। इसीलिये कालस्वरूप विघ्नासुर राजा अभिनन्दनको मारकर जहाँ-तहाँ दृश्यादृश्यरूपसे सत्कर्मका खण्डन करने लगा, उस समय वसिष्ठादि मुनि भ्रान्त हो ब्रह्माकी शरणमें गये और उनकी आज्ञासे भगवान् गणपतिकी स्तुति की; क्योंकि गणपतिको छोड़कर किसी भी देवतामें कालनाश-सामर्थ्य नहीं है। गणेशजी असाधारण विघ्नविनाशकत्व गुणसे सम्पन्न हैं, यह बात श्रुति, स्मृति, शिष्टाचार तद्वाक्य एवं श्रुतार्थापत्तिसे अवगत है। श्रीगणेशजीसे विघ्नासुर पराजित होकर उनकी शरणमें गया और उनका आज्ञावशवर्ती हुआ। अतएव गणेशजीका नाम विघ्नराज भी है। उसी समयसे गणेशपूजन-स्मरणरहित जो भी सत्कर्म होता है, उसमें विघ्नका प्रादुर्भाव अवश्य होता है। इसी नियमसे विघ्न भगवान्के आश्रित रहने लगा। विघ्न भी कालरूप होनेसे भगवत्स्वरूप है। **'विशेषेण जगत्सामर्थ्यं हन्तीति विघ्नः।'** ब्रह्मादिकोंमें भी जगत्सर्जनादि-सामर्थ्यको हनन करनेवालेको विघ्न कहते हैं। अभिप्राय यह है कि ब्रह्मादि त्रिदेव कार्यब्रह्म कोटिके जब मान्य हैं, तब सृष्टि-सर्जन, रक्षण और संहरणरूप उनके कार्य विघ्नसे अभिभूत होते हैं; अतः वे जगत्सर्जनादिमें पूर्ण स्वतन्त्र सिद्ध नहीं होते। किंतु गणेशके अनुग्रहसे ही विघ्नविरहित होकर कार्यकरणक्षम होते हैं। विघ्न और विनायक—ये दोनों ही भगवान् होनेके कारण स्तुत्य हैं। अतएव **'भगवन्तौ विघ्न-विनायकौ प्रीयेताम्'** ऐसा पुण्याहवाचनमें लिखा है। विघ्न गणेशके अतिरिक्त और किसीके वशमें नहीं है, जैसा कि 'योगवासिष्ठ' में शाप देनेको उद्यत भृगुके प्रति विघ्नरूप कालने कहा है—

मा तपः क्षपयाबुद्धे कल्पकालमहानलैः।
यो न दग्धोऽस्मि मे तस्य किं त्वं शापेन धक्ष्यसि॥
संसारावलयो ग्रस्ता निगीर्णा रुद्रकोटयः।
भुक्तानि विष्णुवृन्दानि क्व न शक्ता वयं मुने॥

इससे सिद्ध हुआ कि गणेश-स्मरणहीन सभी निःश्रेयस-साधन सत्कर्मोंमें कालरूप विघ्नका प्रादुर्भाव होना अनिवार्य है। अतः विघ्नोंके निवारणके लिये गणेश-स्मरण सभी सत्कर्मोंमें आवश्यक है।

यदि कहा जाय कि ओंकार ही सर्वमंगलमय है, वेदोक्त समस्त कर्म-उपासनाओंके आदिमें ओंकारका ही स्मरण किया जाता है, इसलिये गणेश-स्मरण निरर्थक है। तो यह ठीक नहीं, क्योंकि ओंकार भी सगुण गणेश-स्वरूप ही है। 'मौद्गलपुराण' में भी कहा है—

'गणेशस्यादिपूजनं चतुर्विधं चतुर्मूर्तिधारकत्वात्।'

ब्रह्माके चारों मुखोंसे अष्टलक्ष श्लोकात्मक पुराणोंका प्रादुर्भाव हुआ। उसके पश्चात् द्वापरान्तमें व्यासदेवने कलियुगीय मन्दमति प्राणियोंके बोधार्थ अष्टादश पुराणोपपुराणोंका निर्माण किया। उनमें पहला 'ब्रह्मपुराण' है, उसमें निर्गुण एवं बुद्धितत्त्वसे परे गणेश-तत्त्वका वर्णन है। अन्तिम 'ब्रह्माण्डपुराण' है, उसमें सगुण गणेशका माहात्म्य प्रतिपादित है; क्योंकि वह विशेषरूपसे प्रणवात्मक प्रपंचका प्रतिपादन करनेवाला है। उपपुराणोंमें भी पहला 'गणेशपुराण' है, जो कि सगुण-निर्गुण गणेशकी एकताका प्रतिपादन करनेवाला है और गजवदनादिमूर्तिधर गणेशका भी प्रतिपादन करता है। यहाँपर जो यह कहा जाता है कि उपपुराण अपकृष्ट हैं, यह ठीक नहीं है; क्योंकि जैसे उपेन्द्र इन्द्रसे अपकृष्ट नहीं, वैसे ही पुराणापेक्षया उपपुराण अपकृष्ट नहीं। 'मौद्गल' अन्तिम उपपुराण है। उसमें योगमय गणेशका माहात्म्य प्रतिपादित है। इस तरह वेद, पुराण, उपपुराण आदिके भी आदिमें, मध्यमें और अन्तमें गणेश-तत्त्वका प्रतिपादन मिलता है। इतना ही क्यों, ब्रह्म-विष्णु आदि भी गणेशांश होनेसे ही शास्त्र-प्रतिपाद्य हैं। कोई लोग बुद्धिस्थ चिदात्मरूप गणेशका स्मरण करके सत्कर्म करते हैं, कोई प्रणवस्मरणपूर्वक सत्कर्म करते हैं, कोई गज-वदनाद्यवयव-मूर्तिधर गणेशका स्मरण करते हैं एवं कोई योगमय गणपतिका स्मरण करते हैं। इस तरह सभी शुभकार्योंके आरम्भमें येन-केनचिद्रूपेण (किसी न किसी रूपमें) गणेशस्मरण देखा जाता है।

मरणासन्नावस्था तथा श्राद्ध आदिमें भी गणेश-स्मरण आवश्यक

कोई कहते हैं कि प्राण-प्रयाणके समय एवं पितृ-यज्ञादिमें गणेश-स्मरण प्रसिद्ध नहीं है, यह ठीक नहीं; क्योंकि गया-स्थित गणेश-पद पितृ-मुक्ति देनेवाला है। वेदोक्त पितृ-यज्ञारम्भमें गणेश-पूजनका निषेध नहीं है। अतः वहाँ भी गणेश-पूजन होता है और होना युक्त है, इसीलिये श्रुति गणाधिपतिको ज्येष्ठराज पदसे सम्बोधित करती है।

'गणेशपुराण' में त्रिपुर-वधके समय शिवजीने कहा है—

शैवैस्त्वदीयैरथ वैष्णवैश्च
शाक्तैश्च सौरैरथ सर्वकार्ये।
शुभाशुभे लौकिकवैदिके च
त्वमर्चनीयः प्रथमं प्रयत्नात्॥

'गणेश-गीता' में मरण-कालमें भी गणेश-स्मरण कहा है—

यः स्मृत्वा त्यजति प्राणमन्ते मां श्रद्धयान्वितः।
स यात्यपुनरावृत्तिं प्रसादान्मम भूभुज॥

'गणेशोत्तरतापिनी' में भी कहा है—

ॐ गणेशो वै ब्रह्म तद्विद्यात्। यदिदं किञ्च सर्वं भूतं भव्यं जायमान च तत् सर्वमित्याचक्षते॥

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि पूर्ण परब्रह्म परमात्मा ही निर्गुण एवं विघ्नविनाशकत्वादि-गुणगणविशिष्ट, गजवदनादि-अवयव-मूर्तिधरके रूपमें श्रीगणेश हैं।

क्या गणेशजी अनार्योंके देव हैं?

आजकल कुछ ग्रन्थचुम्बक पण्डितम्मन्य पाश्चात्योंके शिष्य होकर बाह्य कुसंस्कार-दूषितान्तः-करण सुधारक श्रीगणेशतत्त्वपर ऊटपटाँग विचार करनेका साहस कर बैठते हैं। वे अपने गुरुओंके विपरीत भला कितना विचार कर सकते हैं? उनका

कहना है कि पहले गणेशजी आर्योंके देवता नहीं थे। किंतु एतद्देशीय अनार्योंको पराजित करनेपर उनके सान्त्वनार्थ गणेशको आर्योंने अपने देवताओंमें मिला लिया है। इस ढंगके विद्वान् कुछ पुराण, कुछ वेदमन्त्र, कुछ चौपाइयोंका संग्रहकर अपनी अनभिज्ञताका परिचय देते हुए ऐसे गणपतिस्वरूपका वर्णन करते हैं कि जिससे शास्त्रीय गणपति-स्वरूप समाच्छन्न हो जाता है। यद्यपि थोड़ा-सा भी तत्त्वज्ञान रखनेवाले पुरुषके लिये ऐसे असम्बद्धालाप हेय ही हैं तथापि मूर्खोंको तो उनसे व्यामोह होना स्वाभाविक ही है।

कोई इन महानुभावोंसे पूछे कि गणेश नामका कोई तत्त्व है, यह आपने कैसे जाना? पुराणादि शास्त्रोंद्वारा या यत्र-तत्र गणपतिकी मूर्तियोंको देखकर? यदि शास्त्रोंसे ही गणेश-तत्त्व समझा जाय, तो फिर गणेशको अनार्योंके देव कैसे कहा जाय; क्योंकि शास्त्रोंसे तो वे ब्रह्मादिके पूज्य पाये जाते हैं। रही दूसरी बात मूर्तियोंको देखकर जाननेकी तो फिर प्रश्न होगा कि 'ये मूर्तियाँ किस आधारपर बनीं?' वे तो शास्त्रप्रोक्त ध्यानानुकूल ही बनी हैं। यदि इसे उचित न मानें तो गणपतिको देवता या पूज्य समझना केवल मूर्खता ही है। कारण यह है कि केवल काष्ठमृत्पाषाणादिको कौन अभिज्ञजन पूज्य समझेगा? यदि कहा जाय कि अदृश्य शक्तिविशेषका उस मूर्तिमें आवाहनकर उसका पूजन किया गया है, तो भी वह विशिष्ट देवशक्ति किस प्रमाणसे पहचानी या आहूत की गयी है? इसके उत्तरमें यदि यह कहा जाय कि यह बात शास्त्रोंसे ही जानी गयी तो फिर शास्त्रोंने तो गणेश-तत्त्वको अनादि ईश्वर कहा ही है। अत: वे अनार्योंके देवता कैसे हुए?

एक दूसरी विलक्षण बात यह है कि शास्त्रोंके ही आधारपर गणेशको अनार्याभिमत देव समझना और आर्योंका कहीं बाहरसे यहाँ आना, भारतवर्षमें प्राथमिक अनार्योंका निवास और अनार्योंके देवता गणेशका आर्योंद्वारा ग्रहण! भला, ऐसी बेसिर-पैरकी बातें अनार्य शिष्योंके सिवा और किसको सूझ सकती हैं? भला, कोई भी सहृदय पुरुष वेद-पुराणादि शास्त्रोंको मानता हुआ भी क्या गणेशका अनार्यदेवत्व स्वीकार कर सकता है? वस्तुतः यह सब दूषित संस्कारों एवं आचार-शून्य मनमाने शास्त्रोंके पुस्तकीय ज्ञानका ही कुफल है। इसीलिये वे ज्ञानलवदुर्विदग्ध अनभिज्ञोंसे भी शोचनीय समझे जाते हैं। इसी कारणसे अपने यहाँ किसी भी सच्छास्त्रके अध्ययनका यही नियम है कि आचार्य-परम्परासे शास्त्रीय गूढ़ रहस्योंको समझना चाहिये और परस्परविरोधी प्रतीत होनेवाले वाक्योंका समन्वय करना चाहिये। ऐसा न होनेसे ही श्रीगणपतिकी भिन्न-भिन्न लीलाएँ प्राणियोंको मोहित करनेवाली होती हैं। जैसे उनका नित्यत्व, पार्वती-पुत्रत्व, शनिके दृष्टिपातसे शिरश्छेद और गजवदनका सन्धान आदि।

ये सब बातें केवल गणपतिके ही विषयमें नहीं, अपितु श्रीरामचन्द्र आदिके विषयमें भी हैं। जैसे अजत्व और जायमानत्व, नित्यमुक्तत्व और सीता-विरहमें रोदनादि। इसीलिये गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे॥

वस्तुत: जिन्होंने भगवान्की अघटनघटनापटीयसी मायाका महत्त्व नहीं समझा, उन्हें अचिन्त्यमहामहिम वैभवशाली भगवान्की निर्गुण तथा सगुण लीलाओंका ज्ञान कैसे हो?

'अन्तरजायमानो बहुधा वि जायते।'

(यजु० ३१।१९)

'मत्स्थानि सर्वभूतानि'

(गीता ९।४)

'न च मत्स्थानि भूतानि'

(गीता ९।५)

—इत्यादिका अभिप्राय कैसे विदित हो? सगुण लीला तो निर्गुणकी अपेक्षा भी भावुकोंकी दृष्टिमें दुरवगाह्य है—

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥

(रा०च०मा० ७।७३ (ख))

इसलिये गोस्वामीजीने कहा है कि अनादि देवता समझकर गणेशादिके रूपभेद, शिवपूज्यता आदि अंशोंमें संशय न करें—'***कोउ सुनि संसय करै जनि सुर अनादि जियँ जानि॥***' फिर जब बड़े-से-बड़े तार्किकोंका तर्क भौतिक भावोंमें ही कुण्ठित हो जाता है, तब व्याप्ति या हेतु तथा हेत्वाभासके ज्ञानसे शून्य आधुनिक विद्वानोंको देवता या ईश्वरके विषयमें तर्क करनेका क्या अधिकार है? वे महानुभाव यदि तर्कके स्वरूपका भी ठीक-ठीक निरूपण कर सकें, तो उन्हें यह पता लग सकेगा कि धर्म तथा देवतापर तर्क कुछ काम कर सकता है या नहीं? भला यदि इनसे कोई पूछे कि यह आपने कैसे अनुमान किया कि गणेश अनार्योंके देवता हैं और आदि भारतवासी अनार्य ही हैं? क्या कोई अव्यभिचरित-हेतु इसका आपके पास है? तो ये लोग सिवा अटकलपच्चू कल्पित मिथ्या इतिहासके और क्या बतला सकते हैं? परंतु यदि इनके भ्रमपूर्ण निराधार आधुनिक इतिहास मान्य हैं तो प्राचीन आध्यात्मिक गम्भीर भावपूर्ण हमारे इतिहास क्यों मान्य नहीं?

अस्तु, आस्तिकोंको पूर्वोक्त प्रमाणोंसे निर्धारित गणपति-तत्त्वका श्रद्धासहित समस्त कर्मोंमें आराधन अवश्य करना चाहिये। पारलौकिक तत्त्व-निर्धारणमें एकमात्र शास्त्र ही आदरणीय है। इसीलिये भगवान्ने गीता (१६। २४)-में कहा है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

भगवान् सूर्य—हमारे प्रत्यक्ष देवता

सभी प्राणियोंको जन्मसे ही भगवान् सूर्यके दर्शन होते हैं। ये सर्वप्रसिद्ध देवता हैं। अन्य किसी देवताकी स्थितिमें कुछ सन्देह भी हो सकता है, किंतु भगवान् सूर्यकी सत्तामें किसीको सन्देहके लिये कोई अवसर ही नहीं है। सभी लोग इनका प्रत्यक्ष (साक्षात्कार) प्राप्त करते हैं।

'**सृ गतौ**' अथवा '**षू प्रेरणे**' से क्यप् प्रत्यय होनेपर 'सूर्य' शब्द निष्पन्न होता है। '**सरति आकाशे—इति सूर्यः**'—जो आकाशमें निराधार भ्रमण करता है अथवा '**सुवति कर्मणि लोकं प्रेरयति**'—जो (उदयमात्रसे) अखिल विश्वको अपने-अपने कर्ममें प्रवृत्त कराता है, वह सूर्य है। व्याकरण-शास्त्रमें इसी अर्थमें—'**राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्याव्यथ्याः**' (पा० सू० ३। १। ११४) इस पाणिनि-सूत्रसे निपातन होकर भी सूर्य शब्द बनता है।

अखिल विश्वमें प्रकाश देनेवाला, अनन्त तेजका भण्डार-मण्डल ही सूर्य शब्दका वाच्यार्थ है और इसका लक्ष्यार्थ है—मण्डलाभिमानी पुरुष—चेतन-आत्मा तथा उसका अन्तर्यामी। ऋग्वेदसंहिता कहती है—

'**सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**' (१। ११५। १)

अर्थात्—'भगवान् सूर्य सभी स्थावर-जंगमात्मक विश्वके अन्तरात्मा हैं।'

'कालात्मा पुरुष भी सूर्य ही हैं।' ऋग्वेदसंहिताका वचन है—

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्र-
मेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं
यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः॥

(१। १६४। २)

अर्थात् इस कालात्मा पुरुषका रथ बहुत ही विलक्षण है। रंहणस्वभाव (गमनशील) होनेके कारण उसे रथ कहा जाता है। वह अनवरत (सतत) गमन किया करता है। उस रथमें संवत्सरात्मा एक ही चक्र है। अहोरात्रके निर्वाहके लिये (अहोरात्रके स्वरूप-निर्माणके लिये) उसमें सात अश्व जोड़े जाते हैं—'**रथस्यैकं चक्रं भुजगयमिताः सप्त तुरगाः।**' ये सात अश्व ही सात दिन हैं। वस्तुतः अश्व एक ही

है, किंतु सात नाम होनेके कारण सात अश्व कहे जाते हैं। उस एक चक्रमें ही (भूत, भविष्य और वर्तमान) ये तीन नाभियाँ हैं। वह रथ अजर-अमर (जरा-मरणसे रहित) अर्थात् अविनाशी है एवं अनर्व अर्थात् अत्यन्त दृढ़ है अर्थात् कभी शिथिल नहीं होता। इसी कालात्मा पुरुषके सहारे पिण्डज, अण्डज, स्थावर, ऊष्मज सभी प्रकारके प्राणी टिके हुए हैं। ऐसे रथपर स्थित इन भुवनभास्करको देखकर (समझकर) मनुष्य पुनर्जन्म नहीं पाता—मुक्त हो जाता है—

'रथस्थं भास्करं दृष्ट्वा पुनर्जन्म न विद्यते।'

शतपथब्राह्मणमें भगवान् सूर्यको त्रयीमय कहा गया है—**'यदेतन्मण्डलं तपति तन्महदुक्थं ता ऋचः स ऋचां लोकोऽथ यदेतदर्चिर्दीप्यते तन्महाव्रतं तानि सामानि स साम्नां लोकोऽथ य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः सोऽग्निस्तानि यजूंषि स यजुषां लोकः॥'** (१०।५।२।१)

इस श्रुतिमें भगवान् सूर्यके दिव्य गृहस्थानीय मण्डलकी स्तुति की गयी है। मण्डलकी स्तुतिसे मण्डलाभिमानी पुरुष और उसकी स्तुतिसे अन्तर्यामीकी स्तुति स्वभावतः सिद्ध है। यह जो सर्वप्राणिनेत्रगोचर आकाशका भूषण वर्तुलाकार मण्डल है, वह महदुक्थ (बृहती सहस्र नामसे प्रसिद्ध होत्रमें शस्त्रविशेष) है तथा वही ऋक् है। जो इस मण्डलमें अर्चि (सर्वजगत्-प्रकाशक तेज) है, वह 'महाव्रत' नामक क्रतु (यज्ञकर्म) विशेष है और बृहत्-रथन्तर आदि साम भी वही है तथा जो मण्डलाभिमानी पुरुष है, वह अग्नि (अर्थात् अग्न्युपलक्षित सर्वदेव) है तथा यजुष् भी वही पुरुष है। अपने तेजसे तीनों लोकोंको पूरित करनेके कारण वह पुरुष है—**'आ प्रा द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षम्'** अथवा सभी प्राणियोंके शरीररूप पुरमें शयन करनेके कारण वह पुरुष है—**'सर्वासु पूर्षु शेषे'** (श० ब्रा० १४।२।५।१८) अथवा सभी पापोंको भस्म कर देनेके कारण वह पुरुष है—**'सर्वान् पाप्मन औषत्त-स्मापुरुषः'** (श० ब्रा० १४।१।२।२)। छान्दोग्य-उपनिषद्‌में इस पुरुषका वर्णन किया गया है—

'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः।... स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद (छा० उ० १।६।६-७)। श्रुति भी आदित्यरूपमें इसी अन्तर्यामी पुरुषका वर्णन कर रही है। **'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्'** (ब्र० सू० १।१।२०)—इस ब्रह्मसूत्रमें भी यह निर्णय किया गया है कि इस छान्दोग्यश्रुतिमें प्रतिपादित पुरुष अन्तर्यामी है। इस प्रकार भगवान् सूर्य सर्वदेवमय हैं—**'तस्मा-त्परमेश्वर एवेहोपदिश्यते इत्यादि'** (शांकरभाष्य)

गायत्री-उपासना सर्वदेवमय आदित्यकी उपासना है

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणके युद्धकाण्डमें आदित्य-हृदयस्तोत्रके द्वारा इन्हीं भगवान् सूर्यकी स्तुति की गयी है। उसमें कहा गया है कि ये ही भगवान् सूर्य ब्रह्मा, विष्णु, शिव, स्कन्द और प्रजापति हैं। महेन्द्र, कुबेर, वरुण, काल, यम, सोम आदि भी ये ही हैं—

एष ब्रह्मा च विष्णुश्च शिवः स्कन्दः प्रजापतिः।
महेन्द्रो धनदः कालो यमः सोमो ह्यपाम्पतिः॥

आपत्तिके समयमें, भयंकर विषम परिस्थितिमें, जनशून्य अरण्यमें, अत्यन्त भयदायी घोर समयमें अथवा महासमुद्रमें इनका स्मरण, कीर्तन और स्तुति करनेसे प्राणी सभी विपत्तियोंसे छुटकारा पा जाता है—

एनमापत्सु कृच्छ्रेषु कान्तारेषु भयेषु च।
कीर्तयन् पुरुषः कश्चिन्नावसीदति राघव॥

तीनों सन्ध्याओंमें गायत्री-मन्त्रद्वारा इन्हींकी उपासना की जाती है। इनकी अर्चनासे सबकी मन:कामनाएँ पूर्ण होती हैं। भगवान् श्रीरामने युद्धक्षेत्रमें इनकी आराधना करके रावणपर विजय प्राप्त की थी। इनका स्तोत्र 'आदित्यहृदय' वरदानी है, अमोघ है। उसके द्वारा इनकी स्तुति करनेसे सभी आपदाओंसे छुटकारा पाकर प्राणी अन्तमें परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है।

श्रीशिव-तत्त्व

भगवान् शिव—समस्त प्राणियोंके विश्रामस्थान

शिव वही तत्त्व है, जो समस्त प्राणियोंके विश्रामका स्थान है। '**शीङ् स्वप्ने**' धातुसे 'शिव' शब्दकी सिद्धि है। '**शेरते प्राणिनो यत्र स शिवः**'—अनन्त पाप-तापोंसे उद्विग्न होकर विश्रामके लिये प्राणी जहाँ शयन करें, बस उसी सर्वाधिष्ठान, सर्वाश्रयको शिव कहा जाता है। वैसे तो—

'**शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः॥**' (माण्डूक्योपनिषद् ७)

—इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—तीनों अवस्थासे रहित, सर्वदृश्यविवर्जित, स्वप्रकाश, सच्चिदानन्दघन परब्रह्म ही शिवतत्त्व है, फिर भी वही परमतत्त्व अपनी दिव्य शक्तियोंसे युक्त होकर अनन्त ब्रह्माण्डोंका उत्पादन, पालन एवं संहार करते हुए ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि संज्ञाओंको धारण करते हैं। यद्यपि कहीं ब्रह्मा जीव भी कहा जाता है, '**सोऽबिभेत् एकाकी न रेमे जाया मे स्यादथ कर्म कुर्वीय**' इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार भय, अरमण आदिसे युक्त होनेसे हिरण्यगर्भ एवं विराट्को जीव ही कहा गया है तथापि वह एक-एक ब्रह्माण्डके उत्पादक मुख्य ब्रह्मादिके साथ तादात्म्याभिमानी जीव ब्रह्मा कहा जाता है। वास्तवमें तो जैसे किसान ही क्षेत्रमें बीजको बोकर अंकुरादिरूपमें उत्पादक होता है, वही सिंचनादिद्वारा पालक और अन्तमें वही काटनेवाला होता है, वैसे ही एक ही अनन्त-अचिन्त्य-शक्तिसम्पन्न भगवान् विश्वके उत्पादक, पालक और संहारक होते हैं।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

(गीता १४।४)

भगवान्का कहना है कि समस्त भूतोंमें जितनी भी मूर्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उन सबकी महद् ब्रह्म (प्रकृति) योनि (माता) है और बीज प्रदान करनेवाला पिता मैं हूँ। '**पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः**' (गीता ९।१७)—मैं ही समस्त जगत्का पिता—उत्पादक हूँ।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥

(गीता १४।३)

अर्थात् प्रकृतिरूप योनिमें जब मैं गर्भाधान करता हूँ, तब उससे समस्त विश्वकी उत्पत्ति होती है। इस तरह ब्रह्माण्डोत्पादक ब्रह्मा भी परमेश्वर ही है, अतएव—

'**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।**' (तैत्तिरीयोपनिषद् ३।१)

विश्वका उत्पादक, पालक, संहारक—एक या अनेक?

इस श्रुतिसे जो ब्रह्मका लक्षण कहा गया है, उससे विश्वके उत्पादक, पालक एवं संहारकको परमेश्वर समझना चाहिये। यदि यह तीनों पृथक्-पृथक् हों, तब तो कोई भी परमेश्वर नहीं सिद्ध हो सकेगा; क्योंकि निरतिशय ऐश्वर्य और सार्वज्ञ-गुण-सम्पन्नको परमेश्वर कहा जाता है। यदि ये तीनों ही सर्वशक्तिसम्पन्न परमेश्वर हैं तो यह प्रश्न होगा कि ये तीनों मिलकर सलाहसे कार्य करते हैं या स्वतन्त्रतासे अपनी-अपनी इच्छाके अनुसार? यदि सलाहसे ही करते हैं यह माना जाय, तब तो इनमें परमेश्वर कोई भी न हुआ। किंतु इन तीनोंकी पर्षद् या पंचायत ही परमेश्वर है; क्योंकि अकेले कोई भी कार्य करनेमें स्वतन्त्र नहीं है। यदि तीनोंकी इच्छा समान ही होती है और तीनोंके इच्छानुसार ही उनकी शक्तियाँ कार्यमें प्रवृत्त होती हैं, तब भी तीनका मानना ही व्यर्थ है। फिर तो एकसे भी वह सब कार्य सम्पन्न हो ही सकता है। यदि द्वितीय पक्ष स्वीकार किया जाय

अर्थात् स्वतन्त्रतासे भी तीनों कार्य कर सकते हैं, तब भी इनमें कोई भी परमेश्वर नहीं सिद्ध होगा; क्योंकि स्वतन्त्रतासे यदि इच्छा उत्पन्न होगी तो सम्भव है कि जिस समय एकको जगत्पालनकी रुचि हुई, उसी समय दूसरेको संहारकी रुचि उत्पन्न हो। अब यहाँ जिसकी इच्छा सफल होगी, उसीका निरंकुश ऐश्वर्य समझा जायगा। जिसका मनोरथ भग्न हुआ, उसकी ईश्वरता औपचारिक ही रहेगी। एक विषयमें विरुद्ध दो प्रकारकी इच्छाओंका सफल होना असम्भव ही है। इस तरह अनेक ईश्वरका होना किसीके भी मतमें कथमपि सम्भव नहीं, अत: एकेश्वरवाद ही सबको मानना पड़ता है। इसीलिये महानुभावोंने एकहीमें अवस्थाभेदसे उत्पादकत्व, पालकत्व और संहारकत्व माना है।

निश्श्वसितमस्य वेदा वीक्षितमेतस्य पञ्चभूतानि।
स्मितमेतस्य चराचरमस्य च सुप्तं महाप्रलयः॥

(भामती १।२)

एक तत्त्वका अनेक नाम-रूपोंमें परिणमन

भगवान्‌के नि:श्वाससे ही वेदोंका प्रादुर्भाव हो जाता है। वीक्षण (देखने)-से आकाशादि अपंचीकृत पंच महाभूतकी सृष्टि होती है। स्मित (मन्दहास, मुसकराहट)-से भौतिक अनन्त ब्रह्माण्ड बन जाते हैं और सुप्तिसे ही निखिल ब्रह्माण्डका प्रलय हो जाता है। इस दृष्टिसे एक ब्रह्माण्डके उत्पादक, पालक, संहारक ब्रह्मा, विष्णु, शिवके अतिरिक्त निखिल ब्रह्माण्डोंके उत्पादक, पालक, संहारक ब्रह्मा, विष्णु और शिवमें किंचिन्मात्र भी भेद नहीं है। जैसे एक ही गगनस्थ सूर्य अनन्त घटोदकों और तड़ागोदकोंमें प्रतिबिम्बित होता है, वैसे ही एक ही अखण्ड, अनन्त, निर्विकार चिदानन्द परमात्मतत्त्व अनन्त अन्त:करणों और मायाभेदोंमें प्रतिबिम्बित होते हैं। अन्त:करणगत प्रतिबिम्ब ही जीव कहलाते हैं। मायागत प्रतिबिम्ब ही ईश्वर कहलाते हैं। जैसे अन्त:करणके स्वच्छत्वादि-तारतम्यसे जीवोंमें काल्पनिक भेद होता है, वैसे ही मायाकी उत्पादकत्व, पालकत्व, संहारकत्व शक्तिके भेदसे ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रमें काल्पनिक भेद होता है। अनन्त ब्रह्माण्डकी कल्पनामें अनन्त ब्रह्माण्डकी उत्पादिनी शक्तियाँ भी अनन्त हैं। उन एक-एक शक्तियों, अनन्त अन्त:करण और उत्पादकत्व, पालकत्व, संहारकत्व शक्तिसे युक्त माया है। इस तरह एक-एक शक्तिसे ब्रह्माण्ड और उसके अन्तर्गत अनन्त जीव एवं उत्पादक, पालक, संहारक ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र व्यक्त होते हैं। परंतु इन सभी प्रतिबिम्बोंका मूलभूत जो बिम्ब है, वह तो सर्वथा एक ही है। वही विष्णुभक्तोंको विष्णुरूपसे, रामभक्तोंको रामरूपसे, शिवभक्तोंको शिव-स्वरूपसे दृष्टिगोचर होता है। जैसे एक ही गगनस्थ सूर्य नीले चश्मेसे नीला, पीलेसे पीला दिखलायी देता है, वैसे ही विष्णुभावनासे भावित अन्त:करण विष्णुभक्त उसी परमतत्त्वको विष्णु कहते हैं, शिवभावनासे भावितमनस्क उसी परमतत्त्वको शिव कहते हैं और वही श्रीकृष्ण, श्रीराम आदि रूपमें उपलब्ध होता है। वही गगनस्थ सूर्यस्थानीय परमतत्त्व 'शिव-स्कन्दादि' पुराणका शिव है, वही 'विष्णुपुराण', 'रामायण', 'भागवत' आदि सद्ग्रन्थोंमें विष्णु, राम, कृष्णरूपसे गाया गया है। भक्तके भावनानुसार ही उस परमतत्त्वकी ही विशुद्ध सत्त्वमयी दिव्य शक्तिके योगसे मधुर मनोहर मूर्ति भी व्यक्त होती है। इस तरह मूलत: शिव एवं विष्णु एक ही हैं, फिर भी उनके अपर रूपमें सत्त्वके योगसे विष्णुको सात्त्विक और तमस्‌के योगसे रुद्रको तामस कहा जाता है। वस्तुत: सत्त्वनियन्ता विष्णु और तमनियन्ता रुद्र हैं। तमस् ही मृत्यु है, काल है, अत: उसके नियन्ता महामृत्युंजय महाकालेश्वर भगवान् रुद्र हैं। दूसरी दृष्टिसे भी जैसे तम:प्रधान सुषुप्तिसे ही जागर-स्वप्नकी सृष्टि होती है, वैसे ही तम:प्रधान प्रलयावस्थासे ही सर्वप्रपंचकी सृष्टि होती है।

श्रीकृष्णके अनन्य प्रेमी भक्तगण तमस्‌को बहुत ऊँचा किंवा सबसे उत्कृष्ट मानते हैं। प्रेममयी आसक्ति मोह, मूर्च्छा, सात्त्विक विवेक, प्रकाशसे कहीं अधिक महत्त्वकी होती है। वास्तवमें किसी भी कार्यमें अवष्टम्भ (रुकावट), प्रकाश और प्रवृत्ति

(हलचल)-की अपेक्षा होती है। तीनोंमेंसे एकके बिना भी कार्य नहीं होता। प्राकृत या अप्राकृत दिव्य-से-दिव्य कार्योंमें भी अवष्टम्भकी अपेक्षा होती है, वही दिव्य अवष्टम्भ तम है। इसी तामस एवं तामस भावनाका अत्यन्त महत्त्व माना जाता है। श्रीभागवतका तामसफल (रासलीला)-प्रकरण सर्वापेक्षया अपना अधिक महत्त्व रखता है। वैसे भी विश्रामके लिये तामस सुषुप्तिकी ऐसी महिमा है कि इन्द्रादि दिव्य भोग-सामग्री-सम्पन्न होकर भी उसे छोड़कर सुषुप्ति चाहते हैं। चिन्तन, मनन सात्त्विक होनेपर भी सुषुप्तिका प्रतिबन्धक होनेसे उद्वेजक समझा जाता है। जब जागरादि अवस्थामें द्वैत-दर्शनसे जीव उद्विग्न हो उठता है, तब उसे विश्रामके लिये सुषुप्तिका आश्रयण अनिवार्य हो जाता है। वैसे ही जब सृष्टिकालके उपद्रवोंसे जीव व्याकुल हो जाता है, तब उसकी दीर्घ सुषुप्तिमें विश्रामके लिये भगवान् सर्वसंहार करके प्रलयावस्था व्यक्त करते हैं।

संहारमें भी भगवत्कृपा

यह संहार भी भगवान्‌की कृपा ही है, जैसे दुश्चिकित्स्य व्रणसे व्याकुलको देखकर चिकित्सक करुणासे ही व्रण-छेदनके लिये तीक्ष्ण शस्त्रको ग्रहण करता है, वैसे ही दुर्निवार्य पाप-तापके बढ़ जानेपर करुणासे ही भगवान् विश्वका संहार करते हैं—

जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥

(रा०च०मा० ७।७४।८)

कार्यावस्थासे कारणावस्थाका महत्त्व स्पष्ट ही है। तम: प्रधानावस्था है, उसीसे उत्पादनावस्था और पालनावस्था व्यक्त होती है। अन्तमें फिर भी सबको प्रलयावस्थामें जाना पड़ता है—

'भूतग्राम: स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।'

(गीता ८।१९)

अर्थात् यह समस्त भूतग्राम अनन्त कालसे उत्पन्न हो-होकर पुन:-पुन: प्रलयावस्थाको प्राप्त होता है। कारणसे ही सबकी उत्पत्ति और उसीमें पालन और पुन: उसीमें सबका संहार होता है। नि:स्तब्ध समुद्रसे ही तरंगकी उत्पत्ति, उसीमें उसका पालन, अन्तमें फिर उसीमें संहार भी होता है। उत्पादनावस्थाके नियामक ब्रह्मा, पालनावस्थाके नियामक विष्णु और संहारावस्था एवं कारणावस्थाके नियामक शिव हैं। पहले भी कारणावस्था रहती है, अन्तमें भी वही रहती है। इस तरह प्रारम्भमें भी शिव और अन्तमें भी शिव ही तत्त्व अवशिष्ट रहता है—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत्सदसत्परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥

तत्त्वज्ञ लोग उसीमें आत्मभाव करते हैं, जो चराचर प्रपंचकी उत्पत्तिके पहले होता है, उसकी महिमा और वीर्यवत्ता प्रसिद्ध ही है। अत: वही मुख्य निरुपचरित ईश्वर या महेश्वर होता है।

शिव सर्वाराध्य परम दैवत हैं

शिवजी ही केवल ईश्वर शब्दसे कहे जाते हैं—

'ईशान: सर्वविद्यानामीश्वर: सर्वभूतानाम्।'
'महेश्वरस्त्र्यम्बक एव नापर:।'
'ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।'

अर्थात् ईशान ही सर्व विद्याओं एवं भूतोंके ईश्वर हैं, वे ही महेश्वर हैं, वे ही सर्व प्राणियोंके हृदयमें रहते हैं। हृदयमें ही सुषुप्ति होती है, वहीं कारणावस्थाके अधिपतिका होना युक्त भी है। कहीं उपनिषदोंमें एकादश प्राणोंको 'रुद्र' कहा गया है। वे निकलनेपर प्राणियोंको रुलाते हैं, इसलिये रुद्र कहे जाते हैं। अत: दस इन्द्रियाँ और मन ही एकादश रुद्र हैं। परंतु ये आध्यात्मिक रुद्र हैं। आधिदैविक एवं सर्वोपाधिविनिर्मुक्त रुद्र इनसे पृथक् हैं। जैसे विष्णु (उपेन्द्र) पाद (पाँव)-के अधिष्ठाता हैं, वैसे ही रुद्र अहंकारके अधिष्ठाता हैं।

'एको रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे।'

अर्थात् एक रुद्र ही तत्त्व था, द्वित्वसंख्यापूर्त्यर्थ कोई दूसरा तत्त्व ही न था। इन श्रुतियोंसे प्रोक्त रुद्र तो महाकारण या कार्यकारणातीत शुद्ध ब्रह्म ही है। यह भी '**रोदनात् रुद्र**' है, प्रलयकालमें सबको रुलानेवाले ये ही हैं।

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥

(कठोपनिषद् १।२।२५)

अर्थात् ब्रह्मक्षत्रोपलक्षित समस्त प्रपंच जिसका ओदन (भात) है, मृत्यु जिसका उपसेचन (दूध, दही, दाल या कढ़ी) है, उसे कौन, कैसे, कहाँ जाने? जैसे प्राणी कढ़ी, भात मिलाकर खा लेता है, बस विश्वसंहारक काल और समस्त प्रपंचको मिलाकर खानेवाला परमात्मा मृत्युका भी मृत्यु है, अत: महामृत्युंजय है, कालका भी काल है, अत: काल-काल या महाकालेश्वर है। यदि कोई भी बच जाय, तब तो उसकी सर्वसंहारकतामें बाधा उपस्थित होती है, अतएव '**योऽवशिष्येत**' वही एक ब्रह्म है। इसीलिये विष्णु भी वही है, यदि वे शिव या रुद्रसे पृथक् होंगे, तब महामृत्युंजय, महाकालेश्वर, सर्वसंहारकसे संहृत हो जायँगे अन्यथा एकको छोड़कर सर्वकी संहारकता ही शिवमें समझी जायगी। सर्वसंहर्ताके सामने दूसरी जो भी चीज उपस्थित होगी, वह उसका अवश्य संहार करेगा। अत: यदि कोई बचेगा तो उसका आत्मा ही बचेगा; क्योंकि अपनेमें संहार्य-संहारकभाव नहीं बनता। इसीलिये शिवकी आत्मा विष्णु और विष्णुकी आत्मा शिव हैं। वहाँ भिन्नता है ही नहीं, जिससे परसमवेत-क्रियाशालित्वरूप कर्मत्वका योग हो। सर्वसंहारकमें ही निरतिशय प्राबल्य एवं परमेश्वरत्व, सर्वोत्कृष्टत्व सिद्ध होता है। शेष जो भी उससे भिन्न अवशिष्ट होते हैं, उन सबका संहार हो जाता है। अत: उनका अनीश्वरत्व, निकृष्टत्व, विधेयत्व, तद्वशवर्तित्व सुतरां सिद्ध होता है।

जो परमेश्वर भक्तों, प्रेमियों और ज्ञानियोंके निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेमके आस्पद होते हैं और परमानन्दसरूप होते हैं, वही अभक्तोंके लिये प्रचण्ड मृत्युरूप होकर उपलब्ध होते हैं और उनसे सब भयभीत होते हैं। संहारक और शासकसे सबको भय होना स्वाभाविक है। इसीलिये कहा गया है कि '**महद्भयं वज्रमुद्यतम्।**' अर्थात् परमेश्वर उद्यत वज्रके समान महाभयानक है। उसीके भयसे सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, इन्द्र नियमसे अपने-अपने काममें लगे हैं। उसीके भयसे मृत्यु भी दौड़ रही है—

भीषास्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः।
भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

(तैत्तिरीयोपनिषद् २।८।१)

यही प्रचण्ड कोपरूप भी है, कोपका कार्य मृत्यु है। फिर जो मृत्युका भी मृत्यु है, उसकी कोपरूपतामें क्या सन्देह है? सर्वसंहारक प्रचण्ड उग्र शासक परमात्मा ही ईश्वर, ईशान, भीम, उग्र, रुद्र, चण्ड एवं चण्डिका आदि शब्दोंसे व्यवहृत होता है।

वेदान्तकी दृष्टिसे अज्ञानी लोग सर्वविधभेदशून्य, स्वप्रकाश, अद्वैत ब्रह्मसे डरते हैं—

'**योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः।**'

(माण्डूक्यकारिका ३।३९)

जैसे नीमके कीड़ेको सिता शर्करासे उद्वेग होता है, वैसे ही सप्रपंच द्वैतसुखके कीट अज्ञानियोंको निष्प्रपंच अद्वैतसुखसे भय होता है; क्योंकि उनके अभिलषित वादित्र, नृत्य-गीतादि द्वैतसुखका वहाँ अत्यन्ताभाव होता है। परंतु ज्ञानियोंको तो वही परमानन्दसरूप है। इस तरह अज्ञानियोंको उद्वेजक होता हुआ भी वह तत्त्वज्ञानियोंको परमरसामृतरूप होकर प्रकट होता है।

विवेकियोंकी दृष्टिमें प्रमाद ही मृत्यु है—

'**प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि।**'

(सनत्सुजातीय १।४)

उन समस्त प्रमादोंकी जड़ मोहमूल अज्ञान ही है और उसका अन्त करनेवाला ब्रह्माकारा चरम वृत्तिपर आरूढ़ शुद्ध ब्रह्म ही है। इस तरह मृत्युरूप अज्ञानका नाशक होनेसे सर्वसंहारक महामृत्युंजय महाकालेश्वर परम-तत्त्व शिव ही हैं। वे ही लीलया दिव्यमंगलमयी मूर्ति धारण करते हैं, भक्तोंकी अपनी उपासनामें चावपूर्वक प्रवृत्ति देख कुतूहलवशात् स्वयं भी भक्तिरसका आस्वादन करनेके लिये अपने-आपको उपास्य-उपासक दो रूपमें व्यक्त करते हैं।

बाल रामचन्द्र, बाल मुकुन्द-रूपसे निज हस्तारविन्दके अंगुष्ठको मुखारविन्दमें विनिवेशितकर चरणारविन्द-मकरन्द-लुब्ध भावुक मनोमिलिन्दोंके लोकोत्तर सौभाग्यको समझकर स्वयं भी भक्त होकर श्रीशिवकी उपासना करते हैं और शिवजीके रूपसे विष्णुरूपकी उपासना करते हैं। शिवके हृदयमें राम, रामके हृदयमें शिव हैं। साम्राज्यसिंहासनसमासीन भगवान् रामके हृदयकमलमें अभिव्यक्त श्रीशिवका प्रत्यक्ष दर्शन महर्षियोंने किया और शिवके हृदयमें रामके प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। इस तरह ***'सेवक स्वामि सखा सिय पी के'*** (रा०च०मा० १।१५।४) शिव सर्वाराध्य परम दैवत हैं।

शिव-विष्णुका सर्वथा अभेद

श्रीकृष्णने उपमन्यु महर्षिसे दीक्षित होकर भगवान् अम्बासहित श्रीशिवकी आराधना करके दिव्य वर प्राप्त किया था। धर्मराज युधिष्ठिरने जब भीष्मजीसे शिवतत्त्वके सम्बन्धमें प्रश्न किया, तब उन्होंने अपनी असमर्थता प्रकट करके कहा कि 'श्रीकृष्ण उनकी कृपाके पात्र हैं, उनकी महिमाको जानते हैं और वे ही कुछ वर्णन भी कर सकते हैं।' युधिष्ठिरके प्रश्नसे श्रीकृष्णने शान्त, समाहित होकर यही कहा कि 'भगवान्‌की महिमा तो अनन्त है तथापि उन्हींकी कृपासे उनकी महिमाको अति संक्षेपमें कहता हूँ।' यह कहकर बड़ी ही श्रद्धासे उन्होंने शिव-महिमाका गायन किया। विष्णुभगवान्‌ने तो अपने नेत्रकमलसे भगवान्‌की पूजा की है। उसी भक्त्युद्रेकसे उन्हें सुदर्शन चक्र मिला है। शिव-विष्णुका तो परस्परमें ऐसा उपास्योपासक-सम्बन्ध है कि जो अन्यत्र हो ही नहीं सकता। तम काला होता है और सत्त्व शुक्ल, इस दृष्टिसे सत्त्वोपाधिक विष्णुको शुक्लवर्ण होना था और तम-उपाधिक रुद्रको कृष्णवर्ण होना था और सम्भवत: हैं भी वे वैसे ही, परंतु परस्पर एक-दूसरेकी ध्यानजनित तन्मयतासे दोनोंके ही स्वरूपमें परिवर्तन हो गया अर्थात् विष्णु कृष्णवर्ण और रुद्र शुक्लवर्ण हो गये। मुरलीरूपसे कृष्णके अधरामृतपानका अधिकार शिवको ही हुआ। श्रीकृष्ण अपने अमृतमय मुखचन्द्रपर, सुमधुर अधरपल्लवपर वंशीको पधराकर अपनी कोमलांगुलियोंसे उनके पादसंवाहन करते, अधरामृतका भोग धरते, किरीट-मुकुटका छत्र धरते और कुण्डलसे नीराजन करते हैं। श्रीराधारूपसे श्रीशिवका प्राकट्य होता है तो कृष्णरूपसे विष्णुका, कालीरूपसे विष्णुका तो शंकररूपसे शिवका। इस तरह ये दोनों उभय-उभयात्मा, उभय-उभयभावात्मा हैं।

शिवके सगुणस्वरूपकी मनोहरता एवं मंगलमयता

श्रीशिवका सगुण स्वरूप भी इतना अद्भुत, मधुर, मनोहर और मोहक है कि उसपर सभी मोहित हैं। भगवान्‌की तेजोमयी, दिव्य, मधुर, मनोहर, विशुद्ध सत्त्वमयी, मंगलमयी मूर्तिको देखकर स्फटिक, शंख, कुन्द, दुग्ध, कर्पूरखण्ड, श्वेताद्रि, चन्द्रमा सभी लज्जित होते हैं। अनन्तकोटि चन्द्रसागरके मन्थनसे समुद्भूत, अद्भुत, अमृतमय, निष्कलंक पूर्णचन्द्र भी उनके मनोहर मुखचन्द्रकी आभासे लज्जित हो उठता है। मनोहर त्रिनयन, बालचन्द्र एवं जटामुकुटपर दुग्धधवल स्वच्छाकृति गंगाकी धारा हठात् मनको मोहती है। हस्ति-शुण्डके समान विशाल, भूतिभूषित सुडौल, गोल, तेजोमय अंगद-कंकण-शोभित भुजा, मुक्ता—मोतियोंके हार, नागेन्द्रहार, व्याघ्रचर्म, मनोहर चरणारविन्द और उनमें सुशोभित नखमणिचन्द्रिकाएँ भावुकोंको अपार आनन्द प्रदान करती हैं। हिमाद्रिके समान धवलवर्ण स्वच्छ नन्दीगणपर विराजमान सदाशक्तिरूपा श्रीउमाके संग श्रीशिव ठीक वैसे ही शोभित होते हैं, जैसे धर्मतत्त्वके ऊपर ब्रह्मविद्यासहित ब्रह्म विराजमान हों, किंवा माधुर्याधिष्ठात्री महा-शक्तिके साथ मूर्तिमान् होकर परमानन्दरसामृतसिन्धु विराजमान हो।

भगवान्‌की ऐसी सर्वमनोहारिता है कि सभी उनके उपासक हैं। कालकूट विष और शेषनागको गलेमें धारण करनेसे भगवान्‌की मृत्युंजयरूपता स्पष्ट है। उन्होंने जटामुकुटमें श्रीगंगाको धारणकर विश्वमुक्ति-

मूलको स्वाधीन कर लिया। अग्निमय तृतीय नेत्रके समीपमें ही चन्द्रकलाको धारणकर अपने संहारकत्व-पोषकत्वरूप विरुद्ध धर्माश्रयत्वको दिखलाया। सर्वलोकाधिपति होकर भी विभूति और व्याघ्रचर्मको ही अपना भूषण-वसन बनाकर संसारमें वैराग्यको ही सर्वापेक्षया श्रेष्ठ बतलाया। आपका वाहन नन्दी तो उमाका वाहन सिंह, गणपतिका वाहन मूषक तो स्वामी कार्तिकेयका वाहन मयूर है। मूर्तिमान् त्रिशूल और भैरवादिगण आपकी सेवामें सदा संलग्न हैं। ब्रह्मा, विष्णु, राम, कृष्णादि भी उनकी उपासना करते हैं। नर, नाग, गन्धर्व, किन्नर, सुर, इन्द्र, बृहस्पति, प्रजापतिप्रभृति भी शिवकी उपासनामें तल्लीन हैं।

इधर तामससे तामस असुर, दैत्य, यक्ष, भूत, प्रेत, पिशाच, वेताल, डाकिनी, शाकिनी, वृश्चिक, सर्प, सिंह सभी आपकी सेवामें तत्पर हैं। वस्तुतः परमेश्वरका लक्षण भी यही है कि उसे सभी पूजें।

पार्वतीके विवाहमें जब भगवान् शंकर प्रसन्न हुए, तब अपनी सौन्दर्य-माधुर्य-सुधामयी दिव्य मूर्तिका दर्शन दिया। बरातमें पहले लोग इन्द्रका ऐश्वर्य, माधुर्य देखकर मुग्ध हो गये, समझा कि ये ही शंकर हैं और उन्हींकी आरतीके लिये प्रवृत्त हुए। जब इन्द्रने कहा कि 'हम तो श्रीशंकरके उपासकोंके भी उपासकोंमें निम्नतम हैं,' तब उन लोगोंने प्रजापति ब्रह्मा आदिका अद्भुत ऐश्वर्य देखकर उन्हें परमेश्वर समझा। जब उन्होंने भी अपनेको भगवान्‌का निम्नतम उपासक कहा, तब वे लोग विष्णुकी ओर प्रवृत्त हुए और उन्हें ही अद्भुत ऐश्वर्य-माधुर्य-सौन्दर्यसम्पन्न देखकर शंकर समझा। जब श्रीविष्णुने भी अपनेको शंकरका उपासक बतलाया, तब तो सब आश्चर्यसिन्धुमें डूबने लगे।

सचमुच भगवान् श्रीकृष्णके श्रीअंगका सौन्दर्य, माधुर्य अद्भुत है। औरकी कौन कहे, उसपर वे स्वयं मुग्ध हो जाते हैं। मणिमय स्तम्भों या मणिमय प्रांगणमें प्रतिबिम्बित अपनी ही मधुर, मनोहर, मंगलमयी मूर्तिको देख, उसके ही सम्मिलन और परिरम्भणके लिये वे स्वयं विभोर हो उठते हैं। श्रीमूर्तिके प्रत्येक अंगभूषणोंको भी भूषित करते हैं। कौस्तुभादि मणिगणोंने अनन्त आराधनाओंके अनन्तर अपनी शोभा बढ़ानेके लिये उनके श्रीकण्ठको प्राप्त किया है, किं बहुना अनन्त गुणगणोंने भी अनन्त तपस्याओंके अनन्तर अपनी गुणत्वसिद्धिके लिये जिन निर्गुण, निरपेक्षका आश्रयण किया है, वे स्वयं श्रीकृष्ण जिसकी उपासना करें, जिसपर मुग्ध रहें, उसकी महिमा, मधुरिमाका कहना ही क्या? राधारूपसे जिसे प्रतिक्षण हृदय एवं रोम-रोममें रखें, वंशीरूपसे अधरपल्लवपर रखें, जिनके स्वरूपका निरन्तर ध्यान करें, उनकी महिमाको कौन कह सकता है? शब्द, स्पर्श, रस, गन्धके माधुर्यमें प्राणियोंका चित्त आसक्त होता है। चित्तमें अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय ब्रह्मका आरोहण कठिन होता है। इसीलिये भगवान् ऐसी मधुर, मनोहर, मंगलमयी मूर्तिरूपमें अपने-आपको व्यक्त करते हैं, जिसके शब्द-स्पर्शादिके माधुर्यका पारावार नहीं, जिसके लावण्य, सौन्दर्य, सौगन्ध्य, सौकुमार्यकी तुलना कहीं है ही नहीं। मानो भगवान्‌की सौन्दर्य-सुधाजलनिधि मंगलमूर्तिसे ही, किंवा उसके सौन्दर्यादि-सुधासिन्धुके एक बिन्दुसे ही अनन्त ब्रह्माण्डमें सौन्दर्य, माधुर्य, लावण्य, सौगन्ध्य, सौकुमार्य आदि वितत हैं।

जब प्राणीका मन प्राकृत कान्ताके सौन्दर्य, माधुर्यादिमें आसक्त हो जाता है, तब अनन्तब्रह्माण्डगत सौन्दर्य, माधुर्यादि बिन्दुओंके उद्गमस्थान सौन्दर्यादि सुधाजलनिधि भगवान्‌के मधुर स्वरूपमें क्यों न आसक्त होगा?

भगवान् शिव आशुतोष हैं

भगवान्‌का हृदय भास्वती भगवती अनुकम्पा देवीके परतन्त्र है। संसारमें माँगनेवाला किसीको अच्छा नहीं लगता, उससे सभी घृणा करते हैं। परंतु, भगवान् शंकर तो आक, धतूर, अक्षत, बिल्वपत्र, जलमात्र चढ़ाने अथवा गाल बजानेसे ही सन्तुष्ट होकर सब कुछ देनेको प्रस्तुत हो जाते हैं। ब्रह्माजी पार्वतीसे अपना दुखड़ा रोते हुए कहते हैं—

बावरो रावरो नाह भवानी।

×

सिवकी दई संपदा देखत, श्री-सारदा सिहानी।
जिनके भाल लिखी लिपि मेरी, सुखकी नहीं निसानी।
तिन रंकनकौ नाक सँवारत, हौं आयो नकबानी॥

(विनय-पत्रिका ५)

दीन-दयालु दिबोई भावै, जाचक सदा सोहाहीं॥

(विनय-पत्रिका ४)

उनका भक्त एक ही बार प्रणाम करनेसे अपनेको मुक्त मानता है। भगवान् भी 'महादेव' ऐसे नाम उच्चारण करनेवालेके प्रति ऐसे दौड़ते हैं, जैसे वत्सला गौ अपने बछड़ेके प्रति—

महादेव महादेव महादेवेति वादिनम्।
वत्सं गौरिव गौरीशो धावन्तमनुधावति॥

जो पुरुष तीन बार 'महादेव, महादेव, महादेव' इस तरह भगवान्का नाम उच्चारण करता है, भगवान् एक नामसे मुक्ति देकर शेष दो नामसे उसके ऋणी हो जाते हैं—

महादेव महादेव महादेवेति यो वदेत्।
एकेन मुक्तिमाप्नोति द्वाभ्यां शम्भू ऋणी भवेत्॥

ठीक ही है, वेदान्त-सिद्धान्तानुसार शब्दसे ही तत्त्वका साक्षात्कार होता है। उपनिषदों, महावाक्यों एवं भगवत्स्वरूप-बोधक प्रणवादि नामोंसे तत्त्वसाक्षात्कार होता है। तत्त्वसाक्षात्कार होते ही कल्पित संसार मिट जाता है। स्वाभाविक पारमार्थिक ब्रह्मानन्दरसामृत मुक्ति मिल जाती है। जैसे अमृतसागरमें क्षारसागरकी कल्पना भ्रान्तिसे होती है, वैसे ही परमानन्दरसामृतमूर्ति शिवतत्त्वमें भवसागरकी भ्रान्ति होती है। अधिष्ठानके साक्षात्कारसे कल्पना मिट जाती है। यह **'नामु लेत भवसिंधु सुखाहीं'** (रा०च०मा० १।२५।४) का आशय है। दूसरी दृष्टिसे जैसे तृण, वीरुध, औषधोंके विचित्र सम्प्रयोग-विप्रयोगसे विचित्र गुणों और दोषोंका उद्भव-अभिभव होता है, वैसे ही वर्णोंके विचित्र सम्प्रयोग-विप्रयोगमें विचित्र शक्तियाँ होती हैं। 'क' 'ख' 'ग' 'घ' आदि वर्णोंके ही जोड़-तोड़से विचित्र वाङ्मय शास्त्र बने हैं। 'राजा', 'जारा'; 'नदी', 'दीन' ये सब अर्थ-विपरिणाम वर्णोंके आनुपूर्वी भेदसे ही होते हैं। उन्हीं वर्णोंके ऐसे भी जोड़-तोड़ होते हैं, जिनसे घोर-से-घोर शत्रु वशमें हो जाते हैं। सर्प, वृश्चिक, पिशाच, राक्षस, देवता वशमें हो जाते हैं। ऐसे विचित्र वर्णविन्यास होते हैं, जिनका मूल संसारमें कुछ भी नहीं है। विद्वानों, कवियों, तार्किकोंके वर्ण-विन्यास-विशेषमें ही विशेषता (खूबी) है, किन्हीं वर्णविन्यासोंसे परम मित्र भी शत्रु हो जाते हैं।

इस तरह अदृष्टविधया भी भगवान्के शिव, महादेव आदि नामोंमें विचित्र शक्ति है, जिससे प्राणी निष्पाप होकर परमतत्त्वका साक्षात्कारकर कृतकृत्य हो जाता है।

शिवसे शिक्षा

भगवान् भूतभावन श्रीविश्वनाथके चरित्रोंसे प्राणियोंको नैतिक, सामाजिक, कौटुम्बिक—अनेक प्रकारकी शिक्षा मिलती है। समुद्र-मन्थनमें निकलनेवाले कालकूट विषका भगवान् शंकरने पान किया और अमृत देवताओंको दिया। राष्ट्रके नेता और समाज एवं कुटुम्बके स्वामीका यही कर्तव्य है, उत्तम वस्तु राष्ट्रके अन्यान्य लोगोंको देनी चाहिये और अपने लिये परिश्रम, त्याग तथा तरह-तरहकी कठिनाइयोंको ही रखना चाहिये। विषका भाग राष्ट्र या बच्चोंको देनेसे वैमनस्य और उससे सर्वनाश हो जायगा। शिवजीने न विषको हृदय (पेट)-में उतारा और न उसका वमन ही किया, अपितु कण्ठमें ही रोक रखा। इसीलिये विष और कालिमा भी उनके भूषण हो गये। जो संसारके हितके लिये विषपानसे भी नहीं हिचकते, वे ही राष्ट्र या जगत्के ईश्वर हो सकते हैं।

समाज या राष्ट्रकी कटुताको पी जानेसे ही नेता राष्ट्रका कल्याण कर सकता है। परंतु फिर भी उस कटुताका विष वमन करनेसे फूट और उपद्रव ही होगा।

साथ ही उस विषको हृदयमें रखना भी बुरा है। अमृत-पानके लिये सभी उत्सुक होते हैं, परंतु विषपानके लिये शिव ही हैं; वैसे ही फलभोगके लिये सभी तैयार रहते हैं, परंतु त्याग तथा परिश्रमको स्वीकारनेके लिये महापुरुष ही प्रस्तुत होते हैं। जैसे अमृतपानके अनुचित लोभसे देव-दानवोंका विद्वेष स्थिर हो गया, वैसे ही अनुचित फलकामनासे समाजमें विद्वेष स्थिर हो जाता है।

शिवकुटुम्बका वैचित्र्य

शिवजीका कुटुम्ब भी विचित्र ही है। अन्नपूर्णाका भण्डार सदा भरा, पर भोलेबाबा सदाके भिखारी। कार्तिकेय सदा युद्धके लिये उद्यत, पर गणपति स्वभावसे ही शान्तिप्रिय। फिर कार्तिकेयका वाहन मयूर, गणपतिका मूषक, पार्वतीका सिंह और स्वयं अपना नन्दी और उसपर आभूषण सर्पोंके। सभी एक-दूसरेके शत्रु, पर गृहपतिकी छत्रछायामें सभी सुख तथा शान्तिसे रहते हैं। घर में प्राय: विचित्र स्वभाव और रुचिके लोग रहते हैं, जिसके कारण आपसमें खटपट चलती ही रहती है। घरकी शान्तिके आदर्शकी शिक्षा भी शिवसे ही मिलती है। भगवान् शिव और अन्नपूर्णा अपने-आप परम विरक्त रहकर संसारका सब ऐश्वर्य श्रीविष्णु और लक्ष्मीको अर्पण कर देते हैं। श्रीलक्ष्मी और विष्णु भी संसारके सभी कार्योंको सँभालने, सुधारनेके लिये अपने आप ही अवतीर्ण होते हैं। गौरी-शंकरको कुछ भी परिश्रम न देकर आत्मानुसन्धानके लिये उन्हें निष्प्रपंच रहने देते हैं। ऐसे ही कुटुम्ब और समाजके सर्वमान्य पुरुषोंको चाहिये कि योग्यतम कुटुम्बियोंके हाथ समाज और कुटुम्बका सब ऐश्वर्य दे दें और उन योग्य अधिकारियोंको चाहिये कि समाजके प्रत्येक कार्य-सम्पादनके लिये स्वयं ही अग्रसर हों, वृद्धोंको निष्प्रपंच होकर आत्मानुसन्धान करने दें।

महापार्थिवेश्वर हिमालयकी महाशक्तिरूपा पुत्रीका श्रीशिवके साथ परिणय होनेसे ही विश्वका कल्याण हो सकता है। किसी प्रकारकी भी शक्ति क्यों न हो, जब-तक वह धर्मसे परिणीत—संयुक्त नहीं होती, तबतक कल्याणकारिणी नहीं होती। परंतु आसुरी शक्ति तो तपस्या चाहती ही नहीं, फिर उसे शिव या धर्म कैसे मिलेंगे? धर्मसम्बन्धके बिना शक्ति आसुरी होकर अवश्य ही संहारका हेतु बनेगी। प्रकृतिमाताकी यह प्रतिज्ञा है कि—

यो मां जयति संग्रामे यो मे दर्पं व्यपोहति।
यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्ता भविष्यति॥

(श्रीदुर्गासप्तशती ५।१२०)

अर्थात् संघर्षमें जो मुझे जीत लेगा, जो मेरे दर्पको चूर्ण कर देगा और जो मेरे समान या अधिक बलका होगा, वही मेरा पति होगा। यह स्पष्ट है कि रक्तबीज, शुम्भ, निशुम्भ आदि कोई भी दैत्य, दानव प्रकृति-विजेता नहीं हुए। किंतु सब प्रकृतिसे पराजित, प्रकृतिके अंश काम, क्रोध, लोभ, मोह, दर्प आदिसे पद-पदपर भग्नमनोरथ होते रहे हैं। हाँ, गुणातीत प्रकृतिपार भगवान् शिव ही प्रकृतिको जीतते हैं। तभी तो प्रकृतिमाताने उन्हें ही अपना पति बनाया। यही क्यों, कन्दर्प-विजयी शिवकी प्राप्तिके लिये तो उन्होंने घोर तपस्या भी की।

आजका संसार शुम्भ-निशुम्भकी तरह विपरीत मार्गसे प्रकृतिपर विजय चाहता है। इसीलिये प्रकृति अनेक तरहसे उसका संहार कर रही है। पार्थिव, आप्य, तैजस, विविध तत्त्वोंका अन्वेषण; जल, स्थल, नभपर शासन करना; समुद्र-तलके जन्तुओंतककी शान्ति भंग करना, तरह-तरहके यन्त्रोंका आविष्कार और उनसे काम लेना ही आजका प्रकृतिजय है। इन्द्रिय, मन, बुद्धि और उनके विकारोंपर नियन्त्रण करनेका आज कोई भी मूल्य नहीं। प्रकृति भी कोयला, लोहा, तेल आदि साधारण-से-साधारण वस्तुओंको निमित्त बनाकर उन्हीं यन्त्रोंसे उनका संहार करा रही है।

आज शिव 'अनार्य' देवता बतलाये जा रहे हैं। शिवकी आराधना भूल जानेसे आज राष्ट्रका भी शिव (मंगल) नहीं हो रहा है—

जरत सकल सुर बृंद बिषम गरल जेहिं पान किय।
तेहि न भजसि मन मंद को कृपाल संकर सरिस॥

(रा०च०मा० ४।१ सो०)

शिवलिङ्गोपासना-रहस्य

सच्चिदानन्द परमात्माका शिवशक्ति-रूपमें प्राकट्य

सर्वाधिष्ठान, सर्वप्रकाशक, परब्रह्म परमात्मा ही **'शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः'** (माण्डूक्योपनिषद् ७) इत्यादि श्रुतियोंसे शिवतत्त्व कहा गया है। वही सच्चिदानन्द परमात्मा अपने-आपको ही शिवशक्तिरूपमें प्रकट करता है। वह परमार्थतः निर्गुण, निराकार होते हुए भी अपनी अचिन्त्य दिव्य लीलाशक्तिसे सगुण, साकार, सच्चिदानन्दघनरूपमें भी प्रकट होता है। वही शिवशक्ति, राधाकृष्ण, अर्द्धनारीश्वर आदि रूपमें प्रकट होता है। सत्ताके बिना आनन्द नहीं और आनन्दके बिना सत्ता नहीं। 'स्वप्रकाश सत्तारूप आनन्द' ऐसा कहनेसे आनन्दकी वैषयिक सुखरूपताका वारण होता है, सत्ताको आनन्दरूप कहनेसे उसकी जड़ताका वारण होता है। जैसे आनन्दसिन्धुमें माधुर्य उसका स्वरूप ही है, वैसे ही पार्वती-शिवका स्वरूप किंवा आत्मा ही है। माधुर्यके बिना आनन्द नहीं और आनन्दके बिना माधुर्य नहीं। दूसरी दृष्टिसे—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

(गीता १४।४)

समस्त योनियोंमें, जितनी वस्तुएँ—मूर्तियाँ अर्थात् प्राणी उत्पन्न होते हैं, उन सबकी योनि अर्थात् उत्पन्न करनेवाली माता प्रकृति है और बीज देनेवाला शिव (लिंग) पिता मैं हूँ। अर्थात् मूल प्रकृति और परमात्मा ही उन माता-पिता (योनि-लिंग)-रूपमें उन-उन मूर्तियों (वस्तुओं)-का उत्पादन करते हैं। जैसे लोकमें प्रजोत्पादनकी कामनासे प्राणी नारीमें गर्भाधान करता है, वैसे ही **"एकोऽहं बहु स्यां, प्रजायेय"** इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार एक ब्रह्मतत्त्व ही प्रजोत्पादन या बहुभवनकी कामनासे प्रकृतिमें गर्भाधान करता है। **"सोऽकामयत"** यह प्रजाकी सिसृक्षारूप काम ही प्राथमिक आधिदैविक काम है। इसी कामद्वारा प्रकृतिसंसृष्ट होकर भगवान् ब्रह्माण्डको उत्पन्न करते हैं। यह काम भी भगवान्का ही अंश है—**'कामस्तु वासुदेवांशः'** (श्रीमद्भा० १०।५५।१)।

लोकमें भी प्रेम, काम या इच्छाका मुख्य विषय आनन्द ही है। सुखमें साक्षात् कामना और उससे अन्यमें सुखका साधन होनेसे इच्छा होती है, इसीलिये आनन्द और तद्रूप आत्मा निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेमका आस्पद है, अन्य वस्तुएँ सातिशय, सोपाधिक अपर प्रेमके आस्पद हैं। कान्तको कान्ताकी कामना उसको सुखाभिव्यंजक अतएव सुखमय समझकर ही होती है। कामना या तृष्णासे व्यथित हृदयमें स्वरूपभूत आत्मानन्दका प्राकट्य नहीं होता। परंतु अभिलषित कान्ताकी प्राप्ति होनेपर क्षणभरके लिये वह तृष्णा निवृत्त हो जाती है, बस; तभी अन्तर्मुख किञ्चित् शान्त मनपर आत्मानन्दका प्राकट्य होता है। परंतु आत्मामें ही आनन्द है अथवा आनन्दाभिव्यंजक तृष्णाकी निवृत्तिमें, इसको तो विवेकी ही जानता है, अविवेकी तो आत्माके स्वरूपभूत आनन्दको नहीं समझता। तृष्णानिवर्तक सुन्दरी—कान्तामें ही आनन्द मानता है। अतएव उसीकी पुनः तृष्णा करता है और फिर कान्ताप्राप्तिकी तृष्णारूप व्यथाकी निवृत्तिसे आनन्दित होकर फिर उसीको चाहता है। विवेकी समझता है कि यद्यपि कान्ताप्राप्तिके अनन्तर आनन्द होता है तथापि कान्ता साक्षात् आनन्दरूप नहीं है, किंतु तृष्णानिवृत्ति, मनःशान्तिसे आत्माका ही आनन्द प्रकट होता है। आनन्दकी प्राप्तिमें कान्ता दूरतः कारण है, वह भी आनन्दजनकत्व या आनन्दमयत्वकी भ्रान्तिसे। जैसे विषके प्रभावसे कटु निम्बमें मिठास प्रतीत होती है, वैसे ही भ्रान्ति या मोहके प्रभावसे मांसमयी कान्तामें आनन्दका भान होता है। परंतु इसके अतिरिक्त शुद्ध आनन्द या आत्मामें जो प्रेम, आनन्द, कामना है, वह तो स्वाभाविक है, आत्माका

अंश ही है, इसीलिये अद्वैत आत्मा ही निरुपाधिक प्रेमका आस्पद कहा जाता है, परंतु वहाँ प्रेम और उसके आश्रय तथा विषयमें भेद नहीं है।

प्रेम, आनन्द, रस—ये सभी आत्माके ही स्वरूप हैं। रसरूप आनन्दसे ही समस्त विश्व उत्पन्न होता है, अतः सबमें उसका होना अनिवार्य है। इसीलिये जिस तरह सोपाधिक आनन्द और सोपाधिक प्रेम सर्वत्र है ही, उसी तरह कान्ता भी सोपाधिक आनन्दरूप कही जा सकती है। अतएव वह सोपाधिक प्रेमका विषय भी है। परंतु निरुपाधिक प्रेम तो निरुपाधिक आत्मामें ही होना ठीक है। जैसे सत्के ही सविशेष रूपमें अनुकूलता, प्रतिकूलता, हेयता, उपादेयता होती है, निर्विशेष तो शुद्ध आत्मा ही है, वैसे ही सविशेष आनन्द और प्रेममें भी हेयता, उपादेयता है।

शास्त्रनिषिद्ध विषयोंमें आनन्द और प्रेम दोष है, हेय है

सुन्दर, मनोहर देवता और तद्विषयक प्रेम आदि उपादेय है, सुन्दरी वेश्यादिकी आनन्दरूपता और तद्विषयक प्रेम हेय है। जैसे अतिपवित्र दुग्ध भी अपवित्र पात्रके संसर्गसे अपवित्र समझा जाता है, वैसे ही आनन्द और प्रेम भी अपवित्र उपाधियोंके संसर्गसे दूषित हो जाता है। शास्त्रनिषिद्ध विषयोंमें आनन्द और प्रेम दोष है, हेय है। शास्त्रविहित विषयोंमें आनन्द और प्रेम पुण्य है, उपादेय है। परंतु निर्विशेष, सर्वोपाधिमुक्त प्रेम, आनन्द तो स्पष्ट आत्मा या ब्रह्म ही है। आत्माके ही अंश अपवित्र विषयके दूषणसे ही कामिनी आदि विषयक प्रेमको काम या राग आदि कहा जाता है, देवताविषयक प्रेमको भक्ति आदि कहा जाता है। सजातीयमें ही सजातीयका आकर्षण होता है। बस यह आकर्षण ही प्रेम या काम है। कान्ता-कान्त दोनोंमें ही रहनेवाले तत्तदवच्छिन्न रस या आनन्दमें ही जो परस्पर आकर्षण है, वही काम है।

शुद्ध प्रेम ही शुद्ध काम है

समष्टि ब्रह्मका प्रकृतिकी ओर झुकाव आधिदैविक काम है। परंतु जहाँ शुद्ध, सच्चिदानन्दघन परब्रह्मका स्वरूपमें ही आकर्षण होता है, किंवा आत्माका अपने ही अत्यन्त अभिन्न स्वरूपमें ही जो आकर्षण या निरतिशय, निरुपाधिक प्रेम है, वह तो आत्मस्वरूप ही है। यही राधा-कृष्ण, गौरी-शंकर अर्धनारीश्वरका परस्पर प्रेम, परस्पर आकर्षण है और यह शुद्ध प्रेम ही शुद्ध काम है। यह कामेश्वर या कृष्णका स्वरूप ही है। अनन्त ब्रह्माण्डमें विस्तीर्ण कामबिन्दु मन्मथ है। अनन्तब्रह्माण्डनायकका प्रकृतिमें वीर्याधानका प्रयोजक कामसागर साक्षात् मन्मथ है। परंतु सौन्दर्य-माधुर्यसारसर्वस्व, निखिलरसामृतमूर्ति कृष्णचन्द्रका जो अपनी ही स्वरूपभूता माधुर्याधिष्ठात्री राधामें आकर्षण है, वह तो साक्षान्मन्मथमन्मथ ही है। उनका पूर्णतम सौन्दर्य ऐसा अद्भुत है कि उन्हें ही विस्मित कर देता है। काम उनकी पदनखमणिचन्द्रिकाकी रश्मिछटाको देखकर मुग्ध हो गया। उसका स्त्रीत्व-पुंस्त्वभाव ही मिट गया, उसने अपने मनमें यह ठान लिया कि अनन्त जन्मोंतक भी तपस्या करके ब्रजांगनाभाव प्राप्तकर श्रीकृष्णके पद-नखमणिचन्द्रिकाका सेवन प्राप्त करूँगा। परंतु यहाँ तो कृष्णने ही अपने स्वरूपपर मुग्ध होकर उस रसके आस्वादनके लिये ब्रजांगनाभावप्राप्त्यर्थ तपस्याका विचार कर लिया। यहाँ शुद्ध परमतत्त्वमें ही शिवशक्तिभाव, अर्धनारीश्वरभाव और शुद्ध आकर्षण प्रेम या काम है। सत्-रूप गौरी एवं चित्-रूप शिव दोनों ही जब अर्धनारीश्वरके रूपमें मिथुनीभूत (सम्मिलित) होते हैं, तभी पूर्ण सच्चिदानन्दका भाव व्यक्त होता है, परंतु यह भेद केवल औपचारिक ही है, वास्तवमें तो वे दोनों एक ही हैं।

कुछ महानुभावोंका कहना है कि पूर्ण सौन्दर्य अपनेमें ही अपने प्रतिबिम्बको अपने-आप देख सकता है, भगवान् अपने स्वरूपको देखकर स्वयं विस्मित हो जाते हैं—

'विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः'

(श्रीमद्भा० ३।२।१२)

बस, इसीसे प्रेम या काम प्रकट होता है। इसीसे

शिव-शक्तिका सम्मिलन होता है। वही शृंगाररस है। कामेश्वर-कामेश्वरी, श्रीकृष्ण-राधा, अर्धनारीश्वर वही है। पूर्ण सौन्दर्य अनन्त है, अप्सराओंका सौन्दर्य उसके सामने नगण्य है। उसी सौन्दर्यके कणमात्रसे विष्णुने मोहिनीरूपसे शिवको मोह लिया। उसीके लेशसे मदन मुनियोंको मोहता है। वही सगुणरूपमें कहीं ललिता, कहीं कृष्णरूपमें प्रकट होता है—

'षोडशी तु कला ज्ञेया सच्चिदानन्दरूपिणी।'

(सुभगोदय)

'नित्यं किशोर एवासौ भगवानन्तकान्तकः॥'

कभी आद्या ललिता ही पुंरूपधारिणी होकर कृष्ण बनती हैं, वही वंशीनादसे विश्वको मोहित करती हैं—

कदाचिदाद्या ललिता पुंरूपा कृष्णविग्रहा।
वंशीनादसमारम्भादकरोद्विवशं जगत्॥

(तन्त्रराज)

शिव-शक्तिमें ही लिंगयोनि-भावकी कल्पना

प्रकृतिपार, सौन्दर्य-माधुर्यसार, आनन्दरससार परमात्मामें भी शिव-पार्वती-भाव बनता है। अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डोत्पादिनी अनिर्वचनीय शक्तिविशिष्ट ब्रह्ममें भी शिव-पार्वती-भाव है। उस परमात्मामें ही लिंगयोनि-भावकी कल्पना है।

निराकार, निर्विकार, व्यापक दृक् या पुरुषतत्त्वका प्रतीक ही लिंग है और अनन्तब्रह्माण्डोत्पादिनी महाशक्ति प्रकृति ही योनि, अर्घा या जलहरी है। न केवल पुरुषसे सृष्टि हो सकती है, न केवल प्रकृतिसे। पुरुष निर्विकार, कूटस्थ है, प्रकृति ज्ञानविहीन, जड़ है। अतः सृष्टिके लिये दृक्-दृश्य, प्रकृति-पुरुषका सम्बन्ध अपेक्षित होता है। 'गीता' में भी प्रकृतिको परमात्माकी योनि कहा गया है—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥

(१४।३)

भगवान् कहते हैं—महद्ब्रह्म—प्रकृति—मेरी योनि है, उसीमें मैं गर्भाधान करता हूँ, तभी उससे महदादिक्रमेण समस्त प्रजा उत्पन्न होती है। प्रकृतिरूप योनिमें प्रतिष्ठित होकर ही पुरुषरूप लिंगका उत्पादन करता है। अतएव बिना योनि-लिंग-सम्बन्धके कहीं भी किसीकी सृष्टि ही नहीं होती। हाँ, यह बात अवश्य समझ लेनी चाहिये कि लोकप्रसिद्ध मांसचर्ममय ही लिंग और योनि नहीं है, किंतु वह व्यापक भी है। उत्पत्तिका उपादानकारण पुरुषत्वका चिह्न ही लिंग कहलाता है। दृश्य अण्डरूप ब्रह्म ही अदृश्य पुरुष ब्रह्मका चिह्न है और वही संसारका उपादान भी है, अतः वह लिंगपदवाच्य है। लिंग और योनि पुरुष-स्त्रीके गुह्यांगपरक होनेसे ही उन्हें अश्लील समझना ठीक नहीं है। गेहूँ, यव आदिमें भी जिस भागमें अंकुर निकलता है, उसे योनि माना जाता है, दाने निकलनेसे पहले जो छत्र होता है, वह लिंग है। ब्रह्मा या देवताओंके संकल्पसे उत्पन्न सृष्टिका भी लिंग-योनिसे सम्बन्ध है अर्थात् शिव-शक्ति ही यहाँ लिंग-योनि शब्दसे विवक्षित हैं।

उत्पत्तिका आधारक्षेत्र भग है, बीज लिंग है। वृक्ष, अंकुरादि सभी प्रपंचकी उत्पत्तिका क्षेत्र भग है, बीज पुरुष लिंग है। जैसे दृक्तत्त्व व्यापक है, वैसे ही दृश्य प्रकृतितत्त्व भी। तभी तो कभी लोकप्रसिद्ध योनि-लिंगके बिना भी मानसी संकल्पजा सृष्टि होती थी। कहीं दर्शनसे, कहीं स्पर्शसे, कहीं फलादिसे भी सन्तान उत्पन्न हो जाती थी। कहीं भी, कैसी भी, सृष्टि क्यों न हो, परंतु वहाँ सृष्टिके उत्पादनानुकूल शिव-शक्तिका सम्बन्ध अवश्य मानना पड़ता है। वृक्ष, लता, दूर्वा, तृणादि सभी तत्त्वोंकी उत्पत्तिमें तदुपयुक्त शिव-शक्तिका सम्बन्ध अनिवार्य है। योगसिद्ध महर्षियोंका प्रकृतिपर अधिकार होता था। अतः ये संकल्प, स्पर्श, अवलोकन आदिसे ही सृष्टिके उपयुक्त लिंग-योनि-सम्बन्ध स्थापित कर सकते थे। प्रसिद्ध लिंग और योनि ही असली लिंग-योनि नहीं है। किंतु यह तो उनकी अभिव्यक्तिका स्थान, केवल गोलक है। सर्वसाधारण लोग जिसे नेत्र समझते हैं, वह नेत्र नहीं है, किंतु वह तो अतीन्द्रिय नेत्र इन्द्रियकी

अभिव्यक्तिका स्थान—गोलक है, इन्द्रिय उससे पृथक् सूक्ष्म वस्तु है। प्रसिद्ध नासिका या कान ही घ्राण और श्रोत्र नहीं, किंतु ये सब तो गोलक हैं। घ्राण, श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ तो अतिसूक्ष्म हैं, वे नेत्रादिके विषय नहीं हैं। फिर भी विशेषरूपसे उनका इन गोलकोंमें प्राकट्य होता है, अतएव कभी जब इन गोलकोंके ज्यों-के-त्यों बने रहनेपर भी इन्द्रियशक्ति क्षीण हो जाती है, तब दर्शन, श्रवण, आघ्राण आदि नहीं होते। योगियोंको घ्राण, श्रोत्र, नेत्र-सम्बन्ध बिना भी दूरदर्शन-श्रवणादि होते हैं। उसी तरह लौकिक प्रसिद्ध लिंग-योनि आदि केवल गोलक हैं, उनमें व्यक्त होनेवाला योनि-लिंग तो अतीन्द्रिय ही है। वैसे ही प्रजनन-इन्द्रिय, वीर्य, रज आदि भी उसके मुख्य रूप नहीं, किंतु उनसे भी सूक्ष्म, उनमें विशेषरूपसे व्यक्त दृक्-दृश्य ही शिव और शक्ति है।

यद्वा जैसे अग्नितादात्म्यापन्न लौह-पिण्डमें दाहकत्व, प्रकाशकत्व हो सकता है, वैसे ही पुरुष-प्रतिबिम्बोपेत ही अचेतन प्रकृति चेतित होकर विश्वका निर्माण करती है। जैसे पुरुषके सर्वांगसार वीर्यको पाकर ही योनि सन्तान रचती है, वैसे ही पुरुष-प्रतिबिम्ब भी पुरुष समानाकार पुरुषकी प्रतिकृति ही होता है, उसीसे अचेतन प्रकृतिमें भी चेतनताका संचार होता है। इधर मूर्तिपूजाका भी भाव यही होता है कि दृश्यसे अदृश्यकी पूजा हो। शालग्राममें विष्णुकी भावना होती है। केवल काष्ठ, पाषाण, धातुकी पूजा नहीं होती, किंतु मन्त्र और विधानोंकी महिमासे आहूत, संनिहित व्यापक दैवततत्त्व ही मूर्तिमें आराध्य होता है। व्यष्टिके द्वारा ही प्राणियोंके मनमें समष्टिभावका आरोहण होता है। अतएव समस्त व्यष्टि-लिंगों एवं अन्यत्र भी व्यापक शिवतत्त्वकी समष्टि मूर्ति महादेव-लिंग है। जैसे व्यष्टि नेत्रोंका अधिष्ठाता समष्टिदेव सूर्य है, वैसे ही व्यष्टि प्रजननशक्तियोंमें व्याप्त शिवतत्त्वका समष्टिस्वरूप शिवलिंग है। जैसे व्यष्टिनेत्रकी उपासना न होकर समष्टिनेत्र सूर्यकी ही आराधना होती है और प्रतिमा भी उन्हींकी बनती है, वैसे ही समष्टि शिवमूर्तिकी ही उपासना और प्रतिमा होती है। जैसे जाग्रत्, स्वप्नकी उत्पत्ति और लय सौषुप्त तमसे ही होते हैं, वैसे ही तमसे ही सबका उद्भव और उसीमें सबका लय होता है। तमको वशमें रखकर उसके अधिष्ठाता शिव ही सर्वकारण हैं। कार्योंको कारणके आद्यन्तका पता नहीं लगता।

यह कहा जा चुका है कि समस्त योनियोंका समष्टि रूप प्रकृति है, वही शिवलिंगकी पीठ या जलहरी है। योनिमें प्रतिष्ठित लिंग आनन्दप्रधान, आनन्दमय होता है। जैसे समस्त रूपोंका आश्रय चक्षु, समस्त गन्धोंका आश्रय—एकायतन—घ्राण है, वैसे ही समस्त आनन्दोंका एकायतन लिंग-योनिरूप उपस्थ है। अतएव प्रकृतिविशिष्ट दृक्रूप परमात्मा आनन्दमय कहलाता है। सुषुप्तिमें भी उसीके अंश-भूत व्यष्टि आनन्दमयका उपलम्भ होता है। प्रिय, मोद, प्रमोद, आनन्द—ये आनन्दमयके अवयव हैं, शुद्ध ब्रह्म इन सबका आधार है। जब अनन्त-ब्रह्माण्डोत्पादिनी प्रकृति समष्टियोनि है, तब अनन्तब्रह्माण्डनायक परमात्मा ही समष्टिलिंग हैं और अनन्त ब्रह्माण्ड प्रपंच ही उनसे उत्पन्न सृष्टि है। इसीलिये परमप्रकाशमय, अखण्ड, अनन्त शिवतत्त्व ही वास्तविक लिंग है और वह परम प्रकृतिरूप योनि—जलहरीमें प्रतिष्ठित है। उसीकी प्रतिकृति पाषाणमयी, धातुमयी जलहरी और लिंगरूपमें बनायी जाती है।

अदीर्घदर्शी अज्ञ प्राणीके लिये सांसारिक सुखोंमें सर्वाधिक सुख प्रियाप्रियतम-परिष्वंग—मैथुनमें है। अतः उसके उदाहरणसे भी श्रुतियोंने अनन्त, अखण्ड, परमानन्द ब्रह्म और प्रकृतिके आनन्दमय स्वरूपको दिखलाया है। कहीं-कहीं जीवात्माके परमात्मसम्मिलन-सुखको इसी दृष्टान्त सुखसे दिखलाया गया है—

तद् यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्॥

(बृहदा० ४।३।२१)

जैसे प्रियतमाके परिरम्भणमें कामुकको आनन्दो-द्रेकसे बाह्य, आभ्यन्तर विश्व विस्मृत होता है, वैसे ही जीवको परमात्माके सम्मिलनमें प्रपंचका विस्मरण होता है। श्रुतियों एवं पुराणोंमें आध्यात्मिक, आधिदैविक तत्त्वोंका ही लौकिक भाषामें वर्णन किया जाता है, जिससे कभी-कभी अज्ञोंको उसमें अश्लीलता झलकने लगती है। गोलोकधाममें एक पूर्णतम पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने अकेले अरमणके कारण अपने-आपको दो रूपमें प्रकट किया—एक श्याम तेज, दूसरा गौर तेज। गौर तेज राधिकामें श्यामल तेज कृष्णसे गर्भाधान होनेपर महत्तत्त्वप्रधान हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुए। यह भी प्रकृति-पुरुषके संयोगसे महत्तत्त्वादि प्रपंचका उत्पत्तिरूपक कहा गया है।

ईश्वरभाव मायासे आवृत और शिवभाव अनावृत है

इसीको यों भी समझ सकते हैं—जाग्रत्, स्वप्नके अभिमानी विश्व, तैजस और विराट्, हिरण्यगर्भ—ये सभी सावयव हैं। किंतु सर्वलयाधिकरण ईश्वर निरवयव है, वह मायासे आवृत होता है। अविद्याके भीतर ही रहनेवाला तो जीव है, परंतु जो '**अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्**' के सिद्धान्तानुसार अविद्याका अतिक्रमणकर स्थित है, वही ईश्वर है। निरावरण तत्त्व शिव है। ईश्वरभाव मायासे आवृत और शिवभाव अनावृत है। माया जलहरी है, उसके भीतर आवृत ईश्वर है, जलहरीके बाहर निकला हुआ शिवलिंग निरावरण ईश्वर है। जिसका पृथक्-पृथक् अंग न व्यक्त हो, वह पिण्डके ही रूपमें रहेगा। सुषुप्तिमें प्रतीयमान विशिष्ट आत्मभावकी सूचक पिण्डी है। शिवके सम्बन्धमात्रसे प्रकृति स्वयं विकाररूपमें प्रवाहित होती है। इसलिये अर्घा गोल नहीं, किंतु दीर्घ होता है। लिंगके मूलमें ब्रह्मा, मध्यमें विष्णु, ऊपर प्रणवात्मक शंकर हैं। लिंग महेश्वर, अर्घा महादेवी हैं—

मूले ब्रह्मा तथा मध्ये विष्णुस्त्रिभुवनेश्वरः।
रुद्रोपरि महादेवः प्रणवाख्यः सदाशिवः॥

लिङ्गवेदी महादेवी लिङ्गं साक्षान्महेश्वरः।
तयोः सम्पूजनान्नित्यं देवी देवश्च पूजितौ॥

(लिंगपुराण)

चैतन्यरूप लिंगसत्ता और प्रकृतिसे ही ब्रह्माण्ड बना। उनके सहारे ही वह लयकी ओर जा सकेगा। अर्थात् शुद्ध मोक्षके लिये उसीके द्वारा पहुँचना होगा।

यद्वा प्रणवमें अकार शिवलिंग है, उकार जलहरी है, मकार शिवशक्तिका सम्मिलित रूप समझ लिया जाता है। शिव-ब्रह्मका स्थूल आकार विराट् ब्रह्माण्ड है, ब्रह्माण्डके आकारका ही शिवलिंग होता है। निर्गुण ब्रह्मका बोधक होनेसे यही ब्रह्माण्ड लिंग है। अथवा उकारसे जलहरी, अकारसे पिण्डी और मकारसे त्रिगुणात्मक त्रिपुण्ड्र कहा गया है। अथवा निराकारके आकाशरूप आकार, ज्योतिःस्तम्भाकार तथा ब्रह्माण्डाकार आदि सभी स्वरूपोंमें शक्तिसहित शिवतत्त्वका ही निवेश है। सर्वरूप, पूर्ण एवं निराकारका आकार अण्डके आकारका ही होता है। मैदानमें खड़े होकर देखनेसे पृथ्वीपर टिका हुआ आकाश अर्धअण्डाकार ही मालूम होता है। पृथ्वीके ऊपर जैसे आकाश है, वैसे ही नीचे भी, दोनोंको मिलानेसे वह भी अण्डाकार ही होगी। आत्मासे आकाशकी उत्पत्ति है, यही निराकारका ज्ञापक लिंग उसका स्थूल शरीर है। पंचतत्त्वात्मिका प्रकृति उसकी पीठिका है। आकाश भी अमूर्त और निराकार होनेसे विशेष रूपसे तो प्रत्यक्ष होता नहीं, फिर भी वह कुछ है—ऐसा ही निश्चय होता है। उसीका सूचक भावमय गोलाकार है। शिव—ब्रह्म निराकार होता हुआ भी सब कुछ है, निर्विशेष ही सर्वविशेषरूप होता ही है। चिदाकाशमें भी इसी तरह शिवलिंगकी भावना है। इसी अण्डाकार रेखासे सब अंक उत्पन्न होते हैं। यही किसी अंकके आगे आकर उसे दसगुना अधिक करता है।

ज्योतिर्लिङ्गका स्वरूप

ज्योतिर्लिंगका स्वरूप इस तरह समझना चाहिये—

नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।' (ऋक्० १०।१२९।१)

'न सन्न चासच्छिव एव केवलः।'

अर्थात् पहले कुछ भी नहीं था, केवल शिव ही था।

सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि।
नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्च न मध्ये परिजग्रभन्॥

उसीसे विद्युत् पुरुष और फिर उससे निमेषादि काल-विभाग उत्पन्न हुए। वही विद्युत् पुरुष ज्योतिर्लिंग हुआ। उसका पार आदि, अन्त, मध्य कहींसे किसीको नहीं मिला। वही **'तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्'** (मनु० १।९) है। अर्थात् सूर्यके समान परम तेजोमय अण्ड उत्पन्न हुआ।

तल्लिङ्गसंज्ञितं साक्षात्तेजो माहेश्वरं परम्।
तदेव मूलप्रकृतिर्माया च गगनात्मिका॥

(शिवपुराण)

ब्रह्माण्डपिण्ड सप्तावरण प्रकृतिरूप योनिसे आवृत—परिवेष्ठित—है। 'शिवपुराण' में लिंग शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार बतलायी गयी है—

भगवन्तं महादेवं शिवलिङ्गं प्रपूजयेत्।
लोकप्रसविता सूर्यस्तच्चिह्नं प्रसवाद्भवेत्॥
लिङ्गे प्रसूतिकर्तारं लिङ्गिनं पुरुषो यजेत्।
लिङ्गार्थगमकं चिह्नं लिङ्गमित्यभिधीयते॥
लिङ्गमर्थं हि पुरुषं शिवं गमयतीत्यदः।
शिवशक्त्योश्च चिह्नस्य मेलनं लिङ्गमुच्यते॥

अर्थात् शिवशक्तिके चिह्नका सम्मेलन ही लिंग है। लिंगमें विश्वप्रसूतिकर्ताकी अर्चा करनी चाहिये। यह परमार्थ शिवतत्त्वका गमक—बोधक होनेसे भी लिंग कहलाता है। प्रणव भी भगवान्‌का ज्ञापक होनेसे लिंग कहा गया है। पंचाक्षर उसका स्थूल रूप है—

तदेव लिङ्गं प्रथमं प्रणवं सार्वकामिकम्।
सूक्ष्मप्रणवरूपं हि सूक्ष्मरूपन्तु निष्कलम्॥
स्थूललिङ्गं हि सकलं तत्पञ्चाक्षरमुच्यते।

माघ कृष्ण चतुर्दशी महाशिवरात्रिके दिन कोटि-सूर्य समान परम तेजोमय शिवलिंगका प्रादुर्भाव हुआ है—

माघकृष्णाचतुर्दश्यामादिदेवो महानिशि।
शिवलिङ्गतयोद्भूतः कोटिसूर्यसमप्रभः॥

'शिवपुराण' में लिखा है कि एक शिव ही ब्रह्मस्वरूप होनेसे निष्कल है, दूसरे देव सभी रूपी होनेसे सकल कहे जाते हैं। निष्कल होनेसे ही शिवका निराकार (आकारविशेषशून्य) लिंग ही पूज्य होता है, सकल होनेसे ही अन्य देवताओंका साकार विग्रह पूज्य होता है। शिव सकल, निष्कल दोनों ही हैं, अतः उनका निराकार लिंग और साकारस्वरूप दोनों ही पूज्य होते हैं। दूसरे देवता साक्षात् निष्कल ब्रह्मरूप नहीं हैं। अतएव निराकार लिंगरूपमें उनकी आराधना नहीं होती। (शि० पु० विद्येश्वरसंहिता, अध्याय ३)

यहीं आगे निष्कल स्तम्भरूपमें ब्रह्मा-विष्णुका विवाद मिटानेके लिये शिवका प्रादुर्भाव वर्णित है। श्रीशिवलिंगसे ही समस्त विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और अन्तमें सबका उन्हींमें लय होता है। सबके आश्रय होनेसे और सबके लयका अधिष्ठान होनेसे भगवान् ही लिंग कहलाते हैं। अथवा कार्यद्वारा कारणरूपसे लिंगित—अवगत होनेसे ही भगवान् लिङ्गशब्दवाच्य हैं। इसलिये जब सब सृष्टिका आधार ही शिवलिंग है, तब तो फिर सर्वत्र शिवलिंगकी पूजा पायी जाय, यह ठीक ही है। अतः यह पहले अनार्योंकी पूज्य मूर्ति थी, यह सब कहना निराधार ही है।

दूसरी दृष्टिसे कूटस्थ स्थाणु परब्रह्म ही शिव है। श्रीपार्वती शक्ति अपर्णा-लताके संसर्गसे यह पुराण स्थाणु कैवल्यपदवी देता है, जो कि कल्पवृक्षोंके लिये भी देना अशक्य है। स्थाणु (ठूँठ) लिंगरूपमें व्यक्त शिव है, अपर्णा जलहरी है। शिवलिंगका कुछ अंश जलहरीसे ग्रस्त है, यही योनिग्रस्त लिंग है, प्रकृति-संस्पृष्ट पुरुषोत्तम है—

'पीठमम्बामयं सर्वं शिवलिङ्गञ्च चिन्मयम्।'

ऊपर महान् अंश योनिबहिर्भूत प्रकृतिसे असंस्पृष्ट है—

'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।'

प्रकृतिविशिष्ट परम ब्रह्म ही सर्वकर्ता, सर्वफलदाता है, केवल तो उदासीन है। शुद्ध शिवतत्त्व त्रिगुणातीत है, त्रिमूर्त्यन्तर्गत शिव परम बीज, तमोगुणके नियामक हैं। सत्त्वके नियमनकी अपेक्षा तमका नियमन बहुत कठिन है। सर्वसंहारक तम है, पर उसको भी वशमें रखनेवाले शिवकी विशेषता स्पष्ट ही है।

एक दृष्टिसे लिंग चिह्नको भी कहा जाता है। चिह्नशून्य निर्गुण, निराकार, निर्विकार ब्रह्म अलिंग है। श्रुतियाँ उसे अशब्द, अस्पर्श, अरूप बतलाती हैं। परंतु लिंगका अधिष्ठान मूल वही है। अव्यक्त तत्त्व लिंग है। मायाद्वारा एक ही परब्रह्म परमात्मासे ब्रह्माण्डरूप लिंगका प्रादुर्भाव होता है। चौबीस प्रकृति-विकृति, पचीसवाँ पुरुष, छब्बीसवाँ ईश्वर यह सब कुछ लिंग ही है। उसीसे ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रका आविर्भाव होता है। प्रकृतिके सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणोंसे त्रिकोण योनि बनती है। प्रकृतिमें स्थित निर्विकारबोधरूप शिवतत्त्व ही लिंग है। इसीको विश्व-तैजस-प्राज्ञ, विराट्-हिरण्यगर्भ-वैश्वानर, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, ऋक्-साम-यजुः, परा-पश्यन्ती-मध्यमा आदि त्रिकोणपीठोंमें तुरीय, प्रणव, परा वाक्स्वरूप लिंगरूपमें समझना चाहिये। 'अ, उ, म्' इस प्रणवात्मक त्रिकोणमें अर्द्धमात्रा-स्वरूप लिंग है। परमेश्वर समष्टि-व्यष्टि लिंगरूपसे प्रत्येक योनिमें प्रतिष्ठित होकर अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमयरूप पंचकोशात्मक देहोंको उत्पन्न करता है—

अधितिष्ठति योनिं यो योनिं वाचैक ईश्वरः।
देहं पञ्चविधं येन तमीशानं पुरातनम्॥

(लिंगपुराण २।१८।३९)

लिंग-भगसे ही समस्त विश्वकी उत्पत्ति है, अतएव सभी लिंग और भगसे अंकित हैं। वेद, उपनिषद्, महाभारत, रामायण, पुराण, तन्त्र सर्वत्र ही शिवकी महिमा गायी गयी है। विष्णु, ब्रह्मा, कृष्ण, राम आदि देवाधिदेवोंने भी शिवलिंगकी अर्चा की है। सृष्टि-विस्तारकी दृष्टिसे लिंग-भगका महत्त्व समझमें आ सकता है, काम-प्रयुक्त भोगमात्रकी दृष्टिसे देखना और बात है। शंकरने कामको जलाकर सृष्टिकी बुद्धिसे ही मैथुनद्वारा सृष्टि की है, ऐसा ही औरोंको भी करना युक्त है। किसी अवसरमें दृग् और दृश्य दोनों एक ही रूप होते हैं—

'आसीज्ज्ञानमथो ह्यर्थ एकमेवाविकल्पितम्।'

(श्रीमद्भा० ११।२४।२)

सृष्टिसे पहले ज्ञान और अर्थ (दृश्य) एकमेव हो रहे थे। दृश्यशक्तिके उद्भव बिना सर्वसंद्रष्टा चिदात्मा भी अपनेको असत् ही मानने लगता है—

'मेनेऽसन्तमिवात्मानं सुप्तशक्तिरसुप्तदृक्॥'

(श्रीमद्भा० ३।५।२४)

वह अन्तर्मुख विमर्शरूप सुप्त शक्ति ही माया पदसे कही जाती है—

'सा वा एतस्य संद्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका।
माया नाम महाभाग ययेदं निर्ममे विभुः॥'

(श्रीमद्भा० ३।५।२५)

शिव ही शक्ति और शक्ति ही शिव हैं

निरधिष्ठान शक्ति नहीं और अशक्त (शक्तिरहित) अधिष्ठान नहीं, अतः उभय उभयस्वरूप ही हैं। इसीलिये शिव ही शक्ति और शक्ति ही शिव हैं, इस दृष्टिसे योनि लिंगात्मक एवं लिंग योन्यात्मक है। फिर भी इस द्वैतमें अद्वैततत्त्व अनुस्यूत है। ईश्वर और महाशक्तिकी अधिष्ठानभूत अद्वैतसत्ता भी निरंजन, निष्कलसत्ताके साथ एकीभूत है। यह सृष्टिका बीज होनेपर भी निःस्पन्द शिवमात्र है। अव्यक्त अवस्था अलिंगावस्था भी है। इसे महालिंगावस्था भी कहा जा सकता है। अव्यक्तसे तेजोमय, ज्योतिर्मय तत्त्व आविर्भूत होता है। वह स्वयं उत्पन्न होनेसे स्वयम्भू लिंग है। वह अव्यक्त अवस्थाका परिचायक होनेसे लिंग है। परमार्थतः द्वैतशून्य तत्त्व है। योनि त्रिकोण

है, केन्द्र या मध्यबिन्दु लिंग है—

मूलाधारे त्रिकोणाख्ये इच्छाज्ञानक्रियात्मके।
मध्ये स्वयम्भुलिङ्गन्तु कोटिसूर्यसमप्रभम्॥

इस वचनमें इच्छा-ज्ञान-क्रियात्मक योनिमें कोटिसूर्यसमप्रभ स्वयम्भू चिज्ज्योतिस्वरूप शिवलिंग माना गया है। मूलाधार आदि षट्चक्र भी योनि ही है। सर्वत्र यही लिंग भी भिन्न-भिन्न रूपमें विराजमान है। योनिसे अतीत होकर बिन्दु अव्यक्त और लिंग अलिंग हो जाता है। कोई गुण, कर्म, द्रव्य बिना योनि-लिंगके नहीं बन सकते। याज्ञिकोंके यहाँ भी वेदीकी स्त्री-रूपमें, कुण्डकी योनिरूपमें और अग्नि-रुद्रकी लिंगरूपमें उपासना होती है।

शिवलिंग योनिरूपा कुण्डलिनीसे परिवेष्टित

एक समय देवी पार्वतीने भगवान् शंकरसे प्रश्न किया कि 'इन्द्रियोंसे रहित देव शून्यरूप है, उसका कोई आकार नहीं है, उस शून्यके पूजनसे क्या फल?' शिवजीने कहा—'महेशानि! शक्तिशून्य शिव शव या प्रेतके ही समान है। उसकी पूजा नहीं बन सकती, अत: रौद्री शक्तिसहित ही उनकी पूजा होनी चाहिये। वही ब्रह्मा-विष्णु-शिवात्मिका आद्याशक्ति सार्द्धत्रिवलया (साढ़े तीन फेरेकी) कुण्डलिनीरूपा है। वह शिवतत्त्वको अपने साढ़े तीन फेरेसे वेष्टित किये हुए है। उसी शक्तिके संयोगसे शिव अनन्त ब्रह्माण्डका उत्पादनादि कार्य करते हैं। वही कुण्डलिनी योनि है, उससे परिवेष्टित शिवलिंग है। यही अपर्णालतापरिवेष्टित स्थाणु भी है, अपर्णा पार्वती योनि है, कूटस्थ ब्रह्म ही स्थाणु, ठूँठ या लिंग है—

देव्युवाच

इन्द्रियै रहितो देवः शून्यरूपः सदाशिवः।
आकारो नास्ति देवस्य किं तस्य पूजने फलम्॥

शिव उवाच

प्रेते पूजा महेशानि कदाचिन्नास्ति पार्वती।
रुद्रस्य परमेशानि रौद्रीशक्तिरितीरिता॥
रौद्री तु परमेशानि आद्या कुण्डलिनी भवेत्।
वर्तते परमेशानि ब्रह्मविष्णुशिवात्मिका॥
सार्द्धत्रिवलयाकारैः शिवं वेष्ट्य सदा स्थिता।
शक्तिं विना महेशानि प्रेतत्वं तस्य निश्चितम्॥
शक्तिसंयोगमात्रेण कर्मकर्ता सदाशिवः।
अतएव महेशानि पूजयेच्छिवलिङ्गकम्॥

(लिंगार्चनतन्त्र पटल २)

लिंगपूजनसे भुक्ति एवं मुक्ति

'स्कन्दपुराण' के अनुसार लिंगपूजनके बिना महान् अमंगल होता है और उसके पूजनसे भुक्ति, मुक्ति सब कुछ मिलती है—

विना लिङ्गार्चनं यस्य कालो गच्छति नित्यशः।
महाहानिर्भवेत्तस्य दुर्गतस्य दुरात्मनः॥
एकतः सर्वदानानि व्रतानि विविधानि च।
तीर्थानि नियमा यज्ञा लिङ्गाराधनमेकतः॥
भुक्तिमुक्तिप्रदं लिङ्गं विविधापन्निवारणम्।

यद्यपि शिवलिंग और उसकी पूजा अनादिकालसे ही है तथापि उनके आविर्भावका पुराणोंमें वर्णन है—ब्रह्मा, विष्णु दोनों ही 'मैं बड़ा हूँ' ऐसा कहकर परस्पर लड़ रहे थे। उनका विवाद मिटानेके लिये परमज्योतिर्मय लिंगका आविर्भाव हुआ। ब्रह्मा भगवान्‌के उस ज्योतिर्मयलिंगका पता लगानेके लिये हंसपर आरूढ़ होकर ऊपरकी ओर गये और विष्णु वराहरूप धारणकर नीचे गये। हजारों वर्षतक घोर परिश्रम करनेपर भी दोनोंको उसका कहीं आद्यन्त न मिला। शिवलिंगके मस्तकसे गिरती हुई केतकीने कहा कि 'मैं दस कल्पसे चलते यहाँतक पहुँची हूँ, अभी कुछ ठिकाना नहीं कि कितना जाना पड़ेगा।' इससे शिवलिंगकी अनन्तता मालूम पड़ती है। दिव्यवाणीसे भगवान्‌ने ब्रह्मा, विष्णु दोनोंहीको प्रबोध कराया।

अन्यत्र पृथ्वीको पीठ और आकाशको लिंग कहा है। जैसे वेदीपर लिंग विराजता है, वैसे ही पृथ्वीपर आकाश है। जैसे ब्रह्मका एक देश ही प्रकृति-संस्पृष्ट है, वैसे ही आकाशलिंगका भी एक देश ही पृथ्वीसंस्पृष्ट है। इसीलिये कहीं लिंग ठीक पुरुषके जननेन्द्रियके समान ही होता है, कहीं ब्रह्माण्डके आकारका, कहीं पिण्डके आकारका।

केदारेश्वरकी नित्यसिद्ध स्वयम्भू मूर्ति कहीं भी लिंगके आकारकी नहीं है। वही कारणावस्था या पिण्डावस्थाका चिह्न ही लिंग समझना चाहिये। वस्तुदृष्टिसे फिर भी वह लिंग ही है।

आधुनिक वैज्ञानिकोंकी भी दृष्टिसे आकाश वक्र है जैसा कि लिंगका स्वरूप है। किं बहुना देश, काल, वस्तु सभी वक्र हैं, ब्रह्मको भी वक्र और स्तब्ध कहा है। फिर उससे उत्पन्न सबको वक्र होना ही चाहिये। अनन्तकोटि विश्व सब लिंगमय ही है। विश्वोंसे परे सगुण ब्रह्मका भी आकार लिंग ही है।

शिवशक्तिके सहवासमें अवकाश न मिलनेसे शुक्राचार्यने उन्हें शाप दिया कि तुम योनिस्थ लिंगके रूपमें पूजित होगे। एकबार शंकर दिगम्बर वेशसे स्वलिंग अपने हस्तमें लेकर दारुकवनमें गये। उन्हें देखकर ऋषिपत्नियाँ मोहित हो गयीं, यह देखकर ऋषियोंने शंकरको शाप दिया कि तुम्हारा लिंग गिर जाय। ऐसा ही हुआ, किंतु लिंगके पृथ्वीपर गिरते ही वह प्रज्वलित होकर अपने तेजसे लोकको जलाने लगा। अन्तमें शिवाने उसे योनिमें स्थापित किया और सब ऋषियों और देवताओंने उसकी पूजा की। यहाँ लिंग-योनि दिव्यप्रकृति और परम पुरुष ही हैं। शिवशक्तिरूप लिंग-योनिको प्राकृत स्त्री-पुरुषके समान चर्मखण्ड मूत्रेन्द्रियमात्र मान लेना बड़ा अपराध होगा। वहीं यह भी कथा है कि मुनियोंके शापसे गिरा हुआ शिवलिंग अग्निके समान जाज्वल्यमान होकर भूमि, स्वर्ग एवं पातालमें फिरा, सभी लोक बड़े दु:खी हुए। ब्रह्माजीने कहा कि 'गिरिजाकी प्रार्थना करो, वे ही योनिरूपसे परमज्योतिर्मय लिंगको धारण कर सकती हैं।'

फिर सब देवताओं एवं मुनियोंने जब आराधना की, तब भगवान् और गिरिजा प्रसन्न हुए और गिरिजामें शिवकी प्रतिष्ठा हुई। क्या साधारण लिंगका गिरकर अग्निमय होकर सर्व लोकोंमें घूमना बन सकता है? और विष्णु, राम, कृष्ण तथा सभी देव, मुनि क्या केवल साधारण लिंग-योनिकी ही पूजा करते थे? यदि यही बात थी, तो कृष्णकी उपमन्युके यहाँ जाकर दीक्षापूर्वक शिवाराधनके लिये घोर तपस्या करनेकी क्या आवश्यकता थी?

कुछ लोग कथामें आये हुए उक्त शिवलिंगको केवल ब्रह्माण्ड कहते हैं, उसीको हाथमें लिये हुए भगवान् लीलया दारुकवनमें गये थे, वहीं मुनियोंके शापसे उनके हाथसे लिंग गिर पड़ा। अतएव वहाँ उसका 'गिरना' कहा गया है, 'कटना' नहीं। उस ज्योतिर्लिंग ब्राह्म तेजका आधार पंचतत्त्वात्मिका प्रकृति ही योनि है। अत: पार्वतीने योनिरूपसे उस लिंगको धारण किया अर्थात् पंचतत्त्वात्मिका प्रकृति बनकर उन्होंने ब्रह्माण्डको धारण किया। अग्निमय सर्वदाहक लिंगको योनि—प्राकृत चर्मखण्ड मूत्रेन्द्रियमें कौन धारण कर सकता था?

'बाणरूपा श्रुता लोके पार्वती शिववल्लभा।'

योनिरूपाका अर्थ ही बाणरूपा है। 'बाण' शब्द पाँच संख्याका बोधक होता है, पंचशरके अभिप्रायसे काममें, पंचमुखके अभिप्रायसे शिवमें, पंचतत्त्वात्मिकाकी दृष्टिसे पार्वतीमें 'बाण' शब्दका प्रयोग होता है। जैसे विद्युत-पुंज पंचतत्त्वमें व्याप्त होते हुए भी जल और पर्वतश्रेणीमें अधिकतासे रहता है, वैसे ही पार्वती बाणरूपा हुईं अर्थात् पर्वतश्रेणीरूपा हुईं और उन्हींमें वह तेजोमय लिंग समा गया। विद्युत्-पुंज यदि अपनी योनि पृथ्वी या जलमें पड़े तो स्थिर होता है, अन्यथा वृक्ष, मनुष्य सबको भस्म ही करता है। यही बात शिवजीने कहा है—

पार्वतीञ्च विना नान्या लिङ्गं धारयितुं क्षमा।
तया धृतञ्च मल्लिङ्गं द्रुतं शान्तिं गमिष्यति॥

अर्थात् पार्वतीके बिना कोई इसे नहीं धारण कर सकता, उनके धारणसे वह शीघ्र ही शान्त हो जायगा।

'सतश्च योनिमसतश्च।' (यजु०)

'यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येक:।' (श्वेता० ४।११)

'यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनि:।'

(श्वेता० ५।५)

'तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरा:।'

(यजु०)

—इत्यादि मन्त्रोंमें योनिका अर्थ मूत्रेन्द्रिय ही है, यह कहना अज्ञता ही है। श्रीविष्णु आदि देवाधिदेवोंका भी पूज्य यह योनिप्रतिष्ठित लिंग प्राकृत वस्तु कथमपि नहीं हो सकता। यदि विष्णुकर्तृक पूजा आदिको क्षेपक कहें, तब तो समस्त कथाको ही क्षेपक मान सकते हैं।

अव्यक्तका लिंग (व्यक्त ब्रह्माण्ड) भृगु (प्रकृति)-के आकर्षण-विकर्षणविशेषके तारतम्यसे द्यावापृथ्वीरूपमें दो टूक हो गया—

'वायुरापश्चन्द्रमा इत्येते भृगवः।'

(गोपथब्राह्मण पूर्व २।८)

शम्भोः पपात भुवि लिङ्गमिदं प्रसिद्धम्
शापेन तेन च भृगोर्विपिने गतस्य॥

श्रीशंकरने भी विश्वेश्वरलिंगकी प्रतिष्ठापना और पूजा की है—

ब्रह्मणा विष्णुना वापि रुद्रेणान्येन केन वा।
लिङ्गप्रतिष्ठामुत्सृज्य क्रियते स्वपदस्थितिः॥
किमन्यदिह वक्तव्यं प्रतिष्ठां प्रति कारणम्।
प्रतिष्ठितं शिवेनापि लिङ्गं वैश्वेश्वरं यतः॥

'नारदपांचरात्र' के तीसरे रात्रमें, जो कि वैष्णवोंका सर्वस्व है, लिखा है कि एक शंकरके सिवा सभी स्त्रैण थे। ब्रह्मा, विष्णु, दक्ष आदिने तपस्यासे कालिका देवीको प्रकट किया। देवीने कहा—'वर माँगो।' देवोंने कहा कि 'आप दक्ष-कन्या होकर शिवको मोहित करो।' जगदीश्वरीने कहा—'शम्भु तो बालक है।' ब्रह्माने कहा—'शम्भुके समान दूसरा कोई पुरुष हो नहीं सकता।' यह सुनकर दक्षके यहाँ देवी सतीरूपसे प्रकट हुईं। देवताओंने विवाह कराया। सती-शिवके रमणसे दोनोंका तेज भूमण्डलमें पड़ा, वही पाताल, भूतल, स्वर्ग सर्वत्र योनिसहित शिवलिंग हुए। लिंगपूजा शाक्त, वैष्णव, सौर, गाणपत्य सभीके लिये है—

शाक्तो वा वैष्णवो वापि सौरो वा गाणपोऽथवा।
शिवार्चनविहीनस्य कुतः सिद्धिर्भवेत् प्रिये॥

(उत्पत्तितन्त्र)

शिवकी पूजाके बिना अन्य देवताकी पूजा करनेसे वह देव शाप देकर चला जाता है—

'अनाराध्य च मां देवि योऽर्चयेद्देवतान्तरम्।
न गृह्णाति महादेवि शापं दत्त्वा व्रजेत् पुरम्॥'

यद्यपि शुद्ध दार्शनिक और आध्यात्मिक विवेचनोंसे शिवलिंग अनादि ही है, उसकी पूजा भी अनादि ही है तथापि अर्थवादरूपमें अनेक प्रकारसे शिवलिंगकी उत्पत्ति और पूजाका आरम्भ लिखा गया है। जैसे यद्यपि नित्यसिद्ध ही राम, कृष्णका अवतार माना जाता है तथापि अवतारसे पहले भी वे पूज्य थे ही, क्योंकि कल्प-कल्पमें उनके अवतार होते रहते हैं, कोई अवतार नया नहीं है। वैसी ही बात शिवलिंगके विषयमें भी समझनी चाहिये। नित्य होनेपर भी भिन्न-भिन्न कल्पमें उसके आविर्भावके क्रम भिन्न हैं। समष्टि प्रजननशक्तिसम्पन्न शिवतत्त्व ही समष्टि लिंग है। उसीसे समस्त व्यष्टि योनि और लिंगोंका आविर्भाव हुआ है। यही सती-शिवके मैथुनसे प्रादुर्भूत तेजसे सयोनि लिंगोंकी उत्पत्तिका रहस्य है। प्रकृति-पुरुषका संयोग ही शिव-सतीका मैथुन है। प्रकृति-मिश्रित अनन्त पुरुषोंका प्रादुर्भाव ही उनका मिश्रित तेज है। समष्टि लिंगसे ही उत्पन्न होकर व्यष्टि लिंग बनते हैं। अतः सभी व्यष्टि लिंगोंकी योनि भी समष्टि लिंगकी ही योनि है। यही शिवके दारुका वन-विहारका रहस्य है।

अनन्त अनंग (कामदेव) जिनके श्रीअंगके सौन्दर्य-बिन्दुपर मोहित हो जाते हैं, उन भगवान् परम शिवकी ओर समष्टि-व्यष्टि प्रकृतिरूप योनियोंका आकर्षण होना स्वाभाविक ही है। यही मुनिपत्नियोंका शिवकी ओर आसक्त होनेका रहस्य है।

मुनियों या शुक्राचार्यके शापसे भगवान्‌का योनिस्थ लिंगरूपसे पूजित होना या शिवके लिंगका गिर जाना, पुनः उससे जगत्ताप होना, शिवाका योनिमें स्थापन करना, ब्रह्मा-विष्णु आदि देवताओं और ऋषि-मुनि-गन्धर्व-असुरादिद्वारा पूजित होना—यह सभी स्वतन्त्रेच्छ, निरंकुश भगवान्‌की लीला है, जैसे

विष्णु परमात्माका शापवश मनुष्य बनना, मत्स्य, वराह आदि रूप धारण करना केवल लीला है। शापादि भी उनकी इच्छासे ही निमित्तरूपमें उपस्थित होते हैं।

प्रकृतिके साथ परमात्माका खेल या जीवरूपा परा प्रकृतियोंमें परमात्माका रमण किंवा स्वरूपभूत माधुर्याधिष्ठात्री शक्तिमें परमेश्वरका रमण रहस्यमय है। जैसे कृष्णकी चीरहरणलीला और रासलीलामें अज्ञोंको अश्लीलता प्रतीत होती है, वैसे ही भगवान् शिवकी लीलाएँ भी परमरहस्यमयी हैं। अज्ञोंको उनमें अश्लीलताका भान हो सकता है—

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥
राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे॥

(रा०च०मा० ७।७३; २।१२७।७)

लिंगरूपसे अतिरिक्त भी भगवान्‌के गंगाधर, चन्द्रशेखर, त्रिलोचन, पंचवक्त्र, नीलकण्ठ, कृत्तिवास, व्याघ्रचर्मासन, त्रिशूलधारी, वृषभध्वज, साम्बसदाशिव आदि रूप हैं, जिनका लोकोत्तर सौन्दर्य, माधुर्य है।

'नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञम्।'
'प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते।'
'तमीश्वराणां परमं महेश्वरं, क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरम्।'
'तमीशानं वरदं समीड्यम्।'
'मायिनं तु महेश्वरम्।'

—इन श्रुतियोंमें परब्रह्म परमात्माको ही हर और मायाको ही प्रकृति या गौरी कहा गया है। सभी जगह संसारमें देह-देही आदिकोंमें आधार-आधेयभाव देखा जाता है। अनन्त चैतन्य परमात्मा शिव है, वही सृष्ट्युन्मुख होनेपर लिंग ही है। उन्हींका आधार योनि प्रकृति है, शिव लिंगरूपमें पिता, प्रकृति योनिरूपमें माता है—

'मम योनिर्महद्ब्रह्म।'

(गीता १४।३)

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्द्धेन नारी तस्यांस विराजमसृजत्प्रभुः॥

लिंगयोनिभाव ही अर्धनारीश्वर

शिवका लिंगयोनिभाव ही अर्धनारीश्वरका भाव है। सृष्टिके बीजको देखनेवाले परमलिंगरूप श्रीशिव प्रकृतिरूपा नारीयोनिमें आधाराधेयभावसे संयुक्त होकर उससे आच्छादित होकर व्यक्त होते हैं। यही जगन्माता-पिताके आदि-सम्बन्धका द्योतक है। काम-वासनारहित शुद्ध मैथुन भी पितृ-ऋणसे उऋण होनेका साधन है। शिवपुराणमें लिखा है—बिन्दु देवी और नाद शिव है। बिन्दुरूपा देवी माता और नादरूपा शिव पिता है, अतः परमानन्द-लाभार्थ शिवलिंगका पूजन परमावश्यक है।

'भं वृद्धिं गच्छतीत्यर्थाद्भगः प्रकृतिरुच्यते।'

वृद्धिको प्राप्त होनेवाली प्रकृति ही भग है।

मुख्यो भगस्तु प्रकृतिर्भगवान् शिव उच्यते।
भगवान् भोगदाता हि नान्यो भोगप्रदायकः॥

भगके सहित लिंग और लिंगके सहित भग पूजित होकर इहलोक-परलोकमें विविध सुख देनेवाला है। सदाशिवसे उत्पन्न चैतन्यशक्तिद्वारा जायमान चिन्मय आदिपुरुष ही शिवलिंग है। समस्त पीठ अम्बामय है, लिंग चिन्मय है। भगवान् शंकर कहते हैं कि जो संसारके मूल कारण महाचैतन्यको और लोकको लिंगात्मक जानकर लिंगपूजा करता है, मुझे उससे प्रिय अन्य कोई नर नहीं—

लोकं लिङ्गात्मकं ज्ञात्वा लिङ्गे योऽर्चयते हि माम्।
न मे तस्मात्प्रियतरः प्रियो वा विद्यते क्वचित्॥

लिंग चिह्न है, सर्वस्वरूपकी पूजा कैसे हो, इसलिये लिंगकी कल्पना है। आदि एवं अन्तमें जगत् अण्डाकृति ही रहता है। अतएव ब्रह्माण्डकी आकृति ही शिवलिंग है। शिव-शक्तिके सहवाससे ही पशु, पक्षी, कीट, पतंगादिकोंकी भी उत्पत्ति होती है। शिव स्वयं अलिंग हैं, उनसे लिंगकी उत्पत्ति होती है, शिव लिंगी और शिवा लिंग हैं। ज्ञापक होनेसे, प्राणियोंका आलय होनेसे एवं लयाधिकरण होनेसे भी वही लिंग है—

'लीयमानमिदं सर्वं ब्रह्मण्येव हि लीयते।'

कामनाभेदसे लिंगके विविध भेद

भिन्न-भिन्न कामनासे शिवलिंगके विधान भी पृथक्-पृथक् हैं—यवमय, गोधूममय, सिताखण्डमय, लवणज, हरितालमय, त्रिकटुकमय (शुण्ठी, पिप्पली, मरीचमय) ऐश्वर्य-पुत्रादिकामप्रदायक लिंग हैं। गव्यघृतमय लिंग बुद्धिवर्द्धक है। पार्थिव लिंग सर्वकामप्रद है। तिल-पिष्टमय, तुषज, भस्मोत्थ, गुडमय, गन्धमय, शर्करामय, वंशांकुरज, गोमयज, केशमयज, अस्थिमयज, दधिमय, दुग्धमय, फलमय, धान्यमय, पुष्पमय, धात्रीफलोद्भव, नवनीतमय, दूर्वाकाण्डसमुद्भव, कर्पूरज, अयस्कान्तमय, वज्रमय, मौक्तिकमय, महानीलमय, महेन्द्रनीलमणिमय, चीरसमुद्भव, सूर्यकान्तामणिज, चन्द्रकान्तामणिमय, स्फाटिक, शूलाख्यमणिमय, वैडूर्य, हैम, राजत, आरकूटमय, कांस्यमय, सीसकमय, अष्ट-धातुनिर्मित, ताम्रमय, रक्तचन्दनमय, रंगमय, त्रिलोकमय, दारुज, कस्तूरिकामय, गोरोचनमय, कुमकुममय, श्वेतागुरुमय, कृष्णागुरुमय, पाषाणमय, लाक्षामय, वालुकामय, पारदमय लिंग भिन्न-भिन्न कामनाओंकी पूर्तिके लिये पूजनीय बतलाये गये हैं। पार्थिव पूजनके लिये ब्राह्मणादि वर्णोंको क्रमसे शुक्ल, पीत, रक्त, कृष्णवर्णकी मृत्तिकासे शिवलिंग बनाना चाहिये। तोलाभर मिट्टीसे अंगुष्ठपर्वके परिमाणका लिंग बनाना चाहिये। पूजा भी वैदिक, तान्त्रिक एवं मिश्र विधि या नाममन्त्रोंसे करनी चाहिये। किं बहुना, शिवलिंगकी विशेषताओं, पूजाओं एवं विधियोंपर शास्त्रोंमें बहुत बड़ी सामग्री भरी पड़ी है।

बाण और नार्मद लिंगकी परीक्षा

बाण और नार्मद लिंगकी परीक्षाके लिये उसे तण्डुलादिसे सात बार तौला जाता है। यदि दूसरी बार तौलनेमें तण्डुल बढ़ जाय, लिंग हलका हो जाय तो वह गृहियोंको पूज्य है। यदि लिंग अधिक ठहरे तो वह विरक्तोंके पूजनेयोग्य है और सात बार तौलनेपर भी बढ़े ही, घटे नहीं तो उसे बाणलिंग अन्यथा नार्मद लिंग जानना चाहिये।

प्रायः शिवको अनार्य देवता बतलाया जाता है, परंतु वेदोंमें शिवका बहुत प्रधानरूपसे वर्णन है।

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः। प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः॥

(श्वेता० ३। २)

समस्त भुवनोंको अपनी ईशनीशक्तिसे ईशन करते हुए सबमें विराजमान शिव ही अन्तमें सबका संहार करते हैं। बस, वही परमतत्त्व सर्वस्व है, उनसे भिन्न दूसरी वस्तु थी ही नहीं।

'यदा तमस्तत्र दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः।'

जब प्रलयमें रात-दिन, कार्य-कारण कुछ भी नहीं था, तब केवल एक शिव ही थे।

'स्वधया शम्भुः।'

'उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्॥'

'नमो नीलग्रीवाय च शितिकण्ठाय च॥'

(यजु०)

यहाँ रुद्रके नील और श्वेत दोनों ही तरहके कण्ठ कहे गये हैं।

ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम्।
ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षं विश्वरूपाय वै नमो नमः॥

(तैत्तिरीयारण्यक)

यहाँ भी कृष्णपिंगल, ऋत-सत्य, ऊर्ध्वरेता विरूपाक्षको नमस्कार किया गया है।

भुवनस्य पितरं गीर्भिराभी रुद्रं दिवा वर्धया रुद्रमक्तौ।
बृहन्तमृष्वमजरं सुषुम्नमृधग्घुवेम कविनेषितासः॥

(ऋक्० ६। ४९। १०)

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥

(श्वेता० ३। ४)

यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्वन्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश। य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये॥ (अथर्व० ७। ८७। १)

'एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः'

(श्वेता० ३। २)

'एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः॥'

(तै० सं० १।८।६।१)

अर्थात् अन्य देवोंका कारण, विश्वका एकमात्र स्वामी, अतीन्द्रियार्थज्ञानी और हिरण्यगर्भको उत्पन्न करनेवाला रुद्र हमें शुभ बुद्धि दे, जो अग्निमें, जलमें, ओषधियों एवं वनस्पतियोंमें रहता है और जो सबका निर्माता है, उसी तेजस्वी रुद्रको हमारा प्रणाम हो। जो भुवनका पिता है, बड़ा है, प्रेरक और ज्ञानी है, उस अजरकी हम स्तुति करते हैं इत्यादि। जो कहते हैं कि अग्नि ही वेदके रुद्र हैं,उन्हें इस बातपर ध्यान देना चाहिये कि अग्नि, जल क्या सभी प्रपंचमें रुद्र रहते हैं। जब रुद्रसे भिन्न दूसरा तत्त्व ही नहीं है, तब अग्नि आदि सभी रुद्र हों, यह ठीक ही है।

एक ही परमात्माके अनेक नाम

एक ही परमात्माके अग्नि, वायु, मातरिश्वा आदि अनेक नाम होते ही हैं—

'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।'
'अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।'

परंतु अग्निसे भिन्न रुद्र हैं ही नहीं, यह कहना संगत नहीं है।

ईशानादस्य भुवनस्य भूरेर्न वा
उ योषद् रुद्रादसुर्यम्॥

(ऋक्० २।३३।९)

इस भुवनके स्वामी रुद्रदेवसे उनकी महाशक्ति पृथक् नहीं हो सकती।

अन्तरिच्छन्ति तं जने रुद्रं परो मनीषया।

(ऋक्० ८।७२।३)

मुमुक्षु उस रुद्र परमात्माको मनुष्यके भीतर बुद्धिद्वारा जानना चाहते हैं।

असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम्।

(यजु० १६।५४)

रुद्रस्य ये मीढ्हुषः सन्ति पुत्रा

(ऋक्० ६।६६।३)

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते
सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषाम्०॥

(ऋक्० ५।६०।५)।

रुद्रसे उत्पन्न सब रुद्र ही हैं। तत्त्वमस्यादि महावाक्योंके अनुसार उनको भी एक दिन महारुद्र परमात्मा होना पड़ेगा।

स रुद्रः स महादेवः।

(अथर्व० १३।४।४)

इत्यादि मन्त्रोंमें भी परमात्माको ही रुद्र, महादेव आदि कहा गया है। जो कहते हैं कि शिवसे पृथक् रुद्र हैं, उन्हें वेदोंके ही अन्यान्य मन्त्रोंपर ध्यान देना चाहिये, जिनमें स्पष्टरूपसे परमेश्वरके लिये ही शिव, त्र्यम्बक, महादेव, महेशान, परमेश्वर, ईशान, ईश्वर आदि शब्द आये हैं।

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥

(ऋक्० ७।५९।१२)

ये भूतानामधिपतयो.... कपर्दिनः।

(यजु० १६।५९)

असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम्।
नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः....।

(यजु० १६।५४,५७)

तमु ष्टुहि यः स्विषुः सुधन्वा यो विश्वस्य क्षयति भेषजस्य।
यक्ष्वा महे सौमनसाय रुद्रं नमोभिर्देवमसुरं दुवस्य॥

(ऋक्० ५।४२।११)

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।

(श्वेता० १।१०)

सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात् सर्वगतः शिवः॥

(श्वेता० ३।११)

आ वो राजानमध्वरस्य रुद्रं होतारं सत्ययजं रोदस्योः।
अग्निं पुरा तनयित्नोरचित्ताद्धिरण्यरूपमवसे कृणुध्वम्॥

(साम—कौथुम १।७।७)

त्वमग्ने रुद्रो असुरो महो दिवस्त्वं शर्धो मारुतं पृक्ष ईशिषे।

(ऋक्० २।१।६)

इत्यादि मन्त्रोंमें अग्निको ही रुद्र कहा गया है।

'स्थिरैरङ्गैः पुरुरूप उग्रो बभ्रुः शुक्रेभिः पिपिशे हिरण्यैः।'

यहाँ रुद्रको पुरुरूप, असाधारण तेजस्वी और बभ्रुवर्ण कहा गया है।

शिवको तामसदेवता कहना अनभिज्ञता

वैदिकोंके यहाँ शिवपूजाकी सामग्रियोंमें कोई भी तामस पदार्थ नहीं है। बिल्वपत्र, पुष्प, फल, धूप, दीप, नैवेद्य आदिसे ही भगवान्‌की पूजा होती है। मद्य, मांसका तो शिवलिंगपूजामें कभी भी उपयोग नहीं होता। अतः शिव तामस देवता हैं, यह कहना अनभिज्ञता है। हाँ, त्रिमूर्त्यन्तर्गत शिव कारणावस्थाके नियन्ता माने जाते हैं। कारण या अव्यक्तकी अवस्था अवष्टम्भात्मक होनेसे तमःप्रधाना कही जा सकती है। **'तम आसीत्तमस्यागूढमग्रे'** इस श्रुतिमें तमको ही सबका आदि और कारण कहा गया है। उसीमें वैषम्य होनेसे सत्त्व, रजका उद्भव होता है। तमका नियन्त्रण करना सर्वापेक्षयाऽपि कठिन है। भगवान् शिव तमके नियन्ता हैं, तमके वशमें नहीं हैं। शिव भयानक भी हैं, शान्त भी हैं। सर्व-संहारक, कालकाल, महाकालेश्वर, महामृत्युञ्जय भगवान्‌में उग्रता उचित ही है। ब्रह्मक्षत्रोपलक्षित समस्त प्रपंच जिसका ओदन है, मृत्यु जिसका दाल-शाक है, मृत्युसहित संसारको जो खा जाता है, उसका उग्र होना स्वाभाविक है। शिवसे भिन्न जो भी कुछ है, उन सबके संहारक शिव हैं। इसीलिये विष्णुको उनका स्वरूप ही माना जाता है। अन्यथा भिन्न होनेपर तो उनमें भी संहार्यता आ जायगी। वस्तुतः हरिहर, शिवविष्णु तो एक ही हैं। उनमें अणुभर भी भेद है ही नहीं।

भीषास्माद्वातः पवते। (तैत्तिरीय० २।८)

भगवान्‌के भयसे ही वायु, अग्नि, सूर्य, मृत्यु अपना काम करते हैं।

महद्भयं वज्रमुद्यतम्

समुद्यत महावज्रके समान भगवान्‌से सब डरते हैं, तभी भगवान्‌को मन्यु या चण्ड-कोपरूप माना गया है। **'नमस्ते रुद्र मन्यवे'** हे रुद्र! आपके मन्युस्वरूपकी मैं वन्दना करता हूँ। वही शक्तिरूपधारिणी होकर चण्डिका कहलाते हैं, फिर भी वह ज्ञानियों और भक्तोंके लिये रसस्वरूप हैं।

रसो वै सः। एष ह्येवानन्दयाति॥

(तैत्तिरीय० २।७)

भगवान् शिव रसमय, कल्याणमय

भगवान् रसस्वरूप हैं, निखिलरसामृतमूर्त्ति भगवान्‌से ही समस्त विश्वको आनन्द प्राप्त होता है, इसीलिये अघोरा शिवतनु घोरतनुसे पृथक् वर्णित है—

या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी।
तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभि चाकशीहि॥

(यजु० १६।२)

भगवान्‌की शन्तमा, शिवा तनू परमकल्याणमयी है।

शान्तं शिवम् (माण्डूक्योपनिषद् ७)

अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः।
सर्वेभ्यः सर्वशर्वेभ्यो नमस्तेऽअस्तु रुद्ररूपेभ्यः॥

इस तरह रुद्राध्यायमें उग्र, श्रेष्ठ और भीमरूप वर्णित हैं।

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च॥

(यजु० १६।४१)

इस मन्त्रमें शिवको शिवस्वरूप, कल्याणदाता, मोक्षदाता कहा गया है।

इस तरह जब अनादि, अपौरुषेय वेदों एवं तन्मूलक इतिहास, पुराण, तन्त्रोंद्वारा शिवका परमेश्वरत्व, शान्तत्व, सर्वपूज्यत्व और अनादि सिद्धत्व सिद्ध होता है, तब शिवकी पूजा अनार्योंसे ली गयी है, इन बेसिर-पैरकी बातोंका क्या मूल्य है?

श्रीविष्णु-तत्त्व

व्याप्त्यर्थक 'विष्लृ' धातुसे विष्णु शब्दकी निष्पत्ति होती है, तथा च व्यापक परब्रह्म परमात्माको ही 'विष्णु' कहा जाता है।

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभि संविशन्ति।' (तैत्तिरीय० ३।१)

—इस श्रुतिके अनुसार यही मालूम पड़ता है कि सम्पूर्ण जगत्‌की जिससे उत्पत्ति होती है, जिसमें स्थिति होती है और जिसमें विलय होता है, वही ब्रह्म है। विशेषरूपसे अनन्तकोटिब्रह्माण्डोत्पादिनी शक्तिमें कार्योत्पत्तिके लिये प्रकाशात्मक सत्त्व, चलनात्मक रज तथा अवष्टम्भात्मक तमकी अपेक्षा होती है। तत्तद्‌गुणोंकी प्रधानतासे ब्रह्म ही रजके सम्बन्धसे ब्रह्मा, तमके सम्बन्धसे रुद्र एवं सत्त्वके सम्बन्धसे विष्णु बन जाता है। प्रकारान्तरसे उत्पादिनीशक्तिविशिष्ट ब्रह्म 'ब्रह्मा', संहारिणीशक्तिविशिष्ट ब्रह्म 'रुद्र' तथा पालिनीशक्तिविशिष्ट ब्रह्म 'विष्णु' शब्दसे व्यवहृत होता है। प्रकारान्तरसे समष्टि-कारणप्रपंचाभिमानी अव्याकृत रुद्र, समष्टि-सूक्ष्मप्रपंचाभिमानी हिरण्यगर्भ विष्णु और समष्टि-स्थूलप्रपंचाभिमानी विराट् ब्रह्मा कहा जाता है। मुख्यरूपसे अव्यक्तादिके नियामक अन्तर्यामीको ही रुद्र, विष्णु, ब्रह्मा आदि कहा जाता है। जहाँ-कहीं उपासना-विशेषके कारण किसी जीवका ब्रह्मा होना सुना जाता है, वह अन्तर्यामी न होकर अभिमानी ही समझा जाना चाहिये।

'स एकाकी न रेमे', 'सोऽबिभेत्'

—इत्यादि श्रुतिवचनोंमें जहाँ हिरण्यगर्भमें भय, अरमण आदिका श्रवण है, वहाँ हिरण्यगर्भमें जीवभावका ही निर्णय किया गया है; क्योंकि परमेश्वरमें भय, अरमण आदि कथमपि सम्भव नहीं। अभिमानी जीव भी हो सकता है, परंतु अन्तर्यामी सर्वत्र परमेश्वर ही है। पुराणोंमें ब्रह्माण्डोंकी अनन्तताका पता लगता है, अतएव तदनुसार विराट्, हिरण्यगर्भ आदिकोंकी भी अनन्तता ही मालूम पड़ती है। उत्पादक-पालक-संहारक-दृष्टिसे ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्रकी अनन्तता ही सिद्ध होती है। अन्तर्यामी होनेसे सभी परमेश्वर ही हैं। इस विचारसे उपनिषदोंका विराट् पुराणोंका महाविराट् है। अनन्तकोटिब्रह्माण्डात्मक समष्टि-स्थूल प्रपंचका एकमात्र अभिमानी एवं अन्तर्यामी उपनिषदोंका विराट् है। यही बात हिरण्यगर्भ और अव्यक्तके सम्बन्धमें भी समझनी चाहिये। तदनुसार ही अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डात्मक सम्पूर्ण विश्वके उत्पादक ब्रह्मा, पालक विष्णु और संहारक रुद्र सर्वथा एक ही हैं। वे ही महाविष्णु, महारुद्र आदि नामोंसे भी यत्र-तत्र व्यवहृत होते हैं। जैसे गोधूमादि सस्योंका एक ही किसान उत्पादक, पालक तथा लावक (काटनेवाला) होता है, वैसे ही विश्वका भी उत्पादक, पालक, संहारक एक ही है, अन्यथा सर्वशक्तिमान् विष्णु परमात्मासे पालित जगत्‌का संहार दूसरा कैसे कर सकता है? यदि सर्वसंहारक रुद्रको ही परमेश्वर मानें, तो फिर संजिहीर्षित विश्वको पालनेवाला कौन हो सकता है? यदि विष्णुसे भिन्न ही रुद्र हैं, तब सर्वसंहारक रुद्रके द्वारा विष्णुके भी संहारका अवसर उपस्थित हो जायगा, अतएव विष्णु एवं रुद्र दोनोंको एक ही परमेश्वर मानना समुचित है।

अनेक ईश्वरका मानना युक्तिविरुद्ध

कोई भी संहारक अपनी अन्तरात्माका संहार नहीं कर सकता है। तभी सर्वसंहारक शिवका आत्मा होनेसे विष्णु बने रहते हैं। अनेक ईश्वरका मानना सर्वथा युक्तिविरुद्ध भी है; क्योंकि जब दोनोंमें मतभेद होगा और साथ ही विरुद्ध प्रकारके संकल्प होंगे, तब दो ईश्वर कथमपि नहीं टिक सकेंगे। यदि परस्परके विरुद्ध संकल्पसे दोनोंहीके संकल्प प्रतिरुद्ध होकर वितथ हो गये, तब तो दोनों ही अनीश्वर सिद्ध होंगे। यदि एकके संकल्पसे दूसरेका संकल्प कट गया, तो सिद्धसंकल्प ही परमेश्वर हुआ, तदतिरिक्तमें

असत्यसंकल्पता होनेसे अर्थसिद्ध अनीश्वरता हुई। अतः जगत्का उत्पादक, पालक, संहारक एक ही परमेश्वर है। उसका किसी भी नामसे भले ही व्यवहार हो, परंतु प्रमाणभूत शास्त्रसे जिसमें जगत्कारणत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्वादि अवगत हों, उसे ही परमेश्वर समझा जा सकता है। विष्णु, रुद्र, ब्रह्मा आदि नामोंके अतिरिक्त आकाशादि शब्दोंसे भी जगत्कारणत्वादि हेतुओंसे परमेश्वरका ही बोध होता है।

अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयकारिणी ब्रह्मनिष्ठमहाशक्ति ही सम्पूर्ण अवान्तर अचिन्त्य अनन्त शक्तियोंकी केन्द्र है। उन्हीं शक्तियोंसे अनन्त ब्रह्माण्ड बनते हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्डकी शक्तियोंमें तमःप्रधान शक्तिसे भूत—भौतिक प्रपंचकी सृष्टि होती है। तामस भूतोंमें भी सत्त्व, रज, तम आदिका अंश रहता है, अतएव सात्त्विक भूतोंसे अन्तःकरण एवं ज्ञानेन्द्रियाँ, राजससे प्राण एवं कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। तामससे स्थूलभूत बनते हैं। ब्रह्माण्डशक्तिके तामस अंशसे जैसे उपर्युक्त प्रपंच बनता है, वैसे ही रजस्तमोलेशानुविद्ध सत्त्वांशसे अविद्या एवं रज आदिसे अननुविद्ध सत्त्वसे विद्या या मायाका आविर्भाव होता है।

अविद्याएँ रज आदिके अनुवेध-वैचित्र्यसे अनन्त हैं, अतः उनमें प्रतिबिम्बित चैतन्यरूप जीव भी अनन्त हैं। जो लोग अविद्याको भी एक ही मानते हैं, उनके मतसे जीव भी एक ही होता है। विशुद्धसत्त्वप्रधाना विद्यामें भी अंशतः सत्त्व, रज, तम होते हैं। उसी सत्त्वप्रधाना शक्तिस्वरूपा विद्याके सात्त्विक अंशसे विष्णु, राजस अंशसे ब्रह्मा और उसी विद्याके तामस अंशसे रुद्रका आविर्भाव होता है। अवान्तरशक्तिके ही विभागके समान ही महाशक्तिके भी विभाग समझने चाहिये। महाशक्तिके तमःप्रधान अंशसे पंच तन्मात्रादि जड़वर्गका, अशुद्ध (मलिन) सत्त्वप्रधान शक्तिसे प्राज्ञसंज्ञक जीववर्गका और विशुद्ध सत्त्वप्रधानशक्तिसे महेश्वरका आविर्भाव होता है।

महाशक्तिविशिष्ट ब्रह्म एक ही है, अतः एक ब्रह्मका ही तमःप्रधाना मायाके योगसे भोग्य, मलिन सत्त्वप्रधाना प्रकृतिरूपा अविद्याके योगसे भोक्ता तथा विशुद्ध सत्त्वप्रधाना मायाके योगसे महेश्वरके रूपमें आविर्भाव समझा जाता है। भोग्यवर्ग एवं भोक्तृवर्गकी एकता-अनेकताका प्रश्न उठ सकता है, परंतु महेश्वरकी अनेकताका प्रश्न ही नहीं उठ सकता। उत्पत्ति-स्थिति-लयका कारण एक ही है तथापि उत्पत्तिकारण-त्वादिकी पृथक्-पृथक् विवक्षासे ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि कहा जाता है। तमःप्रधानशक्तिविशिष्ट चित्में उपादानता तथा विशुद्धसत्त्वप्रधान विद्याशक्तिविशिष्टमें निमित्तता होनेपर भी एक मूलप्रकृतिविशिष्ट ब्रह्म ही जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है, उसमें नानात्व नहीं है। उपादानसे कार्यकी सदृशता होती है, अतः जड़कार्यके अनुरूप ही तमःप्रधानशक्तिविशिष्ट पंच तन्मात्राओंमें जड़ताके अनुरोधसे उपादानता मानी गयी है। निमित्तमें कुलालादिके सदृश कार्यसे विलक्षणता होती है, अतः तदनुरूप ही विद्याविशिष्ट महेश्वरमें निमित्तकारणता मानी गयी है। सर्वापेक्षया प्रबल ही सर्वसंहारक होता है, वही पालक भी हो सकता है; वही विश्वका उत्पादक भी है। अनन्त-ब्रह्माण्डनायक भगवान्को ही 'विष्णु', 'पद्म' आदि पुराणोंमें विष्णु; 'रामायण', 'भारत' आदिमें राम, कृष्ण आदि रूपमें गाया गया है। 'शिव-स्कन्दादि' पुराणोंमें वही शिव 'रुद्र' आदि नामोंसे कहा जाता है। शिवपरक पुराणोंमें कार्यविष्णु अर्थात् एक-एक ब्रह्माण्डके विष्णुका वर्णन है, इसीलिये उनका कुछ अपकर्ष भी भासित होता है। विष्णुपरक पुराणोंमें शिव भी कार्यान्तःपाती ही हैं। अनन्तब्रह्माण्डनायककी प्राप्तिमें अपकर्षककी कल्पना भी संगत ही है। फलतः अनन्तब्रह्माण्डनायक परब्रह्म परमात्मा ही वेद, रामायण, भारत, पुराण आदिमें अनेक रूपों एवं नामोंसे गाये गये हैं। वे ही भगवान् 'विष्णु' शब्दसे प्रसिद्ध हैं।

जगत्पालनके लिये भगवान् विष्णुमें सर्वातिशायी ऐश्वर्य

जगत्के पालनमें सर्वातिशायी ऐश्वर्यकी अपेक्षा

होती है, अतः विष्णुभगवान्‌में परमैश्वर्यका अस्तित्व है। समग्र ऐश्वर्य, समग्र धर्म, समग्र यश, समग्र श्री, समग्र ज्ञान, समग्र वैराग्य जिसमें हों, वही भगवान् है, अथवा प्राणियोंकी उत्पत्ति, प्रलय, गति, अगति, विद्या, अविद्याको पूर्णरूपसे जाननेवाला ही भगवान् है। विश्वमात्रको फलित-प्रफुल्लित करना, अनेक ऐश्वर्यसे पूर्ण करना पालकका काम है। इसीलिये विष्णुभगवान्‌में पराकाष्ठाका ऐश्वर्य पाया जाता है। यद्यपि परमविष्णु साक्षात् चैतन्यघन ही हैं तथापि उपासनामें उनके पदादि अंग-उपांग, गरुड़ादि वाहनों, सुदर्शनादि आयुधों तथा कौस्तुभादि आभूषणोंकी कल्पना की जाती है।

भगवान्‌का स्थूल विराट् स्वरूप

माया, सूत्रात्मा, महान्, अहंकार, पंचतन्मात्रासहित पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय और मनोरूप ग्यारह इन्द्रियाँ, पंचमहाभूत—इन षोडश विकारात्मक महाविराट् भगवान्‌का स्थूल रूप है। भगवान्‌के उसी सात्त्विक रूपमें तीनों भुवन प्रतिभासित होते हैं। यही पौरुष रूप है। भूलोक ही इस पुरुषका पाद है, द्युलोक ही सिर है, अन्तरिक्षलोक ही नाभि है, सूर्य नेत्र, वायु नासिका, दिशाएँ कान, प्रजापति प्रजनेन्द्रिय, मृत्यु पायु (गुदा), लोकपाल बाहु, चन्द्रमा मन और यम ही भगवान्‌की भृकुटी है। उत्कृष्टताके अभिप्रायसे द्युलोकको सिर कहा गया है, गम्भीरताके अभिप्रायसे अन्तरिक्षको नाभि कहा गया है, प्रतिष्ठाके अभिप्रायसे भूलोकको पाद कहा गया है, नेत्रानुग्राहक तथा सर्वप्रकाशक होनेके कारण सूर्यको चक्षु कहा गया है। लज्जा भगवान्‌का उत्तरोष्ठ है। लज्जासे जैसे प्राणी उन्मुख न होकर अवनतानन हो जाता है, तद्वत् उत्तराधर अवनत ही रहता है। लोभ अधरोष्ठ है, ज्योत्स्ना दन्त है, माया ही मन्दहास है, सम्पूर्ण भूरुह (वृक्षादि) लोम हैं, मेघ मूर्धज (केश) हैं। जैसे सप्त वितस्ति (साढ़े तीन हाथ)-का यह व्यष्टि पुरुष है, वैसे ही अपने मानसे समष्टि पुरुष भी सप्त वितस्ति है—'**सप्तवितस्तिकायः**।' परमेश्वराधिष्ठित होनेसे वैराजरूपकी उपासना होती है। इसीलिये 'पुरुषसूक्त' में तथा अन्यत्र पुराणोंमें उपर्युक्त सभी अंग-प्रत्यंगोंकी भावना भगवान् विष्णुमें की गयी है। वैसे तो भगवान् विष्णुका अखण्ड सच्चिदानन्द ही स्वरूप है तथापि भक्तानुग्रहार्थ भगवान् विशुद्ध सत्त्वमयी लीलाशक्तिके योगसे चिदानन्दमय विग्रहको भी धारण करते हैं। वही अतसीपुष्पसंकाश तथा नवनीलनीरदश्यामल या नीलकमलकान्ति भगवान्‌का सगुण, साकार स्वरूप है। उसी स्वरूपको कोई केकीकण्ठाभ कहते हैं, कोई तमालश्यामल कहते हैं। जैसे शैत्यके योगसे निर्मल जल ही शुद्ध बर्फ बनता है, घृतवर्तिकाके योगसे केवल अग्नि ही दाहकत्व प्रकाशकत्वविशिष्ट दीप-शिखाके रूपमें प्रकट होता है, वैसे ही विशुद्ध सत्त्व-मयी लीलाशक्तिके योगसे चिदानन्द ब्रह्म ही सगुण साकार-श्रीविष्णुरूपमें प्रकट होता है। जैसे निराकार तथा अतिगम्भीर आकाशका श्यामलरूप ही तत्त्व-रहस्यज्ञोंको अभिमत है, वैसे ही निराकार, निर्विकार, परम गम्भीर विष्णुतत्त्वका भी श्यामल रूप ही श्रुतिसम्मत है—

'**श्यामाच्छबलं प्रपद्ये**' (छान्दोग्य० ८। १३। १)

तमकी उपाधिसे उपहित, तमके नियामक भगवान् शिवका वर्ण श्यामल है। उन्हींका ध्यान करते-करते विष्णु श्यामल हो जाते हैं। उनका ध्यान करते-करते उनका स्वाभाविक शुक्लरूप शंकरमें प्रकट हो जाता है। ये दोनों ही परस्परानुरक्त एवं परस्परात्मा हैं। युगके अनुरूप भी युगनियामक भगवान्‌का रूप होता है। जैसे मनुष्योंका नियमन करनेके लिये भगवान्‌को मनुष्यानुरूप बनना पड़ता है, वैसे ही युगनियमनके लिये भगवान्‌को युगानुरूप बनना पड़ता है। स्वतः अरूप भगवान्‌में उपाधिके संसर्गसे ही रूपकी आविर्भूति होती है। सत्त्वप्रधान कृतयुग, रजोमिश्रित सत्त्वप्रधान त्रेता, रजःप्रधान द्वापर और तमःप्रधान कलि होता है। अतः कृतके अनुरूप ही कृतयुगीन भगवान् शुक्लरूपमें प्रकट होते हैं। त्रेताके अनुरूप भगवान्‌का रक्तरूप है, द्वापरके अनुरूप पीत एवं कलिके अनुरूप भगवान्‌का

कृष्णरूप होता है—

'शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः ॥'

(श्रीमद्भा० १०।८।१३, १०।२६।१६)

इस दृष्टिसे कलिनियामक होनेसे भगवान् श्यामल हैं।

भगवान्के आभूषणों एवं आयुधोंका रहस्य

भगवान् जीव-चैतन्य ज्योति:समूहको ही कौस्तुभमणिके रूपमें धारण करते हैं। वेदान्तसिद्धान्तके अनुसार एक, अखण्ड, अनन्त, सच्चिदानन्द भगवान्के ही समाश्रित सम्पूर्ण जीव-चैतन्य होते हैं, अत: अवश्य ही जीव भगवान्के भूषण हो सकते हैं। विशेषत: भगवत्प्राप्त भगवद्भक्त तो अवश्य ही भगवान्के कण्ठके देदीप्यमान, चमत्कारपूर्ण भूषण बनते ही हैं। भक्त लोग तभी तो इनसे ईर्ष्या करते हैं—

अहो सुमनसो मुक्ता वज्राण्यपि हरेसरः।
न त्यजन्ति वयं तत्र का वा स्मरवशाः स्त्रियः॥

(गोपालचम्पू पूर्व० १७।१०५)

अर्थात् अहो! मुक्ता (मोती) एवं सुमनस् (पुष्प) (पक्षान्तरमें मुक्तलोग तथा देवतालोग) वैडूर्यादि वज्रक (पक्षान्तरमें कूटस्थब्रह्मभावापन्न लोग) भी जब श्रीहरिके उर:स्थलको छोड़ना नहीं चाहते, तब भला स्मरवशा गोपांगनाएँ कैसे भगवान्को छोड़ दें? उस कौस्तुभमणिकी व्यापिनी साक्षात् प्रभाको ही श्रीवत्सके रूपमें भगवान् धारण करते हैं। दक्षिण वक्ष:स्थलपर कमलनाल-तन्तुके सदृश दक्षिणावर्त श्वेत रोमराजि 'श्रीवत्स' कही जाती है। वाम वक्ष:स्थलपर वामावर्त सुवर्णवर्णा रोमराजि लक्ष्मीका चिह्न है। एतावता भोक्तृवर्गका सार तथा भोग्यवर्गका सार श्री एवं श्रीवत्सके रूपमें भगवान्के वक्ष:स्थलपर विराजमान है। ऐश्वर्याधिष्ठात्री महाशक्ति भगवती लक्ष्मी 'श्री' है। परमात्मकर्तृक गर्भाधानकी महिमासे श्रीप्रसूतजीवन चैतन्यसार 'श्रीवत्स' है। श्री वामवक्ष:-स्थलमें और श्रीवत्स दक्षिणवक्ष:स्थलमें है और बीचमें भृगुचरण चिह्न है। एतावता विप्रचरणारविन्दका समादरपूर्वक सेवन करनेसे ही श्री एवं श्रीवत्सकी प्राप्ति सूचित होती है। नाना गुणमयी त्रिगुणात्मिका माया ही **'वनमाला'** है। परमसौगन्ध्यमय तथा अनेक रंगके तुलसी, कुन्द, मन्दार, पारिजात सरोरुहोंसे विरचित माला त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके ही मनोहर पुष्पोंकी बनी समझनी चाहिये। छन्द:समूह ही भगवान्का पीताम्बर है। जैसे—छन्दोंसे भगवान्का स्वरूप चमत्कृत एवं शोभित होता है, वैसे ही पीताम्बरसे भगवान्का स्वरूप चमत्कृत एवं सुशोभित होता है, किन्हीं-किन्हीं स्थानोंपर मोहिनी मायाको ही पीताम्बर बतलाया गया है। जैसे मायाकी निजी चमक-दमकसे ब्रह्मस्वरूप तिरोहित हो जाता है, वैसे ही पीताम्बरसे भगवान्का मंगलमय श्रीअंग आवृत रहता है। मायाके चाकचिक्यसे अनासक्त एवं अप्रभावित ही जैसे भगवत्स्वरूपको जानता है, वैसे ही पीताम्बरकी चमक-दमकको पार करनेपर ही भगवत्स्वरूपका उपलम्भ होता है। छन्दोंको भी पहले छादक बतलाया गया है—

'छन्दांसि यस्य पर्णानि' (गीता १५।१)

त्रिवृत् अर्थात् त्रिमात्र प्रणव ही भगवान्का उपनीत है। सांख्य एवं योगको भगवान्ने मकराकृत कुण्डलके रूपमें कानोंमें धारण कर रखा है। पारमेष्ठ्य पद ही भगवान्का मुकुट है। अनन्त नामक अव्याकृत ही भगवान्का आसन है। प्रकृतिरूप समष्टि कारणदेहाभिमानी चैतन्य ही अव्याकृत कहलाता है, उसीको शेष भी कहा जाता है। कार्य-प्रपंचके प्रलय हो जानेपर जो अवशिष्ट रहता है, वही शेष है। उन अनन्तशेषरूप अव्याकृतपर ही चतुर्भुज मूर्ति भगवान् विष्णु विराजते हैं। यों भी अव्याकृतके ऊपर ही कार्य-कारणातीत तुरीयतत्त्व विद्यमान रहते हैं। चतुर्वर्गप्रद, चतुर्वेदात्मा, चतुर्युग, चतुरस्र भगवान्की चार भुजाएँ हैं। एक हाथमें वे धर्म-ज्ञानादियुक्त सत्त्वमय पद्मको धारण किये हैं। पद्मकी ही सुन्दरता, मधुरता, सरसता, सुगन्धता धर्मादिमय सत्त्वमें होती है। ओज, बलादियुक्त, प्राणतत्त्व ही भगवान्की गदा है। उन्होंने जलतत्त्वको शंखके रूपमें, तेजस्तत्त्वको सुदर्शनके रूपमें दो हाथोंमें धारण कर रखा है। आकाशतत्त्वको ही

तलवार एवं अन्धकारको ही चर्म (ढाल)-के रूपमें, कालको शार्ङ्गधनुषके रूपमें, कर्मोंको ही निषंगके रूपमें भगवान्‌ने धारण किया है। इन्द्रियाँ ही भगवान्‌के तूणीरमें रहनेवाले बाण हैं, क्रियाशक्तियुक्त मन ही रथ है, शब्दादि पंचतन्मात्रा इस रथका अभिव्यक्त रूप है। जैसे रथारूढ़ होकर व्यक्ति तूणीरसे बाण निकालकर धनुषपर रखकर सन्धान करता है, वैसे ही क्रियाशक्तियुक्त मनपर आरूढ़ होकर प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न भगवान् ही कालरूप धनुषपर इन्द्रियोंको प्रतिष्ठित करके उनका सन्धान करते हैं। वर, अभय आदिकी मुद्राओंके रूपमें भगवान् अर्थ-क्रिया (प्रयोजनसम्पत्ति)-को धारण करते हैं। देव-पूजा स्थल सूर्यमण्डल है, दीक्षा ही पूजा-योग्यता-सम्पत्ति है, भगवान्‌की परिचर्या ही अपने सम्पूर्ण दुरितोंके क्षयका कारण है। भग शब्दार्थ—ऐश्वर्य-षाड्‌गुण्य ही भगवान्‌के श्रीहस्तमें विराजमान लीलाकमल है। इस दृष्टिसे प्रथम वर्णित कमल आसनभूत कमल है। धर्म और यश ही भगवान्‌के ऊपर डुलनेवाले चमर और व्यजन हैं, अकुतोभय वैकुण्ठधाम ही छत्र है, वेदत्रयीरूप गरुड़ ही यज्ञस्वरूप भगवान्‌के वाहन हैं, ऋग्यजु:साम—इन्हीं तीनों वेदोंसे ही यज्ञकी सम्पत्ति होती है, अत: वेदात्मा ही गरुड़ हैं, यज्ञस्वरूप विष्णु ही उनपर विराजमान होकर चलते हैं। चिद्रूपा भागवती शक्ति ही भगवत्प्रिया लक्ष्मी हैं, भगवदुपासना-विधायक पंचरात्रादि आगम ही पार्षदाधिप विष्वक्सेन हैं। अणिमा, महिमा आदि अष्ट विभूतियाँ ही भगवान्‌के नन्द, सुनन्दादि पार्षद हैं। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्धरूपसे विराट्, हिरण्यगर्भ, अव्याकृत, ब्रह्म, विश्व, तैजस, प्राज्ञ, तुरीयादि रूपमें भी उन्हीं चतुर्व्यूह, चिन्मूर्ति भगवान्‌का स्वरूप वर्णित है। ये भगवान् वेदोंके भी कारण हैं। स्वयंदृक् एवं स्वमहिमपूर्ण हैं। परमार्थत: सर्वविध-भेदविवर्जित होनेपर भी भगवान् अपनी शक्तिभूता मायासे ही विश्वका उत्पादन, पालन एवं संहरण करते हैं, अतएव ब्रह्मरूप विष्णु इन आख्याओंसे, अनाच्छन्नज्ञान होते हुए भी विभिन्न रूपोंमें प्रतीत होते हैं। फिर भी वे वस्तुत: भिन्न नहीं हैं; क्योंकि तत्त्वदर्शी विद्वानोंको आत्मरूपसे ही भगवान्‌का उपलम्भ होता है।

भगवद्धाम

श्रीभगवान् तुर्य एवं तुर्यातीतरूपसे निर्गुण, निष्क्रिय, निर्मल, निरवद्य, निरंजन, निराकार, निराश्रय, निरतिशयाद्वैत-परमानन्दस्वरूप हैं। सन्देह हो सकता है कि शुद्धाद्वैत परमानन्दपरब्रह्ममें वैकुण्ठ, प्रासाद, प्राकार, विमानादि अनन्त वस्तुभेद कैसे हुए? यदि ये सब हैं, तो निर्विशेषाद्वैत कैसे? इसका समाधान यह है कि जैसे शुद्ध सुवर्णमें कटक, मुकुट, अंगदादि अनेक भेद होते हैं, जैसे समुद्र-जलमें स्थूल-सूक्ष्म तरंग हैं, जैसे समुद्र-जलमें सूक्ष्म तरंग, फेन, बुद्‌बुदादि भेद होते हैं, जैसे भूमिमें पर्वत, वृक्ष, तृण, गुल्म, लतादि अनन्त वस्तु-भेद होते हैं, वैसे ही अद्वैत परमानन्द ब्रह्ममें वैकुण्ठादि भेद उपपन्न हो जाते हैं। सब कुछ भगवान्‌का स्वरूप ही है, भगवद्‌व्यतिरिक्त अणुभर भी कुछ नहीं है—

मत्स्वरूपमेव सर्वमद्व्यतिरिक्तमणुमात्रं न विद्यते।

'परममोक्ष सर्वत्र एक ही है, फिर अनन्तवैकुण्ठ, अनन्त आनन्द-समुद्रादि कैसे संगत होंगे?' इस शंकाका समाधान यह है कि अविद्या पादमें ही जब अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड हैं, तब एक-एक ब्रह्माण्डमें वैकुण्ठ तथा विविध विभूतियोंमें क्या आपत्ति है? फिर तीनों पादोंके वैकुण्ठोंके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है? निरतिशयानन्दाविर्भाव मोक्ष है, यह त्रिपाद ब्रह्ममें सर्वदा प्रकट रहता है। वह पादत्रय ही परम वैकुण्ठ एवं परम कैवल्य है, इसलिये अविद्या, विद्या, आनन्द और तुर्य—इन चारों पादोंमें अनन्त वैकुण्ठ, अनन्त आनन्द-समुद्रादि ठीक ही है। इस तरह उपासक परम वैकुण्ठमें पहुँचकर भगवान्‌का ध्यान करके निरतिशयाद्वैत-परमानन्दस्वरूप होकर, सावधानीसे अद्वैत योगमें स्थित होकर, अद्वैत परमानन्दका अनुसन्धान करके स्वयं शुद्धबोधानन्दस्वरूप होकर महावाक्यका स्मरण करता हुआ

अपने आत्माको ब्रह्म और ब्रह्मको आत्मा समझ लेता है, अपनेको ब्रह्ममें होम देता है। फिर '**अहं ब्रह्म**' की भावनासे निस्तरंग, अद्वैत, अपारनिरतिशय सच्चिदानन्द, ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। जो इस मार्गसे सम्यक् अभ्यास करता है, वह अवश्य ही नारायण हो जाता है। '**त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्**' में इस विषयपर बड़ा ही सुन्दर विवेचन है, यहाँ तो उसका सारांशमात्र ही दिया गया है। लोक-लोकान्तरों एवं भगवद्विग्रह विलासादिका निरूपण इसमें साम्प्रदायिक वैष्णवों एवं शैवोंसे भी सुन्दर है। विशेषता यह है कि यहाँ अद्वैतसिद्धान्तके पोषणमें पूर्ण ध्यान रखा गया है।

शुद्धसत्त्वमयी शक्तिसंस्पृष्ट, चिदानन्दप्रधान तत्त्वमें अनन्तानन्तवैकुण्ठादिका सभी तारतम्य मान्य है। शक्त्यतीत तत्त्व सर्वथा निराकार, निर्विकार, निर्विशेष ही है। शक्तिकी अनिर्वचनीयताके कारण वस्तुतः शक्तिसंस्पृष्ट भी सर्वदा, सर्वथा सर्वातीत ही है, अतः वह सर्वदा, सर्वथा, सर्वदेश, काल एवं वस्तुओंसे अतीत है। इसीलिये उससे व्यतिरिक्त कहीं कुछ भी नहीं है, सब कुछ वही है। इस दृष्टिको लेकर पुराणोंमें भगवल्लोकों एवं स्वरूपोंका वर्णन है। श्रीभागवतमें श्रीकृष्ण-प्रदर्शित विभूतियोंमें ब्रह्माको अपरिगणित विष्णु परिलक्षित हुए थे और उन सभीको मूर्तिमान् चतुर्विंशति तत्त्वोंसे उपासित बतलाया है और सभीको सत्यज्ञानानन्तानन्दैकरस बतलाया है—

सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः ।
अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम्॥

(श्रीमद्भा० १०।१३।५४)

अर्थात् वे सभी स्वरूप सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्ति ही हैं। जैसे शैत्यके कारण निर्मल जल ही बर्फ बनता है, वैसे ही विशुद्ध सत्त्वके कारण निर्मल, निर्विकार, एकरस ब्रह्म ही उन मूर्तियोंके रूपमें व्यक्त है। पुनश्च, वे ऐसे महामहिम वैभवशाली स्वरूप थे, जिनके बहुत-से माहात्म्योंको और तो क्या, उपनिषद्दर्शी भी नहीं स्पर्श कर सकते। ठीक ही है, भगवान्‌के अनन्त माहात्म्यको सामस्त्येन कोई भी नहीं जान सकता। अनन्त होनेसे भगवान् भी उनका अन्त नहीं पा सकते।

इन्हीं सिद्धान्तोंके अनुसार श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीने वृन्दावन-शतकमें श्रीवृन्दावनधामको चिदानन्दमय कहा है। यहाँके प्रत्येक वृक्षों, लताओं, दूर्वाओं एवं तृणोंकी भी अपार महिमा कही गयी है, सब वस्तुओंको केवल परमानन्द सुधासमुद्रका विलास कहा है। इतना ही नहीं 'जहाँ प्रवेशमात्रसे सब जन्तु सच्चिदानन्दघनताको प्राप्त हो जाते हैं,' उन्होंने ऐसा भी कहा है—"**यत्र प्रविष्टः सकलोऽपि जन्तुः आनन्दसच्चिद्घनतामुपैति**" (वृन्दावन-शतक)। इतनेसे ही कुछ साम्प्रदायिक कहने लगते हैं कि उन्होंने अद्वैत-सिद्धान्तको छोड़कर मतान्तरका ग्रहण कर लिया है। परंतु जो अद्वैत-सिद्धान्तसे परिचित हैं, वे जानते हैं कि इस तरहका वर्णन अद्वैतवादको छोड़कर अन्यत्र कहीं बन ही नहीं सकता।

'**ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले**' (मुण्डक० ३।२।६)।

—इस श्रुतिमें '**ब्रह्मलोकेषु**' इस बहुवचनसे यहाँ मालूम पड़ता है कि सविशेष ब्रह्मलोक एक ही नहीं, किंतु बहुत हैं। दूसरे यह भी मालूम पड़ता है कि सर्वमूर्धन्य, सर्वोत्कृष्ट लोक ही शैवोंको परम शिवलोकके रूपमें, वैष्णवोंको परम वैकुण्ठके रूपमें, कृष्ण-भक्तोंको गोलोकधामके रूपमें, राम-भक्तोंको साकेतधामके रूपमें, परमशाक्तोंको मणिद्वीपके रूपमें भासमान होता है। सगुण, सविशेष ब्रह्मके उपासकोंको उनके इष्टदेवके रूपमें भासमान होता है। वही निर्गुण विष्णुतत्त्व ज्ञानवालोंको निर्विशेष ब्रह्मके रूपमें प्रत्यक्ष होता है।

श्रीभगवती-तत्त्व

महाचिति भगवतीमें सम्पूर्ण विश्व भासित

अनन्तकोटिब्रह्माण्डात्मक प्रपंचकी अधिष्ठानभूता सच्चिदानन्दरूपा भगवती ही सम्पूर्ण विश्वको सत्ता, स्फूर्ति तथा सरसता प्रदान करती हैं। विश्वप्रपंच उन्हींमें उत्पन्न होता है, स्थित होता है, अन्तमें उन्हींमें लीन हो जाता है। जैसे दर्पणमें आकाशमण्डल, मेघमण्डल, सूर्य-चन्द्रमण्डल, नक्षत्रमण्डल, भूधर, सागरादि प्रपंच प्रतीत होता है, किंतु दर्पणको स्पर्श करके देखा जाय, तो वास्तवमें कुछ भी नहीं उपलब्ध होता, वैसे ही सदानन्दस्वरूप महाचिति भगवतीमें सम्पूर्ण विश्व भासित होता है। जैसे दर्पणके बिना प्रतिबिम्बका भान नहीं होता, दर्पणके उपलम्भमें ही प्रतिबिम्बका उपलम्भ होता है, वैसे ही अखण्ड, नित्य, निर्विकार महाचितिमें ही, उसके अस्तित्वमें ही प्रमाता, प्रमाण, प्रमेयादि विश्व उपलब्ध होता है। भान न होनेपर भास्यके उपलम्भकी आशा ही नहीं की जा सकती।

महाचिति ही भगवती, आत्मा, पुरुष, ब्रह्म आदि शब्दोंसे व्यवहृत

सामान्य रूपसे तो यह बात सर्वमान्य है कि प्रमाणाधीन ही किसी भी प्रमेयकी सिद्धि होती है, अत: सम्पूर्ण प्रमेयमें प्रमाण कवलित ही उपलब्ध होता है। प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेय—ये अन्योन्यकी अपेक्षा रखते हैं। प्रमाणका विषय होनेसे ही कोई वस्तु प्रमेय हो सकती है। प्रमेयको विषय करनेवाली अन्त:करणकी वृत्ति प्रमाण कहला सकती है। प्रमेय-विषयक प्रमाणका आश्रय अन्त:करणावच्छिन्न चैतन्य ही प्रमाता कहलाता है। प्रमाताश्रित प्रमेयाकार वृत्तिको ही प्रमाण कहा जाता है। परंतु इन सबकी उत्पत्ति, स्थिति, गतिका भासक नित्य बोध आत्मा है। वही साक्षी एवं वही ब्रह्म कहलाता है। यद्यपि वह स्त्री, पुमान् अथवा नपुंसक नहीं है तथापि चिति, भगवती आदि स्त्रीवाचक शब्दोंसे, आत्मा; पुरुष आदि पुंबोधक शब्दोंसे, ब्रह्म, ज्ञान आदि नपुंसक शब्दोंसे व्यवहृत होता है। वस्तुत: स्त्री, पुमान्, नपुंसक—इन सबसे पृथक् होनेपर भी तादृक्-तादृक् (उस-उस) शरीरसम्बन्धसे या वस्तुसम्बन्धसे वही अचिन्त्य, अव्यक्त, स्वप्रकाश सच्चिदानन्दस्वरूपा महाचिति भगवती ही आत्मा, पुरुष, ब्रह्म आदि शब्दोंसे ही व्यवहृत होती हैं।

मायाशक्तिका आश्रयण करके वे ही त्रिपुरसुन्दरी, भुवनेश्वरी, विष्णु, शिव, कृष्ण, राम, गणपति, सूर्य आदि रूपमें भी प्रकट होती हैं। स्थूल, सूक्ष्म, कारण—त्रिशरीररूप त्रिपुरके भीतर रहनेवाली सर्वसाक्षिणी चिति ही त्रिपुरसुन्दरी है। उसी मायाविशिष्ट तत्त्वके जैसे राम-कृष्णादि अन्यान्य अवतार होते हैं, वैसे ही महालक्ष्मी, महासरस्वती, महागौरी आदि अवतार होते हैं। यद्यपि श्रीभगवती नित्य ही हैं तथापि देवताओंके कार्यके लिये वे समय-समयपर अनेक रूपोंमें प्रकट होती हैं। वे जगन्मूर्ति भगवती नित्य ही हैं, उन्हींसे चराचर प्रपंच व्याप्त है तथापि उनकी उत्पत्ति अनेक प्रकारसे होती है। देवताओंके कार्यके लिये जब वे प्रकट होती हैं, तब वे नित्य होनेपर भी 'उत्पन्न हुई' कही जाती हैं—

नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम्॥
तथापि तत्समुत्पत्तिर्बहुधा श्रूयतां मम।
देवानां कार्यसिद्ध्यर्थमाविर्भवति सा यदा॥
उत्पन्नेति तदा लोके सा नित्याप्यभिधीयते।

(श्रीदुर्गासप्तशती १। ६४-६६)

भगवती मायारूपा नहीं है

कुछ लोगोंका कहना है कि 'शास्त्रोंमें मायारूपा भगवतीकी ही उपासना कही गयी है, माया वेदान्त-सिद्धान्तानुसार मिथ्याभूत है, मुक्तिमें उसकी अनुगति नहीं हो सकती, अत: भगवतीकी उपासना अश्रद्धेय है। 'नृसिंहतापनी' में ऐसा स्पष्ट उल्लेख है कि नारसिंही माया ही सब प्रपंचकी सृष्टि करती है, वही सबकी रक्षा करती है, वही सबका संहार करती है, उसी मायाशक्तिको जानना चाहिये। जो उसे जानता है, वह मृत्युको तरता है, पाप्माको तरता है, अमृतत्व

एवं महती श्रीको प्राप्त करता है—

'माया वा एषा नारसिंही सर्वमिदं सृजति, सर्वमिदं रक्षति, सर्वमिदं संहरति। तस्मान्मायामेतां शक्तिं विद्यात्। य एतां मायां शक्तिं वेद, स मृत्युं जयति, स पाप्मानं तरति, सोऽमृतत्वं गच्छति, महतीं श्रियमश्नुते।'

आप वैष्णवीशक्ति अनन्तवीर्या एवं विश्वकी बीजभूता माया हैं—

'त्वं वैष्णवी शक्तिरनन्तवीर्या विश्वस्य बीजं परमासि माया।' (श्रीदुर्गासप्तशती ११।५) इत्यादि वचनोंसे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि मायारूपा ही भगवती है। उसीकी उपासनाका तत्र-तत्र स्थानोंमें विधान है। माया स्वयं जड़ है इत्यादि-इत्यादि।

परंतु यह ठीक नहीं है; क्योंकि यह सब पूर्वोक्त और निम्नलिखित प्रमाणोंसे विरुद्ध है—

'सर्वे वै देवा देवीमुपतस्थुः कासि त्वं महादेवीति॥ साब्रवीत्—अहं ब्रह्मस्वरूपिणी। मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगत्।' (श्रीदेव्यथर्वशीर्ष १-२)

अर्थात् देवताओंने देवीका उपस्थान करके उनसे प्रश्न किया कि 'आप कौन हैं?' देवीने कहा—'मैं ब्रह्म हूँ, मुझसे ही प्रकृति-पुरुषात्मक जगत् उत्पन्न होता है।'

'अथ ह्येषां ब्रह्मरन्ध्रे ब्रह्मरूपिणीमाप्नोति, भुवनाधीश्वरी तुर्यातीता' (भुवनेश्वर्युपनिषद्)।

'स्वात्मैव ललिता' (भावनोपनिषद्)।

—इत्यादि वचनोंसे तुर्यातीत ब्रह्मात्मस्वरूपा ही भगवती हैं, यह स्पष्ट है।

'त्रिपुरातापनीय', 'सुन्दरीतापनीयादि' उपनिषदोंमें **'परोरजसे'** इत्यादि गायत्रीके चतुर्थ चरणसे प्रतिपाद्य ब्रह्मके वाचकरूपसे **'ह्रीं'** बीजको बतलाया है। 'काली' एवं 'तारोपनिषदों' में भी ब्रह्मरूपिणी भगवतीकी ही उपासना प्रतिपादित है।

अतः संसारनाशाय साक्षिणीमात्मरूपिणीम्।
आराधयेत् परां शक्तिं प्रपञ्चोल्लासवर्जिताम्॥

(सूतसंहिता)

अर्थात् संसारनिवृत्तिके लिये प्रपंचस्फुरणशून्य, सर्वसाक्षिणी, आत्मरूपिणी, पराशक्तिकी ही आराधना करनी चाहिये।

परा तु सच्चिदानन्दरूपिणी जगदम्बिका।
सर्वाधिष्ठानरूपा स्याज्जगद्भ्रान्तिश्चिदात्मनि॥

(स्कन्दपुराण)

अर्थात् सच्चिदानन्दरूपिणी परा जगदम्बिका ही विश्वकी अधिष्ठानभूता हैं, उन्हीं चिदात्मस्वरूपा भगवतीमें ही जगत्‌की भ्रान्ति होती है।

सर्ववेदान्तवेदेषु निश्चितं ब्रह्मवादिभिः॥
एकं सर्वगतं सूक्ष्मं कूटस्थमचलं ध्रुवम्।
योगिनस्तत् प्रपश्यन्ति महादेव्याः परं पदम्॥
परात्परतरं तत्त्वं शाश्वतं शिवमच्युतम्।
अनन्तप्रकृतौ लीनं देव्यास्तत् परमं पदम्॥
शुभं निरञ्जनं शुद्धं निर्गुणं द्वैतवर्जितम्॥
आत्मोपलब्धिविषयं देव्यास्तत् परमं पदम्।

(कूर्मपुराण पू०वि० अ० ११।४८-४९, ५१-५२)

—इत्यादि वचनोंसे निर्विकार, अनन्त, अच्युत, निरंजन, निर्गुण ब्रह्मको ही भगवतीका वास्तविक स्वरूप बतलाया गया है। देवीभागवतमें भी कहा है कि—

निर्गुणा सगुणा चेति द्विधा प्रोक्ता मनीषिभिः।
सगुणा रागिभिः सेव्या निर्गुणा तु विरागिभिः॥

अर्थात् निर्गुणा-सगुणा दो प्रकारकी भगवती हैं, रागिजनोंको सगुणा सेव्या हैं, विरागियोंको निर्गुणा सेव्या हैं। ब्रह्माण्डपुराणके 'ललितोपाख्यान' में भी कहा है—

'चितिस्तत्पदलक्ष्यार्था चिदेकरसरूपिणी।'

अर्थात् चिदेकरसरूपिणी चिति ही तत्पदकी लक्ष्यार्थस्वरूपा हैं।

कहा जा सकता है कि 'फिर तो ब्रह्मस्वरूपता-बोधक वचनोंसे भगवतीके मायात्वबोधक वचनोंका विरोध अवश्य होगा।'

परंतु ऐसा कहना उचित नहीं है; क्योंकि वेदान्तमें मायाको मिथ्या कहा गया है। मिथ्यापदार्थ

अधिष्ठानमें कल्पित होता है। अधिष्ठान सत्तासे अतिरिक्त कल्पितकी सत्ता नहीं हुआ करती। मायामें अधिष्ठानकी ही सत्ताका प्रवेश रहता है, अत: मायास्वरूपकी उपासनासे भी सत्तास्वरूप ब्रह्मकी ही उपासना होगी। इस आशयसे मायास्वरूपत्वबोधक वचनोंका भी कोई विरोध नहीं है। जैसे ब्रह्मकी उपासनामें भी केवल ब्रह्मकी उपासना नहीं होती, अपितु शक्तिविशिष्ट ही ब्रह्मकी उपासना होती है, क्योंकि ब्रह्मसे पृथक् होकर शक्ति नहीं रह सकती और केवल ब्रह्मकी उपासना हो नहीं सकती, वैसे ही केवल मायाकी भी उपासना सम्भव नहीं हो सकती। केवल मायाकी स्थिति ही नहीं बन सकती, फिर उपासना तो दूर रही।

मायाविशिष्ट ब्रह्म ही भगवती है

अधिष्ठानभूत ब्रह्मसे युक्त होकर ही माया रहती हैं, अत: भगवतीकी मायारूपता वर्णन करनेपर भी फलत: ब्रह्मरूपता ही सिद्ध होती है।

पावकस्योष्णतेवेयमुष्णांशोरिव दीधितिः।
चन्द्रस्य चन्द्रिकेवेयं शिवस्य सहजा ध्रुवा॥

अर्थात् जैसे पावकमें उष्णता रहती है, सूर्यमें किरण रहती है, चन्द्रमामें चन्द्रिका रहती है, वैसे ही शिवमें उनकी सहज शक्ति रहती है। इस तरह विश्वस्वरूपभूता शक्तिके रूपमें भगवतीका वर्णन मिलता है। जैसे अग्निमें होम करनेपर भी अग्नि-शक्तिमें होम समझा जाता है, वैसे ही अग्नि-शक्तिमें होम करनेसे अग्निमें होम समझा जाता है। इसी तरह मायाको भगवती कहनेपर भी ब्रह्मको भगवती समझा जा सकता है, अत: ब्रह्मकी ही उपासना समझनी चाहिये। जो वाक्य मायाको मिथ्या प्रतिपादित करते हैं, उनमें तो केवल मायाका ही ग्रहण होता है, क्योंकि ब्रह्मका मिथ्यात्व नहीं है, वह तो त्रिकालाबाध्य, सत्स्वरूप अधिष्ठान है। उपास्य मायापदार्थान्तर्गत ब्रह्मांश मोक्षदशामें भी अनुस्यूत रहेगा, अत: मुक्तिमें उपास्य-स्वरूपका त्याग भी नहीं होगा।

'अन्तर्यामिब्राह्मण' में पृथ्वीसे लेकर मायापर्यन्त सभी पदार्थोंको चेतन सम्बन्धसे देवता बतलाया गया है। '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' (छान्दोग्य० ३। १४। १)— इस श्रुतिके अनुसार भी सब कुछ ब्रह्म ही है, ऐसा कहा गया है।

'सूतसंहिता' में कहा है—

चिन्मात्राश्रयमायायाः शक्त्याकारो द्विजोत्तमाः।
अनुप्रविष्टा या संविन्निर्विकल्पा स्वयम्प्रभा॥
सदाकारा सदानन्दा संसारोच्छेदकारिणी।
सा शिवा परमा देवी शिवाभिन्ना शिवङ्करी॥

अर्थात् चिन्मात्र परब्रह्मके आश्रित रहनेवाली मायाके शक्त्याकारमें अनुप्रविष्ट स्वयंप्रभा, निर्विकल्पा, सदाकारा, सदानन्दा, संविद् ही शिवाभिन्न शिवस्वरूपा परमा देवी है अथवा भगवतीस्वरूपप्रतिपादक वाक्योंमें जो माया, शक्ति, कला आदि शब्द हैं, वे सब लक्षणासे मायाविशिष्ट, कलाविशिष्ट ब्रह्मके बोधक समझने चाहिये। तथा च मायाविशिष्ट ब्रह्म ही 'भगवती' शब्दका अर्थ है।

यही बात शिवने कही थी—

नाहं सुमुखि मायाया उपास्यत्वं ब्रुवे क्वचित्।
मायाधिष्ठानचैतन्यमुपास्यत्वेन कीर्तितम्॥
मायाशक्त्यादिशब्दाश्च विशिष्टस्यैव लक्षकाः।
तस्मान्मायादिशब्दैस्तद् ब्रह्मैवोपास्यमुच्यते ॥

यहाँ एक-एक पक्षमें केवल चैतन्य ही मायादि शब्दोंसे उपास्य कहा गया है, द्वितीय पक्षमें मायाविशिष्ट ब्रह्म मायादि शब्दसे कहा गया है। साकार देवताविग्रह सर्वत्र ही शक्तिविशिष्ट ब्रह्मरूपसे ही उपास्य होता है। भगवतीविग्रहमें भी भाषण, दर्शन, अनुकम्पा आदि व्यवहार देखा ही जाता है, फिर उसमें जड़त्वकी कल्पना किस तरह की जा सकती है?

विराट्, हिरण्यगर्भ, अव्याकृत, ब्रह्म, विष्णु, रुद्रादिकोंके स्वरूपमें एक-एक गुणकी प्रधानता है, माया गुणत्रयकी ही साम्यावस्था है, वह केवल शुद्ध ब्रह्मके आश्रित है। मायाविशिष्ट तुरीयब्रह्म ही भगवतीकी उपासनामें ग्राह्य है, यह दिखलानेके लिये माया, प्रकृति आदि शब्दोंसे कहीं-कहीं भगवतीको बोधित

किया गया है।

'मैत्रायणी श्रुति' में कहा है—

तमो वा इदमेकमास तत्पश्चात्तत्परेणेरितं विषमत्वं, प्रयात्येतद्वै रजसो रूपं तद्रजः खल्वीरितं विषमत्वं प्रयात्येतद्वै ......सत्त्वम्।

इन वचनोंसे स्पष्ट कहा गया है कि तीनों गुणोंकी साम्यावस्थारूपा प्रकृति परब्रह्ममें रहती है, उसीके अंश सत्त्वादि गुण हैं, तत्तद्गुणोंसे विशिष्ट ब्रह्मके अंशभूत है, मूलप्रकृति-उपलक्षित ब्रह्म शुद्ध तुरीयस्वरूप ही है। '**त्वं वैष्णवी शक्तिः**' इत्यादि स्थलोंमें ब्रह्मरूपिणी भगवतीका ही शक्तिरूपसे वर्णन किया गया है। उपासनास्थलके अतिरिक्त माया आदि शब्दोंसे भी कहीं-कहीं शक्तिका ग्रहण किया गया है अथवा यह समझना चाहिये कि जगत्कारण परब्रह्म माया-ब्रह्म उभयरूप है।

जहाँ मायोपसर्जन ब्रह्मकी उपासनाका निरूपण है, वहाँ शक्ति सहायभूता है—

तस्मात्सहतया देवं हृदि पश्यन्ति ये शिवम्।
तेषां शाश्वतिकीशान्तिर्नेतरेषां कदाचन॥

(शिवपु०)

कहींपर ब्रह्मोपसर्जन मायाकी उपासना है। इसीलिये माया, प्रकृति आदि शब्दोंसे भगवतीकी उपासनाका विधान मिलता है। यह पक्ष सर्वतन्त्रोंको मान्य है।

'शिवेन सहितां देवीं भावयेद् भुवनेश्वरीम्'

(भुवनेश्वरीपारिजात)

दोनों ही पक्षमें ब्रह्मका चिदंश ही उपासनामें आता है। इसीलिये मायापर मुक्तिके अनन्वयी होनेका या अश्रद्धेय होनेका कोई भी दोष लागू नहीं होता।

यद्यपि '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' (छान्दोग्योपनिषद् ३। १४। १) इत्यादि श्रुतिके अनुसार सब कुछ चिन्मात्र ब्रह्म ही है तथापि भक्तोंके चित्तावलम्बनके लिये अनेक प्रकारके स्वरूपोंका उपदेश किया गया है। मलिन, शुद्ध, शुद्धतर, शुद्धतम आदि उपाधियोंका उपदेश किया गया है। जैसे पात्र, मणि, कृपाण, दर्पणादिमें शुद्धिके तारतम्यसे प्रतिबिम्बित-प्रतिफलनमें तारतम्य होता है, वैसे ही उपाधियोंके तारतम्यसे ब्रह्मके प्रसाद, प्राकट्यमें भी तारतम्य होता है। इसी अभिप्रायसे विभूतियोंकी उत्कृष्टता, उत्कृष्टतरता आदिका व्यवहार शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है। एक-एक गुणोंकी अपेक्षा गुणोंकी साम्यावस्था उत्कृष्ट है।

इसीलिये भगवतीकी उपासना परमोत्कृष्ट है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मका प्रथम सम्बन्ध मायाके ही साथ है। गुणोंका सम्बन्ध मायाद्वारा है। इसीलिये साम्यावस्थामें ब्रह्मका अव्यवहित सम्बन्ध है। अतएव '**सूतसंहिता**' में कहा गया है—

'परतत्त्वप्रकाशस्तु रुद्रस्यैव महत्तरः।'

फिर भी ब्रह्मतत्त्व सर्वत्र ही समान है। इसीलिये सभीमें परमकारणत्वका व्यपदेश सर्वत्र मिलता है। कामार्थी, मोक्षार्थी सभीके लिये भगवतीकी उपासना परमावश्यक है। वही ब्रह्मविद्या है, वही जगज्जननी है, उसीसे सारा विश्व व्याप्त है, जो उसकी पूजा नहीं करता, उसके पुण्यको माता भस्म कर देती है—

यो न पूजयते नित्यं चण्डिकां भक्तवत्सलाम्।
भस्मीकृत्यास्य पुण्यानि निर्दहेत्परमेश्वरी॥

'देवीभागवत' के प्रथम ही मन्त्रमें भगवतीके सगुण-निर्गुण दोनों ही रूपोंका संकेत इस प्रकार मिलता है—

सर्वचैतन्यरूपां तामाद्यां विद्यां च धीमहि।
बुद्धिं या नः प्रचोदयात्॥

अर्थात् वह भगवती सर्वचैतन्यरूपा अर्थात् सर्वात्मस्वरूपा है, सबका प्रत्यक् चैतन्य आत्मस्वरूप ब्रह्म वही है, वह स्वतः सर्वोपाधिनिरपेक्ष तथा अखण्ड बोधस्वरूप आत्मा ही है। ब्रह्मविषयक शुद्धसत्त्वान्तर्मुख वृत्तिपर प्रतिबिम्बित होकर वही अनादि ब्रह्मविद्या है। एक ही शक्ति अन्तर्मुख होकर विद्यातत्त्वरूपिणी होती है, तदुपाधिक आत्मा 'तुरीय' कहलाता है। बहिर्मुख होकर वही 'अविद्या' कहलाती है, तदुपाधिक आत्मा 'प्राज्ञ' है। मायाशबल ब्रह्म ही ध्यानका विषय है, वही बुद्धिप्रेरक है।

शाक्तागम मतके अनुयायियोंकी दृष्टिसे अत्यन्त अन्तर्मुख होकर शक्ति शिवस्वरूप ही रहती है। वेदान्तकी दृष्टिसे सर्वोपाधिविनिर्मुक्त स्वप्रकाश चिति ही रहती हैं। वे ही परब्रह्म, आत्मा आदि शब्दोंसे लक्षित होती हैं।

शक्तिका खण्डन

भगवतीका ही शक्तिस्वरूपसे भी आराधन होता है। हर एक कार्यकी उत्पादनानुकूल शक्ति उसके कारणमें होती है। कार्यके अनन्त होनेसे वह शक्ति भी अनन्त है—

'शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः।'

शक्तिके सम्बन्धमें तार्किकोंका कहना है कि 'कोई प्रमाण न होनेसे स्वरूप सहकारिमेलनके अतिरिक्त 'शक्ति' नामका कोई पदार्थ नहीं है। स्फोटादिरूप कार्यकी अन्यथानुपपत्तिको शक्तिमें प्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जब प्रतिबन्धकाभाव आदि सहकारीसे सहकृत अग्न्यादिके स्वरूपसे ही स्फोटादिरूप कर्मोपपत्ति हो जाती है, तब अतीन्द्रिय शक्तिकी कल्पना करना व्यर्थ है। अभावकी अकारणता होनेसे प्रतिबन्धकाभावको सहकारी मानना ठीक नहीं है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अभावको कारण माननेमें न तो अन्वय-व्यतिरेकित्वमें कोई बाधा पड़ती है, न किसी अनिष्टकी प्रसक्ति ही होती है। भावकी तरह अभावका भी कार्यसे अन्वय-व्यतिरेक दृष्ट है और अभावकी प्रमितिमें योग्यकी अनुपलब्धि एवं विभ्रममें विवेकाग्रहकी हेतुता भी स्पष्ट ही है।

यदि कहा जाय कि क्या प्रतिबन्धकका प्रागभाव कारण है या उसका प्रध्वंसाभाव, तो दोनोंकी कारणता नहीं बनती, क्योंकि उत्तम्भकको प्रतिबन्धकके पास ले जानेपर प्रतिबन्धकके रहनेपर भी प्रागभावके बिना ही कार्योत्पत्ति देखी जाती है, अत: प्रागभावको कारण नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार प्रतिबन्धककी अनुदयदशामें भी अर्थात् उसका प्रागभाव रहनेपर भी कार्योत्पत्ति होती है, अत: प्रध्वंसाभावकी भी कारणता नहीं कही जा सकती।

परंतु यह ठीक नहीं है, क्योंकि उत्तम्भक मणि, मन्त्र आदिके अभावसे सहकृत ही प्रतिबन्धक वस्तुत: प्रतिबन्धक होता है, न कि केवल मणि आदि। अत: वहाँ प्रतिबन्धकसे सहकृतकी ही कारणता होनेसे उक्त दोष नहीं रह जाता। सर्वत्र प्रतिबन्धक-संसर्गा-भावविशिष्टकी ही कारणता मानी गयी है, अत: अनियतहेतुकत्वदोष भी नहीं कहा जा सकता। अन्यथा उपलब्धिमें भी उपलब्धिके प्रागभाव एवं प्रध्वंसाभावके विकल्पसे अभावप्रमितिकी अनियतहेतुकता दुष्परिहार्य होगी।

शक्तिपक्षमें भी अप्रतिबद्ध ही शक्तिको कारण माननेसे अभावविकल्पसे उत्पन्न दोष एवं उसका परिहार तुल्य है।

'प्रतिबन्धो विसामग्री तद्धेतुः प्रतिबन्धकः।'

इस कुसुमांजलिके वचनानुसार सामग्री-वैकल्य प्रतिबन्ध है और उसका हेतु प्रतिबन्धक है। यहाँ प्रतिबन्धपक्ष प्रतिबन्धकाभावके कारण होने और कारणापेक्ष ही प्रतिबन्धकाभावके प्रतिबन्ध होनेके कारण अन्योन्याश्रयग्रस्त होनेसे यदि कहा जाय कि 'प्रतिबन्धके अभावमें कारणता मानना ठीक नहीं है,' तो यह अनुचित है, क्योंकि अभावकी कारणता मानकर ही कार्यानुदयमात्रसेही मन्त्रादिमें कार्य-प्रतिकूलताका बोध होता है और मणि, मन्त्रादिमें कार्यकी प्रतिबन्धताका निर्धारण किये बिना ही मन्त्रादिके अभावमें अन्वय-व्यतिरेकसे ही कारणताका निश्चय होता है। इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि अन्योन्याश्रयत्व उत्पत्ति या ज्ञप्तिमें हुआ करता है। यहाँ मन्त्र एवं तद्भाव (प्रागभाव)-की परस्परहेतुता न होनेसे अज्ञात भी मन्त्र तथा तदभावकी कार्यके प्रति प्रतिकूलता एवं कारणता होनेसे दोनों प्रकारका अन्योन्याश्रय नहीं है।

यदि कहा जाय कि 'कार्याभावसे मन्त्रादि कारणाभावरूप माने जाते हैं, अतएव मन्त्रादिका अभाव भी कारण माना जाता है। इस प्रकार मन्त्र

तथा तदभावमें रहनेवाले प्रतिबन्धकत्व और कारणत्वके अन्योन्यनिमित्तक होनेसे उत्पत्ति या ज्ञप्तिमें अन्योन्याश्रयता दुर्वार है,' तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अभावकी कारणताका अवगम हुए बिना भी कार्याभावमात्रसे मन्त्रादिकी कार्यप्रतिकूलताका ज्ञान हो सकता है, अतएव तदभावकी कारणताका भी ज्ञान अन्वय-व्यतिरेकसे ही सुकर है।

यदि कहा जाय कि 'मणि-मन्त्रादिके सान्निध्यमें, उभयथापि अग्न्यादिके रूपमें कोई अन्तर नहीं पड़ता, फिर भी दाहादिका प्रतिबन्ध होता ही है, अत: यदि स्वरूपातिरिक्त शक्ति न मानें, तो प्रतिबन्ध असम्भव हो जायगा, इसलिये शक्ति माननी चाहिये,' यह भी ठीक नहीं, क्योंकि 'प्रतिबन्ध' शब्दसे बोधित होनेवाला कार्यके प्रति औदासीन्य ही अग्न्यादिमें विशेषरूपसे उपलब्ध होता है। यदि ऐसा न मानें, तो शक्ति माननेपर भी प्रतिबन्धका विवेक कठिन हो जायेगा। शक्तिका नाश प्रतिबन्ध नहीं कहा जा सकता, अन्यथा प्रतिबन्ध हट जानेपर कार्याभावकी प्रशक्ति होगी। स्फोटरूप कार्यकी उत्पत्तिके लिये वहाँ शक्त्यन्तरकी उत्पत्ति मानना भी उचित नही है; क्योंकि उसके किसी कारणका वहाँ निरूपण नहीं किया जा सकता। अग्निसामग्रीसे वहाँ कार्योत्पत्ति नहीं कही जा सकती; क्योंकि वह तो नष्ट ही हो चुकी है। अशक्त अग्नि उत्पादक न होनेसे उस आश्रयभूत अग्निसे भी कार्योत्पत्ति नहीं कही जा सकती। यदि उत्पादकत्व मानें, तो कार्यमें भी वह वैसे ही विद्यमान होनेसे शक्तिका मानना निष्प्रयोजन है। यदि वह शक्त है, तो उस शक्तिकी कार्यके विषयमें भी मान लेनेसे काम चल जाता है। ऐसी स्थितिमें कारणान्तरका निरूपण न होनेसे शक्त्यन्तरकी उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। प्रतिबन्धाभावको भी कारण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अभावकी कारणता अस्वीकृत है।

यदि अभावको कारण माना जाय, तो उसीसे स्फोटादि (दाहादि) कार्योंकी उत्पत्ति हो जायगी, फिर अतीन्द्रिय शक्तिकी कल्पनासे क्या लाभ? एक शक्तिसे दूसरी शक्तिका प्रतिबन्ध माननेसे अनवस्था-प्रसंग प्राप्त होगा, क्योंकि उसमें भी उक्त दूषणके परिहारार्थ शक्तिप्रतिबन्ध कहना पड़ेगा। अत: शक्तिके बिना भी कार्यके अन्यथापि उपपन्न हो जानेसे अतीन्द्रिय शक्तिकी कल्पनाका कोई अवकाश नहीं है।

उपादानोपादेय भावरूप नियमकी अनुपपत्ति भी शक्तिमें प्रमाण नहीं कही जा सकती अर्थात् दुग्धादि जैसे दध्यादिका उपादान है, न कि तिलादि, इसी प्रकार तिलादि ही तैलादिका उपादान है, न कि दुग्धादि, ऐसा जो नियम है, उसकी शक्तिको बिना स्वीकार किये आपत्ति न होनेके कारण शक्ति मानना आवश्यक है, ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि शक्तिके बिना माने ही अनादिसिद्ध वृद्धव्यवहारसे निर्णीत तत्तत्कार्यानुकूल स्वभावकी विशेषतासे ही उपादानोपादेय-नियमकी सिद्धि हो जाती है। यदि स्वभावको नियात्मक न माना जाय तो शक्तिमें भी नियम न रह सकेगा। 'यह शक्ति यहीं क्यों है, अन्यत्र क्यों नहीं है, इसका समाधान स्वभावभेदके अतिरिक्त और क्या हो सकता है? अत: कहना होगा कि दोनों प्रकारकी अर्थापत्तियोंको उपर्युक्त रीतिसे शक्तिमें प्रमाण नहीं कहा जा सकता।

यदि—

विमतं (अग्न्यादि) अजनकदशातो जनकदशाया-मतिशययोगिकारकत्वात् कुण्ठकुठारवत्।

इस अनुमानको शक्तिसाधक कहें, तो यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि सहकारिसमवधानके अतिशयसे ही सिद्ध-साधनता है। यदि—

'अग्नि: अतीन्द्रियसामान्यवन्निष्क्रियाश्रय: कारण-त्वाद् गुरुत्वाश्रयवत्।'

इस अनुमानद्वारा शक्तिको सिद्ध करें, तो भी जो योगीको मानता है, उसके मतमें किसी वस्तुके अतीन्द्रिय न होनेसे उक्त अनुमानमें दिया हुआ 'अतीन्द्रिय' विशेषण सिद्ध नहीं होता, अत: वैसे विशेषणसे गर्भित अनुमानसे शक्तिकी सिद्धि कैसे हो सकती है? यदि कहा जाय कि जैसे हमारा चक्षु

इन्द्रिय होनेके कारण गुरुत्वजातिविषय नहीं है, वैसे ही योगीका चक्षु इन्द्रिय होनेके कारण गुरुत्वजातिविषय न होगा।' इस अनुमानसे अतीन्द्रियकी सिद्धि करके पूर्वोक्त अतीन्द्रियसामान्यगर्भित अनुमानद्वारा शक्तिसिद्धि हो जायगी, तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि वहाँ यह शंका होगी कि ऐसा अनुमान करनेवालेकी दृष्टिमें योगीन्द्रिय प्रसिद्ध है या अप्रसिद्ध? यदि अप्रसिद्ध है, तो योगीको न माननेवाले मीमांसककी दृष्टिमें आश्रयासिद्धि होगी। यदि प्रसिद्ध है, तो धर्मिग्राहक प्रमाणका बाध होगा अर्थात् अस्मदादिकोंके इन्द्रियसे विलक्षण योगीन्द्रियको ग्रहण करता हुआ प्रमाण ऐन्द्रियक-अतीन्द्रियक साधारण ही उसका ग्रहण करायेगा, अतः उस प्रमाणसे गुरुत्वजातिविषयत्वाभावरूप साध्यका बोध हो जायगा। यदि उस अतीन्द्रिय विशेषणको अस्मदादिके अभिप्रायसे मानें, तो भी काम न चलेगा, क्योंकि जब परमाणुको जानता हूँ, आकाशको जानता हूँ, ऐसा अनुव्यवसाय होता है, तब परमाणु और उसका ज्ञान मानसप्रत्यक्षरूप अनुव्यवसायका विषय होता है।

इस तरह सभी वस्तु ऐन्द्रियकज्ञानविषय बन जानेसे अस्मदादिकी दृष्टिसे भी अतीन्द्रियत्व अप्रसिद्ध ही रहता है और इस तरह पूर्वोक्त दोष ज्यों-का-त्यों रहनेसे उक्त अनुमानसे शक्तिसिद्धि नहीं हो सकती। यदि उस अनुमानमें, अनुव्यवसायातिरिक्त अस्मदादि ऐन्द्रियकबुद्धिके अगोचर होनेके आशयसे वह अतीन्द्रियत्वरूप विशेषण है, ऐसा कहें, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि अन्यप्रमाणसे उपनीत विशेषणावगाहि-विशिष्टज्ञान माननेवालेके मतमें सभी पदार्थोंकी ऐन्द्रियकता सम्भव होनेसे पूर्वोक्त दोष ज्यों-का-त्यों रह जाता है अर्थात् जिनके मतमें **'सुरभिचन्दनम्'** इत्यादि विशिष्ट ज्ञान प्रमाणान्तर घ्राण आदिसे उपनीत गन्धादिको भी विषय कहते हैं, उनके मतमें यत्किंचित् प्रत्यक्षार्थ विशेषण होनेसे सभी पदार्थ ऐन्द्रियकबुद्धिबाध्य हो सकते हैं, अतः अप्रसिद्ध विशेषणता उक्त अनुमानमें तदवस्थ ही है।

यदि पूर्वोक्त—

'अग्निः अतीन्द्रियसामान्यवन्निष्क्रियाश्रयः कारणत्वाद् गुरुत्वाश्रयवत्।'

—इस अनुमानमें विशिष्टज्ञान एवं अनुव्यवसायके अतिरिक्त अस्मदादि ऐन्द्रियकबुद्धिका अविषयत्व ही अतीन्द्रिय माना जाय, तो वहाँ फिर यह शंका हो सकती है कि इस अनुमानमें 'आश्रय' पदसे जो आधाराधेयभाव विवक्षित है, वह संयोगिरूपसे विवक्षित है या समवायिरूपसे? यदि संयोगिरूपसे, तो गुरुत्वाश्रयके दृष्टान्तमें साध्यवैकल्य होता है। यदि 'आश्रय' पदका अर्थ समवायी मानें, तो समवायको न माननेवाले मीमांसकभट्टके मतमें उक्त विशेषण ही अप्रसिद्ध होनेसे वह अनुमान नहीं बन सकेगा और वह्निमें स्थितिस्थापक संस्कारसिद्धि होनेसे सिद्धसाधनता भी होती है। यदि कहा जाय कि सिद्धिसाधनताके अस्तित्वमें कोई प्रमाण न होनेसे क्यों मानें? तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसके अस्तित्वमें—

'विमतः स्थितिस्थापकसंस्कारवान् रूपवत्त्वात् कटवत्।'

यह अनुमान विद्यमान है। इस अनुमानको स्थितिस्थापककार्यवत्त्वरूप उपाधिसे दूषित भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उपाधिकी साध्यव्यापकता होनी आवश्यक है, किंतु उत्पन्न होते ही नष्ट हो गये, कटादिमें स्थितिस्थापकरूप कार्यका उपलम्भ न होनेपर भी यहाँ तथाविध संस्कारका अभ्युपगम होनेसे साध्याव्याप्ति रहती है।

अपि च जो मीमांसक अपने सिद्धान्तानुसार सिद्धसाधनता कह रहा है, उसको सैकड़ों अनुमानोंसे भी स्वसिद्धान्तसे किस तरह प्रच्युत किया जा सकता है और कैसे उसके साधनतासिद्ध इस अभिधानको प्रत्युद्धृत किया जा सकता है? यदि इस प्रकार स्वसिद्धान्तके अनुरोधसे सिद्धसाधनता माननेवालेकी अनुमानोंद्वारा तदीय सिद्धान्तसे प्रच्युति अशक्य होने और सिद्धसाधनताके अपरिहार्य होनेसे स्वाभिप्राय-सिद्ध्यर्थ पूर्वोक्त अनुमानगत **'अतीन्द्रियसामान्य-**

वन्निष्क्रियाश्रय' में '**स्थितिस्थापकेतर**' यह विशेषण जोड़कर दूषणका परिहार किया जाय, तो भी प्रभाकरके मतमें—जो कि कर्मकी अप्रत्यक्षता मानते हैं—कर्मसे अर्थान्तरतापत्ति होगी; क्योंकि उनके मतमें अप्रत्यक्ष एवं निष्क्रिय कर्ममें अतीन्द्रिय सामान्यवत्वादिरूप साध्य विद्यमान ही है। किंतु यह ठीक नहीं है, फिर जो भी कादाचित्क होता है, वह स्वाश्रयातिशयपुर:सर देखा गया है, जैसे संयोग-विभागजन्य कार्य संयोग-विभागरूप स्वाश्रयातिशयपुर:सर होता है। इस व्याप्तिसे कादाचित्क होनेके कारण संयोग-विभागमें भी स्वाश्रयातिशयपुर:सरत्वका अनुमान किया जाता है। जो यह अतिशय है, वह कर्म है, ऐसा माननेवाले प्रभाकरके मतमें कर्मसे अर्थान्तरता होती ही है और वह्नि भी अतीन्द्रियसामान्यवन्निष्क्रिय कर्माश्रय है ही। अनुमानका 'कारणत्वात्' यह हेतु शक्तिसे अनेकान्त है। यदि कहा जाय कि नहीं, शक्ति भी साध्यवान् होनेसे उससे अनेकान्तता नहीं है, तो यह ठीक नहीं; क्योंकि शक्तिमें भी यदि शक्त्यन्तर मानें तो अनवस्थाकी प्रशक्ति होगी।

यह कहा जाय कि जन-शक्तियुक्त ही अर्थात् शक्तिमान् ही यहाँ कारणत्वेन विवक्षित है, अत: शक्तिमें अनैकान्तिकता नहीं है, तो यह कथन भी उपयुक्त नहीं है; क्योंकि विशेषणीभूत शक्तिके बिना सिद्ध हुए शक्तियुक्ततारूप कारणत्व ही सिद्ध नहीं हो सकता। यदि प्रमाणान्तरसे विशेषणीभूत शक्तिकी सिद्धि करना हो, तो फिर इसके लिये इतने प्रपंचकी क्या आवश्यकता थी? साथ ही गुण आदिमें अनेकान्तता भी आती है। जैसे कि—द्रव्य गुण और कर्ममें ही सामान्य रहता है। वहाँ निष्क्रियत्वरूप विशेषण होनेसे यद्यपि द्रव्याश्रयत्व नहीं आता, क्योंकि सावयव होनेके कारण आश्रित द्रव्य सक्रिय है तथापि गुण और कर्म, इन दोनोंकी अन्यतराश्रयता तो होगी ही और वे दोनों भी द्रव्यलक्षण या द्रव्यत्वव्याप्त हैं, अत: गुणादिमें भी द्रव्यत्वकी प्रसक्ति होगी ही। ऐसा न हो, इसलिये वहाँ तद्रहितत्व कहना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त उसमें कारणत्व होनेसे वह अनैकान्तिक है अर्थात् गुणादिमें यथोक्त शक्त्याश्रयत्व उपपन्न नहीं होता।

यदि उपर्युक्त अनुमानको त्यागकर शक्तिसिद्ध्यर्थ '**विवादाध्यासित: स्फोट: उभयवादिसम्प्रतिपन्न-स्फोटकारणातिरिक्तकारणाजन्य: कार्यत्वाद् घटवत्**' ऐसे अनुमानान्तरको स्वीकार करें; क्योंकि प्रतिवादीसे विप्रतिपन्न होनेके कारण उभयवादिसम्प्रतिपन्न कारणसे अतिरिक्त कारण तो प्रतिबन्धकाभाव होता है, अत: उससे अर्थान्तरता होती है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रतिवादिद्वारा असम्प्रतिपन्न प्रतिबन्धकाभावरूप कारणसे सिद्धिसाधन होता है।

यदि कहा जाय कि वहाँ भावजन्यरूप विशेषणके न होनेसे अर्थान्तरता नहीं है, तो यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भावजन्यरूप विशेषण होनेपर भी ईश्वरसे सिद्धिसाधनता होगी; क्योंकि शक्तिवादी मीमांसक ईश्वरको स्वीकार नहीं करता। इस तरह यद्यपि सहजशक्तिमें न तो अर्थापत्ति और न अनुमान ही प्रमाण हो सकता है तथापि आधेय शक्तिमें '**व्रीहीन् प्रोक्षति, यूपं तक्षति, अग्नीनादधीत**' इत्यादि आगम प्रमाण होनेसे तद्बलात् सहजशक्तिकी भी सिद्धि हो सकती है। '**व्रीहीन् प्रोक्षति**' इत्यादि वाक्योंमें '**व्रीहीन्**' इस द्वितीया श्रुतिसे—'**ग्रामं गच्छति**' इत्यादि वाक्योंमें जैसे '**ग्रामम्**' इस द्वितीयासे ग्रामकी कर्मता अवगत होती है, वैसे ही—व्रीहि आदिकी कर्मता ज्ञात होनेसे यह निश्चित होता है कि उन व्रीह्यादिकोंमें प्रोक्षणादिजन्य कोई अतिशय है; क्योंकि वहाँ कोई अन्य दृष्ट फल दिखलायी नहीं पड़ता। शक्तिवादी उसी अतिशयको शक्ति मानते हैं। किंतु संस्कारसंज्ञक चेतनगत अदृष्टका अचेतन व्रीहि आदिमें समवाय नहीं हो सकता, अर्थात् आत्मगुण अदृष्ट अनात्मभूत व्रीह्यादिमें नहीं हो सकता। कदाचित् यह कहा जाय कि '**व्रीहीन्**' इस द्वितीया श्रुतिसे एक तो व्रीहिकी संस्कार्यता बोधित होती है, दूसरे 'व्रीहि प्रोक्षणसे संस्कृत हुए' ऐसी प्रसिद्धि भी है, अत: व्रीहिगत

संस्कारको चेतनगत मानना विरुद्ध है, परंतु यह ठीक नहीं है, क्योंकि घटविषयक ज्ञानसे उत्पन्न संस्कार जैसे घटविषयक होनेसे, न कि घटाधार होनेसे घटसंस्कार कहा जाता है, वैसे यहाँ भी व्रीहिप्रोक्षणादिसे उद्भूत संस्कारकी भी व्रीहिविषयक प्रोक्षणादि क्रियासे उत्पन्न होनेमात्रसे तदीयत्व प्रतीतिकी उपपत्ति हो सकती है, अत: द्वितीया श्रुति या प्रसिद्धि व्रीह्यादिगत शक्तिकी साधिका न होनेसे कहना होगा कि शक्तिकी कल्पनामें कोई भी प्रमाण नहीं है। अतएव लीलावतीकारने भी कहा है कि विवादाध्यासित अग्न्यादि निजरूपमात्रसे सम्बद्ध अतीन्द्रियसापेक्ष नहीं है; क्योंकि प्रमाणद्वारा वैसा उपलभ्यमान नहीं होता। प्रमाणसे जो जैसा उपलब्ध नहीं होता, वह वैसा नहीं होता, जैसे नील पीतरूपमें उपलब्ध न होनेसे पीत नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि शक्तिका साधक कोई प्रमाण नहीं है।

शक्ति-समर्थन

परंतु यह कहना उचित नहीं है; क्योंकि शक्तिके अस्तित्वमें—

परास्य शक्तिर्विविधा सर्गाद्या भावशक्तयः।
इति श्रुतिस्मृतिमिता शक्तिः केन निवार्यते॥

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।८)

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।

(श्वेताश्वतरोपनिषद् १।३)

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ४।१)

शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः।
यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः॥

(विष्णुपुराण १।३।२)

सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः
स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः।
अचिन्त्यशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः
षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य॥

(वायुपुराण)

इत्यादि सैकड़ों श्रुति-स्मृतियोंसे गीयमान शक्तिका अपह्नव किस तरह किया जा सकता है? उक्त वचनोंमें कार्य-कारणादि सहकारियोंके निरासपूर्वक शक्तिका प्रतिपादन है, अत: यह नहीं कहा जा सकता कि ये वचन स्वरूप सहकारिमात्रके प्रतिपादक हैं। शक्तिकी स्वरूपमात्रता भी नहीं हो सकती; क्योंकि वहाँ **'परा अस्य'** इत्यादि षष्ठ्यन्त पदसे स्वरूपातिरिक्तताका प्रतिपादन किया गया है। **'अस्य शक्तिर्विविधाः', 'तास्तु शक्तयः'** इत्यादि वचनोंसे उस शक्तिकी अनेकता श्रुत होनेसे उसे एकरूप ब्रह्म भी कहना ठीक नहीं है। उपक्रम, उपसंहार आदि लिंगसे ईश्वरस्वरूपकी निश्चायिका होनेसे उक्त श्रुति-स्मृतियोंको अर्थवाद भी नहीं कहा जा सकता। साथ ही नैयायिक आदिकोंने भी इन वचनोंको ईश्वर-स्वरूपपरक माना है, अत: उन्हें अर्थवाद बतलाना उचित नहीं है। फिर भी यदि किन्हीं तार्किकमन्यकी शक्तिके अस्तित्वमें उक्त आगम वचनोंसे ही सन्तोष न होकर वे अर्थापत्ति और अनुमानकी ही अपेक्षा रखते हों तो उनको अग्रिम अर्थापत्ति और अनुमानसे भी सन्तुष्ट किया जा सकता है।

पीछे स्फोटादि कार्यकी अन्यथानुपपत्तिसे प्रथम अर्थापत्तिको दिखलाया ही जा चुका है। यदि उस सम्बन्धमें यह कहा जाय कि वहाँपर भी यह कहा गया था कि प्रतिबन्धकके अभावमें सहकृत ही अग्निस्वरूपसे कार्यकी उत्पत्ति होनेसे अन्यथा भी उपपत्ति होती है और प्रागभाव, प्रध्वंसाभावादि विकल्पसे अभावकी अकारणता भी नहीं कही जा सकती; क्योंकि अप्रतिबद्ध ही शक्तिमें भी कारणता बन सकनेसे उसमें भी उक्त प्रसंग समान ही है। परंतु उसपर यह कहना है कि क्या इस प्रकारका यह एक प्रतिकूल तर्कमात्र है कि यदि प्रतिबन्धकाभाव कारण न हो तो शक्ति भी कारण न होगी अथवा शक्ति कारण है, अत: प्रतिबन्धकाभाव

भी कारण है, इस तरह विपर्ययमें पर्यवसान होनेसे अभावका कारणत्व सिद्ध किया जा रहा है?

पहली बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि केवल तर्कसे उपालम्भ नहीं किया जा सकता, उसका विपर्ययमें भी पर्यवसान होना चाहिये, अन्यथा वह तर्काभास हो जाता है और ऐसे तर्काभासद्वारा प्रतिपक्षका निराकरण नहीं किया जा सकता।

दूसरी बात भी संगत नहीं है; क्योंकि जो शक्तिका अंगीकार नहीं करता, वह उक्त रीतिसे प्रतिबन्धकाभावमें कारणता दिखलाते हुए विपर्ययमें पर्यवसान कैसे कर सकता है?

तर्क दो प्रकारका होता है—एक स्वपक्ष-साधकानुकूल और दूसरा प्रतिपक्षदूषक। पहलेमें विपर्यय पर्यवसानकी अपेक्षा हुआ करती है, अन्यथा साधनानुकूलत्व सिद्ध नहीं होता। दूसरेमें उसकी अपेक्षा नहीं होती, वहाँ परमतासिद्ध व्याप्तिसे ही परपक्षकी अनिष्ट सिद्धि की जा सकती है। यहाँ भी यही स्थिति मानकर यदि यह कहा जाय कि परासिद्ध शक्तिसे परपक्षका अनिष्टसाधन किया जा रहा है तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि जो ऐसा मानता है कि प्रमितमें अर्थात् अधिकरणमें प्रमित प्रतियोगिक ही निषेध होता है, न कि अप्रमितप्रतियोगिक, वह—'यदि प्रतिबन्धकाभाव कारण न हो तो शक्ति भी कारण न होगी, इस तरह शक्तिकी कारणताका निषेध नहीं कर सकता; क्योंकि शक्ति और उसकी कारणता, दोनों अप्रमित हैं। यदि उन्हें प्रमित कहें तो स्वरूपसे उनका निषेध नहीं किया जा सकता।

तात्पर्य यह हुआ कि भले ही यहाँ तर्कका भी पर्यवसान विपर्ययमें न हो, पर शक्तिकारणत्वका निषेध ही नहीं सिद्ध किया जा सकता। फिर भी जल्पकथा छोड़कर यदि सुहृद्भावसे कोई यह पूछे कि प्रतिबन्धभाव यदि कारण न हो तो प्रतिबन्ध रहनेपर भी शक्ति कार्यको क्यों न उत्पन्न करेगी? तो इसका उत्तर यह है कि शक्तिवादीके मतानुसार प्रतिबन्धक वह कहा जाता है, जो पुष्कल कारण रहते हुए भी कार्योत्पत्तिका विरोधी हो। अत: वह यह नहीं कहा जा सकता कि सामग्रीवैकल्यसे कार्यका उदय नहीं हुआ, अपितु यही कहना होगा कि विरोधी रहनेसे ही कार्योदय नहीं हुआ।

लोकप्रसिद्ध विरुद्ध होनेसे सामग्रीवैकल्यको ही प्रतिबन्ध नहीं कहा जा सकता। कोई भी लौकिक पुरुष भूमि, वायु, जल एवं तेजके संसर्गसे विरहित कोठीमें भरे हुए बीजोंको या तुरी, वेमा, कुविन्द आदिसे विरहित पेटीमें रखे हुए तन्तुओंको प्रतिबद्ध नहीं समझता। सामग्रीराहित्यमात्रको यदि प्रतिबन्ध कहा जाय तो समस्त कारणोंकी केवल प्रतिबन्धभावमें ही उपक्षीणता हो जानेसे यह इस कारण है, यह प्रतिबन्धाभाव है—इस तरह परीक्षकोंके विभक्तरूपसे दोनोंका विशेषावधारण ही न होना चाहिये। अभावको कारण न माननेपर कार्यके साथ अन्वय-व्यतिरेक विरोध होगा, यह कथन भी असंगत होगा; क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक कार्य-प्रतिबन्धकाभावके विषय होनेसे प्रतिबन्धकाभाव अन्यथा सिद्ध है।

यहाँ यदि यह कहा जाय तो फिर अनुपलब्धि भी अभावके उपलम्भकी हेतु नहीं हो सकती; क्योंकि विरोधिनीभावोपलब्धिका अभाव होनेसे उनके अन्वय-व्यतिरेकको भी अन्यथासिद्ध कहना सहज है, तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि वहाँ कारणान्तर न होनेसे अगत्या अनन्यथासिद्ध अनुपलब्धिको कारण मानना पड़ा है, किंतु यहाँ ऐसी बात नहीं है। यहाँ उसके बिना अभावोपलम्भके कारणका निरूपण नहीं किया जा सकता।

इन्द्रियको ही यदि अभावोपलम्भका कारण कहें तो भी ठीक नहीं; क्योंकि उसके अभावमें सन्निकर्ष न होगा। वहाँ संयोग तथा समवायका अभाव होने और सम्बन्धान्तरगर्भ ही विशेषण-विशेष्यभावके प्रत्यक्षांग होनेसे वहाँ अभाव प्रत्यक्षगम्य नहीं, अपितु अनुपलब्धिगम्य ही है। अन्यथा '**पर्वतो वह्निमान्**' यहाँ संयुक्त विशेषण होनेके कारण अग्निका भी प्रत्यक्षत्व होने लगेगा।

यदि यह कहा जाय कि 'असम्बद्ध ही अभाव इन्द्रियग्राह्य हो तो क्या हानि है; क्योंकि उसकी प्रतीति इन्द्रियान्वय-व्यतिरेककी अनुविधायिनी होनेसे अपरोक्ष है और इसके अतिरिक्त दूसरी गति भी नहीं है' तो यह कहना भी उचित नहीं है; क्योंकि अयोगिप्रत्यक्षकी प्रमितिमें इन्द्रियोंसे सम्बद्ध अर्थग्राहकत्व-नियमका निराकरण नहीं किया जा सकता और अभावकी प्रतीतिका अपरोक्षत्व सिद्ध न होनेसे इन्द्रियान्वय और व्यतिरेक अधिकरणके ग्रहणमात्रमें उपक्षीण हो जानेसे अन्यथासिद्ध भी हो जाते हैं। इसपर यह कहा जा सकता है कि 'नहीं, अधिकरणके ग्रहणमात्रमें अन्वय-व्यतिरेककी उपक्षीणता कहना ठीक नहीं है; क्योंकि अभावको इन्द्रियगाह्य न माना जायगा' तो अन्धद्वारा त्वगादिसे घटादिरूप अधिकरणके गृहीत होनेपर उसको रूपाभावकी प्रतीति मान लेना पड़ेगा; क्योंकि अधिकरण तो उस अन्धसे गृहीत ही है।

यदि कहें कि 'चक्षुरिन्द्रियके न होनेसे वहाँ अन्धेको रूपाभावका प्रत्यक्ष न होगा' तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि इन्द्रिय अभावका ग्राहक है ही नहीं, अतएव यह कहा जाय कि 'अन्धेको प्रतियोगी ग्राहक इन्द्रिय न होनेसे ही रूपाभावकी प्रतीति न होगी। तथा च अभावकी ऐन्द्रियकत्वसिद्धि हो जाती है।' परंतु यह ठीक नहीं है, क्योंकि फिर अभावको प्रतियोगिग्राहक इन्द्रियग्राह्य माननेवालेके मतमें भी अनन्धको भी असन्निहित मेरु आदिमें घट एवं उसके रूपादिके अभावकी चाक्षुषता क्यों न होगी? यदि कहा जाय कि 'वहाँ प्रतियोगीके चाक्षुष होनेपर भी अधिकरणके चाक्षुष न होनेसे रूपाभावका चाक्षुषत्व नहीं होता' तो इधरसे भी कहा जा सकता है कि इसीलिये त्वगिन्द्रियसे गृहीत घटादिमें अन्धेको रूपाभावकी प्रतीति नहीं होती; क्योंकि प्रतियोगिग्राहक इन्द्रियद्वारा घटादिरूप अधिकरणका वहाँ ग्रहण नहीं होता।

यदि कहा जाय कि 'तब तो घ्राणेन्द्रियके अगोचर कुसुमादि या चक्षुरिन्द्रियग्राह्य वायुमें गन्ध या रूपके अभावका प्रत्यक्ष न होगा' तो इसपर यही कहना होगा कि भले न हो, वहाँ वायु आदिमें रूपादिका अभाव चाक्षुष न होनेपर भी उनमें रूपाभाव ज्ञानरूप व्यवहारमें कोई बाधा नहीं पड़ती।

षष्ठ प्रमाणवादियोंके यहाँ सर्वत्र यह नियम नहीं है कि अभाव अनुपलब्धिगम्य ही है; क्योंकि व्यापकाभावसे व्याप्यके अभावको और कारणाभावसे कार्याभावको अनुमेय मान लिया गया है अर्थात् यदि वक्ष्यमाण तत्तत् भट्टपादादि वृद्धोंकी सम्मतिसे अभावकी प्रमाणान्तरगम्यता भी है तो योग्यानुपलब्धिगम्यस्थलमें ही प्रतियोगिग्राहकद्वारा अधिकरणके ग्रहणका नियम है; क्योंकि अभावकी उपलब्धिका व्यापकीभूत जो अनुपलब्धि आदि कारण है, उसके अतिरिक्त इन्द्रियादिरूप कारणकी पुष्कलता ही योग्यता है और इन्द्रियके उसका अन्तःपाती होनेके कारण उसके अभावमें भी योग्यता न बनेगी।

जहाँ प्रमाणान्तरगम्यता होती है, वहाँ उसके बिना भी अभावका ग्रहण हो सकता है, जैसे व्यापकाभावसे व्याप्याभावका अनुमान। इस विषयमें भट्टपाद लिखते हैं कि अग्नि और धूमरूप भावके नियम्यत्व-नियन्तृत्व जैसे माने जाते हैं, वे ही नियम्यत्व और नियन्तृत्व अग्नि-धूम-सम्बन्धी अभावके विपरीत प्रतीत होता है। भावावस्थामें धूम नियन्ता और अग्नि नियम्य होता है और अभावमें इसके विपरीत स्थिति होती है अर्थात् तब धूमाभाव नियम्य और अग्निका अभाव नियन्ता होता है—

नियम्यत्वनियन्तृत्वे भावयोर्यादृशी मते।
विपरीते प्रतीयेते त एव तदभावयोः॥

कारणाभावसे कार्याभावके अनुमान विषयमें श्रीमण्डनमिश्रने ब्रह्मसिद्धिमें बतलाया है कि हेतुके अभावसे फलाभावका नियम होनेसे दोषाभावसे विपर्ययाभावका अनुमान किया जा सकता है—

'विपर्ययाभावस्तु युक्तोऽनुमातुं हेत्वभावे फलाभाव इति।'

अतएव स्थलविशेषमें अनन्यथा सिद्धि अन्वय-व्यतिरेकबलसे अनुपलब्धिकी अभाव-प्रतीतिमें कारणता

निश्चित होती है। प्रकृतमें स्वपुष्कल कारणसे कार्योत्पत्ति हो सकती है, तब प्रतिबन्धकाभावको कारण मानना आवश्यक नहीं है और इस मतमें अन्योन्याश्रयताका वारण करना भी कठिन होगा। यद्यपि मण्यादिकी कार्यप्रतिकूलताका निश्चय अन्वय-व्यतिरेकसे हो सकता है तथापि विसामग्रीरूपता लक्षणप्रतिबन्धत्व तदीय अभावकी सामग्रीके अन्तर्भाव विज्ञानके सापेक्ष है; क्योंकि विसामग्री प्रतिबन्ध है, यह मान्य है।

अत: प्रतिबन्धत्व और सामग्रीत्वका ज्ञान परस्पर सापेक्ष होनेसे अन्योन्याश्रयता दुर्निवार होगी, अर्थात् वैसामग्र्य ही प्रतिबन्ध है और प्रतिबन्धाभावरूप कारण-वैकल्य ही वैसामग्र्य है। ऐसी स्थितिमें मणि आदिके वैसामग्र्यरूप प्रतिबन्धत्वका ज्ञान मन्त्रादि सम्बन्धी अभाव सामग्रीका अन्तर्भाव ज्ञानसापेक्ष है और मन्त्रादिके अभावका सामग्र्यन्तर्भाव ज्ञान, मणि आदिके प्रतिबन्धत्व ज्ञानके अधीन है; क्योंकि प्रतिबन्धाभावरूप कारण-वैकल्यसे वैसामग्र्यका उपपादन होगा, अतएव अन्योन्याश्रयता सुतरां सिद्ध है।

यदि कहा जाय कि 'मण्यादिके विसामग्रीत्वका ज्ञान भले ही मण्याद्यभाव-सम्बन्धी सामग्रीके अन्तर्भाव ज्ञानके सापेक्ष रहे, पर वह्निस्वरूपकी तरह अन्वय-व्यतिरेकसे ही मण्यादिके अभावकी सामग्र्यन्त-र्भाव-सम्बन्धी अवगति हो सकती है, अत: अन्योन्या-श्रयता न होगी' तो यह ठीक नहीं; क्योंकि वहाँ यह शंका होगी कि क्या प्रत्येक मण्याद्यभाव अन्वय-व्यतिरेकद्वारा कारणरूपसे निश्चित किये जाते हैं या प्रतिबन्धाभावरूप उपाधिसे क्रोड़ीकृत होकर? पहली बात हो नहीं सकती; क्योंकि मण्याद्यभाव अनन्त हैं, उनके उपसंग्राहकके बिना प्रत्येकके अन्वय-व्यतिरेकका निश्चय सौ वर्षोंमें भी नहीं किया जा सकता। दूसरा पक्ष मानें तो विसामग्रीरूप प्रतिबन्धज्ञानके अधीन प्रतिबन्धाभावत्वरूप उपाधिका ज्ञान हुए बिना मण्याद्य-भाव-सम्बन्धी सामग्र्यन्तर्भावका ज्ञान होना कठिन है, अत: अन्योन्याश्रयताका निराकरण फिर भी बना ही रहेगा, इसलिये द्वितीय पक्ष भी अस्वीकार्य है।

शक्ति पक्षमें प्रतिबन्धकी जो असम्भवता पीछे कही गयी, वह भी ठीक नहीं है, अन्यथा शक्तिको न माननेवालोंको भी कारणोंके कार्यौदासीन्यको ही प्रतिबन्ध मान लेना पड़ेगा; क्योंकि वैसामग्र्यरूप प्रतिबन्धका तो उपर्युक्त अन्योन्याश्रय दोषरूप रीतिसे खण्डन किया ही जा चुका है। अत: प्रतिबन्धाभावके कारण न बननेसे कार्यार्थापत्तिकी बिना शक्तिको स्वीकृत किये, अन्यथा उपपत्ति हो ही नहीं सकती।

शक्तिको स्वीकार किये बिना उपादानोपादेयभाव-नियमकी उपपत्ति नहीं हो सकती, अत: उसे भी शक्तिमें प्रमाण मानना ही चाहिये। वहाँ स्वभावभेदसे ही उपपत्ति करके जो पहले अन्यथा उपपत्ति कही गयी थी, उसका अभिप्राय क्या है? क्या शक्तिवादीको भी अन्ततोगत्वा जब स्वभावकी शरण लेनी ही पड़ती है, तब अच्छा है कि पहलेसे ही स्वभाव मान लिया जाय यह अथवा स्वभावातिरिक्त शक्तिमें प्रमाणका न होना। यदि प्रथम पक्ष तो वैसा माननेसे सर्वत्र स्वभाववादका पाद-प्रसार होनेसे सामान्य, समवाय एवं विशेष आदिका भी अपाकरण प्रसक्त हो जायगा। अनवस्था भय सत्तासे जैसे सत्तान्तर माने बिना ही स्वभाव-विशेषवश सद्व्यवहारका हेतुत्व मान लिया जाता है, वैसे ही अन्यत्र द्रव्यादिमें भी स्वभावविशेषसे सद्व्यवहार उत्पन्न हो जानेसे सत्तासामान्यका अपलाप हो जायगा। इसी तरह—

'समवायवान् अयं घटः।'

यहाँ अनवस्था भयसे जैसे समवायान्तर माने बिना ही समवायकी घटके प्रति विशेषणता मान ली जाती है, वैसे ही **'शुक्लः पटः, चलति चैलाञ्चलम्'** यहाँ भी गुण-कर्ममें स्वभाव-भेदसे ही विशेषण-विशेष्य भाव होकर समवायका अपलाप हो जायगा। इसी प्रकार जैसे अन्त्यविशेषोंमें स्वभाववशात् परस्पर व्यावृत्ति मानी जाती है, क्योंकि विशेषोंमें विशेषान्तर माननेसे उनकी भी, अनुगतरूपवत्तासे रूपादिकी तरह, एक तो अन्त्यविशेषत्वकी हानि होगी और दूसरे, अनवस्थाप्रसक्त होगी। अगत्या किन्हीं विशेषोंको

निर्विशेष माननेपर उन्हींको अन्त्यविशेष मानना पड़ता है, वैसे ही नित्य द्रव्योंको भी स्वभाववशात् व्यावृत्ति-बुद्धिजनकत्व होनेसे अन्त्यविशेषका अपलाप हो जायगा।

इसी तरह कालादिका भी अपलाप प्रसक्त होगा। अत: स्वभावाश्रयणसे काम नहीं चल सकता। यदि स्वभावातिरिक्त शक्तिमें कहीं भी प्रमाण नहीं है, यह कहा जाय तो यह भी ठीक नहीं है। यदि कहा जाय कि जहाँ प्रमाण है, वहाँ-वहाँ वस्त्वन्तराधीन ही प्रमाण-व्यवहार हुआ करता है और जहाँ वह नहीं है, वहाँ उसके स्वभाव-भेदसे ही व्यवहार होता है, ऐसी व्यवस्था है तो यहाँ भी प्रमाण होनेसे ही स्वरूपसे अतिरिक्त शक्तिका अंगीकार कर लेना चाहिये, ऐसी स्थितिमें स्वभाववादका अवलम्बन अनावश्यक है।

इस तरह अर्थापत्तिके अतिरिक्त—

'वह्नि: अद्विष्ठातीन्द्रीयस्थितिस्थापकेतरभावाश्रय: गुणवत्वाद् घटवत्।'

यह अनुमान भी शक्तिके अस्तित्वमें प्रमाण है। 'ईश्वर माननेवालोंके मतमें अतीन्द्रियता सिद्ध नहीं है', यह भी कहना ठीक नहीं; क्योंकि अतीन्द्रिय शब्दका अर्थ है प्रमाणान्तरसे उपनीत विशेषणके अतिरिक्त और अनुव्यवसायके अतिरिक्त अस्मदादि प्रत्यक्षका अविषय होना। वह अतीन्द्रियत्व गुरुत्वादि और भावनादिमें प्रसिद्ध होनेसे प्रशस्तपादने कहा है कि गुरुत्व, धर्माधर्म और भावना अतीन्द्रिय है—

'गुरुत्वधर्माधर्मभावना अतीन्द्रिया:।'

यहाँ भावना पद स्थितिस्थापकका भी उपलक्षण है। प्रश्न हो सकता है कि 'यहाँ आश्रय शब्दसे आधारमात्र विवक्षित है या उसका समवायित्व? वह्नि कदाचित् परमाणु या वायुका आधार होकर सिद्धसाधनता होनेसे प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता। दूसरी बात भी नहीं कही जा सकती; क्योंकि समवाय न माननेवाले भाट्टके मतमें विशेषण अप्रसिद्ध हो जायगा।' परंतु ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि समवाय न मानते हुए भी स्वीय रूपादिके समान अयुत सिद्ध होनेके कारण अग्निकी विशिष्ट धर्माधारता ही आश्रय शब्दका अर्थ है। अतीन्द्रिय कर्माश्रय होनेसे मीमांसककी अर्थान्तरता कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रभाकरकी तरह शक्ति माननेवाले भाट्ट और वेदान्ती भी कर्मकी अतीन्द्रियता नहीं मानते। विपक्षमें वह्निस्वरूप ही कारण होनेसे प्रतिबन्धके भावकी कारणताका पहले ही निराकरण किया जा चुका है, अत: मन्त्रादिके रहनेपर समान रूपसे कार्य-जननप्रसंग बाधक है। यह भी कहना ठीक नहीं कि 'एवंविध धर्माश्रय होनेसे गुण-कर्मादि भी द्रव्य कहे जायेंगे'; क्योंकि वे गुणके अधिकरण नहीं हैं। यदि कहा जाय कि 'एतादृश धर्माश्रय होनेसे गुणाधिकरण भी हो जाय' तो यह ठीक नहीं; क्योंकि इसका विपर्ययमें पर्यवसान नहीं होता।

यदि कहा जाय कि 'जो गुणका अधिकरण नहीं है, वह एवंविध धर्मका अधिकरण नहीं होता, ऐसा प्रतिवादिसम्मत उदाहरण होनेसे उक्त प्रसंगका विपर्ययमें पर्यवसान हो जायगा; क्योंकि शक्तिके अतिरिक्त सभी पक्ष कोटिमें निक्षिप्त हैं।' इस तरह प्रथम अनुमानका समर्थन किया गया।

अब यदि दूसरे अनुमानके सम्बन्धमें कहा जाय कि 'वेदान्ती ईश्वरको मानते हैं, इसलिये उभयवादिसम्मत होनेके कारण तदतिरिक्त न होनेसे ईश्वर अर्थान्तर न हो, पर ईश्वर न माननेवाले मीमांसकोंको तो ईश्वरसे अर्थान्तरता होती है' तो यह ठीक नहीं; क्योंकि जन्यभावसे जन्य ऐसा दूसरा विशेषण देकर भाट्टके मतमें अर्थान्तरका परिहार किया जा सकता है। यदि कहा जाय कि 'ऐसी स्थितिमें नित्य पदार्थोंमें शक्तिका समर्थन न किया जा सकेगा, तो यह भी उचित नहीं', क्योंकि अनित्य पदार्थोंमें शक्ति सिद्ध हो जानेपर उसी दृष्टान्तसे नित्य पदार्थोंमें भी शक्तिकी सिद्धि हो सकती है। शक्ति एक ही नहीं, अपितु प्रत्येक पदार्थमें भिन्न-भिन्न है। जैसे कि अवयवावयविमें अनित्य होनेपर भी जल, तेज आदिके परमाणुओंमें रूप जैसे

नित्य है, वैसे ही नित्य-अनित्यरूपसे शक्ति भी दो प्रकारकी माननेमें कोई आपत्ति नहीं है। आधेय शक्तिको भी अप्रमाण नहीं कहा जा सकता; क्योंकि '**व्रीहीन् प्रोक्षति**' इत्यादि द्वितीया श्रुतियोंसे व्रीहि आदिमें अतीन्द्रिय शक्तिका अस्तित्व सिद्ध होता है।

'चेतन धर्म अदृष्टका अचेतन व्रीहि आदिमें रहना सम्भव न होनेसे व्रीह्यादिविषयकक्रियाजन्यमात्र होनेसे ही तदीयत्वकी प्रतिपत्ति हो सकती है, अत: वहाँ '**व्रीहीन् प्रोक्षति**' में '**ग्रामं गच्छति**' में प्रयुक्त '**ग्रामम्**' इस द्वितीया विभक्तिके तुल्य **व्रीहीन्** द्वितीया श्रुति गौण है, ऐसा जो कहा गया था, वह भी ठीक नहीं; क्योंकि धर्माधर्मरूप अदृष्टसे अतिरिक्त ही कोई एक अतिशय मान्य है, जो तण्डुल, पिष्ट, पुरोडाशादि-परम्परासे प्रधानापूर्व उत्पन्न करता है। इसे न मानें अर्थात् व्रीह्यादि स्वरूपसे ही यदि उस प्रधानापूर्वको उत्पन्न कर सकते तो प्रोक्षणादि विधान व्यर्थ हो जायगा। दृष्ट फल न दिखलायी पड़नेपर अदृष्ट फलकी कल्पना करनी पड़ती है और मुख्य अर्थ सम्भव होनेपर लक्षणा करनेका अवकाश नहीं रहता।

इस प्रकार लीलावतीकारके दिये हुए दूषणका भी निराकरण किया गया। शक्तिके अस्तित्वमें उपर्युक्त रीतिसे आगम, अर्थापत्ति और अनुमानरूप प्रमाणोंका संक्षिप्त दिग्दर्शन करनेसे यह नहीं कहा जा सकता कि किसी प्रमाणसे शक्ति सिद्ध नहीं होती।

मायारूपिणी भगवती

मायारूपमें भी उसी भगवतीके ही एक स्वरूपका वर्णन होता है—

'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।'

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ४। १०)

अर्थात् मायाको ही विश्वकी प्रकृति समझना चाहिये और मायाविशिष्ट ब्रह्मको ही परमेश्वर समझना चाहिये। उसीको अन्यत्र '**अजा**' शब्दसे निरूपित किया गया है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ४। ५)

अर्थात् जैसे कोई लोहित-शुक्लकृष्ण रंगकी कबरी बकरी अपने समान ही बहुत-से बच्चोंको उत्पन्न करती है, वैसे ही सत्त्व, रज, तम तीनों गुणोंवाली प्रकृति भी अपने समान ही त्रिगुण महदादि प्रपंचका निर्माण करती है। आवरणात्मक होनेसे उसका तमोगुण ही कृष्णरूप है, प्रकाशात्मक होनेसे सत्त्वगुण ही शुक्ल रंग है, रंजनात्मक होनेसे रजोगुण ही लोहित रंग है। जैसे कबरे बच्चोंवाली कबरी बकरीका उपभोग करते हुए कोई बकरे उसका अनुगमन करते हैं, कोई उससे भोग प्राप्तकर विरक्त होकर उसे त्याग देते हैं, वैसे ही कोई जीव महदादि प्रपंचवती त्रिगुणा प्रकृतिका उपभोग करते हुए उसका अनुगमन करते हैं, कोई उससे भोगापवर्ग प्राप्त करके उसको त्याग देते हैं। यह अजा भी माया ही है। ईश्वरको कोई भी कार्य करनेके लिये प्रकृतिकी अपेक्षा होती है।

'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥'

(गीता ४। ६)

अर्थात् ईश्वर अपनी प्रकृतिका ही सहारा लेकर अवतीर्ण होते हैं। ईश्वरकी अध्यक्षतामें प्रकृति ही चराचर प्रपंचका निर्माण करती है—

'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।'

(गीता ९। १०)

भगवान् स्वयं कहते हैं कि प्रकृति मेरी योनि है, उसीमें मैं गर्भाधान करके विश्वका निर्माण करता हूँ—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥

(गीता १४। ३)

सम्पूर्ण प्राणियोंमें जो मूर्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उन सबकी प्रकृति ही जननी है और मैं बीज प्रदान करनेवाला पिता हूँ—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

(गीता १४। ४)

गुणमयी प्रकृतिका अतिक्रमण बहुत ही कठिन है। अधिष्ठान ब्रह्मके साक्षात्कारसे ही उसका अतिक्रमण हो सकता है, अन्यथा नहीं—

'**दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।**'

(गीता ७। १४)

भूतप्रकृतिको बाधित करके ही परप्राप्ति होती है—

'**भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥**'

(गीता १३। ३४)

कहीं-कहीं अविद्याको 'क्षर' और विद्याको 'अमृत' कहा है—

'**क्षरन्त्वविद्याऽमृतं तु विद्या विद्याऽविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः।**'

पुराणोंमें 'जो सृष्टिमें परमा है, वही प्रकृति है', ऐसा प्रकृतिका अर्थ किया गया है—

'**प्रकृष्टवाचकः प्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचकः।**
सृष्टौ या परमा देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता॥'

चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा
घृतप्रतीका वयुनानि वस्ते।
तस्यां सुपर्णा वृषणा निषेदतु-
र्यत्र देवा दधिरे भागधेयम्॥

—इस मन्त्रमें उसी भगवतीके अविद्यारूपका वर्णन है। माया स्थूल, सूक्ष्म, कारण और समाधिरूप तुरीय—इन चार रूपोंमें प्रकट होती है, युवती रहती है, सुपेशा—सुन्दर रूपवाली, घृतके समान प्रतीत होती है, ज्ञानोंको ढँकनेवाली है, जीव, ईश्वर दोनों ही उससे सम्बन्ध रखते हैं।

तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽ-
प्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्त-
पसस्तन्महिना जायतैकम्॥

इस वचनसे भी एक तत्त्वावरक तमके अस्तित्वका पता लगता है।

सा च ब्रह्मस्वरूपा च नित्या सा च सनातनी।
यथात्मा च तथा शक्तिर्यथाग्नौ दाहिका स्थिता॥
अतएव च योगीन्द्रैः स्त्रीपुम्भेदो न मन्यते॥

'**सर्वं ब्रह्ममयं जगत्**'

अहमेवासपूर्वन्तु नान्यत्किञ्चिन्नगाधिप।
तदात्मरूपं चित्संवित्परब्रह्मैकनामकम्॥
आसीदिदं तमोभूतमज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥

आदि वचनोंसे भी उसी तत्त्वकी सिद्धि होती है।

माया और अविद्या

मायाको ही कहीं-कहीं अविद्या और अज्ञान शब्दसे भी कहा गया है। यहाँ अज्ञान ज्ञानका अभावरूप नहीं, किंतु ज्ञाननिवर्त्य, भावरूप, अनिर्वचनीय पदार्थ ही है। तभी उसमें आवरणहेतुता बन सकती है। '**अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्** (गीता ५। १५)' इस वचनमें अज्ञानको ब्रह्मस्वरूप ज्ञानका आवरक कहा गया है। यह तभी बन सकता है, जब अज्ञान भी भावरूप हो; क्योंकि असत्व किसीका आवरक नहीं हो सकता।

जैसे अज्ञानको आवरक कहा गया है, वैसे ही मायाको भी आवरक कहा गया है—

'**नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।** '

(गीता ७। २५)

'मैं' अर्थात् अस्मत्पदलक्ष्य परब्रह्म योगमायासे आवृत है, इसीलिये स्वप्रकाश होनेपर भी उसे लोग नहीं जानते। '**अहमज्ञः**', '**मामहं न जानामि**' इस रूपसे अज्ञानका प्रत्यक्ष अनुभव होता है। '**त्वामहं न जानामि**' इस रूपसे भी अज्ञानका अनुभव होता है। यदि अज्ञान, ज्ञानाभाव ही हो, तब तो उसका ऐसा अनुभव ही न बन सकेगा; क्योंकि अभावके ग्रहणमें अनुयोगी-प्रतियोगी दोनोंके ग्रहणकी अपेक्षा होती है। जैसे घट और भूतलके ज्ञानके बिना भूतलनिष्ठ घटाभावका ज्ञान नहीं हो सकता, वैसे ही आत्मा और ज्ञानरूप अनुयोगी-प्रतियोगीके ज्ञानके बिना ज्ञानाभावका बोध भी नहीं हो सकेगा।

यदि अनुयोगी-प्रतियोगीका ज्ञान स्वीकार न

किया जाय, तो भी ज्ञानाभावका ज्ञान नहीं हो सकता और यदि स्वीकार कर लिया जाय तो भी ज्ञानाभावका बोध नहीं हो सकता; क्योंकि जैसे भूतलमें एक भी घट होनेपर घटाभाव नहीं कहा जा सकता, वैसे ही एक भी ज्ञान रहे तो ज्ञानाभावका अनुभव नहीं कहा जा सकता। परंतु जब भावरूप अज्ञान मानते हैं, तब तो साक्षीसे उसका बोध हो जाता है। फिर अनुयोगी-प्रतियोगीके ग्रहणाग्रहणका कोई भी विकल्प नहीं उठता; क्योंकि भावरूप अज्ञान साक्षीके द्वारा प्रकाशित हो सकता है। यद्यपि भावरूप अज्ञानके प्रत्यक्षमें भी विशेषण या निरूपकरूपसे घटादि विषयका भान होना आवश्यक होता है, फिर उसके भी ज्ञान रहनेपर उसका अज्ञान नहीं कहा जा सकता और उसके ज्ञान न रहनेसे विशेषण ज्ञानके बिना विशिष्ट अज्ञानका अनुभव भी नहीं हो सकेगा तथापि साक्षीके द्वारा ही अज्ञान और उसके विशेषण घटादिका भी भान होनेसे किसी भी दोषकी प्रसक्ति नहीं होती। ज्ञानरूपसे सर्ववस्तु साक्षिभास्य होती है, यह निगमान्तविदोंका सिद्धान्त है—

'ज्ञानतया अज्ञानतया वा सर्वं वस्तु साक्षिभास्यम्।'

'घटो ज्ञातः' यहाँ जैसे ज्ञानका विषय होकर साक्षीद्वारा घट भासित होता है, वैसे ही **'घटो न ज्ञायते'** यहाँ भी अज्ञानके विषयरूपसे घट साक्षीरूपमें भासित होता है। योगनिद्रा, जड़शक्ति, अचित्, अज्ञान, अविद्या, माया, प्रकृति इत्यादि सभी शब्द एक ही अर्थके बोधक हैं। **'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते'** (श्वेता० ६। ८) (परमात्माकी पराशक्ति विविध प्रकारकी सुनी जाती है) इत्यादि स्थलोंकी शक्ति भी तद्रूप ही है।

'शक्तिकी अन्तरंगता-बहिरंगता'—कुछ लोग इस शक्तिको अन्तरंगा और माया, प्रकृति आदिको बहिरंगा शक्ति कहते हैं। भगवल्लोक, भगवद्विग्रहादिमें अन्तरंगा दिव्य शक्तिका उपयोग मानते हैं। जगन्निर्माणमें माया, अविद्यादि बहिरंग शक्तिका उपयोग मानते हैं। कुछ लोग अचित्को प्राकृत-अप्राकृत भेदसे दो प्रकारका मानते हैं। प्राकृत अचित्से जगत्की और अप्राकृत अचित्से भगवल्लोकादिकी रचना मानते हैं। कुछ लोग जगन्निर्माण अथवा लीलामयके लीलोपयोगी पदार्थोंकी सृष्टिके लिये भगवत्स्वरूपभूत ही अघटितघटनापटीयान् भगवदीयस्वात्मवैभव स्वीकार करते हैं। वही परमात्मा अविकृतपरिणामद्वारा सर्वरूपमें व्यक्त होता है। जैसे कल्पवृक्ष, चिन्तामणि, कामधेनु आदिसे तत्तत् अभीष्ट पदार्थकी सृष्टि होनेपर भी वे निर्विकार रहते हैं, वैसे ही परमात्मासे भी विविध विश्व बननेपर भी परमेश्वर निर्विकार ही रहता है। विचार करनेसे मालूम होगा कि यह स्वात्मवैभव यदि भगवत्स्वरूप ही है, तब तो फिर पृथक् नामरूप कल्पनाकी अपेक्षा नहीं हो सकती, तब कृत्स्नप्रसक्ति, निरवयवत्वव्याकोपादि शंकाओंका समाधान भी न हो सकेगा। सम्पूर्ण ब्रह्म यदि प्रपंच बन जायगा, तब तो मुक्तोपसृप्य ब्रह्म अवशिष्ट न रहेगा। यदि एकदेशेन ब्रह्म विश्व बनेगा, तब तो सावयवत्व, विकारित्व आदि दोष अनिवार्य ही होंगे। कल्पवृक्षादिकोंकी विलक्षण शक्तिकी महिमासे ही तादृक् विलक्षण कार्यकारिता सिद्ध होती है।

मायाकी अनिर्वचनीयता

इस तरह स्वात्मवैभव अथवा अचित् किंवा अन्तरंगा शक्ति यदि अधिष्ठानसे पृथक् होकर सत् है, तब तो श्रुति-सिद्धान्त बाधित होगा। यदि अत्यन्त असत् है, तो कार्यकारिता न बन सकेगी। विरुद्ध होनेसे सदसद्रूपता भी नहीं कही जा सकती। फिर तो पारिशेष्यात् अनिर्वचनीय मानना होगा। इस तरह अवान्तर चाहे कितने भी भेद मान लिये जायँ, परंतु अनिर्वचनीयत्वेन रूपेण उन सबकी एकता ही है।

'देवदत्तनिष्ठप्रमा तन्निष्ठप्रमाप्रागभावातिरिक्ता-नादिप्रध्वंसिनी प्रमात्वात्, यज्ञदत्तनिष्ठप्रमावत्।'

अर्थात् देवदत्तनिष्ठ प्रमा अपने प्रमाके प्रागभावसे अतिरिक्त किसी अनादिकी प्रध्वंसिनी है, प्रागभावसे अतिरिक्त अनादि भावरूप अज्ञान ही हो सकता है, इस अनुमानसे भी अनादि अज्ञान सिद्ध होता है। इसीको

'**तम आसीत्**' इत्यादि श्रुतियोंमें तमोरूप भी माना गया है। इस तमको कण्ठतः अनिर्वचनीय कहा गया है—

'**नासदासीन्नो सदासीत्तम एवासीत्**' (न असत् था, न सत् था, किंतु तम ही था) यह सदसद्विलक्षणता ही अनिर्वचनीयता है। '**अनृतेन हि प्रत्यूढाम्**' इत्यादि वचनोंसे तो इस आवरक तमको प्रत्यक्ष ही अनृत कहा है।

'**ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।**'

(गीता ५।१६)

'**मायामेतां तरन्ति ते॥**'

(गीता ७।१४)

इत्यादि वचनोंसे माया, अज्ञान आदिकोंकी निवर्त्यता कहनेसे ही अनिर्वचनीयताका बोधन होता है। सत्की शक्तिरूप होनेसे भी इसकी अनिर्वचनीयता बोधित होती है; क्योंकि जैसे वह्निकी शक्ति वह्निरूप नहीं होती, किंतु वह्निसे विलक्षण होती है, वैसे ही सत्की शक्ति सद्रूप न होकर सत्से विलक्षण ही होती है। वह सद्विलक्षणता भी अनिर्वचनीयता है। इस प्रकार मायाकी अनिर्वचनीयता ही सिद्ध होती है।

तान्त्रिक दृष्टिमें शक्ति

तन्त्रोंके अनुसार प्रकाश ही शिव और विमर्श ही शक्ति है। संहारमें शिवका प्राधान्य रहता है, सृष्टिमें शक्तिका प्राधान्य रहता है। प्रभामें इदमंश ग्राह्य होता है, अहमंश ग्राहक होता है। माना यह जाता है कि भीतर वर्तमान पदार्थोंका ही बाह्यरूपमें अवभास होता है—

वर्तमानावभासानां भावानामवभासनम्।
अन्तःस्थितवतामेव घटते बहिरात्मना॥

प्रकृतिमें ही सूक्ष्मरूपसे सब वस्तुएँ स्थित हैं। परम शिव और शक्ति दोनों ही श्लिष्ट होकर रहते हैं। निस्स्पन्द परम प्रकाश चिद्धातु शिवतत्त्व है और विमर्शात्मक तत्त्व ही शक्तितत्त्व है।

'**आसीज्ज्ञानमयो ह्यर्थः एकमेवाविकल्पितः।**'

अर्थात् ज्ञान और अर्थ दोनों ही अविकल्पित होकर एकमें रहते हैं, तब साम्यावस्था समझी जाती है।

प्रकृतिकी सत्ता

ज्ञानस्वरूप पुरुषकी सत्ता पारमार्थिक है, अर्थरूप प्रकृतिकी सत्ता अवास्तविक है। उसकी अविद्यमानताका वर्णन बहुत स्थानोंमें मिलता है।

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा॥

(श्रीमद्भा० ३।२७।४)

अर्थके न रहनेपर भी संसृतिकी निवृत्ति नहीं होती, जैसे स्वप्नमें अर्थ न रहनेपर भी वह भासमान होता है, वही स्थिति अर्थकी है। विशेषतः मायाका यही लक्षण 'श्रीमद्भागवत' में किया गया है कि जिसके कारण कोई वस्तु न होनेपर भी प्रतीत हो अथवा वस्तु होती हुई भी न प्रतीत हो, वही माया है; जैसे स्वाप्निक प्रपंच, शुक्तिरूप्य, रज्जुसर्पादि पदार्थ न होनेपर भी भासमान होते हैं, तम-राहु आकाशमें विद्यमान रहनेपर भी नहीं भासित होते—

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाभासो यथा तमः॥

(श्रीमद्भा० २।९।३३)

भगवती और मायाका वैलक्षण्य

शक्ति शब्दसे जैसे अचित् प्रकृतिके अतिरिक्त पराप्रकृतिरूप जीव और अधिष्ठानात्मक उपादानरूप ब्रह्म आदिका भी ग्रहण होता है, वैसे ही भगवती शब्दसे शुद्ध निर्गुण चिच्छक्तिका भी बोध होता है। इसीलिये उपासकोंकी उपास्यशक्ति या भगवतीको केवल प्रकृति या माया न समझना चाहिये, अपितु सच्चिदानन्दात्मिका भगवती ही उपास्य होती हैं।

रात्रिरूपिणी

रात्रिसूक्त रात्रिदेवताका प्रतिपादन करता है। रात्रिदेवता दो हैं, एक जीवसम्बन्धिनी, दूसरी ईश्वरसम्बन्धिनी। प्रथमका अनुभव सभी लोग करते हैं, जिसके सम्बन्धसे प्रतिदिन समस्त व्यवहार लुप्त हुआ करता है। ईश्वररात्रि वह है, जिसमें ईश्वरका व्यवहार भी लुप्त होता है, उसीको महाप्रलय कालस्वरूप कहा जाता है। उस समय दूसरी कोई भी

वस्तु नहीं रहती, केवल मायाशबलित ब्रह्म ही रहता है, उसे ही अव्यक्त भी कहा जाता है।

'ब्रह्ममायात्मिका रात्रिः परमेशलयात्मिका।
तदधिष्ठातृदेवी तु भुवनेशी प्रकीर्तिता॥'

(देवीपुराण)

ब्रह्ममायात्मिका रात्रिकी अधिष्ठात्री देवता ही भगवती भुवनेश्वरी है। **'रात्री व्यख्यदायती पुरुत्रा देव्यक्षभिः। विश्वा०'** इत्यादिका सारांश यह है कि 'सर्वकारणभूता चिच्छक्ति भगवती पूर्वकल्पीय अनन्त जीवोंके अपरिपक्व अतएव फलानभिमुख सत्-असत् कर्मोंको देखकर फल प्रदानका समय न होनेसे ईश्वरीय प्रपंचको अपनेमें ही प्रलीन कर लेती है। पश्चात् वही रात्रिरूपा चिच्छक्ति फलप्रदानका समय आनेपर महदादिद्वारा प्रपंचका निर्माण करके असांकर्येण तत्तत्प्राणियोंके कर्मोंको देखती है। फिर उन कर्मोंका फल प्रदान करती है। इससे रात्रिरूपा भगवतीकी सर्वज्ञता स्पष्ट है। वह अमर्त्या देवी अन्तरिक्षोपलक्षित समस्त विश्वको अपने स्वरूपसे पूरित कर देती है। नीची वस्तु लता-गुल्मादि और उच्छ्रित वृक्षादिको भी अधिष्ठान चैतन्यसे पूरित कर देती है और वही परा चिद्रूपा देवी स्वाकार-वृत्तिप्रतिबिम्बितस्वरूप चैतन्य ज्योतिसे तम उपलक्षित सम्पूर्ण प्रपंचको बाधित कर देती है। आती हुई देवनशील रात्रि चिच्छक्ति प्रकाशस्वरूपा उषा (प्रातःकाल)-को अर्थात् अविद्याकी आवरण शक्तिको तिरस्कृत करती है।

यद्यपि रात्रिद्वारा प्रकाशस्वरूपा उषाका निराकरण असम्भव मालूम पड़ता है तथापि यहाँ चिद्रूपा रात्रि ही परम प्रकाशरूपा है, तदपेक्षया सन्ध्या या उषा अन्धकाररूप ही है। जैसे सूर्यके प्रकट होनेपर सन्ध्या मिट जाती है, वैसे ही चिच्छक्तिके स्वाकार वृत्तिपर प्रतिबिम्बित होनेपर अविद्याकी आवरण-शक्ति मिट जाती है। आवरण-शक्तिके दग्धबीज हो जानेपर प्रारब्धक्षयके अनन्तर मूलाज्ञानरूप तम सर्वथा नष्ट हो जाता है। दोनों शक्तियोंके नष्ट हो जानेपर मूलाज्ञानका भी अवशेष नहीं रहता। वह रात्रिदेवता परा चिच्छक्ति हम सबपर प्रसन्न रहे, जिसकी प्राप्तिमें हम सब सुखस्वरूपमें वैसे स्थित होते हैं, जैसे अपने घोसलेमें पक्षी रात्रिवास करता है। ग्रामके आसपास सभी लोग तथा गवाश्वादि, पक्षी तथा भिन्न प्रयोजनसे चलनेवाले पथिक एवं श्येन आदि उस रात्रिमें प्रविष्ट होकर सुखसे स्थित होते हैं। दिनके संचारसे भ्रान्त प्राणियोंको यह रात्रि ही सुख पहुँचाती है, उस समय सब लोग विश्राम करने लगते हैं। सारांश यह है कि जो प्राणी भुवनेश्वरीके नामतकसे भी परिचित नहीं हैं, वे भी करुणामयी परा चिच्छक्ति अम्बाकी करुणासे ही उसके अंकमें जाकर सुखसे उसी तरह सोते हैं, जिस तरह मूढ़ बालक माताकी करुणासे स्वस्थ सोते हैं। ऐसी करुणामयी यह चिच्छक्ति है। हे ऊर्म्ये! रात्रिदेवि! चिच्छक्ते! आप परम दयामयी हैं, अतः हमारे कृत्योंकी ओर न देखकर हिंसा करनेवाले मारक पापरूप वृक (भेड़िया) और नानावासनारूपी वृकीको हमसे पृथक् कर दो और चित्तवित्तके अपहारक कामादि दोषोंको भी हमसे हटा दो और हमारे लिये आप सुखेन तरणी या और क्षेमकरी हो। सम्पूर्ण वस्तुओंमें फैला हुआ कृष्णवर्ण स्पष्ट अज्ञान हमको घेरे हुए है। हे उषादेवते! आप ऋणके समान उस अज्ञानको दूर कर दो। जैसे अपने स्तोताओंका ऋण आप दूर करती हैं, वैसे ही हमारे अज्ञानको दूर करें। हे रात्रिदेवते! चिच्छक्ते! कामधेनुके समान सर्वाभीष्ट-दायिनी आपको प्राप्त करके स्तुतिजपादिसे अभिमुख करता हूँ। आप प्रकाशरूप परमात्माकी पुत्री हैं।' परमात्मासे ही अन्यत्र चैतन्यशक्तिकी अभिव्यक्ति होती है, इस विवक्षासे भगवतीको दिवोदुहिता कहा गया है।

चण्डी

एक दृष्टिसे भगवतीको परब्रह्मकी महिषी कहा जाता है—

'त्वमसि परब्रह्ममहिषी।'

उसी दृष्टिसे उनका नाम 'चण्डिका' है। **'चण्डभानुः चण्डवातः'** इत्यादि स्थानोंमें इयत्तान-

विच्छिन्न असाधारण-गुणशाली वस्तुमें 'चण्ड' शब्दका प्रयोग होता है। देश-कालवस्तुपरिच्छेदशून्य वस्तु परमात्मा ही है। भानु, वात आदिका विशेषण होनेसे वह संकुचित वृत्ति हो जाता है। 'चडि कोपे' धातुसे 'चण्ड' शब्दकी निष्पत्ति है।

'कस्य बिभ्यति देवाश्च कृतरोषस्य संयुगे।'

किसका रोष उत्पन्न होनेसे देवताओंको भी डर होता है?

प्रसादो निष्फलो यस्य कोपोऽपि च निरर्थकः।
न तं भर्तारमिच्छन्ति षण्ढं पतिमिव प्रजाः॥

अर्थात् जिसका क्रोध और प्रसाद निष्फल होता है, उसे प्रजा उसी तरह स्वामी नहीं मानती, जिस तरह षण्ढ पुरुषोंको स्त्रियाँ पति नहीं बनातीं। इसीलिये सफल उग्रक्रोध या उग्र क्रोधवाला पुरुष भी 'चण्ड' कहलाता है। महाभयजनक कोप ही 'चण्ड' कहा जाता है और वह भयजनक कोप परमेश्वरका ही है। **'नमस्ते रुद्र मन्यवे'** इस वचनमें रुद्रके मन्यु—कोपको प्रणाम किया गया है। संसारमें चण्डसे ही सब डरते हैं। स्पष्ट है कि जिसका दण्ड प्रबल होता है, उसीका शासन चलता है। सर्वसंहारकसे सब डरते हैं, सर्वसंहारक मृत्युसे भी सब डरते हैं, मृत्यु भी चण्ड है।

भीषास्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः।
भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

(तैत्तिरीय० २।८)

अर्थात् परमेश्वरके डरसे वायु चलता है, उसीके भयसे सूर्य उदित होता है और उसीके भयसे अग्नि और इन्द्र भी अपना-अपना काम करते हैं। सर्वभयकारण मृत्यु भी जिससे डरता है, वही भगवान् परमात्मा है। उसको मृत्युका भी मृत्यु, कालका भी काल या महाकाल किंवा चण्ड कहा जा सकता है, वही सर्वसंहारक है। उससे भिन्न सब संहार्य कोटिमें आ जाता है। उत्पादक, पालक, ब्रह्मा, विष्णु आदि उसके स्वरूप ही हैं, इसीलिये वे भी असंहार्य हैं। यदि भिन्न होते तो अवश्य संहार्य होते, अन्यथा इसीको एकोनसर्वसंहारक (अमुकके अतिरिक्त सबका नाशक) कहना पड़ेगा। इसीलिये जिसका विश्व, वही उसका उत्पादक, वही पालक और वही संहारक है।

एकेश्वरवाद सर्वत्र मान्य है ही, उसीको **महद्भय** वज्ररूप भी कहा गया है—

'महद्भयं वज्रमुद्यतम्'

जैसे उद्यतवज्रके डरसे भृत्य लोग तत्परतासे काम करते हैं, वैसे ही परमात्माके डरसे सूर्य, इन्द्र, चन्द्र आदि सावधानीसे अपने-अपने कार्यमें संलग्न होते हैं। उसी चण्डकी स्वरूपभूता शक्ति पत्नी चण्डिका है। जैसे परमेश्वरके ही घोर रूपसे पृथक् शान्त रूप भी है **'घोरान्या शिवान्या'** वैसे ही भगवतीके भी उग्र और शान्त दोनों ही रूप हैं। कुछ लोगोंका कहना है कि एक ही परब्रह्म मायासे धर्मी और धर्म दो रूपमें प्रकट होता है। सृष्टिके आरम्भमें जो **'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' 'सोऽकामयत', 'तत्तपोऽकुरुत'**—इत्यादिसे ज्ञान, इच्छा और क्रियाका श्रवण है, यही तीनों ब्रह्मके धर्म हैं। यह सब धर्मीरूप ब्रह्मसे अभिन्न ही हैं; क्योंकि श्रुतिने ही इन्हें स्वाभाविकी कहा है—**'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥'** यहाँ 'बल' से इच्छाका ग्रहण समझना चाहिये। ज्ञानेच्छाक्रियारूप धर्मको ही शक्ति कहा जाता है और वैसे ही समष्टि ज्ञानेच्छाक्रियारूप ब्रह्मधर्मरूपा शक्ति ही चण्डी है; यही महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती है। कार्यवशात् इसीका अनेक रूपमें प्राकट्य होता है। वस्तुतस्तु उसी चण्डरूप परमात्मामें ही पुंस्त्व, स्त्रीत्व भक्तभावनाके अनुसार है। पुंस्त्वविवक्षासे वही महारुद्र आदि शब्दोंसे, स्त्रीत्वविवक्षासे वही चण्डी, दुर्गा आदि शब्दोंसे व्यवहृत होता है।

नवार्णमन्त्रार्थ

नवार्णमन्त्रका भी अभिप्राय यही है। 'डामरतन्त्र' में उसका अर्थ इस प्रकार बतलाया गया है—

निर्धूतनिखिलध्वान्ते नित्यमुक्ते परात्परे।
अखण्डब्रह्मविद्यायै चित्सदानन्दरूपिणि।
अनुसन्दध्महे नित्यं वयं त्वां हृदयाम्बुजे।

अर्थात् हे निर्धूतनिखिलध्वान्ते! हे नित्यमुक्ते! हे परात्परतरे! चित्सदानन्दरूपिणि माँ! मैं अखण्ड ब्रह्मविद्याके लिये आपका अपने हृदयकमलमें अनुसन्धान करता हूँ।

'ऐं' इस वाग्बीजसे चित्स्वरूपा सरस्वती बोधित होती हैं; क्योंकि ज्ञानसे ही अज्ञानकी निवृत्ति होती है। महावाक्यजन्य परब्रह्माकारवृत्तिपर प्रतिबिम्बित होकर वही चिद्रूपा भगवती अज्ञानको मिटाती हैं।

'ह्रीं' इस मायाबीजसे सद्रूपा महालक्ष्मी विवक्षित हैं। त्रिकालाबाध्य वस्तु ही नित्य है। कल्पित आकाशादि प्रपंचके अपवादका अधिष्ठान होनेसे सद्रूपा भगवती ही नित्यमुक्ता हैं।

'क्लीं' इस कामबीजसे परमानन्दस्वरूपा महाकाली विवक्षित हैं, सर्वानुभवसंवेद्य आनन्द ही परम पुरुषार्थ है।

'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' इस श्रुतिसे सिद्ध है कि सब कुछ आत्माके लिये ही प्रिय होता है, इसलिये आत्मस्वरूपा आनन्द ही शेषी है, तदितर सब शेष है। मानुषानन्दसे लेकर गन्धर्व, देवगन्धर्व, अजानजदेव, श्रौतदेव, इन्द्र, बृहस्पति, प्रजापति, ब्रह्मान्त उत्तरोत्तरशतगुणित आनन्द जिसका बिन्दुमात्र है, वह परमातिशायी ब्रह्मरूप आनन्द कहा गया है। वही परात्पर आनन्द महाकालीरूप है। **'चामुण्डायै'** शब्दसे मोक्षकारणीभूत निर्विकल्पक ब्रह्माकार वृत्ति विवक्षित है। विपदादिरूप चमू (आकाशादिरूप सेना)-को जो नष्ट करके आत्मरूप कर लेती है, वही 'चामुण्डा' ब्रह्मविद्या है। अधिदैव (समष्टि)-के मूलाज्ञान और मूलाज्ञानरूप चण्ड-मुण्डको वशमें करनेवाली भगवती भी चामुण्डा कही गयी हैं—

यस्माच्चण्डञ्च मुण्डञ्च गृहीत्वा त्वमुपागता।
चामुण्डेति ततो लोके ख्याता देवि भविष्यसि॥

'विच्चे' में 'वित्', 'च', 'इ' ये तीन पद क्रमेण चित्, सत्, आनन्दके वाचक हैं। 'वित्' का ज्ञान अर्थ स्पष्ट ही है, 'च' नपुंसकलिंग 'सत्' का बोधक है, 'इ' आनन्दब्रह्ममहिषीका बोधक है। इसका सारांश यही है कि हे चित्-सत्-परमानन्दरूपे! निर्धूतनिखिलध्वान्ते! नित्यमुक्ते! परात्परे महासरस्वति! महालक्ष्मि! महाकालि! हम आपके तत्त्वज्ञानको प्राप्त करनेके लिये आपका हृदयकमलमें ध्यान करते हैं।

प्रथम चरित्र

'श्रीदुर्गासप्तशती' में यह स्पष्ट बतलाया गया है कि भगवतीकी कृपासे ही सम्यक् तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञानकी प्रशंसा सर्वत्र है, ज्ञानके होनेसे अज्ञान-मोहादि मिट जाते हैं। ज्ञान-सम्पादनके लिये ही श्रवणादि किये जाते हैं। जप, तप, यज्ञादि सबका परम उपयोग ज्ञानमें ही है। परंतु वह ज्ञान साधारण ज्ञान नहीं है, क्योंकि शब्दादि विषयोंका ज्ञान तो प्राणिमात्रको होता है। उलूकादि दिनमें अन्धे होते हैं, रात्रिमें नहीं; कोकादि रात्रिमें अन्धे होते हैं, दिनमें नहीं। लता, जलजन्तु आदि दिन-रात समान रूपसे अन्धे ही रहते हैं।

राक्षस, मार्जार, तुरगादि दिन-रात समान चाक्षुष ज्ञानवाले होते हैं और सबकी अपेक्षा मनुष्योंमें अधिक ज्ञान होता है, परंतु अज्ञान उनमें भी होता है। पशु, पक्षी आदि सभी बहुत ज्ञानवाले होते हैं। व्यवहारज्ञान मनुष्यों-जैसा ही पशु-पक्षियोंमें भी दिखायी देता है। पक्षिगण स्वयं भूखे रहकर भी इतस्ततःसे कणोंको लाकर अपने बच्चोंके मुँहमें छोड़ते हैं। मनुष्य भी प्रत्युपकारकी आशासे बच्चोंके भरण-पोषणमें तल्लीन रहते हैं, यह सब ज्ञान सामान्य ज्ञान है। इनसे संसारके मूलभूत अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती। यह महामायाका प्रभाव है, जिससे सर्वाधिष्ठान, स्वप्रकाश परब्रह्मका बोध नहीं होता। वही उपनिषज्ज्ञाननिष्ठ वसिष्ठ, भरत, विश्वामित्रादिकोंके भी चित्तको बलात् मोहित कर देती है। वही चराचर प्रपंचका निर्माण करती है, वही प्रसन्न होकर मुक्ति प्रदान करती है, विद्यारूपा होकर वही मुक्तिप्रदा है, अविद्यारूपसे वही संसारबन्धका हेतु है, वही भगवान् विष्णुकी योगनिद्रा

कहलाती है। जिस समय भगवान् शेषपर कल्पान्तमें विराजमान थे, उस समय कूर्मपृष्ठपर जलमें विलीन होनेके कारण पृथ्वी नवनीतके समान कोमल हो गयी। सृष्टिकालमें यह प्राणियोंको किस तरह धारण कर सकेगी, यह सोचकर भगवतीने विष्णुको अपनी योगनिद्रा शक्तिसे प्रसुप्त करके अपने वामहस्तकी कनिष्ठिकाके नखाग्र भागसे कर्णमल निकालकर उसीसे मधु नामक दैत्यको और दक्षिण कर्णस्थ मलसे कैटभको बनाया। उत्पन्न होकर वे दोनों दैत्य पहले कीटके समान ही प्रतीत हुए, पश्चात् महाबलवान् हो गये। वरदान देकर देवीके अन्तर्हित होनेपर विष्णुकी नाभिसे उत्पन्न कमलमें उन दोनोंने ब्रह्माको देखा। ब्रह्माको देखकर उन्होंने कहा—'हम तुम्हें मारेंगे। अगर तुम जीना चाहते हो तो विष्णुको जगाओ।'

यह सुनकर ब्रह्माने जगत्प्रसू योगनिद्राकी अनेक स्तुतियोंसे प्रार्थना की। भगवतीने प्रसन्न होकर ब्रह्मासे वरदान माँगनेको कहा। ब्रह्माने भगवान्‌का जागना और दोनों असुरोंको मोह होना माँगा। माताने विष्णुको जगा दिया। विष्णुसे उन दैत्योंका पाँच हजार वर्षतक घोर युद्ध हुआ। महाप्रमत्त उन दैत्योंने महामायासे मोहित होकर विष्णुसे वर माँगनेको कहा।

विष्णुने कहा—'तुम दोनों हमारे वध्य हो, हम यही वर माँगते हैं।'

उन्होंने कहा—'अच्छा, जहाँ सलिलसे व्याप्त पृथ्वी न हो, वहाँ हमें मारो।'

विष्णुने अपने जघन प्रदेशपर उनका सिर रखकर चक्रसे उन्हें काट दिया, पश्चात् उन्हींके मेदका विलेपनकर पृथ्वीको दृढ़ किया गया, इसीलिये पृथ्वीको **'मेदिनी'** भी कहा जाता है। इस तरह भगवती ही अनेक रूपमें प्रकट होकर जगत्‌को धारण करती हैं। यही सृष्टि, स्थिति और संहार करती हैं, यही योगनिद्रा होकर विष्णुको विश्राम देती हैं, यही स्वाहारूपसे देवताओंको, स्वधारूपसे पितरोंको, वषट्काररूपसे श्रौतदेवताओंको तृप्त करती हैं। यही उदात्तादि स्वरों और सुधारूपमें विराजमान होती हैं। ह्रस्व, दीर्घ, प्लुतरूपमें किंवा अ, उ, म् रूपमें यही अक्षररूपा भगवती विराजमान होती हैं। अ, उ, म् इन तीनों वर्णों एवं तद्वाच्य विश्व, तैजस, प्राज्ञ आदिके रूपोंमें भी वे ही भगवती स्थित हैं। वाच्य-वाचकके अधिष्ठानरूप अर्धमात्रास्वरूपसे भी भगवती ही विराजमान हैं।

अकारश्च तथोकारो मकारश्चाक्षरत्रयम्।
एता एव त्रयो मात्रा सत्त्वराजसतामसाः॥
निर्गुणा योगिगम्यान्या चार्धमात्रात्र संस्थिता।

(दत्तात्रेयसंहिता)

प्रथम मात्रा व्यक्त है, द्वितीय मात्रा अव्यक्त है, तृतीय मात्रा चिच्छक्ति है, अर्द्धमात्रा परमपद है, वही कूटस्थ सर्वाधिष्ठान है, सर्वरूपसे भगवती ही विराजमान हैं। सन्ध्या, सावित्री तथा जगज्जननी मूलप्रकृतिरूपसे भी माताकी ही स्थिति है। सृष्टिकालमें वही सृष्टिरूपमें, पालनकालमें स्थितिरूपसे तथा अन्तमें संहृतिरूपसे भगवती ही व्यक्त होती हैं। वही महाविद्या अर्थात् तत्त्वमस्यादि महावाक्योंसे व्यक्त ब्रह्मविद्यारूपा हैं, वही देहात्मबुद्धिरूपा माया भी हैं, सर्वार्थावधारणरूपा मेधा, महास्मृतिरूपा भी वही हैं, उसीसे अतीत अनेक कल्पोंका स्मरण तथा तदनुकूल सृष्टि-निर्माण सम्भव होता है, ग्राम्यसुख-भोगैषणारूप महामोह भी वही हैं। महादेवी इन्द्रादि देवशक्ति, हिरण्याक्षप्रभृति असुरोंकी शक्तिरूपा भी वही हैं।

उत्तर चरित्र

इसी तरह जब शुम्भ और निशुम्भने पराक्रमसे इन्द्रसे त्रैलोक्य छीन लिया; यज्ञभाग भी स्वयं लेना प्रारम्भ कर दिया; सूर्य, चन्द्र तथा कुबेर, वरुणका पद स्वयं ले लिया, तब सब देवता पराजित और भ्रष्टराज्य होकर अपराजिता भगवतीका स्मरण करने लगे। माताने वरदान दिया है कि आपत्तिमें जब भी आपलोग हमारा स्मरण करेंगे, मैं तत्क्षण आप सबकी आपत्तियोंको दूर करूँगी, यह सोचकर सब देव हिमाचलपर जाकर विष्णुमायाकी स्तुति करने लगे। वहाँ उन्होंने देवी, महादेवी, शिवा, प्रकृति, भद्रा, रौद्रा,

नित्या, गौरी, धात्री, ज्योत्स्ना, इन्दुरूपिणी, सुखा, कल्याणी, वृद्धि, सिद्धि, नैर्ऋति, शर्वाणी, दुर्गा, दुर्गपारा, सारा, सर्वकारिणी, ख्याति, कृष्णा, धूम्रा, अतिसौम्या, अतिरौद्रा, जगत्प्रतिष्ठा, कृति, विष्णुमाया, चेतना, बुद्धि, निद्रा, क्षुधा, छाया, शक्ति, तृष्णा, क्षान्ति, जाति, लज्जा, शान्ति, श्रद्धा, कान्ति, लक्ष्मी, वृत्ति, स्मृति, दया, तुष्टि, माता, भ्रान्ति, व्याप्ति, चितिरूपसे भगवतीको प्रणाम किया। निर्गुणा, सगुणा तथा सगुणामें भी सात्त्विकी, राजसी, तामसी भेदसे सब शक्तियाँ भगवतीमें ही अन्तर्भूत हो जाती हैं। देवता स्तुति कर ही रहे थे कि हिमाद्रि-कन्या पार्वती जाह्नवीमें स्नान करने आयीं। देवताओंसे उन्होंने प्रश्न किया कि 'आपलोग किस देवताकी स्तुति कर रहे हैं?' देवताओंका उत्तर देना ही था कि तबतक पार्वतीके ही शरीरसे प्रकट होकर शिवा भगवतीने पार्वतीसे कहा कि 'शुम्भसे निराकृत होकर ये सब हमारी ही स्तुति कर रहे हैं।' पार्वतीके शरीर-कोशसे निकली हुई अम्बिका लोकमें 'कौशिकी' नामसे प्रसिद्ध हुईं। कौशिकीके निकलनेपर पार्वती कृष्णवर्णकी हो गयीं। तभीसे वह 'कालिका' कहलाने लगीं। परमरूपवती कौशिकी अम्बिकाको कभी शुम्भ-निशुम्भके सेवक चण्ड-मुण्डने देखा और जाकर अपने स्वामीसे उसके रूपकी प्रशंसा की और उसे स्वाधीन बनानेकी सलाह दी। शुम्भ-निशुम्भने दूत भेजकर कहलाया कि 'हमारी आज्ञा सर्वत्र अप्रतिहत है, संसारके सब रत्न, ऐरावत, उच्चै:श्रवा आदि हमारे पास हैं, तुम भी स्त्रीरत्न हो, हम रत्नभुक् हैं, अत: तुम भी हमारे पास आओ, हमारे पास आनेसे तुम्हें परमैश्वर्य प्राप्त होगा।'

भगवतीने गम्भीर स्मितके साथ कहा—'ठीक है, परंतु मेरी प्रतिज्ञा है कि जो मुझे संग्राममें जीत लेगा, मेरा दर्प दूर करेगा, मेरे समान बलवान् होगा, वही मेरा भर्ता होगा। अत: शुम्भ या निशुम्भ कोई भी आकर मुझे जीतकर पाणिग्रहण कर ले'—

यो मां जयति संग्रामे यो मे दर्पं व्यपोहति।
यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्ता भविष्यति॥
तदागच्छतु शुम्भोऽत्र निशुम्भो वा महासुरः।
मां जित्वा किं चिरेणात्र पाणिं गृह्णातु मे लघु॥

(श्रीदुर्गासप्तशती ५।१२०-१२१)

दूतने बहुत कुछ समझाया, परंतु देवीने कहा—'क्या करूँ, मेरी ऐसी प्रतिज्ञा ही है।' दूतने जाकर सब बात सुना दी। इसपर धूम्रलोचन भेजा गया, घोर युद्धके बाद वह मारा गया। उसके पश्चात् शुम्भने चण्ड-मुण्डको भेजा। महासंग्राम हुआ, अम्बिकाने जब कोप किया, तब उनके ललाटसे करालवदना कालिका प्रकट हुईं। उन्होंने असुरोंके बल (सैन्य)-का भक्षण करना आरम्भ कर दिया। उन्होंने बड़े-बड़े गज, तुरंग, रथ, योद्धाओंको मुँहमें डालकर चबाना आरम्भ किया। सर्वनाश होते देखकर चण्ड आया और अनेक चक्रोंसे कालीको आच्छादित कर दिया। देवीके मुँहमें वे चक्र लीन हो गये। महातलवारसे देवीने चण्डका सिर काट डाला। इसके बाद मुण्ड लड़ने आया। उसकी भी वही गति हुई। चण्ड-मुण्ड दोनोंका सिर लेकर कालीने आकर कौशिकीको दिया। कौशिकीने चण्ड-मुण्डका सिर लानेके कारण कालीका 'चामुण्डा' नामकरण किया। चण्ड-मुण्डका वध सुनकर शुम्भने अपनी सब सेनाको आज्ञा दी। महा-महाकुलके भयानक-भयानक दैत्य आये, भयंकर युद्ध होने लगा। देवीने धनुषके टंकारसे धरणी और गगनको पूरित कर दिया। सिंहनाद भी सर्वत्र फैल गया; महाकालीने भी मुख फैलाकर भीषण नाद किया। उस नादको सुनकर दैत्यसेनाने चारों ओरसे देवीको घेर लिया। इसी समय दैत्योंके नाश और देवताओंके अभ्युदयके लिये ब्रह्मा, शिव, विष्णु, इन्द्र आदि देवताओंके शरीरोंसे उनकी शक्तियाँ उसी-उसी रूपमें प्रकट होकर देवीकी सहायताके लिये आयीं। उन शक्तियोंसे परिवृत होकर भगवान् रुद्र आये और चण्डिकासे कहा कि 'हमारी प्रसन्नताके लिये शीघ्र ही इन दैत्योंको मारो।' यह सुनते ही देवीके शरीरसे एक अतिभीषण शक्ति प्रकट हुई और उसने रुद्रसे कहा—

'आप हमारे दूत बनकर जाओ और शुम्भ-निशुम्भसे कहो कि त्रैलोक्य इन्द्रको दे दो, देवता हविर्भुक् हों और तुमलोग यदि जीना चाहते हो तो पाताल चले जाओ। यदि बलके घमण्डसे लड़ना चाहते हो तो आओ, तुम्हारे मांससे हमारे शृगाल तृप्त हों।' देवीने शिवको दूत बनाया, अत: उनका नाम 'शिवदूती' प्रसिद्ध हुआ। दैत्य शिवके द्वारा देवीका सन्देश सुनकर क्रुद्ध होकर वहाँ आये, जहाँ देवी स्थित थीं और अस्त्र-शस्त्रसे देवीके ऊपर खूब प्रहार किया। देवीने लीलामात्रसे सबको नष्ट कर डाला। कौशिकीके आगे-आगे काली शूल और खट्वांगसे शत्रुओंको नष्ट करती चलती थीं। ब्रह्माणी, माहेश्वरी, वैष्णवी, कौमारी, ऐन्द्री आदि अपने शस्त्रास्त्रोंसे सहस्रों दैत्योंको मारती थीं। असुरोंका संहार करती हुई नादसे दिशाओंको पूर्ण कर रही थीं। जब मातृगणोंसे पीड़ित होकर असुर भाग चले, तब रक्तबीज नामका एक महान् असुर आया। रक्तबीजके शरीरसे जितने रक्तबिन्दु भूमिपर गिरते थे, उतनी ही संख्यामें वैसे ही रक्तबीज उत्पन्न होते थे। वह रक्तबीज गदा लेकर इन्द्रशक्तिसे युद्ध करने लगा। उससे महाभयंकर संग्राम हुआ। इन्द्रशक्तिके वज्रप्रहारसे उस दैत्यके शरीरसे बहुत-सा रक्त बहा, जिससे असंख्य रक्तबीजोंसे संसार व्याप्त हो गया। देवीने अपनी जिह्वा भूमिपर फैला दी और सब रक्त पान करने लगी। अन्तमें वह दैत्य क्षीणरक्त होकर मर गया।

फिर शुम्भ-निशुम्भका भी देवीसे घोर युद्ध हुआ। महायुद्धके बाद निशुम्भ मारा गया। उस समय शुम्भने आकर देवीसे डाँटकर कहा—हे दुर्गे! तू घमण्ड न कर, दूसरोंका बल लेकर तू लड़ती है।

इसपर देवीने कहा—इस जगत्में मैं ही एक हूँ, दूसरा कोई नहीं। देख, ये सब मेरी विभूतियाँ हैं, जो मुझमें प्रविष्ट हो रही हैं।

यह कहते ही ब्रह्माणीप्रमुखा देवी उनमें लीन हो गयीं, वे अकेली रह गयीं—

एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।
पश्यैता दुष्ट मय्येव विशन्त्यो मद्विभूतयः॥
ततः समस्तास्ता देव्यो ब्रह्माणीप्रमुखा लयम्।
तस्या देव्यास्तनौ जग्मुरेकैवासीत्तदाम्बिका॥

(श्रीदुर्गासप्तशती १०।५-६)

देवीने कहा—'मैं ही अपनी विभूतिसे अनेक रूपोंमें स्थित थी। अब उन सबका उपसंहार करके अकेली ही संग्राममें स्थित हूँ। तू सावधान स्थिर हो।'

अनन्तर देवी और शुम्भका देवताओंके समक्ष महाघोर युद्ध हुआ। बड़े-बड़े दिव्यातिदिव्य शस्त्रास्त्रोंका प्रयोग हुआ। कभी गगनमें, कभी भूपर महान् आश्चर्यकर युद्ध हुआ। उस महासंग्रामके बाद भगवतीने उसके हृदयको विशाल शूलसे विदीर्णकर भूमिपर मार गिराया। देवता तथा ऋषियोंने देवीकी इस प्रकार स्तुति की।

देवताओंने कहा—'हे मात:! आप प्रपन्न प्राणियोंकी आर्ति दूर करनेवाली हैं, आप अखिल ब्रह्माण्डकी माता हैं, आप ही चराचर विश्वकी ईश्वरी हैं, आप ही पृथ्वीरूपमें स्थित होकर सबकी आधारभूता हैं, जलरूपसे भी स्थित होकर सम्पूर्ण विश्वका आप्यायन करती हैं, आप अनन्त वीर्यवाली वैष्णवी शक्ति हैं, आप ही विश्वकी बीजभूता माया हैं, सम्पूर्ण विश्व आपसे ही मोहित है, प्रसन्न होकर आप ही मुक्तिकी हेतु बन जाती हैं, संसारकी समस्त विद्याएँ आपका ही अंश हैं, समस्त स्त्रियाँ भी आपका ही अंश हैं, एक आपसे ही सारा विश्व पूरित है, फिर आपकी क्या स्तुति की जाय? स्तुतिसाधन परा, अपरा वाक् भी तो आप ही हैं।

स्पष्टोच्चरित वाक् 'वैखरी' है, स्मृतिगोचर वाक् 'मध्यमा' है, अर्थकी द्योतिका 'पश्यन्ती' है, ब्रह्म ही 'परा' वाक् है—

वैखरी शब्दनिष्पत्तिर्मध्यमा स्मृतिगोचरा।
द्योतिकार्थस्य पश्यन्ती सूक्ष्मा ब्रह्मैव केवलम्॥

स्थान, करण, प्रयत्न तथा वर्णविभागशून्य, स्वयंप्रकाश ज्योति 'परा' वाक् है। सूक्ष्म बीजसे

उत्पन्न अंकुरके समान किंचित् विकसित शक्ति ही 'पश्यन्ती' है। अतः संकल्परूपा वाक् 'मध्यमा' है, व्यक्त वर्णादिरूप 'वैखरी' है। 'स्वर्ग-मुक्तिदायिनी आप ही हैं। बुद्धिरूपसे पुरुषार्थप्रदा, कालरूपसे परिणामप्रदायिनी, अवसानसमयमें कालरात्रिरूपसे आप ही विराजती हैं। सर्वमंगलदायी, सर्वार्थसाधिका, शरणागतवत्सला, सृष्ट्यादिकारिणी, सनातनी, गुणाश्रया, गुणमयी, शरणागत-दीनार्त-परित्राणपरायणा, आर्तिहरा, ब्रह्माणी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, चामुण्डा, लक्ष्मी, लज्जा, विद्या, श्रद्धा, पुष्टि, स्वधा, महारात्रि, महाविद्या, मेधा, ध्रुवा, सरस्वती, वरा, भूति, वाभ्रवि (राजसी), तामसी, नियन्ता आप ही हैं। कहाँतक कहा जाय, आप ही सर्वस्वरूपा हैं, आप ही सर्वशक्तिसमन्विता हैं। आप और आपके आयुध हमें सब भीतिसे बचायें। आप सर्वानर्थनिवारिणी, सर्वाभीष्ट-दायिनी हैं, सर्वस्तुत्या हैं। आपके आश्रितोंको विपत्ति नहीं आती, आपके आश्रित दूसरोंके आश्रय होते हैं। आप विश्वेश्वरी, विश्वपालिनी एवं विश्वरूपा हैं, विश्वेशवन्द्या हैं। जो आपको प्रणाम करते हैं, वे विश्वके आश्रय बनते हैं।' देवीने प्रसन्न होकर वर माँगनेको कहा। देवताओंने यह वर माँगा कि 'अखिलेश्वरी! आप सर्वदा त्रैलोक्यकी सर्वबाधाओंका प्रशमन करें और समय-समयपर इसी तरह असुरोंका संहार करें।' देवीने कहा—'ये शुम्भ-निशुम्भ आदि दैत्य फिर अट्ठाईसवीं चतुर्युगीमें उत्पन्न होंगे, वहाँ भी नन्दगोपके गृहमें यशोदासे उत्पन्न हो विन्ध्यवासिनीरूपसे मैं उनका संहार करूँगी। उसी रूपसे वैप्रचित्त दानवोंको मारकर उनका भक्षण करूँगी। दन्तोंके रक्त होनेसे उस समय मेरा 'रक्तदन्तिका' नाम प्रसिद्ध होगा। पुनश्च शतवार्षिकी अनावृष्टि होनेपर 'शताक्षी' रूपसे प्रकट होकर मुनियोंपर अनुग्रह करूँगी। अपने देहसे उद्भूत प्राणधारक शाकोंद्वारा लोकका रक्षण करूँगी, इसीलिये मेरा 'शाकम्भरी' नाम होगा। उसी अवतारमें दुर्गम दैत्यको मारनेसे मेरा 'दुर्गा' भी नाम पड़ेगा। भीमरूप धारण करके हिमाचलके राक्षसोंका भक्षण करूँगी, तब मेरा 'भीमा' नाम पड़ेगा। भ्रमररूप धारणकर अरुणासुरको मारनेसे मेरा 'भ्रामरी' नाम होगा। इस तरह जब-जब दानवोंकी बाधा फैलेगी, तब-तब मैं अवतार लेकर धर्म और देवताओंके शत्रुओंका क्षय करूँगी। जो इन स्तुतियोंसे मेरा स्तवन और श्रद्धा-भक्तिसे पूजन करेगा, उसकी सब विपत्तियोंको दूरकर सर्वाभीष्ट-सम्पादन करूँगी।' 'सप्तशती' के चरित्रोंसे विविध शिक्षाएँ मिलती हैं। मधु-कैटभ बड़े बलवान् थे, परंतु बुद्धि-बलसे विष्णुने उनका वध किया, इससे यह स्पष्ट हो गया कि पशु-बलपर सर्वदा बुद्धि-बलकी विजय होती है। महिषासुरके वधमें देवताओंके संगसे उद्भूत तेजःसमूहसे भगवतीका आविर्भाव हुआ। तृतीय चरित्रसे यह भी व्यक्त होता है कि एक शक्तिके अग्रसर होनेपर सभी शक्तियाँ उस कार्यमें लग जाती हैं, इत्यादि-इत्यादि बहुत-सी शिक्षाएँ प्राप्त होती हैं।

'देवीसूक्त' में भगवतीका स्वरूप

'देवीसूक्त' से विदित होता है कि साक्षात् परब्रह्म ही देवी आदि नामोंसे प्रख्यात है।

स्वयं देवी कहती हैं—

'अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।'

अर्थात् मैं ही रुद्र, वसु, आदित्यादिरूपसे विहरण करती हूँ। इन्द्र, अग्नि एवं अश्विनीकुमारोंको मैं ही धारण करती हूँ। सोम, त्वष्टा, पूषा, भग आदिको भी मैं ही धारण करती हूँ। देवताओंको हविः प्रदान करनेवाले यजमानको फल-प्रदान भी मैं ही करती हूँ।

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्य्यावेशयन्तीम्॥

(वेदोक्त देवीसूक्त ३)

अर्थात् सब जगत्‌की ईश्वरी, धन प्राप्त करानेवाली, तत्त्वज्ञानिनी एवं यज्ञार्होंमें मैं ही मुख्य हूँ, मैं ही प्रपंचरूपसे स्थित हूँ। अतएव देवताओंने अनेक स्थानोंमें अनेक रूपसे मेरा ही विधान किया है, विश्वरूपसे मैं ही स्थित हूँ। जहाँ भी, जो भी किया

जाता है, **सब मेरी ही तत्र-तत्र, तेन-तेन रूपेण सम्पत्ति है।** खाना, देखना, प्राणन करना, श्वासो-च्छ्वासादि व्यापार करना सब मेरी ही शक्तिसे सम्भव है। जो मुझ अन्तर्यामिणीको नहीं जानते, वे उपक्षीण हो जाते हैं। हे विश्रुत! श्रद्धायुक्त होकर सुनो, यह ब्रह्मवस्तु तुम्हें बतला रही हूँ—

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः
प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि
श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि॥

मैं ही देव-मनुष्यसेवित ब्रह्मका उपदेश करती हूँ। मैं ही जिसको चाहती हूँ, उग्र—अधिक बनाती हूँ। ब्रह्मा (स्रष्टा), ऋषि (ज्ञानवान्) तथा शोभनप्रज्ञ बनाती हूँ। त्रिपुर-विजयके समय हिंसक, ब्रह्मद्विट् असुरके लिये रुद्रके धनुषको मैं ही विस्तृत करती हूँ, स्तोता जनोंके सुखार्थ मैं ही शत्रुओंसे संग्राम करती हूँ, मैं ही परमात्माके सर्वोपरि स्वरूपमें आकाशको बनाती हूँ। जैसे तन्तुमें पट होता है, वैसे ही आकाशादि कार्यजगत् परमात्मासे ही उत्पन्न होता है। समुद्र (**'समुद्रवन्ति प्राणिनोऽस्मादिति समुद्रः परमात्मा'**)-रूप परमात्मामें जो व्याप्त बुद्धिवृत्तिरूप अप् (जल) है, उनके भीतर, बाहर, मध्यमें फैला हुआ जो अनन्त चैतन्य है, वही मुझ भगवतीका विश्वकारणभूत रूप है। अतएव मैं समस्त प्राणियोंमें व्याप्त होकर स्थित हूँ। कारणभूत मायामय निज देहसे द्युलोकादिको स्पर्शकर मैं स्थित हूँ। अथवा भूलोकके ऊपर पितर अर्थात् आकाशकी मैं रचना करती हूँ।

समुद्रमें जलके भीतर मेरे कारणभूत अम्मय ऋषि हैं, उन्हीं महर्षिकी पुत्री होकर मैं देवीसूक्तका दर्शन करती हूँ। अथवा समुद्र अर्थात् अन्तरिक्षमें अपने अर्थात् अम्मय देवशरीरोंमें मेरा कारणभूत ब्रह्म चैतन्य रहता है, अतः मैं कारणभूत होकर सर्वत्र व्याप्त हूँ। मैं ही सम्पूर्ण भूतों और सभी कार्योंका आरम्भ करती हूँ। जैसे वात अन्य प्रेरणाके ही स्वयं कार्य करता है, वैसे ही परशक्तिरूपा मैं स्वेच्छासे ही सब काम करती हूँ। आकाश और पृथ्वीसे पर मैं हूँ। असंग, उदासीन ब्रह्मचैतन्यरूपा मैं हूँ।

भगवतीकी विविध विभूतियाँ

सर्वप्रपंच एवं अवतारोंकी मूलभूता प्रथमा महालक्ष्मी हैं। तीनों गुणोंकी साम्यावस्थारूपा त्रिगुणा वे ही भगवती परमेश्वरी हैं। वे लक्ष्य-अलक्ष्य दो रूपवाली हैं। मायारूप लक्ष्य है, ब्रह्मरूप अलक्ष्य है। मायाशबल ब्रह्मरूपा भगवती ही त्रिगुणा परमेश्वरी हैं। जैसे घटादि कार्यमें कारणभूत मृत्तिका व्याप्त है, वैसे ही सम्पूर्ण विश्वमें वे व्याप्त हैं। हर एक पदार्थमें अस्ति, भाति, प्रिय यह तीन ब्रह्मके और नाम, रूप यह दो मायाके रूप हैं। उपर्युक्त सूक्ष्मरूपके अतिरिक्त उपासकोंके अनुग्रहार्थ भगवतीके अवतारस्वरूप स्थूलरूप भी प्रकट होते हैं। वे दक्षिण भागके नीचेके हाथमें पानपात्र, ऊपरके हाथमें गदा, वामभागके ऊपरके हाथमें खेटक, नीचेके हाथमें श्रीफल तथा नाग, लिंग एवं योनिको सिरमें धारण किये हुए, तप्त कांचनके समान दिव्य वर्णवाली हैं, तप्त ज्ञानशक्ति खेटक है, तुर्यावृत्ति (समाधि) पानपात्र है, लिंग पुरुषतत्त्व है, योनि प्रकृतितत्त्व है, नाग काल है। मातुलिंग (फल) ग्रहणसे भगवती यह सूचित करती हैं कि मैं ही सर्वकर्मफलदात्री हूँ। गदाधारणसे क्रियास्वरूप विक्षेपशक्ति और खेटधारणसे ज्ञान-शक्तिका अधिष्ठात्रित्व ही बोधित किया गया है। नाग, लिंग, योनिधारणसे यह सूचित किया गया है कि प्रकृति, पुरुष और काल तीनोंका अधिष्ठान परब्रह्मरूपा मैं ही हूँ। 'ह्रीं' बीजका अभिप्राय भी यही है। ये ही भुवनेश्वरी हैं। सूक्तरूप भुवनेश्वरी और महालक्ष्मी दोनों एक ही हैं तथापि पाश, अंकुश, अभय, वरादि आयुधधारणसे भेद है।

भगवती और सृष्टि

प्राणियोंके परिपक्व कर्मोंका भोगद्वारा क्षय हो जानेपर प्रलय होता है। उस समय सब प्रपंच मायाके ही उदरमें लीन रहता है। माया भी स्वप्रतिष्ठ निर्गुण ब्रह्ममें लीन रहती है—'**अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन् निर्गुणे**

सम्प्रलीयते।' विष्णुपुराणके इन वचनोंसे अव्यक्तका भी ब्रह्ममें लय स्मृत है। अव्यक्तका माया ही अर्थ है, प्राणियोंके कर्म-फल-भोगका जब समय आता है, तब चिदात्मिका भगवतीमें सिसृक्षा (सृष्टिकी इच्छा) उत्पन्न होती है। मायाकी उसी अवस्थाको विचिकीर्षा आदि शब्दोंसे कहा जाता है। कर्मपरिपाकका विनश्यद अवस्थावाला प्रागभाव ही विचिकीर्षा है। यद्यपि गुणसाम्यदशामें कर्मपरिपाकादिके अनुकूल कोई भी व्यापार नहीं होते, अत: साम्यावस्था-भंगका क्या कारण है, यह जानना बहुत कठिन है तथापि जैसे निद्राके अव्यवहित प्राक्कालके प्रबोधानुकूल दृढ़ संकल्पकी महिमासे ही नियत समयपर निद्रा भंग होती है, वैसे ही प्रलयके अव्यवहित प्राक्कालिक ईश्वरीय संकल्पसे ही नियत समयपर जागता है। विभागको न प्राप्त हुआ यह बिन्दु ही 'अव्यक्त' कहलाता है।

यह मायाकी ही अवस्था है, अत: यह मायापदवाच्य होता है। यद्यपि यह महदादिके समान तत्त्वान्तररूपसे उत्पन्न नहीं होता, अतएव माया ही है तथापि मायाकी एक विशिष्टाकारसे उत्पत्ति हुई है, अत: '**तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिविधं द्विजसत्तम**' इत्यादि वचनोंसे उसकी उत्पत्ति भी कही गयी है। केवल ब्रह्ममें कारणता नहीं बन सकती, अतएव उसे भी सूक्ष्मावस्थाविशिष्ट मायासे मुक्त ब्रह्ममें ही कारणता समझनी चाहिये। बीज और अंकुरके बीचकी उच्छूनावस्थाको ही और जिसमें बीज धरणि, अनिल और जलके सम्पर्कसे क्लिन्न होकर कुछ फूलता है, अव्यक्तावस्था समझनी चाहिये। गुणसाम्य बीजावस्था है, वही शुद्ध माया है। बीजका अंकुरित होना कार्यावस्था है। स्पष्ट ईक्षण और अहंकार आदि ही महत्तत्त्व, अहन्तत्त्व आदि हैं। व्यष्टि जगत्‌में समझ सकते हैं कि निद्रावस्था बीजावस्था है, निद्राका प्रबोधोन्मुख होना अव्यक्तावस्था है, विकल्प-विशेषविरहित प्रबोध महत्तत्त्वकी अवस्था है, अहंकारका उल्लेख होना ही अहंतत्त्वकी अवस्था है, तदनन्तर स्थूल कार्यादि सम्पत्ति होती है। अन्तर्मुख अव्यक्तकी 'तुरीय' संज्ञा है, बहिर्मुख अव्यक्तकी 'कारण देह' संज्ञा है। बहिर्मुख अव्यक्तसे सूक्ष्म-स्थूल देहकी उत्पत्ति होती है, इसीमें सम्पूर्ण विश्व आ जाता है। समष्टि-व्यष्टि स्थूल देह और ज्ञानेन्द्रिय तथा अन्त:करणके अधिपति सरस्वती-सहित ब्रह्मा हैं। कर्मेन्द्रियसहित प्राणसंज्ञक क्रियाशक्त्यात्मक लिंगदेहके अधिपति लक्ष्मी-सहित विष्णु हैं। कारणदेहके अधिपति गौरीसहित रुद्र हैं। तुरीयदेहकी अभिमानिनी भुवनेश्वरी और महालक्ष्मी हैं।

मूर्तिरहस्य

प्रथम महालक्ष्मी भगवतीने सम्पूर्ण जगत्‌को अधिष्ठातासे रहित देखकर केवल तमोगुणरूप उपाधिका आश्रय लेकर बड़ा सुन्दर एक दूसरा रूप धारण किया। साम्यावस्थाभिमानिनी महालक्ष्मी हैं। किंचिच्चलितसदृश तमोगुणविशिष्ट अव्यक्तमें अभिमान करके उसीने महाकालीरूप धारण कर लिया। यद्यपि वह मूल देवीसे अभिन्न ही है तथापि रूपमें भेद है। कज्जलके समान नीलवर्णवाली, सुन्दर दंष्ट्रासे युक्त मनोहर आननवाली, विशाल लोचनवाली, सूक्ष्म कटिवाली वह देवी खड्ग, पात्र, शिर:, खेटको धारण किये कबन्ध, हार और मुण्डकी माला अथवा शवके शिरोंकी माला पहने थी। उस महाकालीने महालक्ष्मीसे कहा कि—'मेरे लिये नाम और कर्म बतलाओ।'

महालक्ष्मीने ब्रह्मादिमोहिका होनेसे 'महामाया', उन सबका संख्यान और संहार करनेसे 'महाकाली' और सर्वविध भक्षणकी इच्छावाली होनेसे 'क्षुधा', सर्वविध पानकी इच्छावाली होनेसे 'तृषा', योगकी अधिष्ठात्री होनेसे 'योगनिद्रा', भक्तकृत भक्तिकी इच्छावाली होनेसे 'तृष्णा', महापराक्रमवती होनेसे 'एकवीरा' इत्यादि नाम और नामानुरूप ही कर्म बतलाये हैं। अनन्तर महालक्ष्मीने अतिशुद्ध सत्त्वके द्वारा चन्द्रप्रभाके समान अतिसुन्दर एक और रूप धारण किया। अक्षमाला, अंकुश, वीणा, पुस्तक धारण किये हुए वह बड़ी सुन्दरी देवी प्रकट हुई। उसके लिये भी महाविद्या, महावाणी, भारती, वाक्, सरस्वती, आर्या,

ब्राह्मी, कामधेनु, वेदगर्भा, धीश्वरी नाम और नामानुरूप ही कर्म बतलाये गये हैं। महालक्ष्मी स्वयं ही साम्यावस्थाकी अभिमानिनी होते हुए रजोगुणकी भी अभिमानिनी हुईं, अतएव महालक्ष्मीका रक्त-रूप वर्णन मिलता है। अन्तमें महालक्ष्मीने महाकाली और महासरस्वतीसे कहा कि—'आप दोनों अपने अनुरूप स्त्री-पुरुषरूप मिथुन उत्पन्न करो।'

ऐसा कहकर स्वयं महालक्ष्मीने निर्मल ज्ञानमय कमलपर विराजमान एक स्त्री एवं एक पुरुषका मिथुन बनाया। ब्रह्मा, धाता आदि पुरुषके नाम तथा श्री, पद्मा, कमला, लक्ष्मी आदि स्त्रीके नाम हुए। महाकालीने भी एक मिथुन बनाया, उसमें नीलकण्ठ, रक्तबाहु, श्वेतांग, चन्द्रशेखर पुरुष हुआ और शुक्ल वर्णकी ही सुन्दरी स्त्री हुई। पुरुषके रुद्र, शंकर, स्थाणु, कपर्दी, त्रिलोचन नाम हुए; स्त्रीके त्रयी, विद्या, कामधेनु, भाषा, अक्षरा, स्वरा आदि नाम हुए। सरस्वतीसे भी उत्पन्न मिथुनमें विष्णु, हृषीकेश, वासुदेव, जनार्दन पुरुषके और उमा, गौरी, सती, चण्डी, सुन्दरी, सुभगा, शिवा स्त्रीके नाम हुए। इस तरह बिना पुरुषके ही युवतियाँ ही पुरुष बन गयीं।

साधारण लोग इसे असम्भव समझते हैं, परंतु अचिन्त्य मायाशक्तिकी महिमा जाननेवालोंके लिये यह असम्भव नहीं। महालक्ष्मीने ब्रह्माका सरस्वतीसे, रुद्रका गौरीसे, वासुदेवका लक्ष्मीसे विवाह कर दिया। ब्रह्माने सरस्वतीके साथ ब्रह्माण्ड बनाया, रुद्रने गौरीके साथ संहारका काम किया और विष्णुने लक्ष्मीके साथ पालन किया। ब्रह्मदृष्टिसे चैतन्यरूपा सरस्वती, सत्तारूपी लक्ष्मी, आनन्दरूपा काली हैं, अत: चैतन्यका अभिव्यंजक सत्त्व सत्ताव्यंजक रज और आनन्दव्यंजक तम है। सुषुप्तिमें तमकी बहुलतासे आनन्दमयकी व्यक्ति होती है। सत्त्वोत्कर्षसुलभ प्रिय, मोद और प्रमोदरूप फलात्मक आनन्दमयका सुषुप्तिमें पर्यवसान तमोरूपा निद्रामें होता है, इसलिये रुद्रमें तमका व्यवहार होता है। सत्ताव्यंजक रजका पर्यवसान सत्त्वात्मक ज्ञानमें होता है, इसलिये विष्णुको सत्त्व कहा है। चैतन्यव्यंजक रज अपने रूपमें रहता है, इसलिये ब्रह्मामें कहा जाता है। इतिहासकी दृष्टिसे पहले उत्पत्ति, फिर स्थिति, फिर संहार होता है। साधनामें संहार, पालन और उत्पादन यह क्रम मान्य होता है। स्थितिकालमें भी उन्नतिके लिये तीनों शक्तियोंकी अपेक्षा है। दोषोंका संहार, रक्षणीय गुणोंका पालन और फिर अविद्यमान गुणादिकोंका उत्पादन अभीष्ट होता है। रोगोंका नाश, प्राणोंका रक्षण और बलका उत्पादन यह शिव, विष्णु एवं ब्रह्माका काम है। वैसे ये सब-के-सब विशुद्ध सत्त्वमय हैं, इसलिये शैवपुराणोंमें शिवको भी सत्त्वमय कहा गया है। शैव, वैष्णव, शाक्त सबके यहाँ अपने इष्टदेवको ही मूलतत्त्व माना जाता है। मूलतत्त्वमें ही पूर्ण सर्वज्ञता आदिकी विवक्षासे सत्त्वमय कहा जाता है। गुणकृत आवरण एवं तत्प्रभावसे रहित होनेके कारण उसे ही निर्गुण भी कहा जाता है।

जिस तरह मेघादि सूर्यके आवरक होते हैं, उपनेत्रादि नहीं; उसी तरह अस्वच्छ उपाधि सच्चिदानन्दकी आवरक होती है, स्वच्छ नहीं। इसीलिये शिवकी शक्ति कालीसे संहार होता है। केवल प्रकाशमें सृष्टि नहीं हो सकती, इसीलिये सरस्वतीको रजके अधिष्ठाता ब्रह्माका सहारा लेना पड़ता है। रजसे कार्य बनता चलता है, परंतु यदि उसमें टिकाव न हो, तो पालन नहीं बन सकता, अत: कार्यको टिकाऊ या स्थिर करनेके लिये लक्ष्मीको तमोऽधिष्ठाता विष्णुकी अपेक्षा होती है। तमके प्राबल्यमें अत्यन्त रुकावट होनेपर पालन न होकर संहार होता है। परंतु संहारमें भी किसका, कब, कितने दिनतक संहार हो, इसके ज्ञानके लिये सत्त्वकी अपेक्षा है, इसीलिये काली शिवका सहारा लेती हैं। अन्यथा ब्रह्माको रज, रुद्रको तम और विष्णुको सत्त्वका अधिष्ठाता कहा जाता है। ब्रह्माका रंग तो उनके गुण रजके अनुसार रक्त है; परंतु शिव, विष्णुमें यह नहीं घटता। सत्त्वगुणके अनुसार शिव शुक्ल और तमके अनुसार विष्णु कृष्ण हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि शिव, विष्णुके परस्पर ध्यानसे रूपमें परिवर्तन हो गया। स्थिर रखना तमका कार्य है, अतः पालकमें तमका परमापेक्ष है। अन्यत्र संहार होनेसे रुद्रमें तम, पालक होनेसे विष्णुको सत्त्वमय कहा गया है, कहीं निराकार और अव्यक्तको आकाशादिके समान श्याम रंगका व्यंजक माना जाता है, परंतु त्रिदेवियोंकी रूपव्यवस्था तो सर्वथा गुणोंके अनुसार है। त्रिदेवोंमें उत्पादक, पालक एवं संहारकको क्रमेण राजस, सात्त्विक, तामस कहा है। इन गुणोंके वश होनेसे जीव बद्ध होता है, उपर्युक्त त्रिदेव एवं त्रिदेवियाँ गुणोंके वश नहीं, अपितु गुणोंकी नियन्त्री हैं; अतः वे स्वतन्त्र हैं। इसके अतिरिक्त एक विशेषता और है, वह यह कि गुणोंका विमर्शवैचित्र्य होनेसे एक गुणके भीतर भी सब गुणोंका अस्तित्व होता है।

जैसे तामसी प्रकृति जगत्का उपादान है, फिर भी उसके भीतर राजस और सात्त्विक अन्तःकरणादि होते हैं, तमोलेशानुविद्ध सत्त्वप्रधाना अविद्यामें भी तमोरज आदिके तारतम्यसे उत्कर्षापकर्ष होता है, वैसे ही विशुद्ध सत्त्वप्रधाना विद्या या मायामें भी सात्त्विक, राजस, तामस भेद होते हैं। उसी भेदसे ब्रह्मा, विष्णु आदि बनते हैं। यह ईश्वरकोटि है, इनकी उपाधि माया है, वह विशुद्ध सत्त्वप्रधाना होती है, फिर भी उत्पादकमें रज, पालकमें सत्त्व और संहारकमें तमका अंश रहता है। पूर्वोक्त रीतिसे भगवतीके महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती—ये तीन रूप प्रधान हैं। उपनिषदोंमें प्रकृतिको '**लोहित-शुक्ल-कृष्ण**' कहा गया है; क्योंकि उसमें रजः, सत्त्व और तम यह तीन गुण होता है। किसी भी कार्यका सम्पादन करनेके लिये हलचल, प्रकाश और अवष्टम्भ अर्थात् रुकावट इन तीनोंकी अपेक्षा हुआ करती है। इनमेंसे एकके बिना कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं होता, इसीलिये सृष्टिको त्रिगुणात्मिका कहा जाता है। प्रकाश सत्त्व है, हलचल रज और अवष्टम्भ तम है। रज रक्त है, सत्त्व शुक्ल है, तम कृष्ण है। केवल निर्विकार, कूटस्थ, चैतन्य कुछ कर नहीं सकता, गुणयोगसे ही कार्य हो सकता है, अतएव गुणोंका आश्रयण करनेसे ही त्रिदेवी एवं त्रिदेव भी तीन रंगके ही हैं। शंकर-सरस्वती ये दोनों भाई-बहन शुक्ल रूपके हैं। ब्रह्मा-लक्ष्मी दोनों भाई-बहन रक्त वर्णके हैं। विष्णु-गौरी ये दोनों भाई-बहन कृष्ण रंगके हैं। भाई-बहन ही प्रायः एक रंगके होते हैं, पति-पत्नीके एक रंग होनेका नियम नहीं होता। इसीलिये शिव-गौरी, विष्णु-लक्ष्मी, ब्रह्मा-सरस्वती ये दम्पती एक रंगके नहीं हैं। गौरीकी सरस्वती ननन्दा हैं, स्वयं उसकी भ्रातृजाया (भावज) हैं, सरस्वती लक्ष्मीकी भावज हैं, लक्ष्मी उसकी ननद हैं, लक्ष्मी गौरीकी ननद हैं। इसीलिये शिव, विष्णु, ब्रह्मामें भी श्यालक एवं भगिनीपतिका सम्बन्ध है। सृष्टिमें हलचल और ज्ञानशक्ति दोनोंकी अपेक्षा होती है। रजकी हलचल और सत्त्वकी ज्ञानशक्ति ही सृष्टि कर सकती है, इसीलिये ब्रह्माकी पत्नी सरस्वतीसे सृष्टि होती है। तमकी रुकावटसे और रजकी हलचलसे पालन होता है, अतएव विष्णुपत्नी लक्ष्मीसे पालन होता है। सत्त्वके प्रकाश एवं तमके अवष्टम्भसे संहार होता है, अतः शिवपत्नी गौरीसे संहार होता है। सर्वसत्त्वमयी भगवती साकार होकर अनेक नामोंवाली होती हैं, निराकाररूपसे तो कोई भी शब्दसे वाच्य नहीं है।

ज्ञानानां चिन्मयातीता शून्यानां शून्यसाक्षिणी।
यस्याः परतरं नास्ति सैषा दुर्गा प्रकीर्तिता॥
यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

जो त्रिगुणा तामसी महाकाली हैं, वे ही हरिकी योगनिद्रा हैं, विष्णुको जगानेके लिये ब्रह्माने उनकी स्तुति की है। वे दश मुख, दश भुज, दश चरण और तीस विशाल नेत्रवाली हैं। यद्यपि शत्रुओंको उनका रूप बड़ा ही भयावना लगता है तथापि भक्तोंके लिये तो वे रूप, सौभाग्य और कान्तिकी एकमात्र प्रतिष्ठा हैं। खड्ग, बाण, गदा, शूल, चक्र, पाश, भुशुण्डि, परिघ, कार्मुक और सद्यःकृत्त सिर उनके हाथोंमें हैं। इनकी विधिपूर्वक पूजा करनेसे साधक चराचर विश्वको स्वाधीन कर लेता है।

जो देवी सर्वदेवशरीरोंसे उत्पन्न हुईं, वे महालक्ष्मी हैं। यद्यपि वे सहस्रभुज या अनन्त भुजावाली हैं तथापि साधक अष्टादशभुजारूपसे उनको पूजते हैं। उनका मुख शिव-समुद्भूत तेजसे बना है, अत: श्वेत है। भुजा विष्णुके अंशसे हुई है, अत: नील है। स्तनमण्डल सौम्यांशसे बने हैं, अत: सुश्वेत हैं। कटि इन्द्रांशसे हुई है, अत: रक्त है। चरण ब्रह्मांशजन्य होनेसे रक्त तथा जंघा और ऊरु वरुणांशजन्य हैं, अत: नील हैं। सुचित्रजघना, चित्रमाल्या और अम्बरको धारण किये हैं। दाहिने-वाम भागके नीचेके क्रमसे उसके निम्नलिखित आयुध हैं—अक्षमाला, कमल, बाण, असि, कुलिश, गदा, चक्र, त्रिशूल, परशु, शंख, घण्टा, पाश, शक्ति, दण्ड, चर्म, चाप, पानपात्र और कमण्डलु। इन महालक्ष्मीके पूजनसे सर्वलोकाधिपत्य मिलता है। सरस्वती आठ भुजाकी हैं। बाण, मुसल, शूल, चक्र, शंख, घण्टा, लांगल और कार्मुक उनके आयुध हैं। इनकी उपासनासे सर्वज्ञता मिलती है।

दशमहाविद्या

(१) महाकाली

पूर्वोक्त भगवतीके ही दस भेद और होते हैं। इसमें प्रथम महाकाली हैं। महाकाली प्रलयकालसे सम्बद्ध रहती हैं, अतएव वे कृष्णवर्णकी हैं। 'शक्तिविहीन विश्व शवरूप है'—यह दर्शानेके लिये वे शवपर आरूढ़ हैं। शत्रुसंहारककी शक्ति भयावह होती है, इसलिये कालीकी मूर्ति भी भयावह है। शत्रुसंहारके बाद योद्धाका अट्टहास भीषणताके लिये होता है, इसीलिये महाकाली हँसती रहती हैं। निर्बलके आक्रमणको विफलकर उसकी दुर्बलतापर हँसा जाता है, इसी तरह निर्बल विश्वके घमण्डको चूरकर भगवती हँसती हैं। पूर्ण वस्तुको चतुरस्र कहा जाता है, इसीलिये पूर्णतत्त्व चार भुजासे प्रकट हुआ करता है। इसीसे माँ कालीकी चार भुजाएँ हैं। वे स्वयं निर्भय हैं, उनका आश्रयण करनेवाले निर्भय होते हैं, इसीलिये भगवती ने अभय मुद्रा धारण की है। सांसारिक सुख क्षणभंगुर है, परमसुख भगवती ही हैं, जीवित विश्वका एवं मृत विश्वका भी आधार वे ही हैं। मृतप्राणियोंका भी एकमात्र सहारा है, यही द्योतन करनेके लिये देवीने मुण्डमाला पहनी है। विश्व ही ब्रह्मरूपा भगवतीका आवरण है, प्रलयमें सबके लीन होनेपर भगवती नग्न ही रहती हैं। सारे विश्वके श्मशानके तरनेपर उन तमोमयीका विकास होता है, इसीलिये वे श्मशान-वासिनी हैं—

शवारूढां महाभीमां घोरदंष्ट्रां हसन्मुखीम्।
चतुर्भुजां खड्गमुण्डवराभयकरां शिवाम्॥
मुण्डमालाधरां देवीं ललज्जिह्वां दिगम्बराम्।
एवं सञ्चिन्तयेत् कालीं श्मशानालयवासिनीम्॥

(शाक्तप्रमोद-कालीतन्त्र)

(२) तारा

हिरण्यगर्भावस्थामें कुछ प्रकाश होता है, प्रलयरूपी कालरात्रिमें ताराओंके समान सूक्ष्म जगत्‌के ज्ञान एवं तत्साधनोंका प्राकट्य होता है, उसी हिरण्यगर्भकी शक्ति '**तारा**' है। सूर्य कोटि भी हिरण्यगर्भ कहा जाता है, सूर्य रुद्र भी कहे जाते हैं। उनका शान्त और घोर दो प्रकारका रूप होता है। हिरण्यगर्भ पहले क्षुधासे उग्र था, जब उसे अन्न मिलने लगा, तब शान्त हुआ। उसी उग्र हिरण्यगर्भकी शक्ति उग्रतारा है।

प्रत्यालीढपदार्पिताङ्घ्रिशवहृद्घोराट्टहासापरा
खड्गेन्दीवरकर्त्रिखर्परभुजा हुङ्कारबीजोद्भवा।
खर्वानीलविशालपिङ्गलजटाजूटैकनागैर्युता
जाड्यं न्यस्य कपालकर्तृजगतां हन्त्युग्रतारा स्वयम्॥

(शाक्तप्रमोद-तारातन्त्र)

क्षुधातुर हिरण्यगर्भ भी संहारक होता है, अत: उसकी शक्ति तारा भी संहारिणी है। उसने चारों हाथोंमें जहरीले सर्प लिये हैं। सर्प भी संहारका सूचक है। वह भी शवपर प्रतिष्ठित है। मुण्ड और खप्परसे यह सूचित होता है कि वह भयानक होकर खप्परद्वारा विश्वका रसपान करती है। उसकी जहरीली रश्मियोंकी भयानकता दिखलानेके लिये जटाजूट नागका वर्णन है।

प्रकृतिः पुरुषं स्पृष्ट्वा प्रकृतित्वं समुज्झति।
तदन्तस्त्वेकतां गत्वा नदीरूपमिवार्णवे॥

पुरुषका स्पर्श करते ही प्रकृति प्रकृतित्वको छोड़कर पुरुषके साथ इस तरह मिल जाती है, जैसे नदी समुद्रमें मिल जाती है।

अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरिञ्चादिभिरपि
प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति॥

हरि, हर, विरंचि प्रभृतियोंसे परमपूज्य अम्बाको प्रणाम या उनका स्तवन किसी अकृतपुण्य प्राणीद्वारा नहीं हो सकता। भगवतीकी पूजा जैन-बौद्धोंमें भी होती रही है, विशेषतः ताराकी पूजाका रहस्य बुद्ध ही जानते थे। तारा ही द्वितीया रूपसे प्रसिद्ध हैं, सुतारा रूपसे वही जैनोंमें भी पूज्य हैं, अक्षोभ्य ही वहाँ अवलोकितेश्वररूपमें प्रसिद्ध हैं।

क्षोभादिरहितो यस्मात् पीतं हालाहलं विषम्।
अतएव महेशानि अक्षोभ्यः परिकीर्तितः॥
तेन सार्धं महामाया तारिणी रमते सदा।

हलाहल विष पीनेपर भी जो क्षोभरहित रहे, वही शिव अक्षोभ्य हैं, उनके साथ रमण करनेवाली तारा है।

मदीयाराधनाचारं बौद्धरूपी जनार्दनः।
एक एव विजानाति नान्यः कश्चन तत्त्वतः॥

(ललितोपाख्यान)

ताराकी ही उक्ति है कि बौद्धाचारसे ही उनका पूजन श्रेष्ठ है। तारिणी शक्तियोंसे विशिष्ट महाशक्ति तारा है।

सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव यथा नः
सुभगा ससि यथा न सुफला ससि।

(तै० आ० ६।६।२)

'जनकस्य राज्ञः सद्मनि सीतोत्पन्ना सा सर्व-परानन्दमूर्तिर्गायन्ति मुनयोऽपि देवाश्च।'

'अनन्या राघवेणाहं भास्करेण यथा प्रभा।'

'ऐश्वर्यावचनः शक्तिः सा पराक्रम एव च।
तत्स्वरूपा तयोर्दात्री सा शक्तिः परिकीर्तिता॥'

(३) षोडशी

प्रशान्त हिरण्यगर्भ या सूर्य शिव है, उनकी शक्ति 'षोडशी' है। इनकी विग्रहमूर्ति पंचवक्त्र है। चारों दिशाओं एवं ऊर्ध्वदिशाके अभिमुख होनेसे उन्हें पंचवक्त्र कहते हैं। तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव, अघोर और ईशान यही इनके प्रसिद्ध नाम हैं। पूर्वा, पश्चिमा, उत्तरा, दक्षिणा, ऊर्ध्वदिक्‌के हरित, रक्त, धूम्र, नील, पीतरंगके मुख हैं। दस हाथोंमें अभय, टंक, शूल, वज्र, पाश, खड्ग, अंकुश, घण्टा, नाग और अग्नि लिये हैं।

यह बोधरूप है—

मुक्तापीतपयोदमुक्तिकजपावर्णैर्मुखैः पञ्चभि-
स्त्र्यक्षैरञ्चितमीशमिन्दुमुकुटं पूर्णेन्दुकोटिप्रभम्।
शूलं टङ्ककृपाणवज्रदहनान् नागेन्द्रपाशाङ्कुशान्
पाशं भीतिहरं दधानममिता वाग्भ्यो ज्वलाङ्गं भजे॥

इसमें षोडशकलाओंका पूर्णरूपसे विकास है, अतएव यह भी 'षोडशी' कहा जाता है। इस पंचवक्त्रकी शक्ति षोडशी है।

इसका ध्यान इस प्रकार है—

बालार्कमण्डलाभासां चतुर्बाहुं त्रिलोचनाम्।
पाशाङ्कुशशरांश्चापं धारयन्तीं शिवां भजे॥

(षोडशीतन्त्र)

बालार्कमण्डलके समान आभावाली, सूर्य-सोम-अग्नि इन तीन नेत्रोंवाली, चतुर्भुज, पाश-अंकुश-चाप और शरको धारण किये हैं।

(४) भुवनेश्वरी

वृद्धिगत विश्वका अधिष्ठाता त्र्यम्बक है, उसकी शक्ति 'भुवनेश्वरी' है। उसका स्वरूप बतलाते हुए शास्त्र कहते हैं—

उद्यद्दिनद्युतिमिन्दुकिरीटां तुङ्गकुचां नयनत्रययुक्ताम्।
स्मेरमुखीं वरदाङ्कुशपाशाभीतिकरां प्रभजे भुवनेशीम्॥

सोमात्मक अमृतसे विश्वका आप्यायन होता है, इसीलिये भगवतीने अपने किरीटमें चन्द्रमाको स्थान दे रखा है। त्रिभुवनका भरण-पोषण भगवती ही करती है। उसीका संकेत करमुद्रासे है। कृपादृष्टिकी सूचना उसके स्मेर (मृदुहास)-से है। शासनशक्तिका सूचक अंकुश-पाश आदिसे है।

(५) छिन्नमस्ता

विपरिणमान जगत्‌का अधिपति चेतन कबन्ध

है, उसकी शक्ति 'छिन्नमस्ता' है। विश्वका उपचय-अपचय तो हर समय ही होता रहता है, परंतु जब ह्रासकी मात्रा कम और विकास या आगमकी मात्रा ज्यादा रहती है, तब भुवनेश्वरीका प्राकट्य होता है। जब निर्गम (ह्रास) अधिक और आगम कम हो जाता है, तब छिन्नमस्ताका प्राधान्य होता है। उसका ध्यान यह है—

प्रत्यालीढपदां सदैव दधतीं छिन्नं शिरः कर्त्रिकां
दिग्वस्त्रां स्वकबन्धशोणितसुधाधारां पिबन्तीं मुदा।
नागाबद्धशिरोमणिं त्रिनयनां हृद्युत्पलालङ्कृतां
रत्यासक्तमनोभवोपरि दृढां ध्यायेज्जवासन्निभाम्॥
दक्षे चातिसिताविमुक्तचिकुरां कर्त्रीं तथा खर्परं
हस्ताभ्यां दधतीं रजोगुणभुवा नाम्नाऽपि सावर्णिनीम्।
देव्याश्छिन्नकबन्धतः पतदसृग्धारां पिबन्तीं मुदा
नागाबद्धशिरोमणिर्मनुविदा ध्येया सदा सा सुरैः॥
प्रत्यालीढपदा कबन्धविगलद्रक्तं पिबन्तीं मुदा
सैषा या प्रलये समस्तभुवनं भोक्तुं क्षमा तामसी।

(छिन्नमस्तातन्त्र)

छिन्नमस्ता भगवती छिन्नशीर्ष और कर्तरी एवं खप्परको लिये हुए स्वयं दिगम्बर रहती हैं। कबन्ध-शोणितकी धाराको पीती रहती हैं, कटे हुए सिरमें नागाबद्ध मणि विराजमान है और नील नयन हैं, हृदयमें उत्पलकी माला है, रत्यासक्त मनोभावके ऊपर विराजमान रहती है।

(६) त्रिपुरभैरवी

क्षीयमान विश्वका अधिष्ठाता दक्षिणामूर्ति कालभैरव है, उसकी शक्ति 'भैरवी' है। उसका ध्यान यह है—

उद्यद्भानुसहस्रकान्तिमरुणक्षौमां शिरोमालिकां
रक्तालिप्तपयोधरां जपवटीं विद्यामभीतिं वरम्।
हस्ताब्जैर्दधतीं त्रिनेत्रविलसद्वक्त्रारविन्दश्रियं
देवीं बद्धहिमांशुरत्नमुकुटां वन्देऽरविन्दस्थिताम्॥

(भैरवीतन्त्र)

उदित होते हुए सहस्रों सूर्योंके समान अरुण-कान्तिवाली, क्षौमाम्बरको धारण किये एवं मुण्डमाला पहने हैं। रक्तसे उनके पयोधर लिप्त हैं, तीन नेत्र एवं हिमांशुबद्ध मुकुटको धारण किये तथा हाथमें जपवटी, विद्या, वर एवं अभयमुद्राको धारण किये रहती हैं।

(७) धूमावती

विश्वकी अमांगल्यपूर्ण अवस्थाकी अधिष्ठात्रीशक्ति 'धूमावती' है। यह विधवा समझी जाती है, अतएव यहाँ पुरुषका वर्णन नहीं है। यहाँ पुरुष अव्यक्त है, चैतन्य, बोध आदि अत्यन्त तिरोहित होते हैं।

इसका ध्यान यह है—

विवर्णा चञ्चला दुष्टा दीर्घा च मलिनाम्बरा।
विमुक्तकुन्तला वै सा विधवा विरलद्विजा॥
काकध्वजरथारूढा विलम्बितपयोधरा।
शूर्पहस्तातिरूक्षाक्षा धूतहस्ता वरानना॥
प्रवृद्धघोणा तु भृशं कुटिला कुटिलेक्षणा।
क्षुत्पिपासार्दिता नित्यं भयदा कलहास्पदा॥

विवर्णा, चंचला, दुष्टा एवं दीर्घ तथा मलिन अम्बरवाली, खुले केशोंवाली, विरल दन्तवाली, विधवारूपमें रहनेवाली, काकध्वजवाले रथपर आरूढ़, लम्बे पयोधरवाली, हाथमें शूर्प लिये हुए, अत्यन्त रूक्ष नेत्रवाली, कम्पित हस्त, लम्बी नासिका, कुटिल स्वभाव, कुटिल नेत्रयुक्त, क्षुधा-पिपासासे पीड़ित, सदा भयप्रद और कलहकी निवासरूपिणी है।

(८) बगला

व्यष्टिमें शत्रुसंजिहीर्षा, समष्टिमें परमेश्वरकी संहारेच्छाकी अधिष्ठात्री शक्ति 'बगला' है। इसका ध्यान यह है—

जिह्वाग्रमादाय करेण देवीं वामेन शत्रून् परिपीडयन्तीम्।
गदाभिघातेन च दक्षिणेन पीताम्बराढ्यां द्विभुजां नमामि॥

अर्थात् शत्रुके हृदयपर आरूढ़, वामहस्तसे शत्रुजिह्वाको खींचकर दक्षिण हस्तसे गदाप्रहार करनेवाली, पीतवस्त्र धारण की हुई बगला है।

मध्ये सुधाब्धिमणिमण्डपरत्नवेदी
सिंहासनोपरिगतां परिपीतवर्णाम्।
पीताम्बराभरणमाल्यविभूषिताङ्गीं
देवीं नमामि धृतमुद्गरवैरिजिह्वाम्॥

अर्थात् सुधासमुद्रके मध्यस्थित मणिमय मण्डपमें रत्नमयी वेदी है, उसपर रत्नमय सिंहासन है। उसपर विराजमान पीतवर्णवाली और पीतवर्णके ही वस्त्र-भूषण, माल्यसे सुशोभित अंगवाली भगवती बगला है, जिसके एक हाथमें शत्रुकी जिह्वा और दूसरेमें मुद्गर है।

(९) मातङ्गी

मतंग शिवका नाम है, उसकी शक्ति मातंगी है। उसका ध्यान इस प्रकार है—

श्यामां शुभ्रांशुमालां त्रिनयनकमलां रत्नसिंहासनस्थां
भक्ताभीष्टप्रदात्रीं सुरनिकरकरासेव्यकञ्जाङ्घ्रियुग्माम्।
नीलाम्भोजांशुकान्तिं निशिचरनिकरारण्यदावाग्निरूपां
पाशं खड्गं चतुर्भिर्वरकमलकरैः खेटकञ्चाङ्कुशञ्च
मातङ्गीमाहवन्तीमभिमतफलदां मोदिनीं चिन्तयामि॥

(पञ्चचरणात्मकं पद्यम्)

अर्थात् श्यामवर्णा चन्द्रमाको मस्तकपर धारण किये हुए, तीन नेत्रोंवाली, रत्नमयसिंहासनपर विराजमान, नीलकमलके समान कान्तिवाली, राक्षसरूप अरण्यको दहन करनेमें दावानलरूपा, चार भुजाओंमें पाश-खड्ग-खेटक और अंकुशवाली, भक्तोंको अभीष्ट फल प्रदान करनेवाली, असुरोंको मोहित करनेवाली मातंगी है।

(१०) कमला

सदाशिव पुरुषकी शक्ति कमला है। उसका ध्यान इस प्रकार है—

कान्त्या काञ्चनसन्निभां हिमगिरिप्रख्यैश्चतुर्भिर्गजैः
हस्तोत्क्षिप्तहिरण्मयामृतघटैरासिच्यमानां श्रियम्।
बिभ्राणां वरमब्जयुग्ममभयं हस्तैः किरीटोज्ज्वलां
क्षौमाबद्धनितम्बबिम्बवलितां वन्देऽरविन्दस्थिताम्॥

अर्थात् सुवर्णतुल्य कान्तिमती, हिमालयके सदृश श्वेतवर्णवाले चार गजोंके द्वारा शुण्डसे गृहीत सुवर्णकलशोंसे स्नापित, चार भुजाओंमें वर अभय और कमलद्वय धारण किये हुए तथा उज्ज्वल किरीट धारण किये हुए और क्षौमवस्त्रसे आवृत कमला है।

स्वात्मा ही विश्वात्मिका ललिता है। विमर्श रक्तवर्ण है। उपाधिशून्य स्वात्मा महावामेश्वर है। उसके अंकमें विराजमान सदानन्दरूप उपाधिपूर्ण स्वात्मा ही महाशक्ति कामेश्वरी है। '**शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं, न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।**' निर्गुण पुरुषरूप शिव कामेश्वरीसे युक्त होकर विश्वनिर्माणादि कार्योंमें सफल हो सकता है, उसके बिना कूटस्थ देव टससे मस नहीं हो सकता। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव—इन्हींकी शक्तिराहित्य विवक्षासे महाप्रेत संज्ञा है। इनमें प्रथम चारमें कामेशीके पलंगके पाँवोंकी कल्पना है, सदाशिवमें फलककी कल्पना है, निर्विशेष ब्रह्मके आश्रित श्रीकामेश्वरीके श्रीहस्तमें पाश, अंकुश, इक्षु, धनुष और बाण हैं। राग ही पाश है, द्वेष ही अंकुश है, मन ही इक्षु-धनुष है, शब्दादि विषय पुष्पबाण हैं। कहीं इच्छाशक्तिको ही पाश, ज्ञानको ही अंकुश, क्रियाशक्तिको ही धनुष-बाण माना गया है—

इच्छाशक्तिमयं पाशमङ्कुशं ज्ञानरूपिणम्।
क्रियाशक्तिमये बाणधनुषी दधदुज्ज्वलम्॥

पूजारहस्य

नामरूपात्मक जगत्में सच्चिदानन्दकी भावना ही अम्बाको पाद्यसमर्पण है। सूक्ष्मजगत्में ब्रह्मभावना ही अर्घ्यसमर्पण है। भावनाओंमें ब्रह्मभावना ही आचमन है। सर्वत्र सत्त्वादिगुणोंमें चिदानन्दभावना ही स्नान है। चिद्रूपा कामेश्वरीमें वृत्त्यविषयताका चिन्तन करना ही प्रोक्षण है। निरञ्जनत्व, अजरत्व, अशोकत्व, अमृतत्व आदिकी भावना ही विविध आभूषणोंका अर्पण है। स्वशरीरघटक पार्थिवप्रपंचमें चिन्मात्रभावना ही गन्धसमर्पण है। आकाशमें चिन्मात्रत्वकी भावना करना पुष्पसमर्पण है। वायुकी चिन्मात्रभावना धूपसमर्पण है। तेजमें चिन्मात्रत्वकी भावना दीपसमर्पण है। अमृत-तत्त्वभावना नैवेद्यार्पण है। विश्वमें सच्चिदानन्दभावना ही ताम्बूलसमर्पण है। वाणियोंका ब्रह्ममें उपसंहार ही स्तुति है। वृत्तिविषयके जड़त्वका निराकरण ही आरार्त्तिक्य है। वृत्तियोंको ब्रह्ममें लय करना ही प्रणाम है।

पुरुषरूपिणी

'देव्यथर्वशीर्ष' में देवीने स्वयं अपनेको ब्रह्मरूपिणी कहा है और यह भी कहा है कि प्रकृतिपुरुषात्मक जगत् मुझसे आविर्भूत होता है—

अहं ब्रह्मस्वरूपिणी। मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगत्। शून्यं चाशून्यं च॥

एतावता जो कहते हैं कि प्रकृतिरूपिणी ही देवी है, उनका यह कहना ठीक नहीं। अपनी सर्वात्मताको दिखलाते हुए अपनेको ही आनन्द-अनानन्द, विज्ञान-अविज्ञान, ब्रह्म-अब्रह्म—सब कुछ बतलाया है। अजामें कहा है कि मैं ही सब जगत् हूँ—'**अहमखिलं जगत्॥**' वेद-अवेद, विद्या-अविद्या, अजा-अनजा सब कुछ भगवती ही हैं।

कालरात्रिं ब्रह्मस्तुतां वैष्णवीं स्कन्दमातरम्।
सरस्वतीमदितिं दक्षदुहितरं नमामः पावनां शिवाम्॥

—इस मन्त्रसे भगवतीके प्रसिद्ध अनेक रूपोंका वर्णन करके उसे ही '**एषात्मशक्तिः। एषा विश्वमोहिनी**' इत्यादि वचनोंसे आत्मशक्तिरूप भी कहा है। यहाँ आत्मशक्तिका आत्मरूपाशक्ति भी अर्थ किया जाता है। तभी '**य एवं वेद स शोकं तरति**' इस वचनसे इसके वेदनमें शोकोपलक्षित संसारका तरण कहा गया है। आगे चलकर कहा है—'**यस्याः स्वरूपं ब्रह्मादयो न जानन्ति तस्मादुच्यते अज्ञेया। यस्या अन्तो न लभ्यते तस्मादुच्यते अनन्ता।**''' **एकैव सर्वत्र वर्तते तस्मादुच्यते एका।**' अनन्ता, एका, अनेका सब कुछ है।

आचार्य भगवान् शंकरने भी भगवतीके सगुण-निर्गुण दोनों ही रूपोंको बड़े सुन्दर शब्दोंमें कहा है—'हे देवि! आपके निमेष-उन्मेषसे जगत्की उत्पत्ति और प्रलय होता है। सन्त लोग कहते हैं कि आपके निमेषसे जगत्का प्रलय हो जाता है, इसीलिये मालूम पड़ता है कि आप जगद्रक्षणके लिये ही निर्निमेष नयनोंसे भक्तोंको देखती हैं—

निमेषोन्मेषाभ्यां प्रलयमुदयं याति जगती
तवेत्याहुः सन्तो धरणिधरराजन्यतनये।
त्वदुन्मेषाज्जातं जगदिदमशेषं प्रलयतः
परित्रातुं शङ्के परिहृतनिमेषास्तव दृशः॥

(सौन्दर्यलहरी ५५)

शक्तिकी दृष्टिसे भी देखा जाय, तो शक्ति बिना सारा प्रपंच शवमात्र ठहरता है। अशक्त व्यक्ति, अशक्त समाज, अशक्त जाति, अशक्त देश भारभूत ही होता है, अतः शक्तिकी पूजा सर्वत्र स्वाभाविक है। संसारमें प्रत्येक पदार्थमें तत्तत्कार्य-सम्पादनकी शक्ति है, तभी उसका मूल्य है। अनन्तानन्तकार्योत्पादनानुकूल शक्तिसे सम्पन्न ही परमेश्वर होता है। न्यूनशक्तिसम्पन्न ईश्वर होता है। जितना-जितना शक्तिराहित्य होता है, उतना ही जीवत्व आता है। अधिकाधिक शक्तिसाहित्यमें ईश्वरत्व आता है। निर्गुण, निराकार, निर्विकार, कूटस्थ परब्रह्म अनन्त शक्तियोंकी केन्द्रभूता महाशक्तिसे संवलित होनेपर ही विश्वकी सृष्टि, पालन, संहार आदिमें समर्थ होते हैं। यदि शक्तिसंवलन न हो, तो शिव भी सृष्ट्यादिमें असमर्थ, अशक्त, शवमात्र रह जाता है, अतएव ईश्वरका ईश्वरत्व ही शक्तिमूलक है। जिसके सम्बन्धसे ही कूटस्थ चेतन ईश्वर बनता है, उसके महत्त्वको कौन कहे?

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।

(सौन्दर्यलहरी २)

आचार्य तो कहते हैं कि संसारमें बहुत लोग अनेक गुणोंसे युक्त सपर्णा (पत्तोंवाली) कल्पलताका बड़े आदरसे सेवन करते हैं, परंतु मेरी तो ऐसी बुद्धि होती है कि (बिना पत्तोंवाली बेल) एक अपर्णा पार्वतीका ही सेवन करना चाहिये; क्योंकि उसके संसर्गसे पुराना स्थाणु ठूँठ (पुराणपुरुषोत्तम कूटस्थ महादेव) भी कैवल्यरूप परमफल प्रदान करता है। सारांश यह कि सपर्णा कल्पलताके सेवनसे भी अपर्णा (पार्वती)-का सेवन बहुत अधिक चमत्कारपूर्ण है। कल्पलता बहुत फल प्रदान कर सकती है, परंतु वह मोक्ष देनेमें समर्थ नहीं। किंतु अपर्णाका स्वयं तो कहना ही क्या, उसके संसर्गसे पुराना ठूँठ (पुराणपुरुष

निष्क्रिय शंकर) भी मोक्षफल प्रदान कर देता है—

सपर्णामाकीर्णा कतिपयगुणैः सादरमिह
श्रयन्त्यन्ये वल्लीं मम तु मतिरेवं विलसति।
अपर्णैका सेव्या जगति सकलैर्यत्परिवृतः
पुराणोऽपि स्थाणुः फलति किल कैवल्यपदवीम्॥'

(आनन्दलहरी ७)

आगे चलकर आचार्य कहते हैं—भगवान् शंकरके पास तो वृद्ध वृषभकी सवारी, भाँग, धत्तूर आदि विषोंका खाना, दिशाका वसन, श्मशान क्रीड़ास्थान, भुजङ्गभूषण आदि जो सामग्रियाँ हैं, वह प्रसिद्ध ही है, फिर भी जो उनमें ऐश्वर्य है, वह केवल भगवतीके पाणिग्रहणका ही फल है। भगवतीके सौभाग्यसे ही शंकरका ऐश्वर्य है—

'भवानि त्वत्पाणिग्रहणपरिपाटीफलमिदम्॥'

इन उक्तियोंका यही अभिप्राय है कि शक्तिके बिना कूटस्थब्रह्म अकिंचित्कर है, उसमें ऐश्वर्य आदि कुछ भी नहीं रह सकता।

शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः।
यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः॥

—इत्यादि वचनोंसे अनन्त शक्तियोंका वर्णन है। शक्ति और शक्तिमान् दोनोंका ही अभेद्य सम्बन्ध रहता है। भक्त कहते हैं कि देवीकी महिमा अनन्त है, फिर भी जो वर्णन समाप्त किया जाता है, वह गुणोंके समाप्त हो जानेसे नहीं, किंतु असामर्थ्य या थकावटसे ही स्तुति समाप्त की जाती है।

'महिमानं यदुत्कीर्त्त्य तव संह्रियते वचः।
श्रमेण तदशक्त्या वा न गुणानामियत्तया॥'

प्राणियोंको अभीष्ट वस्तुओंमें रूप, जय, यश और शत्रुपराभव अभीष्ट होता है, यह सब निश्छलभावसे मातासे ही माँगा जाता है—माता ही देती है—

'रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विषो जहि॥'

इसीलिये सुरासुर सभी अपने मुकुट-किरीटके रत्नोंसे माताके चरणपीठका वन्दन करते हैं—

सुरासुरशिरोरत्ननिघृष्टचरणेऽम्बिके ।

कृष्णने भी भक्तिर्पूक उन्हींकी स्तुति की—

कृष्णेन संस्तुते देवि शश्वद्भक्त्या सदाम्बिके।

शाक्ताद्वैतकी दृष्टि यह है कि अनन्त विश्वका अधिष्ठानभूत शुद्धबोधस्वरूप प्रकाश ही शिवतत्त्व समझा जाता है। उस प्रकाशमें जो विमर्श है, वही शक्ति है। प्रकाशके साथ विचारात्मक शक्तिका अस्तित्व अनिवार्य है। बिना प्रकाशके विमर्श नहीं और बिना विमर्शके प्रकाश भी नहीं रहता। यद्यपि वेदान्तियोंकी दृष्टिमें बिना विमर्शके भी अनन्त, निर्विकल्प प्रकाश रहता है, परंतु शाक्तद्वैतियोंकी दृष्टिसे विमर्श हर समय रहता है। यहाँतक कि महावाक्यजन्य परब्रह्माकारवृत्तिके उत्पन्न हो जानेपर भी, आवरक अज्ञानके मिट जानेपर भी स्वयं वृत्तिरूप विमर्श बना ही रहता है। वेदान्ती इस वृत्तिको स्वपरविनाशक मानते हैं, परंतु शाक्ताद्वैती कहते हैं कि अपने-आपमें ही नाश्य-नाशकभाव सम्भव नहीं है। यदि उस वृत्तिके नाशके लिये दूसरी वृत्तिकी उत्पत्ति मानेंगे, तब तो उसके भी नाशके लिये अन्यवृत्ति माननी पड़ेगी, फिर अनवस्थाकी प्रसक्ति होगी। अविद्या स्वयं नष्ट होनेवाली है, अतः उससे भी उस वृत्तिरूपा विद्याका नाश नहीं कहा जा सकता। विरोध न होनेके कारण विद्याविद्याका सुन्दोपसुन्दन्यायसे भी परस्पर नाश्य-नाशकभाव नहीं कहा जा सकता। जो कहा जाता है, जैसे कतकरज जलके भीतर भी मिट्टीको नष्ट करके स्वयं नष्ट हो जाता है, वैसे ही विद्यारूपावृत्ति स्वातिरिक्त अविद्या तत्कार्यको नष्ट करके स्वयं भी नष्ट हो जाती है। परंतु दृष्टान्तमें कतकरजका नाश नहीं होता, किंतु इतर रजोंको साथ लेकर कतकरज पानीके नीचे बैठ जाती है, अतः यहाँ भी उक्त दृष्टान्तोंसे वृत्तिका नाश नहीं कहा जा सकता। यही स्थिति—

विषं विषान्तरं जरयति स्वयमपि जीर्यति,
पयः पयोऽन्तरं जरयति स्वयमपि जीर्यति।

—इत्यादि उक्तियोंकी भी है अर्थात् वहाँ भी विष या पय नष्ट नहीं होता, अपितु दूसरे पय या विषकी अजीर्णताको नष्ट करके अपने आप भी पच

जाता है। अतः इन दृष्टान्तोंसे भी वृत्तिका नाश नहीं कहा जा सकता। इसलिये वृत्तिरूप विद्यासे संलिष्ट होकर ही अनन्तप्रकाशस्वरूप शिव सदा विराजमान रहता है। इसी तरह यह भी विचार उठता है कि अविद्यानिवृत्ति क्या है? कोई वस्तु कहींसे निवृत्त होते हुए भी कहीं-न-कहीं रहती ही है।

यदि ध्वंसरूप निवृत्ति मानी जाय, तो भी अपने कारणमें उसकी स्थिति माननी पड़ेगी; क्योंकि घटादिका ध्वंस होनेपर भी अपने कारण कपाल, चूर्ण आदि कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी रूपमें उनकी स्थिति माननी ही पड़ती है। यही स्थिति लयरूपा निवृत्तिकी भी है। यदि निवृत्तिको सर्वथा निःस्वरूप कहें, तो उसके लिये प्रयत्न नहीं हो सकता। सही कहें, तब तो उसी रूपसे शक्तिकी स्थिति रह सकती है। अनिर्वचनीय कहें, तो उसको भी ज्ञाननिवर्त्यता कहनी पड़ेगी, अतएव कुछ आचार्योंने पंचम-प्रकारा अविद्या निवृत्ति मानी है तथा उस रूपसे भी विमर्शरूपा शक्तिका अस्तित्व रहता ही है। हाँ, उस समय अन्तर्मुख होकर शिवस्वरूपसे ही शक्ति स्थित रहती है—

'मुक्तावन्तर्मुखैव त्वं भुवनेश्वरि तिष्ठसि।'

(शक्तिदर्शन)

इसीलिये शक्तिको नित्य कहा जाता है—

नित्यैव सा जगद्धात्री। नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते,

—इस वचनसे वृत्तिरूप दृष्टिको नित्य समझा जाता है, परंतु वेदान्ती द्रष्टाकी स्वरूपभूता दृष्टिको नित्य कहते हैं। द्रष्टा और दृष्टिमें 'राहु और सिर' के सदृश अभेद मानते हैं अथवा 'आकाशकी सत्ता' के तुल्य द्रष्टाकी दृष्टिका व्यत्यास मानते हैं। वस्तुतः 'सत्का आकाश' के तुल्य दृष्टिका द्रष्टा मानकर अलुप्त दृष्टिमें द्रष्ट्रत्व दृश्यसापेक्ष मानते हैं।

शिवपरात्पर

विमर्श, प्रकाशशक्तिका शिवमें प्रवेश होनेसे बिन्दु, स्त्रीतत्त्व नादकी उत्पत्ति हुई। जब दूध-पानीकी तरह दोनों एक हो गये, तब संयुक्तबिन्दु हुए। वही अर्धनारीश्वर हुए। इनकी परस्पर आसक्ति ही काम है। श्वेतबिन्दु पुंस्त्वका, रक्तबिन्दु स्त्रीत्वका परिचायक है। तीनों जब मिलते हैं, तब कामकलाकी उत्पत्ति होती है। मूल बिन्दु, नाद और श्वेत तथा रक्तबिन्दु, इन चारोंके मिलनेसे सृष्टि होती है। किसीके मतमें नादके साथ अर्द्धकला भी हुई। कामकला देवीका संयुक्तबिन्दु वदन है, अग्नि और चन्द्र वक्षःस्थल है, अर्धकला जननेन्द्रिय है, 'अ' शिवका प्रतीक है, 'ह' शक्तिका प्रतीक है। यह त्रिपुरसुन्दरी 'अहं' से व्याप्त है। सम्पूर्ण सृष्टि व्यक्तित्व और अहंसे पूर्ण है। सहस्रारके चन्द्रगर्भसे स्रवित आसवका पानकर ज्ञानकृपाणसे काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि आसुर पशुओंको मारकर; वंचना, पिशुनता, ईर्ष्यारूपी मछलियोंको पकाकर; आशा, कामना, निन्दा, मुद्राको धारणकर, मेरुदण्डाश्रिता रमणियोंमें रमणकर सामरस्यकी प्राप्ति होती है। कुछ लोग पंचमकारका यही रहस्य बतलाते हैं।

शिवशक्तिसंयोग ही नाद है—

यदयमनुत्तरमूर्त्तिर्निजेच्छया विश्वमिदं स्रष्टुम्।
पस्पन्दे सस्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः॥

शिवसंश्लिष्ट शक्ति विश्वका बीज है। अहं प्रकाशमें शिव निश्चेष्ट, शक्ति सक्रिय रहती है, यही कालीकी विपरीत रति है। विमर्शात्मिका शक्ति जब शिवमें लीन होती है, तब उन्मना अवस्था होती है। उसके विकसित होनेपर समान अवस्था होती है।

सच्चिदानन्दविभवात्सङ्कल्पात्परमेश्वरात्।
आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद्बिन्दुसमुद्भवः॥

विभव सकलसे शक्ति, उससे नाद, उससे बिन्दुका प्राकट्य होता है। नादमें जो क्रियाशक्ति है, बिन्दुकी अहंनिमेषा है। सृष्टिकी अन्तिम अवस्था है 'इदं'। 'अहं' महाप्रलयकी पूर्वावस्था है और शक्तिकी उच्छूनावस्था घनीभाव है। ज्ञानप्रधाना शक्ति क्रियारूपेण रजःप्रधाना बिन्दुतत्त्वसे तमःप्रधाना रहती है। व्यवहारमें शक्तिमान्से शक्तिका आदर अधिक है। बुद्धि बिना बुद्धिमान्का, बल बिना बलवान्का, शिल्पशक्ति बिना शिल्पीका कुछ भी मूल्य नहीं रहता। मिठास बिना

मिश्रीका, सौगन्ध्य बिना पुष्पका, सौन्दर्य बिना सुन्दरीका, लज्जा बिना कुलांगनाका कुछ भी महत्त्व नहीं रह जाता। शाक्ताद्वैतदृष्टिसे शक्ति शिवस्वरूप ही है, सच्चिदानन्दमें चिद्भाव विमर्श है, सत्का भाव शिव है।

रुद्रहीनं विष्णुहीनं न वदन्ति जनाः किल।
शक्तिहीनं यथा सर्वे प्रवदन्ति नराधमम्॥

अर्थात् कोई भी प्राणी रुद्रहीन, विष्णुहीन होनेसे शोचनीय नहीं होता, अपितु शक्तिहीन होनेसे ही शोचनीय होता है।

'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।'

बलहीन प्राणीको अपनी आत्माका भी उपलम्भ नहीं हो सकता—

गिरामाहुर्देवीं द्रुहिणगृहिणीमागमविदो
हरेः पत्नीं पद्मां हरसहचरीमद्रितनयाम्।
तुरीया कापि त्वं दुरधिगमनिःसीममहिमा
महामाया विश्वं भ्रमयसि परब्रह्ममहिषि॥

(सौन्दर्यलहरी ९७)

परब्रह्ममहिषीरूपा भगवतीको आचार्योंने तुरीया चिच्छक्तिरूप ही बतलाया है।

शङ्करः पुरुषाः सर्वे स्त्रियः सर्वा महेश्वरी।
विषयी भगवानीशो विषयः परमेश्वरी॥
मन्ता स एव विश्वात्मा मन्तव्यं तु महेश्वरी।
आकाशः शङ्करो देवः पृथिवी शङ्करप्रिया॥

समुद्र-वेल, वृक्ष-लता, शब्द-अर्थ, पदार्थ-शक्ति, पुं-स्त्री, यज्ञ-इज्या, क्रिया-फलभुक्, गुण—व्यक्ति-व्यंजकतारूप, प्रथमनीति-जय बोध-बुद्धि, धर्म-सत्क्रिया, सन्तोष-तुष्टि, इच्छा-काम, यज्ञ-दक्षिणा, आज्याहुति-पुरोडाश, काष्ठा-निमेष, मुहूर्त-कला, ज्योत्स्ना-प्रदीप, रात्रि-दिन, ध्वज-पताका, तृष्णा-लोभ, रति-राग उपर्युक्त भेदोंसे उसी तत्त्वका अनेकधा प्राकट्य होता है। 'शक्ति' शब्दसे बहुतसे लोग केवल माया, अविद्या आदि बहिरंग शक्तियोंको ही समझते हैं। परंतु भगवान्की स्वरूपभूता आह्लादिनी शक्ति, जीवभूता पराप्रकृति आदि भी शक्ति शब्दसे व्यवहृत होते हैं। जैसे सिता, द्राक्षा, मधु आदिमें मधुरिमा उनका परमान्तरंग स्वरूप ही है, वैसे ही परमानन्द-रसामृतसार समुद्र भगवान्की परमान्तरंग-स्वरूपभूता शक्ति ही भगवती है—

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथा परा।
अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥

यहाँपर विष्णु और क्षेत्रज्ञको भी शक्ति ही कहा गया है। यद्यपि शक्तियाँ अनेक हैं तथापि आनन्दाश्रित आह्लादिनी, चेतनांशाश्रित संवित्, सदंशाश्रित सन्धिनीशक्ति होती है। क्षेत्रज्ञ तटस्थाशक्ति है, माया बहिरंगाशक्ति मानी जाती है। तत्त्वविद् लोग कहते हैं कि जैसे पुष्पका सौगन्ध्य सम्यक् रूपसे तब अनुभूत हो सकता है, जब पुष्पकी घ्राणशक्ति हो। अन्य लोगोंको तो व्यवधानके साथ किंचिन्मात्र ही गन्धका अनुभव होता है। उसी तरह भगवतीके सुन्दर स्वरूपका सम्यक् अनुभव परम शिवको ही प्राप्त होता है; वह अन्य दृष्टिका विषय ही नहीं—

घृतक्षीरद्राक्षामधुमधुरिमा कैरपि पदै-
र्विशिष्यानाख्येयो भवति रसनामात्रविषयः।
तथा ते सौन्दर्यं परमशिवदृङ्मात्रविषयः
कथङ्कारं ब्रूमः सकलनिगमागोचरगुणे॥

(सौन्दर्यलहरी २)

अर्थात् वस्तुतः निर्गुणा, सत्या, सनातनी, सर्वस्वरूपा भगवती ही भक्तानुग्रहार्थ सगुण होकर प्रकट होती हैं। वैसे तो भगवतीके अनन्त स्वरूप हैं, पर विशेषतः शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघण्टा, कूष्माण्डा, स्कन्दमाता, कात्यायनी, कालरात्री, महागौरी और सिद्धिदात्री—ये नौ स्वरूप प्रधान है—

कार्यार्थे सगुणा त्वं च वस्तुतो निर्गुणा स्वयम्।
परब्रह्मस्वरूपा त्वं सत्या नित्या सनातनी॥
सर्वस्वरूपा सर्वेशी सर्वाधारा परात्परा।
सर्वबीजस्वरूपा च सर्वमूला निराश्रया॥
सर्वज्ञा सर्वतोभद्रा सर्वमङ्गलमङ्गला।

वैसे तो अनन्त शक्तियाँ हैं, फिर भी इनके अतिरिक्त और भी कुछ प्रधान शक्तियाँ हैं, जो पूज्य हैं। व्यवहार और परमार्थमें उनका परम उद्योग है।

निर्वृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति, इंधिका, दीपिका, रोचिका, मोचिका, परा, सूक्ष्मा, सूक्ष्मामृता, ज्ञानामृता, अमृता, आप्यायिनी, व्यापिनी, व्योमरूपा, तीक्ष्णा, अनन्ता, सृष्टि, ऋद्धि, स्मृति, मेधा, कान्ति, लक्ष्मी, द्युति, स्थिति, सिद्धि, जड़ा, पालिनी, शान्ति, ऐश्वर्या, रति, कामिका, वरदा, आह्लादिनी, प्रीति, दीर्घा, रौद्री, निद्रा, तन्द्रा, क्षुधा, क्रोधिनी, पुष्टि, तुष्टि, धृति, चन्द्रिका आदि सृष्टि चिद्घनमहासमुद्रकी अनन्त शक्तिस्वामिनी ही भगवती हैं।

'अगस्त्यसंहिता' के वचनानुसार भगवान् शिवने श्रीरामका प्रत्यक्ष साक्षात् करनेके लिये बड़ी तपस्या और आराधना की। भगवान् रामने प्रसन्न होकर कहा कि यदि मेरा तत्त्व जानना चाहते हो तो मेरी आह्लादिनी पराशक्तिकी आराधना करो, उसके बिना मेरी स्थिति नहीं होती—

आह्लादिनीं परां शक्तिं स्तूयाः सात्वतसम्मताम्।
सदाराध्यस्तदा रामस्तदधीनस्तया विना।
तिष्ठामि न क्षणं शम्भो जीवनं परमं मम॥

यह सुनकर श्रीशिवजीने भगवतीकी आराधना की। भगवतीने कृपाकर उन्हें दर्शन दिया। उनके अद्भुत रूपको देखकर उन्होंने अति भक्तिसे दिव्य स्तुति की—

वन्दे विदेहतनयापदपुण्डरीकं
कैशोरसौरभसमाहृतयोगिचित्तम्।
हन्तुं त्रितापमनिशं मुनिहंससेव्यं
मन्मानसालिपरिपीतपरागपुञ्जम्॥

करुणा तो शिव, विष्णु आदि सभी देवोंमें होती है, परंतु परमकल्याणमयी, करुणामयी तो श्रीअम्बा ही हैं। कुपुत्रपर भी अम्बाकी करुणा ही रहती है—

'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति॥'

शत्रुसे निष्ठुरतापूर्वक युद्ध करते हुए भी माँके हृदयमें शत्रुओंपर भी कृपा रहती है। उनको बाणोंसे पवित्र करके दिव्यलोकमें भेजती है। वास्तवमें सब माँके पुत्र हैं, शत्रु कौन है?—

'चित्ते कृपा समरनिष्ठुरता च दृष्टा।'

अत्याचारी रावणको भी माँ सीताने कल्याणार्थ प्रभुशरणागतिका ही उपदेश किया है। अत्याचारीके अत्याचारपर ध्यान न देकर उसको सत्यपथपर ही लानेका प्रयत्न माँकी ओरसे होना उचित है। माँने अपने तपसे हनुमान्के लिये अग्निको शीत कर दिया— **'शीतो भव हनूमतः।'** जो अग्निको शीत कर सकती है, वह रावणको क्या भस्म नहीं कर सकती है? अवश्य कर सकती है। परंतु उसने स्वयं कहा है—

असन्देशात्तु रामस्य तपसश्चानुपालनात्।
न त्वां कुर्मि दशग्रीव भस्म भस्मार्हतेजसा॥

माता कहती है—श्रीरामका सन्देश न होनेसे, तपस्यानाशके भयसे हे दशग्रीव, मैं अपने उग्र तेजसे तुझे भस्म नहीं करती हूँ। वही परम दयामयी है।

लंका-विजयके पश्चात् हनुमान्ने श्रीजानकीको विजयका शुभ सन्देश सुनाया और माताको सतानेवाली राक्षसियोंको दण्ड देनेकी आज्ञा चाही, परंतु माँने कहा—**'कार्यं कारुण्यमार्येण न कश्चिन्नापराध्यति।'** बेटा, सज्जनोंको करुणा करनी चाहिये, अपराध तो सबसे ही होता रहता है। जब ये रावणके वशमें थीं, तब सताती थीं। अब यह सब कुछ नहीं सता रही हैं, फिर भी इनपर कृपा करनी चाहिये—

मातर्मैथिलि राक्षसीस्त्वयि तदैवार्द्रापराधास्त्वया
रक्षन्त्या पवनात्मजाल्लघुतरा रामस्य गोष्ठी कृता।
काकं तञ्च विभीषणं शरणमित्युक्ति क्षमौ रक्षतः
सा नः सान्द्रमहागसः सुखयतु क्षान्तिस्तवाकस्मिकी॥

कोई भक्त कहता है—हे माता, आपने सदा अपराधवाली राक्षसियोंकी हनुमान्से रक्षा करके श्रीरामगोष्ठी छोटी कर दी, क्योंकि उन्होंने तो जयन्त और विभीषणकी रक्षा शरणागत होनेपर की थी, परंतु आपने तो शरण होनेकी अपेक्षा किये बिना ही उनका रक्षण किया—

पितेव त्वत्प्रेयाञ्जननि परिपूर्णागसि जने
हितस्रोतोवृत्त्या भवति च कदाचित्कलुषधीः।
किमेतन्निर्दोषः क इह जगतीति त्वमुचितै-
रुपायैर्विस्मार्य स्वजनयसि माता तदसि नः॥

भगवान् भी जब जीवपर कभी नाराज होते हैं, तब माता उन्हें उन जीवोंके अनुकूल करती हैं। भक्त

माँसे कहता है—हे माँ! जब आपके स्वामी भगवान् जीवोंपर हित-बुद्ध्या कुपित होते हैं, तब आप 'यह क्या? संसारमें निर्दोष कौन है?' ऐसा कहकर समुचित उपायोंसे पिताको अनुकूल बनाती हैं, इसीलिये कि आप ही सच्ची माँ हो।

नित्यं विश्वं वशयति हरिर्निग्रहानुग्रहाभ्या-

माद्ये शक्तिं विघटयति ते हन्त कारुण्यपूरः।

भगवान् श्रीहरि जगत्को अपने वशमें रखते हैं; परंतु आपकी करुणा हरिकी निग्रहादि शक्तियोंको भी स्वाधीन रखती है। भगवती ही सबसे अन्तर और महत्त्वपूर्ण हैं, इसीलिये भक्त कहते हैं—

त्वय्येवाश्रयते दया रघुपते देवस्य सत्यं यतो

वैदेहि त्वदसन्निधौ भगवता वाली निरामाहतः।

नित्ये कापि वधूर्वधं तव तु सान्निध्ये त्वदङ्गव्यथा

कुर्वाणोऽप्यभितः पतन्नशरणः काको विवेकोज्झितः॥

हे वैदेहि! आपके सान्निध्यमें ही रघुनाथजीकी दया व्यक्त होती है, आपका सन्निधान न रहनेसे निरपराध बाली मारा गया और ताड़का मारी गयी। परंतु आपका सान्निध्य रहनेपर तो आपके अंगमें व्यथा पहुँचानेवाला जयन्त भी अशरण होकर गिरते हुए बचा लिया गया। भक्त माँ लक्ष्मीसे कहता है—

गौरश्चकास्ति हृदयेषु शरीरभाजां

तस्यापि देवि हृदयं त्वमनु प्रविष्टा।

पद्मे तवापि हृदये प्रथते दयेयं

त्वामेव जाग्रदखिलातिशयां श्रयामः॥

सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें भगवान् कृष्ण विराजमान हैं। हे माँ! उनके हृदयमें भी आप प्रविष्ट हैं और आपके हृदयमें भी दया विराजमान है, अतः आप ही अखिलातिशया हैं, हम आपका ही आश्रयण करते हैं। इन बातोंसे भली-भाँति सिद्ध हो जाता है कि ब्रह्म, परमात्मा, शक्ति, गौरी, लक्ष्मी, सीता, राधा, करुणा, दया आदि रूपसे भगवतीकी ही आराधना होती है। ब्रह्मविद्याकी महिमा सर्वत्र स्फुट है, उसके बिना प्राणियोंकी अन्तरात्मा होनेपर भी, परमानन्दरूप होनेपर भी अकिंचित्कर-सा बना रहता है। जो प्राणी ब्रह्मविद्या बिना कीटादि-सा नगण्य जन्तु बना रहता है, वही ब्रह्मविद्याकी कृपासे ब्रह्म हो जाता है। वह भी भगवती ही हैं। भक्तिकी भी महिमा प्रख्यात है। भक्तिके ही सम्बन्धसे भक्त भगवान्को अपने वशमें कर लेता है। वह भक्ति भी भगवती ही हैं। शक्ति, भक्ति ब्रह्मविद्याके अतिरिक्त परमानन्दसुधासमुद्र परब्रह्मकी मधुरिमा भी भगवती ही हैं।

भावुकोंकी भावना है कि आनन्दरससारसरोवर-समुद्भूतपंकज व्रज है, पंकजका केसर व्रजांगनाएँ हैं, मकरन्द कृष्ण हैं, मकरन्दका माधुर्य, मिठास, सौगन्ध्य आदि राधिका हैं। यही दृष्टि सीता, गौरी आदिमें समझनी चाहिये। इस दृष्टिसे भगवतीका स्वरूप ही सर्वान्तरंग और सर्वोत्कृष्ट रहता है।

ब्रह्मजाया

अनेक स्थानोंमें भगवतीको परमात्माकी भोगदा भार्या बतलाया गया है—

निर्गुणः परमात्मा तु त्वदाश्रयतया स्थितः।

तस्य भट्टारिकासि त्वं भुवनेश्वरि भोगदा॥

निर्गुण परमात्मा ही भगवतीके आश्रयरूपसे स्थित हैं, भगवती उसकी भोगदा भट्टारिका हैं, अतएव वही भुवनेश्वरी हैं। जीव, ईश्वर आदि अन्यान्य सभी वस्तुएँ भगवतीकी ही सन्तान हैं—

'मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ।'

(शक्तिसत्त्वदर्शिनी)

जैसे वह्नि और उसकी दाहिका शक्तिका नित्य तादात्म्य सम्बन्ध है, वैसे ही परमात्मा और उसकी शक्तिका तादात्म्य सम्बन्ध है—

'तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहकयोरिव।'

भगवतीकी ब्रह्मरूपता

केवल शक्तिरूपसे ही नहीं, किंतु ब्रह्मरूपसे भी अनेक स्थलोंमें उसीका प्रतिपादन मिलता है।

अचिन्त्यामिताकारशक्तिस्वरूपा

प्रतिव्यक्त्यधिष्ठानसत्तैकमूर्तिः।

गुणातीतनिर्द्वन्द्वबोधैकगम्या

त्वमेका परब्रह्मरूपेण……॥

अचिन्त्य अमित आकारोंकी मूलभूता सत्तास्वरूपा भी वही है, वही गुणातीत है। निर्विकल्पबोधसे ही स्वप्रकाशरूपेण भगवतीकी अवगति होती है, अतएव अद्वितीय परब्रह्मस्वरूपसे भगवती नित्य ही प्रसिद्ध हैं।

'केनोपनिषद्' में ब्रह्मविद्यारूप भगवतीका वर्णन मिलता है, उसीकी कृपासे इन्द्र आदिकोंको ब्रह्मस्वरूपका बोध हुआ था। जब इन्द्रके सामनेसे ब्रह्मका अन्तर्धान हो गया, तब इन्द्र लज्जित होकर उसी आकाशमें खड़े रह गये और तपस्या करने लगे। बहुत दिनोंकी तपस्यासे सन्तुष्ट होकर भगवती इन्द्रके सामने प्रकट हुईं—

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीम्।

इन्द्रने उसी आकाशमें बहुशोभमाना हैम अलंकारोंसे युक्त ब्रह्मविद्यारूपा भगवतीको देखा और उनकी कृपासे ब्रह्मको जाना।

शक्तिके उपासकोंका तो सर्वस्व शक्ति है ही, परंतु तत्तद्देवताओंके उपासकोंको भी शक्तिकी आराधना करनी पड़ती है। यहाँतक कि शक्तिकी उपासनाके बिना उन-उन देवताओंकी प्राप्ति ही नहीं होती। सम्मोहनतन्त्रमें तो स्पष्ट ही यह उक्ति है कि गौरतेज राधिकाकी उपासना किये बिना, जो केवल श्यामतेज कृष्णकी आराधना करता है, वह पातकी होता है—

गौरतेजो विना यस्तु श्यामतेजः समर्चयेत्।
जपेद्वा ध्यायते वापि स भवेत्पातकी शिवे॥

(गोपालसहस्रनाम १७)

गायत्री-तत्त्व

किसी गायत्रीनिष्ठ सज्जनका प्रश्न है कि 'गायत्री-मन्त्रका वास्तविक अर्थ क्या है ? गायत्री-मन्त्रके द्वारा किस स्वरूपसे किस देवताका ध्यान किया जाय ? कोई गौरूपा गायत्रीका, कोई आदित्यमण्डलस्था श्वेत-पद्मस्थिता किसी देवीका ध्यान करना बतलाते हैं, कोई ब्रह्माणी, रुद्राणी, नारायणीका ध्यान उचित समझते हैं, कहीं पंचमुखी गायत्रीका ध्यान बतलाया गया है, तो कोई राधा-कृष्णका ध्यान समुचित मानते हैं। ऐसी स्थितिमें बुद्धिमें भ्रम होता है कि गायत्री-मन्त्रका मुख्य अर्थ और ध्येय क्या है ?' इस सम्बन्धमें यद्यपि शास्त्रोंमें बहुत कुछ विवेचन है तथापि यहाँ संक्षेपमें कुछ लिखा जाता है—

बृहदारण्यक० (५।१४)-में '**भूमिरन्तरिक्षं द्यौः**' इन आठ अक्षरोंको गायत्रीका प्रथम पाद कहा है, '**ऋचो यजूंषि सामानि**' इन आठ अक्षरोंको गायत्रीका द्वितीय पाद कहा गया है, '**प्राणोऽपानो व्यानः**' इन आठ अक्षरोंको गायत्रीका तीसरा पाद माना गया है। इस तरह लोकात्मा, वेदात्मा एवं प्राणात्मा—ये तीनों ही गायत्रीके तीन पाद हैं। परब्रह्म परमात्मा ही चतुर्थ पाद हैं।

'**भूमिरन्तरिक्षम्**' इत्यादि श्रुतियोंपर व्याख्या करते हुए आचार्य शंकर कहते हैं कि सम्पूर्ण छन्दोंमें गायत्री-छन्द प्रधान है; क्योंकि वही छन्दोंके प्रयोक्ता **गयाख्य** प्राणोंका रक्षक है। सम्पूर्ण छन्दोंका आत्मा प्राण है, प्राणका आत्मा गायत्री है। क्षतसे रक्षक होनेके कारण प्राण क्षात्र है, प्राणोंका रक्षण करनेवाली गायत्री है। द्विजोत्तम जन्मका हेतु भी गायत्री ही है। गायत्रीके तीनों पादोंकी उपासना करनेवालोंको लोकात्मा, वेदात्मा और प्राणात्माके सम्पूर्ण विषय उपनत होते हैं। गायत्रीका चतुर्थ पाद ही 'तुरीय' शब्दसे कहा जाता है। जो रजोजात सम्पूर्ण लोकोंको प्रकाशित करता है, वह सूर्यमण्डलान्तर्गत पुरुष है। जैसे वह पुरुष सर्वलोकाधिपत्यकी श्री एवं यशसे तपता है, वैसे ही तुरीयपादवन्दिता श्री और यशसे दीप्त होता है।

गायत्री सम्पूर्ण वेदोंकी जननी है। जो गायत्रीका अभिप्राय है, वही सम्पूर्ण वेदोंका अर्थ है। विश्व-तैजस-प्राज्ञ, विराट्-हिरण्यगर्भ, अव्याकृत, व्यष्टि-समष्टि जगत् तथा उसकी जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—यह

तीनों अवस्थाएँ प्रणवकी अ, उ, म् इन तीनों मात्राओंके अर्थ हैं। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, उत्पादक, पालक, संहारक सर्वेश्वर प्रणवका वाच्यार्थ है। सर्वरहित सर्वाधिष्ठान सच्चिदानन्द परब्रह्म प्रणवका लक्ष्यार्थ है। उत्पादक, पालक, संहारक त्रिविध लोकात्मा भगवान् तीनों व्याहृतियोंके अर्थ हैं। जगदुत्पत्ति-स्थिति-संहार-कारण परब्रह्म ही 'सवितृ' शब्दका अर्थ है। तथापि गायत्रीद्वारा विश्वोत्पादक, स्वप्रकाश परमात्माके उस रमणीय चिन्मय तेजका ध्यान किया जाता है, जो समस्त बुद्धियोंका प्रेरक एवं साक्षी है।

विश्वोत्पादक परमात्माके वरेण्य भर्गको बुद्धिप्रेरक एवं बुद्धिसाक्षी कहनेसे जीवात्मा और परमात्माका अभेद परिलक्षित होता है, अत: साधनचतुष्टयसम्पन्न उत्तमाधिकारीके लिये प्रत्यक्चैतन्याभिन्न, निर्गुण, निराकार, निर्विकार परब्रह्मका ही चिन्तन गायत्री-मन्त्रके द्वारा किया जाता है। अनन्त कल्याणगुण-गणसम्पन्न, सगुण, निराकार, परमेश्वरकी उपासना गायत्रीके द्वारा हो सकती है। सगुण, साकार, सच्चिदानन्द परब्रह्मका ध्यान गायत्रीके द्वारा किया जा सकता है। प्राणिप्रसवार्थक 'सूङ्' धातुसे 'सवितृ' शब्दकी निष्पत्ति होती है।

यहाँ उत्पत्तिको उपलक्षण मानकर उत्पत्ति, स्थिति एवं लयका कारण परब्रह्म ही 'सवितृ' शब्दका अर्थ है। इस दृष्टिसे उत्पादक, पालक, संहारक जो भी देवता प्रमाणसिद्ध हैं, वे सभी गायत्रीके अर्थ हैं। उत्पादक, पालक, संहारक—ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र तथा उनकी स्वरूपभूत तीनों शक्तियोंका ध्यान किया जाता है।

त्रिपदा गायत्री

त्रैलोक्य, त्रैविद्य तथा प्राण जिस गायत्रीके स्वरूप हैं, वह त्रिपदा गायत्री परोरजा आदित्यमें प्रतिष्ठित है; क्योंकि आदित्य तो मूर्त-अमूर्त दोनोंका ही रस है। इसके बिना सब शुष्क हो जाते हैं, अत: त्रिपदा गायत्री आदित्यमें प्रतिष्ठित है। **'आदित्यः चक्षुः'**—स्वरूप सत्तामें प्रतिष्ठित है। वह सत्ता बल अर्थात् प्राणमें प्रतिष्ठित है, अत: सर्वाश्रयभूत प्राण ही परमोत्कृष्ट है। गायत्री अध्यात्म प्राणमें प्रतिष्ठित है। जिस प्राणमें सम्पूर्ण देव, वेद, कर्मफल एक हो जाते हैं, वही प्राण-स्वरूपा गायत्री सबकी आत्मा है। शब्दकारी वागादि प्राण **'गय'** हैं, उनका त्राण करनेवाली गायत्री है। आचार्य अष्टवर्षके बालकको उपनीत करके जब गायत्री प्रदान करता है, तब जगदात्मा प्राण ही उसके लिये समर्पित करता है। जिस माणवकको आचार्य गायत्रीका उपदेश करता है, उसके प्राणोंका त्राण करता है, नरकादि पतनसे बचा लेता है।

गायत्रीके प्रथम पादको जाननेवाला यति यदि धनपूर्ण तीनों लोकोंका दान ले, तो भी उसे कोई दोष नहीं लगता। जो द्वितीय पादको जानता है, वह जितनेमें त्रयी विद्यारूप सूर्य तपता है, उन सब लोकोंको प्राप्त कर सकता है। तीसरे पादको जाननेवाला सम्पूर्ण प्राणिवर्गको प्राप्त कर सकता है। सारांश यह है कि यदि पादत्रयके समान भी कोई दाता-प्रतिग्रहीता हो, तब भी गायत्रीविद्को प्रतिग्रहदोष नहीं लगता, फिर चतुर्थ पादके वेदिताके लिये तो ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है, जो उसके ज्ञानका फल कहा जा सके। वस्तुत: त्रिपाद-विज्ञानका भी प्रतिग्रहसे अधिक ही फल होता है, क्योंकि इतना प्रतिग्रह कौन ले सकता है? गायत्रीके उपस्थान-मन्त्रमें कहा गया है कि हे गायत्रि! आप त्रैलोक्यरूप पादसे एकपदी हो, त्रयी विद्यारूप पादसे द्विपदी हो, प्राणादि तृतीय पादसे त्रिपदी हो, चतुर्थ तुरीय पादसे चतुष्पदी हो।

इस तरह चार पादोंसे युक्त मन्त्रोंद्वारा आपकी उपासना होती है। इसके बाद अपने निरुपाधिक आत्मास्वरूपसे अपद हो, **'नेति-नेति'** इत्यादि निषेधोंसे वह सर्वनिषेधोंका अवधिरूपसे बोधित सम्पूर्ण व्यवहारोंका अगोचर है, अत: प्रत्यक्ष परोरजा आपके

तुरीय पादको हम प्रणाम करते हैं। आपकी प्राप्तिमें विघ्नकारी पापी, आपकी प्राप्तिमें विघ्नसम्पादन-लक्षण अपने अभीष्टको प्राप्त न करें, इस अभिप्रायसे अथवा जिससे द्वेष हो, उसके प्रति भी अमुक व्यक्ति अमुक अभिप्रेत फलको प्राप्त न करें, मैं अमुक फल पाऊँ, ऐसी भावनासे वह मिल जाता है। गायत्रीका अग्नि ही मुख है। अग्निमुखको न जाननेसे ही एक गायत्रीविद् हाथी बनकर जनकका वाहन बना था। जैसे अग्निमें अधिक-से-अधिक ईंधन समाप्त हो जाता है, वैसे ही अग्निमुख गायत्रीके ज्ञानसे सब पाप समाप्त हो जाते हैं।

'छान्दोग्योपनिषद्' में कहा गया है कि यह सम्पूर्ण चराचर भूत-प्रपंच गायत्री ही है। किस तरह सब कुछ गायत्री है, इसपर कहा गया है कि वाक् ही गायत्री है, वाक् ही समस्त भूतोंका गान एवं रक्षण करती है। **'मा भैषीः'** इत्यादि वचनोंसे वाक्-द्वारा ही भयकी निवृत्ति होती है। गायत्रीको पृथ्वीरूप मानकर उसमें सम्पूर्ण भूतोंकी स्थिति मानी गयी है, क्योंकि स्थावर-जंगम सभी प्राणिवर्ग पृथ्वीमें ही रहते हैं, कोई भी उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता। पृथ्वीको शरीररूप मानकर उसमें सम्पूर्ण प्राणोंकी स्थिति मानी गयी है। शरीरको हृदयका रूप मानकर उसमें सम्पूर्ण प्राणोंकी प्रतिष्ठा कही गयी है। इस तरह चतुष्पाद गायत्रीका वाक्, भूत, पृथ्वी, शरीर, हृदय, प्राणरूपा षड्विधा वर्णन है। पुनश्च, सम्पूर्ण विश्वको एकपादमात्र कहकर अन्तमें त्रिपाद ब्रह्मको पृथक् कहा है। इसके अतिरिक्त पूर्वकथनानुसार गायत्री-मन्त्रके द्वारा सगुण, निर्गुण, साकार, निराकार—किसी भी ब्रह्मस्वरूपकी उपासना की जा सकती है।

उत्पत्तिशक्ति ब्रह्माणी, पालिनीशक्ति नारायणी, संहारिणीशक्ति रुद्राणीका ध्यान गायत्री-मन्त्रके द्वारा सुतरां हो सकता है। राम, कृष्ण, विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य, गणेश आदि जिन-जिनमें विश्वकारणता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता प्रमाणसिद्ध है, वे सभी परमेश्वर हैं, सभी गायत्री-मन्त्रके अर्थ हैं।

इस दृष्टिसे अपने इष्ट देवताका ध्यान गायत्री-मन्त्रद्वारा सर्वथा उपयुक्त है। 'सविता' शब्द सूर्यके सम्बन्धमें विशेष प्रसिद्ध है, अतः उसीकी सारशक्ति सावित्रीको आदित्यमण्डलस्थ भी कहा गया है। महर्षि कण्वने अमृतमय दुग्धसे महीको पूर्ण करती हुई गोरूपसे गायत्रीका अनुभव किया था—

तां सवितुर्वरेण्यस्य चित्रामहं वृणे सुमतिं विश्वजन्याम्।
यामस्य कण्वो अदुहत् प्रपीनां सहस्रधारो पयस्त महीं गाम्॥

विश्वमाता, सुमतिरूपा वरेण्य सविताकी गर्भस्वरूपा गायत्रीका मैं वरण करता हूँ, जिसको कण्वने हजारों पयोधारासे महीमण्डलको पूर्ण करते हुए देखा। मोती, मूँगा, सुवर्ण, नील, धवलकान्तिवाले पाँच मुखों, तीन-तीन नेत्रोंसे युक्त, इन्दु-निबद्ध रत्नोंके मुकुटोंको धारण किये, वरद, अभय, अंकुश, कशा, शुभ्र कपाल, गुण, शंख, चक्र, अरविन्द-युगल दोनों ही तरफके हाथोंमें लिये हुए भगवतीका ध्यान करना चाहिये। पंचतत्त्वों एवं पंच देवताओंकी सारभूत महाशक्ति एकत्रित होकर पंचमुखी भगवतीके रूपमें प्रकट है।

मुक्ताविद्रुमहेमनीलधवलच्छायैर्मुखैस्त्रीक्षणै-
र्युक्तामिन्दुनिबद्धरत्नमुकुटां तत्त्वार्थवर्णात्मिकाम्।
गायत्रीं वरदाभयाङ्कुशकशाः शुभ्रं कपालं गुणं
शङ्खं चक्रमथारविन्दयुगलं हस्तैर्वहन्तीं भजे॥

(श्रीमद्देवीभागवत १२।३।१०)

इस स्वरूपके ध्यानमें सगुण-निर्गुण दोनों ही ब्रह्मरूप आ जाते हैं। दिव्यकमलपर विराजमान, मनोहर भूषण अलंकारोंसे विभूषित, सुसज्जित उपर्युक्त स्वरूपका ध्यान करना चाहिये। गायत्री-मन्त्रका जप चाहे किसी स्थान, समय एवं स्थितिमें नहीं किया जा सकता। इसके लिये पवित्र देश-काल तथा पात्रकी अपेक्षा है, तभी वह त्राण कर सकती है।

शक्तिका स्वरूप

श्रीभगवतीने देवीभागवतका संक्षेपमें श्रीविष्णुके लिये उपदेश किया है—

'सर्वं खल्विदमेवाहं नान्यदस्ति सनातनम्।'

अर्थात् यह सब कुछ सनातन मैं ही हूँ। मेरेसे भिन्न कोई तत्त्व नहीं है। वेदान्तवेद्य परमतत्त्व ही शिव तथा स्कन्दपुराणके शिवतत्त्व, रामायणके राम, श्रीविष्णुपुराणके विष्णु एवं वही सूर्य, शक्ति आदिरूपसे प्रकट होता है। श्रीहिमालयपर कृपा करके करुणामयी, कल्याणमयी अम्बाने ही अपने दिव्यस्वरूपका उपदेश दिया है—

'अहमेवास पूर्वं तु नान्यत्किञ्चिन्नगाधिप।'

नगाधिप! मैं ही एक सब कुछ हूँ। मेरा अनन्त अखण्ड ब्राह्मरूप अप्रतर्क्य एवं अनिर्देश्य है, अनौपम्य और अनामय है। उसी सर्वाधिष्ठान, स्वप्रकाश परब्रह्मकी एक स्वत:सिद्धा शक्ति है, वही माया नामसे प्रख्यात है। जैसे मृत्तिकामें घटोत्पादिनी शक्ति और वह्निमें दाहिकाशक्ति होती है, वैसे ही ब्रह्ममें अनन्तकोटिब्रह्माण्डोत्पादिनी शक्ति है। वही निखिल विश्वकी जननी है। इस पक्षमें जगत् भ्रान्तिमय या अध्यस्त कैसे है, प्रपंचकी स्वरूपसत्ता न होनेसे आरोप्यानुभवसे आदिम संस्कार नहीं बन सकेगा, फिर भ्रान्ति या अध्यास कैसे सम्भव होगा—इत्यादि शंकाओंको स्थान ही नहीं रहता; क्योंकि शक्तिद्वारा ब्रह्मकी ही प्रपंचरूपसे अभिव्यक्ति हो जायगी, फिर अद्वैत सिद्धान्तमें कोई विरोध नहीं होगा। कारण कि पारमार्थिक सद्रूप परमात्मा ही अद्वितीय है। प्रपंच और उसकी जननी शक्ति तो सत्, असत् और सदसद्, इन तीनोंसे विलक्षण है। अतएव अनिर्वचनीया है। जैसे वह्निशक्ति वह्निसे विलक्षण है, वैसे ही सत्की शक्ति सत्से विलक्षण है। अतएव अनिर्वचनीय है—

न सती सा नासती सा नोभयात्मविरोधत:।
एतद्विलक्षणा काचिद् वस्तुसत्तास्ति सर्वदा॥

ब्रह्मज्ञानद्वारा इसका बाध हो जाता है। इसलिये ब्रह्मकी तरह वह नित्य सत् नहीं है, परंतु उसीके कार्यभूत प्रपंचसे समस्त व्यवहार बनता है, इसलिये ब्रह्मकी तरह वह असत् भी नहीं और परस्पर विरोध होनेके कारण दोनोंकी स्थिति असम्भव है, अत: सदसद् उभय स्वरूप भी नहीं है। अनिर्वचनीय वस्तुरूप मायाशक्ति मोक्षपर्यन्त विद्यमान रहती है। जैसे पावकमें उष्णता, सूर्यमें किरण और चन्द्रमामें चन्द्रिका है, वैसे ही ब्रह्मात्मिका चिच्छक्तिरूपा भगवतीमें सहजसिद्धा मायाशक्ति है। सुषुप्तिमें जैसे समस्त जीवोंके व्यवहार विलीन रहते हैं, वैसे ही प्रलयकालमें समस्त जीव और उनके कर्म मायामें विलीन रहते हैं। पृथिव्यादि समस्त प्रपंच अभेदभावसे उसी मायामें विलीन रहता है। उसी शक्तिके अनिर्वचनीय सम्बन्धसे निर्गुण-निर्लिप्त चिच्छक्ति जगत्का बीज अर्थात् कारणरूप भी हो जाती है। उस परमतत्त्वके आश्रित रहनेवाली मायाशक्ति उसे आवृत करती है, इसलिये ब्रह्मशक्ति सदोष समझी जाती है। मायाशक्तिके विद्या और अविद्या दो भेद हैं। उनमें विद्या विशुद्धा सत्त्वात्मिका होनेसे स्वाश्रयको व्यामोहित नहीं करती। अत: वह निर्दोष है। तमसे अभिभूत सत्त्वयुक्त अविद्या (मलिन सत्त्वप्रधाना प्रकृति) स्वाश्रयकी व्यामोहकारिणी है, इसीलिये ब्रह्म सदोष है। चैतन्यके सम्बन्धसे तद्‌गत (विशुद्ध सत्त्वगुणप्रधाना मायागत) चिदाभास ही चेतनप्रधान होनेके कारण निमित्तकर्ता है और उसी शक्तिका (तम:प्रधाना प्रकृतिका) प्रपंचरूपमें परिणाम होता है, अत: वही समवायकारण (उपादानकारण) भी है। कुछ लोग उस मायाशक्तिको ही तप कहते हैं। परमेश्वर उसीसे विश्वका निर्माण करते हैं—

'सा तपस्तप्त्वेदं सर्वं समसृजत्।'

और कोई शाखी (शाखावाले) उसे ही तम कहते हैं।

'तम आसीत् तमसा गूढमग्रे।'

तमोरूप अज्ञानसे ही आवृत होकर परम-तत्त्व प्रपंचरूपमें प्रतीत होता है। उसे ही कोई ज्ञान, माया, प्रधान, प्रकृति एवं अजाशक्ति भी कहते हैं। उसीको कोई विमर्श, कोई अविद्या भी कहा करते हैं।

केचित्तां तम इत्याहुस्तमः केचिज्जडं परे।
ज्ञानं मायां प्रधानञ्च प्रकृतिं शक्तिमप्यजाम्॥
विमर्श इति तां प्राहुः शैवशास्त्रविशारदाः।
अविद्यामितरे प्राहुर्वेदतत्त्वार्थचिन्तकाः॥

ब्रह्म निर्विकार साक्षी दृक्से माया दृश्य है, अतः जड़ है। अधिष्ठानज्ञानसे उसका नाश हो जाता है, अतः असती है। द्वैतजालका द्रष्टा चैतन्य दृश्य नहीं है। यदि उसमें भी दृश्यता हो तो वह भी जड़ ही हो जायगा, अतः स्वप्रकाश चैतन्य दूसरेसे प्रकाशित नहीं होता।

तस्याजडत्वं दृश्यत्वाज्ज्ञाननाशात्ततोऽसती।
चैतन्यस्य न दृश्यत्वं दृश्यत्वे जडमेव तत्॥

वह चैतन्य जैसे जड़से नहीं प्रकाशित होता, वैसे ही दूसरे चैतन्यसे भी उसका प्रकाश नहीं होता। कारण ऐसा माननेमें अनवस्था होना अनिवार्य है। साथ ही वह अपनेसे भी अपना प्रकाश नहीं करता; क्योंकि ऐसी स्थितिमें उसमें कर्तृत्व और उसीमें कर्मत्व होगा, जो संगत नहीं है। पर समवेत-क्रियाफलशाली कर्म हुआ करता है। अपने-आप कर्ता और अपने-आप कर्म यह पक्ष अत्यन्त विरुद्ध है, अतः दीपकके समान यह स्वयं प्रकाशमान होकर दूसरोंका प्रकाशक है, इसलिये स्वयंप्रकाश कहलाता है—

स्वप्रकाशञ्च चैतन्यं न परेण प्रकाशितम्।
अनवस्थादोषसत्त्वान्न स्वेनापि प्रकाशितम्॥
कर्मकर्तृविरोधः स्यात् तस्मात्तद्दीपवत्स्वयम्।
प्रकाशमानमन्येषां भासकं विद्धि पर्वत॥

जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिमें दृश्यका व्यभिचार होता है अर्थात् जागरका दृश्य स्वप्नमें नहीं और स्वप्नका जागरमें नहीं और इन दोनोंका सुषुप्तिमें नहीं, सुषुप्तिका बीजात्मक अज्ञान जागर-स्वप्नमें नहीं। परंतु इन तीनों अवस्थाओंका अखण्ड बोध या संविद् सर्वभासक रूपमें नित्य अव्यभिचारी है। संविद् या बोधका व्यभिचार या अभाव कभी भी अनुभवमें न आता है, न आ सकता है। यदि बोधके भी अभावका अनुभव माना जाय तो वहाँ भी वह अभाव जिस साक्षीसे अनुभूत होता है, वह बोधरूप साक्षी जब विद्यमान ही है, तब बोध या संविद्का अभाव कैसे कहा जा सकता है? बिना बोध या संविद्के भाव-अभाव दोनों ही नहीं सिद्ध हो सकते। अतः संविद्का अभाव सिद्ध करनेके लिये भी संविद्रूप साक्षीकी आवश्यकता रहती ही है। इसीलिये सर्वभासक स्वप्रकाश होनेसे बोध चैतन्यरूप है, अबाध्य अव्यभिचारी होनेसे सत्य एवं नित्य है। 'मैं कभी न होऊँ ऐसा नहीं, किंतु सदा रहूँ ही।' इस तरह प्राणियोंके निरतिशय निरुपाधिक पर-प्रेमका आस्पद होनेसे वह परमानन्दरूप है। साथ ही जब उससे भिन्न सारा प्रपंच मिथ्या ही है, तब कोई भी उसमें तात्त्विक सम्बन्ध नहीं बन सकता। अतः संवित्की असंगता भी सिद्ध ही है। जब स्वप्रकाश संविद्रूपा भगवतीसे भिन्न माया और उसका कार्य सभी सत्, असत् और सदसत् विलक्षण अनिर्वचनीय मिथ्या है, तब फिर परिच्छेदक (भेदक या मापक) देश-काल-वस्तु न होनेसे ही अपरिच्छिन्नता (त्रिविधपरिच्छेदशून्यता) भी सहजमें ही सिद्ध हो जाती है। यह जो सर्वदृश्यभासक बोध सिद्ध किया गया है, यह आत्माका धर्म नहीं है, किंतु आत्मस्वरूप ही है। धर्म माननेपर आत्मा उसका दृश्य होनेसे आत्मामें जड़ता आ जायगी।

'तच्च ज्ञानं नात्मधर्मे धर्मत्वे जडतात्मनः।'

यदि ज्ञान स्वप्रकाश आत्माका धर्म है तो उसकी आवश्यकता ही क्या रहती है? ज्ञानको स्वप्रकाश और आत्माको जड़ मानना भी ठीक नहीं, कारण कि स्वप्रकाश ज्ञान जड़ आत्माका ही शेष या अंग नहीं हो सकता है। लोकमें जड़ ही चेतनका शेष होता है, यही प्रसिद्ध है। जैसे बोध या ज्ञान जड़रूप आत्माका धर्म नहीं बन सकता, वैसे ही वह

चिद्बोधरूप आत्माका भी धर्म नहीं हो सकता। कारण चित्‌का चित्‌से भेद ही नहीं हो सकता, फिर भेद बिना चित्, चित्‌का धर्मधर्मिभाव कैसे बन सकेगा? इसलिये आत्मा सद्रूप, ज्ञानरूप एवं सुखस्वरूप है। यह अवश्य समझनेकी बात है कि जो घटादिविषयक ज्ञान और अभीष्ट विषयजन्य सुख नामसे प्रसिद्ध है, वह अनित्य और विनाशी अन्त:करणका वृत्तिरूप (परिणाम) है। उसी ज्ञानाभास या सुखाभासमें अविवेकियोंको ज्ञान या सुखका भ्रम होता है। परंतु इन विनाशी वृत्तिरूप ज्ञान और सुखोंका प्रकाशक स्वप्रकाश अखण्ड बोध या ज्ञान ही असली ज्ञान और सुख है।

ग्यान अखंड एक सीताबर।
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥

(रा०च०मा० ७।७८।४; १।११७।६)

'चिद्धर्मत्वं चितो नास्ति चितश्चिन्नैव भिद्यते।'

वह बोध ही अत्यन्त अबाध्य होनेसे पारमार्थिक सत्य है और वही सब कुछ है। अत: पूर्ण और असंग एवं द्वैतजालसे विवर्जित है। वही काम, कर्मादिके सहित अपनी मायासे ही पूर्वसंस्कारके अनुसार कालकर्मके विपाकसे सृष्टिकी इच्छावाला हो जाता है। जैसे कोई प्राणी पूर्व-संस्कारसे अबुद्धिपूर्वक ही नींदसे उठ बैठता है, वैसे ही आत्माकी यह सृष्टि काल-कर्मसंस्कारसे अबुद्धिपूर्वक ही होती है। यही जगत् बीजभूत प्रकृतिसे विशिष्ट मेरा स्वरूप अव्याकृत या मायाशबल कहलाता है, वही समस्त कारणोंका कारण है और समस्त तत्त्वोंका आदिभूत तत्त्व है, वही मायाशक्तियुक्त सच्चिदानन्द कहलाता है, वही समस्त कर्मोंका घनीभूतस्वरूप ज्ञानों और इच्छाओंका आश्रय है, वही आदितत्त्व ह्रींकार, ओंकार आदिका वाच्य तत्त्व है।

सर्वकर्मघनीभूतं इच्छाज्ञानक्रियाश्रयम्।
ह्रींकारमन्त्रवाच्यं तदादितत्त्वं तदुच्यते॥

उसी मायाशक्तिविशिष्ट अव्याकृतसे शब्द-तन्मात्रस्वरूप सूक्ष्माकाश उत्पन्न होता है। उससे स्पर्शात्मक वायु और वायुसे रूपतन्मात्रा-स्वरूप तेज और उससे रसात्मक जल, जलसे गन्धात्मिका पृथ्वी उत्पन्न होती है। इन्हीं अपंचीकृत सूक्ष्म पंचभूतोंके सात्त्विक अंशसे अन्त:करण और पंचज्ञानेन्द्रियाँ, राजस अंशसे प्राण और पंचज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। वह सब मिलकर व्यापक लिंगशरीर ही आत्माका सूक्ष्म देह कहा जाता है। पूर्वोक्त अव्याकृत ही आत्माका कारणदेह है। भूतोंके तामस अंशसे पंचीकरण मार्गसे स्थूल प्रपंच और विराट्‌की उत्पत्ति होती है। भूतोंके समष्टि सात्त्विक अंशसे उत्पन्न अन्त:करणके वृत्तिभेदसे चार रूप बन जाते हैं। संकल्प-विकल्प करते समय मन, निश्चय करते हुए बुद्धि, स्मरण करते समय चित्त और अहंकार-कालमें यह अहंकार कहा जाता है। विशुद्धसत्त्वप्रधाना प्रकृति माया और मलिनसत्त्वप्रधाना अविद्या कहलाती है। स्वाश्रयको न मोहित करनेवाली विद्यामें प्रतिबिम्ब-समन्वित अधिष्ठान ईश्वर कहा जाता है, वह स्वाश्रयके ज्ञानसे युक्त सर्वज्ञ सर्वानुग्राहक है। अविद्यामें प्रतिबिम्बसमन्वित अधिष्ठान अल्पज्ञ एवं दु:खादिका आश्रयभूत जीव है। दोनों ही स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीन देहोंसे युक्त हैं। व्यष्टि-स्थूल-सूक्ष्म-कारण जीवके हैं और समष्टि तीनों देह ईश्वरके हैं। व्यष्टिमें कारण-देहाभिमानी प्राज्ञ, सूक्ष्म-शरीराभिमानी तैजस और स्थूल-शरीराभिमानी विश्व कहलाता है। समष्टि-कारण देहका अभिमानी अव्याकृत, सूक्ष्मदेहका अभिमानी हिरण्यगर्भ एवं स्थूल-प्रपंचका अभिमानी विराट् कहलाता है। ईश्वर ही नाना भागोंके आश्रयभूत विश्वका निर्माण करते हैं। भगवतीने कहा—मेरी मायाशक्तिसे ही समस्त चराचर विश्व बनता है। वह माया भी मुझसे पृथक् नहीं है। व्यवहारदृष्टिसे जो माया और अविद्या कहलाती है, वह परमार्थत: मुझसे पृथक् कुछ भी नहीं है—

व्यवहारदृशा येयं विद्या मायेति विश्रुता।
तत्त्वदृष्ट्या तु नास्त्येव तत्त्वमेवास्ति केवलम्॥

भगवती ही निखिल प्रपंचकी निर्मात्री

स्वप्रकाशरूपा भगवती ही निखिल प्रपंचका निर्माण करके उसमें वही प्रवेश करती है। जिस तरह एक ही आकाश घटाकाश और महाकाशके रूपमें प्रकट होता है, उसी तरह स्वप्रकाश चैतन्य ही विद्याशक्तिविशिष्ट ईश्वर, अविद्या या अन्त:करण-विशिष्ट होकर जीवरूपमें व्यक्त होता है। उन्हीं अनेक उपाधिभेदोंसे ही जीवोंमें नानात्व और गमागम सब कुछ उत्पन्न होता है। जैसे सूर्यभगवान् उच्चावच अनेक प्रकारकी वस्तुओंका प्रकाश करते हैं, परंतु उनके गुणों या दोषोंसे वे युक्त नहीं होते, वैसे ही अखण्डबोधरूप सर्वान्तरात्मा सभी दृश्यका प्रकाशन करते हैं, परंतु उनके गुणों और दोषोंमें वे लिप्त नहीं होते। जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्ब या रज्जुमें सर्प, वैसे ही शुद्धप्रकाशस्वरूप परमतत्त्वमें समस्त प्रकाश्य परिकल्पित है। अतएव ईश्वर, सूत्रात्मा, विराट्, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, गौरी, ब्राह्मी, वैष्णवी, सूर्य, तारक, तारकेश, स्त्री, पुमान्, नपुंसक एवं शुभ, अशुभ समस्त प्रपंच ही परात्परपूर्णतम परम तत्त्वका ही स्वरूप है। जो भी कुछ देखा या सुना जाता है, उसके भीतर और बाहर व्याप्त होकर एक वही निर्विकार पूर्ण चिति ही विद्यमान है। सबको सत्तास्फूर्ति सुख प्रदान करनेवाली चितिसे विमुक्त होकर जो कुछ भी है वह शून्य है, वन्ध्यापुत्रके समान है। जैसे सर्प, धारा, माला आदि भेदोंमें एक रज्जु ही अनेकधा भासित होती है, वैसे ही एक चिद्रूप आत्मा ही अनेक रूपमें भासित होता है। जैसे अधिष्ठानके बिना कल्पित पदार्थकी सत्ता और स्फूर्ति नहीं टिक सकती, वैसे ही सच्चित्-स्वरूप परमतत्त्वके बिना कल्पित विश्वमें सत्ता और स्फूर्ति नहीं रहती।

यच्च किञ्चित् क्वचिद्वस्तु दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्याहं सर्वदा स्थिता॥
न तदस्ति मया त्यक्तं वस्तु किञ्चिच्चराचरम्।
यद्यस्ति चेत्तच्छून्यं वन्ध्यापुत्रोपमं हि तत्॥

माँके श्रीचरणोंमें

अनन्तकोटिब्रह्माण्डजननी पराम्बा, रामचन्द्र राघवेन्द्रकी हृदयेश्वरीके मंगलमय चरणारविन्दको अपनी अविरल अश्रुधाराओंसे सिंचित करता हुआ एक भक्त कहता है—'हे अम्ब! कल्याणमयी भगवति! हे देवि! यह आपका अबोध, किंकर्तव्यविमूढ शिशु आपके चरणारविन्दकी शरण है। हे माँ! अब यह ताप सहनकी सीमाके बाहर हो गया है। हे माँ! मैं जानता हूँ कि मैं तुम्हारा योग्य पुत्र नहीं हूँ। मैं तुम्हारे चरणारविन्द-स्पर्शका भी अधिकारी नहीं हूँ। माँ! फिर भी अधम-से-अधम, पतित-से-पतित पुत्रकी भी अम्बा उपेक्षा नहीं करती'—

'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति॥'

'माँ! मुझे तो सबने उपेक्षित कर दिया है। ठीक ही है, तुम्हारे अभिशापसे सन्तप्तकी रक्षा सिवा तुम्हारे और कौन कर सकता है? माँ! तुम तो प्रभुसे भी यही कहती हो कि **'न कश्चिन्नापराध्यति।'** ऐसा व्यक्ति कौन है, जिससे अपराध नहीं बनता? यह अबोध शिशु है; इसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। इसे पुचकारकर अंकमें लेना चाहिये। माँ! तुम्हारे चरणोंके बिना सब जगत् सन्तापजनक हो रहा है। संसारमें कोई इस अधमको देखने-पूछनेवाला नहीं है। माँ! संसारकी विडम्बनासे दग्ध हो रहा हूँ। अनेक बार अपमानित और तिरस्कृत हुआ, फिर भी तुम्हारी उपेक्षा नहीं कर सकता। अपने ही अपराधोंके कारण स्थिर प्रबोध, स्थिर वैराग्य नहीं होता। हे पुत्रवत्सले! तुम्हारे बिना आशाके अनुकूल ही नहीं, आशासे भी अधिक कारुणिक हृदयसे अपराधी पुत्रको दूसरा कौन पुचकार सकता है?'

'माँ! जिनके लिये त्याग, बलिदान किया गया, जिनके लिये अगणित दु:ख भोगे गये, जिनके हितार्थ कितने ही अनुष्ठान किये गये, जिनके लिये अगणित आँसू बहाये गये, वे सब मेरे रोने-धोनेको सुना-अनसुना, देखा-अनदेखा करके अपने-अपने काममें लग गये। किसको समय है, जो मुझ-जैसे पागलोंके प्रलाप सुने? माँ! उस दिन शिप्राके तटपर तुम्हारी स्मृति आयी थी और तुम्हारे चरणोंका स्मरण किया था। तुम्हारे चरणोंमें कुछ अश्रु चढ़ाये गये थे, परंतु पुन: वही विस्मृति छा गयी। फलस्वरूप उपद्रव भी वे ही-के-वे ही वर्तमान हैं। माँ! तुम्हीं सिद्धि-बुद्धिस्वरूपा गणपतिप्रिया हो। माँ! तुम्हीं सरस्वतीस्वरूपा विधिप्रिया हो। माँ! तुम्हीं अनन्तकोटिब्रह्माण्डकी ऐश्वर्याधिष्ठात्री विष्णुप्रिया महालक्ष्मी भी हो। हे अम्ब! आप ही तो कामेश्वरांकनिलया अनन्तब्रह्माण्ड-जननी श्रीषोडशी महात्रिपुरसुन्दरी हो। हे जगदम्ब! आप ही मेरे प्रभु, मेरे स्वामी, मेरे अशरण-शरण, मेरे दीनबन्धु रामचन्द्रकी प्रियतमा हो। हे माँ! तुम सदासे मुझे सँभाल रही हो। माँ! तुम्हारा तो कोई दोष नहीं, मैं व्यामोहवश अपने ही दोषोंको आपके विविध स्वरूपोंपर धरता हूँ।'

'हे चिन्मयि! हे सदानन्दघनस्वरूपे माँ! हे निर्विशेष-सविशेषस्वरूपे! हे निर्गुण-सगुण-निराकार-साकारस्वरूपे! माँ! तुम्ही तो श्रीकृष्णप्राणेश्वरी रासेश्वरी नित्यनिकुंजेश्वरी राधारानी हो। माँ! तुम्ही परब्रह्ममहिषी साक्षात् परब्रह्मविद्यारूपिणी हो और तुम्ही प्रत्यक्चैतन्य या ब्रह्मस्वरूपा भी हो। माँ! तुम्ही दशमहाविद्या तथा अनन्त उपविद्यास्वरूपा हो। निगमागमवन्दिते! सर्वशास्त्रमहातात्पर्यगोचरे! भगवति! आप सर्वातीत होती हुई भी सर्वस्वरूपा हो, सर्वस्त्रीस्वरूपा सर्वपुरुषस्वरूपा, जड़-चैतन्य एवं चराचरस्वरूपा भी आप ही हो। माँ! साध्वी-असाध्वी, सती-असती माँ! सब तुम्ही तो हो। माँ! तुम अच्छी हो, तुम तो केवल मेरे पापोंके कारण ही दु:ख-निदान प्रतीत होती हो। माँ! कुलटाएँ और वेश्याएँ क्या आपसे भिन्न हैं? नहीं-नहीं, माँ! आपको पहचाननेमें भ्रम है। माँ! मैंने किसी रूपमें आपपर दोषारोपण किया हो, आपका अपमान किया हो, तो भी अम्ब! क्षमा करो। माँ! तुम्हारे चरणारविन्दकी नखमणिचन्द्रिकासे हृदयान्धकार मिटता है। तुम्हारे चरणपंकजपरागसे पाप-ताप शान्त होते हैं। माँ! अपनी विरुदावलीके अनुसार एक इस असफल, निराश, हताश अधमका भी उद्धार करो, अपने अंकमें नहीं तो चरणोंमें बिठा लो। माँ! दिशाएँ-विदिशाएँ शून्य और सन्तप्त प्रतीत हो रही हैं। कहाँ जाऊँ? क्या करूँ?'

'जगदम्ब! सुरथको ऐश्वर्य और समाधिको व्यामोहनिवृत्तिपूर्वक तत्त्व-ज्ञान प्रदान करना आपका ही कार्य है। माँ! आपके कृपाकटाक्षके बिना सहस्रों विचार और ज्ञान अकिंचित्कर हो जाते हैं। माँ! मैं खूब समझ रहा हूँ कि अभीष्टसिद्धि और अनिष्ट-निवृत्तिके लिये इधर-उधर भटकना व्यर्थ है, सब कुछ आपके चरणोंमें ही है। माँ! छायाके पीछे भटकनेसे जैसे छाया नहीं मिलती, ठीक वैसे ही मायाके पीछे भटकनेसे भी काम नहीं चलेगा, आपके चरणारविन्दकी ओर चलते ही सूर्याभिमुख चलनेपर छायाके समान ही माया आयेगी। माँ! फिर यह भी तो बिना आपकी कृपाके सम्भव नहीं है। वत्सले! तुम्हारे चरणोंकी शरणागति भी तो तुम्हारी ही कृपाका फल है। माँ! अब चित्त अत्यन्त ही ऊब गया है। हृदय अत्यधिक व्रणित हो गया है। माँ! अब कोई दूसरा सहारा भी नहीं है। माँ! जिन्हें हम रक्षक समझते थे, माँ! बिना तुम्हारे अनुकूल हुए उनकी भी कृपा अब जाती है। जिनपर बड़ा ही भरोसा था, जिन्हें मार्गदर्शक माननेको जी चाहता था, माँ! उन्होंने भी तो सूखा रुख अख्तियार कर लिया। माँ! अब उपेक्षासे काम न चलेगा। माँ! अब या तो वर्तमान इष्टानिष्टविप्रयोग-सम्प्रयोग-निमित्तोंको दूर करो या व्यामोह दूर करो या फिर अब शीघ्र ही अपने चरणोंमें बुला लो, आपसे दूर रहनेमें तो....वस्तुतः शान्तिका पाना सम्भव ही नहीं। कामोंके भोगसे कामोंकी शान्ति सम्भव नहीं

है। घृतकी आहुतिसे जैसे अग्निकी वृद्धि होती है, वैसे ही भोगसे कामकी वृद्धि ही होती है'—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

(श्रीमद्भा० ९।१९।१४)

'पृथ्वीभरमें जो भी व्रीहि, यव, हिरण्य, पशु एवं स्त्रियाँ हैं, वे सब मिलकर भी एक व्यक्तिको भी तृप्त करनेमें समर्थ नहीं हैं'—

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
सर्वं नैकस्य पर्याप्तमिति मत्वा शमं व्रजेत्॥

'संसारकी सभी संचित राशियाँ क्षीण हो जाती हैं, सभी समुन्नतियोंका अन्तमें पतन होता है, सभी संयोगोंका अन्तमें वियोग होता है, सभी जीवनोंका मरणमें ही पर्यवसान है'—

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम्॥

(महा०, शान्ति० ३३०।२०)

'कल्याणमयि माँ! सभी विचार आपकी कृपाके बिना निर्वीर्य रहते हैं। आपकी कृपासे ही सद्विचारकी निष्ठा होती है। सम्पूर्ण प्राणी आदिमें अव्यक्त हैं और अन्तमें भी अव्यक्त ही हो जाते हैं, मध्य-मध्यमें ही व्यक्त रहते हैं। संसारमें सहस्रों माता-पिता, सहस्रों पुत्र एवं सहस्रों स्त्रियाँ हुईं, परंतु किसीका सम्बन्ध किसीसे स्थिर न रहा। जन्म-जमान्तरोंमें कितने ही पुत्र तथा अभीष्ट सुन्दरियोंसे सम्बन्ध होता है, परंतु कौन कहाँ, कौन कहाँ? किसी भी सम्बन्धकी स्थिरता नहीं है। जैसे महोदधिमें इधर-उधरसे अनेकधा काष्ठ इकट्ठे होते हैं, किसी लहरके वेगसे पुनः पृथक्-पृथक् बह जाते हैं, वैसे ही कार्यपरतन्त्र प्राणी संयुक्त-वियुक्त होते ही रहते हैं। काल-कर्मके परतन्त्र हो प्राणी जन्म लेता, मरता और भटकता है, तदनुसार ही सुख-दुःख भी भोगता है। यौवन, सौन्दर्य, द्रव्यसंचय, जीवन एवं आरोग्य तथा प्रियसंवास सब अनित्य हैं। इनमें पण्डितोंको मोहित नहीं होना चाहिये'—

अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसंचयः।
आरोग्यं प्रियसंवासो गृध्येत् तत्र न पण्डितः॥

(महा०, शान्ति० ३३०।१४)

'सामूहिक दुःखके लिये एकको भी चिन्तित होनेकी आवश्यकता नहीं है। हाँ, बन सके तो अनुद्विग्न रहते हुए शक्तिभर उसके प्रतीकारकी चेष्टा करनी चाहिये'—

न जानपदिकं दुःखमेकः शोचितुमर्हति।
अशोचन् प्रतिकुर्वीत यदि पश्येदुपक्रमम्॥

(महा०, शान्ति० ३३०।१५)

'दुःखका चिन्तन न करना ही उसका महौषध है। चिन्तन करनेसे दुःख मिटता नहीं, परंतु बढ़ता ही है'—

भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत्।
चिन्त्यमानं हि न व्येति भूयश्चापि प्रवर्धते॥

(महा०, शान्ति० ३३०।१२)

'अनिष्ट-सम्प्रयोग तथा इष्टविप्रयोगसे ही अल्पबुद्धि प्राणी मानस दुःखोंसे दग्ध रहते हैं। प्रज्ञासे मानस दुःखों और औषधोंसे शारीरिक दुःखोंका हनन करना उचित है। यही विज्ञानकी महिमा है कि प्राणी बालतुल्य न हो'—

प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीरमौषधैः।
एतद् विज्ञानसामर्थ्यं न बालैः समतामियात्॥

(महा०, शान्ति० ३३०।१३)

'पूर्वकृत कर्म सब सुखों-दुःखोंके मूल कारण हैं। इस तरह अपना आत्मा ही अपना बन्धु और आत्मा ही अपना रिपु है। शुभ कर्मसे सुख, अशुभसे दुःख होता है। बिना किये कुछ भी नहीं होता। ज्ञानविरुद्ध, विनाशकारण, मूलघाति कर्मोंमें समझदार लोगोंको रत नहीं होना चाहिये। विचार करनेपर यह सम्पूर्ण संसार ही अशाश्वत है, कदलीस्तम्भके समान ही निःसार है। श्मशानमें एक दिन सभीको समान रूपसे समाप्त हो जाना पड़ता है; चाहे धनवान्, रूपवान्, बुद्धिमान् हो, चाहे निर्धन, निर्बुद्धि हो। विभिन्न गृहोंके समान ही शरीर भी आत्माका एक

गृह ही है। जैसे कोई मृण्मयभाण्ड कुलालके चक्रपर ही नष्ट हो जाता है, तो कोई कुछ बनकर नष्ट होता है, कोई बनकर एवं उपयुक्त होकर नष्ट होता है, वैसे ही जीर्ण, अजीर्ण, शिशु, युवक सबको ही मृत्युके मुखमें जाना पड़ता है। जो केवल मधु देखता है, प्रताप नहीं देखता, वह लोभके वश भ्रष्ट होकर शोकको ही प्राप्त होता है'—

मधु यः केवलं दृष्ट्वा प्रतापं नैव पश्यति।
स भ्रष्टो मधुलोभेन शोचत्येवं यथा ह्यहम्॥

'जैसे कोई प्राणी क्रीड़ाके लिये जलमें प्रवेश करके कभी डुबकी लेता है, कभी उतराता है, वैसे ही बुद्धिमान् संसारगहनमें उन्मज्जन-निमज्जन करता हुआ भी घबराता नहीं, अपितु अबुद्धि प्राणी इस डूबने-उतरानेमें व्याकुल हो जाता है। हे माँ! जन्मसे लेकर ही मांसशोणितयुक्त, अमेध्य स्थानमें ऊर्ध्वपाद, अवाक्शिरा होकर रहना पड़ा है, योनिद्वारके भी नाना कष्ट सहने पड़े हैं, एक उपद्रव समाप्त भी नहीं हो पाया कि दूसरे उपद्रव सिरपर आ खड़े हुए हैं। जैसे आमिषके पीछे श्वान दौड़ते हैं, वैसे ही अधिकांश आधियाँ एवं व्याधियाँ मुझ-जैसे प्राणियोंके पीछे ही रहती हैं। इन्द्रियपाशोंसे बद्ध, विविध आसक्तियोंसे घिरा हुआ प्राणी विविध व्यसनोंका शिकार बनता है। उन्हीं व्यसनोंसे पीड़ित होता, उन्हींमें अतृप्त होकर फँसा रहता है। व्यामोहवश साधु-असाधु कर्मोंको करता हुआ अनिवार्य रूपसे प्राणी तत्फलका भागी होता है। यमदूतों और कालसे आकृष्ट होता हुआ विविध विपत्तियोंका भोजन बनता है। अहो! लोभसे वंचित होकर प्राणी कितने अपमानों, दुःखों और विडम्बनाओंमें फँसता है और अपने-आपको समझनेमें असमर्थ ही रहता है। दूसरोंको मूर्ख कहता हुआ भी अपनी मूर्खताकी ओर ध्यान नहीं देता। हे अपराजिते! हे अमिते! अनुपमचरिते माँ! क्या कभी भी प्राणी बिना तुम्हारी कृपासे इस व्यामोहसे, इस मायासे मुक्त हो सकता है? ठीक ही कहा है कि जिसपर आप कृपा करती हैं, वही दुस्तर देवमायाको पार कर सकता है, तभी श्वशृगालभक्ष्य शरीरसे ममाहंबुद्धि हट सकती है। पर इसके लिये निर्व्यलीक, निष्कपट, अकैतवरूपसे आपकी शरणागति अपेक्षित है'—

येषां स एव भगवान् दमयेदनन्तः
सर्वात्मनाश्रितपदो यदि निर्व्यलीकम्।
ते दुस्तरामतितरन्ति च देवमायां
नैषां ममाहमिति धीः श्वशृगालभक्ष्ये॥

'माँ! कितना भीषण संसार है! आपने शास्त्रोंमें तो बतला रखा है कि कोई ब्राह्मण हिंस्र-व्याघ्रसंकुल गहन कान्तारमें पहुँच गया। सिंह, व्याघ्र, गज एवं भल्लूकोंके कर्कश घोर नादों एवं भीषण आकृतियोंसे घिर गया। उस भीषण स्थितिको देखकर साक्षात् यमको भी त्रास हो सकता है। ब्राह्मणका हृदय उद्विग्न हो गया, देहमें रोमांच हो गया। वह घोर गहन वनमें दशों दिशाओंमें शरण ढूँढ़ता हुआ भटकता है। भागनेका प्रयत्न करता है, पर भाग भी नहीं सकता। अकस्मात् अन्य भयंकर वनमें पहुँचकर देखता है कि एक भीषण स्त्रीने चारों तरफ जाल फैला रखा है। पाँच-पाँच फणोंवाले अगणित नाग और भीषण वृक्षोंसे भी वह वन घिरा है। उसी वनमें एक कूप था, जो विविध दृढ़ वल्लियोंसे ढँका हुआ था। ब्राह्मण उसी अन्धकूपमें गिर गया और तृणाच्छन्न वल्लियोंपर बृहत् पनस (कटहल) फलके तुल्य लटक गया। सिर नीचेको था, पैर ऊपरको। नीचे कूपमें देखता है कि एक भीषण महानाग है। छः मुख, बारह पैरोंवाला तथा शुक्ल-कृष्ण वर्णका एक महागज कूपके बाहर था। वहाँ वल्लियाँ भी खूब फैली हैं। नानारूपधर घोर मधुकरोंने ऊपर मधुके छत्तेको घेर रखा है, उसमेंसे ही कुछ-कुछ मधु कभी-कभी टपकता है। बालप्राय मूढ़ प्राणी उस मधुसे आकृष्ट होकर उसी मधुधाराको वल्लियोंमें लटका हुआ पान करता है, फिर भी उसकी प्यास बुझती नहीं, नित्य अतृप्त होकर उसी वस्तुकी लालसामें परेशान रहता है। उसी लोभसे वह ब्राह्मण अपनी भीषण दशाको भूल जाता है और उस दुर्दशापूर्ण जीवनसे भी उसे वैराग्य नहीं

होता, उस हालतमें भी वह जीवित रहनेकी इच्छा करता है। वहीं श्वेत-कृष्ण मूषक उन वल्लियोंको काट रहे हैं। ऊपर भीषण विषधर साँपोंसे घिरे घोर कान्तारमें महोग्रडाकिनीरूपा स्त्रीका जाल फैला है। कूपके ऊपर भीषण गज है। कूपके भीतर नाग है। वल्ली कटते ही कूप-पतनका भय भी सामने है। भीषण भ्रमरोंका भी डर है ही। फिर मधुलोभमें उस ब्राह्मणकी तरह अन्य प्राणी सब भूलकर जीवित रहना चाहता है।'

कातर प्रार्थना

'माँ! यह महासंसार ही तो वह कान्तार है। क्या यह कम दुर्गम है? माँ! यह कितना भीषण है! माँ! तुम्हारे अभयहस्तका सहारा न हो, तुम्हारे अंक (गोद)-का सुख न हो, तुम्हारी नखमणिचन्द्रिकाकी शीतलता न हो, तो इससे किसकी मुक्ति हो सकती है? माँ! यह विविध व्याधियाँ ही तो भीषण व्याल हैं। माँ! ये तो व्यालोंसे भी कहीं अधिक भीषण हैं। एक ही व्याधि प्राणीको जर्जर कर देती है; दद्रु, खर्जु, ज्वर, अतिसार, कुष्ठ, प्लेग, विषूचिका, क्षय, शिर:शूल, उदरशूल आदि अगणित व्याधियाँ शरीरको जर्जर कर देती हैं। वह सौन्दर्य कहाँ चला जाता है? देहकी कान्ति समाप्त हो जाती है, बाल पक जाते हैं, मुख दन्तविहीन हो जाता है, रमणीयता समाप्त हो जाती है। अब भूषण, अलंकार, अंगरागादि बाह्य कृत्रिम साधनोंसे उसकी सुन्दरता बढ़ाना कितनी विडम्बना है! वृद्धावस्था तो वह भीषण नारी है। सुन्दरी-से-सुन्दरी स्त्री तथा सुन्दर-से-सुन्दर पुरुषको भी विरूप कर देना इसका खेल है। हे माँ! फिर भी स्त्री आदिके मायामय देहोंमें क्यों व्यामोह होता है? रूप और वर्णका विनाश करना जराका प्रमुख कार्य है। माँ! कितना भीषण व्यामोह है! प्राणी आधि-व्याधि, जरा, रोगादिसे पीड़ित, त्रस्त तथा विरूप हो रहे हैं। जिसपर मोहित होता है, वह भी आधि-व्याधिग्रस्त, मृत्युमुखपतनोन्मुख ही है। कोई किसीको विपत्तिसे बचा नहीं सकता। फिर भी व्यामोह, रति, रागका उपद्रव? आश्चर्य है। आचार्यने क्या ही सुन्दर कहा है'—

'अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं दशनविहीनं जातं तुण्डम्।'

'अहो! ये आधियाँ (मानसी पीड़ाएँ) तो व्याधियोंसे भी भीषण हैं, इनके तापसे तो माँ! सिवा तुम्हारे अंकके कहीं भी निवृत्ति हो ही नहीं सकती। हे माँ! हे जननि! हे कल्याणमयि! हे सकरुणे! क्या तू अपनी विपन्न सन्तानोंकी उपेक्षा कर सकती है? नहीं, माँ! यह तो सब अपराध मादृश मूढ़ोंका ही है।'

'कान्त-कान्ताकी विरह-वेदना कितना भीषण ताप है। क्या इसका पारावार है? क्या इसीसे इन्दुमतीके विरहमें रघुका करुण अवसान नहीं हो गया? क्या पुरूरवाका उन्माद और पागलपन इसी विरहव्यथाका, प्रिय वियोगका ही परिणाम नहीं था? क्या नरनाट्यमें प्रभु रामने भी माँ! आपकी विरहवेदनाका लोहा नहीं माना? माँ! प्रेममतवाली गोपांगनाओं, प्रभु कृष्ण तथा रासेश्वरी राधा-रानीने भी विरहव्यथाका कितना भीषण अनुभव किया था। माँ! वास्तविक प्रेम और वासनाका भेद सहसा किसकी समझमें आ सकता है? फिर भी आखिर यह मानसिक व्यथा, आन्तरिक आधि क्या एक ही प्राणीके जीवनका अन्त नहीं कर सकती? इन विषयोंमें क्या बिना आपकी कृपाके कोई विवेक कारगर होता है? माँ! यह शरीर ही तो वह अन्धकूप है, उसीमें तो कालरूपी सर्प भी रहता है, जो प्राणियोंका अन्त करता है। शरीरमें जीवनकी जो आशा है, वही तो वल्ली है। शरीररूप कूपके ऊपर जो छ: मुँह, बारह पैरोंका भीषण गज है, वह यही संवत्सरात्मा काल है। छ: ऋतुएँ ही उसके मुख हैं, बारह मास ही उसके पैर हैं, शुक्ल-कृष्ण पक्ष ही उसके श्वेत-कृष्ण वर्ण हैं। दिन-रात ही तो इस जीविताशा आयुरूपी वल्लीको प्रतिक्षण काटनेवाले मूषक हैं। माँ! विविध काम ही तो भीषण भ्रमर हैं। विविध कामरस ही वह मधुधाराएँ हैं, जिनमें प्राणी मोहित हो रहा है। माँ! आपकी कृपासे ही इस संसारसिन्धुको पार किया जा सकता है, उसके

बिना सभी प्रयत्न व्यर्थ होते हैं। माँ! कुछ भी हो, मेरी तो एकमात्र आशा आप ही हैं। माँ! यदि आपने जरा-सी भी उपेक्षा की तो फिर मैं कहींका न रहूँगा।'

'यह शरीर ही रथ है, बुद्धि ही सारथि है, इन्द्रियाँ ही घोड़े हैं। जो बुद्धिके द्वारा इन्द्रियोंको नियन्त्रित करके संसारचक्रमें भ्रमण करता है, वह मोहित नहीं होता। संसारमें राज्यका छिन जाना, पुत्रका नाश, प्रिय पत्नीका नष्ट हो जाना, सुहृदोंका नष्ट होना आदि भीषण दुःख होते हैं। इन दुःखोंका भेषज ज्ञान ही है। विक्रम, धन, मित्र, सुहृदोंसे इस सम्बन्धमें कोई लाभ नहीं होता। किंतु ज्ञान, दम, त्याग एवं अप्रमादसे युक्त होकर सर्वप्राणियोंको अभय देकर जो पद प्राप्त किया जा सकता है, वह सहस्रों क्रतुओं एवं उपवासोंसे भी प्राप्त नहीं होता।'

'पुत्र, मित्र, वित्त, कलत्र, किसीके भी विप्रयोगमें जो वेदना होती है, उसे कोई अनुभवी ही समझता है। तज्जन्य शोकसे प्रत्येक गात्र तथा रोम-रोममें दाह उत्पन्न होता है। प्रज्ञा भी अभिभूत हो जाती है।'

'पिय बियोग सम दुखु जग नाहीं॥'

(रा०च०मा० २।६४।७)

'प्राप्यते सुमहद्दुःखं विषाग्निप्रतिमं विभो।'

विष एवं अग्निके तुल्य प्रियवियोगदुःख अतिभीषण होता है। इससे तप्त प्राणी मरणको ही श्रेष्ठ समझता है—

तदिदं व्यसनं प्राप्तं मया भाग्यविपर्ययात्।
तस्यान्तं नाधिगच्छामि ऋते प्राणविमोक्षणान्॥
अवश्यम्भाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि।
तदा दुःखैर्न लिप्येरन् नलरामयुधिष्ठिराः॥

(पञ्चदशी ७।१५६)

'भाविका भाव होकर ही रहता है। यदि उसका भी प्रतिकार हो सकता तो फिर नल, राम एवं युधिष्ठिरको सन्तप्त न होना पड़ता। इसीलिये महापुरुषोंने कहा है'—

यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयं बोधो भ्रमनिवर्तकः॥

(पञ्चदशी ७।१६८)

'जो नहीं होनेवाला है, वह नहीं होगा। जो होनेवाला है, वह होकर ही रहेगा, यही विचार चिन्ताविषका औषध है। फिर जो हमारी वस्तु है, वह दूसरेको नहीं ही मिलेगी'—

'यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम्॥'

'फिर भी हे विश्वप्रसवित्री! हे सकरुणे! हे दीनरक्षामणे! बिना तुम्हारी कृपादृष्टिकी वृष्टि हुए सब उपाय, सब साधन व्यर्थ हैं। माता-पिता बालकके रक्षक होते हैं, परंतु अम्ब! तुम्हारी कृपाके बिना वे भी रक्षक नहीं हो सकते, उनके प्रयत्नशील रहनेपर भी बालककी मृत्यु हो ही जाती है। आर्त प्राणीको बचानेवाली औषध भी आर्तको नहीं बचा सकती; क्योंकि औषध-सेवन करते हुए भी प्राणीको मरना ही पड़ता है। समुद्रमें डूबते हुएको जलयान बचाता है, परंतु आपके कृपाकटाक्षके बिना हे माँ! जहाज भी डूब ही जाता है। माँ! तुम्हारी कृपासे ही सौभाग्यशालियोंको दिव्य वैराग्य प्राप्त होता है, जिसके कारण बड़े-बड़े सम्राट् विविध ऐश्वर्यों, भोगसामग्रियोंका अनायास ही त्याग कर देते हैं। नहुष, गय, ययाति आदि सुदुर्लभ भोगोंको छोड़कर अरण्यमें चले गये थे। माँ! आपकी कृपाकोरसे ही ऋषियोंने निश्चय किया था कि **'न सुखाल्लभते सुखम्।'** सुखसे सुख नहीं मिलता। विशेषकर ब्राह्मणका देह क्षुद्र कामके लिये नहीं, अपितु घोर तपस्या और कष्टसहनके लिये ही होता है'—

ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च॥

(श्रीमद्भा० ११।१७।४२)

'जगदम्ब! आपकी कृपासे ही वीतराग विश्ववन्द्य महानुभाव परमसुन्दरियों, प्राणवल्लभाओंके मोहजालसे मुक्त हो सके थे। माँ! यद्यपि आपके चरणोंकी ओर चलना बड़ा कठिन मालूम पड़ता है, बड़ा ही ऊबड़-खाबड़, गहन वन, पर्वत-सा मार्ग आपकी प्राप्तिका मार्ग है और विषयों का मार्ग बड़ा ही रोचक एवं सुखकर प्रतीत होता है; परंतु जिसपर आपकी

कृपादृष्टि हुई और जो आपकी ओर चल पड़ा, उसके लिये कितना सुखद आपका मार्ग है, परंतु विषम मार्गमें चलनेसे मृगमरीचिकाके समान लोभ, मोह एवं दु:ख, तापका अन्त होता ही नहीं। ये विषय मोहक, भीषण विषाग्नि ज्वालाके समान हैं। बिना आपके अंकमें पहुँचे प्राणीको शान्ति होती ही नहीं। हे माँ! परंतु इसमें दोष किसका? प्राणीके अपने ही पापोंका तो यह फल है। फिर दूसरोंपर क्षोभ क्यों? जबतक शुभकर्म हैं, आपकी अनुकूलता है, तबतक सभी साथी हैं, सुखसाधन हैं। वही माता, भ्राता, कान्ता, पति, जो बड़े ही अनुरागी और प्रेमवश प्राण देनेवाले होते हैं, वही कभी अपरक्त विरक्त प्रतीत होने लगते हैं। पर यह अपने ही भाग्यका दोष है, उनपर कुपित होना व्यर्थ ही तो है। माँ! अपार संसारसमुद्रसे पार करना, अपार शोकसागरसे प्राणीका उद्धार करना आपके लिये क्या कठिन है? माँ! यह तो तुम्हारा खेल होगा। परंतु मादृश पशुओंका इससे परम कल्याण होगा। माँ! गजेन्द्रकी पुकार सुनकर, द्रौपदीका करुणक्रन्दन सुनकर आपने ही तो विष्णुरूपसे दौड़कर उनका उद्धार किया है। माँ! वस्तुस्थिति तो यह है कि वे लोग महासत्त्व और महापुरुष थे, उनके विवेक, विज्ञान एवं धैर्यकी मात्रा अधिक ही थी, साथ ही उनमें सहनशक्ति भी अधिक रही होगी और आपके चरणोंमें प्रीति भी सुतरां उनकी अधिक थी। अपनी शक्तिके बलसे वे आपको खींच सकते थे। किंतु माँ! मुझ दीनकी ओर दृष्टि देकर देखेंगी तो बहुत ही अन्तर प्रतीत होगा। माँ! अल्पसत्त्व, अल्पधैर्य, अल्पभक्ति, अल्पशक्ति मुझ दीनकी तो माँ! एकमात्र आप ही सहारा हैं।'

'माँ! कभी-कभी आपकी मायासे अविश्वास, अनास्था एवं अश्रद्धाका भी तो उपद्रव चलता ही रहता है। हे माँ! हे माहेश्वरी! हे दयार्णवरूपे! मेरा तो आपके दयाकणसे ही उद्धार हो सकता है, फिर मेरी बार ही यह अनुदारता क्यों? माँ! दुर्भाग्य एवं अविवेक, विमोह एवं रागकी स्थितिमें प्रकृतिके कण-कण उद्वेजक होते हैं। कभी-कभी दूसरोंके अनुकूल भाव भी भ्रान्तिसे प्रतिकूल ही प्रतीत होते हैं। शत्रुको मित्र, मित्रको शत्रु, रक्तको विरक्त और विरक्तको रक्त समझनेकी भी भूल होती है। परिस्थितियाँ भी सबकी पृथक् होती हैं। किंतु माँ! जब हम अपना ही मन अपने वशमें नहीं कर पाते तो दूसरोंके मनपर हमारा अधिकार हो जाय, यह आशा कितनी भीषण दुराशा है।'

सांसारिक मोह-ममताका परिणाम

'पुत्र, मित्र, कलत्र, बन्धु, बान्धव किसीका भी अपराग हमें खलता है और बेहद खलता है। जिन पुत्रों, मित्रोंके लिये, जिन पत्नियों, प्रेयसियोंके लिये न जाने क्या-क्या करना और कितना-कितना कष्ट भोगना पड़ा, उनका अपराग देखकर हृदय कितना विदीर्ण होता है। वे झूठे प्रेमके नाटक, वह झूठी आँसुओंकी झड़ी, वह रहस्यपूर्ण सस्नेह मधुर वचन-विन्यास, वह मधुर मुद्राएँ, स्वात्मसमर्पणकी वह मधुर चेष्टाएँ और मधुर मिलन कितने भीषण सिद्ध होते हैं। माँ! यह कैसी विडम्बना है? अहो! महापुरुष भर्तृहरिकी कितनी सुन्दर अनुभूति है। हाय! जिसका मैं इष्टदेवताकी तरह निरन्तर चिन्तन करता रहता हूँ, वह मुझसे विरक्त है, मुझे नहीं चाहती, वह किसी औरसे प्रेम करती है और कैसी विधिकी विडम्बना है कि वह उसका प्रेमास्पद भी तो किसी औरसे ही प्रेम करता है, प्रेम करनेवालीको नहीं चाहता। किंतु जिसे वह चाहता है, वह उसकी प्रेयसी उससे प्रेम न कर मुझे चाहती है। अहो! उस मेरी प्रियाको धिक्कार है और उस पुरुष तथा उसकी प्रेयसी एवं इस मदन तथा मुझे भी धिक्कार है'—

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता
साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च॥

'हे दयामयि! तृष्णाविषविषूचिका अभी कितना परेशान करेगी? माँ! मेरे पास इसकी कोई भी सफल औषध नहीं दिखती। यह विलाप, यह करुणक्रन्दन,

अरण्यरोदन न होना चाहिये। यह विलुण्ठन, यह बेचैनी और भीषण आतुरता, यह अनवस्थिति मेरे प्रयत्नसे मिटनेवाली नहीं है। मूर्खतावश जिसे हृदय खोलकर दिखाना चाहते हैं, उसे देखनेका समय ही नहीं और देखनेकी रुचि भी नहीं है। फिर वही शून्य, भीषण दावदग्ध, निर्जन, शून्य अरण्यका रोदन, दीर्घ श्वास-नि:श्वास, आर्तनाद, माँ! तुम्हीं सुन लो। जो जन्म-जन्मान्तरोंतक सम्बन्ध न छोड़नेका संकल्प कर चुके हैं, वे इसी जन्ममें साथ छोड़ गये। उनकी दृष्टि भाव-भंगीमें परिवर्तन, क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गये। कातर चित्त किसीकी सद्भावनाकी कल्पनासे कितना प्रफुल्लित होता है, यह भी तो एक भाग्यकी बात है। जीवनमें हमने जिससे राग किया, वही हमसे विरागी बना। जिसे पकड़ना चाहा, उसने ही भागना चाहा। जिसे नहीं चाहा, उसे भले ही पाया हो, परंतु जिसपर प्रेम किया, वह मुझे ठुकरानेमें सुखी हुआ। माँ! अब बस ले लो अपने चरणोंमें। यह अवहेलना, यह अपमान कबतक सहाओगी? श्वा, शूकर, गर्दभके समान विषयोंका कीड़ा बनकर, कांचन-कामिनीका किंकर बनकर अभी और कितना अपमान सहना पड़ेगा? मात:! यह राग अतिविषम है, सर्पके समान डँसता है, भीषण असिके समान मर्मच्छेदन करता है, भाले-बर्छेके समान हृदयको विद्ध करता है, रज्जुके समान बन्धन करता है, पावकके समान दहन करता है, रात्रिके समान अन्ध बना देता है, पाषाण-आघातके तुल्य विवश कर देता है, प्रज्ञाका विनाश करता है और ऐसा कौन दु:ख है, जो रागान्ध प्राणीको नहीं मिलता? हे जगज्जननी! क्या मेरे इस दुर्विपाकका अन्त ही नहीं होना है? यह संसार-कदर्थना आखिर कबतक भोगनी पड़ेगी? क्या इस दीर्घ, उष्ण नि:श्वास-परम्पराकी कोई अवधि भी है? आखिर यह सब उपद्रव जिनके कारण हैं, वे भी तो ऊब गये। माँ! इस दृश्यविषूचिकाका एक-एक कण भी तो भीषण अनर्थकारी होता है। जड़भरतने अखण्ड भूमण्डलका राज्य छोड़ा, प्रिय पत्नी, पुत्र, पौत्र, स्निग्ध दुहिताओंको भी छोड़ा, उन्हें क्या मृगीसुतमें इतना स्नेह होना चाहिये था? माँ! क्या जड़भरत विवेक-विज्ञानकी बातें नहीं जानते थे? ओह! कितना भयंकर व्यामोह, कितनी विधिविडम्बना है? कितने ही स्नेही प्रज्ञाका पाठ पढ़ाते हैं और इस स्थितिपर तरस खाते हैं, पर क्या माँ! आप संसारसे भी अधिक निष्ठुर हो, जो संसार-जितनी भी दया नहीं दिखलाती हो? क्या आपकी दया संसार-जैसी निष्फल होती है?'

'हे माँ! त्वचा-मांस-रक्तादिसमूह ही तो स्त्री-पुरुषप्रपंच है। भूषण, विलेपन, अंगराग आदिसे जिन अंगोंका लालन किया गया था, उन्हींको श्मशानोंमें श्व-श्रृगालादि इतस्तत: कर्षण कर रहे हैं। मेरुश्रृंग-तटोल्लासि गंगाजलधाराके तुल्य जिन प्रमदास्तनोंपर मुक्ताहार सुशोभित होते थे, आज उन्हीं स्तनोंको ओदनके लघुपिण्डके समान श्वान आकर्षण कर रहे हैं। पूर्णेन्दुबिम्बवदना, पुष्पाभिराममधुरा सब कुछ मल, मांस, रक्त आदिका ही परिणाम तो है। उन्हीं रक्त, मांस, केश आदिकी श्मशानमें कितनी भीषण दुर्गति होती है। माँ! क्या आपका चरण-चिन्तन करनेपर भी अविवेक, अज्ञान, अशान्तिका रहना उचित है। माँ! अशरणशरण आपके चरण हैं। माँ! अकारणकरुणा आपका हृदय है। हे करुणा-वरुणालये! क्या यह सब कुछ मेरे लिये व्यर्थ ही है? क्या किसीका वर-शाप आपकी दयासे भी अधिक प्रभावशाली है? माँ! तत्त्वज्ञ लोग तो सदासे ही सावधान करते आये हैं कि सन्ध्याके समान क्षणमात्र रागवती ही स्त्रियाँ होती हैं। नदीके समान ही इनका आशय कुटिल होता है। भुजंगीके समान ही ये अविश्वास्य होती हैं। विद्युत्के समान इनकी चपलता प्रसिद्ध है। इनका वचन अमृतमय, किंतु हृदय तो क्षुरधाराके तुल्य तीक्ष्ण होता है'—

सन्ध्यावत्क्षणरागिण्यो नदीवत् कुटिलाशया:।
भुजङ्गीवदविश्वास्या विद्युद्वच्चपला: स्त्रिय:॥
वचोऽमृतमयं यासां कामिनां रसवर्धनम्।
हृदयं क्षुरधाराभं प्रिय: को नाम योषिताम्॥

'भ्रमर जैसे एक पुष्पसे दूसरे पुष्पपर जाता रहता है, यही स्थिति स्त्रीकी होती है'—

'भृङ्गीव पुष्पपुरुषं स्त्री वाञ्छति नवं नवम्।'

'अति चपल पारदका निग्रह किया जा सकता है, परंतु स्त्रीचित्तग्रहणकी कोई भी युक्ति नहीं है'—

अत्यन्तचपलस्येह पारदस्य निबन्धने।
कामं विज्ञायते युक्तिर्न स्त्रीचित्तस्य काचन॥

'परंतु स्त्रीकी ही क्यों, कुत्सित स्त्रियों-जैसी ही कुत्सित पुरुषोंकी भी स्थिति तो वैसी ही है। माँ! वस्तुतस्तु, यदि आपकी कृपा होती है तो सभी अनुकूल होते हैं। आपकी कृपाके बिना प्रकृतिके परमाणु-परमाणु उद्वेजक ही सिद्ध होते हैं। माँ! अब तो एक बार अनुकम्पाभरी दृष्टिसे निहार दो। माँ! यह विषयों तथा कामादिकोंद्वारा और कितनी कदर्थना और कितनी विडम्बना सहाओगी?'

'माँ! मैंने इन तरलचित्तोंकी कितनी स्तुति नहीं की? इनका कितना अनुनय नहीं किया? जितनी स्तुतिमयी दीनतायुक्त पत्रिकाओंद्वारा इनके सामने रोना रोया, उतना यदि आपके सामने रोया होता तो ये पश्चात्तापके दिन न आते। जो सिर आपके भक्तों एवं आपके ही चरणारविन्दमें झुकाना चाहिये था, वह मृगमरीचिकामय प्राणियोंके सामने झुका। जो महत्त्व, जो गौरव आपके प्रति होना उचित था, वह साधारण प्राणियोंके प्रति किया गया। हाँ, वह भी यदि सर्वस्वरूपा आपको ही समझकर आपके ही प्रति होता तो कोई बात न थी। परंतु माँ! उन सब बातोंको मेरी कमजोरी समझा गया, मुझपर दया दिखायी गयी। बहुतोंने उपहास भी किया, बहुतोंने उपेक्षा की, बहुतोंने घृणा भी की, बहुतोंने उसे भी एक उपद्रव समझकर इस बलाको टालना ही उचित समझा। मेरे भावपूर्ण हृदयको ठुकराया गया। उन पत्रिकाओंका आदर करना, हृदयसे लगा लेना, भाव समझना तो दूरकी बात, उन्हें देखना, पढ़ना भी शुद्ध भार समझा गया। माँ! यह सब आपकी उपेक्षा और मेरे दुर्भाग्यका ही तो परिणाम था। माँ! जिनके लिये कितने ही अनुष्ठान, कितनी ही प्रार्थनाएँ की गयीं, जिनके लिये घोर वेदना सहन की गयी, लक्षों अश्रु-बिन्दुओंका समर्पण किया गया, उन्हींद्वारा उपेक्षा, पूर्ण उपेक्षा, हृदयको पूर्णरूपसे कुचल डालनेका प्रयत्न किया गया। जिनके लिये मानापमान सहा गया, मानहीन भोजन किया गया, उनसे ही क्या मिला? ठीक ही है। अनेक दुर्गम-विषम देशोंमें भटकना पड़ा, परंतु कुछ भी न मिला। जाति-कुलके अनुकूल उचित अभिमान छोड़कर भी निष्फल सेवा, निष्फल अनुनय-विनय करना पड़ा, दूसरोंके गृहोंमें मानवर्जित, आशंकायुक्त काकवत् भोजन करना पड़ा। यह सब तृष्णा एवं कामकी ही कदर्थना तो थी। हे पापकर्मनिरते तृष्णे! क्या अब भी तुझे सन्तोष नहीं है?'—

भ्रान्तं देशमनेकदुर्गविषयं प्राप्तं न किञ्चित् फलं
त्यक्त्वा जातिकुलाभिमानमुचितं सेवा कृता निष्फला।
भुक्तं मानविवर्जितं परगृहे स्वाशङ्कया काकवत्
तृष्णे जृम्भसि पापकर्मनिरते नाद्यापि सन्तुष्यसि॥

'खलोंकी आराधनाओंमें तत्पर होकर उनके विविध उल्लापोंको भी सहा, हृदयके आँसुओंको रोककर शून्य मनसे उनके उपहासोंको भी सहा। माँ! आखिर जीवन भी तो क्षणभंगुर ही है। आदित्यके गमनागमनद्वारा प्रतिदिन ही तो जीवन क्षीण हो रहा है। वह कार्यभार गुरु व्यापारोंसे कालका बीतना भी कहाँ मालूम पड़ रहा है? माँ! जन्म, जरा, मरणादि भीषण विपत्तियोंको देखकर भी त्रास उत्पन्न नहीं होता। माँ! सचमुच मोहमयी प्रमादमदिरासे हम सभी उन्मत्त हो रहे हैं'—

आदित्यस्य गतागतैरहरहः सङ्क्षीयते जीवनं
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्॥

'माँ! भर्तृहरिके कथनानुसार सचमुच आशा नामकी नदी अति भीषण है। विविध प्रकारके मनोरथ ही इसका जल है। विविध विषय तृष्णा-तरंगोंसे वह आकुल है। राग ही उसमें ग्राह है। विविध वितर्क

ही विहंगम हैं। धैर्यद्रुमका विध्वंसन करनेवाली, मोहरूपी आवर्तोंसे अतिसुदुस्तर तथा प्रोत्तुंग चिन्तारूपी तटवाली इस नदीको जो पार कर जाते हैं, वे ही विशुद्ध मनवाले योगीजन सुखी होते हैं'—

आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरङ्गाकुला
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी।
मोहावर्तसुदुस्तरातिगहना प्रोत्तुङ्गचिन्तातटी
तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः॥

'यह विषय सबके सब अवश्य ही बहुत दिन बाद भी जायँगे ही। वियोगमें कोई भी भेद नहीं। फिर भी प्राणी क्यों नहीं इनको स्वेच्छासे छोड़ता? यदि ये विषय स्वेच्छासे जायँगे तो मनके अतुल परितापके हेतु बनेंगे। किंतु यदि समझदारीके साथ इन्हें छोड़ दिया जाय, तब तो वे अनन्त शान्ति-सुखके हेतु बनते हैं'—

'अंतहु तोहिं तजैंगे पामर! तू न तजै अबही ते॥'

(वि०प० १९८।३)

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वाऽपि विषयाः
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून्।
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति॥

मोहकी विचित्र महिमा

'परंतु फिर भी मोह-महिमा विचित्र है। बेचारा पतंग तो दहनके भीषण स्वरूपको बिना जाने उसमें पड़कर मरता है, बेचारा मीन भी बिना समझे वंशीयुक्त मांस खा लेता है। परंतु हमलोग तो जानते हुए इन विपज्जालजटिल कामोंको नहीं छोड़ पाते'—

अजानन्माहात्म्यं पततु शलभस्तीव्रदहने
स मीनोऽप्यज्ञानाद्बडिशयुतमश्नातु पिशितम्।
विजानन्तोऽप्येतद्वयमिह विपज्जालजटिलान्
न मुञ्चामः कामानहह गहनो मोहमहिमा॥

'सचमुच जो विवेकी लोग विविध भोगों, कांचन, धनादिकोंको अतिनिःस्पृहताके साथ छोड़ देते हैं, वे बड़ा ही दुष्कर कार्य करते हैं। हमलोगोंको तो कोई विशिष्ट भोग, धनादि न पहले मिले, न अब ही प्राप्त है और न आगे ही मिलनेका दृढ़ विश्वास है। फिर भी केवल वांछामात्र परिग्रह भी हमलोगोंके छोड़े नहीं छूटते'—

ब्रह्मज्ञानविवेकिनोऽमलधियः कुर्वन्त्यहो दुष्करं
यन्मुञ्चन्त्युपभोगवन्त्यपि धनान्येकान्ततो निःस्पृहाः।
न प्राप्तानि पुरा न सम्प्रति न च प्राप्तौ दृढः प्रत्ययः
वाञ्छामात्रपरिग्रहाण्यपि परं त्यक्तुं न शक्ता वयम्॥

'फिर भी वस्तुएँ कभी स्थिर नहीं हैं। तभी तो एक भग्नशेष राजधानी देखकर कोई सहृदय व्यक्ति कहता है कि कभी यहीं एक सम्राट् था। उसके पार्श्वमें ही सामन्तचक्र था। उसके समीप कितनी सुन्दर राजपरिषद् थी और चन्द्रबिम्बानना दिव्यस्त्रियाँ, उनके विविध विलास-वैभव थे। वे उद्रिक्त राजपुत्र-समूह थे। वे स्तुति-पाठक, बन्दी और वे विचित्र कथाएँ थीं। परंतु सब कुछ जिस कालकी महिमासे आज केवल स्मृतिशेष रह गये, उस कालको नमस्कार है'—

भ्रातः कष्टमहो महान् स नृपतिः सामन्तचक्रञ्च तत्
पार्श्वे तस्य च सापि राजपरिषत् ताश्चन्द्रबिम्बाननाः।
उद्रिक्तः स च राजपुत्रनिवहस्ते बन्दिनस्ताः कथाः
सर्वं यस्य वशादगात्स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः॥

'माँ! आपकी मंगलमयी कृपा हो, तब तो सहस्रों महापुरुषोंके वचन हैं, जिनसे अविवेकान्ध प्राणियोंकी भी आँखें खुल सकती हैं। हे चित्त! इस मोहान्धकारका मार्जन कर प्रभु शिवके चरणारविन्दमें प्रीति कर एवं गंगारजमें ही आसंग कर। अरे! क्या तरंगों, बुद्बुदों या विद्युल्लेखाओं, स्त्रीजनों, ज्वालाग्रों, पन्नगों अथवा सरिद्वेगोंमें कोई प्रत्यय हो सकता है? यदि नहीं तो क्षणभंगुर भावोंके पीछे अपना सर्वनाश क्यों कर रहा है?'—

मोहं मार्जयतामुपार्जय रतिं चन्द्रार्धचूडामणौ
चेतः स्वर्गतरङ्गिणीतटभुवामासङ्गमङ्गीकुरु।
को वा वीचिषु बुद्बुदेषु च तडिल्लेखासु च स्त्रीषु च
ज्वालाग्रेषु च पन्नगेषु च सरिद्वेगेषु कः प्रत्ययः॥

माँ! संसारके सभी उपाय तभी सार्थक होते हैं,

जब आपकी कृपादृष्टि हो। उसके बिना तो यही जँचता है—

मातु मृत्यु पितु समन समाना। सुधा होइ बिष सुनु हरिजाना॥
सब जगु ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता॥

(रा०च०मा० ३।२।६, ८)

माँ ही एकमात्र शरण

माँ! निराश, हताशकी एकमात्र आप ही आशा हैं, इस संसारमें अन्धेकी यष्टिके तुल्य मुझ-सरीखे प्रपन्न, पतित पशुओंका एकमात्र आप ही सहारा हैं। माँ! भीषण संसार भले ही अत्यन्त असत्प्राय हो तथापि मैं अतिसन्त्रस्त हूँ। हे कृपणवत्सले! कौन कह सकता है कि जड़भरत विद्वान् एवं विवेकी नहीं थे? जिसने अखण्ड भूमण्डलका चक्रवर्तित्व छोड़ा, परमप्रिय ऐश्वर्यपूर्ण पट्टरानियों, हृदयाभिन्न पुत्र-पुत्रियोंका परित्याग किया, वही एक दृश्य विषूचिकाके बिन्दुकणसमुद्भूत हरिण-शावकके माया-मोहमें फँस गये। भृत्यवत्सले! यही तो है समुद्र पारकर गोपदमें डूब जानेका उदाहरण! विदेहराजतनये माँ! कभी-कभी प्राणी उत्कृष्टसे उत्कृष्ट वस्तुओंका त्यागकर देता है, परंतु कालान्तरमें वही नगण्य वस्तुओंका रागी बनकर दीन हो जाता है और उन्हींके लिये विविध विडम्बनाओंका पात्र बनता है। माँ! मनका गुलाम, इन्द्रियोंका दास प्राणी विषयोंका कीड़ा बन जाता है। माँ! सम्पूर्ण कदर्थनाओंकी जड़ माया-ममता ही तो है। यदि आप चाहें तो क्या ये सब क्षणभर भी टिक सकते हैं? माँ! वस्तुतस्तु आपकी कृपाके बिना ही मूढ़मति प्राणीके लिये यह संसार वज्रसार है। जैसे बाल-कल्पित वेताल उसकी मृत्युतक पीछा नहीं छोड़ता, वैसे ही यह स्वकल्पित संसार भी वज्रपंजरके तुल्य दुर्भेद्य बना रहता। जैसे घोर सन्ताननिदान आतप ही मृगोंके जलभ्रमका कारण बन जाता है, वैसे ही असत्य जगत् ही सत्यवत् प्रतीत होता है। जैसे स्वप्नकी मृत्यु असत्य होते हुए भी सत्य प्रतीत होती है, वही स्थिति इस भीषण दृश्यविषूचिकाकी है।

कनकसे अपरिचित प्राणीके लिये कनकनिर्मित कटकमें कटकबुद्धि ही होती है, भूलकर भी जिसमें कनकबुद्धि नहीं होती, ठीक उसी प्रकार यद्यपि निर्दृश्य, परमार्थदृक्का ही परिणाम नगर, गृह, नर, नग, नागेन्द्रादि प्रपंच हैं, फिर भी अज्ञ प्राणीको परमार्थदृक्का प्रबोध नहीं होता। दृश्यमात्र दृक् ही है, परमार्थ दृक्से भिन्न कुछ भी नहीं है। जिस प्रकार आकाशमें गन्धर्वनगर आदिकी प्रतीति होती है, इसी प्रकार दुर्दृष्टियुक्त प्राणियोंको जगत् प्रतिभासित होता है। यह विश्व दीर्घ स्वप्न, दीर्घ मनोराज्य अथवा दीर्घ चित्तविभ्रममात्र है। अहन्तादियुक्त दुरन्त विश्व हिरण्यगर्भका एक क्षुद्र स्वप्न ही तो है। चैत्यवर्जित (दृश्यरहित) चिन्मात्रस्वरूप ही परमाकाश पूर्णरूपसे आतत (व्याप्त) है। वही सर्वात्मा एवं सर्वशक्ति है। जैसे स्वप्नका द्रष्टा स्वप्नपुरमें जिन नर-नागादि पदार्थोंको जिस प्रकार जानता है, वे तत्क्षण ही उसी प्रकार उत्पन्न होते हैं। द्रष्टाका चित्स्वरूप ही स्वप्नाकारमें स्थित है। स्वाप्निक विविध-व्यवहारनिरत प्राणियोंमें जैसे परस्पर सत्यत्व-बुद्धि उत्पन्न होती है, वैसे ही व्यावहारिक प्रपंचोंमें भी परस्पर सत्यत्व-बुद्धि होती है। स्वप्नस्त्री-संगमके तुल्य मिथ्या प्रपंचमें ही कार्यकारिता भी दृष्टिगोचर होती है। माँ! संसारके घोर-से-घोर संग्राम, घोर-से-घोर राष्ट्रविप्लव, भूधर, सागर, गगन एवं भीषण कान्तार, पुर, नगर, पत्तन, ग्रामादिकी सृष्टि एवं सूर्य, चन्द्र, तारक, हिमालय, समुद्र आदिका महाप्रलयादि सभी तो चित्स्वरूपिणी आपके ही एक कोणमें दर्पणस्थ प्रतिबिम्बके तुल्य भासित होता है और फिर भी सब-का-सब स्वप्नके तुल्य अत्यन्त असत् है। नाशोत्पादविवर्जित शुद्ध चिद्रूप आप ही इसका अधिष्ठान भी हैं और मेरी माँ! मुझे तो यही प्रतीत होता है कि चाहे घनघोर विपत्तियाँ क्यों न आयें, माँ! यदि आपका अनुग्रह हो तो फिर क्या चिन्ता?

दीनजनोंपर माँकी विशेष कृपा

'माँ! मुझे मालूम भी हो और चिन्ता भी हो तो भी मुझसे क्या बननेवाला है? जिससे सब कुछ बन

सकता है, उसे ही मालूम होना चाहिये। करुणामयि! दीनवत्सले! आप जो ठीक समझती हैं, वही ठीक है। परंतु माँ! यद्यपि सभी सन्तान आपके ही हैं तथापि दुःखी एवं दीन सन्तानोंपर अम्बाकी कृपा मुख्य रूपसे होती है। माँ! मुझे तो ईर्ष्या होती है, मेरे सेवकोंकी; क्योंकि जितनी कृपा आप मेरे सेवकोंपर करती हैं, उतनी मेरेपर नहीं करतीं। मेरी माँ! सचमुच मैं विचार करता हूँ तो मेरे समान कोई पातकी नहीं है। किंतु आपके समान पापघ्नी भी कौन है? किंतु माँ! भूमिमें जिनका स्खलन होता है, उनका अवलम्बन सिवा भूमिके और क्या हो सकता है? उसी तरह माँ! चिन्मयी माँ! मैं और मेरा जो कुछ भी है, सब तुम्हारेमें ही है, तुम्हारा ही परिणाम, तुम्हारा विवर्त, तुम्हारा ही स्वरूप सब कुछ है। माँ! तुम्हारे प्रति होनेवाले अपराधोंके होनेपर भी आपके सिवा और कौन सहारा है? माँ! यह भी ठीक है कि अधिकांश समय मायाजालमें, संसारकी भूल-भुलैयामें ही बीतता जा रहा है। जब घोर विपद्‌ग्रस्त होता हूँ, तभी तो आपको पुकारता हूँ। माँ! जैसे भूखे-प्यासे होनेपर ही अधिकांश माताकी स्मृति होती है, वैसे ही विपद्‌ग्रस्त सन्तान अपनी पराम्बाके ही चरणोंका आश्रय ग्रहण करते हैं। परतत्त्वमें अहन्तादि प्रपंच कुछ भी नहीं है, शुद्ध, अखण्ड बोध ही वस्तु है। जैसे जलसे भिन्न तरंग, फेन, बुद्‌बुदादि कुछ भी नहीं है, वैसे ही अखण्ड बोध वस्तुसे भिन्न होकर कुछ भी पदार्थ नहीं है'—

हन्तादि परे तत्त्वे मनागपि न विद्यते।
ऊर्म्यादीव पृथक् तोये संवित्सारं हि तद्यतः॥

जबतक बालकल्पित वेताल होता है, तभीतक भय होता है। युक्तिसे वेतालकी कल्पना समाप्त होते ही भय दूर हो जाता है।

इस दृश्यप्रपंचके उदरमें भी आप ही हैं। सुमेरु आदि पर्वतजाल वज्रसारवत् प्रतिमा समान होते हुए भी सर्वशून्य चिदणुस्वरूप आपका ही एक अंश है। अगणित, लक्ष-लक्ष, कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड आपके एक अणुमात्र प्रदेशमें हैं। जिस प्रकार मरु-मरीचिकामें जिस क्षण अपार जलराशि एवं तरंग, फेन, बुद्‌बुदादि अनन्त प्रपंच प्रतीत होता है, उसी क्षण मरु-मरीचिका शुद्ध, शुष्क ही रहती है, वहाँ जलसत्ता सर्वथा ही नहीं होती, वैसे ही अनन्त संग्राम, अनन्त अनुकूल-प्रतिकूल, अनन्त दृश्यविषूचिकाएँ प्रतीतिकालमें ही स्वाधिष्ठानमें ही अत्यन्त शून्य हैं। महाकाश एवं महासूर्यमण्डलमें जैसे बादल, वर्षा, तड़ित्प्रकाश, महावात्या आदि प्रपंचोंके आने-जानेका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता, वैसे ही अनुकूल-प्रतिकूल विविध जगद्विजृम्भणका अधिष्ठान चित्स्वरूपपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। युद्ध, शान्ति, सृष्टि, प्रलय, अनन्त व्यवहार सभी भ्रान्तिमात्र हैं। राग एवं मोहका भी भीषण प्रपंच, महोत्सव एवं मातम, विविध नृत्य, वादित्र, परिहास, विलास, रसरास, विलाप, क्रन्दन, हाहाकार, चीत्कार सब कुछ अन्ततः आपके चित्स्वरूपमें ही प्रस्फुरित होते हैं। वस्तुतः स्फुरण, शुद्ध, अखण्ड भानसे भिन्न सब भ्रान्ति ही तो है। अग्निकाण्डकी अग्निज्वाला, संग्राम, महाव्याधियों एवं मरणकी रोमांचकारी भीषणता भी शुद्ध चिदुल्लासमात्र ही तो है।

माँकी कृपासे ही माँका स्वरूपबोध

माँ! राग, द्वेष, मोह, मान, मद, आशा, तृष्णा और धैर्यध्वंसी विकार तथा मरण समयकी भीषण वेदनाएँ सचमुच भ्रान्तिमात्र हैं। परंतु यदि आपकी कृपासे आपका स्वरूप प्रस्फुरित हो सके, तब। वह मरणकालिक कण्ठकी घर्घराहट, वह दृष्टिका वैवर्ण्य, वह दीनता कितनी भयावनी है? जब घोर वेदनाओंसे चारों ओर अन्धकार छा जाता है, दिनमें तारे दिखायी देते हैं, मर्मपीड़ासे भूकम्प एवं भूभ्रमण-सा प्रतीत होने लगता है, वसुधा आकाश एवं आकाश पृथ्वी प्रतीत होते हैं, जीव दिग्भ्रान्त होकर महार्णव या महाकाशकी ओर आकृष्ट होता हुआ भीषण अग्निज्वालासे अथवा महाशिलाके उदरमें प्रविष्ट होता हुआ-सा अपनेको मानने लगता है, रथारूढ़-सा अथवा हिमालयमें

गलता हुआ-सा, रसनासे आकृष्ट हुआ-सा विमूढ़धी होकर प्राणी कितना विवश होता है? जलावर्तमें तथा पर्जन्यमें, मारुतमें, अनन्त गगनमें, कभी समुद्रमें, कभी पृथ्वीमें गिरता हुआ-सा मोह, मूर्च्छा, वेदनाओंका अनुभव करता है। जब भीषण व्यथासे नाड़ियोंकी स्वाभाविक गति बदल जाती है, भीतर प्रविष्ट वायु बाहर नहीं आता, बाहरका वायु भीतर नहीं जाता, उसी समय संज्ञाविनाशरूप, अतिविस्मृतिस्वरूप मृत्युका व्यवहार होता है। वस्तुतः इस समय भी स्वप्रकाश चेतन आत्मा ज्यों-का-त्यों अक्षुण्ण ही रहता है। दृश्यके अत्यन्तासम्भवकी भावनासे दृश्य वासना क्षीण होती है। किसी हेतुसे अत्यन्त विस्मृति ही जन्तुकी मृत्यु है और स्वप्न एवं माया मनोरथके समान सर्वभावसे विषय-स्वीकार ही जन्म है—

जन्तोर्वै कस्यचिद्धेतोर्मृत्युरत्यन्तविस्मृतिः॥
जन्म त्वात्मतया पुंसः सर्वभावेन भूरिद।
विषयस्वीकृतिं प्राहुर्यथा स्वप्नमनोरथः॥

(श्रीमद्भा० ११। २२। ३८-३९)

माँ! जगदाधारस्वरूपे! स्थूल, सूक्ष्म, कारणरूप त्रिविध शरीर ही आपका पुर है, इसलिये आप सर्वसाक्षिणी त्रिपुरा हैं। माँ! कितने ही प्राणी मृत्युके अनन्तर पाषाणहृदयके तुल्य अति जड़ताको प्राप्त होकर बहुत समयतक रहते हैं। वासनावशात् पुनः विविध नरकदुःखोंका अनुभव करके सहस्रों योनियोंमें भटककर, विविध दुःखोंको भोगकर पुनः क्वचित् शमको प्राप्त कर पाते हैं। वस्तुतस्तु सब कुछ हृदयस्थ विचारमात्र ही है। जैसे स्वप्नद्रष्टाके कर्मों और वासनाओंसे संवलित विचार ही घनीभूत होकर वज्रसारतुल्य स्वाप्निक प्रपंचरूपमें प्रकट होते हैं, वैसे ही क्षणमें दुःखशताकुल वृक्षलतादिको प्राप्त होता है। वासनाके अनुरूप ही नरकादि तथा विविध योनिके जन्मोंका भी अनुभव होता है। भावनानुसार ही कोई स्वर्गसुख एवं ब्रह्मलोक-सुखका अनुभव करते हैं। कुछ लोग भावनावशात् ही यह भी अनुभव करते हैं कि यमभटोंसे यमपुरके लिये ले जाये जा रहे हैं, मार्गमें विविध उद्यानों, शोभन विमानोंका अनुभव करते हैं। कभी-कभी स्वकर्मवश प्राप्त हिमानी-कण्टक, श्वभ्र शस्त्रपात आदिका अनुभव करते हैं। कहीं स्निग्धछाया तथा वापीसंयुक्त स्थान प्राप्त होता है। यमपुरमें जाकर यमका दर्शन, शुभाशुभ कर्मोंका विचार, तदनुकूल स्वर्ग-नरकादि भोग, पुनः पंचाग्निविद्याक्रमेण शालिव्रीहि-यवादिभावकी प्राप्ति, शुक्रादि-परिणति, रत्यादिद्वारा गर्भस्थिति, गर्भवृद्धि आदि क्रमेण बालक-जन्म, पुनश्च क्रमेण तारुण्य, जरादिकी अनुभूति होती है।

सर्गादिमें शैल, द्रुम, पृथ्वी आदि सब कुछ तत्पदार्थ परमेश्वरमें ही अध्यस्त होते हैं। अनावृत चैतन्यद्वारा सत्त्वत्वेन असत्य वस्तुओंका प्रतिभास होता है। ईश्वर सर्वज्ञ है, अतः उसे सर्वार्थका प्रतिभास होता है। स्वरूपसे अप्रच्युतमें ही जगदध्यास उपपन्न होता है। जैसे स्वप्नद्रष्टाके द्वारा अनेक चेतनाचेतन प्रपंचकी सृष्टि प्रतीत होती है, वहाँ स्वप्नद्रष्टासे भिन्न कुछ भी नहीं है, ठीक वैसे ही अखण्ड भानसे भिन्न होकर चेनताचेतन दृश्य कुछ भी नहीं है। पाषाण, पारदादिमें साभास अन्तःकरण उद्भूत नहीं है, अतः वे अचेतन कहलाते हैं। नर, तिर्यगादिमें साभास अन्तःकरण विकसित होते हैं, अतः वे चेतन कहलाते हैं।

हे माँ! 'योगवासिष्ठ' में ज्ञप्तिस्वरूपसे जो आपने समझाया था कि आतिवाहिक प्रपंच ही आधिभौतिक रूपसे प्रतीत होता है, गम्भीरतासे विचारनेपर बात ठीक वैसी ही प्रतीत होती है। आधिभौतिक प्रपंचकी गुरुता, कठिनता आदि समाप्त हो जाते हैं, जब उसकी आतिवाहिकताका बोध होता है। जैसे स्वप्नमें उपलब्ध प्रपंचकी दुर्भेद्यताका द्रष्टा तभीतक अनुभव करता है, जबतक प्रबोध नहीं होता। प्रबोध होते ही स्वप्नका कारागार, स्वप्नके दुर्भेद्य निगड़ादि बन्धन न जाने कहाँ चले जाते हैं। उनकी कठोरता, उनका अस्तित्व कहाँसे आया था और कहाँ चला गया, यह कहना कठिन है। सब कुछ संकल्पका ही

परिणाम है। 'संकल्पस्वरूप ही सब कुछ है' इस बोधके दृढ़ होनेपर कोई भी स्थूल पदार्थ कहीं भी प्रतिरोधक नहीं होता। स्वप्न एवं संकल्पके पर्वतादि संवित्‌में ही विलीन हो जाते हैं। जैसे सस्पन्द वायु निस्पन्द वायुमें लीन हो जाता है, ठीक वैसे ही संवित्‌में ही सब संकल्पात्मक प्रपंच विलीन होता है; क्योंकि संविद् ही विभिन्न रूपसे प्रतिभासित होती है।

स्वकल्पित प्रपंच ही दुःखका हेतु है

मिथ्याज्ञान, अबोध आदिके कारण ही स्वप्न एवं संकल्पके पदार्थों एवं संवित्‌में भेद प्रतीत होता है। जैसे जल एवं द्रवत्वमें भेद नहीं है, ठीक वैसे ही यहाँ भी भेद नहीं है। स्वप्न एवं जाग्रत्‌में भी संवित्‌में परम सत्यता है। स्वप्न आदि पदार्थोंमें परम असत्यता है। स्वप्नमें क्षणमें आकाश एवं क्षणमें वही आकाश पर्वत हो जाता है। अतएव किसी सत् पदार्थके मार्जनमें क्लेश होता है, परंतु जो असत् पदार्थ है, उसके मार्जनमें क्या क्लेश? आकाशस्वरूप अनन्त ज्ञान ही सब ज्ञेय है। अतिस्वच्छ चित्स्वरूप आकाशमें, एक चित्कणमें ही अनन्त प्रपंचकी व्यर्थ ही भ्रान्ति है। एक परमाणु एवं एक निमेषके लक्षांशमेंसे भी सहस्रों जगत् एवं सहस्रों कल्पोंका विभ्रम होता है। जैसे समुद्रमें अगणित तरंग-परम्परा प्रस्फुरित होती है, वैसे ही एक चित्परमाणुमें अनन्त सर्ग-परम्पराएँ प्रस्फुरित होती रहती हैं। सर्वशक्ति चित्स्वरूप महात्रिपुरा अन्तःकरण-सम्बन्धसे चिच्छक्तिको प्रकट करती है। सत्त्वगुणपर शान्ति, तमपर जड़ता और रजपर रागादिको व्यक्त करती है और कहीं मिश्रित गुणकार्य। सुषुप्ति, प्रलयादिमें कुछ भी नहीं प्रकट करती। व्यवहारके लिये अनेक विकल्पजाल उसीसे प्रकट होते हैं। वस्तुतः परमात्मस्वरूप त्रिपुरा सर्वथा ही प्रपंचातीत है। उसी शुद्ध चिद्रूप महादर्पणमें अनन्त जगज्जाल-परम्परा प्रतिबिम्बके तुल्य प्रतिभासित होती है। जैसे निर्वात, शान्त समुद्र ही स्पन्दवशात् तरंग, फेन, बुद्बुद आदि आकारसे प्रतिभासित होने लगता है, वैसे ही स्वच्छ, शान्त ब्रह्ममें मायावशात् अनन्त जगज्जाल प्रतीत होने लगता है।

नाशोऽपि सुखयत्यङ्गमेकवस्त्वतिरागिणाम्।
सूचीभूता विदेहापि परितुष्टैव राक्षसी॥

जैसे वेतालकी कल्पनासे बालक भयभीत होता है, वैसे ही स्वकल्पित प्रपंचसे ही प्राणी दुःखी होता है। स्वकल्पित वस्तुमें ही अतिरागसे प्राणीको आत्मनाश भी सुखकर प्रतीत होता है, जैसे देहनाशमें भी विषूचिका तुष्ट हुई। रागविशेषसे ही अल्पसत्त्व प्राणी तुच्छ वस्तुके लिये तप करके उसे वरदानके रूपमें प्राप्त करना चाहता है—

तुच्छोऽप्यर्थोऽल्पसत्त्वानां गच्छति प्रार्थनीयताम्।
सूचीवृता पिशाचीत्वं राक्षस्या तपसा स्थितम्॥

कामनात्यागसे दृढ़बोधकी प्राप्ति

असम्यग्दर्शन एवं मनके बलसे दीर्घस्वप्न ही संसार बन जाता है। परम कारणसे ही किंचिन्मात्र मननी शक्तिको धारण करनेसे चित् ही चित्त बन जाता है। फिर वही चैत्योन्मुख (दृश्यके उन्मुख) होकर प्रपंच-कल्पनाओंका मूल बनता है। जैसे चिदात्मा एवं जीवमें भेद नहीं, वैसे ही चित्त एवं जीवमें भी भेद नहीं है। सारांश यह कि जैसे जलसे भिन्न होकर तरंग नहीं होता, वैसे ही चित्तसे भिन्न होकर दृश्यप्रपंच नहीं है; क्योंकि अन्वय-व्यतिरेकसे जल होनेपर ही तरंग उपलब्ध होता है, जल न होनेपर तरंग उपलब्ध नहीं होता, वैसे ही चित्तके चांचल्यके बिना प्रपंचकी प्रतीति नहीं होती। इसी तरह अखण्ड भानमें ही चित्तका भी स्फुरण होता है, अखण्ड भानके बिना चित्तका स्फुरण ही असम्भव है। इसीलिये बोधमात्रसे संसारव्याधिकी चिकित्सा हो सकती है। यदि वासनात्यागपूर्वक सर्वत्याग सम्पन्न हो तो तत्क्षण ही मुक्ति हस्तगत होती है—

यदि सर्वं परित्यज्य तिष्ठस्युत्क्रान्तवासनः।
अमुनैव निमेषेण तन्मुक्तोऽसि न संशयः॥

जैसे ठीक वीक्षणसे ही रज्जुसे सर्पभ्रम हट जाता है, वैसे ही विचारमात्रसे संसृति मिट जाती है। जिन-जिन पदार्थोंमें अभिलाष है, उन-उन पदार्थोंका

त्याग एवं बोध होनेसे ही दृढ़ बोध होता है—

यत्राभिलाषस्तन्नूनं सन्त्यज्य स्थीयते यदि।
प्राप्त एवाङ्ग तन्मोक्षः किमेतावतिदुष्करम्॥

जैसे स्फटिकके भीतर घनताके अवेदनसे ही वृक्ष, नगरादिकी प्रतीति होती है, वैसे ही अखण्ड भानरूपी ब्रह्ममें घनताके अवेदनसे ही प्रपंच प्रतीत होता है। जैसे जहाँ भूमिका खनन होता है, वहीं आकाश प्रकट होता है, वैसे ही जिस सम्बन्धमें ही विचार किया जायगा, वही वस्तु स्वरूपसे बाधित होनेपर अखण्डबोधस्वरूप ही अवशिष्ट रहता है। 'योगवासिष्ठ' में मन, इन्द्रिय आदिसे अगम्य होनेके कारण उसी परमतत्त्वको अणु कहा जाता है। आकाशादि सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थोंका भी वही परम कारण है, अतः निरतिशय सूक्ष्म है। जैसे सूक्ष्म वटबीजके भीतर महावृक्षकी सत्ता होती है, वैसे ही परमसूक्ष्म, स्वप्रकाश, व्यापक चित्स्वरूप आत्मामें सत्-असत्, स्थूल-सूक्ष्म सब प्रपंच स्थित होता है।

सम्पूर्ण दृश्यप्रपंच शून्य होनेसे वही आकाश कहा जाता है। परंतु जड़ाकाशसे विलक्षण स्वयं चिद्घनस्वरूप है, अतः अनाकाश भी वही है। इन्द्रियातीत होनेसे वह अमल है। चित्तरूपी महाम्बुधिमें अपरिगणित जगत्‌रूपी तरंग प्रतिभासित होते हैं। वह चित्त भी उसी अखण्ड भानमें भ्रमरूप है। उसी अनाद्यनन्त परमाकाशमें यह जगच्चित्रके तुल्य अकृत होता हुआ भी कृत-सा प्रतीत होता है। उसीमें अनन्त अहन्ता-ममतारूप संसार भासित होता है। चन्द्र, आदित्य, अग्नि आदि सभी ज्योतियोंका वही परमभासक है, अतः वही ज्योतिका भी ज्योति कहा जाता है। चन्द्रादित्यादि बाह्य ज्योतियों तथा नेत्र, श्रोत्र, मन, बुद्धि आदि आन्तर ज्योतियोंमें वही सत्ता और स्फूर्ति देनेवाला है। महाज्योति, महा अग्नि वही है। वह ऐसा अग्नि है कि महाप्रलयके बादलोंके भी बुझाये नहीं बुझ सकता, क्योंकि आत्मस्वरूप भी अर्थात् आत्मरूप दीप्तिसे ही तो प्रलयाम्बुदका भी परिज्ञान होता है। वही नेत्रगम्य न होनेपर भी हृदयरूपी गृहका प्रकाशदीप है। वही सर्वप्रकाशक एवं अनन्त है। गाढ़ान्धकार स्थित जो अहं किसीसे भी प्रकाशित नहीं होता, वह भी इसी सर्वान्तर ब्रह्मात्मज्योतिसे प्रकाशित होता है। उसी अखण्ड बोधस्वरूपमें प्रमाणाप्रमाण एवं प्रमेय प्रस्फुरित होते हैं। सभी देश, काल एवं वस्तुओंका आधार, अधिष्ठान, भासक भी वही है। सर्वभासक होनेसे वही महान् है। अगम्य, अनिर्भास्य होनेसे वही अणु भी है। उसीसे प्रस्फुरित संकल्प ही स्थूल, सूक्ष्म सब प्रपंच है। संकल्पमें ही स्वल्प देश-कालमें महान् देश-कालकी प्रतीति भी होती है। स्वप्नमें अतिस्वल्प नाड़ी-प्रदेशमें मेरु, आकाश आदि प्रतीत होते हैं। स्वप्नमें ही क्षणमात्र कालमें वर्षों, युगों तथा कल्पोंकी भी प्रतीति होती है। दुःखमें छोटा काल भी महान् प्रतीत होता है। सुखमें महान् समय भी छोटा-सा ही प्रतीत होता है। हरिश्चन्द्रको एक रात्रि ही द्वादश वर्षोंकी प्रतीत हुई। लवण राजाको कुछ मुहूर्तमें ही सौ वर्षोंका घोर दुःखमय मिथ्या प्रपंच प्रतीत हुआ। क्षण-कल्प, प्रकाश-अप्रकाश, दूरत्व-अदूरत्व सभी एक चित्का संकल्पमात्र है। जैसे जबतक कुण्डलादि भूषणोंमें अभिनिवेश होता है, तबतक सुवर्ण प्रतीत नहीं होता। सुवर्ण-बुद्धि स्थिर होनेपर फिर कटकादि-बुद्धि बाधित हो जाती है। निर्मल दर्पण में प्रतिभासित नगरके तुल्य ही शुद्ध बोधमें प्रपंच प्रतिभान है। जैसे घोर तापमयी मरु-मरीचिकामें अनन्त जलराशिकी कल्पना होती है, वैसे ही परम शीतल, शान्त, स्वच्छ, अखण्ड संवित्में भीषण भवाम्भोधि कल्पित है। जैसे स्वप्नों, गन्धर्वों एवं संकल्पोंके मायामय मिथ्या नगरोंमें कुड्यादिकी मिथ्या प्रतीति होती है, वैसे ही ब्रह्ममें आडम्बरपूर्ण दीर्घ जगद्विभ्रम है। स्वप्ननगरके आकाश और कुड्य, काष्ठ, पाषाणादिमें कोई भी अन्तर नहीं; क्योंकि सब केवल संकल्प ही हैं। आब्रह्मस्तम्ब प्रपंच चित्प्रकाशमें ही प्रतिभासित होनेके कारण सब चिद्रूप ही हैं।

असंख्य ब्रह्माण्ड उसी ब्रह्माम्बुधिके नगण्य बुद्‌बुद हैं। जाग्रदादि जगत्-प्रत्ययोंका अभाव होनेसे सर्वप्रत्ययोंका भासक नित्य विज्ञानरूप प्रत्यय स्फुटरूपसे व्यक्त होता है अर्थात् जागतिक विविध वृत्तियोंके रुद्ध होनेपर ही निर्वृत्तिक चित्तपर नित्य अखण्डबोधरूप ब्रह्मकी अभिव्यक्ति होती है।

वह 'नास्ति' बुद्धिका गोचर नहीं है, अत: असत् नहीं है। 'अस्ति' बुद्धिका गोचर नहीं है, अत: सत् भी नहीं, फिर भी त्रिकालाबाध्य सत्स्वरूप है। स्थूल-सूक्ष्म, कार्य-कारण, मूर्त-अमूर्तसे विलक्षण होनेसे भी उसे सत् एवं असत्‌से भिन्न जैसे क्षुधातुर प्राणी स्वप्नमें भोजन करके तृप्तिका अनुभव करता है, स्वप्नमें स्वमरणका अनुभव करता है, वही अनन्त आत्मसत्ता, जो स्वयं किसीसे भी आवृत नहीं हो सकती, परंतु सम्पूर्ण दृश्य उसीसे आवृत है, वैसे ही द्रष्टाके बिना दृश्यसिद्धि नहीं होती और दृश्यके बिना द्रष्टा भी सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि अखण्ड बोधके दृश्य-सम्पर्कसे ही द्रष्टृत्वका व्यवहार होता है। द्रष्टा चिद्रूप होनेसे दृश्यनिर्माणमें अवश्य समर्थ है। किंतु दृश्य स्वयं जड़ है, अत: वह समर्थ नहीं है। चित् ही असत् अर्थका निर्माण करता है, बोध होते ही दृश्य गलित हो जाता है। बोधके द्वारा विद्वान् प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय—सभीको वैसे ही निगल जाता है, जैसे सुवर्णमें कटक-कुण्डलादि विलीन हो जाते हैं, जैसे जलसे भिन्न द्रवता नहीं है, जैसे काष्ठमें काष्ठपुत्रिकाएँ एवं बीजमें अंकुर, नाल, स्कन्ध, शाखा, उपशाखा, काष्ठ एवं बीजसे अभिन्न ही होते हैं, वैसे ही चिन्मात्र, बोधस्वरूप ब्रह्मात्मामें ही चैत्य—दृश्य-प्रपंच उद्भूत होता है। परंतु वह भी चिन्मात्र ही है। फल एवं बीजकी एक ही सत्ता है। जल एवं तरंगमें, चिति-चैत्यमें वस्तुत: कोई भी भेद नहीं है। अविचारसे ही भेद प्रतीत होता है। अविचारसे भ्रान्ति जैसे आती है, विचारसे वैसे ही चली जाती है। ब्रह्मसे उत्पन्न सब प्रपंच ब्रह्म ही है। अविवेकसे ही भेदवाद खड़ा होता है। विवेक होते ही वह विलीन हो जाता है।

अखण्डबोधसे संसारकी नश्वरताका भान

सर्वाधिष्ठान अखण्ड बोधका परिचय होते ही संसार-कल्पना प्रशान्त हो जाती है। मनके मननसे ही प्रपंचका निर्माण होता है। सर्वत्यागपूर्वक शान्त होकर तत्त्ववित् स्वात्मामें ही विराजता है। रागादिदूषित चित्त ही भीषण संसार है। रागादिरहित चित्त भगवदुन्मुख कहा जाता है। चराचर प्रपंच उसी ब्रह्मकी लीला है। कोटि-कोटि यत्नोंसे ही उसकी प्राप्ति होती है, परंतु प्राप्त होनेपर प्रतीति होती है कि कोई नवीन वस्तु नहीं है, किंतु नित्यप्राप्त स्वात्मा ही ब्रह्म है। जैसे संकल्प-पर्वत संकल्पके क्षीण होते ही क्षीण हो जाता है, वैसे ही उसका प्रबोध होते ही मेरु आदि भी विलीन हो जाते हैं। अणु होनेपर भी वह आकाशमें भी नहीं समाता; क्योंकि वह अनादि एवं सर्वव्यापी है। शुद्ध चिन्मात्र ब्रह्मद्वारा ही मेर्वादि सब प्रपंच परिवेष्टित हैं। अतएव वह अणुसे अणीयान् एवं महान्‌से भी महीयान् है। यदि सूर्यादिजगत् स्वप्रकाश चेतनसे स्पष्ट न हो, तो सूर्यादिप्रकाशका क्या रूप हो सकता है? जड़त्वेन रूपेण (जड़रूपसे) तमसे भिन्न होकर वह्नि, अर्क आदि तेज भिन्न नहीं है। शुक्लता और कृष्णताका भी भेद है। दोनों ही जड़ हैं, दोनोंकी ही उपलब्धिके लिये स्वप्रकाश चित् अपेक्षित है। उदयास्त-वर्जित वही चिदादित्य दिन-रात प्रकाशमान रहता है। तम एवं प्रकाश दोनों ही उसी चित्‌से प्रकाशित होते हैं। इसी तरह आन्तरिक अज्ञान एवं ज्ञानरूप तम:प्रकाश उसी अखण्ड भानमें प्रतिभासित होते हैं। तम एवं प्रकाशको सत्तास्फूर्ति देकर वही प्रकाशित करता है। जैसे सूर्य ही दिन-रातका निमित्त होता है, वैसे ही तम:प्रकाशकी व्यंजना उसीसे होती है। उस स्वप्रकाश चित्‌के अन्तर्गत अनन्तवृत्तिरूप अनुभव होते हैं। जैसे जलमें सभी रस निहित होते हैं, वैसे ही सभी अनुभव उसी स्वप्रकाश चित्‌के अन्तर्गत हैं।

देहभावनासे ही देहकी सत्ता और मनके कारण ही जगद्विभ्रम

स्वप्नके बाल्य, वार्धक्यके समान ही एक-एक अनुभवांशमें सहस्रों प्रपंच प्रतीत होते हैं। चित्त ही चिद्रूप परमानन्द हो जाता है। जैसे सिकताके अन्दर तैल नहीं है, वैसे ही वस्तुत: चित्तके भीतर जगत् नहीं है। चित्तमें चिद्भाग ही परमार्थ है। अचित् जड़भाग ही सर्वानर्थ है। जैसे स्वप्नद्रष्टा अविद्यमान ही स्वाप्निक प्रपंचको देखता है, वैसे ही जाग्रदादि सभी प्रपंच केवल द्रष्टाका स्वप्न ही है। सम्पूर्ण दृश्य उसी प्रकार चित्स्वरूपसे व्याप्त है, जिस प्रकार मृगतृष्णाका जल मरु-मरीचिकासे व्याप्त होता है। चित्तरूपी बालक अबोधके कारण मिथ्या ही जगद्रूपी यक्षको देखता है। बोध होते ही निरामय, निर्विकार ब्रह्मको देखने लगता है। चित्तके द्वारा ही वासिष्ठोक्त दस ऐन्दव ब्राह्मण पृथक्-पृथक् दस ब्रह्माण्डोंकी कल्पना करके ब्रह्मत्वको प्राप्त हो गये। एक-एकके ब्रह्माण्डमें इसी प्रकार पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, सुमेरु, समुद्रादि सभी प्रत्यक्ष देखकर इस ब्रह्माण्डके ब्रह्माको आश्चर्य हुआ। मन ही जगत्का कर्ता है। मनसे कृत ही मुख्य रूपसे कृत समझा जाता है। देहभावनाके कारण ही प्राणी देहधर्मसे बाधित होता है। देह-भावनाके बाधित होनेपर प्राणी देहधर्मसे लिप्त नहीं होता। बाह्यदृष्टिवाला प्राणी ही सुख-दु:खको प्राप्त होता है। अन्तर्मुख होनेसे योगी सुख-दु:ख, प्रिय-अप्रिय कुछ भी नहीं जानता। मनके कारण ही विविध प्रकारका जगद्विभ्रम होता है।

इसी सम्बन्धमें 'वासिष्ठरामायण' में इन्द्र-अहल्याका आख्यान है। मगध देशमें इन्द्रद्युम्न राजा था। चन्द्रबिम्बके तुल्य उसकी कमललोचना रानी अहल्या थी। उसी नगरमें एक इन्द्र नामका विप्रकुमार था। अहल्याने कथाप्रसंगमें सुना कि पूर्वकालमें इन्द्रको अहल्या बहुत प्रिय थी। बस, फिर तो वह इन्द्रकी परमानुरागिणी हो गयी और वह इसलिये विह्वल हो उठी कि 'मैं अहल्या हूँ, फिर इन्द्र मेरे पास क्यों नहीं आते?' मृणालतुल्य शीतल आस्तरणपर भी उसे विश्राम नहीं मिलता था। समग्र राजविभूतियाँ उसके लिये व्यर्थ प्रतीत होने लगीं। दिव्य राजकीय ऐश्वर्यमें भी वह जलविद्युत्, निदाघतप्ता मछलीके समान सन्तप्त हो रही थी। भावनाके परिपाकसे अहल्याको चारों ओर इन्द्र परिलक्षित होता था और विवशतासे लज्जाविहीन होकर इन्द्रके सम्बन्धमें ही वह प्रलाप करने लगी। उसकी प्रिय वयस्या (सखी)-ने उसे विकल देखकर कहा—'मैं तुम्हारे प्रिय इन्द्रको ला देती हूँ, तुम धैर्य धारण करो।' अहल्या दीन होकर उसके चरणोंमें गिर पड़ी। सखीने इन्द्र नामक द्विजकुमारके पास जाकर सब वृत्तान्त कहा और उसे लाकर अहल्यासे मिलाया। दोनों ही परस्पर प्रेमसे अनुरक्त हो गये और प्रेमके प्रकर्षके कारण ही रानी समस्त गुणोंसे परिपूर्ण, सर्वैश्वर्यसम्पन्न अपने राजाको भूल गयी और उस विप्रकुमार इन्द्रमें अनुरक्त होकर सम्पूर्ण विश्वको ही इन्द्रमय देखने लगी। इन्द्र भी पूर्णरूपसे उसके अनुरागमें अनुरक्त हो गया। इन्द्रके ध्यानमें भी अहल्याका मुख पूर्णचन्द्रके द्वारा प्रफुल्लित कैरवके तुल्य शोभित होता था। इन्द्रके भी अन्त:करण, अन्तरात्मा तथा रोम-रोममें अहल्या भरपूर हो गयी और क्षणभर भी उसके बिना वह नहीं रह सकता था। इस तरह अति सघन स्नेहके कारण उनके व्यवहार निरावरण हो गये।

राजा इन्द्रद्युम्नको यह वृत्तान्त विदित हो गया, राजाने उन दोनोंको ही विविध प्रकारका दण्ड दिया। शीतकालमें दोनोंको शीतल सलिलमें डाल दिया। दोनों सर्वथा अखिन्न होकर, प्रसन्न हो हँस रहे थे। राजाने पूछा—'तुम दोनों खिन्न न होकर हँस क्यों रहे हो?' वे परस्पर कान्तियुक्त, अनिन्दित मुखका स्मरण करते हुए बोले—'हम दोनों परस्पर प्रेमके कारण रूढ़भाव होकर देहादिका स्मरण ही नहीं करते, अब स्व-स्वांगोंके छिन्न-भिन्न होनेपर भी हमलोगोंको कुछ भी

कष्ट नहीं होता।' राजाने उन दोनोंको भ्राष्ट्र (भाड़)-में डाल दिया तो भी दोनों एक-दूसरेको निहारते हुए प्रसन्न थे। उन्नत गजेन्द्रके पैरोंतले दोनोंको बाँधा गया। दोनोंको कोड़े लगवाये गये, फिर भी वे प्रसन्न थे। इन्द्रने कहा—'राजन्! मुझे तो सम्पूर्ण संसार प्रिय अहल्याके ही रूपमें दिखलायी देता है और अहल्याको सब कुछ मैं ही प्रतीत होता हूँ। अत: कोई दु:ख हम दोनोंको बाधा नहीं पहुँचा सकते। जहाँ-जहाँ रहता हूँ, निपतित होता हूँ, वहाँ प्रिय-संगमसे भिन्न मुझे कुछ भी अनुभूत नहीं होता।' वस्तुत: पुरुष मनोमात्र ही है। देहादि प्रपंच उसीका विकार है। इस तरह सहस्रों दण्ड-विधानोंसे भी उनके मनको बदलनेमें राजा असमर्थ रहा।

वस्तुत: दृढ़ निश्चयवाले मनको भिन्न करनेकी शक्ति किसीमें नहीं है। शरीर भले ही वृद्धिको प्राप्त हो, भले कभी कण-कण विदीर्ण हो जाय, दृढ़ निश्चयवाला मन भावित अर्थमें स्थिर ही रहता है। अभीष्ट अर्थमें आविष्ट मनको बाधा पहुँचानेमें शरीरस्थ भाव समर्थ नहीं होते। तीव्र वेगसे मन जिस भावका चिन्तन करता है, उसे ही देखने लगता है। वर-शापादि कोई भी क्रिया उस मनको विचलित नहीं कर सकती। जैसे मृग महापर्वतको विचलित नहीं कर सकते, वैसे ही तीव्र वेगसे भावित अर्थसे मनको कोई भी शक्तियाँ विचलित नहीं कर सकतीं। महोत्सेध देवागारमें भगवतीके समान यह असितापांगी मेरे मन:कोशमें प्रतिष्ठित है, अत: जीवनाधिका प्रियतमासे रक्षित होनेके कारण मुझे कोई भी दु:ख नहीं व्यापते। जैसे मेघमालासे प्रावृत पर्वतमें ग्रीष्म, दावाग्निका दाह नहीं व्यापता, वैसे ही प्रियासे व्याप्त मनमें कोई कष्ट नहीं व्यापता। धीर प्राणीके मेरुतुल्य एकनिष्ठ मनको वर-शाप आदिसे भी विचलित नहीं किया जा सकता—

एककार्यनिविष्टो हि मनो धीरस्य भूपते।
न चाल्यते मेरुरिव वरशापबलैरपि॥

वर-शापसे देहमें अन्यथात्व हो सकता है, परंतु विजिगीषु मनपर उनका प्रभाव नहीं पड़ता।

इन्द्रने कहा—'राजन्! मन ही मुख्य वस्तु है। उसके रहनेपर सहस्रों देह उत्पन्न होते रहते हैं। उसके नष्ट होनेपर कुछ भी नहीं रह जाता। अंकुर रहनेसे ही पल्लवादि होते हैं, अंकुर न रहनेपर पल्लवादि नहीं होते। राजन्! दिशाओं-विदिशाओंमें मैं उसी हरिणाक्षीको ही देखता हूँ। मेरा मन तन्मय होनेसे अन्य दु:खादि मुझे कुछ भी प्रतीत नहीं होता।' राजाने अपने समीप विराजमान भरतमुनिसे अनुरोध किया कि वे इन दुर्मतियोंको शाप देकर नष्ट कर दें। भरतमुनिने भी विचारकर उन्हें शाप दे दिया कि 'तुम दोनों ही विनष्ट हो जाओ।'

शाप सुनकर इन्द्र और अहल्याने कहा—'आपके इस शापसे हमलोगोंका कुछ भी नहीं बिगड़ेगा। केवल आपकी तपस्याका मात्र क्षय हो गया।' घनस्नेहसे दोनोंका ही मन सम्बद्ध था। उसी घनस्नेहसे सम्बद्धमनस्क दोनोंकी देह नष्ट हो गयी और दोनों ही मृगयोनिमें उत्पन्न हुए। वहाँ भी दोनों ही परस्पर प्रेमासक्त थे। अनन्तर विहंग हुए। वहाँ भी वही लोकोत्तर अनुरागोद्रेक हुआ। पुन: दोनों ही परम तपस्वी ब्राह्मण-दम्पती हुए। उनके अकृत्रिम प्रेम-रसानुविद्धस्नेहको देखकर वृक्ष भी रसानुविद्ध होकर शृंगारचेष्टाकुलित होते हैं—

अकृत्रिमप्रेमरसानुविद्धं
स्नेहं तयोस्तं प्रतिवीक्ष्य कान्तम्।
वृक्षा अपि प्रेमरसानुविद्धा
शृङ्गारचेष्टाकुलिता भवन्ति॥

(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ९०। १४)

इस तरह चित्तकी कल्पना ही संसार है। चित्ताकाश, महाकाश (भूताकाश), चिदाकाश—ये तीनों ही अनन्त हैं। चिदाकाशमें ही दोनोंका पर्यवसान होता है।

शक्तिपीठ-रहस्य

एक विदुषी पाश्चात्य महिलाने इस आशयके कुछ प्रश्न किये थे कि '५१ तीर्थ होते हैं, इस ५१ संख्याका क्या अभिप्राय है? सतीके शरीरके ५१ टुकड़े हुए, वे टुकड़े जहाँ-जहाँ गिरे; वहाँ-वहाँ मन्दिर और तीर्थ बन गये। यहाँ सतीके शरीरके टुकड़े होनेका अभिप्राय क्या है? यह कथा किस तत्त्वको समझानेके लिये बतलायी गयी है? विष्णुने चक्रसे सतीका शव काट दिया, ऐसा उन्होंने क्यों किया? पार्वतीका शव शिव ले जाते हैं, उनके दु:खसे पृथ्वी नष्ट हो जाती है, इन बातोंका क्या अभिप्राय है? यह घटना किस तत्त्वकी, किस सिद्धान्तकी द्योतक है? शिवका अपमान होनेसे सती मर गयी, यह क्यों? क्या लज्जासे? सती कौन है? उनकी मृत्यु किस तत्त्वके नष्ट हो जानेकी द्योतक है? सतीका पुनरुज्जीवन कब और कैसे होता है?'

उपर्युक्त विषयोंपर कहना यही है कि अनन्त शक्तियोंकी केन्द्रभूता महाशक्ति ही 'सती' हैं और अनन्त ब्रह्माण्डाधीश्वर शुद्ध ब्रह्म ही 'शंकर' हैं। ब्रह्मसे ही माया-सम्बन्धके द्वारा सृष्टि हुई है। ब्रह्माने दक्षादि प्रजापतियोंका निर्माणकर उन्हें सृष्टिके लिये नियुक्त किया। दक्षने भी मानसी सृष्टि-शक्तिसे बहुत-सी सन्तानें बनायीं। परंतु वे सब-की-सब श्रीनारदके उपदेशसे विरक्त हो गयीं। ब्रह्मादि सभी चिन्तित थे। किसी समय ब्रह्मासे एक परम मनोरम पुरुष उत्पन्न हुआ। उसके सौन्दर्यादि गुणोंपर सभी लोग मोहित हो उठे। ब्रह्माने उसे काम, कन्दर्प, पुष्पधन्वा आदि नामसे सम्बोधित किया। दक्षकन्या रतिके साथ उसका उद्वाह हुआ। वसन्त, मलय, कोकिला, प्रमदा आदि उसको सहायक मिले। ब्रह्माने उसे वरदान दिया कि तुम्हारे हर्षण, मोहन, मादन, शोषण आदि पंच पुष्पबाण अमोघ होंगे। मैं, विष्णु, रुद्र, ऋषि, मुनि सभी तुम्हारे वशीभूत होंगे, तुम राग उत्पन्नकर प्राणियोंको सृष्टि बढ़ानेके लिये प्रोत्साहित करो। कामने वर प्राप्तकर वहीं उसकी परीक्षा करनी चाही। उसी क्षण दैवात् ब्रह्मासे एक अत्यन्त लावण्यवती सन्ध्या नामकी कन्या उत्पन्न हुई। कामने अपने पुष्पमय धनुषको तानकर ब्रह्मापर बाण चलाया। ब्रह्माका मन विचलित हो उठा और वे सन्ध्यापर मोहित हो उठे। सन्ध्यामें भी कामके वेगसे हाव-भाव आदि प्रकट हुए। श्रीशंकरभगवान्‌ने इन सबकी चेष्टाओंको देखकर उन्हें प्रबोध कराया। ब्रह्मा लज्जित हो उठे और कामको शाप दिया—'तुम शंकरकी कोपाग्निसे भस्म हो जाओगे'। कामने कहा—'महाराज! आपने ही तो मुझे ऐसा वरदान दिया है, फिर मेरा क्या दोष?' ब्रह्माने कहा—'कन्या-जैसे अयोग्य स्थानमें मुझे तुमने मोहित किया, इसीलिये तुम्हें शाप हुआ। अस्तु, अब तुम शिवको वशीभूत करो।' कामने कहा कि 'शिव-शृंगारयोग्य, उन्हें मोहित करनेवाली स्त्री संसारमें कहाँ है?' ब्रह्माने दक्षको आज्ञा दी—'तुम महामाया भगवती योगनिद्राकी आराधना करो। वह तुम्हारी पुत्रीरूपसे अवतीर्ण होकर शंकरको मोहित करें।' दक्ष भगवतीकी आराधनामें लग गये। ब्रह्मा भी भगवतीकी स्तुतिमें संलग्न हुए। भगवती प्रकट हुईं और कहा—'वरदान माँगो।' ब्रह्माने कहा—'देवि! भगवान् शिव अत्यन्त निर्मोह एवं अन्तर्मुख हैं। हम सब कामवश हैं, एक उन्हींपर कामका प्रभाव नहीं है। बिना उनके मोहित हुए सृष्टिका काम नहीं चल सकता। मैं उत्पादक हूँ, विष्णु पालक हैं और वे संहारक हैं। तीनोंके सहयोग बिना सृष्टिकार्य असम्भव है। सृष्टिके विघ्नरूप दैत्योंके हननमें भी कभी विष्णुका, कभी शिवका प्रयोजन होगा, कभी शक्तिसे यह काम होगा। अत: उनका कामासक्त होना आवश्यक है।' देवीने कहा—'ठीक है, मेरा भी विचार उन्हें मोहनेका था, परंतु अब तुम्हारे प्रोत्साहनसे मैं अधिक प्रयत्नशील होऊँगी। मेरे बिना शंकरको कोई मोहित नहीं कर सकता। मैं

दक्षके यहाँ जन्म लेकर जब अपने दिव्यरूपसे शंकरको मोहित करूँगी, तभी सृष्टि ठीक चलेगी।' यह कहकर देवीने दक्षके यहाँ जाकर उन्हें वर दिया और उनके यहाँ सतीरूपसे प्रकट हुईं। किंचित् बड़ी होते ही वे शिवप्राप्तिके लिये तप करनेमें लग गयीं। इतनेमें ही ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओंने जाकर शंकरकी स्तुति की और उन्हें विवाहके लिये राजी किया। उधर सतीकी आराधनासे शंकर प्रसन्न हुए और उन्हें वरदान दिया कि 'हम तुम्हारे पति होंगे।' फिर उनका सानन्द विवाह सम्पन्न हुआ और सहस्रों वर्षोंतक सती और शिवका शृंगार हुआ। उधर दक्षके यज्ञमें शिवका निमन्त्रण न होनेसे और उनका अपमान जानकर सतीने उस देहको त्यागकर हिमवत्पुत्री पार्वती होकर शिवपत्नी होनेका निश्चय किया और योगबलसे देह त्याग दिया। शिवजीको समाचार विदित होनेपर बड़ा क्षोभ और मोह हुआ और दक्षयज्ञको नष्ट करके सतीके शवको लेकर शिवजी घूमते रहे। सम्पूर्ण देवताओंने या सर्वदेवमय विष्णुने शिवमोहशान्ति एवं साधकोंके सिद्धि आदि कल्याणके लिये शवके भिन्न-भिन्न अंगोंको भिन्न-भिन्न स्थलोंमें गिरा दिया, वे ही ५१ पीठ हुए।

हृदयसे ऊर्ध्वभागके अंग जहाँ पतित हुए, वहाँ वैदिक एवं दक्षिण मार्गकी सिद्धि होती है और हृदयसे निम्नभागके अंगोंके पतनस्थलोंमें वाममार्गकी सिद्धि होती है।

इक्यावन शक्तिपीठ

सतीके विभिन्न अंग कहाँ-कहाँ गिरे और उनसे कौन-कौन-से पीठ बने, इसका विवरण इस प्रकार है—

१. सतीकी योनिका जहाँ पात हुआ, वहाँ कामरूप नामक पीठ हुआ, वह 'अकार' का उत्पत्तिस्थान एवं श्रीविद्यासे अधिष्ठित है। यहाँ कौलशास्त्रसे अणिमादि सिद्धियाँ सिद्ध होती हैं। लोमसे उत्पन्न इसके वंश नामक दो उपपीठ हैं, वहाँ शाबर-मन्त्रोंकी सिद्धि होती है।

२. स्तनोंके पतनस्थलमें काशिकापीठ हुआ और वहाँसे 'आकार' उत्पन्न हुआ। वहाँ देहत्याग करनेसे मुक्ति प्राप्त होती है। सतीके स्तनोंसे दो धाराएँ निकलीं, वही असी और वरणा नदी हुईं। असीके तीरपर दक्षिण सारनाथ उपपीठ है एवं वरुणाके उत्तरमें उत्तर सारनाथ उपपीठ है, वहाँ क्रमशः दक्षिण एवं उत्तर मार्गके मन्त्रोंकी सिद्धि होती है।

३. गुह्यभाग जहाँ पतित हुआ, वहाँ नेपालपीठ हुआ, वहाँसे 'इकार' की उत्पत्ति हुई। वह पीठ वाममार्गका मूलस्थान है। वहाँ ५६ लाख भैरव-भैरवी, दो हजार शक्तियाँ, तीन सौ पीठ एवं चौदह श्मशान सन्निहित हैं। वहाँ चार पीठ दक्षिणमार्गके सिद्धिदायक हैं, उनमें भी चारमें वैदिक मन्त्र सिद्ध होते हैं। नेपालसे पूर्वमें मलका पतन हुआ, अतः वहाँ किरातोंका निवास है। तीस हजार देवयोनियोंका वहाँ निवास है।

४. वाम नेत्रका पतनस्थान रौद्रपर्वत है, वह महत्पीठ हुआ, 'ईकार' की उत्पति वहाँसे हुई। वामाचारसे वहाँ मन्त्रसिद्धि होकर देवताका दर्शन होता है।

५. वाम कर्णके पतनस्थानमें काश्मीरपीठ हुआ, वह 'उकार' का उत्पत्तिस्थान है। वहाँ सर्वविध मन्त्रोंकी सिद्धि होती है। वहाँ अनेक अद्भुत तीर्थ हैं, किंतु कलिमें सब म्लेच्छोंद्वारा आवृत कर दिये जायेंगे।

६. दक्षिण कर्णके पातस्थलमें कान्यकुब्जपीठ हुआ और 'ऊकार' की उत्पत्ति हुई। जहाँ गंगा-यमुनाके मध्यमें अन्तर्वेदी नामक पवित्र स्थलमें ब्रह्मादि देवोंने स्व-स्वतीर्थोंका निर्माण किया है। वहाँ वैदिक मन्त्रोंकी सिद्धि होती है। उस कर्णके मलके पतनस्थानमें यमुनातटपर इन्द्रप्रस्थ नामक उपपीठ हुआ, उसके प्रभावसे ब्रह्माजीको विस्मृत वेद वहाँ पुनः उपलब्ध हुए।

७. नासिकाके पतनस्थानमें पूर्णगिरिपीठ है, वह 'ऋकार' का उत्पत्तिस्थल है। वहाँ योगसिद्धि होती है और मन्त्राधिष्ठातृदेव प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं।

८. वाम गण्डस्थलकी पतनभूमिपर अर्बुदाचलपीठ हुआ और 'ॠकार' का प्रादुर्भाव हुआ। वहाँ अम्बिका नामकी शक्ति है, यहाँ वाममार्गकी सिद्धि होती है तथा दक्षिणमार्गमें विघ्न होते हैं।

९. दक्षिण गण्डस्थलके पतनस्थानमें आम्रातकेश्वर पीठ हुआ, 'लृकार'-की उत्पत्ति हुई। वह धनदादि यक्षिणियोंका निवासस्थान है।

१०. नखोंके निपतनस्थलमें एकाम्रपीठ हुआ, 'ॡकार'-की उत्पत्ति हुई। वह पीठ विद्याप्रदायक है।

११. त्रिवलिके पतनस्थलमें त्रिस्रोतपीठ हुआ और वहाँ 'एकार' का जन्म हुआ। वस्त्रके तीन खण्ड उसके पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिणमें गिरे, वे तीन उपपीठ हुए। गृहस्थ द्विजको पौष्टिक मन्त्रोंकी सिद्धि वहाँ होती है।

१२. नाभिकी पतनभूमि कामकोटिपीठ हुई, वहाँ 'ऐकार' का प्रादुर्भाव हुआ, समस्त काममन्त्रोंकी सिद्धि वहाँ होती है, उसके चारों दिशाओंमें चार उपपीठ हैं, जहाँ अप्सराएँ निवास करती हैं।

१३. अंगुलियोंके पतनस्थल हिमालयपर्वतमें कैलासपीठ हुआ, 'ओकार' का प्राकट्य हुआ। अंगुलियाँ लिंगरूपमें प्रतिष्ठित हुईं, वहाँ करमालासे मन्त्रजप करनेपर तत्क्षण सिद्धि होती है।

१४. दन्तोंके पतनस्थलमें भृगुपीठ हुआ, वहाँसे 'औकार' का प्रादुर्भाव हुआ। वैदिकादि मन्त्र वहाँ सिद्ध होते हैं।

१५. दक्षिण करतलके पतनस्थानमें केदारपीठ हुआ, वहाँ 'अं' की उत्पत्ति हुई। उसके दक्षिणमें कंकणके पतनस्थानमें अगस्त्याश्रम नामक सिद्ध उपपीठ हुआ और उसके पश्चिममें मुद्रिकाके पतनस्थलमें इन्द्राक्षी उपपीठ हुआ। उसके पश्चिममें वलयके पतनस्थलमें रेवती-तटपर राजराजेश्वरी उपपीठ हुआ।

१६. वाम गण्डकी निपातभूमिपर चन्द्रपुरपीठ हुआ, 'अ:' की उत्पत्ति हुई। सभी मन्त्र वहाँ सिद्ध होते हैं।

१७. जहाँ मस्तकका पतन हुआ, वहाँ श्रीपीठ हुआ और 'ककार' का प्रादुर्भाव हुआ। कलिमें पापी जीवोंका वहाँ पहुँचना दुर्लभ है। उसके पूर्वमें कर्णाभरणके पतनसे उपपीठ हुआ, जहाँ ब्रह्मविद्या-प्रकाशिका ब्राह्मी शक्तिका निवास है। उससे अग्निकोणमें कर्णार्द्धाभरणके पतनसे दूसरा उपपीठ हुआ, जहाँ मुखशुद्धकरी माहेश्वरी शक्ति है। दक्षिणमें पत्रवल्लीकी पातभूमिमें कौमारी शक्तियुक्त तीसरा उपपीठ हुआ। नैर्ऋत्यमें कण्ठमालके निपातस्थलमें ऐन्द्रजालविद्या-सिद्धिप्रद वैष्णवीशक्ति-समन्वित चौथा उपपीठ हुआ। पश्चिममें नासा-मौक्तिकके पतनस्थानमें वाराही शक्त्यधिष्ठित पाँचवाँ उपपीठ हुआ। वायुकोणमें मस्तकाभरणके पतनस्थानमें चामुण्डा शक्तियुक्त क्षुद्रदेवता-सिद्धिकर छठा उपपीठ हुआ और ईशानमें केशाभरणके पतनसे महालक्ष्मीसे अधिष्ठित सातवाँ उपपीठ हुआ।

१८. बाहुके पतनस्थलमें अमरकण्टकपर्वतपर ओंकारक्षेत्रपीठ हुआ। वहाँ 'खकार' का प्रादुर्भाव हुआ। वह पीठ नर्मदासे अधिष्ठित है, वहाँ तप करनेवाले महर्षि जीवन्मुक्त हो गये। उसके ऊपरमें कंचुकीकी पतनभूमिमें उपपीठ हुआ, जो ज्योतिर्मन्त्र-प्रकाशक एवं ज्योतिष्मतीसे अधिष्ठित है।

१९. वक्ष:स्थलके पतनस्थलमें एक पीठ हुआ और 'गकार' की उत्पत्ति हुई। अग्निने वहाँ तपस्या की और देवमुखत्वको प्राप्त होकर वे ज्वालामुखीसंज्ञक उपपीठमें स्थित हुए।

२०. वामस्कन्धके पतनस्थानमें मालवपीठ हुआ, वहाँ 'घकार' की उत्पत्ति हुई। गन्धर्वोंने रागज्ञानके लिये तपस्याकर वहाँ सिद्धि पायी।

२१. दक्षिण कक्षका जहाँ पात हुआ, वहाँ कुलान्तकपीठ हुआ एवं 'ङकार' की उत्पत्ति हुई। विद्वेषण, उच्चाटन, मारणके प्रयोग वहाँ सिद्ध होते हैं।

२२. जहाँ वाम कक्षका पतन हुआ, वहाँ कोट्टकपीठ हुआ और 'चकार' का प्राकट्य हुआ। वहाँ राक्षसोंने सिद्धि प्राप्त की है।

२३. जठरदेशके पतनस्थलमें गोकर्णपीठ हुआ

तथा 'छकार' की उत्पत्ति हुई।

२४. त्रिवलियोंमेंसे प्रथम वलिका जहाँ निपात हुआ, वहाँ मातुरेश्वरपीठ होकर 'जकार' की उत्पत्ति हुई, वहाँ शैवमन्त्र शीघ्र सिद्ध होते हैं।

२५. अपर वलिके पतनस्थानमें अट्टहासपीठ हुआ, 'झकार' का प्रादुर्भाव हुआ, वहाँ गणेश-मन्त्रोंकी सिद्धि होती है।

२६. तीसरी वलिका जहाँ पतन हुआ, वहाँ विरजपीठ हुआ और 'ञकार' की उत्पत्ति हुई। वह पीठ विष्णु-मन्त्रोंका सिद्धिप्रदायक है।

२७. जहाँ बस्तिपात हुआ और 'टकार' की उत्पत्ति हुई, वहाँ राजगृहपीठ हुआ। राजगृहमें वेदार्थज्ञानकी प्राप्ति होती है। नीचे क्षुद्रघण्टिकाके पतनस्थलमें घण्टिका नामक उपपीठ हुआ, वहाँ ऐन्द्रजालिक मन्त्र सिद्ध होते हैं।

२८. नितम्बके पतनस्थलमें महापथपीठ हुआ तथा 'ठकार' की उत्पत्ति हुई। जातिदुष्ट ब्राह्मणोंने वहाँ शरीर अर्पित किया और दूसरे जन्ममें कलियुगमें देह-सौख्यदायक वेदमार्ग-प्रलुप्तक अघोरादि मार्गको चलाया।

२९. जघनका जहाँ पात हुआ, वहाँ कौछगिरिपीठ हुआ और 'डकार' की उत्पत्ति हुई। वन-देवताओंके मन्त्रोंकी वहाँ सिद्धि शीघ्र होती है।

३०. दक्षिण ऊरुके पतनस्थलमें एलापुरपीठ हुआ, 'ढकार' का प्रादुर्भाव हुआ।

३१. वाम ऊरुके पतनस्थानमें कालेश्वरपीठ हुआ, 'णकार' की उत्पत्ति हुई, वहाँ आयुवृद्धिकारक मृत्युंजयादि मन्त्र सिद्ध होते हैं।

३२. दक्षिण जानुके पतनस्थानमें जयन्तीपीठ होकर 'तकार' की उत्पत्ति हुई, वहाँ धनुर्वेदकी सिद्धि अवश्य होती है।

३३. वाम जानु जहाँ पतित हुआ, वहाँ उज्जयिनीपीठ हुआ 'थकार' प्रकट हुआ, वहाँ कवचमन्त्रोंकी सिद्धि होकर रक्षण होता है। अत: उसका नाम 'अवन्ती' है।

३४. दक्षिण जंघाके पतनस्थानमें योगिनीपीठ हुआ, 'दकार' की उत्पत्ति हुई। वहाँ कौलिक मन्त्रोंकी सिद्धि होती है।

३५. वामजंघाके पतनस्थानपर क्षीरिकापीठ होकर 'धकार' का प्रादुर्भाव हुआ। वहाँ वैतालिक तथा शाबर-मन्त्र सिद्ध होते हैं।

३६. दक्षिण गुल्फके पतनस्थानमें हस्तिनापुरपीठ हुआ, 'नकार' की उत्पत्ति हुई। वहीं नूपुरका पतन होनेसे नूपुरार्णवसंज्ञक उपपीठ हुआ, वहाँ सूर्य-मन्त्रोंकी सिद्धि होती है।

३७. वामगुल्फके पतनस्थलमें उड्डीशपीठ होकर 'पकार' का प्रादुर्भाव हुआ। उड्डीशाख्य महातन्त्र वहाँ सिद्ध होता है। जहाँ दूसरे नूपुरका पतन हुआ, वहाँ डामर उपपीठ हुआ।

३८. देहरस (अस्थि)-के पतनस्थानमें प्रयागपीठ हुआ, 'फकार' की उत्पत्ति हुई, वहाँ मृत्तिका श्वेतवर्णकी दृष्टिगोचर होती है। वहाँ अन्यान्य अस्थियोंका पतन होनेसे अनेक उपपीठोंका प्रादुर्भाव हुआ। गंगाके पूर्वमें बगलोपपीठ एवं उत्तरमें चामुण्डादि उपपीठ, गंगा-यमुनाके मध्यमें राजराजेश्वरीसंज्ञक, यमुनाके दक्षिण तटपर भुवनेशी नामक उपपीठ हुआ। इसीलिये प्रयाग तीर्थराज एवं पीठराज कहा गया है।

३९. दक्षिण पृश्निके पतन-स्थानमें षष्ठीशपीठ हुआ एवं 'बकार' का प्रादुर्भाव हुआ। यहाँ पादुका-मन्त्रकी सिद्धि होती है।

४०. वाम पृश्निका जहाँ पात हुआ, वहाँ मायापुरपीठ हुआ, 'भकार' की उत्पत्ति हुई, समस्त मायाओंकी सिद्धि वहाँ होती है।

४१. रक्तके पतनस्थानमें मलयपीठ हुआ एवं 'मकार' की उत्पत्ति हुई। रक्ताम्बरादि बौद्धोंके मन्त्र यहाँ सिद्ध होते हैं।

४२. पित्तकी पतनभूमिपर श्रीशैलपीठ हुआ तथा 'यकार' का प्रादुर्भाव हुआ। विशेषत: वैष्णव-मन्त्र यहाँ सिद्ध होते हैं।

४३. मेदके पतनस्थानमें हिमालयपर मेरुपीठ हुआ एवं 'रकार' की उत्पत्ति हुई। स्वर्णाकर्षण

भैरवकी सिद्धि वहाँ होती है।

४४. जहाँ जिह्वाग्रका पतन हुआ, वहाँ गिरिपीठ हुआ तथा 'लकार' की उत्पत्ति हुई। यहाँ जप करनेसे वाक्सिद्धि होती है।

४५. मज्जाके पतनस्थानमें माहेन्द्रपीठ हुआ, वह 'वकार' के प्रादुर्भावका स्थान है, जहाँ शाक्त-मन्त्रोंके जपसे अवश्य सिद्धि होती है।

४६. दक्षिण अंगुष्ठके पातस्थानमें वामनपीठ हुआ एवं 'शकार' की उत्पत्ति हुई, यहाँ समस्त मन्त्रोंको सिद्धि होती है।

४७. वामांगुष्ठके निपतन-स्थानमें हिरण्यपुरपीठ हुआ, वहाँ 'षकार' की उत्पत्ति हुई। वहाँ वाममार्गसे सिद्धिलाभ होता है।

४८. रुचि (शोभा)-के पतन-स्थानमें महा-लक्ष्मीपीठ हुआ एवं 'सकार' का प्राकट्य हुआ। यहाँ सर्वसिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

४९. धमनीके पतनस्थानमें अत्रिपीठ हुआ, वहाँ 'हकार' उत्पन्न हुआ और यावत् सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

५०. छायाके सम्पातन स्थानमें छायापीठ हुआ एवं 'ळकार' की उत्पत्ति हुई।

५१. केशपाशके पतनस्थलमें क्षत्रपीठका प्रादुर्भाव हुआ, यहीं 'क्षकार' का उद्गम हुआ। यहाँ समस्त सिद्धियाँ शीघ्रतापूर्वक उपलब्ध होती हैं।

वर्णमालाएँ

अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, लॄ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः। क, ख, ग, घ, ङ। च, छ, ज, झ, ञ। ट, ठ, ड, ढ, ण। त, थ, द, ध, न। प, फ, ब, भ, म। य, र, ल, व, श, ष, स, ह, ळ, क्ष— यही ५१ वर्णोंकी वर्णमाला है। यहाँ अन्तका ल 'ळ' रूपसे उच्चरित होता है तथा अन्तिम 'क्ष' अक्षमालाका सुमेरु है। इसी मालाके आधारपर सतीके भिन्न-भिन्न अंगोंका पात हुआ है। एतावता इतनी भूमि वर्ण-समाम्नायस्वरूप ही है। भिन्न-भिन्न वर्णोंकी शक्तियाँ और देवता भिन्न हैं। इसीलिये उन-उन वर्णों, पीठों, शक्तियों एवं देवताओंका परस्पर सम्बन्ध है, जिसके ज्ञान और अनुष्ठानसे साधकको शीघ्र ही सिद्धि होती है। मायाद्वारा ही परब्रह्मसे विश्वकी सृष्टि होती है। सृष्टि हो जानेपर भी उसके विस्तारकी आशा तबतक नहीं होती, जबतक चेतन पुरुषकी उसमें आसक्ति न हो। अतएव, सृष्टि-विस्तारके लिये कामकी उत्पत्ति हुई। रज:सत्त्वके सम्बन्धमें द्वैतसृष्टिका विस्तार होता है, परंतु तम कारणरूप है, वहाँ द्वैतदर्शनकी कमीसे मोहकी कमी होती है।* सत्त्वमय सूक्ष्मकार्यरूप विष्णु एवं रजोमय स्थूलकार्यरूप ब्रह्माके मोहित हो जानेपर भी कारणात्मा शिव मोहित नहीं होते। परंतु जबतक कारणमें भी मोह नहीं, तबतक सृष्टिकी पूर्ण स्थिति नहीं होती। इसीलिये स्थूल-सूक्ष्म कार्यचैतन्योंकी ऐसी रुचि हुई कि कारणचैतन्य भी मोहित हो। परंतु यह अघटितघटनापटीयसी महामायाके ही वशकी बात है। इसीलिये सबने उसीकी आराधना की। देवी प्रसन्न हुई, वह भी अपने पतिको स्वाधीन करना चाहती थी। स्वाधीनभर्तृका स्त्री ही परम सौभाग्यशालिनी होती है। वही हुआ, महामायाने शिवको स्वाधीन कर लिया, फिर भी पिताद्वारा पतिका अपमान होनेपर उसने उस पितासे सम्बन्धित शरीरको त्याग देना उचित समझा। महाशक्तिका शरीर उसका लीलाविग्रह ही है। जैसे निर्विकार चैतन्य शक्तिके योगसे साकार विग्रह धारण करता है, वैसे ही शक्ति भी अधिष्ठान चैतन्ययुक्त हो साकार विग्रह धारण करती है। इसीलिये शिव-पार्वती दोनों मिलकर अर्द्धनारीश्वरके रूपमें व्यक्त होते हैं। अधिष्ठान चैतन्यसहित महाशक्तिका

* '**तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्**' (गीता १४।८)-के अनुसार तमस् अज्ञानसमुद्भूत और मोहक है तथापि रजोयुक्त तमस् ही अध्यासमें हेतु होनेसे मोहक है।

स्वत: '**प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति**' (गीता १४।८)-के अनुसार गाढ़ तमस् निद्रादिमें हेतु होनेसे द्वैतदर्शनका विलोप करनेवाला होनेसे अध्यासमूल अज्ञानात्मक है। वस्तुत: रजोगुणके नियामकका नाम ब्रह्मा है, सत्त्वगुणके नियामकका नाम विष्णु है और तमोगुणके नियामकका नाम शिव या रुद्र है। समष्टि रजस्, सत्त्व और तमस्का नियामक सनातन गुणातीत सर्वेश्वर ही हो सकता है। लक्षण-साम्यसे वस्तुसाम्यके कारण त्रिदेवमें सर्वेश्वरता चरितार्थ होनेसे एकरूपता है।

उस लीलाविग्रह सती-शरीरसे तिरोहित हो जाना ही सतीका मरना है। प्राणीको तपस्या एवं आराधनासे ही शक्तिको जन्म देनेका सौभाग्य एवं उसे परमेश्वरसे सम्बन्धितकर अपनेको कृतकृत्य करनेका सौभाग्य प्राप्त होता है, परंतु यदि बीचमें प्रमादसे अहंकार उत्पन्न हो जाता है तो शक्ति उससे सम्बन्ध तोड़ लेती है और फिर उसकी वही स्थिति होती है, जो दक्षकी हुई। सतीका शरीर यद्यपि मृत हो गया तथापि वह महाशक्तिका निवास-स्थान था, श्रीशंकर उसीके द्वारा उस महाशक्तिमें रत थे, अत: मोहित होनेके कारण भी फिर उसको छोड़ न सके। यद्यपि परमेश्वर सदा स्वरूपमें ही प्रतिष्ठित होते हैं, फिर भी प्राणियोंके अदृष्टवश उनके कल्याणके लिये सृष्टि, पालन, संहरण आदि कार्योंमें प्रवृत्त-से प्रतीत होते हैं। उन्हींके अनुरूप महामायामें उनकी आसक्ति और मोहकी भी प्रतीति होती है। इसी मोहवश शंकर महाशक्तिके अधिष्ठानभूत उस प्रिय देहको लेकर घूमने लगे।

देवताओं और विष्णुने शिवका मोह मिटानेके लिये उस देहको उनसे वियुक्त करना चाहा। साथ ही अनन्त शक्तियोंकी केन्द्रभूता महाशक्तिके अधिष्ठानभूत उस देहके अवयवोंसे लोकका कल्याण हो, यह भी सोचकर भिन्न-भिन्न स्थानोंमें विभिन्न अंगोंको गिराया। भिन्न-भिन्न शक्तियोंके अधिष्ठानभूत भिन्न-भिन्न अंग जिन स्थानोंमें पड़े, वहाँ उन शक्तियोंकी सिद्धि सरलतासे होती है। जैसे कपोत और सिंहके मांस आदिमें भी उनकी विशेषता प्रकट होती है, वैसे ही सतीके भिन्न-भिन्न अवयवोंमें भी उनकी विशेषता प्रकट होती है। इसीलिये जैसे हिंगुके निकल जानेपर भी उसके अधिष्ठानमें उसकी गन्ध या वासना रहती है, वैसे ही सतीकी महाशक्तियोंके अन्तर्हित होनेपर भी उन अधिष्ठानोंमें वह प्रभाव रह गया। जैसे सूर्यकान्तमणिपर सूर्यकी रश्मियोंका सुन्दर प्राकट्य होता है, वैसे ही उन शक्तियोंके अधिष्ठानभूत अंगोंमें उनका प्राकट्य बहुत सुन्दर होता है। यहाँतक कि जहाँ-जहाँ उन अंगोंका पात हुआ, वे स्थान भी दिव्य शक्तियोंके अधिष्ठान माने जाते हैं। वहाँ भी शक्तितत्त्वका प्राकट्य अधिक है। अतएव उन पीठोंपर शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त होती है। अंग-सम्बन्धी कोई अंश या भूषण-वसनादिका जहाँ पात हुआ, वहीं उपपीठ हैं। उनमें भी उन-उन विशेष शक्तितत्त्वोंका आविर्भाव होता है। अनन्त शक्तियोंकी केन्द्रभूता महाशक्तिका जो अधिष्ठान हो चुका है, वह एवं तत्सम्बन्धी समस्त वस्तुओंमें शक्तितत्त्वका बाहुल्य होना ही चाहिये। वैसे तो जहाँ भी कहीं, जिस किसी भी वस्तुमें जो भी शक्ति है, उन सबका ही अन्तर्भाव महामायामें ही है—

यच्च किञ्चित्क्वचिद्वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके॥
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे तदा।

(श्रीदुर्गासप्तशती १।८२-८३)

अपनी-अपनी योग्यता और अधिकारके अनुसार इष्ट देवता, मन्त्र, पीठ, उपपीठके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे सिद्धिमें शीघ्रता होती है। तथा च—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दरूपं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥

—इत्यादि वचनोंके अनुसार प्रणवात्मक ब्रह्म ही निखिल विश्वका उपादान है। वही शक्तिमय सती-शरीररूपमें और निखिल वाङ्मय-प्रपंचके मूलभूत एकपंचाशत् वर्णरूपमें व्यक्त होता है। जैसे निखिल विश्वका शक्तिरूपमें ही पर्यवसान होता है, वैसे ही वर्णोंमें ही सकल वाङ्मय-प्रपंचका अन्तर्भाव होता है; क्योंकि सभी शक्तियाँ वर्णोंकी आनुपूर्वीविशेषमात्र हैं। शब्द-अर्थका, वाच्य-वाचकका असाधारण सम्बन्ध किंबहुना अभेद ही होता है, अतएव एकपंचाशत् वर्णोंके कार्यभूत सकल वाङ्मय-प्रपंचका जैसे एकपंचाशत् वर्णोंमें अन्तर्भाव किया जाता है, वैसे ही वाङ्मय-प्रपंचके वाच्यभूत सकल अर्थमयप्रपंचका उसके मूलभूत एकपंचाशत् शक्तियोंमें अन्तर्भाव करके वाच्य-वाचकका अभेद प्रदर्शित किया गया है। यही ५१ पीठोंका रहस्य है।

श्रीरामजन्म-रहस्य

जिस समय संसारमें दुराचार, दुर्विचारका परित: प्रसार होने लगता है; अहिंसा, सत्य, अस्तेय, धैर्य, न्याय आदि मानवोचित सद्गुणोंका अपमान होने लगता है, दम्भका ही साम्राज्य तथा वेद-शास्त्रोक्त वर्णाश्रम-धर्मका विलोप होने लगता है, दैत्य-दानवों या दैत्यप्राय कुपुरुषोंसे धरा व्याकुल हो जाती है, सत्पुरुष तथा देवगण अनीतिसे उद्विग्न हो उठते हैं, उस समय सर्वपालक भगवान् किसी-न-किसी रूपमें प्रकट होकर श्रुति-सेतुका पालन करते और अपने मनोहर, मंगलमय, परम पवित्र चरित्रोंका विस्तार करके प्राणियोंके लिये मोक्षका मार्ग प्रशस्त कर देते हैं।

अभिज्ञोंका मत है कि यदि भगवान्का विशुद्ध, सत्त्वमय, परम मनोहर, मधुर स्वरूप प्रकट न होता तो अदृश्य, अग्राह्य, अव्यपदेश्य परब्रह्मके साक्षात्कारकी बात ही जगत्से मिट जाती। भगवान्की मधुर मूर्ति एवं चरित्रोंमें मनके आसक्त हो जानेपर उसकी निर्मलता और एकाग्रता सहजमें ही सिद्ध हो जाती है। निर्मल एवं एकाग्र चित्त ही भगवान्के अचिन्त्य रूपके चिन्तनमें समर्थ होता है। जैसे अंजनद्वारा शुद्ध नेत्रसे सूक्ष्म वस्तुका परिज्ञान सुगमतासे हो जाता है, वैसे ही भगवच्चरित्र एवं उनके मधुर स्वरूपके परिशीलनसे निर्मल होकर चित्त सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भगवदीय रहस्योंको समझ लेता है।

इसके अतिरिक्त अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्रोंको प्रेमयोग प्रदान करनेके लिये भी प्रभुके लीला-विग्रहका आविर्भाव होता है। इन्हीं सब भावोंको लेकर मधुमास (चैत्र)-के शुक्लपक्षकी नवमीको मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रका जन्म हुआ।

अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक, सर्वान्तरात्मा, सर्व-शक्तिमान् भगवान्की भ्रुकुटीके संकेतमात्रसे उनकी मायाशक्ति विश्वप्रपंचका सर्जन, पालन तथा संहार करती है। जैसे अयस्कान्त (चुम्बक)-के सान्निध्यसे लौहमें हलचल होती है, वैसे ही भगवान्के सान्निध्यमात्रसे मायाशक्तिको चेतना प्राप्त होती है। जैसे झरोखोंमें सूर्य-किरणोंके सहारे निरन्तर परिभ्रमण करते हुए अपरिगणित त्रसरेणु दिखायी देते हैं, वैसे ही प्रकृतिपारदृश्वा लोकोत्तरपुरुष-धौरेयोंको भगवान्के सन्निधानमें अनन्त विश्व दिखायी देते हैं—**'यत्सन्निधौ चुम्बकलोहवद्धि जगन्ति नित्यं परितो भ्रमन्ति॥'** भगवान् अपने पारमार्थिक रूपसे निराकार, निर्विकार, निष्कल, निरीह, निर्गुण होते हुए भी मायाशक्ति-युक्तरूपसे अनादिबद्ध, स्वांशभूत जीवोंपर कृपा करके उनके कल्याणार्थ विश्वके सर्जन एवं संहारादि लीलाओंमें प्रवृत्त होते हैं। मनीषी बड़े कुतूहलसे सकल विरुद्धधर्माश्रय भगवान्के इस कौतुकको देखकर कहते हैं—

त्वत्तोऽस्य जन्मस्थितिसंयमान् विभो
वदन्त्यनीहादगुणादविक्रियात् ।
त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुध्यते
त्वदाश्रयत्वादुपचर्यते गुणैः॥

(श्रीमद्भा० १०।३।१९)

अर्थात् हे नाथ! विज्ञजन निर्गुण, निरीह, अविक्रियसे ही इस विविधवैचित्र्योपेत विश्वकी जन्म, स्थिति तथा संहार बतलाते हैं। भला जो निरीह तथा सर्वथा निष्क्रिय है, वही निरन्तर चांचल्यपूर्ण विश्वकी सृष्टि करनेवाला—यह कैसे?

परंतु भगवान्के ईश्वर तथा ब्रह्म—इन दो रूपोंमें इन विरुद्ध धर्मोंके सामंजस्य होनेमें कोई भी आपत्ति नहीं है। मायायुक्त ऐश्वररूपमें विश्वनिर्माणके उपयुक्त निखिल क्रियाएँ हैं, परंतु मायारहित ब्रह्मरूपमें निरीहता एवं निष्क्रियता ही है। अर्थात् मायाशक्तिके सहारे होनेवाले समस्त व्यवहारोंका मायाधिष्ठान, स्वप्रकाश, विशुद्ध ब्रह्ममें उपचार होता है। अस्तु, वही व्यापक ब्रह्म निरंजन, निर्गुण, विगत-विनोद, भक्तप्रेमवश श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्ररूपमें श्रीकौसल्याम्बाके मंगलमय अंकमें व्यक्त होता है।

निखिल ब्रह्माण्ड-मण्डल जिसके परतन्त्र है, वह मायापति भगवान् भास्वती भगवती श्रीकृपादेवीके पराधीन है और वे अनुकम्पा महारानी भी दीनताके परतन्त्र हैं। भगवान्‌के यहाँ दोनोंकी खूब सुनवायी होती है।

जगद्विधेयं ससुरासुरं ते
भवान् विधेयो भगवत् कृपायाः।
सा दीनताया नमतां विधेया
ममास्त्ययत्नोपनतैव सेति॥

जो दीनता अन्यत्र अवहेलनाकी दृष्टिसे देखी जाती है, वही भगवान्‌के यहाँ परमादरणीया है। शोक, मोह, जरा, मरण, आधि-व्याधि, दारिद्र्य-दुःखोंसे उत्पीड़ित प्राणियोंके यहाँ दीनताकी कमी नहीं है। उसीका दुखड़ा सर्वत्र गाया जाता है, परंतु दुर्भाग्यवश वह गाया जाता है ऐसी जगह, जहाँ कुछ मिलना-जुलना तो दूर रहा, फूटे मुँहसे सहानुभूतिका भी एक शब्द नहीं निकलता। वहाँ तो दीनको अवहेलनाओंका ही पात्र बनना पड़ता है। परंतु 'दीनानाथ' होनेके नाते भगवान् दीनताके ग्राहक हैं। उनके सामने दीनता प्रकट करनेमें तो कृपणता न होनी चाहिये। जैसे संघर्षके द्वारा व्यापक अग्निका सगुण-साकाररूपमें प्राकट्य होता है, किंवा शैत्यके सम्बन्धसे जलका ओला हो जाता है, वैसे ही प्रेमियोंके प्रेमप्राखर्यसे विशुद्ध सत्त्वमयी श्रीकौसल्याम्बासे पूर्णतम पुरुषोत्तम—भगवान्‌का प्राकट्य होता है। यज्ञपुरुषद्वारा समर्पित चरुके ही विभागानुसार भगवान्‌का ही श्रीराम, लक्ष्मण, भरत एवं शत्रुघ्नरूपमें आविर्भाव होता है।

भगवान्‌का आविर्भाव चार रूपोंमें

कुछ महानुभावोंका मत है कि सांगोपांग शेषशायी भगवान्‌का आविर्भाव चार रूपमें होता है। साक्षात् भगवान् श्रीरामरूपमें और शेष, शंख, चक्र—ये लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्नरूपमें प्रकट होते हैं। आधे अंशमें राम और आधेमें लक्ष्मण प्रभृति तीनों भ्राता। दूसरे शब्दोंमें यह भी कहा जा सकता है कि सप्रपंच ब्रह्मका भरतादि तीन रूपमें प्राकट्य हुआ और निष्प्रपंच ब्रह्मका श्रीराम-रूपमें आविर्भाव हुआ।

प्रणवके 'अ' 'उ' 'म्' इन तीन मात्राओंके वाच्य विराट्, हिरण्यगर्भ, अव्याकृतका शत्रुघ्न, लक्ष्मण तथा भरत-रूपमें और अर्धमात्राका अर्थ तुरीयपाद या वाच्यवाचकातीत, सर्वाधिष्ठान परमतत्त्वका श्रीराम-रूपमें प्रादुर्भाव हुआ। निष्प्रपंच अर्धमात्राका अर्थ तुरीय तत्त्व ही चरुके अर्ध अंशसे और शेष तीन मात्राओंके अर्थ सप्रपंच तीनों तत्त्व चरुके अर्ध अंशसे व्यक्त हुए हैं। प्रणवकी जैसे साढ़े तीन मात्रा मानी गयी है, वैसे ही सोलह मात्रा भी मानी जाती है। '**अकारो वै सर्वा वाक्।**' समस्त वाक्योंका अन्तर्भाव अकारमें ही होता है और समस्त वाक्योंका आविर्भाव प्रणवसे ही होता है। अतः प्रणवमें ही सोलह मात्राकी कल्पना करके उसके सोलह वाच्य स्थिर किये गये हैं। जाग्रत्-अवस्थाका अभिमानी व्यष्टि विश्व और समष्टि स्थूल प्रपंचका अभिमानी विराट् होता है। सूक्ष्मप्रपंच और स्वप्नावस्थाका अभिमानी तैजस और हिरण्यगर्भ एवं कारणप्रपंच, सुषुप्ति-अवस्थाका अभिमानी प्राज्ञ और अव्याकृत होता है। इन सभी कल्पनाओंका अधिष्ठान शुद्ध ब्रह्म तुरीय तत्त्व होता है। फिर इन एक-एकमें भी चार-चार भेद बतलाये गये हैं। जाग्रत्-अवस्थामें स्पष्ट विषयबोध 'जाग्रत्-जाग्रत्' कहलाता है और जाग्रत्-कालमें मनोराज्यादि करते समय 'जाग्रत्-स्वप्न' कहा जाता है। शोक, मोह या हर्ष-विशेषमें शून्यता या स्तब्धताके समय 'जाग्रत्-सुषुप्ति' एवं जाग्रत्-कालमें ही निष्प्रपंच ब्रह्म-दर्शन-कालमें 'जाग्रत्-तुरीय' कहा जाता है। इसी तरह स्वप्नमें स्पष्ट व्यवहार 'स्वप्न-जागर', स्वप्नमें स्वप्न 'स्वप्न-स्वप्न' और स्वप्नमें सुषुप्ति 'स्वप्न-सुषुप्ति' और स्वाप्निक ब्रह्मानुभूति 'स्वप्न-तुरीय' है। सुषुप्तिमें भी सात्त्विकी, राजसी और तामसी भेदसे 'सुषुप्ति-जागर', 'सुषुप्ति-स्वप्न' और 'सुषुप्ति-सुषुप्ति' होती है। निद्राके प्रभावसे विश्व-विस्मरण-कालमें अभ्यासियोंको निष्प्रपंच ब्रह्म-दर्शन ही 'सुषुप्ति तुरीय' है। स्थूल प्रपंचभासक सर्वानुस्यूत (ओत)

आत्मा 'तुरीय विराट्' है और सूक्ष्म प्रपंच-भासक 'अनुज्ञा आत्मा' तुरीय हिरण्यगर्भ है। इसी तरह कारण-भासक अनुज्ञाता आत्मा 'तुरीय अव्याकृत' है और सर्वभास्यादि प्रपंच-वर्जित अविकल्प आत्मा 'तुरीय-तुरीय' है।

इस पक्षमें 'तुरीय विराट्' शत्रुघ्न, 'तुरीय हिरण्यगर्भ' लक्ष्मण, 'तुरीय अव्याकृत' भरत और 'तुरीय-तुरीय' श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्ररूपमें प्रकट होते हैं और उनकी माधुर्याधिष्ठात्री महाशक्ति श्रीजनकनन्दिनीरूपमें प्रकट होती हैं। सर्वथाऽपि पूर्णतम पुरुषोत्तम वेदान्तवेद्य भगवान्का ही श्रीरामचन्द्ररूपमें प्राकट्य होता है, तभी तो उनके दर्शन, स्पर्श, श्रवण, अनुगमनमात्रसे प्राणियोंकी परमगति हो जाती है—

स यैः स्पृष्टोऽभिदृष्टो वा संविष्टोऽनुगतोऽपि वा।
कोसलास्ते ययुः स्थानं यत्र गच्छन्ति योगिनः॥

(श्रीमद्भा० ९। ११। २२)

जो परमतत्त्व विषय, करण, देवताओं तथा जीवको भी सत्ता-स्फूर्ति-प्रदान करनेवाला है, वही श्रीरामचन्द्ररूपमें प्रकट होता है।

बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥

(रा०च०मा० १। ११७। ५-६)

समष्टि-व्यष्टि, स्थूल-सूक्ष्म, कारण समस्त प्रपंचमय क्षेत्रके कूटस्थ निर्विकार भासक ही राम हैं—'**जगत प्रकास्य प्रकासक रामू।**' (रा०च०मा० १। ११७। ७)

जिसके अनुग्रहसे एवं जिसमें सब रमण करते हैं और जो सर्वान्तरात्मा-रूपसे सबमें रमण करता है, वही मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र हैं। जिस आनन्दसिन्धु सुखराशिके एक तुषारसे अनन्त ब्रह्माण्ड आनन्दित होता है; वही जीवोंके जीवन, प्राणोंके प्राण, आनन्दके भी आनन्द भगवान् 'राम' हैं।

श्रीरामभद्रका ध्यान

भगवान्के विविध अंगों तथा आभूषणोंकी शोभा

भावुकजन हृदयेश्वरी श्रीजनकनन्दिनीसहित श्रीरामचन्द्रका ध्यान करते हैं। अद्भुत अनन्त दिव्य दीप्तियोंसे शोभित, नवाम्बुद श्यामल अंग मानो सनेहसाने सुषमाश्रृंगार-सार-सर्वस्वसे ही निर्मित हुए हैं। श्रीअंगमें एक-एक रोमके अपार सौन्दर्य, माधुर्य, लावण्यपर अनन्तकोटि कन्दर्प और अपरिगणित निर्मल अमृतमय निष्कलंक पूर्णचन्द्र लज्जित होते हैं। श्रीरामचन्द्र सन्तोंके हृदयकमलको प्रफुल्लित करनेवाले अलौकिक दिव्य सूर्य हैं। किंवा श्रीजनकनन्दिनीके हृदयस्थ पूर्णानुरागरससारसागरसे समुद्भूत अद्भुत अलौकिक निष्कलंक पूर्णचन्द्र हैं। श्यामल तमालसरीखी अंगकी दिव्य दीप्ति है। किंवा श्यामामृतमहोदधि-सारसमुद्भूत श्यामलमहोमय-चन्द्रके समान श्रीअंगकी कान्ति है। अथवा श्रृंगार-रस-सार-सरोवर-समुद्भूत श्यामलतागर्भित सुवर्णवर्ण पंकजके समान स्वरूप है। जैसे मयूरकी नीलपीतमिश्रित विलक्षण छबि होती है, वैसे ही उससे भी शतकोटिगुणित आकर्षण चमकीली श्यामलता और अद्भुत आकर्षण-गुण-सम्पन्नता प्रभुके श्रीअंगमें निहित है। किंवा जैसे वैदूर्यमणिकी नील-पीत-हरित नानावर्णमिश्रित दीप्तिमयी छबि होती है, वैसे ही प्रभुकी मंगलमयी मूर्तिमें अलक्ष्य और अवितर्क्य एवं अद्भुत श्यामल-हरित-पीत दीप्तियोंका सामंजस्य है।

यह गौर तेज श्रीआह्लादिनी शक्तिरूपा प्रभुकी प्राणेश्वरीका है और श्यामल तेज प्रभुका ही है। हरित तेज मानो दोनों तेजोंके सम्मिश्रणसे आविर्भूत हुआ है एवं महेन्द्रनीलमणिके जीवनधन नीलमणीन्द्रसे भी शतकोटिगुणित अधिक अद्भुत श्यामल महोमयी प्रभुकी श्रीमूर्तिमें कुंकुम-मिश्रित हरिचन्दनके विलिम्पन हैं।

श्यामल अंगपर सूक्ष्म पीतिमा ऐसी शोभित होती है, जैसे दिव्य नीलमणीन्द्रपर शरद्-ऋतुके चन्द्रमाकी

शीतल सुकोमल अमृतमयी चन्द्रिका छिटकी हो। सौन्दर्य-माधुर्य-सुधासे भरपूर प्रेमानन्दरस बरसानेवाले लोकोत्तर अभिनव नील नीरदसे भी शतकोटिगुणित प्रभुके मंगलमय श्रीअंगमें सौन्दर्य, माधुर्य, सौरस्य सुधा है, जिससे पारावारविहीन अलौकिक प्रेमानन्दामृतकी वर्षा होती है। जब नीर प्रदान करनेवाले नव जलधरमें दीप्तिमत्ता, विशिष्ट श्यामलता, गम्भीरता तथा तापापनोदकता है, तब फिर प्रभुके श्रीअंगमें अद्भुत आकर्षकता, अद्भुत श्यामलता, गम्भीरता एवं तापापनोदकताका कहना ही क्या है!

भावुकोंने भगवान्‌को शृंगार-रससार-सागर, आनन्द-रससार-सागर किंवा पूर्णानुराग-रससार-सागरसे समुद्भूत निर्मल निष्कलंक लोकोत्तर चन्द्रमा कहा है।

भावुकोंने मधुरताके लिये अनन्तकोटिब्रह्माण्डान्तर्गत आनन्दबिन्दुके उद्‌गम-स्थान अचिन्त्य, अनन्त, परमानन्द-सुधासार-सरोवर-समुद्भूत पंकजका उपमान युक्त कहा है; क्योंकि जैसे क्षीर-सागरका पंक क्षीरसारनवनीत होता है, वैसे पूर्णानुराग-रस-सार सरोवरमें पंक उसका सार ही होगा और पंकज उसका भी सार होगा। माधुर्याधिष्ठात्री प्रभुकी हृदयेश्वरीके सम्बन्धमें महानुभावोंने कहा है कि यदि छबिसुधापयोनिधि हो उसमें निमग्न, परमरूपमय कच्छप हो, एवं उसी परम रूपके आश्रित शृंगारमय मन्दर हो, शोभामयी रज्जु हो और इन सामग्रियोंसे युक्त साक्षात् लोक-विलक्षण मन्मथ अपने करकमलोंसे मन्थन करे तो फिर उसमेंसे जो सुन्दरतासुखमूलमयी लक्ष्मी निकले—वही कथंचित् प्रभुकी हृदयेश्वरीका उपमान हो सकती है अथवा सुषमा-कामधेनुसे शृंगार-रससार दुग्धको दुहकर कामदेवने अपने दिव्य करकमलोंसे अमृतमय दही जमाया हो और उसका मन्थन करनेपर जो नवनीत निकले, उसीसे श्रीजनकनन्दिनी और श्रीरामचन्द्रजीको रचा गया है।

भालपर सहस्रों सूर्योंकी दिव्य दीप्तियोंका तिरस्कार करनेवाला सुन्दर मुकुट शोभित हो रहा है। उसमें नाना प्रकारके नील, पीत, हरित परम प्रकाशमय मणि और मुक्ताएँ लगी हैं। मोतियोंकी मनोहर लड़ियाँ सुन्दर रूपमें लटक रही हैं। ऊपरकी स्निग्ध, सचिक्कण, श्यामल अलकावलियाँ मुकुटकी दिव्य दीप्तिसे वैदूर्यके समान नाना छबिसे परिप्लुत हो रही हैं। कपोल प्रान्तके स्निग्ध श्यामल कुटिल कुन्तल अति दिव्य कुण्डलोंकी दीप्तिसे देदीप्यमान हो रहे हैं। महानुभावोंका कहना है कि प्रभुके अमृतमय मुखचन्द्रके समीप दोनों कुण्डल तथा दिव्य किरीटके नील और लाल रत्नोंके साथ वे श्यामल स्निग्ध केश-समूह ऐसे शोभित होते हैं, जैसे अन्धकार-सार-समूह शुक्र-बृहस्पति एवं भौम और शनिको आगे लेकर चन्द्रमासे वैर मिटाकर मिलने चला हो। यहाँ दोनों कुण्डल शुक्र, बृहस्पतिके समान, नील तथा रक्त रत्न शनि एवं मंगलके समान और केश अन्धकार-सारके समान हैं। मुखचन्द्रकी दिव्य द्युतिसे कुण्डल और मुकुट जगमगा रहे हैं। मुकुट तथा कुण्डलोंकी आभा मुखचन्द्रपर शोभित हो रही है। भुजमूलतक लम्बायमान मयूरके आकारवाले कलकुण्डल अद्भुत शोभा बढ़ा रहे हैं। कुण्डलोंकी आभा कुटिल कुन्तलोंपर बड़ी सुहावनी लगती है, मानो दो कामदेव हरके डरसे प्रभुके कानोंमें लगकर मेरुकी बात कर रहे हैं।

अत्यन्त स्निग्ध, सचिक्कण, श्यामल अलकावलियाँ मुखचन्द्रपर ऐसी शोभित होती हैं, जैसे नागोंके छोटे-छोटे चमकीले श्यामल शिशु चन्द्रमापर अमृत पानेके लोभसे विराज रहे हों। चंचलताके समय मानो नागशिशु चन्द्रमासे लड़ते हैं और स्थिरताके समय मानो सौन्दर्य-माधुर्य अमृतका पान करके लोटपोट हो रहे हैं अथवा अमृतमय मुखचन्द्र और नयनकमल एवं अलकावलीका सामंजस्य ऐसा सुन्दर लगता है, मानो पूर्णचन्द्रके समक्ष कमलदल देखकर कौतुकसे विपुल अलिवृन्द आ गये हों। किंवा नीलमणीन्द्रमय मुखचन्द्रमें कमलदल-सरीखे आयत नयनोंको देखकर मानो आश्चर्यसे अलकावलीके छद्मसे भ्रमरवृन्द आये हों अथवा मानो भगवान्‌का मुख एक अद्भुत पद्म है, जो पूर्वोक्त प्रकारसे शृंगार, पूर्णानुराग या आनन्दसार-सरोवरसे उत्पन्न है अथवा

चन्द्रसार-सरोवरसे उत्पन्न अद्भुत दीप्तिसम्पन्न लोकोत्तर नीलकमल है, जिसके सौन्दर्य-माधुर्यमय मादक मधुका पान करनेके लिये अलिकुलमाला अलकावलीके व्याजसे घेरे है। मानो मादक मधुर मधुका पानकर मत्त हुए भ्रमर गुंजार और चांचल्य छोड़कर विभोर हो रहे हैं। किंवा यह अलकावलीके छद्मसे '**अलं अत्यर्थं ब्रह्मात्मकं सुखं येषां ते अलका:**' इस व्युत्पत्तिके अनुसार ब्रह्मविद् ही प्रभुके मुखपद्मके मादक माधुर्य-मधुका पानकर लोट-पोट हो रहे हैं।

मनोहर भालपर सूर्यकी दो दिव्य किरणोंके समान किंवा विद्युत्की दो रेखाओंके समान कुंकुम-तिलक ऐसा शोभित होता है, मानो कामदेवने भ्रुकुटिरूप मरकत धनुषको तानकर दो तेजोमय कनकशर तम:स्तोकके लिये संधान किये हों। कामधनुषको भी लजानेवाली दिव्य श्यामल स्निग्ध भ्रुकुटी बड़ी ही सुन्दर है। किंचित् अरुणिमाको लिये हुए नील कमलदलके सरीखे सुन्दर नयन कर्णपर्यन्त शोभा दे रहे हैं। किंचित् अरुण और सित नयनोंके कोने बड़े मनोहर हैं। उनकी अरुणिमा मानो भक्तोंके मनोरथोंको रचनेवाली रजोगुणात्मिका और स्वच्छता भक्तोंके अभिलषित पदार्थोंकी रक्षा करनेवाली सत्त्वात्मिका माया है। शुकतुण्डको लजानेवाली बड़ी ही सुन्दर नासिका है। मानो नासिकापर ही मनोहर मुकुट और अलक एवं भालपर तिलककी शोभा आकर रुकी है। अति ललित गण्डमण्डल और विशाल भालपर सुन्दर तिलककी झलक निराली ही है। मंजु मुख-मयंकपर सुन्दर भौंहें सुन्दर अंकके समान भासित होती हैं। वंक भौंहें और भालमें विराजमान मनोहर कुंकुमरेखा अद्भुत शोभा सरसा रही है।

नासिकामें सुन्दर मौक्तिककी शोभा अद्भुत ही है। अति मनोहर पद्मकोषके समान मुख बन्धूकपुष्प, बिम्बाफलके समान अत्यन्त सुन्दर दीप्तिमत्ता विशिष्ट अरुण अधर और ओष्ठ शोभित होते हैं। दाडिमबीज एवं कुन्दकलीके समान सुन्दर दन्तावली अत्यन्त मनोहर लगती है। स्वभावसे स्निग्ध और स्वच्छ दशनावली अधर तथा ओष्ठकी दिव्य अरुणिमासे अरुण हो रही है। जैसे अधर-ओष्ठकी अरुण दीप्तिसे दशनावलीमें स्निग्ध अरुणिमाकी आभा है, वैसे ही दशनावलीकी भी दिव्य स्निग्ध दीप्ति अधरोंपर प्रकट हो रही है अथवा जैसे अरुण पंकज-कोषमें मोतियोंकी अतिसुन्दर देदीप्यमान पंक्ति शोभित हो, वैसे ही भगवान्के मुखपंकजमें दशनावलीकी शोभा है। दोनों कपोल, चिबुक और भालपर्यन्त समस्त मुख तो नीलमणीन्द्रमय चन्द्रमा, किंवा अद्भुत-दीप्ति-सम्पन्न श्यामल महोमय श्रृंगार-रससार-सरोवर-समुद्भूत नील पंकजके समान है। परंतु मुख्य मुख तो पूर्णानुराग-रससार-सरोवर-समुद्भूत सरोज ही है; क्योंकि उसमें अरुण दीप्तिका प्राधान्य है और अनुराग भी अरुण ही है।

अत: तत्सार-सरोजमें अति अरुणिमाका सामंजस्य हो सकता है। पूर्णानुराग-रससार-सरोवर-समुद्भूत अरुण मुख-पंकजमें ही वह अधर-सुधा है, जो अन्तरंग भावुक जनोंके तथा प्रभु-प्राणेश्वरीके निरतिशय निरुपाधिक रागका आस्पद है। अधर-ओष्ठमें तो यों ही अद्भुत सरसता, स्निग्धता एवं दीप्तिमत्ता-विशिष्ट अरुणिमा है, दूसरे वह भावुकोंके रागसे महानुराग-रस-रंजित हो उठती है। अधरकी सूक्ष्म रेखाओंसे ताम्बूलका कुछ चटकीला रस और ही शोभा दरसा रहा है।

बाल सूर्यकी कोमल रश्मियोंसे अतसी-पुष्पमें जैसे स्वच्छतायुक्त अद्भुत श्यामता है, उससे भी शतकोटिगुणित स्वच्छतायुक्त मधुरता श्रीभगवान्के अंगकी है। उसमें विकसित नील-कमल-कोषके समान कपोल बड़े ही सुडौल और गोल हैं। उनपर दिव्य मुक्तामणि रत्नोंसे जटित सुवर्ण मणिमय कुण्डलोंकी अद्भुत झलक विराजमान है। कुण्डलों और मुकुटकी झलकसे नाना प्रकारकी दीप्तियोंसे युक्त स्निग्ध श्यामल कुन्तलोंकी भी आभा पड़ रही है। शोभा तथा छबिकी सीमा चिबुककी चमकीली श्यामलता विलक्षण

ही है। भावुकोंने तो कपोल और चिबुकपर कस्तूरिका और कुंकुमसे मकरीपत्र और कल्पवृक्षके मनोहर चित्र भी बनाये हैं, जो कि मनको बरबस खींच लेते हैं। अधरकी मनोहर अरुणिमासे स्वच्छ मोती भी विद्रुमके समान प्रतीत होने लगता है। नयनोंसे निरीक्षण-कालमें नयन-पुतरियोंकी दीप्तिसे मोती गुंजाके समान प्रतीत होने लगता है। जब यह कुतूहल देखकर वे हँस देते हैं, तब ब्रह्मस्मित चन्द्रिकाके सम्पर्कसे वह मोती हो जाता है। यह स्मित चन्द्रिका या उदार हास मानो हृदयस्थ अनुग्रहचन्द्रकी ही अमृतमयी दिव्य दीप्ति है। इस उदार हास दिव्य कलचन्द्रिकासे तो मानो नभोमण्डल धौत हो जाता है। सौगन्ध्य-लोभसे आये हुए भ्रमरवृन्द भी अपनी नीलिमा खोकर स्वच्छ रूप धारण कर बैठते हैं। उदार हास वक्ष:स्थलपर हारके समान शोभायमान होता है। मनोहर मुखपंकजमें स्मित चन्द्रिका और उदार हास ऐसे शोभित होते हैं, मानो किसी अद्भुत नील कुवलयमें विलक्षण चन्द्रमा कभी छिपता है और कभी प्रकट होता है।

विशेष स्वादकी बात यह है कि अरुण अधरमें मधुर बोलते समय दशनावली दामिनीके समान दमकती है। सुन्दर हास और मनोहर चितवन तो मनको लुभा लेती है। अरुण अधरके मध्यमें स्निग्ध दशन-पंक्ति और मनोहर हास मनोहर लगता है, मानो विद्रुमके विमानपर सुर-मण्डली बैठकर फूल बरसा रही हो अथवा अरुणतर अधरोंमें मनोहर हासयुक्त दशन-पंक्ति ऐसी शोभित होती है, जैसे सुवर्णके कमलमें तड़ितोंके साथ कुलिशोंने निवास किया हो।

कमलदल-सरीखे दोनों नयनोंमें पुतलियाँ मधुकरके समान प्रतीत होती हैं। नासिका शुकतुण्डके समान मानो लड़ती हुई धनुषरूपी अवलियोंमें बचाव करनेके लिये प्रकट हुई है। सुषमाके अयन नयन और कुंचित केश, कलकुण्डल और नासिका ऐसी सुहावनी लगती है, मानो चन्द्रबिम्बके मध्यमें कमल तथा मीन और खंजनको देखकर भ्रमर-मकर अपनी-अपनी गँव ताककर आये हों। शंखके सदृश कण्ठ बड़े ही शोभित हो रहे हैं। निर्मल पीताम्बर ऐसे शोभित होते हैं मानो नवनीलनीरदपर दामिनी दमकती है। अथवा सुचन्दन-चर्चित श्यामल श्रीअंगपर पीत दुकूल ऐसी छबि देता है, जैसे नील जलदपर चन्द्रिकाकी चमक देखकर दामिनी दमकती हो। अत: दामिनीको विनिन्दित करनेवाला, सुषमा-सदन मदनको भी मोहनेवाला सौन्दर्य-सार-सर्वस्व सुन्दर पीताम्बर प्रभुके श्रीअंगपर बड़ा ही सुहावना लगता है।

श्रीवक्ष:स्थलपर मनोहर सुन्दर श्यामल तरुण तुलसीदल-मालसहित मुक्तावली ऐसी शोभित होती है, जैसे महेन्द्रमणि-शिखरपर हंसकी पंक्तियोंसे युक्त श्रीरविनन्दिनी विराजमान हों। रुचिर उपवीत तथा अनेक प्रकारकी मुक्ताओंकी मालाएँ ऐसी मालूम पड़ती हैं, जैसे इन्द्रधनुष नक्षत्रोंके साथ तिमिर-राशिपर विराजमान हो। उसे देखकर अश्विनीकुमार, मदन, सोम सभी लज्जित होते हैं। भूषण तो ऐसे ज्ञात हो रहे हैं, मानो तरुण शृंगारतरु सुन्दर फलोंसे भरपूर हो अथवा कन्दर्प ही भूषणके छद्मसे शोभासार सुधाजलनिधि श्रीप्रभुके अंगसे शोभा लेने आये हों। पर वे लोभी लोभवश वहीं रह गये; जा न सके। प्रभुके श्रीअंगपर रोम-रोमपर अनन्तकोटि सोम और काम न्योछावर किये जा सकते हैं।

श्रीभगवान्‌की मनोहर भुजाएँ चमकीली और मनोहर श्यामतासे युक्त हैं। उनमें कुंकुम-मिश्रित हरिचन्दनका विलिम्पन है और वे नाना प्रकारके अंगद, कंकण, मुद्रिकाओंसे भूषित हैं। कुछ भावुकोंका कथन है कि श्रीभगवान्‌की भुजाएँ श्रीजीके स्नेहरूप वरवेलिवेष्टित वटतरु हैं। प्रेमबन्ध ही वटवारि है। मंजुल मंगल मूल ही उसका मूल है। अँगुलियाँ मनोहर शाखाएँ, रोमावली ही पत्रावली, नख ही सुमन और सुजनोंके अभीष्ट ही सुफल हैं। उसकी अविचल, अमल, अनामय, सान्द्र, ललित, छद्मरहित, शुभ छाया समस्त सन्ताप, राग, मोह, मान, मद, मायाको शमन करनेवाली है। पवित्र मुनि-भृंग-विहंग ही इसका सेवन करते हैं।

उरमें सुन्दर भृगुचरण और श्रीवत्स तथा लक्ष्मीका सुन्दर चिह्न है। दक्षिण वक्ष:स्थलमें दक्षिणावर्त विसतन्तुके समान स्वच्छ स्निग्ध रोमोंकी राजि है। मध्यमें भृगुचरण और वाम वक्ष:स्थलमें वामावर्त सुवर्णवर्ण रोमोंकी राजि है। यही दोनों रोम-राजियाँ श्रीवत्स और लक्ष्मीके चिह्न हैं। अनेक भूषणोंसे भूषित, प्रलम्ब, श्यामल, चमकीली भुजाएँ पीताम्बरसंयुक्त होकर अद्भुत शोभा बढ़ा रही हैं। सुन्दर कौंधनी (करधनी) नितम्ब-बिम्बपर ऐसी शोभित होती है, मानो कनककमलकी अति सुहावनी पंक्ति मरकत-मणिशिखरके मध्यमें जाकर विराजमान हो अथवा मुखचन्द्रके भयसे ऊपर न जाकर वहीं नमितमुख होकर विकस रही हो। अति गम्भीर नाभि-सरोवर यमुना-भँवरके समान है। उसके ऊपरकी रेखाएँ बड़ी ही मनोहर हैं। दामिनीको लजानेवाले दिव्य पीताम्बरसे समावृत चमकीले श्यामल जानु और ऊरु अद्भुत छविमय सम्पन्न हो रहे हैं। नाना मुक्तामणिगण-जटित नूपुर ऐसा सुहावना लगता है, मानो मधुमत्त अलिगण युगल चरणकमलको देखकर झूम रहे हों।

श्रीभगवान्‌के चरणपृष्ठ श्यामल, तल अरुण और नखश्रेणि कुछ स्वच्छ है। यह मानो यमुना, गंगा तथा सरस्वतीका संगम है, जिसमें अंकुश, कुलिश, कमल, ध्वज आदि चिह्न ही सुन्दर भँवर—तरंग हैं अथवा यह जो चक्र है, वह मानो भक्तजनके अरिषड्वर्गको नाश करनेके लिये है। कमल ध्यातृचित्तरूपी द्विरेफ (भ्रमर)-को मोहित करनेके लिये है, ध्वज भक्तजनके सर्वानर्थका नाशक वज्र है, वह भक्तके पापाद्रि-भेदनार्थ ही है। पार्ष्णिमध्यमें जो अंकुश है, वह मानो भक्तचित्तेभको वशमें करनेके ही लिये है। कमलदल-सरीखी अंगुलियोंपर नखमणि-श्रेणी ऐसी शोभित होती है, मानो कमलदलपर अरुणिमासे रंजित तुषारके कण रंजित होते हैं। किंवा नखोंमें सुन्दर अरुण ज्योति:सम्पन्न नख-श्रेणी ऐसी मनोहर लगती है, मानो कमलदलोंपर दस मंगल सुन्दर सभा बनाकर अचल होकर बैठे हों। उन्नत चरण-पृष्ठ कदली-स्तम्भके समान, दोनों जंघा काम-तूणीरके समान सुहावने लगते हैं। इसी तरह भावुकोंने अनेक प्रकारसे भगवान् श्रीरामचन्द्रके अद्भुत दिव्य रूपका वर्णन किया है।

भगवदवतारका प्रयोजन

श्रीभगवान्‌के अवतार ग्रहण करनेके अनेक प्रयोजन हैं—धर्मग्लानि, अधर्माभ्युत्थानका निवर्तन, धर्मका संस्थापन, सन्मार्गानुगामी साधुओंका रक्षण, दुष्कृतियोंका संहार करना इत्यादि—ये सब प्रयोजन साक्षात् श्रीमुखने ही कहे हैं। कुन्ती महारानीका कहना है कि अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्रोंको भक्तियोगविधान करनेके लिये भगवान्‌का अवतार होता है—

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः॥

(श्रीमद्भा० १।८।२०)

अर्थात् परमहंसोंके प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न विशुद्ध ब्रह्मके अपरोक्ष साक्षात्कारको भक्तियोगद्वारा सरस एवं सुशोभित बनाकर उन्हें श्रीपरमहंस बनानेके लिये आपका प्रादुर्भाव होता है। भगवत्प्रीतिके बिना नैष्कर्म्यज्ञानकी शोभा नहीं होती—

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।

(श्रीमद्भा० १।५।१२)

'सोह न राम पेम बिनु ग्यानू।'

(रा०च०मा० २।२७७।५)

वेदान्तवेद्य, अदृश्य, अग्राह्य, भगवान् अपनी अचिन्त्य दिव्यलीलाशक्तिसे परममनोहर, सगुण, साकार सच्चिदानन्दघनरूपमें व्यक्त होकर अमलात्मा परमहंसोंके भजनीय बनकर उनके भक्तियोगके विधायक बनते हैं। ऐसे ही अन्यान्य अनेक प्रयोजन भगवान्‌के अवतारके

हैं। उनकी इयत्ताका निर्णय कोई नहीं कर सकता।

हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जाइ न सोई॥'

(रा०च०मा० १।१२१।२)

भगवदवतरणके विभिन्न प्रयोजनोंके विविध अभिप्राय

इन एक-एक प्रयोजनोंके अनेक अभिप्राय हैं, परंतु यहाँ इनमें एक-दो प्रयोजनोंपर ही विचार करना है। श्रीशुकदेवजीने कहा है कि—

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥

(श्रीमद्भा० १०।२९।१४)

अर्थात् अव्यय, अप्रमेय, निराकार, निर्विकार, निर्गुण एवं गुणागार भगवान् अनन्तकोटिकन्दर्पमदमोचन श्रीकृष्णचन्द्रकी परमानन्दकन्दरूपमें अभिव्यक्ति जन-साधारणके कल्याणार्थ होती है। इस श्लोकमें '**नृणाम्**' शब्दका 'नरमात्राभिमानी अज्ञानी' अर्थ विवक्षित है, जैसा कि '**न कर्म लिप्यते नरे**' इस मन्त्रका व्याख्यान करते हुए श्रीमच्छंकरभगवत्पादने कहा है। जो विशुद्ध सच्चिदानन्दघन परब्रह्मात्माको पहचान चुका है, वह तो नर, नाग, देव, गन्धर्वादि कार्यकरणसंघातोंसे पृथक् अन्तरात्माको देखता है, वह नरमात्राभिमानी नहीं होता। जो स्वधर्मानुष्ठान, उपासना एवं श्रवण, मनन, निदिध्यासनादिद्वारा अपने शुद्ध स्वरूपका साक्षात्कार कर चुके हैं, वे तो निःश्रेयसरूप ही हैं। परंतु जो उसमें असमर्थ हैं, उनके निःश्रेयसार्थ भगवान् श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हुए हैं। अतएव अत्यन्तबहिर्मुख प्राणियोंका भी, जिनका कि अदृश्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, ब्रह्मसाक्षात्कार या उपासनामें चित्त ही नहीं लगता, भगवान्‌के मनोहरस्वरूपमें चित्त निविष्ट हो सकता है। अतएव काम, क्रोध, भय, स्नेहसे या ऐक्यभावसे यथाकिञ्चित् भगवान्‌में मनका प्रवेश करके प्राणी संसारसे छूटकर भगवद्रूप हो जाता है।

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥

(श्रीमद्भा० १०।२९।१५)

कंस भयसे, शिशुपाल द्वेषसे, कुब्जा कामसे श्रीकृष्णमें लीन हो गयी; मारनेकी इच्छासे पूतना कालकूटविषलिप्त स्तन्य पिलाकर भी कृतकृत्य हो गयी। कुछ व्रजांगनाएँ उन्हीं पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान्‌का जारबुद्धिसे चिन्तनकर तल्लीन हो गयीं। कहा जा सकता है कि यदि वे व्रजांगनाएँ बिना तत्त्वसाक्षात्कार किये ही श्रीकृष्णको जार समझती हुई ही ब्रह्मलीन हो गयीं, तब तो ज्ञानकी आवश्यकता ही न रह जायगी। ऐसी स्थितिमें '**नैनमविदितो देवो भुनक्ति।**', '**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।**' इत्यादि श्रुतियोंका यह कहना विरुद्ध होगा कि भगवान् बिना प्रत्यक् चेतनरूपसे साक्षात्कार किये साधकका पालन नहीं करते और बिना ज्ञानके मुक्ति नहीं होती। यदि कहा जाय कि वस्तुतः श्रीकृष्ण ब्रह्म हैं, अतः उनके ज्ञानकी अपेक्षा नहीं है। विष जानमें या अनजानमें यथाकथंचित् सेवन करनेसे भी अपना फल देता है। अमृत भी ज्ञानमें, अज्ञानमें सर्वथा अपना फल देता ही है। वैसे ही श्रीकृष्ण ब्रह्म हैं, चाहे ब्रह्मबुद्धिसे, चाहे जारबुद्धिसे उनका सेवन किया जाय, अवश्य उसका फल होगा।

परंतु इसपर यह कहा जाता है कि वस्तुदृष्टिसे यह समस्त विश्व ही ब्रह्म है, फिर तो सभीके पति, पुत्र, शत्रु, मित्र ब्रह्म ही हैं, उनका चिन्तन करनेसे भी मुक्ति होनी चाहिये। अतः इस ब्रह्माकारवृत्तिसे मूलाज्ञानके नष्ट होनेपर निरावरण ब्रह्मका साक्षात्कार ही मोक्षका कारण है। बिना निरावरण ब्रह्मका अनुभव हुए पति, पुत्रादि प्रीति सावरण एवं भिन्न-भिन्न प्रपंचाकारमेंसे विवर्तित ब्रह्मकी प्रीति मोक्षका हेतु नहीं बन सकती। इसपर अभिज्ञोंका कहना है कि यह ठीक है कि निरावरण ब्रह्मका अनुभव ही मोक्षका कारण है और उसके लिये ब्रह्माकारवृत्ति या ब्रह्मविज्ञान अपेक्षित है, परंतु श्रीकृष्ण लौकिक पति-पुत्रादिकोंके समान सावरण ब्रह्म या विवर्तित ब्रह्म नहीं हैं, किंतु वे तो निर्गुण, निरावरण, शुद्ध ब्रह्म ही हैं। अतः उनका अनुभव, उनके मनकी आसक्ति अवश्य ही मुक्तिका मूल है। '**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**' इत्यादि श्रुतियाँ वहाँके लिये

हैं, जहाँ सावरण ब्रह्मका सम्बन्ध है। श्रीकृष्ण तो निरावरण ब्रह्म हैं, अत: यहाँ तो जैसे विषबुद्धिसे भी पान करनेपर अमृत अमृतत्वको प्रदान करता है, वैसे ही जारबुद्धि या शत्रुबुद्धिसे भी निरावरण ब्रह्मात्मक श्रीकृष्णका भजन मोक्षका मूल है—'वस्तु-शक्ति ज्ञानकी अपेक्षा नहीं रखती।'

जैसे चिन्तामणिमें यदि दीपक-बुद्धिसे प्रवृत्ति हो तो भी लाभ चिन्तामणिका ही होगा, वैसे ही निरावरण ब्रह्म श्रीकृष्णमें शत्रु या जारबुद्धिसे भी प्रवृत्ति होनेपर प्रवृत्तको शुद्ध ब्रह्मकी ही प्राप्ति होगी, जार या शत्रुकी नहीं। कहा जा सकता है कि शुद्ध ब्रह्म तो कूटस्थ एवं अदृश्य है, अत: विशुद्धसत्त्व या अचिन्त्य दिव्यलीला-शक्तिके योगसे ही उसकी श्रीकृष्णरूपमें अभिव्यक्ति माननी पड़ेगी। ऐसी स्थितिमें शक्तिका व्यवधान होनेसे आवरण अवश्य ही मानना पड़ेगा, फिर श्रीकृष्ण निर्गुण एवं निरावरण कैसे हुए? इसका उत्तर यह है कि जैसे बादल आदिके सम्बन्धमें सूर्यस्वरूप आवृत होता है; वैसे ही राजस, तामस उपाधियोंके सम्बन्धसे ब्रह्मस्वरूप आवृत हो जाता है। प्रपंचरूपमें विवर्तित ब्रह्म राजस, तामस उपाधियोंके सम्बन्धसे आवृत रहता है, परंतु विशुद्धसत्त्व दिव्यलीलाशक्ति तो अत्यन्त स्वच्छ है। जैसे शुद्ध काँच दूरवीक्षण यन्त्र या उपनेत्रके सम्बन्धसे सूर्यस्वरूप आवृत नहीं होता, किंतु निरावरण सूर्यकी अपेक्षा स्पष्ट-सूर्यका दर्शन होता है, वैसे ही लीलाशक्तिके सम्बन्धसे श्रीकृष्णरूपमें प्रकट परब्रह्म आवृत नहीं होता, अपितु निरावरण ब्रह्मकी अपेक्षा भी सुन्दर, मधुर एवं मनोहर होकर व्यक्त होता है। जैसे शीतलताके सम्बन्धसे बर्फरूपमें परिणत जल निरावरण ही समझा जाता है, वैसे ही श्रीकृष्णरूपमें व्यक्त ब्रह्म गुणकृत आवरण एवं प्रभावसे विनिर्मुक्त होनेके कारण निर्गुण और निरावरण समझा जाता है। इसी अभिप्रायसे **'हरिर्हि निर्गुण: साक्षात्।'** इत्यादि उक्तियाँ हैं। ऊपर कहा गया है कि निर्गुण, गुणागार, अव्यय, अप्रमेय परब्रह्मकी ही श्रीकृष्णरूपमें अभिव्यक्ति प्राणियोंके कल्याणार्थ है। उनके मंगलमय श्रीअंगकी सुन्दरता, सरसता, मधुरता हठात् प्राणियोंके मनको खींच लेती है और पाषाण तथा वज्रके समान हृदयको पिघलाकर नवनीतके समान कोमल एवं सरस बना देती है। सौन्दर्य-माधुर्य-सौरस्य-सौगन्ध्यसुधाजलनिधि श्रीअंगमें इन्द्रियों और मनकी स्वाभाविकी आसक्ति हो जाती है। अमृतमय मुखचन्द्रमें मन और नयनकी ऐसी आसक्ति होती है कि वे लौटना तो भूल ही जाते हैं। जो मन विषयोंसे एक क्षणके लिये पृथक् नहीं हो सकता, वही भगवान्‌में आसक्त होकर विषयोंको भूल जाता है। फिर ज्ञान-विज्ञान-अपेक्षित सभी दिव्य गुण सेवाके लिये व्यग्र हो उठते हैं। ऐसे परम मधुर मनोहर भगवान्‌में प्रीति-आसक्तिका होना स्वाभाविक ही है। यदि प्रीति न भी हुई तो काम, द्वेष, ईर्ष्या, क्रोध आदि हो गया तो भी प्राणियोंका कल्याण हो जाता है। जो जारबुद्धि अन्यत्र घोर नरकका मूल है, वही भगवान्‌में परम कल्याणका मूल हो जाती है। जैसे सुवर्णमुद्रिका और दिव्य रत्नका सम्बन्ध बनानेके लिये लाखका भी मूल्य बढ़ जाता है, वैसे ही भावुक और भगवान्‌का सम्बन्ध सुस्थिर करनेके लिये जारबुद्धि भी बहुमूल्य हो जाती है। अन्यत्र 'जार' का अर्थ **'जयति सर्वान् गुणान् धर्मस्वर्गापवर्गान् जार:'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार यह अर्थ होता है कि सब गुणोंको या धर्म, स्वर्ग, अपवर्ग आदिको नष्ट करनेवाला। परंतु यहाँ **'जरयति अविद्या तत्कार्यात्मकं बन्धमविद्याग्रन्थिं कामान् वा इति जार:'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार यह अर्थ होता है कि जो अविद्याग्रन्थिको जला दे, अविद्या—तत्कार्यात्मक बन्धको नष्ट कर दे अथवा समस्त कामवासनाओंको जलाकर नष्ट करनेवाला परमात्मा ही जार है।

इस तरह साधारण-से-साधारण, उल्वण-से-उल्वण प्राणियोंकी सद्गतिके लिये ही श्रीभगवान्‌का अवतार है। कुछ अभिज्ञोंका कहना है कि भगवान् अपने ही सौशील्य, औदार्य, वात्सल्य आदि गुणगणोंकी सफलताके लिये इस मर्त्यलोकमें अवतीर्ण होते हैं।

यदि ऐसा न हो तो उनके पतितपावनत्वादि गुणगण व्यर्थ और वन्ध्य हो जायँगे। अपनी अनन्तता, अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायकताको भुलाकर बन्दरोंके साथ मिल-जुलकर आत्मीयताका व्यवहार करना यही अद्भुत सौशील्य है—

प्रभु तरु तर कपि डार पर ते किए आपु समान।
तुलसी कहूँ न राम से साहिब सीलनिधान॥

(रा०च०मा० १। २९(क))

गृध्रराजको अपने अंकमें लेकर अपने ही हस्तारविन्दसे उनके अंगका मार्जन करना, नयनाश्रुओंसे अभिषेक करना, 'तात-तात' मधुर वचनामृत सुनाकर उनको सुरेन्द्रादिस्पृहणीय दिव्यगतिको प्रदान करना मनोहर मुखचन्द्रका दर्शन देना। विभीषण, सुग्रीवादिके संग मैत्री जोड़ना, श्रीहनुमान्‌के ऋणी रहना—

'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं।'

(रा०च०मा० ५। ३२। ७)

प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥

(रा०च०मा० ५। ३२। ६)

एकैकस्योपकारस्य प्राणान् दास्यामि ते कपे।
शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्॥

—ये सब ऐसे कार्य हैं, जिनका होना साकेतलोक, गोलोकमें एवं निराकार निर्गुणरूपमें असम्भव है। श्रीदामासे पराजित होकर उसका घोड़ा बनना, व्रजांगनाओंके छछियाभर छाछपर नाच नाचना, वेदवचन मुनिमन अगम होकर भी चित्रकूटके कोल-भिल्लोंके वचनोंको बड़े चावसे सुनना (**'बेद बचन मुनि मन अगम ते प्रभु करुना ऐन। बचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालक बैन॥'** रा०च०मा० २। १३६), जिसके छाया-स्पर्शमें भी मार्जनकी अपेक्षा हो उस निषादसे सख्य जोड़ना, महामहापतिताको जगत्पावन बनाना आदि कार्य बिना अवतार ग्रहण किये हो ही नहीं सकते। अत: प्रभु अपने ही प्रयोजनमें इन गुणों एवं अबन्ध्य सफलतासम्पादनके लिये हमलोगोंमें अवतीर्ण होते हैं। पण्डितराजने गंगाजीसे कहा है—'हे अम्ब! आपके मनमें बहुत दिनोंसे यह रुचि थी कि कोई ऐसा उत्कट पतित पातकी मिले कि जिसको तारनेमें कोई तीर्थ, तप, जप, व्रत एवं कोई देवता समर्थ न हो तो उसको मैं पावन करूँ। अम्ब! बस, मैं आपकी उसी रुचिको पूरा करने आया हूँ। मुझ-जैसा पातकी, महापतित और कौन कहाँ मिलेगा? माँ! लो, मुझे तारकर अपना अभिलाष पूरा करो।' ठीक वैसे ही हम-सरीखे पतितों एवं दीनोंसे भरपूर इस मर्त्यलोकमें यदि प्रभु न पधारें तो कम-से-कम उनकी दीनवत्सलता, पतितपावनता आदि गुण तो व्यर्थ ही हो जायँ। अत: उन्हीं सबकी सफलताके लिये श्रीभगवान्‌का अवतरण होता है। दीनवात्सल्य, पतितपावनता, सौशील्य, औदार्य, कारुण्यसिन्धुत्व आदि गुणोंसे ही प्रेरित होकर प्रभु दीनोंकी, पतितोंकी कल्याणकामनासे ऊपरसे नीचे उतरते हैं। यदि यह सच है तो सचमुच किसीको निराश न होना चाहिये।

भारतमें ही अवतार क्यों ?

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

(गीता ४। ७-८)

हे भारत! जब-जब धर्मकी ग्लानि और अधर्मका अभ्युत्थान होता है, तब-तब मैं आत्माका सृजन अर्थात् अवतार ग्रहण करता हूँ। साधुओंके परित्राणार्थ, पापात्माओंके विनाशार्थ एवं धर्म-संस्थापनके लिये युग-युगमें मैं प्रकट होता हूँ। यहाँ यह विचार उठता है कि भगवान् भारतमें ही धर्मरक्षा आदिके लिये अवतार ग्रहण करके प्रकट

होते हैं या अन्यान्य देशोंमें भी? यदि भारतमें ही, तब वे भगवान् कैसे? वे तो अखिल विश्वके नियामक और ईश्वर हैं। समस्त विश्वको पाप-पंकसे उद्धृत करके उसे धर्मात्मा बनाना उनका कर्तव्य है। अतः विश्वकी ही धर्मग्लानि, अधर्माभ्युत्थान मिटाकर धर्मसंस्थापनकी आवश्यकता है। विश्वके ही साधुओंके पालन और दुष्कृतियोंके संहारकी आवश्यकता है, फिर भगवान्का उक्त कार्योंके लिये भारतमें ही क्यों अवतार होता है? समदर्शी, सर्वसम भगवान्को सभी देशोंमें अवतार ग्रहण करके पूर्वोक्त कार्य करना चाहिये। यदि सभी देशोंमें भगवान्के अवतार होते हैं तो वे अवतार-पुरुष कौन-कौन हैं? साथ ही यह भी स्पष्ट होना चाहिये कि क्या सभी देशोंमें जो प्रचलित धर्म हैं, उनके भी स्थापक और पालक भगवान् ही हैं? यदि ऐसा ही है तो भिन्न देशों एवं समान देशोंमें भी कालभेदसे विरुद्ध धर्मोंकी स्थापना क्यों की जाती है? एक सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् भगवान्के प्रतिष्ठापित और पालित धर्मोंमें ऐसा विरोध और भिन्नता क्यों? एक-एक धर्मके प्रतिष्ठापकोंने दूसरे धर्म-प्रतिष्ठापकोंका विरोध करके, यहाँतक कि दूसरे धर्मोंका नाशतक करके धर्मान्तरोंकी स्थापनाएँ की हैं। ऐसी स्थितिमें वे सभी धर्म हों या उनके प्रतिष्ठापक और पालक भगवान् हों—यह कैसे कहा जाय?

इस प्रश्नपर विचार करते हुए प्रथम यह देखना चाहिये कि गीताके श्लोकमें कौन-सा धर्म विवक्षित है। इसी निर्णयसे यह निर्णय भी हो जायगा कि साधु कौन और दुष्कृति (असाधु) कौन? कारण भगवत्संस्थापित धर्ममें परिनिष्ठित ही साधु और उससे विमुख असाधु समझ लिये जायँगे। इसमें सन्देह नहीं कि आजकल गीता और गीतोक्त धर्म-कर्मको सार्वभौम या व्यापक बनानेकी बुद्धिसे बहुत व्यापक अर्थ किया जाता है। यद्यपि गीताकी दृष्टिसे गीतोक्त धर्म-निर्णय करनेमें सरलता है। कारण गीताने ही यह निश्चय कर दिया है कि शास्त्रैकसमधिगम्य कर्म ही गीताको मान्य है तथापि आधुनिक विवेचकोंकी शास्त्रपर भी वही व्यापकताकी भावना है। उनका कहना है कि यदि केवल वेद ही शास्त्र हों और शास्त्रैकसमधिगम्य वर्णाश्रमानुसार श्रौत-स्मार्त कर्म ही धर्म हो, तब तो गीतामें संकीर्णता आ जाती है, जो गीता-जैसे सार्वभौम ग्रन्थके स्वरूपानुरूप नहीं है। इतने बड़े संसारमें छोटा-सा भारतवर्ष, वहाँके भी कुछ समूहोंमें ही वेद-शास्त्र और तदुक्त धर्मोंका आदर और प्रचार है। जब गीताका भी वही शास्त्र और धर्म है, तब तो वह एक देशकी ही वस्तु हो जाती है। फिर वह सार्वभौम एवं सर्वमान्य ग्रन्थ नहीं हो सकता। अतः भिन्न-भिन्न देश, कालकी परिस्थितिके अनुसार बुद्धिमान् विवेचकोंद्वारा निर्धारित किये गये कर्तव्याकर्तव्य-निर्णायक ग्रन्थ ही शास्त्र हैं। उन्हीं शास्त्रोंके अनुसार, नैतिक, आर्थिक, वैयक्तिक, सामूहिक अभ्युदयके अनुकूल चेष्टा या हलचलें ही कर्म या धर्म हैं, या उन-उन देशों एवं कालोंके प्राणियोंके लौकिक-पारलौकिक कल्याणोंके लिये सर्वमान्यप्राय बुद्धिमान् महापुरुषोंद्वारा रचित कार्य-अकार्यके निर्णायक ग्रन्थ ही शास्त्र हैं। उन शास्त्रोंके अनुसार सब तरहके अभ्युदयानुकूल देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धिके जो कर्म हैं, वे ही धर्म हैं। ऐसा माननेमें ही गीताकी सर्वमान्यता सुरक्षित रहती है। यद्यपि इन महानुभावोंकी दृष्टि तो अच्छी है, वे गीताको सार्वभौम बनाकर उसका उपकार ही करना चाहते हैं तथापि उसके सिद्धान्त और अभिप्रायको बाँधकर उसे सार्वभौम बनाना सम्भवतः उन्हें वाञ्छनीय न हो। स्वरूपकी रक्षा होते हुए ही उन्नति, उन्नति है। स्वरूपविनाशसे उन्नति, उन्नति कदापि नहीं कही जा सकती।

धर्माधर्मके निर्णयमें बुद्धिबल नहीं, शास्त्र ही प्रमाण है

बुद्धिमानोंको विदित है कि परिमित प्रज्ञा-क्रिया-शक्तिसम्पन्न मनुष्योंके लौकिक हिताहितका विवेचन कुछ अंशोंमें भले ही सम्भव हो, परंतु अलौकिक, पारलौकिक सुखों एवं सुख-साधनोंके विज्ञानकी ओरसे वे सर्वथा अन्धे ही हैं। अर्थ और कामविषयक उद्योगों और नीतियोंमें देशकाल-भेदसे नि:सीम परिवर्तन सम्भव हो सकते हैं। अत: उन विषयोंमें नीति-निर्धारण करना मानवके लिये असम्भव नहीं है। परंतु सर्वज्ञकल्प प्रजापति, बृहस्पति, शुक्र, मनु आदि नीतिज्ञोंकी नीतिको आधार मानकर तदनुसार परिवर्तन या अनुवर्तन अधिक सुविधाजनक एवं निरुपप्लव होता है। किन-किन चेष्टाओंसे परलोकमें क्या दु:ख और क्या सुख होगा, इसका परिज्ञान अल्पज्ञ जीवके लिये नितान्त असम्भव है। देश, काल, परिस्थितिके अनुसार धर्माधर्मका परिवर्तन नि:सीम नहीं है। वस्तुत: अव्यवस्थित परिवर्तन नीतिमें भी असम्भव है, फिर धर्ममें तो वह कथमपि सम्भव ही नहीं है। कहीं भी लक्षणके अनुसार लक्ष्यका निर्णय हुआ करता है। प्रत्यक्ष विषयमें जहाँ लक्षण-निर्धारण करना होता है, वहाँ अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव दोषोंसे रहित ही लक्षण हुआ करता है। परंतु जो लक्ष्य अप्रत्यक्ष है, उसका निर्णय लक्षणोंके ही अनुसार हुआ करता है। लक्षण (सूत्र) जहाँ नहीं घटता, वह लक्ष्य ही अशुद्ध समझा जाता है।

परंतु आज प्राणियोंके आचरणके अनुसार धर्माधर्मका निर्णय किया जाने लगा है। आजकलके लोगोंमें वस्तुस्थितिकी अपेक्षाकर परिवर्तनके अनुवर्तन करनेका स्वभाव हो गया है। धर्मके लक्षणानुसार धर्मका निर्णय करना एक बात है, परिस्थिति और आचरण देखकर तदनुकूल धर्मकी परिभाषा बनाना दूसरी बात है। गीताकी दृष्टिमें यत्किंचित् हलचल या चेष्टा धर्म नहीं है। कारण, वह तो बिना विधान किये भी प्रकृति-सम्भव गुणोंकी प्रेरणासे स्वयं ही होगा। अत: '**कुरु कर्मैव**' (गीता ४। १५) इत्यादि वाक्योंमें विहित कर्म वही है, जो रागप्राप्त नहीं है, किंतु शास्त्रसे ही जिनकी कर्तव्यता विदित होती है। इसीलिये कहा गया है कि कार्य-अकार्यकी व्यवस्थामें एक शास्त्र ही प्रमाण है। अत: शास्त्रविधानको जानकर ही कर्म करे—'**ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥**' (गीता १६। २४) यह शास्त्र भी अव्यवस्थित, समय-समयके समाजसे निर्धारित यत्किञ्चित् नियम नहीं है; क्योंकि समयानुसार कभी भौतिकवादियोंका ही समाज और दल विजयी एवं उन्नत हो सकता है, कभी अध्यात्मवादियोंका ही दल विस्तृत हो सकता है। बहुत-से व्यक्तियोंका ही समाज बन जाता है। व्यक्तियोंकी बुद्धियोंका कोई ठिकाना नहीं रहता, बड़े-से-बड़े व्यक्ति साधारण-से-साधारण विषयमें भ्रान्त हो जाते हैं। उस समय उन्हें यही दृढ़ निश्चय होता है कि हम जो कुछ भी समझ रहे हैं, वह बिलकुल सत्य है। परंतु कालान्तरमें उन्हें अपने भ्रम और प्रमादोंका स्वयं बोध होता है। रज, तमके प्रभावसे बुद्धिसत्त्व आच्छन्न रहता है। बिना परमात्मभाव व्यक्त हुए योगाभ्याससे भी वह अत्यन्त निरावरण नहीं होता। अत: अज्ञान, भ्रम आदि जीवोंके सामने किसी-न-किसी कक्षामें खड़े ही मिलते हैं। व्यक्तियोंके समूहोंमें—समाजमें भी यही दशा होती है। अत: धर्म-अधर्मके निर्णयमें व्यक्ति, समाज या बहुमतका कोई भी मूल्य नहीं है। नैतिक, आर्थिक अभ्युदयमें भी केवल व्यक्ति या समाजकी निर्धारित नीतिके सहारे सदा विजय नहीं हो सकती। अत: वहाँ भी मन्वादि सर्वज्ञोंके आर्थिक, नैतिक विज्ञानके अनुसार ही सफलता होती है। फिर धर्मके विषयमें तो कहना ही क्या है? चिकित्साके विषयमें एक विज्ञ चिकित्सकके सामने दूसरे विषयके लाखों विद्वानोंकी भी सम्मतिका कुछ भी मूल्य नहीं।

इसी तरह धर्मके विषयमें सर्वज्ञकल्प अनादि वेदशास्त्रको छोड़कर भिन्न-भिन्न सामाजिक निर्णयोंका कोई भी मूल्य नहीं।

शास्त्रोंमें संशोधनकी कल्पना नितान्त अल्पज्ञता

गीताके अनुसार वेदशास्त्र ही कार्य-अकार्य कर्मोंके निर्णायक शास्त्र हैं। गीतामें शास्त्रके नाते वेदोंका ही नाम आता है—'**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः**' (गीता १५।१५), '**ऋक्सामयजुरेव च**' (गीता ९।१७), '**वेदानां सामवेदोऽस्मि**' (गीता १०।२२) गीता और उसके उद्गम-स्थान महाभारतके श्रोता, वक्ता, प्रणेता और भिन्न-भिन्न प्रसंगोंमें वर्णित सभी महापुरुष वैदिक संस्कृति, सभ्यताके ही माननेवाले थे। अतः गीताके शास्त्र, वेद और वेदाविरुद्ध वेदानुयायी स्मृति, इतिहास, पुराण आदि ही हैं। इन शास्त्रोंके अविरुद्ध और इनके अनुसार वर्ण, आश्रमके लौकिक, वैदिक सभी गीतोक्त कर्म हैं। लौकिक कर्मोंमें भी जितने अंशमें शास्त्रैक-समधिगम्यता है, मुख्य रूपसे वही विधेय है। अन्यांश लोकप्राप्त होनेपर भी शास्त्राविरुद्ध होनेसे उनका गीता-धर्ममें संनिवेश है। ये शास्त्र और धर्म यद्यपि विश्वभरके ऐहिक-आमुष्मिक सर्वविध कल्याणके मूल हैं, अधिकारके अनुसार सभी लोग इनसे लाभ उठा सकते हैं तथापि यदि कालक्रमसे इनका ह्रास होनेके कारण कोई इन्हें संकीर्ण या संकुचित कहे तो यह उसीका दोष है। वस्तुस्थिति प्राणियोंके मानने-न-माननेकी परवाह नहीं करती। लोकपरिवर्तनके पीछे परिवर्तित होनेवाली वस्तु तात्त्विक नहीं होती। किसी भी संस्थाके नियमोंका अनुसरण उसके सदस्योंको करना पड़ता है। उच्छृंखलताके कारण जो सदस्य उसके नियमोंको न मानें तो वे सदस्य ही संस्थासे निकाल बाहर किये जाते हैं। उन उच्छृंखल व्यक्तियोंके कारण संस्थाके नियमोंमें परिवर्तन नहीं किया जाता। वैदिक धर्म एवं संस्कृतिके विधायक एवं संचालक वेदशास्त्रोंके नियमोंका जो लोग उल्लंघन करते गये, वे क्रमेण इससे बहिर्भूत होते गये। ये नियम परमेश्वरीय एवं दृढ़ भित्तिके आधारपर थे। अतः इनमें कुछ भी हेर-फेर न हुआ। जो लोग हेर-फेरकी कल्पना करते हैं, वे वैदिक शास्त्रोंकी विवेचन-पद्धति ही नहीं जानते; क्योंकि यहाँ तो सर्वज्ञ भगवान्के स्वाभाविक निःश्वाससम्भूत ऋक्, साम, यजुः, मन्त्र, ब्राह्मण, सूत्र, कल्प, इतिहास, पुराण सभीकी अनादिता मान्य है। सब देश, काल एवं परिस्थितियोंको सोच-समझकर सब तरहके परिवर्तन-अनुवर्तनका निर्णय पहलेसे ही स्थिर है। सत्यका पालन करनेवालोंकी संख्या यद्यपि बहुत कम है तथापि वह संकीर्ण धर्म नहीं कहा जा सकता। परम तत्त्वका साक्षात्कार यद्यपि करोड़ोंमें किसी एकको प्राप्त होता है, यहाँतक कि उसे चाहनेवाले भी अति स्वल्प हैं, तो भी वह परमावश्यक व्यापक ही धर्म है। इसी तरह वैदिक शास्त्र और धर्म यद्यपि व्यापक और सार्वभौम ही है तथापि कालक्रमसे लोगोंमें उच्छृंखलताके बढ़ जानेसे अधिक देश और लोग हमसे च्युत हो गये। इसमें स्थित रहनेवाले भारतमें भी थोड़े ही रह गये।

भारतवर्ष समस्त भूमण्डलकी नाभि है

शास्त्रोंको देखनेसे विदित होता है कि स्वर्गादिके समान भूलोकमें भी बहुत-से खण्ड भोगभूमि ही थे, कर्मभूमि नहीं। अतः मानव-धर्म या साधारण अहिंसा, सत्य आदि धर्मोंकी ही वहाँ प्रतिष्ठापना की गयी। पहलेसे भी विशेष रूपसे भारत ही कर्मभूमि समझा जाता था। यहाँ ही वर्णधर्म, आश्रमधर्म, यज्ञ-योगादि सम्पूर्ण वैदिक धर्मोंका पूर्ण विकास था। यहाँ कर्म, उपासना, ज्ञानकी सिद्धि सरलतासे होती थी। शतक्रतु इन्द्र यहींके कर्मोंसे ऐन्द्र पदको प्राप्त करता है। इसीलिये

देवता भी भारतमें जन्म चाहते हैं। जैसे गृहके एक देशमें भी रहकर दीपक समस्त भवनको प्रकाशित करता है, शरीरके एक देश हृदयमें ही अन्तरात्माकी अभिव्यक्ति होती है, परंतु समस्त शरीरका प्रकाश और कार्य उसीसे होता है, वैसे ही भारतवर्ष समस्त भूमण्डलकी नाभि है। पुराणोंके अनुसार जम्बूद्वीप अन्य समस्त द्वीपोंका मध्य है। उसीमें मेरु है और उसीका सारांश भारतवर्ष है। अत: यही सबका हृदय है। जैसे व्यापक होते हुए भी आत्माका हृदयमें ही विशेष रूपसे प्राकट्य होता है, वैसे ही व्यापक धर्म और शास्त्र एवं उनके पालक भगवान्‌का भारतमें विशेष रूपसे प्राकट्य होता है। भारतके ही ज्ञानालोक और धर्मके प्रभावसे विश्व आलोकित और धार्मिक हुआ। मनु कहते हैं—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

(मनुस्मृति २।२०)

अर्थात् इस देशसे उत्पन्न हुए ब्राह्मणसे पृथ्वीपर सब मनुष्य अपना-अपना आचार सीखें। शरीरके हस्त-पादादि अन्यान्य अंगोंके शुष्क हो जानेपर भी जीवन रह सकता है, परंतु हृदयके शुष्क हो जानेपर फिर जीवन नहीं रह सकता। इस तरह समस्त देशोंके धर्म और ईश्वरसे च्युत हो जानेपर भी विश्व रह सकता है, परंतु उसके हृदय भारतके धर्मशून्य होनेपर विश्वका संहार निश्चित है। इसीलिये भारतके धर्म और शास्त्रसे विमुख होते ही विश्वके नाशकी सम्भावना होती है। जैसे सर्वांगकी अपेक्षा हृदय-रक्षाका ध्यान अधिक होता है, वैसे ही यहाँ धर्म और शास्त्रोंके रक्षार्थ भगवान्‌का प्राकट्य होता है।

वैदिक धर्म एवं संस्कृतिसे च्युत भिन्न-भिन्न देशोंके लोग यद्यपि अग्निहोत्रादि त्रैवर्णिक कर्मके अधिकारी नहीं रह गये तथापि सामान्य-धर्म या मानव-धर्मके अधिकारी हैं। अत: इतिहास-पुराणादिके श्रवणद्वारा वैदिक धर्मसे उनका भी कल्याण हो ही सकता है, परंतु अनुकूलोंके लिये ही सदुपदेश सफल होता है, प्रतिकूलोंके प्रति किसीका कोई वश नहीं। जो वेद, शास्त्र और वैदिक धर्मसे द्वेष करते हैं, वे भारतीय ब्राह्मण ही क्यों न हों, उन्हें कौन समझा सकता है? सभी जीव भगवान्‌के अंश होनेसे उन्हें प्रिय हैं, वे कभी भी भगवान् और भगवदीयोंके उपेक्ष्य नहीं हैं। अत: उन देशों और समाजोंमें भी किसी-न-किसी रूपमें उनकी उच्छृंखलता वारणकर कुछ सत्पथपर लानेके लिये किसी-न-किसी विभूतिद्वारा किसी-न-किसी धर्मका वहाँ भी स्थापन और प्रसार किया जाता है। कुछ-न-कुछ नियमन या पाशविक भावोंका नियन्त्रण वहाँ भी होता ही है, परंतु वास्तविक धर्म और उसके बोधक शास्त्रका भी संरक्षण कहीं-न-कहीं होना ही चाहिये। इसलिये विश्व-हृदय भारतवर्षमें सदा ही वेदादि शास्त्रोंकी रक्षा और तदुक्त धर्मोंकी रक्षाके लिये भगवान्‌का प्रादुर्भाव होता है। अन्यान्य देशोंमें भी कहा जाता है कि कहीं परमेश्वरके 'दूत' या 'पुत्र' का प्रादुर्भाव होता है, परंतु भारतमें तो स्वयं भगवान्‌का ही प्रादुर्भाव होता है। वहाँ वैदिक धर्मकी रक्षा और प्रकाशसे समस्त विश्वका प्रकाश और उसकी रक्षा हो सकती है। शरीरके सभी स्थानोंमें आत्माका प्रकाश नहीं होता, इससे आत्माकी संकीर्णताकी कल्पना नहीं की जा सकती। इसी तरह भारतमें ही वैदिक धर्म और शास्त्रोंकी रक्षाके लिये यहाँ ही भगवान्‌का प्रादुर्भाव हो, इससे उनके शास्त्र और धर्ममें संकीर्णता नहीं कही जा सकती। योग्यता और अधिकारके व्यक्त होनेपर प्राणिमात्रका परम कल्याण वैदिक धर्मसे ही हो सकता है। इन्हीं सब भावोंको ध्यानमें रखनेसे यह समझमें आता है कि भगवान् भारतमें ही क्यों अवतार लेते हैं।

अवतारमीमांसा

अवतारके सम्बन्धमें आजकल बहुत-सी शंकाएँ उठायी जाती हैं। कहा जाता है कि 'यदि किसी एक विशिष्ट आकारको भगवान्‌का नित्य स्वरूप माना जाय, तो उस आकारको निर्विकार मानना होगा, परंतु किसी साकारको नित्य कहना दुर्घट ही है, अत: व्यावहारिक जगत्‌में विभिन्न दैहिक आकारमें भगवान्‌का अवतार असमंजस है। यह धारणा कैसे कर सकते हैं कि भगवान् उनके स्वभावगत नित्य, अच्युत-स्वरूपका कभी-कभी परित्याग करते हैं? जन्म-मृत्युके अधीन नये-नये आकारोंको ग्रहण किया करते हैं? सर्वशक्तिमत्ताके आधारपर भी ऐसी कल्पना नहीं हो सकती। अवतारोंके आकार परस्पर भिन्न और अपक्षयादिसे युक्त पाये जाते हैं, अत: अपने नित्य रूपके साथ ही भगवान्‌का जगत्‌में अवतरण होता है, यह भी नहीं कहा जा सकता।' परंतु विचार करनेपर उपर्युक्त बातें बेतुकी प्रतीत होती हैं। सर्वशक्तिमान् भगवान् एक रूप या अनेक रूपसे भिन्न-भिन्न कालमें या एक कालमें प्रवृत्त हो सकते हैं। उनके आविर्भाव-तिरोभावको ही अज्ञलोग उत्पत्ति और नाश मान बैठते हैं। भगवान्‌के शरीरमें किसी भी तरहका विकार नहीं माना जा सकता। जैसे मायावीके अंगमें मायासे अनेक विकारोंका स्फुरण हो सकता है, वैसे ही भगवान्‌में भी कल्पना की जा सकती है। भगवान्‌का स्वाभाविक पारमार्थिक स्वरूप निराकार, निर्विकार है। फिर भी भगवान् अनन्तब्रह्माण्डोत्पादिनी अनिर्वचनीय महाशक्तिके आधार होनेसे सगुण और कारण हैं। उसी शक्तिके योगसे भगवान् सगुण, साकार, एकरूप, अनेकरूपमें प्रतीत होते हैं। यही बात **'अजायमानो बहुधा विजायते।'** (यजु० ३१।१९), **'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'** (बृहदा० २।५।१९) (परमात्मा अज होकर भी अनेक रूपसे जायमान होता है, इन्द्र—परमात्मा मायासे अनेक रूप होकर प्रतीत होता है) इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध है।

कहा जाता है कि 'निराकार परमात्मा साकार किस प्रकार बनता है? वह शरीरी जीवरूपसे स्वयं परिणामको प्राप्त होता है या विशिष्ट मानस भौतिक देहकी सृष्टि करता है और उसमें आत्मरूपसे प्रवेश करता है, किंवा अपनी विशेष शक्ति और ज्ञानको किसी विशेष शरीरधारीके जीवनमें अभिव्यक्त करता है, जिससे कि वह उसके साथ तादात्म्यापन्न होकर कार्य करता है? इनमें पहला पक्ष ठीक नहीं है; क्योंकि देशकालातीत, समस्त विकार और सीमासे रहित, पूर्ण आध्यात्मिक पुरुष किस प्रकार स्वयं देशकाल-सीमायुक्त और विभिन्न विकाराधीन किसी शरीरविशेषमें परिणामको प्राप्त होता है? यदि निराकारता आकाररूपसे परिणामको प्राप्त हो सके और भगवत्ता भी सुरक्षित रहे, तो निराकारताको भगवत्स्वरूपके प्रति नित्य और स्वरूपगत रूपसे नहीं माना जा सकता। फिर तो उसके स्वरूपका प्रकार कोई अनित्य और विकारी ही होगा। अनन्त होकर भी अन्तवाले रूपमें परिणामको प्राप्त हो सकता है। नित्यस्वरूप अचिरकालस्थायी पुरुषरूपमें जन्म ग्रहण कर सकता है और साथ ही अपने नित्यस्वरूपको भी अक्षुण्ण बनाये रख सकता है। पूर्ण पुरुष अपूर्ण पुरुषका जीवनयापन कर सकता है, फिर भी अपने पूर्ण स्वरूपमें ही स्थिर रह सकता है। ऐसी धारणाएँ स्पष्ट विरुद्ध हैं।'

इसपर कहना यही है कि परमेश्वरका पारमार्थिक रूप अज, अव्यक्त, अनन्त, अनाकार, पूर्ण होनेपर भी अनिर्वचनीय मायासे उसमें साकारता, अपूर्णताकी प्रतीति होती है। वस्तुत: वे अपने पारमार्थिक रूपमें सर्वदा ही प्रतिष्ठित रहते हैं। यह नियम है कि समान सत्तावाले भाव-अभावका ही विरोध होता है, विषम सत्तावाले भाव-अभावका विरोध नहीं होता। अत: पारमार्थिक एवं व्यावहारिक सत्ताके भेदसे साकारता-निराकारता, अनन्तता और एकदेशिताका सामंजस्य

हो सकता है। इसके अतिरिक्त जैसे नैयायिक, वैशेषिकोंके यहाँ देहदृष्टिसे साकारता होनेपर भी आत्माओंकी व्यापकता है, वैसे ही यह भी व्यवस्था बैठ सकती है। आत्मा व्यापक माना जाय तो अणु माना जाय तो हर दृष्टिसे निराकार ही है। फिर भी जैसे उसका साकार देह बन सकता है, वैसे ही निराकार परमेश्वरमें भी साकारता आदि बन सकती है। फिर भी जैसे अपने रूपसे आत्माका परिणाम नहीं मानना पड़ता, वैसे ही ईश्वरका भी परिणाम नहीं मानना पड़ेगा। भेद यही है कि जीवात्मा कर्मोंके परतन्त्र होकर उसमें अभिमानी होकर फँसता है और परमेश्वर लोकानुग्रहार्थ दिव्य देह ग्रहण करके कार्य करता है, फिर भी अपने निराकार स्वरूपमें सर्वदा प्रतिष्ठित रहता है। अपरिच्छिन्नमें परिच्छिन्नता आदि भी मायाको लेकर बन सकती है, परंतु स्वरूपच्युति न होगी, यही उसकी विशेषता है।

भगवान्‌का पूर्णावतार या अंशावतार

कहा जाता है कि 'भगवान् प्रत्येक विशेष अवतारमें स्वयं सम्पूर्ण रूपसे परिणामको प्राप्त होते हैं या आंशिक रूपसे? यदि प्रथम कल्प मान्य है, तब तो यह भी मानना पड़ेगा कि एक अवतार जबतक जीवित रहता है, तबतक निराकार भगवान् नहीं रहता और भगवान् जगत्‌के एक विशेष स्थलमें आबद्ध रहता है। ऐसा होनेपर यद्यपि अवतरित भगवान्‌का ज्ञान और शक्ति आन्तरिक रूपसे अनन्त और जगत्प्रपंचके शासन और रक्षणमें समर्थ मानी जाती है तथापि उसका अस्तित्व व्यापकरूपसे नहीं माना जा सकता और वह जगत्‌में ओतप्रोत भी नहीं माना जा सकता। उसका जगत्‌के साथ सम्बन्ध भी बाह्य रूपसे मानना होगा। फलतः यह सिद्धान्त कि 'भगवान् जगत्‌का उपादानकारण है' इस मन्तव्यसे मेल न खायेगा। विशेष रूपसे अवतरित भगवान्‌का जब तिरोभाव होगा, तब निराकारका पुनः जन्म मानना होगा। फिर निराकारका भी जन्म-मरण मानना होगा, इत्यादि।' परंतु यह विचार भी बालकोंकी ही बुद्धिमें भ्रम पैदा करनेमें समर्थ है; क्योंकि भगवान्‌का परिणाम न माननेसे उपर्युक्त वक्तव्य ही निराधार हो जाता है। कूटस्थ भगवान् अखण्ड, अनन्त, पूर्ण रूपसे सदा विराजमान रहकर ही दिव्य मायाशक्तिसे दिव्य देह ग्रहण कर लेते हैं।

यह भी कहा जाता है कि 'यदि आंशिक रूपसे भगवान् परिणामको प्राप्त होते हैं, तो उसके एक अंशको निराकार और दूसरे अंशको परिणामी मानना पड़ेगा, जो कि स्पष्ट ही विरुद्ध है। परमात्मा निराकार, साथ ही अंशयुक्त और अंशमें विभागके योग्य नहीं माना जा सकता। यदि ऐसी धारणा सम्भव हो तो किसी अंशमें कोई परिणाम होनेपर आत्मा विकारको प्राप्त होगा और इससे वह एक विकारी, अस्थायी और व्यावहारिक पुरुष होगा। यदि इस आपत्तिका त्याग भी करें तो प्रश्न उपस्थित होगा कि अवतार-शरीरमें परिणत भगवद्-अंश, पूर्ण भागवतचेतनासे सम्पन्न है अथवा यह चेतना विशेषित या सीमायुक्त होती है? अवतार क्या स्वयं भगवान्‌के समान अनन्त ज्ञान और शक्तिको धारण करता है या भगवान्‌के अंशसे परिणामको प्राप्त (आकारवान्) होनेके कारण उसका ज्ञान और शक्ति अन्तयुक्त होती है? यह स्पष्ट है कि आंशिक अवतार स्वयं भगवान्‌के समान सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ नहीं हो सकता; क्योंकि अंश और सम्पूर्णमें पृथक्‌ताका लोप होगा अथवा एक ही कालमें दो प्रतिद्वन्द्वी भगवान् होंगे—एक रूपयुक्त और अपर रूपरहित। भगवान्‌की आंशिक अभिव्यक्तिकी धारणा उनकी शक्ति और ज्ञानकी आंशिक अभिव्यक्तिको बोधित करती है। ऐसा होनेपर यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि अज्ञानका आवरण अवतारी चेतनके ऊपर विद्यमान है तथा उसका ज्ञान और शक्ति, चाहे उसके समकालीन व्यक्तियोंकी तुलनामें कैसा भी उच्च

क्यों न हो, सीमायुक्त है तथा उसकी सम्पूर्ण रूपसे अभिव्यक्ति नहीं है। तब व्यावहारिक जगत्के असाधारणसामर्थ्ययुक्त किसी मनुष्य और अवताररूपसे मान्य व्यक्तिमें वस्तुगत भेद क्या रह गया? सब मनुष्य या प्राणी उस भगवान्की आंशिक अभिव्यक्ति हैं, जो सब व्यावहारिक पदार्थोंका एकमात्र आश्रय, कारण और द्रव्य माना जाता है।' परंतु यह कथन भी सारशून्य है। निराकार, निर्विकार चेतनमें यद्यपि अंशांशिभाव नहीं है तथापि मायारूप उपाधिके भेदसे अंशांशिभाव बन जाता है, अतएव अंशावतार, पूर्णावतार आदि व्यवहार होता है। जहाँ सम्पूर्ण भगवत्ता प्रकट होती है, वहाँ पूर्णावतारका व्यवहार होता है, जहाँ अंशत: भगवत्ताका प्राकट्य होता है, वहाँ अंशावतारका व्यवहार होता है। निराकार चेतनतत्त्व अंशत: या सम्पूर्णत: किसी प्रकार परिणामको प्राप्त नहीं होता, अत: परिणाम-पक्षके सभी दूषणोंका अवकाश ही नहीं है। लोककल्याणार्थ भगवदिच्छासे अनन्त शक्तियोंकी केन्द्रभूता महाशक्तिके द्वारा दिव्य शरीरका निर्माण होता है। उसीमें अपरिणामी परमेश्वर प्रतिष्ठित होकर विविध लीलाओंका अनुसरण करते हैं। जिन अवतारोंमें सीमायुक्त चेतनाका विकास अभीष्ट है, वहाँ सीमित और जहाँ नि:सीम चेतनाकी अभिव्यक्ति अभीष्ट है, वहाँ नि:सीम चेतनाका आविर्भाव होता है। भगवदिच्छा ही इस भेदकी नियामिका है। सम्पूर्ण रूपसे भी अवतारोंमें ज्ञान-क्रिया-शक्तिका विकास होनेमें कोई आपत्ति नहीं है। अतएव भगवान्के अवतारोंमें प्रतिद्वन्द्विताकी कल्पना केवल अनभिज्ञता ही है। जब योगी अनेक शरीरोंका निर्माण करके उनसे व्यवहार कर सकता है और सर्वत्र अभिमानी एक होनेसे प्रतिद्वन्द्विताको अवकाश नहीं रहता, वैसे ही जब एक ही ईश्वर अनेक अवतारोंमें प्रकट होता है, तब प्रतिद्वन्द्विताको अवकाश ही कहाँ है? रूपरहित तत्त्व ही विशिष्ट शक्तिके योगसे रूपवान् होता है। विशेषत: अवतार पूर्ण ही होते हैं। जहाँ जैसे कार्यकी आवश्यकता होती है, वहाँ वैसी ही शक्तियोंका प्राकट्य होता है। राम, कृष्णके अवतारमें सभी शक्तियोंका प्राकट्य हुआ है, इसीलिये उन्हें पूर्णावतार कहा जाता है। अंशावतारोंमें भी जीवोंकी अपेक्षा विलक्षणता होती है। जीवोंकी मलिनसत्त्वप्रधाना अविद्या उपाधि होती है, ईश्वरकी विशुद्धसत्त्वप्रधाना माया उपाधि होती है। यद्यपि जड़-चेतन सभी रूपमें एक ईश्वरकी ही अभिव्यक्ति होती है तथापि अवतारोंमें उन सबसे विशेषता इसीलिये होती है। तम:प्रधाना प्रकृतिसे परमेश्वर जड़ जगत्का कारण बनता है, अविशुद्धसत्त्वप्रधाना प्रकृतिके द्वारा जीवोंका कारण होता है और विशुद्धसत्त्वप्रधाना प्रकृतिके द्वारा अवतार ग्रहण करता है। जीवोंमें वह बात नहीं होती, जो ईश्वरके अवतारोंमें होती है।

जो सृष्टिको विचित्र बतलाकर उसमें अवतारोंके सदृश अनेक जीवोंका होना सिद्ध करना चाहते हैं, उनको इस ओर भी ध्यान देना चाहिये कि जब सृष्टि-वैचित्र्यसे ही, बिना प्रमाणके भी, अन्धश्रद्धासे अवतारोंके सदृश अन्य जीवोंका होना मान लिया जाता है, तब शास्त्रप्रमाणसे अवतारोंके सदृश अन्योंका न होना ही क्यों नहीं मान लिया जाता? फिर सृष्टिवैचित्र्यसे ही ईश्वरके समान ही सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् अन्य जीव भी क्यों न मान लिये जायँ? जब ईश्वर अनेक नहीं हो सकते, तब अवतारोंके समान जीवदेह नहीं हो सकते, यह भी मान्य ही होना चाहिये। अवतार-देह दिव्य होते हैं, उनमें जरा-मरणादि नहीं होते, वे केवल भगवदिच्छासे आविर्भूत और तिरोभूत होते रहते हैं।

अवतारदेह और जीवदेहका पार्थक्य

कहा जाता है कि 'भगवान् एक विशेष मानस भौतिक देहकी सृष्टि करते हैं और आत्मारूपसे इसमें प्रवेश करते हैं। जब सभी मानस भौतिक देह भगवान्की ही सृष्टि है, तब फिर इस कथनका क्या अर्थ है कि अवतार-देह एक विशेषरूपसे सृष्ट देह

है? क्या यह अपर देह जिस नियम और पद्धतिसे उत्पादित होते हैं, उसके अनुसार उत्पन्न नहीं हुआ? यह क्या विशेष काल और देशमें माता-पिताजनित व्यावहारिक देह नहीं है? यह क्या अपर देहके समान वृद्ध होकर तथा नाना विकारको प्राप्त होकर मृत्युग्रस्त नहीं होता? फिर कैसे हमलोग अवतारदेह और किसी अपर जीवित देहमें कोई भेद कर सकते हैं?' इसका उत्तर यह दिया जाता है कि अवतारदेहमें जितने विशेष लक्षण रहते हैं, उतने अपर किसी साधारण रीतिसे उत्पन्न जीवित देहमें नहीं पाये जाते। कदाचित् यह सत्य हो, किंतु फिर भी यह सिद्धान्त नहीं किया जा सकता कि ऐसा विशेषलक्षणयुक्त देह, पूर्ण भगवदात्माद्वारा अधिष्ठित होनेके उद्देश्यसे विशेषरूपसे सृष्ट हुआ है। इस वैचित्र्यमय विश्व जगत्में विशेष-लक्षणसहित असंख्य प्रकारके जीवके देह पाये जाते हैं। एक मनुष्यजातिमें ही विभिन्न जातिके पुरुष, विभिन्न प्रकारके भेदसहित स्वस्वजातीय लक्षणयुक्त होते हैं और एक ही जातिके अन्तर्भूत अनेक व्यक्तियोंमें भी परस्पर अत्यन्त भेद पाया जाता है। परंतु यह कथन ठीक नहीं है। भगवान्के शरीरोंमें साधारण शरीरोंसे विशेषता है ही। साधारण शरीर भौतिक होते हैं, परंतु भगवान्का शरीर मायासे (मायोपहितचैतन्यसे) बनता है। जैसे शैत्यके योगसे जल ही घनीभूत हो जाता है, वैसे ही मायाके योगसे निराकार भगवान् साकार होते हैं, किंवा जैसे घृतवर्तिका आदिके योगसे निराकार अग्नि दाहकत्व-प्रकाशकत्वविशिष्ट आकार ग्रहण कर लेता है, वैसे ही अचिन्त्य, अनिर्वाच्य दिव्य शक्तिके योगसे आत्मा सगुणविग्रह धारण कर सकता है। यद्यपि उपर्युक्त दृष्टान्तोंमें कथंचित् परिणाम तथा विकारकी कल्पना की जा सकती है तथापि निर्विकार चेतनमें विकारकी कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि वह अनिर्वचनीय मायाके योगसे अविकृत रहकर ही अनेक कार्योंका उत्पादन कर सकता है। जैसे चिन्तामणि, कल्पवृक्ष, कामधेनुको भिन्न-भिन्न अभिलाषुकोंको अभिलषित अनेक पदार्थोंके सम्पादनमें विकृत होनेकी अपेक्षा नहीं होती, वैसे ही परमात्माको भी प्रपंचोत्पादनमें विकृत होनेकी अपेक्षा नहीं है। अतएव 'सम्पूर्ण रूपसे परिणाम हुआ या एकदेशसे' इत्यादि विकल्प भी निरर्थक ही हैं। 'निराकार साकार नहीं बन सकता' यह शंका भी व्यर्थ ही है। जैसे निर्गन्ध जल गन्धवती पृथ्वीके रूपमें बनता है, जैसे नीरस तेज सरस जल और नीरूप वायु रूपवान् तेजके रूपमें बनता है, वैसे ही निराकार तत्त्व साकाररूपमें और निर्गुण सगुण-रूपमें व्यक्त हो सकता है। जैसे स्पर्शविहीन आकाश स्पर्शवान् वायुके रूपमें प्रकट होकर भी अपने आकाशरूपमें बना रहता है, वैसे ही अनेक रूपोंमें प्रकट होकर भी परमात्मा अपने निर्गुण-निराकार रूपमें बना ही रहता है।

अनेक रूपमें प्रकट होकर भी परमात्मा अपने निर्गुण-निराकार रूपमें बना ही रहता है, इसीलिये भगवान् क्रीड़ाके लिये अचिन्त्य दिव्य लीलाशक्तिसे दिव्य देहका निर्माण करते हैं। वह देह सोपाधिक चेतनका कार्य होनेपर भी प्राकृतिक कार्योंसे विलक्षण होता है। जैसे सूर्य मेघसे आवृत हो जाता है, परंतु नेत्र और सूर्यके मध्यमें दूरवीक्षण यन्त्र होनेसे वह उसका आवरण नहीं होता, वैसे ही तामसी या अविशुद्ध सत्त्वप्रधाना प्रकृतिसे चैतन्य आवृत हो जाता है, परंतु विशुद्ध सत्त्वप्रधाना प्रकृति, माया या दिव्य शक्तिसे निरावरण ही रहता है। अत: तामस, राजस देहोंकी अपेक्षा विशुद्ध सत्त्वमय शरीरोंमें विशेषता रहती ही है। इस दृष्टिसे देहवान् होकर भी भगवान् भगवान् ही रहते हैं। अतएव वे जगदतीत हैं ही। जब अनित्य दिव्य लीलाशक्तिके योगसे भगवान्का अवतार बन सकता है, तब उनके द्वारा वेदोंका उच्चारण हो सकता है और इसीलिये शास्त्रप्रमाणसे कलावतार, अंशावतारकी भी

उपपत्ति हो जाती है। जो क्रिया-ज्ञान-शक्तियाँ साधारण जीवोंमें सम्भव नहीं, उनकी स्थिति जहाँ-कहीं देखी जाती हो और साथ ही आर्ष ग्रन्थोंमें जिसका प्रमाण हो, वहीं अवतारका व्यवहार होता है।

कहा जाता है कि 'ईश्वरका शरीर-धारण सम्भावित न हो सकनेसे ईश्वरने शरीर धारणकर वेदकी रचना की है, सो भी मान्य नहीं हो सकता। वेद निराकार ईश्वररचित है, इस विषयमें कोई प्रमाण नहीं है। अतएव वैदिक सम्प्रदायोंका यह सिद्धान्त कि वेद ईश्वररचित हैं, केवल कल्पनामात्र है। निराकार भगवान् किसी व्यक्तिविशेषको शास्त्ररचना करनेमें प्रेरणा करते हैं, यह पक्ष भी विचार-सह नहीं है; क्योंकि इस पक्षका निर्णय हमलोगोंको अनुमानके द्वारा करना पड़ेगा और अनुमान, हेतु और साध्यका नियत-साहचर्य दर्शन-मूलक होता है, अतएव वह (अनुमान) दृष्ट साधर्म्यकी अवश्य अपेक्षा करेगा। सुतरां ज्ञात पदार्थका विधर्मी या विरोधी किसी पदार्थका अस्तित्व अनुमानद्वारा सिद्ध नहीं हो सकता, अतएव दृष्टान्तकी सहायताके बिना अनुमान किसी अतीन्द्रिय पदार्थको प्रमाणित नहीं कर सकता। प्रकृत स्थलमें निराकार ईश्वर किसीको प्रेरणा करता है, यह प्रमाणित करनेके लिये हमलोगोंको अपने साधारण अनुभवकी सीमाके भीतर अनुभूत किसी दृष्टान्तका निर्देश करना आवश्यक है, जहाँ निराकार पुरुष किसी अन्य पुरुष-विशेषको प्रेरणा करता हो, परंतु ऐसा कोई दृष्टान्त पाया नहीं जाता। सुतरां, निराकार भगवान् किसीको शास्त्रकी रचनामें प्रेरणा करता या शिक्षा देता या शिक्षा देनेके लिये कहीं किसीको भेजता है, यह विचार-विहीन स्वकपोलकल्पना है। ईश्वरका शरीरधारण सम्भव न होनेसे यह स्वयं शरीर धारणकर स्वयं शिक्षा नहीं दे सकता।'

इस उपर्युक्त कथनमें भी कोई सार नहीं है; क्योंकि वैदिकोंके मतोंमें निराकार अन्तर्यामी ही सभी भावोंका प्रेरक है। जब साकार देहका भी प्रेरक निराकार ही है, तब केवल साकारमें प्रेरकता कहाँसे आयेगी? जिस तरह श्रवण-दर्शनादि क्रियाद्वारा अतीन्द्रिय इन्द्रियोंका अनुमान होता है तथा जगत्‌का कर्ता सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्‌रूपसे अदृष्ट होनेपर भी अनुमेय होता है, वैसे ही निराकारमें प्रेरकता भी सिद्ध है। निराकार ही मन-देहादिका प्रेरक है। निराकार इच्छाकी भी प्रवर्तकता सिद्ध है, अतः ईश्वरकी प्रेरणासे वेदादिकोंका भान होनेमें भी कोई अनुपपत्ति नहीं है।

ऋषियोंसे भी मन्त्रोंका दर्शन हो सकता है। यद्यपि साधारण जीवोंमें विशिष्टज्ञान सम्भव नहीं है तथापि तपस्या और उपासनाओं एवं योगोंकी महिमासे रज और तमका प्रभाव मिट जानेसे स्वभावसे ही सर्वार्थावभासनशाली चित्तमें मन्त्रोंका दर्शन हो सकता है। जैसे दूरवीक्षण, अणुवीक्षण आदि यन्त्रोंकी सहायतासे दूरस्थ और सूक्ष्मतत्त्वोंका ग्रहण हो सकता है, किंवा रेडियोके द्वारा दूर-से-दूरके शब्दोंका ग्रहण बन सकता है, वैसे ही योगकी महिमासे किसी रूपमें, कहीं भी विद्यमान शब्दोंका ग्रहण किया जा सकता है। भावनाकी महिमासे मनमें विशिष्ट शक्तिका आविर्भाव होता है। सामान्य मन-इन्द्रियोंकी सहायतासे ही बाह्य अर्थका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। जैसे ईश्वरको इन्द्रिय बिना ही बाह्य-अभ्यन्तर, सभी अर्थ प्रकाशित होते हैं, वैसे ही भावना और एकाग्रताकी सहायतासे मनको विशिष्ट ज्ञानमें सामर्थ्य प्राप्त होता है। फिर ऋषियोंको तो **'सुप्तप्रतिबुद्धन्याय'** से पूर्वजन्मके अधीत मन्त्रोंका भी दर्शन हो सकता है।

इन सब दृष्टियोंसे विचार करनेपर विदित होगा कि निर्गुण, निराकार परमेश्वर सगुण, साकार राम-कृष्ण आदिके रूपमें अवतार-ग्रहण करते हैं और अधर्माभ्युत्थान मिटाकर सन्मार्गस्थ सत्पुरुषोंका रक्षण करते हुए वेदशास्त्रोक्त धर्मका संस्थापन करते हैं।

बुद्धावतारका प्रयोजन

कुछ लोगोंके प्रश्न होते हैं कि 'बौद्धमतप्रवर्तक बुद्धदेव भगवान्‌के नवें अवतार माने जाते हैं, हर एक संकल्पके देश-कालसंकीर्तनमें '**बौद्धावतारे**' पढ़ा जाता है, फिर उनसे प्रतिष्ठापित धर्म अधर्म कैसे हो सकता है?' कुछ लोग यह भी कहने लगते हैं कि 'बुद्धने वेदों और वैदिक धर्मका खण्डन नहीं किया, किंतु वैदिक धर्ममें फैले हुए पाखण्डोंका खण्डन किया है। आगे चलकर बौद्ध धर्ममें अनाचार फैल जानेसे भगवान्‌ने ही श्रीशंकराचार्यरूपसे अवतीर्ण होकर उसे दूर किया।' इसपर वैदिकोंका कहना है कि अवश्य ही बुद्ध भगवान्‌के अवतार थे, परंतु जिन पुराणोंमें बुद्धावतारका वर्णन है, वहीं उसका प्रयोजन भी कहा गया है। यह ठीक है कि गीताके कथनानुसार भगवान्‌का अवतार धर्मग्लानि एवं अधर्माभ्युत्थानको मिटाने और धर्मसंस्थापनके लिये ही होता है। इसी दृष्टिसे बुद्धावतारका भी यह प्रयोजन अवश्य होना चाहिये।

यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि जैसे वैदिक धर्ममें अधिकारियोंकी प्रवृत्ति न होना दोष है, वैसे ही अनधिकारियोंकी प्रवृत्ति होना भी दूषण ही है और जैसे अधिकारियोंको कर्मोंमें प्रवृत्त करना आवश्यक है, वैसे ही अनधिकारियोंकी निवृत्ति भी आवश्यक है। ये दोनों ही कर्म दुष्कर हैं। आज जो पुराणश्रवण और मन्दिरशिखरदर्शनसे ही कृतकृत्य हो सकते हैं, वे ही नव्य लोगोंके बहकानेमें आकर शास्त्रमर्यादाके विपरीत वेदाध्ययन तथा मन्दिर-प्रवेश चाहते हैं और हितैषियोंके समझानेसे भी नहीं मानते हैं। किसी समय ठीक ऐसी ही स्थिति हो गयी थी। वेदाध्ययन तथा तदुक्त अग्निहोत्रादि कर्मके अनधिकारी देवताओंके अभिनव करनेकी दृष्टिसे इन कर्मोंमें प्रवृत्त हो गये और यज्ञ-व्याजसे पशुवध तथा सुरापानका विस्तार करने लगे। शास्त्रोंमें यज्ञके अंगरूपसे यद्यपि पशुवध अनुमोदित है तथापि यज्ञ-व्याजसे उदर-पोषणार्थ पशुवध पाप ही है। इस तरह धर्मकी ओटमें अधर्मका प्रचार होने लगा। उस समय किसीके समझाने-बुझानेसे भी उनकी उन कर्मोंसे निवृत्ति असम्भव थी। ऐसी स्थितिमें उन्हें उन कर्मोंसे निवृत्त करनेके लिये भगवान्‌को उनके श्रद्धेय बनकर प्रकट होनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई। बस, इसीलिये बुद्धावतार हुआ।

बुद्धदेव महाविरक्त और सिद्ध थे। उन्होंने अपने चमत्कारोंसे उन असुरस्वभाववालोंके मनोंको मोहित कर लिया, फिर वेदों और वेदोक्त धर्मोंसे उनकी अश्रद्धा उत्पन्न कर दी। जब बुद्धदेवमें ऐसे लोगोंकी पूर्ण श्रद्धा उत्पन्न हो गयी, तब उन्होंने जो कुछ भी कहा, उसपर उन लोगोंने पूर्ण विश्वास किया। बस, वे भी वेद और वेदोक्त धर्मकी निन्दा करने लगे। जो किसीके समझानेसे भी असम्भव था, वह सरल हो गया। इस कार्यके सम्पन्न हो जानेपर बुद्धदेवने उस रूपसे फिर दूसरी बात कहना अनुचित समझा।

बादमें जब बुद्धके चमत्कारके प्रभावसे धर्माधिकारियोंको भी अपने धर्मसे अश्रद्धा होने लगी, तब फिर भगवान्‌को अवतार-ग्रहणकी आवश्यकता प्रतीत हुई। अतः वेद एवं तदुक्त धर्मोंमें श्रद्धा स्थिर करनेके लिये भगवान् फिर शंकराचार्यरूपमें प्रकट हुए और बौद्धमत-खण्डन करके वैदिक धर्मकी स्थापना की। इस तरह दोनों ही अवतारोंकी सार्थकता हो जाती है। वैदिकगण जैसे भगवान्‌को अनादि मानते हैं, वैसे ही वेदोंको भी। अतएव '**नास्तिको वेदनिन्दकः**' के आधारपर वेदनिन्दकको ही नास्तिक कहा जाता है। तुलसीदासजीने भी कहा है—

कल्प कल्प भरि एक एक नरका। परहिं जे दूषहिं श्रुति करि तरका॥

अतएव आस्तिक लोग भगवान्‌से भी अधिक सम्मान वेदोंका करते हैं। नैयायिक आदि परमेश्वर-निर्मित होनेसे वेदोंका प्रामाण्य मानते हैं, परंतु वेदान्तियोंका कहना है कि यदि परमेश्वरनिर्मित होनेसे वेदोंका

प्रामाण्य है तो यह कहना होगा कि परमेश्वरमें क्या प्रमाण है ? यदि वेदको प्रमाण कहें, तब तो '**अन्योऽन्याश्रयदोष**' अवश्य होगा अर्थात् वेदके आधारपर ईश्वरसिद्धि और ईश्वरनिर्मित होनेसे वेदप्रामाण्यसिद्धि।

कहा जा सकता है कि '**क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवत्**' इत्यादि अनुमानोंसे परमेश्वरकी सिद्धि होगी और ईश्वरनिर्मित होनेसे वेदोंका प्रामाण्य सिद्ध होगा। पर यह पक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि अनुमानसे ईश्वरसामान्यकी ही सिद्धि होती है, ईश्वरविशेषकी नहीं, जैसे धूमसे वह्निसामान्यकी ही सिद्धि होती है, वह्निविशेषकी नहीं।

अनुमानसिद्ध परमेश्वर '**वेदकार**' है या '**बौद्धागमकार**', '**बाइबिलकार**' है या '**कुरानकार**' यह नहीं कहा जा सकता। इस तरह कौन परमेश्वर है, यह सिद्ध नहीं होता। जिन-जिन युक्तियोंसे नैयायिक, वैशेषिक 'वेदकार' को परमेश्वर सिद्ध करेंगे, उन्हीं युक्तियोंसे 'बाइबिल' आदिके अनुयायी 'बाइबिलकार' आदिको परमेश्वर सिद्ध कर देंगे। यदि सभीको परमेश्वर ही मान लें, तब तो उनके प्रचारित सिद्धान्तोंमें मतभेद न होना चाहिये।

कुछ लोग यह कहकर समन्वय करनेकी चेष्टा करते हैं कि उन-उन देशों-कालोंके अनुसार उन-उन सिद्धान्तोंकी रचना हुई है, अतः सिद्धान्तभेद होनेपर भी अधिकारीभेद संगत है। पहले तो यह बात उन ग्रन्थों और उनके पण्डितोंको ही मान्य नहीं है, सभी लोग यही कहते हैं कि हमारा ही धर्म और धर्मग्रन्थ सब देश और सर्वकालके लिये माननेयोग्य है। अतएव ईसाई, मुसलमान आदि भारतमें भी अपने ही धर्मको फैलाना चाहते हैं। फिर आत्मा, ईश्वर आदि वस्तु ऐसी है कि वह देश-कालभेदसे बदला नहीं करती। अतः उनमें सर्वज्ञका मतभेद नहीं हो सकता। इसीलिये वैदिकलोग परमेश्वरनिर्मित होनेसे वेदोंका प्रामाण्य नहीं मानते, अपितु वेदसिद्ध होनेसे ही परमेश्वरका अस्तित्व मानते हैं।

वैदिकोंने '**शास्त्रयोनित्वात्**' इस सूत्रमें परमेश्वरको वेदैकसमधिगम्य माना है—

'**शास्त्रमृग्वेदादिरेव योनिः स्वरूपसिद्धौ प्रमाणं यस्य, तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात्।**'

इस दृष्टिसे यह कहा है कि परमेश्वरकी स्वरूपसिद्धिमें एकमात्र शास्त्र ही प्रमाण है।

'**तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि**'

(बृहदा० ३। ९। २६)

यहाँपर जैसे चक्षुमात्रसे ग्राह्य रूपको 'चाक्षुष' कहा जाता है, वैसे ही वेदोपनिषदगम्य परम पुरुषको 'औपनिषद' कहा जाता है। इसी तरह धर्म भी केवल वेदोंसे ही जाना जाता है, जैसे '**चक्षुषैव रूपमुपलभ्यते**' और '**दोषरहितेन आलोकादिसहकृतेन मनःसंयुक्तेन चक्षुषा रूपमुपलभ्यत एव।**' इस तरह जैसे अयोगव्यवच्छेदक और अन्ययोगव्यवच्छेदक हो 'एवकार' से चक्षुका और रूपका असाधारण सम्बन्ध निश्चित होता है, वैसे ही वेदोंसे ही धर्मका बोध होता है। अतएव भगवान् भी गीतामें कर्तव्याकर्तव्यनिर्णयके लिये एकमात्र शास्त्रको ही प्रमाण कहते हैं—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।

(गीता १६। २३-२४)

वेदोंको माननेवाला आस्तिक और उनकी निन्दा करनेवाला नास्तिक

यहाँ 'शास्त्र' शब्दका अर्थ वेद एवं तदनुयायी स्मृति, इतिहासादि ही है। अतः प्रथम वेदोंकी अपौरुषेयतापर ही विचार होता है। भट्टपाद, शंकराचार्य आदि महाविद्वानोंने सर्वापेक्षया अधिक विचार वेदोंकी अपौरुषेयतापर ही किया है। अतः अपौरुषेय वेद ही मुख्य शास्त्र हैं, उनको माननेवाला ही आस्तिक और उनके निन्दक ही नास्तिक हैं।

वैदिक लोग श्रीकृष्णकी 'गीता' का उपनिषद्रूप

गौका दुग्ध होनेसे आदर करते हैं, न कि सर्वज्ञ परमेश्वरकी उक्ति होनेसे—

'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।'

यहाँ विज्ञगण भगवान्‌की सर्वज्ञताका उपयोग अकृत्रिम वेदका सिद्धान्त निर्णय करनेमें करते हैं। सर्वज्ञनिर्मित भी ग्रन्थ कृत्रिम होनेसे वैसा आदरणीय नहीं होता, जैसा कि अकृत्रिम अपौरुषेय वेद। अतएव आस्तिकगण बुद्धकी पूजा करते हुए भी वेदविरुद्ध होनेसे उनकी उक्तिका आदर नहीं करते। श्रीकृष्णकी उक्तिका वेदसम्मत होनेसे आदर करते हैं।

एक बार भीष्मजी अपने पिताका श्राद्ध कर रहे थे, उस समय उनके पिताका दिव्य हस्त प्रकट हुआ। भीष्मने उसे पहचाना और वैदिकोंसे प्रश्न किया कि 'क्या हस्तपर पिण्डदान करनेकी विधि है?' वैदिकोंने कहा—'नहीं, वेदी और कुशाओंपर ही पिण्ड-प्रदानकी विधि है।' तब भीष्मने हस्तपर पिण्ड न देकर कुशाओंपर ही पिण्डदान किया। भीष्मके पिता बड़े प्रसन्न हुए और कहा कि 'मैं तुम्हारी शास्त्रश्रद्धा देखनेके लिये ही प्रकट हुआ था।' इस दृष्टिसे वेद ही मुख्य शास्त्र है, तदुक्त कर्म ही मुख्य धर्म है, उनकी मर्यादा-रक्षार्थ ही बुद्धदेव एवं शंकराचार्यका अवतार हुआ। वैदिक धर्मसे यद्यपि प्राणिमात्रका कल्याण हो सकता है, परंतु अधिकारके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—त्रैवर्णिक उपनयनादि संस्कारसम्पन्न होकर वेदाध्ययनके अधिकारी हैं। शेष, अन्त्यज आदि वेदोपबृंहणरूप इतिहास-पुराण-श्रवणके अधिकारी हैं। राजसूयमें क्षत्रियका अधिकार है, ब्राह्मणका नहीं और वाजपेयमें ब्राह्मणका ही अधिकार है, क्षत्रियादिका नहीं। जैसे वैद्यके औषधालयकी सभी औषधें सब रोगियोंके लिये उपयुक्त नहीं हैं, वैसे ही वेदोक्त सभी कर्म सबके लिये उपयुक्त नहीं हैं। किंतु वहाँ अधिकारकी चर्चा आवश्यक है। इन सब विचारोंका ध्यान रखनेसे बुद्धदेवको भगवान्‌का अवतार मानते हुए भी उनके उपदेशको अधर्म बतलानेमें कोई विरोध नहीं पड़ता। यदि साधारण दृष्टिसे देखें तो भी इससे वैदिक धर्मकी अनुपमेय उदारताका ही परिचय मिलता है। वैदिक धर्मको छोड़कर क्या संसारका कोई ऐसा धर्म है, जिसने अपने विरोधीको भगवान्‌का अवतार मानकर उसका आदर किया हो?

निराकारसे साकार

कुछ लोगोंका कहना है कि निर्गुण, निराकार, निर्विकार परब्रह्म परमात्मा साकार नहीं हो सकता। यद्यपि इस विषयपर समाजियों एवं सनातनियोंके मध्य अनेक बार शास्त्रार्थ हो चुके हैं। उनके शास्त्रार्थोंमें युक्तियोंकी प्रधानता थी और वेदमन्त्रोंसे ईश्वरका साकार होना सिद्ध करनेकी बातका प्राधान्य था, परंतु आजकल कभी अपनेको वेदान्ती कहनेवाले लोग भी अवतारके अस्तित्वका अपलाप करने लगते हैं। उनका कहना है कि **'ईश्वरो नावतरति, व्यापकत्वात्, आकाशवत्'** अर्थात् ईश्वर अवतार नहीं लेता, क्योंकि वह व्यापक है, जैसे आकाश, इस अनुमानसे ईश्वरका अवतार बाधित हो जाता है। इसपर कहा जा सकता है कि इस अनुमानका दृष्टान्त ही असिद्ध है; क्योंकि आकाश भी वायुरूपमें अवतीर्ण होता है। वायु, तेज, जलादि क्रमेण पृथ्वीरूपसे भी उसीका अवतरण होता है। यदि कहा जाय कि यह तो वेदान्तियोंके मतानुसार हुआ, परंतु नैयायिकोंके मतसे क्या उत्तर है? तो यह कहना पड़ेगा कि व्यापकत्व हेतु अनैकान्तिक है; क्योंकि व्यापकत्व नैयायिकोंके आत्मामें रह जाता है, परंतु वहाँ अवतरण होता है। साकार होना ही अवतार पदार्थ है। जब नैयायिकोंके व्यापक आत्मा देहवान् हो जाते हैं, तब परमात्मा देहवान् क्यों नहीं हो सकता? इसपर यदि कहा जाय कि आत्माके कर्म होते हैं, परंतु परमात्माके कर्म नहीं

होते तो इसका उत्तर यह है कि विश्वके उत्पादन-पालनादि कर्म ईश्वरके भी होते हैं। फिर भी शंका हो सकती है कि देहारम्भ-प्रयोजक कर्म ईश्वरके नहीं हैं। किंतु इसके उत्तरमें कहा जा सकता है कि कौन कर्म देहारम्भक है, कौन भोगारम्भक है, यह बात शास्त्रैकगम्य है। फल-वैचित्र्यसे हेतु-वैचित्र्यका अनुमान हो सकता है, परंतु किस कर्मसे कौन फल होता है, इसका निर्णय अनुमानसे नहीं होता। जब जीवोंके जन्मारम्भक कर्मोंको जाननेके लिये शास्त्रोंके प्रामाण्यकी अपेक्षा है, जब शास्त्रप्रामाण्य मान्य है, तब तो फिर प्राणिकल्याणार्थ अचिन्त्य, दिव्य लीलाशक्तिसे ही प्रभुका दिव्य जन्म-कर्म हो ही सकता है। इसपर किसीका कहना है कि मधुसूदन स्वामीने माना है कि अवतार नहीं होता, किंतु भक्तकी भावनासे ही विधुरपरिभावित-कामिनी-साक्षात्कारके समान कृष्ण आदिका स्वरूप दिखलायी पड़ता है, परंतु यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(गीता ४।६)

'गीता' के इस मूल वचनसे अज, अव्यय ईश्वरका मायाके द्वारा जन्म सिद्ध होता है और मधुसूदन भी—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

—इस तरह श्रीकृष्णके विषयमें अपना अभिप्राय प्रकट कर रहे हैं।

जहाँ भी कहीं आचार्योंने भगवान्‌के स्वरूपका वर्णन किया है, वहाँ यही कहा है कि भगवान् वस्तुत: अज, सर्वभूतान्तरात्मा होते हुए भी अपनी दिव्यलीला-शक्तिसे देहवान् होकर प्रस्फुरित होते हैं। जैसे घृतवर्त्तिकाके सम्बन्धसे निराकार अग्नि ही दाहकत्व, प्रकाशकत्वविशिष्ट दीपशिखाके रूपमें अभिव्यक्त होती है, वैसे ही निराकार भगवान् लीलाशक्तिके सम्बन्धसे साकार होकर प्रतीत होते हैं। जैसे घृत-वर्त्तिकादि तटस्थ रहकर ही दीपशिखाका कारण बनते हैं, दीपशिखाके भीतर-बाहर शुद्ध अग्नि ही है, वैसे ही लीलाशक्ति तटस्थ ही रहती है, भगवान्‌के स्वरूपमें भीतर, बाहर शुद्ध चिदानन्द ही है, किंवा जैसे निर्मल जल ही बर्फके रूपमें शैत्य-सम्बन्धसे प्रकट होता है, वैसे ही अचिन्त्य, विशुद्ध सत्यके सम्बन्धसे सच्चिदानन्द ब्रह्म साकार हो जाता है। जिस तरह सच्चिदानन्द ब्रह्म ही अनिर्वचनीय मायाके आध्यासिक सम्बन्धसे नाम-रूप-क्रियात्मक प्रपंचरूपसे प्रकट होता है, उसी तरह विशुद्ध सत्त्वके आध्यासिक सम्बन्धसे ब्रह्म साकार देहधारी हो जाता है। कम-से-कम आकाशादि प्रपंचके समान तो अवश्य ही साकार ब्रह्मका अस्तित्व कट्टर-से-कट्टर वेदान्तीको मान ही लेना चाहिये। वैसे तो बाध्यत्व, मिथ्यात्व, अबाध्यत्व, सत्यत्वको लेकर चलें तो शुक्ति-रूप्य आदिकी अपेक्षा अबाध्य घटादि कार्योंका सत्यत्व है, मृत्तिकाकी अपेक्षा घटादिमें बाध्यता होनेसे मिथ्यात्व है, तदपेक्षया मृत्तिकामें अबाध्यत्व होनेसे सत्यत्व है। इसी तरह अपर जल, तेज, वायु, आकाश आदिमें कार्यकी अपेक्षा कारणमें सत्यत्व और कारणकी अपेक्षा कार्यमें मिथ्यात्व होता है। इस दृष्टिसे पारमार्थिक सत्तापेक्षया किञ्चिन्न्यूनसत्ताकत्व ही उस दिव्य शक्तिका व्यावहारिकत्व है। तथा च ब्रह्ममें पारमार्थिक दृष्टिसे अजायमानता रहनेपर भी व्यावहारिक दृष्टिसे जायमानता हो सकती है।

परमात्मामें पारमार्थिक सत्तासे जन्माभाव और व्यावहारिक दृष्टिसे जन्मका भाव

समान सत्तावाले भाव-अभावका ही विरोध होता है, विषम सत्तावाले भाव-अभावका विरोध नहीं होता, अतएव वे दोनों एक जगह भी रह सकते हैं। इसीलिये एक शुक्तिकामें व्यावहारिक सत्तासे रूप्यका अभाव और प्रातिभासिक सत्तासे रूप्यका भाव रहनेमें कोई भी विरोध नहीं है। इसी दृष्टिसे परमात्मामें पारमार्थिक सत्तासे जन्माभाव और

व्यावहारिक दृष्टिसे जन्मका भाव रहनेमें भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती। इसपर कहा जा सकता है कि दृष्टि-सृष्टिवादकी दृष्टिसे अवतार कथमपि नहीं सिद्ध होता। परंतु यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि दृष्टि-सृष्टिवादमें भी आकाशादि प्रपंचका सत्त्व है। कम-से-कम साकार ब्रह्मका उतना अस्तित्व तो मानना ही होगा। सर्वव्यापि विधुरपरिभावित-कामिनीसाक्षात्कारसे कृष्णसाक्षात्कार विलक्षण है। जब विधुरपरिभावित-कामिनीसाक्षात्कारकी अपेक्षा कामिनीका साक्षात्कार विलक्षण है, फिर कृष्ण-साक्षात्कार विलक्षण क्यों नहीं? सारांश यह कि किसी भी दृष्टिसे व्यवहारका उपपादन करना पड़ता है। '**व्याघातावधिराशङ्का**' लोकव्याघात ही शंकाकी अवधि है। प्रपंचके स्वरूप निषेध-पक्षमें भी श्रवण, मनन, साक्षात्कार आदि चीजोंका उपपादन करना पड़ता है। फिर जब उन वस्तुओंका उपपादन करना है, तब तो अवतारका उपपादन ठीक ही है। फिर 'दृष्टिसृष्टिवादमें अवतार नहीं बनता' यह कथन ही व्यर्थ है। जब उस पक्षमें आकाशादि प्रपंच ही नहीं बनता, तब अवतार नहीं बनता, यह विशेषोक्ति व्यर्थ है। यदि किसी दृष्टिसे जीव, जगत्, ईश्वर ही न बनता हो तो उस पक्षमें अवतार भी न बने तो कोई दोष नहीं है। विचार तो ईश्वरके अवतारका है, जो ईश्वर ही नहीं सिद्ध करता, वह अवतार क्यों मानेगा? वस्तुतः '**बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति**' (महाभारत, आदिपर्व १।२६८) 'अल्पश्रुतसे वेद डरता है कि मुझपर यह प्रहार करेगा।' शास्त्रोंके भिन्न-भिन्न वादोंका आचार्य-परम्परासे बिना अध्ययन किये उनका अभिप्राय नहीं लगता। अज्ञ प्राणी शास्त्र-वचनोंसे ही अपना अनर्थ कर बैठता है।

कुछ लोग—

मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ।
यथेच्छं पिबतां द्वैतं तत्त्वं त्वद्वैतमेव हि॥

(पञ्चदशी ६।२३६)

—'माया नामकी कामधेनुके जीव, ईश्वर दोनों बछड़े हैं। यथेच्छ द्वैतको ही पीयें, तत्त्व तो अद्वैत ही है।' इन वचनोंको पढ़कर उपासनाकी तिलांजलि दे बैठते हैं। कोई 'जीव-कल्पित ईश्वर है' वाचस्पतिके इस मतको देखकर ईश्वरकी खिल्ली उड़ाने लगते हैं। सीधी बात तो यह है कि कांचन-कामिनी या रोटी-दालको तो सच्चा मानकर प्राणी उनमें आसक्त है, परंतु भगवान्के मिथ्यात्वका ही आग्रह उसे कल्याणकारक मालूम पड़ता है। वस्तुतः 'रामायण' के राम, 'भागवत' के कृष्ण, 'विष्णुपुराण' के विष्णु, 'शिव-स्कन्दपुराणादि' के शिव केवल आभास नहीं हैं, अपितु अधिष्ठानभूत ब्रह्म ही इन स्थलोंमें विष्णु आदि नामोंसे कहा गया है। जहाँ मायामें आभास ईश्वर, अविद्यामें चैतन्यका आभास जीव, यह पक्ष माना गया है, उस पक्षमें भी केवल आभास ईश्वर आदि नहीं है, किंतु अधिष्ठानसहित ही आभास ईश्वरादिरूपमें मान्य है। भागवतादिमें अधिष्ठानप्रधान ब्रह्मरूपको ही कृष्ण, राम माना गया है। अतएव '**एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः।**' इत्यादि वचनोंसे भगवान्को पुराणपुरुषोत्तम, सत्य, स्वयंज्योति कहा गया है। '**रामायण**' में रामको मायाका आश्रय और विषय दोनों ही कहा गया है। यही स्थिति '**विष्णुपुराण**', '**शिवपुराण**' के विष्णु, शिव आदि स्वरूपोंकी है।

'श्रीमद्भागवत' में भगवान्के स्वरूपोंको मायातीत, अनन्त सच्चिदानन्दरूप कहा गया है—

सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः।
अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम्॥

(श्रीमद्भा० १०।१३।५४)

श्रीशंकराचार्य भी कहते हैं कि जिसने ब्रह्माको अद्भुत, अनन्त ब्रह्माण्ड दिखलाया और वत्सोंसहित गोपोंको अनेक विष्णुरूपमें दिखलाया, शम्भुने जिनके चरणावनेजनको अपने सिरपर रखा, वह कृष्ण मूर्तित्रयातीत कोई अविकृत चिदानन्दघन ही है—

ब्रह्माण्डानि बहूनि पङ्कजभवान् प्रत्यण्डमत्यद्भुतान्
गोपान् वत्सयुतानदर्शयदजं विष्णूनशेषांश्च यः।

शम्भुर्यच्चरणोदकं स्वशिरसा धत्ते च मूर्तित्रयात्
कृष्णो वै पृथगस्ति कोऽप्यविकृतः सच्चिन्मयो नीलिमा।

(प्रबोधसुधाकर २४२)

महात्मा तुलसीदास भी कहते हैं—व्यापक, निरंजन, निर्विकार परमात्मा ही कौसल्याकी गोदमें रामचन्द्र होकर प्रकट होते हैं—

ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद॥

(रा०च०मा० १।१९८)

अघासुरके मुखमें कृष्ण-प्रवेशको 'भागवत' ने शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्मका ही प्रवेश माना है। बछड़ों और ग्वाल-बालोंके अघासुरके मुखमें समाविष्ट होनेपर कृपामय भगवान् आनन्दकन्द कृष्णचन्द्र भी उसके मुखमें प्रविष्ट हुए। प्रभुने जिस समय अपनी महिमासे अघासुरको मार दिया, अमृतवर्षिणी कृपादृष्टिसे ग्वाल-बालोंको जिलाया, उसी समय अघासुरके शरीरसे एक ज्योति निकली और कृष्णके स्वरूपमें प्रविष्ट हो गयी। यह सुनकर परीक्षित्को आश्चर्य हुआ कि गो-ब्राह्मण-मांस-रुधिराशी अघासुरको ऐसी दुर्लभ गति क्यों और कैसे मिली? इसपर शुकाचार्य भगवान् बोले—

सकृद् यदङ्गप्रतिमान्तराहिता
मनोमयी भागवतीं ददौ गतिम्।
स एव नित्यात्मसुखानुभूत्यभि-
व्युदस्तमायोऽन्तर्गतो हि किं पुनः॥

(श्रीमद्भा० १०।१२।३९)

अर्थात् जिनके श्रीअंगकी मंगलमयी मानसी प्रतिमाको सौभाग्यशाली लोग एक बार भी हृदयमें रखकर भागवती गतिको पा जाते हैं, फिर मायासे असंस्पृष्ट, नित्य, चिदानन्दात्मा वह भगवान् ही जिसके अन्दर प्रविष्ट हो गये, उसे भागवती गति प्राप्त कर लेनेमें क्या आश्चर्य है? अतएव प्रभुके प्रादुर्भावका प्रयोजन भी धर्मग्लानि-अधर्माभ्युत्थान-निवृत्तिपूर्वक धर्मस्थापन, साधुपरित्राण, दुष्कृति-विनाशके अतिरिक्त अमलात्मा परमहंसोंको भक्तियोगका विधान करना है।

प्रकृति-प्राकृत-प्रपंचातीत, शुद्ध परब्रह्म कृष्ण ही दिव्य लीलाशक्तिके योगसे सगुण, सच्चिदानन्दरूपमें प्रकट होकर योगीन्द्र, मुनीन्द्रोंके निर्मल मनोंको आकर्षित करते हैं। प्रकृति या प्राकृतप्रपंच उन सत्यानृत-विवेकी अमलात्मा परमहंसोंका मन नहीं खींच सकते, अतएव उनका भजनीय शुद्ध ब्रह्म ही है। भेद इतना ही है कि जैसे इक्षुरसका ही परिणाम सिता, शर्करा, कन्दकी मिठास इक्षुरससे विलक्षण होती है, वैसे ही शुद्ध सच्चिदानन्दसे तत्त्वतः अपृथक् होनेपर भी भगवान्का सगुण स्वरूप अद्भुत चमत्कारपूर्ण होता है। जैसे इक्षुदण्डमें दैवात् मीठा फल लग जाय या चन्दन-वृक्षमें मनोहर पुष्प लग जाय, वैसे ही परमानन्द-रसरूप निर्गुण ब्रह्ममें सगुण, साकार ब्रह्मका होना है। यही तो कारण है कि निर्गुण ब्रह्मानुभवी जनकादिकोंका चित्त भी रामचन्द्रके सगुण, साकार स्वरूपपर मुग्ध हो गया था—

सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

(रा०च०मा० १।२१६।३, ५)

साकाररूपमें प्रकट भगवान्के दर्शनमें विलक्षणता

जैसे केवल नेत्रसे सूर्य-दर्शनकी अपेक्षा दूरवीक्षण यन्त्रोपहित नेत्रसे सूर्य-दर्शनमें चमत्कार होता है, वैसे ही केवल निर्मल अन्तःकरणसे ब्रह्म देखनेकी अपेक्षा पवित्र अन्तःकरणसे लीलाशक्तिद्वारा साकाररूपमें प्रकट भगवान्के दर्शनमें विलक्षणता होती है। निरुपाधिक स्वरूप निरतिशय है, इसमें भी कोई बाधा नहीं। यद्यपि अन्यान्य प्रपंच भी ब्रह्मका ही परिणाम या विवर्त्त है तथापि वह तामसी, राजसी प्रकृति—रजस्तमोलेशानुविद्ध सत्त्वात्मिका प्रकृतिसे आवृत रहता है। भगवत्स्वरूप विशुद्ध सत्त्वात्मिका योगमाया या दिव्य लीलाशक्तिसे साकार रूपमें प्रकट ब्रह्म निरावरण ही रहता है। जैसे दूरवीक्षणादि नेत्र और सूर्यके मध्यमें रहकर सूर्य-स्वरूप-दर्शनमें सहायक होता है, अन्य पाषाणादि सूर्य-दर्शनका प्रतिबन्धक हो जाता है, वैसे

ही दिव्य लीलाशक्ति परमात्म-स्वरूप दर्शनमें सहायक होती है, अन्य राजसी, तामसी शक्तियाँ प्रतिबन्धक होती हैं।

साकाररूपमें किसी भी भावसे चित्त लगानेसे प्राणीका कल्याण

कोई तो प्रकृतिसे पृथक् ही भगवान्‌की अन्तरंगा शक्ति मानते हैं, कोई महाशक्तिके अन्तर्गत होनेपर भी उसे दिव्य मानते हैं। जैसे गुलाबके बीजमें कण्टक, पत्र, नाल, स्कन्धादिकी उत्पादिनी शक्तिसे सौन्दर्य-माधुर्य-सौरस्य-सौगन्ध्य-सम्पन्न फूलको उत्पन्न करनेकी शक्ति विलक्षण होती है, वैसे ही प्रपंचोत्पादिनी अन्यान्य शक्तियोंकी अपेक्षा सगुण, साकार भगवान्‌के प्राकट्यानुकूला लीलाशक्तिमें चमत्कारपूर्ण विलक्षणता रहती है। सारांश यह है कि शुद्ध परब्रह्म ही निराकार रूपसे ही सगुण, साकार रूपमें प्रकट होते हैं। तभी उनको भाव, कुभाव, अनख, आलस किसी तरहसे भी भजनेसे प्राणियोंकी सद्‌गति हो जाती है। इसीलिये कहा है—

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥

(श्रीमद्भा० १०।२९।१४)

अर्थात् प्राणिमात्रके कल्याणार्थ अव्यय, अप्रमेय, निर्गुण, गुणान्तरात्मा भगवान्‌का साकार स्वरूपमें प्राकट्य होता है। इस स्वरूपमें काम, क्रोध, स्नेह, किसी तरह भी चित्त लगानेसे प्राणीका कल्याण हो जाता है—

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥

(श्रीमद्भा० १०।२९।१५)

ठीक ही है, जैसे कोई चिन्तामणिको दीपक समझकर उसे लेने चले तो भी वहाँ दीपक नहीं, अपितु चिन्तामणि ही मिलेगी, वैसे परात्पर, पूर्णतम, पुरुषोत्तम, शुद्ध सच्चिदानन्द परब्रह्मको कोई जार समझकर, कोई शत्रु, मित्र, कुछ भी समझकर प्रवृत्त हो, परंतु वहाँ मिलेगा शुद्ध परब्रह्म परमात्मा ही, प्राकृत वस्तुकी प्राप्ति नहीं होगी। अतएव कुछ व्रजांगनाएँ जारबुद्धिसे भी कृष्णको भजकर मुक्त हो गयीं—

तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥

(श्रीमद्भा० १०।२९।११)

पति, भ्राता आदिसे अवरुद्ध होनेके कारण कुछ व्रजांगनाएँ मदनमोहनके वेणुनादसे आकर्षित होनेपर वृन्दावनचन्द्र कृष्णचन्द्रके पास न जा सकीं। वे कृष्णकी भावनासे भावितमनस्का होकर, आँख मींचकर वहीं ध्यान करने लगीं। प्रियतम कृष्णके दुःसह विरहजन्य तीव्रतापसे उनके अशुभ कर्म विधूत हो उठे और ध्यानप्राप्त अच्युतके आश्लेष (परिरम्भण)-जन्य आनन्दोद्रेकसे सम्पूर्ण शुभ कर्मोंका भी फल समाप्त हो गया अथवा उनके दुःसह, प्रेष्ठ-विरहजन्य तीव्रतापसे विश्वके ही अशुभ कर्म काँप उठे और ध्यानप्राप्त अच्युतके आश्लेषसे संसारके सम्पूर्ण मंगल अपनेको कम जानकर दुर्बल हो गये। इस तरह सद्यःप्रक्षीणबन्धना होकर जारबुद्धिसे भी उन्हीं परमात्माको प्राप्त होकर वे व्रजांगनाएँ गुणमय पंचकोशों या तीनों देहोंसे मुक्त हो गयीं।

सगुणस्वरूपका चिन्तन सरल एवं सुगम

भावुकोंने तो इस सगुण स्वरूपके चिन्तनको सरल, सुगम, श्यामीभूत ब्रह्म ही बतलाया है। अद्वैतसिद्धिकारका ही कहना है कि जो लोग निर्गुण, निराकार, निर्विकार ब्रह्मकी उपासना, ध्यानाभ्यासवशीकृत मनसे करते हैं, वे करें, पर मेरे तो लोचन-चमत्कारके लिये वही तत्त्व प्रस्फुरित हो, जो कालिन्दी-पुलिनमें श्यामतेज रहता है—

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किञ्चन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनेषु यत्किमपि तन्नीलं महो धावति॥

किन्हीं भावुकोंने व्रजांगनाओंके पुंजीभूत प्रेमको ही कृष्ण माना है, किन्हींने यदुओंके मूर्तीभूत भागधेयको ही कृष्ण माना है, श्रोत्रियोंने श्रुतियोंके गुप्त वित्तको

ही श्यामीभूत ब्रह्म कृष्ण माना है—

पुञ्जीभूतं प्रेम गोपाङ्गनानां मूर्तीभूतं भागधेयं यदूनाम्।
एकीभूतं गुप्तवित्तं श्रुतीनां श्यामीभूतं ब्रह्म मे सन्निधत्ताम्॥

किसीका कहना है कि पूर्णानुरागरससार-सरोवरसमुद्भूत पंकज श्रीकृष्ण है, किसीने कहा नहीं, सच्चिदानन्दरससार-सरोवरसे ही इस कृष्ण-कुवलयका प्राकट्य हुआ है। वह ऐसा कुवलय है कि भृंगों (भक्तमनोमिलिन्दों)-ने अभीतक उसका आघ्राण किया ही नहीं। चाहे ऐसा कह लें कि यद्यपि वे अनादि कालसे ही उस कृष्णके सौन्दर्य-कुवलयमधुका पान कर रहे हैं तथापि उन्हें प्रतिदिन, प्रतिक्षण उसमें नवीनताका ही स्फुरण होता है अर्थात् प्रतिक्षण ही उसमें नवीनताका ही भान होता रहता है—**'तस्याङ्घ्रियुगं नवं नवम्'** इसी तरह कवीन्द्ररूप अनिलोंने अभीतक इस कुवलयके यश:सौरभका अपहरण नहीं किया अर्थात् उन्हें भी नवीनताकी ही स्फूर्ति होती है। ऊर्मीकणभरोंसे—सांसारिक षडूर्मियोंसे—यह कुवलय आहत नहीं हुआ। इतना ही क्यों, आजतक किसीने इसे देखा भी नहीं है—

अनाघ्रातं भृङ्गैरनपहतसौगन्ध्यमनिलै-
रनुत्पन्नं नीरेष्वनुपहतमूर्मीकणभरैः।
अदृष्टं केनापि क्वचन च चिदानन्दसरसो
यशोदायाः क्रोडे कुवलयमिवौजस्तदभवत्॥

(आनन्दवृन्दावनचम्पू २।११)

देवकीने मुक्त मुनीन्द्रोंका अन्वेष्टव्य एक अद्भुत फल उत्पन्न किया, व्रजेन्द्रगेहिनी नन्दरानीने उसे पाला, श्रीव्रजसीमन्तिनियोंने उस फलका अनुभव किया—

मुक्तमुनीनां मृग्यं किमपि फलं देवकी फलति।
तत्पालयति यशोदा प्रकाममुपभुञ्जते गोप्यः॥

(पद्यावली २९९)

श्रुतियोंमें सगुण-साकाररूपकी अवधारणा

सच्चिदानन्द परब्रह्मका सगुण, साकार रूप होता है, यह 'केनोपनिषद्' में भी प्रसिद्ध है। देवासुर-संग्राममें परमेश्वरके अनुग्रहसे देवताओंको जय मिली, परंतु देवताओंने समझा कि हमारे ही परिश्रमका यह फल हुआ। भगवान्‌ने समझ लिया कि यदि इन्हें भी गर्व हुआ तो असुरोंसे इन देवताओंमें अन्तर ही क्या रह जायगा?

असुषु प्राणोपलक्षितेषु अनात्मसु रमन्ते ये ते असुराः।
अथवा अशोभने अनात्मनि रमन्ते ये ते असुराः।

अर्थात् अशोभन अनात्मामें रमण करनेवाले असुर कहलाते हैं। भगवान् यह सोचकर परम प्रकाशमय सगुण, साकार, दिव्य रूपमें प्रकट हुए। उस स्वरूपको देखते ही देवता घबड़ाये और 'सपक्षका है या विपक्ष का' यह जाननेके लिये अग्नि, वायु और इन्द्रको भेजा। अग्नि, वायु उस परमात्माके सामने एक तृण भी उठाने एवं जलानेमें समर्थ न हुए। दोनों देवताओंके लौटनेपर इन्द्र गये। इन्द्रको आते देखते ही वे प्रभु अन्तर्हित हो गये। इन्द्र लज्जित होकर वहीं उस स्वरूपकी जिज्ञासासे तप करने लगे। बहुत दिनोंके तपसे भगवती उमा (ब्रह्मविद्या) प्रकट हुई और उन्होंने ब्रह्मका परिचय कराया। ब्रह्मज्ञानी होनेसे ही देवताओंमें अग्नि, वायु, इन्द्र प्रधान हैं। उनमें भी इन्द्रने पहले ब्रह्मका परिचय प्राप्त किया, अत: वही श्रेष्ठ माने गये हैं। **'ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये'** इत्यादि श्रुतियोंमें ये बातें स्पष्ट हैं। 'छान्दोग्य' में भी सूर्यमण्डलान्तर्गत एक हिरण्मय, हिरण्यश्मश्रु, तेजोमय परम पुरुषका वर्णन आता है, वह भी सच्चिदानन्द ब्रह्मका ही सगुण, साकार रूप है। यह बात उत्तरमीमांसाके **'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्'** इस सूत्रमें भी स्पष्ट है। आचार्य श्रीशंकरभगवान् कहते हैं कि परमात्माका माया (विशुद्ध सत्त्व)-के योगसे विग्रह बन सकता है। यद्यपि वह भूतगुणों—शब्दादिसे युक्त प्रतीत होता है तथापि वह शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म ही है। शब्दादिमत्ताकी प्रतीति उसमें भ्रान्ति ही है। 'कैवल्योपनिषद्' में **'उमासहायं परमेश्वरं विभुम्'** इस वचनसे भी उमा-महेश्वरका स्वरूप वर्णित है।

'अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे। पृथिव्याः सप्तधामभिः' इस मन्त्रमें बतलाया गया है कि विष्णुगायत्र्यादि सप्त छन्दोंद्वारा देशपर विविध

क्रमण-चरण-विन्यास करते हैं। '**इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्। समूढमस्य पाꣳसुरे स्वाहा**'।

इस मन्त्रसे ज्ञात होता है कि त्रिविक्रमावतारधारीने इस प्रतीयमान विश्वको अपने चरणोंसे आक्रान्त किया है, अपने चरणसे तीन प्रकारसे पादविन्यास किया है। इन विष्णुके धूलियुक्त पादस्थानमें सम्पूर्ण विश्व अन्तर्भूत होता है। '**त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्**' इसमें भी कहा गया है कि किसीके द्वारा जिसकी हिंसा नहीं हो सकती, उस सर्वजगत्के रक्षक विष्णुने अग्निहोत्रादि कर्मोंका पोषण करते हुए पृथिव्यादि स्थानोंमें अपने तीन पदोंसे क्रमण किया। इस तरह अनेक श्रुतियोंमें परमात्माके सगुण, साकार रूपका वर्णन है। '**प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा वि जायते। तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥**' यहाँ भी कहा है कि प्रजापति गर्भके भीतर आता है, वह स्वरूपसे अज होकर भी अनेक रूपोंसे प्रकट होता है, उसके प्राकट्यका धर्मरक्षणादि प्रयोजन धीर लोग जानते हैं। '**या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी। तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभि चाकशीहि॥**' '**नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः**' इत्यादि अनेक स्थानोंमें परमेश्वरका ही नीलकण्ठ महादेवरूपमें वर्णन मिलता है।

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः
पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः
प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥

इस मन्त्रमें कहा गया है कि यही ईश्वर सब दिशाओंमें व्याप्त होकर, पहले गर्भमें रहकर प्रकट हुआ, वही सर्वतोमुख परमेश्वर पहले अनेक रूपसे उत्पन्न हुआ है और आगे भी उत्पन्न होगा।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(गीता ४।६)

इस श्लोकपर निम्नलिखित अभिप्राय केशव काश्मीरीका है—'यद्यपि मैं अज हूँ अर्थात् जीवोंके समान कर्मनिमित्त अपूर्व देह-ग्रहण नहीं करता, अव्ययात्मा=पूर्वदेहवियोगरहित हूँ तथापि अपनी प्रकृति (स्वभाव)—असंगत्व, अजेयत्व, अनतिक्रमणीयत्वादिको न छोड़कर ही अपनी माया—संकल्पसे लोकहितार्थ जन्म लेता हूँ।' इस व्याख्यानमें 'प्रकृति' का अर्थ स्वभाव और '**माया तु वयुनं ज्ञानम्**' इस 'निघण्टु' वचनसे 'माया' का अर्थ ज्ञान लिया गया है। '**अजायमानो बहुधा विजायते**' (मुद्गल० ३।१) इस श्रुतिसे भी यही सिद्ध किया गया है। '**आनन्दरूपममृतं यद् विभाति**' (मुण्डक २।२।७), '**आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्**' (श्वेता० ३।८), '**हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेशः आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः**' (छान्दोग्य० १।६।६) इत्यादि श्रुतियोंसे भगवान्का सगुण स्वरूप मालूम पड़ता है। '**यो वेत्ति भौतिकं देहं कृष्णस्य परमात्मनः। मुखं तस्यावलोक्याऽपि सचैलं स्नानमाचरेत्॥ स सर्वस्माद्बहिष्कार्यः श्रौतस्मार्तविधानतः।**' '**न भूतसङ्घसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः।**'

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।

(श्रीमद्भा० १०।१४।२)

इत्यादि 'भारत' 'भागवत' आदिके वचनोंसे भी भगवान्के स्वरूपको अभौतिक कहा गया है, भौतिक माननेवालेको पातकी बतलाया गया है।

मधुसूदनजी कहते हैं कि सर्वज्ञ ईश्वरको धर्माधर्म न होनेसे उनका जन्म नहीं बन सकता। नये देहेन्द्रियादिका ग्रहण जन्म और पूर्वगृहीतका वियोग मृत्यु कहलाता है। ये दोनों ही बातें अज, अव्यय परमात्मामें सम्भव नहीं हैं। यदि ईश्वरका शरीर स्थूल भूतकार्य हो या व्यष्टिरूप हो तो जाग्रदवस्थाभिमानी जीवोंके तुल्य ही ईश्वर भी होगा। समष्टिरूप हो तो विराट् जीवरूप होगा। यदि सूक्ष्मभूतका कार्य है या व्यष्टिरूप है तो स्वप्नावस्थाभिमानी होगा और यदि समष्टिरूप हो तो हिरण्यगर्भ होगा। परमेश्वरका

भौतिक स्वरूप जीवाविष्ट हो ही नहीं सकता।

कुछ लोग कहते हैं कि जीवाविष्ट शरीरमें ही '**भूतावेशन्याय**' से ईश्वरका प्रवेश होता है, परंतु यह ठीक नहीं; क्योंकि यदि इस शरीरमें जीवको ही सुख-दु:खादि भोग होता है, ईश्वरको नहीं, तब तो अन्तर्यामीरूपसे सर्वत्र ही परमेश्वरका प्रवेश सिद्ध है, फिर ऐसा शरीर-विशेष स्वीकार करना व्यर्थ ही है। यदि उस शरीरमें जीवका भोग नहीं बनता, तब तो उसे जीवशरीर भी नहीं कहा जा सकता, अत: ईश्वरका भौतिक शरीर कथमपि नहीं बन सकता। इन्हीं बातोंका निराकरण करते हुए भगवान् कहते हैं कि 'मैं अज और अव्यय होता हुआ भी, ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणियोंका ईश्वर होकर भी, अपनी विचित्र शक्तिवाली अघटितघटनापटीयसी उपाधिभूत मायाको अपने चिदाभाससे वशीभूत करके मायाके परिणामविशेषोंसे ही देहवान्‌के समान उत्पन्न-सा प्रतीत होता हूँ। अनादि माया ही यावत्कालस्थायी होनेसे नित्य कहलाती है। वही मुझमें जगत्कारणता सम्पादन करती है। वह मेरी इच्छासे ही प्रवर्तमान होकर विशुद्ध सत्त्वमयी मेरी मूर्ति कहलाती है। उस मूर्तिसे विशिष्ट मुझमें अजत्व, अव्ययत्व, ईश्वरत्व उपपन्न हो जाता है।' अतएव श्रुति कहती है—'**आकाशशरीरं ब्रह्म**' (तैत्तिरीयोपनिषद् वल्ली १ अनुवाक ६) आकाश अर्थात् माया ही भगवान्‌का शरीर है। यहाँ शंका हो सकती है कि भौतिक शरीर न होनेपर भगवान्‌में मनुष्यत्वादि-प्रतीति कैसे होगी? इसका समाधान यह है कि आत्ममाया (भगवान्‌की माया)-से ही लोकानुग्रहके लिये भगवान्‌में मनुष्यत्वादि-प्रतीति होती है। यही बात 'मोक्षधर्म' में लिखी है—

माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद॥
सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं त्वं ज्ञातुमर्हसि।

(महा०, शान्ति० ३३९।४५-४६)

एतत् त्वया न विज्ञेयं रूपवानिति दृश्यते॥
इच्छन् मुहूर्तान्नश्येयमीशोऽहं जगतो गुरुः।

(महा०, शान्ति० ३३९।४४-४५)

अर्थात् हे नारद! मुझ कारणोपाधि परमेश्वरको जो भूतगुण—शब्दादिसे युक्त देख रहे हो, यह मेरी माया ही है। मुझ कारणोपाधिको कोई चर्मचक्षुसे नहीं देख सकता।

कुछ लोग परमेश्वरमें देह-देहि-भाव ही नहीं मानते। उनका कहना है कि सच्चिदानन्दघन, निर्गुण, परिपूर्ण परमात्मा ही भगवान्‌का देह है। भगवान्‌से पृथक् भौतिक या मायिक उनका कोई भी विग्रह नहीं है। '**आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः**', '**अविनाशी वा अरेऽयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा**' इत्यादि श्रुतियों और '**असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेर्नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः**' इत्यादि सूत्रोंसे यही विदित होता है कि वस्तुत: भगवान् जन्म-विनाशरहित, सर्वभासक, सर्वकारण, मायाका अधिष्ठान होनेसे सर्वभूतोंके ईश्वर होकर भी अपने एकरस, सच्चिदानन्दघनस्वभावमें ही अवस्थित रहकर देह-देहिभावके बिना ही देहिवत् व्यवहरण करते हैं। अदेह सच्चिदानन्दघनमें देहकी प्रतीति कैसे होती है? इसका उत्तर '**आत्ममायया**' से ही दे दिया है। निर्गुण, शुद्धरस, देहदेहिभावशून्य भगवान्‌में देहरूपसे प्रतीति मायामात्र है। यही 'श्रीमद्भागवत' में भी—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥

(१०।१४।५५)

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥

(१०।१४।३२)

इत्यादि वचनोंसे यह स्पष्ट कहा गया है कि सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तरात्मा श्रीकृष्ण ही हैं, वे ही अपनी मायासे जगत्‌के हितके लिये देहवान्‌से प्रतीत होते हैं। नन्दगोपव्रजवासियोंका लोकोत्तर सौभाग्य था कि पूर्ण सच्चिदानन्दघन उनका मित्र होकर प्रकट हुआ था।

कुछ लोग निरवयव, निर्विकार परमानन्दका ही अवयवावयविभाव वास्तविक ही मानते हैं, परंतु

'**निर्युक्तिकं ब्रुवाणश्च नास्माभिर्विनिवार्यते**' इस न्यायसे उनके लिये हम कुछ कहना नहीं चाहते। यदि ऐसा सम्भव हो तो रहे। श्रीशंकरानन्दजीका इस विषयमें कहना है कि यद्यपि '**कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव प्रलीयते**' इस वचनके अनुसार कर्मोंसे ही प्राणीका जन्म और विनाश होता है, परमेश्वरमें जन्महेतु पुण्य-पाप न होनेसे जन्म असम्भव है तथापि मायाद्वारा परमेश्वरका जन्म असम्भव नहीं, अतएव अज, अव्यय, निरवयव होनेपर भी भगवान्‌का जन्म मायासे हो जाता है। कहा जा सकता है कि श्रीकृष्ण परमेश्वरका कर्मनिमित्त जन्म न होनेपर भी उनका कोई नियन्ता अवश्य होगा। इसी भ्रमको दूर करनेके लिये भगवान्‌ने कहा है—'**भूतानामीश्वरोऽपि सन्**' (गीता ४। ६) अर्थात् प्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी '**एष सर्वेश्वरः**' (माण्डूक्य० ६) इत्यादि श्रुतिके अनुसार सबका नियन्ता परमात्मा ही है, वह किसीके नियोगका विषय नहीं है। इस तरह अज, अव्ययात्मा, ईश्वर होकर भी अपनी दैवी प्रकृति मायाका सहारा लेकर वे उत्पन्न हो सकते हैं। वह्निके दग्धृत्व शक्तिके समान परमेश्वरकी अभिन्न शक्ति ही उनकी माया है। यही बात '**देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्**'' (श्वेताश्वतर० १। ३) इत्यादि श्रुतियोंसे कही गयी है। उसी मायासे भगवान् जन्मवान्‌से प्रतीत होते हैं। वस्तुतः भगवान् निष्कल एवं निष्क्रिय ही हैं।

इस विषयमें श्रीआनन्दतीर्थका कहना है कि भगवान् अज और अव्ययात्मा होकर भी प्रकृतिसे जात, वसुदेवादिसे जात होकर प्रतीत होते हैं। इस मतमें भगवान्‌का देह ही अव्यय है, उसीको नाना अवतारोंका निधान और अव्यय बीज माना है—'**एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम्।**' (श्रीमद्भागवत १। ३। ५) इस मतमें आत्ममायाका अर्थ आत्मज्ञान है; क्योंकि प्रकृतिका निर्देश पृथक् आ चुका है। '**मतिः क्रतुर्मनीषा माया**' इत्यादि कोशमें 'मनीषा' के अर्थमें 'माया' शब्द आया है।

श्रीमद्रामानुजाचार्यका कहना है कि भगवान् अपने अजत्व, अव्ययत्व, सर्वेश्वरत्वादि सम्पूर्ण ऐश्वर्योंको न छोड़ते हुए ही अपनी प्रकृति अर्थात् स्वभावमें अवस्थित रहकर ही स्वेच्छासे अवतीर्ण होते हैं। '**आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्**', '**य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः**' इत्यादि श्रुतियोंने भगवान्‌के सगुण, साकार स्वरूपका स्पष्टीकरण किया है। इनके मतमें भी '**माया तु वयुनं ज्ञानम्**' इत्यादि अभियुक्तियोंसे मायाका अर्थ ज्ञान ही है। **तथा च आत्ममायया**-का अभिप्राय है आत्मसंकल्प। अतः भगवान् आत्म-संकल्पसे ही, अपने अपहतपाप्मत्वादि ऐश्वर्यस्वभावको न छोड़ते हुए ही देव-मनुष्यादिरूपसे प्रतीत होते हैं। '**अजायमानो बहुधा विजायते**' इस श्रुतिका भी अभिप्राय यही है कि भगवान् इतरपुरुषसाधारण जन्मसे रहित होनेपर भी स्वसंकल्पसे देवादिरूपसे जायमान होते हैं।

श्रीनीलकण्ठजीका कहना है कि '**अजोऽपि सन् अव्ययात्मा**' इस श्लोकद्वारा देहविशिष्ट परमात्माका ही अजत्व, अव्ययत्व कहा गया है। देहादिरहित केवल आत्माका अजत्व, अव्ययत्व तो '**न त्वेवाहं जातु नासम्**' (गीता २। १२) इत्यादि श्लोकोंसे पहले ही कहा जा चुका है। '**भूतानामीश्वरोऽपि सन्**' इस अंशसे देहविशिष्ट परमेश्वरका ही ईश्वरत्व सिद्ध किया गया है, अन्यथा देहादिसे निकृष्ट अस्मदादि भी ईश्वरत्व तत्त्वमस्यादि वचनोंसे स्पष्ट ही है। आदित्यान्तर्यामी परमेश्वरका हिरण्यश्मश्रुत्वादि-विशिष्ट देह जन्म-मरणवाला है, यह कोई नहीं कह सकता; क्योंकि फलकी पराकाष्ठा हिरण्यगर्भ-देहकी प्राप्ति ही है, हिरण्यश्मश्रुत्वादिविशिष्ट स्वरूप तो अकर्मज होनेसे नित्य ही है।

भगवद्विग्रहका उपादान

कुछ लोगोंका कहना है कि '**पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत। अत्यतिष्ठेयं सर्वाणि भूतानि। अहमेवेदं सर्वं स्याम्। इति स एतं पुरुषमेधं पञ्चरात्रं यज्ञक्रतुमपश्यत्**' इत्यादि 'शतपथ' के वचनसे मालूम होता है कि पंचरात्राख्य कर्मविशेषका

फल ही नारायणका सर्वभूतातिक्रमणलक्षण ईश्वरत्व है। परंतु यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि यहाँ 'नारायण' शब्दसे हिरण्यगर्भ ही विवक्षित है। स्वभावसे ही पूर्णकाम परमेश्वरमें कामना नहीं हो सकती। कहा जा सकता है कि '**सोऽकामयत**' इत्यादि वचनोंसे परमेश्वरमें भी कामना प्रसिद्ध है। परंतु यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि '**आप्तकामस्य का स्पृहा**' (माण्डूक्यकारिका १।९) '**लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्**' (ब्रह्मसूत्र २।१।३३) इत्यादि स्मृति-सूत्रोंसे निष्काम परमेश्वरमें भी लीलासे ही अनन्त ब्रह्माण्डका सर्जन कहा गया है, अत: भगवान्का शरीर कर्मफल नहीं है, अतएव भौतिक भी नहीं है; क्योंकि विराट् और सूत्रात्मासे अतिरिक्त भौतिक शरीर नहीं होता। यहाँ शंका होती है कि फिर भगवद्विग्रहका उपादान क्या है? अविद्या उपादान है, ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप परमात्मामें अविद्याका होना सम्भव नहीं है। जीवकी अविद्या भगवान्के शरीरका उपादान है, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसी स्थितिमें भगवच्छरीरको शुक्ति-रजतादिकी तरह कल्पित ही कहना पड़ेगा। शुद्ध चैतन्य ही भगवान्का शरीर है, यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि बोध या चैतन्यकी साकाररूपसे प्रसिद्धि नहीं है। यदि कथंचित् चैतन्यको ही भगवान्का शरीर मान लिया जाय तो चैतन्यके समान ही भगवद्विग्रह भी अतीन्द्रिय होगा। ऐसी स्थितिमें प्रश्न बना रहता है कि भगवान्के विग्रहका उपादान क्या है? इसके उत्तरमें नीलकण्ठजी कहते हैं कि भगवान् अपनी प्रकृतिका ही आश्रय लेकर आत्ममायासे प्रकट होते हैं। जीवात्मा अनात्मभूता तेजोवन्नात्मिका या पंचभूतात्मिका प्रकृतिका सहारा लेकर जन्म ग्रहण करता है, भगवान् प्रत्यक्चैतन्यसे अभिन्न स्वरूपभूतका ही सहारा लेकर अर्थात् किसी दूसरे उपादानकी अपेक्षा न करके ही अपनी मायासे देव, मनुष्यादिरूपमें प्रकट होते हैं। जैसे कोई मायावी स्वयं अपने स्थानसे अप्रच्युत स्वभाव रहकर ही अदृश्य होकर, स्थूल-सूक्ष्म भूतोंको बिना गृहीत किये ही, केवल मायासे सूत्रमार्गसे आकाशपर चढ़ते हुए अपने सदृश ही एक दूसरे मायावीको रचता है, ठीक वैसे ही कूटस्थ चिन्मात्र भगवान् अपनी मायासे चिन्मय शरीरको रचते हैं, सूत्रारोहणके समान बाल-यौवनादि अवस्थाओंको दिखलाते हैं। मायावी और भगवान्में इतना ही भेद होता है कि मायावी मायाका उपसंहरण करता हुआ दूसरे मायावीका भी उपसंहार कर लेता है, भगवान् माया और विग्रह दोनोंका ही उपसंहरण नहीं करते। इस दृष्टिसे हिरण्यश्मश्रुत्वादिविशिष्ट चैतन्यको '**अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्**' (ब्रह्मसूत्र १।१।२०) इस सूत्रसे वियदादिका उपादान और सर्वेश्वर बतलाया गया है। अतएव अन्यत्र भी '**नित्यैव सा जगन्मूर्तिः**' (श्रीदुर्गासप्तशती १।६४) इत्यादि वचनोंसे भगवन्मूर्तिको नित्य कहा गया है।

देवानां कार्यसिद्ध्यर्थमाविर्भवति सा यदा॥
उत्पन्नेति तदा लोके सा नित्याप्यभिधीयते।

(श्रीदुर्गासप्तशती १।६५-६६)

इत्यादि वचनोंसे स्पष्ट कहा गया है कि नित्य भगवन्मूर्तिका ही प्रयोजनवशात् प्रादुर्भाव ही उत्पत्ति शब्दसे कहा गया है।

भगवान् श्रीशंकराचार्यका कहना है कि अज, जन्मरहित तथा अव्ययात्मा, अक्षीणज्ञानशक्तिस्वभाव ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त समस्त भूतोंके ईश्वर होकर भी भगवान् (जिसके वशमें सारा जगत् है और जिससे मोहित होकर अपने अन्तरात्मा प्रत्यक्चैतन्याभिन्न वासुदेवको नहीं जानता, उस अपनी) वैष्णवी मायाको स्ववश करके आत्ममायाद्वारा देहवान् एवं उत्पन्नसे प्रतीत होते हैं।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

(गीता ४।७)

अर्थात् जब-जब प्राणियोंके अभ्युदय-नि:श्रेयसके साधनभूत वर्णाश्रमादि लक्षण धर्मकी ग्लानि होती है और अधर्मका अभ्युत्थान होता है, तब-तब मैं अपने

आत्माका सृजन करता हूँ। सन्मार्गस्थ साधुओंके परित्राण एवं पापकर्मा प्राणियोंके विनाशार्थ तथा धर्मकी सम्यक् स्थापनाके लिये मैं भिन्न-भिन्न युगोंमें अवतीर्ण होता हूँ। इस विषयमें श्रीमद्रामानुजाचार्यका कहना है कि जो धर्मात्मा वैष्णवाग्रगण्य मेरे समाश्रयणमें प्रवृत्त हैं और वाक् तथा मनसे मेरे नाम, कर्म और स्वरूपोंको अतीत होनेसे मेरे दर्शनके बिना अपने धारण-पोषणके भी सुखको न प्राप्त करते हुए अणुमात्र कालको भी हजारों कल्पके समान मानते हैं, जिसके सम्पूर्ण गात्र प्रशिथिलप्राय हैं, उन्हें अपने स्वरूप, चेष्टित, अवलोकन, आलाप आदि दानसे उनके परित्राणके लिये, तद्विपरीतोंके विनाशके लिये, क्षीण वैदिक धर्मका स्वस्वरूप-प्रदर्शनद्वारा स्थापनके लिये देव, मनुष्य आदि रूपमें भगवान् अवतीर्ण होते हैं।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

(गीता ४।९)

अर्थात् मेरे दिव्य, अलौकिक मायारूप जन्म तथा साधु-परित्राणादि कर्मको जो तत्त्वतः जानता है, वह इस देहको छोड़कर मुझे प्राप्त हो जाता है, पुनः उत्पन्न नहीं होता। इस विषयमें श्रीमद्-रामानुजाचार्यका कहना है कि कर्मोंकी मूलभूत त्रिगुणात्मक प्रकृतिके संसर्गरूप जन्मसे रहित, सर्वसर्वेश्वरत्व, सर्वज्ञत्व, सत्यसंकल्पत्वादि समस्त कल्याणगुणोंसे युक्त, साधुपरित्राण और मेरा समाश्रयण ही है एक मुख्य प्रयोजन जिसका, उस मेरे दिव्य, अलौकिक जन्म-चेष्टितको जो तत्त्वतः यथावत् जानता है, वह वर्तमान देह छोड़कर पुनः जन्मग्रहण नहीं करता, मुझे ही प्राप्त हो जाता है। मेरे अलौकिक जन्म, चेष्टितके यथार्थ ज्ञानसे समस्त मेरे समाश्रयणके विरोधी पाप नष्ट हो जाते हैं, प्राणी मुझे सर्वथा प्राप्त कर लेता है।

प्राकट्यके विषयमें विभिन्न अभिमतोंकी मीमांसा और निष्कर्ष

इन पूर्वोक्त श्लोकों और व्याख्यानोंसे यह स्पष्ट है कि भगवान्का सगुण, साकार, सच्चिदानन्द स्वरूप बनता है। प्रपंच-सत्यत्ववादी लोग तो भगवान्का साकार विग्रह उनकी लीलाशक्तिसे मानते ही हैं। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि दिव्य अचित् तत्त्वसे भगवान्का विग्रह बनता है और अनेक लोग यह मानते हैं कि चिदानन्द तत्त्व ही साकार विग्रहवान् होकर प्रकट होता है। अद्वैत वेदान्तके अनुसार एक पक्षमें विशुद्धसत्त्व ही से भगवान्का विग्रह बनता है, उसीको माया भी कहा जा सकता है। इसी दृष्टिसे भगवान्के विग्रहको मायामय भी कहा जाता है। 'भागवत' में कहा गया है कि प्रभो! आप प्राणियोंके कल्याणके लिये विशुद्ध सत्त्वका समाश्रयण करते हैं—**'सत्त्वं विशुद्धं श्रयते भवान् स्थितौ'** (श्रीमद्भागवत १०।२।३४) यह भी कहा गया है कि यदि आप विशुद्ध सत्त्वमय विग्रह न धारण करते तो अज्ञानका भेदन करनेवाला अपरोक्ष ज्ञान ही न उत्पन्न होता। सर्वेन्द्रियों तथा अन्तःकरण-वृत्तियोंके भासक रूपमें आत्माका बोध हो सकनेपर भी निष्प्रपंच, निरुपद्रव, सर्वभेदविवर्जित, स्वप्रकाश, निरावरण तत्त्वका अपरोक्ष साक्षात्कार होना दुर्लभ होता, परंतु आपके सगुण, साकार विग्रहका ध्यान करनेसे चित्तकी एकाग्रता, निर्वृत्तिकता होनेसे द्रष्टा-दर्शन-दृश्य-भेदशून्य, सर्वाभावभासक, अखण्ड, अद्वैततत्त्वका बोध हो जाता है—

सत्त्वं न चेद्धातरिदं निजं भवेद्
विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनम्।
गुणप्रकाशैरनुमीयते भवान्
प्रकाशते यस्य च येन वा गुणः॥

(श्रीमद्भा० १०।२।३५)

भगवान्का विग्रह भगवदिच्छामय है, इस पक्षमें भी विशुद्ध सत्त्व ही भगवान्की इच्छा है—

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।
नेशे महि त्ववसितुं मनसान्तरेण
साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।२)

कुछ लोग कहते हैं कि भक्तकी भावना ही भगवान् है। भक्तकी भावना बहुत प्रधान है, भक्त-भावनाके अनुसार भगवान् अपना रूप बनाते हैं, केवल भावना ही भगवान् नहीं है—

यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय॥

(श्रीमद्भा० ३।९।११)

अर्थात् भक्त लोग भक्तियुक्त प्रज्ञासे आपके जैसे-जैसे रूपकी भावना करते हैं, आप वैसा-ही-वैसा स्वरूप धारण कर लेते हैं। विशुद्ध सत्त्व एवं लीलाशक्तिके योगसे निर्विकार, निराकार परमात्मा ही साकार होकर प्रकट होते हैं। जैसे जलके बर्फ बननेमें शैत्य निमित्त होता है, वैसे ही निराकार, निर्विकार परमात्माके साकार होनेमें विशुद्ध सत्त्व निमित्त होता है। दूसरे पक्षका सिद्धान्त यह है कि कूटस्थ, निर्विकार शुद्ध परमात्मा ही देहवान्-सा प्रतीत होता है, वस्तुतः देहदेहिभाव है ही नहीं। कृष्णचन्द्रका जन्म, कर्म सब कुछ दिव्य है अर्थात् सब कुछ विशुद्ध ब्रह्म ही है, ब्रह्मसे अतिरिक्त और कोई भी वस्तु नहीं है। भगवान्की अचिन्त्य शक्ति अन्यान्य प्रापंचिक शक्तिसे विलक्षण परम शुद्ध होनेपर भी अनिर्वचनीयता-अंशमें समान ही है। इस तरह अद्वैत-सिद्धान्तकी सुरक्षाके साथ-साथ ही भगवान्का सगुण, साकार स्वरूप भी सिद्ध हो जाता है। सर्वथापि भगवान्के अवतारमें अवान्तर मतभेद होनेपर भी किसी सनातनधर्मीको विवाद नहीं है। भगवान् भाष्यकार शंकराचार्य तो अपने 'प्रबोधसुधाकर' नामक ग्रन्थमें बड़े समारोहसे सगुण-निर्गुणका ऐक्य कहते हैं। उन्हीं आचार्यचरणोंने बदरीनारायण, हृषीकेश (भरतजी) आदि अनेक मूर्तियोंकी स्थापना की है। अद्वैत-सम्प्रदायके अनेक आचार्योंने सगुण, साकार भगवान्के स्वरूपका समर्थन किया है। अतः यह कथन कथमपि संगत नहीं है कि निराकार ब्रह्म साकार नहीं हो सकता।

निर्गुण या सगुण

ध्याता, ध्यान और ध्येय

श्रीभगवान्के स्वरूपमें अन्तरात्मा और अन्तःकरणके आकर्षित हो जानेपर सहजमें ही प्रत्यक् चैतन्याभिन्न अखण्डानन्द स्वरूपका साक्षात्कार हो जाता है। श्रीकपिलदेवजीने अपनी माँ श्रीदेवहूतिजीको प्रथम असंग, अनन्त, निराकार, निर्गुण परमतत्त्वका सम्यक् उपदेश करनेके अनन्तर उसमें स्थितिके लिये सगुण स्वरूपका वर्णन करके उसके ध्यानकी परमावश्यकता बतलायी है। अति मधुर सुन्दर भगवान्के स्वरूपमें चित्त जैसे-जैसे अधिक आकर्षित होता है, वैसे-ही-वैसे उसकी निर्मलता और स्वच्छता बढ़ती है एवं चित्तके अधिकाधिक स्वच्छ होनेपर प्रभुस्वरूपमें चित्तकी और अधिक आसक्ति होती है। जैसे अयस्कान्त मणि (चुम्बक)-में स्वच्छ लौहका अत्यधिक आकर्षण होता है, वैसे ही अमलान्तरात्माका भगवत्स्वरूपमें अत्यधिक आकर्षण होता है। प्रेमानन्दके उद्रेकमें मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और सर्वांगका शैथिल्य तथा नैश्चल्य हो जाता है। लौकिक प्रेममें भी वाङ्निरोध, कण्ठावरोध आदि देखा ही जाता है। फिर अलौकिक भगवान्के प्रेमानन्दमें सर्वकरण-शैथिल्य तथा नैश्चल्य होना भी श्रीभरत और रामके सम्मिलनमें प्रसिद्ध ही है—

परम पेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥
कोउ किछु कहइ न कोउ किछु पूँछा। प्रेम भरा मन निज गति छूँछा॥

(रा०च०मा० २।२४१।२; २४२।७)

इस तरह भगवान्के मधुर मुखचन्द्र तथा श्रीचरणारविन्दकी दिव्य नखमणि-चन्द्रिकाओंमें मनको एकाग्र करनेसे मन भी प्रेमोन्मादमें विह्वल हो उठता है। प्रथम बाह्य विषयोंसे मनको हटाकर अनन्त-कोटि सूर्यके दिव्य-प्रकाशको तिरोहित करनेवाले श्रीभगवान्के परम प्रकाशमय मनोहर श्रीअंग और दिव्यातिदिव्य

भूषण-वसन तथा सांगोपांग परिकरादिका चिन्तन किया जाता है। पश्चात् प्रेम और अनुरागकी वृद्धिमें श्रीचरणारविन्द या अमृतमय मुखचन्द्रमें ही मनकी एकाग्रता सम्पादन की जाती है। प्रेम-प्राखर्यमें मनकी इतनी शिथिलता होती है कि परम मधुर भगवान्से भिन्न वस्तुके चिन्तनकी तो चर्चा ही क्या? साक्षात् श्रीभगवान्के अनन्त कोटि चन्द्रसागर-सार-सर्वस्व निष्कलंक पूर्णचन्द्रकी मधुर दीप्तिको लजानेवाले सुस्मित मुखचन्द्रको ग्रहण करनेमें भी वह असमर्थ हो जाता है। इस तरह सर्व प्रपंचोंसे हटकर अपने ध्येयमें स्थित मनको जब ध्येय-ग्रहणमें भी सामर्थ्य न रहा, तब जो वेदान्तवेद्य सच्चिदानन्द भगवान् अभीतक ध्येयरूपमें स्थित थे, वे ही अब ध्येय-ध्यान-ध्याता और उन तीनोंके अभावके प्रकाशरूपसे अभिव्यक्त होते हैं। ध्याता-ध्यान-ध्येय, प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय आदि त्रिपुटियोंका ऐसा स्वभाव है कि इनमें एकके मिटनेसे तीनों ही मिट जाते हैं।

एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे।
त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः॥

(श्रीमद्भा० २।१०।९)

ध्येय न रहनेपर ध्यान भी नहीं रहता; क्योंकि ध्येयाकार मानसी वृत्तिको ही ध्यान कहा जाता है और ध्यानरूपा वृत्तिके आश्रय अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यको ही ध्याता कहा जाता है। अतः जब ध्यान नहीं, तब ध्यानका आश्रयभूत ध्याता भी नहीं उपलब्ध होता है और ध्याता तथा ध्यानके न होनेपर ध्याताके ध्यानका विषयीभूत ध्येय भी कैसे उपलब्ध हो सकता है। इस तरह जो सर्वावभासक भगवान् अभी ध्येय-रूपसे स्थित थे, वे ही किसी समयके सर्वभावभासक तथा इस समय सर्वाभावके भासकरूपसे अभिव्यक्त हो जाते हैं। इस तरह प्रभुके अमृतमय मुखचन्द्रके माधुर्यामृत-सौन्दर्यामृतपानसे उन्मत्त मनकी शिथिलता और निश्चलता होते ही ध्यान-ध्येय-ध्याताके भाव तथा अभावके भासक शुद्ध प्रत्यङ्ङन्तरात्मा स्वरूपसे अनन्त अखण्ड व्यापक आनन्दघन भगवान् प्रकट हो जाते हैं। इस तरह सहजमें ही भगवान् अपने ही मधुर स्वरूपमें मनको खींचकर और अपने माधुर्य सौन्दर्यामृत-पानसे मनको विभोरकर, त्रिपुटी मिटाकर, सर्वाभावभासक शुद्ध सच्चिदानन्दरूपमें प्रकट होकर भक्तको सदाके लिये कृतार्थ कर देते हैं।

भागवतके द्वितीय स्कन्धमें भी विराट् आदि भगवान्के स्थूलरूपके ध्यानके अनन्तर अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड-नायक प्रभुकी मधुर मंगलमयी मूर्तिका ध्यान बताया गया है। चित्तकी पूर्ण एकाग्रता होनेपर भगवान्के अखण्ड, अनन्त, स्वप्रकाश बोधस्वरूपका साक्षात्कार ध्यान कहा गया है। उक्त स्वरूपमें दृढ़ निष्ठाके लिये पुनः-पुनः भगवान्के मधुर स्वरूपके श्रीचरणोंका पुनः-पुनः ध्यान और अनुरागसहित परिरम्भण कहा गया है—'**हृदोपगुह्यार्हपदं पदे पदे॥**' (श्रीमद्भा० २।२।१८) भगवान्के अचिन्त्य, अनन्त, मधुर मंगलमय स्वरूपमें प्रेम और भजन सर्वसाधन तथा सर्वफल स्वरूप है। अतएव इसमें साधक तथा सिद्ध दोनोंकी ही प्रवृत्ति होती है—

साधन सिद्धि राम पग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू॥

(रा०च०मा० २।२८९।८)

प्रभुके श्रीचरणारविन्द-सौगन्ध्यामृत-सिन्धुके एक बिन्दुके समास्वादन करनेसे सनकादि, शुकादि-जैसे ब्रह्मनिष्ठ महामुनीन्द्र भी मुग्ध हो जाते हैं—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
सङ्क्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥

(श्रीमद्भा० ३।१५।४३)

अतएव श्रीजनकजी-जैसे विदेह तत्त्वनिष्ठोंकी यह अनुभूतियाँ हैं—

सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

(रा०च०मा० १।२१६।३, ५)

ठीक ही है, तभी तो कहा जाता है कि अमलान्तरात्मा परमहंस महामुनीन्द्रोंको भक्तियोगका विधान करनेके लिये ही अदृश्य, अग्राह्य, अचिन्त्य अव्यपदेश्य भगवान् अद्भुत सौन्दर्य-माधुर्य-सुधा-जलनिधि दिव्यमूर्ति धारण करते हैं। अन्यथा छोटे कार्योंके लिये ब्रह्मका अवतार वैसा ही है, जैसा मच्छर हटानेके लिये तोपका प्रयोग; परंतु समस्त नामरूप-क्रियात्मक प्रपंचसे व्यावृत्तमनस्क अमलात्मा परमहंसोंको भजनानन्द प्रदान करनेके लिये प्रभुका दिव्य स्वरूप धारण परमावश्यक है।

दिव्य स्वरूप-धारणका प्रयोजन

अद्वैत-ब्रह्मनिष्ठ परमहंसोंको भक्तियोग प्रदानकर उन्हें श्रीपरमहंस बनाना यही प्रभुके प्राकट्यका मुख्य प्रयोजन है। जैसे मिश्रित क्षीर-नीरका हंस विवेचन करता है, वैसे सांख्यसिद्धान्तके अनुसार प्रकृति प्राकृत-प्रपंचसे पृथक्, असंग अनन्त चेतनतत्त्वका विवेचन करनेवाले हंस कहे जा सकते हैं; परंतु वेदान्त-सिद्धान्तके अनुसार तो दृक्, दृश्य, आत्मा, अनात्मा या परात्पर पूर्णतम सर्वभासक भगवान् और प्रकृति प्राकृत-प्रपंचका ऐसा सम्बन्ध है, जैसे मुक्ताहार और उसमें कल्पित सर्पका। अर्थात् सत्य एवं अनृतका जैसे आध्यासिक सम्बन्ध है, वैसे ही दृश्य प्रकृति और उसके भासक एवं अधिष्ठानभूत भगवान्का आध्यासिक सम्बन्ध है। अत: सत्य एवं अनृतके विवेचनसे जैसे सत्य ही अवशिष्ट रहता है, अनृतका सर्वथा अभाव हो जाता है, वैसे ही दृक्-दृश्यका भी विवेचन करनेपर अनृतस्वरूप दृश्य प्रकृतिका अभाव हो जाता है, केवल सर्वदृक् भगवान्का अवशेष रह जाता है।

ऐसे वेदान्तसिद्धान्तानुसार सत्यानृतरूप क्षीर-नीरका विवेचनकर नीरस्थानीय दृश्यको मिटाकर परम सत्य भगवान्में ही स्थित होनेवाले परमहंस कहे जा सकते हैं; परंतु—'**नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।**' (श्रीमद्भा० १।५।१२) '***सोह न राम पेम बिनु ग्यानू।***' (रा०च०मा० २।२७७।५) इत्यादि अभियुक्तोक्तियोंके अनुसार विदित होता है कि बिना भगवान्के मधुर मंगलमय स्वरूपमें पूर्णानुराग हुए उच्च ज्ञान भी सुशोभित नहीं होता। अत: भक्तियोगसे ज्ञानको सुशोभित करके परमहंसोंको श्रीपरमहंस बना देना ही प्रभुके मधुर मंगलमय स्वरूप धारण करनेका मुख्य प्रयोजन है; क्योंकि भजनीयके बिना भक्तियोग बन ही नहीं सकता। भगवत्तत्त्वसे भिन्न प्रपंच जिनकी दृष्टिमें है ही नहीं, उनका भजनीय सिवा भगवान्के और क्या हो सकता है।

रहा भगवान्का अचिन्त्य अनन्त अव्यपदेश्य निराकारस्वरूप, सो उस स्वरूपमें तो वे परिनिष्ठित ही हैं। महावाक्यजन्य परब्रह्माकार वृत्तिके साथ ब्रह्मका सम्बन्ध जानकर मन, बुद्धि एवं सर्वेन्द्रियाँ तथा रोम-रोम भी प्रभुके साथ सम्बन्धके लिये लालायित होते हैं। इन्द्रियाँ स्वयम्भूसे पराङ्मुख रची जाकर अपना हिंसन किया जाना इसीलिये समझती हैं कि उन्हें उनके प्रियतमसे बहिर्मुख कर दिया गया है—'**पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः**'। (कठ० २।१।१)

महर्षि वाल्मीकि आदिकवि भी यही कहते हैं कि जिसने श्रीरामचन्द्रको स्नेहभरी दृष्टिसे नहीं देखा और श्रीरामचन्द्रने अनुकम्पाभरी दृष्टिसे जिसे नहीं देखा, वह सर्वलोकमें निन्दित है और उसकी स्वात्मा भी उसकी विगर्हणा करती है—

यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति।
निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हते॥

(वा०रा० २।१७।१४)

जैसे कमलनयन पुरुषके वे अतिशोभन नयन व्यर्थ हैं, जिनका रूप-दर्शनमें कभी उपयोग न हुआ, वैसे ही ज्ञानीके भी प्रारब्ध-भोगपर्यन्त अनिवार्य रूपसे रहनेवाले देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकारादि व्यर्थ और नीरस ही हैं, यदि इन सबका सदुपयोग प्रभुके सौन्दर्य-माधुर्य-सौरस्यामृत आदिके समास्वादनमें न हुआ।

करणग्रामोंकी सार्थकता किसमें ?

इसीलिये श्रीव्रजांगनाओंने भी कहा है कि नेत्रवानोंके नेत्रादि करण-ग्रामोंकी सार्थकता और इनका चरम फल यही है कि श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके अनुरागभरे कटाक्षपातसे युक्त वेणुचुम्बित अमृतमय मुखचन्द्रके सौन्दर्य-माधुर्यामृतका निर्निमेषनयनोंसे पान किया जाय; घ्राणसे सौगन्ध्यामृत और त्वक्से सुस्पर्शामृतका आस्वादन किया जाय, अन्यथा इन करणग्रामोंका होना बिलकुल व्यर्थ ही है—'**अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः।**' (श्रीमद्भा० १०।२१।७) इस प्रकार अन्तरात्मा, अन्तःकरण, प्राण, इन्द्रिय, देह तथा रोम-रोमको अपने दिव्यरससे सरस और मंगलमय बनानेके लिये ज्ञानीके निर्वृत्तिक मनपर अविषय रूपसे प्रकट वही वेदान्त-वेद्य सच्चिदानन्दघन भगवान्, अनन्तकोटि कन्दर्पके दर्पको दूर करनेवाले दिव्य सौन्दर्य-माधुर्य-जलनिधि मधुरातिमधुर स्वरूपसे प्रकट होकर अपने स्नेहद्वारा भावुकके द्रवीभूत अन्तःकरणको अपने रंगमें रँग देते हैं। यद्यपि सर्वोपाधिविनिर्मुक्त ब्रह्म निरतिशय परप्रेमास्पद और परमानन्दरूप है, उससे अधिक प्रेमास्पदता और परमानन्दरूपताकी कल्पना कहीं नहीं हो सकती; तथापि जबतक प्रारब्धका अवशेष है, तबतक ज्ञानीको भी अन्तःकरणरूप उपाधिपर ही ब्रह्मका दर्शन होता है। अन्तःकरणसे ब्रह्मदर्शन वैसा ही समझना चाहिये जैसे नेत्रसे सूर्यदर्शन। परंतु जैसे दूरवीक्षण यन्त्रकी सहायतासे नेत्र द्वारा सूर्यका अति दिव्य स्पष्ट स्वरूप दिखायी देता है, वैसे ही दिव्य लीला-शक्तिसे वही भगवत्तत्व जब परम मनोहर सगुण-रूपमें प्रकट होता है, तब अन्तःकरणसे उसमें विलक्षण चमत्कार अनुभूत होता है।

परंतु प्रारब्ध-क्षय हो जाने, सर्वोपाधियोंके मिटने तथा साक्षात् सूर्यरूप हो जानेपर जो सूर्यको आत्मरूप उपलब्ध होता है, वह तो सर्वथा ही अनुपमेय है। जैसे श्रीवृषभानुनन्दिनी दर्पणमें अपने मुखचन्द्रकी मधुरिमाका अनुभव करती हैं। अस्वच्छ दर्पण आदिकी अपेक्षा स्वच्छ आदर्शपर किंवा श्रीकृष्णके वक्षःस्थलपर उन्हें अपने मुखचन्द्रकी मधुरिमा अधिक भासित होती है, परंतु उनके मुखचन्द्रका जो मुख्य माधुर्य है, वह तो उनके अन्तरात्मभूत प्रियतम श्रीकृष्णको ही विदित हो सकता है। किंचित् भी व्यवधान रहनेपर रसास्वादनमें कमी ही रहती है, अतएव भावुकोंका कहना है कि यदि मधुर रूपमें ही चक्षु हो, तभी रूप-माधुर्यका और यदि पुष्पमें ही घ्राण हो, तब ठीक सौगन्ध्यका आस्वादन हो सकता है। यह बात तो ठीक यहीं घटती है कि परमानन्द-सारसर्वस्व श्रीकृष्ण ही अपनी मधुरिमा (माधुर्याधिष्ठात्री श्रीवृषभानुनन्दिनी)-का अनुभव करते हैं। वैसे ही काल्पनिक भेदसे ज्ञानी अपने स्वरूपभूत भगवान्के मधुर रूपका अनुभव करते हैं। यद्यपि वस्तु वही है तथापि अचिन्त्य दिव्य लीला-शक्तिके अद्भुत प्रभावसे ज्ञानियोंका भी मन प्रभुके इस मधुर स्वरूपमें बलात् आकर्षित हो जाता है। जैसे फल, वृक्ष, अंकुर, बीज यद्यपि भूमिके ही स्वरूप-विशेष हैं तथापि फलमें भूमि, बीज, अंकुर, वृक्ष इन सभीकी अपेक्षा विलक्षण सौन्दर्य-माधुर्य-सौगन्ध्य-सौरस्य होता है एवं गुलाबके बीज या नालमें जैसे शाखा-उपशाखा, कण्टक-पत्र आदिके उत्पादन करनेकी शक्ति है, वैसे ही पुष्पके उत्पादन करनेकी शक्ति है, परंतु कण्टकादि-उत्पादिनी शक्तिकी अपेक्षा सौगन्ध्य-माधुर्य-सौन्दर्य-सम्पन्न पुष्प उत्पादन करनेकी शक्ति विलक्षण है, वैसे ही भगवान्की महाशक्तिमें भी प्रपंचोत्पादिनी शक्ति है और उससे परम विलक्षण परात्पर पूर्णतम भगवान्की स्वरूपभूत मधुर मनोहर मंगलमयी मूर्तिका प्रादुर्भाव करनेवाली शक्ति भी है। उसी अचिन्त्य दिव्य लीला-शक्तिके योगसे निराकार भगवान् उसी तरह साकार होते हैं, जैसे शैत्यके योगसे निर्मल जल बर्फरूपमें अथवा संघर्ष-विशेषसे अव्यक्त अग्नि या विद्युत् दाहक और प्रकाशक-रूपमें व्यक्त होता है। निराकार ब्रह्मकी अपेक्षा भी भगवान्की मधुर मूर्तिमें वैसे ही चमत्कार भासित होता है।

परमानन्दघन ब्रह्म अद्भुत रसमय है

इक्षु (ईख)-दण्ड और चन्दन-वृक्ष ही मधुर और सुगन्धित होते हैं। यदि कदाचित् इक्षुमें सुमधुर फल और चन्दन-वृक्षमें अति-सुन्दर और सुगन्धित पुष्प प्रकट हों तो उनकी मधुरता और सौगन्ध्यकी जितनी ही बड़ाई की जाय उतनी ही कम है। इसी तरह अनन्त ब्रह्माण्डान्तर्गत आनन्दबिन्दुका उद्‌गमस्थान अचिन्त्य अनन्त परमानन्दघन ब्रह्म ही अद्भुत रसमय है। फिर उसके फलरूप मधुर मंगल स्वरूपमें कितना चमत्कार हो सकता है, यह सहृदय ही जान सकते हैं। इक्षुरससार शर्करासिता आदिका सार जैसे कन्द होता है, वैसे ही औपनिषद परब्रह्म-रससार भगवान्‌का मधुर मनोहर सगुण स्वरूप है। तभी किसीने श्रीकृष्णको देखकर कल्पना की थी कि क्या यह श्रीव्रजांगनाओंका प्रेमरससार-समूह है अथवा सात्वतवृन्दका मूर्तिमान् सौभाग्य है, किंवा श्रुतियोंका गुप्तवित्त ब्रह्म ही श्यामल मोहमयी मूर्तिको धारण करके प्रकट हुआ है—

पुञ्जीभूतं प्रेम गोपाङ्गनानां मूर्तीभूतं भागधेयं यदूनाम्।
एकीभूतं गुप्तवित्तं श्रुतीनां श्यामीभूतं ब्रह्म मे सन्निधत्ताम्॥

इसी तरह—

शृणु सखि कौतुकमेकं नन्दनिकेताङ्गणे मया दृष्टम्।
धूलीधूसरिताङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः॥
परमिममुपदेशमाद्रियध्वं निगमवनेषु नितान्तखेदखिन्नाः।
विचिनुत भवनेषु वल्लवीनामुपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम्॥

कुछ महानुभाव निगमाटवीके ब्रह्मतत्त्वान्वेषकोंके परिश्रमपर दयार्द्र होकर उनके अन्वेष्टव्य ब्रह्मको यशोदाके उलूखलमें बँधा हुआ बतला रहे हैं तो कुछ श्रीमन्नन्दरायके प्राङ्गणमें धूलिधूसरित वेदान्तसिद्धान्तके नृत्यका कौतुक बता रहे हैं। परम कौतुकी प्रभुमें ये सभी कौतुक ही तो हैं। इतनेपर भी लोगोंके प्रश्न होते हैं कि निराकार भगवान् साकार कैसे हो सकते हैं, परंतु इस ओर उनका ध्यान नहीं जाता कि जब कौतुकी कृपालुकी लीलासे निराकार जीव साकार होता है; क्योंकि सर्वमतसे जीव निराकार तथा निरवयव है और स्पर्शविहीन आकाश स्पर्शयुक्त वायुके रूपमें तथा रूपरहित वायु रूपवान् तेजके रूपमें और रसगन्धविहीन तेज जलके रूपमें और रसयुक्त जल गन्धवती पृथ्वीरूपमें अवतीर्ण होता है, तब क्या वे निराकार होकर भी साकार रूपमें प्रकट नहीं हो सकते?

द्रुतचित्तपर भगवान्‌का प्राकट्य ही भक्ति है

भावुकके द्रुतचित्तपर निखिल-रसामृत-मूर्ति भगवान्‌का प्राकट्य ही 'भक्ति' पदका अर्थ होता है। आशय यह है कि अन्तःकरण लाक्षा (लाख)-के समान कठिन द्रव्य है, परंतु तापक अग्निके साथ सम्बन्ध होनेसे जैसे लाक्षा पिघलती है, वैसे ही स्नेह-रागादि तापक भावोंके साथ सम्बन्ध होनेसे अन्तःकरण भी पिघलता है। यही कारण है कि रागास्पद कामिनी तथा द्वेषास्पद सर्पादि पदार्थोंको ग्रहण करता हुआ चित्त पिघलकर अपनेमें उन पदार्थोंके स्वरूपोंको अंकित कर लेता है। इसीलिये उनका विस्मरण न होकर पुनः-पुनः स्मरण होता है। उसे तृण आदिकी स्मृति इसीलिये कम होती है कि उनमें राग-द्वेष या भय आदि नहीं हुए। अतः चित्तकी द्रुति वहाँ नहीं हुई। भावुकोंका कहना है कि लाक्षा जबतक कम पिघली होती है, तबतक उसमें कोई रंग व्यापक और स्थिर नहीं होता, अतः तापक अग्निके सम्बन्धसे लाक्षा इतनी पिघलायी जाय कि सौ पर्तके कपड़ेमें छानने-लायक हो जाय। तब गंगाजलके समान निर्मल और द्रवीभूत उस लाक्षामें जो रंग छोड़ा जाय, वह लाक्षाके अणु-अणुमें, सर्वांशमें व्यापक तथा स्थिर होता है, फिर चाहे लाक्षा भी चाहे कि मैं अपनेसे रंगको पृथक् कर दूँ या रंग ही चाहे कि मैं पृथक् हो जाऊँ, परंतु दोनों ही पृथक् होनेमें असमर्थ हैं। ठीक इसी तरह भगवद्विषयक राग आदिसे गंगाजलके समान निर्मल और द्रवीभूत चित्तमें परमानन्दघन भगवान्‌का प्राकट्य होनेपर फिर पिघलती हुई लाक्षामें रंगकी तरह सर्वांशमें व्यापक तथा स्थिर रूपसे भगवान्‌की स्थिति होती है। फिर तो भावनाके प्रभावसे अपरिच्छिन्न अनन्त आन्तर

रसकी अभिव्यक्ति अन्त:करण प्राण तथा रोम-रोममें सर्वत्र फैल जाती है और आन्तर तथा बाह्य रूपसे सर्वथा ही भगवान्‌का अनुभव होने लगता है।

अपने प्रियतम भगवान्‌के स्वरूपमें होनेवाले तीव्र राग और उनके विरह-व्यथामय तीव्र तापसे भावुकके गुणमय सर्व कोशोंका भस्मीभाव हो जाने और भावनामय भगवत्-सम्मिलनसौख्य रससे मन, प्राण, इन्द्रिय, देह तथा रोम-रोमके आप्यायन होनेपर बाह्य-आभ्यन्तर—सर्वरूपसे भगवत्तत्त्वका अवगाहन होता है।

इस तरह जब अनिमित्ता भागवती भक्ति गुणमय कोशोंको जला देती है, तभी निरुपाधिक एवं निरावरण होकर भावुक अपने भगवान्‌से मिल सकता है। भगवद्विरह-व्यथा-तापमयी भक्तिसे जिसके अन्नमयादि पंचकोशरूप त्रिविध तनु नहीं तप्त हुए, वे परमतत्त्वामृतके समास्वादनके अधिकारी नहीं हो सकते। यही '**अतप्ततनुर्न तदामोऽश्नुते**' इस श्रुतिका आशय है। '**तपसा कृच्छ्रा-दिना भगवद्विरहजन्यतीव्रतापेन शक्तिपरिणामभूतेन ज्ञानाग्निना वा न तप्ता तनुर्यस्य स तत् परमात्म-तत्त्वामृतं नाश्नुते।**' कृच्छ्रादि तप, भगवद्विरह-जन्य तीव्र ताप और भक्तिके परिणामभूत ज्ञानाग्निसे जिनके स्थूल, सूक्ष्म, कारण—ये तीनों तनु नहीं संतप्त हुए, वे परमतत्त्वका आस्वादन कैसे कर सकते हैं? इसीलिये अनिमित्ता भागवती भक्तिको सिद्धिसे भी श्रेष्ठ कहा जाता है।

जैसे निगीर्ण अन्नको जाठराग्नि पचा डालती है, वैसे ही अनिमित्ता भक्ति पंचकोशोंको जीर्ण कर देती है—

अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा॥

(श्रीमद्भा० ३। २५। ३३)

भक्ति ही ज्ञानरूपमें परिणत होकर मूल अविद्याका भी विध्वंस करती है। भट्टोजिदीक्षित '**क्लृपि संपद्यमाने च**' इस वार्तिकके उदाहरणरूपमें कहते हैं—'**भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते, ज्ञानाकारेण परिणमते।**'

भक्त और भगवान्‌का अभिन्न सम्बन्ध

श्रीमद्भागवतके माहात्म्यमें ज्ञान, वैराग्य—ये श्रीभक्तिके ही पुत्र बतलाये गये हैं। ज्ञान, भगवत्प्राप्ति, मुक्ति आदि यद्यपि भक्तिके फल हैं तथापि फलकी अपेक्षा साधनमें ही अधिक प्रीति युक्त होती है। यद्यपि धनका फल भोग, धर्म, मोक्ष ही है तथापि लोभी धनके संग्रह और रक्षाके सामने भोग, धर्म, मोक्ष इन सभी पुरुषार्थोंको तिलांजलि दे देते हैं; क्योंकि उनकी यही दृढ़ धारणा है कि यदि साधन है, तब सब साध्य सहजमें ही सिद्ध हो सकते हैं। माता योग्य पुत्रकी उत्पत्तिसे ही सौभाग्यवती समझी जाती है और पुत्र माताकी भक्तिसे ही सौभाग्यवान् होता है। अत: जहाँ ज्ञान, भक्तिका फल है, वहाँ भक्ति, ज्ञान तथा ज्ञानियोंकी भी परम पूज्य एवं भजनीय देवता है। द्रवीभूत लाक्षामें एकमेक हुए रंगकी तरह भक्तके प्रेमार्द्र हृदयमें एकमेक हुए भगवान् यदि चाहें तो भी पृथक् नहीं हो सकते—

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा-
द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः
स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥

(श्रीमद्भा० ११। २। ५५)

बरबस भी जिनके मंगलमय नामसे बड़ी-से-बड़ी पापराशि नष्ट हो जाती है, ऐसे परम-स्वतन्त्र सर्वशक्तिसम्पन्न भगवान् जिसके अन्त:करणमें स्नेहार्द्रतारूप प्रणयपाशमें बँधकर निकल न सकें, वही प्रधान भागवत होते हैं। तभी तो किसी प्रेमीने रागसे पिघले हुए अपने अन्त:करणमें उसी द्रवावस्थारूप प्रणयपाशसे प्रभुको बाँधकर उनकी सर्वज्ञता सर्वशक्तिमत्ता-महाशक्तिको भी कुण्ठित करके नि:शंक होकर कहा है—'अच्छा, यदि आप मेरे हृदयसे निकल सको तो मैं आपके पौरुषको समझूँ'—

हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि चेद्यासि पौरुषं गणयामि ते॥

ऐसे ही भक्त भगवान्‌को यदि अपने हृदयसे पृथक् करना चाहे तो भी नहीं कर सकता। इसीलिये तो व्रजांगना श्रीकृष्णसे अपना मन हटानेके लिये उनमें दोषानुसन्धान करती हैं—'हे सखि! असितों (कालों)-से सख्य नहीं ही करना चाहिये, परंतु क्या करें; श्यामसुन्दर श्रीव्रजेन्द्रनन्दनकी कथा और कथार्थ तो हमलोगोंके लिये दुस्त्यज ही है।' एक सखी श्रीकृष्ण-प्रेममें मूर्च्छित अपनी प्रियतमा सखीके उपचारमें लगी हुई थी। इतनेमें ही दूसरी सखी आकर कृष्णकी कुछ चर्चा चलाने लगी। उपचारमें लगी हुई सखी वारण करती हुई कहती है—

सन्त्यज सखि तदुदन्तं यदि सुखलवमपि समीहसे सख्याः।
स्मारय किमपि तदितरद्विस्मारय हन्त मोहनं मनसः॥

हे सखि! यदि अपनी प्रिय सखीको विश्रान्ति लेने देना चाहती है तो यहाँ उन (श्रीव्रजराजकुमार)-की चर्चा न चला, परंतु किसी और बातकी याद दिलाकर किसी तरह मनमोहनको इसके मनसे भुला दे।

महामुनीन्द्रगण बाह्य विषयोंसे मनको हटाकर श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दमें मन लगाना चाहते हैं, किंतु ये व्रजदेवियाँ अपने मनमोहन श्रीकृष्णसे मन हटाकर अन्य विषयोंमें लगाना चाहती हैं। योगीन्द्रगण अपने हृदयमें जिसके स्मृति-लेशके लिये लालायित हैं, उन्हीं सर्वप्राणि-परप्रेमास्पद जीवनधन प्रभुको वे हृदयसे निकालना चाहती हैं। ठीक ही है, पूर्ण द्रवीभूत लाक्षा और उसमें स्थायिभावापन्न रंग, इन दोनोंका इतना अद्भुत घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है कि दोनोंका ही परस्पर पृथक् होना असम्भव है। उसी तरह भगवद्भावनासे द्रवीभूत अन्तःकरणपर भगवान्‌की स्थायिभावापत्ति होनेसे फिर परस्परका पार्थक्य असम्भव हो जाता है। यद्यपि जीवका भगवान्‌के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध इससे भी बहुत अधिक घनिष्ठ है, जैसे तरंगोंकी समुद्रके बिना स्थिति ही नहीं, वैसे भगवान्‌के बिना जीवकी सत्ता ही नहीं।

सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा॥

(रा०च०मा० ७।१११।६)

भगवान्‌का स्वरूप ही प्रेम है

तथापि स्वरूप-साक्षात्कारके पहले यह स्वाभाविकी निरतिशय निरुपाधिक प्रीति असम्भव है, अतः भगवान् और उनमें स्वाभाविकी प्रीति ये सभी उस द्रवावस्थारूप प्रणयके ही पराधीन हैं। इसीलिये किसी महानुभावने कहा है कि—

अहो चित्रमहो चित्रं वन्दे तत्प्रेमबन्धनम्।
यद्बद्धं मुक्तिदं मुक्तं ब्रह्म क्रीडामृगीकृतम्॥

अहो आश्चर्य! मैं तो उस प्रेमबन्धनका वन्दन करता हूँ, जिससे बँधकर सबको मुक्ति देनेवाला और स्वयं नित्यमुक्त ब्रह्म भी भक्तोंका खिलौना बन जाता है। वस्तुतः निरतिशय निरुपाधिक परप्रेमास्पद पूर्णतम पुरुषोत्तमका स्वरूप ही प्रेम है।

लोकमें यद्यपि प्रेम और उसका आश्रय एवं विषय ये तीनों पृथक् होते हैं तथापि अलौकिक दिव्य-प्रेममें तीनों ही एक हैं। अतएव '**आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।**' (बृहदारण्यक० २।४।५) इत्यादि वचनोंसे निरुपाधिक प्रेम और प्रेमास्पदका अभेद कहा गया है—***'प्रेमी प्रेम-पात्रनमें बतायी है अभेद वेद।'*** इसीलिये '**जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न। बंदउँ सीता राम पद**' (रा०च०मा० १।१८) इत्यादि वाक्योंसे महानुभावोंने मुख्य प्रेमी और प्रेमास्पद सीता और राममें अभेद कहा है। जैसे अमृत और उसकी मधुरिमाका अतिघनिष्ठ तादात्म्य-सम्बन्ध होता है, वैसे ही परमानन्दसुधासिन्धुसार-सर्वस्व श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्र और उनकी माधुर्याधिष्ठात्री परमाह्लादिनी हृदयेश्वरी श्रीजनकनन्दिनीका भी अत्यन्त घनिष्ठ स्वरूपभूत ही सम्बन्ध है अर्थात् सर्वान्तरंग एवं सर्वसे सन्निहितमें ही सर्वोत्कृष्ट सम्बन्ध होता है। अन्तरंगता और सान्निध्यकी समाप्ति या पर्यवसान-निरतिशयता प्रत्यगात्मामें ही होती है। अतः प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न भगवान्‌में ही प्राणियोंका मुख्य प्रेम होता है।

ज्ञानीजन परमार्थतः भगवान्‌को अपना अन्तरात्मा समझकर पुनः काल्पनिक भेदका अवलम्बन करके भगवान्‌को भजते हैं। '**पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे। तादृशी यदि भक्तिः स्यात् सा तु मुक्तिशताधिका॥**' पारमार्थिक अद्वैत और भजनके लिये द्वैत, बस इस भावनासे यदि भक्ति हो, तब तो यह भक्ति अपरिगणित मुक्तियोंसे भी श्रेष्ठ है; क्योंकि अद्वैत-प्रबोध बिना यह द्वैत सर्वानर्थका मूल ही है। राग, द्वेष, शोक, मोह—सबका प्रसव इस द्वैतसे ही होता है; परंतु बोध हो जानेपर भक्तिके लिये स्वमनीषाकल्पित द्वैत तो अद्वैतसे भी अति सुन्दर है—

द्वैतं मोहाय बोधात् प्राक् जाते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥

भगवान् निर्गुण भी हैं और सगुण भी। उनकी उपासना भेदभावना तथा अभेदभावना दोनों ही प्रकारसे हो सकती है। स्वयं श्रीमुखकी उक्ति है कि—

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥

(गीता ९। १५)

कोई भक्तियोगसे, कोई ज्ञानयोगसे मेरा यजन करते हुए उपासना करते हैं। कुछ लोग एकत्वभावसे और कुछ पृथकृत्वभावसे मुझ विश्वतोमुखकी उपासना करते हैं। ज्ञानी अत्यन्त निष्काम तथा निष्कपट होकर भगवान्‌को भजता है। अतएव '**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्**', (गीता ७। १८) '**एकभक्तिर्विशिष्यते**' (गीता ७। १७) इत्यादि स्थलोंमें श्रीभगवान्‌ने ही ज्ञानीको अपनेमें अनन्य प्रीतिमान और उसे निज अन्तरात्मा ही बतलाया है।

भगवद्भावापन्न भगवान्‌के अन्तरात्मस्वरूप ज्ञानीको भगवान्‌से भिन्न कोई वस्तु ही दृष्टिगोचर नहीं होती। इसीलिये मुक्तोपसृप्य भगवान्‌को प्राप्त कर लेनेसे मुक्तिकी भी स्पृहा मिट जाती है। अतएव—

न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥

(श्रीमद्भा० ११। २०। ३४)

ये भक्त उसी तरह कभी निर्विकल्प समाधिसे भगवान्‌के अंकमें उनके साथ एकमेक होकर विराजमान होते है और कभी श्रद्धाभक्तिसे भगवान्‌के श्रीचरणकमलके सौन्दर्य-माधुर्यादिका सेवन करते हैं, जिस तरह प्रेयसी कभी प्रियतमके अंकमें एवं वक्षस्थलपर यथेष्ट क्रीड़ा करती है और कभी सावधानीसे प्रियतमके पादपद्मका आराधन करती है।

प्रियतमहृदये वा खेलतु प्रेमरीत्या
पदयुगपरिचर्याम्प्रेयसी वा विधत्ताम्।
विहरतु विदितार्थो निर्विकल्पे समाधौ
ननु भजनविधौ वा तुल्यमेतद्द्वयं स्यात्॥

जैसे चतुरा नायिका प्रियतमके साथ एकमेक होकर भी व्यवहारमें अपने प्रियतमको चैलांचलके व्यवधान (घूँघट-पटकी ओट)-से ही देखती है।

बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सियँ सयननि॥

(रा०च०मा० २। ११७। ६-७)

ठीक वैसे ही ज्ञानी यद्यपि अपने निरतिशय निरुपाधिक प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न भगवान्‌के साथ सर्वथा एकमेक ही रहते हैं तथापि व्यवहारमें भेद-भावनासे ही अपने भगवान्‌की भक्ति करते हैं।

विश्वेश्वरोऽपि सुधिया गलितेऽपि भेदे
भावेन भक्तिसहितेन समर्चनीयः।
प्राणेश्वरश्चतुरया मिलितेऽपि चित्ते
चैलाञ्चलव्यवहितेन निरीक्षणीयः॥

अन्तरात्मा, अन्तःकरण, प्राण, इन्द्रियाँ तथा रोम-रोममें आन्तर-बाह्य सर्वरूपसे प्रभुका सुमधुर स्वरूप अनुभव करनेके लिये ही ज्ञानीजन भक्तियोगसे श्रीपरमहंस हो जाते हैं और वे ही शुद्ध प्रेमी होते हैं। अतः इनके लिये प्रभुका प्रादुर्भाव है। ऐसे ही शुद्ध-प्रेमियोंमें

श्रीव्रजांगना प्रभृति थीं, जिन्हें श्रीकृष्णके विरहमें एक क्षण भी सहस्रों युगके समान प्रतीत होते थे और श्रीकृष्णके सम्मिलनमें सहस्र कल्प भी क्षणहीके समान प्रतीत होते हैं। इस तरह जो प्रभुके बिना प्राण-धारण ही नहीं कर सकते, उनके लिये भी प्रभुका प्राकट्य होता है। इस शुद्ध तत्त्वनिष्ठ प्रेमीके लिये मुख्यरूपसे प्रभुका प्राकट्य होता है। फिर तो मुमुक्षुओंके लिये, किं बहुना प्राणिमात्रके कल्याणके लिये भी प्रभुका प्राकट्य होता है। इसी वास्ते तो श्रीशुकदेवजीने प्राणिमात्रके निःश्रेयसको ही प्रभु-प्राकट्यका प्रयोजन कहा है—'**नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप। अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥**' (श्रीमद्भा० १०।२९।१४) यहाँ '**नृणां**' से '**नरमात्राभिमानिनां**' यह अर्थ समझना चाहिये। जैसा कि '**न कर्म लिप्यते नरे**' यहाँपर श्रीशंकराचार्य भगवान्ने 'नरे' का 'नरमात्राभिमानिनि' यह अर्थ किया है। भावार्थ यह हुआ कि ज्ञानी और उपासकोंसे भिन्न साधारण अज्ञ-प्राणियोंके निःश्रेयसके लिये निर्गुण निराकार निर्विकार भगवान्का सगुणरूपमें प्राकट्य होता है।

भगवान्में चित्त लगानेसे परम कल्याण

अतएव काम, क्रोध, ईर्ष्या, भय, स्नेह आदि किसी भी भावसे भगवान्में चित्त लगानेसे प्राणियोंका कल्याण हो जाता है, अर्थात् यहाँ ज्ञानके बिना भी प्राणियोंका कल्याण हो जाता है। जैसे विष-बुद्धिसे भी अमृतपान करनेसे अमृतत्व-लाभ होता है, वैसे ही ब्रह्मबुद्धि बिना भी जिस किसी तरह भी श्रीकृष्णका सेवन करनेसे भगवत्प्राप्ति हो ही जाती है; क्योंकि वस्तु-शक्ति ज्ञानकी अपेक्षा नहीं करती। यद्यपि यों तो जब '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' (छान्दोग्य० ३।१४।१) इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार सब कुछ ब्रह्म ही है, फिर प्राकृत स्त्री-पुत्र आदिके प्रेमियोंको भी मुक्त हो जाना चाहिये; क्योंकि जब सब वस्तु ब्रह्मकी है, ज्ञानकी अपेक्षा है ही नहीं, फिर पत्नी-सेवन भी ब्रह्मसेवन क्यों न माना जाय? इत्यादि शंकाएँ होती हैं। तथापि भगवान् निरावरण ब्रह्म हैं और प्रपंच सावरण ब्रह्म है। बस, इसी भेदसे भगवान्का सेवन ज्ञान बिना भी कल्याणकारक है और प्रपंच-सेवन ज्ञान बिना प्रपंचका ही प्रापक है। जैसे मेघके सम्बन्धसे आदित्यका रूप छिप जाता है; परंतु दिव्य उपनेत्र या दूरबीनके सम्बन्धसे आदित्यका स्वरूप आवृत नहीं होता; किंतु अतिदिव्य स्वरूपमें स्पष्ट होता है, वैसे ही प्रपंचोत्पादिनी मलिन शक्तिके सम्बन्धसे प्रपंचरूपमें प्रकट ब्रह्मका निजी दिव्यरूप तिरोहित या आवृत हो जाता है; परंतु दिव्य लीलाशक्तिके योगसे दिव्य मधुर सगुण साकार श्रीराम श्रीकृष्णरूपमें प्रकट परब्रह्मका स्वरूप आवृत नहीं होता; किंतु दिव्य स्वरूपमें प्रकट होता है। अतः निरावरणरूपमें ज्ञानकी आवश्यकता नहीं, सावरण-रूपमें ही है। सत्त्वादिगुणकृत प्रभावसे विनिर्मुक्त होनेके कारण ही ये निर्गुण भी कहे जाते हैं। इसी आशयसे '**हरिर्हि निर्गुणः साक्षात्**' (श्रीमद्भा० १०।८८।५) इत्यादि उक्तियाँ हैं। इन्हें जार-बुद्धिसे समाश्रयण करके भी कुछ व्रजांगनाएँ मुक्त हो गयीं—'**तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः। जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥**' (श्रीमद्भा० १०।२९।११) जैसे चिन्तामणिमें दीपक-बुद्धिसे भी प्रवृत्त होनेसे प्राप्ति चिन्तामणिकी ही होती है, वैसे ही निरावरण श्रीकृष्ण परमात्मामें किसी भी बुद्धिसे प्रवृत्त क्यों न हो, प्राप्ति अखण्ड अनन्त निरावरण ब्रह्मकी ही होगी।

तृतीय खण्ड—भक्तितत्त्व

भगवत्प्राप्ति

प्राय: लोग पूछा करते हैं कि 'क्या भगवत्प्राप्ति इसी जन्ममें हो सकती है?' उनके प्रश्नका उत्तर है—ऐसा एक ही जन्ममें हो सकता है या अनेक जन्मोंमें, इसका कोई नियम नहीं है, किंतु जब भी भगवान्‌के प्रति प्रेमका गाढ़ उदय हो जाता है, भगवान् तभी मिल जाते हैं—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

(रा०च०मा० १। १८५। ५)

अनेक जन्मोंतक भी यदि प्रेमका संचार न हो तो भगवान् नहीं प्राप्त होते, प्रेम प्रकट हो जानेपर भगवान् एक ही जन्ममें मिल जाते हैं।

जिस समय भक्त भगवान्‌से मिलनेके लिये अत्यन्त उत्कण्ठित होकर स्वाध्याय, ध्यान आदिको प्राप्त होता है; उस समय भगवान्‌को अवश्य प्रकट होना पड़ता है।

आप्तकाम, पूर्णकाम, आत्माराम, परम निष्काम भगवान् परम स्वतन्त्र हैं तथापि भक्तप्रेममें पराधीन होना उनका एक स्वभाव है। अनुभवी लोगोंने कहा है—

अहो चित्रमहो चित्रं वन्दे तत्प्रेमबन्धनम्।
यद्बद्धं मुक्तिदं मुक्तं ब्रह्म क्रीडामृगीकृतम्॥

'अहो! कोई निर्गुण, निराकार, निर्विकार ब्रह्मको, कोई सगुण-साकार ब्रह्मको भजते हैं, परंतु मैं तो उस प्रेमबन्धनको भजता हूँ, जिससे बँधकर अनन्त प्राणियोंको मुक्ति देनेवाला, स्वयं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ब्रह्म भक्तोंका खिलौना बन जाता है।'

जिस समय भक्त भगवान्‌के बिना न रह सके, उस समय भगवान् भी भक्तके बिना नहीं रह सकते। जैसे पंखरहित पतंग-शावक अपनी माँको पानेके लिये व्याकुल रहते हैं, जैसे क्षुधार्त वत्सतर (छोटे गोवत्स) माँका दूध चाहते हैं, किंवा परदेश गये हुए प्रियतमसे मिलनेके लिये प्रेयसी विषण्ण (व्याकुल) होती है, हे कमलनयन! मेरा मन आपको देखनेके लिये वैसे ही उत्कण्ठित होता है—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥

(श्रीमद्भा० ६। ११। २६)

भगवान्‌में उत्कट प्रीति होनेपर तत्क्षण ही भगवत्प्राप्ति

इस प्रकारकी सोत्कण्ठ भक्तकी प्रार्थनासे भगवान् द्रुत होकर भक्तसे मिलने दौड़ पड़ते हैं।

हाँ, यह ठीक है कि भगवत्सम्मिलनकी ऐसी उत्कट उत्कण्ठा सरल नहीं है, किंतु जन्म-जन्मान्तरों, युग-युगान्तरोंके पुण्यपुंजसे ही भगवान्‌में उत्कट प्रीति प्राप्त होती है। इसीलिये उपनिषदोंने कहा है कि ब्राह्मणादि अधिकारी यज्ञ, तप, दान और अनशनादि सत्कर्मोंसे उन परमतत्त्व भगवान्‌को जाननेकी उत्कट इच्छा उत्पन्न करते हैं—

'तमे तं ब्राह्मणा यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन विविदिषन्ति।' (बृहदारण्यकोपनिषद् ४। ४। २२)

जब उस परमतत्त्वकी जिज्ञासा ही उत्पन्न करनेमें अनेक जन्मोंके सत्कर्मोंकी अपेक्षा होती है, तब स्पष्ट ही है कि जिसे भगवत्सम्मिलनकी उत्कट कामना है, जिसे भगवान्‌के न मिलनेसे महती व्याकुलता है, वह केवल इसी जन्मका सत्कर्मी नहीं, अपितु पहले जन्मोंसे भी उसका इस सम्बन्धमें प्रयत्न चल रहा है। इस दृष्टिसे ध्रुवकी जन्मान्तरीय तपस्याओं तथा **'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।'** (गीता ७। १९) इत्यादि वचनोंकी संगति लग जाती

है। प्रेमके उत्कट हो जानेपर उसी क्षण भगवान्‌का दर्शन होता है। फूल तोड़नेमें विलम्ब हो सकता है, किंतु उस समय भगवान्‌के मिलनेमें किंचित् भी विलम्ब नहीं होता। भगवान् प्राणियोंके अन्तरात्मा, सर्वसाक्षी हैं, उनको पानेमें कौन कठिनाई—

कोऽतिप्रयासोऽसुरबालका हरे-
रुपासने स्वे हृदि छिद्रवत् सतः।

(श्रीमद्भा० ७।७।३८)

—इत्यादि बातोंकी भी संगति लगती है। भगवत्प्राप्तिमें अत्यन्त प्रयत्न करनेकी अपेक्षा बतलानेके लिये शास्त्रोंने भगवान्‌को अत्यन्त दुर्लभ कहा है, निराशा मिटाकर उत्साह बढ़ानेके लिये भगवान्‌को अत्यन्त सुगम भी कहा है—

'दूरात्सुदूरे अन्तिकात् तदु अन्तिके च।'

भगवान् दूर-से-दूर और समीप-से भी समीप हैं।

नामरूपकी उपयोगिता

नामरूपक्रियासे अतीत—अनाम, अरूप, निष्क्रिय परमतत्त्वकी प्राप्तिके लिये ही प्राणीको अनेक क्रियाओं, नामों एवं रूपोंका अवलम्बन करना पड़ता है। अनामके नामकरण एवं अरूपके रूपकी कल्पना सचमुच अपरिमेयको परिमित और नि:सीमको सीमित करना है। किसी महानुभावने कहा है—

गत्यानया व्यापकता हता ते
स्तुत्यानया वाक्परता हता ते।
दृष्ट्यानयागोचरता तथा हता
ममापराधस्त्रितयं क्षमस्व॥

अर्थात् 'हे नाथ! इतने दूर आपके दर्शनार्थ चलकर मैंने आपकी व्यापकतापर तथा दर्शनसे आपकी अगोचरतापर अविश्वास किया और स्तुतिसे आपकी वाक्‌परताकी भी अवहेलना की। हे दयामय! इन मेरे तीन अपराधोंको कृपया आप क्षमा करना।'

जैसे प्राणी व्यष्टि—नामरूपकी उपाधिमें आसक्त होकर व्यक्तिगत स्वार्थके लिये समष्टि-हितका विघातक बन जाता है या समष्टि-हितके कार्योंमें भी सम्मान, ख्याति या धन-लाभादि स्वार्थोंको ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपमें प्रधानता देने लगता है; वैसे ही सर्वाधार, परमतथ्य, पारमार्थिक वस्तुमें भी नाम-रूपोंकी कल्पनाओंसे ही नाना विपत्तियोंको खड़ा करता है। सच बात तो यह है कि नामविशेष और रूपविशेषके अभिमानवालोंको व्यक्तिगत विशिष्ट नामों और रूपोंसे स्तुतिकी स्पृहा होती है। ग्राहसे पीड़ित गजराजने निर्विशेष परब्रह्मका ही स्तवन किया। उस स्तवनमें किसी व्यक्तिविशेष या नामरूपकी व्यंजना नहीं थी।

उसने यही कहा कि—

ॐ नमो भगवते तस्मै यत एतच्चिदात्मकम्।
पुरुषायादिबीजाय परेशायाभिधीमहि॥

(श्रीमद्भा० ८।३।२)

मैं उस परमतत्त्वको नमन करता हूँ, जिससे जड़ विश्व चेतित हो रहा है, जो निखिल विश्वका आदि बीज और परेश है, जिससे तथा जिसमें विश्व उत्पन्न तथा स्थित होता है और जिससे उसका धारण होता है। उस स्वयम्भूको नमस्कार है, जो पर-अपर कार्य-कारणसे अतीत है।

भिन्न-भिन्न नामरूपके अभिमानी देवगण गजेन्द्रकी स्थिति देखते थे, उसकी स्तुति भी सुन रहे थे, उसको मुक्त करनेमें समर्थ भी थे, परंतु उनके नामरूपमें उनकी स्तुति नहीं थी, इसीलिये उनकी प्रवृत्ति गजेन्द्रके रक्षणमें नहीं हुई। उसकी रक्षा तो उसीसे हुई, जो किसी नामरूपविशेषका अभिमानी नहीं था। जो सभी नामों तथा रूपोंको अपना ही मानता था।

आज भी सामाजिक क्षेत्रोंमें व्यक्तिगत ख्याति या सम्मानकी ओर ध्यान न देकर सभी नामों और ख्यातियोंको अपना ही समझकर कार्यमें अग्रसर

होनेवाले विरले ही होते हैं। नामरूपकल्पनाका दुष्परिणाम किसीसे छिपा नहीं है। पृथक्-पृथक् परमेश्वरके नाम और उपचारपद्धतियोंपर ही आज भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंमें द्वन्द्व मच रहा है। ईसाई, मुसलमान, आर्यसमाज, ब्रह्मसमाजके अतिरिक्त सनातनधर्मियोंमें ही नामरूपोंपर इतने साम्प्रदायिक भेद उपस्थित हैं कि जिसकी कल्पना भी साधारण बुद्धिवालेके मनमें नहीं हो सकती। शिव, विष्णु, शक्ति, गणेश, सूर्य आदि भिन्न-भिन्न देवताओंके उपासक अपने-अपने इष्ट और अपनी-अपनी उपासना-पद्धतिका ही महत्त्व सिद्ध करनेके लिये दूसरोंकी निन्दा और खण्डनमें कुछ भी कसर नहीं रखते।

इतना ही क्यों, विष्णुके ही विविध स्वरूपोंमें इस नाम या इस रूपसे मुक्ति होती है, दूसरेसे नहीं; श्रीकृष्णका वन्दन अमुक वेश-भूषामें ही हो सकता है, दूसरेमें नहीं, ऐसे विचित्र विचार भी प्रचलित हैं, जो वैमनस्य और विद्वेषके मूल बन रहे हैं, परंतु फिर भी क्या यह नामरूप और क्रियाओंकी कल्पना व्यर्थ है? अभिज्ञोंका तो कहना है कि प्राणी जबतक सत्त्व, रजस्, तमस् आदि गुणों और विविध नामरूप एवं कर्मोंमें बँधा हुआ है, तबतक उसे गुण एवं नामरूपक्रियाव्यतीत वस्तुका दर्शन और उसकी उपलब्धि असम्भव ही है।

नामरूपसे नामरूपातीत तत्त्वकी प्राप्ति

वेदान्त तो पग-पगपर यही उपदेश करता है कि मनोवचनातीत, अनिर्देश्य, अव्यवहार्य, प्रपंचातीत, परमतत्त्व ही सब कुछ है, उससे भिन्न कोई भी व्यवहारविषय तथ्य नहीं है, परंतु जो अनेक तापोंसे सन्तप्त एवं अशान्त है, उसे क्या मात्र इन वचनोंसे शान्ति हो सकती है? अतः जैसे रजसे ही दर्पणगत रज दूर किया जाता है, कण्टकसे ही कण्टक निकाला जाता है, किंवा विषसे ही विषका प्रभाव दूर किया जाता है, वैसे ही कर्मसे ही कर्मका निर्हार और नामरूपसे ही नामरूपातीत तत्त्व प्राप्त करनेका प्रयत्न किया जाता है। निर्गुण, निराकार, निष्प्रपंच असंगसे ही सगुण, साकार समस्त प्रपंच व्यक्त हुआ है। इसमें ही आबद्ध जन्तु अपने मूल परमतत्त्वसे बहिर्मुख होकर अनादिकालसे इस दुर्गम भवाटवीमें भटक रहे हैं।

कहा जाता है कि मन, बुद्धिके हलचलसे ही परमार्थ परमतत्त्व आवृत हो जाता है। जैसे छायाके पीछे चलनेसे वह पकड़कर स्थिर नहीं की जा सकती, वैसे ही मन-बुद्धिको स्थिर करनेके प्रयत्नसे वे वशमें नहीं किये जा सकते। मनमें निर्विचारता या निर्व्यापारता स्थिर होनेपर ही निर्दृश्य, निर्विकल्प वस्तुका बोध या उपलम्भ होता है। मनके व्यापारसे ही दृश्य या विकल्पकी उपस्थिति होती है। मनके निर्व्यापारता या अमनीभावमें विकल्प प्रतीतिविरुद्ध होनेसे निर्विकल्प वस्तुका अनायास ही स्फुरण होता है', परंतु यह क्या जैसा कहनेमें सुगम है, वैसे ही अनुष्ठानमें भी? क्या महाप्रयास बिना एक क्षणके लिये भी ऐसा सम्भव है कि मन निश्चल रहे और उसमें आवश्यक-अनावश्यक अन्धकार, प्रकाश, आकाश, तृण कोई-न-कोई दृश्य स्फुरित न हो। जब ऐसा सम्भव ही नहीं, तब अनिर्देश्य, अनाम, अरूप, निष्क्रिय वस्तुकी कोरी बातोंसे क्या लाभ?

मनकी एकाग्रताके लिये सात्त्विक कर्म और ज्ञानका अवलम्बन अपेक्षित

यह कह देना बहुत सरल है कि 'स्वयं विज्ञाता या मन्ताको ही विचार या मनन करने-न करनेमें स्वतन्त्रता है। कर्ता चाहे तो करणोंको व्यापृत करे-न करे, उनसे काम ले अथवा न ले।' परंतु क्या मन मन्ताकी रुचिका अनुवर्तन करता है अथवा मन्ताकी रुचि न होते हुए भी उसको हठात् आकर्षित करता है? इसीलिये विवेकियोंने अध्यारोप और अपवादसे निष्प्रपंचका ही प्रपंचन किया है—'**अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते। शिष्याणां बोधसिध्यर्थं तत्त्वज्ञैः कल्पितः क्रमः॥**'

जब प्रपंच एवं तदन्तर्गत नामरूपक्रियाओंके आलम्बनद्वारा ही सर्वातीत तत्त्वको प्राप्त करना है,

तब फिर उसमें उल्वण भावोंको सोच-समझकर त्यागनेके लिये पहले शान्त भावोंका अवलम्बन करना पड़ता है। तामस कर्म तथा विचार दूर करनेके लिये राजस और राजसको मिटानेके लिये सात्त्विक कर्मों तथा ज्ञानका आश्रयण किया जाता है। स्वाभाविक या पाशविक कर्मों तथा ज्ञानको मिटानेके लिये वेदशास्त्रसम्मत कर्म और ज्ञानोंका अवलम्बन करना आवश्यक होता है।

योगशास्त्रने क्लिष्टा वृत्तियोंपर विजय प्राप्त करनेके लिये अक्लिष्टा वृत्तियोंका अवलम्बन करना बतलाया है। घोर तथा मूढ़वृत्तियाँ बिना शान्तवृत्तियोंके सेवनके कभी भी दूर नहीं हो सकतीं। जब प्रपंचातीत परमतत्त्वसे प्रच्युत होकर जीव व्यावहारिक जगत्में अवतीर्ण होता है, तब उसके सामने विश्वके शुभ-अशुभ, न्याय-अन्याय, अनुकूल-प्रतिकूल अनेक प्रकारके विषय और व्यवहार उपस्थित होते हैं। भलाई-बुराई, विष-अमृत आदि भेद जब मानने पड़ते हैं, क्षुधा-पिपासा मिटानेके लिये अन्न-जलकी अपेक्षा होती है, तब फिर पुण्य-पापकी व्यवस्था भी माननी पड़ती है। अतएव वर्णाश्रमानुसार वेदशास्त्रोक्त कर्म-धर्मकी आवश्यकता होती है। बिना किसी निर्दोष सात्त्विक आलम्बनके मनको निरालम्ब नहीं किया जा सकता।

नामरूपसे अतीत परब्रह्मकी दिव्यलीला-शक्तिके सहयोगसे नामरूपयुक्त सगुण-साकार रूपमें अभिव्यक्ति

वैदिकोंका मत है कि नामरूपसे अतीत वेदान्तवेद्य, परमतत्त्व ही स्वांशभूत प्राणियोंके कल्याणार्थ अपनी अचिन्त्य दिव्य लीलाशक्तिसे परम मनोहर नामरूपको स्वीकार करते हैं। जैसे कोई परमकारुणिक चिकित्सक किसी कुपथ्यप्रिय, अदीर्घदर्शी, अबोध शिशुको उसके अभीष्ट कुपथ्यरूपमें दिव्य महौषध प्रदान करता है, वैसे ही मनोहर शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि विषयोंमें आसक्तचित्त प्राणियोंके मनको प्रपंचातीत भगवान्के निजस्वरूपमें आकर्षित करनेके लिये ही अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्ययका ही दिव्य शब्द, दिव्य स्पर्श, दिव्य गन्ध, दिव्य रूप-सम्पन्न रूपमें प्रादुर्भाव होता है।

भक्तोंके अभीष्ट भिन्न स्वरूपोंके विशिष्ट सौन्दर्य, माधुर्यादि लोकोत्तर गुणगणोंमें चित्तके आसक्त होनेके अनन्तर वही अदृश्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य परमतत्त्व सुस्पष्ट रूपमें व्यक्त हो जाता है। शिव, विष्णु, शक्ति, सूर्य, गणेश आदि वेदशास्त्र-सम्मत सभी स्वरूपोंमें एक वही पूर्णतम तत्त्व व्यक्त होता है। इसीलिये उनके माहात्म्य-प्रतिपादक सभी सद्ग्रन्थोंमें अन्तिम स्वरूप एक ही मिलता है। एक अनन्त, अखण्ड, निर्विशेष, स्वप्रकाश, सच्चिदानन्द ही सर्वाधार, साक्षीरूपसे अवशिष्ट रहता है।

सभी नामरूप भगवान्के ही हैं

गीतामें तो यहाँतक कहा गया है कि विश्वमें जो भी कोई '**विभूतिमत् ऊर्जिततत्त्व**' दिखलायी देता हो, उसे भी भगवान्का ही रूप समझना चाहिये—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

(१०।४१)

आचार्यप्रवर श्रीविद्यारण्यजीने 'पंचदशी' में कहा है कि परमेश्वरके भिन्न स्वरूपोंमें विवाद नहीं करना चाहिये। जब निखिल विश्व ही परमेश्वरका स्वरूप है, तब अमुक परमेश्वर है, अमुक नहीं, ऐसे विवादका अवसर ही कहाँ? इसीलिये अश्वत्थ, वट, हल, कुदालतककी पूजा अपने धर्ममें होती है। सभीमें पूर्णतम, परमतत्त्वका ही पारमार्थिक रूप उपलब्ध हो सकता है, फिर उसका नाम या रूप चाहे जो कुछ भी हो। इसीलिये नामविशेषपर आग्रह न करके अभिज्ञोंने '**कस्मै चिन्महसे नमः, कस्मै देवाय हविषा विधेम**' इस रूपसे ही परमतत्त्वका वन्दन किया है, परंतु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि भगवान्में नाम और रूप हैं ही नहीं। यदि नामरूप हैं तो सब भगवान्के ही हैं, अन्य किसीके नहीं।

'**किम्**' शब्द सर्वनाम है, अतः वह सभीका वाचक है। जो सर्वस्वरूप है, उसमें ही '**किम्**' शब्दका प्रयोग हो सकता है। जिस वस्तुपर किसी एकका अधिकार नहीं होता, वह राजाकी समझी जाती है। जो राजाकी वस्तु है, वह सबके उपयोगमें आती है। अतः '**किम्**' शब्दका जैसे यह अर्थ है कि परमतत्त्वका विशेष नाम नहीं है, वैसे ही यह भी आशय है कि सब नाम और रूप उन्हींके हैं।

भगवदर्थनामरूपकर्मसे भवबन्धनकी विमुक्ति

फिर भी राजस, तामस, सात्त्विक ऋषि, देवता या भगवत्सम्बन्धिनी नामरूपक्रियाएँ भवबन्धनसे छुड़ाकर परमतत्त्वको प्राप्त कराती हैं और उनके विपरीत नामरूपक्रियाएँ अनेक अनर्थयुक्त संसारमें भटकानेवाली होती हैं। इसीलिये वर्णाश्रमानुसार श्रौत-स्मार्त क्रियाएँ, मन्त्र एवं भगवन्नाम आदरणीय तथा समाश्रयणीय हैं। इसी दृष्टिसे भिन्न-भिन्न गुणरूपविशिष्ट विग्रह और प्रतिमाओंकी आराधनाएँ मान्य हैं। उन सबकी पद्धति, अधिकार, शुद्धि, अशुद्धि सभी शास्त्रविधानके अनुसार ही होनी चाहिये।

पारमार्थिक चर्चाओं एवं ज्ञानाभिमानसे उन सबकी अवहेलना केवल प्रमाद है। जैसे घी और बत्तीके संयोगसे व्यापक निर्विकार अग्नि दिव्य दीपशिखाके रूपमें प्रकट होती है, जैसे शैत्यके योगसे जल हिमरूपमें व्यक्त होता है, वैसे ही अचिन्त्य लीलाशक्तिके योगसे अनामरूप भगवान् ही दिव्य नामरूप स्वरूपमें प्रकट होते हैं। अतएव भगवान्का नाम और रूप निरावरण भगवान्का साक्षात्स्वरूप ही है। जैसे काष्ठ, पाषाण, प्रासाद—जहाँ भी कहीं पैर रखा जाय, वह सब कुछ पृथ्वी ही है, वैसे ही जिस किसी भी नामरूपसे भगवान्का ही दर्शन और श्रवण है। तब भी विशुद्ध लीलाशक्तिकी महिमासे प्रकट भगवान्के नामरूप एवं लीलाएँ निरावरण भगवान्के रूप हैं, त्रिगुणमयी प्रकृतिके योगसे अभिव्यक्त इतर नामरूपक्रियाएँ सावरण भगवान्के रूप हैं। जैसे मेघादि अस्वच्छ उपाधियोंसे सूर्यमण्डल आवृत रहता है, परंतु दूरवीक्षणादि विशेष मन्त्रोंके द्वारा व्यवधान होनेपर भी वह आवृत नहीं होता, वैसे ही अविद्यादि मलिन शक्तियोंके योगसे नामरूप विवर्तमें पारमार्थिक तत्त्व आवृत रहता है, परंतु विद्या या लीला आदि दिव्य शक्तियोंके योगसे प्रकट भगवान्के नामरूपमें निरावरण भगवान्का स्पष्ट रूपसे भान होता है।

इष्टदेवकी उपासना

निन्दाका तात्पर्य अपने अभीष्टकी प्रशंसामें

शास्त्ररहस्यको जाननेवाले महानुभावोंका कहना है कि शैवग्रन्थोंमें श्रीविष्णुकी और वैष्णवग्रन्थोंमें श्रीशिवकी जो निन्दा पायी जाती है, वहाँ इस निन्दाका मुख्य तात्पर्य अन्य देवताकी निन्दामें नहीं है, अपितु वह ग्रन्थ जिस देवताका वर्णन कर रहा है, उसकी प्रशंसामें है। इसपर कोई कहे कि 'अपने इष्ट देवतामें अनन्यताकी प्राप्तिके लिये उनसे भिन्न देवताकी उपेक्षा अपेक्षित है और वह उपेक्षा बिना अन्य देवताकी निन्दाके कैसे सिद्ध हो सकती है? इस तरह उस निन्दाका मुख्य तात्पर्य अपने इष्ट देवतासे अन्य देवताकी उपेक्षाके लिये उसकी निन्दामें ही हो सकता है। किंतु ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि उसने अनन्यताके स्वरूपको ही यथार्थतया समझा नहीं है। क्या अपने एकमात्र इष्टदेवमें ही तत्परताको अनन्यता कहें? किंतु ऐसी अनन्यता खान-पान आदि लौकिक एवं सन्ध्यावन्दनादि वैदिक व्यवहार करनेवाले पुरुषमें सम्भव नहीं है। यदि कहा जाय कि उन लौकिक-वैदिक सब कर्मोंके द्वारा अपने इष्टदेवकी ही उपासना करनेसे अनन्यता बन जायगी तो फिर जैसे अन्यान्य लौकिक-वैदिक कर्मोंके द्वारा अपने इष्टदेवकी उपासना की जा सकती है, वैसे ही अन्य देवताकी पूजा

आदिके द्वारा भी अपने इष्टदेवकी उपासना करते हुए अनन्यता बन सकती है।

यथार्थमें तो—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारकः॥

अर्थात् '[हे राजन्!] प्राणी अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार कर्म करते हुए उस पुरुषोत्तम हरिकी आराधना कर सकता है। इसके अतिरिक्त भगवान्की प्रसन्नताका और अन्य कोई साधन नहीं है।'

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(गीता ९।२७)

अर्थात् 'हे अर्जुन! भोजन, होम, दान, तपस्या आदि जो कुछ भी करो, वह सब मुझे अर्पण कर दो।'

'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥'

(गीता १८।४६)

अर्थात् 'मनुष्य अपने कर्मोंके द्वारा भगवान्की पूजा करके मुक्तिको प्राप्त कर सकता है।'

—इत्यादि वचनोंसे शास्त्रोंने अपने-अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार श्रौत-स्मार्त कर्मोंसे ही श्रीभगवान्की उपासना करना बतलाया है और श्रौत-स्मार्त कर्मोंमें तो पद-पदपर इन्द्र, अग्नि, वरुण, रुद्र, प्रजापति आदि देवताओंकी पूजा दिखलायी पड़ती है। ऐसी हालतमें अपनेको वैदिक माननेवाला कोई पुरुष यह कहनेका साहस कैसे कर सकता है कि 'विष्णुके सिवाय कोई अन्य देवता मेरे लिये पूजनीय नहीं है।'

यदि कहा जाय कि वहाँ उन इन्द्रादि देवताओंके रूपमें भगवान् विष्णुकी ही पूजा होती है तो इस तरह फिर सभी देवताओंकी पूजा की जा सकती है।

जिन कामिनी, कांचन आदि विषयोंकी बड़े-बड़े विवेकी महापुरुषोंने निन्दा की है, उन्हीं तुच्छ विषयरूप विषसे भस्मीभूत चित्तवाले और उन्हीं विषयोंकी प्राप्तिके लोभसे वशीभूत होकर और तो क्या, म्लेच्छोंके चरणोंपर भी मस्तक झुकानेवाले लोग समस्त पापसमुदायका नाश करनेमें समर्थ श्रीशिव, विष्णु आदिके वन्दनको जब अनन्यताका विघातक कहते हैं, तब बड़ा आश्चर्य होता है।

अपने इष्टमें अनन्यता

अस्तु, इस तरह यह सिद्ध होता है कि श्रीभगवान्को प्रसन्न करनेकी बुद्धिसे भगवान्के लिये ही किये गये समस्त कर्मोंको परमगुरु श्रीभगवान्के चरणोंमें समर्पण करना ही यथार्थ अनन्यता है।

काशीखण्डके इक्कीसवें अध्यायमें ध्रुवजी श्रीविष्णुजीसे स्तुतिमें कहते हैं कि—

मित्राणां हि कलत्रं त्वं धर्मस्त्वं सर्वबन्धुषु।
त्वत्तो नान्यज्जगत्यस्मिन्नारायण चराचरे॥
त्वमेव माता त्वं तातस्त्वं सुहृत्त्वं महाधनम्।
त्वमेव सौख्यसम्पत्तिस्त्वमायुर्जीवनेश्वरः॥
सा कथा यत्र ते नाम तन्मनो यत्त्वदर्पितम्।
तत्कर्म यत्त्वदर्थं वै तत्तपो यद्भवत्स्मृतिः॥
अहो पुंसां महामोहस्त्वहो पुंसां प्रमादता।
वासुदेवमनादृत्य यदन्यत्र कृतश्रमाः॥
अधोक्षजात्परो धर्मो नार्थो नारायणात्परः।
न कामः केशवादन्यो नापवर्गो हरिं विना॥
इयमेव परा हानिरुपसर्गोऽयमेव हि।
अभाग्यं परमं चैतद्वासुदेवं न यत्स्मरेत्॥
गोविन्दं परमानन्दं मुकुन्दं मधुसूदनम्।
त्यक्त्वान्यं नैव जानामि न भजामि स्मरामि न॥
न नमामि न च स्तौमि न पश्यामीह चक्षुषा।
न स्पृशामि न वा यामि गायामि न हरिं विना॥

अर्थात् 'हे नारायण! इस स्थावर-जंगमात्मक जगत्‌में आपसे अन्य कुछ भी नहीं है। मित्रोंमें भार्या, सब बन्धुओंमें परम हितैषी धर्म आप ही हैं। माता, पिता, सुहृद्, धन, सौख्य, सम्पत्ति और तो क्या—प्राणेश्वर आप ही हैं। कथा वही है, जिसमें आपका नाम हो, मन वही है जो आपमें अर्पित हो, काम वही है जो आपके लिये ही किया जाय और तपस्या वही है, जिसमें आपका स्मरण होता रहे। प्राणियोंके उस

महामोहको उस प्रमादिताको देखकर बड़ा ही खेद और आश्चर्य होता है, जिससे आपका अनादर करके वे अन्य विषयोंमें महान् परिश्रम करते हैं। हे भगवन्! आपसे श्रेष्ठ ऐसा अन्य कोई न धर्म है, न अर्थ, न काम और न मोक्ष ही। भगवान् वासुदेवका स्मरण न होना ही परम हानि, परम उपद्रव, परम दौर्भाग्य है। परमानन्दकन्द मुकुन्द मधुसूदन भगवान् गोविन्दको छोड़कर मैं न तो अन्य किसीको जानता ही हूँ, न स्मरण करता हूँ, न भजता हूँ। न नमन करता हूँ, न किसी दूसरेकी स्तुति करता हूँ, न अन्यको आँखसे देखता हूँ, न स्पर्श करता हूँ, न अन्यत्र कहीं जाता हूँ, न बिना हरिके अन्यका गान करता हूँ।' इत्यादि श्लोकोंके द्वारा अनन्यताका स्वरूप प्रदर्शित किया है।

शिव-विष्णुमें अभेद-बुद्धि

इतना सब मन्थन करनेका तात्पर्य यही है कि भगवान् श्रीवासुदेवकी उपेक्षा करके अन्य देवोंका समाश्रयण करना अभिप्रेत नहीं, अपितु वासुदेव-भावनासे या भगवान्‌की आराधना-बुद्धिसे अन्य देवताओंका भी आदर अवश्य ही करना उचित है। इसीलिये काशीखण्डमें आगे चलकर लिखा है कि श्रीविष्णुकी आज्ञासे ध्रुवने भगवान् श्रीविष्णुके उपास्य श्रीशंकरभगवान्‌की पूजा की। ध्रुवको वरदान आदि देकर भगवान् श्रीविष्णुने उनसे कहा—

ध्रुवावधेहि वक्ष्यामि हितं तव महामते।
येन ते निश्चलं सम्यक् पदमेतद् भविष्यति॥
अहं जिगमिषुस्त्वासं पुरीं वाराणसीं शुभाम्।
साक्षाद्विश्वेश्वरो यत्र तिष्ठते मोक्षकारणम्॥
विपन्नानां च जन्तूनां यत्र विश्वेश्वरः स्वयम्।
कर्णे जापं प्रकुरुते कर्मनिर्मूलनक्षमम्॥
अस्य संसारदुःखस्य सर्वोपद्रवदायिनः।
उपाय एक एवास्ति काशिकानन्दभूमिका॥
इदं रम्यमिदं नेति बीजं दुःखमहातरोः।
तस्मिन् काश्यग्निना दग्धे दुःखस्यावसरः कुतः॥
प्राप्यं सम्प्राप्यते येन न भूयो येन शोच्यते।
वैकुण्ठनगरात्काशीं नित्यं विश्वेशमर्चितुम्।
अहमायामि नियमाज्जगदर्च्यां तदर्चिताम्॥
मयि या परमा शक्तिस्त्रिलोक्या रक्षणक्षमा।
तत्र हेतुर्महेशानः स सुदर्शनचक्रदः॥
पुरा जालन्धरं दैत्यं ममापि परिकम्पनम्।
पादाङ्गुष्ठाग्ररेखोत्थं चक्रं सृष्ट्वा हरोऽहरत्॥
तच्च चक्रं मया लब्धं नेत्रपद्मार्चनाद्विभोः।
एतत्सुदर्शनाख्यं वै दैत्यचक्रप्रमर्दनम्॥
तन्मया तव रक्षार्थं भूतविद्रावणं परम्।
तावत्प्रणुन्नं पुरतस्ततश्चाहमिहागतः॥
काशीमिदानीं यास्यामि विश्वेश्वरविलोकने।
पञ्चक्रोश्याश्च सीमानं प्राप्य देवो जनार्दनः।
वैनतेयादवारुह्य करे धृत्वा ध्रुवं ततः॥
मणिकर्ण्यां परिस्नाय विश्वेशमभिपूज्य च।
ध्रुवं बभाषे भगवान् हितं तस्य चिकीर्षयन्॥
लिङ्गं स्थापय यत्नेन क्षेत्रेऽत्रैवाविमुक्तके।
त्रैलोक्यस्थापनं पुण्यं यथा भवति तेऽक्षयम्॥

अर्थात् 'हे ध्रुव! तुम महामति हो। सावधान होकर सुनो। मैं तुम्हारे हितकी बात कहता हूँ, जिससे तुम्हारा स्थान अत्यन्त अचल हो जायगा। मोक्षदाता साक्षात् भगवान् श्रीविश्वनाथजी जहाँ निवास करते हैं, उस परम पवित्र काशीपुरीको मैं जाना चाहता हूँ। जिस काशीमें स्वयं श्रीविश्वेश्वरभगवान् मृत प्राणियोंके कानमें उस मन्त्रका उपदेश करते हैं, जिससे उन प्राणियोंके समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं। सभी तरहके उपद्रवोंको देनेवाले इस तुच्छ संसाररूपी दुःखको दूर करनेका यह आनन्दभूमि काशी ही एकमात्र उपाय है। दुःखरूपी महान् वृक्षका बीज विषयोंमें समीचीनता-असमीचीनताबुद्धि है। काशीरूपी अग्नि जब उस बीजको भस्मीभूत कर डालता है, तब दुःखरूप महावृक्ष ही कैसे उत्पन्न हो सकता है? जिससे समस्त अभीष्ट मनोरथोंको प्राप्त किया जा सकता है और जहाँ जानेपर फिर शोक-सन्तापका भय नहीं रह जाता, ऐसे वैकुण्ठसे श्रीविश्वनाथकी पूजा करनेके लिये मैं नित्य नियमपूर्वक उस जगद्वन्द्य काशीमें आया

करता हूँ। तीनों लोकोंकी रक्षा करनेमें समर्थ मेरी जो परमशक्ति है, उसको देनेवाले सुदर्शनचक्रके दाता श्रीविश्वनाथ ही हैं। पूर्वकालमें जालन्धर नामका एक दैत्य हुआ था, जिसके पराक्रमसे मैं भी भयभीत हो गया था। किंतु भगवान् श्रीशंकरने अपने पैरके अँगूठेके अग्रभागसे चक्र बनाकर, उससे जालन्धरको मार डाला था। अपने नेत्रकमलोंसे भगवान् शंकरकी पूजा करके मैंने वही चक्र उनसे प्राप्त किया। दैत्यसमुदायको मर्दन करनेवाला वही यह सुदर्शनचक्र मेरे पास है। समस्त दुष्ट प्राणियोंको भगानेवाले उस सुदर्शनचक्रको तुम्हारी रक्षाके लिये आगे भेजकर मैं यहाँ आया हूँ। अब इस समय श्रीविश्वनाथका दर्शन करनेके लिये मैं काशीकी ओर चल रहा हूँ। उसके बाद पंचक्रोशीकी सीमाके पास पहुँचकर वे गरुड़से नीचे उतरे और उन्होंने ध्रुवका हाथ पकड़कर मणिकर्णिकामें स्नान किया। फिर श्रीविश्वनाथका पूजन करके ध्रुवके हितकी कामनासे कहा—हे ध्रुव! तुम इस अविमुक्त वाराणसीक्षेत्रमें प्रयत्नपूर्वक भगवान्‌के लिंगकी स्थापना करो। इससे त्रैलोक्यस्थापन करनेका अक्षय पुण्य तुम्हें प्राप्त होगा' इत्यादि।

ऐसे इस गम्भीर शास्त्रीय अभिप्रायको न समझकर शैव-वैष्णव-नामधारी पाखण्डसे नष्टबुद्धि मायामोहित जन ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रमें भेदभाव देखते हैं। यह नहीं जान पाते कि वे तीनों एक ही सच्चिदानन्दघन पूर्ण अद्वितीय तत्त्व हैं।

ब्रह्माणं केशवं रुद्रं भेदभावेन मोहिताः।
पश्यन्त्येकं न जानन्ति पाषण्डोपहता जनाः॥

वे ऐसे सैकड़ों शास्त्रवचनोंसे उपदेश किये गये अभेदको नहीं देखते। इस बातकी उपेक्षा करते हैं कि एक ही परमकारण तत्त्व अनेक रूपमें विराजमान है। उन परमेश्वरके अनेक रूपोंमेंसे किसी एकको लेकर दूसरे रूपोंकी निन्दा करते हुए आपसमें कलह करते हैं। ऐसा करके मानो अपने उसी आराध्य भगवान्‌से ही द्रोह करके नरकमें जानेकी तैयारी करते हैं।

एक-दूसरेपर अनन्य प्रीति करनेवाले दो मालिकोंके नौकर यदि एक-दूसरेके स्वामीकी निन्दा करें तो वे दोनों जैसे स्वामिद्रोही ही कहे जाते हैं, वैसे ही एक-दूसरेके आत्मा और एक-दूसरेके ध्यानमें निमग्न मा-धव श्रीविष्णु और उमा-धव श्रीशिवकी निन्दा करनेवाले स्वामिद्रोही ही हैं।

जिस रूपमें प्रीति हो, उस रूपकी उपासना करनी चाहिये

कोई जिज्ञासु ऐसा प्रश्न कर सकता है कि भगवान् शिव, विष्णु, राम, कृष्ण आदि देवताओंमेंसे किसकी उपासना करनी चाहिये? कोई किसीको निकृष्ट तो कोई किसीको बड़ा बतलाता है। ऐसी स्थितिमें बुद्धि व्याकुल हो जाती है। इसका उत्तर यही हो सकता है कि भगवान्‌के विचित्र प्रपंचमें विचित्र स्वभावके जीवोंका निवास है। इसीलिये श्रीभगवान् भिन्न स्वभाववाले जीवोंकी विभिन्न रुचियोंका अनुसरण करके विभिन्न रूपोंमें प्रकट होते हैं। किसीका चित्त भगवान्‌के किसी स्वरूपमें खिंचता है, किसीका किसीमें। वेद-पुराणादि शास्त्रोंमें सर्वोत्कृष्ट रूपसे प्रतिपादित सभी रूप भगवान्‌के ही हैं। अत: जिस रूपमें प्रीति हो, उसी रूपकी उपासना करनी चाहिये। अनभिज्ञ लोग एककी निन्दा और दूसरे रूपकी प्रशंसा करते हैं, अभिज्ञ तो सभी रूपोंमें अपने प्रभुको ही देखकर सन्तुष्ट होते हैं। जैसे कोई व्यक्ति अनेक विद्याओंमें निपुण होनेके कारण अपने अनेक वेष और नामोंसे अनेक कार्य करता हो, भिन्न-भिन्न कार्यार्थी पृथक् वेष और नामवाले रूपके अनुरागी हों और उसे ही सर्वोत्कृष्ट समझने लगें।

दूसरे लोग दूसरे वेष और नामवाले रूपके अनुरागी हों। उनमें कुछ लोग किसी रूपके प्रशंसक हों और कुछ किसीके निन्दक हों, इसलिये परस्पर युद्ध होने लगे, वहाँ जो लोग वस्तु-स्थितिको जाननेवाले होंगे, वे तो दोनों ही विवादी दलोंकी मूर्खतापर परिहास करेंगे; क्योंकि वे दोनों ही वेषोंमें एक ही तत्त्वको देखते हैं।

उपासनाके लिये अपनी कुल-परम्पराका समादर

योगवासिष्ठके विपश्चिदाख्यानमें मृगरूपसे समागत विपश्चित्को देखकर श्रीवसिष्ठजीने यही विचार किया था कि जिस व्यक्तिका जो स्वरूप कभी भी उपास्य हो, उसका कल्याण उसके ही द्वारा सुगम होता है। यह समझकर करोड़ों जन्मके पहले अग्निकी उपासना करनेवाले मृगरूप विपश्चित्के सामने अपने योगबलसे उन्होंने अग्निका प्राकट्य किया। अग्निका दर्शन होते ही वह मृग ऐसी स्नेहभरी दृष्टिसे अग्निको देखने लगा, जैसे अग्निके साथ उसका कोई बहुत पुराना सम्बन्ध हो। अनन्तर वसिष्ठजीकी कृपासे उसका कल्याण हुआ। अस्तु, प्रकृतमें कहना यही है कि स्वप्नदर्शन तथा माहात्म्यश्रवण आदिसे चित्तका आकर्षण देखकर अपने इष्टदेवका निर्णय करना चाहिये।

यह स्पष्ट है कि अनेक जन्मके साधनोंसे प्राणीकी उपासनामें उन्नति होती है। जन्म-जन्ममें मार्ग-परिवर्तन करनेसे यथेष्ट लाभ सम्भव नहीं है। अतः पूर्वकी उपासनाके संस्कारका ज्ञान करके उसी उपासनामें प्रवृत्त होना चाहिये। पितृपितामह-परम्पराकी उपासनाओंके अनुसार ही प्राणीको उपासना करनी चाहिये। वर्तमान जन्मकी सत्प्रवृत्ति और दुष्प्रवृत्तिमें पिछले जन्मोंके संस्कार भी अपेक्षित होते हैं। यदि किसीको दुर्दैववश किसी ऐसे देश-कालमें ऐसे माता-पिता, गुरुजनों तथा ग्रन्थोंका संसर्ग हुआ कि जिनसे दुराचार-दुर्विचारको ही उत्तेजना मिली तो उस व्यक्तिके लिये दुःसंग और असद्विचारवाले शास्त्रोंको छोड़कर सत्पुरुषसंग, सच्छास्त्रके अभ्यास एवं तदनुसार सदाचार-सद्विचारके सम्पादनमें बड़ी कठिनाई पड़ती है। जिसे पूर्वसंस्कारके अनुसार शुद्ध विचारवाले देश-काल तथा माता-पिता एवं गुरुजनोंका संयोग प्राप्त हुआ और सच्छास्त्र ही अध्ययन करनेको मिले, उसके लिये सदाचार-सद्विचारकी वृद्धिमें बड़ी सहायता मिलती है। इसीलिये प्रायः सन्मार्गस्थ सदाचारीको उसकी भावना और उपासनाके अनुसार ही समीचीन देश-काल और माता-पिता तथा शास्त्रोंका संसर्ग मिलता है। इसी बातकी इंगना श्रीभगवान्ने **'शुचीनां श्रीमतां गेहे' 'अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।', 'पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।'** (गीता ६।४१-४२,४४) इत्यादि वचनोंसे की है। इसीलिये यह बहुत सम्भव है कि हमारी उपासनाके अनुकूल ही कुलमें हमारा जन्म हुआ हो। अतः हमें माता-पिता, गुरुजनोंके अनुसार ही उपासना करनी चाहिये।

यों भी इस बातके समझनेमें सुगमता होगी कि जैसे कोई पुरुष किसी अपरिचित मार्गसे किसी अभीष्ट देशमें जा रहा हो, आगे चलकर उसे तीन मार्ग दिखायी दें और तीनोंपर कुछ लोग चल रहे हों, प्रश्न करनेपर सभी अपने मार्गको ही निर्विघ्न बतलाते हों, साथ ही दूसरे मार्गोंको नाना प्रकारके सिंह-व्याघ्र-सर्प-वृश्चिक-कण्टकाकीर्ण गर्तोंसे उपद्रुत बतलाते हों, ऐसी स्थितिमें यदि जाना आवश्यक ही हो तो वह प्राणी किस मार्गका अवलम्बन करेगा? समझदार तो यही कहेंगे कि उन मार्गानुगामियोंमेंसे अधिक विश्वास उन्हींपर किया जा सकता है; जो अपने राष्ट्र, प्रान्त, नगर तथा ग्रामके हों या अपने कुटुम्बियोंमेंसे हों। यह बात दूसरी है कि जब बहुत विशिष्ट अनुभवोंसे उस मार्गके दूषित तथा मार्गान्तरके निर्विघ्न होनेकी बात निश्चित हो गयी हो, तब किसी दूसरे मार्गका अवलम्बन किया जाय।

इसलिये भी अपनी पितृ-पितामह-परम्परामें जो उपासना और आचार तथा शास्त्र मान्य हों, वही उचित हैं। वेदने भी **'किंस्वित् पुत्रेभ्यः पितरावुपावृतः'** इस वाक्यसे परम्परागत आचारका समर्थन किया है। श्रीनीलकण्ठजीने इसका यही अभिप्राय बतलाया है कि पुत्रके हितके लिये माता, पिता या पितामह-प्रभृतिने जिस व्रतका पालन किया हो या जिस देवताकी उपासना की हो, उस पुत्रको उसी व्रत या देवताका अवलम्बन करना चाहिये। ऐसे ही

सम्प्रदायभेदसे भस्म, गोपीचन्दन आदिकी भी व्यवस्था बतायी गयी है। उसमें भी यह व्यवस्था शुद्ध शास्त्रीय है कि स्नान करके मृत्तिका और होम करके भस्म और देवपूजनके पश्चात् चन्दन आदि लगाया जाय; क्योंकि भस्म वैदिकोंके लिये किसी अवस्थामें त्याज्य नहीं हो सकता।

यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि 'यद्यपि इस तरहसे किसी भी देवताकी आराधना, भस्म, रुद्राक्ष, गोपीचन्दनादिका धारण संगत मालूम होता है तथापि साम्प्रदायिक लोगोंकी बातें सुनकर जी घबराता है। कोई शिवजीके तथा भस्म-रुद्राक्षके निन्दनमें सहस्रों वचन उपस्थित करते हैं तो कोई विष्णु तथा गोपीचन्दनादिके निन्दनमें सहस्रों वचन देते हैं। इसका क्या आशय है? उनको यही उत्तर दिया जा सकता है कि कुछ वचन तो निन्दामें तात्पर्य न रखकर एककी स्तुतिमें ही तात्पर्य रखते हैं। जैसे शैवोंकी शिवमें निष्ठा दृढ़ करनेके लिये विष्णुके निन्दासूचक और विष्णुमें निष्ठा दृढ़ करनेके लिये शिवके निन्दापरक वचन कहे जा सकते हैं, परंतु कुछ ऐसे भी वचन हैं, जिनका सिवा राग-द्वेषके और कोई मूल ही नहीं हो सकता। बहुत-से सद्ग्रन्थ साम्प्रदायिकोंके कलहोंमें बिगाड़े गये हैं। इसीलिये तो गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

हरित भूमि तृन संकुल समुझि परहिं नहिं पंथ।
जिमि पाखंड बाद तें गुप्त होहिं सदग्रंथ॥

(रा०च०मा० ४।१४)

ऐसे ही यह भी प्रश्न होता है कि भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके आचार और व्यवहार प्रचलित हैं। उन-उन सम्प्रदायोंमें कहा यह जाता है कि बिना इन आचारोंके प्राणीका कल्याण हो ही नहीं सकता। चाहे कितना भी वैदिक शुद्ध ब्राह्मण क्यों न हो, परंतु इन आचारोंके बिना उसके हाथसे जल भी अग्राह्य है। ऐसे ही दूसरे साम्प्रदायिक अपने आचारोंके विषयमें भी उपर्युक्त बात ही कहते हैं। जिस आचारसे एक सम्प्रदाय परम कल्याण कहता है, उसी आचारसे दूसरा सम्प्रदाय सर्वथा पतन बतलाता है। एक वैसे आचारविहीनके दर्शनसे प्रायश्चित्त बतलाते हैं तो दूसरे उसी आचारयुक्तवालेके ही दर्शनसे प्रायश्चित्त बतलाते हैं। इसका यही उत्तर देना ठीक है कि जिसके सम्प्रदायमें जो आचार प्रचलित है, उसीके लिये उक्त उपदेश ठीक है और जिसके पितृ-पितामहादिमें जो आचार नहीं हैं, उन्हें नहीं ग्रहण करना चाहिये। विवादका मूल यही है कि लोग दूसरे सम्प्रदाय तथा आचार्योंकी निन्दा करके अपने सम्प्रदायके आचारों एवं सिद्धान्तोंको स्वीकार करना चाहते हैं और जब वैसा ही दूसरे लोग करते हैं, तब फिर क्षुब्ध होते हैं। वे '**आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥**' (गीता ६।३२) भगवान्‌के इन भावोंको भूल जाते हैं।

लोगोंको इस बातपर अवश्य ध्यान देना चाहिये कि जैसे कोई हमारे साम्प्रदायिक व्यक्तिको अपने सम्प्रदायमें मिलाता है तो हमें क्षोभ होता है, वैसे ही यदि हम भी दूसरे सम्प्रदायके व्यक्तिको अपनेमें मिलायेंगे तो अन्य लोगोंको भी वैसे ही क्षोभ होगा। परंतु प्रायः देखते-देखते कितने स्मार्त भिन्न सम्प्रदायोंमें मिला लिये जाते हैं। साथ ही कहीं-कहीं कोई साम्प्रदायिक भी स्मार्त बना लिये जाते हैं। यही राग-द्वेषका मूल इतना बद्धमूल हो गया है कि हिन्दू-मुसलमानोंसे भी कहीं अधिक घनिष्ठ संघर्ष साम्प्रदायिकोंमें दृष्टिगोचर होता है।

कृपापरवश भगवान्‌द्वारा अनेक मंगलमय स्वरूपोंका धारण

वेदान्तवेद्य, पूर्ण परब्रह्म भगवान् ही सकल सच्छास्त्रोंके महातात्पर्यके विषय हैं और यही वर्णाश्रमानुसार सर्व कर्म-धर्मसे समर्हणीय हैं। इनका अपरोक्ष साक्षात्कार ही जीवनका चरम फल है। परंतु प्रथमसे ही प्राणियोंका मन इन परम-दुरवगाह्य भगवान्‌के मनोवचनातीत स्वरूपमें प्रवेश नहीं कर सकता। अतः परमकरुण प्रभु भक्तानुग्रहार्थ ही अपने अनेक प्रकारके

मंगलमय स्वरूपको धारण करते हैं।

उपनिषदोंमें दहर-विद्या, शाण्डिल्य-विद्या, वैश्वानर-विद्याओंके रूपमें इनकी ही अनेक सगुण उपासनाएँ विस्तीर्ण हैं। ये ही भगवान् विघ्नराज श्रीगणेशके रूपमें ऋद्धि-सिद्धि आदि निज शक्तियोंसहित आराधित होकर भक्तोंका सर्वविघ्ननिवारण, सर्वाभीष्ट-सम्पादनपूर्वक स्व-स्वरूप साक्षात्कार कराकर परम गति देते हैं और ये ही विश्वचक्षु भगवान् भास्करके रूपमें उपास्य होकर सर्वरोगनिवारणपूर्वक अपने पारमार्थिक विशुद्ध ब्रह्मस्वरूपका साक्षात्कार कराकर भवरोगसे मुक्त कर देते हैं। ऐसे ही ये ही वेदान्तवेद्य शुद्ध भगवान् अविद्याशक्तिप्रधान होकर प्रपंचका निर्माण करते हैं, विद्याशक्तिप्रधान होकर मोक्ष प्रदान करते हैं और अनन्त अखण्ड विशुद्ध चिति-शक्ति-रूपसे सर्व दृश्यके अधिष्ठानरूप विराजमान होते हैं। वे ही महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती आदि रूपमें उपास्य होकर सर्वभुक्ति-मुक्ति-प्रदायक होते हैं। वे ही विशुद्ध ब्रह्म, भूतभावन भगवान् विश्वनाथ, श्रीविष्णु, नृसिंह एवं श्रीमद्राघवेन्द्र रामभद्र तथा श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दरूपमें उपासित होकर सर्वसिद्धि प्रदान करते हैं। अस्तु—

श्रौत-स्मार्तप्रतिपादित स्वधर्मका सम्पादन परमेश्वरका आराधन है

इन सभी स्वरूपोंकी गायत्र्यादि वैदिक मन्त्रों एवं वर्णाश्रमानुसार श्रौत-स्मार्तकर्मोंद्वारा की गयी उपासना मुख्य है। वेदशास्त्रोक्त स्वधर्म-कर्मके अनुष्ठानके बिना पाशविकी उच्छृंखल चेष्टाओंका अन्त नहीं होता। बिना श्रौत-स्मार्तशृंखलानिबद्ध चेष्टाओंके इन्द्रिय-मन-बुद्धि आदिका नियन्त्रण असम्भव है और बिना सर्व करण-रोधके अदृश्य विशुद्ध ब्रह्मका साक्षात्कार भी असम्भव है। अत: श्रौत-स्मार्त-कर्म-धर्मद्वारा ही परमेश्वरका मुख्य आराधन है।

इसी विशुद्ध वैदिक धर्मका बौद्ध आदि अवैदिक एवं वैदिकाभासोंद्वारा विप्लव होनेपर भगवान् शंकराचार्यने अवतीर्ण होकर उसे पुनः प्रतिष्ठित किया है। श्रीविद्यारण्यप्रभृति विद्वानोंने तथा अन्यान्य प्राचीन-अर्वाचीन सन्तोंने भी इसी मतका पोषण किया है। ज्ञानेश्वर, तुकाराम, तुलसीदासने भी इसी परम उदार सिद्धान्तका पोषण किया है। उसमें तीनों वर्णोंके लिये गायत्री मुख्य उपास्य है। जिनके लिये गायत्रीका अधिकार नहीं है, उन अवैदिकोंके लिये अवैदिकी उपासनाएँ हैं। जो गायत्रीमन्त्रके अधिकारी त्रैवर्णिक वैदिकसंस्कार-सम्पन्न हों, उन्हें यदि गायत्रीमें परितोष न हो तो विष्णु, शिव आदि देवताओंका विष्णु, शिव आदि मन्त्रोंसे आराधन कर सकते हैं। वैदिकसंस्कार-सम्पन्न होनेके कारण इन मन्त्रोंमें उनका अधिकार सहज सिद्ध है। अर्थात् गणेश, शिव, शक्ति, विष्णु तथा सूर्य—इन पंच देवताओंकी, किंवा अन्य सगुण एवं निर्गुण ब्रह्मकी उपासना गायत्रीमन्त्रद्वारा ही पूर्ण सुसम्पन्न हो सकती है और इसके सिवा वैदिक शिव, विष्णु आदि मन्त्रोंसे भी तत्तत् उपासनाएँ हो सकती हैं।

इन समस्त वैदिक उपासनाओंमें वर्णाश्रमानुसार श्रौत-स्मार्तधर्मका अनुष्ठान भी परमावश्यक है। वेदने उपासनाविहीन कर्मोंको स्वप्रकाश ब्रह्मकी अपेक्षा स्वर्गादि तुच्छ फलके देनेवाले होनेसे अन्धतमकी प्राप्तिका कारण कहा है। परंतु कर्मविहीन उपासनाओंसे तो घोर अन्धतमकी प्राप्ति कही गयी है; क्योंकि स्वधर्मानुष्ठानके बिना इष्टमें चित्तकी एकाग्रतारूप उपासना भी सम्पन्न न हो सकेगी।

स्वधर्मभ्रष्टके लिये कहा गया है कि चाहे कितना भी श्रीहरिकी भक्ति, किंवा ध्यानमें तत्पर क्यों न हो, परंतु यदि आश्रमके आचारोंसे भ्रष्ट है तो वह पतित ही कहा जाता है। यथा—

हरिभक्तिपरो वापि हरिध्यानपरोऽपि वा।
भ्रष्टो यः स्वाश्रमाचारात्पतितः सोऽभिधीयते॥

(बृहन्नारदीयपु० ४। २४)

अत: चाहे वैष्णव हो, चाहे शैव हो—सबको वेदशास्त्रोक्त स्वधर्मका अनुष्ठान आवश्यक है। द्विजोंके

जो आचार-व्यवहारचिह्न हैं, वे सभी उसको अत्यन्त आदरणीय होने चाहिये।

कोई जिज्ञासु यह पूछ सकता है कि 'कुछ शैव तथा वैष्णवोंका कहना है कि गायत्री, यज्ञोपवीत एवं अन्यान्य ब्राह्मणादि धर्म शैव या वैष्णवके लिये गौण हैं, उनके लिये तो अष्टाक्षर, पंचाक्षरादि मन्त्रका ही अत्यन्त प्राधान्य होना चाहिये। वेद-शास्त्र तथा तदुक्त वर्णाश्रम-धर्मके बिना भी केवल शैव एवं वैष्णवधर्मसे उनका कल्याण हो जाता है।' इसका यह उत्तर है कि यद्यपि विष्णुमन्त्रादि प्राणिकल्याणके साधनरूपमें आदरणीय हैं तथापि वैष्णवतादिसे द्विजत्व ही अधिक प्रबल है; क्योंकि द्विजत्व परमेश्वरदत्त है। वैष्णवत्व, शैवत्व आदि प्राणिसम्पादित हैं, अतः वैष्णवतादिके निमित्तसे होनेवाले धर्मोंका सम्मान अवश्य करना चाहिये; परंतु परमेश्वरदत्त द्विजत्वकी रक्षाका भी ध्यान रखना परमावश्यक है। द्विजत्वकी अभिव्यक्ति यज्ञोपवीत, भस्म एवं शिखासे होती है। वैष्णवताकी अभिव्यक्ति कण्ठी, गोपीचन्दनादिसे होती है। वैष्णवताके चिह्नोंसे द्विजत्वके चिह्नोंका तिरस्कार अत्यन्त असंगत है। इसलिये वैदिकोंके गृहमें वैष्णवताको द्विजत्वसे अवरुद्ध होकर ही रहना चाहिये। अवैदिकोंके यहाँ यथारुचि व्यक्त लिंगोंसे वैष्णवता भले ही रहे।

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि शैव, वैष्णव, शाक्त—इन सभी सम्प्रदायोंमें प्रधान रूपसे दो भेद हो गये हैं—एक वैदिक, दूसरा अवैदिक। वैदिकोंके यहाँ वेद तथा वेदोक्त कर्म एवं तदनुसारी लिंगोंका प्राधान्य होता है और तदविरुद्ध प्रकारसे ही विष्णु, शिव आदि देवताओंकी उपासना होती है तथा सभी देवताओंका सम्मान होता है।

इन वैदिकोंमें किसी दूसरे देवताकी निन्दा करना पाप समझा जाता है। परंतु अवैदिक वैष्णवों तथा शैवोंके यहाँ वेद या तदुक्त धर्म-कर्म तथा तदनुकूल लिंगोंका कोई सम्मान नहीं, केवल साम्प्रदायिक आगम-तन्त्रादिके अनुसार आचार एवं चिह्नोंका ही अधिक सम्मान है।

द्विजके लिये वैदिक चिह्नोंका तिरस्कार अयुक्त है, शैवत्व या वैष्णवत्व पितृपरम्परासे नियत नहीं है। वैदिक लोगोंका तो यही कहना है कि जिस पुत्रके कल्याणके लिये उसके पिता, माता, पितामह-प्रपितामह आदिने जिस व्रतका या देवताका अनुष्ठान-आराधन किया हो, उस पुत्रके कल्याणका मूल वही व्रत एवं उसी देवताका आराधन है। ऐसी व्यवस्था माननेसे राग-द्वेष मिट जाते हैं। अतः जिसकी मातृ-पितृ-परम्परामें जिस देवताकी आराधना प्रचलित हो, उसे उसी देवताके आराधनमें तत्पर होना चाहिये।

मानसी आराधना

अजगररूपधारी अघासुरके मुखमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दने भी अपने बछड़ोंकी रक्षाके लिये प्रवेश किया। अघासुर अपनी अजगर-देहको छोड़ भगवान्‌के स्वरूपमें मिल गया। साधारण दृष्टिसे यहाँ आश्चर्य हो सकता था कि गो-ब्राह्मणोंके मांस-रुधिरोंसे उदर-पोषण करनेवाले, देवधर्म-शास्त्रद्रोही उस असुरको भगवत्सायुज्यपद कैसे प्राप्त हुआ? इसीपर श्रीमद्भागवतमें श्रीशुकने परीक्षित्‌से कहा—

राजन्! जिसके मंगलमय श्रीअंगकी मानसी प्रतिमा एक बार हृदयमें धारण करनेसे अपरिगणित प्राणियोंको मुक्ति प्राप्त हो जाती है, वे मायातीत सच्चिदानन्द भगवान् जिसके हृदयमें साक्षात् प्रविष्ट हुए, उसके सायुज्य (मुक्ति)-में क्या आश्चर्य—

सकृद् यदङ्गप्रतिमान्तराहिता
मनोमयी भागवतीं ददौ गतिम्।
स एव नित्यात्मसुखानुभूत्यभि-
व्युदस्तमायोऽन्तर्गतो हि किं पुनः॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। ३९)

भगवान्‌के मंगलमय श्रीअंगकी काष्ठमयी, धातुमयी प्रतिमा भी श्रद्धा-उत्कण्ठापूर्वक हृदयमें धारण और

चिन्तन करनेसे प्राणियोंको परम सद्गति प्रदान करती है। जिन महानुभावोंके अन्तर हृदयमें भगवान्‌के श्रीअंगकी मनोमयी प्रतिमा सदा विराजमान रहती है, वे तो अपना ही क्या; विश्वका कल्याण कर सकते हैं। वे भगवान्‌की मानसी मूर्तिके ध्यानको ही परम पुरुषार्थ मानते हैं, त्रिभुवनसम्पत्तिके लिये भी भगवान्‌के मंगलमय श्रीचरणारविन्दसे लव या अर्धनिमेष भी चलायमान नहीं होते।

जिस हृदयमें भगवान्‌के चरणारविन्दकी नखचन्द्र-चन्द्रिका विस्तीर्ण है, वहाँ शोक-मोह, पाप-ताप रह ही कैसे सकते हैं? जिस तरह शैत्यके योगसे निर्मल जल ही बर्फ, ओलारूपसे उपलब्ध होता है, किंवा घृत-वर्तिका या विचित्र जलादिके संघर्षसे अदृश्य व्यापक अग्नि ही दाहकत्व-प्रकाशकत्व-विशिष्ट दीपशिखा या विद्युल्लता-रूपमें अभिव्यक्त होती है, उसी तरह विशुद्ध सत्त्वमयी स्वेच्छा या कृपाके योगसे ही अदृश्य, अनन्त, आनन्दसुधाम्बुनिधि परमतत्त्व ही मायासे अनभिभूत या असंस्पृष्ट दिव्य मूर्तिमान् होकर व्यक्त होते हैं। उनका दर्शन, स्पर्श, अनुभव, परमतत्त्वका ही अनुभव है। अतएव जिन लोगोंने भगवान् श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्रका दर्शन, स्पर्श, अनुगमन किया; वे सभी परम पदके भागी हुए—

स यैः स्पृष्टोऽभिदृष्टो वा संविष्टोऽनुगतोऽपि वा।
कोसलास्ते ययुः स्थानं यत्र गच्छन्ति योगिनः॥

(श्रीमद्भा० ९।११।२२)

सीताके सन्देशसे प्रसन्न होकर मारुतिको अपने श्रीअंगका परिष्वंग (आलिंगन) देते हुए भगवान्‌ने ही कहा है—

एष सर्वस्वभूतस्तु परिष्वङ्गो हनूमतः।
मया कालमिमं प्राप्य दत्तस्तस्य महात्मनः॥

(वा०रा० ६।१।१३)

अर्थात् महात्मा मारुतिको इस अवसरपर मैं सर्वस्वभूत यह परिष्वंग (ब्राह्मसंस्पर्श) देता हूँ। इन बातोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि निर्गुण, निरंजन, विगत-विनोद, व्यापक ब्रह्म ही श्रीकौसल्यानन्दवर्धन राम या यशोदोत्संगलालित श्रीकृष्णके रूपमें व्यक्त होता है। फिर उनके संस्पर्शसे उनकी प्राप्ति—ब्रह्मकी प्राप्ति क्यों न हो? इतना ही नहीं, भावुकोंके मानस-पंकजमें व्यक्त भगवान्‌की मंगलमयी मानसी प्रतिमा भी शुद्ध ब्रह्मस्वरूप ही है, तभी उसका हृदयमें आधान होनेसे मुक्तिकी बात संगत हो सकती है। यद्यपि मनकी और कल्पनाएँ मनोराज्य-कोटिमें परिगणित होती हैं तथापि श्रीभगवान्‌के सम्बन्धकी सभी कल्पनाएँ—भावनाएँ—आराधनापदसे व्यवहृत होती हैं। जैसे—कामुक विधुरकी भावनासे होनेवाले कामिनी-साक्षात्कारको प्रमा (यथार्थ ज्ञान) न मानकर भ्रमरूप ही माना जाता है, वैसे उत्कण्ठापूर्वक भावनासे होनेवाले भगवान्‌के साक्षात्कारको भ्रमरूप नहीं समझा जाता; क्योंकि जैसे भावरूप निदिध्यासन या निर्गुणोपासनसे निर्गुण ब्रह्मका साक्षात्कार होता है, वैसे ही सगुण ब्रह्मकी भावनासे उसका साक्षात्कार होता है। यद्यपि कामुक-कामित कामिनी-साक्षात्कार और भक्तभावित भगवत्साक्षात्कार—इन दोनों ही स्थलोंमें पुनः-पुनः साभिनिवेश चिन्तनरूप अभ्याससे जन्य संस्कारप्रचय (संस्कार-समूह) ही कारण है, अर्थात् अभ्यासजन्य संस्कार-प्रचयकी ही महिमासे ब्रह्मका साक्षात्कार और उसीसे भावित कामिन्यादिका साक्षात्कार होता है तथापि ब्रह्मसाक्षात्कार-स्थलमें प्रमाणका संवाद होनेसे उसे प्रमा (यथार्थ ज्ञान) माना जाता है। प्रमाण-संवाद न होनेसे ही भावित कामिन्यादि साक्षात्कारको भ्रमरूप माना जाता है।

जिस ब्रह्मका अभ्यासजन्य संस्कारसंस्कृत अन्तःकरणसे जिस रूपमें साक्षात्कार होता है, वह अपौरुषेय स्वतःप्रमाण वेदान्तसे सम्मत है। अतः वह साक्षात्कार प्रमारूप है, परंतु अन्यभावनाजन्य प्रत्यक्षोंमें प्रमाणका संवाद नहीं है। इसके सिवा विधुरभावित कामिनी या शीतातुरभावित अग्निका साक्षात्कार तो होता है, परंतु वहाँ तो वे हैं ही नहीं। जब जिसका साक्षात्कार होता हो और वह वस्तु वहाँ न हो, तब उस साक्षात्कारको प्रमा कैसे

कहा जा सकता है? परमात्मवस्तु तो सर्वत्र सर्वदा ही विराजमान है, अतः उसके प्रमाणान्तरसंवादी साक्षात्कारको भ्रम माननेका कोई भी कारण न होते हुए भी योगमायासे आवृत होनेके कारण सबको नहीं उपलब्ध होते। जिसके प्रति योगमायारूप जवनिका (पर्दा)-का अपसारण हो जाता है, उसे ही भगवान्‌का साक्षात्कार होता है।

भगवान्‌के स्वेच्छामय स्वरूपका प्रादुर्भाव कहीं भी हो सकता है। परीक्षित्‌के रक्षार्थ उत्तराके गर्भमें; प्रह्लादके रक्षार्थ स्तम्भमें जैसे उनका आविर्भाव हो सकता है, वैसे ही भक्तकी भावनासे भक्तके हृदयमें भी प्रादुर्भाव होता है। इसीलिये भावुकोंने कहा है—

यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय॥ (श्रीमद्भा० ३।९।११)

अर्थात् भगवन्! भक्त अपनी बुद्धिसे आपके जैसे-जैसे रूपका भावन करता है, आप वैसे-वैसे ही स्वरूपको धारण करते हैं। इसीलिये भक्तकी इच्छासे ही भगवान्‌का रूप बनता है।

उपासनामें भावनाका प्राधान्य

प्रथम शास्त्रों और सत्पुरुषोंके वचनोंसे भगवान्‌के स्वरूप और सौन्दर्य, माधुर्य, भूषण, वसन, अंग-उपांग आदिकी मनसे ही भावना की जाती है और वह भावना नीलमेघ, पंकज, मणि, सूर्य, चन्द्र, विद्युत् आदि उपमाओंके ही आधारपर होती है, पश्चात् ध्यान और मानसपूजनकी महिमासे वही साधारण-सी ही भावनामयी मूर्ति दिव्य श्रीविग्रहरूपमें व्यक्त हो जाती है। इसीलिये यहाँकी भावना केवल मनोराज्य नहीं है। धातुमयी मूर्तिमें भी यद्यपि ईश्वरके व्यापक होने और मन्त्रकी विचित्र शक्तिसे उनका आविर्भाव माना जाता है तथापि भावनाकी वहाँ भी बड़ी प्रधानता है। तभी कहा गया है कि भावमें ही देवता है, इसीलिये भाव ही मुख्य कारण है—

भावेषु विद्यते देवस्तस्माद्भावो हि कारणम्॥

साधारण-से-साधारण भोग या नैवेद्यमें भावनाकी महिमासे प्रियत्वसम्पत्ति हो जाती है। भावुक लोग भगवान्‌के सम्मुख स्थापित नैवेद्यमें श्रीलक्ष्मीनिर्मित दिव्यभोगकी भावना करते हैं। कौसल्या-सुमित्रादि माताओं और सुनयनादि श्वश्रुओंसे निर्मित अनन्त व्यंजनोंकी भावना साधारण शाकमें भी बनायी जा सकती है। भक्त कहता है—

'नाथ! आपने जिस रुचिसे शबरीके बेर और सुदामाके तण्डुलको ग्रहण किया था, उसी रुचिसे मेरे इस नैवेद्यको ग्रहण करो। देव! श्रीयशोदा, रोहिणीके हाथके नवनीत और दधिकी भावनासे मेरे इन पदार्थोंको ग्रहण करो।'

श्रीसीता-राधासे परिवेषित व्यंजनोंकी भावनासे सचमुच भक्तसमर्पित वस्तु वैसी ही हो जाती है। भगवान्‌के सम्मुख स्थित नैवेद्योंमें श्रीराधाकी अधर-सुधा और भूषण-वसनोंमें श्रीराधाकी ही भावनासे अपनी समर्पित वस्तुओंका महत्त्व बढ़ा लिया जाता है। किसी कर्ममें साभिनिवेश मनका योग होनेसे उसका महत्त्व बढ़ जाता है। यज्ञ, दान, तप आदि भी विद्याभावनासहित किये जानेसे उच्चतम फलके कारण बन जाते हैं। कायिक, वाचिक, मानस—विविध कर्मोंमें मानस कर्मकी महिमा अधिक है। कायिक, वाचिक, कर्मोंका मूल भी मानस कर्म ही है। जैसे सूर्यकान्तापर सूर्य व्यक्त होता है, वैसे ही शुद्ध भावनापर भगवान्‌का प्राकट्य होता है। भावनामयी मूर्तिपर भगवान्‌का प्राकट्य होता है। जैसे वह्निकी ज्वाला, चन्द्र-सूर्यकी ज्योत्स्ना या प्रभा अन्यत्र अव्यक्त होनेपर भी अभिव्यंजक संस्थानके योगसे व्यक्त होती है, वैसे ही मन्त्रविधान और भावनाकी महिमासे मूर्तियोंमें देवतत्त्वकी अभिव्यक्ति होती है। इन दृष्टियोंसे मनोमयी मूर्तिमें तो साक्षात् ही भगवान्‌का आविर्भाव होता है। यद्यपि सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमात्मतत्त्वका स्वरूप श्रुति-युक्तिसे समझ लिया जा सकता है और इसे भी अनन्तानन्त जन्मोंके पुण्यपुंजका ही परिणाम समझना चाहिये तथापि श्रद्धाभक्तिपूर्वक निरन्तर चिन्तन एवं भावनाके बिना तत्त्वका अपरोक्ष नहीं होता।

सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् भगवान्‌की निखिल-

रसामृतमूर्ति मनोहर विग्रहका ध्यान, भावन, मानस-आराधन ही समस्त पुरुषार्थोंका परम मूल है। बिना इसके सगुण या निर्गुण किसी भी स्वरूपका साक्षात्कार नहीं हो सकता। पुरुषार्थका मूल ही क्या, महानुभावोंने इसीको परम पुरुषार्थ भी स्वीकार किया है। यदि मनका अखण्ड प्रवाह सौन्दर्यमाधुर्यसुधाजलनिधि भगवान्‌के श्रीअंगकी ओर हो, पदनखमणिचन्द्रिका या अमृतमय मुखचन्द्रके माधुर्य-रसास्वादनमें दृष्टि आसक्त हो जाय, तब तो कुछ अवशिष्ट ही नहीं रहता। परंतु जबतक मनोमयी भगवदीय मूर्तिरूपमें भगवान्‌का प्राकट्य नहीं हुआ और इस ओर पूर्ण मानसी स्थिति नहीं हुई, तबतक उसकी सिद्धिके लिये अन्य अर्चा आदि मूर्तियोंमें भगवान्‌की तनुजा और वित्तजा आराधना करनी चाहिये।

आचार्योंने कहा है कि प्राणियोंको सदा ही श्रीकृष्ण-सेवामें संलग्न रहना चाहिये। उनमें भी मानसी सेवा बड़े महत्त्वकी है। चित्तकी भगवत्प्रवणता (भगवान्‌में तन्मयता) ही मानसी सेवा है, उसीकी सिद्धिके लिये तनुजा और वित्तजा सेवा करनी चाहिये—

कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता।
चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा॥

(श्रीमद्वल्लभाचार्य)

सगुणोपासनामें सरलता

श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द भगवान्‌से अर्जुनने प्रश्न किया कि जो भक्त आपकी परम श्रद्धासहित उपासना करते हैं और जो अव्यक्त अक्षरकी उपासना करते हैं, इन दोनोंमें कौन अतिशय रूपसे आत्यन्तिक पुरुषार्थप्राप्तिके उपायको जाननेवाले हैं?

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥

(गीता १२। १)

प्रश्नका आशय यह है कि गीतामें द्वितीय अध्यायसे लेकर दशम अध्यायपर्यन्त भगवान्‌ने भिन्न-भिन्न स्थलोंमें सर्वोपाधिविनिर्मुक्त, निराकार, निर्विकार, सर्वेन्द्रियाद्यगोचर ब्रह्मकी एवं सर्वेश्वर्यसर्वज्ञानशक्त्यादि-सम्पन्न विशुद्ध सत्त्वमय सगुण भगवत्स्वरूपकी उपासनाका वर्णन किया है। विशेषतः विश्वरूपाध्यायमें भगवान्‌ने सगुण परमेश्वरके अचिन्त्य, अद्भुत, लोकोत्तर-चमत्कारी स्वरूपका दर्शन भी कराया और अन्तमें **'मत्कर्मकृत्'** (११। ५५)—इस वचनसे यह कहा कि मेरे लिये श्रौत-स्मार्तकर्म करता हुआ, मुझे ही ध्येय, ज्ञेय, परमाराध्य समझता हुआ मेरी भक्ति करे और सर्वभूतोंमें वैरभावविवर्जित हो तो प्राणी मुझे प्राप्त कर लेता है।

सगुणोपासना एवं निर्गुणोपासनाका तारतम्य

ऐसी स्थितिमें यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि दोनों उपासनाओंमें कौन श्रेष्ठ है? **'एवं'** शब्दसे अव्यवहित पूर्वोक्त प्रकारका परामर्श होता है। यद्यपि अव्यवहित पूर्व ग्यारहवें अध्यायमें विश्वरूपका वर्णन है तथापि यहाँ सविशेष स्वरूपमात्रकी उपासनाका प्रश्न समझना चाहिये अर्थात् जो कोई भगवान्‌के अचिन्त्यानन्त कल्याणगुणगणार्णव विश्वरूप एवं श्रीमन्नारायण, श्रीसदाशिव अथवा श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द, श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्रकी उपासनामें निरत है और जो भगवान्‌के निर्विशेष स्वरूपमें निरत है, इन दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है?

तब श्रीभगवान्‌ने कहा—जो महानुभाव मेरे सगुणस्वरूपमें मन लगाकर परम श्रद्धासे उपासना करते हैं, वे मेरे मतमें अत्यन्त श्रेष्ठ हैं—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

(गीता १२। २)

तब क्या निर्गुण स्वरूपमें परिनिष्ठित श्रेष्ठ नहीं है? इस आशंकाका समाधान करते हुए भगवान् कहते हैं कि अव्यक्त, निर्गुण ब्रह्ममें निरतचित्त

पुरुषोंको क्लेश अधिकतर होता है; क्योंकि देहधारियों—देहाभिमानियोंको अव्यक्त गति—निर्गुणप्राप्ति सम्पादित करनी बहुत कठिन है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥

(गीता १२।५)

यहाँ यह कहा जा सकता है कि 'जब श्रुतियोंमें निर्विशेष ब्रह्मकी उपासनासे अविद्या, तत्कार्यात्मक-प्रपंचनिवृत्ति तथा परमानन्दप्राप्तिरूप मोक्ष सद्यःश्रुत है एवं सविशेष ब्रह्मकी उपासनासे ब्रह्मलोककी प्राप्ति कही गयी है, जिससे कालान्तरमें कैवल्य प्राप्त होता है, तब निर्विशेष ब्रह्मकी उपासनासे सविशेष सगुण-ब्रह्मकी उपासनाका उत्कृष्टत्व कैसे कहा जा सकता है?' यद्यपि यह ठीक है कि अदृश्य, अग्राह्य, अचिन्त्य, निराकार, निर्विकार, प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परब्रह्म परमात्माकी उपासनासे प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परब्रह्मका साक्षात्कार होनेसे मूल अविद्याकी निवृत्ति होती है और अविद्या, तत्कार्यात्मक प्रपंचकी निवृत्ति होते ही अनावृत परमानन्दघन ब्रह्मात्मनावस्थानरूप सद्योमुक्ति प्राप्त हो जाती है और सगुण ब्रह्मकी उपासनासे ब्रह्मलोककी प्राप्ति एवं कल्पान्तमें ब्रह्माके साथ कैवल्य मुक्ति प्राप्त होती है, अतः सगुणोपासनाकी अपेक्षा फलदृष्टिसे निर्गुणोपासनाका ही महत्त्व है तथापि निर्गुणोपासनामें कठिनाई अधिक है, सगुणोपासनामें सरलता है—'**क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम्।**' (गीता १२।५)

यदि कहा जाय कि 'निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्ति उत्कृष्ट है, अतः उसमें अधिकतर क्लेश होना उसकी निकृष्टताका हेतु नहीं है; क्योंकि उत्कृष्ट फलप्राप्तिमें अधिकतर क्लेश होता ही है' तो यह ठीक नहीं; क्योंकि सगुण-उपासनासे भी उसी फलकी प्राप्ति होती है, जिसकी निर्गुणोपासनासे। इसका कारण यह है कि भगवत्कृपासे भगवत्स्वरूप साक्षात्कारद्वारा उसी निर्गुणोपासक-प्राप्य कैवल्यपदकी प्राप्ति हो जाती है।

मनोवचनातीत, अनिदमात्मक (दृश्यप्रपंचसे अतीत), अनिर्देश्य ब्रह्मका प्राणिबुद्धिमें आरोहण ही अतिकठिन होता है। नामरूपक्रियात्मक दृश्यप्रतीतिके निराकरणके बिना निर्दृश्य दृक्का अभिव्यंजन होना अशक्य है; क्योंकि जैसे चन्द्रमाके किसी असाधारण अवस्थाविशेष विशिष्टस्वरूपपर ही राहुका प्राकट्य होता है, अन्यथा नहीं, वैसे ही दृश्याकार परिणामविवर्जित रजस्तमोऽननुविद्ध विशुद्धचित्तसत्त्वपर ही—प्रत्यक्चैतन्याभिन्न निर्विशेष ब्रह्मका साक्षात्कार होता है। चित्तकी तादृशी अवस्था सम्पत्ति देहाभिमानियोंके लिये अत्यन्त दुःशक है। इसके विपरीत सगुणोपासनामें सरलता है। यद्यपि बाह्य विषयोंसे मनःप्रत्यावर्तनपूर्वक भगवत्स्वरूपमें मनोयोग करना कठिन ही है तथापि निर्गुण, निर्विशेषमें मनोयोग उससे भी कठिन है। उसकी अपेक्षा सगुणमें मनका आकर्षण होना सरल है। भगवान्‌की मंगलमयी मनोरंजक लीलाएँ मुक्त, मुमुक्षु, विषयी आदि सब तरहके अधिकारियोंके चित्तको खींचनेवाली होती हैं।

जनसाधारण, वे चाहे ज्ञान, तत्साधनविहीन भी क्यों न हों, उनके कल्याणार्थ निर्गुण, निराकार, निर्विकार, शुद्ध, सच्चिदानन्दघन परब्रह्म सगुण, साकाररूपमें प्रकट होता है—

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥

(श्रीमद्भा० १०।२९।१४)

राम, कृष्ण, विष्णु, शिवकी उपासना शुद्ध ब्रह्मकी ही उपासना है। बुद्धि कुछ भी हो, किंतु जिस वस्तुकी उपासना होती है, उसीकी प्राप्ति होती है। जैसे दीपक-बुद्धिसे भी यदि चिन्तामणिमें प्रवृत्त हुआ जाय तो भी प्राप्ति चिन्तामणिकी ही होती है, वैसे ही चाहे जिस बुद्धिसे भगवान्‌की उपासना हो, प्राप्ति उस परमात्माकी ही होती है।

सच्चिदानन्द परब्रह्म आकाशादि समस्त प्रपंचका कारण है और सर्वत्र विराजमान है। विशेषतः बुद्धिरूपा गुहा या हार्दाकाशमें उसका विशेष रूपसे

उपलम्भ होता है। जैसे चन्द्रके सम्बन्धसे राहुका दर्शन होता है, वैसे ही शुद्ध बुद्धिके सम्बन्धसे परमात्मपदका दर्शन होता है। भावना-भावित भगवान्‌की सगुण मूर्ति ही वास्तविक दिव्य मूर्तिरूपमें व्यक्त होती है। भगवान् सर्वत्र होते हुए भी मायाजवनिका (पर्दे)-से ढके हैं। उसे हटाकर वे जहाँसे चाहें वहाँसे व्यक्त हो सकते हैं। पाषाणसे भी मायाजवनिकाको हटाकर भगवान् प्रह्लादके लिये प्रकट हो सकते हैं, तब फिर शुद्ध मन तो भगवान्‌के उपलम्भका साधन ही है।

वस्तुत: किसी भी वस्तुमें चित्तको एकाग्र करनेसे मूल परमात्मपदकी ही प्राप्ति होती है। जैसे स्फटिकमें लालपुष्पके सम्बन्धसे '**रक्त: स्फटिक:**' (लाल स्फटिक है) ऐसी बुद्धि होती है, उसीमें यदि किसीको 'स्फटिक है' ऐसा ज्ञान प्रमुष्ट (विलुप्त) हो जाता है तो उसे उसमें पद्मरागमणिकी बुद्धि होती है। आगे चलकर चन्द्रकी चाँदनी आदिके संसर्गसे उसीमें इन्द्रनीलकी बुद्धि होने लगती है। फिर भी इन सभी बुद्धियोंका आलम्बन एक स्वच्छ स्फटिक ही है। वैसे ही एक शुद्ध ब्रह्मतत्त्व ही मायाके सम्बन्धसे अव्यक्त ब्रह्म और सूक्ष्म प्रपंच उपाधिसे उपहित होनेपर हिरण्यगर्भ एवं स्थूल प्रपंचसे उपहित होकर वही विराट् कहलाता है। जैसे स्वच्छ स्फटिकमें ही इन्द्रनीलबुद्धिसे दृढ़ चिन्तनद्वारा इन्द्रनीलबुद्धि मिटकर पद्मरागबुद्धि होगी।

यह दृढ़ चिन्तनकी महिमा है कि वह चिन्तनीय वस्तुका यथार्थ स्वरूप अवगत करा देता है। अत: पद्मरागका चिन्तन रक्त स्फटिकका बोध करा देगा। पुनश्च उसके चिन्तनसे अन्तमें अवश्य ही '**शुद्धः स्फटिक:**' ऐसा बोध हो जाता है। वैसे ही स्थूलका चिन्तन करते-करते सूक्ष्मका और फिर उसका चिन्तन करते-करते कारणका, फिर कार्यकारणातीत शुद्ध ब्रह्मका बोध (साक्षात्कार) होता है। शुद्ध मन तो ऐसी सुन्दर उपाधि है, जहाँ '**स्वच्छ: स्फटिक:**' के समान शुद्ध ब्रह्मका बोध होता है। अन्य मूर्तियोंके चिन्तनमें चिन्तनीय पदार्थ पृथक् होता है, मन चिन्तन-व्यापारमें ही लगा रहता है। परंतु यहाँ तो मन ही ध्येय भगवान्‌की मूर्तिरूपसे भी व्यक्त होता है और वही चिन्तन करनेवाला होता है। मानसजपमें भी यही हाल है, वहाँ मनको ही मानसमन्त्र बनना पड़ता है। इस मानसजप और ध्यानसे मनकी शुद्धि, एकाग्रता, भगवान्‌के वास्तविक स्वरूपकी प्राप्ति बड़ी ही सुविधाके साथ हो जाती है।

अव्यभिचार भक्तियोग

प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न भगवान्‌को अव्यभिचार भक्तियोगसे सेवन करनेवाले सात्त्विक, राजस, तामस गुणोंका उल्लंघन करके ब्रह्मभावको प्राप्त होते हैं। गुणमय संसारसे छूटनेका एकमात्र यही सुन्दर उपाय है। वेदान्तोंका श्रवण, मनन करनेपर जिस प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न परमात्मतत्त्वका निश्चय होता है उसीका निरन्तर निदिध्यासन करनेसे उसीका साक्षात्कार होता है। रज्जु आदि अधिष्ठानके साक्षात्कारसे उसमें कल्पित सर्प, धारा, माला आदिका जैसे अभाव हो जाता है, वैसे ही निर्विकार सर्वाधिष्ठान चिदात्मतत्त्वका साक्षात्कार होनेसे उसमें कल्पित गुणमय प्रपंचका आत्यन्तिक अभाव हो जाता है। इसी कारण '**मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।**' (गीता १४।२६) यहाँपर अव्यभिचार भक्तियोगसे शुद्ध परब्रह्मका निदिध्यासन या ज्ञानाभ्यास ही लिया जाता है। यद्यपि भक्तिका ज्ञान या निदिध्यासन अर्थ पक्षपातयुक्त-सा प्रतीत होता है तथापि 'स्व-स्वरूपानुसन्धान' को भक्ति कहा है। विचार करनेसे यह ठीक भी मालूम पड़ता है। विषयाकारका भजन करनेवाला ज्ञान '**भक्ति**' शब्दसे कहा जा सकता है।

'**विषयाकारं भजतीति भक्तिः**'। इसके अतिरिक्त '**भज सेवायाम्**' धातुसे 'भक्ति' शब्दकी सिद्धि होती है—'**भजनं भक्तिः**।' भजन अर्थात् सेवनको ही भक्ति कहा जाता है।

मानसी सेवा

सेवा यद्यपि शरीर, इन्द्रिय, बुद्धिसे की गयी कायिकी, ऐन्द्रियिकी, मानसी भेदसे अनेक हैं तथापि मुख्य सेवा मानसी ही है। मानसी सेवा ही सर्वश्रेष्ठ है। श्रीवल्लभाचार्यजीने भी कहा है—

कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता।
चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा॥

अर्थात् प्राणीको सदा श्रीकृष्णसेवा करनी चाहिये। सेवामें भी मानसी सेवा ही सर्वोत्कृष्ट सेवा है। चित्तकी कृष्णोन्मुखता या कृष्णमें तन्मयता ही सेवा है। मानसी सेवाकी सिद्धिके लिये ही तनुजा और वित्तजा सेवा करनी चाहिये। अर्थात् कायिकी, वाचिकी आदि सेवा करते-करते अन्तमें मानसी सेवाकी योग्यता प्राप्त होती है। 'विजातीयप्रत्ययनिरासपूर्वक सेव्याकाराकारित मानसी वृत्तिप्रवाह' ही मानसी सेवा है। जिस प्रकार समुद्रोन्मुखी गंगाका अखण्ड प्रवाह चलता है, उसी प्रकार भगवदुन्मुखी मानसी वृत्तियोंका प्रवाह चलना ही भगवान्‌की मानसी सेवा है। जैसे सगुण, साकार, सच्चिदानन्द भगवान्‌के आकारसे आकारित वृत्तिका प्रवाह होता है, वैसा ही वेदान्तवेद्य, निर्गुण, निराकार, निर्विकार, अदृश्य, अग्राह्य, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य भगवान्‌की स्वरूपविषयिणी वृत्तियोंका भी प्रवाह होता है। निर्विकार परब्रह्माकार मानस प्रवाह ही भक्ति, भजन या सेवा है और वही भगवान्‌का प्रापक होनेसे या एकाग्रता होनेसे योग भी है। जब वह बीच-बीचमें भगवान्‌से हटकर बाह्य प्रपंचोंसे जुड़ जाता है, तब व्यभिचारी कहा जाता है। अतः अन्यसम्बन्धविवर्जित, निर्विशेष भगवान्‌के आकारसे आकारित अविच्छिन्न मानस वृत्ति-प्रवाह ही अव्यभिचार भक्तियोग है, वही ज्ञानाभ्यास है और वही निदिध्यासन भी है।

चार प्रकारके भक्त

इस अव्यभिचार भक्तियोगसे भगवान्‌का सेवन करनेसे साक्षात्कारद्वारा अति शीघ्र ही गुणमय प्रपंचका बाध हो जाता है। ज्ञान चतुर्थी भक्ति है। अतः भगवान्‌के आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—ये चार भक्त होते हैं—'**चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन**।' (गीता ७। १६) ज्ञानी ज्ञानसे ही भगवान्‌का भजन या सेवन करता है। ज्ञानी भगवान्‌का अत्यन्त प्रिय भक्त है। यद्यपि भगवान्‌के भजन करनेवाले सभी भगवान्‌के प्रिय एवं उदार हैं तथापि ज्ञानी तो एकमात्र भगवान्‌में ही भक्ति करता है; क्योंकि उसकी दृष्टिमें भगवान्‌से भिन्न दूसरी वस्तु रहती ही नहीं। अतएव ज्ञानीको भगवान् एक क्षणके लिये भी अदृश्य नहीं होते और भगवान्‌को ज्ञानी अदृश्य नहीं होता—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

प्रथम सूक्ष्मतत्त्वमें मनकी स्थिति असम्भव है, अतः विराट्, हिरण्यगर्भादि तत्त्वोंमें मनको स्थित करके फिर क्रमेण सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् सगुणमें स्थिति-सम्पादन करते हुए निर्गुण, निराकार, निर्विशेष, ब्रह्ममें स्थिति सम्पन्न होती है। स्थूल आलम्बनोंका अपोहन करते हुए सूक्ष्म आलम्बनोंमें चित्तकी एकाग्रता करते हुए अन्तमें चित्त अत्यन्त निरालम्ब बनाया जा सकता है। श्रीकपिलदेवजीने भी निर्गुण, निर्विकार ब्रह्ममें स्थितिके लिये भगवान्‌की मधुर, मनोहर, मंगलमयी, सगुण, साकार सच्चिदानन्दमयी मूर्तिका ध्यान बतलाया है। प्रथम अस्त्र-शस्त्र, भूषण, वसनादिसे सुसज्जित मूर्तिका ध्यान कहा है, फिर अस्त्र-शस्त्ररहित केवल श्रीअंगका ध्यान करना बतलाया है। एक-एक अंगका ध्यान और उसके सौन्दर्य, माधुर्य एवं महिमाओंका प्रेमपूर्वक चिन्तन बतलाया है। फिर श्रीचरणारविन्दकी नखमणिचन्द्रिका या

अमृतमय मुखचन्द्रके सौन्दर्य, माधुर्यमें मनकी तल्लीनता कही गयी है। परम पवित्रता, अद्भुत महिमा, लोकोत्तर सौन्दर्य, माधुर्यके चिन्तनसे भावुकका मन प्रेमोन्मादमें विभोर हो जाता है। प्रेममें जैसे अंग एवं वागादि इन्द्रियोंमें शैथिल्य होता है, वैसे ही मनमें भी शैथिल्य आता है, जिससे कि वह ध्येयस्वरूपको भी ग्रहण करनेमें असमर्थ हो जाता है। जब मन सब दृश्योंसे रहित हो जाता है, यहाँतक कि ध्येयस्वरूपसे भी शून्य हो जाता है, तब ध्येयके अभावमें ध्येयाकार वृत्तिरूप ध्यान और ध्यानका आश्रयरूप ध्याता भी नहीं उपलब्ध होता। उस समय ध्याता-ध्यान-ध्येयके बाधके अवधि एवं साक्षिरूपसे भगवान्का प्राकट्य होता है। अर्थात् भावुकोंका मन आकर्षण करनेके लिये ही भगवान् ध्येयरूपसे प्रकट होते हैं। उसे आकर्षित करके फिर वही भगवान् ध्येयातीत अग्राह्य रूपमें प्रकट होते हैं। यों भी भगवान्में ही चित्त लगाकर भगवत्परायण होकर सर्वभावसे जो भगवान्को भजते हैं, भगवान् उनके ऊपर कृपा करके उन्हें बुद्धियोग प्रदान करते हैं। उनके हृदयमें तेजोमय ज्ञानदीपका प्रकाश करके अज्ञानान्धकार दूर कर देते हैं—

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(गीता १०।१०-११)

सविकल्पक और निर्विकल्पक ब्रह्म

यद्यपि वेदान्तवेद्य परमतत्त्व अत्यन्त अदृश्य, अग्राह्य, अचिन्त्य है तथापि भगवान्के भक्त निश्चिन्त रहते हैं। वे जानते हैं कि हमें निरन्तर प्रभुके पाद-पंकजमें आत्मसमर्पण करके प्रभुका भजन ही करना चाहिये। यदि प्रभु अपने निर्गुण, निराकार, निर्विकार स्वरूपका साक्षात् कराना आवश्यक समझेंगे तो जिस किसी तरह साक्षात्कार करा देंगे। अत्यन्त बधिरके लिये शब्द एवं जन्मान्धको रूप वैसे ही दुर्ग्राह्य हैं, जैसे अज्ञानीको ब्रह्म दुर्ग्राह्य है, परंतु भगवान् श्रोत्र और नेत्रका निर्माण करके दुर्ग्राह्य शब्द और रूपको सुग्राह्य एवं सुज्ञेय बना देते हैं। उन भगवान्को अपने अत्यन्त अचिन्त्य एवं दुर्ज्ञेय निराकार रूपका साक्षात्कार करा देनेमें कोई भी कठिनाई नहीं पड़ती। अतः पूर्ण विश्वास और आशासे भगवान्के पाद-पंकजका अव्यभिचार भक्तियोगसे सेवन करनेवालेको दुर्गम-से-दुर्गम सभी तत्त्व प्राप्त हो जाते हैं। फिर गुणोंका उल्लंघन भी उनके लिये सुगम हो जाता है—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥

श्रीमुखकी भी उक्ति है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

(गीता १४।२७)

अर्थात् अमृत, अव्यय, शाश्वतधर्म एवं ऐकान्तिक सुखस्वरूप ब्रह्मकी मैं ही प्रतिष्ठा हूँ। मुझे भजनेसे गुणोंका अतिक्रमण बड़ी सरलतासे हो सकता है। '**अहं**' पदका अर्थ प्रत्यगात्मा है। भावार्थ यह हुआ कि जैसे महाकाश ही घटाकाशके रूपमें प्रतिष्ठित होता है, वैसे ही मैं प्रत्यगात्मा ही परब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ। अर्थात् परमात्मा ही प्रत्यगात्मारूपमें प्रतिष्ठित होता है। अतः जैसे घटाकाश महाकाशसे अभिन्न ही है, उसी तरह प्रत्यगात्मा परमात्मस्वरूप ही है। परमात्मा प्रत्यगात्मा (अन्तरात्मा)-रूपसे प्रतिष्ठित होते हैं। प्रत्यगात्मा परमात्माकी प्रतिष्ठा है अथवा '**अहं**' पदका अर्थ प्रत्यक्चैतन्याभिन्न, मायातीत, अदृश्य, अग्राह्य, अलक्षण, निर्विकल्प, निर्विशेष शुद्ध परमात्मा है, जैसा कि '**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना**' (गीता ९।४), '**ये त्वक्षरमनिर्देश्यम्**' (गीता १२।३), '**ते प्राप्नुवन्ति मामेव**' (गीता १२।४) इत्यादि स्थलोंमें विवक्षित है। ब्रह्मपदका अर्थ मायाविशिष्ट सविशेष सविकल्प ब्रह्म है। इस तरह भावार्थ यह हुआ कि मैं निर्विकल्प ब्रह्म सविकल्प ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ। निर्विकल्प ब्रह्ममें

सविकल्प ब्रह्म प्रतिष्ठित कल्पित है। मुझे सेवन करनेसे सविकल्प प्रपंचका लंघन बड़ी सरलतासे हो सकता है अथवा '**ब्रह्म**' पदका निर्गुण, निराकार, निर्विकार ब्रह्म अर्थ है और '**अहं**' पदका अर्थ सगुण, साकार, ब्रह्म (श्रीकृष्ण) है। अभिप्राय यह है कि मैं सगुण ब्रह्म निर्गुण ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ। यहाँ '**राहो: शिर:**' के समान सम्बन्धार्था षष्ठी अभेदमें ही है अर्थात् जैसे व्यापक, अव्यक्त अग्नि दहन, प्रकाशन, पाचनादि कार्य करनेके लिये घृत, वर्तिकादिके सम्बन्धसे व्यक्त साकार अग्निके रूपमें प्रतिष्ठित-प्रवृत्त होता है, वैसे ही निर्गुण, निराकार, निर्विकार, अव्यक्त ब्रह्म भक्तानुग्रहादि कार्य करनेके लिये अपनी अचिन्त्य दिव्यलीलाशक्तिसे सगुण, साकार व्यक्तरूपमें प्रतिष्ठित होता है। इसीलिये सगुण ब्रह्म ही निर्गुण ब्रह्मकी प्रतिष्ठा है। अत: मेरा आराधन करनेसे ही गुणोल्लंघन आदि भक्तानुग्रह सिद्ध होता है। कुछ लोगोंका कहना है कि सगुण ब्रह्म निर्गुण ब्रह्मकी प्रतिष्ठा अर्थात् आधार है। जैसे आतप (घाम)-की प्रतिष्ठा उसका उद्गमस्थान या आधार सूर्य है, सूर्यसे ही निकलकर सूर्यके सहारे ही आतप रहता है, वैसे ही सगुण, साकार श्रीकृष्णचन्द्रकी मधुर मूर्ति ही निर्गुण ब्रह्मकी प्रतिष्ठा या आधार है। सूर्यस्थानीय श्रीकृष्ण हैं, आतप-स्थानीय निर्गुण ब्रह्म है। '**अनादिमत्परं ब्रह्म**' (गीता १३।१२)—इस वचनमें भी ब्रह्मको '**अनादि**' और '**मत्परं**' कहा गया है। यहाँ '**मत्परं**' का अर्थ यह है कि '**अहं श्रीकृष्ण: पर उत्कृष्टो यस्मात्तन्मत्परम्**।' मैं श्रीकृष्ण ही हूँ, पर—उत्कृष्ट, जिससे—निर्गुण ब्रह्मसे उत्कृष्ट मैं सगुण ब्रह्म हूँ। इसीलिये उन लोगोंका मत है कि औपनिषद ब्रह्मात्मदर्शियोंका ब्रह्म आतपके समान है और भक्तोंका भगवान् सूर्यस्थानीय है। परंतु उनका यह कथन श्रुति-सूत्रोंके विरुद्ध है। वेद, वेदान्त, ब्रह्मसूत्र आदि सभी शास्त्रोंका परम तात्पर्य ब्रह्ममें ही है। '**ब्रह्मविदाप्नोति परम्**' (तैत्तिरीय० २।१), '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' (तैत्तिरीय० २।१), '**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**' इत्यादि वाक्योंमें सर्वत्र ब्रह्मका ही विचार चलता है। श्रीकृष्ण वैदिक औपनिषद परब्रह्मसे भिन्न होते तब तो उनमें वेदवेद्यता नहीं सिद्ध होती, जो कि '**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो**' (गीता १५।१५) इत्यादि वचनोंसे भगवान्ने स्वीकार की है। अतएव '**अनादिमत्परं ब्रह्म**' यहाँ भी '**मत्परं**' ऐसा पदच्छेद न करके '**अनादिमत्परं ब्रह्म**' ऐसा पदच्छेद करना युक्त है, जिसका सारांश यह है कि ब्रह्म अनादिमान् एवं पर अर्थात् सर्वोत्कृष्ट है। ब्रह्म-पर्यवसायी-प्रकरणको विच्छिन्न करके अन्य वर्णनका प्रसंग लाना अप्राकृत प्रक्रिया है एवं ब्रह्मज्ञानकी प्रशंसाके प्रसंगमें उसे किसीसे भी अपकृष्ट कहना सर्वथा विचारशून्यता है।

श्रीमद्भागवतमें भी सजातीय, विजातीय, स्वगतभेदरहित, स्वप्रकाश, नित्य विज्ञानको ही तत्त्व कहा है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

(श्रीमद्भा० १।२।११)

'अद्वय ज्ञानको ही तत्त्वविद् लोग तत्त्व कहते हैं, उसीको ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् कहा जाता है।' कुछ लोगोंका कहना है कि यहाँ ब्रह्मसे परमात्मामें और उससे भगवान्में उत्कर्ष विवक्षित है। यदुकुलभूषण श्रीकृष्णकी सभामें बैठे हुए यादवोंने आकाश-मार्गसे आते हुए देवर्षि श्रीनारदजीको प्रथम केवल तेज:पुंज ही समझा। कुछ समीप आनेपर कोई देहधारी समझा और अधिक समीप होनेपर पुरुष एवं सर्वथा सान्निध्यमें श्रीनारद समझा।

चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा
तत: शरीरीति विभाविताकृतिम्।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति
क्रमादमुं नारद इत्यबोधि स:॥

(शिशुपालवध १।३)

ठीक उसी तरह तत्त्वसे अति दूरस्थ अधिकारीको प्रथम केवल चिन्मात्र ब्रह्मका बोध होता है, कुछ

सामीप्य होनेपर योगियोंको कतिपय गुण-विशिष्ट परमात्मा, सर्वथा सान्निध्य होनेपर अनन्त कल्याण-गुणगण-विशिष्ट भगवान्‌के रूपमें तत्त्वका उपलम्भ होता है। इन्हीं लोगोंमें ही मनमानी कल्पना करनेवाले कुछ लोग श्रीकृष्णको आदित्यस्थानीय और ब्रह्मको प्रकाशस्थानीय मानते हैं। कुछ श्रीवृषभानुकिशोरीके नख-मणि-प्रकाश या नूपुर-प्रकाशको ही औपनिषद परब्रह्म कहते हैं, परन्तु वैदिकोंकी दृष्टिमें तो वेदोंका महान् तात्पर्य ब्रह्महीमें है और वही सब तरहसे सर्वोत्कृष्ट है।

ब्रह्म—अतिशयताकी कल्पनासे अतीत

संकोचका कारण न होनेसे वृद्ध्यर्थक 'बृहि' धातुसे निष्पन्न 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ निरतिशय बृहत्तम तत्त्व होता है। जो देश-काल-वस्तु-परिच्छेदवाला हो, वह तो परिच्छिन्न होनेके कारण क्षुद्र ही है, निरतिशय बृहत् नहीं। यदि जड़ हो तो भी दृश्य होनेसे अल्प और मर्त्य होगा। अत: अनन्त, स्वप्रकाश, सदानन्द तत्त्व ही 'ब्रह्म' पदका अर्थ होता है और वही भूमा अमृत है। उससे भिन्न सभीको अल्प और मर्त्य ही समझना चाहिये। फिर अनन्त पदके साथ पठित 'ब्रह्म' शब्दका सुतरां यही अर्थ है। उसमें अतिशयताकी कल्पना निर्मूल है। किसी राजाने ऐसी कहानी सुननी चाही कि जिसका अन्त ही न हो। एक चतुरने सुनाना आरम्भ किया। राजन्! एक वृक्ष था, उसकी अनन्त शाखाएँ थीं, उन शाखाओंमें अनन्त उपशाखाएँ थीं, उपशाखाओंमें भी अनन्त पल्लव थे और उनपर अनन्त पक्षी बैठे थे। कुछ कालमें एक पक्षी उड़ा 'फुर्र'। राजाने कहा आगे कहिये, इसपर उसने कहा दूसरा उड़ा 'फुर्र'। तब राजाने कहा और आगे कहिये, तब उस चतुरने कहा कि पहले पक्षियोंका उड़ना पूरा हो तब आगे बढ़ूँ। यहाँ एक-एक पक्षीका उड़ना समाप्त ही नहीं हो सकता। इसी तरह कल्पनाओंका अन्त ही नहीं है। अत: एक शब्दमें यही कहा जाता है कि अतिशयताकी कल्पना करते-करते वाचस्पति तथा प्रजापतिकी भी मति जब विरत हो जाय और जिससे आगे कभी भी कोई कल्पना कर ही न सके, तब उसी अनन्त, अखण्ड, स्वप्रकाश, परमानन्दघन, भगवान्‌को वेदान्ती ब्रह्म कहते हैं। उसीका '**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**' इत्यादि व्याससूत्रोंसे विचार किया गया है।

प्रकाशकी अपेक्षा आदित्यमें जिस अतिशयताकी कल्पना की जाती है। उससे भी अनन्तकोटि-गुणित अतिशयताकी कल्पनाके पश्चात् जिस अन्तिम निरतिशय, सर्व बृहत् पदार्थकी सिद्धि हो उसमें भी देश, काल, वस्तुके परिच्छेदोंको मिटाकर परिच्छिन्न या एकदेशिता आदि दूषणोंका अत्यन्ताभाव-सम्पादन करे, तब उसे ब्रह्म शब्दका अर्थ जानना चाहिये। इसीको 'तत्त्व' कहा जाता है। इसका ही लक्षण है—'**तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।**' इसीका नाम ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् है। लक्षणके भेदसे लक्ष्य-भेद हो सकता है, नाम-भेदसे नहीं। जैसे कम्बुग्रीवादिमत्त्व घटका एक लक्षण है, अतएव घट, कुम्भ, कलशादि नामसे उसका भेद नहीं है। हाँ, ब्रह्म अनेक हैं— कार्यब्रह्म, कारणब्रह्म, कार्यकारणातीत ब्रह्म। ऐसी स्थितिमें यह हो सकता है कि कार्यकारणातीत वेदान्तवेद्य शुद्ध-ब्रह्मरूप भगवान्‌के प्रकाशस्थानमें कार्यब्रह्म या कारणब्रह्म हो। प्राय: यह भी कहा जाता है कि निर्गुण ब्रह्म भगवान्‌का धाम है। यद्यपि धाम शब्द ऐसे स्थलोंमें स्वरूपभूत आत्मज्योतिका ही बोधक होता हैं—'**परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।**' (गीता १०। १२) 'हे नाथ! आप परमात्मा हैं, परम प्रकाश (परम ज्योति) और परम पवित्र हैं' तथापि कुछ अविवेकियोंकी यही अटल धारणा है कि धामका अर्थ निवासस्थान ही होता है। अस्तु, वे लोग अव्यक्तरूप कारण-ब्रह्मको ही वेदान्तवेद्य ब्रह्म मान बैठते हैं। कार्यकारणातीत तत्त्वतक उनकी दृष्टि जाती ही नहीं। इस कारण यदि ब्रह्मको धाम भी मान लें तो भी सिद्धान्तमें कोई बाधा नहीं पड़ती। यह भेद वेदान्तियोंको इष्ट ही है कि स्थूल कार्य-ब्रह्मके ऊपर सूक्ष्म कार्यरूप ब्रह्म, उसके ऊपर कारणब्रह्म और इस अव्यक्त कारणब्रह्मके ऊपर

कार्यकारणातीत शुद्ध ब्रह्म स्थित है। यह अन्तिम तत्त्व ही अद्वितीय अनन्त शुद्ध बोधरूप है। इसका ही विवर्त समस्त चराचर प्रपंच है। यदि सर्वाधिष्ठान होनेके कारण इसे सर्वनिवासस्थान भी कहें तो भी कोई हानि नहीं। इसी अंशका स्पष्टीकरण भागवतके इन पद्योंमें किया गया है—

ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियैर्ब्रह्मनिर्गुणम्।
अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा॥

(श्रीमद्भा० ३। ३२। २८)

एक अद्वितीय नित्य बोध ही भ्रान्तजनोंको अविद्या-प्रत्युपस्थापित बहिर्मुख इन्द्रियाँ तथा मन-बुद्धि आदि द्वारा शब्दादि-धर्मक प्रपंचरूपसे भासित होता है। श्रीमद्भागवतने भी श्रीकृष्णको परब्रह्म ही कहा है—

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ३२)

अतः पूर्वोक्त अर्थ ही श्रेष्ठ है और वही अव्यभिचार भक्तियोग है।

सबसे सगे भगवान्

जीवात्मा सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माका अंश है। जैसे घटाकाश, महाकाश; शरावाकाशके भीतर, बाहर, मध्यमें महाकाश, कटक, मुकुट, कुण्डल आदिके भीतर, बाहर, मध्यमें सुवर्ण और तरंगके भीतर, बाहर, मध्यमें जल विद्यमान है; वैसे ही चेतन, अमल, सहज सुखराशि जीवात्माओंके भीतर, बाहर, मध्यमें सच्चिदानन्द परमात्मा विद्यमान हैं। इस दृष्टिसे जीवात्मा भगवान्‌का पुत्र, अंश एवं स्वरूप है। जैसे शूकर-कूकरके बच्चे शूकर-कूकर होते हैं, सिंहके बच्चे सिंह होते हैं, वैसे ही **'अमृतस्य पुत्राः,'** (श्वेताश्वतर० ७। २। ५) **'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५। ७) इत्यादि श्रुतिस्मृतिके अनुसार भगवान्‌के पुत्र या अंश जीवात्मा भगवान्‌के स्वरूप ही ठहरते हैं। जैसे निर्मल जल पृथ्वीपर पड़ते ही मलिन हो जाता है, वैसे ही शुद्ध चिदात्मा मायाके संसर्गसे मलिन हो जाता है। भगवान् जीवोंके परम अन्तरङ्ग और घनिष्ठ सम्बन्धी हैं। संसारकी सब वस्तुओंका वियोग अनिवार्य है। कलत्र, पुत्र, मित्र, क्षेत्र सभी वस्तुओंके साथ जीवात्माका सम्बन्ध गौण ही है। मुख्य सम्बन्ध तो भगवान्‌का ही है। जीवात्मा स्वर्ग, नरक जहाँ भी जाय, भगवान् ही उसके साथ होते हैं और सभी लोग सम्बन्ध तोड़ लेते हैं। अघासुरके मुखमें ग्वालबाल प्रविष्ट हो गये, उसके विषसे उन्हें जलते हुए देखकर प्रभु श्रीकृष्ण भी प्रविष्ट हो गये। संसारमें है किसीकी प्रीति या शक्ति ऐसी, जो एक साँपके मुखमें पड़े पुत्र या मित्रके साथ स्वयं भी जाय? किसी स्त्रीका पुत्र कूपमें गिरता है, वह कूपके तटपर खड़ी होकर चिल्लाती है—'दौड़ो, दौड़ो, बच्चेको निकालो' पर कूपमें उतरनेकी हिम्मत उसकी नहीं होती। फिर साँपके मुखमें कौन प्रविष्ट होनेको तैयार रहेगा? गाढ़-से-गाढ़, विषम-से-विषम स्थानोंमें जीवात्माका साथी भगवान् ही है। माँके पेटमें, विभिन्न योनियोंमें, नरकमें, किंबहुना जहाँ भी जीवात्माको जाना होता है, भगवान् वहीं जाते हैं। जैसे महाकाश घटाकाशका, जल तरंगका संग नहीं छोड़ सकता, वैसे ही भगवान् संग नहीं छोड़ते। जब जीवात्मा अपने असली सम्बन्धी भगवान्‌को भूलकर नकली सम्बन्धियोंके मायाजालमें फँस जाता है, तभी माया उसे दुःखमहोदधिमें डालकर उसके मस्तिष्कको ठिकाने लानेका प्रयत्न करती है। जब प्राणी यहाँतक उन्मादी बन बैठता है कि ईश्वर और धर्मको अनावश्यक समझने लगता है। भगवान्‌के ही बनाये दिल-दिमागसे अपनी वैज्ञानिक चमत्कृतियोंपर मुग्ध होकर कहता है कि 'वैज्ञानिक दृष्टिसे पार्थिवादि प्रपंचों या प्रकृतिसे ही सम्पूर्ण काम सिद्ध हो जाते हैं; ईश्वर और धर्म तो केवल झगड़ेकी जड़ है या भीरु प्राणियोंके मनका

एक वहम है' तब कहीं व्यापक भूकम्पोंद्वारा, कहीं महामारियोंद्वारा, कहीं प्राकृतिक विकट तूफानों या विश्वव्यापी नरसंहारोंद्वारा प्राणियोंको परमात्माका स्मरण दिलाया जाता है। फिर भी जैसे कल्याणमयी, करुणामयी, पुत्रवत्सला अम्बा अपने शिशुओंका कभी भी अहित नहीं चाहती, वैसे ही प्रभु भी कभी भी प्राणियोंका अहित नहीं चाहते। तभी तो वे निरीश्वरवादी प्राणियोंका भी कल्याण चाहते हैं। उनपर भी कुपित नहीं होते। इसी आशापर तो ब्रह्माने कहा था कि 'हे नाथ! यद्यपि मैंने आपकी कौतुकपूर्ण क्रीड़ामें विघ्न डाला, आपके बछड़ों और ग्वालबालोंका हरण करके बड़ा ही अपराध किया तथापि प्रभो, जैसे अम्बा गर्भगत शिशुके पैर चलानेको अपराध नहीं मानती, वैसे ही आप भी हमारे ऐसे कर्मोंपर ध्यान न दें। प्रभो, सम्पूर्ण विश्व ही आपके उदरमें है फिर गर्भगत शिशुके समान ही प्राणियोंके अपराधोंको क्षमा करना क्या उचित नहीं है?'

उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः
किं कल्पते मातुरधोक्षजागसे।
किमस्तिनास्तिव्यपदेशभूषितं
तवास्ति कुक्षेः कियदप्यनन्तः॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।१२)

एकमात्र भगवान्‌का सम्बन्ध ही स्थिर है

प्रभुने क्षमा भी कर दिया। उन्होंने सरल-से-सरल उपाय शास्त्रोंद्वारा बता रखा है। पत्र, पुष्प, फल, जल, नमस्कारसे ही प्रभु प्रसन्न हो सकते हैं। कुछ भी न हो तो केवल मनसे ही पूजन, स्मरण और वह भी न बने तो भाव, कुभाव जिस किसी तरह भगवान्‌के नाम-जपसे ही परम गति प्राप्त हो सकती है। जब एक अदृष्टकी, जो वस्तुतः सबका द्रष्टा या असली स्वरूप है, उसपर विश्वास होगा, तब सम्पूर्ण दुनियाके सम्बन्ध, नाते अपने-आप फीके लगने लगेंगे। संसारके कलत्र, मित्र, पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, क्षेत्र, वित्त आदि सभी वस्तुओंका सम्बन्ध केवल स्थूल देहके साथ ही है। उसके नष्ट होते ही वे सब सम्बन्ध अपने-आप ही छूट जाते हैं। '**यदद्य पच्यते ह्यन्नं सायं तच्च विनश्यति।**' जो भात आज प्रातःकाल पकाया जाता है, वह सायंकालतक सड़ जाता है। उसमें दुर्गन्ध आने लगती है। फिर, ऐसे विनश्वर, क्षणभंगुर शरीरका आत्माके साथ कहाँतक सम्बन्ध रह सकता है? एक जन्मकी बात कौन कहे, जन्म-जन्मान्तरों, युग-युगान्तरों, कल्प-कल्पान्तरोंके देहों एवं तत्सम्बन्धी पुत्र, पौत्र, कलत्रोंका स्मरण करें तो चित्तकी क्या दशा होगी? यही समझकर आचार्यचरणोंने कहा है—

कति नाम सुता न लालिता कति वा नेह वधूरभुञ्जिहि।
क्वनु ते क्वनु ताश्च वा वयं भवसङ्गः खलु पान्थसङ्गमः॥

जन्म-जन्मान्तरोंमें कितने पुत्रोंका लालन नहीं किया, कितनी सुन्दरी रमणियोंका संस्पर्श नहीं किया, परंतु आज कहाँ वे पुत्रादि, कहाँ वे रमणियाँ, कहाँ हम सब? यह संसारका संगम केवल यात्रियोंके संगके समान अस्थिर है। स्थिर सम्बन्ध तो एकमात्र भगवान्‌का ही है, जो कि स्वर्ग, नरक, कहीं भी जीवका संग नहीं छोड़ते। जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही एक शोभन पंखवाले सुपर्ण पक्षी हैं, दोनों सुपर्ण एक जातिके पक्षी हैं, इसलिये भी उन दोनोंका आपसमें मुख्य सम्बन्ध है। साथ ही दोनोंकी परस्पर पूर्ण मैत्री है। परमात्मा पालकसखा है, जीवात्मा बालकसखा है। दोनोंहीकी 'चेतन अमल सहज-सुख-राशिरूप' से ख्याति भी है। कहीं साजात्य सख्य होनेपर भी दुर्दैवयोगसे भिन्न देशमें रहनेके कारण सम्बन्ध कमजोर हो जाता है। परंतु यहाँ तो एक ही शरीररूप वृक्षपर जीवात्मा-परमात्मा दोनों ही पक्षी रहते हैं। अतः साजात्य, सख्य, सादेश्य—तीनों तरहके सम्बन्ध दृढ़ हैं। यद्यपि भगवान् जड़वर्गसे सर्वदा असंस्पृष्ट और निर्लेप ही रहते हैं तथापि चिद्रूप जीवात्माके साथ तो भगवान्‌का तादात्म्य या अभेद सम्बन्ध रहता है। अतः साजात्य, सख्य, सादेश्यके समान ही सायुज्य भी सर्वदा ही रहता है। जैसे कभी घटाकाश महाकाशसे वियुक्त नहीं होता, तरंग जलसे पृथक् नहीं होती, घट-

शरावादि मृत्तिकासे वियुक्त नहीं होते. कटक-मुकुटादि सुवर्णसे पृथक् नहीं होते, वैसे ही जीवात्मा कभी भी भगवान्‌से विमुख नहीं होता। इस तरह अपने असली सम्बन्धी भगवान्‌को भूल जानेसे ही प्राणी अनेकानर्थपरिप्लुत भवाटवीमें ही भटकता है और दु:ख पाता है। जब कभी भी सावधान होकर वह भगवान्‌की ओर दृष्टि करता है, प्रभु उसपर पूर्ण कृपा करके अपना लेते हैं।

विभीषण-शरणागति

भगवान्‌के चरणपंकजमें पहुँचे बिना, इस अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनाट्यके सूत्रधार प्रभुके शरण गये बिना शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती। पृथ्वी, जल, तेज, सूर्य, अग्नि, चन्द्रमण्डल, नक्षत्रमण्डल जिसके संकेतपर नाचते हैं, उसकी शरणागतिके बिना अखण्ड शान्ति कहाँ? पूर्ण अस्तित्व, पूर्ण बोध, पूर्ण आनन्द, पूर्ण स्वातन्त्र्य, पूर्ण शान्ति एवं पूर्ण नियामकत्व भगवान्‌में ही होता है। सब लोग चाहते हैं कि 'आनन्दस्वरूप बन जाऊँ, पूर्ण स्वतन्त्र हो जाऊँ, सबका नियमन-शासन करूँ।' इस तरह जिसके लिये समस्त चेष्टाएँ हो रही हैं, वह आनन्द अत्यन्त प्रसिद्ध है। संसारभरकी समस्त वस्तुओंमें प्रेम जिसके लिये हो और जो स्वयं निरतिशय एवं निरुपाधिक प्रेमका आस्पद हो अर्थात् जो अन्यके लिये प्रिय न हो, वही आनन्द होता है। स्पष्ट ही है कि समस्त आनन्दके साधनोंमें प्रेम अस्थिर होता है। स्त्री-पुत्रादिमें प्रेम तभीतक है, जबतक वे अनुकूल हैं, प्रतिकूल होते ही वे द्वेष्य हो जाते हैं। परंतु सुख और आनन्द सदा ही प्रिय रहते हैं। कभी किसीको भी आनन्दसे द्वेष हो, यह नहीं कहा जा सकता। इस तरह नास्तिकसे भी नास्तिक आनन्दको चाहता है, उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नशील और उसके लिये लालायित होता है। परंतु उसमें पहचाननेकी ही कमी है; क्योंकि जिस आनन्द और सुखके लिये नास्तिक व्यग्र है, उसे वह पहचानता नहीं। वह तो सुख-साधन स्त्री-पुत्रादि, शब्द, स्पर्श आदि सम्भोगमें ही सुखकी भ्रान्तिसे फँसकर उसमें ही सन्तुष्ट हो जाता है। विवेचन करनेसे विदित हो जाता है कि जिनमें कभी प्रेम-द्वेष होता है, वह सुख नहीं है। सदा ही जिसमें निरतिशय एवं निरुपाधिक प्रेम होता है, वही सुख है। सांसारिक सम्भोग-साधन-पदार्थ ऐसे हैं नहीं, अत: वे सुखरूप नहीं हैं। किंतु अभिलषित पदार्थकी प्राप्तिमें तृष्णा-प्रशमनके अनन्तर शान्त, अन्तर्मुख मनपर जिस सुखका आभास पड़ता है, उस आभास या प्रतिबिम्बका निदान या बिम्बभूत जो शुद्ध अन्तरात्मा है, वही आनन्द है; क्योंकि जो लक्षण आनन्दका है, वही अन्तरात्माका भी है। जैसे सब कुछ आनन्दके लिये प्रिय है, आनन्द और किसीके लिये प्रिय नहीं होता, ठीक वैसे ही समस्त वस्तु आत्माके लिये प्रिय होती है, आत्मा किसी दूसरेके लिये प्रिय नहीं होता। अत: अन्तरात्मा ही आनन्द और निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेमका आस्पद है। उसीका आभास अन्तर्मुख अन्त:करणपर पड़नेसे 'अहं सुखी' इत्यादि व्यवहार होता है। वही सुख किंवा अन्तरात्मा है। इसीके लिये समस्त कार्य-करणसंघातकी प्रवृत्ति होती है। यही सुख-दु:ख-मोहात्मक, नानात्मक संघातसे विलक्षण, सुख-दु:ख-मोहातीत, असंहत, असंग, अद्वितीय तत्त्व ही सच्चिदानन्दका आनन्दरूप है।

जीवभावसे मुक्त हुए बिना पूर्ण स्वातन्त्र्य सम्भव नहीं

इसी तरह प्राणिमात्र स्वतन्त्रता चाहता है। एक चींटीको भी पकड़नेपर वह व्याकुलताके साथ हाथ-पैर चलाती है। शुक-सारिकादि विहंगम सुवर्णके भी पंजरमें रहकर सुन्दर, मधुर, भक्ष्य-पेयको नहीं पसन्द करते, किंतु बन्धनमुक्त होकर स्वतन्त्रतासे वनमें खट्टे फलोंको भी खाकर जीवन बिताना अच्छा समझते हैं।

इस तरह प्राणिमात्र बन्धनसे छूटने तथा स्वतन्त्रताके लिये लालायित हैं। ऐसी स्थितिमें कौन नास्तिक बन्धनमुक्ति और स्वतन्त्रता न चाहेगा? परंतु स्वतन्त्रताके वास्तविक रूपका विवेचन करनेसे स्पष्ट होगा कि यह भी भगवान्‌का स्वरूप है, क्योंकि बिना असंग सच्चिदानन्दको प्राप्त किये बन्धनमुक्ति एवं स्वतन्त्रताकी कल्पना अत्यन्त ही निरालम्बन है। जबतक स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण देहका सम्बन्ध विद्यमान है, तबतक स्वतन्त्रता कैसी? भले ही कोई माता, पिता, गुरुजनों तथा वेद-शास्त्रकी आज्ञाओंको न माने और उनसे अपनेको स्वतन्त्र मान ले, परंतु जन्म, जरा, व्याधि, विपत्ति, दरिद्रता, मृत्यु आदिके परतन्त्र तो प्राणिमात्रको होना ही पड़ेगा; क्योंकि जबतक कुछ स्वतन्त्रताका त्यागकर शास्त्रों एवं गुरुजनोंके परतन्त्र होकर कर्म, उपासना एवं ज्ञानद्वारा मल, विक्षेप, आवरणको दूरकर शरीरत्रयबन्धन किंवा जीवभावसे मुक्त होकर निजी निर्विकार स्वरूपको न प्राप्त कर ले, तबतक पूर्ण स्वातन्त्र्य मिल नहीं सकता। इस विवेचनसे यह स्पष्ट होता है कि यह बन्धन, मुक्ति और स्वातन्त्र्य भी सर्वोपाधिविनिर्मुक्त, असंग, अनन्त, स्वप्रकाश, प्रत्यगभिन्न, सच्चिदानन्द भगवान्‌का ही स्वरूप है।

इसी तरह प्राणिमात्रको यह भी रुचि होती है कि सब कुछ हमारे अधीन हो और मैं स्वाधीन रहूँ। यहाँतक कि माता-पिता, गुरुजनोंके प्रति भी यही रुचि होती है कि ये सब हमारी प्रार्थना मान लिया करें और सब तरहसे मेरे अनुकूल रहें। यही स्थिति देवताओंके प्रति भी होती है। यह सभी भाव जीवभावके रहते पूर्ण नहीं हो सकते। समस्त कल्पित पदार्थ कल्पनाके अधिष्ठानभूत भगवान्‌के ही परतन्त्र हो सकते हैं। जब आस्तिक-नास्तिक सभी पूर्ण स्वातन्त्र्य, नियामकत्व, पूर्ण बोध, पूर्णानन्द, पूर्ण अबाध्यता या सत्ताके लिये व्यग्र तथा इनकी प्राप्तिके लिये जी-जानसे प्रयत्न करते हैं, तब कौन कह सकता है कि अज्ञानी किंवा नास्तिक भी जिसकी प्राप्तिके लिये व्यग्र हैं, वह तत्त्व भक्तों और ज्ञानियोंके ध्येय, ज्ञेय, परमाराध्य, परब्रह्म भगवान् नहीं हैं; क्योंकि प्राणिमात्रके अन्तरात्मा भगवान् ही हैं, फिर उनसे विमुख होकर निःसत्व, निःस्फूर्ति कौन होना चाहेगा? इसी आशयसे श्रीवाल्मीकिजीकी उक्ति है कि **'लोके न हि स विद्यते यो न राममनुव्रतः।'** लोकमें कोई ऐसा हुआ नहीं, जो रामका अनुगामी न हो।

भगवान्‌के प्रति अनन्य प्रेम ही भक्ति है

निजी सर्वस्वके बिना किसीको भी कैसी विश्रान्ति? अतएव तरंगकी जैसे समुद्रानुगामिता है, ठीक वैसे ही प्राणिमात्रकी भगवदनुगामिता है। भेद यह है कि ज्ञानी अपने प्रियतमको जानकर प्रेम करता है, दूसरे उसीके लिये व्यग्र होते हुए भी उसे नहीं जानते। अस्तु, स्वसम्बन्धित्वेन ज्ञानपूर्वक प्रभुको ही **'गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्'** (गीता ९।१८) जानकर उनसे प्रेम करना चाहिये। भगवान्‌के प्रति अनन्य प्रेम ही भक्ति है। भक्तिसे ही पूर्णानुरागरससारसिन्धु मर्यादापुरुषोत्तम श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्र प्रभुके अमृतमय मुखचन्द्रके प्रत्यक्ष दर्शन हो सकते हैं।

'रसो वै सः। रसः ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।'

भक्तिसे ही अरविन्दनयन भगवान्‌के श्रीचरणारविन्द-मकरन्दरसका समास्वादन प्राप्त होता है। प्रेमी भक्त श्रीआनन्दकन्द कोसलचन्द्रके अनुरागभरे कटाक्षपातसे युक्त अमृतमय मुखचन्द्रके सौन्दर्य-माधुर्यामृतका पान करनेमें ही अपनेको कृतकृत्य समझते हैं और निर्निमेष नयनोंसे उसी दिव्य रूपमाधुरीका पान करते हुए आनन्दोन्मत्त हो जाते हैं। इनका भगवान्‌में स्वाभाविक सहज, अकृत्रिम प्रेम होता है। विशुद्ध प्रेममें कुछ भी कामना नहीं होती। इसी विशुद्ध प्रेमका वर्णन देवर्षि नारदने अपने भक्तिसूत्र (५४)-में किया है—**'गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्॥'**

प्रेमीको अपने निरतिशय, निरुपाधिक, परप्रेमास्पद प्राणधन भगवान्‌में गुण-दोष देखनेका अवकाश ही नहीं मिलता। वे इसलिये भगवान्‌में प्रेम नहीं करते कि हमारे भगवान् अचिन्त्य, अनन्तकल्याणगुणगणनिलय हैं, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक हैं, सर्वाधिष्ठान, स्वप्रकाश

हैं, देवाधिदेव हैं, सर्वतन्त्रस्वतन्त्र हैं, दिव्यातिदिव्य सर्वैश्वर्यपरिपूर्ण हैं एवं परमानन्दरससारसिन्धुसर्वस्व हैं इत्यादि, क्योंकि किसी गुणको देखकर जो प्रेम होता है, वह तो गुण न दीखनेपर नष्ट हो जा सकता है। परंतु विशुद्ध दिव्य प्रेममें गुण-गणोंकी अपेक्षा ही नहीं होती। प्रेमी अपने प्रेमास्पदमें प्रेम ही करता है, चाहे वह अचिन्त्य अनन्तकल्याणगुणगणनिलय हो अथवा सर्वगुणविहीन हो, चाहे सुन्दरातिसुन्दर, दिव्यवसनभूषण-अलंकारसे सुसज्जित हो, चाहे सौन्दर्यविहीन हो। चाहे दिव्यातिदिव्य ऐश्वर्यसम्पन्न हो, चाहे दीन, हीन, दरिद्र हो, चाहे सर्वतन्त्रस्वतन्त्र हो, चाहे बन्धनयुक्त हो।

एक बार महात्मा तुलसीदासजी श्रीमद्‌वृन्दारण्य-धाममें गये, वहाँ व्रजेन्द्रनन्दन, श्यामसुन्दर, मदनमोहन, आनन्दकन्द, परमानन्द श्रीकृष्णचन्द्रके उपासकोंने उनसे कहा—'महात्मन्! आप व्रजेन्द्रनन्दन, श्यामसुन्दर, मदनमोहन, सौन्दर्यमाधुर्यरसामृतसारभूत श्रीकृष्णचन्द्रकी उपासना छोड़कर श्रीराघवेन्द्रजीकी उपासना क्यों करते हो? क्या आपको मालूम नहीं कि श्रीराघवेन्द्रजी १२ कलाके एवं श्रीकृष्णजी १६ कलाके पूर्ण अवतार हैं?' उन व्रजभक्तोंकी यह बात सुनते ही श्रीतुलसीदासजी ऐसे प्रेमविभोर हो गये कि उन्हें अपना भान ही न रहा और बेहोश होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। गोस्वामीजीकी ऐसी दशा देखकर वे व्रजवासी घबराये और बेहोशी दूर करनेके लिये तरह-तरहका उपचार करने लगे। उन्हें यह पश्चात्ताप होने लगा कि हमने इनके उपास्यकी हीनता बतलाकर इनके हृदयको क्यों कष्ट पहुँचाया। अन्ततोगत्वा कुछ समयोपरान्त उनको होश हुआ। व्रजभक्तोंके पूछनेपर उन्होंने कहा कि 'अभीतक तो मैं आनन्दकन्द कोसलचन्द्र श्रीमद्राघवेन्द्रजीको कोसल-राजकिशोर जानकर, श्रीकौसल्या अम्बाका ललन जानकर एवं रघुराजजीके मंगलमय मनोहर गुण-गणोंकी ओर आकर्षित होकर ही उनकी उपासना करता था, किंतु आज आपसे यह जानकर कि हमारे राघवजी भगवान्‌के अवतार तो हैं, चाहे १२ कलाके हों, चाहे इससे भी कम, मैं परमानन्दरससारसमुद्रमें डूब गया।' यह है विशुद्ध प्रेमका ज्वलन्त उदाहरण!

इसी प्रकार एक बार श्रीमद्‌वृन्दारण्यधाममें रासलीलाके समय योगीन्द्रमुनीन्द्रवन्दितपादारविन्द, लीलाविहारी, वंशीधर, श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र, परमानन्दकन्द अन्तर्धान हो गये। उनके अन्तर्धान हो जानेसे श्रीश्रीव्रजांगनाएँ शोक-विह्वल होकर एवं अपने निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेमास्पद, प्राणधन, व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दरके विप्रयोगजन्य तीव्र तापसे दुःखी होकर इधर-उधर भटक रही थीं और अशोक वृक्ष एवं नागेश्वरसे पूछती थीं कि 'हे तरुओ! आपने हमारे प्राणप्यारेको इधर कहीं जाते देखा हो तो कहो। हम आपका बड़ा अनुग्रह मानेंगी।' अभिप्राय यह कि उन्मत्त एवं शोकाकुल होकर इधर-उधर फिर रही थीं। इतनेमें भगवान् श्रीकृष्ण उनकी प्रेमपरीक्षा लेनेके लिये दिव्य, चिन्मय वसन-भूषण-अलंकारसे अलंकृत, सुसज्जित होकर सौन्दर्यनिधि विष्णुरूपमें प्रकट होकर उनके सामने आये। उनको देखते ही व्रजांगनाएँ सकुचा गयीं और घूँघटसे अपना-अपना मुख छिपा लिया। उनके व्यवहारको देखकर मायातीत, विज्ञानानन्दघन, परमात्मा, भक्तोंके प्रिय भगवान् विष्णुने कहा—'व्रजांगनाओ! क्यों सकुचाती हो? आओ, हमारे संग रासलीलामें सम्मिलित हो, तुम्हारे श्याम-सुन्दरसे क्या हमारी शोभा कुछ कम है?' सारांश यह कि भगवान् विष्णुके ऐसे अनेकानेक प्रलोभनोंमें वे न आयीं। तब भगवान् उनको प्रेमपरीक्षामें उत्तीर्ण समझकर मंगलमय श्रीकृष्णचन्द्र श्यामसुन्दरके रूपमें प्रकट हुए और रासलीला प्रारम्भ हुई। इन महाभागा व्रजांगनाओंकी चित्तवृत्ति ही श्याममयी बन गयी थी, जिसका वर्णन श्री देवकविने इस तरह किया है—

औचक अगाध सिंधु स्याहीकौ उमड़ि आयो,
तामें तीनौं लोक बूड़ि गए एक संगमें।
कारे-कारे आखर लिखे जु कारे कागद सु
न्यारे करि बाँचै कौन जाँचै चितभंगमें॥
आँखिनमें तिमिर अमावसकी रैन जिमि,
जंबूनद-बुंद जमुना-जल-तरंगमें।

यों ही मन मेरो मेरे कामकौ रह्यो न माई,
स्याम रँग ह्वै करि समानो स्याम रंगमें॥

अभिप्राय यह है कि गुण-दोषका पर्यवेक्षण छोड़कर परमानन्दरससार सिन्धुसर्वस्वमें डूबा हुआ प्रेमानन्दमय प्रेमी सर्वत्र अपने परमप्रियतम प्रेमास्पद प्राणधनको ही देखता है। उसे समस्त नामरूपक्रियात्मक प्रपंचका भान ही नहीं रहता। ऐसी ही स्थितिमें एक व्रजांगना कहती है—

जित देखौं तित स्याममई है।
स्याम कुंज बन, जमुना स्यामा, स्याम गगन घनघटा छई है॥
सब रंगनमें स्याम भरो है, लोग कहत यह बात नई है।
मैं बौरी, की लोगन ही की स्याम पुतरिया बदल गई है॥
चंद्रसार रबिसार स्याम है, मृगमद स्याम काम बिजई है।
नीलकंठको कंठ स्याम है, मनो स्यामता बेल बई है॥
श्रुतिको अच्छर स्याम देखियत, दीपसिखापर स्यामतई है।
नर-देवनकी कौन कथा है, अलख-ब्रह्म-छबि स्याममई है॥

इसी प्रकार भूतभावन सदाशिव शंकर विश्वनाथजीकी परमान्तरंगा अनन्योपासिका पार्वतीजीको सप्तर्षियोंने शंकरजीके अनेकानेक दोष बतलाकर उनसे मन हटाने और सर्वसद्गुणसम्पन्न भगवान् विष्णुमें मन लगानेको कहा, तब आद्यशक्ति, महाचिति, अनन्तकोटिब्रह्माण्डजननी शिवजीकी परमान्तरंगा भगवतीने उत्तर दिया—

जन्म कोटि लगि रगर हमारी। बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी॥
महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुन धाम।
जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम॥

(रा०च०मा० १।८१।५; दो० ८०)

अहा! प्रेमकी बात ही निराली है। प्रेमी प्रेमपाशमें बँधकर अपने जीवनको भी खतरेमें डाल देता है, पर अपनी टेक नहीं छोड़ता।

चातकु रटनि घटें घटि जाई। बढ़ें प्रेमु सब भाँति भलाई॥

(रा०च०मा० २।२०५।४)

प्रेमियोंमें चातक अग्रगण्य समझा जाता है। वह स्वातिबूँदको छोड़कर गंगाजलको भी जो कि साक्षात् ब्रह्मद्रव है, पान करना पसन्द नहीं करता, भले ही पिपासाके कारण प्राणपखेरू उड़ जायँ। पवित्रसलिला, पतितपावनी श्रीजाह्नवीके पावन तटके ऊपर किसी वृक्षपर एक पपीहा रहता था। अचानक वह एक दिन घायल होकर गंगाजीमें गिर पड़ा। गिरते समय अपने बच्चोंको पुकारकर उसने कहा—'देखना, कहीं मेरा पिण्डदान गंगाजलसे न करना।' वह स्वयं जलमें तो गिर पड़ा, किंतु मुखमें गंगाजल न चला जाय, इसलिये अपनी चोंच बन्द कर ली। यह है चातककी टेक। यदि मरणकालमें प्राणीके मुखमें गंगाजल पड़ जाय तो वह मुक्त हो जाय, किंतु मुक्तिको ठुकराकर पपीहेने अपने प्रेमकी रक्षा की।

भ्रमरका भी प्रेम विचित्र है। पाषाणसदृश काष्ठमें भी छिद्र बनाकर निकल जानेका सामर्थ्य रखनेवाला भ्रमर कमलकोशमें बँध जाता है। एक भ्रमर था, वह कमलके भीतर बैठा मकरन्दरसका पान कर रहा था और उसके सौगन्ध्यसे मस्त हो रहा था। इतनेमें सन्ध्या हो आयी। सूर्यास्त होते ही कमल बन्द हो गया और मोटे-मोटे शाल और शीशमके पेड़ोंको भी छेद डालनेकी ताकत रखनेवाला भ्रमर उसके अन्दर ही रह गया और विचार करने लगा—'रात बीत जायगी, प्रात:काल होगा, भगवान् भास्करकी किरणरश्मियोंसे कमल फिर खिल जायगा, तब मैं इसमेंसे निकल जाऊँगा। तबतक आनन्दसे मकरन्दका आस्वादन करता रहूँ।' वह यों विचार कर ही रहा था, इतनेमें एक मत्त गयन्दने आकर कमलको उखाड़कर मुँहमें डाल लिया और कमलके साथ भौंरा भी हाथीके दाँतोंसे पिस गया—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार॥

यदि वह चाहता तो बड़ी सुगमतासे कमलकोशके बाहर आ जाता, परंतु प्रेमबन्धन बड़ा ही मजबूत होता है। इसी प्रकार प्रेमके ही कारण पतंग दीपकपर बैठकर जल जाता है। मृगयु (बहेलिये)-के

वीणावादनपर मुग्ध होकर हरिणियाँ अपना प्राण दे देती हैं। ये सब विशुद्धप्रेमके ज्वलन्त उदाहरण हैं। सूरके शब्दोंमें—

ऊधौ! मन मानेकी बात।
दाख छोहारा छाँड़ि अमृतफल बिषकीरा बिष खात॥
जो चकोरको दै कपूर कोउ तजि अंगार अघात।
मधुप करत घर कोरे काठमें बँधत कमलके पात॥
ज्यों पतंग हित जानि आपनो, दीपकसों लपटात।
'सूरदास' जाको मन जासों, ताको सोइ सुहात॥

इस प्रकार प्रेमी भक्त एकमात्र अपने निरतिशय, निरुपाधिक, परप्रेमास्पद, प्राणधन भगवान्‌को ही अपना सर्वस्व समझते हैं और प्रभुका ही समाश्रयण लेते हैं। श्रीविभीषणजी रावणसे तिरस्कृत एवं अपमानित होकर अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक महाराजाधिराज, परात्पर, पूर्णतम, पुरुषोत्तम श्रीमद्राघवेन्द्रजीको ही अपना **'गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।'** (गीता ९।१८) जानकर आनन्दमें विभोर होकर और मनमें अनेकानेक मनोरथ संकल्प-विकल्प करते हुए चले—

चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं। करत मनोरथ बहु मन माहीं॥
(रा०च०मा० ५।४२।४)

सत्संकल्पकी महिमा

वह मनोरथ मनोराज्य नहीं। सांसारिक अभीष्टोंके लिये जो संकल्प-विकल्प होता है, उसीको 'मनोराज्य' और भगवान्‌के प्रति जो संकल्प-विकल्प होता है, उसे 'मनोरथ' कहते हैं। भगवद्दर्शनके लिये, प्रभुके मंगलमय श्रीचरणारविन्दमकरन्दरससमास्वादनके लिये जो संकल्प-विकल्प होते हैं, वे बड़े पुण्योंके फल हैं और उनसे बड़ा पुण्य होता है। भारतीय शास्त्रों एवं वर्तमान कालके पाश्चात्य वैज्ञानिकोंके भी मतसे संकल्पमें एक अद्भुत शक्ति होती है। उसके द्वारा बड़े-से-बड़े अनर्थोंको मिटाकर बड़े-से-बड़ा अभीष्ट सिद्ध किया जा सकता है। भगवान्‌के संकल्पसे ही अनन्त ब्रह्माण्डकी रचना होती है, अतः भगवान्‌के ही अंशभूत जीवोंके भी संकल्पमें विचित्र शक्तियाँ हैं। जो दाहकत्व शक्ति अग्निमें है, वही उसके अंशभूत विस्फुलिंगमें भी होती है। अतः संकल्पोंका प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है। फिर भी दुःसंकल्पों एवं दुराचारोंसे संकल्पकी दिव्य शक्तियाँ तिरोहित हो जाती हैं। सत्संकल्प, सदाचारसे दिव्य शक्तियोंका प्रादुर्भाव होता है। संकल्पबलसे यदि हम चाहें तो घटको पट एवं पटको घट बना सकते हैं। आवश्यकता है सत्संकल्पकी। निराशारूपी पिशाचिनीको दूरकर संकल्पबलसे सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। सत्संकल्पके द्वारा साम्राज्य, स्वाराज्य, वैराज्यादि सुख-सामग्री एवं स्वर्ग-अपवर्ग—सब कुछ मिल सकता है। परंतु संकल्पसिद्धिमें एक बड़ा भारी विघ्न है—निराशा अथवा असम्भावना। एक वृद्ध पुरुषको जिसने कि अपना सारा जीवन अत्याचार, अनाचार, दुराचार, व्यभिचारादिमें ही बिताया है, उसे यह विश्वास नहीं होता कि हमें भी भगवान् मिल सकते हैं। पर बात ऐसी नहीं है। किसीको भी निराश होनेका कारण नहीं। हमारे शास्त्रोंने सबके लिये आश्वासन दे रखा है। लोगोंको प्रायः इस प्रकारकी असम्भावना हुआ करती है कि 'मुझ दीन, हीन, मलिनके पास भगवान् कैसे आयेंगे, कैसे कृपा करेंगे, मैं बड़ा पापी हूँ, मुझे कैसे शरणमें रख सकते हैं।' पर यह बात भी नहीं। चिद्रूप जीवात्माके साथ परमात्माका अभेद सम्बन्ध रहता है। परमकरुणामय भगवान् गाढ़-से-गाढ़, विषम-से-विषम स्थानोंमें भी जीवात्माका साथ नहीं छोड़ते। माँके पेटमें, विभिन्न योनियोंमें, नरकमें, किं बहुना जहाँ भी जीवात्माको जाना होता है, भगवान् वहीं जाते हैं। जीवात्मा कभी भी अनन्त आनन्दसिन्धु, परमानन्दकन्द भगवान्‌से वियुक्त नहीं होता। फेन, तरंग, बुद्‌बुदके भीतर-बाहर जैसे जल ही ओत-प्रोत है, वैसे ही स्वांशभूत जीवोंके बाहर-भीतर, चारों ओर भगवान् ही व्याप्त हैं। **'अमृतस्य पुत्राः'** आस्तिक-नास्तिक सभी जीव अमृत भगवान्‌के पुत्र हैं। जैसे सिंहका पुत्र सिंह ही होता है, वैसे ही अमृतका पुत्र अमृत ही होता है। भगवान्‌का सच्चिदानन्दस्वरूप जीवमें भी है। जो

रसादि गुण होते हैं, वे सभी उसके विकार फेन, बुद्बुद, तरंगमें भी होते हैं। अग्निके विस्फुलिंगोंमें अग्निगत दाहकत्व, प्रकाशकत्व सभी गुण होते हैं। इसलिये सर्वावभासक, अखण्ड, अनन्त, अपरिच्छिन्न, आनन्दसिन्धु, परमानन्दकन्द भगवान् जीवके और जीव उनके हैं। भगवान् परमकारुणिक हैं। वे चाहते हैं कि जीव किसी प्रकारसे निरावरण निजानुभव करके जन्म-मरण-विच्छेद-लक्षण संसृतिसे विनिर्मुक्त हो जाय। तभी तो सृष्टिका निर्माण करते हैं। यद्यपि महाप्रलयकालमें सब जीव भगवान्के सम्मिलनसे सुखी थे, परंतु फिर भी परमप्रियतम प्राणधन भगवान्ने उनको सृष्टिकालमें जगाया। जिस प्रकार पुत्रवत्सला माता स्वाङ्कमें प्रसुप्त स्वपुत्रको किसी उत्तम फलके मिलनेपर उसे खिलानेको जगाती है, उसी प्रकार भगवान्के सभी पुत्र उनकी गोदमें सोते थे, भगवान्ने उन्हें उत्तम फल देनेके लिये जगाया—'**सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति।**' महाप्रलयमें सावरण भगवान्का अनुभव रहता है। भगवान्ने सृष्टि, स्थिति, प्रलय आदि परम्परासे सन्तप्त जीवोंको देखकर उन्हें निरावरण निजानुभव करानेके लिये सृष्टिका निर्माण किया।

कल्याणमयी, करुणामयी, पुत्रवत्सला अम्बा कभी भी अपने पुत्रका अकल्याण नहीं चाहती, पुत्रजन्मके लिये तरह-तरहके देवी-देवताओंको मनाती है, पुत्रके गर्भमें आते ही हर्षके मारे फूली नहीं समाती, गर्भस्थ बालकके हस्त-पादादि-उत्क्षेपणसे कष्ट होनेपर भी उसे अपराध नहीं मानती, प्रत्युत 'अब पुत्र बड़ा हो गया' यह समझकर प्रसन्न होती है, पुत्रकी उत्पत्तिमें प्राणान्त कष्ट सहनकर भी आनन्दमें विभोर रहती है, स्वयं गीलेमें रहकर बालकको सूखेमें रखती है, मल-मूत्रादि अपने ऊपर लेती है। माँका हृदय कितना उदार होता है! वह पुत्रके लिये क्या-क्या नहीं करती? ठीक इसी प्रकार अनन्तकोटिब्रह्माण्डजननी, कल्याणमयी, करुणामयी, पुत्रवत्सला अम्बा अपने पुत्रों—जीवोंका अकल्याण कभी भी नहीं चाहती, अपितु उनका सर्वविध कल्याण ही चाहती है। इसीलिये तो भगवान् शंकराचार्यने कहा है कि पुत्र कुपुत्र हो जाय, पर माता कुमाता नहीं होती—'**कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति॥**' वह सदैव अपने पुत्रके उत्कर्षके लिये लालायित रहती है। तभी तो ब्रह्माजीने कहा है कि हे प्रभो! क्या गर्भगत बालकोंके पादप्रक्षेपको माता अपराध मानती है? नहीं, क्योंकि यह तो अबोध बालककी बात है—

उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः
किं कल्पते मातुरधोक्षजागसे।
किमस्तिनास्तिव्यपदेशभूषितं
तवास्ति कुक्षेः कियदप्यनन्तः॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।१२)

यदि माता यह समझे कि इसने मेरे पेटमें रहकर मुझे कितना कष्ट दिया है और इसका बदला लेनेपर तुल जाय, तब तो उदरसे बाहर होते ही उस नवजात शिशुका गला घोंटकर वह उसके प्राण निकाल दे, किंतु माता उसके पादप्रक्षेपको अपराध नहीं मानती। अपराधी बालकोंपर भी माताएँ क्रोध नहीं करतीं, यदि करती हैं तो उनके कल्याणार्थ ही।

जैसे दर्पणके भीतर पृथ्वी, सूर्य, नक्षत्रमण्डल, सागर, पर्वत सभी दीखते हैं, वैसे ही उस अखण्डबोधरूप सत्-तत्त्वके अन्तर्गत सभी पदार्थोंकी स्फूर्ति होती है, उसीसे सभी दीखते हैं। उस भगवान्की ही कुक्षिमें भावाभावात्मक सकल प्रपंच है। अतएव भगवान् स्व-कुक्षिगत पुत्रस्थानीय सकल प्राणियोंपर क्रोध नहीं करते—

नाथ जीव तव मायाँ मोहा। सो निस्तरइ तुम्हारेहिं छोहा॥

(रा०च०मा० ४।३।२)

हम भगवान्, शास्त्र और धर्मसे क्यों शत्रुता करते हैं? इसलिये न कि हम स्वयं अपने वशमें नहीं हैं। मोहमयी प्रमादमदिराके पानसे जगत् प्रमत्त हो रहा है—'**पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्।**' उसीसे पतनके कारणमें प्रेम और अभ्युदयके कारणमें द्वेष होता है। इसीलिये वैदिक मन्त्रोंद्वारा भगवान्से

प्रार्थना की जाती है कि हे दयालो! हे करुणामय! आप मुझे न भूलना तथा मैं भी आपको न भूलूँ—'**माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्।**' हाँ, ठीक भी है; क्योंकि जीव स्ववश नहीं है, मायाके वशमें है। अतएव भगवान्‌को न भूलना उसके वशमें नहीं है—'**नाथ जीव तव मायाँ मोहा।**', '**तव माया बस फिरउँ भुलाना।**' यद्यपि हम अल्पज्ञ जीव अपने प्रियतम प्रभुको भूलकर उनकी आज्ञाका उल्लंघन करते हैं तथापि हे प्रभो! आप ऐसा नहीं कर सकते; क्योंकि आप तो सर्वज्ञ हैं—

मोर न्याउ मैं पूछा साईं। तुम्ह पूछहु कस नर की नाईं।

(रा०च०मा० ४।२।८)

आप मुझे कैसे भूलते हैं? क्यों उपेक्षा करते हैं? आप मेरे ऊपर ऐसी अनुकम्पा कीजिये कि मैं भी आपको न भूलूँ। यद्यपि हम मोहवश आपको भूलते हैं तथापि पिता-माता पुत्रोंको नहीं भूलते, न उनका नाश ही चाहते हैं तो फिर प्रभो! आप अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डनायक, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् होकर अपने पुत्रोंका नाश कैसे चाहोगे? अस्तु, कहनेका अभिप्राय यह है कि किसीको भी निराश होनेकी आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है श्रद्धा-विश्वासपूर्वक संकल्पकी। श्रद्धा एवं विश्वासपूर्वक भक्तलोग जिस तरह चाहते हैं, भगवान्‌को नचाते हैं। हठीले, रसीले भक्तोंके सामने भगवान्‌को घुटने टेकने ही पड़ते हैं। मचले हुए दर्शनाकांक्षी भक्त किसी भी बातसे सन्तुष्ट नहीं होते, मातृपरायण शिशुको बहुमूल्य रत्न दीजिये, सुन्दर, स्वादिष्ट पक्वान्न खानेको दीजिये, वसन-भूषण-अलंकारसे उसे खूब अलंकृत एवं सुसज्जित कीजिये, उसका खूब सम्मान कीजिये, यश गाइये, उसे विविध सुखसामग्रियों एवं स्वर्ग-मोक्षका प्रलोभन दीजिये, फिर भी वह स्नेहमयी, करुणामयी अम्बा और मातृस्तनोंको छोड़कर और कुछ भी नहीं चाहता, अम्बाकी अपेक्षा वह किसी भी पदार्थसे सन्तुष्ट हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार प्रेमी भक्तोंकी कामना केवल प्रभुको पानेके लिये ही होती है। एकमात्र प्रभु ही उसके काम्य होते हैं। बच्चा कुछ बड़ा हुआ, इधर-उधर कुछ चलने लगा, चलते-चलते ठोकर खाकर गिर पड़ा, रोने लगा। बच्चेका रोना सुनकर माँ दौड़ी आयी। बच्चा खीझ गया, गिर पड़ा स्वयं, परंतु क्रोध उसका मातापर हुआ। वह अपनी तोतली बोलीमें बार-बार कहता है—'तू मुझे अकेला छोड़कर क्यों गयी?' फिर अभिमान करके रूठ जाता है। कहता है—'जा, मैं तुझसे नहीं बोलूँगा, तेरी गोदमें नहीं आऊँगा।' माँ मनाती है, गोद लेना चाहती है, स्तन पिलाना चाहती है, वह रोता हुआ आगे भागता है। वह ऐसा क्यों करता है? इसलिये कि वह स्वाभाविक ही मातापर अपना अधिकार समझता है। माताको ही अपना '**गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी**' एवं सर्वस्व समझता है, वह भूखा रहे तो माँका दोष, वह गिर जाय तो माँका अपराध, वह सो न सके तो माताका अपराध और अपराधका दण्ड खीझना तथा रूठना—क्रोध तथा अभिमान! किंतु ऐसी भावना कि 'भगवान् मेरे हैं, मेरा उनपर पूर्णाधिकार है' बड़े उच्चकोटिके भक्तोंमें होती है। ऐसे भक्तोंके पीछे परमानन्दरससार-सिन्धु-सर्वस्व, करुणामय, सर्व-सामर्थ्य, सर्वपद प्रभु बछड़ेके पीछे स्नेहवश दौड़नेवाली गौकी भाँति दौड़ते हैं। भक्त जो इच्छा करता है, उसकी पूर्ति करते हैं।

भगवान्‌की भक्तपरवशताका एक दृष्टान्त

श्रीमद्वृन्दारण्यधाममें एक महात्मा रहते थे, वे एक दिन अरण्यमें घूमने गये। उनकी लम्बी जटा झाड़ीमें उलझ गयी, बस फिर क्या था, वे महात्मा भी अकड़ गये और कहने लगे कि 'जिसने उलझाया, वही सुलझाये।' अन्ततोगत्वा रसिकेन्द्रशेखर, भक्तभावनापराधीन प्रभु पथिकरूपमें प्रकट हुए और कहने लगे—'बाबाजी! आपकी उलझी हुई जटाओंको छुड़ा दूँ?' बाबाजीने कहा—'ना भैया! जिसने उलझाया, वही सुलझायेगा।' भगवान्‌ने कहा—'मैंने ही तो उलझाया है।' बाबाजीने कहा—'नहीं, मेरी जटाओंको तो अखिलरसामृतसिन्धु, व्रजेन्द्रनन्दन, मदनमोहन

श्यामसुन्दरने उलझाया है और वे ही सुलझायेंगे।' अन्तमें विश्व-विमोहन मोहन दिव्य, चिन्मय वसन-भूषण-अलंकारोंसे अलंकृत और सुसज्जित होकर अखिल-सौन्दर्य-माधुर्यसाम्बुधि, रसराज-मणि, आनन्द-कन्द व्रजेन्द्रनन्दनके रूपमें अवतरित हुए और सुलझानेके लिये आगे बढ़े। बाबाजीने कहा—'उधर ही रहो, मुझे छूना मत।' श्यामसुन्दरने कहा—'आखिर क्या बात है, मैंने ही तो उलझाया है।' बाबाजीने कहा—'बात यह है कि श्रीमद्वृन्दारण्यधाममें पाँच प्रकारके कृष्ण माने जाते हैं, किंतु मैं तो नित्यनिकुंजेश्वरी राधाके वल्लभको ही चाहता हूँ। यदि श्रीराधाजी आकर कहें तो मैं आपको छूने दूँ।' राधाजी भी आयीं और कहने लगीं कि 'हाँ, ये ही नित्यनिकुंजेश्वर, यदुकुलनलिनदिनेश हमारे श्यामसुन्दर हैं।' तब बाबाजीने उन्हें छूने दिया। यह है भक्तोंका संकल्प!

इसी प्रकार एक बार श्रीसूरदास कुएँमें गिर पड़े और यह संकल्प कर लिया कि भगवान् ही निकालेंगे तो निकलूँगा, अन्यथा नहीं। भगवान् आये और अपनी विशाल भुजाओंद्वारा सूरदासजीको बाहर निकालकर जाने लगे। श्रीसूरदासजीने अपने हाथोंसे भगवान्‌के मंगलमय श्रीहस्तारविन्दको पकड़ लिया, किंतु जिसकी शक्तिसे शक्तियाँ भी शक्तिशालिनी होती हैं, उसे क्या कोई पकड़ सकता है अथवा कुछ कर सकता है? अस्तु, भगवान्‌ने यों ही हाथोंको छुड़ा लिया और जाने लगे। तब सूरदासजीने कहा—

हाथ छुड़ाये जात हौ निबल जानिके मोहिं।
हृदयसे जब जाहुगे मर्द कहौंगे तोहिं॥

अन्ततोगत्वा भगवान्‌को पराजित होना पड़ा। भक्तके हृदयसे आखिर भगवान् जा ही कैसे सकते हैं? जैसे द्रवीभूत लाखमें हरिद्रा आदिका रंग मिलाया जाय तो करोड़ों प्रयत्न करनेपर भी लाख हरिद्रारंगको दूर नहीं कर सकती एवं रंग भी करोड़ों उपायोंद्वारा लाखसे वियुक्त नहीं हो सकता, वैसे ही भक्त या भगवान् चाहनेपर भी परस्पर वियुक्त नहीं हो सकते। अस्तु, सारांश यही है कि भक्त सत्संकल्पोंद्वारा जो चाहे वह प्राप्त कर सकता है। यदि सच्चे अन्तःकरणसे उसका सत्संकल्प हो तो क्षणमात्रमें वह अचिन्त्य, अनन्तगुणगणनिलयपटीयान् भगवान्‌को पाकर कृतकृत्य हो सकता है। अस्तु, श्रीविभीषणजी अपने मनमें अनेकानेक संकल्पोंको करते और यह सोचते हुए कि आज मैं सबको सुख देनेवाले श्रीराघवेन्द्रजीके कोमल लाल पादारविन्दोंको देखूँगा, पूर्णतम पुरुषोत्तम श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्र प्रभुके पास जा रहा हूँ—'**देखिहउँ जाइ चरन जलजाता। अरुन मृदुल सेवक सुखदाता॥**' (रा०च०मा० ५।४२।५)

श्रीविभीषणजी मनोरथ कर रहे हैं कि अब जाकर अचिन्त्य, अद्भुत, महामहिमवैभवशाली श्रीराघवेन्द्र रामचन्द्र प्रभुके मनोहर, मंगलमय उन श्रीचरणारविन्दका दर्शन करूँगा, जो सेवकोंको सुख देनेवाले, योग-क्षेम वहन करनेवाले हैं। अप्राप्तकी प्राप्ति एवं प्राप्त वस्तुका रक्षण करना ही इन श्रीचरणोंकी विशेषता है। भावुकोंका सिद्धान्त है कि वैसे तो भगवत्स्वरूप ही फल है; क्योंकि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सबका पर्यवसान आनन्दमें है। संसारका जितना सुख है, वह एक बिन्दु है और अनन्तकोटिब्रह्माण्डान्तर्गत उस बिन्दुका जो उद्‌गमस्थान है, वह परमानन्दसिन्धु भगवान् ही हैं। इसीलिये एक जगह ब्रह्माने भगवान्‌से कहा—'विभो! आप इन प्रेमी भक्तोंको क्या देकर उऋण होंगे, जिनके एकमात्र सर्वस्व आप ही हैं, जिन्होंने अपना सर्वस्व आपके श्रीचरणोंमें अर्पण कर दिया है?' भगवान्‌ने कहा—'ब्रह्मन्! जब मैं अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक हूँ, '**कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुम् समर्थ**' हूँ, तब फिर ये प्रेमी भक्त जो लेंगे, वही देकर उऋण हो जाऊँगा। दिव्यातिदिव्य सौख्यसाधन, उच्च-से-उच्चकोटिका ऐश्वर्यादि देकर इनसे उऋण हो सकता हूँ।' ब्रह्माने कहा—'भगवन्! संसारमें जितना सुख है, उन सबका पर्यवसान आनन्दबिन्दुमें है तो क्या आप इन प्रेमियोंको आनन्दबिन्दु देकर ही ऋणसे छुटकारा पाना चाहते हैं? यह हो नहीं सकता। भला जिनके मणिमय प्रांगणमें धूलिधूसरित

होकर परमानन्दसिन्धु ही मूर्तिमान् होकर 'थेई-थेई' करता हुआ नाच रहा है, उनको आनन्दबिन्दुकी अपेक्षा ही क्या? भगवन्! विविध सुखसामग्री, ऐन्द्र-माहेन्द्र एवं ब्राह्मपदके समस्त वैभवोंको देकर भी इनसे उऋण नहीं हो सकते। आपको तो इनका चिरऋणी ही रहना पड़ेगा।' भगवान्ने कहा—'अच्छा ब्रह्मन्! मैं इन प्रेमी भक्तोंको अचिन्त्य, अनन्तपरमानन्दसिन्धुसारसर्वस्व अपने-आपको ही दे डालूँगा, तब तो इनसे मुक्त होऊँगा?' ब्रह्माने फिर कहा—'भगवन्! अपने-आपको तो आपने लोकबालघ्नी, रुधिराशना राक्षसी पूतनाको भी दे डाला, दुर्वृत्त राक्षसेश्वर रावण-जैसे अत्याचारियोंको भी दे दिया। जो महद् वस्तु उन विरोधियोंको दी गयी, वही इन अनन्य, अन्तरंग प्रेमी भक्तोंको दी जाय, यह न्याय नहीं। इसलिये अपने-आपको देकर भी आप इनसे उऋण नहीं हो सकते।' भगवान्ने कहा—'अच्छा, इनके कुटुम्बभरको अपनेको दे डालूँगा।' फिर ब्रह्माने कहा—'हे देव! पूतनाका क्या कोई बचा था? अघासुर, बकासुर सब तो आपको पा गये। रावण भी तो सकुटुम्ब आपको पा गया।' अन्तमें भगवान्को कहना पड़ा—'अच्छा ब्रह्मन्! मैं इनका ऋणी ही रहूँगा।' सारांश यह कि भगवान्का मधुर, मनोहर, मंगलमय स्वरूप स्वतः फलस्वरूप है। भगवान्के श्रीपादारविन्द-नखमणिचन्द्रिकाकी दिव्य द्युतिका ध्यान करना ही परम फलस्वरूप है।

कुछ लोग भगवान्के श्रीचरणारविन्दको साधन मानते हैं, पर उच्चकोटिके भक्तगण प्रभुके सौगन्ध्यामृतसिन्धु श्रीचरणारविन्दमें अनन्य भक्तिको ही परप्रेमरूपा, स्वतःसिद्धा, भगवान्की परमान्तरंगा शक्तिरूपा मानते हैं—**'साधन सिद्धि राम पग नेहू।'** (रा०च०मा २।२८९।८) भक्ति साधन और साध्यरूपसे दो प्रकारकी होती है। जैसे—अपक्व आम्र पक्व आम्रका हेतु होता है, वैसे ही साधनरूपा भक्तिका साध्यरूपा भक्तिके साथ साध्यसाधनभाव होता है। सर्वाभिलाषवर्जित, ज्ञान और कर्मोंसे असंस्पृष्ट, अनुकूलतापूर्वक श्रीकृष्णका अनुस्मरण ही 'भक्ति' है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

इन सिद्धान्तोंमें भक्ति ही सब कुछ है, उसके लिये ही समस्त साधन हैं, ज्ञान और मोक्ष आदि उसमें विघ्न हैं। भक्तजन भुक्ति, मुक्ति और विरक्ति सबको तिलांजलि देकर भक्तिको ही चाहते हैं। इसीलिये बड़े-बड़े अमलात्मा परमहंस, महामुनीन्द्रगण भी अद्वैत, अनन्त, अखण्ड ब्रह्मसे मन हटाकर सगुण, साकार भगवान्में मन लगाते हैं। प्रभुके श्रीचरणारविन्द-सौगन्ध्यामृतसिन्धुके एक बिन्दुके भी समास्वादन करनेसे सनकादिक, शुकादिक-जैसे ब्रह्मनिष्ठ महामुनीन्द्र भी मुग्ध हो जाते हैं। अरविन्दनयन भगवान्के श्रीचरणारविन्दमकरन्दमिश्रित तुलसीके मकरन्दरेणु जिस समय स्वविवर (नासिका)-द्वारा सनकादिकोंके हृदयान्तर्गत हुए, बस उसी समय उन अक्षरब्रह्मनिष्ठ सनकादिकोंके शरीर और मनमें भी क्षोभ हो गया अर्थात् शरीरमें पुलकावली, नयनोंमें अश्रु और मनमें द्रवता उत्पन्न हो उठी—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
सङ्क्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥

(श्रीमद्भा० ३।१५।४३)

श्रीशुकाचार्य, जिनका चित्त स्वरूपभूत परमानन्द-सुधासिन्धुसे ही परिपूर्ण हो गया था, स्वसुखनिभृतचेता होनेसे ही अन्यपदार्थविषयक अस्तित्वबुद्धि जिनकी मिट गयी थी, जो केवल सर्वत्र एक परमतत्त्वका दर्शन करते थे, भगवान्की लीलारुचिरसे उनका भी धैर्य च्युत हो गया—

स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावोऽ-
प्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम्।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं
तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि॥

(श्रीमद्भा० १२।१२।६८)

(**'स्वसुखेनैव निभृतं परिपूर्णं चेतो यस्य स तथोक्तः। तेनैव निरस्तः अन्यस्मिन् पदार्थे भावो भावना अस्तित्वबुद्धिर्यस्य स तथोक्तः'**) उन्होंने स्वयं कहा है कि मेरा मन निर्गुण परब्रह्ममें परिनिष्ठित था, फिर भी उत्तमश्लोक भगवान्‌की लीलाने मेरे चित्तको खींच लिया। श्रीहरिके गुणोंसे आक्षिप्तमति होकर मैंने श्रीमद्भागवतरूप महाख्यानका अध्ययन किया है—

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान्॥
हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः।
अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः॥

(श्रीमद्भा० २।१।९; १।७।११)

लखी जिन लालकी मुसकान।
तिनहिं बिसरी वेदविधि सब योग संयम ज्ञान॥

× × ×

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

(श्रीमद्भा० १।७।१०)

अतएव श्रीजनकजी-जैसे विदेह, ब्रह्मविद्वरिष्ठ, तत्त्वनिष्ठोंकी ये अनुभूतियाँ हैं कि भगवान्‌की सौन्दर्यछटा, आकर्षक माधुरी एवं रूपराशिको देखते ही उनका ज्ञान मानो मूर्च्छित हो गया, देहकी सुधि जाती रही, रोमांच हो आया, वाणी गद्‌गद हो गयी और आनन्दाश्रुसे आँखें डबडबा आयीं—

इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा।
सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥

(रा०च०मा० १।२१६।५; १।२१६।३)

भगवान्‌के अवतरणका हेतु—अमलात्मा परमहंसोंके लिये भक्तियोगका विधान

ठीक ही है, तभी तो यह कहा जाता है कि अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्रोंके लिये ही भक्तियोगका विधान करनेके लिये अदृश्य, अग्राह्य, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य भगवान् अद्भुत सौन्दर्य-माधुर्य-सुधाजलनिधि दिव्य मूर्ति धारण करते हैं। अन्यथा असुरनाश-जैसे छोटे कार्योंके लिये प्रभुका अवतार वैसे ही अनुचित होगा, जैसे मशकनिवारणार्थ भुशुण्डीका प्रयोग (मच्छर मारनेके लिये तोप चलाना)। परंतु समस्त नाम-रूप-क्रियात्मक प्रपंचसे व्यावृत्तमनस्क अमलात्मा परमहंसोंको भजनानन्द प्रदान करनेके लिये प्रभुका दिव्यस्वरूपधारण परमावश्यक है। अद्वैतब्रह्मनिष्ठ परमहंसोंको भक्तियोग प्रदानकर उन्हें श्रीपरमहंस बनाना—यही प्रभुके प्राकट्यका मुख्य प्रयोजन है। जैसे मिश्रित क्षीर-नीरका हंस विवेचन करता है, वैसे सांख्यसिद्धान्तके अनुसार प्रकृति-प्राकृत प्रपंचसे पृथक्, असंग, अनन्त चेतनतत्त्वका विवेचन कर लेनेवाले 'हंस' कहे जा सकते हैं। परंतु वेदान्त-सिद्धान्तके अनुसार तो दृक्‌दृश्य, आत्मा-अनात्मा, परात्पर पूर्णतम, सर्वभासक भगवान् और प्रकृति-प्राकृत प्रपंचका ऐसा सम्बन्ध है, जैसे दिव्य मणिमाला और उसमें कल्पित सर्पका अर्थात् सत्य एवं अनृतका आध्यात्मिक सम्बन्ध है, वैसे ही दृश्य प्रकृति और उसके भासक एवं अधिष्ठानभूत भगवान्‌का आध्यात्मिक सम्बन्ध है। अतः सत्यानृतके विवेचनसे जैसे सत्य ही अवशिष्ट रहता है, अनृतका सर्वथा अभाव हो जाता है, वैसे ही दृक्-दृश्यका भी विवेचन करनेपर अनृतस्वरूप दृश्यका अभाव हो जाता है, केवल सर्वदृक् भगवान् ही अवशिष्ट रहते हैं। इस तरह वेदान्त-सिद्धान्तानुसार सत्यानृतरूप नीर-क्षीरका विवेचन है और नीरस्थानीय दृश्यको मिटाकर परमसत्य भगवान्‌में ही स्थित होनेवाले 'परमहंस' कहे जा सकते हैं। परंतु बिना भगवान्‌के मधुर, मंगलमय स्वरूपमें पूर्णानुराग हुए ज्ञान भी सुशोभित नहीं होता—**'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।', 'सोह न राम पेम बिनु ग्यानू।'** (रा०च०मा० २।२७७।५) अतः भक्तियोगसे ज्ञानको सुशोभित करके परमहंसोंको श्रीपरमहंस बना देना—बस, यही मुख्य प्रयोजन प्रभुके मधुर, मंगलमय स्वरूप धारण करनेका है। भजनीयके बिना भक्तियोग बन ही नहीं सकता। भगवत्तत्त्वसे भिन्न प्रपंच जिनकी दृष्टिमें है ही नहीं, उनका भजनीय सिवा भगवान्‌के और कौन हो सकता है? रहा भगवान्‌का अचिन्त्य, अनन्त,

अव्यपदेश्य, निराकार स्वरूप, सो उस स्वरूपमें तो वे परिनिष्ठित ही हैं। महावाक्यजन्य परब्रह्माकारा वृत्तिके साथ ब्रह्मका सम्बन्ध जानकर मन, बुद्धि एवं सर्वेन्द्रियाँ तथा रोम-रोम भी प्रभुके साथ सम्बन्धके लिये लालायित हैं। इन्द्रियाँ स्वयम्भूसे पराङ्मुख रची जाकर अपनी हिंसा किया जाना इसीलिये समझती हैं कि उन्हें उनके प्रियतमसे बहिर्मुख कर दिया गया है—'**पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूः**।' महर्षि आदिकवि भी यही कहते हैं कि जिसने स्नेहभरी दृष्टिसे श्रीरामचन्द्रको नहीं देखा और श्रीरामचन्द्रने अनुकम्पाभरी दृष्टिसे जिसे नहीं देखा, वह सर्वलोकमें निन्दित है और उसकी स्वात्मा भी उसकी विगर्हणा—धिक्कार करती है—

यश्च रामं न पश्येत्तु रामो यं नाभिपश्यति।
निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हति॥

जैसे कमलनयन पुरुषके अतिशोभन नयन व्यर्थ हैं, यदि प्रभुके रूपदर्शनमें उनका उपयोग न हुआ, वैसे ही ज्ञानीके भी प्रारब्धभोगपर्यन्त अनिवार्य रूपसे रहनेवाले देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार आदि व्यर्थ और नीरस ही रहे, यदि उन सबका सदुपयोग प्रभुके सौन्दर्य-माधुर्य-सौरस्यामृत आदिके समास्वादनमें न हुआ। इसीलिये श्रीव्रजांगनाओंने भी कहा है कि नेत्रवालोंके नेत्रादि करणग्रामोंकी सार्थकता और इनका चरम फल यही है कि श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके अनुरागभरे कटाक्षपातसे युक्त, वेणुचुम्बित, अमृतमय मुखचन्द्रके सौन्दर्य-माधुर्यामृतका निर्निमेष नयनोंसे पान किया जाय और घ्राणसे सौगन्ध्यामृतका, त्वक्‌से सुस्पर्शामृतका आस्वादन किया जाय, अन्यथा इन करणग्रामोंका होना बिलकुल व्यर्थ है—'**अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः**।' इस प्रकार अन्तरात्मा, अन्तःकरण, प्राण, इन्द्रिय, देह तथा रोम-रोमको अपने दिव्य रससे सरस और मंगलमय बनानेके लिये भगवान्‌का प्रादुर्भाव होता है।

चतुर्विधा भजन्ते

ज्ञानी भक्त

भगवद्भक्त चार प्रकारके होते हैं। एक तो आप्तकाम, आत्माराम, परमनिष्काम, तत्त्वविद्, ब्रह्मनिष्ठ, परमात्मरहस्यज्ञ ज्ञानी, जिसको ऐन्द्र तथा ब्राह्मपद-पर्यन्तके सम्पूर्ण वैभवोंकी रंचमात्र भी चाह नहीं होती। वे योगीन्द्र, मुनीन्द्र, अमलात्मा, परमहंस बिना किसी प्रयोजनके सर्वैश्वर्यपूर्ण, मधुरतम लीलाबिहारी भगवान्‌के अव्यावृत भजनमें लगे रहते हैं। यद्यपि वे पूर्णकाम, आत्माराम, परब्रह्ममें परिनिष्ठित हैं, भजन करनेकी उन्हें कोई आवश्यकता नहीं है तथापि वे ब्रह्मानन्दका अनुभव करनेवाले मुनिजन दिव्य, शुद्ध, नित्य, चिन्मय भगवत्स्वरूपके सामने आते ही क्षुब्ध हो उठते हैं और उनके मरे हुए मन भी जीवित होकर इस स्वरूपकी एक-एक वस्तुपर मुग्ध हो जाते हैं। इन्द्रियोंके विषय रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्शसे मुमुक्षु-अवस्थामें ही चित्त उपरत हो जाता है और भजन करना उनका स्वभाव ही बन जाता है। कमलनयन, घनश्यामके विधुविनिन्दक वदनारविन्दपर अतिमृदुल मन्द मुसकान एवं उनके अतिमनोहर नयनयुगलके कमनीय कृपाकटाक्ष एवं इसी प्रकार प्रभुके अन्यान्य श्रीअंगोंका अवलोकनकर नामरूपात्मक दृश्य-प्रपंचसे उपरत चित्तवाले योगीन्द्र, मुनीन्द्र भी लट्टू हो जाते हैं। एक बार दिव्य वैकुण्ठलोकमें श्रीमहाविष्णुके समीप नित्य आत्मनिष्ठ सनकादि ऋषि पधारे। ज्यों ही वे भगवान्‌के सामने पहुँचे और उनके स्वरूपको देखा कि मुग्ध हो गये। भगवान्‌की सुन्दरता देखते-देखते उनके नेत्र किसी प्रकार तृप्त ही न होते थे। भगवान्‌के सौन्दर्यने ही उन्हें मुग्ध किया हो सो नहीं, प्रणाम करते समय कमलनयन श्रीहरिके पादपद्मपरागसे मिली हुई तुलसीमंजरीकी सुगन्ध वायुके द्वारा नासिकामार्गसे ज्यों ही मुनियोंके अन्तरमें पहुँची

कि उनका मन क्षुब्ध हो गया, उस सुगन्धकी ओर खिंच गया, उसपर मोहित हो गया और आनन्दसे उनको रोमांच हो आया—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः ।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
सङ्क्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः ॥

(श्रीमद्भा० ३। १५। ४३)

यही दशा श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्रका स्वरूप देखकर श्रीजनकजीकी हुई थी—

मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥

(रा०च०मा० १। २१५। ८)

किसी प्रकार अपनेको विवेक, धैर्यसे सँभाला, परंतु पूछे बिना न रहा गया। श्रीविश्वामित्रके चरणोंमें प्रणाम किया और फिर गद्‌गद वाणीसे पूछने लगे—

कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक। मुनिकुल तिलक कि नृपकुल पालक॥
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥
सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
ताते प्रभु पूछउँ सतिभाऊ। कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

(रा०च०मा० १। २१६। १-५)

और भी देखिये, विवाहके समय जो दशा हुई—

क्यों करै बिनय बिदेहु कियो बिदेहु मूरति सावँरीं।
करि होमु बिधिवत गाँठि जोरी होन लागीं भावँरीं॥

(रा०च०मा० १। ३२४। छंद ४)

इत्यादि।

सारांश यह है कि भजन करना उनका स्वभाव ही बन जाता है। वे चाहते हैं कि कुछ समय भजन न करें, किन्तु उनके रोकनेपर भी उनका मन प्रभुकी नखमणि-चन्द्रिकाका चिन्तन करने लगता है, प्रभुके त्रिभुवनपावन, मंगलमय नामका उच्चारण करने लगता है। एक गोपांगना लीलाबिहारी, त्रिभुवन-कमनीय, योगीजनदुर्लभ, देवदेवप्रत्याशित, ऋषि-महर्षि-महापुरुष-चित्ताकर्षक, निखिल सौन्दर्य-माधुर्य-रसामृतसारभूत, आनन्दकन्द, व्रजेन्द्रनन्दन, मदनमोहन कृष्णचन्द्रके विरहजन्य तीव्रतापसे तापित होकर जमीनपर बेहोश पड़ी थी और एक दूसरी सखी उसके मुखपर गुलाबजलके छींटे दे-देकर धीरे-धीरे पंखा झल रही थी। इतनेमें ही एक तीसरी सखी आयी और जनमनहारी, बाँकेबिहारी, राधारमण, बाधाहरण नन्दनन्दनकी चर्चा करने लगी। त्यों ही दूसरी बोली—'हे सखी! उनकी चर्चा इस समय न छेड़। यदि अपनी प्रियसखीको इस समय विश्राम लेने देना चाहती है तो उनकी चर्चा भूलकर भी मत चला। कोई और चर्चा चलाकर माधवको इस समय भुला दे।' कैसी विचित्र दशा है? कोई तो इस आधि-व्याधिपूर्ण, शोकतापसंकुल, जन्ममृत्यु-संकीर्ण, आर्तनादके उद्‌भवस्थान, मृत्युके लीलाक्षेत्र, पापविद्ध संसारका विस्मरणकर भगवद्रसका आस्वादन करना अथवा प्रभुका स्मरण करना चाहते हैं, पर ऐसा होता नहीं और ये महाभागा गोपांगनाएँ नन्दनन्दनका किसी तरह विस्मरण करना चाहती हैं, पर ऐसा होता नहीं। इसी तरह ज्ञानी भी कई तरहके होते हैं। एक तो जड़भरतके समान जंगलोंमें उन्मत्त, प्रेमविभोर होकर इधर-उधर फिरनेवाले। लोकसंग्रही भी आत्माराम, आप्तकाम होते हैं, परंतु भगवान्‌की प्रेरणासे धर्मसंस्थापनमें लगे रहते हैं। व्यास परमज्ञानी होते हुए भी पुराणोंके निर्माणमें, शंकराचार्य परमज्ञानी होते हुए भी बौद्धोंके खण्डनमें लगे रहते थे। लोकसंग्रहीके सामने कठिनाइयाँ भी आती हैं; क्योंकि संसार कुत्तेकी पूँछके समान है। कुत्तेकी पूँछको कितना ही घी, तेल लगाकर बाँसकी नलीमें डालकर सीधा रखो, किंतु ज्यों ही बाँसकी नलीसे निकली, त्यों ही फिर टेढ़ी-की-टेढ़ी। इसलिये ऐसे ज्ञानियोंको पदे-पदे भगवान्‌का सहारा लेना पड़ता है।

जिज्ञासु भक्त

दूसरे प्रकारके भक्त होते हैं—जिज्ञासु-पूर्णविरक्त—**'रमा बिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥'** (रा०च०मा० २। ३२४। ८) जैसे उत्तमोत्तम पदार्थोंको खाकर वमन कर दें तो उस ओर

देखनेतकको जी नहीं चाहता, ठीक वैसे ही इन जिज्ञासुओंको ऐन्द्र, माहेन्द्र एवं ब्राह्मपदपर्यन्तके समस्त वैभव विषवत्, वमनवत् प्रतीत होते हैं। वे वेदाध्ययन आदि करते हैं, किंतु भगवान्‌का भजन करते हुए। जो लोग ऐसा नहीं करते, वे उसी चीलके समान हैं, जो उड़ती तो आकाशमें है, पर दृष्टि रहती है उसकी नीचे। ये लोग भी उड़ते तो शास्त्रोंपर हैं, पर दृष्टि रहती है संसारपर, लक्ष्य रहता है क्षुद्र वैषयिक सुखोंकी प्राप्ति करना। अस्तु, जो लोग विवेक और ज्ञानके साथ भगवत्प्राप्तिको लक्ष्य बनाकर ग्रन्थोंका अध्ययन नहीं करते, उनके लिये ग्रन्थ ग्रन्थिका ही काम करते हैं। ऐसे लोग भगवत्साक्षात्कार नहीं कर सकते।

आर्त भक्त

तीसरे प्रकारके भक्त हैं आर्त—गजेन्द्र, द्रौपदीकी तरह पीड़ित, सताये गये।

अर्थार्थी भक्त

चौथे भक्त हैं अर्थार्थी—विभीषणकी तरह। जिस समय विभीषण सर्वसौन्दर्याधार, अखण्डानन्द-भण्डार, परमसमुज्ज्वल, अतिसुन्दर, चिरमधुर रसमय भगवान्‌के पास आये, उस समय उन्होंने कहा—

उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥

(रा०च०मा० ५।४९।६)

फिर तत्क्षण कहने लगे कि—

अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु सदा सिव मन भावनी।

(रा०च०मा० ५।४९।७)

इनमें एक भक्त ऐसे होते हैं, जो ज्ञान भी प्राप्त करना चाहते हैं, धन भी प्राप्त करना चाहते हैं और विपत्ति-निवारण भी करना चाहते हैं। यद्यपि ज्ञान प्राप्त करने, धन प्राप्त करने और विपत्ति-निवारण करनेका साधन उनके पास है तथापि वे भगवान्‌का भजन नहीं छोड़ते। जो अस्त्रबल, बाहुबल, बुद्धिबलके घमण्डमें आकर भगवान्‌को भूल जाते हैं, उनका मनोरथ मरुभूमिकी नदियोंकी तरह बीचमें ही सूख जाता है, सिद्धिसाफल्य मिलना तो दूर रहा। इसलिये अर्जुन जिस समय कृष्णचन्द्रकी पटरानियोंको लेकर लौट रहे थे, उस समय आभीरोंने उनको बाँसके खण्डोंसे पीट-पीटकर पटरानियोंको छीन लिया। वही शक्तिमान् अर्जुन और वही गाण्डीव धनुष, किंतु एक श्रीकृष्णके बिना उनके सारे साधन बेकार हो गये। अस्तु, कोई कितना ही शक्तिसम्पन्न क्यों न हो, भगवच्चरणोंका सहारा लेते हुए ही उसे चलना चाहिये।

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो चाहते तो सब कुछ हैं, पर साधन एक भी नहीं। ऐसे लोगोंको भी निराश न होना चाहिये। शास्त्रोंने उनको भी आश्वासन दे रखा है—**'सुने री मैंने निरबलके बल राम।'** निष्काम अनन्यभक्त नरसीकी तरह जो साधनविहीन हैं, दीन-दुनियाका जिन्हें कुछ भी भरोसा नहीं, केवल भगवान्‌का सहारा है, ऐसे भक्तोंको भगवान् ऐसा प्रसन्न करते हैं कि वे निहाल हो जाते हैं।

ऐसे भी भक्त होते हैं, जो चाहते सब कुछ हैं, पर साधन कुछ नहीं है और साथ ही भगवान्‌पर विश्वास भी नहीं है। ऐसे लोगोंके लिये भी शास्त्रोंमें निराशाका शब्द नहीं। उनके लिये शास्त्र कहते हैं कि भगवान्‌को पुकारो—'हे अशरण-शरण, हे अनाथनाथ, हे अकारण-करुण, हे करुणावरुणालय, हे प्रभो! मैं आपको नहीं जानता। अपनेको नहीं जानता, आपके और अपने सम्बन्धको नहीं जानता। माया ठगिनीने मुझे खूब ठगा। मैं उन्मादी बन बैठा। तरंग, कटक, मुकुट, कुण्डल, घटाकाश जैसे घमण्ड करे कि मेरे अतिरिक्त जल नामकी कोई वस्तु नहीं, स्वर्ण नामकी कोई वस्तु नहीं और महाकाश नामकी कोई वस्तु ही नहीं है। ठीक इसी प्रकार भगवन्! मैं इतना उन्मादी बन बैठा कि कहने लगा, ईश्वर नामकी कोई वस्तु नहीं। हे नाथ! अब आप ही कृपा करें कि मैं भाव-कुभाव जिस किसी तरहसे भी आपको पुकारूँ।'

भगवच्छरणागतिसे ही गति

'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥' (गीता ६। ४१) इत्यादि शास्त्रवचनोंमें योगभ्रष्टकी चर्चा आती है। अर्जुनने प्रश्न किया कि—

अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥

(गीता ६। ३७-३८)

अर्थात् जो ब्रह्मके मार्गमें प्रतिष्ठित नहीं हो सका, योगसिद्धि बिना प्राप्त किये ही मर गया, उसकी क्या गति होती है? यहाँ यही अभिप्राय है कि जो लोग कर्मसंन्यास करके कर्ममार्गको छोड़ चुके और ब्रह्मसाक्षात्कार-साधन श्रवणादिमें लगे हुए हैं, वे मरकर छिन्न बादलके समान नष्ट होते हैं या किसी तरह उनकी भी सद्गति होती है? भगवान्‌ने कहा— **'पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।'** (गीता ६। ४०) पार्थ! इस लोक-परलोक कहीं भी उसका विनाश नहीं होता, **'न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति॥'** (गीता ६। ४०) हे तात! कल्याणके लिये प्रयत्न करनेवाला कोई प्राणी दुर्गतिको नहीं प्राप्त होता। उनमें उच्चकोटिके अधिकारी लोग तो जन्मान्तरमें पवित्र अध्यात्मनिष्ठ योगियोंके कुलमें जन्म ग्रहण करते हैं और वहाँ पूर्वाभ्यासवशात् पुनः योगाभ्यासमें लगकर शीघ्र ही सिद्धिको प्राप्त कर लेते हैं। कोई-कोई पवित्र श्रीमानोंके यहाँ जन्म ग्रहणकर धर्मानुष्ठान तथा सत्संगादि करके पुनः उच्चगतिको प्राप्त होते हैं। सारांश यही है कि जो कर्मादिका सहारा छोड़कर योग या ज्ञानके अभ्यासमें तल्लीन हो गये और पूर्ण सिद्धि या तत्त्वसाक्षात्कारसे पहले ही मृत हो गये, वे भी नष्ट नहीं होते, किंतु वे भी अच्छी ही गतिको प्राप्त होते हैं। कुछ लोगोंका कहना है कि इतना ही नहीं, किंतु 'योगभ्रष्ट' का यह भी अर्थ है कि जो योगमार्गसे भ्रष्ट हो गया अर्थात् कामादि दोषोंसे अभिभूत होकर मायिक प्रपंचोंमें फँस गया, उसीकी छिन्नाभ्रवत् नष्ट होनेकी सम्भावना हो सकती है। जो सदाचारी एवं नियतमानस होकर श्रवणादिमें लगा रहता है, वह तो एक प्रकारके बड़े दिव्य पुण्यमें ही लगा रहता है। श्रद्धापूर्वक वेदान्तश्रवणसे प्रतिदिन अशीति (८०) कृच्छ्रचान्द्रायणका पुण्य शास्त्रोंमें कहा गया है। अनेक जन्मोंके अभ्याससे ही संसिद्धि प्राप्त होती है, यही गीताका भी अभिप्राय है— **'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥'** (गीता ६। ४५) अर्जुनके प्रश्नसे भी यही मालूम होता है कि यह विकर्म-निमित्त योगभ्रंशको लेकर ही प्रश्न उठा है।

शास्त्रोंने यही कहा है कि जो प्राणी स्वधर्मको छोड़कर भगवान्‌को भजने लगा, अपक्व होनेके कारण कथंचित् यदि वह गिर जाय तो भी किसी-न-किसी तरह उसका कल्याण हो ही जाता है। परन्तु जो भगवान्‌का स्मरण न करके कर्मानुष्ठानमें ही लगा है, वह तो कोई भी परमार्थ-लाभ नहीं कर सकता—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे-
र्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं
को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः॥

(श्रीमद्भा० १। ५। १७)

इसी तरह यह भी कहा गया है कि सर्वत्यागी भगवत्परायण पुरुषसे यदि कोई विकर्म हो जाय तो भी भगवत्स्मृति-परम्परासे उसकी निवृत्ति हो जाती है—

स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य
त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद्
धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः॥

(श्रीमद्भा० ११। ५। ४२)

जड़भरत आदि भगवान्‌के स्मरणमें संलग्न थे, दुर्दैववश उन्हें मृगशावकमें राग हो गया, इसी कारण वे जन्मान्तरमें मृग हो गये तथापि भगवत्स्मरणके प्रभावसे तत्त्व-साक्षात्कारसम्पन्न होकर अन्तमें सद्‌गतिके ही भागी हुए।

अनन्य भगवत्परायणताका एक दृष्टान्त

इसी तरह 'पद्मपुराण' में एक भद्रतनु नामक व्यक्तिकी कथा आती है। वह यद्यपि जन्मान्तरका परम तपस्वी और भगवत्परायण था तथापि किसी दुर्दैवके योगसे वेश्यागामी हो गया। एक दिन उसके पिताका श्राद्ध था। उसकी साध्वी धर्मपत्नीने कहा कि 'आज आप अवश्य नियमसे रहें; क्योंकि पिताका श्राद्ध है।' परंतु उससे न रहा गया और वह रात्रिके समय वेश्याके पास जा पहुँचा और अपने उत्कट प्रेमकी कथा कह सुनायी। वेश्याने खिन्न होकर उसे बहुत ही तिरस्कृत किया और कहा कि 'जब आप इतनी नीच प्रकृतिके हैं कि अपने पिताके लिये भी साधारण-सा नियम-पालन नहीं कर सकते तो हमारे लिये आप क्या कर सकते हैं? आप चले जाइये।' वेश्याके इन वचनोंको सुनकर भद्रतनुको ग्लानि हुई और वह उसे गुरु मानकर वहाँसे चल पड़ा। महात्मा मार्कण्डेय वहीं तप कर रहे थे, उनसे जाकर उसने अपनी सारी सत्य स्थिति कही। महात्माने कहा—'अब घबड़ाओ नहीं, तुम्हारा कल्याण होनेहीवाला है। मुझे तो समय नहीं है, तुम यहाँसे समीप ही महात्मा दान्त रहते हैं, उनके पास चले जाओ।' वह गया और महात्मासे अपनी स्थिति बतलायी। महात्माने उसे भगवान्‌की उपासना बतलायी। वह बड़ी तत्परतासे भगवान्‌की उपासनामें लग गया। बहुत ही थोड़े दिनोंमें भगवान् प्रत्यक्ष हुए और प्रसन्न होकर उन्होंने उसके सब पापोंको नष्ट कर दिया और उसे अपना मित्र बना लिया। फिर भी उसे दिनोंदिन दुर्बल होते देखकर भगवान्‌ने कहा—'मित्र! तुम दिनोंदिन दुर्बल क्यों हो रहे हो? देखो, तुम हमारे मित्र होकर फिर चिन्तित क्यों हो?' उसने कहा—'भगवन्! मुझे हर समय डर लगा रहता है कि मुझसे कहीं कोई ऐसा अपराध न बन जाय कि प्रभुकी मैत्रीसे मैं वंचित हो जाऊँ।' भगवान्‌ने कहा—'मित्र! मेरी मैत्री ऐसी चंचल नहीं होती। मैं जिससे मैत्री जोड़ता हूँ, उससे अटल मैत्री रखता हूँ, अत: तुम निश्चिन्त रहो और खूब निश्चिन्तताके साथ भूषण-वसन-अलंकारसे विभूषित, सुसज्जित एवं अलंकृत होकर रहो। यहाँतक कि तुम्हें मैं अपने समान ही पीताम्बर, कटक, मुकुट, कुण्डलादि प्रदान करता हूँ, तुम सर्वथा निश्चिन्त होकर मेरे समान ही रहा करो।' उसने प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य की और प्रसन्नताके साथ रहने लगा। अधिक साजबाजके साथ रहते देखकर गुरुने एक दिन कहा कि 'भाई! तुम कैसे हो गये? क्या फिर अपने पूर्वरूपपर ही आ गये?' उसने कहा—'गुरुदेव! आपने जिसका भजन बतलाया है, यह सब उसीके आदेशानुसार हो रहा है।' गुरुदेवको आश्चर्य हुआ कि मैं तो सहस्रों वर्षोंसे तप कर रहा हूँ, मुझे भगवान्‌के दर्शनतक न हुए, इसे इतनी शीघ्रतासे भगवान् कैसे मिल गये? दान्तने कहा—'अच्छा, हमें भी मिलाओ।' भद्रतनुने कहा—'बहुत अच्छा।' भगवान्‌से मिलते ही उसने कहा—'भगवन्! अब तो हमारे गुरुदेवसे भी आपको मिलना पड़ेगा।' भगवान्‌ने कहा—'मित्र! तुमने जन्मान्तरोंमें मेरी प्राप्तिके लिये बड़ी तपस्या की थी, केवल इतना कामप्रतिबन्ध ही अवशिष्ट था, उसके मिटते ही मैं शीघ्र ही तुम्हें मिल गया, परंतु तुम्हारे गुरुदेवको तो अभी बहुत जन्मोंतक तपस्या करनी पड़ेगी।' भद्रतनुने कहा—'भगवन्! आपको मेरी प्रसन्नताके लिये यह कार्य तो करना ही पड़ेगा।' भगवान्‌ने कहा—'अच्छा, तुम्हारी प्रसन्नताके लिये मैं तुम्हारे गुरुदेवसे मिलूँगा, तुम उन्हें ले आओ।' बस इस तरह प्रभुकी विशेष कृपासे दान्तको भी भगवान्‌का दर्शन मिला।

कथानकका आशय यही है कि किसी भी

स्थितिमें प्राणी भगवान्‌के चरणोंमें जाकर सदाचारी बनकर भगवान्‌को प्राप्त कर लेता है, अत: प्राणीको चाहिये कि वह हर तरहसे प्रभुके शरण हो।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।

(गीता ९। ३०-३१)

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥

(रा०च०मा० ५। ४४। १)

सरन गएँ प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्व द्रोह कृत अघ जेहि लागा॥

(रा०च०मा० ५। ३९। ७)

तेउ सुनि सरन सामुहें आए। सकृत प्रनामु किहें अपनाए॥

(रा०च०मा० २। २९९। ३)

इत्यादि वचन उपर्युक्त भावोंका ही पोषण करते हैं।

भगवान्‌का अवलम्बन अनिवार्य

ईश्वरका अभिव्यंजक शास्त्र है। शास्त्रोंपर विश्वास करके एवं समुचित ढंगसे उनका अध्ययन करके उनके अनुसार अनुष्ठान करना और परात्पर, पूर्णतम पुरुषोत्तम परब्रह्मकी उपासना करना यही कल्याणका मार्ग है। 'गीता' भी यही कहती है कि प्राणी स्वधर्मानुष्ठानद्वारा ही अभ्युदय, नि:श्रेयस, परमगति प्राप्त कर सकता है। इसीलिये हमें अपनी समस्त चेष्टाओं एवं हलचलोंको शास्त्रोक्त बनानेकी कोशिश करनी चाहिये। हमारा राजनैतिक, सामाजिक, राष्ट्रीय जो भी कार्य हो, वह शास्त्रोक्त ढंगसे होना चाहिये। लोग कहते हैं कि आप तो सब जगह धर्मका अड़ंगा लगाते हैं, पर किया क्या जाय? जो हलचलें शास्त्रविरुद्ध मालूम पड़ें, वे पाप एवं सर्वथा त्याज्य हैं। शास्त्रोक्त धर्मके समाश्रयणसे ही आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक सब प्रकारकी उन्नति एवं सुख-शान्ति प्राप्त हो सकती है। आर्थिक, सामाजिक एवं नैतिक सभी प्रकारके सामूहिक-वैयक्तिक लाभ उसी धर्मसे सम्भव हैं। प्राचीन, अर्वाचीन किसी भी कालमें जो शक्तिशाली, प्रभावशाली, मेधावी, स्मृतिसम्पन्न, नीतिशील, कवि और ज्ञानी हुए हैं, उनका मूल कारण तपस्या, स्वधर्मानुष्ठान और ईश्वराराधन ही है। बिना इसके विशेषता नहीं आ सकती। ऐसा भी देखा जाता है कि पहले तो तपस्या, स्वधर्मानुष्ठान और वर्तमानमें वैषयिक आसक्ति एवं अधर्माचरण। प्राणी जब पददलित, अपमानित एवं दु:खी होता है, तब उसको ईश्वर, धर्म और न्यायकी याद आती है। इसीलिये शास्त्रोंमें अपमानकी, विपत्तिकी बड़ी महिमा बतलायी गयी है। विविध सुख-सम्पत्ति और ऐश्वर्यमें फँसकर प्राणी अपने प्रियतम प्रेमास्पद भगवान्‌को भूल जाता है। यदि सावधान रहे, ईश्वर, धर्म, न्यायको न भूले तो फिर वह बड़ी ऊँची स्थितिको प्राप्त कर सकता है।

'गीता' में बतलाया गया है कि कुछ लोग भगवत्प्राप्तिके लिये; भगवान्‌की दिव्यातिदिव्य, देदीप्यमान, स्निग्ध, सुन्दर, कमनीय, कान्तिमयी मनोहारिणी मूर्तिका अवलोकन करनेके लिये; प्रभुके सुमधुर अधरसुधा-रसका पान करनेके लिये; उनकी अमृतमयी, मृतकजियावनी गिराका श्रवण करनेके लिये एवं प्रभुके अनन्त सौन्दर्य, माधुर्य, सौगन्ध्य, सौरस्यपरिपूर्ण मंगलमय श्रीपादारविन्द-मकरन्द-रसका समास्वादन करनेके लिये शम, दम, नियम, जप, तप, यज्ञ, योगादिका अनुष्ठान करते हैं, किंतु बिना सिद्धि प्राप्त किये ही मृत्युके शिकार बन जाते हैं, उनकी क्या दशा होती है? इस सम्बन्धमें भगवान् उनकी दो प्रकारकी गति बतलाते हैं—एक तो यह कि विरक्त, तपस्वी, ब्रह्मनिष्ठ श्रीमान्‌के घर उनका जन्म होता है और पूर्वसाधनानुसार श्रवण, मनन, निदिध्यासनद्वारा भगवान्‌के अखण्ड, अनन्त, स्वप्रकाश,

सद्रूप, बोधस्वरूप, कूटस्थ, असंग, निरवयव, निर्विकार, एकरस परमतत्त्वका साक्षात्कार कर लेते हैं। दूसरी यह कि धन-जन-शक्तिसम्पन्न उत्तम कुलमें उनका जन्म तो होता है, परंतु इस मायामय संसारमें, माया-मोहके सूचीभेद्य तिमिर-किरणमें पड़कर पुत्र, परिजन एवं अगणित धन-सम्पत्तिकी आसक्तिमें फँसकर, प्रभुत्व और प्रतिष्ठाके घमण्डमें चकनाचूर होकर, संगमरमरके सुधाधवलित, गगनभेदी, सुरम्य सौधोंकी बाह्य चमचमाहटमें अन्धा होकर एवं मायाकी मूलभूता ममताकी मूर्ति जायाकी छायामें शीतलताका अनुभव करता है और इस प्रकार श्रवणमात्ररमणीय, मृगतृष्णिकोदक सांसारिक क्षुद्र वासनाओंके चंगुलमें पड़कर वैषयिक क्षुद्र आनन्द-बिन्दुओंसे प्रचण्ड कामानलके प्रशमनमें व्यग्र होकर अतृप्ति और असफलताका बोध करते हुए अपने लाखों मित्रोंके सहित मरकर नरकका असह्य दु:ख झेलता है।

स्वधर्मानुष्ठानसे कल्याणकी प्राप्ति

शास्त्रपर विश्वास करके यदि हम स्वधर्मानुष्ठान करें तो ऐसा कोई भी दुर्घट पदार्थ नहीं, जिसे हम प्राप्त न कर सकें। इस समय राष्ट्रोद्धारका मुख्य प्रश्न सामने उपस्थित है। उसके लिये यदि हम कुछ नहीं कर सकते तो भी ईश्वराराधन कर ही सकते हैं। जबकि इस समय हमारे पास अस्त्रबल नहीं, शस्त्रबल नहीं, बाहुबल नहीं, संगठनबल नहीं, बुद्धिबल नहीं, ऐसी परिस्थितिमें तर्क-वितर्कोंको दूर फेंककर दत्तचित होकर सबको ईश्वराराधन करना चाहिये। हम यह नहीं कह सकते कि अन्य साधनोंका उपयोग न किया जाय, किंतु जब अन्य साधन पासमें नहीं, तब आखिर किया ही क्या जाय? साथ ही बात यह है कि यह सबसे हो भी नहीं सकता, घरमें आग लगी हो और हम मन्दिरमें बैठकर माला फेरें, दुर्गापाठ करें, यह सबसे नहीं हो सकता। हो भी सकता है, पर इसके लिये अटल विश्वासकी आवश्यकता है। पुरुषोत्तम, परब्रह्म, सर्वान्तरात्मा भगवान्‌में पूर्ण विश्वासवाला व्यक्ति ही ऐसा कर सकता है। भगवान् उसकी सहायता अवश्य करते हैं, पर साधारण स्थितिवालोंके लिये तो **'मामनुस्मर युध्य च'** (गीता ८।७)-का ही मार्ग सर्वोत्तम जान पड़ता है। हाँ, कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो भगवान्‌को ही अनन्यगति समझते हैं। भगवत्पादपंकजमें उनका मनोमिलिन्द अहर्निश आसक्त रहता है। वे ही प्रभुके भरोसे अनन्य निश्चिन्त रहते हैं। जो दशा पुत्रवत्सला माँके उत्संगलालित शिशुकी है, वही दशा भगवत्पादारविन्दानुरागियोंकी भी है और वे ही घरमें आग लगनेपर भी निश्चिन्त होकर माला लेकर बैठ सकते हैं। भक्तवत्सल भगवान् अपने ऐसे विश्वासी भक्तोंका योग-क्षेम स्वयं वहन करते हैं। तभी तो भगवान् किसीके घर पानी भरते और किसीका छप्पर छवाते देखे गये हैं। करें ही क्या? ठहरे तो भक्तभावनापराधीन ही न, भक्तवांछाकल्पतरु ही न।

यदि हम साधनसम्पन्न हों तो भी भगवान्‌से विमुख न होकर ही हमें प्रयत्न करना चाहिये; क्योंकि **'राम बिमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई॥'** (रा०च०मा० ५।२३।५) जिस सरिताका कोई उद्‌गमस्थान नहीं, वह शीघ्र ही सूख जाती है। इसलिये यदि चाहते हों कि हमारी स्थायी उन्नति हो, साम्राज्य, स्वराज्य आदि मिले, लौकिक अभ्युदय हो और साथ ही अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डनायक भगवान् भी मिलें तो हमें भगवच्चरणोंका सहारा लेना पड़ेगा, भगवद्भक्त बनना ही होगा।

प्रेमतत्त्व

अन्तःकरणकी सात्त्विकी वृत्ति ही प्रेम है

प्रेमतत्त्वको रसिक लोग 'मूकरसास्वादनवत्' कहते हैं। कोई तो आन्तर मधुर वेदनाको ही 'प्रेम' कहते हैं। कोई स्नेहात्मक अन्तःकरणकी वृत्तिको ही प्रेम कहते हैं। यद्यपि वधू आदिमें 'राग', यागादिमें 'श्रद्धा', गुरु आदिमें 'भक्ति' तथा सुखादिकी इच्छा—ये सभी प्रेमके ही रूप हैं तथापि सुखमात्रका अनुवर्तन करनेवाली अन्तःकरणकी सात्त्विकी वृत्ति ही प्रेम है। यह प्राप्त, अप्राप्त और नष्टमें भी रहती है। इच्छा नष्ट और प्राप्तमें नहीं होती। प्रेमरसज्ञ लोग रसस्वरूप परमात्माको ही प्रेम कहते हैं। इसीलिये द्रवीभूत अन्तःकरणपर अभिव्यक्त रसस्वरूप परमात्मा ही प्रेमके रूपमें प्रकट होता है। अतएव आचार्योंने कहा है—

भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि।
मनोगतस्तदाकाररसतामेति पुष्कलम्॥

अस्पृष्ट दुःख निरुपम सुखसंवित्-स्वरूप परमात्मा ही प्रेम है। यह भी कहा गया है—

निरुपमसुखसंविद्रूपमस्पृष्टदुःखं
तमहमखिलतुष्ट्यै शास्त्रदृष्ट्या व्यनज्मि॥

प्रेमियोंका कहना है कि चित्त लाक्षा (लाख)-के समान कठोर द्रव्य है। वह तापक द्रव्यके योगसे कोमल या द्रवीभूत होता है। जैसे द्रवीभूत लाक्षामें निःक्षिप्त हिंगल, हरिद्रा आदि रंग स्थायीभावको प्राप्त होता है, वैसे ही द्रवीभूत अन्तःकरणपर अभिव्यक्त भगवान् ही 'भक्ति' कहे जाते हैं। भगवान्के गुणगण-श्रवणसे चरित्रनायक पूर्णतम प्रभुका स्वरूप प्रकट होता है। पुनश्च उनके प्रति स्नेहादिका प्रादुर्भाव होता है। स्नेहादिसे चित्तमें द्रवता होती है। स्नेहास्पद पदार्थके दर्शनसे उसमें संस्कार उत्पन्न होता है, अतएव पुनः-पुनः उसका स्मरण होता है। उपेक्षणीय वस्तुके संस्कार नहीं होते, इसका कारण यही है कि रागके आस्पद या द्वेषके आस्पद पदार्थको ग्रहण करता हुआ चित्त रागादिसे द्रवीभूत हुआ है, इसीलिये उसके संस्कार हो जाते हैं। उपेक्षणीय तत्त्वके ग्रहण-समयमें चित्त द्रवीभूत नहीं होता; क्योंकि वह तापक भाव नहीं है। प्रेमी कहते हैं कि भगवान्के उत्कट स्नेहसे चित्तको इतना द्रुत करे कि वह गंगाजलके समान निर्मल, कोमल तथा द्रवीभूत हो जाय। फिर उसमें भगवान्का स्थायी रूपसे प्राकट्य होता है—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥

(श्रीमद्भा० ३।२९।११)

अर्थात् भगवान्के गुणोंके श्रवणसे भगवान्में द्रवीभूत चित्तकी वृत्तियोंका ऐसा प्रवाह चलता है, जैसे—कोमल, निर्मल, द्रवीभूत गंगाजलका प्रवाह समुद्रकी ओर चलता है। जिस समय द्रवीभूत चित्तमें पूर्णतम पुरुषोत्तम प्रभुका प्राकट्य होता है, उस समय ही स्थिर भक्ति कही जाती है। जैसे लाक्षाके कठोर रहनेपर उसमें रंग स्थिर नहीं होता, लाखकी टिकियापर मुहरका अक्षर अंकित करनेके लिये भी अग्निके सम्बन्धसे उसे कुछ कोमल किया जाता है; क्योंकि कठोर लाखपर मुहरके अक्षर अंकित नहीं होते, वैसे ही कठोर, अद्रुत चित्तपर भगवान्का स्वरूप, चरित्र, गुण तथा अन्यान्य सदुपदेश अंकित नहीं होते। परंतु गंगाजलके समान कोमल, द्रवीभूत अन्तःकरणमें भगवान्का प्राकट्य होनेसे फिर भगवान् भी निकलनेमें समर्थ नहीं होते। जैसे लाक्षाके साथ एकदम मिला हुआ रंग उसमेंसे निकलनेमें समर्थ नहीं होता, लाख चाहे तो भी उसकी रंगसे वियुक्ति नहीं हो सकती, वैसे ही यदि भगवान् चाहें तो भी भक्तके द्रवीभूत चित्तसे निकल नहीं सकते। भक्त भी यदि चाहे तो भी वह भगवान्से वियुक्त नहीं हो सकता, भगवान्को अपने अन्तःकरणसे निकाला नहीं जा सकता।

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा-
द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः
स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥

(श्रीमद्भा० ११।२।५५)

अर्थात् जिसके हृदयकी प्रणय-रशनासे बँधे हुए भगवान् अपनेको न छुड़ा सकें, वही प्रधान भक्त है। कितने स्थलोंमें भक्त भगवान्‌से कहते हैं कि यदि आप हमारे हृदयसे निकल जायँ तो हम देखें आपकी सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायकता। कहीं-कहीं भक्त भी हृदयसे भगवान्‌को निकालना चाहते हैं, भगवान्‌में दोषानुसन्धान करते हैं, परंतु असफल होते हैं—

प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन् मनो धित्सते
बालासौ विषयेषु धित्सति ततः प्रत्याहरन्ती मनः।
यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते
मुग्धेयं किल पश्य तस्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षति॥

(विदग्धमाधव २। १७)

अतएव कुछ लोग द्रवताको ही प्रेम कहते हैं। यद्यपि द्रवताकी अपेक्षा अवश्य है तथापि प्रेमका स्वयंस्वरूप द्रवता नहीं है, प्रेमका निजी रूप तो रसस्वरूप परमात्मा ही है। अतएव आचार्योंने उसे निरुपम सुखसंविद्रूप बतलाया है। जिस तरह सच्चिदानन्द ब्रह्म विश्वका कारण है, अतएव उसके सदंश, चिदंशकी सर्वत्र अनुवृत्ति दिखायी देती है। **'घटः सन्'**, **'पटः सन्'** इत्यादि रूपसे सद्विशेष घटादि प्रपंचमें सत्‌की व्याप्ति है। वैसे ही **'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि'** (तैत्तिरीय० ३। ६)-के अनुसार आनन्दरससे ही सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न होता है, अतएव सर्वत्र उसकी अनुवृत्ति या व्याप्ति होनी चाहिये। इसीलिये हर एक जन्तुमें, हर एक परमाणुमें आनन्द, रस या रसस्वरूपभूत प्रेमकी भी व्याप्ति है। बिना प्रेम या रसके एक-दूसरेसे मिलना नहीं हो सकता। पुत्र, कलत्र, मित्र आदिका मिलन भी रस या स्नेहसे है। पशु-पक्षियोंमें, पिता-माता, पुत्र, पुत्रवधूमें प्रीति, स्नेह होता है। किं बहुना एक परमाणुका दूसरे परमाणुसे मिलना भी बिना स्नेहके नहीं हो सकता। इस तरह प्रेमतत्त्व आनन्द या रसस्वरूप होनेसे विश्वका कारण है, इसलिये उसकी व्याप्ति है। वह सर्वत्र और सबके पास है। उसका दुरुपयोग करनेसे अर्थात् केवल सांसारिक वस्तुओंमें ही प्रेम करनेसे दुःख होता है। भगवान्‌में उसका सम्बन्ध जोड़ते ही सारा विश्व आनन्दमय, मंगलमय हो जाता है। इसीलिये प्रेमियोंने चाहा है कि संसारसे प्रेम हटकर भगवान्‌में ही हो जाय—**'यह बिनती रघुबीर गुसाईं।'** **'ते सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहिं सिमिटि इक ठाईं॥'** (विनय-पत्रिका १०३) जैसे किसीके पास कोई दिव्यशक्तिसम्पन्न क्षेत्र हो, परंतु वह उसमें दौर्गन्ध्य-विष-कण्टकादिपूर्ण विष-वृक्षको लगाकर दौर्गन्ध्य-विष-कण्टकादिसे दुःख पाता है, यदि हिम्मत बाँधकर सावधानीसे उस विष-वृक्षको काटकर सौन्दर्य, माधुर्य, सौरस्य, सौगन्ध्यपूर्ण आम्रवृक्ष या कल्पवृक्षको लगाये तो अवश्य सुखी हो जाय। ठीक वैसे ही प्रेमको संसारके साथ जोड़कर प्रेममें लौकिक भावोंको जोड़कर प्राणी दुःखी होता है, प्रेमके साथ भगवान्‌का सम्बन्ध जोड़ते ही सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्द हो जाता है। जैसे कोई कल्याणमयी, करुणामयी पुत्रवत्सला अम्बा अपने शिशुको कहीं भेजती हुई उसे ऐसा पाथेय अवश्य प्रदान करती है, जिसके सहारे वह पुनः अपनी अम्बाके पास आ जाय, यदि ऐसा न ध्यान रखे तो उसे **'करुणामयी'** नहीं कहा जा सकेगा। वैसे ही अनन्तब्रह्माण्डजननी कृष्णाभिधाना माँने भी जीवोंको प्रेमतत्त्व साथमें ही दे रखा है। उसे भूल जानेसे या उसका दुरुपयोग करनेसे जीव दुःख पाता है। परंतु उसको यादकर, उसका सदुपयोग करते ही अर्थात् गुरुजनों, शास्त्रों एवं भगवान्‌में प्रेमका उपयोग करनेसे जीव कृतकृत्य होकर अपनी कृष्णाभिधाना माँके अंक (गोद)-में जा पहुँचता है, सर्वदाके लिये कृतकृत्य हो जाता है।

भगवान् ही प्रेमके उद्‌गम-स्थान किंवा प्रेमस्वरूप हैं

कहा जा सकता है कि यदि रस, प्रेम और भगवान् एक हैं और नित्य सिद्ध ही हैं तो भगवान्‌में प्रेमको 'प्रेम' और अन्य प्रेमास्पदमें विषय-विषयीभाव-कल्पनाकी क्या अपेक्षा है? इससे तो

मालूम पड़ता है कि प्रेमके लिये भेदभावकी ही अपेक्षा है। बिना दोके प्रेम नहीं होता, अतएव प्रेम और भगवान् भी दो वस्तु होनी चाहिये। परंतु गम्भीरतासे विवेचन करें तो मालूम होगा कि आरम्भकालमें औपाधिक प्रेमके लिये अवश्य ही दोकी अपेक्षा किंवा अभिव्यक्तिके लिये साधनकी अपेक्षा है, परंतु स्वभावत: प्रेम अभेदमें या अत्यन्त सन्निहित प्रत्यगात्मामें ही होता है और वह स्वत:सिद्ध भी है। जैसे स्वप्रकाश ब्रह्मके प्राकट्यार्थ भी महावाक्यजन्य परब्रह्माकाराकारित वृत्तिकी अपेक्षा होती है, वैसे ही भगवत्स्वरूप, स्वत:सिद्ध प्रेमके भी प्राकट्यके लिये भगवदाकाराकारित स्निग्ध मानसी वृत्ति अपेक्षित है। उस प्राकट्यके लिये ही सद्धर्म, सत्कर्म आदि साधनोंकी अपेक्षा है। प्राकट्य-भेदसे ही उसके अणु, मध्यम, महत् एवं परममहत्परिमाण-भेदसे अनेक भेद भी होते हैं। साधनकालमें ही भेदभावकी अपेक्षा होती है। अज्ञानके कारण ही भगवान्‌में प्रेम न होकर विश्वमें होता है। या यों समझिये कि नीरस, नि:सार संसारमें रसस्वरूप भगवान्‌के सम्बन्धसे ही सरसताकी प्रतीति होती है, अत: सरसत्वेन प्रतीयमान विश्वमें प्रेम होता है। जैसे प्रकाशकी अन्यत्र सातिशयता और व्यभिचारिता होनेपर भी सूर्यमें उसका व्यभिचार या सातिशयता सम्भव नहीं है, वैसे ही अन्यत्र प्रेमका व्यभिचार और सातिशयता देखी जाती है, परंतु भगवान्‌में व्यभिचार और सातिशयता नहीं है। पुत्र, कलत्रादिकोंसे कभी प्रेम, कभी बैर भी हो जाता है, कभी प्रेमकी कमी, कभी अधिकता हो जाती है, परंतु भगवान्‌में वह सदा होता है और सर्वदा निरतिशय होता है; क्योंकि जैसे सूर्य प्रकाशके उद्गम-स्थान या प्रकाशस्वरूप ही हैं, वैसे ही भगवान् भी प्रेमके उद्गम-स्थान किंवा प्रेमस्वरूप ही हैं।

कहा जाता है कि भगवान् और उनमें प्रेम प्रत्यक्ष नहीं है, फिर भगवान्‌में अव्यभिचारी और निरतिशय प्रेम या उन्हें प्रेमस्वरूप कैसे माना जाय? परंतु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि भगवान् सर्वप्रकाशक, अखण्ड बोधरूपसे, प्रत्यगात्मारूपसे प्रसिद्ध हैं। अतएव उनमें प्रेम भी प्रसिद्ध है। केवल अनिर्वचनीय आवरण मिटानेके लिये ही कुछ प्रयत्नोंकी अपेक्षा है। विज्ञानसे सारी वस्तुओंका व्यवहार होता है। सम्पूर्ण वस्तु, सम्पूर्ण व्यवहार बोधसे ही प्रकाशित होता है। फिर बोधमें क्या सन्देह? **'जगत प्रकास्य प्रकासक रामू'** (रा०च०मा० १।११७।७)। जैसे दर्पणदर्शनके पश्चात् तदन्तर्गत प्रतिबिम्ब दिखायी देता है, वैसे ही बोधमानके पश्चात् ही विश्व या उसकी वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं—**'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।'** (कठ० २।२।१५; मुण्डक० २।२।१०; श्वेताश्वतर० ६।१४) जैसे तरंग व्यामोहसे ही कह सकती है कि 'जल कहाँ है? जो कुछ है, मैं ही हूँ' वैसे ही जीव व्यामोहसे ही कह सकता है कि 'भगवान् कहाँ? जो कुछ है मैं ही हूँ।' जैसे तरंगके भीतर, बाहर, मध्यमें, किं बहुना तरंगका अस्तित्व ही जलपर निर्भर है, वैसे ही सम्पूर्ण जगत्‌में, विशेषत: जीवमें, उसके भीतर, बाहर, मध्यमें सर्वत्र भगवान् ही हैं। वस्तुत: सम्पूर्ण विश्व या जीव भगवान्‌की सत्तासे ही सत्तावाले हैं, उनका पृथक् अस्तित्व ही नहीं है।

प्राणीको अपने प्राणोंमें, सुखमें, अपनी आत्मामें स्वाभाविक प्रेम होता है, भगवान् तो प्राणोंके प्राण, सुखके सुख और जीवोंके भी जीवन हैं। फिर उनमें प्रेम स्वाभाविक क्यों न हो? इसीलिये तो महर्षि वाल्मीकि कहते हैं—**'लोके नहि स विद्येत यो न राममनुव्रतः॥'** (वाल्मीकीय० २।३७।३२) अर्थात् लोकमें कोई भी जन्तु या कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं है, जो रामका भक्त न हो। वसिष्ठजी कहते हैं—**'प्रान प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम। तुम्ह तजि तात सोहात गृह**

जिन्हहि तिन्हहि बिधि बाम॥' (रा०च०मा० २।२९०) अर्थात् हे तात! राघवेन्द्र रामभद्र! तुम्हीं तो प्राणोंके प्राण, आत्माके आत्मा और सुखके भी सुख हो। प्राणसे या अपानसे प्राणी नहीं जीता, किन्तु प्राणीमें प्राणन शक्ति देनेवाला प्राणका भी प्राण भगवान् ही सबको जिलाता है। फिर तुमको छोड़कर जगत् किसे अच्छा लगे? इस दृष्टिसे रावणादि भी रामके भक्त ही हैं। भला, अपनी सत्ताका कौन विरोधी होगा? नास्तिक भी अपनी और अपने सिद्धान्तकी सत्ताका बाध या अपलाप नहीं चाहता या करता। हर एक व्यक्तिका निश्चय है कि और कुछ हो या नहीं, रहे या न रहे, मैं तो हूँ ही, मैं तो रहूँ ही। जैसे जलके बिना तरंग क्षणभर भी टिक ही नहीं सकती, वैसे ही सत्ताके बिना सम्पूर्ण पदार्थ असत् हो जाते हैं। सत्, चित्, आनन्द रसस्वरूप भगवान्के बिना सब निःस्फूर्ति, नीरस, निरानन्द, किं बहुना असत् हो जाते हैं। उनके योगसे ही—आध्यात्मिक सम्बन्धसे ही—स्फूर्तिमत्ता, सरसता, सानन्दता और अस्तित्व सिद्ध होता है। अतः उनका अमंगलमय वियोग किसे सह्य होगा?

जैसे गुड़के सम्बन्धसे नीरस बेसनमें मिठास आती है, वैसे ही 'स्व' के सम्बन्धसे—अपनेपनके सम्बन्धसे वस्तुओंमें प्रीति होती है। अपनेपनके बिना कट्टर वैष्णवोंको भगवान् शिवमें और शैवोंको विष्णुमें भी प्रेम नहीं होता। अनन्तब्रह्माण्डनायक भगवान्के ही जिस रूपमें अपनापन, अपना उपास्यभाव होता है, उसीमें प्रेम होता है। जिसमें उपास्यबुद्धि, इष्टबुद्धि नहीं, जिसमें अपनापन नहीं, उसमें प्रेम भी नहीं। अपनापन होनेसे अपने क्षेत्र, वृक्ष, बागके काँटोंमें भी प्रेम होता है, उनके नष्ट होनेमें कष्ट होता है। जिस अपनेपनके बिना ब्रह्म भी नीरस, जिस अपनेपनके सम्बन्धसे कण्टकादिमें भी प्रेम, साक्षात् उस अपनेमें, 'स्व' में प्राणीका कितना प्रेम हो सकता है? इसीलिये भगवान् प्राणके प्राण, आत्माके आत्मा, सुखके सुख, प्रत्यक्ष स्वात्मा हैं, अतएव प्रेम या रसस्वरूप ही हैं। जो वस्तु जितनी अप्रत्यक्ष, दूर और अपनेसे भिन्न है, उसमें उतनी ही प्रेमकी कमी होती है। क्षेत्र, मित्र, पुत्र, कलत्र आदिमें दूरस्थ, अप्रत्यक्ष तत्त्वोंकी अपेक्षा अधिक प्रेम होता है। क्षेत्रादिकी अपेक्षा देहादिमें अधिक प्रेम होता है। देहविरुद्ध होनेसे उन सबका ही त्याग किया जाता है; क्योंकि उनकी अपेक्षा देह सन्निहित एवं प्रत्यक्ष है। देहसे भी इन्द्रियाँ, प्राण अन्तरंग हैं, अतः उनमें प्रेम अधिक होता है। मन उनमें भी समीप है, अतः उसके प्रतिकूल या उसे दुःखदायी मालूम पड़नेपर देहादिका भी त्याग किया जाता है। बुद्धि, अहमर्थका भी निरोध आत्महितके लिये किया जाता है। **'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टति'** (कठ० २।३।१०) इत्यादिसे मनोनाश, वासना-क्षयके लिये प्रयत्न प्रसिद्ध ही है। इस दृष्टिसे सर्वान्तरंग, सर्वसन्निहित, परम प्रत्यक्ष, प्रत्यगात्मस्वरूप ही भगवान् हैं। उन्हींमें मुख्य प्रेम और वही प्रेमस्वरूप भी हैं, उनसे भिन्नमें प्रेमकी कमी स्पष्ट है। आत्माके लिये ही सब कुछ होता है, देवतामें प्रीति भी आत्मकल्याणके लिये ही होती है, आत्मप्रतिकूल देवताकी उपेक्षा ही होती है। यदि भगवान् प्रत्यगात्मस्वरूप नहीं, तब तो भगवान् 'शेष' (अंग) हो जायँगे, भगवान्के लिये आत्मा नहीं, किंतु भगवान् आत्माके लिये समझे जायँगे, अतः भगवान् परोक्ष होनेसे अस्वप्रकाश समझे जायँगे, भगवान् अनात्मा होनेसे बहिरंग और शेष या अंग समझे जायँगे, यह सब अनर्थ है; क्योंकि सिद्धान्ततः वस्तुगत्या भगवान् ही सर्वान्तरंग, सर्वान्तरात्मा हैं, वे ही सर्वशेषी हैं, सब कुछ उनके लिये, वे किसीके लिये नहीं। भगवान् ही प्रत्यगात्मा होनेसे स्वप्रकाश हैं और वे ही शेषी हैं, वे ही निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेमके आस्पद हैं। इसीलिये तो जैसे सैन्धवखिल्य (सेंधानमकका

टुकड़ा) अपने-आपको अपने उद्गम-स्थान समुद्रमें समर्पणकर समुद्ररूप हो जाता है, वैसे ही औपाधिक चैतन्यरूप जीवात्मा अपने उद्गम-स्थान परप्रेमास्पद भगवान्‌में आत्मसमर्पण करके भगवत्स्वरूप हो जाता है। जैसे घटाकाश घट और घटाकाश सबको ही महाकाशमें समर्पण कर देता है। जब आकाशसे ही वायु आदि-क्रमसे घट बना, उसीसे घटाकाशकी प्रतीति हुई, घट पृथिव्यादिमें लयक्रमेण आकाश हो गया, तब घटाकाश सुतरां आकाश हो गया, यही सच्चा आत्मसमर्पण है। वैसे ही जीवात्मा भगवान्‌से प्रादुर्भूत अपना सर्वस्व और अपने-आपको भगवान्‌में समर्पण करके सर्वदाके लिये सर्वशेषी, सर्वान्तरंग सर्वप्रेमास्पद, सर्वान्तरात्मस्वरूप हो जाता है। अपने मिथ्या, काल्पनिक भावका सर्वदाके लिये बाधकर पारमार्थिक रूपको प्राप्त कर लेता है—

'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।'

प्रेम, प्रेमी और प्रेमास्पदका अभेद सम्बन्ध

इस तरह औपाधिक प्रेम सापेक्ष, सातिशय होनेपर भी निरुपाधिक प्रेम भेदनिरपेक्ष, स्वप्रकाश, सर्वान्तरात्मा भगवान्‌का स्वरूप ही है और वह स्वत:सिद्ध है। केवल उसके प्राकट्यके लिये ही प्रयत्नकी अपेक्षा होती है। जैसे ब्रह्माकार वृत्तिकी कोमलता, दृढ़तासे नित्यसिद्ध परमात्मस्वरूप ज्ञानमें भी कोमलता और दृढ़ताका व्यवहार होता है, वैसे ही प्रेममें भी कोमलता और दृढ़ताका व्यवहार होता है। प्रेममें भी कोमलता, दृढ़ता और उत्पत्तिका उपचार ही है। आमाम्र (कच्चा आम) पक्वाम्रका हेतु समझा जाता है, वैसे ही साधनावस्थाका प्रेम साध्यावस्थाके प्रेमका साधन माना जाता है। उसमें रक्षाकी भी बड़ी अपेक्षा समझी जाती है। भावुकोंने कहा है कि जैसे दीप बुझ जाता है, वैसे प्रेमके बुझ जानेका भी भय रहता है। जैसा कि किसीकी उक्ति है—

प्रेमाद्वयो रसिकयोरपि दीप एव
हृद्वेश्म भासयति निश्चलमेव भाति।
द्वारादयं वदनतस्तु बहिष्कृतश्चे-
न्निर्वाति शीघ्रमथवा लघुतामुपैति॥

अर्थात् दोनों रसिकोंके हृदयमें रहनेवाला प्रेम एक दीप है, वही हृदय-भवनका प्रकाशन करता है और निश्चल होकर स्वयं देदीप्यमान होता है। यदि वह मुखरूप द्वारसे बाहर किया गया तो या तो बुझ जाता है अथवा उसमें लघुता आ जाती है।

वैसे प्रेमतत्त्व निष्कारण बतलाया जाता है—

आविर्भावदिने न येन गणितो हेतुस्तनीयानपि
क्षीयेतापि न चापराधविधिना नत्या न यो वर्द्धते।
पीयूषप्रतिवेदिनस्त्रिजगती दुःखद्रुहः साम्प्रतं
प्रेम्णस्तस्य गुरोः किमद्य करवै वाङ्‌निष्ठता लाघवम्॥

अर्थात् प्रेमदेवने अपने प्रादुर्भावके दिन किसी सूक्ष्मतम हेतुकी भी अपेक्षा नहीं की, किसी भी अपराधके कारण उनका ह्रास नहीं होता और बहुत नमस्कारसे उनकी वृद्धि भी नहीं होती। पीयूषके प्रतिस्पर्धी, त्रिजगती-दु:खके द्रोही, परम गुरु प्रेमदेवताको वाग्गोचर करके लघु कैसे बनाया जाय? यद्यपि लोकमें प्रेम त्रिदल होता है—एक आश्रय, दूसरा विषय और तीसरा प्रेम तथापि अन्तरंग-स्थितिमें तीनों एक ही वस्तु हैं, एकहीमें औपाधिक त्रैविध्यकी कल्पना होती है, जैसे जल और तरंगमें वास्तविक भेद न होनेपर भी काल्पनिक भेदको लेकर व्यवहार होता है—

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न॥

(रा०च०मा० १। १८)

श्रीभगवान्‌की आह्लादिनी शक्तिरूपा श्रीजनकनन्दिनी तो इतनी अन्तरंग हैं, जैसे अमृतमें माधुर्य। परमानन्द-सुधासिन्धु भगवान्‌में माधुर्यसारसर्वस्व ही उनकी आह्लादिनी शक्ति है। उन्हींका प्रेम वास्तविक प्रेम है।

भगवान् और प्रेम

आत्मामें सर्वातिशायी प्रेम होता है

प्रेमतत्त्वका प्राकट्य अधिकाधिक रूपमें वहाँ ही होता है, जहाँ जितना ही सन्निधान, जितनी ही अन्तरंगता, जितनी ही प्रत्यक्षता अधिक होती है। जहाँ सन्निधान आदिकी जितनी ही कमी, वहाँ उतनी ही प्रेममें भी कमी होती है। इसीलिये अत्यन्त सन्निहित, अत्यन्त अन्तरंग, अति प्रत्यक्ष प्रत्यगात्मामें ही प्रेम देखा जाता है। अन्तरात्मा अत्यन्त अभिन्नस्वात्मामें ही निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेम होता है। जब ब्रह्माने श्रीकृष्णके वत्स-वत्सपोंका अपहरण कर लिया, तब श्रीकृष्ण कौतुकवशात् स्वयं ही सब कुछ हो गये। गौओं और गोपालिकाओंको यद्यपि श्रीकृष्णदर्शन, स्पर्शनादि प्राप्त होता था तथापि नन्दरानीका सौभाग्य देखकर उन्हें लालसा होती थी कि व्रजेन्द्रगेहिनी जैसे अपने ललनको हृदयमें छिपाकर रखती हैं, बार-बार मस्तक सूँघकर मुखचन्द्रका चुम्बन करती हैं, वैसे ही हम भी करें। उनकी अभिलाषाओंकी पूर्तिके लिये ही श्रीकृष्ण अपने-आप ही बछड़ों और ग्वालबालोंके रूपमें हो गये। अब तो सभी गायों और वात्सल्यभाववती गोपियोंको कृष्ण ही पुत्रके रूपमें मिल गये। फिर तो उनके प्रेममें निःसीम वृद्धि हो गयी। अपराध हो जानेपर भी उन बालकोंपर पिता-माताको क्रोध नहीं होता था। उनको देखते ही क्रोध न जाने कहाँ भाग जाता था! दूसरे नवीन सन्तानोंके उत्पन्न होनेपर भी गौओंको उनमें निःसीम प्रेम था। वे नये बछड़ोंकी परवाह न करके भी उन्हें ही दूध पिलाना चाहती थीं, प्रेममें विभोर होकर उन्हें सूँघती और चाटती थीं, मानो नेत्रों, घ्राणों और जिह्वासे सर्वदा पानकर हृदयमें रखना चाहती थीं। जो लोकोत्तर, निःसीम प्रीति उन गोपालिकाओंको कभी अपने बालकोंमें नहीं थी, वह अद्भुत प्रीति उन कृष्णात्मक वत्स-वत्सपोंमें हुई।

इस विचित्र आश्चर्यमय चरित्रको श्रवणकर जब परीक्षित्‌ने उसका कारण पूछा, तब श्रीशुकदेवजीने यही कहा कि 'राजन्! संसारमें प्राणिमात्रको अपने आत्मामें सर्वातिशायी प्रेम होता है; कलत्र, पुत्र, क्षेत्र, वित्त, मित्र आदिमें इतना प्रेम नहीं होता। देहात्मवादी भी जितना प्रेम देहमें करते हैं, उतना देहानुगामी वस्तुमें नहीं करते। अपत्य, वित्त, कलत्र आदिमें जो प्रेम होता है, वह केवल आत्मप्रेमका शेष ही है। वेद भी यही कहते हैं कि—

'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।'

(बृहदारण्यक० २।४।५)

आत्माके लिये ही सम्पूर्ण वस्तुओंमें प्राणिमात्रको प्रेम होता है। देवताके कामके लिये प्राणीको देवतामें प्रेम नहीं होता, किंतु आत्माके लिये ही देवतामें भी प्रेम होता है। भगवान् भास्कर ब्राह्मणोंके इष्टदेव अत्यन्त प्रिय विश्वप्राण हैं, परंतु जब वे ही ग्रीष्ममें प्रतिकूल प्रतीत होते हैं, तब प्राणी उनकी आँखोंसे ओझल होना चाहता है। जिस देवतासे अपने मनोरथोंकी सिद्धि होती है, उसमें बड़ा ही स्नेह होता है। जिसकी उपासना आरम्भ करनेसे कुछ अनिष्ट होता है, उस देवतासे उपरति हो जाती है। इसीलिये मन्त्रोंमें भी अरि और मित्रादिकी कल्पना तान्त्रिकोंके यहाँ होती है। अतः आत्माके लिये ही संसारकी सारी वस्तु प्रिय है— यह लोक, वेद सर्वत्र ही प्रसिद्ध है। इस तरह आत्मा-सम्बन्धी प्रेम प्राणिमात्रमें प्रसिद्ध होनेसे ही कृष्णमें सब लोगोंको अधिक प्रेम हुआ; क्योंकि कृष्णचन्द्र प्राणिमात्रके अन्तरात्मा थे। वे ही अपनी अचिन्त्य, दिव्य लीला-शक्तिसे सगुण, साकार, अचिन्त्य, अनन्तकल्याण-गुणगण-समलंकृत, मनोहर रूपमें प्रकट हुए थे—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।५५)

वस्तुतः स्थावर-जंगमात्मक सम्पूर्ण वस्तु श्रीकृष्णमात्र हैं, श्रीकृष्ण ही परम तत्त्व हैं, वे ही

सर्वान्तरात्मा हैं, वे ही सम्पूर्ण वस्तुओंके अन्तिम स्वरूप हैं। वस्तुओंका अन्तिम रूप अपना कारण अव्याकृत तत्त्व है। उस अव्याकृतकी भी अन्तिम पर्यवसान-भूमि श्रीकृष्ण हैं; क्योंकि कारणसे भिन्न कार्य और अधिष्ठानसे भिन्न कल्पित नामकी कोई वस्तु ठहरती ही नहीं है—

सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः।
तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतद् वस्तु रूप्यताम्॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।५७)

वे ही निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेमके आस्पद हैं, वे ही अन्तरात्मा हैं, अतः सच्चा प्रेम उन्हींमें ही होना चाहिये। हाँ, सहज, स्वाभाविक प्रेम भी बिना जाने असत्-सा हो जाता है। जैसे छात्राध्ययनके शब्दोंके बीच मिले हुए अपने पुत्रके अध्ययनके शब्दका विविक्त स्पष्ट रूपसे प्राकट्य नहीं होता, वैसे ही आत्मप्रेम प्राणिमात्रमें होनेसे आत्माकी परमानन्दरूपता प्रतीत होनेपर भी अविद्याके कारण उसका स्पष्ट प्राकट्य नहीं होता है। परंतु इस तरह प्राणी अज्ञात रूपसे तो आत्मप्रेमी है ही। अतएव प्राणिमात्र ज्ञानसे, अज्ञानसे, किसी-न-किसी तरह अपने जीवनधन भगवान्का अवश्य ही प्रेमी है। जिसे जितना बोध है, उसे उतना ही प्राकट्य है। जहाँ वह प्रेम सम्यक्रूपसे प्रकट है, वहाँ परिपूर्ण ऐश्वर्य भी नतमस्तक हो जाता है। इसीलिये कहा जाता है कि महत्परिमाण-परिमिति-प्रेमवती व्रजांगनाओंके सामने ऐश्वर्य अपना प्रभाव नहीं डाल सका। कभी श्रीकृष्णको ढूँढ़ती हुई व्रजांगनाओंको जब अकस्मात् कृष्ण किसी निकुंजमें मिल गये, तब कृष्ण अपनेको छिपानेके लिये अनन्त ऐश्वर्यपूर्ण श्रीमन्नारायणके रूपमें प्रकट हो गये। गोपांगनाओंने उन्हें प्रणाम किया, परंतु उनसे माँगा यही कि आप कृपा करके हमारे मनमोहन कृष्णचन्द्रको मिला दो। वे उस नारायणरूपपर मोहित नहीं हुईं और श्रीवृषभानुनन्दिनीके पधारते ही वह ऐश्वर्यपूर्ण रूप टिक ही नहीं सका, सहसा कृष्णरूप प्रकट हो गया। निरुपाधिक प्रेम सर्वातिशायी प्रेम है तथापि प्रेम-प्राकट्यमें लौकिकताकी अपेक्षा अधिक होती है। इसीलिये देखते ही हैं कि प्राणियोंको जितना स्वारसिक प्रेम अपने पुत्र, कलत्र, धन-धान्यादिमें होता है, उतना स्वारसिक प्रेम देवता या भगवान्में नहीं होता। इसीलिये परिपूर्ण परमात्मा प्राणि-कल्याणार्थ अपनी अलौकिकताको छिपाकर लौकिक रूप ग्रहण करते हैं।

भक्तोंने भी भक्तिके दो रूप माने हैं, एक वैधी, दूसरी रागानुगा। विधिसे प्राप्त भक्ति वैधी है। '**विधिरत्यन्तमप्राप्तौ**' के अनुसार अप्राप्तिमें ही विधि होती है। समझा जाता है कि जहाँ स्वारसिक, रागानुगामी नहीं है, वहीं विधिकी अपेक्षा होती है। किं बहुना माता-पिता, गुरुजनों एवं लौकिक विषयोंमें भी विधिका संस्पर्श है, अतः वहाँ भी स्वारसिक प्रीतिमें कुछ कमी हो जाती है। उन सबकी अपेक्षा पत्नीमें प्रीति स्वाभाविक है। पत्नीके प्रति प्रीतिमें भी '**मातृदेवो भव**', '**पितृदेवो भव**', '**आचार्यदेवो भव**' के समान ही '**स्वदारनिरतो भव**' इस विधिका संस्पर्श है, अतः वहाँपर भी स्वारसिक प्रेम नहीं है। जहाँ स्वारसिक प्रेम है, वहाँ निषेध होता है। जैसे बहते जलमें बाँध बाँधनेसे वेग उत्कट हो जाता है, वैसे ही स्वाभाविक प्रेममें निषेध या रुकावट डालनेसे वह भी उत्कट रूप धारण करता है। इसीलिये प्रेमियोंने कहा है—

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

(रा०च०मा० ७।१३० (ख))

अर्थात् हे नाथ! जैसे लोभीको धन और कामुकको कामिनीमें प्रीति होती है, आपके श्रीचरणोंमें मुझे वैसी ही प्रीति होनी चाहिये।

उच्चकोटिका ज्ञान भी प्रेमके बिना सुशोभित नहीं होता

लोकमें उपाधिको लेकर होनेवाले प्रेमकी यह दशा है। सर्वोपाधिविनिर्मुक्त होनेपर स्वाभाविक स्वान्तरात्मा चैतन्याभिन्न परमात्मा भगवान्में तो स्वाभाविक प्रेम ही अनन्त है, क्योंकि वहाँ तो भगवान्

और प्रेम दोनों एक ही वस्तु हैं। परंतु देहादि उपाधियोंकी विद्यमानतामें इतना प्रेम उधर व्यक्त नहीं होता, इसीलिये अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्र भी लौकिक रूपसे भगवान्‌में प्रेम करते हैं—'**अस तव रूप बखानउँ जानउँ। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ॥**' (रा०च०मा० ३। १३। १३) यहाँतक कहा जाता है कि अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्रोंको भक्तियोगका विधान करनेके लिये ही अदृश्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य भगवान् सगुण होते हैं। परमहंसोंको श्रीपरमहंस बनाना भगवान्‌का उद्देश्य है; क्योंकि उच्चकोटिका ज्ञान भी प्रेमके बिना सुशोभित नहीं होता—

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥

(श्रीमद्भा० १। ५। १२)

अच्युत प्रेम बिना नैष्कर्म्य-विज्ञान भी सुशोभित नहीं होता, फिर भगवच्चरणोंमें समर्पण किये बिना निष्काम कर्म भी कैसे शोभित होगा?

सोह न राम पेम बिनु ग्यानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू॥

(रा०च०मा० २। २७७। ५)

जोगु कुजोगु ग्यानु अग्यानू। जहँ नहिं राम पेम परधानू॥

(रा०च०मा० २। २९१। २)

इन दृष्टियोंसे ही ज्ञानी भी भगवान्‌में प्रेम चाहते हैं। कहीं-कहीं तो न चाहनेपर भी भगवत्स्वरूप सौन्दर्य आदिसे भगवान्‌में ज्ञानियोंका मन मोहित हो जाता है। यही तो रागानुगा-प्रीति है, जिसके सम्पादनके लिये प्रयत्न अपेक्षित नहीं है, वह हठात् उत्पन्न होती है। सर्वथापि व्यावृत्त बाह्यौत्सुक्य, वीतराग ज्ञानी श्रीभगवान्‌की ओर आकर्षित होकर आश्चर्यमें कहते हैं—

क्लेशे क्रमात् पञ्चविधे क्षयंगते
यद् ब्रह्मसौख्यं स्वयमस्फुरत् परम्।
तद् व्यर्थयन् कः पुरतो नराकृतिः
श्यामोऽयमामोदभरः प्रकाशते॥

अर्थात् अभ्याससे क्रमेण पंचक्लेशोंके क्षीण होनेपर प्रत्यक्चैतन्याभिन्न विशुद्ध ब्रह्मसुखकी स्फूर्ति हुई थी, परंतु मेरे उस अद्भुत सुखको व्यर्थ-सा बनाता हुआ यह आमोदभर नराकार श्यामल तत्त्व कौन है?

रागानुगा प्रीतिके सम्पादनके लिये भगवान्‌का प्राकट्य

इसी रागानुगा प्रीतिका सम्पादन करनेके लिये भगवान् अलौकिक होते हुए भी लौकिकवत्, अप्राकृत होते हुए भी प्राकृतवत्, अग्राह्य होते हुए भी ग्राह्यवत्, अदृश्य होते हुए भी दृश्यवत्, विश्वके जननी-जनक होकर भी पुत्रवत् होकर प्रकट होते हैं। किं बहुना पति, उपपतितक बनकर भी भगवान् भिन्न-भिन्न प्रीतिको, विषयकी ओर उन्मुख मनको विषयोंसे प्रत्यावर्तित करके अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। यद्यपि वे पतियोंके भी पति, सबके परमपति हैं तथापि निरतिशय परप्रेमके आस्पद बननेके लिये वे ब्रह्म व्रजांगनाओंके उपपति होकर भी प्रकट होते हैं। इसीलिये प्राणियोंका चित्त अलौकिक एवं वैध वस्तुमें उतना नहीं खिंचता, जितना लौकिक एवं अवैधमें। पर वे अवैध होते हुए भी परम वैध हैं, उपपति होते हुए भी परमपति हैं। लौकिक जार लोक-परलोक, धर्म-कर्मको जलानेवाला होता है, पर भगवान् औपपत्य बुद्धिसे भी—जाररूपसे भी भावुकके चित्तपर अभिव्यक्त होकर उसके पंचकोश, स्थूल, सूक्ष्म, कारण—तीनों शरीरोंको, कर्म-बन्धनोंको, किं बहुना अविद्या, तत्कार्यात्मक जगत्‌को जलाकर भस्मसात् कर देते हैं, इसीलिये वे जार हैं। '**अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी। जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा॥**' (श्रीमद्भा० ३। २५। ३३) अर्थात् निष्काम रागानुगा भक्ति एवं ज्ञान कोशों और कर्मोंको जला देते हैं, जीवात्मा संसारसे छूटकर भगवद्भावको प्राप्त हो जाता है। किसीने भगवान्‌से परिहास किया था कि हे व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र! जो प्राणी आपका नवनीतचौर्य और व्रजयुवतीजनोंमें औपपत्यका प्रख्यापन करते हैं, आप उन्हें शीघ्रातिशीघ्र ही अपना रूप इसलिये प्रदान करते हैं कि वे हमारे रूप हो जायँगे, तब हमारे इन कर्तव्योंका वर्णन न कर सकेंगे। अतः अपने कर्तव्योंको छिपानेके लिये ही नवनीत-चौरता और व्रजयुवतीजन-

जारताको गानेवालोंको आप निजरूप प्रदान करते हैं—

प्रथयति नवनीतचौरतां ते
व्रजयुवतीजनजारतां जनो यः।
वितरसि निजरूपमीश तस्मै
स्वकृतधिया परिगोपनाय नूनम्॥

वस्तुतस्तु येन-केनापि प्रकारेण भगवान्में मन जोड़ते ही प्राणीको भगवद्भावकी प्राप्ति हो जाती है। जैसे चिन्तामणिको दीपक समझकर दीपकबुद्ध्या भी प्रवृत्त होनेपर चिन्तामणिकी प्राप्ति होती है, वैसे ही प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न भगवान् ब्रह्ममें औपपत्यबुद्ध्या प्रवृत्त होनेपर भी प्राप्ति भगवान्की ही होती है। केवल रागानुगामिनी उत्कट प्रीतिके लिये ही भावुक लोग लौकिक रूपमें भगवान्को भजते हैं। ज्ञानीका भी प्रारब्धवशात् प्रत्युपस्थित लौकिक पदार्थोंमें जैसा चित्त स्वाभाविक रूपसे प्रवृत्त होता है, वैसा प्रत्यगात्मामें नहीं। इसीलिये भगवान्की मधुर लीलाओंका प्राकट्य होता है। चापल्यपूर्ण बाल्य, पौगण्डादि अवस्थाओंकी लीलाओंमें हठात् चित्त खिंचता है। इस दृष्टिसे अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्रोंको भक्तियोगका विधान करनेके लिये ही भगवान् अचिन्त्य, सगुण, साकार, दिव्य श्रीरामकृष्णादिके रूपमें प्रकट होते हैं।

भगवत्कथामृत

हम उस आनन्दकन्द, नन्दनन्दन, गोपिका-वल्लभ, पूर्णब्रह्म, मंगलमूर्ति भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके परम ऋणी हैं, जो हमें सृजनकर हमारा पालन-पोषण कर रहे हैं। उनके मधुर मुखारविन्द, मनोहारी नेत्र, नासिका, अधर और मकराकृत कुण्डल सब-के-सब हमारे हृदयस्थलको पवित्र करने एवं प्रसन्नता देनेवाले हैं, पर शोकके साथ कहना पड़ता है कि हम आज उस नटवर गोपालको—अज्ञानसागरमें अपनेको डालकर—एकदम भूल गये हैं और उसकी मधुरमय लीलासुधारसपानसे अपनेको दूर रखे हुए हैं। भावुकोंका कहना है कि यदि सहस्रों सिर प्रदान कर देनेपर भी उस महाप्रभुकी लीलाका वास्तविक ज्ञान हो जाय और उसका दर्शन हो तो यह सौदा बहुत ही सस्ता है, इसे शीघ्र-से-शीघ्र खरीद लो। ऐसे अमूल्य सौदेको, जो हजारों सिर देकर खरीदनेपर भी सस्ता पड़ता है, हम उपेक्षाकी दृष्टिसे देख रहे हैं। फिर यदि हम सुखकी अभिलाषा करें तो क्या यह हमारी निरी धृष्टता नहीं है? भगवदीय लीलासुधाका आस्वादन वास्तवमें जिन्होंने किया है, वे धन्य हैं और धन्य वे भी हैं, जो इस लीलासुधाके आस्वादनकी उत्कृष्ट अभिलाषा रखे हुए हैं और तत्प्राप्त्यर्थ सचेष्ट हैं। संसारके नाना प्रकारके कल्मषोंको दूर करनेका इससे बढ़कर दूसरा उपाय ही क्या है? इसके लिये विशेष परिश्रमकी भी आवश्यकता नहीं है। भगवल्लीला '**श्रवणेनैव मंगलम्**', केवल श्रवणमात्रसे मंगल देनेवाली है, कल्याणसाधक है, तीनों प्रकारके दैहिक, दैविक और भौतिक तापोंसे मुक्तिदायक है। पर यह श्रवण श्रद्धा और भक्तिके साथ होना चाहिये। यह नहीं कि एक कानसे अमृतमय उपदेश सुना और दूसरे कानसे निकाल दिया। अज्ञानजन्य मोहका सर्वथा परित्याग करके ही प्राणी इस लीलासुधाका मधुर पान कर सकता है। अज्ञानजन्य मोहसे मन अस्थिर होता है। मनकी अस्थिरता ही भयका कारण है और मनकी अस्थिरताका कारण है सत्त्वगुणका अभाव। अत: ये दोनों लक्ष्यप्राप्तिमें बाधक हैं। सत्त्वगुणकी जिससे वृद्धि हो और रज, तम शान्त हों, वही प्रयत्न मनुष्यको करना चाहिये। फिर जहाँ, जिस दशा और जिस स्थानमें हों, श्रीमानोंद्वारा प्रसारित भगवदीय लीला-सुखका अनुभव हो सकता है। भगवान्के चरण निर्भयके स्थान हैं। इनकी प्राप्ति सत्कथा-श्रवण, मनन, निदिध्यासन

और अहर्निश भगवद्भजनसे होती है। 'श्रीमद्भागवत' का एक श्लोक है—

स वेद धातुः पदवीं परस्य दुरन्तवीर्यस्य रथाङ्गपाणेः।
योऽमायया संततयानुवृत्त्या भजेत तत्पादसरोजगन्धम्॥

(श्रीमद्भा० १।३।३८)

अर्थात् परमपिता, परमात्मा, अमितविक्रम, श्रीसुदर्शनचक्रधारी भगवान्‌के चरण उसीको प्राप्त होते हैं, जो निष्कपट होकर सतत भगवान्‌में अपने चित्तको लगाकर उनके चरणकमलोंका गन्ध-सेवन करता है अर्थात् उन्हें भजता है। भवभयसे पार करनेवाली नौका बस एकमात्र यही है। प्राणी द्वन्द्वधर्मसे विवर्जित होकर अर्थात् संसारके राग-द्वेष, शोक-मोह आदि जितने कल्मष हैं, सबका त्यागकर भगवदीय लीला-सुधा-समास्वादनका अधिकारी हो सकता है। बाह्य विषयोंके सुखसे मलिन मतिवालोंके लिये लीलासुख नीरस ही लगता है। स्त्रीसमुपभोगजन्य सौख्यतक इस लीलासुखके सामने कुछ नहीं है। वास्तविक सुखके स्वरूपको जिसने समझा है, उसपर जिसने विचार एवं मनन किया है, वही व्यक्ति यह बतला सकता है कि भगवदीय लीलाके माधुर्य रस-सुस्वादमें क्या आनन्द आता है। अनभिज्ञ लोगोंका तो कहना है कि ब्रह्मसुख कुछ है ही नहीं, मरकर गधे आदि भी होकर ऐहिक सुख भोगना वे पसन्द करते हैं, पर निर्विषयक मोक्ष उन्हें पसन्द नहीं। ब्रह्मसुख किसीमें नहीं है, यह एक हास्यास्पद बात है। अनभिज्ञ लोग अविद्याके कारण सौषुप्त सुखको ब्रह्मसुखसे अधिक तो मानते हैं, पर यदि उनकी वह अविद्या हट जाय, उनका हृदयपटल बाह्य सौख्य वासनासे वासित न हो तो उन्हें मालूम हो कि ब्रह्मसुखसे वास्तवमें कितना आनन्द आता है। लोमड़ीको जब अंगूर बार-बार छलांगें भरनेपर भी नहीं मिले तो उसने झट कह दिया कि 'अंगूर तो खट्टे हैं'। इसी तरह ब्रह्मसुखका सुस्वाद जिन अनभिज्ञोंको प्राप्त नहीं होता, वे ही कहते हैं कि इसमें कोई तत्त्व नहीं, कोई आनन्द नहीं।

ब्रह्मसुख बृहत्तम सुख है

वास्तवमें ब्रह्मसुख बृहत्तम सुख है। सुसौख्य और परमानन्दकी प्राप्ति ब्रह्मसुखके अनुभवसे ही होती है। चैतन्यानन्दात्मकसौख्य मृत्युपरिगृहीत प्राणियोंको प्राप्त करनेका प्रयत्न सदैव करते रहना चाहिये, पर पहले कलुषित मतिको विशुद्धातिविशुद्ध बनाना होगा; क्योंकि अमृतत्वकी प्राप्तिकी आशा अपनी मतिको विमल बनाये बिना नहीं की जा सकती। भौतिक धनोंका मोह त्यागकर पारमार्थिक धनका चिन्तन होगा। अन्तःकरणको सभी विकारोंसे रहित करना होगा। इसके बाद भगवदीय लीलाकथा-श्रवणमें मन लगेगा और वही कथा-श्रवण सर्वस्व-समर्पण करायेगा, ब्रह्मप्राप्ति करा देगा और नित्य, शुद्ध, बुद्ध, पूर्ण, निर्विकार, निर्विशेष चैतन्यानन्दघनके माधुर्यको हमारे समक्ष पानके लिये उपस्थित करेगा। कथा-श्रवणद्वारा कर्मरन्ध्रसे भगवान् अन्तस्तलमें प्रविष्ट होते हैं। पूर्णब्रह्म चैतन्यानन्द परमात्मा सबमें हैं। स्थावर-जंगम सभी प्राणियोंमें उनकी अवस्थिति है। पर हम सब जीव अज्ञानमें पड़े हुए उनकी अवस्थितिको स्वीकार नहीं करते, इसलिये उनको समझनेके लिये भगवदीय कथा-श्रवणका महर्षियोंने आदेश किया है। कथाका श्रवण भी करना चाहिये और उसे प्रदान भी करना चाहिये। दोनों हाथमें लड्डू है। इसका फल परोक्ष नहीं, साक्षात् होता है। कथा-श्रवण एवं उसका प्रदान साक्षात् सुखका प्रभाव दिखलाता है। पर जिनका मन रजस्तमोलेशसे अव्याप्त है, अन्तःकरण शुद्ध है, उन्हींको हरि-कथा सुनने एवं सुनानेका अधिकार है, अन्योंको नहीं। विघ्नकारक तमोलेश-सुसम्पादित मूढ़ता, रजोलेश-सम्पादित धीरतासे लीलासुधासमास्वादन नहीं हो सकता। जिस पिपीलिकाके मुखमें लवणकण वर्तमान है, उसे भला मिसरीके माधुर्यका अनुभव कैसे हो सकता है? वैसे ही मनको घोर मूढ़तारूप लवणकणके रहते शुद्ध नहीं किया जा सकता और जब मन शुद्ध नहीं है, तब फिर

भगवत्प्राप्ति कैसे हो सकती है? मनुष्य जबतक ऐहिक-आमुष्मिक प्रपंचसे विरक्त न हो, विविध प्रकारके बाह्य सुखोंसे मनको दूर न कर ले, तबतक उसे परमध्येय, ज्ञेय, परमाराध्य, भगवान्‌की मधुरतापूर्ण लीलाका सुस्वादानुभव नहीं हो सकता। इस सुस्वादानुभवके लिये पूर्ण श्रद्धाका होना अपेक्षित है। देखा-देखी नहीं कि चलो अमुक स्थानपर कथा हो रही है, मैं भी चलकर देखूँ क्या होता है। इस तरहसे लक्ष्यकी प्राप्ति नहीं होती। पूर्ण श्रद्धाके होनेसे क्षणमात्रमें ही भगवत्प्राप्ति होती है। वर्णाश्रमधर्मानुसार वैदिक कर्मसे हृदयको शुद्ध बनाकर अन्धकारपूर्ण आवरणको हृदय-पटलसे दूरकर दिव्यातिदिव्य सौन्दर्य, माधुर्यका स्वाद लेनेका प्रयत्न करना चाहिये।

भगवान् सबके परम प्रकाशक

भगवान् सबके परम प्रकाशक हैं। देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, जीव, अहंकार सबके वे प्रकाशक हैं। इनके प्रत्यक्षके लिये आलोककी आवश्यकता नहीं है। जैसे सूर्यके प्रकाशको देखनेके लिये दीपककी कोई जरूरत नहीं है, वैसे ही उसके प्रचण्ड प्रसरित प्रकाशको देखनेके लिये आलोक अपेक्षित नहीं, वह तो प्रत्यक्ष है। जो उस प्रकाशको जानते हैं, वे कृतार्थ हो जाते हैं; जो नहीं जानते, वे अनेकानेक अनर्थ-परिप्लुत होते हैं, दीन-दुःखी हो इतस्ततः भ्रमण करते रहते हैं। वे तो हम सबके अन्दर व्याप्त हैं, पर दुःख है कि हम जीव उसे देखनेकी चेष्टा नहीं करते और ठोकरें खाते फिरते हैं। घरमें जैसे अपार सम्पत्ति गड़ी पड़ी हो, पर उसका पता न रहनेसे मनुष्य दुःखी होता है, पैसे-पैसेके लिये मुहताज रहता है, वैसी ही गति आज संसारके जीवोंकी हो रही है। अपने अन्दर वह प्रकाश वर्तमान है, पर उसे न देखकर वे अँधेरेमें पड़े भटक रहे हैं, मायाके चक्करमें घूम रहे हैं। ज्ञानी ऐसी गलती कभी नहीं करते। पाशोंका जो हनन करना चाहे, उसके लिये परम कर्तव्य है कि वह परमतत्त्व चैतन्यानन्दघनको देखे तथा जाने और इस भवसागरमें अनन्तकालतक पड़े न रहकर अपनेको इससे मुक्त करे।

श्रवणकी महिमा

कर्म, भक्ति, ज्ञान तीनोंका मुख्य साधन श्रवण ही बतलाया गया है। सभी कर्मकाण्डका उपदेश वेदमें है और वह वेद गुरुमुखसे अधिकारानुसार यथाविधि श्रवणसे ही प्राप्त किया जाना चाहिये। गुरुमुखद्वारा उच्चारित होनेपर श्रवण किये जानेके कारण ही वेदके अनुश्रव, श्रुति आदि नाम हैं। भक्तिमार्गके पथिकोंके लिये भी श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि नवविध भक्तिसाधनों या भक्तिमें सर्वप्रथम श्रवण ही बतलाया गया है। भगवच्चरित्रश्रवणमात्रसे सर्वान्तरनिवासी प्रभुकी ओर, समुद्रकी ओर अभिमुख होनेवाले अखण्ड, निर्मल गंगा-प्रवाहकी तरह निर्मल अन्तःकरणका भक्तिरूप अविच्छिन्न प्रवाह होता है—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥

(श्रीमद्भा० ३। २९। ११)

ज्ञानमें भी '**श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः**' (बृहदारण्यक० २। ४। ५) आदि वचनोंद्वारा श्रवणकी ही प्रधानता वर्णित है। '**सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति**' (कठोपनिषद् १। २। १५) सब वेद सर्वाश्रय भगवान्‌का ही प्रतिपादन करते हैं। '**वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा। आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते॥**' (कल्किपुराण ३। २१। ३८) वेद, रामायण, पुराण और महाभारत आदि समस्त शास्त्रोंके आदि, मध्य और अन्तमें सर्वत्र एकमात्र पापतापहारी भगवान् हरिके ही गुण, लीला आदिका गान है। इत्यादि वचनोंसे यही विदित होता है कि सभी शास्त्रोंके एकमात्र प्रतिपाद्य भगवान् ही हैं।

श्रवणमें सभीका अधिकार

प्राणीमात्रके लिये सर्वविध कल्याणकारक होनेसे भगवच्चरित्र-श्रवणमें सभीका अधिकार है। भगवच्चरित्रका श्रवण एवं गान मुक्त, मुमुक्षु तथा

संसारी सभीका कर्तव्य है। निवृत्तेच्छ, निरीह मुक्तोंके परप्रेमास्पद स्वात्मा होनेसे प्रभु भजनीय होते हैं, इसीलिये भजन-भक्तिके लिये मुक्त, पुरुषोंका भी शरीरधारण उपनिषद्ने बतलाया है, '**मुक्त अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भजन्ते।**' (नृसिंहपूर्वता० शांकरभाष्य) भवसागरको पार होनेमें एकमात्र साधन होनेसे मुमुक्षुओंके भी वे परमाश्रयणीय हैं और श्रोत्र, मनके आकर्षक होनेसे संसारियोंके भी श्रोतव्य हैं। ऐसे सर्वश्रेयस्कर प्रभुके चरित्र, कथाका जो श्रवण नहीं करते, वे या तो आत्मघाती हैं या निरे जड़ काष्ठ हैं—

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्
भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात्।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्
पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्॥

(श्रीमद्भा० १०।१।४)

श्रवण, संकीर्तनसे श्रोत्रद्वारा श्रोताके मानसपंकजमें प्रविष्ट होकर भगवान् उसके अशेष दोषोंका वैसे ही शमन कर देते हैं, जैसे अन्धकारको सूर्य और तीव्र वायु घनावलिको। जिस कथामें भगवान् अधोक्षजका गुणानुवाद नहीं, वह असती, असत्कथा है, अतः व्यर्थ ही वाणीका उपयोग है। जिस कथामें भगवान्के गुणोंका वर्णन होता है, वही सत्य, मंगल, पुण्य, रम्य, रुचिर, नित्य नवनवायमान मनका महोत्सवरूप और शोकार्णवशोषण है। कोई वाक्प्रयोग चाहे कितना ही विचित्र शब्दावलि एवं अलंकारोंसे युक्त क्यों न हो, यदि जगत्को पवित्र करनेवाले भगवान्के मंगलमय यशसे निबद्ध नहीं है तो वह हंसतीर्थ नहीं, अपितु वायसतीर्थ है। अतः विवेकियोंका परम कर्तव्य है कि व्यक्तिगत रूपसे प्रतिदिन नियमपूर्वक नियत समयमें भगवान्की परम पवित्र कथाओंका आदर, श्रद्धापूर्वक श्रवण करे और अधिकारानुसार स्वयं भी दूसरोंको सुनाये। प्रत्येक ग्रामों, मुहल्लोंमें किसी देवमन्दिरादिमें कम-से-कम महीनेमें दो-चार दिन भगवत्कथाका आयोजन होना परम आवश्यक है। इस मर्त्यलोकमें भगवान्की कथा साक्षात् अमृत है, अनेक शोक-दुःखसे सन्तप्त प्राणियोंके तापको अपहरण करनेमें समर्थ है, शुक-सनकादि परम विवेकी सत्पुरुषोंसे स्तुत है, सकल पाप-पंकका शोषण करनेवाली है, श्रवणमात्र मंगलप्रद है और व्यासादि महर्षियों द्वारा जगतीतलपर विस्तृत है, अतः सर्वार्थसाधक है। इसको श्रवण करानेवालेसे बढ़कर अधिक दानकर्ता संसारमें और कौन हो सकता है?

तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥

(श्रीमद्भा० १०।३१।९)

प्रभुकृपा

भगवत्कृपाके बिना मायासे पार होना असम्भव है

प्रभुकृपाके बिना प्रभुकी दुस्तरा मायाको तरना अत्यन्त असम्भव है। यह स्पष्ट है कि सम्पूर्ण प्राणी सर्वान्तरात्मा, सर्वाधिष्ठान भगवान्के अंश ही हैं। जैसे जलसे तरंग, अग्निसे विस्फुलिंग (चिनगारियाँ), महाकाशसे घटाकाश, उदंचनाकाश आदि उद्गत (उत्पन्न) होते हैं, वैसे ही सम्पूर्ण चेतन वर्गकी उत्पत्ति भगवान्से होती है। वस्तुतः अत्यन्त निरुपाधिक तत्त्वमें वास्तविक अंशांशिभाव भी नहीं बन सकता; क्योंकि निरवयव, निरंशमें अवयव एवं अंशकी भावना सर्वथा असम्भव है तथापि जैसे अविकृत कौन्तेय (कर्ण)-में भ्रमसे ही राधासुत होनेकी भ्रान्ति हो गयी, वैसे ही प्रत्यक्चैतन्याभिन्न, स्वप्रकाश चिद्रूपमें ही भ्रमसे जीवभाव भासित होता है। जैसे मायावी अपनी चमत्कारपूर्ण मायाद्वारा निर्विकार रूपसे स्थिर रहकर ही आकाशमें कच्चे सूत्रकी कुखरी (बण्डल) फेंककर शस्त्रास्त्रसुसज्जित वीरवेशमें सूत्रके सहारे ऊपर चढ़ता है, चढ़ते-चढ़ते अदृश्य हो जाता है और फिर दैत्योंसे युद्ध करता है, युद्ध करते-करते

उसके अंग-प्रत्यंग—सिर आदि अवयव पृथ्वीपर गिर पड़ते हैं, उसकी पत्नी उन्हें लेकर चितारोहण करके पतिकी सहगामिनी हो जाती है, यह सब घटना प्रत्यक्ष दिखायी देनेके पश्चात् वह उसी तागेके सहारे फिर आकाशसे उतरता हुआ दिखायी देता है, फिर भी वास्तविक मायावी अपनी मायासे लोगोंकी दृष्टिसे ओझल होकर जहाँ-का-तहाँ ही विराजमान रहता है, वैसे ही प्रत्यक् चिदात्मा भगवान् निर्विकार, कूटस्थ, एकरस रूपसे सर्वदा स्वरूपस्थ होनेपर भी समष्टि-व्यष्टि, स्थूल-सूक्ष्म-कारण जगत्, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति-अवस्था आदि प्रपंच फैलाकर उनपर विश्व-तैजस्-प्राज्ञ, विराट्-हिरण्यगर्भ-अव्याकृतरूपमें अनुभूयमान होता है, अनेक व्यवहारोंमें तल्लीन, तज्जन्य शोक-मोहादि उपद्रवोंमें फँसा हुआ दिखायी देता है, परंतु फिर भी उसके स्वरूपमें किंचित् भी विकार या हलचल नहीं होती। प्रपंच एवं प्रपंचरूप स्वरूपसे पृथक्, असंग, कूटस्थ स्वरूप सर्वदा एकरस ही रहता है। इसी देहमें अन्तर्मुख होकर देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहमर्थ आदि अतत् (अनात्मा)-का अपोहन करते हुए, यदि ढूँढ़े तो उसके उपलब्ध होनेमें कठिनाई नहीं, परंतु जैसे कोई घरमें खोयी हुई वस्तुको वनमें ढूँढ़े, वैसे ही बहिर्मुख प्राणी आन्तर वस्तुको—भीतरकी खोयी वस्तुको बाहर ढूँढ़ता है। विचार करनेपर सर्वभास्य दृश्यके भासक निर्विकार दृक्स्वरूप भानात्मक भासकके उपलम्भमें कार्य-परम्पराको परम कारणमें और परम कारणको भी कार्यकारणातीत तत्त्वमें विलीन या बाधित कर देनेपर अशेष विशेषातीत वस्तुको पा लेने में कठिनाई नहीं है तथापि भगवत्कृपाके बिना मिथ्या विश्वसे अभिनिवेश नहीं छूटता—

वदन्ति विश्वं कवयः स्म नश्वरं
पश्यन्ति चाध्यात्मविदो विपश्चितः।
तथापि मुह्यन्ति तवाज मायया
सुविस्मितं कृत्यमजं नतोऽस्मि तम्॥

(श्रीमद्भा० ५।१८।४)

अर्थात् क्रान्तदर्शी लोग विश्वको विनश्वर बतलाते हैं, अध्यात्मविद् विद्वान् विश्वकी विनश्वरताका अनुभव भी करते हैं तथापि आपकी मायासे मोहित हो जाते हैं, ऐसे विस्मयजनक कृत्यवाले अज अव्ययात्मा आपको नमस्कार है। इस श्वान, शृगाल, गृध्र, काकादि पिशिगाशियोंके भक्ष्य, अस्थि-मांस-चर्ममय पंजर, मूत्र-पुरीष-भाण्डागार, मायामय, क्षणभंगुर, बुद्बुदोपम देहसे उन्हीं लोगोंकी अहंता-ममता छूटती है और वे ही लोग दुस्तरा, गुणमयी मायाको तर सकते हैं, जिन्होंने निष्कपटभावसे सर्वात्मना भगवान्के श्रीचरणोंका सहारा लेकर उनकी दयादृष्टिको प्राप्त कर लिया है—

येषां स एव भगवान् दययेदनन्तः
सर्वात्मनाश्रितपदो यदि निर्व्यलीकम्।
ते दुस्तरामतितरन्ति च देवमायां
नैषां ममाहमिति धीः श्वशृगालभक्ष्ये॥

(श्रीमद्भा० २।७।४२)

अन्यथा अविवेक, अज्ञानसे प्रत्यक्ष सिद्ध करतलस्थित आमलकके समान अत्यन्त अपरोक्ष-सर्वात्मभाव भी परोक्ष या असत्कल्प हो जाता है और फिर प्राणी आध्यात्मिकता, आधिदैविकताको भूलकर केवल आधिभौतिक वैषयिक भोग-विलासोंके किंकर बनकर आसक्ति, असन्तोष, विद्वेष आदि आसुर भावोंसे ग्रस्त होकर परस्पर एक-दूसरेके संहारक बन जाते हैं। इसीलिये सन्तोंने सर्वदा ही भगवत्कृपाकी प्रतीक्षाको मुख्य माना है, अपने और विश्वके कल्याणके लिये प्रभुमें चित्तको—निष्काम मतिको जोड़ना ही मुख्य पुरुषार्थ माना है। सम्पूर्ण प्राप्तव्य तत्त्वोंकी प्राप्ति इतनेहीसे सम्पन्न हो जाती है। भगवान्के श्रीचरणोंमें अहैतुकी मतिवाले नैष्ठिक भक्त सम्पूर्ण विश्वको—सम्पूर्ण प्राणियोंको आत्मवत् भगवत्स्वरूप ही देखते हैं। वे खलोंका भी अहित न चाहकर हित ही चाहते हैं। उनके स्वार्थ-परमार्थमें अन्तर नहीं रह जाता। जब प्राणी आत्मसम्बन्धी पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, कलत्र, मित्र, क्षेत्र, वित्त आदि अत्यन्त अनात्माको भी प्रेमास्पद बनाकर उनका हित चाहता है; देह, इन्द्रिय,

मन, बुद्धि, प्राण आदिमें अतिशय प्रेम करता है, तब फिर जब सम्पूर्ण जगत् एवं उसके प्राणियोंको परमात्मस्वरूप निजात्मरूप ही समझ लेगा, तब उसका विश्व-सुहृद् होना उचित ही है। श्रीप्रह्लादजी कहते हैं कि हे अधोक्षज! विश्वका कल्याण हो, खलोंके मनमें भी प्रसाद हो, उनकी भी उग्रता मिटे, प्राणी एक-दूसरेका कल्याण चाहने लगें, मन अशास्त्रीय, अभद्र वस्तुओंका चिन्तन छोड़कर भद्र चिन्तनमें निरत हो, हम सबकी अहैतुकी मति आपमें प्रतिष्ठित हो—

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां
ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे
आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी॥

(श्रीमद्भा० ५।१८।९)

भगवान्‌की शरण ग्रहण करनेसे ही उनके अनुग्रहकी प्राप्ति

गृह, पुत्र, वित्त, बन्धुओंमें मेरा संग (आसक्ति) न हो, यदि संग हो तो भगवत्प्रियों, सन्तोंमें ही हो। प्राणयात्रामात्रसे सन्तुष्ट, अन्तर्मुख प्राणी अत्यन्त शीघ्रतासे जिस सिद्धिको प्राप्त करता है, इन्द्रियप्रिय प्राणियोंको वह स्वप्नमें भी सुलभ नहीं है। जिन हेतुओंसे भगवान्‌में चित्त अनुरक्त हो, उन्हींसे विश्वका अपना लौकिक-पारलौकिक पुरुषार्थ सिद्ध होता है। श्रीहरिके चरणोंमें जिसकी भक्ति होती है, सम्पूर्ण देवता सर्वगुणोंके साथ उसीमें आकर निवास करते हैं। जो हरिके अनुरागी नहीं, नाना मनोरथोंसे बाह्य विषयमें भटकते हैं, उनमें कहाँ देवता, कहाँ गुण?—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा
मनोरथेनासति धावतो बहिः॥

(श्रीमद्भा० ५।१८।१२)

श्रीलक्ष्मीजीने कहा है कि हे देव! जो आपके श्रीचरणोंकी पूजा करती है, वही अखिल अभीष्टों और कामको चाहती है। जिस वस्तुको न पाकर दूसरी नारी भग्नयाच्ञा (याचना विफल होनेसे निराश) होकर संतप्त होती है, उसी अभीष्ट वस्तुको वह नारी अनायास ही प्राप्त कर लेती है, जो आपको चाहती और पूजती है—

या तस्य ते पादसरोरुहार्हणं
निकामयेत्साखिलकामलम्पटा।
तदेव रासीप्सितमीप्सितोऽर्चितो
यद्भग्नयाच्ञा भगवन् प्रतप्यते॥

(श्रीमद्भा० ५।१८।२१)

हे मायेश! हे देव! मेरी प्राप्तिके लिये फलेच्छु देवता और असुर सभी लोग उग्र तप करते हैं, परंतु आपके श्रीचरणपरायण हुए बिना कोई भी मुझे पा नहीं सकता, क्योंकि मैं तो सदा त्वद्धृदया ही हूँ, आपमें ही मेरा हृदय सदा रहता है, अतः आपको छोड़कर मैं कहीं क्षणभरके लिये भी नहीं जा सकती। ऐसी स्थितिमें जिसके यहाँ आप हैं, वहाँ मेरा रहना अनायास ही सिद्ध हो जाता है—

मत्प्राप्तयेऽजेशसुरासुरादय-
स्तप्यन्त उग्रं तप ऐन्द्रियेधियः।
ऋते भवत्पादपरायणान्न मां
विन्दन्त्यहं त्वद्धृदया यतोऽजित॥

(श्रीमद्भा० ५।१८।२२)

इस तरह अनेकों प्रयोजनोंकी सिद्धि अभीष्ट हो तो भी हरिका आश्रयण आवश्यक है। वस्तुतस्तु भगवान् प्राणिमात्रके अन्तरात्मा हैं, अतएव निरतिशय एवं निरुपाधिक प्रेमके आस्पद हैं। जैसे झषों (मछली आदि)-को जल अभीष्ट होता है, वैसे ही प्राणि-मात्रको निरुपाधिक प्रेमास्पदरूपसे भगवान् इष्ट हैं—**'हरिर्हि साक्षाद्भगवान् शरीरिणामात्मा झषाणामिव तोयमीप्सितम्।'** (श्रीमद्भा० ५।१८।१३) सारांश यही है कि श्रीहरिकृपासे ही प्राणियोंमें शुभ भावनाओंकी दृढ़ता होती है, शुभ भावनाओंके दृढ़ होनेपर ही स्थिर विवेक, विज्ञान, प्राणिमात्रके प्रति भगवद्भाव जाग्रत् होता है। यह भगवद्भाव उसीको प्राप्त होता है, जो भगवान्‌की शरण होता है। उनकी प्राप्तिमें कोई शील, तोष, बुद्धि आदि हेतु

नहीं। भगवान्‌के तोषका हेतु उच्चकुलमें जन्म, सौभाग्य, मनोहर वाक्, दिव्य बुद्धि, सुन्दर आकृति आदि नहीं; क्योंकि इन सब गुणोंसे रहित भी बन्दरोंको भगवान्‌ने अपना सखा बनाया—

न जन्म नूनं महतो न सौभगं
न वाङ् न बुद्धिर्नाकृतिस्तोषहेतुः।
तैर्यद्विसृष्टानपि नो वनौकस-
श्चकार सख्ये बत लक्ष्मणाग्रजः॥

(श्रीमद्भा० ५।१९।७)

श्रीहनुमान्‌जी कहते हैं कि जब सर्वगुणविहीन बन्दर—जिसके नामसे रोटी मिलनेमें भी बाधा उपस्थित हो सकती है—उस सर्वविधहीनको भी सजल नयन होकर गुणग्राम सुननेसे प्रभुने अपना लिया, तब फिर औरोंकी तो बात ही क्या है?

कहहु कवन मैं परम कुलीना। कपि चंचल सबहीं बिधि हीना॥
प्रात लेइ जो नाम हमारा। तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा॥
अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन भरे बिलोचन नीर॥

(रा०च०मा० ५।७।७-८, ५।७)

जो ऐसे प्रभुको समझ-बूझकर भी भूल जायँ, फिर वे क्यों न दुःखी हों—

जानतहूँ अस स्वामि बिसारी। फिरहिं ते काहे न होहिं दुखारी॥

(रा०च०मा० ५।८।१)

जो प्राणी मनुष्य-शरीर पाकर भी भगवत्कृपा-सम्प्रदानपूर्वक भगवत्प्राप्तिके लिये भगवदाश्रयण नहीं करते, वे मायामय प्रलोभनोंमें फँसकर बार-बार बन्दरोंके समान बन्धनको प्राप्त होते हैं—

प्राप्ता नृजातिं त्विह ये च जन्तवो
ज्ञानक्रियाद्रव्यकलापसम्भृताम्।
न वै यतेरन्नपुनर्भवाय ते
भूयो वनौका इव यान्ति बन्धनम्॥

(श्रीमद्भा० ५।१९।२५)

निर्बलका बल

भगवान्‌का गुणगान भवरोगका सर्वश्रेष्ठ महौषध है

हर एक श्रेणीके प्राणीको श्रीभगवान्‌का स्मरण एवं आराधन हर समय करना आवश्यक है। यही कारण है कि भगवान्‌के मंगलमय परमपवित्र चरित्रादिके श्रवण-मननके अधिकारी ज्ञानी-अज्ञानी, सिद्ध-साधक सभी हैं और सभीको उनके अनुरूप फल भी मिलता है। फिर वे उसे चाहें अथवा न चाहें। यद्यपि जो महापुरुष स्ववर्णाश्रम-धर्मानुसार भगवान्‌की आराधनाद्वारा निर्मलान्तःकरण होकर वेदान्तोंके श्रवण-मनन-निदिध्यासन एवं तत्त्वसाक्षात्कारसे कृतार्थ हो चुके हैं, उन्हें किसीकी भी अपेक्षा नहीं होती, न उन्हें कुछ करनेसे प्रयोजन है, न उनका किसीसे कुछ अर्थ ही है, बल्कि यदि उन्हें कुछ कर्तव्यबुद्धि हो तो उनकी तत्त्वज्ञतामें भी संदेह किया जाता है—

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।
नैवास्ति किञ्चित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥

तथापि भगवान्‌के भजनमें उनकी स्वाभाविकी प्रवृत्ति होती है। अतएव भगवान्‌के आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, ज्ञानी—इन चार भक्तोंमें ज्ञानीको सर्वश्रेष्ठ भक्त कहा है—‘**तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।**’ (गीता ७।१७) अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्रगण निर्ग्रन्थ होकर भी भगवान्‌में निष्काम भक्ति करते हैं; क्योंकि भगवान्‌में कोई अद्भुत आत्मारामचित्ताकर्षक लोकोत्तर गुण ही हैं—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

(श्रीमद्भा० १।७।१०)

जीवनमुक्त महामुनि जेऊ। हरि गुन सुनहिं निरंतर तेऊ॥
आसा बसन ब्यसन यह तिन्हहीं। रघुपति चरित होइ तहँ सुनहीं॥

(रा०च०मा० ७।५३।२; ७।३२।६)

इतना ही नहीं, विशेषतः ऐसे ही तृष्णारहित महामुनीन्द्र ही भगवान्‌के गुणगानके अधिकारी माने गये हैं; क्योंकि जिसका मन निरन्तर भगवत्स्वरूपा-

मृतरसास्वादनमें लगा रहता है, वही उस रसका वितरण कर सकता है। जिस समय राजर्षि परीक्षित्ने ब्रह्माके वत्सहरण-सम्बन्धमें कुछ पूछा, उस समय ब्रह्मर्षि शुकदेवका मन प्रश्नद्वारा हृदयमें अभिव्यक्त भगवान्के स्वरूप-गुण-लीलारसमें लीन हो गया। फिर बड़ी कठिनाईसे जब घण्टा-शंख-निनाद आदिसे वे सावधान किये गये, तब कथा चली—

इत्थं स्म पृष्टः स तु बादरायणि-
स्तत्स्मारितानन्तहृताखिलेन्द्रियः ।
कृच्छ्रात् पुनर्लब्धबहिर्दृशिः शनैः
प्रत्याह तं भागवतोत्तमोत्तम॥

(श्रीमद्भा० १०।१२।४४)

वस्तुतः जैसे पात्रमें भरपूर भरा हुआ रस वायुके आघात या उफानसे बहिर्भूत होता है, वैसे ही भावुकके हृदयमें अनुभूयमान भगवदीय रस प्रेमोद्रेकसे उद्‌गीर्ण होकर कथासुधारूपमें व्यक्त होता है। अतः वे ही चरित्र-वर्णनके मुख्य अधिकारी होते हैं—

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्
भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात् ।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्
पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्॥

(श्रीमद्भा० १०।१।४)

अर्थात् भगवान्का गुणानुवाद तृष्णाविरहित योगीन्द्रोंद्वारा गाया जाता है और वह भवरोगका सर्वश्रेष्ठ महौषध है। साथ ही श्रोत्र और मनको आनन्द देनेवाला है अर्थात् विमुक्त, मुमुक्षु और विषयी सभी भगवच्चरित्रसेवनके अधिकारी होते हैं—

सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई। लहहिं भगति गति संपति नई।

(रा०च०मा० ७।१५।५)

अर्थात् भगवान्का चरित्र सुननेसे विमुक्तको भक्ति, मुमुक्षुको गति और विषयीको सम्पत्ति मिलती है। इसके साथ-ही-साथ श्रवण-सुख मिलता है और मनको प्रसन्नता भी मिलती है—

बिषइन्ह कहँ पुनि हरि गुन ग्रामा। श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा॥

(रा०च०मा० ७।५३।४)

निरन्तर भगवत्स्मरण सभीके लिये परम श्रेयस्कर है

पूर्णपरमात्मरति ब्रह्मनिष्ठका भगवद्भजन स्वाभाविक कर्म हो जाता है—'**अद्वेष्टृत्वादिवत्तेषां स्वभावो भजनं हरेः।**' अमानित्व, अदम्भित्व आदि गुणगण जैसे स्वभावसे ही ज्ञानीमें होते हैं, वैसे ही भगवद्भजन, भगवत्परायणता भी ज्ञानीमें स्वाभाविक होती है। इसके सिवा भगवत्कृपासे ही प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परमात्मतत्त्वमें स्थिति होती है, अतः कृतघ्नता-निवृत्त्यर्थ भी ज्ञानी भगवान्को भजता है। सभी वेदान्ताचार्योंने कहा है—

यावज्जीवं त्रयो वन्द्या वेदान्तो गुरुरीश्वरः।
आदौ विद्याप्रसिद्ध्यर्थं कृतघ्नत्वापनुत्तये॥

अर्थात् ज्ञानीको यावज्जीवन वेदान्त, गुरु और ईश्वरकी वन्दना करते रहना चाहिये। प्रथम ब्रह्मविद्या-प्राप्तिके लिये इन सबका वन्दन होता है, पश्चात् कृतघ्नता दूर करनेके लिये। विवेकियोंने ज्ञानीके लिये अभेदभावसे ब्रह्मात्मनिष्ठा या भेदभावसे भगवद्भक्तिको समान ही कहा है। जैसे प्रेयसी प्रेमोद्रेकमें प्रियतमके वक्षःस्थलपर विहरण करे अथवा सावधानीसे पादयुग्मकी परिचर्या करे, दोनों एकही-से हैं तथापि जैसे चित्त मिल जानेपर भी चतुर नायिका अपने प्रियतमको घूँघट-पटकी ओटसे ही देखती है, वैसे ही भेदभावके मिट जानेपर भी ज्ञानी भेदभावसे भगवान्को भजते हैं। पारमार्थिक तत्त्व जानकर, व्यावहारिक द्वैतको लेकर भगवान्की भक्ति मुक्तिसे भी अत्यन्त श्रेष्ठ है और भक्त्यर्थभावित द्वैत अद्वैतसे भी श्रेष्ठ होता है।

यह स्थिति लोकसंग्रहनिरपेक्ष पूर्णपरमात्मनिष्ठ विज्ञानीकी है। परंतु लोकसंग्रही ज्ञानीको तो लौकिक, वैदिक, धार्मिक, नैतिक अनेक प्रकारके कर्म करने पड़ते हैं और उनमें अनेक प्रकारकी विषम परिस्थितियोंका भी अनुभव करना पड़ता है। अनेक प्रकारके तापोंका भी योग उपस्थित होता है, अतः उन लोकसंग्रहियोंको यह परम आवश्यक होता है कि वे

विनश्वर विषम प्रपंचके भीतर सम अविनश्वर परमात्मतत्त्वका स्मरण रखें। लोककल्याणार्थ या आत्मकल्याणार्थ कार्यक्षेत्रमें अवतीर्ण होनेपर सहस्रों दोषोंके संचारकी सम्भावना होती है, इसलिये उन सबसे बचकर अव्याहत स्वरूपनिष्ठा बनाये रखनेके लिये निरन्तर श्रीभगवान्‌की स्मृति परमावश्यक है। तीसरे हैं मुमुक्षु लोग, ये दो श्रेणीके हैं, एक तो मोक्षकी आकांक्षासे श्रीहरिके चरणपंकजमें समर्पण-बुद्धिसे स्वधर्मानुष्ठान करनेवाले एवं दूसरे शुद्धान्तःकरण हो जानेपर तीव्र विविदिषासे श्रवण, मनन, निदिध्यासन करनेवाले। इन दोनों ही श्रेणीके पुरुषोंको निरन्तर भगवत्स्मृति परमावश्यक है। नैष्कर्म्य-तत्त्वज्ञान भी बिना श्रीहरि-प्रेमके शोभित नहीं होता, फिर कर्म चाहे निष्काम ही क्यों न हो, भगवच्चरणपंकजमें बिना समर्पण किये वह शोभित नहीं होता— **'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।'** (श्रीमद्भा० १२।१२।५२) **'सोह न राम पेम बिनु ग्यानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू॥'** (रा०च०मा० २।२७७।५) **'सो सुखु करमु धरमु जरि जाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ॥'** (रा०च०मा० २।२९१।१) जो कर्म भगवत्समर्पणके लिये अनुष्ठित होंगे, उन कर्मोंकी शुद्धिपर ध्यान रहेगा, बुद्धिमान् भगवान्‌को अशुद्ध कर्मोंका समर्पण नहीं करेंगे। अतः यदि **'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥'**(गीता ९।२७), **'कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा'** (श्रीमद्भा० ११।२।३६) इत्यादि भगवान् और भगवदीयोंके कथनानुसार सभी कर्मोंको भगवान्‌में समर्पण करनेका नियम बनाया जायगा तो लौकिक-वैदिक सभी कर्मोंमें शुद्धि रहेगी और हर एक कर्मको करते समय भगवान्‌का स्मरण रखनेसे अन्तरात्माको त्रितापसे तप्त न होगा पड़ेगा। भगवद्भक्ति, भगवत्स्मृतिकी महिमासे शीघ्र ही भगवान्‌का साक्षात्कार भी हो सकेगा— **'भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।'** (गीता १८।५५) भगवत्प्रेमसे निर्मल एवं एकाग्र मनपर सहजमें ही परमात्मस्वरूपकी अभिव्यक्ति हो जाती है। प्रापंचिक व्यवहारमें आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक अनेक तापोंसे तप्त होना पड़ता है। परंतु जिनके हृदयमें भगवान्‌की पदनखमणिचन्द्रिकाकी आभा रहती है, उन्हें वे ताप उसी तरह नहीं तपा सकते, जैसे शारदी चान्द्रमसी ज्योत्स्नाके विकसित होनेपर सूर्य-ताप नहीं तपा सकता। जैसे साँपके विषसे परिश्रान्त होकर नकुल विश्रान्तिके लिये अरण्यमें जाकर विषघ्नी दिव्य महौषधियोंका सेवन करता है, वैसे ही संसार-विषसे व्याकुल होनेपर संसारियोंको भी सत्संगमें जाकर भगवत्स्मृतिका सेवन करना चाहिये। कहा जाता है कि भगवान्‌का स्मरण-भजन और लौकिक कर्म दोनों साथ कैसे बन सकते हैं? परंतु भगवान् तो और कार्योंकी कौन कहे, सबसे विषम कर्म जो युद्ध है, उसको करते हुए भी भगवत्स्मृतिको आवश्यक बतलाते हैं। कृषि, व्यापार आदि सभी कर्मोंसे युद्ध कठिन है, उसमें अस्त्र-शस्त्रकी वर्षा होती है, उससे हर समय अपने मर्मोंको बचाना, परच्छिद्रान्वेषण करना, अस्त्र-शस्त्र चलाना, शस्त्र-अस्त्रोंके लगनेपर व्यथाओंको भी सहन करना पड़ता है। परंतु भगवान्‌के मतसे उस समय भी परमात्मस्मरण रखना परमावश्यक है—

'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।'

(गीता ८।७)

चौथी कोटिके वे पुरुष हैं जो निष्काम नहीं हैं, किंतु आर्त और अर्थार्थी होकर आर्ति-निवृत्ति एवं अर्थप्राप्तिके लिये विविध प्रकारके लौकिक कर्मोंमें प्रयत्नशील होते हैं। उन्हें भी अपने प्रयत्नोंकी सफलताके लिये भगवान्‌का स्मरण-भजन करते रहना चाहिये, केवल अपने साधन-बलके गर्वमें भगवान्‌को नहीं भूलना चाहिये। अतएव यद्यपि अर्जुन बुद्धिबल, बाहुबल, सैनिकबल, धनबल आदिमें सम्पन्न थे तो भी उन्हें भगवत्स्मरणकी आवश्यकता बतलायी गयी है। वस्तुतः जितना भी साम्राज्य, स्वाराज्य,

वैराज्य, शौर्य, वीर्य, ऐश्वर्य, अभ्युदय है, वह सभी धर्म और ईश्वराराधनका ही फल है। दरिद्रता, परतन्त्रता, आधि, व्याधि, शोक, सन्ताप आदि अनर्थ धर्मकी उपेक्षा और ईश्वरविमुख होनेका फल है। महा-महा शूरवीर एवं ऐश्वर्यवानोंके चरित्रोंपर ध्यान देनेसे विदित होगा कि उन्होंने धर्म और ईश्वरके सेवनसे उच्चतम स्थिति प्राप्त की है। अतएव सुख एवं तत्साधनोंकी न्यूनाधिकतासे उसके हेतुभूत पुण्यकी न्यूनाधिकताकी कल्पना होती है, दुःख और दुःखसाधनोंके तारतम्यसे उसके हेतु पापके तारतम्यकी कल्पना होती है। इस जन्ममें भी धर्म और भगवान्का आश्रयण करके जो अभीष्ट फलसिद्धिके लिये प्रयत्नशील होते हैं, उन्हें बड़ी सुगमतासे सफलता मिलती है—'**मामाश्रित्य यतन्ति ये।**' (गीता ७। २९) पाँचवीं कोटिके वे पुरुष हैं, जो आर्त एवं अर्थार्थी तो हैं, परंतु आर्ति-निवृत्ति एवं अर्थप्राप्तिके लिये उनके पास कोई साधन नहीं है, उनके लिये भी एक भगवान्का ही सहारा रह जाता है—'**निरबलके बल राम।**', '**हारेको हरिनाम॥**' जब सर्वसाधनसम्पन्नोंको भी साधनबलका दर्प छोड़कर श्रीभगवान्का सहारा लेना पड़ता है, तब साधनहीन किसकी शरण जायँ? निर्बल, निराश्रय पुरुष किसी आश्रयका अन्वेषण करता ही है, गिरते हुए पुरुषके हाथ-पैर स्वभावसे ही किसी आश्रयको पकड़नेके लिये प्रवृत्त होते हैं। बालक विपन्न एवं उपद्रुत होकर माता-पिता एवं बन्धुकी ओर दौड़ता है, प्रजा राजाकी ओर दौड़ती है, निर्बल बलवान्की ओर दौड़ता है। परंतु जहाँ इन किन्हींका वश या सहारा नहीं है, वहाँ सिवा पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् सर्वान्तरात्माके और किसका सहारा हो सकता है? वस्तुतः परमज्ञानी, भगवत्परायण और इस साधनशून्य अर्थार्थी या आर्तकी स्थिति समान ही है, उसके भी सब कुछ भगवान् ही हैं और इसके भी सब कुछ भगवान् ही हैं। निरालम्ब, निःसाधन आर्त एवं अर्थार्थी बड़े प्रेम और विश्वाससे भगवान्को पुकारता है और भगवान् उसकी जल्दी ही सुनते भी हैं। प्रतिज्ञा भी उनकी यह है, एक बार भी जो प्रपन्न होता है, उसे मैं अभय देता हूँ—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(वाल्मीकीय० ६। १८। ३३)

हतभाग्य प्राणीको भगवान्के इस व्रतपर विश्वास नहीं होता, किंतु साधारण राजाओं और उनकी झूठी प्रतिज्ञाओंपर विश्वास होता है। आर्तकी आर्ति मिटाकर भगवान् उसे परम अभय देते हैं, कृतार्थ कर देते हैं। अर्थार्थीको भी अर्थप्रदानके बाद निष्काम, जिज्ञासु एवं ज्ञानी बनाकर तार देते हैं। विभीषण पहले अवश्य अर्थार्थी था। परंतु अन्तमें तो पूर्ण परमार्थी हो गया। भगवान्का दर्शन करके उसने कहा था—

उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥
अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु सदा सिव मन भावनी॥

(रा०च०मा० ५। ४९। ६-७)

परंतु इन सब परिस्थितियोंसे भिन्न एक और भी छठी परिस्थिति उस प्राणीकी है, जो कृतकृत्य भी नहीं, निष्काम और विरक्त भी नहीं, आर्त-अर्थार्थी होकर भी निराश्रय एवं साधनविहीन है और साथ ही भगवान्पर जिसे विश्वास भी नहीं है। परंतु यदि उसकी आन्तर भावना ऐसी हो कि भगवान्में हमारा विश्वास उत्पन्न हो और हम अपनी परिस्थितियोंको समझकर भगवान्को पुकारें कि 'हे नाथ! आप ही ऐसी कृपा करो, जिससे हम आपपर विश्वासकर आपको पुकारें और आपको न भूलें और मैं ब्रह्म (भगवान्)-का निराकरण (उपेक्षण) न करूँ।'—'**माहं ब्रह्म निराकुर्याम्।**' वस्तुतः भगवान्की कृपासे ही प्राणी विश्वासपूर्वक भगवान्की शरण जाता है। श्रीअक्रूरजीने कहा है—'हे नाथ! आज मैं आपके श्रीचरणोंके शरण आया हूँ, यह भी आपकी कृपाका ही फल है। जब प्राणियोंकी सांसारिक विपत्तियाँ मिटनेको होती हैं, तभी सदुपासनासे आपके श्रीचरणोंमें उनकी प्रीति होती है'—

सोऽहं तवाङ्घ्र्युपगतोऽस्म्यसतां दुरापं
तच्चाप्यहं भवदनुग्रह ईश मन्ये।
पुंसो भवेद् यर्हि संसरणापवर्ग-
स्त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया मतिः स्यात्॥

(श्रीमद्भा० १०।४०।२८)

सचमुच आज भारतकी यही अन्तिम दशा है। न वह कृतकृत्य है, न निष्काम एवं विरक्त। वह आर्त एवं अर्थार्थी होकर भी आश्रय एवं साधनविहीन है। बुद्धिबल, बाहुबल, सैन्यबलसे रहित निःसहाय है। हिन्दू-मुसलमानके अतिरिक्त शैव-वैष्णव एवं वैष्णव-वैष्णव ही परस्पर कटकर मर सकते हैं। यदि कथंचित् धरना आदि अशास्त्रीय मार्गसे कुछ मिल भी जाय तो वह उसकी रक्षा भी नहीं कर सकता। इतनेपर भी उसमें धर्म और भगवान्से विश्वास उठ चला है—

ग्रह गृहीत पुनि बात बस तेहि पुनि बीछी मार।
तेहि पिआइअ बारुनी कहहु काह उपचार॥

(रा०च०मा० २।१८०)

जहाँ अर्जुन ऐसे साधनसम्पन्न योद्धाके लिये भी **'सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर'** (गीता ८।७)-का आदेश था, वहाँ सर्वसाधनशून्य दशामें भी भगवान्का स्मरण नहीं होता, इससे अधिक इसकी शोचनीय दशा और क्या हो सकती है? अस्तु, इसके हितैषियों और इसको चाहिये कि वह भगवान्को पुकारें और प्रार्थना करे कि 'हे नाथ! हम सबको आपमें विश्वास और भक्ति दो, जिससे कि हम आपको पुकारें। हम सबको धर्मग्लानि—अधर्माभ्युत्थान मिटाकर परमकल्याण—मूलभूत धर्ममें प्रीति दो, जिससे सब तरहके अनर्थ मिटकर भारत फिर अभ्युदय एवं निःश्रेयसका भागी हो।'

करुणालहरी

प्रेमी भक्तका भगवान्के प्रति मधुर उपालम्भ

पण्डितराज श्रीजगन्नाथजीकी 'गंगालहरी' का नाम भला कौन नहीं जानता? उन्हींकी एक अत्यन्त अद्भुत सरस कृति '**करुणालहरी**' है। उसीमेंसे कुछ सदुक्तियाँ यहाँ निदर्शित की जा रही हैं। एक पद्यमें वे कहते हैं—भगवन्! मैं तो नरकोंकी तरह-तरहकी यातनाओंसे परिचित हूँ, मेरी लज्जा भी विदा हो चुकी है, फिर दूसरोंके द्वारोंपर भटकनेसे मेरा क्या बिगड़ेगा? परंतु नाथ! जरा आपको सूक्ष्म दृष्टिसे विचारना चाहिये, जनता आपको क्या कहेगी?—

नितरां नरकेऽपि सीदतः किमु हीनं गलितत्रपस्य मे।
भगवन् कुरु सूक्ष्ममीक्षणं परतस्त्वां जनता किमालपेत्॥

नाथ! यद्यपि नरकोंमें अपने कर्मोंके ही परिणामस्वरूप मुझे बड़ी-बड़ी यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं, फिर भी यह बड़ी असह्य बात है कि देखनेवाले मुझे अनाथ कहते हैं। नाथ! भवजालबन्धनमें तो नृग, गजेन्द्र आदि मेरे साथ ही बँधे थे। मेरी उपेक्षा करके उन्हें मुक्त करते हुए क्या आपके मनको करुणा नहीं द्रवित करती? प्रभो! आप बिना उपाधि (कारण) ही प्राणियोंकी विपत्तियोंको दूर करते हैं, यह जानकर ही मैंने पुण्यपुंजोंकी उपेक्षा की है। आपको पतित-पावन सुनकर ही मैंने अहर्निश पाप किया। फिर अब आप उपेक्षा करते हैं? प्रभो! मैंने पुण्य कभी नहीं किया, सब कुछ पाप ही किया है, फिर मैं अब आपसे कैसे क्या कहूँ? नाथ! आपके सामने ही मुझे मद, काम, मोह आदि अपनी-अपनी ओर खींचते हैं। आपको क्या लज्जा नहीं लगती? गढ़ेमें गिरते हुए शिशुको पथिक भी शीघ्रताके साथ बचा लेता है। नाथ! आप तो जनक ही हैं, फिर भवार्णवमें डूबते हुएको क्यों नहीं बचाते?—

अयि गर्तमुखे गतः शिशुः पथिकेनापि निवार्यते जवात्।
जनकेन पतन्भवार्णवे न निवार्यो भवता कथं विभो॥

हे सुकृतप्रिय! यदि आप सुकृतियोंको ही सुखद होकर मुझ पातकीको धारण नहीं करोगे तो आपका विश्वम्भर नाम भी दुर्लभ हो जायगा। प्रभो! यदि आप मेरे परुष (कठोर) वाक्योंसे रुष्ट हो गये हों तो मुझ मुखर और अपराधीको अपने संसारसे निकाल दो। प्रभो! पतित, दुर्गत एवं अकृतज्ञ कैसा भी क्यों न हो,

'मैं आपका हूँ' ऐसा कहनेमात्रसे आपको लज्जासे ही उसपर दया करनी चाहिये। किसी पुण्यप्रकृतिपर कृपा करनेसे कोई विशेष महत्त्व नहीं है। कृपानिधे! यदि मुझ-सरीखे पापियोंपर कृपा की जाय तो आप ही सोचिये, कितनी कीर्ति होगी? जो बालक शैशवावस्थामें लालित किया गया है, बड़ा होनेपर उसीकी ताड़ना उचित है। परंतु आपने तो मेरा कभी भी लालन नहीं किया। फिर मेरी ताड़ना क्यों? अथवा भगवन्! मेरा ही दोष है, मैं ही दूषित हूँ, व्यर्थ ही आपको उपालम्भ देता हूँ। जैसे रमणीके विरहज्वरसे ज्वलित कुमति प्राणी अमृतांशुकी निन्दा करता है, वैसे ही मैं अपने ही दोषसे आपको उपालम्भ देता हूँ। प्रभो! मैं अत्यन्त नम्रतासे पूछता हूँ, जरा अच्छी तरह विचारकर इसका उत्तर मुझे दें। मैं क्या गजेन्द्र और गोवर्धनपर्वतसे भी अधिकतर गुरु (भारी) हूँ, जो आप शीघ्रतासे मेरा उद्धरण नहीं करते?—

नितरां विनयेन पृच्छते सुविचार्योत्तरमत्र यच्छ मे।
करितो गिरितोऽप्यहं गुरुस्त्वरितो नोद्धरसे यदद्य माम्॥

प्रभो! यद्यपि मैं अत्यन्त अधम और गुणहीन हूँ तो भी दयानिधे! मुझपर दया तो होनी ही चाहिये। दयामय! विषमय अनलका वमन करनेवाले सर्पोंको भी चन्दन अपने स्वभावके अनुसार क्या आनन्दित नहीं करता?—

अयमत्यधमोऽपि निर्गुणो दयनीयो भवता दयानिधे।
वमतां फणिनां विषानलं किमु नानन्दयिता हि चन्दनः॥

हे हरे! यद्यपि मुझ क्षुधातुरको प्रतिरथ्याओं (हर एक गलियों)-में कण-कणके प्रतिग्रहमें भी लज्जा नहीं है तथापि हे निष्कलंक! यह आपके लिये यशस्कर न होगा कि आपका होकर भी मैं दूसरोंके दरवाजोंपर भटकूँ?—

क्षुधितस्य नहि त्रपास्ति मे प्रतिरथ्यं प्रतिगृह्णतः कणान्।
अकलङ्क यशस्करं न ते भवदीयोऽपि यदन्यमृच्छति॥

हे नाथ! विषमविषसम्पृक्त अग्निमय तैल-परिपूर्ण कटाहके समान इस विषादभूमि भवसागरमें पड़कर मुझे आत्मत्राणका कोई भी उपाय नहीं सूझता। हे विभो! अब मैं सब ओरसे हताश होकर अपने-आपको आपके श्रीचरणोंमें समर्पण करता हूँ। हे शरण्य! इस भवानल-ज्वालासे मेरी चेतना या विवेकबुद्धि विलुप्त हो गयी है। नाथ! मैं अत्यन्त भयभीत होकर आपकी शरण आया हूँ, अतः मेरी उपेक्षा न होनी चाहिये। दयासुधाम्बुधे! मेरी दयनीयता और अपने स्वरूपपर फिरसे विचार करें और फिर जैसा चाहें, वैसा करें—

भवानलज्वालविलुप्तचेतनः
शरण्य तेऽङ्घ्रिं शरणं भयादयाम्।
विभाव्य भूयोऽपि दयासुधाम्बुधे
विधेहि मे नाथ यथा यथेच्छसि॥

हे हरे! वेदवाक्योंके भी अविषय पूर्णतम पुरुषोत्तम आप महेश्वरको छोड़कर मेरी साध्वी मति निर्लज्ज होकर कैसे दूसरी ओर जा सकती है? दयानिधे! सभीसे परित्यक्त, दुरवस्थाको प्राप्त मुझ अतिदीनको देखकर भी आपने चित्तको क्यों कुलिश-निष्ठुर बना लिया है?—

अयि दीनतरं दयानिधे दुरवस्थं सकलैः समुज्झितम्।
अधुनापि न मां निभालयन् भजसे हा कथमश्मचित्तताम्॥

हे नाथ! अनन्त ब्रह्माण्डोंको भी धारण करनेसे आपको श्रम नहीं होता तो मुझ परमाणुके धारणसे आपको क्यों श्रम प्रतीत होता है? नाथ! मुझ क्षुद्रकी यह कटूक्तियाँ आपको उसी तरह क्रोध न उत्पन्न करेंगी, जैसे कुपित एवं आतुर बालकके भाषितोंसे महाशय लोग क्षुब्ध नहीं होते। नाथ! मैंने दुष्कृत नहीं किया, यह मैं नहीं कहता हूँ, किंतु आपके पतितोद्धारक नामने मेरी भीतिको नष्ट कर दिया है—

न वदामि न दुष्कृतं मया कृतमित्युक्तिमिमां तु मे शृणु।
मम भीतिमनीनशद्विभो पतितोद्धारक नाम तावकम्॥

जो पुरुषोत्तम शिव, ब्रह्मा, इन्द्रादि देवशिरोमणियोंके लिये भी भजनीय हैं, उन्हें भी उपालम्भ देनेवाले मुझको धिक्कार है तथा मेरी इस बुद्धिको भी धिक्कार है—

अपि शर्वपितामहादिभिर्भजनीयः पुरुषोत्तमो हि यः।
तमुपालभमानमुद्धतं धिगिमं मां धिगिमां धियं मम॥

गजेन्द्र-मुक्ति

आर्तभक्तकी प्रार्थना

क्षीरसागरसे आवृत एक त्रिकूट पर्वत था। उसके चाँदी, लोहे और सोनेके शृंगोंकी दिव्य दीप्तिसे क्षीरसागर और सारी दिशाएँ प्रदीप्त हो रही थीं। नाना प्रकारके रत्नों, मणियों, वृक्षों, लताओं तथा पक्षियों, सिद्ध, चारण, यक्ष, गन्धर्व, अप्सराओंसे उस पर्वतकी शोभा निरन्तर बढ़ रही थी। उसी पर्वतकी द्रोणीमें ही एक बड़ा विशाल सरोवर था, जिसमें बहुत-से कंचन वर्णके पंकज शोभायमान थे। कुमुद-कमल आदिकी श्रीसे समवेत, षट्पदोंके घोष और पक्षियोंके कलनादसे उसकी शोभा बड़ी अद्भुत हो रही थी। उसी पहाड़ और जंगलोंमें एक गजेन्द्र रहता था। वह अपनी हथिनियों और यूथोंके साथ सकण्टक वेणु और वेत्रोंके वनोंको तोड़ता-फोड़ता, बड़ी-बड़ी वनस्पतियोंको भी गिराता हुआ सरोवरमें स्नान करनेके लिये चला। उसकी गन्धमात्रसे दूसरे हाथी, सिंह, व्याघ्र, व्याल आदि भयभीत होकर भागने लगे। उसके अनुग्रहसे हरिण, शश आदि क्षुद्र जन्तु निर्भय होकर विचरण करते थे। घामसे तप्त होकर मतवाले हाथियों और हथिनियोंके साथ अपनी गुरुतासे उस पर्वतको प्रकम्पित करता हुआ, मद पीनेवाले भ्रमरोंकी मालाओंसे निषेवित वह गजेन्द्र पंकजरेणुरूषित वायुको सूँघता हुआ सरोवरके पास जा पहुँचा। तृषार्दित अपने यूथके साथ उस सरोवरमें प्रविष्ट होकर उसने खूब जल पीया और अपनी शुण्डसे जल डाल-डालकर अपनेको नहलाने लगा। शुण्डोद्भूत जलकणोंसे अपनी हथिनियों और बच्चोंको पिलाने और नहलानेमें दूसरे गृहस्थोंके समान ही वह दयालु गजेन्द्र संलग्न हो गया। ईश्वरकी मायासे मोहित होनेके कारण उसे विपत्ति दृष्टिगोचर नहीं हुई। इतनेमें ही किसी दैवप्रेरित बलवान् ग्राहने आकर क्रोधसे उसका पाँव पकड़ लिया।

महाबलवान् गजेन्द्रने अपनेको छुड़ानेके लिये बड़ा प्रयत्न किया। उसे आतुर देखकर हथिनियों और हाथियोंने भी छुड़ानेका प्रयत्न किया, परंतु ग्राहसे आकृष्ट गजेन्द्रको बचानेमें असमर्थ होकर वे दीन-बुद्धिसे चिल्लाने लगे। गजेन्द्र कभी ग्राहको बाहरकी तरफ ले जाता था और कभी ग्राह गजेन्द्रको भीतरकी तरफ ले जाता था। इस तरह परस्पर एक-दूसरेको खींचते और लड़ते हुए हजार वर्ष बीत गये, फिर भी दोनों जीते रहे। देवता भी आश्चर्य मान रहे थे। पानीमें दिन-रात आकृष्ट होनेके कारण गजेन्द्रके मन, बल और ओजका बहुत व्यय हो गया, अतः शिथिलता आ गयी। इसके विपरीत ग्राहकी शक्ति बढ़ गयी; क्योंकि ग्राहका तो जलमें घर ही था, उसकी स्थिति अनुकूल थी। जब गजेन्द्र प्राणके संकटमें पड़ गया और विवश हो गया, अपनेको छुड़ानेमें असमर्थ हो गया, तब चिरकालतक ध्यान करके उसने निश्चय किया कि यह मेरे जातीय हाथी मुझ आतुरको बचा नहीं सकते तो फिर मेरी हथिनियाँ मुझे बचा ही कैसे सकती हैं? यह ग्राह नहीं, विधाताका पाश है, उसमें मैं ग्रस्त हो रहा हूँ, उसी परमेश्वरकी शरण जाऊँ, जो ब्रह्मादि सभी प्राणियोंके एकमात्र आश्रय हैं। जो भगवान् प्रचण्ड वेगवाले बलवान् कालसर्पसे भयभीत प्राणीकी रक्षा करते हैं, मौत भी जिनसे डरकर भागती फिरती है, उसी भगवान्की मैं शरण जाता हूँ।

श्रीशुकभगवान्ने राजा परीक्षित्से कहा कि ऐसा निश्चयकर और मनको समाहित करके वह गजेन्द्र पिछले जन्मके शिक्षित परम जाप्यका जप करने लगा। गजेन्द्रने कहा—

'मैं उन भगवान्का मनन कर रहा हूँ अर्थात् ध्यानमात्रसे उन्हें नमस्कार कर रहा हूँ। ग्राहसे गृहीत होनेके कारण शरीरसे प्रणाम करना भी मेरे लिये अशक्य है, जिन भगवान्के कारण देहादि जड़ प्रपंच भी चेतन हो रहे हैं। जो पुरुष हैं अर्थात् जिनसे

सम्पूर्ण विश्व पूर्ण हो रहा है। विश्वके कारण होनेसे घटमें मृत्तिकाके समान विश्वमें भगवान् पूर्ण हैं; अत: उन्हींसे सम्पूर्ण विश्व प्रकाशित हो रहा है। कहा जाता है कि जगत्‌के कारण प्रकृति और पुरुष हैं, अत: कहा कि वह आदिबीजस्वरूप हैं। आदिप्रकृति, बीज-पुरुष अर्थात् जो प्रकृतिपुरुष-स्वरूप हैं, फिर भी वह जीवके समान पराधीन नहीं हैं, किंतु सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर हैं, उन भगवान्‌का मैं अभिध्यान करता हूँ। जिस अधिष्ठानसे सम्पूर्ण विश्व है, जिस उपादानसे विश्व उत्पन्न होता है, जिस कर्तासे जो पद अपने-आप बन जाता है और जो इस कार्य और कारणसे पर है, उस स्वयम्भू स्वत:सिद्ध परमात्माकी मैं शरण हूँ।'

'जो स्वात्मामें ही अपनी मायासे अर्पित, प्रकाशित और कभी तिरोहित विश्वका साक्षीरूपसे प्रकाशन करते हैं और साथ ही अविलुप्तदृक् हैं और जो आत्ममूल अर्थात् स्वप्रकाश हैं, परप्रकाशकचक्षु आदिसे भी पर हैं अर्थात् चक्षु आदिके भी प्रकाशक हैं—

चक्षुषश्चक्षु:, (**'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमस: परमुच्यते।'**) (गीता १३।१७)

इत्यादि वचनोंसे स्पष्ट है कि भगवान् ही विभिन्न प्रकाशक ज्योतियोंके भी प्रकाशक ज्योति हैं। कालके प्रभावसे सम्पूर्ण लोक और लोकपाल जब पंचतत्त्वको प्राप्त हो जाते हैं, तब दुरवग्राह्य, गम्भीर अनन्तपार तम ही रह जाता है, उस तमके पार विराजमान विभु हैं, मैं उन्हींको नमन करता हूँ।'

(**'आदित्यवर्णस्तमस: परस्तात्'**) 'श्रुति कहती है कि वे भगवान् आदित्यवत् सर्वभासक एवं स्वत:प्रकाश हैं और तमसे परे हैं। देवता और ऋषि भी उनके पदको नहीं जानते, फिर दूसरे साधारण कौन जन्तु उन्हें जान सकते हैं? उनका जानना और कहना किसीके लिये भी सम्भव नहीं है। जैसे विभिन्न आकृतियोंद्वारा विचेष्टा करते हुए नटके आक्रमणोंका परिज्ञान दुष्कर है, वैसे ही भगवान्‌के विभिन्न चरित्रों और अनुक्रमणोंका भी जानना और कहना बहुत दुष्कर है। दुर्गम चरित्रवाले वे भगवान् श्रीहरि मेरी रक्षा करें। जिनके समंगल पदारविन्दके दर्शनकी इच्छासे विमुक्तसंग सुसाधु मुनि सम्पूर्ण भूतोंमें असक्त दृष्टि रखते हुए अव्रण—छिद्रवर्जित और अवलोकव्रत—आश्चर्यव्रतका आचरण करते हैं, वे ही भगवान् मेरी गति हैं। उन भगवान्‌का जन्म, कर्म, नाम, रूप, गुण, दोष कुछ नहीं होता तथापि लोककी उत्पत्ति, लय एवं पालनके लिये अपनी मायासे वे जन्म, कर्म आदिको स्वीकार करते हैं। अनन्तशक्ति, परेश, परब्रह्म भगवान्‌को नमस्कार है। जो अरूप हैं, साथ ही बहुस्वरूप हैं, उन आश्चर्यकर्मवाले भगवान्‌को प्रणाम है। जो प्रकाशान्तरकी अपेक्षा न करके प्रकाशमान हैं, जो सर्वप्रकाशक साक्षी तथा जीवके भी नियन्ता हैं, चित्तवृत्ति एवं वाणीसे भी जो अप्राप्य हैं, जो निपुण पुरुष शुद्ध अन्त:करणसे संन्यासके द्वारा प्रत्येक स्वरूपसे प्राप्त होनेवाले हैं, जो कैवल्यके दाता हैं, निर्वाणसुख-संवित्स्वरूप हैं, उन प्रभुके लिये प्रणाम है।'

'जो सत्त्वादि गुणधर्मोंका अनुसरण करके शान्त, घोर एवं मूढ़ प्रतीत होते हैं, साम्य, निर्विशेष और ज्ञानघन हैं, जो क्षेत्रज्ञ एवं सर्वाध्यक्ष हैं, साक्षी हैं, आत्मा अर्थात् क्षेत्रज्ञोंके भी मूल हैं तथा मूल अर्थात् प्रकृतिके भी प्रकृति अर्थात् मूल हैं; क्योंकि स्वत: पूर्वसिद्ध पुरुष हैं, उन प्रभुको प्रणाम है। जो सर्वेन्द्रियोंके, शब्दादि विषयोंके द्रष्टा हैं और सर्वेन्द्रियवृत्तिरूप प्रत्ययोंके हेतु हैं अथवा चित्प्रतिबिम्बित वृत्तियोंके द्वारा बिम्बस्वरूपसे जो परिलक्षित होते हैं, छायामय असत्स्वरूप अहंकारादि प्रपंचोंसे बोधित किये जाते हैं, जो तद्रूपसे विषयोंमें भासमान होते हैं, उन भगवान्‌को प्रणाम है। सबके कारणरूप अतएव स्वयं निष्कारण तथा मृदादि विकारविलक्षण अद्भुत

कारण हैं, उन भगवान्‌को मैं प्रणाम करता हूँ। जो पंचरात्र आदि समस्त आगम (शास्त्र) और समस्त वेद आदिके समुद्रस्थानीय हैं तथा जो मोक्षरूप एवं सत्पुरुषोंके आश्रय हैं, ज्ञानाग्निरूप, गुणविस्फूर्जक, विधि-निषेधविवर्जित और स्वयंप्रकाश हैं, उन भगवान्‌को मेरा प्रणाम है।'

'जो अज्ञानपाशका छेदन करनेवाले, सकरुण, निरालस, अन्तर्यामिरूपसे सब जीवोंके मनमें प्रतीत होनेवाले, सबका नियमन करनेमें समर्थ और अपरिच्छिन्न हैं, उन भगवान्‌को मैं प्रणाम करता हूँ। गृह-कुटुम्ब-चिन्तामें आसक्त जनोंके लिये दुष्प्राप्य, गुणोंके संगसे रहित, मुक्तात्माजनोंसे परिभाषित, ज्ञानात्मा, ईश्वर हैं; उन भगवान्‌को मेरा प्रणाम है।'

'जिनकी आराधना करनेवाले अभीष्ट वस्तुओंको प्राप्त करते हैं तथा न चाही गयी भी आशिषोंको प्राप्त करते हैं, जो अव्यय (नित्य) शरीर भी देते हैं, वे परम कृपालु मेरा विमोक्षणकर आनन्दमें मग्न होकर अति अद्भुत परममंगल उनके चरितको ही गाते हैं, उन अक्षर ब्रह्म, आध्यात्मिक योगगम्य, अतीन्द्रिय, सूक्ष्म, अनन्त और परिपूर्ण भगवान्‌की मैं स्तुति करता हूँ।'

'ब्रह्मादि देवता, वेद, चराचर लोक नाम-रूपके विभेदसे जिनके कलामात्रसे बनते हैं, जैसे अग्निकी अर्चि और सूर्यकी किरणें उनसे उठती तथा उन्हींमें लीन हो जाती हैं, वैसे ही जिनसे तथा जिनमें यह गुणोंका प्रवाह, बुद्धि, मन, इन्द्रिय आदि उद्भूत, तिरोभूत होते हैं तथा जो न देव हैं, न असुर; न मर्त्य हैं, न पक्षी,; न स्त्री हैं, न पुरुष, न नपुंसक; न गुण हैं, न कर्म और न सत् हैं, न असत् तथा जो अशेषात्मक हैं, उनकी जय हो।'

'मुझे ग्राहसे शरीर छुड़ाकर जीनेकी इच्छा नहीं है; क्योंकि बाहर-भीतर अविवेकसे व्याप्त इस गजत्वसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। मैं तो यह चाहता हूँ कि मेरे आत्मप्रकाशका आवरण—अज्ञान मिट जाय, मैं इसीका मोक्ष चाहता हूँ। मैं ऐसा मोक्ष चाहता हूँ, जिसका फिर किसी भी कालमें नाश न हो। मुमुक्षु मैं विश्वरूप, विश्वव्यतिरिक्त, विश्वके स्रष्टा, विश्वके आत्माको केवल प्रणाम करता हूँ। भगवद्धर्मानुष्ठानसे कर्मोंको दग्ध कर देनेवाले योगी जिनको अपने हृदयमें भावित करते हैं, उन योगेश्वरको मैं प्रणाम करता हूँ। जिनका वेग असह्य है, जिनकी शक्तियाँ असह्य हैं, जो शब्दादिरूपसे प्रतीयमान हैं, प्रपन्नजनोंके पालक हैं, जिनकी शक्ति अनन्त है, कुत्सित इन्द्रियोंवाले दुराचारी जिनके मार्गको नहीं प्राप्त कर सकते, उनको बार-बार मेरा प्रणाम है। जिनकी मायासे उत्पन्न हुए अहंकारसे आवृत हुआ यह जन कुछ भी नहीं जानता, 'उन सदा जाग्रत् माहात्म्यवाले भगवान्‌की शरणमें मैं प्राप्त हूँ।'—

नमो नमस्तुभ्यमसह्यवेग-
शक्तित्रयायाखिलधीगुणाय ।
प्रपन्नपालाय दुरन्तशक्तये
कदिन्द्रियाणामनवाप्यवर्त्मने ॥

(श्रीमद्भा० ८। ३। २८)

इस प्रकार गजेन्द्रद्वारा निर्विशेष तत्त्वका उपवर्णन किये जानेपर अपनेमें मूर्तिभेदका अभिमान रखनेवाले देवता जब नहीं आये, तब सर्वात्मा, निखिल देवतामय श्रीहरि आविर्भूत हुए। गजेन्द्रको उस प्रकार पीड़ित देखकर और उसके स्तोत्रको सुनकर वेदमय अपने स्वच्छन्द शीघ्रगामी गरुड़पर विराजमान होकर देवताओंसे स्तुत होते हुए चक्रको धारण किये भगवान् वहाँ शीघ्र पधारे, जहाँ वह गजेन्द्र था। उस समय गजेन्द्र सरोवरमें डूब रहा था, बड़े बली ग्राहने उसे जोरसे पकड़ रखा था, वह बड़ा ही पीड़ित था। चक्रधारी श्रीहरिको आकाशमें गरुड़पर देखकर कमलसहित कर (सूँड़) उछालकर प्रेमपारवश्यसे, बड़ी कठिनाईसे वह बोला—

'नारायणाखिलगुरो भगवन् नमस्ते॥'

(श्रीमद्भा० ८। ३। ३२)

हे अखिलगुरो! भगवान् नारायण! आपको

प्रणाम है।

उसे दु:खी देखकर श्रीहरि सहसा गरुड़से उतर पड़े और कृपापूर्वक शीघ्रतासे ग्राहसहित गजेन्द्रको सरोवरसे बाहर निकालकर देवताओंके देखते-ही-देखते चक्रसे नक्रका मुख विदारित करके भगवान्ने गजेन्द्रको मुक्त कर दिया—

तं वीक्ष्य पीडितमजः सहसावतीर्य
सग्राहमाशु सरसः कृपयोज्जहार।
ग्राहाद् विपाटितमुखादरिणा गजेन्द्रं
सम्पश्यतां हरिरमूमुचदुस्त्रियाणाम्॥

(श्रीमद्भा० ८। ३। ३३)

यह कथा व्यापक रूपसे अध्यात्मभावमें देखी जाती है। कारण (अव्यक्त) चैतन्य क्षीरसमुद्र है, त्रिगुणात्मिका माया त्रिकूटाचल है। तदाश्रित संसारारण्यमें भटकनेवाला जीवात्मा ही गजेन्द्र है। आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक अनुगुण वृत्तियाँ तथा विविध सम्बन्धी ही उसके साथी हाथी और हथिनी हैं, महामोहरूप ग्राहसे ग्रस्त जीवात्माको कोई भी सम्बन्धी बचानेमें समर्थ नहीं होते। जब जीवात्माकी अपनी शक्ति बेकार हो जाती है, वह निराधार, निराश्रय होकर डूबनेको होता है, तब उसे प्राकृत सुकृत कर्मोंके सद्विपाकसे भगवान्का स्मरण होता है, सर्वसाधनविहीन विपन्न प्राणीके मानस प्रणाममात्रसे प्रभु सन्तुष्ट हो जाते हैं, अपना सब कुछ भूलकर दौड़ पड़ते हैं।

भावुकोंका कहना है कि गजेन्द्र 'हरि'—इन दो अक्षरोंका नाम भी उच्चारण नहीं करने पाया था कि भगवान् आ गये। सुनते हैं कि सत्यभामाने प्रभुसे पूछा कि कहाँ जानेकी जल्दी है, तब भगवान् ने 'हाथी' कहा। परंतु 'हा' सत्यभामाके पास और 'थी' वहाँ ग्राहके मुखमें गजेन्द्रको उबारकर। ऐसे अशरणशरण, अकारणकरुण, करुणावरुणालय भगवान् आर्तत्राण-परायण हैं।

वृन्दावनके श्रीगोविन्ददेवजी महाराजके उपासक एक मेरे स्नेहीने कहा था कि श्रीगोविन्दजी महाराजका संकेत है कि इस समयके धार्मिक संकट और विविध अशान्तिमय उपद्रवोंको दूर करनेके लिये गजेन्द्रस्तुतिका पाठ घर-घरमें होना परमावश्यक है और भी वृद्धोंसे सुना जाता है कि इसका आश्रय लेनेसे लोग बड़ी-बड़ी विपत्तियोंसे छुटकारा पा जाते हैं।

संकल्प-बल

संकल्प, विचार या भावनाका महत्त्व संसारके सभी विद्वानोंको मान्य है। संसारके सभी बलोंसे संकल्पका बल श्रेष्ठ है। वेदादि शास्त्रोंका तो कहना है कि परमात्माके संकल्पसे ही अनन्तकोटिब्रह्माण्ड बनकर तैयार हो जाता है। वैसे तो किसी भी कार्यके मूलमें संकल्प होना आवश्यक है। स्थूल, सूक्ष्म किसी प्रकारके संकल्प, विचार हुए बिना कोई भी कार्य नहीं हो सकता।

देह, इन्द्रिय आदि किसीकी भी हलचलमें मनकी हलचल आवश्यक है। अतएव यह भी कहा जा सकता है कि संसारकी सभी गति अथवा उन्नतिका मूल संकल्प ही है, परंतु साधारण स्थानोंमें संकल्पके पश्चात् अन्यान्य सामग्रियों और प्रयत्नोंकी भी अपेक्षा हुआ करती है। जैसे कुलाल (कुम्भकार) घटनिर्माणका विचार करता है। तत्पश्चात् मृत्तिका, दण्ड, चक्र, चीवरादि सामग्रियोंका संचय करता है, फिर हस्त आदि व्यापारसे घटको बनाता है। परंतु परमात्मा किसी भी सामग्रीकी अपेक्षा न करके ही अपने संकल्पमात्रसे विश्वका उत्पादन, पालन और संहार करता है।

परमात्मा ही जगत्‌के उपादान और निमित्त कारण

वेदान्तके सिद्धान्तानुसार यह जगत् जड़ परमाणुओंके एकत्रित हो जानेमात्रसे नहीं बना, साथ ही विद्युत्कणों या प्रकृतिकी हलचलसे भी नहीं बना, अपितु अनिर्वचनीय, मायाशक्तिविशिष्ट वस्तुतः सजातीय, विजातीय, स्वगतभेदशून्य परमात्मासे ही यह संसार बना है, वे ही इसके उपादान हैं, वे ही निमित्त भी हैं।

नैयायिक, वैशेषिक, योगी आदिकोंके मतानुसार भी विश्वप्रपंच जड़का कार्य नहीं हो सकता। इसका निर्माता कोई सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् चेतन ही हो सकता है। जब संसारके कोई भी प्राचीन विलक्षण कार्य एवं आधुनिक रेल, तार, मोटर, वायुयानादि विविध कल-पुर्जे बिना किसी बुद्धिमान् चेतनके अपने-आप नहीं बन जाते; परमाणुओं, विद्युत्कणों या प्रकृतिसे इनका निर्माण बतलानेवाला अश्रद्धेय समझा जाता है, तब विलक्षण संसार और तदन्तर्गत विभिन्न यन्त्रोंके आविष्कारक वैज्ञानिकोंके मन, बुद्धि (मस्तिष्क, दिमाग) आदिकोंके बनानेवालेको जड़ कैसे कहा जाय? जब साधारण-से चित्र (ड्राइंग) भी परमाणुओंके एकत्रित हो जानेमात्रसे नहीं बनते तो विश्व कैसे बन सकता है? भेद यही है कि इन मतोंमें परमाणु, प्रकृति आदिका नियामक परमेश्वर माना जाता है; परमाणु, प्रकृति समवायिकारण या उपादान माने जाते हैं, परमात्मा निमित्तकारण माना जाता है, परंतु वेदान्त-सिद्धान्तमें परमात्मा ही उपादान और निमित्त दोनों ही तरहका कारण है। वह अपने संकल्पसे अपने-आपको ही प्रपंचरूपमें प्रकट करता है।

योगी आदि भी परमात्माके संकल्पसे सृष्टि मानते हैं, परंतु वहाँ उपादान विद्यमान है, परमेश्वरके संकल्पसे ही वे-वे उपादान उन-उन कार्योंके रूपमें परिणत होते हैं। कुम्भकारके समान परमेश्वरको हस्तादि व्यापारकी अपेक्षा नहीं होती है। विशिष्टशक्तिसम्पन्न योगियोंके भी संकल्पमात्रसे प्रकृति और प्राकृतप्रपंचमें उथल-पुथल मच जाती है। किसी वस्तुका प्रकृतिमें विलयन और किसीको प्रकृतिसे साहाय्य (आपूर) प्राप्त होता है। वाचस्पतिमिश्रने कहा है कि—

निश्श्वसितमस्य वेदा वीक्षितमेतस्य पञ्चभूतानि।
स्मितमेतस्य चराचरमस्य च सुप्तं महाप्रलयः॥

(भामती १।२)

'भगवान्‌के स्वाभाविक सहज निःश्वाससे अनन्त विद्याओंके उद्‌गम-स्थान वेदोंका प्रादुर्भाव होता है, उनके अवलोकन (निहारने)-से ही ब्रह्माण्डोंके उपादानभूत पंचमहाभूत—आकाश, वायु, तेज आदिकी उत्पत्ति होती है और भगवान्‌के मन्द हास (मुसकराहट)-से ही अनन्तकोटिब्रह्माण्ड बनकर तैयार हो जाता है। उनके सोनेसे—आँख मीच लेनेसे ही विश्वका प्रलय हो जाता है।'

यहाँ भी रूपकके द्वारा परमात्माके संकल्पसे ही साक्षात् एवं परम्परासे विश्वकी उत्पत्त्यादिका वर्णन किया गया है। यहाँ पूर्व-पूर्व कार्योंमें बुद्धि एवं प्रयत्नकी निरपेक्षता उत्तरोत्तर कार्योंमें कुछ सापेक्षता कही गयी है।

संकल्पका प्राधान्य

सारांश यह है कि भगवान् अपने संकल्पसे ही सब संसारको बनाते हैं। भगवान्‌का ही अंश जीवात्मा है और भगवान्‌की मायाका ही अंश जीवका मन है। अतः भगवान् और मायाकी शक्ति उसी तरह जीवात्मा और मनमें रहती है, जैसे महाकाशकी अवकाश-प्रदत्वशक्ति घटाकाशमें रहती है। जलकी शीतलता, मधुरता उसके अंश तरंगमें हुआ करती है; अग्निका दहन-प्रकाशन-सामर्थ्य उसके अंश विस्फुलिंग (चिनगारी)-में रहा करता है। इस दृष्टिसे भगवान्‌की सभी शक्तियाँ जीवात्मामें होती हैं। मायाकी शक्तियाँ मनमें रहती हैं। इसीलिये शास्त्रोंने कहा है कि जीवात्मा अपने संकल्पों—विचारोंसे बहुत कुछ कार्य कर सकता है। हाँ, अत्याचार, अनाचार, पापाचार,

व्यभिचार आदिकोंसे संकल्पकी शक्ति कमजोर हो जाती है। सदाचार, सद्विचार, सद्धर्म, तपस्या आदिसे संकल्पकी शक्तियाँ दृढ़ (जोरदार) हो जाती हैं।

परमेश्वरकी आराधनासे जीवात्मामें स्वाभाविक परमात्मसम्बन्धी ऐश्वर्य प्रकट होते हैं, अन्यथा छिपे रहते हैं। सिद्ध, योगीन्द्र-मुनीन्द्र अपने संकल्पसे ही घटको पट और पटको घट बना सकते हैं। लौकिक महर्षियोंका वचन अर्थानुसारी हुआ करता है, अर्थात् जैसा अर्थ होता है, उनका वैसा ही वचन होता है, परंतु सिद्ध प्राचीन महर्षियोंके वचनोंका अनुसरण तो अर्थको ही करना पड़ता है, अर्थात् वे अर्थको जैसा कहते हैं, अर्थको वैसा ही बनना पड़ता है। इसीलिये विश्वामित्रके संकल्पसे मेनका अप्सराको संकल्पानुसार बनना पड़ा, अगस्त्यके वचनसे नहुषको अजगर बनना पड़ा था।

संकल्पसे ही विश्वामित्रने बहुत-से नक्षत्रों और वस्तुओंको बनाया था। वचनके साथ भी संकल्प रहता है। अतएव वचनके प्रभावके साथ संकल्पका प्रभाव रहता है।

सुना जाता है, अमेरिका आदिमें बहुत-से मनोविज्ञानके अभ्यासी संकल्प या विचारसे ही गुलाबके फूलोंको घटाने या बढ़ानेमें सफल हो जाते हैं। एलोपैथिक, होमियोपैथिक आदि चिकित्साओंसे निराश रोगियोंको मनोविज्ञानकी महिमासे लाभान्वित करते हैं। एक मनोविज्ञानके पण्डितने जीवनसे निराश किसी लड़कीको कई दिवसतक बर्फके भीतर रखकर मनोविज्ञानके बलसे आराम पहुँचाया था। इसी तरह मनोविज्ञानद्वारा ही बहुत-से रोगोंमें आराम हो रहा है। वैसे प्रत्येकके मनमें भी संकल्पकी प्रधानता रहती है। कारण, सभी काम पहले मन या बुद्धिके साहाय्यकी अपेक्षा रखते हैं, पश्चात् किसी अन्यकी सफलतामें बुद्धि या सूझका बड़ा हाथ रहता है। अच्छी सूझसे ही व्यापारमें लाभ होता है। संग्राम जीतनेमें भी मन्त्रियों, सेनापतियोंकी उत्तम सूझ ही लाभदायक होती है। कितने स्थलोंमें नीतिनिर्धारणकी ही बुद्धिमानी या गलतीसे व्यक्ति या समाज ही नहीं, अपितु राष्ट्र-का-राष्ट्र उन्नत या अवनत हो सकता है। विचारकी गलतीसे ही कहीं-कहीं बड़े-बड़े विजयी लोग एकदम पतनके गर्तमें चले जाते हैं। विचारकी ही अच्छाईसे कितने पथभ्रष्ट व्यक्तियोंका अतर्कित कायापलट देखा जाता है। इसीलिये मानना पड़ता है कि स्थूल जगत् किसी सूक्ष्म जगत्के ही नियन्त्रणमें रहता है।

ऊपरसे देखनेमें स्थूल जगत् ही सब कुछ है, परंतु जब देखते हैं कि चींटी, चिड़िया, ऊँट, हाथी आदिकोंके छोटे-बड़े शरीर सूक्ष्म विचारपर ही उठते, चलते, फिरते, बैठते हैं; तब यह कहनेमें कोई भी संकोच नहीं रह जाता कि ब्रह्मादि-स्तम्बपर्यन्त सभी प्राणियोंकी जो भी हलचलें हैं और उन हलचलोंसे जो भी कार्य सम्पन्न होते हैं, सब सूक्ष्म विचार, मन या बुद्धिके ही कार्य हैं।

सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, वायु आदिकोंकी भी हलचलका कारण सूक्ष्म विचार ही हो सकता है। वह विचार अपनेसे भी सूक्ष्म चेतनाभास या अखण्ड बोधकी अपेक्षा रखता है। इसीलिये कहा जाता है कि अचेतनकी प्रवृत्ति तभी होती है, जब वह चेतनसे अधिष्ठित होता है। जैसे अश्व, सारथी आदिसे अधिष्ठित होनेपर ही रथ चलता है अन्यथा नहीं, वैसे ही विचार या चेतनासे अधिष्ठित होनेपर ही सम्पूर्ण जड़ जगत् चल होता है। इसी न्यायसे यह कहा जाता है कि दृश्य जगत्का नियन्त्रण अदृश्य जगत्से होता है। इसी तरह आधिदैविक जगत्से आधिभौतिक जगत्का नियन्त्रण समझना चाहिये। विशेषकर जीवोंका उत्थान-पतन बहुत कुछ विचारोंपर ही अवलम्बित है।

शास्त्र कहते हैं कि पुरुष क्रतुमय है। अतएव—

'यत्क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते यत् कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते॥' (बृहदारण्यकोपनिषद् ४।४।५)

संकल्पके अनुसार ही क्रियाकी निष्पत्ति

पुरुष जैसा संकल्प करने लगता है, वैसा ही कर्म करता है, जैसा कर्म करता है, वैसा ही बन जाता है। जिन बातोंका प्राणी बार-बार विचार करता है, धीरे-धीरे वैसी ही इच्छा हो जाती है, इच्छानुसारी कर्म और कर्मानुसारिणी गति होती है। अत: स्पष्ट है कि अच्छे कर्म करनेके लिये अच्छे विचारोंको लाना चाहिये। बुरे कर्मोंको त्यागनेके पहले बुरे विचारोंको त्यागना चाहिये। जो बुरे विचारोंका त्याग नहीं करता, वह कोटि-कोटि प्रयत्नोंसे भी बुरे कर्मोंसे छुटकारा नहीं पा सकता। कितने प्राणी दुराचार, दुर्विचारजन्य दुर्व्यसन आदिको छोड़ना चाहते हैं। मद्यपायी, वेश्यागामी व्यसनके कारण दु:खी होता है, व्यसनको छोड़ना चाहता है, उपाय भी ढूँढ़ता है, महात्माओंके पास रोता भी है, छोड़नेकी प्रतिज्ञा भी कर लेता है, परंतु जो सावधानीसे मद्यपान, वेश्यागमन आदि दुराचारोंका बराबर चिन्तन और मननका परित्याग करता है, उनका स्मरण ही नहीं होने देता है, विचार आते ही उसे विचारान्तरोंसे काट देता है, वह तो छुटकारा पा जाता है; परंतु जो बुरे विचारोंको न छोड़कर उनका रस लेता रहता है, वह कभी बुरे कर्मोंसे छुटकारा नहीं पा सकता, वह बार-बार भग्नप्रतिज्ञ होकर रोता है, विचारोंके समय असावधान रहता है। विचारसे क्या होता है? बुरा कर्म न करूँगा, उसीके त्यागकी मैंने प्रतिज्ञा की है—इस तरह अपनेको धोखा देकर विचारके रसका अनुभव करता है। वह कभी भी व्यसनसे आत्मत्राण नहीं कर सकता है। इसीलिये बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह किसी तरह बुरे विचारोंको हटाये।

असत्संकल्पोंको त्यागनेकी रीति

जिस समय बुरे विचार आने लगें, उस समय अन्यमनस्क होनेका प्रयत्न करे। भगवद्ध्यानसे, मन्त्रजपसे, श्रवणसे, सत्संगसे बुरे विचारोंकी धाराको तोड़ देना चाहिये। भले ही उपन्यास, नाटकों, समाचार-पत्रोंको पढ़ना पड़े, परंतु बुरे विचारोंकी धारा अवश्य तोड़नी चाहिये। इसी तरह अच्छे कर्मोंके लिये पहले अच्छे विचारोंको लाना चाहिये। इसीलिये अच्छे शास्त्रोंका अभ्यास, अच्छे पुरुषोंका संग करने और पवित्र वातावरणमें रहनेसे अच्छे विचार बनते हैं, बुरे विचार और बुरे कर्म छूट जाते हैं।

एकाएक मनका संकल्प-विकल्पसे रहित होना असम्भव है, अत: तदर्थ प्रयत्न व्यर्थ है। जैसे भाद्रपदमें सिन्धु, शतद्रु, गंगा आदि नदियोंका वेग रोककर उनके उद्गम-स्थानमें लौटाकर उन्हें सुखा देना असम्भव है, परंतु उनकी धाराओंका मुँह फेरकर उन्हें छिन्न-भिन्नकर सुखाना सम्भव है। इसी तरह मनके संकल्पोंको एकदम रोक देना असम्भव है, परंतु बुरे विचारोंको रोककर, सात्त्विक विचारोंकी धाराओंको चलाकर, सात्त्विक वृत्तियोंसे तामस वृत्तियोंको काटकर, शनै:-शनै: अन्तरंग सूक्ष्म सात्त्विक वृत्तियोंसे स्थूल बहिरंग सात्त्विक वृत्तियोंको भी काटकर निर्वृत्तिकता सम्पादन की जा सकती है।

वैदिक शास्त्रोंमें बालकोंके विचारोंको सँभालनेका बड़ा ध्यान रखा गया है। स्त्रियों और बालकोंके निर्मल-कोमल पवित्र अन्त:करणोंमें पहलेसे ही जो बातें अंकित हो जाती हैं, वे ही सदा काम आती हैं। चित्त या अन्त:करण यदि अद्रुत लाक्षा (लाख)-के समान कठोर होता है तो उसमें किसी भी आचरण या उपदेशका प्रभाव नहीं पड़ता और जब वह द्रुत लाक्षाके समान कोमल रहता है तो लाक्षापर मुहरके अक्षरोंके समान निर्मल-कोमल पवित्र अन्त:करणपर उत्तम आचरणों और उपदेशोंसे प्रभावित होता है। पहलेसे ही बुरे संगों और ग्रन्थोंसे बालकोंके हृदयमें कूड़ा-करकटका भरा जाना अत्यन्त हानिकारक है। इसीलिये अच्छे पुरुषोंका संग तथा सच्छास्त्रोंके अभ्यासमें ही उन्हें लगाना अच्छा है।

यादृशै: सन्निविशते यादृशांश्चैव सेवते।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग्भवति पूरुष:॥

'जैसे लोगोंका साथ होता है और जैसे लोगोंका

सेवन होता है, जैसा होनेकी उत्कट वांछा होती है, प्राणी वैसा ही हो जाता है।'

सत्-तत्त्वका प्रभाव

श्रद्धेय प्राणीके प्रति श्रद्धालुका अन्त:करण, प्राण, देह आदि झुक जाते हैं, अतएव श्रद्धेयके उपदेशों और आचरणोंका प्रभाव श्रद्धालुओंके अन्त:करणमें पड़ता है। यद्यपि सात्त्विकी श्रद्धा उत्तम व्यक्तियोंमें ही हुआ करती है तथापि तामसी, राजसी श्रद्धा कहीं भी उत्पन्न हो सकती है। बुरे लोगोंके साथसे बुरी इच्छा, बुरे कर्म बन पड़ते हैं, जिनसे प्राणीका पतन हो जाता है, परंतु अच्छे संगों, अच्छी इच्छाओं, अच्छे कर्मोंसे प्राणी सम्राट्, स्वराट्, विराट्, अनन्त, धन-धान्य-सम्पन्न इन्द्र, महेन्द्र, ब्रह्मा आदितक बन सकता है। अच्छे संग, अच्छी इच्छा और शास्त्रोक्त उत्तम साधनोंका सहारा लेकर प्राणी मनचाही वस्तुको प्राप्त कर सकता है। एक जन्म या अनेक जन्मोंमें प्राणी अवश्य ही अपने अभीष्टको प्राप्त कर सकता है, अगर बीचसे ही लौट न पड़े। अन्यान्य वस्तुओंके समान ही विचारोंका भी आदान-प्रदान किया जा सकता है।

प्राणी यदि अच्छे विचारोंका आदान चाहे तो अच्छे शास्त्रों, अच्छे वातावरण और बड़े-बड़े अच्छे ऋषि, महर्षि, अवतारोंका स्मरण रखे; उनके विचारों, व्यवहारोंको याद रखे; इससे उनके अच्छे विचारोंका आदान होता रहेगा। इन्हीं उत्तम विचारोंके आनेके लिये द्वारको अनावृत करना है। बुरे ग्रन्थों, वातावरणों और बुरे पुरुषोंको भूलकर भी कभी स्मरण न होने देना, यदि बुरे विचारोंके आनेका दरवाजा बन्द करना है। बुरे विचारोंसे घृणा करने और उनके नाशकी भावना करनेसे वे नष्ट भी हो जाते हैं। अच्छे विचारोंका आदर और उनके उपबृंहणकी भावनासे वे बढ़ भी जाते हैं। दूसरोंके शुभानुसन्धानसे विचारोंमें बल आता है। दूसरोंके अनिष्ट चिन्तनसे विचार निर्वीर्य भी हो जाते हैं। विचारतत्त्वज्ञोंका तो कहना है कि कोई भी प्राणी एकाग्रतासे संकल्प या विचारद्वारा ही, बाहरी प्रयत्नोंके बिना ही मनचाही वस्तु बना सकता है।

संकल्पसिद्धिका बाधक—अविश्वास

संकल्पकी पहली कोटि अर्थात् आरम्भ भूल जाते ही विचारित संकल्पित पदार्थ प्रत्यक्ष हो जाता है अर्थात् लगातार बिना विच्छेद हुए निरन्तर संकल्प ही संकल्पित पदार्थका रूप धारण करके प्रकट हो जाता है। प्राणी बार-बार संकल्पित पदार्थके प्रति अविश्वास करता रहता है, समझता रहता है कि यह तो संकल्पमात्र है, मनोराज्यमात्र है, संकल्पित पदार्थ है। बस, यही अविश्वास संकल्पसिद्धिमें बाधक होता है। भावना या उपासनामें भी यह अविश्वास ही प्रतिबन्धक है। विश्वासपूर्वक संकल्पित इष्टदेवकी मूर्ति उसके भूषणालंकार, भोग-रागादि कुछ दिनोंमें प्रत्यक्ष प्रकट हो जाते हैं।

त्रिपुरसुन्दरीरहस्य और योगवासिष्ठमें कुछ आख्यान ऐसे आते हैं, जिनमें कहा गया है कि किन्हीं सिद्धोंने संकल्पसे ही तीन हाथकी शिलाके भीतर ब्रह्माण्डकी रचना कर डाली थी। जब दूसरे व्यक्तियोंको शिलाके भीतर ले जाया गया, तब उन्हें अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, महातल, पाताल और भूर्भुव:, स्व:, मह:, जन:, तप:, सत्य आदि चौदह भुवन—सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, भूधर, सागर, गगन आदि सभी प्रपंच दिखायी दिये।

आश्चर्य होता है कि ठोस शिलाके भीतर कोई व्यक्ति कैसे प्रविष्ट हो सकता है! जिस ठोस शिलाके भीतर सूची, त्र्यणु आदिकोंको भी प्रवेशका अवकाश नहीं, उसके भीतर कोई व्यक्ति कैसे प्रविष्ट हो सकता है और कैसे उसमें ब्रह्माण्ड रह सकता है? परंतु विचार करनेसे मालूम पड़ता है कि सभी देश-काल आदि मनकी ही कल्पना है। जैसे स्वप्नमें सूक्ष्म नाड़ियोंके बीचमें ही महादेश और हस्ती, पर्वतादि बड़ी-बड़ी चीजें नजर आती हैं, वैसे ही स्वल्पदेश—

तीन हाथकी शिलामें ब्रह्माण्डका होना सम्भव है। जैसे जाग्रत्के दस-पाँच क्षणमें ही वर्ष, दस वर्षका स्वप्न अनुभूत होता है, वैसे ही स्वप्नकालमें महाकालका भी अनुभव होता है। राजा लवणको एक क्षणके नेत्रनिमीलन (झपकी)-में सौ वर्षका स्वप्न हुआ। अरण्यमें क्षुधा-पिपासासे व्याकुल होकर किरातिनीके साथ रोटीके लिये विवाह किया और उसके संग रहकर पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदिकोंको देखा। आँख खुलते ही पूछा तो वसिष्ठने उन सब घटनाओंको सच्चा बतलाया। उसने स्वयं भी जाकर सभी बातोंका प्रत्यक्ष अनुभव किया।

सुखमें वर्ष क्षणभर लगते हैं, दुःखमें क्षण भी वर्ष-से लगते हैं। गोपांगनाओंको गोविन्द-दर्शनमें युग भी क्षणसे प्रतीत होते थे, गोविन्दके विप्रयोग (वियोग)-में क्षण भी सहस्रों युग-सा प्रतीत होता था—

गोपीनां परमानन्द आसीद् गोविन्ददर्शने।
क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत्॥

(श्रीमद्भा० १०।१९।१६)

सारांश यह है कि मन ही संसार है। अत: जैसे वटबीजके भीतर अंकुरनाल, स्कन्ध, शाखा, उपशाखा, पत्र-पल्लव, फलात्मक सम्पूर्ण वृक्ष रहता है और उसमें अपरिगणित फल होते हैं, इसी तरह एक वटबीजके भीतर अनन्त वटवृक्ष रहते हैं, यह कहना भी अत्युक्ति नहीं है। अपितु—

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।'

(गीता २।१६)

इस उक्तिके अनुसार ठीक ही है। इसी तरह मनके भीतर संसार है। गृहछिद्रसे आनेवाली सूर्यकिरणोंमें दिखायी देनेवाले सूक्ष्मरजोंका आठवाँ या छठा हिस्सा परमाणु है, उसका पाँचवाँ हिस्सा स्पर्शतन्मात्रा, उसके स्वल्पांशमें प्राण और प्राणके सहारे रहनेवाले मनमें ब्रह्माण्ड रहता है। ब्रह्माण्डमें अनन्त मन रहते हैं, उनमें भी ब्रह्माण्ड रहता है। इस तरह एक परमाणुके भीतर भी अनन्त ब्रह्माण्डका होना सम्भव है।

इस दृष्टिसे देखें तो भगवान् श्रीकृष्णके संकल्पसे परिमित वृन्दावन-धाममें अनन्तकोटि व्रजांगनाओंका विहारस्थान होना और एक प्रहर चतुष्टयवती रात्रिमें अनन्तकोटि ब्राह्मी रात्रियोंका प्रवेश करके विहार करना आदि सब सम्भव ही प्रतीत होता है। संकल्पके बलसे स्वल्प देशमें महादेश, स्वल्प कालमें महाकालका प्रवेश सम्भव है। किंचित् विचार करें तो मालूम होगा कि सूक्ष्मसंकल्प या विचारसे ही स्थूलजगत् बन जाता है अर्थात् मनोमय जगत् ही स्थूल प्रपंच होकर भासित होने लगता है। जैसे सूर्यकी किरणोंमें रहनेवाला अति सूक्ष्म जल ही कठोर बर्फ बन जाता है, वैसे अति सूक्ष्म संकल्प ही कठोर जगत् बन जाता है। सूर्यकिरणोंमें जल रहता है, परंतु वह अति सूक्ष्म होता है, अतएव वह दर्शन, गमन आदिमें बाधक नहीं होता। किरणोंको पार करनेमें नेत्रों या अन्यान्य अंगोंको कुछ भी कठिनाई नहीं मालूम पड़ती, परंतु आतपकी तेजीसे जब उन्हीं किरणोंका सूक्ष्म जल बादल बन जाता है, तब वही दर्शनमें प्रतिबन्धक हो जाता है।

नेत्रके बीचमें बादल होनेसे सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पर्वत आदि कोई चीज नहीं दिखायी देती, वही जल किरणोंमें रहकर नेत्रशक्तिका प्रतिबन्धक नहीं होता। बादलरूपमें व्यक्त होनेपर नेत्रशक्तिकी रुकावट हो जाती है, परंतु चलने-फिरनेमें उससे कुछ भी बाधा नहीं पड़ती। बादलमें कोई भी खूब चल-फिर, दौड़ सकता है। जब वही चीज जल बन जाती है, तब चलने-फिरनेमें भी कुछ-कुछ रुकावट पड़ने लगती है, परंतु जब वही बर्फ बन जाती है, तब तो उसमें कठोरता इतनी आ जाती है कि बर्फके भीतर फँसा हुआ प्राणी टस-से-मस भी नहीं हो सकता। वही बर्फ बहुत पुरानी होकर जब किसी रत्नके रूपमें परिणत हो जाती है, तब तो उसका टूटना ही बड़ा कठिन हो जाता है। इस तरह जैसे सूक्ष्म चीज ही

क्रमेण स्थूल और कठोर हो जाती है, उसी तरह सूक्ष्म मनोमय जगत् ही अभिनिवेशके कारण स्थूल हो जाता है अर्थात् भावना ही अभिनिवेशकी अधिकतासे गाढ़ होते-होते स्थूल प्रपंच बन जाती है। उसके स्थूल या सूक्ष्म बनानेकी पद्धतियाँ जिन्हें मालूम हैं, वे लोग सहजमें ही स्थूलको सूक्ष्म और सूक्ष्मको स्थूल बना लेते हैं। जैसे आतप या अग्निसे बर्फ जलभाप आदि बनकर फिर सूक्ष्म हो जाती है, वैसे ही संकल्पकी ही महिमासे स्थूल जगत् सूक्ष्म और सूक्ष्म जगत् स्थूल बन जाता है।

तात्पर्य यह है कि प्राणीके पास संकल्प नामकी एक ऐसी चीज है कि उसे कामधेनु, चिन्तामणि या कल्पतरु कुछ भी कह सकते हैं। बुरे कर्मोंको छोड़कर अच्छे कर्मों, आराधनाओं, तपस्याओंमें लगे रहनेपर संकल्प या विचारकी शक्ति मजबूत हो जाती है। पौर्वापर्यानुसन्धानशून्य दृढ़ संकल्पसे प्राणी सब कुछ प्राप्त कर सकता है। जैसे वायुके योगसे जल ही तरंग बन जाता है, उसी तरह मननी शक्तिके योगसे अखण्डबोधस्वरूप परमात्मा ही विचार या संकल्प बन जाता है।

स आत्मा सर्वगो राम नित्योदितवपुर्महान्।
स मनाङ्मननीं शक्तिं धत्ते तन्मन उच्यते॥

संकल्पका स्वरूप

निर्विकल्प बोध ही जब सविकल्प हो जाता है, तब वही संकल्प या विचार कहलाने लगता है। विचारमेंसे विकल्पके निकलते ही वह निर्विकल्प बोधरूप परमात्मा ही बन जाता है। इस तरह सविकल्प बोध विचार या संकल्पके भीतर सम्पूर्ण विश्व रहता है और वह विचार अखण्ड बोधसे कवलित रहता है। जैसे दर्पणके भीतर प्रतिबिम्ब दर्पणसे भिन्न नहीं होता है, वैसे ही संकल्प और संकल्पित जगत् अखण्ड बोधरूप दर्पणके भीतर ही रहता है, उससे भिन्न होकर वह कभी भी नहीं रहता।

समस्त प्रपंचको संकल्पमें लीन करने और संकल्पको अखण्ड बोधमें लीन कर लेनेपर शुद्धतत्त्वका साक्षात्कार अपने-आप हो जाता है। महावाक्यसे अनिर्वचनीय मायामात्रके हटानेकी आवश्यकता रहती है। शुद्ध संकल्पसे दुर्लभ-से-दुर्लभ चीज मिल सकती है। बुरे संकल्पोंसे उनकी शक्ति घटती है, अच्छे संकल्पोंसे उनकी महिमा बढ़ती है।

शुभसंकल्पकी ही भावना करें

किसीका अनिष्ट चिन्तन करनेसे इतनी उसकी हानि नहीं होती, जितनी चिन्तन करनेवालेकी हानि होती है। किसी भी कर्ममें अगर समष्टिहितकी भावना रहती है तो वह महत्त्वका हो जाता है। समष्टि-अहितकी भावनासे बड़ा-से-बड़ा यज्ञ, तप, दान आदि भी निर्वीर्य हो जाता है। इसीलिये समष्टिहितकी दृष्टिसे शुभ संकल्पमें प्रवृत्त हो जाना चाहिये। 'धर्मकी जय हो, अधर्मका नाश हो, प्राणियोंमें सद्भावना हो, विश्वका कल्याण हो'—इन संकल्पोंका विस्तार होना चाहिये। विशिष्टशक्तिसम्पन्न महात्मा या ऋषि-महर्षि तो अकेले ही अपने दृढ़ संकल्पसे विश्वका कल्याण कर सकता है, दुनियाकी भावनामें परिवर्तन कर सकता है, परंतु आज वैसे लोगोंकी संख्या कम उपलब्ध होती है। अत: सामूहिक संकल्प काम देगा, यदि चालीस-पचास लाख भी आस्तिक धर्मके जयकी भावना करें तो वैसा होनेमें विलम्ब नहीं हो सकता।

युद्धकालमें मित्रराष्ट्र भी रोमन लिपिके 'वी' (V) अक्षरको अपने सभी स्थानोंमें लिखवाते थे। सभी कर्मचारी अपने मकानों, मोटरोंपर 'वी' लिख रहे थे, इसका मतलब यही कि यदि अधिक लोग हमारी विजय (विक्ट्री)-की भावना करेंगे तो हमारी विजय होगी। आधुनिकोंने भी भावनाकी महिमाको मान लिया है। हमारे सनातन वैदिक धर्ममें तो संकल्पकी इतनी महिमा है कि उसके बिना कोई कर्म ही नहीं होता। हर एक कर्ममें, फिर चाहे वह सकाम हो या निष्काम, संकल्प परमावश्यक है। विष्णुस्मरण, देश-काल-

नाम-गोत्रकीर्तन करके संकल्प किया जाता है। वही पाठ-जप आदि जिस संकल्पसे किया जाता है, वैसा उसका फल होता है। भले ही रामायण, सप्तशती आदिमें कुछ भी वर्णन हो; परंतु जिस संकल्पसे उनका पाठ, जप, सम्पुट आदि होगा, वही उनका फल होगा। इसलिये एक संकल्पसे ही अधिक अनुष्ठान होना आवश्यक है। जहाँतक हो संकल्पके शब्द भी एकहीसे हों और वे संस्कृतके हों, प्रभावशाली हों। धर्मरक्षा एवं विश्वकल्याणके निमित्त जहाँतक हो, सभी विश्वकल्याणकारियोंको ऐसे शुभ-संकल्पसे अनुष्ठानादि करना चाहिये। यद्यपि संकल्प मानस है तथापि शब्दके साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। पवित्र शब्दों—आर्ष शब्दोंसे संकल्पकी शक्ति बढ़ जाती है।

योगियोंका संकल्प-बल

ईश्वर और योगीका संकल्प विचित्र सामर्थ्यसम्पन्न होता है। विभिन्न योगियोंने अपने संकल्पसे विश्वका निर्माण कर लिया है। परमेश्वरका ज्ञान या संकल्प ही उनका (परमेश्वरका) तप समझा जाता है। उनके ज्ञानरूप तपस्यासे ही विश्व बन जाता है। उसी तरह वसिष्ठ आदि महर्षियोंने भी संकल्परूप तपस्यासे विश्वनिर्माणका अनुभव किया था।

एक बार वसिष्ठजी निर्जीव आकाशमें मनोमय कुटीरका निर्माणकर निर्विकल्प समाधिमें स्थित हुए। बहुत कालके अनन्तर जब उनका समाधिसे उत्थान हुआ, तब उन्होंने एक युवतीका वीणानिनादसमन्वित मधुर गीत सुना। उन्हें आश्चर्य हुआ कि अत्यन्त निर्जीव प्रदेशमें हम समाधिस्थ हुए, यहाँ युवतीका गीत कैसे सुनायी दे रहा है! जब उन्होंने उधर दृष्टि डाली तो कुछ भी दिखायी न दिया। जब उन्होंने अन्तर्मुख होकर सूक्ष्मदृष्टिसे देखा तो मालूम हुआ कि वह किसी दूसरे ब्रह्माण्डके आवरणमें स्थित होकर गायन कर रही है। जब वसिष्ठजीने उससे वार्तालाप करना चाहा, तब उसने बड़े ही मधुर शब्दोंमें अपनी वेदना सुनायी। वह एक ब्रह्माण्डके विधाता ब्रह्माकी तरुणी वासना थी। ब्रह्मा तो वृद्ध हो गये, परंतु वह वासना तरुणी हो रही थी। ब्रह्मा विरक्त होकर ब्रह्माण्डका उपसंहार करके ब्रह्मलीन होना चाहते थे। उस वासनाकी ओर उपेक्षा-दृष्टिसे देखते थे। यह उसे अच्छा नहीं लगता था। वह चाहती थी कि वसिष्ठजी चलकर ब्रह्माको समझाकर उन्हें उसके अनुकूल कर दें। कुतूहलवशात् वसिष्ठने उसके साथ जाना पसन्द किया और योगबलसे एक शिलाके भीतर स्थित ब्रह्माण्डमें दोनोंने ही प्रवेश किया। वह वासना सब लोकोंका लंघन करती-करती ब्रह्माके पास पहुँची और ब्रह्माजीको समाधिसे उठाया। ब्रह्माने वसिष्ठको देखकर उनका आतिथ्य किया। पुनश्च वसिष्ठके पूछनेपर उन्होंने सम्पूर्ण वृत्तान्त बताया और कहा कि यह मेरी ब्रह्मा बननेकी वासना थी, मेरी विरक्ति इसे असह्य है, परंतु अब मैंने तत्त्वदृष्टिसे इसे और उसके परिणाम जगत्‌को जान लिया है, अतः इस निस्सार संसारका उपसंहार करना चाहता हूँ। उस समय वसिष्ठने सम्पूर्ण उपसंहारकी लीला देखी। यद्यपि कल्पना और उसके उपसंहारमें कुछ क्रम और कार्यकारणभाव प्रतीत होता है, परंतु वस्तुतः केवल दृढ़ अभिनिवेशपूर्ण वासनासे अतिरिक्त और कहीं भी कुछ भी नहीं।

मनसे पापकर्मोंका परित्याग और अच्छे कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये

संकल्पकी विचित्रतासे ही जगत्‌की विचित्रता होती है। संकल्प ही बाह्य प्रपंचके रूपमें प्रकट होता है। जैसे काष्ठके भीतर विविध पुत्रिका विद्यमान रहती हैं, वही कारक व्यापारसे प्रकट होती है, वैसे ही मनके संकल्पमें ही लीन सम्पूर्ण विश्व उचित कारणकलापोंसे प्रकट हो जाता है। जैसे मिट्टी या सुवर्णके होनेपर ही घट-शरावादि और कटक-मुकुटकुण्डलादि हो सकते हैं, अन्यथा नहीं; उसी तरह संकल्पके रहनेपर ही विश्वकी उपलब्धि होती है, अन्यथा नहीं। जब मनकी हलचल है, तभी द्वैत है। मनकी हलचल न होनेपर विश्वका पता ही नहीं

लगता। संकल्पकी अनेकरसतासे ही विश्वकी अनेकरसता भी अनुभूत होती है। इसीलिये यद्यपि कहीं विश्वको अव्यय और सनातन भी कहा गया है।

'एषोऽश्वत्थः सनातनः।' (कठोपनिषद् २।३।१)

'अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।' (गीता १५।१)

तथापि विश्वकी क्षणभंगुरता अबाधित ही रहती है। कूटस्थ नित्य केवल एक आत्मा ही है। परिणामी पदार्थ प्रवाहरूपसे ही नित्य है। पूर्वरूपपरित्यागपूर्वक रूपान्तरापत्ति ही परिणाम है। अतः परिणामी पदार्थ कूटस्थरूपसे नित्य कदापि नहीं हो सकते। स्थूल जगत् कभी-कभी हिमालयके स्थानमें समुद्र, समुद्रके स्थानमें हिमालय हो जाता है। मरुस्थानमें गंगा और गंगाके स्थानमें मारवाड़ दीखने लगता है। संकल्प या भावनाकी शुद्धतासे ही प्राणियोंकी शुद्धि और भावनाकी ही अपवित्रतासे अपवित्रता होती है। अतः विवेकियोंने मनःकृत कर्मको ही कृत माना है—

मनसा कृतमित्येव कृतमाहुर्मनीषिणः।
तेनैवालिङ्ग्यते कान्ता तेनैव दुहितापि च॥

मनसे किये हुए कर्मको मनीषी लोग कृत समझते हैं। उसी अंगसे कान्ताका आलिंगन किया जाता है, उसीसे दुहिताका भी आलिंगन किया जाता है। भेद है तो केवल भावनाका ही भेद है। यद्यपि कहा जाता है कि मानससे ही कुशल कर्मोंकी सफलता होती है, अकुशल निषिद्ध कर्मोंके मानस-अनुष्ठान अकिंचित्कर रहते हैं।

कलि कर एक पुनीत प्रतापा। मानस पुन्य होहिं नहिं पापा॥

(रा०च०मा० ७।१०३।८)

कलियुगका यह पुनीत प्रताप है कि इसमें मानस पुण्यकर्मोंका फल होता है, पापकर्मोंका नहीं।

परंतु इन वचनोंका आशय और है—यदि मनसे पापकर्म होते रहेंगे अर्थात् मानसकर्मका अभ्यास हो जायगा, तब देहेन्द्रियादिसे भी पापकर्म अवश्य ही हो जायँगे। अतः मनसे सर्वदा पापकर्मोंका परित्याग और अच्छे कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये, इससे बुरे कर्म होनेका अवकाश न रहेगा। शुद्ध कर्म ही शरीरसे भी होने लगेगा। मानस पुण्य होता है, यह कहनेका प्रयोजन यही है कि प्राणीके मनसे पुण्यकर्म किया जाय, जिससे देहेन्द्रियादिसे भी पुण्यकर्म होने लग जायँ। मानस-पाप नहीं होता—यह कहनेका भी यह प्रयोजन है, अगर असावधानीसे कुछ मानस पाप हो जायँ तो भी देहेन्द्रियादिसे उन कर्मोंको न होने दे। ऐसा न समझ ले कि मनसे कर्म होनेपर पाप हो ही गया, फिर अब शरीरसे भी क्यों न कर लिया जाय। किंतु यह समझना उचित है कि पुण्य मानस भी होता है। अतः उसका संकल्प चलाये और पाप मानस कर्मसे नहीं होता, अतः यदि कथंचित् असावधानीसे मनद्वारा बुरा कर्म हो गया तो भी देहादिसे बुरे कर्म न होने देकर बड़ी सावधानीसे मनद्वारा भी बुरे कर्मोंको न होने दे।

यदि मानस कर्म करता रहेगा तो अभ्यास बढ़ जानेपर न चाहते हुए भी बुरे कर्मोंको करना ही पड़ेगा। जैसे गमनजन्य वेगके बढ़ जानेपर गमन क्रियामें स्वतन्त्र गन्ताकी भी स्वतन्त्रता तिरोहित हो जाती है, उसी तरह मननजन्य वेगके बढ़ जानेपर मनन क्रियामें स्वतन्त्र मन्ताकी भी मननमें स्वाधीनता छिप जाती है।

बुरे कर्मोंके संकल्पोंको रोकना परमावश्यक

इतना ही नहीं, किंतु पराधीनताका भी स्पष्ट अनुभव होने लगता है। इसी तरह बुरे कर्मोंके संकल्पोंको धाराबद्ध हो जानेपर उनका रोकना अपने वशमें नहीं रहता। इसलिये अच्छे कर्मोंके संकल्पोंको चलाना और बुरे कर्मोंके संकल्पोंको रोकना परमावश्यक है। सारांश यह है कि संकल्प ही विश्वका मूल है। उसीपर उन्नति, अवनति दोनों निर्भर हैं। इसीलिये शास्त्रोंने बार-बार उत्तम विचार, दृढ़ संकल्पकी महत्ता गायी है। बन्ध-मोक्षमें भी भावनाकी ही प्रधानता दी गयी है। अपनेको कर्ता, भोक्ता, सुखी-दुःखी, बद्ध माननेवाला प्राणी बद्ध रहता है। अपनेको

नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त माननेवाला प्राणी मुक्त हो जाता है। मैं कुछ भी नहीं कर सकता, अत्यन्त दीन-हीन प्राणी सर्वदा पुरुषार्थलाभ नहीं कर सकता। भगवदाश्रित होकर भगवद्दत्त साधनोंका आलम्बन करके सब कुछ कर सकता हूँ—ऐसा निश्चयवान् प्राणी पुरुषार्थलाभ कर सकता है। इसीलिये श्रुति प्रोत्साहन देती है—

उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूतिकर्मसु।
भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा निश्चयमात्मनः॥

अगर अनुष्ठान न भी हो सके, तब भी तत्संकल्प परम लाभदायक होते हैं, अतः 'धर्मकी जय हो, अधर्मका नाश हो, प्राणियोंमें सद्भावना हो, विश्वका कल्याण हो,' ऐसे संकल्पोंका प्रवाह चलाना देश, समाज, विश्व एवं अपने लौकिक, पारलौकिक सर्वप्रकारके कल्याणका परम कारण है। सिद्ध पुरुषोंका एक ही संकल्प पर्याप्त होता है, परंतु सर्वसाधारणोंके अकेले संकल्पमें ऐसा सामर्थ्य नहीं होता। अतः सामूहिक संकल्प आवश्यक है। एकको शक्ति अकिंचित्कर होनेसे ही, कलिमें संघशक्तिका महत्त्व वर्णित है।

'संघे शक्तिः कलौ युगे' विश्व-कल्याण और धर्मकी जयके लिये अधिक संख्यामें द्रव्यदान करनेसे भी संकल्प बनना बड़ी चीज है। तीन सौ साठ दिन—एक-एक मिनट भी धर्मजयका संकल्प बहुत लाभदायक हो सकता है। द्रव्यदान कोई कर सकता है, परंतु संकल्प सभी चला सकते हैं। किसी विषयमें कायिक-वाचिक—किसी भी प्रयत्नके करनेपर उस विषयमें प्रेम हो जाता है। उसकी सुरक्षामें प्रसन्नता, बिगड़नेमें दुःख होता है। विशेषतः मानस परिश्रम कर लेनेपर तो उसमें और अधिक अनुराग हो जाता है। किसी कार्यमें अनुराग हो जाना ही सबसे बड़ा कार्य है। धर्मके प्रति ममता होती है। फिर यह भी ध्यान आता है कि जब हम धर्मकी उन्नति चाहते हैं, तब उसका अनुष्ठान भी करना चाहिये। अधर्मकी निवृत्ति चाहते हैं, तब उससे बचना भी चाहिये। विचारके उपरान्त वह स्वयं और अपने इष्ट मित्रोंको अधर्मसे निवृत्त करके धर्ममें प्रवृत्त करेगा। बस, ऐसी ही अधिक लोगोंकी प्रवृत्ति हो जानेसे धर्मकी रक्षा होती है।

सत्कर्म और उत्तम मन्त्रोंके जपसे संकल्पका बल दुगुना हो जाता है

संकल्पके साथ-साथ यदि मन्त्रका भी बल होता है तो सुवर्णमें सुगन्ध हो जाती है। संकल्प बुरे कर्मोंसे कमजोर हो जाता है। अच्छे कर्मोंसे भावना या संकल्प मजबूत होते हैं। तपस्या, सत्कर्म और उत्तम मन्त्रोंके जपसे जुड़कर संकल्पका बल दुगुना हो जाता है।

मनु लिखते हैं—ब्राह्मण केवल जपसे ही सिद्ध हो सकता है। और कुछ करे या न करे।

जप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥

(मनुस्मृति २। ८७)

भगवान् भी गीतामें जपयज्ञको सब यज्ञोंमें श्रेष्ठ बतलाते हैं—

'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि।' (गीता १०। २५)

मन्त्रोंकी महिमा सभी शास्त्रोंने गायी है, अन्यान्य सम्प्रदायके लोग भी मन्त्रकी महिमा मानते हैं। ईसाई, पारसी, मुसलमान, यहूदी, चीनी, जापानी, बौद्ध, जैन आदि भी मन्त्रोंकी महिमा और उनके जपसे शान्ति, चमत्कार, पारलौकिक लाभ मानते हैं। महात्मा तुलसीदासजी लिखते हैं—

मंत्र परम लघु जासु बस बिधि हरि हर सुर सर्ब।
महामत्त गजराज कहुँ बस कर अंकुस खर्ब॥

(रा०च०मा० १। २५६)

छोटा-सा भी अंकुश महामत्त गजराजको वशमें रखता है। परम लघु मन्त्र विधि-हरि-हरको वश कर लेता है। जैसे संसारके विविध तृणोंमें विचित्र शक्तियाँ होती हैं, कोई तृण किसी रोगको दूर कर सकता है, कोई किसी रोगको।

एक-एक तृणोंमें कैसी-कैसी शक्तियाँ हैं, इसका पता लगाना सिवा योगियोंके औरोंको कठिन है। पुनश्च किन-किन तृणोंके मिलनेसे कितनी और किन-किन शक्तियोंका विकास होगा, किन-किन तृणोंके

मिलनेसे किनका विघटन होगा, यह जानना भी कठिन ही नहीं, अर्वाग्दर्शी लोगोंके लिये यह असम्भव ही है। ऐसे स्थलोंमें सर्वज्ञ वैदिक ऋषियोंके ग्रन्थोंसे ही उन-उन मूलों, औषधोंका गुण, महत्त्व आदि जाना जा सकता है। उसी तरह वर्णों (अक्षरों)-की भी बात है। वर्णोंसे मेल-जोलके भेदमें अर्थोंमें भेद होता है। किन्हीं वर्णोंके संश्लेष-विश्लेषसे किन्हीं शक्तियोंका ह्रास और किन्हींका विकास होता है। पचास वर्णोंके ही संश्लेष-विश्लेषसे दुनियाकी अपरिगणित ग्रन्थराशि तैयार हुई है। वर्ण वही हों, परंतु उनके संश्लेषवैचित्र्यसे अर्थमें भेद हो जाता है। राजा—जारा, नदी—दीन इत्यादि स्थलोंमें वर्णोंमें भेद न रहनेपर भी संश्लेषमें भेद होनेसे अर्थमें भेद हो जाता है।

संश्लेष-विश्लेषके कारण ही उन्हीं वर्णोंसे भिन्न-भिन्न भाषाएँ बनीं। वर्णोंके जोड़-मेलके वैलक्षण्यसे ही भाषण और ग्रन्थोंमें वैलक्षण्य होता है। एक छोटी-सी पुस्तक बड़े मूल्यमें मिलती है, कोई बड़ी-सी पुस्तक भी साधारण मूल्यमें प्राप्त होती है। किसी भाषणका साधारण ही मूल्य होता है, किसी शास्त्ररहस्यज्ञ विद्वान् या वकील—बैरिस्टरके भाषणका मूल्य चमत्कारमूलक ही है।

शब्दोंका प्रभाव स्पष्ट ही है। किन्हीं वाग्विन्यासोंसे मित्र भी शत्रु बन जाते हैं, किन्हींसे शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। तात्पर्य यह कि वर्णोंके संश्लेष-विश्लेषकी विचित्रतासे शब्दोंमें विचित्रता और उनसे प्रभावोंमें भी वैलक्षण्य हुआ करता है। उनमें भी कुछ शब्द तो अर्थबोध कराकर उसके द्वारा विचित्र प्रभाव पैदा करते हैं, परंतु कोई अर्थबोधके बिना ही श्रवणमात्रसे आनन्दित करते हैं, उसी अर्थको एक शुष्क व्यक्ति '**शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे**' कहकर बोलता है, उसीको एक सरस व्यक्ति '**नीरसतरुरिह विलसति पुरतः**' कहकर बोलता है।

स्वरविशेष आदिकी महिमासे भी शब्दों और भावोंमें रोचकता आ जाती है। उसके द्वारा प्रभाव भी अद्भुत पड़ता है। विराम (टोन या तर्ज, मुखाकृति, मुद्रादि)-के भेदसे भी अर्थके भाव-प्रभावमें भेद पड़ा करता है, परंतु कोई-कोई शब्द अर्थबोध बिना, स्वरसम्पत्ति आदि बिना, रोचकता बिना अपना प्रभाव जापक या श्रावकपर पैदा करते हैं। इसी कोटिमें मन्त्र आदि आते हैं। कितने शाबरी मन्त्र विभिन्न प्राकृत भाषाओंमें हैं कि उनका अर्थ आदि कुछ भी नहीं प्रतीत होता, परंतु उनके प्रयोगका फल विलक्षण होता है।

गुग्गा गुग्गा तेरी थाली। जा बैठी पिप्पलकी डाली॥

—इत्यादि सर्पके मन्त्र हैं। उनके अर्थोंका पता नहीं लगता। फिर भी फल होता ही है।

गोस्वामी तुलसीदासजी लिखते हैं—

कलि बिलोकि जग हित हर गिरिजा। साबर मंत्र जाल जिन्ह सिरिजा॥
अनमिल आखर अरथ न जापू। प्रगट प्रभाउ महेस प्रतापू॥

(रा०च०मा० १।१५।५-६)

शाबरी मन्त्रोंके अक्षर अनमिल, उनके अर्थ और पुरश्चरणका सम्बन्ध नहीं, फिर भी फल होता ही है। यही क्यों, गायत्री मन्त्रका हिन्दी, उर्दू, इंग्लिश आदि भाषाओंमें अनुवाद करके जप किया जाय तो वह चमत्कार नहीं होता, परंतु यदि अर्थ न जानकर भी पवित्र होकर, पवित्र स्थानमें नियमपूर्वक जप किया जाय तो शान्ति आदि फलोपलब्धि प्रत्यक्ष होती है।

मन्त्रजपके अधिकारी-अनधिकारी

कोई मन्त्र तो देश, काल, आचार, विचार, व्यक्तिविशेष आदिकी अपेक्षा नहीं रखते हैं। जैसे भगवान्‌के श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीदुर्गा, श्रीशिव आदि नाम। इनमें किसी भी विशिष्ट नियमोंकी अपेक्षा नहीं होती। भाव-कुभाव, अनख-आलस जिस किसी तरह भी जप करनेसे लाभ होता है। इन्हींके लिये कहा जाता है कि भगवान्‌के भजन या दुष्ट भावसे भी नामोच्चारणसे पाप क्षय होता है, जैसे अनिच्छासे भी संस्पृष्ट होनेसे अग्नि जलाती ही है—

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।
अनिच्छयाऽपि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः॥

× × ×

तुलसी अपने राम को रीझ भजै की खीझ।
वपे बीज द्रुति जगमि हैं उलटे पड़े कि सीध॥

परंतु वैदिक मन्त्रोंमें, प्रणवमें, गायत्रीमें देश, काल, जाति, नियम आदि भी अपेक्षित होते हैं। जैसे विभिन्न तृणों-वीरुधोंके विशिष्ट संश्लेष-विश्लेषोंसे विभिन्न शक्तिसम्पन्न औषधियाँ तैयार होती हैं। उनमें भी किस यन्त्रमें किस तरहकी औषधियाँ बन सकती हैं, किस यन्त्रमें किस तरहकी, इस विषयके विशिष्ट नियम हैं।

सब यन्त्रोंमें सब औषधियाँ नहीं बन सकतीं। न सब पात्रोंमें रखी ही जा सकती हैं। जैसे भिन्न-भिन्न यन्त्रोंसे भिन्न-भिन्न कार्य सम्पन्न हो सकते हैं, वैसे ही भिन्न-भिन्न कर्म और भिन्न-भिन्न मन्त्रोंके भिन्न-भिन्न अधिकारी हैं। अतएव जिन प्राणियों—मनुष्योंका मन्त्रोंद्वारा निषेकादिश्मशानान्त संस्कार कहा गया है, वे ही शास्त्रोंके पठनके अधिकारी हैं।

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः।
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिञ्ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित्॥

(मनुस्मृति २। १६)

उपनयनादि संस्कारसम्पन्न प्राणी ही श्रुति, स्मृति आदिके अध्ययनका अधिकारी होता है।

एवं द्विजातिमापन्नो विमुक्तो वान्यदोषतः।
श्रुतिस्मृतिपुराणानां भवेदध्ययनक्षमः॥

नृसिंहतापनीयोपनिषदादि ग्रन्थोंमें यह भी स्पष्ट है कि स्त्री और शूद्र सावित्री, प्रणव, यजुः आदिका उच्चारण न करें। उनको उपदेश करनेवाला और वे—दोनों ही ऐसा करनेसे अधोगतिको प्राप्त होते हैं।

पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा दोनोंमें ही इसपर विचार किया गया है कि शूद्र आदिकोंको उपनयन-संस्कारका विधान नहीं है, अतः वे वेदाध्ययनादिके अधिकारी नहीं हैं। इन बातोंसे कुछ लोग जातिद्वेषकी कल्पना करते हैं, परंतु वस्तुस्थितिकी दृष्टिसे ही शास्त्रोंने ऐसा नियम बनाया है। माँ बच्चेके हाथसे इक्षुदण्ड छीन लेती है, परंतु शर्करासिता बड़े प्रेमसे बच्चेको प्रदान करती है। इस विषयमें द्वेषकी कल्पना व्यर्थ है, माँ केवल हितबुद्धिसे ही ऐसा करती है। इसी तरह शास्त्रोंने शूद्रोंको वेदादि शास्त्रोंका सार इतिहास-पुराणादि श्रवणद्वारा ज्ञात कराकर वेदादिके अध्ययनका निषेध किया है। जैसे हर एक यन्त्रसे हर एक चीज नहीं बनती, वैसे ही हर एक शरीरसे हर एक मन्त्रका उच्चारण ठीक नहीं। शास्त्रोंके द्वारा ही इसका निर्णय होता है।

ब्राह्मणका मदिरा-बिन्दुपान और शूद्रका वेदाक्षर-विचार उन दोनोंके लिये हानिकारक होता है। त्रैवर्णिकोंके लिये प्रणवयुक्त मन्त्र और शूद्र, स्त्रियोंके लिये प्रणवरहित मन्त्रका ही जपविधान है। द्वादशाक्षर मन्त्रके विषयमें कहा गया है कि यह मन्त्र सर्वसिद्धि-प्रदायक है। स्त्री-शूद्रोंके लिये वितार अर्थात् प्रणवरहित और द्विजातियोंके लिये सतार मन्त्रका जप ठीक है—

द्वादशार्णो महामन्त्रो भुक्तिमुक्तिप्रदायकः।
स्त्रीशूद्राणां वितारोऽयं सतारस्तु द्विजन्मनाम्॥

(बृहन्नारदीयपु०, पू० ७०। ७३)

अभिप्राय यह है कि **'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'**—द्वादशाक्षर मन्त्र विधिवत् यज्ञोपवीत-सम्पन्न व्यक्तियोंके लिये है, अन्योंके लिये 'ॐ' के स्थानपर तान्त्रिक प्रणव 'ह्रीं' या 'ऐं' आदिके सहित जपका विधान है।

ब्राह्मण अध्ययन-अध्यापन दोनोंका अधिकारी है। क्षत्रिय-वैश्य वेदादि शास्त्रोंके अध्ययनके अधिकारी हैं, अध्यापनके नहीं। शूद्र, स्त्री आदि इतिहास-पुराणादिका श्रवण करके उपासना, ज्ञान और अपने अधिकारानुसार कर्मोंका ज्ञान प्राप्त करके प्रवृत्त हों तो उसीसे कल्याण होगा।

इस तरह वेदादि शास्त्रों, प्रणवादि मन्त्रोंमें जातिविशेषकी अपेक्षा होती है, संस्कारोंकी अपेक्षा होती है, श्मशानादि एवं अन्यान्य अपवित्र स्थानों, सूतक-पातकादिवालोंको बचाकर पवित्र देश-कालमें संस्कारसम्पन्न होकर गायत्री आदि मन्त्रोंका जप कल्याणकारक होता है।

ज्ञान और भक्ति

ज्ञान बड़ा या भक्ति बड़ी

बड़े कुतूहलके साथ लोगोंका प्रश्न होता है कि ज्ञान बड़ा कि भक्ति बड़ी? कुछ लोग ज्ञानकी महिमा दिखलाते हुए भक्तिका अपकर्ष दिखलाते हैं तो कुछ लोग भक्तिकी महिमाके सामने ज्ञानको निकृष्ट ठहराते हैं। कोई भक्तिको ज्ञानका साधन कहते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीका कहना है कि ज्ञानसे विश्वास और विश्वाससे प्रीति होती है और प्रीतिसे ही भक्तिमें दृढ़ता आती है—

जानें बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥

(रा०च०मा० ७।८९।७-८)

भक्तिमणि प्राप्त करनेके लिये भी ज्ञान-वैराग्यको साधन ही माना गया है—

पावन पर्बत बेद पुराना। राम कथा रुचिराकर नाना॥
मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ग्यान बिराग नयन उरगारी॥
भाव सहित खोजइ जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुख खानी॥

(रा०च०मा० ७।१२०।१३—१५)

भक्तिके बिना जो ज्ञानको ढूँढ़ते हैं, वे मन्दभाग्य हैं। वे मानो कामधेनुको छोड़कर दूधके लिये आक ढूँढ़ते हैं—

जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ग्यान हेतु श्रम करहीं॥
ते जड़ कामधेनु गृहँ त्यागी। खोजत आकु फिरहिं पय लागी॥

(रा०च०मा० ७।११५।१-२)

श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥

(१०।२।३२)

अर्थात् हे कमलनयन! जो ज्ञानके प्रभावसे अपनेको निर्मुक्त जाननेवाले हैं या ज्ञानी मानते हैं, परंतु आपके श्रीचरणारविन्दप्रेमद्वारा जिनकी बुद्धि शुद्ध नहीं है, वे बड़ी कठिनाईसे उच्चतम पदपर आरूढ़ होकर भी पुनः पतित हो जाते हैं; क्योंकि उन्होंने आपके श्रीचरण-कमलका आदर नहीं किया।

जे ग्यान मान बिमत्त तव भव हरनि भक्ति न आदरी।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥

(रा०च०मा० ७।१३।छन्द ३)

नानुव्रजति यो मोहाद् व्रजन्तं हरिमीश्वरम्।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माऽपि स भवेद् राक्षसाधमः॥

अर्थात् श्रीहरिकी रथयात्रामें जो मोहवश उनका अनुगमन नहीं करता, वह ज्ञानाग्निदग्धकर्मा होकर भी राक्षसाधम हो जाता है। जो ज्ञानप्रयासको छोड़कर सन्तोंको भी मुखरित करनेवाली श्रवणरन्ध्रमें प्राप्त भगवान्‌की वार्ताको शरीर, वाक् तथा मनसे प्रणाम करता हुआ जीवन व्यतीत करता है, वह त्रिलोकीमें अजितभगवान्‌को भी जीत लेता है अर्थात् मनोवचनातीत भगवान्‌को अपने तनु तथा मनके वशमें कर लेता है—

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम्।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।३)

तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्
भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया
विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो॥

(श्रीमद्भा० १०।२।३३)

भगवान्‌के साथ जिनका सौहार्द सुदृढ़ है, ऐसे भगवान्‌के भक्त कभी भी मार्गसे नहीं गिरते, अपितु वे भगवान्‌द्वारा सुरक्षित हो विघ्नसेनानियोंके सिरपर पादविन्यास करते हुए निर्भय विचरते हैं।

या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म-
ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात्।

सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्
किं त्वन्तकासिलुलितात्पततां विमानात्॥

(श्रीमद्भा० ४।९।१०)

भक्तोंको भगवान्‌के श्रीचरणारविन्दके ध्यानमें रस मिलता है, किंवा भगवद्भक्तोंके चरित्र-श्रवणसे जो रस व्यक्त होता है, वह स्वप्रकाश, स्वमहिमास्थित भगवान्‌में भी नहीं व्यक्त होता। फिर अन्तककी तलवारसे विलुलित विमानोंसे गिरनेवाले लोगोंके सुखोंकी तो चर्चा ही क्या है?

इसके सिवाय यह भी है कि ज्ञान हो जानेपर भी भक्तिके बिना उसकी शोभा नहीं होती।

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे
न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥

(श्रीमद्भा० १।५।१२)

सोह न राम पेम बिनु ग्यानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू॥

(रा०च०मा० २।२७७।५)

ज्ञान, वैराग्य, धर्म और कर्म यह सभी प्रेम-लक्षणा भक्तिसे ही सुशोभित होते हैं। उसके बिना सब निरर्थक हो जाते हैं—

सो सुखु करमु धरमु जरि जाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ॥
जोगु कुजोगु ग्यानु अग्यानू। जहँ नहिं राम पेम परधानू॥

(रा०च०मा० २।२९१।१-२)

साथ ही ज्ञानके उत्कर्षका भी पक्ष प्रसिद्ध ही है। **'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'** (गीता ४।३८) अर्थात् ज्ञानके समान कोई भी पवित्र नहीं है। **'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः'** (गीता ७।१९) सब कुछ वासुदेव ही हैं, ऐसा ज्ञानवान् महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है। ज्ञानको छोड़कर दूसरा कल्याणका मार्ग ही नहीं है। बिना ज्ञानके मुक्ति होती ही नहीं—**'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥'** (श्वेताश्वतर० ६।१५) **'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।' 'नैनमविदितो देवो भुनक्ति।'** अर्थात् यह देव बिना ज्ञानके प्राणीका अन्तरात्मा होकर भी पालन नहीं करता अर्थात् सर्वानर्थसे विनिर्मुक्त नहीं करता। भगवान् ज्ञानीको प्रत्यक्ष अपना आत्मा ही बतलाते हैं—**'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।'** (गीता ७।१८)

समस्त भक्तोंकी अपेक्षा ज्ञानी भक्तकी विशेषता स्वयं श्रीभगवान् स्वीकार करते हैं—**'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।'** (गीता ७।१७)

तुलसीदासजी भी ज्ञानको ही साक्षात् मोक्षप्रद बतलाते हैं—

धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥

(रा०च०मा० ३।१६।१)

भेद गये बिनु रघुपति अति न हरहिं जग-जाल॥

(विनय-पत्रिका २०३।१५)

'सकल दृश्य निज उदर मेलि, सोवै निद्रा तजि जोगी।
सोइ हरिपद अनुभवै परम सुख, अतिसय द्वैत-बियोगी॥

(विनय-पत्रिका १६७।४)

साथ ही जब द्वैत अज्ञानका कार्य है, तब उसकी निवृत्तिके लिये ज्ञानकी अपेक्षा है ही—**'क्रोध कि द्वैतबुद्धि बिनु द्वैत कि बिनु अग्यान'** (रा०च०मा० ७।१११ (ख)) साथ ही भक्तिका ज्ञान साधनोंमें वर्णन स्पष्ट है—

'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।'

(गीता १३।१०)

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(गीता १४।२६)

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।

(श्वेताश्वतर० ६।२३)

श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहि॥

इत्यादि श्रुतियोंके द्वारा यह सिद्ध होता है कि भक्तिसे ही ब्रह्मात्मतत्त्वका साक्षात्कार होता है।

भक्ति और ज्ञानका स्वरूप

इन दोनों पक्षोंपर विचार करनेके पहले यह समझ लेना चाहिये कि भक्तिपदका प्रयोग कहाँ होता

है। वैदिकोंकी दृष्टिमें कर्म, उपासना और ज्ञान—ये तीन साधन प्राणियोंके कल्याणके मूल हैं। कर्मसे मलकी निवृत्ति, उपासनासे विक्षेपकी निवृत्ति और ज्ञानसे आवरणकी निवृत्ति होती है। मल, विक्षेप, आवरण—इन तीनों उपद्रवोंसे उपद्रुत होकर अन्तरात्मा अनन्त अनर्थोंका भागी होता है।

इन तीनों साधनोंसे तीनों उपद्रवोंके निवृत्त हो जानेपर अन्तरात्माकी शुद्धप्रत्यक्चैतन्याभिन्न परब्रह्मस्वरूपसे अवस्थिति होती है। इस पक्षसे वेदशास्त्रानुसार देहेन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकारकी, सन्ध्या, तर्पण, वैश्वदेव, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्यादि श्रौत-स्मार्त कर्मलक्षण चेष्टाएँ ही कर्म हैं। सगुण, साकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्माकाराकारित स्निग्ध अन्त:करणकी वृत्ति-परम्परा ही उपासना या भक्ति है। साथ ही सगुण, निराकार परब्रह्माकाराकारित अन्त:करणवृत्ति-परम्परा एवं निर्गुण, निराकार ब्रह्माकारवृत्तिको भी उपासना या भक्ति कहा जाता है। कुछ लोग कहते हैं कि निर्गुण, निराकार ब्रह्माकारवृत्तिको ज्ञान कहते हैं और सगुण, साकार ब्रह्माकारस्नेहात्मिकावृत्तिको भक्ति कहते हैं।

वस्तुत: ब्रह्माकारवृत्तिपरम्पराको कर्म और ज्ञान दोनों ही कहा जा सकता है, परंतु सारांश यही है कि प्रमाण एवं वस्तुसे परतन्त्र-वृत्ति ज्ञान है और पुरुषतन्त्रमानसी-वृत्ति कर्म है। वही श्रद्धा-स्नेह सहकृता उपासना या भक्ति है। ज्ञानमें प्राणी परतन्त्र होता है, घ्राणसे गन्धका सन्निकर्ष होनेपर इच्छा न होते हुए भी गन्धज्ञान होता है। अत: ज्ञानमें पुरुषकी स्वतन्त्रता नहीं है, परंतु ध्यान या उपासनामें प्राणी स्वतन्त्र होता है। शास्त्रानुसार भगवान्‌की मूर्तिकी कल्पना करके प्राणी ध्यान कर सकता है। इस दृष्टिसे श्रद्धा-स्नेहसहित उपास्य ब्रह्मस्वरूपाकारवृत्तिप्रवाह उपासना है। वह उपास्यस्वरूप निर्गुण-निराकार, सगुण-निराकार और सगुण-साकार तीनों ही तरहका होता है। वस्तु एवं प्रमाणके अधीन उपास्याकारवृत्ति ज्ञान कहलाती है, जो कि उपासनाकी महिमासे ही हो सकता है, फिर भी वेदान्तियोंकी दृष्टिमें अनाद्य निर्वचनीय मूलाज्ञानका निवर्तक निर्गुण निराकारका ही ज्ञान होता है। अत: वही ज्ञान पदसे अधिक व्यपदिष्ट होता है।

वह शान्त शुद्ध मन: सहकृत महावाक्यसे ही या महावाक्याभ्यासजन्यसंस्कारप्रचयसहकृत शान्त मनसे होता है। तदितर ज्ञान या साक्षात्कार उपासना मनसे होती है। परोक्ष ज्ञान वेदादि शास्त्रोंसे भी हो जाता है। इस सिद्धान्तके अनुसार शास्त्रानुसार किसी उपास्यस्वरूपका श्रद्धा-स्नेहसहित ध्यान उपासना है; वही भक्ति है। इस तरह सगुण भगवान्‌के समान ही निर्गुण ब्रह्मकी भी भक्ति होती है। इस भक्तिसे विक्षेपनिवृत्ति, चित्तकी एकाग्रता और भगवत्प्रसन्नता प्राप्त होती है। फिर निर्विघ्न रूपसे ही वेदान्त-श्रवणादिद्वारा निर्गुण निराकार निर्विकार ब्रह्मका साक्षात्कार होता है। अतएव शास्त्रोंमें वेदान्त-श्रवणादिद्वारा भगवत्साक्षात्कारमें भगवद्भक्ति या प्रपत्तिको मुख्य साधन बतलाया है—'**तꣳ ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये**'॥ (श्वेताश्वतर० ६। १८) अर्थात् आत्मबुद्धि प्रकाशित करनेवाले देवके मैं शरणागत हूँ। '**तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये**' (गीता १५। ४) उस आद्यपुरुषकी मैं शरण हूँ। '**यमेवैष वृणुते तेन लभ्य:**' (कठोपनिषद् १। २। २३) स्मरण, भजन, भक्ति और प्रार्थनासे भी भगवान्‌की प्राप्ति अर्थात् बोध होता है।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

× × ×

नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(गीता १०। १०-११)

भक्तिसे ज्ञानकी प्राप्ति

भगवान्‌का भी कहना है कि श्रद्धासे भजनेवाले भक्तोंको मैं बुद्धियोग (ज्ञान) देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं। मैं स्वयं ही ज्ञान-दीपसे उनके अज्ञानको नष्ट कर देता हूँ। '**भक्त्या मामभिजानाति**'

(गीता १८।५५) भक्त भक्तिके द्वारा मुझे सम्यक् रूपसे जान लेता है।

'क्लृपि सम्पद्यमाने च' इस वार्तिकके उदाहरण-रूपसे भट्टोजिदीक्षितने कहा है कि **'भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते, सम्पद्यत इत्यर्थः'** अर्थात् भक्ति ही ज्ञानाकारसे परिणत होती है। सारांश यह है कि जैसे मृत्पिण्ड ही घटाकारमें परिणत होता है, वैसे ही भक्ति ही ज्ञान शुद्धसच्चिदानन्दघन ब्रह्मसाक्षात्काररूपसे परिणत होती है। सगुण साकार परब्रह्ममें आसक्त चित्त जब प्रेमोद्रेकसे निर्विचेष्ट हो जाता है, तब किसी भी प्रमेयकी प्रतीति नहीं होती। प्रमेय-प्रतीति मिटनेपर प्रमाण और प्रमाणाश्रय प्रमाताकी अप्रतीति स्वाभाविकी है। उस स्थितिमें वेदान्तद्वारा प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय तीनोंके अवभासकरूपसे शुद्ध परब्रह्मका साक्षात्कार होता है। चित्तकी निर्विचेष्टताके बिना प्रमाता और प्रमाणकी प्रतीति कथमपि नहीं मिट सकती। बिना उसके मिटे सर्वोपद्रवविनिर्मुक्त निर्विकल्प चिदानन्द ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं हो सकता।

अष्टांगयोगका भी उपयोग इसी भगवदुपासनाद्वारा चित्तकी निर्विचेष्टतामें है। कपिल और देवहूतिके संवादमें इसीलिये सगुण-साकार ध्यानकी अत्यन्त प्रशंसा की गयी है। भगवान्‌के श्रीचरणारविन्द-मकरन्द-रसास्वादनमें विभोर मन सहजहीमें शान्त हो जाता है तथा उनके नख-मणि-चन्द्रिकासे धौतप्राय मन भगवान्‌के अमृतमय मुखचन्द्रके सौन्दर्य-माधुर्य-सुधा-समास्वादन करते-करते निर्विचेष्ट हो जाता है, बस, फिर उस प्रेमोन्मादमें विलीन मनको विचलित न करके—**'तच्च त्यक्त्वा मदारोहो न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥'** (श्रीमद्भागवत ११।१४।४४) उस समय **'एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे। त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः॥'** (श्रीमद्भागवत २।१०।९)-के अनुसार प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और उनके अभावोंका भासक शुद्ध परब्रह्म स्वतः प्रकाशमान होता है, फिर वहाँ केवल महावाक्यकी अचिन्त्य शक्तिसे अनाद्यावरण सदाके लिये मिट जाता है।

इस तरह द्रवीभूत स्निग्ध चित्तकी भगवदा-काराकारित वृत्तिरूप भक्ति ही निर्गुण निराकार निर्विकार परब्रह्मरूपसे व्यक्त होती है। फिर उससे शुद्ध ब्रह्मात्मनावस्थानुरूप मोक्ष अपने-आप ही सिद्ध हो जाता है। इसलिये कुछ महानुभावोंने भक्तिसे ही मोक्ष माना है। ऐसी स्थितिमें भी **'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते।'** (श्वेताश्वतर० ६।१५) इत्यादि श्रुतियोंका विरोध नहीं होता; क्योंकि ज्ञान द्वार-कोटिमें यहाँ भी मान्य ही है। जैसे पिण्ड-कपालादिद्वारा ही मृत्तिका घटका कारण बनती है, वैसे ही ज्ञानद्वारा ही भक्ति मोक्षका कारण बनती है।

भक्तिका अर्थ ज्ञान है

इसके अतिरिक्त आचार्योंने कहीं-कहीं भक्ति शब्दका ज्ञान ही अर्थ किया है। यद्यपि ऐसा अर्थ आपाततः पक्षपातपूर्ण-सा प्रतीत होता है, परंतु विचार करनेपर अनुचित प्रतीत नहीं होता। तथा च **'भजनं भक्तिः'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार भजन या सेवनको ही भक्ति कहा जाता है। वह सेवन केवल कायिक व्यापार ही नहीं, किंतु शरीर, इन्द्रिय, मन तीनोंहीसे सेव्यकी सेवा की जाती है। इतना ही क्यों, महानुभावोंने मानसी सेवाको ही परा या मुख्या सेवा माना है—

'कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता।'

(श्रीवल्लभाचार्य)

श्रीकृष्णकी सेवा सदा करनी चाहिये, वह सेवा भी मानसी ही मुख्या है। अब प्रश्न होता है कि हस्त-पादादिसे तो सेवा-परिचर्या बन सकती है, परंतु मानसी सेवा कैसे हो? इसपर महानुभावोंने कहा है—**'चेतस्तत्प्रवणं सेवा'** अर्थात् चित्तकी श्रीकृष्णोन्मुखता ही सेवा है अर्थात् भगवान्‌की ओर भगवत्स्वरूपाकाराकारित मनोवृत्तिप्रवाह ही भगवान्‌की मानसी सेवा है। बस, उसीकी सिद्धिके लिये तनुजा, वित्तजा—उभय प्रकारकी सेवा अपेक्षित होती है। **'तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा'**। इस तरह

मनोवृत्ति-प्रवाह भी सेवा ही है। सारांश यह हुआ कि सेव्याकार-मानसी-वृत्ति ही सेव्यकी सेवा है। यहाँपर भी कुछ महानुभाव आनुकूल्येन कृष्णाकारावृत्ति (कृष्णानुस्मरण)-को भक्ति कहते हैं। कुछ कृष्णाकारावृत्ति मात्रको भक्ति या सेवा मानते हैं। वह आनुकूल्येन किंवा प्रातिकूल्येन चाहे जैसी ही हो। जब सेव्याकार वृत्ति भक्ति है और सेव्य निर्गुण, निराकार, निर्विकार है तो निर्गुण, निराकार, निर्विकार ब्रह्माकाराकारित वृत्ति ही भक्ति हुई। फिर वह चाहे वस्तु और प्रमाणपरतन्त्र ज्ञानरूपा हो, चाहे पुरुषतन्त्र उपासनारूपा हो। निर्गुण, निराकार, निर्विकार परब्रह्माकाराकारित वृत्ति अवश्य ही भक्ति पदसे कही जा सकती है। अतएव—'**भजति विषयाकारतां प्राप्नोति—इति भक्तिर्ज्ञानम्।**'

इस व्युत्पत्तिके अनुसार भी विषयाकारताको भजनेवाला ज्ञान भक्ति पदका अर्थ होता है। इस पक्षमें '**भक्त्या मामभिजानाति**' (गीता १८।५५) इस स्थलमें भक्ति पदसे ज्ञानलक्षणा चतुर्थी भक्ति ही विवक्षित है। आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी—चार प्रकारके भक्त होते हैं और उनकी भक्ति चार ही तरहकी होती है। ज्ञानीकी भक्ति ज्ञानरूपा ही है, ज्ञानीकी दृष्टिमें प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न भगवान्‌से भिन्न दूसरी वस्तु न हुई, न है और न होगी। अतः उसकी एकमात्र प्रीति भगवान्‌में ही है। इस तरह वह इतरोंसे विशिष्ट है। भगवान् उसे अपना आत्मा ही मानते हैं—

'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।'

(गीता ७।१८)

प्रकाश्यको प्रकाशन करता हुआ प्रकाश, प्रकाश्याकार होकर प्रकाश्याकारताको भजता है। इस दृष्टिसे ज्ञेयाकारताको प्राप्त ज्ञान भक्ति पदसे कहा गया है।

इसी दृष्टिसे आचार्योंका कहना है कि—

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।
स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते॥
स्वात्मतत्त्वानुसन्धानं भक्तिरित्यपरे जगुः।

(विवेकचूडामणि ३२-३३)

मोक्षकारण-सामग्रीमें भक्ति ही श्रेष्ठ है और स्वरूपानुसन्धान ही भक्ति है। यहाँ इस शंकाका कोई मूल्य नहीं रहता कि जब सेव्याकाराकारित वृत्तिको भक्ति कहा जाता है, तब तो एक सेवकको अवशेष रहना चाहिये। परंतु ऐसी स्थितिमें तो अद्वैतवाद ही असिद्ध रहेगा, क्योंकि व्यावहारिक सत्तावाला साधक ही पारमार्थिक विशुद्ध चिदानन्दात्मतत्त्वको अपना सेव्य बनायेगा, उस सेव्यसे भिन्न सभी व्यावहारिक ही हैं, पारमार्थिक तो एक अव्यवहार्य परमात्मतत्त्व ही रहता है—

अक्षमा भवतः केयं साधकत्वप्रकल्पने।
किं न पश्यति संसारं तत्रैवाज्ञानकल्पितम्॥

(पंचदशी, वार्तिक)

ज्ञान नामकी स्वतन्त्र वस्तु नहीं है

इतनेपर भी इस सिद्धान्तमें उपासनारूप भक्ति ज्ञानसे पृथक् मान्य और आदरणीय होती ही है। उसकी कृपासे ही यह भक्ति भी प्राप्त होती है। साथ ही ठीक इसके विपरीत, अन्यान्य साम्प्रदायिक ब्रह्मसूत्र-भाष्यकारोंका कहना है कि उपासना ही भक्ति है और उससे भिन्न होकर ज्ञान नामकी स्वतन्त्र वस्तु नहीं है।

'**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**' यहाँपर भी इस मतमें वस्तुप्रमाणतन्त्र तत्त्वज्ञानमात्र नहीं विवक्षित है; क्योंकि उसका कुछ भी उपयोग नहीं है। 'राजा है' इस ज्ञान-मात्रसे कुछ नहीं सिद्ध होता, किंतु राजाका स्वसम्बन्धित्वेन ज्ञान ही उपकारक हो सकता है। ठीक इसी तरह वेदान्तवेद्य ब्रह्मका केवल ज्ञान निरर्थक है, किंतु '**गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।**' इत्यादिके अनुसार स्वसम्बन्धित्वेन ज्ञानपूर्वक उपासनारूप विशिष्ट ज्ञान ही '**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**' (ब्रह्मसूत्र १।१।१), '**ब्रह्मविदाप्नोति परम्।**' (तैत्तिरीयोपनिषद् २।१) इत्यादि श्रुति-सूत्रोंमें विवक्षित है। अतएव '**य एवं वेद**' इत्यादि स्थलोंमें वेदसे उपासना ही सर्वमान्य है, इसलिये

ज्ञानकाण्डकी पृथक् कल्पना ही व्यर्थ है।

वेदोंके दो काण्ड—कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड

कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड दो ही काण्ड वेदोंमें हैं। चाहे पृथक् ज्ञानकाण्ड माना भी जाय तो भी वह कर्म और उपासना दोनोंका साधन है। कर्मके ज्ञानसे ही अनुष्ठान होगा, उपास्यज्ञानसे ही उसकी उपासना होती है। इस पक्षमें निर्गुण निराकार ब्रह्म सर्वथा अमान्य ही है और उस पक्षमें संसार या बन्ध सत्य ही है। अतः ज्ञानसे उसका मिटना असम्भव है। इसलिये भक्ति, प्रार्थना आदिसे ही बन्धनका छूटना और विशिष्ट आनन्दका लाभ सम्भव है। इस पक्षमें ज्ञानसे भक्तिका अत्यन्त उत्कर्ष स्पष्ट ही है, परंतु जो कर्मफल होनेसे मुक्तिकी अनित्यतासे भयभीत होते हैं और समझते हैं कि यदि बन्ध और संसार सत्य है तो उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति असम्भव है, वे भगवान्‌को सगुण-साकारकी तरह निर्गुण-निराकार भी मानते हैं और कर्म, उपासनाके समान ही ज्ञानकाण्डका भी महत्त्व मानते हैं, उनके मतमें सुतरां उपर्युक्त मत अमान्य है।

भक्तिका उत्कर्ष

फिर भी कुछ महानुभाव कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड तीनोंको पृथक् मानते हुए भी भक्तिको ज्ञानसे उत्कृष्ट कहते हैं, तब भी उनका ज्ञानप्राप्त ब्रह्म, सगुण साकार परब्रह्मसे निम्न कोटिका है। ज्ञानप्रधान सच्चिदानन्द ब्रह्म ज्ञानप्राप्य है, आनन्दप्रधान ब्रह्म भक्तिप्राप्य है। वेदान्तवेद्य ब्रह्म आतपके समान है, भक्तिप्राप्य भगवान् सूर्यके समान है। सुतरां इस मतमें भी ज्ञानसे भक्तिका उत्कर्ष है। इन मतोंमें भी भक्तिका **'सा परानुरक्तिरीश्वरे'** ईश्वरमें परमानुराग ही भक्ति है इत्यादि लक्षण मान्य हैं। वह भक्ति 'मर्यादा' और 'पुष्टि' किंवा 'वैधी' और 'रागानुरागा' भेदसे दो प्रकार की है।

स्वतः अप्राप्त विधिगम्य भगवत्सेवन मर्यादा या वैधी है, भगवत्कृपाप्राप्त कामिन्यादिप्रीतिवत् रागवशात् भगवत्सेवन पुष्टि या रागानुरागा है। यह भक्ति परप्रेमरूपा है, स्वतःसिद्धा है, यह भगवान्‌की परमान्तरंगा शक्तिरूपा है। यह हेतुफलभावरहित है।

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सम्प्रसीदति॥

(श्रीमद्भा० १।२।६)

पुरुषोंकी भगवन्नामसंकीर्तनादि लक्षणा भक्ति ही परमोत्कृष्ट धर्म है, जिससे अधोक्षज भगवान्‌में अहैतुकी अप्रतिहता भक्ति होती है, जिससे कि अन्तरात्माका संप्रसाद होता है, यहाँ यह सिद्ध होता है कि जब **'यतः'** इस पंचम्यन्तसे भक्तिका कार्यकारणभाव निर्धारित है, तब उसे अहैतुकी कैसे कहा जा सकता है? इसपर समाधान यह है कि वास्तवमें भक्तिका कारण बनता नहीं, यदि भगवत्कृपाको कारण कहें तो सम भगवान्‌में विषम कृपा कैसे सम्भव है? यदि कृपा भी सम हो, तब तो सभीको भक्ति-प्राप्ति होनी चाहिये। यदि भक्तकृपासे कहें तो वह भी ठीक नहीं; क्योंकि वह भी सम ही है।

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥

(श्रीमद्भा० ११।२।४५)

यदि—

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः॥

(श्रीमद्भा० ११।२।४६)

इस लक्षणके अनुसार मध्यम-भक्तकी कृपासे भक्तिका होना मानें सो भी ठीक नहीं, क्योंकि श्रद्धा-पुरस्सर मध्यम-भक्तके सेवनसे ही मध्यम-भक्तकी कृपा प्राप्त हो सकती है, परंतु श्रद्धा भी तो भक्ति ही है, वह पहले कैसे मिले? साधन और साध्यरूपसे भक्ति ही दो प्रकारकी है, उसमें भी अवस्था-भेदमात्रसे साध्य-साधनभाव बनते हैं। जैसे अपक्व आम्र, पक्व आम्रका हेतु होता है, वैसे ही साधनरूपा भक्तिका साध्यरूपा भक्तिके साथ साध्य-साधन-भाव होता है।

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

अर्थात् सर्वाभिलाषवर्जित ज्ञान और कर्मोंसे अनावृत अनुकूलतया श्रीकृष्णका अनुस्मरण ही भक्ति है।

इन सिद्धान्तोंमें भक्ति ही सब कुछ है, उसके लिये ही समस्त साधन हैं, ज्ञान और मोक्ष आदि उसमें विघ्न हैं। भक्तजन भुक्ति, मुक्ति, विरक्ति सबको तिलांजलि देकर इस भक्तिको ही चाहते हैं। इसीलिये बड़े-बड़े अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्रगण भी अद्वैत, अनन्त, अखण्ड ब्रह्मसे मन हटाकर सगुण साकार भगवान्‌में मन लगाते हैं।

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
सङ्क्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥

(श्रीमद्भा० ३। १५। ४३)

अरविन्दनयन भगवान्‌के श्रीचरणारविन्दमकरन्द-मिश्रित तुलसिकाके मकरन्दरेणु जिस समय घ्राणरूप स्वविवरद्वारा सनकादिकोंके हृदयान्तर्गत हुए, बस उसी समय उन अक्षर ब्रह्मनिष्ठ सनकादिकोंके भी शरीर और मनमें क्षोभ हो गया। अर्थात् शरीरमें पुलकावली, नयनोंमें अश्रु और मनमें द्रवता उत्पन्न हो उठी।

स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावोऽ-
प्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम्।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं
तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि॥

(श्रीमद्भा० १२। १२। ६८)

'स्वसुखेनैव निभृतं परिपूर्णं चेतो यस्य स तथोक्तः, तेनैव निरस्तः अन्यस्मिन् पदार्थे भावो भावना अस्तित्वबुद्धिर्यस्य स तथोक्तः।' श्रीशुकाचार्य, जिनका चित्त स्वस्वरूपभूत परमानन्द सुधासिन्धुसे ही परिपूर्ण हो गया था, तद्व्युदस्तान्यभाव अर्थात् स्वसुख-निभृतचेता होनेसे ही अन्यपदार्थविषयक अस्तित्व-बुद्धि जिनकी मिट गयी थी, जो केवल सर्वत्र एक परम तत्त्वका ही दर्शन करते थे, भगवान्‌की रुचिर लीलासे उनका भी धैर्य च्युत हो गया। उन्होंने स्वयं कहा है—

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान्॥

(श्रीमद्भा० २। १। ९)

अर्थात् मेरा मन निर्गुण परब्रह्ममें परिनिष्ठित था, फिर भी उत्तमश्लोक भगवान्‌की लीलाने मेरे चित्तको खींच लिया। श्रीहरिके गुणोंसे आक्षिप्त-मति होकर भगवान् बादरायणिने श्रीमद्भागवतरूप महाख्यानका अध्ययन किया है—

हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः।
अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः॥

(श्रीमद्भा० १। ७। ११)

लखी जिन लालकी मुसकान।
तिनहिं बिसरी बेद बिधि सब योग संयम ज्ञान॥

× × ×

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

(श्रीमद्भा० १। ७। १०)

भक्ति और वेदान्त

फिर भी वेदान्तीगण इनके कुछ अंशोंमें विमति रखते ही हैं, उनकी दृष्टिमें जो निरतिशय परमानन्दरसात्मक वस्तु है, वही तो ब्रह्म है और उससे बढ़कर किसी फलकी कल्पना भी असम्भव है। अनन्तपदसमभिव्याहृत ब्रह्म पदका अर्थ ही निरतिशय बृहत् है। सर्वविधपरिच्छेद-शून्य ही निरतिशय बृहत् होता है। ऐसा होनेपर भी यदि सोपप्लव एवं अस्वप्रकाश हो तो वह निरतिशय बृहत्स्वरूप ब्रह्म पदार्थ होने योग्य नहीं है। अतः स्वप्रकाश परमानन्द रसात्मक ही उसे होना चाहिये। इस तरह अनन्त स्वप्रकाश परमानन्द ही ब्रह्म है। आतपकी अपेक्षा सूर्यमें जो अतिशयता है, वैसी अनन्त अतिशयताकी कल्पना करते-करते वाचस्पतिकी भी मति जहाँ परिश्रान्त हो जाय, वही वेदान्तियोंका ब्रह्म है।

उसमें ही समस्त विश्व कल्पित है, उसीसे

जीवादि विविध प्रकारका संसार उपस्थित होता है। उसके साक्षात्कारात्मक ज्ञानसे ही समस्त अनर्थोंकी निवृत्ति होती है। कर्मोपासनादि किसीसे भी उत्पन्न होनेवाला मोक्ष द्वैतात्म होनेसे एक संसार ही है। साथ ही उत्पाद्य, प्राप्य, संस्कार्य और विकार्य सभी कर्मफल जैसे अनित्य हैं, वैसे ही कर्मोपासनादि प्राप्य मोक्ष भी अनित्य ही होगा। निष्प्रपंच अद्वैत-सुखके लिये ही समस्त विश्वकी निद्रा या सुषुप्तिमें प्रवृत्ति होती है। जैसे निम्बके कीटको निम्बमें ही मिठास लगती है, उसे मिश्रीके मीठेपनपर हँसी आ सकती है, वैसे ही वादित्र, नृत्य, गीतादि द्वैतसुखमें रस लेनेवाले संसारियोंको अद्वैतसुखमें रस नहीं आता। फिर भी वह ऐसी वस्तु है कि चाहे उससे कोई अनभिज्ञतावश द्वेष ही करे, परंतु वह अपने स्वभावानुसार सबके प्रेमका आस्पद सबमें व्यक्त ही रहता है। आत्माके ज्ञान और उसकी महिमासे भले ही किसीको चिढ़ हो, परंतु आत्माका उत्कर्ष और बड़ाई सभी चाहते हैं। प्रेम भी उसमें सभीको करना पड़ता है।

जब अपने सिद्धान्तमें, अपने हठमें, अपने देश, ग्राम, कुल, कुटम्ब, क्षेत्र, वित्त, राज्यमें प्रेम होता है, तब क्या अपनेमें नहीं होगा? जब परमात्माकी ही मूर्तियोंमें-से अपनी इष्ट मूर्तिमें ही प्रेम होता है, अपने इष्टसे भिन्न परमात्माकी मूर्तिमें प्रेमाभाव ही नहीं, किंतु द्वेष होता है, तब क्या आत्मामें किसीको प्रेम नहीं होगा? शैव विष्णुमूर्तिसे द्वेष तथा वैष्णव शिव-मूर्तिसे द्वेष आत्मसम्बन्धाभावसे ही तो करते हैं। अपने इष्टमें तो सबको प्रेम होता ही है। साथ ही असहिष्णु भी अपनी बड़ाई—आत्ममहिमाको चाहता है, अपने सिद्धान्तकी बड़ाई चाहता है, इतना ही क्यों, '**अहं ब्रह्मास्मि**' के सिद्धान्तका खण्डन करनेवाले ही अन्तमें स्वयं भगवान् बनने और रासलीला करनेका साहस करते हैं।

उनके भक्त उन्हें प्रत्यक्ष अवतारी कहते हैं और वे सुन-सुनकर प्रसन्न होते हैं। कोई श्रीवृषभानु-नन्दिनीका अवतार तो कोई प्रिया-प्रियतम दोनोंका ही अवतार मानते और मनवाते हैं। यह सब स्वाभाविक आत्मप्रेमका ही विकृत रूप है। तभी तो भगवती श्रुतिने साफ कहा है कि सब कुछ आत्माके ही प्रेमका शेष है। देवतामें भी प्रेम आत्मार्थ ही होता है, आत्मकल्याणकारक आत्महितैषी देवतामें प्रेम और विपरीतमें द्वेष होता है। इसी तरह निम्न-से-निम्न कोटिके जीव और उच्च-से-उच्च कोटिके जीव सुषुप्तिमें अद्वैत निष्प्रपंच सुखका रस लेना चाहते हैं। किं बहुना उच्च-से-उच्च कोटिके ईश्वर भी योगनिद्रामें उसी निष्प्रपंच अद्वैत-सुखके अनुभवमें लवलीन होते हैं। दिव्यातिदिव्य वैषयिक सुख सामग्रियोंके उपस्थित रहनेपर भी योगनिद्राद्वारा निष्प्रपंच अद्वैत-सुखमें ही अधिकाधिक प्रवृत्ति होती है। प्राणी दिव्य कान्तादि स्पर्श-सुखसे विरत होकर सौषुप्त सुख चाहते हैं, फिर जब सावरण सौषुप्त अद्वैत सुखमें प्राणियोंकी ऐसी प्रीति होती है तो फिर निष्प्रपंच निरावरण अद्वैत ब्राह्म सुखकी महिमा कौन-कैसे कहे?

अतएव अपरिच्छिन्न सुख वही है, जहाँ द्रष्टा, दर्शन, दृश्यकी समाप्ति है। वही भूमा सुख है। '**यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति स भूमा, यो वै भूमा तत्सुखं, नाल्पे सुखमस्ति॥**'

अर्थात् जहाँ अन्य अन्यको देखता-सुनता है, वहाँ अल्प ही सुख है। इस दृष्टिसे अनन्त, अखण्ड भूमा ब्रह्म ही परम सुख है, उससे अधिक सुखकी कल्पना सर्वथा अशास्त्रीय है। यह अनन्त अखण्ड भूमा ब्रह्म ही सगुण, साकार, सच्चिदानन्द ब्रह्म भी है। यही अपनी अचिन्त्य दिव्यलीलाशक्तिसे शिव, विष्णु, उमा, गणपति, भास्कररूपसे भी उपास्य होता है।

जैसे विष्णुकी ही राम, कृष्ण, नृसिंह आदि रूपसे उपासना होती है, वैसे ही एक ही परमतत्त्वकी शिव, विष्णु आदि रूपसे उपासना होती है। '**ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।**' (रा०च०मा० १। १९८)

भक्ति और ज्ञानके उत्कर्ष तथा अपकर्षका चिन्तन व्यर्थ है

परमतत्त्व ही अपनी अचिन्त्य दिव्य लीलाशक्तिसे सगुण, साकार, सच्चिदानन्दघनरूपमें व्यक्त होते हैं, उनके किसी रूपमें उत्कट उत्कण्ठा, प्रीति ही भक्ति है। भक्ति और ज्ञानके उत्कर्ष-अपकर्षका चिन्तन व्यर्थ है। भक्ति महारानीके ही शुभाशीर्वादसे विवेकरूपी नृपसे उपनिषद्में प्रबोध चन्द्रका उदय होता है। विवेकका मोहके साथ अनादि कालसे युद्ध चला आ रहा है। मोहके पक्षमें काम, क्रोध, अहंकार, लोभ, दम्भप्रभृति आदि अनेक भट हैं। विवेकके पक्षमें वैराग्य, विचार, शम, दम, क्षमा, दया, श्रद्धा, निवृत्ति आदि अनेक भट हैं। दलबल-सहित मोहपर विजय प्राप्त करके प्रबोधसहित परम पुरुष भगवान्का अंशभूत जीवात्मा कृतकृत्य होकर श्रीभक्तिमाताके चरणोंमें जाकर प्रणाम करता है। श्रीभक्ति भगवती उसे आशीर्वाद देती हैं और कहती हैं—'वत्स! मैं तो चिरकालसे इसी चिन्तामें थी कि किस तरह प्रबोधचन्द्रसहित विवेक विजयी होकर स्वभावत: शुद्ध बुद्ध-मुक्त-स्वभाव परम पुरुषको स्व-स्वरूपस्थ करें। वह आज मेरा मनोरथ पूरा हुआ। वत्स! मैं आशीर्वाद देती हूँ।'

जीवात्मा कृतकृत्य होकर कहता है—'अम्ब! आपके ही शुभानुसन्धानसे मैं कृतकृत्य हुआ हूँ। अब मैं यही चाहता हूँ कि आपके श्रीचरणोंमें मेरी सदा अटल श्रद्धा बनी रहे।' इस तरह प्रबुद्ध होकर भी जीवात्मा भक्तिदेवीका प्रेमी है, फिर भक्तिका उत्कर्ष जितना ही कहा जाय उतना ही कम है। श्रीमद्भागवतके माहात्म्यमें ज्ञान, वैराग्यको भक्ति महारानीका पुत्र कहा गया है और यह दिखाया गया है कि ये तीनों ही कलिके पाखण्डसे जर्जर एवं जीर्ण-शीर्ण हो गये थे। श्रीमद्वृन्दारण्यधामके संसर्गसे श्रीभक्तिदेवी तो नवीनस्वरूपा तरुणी हो गयीं, परंतु वहाँ ज्ञान, वैराग्यका कोई ग्राहक न था, अत: वे दोनों ज्यों-के-त्यों जीर्ण-शीर्ण क्षुत्क्षाम-शुष्क-कण्ठ होकर मूर्च्छितावस्थामें ही पड़े रहे। श्रीभक्तिदेवी स्वयं नवीना, सुरूपिणी तरुणी होकर भी अपने पुत्रोंकी दुर्दशा देखकर खिन्न होकर सोच रही थीं। उसका भाव यह था कि माताका जरठ होना उचित है, पुत्रका जरठत्व वार्धक्य अवश्य ही चिन्ताजनक है।

कभी एक वृद्धा वैश्यानी स्त्री एक महात्मासे वरदान माँगने लगी—'महाराज! मैं तो यही माँगती हूँ कि मेरे बेटे, पोते मुझे कन्धेपर रखकर जला आयें।' महात्माने कहा कि 'जीते ही या मरनेपर?' सारांश यह कि कल्याणमयी, करुणामयी, पुत्रवत्सला अम्बा यही चाहती है कि 'मेरे सामने मेरे बेटे-पोते बने रहें, मरें नहीं, किंतु मैं ही उनके सामने मर जाऊँ।' बेटे-पोतेकी बीमारीको माँ अपने ऊपर बुलाती है। ठीक इसी तरह भक्ति माताको भी अपने पुत्र ज्ञान, वैराग्यकी वृद्धिमें ही शान्ति-संतोष होता है। वह उनका अनिष्ट नहीं देख सकती, उनके सामने अपना निधन चाहती है। माता पहले तो पुत्र बिना अपनेको वन्ध्या समझती है, अपना जीवन व्यर्थ समझती है, पुत्र-जन्मके लिये तरह-तरहके देवी-देवताओंको मनाती है। पुत्रके गर्भमें आते ही हर्षके मारे फूली नहीं समाती, गर्भस्थ बालकके हस्त, पादादि उत्क्षेपणसे कष्ट होनेपर भी उसे अपराध नहीं मानती, अब पुत्र बड़ा हो गया यह समझकर प्रसन्न होती है। पुत्रकी उत्पत्तिमें प्राणान्त कष्ट सहनकर भी आनन्दमें विभोर रहती है। स्वयं गीलेमें रहकर बालकको सूखेमें रखती है। मल, मूत्रादि अपने ऊपर लेती है। माँका हृदय कितना उदार होता है, वह पुत्रके लिये क्या-क्या नहीं करती है? ठीक इसी तरह ज्ञान-वैराग्यरूप पुत्रोत्पत्तिके बिना भक्ति अपनेको वन्ध्या मानती है और उसकी उत्पत्तिके लिये लालायित रहकर देवी-देवता मनाती है। फिर लालन-पालनकर बड़ा करती है, उनकी जीर्णता-शीर्णतामें वह फिर चिन्तित और खिन्न होती है। उनकी मूर्च्छा और जीर्णता-शीर्णता मिटानेके लिये फिर महात्माओंकी शरण जाकर उपाय चाहती है।

श्रीभक्तिदेवीके इतने प्रिय पुत्र ज्ञान, वैराग्यके अपकर्षकी चिन्ता ही क्यों, जब श्रीभक्ति उनके बिना अपनेको वन्ध्या और उनके जन्म, समृद्धि, उन्नतिमें ही अपनेको सौभाग्यवती मानती है। माता बिना पुत्रके नहीं सोहती, पुत्र माताके अमरपुर पधारनेपर भी रह सकता है। तत्त्वज्ञान, वैराग्यसे भक्तको घृणा होना और उनका अपकर्ष सिद्ध करनेका प्रयत्न करना कहाँतक संगत है? साथ ही पुत्रका माताके प्रति क्या कर्तव्य है, यह भी सोचनेकी बात है। शास्त्रोंने पुत्रके लिये माता-पिताहीको परम दैवत कहा है। साक्षात् उमा-महेश्वररूपसे माता-पिताकी आराधना करनी चाहिये—'**मातृदेवो भव, पितृदेवो भव**।' पिताकी अपेक्षा भी माताकी महिमा दशगुना अधिक है—'**पितुर्दशगुणा माता गौरवेणातिरिच्यते**।'

ऐसी स्थितिमें पुत्र कितनी भी उन्नतिको क्यों न प्राप्त कर ले, कितना अधिक पूज्य क्यों न हो तथापि उसमें मातृभक्तिका सदा ही रहना अनिवार्य होगा। ऐसा न होनेपर वह कृतघ्न समझा जाता है और उसका उद्धार होना असम्भव हो जाता है। अत: ज्ञान-वैराग्य उच्चतम होकर तथा परम पूज्यतम होकर भी अपनी अम्बा श्रीभक्ति महारानीके चरणोंमें अवश्य ही पूर्ण श्रद्धा-भक्ति रखेंगे।

ऐसी स्थितिमें यदि कोई भी ज्ञानी या वैराग्यवान् श्रीभक्तिको नगण्य या निकृष्ट समझकर अनादर करे तो वह ज्ञानी नहीं, ठीक अज्ञानी और कृतघ्न ही है। इसीलिये वेदान्ताचार्यप्रवर भगवान् शंकरने कहा है—'**यावज्जीवं त्रयो वन्द्या वेदान्तो गुरुरीश्वरः। आदौ विद्याप्रसिद्ध्यर्थं कृतघ्नत्वापनुत्तये**॥' वेदान्त, गुरु और श्रीहरि—इनका यावज्जीवन सदा ही वन्दन करना चाहिये, पहले विद्याप्राप्तिके लिये, पश्चात् कृतज्ञता प्रकटकर कृतघ्नता दूर करनेके लिये। इसीलिये शास्त्रोंमें कहीं भी भक्ति या ज्ञान किसीकी निन्दा नहीं है। भक्ति बिना ज्ञानकी उत्पत्ति ही असम्भव है, इसीलिये '**भक्त्या मामभिजानाति**' इत्यादि उक्तियाँ हैं। भक्तिके बिना अन्तरात्माकी शुद्धि नहीं होती, दृढ़ ज्ञानका आविर्भाव नहीं होता, अत: भक्ति बिना ही जो विमुक्त-मानी हैं, वे ज्ञानी ही नहीं हैं।

वे ही परिश्रमोंसे सत्कुलजन्म, विद्या, त्याग आदि उच्च पदपर आरूढ़ होकर भी कामादि दोषोंसे भ्रष्ट हो जाते हैं। उन्हींके लिये—'**येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनः**' (श्रीमद्भा० १०।२।३२) इत्यादि उक्तियाँ हैं। यहाँ 'पर' पदका अर्थ ब्रह्मपदकी प्राप्ति, उसका अपरोक्ष एवं साक्षात्कार नहीं कहा गया है, क्योंकि ब्रह्मपद पानेके बाद पुन: पतन नहीं होता—'**न स पुनरावर्तते, न स पुनरावर्तते**'। निराकार निर्विकार ब्रह्मका अपरोक्ष साक्षात्कार होनेपर पुन: कर्मोंका प्ररोहण भी अत्यन्त श्रुति-विरुद्ध है। अत: वह भी अमान्य ही है। '**ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्**' इत्यादि वचनोंका तात्पर्य भगवान्‌के अनुगमनकी प्रशंसामें ही है। '**अपि**' शब्दसे भी यही भाव निकलता है। भगवान्‌को रथयात्रा करते देखकर उनका अनुगमन न करना महा अपराध है। अत: अवश्य ही अनुगमन करना चाहिये। औरकी तो कथा ही क्या, ज्ञानाग्नि-दग्धकर्माको भी उसका दण्ड मिलता है। '**न हि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते अपितु विधेयं स्तोतुमिति न्यायात्**' निन्दाका तात्पर्य निन्द्यकी निन्दामें नहीं, अपितु किसी विधेयकी स्तुतिमें ही है।

ऐसे ही '**ज्ञाने प्रयासमुदपास्य**' (श्रीमद्भा० १०।१४।३) इत्यादि श्लोकसे ज्ञानप्रयास-त्यागका भी तात्पर्य यही है कि भगवच्चरित्र-श्रवणादि-लक्षण भगवद्भक्तिसहित ही ज्ञानप्रयास सफल होता है। विशेषत: वहाँ ज्ञानसे शास्त्रीय परोक्ष ज्ञान ही विवक्षित है, अर्थात् प्राणीको केवल शास्त्रीय परोक्ष ज्ञानमें इतना प्रयास न करना चाहिये कि जिससे श्रुतिगता भगवदीयवार्ताका आदर छूट जाय। कारण भगवद्भक्ति बिना भ्रमनिवर्तक ब्रह्मापरोक्षसाक्षात्कार नहीं हो सकेगा।

श्रेयःस्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।

तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥

सर्वविध कल्याणोंका प्रसव करनेवाली किंवा सर्व प्रकारके श्रेयोंकी निर्झरिणी श्रीभक्ति महारानीको छोड़कर जो केवल शास्त्रीय बोध प्राप्त करनेके लिये क्लेश उठाते हैं, उनको सिवा क्लेशके और कुछ नहीं बचता। जैसे स्थूल धानकी भूसीका अवहनन (कुट्टन) करनेवालेको सिवा परिश्रमके और कुछ भी हाथ नहीं लगता।

अत: भक्तिसहित ही ज्ञानप्रयास आदिकी सफलता हो सकती है। इसी तरहके और भी बहुत-से वचन मिलते हैं। भक्तिके बिना यज्ञ, वेद, तप आदिको निष्फल बताया गया है—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥

(गीता ११।५३)

मैं वेद, तप, यज्ञ, दान तथा इज्यासे इस तरह नहीं देखा जा सकता हूँ, अर्जुन! जैसा तुमने मुझे देखा।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥

(गीता ११।५४)

हाँ, अनन्यभक्तिसे तो प्राणी मेरे इस प्रकारके स्वरूपको जान तथा देख सकता है, देखकर मुझमें प्रविष्ट भी हो सकता है। यहाँ सर्वत्र ही यही अर्थ करना उचित है कि भक्तिके बिना केवल वेद, यज्ञ, दानादिसे भगवान्‌की प्राप्ति नहीं हो सकती। अन्यथा वेद, यज्ञ, दानादिका भगवत्प्राप्तिमें उपयोग ही नहीं सिद्ध होगा, परंतु '**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः**', (गीता १५।१५) '**यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥**' (गीता १८।५) इत्यादि वचनोंसे यह स्पष्ट सिद्ध है कि भगवान्‌की प्राप्तिमें वेद, यज्ञ, तप, दानादि सबका पूर्ण उपयोग है। यही स्थिति '**नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।**' (कण्ठ० १।२।२३) इत्यादि श्रुतियोंकी भी है। कारण—'**श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।**' (बृहदा० २।४।५) '**ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च।**' (तैत्तिरीय० १।९) '**स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।**' (तैत्तिरीय० १।११) इत्यादि स्थलोंमें श्रवणादिको ब्रह्मसाक्षात्कारका साधन कहा गया है, अत: भगवद्भक्ति या वरण बिना केवल श्रवणादिसे ब्रह्मका अपरोक्ष साक्षात्कार नहीं होता। इस सम्बन्धमें एक दोहेकी संगति बड़ी सुन्दर बैठती है—'***रामनाम इक अंक है सब साधन हैं सून। अंक बिना कछु हाथ नहिं अंक रहे दश गून।***' अर्थात् भगवान्‌का नाम तो एक आदि अंकके समान है और समस्त साधन शून्यके समान हैं। अंकके बिना शून्योंका कुछ भी मूल्य नहीं, परंतु अंक रहनेपर तो शून्योंका दसगुना मूल्य बढ़ जाता है। यहाँ ध्यान देनेकी बात है कि शून्य भी व्यर्थ और अनादरणीय नहीं है। किसी दस्तावेजमें एक अंकके अनन्तर दस शून्य हों और दसों शून्योंको मिटाकर केवल एक अंक ही रख लिया जाय तब कितना भेद होता है? इसी तरह भगवन्नामके बिना साधन शून्यके समान नि:सार हैं, परंतु उसके रहनेपर तो उन शून्यात्मक साधनोंका बहुत मूल्य बढ़ जाता है। यही गति—

नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू॥

(रा०च०मा० १।२७।७)

हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

—इत्यादि वचनोंकी है। भगवन्नाम और भक्ति बिना कोई भी साधन फलवान् नहीं होते। बिना माताके यदि पुत्रका होना असम्भव है तो बिना भक्तिके ज्ञानका होना कैसे सम्भव है? अत: भक्ति छोड़कर ज्ञानका प्रयास वैसे ही व्यर्थ है, जैसे कामधेनु छोड़कर दूधके लिये आकको ढूँढ़ना। यदि सच्चे दूधकी अपेक्षा है तो कामधेनुका सेवन ही युक्त है। इसी तरह यदि सच्चे ज्ञानकी अपेक्षा है तो भक्ति महारानीका सेवन युक्त ही है। यही '**ते जड़ कामधेनु गृहँ त्यागी। खोजत आकु फिरहिं पय लागी॥**' (रा०च०मा० ७।११५।२) इत्यादि वाक्योंका भावार्थ है।

इन वचनोंमें अन्य साधनोंका या ज्ञानका अनादर कथमपि नहीं किया गया है। अन्यथा शास्त्रोक्त विधि-निषेधोंका उल्लंघन करनेसे नामापराध दोष अनिवार्य हो जायगा। इसीलिये गोस्वामीजीने भी **'चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती'** (रा०च०मा० ७।२१।२) और **'बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग॥'** इत्यादि वचनोंसे वेद और वेदोक्त कर्मोंका खूब सम्मान किया है।

कल्प कल्प भरि एक एक नरका। परहिं जे दूषहिं श्रुति करि तरका॥

(रा०च०मा० ७।१००।४)

भक्तिसे ज्ञानद्वारा परम तत्त्वकी प्राप्ति

श्रीमद्भागवतादि सद्‍ग्रन्थोंमें भक्तिसे ज्ञानद्वारा ही परमतत्त्वकी प्राप्ति कही गयी है—

एवं विशुद्धमनसो भगवद्भक्तियोगतः।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते॥

भगवद्भक्तियोगसे विशुद्धमनस्क निःसंग प्राणीको भगवत्तत्त्वका ज्ञान होता है।

पुरेह भूमन् बहवोऽपि योगिन-
स्त्वदर्पितेहा निजकर्मलब्धया।
विबुध्य भक्त्यैव कथोपनीतया
प्रपेदिरेऽञ्जोऽच्युत ते गतिं पराम्॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।५)

अर्थात् हे भूमन्! बहुत-से योगी आपके चरणोंमें निज कर्मोंको समर्पित करके विशुद्धान्तःकरण तथा विरक्त होकर आपकी कथा-श्रवणद्वारा प्राप्त भक्तिसे आपको जानकर प्राप्त कर लेते हैं। भगवत्कथा-श्रवणादि भागवतधर्मोंका सेवन करते-करते भक्ति, विरति, भगवत्प्रबोध प्राप्त करके आपको पा लेते हैं। **'भक्त्या मामभिजानाति'** (गीता १८।५५) स्पष्ट ही है। भगवत्प्रेमसे ही भगवत्कृपा प्राप्त होती है और उनकी कृपासे ही प्राणी उन्हें जान सकता है। **'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।'** (मुण्डक० ३।२।३)

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥

(रा०च०मा० २।१२७।३-४)

इस तरह भगवद्भक्तिसे भगवत्कृपा और भगवान्‌का ज्ञान होता है। ज्ञानसे फिर भगवान्‌के सहजसिद्ध परमप्रेमका प्रकट होना स्वाभाविक ही है। भक्तिको कौन कहे, भगवान्‌के साक्षात्कारमें ही संसारबन्ध मिट जाता है। इस तरहसे भक्तिपक्षसे भी ज्ञानपक्षमें भगवान्‌की महिमा अधिक समझमें आती है।

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहिं रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥

हाँ, यह बात दूसरी है कि कोई भगवत्तत्त्वके ज्ञानकी भावनासे भगवान्‌की भक्ति करता है, कोई प्रेमसे ही भगवान्‌की भक्ति करता है। परंतु भगवत्तत्त्व ज्ञानरूप फल दोनोंको ही उसी तरह प्राप्त होता है, जैसे कोई पुण्यप्राप्त्यर्थ गंगा-स्नान करता है, उसे पुण्य तो प्राप्त होता ही है, परंतु तापादि-निवृत्ति भी आनुषंगिकी हो जाती है। कोई तापनिवृत्तिके लिये गंगा-स्नान करता है, पुण्यप्राप्ति उसे भी आनुषंगिकरूपसे होती है। इसी तरह कोई ज्ञानप्राप्तिद्वारा पाप-ताप मिटानेके लिये भक्तिगंगामें स्नान करता है, उसे भी भगवत्प्रेमानन्दका लोकोत्तर सुख मिलता है और जो भगवत्प्रेमानन्दके लिये ही भक्ति करते हैं, उन्हें भी ज्ञानप्राप्ति और पाप-ताप निवृत्ति एवं तन्मूलभूत ज्ञान प्राप्त होता है। इस तरह भक्तको ज्ञानप्राप्ति और मोक्ष अवश्य होता है। परंतु बिना ज्ञानके यदि किसी भी साधनसे मोक्ष मान लिया जाय तो बन्धकी सत्यता और मोक्षकी कृत्रिमता तथा अनित्यता अपरिहार्य हो जायगी, इसीलिये कर्मयोग या भक्तियोगसे ज्ञानप्राप्तिके बिना मोक्षका होना अत्यन्त अशास्त्रीय है। हाँ, जो मोक्ष चाहते ही नहीं, केवल प्रेम चाहते हैं, उनकी स्थिति दूसरी है।

ताते उमा मोच्छ नहिं पायो। दसरथ भेद भगति मन लायो॥
सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहुँ राम भगति निज देहीं॥

(रा०च०मा० ६।११२।६-७)

निर्गुण, निराकार, निर्विकार परब्रह्मकी उपासनामें बड़ी कठिनाई है, परंतु भगवान्‌का भक्त तो भगवान्‌के दिव्य चरणकमलका अवलम्बन करके अनायास ही

भवसागरको तर जाता है। इतना ही क्यों, फिर तो उसे भवसागर और उसका पार समान ही हो जाता है। भगवान्‌के श्रीचरण और उनकी मंगलमयी शक्तिकी महिमासे स्वर्ग, अपवर्ग, दिशाएँ-विदिशाएँ सब मंगलमय हो जाती हैं। उसकी छोड़ने और ग्रहण करनेकी भावना ही मिट जाती है। किसीकी क्षीरसागरको पार करनेकी रुचि होती है। यदि उसे तैरकर पार करना हो, तब फिर कठिनाईका ठिकाना ही क्या? परंतु यदि उसे पार करनेके लिये दिव्य उपभोग-सामग्रीसम्पन्न सर्वांगसुन्दर नाव प्राप्त हो जाय और उसके संचालक अपने प्रियतम प्राणधन भगवान् हों, तब समुद्र पार करनेमें क्या कठिनाई है? आनन्दसे सर्वसुखका सम्भोग करते हुए और दिव्य शब्द, दिव्य स्पर्श, दिव्य गन्ध, दिव्य रसका आस्वादन करते हुए अर्थात् अपने प्रियतमके श्रीअंगके सौगन्ध-सुस्पर्शका अनुभव करते हुए प्रियतमके अमृतमय मुखचन्द्रका सौन्दर्य-माधुर्य सौरस्य सुधाका आस्वादन करते हुए प्रेमी विभोर हो जाता है। उसे भवसागर और उसके पारमें कुछ भी विशेषता नहीं रह जाती। भवसागरके पार जाकर भगवान्‌के जिन दिव्य माधुर्यादिकोंका अनुभव करता है, उनका अनुभव भवसागरमें ही होने लगता है। भवसागरके पाप-तापोंका उसे स्पर्शतक नहीं होता है। इसीलिये कहा जाता है कि भगवन्नामसे भवसागर सूख जाता है। इसीलिये भक्त वैकुण्ठ, कैलासादि पद पाकर भी लोक-कल्याणार्थ पुनः लौट आते हैं और जीवोंको उसी भक्तिरूपी दिव्य नावपर बिठाकर पार उतारते हैं।

सगुणोपासना और निर्गुणोपासनाका तारतम्य

यह कथन बहुत अंशोंमें ठीक है, परंतु यहाँ भी सगुणोपासना और निर्गुणोपासनाका ही तारतम्य कहा जा सकता है, ज्ञान और सगुणोपासनाका नहीं। गीताके बारहवें अध्यायमें अर्जुनने प्रश्न किया है कि 'जो आपके विश्वरूप या किसी भी सगुण साकार सच्चिदानन्दस्वरूपमें मन लगाकर आपकी उपासना करते हैं और जो अक्षर अव्यक्त स्वरूपकी उपासना करते हैं, उनमें कौन अतिशयेन योगवित् अर्थात् ब्रह्म-प्राप्तिके उपायज्ञ हैं'—'**एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते। ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥**' (गीता १२।१) श्रीभगवान्‌ने कहा कि 'जो मुझ सगुण साकार सच्चिदानन्दस्वरूपमें मनको सम्यक् आविष्ट करके नित्ययुक्त हो, परमश्रद्धासे मेरी उपासना करते हैं, वे मेरी दृष्टिमें अतिशयेन मुक्त हैं। जो इन्द्रियग्रामका संयम करके अनिर्देश्य अक्षर, अव्यक्त-सर्वव्यापी-अचिन्त्य-कूटस्थ-अचल ब्रह्म-स्वरूपकी उपासना करते हैं, वे—'**सर्वभूतहिते रताः**' (गीता ५।२५; १२।४) महानुभाव मुझे ही प्राप्त होते हैं। फिर भी उनके (निर्गुणोपासकोंके) लिये क्लेश (कठिनाई) अधिकतर है; क्योंकि देहवानों (देहाभिमानियों)-के लिये अव्यक्तगति दुःखसे प्राप्त होती है।'

यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि देहवान्‌का अर्थ देहाभिमानी ही है, अन्यथा देहवान् पदका प्रयोग ही व्यर्थ होगा; क्योंकि जितनी भी उपासनाएँ हैं, वे सभी देहवान्‌के लिये होती हैं। जो अदेह है, उसके लिये तो उपासनाकी अपेक्षा और सम्भावना ही नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि निर्गुणोपासना किसीके लिये सम्भव नहीं, क्योंकि ऐसी स्थितिमें उसका विधान ही व्यर्थ हो जाता है। अशक्यका उपदेश करनेवाले शास्त्रोंका शास्त्रत्व भी सन्देहमें पड़ जाता है। अतः यही अर्थ उचित है कि '**देहोऽस्त्यत्वेनास्येति देहवान्**' अर्थात् देहात्माभिमानी ही देहवान् यह विवक्षित है। सर्वथापि यहाँ निर्गुणोपासना और सगुणोपासनाके उत्कर्षापकर्षका प्रश्न है और यहाँ सगुणोपासनाका उत्कर्ष है यही उत्तर है। यहाँ तत्त्वज्ञोंका कहना है कि अर्जुनके प्रश्नका उत्तर विकल्पपुरस्सर किया गया है। अर्थात् सरलताके अभिप्रायसे उत्कर्षापकर्षका प्रश्न है कि फलोत्कर्षके अभिप्रायसे उत्कर्षापकर्षका प्रश्न है? पहले पक्षके अनुसार यह उत्तर है कि सगुणोपासना सरल होनेसे

श्रेष्ठ है—'**मय्यावेश्य मनो ये माम्**' (गीता १२। २) द्वितीय पक्षको लेकर कहा गया है—'**ते प्राप्नुवन्ति मामेव**' (गीता १२। ४) अर्थात् निर्गुणोपासना तो मुझे प्राप्त ही है। यहाँ '**एव**' का सम्बन्ध '**प्राप्नुवन्ति**' के साथ है; क्योंकि उपासनाके अनुसार उपासक उपास्यको प्राप्त होता ही है। अत: '**मां**' के साथ '**एव**' का सम्बन्ध व्यर्थ होकर '**प्राप्नुवन्ति**' के साथ ही **एवकार** का सम्बन्ध होता है। तब उससे व्यवच्छेद होता है। तब सारांश यह निकलता है कि निर्गुणोपासक तो भगवान्‌को प्राप्त ही है, फिर भगवत्प्राप्तिके उत्कर्षापकर्षका क्या प्रश्न? यहाँ प्रसंगानुसार '**अस्मद्**', '**मां**' आदिका कहीं निर्गुण ब्रह्म और कहीं सगुण ब्रह्म अर्थ होता है; क्योंकि भगवान् निर्गुण भी हैं और सगुण भी हैं—

एकु दारुगत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू॥
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसें। जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसें॥

(रा०च०मा० १। २३। ४; १। ११६। ३)

'**मय्यावेश्य**' इत्यादि स्थलोंमें '**मयि**' का अर्थ सगुण साकार सच्चिदानन्द ब्रह्म अर्थ है। '**ते प्राप्नुवन्ति मामेव**' यहाँपर '**मां**' पदका अर्थ निर्गुण ब्रह्म है। क्योंकि '**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।**' (गीता ४। ११) सिद्धान्तके अनुसार सगुणोपासकोंको जैसे भगवान् सगुणरूपसे प्राप्त होते हैं, वैसे ही निर्गुणोपासकोंको निर्गुणरूपसे प्राप्त होते हैं। '**ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तम्**' (गीता १२। ३) इस प्रसंगमें निर्गुणोपासनाका प्रकृत होना स्पष्ट है। अत: वैसे उपासकको निर्गुणब्रह्मकी प्राप्ति युक्त ही है। इस दृष्टिसे यहाँ '**मां**' का अर्थ निर्गुणब्रह्म मानना ही युक्त है। इसीलिये फलदृष्टिसे निर्गुणोपासना श्रेष्ठ है। सरलताकी दृष्टिसे सगुणोपासना श्रेष्ठ है।

कुछ लोग कहते हैं कि यहाँका प्रश्नोत्तर ऐसा है, जैसे किसीने प्रश्न किया—'यमुनाजल श्रेष्ठ या गंगाजल?' इसका उत्तर दिया गया 'यमुनाजल श्रेष्ठ है।' जब फिर गंगाजलके बारेमें पूछा गया, तब कहा गया कि 'गंगाजल तो अमृत है।' जलोंमें यमुनाजल श्रेष्ठ है। ठीक वैसे ही सगुणोपासना श्रेष्ठ है या निर्गुणोपासना? इसके उत्तरमें कहा गया कि सगुणोपासना श्रेष्ठ है। निर्गुणोपासक तो उपास्यस्वरूप ही होता है। '**ते प्राप्नुवन्ति मामेव**' अत: उसके उत्कर्षापकर्षका प्रश्न व्यर्थ है। ऐसे कालिदास और दण्डी कविके उत्कर्षके प्रश्नपर सरस्वतीने कहा—'**कविर्दण्डी कविर्दण्डी।**' कालिदासने जब पूछा कि मैं? तब तो सरस्वतीने कहा—'**त्वन्त्वहमेव**' तुम तो हमारे स्वरूप ही हो। इसी तरह सूरदाससे प्रश्न हुआ कि कविता आपकी श्रेष्ठ या तुलसीदासजीकी? उन्होंने उत्तर दिया—'हमारी कविता श्रेष्ठ है, तुलसीदासजीकी कविता तो कविता नहीं, अपितु मन्त्र है।' निर्गुणोपासनासे निर्गुणब्रह्मका ज्ञान फिर भी पृथक् ही है। निर्गुण ब्रह्म-ज्ञानका साक्षात्कार तो दोनों ही उपासनाओंका अन्तिम फल है। वेदान्तियोंका श्रवण, मनन और निदिध्यासन करके ब्रह्म-साक्षात्कारका पन्थ ज्ञानमार्ग है। तात्पर्य-निर्णय एवं मननादिमें प्रयत्न करके आचार्यमुखसे निर्गुण-स्वरूप जानकर श्रद्धासे उसीकी निरन्तर उपासना करना यह निर्गुणोपासना है। '**अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।**' (गीता १३। २५)

अत: यहाँ ज्ञान और भक्तिकी उत्कृष्टता-अपकृष्टताका प्रश्न ही नहीं है। साथ ही सांख्य और योगके भी उत्कर्षापकर्षका प्रश्न नहीं समझना चाहिये, क्योंकि सांख्यका अर्थ ज्ञाननिष्ठा और योगका अर्थ कर्मनिष्ठा है। अत: इनका भी विषय यहाँ नहीं है, बल्कि निर्गुणोपासना और सगुणोपासना दोनों ही यहाँ कर्मनिष्ठाके भीतर ही हैं; क्योंकि पुरुषतन्त्र मानसी ध्यानादि क्रिया भी कर्म है, अत: विद्यारण्यने अपनी पंचदशीमें इसे योग माना है। कहा भी है—'**यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते**' (गीता ५। ५) अर्थात् ज्ञाननिष्ठोंको जो निर्गुण ब्रह्मपद प्राप्त होता है, योगियोंको भी अर्थात् निर्गुण ब्रह्मोपासकोंको भी साक्षात्कारक्रमेण वही पद प्राप्त होता है। निर्गुणोपासनाकी महिमासे भी निर्गुण ब्रह्मका साक्षात्कार माना जाता है। फिर भी वह विधुरपरिभावित कामिनीके

साक्षात्कारके समान भ्रमात्मक नहीं होता, किंतु प्रमाणसंवादी होनेसे प्रमात्मक ही होता है। कुछ लोग गन्धर्वशास्त्राभ्यासजन्य संस्कारप्रचयसव्यपेक्ष मन:संयुक्त श्रोत्रसे षड्जत्वादिसाक्षात्कारके समान या रत्न-परिचायक शास्त्राभ्यासजन्यसंस्कारसंस्कृत मन:सव्यपेक्ष चक्षुसे रत्नसाक्षात्कारके समान, वेदान्ताभ्यासजन्य-संस्कार-प्रचयसव्यपेक्ष समाहित मनसे ब्रह्मसाक्षात्कार मानते हैं। हर तरहसे निर्गुण ब्रह्मोपासनामें कठिनाई है। किसी भी वस्तुका चिन्तन या तदाकाराकारित वृत्तिका प्रवाह तभी बन सकता है, जब उसकी प्रतीति हो। इधर हम देखते यह हैं कि मनमें शब्द, स्पर्श, रूप, रसादि कोई-न-कोई पदार्थकी स्फूर्ति अनिवार्य रूपसे बनी रहती है, किसी भी दृश्यकी स्फूर्ति रहते निर्विकल्प निर्दृश्य ब्रह्मकी स्फूर्ति असम्भव है। यह एक उपासनाका प्रकार दूसरा है कि जैसे 'आज एकादशी है' इस शब्दके आधारपर प्राणी एकादशी व्रत रहते हैं और उसका चिन्तन करते हैं। फिर भी उसके किसी स्वरूपविशेषका बोध नहीं होता। वैसे ही 'निर्गुण-निराकार निर्विकार ब्रह्म है' ऐसा परोक्षशब्दज्ञानके आधारपर स्वरूपविशेष बिना समझे भी चिन्तनरूप उपासना बन सकती है। फिर भी ठीक उपासना तो तभी बन सकती है, जब निर्विकल्पवस्तुकी स्फूर्ति हो। तब तदाकाराकारित वृत्तिसन्तान या धारा चलायी जा सकती है। अत: जैसे मृत्तिकादि मूर्त द्रव्योंका उत्सारण ही कूप-निर्माण है, किंवा घटसे जलादि निष्कासन ही उसको आकाशसे भरना है, वैसे ही चित्तसे दृश्य-विकल्पको निकालना ही उसे ब्रह्माकार बनाना है और उसे ही निर्गुणोपासना कहा जाता है। इस निर्गुणोपासनाका फल ब्रह्मसाक्षात्कार, अविद्या तत्कार्यात्मकप्रपंचकी निवृत्ति तथा प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न ब्रह्मस्वरूपसे अवस्थिति है। बस, उसके अनन्तर कोई भी फल—अभ्युदय या नि:श्रेयस अवशिष्ट नहीं रहता।

निर्गुणोपासनाके संस्कार बने रहनेसे वेदान्त-श्रवण-मननादि द्वारा तत्त्वसाक्षात्कारमें भी सुविधा रहती है। कारण निरालम्ब या निर्विकल्पालम्ब मनका ही ब्रह्म-साक्षात्कारमें अधिक उपयोग है। यह सब होते हुए भी निर्गुणोपासना देहाभिमानियोंके लिये अत्यन्त कठिन है। वायुको बाँधना या भाद्रपदके अखण्ड गंगाप्रवाहको रोक देना जैसे कठिन है, वैसे ही प्रपंचोन्मुख वृत्तिप्रवाहको निरुद्ध करके निर्विकल्प निर्दिश्य ब्रह्माकारवृत्ति बनानी भी कठिन है। यह तो पूर्ण वैराग्यविवेकसम्पन्न पुरुषका ही विषय है। इसीलिये कहा गया है—'**अत्यन्तवैराग्यवत: समाधि: समाहितस्यैव दृढ: प्रबोध:**' यद्यपि सगुणोपासना भी कठिन है, उसमें भी तो बाह्य विषयोंसे मनका प्रत्यावर्तन करके भगवत्स्वरूपमें ही लगाना पड़ता है, फिर भी वह निर्गुणोपासनाकी अपेक्षा सरल है। कारण भगवान्के मंगलमय नाम, उनके परम पवित्र चरित्रके अभ्याससे भगवान्की मधुर मनोहर मंगलमय मूर्ति मनमें व्यक्त हो सकती है। फिर प्रेमसे तदाकाराकारित-वृत्तिप्रवाहरूप उपासना भी बन सकती है। भगवच्चरित्रादिकी मधुरतासे कभी-कभी प्राणियोंकी रागसे भी प्रवृत्ति हो जाती है। इस तरह सगुणोपासनामें सरलता और निर्गुणोपासनामें कठिनता है। इसलिये सगुणोपासना श्रेष्ठ है।

सगुणोपासना सरल है

यहाँ यह प्रश्न होता है कि जब निर्गुणोपासनाका फल बड़ा है, फिर भले ही वह कठिन हो, वही श्रेष्ठ है। बड़े फलके लिये कठिन परिश्रम—अधिकतर क्लेश, उसके अपकर्षका कारण नहीं हो सकता। बड़े फलके लिये अधिक क्लेश होना युक्त ही है। सगुणोपासना सरल होनेपर भी उसका फल ब्रह्मलोकादि है, जो कि एक तरह संसार ही है। वहाँ अविद्या तत्कार्यात्मक प्रपंचकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती। निर्गुणोपासनासे निरावरण ब्रह्मका साक्षात्कार और तदात्मनावस्थान होता है, फिर निर्गुणोपासनासे सगुणोपासना कैसे श्रेष्ठ हुई? इसका उत्तर यह है कि सगुणोपासना सरल है, साथ ही उससे अन्तरात्माकी शुद्धि, विवेक, वैराग्यादिकी प्राप्ति और श्रवणादिक्रमेण ब्रह्म-साक्षात्कारकी प्राप्ति और श्रवणादि भी हो जाता

है अथवा यहाँ भगवान्‌की कृपासे ही तत्त्वसाक्षात्कार और कैवल्य प्राप्त हो जाता है। भगवदुपासनासे भगवत्कृपा, उससे ज्ञानयोग्यता प्राप्त होनेपर तो एक ही महावाक्यसे तत्त्वसाक्षात्कार हो जाता है। यह बात स्वयं भगवान्‌ने मानी है कि जो लोग सर्वदा समाहित होकर प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करते हैं, उन्हें मैं वह बुद्धियोग (ज्ञानयोग) देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त हो जाते हैं। जो मच्चित्त तथा मद्‌गतप्राण होकर मेरे ही कथन-प्रबोधनमें तुष्ट होकर रमण करते हैं, उनके ऊपर अनुकम्पा करके उनके आत्मभावसे स्थित होकर भासवान (प्रकाशयुक्त) ज्ञानदीपकसे उनके हृदयके अज्ञानरूपी अन्धकारको मैं नष्ट कर देता हूँ—

मच्चित्ता मद्‌गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(गीता १०।९—११)

इस तरह भगवत्कृपाविशेषसे सगुणोपासकोंको भगवान्‌के निर्गुणस्वरूपका साक्षात्कार हो जाता है।

यदि श्रवणादिमें प्रवृत्ति या इस जीवनमें भगवत्कृपा द्वारा तत्त्वसाक्षात्कार न हुआ तो भी मरणकालमें तत्त्वसाक्षात्कार होना सम्भव होता है। यावज्जीवन प्राणीको प्रारब्धानुसार भटकना पड़ता है और पुरुषार्थकी योग्यता होनेसे भगवान् भी उसके पुरुषार्थकी प्रतीक्षा करते हैं; परंतु मरणावसरमें तो फिर भगवान् अपनी अनुकम्पाविशेषसे उसे सुलभ होते हैं। उस समय भगवान् जीवकी असमर्थताका अनुभव करते हुए जीवके प्राथमिक भावोंको देखकर अपनी सहज अनुकम्पासे जीवका कल्याण करते हैं।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८।१४)

अर्थात् जो अनन्य मनसे सदा मेरा भजन करता रहता है, मैं अन्तमें उसे सुलभ होता हूँ। प्राणनिरोध, समाधि आदि न कर सकनेपर भी मृत्युकालीन विषम वेदनाके समयमें मैं अपनी कृपाविशेषसे उसे सुलभ होता हूँ। यदि ऐसा न हुआ तो भी मरणके अनन्तर उसे ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है। वहाँ अपनी भावनाके अनुसार शिव, विष्णु आदि स्वरूपकी प्राप्ति होती है। तरह-तरहका आनन्द मिलता है। वहाँ श्रवण-मननादिसे तत्त्वसाक्षात्कार होकर कल्पान्तमें कैवल्य पद प्राप्त हो जाता है। इस तरह फल वही मिलता है। फिर भी सगुणोपासनामें सरलता, निर्गुणोपासनामें कठिनता है। इसलिये सगुणोपासना श्रेष्ठ है। यही बात भागवतके दो पद्योंमें भी कही गयी है—

पानेन ते देव कथासुधायाः
प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये।
वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं
यथाञ्जसान्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यम्॥
तथापरे चात्मसमाधियोग-
बलेन जित्वा प्रकृतिं बलिष्ठाम्।
त्वामेव धीराः पुरुषं विशन्ति
तेषां श्रमः स्यान्न तु सेवया ते॥

(श्रीमद्भा० ३।५।४५-४६)

अर्थात् हे देव, जैसे सुधीगण आपकी कथा-सुधाका पानकर उससे ही प्रवृद्ध भक्तिद्वारा निर्मलाशय होकर, वैराग्यसार बोधको पाकर अकुण्ठधिष्ण्य आपको प्राप्त हो जाते हैं, वैसे ही दूसरे महानुभाव आत्मसमाधि-योगसे अर्थात् आत्माके श्रवण-विवेचनादिका क्रमेण साक्षात्कार करके बलिष्ठा प्रकृति (देहादिकी स्वाभाविकी प्रवृत्ति)-को जीतकर आपको ही प्राप्त होते हैं। आपकी प्राप्ति दोनोंको बराबर होनेपर भी द्वितीय पक्षके लोगोंको परिश्रम अधिक है। प्रथम पक्षके लोगोंको उतना परिश्रम नहीं है। प्रथम साधकको साधनरूपमें कथा-सुधा (अमृत)-का पान है, फिर उसीकी महिमासे भक्ति, अन्तःशुद्धि, वैराग्य और विज्ञानकी प्राप्ति होती है। दूसरोंको विवेक-वैराग्यादिसहित श्रवणादिद्वारा शरीर-त्रितय, कोशपंचकसे

प्रत्यक्-चैतन्यका विवेचन, आन्तर-बाह्य, व्यष्टि-समष्टि प्रपंचसे प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न शुद्ध ब्रह्मका अन्वेषण, योगाभ्यासद्वारा बाह्यवृत्तियोंका निरोध, अन्तःकरणमें सर्ववृत्तियोंका निरोध करना पड़ता है। इन श्लोकोंके अनुसार '**ते प्राप्नुवन्ति मामेव**' (गीता १२।४)-का भी '**त्वामेव धीराः पुरुषं विशन्ति**' (श्रीमद्भा० ३।५।४६)-के समान ही अर्थ होना चाहिये। अर्थात् सगुणोपासक उपासनाके प्रभावसे ज्ञानद्वारा जिन भगवान्को प्राप्त होते हैं, निर्गुणोपासक भी उन्हीं भगवान्को प्राप्त होते हैं। निर्गुणोपासक-प्राप्यतत्त्व, सगुणोपासक-प्राप्यतत्त्वसे पृथक् नहीं है। यही दोनों स्थलोंके '**एव**' पदका स्वारस्य है।

पुरेह भूमन् बहवोऽपि योगिन-
स्त्वदर्पितेहा निजकर्मलब्धया।
विबुध्य भक्त्यैव कथोपनीतया
प्रपेदिरेऽञ्जोऽच्युत ते गतिं पराम्॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।५)

इस वचनसे भी भगवच्चरणसमर्पणबुद्ध्या कर्मानुष्ठान, कथासुधापान, उससे भक्ति और भक्तिसे ज्ञान प्राप्त करनेके बाद मोक्षप्राप्ति कही गयी है।

यद्यपि कहा जा सकता है कि निर्गुणोपासनामें भी भगवत्कृपा अनिवार्य ही है—'**यो ब्रह्माणं विदधाति**····· '**मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥**' (श्वेताश्वतर० ६।१८) '**तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये।**' (गीता १५।४) इत्यादि वचनानुसार ज्ञानपक्षमें भी भगवच्छरणागति और भगवत्कृपाकी प्रतीक्षा होती है। भगवत्कृपा जैसे सगुणोपासनासे होती है, वैसे ही निर्गुणोपासनासे भी होती है। जब भगवान्के ही दोनों स्वरूप हैं, तब क्या कारण है कि निर्गुणोपासनासे कृपा न हो? बल्कि जब निर्गुणस्वरूप अन्तरंग है और सगुण निर्मलसत्त्वसापेक्ष है, तब तो अन्तरंग प्रियतमनिरपेक्ष निर्गुणस्वरूपके उपासकपर और भी कृपा होनी चाहिये। फिर तो निर्गुणोपासनासे भी भगवत्कृपाद्वारा तत्त्वसाक्षात्कार होगा और इसी पक्षमें '**तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।**' (गीता १०।१०) '**मच्चित्ता मद्गत-प्राणाः**' '**ददामि बुद्धियोगं तम्**' '**तेषामेवानुकम्पार्थम्**' '**नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥**' (गीता १०।९-११) ये सभी श्लोक लगाये जा सकते हैं। जैसे भगवच्चरित्रश्रवणसे भक्ति सम्भव है, वैसे ही वेदान्तद्वारा भगवान्के प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्राह्म-स्वरूपश्रवणसे भी पूर्ण भक्ति उत्पन्न हो सकेगी। फिर निर्गुणोपासनासे सगुणोपासनाकी श्रेष्ठता कैसे हुई? बल्कि निर्गुणस्वरूप अन्तरंग निरपेक्ष होनेसे पूर्ण भक्तिका आस्पद होगा। निर्विशेष आलम्बसे चित्तकी निरालम्बतामें अधिक सहायता मिलेगी। तथापि यह तो मानना ही पड़ेगा कि निर्गुणोपासनासे सगुणोपासनामें सुगमता है। निर्गुणोपासना निर्गुण ब्रह्म-साक्षात्कारके अधिक अनुकूल है। ज्ञानकी प्राप्ति भी भगवत्कृपासे ही होती है। कुछ लोगोंका तो यह भी पक्ष है कि कृपा आदि जिसमें है वह सगुण ब्रह्म है। निर्गुणमें कृपा कैसी? श्रीशंकराचार्य भगवान्ने निर्गुण ब्रह्मके प्रति कहा है—

उदासीनः स्तब्धः सततमगुणः सङ्गरहितो
भवांस्तातः कातः परमिह भवेज्जीवनगतिः।
अकस्मादस्माकं यदि न कुरुषे स्नेहमथ तद्
वसस्व स्वीयान्तर्विमलजठरेऽस्मिन्पुनरपि॥

(प्रबोधसुधाकर २४५)

'हे देव! आप उदासीन, अनमन स्वभाव, कूटस्थ, निर्गुण, संगरहित हमारे तात—पिता हैं। फिर मेरी क्या गति है? देव! यदि आप हमपर निष्प्रयोजन स्नेह नहीं करते तो भी हमारा हृदय आपका भवन है, वहाँ आप निवास तो कीजिये।' इस तरहके स्तवनसे सिद्ध होता है कि निर्गुणमें दया, कृपारूप गुणोंका अस्तित्व नहीं होता। अतएव माया-मोहकी निवृत्तिके लिये भगवान्की मायाका वर्णन युक्त है—**मायां वर्णयतोऽमुष्य ईश्वरस्यानुमोदतः। शृण्वतः श्रद्धया नित्यं माययाऽऽत्मा न मुह्यति॥** (श्रीमद्भा० २।७।५३) भगवान्की मायाका श्रद्धासे वर्णन, श्रवण, अनुमोदन करनेवाले पुरुषकी आत्मा मायासे मोहित नहीं होती। यहाँ भगवदीयत्वेन भगवद्वशीभूता मायाका वर्णन होता है। इसीलिये माया-मोहसे मुक्ति

मिलती है, उसी तरह भगवत्सापेक्ष भगवदीयसत्त्वके वर्णनसे सत्त्वसे ज्ञान द्वारा गुणोंकी निवृत्ति '**कण्टकेन कण्टकोद्धारः**' न्यायसे प्राप्त होती है।

इस तरह सगुणोपासनामें सरलता होती है और कृपाका अवकाश रहता है। तथापि जैसे भगवत्कृपासे भी भक्तिकृपाका महत्त्व अधिक समझा जाता है, वैसे ही निर्गुणोपासना ही स्वयं कृपाकर प्राणीका कल्याण कर सकती है और सगुण भगवान् ही अपने निर्गुणस्वरूपके उपासकपर पूर्ण कृपा करते हैं। फिर देहाभिमान मिटनेपर निर्गुणोपासना भी सरलतासे हो सकेगी, जैसे—'**तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥**' (गीता ५।२) इस वचनसे कर्मसंन्याससे कर्मयोगका श्रेष्ठ होना सम्भव है, वैसे ही निर्गुणोपासनासे सगुणोपासनाको श्रेष्ठ कहना युक्त है। भले ही किसी दृष्टिसे संन्यास ही श्रेष्ठ हो, परंतु '**सन्न्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।**' (गीता ५।६) '**न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।**' (गीता ३।४) इत्यादि वचनोंसे यह भी सिद्ध ही है कि योग (कर्मयोग) बिना नैष्कर्म्य प्राप्त हो ही नहीं सकता। बिना योगके संन्यास केवल दुःखका मूल है। निर्गुण-निराकारकी उपासनासे सगुण-निराकारकी उपासना सरल है और सगुण-निराकारकी उपासनासे भी सगुण-साकार ब्रह्मकी उपासना सरल है। मनको प्रथम आकार और गुणोंके चिन्तनमें, पश्चात् निर्गुण-निराकार केवल ब्रह्ममें लगाता जाय। इस तरह अनायासेन चित्त परमतत्त्वमें प्रतिष्ठित हो जाता है। फिर जहाँ निर्गुण-निराकार परब्रह्म ही सगुण-साकार परब्रह्ममें व्यक्त है; वहाँ तो निर्गुण-सगुणमें भेद कुछ है ही नहीं। इतनेपर भी निर्गुणोपासनामें कठिनाई है और सगुणोपासनामें सरलता ही है। निर्गुणमें चित्तकी स्वारसिकी प्रवृत्ति नहीं होती; सगुणमें स्वारसिकी प्रवृत्ति होती है। इन दृष्टियोंसे सगुणोपासनाको श्रेष्ठ कहना युक्त ही है।

इस तरह जब कर्म बिना संन्यास केवल दुःखका ही मूल है। सच्चा संन्यास उसीसे होता है। कर्मोंके आरम्भ बिना नैष्कर्म्य मिलता ही नहीं, तब फिर संन्याससे कर्मको श्रेष्ठ कहना युक्त ही है। इसी तरह जब सगुणोपासना बिना चित्तशुद्धि तथा निर्गुणोपासना बनती ही नहीं और उसके अनन्तर बड़ी सरलतासे निर्गुणोपासना और तत्त्वसाक्षात्कार हो जाता है, तब निर्गुणोपासनासे सगुणोपासनाको श्रेष्ठ कहना युक्त ही है। कुछ लोग 'वानरीवृत्ति एवं वैडालिकीवृत्ति' से भी भक्तिका महत्त्व कहते हैं। विडालशिशु स्वयं निश्चेष्ट रहता है, उसका भरण-पोषण, उत्थापन-स्थापन सब कुछ माताके ऊपर ही निर्भर रहता है। वानरशिशु स्वयं ही माँको सावधानीसे पकड़ लेता है। इसी तरह भक्त केवल भगवान्‌के आश्रित रहता है, उसकी रक्षाका भार भगवान् ही ग्रहण करते हैं। '**तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।**' (गीता १२।७) परञ्च ज्ञानी स्वयं ज्ञान-बलके द्वारा, संसार-बन्धनसे मुक्त होता है।

एक बालक स्वयं पिताका हाथ पकड़कर चलता है, उसके गिरनेकी सम्भावना हो सकती है, परंतु जिस बालकका हाथ पकड़कर पिता चलता है, वह तो कूद-फाँदकर चलता हुआ भी निर्भय ही रहता है। इसी तरह भगवान्‌को आत्मसमर्पण करके भक्त निर्भय हो जाता है—

गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई॥
प्रौढ़ भएँ तेहि सुत पर माता। प्रीति करइ नहिं पाछिलि बाता॥
मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी॥
जनहि मोर बल निज बल ताही। दुहु कहँ काम क्रोध रिपु आही॥

(रा०च०मा० ३।४३।६—९)

ज्ञानी और भक्त दोनोंको ही काम-क्रोधादि तरह-तरहके उपद्रव—बखेड़े होते हैं। वहाँ ज्ञानी भगवदाश्रित होकर उनसे बचनेका प्रयत्न करता है, परंतु भक्तको तो भगवान् ही बचाते हैं। इसी अभिप्रायसे यह भी कहा गया है कि ज्ञान-वैराग्य आदि पुरुषजातिके ऊपर मायाका प्रभाव पड़ता है, परंतु भक्ति तो मायाके समान ही नारिवर्गकी है। अतः उसपर मायाका प्रभाव नहीं चढ़ता—

माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ। नारि बर्ग जानइ सब कोऊ॥

(रा०च०मा० ७।११६।३)

मोह न नारि नारि कें रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा॥

(रा०च०मा० ७। ११६। २)

पुनि रघुबीरहि भगति पिआरी। माया खलु नर्तकी बिचारी॥
भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया॥

(रा०च०मा० ७। ११६। ४-५)

भक्तिपर मायाकृत उपद्रव व्यर्थ हो जाते हैं, इसीलिये उसे दिव्यमणि कहा है। ज्ञानपर उपद्रवोंके साफल्यकी सम्भावना होती है, इसीलिये उसे दीपक कहा है। श्रीभगवान्‌के शरण होकर उनमें आत्मसमर्पण करके प्राणी अत्यन्त निर्भय हो जाता है। फिर तो उसके रक्षक भगवान् ही हो जाते हैं।

यहाँ ज्ञानपक्षके पोषकोंका कहना है कि ज्ञान दीपक भी नहीं, मणि भी नहीं, अपितु दिव्य सूर्य है। उसके उदय होते ही अविद्या, अन्धकार और उसके उपद्रव एवं तत्सम्बन्धी उलूकादि सब मिट जाते हैं। अविद्या, तत्कार्यात्मक प्रपंचके मिटनेका दूसरा उपाय ही नहीं है। शरणागति, आत्मसमर्पण भी पूर्णरूपसे ज्ञान पक्षमें ही बनता है। ज्ञान बिना प्राणी देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धितकका समर्पण कर सकता है, परंतु आत्माका तो समर्पण तभी बन सकता है, जब प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न परब्रह्मका बोध हो। जैसे घटाकाश महाकाशमें आत्मसमर्पण करता है, तरंग महासमुद्रमें आत्मसमर्पण करती है, वैसे ही जीवात्मा देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि अहंकारसे भिन्न चिदात्मरूपको शुद्धब्रह्ममें समर्पण कर देता है और तभी आश्रयत्वेन या संरक्षकत्वेन वरणरूप शरणागति प्राप्त होती है। इसी पक्षका समर्थन—'**मामेकं शरणं व्रज।**' (गीता १८। ६६) '**मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥**' (गीता ७। १४) इत्यादिमें किया गया है। भगवत्स्वरूप प्रपत्ति या शरणागतिमें मायाकी निवृत्ति होती है, तभी समस्त अनर्थोंकी निवृति होती है।

भगवान्‌की प्रीति, भक्ति परम कल्याणमयी होती है, इसमें सन्देह ही क्या? महानुभावोंने भक्ति और ज्ञानके साध्य, साधन और स्वरूपमें भेद कहा है। द्रवीभूत मनकी सगुण, साकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्माकाराकारित मानसीवृत्ति भक्ति है और द्रवानपेक्ष मनकी निर्विकार परब्रह्माकार मानसीवृत्ति ज्ञान है। भगवद् गुणगणालंकृत ग्रन्थोंके श्रवण, मननसे भक्ति होती है, साधनसम्पन्न होकर शुद्ध-बुद्धमुक्तब्रह्मबोधक वेदान्त ग्रन्थोंके श्रवणसे ज्ञान होता है। भक्तिमें प्राणिमात्रका अधिकार है। ज्ञानमें साधनचतुष्टयसम्पन्न उच्च अधिकारीका ही अधिकार है। ज्ञानका फल निर्विकार ब्रह्मात्मनाऽवस्थान और निखिलरसामृतमूर्ति भगवान्‌के आकारसे आकारित मानसीवृत्तिरूपा भक्तिका फल भगवत्सायुज्यादिकी प्राप्ति है, परंतु साम्प्रदायिकोंकी दृष्टिमें तो भगवत्सामीप्यादिकी प्राप्ति ही मुख्य फल है। भक्तिका फल भक्ति ही है, उससे बढ़कर कोई भी फल नहीं—

मद्‌गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥

(श्रीमद्भा० ३। २९। ११)

भगवान्‌के गुणगणश्रवणमात्रसे समुद्रोन्मुख गंगा-प्रवाहके समान सर्वगुहाशायी भगवान्‌में गंगाजलके समान द्रवीभूत निर्मल मनकी वृत्तिसन्तति ही भक्ति है—

भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि।
मनोगतस्तदाकाररसतामेति पुष्कलम्॥

परमानन्द रसात्मक भगवान् ही भक्तके द्रवीभूत मनपर व्यक्त होकर भक्तिपदसे कहे जाते हैं। कोमलचित्त प्राणी भक्तिका मुख्य अधिकारी है।

यद्यपि साधनसे कठोर चित्तमें भी द्रवता होती है तथापि उसके लिये ज्ञान अच्छा है। ज्ञानी निर्गुण भक्तिके अतिरिक्त सगुण भक्ति भी करता है, परंतु उसको भक्तिका भगवत्प्रेमानन्दका रसास्वादनरूप दृष्ट ही फल है, मुक्तिरूप अदृष्ट फल तो ज्ञानसे ही उसे प्राप्त है। शिशुपालादि तामस, राजस भक्तोंको मुक्तिरूप अदृष्ट ही फल होता है, दृष्ट फल नहीं होता, परंतु भक्तको तो प्रेमानन्दमय दृष्ट फल और ज्ञानक्रमेण मुक्तिरूप अदृष्ट फल भी प्राप्त होता है।

देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या॥

लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्॥

(श्रीमद्भा० ३।२५।३२; ३।२९।१२)

शब्द-स्पर्शादि विषयोंके उपलम्भसे अनुमित होनेवाले श्रौतस्मार्तकर्मपरायण आन्तर-बाह्य करणोंकी सत्त्व (सत्त्वोपाधिक विष्णु किंवा सत्तामात्र परब्रह्म)-में जो स्वाभाविकी वृत्ति है, वही भक्ति है। अर्थात् श्रौतस्मार्त कर्मोंसे शुद्धनिर्मल बाह्य इन्द्रिय और अन्त:करणकी ब्रह्मप्रवणता या भगवत्परायणता ही भक्ति है। यह भक्ति अन्नमयादि पंचकोशोंको उसी तरह जला डालती है, जैसे भक्षित अन्नको जठराग्नि पचा डालती है। **'जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा॥'** (श्रीमद्भा० ३।२५।३३) निर्गुणब्रह्म या सगुणब्रह्ममें, तत्रापि काम, क्रोध, स्नेहसे, यथा कथंचित् मनकी उन्मुखता ही भक्ति है।

श्रीव्रजांगनाओंने भगवद्विप्रयोगाग्निसे स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों शरीर, अन्नमयादि पाँचों कोशोंको जलाकर विशुद्ध परमानन्दरसात्मक ब्रह्मको प्राप्त कर लिया। भक्तिके कुछ लक्षण सगुण, निर्गुणमें समान हैं। कुछ सगुण भक्तिमें ही पर्यवसित होते हैं। ज्ञानीको निर्गुण परब्रह्ममें तो स्वाभाविकी भक्ति होती ही है, साथ ही सगुण भक्ति भी होती है। इस आशयसे कहा गया है—

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः॥

(श्रीमद्भा० १।८।२०)

कुन्तीका कहना है कि हे देव! आप अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्रोंको भक्ति-योगविधान करनेके लिये सगुण, साकारस्वरूप ग्रहण करते हैं। यद्यपि आपका निर्गुण, निराकार, निर्विकारस्वरूप समस्त प्राणियोंके निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेमका आस्पद है तथापि अनादि महामायाके प्रभावसे उसकी परमानन्दरसरूपता परप्रेमास्पदता तिरोहित-सी है।

जैसे मधुर मिश्री भी पित्तदोषोपहत रसनावाले प्राणीको कटु प्रतीत होती है, वैसे ही निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेमास्पद प्रत्यक्चैतन्याभिन्न निर्गुणब्रह्ममें प्रेमकी कमी भासित होती है। इसीलिये विवेकी लोग यह चाहते हैं कि जैसे, अविवेकियोंको विषयोंमें, कामुकको कामिनीमें उत्कट प्रेम होता है, वैसे ही भगवान्में मनकी आसक्ति हो। इसीलिये कहा गया है कि—

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥

(श्रीमद्भा० ६।१४।५)

कोटि-कोटि मुक्त-सिद्धोंमें भी नारायणपरायण दुर्लभ हैं।

ज्ञानियोंमें भी प्रारब्ध कर्म अवशिष्ट रहनेके कारण दृश्य द्वैतदर्शनकालमें शुद्धचिदात्मतत्त्वकी पूर्ण रसात्मकताका अनुभव और निरतिशय प्रेम नहीं व्यक्त होता। इसीलिये सविशेष साकार स्वजनरूपसे प्रकट परमात्मतत्त्वमें शुद्ध भक्ति, प्रीतिकी अपेक्षा होती है। इसलिये ही ज्ञानी महानुभावोंका भी भगवान्के मधुर चरित्रों और मंगलमयी मूर्तिमें आकर्षण होता है, परंतु इतनेसे उनकी ज्ञाननिष्ठा या निर्गुण सिद्धान्तसे प्रच्युति मान लेना केवल बालकपन है।

सीय बिलोकि धीरता भागी। रहे कहावत परम बिरागी॥

(रा०च०मा० १।३३८।५)

जहाँ यह बात कही गयी है, वहीं परम ब्रह्मनिष्ठ विदेहके मोह और ज्ञान-वैराग्यके शैथिल्यकी बात कही गयी है। वह केवल प्रभु रघुनाथके स्नेहकी महिमा है।

मोह मगन मति नहिं बिदेह की। महिमा सिय रघुबर सनेह की॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

(रा०च०मा० २।२८६।८; १।२१६।५)

इत्यादि वचनोंका भी यही तात्पर्य है कि केवल अन्त:करणसे अनुभूत निर्गुणब्रह्मकी अपेक्षा दिव्यलीलाशक्तियुक्त ब्रह्ममें विशिष्टसरसताकी अनुभूति होती है। जैसे आदित्यमण्डलका कोई केवल नेत्रसे अनुभव करता है, परंतु कोई दूरवीक्षण यन्त्रोपहित नेत्रोंसे उसी आदित्यका अनुभव करता है। प्रथम अनुभवसे दूसरे अनुभवमें जैसे विशेषता होती है, वैसे ही केवल अन्त:करणसे तत्त्वानुभवकी अपेक्षा

दिव्यलीलाशक्तियुक्त ब्रह्मतत्त्वमें विशिष्टमाधुर्यका अनुभव होता है; परंतु सर्वोपाधिविनिर्मुक्त ब्रह्म-भावापन्न मुक्तको तो अभेदेन अनन्त, अखण्डरसात्मक वस्तुकी अनुभूति होती है। विवेकियोंका कहना है कि यदि पुष्पमें घ्राणशक्ति हो तब ही पुष्पके मनोरम सौगन्ध्यका पूर्णरूपसे आस्वादन किया जा सकता है। इस दृष्टिसे अत्यन्त अभेदमें ही अनन्त-रसकी अनुभूति होती है। फिर भी जीवन्मुक्तकालमें अन्त:करणादि उपाधियाँ विद्यमान ही रहती हैं। अत: उसके द्वारा पूर्णरूपसे अपरिमितानन्दकी अनुभूति नहीं होती। दिव्यलीलाशक्तिके योगसे कहीं अधिक रसकी अनुभूति होती है। इसके सिवा रागानुगाप्रीतिके लिये सगुणब्रह्मकी उपासनाकी जाती है। इसीलिये मुक्ति आदिसे निरपेक्ष होकर, जीवन्मुक्त लोग भगवान्‌के सगुणरूपमें प्रेम करते हैं—

अस तव रूप बखानउँ जानउँ। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ॥

(रा०च०मा० ३।१३।१३)

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

(श्रीमद्भा० १।७।१०)

आत्माराम एवं चिज्जडग्रन्थि जिनकी छूट गयी है, ऐसे मुनि भी उरुक्रम भगवान्‌में अहैतुकी भक्ति करते हैं। कृतकृत्य, पूर्णकाम, आप्तकाम, परम निष्काम होनेपर भी भगवान्‌के अद्भुतगुणोंके प्रभावसे भगवान्‌में आकर्षित होते हैं। यद्यपि पूर्णकामकी भक्तिमें प्रवृत्ति अनुचित ही जान पड़ती है तथापि भगवान्‌के अद्भुतगुण ही इस अनौचित्यका समाधान करते हैं। 'त्रिपुरसुन्दरीरहस्य' में अद्वैतवादी ज्ञानीको भक्तिका प्रकार बतलाया गया है। '**यत्सुभक्तैरतिशयप्रीत्या कैतववर्जनात्, स्वभावस्य स्वरसतो ज्ञात्वाऽपि स्वाद्वयं पदम्। विभेदभावमाहृत्य सेव्यतेऽत्यन्ततत्परैः।**' सुभक्त ज्ञानी लोग फलानुसन्धानरूप कैतव (कपट)-से वर्जित होकर, परमतत्त्वकी आराधना करते हैं। अज्ञानीके लिये तो किसी-न-किसी फलकी कामना रहती ही है।

जीवन्मुक्तकी भी भगवान्‌के भजनमें अभिरुचि

यहाँ प्रश्न होता है कि जब प्रयोजनके बिना मन्दकी भी प्रवृत्ति नहीं होती, फिर कृतकृत्य, जीवन्मुक्त सगुण भगवान्‌के भजनमें क्यों लगेगा? इसका उत्तर है, '**स्वभावस्य स्वरसतः**' अर्थात् उसका भजन करनेका स्वभाव पड़ जाता है। '**स्वाभावो भजनं हरेः**' स्वभावसे ही अद्वैततत्त्व जानकर भी, आहार्य द्वैतसे प्रीतिपूर्वक ज्ञानी तत्परतासे भगवान्‌का भजन करता है—**पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे। तादृशी यदि भक्तिः स्यात् सा तु मुक्तिशताधिका॥** पारमार्थिक अद्वैत और भजनके लिये द्वैत, बस इस भावनासे जो भक्ति है, वह तो मुक्तिसे भी बढ़कर है। **द्वैतं मोहाय बोधात् प्राक् जाते बोधे मनीषया। भक्त्यर्थं भक्तिं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥** अद्वैत-तत्त्वसाक्षात्कारके पहले द्वैत केवल मोहके लिये है, परंतु तत्त्वबोधके उपरान्त भक्तिके लिये जो द्वैत है, वह तो अद्वैतसे भी सुन्दर है।

तत्त्वज्ञकी अद्वैतात्मना अवस्थिति और भगवान्‌का भजन दोनों ही समान हैं। तत्त्वज्ञानी होनेपर भी व्यवहारमें भेद-भावसे भगवान्‌का भजन वैसे ही सरस है, जैसे प्रियतमाका घूँघटपटकी ओटसे प्रियतमका वीक्षण—

प्रियतमहृदये वा खेलतु प्रेमरीत्या
पदयुगपरिचर्यां प्रेयसी वा विधत्ताम्।
विहरतु विदितार्थो निर्विकल्पे समाधौ
ननु भजनविधौ वा तुल्यमेतद् द्वयं स्यात्॥
विश्वेश्वरोऽपि सुधिया गलितेऽपि भेदे
भावेन भक्तिसहितेन समर्चनीयः।
प्राणेश्वरश्चतुरया मिलितेऽपि चित्ते
चैलाञ्चलव्यवहितेन निरीक्षणीयः॥

जैसे अयस्कान्त मणिमें लोहेका आकर्षण करनेकी विचित्र सामर्थ्य होती है, वैसे ही भगवान्‌में आत्मारामोंके आकर्षण करनेकी सामर्थ्य होती है। इसी दृष्टिसे सनकादि, शुकादिके समान कितने ही परमहंस, महामुनीन्द्र भगवान्‌के स्वरूप माधुर्य एवं सरस चरित्रों

द्वारा खिंच जाते हैं—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः ।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
सङ्क्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥

(श्रीमद्भा० ३। १५। ४३)

अरविन्दनयन भगवान्‌के श्रीचरणारविन्द किंजल्क-मिश्रतुलसीदलमकरन्दके हृद्‌गत होते ही सनकादिकोंके निर्विकार मनमें भी क्षोभ हो गया। **स्वसुखनिभृत-चेतास्तद्व्युदस्तान्यभावोऽप्यजितरुचिरलीला-कृष्टसारस्तदीयम्।** (श्रीमद्भा० १२। १२। ६८)

स्वस्वरूपभूत परमानन्दसे भरपूर चित्तवाले तथा निरस्त समस्तद्वैतजाल श्रीशुकाचार्य भी भगवान्‌की लीलाओंपर मुग्ध होकर आकर्षित हो उठे। औरकी तो कौन कहे, स्वयं अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक श्रीभगवान् ही अपने विचित्र सौन्दर्य, माधुर्यमें मुग्ध हो जाते हैं—

यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोग-
मायाबलं दर्शयता गृहीतम्।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः
परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्॥

(श्रीमद्भा० ३। २। १२)

भगवान् अपनी अचिन्त्य, अद्भुतयोगमायाके बलसे भूषणोंको भी भूषित करनेवाले, मंगलमय श्रीअंगको धारण करते हैं, जिससे वे स्वयं मोहित हो जाते हैं, उन्हें स्वयं विस्मय होने लगता है। लोकपालकिरीटकोटिपीडितपादपीठ असाम्यातिशय प्रभु जिस समय श्रीमन्नन्दरानीके मणिमयस्तम्भों या प्रांगणमें प्रतिबिम्बित अपनी ही श्रीमूर्तिको देखते हैं, उस अपने ही सौन्दर्य-माधुर्यपर मुग्ध होकर, उसके परिरम्भणके लिये व्यग्र हो उठते हैं और उसमें असफल होनेपर श्रीअम्बाका वदन विलोककर रुदन करने लगते हैं—

रत्नस्थले जानुचरः कुमारः
सङ्क्रान्तमात्मीयमुखारविन्दम् ।
आदातुकामस्तदलाभखेदा-
न्निरीक्ष्य धात्रीवदनं रुरोद॥

फिर योगीन्द्र मुनीन्द्रगण उसपर मुग्ध हो जायँ, इसमें आश्चर्य ही क्या? परंतु इससे ज्ञानकी न्यूनता नहीं होती; क्योंकि ज्ञान और ज्ञानी श्रीभक्ति महारानीको सदा पूजें, इसीमें तो उनकी बड़ाई है। योग्य पुत्रका यही कर्तव्य है। ऐसे ही पुत्रसे पुत्रवती युवती धन्य होती है।

भक्तिरसामृतास्वादन

श्रीभगवद्धर्मसे द्रुत शुद्ध हृदयमें प्रादुर्भूत निरुपम सुखसंविद्रूप, दुःखकी छायासे विनिर्मुक्त श्रीभक्तिका माहात्म्य यत्र-तत्र शास्त्रोंमें वर्णित है। सर्वाधिष्ठान, परमानन्दस्वरूप, औपनिषद परम पुरुषकी रसस्वरूपता **'रसो वै सः'** इत्यादि श्रुतियोंमें प्रसिद्ध है। लौकिक आनन्दोंमें भी उसी रसस्वरूप भगवान्‌की आंशिक अभिव्यक्ति होती है। रसके विषय एवं आश्रयकी मलिनतासे शुद्ध रसमें भी मालिन्यकी प्रतीति होती है। भक्तिरसायनकारने कहा है—**'किञ्च न्यूनाञ्च रसतां याति जाड्यविमिश्रणात्'** (१। १३) अर्थात् विषयावच्छिन्नचैतन्य ही द्रवावस्थापन्न अन्तःकरणकी वृत्तिपर उपारूढ़ होकर भावरूपताको प्राप्तकर पीछे रसस्वरूप हो जाता है। लौकिक रस परमानन्दस्वरूप नहीं हो सकता, किंतु भक्तिरसमें अनवच्छिन्न-चिदानन्दघन भगवान्‌की स्फूर्ति होती है, अतः वह परमानन्दस्वरूप है। इसलिये जो लोग श्रीकृष्णविषयक रतिको रसरूप नहीं, भावरूप ही मानते हैं—क्योंकि देवताविषयक रति भावस्वरूपा ही होती है—उनका मत ठीक नहीं है; क्योंकि श्रीकृष्णभिन्नदेवताविषयक रति भावरूपा होती है। भगवान् श्रीकृष्ण परमानन्द-स्वरूप हैं, अतः कृष्णविषयक रति रसरूपा ही होगी, भावरूपा नहीं। बल्कि कान्तादिविषयक रतिकी वैसी

रसता पुष्ट नहीं होती, जैसी भगवद्विषयक रतिकी। श्रीमधुसूदनसरस्वतीने कहा है कि—भगवद्विषयिणी रति परिपूर्णरसस्वरूप होनेके कारण क्षुद्रकान्तादिविषयक रतिसे वैसी ही बलवती है, जैसे खद्योतोंसे आदित्यप्रभा—

परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रतिः।
खद्योतेभ्य इवादित्यप्रभेव बलवत्तरा॥

(भक्तिरसा० उल्ला० २ कारि० ७७)

विषय और आश्रय दोनों या दोनोंमेंसे एक यदि रसात्मक हो तो रति भी विशुद्ध रसस्वरूप होती है। विशेषतः समुद्वेलित सम्प्रयोग-विप्रयोगात्मक उद्बुद्ध उभयविध शृंगाररससारसर्वस्व भगवान् ही मनोवृत्तिमें विशिष्ट रसभावको प्राप्त करते हैं। जैसे रसमें रसोद्रेककी कल्पना होती है, वैसे ही यहाँ भी कल्पना की गयी है। भगवद्धृदयस्थ पूर्णानुराग-रससारसागर-समुद्भूत, निर्मल, निष्कलंक चन्द्रस्वरूपिणी श्रीवृष-भानुनन्दिनी राधारानी एवं श्रीराधारानीके हृदयमें विराजमान श्रीकृष्णविषयक प्रेमरससारसागर-समुद्भूत चन्द्ररूप व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण हैं। अतः यहाँ प्रेम सदानन्दैकरसस्वरूप है; क्योंकि विषय-आश्रय दोनों ही रसस्वरूप हैं, जबकि अन्यत्र विषय-आश्रय आदि विजातीय होते हैं, रसस्वरूप नहीं। इसी तरह भगवान्की लीला, लीला करनेका स्थान, लीलापरिकर और उद्दीपनादि-सामग्री भी रसस्वरूप ही है। सच्चिदानन्द-रससारसरोवरसमुद्भूत सरोज, केसर, पराग एवं मकरन्दस्वरूप व्रज, व्रजसीमन्तिनीवृन्द, श्रीकृष्ण एवं उनकी प्रेयसी श्रीवृषभानुनन्दिनी राधारानी सभी रसात्मक ही सिद्ध होते हैं—

'यत्र प्रविष्टः सकलोऽपि जन्तुरानन्दसच्चिद्-घनतामुपैति।' 'सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः॥' —इत्यादि वचन इसमें प्रमाण हैं।

यह सारी बातें ब्रह्मवादमें ही बन सकती हैं, इसलिये ब्रह्मवित्तम श्रीमधुसूदनसरस्वतीने **'भक्तिरसायन'** ब्रह्मवादके अनुरोधसे ही बनाया है। भक्तिरसामृतके रसिक अन्य महानुभावोंने भी कहा है कि मुक्त मुनि जिस फलको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते परेशान रहते हैं, उसीको देवकीरूप वृक्षने फला, यशोदाने पकाया तथा गोपियोंने यथेष्ट उसका उपभोग किया। यशोदाकी मंगलमयी गोदमें चिदानन्दसरोवरसे नीलकमलके समान श्यामतेज प्रकट हुआ। अन्य भक्त कहते हैं—वह ऐसा फल था, जिसका भृंगोंने आघ्राण नहीं किया, वायुने जिसका सौगन्ध्य नहीं उड़ाया, जो जलमें उत्पन्न नहीं हुआ, लहरियोंके कणसे जो टकराया नहीं और कभी किसीने जिसे कहीं देखा नहीं।

एक भक्त कहता है—निगम वनमें फल ढूँढ़ते-ढूँढ़ते यदि नितान्त खेदयुक्त हो गये हों तो इस उपदेशको सुनें—उपनिषदोंके परम तात्पर्यका विषय प्रत्यक्चैतन्या-भिन्न परब्रह्म गोपियोंके घरमें उलूखलसे बँधा पड़ा है।

दूसरा भक्त कहता है—सखि! एक कौतुककी बात सुनो—श्रीमन्नन्दरायके प्रांगणमें धूलिधूसरित होकर वेदान्तसिद्धान्त थेई-थेई करके नृत्य करता हुआ मेरे द्वारा देखा गया है।

एक अन्य भक्त कविने कहा है कि श्यामल मोहमयी मूर्ति भगवान् श्रीकृष्ण मानो गोपांगनाओंके पुंजीभूत प्रेम ही हैं या यदुवंशियोंके मूर्तिमान् सौभाग्य हैं अथवा श्रुतियोंके गुप्तवित्त ब्रह्म हैं—

मुक्तमुनीनां मृग्यं किमपि फलं देवकी फलति।
तत्पालयति यशोदा प्रकाममुपभुञ्जते गोप्यः॥

अनाघ्रातं भृङ्गैरनपहृतसौगन्ध्यमनिलै-
रनुत्पन्नं नीरेष्वनुपहतमूर्मीकणभरैः।
अदृष्टं केनापि क्वचन च चिदानन्दसरसो
यशोदायाः क्रोडे कुवलयमिव तदौजः समभवत्॥

परमिममुपदेशमाद्रियध्वं निगमवनेषु नितान्तखेदखिन्नाः।
विचिनुत भवनेषु बल्लवीनामुपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम्॥

शृणु सखि कौतुकमेकं नन्दनिकेताङ्गणे मया दृष्टम्।
गोधूलिधूसरिताङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः॥

पुञ्जीभूतं प्रेमगोपाङ्गनानां
मूर्तीभूतं भागधेयं यदूनाम्।

एकीभूतं गुप्तवित्तं श्रुतीनां
श्यामीभूतं ब्रह्म मे सन्निधत्ताम्॥

निखिलरसामृतमूर्ति भगवान्‌की सब अलंकारादि सामग्री रसस्वरूप ही है। सौरभ्यसे उनका उद्वर्तन (उबटन), स्नेहसे अभ्यंजन (मालिश), माधुर्य अथवा स्वांग तेजसे स्नान, लावण्यसे मार्जन, सौन्दर्यसे अनुलेपन और त्रैलोक्यलक्ष्मी (शोभा)-से शृंगार होता है। श्रीवृषभानुनन्दिनी भी महाभावस्वरूपा हैं। सखियोंके प्रणयरूप सद्‌गन्धसे उनका उबटन तथा कारुण्यामृतधारा-लावण्यामृतधारा-तारुण्यामृतधारासे स्नान होता है, लज्जारूप श्यामपट्टवस्त्र वे परिधान किये रहती हैं और उज्ज्वल कस्तूरीविरचित उनकी देह है एवं कम्प-अश्रु-पुलक-स्तम्भादि उनके अलंकारस्वरूप रत्न हैं। श्रीकृष्णका परिधानरूप पीताम्बर श्रीराधारानी एवं श्रीराधारानीके कज्जल, मृगमद, कर्णोत्पल, नीलाम्बर आदि श्रीकृष्ण ही हैं—

श्रवसोः कुवलयमक्ष्णोरञ्जनमुरसो महेन्द्रमणिदाम।
वृन्दावनतरुणीनां मण्डनमखिलं हरिर्जयति॥

शृंगार रसकी अंगिता और उज्ज्वलता अनौपचारिकरूपसे राधा-कृष्णमें ही बनती है। कृष्णविषयक काम, क्रोध, भयादिका भी पर्यवसान कृष्णप्राप्तिमें ही है। जैसे कोई दीपबुद्धिसे चिन्तामणि ग्रहण करनेमें प्रवृत्त होता है तो उसे चिन्तामणिकी ही प्राप्ति होती है, वैसे ही जारादि भावनासे भी जो भगवान् श्रीकृष्णमें प्रवृत्ति होती है, उससे भगवत्प्राप्ति ही होती है। लौकिक जारधर्म परलोकादिको नष्ट करता है और भगवान् पंचकोश, अविद्या, काम, कर्मादिको नष्ट करते हैं, इसलिये जार हैं—

तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥
कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। ११, १५)

—इत्यादि वचन इसमें प्रमाण हैं। यद्यपि अनिमित्ता भक्ति ही कोशको जीर्ण करती है तो भी सनिमित्ता भक्तिका पर्यवसान भी अनिमित्ता भक्तिमें ही होता है। यद्यपि अनिमित्ता पराभक्ति स्वतःसिद्ध है तो भी जैसे कच्चा आम, पके हुए आमका कारण होता है, वैसे ही अपरा भक्ति पराभक्तिका कारण होती है। ऐसा माननेपर ही—

अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा॥
स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम्।
भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम्॥

(श्रीमद्भा० ३। २५। ३३; ११। ३। ३१)

—इत्यादि वचनोंकी संगति लगती है।

प्रेम वाणीका विषय नहीं

रसात्मक प्रेम रसस्वरूप ही है। कहा भी गया है कि प्रादुर्भावके समय जिसने जरा भी हेतुकी अपेक्षा नहीं की, जिसके स्वरूपमें अपराधपरम्परासे हानि एवं प्रणामपरम्परासे वृद्धि नहीं होती, जो अपने निजी रसास्वादके सामने अमृतास्वादको भी तुच्छ कर देता है और जो तीनों लोकके दुःखका विनाश करता है, उस महान् प्रेमको वाणीका विषय बनाकर ओछा क्यों किया जाय—

प्रादुर्भावदिने न येन गणितो हेतुस्तनीयानपि
क्षीयेतापि न चापराधविधिना नत्या न यो वर्धते।
पीयूषप्रतिवादनस्त्रिजगतीदुःखद्रुहः साम्प्रतं
प्रेम्णस्तस्य गुरोः किमद्य करवै वाङ्निष्ठतालाघवम्॥

वाणीका विषय बनाते ही प्रेम या तो हल्का हो जाता है या अस्त हो जाता है। दो रसिकोंका प्रेम एक दीपकके समान है, जो उनके हृदयरूप गृहोंको निश्चल रूपसे प्रकाशित करता है। यदि इसे वाणीरूप दरवाजेसे बाहर कर दिया जाय तो या तो वह बुझ जाता है या मन्द हो जाता है—

प्रेमा द्वयो रसिकयोरपि दीप एव
हृद्वेश्म भासयति निश्चलमेव भाति।
द्वारादयं वदनतस्तु बहिष्कृतश्चे-
न्निर्वाति शीघ्रमथवा लघुतामुपैति॥

विरक्तोंद्वारा भी भक्तिकी कामना

मुक्ति चाहनेवाले परमविरक्त भी इस भक्तिकी कामना करते हैं—

कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नः स्ता-
च्चेतोऽलिवद्यदि नु ते पदयो रमेत।

(श्रीमद्भा० ३। १५। ४९)

इसलिये भक्तिका चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्षमें पर्यवसान है। भक्तिरसायनकारके सिद्धान्तमें सगुण ब्रह्मके समान निर्गुण ब्रह्ममें भी भक्ति मानी गयी है। इसमें—

'देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या॥'
'लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्॥'

(श्रीमद्भा० ३। २५। ३२; ३। २९। १२)

—यह वचन प्रमाण है। इसका निष्कृष्ट अर्थ यही है कि आनुश्रविक (वैदिक) कर्मोंसे आराध्य सत्त्व आदि गुणवाले देवताओंके मध्यमें सत्त्वोपाधिक विष्णुमें जो स्वाभाविकी मनोवृत्ति है, उसे निर्गुण भक्तियोग कहते हैं।

यद्यपि वेद एवं तदनुकूल शास्त्रोंने भगवान्‌के राम, कृष्ण, शिव, विष्णु आदि जिन स्वरूपोंकी उपासना बतलायी है, उन सबकी भक्ति रसस्वरूप ही है तथापि सभी रस सरलतासे साक्षात् श्रीकृष्णमें ही संगत होते हैं। इसीलिये भक्तिरसायनकारने विशेषतया **'मुकुन्द'** पद ग्रहण किया है—**'परममिह मुकुन्दे भक्तियोगं वदन्ति।'** भक्तिरसके आलम्बनविभाव सर्वान्तर्यामी, सर्वेश्वर भगवान् ही हैं—यह आगे स्पष्ट किया जायगा। प्रेम-निरूपणके प्रसंगमें बतलाया गया है कि भगवद्धर्मसे द्रुतचित्तमें प्रविष्ट स्थिर-गोविन्दाकारता ही भक्ति है—**'द्रुते चित्ते प्रविष्टा या गोविन्दाकारता स्थिरा। सा भक्तिरित्यभिहिता'''॥'**

(भक्तिरसा० उल्ला० २ कारि० १)

कर्म, उपासना, ज्ञानका अवगम करानेवाले सभी शास्त्रोंका तात्पर्य अन्तःकरणशुद्ध्यर्थ मलविक्षेप-निवृत्तिपूर्वक भगवदुपासना एवं भगवत्स्वरूपज्ञानद्वारा परमपुरुषार्थरूप भक्तिमें ही है। कहा भी है कि यदि द्रवावस्थापन्न चित्त नित्यबोधसुखात्मा विभु भगवान्‌को ग्रहण कर ले तो क्या अवशेष रह जाय?—**'भगवन्तं विभुं नित्यं पूर्णं बोधसुखात्मकम्। यद् गृह्णाति द्रुतं चित्तं किमन्यदवशिष्यते॥'** (भक्ति० उल्ला० १ का० ३०) विषयमें चित्तकी कठोरता एवं भगवान्‌में द्रवता होनी चाहिये—**'काठिन्यं विषये कुर्याद् द्रवत्वं भगवत्पदे।'** आनन्दसे ही अखिल भूतनिकायका प्रादुर्भाव, आनन्दसे ही जीवन एवं आनन्दमें ही उपसंहार होता है—**आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।** (तैत्तिरीय० ३। ६)

अतः समस्त प्रपंच परमानन्द रसस्वरूप ही है, किंतु स्वप्नादि प्रपंचके समान बाध्य होनेके कारण भगवत्-स्फूर्ति होनेपर जब प्रपंच निवृत्त होता है, तब भगवद्रूप ही अवशेष रहता है। अध्यस्त पदार्थकी अधिष्ठान-ज्ञानसे निवृत्ति होती है। इससे सिद्ध हुआ कि विषय-विषयक सभी प्रेम भगवान्‌में ही पर्यवसित होते हैं।

भगवत्प्रेमके साधन

भगवत्प्रेम प्राप्त करनेके लिये साधकको क्रमशः महापुरुषोंकी सेवा, उनके धर्ममें श्रद्धा, भगवद्-गुणश्रवणमें रति, स्वरूपप्राप्ति, प्रेमवृद्धि, भगवत्स्फूर्ति और भगवद्धर्मनिष्ठा आदि अपेक्षित होती है। आत्माराम, आप्तकाम, पूर्णकाम, परमनिष्काम, महामुनीन्द्र भी भगवान्‌को भजते हैं—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

(श्रीमद्भा० १। ७। १०)

कहा जा सकता है कि सर्वाधिष्ठान प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न परब्रह्मके साक्षात्कारद्वारा सभी प्रकारके भेदोंके मिट जानेपर जिनका चित्त आत्मानन्दसे ही परिपूर्ण है, उन्हें अपनेसे भिन्न भगवान्‌की स्फूर्ति नहीं हो सकती। रागकी तो उनमें सम्भावना ही नहीं, फिर भक्ति तो अत्यन्त ही असम्भव है। परंतु यह ठीक नहीं; क्योंकि उन्हें स्वारसिक प्रेमसे भेदका आहार्यज्ञान होता है (बाधकालिक इच्छाजन्यज्ञान आहार्यज्ञान कहा जाता है)। आहार्यज्ञानद्वारा राग एवं भक्ति हो

सकती है। 'त्रिपुरसुन्दरीरहस्य' में बतलाया गया है कि भक्त लोग प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परब्रह्मको जानकर अतिशयप्रीतिसे अभिसन्धिविहीन होकर आहार्यज्ञानद्वारा भेदभावकी कल्पना करके अत्यन्त तत्परतासे स्वभावत: भगवान्‌में स्वारसिकी भक्ति करते हैं—

यत्सुभक्तैरतिशयप्रीत्या कैतववर्जनात्।
स्वभावस्य स्वरसतो ज्ञात्वापि स्वाद्वयं पदम्।
विभेदभावमाहृत्य सेव्यतेऽत्यन्ततत्परैः॥

आहार्यज्ञानद्वारा व्यामोहप्रसक्तिकी कल्पना नहीं की जा सकती; क्योंकि भगवान् सत्यके भी सत्य हैं। जैसे अराजाको राजा बनानेवाला राजराज कहा जाता है, वैसे ही भगवान् असत्यको सत्य बनाते हैं अर्थात् पारमार्थिक सत्यकी अपेक्षा किंचित् न्यूनसत्ताका एक और सत्य माना जाता है, जो भजनोपयोगी है। अत: पारमार्थिक अद्वैत सिद्धान्त ज्यों-का-त्यों रहता है। कहा भी गया है कि पारमार्थिक अद्वैत ज्ञान होनेपर यदि भजनोपयोगी द्वैत मानकर भगवान्‌में भक्ति की जाती है तो ऐसी भक्ति सैकड़ों मुक्तियोंसे भी कहीं बहुत अच्छी है। प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न परब्रह्मका विज्ञान होनेके पहले द्वैत बन्धनका कारण है, किंतु विज्ञानके बाद भेद-मोहके निवृत्त हो जानेपर भक्तिके लिये भावित द्वैत अद्वैतसे भी बहुत अच्छा है—

पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे।
तादृशी यदि भक्तिः स्यात् सा तु मुक्तिशताधिका॥
द्वैतं मोहाय बोधात् प्राक् जाते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं भावितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥

गाढ़ानुराग आलिंगनादि-रसास्वादप्रवीण पतिव्रता नायिका जैसे रसविशेषविकासके लिये घूँघटकी ओटसे अपने प्रियतमका निरीक्षण करती है, वैसे ही तत्त्व-साक्षात्कारसम्पन्न अभेदानुभवी विद्वान् भी रसविशेष-विकासके लिये भेदभावसे ही भगवान्‌की समर्चा करना चाहते हैं—

विश्वेश्वरोऽपि सुधिया गलितेऽपि भेदे
भावेन भक्तिसहितेन समर्चनीयः।
प्राणेश्वरश्चतुरया मिलितेऽपि चित्ते
चैलाञ्चलव्यवहितेन निरीक्षणीयः॥

कान्ताका प्रियतमके वक्ष:स्थलपर विलासपूर्ण विहरण या पादयुगलकी सेवा, जैसे बराबर है, वैसे ही ज्ञानीकी तत्त्वनिष्ठा और भगवत्पूजा दोनों बराबर हैं—

प्रियतमहृदये वा खेलतु प्रेमरीत्या
पदयुगपरिचर्यां प्रेयसी वा विधत्ताम्।
विरहतु विदितार्थो निर्विकल्पे समाधौ
ननु भजनविधौ वा तुल्यमेतद्द्वयं स्यात्॥

जैसे प्रातिभासिक प्रपंचकी अपेक्षा घटादि सत्य एवं स्वकारण मृदादिकी अपेक्षा असत्य होते हैं या मृदादि भी अपने कारणकी अपेक्षा असत्य होते हैं, वैसे ही पारमार्थिक सत्ताकी अपेक्षा स्तरभेदसे कुछ न्यून सत्तावाला अपारमार्थिक सत्य है। यही सत्ता भगवल्लीला-परिकरकी है, इसलिये सिद्धान्तत: अद्वैत बना ही रहता है।

चित्तद्रुतिसे भक्तिमें भेद

चित्तद्रुतिके कारण अनेक हैं। उन्हींके भेदसे भक्तिमें भेद होता है—'**चित्तद्रुतेः कारणानां भेदाद्भक्तिस्तु भिद्यते।**' शरीरसम्बन्ध-विशेषकी स्पृहा होनेपर सन्निधान-असन्निधान-भेदसे काम दो प्रकारका होता है। उससे द्रुत चित्तमें श्रीकृष्णनिष्ठता ही सम्भोग-विप्रलम्भाख्य रति है। इसी तरह क्रोध, स्नेह, हर्षादिजन्य चित्तद्रुतिमें भी रति जाननी चाहिये—

कामजे द्वे रती शोकहासभीविस्मयास्तथा।
उत्साहो युधि दाने च भगवद्विषया अमी॥

शृंगार, करुण, हास्य, प्रीति, भयानक, अद्भुत, युद्धवीर, दानवीर—ये सब व्यामिश्रणमें होते हैं। राजसी, तामसी भक्ति अदृष्ट फलमात्रवाली होती है। मिश्रित भक्ति दृष्टादृष्ट उभय फलवाली होती है। इसी तरह साधकोंकी विशेषतासे भक्ति शुद्धसत्त्वोद्भवा भी होती है।

सनकादि सिद्धोंमें भक्ति दृष्टफल होती है। जैसे ग्रीष्मसन्तप्त पुरुषका गंगास्नान दृष्टादृष्टफलक होता है, वैसे ही वैधी भक्तिमें भी सुखाभिव्यक्ति होती है,

अत: वह दृष्टादृष्टफलक है। शीतवातातुर पुरुष यदि गंगास्नान करे तो उससे जैसे अदृष्टमात्र ही फल होता है, दृष्टांश प्रतिबद्ध हो जाता है, वैसे ही राजसी, तामसी भक्तिमें सुखरूप दृष्टांश प्रतिबद्ध हो जाता है। गंगास्नान कर लेनेपर पुन: गंगामें क्रीड़ा करनेवालोंको जैसे दृष्टमात्र फल होता है, वैसे ही जीवन्मुक्तोंकी भक्ति दृष्टफलमात्रपर्यवसायिनी होती है—

राजसी तामसी भक्तिरदृष्टफलमात्रभाक्।
दृष्टादृष्टोभयफला मिश्रिता भक्तिरिष्यते॥
शुद्धसत्त्वोद्भवाप्येवं साधकेष्वस्मदादिषु।
दृष्टमात्रफला सा तु सिद्धेषु सनकादिषु॥
दृष्टादृष्टफला भक्तिः सुखव्यक्तेर्विधेरपि।
निदाघदूनदेहस्य गङ्गास्नानक्रिया यथा॥
रजस्तमोऽभिभूतस्य दृष्टांशः प्रतिबध्यते।
शीतवातातुरस्येव नादृष्टांशस्तु हीयते॥
तथैव जीवन्मुक्तानामदृष्टांशो न विद्यते।
स्नात्वा मुक्तवतां भूयो गङ्गायां क्रीडतां यथा॥

तीव्र वातस्थित प्रदीप ज्वालाके समान रजस्तमोऽभिभूत शिशुपाल आदिकी स्वप्रकाशानन्दाकार भी मतिसन्तति सुख व्यक्त करानेवाली न हुई। प्रतिबन्धके नष्ट होनेपर सुखाभिव्यक्ति होती है। चित्तद्रुति होनेके कारण ही भक्ति होती है। उसके न होनेके कारण न तो वेन भक्त ही ठहरा, न उसे कुछ फल ही प्राप्त हुआ। शिशुपाल भगवान्‌की सत्ता मानता था, परंतु वेन भगवान्‌की सत्ता ही नहीं मानता था, वह नास्तिक था, इसलिये उसका भगवत्-सम्बन्ध ही नहीं हुआ, फिर चित्तद्रवता और भक्ति तो बहुत दूरकी बात है। सुखाभिव्यंजक होनेसे रजस्तमोविहीन भगवद्विषयक मति ही रति है। भगवद्विषयक मतिके समुच्छेदतारतम्यसे रतितारतम्य होता है। '**विरहे यादृशं दु:खं तादृशी दृश्यते रति:।**'

मनुष्य और अधिकरणमात्रके भेदसे अनेक भेद होते हैं। उसमें भी वैकुण्ठ, मथुरा, द्वारका, वृन्दावन आदिके भेदसे तथा व्रज, वन, निकुंजादिके भेदसे प्रकाशभेद भी माना जाता है। पुन: शुद्ध, मिश्रित आदिके भेदसे अनेक भेद होते हैं। भक्तिरसामृतसिन्धु, उज्ज्वलनीलमणि आदिमें जो विषय विस्तारसे कहे गये हैं, वे यहाँ सूत्रभूत कारिकाओंसे कहे गये हैं। विशेषतया वेदान्त, सांख्य, मीमांसादिशास्त्र एवं शास्त्राविरोधी युक्तियोंद्वारा सभी विषयोंका वर्णन किया गया है। अद्वैतसिद्धिकार श्रीमधुसूदनसरस्वतीमहाराजकी सिद्धान्ताविरोधिनी स्वारसिकी भक्ति थी, जैसा कि उन्होंने स्वयं ही गीताकी 'गूढार्थदीपिकासंग्रह' नामक टीकामें कहा है कि अद्वेष्टृत्व आदि गुण जैसे ज्ञानीके स्वभावसिद्ध होते हैं, वैसे ही भगवद्भजन करना भी ज्ञानीका स्वभाव है—'**अद्वेष्टृत्वादिवत्तेषां स्वभावो भजनं हरेः।**' साधन, अभ्यास और परिपाकावस्थाके भेदसे '**तस्यैवाहं**' मैं उसीका हूँ, '**ममैवासौ**' वह मेरा ही है, '**सोऽहं**' मैं वही हूँ—ये तीन तरहके भाव होते हैं। तीसरे भावके '**कृष्णोऽहं पश्यत गतिम्**', '**अहं ब्रह्म परं धाम**', '**मधुरिपुरहमिति भावनशीला**' इत्यादि उदाहरण हैं। '**मामेकं शरणं व्रज**' इत्यादि गीताके उपसंहारात्मक श्लोकका तात्पर्य भी अन्तिम भावना ही है। '**एकं**' एक अद्वितीय त्रिविधभेदशून्य '**मां**' मुझ प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न परब्रह्मको '**शरणं**' घटाकाशका महाकाशके समान, तरंगका जलराशिके समान आश्रय अथवा रक्षक निश्चित रूपसे जानो। '**नैनमविदितो देवो भुनक्ति**' इस श्रुतिके अनुसार प्रत्यगभिन्नता रूपसे विदित ब्रह्म ही अविद्या तत्कार्यात्मक प्रपंचका अपनोदन करता है, इसीलिये वह रक्षक है।

परब्रह्मकी प्रेमास्पदता

परब्रह्म परमात्मासे अभिन्न होनेपर ही प्रत्यक् आत्माकी पूर्णता एवं प्रत्यगात्मासे अभिन्न होनेसे परब्रह्मकी अपरोक्षता अनौपाधिक अनतिशय परप्रेमास्पदता सिद्ध होती है। यदि प्रत्यगात्मासे तटस्थ परमात्मा ठहरा तो उपर्युक्त बातें बन नहीं सकतीं। '**आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति**' (बृहदारण्यक० २।४।५) यह श्रुति प्रत्यगात्माके शेष रूपसे ही सबकी प्रेमास्पदता बतलाती है। अपने कल्याणके लिये भगवान्‌का भजन कड़वी गुडुचीके पान करनेके समान ही ठहरेगा,

क्योंकि स्वास्थ्यके लिये कड़वी गुडुची भी पी जाती है। फिर भगवान्‌में सातिशय ही प्रेम रहेगा निरतिशय नहीं, जब प्रत्यगात्माका स्वरूप भगवान्‌को माना जाता है, तभी भगवान्‌की निरुपाधिक परप्रेमास्पदता बन सकती है। **'यत् साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म'** इस श्रुतिने ब्रह्मकी अवेद्यतासे ही अपरोक्षता बतलायी है, जो कि प्रत्यगात्मासे भिन्न, तटस्थ ब्रह्मकी किसी तरह नहीं बन सकती। आत्मासे भिन्न पदार्थकी सिद्धि प्रमाणके अधीन ही होती है, स्वत: भासमान स्वारसिक अनतिशय प्रेमस्वरूप ही भगवान् हैं, इसीलिये श्रीशुकाचार्यने भगवान् श्रीकृष्णको सबका अन्तरात्मा बतलाया है—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।५५)

इसीलिये ब्रह्मविद्वरिष्ठोंके भी चित्तमें हठात् उनकी स्फूर्ति होती है—

यावन्निरञ्जनमजं पुरुषं जरन्तं
सञ्चिन्तयामि सकले जगति स्फुरन्तम्।
तावद् बलात् स्फुरति हन्त हृदन्तरे मे
गोपस्य कोऽपि शिशुरञ्जनपुञ्जमञ्जुः॥

प्रकृत ग्रन्थकार श्रीमधुसूदनसरस्वतीके भी निम्नलिखित वचन हैं—

क्लेशे क्रमात् पञ्चविधे क्षयंगते
यद् ब्रह्मसौख्यं स्वयमस्फुरत्परम्।
तद् व्यर्थयन् कः पुरतो नराकृतिः
श्यामोऽयमामोदभरः प्रकाशते॥
वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥[1]
ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किञ्चन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनेषु यत् किमपि तन्नीलं महो धावति॥[2]
अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः।
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन॥

इसी तरह श्रीशुक, सनकादि, शंकर, सुरेश्वर, पद्मपाद, चित्सुख, सर्वज्ञात्म, श्रीधरस्वामी आदि सहस्रों ब्रह्मविद्वरिष्ठोंको भी वैसा ही अकैतव प्रेम था। भगवान्‌ने स्वयं ही श्रीमुखसे **'एकभक्तिर्विशिष्यते'** इन शब्दोंसे उपर्युक्त अर्थोंका समर्थन किया है। **'सर्वं तं परादाद्योन्यत्रात्मनः सर्वं वेद'** इत्यादि श्रुतियोंने किसीको भी अनात्मा समझनेको अनर्थकारक माना है, फिर भगवान्‌को अनात्मा समझनेकी बात ही क्या? प्रेममें व्यवधान सहनकी क्षमता नहीं होती, इसीलिये दूरमें या व्यवहितमें स्वाभाविक स्वारसिक अकैतव प्रेम नहीं होता। इसीलिये भगवान्‌को सर्वान्तर परम सन्निहित या प्रत्यगात्मा कहा गया है—

'कैतवरहितं प्रेम न तिष्ठति मानुषे लोके।
यदि भवति कस्य विरहो विरहे भवति को जीवति॥'

—यह प्रसिद्ध ही है।

ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्‌में अभेद

श्रीअचिन्त्यकल्याणगुणगणाकर भूमा भगवान्‌की अघटितघटनापटीयसी सदसद्विलक्षणा, समस्त आश्चर्योंकी एकमात्र निवासभूमि, अनन्तशक्तिकी केन्द्रभूता मायाके प्रवाहमें पड़े हुए प्रपंचमें सूक्ष्म विचार करनेपर बुद्धिमानोंके लिये क्रमशः आत्मा ही सर्वोत्कृष्ट तत्त्व ठहरता है। कोई आत्माको अणुपरिमाण, कोई मध्यम परिमाण तथा कोई विभु मानते हैं। विभुत्ववादियोंमें भी कोई आत्माको अचित्, कोई

१. जिसके हाथोंमें वंशी सुशोभित है, जो नवनीरनीरदसुन्दर है, पीताम्बर पहने है, जिसके होठ बिम्बाफलके समान लाल-लाल हैं, जिसका मुखमण्डल पूर्णचन्द्रके सदृश और जिसके नेत्र कमलवत् हैं, उस कृष्णसे परे कोई तत्त्व हो तो मैं उसे नहीं जानता।

२. ध्यानके अभ्याससे जिनका चित्त वशमें हो गया है, वे योगी यदि उस निर्गुण और निष्क्रिय परमज्योतिको देखते हैं तो देखा करें। हमारे नेत्रोंको तो कालिन्दीतटविहारी नीले तेजवाला साँवरा ही सुख पहुँचाता रहे।

चित्परिणामी, कोई चिदचित्, कोई असंग और चित्स्वरूप मानते हैं। कोई वादी क्लेश, कर्म, विपाक एवं आशयसे अपरामृष्ट विशिष्ट आत्माकी सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभावता मानते हैं। यद्यपि इसीमें सद्वितीयता, चिदचिद्विशिष्टता, चिदचिद्भिन्नाभिन्नता रूप तीसरे पक्षमें भी स्वाभाविक भेदाभेद, औपाधिक भेदाभेद, अचिन्त्य भेदाभेद पक्ष और शुद्धाद्वैत, अद्वैतपक्ष भी होते हैं तथापि भक्तिरसायनकार अद्वैत सिद्धान्तानुसारी हैं। परमार्थतया भोक्ताकी आत्मा भगवान् ही हैं, ऐसा औपनिषद सिद्धान्त है। 'श्रीमद्भागवत' में भी कहा गया है कि वस्तुभूत तत्त्व वही है। सर्वविध भेदशून्य, स्वप्रकाश, अद्वय ज्ञानको ही तत्त्वज्ञ तत्त्व कहते हैं। देशकृत, कालकृत, वस्तुकृत परिच्छेदशून्य होनेसे वही ज्ञान अनन्त, अवेद्य होकर अपरोक्ष होनेसे स्वप्रकाश, अद्वितीय होनेके कारण सर्वोपद्रवविवर्जित होनेसे परमानन्दस्वरूप और त्रिकालाबाध्य होनेसे परम सत्य है। वही निरतिशय बृहत् होनेसे ब्रह्म, आत्माओंकी भी आत्मा होनेसे परमात्मा, अचिन्त्य, अनन्तभगों (समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य और मोक्ष) एवं कल्याण गुणगणोंद्वारा सेवित होनेसे भगवान् कहा जाता है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

(श्रीमद्भा० १।२।११)

किन्हीं लोगोंने ब्रह्म और भगवान्‌में भेद मानकर इस श्लोकका व्याख्यान किया है। उनका कहना है कि ब्रह्म ज्योति और भगवान् ज्योतिष्मान् हैं। वे ज्योतिरूप होनेसे ब्रह्मकी अमूर्तता, प्राकृत गुणगणरहित होनेसे निर्विशेषता तथा ज्योतिष्मान् होनेसे भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्तता, अप्राकृत अनन्त कल्याणगुणगणाकर होनेसे सविशेषता मानते हैं। परंतु उनका कथन ठीक नहीं, क्योंकि लक्षणभेदसे लक्ष्यभेद और लक्षणैक्यसे लक्ष्यैक्य होता है। उपर्युक्त श्लोकमें तत्त्वलक्षण एक ही प्रकारका कहा गया है—'**तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्**'। इसीलिये ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्‌में कुछ भी भेद नहीं है।

किन्हीं लोगोंने भगवान् श्रीकृष्णको आदित्यस्थानीय और ब्रह्मको किरणस्वरूप माना है। किंतु उनका भी मन्तव्य भावमात्रमूलक है, तात्त्विक नहीं। तात्त्विक माननेपर भगवान् औपनिषद न ठहरेंगे। 'श्रीमद्भागवत'-में भगवान् श्रीकृष्णको पूर्ण ब्रह्म कहा गया है—'**यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥**' (श्रीमद्भा० १०।१४।३२) '**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**' इत्यादि चतुर्लक्षणी उत्तर मीमांसामें ब्रह्मका ही विचार बतलाया गया है, अत: ब्रह्म ही औपनिषद है। यदि ज्योति और ज्योतिष्मान्‌का भेद माना जाय, तब तो स्वगत भेद सुस्थित हो जाता है, फिर अनुपचरित अद्वयता नहीं कही जा सकती। यदि भेद न माना जाय, तब तो धर्म-धर्मिभाव नहीं बन सकता। विरुद्ध होनेके कारण स्वाभाविक भेदाभेद कहा नहीं जा सकता। औपाधिक भेदाभेद अयथार्थ ही है, अत: तन्मूलकवाद भी अयथार्थ ही हुआ। अचिन्त्यभेदाभेद भी ठीक नहीं, क्योंकि अचिन्त्यता तीन प्रकारसे ही बन सकती है। तत्त्व या तो मनोवचनागोचर हो अथवा अनन्त हो या अनिर्वचनीय हो। इन तीनों कारणोंके स्वीकार करनेसे सिद्धान्त भंग होता है, अस्वीकार करनेसे अचिन्त्यता नहीं बन सकती।

त्रिविधभेदनिषेधिका '**एकमेवाद्वितीयम्**' (छान्दोग्य० ६।२।१) इस श्रुतिसे स्वगत भेदका भी निषेध होता है। '**सदेव सोम्येदमग्र आसीत्**' (छान्दोग्य० ६।२।१) इस श्रुतिसे इदमर्थकी सदात्मकताका अवधारण होता है। फिर भी यदि सजातीय, विजातीय, स्वगत भेदका वारण न किया जाय तो '**एकम्**', '**एवं**', '**अद्वितीयम्**'—ये तीनों विशेषण अनर्थक ठहरते हैं, अत: इन तीनों विशेषणोंसे त्रिविध भेदका वारण किया जाता है। '**नेह नानास्ति किञ्चन**', '**नात्र काचनभिदास्ति**' इन श्रुतियोंमें आये हुए '**किञ्चन**' और '**काचन**' शब्दोंद्वारा '**नानाभिदा**' आदि पद बोध्य सर्वविध भेदका ही निषेध किया गया है। 'यहाँ कोई घट नहीं है' यह

कहनेपर घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपक निषेधकी ही अवगति होती है।

दूसरी बात यह है कि ज्योतिष्मान् आदित्यस्थानीय भगवान्‌से यदि ज्योति:स्थानीय ब्रह्म न्यून माना जाय तो वह ब्रह्म ही नहीं। 'बृहि वृद्धौ' धातुसे 'मनिन्' प्रत्यय होनेपर ब्रह्म शब्द बनता है, जिसका अर्थ है बड़ा (बृहत्)। संकोचक प्रमाण न होने तथा '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' इस श्रुतिमें 'अनन्त' पद समभिव्याहारसे यही सिद्ध होता है कि निरतिशय बृहत् तत्त्व ही ब्रह्म है। अतिशयताकी कल्पना करते-करते जहाँ वाचस्पतिकी मति भी परिश्रान्त हो जाय, इसके बाद निरतिशय बृहत्ता सिद्ध हो सकती है, अत: भगवान् हों या श्रीकृष्ण जिसकी निरतिशय बृहत्ता मानी जाय, वही ब्रह्म है। यहाँ इतनी विशेषता और समझ लेनी चाहिये कि उपर्युक्त मतमें आदित्यस्थानीय ज्योतिष्मान् भगवान्‌की किरणस्वरूप ज्योति:प्रदेशमें अविद्यमानता रहेगी, अत: देशकृत परिच्छेद होनेसे अनन्तता नहीं बन सकती। हमारे मतमें भगवान् या श्रीकृष्णकी सर्वविध परिच्छेदशून्यता होनेके कारण निरतिशय बृहत्ता बन सकती है और अनुपचरित अद्वयता, अनन्तता, ब्रह्मता भी सम्पन्न हो सकती है।

निर्गुण और सगुणका स्वरूप

इसी तरह कहा जाता है कि 'भगवान् निर्गुण हैं' इस कथनका अभिप्राय यह है कि भगवान्‌में प्राकृत गुणगण नहीं हैं। जैसे 'अकाय' का अभिप्राय प्राकृत कायराहित्यमात्र है, अप्राकृत काय तो उनके है ही। वैसे ही '**निर्गुण**' शब्द अप्राकृत गुणगणका निषेधक नहीं है। यह भी ठीक नहीं, क्योंकि फिर तो निष्क्रियत्व, अव्रणत्व आदि शब्दोंका भी ऐसा ही अर्थ किया जायगा। फिर तो भगवान्‌में अप्राकृत क्रिया एवं अप्राकृत व्रण मानना पड़ेगा। यदि कहा जाय कि सगुण शब्द भी निर्गुणके समान आता है, अत: 'निर्गुण' पदका अर्थ प्राकृतगुणरहित किया जाता है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि निष्क्रियत्वके समान सक्रियत्व शब्द भी आता है, अत: उपर्युक्त दोष तदवस्थ ही रहेगा। इसलिये वस्तुत: निर्गुण ही भगवान् अपनी अचिन्त्य दिव्य लीलाशक्तिसे अप्राकृत गुणगणोंको स्वीकार करते हैं, अत: वे सगुण कहे जाते हैं—

'**निर्गुणं मां गुणाः सर्वे भजन्ति निरपेक्षकम्।**'

यद्यपि कहा जाता है कि हो सकता है कि धनवान् पुरुष धननिरपेक्ष हो, किंतु निर्धनकी धननिरपेक्षता अत्यन्त असम्भव है। इसी तरह सगुण भगवान् भले ही गुणनिरपेक्ष हों, किंतु निर्गुणकी गुणनिरपेक्षता अत्यन्त असम्भव है तथापि यह भी ठीक नहीं, क्योंकि भगवान्‌में गुण न तो कुछ अतिशयताका आधान कर सकते हैं, न कुछ विशेषता ही कर सकते हैं। अनाप्तकाम निर्धनको भले ही धनकी अपेक्षा हो, किंतु आप्तकाम, आत्माराम, पूर्णकाम, परम निष्काम, निर्गुण भगवान् गुणनिरपेक्ष रहें, इसमें क्या आश्चर्य? नित्य निरतिशय बृहद् ब्रह्म, परमात्मा या भगवान्‌में गुणगणमहत्त्वातिशयका आधान, नित्य निरतिशय अनन्त आनन्दस्वरूपमें आनन्दातिशयका आधान तथा नित्यनिरस्तसमस्तानर्थ ब्रह्म, परमात्मा या भगवान्‌में अनर्थ निर्वहण भी नहीं कर सकते। पर इन तीनोंको छोड़कर गुणका कोई चौथा उपयोग है नहीं, अत: गुणनिरपेक्ष निर्गुण भगवान् ही गुणोंकी गुणत्वसिद्धिके लिये उन्हें स्वीकार कर लेते हैं। कौस्तुभमणिकी शोभाके लिये ही भगवान्‌ने उसे अपने श्रीकण्ठमें धारण कर रखा है—'**कण्ठं च कौस्तुभमणेरधिभूषणार्थम्॥**' (श्रीमद्भा० ३।२८।२६) किन्हीं लोगोंका यह मत कि निराकारमें प्रेमास्पदता होती ही नहीं, यह अत्यन्त अज्ञानमूलक है, क्योंकि सगुणप्राप्तिजन्य सुख भी निराकार ही है, फिर उसमें प्रेम कैसे होता है? श्रीधरस्वामी आदिकोंने भी '**तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्**' (श्रीमद्भा० १।२।११) इस श्लोकमें ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान्‌में कुछ भी विलक्षणता नहीं मानी। ऐसा मानना न केवल निर्मूल है, अपितु शास्त्र तथा युक्तिविरुद्ध भी है।

कुछ लोगोंका कहना है कि नारदजीको आकाशसे

उतरते हुए देखकर जब वे दूर थे, तब द्वारकावासियोंने कल्पना की कि यह कोई महातेज:पुंज है। कुछ और समीप आनेपर शरीरवान् प्राणी समझा और अधिक समीप आनेपर अवयवकी स्पष्ट प्रतीतिसे कोई पुरुष है ऐसा जाना। अधिक निकट होनेपर उन्हें नारदजीका स्पष्ट ज्ञान हुआ—

चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा
ततः शरीरीति विभाविताकृतिम्।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति
क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः॥

(शिशुपालवध १।३)

इसी तरह दूर रहनेपर ब्रह्म और समीप होनेपर परमात्मा और अत्यन्त समीप होनेपर भगवान्‌का ज्ञान होता है। किंतु यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि सर्वान्तरतम ब्रह्म, परमात्मा या भगवान्‌में सामीप्य-असामीप्य निबन्धन तारतम्य नहीं हो सकता। अत: निष्कर्ष यह निकला कि एक ही नित्य, निरतिशय बृहत्तम ब्रह्म आत्माओंकी भी आत्मा होनेसे परमात्मा और गुणगणसेव्य होनेसे भगवान् कहा जाता है। सकल सच्छास्त्रतात्पर्यगोचर, अशेषविशेषातीत, निर्गुण, निराकार, सच्चिदानन्दघन अपनी अचिन्त्य, मंगलमय, दिव्यशक्तिसे अनन्तकल्याणगुणगणाकर, अनन्तकोटि-कन्दर्पसुन्दर, शक्रशतकोटिविलासशाली, नभ:शत-कोटिमहाविस्तारशाली, वायुशतकोटिविपुलबलशाली, रविशतकोटिप्रखरप्रकाशशाली, शशिशतकोटिसुशीतल, कालशतकोटिदुस्तर, अमितकोटितीर्थपावनाभिधान, मेरु-शतकोटिनिश्चल, समुद्रशतकोटिगम्भीर, कामधेनुशत-कोटिकामपूरक, शारदाशतकोटिज्ञानप्रद, विधिशतकोटि-सृष्टिनिपुण, विष्णुशतकोटिपालक, रुद्रशतकोटिसंहारक, धनदकोटिशतैश्वर्यसम्पन्न, मायाकोटिशत-अघटित-घटनापटीयान्, शेषशतकोटिधारक, भगवान्‌की अनन्त-कोटि आदित्यगणोंकी प्रकाशप्राखर्यादिमेंसे भी वैसे ही उपमा नहीं दी जा सकती, जैसे कि अनन्तकोटि खद्योतोंसे आदित्यकी उपमा। इसीलिये अशेष-विशेषातीत, अनन्तकल्याणगुणगणाकर भगवान्‌की स्तुतिमें ब्रह्मादिकोंका भी असामर्थ्य सुना जाता है।

भगवान्‌के सभी गुण भक्तोपयोगी

भक्तकल्पपादप भगवान्‌के सभी गुण भक्तोपयोगी ही हैं। सर्वशास्त्रतात्पर्यविषय कर्म-उपासना-तत्त्वज्ञानादि-समाराध्य भगवान् ही मुक्तोपसृप्य हैं, यह तत्तत्स्थलोंमें कहा ही गया है—'**मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये**', (श्वेताश्वतर० ६।१८) '**यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः**' (कठ० १।२।२३; मुण्डक० ३।२।३), '**तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये**' (गीता १५।४), '**आत्मक्रीड आत्मरतिः**' (मुण्डक० ३।१।४) इत्यादि श्रुतियों एवं स्मृतियोंमें मुमुक्षु और भक्तोंके लिये भगवच्छरणागति ही बतलायी गयी है। उपक्रमोपसंहारादि तात्पर्यनिर्णायक षड्विध लिंगोंद्वारा '**आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति**' (बृहदारण्यक० २।४।५), '**रसो वै सः**' (तैत्तिरीय० २।७) इत्यादि श्रुतियोंका तात्पर्य रसात्मक, प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परब्रह्ममें ही पर्यवसित होता है। अन्य विषयक अनुरागाधीन विषयता, प्रेमकी गौणता तथा अन्यविषयक अनुरागाधीन विषयता ही प्रेमकी मुख्यता है। ऐसी मुख्यता आत्मामें ही हो सकती है; क्योंकि वहाँ प्रेम अन्यार्थ नहीं है, अत: आत्मा सुखरूप है। सुख आत्मासे भिन्न दूसरी वस्तु है, इसीलिये आत्मसम्बन्धसे ही सुखकी कामना होती है, यह कहना ठीक नहीं। भ्रान्तिवशात् वैषयिक सुख ऐसा प्रतीत भी हो तो भी परमार्थतया परम सुख आत्मरूप ही है। वैषयिक सुखको ही लक्ष्य करके '**परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुण-वृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः॥**' (पातंजलयोगदर्शन २।१५) यह श्रीमहर्षि पतंजलिका और 'विषमिश्रित' मधुर, मनोहर पक्वान्नके समान दुःख-मिश्रित सुख हेय है, यह नैयायिकोंका कहना है। '**एष ह्येवानन्दयति**', '**मात्रामुपजीवन्ति**' (बृहदारण्यक० ४।३।३२), '**रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।**' (तैत्तिरीय० २।७) इत्यादि श्रुतियाँ लौकिक वैषयिक सुखको उसी सुखस्वरूप आत्माका अंश बतला रही हैं। स्वानुकूल विषयकी प्राप्तिमें अन्त:करणकी वृत्ति अन्तर्मुख, शान्त, अचंचल होती है। सत्त्वोद्रेक होनेसे प्रतिबिम्बतया

वहाँ स्वात्मानन्द ही अभिव्यक्त होता है। विषयनिबन्धन एवं वृत्तिरोधके क्षणिक होनेसे सुखको वैषयिक, क्षणिक आदि कहा जाता है। '**आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन**' (तैत्तिरीय० २।९) इत्यादि श्रुतियोंद्वारा तत्त्वसाक्षात्कारमूलक परिणामके कारण दु:खसे अमिश्रित सुख होनेसे ब्रह्मात्म सुख प्राप्ति कही गयी है। इसीलिये आत्मा ही रस है, ऐसा सिद्धान्त है।

यहाँपर आनन्द शब्दसे प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न परब्रह्म ही विवक्षित है; क्योंकि उसीमें उपक्रमोपसंहारादिद्वारा रसात्मताबोधक वचनोंका तात्पर्य निश्चित होता है। अग्निके अंश विस्फुलिंगके समान या सिन्धुके अंश बिन्दुके समान विशिष्ट, सोपाधिक, चिदाभास, चित्प्रतिबिम्ब, चित्कण या समवच्छिन्न जीव निरतिशय रसरूप नहीं; क्योंकि वहाँ पूर्णानन्दता तिरोहित है। तटस्थ परब्रह्मपरमात्मा भी निरतिशय सुखरूप नहीं, क्योंकि यदि वह प्रत्यक् चैतन्यस्वरूप न हुआ तो साक्षादपरोक्ष भी नहीं रहेगा, फिर उसकी स्वप्रकाशानन्द-रसरूपता तो अत्यन्त दूर है। इसलिये न चाहनेपर भी प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न परब्रह्मकी ही रसरूपता माननी पड़ेगी।

भगवान्‌की तीन शक्तियाँ

किन्हीं लोगोंने सच्चिदानन्दघन भगवान्‌की स्वरूपशक्ति, तटस्थशक्ति और बहिरंगशक्ति—ये तीन शक्तियाँ मानी हैं। स्वरूपशक्तिमें भी वे सन्धिनीशक्ति, संवित्‌शक्ति और ह्लादिनीशक्तिके भेदसे तीन शक्तियाँ मानते हैं। इस पक्षमें भी यह बात बन जाती है; क्योंकि अचिदात्मक मायाकी बहिरंगता और सोपाधिक जीवकी तटस्थता तो स्पष्ट ही है। सन्धिनी आदि तीनों शक्तियाँ सच्चिदानन्दकी स्वरूपभूता ही हैं। यद्यपि स्वप्रकाश सत् ही चित्, अत्यन्ताबाध्य चित् ही सत्, सर्वोपद्रवविवर्जित सच्चित् ही आनन्द, अत्यन्ताबाध्य स्वप्रकाश आनन्द ही सच्चित् है, इस तरह स्वरूपमें कुछ भी भेद नहीं है, अत: उसमें जब शक्तिकी ही कल्पना नहीं की जा सकती, तब फिर उसके तीन भेदकी तो बात ही क्या? तथापि अचिन्त्य अनिर्वाच्य, भगवदीय दिव्यलीलाशक्तिके योगसे लीलाविशेष विकासके लिये उक्त भेदोंका उपपादन किया जा सकता है। जैसे जलराशिकी अपेक्षा फेन बहिरंग और तरंग तटस्थ (फेनकी अपेक्षा अन्तरंग होते हुए भी स्वरूपकी अपेक्षा बहिरंग होनेसे तरंगमें तटस्थता है।) और स्वरूपभूत होनेसे माधुर्य ही मुख्य अन्तरंग है, वैसे ही परमानन्दसुधासिन्धु भगवान्‌में भोग्य जड़ प्रपंच मूलभूत माया बहिरंग, चिल्लक्षण जीव तटस्थ और स्वरूपभूत माधुर्यादि अन्तरंगभाव शक्तिशब्दसे भी कहे जाते हैं। सत्त्व सन्धायक है, अत: उसमें सन्धिनी, चित्प्रकाशक है, अत: उसमें संवित् और आनन्द आह्लादक है, अत: उसमें आह्लादिनी शक्तिकी कल्पना होती है। प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न परब्रह्मकी रसरूपता माननेपर ही यह सब कल्पना बन सकती है। रससिन्धुका बिन्दु भी रसस्वरूप ही है। किंतु परमानन्दताके आवृत होनेसे वह अल्पानन्द एवं साकांक्ष होता है। इसी तरह सोपाधिक आत्मा भी रसस्वरूप होकर रसप्रेप्सु होता है। इसीलिये शास्त्रोंने इस तत्त्वका निरूपण किया है। वेदान्तवेद्य, निर्विशेष भगवद्रूप ही रसस्थायीसे विशिष्ट होकर वर्णित होता है। भगवद्‌गुणगणश्रवणजन्य मानस वृत्तिकी द्रवतामें भगवदाकारता प्रविष्ट होनेपर विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीके संयोगसे रसरूपता होती है। यहाँ भगवान् ही आलम्बन-विभाव, तुलसी-चन्दनादि उद्दीपन-विभाव, नेत्रविक्रियादि अनुभाव और निर्वेदादि व्यभिचारी भावसे त्यज्यमान भगवदाकारतारूप रस स्थायी भाव ही परमानन्द-साक्षात्कारात्मक प्रादुर्भूत होता है। वही भक्तियोग एवं दु:खासंस्पृष्ट सुखरूप परम पुरुषार्थ है।

यदि स्वभावत: कठिन लाक्षा तापक अग्नि आदि द्रव्यके सम्बन्धसे जलके समान द्रुत हो जाय और सैकड़ों पर्तके चीनांशुकसे छान ली जाय, फिर उसमें कोई रंग छोड़ दिया जाय तो वह रंग उस लाक्षाके सर्वांशमें प्रविष्ट होकर स्थिर हो जाता है। फिर कठोर या द्रुत होनेपर कभी भी रंग लाक्षासे पृथक् नहीं होता, वैसे ही भगवद्‌भावनासे भावित द्रवावस्थापन्न अन्त:करणमें भगवान्‌के प्रविष्ट होनेपर अन्यवस्तुग्रहणकालमें भी भगवान्‌का भान होता ही है। प्रपंचभानसहित भगवद्‌भानका

उदाहरण है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥

(श्रीमद्भा० ११।२।४१)

प्रपंचमिथ्यात्वभानसहित भगवद्ध्यानका उदाहरण **'तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपम्'**। (श्रीमद्भा० १०।१४।२२) आदि हैं। प्रपंचभानरहित भगवद्ध्यानका उदाहरण है—

प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः ।
आनन्दसम्प्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने॥

(श्रीमद्भा० १।६।१८)

विशेषतः विप्रलम्भ शृंगारमें द्रवावस्थाप्रविष्ट आलम्बनमय ही समस्त वस्तुओंका भान होता है। इसका उदाहरण है—

प्रासादे सा दिशि दिशि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा
पर्यङ्के सा पथि पथि च सा तद्वियोगातुरस्य।
हंहो चेतः प्रकृतिरपरा नास्ति मे कापि सा सा
सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः॥

(अमरुशतक)

इसी तरह भगवद्विषयक काम, क्रोध, भय, स्नेह, हर्ष, शोक, दया आदि तापक भावोंमेंसे किसीके भी सम्पर्कसे चित्तरूप लाक्षा गंगाजलप्रवाहके समान द्रुत हो और सैकड़ों पर्तके चीनांशुकसे वह क्षालित हो (छान ली जाय) तो फिर उसमें सर्वांशप्रविष्ट परमानन्द-स्वरूप भगवान् स्थायी भाव बनकर रसस्वरूप हो जाते हैं। द्रवावस्थामें प्रविष्ट विषयाकारता (भगवदाकारता)-के कभी भी पृथक् न होनेके कारण वहाँ मुख्य स्थायी शब्दका प्रयोग होता है। ऐसा होनेपर ही कर्तुमकर्तुं अन्यथाकर्तुंसमर्थ भगवान् भी यदि स्वयं वहाँसे हटना चाहें तो नहीं हट सकते, उनकी सर्वशक्तिमत्ता भी कुण्ठित हो जाती है। इसीलिये कहा गया है—

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा-
द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः
स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥

(श्रीमद्भा० ११।२।५५)

यहाँ 'प्रणय' शब्दसे द्रवावस्था ही विवक्षित है। ऐसे अन्तःकरणसे चाहनेपर भी भगवान् नहीं निकल सकते। इसीको लक्ष्य करके भक्त उनसे कहता है कि यदि हृदयसे निकल जाओ तो आपका पुरुषार्थ जानूँ—**'हृदयाद्यदि चेद्यासि पौरुषं गणयामि ते।'** व्रजसीमन्तिनीजन अपने हृदयसे भगवान्‌को निकालना चाहती हैं, पर सफल नहीं होतीं। निश्चित करती हैं कि अब उनसे सख्य नहीं करेंगी, फिर भी उनकी चर्चाको दुस्त्यज समझती हैं। किसी सखीने भगवान्‌की चर्चा छेड़ दी तो दूसरी सखीने तत्काल रोककर कहा—

सन्त्यज सखि तदुदन्तं यदि सुखलवमपि समीहसे सख्याः।
स्मारय किमपि तदितरद्विस्मारय हन्त मोहनं मनसः॥

अर्थात् यदि हमारी प्यारी सखी (राधा)-को क्षणमात्र भी सुखी देखना चाहती हो तो मोहनकी चर्चा न कर कोई और कथा सुनाओ। यह देखकर किसी मुनिको बड़ा आश्चर्य हुआ और वे सोचने लगे कि योगीन्द्र, मुनीन्द्र धारणा, ध्यान आदिके द्वारा विषयोंसे मनको हटाकर भगवान्‌में लगाना चाहते हैं और मन हट-हटकर विषयोंमें चला जाता है; किंतु यह मुग्धा मनको भगवान्‌से हटाकर विषयोंमें लगाना चाहती है। जिन भगवान्‌की क्षणमात्र स्फूर्तिके लिये योगी सदा उत्कण्ठित रहा करते हैं, यह मुग्धा उनको हृदयसे निकालकर बाहर करना चाहती है—

प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन् मनो धित्सति
बालासौ विषयेषु धित्सति ततः प्रत्याहरन्ती मनः।
यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते
मुग्धेयं किल पश्य तस्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षति॥

बिम्बप्रतिबिम्बभाव

यदि कहा जाय कि फिर तो आलम्बन और स्थायीभाव एक ही हो गया तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि व्यवहारसिद्ध ईश-जीवके भेदके समान ही

बिम्बप्रतिबिम्बके भावका भेद यहाँ भी है। बिम्ब ही मनकी द्रवावस्थामें पड़कर प्रतिबिम्ब कहा जाता है। **'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।'** (तैत्तिरीय० ३।६) इत्यादि श्रुतियोंसे प्रपंचकी आनन्दात्मक ब्रह्मैक्योत्पादन निमित्तिकता सिद्ध होती है। कान्तादि विषय भी कारणानन्दरूप ही हैं, मायाकृत आवरण और विक्षेपके कारण उनकी अखण्डानन्दरूपसे प्रतीति नहीं होती। अकार्योंका भी कार्याकाररूपसे भान होता है—

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद् विद्यादात्मनो मायां यथाभासो यथा तमः॥

(श्रीमद्भा० २।९।३३)

अज्ञातज्ञापकत्व ही प्रमाणोंका प्रामाण्य है

स्वप्रकाशस्वरूपसे भासमान चैतन्य ही अज्ञात है, जड नहीं। जडके स्वतः आभासमान होनेसे वहाँ आवरणकी कोई अपेक्षा ही नहीं है। कान्तादिविषयक भानोंके प्रामाण्यके लिये अज्ञात कान्ताद्यवच्छिन्न चैतन्यविषयक आवरणके हट जानेपर कान्ताद्यवच्छिन्नरूपसे परमानन्दरूप उपादान चैतन्यरूपका ही भान होता है, किंतु अनवच्छिन्न स्वरूपका भान नहीं हुआ, इसीलिये सद्योमुक्ति या स्वप्रकाशत्व-भंगकी प्रसक्ति नहीं है। इससे सिद्ध हुआ कि विषयावच्छिन्न चैतन्य ही द्रुत अन्तःकरणकी वृत्तिमें उपारूढ़ होकर स्थायी भाव और रसस्वरूप हो जाता है। कान्तादि लौकिक रस भी परमानन्दरूप ही है। फिर भी जड़के सम्पर्कसे उसमें न्यूनता है। भक्तिमें अनवच्छिन्न चिदानन्दघन भगवान्‌का स्फुरण होनेसे उसकी परमानन्दरूपता स्फुट ही है।

जो लोग कहते हैं कि **'रसः ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'** (तैत्तिरीय० २।७) अर्थात् रसस्वरूप परब्रह्म परमात्माको प्राप्त करके ही यह जीव आनन्दित होता है, इस वाक्यमें अयं पदार्थकर्तृक लाभकर्म ही रस शब्दसे कहा गया है। भग्नावरण चैतन्य ही अयं पदार्थ है और वही कर्म भी, फिर कर्ता और कर्म दोनोंकी एकरूपता हो गयी। किंतु यह ठीक नहीं, क्योंकि सावरणचैतन्य **'अयम्'** पदार्थ (कर्ता) और निरावरणचैतन्य कर्म पदार्थ है, इस औपाधिक भेदके माननेसे कोई भेद नहीं आता। यदि कहा जाय कि स्वप्रकाशवादमें आवरणभंगसे ही आनन्द प्राप्त हो जायगा, रसको पाकर आनन्दित होता है, यह कहना व्यर्थ है तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि अनवच्छिन्न चैतन्यकी आवरणभंगमात्रसे ही रसरूपता हो जानेपर भी तत्तदवच्छिन्न चैतन्योंमें तत्तदवच्छेदकगत दोष-गुणोंके मिश्रणसे आवरणभंगमात्रसे ही आनन्दप्राप्ति नहीं हो सकती। इसीलिये विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभावके संयोगसे अभिव्यक्त स्थायीभाव ही सभ्य और अभिनेयका भेद हटाकर सभ्यमें ही रहता हुआ परमानन्द-साक्षात्कारद्वारा रसस्वरूप हो जाता है, यही रसज्ञोंकी मर्यादा है। तात्पर्य यह कि सभी शास्त्रोंके महातात्पर्य-विषय परमात्मामें ही सच्चिदादि, रसानन्दादि शब्दोंकी साक्षात् प्रवृत्ति है तो भी जैसे विषयविशेषमें सत्ता शब्द या चैतन्य शब्द प्रयुक्त होता है, वैसे ही रसानन्दादि शब्दोंका भी विषयविशेषमें प्रयोग हो सकता है। इससे सिद्ध हुआ कि स्थायी अवच्छिन्न भग्नावरण चैतन्यमें ही रस शब्दका प्रयोग होता है। जबतक अन्तःकरणवृत्तिकी सात्त्विकी द्रवता नहीं होती, तबतक रस, आनन्दादिकी अनुभूति भी नहीं होती। इसीलिये उपेक्ष्य एवं द्वेष्य विषयोंमें भग्नावरण चैतन्य रहनेपर भी आनन्दका अनुभव नहीं होता। इसीलिये यह भी कहा जा सकता है कि यह रससिन्धुबिन्दुस्थानीय सोपाधिक जीव अनवच्छिन्न रससिन्धु स्थानीय परमात्माको या स्थायी अवच्छिन्न भग्नावरण तदंशभूत चित्‌को पाकर आनन्दित होता है। फिर तो 'सावरण अनावरण होकर आनन्दित होता है' यह भी कहना चाहिये था, 'रसको पाकर आनन्दित होता है' यह कहना व्यर्थ ही रहा। यह पक्ष भी ठीक नहीं। नित्य प्राप्त, विस्मृत ग्रैवेयक और मिथ्या सर्पादिकोंमें प्रेप्सा—परिजिहीर्षा देखी जाती है

और अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर लाभ-परिहार-प्रयोग भी देखा जाता है। इसी तरह आवरणभंगसे प्रेप्सा निवृत्ति होनेपर प्राप्तिव्यवहार भी हो सकता है। प्राकृत पंचकोशातीत स्वरूप लक्षणलक्षित प्रत्यगभिन्न ब्रह्मस्वरूप परमात्मा ही रस है। उसीको पूर्ण या अंशरूपसे पाकर यह सोपाधिक जीव आनन्दित होता है। '**एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति॥**', (बृहदारण्यक० ४।३।३२) '**एष ह्येवानन्दयति**' इत्यादि श्रुतियाँ लौकिक आनन्दको भी रसस्वरूप परमात्माका ही अंश बतला रही हैं। साधारण अब्रह्मवित् पुरुषोंको अनवच्छिन्न ब्रह्मात्मक रसकी प्राप्ति तो होती नहीं, अतः यथायोग्य ही सम्बन्ध लगाना चाहिये। '**रसो वै सः**', '**रसो ह्येव**' इन दोनों श्रुतियोंमें अनवच्छिन्न स्थायी अवच्छिन्न भग्नावरण चिदात्मक पारिभाषिक तदंशभूत ही रस लिया जाता है। द्रवत्व स्थायीभावानपेक्ष महावाक्यजन्य अपरोक्ष ब्रह्माकारवृत्तिमें आवरण-भंगसे अनवच्छिन्न ब्रह्मरूपसे ही रसका लाभ होता है। इसी तरह कान्ताद्यवच्छिन्नरूपसे उपादान ब्रह्मचैतन्यकी भी स्थायी भावापत्ति होनेपर पारिभाषिकावच्छिन्न रसका लाभ होता है। इसलिये उत्तरमीमांसामें रसशास्त्र गतार्थ नहीं, किंतु स्थायीभावादिविशिष्ट रसके प्रतिपादनके लिये रसशास्त्र पृथक् अपेक्षित है।

आचार्य श्रीमधुसूदनजी सरस्वती—व्यक्तित्व एवं कृतित्व

'**भक्तिरसायन**' का आस्वादन कराया जा चुका है। उसके रचयिता श्रीस्वामी मधुसूदनसरस्वतीजीके सम्बन्धमें भी कुछ जान लेना चाहिये। ऐसा कोई ग्रन्थ अपेक्षित था, जिसमें ब्रह्मवादके अनुरोधसे ही भक्तितत्त्वका वर्णन किया गया हो। इसी न्यूनताकी पूर्ति श्रीमधुसूदनसरस्वतीने '**भगवद्भक्तिरसायन**' बनाकर की। इनका जन्म पूर्व बंगालमें फरीदपुरके पास कोटालीपाड़ा ग्राममें श्रीरामचन्द्र भट्टाचार्यके वंशमें हुआ था। इनके पिताका नाम पुरन्दर मिश्र और इनका नाम कमलनयन था। इन्होंने नवद्वीपमें श्रीहरिराम तर्कवागीशसे न्यायशास्त्रका अध्ययन किया था। श्रीविश्वेश्वरसरस्वतीसे संन्यास-दीक्षा ग्रहणकर बहुत दिनतक काशीमें निवास किया था। श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीकी रामायणकी प्रतिष्ठा विद्वानोंमें नहीं हो रही थी। किसी विद्वान्ने उन्हें सलाह दी कि यदि श्रीमधुसूदनसरस्वती इस ग्रन्थकी प्रतिष्ठा करें तो सभी विद्वान् आपकी रामायणका आदर करेंगे। श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने अपनी रामायण श्रीमधुसूदनसरस्वतीके पास भेज दी। छः महीनेतक जब रामायण नहीं लौटी, तब श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने अपना शिष्य रामायण ले आनेके लिये भेजा। श्रीमधुसूदनसरस्वतीने ग्रन्थका अभिनन्दन करते हुए ऊपर निम्नलिखित श्लोक लिख दिया—

आनन्दकानने ह्यस्मिञ्जङ्गमस्तुलसीतरुः।
कवितामञ्जरी भाति रामभ्रमरभूषिता॥

कभी श्रीमधुसूदनसरस्वती श्रीवृन्दावनधाम पधारे। वहाँ एक ब्राह्मण बहुत दिनसे भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनके लिये तप कर रहा था। उसे स्वप्नमें भगवान्ने आदेश दिया कि मधुसूदनसरस्वतीके पास जाओ, वहाँ दर्शन होगा। वह ब्राह्मण श्रीमधुसूदनसरस्वतीके पास जाकर देखता है कि भगवान् उनकी भिक्षामेंसे अन्न निकालकर खा रहे हैं। उसने स्वयं उनकी भिक्षामेंसे अन्न निकालकर खाना चाहा, पर श्रीमधुसूदनसरस्वतीने मना किया कि 'संन्यासीका अन्न निषिद्ध है।' उस ब्राह्मणने कहा कि 'मैं तो भगवान्का प्रसाद लेना चाहता हूँ, संन्यासीका अन्न नहीं।' इनके द्वारा बनाये हुए निम्नलिखित ग्रन्थ हैं—(१) अद्वैतसिद्धि, (२) वेदान्तकल्पलता, (३) अद्वैतरत्नरक्षण, (४) श्रीमद्भागवत टीका, (५) श्रीमद्भगवद्गीता व्याख्या—गूढार्थदीपिका, (६) संक्षेप शारीरिक व्याख्या सारसंग्रह, (७) सिद्धान्तबिन्दु, (८) शिवमहिम्नस्तोत्रकी हरिहरपरा टीका, (९) बोपदेवकृत हरिलीलाकी टीका, (१०) भगवद्भक्तिरसायन। इस अन्तिम ग्रन्थके प्रथम उल्लासकी टीका स्वयं ग्रन्थकारने की है। यद्यपि शेष दो उल्लासोंकी

टीका भी अन्य विद्वानोंने लिखी है, किंतु ग्रन्थकार-सिद्धान्तके भक्तद्वारा टीका लिखी जाय, इसकी आवश्यकता थी। भगवान् भूतभावन विश्वनाथकी कृपासे वेदान्तितिलक श्रीदामोदरशास्त्रीने विविध शास्त्रोंके तात्पर्यको अभिव्यक्त करनेवाली, ग्रन्थकार-सिद्धान्तका सर्वथा अनुसरण करनेवाली 'भक्तिरस-स्रोतस्विनी' नामक टीका और टिप्पणी बनायी। वह विद्वानोंको आनन्दित करनेवाली होगी, ऐसी आशा है।

क्या ईश्वर और धर्मके बिना काम चलेगा ?

विविध शंकाओंके युक्तियुक्त शास्त्रोक्त समाधान

एक बार एक सज्जनने प्रश्न किया और कहा—'आज चार मुखके ब्रह्मा, छः मुखके षडानन, हजार मुखके शेष भी यदि कहें कि माला जपनेसे सुख-शान्ति होगी तो भी दुनिया इस बातको नहीं मान सकती, जबकि पूजा-पाठ और माला-जप होते हुए भी सोमनाथका मन्दिर टूट ही गया, काशीविश्वनाथको पलायन करना ही पड़ा। आज भी सब देशोंकी अपेक्षा यहाँ अधिक धर्म होता है, यहाँ लाखों साधु अपना समय निरन्तर भजनमें ही लगाते हैं। इसके अतिरिक्त अनेकों गृहस्थ भी भजन करते हैं। बड़े-बड़े मठ-मन्दिर करोड़ोंकी सम्पत्तियोंसे भरपूर हैं। गणितज्ञोंने गम्भीर विवेचन करके यह निश्चय कर लिया है कि हर एक व्यक्तिके पीछे पौने तीन घण्टेका भजन पड़ता है। इस तरह प्रति व्यक्तिके पीछे दो आनेकी आय और उसमेंसे डेढ़ पैसेका दान पड़ता है। इस तरह सम्पूर्ण देशोंकी अपेक्षा यहाँका धर्म, दान और भजन अधिक है। यदि इनका सदुपयोग हो (धर्मादिकी सम्पत्तियोंका सदुपयोग हो) तो कितनी ही यूनिवर्सिटियाँ चल सकती हैं। आजकी दुनिया धर्मसे ऊब गयी है, अतः आज 'टन-टन', 'पों-पों' से काम नहीं चलेगा। लोगोंको धार्मिक बननेका उपदेश करनेके पहले वर्तमान स्वरूप और उसके परिष्कारकी ओर ध्यान देना होगा।'

वस्तुतः ऐसी अनेकों शंकाओंका मूल कारण है, अपने धर्म, कर्म, सभ्यता एवं संस्कृतिसे सम्बन्ध रखनेवाले शास्त्रोंका अध्ययन न करना, उसके विपरीत इतिहासों, साहित्योंका अभ्यास और विपरीत वातावरणमें पलना।

जब धर्मके स्वरूपपर हम विचार करते हैं तो मालूम होता है कि धर्म केवल माला जपना ही नहीं बतलाता, किंतु वह तो अधिकारानुसार सामाजिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय सब प्रकारके कर्तव्योंको सोच-समझकर यथायोग्य काम करनेको कहता है। अतः इस प्रश्नका अवकाश ही नहीं रहता कि जब घरमें आग लगी हो तो पानी ढूँढ़कर बुझानेका प्रयत्न करना चाहिये, केवल 'राम-राम' कहनेसे काम नहीं चल सकता। परंतु यहाँ भी यह ध्यान रखना आवश्यक है कि घरमें आग लगनेपर 'राम-राम' कहते बैठे रहना सबसे हो भी नहीं सकता। जब 'राम-राम' जपते हुए भी जल, अन्न, वस्त्रकी आवश्यकता प्रतीत होती है तो घरकी आग बुझाये बिना रहा भी कैसे जा सकता है? हाँ, आग बुझानेके लिये अन्यान्य उपायोंको काममें लाते हुए यदि 'राम-राम' कहता रहेगा तो ईश्वर-कृपासे आग शीघ्र ही बुझ भी सकती है। विपरीत भावनासे, प्रचण्ड वायुसे आग अधिक उत्तेजित भी हो सकती है, परंतु जिसे पूर्ण विश्वास है, वह 'राम-राम' के सहारे भोजन-पानादिकी भी परवाह नहीं करता। जिसके मनमें घरमें आग लगनेपर भी नामका भाव दिखायी देता है, उसकी आग भगवत्कृपासे अवश्य बुझ जायेगी। परंतु वैसी धारणा और योग्यता न होनेपर भी जो भोजन-पान-व्यवहारादि कार्योंमें तत्पर रहते हुए

भी समाज तथा राष्ट्रके हितमें नहीं प्रवृत्त होते हैं; किसी भी धार्मिक, सामाजिक कार्योंके अवसरपर केवल राम-नामका सहारा पकड़ते हैं. वे तो योग्यता और अवसरको न सोचकर एक सत्सिद्धान्तको केवल कलंकित ही करनेका प्रयत्न करते हैं।

वैराग्यके स्थानमें राग, रागके स्थानमें वैराग्य, प्रवृत्तिके स्थानमें निवृत्ति और निवृत्तिके स्थानमें प्रवृत्ति अनुचित है, हानिकर है।

नीकोहू फीको लगत, बिन अवसरकी बात।
जैसे बरनत युद्धमें, रस सिंगार न सुहात॥

परंतु यदि दूसरा उपाय दृष्टिगोचर ही न हो, तब तो सिवा भगवान्‌के सहारेके और चारा ही क्या है? इसीलिये तो जहाँ एक परमविश्वासी उच्चकोटिके भगवद्भक्तके लिये भगवद्भजन ही सर्वाभीष्टपूरक है, वैसे ही एक अत्यन्त आर्त या अर्थार्थी एवं सर्वसाधनविहीनका एकमात्र भगवान् ही सहारा है। तत्त्वनिष्ठ कृतकृत्य ज्ञानी भक्त स्वभावसे ही भगवान्‌को भजते हैं। जिज्ञासु ज्ञान-प्राप्त्यर्थ भगवान्‌को भजते हैं। अर्थार्थी, आर्त अपनी अर्थ-प्राप्ति और आर्तिनिवृत्तिके लिये परमेश्वरको भजते हैं। किसी भी कामनावाला व्यक्ति अपनी अभीष्टपूर्तिके लिये तत्तत् उपायोंका अनुष्ठान करता हुआ भी उनकी सफलताके लिये परमेश्वरकी आराधना करता है। जिज्ञासु भगवच्चरण-पंकज-समर्पण-बुद्ध्या धर्मोंका अनुष्ठान करता है। वेदान्तोंका श्रवण, मनन, निदिध्यासन करता है। आर्त, अर्थार्थी शास्त्रके अनुसार नैतिक, आर्थिक उपायोंका प्रयोग करता है, फिर भी '**मामनुस्मर युध्य च**' (गीता ८।७)-के अनुसार अपने अस्त्र-शस्त्रबलका गर्व, बुद्धि और बाहुबलके घमण्डको छोड़कर, ईश्वरका आश्रयण करना पड़ता है; क्योंकि ईश्वरके अनुकूल होनेपर ही सम्पूर्ण लौकिक उपायोंकी सफलता होती है। भगवदुपेक्षित प्राणीके लिये सम्पूर्ण उपाय भी व्यर्थ हो जाते हैं। इसीलिये माता-पिताके द्वारा अनेक उपचारोंसे लालन-पालन करते रहनेपर भी बालकोंकी मृत्यु देखी जाती है। चिकित्सकोंके अनेक उपचार करनेपर भी रोगी मरते दिखते हैं। अतएव—

बालस्य नेह शरणं पितरौ नृसिंह
नार्तस्य चागदमुदन्वति मज्जतो नौः।

(श्रीमद्भा० ७।९।१९)

मातु मृत्यु पितु समन समाना। सुधा होइ बिष सुनु हरिजाना॥
मित्र करइ सत रिपु कै करनी। ता कहँ बिबुधनदी बैतरनी॥
सब जगु ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता॥
राम बिमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई॥
सजल मूल जिन्ह सरितन्ह नाहीं। बरषि गएँ पुनि तबहिं सुखाहीं॥

(रा०च०मा० ३।२।६—८; ५।२३।५-६)

अत: साधन-सम्पन्नोंको भी श्रीभगवान्‌का आश्रयण आवश्यक है। फिर तो जो साधन-विहीन हैं, उनके लिये तो सिवा भगवान्‌के और सहारा ही क्या है?

जैसे एक वीतराग तत्त्वनिष्ठ कृतकृत्य केवल भगवान्‌के ही सहारे रहता है, उसके सम्पूर्ण योगक्षेमका भगवान् ही निर्वाह करते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९।२२)

अनन्य भावनासे भगवान्‌की आराधनामें तत्पर प्राणियोंका अप्राप्त-अभीष्टप्राप्तिरूप योग और प्राप्तरक्षणरूप क्षेम श्रीभगवान् ही पूरा करते हैं। वैसे ही साधन-विहीन विश्वासी आर्त-अर्थार्थीके भी एकमात्र भगवान् ही सहारा हैं। अत: उसके भी योग-क्षेमको भगवान् ही वहन करते हैं। परंतु भारतकी स्थिति तो आज उससे भी अधिक चिन्तनीय है। वह तो आज आत्माराम कृतकृत्य नहीं, निष्काम मुमुक्षु नहीं, साधन-सम्पन्न आर्त एवं अर्थार्थी नहीं, इतनेपर भी भगवद्विश्वासी नहीं अर्थात् आर्त-अर्थार्थी होनेपर भी आर्तिनिवृत्ति और अर्थप्राप्तिके लिये अपेक्षित साधनोंसे भी रहित है। ऐसी स्थितिमें भी निराश्रय निष्कपटभावसे भगवान्‌को पुकारनेसे काम चल सकता था, परंतु इस समय भगवान्‌से विश्वास

उठ गया है। गिरते समय प्राणीके हाथ-पाँव यद्यपि स्वभावसे ही किसी सहारेको टटोलने लगते हैं और दुनियाके सम्पूर्ण सहारोंके कमजोर होनेपर, एकमात्र भगवान्का ही बल रह जाता है। अत: स्वाभाविक रूपसे भगवान्का आश्रयण ही शेष रह जाता है। फिर भी जब ब्रह्मा, शेष आदिके कहनेपर भी भगवान्के पुकारनेमें विश्वास न हो तो इसे राष्ट्रका दुर्भाग्य ही समझना चाहिये। रहा यह कि जप, पाठ, पूजा करते हुए भी सोमनाथका मन्दिर टूट गया, विश्वनाथ भाग गये, हिन्दू जातिका सर्वस्व लुट गया; फिर ईश्वर या धर्मको पुकारनेसे क्या लाभ ? परंतु यदि ठण्डे दिलसे विचार करें तो इस शंकाका कुछ भी महत्त्व नहीं है। पहले तो यह सोचना चाहिये कि क्या किसी उपायके कभी असफल हो जानेमात्रसे, सर्वदाके लिये उसे व्यर्थ और बेकाम समझ लेना उचित है ? क्या कभी वायुयानके फेल हो जाने या किसी यन्त्रके कल-पुर्जोंके बेकार हो जानेपर सर्वदाके लिये उनको बेकार समझ लिया जाता है ? देखते तो यह हैं कि बार-बार वायुयानों, मोटरों, रेलों तथा अन्यान्य यन्त्रोंके बेकार या हानिकारक होनेपर भी उनका निर्माण और संचालन बन्द नहीं हुआ। बड़े-बड़े आविष्कारक वैज्ञानिक बार-बार विफल होनेपर भी प्रयत्नका पीछा नहीं छोड़ते, फिर लाखों सफलताके भी तो उदाहरण विद्यमान हैं, फिर उनके आधारपर विश्वास ही क्यों न किया जाय ?

असफलताका कारण कोई त्रुटि ही समझी जाती है। किसी यन्त्रके एक छिद्र या कीलोंकी गड़बड़ी या कमी-वेशीसे वह व्यर्थ या हानिकारक हो सकता है। इसी तरह जो कार्य-कारण-भाव अपौरुषेय अतएव भ्रम-प्रमादादि स्पर्शसे शून्य, प्रामाणिक शास्त्रसे सिद्ध है, कतिपयस्थलीय व्यभिचारदर्शनमात्रसे उसका विघटन नहीं समझा जा सकता। जैसे वैज्ञानिक-निर्दिष्ट पद्धतिसे विपरीत किंचित् भी उलट-फेर होनेपर यन्त्र-संचालन और निर्माण व्यर्थ ही नहीं, हानिकारक समझे जाते हैं, वैसे ही शास्त्र-निर्दिष्ट पद्धतिमें किंचित् भी गड़बड़ी होनेपर जप, पाठ, पूजा आदि धर्म बेकार या हानिकारक हो सकते हैं; परंतु इतनेमात्रसे ही उन शास्त्रोंका अप्रामाण्य या उन जप, पाठ, पूजाओंमें सर्वदाके लिये अश्रद्धा कदापि उचित नहीं। जब अनेक स्थलोंमें वैज्ञानिक-निर्दिष्ट पद्धतिसे काम करनेपर सफलता देखी जा चुकी है, तब तो स्पष्ट ही है कि जहाँ कहीं यन्त्रोंकी विफलता या हानिकारकता देखी जाय, वहाँ संचालन, निर्माणमें ही कर्तृ-क्रियादिकी विगुणता या अन्यान्य किसी प्रकारकी त्रुटिकी ही फल-बलसे कल्पना करना उचित है। इसी तरह जप, पाठ, पूजा आदि किन्हीं भी प्रामाणिक शास्त्रोक्त उपायोंको जब अनेक स्थलोंमें सफल होते देख रहे हैं तो कतिपय स्थलोंमें व्यर्थता देखकर फल-बलसे ही उनके अनुष्ठानमें या साधनोंमें या कर्ताओंमें अवश्य ही किसी प्रकारकी त्रुटि समझ लेनी चाहिये। चिकित्सकोंके शास्त्रोक्त अनेक उपाय कहीं व्यर्थ हो जाते हैं, साथ ही कहीं हानिकारक भी साबित होते हैं तो भी वे उपाय सर्वदा व्यर्थ और सर्वदाके लिये हानिकारक हैं, यह समझना भारी भूल है। किंतु यही समझना उचित है कि जब यह अनेक स्थलोंमें सफल होते हैं तो प्रयोक्ता या प्रयोगकी ही कोई त्रुटि होनेसे कहीं विफल होते हैं। इस तरह सहजहीमें समझा जा सकता है कि जब अनेक जगह पूजा, पाठ, जप आदिकी सफलता प्रत्यक्ष ही देखी जाती है, फिर भी कहीं सोमनाथ आदि स्थलोंमें यदि पूजादिकी व्यर्थता हुई तो इससे प्रयोक्ताओं या प्रयोगोंमें ही त्रुटिकी कल्पना कर लेनी चाहिये, न कि पूजादि उपायोंको ही सर्वदाके लिये व्यर्थ और हानिकारक मान लेना चाहिये। अध्यक्षों और पूजकोंके अत्याचारों, अनाचारों और मन्दिरोंके अपचारोंसे मूर्तिमेंसे देव-तत्त्व हट जाता है। अनुष्ठानोंमें, मन्त्रोच्चारणमें किसी तरहकी गड़बड़ी या अनुष्ठाताओंके आचार-विचारोंमें गड़बड़ीसे अनुष्ठान व्यर्थ और हानिकारक हो सकते हैं; परंतु इतनेसे ही सब अनुष्ठान वैसे ही नहीं समझे जा सकते। इसके सिवा जैसे दो मल्लोंके

युद्धमें प्रबल मल्लकी विजय, दुर्बलका पराभव होता है, वैसे ही किसी अनर्थको दूर करनेके लिये किये गये पुरुषार्थसे, अनर्थके जनकभूत प्रारब्ध कर्मसे संघर्ष होता है। यदि पिछले अनर्थारम्भक कर्मोंकी प्रबलता रही और अनर्थ-निवारक वर्तमान पुरुषार्थ कमजोर रहा तो पुरुषार्थकी व्यर्थता हो जाती है; परंतु यदि अनर्थारम्भक प्रारब्ध कर्मोंसे पुरुषार्थ प्रबल हुआ तो अवश्य ही सफलता मिलती है। भेद यही है कि प्रारब्ध कर्म अब घटाये-बढ़ाये नहीं जा सकते, पुरुषार्थ बढ़ाया जा सकता है। अतः पुरुषार्थसे कभी भी निराश होनेकी आवश्यकता नहीं है। कोई भी अनुष्ठान, पूजन, भजन यदि तीव्र संवेगसे शुद्ध प्रयोक्ताद्वारा सुचारु रूपसे किया जाय तो वह अवश्य सफल होता है। जहाँ कहीं विफलता होती है, वहाँ उपर्युक्त त्रुटियोंकी ही कल्पना उचित है। अनुष्ठानादिमें अविश्वास उचित नहीं है। नैयायिकोंने भी शास्त्रोंके कुछ कर्मोंकी विफलता देखकर उनमें कर्तृ-क्रियादि वैगुण्यकी ही कल्पना की है।

जो कहा जाता है कि 'सोमनाथ आदिके मन्दिर तोड़नेवालोंको कुछ भी दण्ड न मिला' सो ठीक ही है। एक बार काशीके एक योग्य विद्वान्‌ने मुझसे कहा कि 'आज दुर्गाजीकी चाँदीकी आँखोंको चोर चुरा ले गये। महाराज! यदि दुर्गाजीसे अपने ही आँखकी रक्षा न हुई, तब वे हम सबकी रक्षा कैसे कर सकेंगी?' किसी एक और व्यक्तिने शिवजीपर चढ़े हुए अक्षत या फलोंको ले जाती हुई मूषिकाको देखकर यह समझ लिया था कि 'मूर्तिपूजा व्यर्थ है, मूर्तिमें देवत्व नहीं है।'

ऐसी बातोंपर विचार करनेसे विदित होता है कि यह कितनी मोटी दृष्टिकी बात है। व्यापक परब्रह्म परमात्मा सर्वत्र ही रहता है, सम्पूर्ण विश्व उन्हींमें रहता है। सोना, उठना, बैठना सम्पूर्ण कर्म उन्हींमें होता है। जिस तरह गर्भस्थ बालककी सम्पूर्ण चेष्टाएँ माँके गर्भमें ही होती हैं, फिर भी माता कुपित नहीं होती। वैसे ही जीवोंकी अनेक हलचलें उसी परमात्मामें होती हैं, 'क्षमाशील परमात्मा सबको ही सहन करता है।'

उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः
किं कल्पते मातुरधोक्षजागसे।
किमस्तिनास्तिव्यपदेशभूषितं
तवास्ति कुक्षेः कियदप्यनन्तः॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। १२)

ब्रह्माजी कहते हैं—'हे अधोक्षज! गर्भगत बालकके पादोत्क्षेपणको जननी क्या अपराध मानती है? यदि नहीं तो अस्तिनास्ति व्यपदेशसे भूषित यह सम्पूर्ण विश्व क्या आपकी कुक्षिसे बाहर है?' भगवद्ध्यानके प्रभावसे एक ज्ञानी प्राणी भी देहाभिमानशून्य होता है। उसके एक बाहुमें कोई कण्टक चुभाता है, दूसरे बाहुमें कोई चन्दन-लिम्पन करता है। वह उतना उदार, सहनशील एवं देहाभिमानशून्य होता है कि न अनुकूलाचरणवालोंपर प्रहृष्ट हो, न प्रतिकूलाचरणवालोंपर कुपित हो; फिर भी अपने-अपने कर्तव्यके अनुसार ही उन सबको यथासमय फल मिलता है। जब एक देहवाले भगवद्भक्त ज्ञानीकी ऐसी स्थिति है, तब अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक भगवान्‌का तो कहना ही क्या है। उसके तो अपरिगणित देह हैं और वह महाज्ञानी सर्वत्र असंग और अभिमानशून्य है। वह किसीके सम्मान या अपमानमें किस तरह क्षुब्ध हो सकता है? भावुक लोग शास्त्रोंके आज्ञानुसार उसकी अनन्तानन्त प्रतिमाओंका निर्माणकर मन्त्रोंसे आवाहन, प्रतिष्ठापनादिद्वारा उसकी आराधना करते हैं और अपने कर्मके अनुसार ही यथाकाल फल पाते हैं। शास्त्रके अनुसार मन्त्रों एवं आराधनाओंके अनुसार पूजा-ग्रहण करने और फल देनेके लिये ही भगवान्‌का उन मूर्तियोंमें प्राकट्य होता है। कोई उन मूर्तियोंका अपमान करके भगवान्‌का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता है। जिस तरह सूर्यपर निष्ठीवन करनेसे वह सूर्यपर न जाकर अपने ही ऊपर पड़ेगा, आकाशपर मुष्टिप्रहार या तलवारका चलाना बेकार है, वैसे ही भगवान्‌पर प्रहार या उनकी मूर्तियोंका तोड़ना बेकार

है। अनन्त मूर्तियोंमें रहनेवाले भगवान् विश्वमूर्ति एवं अमूर्ति भगवान् इतने उदार और क्षमाशील तो हैं ही कि मूर्ति तोड़नेवालोंके कर्म ही उन्हें फल देते हैं। साधारण व्यक्ति जैसे असहिष्णु कोई भी शासक नहीं होते, फिर परमेश्वरकी तो बात ही दूसरी है। किन्हीं कर्मोंके फल अवसरके अनुसार ही होते हैं। 'ओडायर' की हत्या करनेवाला व्यक्ति तत्काल ही पकड़ लिया गया था; परंतु तत्क्षण ही उसे फाँसी नहीं दी गयी, न गोलीसे उड़ाया गया। बाकायदे न्यायालयमें न्याय हुआ। फिर दण्ड निश्चित हुआ। यथाकाल दण्ड दिया गया। जब प्राकृत शासकोंमें भी इतनी सहिष्णुता और काल-प्रतीक्षा होती है, तब फिर परमेश्वर ही सहिष्णु और कालप्रतीक्षक क्यों न हों?

सम्राट्, स्वराट्, विराट् या गवर्नर, कमिश्नर आदि कोई भी अपने अपमान करनेवाले व्यक्तिको स्वयं पकड़ने या तत्क्षण दण्ड देनेमें नहीं प्रवृत्त होते, किंतु उनके कर्मचारी लोग ही उसे पकड़नेमें प्रवृत्त होते हैं। वे ही न्यायाध्यक्षका न्याय पाकर यथाकाल दण्ड देते हैं। इसी तरह ईश्वरकी मूर्तियोंका अपमान करनेवालोंको तत्क्षण ही परमेश्वर दण्ड नहीं देता; किंतु उसके कर्मचारी ही यथाकाल दण्ड देते हैं। कितने ही अज्ञ कहा करते हैं कि 'यदि परमेश्वर सर्वशक्तिमान् हो तो मैं उसे गाली देता हूँ, उसकी मूर्तिको तोड़ता हूँ, मेरे सामने आये या मेरा मुँह बन्द कर दे।' परंतु सोचना यह चाहिये कि यदि बड़े-बड़े तपस्वी युगयुगान्तरों, कल्प-कल्पान्तरोंकी तपस्याके पश्चात् उसका दर्शन पाते हैं, अनन्त तपस्याओंसे उसका अस्तित्व निर्णय कर पाते हैं, फिर वह इन अज्ञोंके कहनेमात्रसे कैसे प्रकट हो या उनके कथनानुसार उनका मुँह कैसे बन्द करे? क्या किसी सम्राट्को ऐसा कहनेपर वह प्रवृत्त होगा? वस्तुतः जैसे सावधान पुरुष उन्मादी या बालककी बातोंपर ध्यान न देकर उसपर कृपा ही करता है, वैसे परमेश्वर भी कृपा ही करते हैं, ***'जौं करनी समुझै प्रभु मोरी। नहिं निस्तार कलप सत कोरी॥'*** (रा०च०मा० ७।१।५)

द्वित, त्रित आदि महर्षियोंने किसी यज्ञमें भगवान्को प्रकट करनेकी प्रतिज्ञा कर ली; परंतु जब भगवान् प्रकट हुए, तब वे शाप देनेको प्रस्तुत हुए, इसपर ऋषियोंने समझाया कि वे प्रभु भक्तिसे ही प्रकट हो सकते हैं, अहंकारसे नहीं। अतः ऐसा करना साहस है। हिरण्यकशिपु आदिको भी मारनेके लिये भगवान्का प्रह्लादकी भावनासे प्राकट्य हुआ—

सहे सुरन्ह बहु काल बिषादा। नरहरि किए प्रगट प्रहलादा॥

(रा०च०मा० २।२६५।५)

इसके अतिरिक्त वे भगवान्के नित्यपार्षद हैं, भगवान्की लीलाके अंग होकर ही उनका जन्म था। इसलिये उनके लिये भगवान्का प्राकट्य ठीक है; परंतु साधारण जन्तुओंके लिये तो वैसा ही होगा, जैसे मच्छरको मारनेके लिये तोपका दागना। जिन कीटोंको भगवान्की कोई भी शक्ति पूर्ण दण्ड दे सकती है, उनके कहनेसे भगवान्का प्रकट होना अत्यन्त ही अनुपयुक्त है। इसलिये मूर्तिभंजकोंको दण्ड देनेके लिये भगवान्का प्राकट्य नहीं हुआ और न कोई चमत्कारपूर्ण तात्कालिक घटना घटी। चींटी, मूषिका आदिकी प्रवृत्ति अज्ञानपूर्विका होती है, चौरादिमें भी अज्ञानकी ही बहुलता है। अतः उनकी स्थिति क्षम्य ही है; किंतु विद्वेषाभिनिविष्टचेताओंको यथाकाल दण्ड भोगना पड़ा ही। सुना जाता है, औरंगजेबने मरते समय अपने पुत्रको पत्र लिखकर अपना दुःख बड़े दैन्यपूर्ण शब्दोंमें निवेदन किया और सोमनाथके मन्दिरको तोड़नेवाला महमूद गजनवी मरनेके समय अपने सामने सोने-चाँदीका ढेर लगवाकर (जिसे वह लूट लाया था) खूब रोया था।

कहीं-कहीं लोगोंको बहुत सन्देह हो जाता है, जब वे देखते हैं कि अत्याचारी प्रसन्न हैं और सदाचारी धर्मात्मा दुःख पा रहे हैं। परंतु यह निश्चय रखना चाहिये कि जैसे विषवृक्षमें विषका ही फल लगता है, अमृतफल नहीं; वैसे ही पापसे दुःख ही होगा, सुख नहीं; पुण्यसे सुख ही होगा, दुःख नहीं। हाँ, विलम्ब हो सकता है। कोई भी बीज अपना फल

देनेमें कुछ काल ले सकता है; परंतु यह कभी नहीं हो सकता कि विषवृक्षमें अमृतका फल लगे। कोई प्राणी चैत्रमें भले ही मटर या चना बोता हो, परंतु यदि उसने कार्तिकमें गेहूँ बोया है तो उसे चैत्रमें काटनेको तो गेहूँ ही मिलेगा। इसी तरह कोई प्राणी भले ही अधर्म-अत्याचार कर रहा हो; मूर्ति तोड़कर, शास्त्र-धर्म तोड़कर पाप करता हो; परंतु इस समय फल तो वही भोगनेको मिलेगा जैसा कर्म पहले कर चुका है। हाँ, उग्र पापों और पुण्योंका फल जल्दी मिलता है; परंतु वह भी कुछ तो अवसरकी प्रतीक्षा करता ही है।

त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः।
अत्युग्रपुण्यपापानामिहैव फलमश्नुते॥

(हितोपदेश १२८)

इसीलिये नल, राम, युधिष्ठिरादि धर्मनिष्ठ होते हुए भी दुःखी थे। रावण, दुर्योधनादि विपरीतगामी होनेपर भी सुखी थे। परंतु अन्तमें उन्हें अपने पापोंका भी फल भोगना पड़ा ही। राम, युधिष्ठिरादि सुखी हुए, रावणादिका सर्वनाश हो गया।

सौ लख पूत सवा लख नाती। तेहि रावन के दिया न बाती॥

ऐसे ही औरंगजेब आदिकी भी पूर्वजन्मकी तपस्या थी, उसीके प्रभावसे उन लोगोंका उतना तेज और वैभव था। जबतक उसकी समाप्ति नहीं हुई, तबतक उनका पराभव असम्भव था। सामान्यतः यही होता है कि तपस्यासे राज्य और राज्यसे नरक होता है। जब प्राणी पीड़ित, पददलित, उच्छोषित, विताडित होता है, तब उसे न्याय, धर्म और ईश्वर सूझता है। ऐसा होते ही कुछ उन्नति और प्रभुता होती है; बस, उसी समय अपने-आपको सँभालना बुद्धिमानी है। अधिकारकी कुर्सी मिलते ही न्याय, धर्म और ईश्वरको भूल जाते हैं।

नहिं कोउ अस जनमा जग माहीं। प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं॥

(रा०च०मा० १।६०।८)

बस, उसी समय रावण, औरंगजेब-जैसी प्रवृत्ति होने लगती है। परमेश्वरीय दण्ड उन्हें मिलता है; परंतु न्यायकारी परमेश्वर कालकी प्रतीक्षा करके ही—शुभकर्मोंका फल भोग लेनेपर ही उन्हें अशुभ कर्मोंका फल प्रदान करते हैं। श्रीहनुमान्‌ने रावणके विचित्र वैभवको देखकर यही निश्चय किया कि 'अहो! यदि इसमें अधर्म बलवान् न होता तो यह शक्रसहित समस्त लोकपालोंका स्वामी ही होनेयोग्य था'—

यद्यधर्मो न बलवान् स्यादयं राक्षसेश्वरः।
स्यादयं सुरलोकस्य सशक्रस्यापि रक्षिता॥

लोकपाल भयभीत होकर इसके भ्रुकुटीका ही विलोकन करते रहते हैं—

कर जोरें सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता॥

(रा०च०मा० ५।२०।७)

हनुमान्‌जीने समझाया कि रावण! तुमने बहुत कुछ सत्कर्म किया है, उसका फल तुम्हें प्राप्त है—

उत्तम कुल पुलस्ति कर नाती। सिव बिरंच पूजेहु बहु भाँती॥
बर पायहु कीन्हेहु सब काजा। जीतेहु लोकपाल सब राजा॥

(रा०च०मा० ६।२०।३-४)

परंतु अब अधर्मके फलभोगका समय आ रहा है, सावधान हो जाओ।

तात्पर्य यही कि अत्याचारीको भी अपने असत्कर्मोंका फलभोग मिलता है, अवसर पाकर सत्कर्मोंका भी फल मिलता है। ऐसे ही धर्मात्माको भी पिछले प्रारब्ध—तीव्रतम अधर्मका भी फल भोगना पड़ता है।

जो कहा जाता है कि भारत 'धर्म-धर्म' चिल्लाता है तो भी उसका पतन-ही-पतन दृष्टिगोचर होता है। दूसरे देश धर्मका नाम भी नहीं लेते, फिर भी हमपर शासन कर रहे हैं। परंतु यह भी अविचारित-रमणीय बात है। 'दूरके ढोल सुहावने लगते हैं।' यह हम कह चुके हैं कि जहाँ भी कहीं उन्नति देखो, वहाँ उसके मूलभूत धर्मकी कल्पना कर लेनी चाहिये। विषवृक्षमें अमृतफल कदापि नहीं लगता। जहाँ धर्मकी चर्चा नहीं, वहाँ ऐसी-ऐसी भयानक विपत्तियाँ आती हैं कि नगर-के-नगर ज्वालामुखियोंमें जल जाते हैं। कभी-कभी बड़े-बड़े देश-के-देश अकस्मात् धरातलमें विलीन हो जाते हैं,

कभी समुद्रकी गोदमें दिखायी देते हैं। कभी भयानक संग्रामोंसे आपसमें ही कट मरते हैं, शान्तिकी दृष्टिसे आज भी भारतमें और देशोंकी अपेक्षा गनीमत है। आध्यात्मिकता और धार्मिकताका ही फल है कि आज भी यहाँ लूट-खसोटकर दूसरोंकी सम्पत्तियोंको आत्मसात् करनेमें संकोच है। यहाँकी सभ्यता-संस्कृति आज भी बची है।

संसारमें हजारों संस्कृतियाँ उत्पन्न होकर मिट गयीं; परंतु प्राचीनतम भारतीय संस्कृति आज भी सुरक्षित है। आज भी भौतिक दृष्टिमें कितने ही बढ़े-चढ़े देशोंके समझदार विद्वान् भारतसे बहुत कुछ आशा कर रहे हैं। कितने ही पाश्चात्य विद्वान् शान्ति-सुखके लिये बराबर भारतकी शरण आ रहे हैं। इसके अतिरिक्त आज तो ऐसा कोई भी राष्ट्र और समूह नहीं है, जो धर्म या ईश्वरको किसी-न-किसी रूपमें न स्वीकार करता हो। धर्मवादिनी, ईश्वरवादिनी संस्थाओंको गैरकानूनी करार देनेवालों, ईश्वर और धर्मको साम्यविरोधी समझकर अपने देशसे निकल जानेका आदेश देनेवालोंने भी आज परमेश्वरको पुकारना प्रारम्भ किया है। लाखों वैज्ञानिक, हजारों विज्ञानशालाएँ जिनके आज्ञानुसार सफल प्रयोगोंमें तत्पर हैं, उन लोगोंने भी अस्त्र-शस्त्र, संगठन-बल, बाहु-बल, बौद्ध-बलसे सम्पन्न होकर भी आज परमेश्वरको पुकारनेमें अपना और अपने राष्ट्रका कल्याण समझना आरम्भ कर दिया है। ऐसी स्थितिमें भारतको आज धर्म और माला-जपकी आवश्यकता न प्रतीत हो, यह आश्चर्य है।

जो कहा जाता है कि यहाँ आज भी धर्मके नामपर सब देशोंसे अधिक धन और समयका व्यय होता है, सो अवश्य ठीक है। परंतु सदुपयोग, दुरुपयोग नामकी भी तो कोई वस्तु है। यह स्पष्ट ही है कि अधिकतर धन और समयका धर्मके नामपर अपव्यय होता है। अपरिगणित धर्मादेकी सम्पत्तियोंका दुरुपयोग हो ही रहा है। यदि धर्मके यथार्थ स्वरूपका प्राकट्य या सच्छास्त्रोंके प्रचारसे अविद्यानिरसनमें उनका उपयोग हो तो सचमुच लाभ हो सकता है। तात्पर्य यह है कि शास्त्रके अनुसार शुद्ध भावनासे ही किया गया जप, तप, धर्मानुष्ठान लाभदायक होता है। अन्यथा देखते ही हैं कि धुन्धुने बहुत कालतक अनन्त तप किया था, परंतु भावना वेदादि शास्त्रों और धर्मके विरोधकी थी, इसीलिये उस तपका भी अन्तिम पर्यवसान उत्तम नहीं हुआ। सदुपयोगसे एक पैसेका भी दान लाभदायक होता है, दुरुपयोगसे हानिकारक होता है। एक पैसा दान देकर कोई रूई खरीदकर बत्ती-निर्माणकर ठाकुरजीकी आरती करता है; कोई एक पैसा पाकर बंसी खरीदकर मत्स्य मारता है। कोई अरबपति अहंकारसे प्रतिष्ठामात्रके लिये लाखोंका दान कर सकता है। बाह्य प्रयोजन उससे अधिक सम्पन्न हो सकते हैं। परंतु भावनाकी विशेषता उस दानमें नहीं है। एक वृद्धा गरीबनी श्रद्धासे अपने अर्ध सेटक अन्नसे छटाँक अन्नका दान करती है। भावनाकी दृष्टिसे अरबपतिके लक्षदानसे इस छटाँक दानका महत्त्व कहीं अधिक है। आज जहाँ साँपकी चर्बी, मछलीके तेलको घृतरूपमें विक्रय करके करोड़ों रुपयोंका लाभ प्राप्त कर लेनेपर लाखोंका दान किया भी गया तो वह कितने महत्त्वका हो सकता है? उस दानको लेनेवालों, खानेवालोंकी क्या दशा होगी?

इसके अतिरिक्त आज दानके नामपर पापमयी संस्थाएँ भी तो चल रही हैं, जहाँसे नास्तिकोंका सृजन होता है, जहाँसे नास्तिकता तथा तन्मूलक धर्मका प्रचार होता है—ऐसी भी संस्थाएँ दान और धर्मके ही नामपर चल रही हैं। इस प्रकारके दान और धर्मसे देशको सुख-शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है? अर्थ-काम-परायण संसार अर्थ-कामके सम्पादनमें तो अपना सम्पूर्ण पुरुषार्थ लगा देता है, परंतु धर्म और मोक्षको दैव या प्रारब्धपर छोड़ देता है।

जितनी सावधानी और चतुरता है, सब अर्थ-काममें ही उपयुक्त की जा रही है। 'एक राजाके दो मन्त्री थे, एक व्यापार कार्यमें दक्ष, दूसरा संग्राममें दक्ष था; परंतु अनभिज्ञतावश राजाने उनका विपरीत

उपयोग किया। व्यापारनिपुणको संग्राममें, संग्रामनिपुणको व्यापारमें लगा दिया, जिसका फल व्यापारमें हानि और संग्राममें पराजय हुई।' इसी तरह हमने अर्थ-काम-सम्पादनमें चतुर प्रारब्धको धर्म, मोक्षमें लगा दिया; धर्म-मोक्ष-सम्पादनमें चतुर पुरुषार्थको अर्थ-काममें नियुक्त कर दिया है। इसीलिये दोनोंके विषयमें गड़बड़ी हो रही है। वस्तु और अवसरका दुरुपयोग होनेसे हानियोंका ठिकाना नहीं रहता। ज्ञान, विज्ञान, धर्म और ईश्वर बड़ी उत्तम चीज हैं, परंतु इन्हींका दुरुपयोग करनेसे अनर्थ हो सकता है। ईश्वर और धर्मके सहारे सामाजिक, लौकिक विचारणीय स्थितिकी उपेक्षा बुरी है। समाज-राष्ट्रके हितका प्रश्न आनेपर वैराग्य और विश्वमिथ्यात्व भावनाका प्राधान्य खतरनाक है; जब कि भोजन-पानादिसे वैसा उत्कट वैराग्य नहीं है। आज कितने ही व्यक्ति तो साधुओंको धर्म-संस्कृतिके रक्षणमें अप्रवृत्त देखकर उन्हें कोसते हैं। कितने ऐसे भी हैं, जो दुनियाके अनर्थ करनेमें, प्रपंच रचनेमें किंचित् भी संकोच नहीं करते; परंतु धर्म-संस्कृतिके रक्षणार्थ उद्योगको प्रपंच ही मानते हैं। राष्ट्र और विश्वकी शान्तिको असम्भव और तदर्थ प्रयत्न करनेवालोंको सर्वथा स्वार्थपरायण ही सिद्ध करनेका प्रयत्न करते हैं। विशेषत: गृहस्थों और युवकोंका कार्यकालमें वैराग्य, असमर्थोंका कार्यमें राग होना हानिकारक है। आज भी शास्त्र और धर्मको सरपंच मानकर, शास्त्र और धर्मका प्रसार करते हुए, उसीके आधारपर यदि संगठन किया जाय तो सम्पूर्ण अनर्थ दूर हो सकता है। परंतु शास्त्र जाननेवाले और धर्ममें प्रेम रखनेवाले इस ओरसे अत्यन्त अपरिचित और विमुख हो रहे हैं।

शास्त्र और धर्मसे अपरिचित ही उच्छृंखल मार्गसे संघटन करना और विश्वकी समस्या हल करना चाहते हैं। दूसरेके गुणोंको न देखकर दोषोंका ही दर्शन करते हैं। अपने दोषोंका बिलकुल चिन्तन न करके गुण ही देखना चाहते हैं।

शास्त्रज्ञ धार्मिक जन शास्त्रोक्त-मार्गके अनुसार चलकर राष्ट्र या संसारका पथप्रदर्शन नहीं करना चाहते। शास्त्र और धर्मके रहस्य और महत्त्वको न समझनेवाले लोग, धर्मों और शास्त्रोंमें आमूलचूल परिवर्तन करना चाहते हैं। वे श्रौतस्मार्तवर्णाश्रम-धर्मकी बातोंको आज अनावश्यक समझते हैं। भगवदाराधनामें अपेक्षित परम मांगलिक घण्टा-शंख-निनादको 'टन-टन', 'पों-पों' कहकर प्रहसन करते हैं। मठाधीश, मन्दिराधिपति, जागीरदार, सन्त-महन्त अपने द्रव्योंको धर्मकार्यमें, संस्कृत विद्यालय, पुस्तकालय तथा धर्म-प्रचार कार्यमें नहीं लगाना चाहते तो दूसरे उन सबको छीनकर सत्कार, पूजा आदिको हटाकर या साधारण करके स्कूल, कालेज और यूनिवर्सिटी बनाना चाहते हैं। विधवाश्रम, हरिजन फण्ड, अनाथालय तथा अस्पतालमें सब कुछ लगाना चाहते हैं। यदि आस्तिक अपनी माता, बहनोंको सावित्री, सीता-जैसी साध्वी बनानेका प्रयत्न नहीं करते तो दूसरे लोग विलायती लेडी बनानेमें सफल होना ही चाहते हैं।

हम इतना ही कहना चाहते हैं कि समय रहते लोगोंको सावधान हो जाना चाहिये। लोग बड़े गर्वके साथ कहते हैं कि 'अब गत शताब्दियोंके दिन लद गये। आजके वैज्ञानिक युगमें पुराने जमानेके सड़े-गले नियमोंकी कोई आवश्यकता नहीं है। मनुष्यको चाहिये कि दुनियाके परिवर्तनके साथ ही अपने-आपको परिवर्तित करते चलें। देश-कालकी परिस्थितिके अनुसार धर्म, कर्म और शास्त्रका निर्माण होना चाहिये।' इन लोगोंकी बातोंपर ध्यान दिया जाय तो प्रतीत होगा कि यह विचार भी अब पुराने होते जा रहे हैं; तथापि जैसे सावनके अन्धेको ग्रीष्ममें भी हरियालीकी ही प्रतीति होती है, वैसे ही आजके लोगोंकी धारणा है। जिन विचारों और आचारोंको पाश्चात्य लोग भी छोड़ रहे हैं, भारतके नक्काल आज भी उन्हींकी नकल उतारनेमें तथा पाश्चात्योंकी भद्दी नकल उतारनेमें परेशान हैं। धार्मिकता, आध्यात्मिकतासे शून्य वैज्ञानिक-सभ्यताके दुष्परिणामसे

पाश्चात्य विद्वान् भी उद्विग्न हो रहे हैं, वे लोग भी धर्म और ईश्वरकी आवश्यकता समझ रहे हैं। परंतु भारतीयोंको आज भी नवीन सभ्यताका ही स्वप्न दीखता है। संसारमें कोई चीज पुरानी या नयी होनेसे ही आदरणीय नहीं होती; किंतु उसके गुणागुणकी ओर अच्छी तरहसे ध्यान देना चाहिये—

'सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।'

पृथ्वी, आकाश, वायु और आत्मा पुराने ही हैं; परंतु क्या इतनेसे ही ये सब हेय हैं? भोजन करके भूख मिटाने और पानी पीकर प्यास मिटानेकी पद्धति पुरानी ही है, फिर भी क्या त्याज्य है? रोग, विपत्ति नवीन होनेपर भी क्या आदरणीय है? यदि नहीं, तब तो अनादि अपौरुषेय वेदादि सच्छास्त्रोंद्वारा प्रदर्शित मार्गसे लौकिक-पारलौकिक उन्नतिके लिये प्रयत्न करना ही उचित है। जो मार्ग शास्त्रोक्त न भी हो, फिर भी शास्त्रके अविरुद्ध हो तो काममें लाया जा सकता है। वेद, इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, राजनीतिशास्त्रके अध्ययन-अध्यापनका प्रचार होनेपर सब तरहकी समस्याओंका समाधान हो जाता है।

कोई भी मार्ग, यदि वह परिणाममें हानिकारक न हो, तभी स्वीकृत होना चाहिये। जिस विषसंयुक्त भोजनसे अन्तमें मौतके मुँहमें पड़ना पड़े, फिर भले ही उससे तात्कालिक तुष्टि, पुष्टि, क्षुन्निवृत्ति भी हो तो क्या लाभ? जिस शास्त्र या धर्म-विरुद्ध उपायसे तात्कालिक लाभ भी हो; परंतु यदि अन्तमें पतन हो तो उससे क्या लाभ? इसीलिये तो बुद्धिमानोंने अनर्थानुबन्ध, अकर्मानुबन्ध, अननुबन्ध अर्थको छोड़कर अर्थानुबन्ध और धर्मानुबन्ध अर्थको ही श्रेष्ठ समझा है। धर्मोल्लंघन करके प्राप्त किये गये अर्थको अनादरणीय बतलाया है।

अकृत्वा परसन्तापमगत्वा खलमन्दिरम्।
अनुल्लङ्घ्य सतां मार्गं यत्स्वल्पमपि तद्बहु॥

'दूसरोंको सन्ताप न पहुँचाकर, खलोंके घर न जाकर, सज्जनोंका मार्गलंघन न करके जो थोड़ी भी चीज है, वही बहुत बड़ी समझनी चाहिये।

अतिक्लेशेन ये ह्यर्थाः धर्मस्यातिक्रमेण च।
शत्रूणां प्रणिपातेन मा च तेषु मनः कृथाः॥

'अतिक्लेशसे, धर्मोल्लंघनसे, शत्रुप्रणिपातसे जो अर्थ मिलता हो, उसमें कभी भी मन न लगाना चाहिये।'

आस्तिकों, शास्त्रज्ञोंका यह आग्रह नहीं कि कोई नवीन मार्ग सामाजिक, नैतिक, राष्ट्रीय उत्थानके लिये न ग्रहण करना चाहिये। यदि कोई सरल-सुगम-निर्विघ्न उपाय प्राप्त होता हो तो शास्त्रोक्त मार्गकी कठिनाईका अनुभव क्यों करें?

'अक्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्।'

'यदि गृहकोणमें मधु मिल जाय तो मधुके लिये पर्वतपर क्यों जाया जाय?' परंतु यदि शास्त्रविरुद्ध मार्गसे परिणाममें पतन और नरकादि दुःख भोगना पड़े, तब तो उसकी उपेक्षा उचित ही है। यही अध्यात्मवादी आस्तिकोंकी भौतिकवादियोंसे विशेषता है। भौतिकवादी सामाजिक या वैयक्तिक अभ्युत्थानके मार्गका निर्धारण करते हुए धार्मिक-आध्यात्मिकके हानि-लाभकी चिन्ता नहीं रखते। अध्यात्मवादी, धर्मवादी लोग भी पूर्णरूपसे राष्ट्रीय, सामाजिक अभ्युत्थानका प्रयत्न करते हैं; परंतु सर्वदा यह ध्यान रखते हैं कि उसी उपायका अवलम्बन किया जाय, जिससे लाभकी अपेक्षा परिणाममें हानि न हो और परलोक न बिगड़े।

चतुर्थ खण्ड—ज्ञानतत्त्वदर्शन

वेदान्तरससार

मंगलाचरण

जयति रघुवंशतिलकः कौसल्याहृदयनन्दनो रामः।
दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः॥

वेदप्रामाण्य-तात्पर्यविमर्श

वेदशास्त्रार्थपरिशीलन-संस्कृतमानस महानुभावोंसे यह तिरोहित नहीं है कि प्राणियोंके चतुर्वर्गकी अविकलरूपसे प्राप्तिका अति सुन्दर पथ वेदोंने प्रदर्शित किया है। विशेषतः धर्म और ब्रह्मके बोधमें तो एकमात्र वेद ही प्रमाणभूत है। अतएव **'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'** (जैमिनीयसूत्र १।१।२) (प्रवर्तक और निवर्तक वैदिक वाक्योंसे लक्षित, अनर्थ श्येनादिसे व्यावर्तित, अग्निहोत्र-दर्श-पौर्णमासादि अर्थ ही धर्म है), **'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य'** (गीता १६।२३), **'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते'** (गीता १६।२४), **'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'** (बृहदारण्यक० ३।९।२६), **'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'**, (गीता १५।१५) इत्यादि श्रौत-स्मार्त वचनोंसे धर्म और ब्रह्मको वेदादिशास्त्रैकसमधिगम्य माना गया है।

वेद अनादि-अविच्छिन्नसम्प्रदाय परम्परासे प्राप्त हैं। कोई भी पुरुष स्वातन्त्र्येण उनका निर्माण करनेवाला नहीं है। परमात्मा भी पूर्वकल्पीयवेदानुपूर्वी सापेक्ष ही उत्तरकल्पीय आनुपूर्वीका निर्माण करते हैं।

अतः प्रमाणान्तरसे अर्थोपलम्भपुरःसर निर्मातृत्व-रूप कर्तृत्व उन परमात्मामें भी नहीं है। अतः अपौरुषेय वेदोंका ही सकल पुंदोषशंकाकलंक-पंकसे असंस्पृष्ट होनेके कारण सर्वानपेक्ष (सर्वथा निरपेक्ष) प्रामाण्य है।

अतएव परमेश्वरनिर्मितत्व वेदोंके प्रामाण्यका प्रयोजक नहीं है, अपितु परमेश्वरके स्वरूपादिकी सिद्धि ही वेदोंके अधीन है। अन्यथा वैदिक जिन-जिन युक्तियोंसे वेदकारको परमेश्वर या तदवतार मानकर तन्निर्मितत्वेन वेदोंका प्रामाण्य व्यवस्थापन करेंगे, उन्हीं-उन्हीं युक्तियोंसे भिन्न-भिन्न मतवादी भी अपने धर्मग्रन्थ-रचयिताको परमेश्वर सिद्ध करके उससे निर्मित अपने धर्मग्रन्थोंका प्रामाण्य व्यवस्थापन करेंगे।

अस्तु, इन सब बातोंके कथनका आशय यही है कि वेदोंका धर्म और ब्रह्मस्वरूपके निर्णयमें अनपेक्ष प्रामाण्य है। कल्पसूत्र, स्मृत्यादि और अन्यान्य आर्षग्रन्थोंका प्रामाण्य वेदसापेक्ष ही है। अतएव वेदके साथ जिन वचनोंका विरोध होता है, उनका प्रामाण्य कभी भी स्वीकार नहीं किया जाता, चाहे वे वचन किसी भी आर्षग्रन्थके क्यों न हों।

वेदोंमें अवान्तर अनेक भेदोंके होते हुए भी प्रधान रूपसे मन्त्र और ब्राह्मण ये दो भाग हैं। शाखाभेद होनेसे उनमें अनेकता होनेपर भी विषय प्रायः सबका समान ही है। प्रायेण मन्त्र, ब्राह्मण और कल्पसूत्र साथ ही चलते हैं। यद्यपि उन सभीका महातात्पर्य सर्वप्राणिपरप्रेमास्पद परिपूर्ण परमानन्दघन भगवान्में ही है, यथा **'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति'** (कठ० १।२।१५) तथापि अदृश्य, अग्राह्य, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, परमसूक्ष्म भगवत्तत्त्वकी उपलब्धि और उसमें स्थिति बहिर्मुख प्राणियोंके लिये कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है। अतः योग्यता-सम्पादनके लिये अनेक प्रकारके कर्म और उपासनाओंकी अत्यन्त आवश्यकता है। अतः वेदोंका अवान्तर तात्पर्य उनमें भी है।

वेदोंके महातात्पर्यके विषयभूत परमानन्दघन भगवान्में ही सकल प्रपंचकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और प्रतीति होती है, अतः जैसे तरंगके भीतर, बाहर, मध्यमें जल ही भरपूर होता है, वैसे ही भोक्ता-भोग्य सकल प्रपंचके भीतर, बाहर, मध्यमें परमानन्द रसात्मक भगवान् ही भरपूर हैं। किं बहुना एक आनन्द-सुधा-सिन्धु भगवान् ही अपनी

अघटितघटनापटीयसी मायाशक्तिके प्रभावसे नाना दृश्य रूपमें प्रतीत होते हैं, **यथा—'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।'** (तैत्तिरीय० ३।६) **'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय'** (छान्दो० ६।२।३) इत्यादि।

ब्रह्मकी सच्चिदानन्दरूपता और जगत्की असच्चिदानन्दरूपता

जैसे आनन्दस्वरूपसे दुःखात्मक प्रपंच प्रादुर्भूत होता है, वैसे ही चैतन्यसे जड प्रपंचका प्रादुर्भाव होता है। यह बात अभिन्ननिमित्तोपादान कारणवादियोंको माननी पड़ती है और उसी तरह त्रिकालाबाध्य परमार्थ सत्य भगवान्से अनृतात्मक प्रपंचका प्रादुर्भाव होता है, यह भी मानना चाहिये।

प्रपंच आनन्दसे उत्पन्न होनेवाला और आनन्दमें विलीन होनेवाला है, यह उपर्युक्त श्रुतिसे स्पष्ट सिद्ध होता है। जैसे समुद्रसे उत्पन्न और उसमें विलीन होनेवाला तरंग समुद्र ही है, वैसे ही आनन्दसे उत्पन्न और उसीमें विलीन होनेवाला प्रपंच भी आनन्दात्मक ही होना चाहिये तथा सर्वप्रकाशक चैतन्यघनसे उत्पन्न होनेवाला प्रपंच चेतनात्मक ही होना चाहिये। परंतु प्रपंचमें दुःखरूपता और जड़ता सर्वानुभवसिद्ध एवं सर्वमान्य है, अतः कहना पड़ता है कि कारणगत अनिर्वचनीय शक्तिसे कार्यमें अनिर्वचनीय विलक्षणता होती है। इसी वास्ते यद्यपि स्पष्ट देखते हैं कि जलसे भिन्न बर्फ और तन्तुसे भिन्न पट कोई पृथक् पदार्थ नहीं है तो भी जल और तन्तुओंकी अपेक्षा उनमें (बर्फ और पटमें) विलक्षणता अवश्य है। इसीलिये आनन्द और स्वप्रकाशचैतन्यरूप परमात्मासे भिन्न (विलक्षण) जड़ और दुःखरूप प्रपंच उत्पन्न होता है।

अब यह देखना चाहिये कि दुःख तथा जड़रूप प्रपंच सत्य है या मिथ्या? यदि पूर्वोक्त न्यायसे विचार करें तो स्पष्ट विदित होगा कि कार्य और कारणमें अनिर्वचनीय विलक्षणता है। अतः जैसे आनन्दस्वरूप चैतन्यात्मक ब्रह्मसे जड़ तथा दुःखात्मक प्रपंचका होना सम्मत है, वैसे ही परमार्थसत्य परमात्मासे मिथ्या प्रपंचका प्रादुर्भाव मानना युक्त है। इन विवेचनोंसे सिद्ध हुआ कि परमानन्द स्वप्रकाश परमार्थसत्य भगवान्से दुःखात्मक, जडात्मक, मिथ्या अर्थात् अपरमार्थिक व्यवहारोपयोगी, व्यावहारिक प्रपंचका प्रादुर्भाव होता है।

मायाकी अनिर्वचनीयता

जैसे अग्निकी दाहिका-शक्ति अग्निसे विलक्षण होती है, वैसे ही त्रिकालाबाध्य सद्रूप ब्रह्मकी प्रपंचोत्पादिनी शक्ति ब्रह्मसे विलक्षण है। अतः त्रिकालाबाध्यरूप सत्से विलक्षण उसकी शक्ति शुद्ध सद्रूप अधिष्ठानके बोधसे बाधित होती है। साथ ही क्वचिदपि कथंचिदपि (कहीं भी, किसी प्रकार भी) न प्रतीत होनेवाले अत्यन्त असत् खपुष्पादि (आकाश-कुसुमादि)-से भी विलक्षण सत्की शक्ति है; क्योंकि वही सकल प्रपंचकी जननी है। इस तरह जिससे परमात्मा अपने-आपको सकल प्रपंचरूपसे व्यक्त करता है, परमात्मनिष्ठ वह शक्ति सत् और असत् दोनोंसे विलक्षण है, अतएव उसको अनिर्वचनीय कहते हैं।

इस शक्तिको ही 'माया', 'प्रकृति', 'अविद्या', 'अज्ञान' आदि शब्दोंसे कहा जाता है। जैसे **'योगमायासमावृतः'** (गीता ७।२५) इत्यादि वचनोंसे मायाद्वारा ज्ञानानन्दस्वरूप ब्रह्मका आवरण कहा है, वैसे ही **'अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्'** (गीता ५।१५)—इस वाक्यसे अज्ञानको भी आवरक कहा है। जैसे **'मायामेतां तरन्ति ते'** (गीता ७।१४)—इस वाक्यमें मायाको तरण कहा है, वैसे ही **'ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः'** (गीता ५।१६)—इस वचनसे ज्ञानको अज्ञानका नाशक कहा है।

ज्ञानाभावरूप अज्ञान आवरणकर्तृत्व नहीं हो सकता, भावाभावके असमकालिक (एक कालमें अनवस्थित) होनेसे ज्ञानसे ज्ञानाभावरूप अज्ञानका नाश भी नहीं हो सकता, अतः अज्ञान सदसद्विलक्षण

मायाशक्तिरूप ही है। जैसे 'चित्', 'अचित्' इन दोनों शब्दोंसे चेतन और जड़ दोनों भावरूप ही गृहीत होते हैं, वैसे ही ज्ञान-अज्ञान इन दोनों शब्दोंसे परमात्मा और उसकी शक्ति अनिर्वचनीय माया गृहीत होती है। वह शक्ति जैसे सद्विलक्षण है, वैसे ही चित्से भी विलक्षण है, अत: 'अचित्' जड़ समझी जाती है। उसके द्वारा सच्चिदानन्दात्मक (सत्-चित्स्वरूप) तत्त्वका अनित्य जड प्रपंचरूपसे विवर्त होता है।

ज्ञानस्वरूपविमर्श

जैसे शक्तिकी स्थिति, प्रवृत्ति और प्रकाश अपने आधारभूत शक्तिमान्से ही सुलभ होते हैं, वैसे ही अचित्की स्थिति, प्रवृत्ति और प्रकाश अचित्के आधारभूत ही सुलभ होते हैं। यह स्पष्ट ही है कि अचित्की प्रवृत्ति और स्फूर्ति चित्से ही सम्भव है। यदि वह स्वत:प्रकाश हो, तब तो उसे अचित् ही नहीं कह सकते। ऐसे ही अज्ञानकी स्थिति, प्रवृत्ति और स्फूर्ति ज्ञानस्वरूप परमात्मासे ही सम्भव है। अतएव 'मैं अज्ञ (अज्ञानी) हूँ' इस प्रकार अज्ञानका प्रकाश नित्य अखण्ड ज्ञानस्वरूप साक्षीसे ही होता है।

यहाँ यह समझना चाहिये कि ज्ञान दो प्रकारका है। एक तो अन्त:करणकी चैतन्यप्रतिबिम्बोपेत वृत्तिरूप, जो उत्पन्न होनेवाले और विनाशीरूपसे लोकमें शब्द-ज्ञान, स्पर्श-ज्ञानादिरूपसे प्रसिद्ध है और दूसरा स्वप्रकाश चैतन्यानन्द ब्रह्मरूप, जो लौकिक ज्ञान और निद्रा-अज्ञानादिका भासक, कूटस्थरूप, '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' (तैत्तिरीयो० २।१), '**विज्ञानमानन्दं ब्रह्म**' (बृहदारण्यक० ३।९।२८) इत्यादि श्रुतियोंमें प्रसिद्ध है।

ब्रह्मरूप ज्ञान ही अचिच्छक्तिरूप अज्ञान एवं तत्कार्यरूप सकल प्रपंचको सत्त्व और प्रकाश देकर कार्यकरणक्षम बनाता है। इस तरह परमानन्द रसात्मक भगवान्से ही सत्ता, स्थिति, स्फूर्ति प्राप्त करके नीरस, असत्, स्फूर्तिरहित प्रपंच सरस, सत्य, स्फूर्तिमान्-सा प्रतीत हो रहा है। अतएव जैसे दहन-सामर्थ्यशून्य लौहपिण्डको अनित्य और सातिशय दहन-सामर्थ्य प्रदान करनेवाला, नित्यनिरतिशय दहन-सामर्थ्यसम्पन्न अग्नि दग्धाका भी दग्धा कहा जाता है और जैसे अनेक प्रान्ताधिपतियोंको राजा बनानेवाला सर्वाधिपति राजराज कहा जाता है, वैसे ही अनित्योंको नित्य, अचेतनोंको चेतन, असत्योंको सत्य बनानेवाले वेदान्त-वेद्य परमानन्द रसात्मक भगवान् नित्योंके नित्य, चेतनोंके चेतन, सत्योंके सत्य, सुखोंके सुख और रसोंके रस कहे जाते हैं। जैसे सर्वाधिपति राजराजसे निर्मित राजगण प्रजाकी अपेक्षा राजा होते हुए भी सम्राट्की अपेक्षा प्रजा ही हैं; वैसे ही नित्योंके नित्य, चेतनोंके चेतन, सत्योंके सत्य भगवान्से निर्मित व्यावहारिक नित्य, चेतन, सत्यपदार्थ प्रातिभासिक रज्जु-सर्पादिकी अपेक्षा चेतन, नित्य, सत्य होते हुए भी परमनित्य, सत्य, चैतन्यकी अपेक्षा अनित्य, असत्य, अचेतन ही हैं। जैसे आकाशकी उत्पत्ति श्रुति-सिद्ध है तथापि क्षणिक पदार्थोंकी अपेक्षा वह स्थिर है, अत: उसको न्यायसिद्धान्तानुसार नित्य कहते हैं; जैसे उत्पत्ति-विनाशवाले, साभासवृत्तिरूप ज्ञान जड होते हुए भी घटादिकी अपेक्षा चेतन कहे जाते हैं, वैसे ही लोकसिद्ध मिथ्या रज्जु-सर्पादिकी अपेक्षा अबाध्य होनेके कारण रज्ज्वादि तथा घटादि भी सत्य कहे जाते हैं। इन्हीं आपेक्षिक नित्य-चेतन, सत्य, सरस पदार्थोंको वेदान्ती सकल सत्शास्त्रोंके महातात्पर्यका विषयीभूत, निखिल रसोंके समुद्गम-स्थान, भगवान्की अपेक्षा अनित्य, जड़, नीरस, दु:खरूप या व्यवहारोपयुक्त, व्यावहारिक नित्य, व्यावहारिक सत्य, व्यावहारिक चेतन अथवा व्यावहारिक सुख कहते हैं।

भगवत्तत्त्व-प्रतिपादन

पारमार्थिक सत्य, चैतन्य, नित्य आनन्दरस-स्वरूप तो भगवान् ही हैं, इसी अभिप्रायसे '**नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनाम्**' (कठ० २।२।१३), '**सत्यस्य सत्यम्**' (बृहदारण्यक० २।३।६) इत्यादि श्रुति-वचन भगवान्को नित्य-

का-नित्य, सत्य-का-सत्य कहते हैं। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी भी अपने रामको प्राण-के-प्राण, जीव-के-जीव, सुख-के-सुख कहते हैं—

आनँदहू के आनँद दाता॥

प्रान प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम।
तुम्ह तजि तात सोहात गृह जिन्हहि तिन्हहि बिधि बाम॥

(रा०च०मा० १।२१७।२; २।२९०)

जैसे घटाकाशका जीवन महाकाश और तरंगका जीवन समुद्र है, वैसे ही जीवके जीवन भगवान् हैं।

अस्तु, इस तरह सिद्ध हुआ कि परमार्थतः सब कुछ भगवान् ही हैं। भगवान्से भिन्न जो कुछ प्रतीत होता है, वह मिथ्या ही है। जैसे रज्जुमें सर्पका भ्रम होता है, वैसे ही परमात्मामें प्रपंचका भ्रम है। यही सत्यसे मिथ्या पदार्थकी उत्पत्तिका प्रकार है। इसी सिद्धान्तको श्रीगोस्वामीजीने भी श्रीरामचरितमानसमें पुष्ट किया है—

झूठेउ सत्य जाहि बिनु जानें। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचानें॥

(रा०च०मा० १।११२।१)

अतः सिद्ध हुआ कि परमानन्दघन भगवान्से भिन्न होकर परमार्थ सत्य कोई भी पदार्थ नहीं है। जैसे वायु आदि क्रमसे आकाशके द्वारा ही समुद्भूत घटरूप उपाधिसे आकाशमें महाकाश और घटाकाश ये दो भेद हो जाते हैं, वैसे ही परमात्मासे समुद्भूत उपाधियोंके द्वारा चैतन्यानन्दघन भगवान्में ही जीव और परमेश्वर ये दो भेद हो जाते हैं। वस्तुतः घट, आकाशका कार्य होनेसे उससे पृथक् नहीं है।

अतएव इस तथ्यको मर्मज्ञ विद्वान् तैत्तिरीयो-पनिषद्की विधासे जैसे घटरूप कार्यको पृथिव्यादि विलोमक्रमसे चरमोपादान आकाशरूप कारणमें प्रलीन करके, घटरूप उपाधिको आकाशमें बाधितकर घटाकाश और महाकाशके भेदको बाधित कर देते हैं; वैसे ही अधिष्ठानरूप, शुद्ध सत्यके बोधसे, सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय शक्ति एवं तत् कार्यरूप उपाधियोंको सद्रूप ब्रह्ममें ही बाधित करके, जीव और परमेश्वरके भेदका भी निराकरण कर देते हैं अर्थात् जैसे घटको पृथ्वीमें, पृथ्वीको जलमें, जलको तेजमें, तेजको वायुमें एवं वायुको आकाशमें लय करनेपर महाकाशसे भिन्न न घटरूप उपाधि रहता है और न घटोपहित घटाकाश ही रहता है, वैसे ही सुबालोपनिषदादिकी प्रक्रियासे आकाशको अहंतत्त्वमें, अहंतत्त्वको महत्तत्त्वमें और उसको अव्यक्तमें, अव्यक्तको सत्तत्त्वमें विलीन कर देनेपर देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अज्ञानरूप उपाधि तथा इन उपाधियोंसे उपहित जीव, ये सभी अखण्डानन्द-रस भगवान् ही हो जाते हैं। भगवान्से भिन्न उनका कोई भी स्वरूप नहीं रहता।

इसी वास्ते भगवती श्रुतिने कहा है—'**सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत**', '**ऐतदात्म्यमिदꣳ सर्वं… स आत्मा तत्त्वमसि**', (छान्दोग्य० ३।१४।१; ६।८।७) '**अयमात्मा ब्रह्म**' (माण्डूक्य० २), '**अहं ब्रह्मास्मि**' (बृहदारण्यक० २।५।१९; १।४।१०) अर्थात् यह सब कुछ ब्रह्म ही है, क्योंकि तज्ज, तल्ल, तदन है— स्वातिरिक्त सबका उत्पत्ति, लय और स्थितिस्थान है। ब्रह्मसे ही समस्त प्रपंचकी उत्पत्ति, स्थिति एवं संहृति सम्भव है। यह सर्व दृश्य प्रपंच इस आत्माका स्वरूप ही है, ब्रह्म ही समस्त प्रपंचकी आत्मा है और ब्रह्म ही तुम हो। यह आत्मा ब्रह्म है। '**अहं**' पद लक्ष्यार्थ प्रत्यगात्मा ब्रह्म ही है। किं बहुना '**सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः**', (मुण्डक० २।१।२) '**बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च**' (गीता १३।१५) अर्थात् चराचर सकल प्रपंचके भीतर-बाहर ब्रह्म ही है और जिस चराचर प्रपंचके भीतर-बाहर ब्रह्म है, वह चराचर प्रपंच भी ब्रह्म ही है। सर्वदृश्यरूप क्षेत्र और द्रष्टारूप क्षेत्रज्ञ—ये सभी भगवान् ही हैं। श्रीभगवान्की भी उक्ति है—'**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।**' (गीता १३।२) बाह्याभ्यन्तर कार्यकारण सब कुछ अज अव्यक्त ब्रह्म ही है। '**अजायमानो बहुधा वि जायते**', (यजु० ३१।१९) '**एकोऽहं बहु स्याम्**' (छान्दोग्य० ६।२।३), '**इन्द्रो मायाभिः**

पुरुरूप ईयते' (बृहदारण्यक० २।५।१९) अर्थात् अजायमान और एक ही परमतत्त्व मायासे बहुरूपमें जायमान-सा प्रतीत होता है। जो इस अजायमान अखण्डैकरस, अद्वितीय वस्तुमें वस्तुतः जायमानता और नानात्व देखता है, जो ब्रह्मकी निर्विकारकूटस्थता और अखण्डैकरसताका व्यापादन या उसे कलंकित करना चाहता है, वह प्राणी उसी अपराधसे पुनः-पुनः मृत्युको प्राप्त होता है। अतः इसे परमार्थतः एक रूपसे ही देखना चाहिये। '**मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥**' (कठ० २।१।१०) अर्थात् जो भगवान्‌में थोड़ा भी भेदकी कल्पना करता है, उसे भय होता है। '**उदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति।** (तैत्तिरीय० २।७), **द्वितीयाद्वै भयं भवति॥**' (बृहदारण्यक० १।४।२) इतना ही नहीं, संसारमें ब्रह्म और धर्म, लोक एवं वेद, किं बहुना जिस किसी भी पदार्थको प्रभुसे भिन्न या पृथक् देखा जाता है, वह पदार्थ ही अपना घोर अपमान समझकर भिन्नदर्शीको परमार्थसे प्रच्युत कर देता है। '**सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद**' (बृहदारण्यक० २।४।६)

प्रियतमका विप्रयोग किसीके लिये भी सह्य नहीं है। प्रेमकी पराकाष्ठा यही है कि प्रियतमसे वियुक्त होकर प्रेमी क्षणभर भी अपना जीवन न रख सके। श्रीव्रजांगनाओंका अपने प्रियतम श्रीकृष्णके वियोगमें एक क्षण भी अनन्त कोटि कल्पके समान प्रतीत होता था। परमार्थ दृष्टिसे तो प्रियतमका वियोग होते ही प्रेमीका स्वरूप ही नहीं रह सकता। क्या बिम्बसे वियुक्त होकर प्रतिबिम्बका और महाकाशसे वियुक्त होकर घटाकाशका एवं महासमुद्रसे वियुक्त होकर तरंगका स्वरूप रह सकता है? इनमें तो कहनेके लिये भेद है, वस्तुतः भेद नहीं है। इसीलिये श्रीगोस्वामीजीने श्रीराम और जनकनन्दिनीमें जल और बीचिका दृष्टान्त रखकर अभेद सिद्ध किया है—

'गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।'

(रा०च०मा० १।१८)

फिर कोई भी तत्त्व भगवान्‌की सत्ता और स्फूर्तिसे वियुक्त होकर अपना स्वरूप कैसे रखे; क्योंकि सत्ता-स्फूर्तिसम्बन्धशून्य होनेपर सभी तत्त्व निःसत्त्व और निःस्फूर्ति हो जाते हैं। स्फूर्ति और सत्तारहित पदार्थका स्वरूप ही क्या हो सकता है, अतः जिन पदार्थोंको परमार्थ सद्रूप, स्वयंप्रकाश, स्फूर्तिरूप भगवान्‌से भिन्न समझा जाता है, उन्हें मानो उनके प्रियतमसे वियुक्त किया जाता है। उन्हें सत्तास्फूर्तिविहीन तथा निःसत्त्व, निःस्फूर्ति बनाकर अपमानित किया जाता है।

अतः वे पदार्थ उन भिन्नदर्शीको स्वार्थसे प्रच्युत कर देते हैं। इन्हीं श्रुति-स्मृति-सिद्ध-पारमार्थिक अभेद और काल्पनिक व्यवहारमें आनेवाले व्यावहारिक भेदको सिद्ध करनेके लिये वेदान्तोंमें बिम्ब-प्रतिबिम्ब, घटाकाश-महाकाश, समुद्र-तरंग आदि अनेक दृष्टान्त जीव और भगवान्‌के स्वरूपमें रखे गये हैं। दृष्टान्त एकदेशी हुआ करते हैं। उनका सर्वांश दार्ष्टान्तिकमें नहीं संगत हुआ करता। इसी वास्ते जैसे घटके गमनमें, जिस आकाशके साथ घट-सम्बन्ध विच्छिन्न हुआ, वह महाकाश हुआ और जो महाकाश था, वही घटके संसर्गसे घटाकाश हो गया। इसी तरह अन्तःकरणके गमनमें पूर्वदेशस्थ अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य मुक्त हो गया एवं उत्तर-देशस्थ अन्तःकरणावच्छिन्न अपूर्व चेतन बद्ध हो गया।

जब नीरूप निरवयव पदार्थ न प्रतिबिम्बित होता है और न प्रतिबिम्बका आधार होता है। फिर आत्मा और अन्तःकरण ये दोनों ही नीरूप एवं निरवयव हैं। आत्माका प्रतिबिम्ब कैसे होगा एवं अन्तःकरणकी प्रतिबिम्बाधारता कैसे होगी इत्यादि शंकाएँ निर्मूल हैं, कारण कि अलौकिक अर्थमें लौकिक पदार्थ पूर्णरूपसे दृष्टान्त नहीं हुआ करते। केवल विवक्षित अंशमें दृष्टान्त-दार्ष्टान्तकी समता होती है। यहाँ केवल उपाधिद्वारा उपहितमें काल्पनिक भेद तथा उपाधिगत दूषण या भूषणका भान होना और परमार्थतः अभेद तथा सर्वोपाधिदोषादिविवर्जित होना—इतना ही अंश विवक्षित है। जैसे घटाकाशका

महाकाशसे भेद और उसमें गमनागमनादि नाना प्रकारकी कार्यकरणक्षमता यह सब घटोपाधिकृत हैं, जैसे महासमुद्रसे तरंगका भेद और उसका चांचल्यादि वायुरूप उपाधिसे जन्य है, जैसे प्रतिबिम्बमें बिम्बका भेद एवं मलिनता, चंचलता आदि जलदर्पणादि उपाधिजन्य है, उसी तरह जीवमें निर्विकार, परमचैतन्यतानन्द, रसात्मक भगवान्‌से भिन्नता कर्तृत्व-भोक्तृत्व, सुखित्व-दुःखित्वादि नाना अनर्थोंका योग एवं अविद्या और अन्तःकरणरूप उपाधिकृत है। उपाधिके विलयनमें एक परमानन्द भगवान् ही अवशेष रहता है।

इस प्रकारसे तत्त्वकी अद्वितीयता, अनन्तता और लोकसिद्ध व्यवहारकी उपपत्ति दिखलानेके लिये अनेक प्रकारके दृष्टान्तोंका उपपादन है। जिसकी बुद्धिमें जिस दृष्टान्तसे पारमार्थिक अभेद और व्यावहारिक भेद बुध्यारूढ़ हो, उसके लिये वही दृष्टान्त प्राधान्येन उपादेय है; क्योंकि शास्त्रोंका किसी दृष्टान्तमें तात्पर्य नहीं है। तात्पर्य तो केवल व्यावहारिक भेदोपपादनपूर्वक पारमार्थिकाद्वैत-बोधनमें ही है। इस प्रकार यही सिद्ध होता है कि परमानन्द-रसात्मक भगवान् ही चिदानन्दमयी जीवशक्तिके भीतर, बाहर तथा मध्यमें भरपूर हैं। किं बहुना जीवशक्ति विशुद्धरसरूप भगवान् ही है। आनन्दसुधासिन्धु भगवान्‌की लहरीरूप जीवशक्ति भी '**चेतन अमल सहज सुखरासी**' (रा०च०मा० ७।११७।२) ही है। जैसे बर्फकी पुतली सिन्धुके बीचमें रहकर प्यासकी रटन रटे, किंवा जैसे निखिल रसामृतसिन्धुसारसर्वस्व कृष्णसुधामें अहर्निश सर्वांगीण संश्लेषरूप अवगाहन करती हुई भी कृष्णप्रेयसी श्रीवृषभानुनन्दिनी अधिरूढ़ महाभावकी विलक्षण अवस्था-विशेष परवश होकर '**हा प्राणवल्लभ, कहाँ हो?**' इस प्रकार मिलनके लिये व्यग्र होती हैं—'**अङ्कस्थितेऽपि दयिते किमपि प्रलापं हा मोहनेति मधुरं विदधत्यकस्मात्**' (राधासुधा ४६) वैसे ही प्रियतमकी मोहिनीमायाशक्तिसे परमानन्दरसार्णव भगवान्‌में बर्फ पुतलीकी तरह निमग्न जीव-शक्ति, प्रियतमको भूलकर, अनन्त संतापोंमें निमग्न सन्तप्त हो रही है।

शास्त्र तथा आगमोंके प्रबोधनसे ही अज्ञानजन्य विस्मरण तथा विभ्रमकी निवृत्ति होती है—***'आनँद-सिंधु-मध्य तव बासा। बिनु जाने कस मरसि पियासा॥'***,(विनय-पत्रिका १३६।२) ***'सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा॥'*** (रा०च०मा० ७।१११।६) तू वही है, तुझमें-उसमें किंचित् भी भेद नहीं है, जैसे जल और बीचिका भेद ***'कहिअत भिन्न न भिन्न।'*** (रा०च०मा० १।१८) कहनेको भिन्न है, वस्तुतः अभिन्न ही है। श्रीमद्भागवतके पुरंजन और पुरंजनीके आख्यानमें, जिस समय जीवरूप पुरंजन मायावश अपने परम अन्तरंग प्रियतम सखाको भूलकर बुद्धिरूपा पुरंजनीका अत्यन्त अनुरागी होकर अनवरत पुरंजनीके चिन्तनमें तन्मय हो गया, उस समय पुण्यपरिपाकसे, पतिरूप गुरुकी आराधनासे सन्तुष्ट होकर श्रीहंसरूपधारी भगवान्‌ने प्रकट होकर पूछा कि तुम हमें जानती हो? पुरंजनीने कहा—'प्रभो! मैं आपको नहीं जानती।' इसपर भगवान्‌ने कहा—'ठीक है, मेरे विस्मरणका ही तो यह फल है। मुझे भूलनेसे ही अनेकानर्थमूल संसृतिचक्रमें प्राणियोंको भटकना पड़ता है। देखो—'**अहं भवान् न चान्यस्त्वं त्वमेवाहं विचक्ष्व भोः। न नौ पश्यन्ति कवयश्छिद्रं जातु मनागपि॥**' (श्रीमद्भा० ४।२८।६२) मैं ही तुम्हारा पारमार्थिक स्वरूप हूँ, तुम मुझसे पृथक् नहीं हो। मैं ही तुम हो और तुम ही मैं हूँ। इस भावको गम्भीरतासे देखो। कवि लोग हमारे और तुम्हारेमें कभी किंचिन्मात्र भी भेद नहीं देखते।' श्रीपरीक्षित्‌की भी अन्तमें '**अहं ब्रह्म परं धाम ब्रह्माहं परमं पदम्।**' (श्रीमद्भा० १२।५।११) ऐसी ही दृढ़ धारणा हुई। अन्यान्य वैदिक मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंकी भी ऐसी धारणा है—'**अहं वै भगवो देवते त्वमसि त्वं वै भगवो देवते अहमस्मि।**' हे भगवन्! मैं ही तुम हो और तुम ही मैं हूँ; क्योंकि जो लोग प्रेम करते हैं तो उन्हें यही

कहना पड़ता है कि मुझे कुछ नहीं चाहिये, केवल प्रभुप्रेममें या प्रभुस्वरूपके सौन्दर्य-माधुर्य-सुधासमास्वादनमें मुझे लोकोत्तर रस आता है। ऐसी स्थितिमें विवेकी जनोंको स्पष्ट हो जाता है कि वह प्रेमी अपने आनन्दके लिये ही प्रभुमें प्रेम करता है, प्रभु-स्वरूप-सम्बन्धी सौन्दर्य-माधुर्य-रसामृतके आस्वादनसे ही उसकी आत्माको आनन्द होता है।

इसीलिये जिनके ऐसे भी भाव हैं कि प्रियतम मुझसे अनुकूल हों या प्रतिकूल, सर्वगुणसम्पन्न हों या सर्वगुणरहित, सौन्दर्य-माधुर्य-सुधाजलनिधि हों या सौन्दर्य-माधुर्य-विहीन, सब प्रकारसे हमारे ध्येय, ज्ञेय, प्रियतम प्रभु ही हैं—

असुन्दरः सुन्दरशेखरो वा गुणैर्विहीनो गुणिनां वरो वा।
द्वेषी मयि स्यात् करुणाम्बुधिर्वा श्यामः स एवाद्य गतिर्ममायम्॥

(उज्ज्वलनीलमणि-स्थायिभाव २९)

उनकी आत्माको सुख और शान्ति सब प्रकारसे प्रभुसमाश्रयणमें ही होता है। इसलिये ये समस्त भाव आत्माके लिये हुए। प्रभुके लिये लोक-परलोक सब प्रकारकी सुखशान्तिका, किं बहुना प्राणादि समस्त प्रियतम वस्तुओंका त्याग किया जाता है। यहाँपर भी सूक्ष्म रूपसे देखनेपर यही विदित होता है कि उस प्रेमीकी आत्माको ऐसा ही करनेपर सुख मिलता है, अतः यह सब कुछ आत्माके लिये ही है।

भगवत्तत्त्वकी आत्मरूपता

लोकमें कोई धार्मिक पुरुष धर्म-रक्षाके लिये आत्माकी आहुति दे देते हैं। वेदोंमें भी एक यज्ञ ऐसा है, जिसमें यजमान अपना सर्वस्व ब्राह्मणोंको देकर स्वयं अपनेको अग्निकुण्डमें समर्पण कर देता है। परंतु इन सभी स्थलोंमें इस प्रकारके उत्कट त्याग और तपस्याओंका लक्ष्य अन्तरात्माकी अनन्त शान्तिमें ही है। इसी प्रकारके भावोंको लक्ष्यमें रखकर आत्माके औपाधिक चिदाभासस्वरूपके बाधके लिये साधिष्ठान चिदाभाससे ही प्रयत्न किया जाता है। इसीलिये भगवती श्रुतिने स्पष्ट निर्णय करके यहाँ भी सर्वोपप्लव-विवर्जित, परमानन्दरूप चिदात्माका शेष रहना लक्ष्य रखा है—'**आत्मानमेव प्रियमुपासीत।**' (बृहदारण्यक० १।४।८) अर्थात् प्रिय रूपसे आत्माकी ही उपासना करनी चाहिये। '**योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियं रोत्स्यतीति**' (बृहदारण्यक० १।४।८) आत्मासे भिन्नको जो प्रिय कहता है, उसे प्रियके लिये रुदन करना पड़ता है।

जब ब्रह्माने श्रीकृष्णके गोवत्सों और वत्सपालोंका हरण किया, तब एक वर्षपर्यन्त श्रीकृष्ण ही वत्स और वत्सपालके रूपमें व्यक्त हुए। उस समय समस्त गौओंको अपने-अपने बछड़ोंमें और व्रजदेवियोंको अपने-अपने शिशुओंमें ऐसा अभूतपूर्व लोकोत्तर प्रेम हुआ, जैसा कभी अपने मुख्य अंगजोंमें नहीं हुआ था। इस बातको श्रीशुकदेवके मुखारविन्दसे श्रवण करके जब श्रीपरीक्षित्जीने आश्चर्य प्रकट करते हुए इसका कारण पूछा, तब श्रीशुकदेवजीने यही कहा कि राजन्! संसारमें समस्त वस्तुओंकी अपेक्षा आत्मा ही प्रिय होता है; तदितर पुत्र, वित्त, कलत्रादि आत्माके लिये ही प्रिय होते हैं, देहको ही आत्मा माननेवाले जो देहात्मवादी हैं, उन्हें भी जितना देह प्रिय है, उतने देह-सम्बन्धी पुत्रादि नहीं। श्रीकृष्ण समस्त जीवोंके अन्तरात्मा हैं, अतः समस्त प्राणियोंके निरतिशय एवं निरुपाधिक प्रेमके आस्पद हैं, उनमें अपने आत्मजोंकी अपेक्षा अधिक प्रेम होना युक्त ही है।

सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैव वल्लभः।
इतरेऽपत्यवित्ताद्यास्तद्वल्लभतयैव हि॥
'देहात्मवादिनां पुंसामपि राजन्यसत्तम।'
'कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।'

(श्रीमद्भा० १०।१४।५०, ५२, ५५)

जिसमें प्रेम किसी दूसरेके लिये होता है, उसमें कभी प्रेमका अभाव भी हो जाता है; क्योंकि वह औपाधिक प्रेम होता है। अतएव अनित्य एवं सातिशय होता है, जैसे अनुष्ण जलमें उष्णता अग्निके संसर्गसे होती है, स्वतः नहीं, अतएव

जलमें औपाधिक उष्णता अनित्य एवं सातिशय है, परंतु जिस अग्निके संसर्गसे जलमें उष्णता व्यक्त हुई, उस अग्निमें तो उष्णता नित्य एवं निरतिशय है। इसी तरह संसारकी समस्त वस्तुओंमें प्रेम आत्माके संसर्गसे ही होता है। वित्त, क्षेत्र, साम्राज्यादिमें प्राणियोंको प्रेम नहीं होता; क्योंकि कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी रूपमें, साम्राज्यादि अनेक प्रकारके अभ्युदयसम्बन्धी साधन हैं ही। मान लीजिये कि हम और हमारा देश किसी राष्ट्रके बिलकुल परतन्त्र हो, हमारा सर्वस्व किसीने अपहरण कर लिया हो तो भी सम्पत्ति और राष्ट्र या साम्राज्य आक्रमणकारी अपहर्ताके पास तो हैं ही, उसमें हमें सन्तोष क्यों नहीं होता? यहाँ विज्ञसम्मत हेतु यही हो सकता है कि यद्यपि कहीं-न-कहीं तो सब कुछ है सही तथापि वह हमारा तो नहीं है। वित्त, क्षेत्र, राष्ट्र या साम्राज्यमात्रमें ही हमारा प्रेम नहीं होता, किंतु हमारा 'अपने' वित्त, क्षेत्र, राष्ट्रादिमें प्रेम होता है। इस तरह स्वसम्बन्धसे ही स्वदेश, स्वराज्य, स्ववित्त, स्वक्षेत्रमें प्राणियोंको अधिक प्रेम होता है। सुन्दर पुत्रकलत्रमें भी स्वसम्बन्ध होनेसे ही प्रेम होता है। सुन्दरी कामिनीमें भी 'यह मुझे मिले, मेरी हो जाय' इस तरह स्वसम्बन्धित्वापादनकी ही रुचि होती है। इसी तरह 'उच्च-से-उच्च ऐश्वर्य मुझे, मेरे देशको, मेरे सम्बन्धियोंको हो' इस प्रकार स्वसम्बन्धीमें ही, स्वानुकूलमें ही, प्रेम दृष्टिगोचर होता है।

किंबहुना अनन्त कोटि ब्रह्माण्डनायक भगवान् ही अपनी अचिन्त्य दिव्यलीलाशक्तिसे श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्र एवं श्रीकृष्णचन्द्रस्वरूपमें प्रकट होते हैं, परंतु उनमें भी स्वसम्बन्धसे प्रेमका तारतम्य देखा जाता है। जो अपने इष्टदेव हैं, उनके सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य एवं चरित्रादिमें जितना प्रेम, जितना आकर्षण होता है, उतना अन्यमें नहीं। और तो क्या, कृष्णस्वरूपमें ही महानुभावोंने पाँच भेदोंकी कल्पनाकर डाली है। वे द्वारकास्थ, मथुरास्थ कृष्णके अतिरिक्त **'व्रजे वने निकुञ्जे च श्रैष्ठ्यमत्रोत्तरोत्तरम्'** के अनुसार पूर्ण, पूर्णतर, पूर्णतम भेदसे व्रजस्थ, वृन्दावनस्थ, लीलानिकुंजस्थ श्रीकृष्णमें भेद स्वीकारकर पूर्णतम लीलानिकुंजनायक श्रीकृष्णमें ही अपना हृदय आसक्त करते हैं। अन्यके स्वरूपसौन्दर्यादिमें उनके चित्त आकर्षित नहीं होते हैं। अतएव एक बार लीलया किसी निकुंजमें छिपे हुए श्रीकृष्णको ढूँढ़ती हुई व्रजांगनाएँ जब मनमोहनके पास पहुँच गयीं, तब श्रीकृष्णने शीघ्र ही विष्णुस्वरूपमें प्रकट होकर अपने उस व्रजराजकुमारस्वरूपको छिपा लिया और अपने-आपको सर्वगुणसमलंकृत श्रीमन्नारायणके रूपमें प्रकट किया; पर श्रीव्रजांगनाओंका मन उस रूपमें किंचित् भी आकर्षित नहीं हुआ, किंतु उन्हें प्रणामकर वे 'हे देव! हमारे प्रियतमको मिला दो' यह कहकर वहाँसे अपने प्रियतमको ढूँढती हुई आगे चली गयीं।

वस्तुके उत्कर्षसे उसमें प्रेम नहीं होता है, किंतु स्वसम्बन्धसे ही वस्तुकी उत्कृष्टता भी व्यक्त होती है। अतएव '**गुणैर्विहीनो गुणिनां वरो वा**' इत्यादि वचनोंसे पहले ही कह आये हैं कि 'अनन्त गुणसमलंकृत हो या सर्वगुणविहीन हो, जो अपना है, वही सर्वस्व है।' पूर्णतम होनेके कारण ही उनकी ओर सभीका चित्त आकर्षित नहीं होता है—

महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुन धाम।
जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम॥

(रा०च०मा० १।८०)

जिसमें स्वसम्बन्धकी घनिष्ठता हो गयी, वही सर्वस्व है। जिसमें जितनी-जितनी स्वानुकूलता है, उसमें ही प्रेमकी उतनी अधिकता होती है और जिसमें जितनी स्वप्रतिकूलता है, उसमें ही द्वेषकी उतनी अधिकता होती है। कोई व्यापारी बहुत दिनोंके बाद अपने घरको लौट रहा था। मार्गमें किसी सरायमें उसने निवास किया। दैवात् उसी सरायमें रातको उसकी स्त्री अपने अत्यन्त रुग्ण पुत्रको लेकर आयी। रुग्ण बालक दुःखसे घबराकर, चीख मारकर रो रहा था। उस व्यापारीने अपनी

नींदमें बाधक समझकर बालक और उसकी माँको रोषके साथ खरी-खोटी सुनायी। परंतु प्रात:काल होनेपर जब उसे यह ज्ञात हुआ कि यह तो मेरी ही स्त्री और मेरा ही पुत्र है, तब तो उनके साथ ही वह अपने-आप भी रोने लगा। इस तरह विचार करनेपर यही सिद्ध होता है कि निकृष्ट-से-निकृष्ट वस्तुमें भी आत्माके स्वसम्बन्धकी घनिष्ठतासे प्रेमकी अतिशयता और अत्यन्त उत्कृष्ट वस्तुमें भी स्वसम्बन्धकी घनिष्ठता न होनेसे प्रेमकी न्यूनता होती है। इतना ही नहीं, दूसरेकी उत्कृष्ट वस्तुमें द्वेष या ईर्ष्या-पर्यन्तका संचार हो जाता है। तभी तो ये कट्टर नवीन शैव-वैष्णव परस्पर एक-दूसरेके इष्टका उत्कर्ष नहीं सहन कर सकते हैं।

अब सोचनेकी बात है कि जिसके सम्बन्धसे निकृष्टमें भी लोकोत्तर प्रेम और जिसके सम्बन्धके बिना परम उत्कृष्टमें भी द्वेष या ईर्ष्या होती है, वह निरतिशय निरुपाधिक प्रेमका आस्पद है कि नहीं। जब शर्कराके सम्बन्धसे स्वभावत: माधुर्य-शून्य पदार्थोंमें भी मधुरिमाका अनुभव होता है, तब क्या शर्करामें मधुरिमाका अभाव कहा जा सकता है? जब स्वस्वरूप आत्माके सम्बन्धसे प्रेमके अयोग्य पदार्थोंमें भी प्रेम होता है, तब क्या आत्मामें अन्यशेषता या प्रेमकी अपकर्षता कही जा सकती है? प्रत्युत स्पष्ट रूपसे यही कहा जा सकता है कि आत्माके सन्निहितमें प्रेमका आधिक्य और विप्रकृष्टमें प्रेमकी न्यूनता होती है। तभी देखते हैं कि प्रियतम, कलत्र एवं पुत्रकी रक्षाके लिये अनेकानेक प्रयत्नसे उपार्जन की हुई रत्नादि सम्पत्तियोंको त्याग देनेमें विलम्ब नहीं होता, किंतु कलत्र, पुत्र प्रभृति यदि अपने शरीरके प्रतिकूल प्रतीत होते हैं तो अप्रिय ही नहीं, अपितु शत्रु समझे जाते हैं।

किसी गृहमें अग्नि लग रही है, पता चलता है कि अत्यन्त प्रिय पुत्र गृहके भीतर रह गया है। गृहपति अत्यन्त व्याकुल होता है, रुदन करता है, लोगोंसे कहता है—'भाई, चाहे कोई हमारा समस्त धन-धान्य रत्नादि ले ले, परंतु हमारे प्रिय पुत्रको जलते हुए भवनसे निकाल लाये।' यह सब कुछ होते हुए भी अपना शरीर इतना प्रिय है कि कोई अत्यन्त धनके लोभसे भी उसका नाश नहीं सहन कर सकता। जिसका प्रिय पुत्र है, वह स्वयं जलते हुए घरमें प्रवेश नहीं करता; केवल बाहर दूर खड़ा तड़फड़ाता है। ठीक ही है, संसारके समस्त नाते इस देहके ही साथ हैं, उसके नष्ट होनेपर समस्त नाते मिट जाते हैं। नहीं तो इस अपार संसारमें अनन्त जन्मके देह-सम्बन्धियोंका यदि स्मरण रहे तब कितनी माताएँ, कितने पिता और कितने पुत्र-कलत्रादि कुटुम्बी कहाँ-कहाँ हैं, उन सभीके सुख-दु:खमें कितना सुख-दु:ख देखना (भोगना) पड़े। एक ही जन्मके कुटुम्बियोंके सम्बन्धमें क्या दशा हो रही है। अस्तु, देहके नष्ट होते ही स्त्री, पुत्र, धन-धान्य तथा अखण्ड साम्राज्यसे सम्बन्ध छूट जाता है। कदाचित् दूसरे जन्ममें किसीको स्मरण भी रहे कि यह साम्राज्य और विशाल धवलधाम सब मेरे ही हैं। पर अब बिना वर्तमान अधिपतिकी आज्ञाके उसे अपने ही निर्मित उस धवलधाममें प्रवेश करनेका अधिकार नहीं है और गत जन्ममें उसके नियुक्त भृत्य ही उसे प्रवेश नहीं करने देते हैं। ठीक है, देहतक ही समस्त सांसारिक सम्बन्ध हैं। अत: समस्त पुत्र, कलत्रादि बहिरंग पदार्थोंकी अपेक्षा देह प्रिय होती है। ऐसे ही देहकी अपेक्षा इन्द्रियाँ, उनकी अपेक्षा मन, मनकी अपेक्षा बुद्धि एवं बुद्धिसे भी अहमर्थ और उससे भी अन्तरंग विशुद्ध चिदात्मा प्रिय है।

इन्द्रिय-शक्तिके बिना शरीर मृतकप्राय हो जानेके कारण भाररूप हो जाता है। जब मन किन्हीं कांचन, कामिनी प्रभृति विषयोंकी ओर खिंच जाता है, तब प्राणी मन:सन्तोषार्थ देह और इन्द्रियोंकी भी परवाह नहीं करते। किसी प्रकारकी अकीर्ति आदिसे यदि मनको उद्वेग होता है, तब देहादि-त्यागके लिये विष या शस्त्रका प्रयोग किया जाता है। जब प्राणी

मनकी चंचलतासे संतप्त होता है, तब उसके भी निग्रहका उपाय ढूँढता है और निश्चयात्मिका बुद्धि-द्वारा संकल्प-विकल्पात्मक मनका भी निग्रह करता है। जब प्राणीको मन आदि करणग्रामके निरोध या उसकी निर्व्यापारताका आनन्द अनुभव होने लगता है, तब तो वह दुःखात्मक दृश्यके प्रतीति-निरोधके लिये बुद्धिको भी निगृहीत करनेकी चेष्टा करने लगता है।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥

(कठ० २।३।१०)

इस रीतिसे क्रमशः आत्माके सन्निहित अतएव अन्तरंग बुद्ध्यादिके उद्वेग-निराकरण एवं अनुकूलता-सम्पादन करनेके लिये बहिरंग करणोंका निग्रह किया जाता है।

शोधित अहमर्थकी प्रत्यगात्मरूपता

अध्यात्मशास्त्रोंमें मनोनाश वासनाक्षय प्रसिद्ध ही है। यहाँतक कि जो यह '**अहं**' पदका वाच्यार्थ है, वह भी अन्तःकरणके अहंकारांशसे उपहित आत्माका औपाधिक रूप है। अतः वह भी असह्य होनेके कारण निर्ग्राह्य हो जाता है; क्योंकि '**अहं**' पदका लक्ष्यार्थरूप जो निरुपाधिक शुद्ध स्वरूप है, वही मन, बुद्धि एवं अहमर्थ और उसके सुखित्व, दुःखित्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि सर्व दृश्यका भासक और मिथ्याभूत समस्त भास्यके बाधका साक्षी, वस्तुतः भास्यभासकातीत, सर्वोपप्लव-विवर्जित, त्रिकालाबाध्य, स्वप्रकाश परमानन्द चिदात्मा है। उसके स्वाभाविक अखण्डानन्दकी अभिव्यक्तिमें 'अहमर्थ' भी प्रतिबन्धक ही है। अभिप्राय यह है कि यद्यपि कुछ दार्शनिकोंके मतमें '**अहं**' का वाच्यार्थ ही आत्मा है, जो कि '**अहं कर्ता**', '**अहं भोक्ता**' '**अहं सुखी**', '**अहं दुःखी**' इस रूपसे अनुभवमें आ रहा है, अतः उसका नाश आत्माका ही नाश है। मेरी देह, मेरी इन्द्रियाँ, मेरा मन, मेरी बुद्धि, मेरा अहंकार—इस प्रकार जो ममताके आस्पद हैं, वे अनात्मा हैं और मेरी बुद्धि सुस्थिर है, मैं अपनी बुद्धिद्वारा अपने मनको निगृहीत करूँगा, इस प्रकार जो 'अहंता' का आस्पद 'अहमर्थ' है, वही शुद्ध आत्मा है। उससे परे जीवका अपना कोई स्वरूप नहीं है, अतः 'अहमर्थ' का नाश करना आत्माका ही नाश करना है।

तथापि अभिज्ञ वेदान्तीका सिद्धान्त है कि '**अहं**' का वाच्यार्थ आत्मा नहीं है, किंतु लक्ष्यार्थ ही आत्मा है अर्थात् जैसे अग्निके सम्बन्धसे अग्निकी दाहकता, प्रकाशकता आदि शक्तियोंसे युक्त होनेसे लौहपिण्डमें अग्निका भ्रममात्र होता है, शुद्ध निरुपाधिक अग्नि लौहपिण्डसे पृथक् है, वैसे ही आत्माके घनिष्ठ संसर्गसे अहमर्थ (मैं)-में प्रेमास्पदता और चेतनता अधिक प्रतीत होती है, अतएव उसमें आत्माकी भ्रान्तिमात्रता है। वस्तुतस्तु मेरा मन, मेरी बुद्धि, मेरा सुख, मेरा दुःख, मैं कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी या केवल मैं, ये सभी भास्य हैं, इनकी प्रतीति होती है, इनका सुस्पष्ट भान होता है।

भास्यसे भासक या भान पृथक् ही है। जिस रीतिसे चार्वाक प्रभृतिको देहमें ही आत्मबुद्धि हुई; क्योंकि आत्माके ही पारम्परीण सम्बन्धसे देहमें भी किंचित् चेतनता, इष्टता या प्रेमास्पदता भासित होती है और उसीसे उन अत्यन्त अज्ञ, लौकिक, पामर एवं चार्वाकोंको देह-नाशमें ही आत्म-नाशकी बुद्धि हुई, उसी प्रकार 'अहमर्थनाश' में 'आत्मनाश' की बुद्धि इतर दार्शनिकोंको भी हुई। '**अहं श्यामो**', '**अहं गौरः**' मैं काला हूँ, मैं गौर हूँ, स्थूल हूँ, कृश हूँ—इस तरह स्थौल्यादि धर्मवान् देहमें जैसे अहमर्थके अभेदका अध्यास होता है, वैसे ही चिज्जड़ग्रन्थि अहमर्थमें चैतन्यानन्दघन भगवान्‌का अभेदाध्यास होता है।

इसी वास्ते सर्वस्पर्शविहीन ('**स्पृश्यन्ते इति स्पर्शाः विषयाः**' इस व्युत्पत्तिके अनुसार समस्त दृश्य ही स्पर्श हैं) अर्थात् सर्वदृश्यविहीन, परम सूक्ष्म, सर्वावभासक, स्वप्रकाश, चैतन्यानन्दघन, परम

अभय भगवान्‌में अज्ञोंको भय होता है। देखा जाता है कि प्राणियोंको स्थूल पदार्थोंका ही आधिक्येन भान होता है, इसीलिये नील, पीत, हरित रूपोंकी जैसी स्फुट प्रतीति होती है; वैसी अनेक रूपोंका प्रकाश करनेवाली प्रभाकी स्फुटता नहीं होती। प्रभाका प्रकाश करनेवाले नेत्रालोकका विज्ञान उससे भी अधिक दुर्लभ है। कोई ही यह समझता है कि जैसे प्रभाके न होनेपर रूपका प्रकाश नहीं हुआ और प्रभाके होनेपर रूपका प्रकाश हुआ, अत: प्रभा रूपसे पृथक् है, वैसे ही नेत्र-निमीलन-कालमें प्रभाका भी भान नहीं था और नेत्रोन्मीलन-कालमें प्रभाकी प्रतीति हुई, अत: नेत्रके उन्मीलन-कालमें एक अति सूक्ष्म नेत्रालोक ही प्रभापर व्याप्त होकर प्रभाका प्रकाशन करता है। अस्तु, इसके उपरान्त भी नेत्रालोककी मन्दता और पटुताका प्रकाश करनेवाला मानसालोक (मानस-प्रकाश) नेत्रालोकसे पृथक् ही है, जिससे कि मेरी नेत्र-ज्योति मन्द है या तीव्र है, यह जाना जाता है। मनुष्य मनके काम, संकल्प, संशय आदि अनेक विकारोंको जानकर निश्चयात्मिका बुद्धिसे निश्चय करता है कि मैं स्थिर बुद्धिसे मन और उसके विकारोंको निरुद्ध करूँगा। यहाँ स्पष्टतया तीनों अंशोंकी प्रतीति होती है—जिसका निरोध या नाश करेंगे, वह मन और उसके संशयादि विकार, जिससे निरोध करेंगे, वह साधनरूपा निश्चयात्मिका बुद्धि जिसके विषयमें उसकी बुद्धि मन्द या अत्यन्त सूक्ष्म है, इस तरहके अनुभव होते हैं और जो बुद्धिद्वारा मनका निरोध करनेवाला है, वह '**अहं**' अर्थात् 'मैं'। इसी प्रकारसे '**अहं बुद्ध्या मन: संयच्छामि**' (मैं बुद्धिसे मनका नियन्त्रण करूँगा) ऐसे अनुभवमें 'मैं', 'बुद्धि' और 'मन' इन तीनोंकी प्रतीति होती है। अत: ये सभी तो प्रतीतिके विषय हो गये, इनकी प्रतीति या भान इनसे अवश्य पृथक् है; क्योंकि एकमें प्रकाश्य-प्रकाशकभाव नहीं बन सकता। इसीलिये प्रकाश्यसे प्रकाशक भिन्न होता है, यह बात लोकमें प्रसिद्ध है।

प्रकाशान्तर-निरपेक्ष प्रकाशमान 'स्वयंप्रकाश' कहा जाता है। मन, बुद्धि और 'मैं' का भासक, अकेला शुद्ध भान तो भास्य न होनेसे स्वयंप्रकाश है। अत: यह भान ही सर्वदा प्रकाशान्तर-निरपेक्ष भासमान होकर स्थिर है और तदतिरिक्त सभी भास्य अस्थिर हैं। इसीलिये जाग्रत् और स्वप्नमें '**अहं**' और 'बुद्धि' एवं 'मन' यद्यपि उपलब्ध होते हैं, परंतु सुषुप्तिमें इन सबका अभाव हो जाता है। उस समय भी जाग्रत् और स्वप्नमें सकल दृश्यके भावका और सुषुप्तिमें समस्त व्यक्त दृश्यके अभावका प्रकाश करनेवाला एवं सर्व दृश्यके विलयनका आधारभूत, सुषुप्ति एवं गाढ़ निद्रा या अज्ञानका भासन करनेवाला, कूटस्थ भानरूप आत्मा ही विराजमान रहता है। इसीका संकेत भागवतमें इस तरह किया है—

सन्ने यदिन्द्रियगणेऽहमि च प्रसुप्ते
कूटस्थ आशयमृते तदनुस्मृतिर्न:॥

(श्रीमद्भा० ११।३।३९)

स्वयं श्रुतिने इस तथ्यका प्रकाश किया है—'**नाहं खल्वयमेव सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति।**' (छान्दोग्य० ८।११।१)

इस प्रकार अखण्ड, अनन्त, परमसूक्ष्म वस्तुका बोध अत्यन्त दुर्लभ है। जिन स्थूल पदार्थोंका बोध प्राणियोंको है, उनके नाशमें सर्वनाश या आत्मनाशकी प्रतीति होनी युक्त ही है। इसीलिये श्रीगौड़पादाचार्य भगवान् कहते हैं कि—'**अस्पर्शयोगो वै नामैष दुर्दर्श: सर्वयोगिभि:। योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिन:॥**' (माण्डुक्य० ३९) सर्वस्पर्श, सर्वदृश्य-सम्बन्धसे रहित, भास्य-विवर्जित, परमसूक्ष्म, अखण्डानन्दरूप काल्पनिक सर्वभाव तथा अभावोंका भासक, कूटस्थ भानस्वरूप आत्मा तत्त्वज्ञसे भिन्न समस्त योगियोंके लिये दुर्दर्श है; क्योंकि दृश्य ही जिनका सर्वस्व है, दृश्यसे भिन्न स्वप्रकाश अखण्डानन्द द्रष्टापर जिनकी कभी दृष्टि गयी ही नहीं, उन्हें दृश्यके नाशसे परमानन्दसुधासिन्धुके सर्वतोभावेन

भरपूर होनेपर भी सर्वस्वनाश होनेकी ही प्रतीति होती है। किसी भिक्षुकीके सौन्दर्यपर मुग्ध होकर किसी सम्राट्ने उसे साम्राज्ञी होनेको कहा; किंतु भिक्षुकी यह समझकर कि हमारी भिक्षा माँगनेकी सामग्री और भिक्षाका आनन्द चला जायगा, साम्राज्ञी बननेसे डर गयी। कारण कि साम्राज्ञीके सुखकी कल्पना कभी उसकी दृष्टिमें हुई ही नहीं, उसे तो भिक्षा और उसके ही आनन्दका सर्वदा संस्कार रहा। ठीक इसी तरह जिन्हें कभी अखण्डानन्दमय, निर्विकार दृक्के अनन्त सौख्यकी अनुभूति हुई ही नहीं, केवल कटु दृश्यके ही अक्षुण्ण संस्कार प्राप्त हो रहे हैं, उनको दृश्य ही सरस प्रतीत होता है।

परमात्मस्वरूप उन्हें उद्वेजक प्रतीत होता है। जैसे सेंधा नमकका ढेला पानीमें मिल जानेसे नष्ट हुआ कहा जाता है, वास्तवमें उपाधिके साथ संसर्ग मिटनेसे केवल उसका औपाधिक रूप ही मिटता है, वैसे ही पंचकोशादि उपाधि मिटनेसे चेतनमें तत्कृत अवच्छेद ही मिटता है, आत्मतत्त्व शुद्ध निर्विकार भानरूपसे तो विद्यमान ही रहता है। जैसे नीमके कीड़ेको नीममें ही स्वाद आता है और मिसरी या चीनीमें उसे उद्वेग होता है, वैसे ही दृश्य-रागीको अत्यन्त कटु दृश्यमें ही प्रीति होती है। सर्व दृश्य-रूप उपद्रवसे रहित, परमानन्दघन भगवान्से उसे घबराहट होती है। जैसे पुत्र कलत्रादि कुटुम्बके अनुरागी विषयी प्राणियोंको स्वर्ग या वैकुण्ठ भी रुचिकर प्रतीत नहीं होता, वैसे ही सप्रपंच सुखके रागियोंको निरावरण अद्वैतानन्दमें रुचि नहीं होती। इसीलिये वे अद्वैत, अखण्ड, अनन्त, ब्रह्मानन्दरूप मुक्तिसे घबराते हैं। किसी-किसीका तो यहाँतक कथन है कि चाहे वृन्दावनमें शृगाल भले ही हो जायँ, परंतु अद्वैतियोंका निर्विशेष मोक्ष हमें नहीं चाहिये। ठीक ही है, विषयीका तो सर्वस्व विषय ही है। अतः जहाँ विषयका अत्यन्त अभाव हो, ऐसे ब्रह्म या मोक्षसे उसका क्या सम्बन्ध? जिस मोक्षमें नृत्य, वादित्र, गीत और सरस रूप एवं मधुररसकी अनुभूति नहीं, ऐसे नीरस, निर्विषय मोक्षमें उन्हें शुष्क पाषाण-बुद्धि क्यों न हो? वस्तुतः यह उनके संस्कारोंका ही दोष है। सप्रपंच, सातिशय, क्षुद्र साधन-परतन्त्र सुखका ही उन्हें अनुभव है। उन्हींमें उन्हें संस्कार या राग है तो फिर तद्विलक्षण, निष्प्रपंच, निरतिशय, अनन्त, स्वतन्त्र, आनन्दाम्बुधिकी कल्पना भी उनके मनमें कैसे हो?

ब्रह्मात्मतत्त्वकी रसरूपता

अति स्वल्प भी विवेचन करनेपर विवेकियोंको निरायास, निष्प्रपंच, अपरिच्छिन्न आनन्दकी महत्ताका ज्ञान हो जाता है। जब किसी रसिकको अत्यन्त अभिलषित रसमय पदार्थ एवं रसमयी कान्ताकी प्राप्ति होती है, तब किंचित् काल उसे अत्यन्त हर्ष होता है। परंतु अन्तमें उसे छोड़कर वही पुरुष सोनेके लिये प्रवृत्त होता है। क्यों? यह क्या बात है? जिस प्रियतमा कान्ताके मिलनके लिये पहले उसे इतनी व्यग्रता, इतनी व्याकुलता थी, आज उसी प्रेयसीके सम्मिलनमें केवल उसीमें उसकी तल्लीनता होनी चाहिये, पर अब वह निद्राको बुलाता है। मनुष्यकी तो कौन कहे, ब्रह्मा और विष्णुकी भी जिनके सन्निधानमें दिव्यातिदिव्य रमण-सामग्रियाँ विद्यमान हैं, द्वैत प्रपंचमें जितनी भी उच्च-से-उच्च कोटिकी सौख्य-सामग्रियाँ हैं, वे सभी वहाँ विद्यमान हैं, फिर भी उन अद्भुत सप्रपंच सौख्योंको छोड़कर सुषुप्तिमें क्यों प्रवृत्ति होती है? इसीलिये कि वहाँ निष्प्रपंच, अद्वैत सुखकी अनुभूति होती है, जिनकी एक छायामात्र ही सातिशय प्रपंच सुखमें परिलक्षित होती है।

किं बहुना भगवद्भावापन्न, अत्यन्त उच्च कोटिके अनुरागी, जिन्हें अपने प्रियतम प्राणधनके वियोगमें मरणसे भी अनन्त कोटि गुणित संताप होता है; जिनके क्षणमात्रके प्रियतम-वियोगजन्य तीव्र तापको निरीक्षण करके अनन्त कोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत अनन्त पाप यह सोचकर संतापसे दुर्बल हो जाते हैं कि हम सभी अनन्त कोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत अनन्त प्राणियोंके

अनन्त पाप एकत्रित होकर भी, अनन्त कल्पोंमें भी रौरवादि महानरकोंद्वारा इतना सन्ताप नहीं सम्पादन कर सके, जितना सन्ताप (कष्ट) इन्हें एक क्षणके प्रियतम-वियोग-जन्य तीव्र तापमें हुआ है। जिन प्रेमियोंको केवल ध्यानमें प्राप्त प्रियतमके मानस आलिंगनमें ऐसा अद्भुत आनन्द होता है, जिसे देखकर अनन्त ब्रह्माण्डके पुण्यपुंज यह सोचकर क्षीण हो जाते हैं कि हम सभी पुण्य मिलकर भी क्या अनन्त कल्पोंमें किसीको इतना आनन्द दे सकते हैं, जितना आनन्द इन्हें अपने प्रियतमके मानस परिष्वंगसे एक क्षणमें हुआ है? वे ही प्रेमी सौभाग्यवश जब अपने प्रियतमके चिर अभिलषित उस मंगलमय धाममें पहुँच जाते हैं, जहाँ-कहीं मरकतमयी भूमिपर सुवर्णवर्णा लतावल्ली एवं अद्भुत अनन्त ज्योतिर्मय वृक्ष हैं। कहीं कनकमयी भूमिपर मरकतमयी लताप्रतान एवं परम मनोहर श्यामल दूर्वाएँ हैं। अपनी दिव्य दीप्तियोंसे सूर्य-चन्द्रकी दीप्तियोंको भी तिरस्कार करनेवाले मणि तथा रत्न प्रकाश कर रहे हैं, हंस, सारस, कारण्डव, पिकादि कलरव कर रहे हैं; कहीं नाना प्रकारके अद्भुत खग-मृग विचरते हैं। कहीं मरकत मणियोंके समान वृक्षोंपर कनकमयी वल्लियाँ शोभायमान हो रही हैं, कहीं कनकमय मंजुल-कुंजोंपर मरकतमयी लताएँ विराजमान हैं, कहीं पद्मराग मणिके वृक्ष स्फटिकमयी लताओंसे परिवेष्टित हैं और अनेक प्रकारकी विचित्र मणिमयी शाखाओंसे शोभित हो रहे हैं। प्रत्येक शाखा अद्भुत अनन्त रंगोंके विचित्र मणिमय पल्लवोंसे भूषित है। प्रत्येक पल्लव नाना रंगोंके पुष्पस्तवकोंसे शोभायमान है तथा प्रत्येक पुष्पपर नाना प्रकारके सौगन्ध्यमधुलुब्ध भ्रमर गुंजार कर रहे हैं। नाना प्रकारकी दीप्तियोंसे दीप्यमान प्रकट पुष्पोंसे शोभित मधुमयी मनोरम लताएँ विलक्षण शोभा फैलाती हैं। समस्त वृक्ष और लताएँ एक कालमें ही मुकुलित, प्रफुल्लित, फलित एवं पक्व फलोंसे भी युक्त हो रहे हैं। वहाँके अद्भुत सौन्दर्य, माधुर्यादि गुणोंका वर्णन शारदाके लिये भी अशक्य है। ऐसे मंगलमय धाममें प्रेमी अपने सर्वस्व चिराभिलषित प्रियतमका परिष्वंग करके फूले नहीं समाते हैं।

परंतु यदि प्रियतम और उनकी मंगलमयी लीलाकी मंजु सामग्री अखण्ड अनन्त आनन्दस्वरूप ही है, तब तो उस अपरिमित रसके आस्वादनसे उनको विरति नहीं हो सकती; क्योंकि वह अद्वैत आनन्दैकरस ही हैं, दूसरी वस्तु नहीं। यदि वस्तुतः पारमार्थिक अखण्डैकरस अद्वैत आनन्दसे पृथक् है, तब तो वही बात हुई कि जैसे लोकमें किसीको दुष्प्राप्य धवलधाम और मनोहर उद्यान देखकर उनकी प्राप्तिके लिये बड़ी उत्कण्ठा होती है और उनके मिलनेपर कुछ क्षण बड़ा हर्ष भी होता है, परंतु कुछ ही कालमें चित्त अन्य विषयोंके चिन्तनमें व्यग्र हो जाता है और वे समस्त सौख्य-सामग्रियाँ सामने होनेपर भी अपना प्रभाव उसके चित्तपर नहीं डाल सकतीं। फिर तो वह और ही चिन्तामें ग्रस्त हो जाता है। दूसरेकी दृष्टिमें वह बहुत सुखी होनेपर भी अपनी दृष्टिमें दुःखी होता है। ठीक वैसे ही थोड़ी देरमें नाना प्रकारके रसास्वादनके अनन्तर मन कुछ और चाहने लगता है। वहाँ भी यदि नींदमें बाधा पड़ी, तब तो प्रजागर दोष समझा जाने लगता है। कहनेका आशय यही है कि प्रियतमासे मिलकर भी प्रेमीकी सोनेके लिये प्रवृत्ति होती है। वस्तुतः जिनके पास जितनी अधिक भोग-सामग्री है, वे उतना ही अधिक सोनेमें प्रवृत होते हैं। यह सब इसीलिये कि चाहे कितना ही सुख क्यों न हो, परंतु वह दुःखरूप ही है। दृश्यदर्शनमें श्रम है, अतः उससे परिश्रान्त होकर प्राणी निरायास, अखण्ड, आनन्द ब्रह्ममें विश्रान्ति चाहता है। वास्तवमें सभी तत्त्व अपने अधिष्ठानभूत परमात्मासे वियुक्त होकर संतप्त होते हैं। जैसे किसी सूत्रमें बँधा हुआ कोई पक्षी प्रतिदिशामें भ्रमण करनेसे परिश्रान्त होकर विश्रान्तिके लिये बन्धनसूत्रके आश्रय काष्ठका ही

समाश्रयण करता है, वैसे ही नाना प्रकारके कर्मोंसे परतन्त्र होकर जीव जाग्रत् एवं स्वप्नकी अवस्थाओंमें स्वाश्रयभूत प्रभुसे वियुक्त होकर भिन्न-भिन्न विषयोंमें भटकता है। जाग्रत् एवं स्वप्नके हेतुभूत अविद्या, काम कर्मोंके क्षीण होनेपर वह पुन: विश्रान्तिके लिये भगवान्‌का ही अवलम्बन करता है। श्रुतियोंमें जीवको प्रभुका अंश बतलाया है और कहा है कि जैसे अग्निसे विस्फुलिंग (चिनगारी)-का निर्गम होता है, उसी तरह परमात्मासे जीवोंका निर्गम होता है। **'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति, एवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति।'** (बृहदारण्यक० २।१।२०)

अविक्रिय विज्ञानघन आत्माकी ब्रह्मरूपता

निष्कल, निरवयव, अखण्ड, अनन्त परमात्मामें छेदन-भेदनादिद्वारा किसी तरहसे भी खण्ड होना असम्भव होनेसे मुख्य अंश-अंशिभाव तो सम्पन्न नहीं होता। अत: काल्पनिक अंश-अंशिभाव लोग मानते हैं। अन्यान्य लोग कहते हैं कि जैसे चन्द्रमाका शतांश गुरु है, वैसे ही परमात्माका अंश जीव है। इनके मतमें **'तत्सदृशत्वे सति ततो न्यूनत्वम्'** यही अंश-कथनका आशय है। परंतु अद्वैतवादियोंका कहना है कि चन्द्रमाका और गुरुका अंश-अंशिभाव बहुत बाह्य एवं औपचारिक है। अतएव शुक्रका चन्द्रमासे उद्गम न होनेसे उसके साथ शुक्रका कोई विशेष सम्बन्ध होना सिद्ध नहीं होता, किंतु परमात्मासे उद्गम और उससे विशेष सम्बन्ध रखनेवाले जीवका अंश-अंशिभाव अन्तरंग ही होना चाहिये। अत: जैसे घटोपाधिसे घटाकाश महाकाशका अंश कहा जाता है, वायु उपाधिसे तरंग महासमुद्रका अंश है, उसी तरह अविद्या या अन्त:करण उपाधिसे जीव परमात्माका अंश कहा जाता है। उपाधियोंके विक्षोभमें उपहितका अनुपहितसे पार्थक्य और उनकी उपशान्तिमें उपहितका अनुपहितसे ऐक्य होता है। जिस समय आकाशसे वायु-जलादि क्रमेण घट उत्पन्न होता है, उस समय घटाकाशकी उत्पत्ति एवं महाकाशसे उसके पार्थक्यकी प्रतीति होती है। घटका विलयन होनेपर घटाकाशका महाकाशके साथ सम्मिलन प्रतीत होता है। वायुके स्पन्दनकालमें महासमुद्रसे तरंगकी उत्पत्ति एवं उसकी समुद्रसे भिन्नता प्रतीत होती है और वायुके नि:स्पन्दनकालमें तरंगका विलयन प्रतीत होता है। निरावरण तथा द्रवीभूत जलकी अभिव्यक्तिमें बिम्बसे प्रतिबिम्बकी उत्पत्ति एवं बिम्बसे भिन्नता प्रतीत होती है और जलके सावरण होनेपर या शैत्ययोगसे घनीभूत होनेपर प्रतिबिम्बकी बिम्बभावापत्ति होती है। इन सभी उदाहरणोंसे केवल यही बात दिखलायी जाती है कि जैसे स्वभावसे घटाकाश, तरंग तथा प्रतिबिम्ब महाकाश एवं महासमुद्र बिम्बसे पृथक् नहीं हैं, उनसे भिन्नता एवं विलक्षणता उपाधियोगसे प्रतीत होती है, वैसे ही जीव स्वभावत: ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। उसमें भिन्नता एवं परमात्मासे विलक्षणता केवल उपाधियोंसे प्रतीत होती है। जैसे महाप्रलयमें समस्त प्रपंच समष्टि सबीज ब्रह्ममें विलीन होता है, वैसे ही सुषुप्तिमें भी समस्त प्रपंचका विलयन श्रुतिने कहा है। **'सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति।'** (कैवल्योपनिषत् १३) अत: सुषुप्तिमें उपाधियोंके विलीन होनेपर तमस्‌से अभिभूत जीव परमात्मासे मिलता है।

जबतक जल मलिन एवं द्रुत रहता है, तबतक उसकी मलिनता एवं चंचलतासे प्रतिबिम्ब भी मलिन एवं चंचल प्रतीत होता है। ऐसे ही अन्त:करण जबतक मलिन एवं चंचल-स्वरूपेण व्यक्त रहता है, तबतक उसमें प्रतिबिम्बित चिदानन्दतत्त्व भी उसकी मलिनता तथा चंचलतासे मलिन तथा चंचल रहता है। यही बात **'ध्यायतीव लेलायतीव'** (बृहदारण्यक० ४।३।७) इस श्रुतिमें कही गयी है। परंतु जिस समय अविद्यापरिणाम अन्त:करण अविद्यामें विलीन हो जाय या निद्रारूप गाढ़ आवरणसे आवृत हो जाय, उस समय जैसे जलके सावरण एवं घनीभावमें

प्रतिबिम्ब बिम्ब ही हो जाता है, बिम्बसे पृथक् रहता ही नहीं, अत: उससे किसी प्रकारके अनर्थका सम्बन्ध नहीं होता; ठीक वैसे ही सुषुप्तिमें जीव परमात्मामें मिल जाता है, पृथक् उसका स्वरूप ही नहीं रहता। अतएव किसी प्रकारके अनर्थका योग उस समय उसको नहीं होता। इसीलिये श्रुति '**सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति**' (छान्दोग्य० ६।८।१) इत्यादि वचनोंसे उस स्थितिको स्पष्ट सिद्ध कर रही है।

(अभिप्राय यह है कि निर्मल, निश्चल तथा निरावरण जलपर सूर्यादिका प्रतिफलन स्फुटरीतिसे होता है। तद्वत् निर्मल, निश्चल और निरावरण चित्तपर चिदात्मतत्त्वका प्रतिफलन भी स्फुटरीतिसे होता है। जैसे मलिन, चंचल तथा सावरण जलपर सूर्यादिके प्रतिफलनका अवरोध होता है; वैसे ही मलिन, चंचल और सावरण अन्त:करणपर चिदात्मतत्त्वके प्रतिफलनका अवरोध होता है। रज:कण, वायु आदिके आघात और सेवारादिके योगसे जल मलिन, चंचल तथा सावरण होता है। तद्वत् तमस्, रजस् और गाढ़ तमस्के योगसे अन्त:करण मलिन, चंचल और घनीभूत सावरण होता है। मलिन जल ही नहीं, अपितु निर्मल जल भी प्रवाह और वायु आदि निमित्तक आघातके योगसे चंचल होता है। कर्म और वासनात्मक कुत्सित संस्कार एवं मृदु तथा मध्यम तमोगुणके योगसे चित्त मलिन होता है। शुद्ध या अशुद्ध संकल्प-विकल्पके अविरल आघातसे चित्त चंचल होता है। तमोगुणकी प्रगल्भताकी दशामें चित्त मलिन, घनीभूत और नि:संकल्पताके कारण निश्चल होता है। सुषुप्तिमें बीजभावापन्न अवधारणस्वभाव घनीभूत चित्तमें तादात्म्यापन्न चिदात्माकी प्राज्ञ संज्ञा होती है।)

जीव जाग्रत् और स्वप्नमें कर्मोंके वश होनेसे अद्वैत निष्प्रपंच परमात्मसुखसे वंचित होकर द्वैतरूप दु:खसागरमें भटकते-भटकते परिश्रान्त हो जाता है और विश्रान्तिके लिये फिर कर्मोंके उपरत होनेपर 'सत्' पदवाच्य सबीज परमात्मामें मिलता है। अत: दृश्यमें, द्वैतमें वस्तुत: सुखका लेश भी नहीं है, केवल अज्ञोंने भ्रान्तिसे उसमें सुखकी कल्पना की है।

श्रमबीज द्वैतमूल अज्ञानातीत आत्माकी स्वप्रकाश आनन्दरूपता

लौकिक विषयानन्दमें भी जहाँ जितना भेद-भाव मिटता है, वहाँ उतना ही अधिक आनन्द व्यक्त होता है। चंचल चित्तमें अधिक मात्रामें द्वैतका भान होता है, अत: उस अवस्थामें अधिक दु:ख होता है। अभिलषित विषयकी प्राप्तिमें तृष्णाकण्टकके अपगमसे चित्तमें स्वस्थता, एकाग्रता एवं कुछ अन्तर्मुखता होती है, कुछ मात्रामें द्वैत मिटता है, अतएव कुछ मात्रामें आनन्दकी प्राप्ति होती है। समाधिमें द्वैतकी प्रतीति अधिक मिटती है, अतएव वहाँ अधिक आनन्द मिलता है। सौषुप्तसुखके भी उत्कर्षमें द्वैतकी अप्रतीति हेतु है। अतएव वहाँ दृष्टान्त भी उसी ढंगका है—'**तद् यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्**' (बृहदारण्यक० ४।३।२१) अर्थात् जैसे प्रियतमासे विप्रयुक्त कोई नायक चिरकालसे अभिलषित अपनी प्रेयसीकी प्राप्ति होनेपर उसके परिरम्भणसे आनन्दोद्रेकमें बाह्य-आभ्यन्तर सर्वविध दृश्यको भूल जाता है; जगत् क्या है, मैं क्या और कहाँ हूँ, इसका उसे ज्ञान ही नहीं रहता, वैसे ही जाग्रत् एवं स्वप्नके द्वैत प्रपंचसे उद्विग्न जीव भी निष्प्रपंच प्राज्ञ परमात्माके परिरम्भणसे दृश्य क्या और कहाँ है और मैं क्या हूँ, इत्यादि आन्तर-बाह्य सब प्रकारके प्रपंचको भूल जाता है।

दु:खरूप द्वैतमें केवल अपेक्षाकृत सुखकी कल्पना है। रज-तमके उद्रेकमें तृष्णा, मोह-विषादका विस्तार होता है। उसकी अपेक्षा सत्त्वके उद्रेकसे अन्तर्मुखतामें अर्थात् द्वैत-प्रतीतिकी कमीमें सुखका व्यवहार होता है और तो क्या कहें, अनन्तकोटि

ब्रह्माण्डनायक भगवान्‌को भी दृश्यकी प्रतीतिमें सन्ताप ही होना है। अतएव श्रुतिने कहा है कि 'द्वैतका ज्ञान होना ही परमात्माका तप है'—'**यस्य ज्ञानमयं तपः**' (मुण्डक० १।१।९)। जैसे हम सबके लिये कृच्छ्रादिरूप तप है, वैसे ही परमात्माके लिये द्वैत ज्ञान ही तप है। यह ठीक ही है; क्योंकि जो बात बहिर्मुखोंके लिये नगण्य है, वही अन्तर्मुखोंको और ही प्रकारसे अनुभूत होती है। देखते ही हैं कि और अंगोंमें दण्डके आघातसे भी उतना कष्ट नहीं होता, जितना कि नेत्रमें ऊर्णा तन्तुके निक्षेपसे होता है। जिन दोषों एवं दृश्य-प्रतीतियोंसे बहिर्मुखोंको कुछ भी सन्ताप नहीं होता, उन्हींसे अन्तर्मुख योगियोंको बहुत विक्षेप होता है। तो फिर योगेश्वर भगवान्‌के लिये दृश्यदर्शन कृच्छ्रादिकोंकी तरह घोर तप हो तो इसमें क्या आश्चर्य है!

कठोरोंके लिये जो कुछ नहीं, वही सुकुमारोंके लिये बहुत है, इसीलिये आचार्योंने कहा है कि—

निःश्वसितमस्य वेदा विक्षितमेतस्य पञ्चभूतानि।
स्मितमेतस्य चराचरमस्य च सुप्तं महाप्रलयः॥

(भामती-मंगलाचरण २)

अर्थात् भगवान्‌के निःश्वाससे ही वेदोंका प्रादुर्भाव होता है, वीक्षणसे ही पंचभूतोंकी सृष्टि होती है, स्मित (मन्दहास)-से ही सकल चराचर जगत् बन जाता है और प्रभुकी सुषुप्तिमें ही समस्त प्रपंचका प्रलय हो जाता है। प्रभुके वीक्षण एवं मन्दहास (मुसकराहट)-से कितने अद्भुत अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंका प्राकट्य होता है। प्रभुके वीक्षणादिमें जैसा अद्भुत प्रभाव है, वैसे ही प्रभुकी सुकुमारता भी अद्भुत है। अतः वीक्षणमें ही उन्हें इतना श्रम तथा कष्ट होता है कि वही तप हो जाता है। बस, वीक्षण और मन्दहासमें ही परिश्रान्त होकर वे विश्रान्तिके लिये सुषुप्तिमें पहुँच जाते हैं। वीक्षण करके थोड़ा-सा मुस्करा देना और सो जाना, बस इतना ही उनका कार्य है।

अब सहृदय महापुरुष कल्पना करें कि अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डनायक श्रीभगवान्‌को भी जब वीक्षण और मुसकराहटके अनन्तर ही विश्रान्तिके लिये सुषुप्तिकी आवश्यकता है, तब फिर द्वैतमें सुख है या अद्वैतमें? द्वैतमें चाहे जहाँ भी जितना भी जो कुछ भी सुख है, वह निष्प्रपंच अद्वैत ब्रह्मसुखकी अपेक्षा न्यून ही नहीं, अपितु दुःखरूप है। सर्व-सौख्य-सम्पन्न द्वैतदर्शनसे उद्विग्न होकर अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक भगवान् विश्रान्तिके लिये अद्भुत अद्वैत सुखका समाश्रयण करते हैं, फिर उनके भक्तोंको दुःखरूप द्वैतमें ही आनन्द हो, यह कैसे हो सकता है? अतः यह सिद्ध हुआ कि समस्त जीवों एवं उन सबके नियामक तथा आराध्य भगवान्‌को द्वैतदर्शनमें सुखका लेश भी नहीं है। जो कुछ भी सुखकी कल्पना है, वह केवल राजस-तामस भावोंके उद्रेकसे चांचल्य और द्वैतदर्शनके आधिक्यरूप दुःखकी अपेक्षासे ही है। जितनी-जितनी प्रपंचकी निवृत्ति एवं अन्तर्मुखता होती है, उतने-उतने अंशोंमें सुखकी कल्पना है। सुषुप्तिमें द्वैतदर्शनकी पर्याप्त निवृत्ति होती है, अतः वहाँ सुख भी पर्याप्त होता है। इसीलिये जीव और उनके भगवान् दोनोंकी प्रवृत्ति स्वरूपभूत निष्प्रपंच सुखके लिये होती है।

जिस जीवको एक दिन नींद नहीं आती, वह घबरा जाता है और उसे प्रजागर दोष समझकर नींदके लिये सहस्रों उपचार करता है। उस समय चाहे कितनी भी दिव्यातिदिव्य सौख्यसामग्रियाँ क्यों न प्राप्त हों, सब-की-सब बेकार प्रतीत होती हैं, उनकी प्रतीति भी खटकती है, परंतु सब कुछ छोड़कर केवल सोनेके लिये ही जीव व्यग्र हो उठता है। यह क्या निष्प्रपंच अद्वैत सुखकी महत्ता नहीं है? अब कृतप्रज्ञ यह सोच सकते हैं कि जब सावरण निष्प्रपंच अद्वैत सुखमें सबका इतना आकर्षण है, तब निरावरण, निरतिशय, निष्प्रपंच अद्वैत ब्रह्मसुखमें सभीका कितना प्रेम होगा? यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि सौषुप्त निष्प्रपंच ब्राह्मसुख सावरण एवं सबीज है, इसीलिये इसे प्राप्तकर भी जीवोंका

पुनरुत्थान होता है और जीवोंको ही कर्मफल देनेके लिये लीलया भगवान्‌का भी उत्थान होता है। अधिष्ठानके साक्षात्कारसे जिन लोगोंके अज्ञानरूप बीजकी निवृत्ति होती है, उन निर्बीज ब्रह्मभावापन्नोंका पुनरुत्थान नहीं होता।

सबीज ब्रह्मकी परिणामोपादानता और निर्बीज ब्रह्मकी विवर्तोपादानता

सबीजसे ही समस्त प्रपंचका प्रादुर्भाव होता है—जैसे अखण्ड, अनन्त नभोमण्डलमें एक अतिक्षुद्र मेघका अंकुर होता है, उसी तरह अनन्त, अखण्ड, परिपूर्ण, परमानन्द स्वप्रकाश भगवान्‌के अति स्वल्प प्रदेशमें अनन्त अचिन्त्य दिव्य महामाया शक्ति होती है। उसके भी अति स्वल्प प्रदेशमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड-जननी अनन्त अवान्तर शक्तियाँ होती हैं। एक-एक शक्तिमें सत्त्व, रज, तमके प्राधान्याप्राधान्यसे विद्या-अविद्या तामसी प्रकृति आदि अनेक भेद हो जाते हैं।

रज और तमके लेशसे भी अनाक्रान्त अतएव विशुद्धसत्त्वप्रधाना शक्तिको माया या विद्या कहते हैं एवं रज तथा तमसे संस्पृष्ट अविशुद्ध सत्त्वप्रधाना शक्तिको अविद्या कहते हैं और तम:प्रधाना शक्ति तामसी प्रकृति कही जाती है। यद्यपि कहीं-कहीं मूल प्रकृतिमें भी माया और अविद्या पदका प्रयोग होता है, जैसे **'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।'** (श्वेताश्वतर० ४।१०) **'माया स्वाव्यतिरिक्तानि परिपूर्णानि क्षेत्राणि दर्शयित्वा जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवति'** (नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद् ९) इत्यादि तथापि उसे कार्य और कारणके अभेदसे औपचारिक समझना चाहिये। जैसे मीमांसक गोविकार पयमें भी गो-पदका प्रयोग उपचारसे मानते हैं, यथा—**'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्'** वैसे ही कहीं कार्यका प्रयोग कारणमें हो जाता है। अत: मूल महाशक्तिकी अवान्तर शक्तियोंके विभागमें विद्या-अविद्या आदि पदोंका प्रयोग शास्त्रसम्मत है।

विद्या या मायारूप उपाधिसे उपहित चैतन्य ईश्वर-चैतन्य है और अविद्या उपाधिसे उपहित चैतन्य जीव-चैतन्य है। तामसी प्रकृतिसे भोग्यवर्गका प्रादुर्भाव होता है। इस तामसी प्रकृतियुक्त परमात्मासे महत्तत्त्व एवं महत्तत्त्वसे अहंतत्त्वकी उत्पत्ति होती है। यद्यपि श्रुतियोंमें **'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः।'** (तैत्तिरीय० २।१) इत्यादि वचनोंद्वारा सीधे परमात्मासे ही आकाशकी उत्पत्ति होना प्रतीत होता है तथापि—**'बुद्धेरात्मा महान् परः॥,' 'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।'** (कठ० १।३।१०-११) इत्यादि श्रुतियोंसे ज्ञात होता है कि 'परमात्मा और उनकी शक्ति अव्यक्तके अनन्तर एवं आकाशके पहले महत्तत्त्व तथा अहं तत्त्व नामक पदार्थ भी हैं।' गीताने भी **'महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।'** (गीता १३।५) इस श्लोकसे अपंचीकृत (परस्पर असम्मिलित) आकाशादि पृथिव्यन्त पंचमहाभूत एवं अहंकार (अहंतत्त्व), बुद्धि (महतत्त्व) तथा 'अव्यक्त तत्त्व' इन आठ प्रकृतियोंके रूपमें उन्हींका वर्णन किया है। उन्हींका **'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥'** (गीता ७।४) इस श्लोकमें भी वर्णन किया है। इस श्लोकमें मन शब्दसे आकाशके कारण अहंतत्त्वको ही समझना चाहिये, बुद्धि पदसे अहंतत्त्वका कारण महत्तत्वको समझना चाहिये और अहंकारसे महत्तत्त्वका कारण अव्यक्तको समझना चाहिये; क्योंकि ऐसा ही प्रकृति-विकृतिभाव सर्वत्र प्रसिद्ध है। यथाश्रुत मन, बुद्धि एवं अहंकारका कार्य-कारण भाव कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है और यहाँ **'भिन्ना प्रकृतिरष्टधा'** से भिन्न-भिन्न आठ प्रकृतियाँ विवक्षित हैं। यह तभी सम्भव है, जब भूमिका जलसे, जलका अनल (तेज) से, अनलका वायुसे एवं वायुका आकाशसे, आकाशका अहंतत्त्वसे, उसका महत्तत्त्वसे और महत्तत्वका अव्यक्ततत्त्वसे आविर्भाव माना जाय। अतएव **'महाभूतान्यहङ्कारो**

बुद्धिरव्यक्तमेव च' (गीता १३।५) इस गीता-वचनमें स्पष्ट ही अहंतत्त्व, महत्तत्त्व तथा अव्यक्ततत्त्वका वर्णन है। इस तरह श्रुति-स्मृतिके तात्पर्य-विवेचनसे स्पष्ट विदित होता है कि साक्षात् परमात्मासे आकाशकी उत्पत्ति नहीं हुई, अपितु महत्तत्त्व आदिके क्रमसे ही हुई है। अतएव जहाँ-कहीं सत्तत्त्व परमात्मासे सीधे तेजकी ही उत्पत्ति श्रुत है, वहाँ भी आकाश एवं वायुकी उत्पत्तिके अनन्तर आकाश-वायुरूपमें आविर्भूत परमात्मासे तेजकी उत्पत्ति समझनी चाहिये।

श्रुतियोंमें जो **'तदैक्षत एकोऽहं बहु स्याम्'** (छान्दोग्य० ६।२।३)परमात्माने ईक्षण=निरीक्षण (विचार) किया कि एक मैं बहुत हो जाऊँ इत्यादि रूपसे ईक्षण और अहंका उल्लेख मिलता है, इससे भी अहंतत्त्व एवं महत्तत्त्वका ही द्योतन होता है। किसी कार्यके निर्माणमें ज्ञान एवं अहंकारकी आवश्यकता होती है। व्यष्टिद्वारा ही समष्टि-भाव समझे जाते हैं। समष्टि-तत्त्वको बुद्ध्यारूढ़ करनेके लिये प्रथम व्यक्तिका ही अवलम्बन करना पड़ता है। इसी वास्ते श्रुतिने ही **'स एकाकी न रेमे स द्वितीयमैच्छत्'** (उस पुरुषको एकाकी होनेके कारण अरति हुई) इसी कारण अब भी प्राणियोंको अकेले होनेपर रमण, आनन्द नहीं होता। **'तस्मादेकाकी न रमते'** (बृहदारण्यक० १।४।३) ऐसा कहा है। यही कारण है कि उपासनाओंमें जैसे प्रत्यक्ष शालग्राममें अप्रत्यक्ष विष्णुकी बुद्धि की जाती है, वैसे ही प्रत्यक्ष व्यष्टि जाग्रत्-अवस्था एवं स्थूल शरीराभिमानी विश्वमें समष्टि स्थूल प्रपंचाभिमानी वैश्वानरकी दृष्टि एवं व्यष्टि, स्वप्नावस्था एवं सूक्ष्म शरीराभिमानी तैजसमें समष्टि सूक्ष्म प्रपंचाभिमानी हिरण्यगर्भकी दृष्टि तथा व्यष्टि सुषुप्ति अवस्था एवं अज्ञानरूप कारणशरीराभिमानी प्राज्ञमें समष्टि-अज्ञानरूप कारणशरीराभिमानी कारण ब्रह्मरूप सर्वान्तर्यामी सर्वेश्वरकी दृष्टि कही गयी है। इससे विपरीत विराट्में विश्व-दृष्टि नहीं कही गयी; क्योंकि समष्टि अप्रत्यक्ष है।

आकाशके एक देशमें बादलकी एक छोटी-सी टिकुली देखकर आकाशव्यापी महामेघमण्डलकी कल्पना की जाती है। जैसे स्वल्प परिमाणवाले दीप्तिमान् अग्निको देखकर अखण्ड ब्रह्माण्डव्यापक दीप्तिमान् अग्निकी कल्पना की जाती है, वैसे ही अनुभूत व्यष्टि अज्ञान एवं ज्ञान तथा अहंकारसे समष्टि अज्ञान तथा महत्तत्त्व एवं अहंतत्त्वका भी बुद्धिमें आरोहण हो सकता है। समस्त तत्त्व क्रमशः परमात्मासे उत्पन्न और उसीमें लीन होते हैं। सुषुप्तिमें भी प्रपंचका लय प्रतीत होता है। हम स्पष्ट रूपसे देखते हैं कि घोर सुषुप्तिमें सोया हुआ पुरुष न कुछ जानता है, न उसे अहंकार होता है और न वह कुछ कार्य कर सकता है; क्योंकि समस्त इन्द्रियगण और अहंकार उस समय अज्ञानमें लीन होते हैं। **'सन्ने यदिन्द्रियगणेऽहमि च प्रसुप्ते'** (श्रीमद्भा० ११।३।३९) इसी वास्ते सुषुप्ति-अवस्थामें रहनेवाला आत्मा ही ब्रह्म है, ऐसा प्रजापतिके उपदेशको सुनकर इन्द्रको यही अनुपपत्ति प्रतीत हुई थी कि सुषुप्तिमें अपने या दूसरे किसीका तो ज्ञान होता नहीं, फिर इसमें पुरुषार्थ ही क्या है? यहाँ भी अहंकारादिका आत्यन्तिक लय नहीं है; क्योंकि जागरमें उनकी पुनः प्रतीति होती है। अस्तु, यह तो बहुत ही प्रसिद्ध है कि सुषुप्ति दशामें जीवको कुछ भी ज्ञान नहीं होता। परंतु इस बातको भी विज्ञ पुरुष ही समझ सकते हैं कि 'मैं सुखपूर्वक सोया और कुछ भी नहीं जाना।'—इस प्रकारकी जो स्मृति सुषुप्तिसे उत्थित पुरुषको होती है, यह भी बिना अनुभवके असम्भव है; क्योंकि बिना अनुभवके कोई स्मरण नहीं होता। अतः सुषुप्तोत्थ पुरुषके स्मरणसे निश्चय होता है कि सुषुप्तिमें सौषुप्ततम एवं सौषुप्तसुखका प्रकाशक कोई स्वाभाविक अखण्ड नित्य विज्ञान अवश्य था। यहाँ जो लोग यह कहते हैं कि सुषुप्तिमें कोई भावरूप सुख या अज्ञान नहीं होता, किंतु दुःखके अभाव एवं ज्ञानके अभावमें ही

सुख एवं अज्ञानका व्यवहार होता है, उनको यह बतलाना चाहिये कि ज्ञानाभावका ज्ञान कैसे होगा? अभावके ज्ञानमें अनुयोगी (अधिकरण) एवं प्रतियोगी (जिसका अभाव हो)-का ज्ञान आवश्यक होता है। जैसे घटाभाव जाननेके लिये अनुयोगी (घटाभावके अधिकरण भूतलादि) तथा प्रतियोगी (घट) इन दोनोंका ज्ञान आवश्यक होता है। अन्यथा किसका अभाव कहाँ है, ऐसी जिज्ञासा शान्त नहीं होगी।

अनुभवगोचरता और आच्छादकताके कारण अज्ञानकी भावरूपता न कि ज्ञानाभावरूपता

यदि सुषुप्तिमें ज्ञानाभावके अधिकरण एवं उसके प्रतियोगीका ज्ञान रहा हो, तब उस ज्ञानके होते हुए वहाँ ज्ञानाभाव कैसे कहा जा सकता है? जिस भूतलमें कोई भी घट हो वहाँ घटाभावका व्यवहार कैसे हो सकता है? यदि सुषुप्तिमें ज्ञानाभावके अनुयोगी एवं प्रतियोगीका ज्ञान नहीं था, तब तो उस ज्ञानाभावकी अनुपलब्धि या प्रत्यक्षद्वारा कथमपि ज्ञान नहीं हो सकता है।

अत: आत्मस्वरूपका आवरण करनेवाला अज्ञान पूर्वकथनानुसार भावरूप ही है। जैसे सूर्यके आवरक मेघका प्रकाश सूर्यसे ही होता है, वैसे ही नित्य विज्ञानानन्दघन आत्माके आवरक अज्ञानका प्रकाश साक्षीरूप आत्मासे ही होता है। अस्तु, इस प्रसंगका स्पष्टीकरण अन्यत्र किया जायगा। प्रकृत प्रसंग यही है कि सुषुप्तिदशामें निद्रा या अज्ञानसे समावृत साक्षीद्वारा अज्ञानका प्रकाश होता है। अहंकार आदि वहाँ नहीं होते। सुषुप्तिके अनन्तर प्रथम निद्राकी निवृत्तिमें कुछ ऐसा ज्ञान होता है, जिसमें किसी तरहके विशेष विकल्पका स्फुरण नहीं होता। यहाँ दो स्थितियाँ हैं—विषय-विशेषके स्फुरणके बिना बौद्धज्ञान होता है, जिसे व्यष्टि महत्तत्त्व कह सकते हैं; जिसके अनन्तर अहंकारका उल्लेख होता है, इसीलिये अज्ञानसे ज्ञानकी उत्पत्ति मानी जाती है। सुषुप्तिमें अज्ञान ही होता है और उसके अव्यवहित उत्तर जाग्रत् या स्वप्नमें ही कुछ ज्ञान होता है। समष्टि अज्ञानरूप मायासे महत्तत्त्वकी उत्पत्ति होती है। जैसे अव्यक्तसे व्यक्तका प्रादुर्भाव है, वैसे ही अज्ञानसे ज्ञानका प्रादुर्भाव होना युक्त ही है। उत्पन्न व्यक्त ज्ञानके सिवा निद्राभंगके अनन्तर एक नित्य-सिद्ध निरावरण ब्रह्मरूप अखण्ड बोधकी भी अभिव्यक्ति होती है। तत्परतापूर्वक उसीके साक्षात्कारसे जीव सदाके लिये बन्धनसे मुक्त हो जाता है। विवेकियोंका कहना है कि आत्माके आवरण दो हैं—एक तो दृश्यका स्फुरण और दूसरा अज्ञान। जाग्रत् स्वप्नमें आत्मा विक्षेपरूप दृश्यसे समावृत रहता है और सुषुप्तिमें अज्ञानसे आवृत होता है। जब समाधिमें प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति—इन पाँचों वृत्तियोंका निरोध होता है अर्थात् जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंसे अतीत तुरीयावस्थाका आविर्भाव होता है, तब निरावरण विशुद्ध आत्मतत्त्वका दर्शन होता है। अज्ञानादि सब दृश्योंकी जो प्रतीति या उसका भान किंवा प्रकाश है, वही अखण्ड एवं अनन्त आत्मा है। बिना प्रतीति, बिना भान, बिना प्रकाश किसी पदार्थका अस्तित्व ही नहीं सिद्ध होता। जो पदार्थ है, वह अवश्य ही केनचित् क्वचित्कथंचित् अर्थात् किसीसे, कहीं, किसी प्रकार विज्ञात है, इसी वास्ते प्रतीतिके भीतर ही समस्त देश, समस्त काल और समस्त वस्तुएँ हैं। यह सर्वभासक, निर्मल, अखण्ड प्रतीति ही परमात्मस्वरूप है।

यह अखण्ड प्रतीति आकाशकी तरह पोली नहीं है, अपितु ठोस है। जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्बका स्फुरण होता है, वैसे ही इस प्रतीतिमें दृश्यका स्फुरण होता है। जैसे बिना दर्पणकी प्रतीतिके प्रतिबिम्बका प्रकाश नहीं होता, वैसे ही बिना स्वयंप्रकाशकी प्रतीतिके स्फुरण नहीं होता। अतएव श्रुति है—'**तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥**' (श्वेताश्वतरो० ६।१४) जैसे दर्पण-स्फुरणके पीछे प्रतिबिम्ब-स्फुरण होता है,

वैसे ही स्वयंप्रकाश-स्फुरणके अनन्तर दृश्यका स्फुरण होता है। असंग, अनन्त, स्वप्रकाश, सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन, निरवयव, निष्कल परमात्मामें प्रपंचसंसर्गका प्रकार यही है। सभी वादिगण परमात्माको अखण्ड, असंग, निष्कल तथा अनन्तस्वरूप मानते हैं।

निष्प्रपंच परमात्मामें कल्पित तादात्म्य-सम्बन्धसे प्रकृति तथा प्रपंचकी विद्यमानता

ऐसी परिस्थितिमें प्रपंचकी स्थिति कैसे और कहाँ सम्भव है? या तो प्रपंचको किसी ऐसे देश-कालमें रखें, जहाँ परमात्मा न हों या परमात्माको आकाशकी तरह सावकाश पोला मानें। परंतु ये दोनों ही पक्ष शास्त्रविरुद्ध हैं; क्योंकि शास्त्रोंने परमात्माको ब्रह्म शब्दसे बोधित किया है। ब्रह्म शब्द '**बृहि वृद्धौ**' धातुसे बनता है। अत: ब्रह्म शब्दका '**बृहत् या महान्**' यह अर्थ होता है। इससे यह स्पष्ट हुआ कि किसी बृहत् या महान् वस्तुको ब्रह्म कहते हैं। अब यह विवेचन करना है कि ब्रह्मकी वह बृहत्ता सापेक्ष है या निरपेक्ष, सातिशय है या निरतिशय? अर्थात् जैसे घट, पट, मठ आदिमें बृहत्ता है और आकाशमें भी, परंतु घट-पट-मठादिमें सापेक्ष बृहत्ता है और आकाशमें निरपेक्ष है, वैसे ब्रह्ममें कैसी बृहत्ता होनी चाहिये? इसपर विज्ञजनोंकी सम्मति यही है कि जब कोई संकोचक पद हो, तब ब्रह्ममें सापेक्ष बृहत्ताकी कल्पना की जाय। जैसे '**सर्वे ब्राह्मणा भोजनीयाः**' इस वचनमें सर्व पदका संकोच किया जाता है। जहाँ सार्वत्रिक सार्वदेशिक सर्व ब्राह्मणोंका एकत्रीभाव या भोजन असम्भव हो, वहाँ '**निमन्त्रिताः सर्वे ब्राह्मणा भोजनीयाः**' इस प्रकार सर्वपदका संकोच करके निमन्त्रित सर्व ब्राह्मणका ग्रहण होता है। वैसे यहाँ भी यदि कोई संकोचक प्रमाण होता या निरतिशय बृहत्तामें किसी तरहकी अनुपपत्ति होती, तब तो यह कहा जा सकता था कि 'इस प्रकारके इतने महान्को ब्रह्म कहें।' जब किसी प्रकारका कोई संकोचक प्रमाण नहीं है और निरतिशय महत्तामें कोई अनुपपत्ति नहीं है, तब सर्व प्रकार एवं सर्वसे अधिक निरतिशय महान्को ही ब्रह्म कहना चाहिये। महत्ताकी अतिशयताकी कल्पना-परम्परा जहाँ विरत हो जाय, जिससे अधिक बृहत्ताकी कल्पना हो ही नहीं सके, उसीको ब्रह्म कहते हैं। फिर भी भगवती श्रुतिने '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।**' (तैत्तिरीय० २।१) इस वचनमें लक्षण या विशेषणरूपमें अनन्त पदका प्रयोग किया है, जिससे निरतिशय बृहत्ताकी और भी पुष्टि हो जाती है। इस तरह सर्व प्रकारसे सिद्ध हुआ कि निरतिशय महान्को ही ब्रह्म कहते हैं।

जो वस्तु किसी देशमें हो और किसी देशमें न हो, वह तो देश-परिच्छिन्न ही है, उसमें निरतिशय बृहत्ता कैसी? और जो कभी मिट जाय, वह तो काल-परिच्छिन्न एवं अनित्य है, वह भी अनन्त महान् नहीं हो सकती और यदि किसी दूसरी अन्य वस्तुका अस्तित्व हो, तब तो अन्योन्याभावका प्रतियोगी होनेसे ब्रह्म वस्तु-परिच्छिन्न हो जायगा।

अत: फिर भी निरतिशय महत्ता उसमें नहीं हो सकती। इसलिये निरतिशय तथा अनन्त महत्ताके लिये ब्रह्मको सर्व देश-काल-वस्तुसे अतीत एवं अपरिच्छिन्न मानना चाहिये। अर्थात् ऐसा कोई देश-काल या वस्तु नहीं है, जहाँ ब्रह्म न हो, बल्कि 'देश-काल-वस्तुमें ब्रह्म है' ऐसा कथन भी औपचारिक ही है। जैसे तन्तु-निर्मित पटमें तन्तुका अस्तित्व, कनक-निर्मित कटक-कुण्डल-मुकुटादिमें कनकका अस्तित्व, तरंगमें जलका अस्तित्व एवं कल्पित सर्पमें अधिष्ठानरूपसे रज्जुका अस्तित्व है, बस उसी प्रकार 'देश-काल-वस्तुमें ब्रह्मका अस्तित्व है' ऐसा व्यवहार प्राकृत, विवेकी पुरुषोंमें हुआ करता है। वस्तुत: जैसे तन्तुओंसे भिन्न होकर पट नामकी कोई तात्त्विक वस्तु नहीं है एवं कनकसे भिन्न कुण्डलादि पृथक् वस्तु नहीं है और जलसे भिन्न तरंग नामका कोई पदार्थान्तर नहीं है, अपितु तन्तु आदिमें ही पटादिकी कल्पना है, ठीक वैसे ही

ब्रह्मसे भिन्न होकर देश-काल-वस्तु कुछ है ही नहीं। अत: देश-काल-वस्तुमें ब्रह्म नहीं, अपितु देश-काल-वस्तु ही ब्रह्ममें कल्पित है। इसी वास्ते **'यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु। प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्॥'** (श्रीमद्भा० २। ९। ३४) भगवान्‌के इस वचनसे यह कहा गया है कि जैसे आकाशादि पंच महाभूत उच्चावच नाना प्रकारके भौतिक प्रपंचोंमें प्रविष्ट होते हुए भी अप्रविष्ट हैं, वैसे ही मैं महाभूतोंमें प्रविष्ट हूँ और अप्रविष्ट भी हूँ।

कार्यवर्गमें महाभूतादि कारणोंकी उपलब्धि होती है, अत: प्रवेशकी कल्पना है। वस्तुत:— **'प्रागेव विद्यमानत्वान्न तेषामिह सम्भवः॥'** (श्रीमद्भा० १०। ३। १६) प्रथमसे ही जो व्यापक हैं, उनका प्रवेश क्या कहा जाय? इसी अभिप्रायसे— **'मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः'** (गीता ९। ४) इस वचनसे भगवान्‌ने ही अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है कि सर्व प्रपंच मुझमें है, मैं प्रपंचमें नहीं हूँ। इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्मसे रहित कोई देश या काल है ही नहीं, जहाँ भगवान्‌से भिन्न किसी वस्तुकी स्थिति हो। किंतु जब सभी देश और काल ही ब्रह्ममें हैं, तब फिर देशनिष्ठ, कालनिष्ठ वस्तु सुतरां ब्रह्ममें ही पर्यवसित होगी।

अब देखना यह है कि देश, काल एवं वस्तु— ये असंग ब्रह्ममें कैसे रहते हैं? श्रुतियोंने ब्रह्मको ही समस्त प्रपंचका उपादान एवं निमित्त कारण भी बतलाया है। यदि थोड़ी देरके लिये प्रकृतिको ही उपादान मान लें तो भी वही प्रश्न उठता है कि प्रकृति कहाँ है—ब्रह्ममें या उससे पृथक्? जब ब्रह्मसे पृथक् देश, काल नहीं तो पृथक् देशमें प्रकृतिकी कल्पना कैसे उठ सकती है? यदि ब्रह्ममें ही प्रकृति है, तब वहाँ भी वही प्रश्न है कि किस सम्बन्धसे ब्रह्ममें प्रकृति रहती है? यदि प्रकृति या जगत्‌का ब्रह्मके साथ कोई सम्बन्ध मानें तो ब्रह्ममें असंगता नहीं रहती है। साथ ही उपादानको छोड़कर अन्यत्र कार्यकी सत्ता भी नहीं कही जा सकती। जलको छोड़कर बीचि (तरंग) एवं सुवर्णको छोड़कर कुण्डलादि पृथक् कैसे रह सकते हैं? साथ ही प्रपंच तथा भगवान्‌का स्वभाव भी अत्यन्त विरुद्ध है। ब्रह्म अपरिच्छिन्न, प्रपंच परिच्छिन्न, ब्रह्म अमृत, प्रपंच मर्त्य, ब्रह्म सुख-दु:ख-मोहातीत, प्रपंच सुख-दु:ख-मोहात्मक तथा ब्रह्म परम-सत्य स्वप्रकाश परमानन्दरूप और प्रपंच अनृत जड़ दु:खरूप है। ब्रह्म निरवयव तथा निष्कल और प्रपंच सावयव, सकल है। अत: ब्रह्म और प्रपंचका सम्बन्ध कैसे और कौन हो सकता है? निर्गुण तथा निष्क्रिय होनेके कारण ब्रह्म द्रव्य नहीं कहा जा सकता। अतएव उसमें संयोग या समवाय दोनों नियामक सम्बन्ध नहीं हो सकते। निष्कल निरवयवमें भी यह सम्बन्ध नहीं हो सकता, अत: केवल आध्यासिक सम्बन्ध मानना उचित है। इसी आशयसे **'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥' 'न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्। भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥'** (गीता ९। ४-५) आदि वचन आये हैं, जिनका भाव यह है कि मुझ अव्यक्त-मूर्तिसे समस्त साकाश (आकाशसहित, आकाशपर्यन्त) प्रपंच व्याप्त है, समस्त भूत मुझमें हैं, पर मैं उनमें स्थित नहीं हूँ, वास्तवमें तो समस्त प्रपंच मुझमें स्थित भी नहीं हैं।

आशय यह है कि बहिर्मुख प्राणियोंकी दृष्टिमें प्रपंच ही स्पष्ट रूपमें विद्यमान है, प्रपंचातीत भगवान्‌का तो अस्तित्व ही दुर्गम है, अत: प्रथम प्रपंचके कारणरूपसे या आधार तथा भासक सत्ता स्फूर्तिप्रदरूपसे भगवान्‌के अस्तित्वपर विश्वास होना यह सबसे बड़ी बात है। कुछ अभिज्ञ प्रपंच देखकर उसके आधार या कारणका अन्वेषण करते हैं। यदि भगवान् प्रथम ही यह कह दें कि न मैं प्रपंचमें हूँ, न प्रपंच मुझमें है, तब तो निज दृष्टिसिद्ध प्रपंचके कारणका अन्वेषण करनेवाला साधक भगवान्‌से

निराश होकर परमाणु, प्रकृति या अन्य किसीको प्रपंचके कारणरूपसे निश्चय करेगा। अतः भगवान् प्राणिकल्याणार्थ प्रथम यही कहते हैं कि 'मैं ही जगत्का कारण हूँ। यदि तत्त्वतः विवेचन किया जाय, तब तो जगत् नामका कोई पदार्थ ही नहीं है; परंतु यदि अज्ञबुद्धिसिद्ध व्यावहारिक जगत् है तो मुझमें ही है। मैं ही इसके भीतर, बाहर, मध्यमें तथा मैं ही इसका भासक हूँ।' जब इस तरह प्रभुके उपदेशसे प्राणीको प्रपंचसे भिन्न एक भगवान्पर विश्वास हो जाता है, तब फिर ठीक-ठीक तत्त्वका उपदेश किया जाता है कि वस्तुतः मुझसे भिन्न होकर प्रपंच है ही नहीं; जो कुछ है वह बस, एक मैं ही हूँ।

वेदान्ताभ्यासजन्य संस्कारसम्पन्न निरुद्धान्तःकरणसे निरावरण ब्रह्मसाक्षात्कारकी सम्पन्नता

जैसे भ्रान्तिसे किसीको अमृतसागरमें क्षारसागरकी कल्पना हो, ठीक वैसे ही एक अखण्ड आनन्दसागरमें ही भवसागरकी कल्पना है। आनन्दसागर ही भ्रान्तिसे भवसागरके रूपमें भासित होता है। आनन्दसागरसे भिन्न होकर भवसागर नामकी कोई वस्तु है ही नहीं। भीतर, बाहर, सर्वत्र अचिन्त्य, अनन्त, अखण्ड संवित्सुखसागरका भान हो रहा है, इसीलिये गोस्वामीजी कहते हैं—***'आनँद-सिंधु-मध्य तव बासा। बिनु जाने कस मरसि पियासा॥'*** (विनय-पत्रिका १३६। २) अतः भगवान् सर्वकारण, सर्वाधार, सर्वभूत होकर भी असंग और सर्वरहित हैं। आनन्दसागर और भवसागरका संयोग समवाय आदि सम्बन्ध तो बनता नहीं। अतः केवल आध्यासिक ही सम्बन्ध है अर्थात् आध्यासिक सम्बन्धसे प्रपंच देश-काल-वस्तुकृत परिच्छेदशून्य निर्गुण निष्क्रिय असंग ब्रह्ममें रह सकता है। इसे यों भी समझ सकते हैं, जैसे दर्पणमें आकाशमण्डल, सूर्यमण्डल, चन्द्रमण्डल एवं नक्षत्रमण्डल, भूधर, सागरादि नाना प्रकारके दृश्य प्रतिबिम्बरूपसे दिखायी देते हैं—वस्तुतः हैं ही नहीं, केवल प्रतीत होते हैं, ठीक वैसे ही महाप्रतीतिरूप (स्वप्रकाश) दर्पणमें यह समस्त चराचरप्रपंच देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार और अज्ञान—ये सभी प्रतिबिम्बके समान न होते हुए भी प्रतीत होते हैं। समस्त देश एवं क्षण, प्रहर, दिवस, पक्ष, मास, अब्द, युग, कल्प तथा गत-आगत नाना प्रकारके काल—ये सभी अखण्ड अनन्त निर्मल असंग प्रतीतिरूप (भानस्वरूप) दर्पणमें ठीक प्रतिबिम्बकी तरह प्रतीत हो रहे हैं।

जैसे रूपादि-ग्रहणके लिये प्रवृत्त भी चक्षु सौरादि आलोकका (सूर्यादिके प्रकाश) ग्रहण करता है, पीछे आलोकावभासित रूपका ग्रहण करता है, ठीक वैसे ही सर्वभासिका प्रतीतिका (संवित्) स्फुरण पहले होता है। तदनन्तर प्रतीति-प्रकाशित अहंकारादि दृश्यका स्फुरण होता है। किंवा जैसे पहले दर्पणका ग्रहण होता है, पीछे दर्पणान्तर्गत प्रतिबिम्बकी प्रतीति होती है, वैसे ही पहले चिद्धातुरूप दर्पणकी प्रतीति होती है। तदनन्तर प्रतिबिम्बभूत जगत्की प्रतीति होती है। यही—**'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥'** (कठ० २। ३। १५) इस श्रुतिका आशय है। परमात्म-प्रकाशके पीछे सर्वदृश्यका प्रकाश होता है और परमात्म-प्रकाशसे ही सकल दृश्य प्रकाशित होता है। चक्षुरादि इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार—ये सभी अपने-अपने प्रकाश्य विषयोंका प्रकाशन करनेवाले हैं, अतः ज्योति हैं, परंतु इन ज्योतियोंका भी प्रकाशन करनेवाला विशुद्ध भावरूप परमात्मा ज्योतियोंका भी ज्योति है। तमोरूप अज्ञानका भी प्रकाश वही है—

'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।'

(गीता १३। १७)

अतः **'देशः स्फुरति देशोऽस्ति। कालो भाति कालोऽस्ति। वस्तूनि स्फुरन्ति वस्तूनि सन्ति'** इत्यादि रूपसे 'देशकी प्रतीति, कालकी प्रतीति, वस्तुओंकी प्रतीति एवं देश है, काल है, वस्तु है', इस प्रकार

देश-काल-वस्तुकी सत्ता अत्यन्त स्पष्ट है। जैसे दर्पणसे प्रतिबिम्ब कवलित है, दर्पणके बिना उसकी प्रतीति ही नहीं हो सकती, वैसे ही देश, काल तथा समस्त वस्तुएँ अबाधित सत्ता एवं अखण्ड अनन्त प्रतीतिसे कवलित हैं। अतः बिना प्रतीति और सत्ताके देशादिकी सिद्धि हो ही नहीं सकती। सत्ता और स्फूर्तिसे विहीन देशादि असत् तथा निःस्फूर्ति हो जाते हैं।

यद्यपि प्रतिबिम्बसे भिन्न बिम्ब दर्पणसे पृथक् हुआ करता है, परंतु यहाँ तो सत्ता और प्रतीतिरूप दर्पणसे भिन्न कोई देश ही नहीं, जहाँ बिम्बकी तरह किसी पृथक् वस्तुकी स्थिति हो सकती हो। इसी वास्ते हम भी जगत्को प्रतिबिम्ब न कहकर प्रतिबिम्बके समान कहते हैं। वस्तुतत्त्वके बुद्ध्यारोहणके लिये दृष्टान्तका उपादान किया जाता है। दृष्टान्त इतने ही अंशमें है कि जैसे दर्पणमें न होकर भी प्रतिबिम्ब स्पष्टरूपसे दर्पणमें प्रतीत होता है, उसी तरह ब्रह्ममें न होता हुआ भी प्रपंच अत्यन्त स्पष्ट रूपसे प्रतीत होता है। यह दूसरी बात है कि प्रतिबिम्बाधार दर्पणसे भिन्न भी देश है और वहाँ प्रतिबिम्बका निमित्त बिम्ब भी है, परंतु यहाँ दृश्याधार अखण्ड ब्रह्मरूप दर्पणसे भिन्न कोई देश नहीं, अतएव यहाँ बिम्बके समान कोई सत्य वस्तु निमित्त भी नहीं, किंतु एकमात्र अनिर्वचनीय शक्तिके अद्भुत माहात्म्यसे प्रतिबिम्बकी तरह वस्तुतः अत्यन्तासत् दृश्य प्रपंचकी प्रतीति होती है। वह शक्ति ही जैसे सर्वदृश्यकी कल्पनाका मूल है, वैसे ही अपनी कल्पनाका भी मूल वह स्वयं ही है। जैसे भेद ही घट-पटका भेदक है और वही घट-पटसे अपना भी भेद सिद्ध करता है, किंवा जैसे अनुभव ही अपने विषयोंका और अपने भी व्यवहारका जनक है तथा नैयायिकोंका आत्मा ही सर्वज्ञेयका तथा अपना भी ज्ञाता है, वैसे ही वह शक्ति ब्रह्मको ही सर्वदृश्यरूपमें तथा अपने भी रूपमें प्रतिभासित करती है। जैसे निष्प्रतिबिम्ब दर्पणमात्रपर दृष्टि डालनेसे प्रतिबिम्ब नहीं दिखायी देता, वैसे ही निर्दृश्य चितिरूप नित्यदृक्पर दृष्टि डालनेपर दृश्य, दर्शन और साभास-अहमर्थरूप अनित्य द्रष्टा—इन सभीका अत्यन्ताभाव हो जाता है।

प्रतिबिम्बमें जब दृष्टि आसक्त होती है, उस समय भी यद्यपि दर्पणका दर्शन होता है; क्योंकि बिना दर्पणके दर्शन तो प्रतिबिम्बका दर्शन हो ही नहीं सकता तथापि शुद्ध निष्प्रतिबिम्ब दर्पणका दर्शन नहीं होता। उसी समय दृश्यादि दृष्टिकालमें भी दृश्यके अधिष्ठानभूत अखण्ड स्फुरणरूप भगवान्‌का भान है ही; क्योंकि बिना स्फुरण किसी भी दृश्यकी सिद्धि नहीं होती तथापि स्पष्ट शुद्ध अनन्त भान नहीं व्यक्त होता है। उसके लिये ही वैराग्यपूर्वक दृश्यकी ओरसे दृष्टिको व्यावर्तित करके केवल निर्दृश्य विशुद्ध अखण्ड भानपर दृष्टि स्थिर करना होता है। उसी तरह अधिष्ठानका साक्षात्कार होनेपर फिर केवल जबतक प्रारब्धका अवशेष है, तभीतक व्युत्थान-कालमें दृश्यका स्फुरण होता है। प्रारब्ध क्षय होनेपर सदाके लिये दृश्य मिट जाता है और अखण्ड आनन्द परिपूर्ण भगवान् ही अवशिष्ट रहते हैं।

जबतक यह स्थिति नहीं मिलती, तबतक सुषुप्तिमें सावरण ही ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति होती है। जैसे मेघसे समावृत मेघका अवभासक सूर्य है, बस, वैसे ही अज्ञानसे समावृत अज्ञानका प्रकाशक निष्प्रपंच अद्वैत स्वप्रकाशानन्दरूप आत्मा सुषुप्तिमें जीवको मिलता है। जैसे घोर निद्रासे किसी तरह अकस्मात् जागनेपर विशेष विकल्प विस्फुरणके बिना कुछ ज्ञान होता है, विवेकीजन वैसे ही ब्रह्मानुभवका प्रकार बतलाते हैं। घोर निद्रासे जागनेके पश्चात् एवं द्वैत-प्रतीतिके प्रथम निष्प्रतिबिम्ब दर्पणकी तरह शुद्ध, निर्दृश्य, निरावरण, चिदात्मक प्रकाश ब्रह्मका दर्शन होता है, वैसे ही जागरणके अन्तमें और सुषुप्तिके पूर्वमें भी निरावरण तत्त्वकी उपलब्धि होती है, जाग्रत्-कालमें अन्तःकरणरूप कमलकी

वृत्तिरूप पंखुरियाँ विकसित होती हैं। इसी वास्ते द्वैत दृश्यका सम्यक् स्फुरण हुआ करता है। अन्त:करणके विकास या चांचल्यमें ही द्वैतका दर्शन होता है, इसीलिये भगवत्पादशंकराचार्यने कहा है—

चित्तं चिदिति जानीयात् तकाररहितं यदा।
तकारो विषयाध्यासः जपारागो मणौ यथा॥

(सदाचारानुसन्धानम् ३१।३१।१-२)

'**चित्तं चिदिति जानीयात् तकाररहितं यदा।**' चित्तमें जबतक द्वितीय 'तकार' का योग है तबतक वह दृश्य है; 'तकार' संसर्गरहित होते ही वह केवल 'चित्' परमात्मा ही हो जाता है।

चित् ही किंचित् मननी शक्तिको धारण करके मन हो जाता है। जैसे मृत्तिकाके होनेमें ही घटकी उपलब्धि होती है और उसके न होनेपर नहीं होती, ठीक वैसे ही चित्तकी चंचलतामें ही अर्थात् जाग्रत् और स्वप्नमें दृश्य दिखायी देते हैं। मूर्च्छा, समाधि या सुषुप्तिमें चित्तका चांचल्य नहीं होता, अतएव वहाँ द्वैत-दर्शन भी नहीं होता। अत: जैसे घट मृत्तिकारूप ही है, वैसे ही द्वैत-दृश्य भी चित्तरूप ही है। विषय-चिन्तनरूप चित्तका चांचल्य मिटनेपर दृश्यकी भी समाप्ति हो जाती है।

चैत्यानुपातरहितं सामान्येन च सर्वगम्।
यच्चित्त्वमनाख्येयं स आत्मा परमेश्वरः॥

(महोपनिषत् ४।११८)

इस तरह क्रमशः जब सुषुप्तिकी ओर जीवकी प्रवृत्ति होने लगती है, तब चित्तकी वृत्तियाँ संकुचित होने लगती हैं। जैसे-जैसे उनका संकोच होता है, वैसे-वैसे दृश्यका दर्शन न्यून होने लगता है। जब अन्त:करण-कमल अत्यन्त मुकुलित हो जाता है, तब दृश्य-दर्शन बिलकुल बन्द हो जाता है। कुछ क्षणके अनन्तर तामसी निद्रासे वह समावृत हो जाता है, फिर घोर तम छा जाता है।

इसी तरह जब निद्रा भंग होती है, तब पहले तामसी निद्रा दूर होती है। फिर कुछ क्षणके अनन्तर निद्रारूप आवरणसे रहित मुकुलित अन्त:करण-कमल शनैः-शनैः पुनः विकसित होकर सम्यक् रूपमें द्वैतका दर्शन करने लगता है। इस तरहसे मनोव्यापारस्वरूप प्रयत्नसे द्वैत व्यक्त होता है। निर्व्यापाररूप विश्रान्तिमें स्वाभाविक अद्वैत व्यक्त होता है। जो वस्तु प्रयत्नसे, परिश्रमसे सिद्ध की जाती है, वह कृत्रिम, अनित्य तथा असत्य होती है और जो बिना व्यापार, बिना परिश्रम, नित्यसिद्ध हो, वही स्वाभाविक एवं सत्य है। मूल श्रुति भी परिश्रमरहित निर्व्यापार दशाका वर्णन अद्वैत-रूपसे ही करती है '**सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।**' (छान्दोग्य० ६।२।१) और ईक्षण, कामना, तप तथा संकल्परूप परिश्रमसे बहुभवनका वर्णन करती है—'**तदैक्षत (एकोऽहम्) बहु स्याम्**' (छान्दोग्य० ६।२।३), '**आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत्**' (बृहदारण्यक० १।४।१७), '**सोऽकामयत्। स तपस्तप्त्वा इदꣳ सर्वमसृजत**' (तैत्तिरीय० २।६) इत्यादि।

जाग्रत्के अन्त एवं सुषुप्तिके पूर्वमें तथा सुषुप्तिके अन्त एवं जाग्रत्के पूर्वमें कुछ क्षण निष्प्रतिबिम्ब दर्पणकी तरह शुद्ध निर्दृश्य चिद्रूप अखण्ड भानका दर्शन होता है, परंतु अति सूक्ष्म होनेके कारण सर्वसाधारणकी समझमें नहीं आता। जैसे हम सदा ही उत्तराभिमुख होकर नक्षत्र-राशियोंपर दृष्टि डालनेपर ध्रुवका दर्शन करते हैं तथापि '**अयं ध्रुवः**' इत्याकारक स्पष्ट विवेकपूर्वक ध्रुवको नहीं पहचानते; कुछ लोगोंके न पहचाननेमें तो लक्षणका अज्ञान ही हेतु है और कुछ लोगोंको 'अमुक-अमुक नक्षत्रोंके सन्निधानमें तथा उत्तर दिशामें सदा अचल रूपसे स्थिर रहनेवाले नक्षत्रका नाम ध्रुव है' इस प्रकारसे लक्षणका ज्ञान है तथापि वे लक्षणको लक्ष्यमें समन्वित करके ध्रुवको पहचाननेके लिये तत्पर नहीं होते, इसीलिये उन्हें प्रतिदिन ध्रुवको देखनेपर भी उसकी पहचान नहीं होती। अत: लक्षण-ज्ञान एवं परिचयके लिये अन्य दृश्यकी ओरसे दृष्टिव्यावर्तनपूर्वक तत्परतासे ही प्रयत्न करनेपर

स्पष्टरूपेण ध्रुवका परिचयपूर्वक दर्शन होता है। ठीक इसी तरह सदा ही सुषुप्ति एवं जाग्रत्के अन्तमें यद्यपि सभीको निर्दृश्य शुद्ध दृक्-रूप स्वयंप्रकाश अखण्ड भानका दर्शन होता है तथापि परिचयपूर्वक स्पष्ट साक्षात्कार नहीं होता।

एक विषयके अनन्तर अन्य विषयमें चित्तके जानेपर मध्यदशामें चिन्तनरहित चित्तकी स्थिति स्वरूपस्थिति है—

अर्थादर्थान्तरं चित्ते याति मध्ये तु या स्थितिः।
सा ध्वस्तमननाकारा स्वरूपस्थितिरुच्यते॥

(महोपनिषत् ५।५)

सदा स्वप्रकाशरूपसे भासमानमें भी जो '**नास्ति**' (नहीं है) और '**न भाति**' (नहीं प्रतीत होता है) इत्याकारक व्यवहार-योग्यता है, वही आवरण-शक्तिका विलक्षण चमत्कार है; और स्वप्रकाश अनन्त अद्वैतमें जड़ परिच्छिन्न द्वैत प्रपंचका भान करा देना, यही विक्षेप-शक्तिका विलक्षण चमत्कार है। इसीकी निवृत्तिके लिये आचार्य-परम्परासे वेदान्तोंका श्रवण तथा मनन करके अद्वितीय परमात्माके लक्षणोंका संस्कार अन्तःकरणमें स्थिर करना चाहिये। किसी भी वस्तुको जाननेके लिये अन्य विषयोंसे चित्तको व्यावर्तित करने और तत्परतापूर्वक परिचय करनेकी आवश्यकता होती है, परंतु यहाँ तो श्रवण-मननादिजन्य स्वरूपके संस्कार ही परिचय, प्रयत्नके स्थानमें अपेक्षित हैं; क्योंकि जैसे छायाके पीछे चलनेसे छायाका ग्रहण नहीं हो सकता, वैसे ही प्रयत्नसे शुद्ध वस्तुकी उपलब्धि नहीं हो सकती—'**कारकव्यवहारे हि शुद्धं वस्तु न वीक्ष्यते।**' निर्व्यापार होनेपर ही वस्तुबोध हो सकता है; परंतु केवल निर्व्यापारता योगियोंकी भी होती है, उन्हें अद्वैत ब्रह्मका आपरोक्ष्य फिर भी नहीं होता। इसका कारण यह है कि स्वरूपपरिचयानुकूल श्रवणादिद्वारा संस्कार वहाँ सम्पादित नहीं किये गये हैं।

आत्मापर प्राथमिक आवरण अनिर्वचनीय अज्ञान और द्वितीय विक्षेपरूप द्वैत, तृतीय अर्धनिद्रापूर्वक स्वप्न और चतुर्थ पूर्ण निद्रा या सुषुप्ति है। मेघाच्छन्न भाद्रपद अमावास्याकी रात्रिकी तरह सुषुप्तिमें आत्माका अत्यन्त अप्रकाश रहता है। मेघरहित रात्रिके समान स्वप्नमें किंचित्प्रकाश होता है। चान्द्रमसी रात्रिकी तरह जाग्रत्में पर्याप्त प्रकाश होता है। मेघाच्छन्न दिवसकी तरह समाधिमें आत्माका प्रकाश होता है। निरावरण सूर्यकी तरह तत्त्वसाक्षात्कारमें आत्माका प्रकाश होता है।

निरावरण ब्रह्मस्वरूप साक्षात्कारके लिये देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकारादिका अत्यन्त निरोध और वेदान्ताभ्यासजन्य संस्कार—इन दोनोंकी आवश्यकता है। जैसे—'**गोसदृशो गवयः**' इत्याकारक वाक्यजन्य दृढ़तर संस्कारवाले पुरुषको 'नेत्र' और 'गवय' का सन्निकर्ष होते ही '**अयं गवयः**' ऐसा बोध हो जाता है, वहाँ विचारकी आवश्यकता नहीं होती और गवयका नेत्रोंसे सम्बन्ध होनेपर भी 'यह गवय है' ऐसा बोध नहीं होता, जबतक कि 'गौके सदृश गवय होता है' ऐसा ज्ञान नहीं होता। अतः जहाँ सन्निकर्ष होनेपर भी '**गोसदृशो गवयः**' इस वाक्यके बिना '**अयं गवयः**' इत्याकारक साक्षात्कारमें विलम्ब हो, वहाँ यह 'गवय' है, इस ज्ञानमें वाक्य ही हेतु है, इन्द्रिय-सन्निकर्ष सहकारीमात्र है एवं जहाँ '**गोसदृशो गवयः**' इस वाक्यके संस्कार होनेपर भी नेत्र-सन्निकर्ष बिना साक्षात्कारमें विलम्ब है, वहाँ सन्निकर्ष ही मुख्य हेतु है और वाक्य सहकारी है। ठीक इसी तरह योगियोंको निरोध समाधि होनेपर भी वेदान्ताभ्यासजन्य संस्कार बिना साक्षात्कारमें विलम्ब है। अतः वहाँ ब्रह्मसाक्षात्कारमें वेदान्त-वाक्य ही मुख्य कारण है, निरोध सहकारी है। जहाँ वेदान्ताभ्यास होनेपर भी निरोध बिना साक्षात्कारमें विलम्ब है, वहाँ निरोधकी ही मुख्य हेतुता है, वाक्य सहकारी है। इसी अभिप्रायसे आचार्योंने कहीं वेदान्तोंको, कहीं संस्कृतनिरुद्ध मनको ब्रह्म-साक्षात्कारमें हेतु माना है और कहीं महावाक्यको ही मुख्य हेतु कहा है। इससे सिद्ध

होता है कि वेदान्ताभ्यासजन्य संस्कारसे युक्त निरुद्ध अन्त:करणसे निरावरण ब्रह्मका साक्षात् होता है।

जैसे पूर्णिमाके किसी अवस्था-विशेष-विशिष्ट चन्द्रमापर ही राहुका प्राकट्य होता है, वैसे ही निर्वृत्तिक निरुद्ध मनपर ही ब्रह्मस्वरूपका प्राकट्य होता है। **'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते।'** असत्य काल्पनिक मार्गपर स्थित होकर सत्यवस्तुकी प्राप्तिका प्रयत्न किया जाता है। अप्राकृत भगवान्‌की मंगलमयी मूर्तिको प्राकृत कमल, महेन्द्र नीलमणि प्रभृति उपमानोंसे उपमित किया जाता है। क्या कोई भी आस्तिक सर्वांशमें भगवान्‌में इन उपमानोंको मान सकता है?

ब्रह्मात्मविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी बाधरूपता

'तस्मिन् सुविदिते सर्वं विज्ञातं स्यात्' (रुद्र-हृदयोपनिषत् २७)

एकके विज्ञानमें सर्व-विज्ञानकी प्रतिज्ञाका समर्थन करनेके लिये श्रुतिने यह दृष्टान्त दिया है कि जैसे एक मिट्टीके विज्ञानमें समस्त मृण्मय पदार्थका **'यह सब मिट्टी ही है'** इस प्रकार विज्ञान हो जाता है, वैसे ही एक परमात्माके विज्ञानसे समस्त परमात्म-कार्यका विज्ञान हो जाता है, परंतु यहाँ भी तो मृत्तिका सावयव एवं परिणामिनी है तो फिर निरवयव कूटस्थ अपरिणामी भगवान्‌का प्रपंच-रूपमें परिणाम कैसे सम्भव है? और परमात्माके विज्ञानमें समस्त प्रपंचका विज्ञान भी होना कैसे सम्भव है? ऐसी बात नहीं है, यहाँ तो केवल जैसे कारणसे भिन्न कार्यकी सत्ता नहीं; कारणकी ही सत्तासे कार्यमें सत्ता और स्फूर्तिमत्ता प्रतीत होती है, वैसे ही परमात्मासे भिन्न प्रपंचकी सत्ता नहीं; एक परमात्माकी ही सत्ता और स्फूर्तिसे प्रपंचमें सत्ता और स्फूर्तिकी प्रतीति होती है। इतने ही अंशमें दृष्टान्त है। इसी प्रकार घटसे ही महाकाशमें देशकी कल्पना और उससे ही महाकाशमें घटाकाश-व्यवहार और घटके गमनमें घटाकाशके गमनकी प्रतीति होती है।

वस्तुतः न तो महाकाशसे भिन्न घटाकाश है और न उसका गमन ही होता है, वैसे ही अनन्त अखण्ड शुद्ध भगवान्‌में उपाधियोगसे ही भेद और गति (गमन), उत्क्रान्ति (उत्क्रमण) आदिकी प्रतीति होती है, वस्तुतः कुछ नहीं है। उपाधि-विरहित देशमें उपाधिके जानेसे वहाँ नवीन जीवभावकी कल्पना हो जाती है। यह कथन भी ठीक नहीं है; क्योंकि देशकी कल्पना भी तो उपाधिके ही अधीन है। इसके अतिरिक्त ऐसी कल्पनासे अधिष्ठानमें तो कोई हानि ही नहीं है। यों तो समस्त प्रपंच ही उसीमें कल्पित है; परंतु इससे क्या वह बद्ध समझा जाता है? क्या कल्पित जलसे मरुभूमि आर्द्र होती है? जब निरवयव निष्प्रदेश निष्कलमें काल्पनिक उपाधिद्वारा ही काल्पनिक प्रदेशका व्यवहार होता है, तब तत्त्वतः प्रदेश या उसके बन्ध और मोक्षकी कल्पना तात्त्विकी कैसी?

यदि पूछा जाय कि फिर किसका बन्ध-मोक्ष तात्त्विक है तो इसका उत्तर यही है कि किसीका नहीं। अतएव **'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥'** (आत्मोपनिषद् ३१), (अवधूतोपनिषत् ८)

अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ
द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतज्ञभावात्।
अजस्रचित्यात्मनि केवले परे
विचार्यमाणे तरणाविवाहनी॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।२६)

सत्यज्ञानानन्दात्मक भगवान्‌से भिन्न होकर बन्ध-मोक्ष नामके कोई पदार्थ नहीं हैं। केवल अज्ञानसे बन्ध और मोक्ष—ये दो संज्ञाएँ होती हैं, अतः केवल कल्पित उपाधिसे कल्पित प्रदेशमें कल्पित ही गमनागमन और कल्पित ही बन्ध-मोक्ष होते हैं। कल्पितोपाधिका अनुगामी जो कल्पित प्रदेश है, वही कल्पित बन्धसे पीड़ित और कल्पित मोक्षसे मुक्त होता है। यदि बन्ध सत्य हो, तभी मोक्ष भी सत्य हो सकता है। अधिष्ठानावशेषके अभिप्रायसे

भगवत्प्राप्ति, मोक्ष या निरावरण भगवान् ही सत्य हैं। इसी तरह—

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥
घटसंवृतमाकाशं नीयमाने घटो यथा।
घटो नीयेत नाकाशं तथा जीवो नभोपमः॥

(त्रिपुरातापिन्युपनिषत् ५। १२। १३)

'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोनुगच्छन्' इत्यादि श्रुति-स्मृतियोंमें परमात्माके जीवरूपसे प्रवेशमें दृष्टान्त-रूपसे यह आया है कि जैसे एक ही सूर्य भिन्न-भिन्न जलमें प्रविष्ट होकर अनेकधा भासमान होता है, वैसे ही परमात्मा भिन्न-भिन्न उपाधियोंमें प्रविष्ट होकर अनेकधा भासमान होते हैं। ऐसे ही **'घटे भिन्ने यथावकाश आकाशः स्याद् यथा पुरा।'** (श्रीमद्भा० १२। ५। ५)

घटे नष्टे व्योम व्योमैव भवति स्वयम्।
तथैवोपाधिविलये ब्रह्मैव ब्रह्मवित्स्वयम्॥

(आत्मोपनिषत् २२। २२)

इत्यादि वचनोंमें जैसे घटके नष्ट होनेमें घटाकाशका महाकाशमें मिलना होता है, वैसे ही उपाधि-भंग होनेपर उपहित जीव निरुपाधिक परमात्मामें ही मिल जाता है। इन उक्तियोंके आधारपर पारमार्थिक अभेद और व्यावहारिक भेदसिद्धिके लिये ये सभी दृष्टान्त ग्रहण किये जाते हैं।

यहाँ आत्माके प्रतिबिम्ब समर्थनकी कोई आवश्यकता नहीं है। इस बातको प्रायः सभी दार्शनिक मानते हैं कि आत्मा स्वयं यद्यपि स्थौल्य, कार्श्य, श्यामत्व, गौरत्वादि धर्मोंसे विवर्जित है तथापि देहके साथ विलक्षण सम्बन्धके कारण देहगत ही स्थौल्यादि धर्म आत्मामें भासमान होते हैं। ठीक इसी तरह प्रतिबिम्बवादियोंका यही आशय है कि आत्मा स्वयं यद्यपि अकर्ता, अभोक्ता, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव, सर्वभासक भावरूप है तथापि देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धिप्रभृति उपाधियोंके संसर्गसे आत्मामें कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि अनर्थ उसी तरह भासित होने लगते हैं, जैसे अचंचल एवं स्वच्छ सूर्यका चंचल एवं मलिन जलमें प्रतिबिम्ब होनेपर जलकी ही चंचलता एवं मलिनता सूर्यमें भासित होने लगती है।

जीव जब अपनेको नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, निरुपम-सुख-संविद्रूप न समझकर कर्ता, भोक्ता समझने लगता है, तब उसको उपाधिसंसर्गसे तद्धर्मारोपके कारण प्रतिबिम्ब कहने लगते हैं। उपाधिसंसर्गातीत होनेपर शुद्ध-बिम्बरूप ही हो जाता है। जैसे प्रतिबिम्बकी अपेक्षासे ही गगनस्थ सूर्यमें बिम्बका व्यवहार होता है। प्रतिबिम्बकी अपेक्षा न करनेसे बिम्बता-प्रतिबिम्बता धर्मोंसे रहित शुद्ध सूर्यका व्यवहार होता है, वैसे ही प्रतिबिम्बात्मक जीवकी अपेक्षा विशुद्ध चिदात्मक परमतत्त्वमें ही परमेश्वरत्वका व्यवहार होता है। जीवभावकी अपेक्षा न करनेसे जीवत्व-परमेश्वरत्व धर्मरहित निर्विकार शुद्ध परमात्माका व्यवहार होता है।

भगवती श्रुतिने परमात्माको ही समस्त प्रपंचका उपादान तथा निमित्त कारण कहा है। इसीसे एक विज्ञानसे सर्व-विज्ञानकी प्रतिज्ञा सिद्ध की गयी है; परंतु जब परमतत्त्व असंग, निरवयव, निष्कल एवं सुख-दुःख-मोहातीत है, तब उसमें सकल सुख-दुःख-मोहात्मक प्रपंचकी स्थिति कैसे हो सकती है? प्रपंचातीत परमतत्त्वके निरवयव एवं असंग होनेसे ही कार्यकारण भावकी भी संगति नहीं होती। निरवयव तथा निर्गुण निष्क्रिय होनेके कारण संयोग-सम्बन्ध एवं समवाय-सम्बन्ध भी प्रपंचके साथ नहीं हो सकता। अतः केवल दर्पणमें प्रतिबिम्ब एवं रज्जुमें सर्पकी तरह ब्रह्ममें प्रपंचका आध्यासिक सम्बन्ध ही कहा जा सकता है।

ब्रह्ममें आध्यासिक सम्बन्ध माननेसे प्रपंचका जब मिथ्यात्व ही सिद्ध होता है तो ऐसी स्थितिमें एकके विज्ञानमें सर्वके विज्ञानका कैसे समर्थन किया जा सकता है? जैसे रज्जुज्ञानमें सर्पका 'बाध' कहा जाता है, 'विज्ञान' नहीं, वैसे ही ब्रह्मके विज्ञानमें

सर्व-पदसे विवक्षित प्रपंच बाधित या मिथ्या हो जाता है। अत: जिस ब्रह्मका विज्ञान होनेमें प्रपंचका बाध होना निश्चित है, उस ब्रह्मके ज्ञानमें सर्व प्रपंचका विज्ञान कैसे कहा जा सकता है? तथापि यहाँ श्रुतिका आशय गम्भीर है। जैसे 'शत्रु-गृह' का भोजन करूँ या न करूँ? बालकके ऐसे प्रश्नपर जननी कहती है—'**विषं भुङ्क्ष्व**'। इस वाक्यका अनभिमत प्रातीतिक अर्थ यही है कि 'विष खा' परंतु क्या पुत्रवत्सला जननी अपने शिशुको विष-भोजनका आदेश दे सकती है? यदि नहीं तो यही कहना होगा कि इस वाक्यका अभिप्राय शत्रु-गृह-भोजन-निवृत्तिमें है—'**शत्रुगृहभोजनाद्वरं विषभोजनं, अतो मा भुङ्क्ष्वेति।**' ठीक वैसे ही भगवती श्रुतिका परमात्म-विज्ञानसे जड़ दु:खमय प्रपंचके निरर्थक विज्ञानके प्रतिपादनमें तात्पर्य नहीं हो सकता; किंतु मधुरतम भगवान्‌के ज्ञानसे पहले यद्यपि सर्वपद वाच्य प्रपंचके बोधमें कुछ पुरुषार्थ-बुद्धि होती है तथापि परमानन्दस्वरूप भगवान्‌का बोध होनेपर तो नीरस प्रपंचका बोध अत्यन्त निरर्थक हो जाता है। अत: अपुरुषार्थ होनेसे परमात्म-विज्ञानमें सर्व-विज्ञान विवक्षित नहीं है, अपितु प्रपंचका बाध ही अनर्थ-निवृत्तिरूप होनेसे विवक्षित हो सकता है। पुत्रवत्सला जननीकी तरह परम हितैषिणी भगवती श्रुति यह समझकर कि प्रपंच विज्ञानके लिये व्यग्र जीव प्रपंचातीत ब्रह्मज्ञानके लिये कैसे प्रयत्नशील हो, ब्रह्मके विज्ञानमें सर्वविज्ञानका प्रलोभन देकर अधिकारियोंके हृदयमें ब्रह्मजिज्ञासा उत्पन्न करना चाहती है।

साधारणतया प्राणियोंकी उत्सुकता अनेक प्रकारके भूतभौतिक पदार्थोंके विज्ञानमें ही होती है। एक-एक भौतिक भावको जाननेमें बहुत धन, जन तथा शक्तियोंका क्षय किया जाता है। नाना प्रकारके पार्थिव, आप्त (वारुण), तैजस, वायव्य-विशिष्ट तत्त्वोंका बोध होनेपर भी अभीतक इयत्ता निश्चित नहीं हो सकी है। एक नगण्य तृणकी भी समस्त विशेषताएँ क्या सहस्रों जीवनमें भी जानी जा सकेंगी? तब भी पदार्थविज्ञानकी उत्सुकता प्राणियोंके हृदयसे निकलती नहीं है। इस तरह निरर्थक पदार्थविज्ञानमें उत्सुकता एवं आसक्तिके निवारण और परम सार्थक भगवत्तत्त्व-विज्ञानसे बहिर्मुख जीवोंके हृदयमें भगवत्तत्त्व-विविदिषा उत्पादन करनेके लिये भगवती श्रुति कहती है कि 'हे शिशुओ! यह तुम समझते ही हो कि जिन भौतिक तत्त्वोंकी विशेषताओंको जाननेके लिये तुम व्यग्र हो, उनका सामस्त्येन बोध लक्ष कल्पोंमें भी होना कठिन है। अच्छा, यदि तुम्हें सर्वप्रपंचका ही तत्त्व जानना है तो तुम ब्रह्मका विज्ञान सम्पादन करो। बस, एक ब्रह्मके ही विज्ञानमें सबका विज्ञान हो जायगा।' इस तरह सर्वविज्ञानके प्रलोभनमें आकर यदि प्राणी ब्रह्म-विज्ञानके लिये उत्सुक हुआ और उसने उचित साधनानुष्ठानपूर्वक ब्रह्मका विज्ञान सम्पादन कर लिया, तब तो जिस प्रपंच-विज्ञानके लिये प्रथम वह अत्यन्त व्यग्र था, उत्सुक था, वही प्रपंच जब रज्जु-सर्पके समान या स्वप्नकी तरह बाधित हो जाता है, तब उसे निस्तत्त्व समझकर उस प्रपंचकी जिज्ञासा ही प्रशान्त हो जाती है। जिज्ञासा-निवृत्तिको ही ज्ञान कहते हैं। इस तरह ब्रह्मके विज्ञानमें प्रपंचकी जिज्ञासाका ही मिट जाना प्रपंचका विज्ञान है।

परमात्मतत्त्वसे भिन्न यदि किसी भी तत्त्वका अस्तित्व है, तब तो उसकी जिज्ञासा भी अनिवार्य होगी। इसलिये अज्ञलोक-बुद्धि-सिद्ध प्रपंचकी प्रसक्त निमित्त एवं उपादानरूप द्विविध कारणता भी परमतत्त्वमें ही समर्थन की जाती है; क्योंकि केवल निमित्त या केवल उपादानके विज्ञानमें सर्वका विज्ञान नहीं हो सकता। मृत्तिकाके विज्ञानमें घटादि मृण्मय पदार्थोंका यद्यपि विज्ञान हो सकता है तथापि निमित्त-कारणरूप दण्ड, कुलालादिका ज्ञान नहीं होता एवं दण्ड, कुलालादिके ज्ञानमें मृत्तिका या उसके घटादिका ज्ञान नहीं हो सकता। ऐसी स्थितिमें एकके विज्ञानमें सर्वका विज्ञान तभी हो सकता है, जब एक ही

परमतत्त्व समस्त प्रपंचका उपादान तथा निमित्त दोनों ही कारण हो। इसीलिये प्रपंचकी—निमित्त, उपादान—उभय-कारणता परमात्मामें ही समर्थन की जाती है।

अधिष्ठान-स्वरूप परमात्माके विज्ञानमें जब प्रपंच-बुद्धि बाधित हो जाती है, तब उपादानता निमित्तता भी परमात्मामें बाधित हो जाती है। ऐसी स्थितिमें कार्य-कारणातीत शुद्ध रूपकी स्थिति होती है। प्रपंचके प्रतीति-कालमें ही तम:प्रधान प्रकृति-युक्त सच्चिदानन्दमें उपादानता और सत्त्व-प्रधान प्रकृति-युक्त सच्चिदानन्दमें निमित्तता उपपन्न होती है। तम आवरक है, अत: उससे सावरण सच्चिदानन्दमें जड़ प्रपंचके अनुरूप जड़ता भासित होती है। प्रकाशात्मक सत्त्वके योगसे निरावरण स्वप्रकाशात्मक सच्चिदानन्दमें कुलालादि निमित्त-कारणके अनुरूप सर्वविज्ञान होता है। दोनों ही प्रकारकी प्रकृतिके अन्तर्गत है और मूल प्रकृति भी ब्रह्ममें परिकल्पित है।

अधिष्ठानके बोधसे प्रकृति तत्कार्यात्मक प्रपंचका बाध हो जाता है। भोग्य-वर्गका बाध स्वरूपसे ही होता है। परंतु भोक्तृवर्गका बाध उपाधि तत्संसर्गके बाधाभिप्रायसे ही होता है। इसी अभिप्रायसे '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' (छान्दोग्य० ३।१४।१) इत्यादि स्थलोंमें '**योऽयं स्थाणुः पुमानेषः**' की तरह बाध-सामान्याधिकरणसे सर्व पदार्थका ब्रह्मके साथ अभेद बोधन किया जाता है। और '**तत्त्वमसि**' (छान्दोग्य० ६।८।७) इत्यादि स्थलोंमें '**सोऽयं देवदत्तः**' की तरह भाग-त्याग लक्षणाके द्वारा मुख्य सामानाधिकरण्यसे '**त्वं**' पदार्थ जीवका '**तत्**' पदार्थ ब्रह्मके साथ अभेद बोधित होता है। '**त्वं**' पदार्थ जीवके साथ अभेद बिना '**तत्**' पदार्थ परमात्मामें निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेमास्पदता, परमानन्दरूपता, स्वप्रकाशता आदि ही नहीं सिद्ध हो सकती; क्योंकि जो पदार्थ अत्यन्त सन्निहित है, वही स्वत: अपरोक्ष अर्थात् अन्यनिरपेक्ष स्वप्रकाश होता है, और वही परम अन्तरंग एवं अत्यन्त परिचित स्वप्रकाश होनेके कारण निरतिशय प्रेमका आस्पद होता है। निरतिशय प्रेमास्पद ही परमानन्दरूप हुआ करता है।

यदि तत्पदार्थ परमात्मा जीवसे भिन्न एवं तटस्थ हो तो उसमें उपर्युक्त सब बातें नहीं बन सकतीं। पृथिवी, आकाशादि बाह्य एवं देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकारादि आन्तर समस्त दृश्य पदार्थोंका द्रष्टा सर्वप्रकाशक '**त्वं**' पद लक्ष्यार्थ साक्षी ही होता है। अहंकार, बुद्धि आदि सभी उसकी अपेक्षा असन्निहित, बहिरंग, परत:प्रकाश, सातिशय, सोपाधिक प्रेमके आस्पद ही हैं। '**त्वं**' पद लक्ष्यार्थ सर्वद्रष्टा साक्षी ही सबसे अन्तरंग सन्निहित है। जैसे अन्यान्य पदार्थ सूर्यादिके प्रकाश-सम्बन्धसे प्रकाशमान होते हैं, परंतु सूर्यादि स्वत:प्रकाशमान होते हैं, वैसे ही बुद्धि, अहंकारादि अन्यान्य दृश्य-पदार्थ इस साक्षीके सम्बन्धसे प्रकाशमान होते हैं और यह साक्षी स्वत:प्रकाश होता है। यह '**त्वं**' पद लक्ष्यार्थ स्वात्मा ही सर्वान्तरंग है। यहाँ ही परम-सान्निध्यका भी पर्यवसान होता है; क्योंकि अपनेसे परम-सन्निहित अपना अन्तरात्मा ही हो सकता है। अन्य पदार्थोंमें कुछ-न-कुछ देश, वस्तु आदिका व्यवधान रहनेसे पूर्ण सान्निध्य नहीं बन सकता। देह, इन्द्रियादिकी अपेक्षा कुछ सन्निहित (समीप होनेवाले) मन, बुद्धि, अहंकार, ज्ञान, अज्ञान, सुखादि भी अप्रकाशमान होकर नहीं रहते; किंतु ये जब कभी रहते हैं, तब स्वप्रकाश साक्षीके संसर्गसे भासमान होकर ही रहते हैं। सुख-दु:खादि हों और भासमान न हों, ऐसा कदापि नहीं होता, तब फिर अत्यन्त सन्निहित स्वान्तरात्मा अप्रकाशमान हो—यह कैसे हो सकता है? 'जो सर्वद्रष्टा सर्वभासक होता है, वह सदा-सर्वदा अन्य प्रकाशसे निरपेक्ष स्वत:प्रकाशमान होता है' इसी अभिप्रायसे श्रुतिने कहा है कि जो सबको जाननेवाला है, उसे किससे जानें—'**विज्ञातारमरे! केन विजानीयात्**'? (बृहदारण्यक० २।४।१४)

यदि भगवान् ही प्रत्यगात्मरूपसे भी विराजमान हैं, तब तो उनमें उक्त श्रुतिके अनुसार स्वप्रकाशता बन सकती है। जो व्यवधानरहित, अन्य प्रकाश-

निरपेक्ष, स्वत: साक्षात् अपरोक्ष है, वही ब्रह्म है— **'यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म'** (बृहदारण्यक० ३।४।२)। अन्यथा कोई भी लाखों जन्मोंकी अनन्त तपस्याओंसे भी अतिदुर्गम परम-परोक्ष भगवान्में सर्वविज्ञातृता, अन्य-निरपेक्ष परम प्रकाशमानता कैसे सिद्ध कर सकता है? क्या कोई अत्यन्त परोक्ष तटस्थ परमेश्वरको साक्षात् अपरोक्ष कहनेका साहस कर सकता है? यदि यह परमेश्वर सर्व-विज्ञातारूप साक्षात् अपरोक्ष हो तो उसके विषयमें अनेक प्रकारकी अनुपपत्तियाँ एवं विप्रतिपत्तियाँ कैसे हो सकती हैं? जब इन्द्रिय, मन आदिद्वारा पारम्परीण अपरोक्ष घटादिमें भी संशय-विपर्ययादि नहीं होते, तब साक्षात् अपरोक्ष परमात्मामें संशयादि कैसे हो सकते हैं? फिर यदि वह साक्षात् अपरोक्ष है तो उसके बोधके लिये श्रवण-मननादि उपायोपदेश भी व्यर्थ हैं; क्योंकि अनुभव-विरोध स्पष्ट ही है। अत: यदि भगवान्में उक्त श्रुतियोंके अनुसार साक्षादपरोक्षत्वरूप स्वप्रकाशता आदिका समर्थन करना है तो अनिच्छयापि कहना पड़ेगा कि भगवान् ही सर्वप्रकाशक, सर्वान्तरात्मा, सर्वसाक्षी, प्रत्यगात्मारूपसे भी विराजमान हैं। उसी रूपसे उनमें साक्षात् अपरोक्षता, स्वप्रकाशरूपता उपपन्न होती है।

इसी परमसन्निहित स्वप्रकाश आत्मामें अध्यारोपित अपूर्णता परिच्छिन्नता आदिकी निवृत्तिके लिये श्रवणादि भी सार्थक होते हैं। परोक्ष 'तत्पदार्थ असन्निहित एवं परोक्ष होनेके कारण प्रेमास्पद भी नहीं होता; क्योंकि सन्निहित एवं अपरोक्षमें ही निरतिशय प्रेम हो सकता है। इसलिये निरुपाधिक परमप्रेमास्पद आत्मा ही है। अतएव वही परम आनन्दरूप भी है। परोक्ष परमात्मामें स्वाभाविक निरुपाधिक निरतिशय प्रेम अत्यन्त अप्रसिद्ध एवं अनुभवसे विरुद्ध है। परमात्मामें प्रेम और भक्तिकी अभ्यर्थना की जाती है। **'या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी। त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्माप-सर्पतु॥'** (श्रीविष्णुपुराण १।२०।१९) 'हे नाथ! जैसे अविवेकियोंकी विषयोंमें स्वाभाविक प्रीति होती है, वैसी ही आपको स्मरण करते हुए मेरे हृदयमें आपमें अटल प्रीति हो।' अतएव भगवती श्रुतिने भी प्रत्यगात्माको ही सर्वाधिक प्रेमका विषय बतलाया है। **'तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतमं यदयमात्मा'** (बृहदारण्यक० १।४।८) देवताओंमें भी प्रेम आत्म-कल्याणके लिये ही किया जाता है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है। परोक्ष तत्त्व प्रेमका आस्पद नहीं है, वह आनन्द या परमानन्द रूपसे कैसे हो सकता है? अत: जैसे स्वप्रकाशता परोक्ष परमात्मामें असंगत है, वैसे ही परप्रेमास्पदता भी असंगत है। इन उपर्युक्त हेतुओंसे कहना पड़ता है कि वेदान्तवेद्य परात्पर पूर्णतम भगवान् सर्वान्तरतम सर्वप्रत्यगात्मा हैं। अतएव निरतिशय निरुपाधिक परप्रेमके आस्पद एवं परमानन्दरूप हैं। आनन्द चैतन्य परम-सत्य भगवान् ही सर्वप्रत्यगात्म-रूपसे स्थित हैं। अचिन्त्य-अनन्त-कल्याण-गुण-गण-निलय भगवान् ही सच्चिदानन्दरूप हैं।

समस्त गुण-गणोंका पर्यवसान आनन्दमें ही होता है; क्योंकि सर्वगुणोंका उपयोग अनर्थ-निबर्हण, सौख्यातिशय एवं महत्त्वातिशयके आधानमें ही होता है। निरतिशय-सुखस्वरूप एवं निरतिशय-महान् भगवान्में सर्वगुणोंकी समाप्ति होती है।

कुछ लोग कहते हैं कि सौन्दर्य-माधुर्यादि गुणसम्पन्न सगुण साकार भगवान्में ही आनन्द है। अदृश्य अग्राह्य अचिन्त्य निराकार निर्विकार परमात्मा पाषाणरूप है। उसमें सुखका लेश भी नहीं है। परंतु यदि यहाँ विवेचन किया जाय तो यही विदित होता है कि जहाँ-कहीं भी किसी प्रकारके सुखका स्वरूप होता है, वह सभी सुख निराकार ही है। कहीं भी सुखका स्वरूप नील, पीत, हरित या मूर्त नहीं देखा जाता है। चिरकालके विप्रयोगसे सन्तप्त कामुक अपनी प्रियतमा कान्ताके परिरम्भणसे आनन्दका अनुभव करता है, उत्कट पिपासा एवं बुभुक्षासे परिपीड़ित पुरुषको शीतल, मधुर, सुगन्धित जल एवं सौगन्ध्य,

सौरस्य, माधुर्यसम्पन्न पक्वान्नके मिलनेपर आनन्द होता है। यहाँ विवेचन करना चाहिये कि यह जो आनन्द है, उसका क्या रूप है? नील या पीत, लघु या गुरु, बृहत्परिमाण-परिमित या मध्यमपरिमाण-परिमित है? यहाँ यह कहना न होगा कि शीतल सुमधुर जल, पक्वान्न या कामिनी स्वयं आनन्दरूप नहीं हैं; क्योंकि बुभुक्षा, पिपासा तथा काम-व्यथाकी निवृत्ति इनके सेवनसे अवश्य मान्य है, परंतु समुद्भूत आनन्द सर्वत्र ही अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अगन्ध, अदृश्य तथा निराकार ही है।

प्रेमास्पदमें प्रेमके उद्रेकसे आनन्दका उद्रेक होता है। आनन्दके उद्रेकमें आन्तर-बाह्य सर्व दृश्य जगत्का विस्मरण होता है, तभी चिरकालतक कामिनीके परिरम्भणजन्य आनन्दके उद्रेकमें आन्तर-बाह्य दृश्यका विस्मरण होता है। ऐसे ही सुषुप्ति-कालमें प्राज्ञ परमात्माके सम्मिलनजन्य आनन्दसे प्रपंचका विस्मरण होता है। सप्रपंच ब्रह्ममें सातिशय प्रेम होता है। अतएव वहाँ सातिशय आनन्द तथा प्रपंच-विस्मरण भी कुछ मात्रामें ही होता है। सर्वोपाधिविनिर्मुक्त भगवान् ही निरावरण होनेके कारण निरतिशय प्रेमके आस्पद हैं। उन्हींके सम्मिलनमें निरतिशय आनन्द होता है और तभी सम्पूर्ण रूपसे सर्वदृश्यका अत्यन्ताभाव होता है। अधिष्ठानसाक्षात्कारद्वारा जबतक आवरण निवृत्ति नहीं होती, तबतक जीवको पूर्णरूपेण ब्रह्मका परिष्वंग नहीं होता। जितना व्यवधान-शून्य प्रियतम-परिष्वंग होता है, उतना ही अधिक आनन्द व्यक्त होता है। सृष्टि या प्रबोध-कालमें भोग्य और भोक्ता सभी अपने महाकारणसे दूर हो जाते हैं। प्रलय तथा सुषुप्तिमें वे सभी अपने कारणके सन्निधानमें पहुँच जाते हैं।

यद्यपि जैसे तरंग किसी अवस्थामें भी सागरसे वियुक्त नहीं होते; किंतु सदा सागरके अंकमें ही उनकी स्थिति होती है, महासागरसे फेन, बुद्बुद, तरंगकी तरह परमानन्दसुधासागरसे उत्पन्न होनेवाले समस्त तत्त्वोंकी स्थिति प्रभुके मंगलमय श्रीअंगमें ही है तथापि भ्रममूलक भेद और वियोग इतना स्पष्ट व्यक्त हो रहा है कि स्वाभाविक अभेद एवं सम्बन्ध अत्यन्त तिरोहित हो गया है। विस्मृत कण्ठमणिका अन्वेषण तथा महासागरके अन्तर्गत होनेवाले हिम-उपलकी पिपासा इस विषयके पोषक सुन्दर उदाहरण हैं। महाप्रलयके समय समस्त प्रपंच क्रमेण सबीज ब्रह्ममें लीन होता है। समस्त वन, पर्वत, नगर, ग्रामादि पार्थिव प्रपंच पृथिवीमें विलीन हो जाते हैं। पृथिवी जलमें लीन होती है। जल तेजमें, तेज वायुमें एवं वायु आकाशमें लय हो जाता है। सृष्टिकालमें जैसे महाकारण कार्योन्मुख विकसित होकर सविशेषभावको प्राप्त होता है, वैसे ही प्रलय-कालमें समस्त कार्य कारणोन्मुख संकुचित होकर निर्विशेष भावको प्राप्त होता है।

तन्तुमें अंगप्रावरण, शीतापनयनादि कार्य-करण-क्षमता नहीं होती; परंतु पटमें होती है। यद्यपि वह तन्तुओंसे भिन्न कोई स्वतन्त्र पदार्थ न होकर केवल आतानवितानात्मक तन्तुरूप ही है तथापि उसमें अंग प्रावरण तथा शीतापनयन करनेका सामर्थ्य होता है। तन्तुमें वह सामर्थ्य नहीं है, वैसे ही घटमें जलानयनका सामर्थ्य है; किंतु मृत्तिकामें नहीं। मृत्तिका जलानयनकर्तृत्वविशेषरहित होनेसे निर्विशेष है। घट जलानयनकर्तृत्वयुक्त होनेसे सविशेष होता है। पटमें शीतापनयनकार्यकारितारूप विशेष है। अतः वह सविशेष है। तन्तु उससे हीन होनेके कारण निर्विशेष है। यद्यपि विवेचन करनेपर उपादान कारणसे भिन्न कार्य कुछ होता नहीं तथापि कारणकी अपेक्षा कार्यमें कुछ अनिर्वचनीय विलक्षणता अवश्य होती है। मृत्तिका घटरूपमें व्यक्त होकर सविशेष होती है। घटके मृत्तिकामें लीन होनेपर घटकी अपेक्षा वह निर्विशेष और मृत्तिकाकी अपेक्षा घट सविशेष होता है। जल निर्गन्ध है, पर उसका कार्य पृथिवी गन्धवती है। नीरस तेजसे रसवान् जल एवं नीरूप वायुसे रूपयुक्त तेजकी उत्पत्ति होती है। कारणकी अपेक्षा कार्य सविशेष एवं कार्यकी अपेक्षा कारण

निर्विशेष होता है। आकाशमें शब्द होता है। आकाशको भी 'अहंतत्त्व' (अहंकार)-में एवं अहंकारको 'महत्तत्त्व' (समष्टिज्ञान)-में, 'महत्तत्त्व' को 'अव्यक्त'-में लय चिन्तन करनेसे अत्यन्त निर्विशेषता होती है। महानिद्रा, तम, सुषुप्तिमें सर्वदृश्यका परमात्मामें लय होता है। सुषुप्ति या प्रलयमें जिस भगवत्स्वरूपमें सर्व भोग्य एवं भोक्ताका लय होता है, वह भी विश्वशक्ति-विशिष्ट ही है। यहाँ सबीज ब्रह्ममें ही कार्य-प्रपंचका विलयन होता है। अतएव पार्थक्य भी सूक्ष्म रूपसे विद्यमान ही रहता है।

क्षीर-नीरके सम्मिश्रणमें एकता-सी हो जाती है; परंतु वस्तुत: क्षीर-नीरके अवयव पृथक्-पृथक् ही रहते हैं। इसीलिये हंस उनका विवेचन कर लेता है। महासमुद्रमें नाना निर्झर-निर्झरिणी एवं महानदियोंका संगम होता है। स्थूलदर्शियोंकी दृष्टिमें यद्यपि समुद्रके साथ सबकी एकता हो जाती है; परंतु अभिज्ञ जन समझते हैं कि महासमुद्रमें सभी निर्झर और सरिताओंके जल पृथक्-पृथक् विद्यमान हैं। सर्वज्ञकल्प योगिजन एवं सर्वज्ञशिरोमणि भगवान् उन सबका विवेचन एवं पृथक्करण कर सकते हैं। ठीक इसी तरह अनन्त ब्रह्माण्ड-जननी महाशक्ति-विशिष्ट भगवान्में अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड एवं तदन्तर्गत जीव तथा उनके अनन्त कर्म और सभी भोग्य प्रपंच विलीन होते हैं। अत्यन्त सूक्ष्म दशामें पहुँचनेके कारण यद्यपि जीवोंके लिये उनका विवेचन एवं पृथक्करण अशक्य है तथापि सर्वान्तरात्मा सर्वेश्वर भगवान् सभीका विवेचन एवं पृथक्करण कर सकते हैं। अनन्त ब्रह्माण्ड, अनन्त जीव एवं उनके अनन्त कर्मों तथा उनके फलोंको जानकर यथायोग्य विवेचन, नियोजन—यही परमेश्वरका विशेष कार्य है। किन-किन ब्रह्माण्डोंके, किन-किन जीवोंके, किन-किन जन्मोंके, किन-किन कर्मोंका फल किन-किन देशों एवं कालोंमें, किस तरह प्रदान करना चाहिये—यह ज्ञान कर्म एवं जीव इन दोनोंहीके लिये अशक्य है। न तो कर्म ही अपने अनन्त स्वरूपों एवं फलोंको जान सकते हैं और न जीवोंको ही अनन्त कर्म एवं तत्फलोंका ज्ञान है। यदि हो भी तो फलसम्पादनकी शक्ति नहीं है; क्योंकि परमेश्वरके सिवा सभीकी शक्तियाँ क्षुद्र ही हैं। यदि जीवको कर्म एवं उनके फलोंका ज्ञान तथा फल-सम्पादनकी शक्ति भी हो तो भी जीव अपने शुभ कर्मोंके शुभ फलोंके ही सम्पादनमें रुचि रख सकता है। अशुभ कर्म एवं तत्फलोंके सम्पादनमें उसकी कथमपि रुचि एवं प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अत: सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् भगवान्के बिना अन्यत्र सर्व ब्रह्माण्डान्तर्गत सर्व जीव तथा उनके कर्म तथा फलोंका ज्ञान और कर्म-फलदानकी शक्तिका होना असम्भव है।

इस तरह अविद्याकामकर्मविशिष्ट जीवका ही सुषुप्ति-अवस्थामें सबीज ब्रह्मके साथ सायुज्य (ऐक्य) होता है। ब्रह्म-सम्मिलनमें जीवको अद्भुत आनन्दकी प्राप्ति होती है; परंतु सुषुप्तिमें सावरण जीवका सावरण ब्रह्मके साथ सम्मिलन होता है, इसलिये व्यवधानका अवशेष रहता है। व्यवधानरहित ब्रह्म-सम्मिलन तो तभी हो सकता है, जब जीव स्वयं निरावरण होकर निरावरण ब्रह्मके साथ सम्मिलन प्राप्त करे। इस आवरणनिवृत्तिके लिये स्वधर्मानुष्ठान, भगवदाराधन, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, अधिष्ठानभूत भगवान्का साक्षात्कार किया जाता है। अज्ञानरूप आवरणकी निवृत्तिसे ही जीवको व्यवधान-शून्य ब्रह्मका सम्मिलन प्राप्त होता है। जिस समय श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द हस्तिनापुरसे श्रीद्वारका पधारे, उस समय प्रोषितभर्तृका द्वारकास्थ श्रीकृष्णपट्टमहिषीगण प्रियतमका आगमन सुनकर प्रियसम्मिलनके लिये आसनसे एवं आशयसे उठीं—**'उत्तस्थुरारात् सहसासनाशयात्।'** (श्रीमद्भा० १।११।३१) यहाँ देशकृत व्यवधान निराकरणके लिये श्रीकृष्ण-प्रेयसीवर्गका आसनसे अभ्युत्थान हुआ। वस्तुकृत व्यवधानके निवारणके

लिये आशयसे अभ्युत्थान है—'**आशेरते कर्मवासना यत्रासावाशयः।**' आशय शब्दसे अन्त:करण विवक्षित है, जो कि समस्त कर्मवासनाओंका आलय है। आशय भी पंचकोशका उपलक्षण है अर्थात् श्रीकृष्णप्रेयसी आशयोपलक्षित पंचकोश कंचुकसे समावृत स्वरूपसे प्रिय-सम्मिलनमें त्रुटि समझकर पंचकोश कंचुकसे पृथक् होकर निरावरण रूपसे प्रियतम-सम्मिलनके लिये उठीं। यहाँ पंचकोशातीत '**त्वं**' पदलक्ष्यार्थ ही जीवका निजी शुद्ध स्वरूप है और '**तत्**' पदलक्ष्यार्थ व्यापक महाचेतन ही उसका अंशी है। अंश और अंशीका मुख्य सम्बन्ध होता है। जैसे पृथ्वीका अंश लोष्ठ या पाषाण आदि पृथ्वीकी ओर आकर्षित होते हैं, वैसे ही परमात्माके अंश जीवोंका भी उस ओर आकर्षण होता है। जिनके मतमें चन्द्रका शतांश बृहस्पति नक्षत्र है, इस प्रकारका केवल औपचारिक अंशांशिभाव है, उनका आकर्षण भले ही न हो, पर यहाँ तो श्रीकृष्ण-प्रेयसीगण पंचकोश कंचुकसे निरावरण होकर व्यवधानशून्य प्रियतम-सम्मिलनके लिये ही आशयसे अभ्युत्थित हुईं। उन्होंने यह समझा कि जब प्रियतम-व्यवधायक आनन्दोद्रेकजन्य रोमांचकी उद्गति भी असह्य है, तब पंचकोश कंचुकका व्यवधान कैसे सह्य हो सकता है? इस तरह प्रत्यक् चैतन्यसे अभिन्न परब्रह्मके स्वरूपका साक्षात्कार होनेपर ही अज्ञान एवं तत्कार्यरूप व्यवधायक आवरणकी आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। निरतिशय परप्रेमास्पद प्रत्यगात्माके साथ एकता होनेसे तत्पदार्थ परमात्मामें भी निरतिशय निरुपाधिक परप्रेमास्पदता व्यक्त होती है और साक्षात् अपरोक्षता परमानन्दरूपता भी स्फुट होती है। इसके विपरीत परमात्माको प्रत्यक् भिन्न पराक् बहिरंग माननेसे स्वयंप्रकाशता, परप्रेमास्पदता तथा परमानन्दास्पदता किसी तरह सिद्ध नहीं हो सकती। अत: साधकको अपने भगवान्‌की पूर्णता, परमानन्दता आदि सिद्धिके लिये स्वात्मसमर्पण करना ही पड़ता है।

तारतम्यशून्य अद्वयज्ञानस्वरूप तत्त्वकी निरतिशय बृहद् ब्रह्मरूपता

अनात्मज्ञ प्रत्यगात्मासे भिन्न अन्यान्य समस्त प्रपंचोंका भगवान्‌में समर्पण करता है; परंतु प्रत्यगात्माका अस्तित्व पृथक् रखता है। आत्मज्ञ प्रियतमके सब प्रकारके परिच्छेदसे शून्य पूर्णताकी सिद्धिके लिये प्रत्यगात्माको भी भगवान्‌में समर्पित कर देता है। जैसे घटाकाश अपने-आपको महाकाशमें, किंवा तरंग अपने-आपको महासमुद्रमें समर्पण करता है, वैसे ही जीवात्मा अपने-आपको भगवान्‌में समर्पण कर देता है। यही '**मामेकं शरणं व्रज**' (गीता १८।६६) आदि भगवदादेशका पालन है। '**मामेकमद्वितीयं शरणमाश्रयं व्रज निश्चिनु। यथा घटाकाशस्याश्रयो महाकाशः तरङ्गस्याश्रयो महासमुद्रः॥**' यही निर्विकार अद्वैत चिदात्मा परम तात्त्विक है। इससे भिन्न समस्त नाम-रूप-क्रियात्मक प्रपंच अतात्त्विक असत् है, अतएव गीताने (अध्याय १८) देहात्मज्ञान, भेदज्ञान, ऐकात्म्यज्ञान इत्यादि भेदसे तामस, राजस, सात्त्विक विविध ज्ञानका वर्णन किया है—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥

(गीता १८।२०)

जिस शास्त्र तथा आचार्यद्वारा उपदिष्ट ज्ञानसे परस्पर विभक्त समस्त भूतोंमें एक त्रिकालाबाध्य, अव्यय, अधिष्ठानस्वरूप परमात्माका दर्शन होता है, वही सात्त्विक ज्ञान है। जैसे कटक, मुकुट, कुण्डलादि नाना नामरूपवाले अलंकारोंमें सुवर्ण, किंवा सर्प, धारा, माला आदि विकल्पनाओंमें अधिष्ठान रज्जुखण्ड ही विद्यमान है, वैसे ही अत्यन्त विषम प्रपंचमें अधिष्ठानरूपसे एक स्वप्रकाश सदानन्द परमात्मा विराजमान है। यही अद्वैत ब्रह्मवाद गीतोक्त सात्त्विक ज्ञान है। यही '**ब्रह्मैवेदं सर्वं, आत्मैवेदं सर्वं**' (नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषत् ७) इत्यादि श्रुतियोंमें कहा गया है। '**पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्**

पृथग्विधान्। वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥' (गीता १८।२१) जिस भिन्न-भिन्न पदार्थविषयक ज्ञानसे पृथक् प्रकारके नाना भाव जाने जाते हैं, वह राजस ज्ञान है।

यह भेद-ज्ञान गीतोक्त राजस ज्ञान है। '**सर्वं परस्परं भिन्नम्**' यह ज्ञान श्रुतिमें कहीं भी प्रतिपादित नहीं है।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥

(गीता १८।२२)

देहादि कार्यमें ही आसक्त अतत्त्वार्थविषयक ज्ञान तामस ज्ञान होता है।

श्रीमद्भागवतमें भी सजातीय, विजातीय, स्वगतभेदरहित, स्वप्रकाश, नित्य-विज्ञानको ही तत्त्व कहा है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

(श्रीमद्भा० १।२।११)

अद्वय ज्ञानको ही तत्त्वविद् लोग तत्त्व कहते हैं, उसीको ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् कहा जाता है।

कुछ लोगोंका कहना है कि यहाँ ब्रह्मसे परमात्मामें और उससे भगवान्में उत्कर्ष विवक्षित है। यदुकुलभूषण श्रीकृष्णकी सभामें बैठे हुए यादवोंने आकाश-मार्गसे आते हुए देवर्षि श्रीनारदजीको प्रथम केवल तेज:पुंज ही समझा। कुछ समीप आनेपर कोई देहधारी समझा और अधिक समीप होनेपर पुरुष एवं सर्वथा सान्निध्यमें श्रीनारद समझा।

चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा
ततः शरीरीति विभाविताकृतिम्।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति
क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः॥

(शिशुपालवध १।२)

ठीक उसी तरह तत्त्वसे अति दूर स्थित अधिकारीको प्रथम केवल चिन्मात्र ब्रह्मका बोध होता है, कुछ सामीप्य होनेपर योगियोंको कतिपय गुण-विशिष्ट परमात्मा, सर्वथा सान्निध्य होनेपर अनन्त कल्याण-गुणगण-विशिष्ट भगवान्के रूपमें तत्त्वका उपलम्भ होता है। इन्हीं लोगोंमें ही मनमानी कल्पना करनेवाले कुछ लोग श्रीकृष्णको आदित्यस्थानीय और ब्रह्मको प्रकाशस्थानीय मानते हैं। कुछ श्रीवृषभानु-किशोरीके नख-मणि-प्रकाश या नूपुर-प्रकाशको ही औपनिषद परब्रह्म कहते हैं; परंतु वैदिकोंकी दृष्टिमें तो वेदोंका महान् तात्पर्य ब्रह्ममें ही है और वही सब तरहसे सर्वोत्कृष्ट है।

संकोचका कारण न होनेसे वृद्ध्यर्थक '**बृहि**' धातुसे निष्पन्न '**ब्रह्म**' शब्दका अर्थ निरतिशय बृहत्तम तत्त्व होता है। जो देश-काल-वस्तु परिच्छेदवाला हो, वह तो परिच्छिन्न होनेके कारण क्षुद्र ही है, निरतिशय बृहत् नहीं। यदि जड़ हो तो भी दृश्य होनेसे अल्प और मर्त्य होगा। अत: अनन्त स्वप्रकाश सदानन्द तत्त्व ही '**ब्रह्म**' पदका अर्थ होता है और वही भूमा अमृत है। उससे भिन्न सभीको अल्प और मर्त्य ही समझना चाहिये। फिर अनन्त पदके साथ पठित '**ब्रह्म**' शब्दका तो सुतरां यही अर्थ है। उसमें अतिशयताकी कल्पना निर्मूल है। किसी राजाने ऐसी कहानी सुनना चाहा कि जिसका अन्त ही न हो। एक चतुरने सुनाना प्रारम्भ किया—राजन्! एक वृक्ष था, उसकी अनन्त शाखाएँ थीं, उन शाखाओंमें अनन्त उपशाखाएँ थीं, उपशाखाओंमें भी अनन्त पल्लव थे और उनपर अनन्त पक्षी बैठे थे। कुछ कालमें एक पक्षी उड़ा 'फुर्र'।

राजाने कहा—आगे कहिये, इसपर उसने कहा—'दूसरा उड़ा फुर्र'।

तब राजाने कहा—और आगे कहिये।

तब उस चतुरने कहा कि पहले पक्षियोंका उड़ना पूरा हो, तब आगे बढ़ूँ। यहाँ एक-एक पक्षीका उड़ना समाप्त ही नहीं हो सकता। इसी तरह कल्पनाओंका अन्त ही नहीं है। अत: एक शब्दमें यही कहा जाता है कि अतिशयताकी कल्पना करते-करते वाचस्पति तथा प्रजापतिकी भी मति

जब विरत हो जाय और जिससे आगे कभी भी कोई कल्पना कर ही न सके, तब उसी अनन्त, अखण्ड, स्वप्रकाश, परमानन्दघन भगवान्‌को वेदान्ती ब्रह्म कहते हैं। उसीका '**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**' इत्यादि व्याससूत्रोंसे विचार किया गया है।

खद्योतादिके प्रकाशकी अपेक्षा आदित्यमें जिस अतिशयताकी कल्पना की जाती है, उससे भी अनन्तकोटि-गुणित अतिशयताकी कल्पनाके पश्चात् जिस अन्तिम निरतिशय सर्व बृहत् पदार्थकी सिद्धि हो, उसमें भी देश-काल-वस्तुके परिच्छेदोंको मिटाकर, परिच्छिन्न या एकदेशिता आदि दूषणोंका अत्यन्ताभाव सम्पादन करके, तब उसे ब्रह्म शब्दका अर्थ जानना चाहिये। इसीको 'तत्त्व' कहा जाता है। इसका ही लक्षण है—'**तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।**' (श्रीमद्भा० १। २। ११) इसीका नाम ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् है। लक्षणके भेदसे लक्ष्य-भेद हो सकता है, नाम-भेदसे नहीं। जैसे कम्बुग्रीवादिमत्त्व घटका एक लक्षण है। अतएव घट-कुम्भ-कलशादि नामसे उसका भेद नहीं है। हाँ, ब्रह्म अनेक हैं—कार्यब्रह्म, कारणब्रह्म, कार्यकारणातीतब्रह्म। ऐसी स्थितिमें यह हो सकता है कि कार्यकारणातीत वेदान्तवेद्य शुद्ध-ब्रह्मरूप भगवान्‌के प्रकाशस्थानमें कार्यब्रह्म या कारणब्रह्म हो। प्रायः यह भी कहा जाता है कि निर्गुण ब्रह्म भगवान्‌का धाम है। यद्यपि धामका अर्थ ऐसे स्थलोंमें स्वरूपभूत आत्मज्योतिका ही बोधक होता है—'**परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।**' (गीता १०। १२) हे नाथ! आप परमात्मा हैं, परम प्रकाश परम ज्योति और परम पवित्र हैं तथापि कुछ अविवेकियोंकी यही अटल धारणा है कि धामके माने निवासस्थान ही होता है। अस्तु, वे लोग अव्यक्तरूप कारण-ब्रह्मको ही वेदान्तवेद्य ब्रह्म मान बैठते हैं। कार्यकारणातीत तत्त्वतक उनकी दृष्टि जाती ही नहीं। इस कारण यदि ब्रह्मको धाम भी मान लें तो भी सिद्धान्तमें कोई बाधा नहीं पड़ती। यह भेद वेदान्तियोंको इष्ट ही है कि स्थूल कार्यब्रह्मके ऊपर सूक्ष्म कार्यरूप ब्रह्म, उसके ऊपर कारणब्रह्म और इस अव्यक्त कारणब्रह्मके ऊपर कार्यकारणातीत शुद्ध ब्रह्म स्थित है। यह अन्तिम तत्त्व ही अद्वितीय अनन्त शुद्ध बोधरूप है। इसका ही विवर्त समस्त चराचर प्रपंच है। यदि सर्वाधिष्ठान होनेके कारण इसे सर्वधाम, सर्वनिवास-स्थान भी कहें तो भी कोई हानि नहीं। इसी अंशका स्पष्टीकरण भागवतके इन श्लोकोंमें किया गया है*—

(क) **ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम्।**
अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा॥

(श्रीमद्भा० ३। ३२। २८)

(ख) **विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक् सम्यगवस्थितम्।**
सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमद्वयम्॥

(श्रीमद्भा० २। ६। ३९)

(ग) **ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान्।**
दृश्यादिभिः पृथग्भावैर्भगवानेक ईयते॥

(श्रीमद्भा० ३। ३२। २६)

एक अद्वितीय नित्य बोध ही भ्रान्त जनोंको अविद्याप्रत्युपस्थापित बहिर्मुख इन्द्रियों तथा मन-बुद्धि आदिद्वारा शब्दादिधर्मक प्रपंचरूपसे भासित होता है।

---

* (क) ब्रह्म एक है, ज्ञानस्वरूप और निर्गुण है, तो भी वह बाह्य-वृत्तियोंवाली इन्द्रियोंके द्वारा भ्रान्तिवश शब्दादि धर्मोंवाले विभिन्न पदार्थोंके रूपमें भास रहा है।

(ख) वे मायाके लेशसे रहित, केवल ज्ञानस्वरूप हैं और अन्तरात्माके रूपमें एकरस स्थित हैं। वे तीनों कालमें सत्य एवं परिपूर्ण हैं; न उनका आदि है न अन्त। वे तीनों गुणोंसे रहित, सनातन एवं अद्वितीय हैं।

(ग) वही ज्ञानस्वरूप है, वही परब्रह्म है, वही परमात्मा है, वही ईश्वर है, वही पुरुष है; वही एक भगवान् स्वयं जीव, शरीर, विषय, इन्द्रियों आदि अनेक रूपोंमें प्रतीत होता है।

सर्वसिद्धान्तसमन्वयप्रकार

यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै
विवादसंवादभुवो भवन्ति।
कुर्वन्ति चैषां मुहुरात्ममोहं
तस्मै नमोऽनन्तगुणाय भूम्ने॥

(श्रीमद्भा० ६।४।३१)

महेश्वरकी महाशक्ति और उसकी अद्भुत चमत्कृति

यह बात विदितवेदितव्य महानुभावोंसे तिरोहित नहीं है कि अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डगत विविधवैचित्र्योपेत, भोग्यभोक्तृकर्तृकरणादिनिर्माणपटीयसी, अचिन्त्या-निर्वाच्यकार्यानुमेयस्वानुरूपरूपा, श्रुतिसमधिगम्य-यथा-तथ्यभावा, अवान्तरानन्तशक्ति-केन्द्रभूता महाशक्ति जिन प्रत्यस्तमिताशेषविशेषमनोवचनातीत प्रज्ञाना-नन्दघन स्वमहिमप्रतिष्ठ भगवान्‌के आश्रित होकर उन्हींकी महिमासे सत्ता स्फूर्ति प्राप्त करके सावधानीसे जगन्नाट्यनियन्त्री होती हुई भी प्रभुकी भ्रुकुटि-विलासानुविधायिनी होती है, उन सकल कल्याणगुण-गणप्रत्यनीक-निखिल-कल्याण-गुण-गण-निलय, अचिन्त्यानन्तसौन्दर्यमाधुर्यसुधासिन्धु नटनागरमें समस्त परस्पर-विरुद्ध धर्मोंका सामंजस्य होते हुए भी स्वमति-प्रभव-तर्क एवं स्वाभिमत-शास्त्र तदर्थ विवेचनादिद्वारा नाना प्रकारका विकल्प कुछ कालसे ही नहीं, वरन् अनादिकालसे करते हुए परीक्षक-दार्शनिक-वृन्द श्रवणया दृष्टिगोचर होते आये हैं।

वैदिक तथा अवैदिक दर्शनप्रभेद

उन दार्शनिकोंके पारस्परिक अनेक प्रभेद होते हुए भी भारतीय भाषामें वैदिक तथा अवैदिक शब्दसे निर्देश किया जाता है। वेद-तन्मूलशास्त्रानपेक्ष-व्यक्तिविशेषनिर्मित शास्त्र एवं स्वमतिप्रभव तर्कादि-द्वारा तत्त्वोंको निर्धारण करनेवाले अवैदिक कहलाते हैं। तद्विपरीत भ्रमप्रमाद-विप्रलिप्सा-करणापाटवादि पुरुष स्वभावसुलभदोषसंसर्गरहित अपौरुषेय वेद तन्मूल-शास्त्र तथा तत्संस्कार-संस्कृत प्रज्ञातन्त्र तत्त्व निर्धारण एवं तत्प्राप्त्यर्थ प्रयत्न करनेवाले वैदिक कहलाते हैं।

यद्यपि '**भूतं भव्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति**' इस अभियुक्तोक्तिसे तथा सूत्ररूपसे अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमयाद्यात्मवाद, शून्यवाद इत्यादि वेदोंमें पाये जाते हैं तथापि न तो वे वाद सर्वथा सिद्धान्तरूपसे वेदोंमें माने ही गये हैं और न तत्तद्वादाभिमानी अपने वादोंके वैदिकत्वमें आग्रह करते या गौरव ही मानते हैं। अत: उनके वैदिकत्वावैदिकत्वमें कोई विवाद नहीं। वैदिक सिद्धान्तियोंका भी जबकि अंशभेदमें प्राधान्याप्राधान्य-भावसे वैमत्य ही नहीं, प्रत्युत बाह्योंसे भी अधिक पारस्परिक संघर्ष है, तब एक शृंखला-सम्बन्धशून्य परस्पर स्वतन्त्र विचारपद्धतिको समाश्रयण करनेवालोंमें मतभेद तथा संघर्ष होना स्वाभाविक ही है; परंतु इतना होनेपर भी क्या सभी सिद्धान्त सर्वांशमें नितान्त भ्रममूलक तथा अनिष्टप्रद हैं अथवा सर्वांशमें सभी प्रमामूलक एवं पुरुषार्थप्रद हैं, यह बात कोई भी बतलानेका साहस नहीं करता।

यह सत्य है कि स्वसिद्धान्तातिरिक्त सभी प्राय: भ्रममूलक एवं परमपुरुषार्थसे च्युतिके हेतु हैं। ऐसे स्वगोष्ठीसिद्धसिद्धान्ताभिमानी आज भी कम नहीं हैं। एक वस्तु-विषयक प्रमाज्ञान एक ही होता है, नानाज्ञान अयथार्थ होते हैं। एक वस्तु-विषयक अनेक प्रतिपत्तियाँ अवश्य ही प्राणियोंको भ्रममें छोड़ती हैं।

चार्वाकमत-प्रतिपादन

चार्वाकोंका कहना है कि जबतक जीये सुख-पूर्वक जीये। देहके भस्म हो जानेपर कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता। इनके मतमें नीति और काम-शास्त्रके अनुसार अर्थ और काम—ये दो ही पुरुषार्थ हैं। अन्य कोई पारलौकिक धर्म या मोक्ष नामका कोई पुरुषार्थ नहीं है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु—ये चार ही भूत हैं। ये ही जब देहके आकारमें परिणत होते हैं, तब उनसे चैतन्यशक्ति उसी तरह उत्पन्न हो जाती है, जैसे अन्न-कण आदिसे मादक शक्ति उत्पन्न होती है, किंवा हरिद्रा और चूनासे एक तीसरा लाल रंग पैदा हो जाता है। अतएव देहके

नाशसे उस चैतन्यका नाश हो जाता है। इसलिये चैतन्यविशिष्ट देह ही आत्मा है। प्रत्यक्ष प्रमाणसे अतिरिक्त अनुमान, आगम आदि प्रमाणोंकी इस मतमें मान्यता नहीं है। कामिनी-परिरम्भणजन्य सुख ही स्वर्ग है, कण्टकादि-व्यथा-जन्य दुःख ही नरक है। लोकसिद्ध राजा ही परमेश्वर है, देहका नाश ही मुक्ति है। 'मैं स्थूल हूँ, कृश हूँ' इस अनुभवसे स्पष्ट है कि देह ही आत्मा है। 'मेरा देह है' यह अनुभव **'राहोः शिरः'** के समान औपचारिक है।

बौद्धमतविवेचन

इसपर बौद्धोंका कहना है कि बिना अनुमान-प्रमाणको स्वीकार किये काम नहीं चल सकता। पशुकी भी प्रवृत्ति-निवृत्ति बिना अनुमानकी नहीं होती। हाथमें हरी घास लिये पुरुषको देखकर पशुकी उस ओर प्रवृत्ति और दण्डोद्यतकर पुरुषको देखकर उस ओरसे निवृत्ति होती है। यह सब इष्ट-अनिष्टका हेतु समझे बिना नहीं हो सकता। इसके सिवा अनुमान प्रमाण नहीं है। यह वचनप्रयोग भी वहीं सार्थक है, जहाँ अनुमान प्रमाण है, ऐसा अज्ञान सन्देह या भ्रम हो, कारण, इन्हींकी (अज्ञानादिकी) निवृत्तिके लिये वाक्यप्रयोगकी आवश्यकता होती है; परंतु दूसरेके अज्ञान, सन्देह, भ्रम आदिका निश्चय दूसरेको प्रत्यक्ष नहीं, अतः आकृति आदिसे उनका अनुमान या वचन प्रमाणसे निर्णय करना होगा। यह सब बिना किये यदि जिस किसीके प्रति अनुमान प्रमाण नहीं है, ऐसा कहने लग जायँ तो एक तरहका उन्माद ही समझा जायगा। अनुमानसे स्पष्ट ही विदित होता है कि अचेतन देहसे भिन्न आत्मा है।

बौद्धमतप्रभेद

मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्
योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः।
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमिती बुद्ध्येति सौत्रान्तिकः
प्रत्यक्षं क्षणभङ्गुरं च सकलं वैभाषिको भासते॥

मुख्य माध्यमिक शून्यवादीके मतमें जगत्की सत्ता प्रातिभासिक है और शून्यकी सत्ता पारमार्थिक है। सम्पूर्ण जगत् शून्यका विवर्त है। योगाचार विज्ञानवादियोंके मतमें सम्पूर्ण जगत् चित्तसंज्ञक विज्ञानका विवर्त है। चित्रपटपर चित्रित, दर्पणमें प्रतिफलित दृश्यानुभूतिसे बाह्यार्थकी अनुमिति होती है। ऐसा सौत्रान्तिकोंका पक्ष है। बाह्यार्थ क्षणभंगुर किंतु प्रत्यक्ष हैं, ऐसा वैभाषिक मानते हैं।

इन बौद्धोंमें चार भेद हैं—माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक।

उनका कहना है कि जो सत् है, वह क्षणिक है, जैसे दीपशिखा या बादलोंका समूह। अर्थक्रियाकारिता ही पदार्थोंका सत्त्व है, वह सबमें है। अतः क्षणिकत्व भी सबमें है। उनके मतमें बुद्ध ही देव हैं और समस्त विश्व क्षणभंगुर है।

वैभाषिकके मतमें बाह्य शब्दादि अर्थ और आन्तर ज्ञान दोनों ही प्रत्यक्ष ग्राह्य हैं।

परंतु सौत्रान्तिक आन्तर अर्थात् ज्ञानको ही प्रत्यक्ष और बाह्य अर्थको अनुमेय मानता है। उसका कहना है कि एकाकार ज्ञानमें शब्द-ज्ञान, स्पर्श-ज्ञान, रूप-ज्ञान इस तरह जो अनेक विलक्षणताओंकी प्रतीति होती है, वह बिना बाह्य अर्थके नहीं बन सकती। अतः ज्ञानकी विलक्षणताके उपपादकरूपसे बाह्य अर्थोंका अस्तित्व अनुमानगम्य है।

योगाचार सविकल्प-बुद्धिको ही तत्त्व मानता है। वह बाह्य अर्थका अस्तित्व नहीं स्वीकार करता। माध्यमिक सर्वशून्य ही मानता है। कहा जाता है कि बुद्धदेवका परम तात्पर्य सर्वशून्यतामें ही था।

विज्ञानवादी प्रवृत्तिविज्ञान (नीलादिज्ञान)-को मिटाकर आलयविज्ञानधारा **'अहं-अहं'** इत्याकारकको ही मुक्ति मानता है।

जैनमतनिरूपण

इसपर जैनोंका कहना है कि बिना किसी स्थायी आत्माको स्वीकार किये ऐहलौकिक-पारलौकिक फल साधनोंका सम्पादन व्यर्थ है। यदि आत्मा क्षणिक ही है तो कर्मकालमें आत्मा अन्य और भोगकालमें अन्य ही हुआ। परंतु यह कथमपि संगत नहीं,

क्योंकि जो कर्ता है, वही फलभोक्ता भी होता है।

अबाधित प्रत्यभिज्ञासे भी एक स्थायी आत्माकी सिद्धि होती है। 'जो मैंने चक्षुसे घट देखा था, वहीं मैं हाथसे स्पर्श कर रहा हूँ। मैं, जिसने स्वप्नमें हस्ती देखा था, वही मैं जाग रहा हूँ।' अत: स्पष्ट है कि स्वप्न, जाग्रत् आदिमें एक ही आत्मा है। जो यह कहा जाता है कि क्षणिक विज्ञान सन्तानमें ही पूर्व-विज्ञानकर्ता होगा, उत्तरविज्ञान-भोक्ता होगा, ऐसी परिस्थितिमें भी दूसरेके कर्मका दूसरा भोक्ता नहीं होगा; क्योंकि इसमें कार्य-कारणभाव ही नियामक होगा अर्थात् एक विज्ञानधारामें तो कार्य-कारणभाव है; परंतु दूसरी विज्ञानधाराके साथ दूसरी विज्ञानधाराका कार्य-कारणभाव नहीं है। जैसे कर्षित भूमिमें बोये हुए मधुर रससे भावित आम्र-बीजोंकी मधुरिमा अंकुर, काण्ड, स्कन्ध, शाखा, पल्लवादिद्वारा फलमें भी पहुँचती है, जैसे लाक्षारससे सींचे हुए कार्पास-बीजोंकी रक्तता अंकुरादि परम्परासे कपासमें पहुँचती है, वैसे ही जिस विज्ञान-सन्तानमें कर्म और कर्म-वासना आहित होती है, उसीमें फल भी होता है।

यह भी ठीक नहीं है। कारण दोनों ही दृष्टान्तोंमें बीजोंका निरन्वय नाश नहीं होता है; किंतु बीजके ही सूक्ष्म अवयव भिन्न-भिन्न भावनासे भावित होकर फलादिरूपमें पूर्ण विकसित होते हैं; परंतु क्षणिकवादीके मतसे तो विज्ञानका निरन्वय नाश होता है। इसके सिवा जैसे पिपीलिकाओंसे भिन्न होकर उनकी पङ्क्ति नामकी कोई वस्तु नहीं है, ठीक वैसे ही सर्वत्र सन्तानीसे भिन्न होकर सन्तान कोई वस्तु नहीं है। ज्ञान-ज्ञेय दोनों भिन्न कालमें हों तो भी ग्राह्य-ग्राहक भाव नहीं बनेगा और यदि सव्येतर विषाणके समान समकालमें हो तो भी ग्राह्य-ग्राहक भाव नहीं बनेगा, अत: स्थायित्व स्वीकार करना ही चाहिये। अत: '**अकृताभ्यागम-कृतविप्रणाश**' आदि दोषवारणार्थ स्थायी आत्माका मानना अनिवार्य है।

इनके मतमें अनादि एक परमेश्वर कोई नहीं है; किंतु तप आदिसे आवरणके प्रक्षीण हो जानेपर जिस आत्माको अशेष विज्ञान हो गया, वही सर्वज्ञ है। वे क्रमेण अनेक होते हैं। उन सर्वज्ञोंसे निर्मित आगम ही शास्त्र हैं, देह-परिमाण-परिमित आत्मा है। बन्धदशामें जीव जलमें लोष्टबद्ध तुम्बिकाके समान डूबता-उतराता है। मोक्ष दशामें उसकी लघु तूलके समान सतत ऊर्ध्व गति होती है।

न्यायमतनिरूपण

नैयायिकोंका कहना है कि आत्मा देहादिसे भिन्न व्यापक एवं ज्ञानादि गुणोंसे युक्त और नाना है। विश्वकर्ता एक परमेश्वरको स्वीकार किये बिना जगन्निर्माण, कर्मफल-व्यवस्था आदि कुछ भी न बनेगी। प्रत्यक्ष, अनुमान और एक सर्वज्ञ परमेश्वर-निर्मित वेद एवं तदविरुद्ध आर्ष आगम एवं उपमान प्रमाण हैं। तत्त्वज्ञान-द्वारा सर्वदु:खोच्छेद ही मुक्ति है।

सांख्यमतप्रतिपादन

सांख्यवादी कहता है कि आत्मा व्यापक, असंग, अनन्त चेतनरूप है। वह ज्ञानादि गुण एवं कर्तृत्वादि दोषोंसे रहित है। प्रकृति ही पुरुषके भोग-अपवर्ग सम्पादनके लिये महदादि प्रपंचाकारमें परिणत होती है। प्रकृति, प्राकृत तत्त्वों और उनके धर्मोंके साथ विवेक न होनेसे ही आत्मामें कर्तृत्वादि धर्मका भान होता है। वस्तुत: वे नित्यशुद्धबुद्धमुक्त असंग हैं। अत: प्रकृति-पुरुष-विवेकसे स्वरूपावस्थान ही मोक्ष है।

योगमतनिरूपण

योगियोंका आत्मा और प्रकृति आदि सांख्योंके समान ही है। अष्टांगयोगद्वारा चित्त-वृत्ति-निरोध सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिपूर्वक द्रष्टाका स्वरूपावस्थान ही उनका मोक्ष है। प्रकृतिके नियमन एवं योगादि-अभीष्ट-सिद्धिका मूल एक परमेश्वर भी उनके मतमें मान्य है। वह क्लेश, कर्म-विपाक एवं आशयसे अपरामृष्ट है।

मीमांसामतविवेचन

पूर्व-मीमांसकोंका कहना है कि जैसे खद्योत

(जुगनू) प्रकाश-अप्रकाश उभयरूप होता है, वैसे ही आत्मा चेतन-अचेतन उभयात्मक है। वेद-विहित कर्मोंके द्वारा वह शुभ सुखज्ञान-रूपसे परिणामी होता है। वेदप्रतिषिद्ध कर्मोंद्वारा दु:खादिज्ञानाकारसे परिणत होता है। उनके मतमें वेद अनादि, अपौरुषेय, अतएव स्वत:प्रमाण हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमानके अतिरिक्त अर्थापत्ति, अनुपलब्धि प्रमाणद्वारा भी पदार्थोंका निर्णय किया जाता है।

वेदान्तमतप्रभेदप्रतिपादन

उत्तर-मीमांसकोंमें तो बहुत मतभेद है; क्योंकि प्राय: भारतीयोंका अधिक तत्त्वान्वेषी समाज उसमें आदर रखता है। इसीसे शाक्तागम, शैवागम, वैष्णवागम, सौरागम, गणपत्यागमपन्थानुयायियोंकी दृष्टिमें अपने आगमोंका प्राधान्य होते हुए भी महर्षि बादरायण-प्रणीत वैदिक-तात्पर्य-निर्णायक चतुर्लक्षणी उत्तर-मीमांसासे अनुमत स्वसिद्धान्त होनेसे गौरव मानना उनके लिये अनिवार्य हो गया।

इसीलिये अनेक महानुभावोंने उसे अपनाया और उसपर स्वाभिमत भाष्य टीका-टिप्पणियाँ कीं। एक ही शास्त्रमें नहीं, एक ही सूत्रमें सहस्रों भावपूर्ण गम्भीर व्याख्यान हों! क्या उस शास्त्र-सूत्र-निर्माता या सदाचारभूत वेदभगवान्‌की महत्ता साधारण बुद्धिके बाह्यका विषय नहीं है? अस्तु, उत्तर-मीमांसा-भाष्यकारोंका अतिसंक्षिप्त प्रधान विषय दिखलाते हैं।

श्रीमाध्वमतनिरूपण

द्वैतवादी प्रकृति, पुरुष तथा परमेश्वर इत्यादि श्रुति-सूत्र-प्रतिपाद्य विषय मानते हैं। उनके मतमें अद्वैतप्रतिपादक श्रुतिसूत्र प्रथम तो हैं ही नहीं, यदि हैं तो भी वे गौणार्थक हैं अर्थात् उनका स्वार्थमें कुछ तात्पर्य नहीं है। ध्यानमें रखना चाहिये कि पूर्व-मीमांसकसे लेकर उत्तरोत्तर सभी सिद्धान्तियोंका **'प्रमाणं परमं श्रुति:'** परमप्रमाण श्रुति है—ऐसा उद्घोष है।

श्रीरामानुजमतनिरूपण

विशिष्टाद्वैतवादियोंका कहना है कि अद्वैत नहीं है, यह कहना केवल धृष्टता है। जबकि अद्वैतवादिनी श्रुति विद्यमान हैं, तब उनका तात्पर्य अद्वैतमें नहीं है—यह भी कैसे कहा जा सकता है? अत: चित्-अचित् उभयविशेषण-विशिष्ट परमतत्त्व अद्वितीय है और वही जगत्‌का निमित्त तथा उपादान दोनोंही कारण है, केवल निमित्त ही नहीं।

'नीलमुत्पलम्' तथा शरीर-शरीरीके समान विशेषण-विशेष्यका पारस्परिक भेद होते हुए भी अभेद या अद्वैत सूपपन्न है। इस पक्षमें भेदवादिनी तथा अभेदवादिनी दोनों ही प्रकारकी श्रुतियोंका सामंजस्य हो जायगा।

श्रीनिम्बार्कमतनिरूपण

इस सिद्धान्तके अनन्तर द्वैताद्वैतवादी कहते हैं कि विशिष्टाद्वैत भी ठीक नहीं है; क्योंकि इस पक्षमें विशेषण-विशेष्यका वस्तुत: भेद ही मानते हो, तब अद्वैत कैसे हो सकता है? विशिष्टाद्वैत केवल प्रयोग-चातुर्य है। अत: इस पक्षमें भी अद्वैतवादिनी श्रुतियाँ निरालम्बन ही रह जाती हैं। इस वास्ते चिदचिद्भिन्नाभिन्न परमतत्त्व जगत्‌का उपादान तथा निमित्त कारण है और वही श्रुति-सूत्रके तात्पर्यका विषय है। जैसे **'सुवर्णं कुण्डलं'** ऐसे प्रयोग तथा विचारसे भी सुवर्ण स्वरूप ही कुण्डल है। इस वास्ते सुवर्ण कुण्डलका अभेद एवं सुवर्ण जाननेपर भी **'किमिदम्'** ऐसी कुण्डलविषयिणी जिज्ञासा होती है, इसीलिये दोनोंका भेद भी है।

पयोव्रती दधि नहीं भक्षण करता, दधिव्रती पयसे बचता है; गोरसव्रती दोनोंका ही भक्षण करता है। इस तरह गोरसत्वेन अभेद होनेपर भी पयस्त्वेन और दधित्वेन व्यवहारपार्थक्यसे भेद होता है। **'तदधीनस्थितिप्रवृत्तिमत्त्वेन'** अर्थात् सुवर्णादि कारणके अधीन ही कार्यकी स्थिति एवं प्रवृत्ति होती है। अत: अभेद भी है। ठीक ऐसे ही चित् भोक्तृ-वर्ग, परमतत्त्वके अधीन ही स्थिति प्रवृत्तिवाले हैं। अत: परमतत्त्वसे अभिन्न हैं; व्यवहारमें विरुद्ध धर्म देखनेमें आता है, अत: भिन्न हैं। इस वास्ते चिद-

चिद्भिन्नाभिन्न परमतत्त्वमें शास्त्रोंका अभिप्राय है।

श्रीवल्लभमतविवेचन

शुद्धाद्वैतवादी इतनेपर भी सन्तुष्ट नहीं होते! उनका कहना है कि परमतत्त्वसे पृथक् चित्-अचित् किसी तरहसे हैं, तभी आप '**तदधीनस्थिति-प्रवृत्तिमत्त्वेन**' इस उपाधिसे अभेद मानते हैं। वस्तुतः विशिष्टाद्वैतवादियोंके समान आपके यहाँ भी अद्वैतवादिनी श्रुति सम्यक् स्वार्थपर्यवसायिनी नहीं होती। इस पक्षमें भेदवादिनी तथा अभेदवादिनी दोनों प्रकारकी श्रुतियाँ अबाधित रहेंगी। भेदाभेदका परस्पर विरोध होनेसे एकत्र सामंजस्य होना भी असम्भव है। परमात्मासे व्यतिरिक्त तत्त्व माननेसे, तत्त्वमें परिच्छेद होनेसे 'निरतिशय पूर्णता' भी बाधित होगी। इस वास्ते विशिष्टत्व-भिन्नत्वादि-शून्य शुद्धसच्चिदानन्द परमात्मा ही श्रुति-सर्वस्व है।

इस पक्षमें '**एकोऽहं (बहु स्याम्)**' (छान्दोग्य० ६।२।३) इत्यादि श्रुतिशतसिद्ध एकतत्त्वका ही बहुभवन अघटित-घटना-पटीयान् आत्मयोगकी महिमासे सम्यक् सूपपन्न हो जायगा। परमेश्वर समस्त विरुद्ध धर्मोंका आश्रय है। अतः अणोरणीयस्त्व, महतोमहीयस्त्व, सर्वधारकत्व, सर्वसंसर्गराहित्य, स्वाभिन्न सुख-दुःख-मोहात्मक-प्रपंचनिर्मातृत्व, अविकृतपरिणामित्व भी होनेमें कोई आपत्ति नहीं।

स्वरूपाभिन्नविचित्र आत्मवैभव ही सर्वसमाधानमें पर्याप्त है; सदंशाश्रित सन्धिनीशक्ति, चिदंशाश्रित संविच्छक्ति, आनन्दाश्रित आह्लादिनी शक्तिके सम्बन्धसे सदादि अंशोंका ही प्रकृति-प्राकृत तथा पक्षत्रयानुमोदित अणुपरिमाणचित्-कणस्वरूप भोक्तृवर्ग एवं ज्ञान आनन्दके प्राधान्याप्राधान्यसे अन्तर्यामी श्रीकृष्ण आदि रूपमें अविकृत परिणाम निर्दुष्ट होनेसे सर्वव्यवहार भी समंजस है। इस पक्षमें कारणांशको लेकर अद्वैतवादिनी और सप्रपंचको लेकर द्वैतवादिनी श्रुतियाँ भी ठीक लग जायँगी।

शैवादि विविधमतविवेचन

इसी तरह शैवों तथा पाशुपतोंने भी उत्तर-मीमांसापर भाष्य किया है। द्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि अंशोंमें वैष्णव भाष्यकारों और शैव भाष्यकारोंमें भेद नहीं है। प्रत्युत सबका यह दावा है कि यह वाद मुख्य रूपसे हमारे ही हैं, दूसरोंने इन्हें चुराया है। वैष्णवमतानुयायियोंका कहना है कि शैव भाष्यकारने वैष्णव विशिष्टाद्वैतको चुराकर अपना रूप-रंग देकर व्यक्त किया है। शैव मतानुयायियोंका कहना है कि वैष्णव विशिष्टाद्वैतियोंने ही शैवविशिष्टाद्वैतियोंके मतको चुराया है। वैष्णव '**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**' (ब्रह्मसूत्र १) इस सूत्रके ब्रह्म पदका विष्णु अर्थ करते हैं, शैव शिव अर्थ करते हैं। वैष्णवोंमें भी परस्पर विवाद है। कोई ब्रह्म शब्दमें श्रीमन्नारायण, कोई रामचन्द्र, कोई श्रीकृष्ण, कुछ लोग श्रीकृष्णके भी द्वारकास्थ, मथुरास्थ, व्रजस्थ, वृन्दावनस्थ, निकुंजस्थ स्वरूपोंमें मतभेद उठाते हैं। शाक्ताद्वैतवादी अनन्त, अखण्ड, प्रकाशात्मक शिव और उसकी स्वभावभूता, उससे अत्यन्त अभिन्न विमर्शशक्तिको शक्ति कहते हैं। वही शक्ति बाह्योन्मुख होकर प्रपंच-व्यंजिका होती है। अन्तर्मुख होकर केवल शिवस्वरूपा ही होती है।

इसके बाद अद्वैतवादियोंका कहना है कि आपका भी कहना ठीक है; परंतु पूर्वोक्त सिद्धान्तियोंका भी कहना निर्मूल नहीं। '**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः**' (गीता १५।१५), '**सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति**' (कठ० १।२।१५) इत्यादि वचनोंसे वेदोंका परम तात्पर्य '**एकमेवाद्वितीयम्**' (छान्दोग्य० २।६।२२) इत्यादि श्रुतिसहस्रसिद्ध सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेदशून्य, पूर्णप्रज्ञानानन्दघन परमात्मामें ही है।

अवान्तर तात्पर्य पारमार्थिक सत्तासे कुछ न्यून सत्तावाले अर्थात् अपरिच्छिन्न पूर्ण परमतत्त्वकी परमार्थ सत्यतासे न्यून सत्तावाले अघटितघटना-पटीयसी अचिन्त्यानिर्वाच्य भगवदीय शक्ति एवं तदीयविकास-विविधवैचित्र्योपेत, विश्वजनीनानुभव-निवेदित विश्व-व्यवहारोपयुक्त सर्वतन्त्रसिद्धान्तसिद्ध

पदार्थोंमें भी है। अघटितघटनापटीयान् आत्मवैभव हम भी मानते हैं, पर उसे अनिर्वाच्य स्वभाव और मानना चाहिये? क्योंकि यदि उसे परमात्मतत्त्वसे व्यतिरिक्त परमार्थ सत्य मानें तो अद्वैतप्रतिपादक श्रुतियाँ विरुद्ध होती हैं। असत् खपुष्पादिवत् मानें तो प्रपंचनिर्माणपटीयस्त्व नहीं बनता। परमार्थसत् परंतु परमतत्त्वसे अत्यन्त अभिन्न मानें तो तद्वत् ही अविकारी कूटस्थ होनेसे उसमें सुख-दु:ख-मोहात्मक प्रपंचकी हेतुता नहीं बनती।

भेदाभेद सत्त्वासत्त्व विकृतत्वाविकृतत्व समान सत्तासे एक जगह हो नहीं सकते। अन्यथा विरोधमात्र ही दत्तांजलि हो जायगा। यदि श्रुतिप्रामाण्यात् ऐसा मानें सो भी नहीं; क्योंकि शास्त्र अज्ञात-ज्ञापक होते हैं; न कि अकृतकर्तृ। अर्थात् जो वस्तु जैसी है, शास्त्र उसके स्वरूपको वैसा ही बतलाते हैं। वस्तु-स्वभावको अन्यथा नहीं करते। इस वास्ते जैसे पट अन्वय-व्यतिरेकादि युक्ति तथा वाचारम्भणादि श्रुतियोंके विचारसे तन्तु-व्यतिरिक्त नहीं होता; अपितु आतानवितानात्मक तन्तु ही पट है तथापि अंगप्रावरण, शीतापनयनादि कार्य तन्तुओंसे नहीं होता, किंतु पटसे ही होता है। अत: विलक्षण अर्थ-क्रिया-निर्वाहक होनेसे सर्वथा अभिन्न भी नहीं कह सकते। ठीक वैसे ही '**अघटित-घटनापटीयान्**' आत्मयोग भी परमतत्त्वापेक्षया न्यून-सत्ताक अनिर्वाच्य मानना चाहिये। ऐसा माननेमें विषम सत्ता होनेसे द्वैताद्वैतका विरोध भी नहीं होगा।

क्योंकि समान सत्तावाले भावाभावोंका ही परस्पर विरोध होता है; न कि विषम सत्तावालोंका भी। व्यावहारिक सत्ताके रूप्याभाववान् शुक्तितत्त्वमें प्रातिभासिक सत्तासे रूप्यभाव होनेमें कोई आपत्ति नहीं। तद्वत् परमार्थ सत्तासे अद्वैत तदपेक्षया न्यून अर्थात् व्यावहारिक सत्तासे द्वैत होनेमें कोई विरोध नहीं। इस पक्षमें व्यावहारिक अर्थात् व्यवहारकालमें आकाशादिवत् अबाध्यक्रियादिनिर्वाहक सत्यतासम्पन्न द्वैतको लेकर समस्त लौकिक-वैदिक व्यवहार तथा अद्वैतवादिनी श्रुतियोंका अवान्तर तात्पर्यके विषयभूत द्वैतमें सामंजस्य भी पूर्वोक्त सिद्धान्तियोंके अनुसार सम्पन्न होगा तथा त्रिकालाबाध्य व्यवहारातीत परमार्थ सत्य स्वप्रकाशात्मक परमतत्त्वके अभिप्रायसे अद्वैतवादिनी श्रुति ही नहीं, अपितु समस्त श्रुतियाँ भी अपने महातात्पर्यके विषयभूत अनन्तानन्दात्मक तत्त्वमें पर्यवसित हो जायँगी।

इन सिद्धान्तोंके सिवा स्वाभाविक भेदाभेद, सोपाधिक भेदाभेद, चिदचिदविभक्ताद्वैत आदि अनेक सिद्धान्त हैं; परंतु प्राय: उक्त मतोंसे मिलते-जुलते या गतार्थ हो जाते हैं। इनमें वैसे तो प्राय: परस्पर सभी अन्योन्यका खण्डन तथा स्वमतमण्डन करते हैं; परंतु कुछ तो सिद्धान्तमात्रमें विवाद करते हुए भी स्वाभिमत तत्त्वप्राप्त्यर्थ ही प्रयत्न करते हैं; इस वास्ते उनके यहाँ अधिक संघर्ष नहीं प्रवेश करने पाता; परंतु कुछ लोगोंकी तो सिद्धान्त या स्वाभिमत तत्त्वप्राप्त्यर्थ प्रयत्न करनेसे तत्परता छूटकर परमत-खण्डन या परकीय इष्टदेव तथा आचार्योंके दोष प्रकट करनेमें ही प्रवृत्ति होती है।

जैसे 'शैव' या 'वैष्णव' लोगोंकी कट्टरता प्रसिद्ध है; सुना जाता है कि शिवकांची, विष्णुकांची आदि परमपुण्य स्थलोंमें प्रथम ऐसी दशा थी कि एक-दूसरोंके देवताके उत्सव या रथयात्रा आदि कालमें 'अभद्र' अर्थात् शोकके चिह्न एवं अवहेलनाका भाव प्रदर्शित किया करते थे। विष्णुभक्त शिवकी निन्दा और शिवभक्त विष्णुकी निन्दा करते थे। भस्म, रुद्राक्ष, ऊर्ध्वपुण्ड्र, तप्तमुद्रा, कण्ठी आदि विषयोंपर ही अतिगर्हणीय कलह करते थे।

सर्वसिद्धान्तसमन्वयप्रकार

प्रज्ञाका तत्त्व-पक्षपात होना स्वभाव है—'**तत्त्वपक्षपातो हि स्वभावो धियाम्।**' जरा ध्यान देकर विचारिये कि क्या उक्त समस्त सिद्धान्त सोपानारोहक्रमसे किसी सिद्धान्तभूत परमार्थ सत्य परमतत्त्वमें पर्यवसित होते हैं अथवा परस्पर-विरुद्ध होनेसे सुन्दोपसुन्दन्यायसे निर्मूल हो जाते हैं? द्वितीय पक्ष तो ठीक नहीं मालूम पड़ता; क्योंकि भला थोड़ी

देरके लिये बाह्योंको छोड़ भी दें तो भी तत्तद्वादाभिमानियोंसे अभिमत तत्तद्देवताओंके अवतारभूत तत्तदाचार्य मात्सर्यादि दोषशून्य '**प्रमाणं परमं श्रुतिः**' का उद्घोष करते हुए '**सर्वभूतानुकम्पया**' प्रवृत्त होकर अतात्त्विक निष्प्रयोजन सिद्धान्त-स्थापन क्यों करेंगे?

सुन्दोपसुन्दन्यायकी अप्रसक्ति, किंतु सोपानारोहक्रमकी प्रसक्ति

इस वास्ते प्रथम पक्षमें ही कुछ सार प्रतीत होता है। अब प्रश्न यह होता है कि फिर उक्त सिद्धान्तोंमें कौन-सा सिद्धान्त ऐसा है कि जिसमें साक्षात् या परम्परया सभी सिद्धान्तोंका सामंजस्य हो? क्योंकि द्वैत-अद्वैत अत्यन्त विरोधी सिद्धान्तोंका परस्पर सामंजस्य होना मानो तेज-तिमिर या दहन-तुहिनका ऐक्य-सम्पादन है। इस विषयमें समन्वय-साम्राज्य-पथानुसारी शास्त्र-तात्पर्य-परिशीलन संस्कृत-प्रेक्षावानोंका कहना है कि '**वेदैकसमधिगम्य**' तत्त्वमें आस्था रखनेवाले सिद्धान्तोंका सामंजस्य तो सिद्ध ही है।

विशेष विचारसे तो अदृष्ट कुछ न मानकर एकमात्र दृष्ट पदार्थको माननेवाले बाह्य चार्वाकका भी दृष्टको परमार्थसत्तया कुछ न मानकर केवल अदृश्य, अव्यक्त, अव्यवहार्य परमार्थतत्त्वको ही माननेवाले अद्वैतियोंसे परम्परया अविरोध हो सकता है।

अद्वैतमें द्वैतान्तभावकी प्रसक्ति

इस वास्ते यद्यपि द्वैतमें अद्वैतका अन्तर्भाव नहीं हो सकता तथापि अद्वैतमें द्वैतका अन्तर्भाव हो सकता है। लोकमें देखते ही हैं कि एक वटबीजसे अनन्त वटवृक्ष, एक मृत्तिकासे अनन्त घट-शरावादि पात्र होते हैं। श्रुति भी—

'**एकोऽहं बहु स्याम्**' (छान्दोग्य० ६।२।३)
तदात्मानं कुरुत स्वयम्' (तैत्तिरीयोपनिषद् २।७)

—इत्यादि वाक्योंसे एकका ही बहुभवन बतला रही है।

द्वैतप्रपंचभगवदाश्रिता अनिर्वचनीयता शक्तिकी अद्भुत चमत्कृति

तस्मात् जैसे महासमुद्रमें वायुके योगसे तरंग, फेन, बुद्बुद अनेक विकार-स्वरूपसे समुद्रका ही प्रादुर्भाव होता है, उसी तरह अनिर्वाच्य भगवदीय शक्तिके तादृश योगसे ही अनिर्वाच्य प्रपंच रूपसे निरवयव, निष्क्रिय, प्रज्ञानानन्दघनका अनिर्वाच्य प्रादुर्भाव होना श्रुतिसिद्ध है। भगवच्छक्तिकी अनिर्वचनीयता तथा तत्कृत द्वैतका परमार्थ सत्य अद्वयानन्दब्रह्मके साथ अविरोध दिखा ही चुके हैं।

द्रष्टा आत्माकी दृश्यतादात्म्यापत्तिके कारण विविध वादोंकी प्रवृत्ति

अस्तु, जैसे प्रदीपशिखा या प्रकाश स्वसन्निहित स्वच्छता तारतम्योपेत बहुसंख्यक काँचके योगसे तत्तदाकाराकारित हो जाती है; क्योंकि प्रकाश्यको प्रकाशता हुआ प्रकाश प्रकाश्याकार हो ही जाता है, ठीक उसी तरह आनन्दमयसे लेकर अन्नमयपर्यन्त ही नहीं, अपितु तत्तद् इन्द्रियोंद्वारा संसृष्ट शब्दाद्यात्मक पुत्रकलत्रादिपर्यन्तके सन्निधानसे तत्तदाकाराकारित विशुद्ध आत्मतत्त्व ही हो जाता है।

उपाधिके सम्बन्धसे उपहितकी उपाधिस्वरूपवत्ता स्फटिकादिमें प्रसिद्ध है। अतएव तत्तदुपाधियोंके सम्बन्धसे उनके साथ अभेदभावापन्न आत्माका आनन्दमय, विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, अन्नमय तथा पुत्ररूपसे निर्देश श्रुतियोंमें पाया जाता है। इसी वास्ते सकलविभ्रमास्पद परमतत्त्वमें नाना प्रकार वादिविप्रतिपत्ति स्वस्वमतिवैभवानुसार तत्त्वग्रहण यह सभी समंजस है।

परोवरीयक्रमके समादरसे समन्वयकी सिद्धि तथा वास्तव आत्माकी समुपलब्धि

उन्हीं लोक-बुद्धि-सिद्ध स्वरूपोंका सोपानारोह क्रमसे परमात्मतत्त्व-प्रतिपत्तिके लिये मातृपितृशतादपि हितैषिणी भगवती श्रुति उत्तरोत्तर अनुवाद करती हैं। पुत्रादिसे आत्मभावकी व्यावृत्तिके लिये अन्नमय देहमें आत्मभाव रखनेवाले चार्वाकका भी मत अभिमत होनेसे अद्वैतमें उपयुक्त है।

देहसे आत्मभावव्यावृत्त्यर्थ प्राणमयमें भी आत्मभाव अपेक्षित है। प्राणमयसे आत्मबुद्धि हटानेके लिये मनोमयमें आत्मभाव भी ठीक ही है एवं अभासान्वित

क्षणिकबुद्धि वृत्तिसन्ततिमें तथा सन्ततिक्षयरूपमें विज्ञान तथा शून्यका अभिमान रखनेवाले विज्ञानवादी एवं शून्यवादी बौद्धोंका भी मत परमतत्त्वप्रतिपत्तिमें क्रमश: पूर्वप्रतिपन्न आत्मभाव-व्यावृत्तिके लिये उपयुक्त हो सकता है। संघात-व्यतिरिक्त शरीर परिमाण आत्मा माननेवाला 'अर्हत' सिद्धान्त भी संघाताभिमान-व्यावृत्तिके लिये उपादेय ही है।

नैयायिक, वैशेषिक भी व्यवहारोपयुक्त पदार्थ अनुमानादि प्रमाण संघातातिरिक्त विभु आत्मा सिद्धकर परमतत्त्व प्रतिपत्तिके परम उपकारक हैं। सांख्य प्रकृति पुरुषका क्षीर-नीरसे भी घनिष्ठ सम्मिश्रण मिटाकर असंग, चेतन, विभु आत्माको सिद्ध करते हैं। योगी तद्व्यतिरिक्त नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव परमेश्वर सिद्धकर परम पुरुषार्थभूत भगवदाराधनके साधक हो जाते हैं।

मीमांसकोंने भी भगवदाराधनका परम हेतु वर्णाश्रमानुसार वैदिक कर्मोंका स्वरूप निर्णयकर अत्यन्त उपकार किया, जिनका कि भगवान् '**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव:॥**' (गीता १८। ४६) '**स्वे स्वे कर्मण्यभिरत: संसिद्धिं लभते नर:**' (गीता १८। ४५) इत्यादि वचनोंद्वारा परमतत्त्व-प्रतिपत्तिसे घनिष्ठ सम्बन्ध सिद्ध करते हैं।

तदभिमतविषयविशेषकी उपादेयता तथा तदतिरिक्तकी उपेक्षा— समन्वयकी स्वरूप-विधा

यहाँसे अब उत्तर-मीमांसकोंकी आवश्यकता देखनी चाहिये; परंतु इसके पहले यह बात समझ लेनी चाहिये कि उक्त अथवा वक्ष्यमाण दार्शनिकोंका विषय-विशेषमें प्राधान्य तदितरमें गौण अभिप्राय मानकर ही समन्वय किया जा सका है। अन्यथा सर्वांशमें प्राधान्य होनेसे विरोध अनिवार्य होगा, इस वास्ते तत्तत्, दार्शनिकोंके प्रधान अंश उपयुक्त होनेसे ग्राह्य एवं अविरुद्ध हैं। जैसा कि विद्वानोंमें न्याय, वैशेषिक सर्वांशको प्रतिपादन करते हुए भी प्रमाण शास्त्र ही कहलाते हैं।

पूर्वोत्तर-मीमांसा वाक्यशास्त्र कही जाती है। व्याकरण पदशास्त्र कहा जाता है। इन उक्तियोंका अभिप्राय यही है कि उक्त शास्त्रोंका प्रधान विषय प्रमाणादि ही है, अन्य गौण। अत: गौण अंशमें विरोध होते हुए भी प्रधानांश सर्वमान्य हैं। अभिप्राय यह है कि जो दार्शनिक जितने अंशमें पूर्ण तत्त्वप्राप्तिके उपयोगी जो बात कहते हैं, उनका वही अंश ग्राह्य है, तदितर अग्राह्य है। जो लोग जितने अंशमें पुरुषार्थ मानते हैं, उसीके हेतुका निर्णय करते हैं। निद्रालस्यादि तामस भावोंकी अपेक्षा राजस विषयोपभोगादि श्रेष्ठ पुरुषार्थ तथा अन्वयव्यतिरेक सिद्ध तत्साधन माननेवाले चार्वाक भी अंशत: अभिज्ञ ही हैं। जो विचारक दृष्टादृष्ट-भेदसे जितने पुरुषार्थ जिन-जिन प्रमाणोंसे मानते हैं, वे उन्हीं-उन्हीं प्रमाणोंसे उनके साधनोंका भी निश्चय करते हैं। महर्षि लोगोंने भी जिस विषयके अन्वेषणमें समाधिद्वारा असाधारण प्रयत्न किये हैं, उस विषयमें उनकी असाधारण मान्यता होती है। जैसे महर्षि पाणिनिकी शाब्दिकी व्यवस्थामें जिन विषयोंमें प्राधान्य नहीं, उन विषयोंमें विरोध अनिवार्य है। अस्तु, उत्तर-मीमांसाके द्वैत सिद्धान्तपरक भाष्यकार '**भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वत:।**' (गीता १८। ५५) इत्यादि भगवद्वाक्यानुसार परमतत्त्व साक्षात्कारका असाधारण कारण भगवद्भक्ति एवं तदुपयुक्त अनन्त कल्याण-गुण-गणाश्रय उपास्य स्वरूप तद्भिन्न उपासक स्वरूप-निर्णय करते हैं।

विशिष्टाद्वैतियोंने परमेश्वरके साथ जीवका कुछ असाधारण सम्बन्धपूर्वक भक्तिके आधिक्य एवं अद्वैतवादिनी श्रुतियोंका निरादर हटानेका प्रयत्न किया। द्वैताद्वैतवादियोंने '**अन्योऽसावहमन्योऽस्मीति न स वेद**' (बृहदारण्यक० १। ४। १०) इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार उपासनामें उपास्योपासकके अभेद ज्ञानकी आवश्यकता समझते हुए भेदाभेदका बराबर आदर सिद्ध किया। शुद्धाद्वैतियोंने भगवत्तत्त्वसे व्यतिरिक्त तत्त्व माननेमें वस्तुकी पूर्णतामें बाधा समझकर शुद्धाद्वैत तत्त्वका स्थापन किया।

यद्यपि शुद्धाद्वैत सिद्धान्तमें उक्त भगवदीय आत्मवैभवसे ही एकका बहुभवन सिद्ध होनेसे लौकिक-वैदिक समस्त व्यवस्था सूपपन्न है तथापि '**अजायमानो**

बहुधा विजायते' (मुद्गलोपनिषत् ३), **'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'** (बृहदारण्यक० २।५।१९) **'अथास्य या सहजास्त्यविद्या मूलप्रकृतिर्माया लोहित-शुक्लकृष्णा, तया सहायवान् देवः कृष्णपिङ्गलो ममेश्वर ईष्टे'** (शाण्डिल्योपनिषत् २।१) इत्यादि श्रुतियोंसे अजायमानका जायमानत्व, एकका बहुत्व मायासे ही सिद्ध है; क्योंकि परमार्थतः एक ही वस्तुका अजत्व-जायमानत्व, एकत्व-बहुत्व असम्भव है। इस वास्ते वस्तुतः सबाह्याभ्यन्तर अज सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य स्वप्रकाशप्रज्ञानानन्दघनमें ही अचिन्त्यानिर्वाच्य स्वात्मशक्तिके अनिर्वाच्य सम्बन्धसे ही जायमानत्व, बहुत्व स्वीकार करना चाहिये। इसी वास्ते अद्वैतवादी अनिर्वचनीयवादी भी कहलाते हैं।

वेदान्तियोंकी ब्रह्ममीमांसाका भिन्न-भिन्न भाष्यकार भिन्न-भिन्न अर्थ करते हैं; परंतु उसका मुख्य तात्पर्य किसमें है, यह निर्णय करना कठिन हो जाता है। कहना न होगा कि महर्षियोंके अभिप्रायोंका ज्ञान महर्षियोंको ही होता है। शुक्रनीतिसारमें शुक्राचार्यके मन्तव्यानुसार वेदान्तका अद्वैतमें ही मुख्य तात्पर्य है। **'ब्रह्मैकमद्वितीयं स्यान्नाना नेहास्ति किञ्चन, मायिकं सर्वमज्ञाना-द्भाति वेदान्तिनां मतम्।'** (शुक्रनीति ४।३।५०) सर्वभेदविवर्जित ब्रह्म ही सब कुछ है, नाना कुछ भी नहीं है। तद्व्यतिरिक्त समस्त प्रपंच मायिक ही है। यही वेदान्तियोंका मत है।

इसके सिवा जिन दार्शनिकोंने वेदान्त मतका खण्डन किया है, उन्होंने भी अद्वैतको ही वेदान्त-सिद्धान्त मानकर अनुवादपुरस्सर खण्डन किया है। सांख्यों तथा नैयायिकोंमें पांचरात्र पाशुपतों तथा बौद्धोंने भी अद्वैतको ही वेदान्त मत मानकर खण्डन किया है।

अब यहाँ प्रेक्षावानोंको विचार करना चाहिये कि जब क्रमशः उक्त प्रकारसे सभी सिद्धान्त अद्वैतकी ओर (ही) अग्रसर हो रहे हैं और विचार-दृष्टिसे सभीका प्रधान-प्रधान अंशोंमें अविरोध सिद्ध होता है, तब कलहके लिये स्थान कहाँ रह जाता है?

द्वैतसिद्धान्तानुयायियोंका परम तात्पर्य श्रीमद्भगवत्-चरणाम्बुजके अनुरागमें ही है। यह बात अद्वैतवादियोंको भी सम्मत है। यह बात दूसरी है कि कोई भगवान्‌के भूतभावन श्रीसदाशिवरूपमें, कोई श्रीविष्णुरूपमें, कोई पतितपावन श्रीमद्रामभद्ररूपमें, कोई श्रीकृष्ण आनन्दकन्दरूपमें तथा अन्यान्यरूपमें प्रेम रखते हैं।

विद्वानोंका कहना है कि जिस प्रकार एक ही गगनस्थ सूर्य-तत्त्व घट, सरोवरादि अनेक उपाधियोंमें प्रतिबिम्बित होकर बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भावापन्न होता है, ठीक उसी तरह अनिर्वाच्य मायामय गुणोंके परस्पर विमर्द वैचित्र्य निबन्धन विविध उपाधियोंके योगसे **'माया आभासेन जीवेशौ करोति'** (नृसिंहो-त्तरतापनीयोपनिषत् ९) इत्यादि श्रुतिके अनुसार अनन्तकोटिब्रह्माण्ड तद्गतजीवेशादिरूपसे एक ही परमतत्त्वका प्रादुर्भाव होता है। जैसे परम विशुद्ध गगनस्थ सूर्य ही प्रतिबिम्बापेक्षया बिम्बपदवाच्य होते हुए सर्वथा अविकृत है, वैसे ही अनन्तकोटिब्रह्माण्ड तद्गत जीव एवं अवान्तर तत्तन्नियन्ता ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रादि नियम्यकी अपेक्षा परम विशुद्ध तत्त्व ही अनन्तकोटिब्रह्माण्डके नायक होते हुए भी सर्वथा अविकृत है। जैसे वे ही सूर्य नील-पीत आदि उपनेत्रोंसे नील-पीत आदि अनेक रूपोंमें भासमान होते हैं, वैसे ही एक ही परमतत्त्व विष्णुस्वरूपादि भावनाभावितमनस्कोंको विष्णुरूपमें और सदाशिव भगवान्‌की भावनासे भावित मनस्कोंको सदाशिवरूपमें उपलब्ध होते हैं।

अतएव विशिष्टाद्वैत श्रीकण्ठीय शैवभाष्यकी टीका करते हुए श्रीमदप्पयजी दीक्षित कहते हैं कि यद्यपि सकल सच्छास्त्रोंका महातात्पर्य अखण्ड अनन्त विशुद्ध अद्वैत ब्रह्ममें ही है तथापि साम्ब सदाशिवकी भक्तिके बिना प्राणियोंको अद्वैत वासना और निष्ठा नहीं हो सकती—**'यद्यप्यद्वैत एव श्रुतिशिखरगिरामागमानाञ्च निष्ठा, साकं सर्वैः पुराणैः स्मृतिनिकरमहाभारतादिप्रबन्धैः। प्रत्नै-राचार्यरत्नैरपि परिजगृहे शङ्कराद्यैस्तदेव, तत्रैव ब्रह्मसूत्राण्यपि च विमृशनाम्भान्ति विश्रान्तिमन्ति॥ तथाप्यनुग्रहादेव तरुणेन्दुशिखामणेः॥ अद्वैतवासना पुंसामाविर्भवति नान्यथा।'** वही रजस्तमोलेशादिसे अननुविद्ध अचिन्त्यानिर्वाच्य अन्तरंगा आह्लादिनी

शक्तिके योगसे विभिन्न-विभिन्न भक्तोंके भावानुसार भिन्न-भिन्न मंगलमय विग्रहरूपमें शिवपुराण तथा स्कन्दपुराणमें शिवरूपसे, विष्णुपुराणमें विष्णुरूपसे, श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णरूपसे और श्रीरामायणमें श्रीरामभद्ररूपसे गाये जाते हैं—

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते॥

(कल्किपुराण ३। २१। २८)

अन्यथा जैसे विष्णुपुराणादिमें विष्णुका परत्व, सदाशिवादिका अपरत्व पाया जाता है; वैसे ही स्कन्दपुराणादि तथा महाभारतमें भी भीष्मके सामने युधिष्ठिरके लिये श्रीकृष्णमुखसे ही सदाशिवका परत्व और तदतिरिक्तका अपरत्व पाया जाता है।

सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्मकी निरावरण स्फूर्ति शिवादि पंचदेवोंमें एकातिरिक्त अन्योंकी निन्दा निज इष्टमें दृढ़ आस्था-सम्पादनकी विधा

शिवपरक पुराणोंको तामस, राजस बतलाकर उनसे पीछा छुड़ाना भी सहृदयहृदयग्राह्य नहीं हो सकता; क्योंकि शिवपरक पुराणोंके अनुसार भी केवल शिवमाहात्म्य-प्रतिपादक पुराण ही कल्याणकारक हैं, तदतिरिक्त नहीं। अश्रुतशिवमाहात्म्य पुरुष नरकगामी होता है; ऐसे एक-दो नहीं, सहस्रों वचन दिखलाये जा सकते हैं। विरुद्ध क्रियासंकल्पसिद्धि आदि अनेक दोषोंके भयसे सर्वसम्मतिसे ईश्वर एक ही है, दो नहीं। पुराणोंके निर्माता महर्षि व्यास सर्वलोक-कल्याणार्थ प्रवृत्त होकर परस्पर-विरुद्ध बातें कह भी कैसे सकते हैं? वेदोंमें जैसे '**नारायणो ह वा इदमग्र आसीत्**' '**एको नारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चित्**' (नारायणाथर्वशिर-उपनिषत् २)-से नारायणका ही अस्तित्व पाया जाता है, वैसे ही '**एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः**' (श्वेताश्वतर० ३। २) इत्यादि वचनोंसे रुद्रका ही अस्तित्व पाया जाता है।

ठीक यही समस्त दूषणगण, त्रिपुण्ड्र, भस्म, गोपीचन्दन, रुद्राक्षादि विषयोंमें भी समझना चाहिये अर्थात् कहीं केवल भस्म, त्रिपुण्ड्रका माहात्म्य, तदितरकी निन्दा, कहीं ऊर्ध्वपुण्ड्रकी स्तुति, तदितरकी निन्दा। यदि ऊर्ध्वपुण्ड्रकी विधि उपनिषदोंमें पायी जाती है तो भस्म तथा रुद्राक्षका माहात्म्य जाबालोपनिषदादिमें पाया जाता है। यदि काठरायण, माठरायणादि अत्यन्त अप्रसिद्ध श्रुतियोंका भी प्रामाण्य साम्प्रदायिक मानते हैं तो मुक्तिकोपनिषद्में समुल्लिखित तथा लोकप्रसिद्धिसिद्ध रुद्राक्ष, भस्म, जाबालादि उपनिषदोंके प्रामाण्यमें बाधा ही क्या हो सकती है? अस्तु, यह साम्प्रदायिक कलह, कलहप्रियोंको ही शोभा देता है। दुराग्रही लोग लाख प्रयत्नसे भी अपना दुराग्रह नहीं छोड़ सकते!

अतः इस विवादमें हम पाठकोंके समयका अपव्यय नहीं चाहते; परंतु उक्त विषयोंमें समन्वय पद्धतिके मर्मज्ञोंकी उक्त तथा वक्ष्यमाण व्यवस्था ध्यानसे पढ़नी चाहिये।

हमारा कहना यह है कि पूर्वोक्त बिम्बादि-दृष्टान्तानुसार एक ही परमतत्त्वका भावानुसार नाम-रूप वेश-भूषा-भेदसे उपासना तथा तत्तदनुरूप नियत उपकरण भिन्न-भिन्न उपनिषद् तथा पुराणोंमें बतलाये गये हैं और नियत रूपादिमें निष्ठा-परिपाकके लिये नियत रूपका ही माहात्म्य, तदितरकी निन्दा प्रतिपादित की गयी है। जैसे वेदोंमें क्रमसे उदित, अनुदित, समयाध्युषित होमका विधान भी पाया जाता है और वहाँ ही उक्त होमोंकी निन्दा भी पायी जाती है, परंतु उक्त निन्दाओंका तात्पर्य निन्दामें न होकर किसी एकको दृढ़ता-सम्पादन करनेमें ही है।

अर्थात् जिसने जिस पक्षको स्वीकार किया, उसकी उसीमें दृढ़ निष्ठा रखनी चाहिये। दूसरे पक्षका अवलम्बन नहीं करना चाहिये, क्योंकि वैदिकोंकी ऐसी मर्यादा है कि निन्दाका तात्पर्य निन्दामें न होकर किसी विधेयकी स्तुतिमें होता है। जैसे वेदोंमें एक जगह अविद्यापदवाच्य कर्मोंके करनेवालोंको अन्धतमकी प्राप्ति कही है। विद्यापदवाच्य उपासनामें निरतोंको उससे भी घोर अदर्शनात्मक तम '**अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥**' (ईशावास्योपनिषत् ९)-की प्राप्ति कही है।

परंतु उक्त विद्या तथा अविद्याका शास्त्रमें

विधान पाया जाता है। शास्त्रविहित कृत्यकी अकर्तव्यता **'नहि शास्त्रविहितं किञ्चिदकर्तव्यतामियात्'** (ईषा-भाष्य) इत्यादि भगवान् शंकराचार्यकी उक्तिके अनुसार हो नहीं सकती। यदि उनका निन्दामें ही तात्पर्य होता तो **'कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोको, देवलोको वै लोकानां श्रेष्ठस्तस्माद्विद्यां प्रशंसन्ति'** (बृहदारण्यक० १।५।१६) इत्यादि श्रुति-सिद्ध फल अनुपपन्न होगा; क्योंकि कहींपर भी निषिद्ध कृत्यकी शुभफलकता श्रुतिसिद्ध नहीं है। इस वास्ते वैदिकोंने समुच्चयविधानकी स्तुतिके ही लिये एक-एकको निन्दा मानी है। ठीक इसी तरह उक्त निन्दाओंका भी तात्पर्य निन्दामें न होकर स्वोपास्य देवमें दृढ़ताके लिये स्तुतिमें ही है। किंवा जैसे कोई कौतुकी अपनी मुग्धा भार्याको चिढ़ानेके लिये अपने कुत्तेको श्यालके नामसे पुकारकर गाली देता है, न कि श्यालको गाली देता है, परंतु मुग्धा अपने भ्राताको गाली समझकर चिढ़ती है।

कार्यब्रह्म, कारणब्रह्म और कार्यकारणातीत परब्रह्ममें पूर्व-पूर्वकी निन्दा उत्तरोत्तरकी उत्कृष्टताकी स्वस्थ दिशा

शिवपुराणादि-प्रतिपाद्य अनन्तकोटिब्रह्माण्डाधीश्वर शिवतत्त्वमें ही दृढ़ निष्ठाके लिये शिवस्वरूपाभिन्न विष्णुपुराणादिप्रतिपाद्य सर्वेश्वर श्रीविष्णुके नामसे ही ब्रह्माण्डान्तर्गत कार्य विष्णुकी निन्दा की गयी है तथा विष्णुपुराणादि-प्रतिपाद्य अनन्तकोटिब्रह्माण्डाधीश्वर श्रीविष्णुतत्त्वके उपासकोंके निष्ठादार्ढ्यार्थ तदभिन्न ही श्रीशिवके नामसे कार्य ब्रह्मकोटिमें प्रविष्ट रुद्रकी निन्दा की जाती है। कहीं-कहीं तो शिव या विष्णुकी उपासनासे नरक होनातक लिखा पाया जाता है। ऐसे स्थलोंमें भी नरकका अर्थ नरक न होकर कार्यकारणातीत परमतत्त्वप्राप्तिकी अपेक्षासे ब्रह्मलोकादि ही नरक पदसे कहे गये हैं—**'तस्य स्थानवरस्येह सर्वे निरयसंज्ञिताः'** (महा०शान्ति० १९८।११); क्योंकि वेदोंमें भी **'असुर्या नाम ते लोकाः'** (ईशावास्य० ३) इत्यादि मन्त्रमें परमात्म-तत्त्वकी अपेक्षा देवताओंको भी असुर बतलाया गया है—

चतुर्णां लोकपालानां शुक्रस्यास्य बृहस्पतेः।
मरुतां विश्वदेवानां साध्यानामश्विनोरपि॥
रुद्रादित्यवसूनां च तथान्येषां दिवौकसाम्।
एते वै निरयास्तात स्थानस्य परमात्मनः॥

(महा०शान्ति० १९८।५-६)

'तात! वरुण, कुबेर, इन्द्र, यम—इन चारों लोकपालों, शुक्र, बृहस्पति, मरुद्गण, विश्वेदेव, साध्य, अश्विनीकुमार, रुद्र, आदित्य, वसु तथा देवोंके जो लोक हैं, वे सब परमात्माके परमात्मस्वरूप परमधामके सामने नरक हैं।'

असुरोंके अर्थात् परमात्मव्यतिरिक्त अशोभन प्रपंचमें या असुसंज्ञक प्राणादि अनात्मामें रमण करनेवालोंके अदर्शनात्मक तमसे आवृत लोकात्मक फलको **'आत्महन'** आत्माके वास्तविक नित्य शुद्ध-बुद्धस्वरूपको न जानकर कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अनेक कलंकको उसपर आरोपण करनेवाले अनात्मज्ञ देहत्यागके अनन्तर प्राप्त होते हैं।

जैसे यहाँ देवलोकादिकी निन्दामें तात्पर्य नहीं, किंतु आत्मज्ञानार्थ प्रयत्नातिशय करनेके लिये ही है, वैसे शास्त्रोंके गम्भीर अभिप्राय किसीकी निन्दामें न होकर स्वोपास्य निष्ठा या (किसी) बड़े कल्याण-विषयक प्रयत्नमें प्रवृत्तिके लिये समझना चाहिये। अनभिज्ञ लोग मुग्धा भार्याकी तरह दुःखी होकर परस्पर कलह करते हैं। बुद्धिमान् तो अपने स्वप्रकाशात्मक पूर्ण परम प्रेमास्पदको ही सर्वस्वरूप सर्वोपास्य समझकर मुदित होते हैं और रागद्वेषादिरहित भगवान्‌के किसी एक रूपमें निष्ठा रखते हैं। जैसे किसी मर्मज्ञ भावुककी उक्ति प्रसिद्ध है—

श्रीनाथे जानकीनाथे विभेदो नास्ति कञ्चन।
तथापि मम सर्वस्वं रामः कमललोचनः॥

तथा—

महेश्वरे वा जगतामधीश्वरे
जनार्दने वा जगदन्तरात्मनि।
न वस्तुभेदप्रतिपत्तिरस्ति मे
तथापि भक्तिस्तरुणेन्दुशेखरे॥

इत्यादि।

जब एक ही परमतत्त्व भगवान् भक्तानुग्रहार्थ अनेकधा प्रादुर्भूत होते हैं, तब उन्हींके एक स्वरूप

या नामका समाश्रयणकर दूसरे स्वरूप या नामका तिरस्कार या निन्दा करनी कितनी बड़ी भूल है। क्या अपने ही एक अंगका तिरस्कार करनेवाले मूर्ख अनन्य भक्तपर भी कोई प्रसन्न हो सकता है? शिवप्रधान या विष्णुप्रधान पुराणोंमें भी शिव तथा विष्णुके ही मुखसे स्थलान्तरोंमें सम्यक् अभेद या परस्पर उपास्योपासक-भावतक भी सुना जाता है। इसे विष्णुसहस्रनाम शांकर भाष्यमें देखना चाहिये। विस्तार-भयसे वहाँके वचन न देकर वैष्णवकुल-कमल-दिवाकर श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीकी ही कुछ उक्ति दी जाती है। आपका कहना है कि—

सिव पद कमल जिन्हहि रति नाहीं। रामहि ते सपनेहुँ न सोहाहीं॥
सेवक स्वामि सखा सिय पी के। हित निरुपधि सब बिधि तुलसी के॥

(रा०च०मा० १।१०४।५; १।१५।४)

कुछ साम्प्रदायिक महानुभाव श्रीपार्वतीरमण सदाशिवजी तथा श्रीविष्णुजीके प्रणाम आदिमें अपने अनन्य वैष्णवत्व या शैवत्वकी त्रुटि समझते हैं; परंतु विचार करनेसे सुस्पष्ट प्रतीत होता है कि शैव या वैष्णव केवल विष्णु या शिवको प्रणाम करना छोड़ देनेसे अनन्य वैष्णव या शैव नहीं हो सकते; क्योंकि चाहे कोई शिवको प्रणामादि करना छोड़ भी दे, परंतु कामिनी-कांचन-कैंकर्य कैसे छूट सकता है? उसके बिना छूटे तो लोगोंको विधर्मियोंके पीछे-पीछे स्वार्थवश घूमना या नत होना अपरिहार्य ही है, तब अनन्य शैव या अनन्य वैष्णव कैसे हो सकते हैं? वस्तुत: परमेश्वरके आराधनका परम उत्कृष्ट मार्ग स्वस्ववर्णाश्रम-धर्म ही है। जैसा कि शास्त्रोंमें कहा है—

'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दन्ति मानवा:।'

(गीता १८।४६)

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण पर: पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारक:॥

(विष्णुपुराण ३।८।९)

अत: पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागश:।
स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्॥

(श्रीमद्भा० १।२।१३)

वर्णाश्रमानुसार वैदिक अग्निहोत्रादि कृत्योंमें अग्नि, इन्द्र, वरुण, रुद्र, विष्णु आदि सभी देवताओंका यजन करना पड़ता है। अत: कोई भी वैदिकत्वाभिमानी कैसे कह सकते हैं कि हम अनन्य वैष्णव या शैव हैं, अन्य देवका अर्चन नहीं करेंगे? तस्मात् अनन्यताका अर्थ यह कदापि नहीं हो सकता कि देवता, ब्राह्मण, गुरु, माता, पिता आदि गुरुजनोंकी अर्चा-पूजा छोड़ देनी चाहिये, अपितु अनन्यताका अर्थ यही है कि देवपितृगुरुब्राह्मणादि सभीका आराधन-पूजन करो, परंतु वह सभी हो भगवदर्थ, जैसा कि गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

'सबु करि मागहिं एक फलु राम चरन रति होउ।'

(रा०च०मा० २।१२९)

इसी प्रकार व्यवस्था भस्मादिके विषयमें समझनी चाहिये। कारण कि रागत: प्राप्त पदार्थकी निन्दा निषेधके लिये होती है। जैसे सुरामांसादि रागत: प्राप्त हैं, अत: उनकी निन्दाका तात्पर्य उनके निषेधमें ही हो सकता है। भस्म, त्रिपुण्ड्रादि रागसे तो प्राप्त हैं नहीं; किन्तु किन्हीं शास्त्रवचनोंसे ही प्राप्त हैं। शास्त्रप्राप्तका अत्यन्तबाध शास्त्रान्तरसे भी नहीं हो सकता; क्योंकि शास्त्रान्तर निरवकाश हो जायगा।

षोडशीग्रहण **'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'** इस शास्त्रसे ही प्राप्त है। अत: **'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'** इस साक्षात् निषेधसे भी अत्यन्तबाध नहीं होता; किंतु विकल्प ग्रहणाग्रहणका ही माना गया है। ठीक इसी तरह शास्त्रप्राप्त भस्मत्रिपुण्ड्रादिका विकल्प या सम्प्रदायभेदसे व्यवस्था है; अर्थात् 'शैवों' तथा 'वैष्णवों' के लिये सम्प्रदायानुसार व्यवस्था एवं श्रौतस्मार्तकर्म-निरत कर्मठोंको प्रात:-सायं भस्म इतरकालमें यथाकाम। यही पद्धति देखनेमें भी आ रही है। लिखा भी है—

स्नात्वा पुण्ड्रं मृदा कुर्याद् धृत्वा चैव तु भस्मना।
देवान् विप्रान् समभ्यर्च्य चन्दनेन समाचरेत्॥

आहिताग्नि लोग किसी समय भस्मादि और किसी समय चन्दनादि लगाते हैं। इतरोंके लिये यथाकाम ही समझना चाहिये। निषेधका विषय श्मशानादिगत भस्म है, न कि आहवनीयादिगत पवित्र भस्म।

अद्वैतवादियोंका इनमें यथारुचि त्रिपुण्ड्र, ऊर्ध्वपुण्ड्र शिव या विष्णुका सम्यक् आदर है। इस वास्ते इन

विषयोंमें अद्वैतियोंका किसीके साथ विरोध नहीं है। तीर्थ, व्रत, मन्दिर, शिव, विष्णु, राम, कृष्ण, शक्ति आदि प्रतिमार्चन, वर्णाश्रमानुसार श्रौतस्मार्त-कृत्य आदि विषयोंका उनके यहाँ कितना आदर या प्रचार है, इसका पता काश्यादि पुण्यस्थलोंमें ही नहीं, प्रत्युत ग्रामीणोंमें भी उनके अनुयायियोंके दर्शनसे ही सुस्पष्ट लग सकता है।

भगवान् शंकराचार्यका सिद्धान्त है कि अनादि-कालसे प्रवृत्त यह संसारचक्र बिना परमतत्त्व, परब्रह्मके स्वरूप-साक्षात्कारके कदापि नहीं शान्त हो सकता। भगवत्स्वरूपसाक्षात्कारके लिये वर्णाश्रमानुसार शिष्टाचारप्राप्त सभी लौकिक-वैदिक कृत्य अनुष्ठान-सहित भगवद्भक्ति ही परमावश्यक है।

वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्म स्वनुष्ठीयतां
तेनेशस्य विधीयतामपचितिः काव्ये मतिस्त्यज्यताम्।
पापौघः परिधूयतां भवसुखे दोषोऽनुसन्धीयता-
मात्मेच्छा व्यवसीयतां निजगृहात्तूर्णं विनिर्गम्यताम्॥

(उपदेशपञ्चकम् १)

महाभारतके अनुशीलनसे यह तथ्य सिद्ध है कि पापक्षयके अनन्तर निष्काम कर्मोपासनाके अमोघ प्रभावसे निर्मल-निश्चल तथा रसरूप ज्ञानालोकसे मण्डित चित्तपर आत्मदेवका स्फुट अभिव्यंजन सम्भव है—

ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः।
यथादर्शतले प्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि॥

(महा०शान्ति० २०४।८)

शरीरपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः।
कषाये कर्मभिः पक्वे रसज्ञाने च तिष्ठति॥

(महा० शान्ति० २७०।३८)

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(गीता १८।५५)

उक्त वचनोंके अनुसार अद्वैत तत्त्व अव्यवहार्य है, अतः व्यावहारिक सत्य नहीं कहा जा सकता। द्वैतप्रपंच ही व्यवहार्य होनेसे व्यावहारिक सत्य कहा जा सकता है। द्वैत-अद्वैत समान सत्तासे विरुद्ध होते हैं; अतः पारमार्थिक व्यावहारिक सत्ता-भेदसे व्यवस्था उचित है।

भगवत्पाद शंकराचार्यने स्वयं बदरीनारायण आदि पुण्यस्थलोंमें शतशः शिव और विष्णुकी प्रतिमाएँ स्थापन करके भक्तिका सम्यक् प्रचार किया।

सत्ताभेदकी समीचीनता

रहा भगवद्व्यतिरिक्त समस्त प्रपंचको मिथ्या बतलाना, सो भगवान् तथा भगवद्भक्त दोनोंको ही अभीष्ट है। भगवान् ही स्वयं कहते हैं, यही बुद्धिमानोंकी बुद्धिमत्ता है, जो कि मरणशाली मिथ्या शरीरसे मुक्त परम सत्य अमृतको प्राप्त कर लेते हैं।

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
यत् सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम्॥

(श्रीमद्भा० ११।२९।२२)

तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं
स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्।
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते
मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।२२)

यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः।

(रा०च०मा० १।६ श्लोक)

जेहि जानें जग जाइ हेराई। जागें जथा सपन भ्रम जाई॥

(रा०च०मा० १।११२।२)

समस्त शास्त्रोंका परम तात्पर्य केवल भगवत्तत्त्वमें ही है, उसी परमतत्त्वप्राप्तिके लिये अवान्तर तात्पर्य-विषयभूत अन्यान्य विषयोंका निर्देश है।

इसी अभिप्रायसे **'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति'** (कठ० १।२।१५) इत्यादि उक्तियाँ हैं। मिथ्या संसार भी पूर्वकथनानुसार बिना सम्यक् धर्मानुष्ठान किये नहीं निवृत्त हो सकता। प्राचीन तथा अर्वाचीन साम्प्रदायिक कलहशून्य वैष्णव ज्ञानेश्वर, तुकाराम, तुलसीदास आदि सभी महानुभावोंने वैराग्यादिके लिये संसारके मिथ्यात्वपर बड़ा जोर दिया।

देहादिको ही सत्य माननेवाले प्राकृत पुरुषोंसे देहादिपोषणार्थ कितने अनिष्टोंकी सम्भावना है, यह विज्ञोंसे तिरोहित नहीं है। श्रीसूरदास, हरिदास प्रभृति भावुक वृन्दोंने भी प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्दके

चरित्र-गानमें ही अपना अमूल्य समय व्यतीत किया, न कि निःसार जगत्‌की सत्यता-प्रतिपादनमें।

मिथ्या कहनेका भी अभिप्राय यही है कि '**त्रिकालाबाध्य**' परमार्थ सत्य भगवान्‌की सत्यताके समान इसकी सत्यता नहीं है; किंतु व्यवहारमें आनेवाली केवल व्यावहारिक सत्यता है, न कि गगनकुसुमके समान अत्यन्त असत्। मिथ्या शब्दका यहाँ अपह्नव अर्थ नहीं है, अपि तु अनिर्वचनीयता अर्थ समझना चाहिये, जैसे अविद्या शब्दका विद्या-व्यतिरिक्त कर्म विवक्षित है, न कि विद्याका अभाव। अधर्मसे धर्मविरुद्ध पापादि विवक्षित है, न कि धर्मका अभाव।

यद्यपि साधारणतया लोकमें सत्यता एक ही प्रकारकी प्रसिद्ध है तथापि अध्यात्मशास्त्रवेत्ता सूक्ष्म स्तरभेदसे सत्यतामें महान् भेद समझते हैं। उनकी दृष्टिमें किसी वस्तुकी सत्ताके बिना उसकी अपरोक्ष प्रतीति असम्भव है। इसी वास्ते रज्जु-सर्प आदिकी भी प्रतीति तत्काल उत्पन्न अनिर्वाच्य सर्पको विषय करनेवाली होती है; क्योंकि अत्यन्त असत् खपुष्पादिके समान रज्जु-सर्पकी अपरोक्ष प्रतीति तथा भय-कम्पादिकी जनकता नहीं हो सकती, इस वास्ते उसे असत् खपुष्पादिसे विलक्षण, परंतु रज्जुज्ञानसे बाध्य होनेवाला मानना चाहिये; अतः व्यावहारिक घटादिसे भी विलक्षण प्रातिभासिक सत्य कहलाता है एवं आकाशादि जो कि व्यवहारकालमें कभी बाधित न होनेसे रज्जु-सर्पादिसे विलक्षण हैं तथा ब्रह्मसाक्षात्कार होनेसे एकमात्र ब्रह्म ही रह जाता है, तद्व्यतिरिक्तका बाध हो जाता है, अतः त्रिकालाबाध्य परमार्थ सत्यसे भी विलक्षण हैं। व्यवहारकालमें अबाधित आकाशादि व्यावहारिक सत्य कहलाते हैं और जो सदा एकरस परम तत्त्व है, वही परमार्थ सत्य कहलाता है।

जैसे द्वैतवादियोंके यहाँ घटकी अनित्यता, आकाशकी नित्यता, रूप-विलक्षणता सत्यताके बराबर होनेपर भी समंजस है, वैसे ही बाध्य तथा बाधककी बाध्यरूपताके कारण दोनोंका मिथ्यात्व बराबर होते हुए भी व्यावहारिक समस्त प्रपंचकी विनिवृत्तिके लिये व्यावहारिक साधनोंकी ही आवश्यकता है। शास्त्रोंमें स्वाभाविक कामकर्म लक्षण मृत्युके अपनयनार्थ ही अविद्यापदवाच्य कर्मोंका विधान भी है—'**अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा।**' (ईशावास्य० ११)

उपाधिपर्यन्त व्यावहारिक भेदके कारण भगवद्भक्तिके लिये अपेक्षित जीवेश्वरभेदकी सम्पन्नता

विशुद्धस्वान्तःकरण तत्त्वनिष्ठके लिये '**योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते**' (गीता ६।३) के अनुसार विधिपूर्वक सर्व-कर्म-संन्यास शास्त्रानुसार ही है।

कर्मसंन्यासकी शास्त्रसम्मतता

द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तौ तु सुभाषितः॥
कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु प्रमुच्यते।
तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः॥

(महाभारत-शान्तिपर्व २४१।६, ७)

'प्रवृत्तिलक्षणा धर्म और निवृत्तिके उद्देश्यसे प्रतिपादित धर्म—ये दो मार्ग हैं, जहाँ वेद प्रतिष्ठित है। कर्मसे मनुष्य बन्धनमें पड़ता है और ज्ञानसे मुक्त हो जाता है; पारदर्शी यति कर्म नहीं करते।'

कर्मणः फलमाप्नोति सुखदुःखे भवाभवौ।
विद्यया तदवाप्नोति यत्र गत्वा न शोचति॥

(महाभारत-शान्तिपर्व २४१।११)

'कर्मके फल हैं, सुख-दुःख और जन्म-मृत्यु, कर्मद्वारा मनुष्य इन्हींको प्राप्त करते हैं; परंतु ज्ञानके द्वारा उन्हें परम पदकी प्राप्ति होती है, जहाँ जानेसे शोकसे मुक्त हो जाता है।'

शरीरपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः।
कषाये कर्मभिः पक्वे रसज्ञाने च तिष्ठति॥

(महाभारत-शान्तिपर्व २४१।३८)

'कर्म स्थूल-सूक्ष्म-कारणसंज्ञक त्रिविध शरीरकी शुद्धि करनेवाले हैं, किंतु ज्ञान परम गतिरूप है, जब कर्मोंद्वारा चित्तके रागादि दोष दग्ध हो जाते हैं, तब जीव रसस्वरूप ज्ञानमें स्थित हो जाता है।'

जीव-परमेश्वरका भेद न माननेसे सम्यक्

प्रकारसे भगवदुपासना नहीं हो सकती, इस वास्ते अद्वैतियोंके साथ विरोध है तो यह भी नहीं; क्योंकि यावत् प्रारब्ध अविद्या लेशकी अनुवृत्ति प्रारब्धरूप प्रतिबन्धकसे अद्वैतवादी भी मानते हैं। अतः जबतक उपाधिका अस्तित्व है, तबतक जीव-परमेश्वरका वास्तविक अभेद होते हुए भी व्यावहारिक भेद अनिवार्य है।

जबतक जल विद्यमान है, तबतक जैसे प्रतिबिम्ब-भाव अवश्य है वैसे ही जीवभाव भी अनिवार्य है। जैसे वायुयोगसे समुद्रमें तरंग भाव होता है, वैसे ही उपाधिपर्यन्त अनिर्वाच्य भगवच्छक्तिके योगसे जीवभाव भी अनिवार्य होगा। इसी दृष्टिसे भेदभाव भगवद्भक्तिमें पर्याप्त है।

इसी वास्ते श्रीमच्छंकर भगवत्पादने कहा है कि—'**सत्यपि भेदापगमे, नाथ! तवाहं न मामकीनस्त्वं, सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः**' (षट्पदी ३) हे नाथ! जैसे तरंग यद्यपि समुद्रसे वस्तुतः भिन्न नहीं होता, किन्तु वायुयोगसे अवस्थान्तरापन्न समुद्र ही तरंग कहलाता है तथापि व्यवहारसे समुद्र-तरंगका भेद सिद्ध ही है। उस व्यवहार-सिद्ध भेद दशामें भी समुद्रका तरंग है, ऐसा ही कहा जाता है, तरंगका समुद्र है ऐसा नहीं! ठीक इसी तरह हमारा-आपका यद्यपि वास्तविक भेद नहीं है तथापि मायाकृत व्यवहार-सिद्ध भेद विद्यमान है। ऐसी दशामें भी हे प्रभो! मैं आपका हूँ, आप मेरे नहीं।

यदि कहा जाय कि भक्तिके लिये पारमार्थिक भेद ही अपेक्षित है, अभेद-ज्ञान भक्तिका प्रतिबन्धक है तो यह भी उचित नहीं परिलक्षित होता, कारण यह कि प्रथम तो भेद लोकमें अनादिकालसे प्रसिद्ध ही है। लोक-प्रसिद्ध भेदको ही लेकर परमानर्थके हेतु तथा नश्वर भी कामिनी, कांचन आदि विषयोंमें अनिवार्य प्रेम देखा जाता है। यहाँतक कि भावुकोंने—

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम॥

(रा०च०मा० ७। १३० (ख))

—इत्यादि वचनोंसे भगवान्‌में तादृश प्रेम पानेकी बड़ी उत्कण्ठा प्रकट की है।

अतः व्यावहारिक भेदसे प्रेम-सिद्धान्तके निर्वाहमें कोई अनुपपत्ति नहीं। दूसरे यह कि अभेद प्रथमोपस्थित ही नहीं है; क्योंकि अभेदज्ञान तो धर्मानुष्ठानपूर्वक भगवदाराधनादिद्वारा विशुद्ध स्वान्तः-करणको ही श्रवणादिमें बड़े प्रयाससे सिद्ध हो सकता है। फिर वह प्रेममें ही प्रतिबन्धक क्यों हो सकता है? इस वास्ते सिद्ध हुआ कि व्यावहारिक भेद या द्वैतको लेकर भगवत्प्रेम सम्यक् सम्पादन किया जा सकता है।

यह प्रथम प्रसिद्ध ही है। प्रतिबन्धक भी उसका कोई उपस्थित नहीं। अतः द्वैतियोंका अद्वैतियोंके साथ भी कोई विरोध नहीं हो सकता। यदि द्वैतियोंका भगवत्प्रेममें परमतात्पर्य न होकर द्वैत या भेद-सिद्धमें ही तात्पर्य हो, तब अवश्य अद्वैतियोंके साथ विरोध अनिवार्य है; क्योंकि अद्वैतियोंका तो परमतात्पर्य या परमपुरुषार्थ निष्प्रपंच ब्रह्म अद्वैत-सिद्धिमें ही है। समान विषयमें विरुद्ध विकल्प अवश्य ही विरोधका प्रयोजक होता है; परंतु यह हो नहीं सकता; क्योंकि द्वैतभेद आबालगोपाल सर्वत्र प्रसिद्ध है। अतः उसके साधनका प्रयास व्यर्थ है।

यदि द्वैतसिद्धि ही मोक्ष या परम पुरुषार्थकी हेतु होती तो अनायास ही समस्त प्राणी अबतक विमुक्त हो गये होते। नाना प्रकारके कर्मोपासना-ज्ञानादि साधनोपदेश करनेवाले वेदशास्त्रोंकी आवश्यकता ही नहीं होती। कठिनातिकठिन तप आदिकी भी कोई आवश्यकता न होती! इसीलिये सूरदासप्रभृति अर्वाचीन भक्तशिरोमणि भी निःसार संसारकी सत्यता-असत्यताके झगड़ेमें न पड़कर केवल भव-भयहारी भगवान्‌के प्रेममें ही निमग्न रहते थे।

सर्वविध व्यवधानकी असहिष्णुता भगवत्प्रेमकी प्रगल्भता

प्रेमतत्त्वपर भी यदि कुछ गम्भीर दृष्टिसे विचार किया जाय तो वस्तुतः प्रेमतत्त्व व्यवधानासहिष्णु होनेसे अभेदका ही पोषक है। जहाँ भावुकोंको अनुरागातिशयसे प्रियतमके संश्लेषकालमें रोमावलियोंकी भी उद्‌गति व्यवधायक होनेसे सहृदयहृदयवेद्य अनिर्वाच्य व्यथा पहुँचानेवाली होती

है, पुत्रवत्सला जननी प्रिय पुत्रको प्रेमसे हृदयमें लगाकर पुनः-पुनः चिपटानेका प्रयत्न करती है, तब क्या प्रेमको व्यवधानासहिष्णु नहीं कहा जा सकता? वस्तुतः जहाँ जितनी मात्रामें प्रेम-तत्त्वका आधिक्य है, वहाँ उतनी ही मात्रामें व्यवधान या पार्थक्य असह्य है। इन्हीं अभिप्रायोंसे उत्तरोत्तर आचार्योंने जीव तथा परमेश्वरके असाधारण सम्बन्ध अर्थात् व्यवधानरहित सम्बन्धसिद्धिके लिये विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत इत्यादि अभेदानुगुण पक्ष स्वीकार किये हैं।

श्रुति भी '**आत्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति।**' (बृहदारण्यक० २।४।५) इत्यादि वचनोंसे स्वभिन्न देवादिमें गौण प्रेम तथा व्यवधानशून्य स्वात्मामें ही सर्वातिशायी प्रेमको प्रदर्शितकर प्रेमको व्यवधानासहिष्णुत्व स्वाभाव्य सिद्ध करती है। प्रेमका स्वरूप ही वस्तुतः रसमय है। रसस्वरूप वस्तु परमात्मा ही है। '**रसो वै सः**' (तैत्तिरीयोपनिषत् २।७) भावविशेषोंसे द्रुतचित्तपर अभिव्यक्त जो निखिल-रसामृत-सिन्धु भगवत्तत्त्व है, वही प्रेम-पदवाच्य होता है। प्रेम उक्त प्रकारसे स्वाश्रय-विषयमें व्यवधान मिटानेके अनुकूल है। जैसे रश्मिजाल या प्रकाश अपने उद्गमस्थल आदित्यमें ही निरतिशय तथा अव्यभिचारी भावसे रहता है, अन्यत्र सातिशय तथा व्यभिचारी भावसे ही रहता है। ठीक वैसे सर्वान्तरतम प्रत्यगभिन्न परम प्रेमास्पद रसस्वरूप भगवत्तत्त्वसे ही प्रादुर्भूत रसमय प्रेमतत्त्व निरतिशय तथा अव्यभिचारी भावसे अपने उद्गमस्थलमें ही होता है। अन्यत्र सातिशय एवं व्यभिचारी भावसे होता है।

जैसे एक ही समुद्रमें समुद्र, तरंग एवं परस्पर सम्बन्ध वस्तुतः अविछिन्न होते हुए भी त्रिधा व्यवहृत तथा अनुभूत होते हैं, वैसे ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत निखिल सौख्य जिसके तुषारके समान हैं, उसी अचिन्त्यानन्त सौख्य-सुधासिन्धु परमतत्त्वमें परम विशुद्ध आह्लादिनी शक्तिके सम्बन्धसे प्रेम तथा उसके आश्रय विषयका अद्भुत चमत्कारी अनुपम विकास है।

प्रेमतत्त्वके लिये जहाँ स्वाभिवृद्ध्यर्थ स्वाश्रय विषयका विप्रयोग अपेक्षित है, वहाँ उससे भी कहीं अधिक अव्यवधान लक्षण सम्प्रयोग भी अपेक्षित होता है; क्योंकि प्रथम किसी तरह सम्प्रयोग सम्पन्न होनेपर ही विप्रयोग भी रसका अभिव्यंजक होता है। विप्रयोगाग्नि-संतप्त भावुकका सम्प्रयोगामृत बिना जीवन ही असम्भावित है। यह बात दूसरी है कि बहिरंग अल्पदर्शी देशादिकृत व्यवधानराहित्यमें ही तृप्त हो जाते हैं। सूक्ष्मज्ञ तथा अन्तरंग भावुक देशकृत, कालकृत, वस्तुकृत, समस्त व्यवधानराहित्य बिना नहीं तृप्त होते।

स्वात्मसमर्पणसे ही भक्ति और भगवान्‌की पूर्णता

यही बात स्वात्मसमर्पणरूप भक्तिके विषयमें भी समझनी चाहिये। अर्थात् कुछ महानुभाव वित्त, पुत्र, कलत्र, देहादि समर्पणकर स्वरूपका अस्तित्व रखते हुए भी तृप्त हो जाते हैं एवं कुछ महानुभाव अपरिच्छिन्न स्वप्रकाशात्मक परमतत्त्वमें अनेका-नर्थोपप्लुत जीवभावके पृथक् अस्तित्वकी कल्पना स्वप्रकाश सूर्यमें अन्धकारकी कल्पनाके समान अनुचित समझकर स्वस्वरूपको भी भगवान्‌में सर्वथा समर्पणकर भगवान्‌की पूर्णताके बाधकका अपनयन करते हैं।

इसी वास्ते भगवान् भी अभेदका समर्थन करते हैं—'**विभक्तमिव च स्थितम्**'। (गीता १३।१६) परमतत्त्व वस्तुतः एक होता हुआ भी सुर, नर, तिर्यगादिरूपसे बहुधा स्थित है। '**विभक्तमिव**' इत्यादि स्थलोंमें जो तटस्थ ईश्वरकी विभक्तवत् व्यवस्थिति मानते हैं, उनके यहाँ अप्रसिद्धरूपदोष अनिवार्य है; क्योंकि स्वरूपसे परमेश्वर विभक्तवत् अर्थात् वस्तुतः एक, परंतु पृथक्-पृथक् स्थितके समान होता है। यह अत्यन्त अप्रसिद्ध है। '**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि**' (गीता १३।२) क्षेत्रज्ञ त्वंपदार्थको '**मां विद्धि**' परमात्मस्वरूप ही समझना चाहिये। क्षेत्रज्ञ शब्दका जीव ही अर्थ है, परमेश्वर नहीं; क्योंकि जैसे मायाका असाधारण सम्बन्ध परमेश्वरके साथ है, अतः '**मायिनं तु महेश्वरम्**' (श्वेताश्वतर० ४।१०) के अनुसार मायी महेश्वर हैं, वैसे ही क्षेत्रका असाधारण सम्बन्ध जीवसे ही है। अन्यथा क्षेत्र

दु:खादिका सम्बन्ध भी परमेश्वरमें अनिवार्य होगा। '**क्षेत्रज्ञ**' तथा '**मां**' का यदि एक ही अर्थ है, तब अभेद सम्बन्धसे शाब्दबोध भी असम्भव है, यदि पृथक् है तो भी उद्देश्य-विधेयमें लक्षण-लक्ष्यकी तरह ज्ञातता-अज्ञातता अपेक्षित है।

'**रामं सीतापतिं विद्धि**' इत्यादि स्थलोंमें भी ज्ञात रामको उद्देश्यकर अज्ञात सीतापतित्व विधेय है। यहाँ भी दोमें एकको उद्देश्यकर एकको विधेय मानना चाहिये। क्षेत्रज्ञ यदि ईश्वररूपसे प्रसिद्ध है तो उसे ईश्वरत्व-विधान व्यर्थ है, यदि अप्रसिद्ध है तो भी ईश्वरत्व-विधान निष्प्रयोजन है। ईश्वरको क्षेत्रज्ञातृत्व विवक्षित हो तो भी '**एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥**' (गीता १३।१) इत्यादि वचनोंसे क्षेत्रज्ञ पृथक् निर्देश व्यर्थ होगा; क्योंकि क्षेत्रज्ञाताको सीधे ईश्वर बतलाया जा सकता था।

फिर क्षेत्रज्ञ संज्ञा निर्धारणकर परम्परासे ईश्वरत्व कहना सर्वथा अपार्थक है। सर्वज्ञको क्षेत्रज्ञमात्र कथन प्रतिकूल ही है। क्षेत्रज्ञ शब्दसे यदि परमेश्वर कहा गया, तब जीवका स्वरूप पृथक् दिखलाना चाहिये। भोग्यवर्ग-प्रतिपादनानन्तर भोक्तृवर्गका निरूपण ही संगत होनेसे भोक्तृवर्गका लंघनकर नियन्ताका प्रतिपादन भी असंगत है। इस वास्ते '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्**' (छान्दोग्य० ३।१४।१) इत्यादि श्रुतिके अनुसार प्रसिद्ध क्षेत्र तथा उसके ज्ञाताको अनुवादकर यथायोग्य बाध सामानाधिकरण्य तथा मुख्य सामानाधिकरण्यसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका परमात्मत्व-विधान ही भगवान्‌को अभिप्रेत है।

अतएव 'पैङ्गी रहस्य' श्रुति भी '**अथ योऽयं शारीर उपद्रष्टा स क्षेत्रज्ञ**' इत्यादि वचनोंसे शारीर अर्थात् शरीराभिमानी जीवको ही क्षेत्रज्ञ बतलाती है। यदि शारीर शब्दका अर्थ भी '**शरीरे भवः**' इस व्युत्पत्तिसे परमेश्वर मानें तो शरीरमें होनेवाला व्यापक आकाश भी शारीर पदसे कहा जा सकता है, पर यह लोकाप्रसिद्ध है, अत: ठीक नहीं।

सारांश यह निकला कि अद्वैत सिद्धान्त सर्वाविरुद्ध एवं भगवान् और उनके भक्तोंको सर्वथा अभिमत है। अत: सोपानारोह-क्रमसे सभी सिद्धान्त उक्त सिद्धान्तके अनुकूल हैं।

कोई-कोई महानुभाव यह भी कहते हैं कि उक्त अद्वैत सिद्धान्तमें सगुण भगवान् भी व्यावहारिक या मिथ्या तत्त्व हैं, तब मिथ्यातत्त्वमें अनुरक्ति कैसे सम्भावित हो सकती है? परंतु विचार करनेसे यह कथन निर्मूल है। जैसे प्राची दिक्-सम्बन्धसे पूर्णचन्द्रका सम्यक् प्रादुर्भाव होता है, वैसे ही परम विशुद्ध अनिर्वाच्य दिव्य शक्तिके सम्बन्धसे परमतत्त्वका दिव्य मंगलमय विग्रहरूपमें प्रादुर्भाव होता है।

भगवद्-विग्रहकी व्यावहारिकता तथापि उपादानांशमें परमार्थता एवं निमित्तांशमें आकाशादिसे विलक्षणता

व्यावहारिक कहनेका भी अर्थ अलीक या रज्जु-सर्पके समान नहीं हो सकता, जैसे पार्थिवत्व अंशमें बराबर होते हुए भी हीरकादिमें महद् वैषम्य है एवं व्यावहारिकत्व अंशमें बराबर होते हुए भी विष और अमृतमें महान् भेद है, वैसे ही जगदुपादानभूता माया शक्ति तथा भगवान्‌के मंगलमय विग्रहरूपमें विकासकी निमित्तभूत विशुद्ध शक्तिमें महान् प्रभेद है। जैसे मेघादि अस्वच्छ पदार्थके सम्बन्धसे यद्यपि सूर्य-स्वरूप समावृत है, परंतु विशुद्ध काँचादिके योगसे सूर्यस्वरूप समावृत न होकर प्रत्युत अधिक विशुद्ध रूपमें प्रकट होता है; ठीक वैसे ही अचिन्त्य विशुद्ध शक्तिके योगसे परमतत्त्वका स्वरूप समावृत भी नहीं होता। प्रत्युत आत्माराम मुनीन्द्रोंके भी चित्तको आकर्षण करनेवाले दिव्य स्वरूपमें प्रकट होते हैं। इतना भेद अवश्य है कि अद्वैतसिद्धान्ती जहाँ एक ओर भगवान्‌को अचिन्त्यानन्त समस्त कल्याण-गुणगणास्पद मानते हैं वहाँ दूसरी ओर '**निर्गुणं, निष्क्रियं, शान्तम्**' (अध्यात्मोपनिषत् ६२, श्वेताश्वत-रोपनिषत् ६।१९) इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार सत्ता-भेदसे निर्गुण, निष्क्रिय, निष्कल भी मानते हैं।

स्वरूपतः निर्गुण-निरपेक्ष-परमानन्दस्वरूप भगवत्तत्त्वके सगुण-साकाररूपसे प्रादुर्भावमें विशुद्ध सत्त्वात्मिका शक्तिकी निमित्तमात्रता

अन्यान्य सिद्धान्ती केवल सगुणतत्त्वको ही

मानकर निर्गुणका सर्वथा अपलाप ही करते हैं। अर्थात् सगुणको ही प्राकृत गुणगणराहित्यके अभिप्रायसे निर्गुण भी कहते हैं।

द्वैती लोग आदित्यतत्त्वके समान सगुण भगवान्‌को मानकर आतपके समान निर्गुणतत्त्वको मानते हैं।

अद्वैतियोंका कहना है कि गुणादिकी आवश्यकता स्वाश्रयमें सौख्यातिशय या महत्त्वातिशय सम्पादनके लिये ही हो सकती है।

परमतत्त्व अनन्त पद, समभिव्याहृत ब्रह्म **'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति'** (बृहदारण्यक० ४। ३। ३२) इत्यादि श्रुतिसे निरतिशय आनन्दस्वरूप स्वत:सिद्ध है। अत: गुणकृत अतिशयता-राहित्य तथा निर्गुणत्व श्रुतिके अनुरोधसे स्वत: निर्गुणतत्त्वमें ही गुण स्वत: अपने गुणत्व-सिद्ध्यर्थ भगवत्तत्त्वका समाश्रयण करते हैं। इस वास्ते भगवान् स्वरूपसे निर्गुण होते हुए भी सगुण कहे जा सकते हैं।

मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकम्।
सुहृदं प्रियमात्मानं साम्यासङ्गादयोऽगुणाः॥

(श्रीमद्भा० ११। १३। ४०)

आदित्यस्थानीय सगुणतत्त्वरूप देशमें आतपस्थानीय निर्गुण तत्त्व देशमें यदि अविद्यमान है, तब तो परिच्छिन्नता अनिवार्य है। यदि निरतिशय रूपसे सर्वत्र परिपूर्ण है, तब नामान्तरसे निर्गुण परमतत्त्व ही हुआ; क्योंकि अतिशयताकी कल्पना जहाँ जाकर स्थगित हो जाती है, वहीं निरतिशय प्रज्ञानानन्दघन परमतत्त्व कहलाता है।

नाममें कोई विवाद नहीं। यदि शून्यवादी या विज्ञानवादी इसी तत्त्वको शून्य या विज्ञानतत्त्व शब्दसे कहते हों तो अद्वैतियोंका नाममात्रमें कोई विवाद नहीं। यदि **'असदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसत:'** (छान्दोग्य० २। १) **'असद्वा इदमग्र आसीत्'** (तैत्तिरीय० २। ७) इत्यादि श्रुति तथा दार्शनिकोंसे प्रसिद्ध क्षणिक विज्ञान संतति या तत्क्षयरूप अत्यन्तासत् विज्ञान या शून्य मानते हों तो उक्त परम-तत्त्वसे महान् भेद सुस्पष्ट सिद्ध है। अत: उक्त प्रकारसे परमतत्त्व स्वरूपसे निर्गुण और निरपेक्ष होते हुए भी सगुण तथा साकार है। जैसे प्राची दिक् चन्द्राभिव्यक्तिमें, वायु तरंगाभिव्यक्तिमें निमित्तमात्र है, वैसे ही अचिन्त्यानिर्वाच्य परम विशुद्ध शक्ति भी भगवान्‌के सगुण स्वरूपके प्रादुर्भावके निमित्तमात्र है। जैसे प्राची या वायु स्वयं चन्द्र या तरंगरूप नहीं है, वैसे ही विशुद्ध शक्तिमात्र सगुण भगवान् नहीं हैं।

भगवान् तो स्वत: नित्यशुद्धबुद्ध मुक्तस्वभाव ही हैं। इसी भाँति तत्त्वदर्शी सर्वस्वरूप प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न प्रज्ञानानन्दघन भगवान्‌में आत्मभावसे प्रतिष्ठित होकर भी व्यावहारिक भेदका समाश्रयणकर अपरिगणित कन्दर्पदर्पदलनपटीयान् सौन्दर्य-सुधासिन्धुके मुनिमन-मोहक माधुर्यका भी समास्वादन करते हैं।

इस तरहसे यद्यपि अकुटिल भावसे श्रुतिस्मृति तदनुकूल तर्कानुमोदितमार्गद्वारा समस्त विरुद्ध धर्म एवं सिद्धान्तोंका साक्षात् या परम्परया सामंजस्य वेदोंके परमतात्पर्य विषयभूत भगवान्‌में निर्विवाद सिद्ध है तथापि लीलाविशेष अभिनयके लिये वस्तुत: अनन्यपूर्विकाओंमें भी अन्यपूर्विकात्वके लोक-दृष्टि-सिद्ध आरोपवत् अभिप्राय-भेदसे सकल विवादा-स्पदत्व भी लीलामयके स्वरूपाननुरूप नहीं है।

सबके अभिमत स्वरूपकी वास्तविक भगवद्रूपता

वेदान्तके इस अद्वैत सिद्धान्तसे नास्तिकोंतकका विरोध नहीं पड़ता। जो भगवान् भक्तोंके सर्वस्व एवं ज्ञानियोंके एकमात्र परम तत्त्व हैं, वे ही नास्तिकोंसे नास्तिकोंके (नास्तिकशिरोमणियोंके) भी सब कुछ हैं। यह बात असम्भव-सी प्रतीत होती है, परंतु विवेचन करनेसे अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है। चाहे कैसा भी नास्तिक क्यों न हो, वह अपने अभावसे घबराता है, वह यही चाहता है कि मैं सदा बना रहूँ। साधारण-से-साधारण प्राणी भी आत्मरक्षाके लिये व्यग्र रहता है। कोई भी अपने अस्तित्वको मिटाना नहीं चाहता। इस तरह नास्तिक भी अपने अस्तित्वका पूर्णानुरागी है। अपने-आप (वास्तव आत्मस्वरूप) कौन है, जिसका अस्तित्व वह चाहता है, इसे वह न जानता हो, यह बात दूसरी है। यदि सौभाग्यवश कभी इस ओर भी उसकी दृष्टि फिर गयी, तब तो

वह समझ लेगा कि विनश्वर देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार तथा ये सभी दृश्य मेरे हैं और मैं इनसे पृथक् तथा इनका द्रष्टा हूँ और मैं उसी निर्विकार, दृक्-स्वरूप स्वात्माका ही सदा अस्तित्व चाहता हूँ। विवेचन करनेसे यह भी विदित होता है कि स्वप्रकाश दृक्‌का अस्तित्व 'तत्' स्वरूप ही है। इसीलिये आत्मा स्वप्रकाश कहा जाता है। जगत्‌की अनेकानेक वस्तुओंमें चाहे जितना भी सन्देह हो, परंतु 'मैं हूँ या नहीं' ऐसा आत्मविषयक सन्देह किसीको भी नहीं होता। जगत्, परमेश्वर, धर्म, कर्म सभीका अभाव सिद्ध करनेवाले शून्यवादीको भी अनिच्छया स्वात्माका अस्तित्व मानना ही पड़ता है। कारण, जो सबके अभावका सिद्ध करनेवाला है, यदि वह रह गया, तब तो स्वातिरिक्त ही सबका अभाव सिद्ध होगा, अपना अभाव नहीं सिद्ध हो सकता। सर्वनिराकर्ता, सर्वनिषेधकी अवधि एवं साक्षीभूतके अस्वीकार करनेपर शून्य भी अप्रामाणिक होगा। अत: वही अत्यन्त अबाधित, सर्वबाधका अधिष्ठान एवं साक्षीभूत अस्तित्व या सत्ता भगवान्‌का 'सत्' रूप है।

साथ ही बोध और प्रकाशके लिये प्राणिमात्रमें उत्सुकता दिखायी देती है। पशु-पक्षी भी स्पर्शसे, आघ्राणसे, किसी तरह ज्ञानके प्रेमी हैं। यह ज्ञानकी वांछा उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है। हमें अब अमुक तत्त्वका ज्ञान हो, अब अमुकका हो, इतिहास, भूगोल, खगोल, अधिभूत, अध्यात्म, अधिदैव सभी तत्त्वोंको जाननेको मन चाहता है। किं बहुना, बिना सर्वज्ञताके, ज्ञानमें सन्तोष नहीं होता। पूर्ण सर्वज्ञता कहाँ हो सकती है, यह विवेचन करनेसे स्पष्ट हो जाता है कि सर्व पदार्थ जिस स्वप्रकाश, अखण्ड, विशुद्ध भान (बोध)-में कल्पित हैं, वही सर्वावभासक एवं सर्वज्ञ हो सकता है; क्योंकि प्रकाश या भान अत्यन्त असंग एवं निरवयव और अनन्त है। उसका दृश्यके साथ सिवा आध्यासिक सम्बन्धके और संयोग, समवाय आदि सम्बन्ध बन ही नहीं सकता। अत: यदि सर्वज्ञ होनेकी वांछा है तो सर्वावभासक, सर्वाधिष्ठान, विशुद्ध, अखण्ड बोध होनेकी ही वांछा है। यह अखण्ड बोध ही भगवान्‌का 'चित्' रूप है। जैसे पूर्वोक्त अखण्ड, अनन्त, स्वप्रकाश सत्ता या अस्तित्व ही अपना तथा सबका निज रूप है, वैसे ही यह अबाध्य, अखण्ड बोध भी सबका अन्तरात्मा है।

संसारमें पशु, कीट, पतंग कोई भी ऐसा नहीं है, जो आनन्दके लिये व्यग्र न रहता हो। प्राणिमात्रके देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार आदिकी जितनी भी चेष्टाएँ एवं हलचलें हैं, वे सभी आनन्दके लिये हैं। बिना किसी प्रयोजनके किसीकी भी प्रवृत्ति नहीं होती। एक उन्मत्त भी चाहे भ्रम या अज्ञानसे ही सही, आनन्दके लिये ही समस्त चेष्टाओंको करता है। समस्त वस्तुओंमें भ्रान्त होता हुआ भी प्राणी जिसके लिये नाना चेष्टाएँ करता है, उसके विषयमें उसे सन्देह या भ्रम अथवा अज्ञान हो, यह कैसे कहा जा सकता है? इस तरह जिसके लिये समस्त चेष्टाएँ हो रही हैं, वह आनन्द बहुत प्रसिद्ध है। संसारभरकी समस्त वस्तुओंमें प्रेम जिसके लिये हो और जो स्वयं निरतिशय एवं निरुपाधिक प्रेमका आस्पद हो अर्थात् जो अन्यके लिये प्रिय न हो, वही 'आनन्द' होता है। देखते ही हैं कि समस्त आनन्दके साधनोंमें प्रेम अस्थिर होता है। स्त्री, पुत्र आदिमें प्रेम तभीतक है, जबतक वे अनुकूल हैं, प्रतिकूल होते ही उनसे द्वेष हो जाता है। परंतु सुख और आनन्द सदा ही प्रिय रहता है। कभी भी, किसीको भी आनन्दसे द्वेष हो, यह नहीं कहा जा सकता। इस तरह सभी आनन्दको चाहते हैं और उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नशील तथा लालायित रहते हैं।

परंतु उसे पहचाननेकी कमी है; क्योंकि जिस आनन्द और सुखके लिये नास्तिक व्यग्र है, उसे पहचानता नहीं। वह तो सुख-साधन स्त्री-पुत्र, शब्द-स्पर्श आदि सम्भोगमें ही सुखकी भ्रान्तिसे फँसकर उसमें ही सन्तुष्ट हो जाता है, परंतु विवेचनसे विदित हो जाता है कि जिनमें कभी प्रेम, कभी द्वेष होता है, वह सुख नहीं, किंतु सदा ही जिसमें निरतिशय एवं निरुपाधिक प्रेम होता है, वही सुख है। जगत्‌के सम्भोग-साधन पदार्थ ऐसे हैं नहीं, अत: वे सुखरूप नहीं, किंतु अभिलषित पदार्थकी प्राप्तिमें तृष्णाप्रशमनके अनन्तर जिस शान्त अन्तर्मुख मनपर सुखका आभास

पड़ता है, उस आभास या प्रतिबिम्बका निदान या बिम्बभूत जो अन्तरात्मा है, वही 'आनन्द' है। जो लक्षण आनन्दका, वही अन्तरात्माका भी है। जैसे सब कुछ आनन्दके लिये प्रिय है, आनन्द और किसीके लिये प्रिय नहीं, ठीक वैसे ही समस्त वस्तु आत्माके लिये प्रिय होती है, आत्मा किसी दूसरेके लिये प्रिय नहीं होता। अतः अन्तरात्मा ही आनन्द है और वही निरतिशय, निरुपाधिक परम प्रेमका आस्पद है। उसीका आभास अन्तर्मुख अन्तःकरणपर पड़नेसे 'मैं सुखी हूँ' ऐसा अनुभव होता है। इसीके लिये समस्त कार्य-करण-संघातकी प्रवृत्ति होती है। यह सुख-दु:ख-मोहात्मक, नानात्मक, संघातसे विलक्षण सुख-दु:ख-मोहातीत, असंहत, असंग, अद्वितीय तत्त्व ही भगवान्‌का 'आनन्द' रूप है। इस तरह सभी 'सच्चिदानन्द' भगवान्‌के उपासक हैं।

प्राणिमात्र स्वतन्त्रता चाहते हैं। एक चींटी भी पकड़ी जानेपर व्याकुलताके साथ हाथ-पैर चलाती है। शुक, सारिका आदि पक्षी सोनेके पिंजड़ेमें रहकर सुन्दर मधुर भोजनकी अपेक्षा बन्धनमुक्त हो, स्वतन्त्रतासे वनमें खट्टे फलोंको भी खाकर जीवन व्यतीत करनेमें ही सच्चे आनन्दका अनुभव करते हैं। इस तरह प्राणिमात्र बन्धनसे छूटने तथा स्वतन्त्रताके लिये लालायित है। ऐसी स्थितिमें कौन नास्तिक बन्धनमुक्ति और स्वतन्त्रता न चाहेगा? परंतु स्वतन्त्रताका वास्तविक रूप विवेचन करनेसे स्पष्ट होगा कि यह भी भगवान्‌का ही स्वरूप है। बिना असंग सच्चिदानन्द भगवान्‌को प्राप्त किये बन्धन-मुक्ति और स्वतन्त्रताकी कल्पना अत्यन्त ही निराधार है। जबतक स्थूल, सूक्ष्म तथा कारणदेहका सम्बन्ध बना है, तबतक स्वतन्त्रता कैसी? भले ही कोई माता-पिता, गुरुजनों तथा वेद-शास्त्रकी आज्ञाओंको न माने और उनसे अपनेको स्वतन्त्र मान ले, परंतु जन्म, जरा, व्याधि, दरिद्रता, विपत्ति, मृत्यु आदिके परतन्त्र तो प्राणिमात्रको होना ही पड़ता है। कारण, जबतक कुछ स्वतन्त्रता त्यागकर शास्त्रों एवं गुरुजनोंके परतन्त्र होकर कर्म, उपासना तथा ज्ञानद्वारा मल, विक्षेप, आवरणको दूर करके शरीरत्रय-बन्धनसे मुक्त होकर निजी निर्विकार स्वरूपको न प्राप्त कर ले, तबतक पूर्ण स्वातन्त्र्य मिल सकता ही नहीं। इस विवेचनसे स्पष्ट होता है कि 'स्वतन्त्रता' भी सर्वोपाधिविनिर्मुक्त, असंग, अनन्त, स्वप्रकाश, प्रत्यगभिन्न भगवान्‌का ही स्वरूप है।

इसी तरह प्राणिमात्रकी यह भी रुचि होती है कि सब कुछ हमारे अधीन हो और मैं स्वाधीन रहूँ। यहाँतक कि माता-पिता, गुरुजनोंके प्रति भी यही रुचि होती है कि ये सब हमारी प्रार्थना मान लिया करें और सब तरहसे मेरे अनुकूल रहें। यही स्थिति देवताओंके प्रति भी होती है। ये सभी भाव भी जीवभावके रहते नहीं हो सकते। समस्त कल्पित पदार्थ कल्पनाके अधिष्ठानभूत भगवान्‌के ही परतन्त्र हो सकते हैं। इस तरह परमार्थतः पूर्ण अस्तित्व, पूर्ण बोध, पूर्ण आनन्द, पूर्ण स्वातन्त्र्य एवं पूर्ण नियामकत्व—ये सब भगवान्‌में ही होते हैं। जब आस्तिक-नास्तिक सभी पूर्ण स्वातन्त्र्य, पूर्ण नियामकत्व, पूर्ण बोध, पूर्णानन्द, पूर्ण अबाध्यता या सत्ताके लिये व्यग्र तथा इनकी प्राप्तिके लिये जी-जानसे प्रयत्न करते हैं, तब कौन कह सकता है कि अज्ञानी किंवा नास्तिक जिसकी प्राप्तिके लिये व्यग्र हैं, ये वही भक्तों और ज्ञानियोंके ध्येय, ज्ञेय, परमाराध्य, परब्रह्म भगवान् नहीं हैं? क्योंकि प्राणिमात्र किंवा तत्त्वमात्रका अन्तरात्मा भगवान् ही हैं। फिर उनसे विमुख होकर निःसत्त्व, निःस्फूर्ति कौन होना चाहेगा? इसी आशयसे श्रीवाल्मीकिकी उक्ति है—'**लोके न हि स विद्येत यो न राममनुव्रतः।**' लोकमें ऐसा कोई हुआ ही नहीं, जो रामका अनुगामी न हो। निज सर्वस्वके बिना किसीको भी कैसी विश्रान्ति? अतएव तरंगकी जैसे समुद्रानुगामिता है, ठीक वैसे ही प्राणिमात्रकी भगवदनुगामिता है। भेद यही है कि ज्ञानी अपने प्रियतमको जानकर प्रेम करता है, दूसरे उसीके लिये व्यग्र होते हुए भी उसे जानते ही नहीं।

विश्वेश्वरयतीन्द्रस्य श्रीगुरोश्चरणाब्जयोः।
कृतिरेषार्पिता भूयान्मुदे सुमनसां सदा॥